श्रीरूपकलादेव्यै नमः

श्रीहनुमते नमः

❀ श्रीसीताराम ❀

मानसपीयूष

(श्रीरामचरितमानस का संसार में सबसे बड़ा तिलक)

पंचम सोपान (सुंदरकांड)

श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासजीकी रामायणपर काशीके सुप्रसिद्ध रामायणी श्री पं० रामकुमारजी, पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज (व्यास), श्रीरामायणी रामबालकदासजी, एवं श्रीमानसी वंदनपाठकजी आदि साकेतवासी महानुभावोंकी अप्राप्य और अप्रकाशित टिप्पणियाँ एवं कथाओंके भाव; बाबा श्रीरामचरणदासजी (श्रीकरुणासिंधुजी), श्रीसंतसिंहजी पंजाबी ज्ञानी, देवतीर्थ श्रीकाष्ठजिह्व स्वामीजी, बाबा श्रीहरिहरप्रसादजी (सीतारामीय), बाबा श्रीहरिदासजी, पांडे श्रीरामबख्शजी, श्री पं० शिवलाल पाठकजी, श्रीबैजनाथजी आदि पूर्व मानसाचार्यों टीकाकारोंके भाव; मानस राजहंस पं० विजयानंद त्रिपाठीजी तथा प० प० प्र० श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजीके अप्रकाशित टिप्पण; आजकलके प्रायः समस्त टीकाकारोंके विशद एवं सुसंगत भाव तथा प्रो० श्रीरामदासजी गौड़ एम० एस-सी०, प्रो० लाला भगवानदीनजी, प्रो० पं० रामचन्द्रजी शुक्ल, पं० यादवशंकरजी जामदार रिटायर्डसबजज, श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी, श्रीनंगेपरमहंसजी (बाबा श्रीअवधबिहारीदासजी) और बाबा जयरामदास दीनजी आदि स्वर्गीय तथा वेदान्तभूषण साहित्यरत्न पं० रामकुमारदासजी आदि आधुनिक मानसविज्ञोंकी आलोचनात्मक व्याख्याओं का सुंदर संग्रह।

तृतीय संस्करण

संपादक एवं लेखक

श्रीअंजनीनन्दनशरण

मानसपीयूष कार्यालय, श्रीअयोध्या

श्रीरामनवमी सं० २०१५]

(प्रथम संस्करणका)

समर्पण

प्राणप्यारे मातापिता,

आज आपके परमानन्य अद्वितीय दासके चरित्रोंसे पूर्णतया-प्लावित श्रीरामचरितमानसके सुंदरकाण्डका मानसपीयूष नामक तिलक आपकी इच्छा और आपकी कृपासे छपकर तैयार हो गया। इसमें आपके उन परमोपासकके चरित्र हैं जिनको आपने श्रीमुखसे 'सुत' का पद दिया है—'अजर अमर गुननिधि सुत होहू' 'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं'।

जिनके गुणगान आप स्वयं करते हैं और दूसरोंके मुखसे सुनकरभी आप और समस्त देवता परमप्रमोदसे भर जाते हैं; इतना ही नहीं वरन् अपनेको कृतकृत्य मानते हैं, जैसा आपके पूज्य भक्त गोस्वामीजीने हम सबको बताया है।

'महाबीर बिनवउँ हनुमाना। राम जासु जसु आप बखाना॥'

'जासु गुनगाथ रघुनाथ कह जासु बल बिपुल जल भरित जग जलधि झूरो।'

'तेरे गुनगान सुनि गीरवान पुलकत सजल बिलोचन बिरंचि हरि हर के॥'

और जिनपर आपका प्रेम और आपकी कृपा पराकाष्ठाको पहुँची हुई है जैसा आपके इन वचनामृतोंसे स्पष्ट ही है—

'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥'

'देबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तू पत्र लिखाउ'

यही नहीं वरन् जिनको आपने अपने पंचायतनमें भी शामिल कर लिया है। उन्हीं आपके परमभक्त श्रीहनुमान्‌जीका कुछ चरित्र आपकी दी हुई शक्तिसे किंचित् मात्र गाया है।

पुनः, इसमें जीवमात्रको अभय देनेवाले शरणागतिके वचन आए हैं जो आपके भक्त आपके चरित्रमात्रका साररूप मानते हैं, जिनको सुनकर आपके परमभक्त कृतकृत्य हो गए थे—

'सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना। सरनागतबत्सल भगवाना॥'

आज उसी श्रीरामचरितमानसके पंचम सोपान सुंदरकाण्डका 'मानसपीयूष नामक तिलक आपकेही करकमलोंमें सादर, सप्रेम और सविनय समर्पण करता हूँ। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम्'।

तुलसी सं ३०८

आपका दीन शिशु—

श्रीजनकसुताशरण शीतलासहाय

आवश्यक निवेदन

'मानस-पीयूष' तिलकमें रुपयेमें लगभग बारह आना सामग्री अप्रकाशित टिप्पणियाँ हैं। साकेतवासी पं० रामकुमारजी, प्रो० श्रीरामदासगौड़जी, प्रो० श्रीलाला भगवानदीन ('दीन' जी), पं० रामचरण मिश्र (भयस्मरी; हमीरपुर) श्री० पं० रामवल्लभाशरणजी, मानसी श्रीवन्दनपाठकजी आदिके नामसे जो भाव इसमें दिये गए हैं वे प्रायः सब अप्रकाशित टिप्पण हैं। श्रीरामशंकरशरणजी, श्री पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी. श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी, श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजी, वे० भू० पं० राम-कुमारदासजी (श्रीअयोध्याजी) ने जो भाव मानस-पीयूषमें छपनेके लिये लिख भेजे थे, वे भी उनके नामसे इसमें छपे हैं। इसके अतिरिक्त जो उनकी टिप्पणियाँ पत्रिकाओंसे ली गई हैं, उनमें प्रायः पत्रिकाओंका नाम दे दिया गया है। प्राचीन प्राप्य और अप्राप्य टीकाओंके भाव हमने अपने शब्दों लिखे हैं।

'मानस-पीयूष' में जो कुछ भी आया है उसका सर्वाधिकार 'मानस-पीयूष' को प्राप्त है। जिनकी वे टिप्पणियाँ हैं उनके अतिरिक्त किसीको भी इसमेंसे कुछ भी लेनेका अधिकार नहीं है।—यह लिखने की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि पुस्तक-भंडार (लहेरियासराय व पटना) के व्यवस्थापक रायबहादुर रामलोचनशरणने पं० श्रीकान्तशरणसे (विशिष्टाद्वैत) 'सिद्धांत-तिलक' लिखवाकर प्रकाशित किया था, वह 'मानस-पीयूष' के प्रथम संस्करणकी ही चोरी थी। पटना उच्च न्यायालयके एक निर्णयसे उसका छपना तथा विक्रय करना दण्डनीय निश्चित किया गया है। लेखकों एवं विद्वानों को इस कारण इस सम्बन्धमें सतर्क होनेकी आवश्यकता है। आज एकायक 'वेदोंमें रामकथा' नामक पुस्तक पढ़ते हुए उसके पृष्ठ ४२ पर पहुँचा तो 'कटुसत्य' शीर्षक लेख साहित्यिक चोरीके सम्बन्धका मिला। लेखक महोदय लिखते हैं—"बहुतोंको साहित्यिक चोरी करनेका चस्का लग जाता है, किसीकी कविता उड़ा लेना साधा-रण बात हो चुकी है। त्यागी विरक्तसाधु कहानेवालोंको तो ऐसी मनोवृत्ति सर्वथा पतित कर देती है। कुछ लोग तो अपने परिचितोंमें प्रतिष्ठा पानेके लोभसे दूसरोंकी पूरी पुस्तककी पुस्तक अपने नामसे प्रका-शित करके बेंचते या बाँटते हैं।" यह लिखकर फिर उन्होंने उसके कुछ प्रमाण भी दिये हैं।

लेखको पढ़कर मुझे आँखों देखी बात याद आगई कि चोरी करनेवालेको उसे छिपानेके लिये लज्जा छोड़कर एक झूठके लिये सैकड़ों झूठ बनाने और कहने पड़ते हैं, फिर भी क़लई खुल जाती है। मानसपीयूषका दूसरा संस्करण सन् १९५६ में पूरा होगया और १९५७ के समाप्त होते-होते बालकाण्डका तीसरा संस्करण प्रायः छप गया। जिनको चोरीकी लत है वे चोरी करेंगे ही, रुपयेवालोंसे कौन लड़ता फिरेगा। पर साहित्यज्ञ लोग जो Research Scholars हैं और होंगे वे पता लगा ही लेंगे।

—अंजनीनंदनशरण

श्रीगुरवे नमः। श्रीहनुमते नमः। श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः।

तृतीय संस्करण

श्रीसीताराम-हनुमत-गुरु-कृपासे सुन्दरकाण्डका तृतीय संस्करण आज प्रेमी पाठकोंको भेंट किया जा रहा है। दूसरा संस्करण गुरुपूर्णिमा संवत् २०११ को प्रकाशित हुआ था। चार-पाँच माससे सुन्दरकाण्ड हम लोगोंको न दे सके थे। इसके लिये किसीको दोष देना व्यर्थ है। 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई'। जो वे करते हैं अच्छा ही करते हैं। तृतीय संस्करणके समय २८ पौंडके कागज़का दर पूर्व (सं० २०११) की अपेक्षा सवागुना होगया और मार्केटमें अप्राप्य हो गया जिसके कारण कुछ कागज़ २४ पौंडका ही लगाना पड़ा।

इस काण्डका पुनर्मुद्रणमात्र हुआ है। केवल जहाँ अशुद्धि मिली उसको शुद्ध कर दिया गया है। और सुन्दर-काण्डका पाठ करनेवालोंके लिये एक वैष्णवरत्न महापुरुष सन्तकी बताई हुई आशावादित पाठ-विधि लिख दी है।

सुन्दरकांडकी छपाईमें जो अड़चनें महेश प्रेस काशीके एक कारकुनके कारण कई मास पड़ीं, वे श्रीलक्ष्मी-चन्द्र गुप्त, लहरतारा, वाराणसीके परिश्रमसे दूर हो गईं, इस सहानुभूतिके लिये मैं उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

—श्रीअंजनीनन्दनशरण

चैत्र शु० ६, सं० २०१५

श्रीरूपकलादेव्यै नमः श्रीहनुमते नमः

प्रथम संस्करण (तुलसी संवत् ३०८) का वक्तव्य

इस काण्डके 'मानस-पीयूष' तिलकमें बाल, अयोध्या आदि कांडोंकी शैलीमें कुछ परिवर्तन कर दिया गया है। इसमें मूल और अर्थके पश्चात् श्री १०८ पं० रामकुमारजी साकेतवासी प्रसिद्ध रामायणी, काशीजी की अप्रकाशित टीका दी गई है जो 'टिप्पणी' शब्द द्वारा सूचित की गई है। सुंदरकाण्डकी यह पूरी टिप्पणी सम्पादकको श्रीअयोध्यानिवासी रामायणी श्री १०८ महाराज श्रीरामसुन्दरदासजी, छावनी श्रीबाबामणिरामसे प्राप्त हुई। इसके लिए सम्पादक उनका परम कृतज्ञ है—'मोते होइ न प्रति उपकारा। तव पद बंदउँ बारहिं बारा॥'

टिप्पणीके पश्चात् कहीं कहीं 'नोट' नामसे भी कुछ भाव दिए गए हैं; अथवा, कोष्ठकमें कुछ लिखा गया—यह सब (प्रायः) सम्पादकीय टिप्पण हैं। कहीं कहीं 'खर्रा', 'मा० त० भ०' या 'पं० रा० कु०' शब्द भी आये हैं। यह भाव भी पं० रामकुमारजीके ही हैं। पं० रामकुमारजीके साफ़ किए हुए खर्रोंके भाव टिप्पणीमें हैं। इनके अतिरिक्त उनके कुछ पुराने फुटकर खर्रे भी श्री पं० पुरुषोत्तमदत्तजीसे प्राप्त हुए थे; उनके भाव 'खर्रा' 'मा० त० भ०' या 'पं० रा० कु०' से इस काण्डमें जनाये गए हैं।

पाद-टिप्पणीमें अन्य कई प्रकाशित टीकाओंके भाव उन टीकाओंके नामसे दे दिए गए हैं। टीकाओंमें टिप्पणी और खर्रोंमें दिए हुए भावोंके अतिरिक्त बहुत कम भाव मिलते हैं। ये सब टीकाएँ मिलकर भी टिप्पणीके दशांशके बराबर मुश्किलसे होंगी, यह बात प्रिय पाठक स्वयं देख लेंगे। दूसरे पंडितजी जो भाव कहते हैं उनका समर्थन वा प्रमाणभी वे प्रायः गोस्वामीजीकेही ग्रन्थोंसे देते जाते हैं—यह उनकी शैली सर्वत्र पाठकों ने देखी ही है। उन्होंने कपोलकल्पित या केवल श्रोताओंको रिझानेके लिए रोचकमात्र भावों का आदर नहीं किया है। यही कारण है कि विद्वान् साहित्यिज्ञ और रामायणके सज्ञान विद्यार्थी उनका आदर करते हैं यह बात विचारकर इस काण्डमें उनके भावोंको अन्यसे पृथक् ही दिया गया है जिसमें जो लोग केवल पंडितजीके भाव-वाटिकाकी सैर करना चाहें वे टिप्पणीमात्र पढ़ते जायँ और पाद-टिप्पणी छोड़ दें।

सुन्दरकाण्डका तिलक पूरा छप चुका था उस समय श्रीसीतारामकृपा और उनकी इच्छासे प्रोफेसर श्री पं० रामदास गौड़ एम० एस सी० से भेंट हुई। उन्होंने पूरी टिप्पणी देखकर कुछ अपने वैज्ञानिक विचारों का सत्संग-लाभ संपादकको दिया। उन विचारोंको साहित्यिज्ञों एवं आजकल पाश्चात्य पंडिताईसे जिन महानुभावोंके हृदय प्लावित हो रहे हैं उनके लिए विशेष आवश्यक समझकर एक परिशिष्ट भाग छपाकर इसीके साथ अंतमें लगा दिया है। परिशिष्टके छपनेके समय ज्ञान, भक्ति एवं धार्मिक लेखोंसे पूर्ण प्रसिद्ध मासिक पत्र 'कल्याण' (गोरखपुर) के सम्पादक श्रीयुत् हनुमानप्रसाद पोद्दारजीने 'विभीषण शरणागति' पर एक लेख (जो कल्याणमें अभी प्रकाशित नहीं हुआ है) कृपा करके भेज दिया। उस लेखमें केवल वह भाग परिशिष्ट में दिया गया है जो टिप्पणीमें नहीं है। साथ ही और भी विचार जो पूर्व छूट गए थे यत्र तत्र दोहा और पृष्ठके अंक दे देकर छपाये गए हैं। पीयूषके प्रेमी सज्जन परिशिष्टके भावोंको उचित स्थानोंमें पढ़ लें। परिशिष्टके लिए सम्पादक दोनों महाशयों को हार्दिक धन्यवाद देता है और प्रार्थना करता है कि श्रीसीतारामकृपासे ऐसीही कृपा लंका और उत्तरकाण्डोंकी टीकामें करते रहें।

इस कांडमें प्रायः श्रीभागवतदासजीकी हस्तलिखित प्रतिलिपिसे, जो प्रसिद्ध महात्मा श्री १००८ पं० जानकीवर शरणजी महाराजके परमकृपापात्र शिष्य श्री १०८ पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज, सद्गुरुसदन श्रीअयोध्याजीसे संपादकको प्राप्त हुई, पाठ लिया गया है। जहाँ कहीं अन्य प्राचीन प्रतिलिपियोंका पाठ उत्तम समझा गया वहाँ पाठान्तरमें श्रीभागवतदासजीका पाठ भी दे दिया गया है। छपनेमें जो श्रीरामचरित-मानसके पाठमें यत्र तत्र अशुद्धियाँ आ गई हैं उनका शुद्धिपत्र दिया जा रहा है। पाठक उससे पाठ कृपया प्रथमही शुद्ध कर लें।

संस्कृत ग्रन्थोंके समानार्थी श्लोकोंमें बाबू रणबहादुरसिंहजीकी टीकासे विशेष सहायता ली गई है।

श्री पं० पुरुषोत्तमदत्तजी एवम् मुं० हरिजनलालजीसे मालूम हुआ कि श्री पं० रामकुमारजीकी यह अभिलाषा थी कि उनकी टीका छप जाय पर यह अभिलाषा उनके साथ ही गई। और उनकी टीकाका कुछ भाग यत्र तत्र जिस तिस रामायणीके हाथ जो लगा वह उसे गुप्त रखने लगा।........पर सम्पादक यह बखूबी समझता है, उसको पूर्ण

विश्वास रहा है कि यह कार्य प्रभुही कर या करवा रहे हैं, संपादक तो एक निमित्त मात्र है—'केनापि देवेन हृदि-स्थितेन यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि'। वे प्रभु स्वयं ही अनायास जो जो सामग्री आवश्यक है एकत्र कर देते हैं। पंडित रामकुमारजीका पूरा खज़ाना उन्होंने लाकर दे दिया। प्रकाशित (परन्तु जो उपलब्ध नहीं हैं वे) टीकाएँ अनायास बिना मूल्य ही आ प्राप्त हुईं। जिससे संपादकका विश्वास और भी दृढ़ हो गया है।

श्री पं० रामकुमारजीकी आत्मा अपनी अभिलाषाकी, श्रीसीतारामकृपाद्वारा, पूर्ति देखकर संतुष्ट हो और इस दीन बालकको श्रीसीतारामचरणारविन्दमें दृढ़ अमल अविरल अनुराग प्रदान करे।

इस अभिलाषाकी पूर्तिमें विशेष सहायक श्री पं० पुरुषोत्तमदत्त, पं० धर्मदत्त और श्री मुं० हरिजनलाल जी हुए हैं और श्रीरामायणी रामसुन्दरदासजीभी।

अन्तमें आप सज्जनोंसे विनीत प्रार्थना है कि यदि आपको इस तिलकसे कुछ लाभ हो और आप प्रसन्न हों तो इस दीनको भी यह प्रसाद दें जिसकी प्रार्थना है—'सीतारामचरण रति मोरे। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे।'

श्रीजनकसुताशरण शीतलासहाय।

श्रीरूपकलादेव्यै नमः श्रीहनुमते नमः

द्वितीय संस्करणके सम्बन्धमें दो शब्द

मानस प्रेमियोंकी सेवामें आज पूरे तीन वर्षपर मैं श्रीरामचरितमानसके पंचम सोपान (सुंदरकांड) के 'मानस-पीयूष' तिलकका परिवर्धित, संशोधित तथा परिमार्जित द्वितीय संस्करण भेंट कर रहा हूँ।

प्रथम संस्करणके समय दैवयोगसे सुंदरकांड प्रथम छपा था तब किष्किंधा, वही घटना इस बार हुई। सुन्दरकांड पहले छपा और किष्किन्धा कांड पीछे।

इस संस्करणमें प्रथम संस्करणके सब भाव तो हैं ही, साथ ही आधुनिक प्रसिद्ध रामायणी मानस-राजहंस श्री पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी (काशी), प० प० प्र०स्वामी श्रीप्रज्ञानानन्द सरस्वतीजी (उरुण इसलामपुर, दक्षिण सतारा) जो दक्षिण महाराष्ट्र देशोंमें श्रीरामचरितमानसका, मराठी भाषामें व्याख्या करके, प्रचार कर रहे हैं तथा वेदान्तभूषण साहित्यरत्न पं० रामकुमारदासजी रामायणी (जो लोगोंकी शंकाओंके समाधान तथा दुष्ट कुतर्कोंके उत्तरके लिये सदा सन्नद्ध रहते हैं) के प्रकाशित एवं अप्रकाशित टिप्पण, जो उन्होंने मानस-पीयूषके लिये लिखकर भेजे थे, आपको विशेष रूपसे मिलेंगे।

स्वर्गीय श्रीराजबहादुर लमगोड़ा (श्रीराजारामशरण) जीके पर्याप्त अप्रकाशित टिप्पण जो उन्होंने सुंदरकांडके लिए लिखे थे पाश्चात्यसाहित्यके विद्वानोंके तो विशेष कामके होंगे। इनसे वे स्वयं अनुमान कर सकेंगे कि विश्वसाहित्यमें श्रीरामचरितमानसका क्या स्थान है!

उपर्युक्त चारों महानुभावोंने 'मानस पीयूष' के प्रथम संस्करणको पढ़कर आवश्यकतानुसार टिप्पण भी दिये हैं। उनके विचार नवीन थे अतः इस संस्करणमें उनका भी उपयोग कर लिया गया है।

श्रीनंगे परमहंसजी (बाँध गुफ़ा, प्रयाग) ने भी 'मानस-पीयूष' के प्रथम संस्करणमें आये हुए विभिन्न विद्वानोंके मतोंकी सुंदर आलोचना की थी और अपने उस ग्रंथकी एक प्रति उन्होंने मुझे भी दी थी। मैंने उसका भी पूरा उपयोग इस संस्करणमें किया है।

इसके अतिरिक्त दूसरा संस्करण प्रस्तुत करते समय जो कुछ और सूझा मैंने उसे भी लिख दिया है।

इस कांडमें एक बात नई आपको मिलेगी। वह कवियों, पिंगल आदिके ज्ञाताओंके कामकी होगी। मेरी समझके बाहर होते हुए भी मैंने उसे दिया है। संभव है कि वह मानसकी कुछ चौपाइयोंमें मात्राकी न्यूनताका समाधान कर सके। वह है श्रीव्रजचन्द्र कविजी (बनारस) का १०।१।१६३७ का छपाया हुआ सुन्दरकांड। इसमें उन्होंने प्रत्येक चौपाईके छंदका नाम दिया है। अन्तिम पन्नेके अन्तमें यह लेख है—

'इति श्रीरामचरितमानसे कलिकलुष विध्वंसने ज्ञान संपादनो नाम पंचमः सोपानः। शुभमस्तु सिद्धिरस्तु। श्रीसम्वत् १६३८ कार्तिक कृष्ण १० भौम। सोरठा। छन्द जो या सोपान कृत श्रीगोस्वामी सुखद। तिनके नाम सुजान

कियो प्रगट ब्रजचन्द जन ॥ निज यन्त्रालय माहिं छपवायो कार अतिहि श्रम ।....छन्दनिलच्छन नाम जाहिर पिंगल दास कृत । यातें इहाँ न काम छन्द निलच्छन नाम को ॥ दोहा । नामहि ते लच्छन समुझि लच्छन ही ते नाम । या समुझत हित दासकृत पिंगल ललित ललाम ।'

इस संस्करणमें श्रीरणबहादुरसिंहजीकी टीकाके प्रायः सभी श्लोक अप्रमाणिक समझकर निकाल दिये गए हैं ।

दास उन सभी प्रेमी पाठकों तथा सन्तोंको हार्दिक धन्यवाद देता है जिन्होंने दासकी अत्यंत रुग्ण वृद्धा-वस्था देखकर बारंबार आशीर्वाद भेजे हैं । उन्हींके आशीर्वादोंसे यह सेवा हो रही है ।

सबको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि बालकांडके प्रथम २१ दोहाओंका तीसरा संस्करण अब नहीं रह गया । वे ३८४ पृष्ठ अब पुनः छप रहे हैं ।

आशा है सुंदरकांडका प्रस्तुत संस्करण श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासजीके भक्तों एवं प्रेमियोंकी जिज्ञासा का पूरा समाधान कर सकेगा ।

सुंदरकाण्डमें आए हुए प्रकरणोंकी सूची

श्रीगुरवे नमः

कुछ संकेताक्षरोंका विवरण

अ.—अयोध्याकांड,
(संस्कृत ग्रंथोंका) अध्याय
अ. दी.—अभिप्राय दीपक
अ. दी. च.—अभिप्रायदीपकपर श्रीजानकीशरणजीकृत टीका अभिप्रायदीपक चक्षु
अ. रा.—अध्यात्मरामायण
आ.—अरण्यकाण्ड
आ. रा.—आनन्द रामायण
उ.—उत्तरकांड, उपनिषद्
क.—कवितावली
करु., करुणासिंधुजी—श्री १०८ बाबा रामचरणदासकृत आनन्द लहरी टीका
का.—काशिराजकी प्रतिलिपि
कि.—किष्किंधाकांड
को. रा.—कोदवरामजीका गुटका
खर्रा—पं. रामकुमारजीके प्रथम अवस्थाकी हस्तलिखित टिप्पणी
गी.—गीतावली
गीता—श्रीमद्भगवद्गीता
गी. प्र., गीता प्र.—गीताप्रेस गोरखपुर
गौड़जी—प्रोफेसर श्रीरामदास गौड़जी एम. एस सी. काशी
चौ.—चौपाई, अर्धाली
छ.—मुं. छक्कनलालजी रामायणी
टि.—टिप्पणी
तै. उ.—तैत्तिरीय उपनिषद्
दीनजी—श्रीलाला भगवानदीनजी हिंदी लेक्चरार काशी विश्वविद्यालय
दो.—दोहावली, दोहा
नं. प.—श्रीनंगे परमहंस बाबा अवध-विहारीदासजी, प्रयाग
न. प्र., ना. प्र.—नागरी प्रचारिणी सभाका रामचरितमानसका प्रथम संस्करण,
पं.—श्रीसन्तसिंहजी पंजाबी ज्ञानी अमृतसर कृत 'मानस भाव प्रकाश' टीका जो एक बार १९०१ में छपी थी। संवत् १८७५ से १८८८ तक १३ वर्ष में लिखी गई।
प. प. प्र.—स्वामी श्री प्रज्ञानानन्द सरस्वती उरुण इसलामपुर, दक्षिण सतारा।
पं. रा. कु.—पं. रामकुमारजीके खर्रे
पं. रा. गु. द्वि.,—पं. रामगुलाम द्विवेदीजी मिरजापूरीकी प्रतिलिपि जो वंदनपाठकजीने उतारी थी
प. पु.—पद्मपुराण
पाँ., पाँड़ेजी—मुं. रोशनलाल कृत प्रयागनिवासी श्रीरामबख्श पाँड़े रामायणीके कथाके भाव
पु.—पुराण
प्र.—रामायणपरिचर्या परिशिष्ट प्रकाश श्री बाबा हरिहरप्रसादजी कृत (रामनगर, काशी)
प्र. रा.—प्रसन्नराघव नाटक
प्र. सं.—मानस पीयूषका प्रथम संस्करण।
प्र. स्वामी—स्वामी प्रज्ञानानंद सरस्वतीजी
बं. पा.—मानसी वंदन पाठकजी रामायणी
बा.—बालकांड
बा. मं. सो.—बालकांड मंगलाचरण सोरठा
वीर, वीरकवि—पं. महावीरप्रसाद मालवीयकी टीका
ब्र. चं.—कविवर ब्रजचन्द्रजी
भा.—श्रीमद्भागवत पुराण
भा. दा.—श्रीभागवतदासजीकी प्रतिलिपि
मं.—मङ्गलाचरण
मं. श्लोक.—मंगलाचरणका श्लोक
मनु—मनुस्मृति
मा. त. भा.—मानस तत्त्वभास्कर (पं. रामकुमारजी की टीकाका नाम)
मा. त. सु.—मा. त. भा. सुंदरकांड पर मानसतत्व सुधार्णवीया व्याख्या सम्वत् १९७५ की छपी
मा. म.—पं. शिवलालपाठक रचित मानसमयंककी

टीका श्रीइन्द्रदेव नारायणसिंहकृत
मा. शं.—श्रीमन्मानसशंकावली (महादेवदत्तकृत)
मा. शं. म.—मुं. जंगबहादुरसिंह (बाबा जयरामदासजी) कृत मानसशङ्का मोचन
मा. शं. स.—गणपति उपाध्यायकृत मानसशंका समाधान
मा. सं.—मानस पीयूषका संपादक
मा. हं.—श्रीमंत यादवशङ्कर जामदार कृत 'मानस हंस'
यु. कां.—युद्धकांड
र. ब.—श्रीरणबहादुरसिंहकी टीका
रा.—रामायण
रा. कु.—पुं. रामकुमारजी
रा. गु. द्वि.—पं. रामगुलामद्विवेदीजी
रा. प.—श्रीदेवतीर्थ स्वामी काष्ठजिह्वाजी कृत रामायण परिचर्या
रा. प. प.—रा. प. का परिशिष्ट राजा ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंहजी काशीनरेश कृत
रा. प्र.—रा. प. प. पर प्रकाश बाबा हरिहरप्रसादजी कृत। संवत् १९५५ में छपा।
रा. ब. दा.—श्रीअयोध्याजी बड़ी छावनीके प्रसिद्ध रामायणी रामबालकदासजी।
रा. व. श.—श्रीजानकीघाटके प्रसिद्ध महात्मा पं. श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज।
रा. शं., रा. शं. श.—श्री बाबा रामशंकरशरणजी व्यास, हनुमतनिवास।
लं.—लंकाकांड
लं. मं.—लंकाकांड मंगलाचरण
वा., वा. रा.—वाल्मीकीय रामायण
वाल्मी.—वाल्मीकीय रामायण
वि., विनय—विनयपत्रिका
वि. त्रि.—मानसराजहंस पं. विजयानंद त्रिपाठी, काशीके अप्रकाशित टिप्पण।
वे. भू.—वेदान्तभूषण साहित्यरत्न पं. श्री रामकुमार-दासजी रामायणी, श्रीअयोध्याजी
बृह.—बृहदारण्यक उपनिषद
वै.—श्रीवैजनाथजीकृत मानसभूषण टीका सन् १८९० ई० की छपी (प्रथम संस्करण)
वै. सं.—वैराग्य संदीपिनी
श. सुं. दा.—बाबू श्यामसुंदरदासजी ना. प्र. सभाकी टीका
श. सा.—ना. प्र. सभाका हिन्दी शब्द सागर कोष प्रथम संस्करण।
शीला, शिला—क्षत्रियकुल गौर अमेठिया वंशके संभवतः सत्यनामी संत बाबा हरिदासजीकी टीका 'शीलावृत्ति' के भाव। (सं० १९७४ में साकेतवास हुआ। पुस्तकके अंतमें उनके मसलविवेकके कई सौ कवित्त हैं।)
श्री. मि.—पं० श्रीधरमिश्रके भाव मा. शं. से
स.—सर्ग
सुं.—सुंदर कांड
हनु. हनु. ना.—हनुमन्नाटक व्रजरत्न भट्टाचार्यकृत टीका सहित, पंचमावृत्ति सं० १९८१

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

स्मरणीय कुछ विषयों और शब्दों की अनुक्रमणिका

श्रीगुरवे नमः ।

अखिल भारतीय श्रीहरि-नाम-यश संकीर्त्तनके संचालक साकेतनिवासी अनन्त श्रीसीताराम-शरण भगवानप्रसाद (श्रीरूपकला) जीने अपने प्रेमियोंको सुन्दरकाण्डके पाठकी जो विधि बताई थी वह प्रेमियोंके भेंट की जाती है—

१—पाठको उन्होंने १३ तरंगोंमें विभक्त किया है। पाठका आरम्भ किष्किन्धाकांडके अन्तिम दोहा ३० की चौ० ३ "कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेउ बलवाना॥" से करना चाहिए। यहाँसे लेकर सुन्दरकांडके अन्त तकका पाठ सुन्दरकाण्डका विधिपूर्वक संपूर्ण पाठ है। इसीसे प्रथम तरंगका 'कहइ रीछपति....' यहाँसे आरम्भ होता है और इति सुन्दरकांड दोहा ३ पर है। अब सब तरंगोंकी इति दी जाती है—

तरंग	इति
(१)	पुर रखवारे देखि बहु कपि मन कीन्ह विचार।....पैसार॥ सुं० दोहा ३
(२)	अस मैं अधम सखा सुनु मोहूपर रघुबीर।....नीर॥ दोहा ७
(३)	कपिके बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।....दास॥ दोहा १३
(४)	देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकी जाहु।....खाहु॥ दोहा १७
(५)	मोह मूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान।....भगवान॥ दोहा २३
(६)	जनकसुतहि समुझाइ करि बहुबिधि धीरज दीन्ह।....कीन्ह॥ दोहा २७
(७)	एहि बिधि जाइ कृपानिधि। उतरे सागर तीर।....बीर॥ दोहा ३५
(८)	राम सत्य संकल्प प्रभु सभा काल बस तोरि।....खोरि॥ दोहा ४१
(९)	श्रवन सुजस सुनि आएउँ प्रभु भंजन भव भीर।....रघुबीर॥ दोहा ४५
(१०)	जो संपति सिव रावनहिं दीन्ह दिये दसमाथ।....रघुनाथ॥ दोहा ४९
(११)	की भइ भेंट कि फिरि गए श्रवन सुजस सुनि मोर।....तोर॥ दोहा ५३
(१२)	बिनय न मानत जलधि जड़ गए तीन दिन बीति....प्रीति॥ दोहा ५७
(१३)	सकल सुमंगल दायक....दोहा ६०। इति रामचरित मानसे....।

२—पाठ करते समय प्रत्येक तरंगकी इति वाले दोहेमें—"महाबीर बिनवउँ हनुमाना। रामजासु जसु आपु बखाना॥ कवन सो काज कठिन जगमाहीं। जो नहिं तात होइ तुम्ह पाहीं॥ प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ज्ञान घन। जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर।"—इन चौपाइयोंका संपुट देते जायँ।

३—मंगलवारको गुग्गुलकी धूप दें, बन्दरोंको चने खिलावें, पुष्पमाला और ऋतुके फल, केले, नारियल तथा मोदक आदि मिष्टान्न श्रीसीतारामार्पितको श्रीहनुमान्‌जीको निवेदन करें। यह विधि करके पाठ प्रारम्भ करें।

(क) प्रदि दिन 'कहइ रीछपति....'से लेकर सुन्दरकांडकी इति तक पाठ 'दैनिक' पाठ है।

(ख) प्रतिदिन पूरा पाठ न हो सके तो अठवारेमें चार आवृत्ति करले। विधि यह है—मंगलको पूरा पाठ तरंग १ से १३ तक करे। बुधको तरंग १ से ४ तक। गुरुवारको तरंग ५ से ८ तक। शुक्रको तरंग ९ से १३ तक। शनिको तरंग १ से ४ तक। रविवारको तरंग ५ से ८ तक। सोमवारको तरंग ९ से १३ तक। आठवें दिन मंगलको फिर संपूर्ण पाठ आदिसे अन्त तक तेरहों तरंगोंका।

(ग) जिनको इतना भी अवकाश नहीं, वे एक पक्ष (१५ दिन) में तीन आवृत्तियाँ इस तरह कर लें—प्रथम मंगलवारको पूरा पाठ तेरहों तरंगोंका करें। फिर तेरह दिनमें क्रमसे एक-एक तरंगका पाठ करके एक आवृत्ति पूरी कर लें। पन्द्रहवें दिन मंगलको फिर संपूर्ण पाठ आदिसे अन्त तक (तेरहों तरंगोंका) करें।

ऊपर जो विधियाँ १, २, ३ में लिखो गई हैं वे (क) (ख) (ग) तीनोंमें लागू होंगी।

इति शुभम्। श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

। श्रीः ।

ॐ नमो भगवते श्रीमते रामानन्दाचार्याय ।

श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते रामचन्द्राय नमः ।

ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्य्यायै श्रीरूपकलादेव्यै ।

श्रीसद्गुरु भगवच्चरणकमलेभ्यो नमः ।

ॐ नमो भगवते मङ्गलमूर्तये कृपानिधये गुरवे मर्कटाय श्रीरामदूताय सर्वविघ्नविनाशकाय क्षमामन्दिराय शरणागतवत्सलाय श्रीसीतारामपदप्रेमपराभक्तिप्रदाय सर्वसंकटनिवारणाय श्रीहनुमते ।

ॐ साम्बशिवाय नमः । श्रीगणेशाय नमः । श्रीसरस्वत्यै नमः ।

परमाचार्य्याय श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासाय नमः ।

श्रीरामचरितमानसाखिलटीकाकर्तृभ्यो नमः ।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गत नानाविधभावाधारग्रन्थकर्तृभ्यो नमः ।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गत नानाविधभावसूचकमहात्मभ्यो नमः ।

श्रीसीतारामाभ्यां नमः श्रीभरताय नमः श्रीलक्ष्मणाय नमः श्रीशत्रुघ्नाय नमः

अथ श्री

मानस - पीयूष

(व्याख्या - समन्वित)

श्रीरामचरितमानस पंचम सोपान

(सुन्दरकांड)

मंगलमूरति मारुतनंदन । सकल अमंगल मूल निकंदन ।
पवनतनय संतन हितकारी । हृदय बिराजत अवधबिहारी ।

श्लोक

शांतं शाश्वतमप्रमेयमनघं गीर्वाण* शांतिप्रदं । ब्रह्माशंभुफणींद्रसेव्यमनिशं वेदांतवेद्यं विभुं ॥
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं । वंदेऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूड़ामणिं ॥१॥

अन्वय—अहं शान्तं, शाश्वतं, अप्रमेयं, अनघं, गीर्वाणशान्तिप्रदं, अनिशं ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यं, वेदान्तवेद्यं, विभुं, जगदीश्वरं, सुरगुरुं, मायामनुष्यं हरिं, करुणाकरं, भूपालचूड़ामणिं, रामाख्यं रघुवरं वन्दे।१।

अर्थ—शान्त, सनातन, प्रमाणरहित, निष्पाप, देवताओंको शांति देनेवाले, ब्रह्मा, शम्भु और शेषजीसे निरन्तर सेवित, वेदान्तसे जाननेयोग्य, व्यापक एवम् समर्थ, जगत्के ईश्वर (स्वामी), देवताओंके

---

* निर्वाण—(ना० प्र०, का०, गी० प्रे०) । निर्वाण पाठसे अर्थ होगा 'मोक्ष और शांति वा मोक्ष-रूपी शान्ति देनेवाले' । यथा—'निर्वानदायक क्रोध जाकर' । गीर्वाण—भा. दा. । प. प. प्र. 'निर्वाण' को उत्तम मानते हैं । वे कहते हैं कि देवताओंको तो शांति कभी नहीं मिल सकती, क्योंकि वे स्वार्थी होते हैं । शांति प्राप्त होनेपर अवस्था एकरस रहती है ।

गुरु, माया अर्थात् अपनी इच्छासे मनुष्यरूप धारण किये हुए, हरि, करुणाकी खानि, राजाओंमें शिरोमणि, रघुकुलमें श्रेष्ठ, जिनका राम ऐसा नाम है, उनकी मैं वन्दना करता हूँ। १।

टिप्पणी—१ (क) 'शान्तं' इति। (क) श्रीरामजी कैसे शान्त हैं, यह 'राज सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयेउ न हरष हरासू। २। १४९। ७।' तथा 'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवास-दुःखतः। मुखाम्बुज श्रीरघुनन्दनस्य...। मं० श्लो० २।' से स्पष्ट है। शान्तसे इंद्रियोंपर अधिकार, अक्रोधी, तथा उनके दर्शनोंसे दूसरोंको शांतिकी प्राप्ति होना इत्यादि जनाया। वाल्मी० २।१ में 'स तु नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते। उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते। १०।' यह जो कहा है वह 'शांत' की ही व्याख्या है। नारद तथा भृगुजी और परशुरामजीके प्रसंगोंमें भी शांति देख लीजिए। (ख) इस विशेषणसे ईश्वरता (ऐश्वर्य) सूचित की। शांत रसकी उपमा ईश्वरकी दी जाती है। यथा—'बैठे सोह कामरिपु कैसें। धरें सरीरु सांतरसु जैसें। १। १०७। १।'

(ख) शाश्वत=निरंतर, सनातन, यथा—'जो तिहुँ काल एकरस अहई। १। ३४१। ८।' अप्रमेय=प्रमाणोंसे परे; अपरिमित; अनंत। यथा—'आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा।... सोइ दसरथ सुत भगतहित कोसलपति भगवान।१।११८।' अनघं=निष्पाप। यथा—'अनघ अनेक एक करुनामय। ७। ३४। २।', 'करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा। १। १३७। ४।' अर्थात् आप पाप पुण्यसे परे हैं। 'गीर्वाण-शान्तिप्रदं' अर्थात् देवताओंको शांति देते हैं। यथा—'असुर मारि थापहिं सुरन्ह...। १। १२१।', 'जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो। ६। १०६। ८।', 'यह दुष्ट मारेउ नाथ भए देव सकल सनाथ।'

इसपर यह शंका होती है कि—'बिना राक्षसोंको मारे देवताओंको शांति नहीं मिलती और राक्षसोंके मारनेमें पाप होता है। तब 'अनघ' कैसे कहा ?' समाधान यह है कि राक्षसोंके मारनेमें पाप नहीं होता। वे अपने पापसे आपही नाशको प्राप्त होते हैं। यथा—'बिस्व द्रोहरत यह खल कामी। निज अघ गयउ कुमारगगामी। ६। १०६। ४।' इंद्रने भी ऐसा ही कहा है—'परद्रोहरत अति दुष्ट, पायो सो फल पापिष्ट।६।११२।' [☞ बालकांड दोहा १७ में 'सिद्धावस्था और व्यवहार' इस लेखमें विस्तृत रूपसे इस विषयपर प्रकाश डाला गया है। पाठक वहीं देखें।]

(ग) 'ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं' इति। ब्रह्मा, शम्भु और शेष ये तीनों निरन्तर श्रीरामजीकी सेवा करते हैं, यथा—'सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान। १। १२।' पुनः, ब्रह्मा, शंभु और शेषको कहकर तीनों लोकोंसे सेवित जनाया। ब्रह्मासे ब्रह्मलोक, शम्भुसे मृत्युलोक (मर्त्यलोक) और शेषसे पाताललोक। पुनः, रामजीके दो स्वरूप हैं। एक ऐश्वर्य और दूसरा माधुर्य। ऐश्वर्यरूपमें ब्रह्मादिकोंको सेवक कहा। अब माधुर्यरूपमें उनकी सेवा कहते हैं। अर्थात् श्रीरामजीके ऐश्वर्यरूपकी सेवा तो श्रीब्रह्माजी, श्रीशंकरजी और श्रीशेषजी निरन्तर अपने इसी रूपसे किया करतेही हैं। पर इतनेहीमें सन्तोष नहीं कर लेते। जब श्रीरामजी मनुष्यरूपसे अवतार ग्रहण करते हैं तबभी ये तीनों उनके इस माधुर्यरूपकीभी सेवा करनेके लिये स्वयम् भी अवतरित होते हैं। श्रीब्रह्माजी जाम्बवान्‌रूप और शंकरजी हनुमान्‌रूपसे आकर सेवा करते हैं। प्रमाण यथा—'जानि रामसेवा सरस समुझि करब अनुमान। पुरुषा ते सेवक भये हर ते भे हनुमान। दोहावली। १४३।' शेषजी लक्ष्मणरूपसे अवतरित होते हैं, यथा—'जो सहससीसु अहीसु महिधरु लखनु। २-१२६।' ये तीनों, मनसा, वाचा, कर्मणासे श्रीरघुनाथजीकी निरंतर सेवा करते हैं। यथा—'हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी।४-२६।' (ये ब्रह्माके अवतार जाम्बवान्‌जीके वचन हैं)। यह वचनकी सेवा है। पुनः यथा—'मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल बहई। उ० ५०।' (यह महाशंभुके अवतार श्रीहनुमान्‌जीकी इस पृथ्वीपर श्रीरघुनाथजीकी लीलासमाप्तिके समयकी सेवा है। किष्किंधासे लेकर अंततक बराबर इनकी सेवा है)। यह कर्मकी सेवाका एक उदाहरण है। पुनः यथा—'चापत चरन लषन उर लाये। सभय सप्रेम परम सचु पाये।१। २२६।' (यह श्रीलक्ष्मणजीकी सेवा है। जन्मसे अन्ततक

बराबर इनकी सेवा है। यथा—'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी। (१-१९८।'); यह मनकी सेवा है [इससे यह जनाया कि जिनको उद्भव, पालन और संहारकी शक्ति है, जो ऐसे महान् समर्थ हैं वे भी श्रीरामजीकी निरंतर सेवा करते हैं जिसमें मायासे बचे रहें, तब इनसे बढ़कर सेव्य कौन होगा? हम सबका कर्तव्य है कि उनका भजन करें, नहीं तो अपार भवसागरमें पड़ना होगा। यथा—'भवसिंधु अगाध परे नर ते। पद पंकजु प्रेम न जे करते। अति दीन मलीन दुखी नितही। जिन्हके पद पंकज प्रीति नहीं। ७-१४।' (प. प. प्र.)]
(घ) वेदान्तवेद्यं=वेदान्तसे जानने योग्य। यथा—'ज्ञानगम्य जय रघुराई। १। २११।' विभु=समर्थ। यथा—'प्रभु समरथ कोसलपुर राजा। ३। १७।' रामाख्यं, यथा—'वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिं।' (बा. मं. श्लो. ६ देखिये)। जगदीश्वर हैं, यथा—'ते नररूप चराचर ईसा। ३। २५।', 'राम रजाइ सीस सबही के। २। २५४।' [वेदान्तसे जानने योग्य तो हैं, पर 'विभु' होनेसे इस साधनसे ज्ञान होना परम दुर्लभ है क्योंकि 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।' 'तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानहिं भगत। २। १२७।' विभुका भजन असंभव है, अतः 'रामाख्य' कहा। अर्थात् वे विभु होनेपरभी, अनाम अरूप होनेपरभी, भक्तोंपर कृपा करनेके लिए नामरूपधारक बन गए। तथापि वे जगदीश्वर ही हैं, अखिल विश्वपर उनकी ही सत्ता चलती है। (प. प. प्र.)]
सुरगुरु हैं, यथा—'जगद्गुरुं च शाश्वतं। ३। ४।' गुरु कहनेका भाव यह है कि गुरु सर्वोपरि हैं। यथा—'तुम त्रिभुवन गुरु बेद बखाना। १। १११।' पुनः यथा—'जय जय सुरनायक जनसुखदायक प्रनतपाल भगवंता।१।१८६।'
(ङ) 'मायामनुष्यं हरिं'=माया (निज इच्छा) से मनुष्यरूप धारण किये हुए हरि हैं। यथा—'कृपासिंधु मानुष तनुधारी' [मायाका एक अर्थ 'इच्छा' है। इस अर्थका समर्थन मानससेही हो जाता है। यथा—'मम इच्छा कह दीनदयाला। १। १३८।', 'इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे। १।१५२।', 'निज इच्छा प्रभु अवतरइ। कि० २६।' दूसरा अर्थ 'माया मनुष्यं हरिं' का है कि, "मायाके कारण मनुष्य सरीखे देख पड़ते हैं, पर हैं 'हरि' अर्थात् भक्तोंके दुःखके हरनेवाले।" मनुष्यरूप होना यह है कि बाल, कुमार, किशोर, युवा आदि अवस्थाएँ धारण कर लेते हैं और मनुष्योंकी तरह विरह विलाप आदि चरित भी करते हैं। तीसरा अर्थ 'कृपा' है, यथा—'कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं। १। १२२।', 'भये प्रगट कृपाला' इत्यादि। चौथा अर्थ है ज्ञान—'माया वयनुं ज्ञानम्'। गीता ४। ६ के 'सम्भवाम्यात्ममायया' में के 'माया' शब्दका यही अर्थ है। अर्थात् मैं अपने ज्ञानसे—अपने संकल्पसे प्रकट होता हूँ। भाव यह कि आप अन्य साधारण मनुष्योंकी भाँति जन्म नहीं लेते। आप अपने स्वभावमें स्थित संपूर्ण ईश्वरीय स्वभावका त्याग न करते हुए अपनेही रूपको अपने संकल्पसे मनुष्यादिके सदृश आकारमें करके उन मनुष्यादिके रूपोंमें प्रकट होते हैं। (श्रीरामानुजभाष्य)। मिलान कीजिये, 'माया मानुषरूपिणौ रघुवरौ' (कि० मं० श्लो० १)] (च) करुणाकर=करुणाके आकर (खानि) तथा करुणाके करनेवाले। यथा—'करुनाकर राम नमामि मुदा। ६। ११०।' रघुबर=रघुकुलश्रेष्ठ। यथा—'रघुकुल मनि, दसरथके जाये', 'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायेउ माथ। १। ११६।' भूपालचूड़ामणि=राजाओंमें शिरोमणि, यथा—'भूपमौलिमनि मंडन धरनी। ७। ३५।', 'भूमि सप्तसागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला। ७। २२।' हरि शब्दसे अनेक 'हरि' का बोध होता है। यथा—'हरिरिन्द्रो हरिर्भानुः।' इस भ्रमके निवारणार्थ 'रघुबर' विशेषण दिया। पर 'रघुबर' चारो भाई हैं। अतः 'भूपालचूड़ामणि' और 'रामाख्यं' दोनों कहकर रघुकुलमें अवतीर्ण श्रीरामजीकाही बोध कराया। यथा—'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकरकुलरीति सुहाई।' ['हरि' शब्दसे जनाया कि जीवोंके समस्त क्लेशोंके, समस्त पापोंके तथा समस्त जीवोंके मनको हरनेवाले हैं। 'क्लेशं हरतीति हरिः'। यथा—'हरिर्हरति पापानि', 'कथ्यते स हरिर्नित्यं भक्तानां क्लेशनाशनः।' (महारामायण।५२।९२)। विशेष बा० मं० श्लो० ६ और १८ (१) 'रामनाम रघुबरको' देखिये]।

टिप्पणी—२ शान्तकी पुष्टता एकरस होना है। जो सदा एकरस है वही शान्त है। एकरसकी पुष्टताकेलिये शाश्वत कहा और इसकी पुष्टताकेलिये अप्रमेय कहा। जो सदा है वह अवश्य प्रमाणरहित होगा। जो अप्रमेय है वह अनघ अवश्य होगा और इसीसे वह देवताओंको शान्ति दे सकेगा तथा

ब्रह्मादिसे निरंतर सेव्यमान होगा। इनसे सेवित होनेके कारण वेदान्तद्वारा कथित है। अतएव समर्थ है। इसीसे उसका 'राम' ऐसा नाम है और वह जगदीश्वर है। जगदीश्वर होनेसे देवताओंका गुरु है और इसीसे मायामनुष्यरूप धारण करके उनके क्लेशोंको हरता रहता है। पुनः वे हरि हैं, इसीसे मैं वन्दना करता हूँ। वे करुणाकर हैं, इसीसे रघुकुलमें श्रेष्ठ हैं और रघुकुलमें श्रेष्ठ होनेसे भूपालचूड़ामणि हैं। [अन्तमें 'भूपाल-चूड़ामणिं' पद देकर श्रीरामचन्द्रजीमें अपने अभीष्टकी (जो अगले श्लोकमें कहते हैं।—'भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे। कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥') पूर्त्ति करनेकी योग्यता सूचित करके तब आगे याचना करते हैं। जैसे—'नृपनायक दे वरदानमिदं' में 'नृपनायक' कहकर तब ब्रह्माजीने वर माँगा—'चरनांबुज प्रेम सदा सुभदं।' (लं० ११०)]

पं० विजयानंद त्रिपाठी जो निष्क्रिय होनेसे शान्त, प्रागभाव प्रध्वंसाभावके प्रतियोगी होनेसे शाश्वत, स्वयंसिद्ध होनेसे अप्रमेय, पापपुण्यसे परे होनेसे अनघ, दैवीसम्पत्तिवाले अथवा देवताओंकी अशान्ति दूर करनेवाले होनेसे 'गीर्वाण शान्तिप्रद', ब्रह्मा-शम्भु-फणीन्द्रकोभी स्व-स्व-कार्य्य-सम्पादन-शक्तिप्रद होनेसे उनके पूज्य, औपनिषद पुरुष होनेसे वेदान्तवेद्य, जगत्‌के अभिन्न निमित्तोपादान कारण होनेसे विभु, सबके स्वामी होनेसे जगदीश्वर, वेदादि शास्त्रके आदि उपदेष्टा होनेसे सुरगुरु, इच्छामय नरवेष धारण करनेसे माया मनुष्य, दुःखोंके दूर करनेवाला होनेसे हरि, करुणा करके लीला विग्रह धारण करनेसे करुणाकर, रघुकुलमें अवतीर्ण होनेसे रघुवर, राजाओंके आदर्श होनेसे भूपालचूड़ामणि हैं, वही आनन्दसिन्धु सुखराशि राम हैं।

☞ इस श्लोकके पहिले दो पदोंमें निर्गुणरूप, और पिछले दो पदोंसे सगुणरूपका वर्णन किया, इसभाँति सगुण निर्गुणरूप कहा, और चूड़ामणि शब्द देकर चूड़ामणि-प्राप्तिकी कथाका होना ध्वनित किया।

प० प० प्र०—इस श्लोकका संबंध बा. मं. श्लो. ६ 'यन्मायावश...' से है। जो वहाँ यत्सत्त्वात्, अशेषकारणपरं, भवाम्भोधेस्तितीर्षावतांप्लवम्, ब्रह्मादि देवाः हैं वही यहाँ क्रमशः शाश्वतम्, अप्रमेयं, निर्वाणशान्तिप्रदम्, ब्रह्माशंभुफणीन्द्रसेव्यं है। वहाँ ईशं और माया (वशवर्ति) हैं तो यहाँ जगदीश्वरम्, माया-मनुष्यम् है। हरिं रामाख्यं और वंदे अहं दोनोंमें हैं।

इसी तरह लंकाकाण्डके श्लोक १ से इसका घनिष्ट संबंध है—वहाँके 'योगीन्द्रं १, अजितं २, निर्विकारं ३, भवभयहरणं ४, कामारिसेव्यं ५, ज्ञानगम्यं ६, निर्गुणं ७, रामं ८, ईशं ९, सुरेशम् १०, माया (तीतं) ११, ब्रह्मवृन्दैकदेवम् १२, कन्दावदातम् १३, खलवधनिरतं रामं १४, उर्वीशरूपम् १५, और वन्दे १६ की जगह यहाँ शांतं १, शाश्वतं २, अनघं ३, निर्वाणशांतिप्रदं ४, ब्रह्माशंभुफणीन्द्रसेव्यं ५, वेदान्तवेद्यं ६, विभुं ७, रामाख्यं ८, जगदीश्वरं ९, सुरगुरुं १०, माया-मनुष्यं ११, हरिं १२, करुणाकरं १३, रघुवरं १४, भूपालचूड़ामणिं १५ और वन्दे १६ है।—(इस मिलानसे विशेषणोंके भाव स्पष्ट हो जाते हैं)।

प० प० प्र०—बालकाण्डका मं. श्लोक ५ 'उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं ..' इस पंचम सोपानका प्रतिनिधि है, इस कांडका विषय ध्वनित करता है। इस तरह कि 'सर्व श्रेयस्करीं' का अर्थही 'निर्वाण-शांतिप्रदं' है। निर्वाण=मोक्ष। शांति=सुख। सर्वश्रेयमें मोक्ष और भक्ति दोनोंका अंतर्भाव है। सुख विना हरिभक्तिके नहीं मिल सकता। भक्ति ही सुख और शान्ति है। बिना 'क्लेशहरण' के सुख नहीं। उत्तर कांडमें कहा है कि 'दारुन अविद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुबर हरे'। पर वस्तुतः यह कार्य ब्रह्मविद्यारूपी माया सीतासे ही हो सकता है।

नोट—१ यह श्लोक शार्दूलविक्रीडित वृत्तका है। इस वृत्तके चारो चरण उन्नीस-उन्नीस अक्षरके होते हैं। प्रत्येक चरणमें मगण, सगण, जगण, सगण, दो तगण और अंतमें एक गुरु वर्ण रहता है। मानसमें केवल दस वृत्त इसके आए हैं। विशेष बा. मं. श्लो. ६ पृष्ठ ३८, ३९ में देखिए।

नोट—२ 'सुन्दर कांड' इति। इस काण्डका नाम 'सुन्दर' क्यों रक्खा गया? इस प्रश्नको उठाकर

महानुभावोंने उसके उत्तर अपने-अपने मतिके अनुसार दिये हैं जिनमेंसे कुछ नीचे दिये जाते हैं।

(क) पं० श्रीरामकुमारजीका मत है कि 'त्रिकूटाचलके तीन शिखर हैं। एक 'नील' जिसपर लंका बसी है। दूसरा 'सुबेल' जो मैदान है। तीसरा शिखर 'सुंदर' है जिसपर अशोकवाटिका है। इस 'सुंदर' नामक शिखरपरही यह (सुंदर कांडका) चरित्र हुआ है। इसीसे इसका नाम 'सुन्दरकाण्ड' हुआ। किसी-किसी काण्डका नाम स्थानके सम्बन्धसे है, जैसे कि अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर और लंका। और, किसी किसीका नाम चरित्रके सम्बन्धसे है, जैसे बाल, अयोध्या और उत्तर।'

(ख) मानसतत्त्वसुधार्णवीयाव्याख्यामें 'सुन्दर' नामके भाव ये दिये हैं—(१) 'आदिकवि श्रीवाल्मीकिजीने रामचरितकी रचना करनेमें सबसे विलक्षण काव्यशैली अर्थात् जोड़, यमक, छन्द आदि वक्तव्य भावोंकी इसमें सुन्दर रूपसे दरसाया है। अतः 'सुन्दर' नाम रक्खा। उसी प्राचीन शैलीको सभी आचार्योंने ग्रहण किया है।' (२) 'इसमें वर्णनीय सब कुछ 'सुंदर' है॥ यथा, 'सुन्दरे सुन्दरी सीता सुन्दरे सुन्दरः कपिः। सुन्दरे सुन्दरी वार्ता अतः सुन्दर उच्यते॥'

(ग) श्रीरामदयाल मजूमदारजी लिखते हैं कि 'बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड इन नामकरणोंका कारण समझनेमें कोई कठिनाई नहीं होती। परन्तु सुन्दरकाण्ड नामकरणमें मानो कुछ विशेषता है।' अध्यात्मरामायणके अन्तिम श्लोकके प्रथम चरणमें 'रामायणं जनमनोहरमादिकाव्यम्' अर्थात् रामायणको 'जनमनोहर' (लोगोंके मनोंको हरनेवाली, बहुतही प्रिय), 'आदिकाव्य' कहा गया है। समस्त रामायणही 'मनोहर' है। उसके अंदर 'सुन्दरकाण्ड' अत्यन्त मनोहर है। जिस प्रकार महाभारतका विराट्पर्व सर्वश्रेष्ठ अंश है, उसी प्रकार रामायणमें सुन्दरकाण्ड सर्वश्रेष्ठ अंश है। इसके श्रेष्ठ होनेका कारण बतलाते हुए कहा गया है, 'सुन्दरे सुन्दरो रामः सुन्दरे सुन्दरी कथा। सुन्दरे सुन्दरी सीता सुन्दरे किन्न सुन्दरम्॥' अर्थात् सुन्दरकाण्डमें राम सुंदर हैं, कथाएँ सुन्दर हैं, सीता सुंदर हैं। सुन्दरमें क्या सुन्दर नहीं है?

इसपर प्रश्न होता है कि, "सुन्दरमें रामकी कथा तो है नहीं, तब 'सुन्दरे सुन्दरो रामः' क्यों कहा गया?" इसका उत्तर यह है कि, सुन्दरकाण्डमें प्रधान चरित्र दो हैं, श्रीसीता और श्रीहनुमान्। श्रीहनुमान्‌जी तो भक्त हैं। 'श्रीसीताजी क्या हैं?' यह पहले कहा जा चुका है कि श्रीराम और श्रीसीता अभिन्न हैं। 'गिरा अरथ जलबीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।' श्रीसीताजी शक्ति हैं और श्रीराम शक्तिमान्। एक होनेपरभी शक्ति शक्तिमान्‌की भक्त हैं, सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं। क्योंकि श्रीसीताजीका हृदय एक क्षणके लियेभी श्रीरामको नहीं छोड़ सकता। (रावणवधके पश्चात् श्रीसीताजीने अपनेको निष्कलंक साबित करनेके लिये अग्निके समीप जाकर यह वचन कहे थे कि 'यदि मेरा हृदय रघुकुलनन्दन श्रीरामके चरणोंसे क्षणभरके लिये भी दूर नहीं होता तो अखिल विश्वके साक्षी अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें। इत्यादि)। रामके सौन्दर्यको लेकरही सीता त्रैलोक्यसुन्दरी हैं। फलतः रामही सीता बनकर सुन्दर हो रहे हैं। श्रीरामतापनीयोपनिषद्में कहा है, 'यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान्, या जानकी भूर्भुवः स्वस्तस्यै वै नमो नमः।' अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् भगवान् हैं और देवी श्रीजानकीजी भूर्भुवः स्वः रूप व्याहृति हैं। इसलिये उन्हें नमस्कार है, नमस्कार है।

रामही जानकी हैं, इसीसे रामके सौन्दर्यमेंही राममानस-सरोमरालिकाका सौन्दर्य है। सुन्दरकांडमें जिस कुन्तलाकुलकपोल सुन्दरी सीताके रूप और गुणका विकास है, वह क्या जागृत और क्या स्वप्न, सर्वदा श्रीरामके चरणकमलमें सब कुछ समर्पण किये हुए हैं। इसीलिये कहा गया है 'सुन्दरे सुन्दरो रामः।'

हनुमान्‌जीने रावणको अति तुच्छ मानकर कहा था, 'न मे समा रावणकोटयोऽधमाः रामस्य दासोऽहमपारविक्रमः।' अर्थात् रावण जैसे करोड़ों अधम मेरी समता नहीं कर सकते। मैं श्रीरामका दास हूँ। अतः मेरे पराक्रमका कोई पार नहीं पा सकता। श्रीरामजीका दास होनेके कारण मुझमें अपार विक्रम है। दास

होनेसे जहाँ इतना शौर्य वीर्य प्रस्फुटित हो उठता है, वहाँ भक्तका सौन्दर्य भगवान्‌काही (सौन्दर्य) है। इसीसे 'सुन्दरे सुन्दरो रामः' कहा गया।

इसका अर्थ तो समझमें आया। परन्तु 'सुन्दरमें सभी सुन्दर हैं' इसका क्या अभिप्राय है? उत्तरमें कहना होगा कि, 'क्या सुन्दरमें सब सुन्दर नहीं है?' 'शतयोजनविस्तीर्ण, भीमदर्शन, महोन्नततरङ्गसमाकुल, अगाध गगनाकार सागरको लाँघना' से लेकर श्रीराम और श्रीसुग्रीवको श्रीसीताजीका संवाद सुनाना, रामके द्वारा हनुमान्‌का आलिङ्गन ये सुन्दरकांडकी सभी कथाएँ सुन्दर हैं।' (कल्याण शक्ति अंकसे)।

पं० वि० त्रिपाठीजी—'(१) मनभावन (२) काँचीपुरी, (३) हनुमत चरित ललाम। (४) सुंदर सानु कथा तथा, (५) ताते सुंदर नाम॥' इस काण्डके सुन्दर नाम पड़नेके अनेक कारण हैं। पहिले यह कि इसका 'मनभावन'से उपक्रम है। यथा—'जामवंत के बचन सोहाए। सुनि हनुमंत हृदय अति भाए' और 'मनभावन' से ही उपसंहार है, यथा—'निज भवन गवनेउ सिंधु श्रीरघुपतिहि यह मत भायऊ' इससे सुन्दर नाम पड़ा। दूसरे यह कि यह पाँचवाँ सोपान पाँचवीं मोक्षपुरी काञ्ची है, जिस भाँति कांचीपुरीके दो भाग हैं—(१) शिवकांची (२) विष्णुकांची, इसी भाँति इस काण्डमें दो चरित्र हैं—पूर्वार्धमें हनुमत्‌चरित्र और उत्तरार्धमें रामचरित्र, अतः हरिहरात्मक होनेसे सुन्दर नाम पड़ा। तीसरे इसमें रामायण महामालाके रत्न हनुमान्‌जीका चरित्र है, इससे सुन्दर नाम पड़ा। चौथे त्रिकूटाचलके तीन शिखर हैं—(१) नील (२) सुन्दर और (३) सुवेल, सो इस काण्डमें प्रधानतः सुन्दर शिखर सम्बन्धी कथा है, जिसपर अशोक वाटिका थी, अतः सुन्दर नाम पड़ा और इस काण्डमें सभी कुछ सुंदर है। इस पार 'सिंधु तीर एक भूधर सुंदर', उसपार 'कनक कोटि बिचित्र मनिकृत सुंदरायतना घना'। जिस मुद्रिकाको लेकर हनुमानजी चले वह सुंदर, यथा—'तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुंदर'। फल फूल सुंदर, यथा—'सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुंदर फल रूखा।' पाँचवें, यह कथा अति सुंदर है, यथा—'सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर।' अतः सुन्दर नाम पड़ना हर तरहसे प्राप्त है।

प० प० प्र०—'सुन्दर' शब्दकी व्युत्पत्ति 'अमर व्याख्या सुधा' में इस प्रकार है—'सु द्रियते। दृङ् आदरे'। इस तरह सुंदर=बहुत आदरणीय। 'यद्वा सु उनत्ति, चित्तं द्रवी करोति। उन्दी क्लेदने'। इस तरह सुंदर= जिससे चित्त द्रवित हो जाय। इस व्युत्पत्तिकी कसौटीपर सभी कांडोंके प्रसंगोंको कसनेसे प्रतीत हो जाता है कि 'सुंदर' नाम केवल इसी कांडको दिया जा सकता है। इस कांडमें एकभी प्रसंग ऐसा नहीं है जिससे आदर न उत्पन्न होता हो। बहुत प्रसंग ऐसे हैं जिनसे चित्तभी द्रवित होता है।

हनुमान्‌जीकी वानरोंसे विनय, पर्वतपरसे उड़ान, जलनिधि और मैनाकचरित, मैनाकसे हनुमान्‌जी-का व्यवहार, सुरसा-परीक्षा-प्रसंग, छायाग्रह-विनाश, फलादिसे संपन्न उपवन देखकरभी फलादिका स्पर्शभी न करना, नगरप्रवेशमें दक्षता, लंकिनीकी स्वकार्यनिष्ठा और दक्षता, तुलसिकावृन्दादिसे स्वभावनिश्चयकरनेमें हनुमान्‌जीकी मानवस्वभावज्ञाननीति-निपुणता, हनुमान्-विभीषण-मिलन, अशोकवाटिकामें रावणके संभाषण-के समय हनुमान्‌जीकी स्थिरता और इन्द्रियसंयम इत्यादि प्रत्येक चरित आदरणीय है। त्रिजटाचरित्र, सीता-सान्त्वन इत्यादि आदरणीय तो हैं ही साथही ये प्रसंग हृदयको पिघलाकर पानी-पानी कर देते हैं। अन्य कांडोंमें यह बात नहीं है। उदाहरणार्थ—बालमें सतीकी अश्रद्धा, पतिके वचनपर अविश्वास, असत्य भाषण, नारदजीका अहंकार और भगवान्‌को कटुवचन कहना इत्यादि। अयोध्यामें केकयी और मंथराका चरित, भरत-जी द्वारा किया हुआ माताका अधिक्षेप, पतिका शव घरमें है और केकयी 'सजि आरती मुदित उठि धाई।...' इत्यादि। अरण्यमें सीताजीका मर्मवचन बोलना तथा रावणका चरित। किष्किंधामें बिना अपराध सुग्रीवके प्राणोंका गाहक तथा अनुजवधूरत होना इत्यादि बालिचरित और सगे भाईकी हत्या कराना तथा 'जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली। १-२९।' इत्यादि सुग्रीवचरित। लंकामें मंदोदरीका पतिको नीच निर्लज्ज आदि कहना, वानरोंका 'धरि केस नारि निकारि बाहेर तेति दीन पुकारहीं' यह चरित,

इत्यादि। उत्तरकांडमें गरुड़मोह, भुशुण्डि मोह, रामराज्यमें भी सीता ऐसी पतिव्रताकी निंदा करना।—ये चरित आदरोत्पादक नहीं हैं।

[☞ सुन्दरकाण्ड नाम क्यों रक्खा गया ? यह प्रश्न उठाकर टीकाकारों तथा अन्य महानुभावोंने उसके उत्तर दिये हैं। अतएव यहाँभी कुछ उद्धरण दिये गये; परन्तु मेरी समझमें यह प्रश्नही यहाँ नहीं उठता। क्योंकि "श्रीमद्रामचरितमानस" में काण्डोंके नाम प्रथम सोपान, द्वितीय सोपान, इत्यादिही रक्खे गये हैं, न कि बाल, अयोध्या, इत्यादि। जब रामचरितमानसके इस काण्डका नाम 'पञ्चम सोपान' है, तब उपर्युक्त प्रश्नही व्यर्थ हो जाता है।]

नान्या स्पृहा रघुपते हृदये*स्मदीये सत्यं वदामि च भवानखिलांतरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च ॥ २ ॥

अन्वय—हे रघुपते ! अस्मदीये हृदये अन्या स्पृहा न, सत्यं वदामि, च भवान् अखिलांतरात्मा (अस्ति)। हे रघुपुङ्गव ! मे निर्भरां भक्तिं प्रयच्छ, च मानसं कामादिदोषरहितं कुरु।

अर्थ—हे रघुनाथजी ! मैं सत्य कहता हूँ और फिर आप सबके अंतरात्मा हैं। (अन्तर्यामी हैं, अतः सबके हृदयकी जानते हैं कि) मेरे हृदयमें और कोई इच्छा नहीं है। हे रघुकुलश्रेष्ठ ! मुझे अपनी परिपूर्ण भक्ति दीजिये और मेरे हृदयको काम आदि (षट्) विकारोंसे रहित कीजिये ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ नान्या स्पृहा-अन्य कुछ नहीं अर्थात् ऋद्धि सिद्धि अर्थ धर्म काम मोक्ष कुछभी नहीं चाहता, यथा—'अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहउँ निर्वान। जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥ २-२०४', 'चहउँ न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई। हेतुरहित अनुराग राम पद बढ़ौ अनुदिन अधिकाई। विनय १०३।' सत्यं वदामि, यथा—'सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।१।६।' अखिलांतरात्मा अंतर्यामी हो, अतः सबकी जानते हो। यथा—'अंतरजामी प्रभु सब जाना।७।३६।' प्रयच्छ = दीजिये। रघुपुंगव = रघुकुलमें श्रेष्ठ। यथा—'रघुकुलदीपहिं चलेउ लेवाई। अ० ३८', 'रघुकुलतिलक जोरि दोउ हाथा। अ० ५२।' ['निर्भरां' इति। निर्भर भक्तिके दो अर्थ होते हैं। एकतो 'परिपूर्ण, अविचल और अतिशय'। यथा—'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी', 'अबिरल प्रेमभगति मुनि पाई।', 'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भव भीरा॥' (सुतीक्ष्णजीका प्रेम। आ० १०), 'अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभुप्रसाद कोउ पाव॥' (उ० ८४), 'तन पुलक निर्भर प्रेम पूरन नयन मुख पंकज दिये।' (अत्रिजी। आ०)। दूसरा अर्थ है-'वह भक्ति जिसमें मनुष्य अपनी शरीरयात्रा तथा आत्मयात्राके निर्वाहका सम्पूर्ण भार श्रीजानकीनाथके चरणारबिन्दोंमें समर्पण करके निश्चिन्त हो जाता है'। यहाँ दोनों अर्थ हैं]। कामादि दोष = काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर षट् विकार। इन विकारोंके रहनेसे भगवान्की प्राप्ति दुर्लभ है। कहाभी है, 'काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर मैं बस ताके॥ आ० १६।' अर्थात् उनके रहते हुए भगवान् श्रीराम हृदयमें निवास नहीं करते। इसीसे हृदयको कामादि दोषोंसे रहित करनेकी प्रार्थना करते हैं। (पं० रामकुमारजी) [विनयमें भी ऐसीही प्रार्थना बारम्बार की गयी है। यथा—'लोभ ग्राह दनुजेस क्रोध कुरुराजबंधु खल मार। तुलसिदासप्रभु यह दारुन दुख भंजहु राम उदार।' प्रथम 'काम' शब्द देनेका भाव यह है कि षड् रिपुओंमें भक्तिका मुख्य बाधक यही है। यथा—'तात तीन अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।' इसीसे इनमें भी 'काम'को ही प्रथम कहा गया। उत्तरार्धमें योग और क्षेम दोनोंकी याचना की। 'भक्तिं प्रयच्छ' यह योग और 'कामादिदोषरहितं कुरु' यह क्षेम है। भक्तका मन निर्मल होता है पर मायावश कुसंगादि पाकर उनका मन भी मैला हो जाता है, यह बाल० १।४। 'जनमन मंजु मुकुर मल हरनी' की टीकामें बताया गया है। देखिए भक्तप्रवर श्रीनारदजीके 'सहज बिमल मन' में कामके जीतनेका अहंकार, विश्वमोहिनीकी प्राप्तिका लोभ और उसके न

* हृदयेऽस्मदीये-ना० प्र०।

मिलनेपर क्रोध सभी विकार उत्पन्न हो गए थे। कामक्रोधादि भक्तोंके शत्रु हैं, सदा घातमें लगे रहते हैं। श्रीमुख-वचन है—'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी।...दुहुँ कहँ कामक्रोध रिपु आही।३।४३।८-९।' इससे भगवान् कहते हैं कि 'करउँ सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी। ३।४३।५।' इसीसे गोस्वामीजी भक्तिकी याचना करके उसकी कामादिसे रक्षा भी माँगते हैं]।

टिप्पणी—२ (क) 'नान्या स्पृहा' अर्थात् कोई कांक्षा नहीं है, यह कहकर अपनेको अकिञ्चन बताया और इसकी पुष्टताके लिये 'सत्यं वदामि' और 'अखिलान्तरात्मा' कहा। इस प्रकार अपनेको भक्तिका अधिकारी ठहराकर तब भक्ति माँगते हैं। क्योंकि जो कुछ नहीं चाहता वही भक्तिका अधिकारी है, उसीको भक्ति मिलती है। यथा—'बहुत कीन्ह प्रभु लषन सिय नहिं कछु केवट लेइ। बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बर देइ। २। १०२।' (ख) 'रघुपुंगव' कहकर निर्भर भक्ति माँगनेका भाव यह है कि जैसे आप रघुकुलमें श्रेष्ठ हैं वैसेही श्रेष्ठ भक्ति मुझे दीजिये। भक्तिही माँगते हैं, क्योंकि इससे बढ़कर कोई लाभ नहीं है। यथा—'लाभ कि कछु हरिभगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना। उ० ११२।८।'

प० प० प्र०—'भक्तिं प्रयच्छ...'इति। यहाँ यह शंका होती है कि 'यह याचना इसी काण्डमें क्यों की गई? यह श्लोक श्रीरामवन्दना और श्रीहनुमान्‌जीकी वन्दनाके बीचमें क्यों रखा?' प्रथम शंकाके समाधानके लिए पिछले चार काण्डोंका सिंहावलोकन अति संक्षिप्त रूपमें करना पड़ेगा। बालकाण्डमें कहा है कि स्वान्तःसुखकी प्राप्ति चाहिए इसके लिए स्वान्तस्थ ईश्वरका दर्शन चाहिए। ईश्वर कौन हैं और उनकी प्राप्तिका साधन क्या है यह 'रामाख्यं ईशं हरिं' और 'यत्पादप्लवमेकमेवहि' से बताया। विश्वासाश्रित सात्विक श्रद्धासे धर्माचरण करनेसे वैराग्य होता है यह 'भरत चरित करि...बिरति' से बताया। सद्गुरु संतसंगति बिना श्रद्धा, धर्म, वैराग्य और ज्ञानकी प्राप्ति नहीं यह बा. मं. श्लो. ३ का विषय अरण्यकांडमें बताया। वैराग्यादि साधनोंकी प्राप्ति 'राम' महामंत्रके अनुष्ठानसे ही होगी यह किष्किंधाकाण्डमें कहा। जब पूर्वोक्त साधनोंसे मोक्ष-प्राप्तिकी शुभवासनाभी निःशेष हो जाती है, तब वह भक्तिका अधिकारी बनता है, यह इस श्लोकमें बताया।

दूसरी शंकाका समाधान यह है कि भक्तिका अधिकारी साधक यद्यपि प्रार्थना कर रहा है सही तथापि केवल उसकी याचनापर भगवान् उसे वह अनुपम भक्तिरस थोड़ेही दे देंगे। वे देखते हैं कि इसकी पीठपर कौन है, किसका सहारा लेकर यह आया है। किसी महान् भक्तका सहारा लेकर आया होगा तो उसकी मुरव्वतसे देना ही पड़ेगा। अतः अगले श्लोकमें श्रीहनुमान्‌जीकी वन्दना है जो कैसे बलवान् रक्षक हैं यह श्लोक तथा काण्डभरसे स्पष्ट है। भगवान् जिनके वशमें हैं वही पीठपर हैं। इससे यह जनाया कि श्रीरामभक्तिकी प्राप्तिके लिए इनकी कृपाका संपादन आवश्यक है।

२ 'कामादि दोष रहितं कुरु' कहनेका भाव कि मेरे हृदयमें श्रीसीता-अनुज सहित धनुषबाण धारण करके बसिये, इससे कामादि निकट न आ सकेंगे। यथा—'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद नाना। जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा। ५। ४७।' इसीसे अत्रि, शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि महर्षियोंने माँगा है कि 'अनुज जानकी सहित प्रभु चाप-बान-धर राम। मम हिय बसहु ३। ११।', 'हृदि बसि राम काम मद गंजय। ७। ३४।'

नोट—१ यह श्लोक वसन्ततिलकावृत्तमें है। इस वृत्तके प्रत्येक चरण चौदह चौदह अक्षरके होते हैं। तगण, भगण, दो जगण और अन्तमें दो वर्णगुरु रहते हैं। मानसभरमें केवल दो वृत्त ऐसे आये हैं। एक बालकाण्ड मं० श्लोक ७ में और दूसरा यहाँ। (बा. मं. श्लोक ७ देखिये)।

अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यं*।

* गण्यम्—ना० प्र०। शुद्धरूप यही है। परंतु प्राचीन प्रतिलिपियोंमें 'गण्यं' ही है।

सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि ॥ ३ ॥

अन्वय—अहं अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यं सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं श्रीरघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि।

अर्थ—अतुल बलके स्थान, सोनेके पर्वतके समान कान्ति और शोभायुक्त शरीरवाले, दैत्यरूपी वनके लिये अग्निरूप, ज्ञानियोंमें अग्रगण्य (श्रेष्ठ, प्रधान, शिरोमणि), समस्त गुणोंके खज़ाना वा समुद्र, वानरोंके स्वामी, श्रीरघुनाथजीके श्रेष्ठ दूत, पवनके पुत्रको मैं प्रणाम करता हूँ। ३।

वि० त्रि०—'धामं' यह धामन् शब्दके तद्भवका रूप है। 'अन्त्यस्य हलो नित्यम्' इस प्राकृत सूत्रसे 'न्' का लोप होकर 'धामं' शब्द सिद्ध होता है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ भाषा (प्राकृत) में लिखा गया है, श्लोकादि सब प्राकृतके नियमके अधीन हैं। पूज्यपाद ग्रन्थकारने भाषा शब्दसे प्राकृतकाही ग्रहण किया है, यथा—'जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने।' प्राकृतमें तत्सम, तद्भव और देशोद्भव रूपोंका ग्रहण होता है।

टिप्पणी—१ अतुलित बलधामं, यथा—'पवनतनय बल पवन समाना।४।३०।', 'रामकाज सब करिहहु तुम्ह बलबुद्धिनिधान। ५। २।', 'देखि बुद्धि बल निपुन कपि। ५। १७।' [महादेवदत्तजी लिखते हैं कि 'धाम (निवासस्थान) कहनेका भाव यह है कि रघुनाथजी अतुलित बली हैं। यथा—'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई।' (आ० २); हनुमान्‌जी उनके भी निवासस्थान हैं। यथा—'जासु हृदय आगार बसहिं राम सरचापधर।१।१७।', 'हनुमंत हृदय बापी मराल।' (विनय ६४), अतः इनका 'अतुलितबलधाम' कहा।'] स्वर्णशैलाभदेहं=स्वर्णशैल (सुमेरुपर्वतकी)+आभ (कान्तिके समान)+देहवाले यथा—'कनकभूधराकार सरीरा। समर भयंकर अति बल बीरा। सुंदर कांड० १६।', 'जातरूपाचलाकारविग्रह। वि० २८।' आभा=कान्ति, प्रकाश। दनुज वन कृशानुं, यथा—'प्रनवउँ पवनकुमार खलबनपावक ज्ञानघन', 'उलटि पलटि लंका कपि जारी।', 'रामरोषानलज्वालमालामिष ध्वांतचरसलभसंहारकारी। वि० २७।' अग्निरूप कहनेका भाव कि अग्नि सबको जला सकती है और उसका कोई कुछ कर नहीं सकता। यथा—'काह न पावक जारि सक।' इसी तरह ये लंकाको जलाकर चले गये; इनका कोई कुछ कर न सका। यथा—'उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब तें जारि गयउ कपि लंका। सुन्दर ३६।' [ज्ञानिनामग्रगण्यं, यथा—'ज्ञानघन। १। १७।', 'वन्दे विशुद्धविज्ञानौ...। १। मं० श्लो०।', 'तोसो ज्ञाननिधान को सर्वज्ञ बिया रे। वि० ३३।', 'वेदान्तवित...ज्ञानवैराग्यविज्ञानभाजन। वि० २६।' पं० रामकुमारजीने 'मिला हमहिं कपि गुर बड़ ज्ञानी' इसका उदाहरण दिया है पर ये वचन व्यंगके हैं अतः उदाहरण नहीं हो सकते] अग्रगण्यं=जिसकी प्रथम गणना है; श्रेष्ठ। सकलगुणनिधानं, यथा—'अजर अमर गुननिधि सुत होहू। १७। ३।', 'सुनु सुत सद्‌गुन सकल तव हृदय बसहु हनुमंत। ६। १०६।', 'बिमल गुन बुद्धि बारिधि बिधाता। वि० २५।' वानराणामधीशं, यथा—'नवतुलसिका वृंद तहँ देखि हरष कपिराइ। ५। ५।' यहाँ यह शंका होती है कि 'वानरोंके राजा तो सुग्रीव हैं। यहाँ हनुमान्‌जीको राजा कैसे कहा?' इसका समाधान यह है कि राजाका धर्म रक्षा करना है। हनुमान्‌जीने वानरोंके प्राणोंकी रक्षा की है, इस भावसे उनको अधीश्वर कहा। यथा—'राखे सकल कपिन्ह के प्राना।' विशेष बा० श्लो० ४ में देखिये। रघुपति वर दूतं, यथा—'जलनिधि रघुपति दूत बिचारी', 'रामदूत मैं मातु जानकी।' 'वर दूतं' कहनेका भाव यह कि इन्होंने आज्ञासे अधिक काम किया। यथा—'राम कृपा भा काज बिसेषी।' 'वातजातं', यथा—'जीति न जाइ प्रभंजन जाया।', 'पवनतनय'।

नोट—१ इस काण्डमें श्रीहनुमान्‌जीकाही कर्तव्य मुख्य है। यह बात कविने इस श्लोकमेंही विशेषणों द्वारा प्रकट कर दी है। यह बात टि० २ से स्पष्ट हो जाती है। यह मंगलाचरण काण्डभरके प्रसंगोंका बीज है। पं० विजयानंद त्रिपाठीभी लिखते हैं कि इस श्लोकमें संपूर्ण हनुमत् चरितका बीज है। 'अतुलित बल धामं' से समुद्रोल्लंघन तथा सुरसादिका अतिक्रमण कहा। 'स्वर्ण शैलाभदेहम्' से जानकीजीको भरोसा देना कहा, यथा—'कनक भूधराकार सरीरा। समर भयंकर अति रनधीरा। सीता मन भरोस तब भयऊ।' 'दनुज बन कृशानुम्' से अक्षादिका वध तथा लंकादाह कहा, 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्' से रावणको उपदेशदान कहा; 'सकल

गुणनिधानम्' से जानकीजीका आशीर्वाद कहा, यथा—'अजर अमर गुननिधि सुत होऊ', 'वानराणामधीशम्' से इनके द्वारा सब बन्दरोंके प्राणोंकी रक्षा कही, यथा —'नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना। राखे सकल कपिन्ह के प्राना।' 'रघुपति वर दूतम्' से सन्देश देनेकी पण्डिताई कही, यथा—'बूड़त बिरह जलधि हनुमाना। भयउ तात मो कहँ जलजाना', तथा कहे हुए कार्यके अविरोधी अधिक कार्य करना कहा, यथा—'लाँघि सिंधु हाटकपुर जारा। निसिचरगन बधि बिपिन उजारा' इत्यादि। 'वातजातं नमामि' से श्रमरहित होना कहा।

२—'अतुलितबल धामं' से जनाया कि इस कांडमें बल और बुद्धिके ऐसे-ऐसे चरित करेंगे कि जिनकी तुलनाका अन्यत्र कोई न मिलेगा। 'स्वर्णशैलाभदेहं' से जनाया कि ऐसी भयंकर तप्तकांचनसमान देह धारण करेंगे। यह उनका स्वाभाविक रूप नहीं है। यथा—'रामकाज लगि तव अवतारा। सुनतहिं भयउ पर्बताकारा। कनक बरन तन तेज बिराजा। मानहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा। ४. ३०। (प. प. प्र.)। अथवा, 'अतुलितबलधामं' के पश्चात् 'स्वर्णशैलाभदेहं' कहनेका भाव कि श्रीहनुमान्‌जीमें जैसा अतुल बल है वैसा ही उनका अतुल शरीर है। (पं० रामकुमार)। मा० शं०-कार लिखते हैं कि 'स्वर्णशैलाभदेहं' का भाव यह है कि सोना अग्निमें नहीं जलता और न विकारको प्राप्त होता है। यथा—'कनकहु पुनि पषान ते होई। जारेहु सहजु न परिहर सोई', 'कनकहु बान चढ़इ जिमि दाहे।' इससे जनाया कि इसी प्रकार ये सब लंकाको जलावेंगे, पर स्वयं न जलेंगे। वरंच इनकी कान्ति बढ़ जायगी। पुनः, जानकीजी इनको यह वर देंगी कि 'अजर अमर गुननिधि सुत होहू'। अजरका एक अर्थ यहभी है कि जो जल न सके।

३—'स्वर्णशैलाभदेहं' के बाद 'दनुजवनकृशानुं' कहनेका भाव कि सोनेके रंगके समानही अग्निका भी रंग होता है। अग्नि वनको जलाती है। ये राक्षसरूपी वनको जलावेंगे। इस विशेषणसे इनमें वैरभाव एवम् अज्ञानका होना संभावित होता है; अतः 'ज्ञानिनामग्रगण्यं' कहा। इनमें अज्ञानका लेश नहीं है। इसीसे 'दनुजवनकृशानुं' के बादही 'ज्ञानिनामग्रगण्यं' कहा गया। विशेष बा० १७ में देखिये। फिर 'सकलगुणनिधानं' कहकर जनाया कि ये केवल विज्ञानीही नहीं हैं वरन् ये सर्वगुणसम्पन्न हैं। तात्पर्य यह कि वानरोंमें गुण नहीं होते। पर ये सब गुणोंसे युक्त हैं। इसीसे 'वानराणामधीशं' कहा। 'रघुपतिवरदूतं' कहकर शीघ्रगामीभी जनाया। इनकी उत्पत्तिभी शीघ्र गमन करनेवालेसे है। यह व्यक्त करनेकेलिये 'वातजातं' कहा। बा० १७ देखिये। 'नमामि' से मनोरथकी सिद्धि चाहते हैं। इस काण्डके प्रधान देवता (चरितनायक) येही हैं। अतएव इनकी वन्दना करके कांडकी सिद्धि चाहते हैं। (पं० रामकुमारजी)।

४ 'वातजातं' नामके और भाव ये हैं कि, 'वात' (पवनदेव) का बल अप्रमेय है। इसीसे तो वे 'प्रभंजन' कहलाते हैं। वे अजेय हैं, बड़े शीघ्रगामी हैं, सबके शरीरमें प्राणरूपसे रहते हैं। वैसेही हनुमान्‌जी अतुलित बलधाम हैं, अजेय हैं, अत्यन्त शीघ्रगामी हैं, मनोवेगवान् हैं, सबके प्राणोंके रक्षक हैं, एवं पिताके भी रक्षक हैं। यथा—'पवनतनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना।' (कि०); 'जीति न जाइ प्रभंजन जाया।' (सुं०); 'जारा नगर निमिष एक माहीं। (सुं० २६), 'लक्षाणां षष्टिरास्ते द्रुहिणगिरिरितो योजनानां हनूमांस्तैलाभ्रेः सर्षपस्य स्फुटनरवपरस्तत्र गत्वाऽत्र चैमि।' (हनुना० १३।२०।); 'राखे सकल कपिन्हके प्राना।' (सुं०) तथा 'त्वद्गतानि च सर्वेषां जीवितानि वनौकसाम्।' (वाल्मी० कि० ६७।३६) अर्थात् सब वानरोंका जीवन तुम्हारे अधीन है। इन्होंने पवनदेवहीको नहीं किन्तु समस्त लोकपालोंको रावणके बंदीखानेसे छुड़ाया है। यथा—'देव बंदीछोर रनरोर केसरीकिसोर।' (बाहुक)। पवनदेव स्वयं रावणसे भयभीत रहते थे। यथा कवित्तरामायणे—'समय पुराने पात झरत डरत बात।' रावणसे पिताकी रक्षा करके सुपूत पुत्र हुए। अतः 'वातजातं' युक्तियुक्त ही है। पुनः, बिना आधारकेही समुद्र पार करनेसेभी 'वातजातं' कहा।

श्रीमहादेवदत्तजी कहते हैं कि-(क) 'वातजात' नामसे वन्दना करके कविने 'भवितव्य' सूचित किया है। यथा—'जात पवनसुत देवन्ह देखा।' 'तरकेउ पवनतनय बल भारी', 'ताहि मारि मारुतसुत बीरा' (ख) पिता के तुल्य पुत्र होता है। यथा—'आत्मा वै जायते पुत्रः', 'यह तनय मम सम बिनय बल', 'पवनतनय बल पवन समाना।'

पवनका स्वरूपगुण शीतल है, अतः ये श्रीसीताजीको शीतल करेंगे। यथा—'तोहि देखि सीतल भइ छाती।' मा० त० सु० का मत है कि यहाँ अतिशीघ्र गमनसे तात्पर्य है। यथा—'कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु।'

पं० श्रीधरमिश्रजी लिखते हैं कि 'यहाँ आठ विशेषणोंसे श्रीहनुमान्‌जीके आठ नामोंकी वन्दना की है। ये आठ नाम हनुमानजीके हैं। इन सबके अन्तमें 'नमामि' कहनेसे यह श्रीहनुमानष्टक होता है। इस काण्डकी कथाओंके उदाहरण जो टिप्पणी १ में इन नामोंके साथ दिये गये हैं उनसे ये आठों नाम स्पष्ट हो जाते हैं।

६—इस काण्डमें शिवजीका मंगलाचरण नहीं किया गया। उसके स्थानपर हनुमान्‌जीकी वन्दना की गयी है। ऐसा करके पूज्य कविने दोनोंमें अभेद सूचित किया है। यथा—'रुद्र देह तजि नेहबस बानर भे हनुमान।' (दो०), 'देवमनि रुद्र अवतार संसारपाता। वि. २५।', 'जयति मर्कटाधीस मृगराजविक्रम महादेव मुदमंगलालयं कपाली। वि. २६।', जयति मंगलागार संसारभारापहर वानराकारविग्रह पुरारी। वि. २७।' इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि स्वयं शंकरजी श्रीहनुमान्‌रूपसे अवतरित हुए हैं। प्रज्ञानानन्द स्वामीजी कहते हैं कि अरण्यकाण्ड मं० श्लोक में 'स्वः संभवं शङ्करम्' शब्द हैं। स्वःसंभव=वात। इस तरह वातजात=शंकरजात। इस तरह मानससेभी शङ्करावतार सिद्ध हुआ। इस कांडके चरितको भुशुंडिजीने द्वादश प्रसंगोंमें समाप्त किया है। उ०६७(३-८)देखिये।

शङ्का—सब काण्डोंके आदिमें सोरठा या दोहा देकर प्रारंभ किया है। पर यहाँ कोई सोरठा या दोहा नहीं दिया। यह क्यों?

समाधान १ सोरठा या दोहा विश्रामका सूचक है और यहाँ हनुमान्‌जीने विश्राम नहीं किया। यथा—रामकाज कीन्हें बिना मोहि कहाँ बिश्राम।' जब अपने इष्टदेवको या काण्डके प्रधान नायकको विश्राम करना अभीष्ट नहीं है तब कवि अपने लेखमें विश्राम कैसे दें? अतः श्लोकोंके बाद सोरठा या दोहा न दिया। अथवा इसका कोई नियम नहीं है। कहीं सोरठेसे और कहीं दोहेसे प्रारम्भ किया है। वैसेही यहाँ चौपाईसे ही प्रारम्भ किया।

☞ २ श्रीहनुमानजीकी वन्दना 'मंजु मालिनी' वृत्तमें की गयी है। श्रीरामचरितमानसभरमें यह वृत्त केवल एक और यहीं आया है। सम्भव है कि छन्दमें 'मंजु' पद देखकर 'सुंदर' काण्डमें उसके प्रधान नायक और अपने इष्टदेव श्रीहनुमान्‌जीका मंगलाचरण इसी छन्दसे किया हो। इसके चारों चरण १५-१५ अक्षरके होते हैं। इसमें ८ और ७ पर यति होती है और इसका स्वरूप दो नगण, एक मगण और दो यगण ऐसा है।

३ कोई-कोई कहते हैं कि—(क) इस काण्डमें हनुमान्‌जी सुमेरु हैं। यथा—'कनक बरन तन तेज बिराजा। मानहु अपर गिरिन्ह कर राजा।', 'स्वर्णशैलाभदेहं', 'कनकभूधराकार सरीरा।' और प्रकरणमें सोरठा या दोहा सुमेरु कहलाता है। तो सुमेरुपर सुमेरु कैसे रखें? (ख) हनुमानजी रामायणरूपी मालाके सुमेरु हैं। यथा—'रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम्।' और सब काण्डोंमें यह क्रम है कि सोरठा या दोहासे प्रारम्भ करके सोरठे या दोहेपर समाप्त किया है जैसे माला सुमेरुसे प्रारम्भ होकर सुमेरुपर समाप्त होता है। (ग) यह श्लोक सुमेरुरूप दे दिया। तब सोरठा कैसे दें? (मा० शं०)।

४ मा० शं० स० कारने काण्डको चौपाईसे प्रारम्भ करनेका कारण श्रीहनुमान्‌जीको चौपाया कहा है। यह भाव नहीं है, अनर्थ है। व्यास लोगभी यह भाव जहाँ तहाँ कह देते हैं। अतः उसको लिखना पड़ा। उसके संबंधमें हम श्रीत्रिपाठीजीके विचार लिखते हैं—'बाहुभ्यां पीडयामास चरणाभ्यां च पर्वतम्' इस उक्ति से स्पष्ट है कि हनुमान्‌जीको दो हाथ और दो पैर थे। बन्दर चतुर्भुज होते हैं, उन्हें पैर होता ही नहीं, जिसे लोग पैर कहते हैं, भलीभाँति विचार कर देखिये, वे हाथ ही हैं। ऐसी स्थितिमें 'हनुमान्‌जी चौपाया हैं, इससे उनके काण्डको चौपाईसे आरम्भ किया' यह उक्ति अत्यन्त अशोभन है। (मा० शं० स० कारने संभवतः यह भाव क० कि० १ 'चारिहू चरनके चपेट चाँपे' से लिया हो।)

'लाँघत भयउ पयोधि अपारा'-प्रकरण

जामवंत के बचन सुहाये। सुनि हनुमंत हृदय अति भाए ॥ १ ॥

अर्थ—जामवन्तके सुन्दर वचन सुनकर हनुमान्‌जीके हृदयको बहुत अच्छे लगे। १।

वि० त्रि० 'जामवंत…' इति। 'आल्विल्लोल्ला लवन्तेन्तामत्तुपः' प्राकृत-प्रकाशके इस सूत्रसे जाम्बवान् का तद्भवरूप 'जामवन्त' हो गया, तथा 'पक्षे मन्तादेशः' इस सूत्रसे 'हनुमान्' शब्दका तद्भवरूप 'हनुमंत' सिद्ध होता है, इसी प्रकार 'दाढादयो बहुलम्' इस सूत्रसे 'प्रतीक्षहु' का परिखहु' हो गया।

टिप्पणी—१ जामवन्तके वचन किष्किंधाकाण्डके अन्तमें हैं जो उन्होंने हनुमान्‌जीके 'जामवंत मैं पूछौं तोही। उचित सिखावन दीजै मोही' इन वचनोंके उत्तरमें कहे थे। इस काण्डके आदिमें 'जामवंत के बचन सुहाये' लिखकर किष्किंधाकाण्डका प्रसंग मिलाया।

२ वचनको 'सुहाये' कहा। क्योंकि इनके वचनोंमें रामचरित्रका वर्णन है। 'सुहाये' विशेषण देकर जनाया कि जितनी प्रपंचकी बातें हैं वे सब 'असुहाई' हैं। भगवतभागवतयशकथनही 'सुन्दर' है, और सब 'असुन्दर'। १ 'भागवत यश'-यथा—'कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेउ बलवाना। पवनतनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना ॥' 'रामकाज लगि तव अवतारा'। २ 'भगवत् यश'—यथा—'तब निज भुजबल राजिव नयना। कौतुक लागि संग कपि सैना ॥…'परमपद नर पावई।'

३ 'अति भाए' इति। (क) जामवन्तजीने दो प्रकारके वचन कहे। एकमें हनुमान्‌जीका गुण कहा है और दूसरेमें सिखावन। 'कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेहु बलवाना ॥ पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना ॥…सुनतहि भयउ पर्वताकारा।' ये वचन हनुमान्‌जीके गुण हैं, उनकी अपनी प्रशंसाके हैं। पर इनके अंतमें जो वचन हैं 'रामकाज लगि तव अवतारा' ये भाए क्योंकि उन्हें स्मरण हो आया कि हमारा अवतार श्रीरामकार्यके लिये हुआ था यह हम भूल ही गए थे, इत्यादि। भाए, इसीसे 'सुनतहि भयउ पर्वताकारा'। (प० प० प्र० का मत है कि इन वचनोंको 'भाए' कहनेसे समझा जायगा कि हनुमान्‌जी संत नहीं हैं। क्योंकि संत तो 'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। ३। ४६-१।')। आगे सिखावन है। "एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई ॥ तब निज भुजबल राजिवनयना। कौतुक लागि संग कपि सैना ॥…परमपद नर पावई ॥" ये वचन 'अति भाए'। क्योंकि हनुमान्‌जी रामचरितके रसिक हैं। इसीसे हनुमान्‌जीके वचन जानकीजीको सुहाये। दोनोंका मिलान आगे लिखा जायगा। (प० प० प्र० का मत है कि इनमेंसे 'एतना करहु तात…सुधि आई' भाए और शेष अति भाए। पं० विजयानंद त्रिपाठीजी कहते हैं कि 'कपि सेन संग संहारि निसिचर राम सीतहि आनिहैं। त्रैलोक पावन सुजस सुर मुनि नारदादि बखानिहैं, यही जामवंतजीके 'सोहाये' वचन हैं। ये सबको भाये, पर हनुमान्‌जीको अति भाए। जो बात जिसे अत्यन्त अच्छी लगती है, उसे अवसर पानेपर वह अवश्य दूसरोंसे कहता है। हनुमानजीने ठीक यही बात भगवती जनकनन्दिनीसे कही, यथा—'कपिन्ह सहित ऐहैं रघुबीरा। निसिचर मारि तोहि लै जैहैं। तिहुँ पुर नारदादि जस गैहैं'। इससे सिद्ध है कि ये वचन हनुमान्‌जीको अत्यन्त अच्छे लगे। पुनः, (ख) 'अति भाए' का भाव कि उनके वचन सभी वानरोंको 'भाए'। पर हनुमान्‌जीको 'अति भाए'; क्योंकि रामचरित श्रवणके जैसे रसिक ये हैं वैसा दूसरा नहीं है। यथा—'यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्। बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्।', 'जयति रामायण श्रवण संजात रोमांच लोचन सजल सिथिल बानी।' (विनय)। विशेष बा० मं० श्लोक ४ देखिये।

मा० त० सु—(क) इस चौपाईमें 'सुहाये' शब्दसे 'असुहाये' और 'अति सुहाये' पदोंकाभी ग्रहण

होता है। तात्पर्य कि जो 'असुहाये' थे वे 'अनभाए' हुए। 'सुहाये' वचन 'भाए' और 'अतिसुहाये' वचन 'अति भाए'। यह सब श्रीहनुमान्‌जीके वाक्यमें संगठित है। इसका क्रम दिखाते हैं।

	श्रीजाम्बवान्‌जी के वाक्य	श्रीहनुमान्‌जीके वाक्य
१ असुहाये अनभाए	'का चुप साधि रहेउ बलवाना' से 'जो नहिं होइ तात तुम्ह-पाही' तक प्रशंसा के वचन।	'सिंहनाद करि बारहिं बारा' से 'आनौं इहाँ त्रिकूट उपारी' तक प्रभुकी आज्ञा-से विरुद्ध है।
२ सुहाए भाए	'रामकाज लगि तव अवतारा'	'जामवंत मैं पूछौं तोही। उचित सिखावन दीजहु मोही॥'
३ अति सुहाये अति भाए	'एतना करहु तात तुम्ह जाई' से 'परमपद नर पावई' तक	

'अति भाए' अर्थात् बहुत प्रिय लगे, उचित जान पड़े। हनुमान्‌जीने सोचा कि मैंने इस शीघ्रतामें कि 'बीते अवधि काज कछु नाहीं।' भविष्य बात कह डाली, मेरे वचन अहंकारयुक्त थे, और इन्होंने वर्तमान समयका काम सूचन किया। पुनः इनके वचन प्रभुप्रतापयुक्त हैं एवम् प्रभुके वाक्यानुकूल हैं, ('कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु'।) अतः 'अतिभाए'।

प्र०—अत्यन्त रुचे क्योंकि इन्होंने अपराध और स्वामि-अपमानसे बचा लिया। जो काम स्वामी को करना है वह सेवक कर डाले तो अपराध है। दूसरे इनके वचनोंसे थोड़ेही श्रममें रघुनाथजीके अनुकूल कार्यकी सिद्धि हो जायगी, अतः 'अति भाए'।

मा० म०—हनुमान्‌जीने जो कहा था कि 'सहित सहाय रावनहि मारी।' यह कार्य उनसे न हो सकता। क्योंकि रावणवध ब्रह्माजीने श्रीरामजीके द्वारा लिखा था। इसे अघटित जानकर जाम्बवान्‌जीने वही कहा जो रघुनाथजीने कहा था, जिससे श्रीजानकीजीका दुःख छूटे और हनुमान्‌जीका परिश्रम सत्य हो। अतः 'अति भाए'।

☞ यह चौपाई यात्राके लिये एक अनुभवसिद्ध मंत्र है।

तब लगि मोहि परिखहु* तुम्ह भाई। सहि दुख कंद मूल फल खाई॥ २॥
जब लगि आवउँ सीतहि देखी। होइहि† काजु मोहि हरष बिसेषी‡॥ ३॥

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जी बोले, हे भाई! तुम सब दुःख सहकर कन्द, मूल, फल खाकर मुझे तबतक परखना (मेरी राह देखना, प्रतीक्षा करना)॥ २॥ जबतक मैं श्रीसीताजीको देखकर लौट (न) आऊँ। काम अवश्य होगा। (क्योंकि) मुझे विशेष हर्ष हो रहा है॥ ३॥

नोट—१ मा० शं० स० में पं० गणेशदत्तजी लिखते हैं कि 'यत्' शब्दके पश्चात् 'तत्' शब्द कहा जाता है। यथा, यत् तत्', 'जब तब'। परन्तु यहाँ 'तब' के पश्चात् 'जब' का प्रयोग किया गया है। 'तब लगि मोहि' 'जब लगि आवउँ। इस प्रयोगमें क्या भाव है? और, इसका उत्तर यह देते हैं कि जहाँ कार्यका निश्चय रहता है वहाँ 'जब, तब' कहा जाता है। यहाँ श्रीहनुमान्‌जी अपने आनेका अनिश्चय दिखाते हैं अर्थात् जनाते हैं कि हमारे आनेका निश्चय नहीं है कि कबतक लौट सकें। अतएव 'तब, जब' का प्रयोग हुआ।

---

* परिषेहु—ना० प्र०। † होइहि—भा० दा०, छ०, का०। होइ—ना० प्र०।

‡ 'जामवंत के बचन सुहाए' से 'तब लगि मोहि परिखहु तुम्ह भाई' तक पायकुलक छंद है। 'सहि दुख कंद मूल फल खाई' नयमालिनी है। 'जब लगि आवउँ सीतहि देखी' तामरस है और 'होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी' से 'चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा' तक पायकुलक है। (कविवर ब्रजचन्दजी)।

टिप्पणी—१ 'परिखहु तुम्ह भाई' इति । (क) हनुमान्‌जी जानते हैं कि सब घवड़ाये हुए हैं, कहीं ऐसा न हो कि हम श्रीसीताजीकी खबर लेने जायँ और इधर ये सब (विलंब हुआ देखकर) अपने-अपने घर चल दें, तो फिर ये बुलानेसेभी न आयेंगे; समझेंगे कि अवधि बीत जानेके कारण सुग्रीव हमें मारनेके लिये बुलाते हैं (और यदि अन्यत्र कहीं जाकर छिप रहे तो हम इन्हें कहाँ-कहाँ ढूँढ़ते फिरेंगे)। अतएव परखनेके लिये आश्वासन देते हुए निहोरा किया। [अथवा, प्रतीक्षा करनेका भाव कि विलम्ब होनेपर 'हमने अकेले हनुमान्‌को भेज दिया, अच्छा नहीं किया, चलो सब लोग उनकी सहायताके लिये त्रिकूटाचल चलें', (यथा—'अंगद सुनेउ कि पवनसुत गढ़ पर गयउ अकेल। समर बाँकुरा बालिसुत तरकि चढ़ेउ कपि खेल') ऐसा उद्योग न करना। मेरी प्रतीक्षा करना, क्योंकि कार्य्यसिद्धि होगी, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ यह शङ्का ठीक नहीं कि 'निज निज बल सब काहू भाखा। पार जाइ कर संसय राखा' तो सब लोग समुद्र पार कैसे जाते? उत्तर यही है कि हनुमान्‌जीके लौटनेपर, बन्दरोंमें सलाह हुई कि लङ्का चलकर रावणको युद्धमें जीतकर, सीताजीको लेकर ही रामजीके पास चलना चाहिये, इतने बड़े-बड़े वीरोंका जाकर रामजीसे कहना कि श्रीसीताजीको तो देखा पर ला न सके, शोभा नहीं देता। 'दृष्ट्वा सीता न चानीता इति तत्र निवेदितुम्। अयुक्तमिव पश्यामि भवद्भिः ख्यातपौरुषैः। (बा० ६०।९); । इससे स्पष्ट है कि और लोगभी पार जानेमें समर्थ थे, पर पार जानाही तो यथेष्ट नहीं था, वहाँ सहज अशङ्क रावणसेभी मुठभेड़की सम्भावना थी, अतः सब लोग 'चंडकर मण्डल ग्रासकर्त्ता' हनुमान्‌जीको ही भेजना चाहते थे। इसलिये 'पार जाइ कर संसय राखा' पार जानेमें संशय रखकर अपना बल कहा। (वि० त्रि०)] (ख) 'भाई' संबोधनकी रीति है। यथा—'जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई। ७। ४३।', 'एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई। ७। ४४।', 'सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई। ७। ४५।', 'बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई। ७। ४६।' (यह संबोधन प्यारका है। यथा—'जग बहु नर सर सरि सम भाई। १। ८। १३।', 'जो नहाइ चह एहि सर भाई। १ ८।३९।८।' सजातियोंके लिये भी इसका प्रयोग होता है) सब वानर एकजातिके हैं, अतः 'भाई' संबोधन दिया।

२ 'सहि दुख कंद मूल फल खाई' इति। (क) 'सहि दुख' का भाव कि कार्यकी आशा न करके आप सब हमारी राह देखते रहेंगे यह आपको दुःख होगा। इस भावका प्रमाण यह है कि जब हनुमान्‌जी कार्य करके लौटे तब सब सुखी हुए। यथा, 'मिले सकल अति भये सुखारी। तलफत मीन पाव जिमि बारी। २८।५।' [वानरोंको सागरतटपर कुछ कार्य तो है ही नहीं, स्वभावसे अति चंचल होनेसे स्वस्थ बैठे रहना ही बहुत दुःख है। चिन्तातुर तो रहेंगे ही (प० प० प्र०)। अथवा, शीतघाम आदिका दुःख सहकर। (प्र०)। बैजनाथजीका मत है कि हनुमान्‌जीका आशय यह है कि जब तक कन्दादि मिलें खाना, जब वे न मिलें तब भी यहाँसे न जाना, दुःख सहकर यहीं रहना]

(ख) 'कंद मूल फल खाई' इति। कन्दादि खानेको कहनेका भाव कि (पर्वतपर वृक्षोंपर चढ़ चढ़कर फल आदि खाते रहने और मेरी राह देखते रहनेसे जी बहलानेसे अधिक दुःख न होगा। प० प० प्र०। वा,) सब अनशनव्रत किये हुए थे, यथा—'अस कहि लवन सिंधु तट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई'।'; इनका अनशनव्रत छुड़ाते हैं जिसमें चले न जायँ और आगे कार्यकी सिद्धि भी कहते हैं जिसमें इन्हें धीरज हो।

नोट—१ वाल्मीकीयमें जाम्बवान्‌जीने हनुमान्‌जीसे कहा है कि 'स्थास्यामश्चैकपादेन यावदागमनं तव' (कि० ६७।३५) तुम्हारे आने तक हम सब एक पैरसे खड़े रहेंगे। इसीपर सबको धैर्य धारण करनेके लिये ये वचन कहे गए हैं। तात्पर्य कि भूखे मरने आदिकी आवश्यकता नहीं है, मैं खबर अवश्य लाऊँगा।

२ मा. श.-कार लिखते हैं कि 'सहि दुख' प्रथम कहकर जनाया कि कुछ दुःख सहोगे तो आगे बहुत खानेको मिलेगा। लंकासे लौटनेपर फिर खूब अघाकर खानेको मिलेगा। यथा—"तब मधुवन भीतर सब आए। अंगद संमत मधु फल खाए॥ सुं० २८॥" और कुछ लोगोंने लिखा है कि यहाँ कन्दादिके खानेका

निषेध किया है, पर यह भावार्थ शब्दोंसे प्रसंगानुकूल नहीं है, क्लिष्ट कल्पना है।

श्रीजानकीशरणजी—अ. दी.-कार 'तब लगि''''खाई' पर "अन जीवन जीवत मृतक उत इत पीवत नीर। भक्षत फल रख चक्षु गहि, यह दुख सागर तीर।३।' यह दोहा देते हैं जिसका अर्थ है कि मेरे आये बिना यदि तुम चले जाओगे तो सुग्रीवके हाथसे मारे जाओगे। क्योंकि जो पुरुषार्थ-हीन है वह जीतेही मृतकके समान है। उसके जीवनको अन-जीवन समझो। अतएव यहीं जल पीकर फल खाकर रहना। इसपर शंका होती है कि "समुद्रतटपर बालू स्थिर नहीं रहती। यहाँ कन्दमूल नहीं होता?", उसपर कहते हैं कि भूख प्यास जब अधिक लगे तब स्वयंप्रभावाले बिलमें एक दूसरेकी पूछ पकड़े हुए प्रवेश करके चले जाना, वहाँ फलमूल बहुत हैं, खाना और आँख बंद करके निकलना, जो युक्ति वहाँसे निकलनेकी तपस्विनीने बताई थी। समुद्र किनारे दुःख सहना पड़ेगा पर प्राण तो बच जायँगे। भाव यह कि यदि भूख-प्यास सहन न हो सके तब ऐसा करना। (अ. दी. च.)।

टिप्पणी—३ 'जब लगि ''' इति। (क) 'जब लगि' कहा, कोई अवधि न दी, जैसे बालिने सुग्रीवको दी थी कि 'परखेसु मोहि एक पखवारा। नहि आवौं तब जानेसु मारा।'; कारण कि अवधि देते तो इतनी अवधि भर राह देखकर सब लोग निराश हो जाते। इससे हनुमान्‌जीकी व्यवहारपटुता और दूर-दर्शिता दर्शित होती है। बालिके अवधिका अनर्थ वे देखही चुके हैं। (ख) 'आवौं' इति। व्यवहारमें 'न आवौं' ऐसा बोलनेकी रीति है, आजकल ऐसाही प्रयोग होता है; पर गोस्वामीजीने 'न' निकालकर 'आवौं' ऐसा लिखा। कारण कि संत झूठ नहीं बोलते, यदि हनुमान्‌जीके मुखसे प्रथम यही निकलता कि 'न आवौं' तो वे लौटकर आते कैसे? (इस भावमें 'जब लगि' शब्दका भावही जाता रहता है। वास्तवमें ऐसा जान पड़ता है कि गोस्वामीजीके समयमें ऐसाही प्रयोग होता था। और उदाहरण ये हैं—'तब लगि बैठ अहौं बटछाहीं। जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं। १.५२.२।', 'तहँ तब रहिहि सुखेन सिय जब लगि बिपति बिहान। २.९६।' विशेष २.९६ में देखिए)। (ग) 'सीतहि देखी' इति। जबतक श्रीसीताजीकी सुध नहीं मिली थी तबतक 'सुधि' शब्द देते आए। यथा—'सीता सुधि पूँछेहु सब काहू। ४. २३. २।', 'इहाँ न सुधि सीता कै पाई। ४. २६. ४।' 'हम सीता कै सुधि लीन्हें बिना। नहिं जैहैं जुबराज प्रबीना। ४. २६. ६।'; जब संपातीसे सुध मिल गई कि 'गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका।'''सीता बैठि सोचरत अहई। ४. २८।' तबसे 'देखि' शब्द देते हैं। यथा—'सीतहि देखि कहहु सुधि आई। ४. ३०।', 'जब लगि आवौं सीतहि देखी', 'देखी चहउँ जानकी माता। ८. ४।' इत्यादि। (घ) संभव है कि वे संदेह करें कि क्या जानें कि तुम सीताजीको देखकर आओगे या वैसेही कोरे लौटोगे, उसपर आश्वासन देते हैं कि 'होइहि काज'''। अर्थात् कार्य अवश्य होगा इसमें संदेह नहीं, क्योंकि मेरे मनमें विशेष हर्ष है, यह शुभ शकुन है। (ङ) ['सीता' नाम देनेका भाव कि किष्किंधासे चलते समय इन सब वानरोंने यही नाम सुना है, यथा—'सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू। सीता सुधि पूछेहु सब काहू। ४. २३. २।', 'बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु। ४. २३।' यही नाम अंगद और जाम्बवान् तथा संपातीसे सुना है, यथा—'इहाँ न सुधि सीता कै पाई। ४. २६।' 'सीतहि देखि कहहु सुधि आई। ४. ३०।' 'तिन्हहिं देखाइ देहेसु तैं सीता।', 'सीता बैठि सोचरत अहई। ४. २८।' इसीसे यही नाम कहा जिसमें सब तुरत समझ जायँ। पुनः भाव कि श्रीसीताजीकी सुध न मिलनेसे सबके हृदय सुग्रीवके भयरूपी तापसे तप्त हो रहे थे; अतएव शीतलताबोधक 'सीता' शब्द देकर जनाया कि इस यात्रासे सबका संताप मिटेगा। (मा. त. सु.)]।

नोट—२ बृहस्पति, गर्ग और अंगिरा आदिकी संहिताओं तथा ज्योतिष शास्त्रमें हर्षको शुभ शकुन अर्थात् कार्यसिद्धिका द्योतक कहा है। गर्गाचार्यजी कहते हैं कि सूर्योदयके पूर्वही प्रस्थान करना प्रशस्त है। बृहस्पतिका मत है कि यात्राके समय शुभ शकुन हो तो बेधड़क चला जाय। अंगिराजीका मत है कि जिस समय मनमें उत्साह हो उसी समय चल दे और जनार्दनका मत है कि ब्राह्मणवाक्यसे यात्रा करे तो कार्य सिद्ध होता है। यथा—'ऊषः प्रशस्यते गर्गः शकुनं च बृहस्पतिः। अङ्गिरा मन उत्साहो विप्रवाक्य जनार्दनः।' यहाँ

ब्रह्मावतार जाम्बवान्‌जीके वचन सुनकर हनुमान्‌जीके मनमें बड़ा उत्साह हुआ। भक्तराज जटायुके भाईका आशीर्वाद प्रथमही हो चुका है—'पैहहु खोजहु जाहि। ४. २७। जो नाघइ सत जोजन सागर। करइ सो राम काज मति आगर। ४.२९. १।' तथा भगवान् कृपानिधान जिनको श्रीहनुमान्‌जी हृदय में रखकर चले थे—'हनुमत जन्म सुफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना। ४। २३। १२।', उन्होंने इस समय 'विशेष हर्ष' शुभ शकुन हृदयमें उत्पन्न कर दिया। और इस तरह कार्यकी सिद्धि जना दी। (र. व., मा. म.)। आगेकी भी अनेक चौपाइयोंसे इनके हृदयका हर्ष प्रकट होता है। 'आसिष दै सुरसा चली हरषि चले हनुमान', 'नवतुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ' इत्यादि २४ चौपाइयोंमें हर्ष शब्द आनेसे यह कांड मनके उत्साहको बढ़ानेवाला और कार्यसिद्धिका सूचक है। (र. ब.)।

☞ वाल्मी० ४. ६७. २७ में श्रीहनुमान्‌जीने वानरोंसे कहा है—'बुद्ध्या चाहं प्रपश्यामि मनश्चेष्टा च मे तथा। अहं द्रक्ष्यामि वैदेहीं प्रमोदध्वं प्लवंगमाः।' मैं बुद्धिसे देख रहा हूँ और मनकी चेष्टा (उत्साह) भी वैसीही है। मैं श्रीसीताजीको देखूंगा। अब आप सब वानरगण आनंदित हों।—इसीके अनुसार मानसमें 'होइहि काजु ··' कहा है। 'हि' निश्चयवाचक होता है।

टिप्पणी—४ 'हरष विसेषी' इति। विशेष हर्षका भाव कि हर्ष कार्यसिद्धिसूचक होता है, पर मुझे विशेष हर्ष हो रहा है, इससे निश्चय होता है कि केवल श्रीसीताजीका दर्शन ही नहीं होगा किंतु इससे कुछ अधिक कार्यभी होगा। यथा—'पूँछी कुसल कुसल पद देखी। रामकृपा भा काजु बिसेषी। २६. ४।' ('बिसेषी' का अन्वय 'काज' और 'हरष' दोनोंके साथ करनेसे यह अर्थ भी निकल आता है। मानसमें यात्राके समय जहाँ-जहाँ हर्ष कहा है वहाँ-वहाँ कार्यसिद्धि हुई है। जैसे, 'तहँ हिय हरषि चलेउ मनु राजा। १. १४३.३।', अतः उनकी 'उर अभिलाष ··देखिअ नयन परम प्रभु सोई' पूरी हुई। 'हरषि चले मुनि भय हरन। १.२०८।' अतः 'मारि असुर द्विज निर्भय कारी। अस्तुति करहिं देव मुनि झारी। १. २१०. ६।' यह कार्यसिद्धि हुई। 'धनुषजज्ञ सुनि रघुकुलनाथा। हरषि चले मुनिवर के साथा। १. २१०. १०।,' 'हरषि चले मुनिबृंद सहाया। १. २१२.४।' फल हुआ कि 'महि पाताल नाक जसु ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा। १.२६५.५।' इसी तरह अन्यत्रभी देख लीजिए। 'हर्ष' पर कुछ विशेष भाव अरण्यकांड १२ (१) में दिये गए हैं)।

अस* कहि नाइ सबन्हि कहुँ माथा। चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा॥ ४॥

अर्थ—ऐसा कहकर सबको मस्तक नवाकर (प्रणाम करके) हर्षित होकर और श्रीरघुनाथजीको हृदयमें धारण करके श्रीहनुमान्‌जी चले। ४।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ मन, कर्म और वचन तीनोंसे रामकार्यमें तत्परता दिखाई। 'चलेउ हरषि हिय' यह मन, 'नाइ सबन्हि कहँ माथा' कर्म और 'अस कहि' यह वचन है। यही सुग्रीवकी आज्ञा भी है, यथा—'मन क्रम बचन सो जतन विचारेहु। रामचंद्र कर काज सँवारेहु।४-२३।' (ख) 'नाइ सबन्हि कहुँ माथा' इति। लोग जब भारी कार्य करनेको चलते हैं तब सबको प्रणाम करके चलते हैं, यह शिष्टाचार है। यथा—'अस कहि चलेउ सबहि सिरु नाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई। १-८४।' (कामदेव शिवसमाधि छुड़ाने चला है), 'बंदि चरन उर धरि प्रभुताई। अंगद चलेउ सबहि सिरु नाई।६-१८।' (दूत होकर रावणसे बात करने जा रहे हैं), तथा यहाँ 'नाइ ··'। अथवा, सब वानर देवता हैं, यथा—'सुर अंसिक सब कपि अरु रीछा। ६-११३।', 'बानर तन धरि धरि महि हरिपद सेवहु जाइ।१-१८७।' और सब रामभक्त हैं, ऐसा समझकर सबको प्रणाम किया।

२ (क) 'चलेउ हरषि' इति। यहाँ तक प्रसंगमें हर्षका होना दो बार कहा। एक तो 'होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी', दूसरे यहाँ 'चलेउ हरषि'। प्रथम कार्य करनेको सन्नद्ध हुए तब हर्ष हुआ, अथवा

* यह—गी. प्र.।

श्रीसीताजीके दर्शन होंगे यह समझकर हर्ष हुआ यह 'जब लगि आवौं सीतहि देखी…' से ध्वनित होता है। दूसरी बार श्रीरघुनाथजीको हृदयमें धारण करनेका हर्ष हुआ। [(हमारे बड़े भाग्य हैं कि यह सेवा हमें मिली। इस कार्यकी पूर्त्ति मेरे द्वारा होगी यह समझकर हर्ष है। स्वामीके कार्यमें उत्साह और आनन्द होना ही चाहिए)। अथवा, प्रभुने मुद्रिका देकर इस कार्यको मेरे सुपुर्द किया और जाम्बवान्‌जीनेभी मुझेही इसके योग्य समझकर मुझसे यह काम करनेको कहा; अतएव अपनेको कृतार्थ मान और अपनेमें कार्यसिद्धिकी योग्यता समझकर हर्ष हुआ। (पं०)] ये दोनों हर्ष यात्राके समय, वानरोंसे विदा होकर चलनेके समयके हैं, अतएव कार्यसिद्धिके द्योतक हैं। (ख) 'चलेउ' से जनाया कि महेन्द्रपर्वत अभी कुछ दूर है। (ग) 'हिय धरि रघुनाथा' इति। मस्तक नवाना धर्म है, इसी संबंधसे यहाँ 'रघुनाथ' शब्द दिया गया। यह नाम प्रायः धर्मके संबंधमें प्रयुक्त किया गया है। यथा—'सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा। धरम धुरंधर रघुकुलनाथा।७-५।' स्वामिधर्म सेवकमेंभी अवश्य आना चाहिए। [किसीभी कार्यके प्रारंभमें इष्टदेवका स्मरण, हृदयमें धारण करना उपासकोंका परम धर्म और रीति है। किष्किंधासे चलनेपरभी कहा है—'आयसु मांगि चरन सिरु नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई।', 'चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना' (४।२३)]

शंका—किष्किंधासे चलते समय तो हृदयमें धारण ही किया था अब फिर हृदयमें धरना कैसे कहा?

समाधान—(१) पूर्व 'कृपानिधान' नामसे हृदयमें बसाया था, अब 'रघुनाथ' सहेतुक नामसे बसाया। (२) पूर्व किष्किंधासे यात्रा करते समय बसाया था, अब शत्रुकी पुरीके लिये यात्रा करते हैं अतः अब विशेष सहायताके लिये पुनः बसाया। वा, (३) जिस संपातीने श्रीसीताजीका पता बताया था उसने यह आदेशभी दिया था कि 'तासु दूत तुम्ह तजि कदराई। राम हृदय धरि करहु उपाई।४-२९।' अतः 'हिय धरि रघुनाथा' कहकर उसके आदेशकी पूर्ति की। वा, (४) पहले जो धारण किया था वह शोकमें भूल गए। प्रमाण यथा—'डरपे गीध बचन सुनि काना। अब भा मरन सत्य हम जाना।४-२७।' अतएव भूले हुयेको पुनः धारण किया। (मा. त. सु.)। वा, (५) 'चलेउ हरषि' इस पदसे स्वबलके उत्कर्षका अभिमान न हो जाय, इस लिए हृदयमें धारण किया। यथा 'सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरष हनुमंत। चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत।३२।' (मा. त. सु.)। वा, (६) रघुकुल-श्रेष्ठ होनेपरभी उनकी स्त्री राक्षसके वशमें 'सोच रत अहई', यह संपातीसे सुन चुके हैं, उनको परवशतासे छुड़ाना 'रघुनाथ' जीका परम कर्तव्य है और तन मन वचनसे सेवा करना हमारा कर्तव्य है, ये बिचार श्रीहनुमान्‌जीके हृदयमें आगए यह 'रघुनाथ' शब्दसे ध्वनित किया। (प० प० प्र०)

☞हृदयमें धरना=ध्यान वा स्मरण करना। नहीं तो इनके हृदयरूपी आगारमें तो सदाही 'बसहिं राम सरचापधर'।

> सिंधु तीर एक भूधर सुंदर। कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर॥ ५ ॥†
> बार बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवन तनय बल भारी॥ ६ ॥

शब्दार्थ—भूधर=भू (पृथिवी) को धारण करनेवाले=पर्वत। कौतुक=लीलापूर्वक, खेलवाड़में, विना परिश्रम, अनायास। सँभारी=सँभालकर, स्मरण या ध्यान करके। यथा—'दीनदयाल बिरद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी। २७. ४।', 'सँभारि श्रीरघुबीर धीर पचारि कपि रावन हन्यो। ६. ९४।', 'बुधिबल निसिचर

† 'सिंधु तीर एक भूधर सुंदर' ११५९ वाँ भेद, 'कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर' १०६७ वाँ भेद, 'बार बार रघुबीर सँभारी' स्वागता और 'तरकेउ'से 'हनुमाना।' तक पायकुलक छन्द हैं।

परइ न पार्यो। तब मारुत सुत प्रभु संभार्यो। ६. ६४।' तरकना = उछलना, कूदना, यथा—'तरकि पवनसुत कर गहेउ आनि धरे प्रभु पास। ६. ३१।', 'समर बाँकुरा बालिसुत तरकि चढ़ेउ कपि खेल। ६. ४२।'

अर्थ—समुद्रके तटपर एक सुन्दर पर्वत था। उसके ऊपर हनुमान्‌जी अनायासही कूद (उछल) कर चढ़ गए।५। बारम्बार रघुवीर श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करके अत्यन्त बलवान पवनपुत्र हनुमानजी कूदे।६।

टिप्पणी—१ 'एक सुंदर' इति। यहाँ पर्वतका नाम नहीं दिया, यह भी सहेतुक है। इस विप्रयमें अनेक मत हैं। आचार्योंने इस पर्वतके अनेक नाम लिखे हैं। मतभेद होनेसे गोस्वामीजीने कोई नाम नहीं दिया जिसमें सभी आचार्योंके मतका समावेश यहाँ हो जाय, सबके मतकी रक्षा हो जाय। इस पर्वतकी सुंदरता वाल्मीकीयमें विस्तृतरूपसे वर्णित है, उस समग्र वर्णनको 'सुंदर' पदसे जना दिया है। सिन्धुको पार करना है; इसीसे समुद्रतटके पर्वतपर चढ़े। [पुनः, 'एक' से अन्यका अभाव जनाया। अर्थात् यही एक पर्वत हनुमान्‌जीके कूदनेके योग्य था दूसरा नहीं। (मा. म.)]

नोट—१ ☞ वाल्मीकिजीके मतानुसार यह सुंदर पर्वत 'महेन्द्राचल' है। यथा—'कोऽपि लोके न मे वेगं प्लवने धारयिष्यति। एतानीह नगस्यास्य शिलासंकटशालिनः॥ ३६॥ शिखराणि महेन्द्रस्य स्थिराणि च महान्ति च। एषु वेगं गमिष्यामि महेन्द्रशिखरेष्वहम्।३७।' (कि० स० ६७)। अर्थात् कोई पर्वत मेरे वेगको नहीं धारण कर सकता। यह महेन्द्रपर्वत मेरे वेगको सह सकेगा। मैं इसीपरसे कूदूँगा। श्लोक ४० से इस पर्वतकी सुंदरता कही है कि यह अनेक प्रकारके सदा फूलने-फलनेवाले वृक्षों और लताओं एवम् पुष्पोंसे सुशोभित था। सिंह, शार्दूल, मत्त गजराजोंसे युक्त था, सुंदर बोलीवाले पक्षियोंसे गूँजता था, झरने झर रहे थे, इसपर गन्धर्व स्त्रियों सहित विहार करते थे। अतएव रामकार्यके उपयोगी एवं शोभन होनेसे 'सुंदर' कहा।

टिप्पणी—२ 'कौतुक कूदि चढ़ेउ०।' इति। (क) 'कौतुक' पदसे जनाया कि यहाँ बल नहीं लगाया, बल आगे कहेंगे। यथा—'जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता।' (ख) 'कूदि चढ़ेउ' इति। जहाँ सब 'वानर' थे वहाँसे पर्वत दूर था इससे वहाँ 'चलेउ' कहा था, अब उसके पास पहुँच गये। अतः अब उसपर उछलकर चढ़ना कहा। पर्वतपर चढ़नेका कारण यह है कि समुद्रको कूदकर लाँघना है, कूदना ऊँचेसेही बनता है।

३ 'बार बार रघुबीर सँभारी' इति। (क) पूर्व श्रीरघुनाथजीको हृदयमें धारण कर चुके हैं। यथा 'चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा'। अब प्रेमके कारण बारंबार स्मरण करते हैं। इन्होंने प्रभुको बारंबार स्मरण किया, प्रभुभी इनको बारंबार स्मरण करेंगे; क्योंकि उनकी रीति है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। गीता।' [बारबार स्मरणके और भावः — कार्य गुरुतर था। निर्विघ्नतापूर्वक कार्य सिद्ध करके शीघ्र ही प्रभुके दर्शनकी इच्छा कर रहे हैं अतएव पुनः पुनः स्मरण करते हैं। (मा० त० सु०)। पुनः, अनन्य भक्तोंकी यह परिपाटी है कि बारबार स्मरण करते हैं 'सोवत जागत सरन तुम्हारी।' (मा० त० सु०)। 'हनुमत जन्म सफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना।' हनुमान्‌जी जब चले तो हृदयमें श्रीरामजीकी मूर्ति रखकर चले थे। सरकार हृदयमें तो आ जाते हैं, परन्तु असावधान होते ही निकल भी जाते हैं, अतः चिन्तकको बहुत सँभाल करना पड़ता है। यहाँ हनुमान्‌जीको समुद्रोल्लंघन करना है, इसलिये रङ्कके धनकी भाँति बार-बार सरकारको सँभालते हैं। यथा—'मन माधव को नेकु निहारहि। सुनु सठ सदा रंक के धन ज्यों पुनि-पुनि प्रभुहिं सँभारहि। विनय।' (वि० त्रि०)] (ख) 'रघुबीर सँभारी' का भाव कि वीररूपका स्मरण किया जिससे शत्रु-पर विजय प्राप्त होती है। यथा 'सँभारि श्रीरघुबीर धीर प्रचारि कपि रावन हन्यो। ६। ९४' पुनः, 'रघुबीर' का स्मरण किया जिसमें हमारी वीरता सिद्ध हो, हम वीरतासे संपन्न हो जायँ। समुद्रोल्लंघन, राक्षस सुभटोंसे सुरक्षित लंकामें प्रवेश आदिमें वीरताका प्रयोजन है। 'रघुबीर' शब्द वीरतासूचक है। जैसे कि, 'सिय रघुबीर-बिवाह'के रघुवीर-शब्दमें धनुभंग आदि वीरताका, 'शरण सुखद रघुबीर' में शरणागतकी रक्षा रावणसे करनेके योग्य वीरताका भाव अन्तर्गर्भित है। (ग) ☞ [इस चरितसे उपदेश देते हैं कि कैसाही बलवान् या पुरु-

षार्थी क्यों न हो पर बिना श्रीरघुवीरके स्मरणके कार्य सिद्ध नहीं होता। देखिए लक्ष्मणजी प्रथम बार जब मेघनादसे युद्ध करने गए तब उन्होंने प्रणाम नहीं किया था, अतः शक्तिसे घायल हुए। दूसरी बार 'जब रघुबीर दीन्ह अनुसासन' तब 'रघुपति चरन नाइ सिरु चलेउ तुरंत अनंत। ६। ७४।', फल क्या हुआ? जय, मेघनाद वध। वहाँ श्रीरघुवीरजी समीप थे इससे वहाँ 'नाइ सिर' कहा और यहाँ परोक्ष हैं, अतः यहाँ 'सँभारी' कहा। (मा० त० सु०)। (घ) श्रीरामजी तो सदा हनुमान्‌जीके 'हृदय आगार' में 'बसहिं सरचापधर', सदाही उनके साथ हैं, बार-बार स्मरण जो प्रभु हृदयमें हैं उन्हींका करते हैं, दूसरेका नहीं। स्मरणके कारण ऊपर लिखे जा चुके हैं]

४ 'तरकेउ पवनतनय बल भारी' इति। (क) पवनके पुत्र हैं, इसीसे पवनके समान भारी वेग और बल है यथा 'पवनतनय बल पवन समाना। ४। ३०।' भाव कि भारी बल और भारी वेगसे कूदे। (भारी वेग इससे कहा कि वाल्मीकिजी लिखते हैं कि अनेकों बड़े-बड़े वृक्षादि इनके वेगके झोंकेसे उखड़कर इनके पीछे चले गए)।

नोट—२ इसपर अ० दी० में 'हरी महाबल लखि धरो, गिरि कर गिरितर थाम। ४।' और मा० म० में 'सो लखि थामे बीरमणि' इन शब्दोंसे भाव कहा है। अर्थात् महाबलिष्ठ हरिने हनुमान्‌जीके कूदनेपर देखा कि पर्वत नीचे धँस गया, अतएव उन्होंने उस पर्वतको अपने हाथपर सँभाला, थाम लिया। गणपति उपाध्यायजी मा० म० के दोहेका यह अर्थ करते हैं कि 'श्रीरामचन्द्रजीने तर्कना की कि श्रीहनुमान्‌जी बलके भारी हैं, अतः पर्वतको थामा'। पर ये अर्थ खींचतानके हैं। 'सँभारना' और 'तरकना' का प्रयोग ग्रंथमें बहुत हुआ है। उनका अर्थ स्पष्ट है।

जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता॥ ७॥

अर्थ—जिस पर्वतपर हनुमान्‌जी चरण दे (रख) कर चले वह तुरंत (तत्क्षण) ही पातालको चला गया। ७।*

टिप्पणी—१ (क) यह भारी बलका स्वरूप है। जब कौतुकही पर्वतपर चढ़े तब वह पातालको नहीं गया। जब भारी बलसे कूदे तब पातालको चला गया। (ख) 'तुरंत' से जनाया कि कपिका कूदना और पर्वतका पातालको जाना दोनों एक साथ हुए। (ग) वृक्षपरसे न कूदे क्योंकि वृक्ष इनके बलको न सँभाल सकता। (घ) 'चरन देइ' से कूदनेकी रीति दिखाई। अर्थात् चरणोंसे गिरिको दबाकर कूदे। यथा—'जब अंगदादिन की मति गति मंद भई, पवन के पूत को न कूदिबे को पलु गो। साहसी ह्वै सैल पर सहसा सकेलि आइ, चितवत चहुँ ओर औरन को कलु गो। तुलसी रसातल को निकसि सलिल आयो, कोल कलमल्यो अहि कमठ को बलु गो। चारिहू चरन के चपेट चाँपे चिपिटि गो, उचके उचकि चारि अंगुल अचलु गो। क० कि० १।' (ङ) 'तुरंता' शब्दसे यहभी जना दिया कि ये लंका नहीं पहुँचने पाये पर्वत पहलेही पाताल पहुँच गया।

नोट—१ यहाँ शंका होती है कि 'जब पैर देतेही वह पातालको चला गया तो कूदे कहाँसे? इसका समाधान उपर्युक्त क० कि० १ से होता है। अ० दी० कार इसका समाधान यह करते हैं कि जब हनुमान्‌जीने पर्वतको बलसे दबाया तब वह पातालको चला। यह देख श्रीरामजीने उसे स्वयं थाम लिया जिससे वे कूद सके। पर्वत धनुषके और हनुमान्‌जी बाणके समान हो गए। श्रीजानकीशरणजीका मत है कि आगेकी चौपाई 'जिमि अमोघ रघुपति के बाना। ताही भाँति चला हनुमाना' से दीपककारकी उक्तिका मेल सुंदर मालूम होता

* किसी-किसीने अर्थ किया है कि 'जिस पर्वतपर चरण देते थे वह पातालको चला जाता था'। पर यह अर्थ ठीक नहीं है। चरण तो न जाने कितने पर्वतोंपर आगे रखना कहा गया है। कोई पातालको नहीं गए। यथा—'सैल बिसाल देखि एक आगे। ता पर धाइ चढ़ेउ भय त्यागे। ५। ३। ८।' इत्यादि। यहाँ भारी बलसे हनुमान्‌जीका कूदना कहा है, उसके प्रभावसे पर्वत धँस गया। अन्यत्र सामान्य कूदना है।

है। अर्थात् श्रीरामजीने पर्वतरूपी धनुषसे हनुमान्‌रूपी बाणको छोड़ा।—पाठक लोग स्वयं विचार लें।

जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही* भाँति चला हनुमाना॥ ८॥

शब्दार्थ—अमोघ=निष्फल न होनेवाले, अचूक, खाली न जानेवाले।

अर्थ जैसे श्रीरघुनाथजीका बाण अमोघ (चलता) है, इसी प्रकार श्रीहनुमान्‌जी चले। ८।

टिप्पणी—१ श्रीहनुमान्‌जीको श्रीरघुपतिके बाणोंकी उपमा दी; क्योंकि-(क) हनुमान्‌जी रघुपतिके अनन्य उपासक हैं। दूसरे वीरके बाणकी उपमा न देना यह ग्रन्थकारका सँभाल है। पुनः, (ख) और वीरोंके बाण कभी-कभी व्यर्थ हो जाते हैं; पर रघुनाथजीके बाण कभी व्यर्थ नहीं जाते, छूटे कि लक्ष्यको वेधकर ही लौटते हैं। जैसे रामजीके बाण किसीके रोकनेसे नहीं रुकते और अवश्य कार्य करके लौट आते हैं, वैसेही श्रीहनुमान्‌जी मैनाक, सुरसा, सिंहिका और लंकिनी इत्यादिके रोकनेसे न रुकेंगे, कार्य करके लौट आयेंगे और अति शीघ्र श्रीरघुनाथजीके समीप पुनः आ प्राप्त होंगे। (वाल्मीकीय सु० स० १ में स्वयं श्रीहनुमान्‌जीके वचन इसी आशयके ये हैं—"यथा राघवनिर्मुक्तः शरः श्वसनविक्रमः॥ ··· गच्छेत्तद्वद्गमिष्यामि लंकां रावणपालिताम्।... अनेनैव हि वेगेन गमिष्यामि सुरालयम् ··· सर्वथा कृतकार्योऽहमेष्यामि सह सीतया॥३९-४२॥" अर्थात् जिस प्रकार राघवका छोड़ा हुआ बाण पवनवेगसे जाता है और पराक्रम करके लौटता है, वैसेही मैं लंकामें जाऊँगा; यदि वहाँ सीताजी न मिलीं तो उसी वेगसे देवलोकमें जाकर ढूँढूँगा। जैसे बनेगा कार्य पूरा करके लौटूंगा)।

टिप्पणी—२ 'एही भाँति चला हनुमाना' इति। (क) 'एही भाँति' का भाव कि जो और और प्रकारकी उपमाएँ अन्य कवियोंने दी हैं, वे यथार्थ नहीं हैं, यथार्थ 'यही' है। (ख) यहाँ हनुमान्‌जीका चलना कहा। 'हनुमान' नाम देकर जनाया कि ये मार्गसे लंकातक बहुतोंका मान मर्दन करेंगे।

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तइँ मैनाक होहि श्रम हारी॥ ९॥

अर्थ—समुद्रने श्रीहनुमान्‌जीको श्रीरघुनाथजीका दूत बिचारकर (मैनाक पर्वतसे कहा) मैनाक! तू इनका श्रमहारी हो जा। अर्थात् इनको अपने ऊपर विश्राम देकर इनका परिश्रम हर। ९।

टिप्पणी—१ 'जलनिधि' पदका भाव कि समुद्रने विचार किया कि मैं जलका खजाना (अधिष्ठान) हूँ और ४०० कोशका हूँ। कहीं ये थककर डूब न जायँ। जलमें डूबनेके भयसे श्रम हरनेको कहा। अतः 'जलनिधि' नाम दिया। 'रघुपति दूत बिचारी' का भाव कि ये श्रीरघुनाथजीके दूत हैं और मैं रघुपतिके कुलसे उत्पन्न हुआ हूँ, अतः इनकी सहायता करना मेरा कर्तव्य है। यदि मैं सहायता न करूँगा तो सब प्रकारसे निंदित हो जाऊँगा, कोई मेरा नाम न लेगा। ['इक्ष्वाकुकुलमानार्थी चिन्तयामास सागरः। वाल्मी० ५।१।८७। साहाय्यं वानरेन्द्रस्य यदि नाहं हनूमतः। करिष्यामि भविष्यामि सर्ववाच्यो विवक्षताम्। ८८। अहमिक्ष्वाकुनाथेन सगरेण विवर्धितः। इक्ष्वाकुसचिवश्चायं नावसीदितुमर्हति। ८९। तथा मया विधातव्यं विश्रमेत यथा कपिः। शेषं च मयि विश्रान्तः सुखी सोऽति तरिष्यति। ९०। इति कृत्वा मतिं साध्वीं...।' वाल्मीकीयके इस उद्धरणको 'रघुपति दूत बिचारी' से सूचित किया है। इस विचारका उपक्रम 'चिन्तयामास' है और उपसंहार 'इति कृत्वा मतिं' पर है। बीचमें विचार है। अर्थात् 'इक्ष्वाकुकुलके प्रति सम्मान रखनेवाले सागरने इस प्रकार विचार किया कि वानरेन्द्र हनुमान्‌की यदि मैं इस समय सहायता न करूँ तो सब लोग मुझे भला-बुरा कहेंगे। इक्ष्वाकुनाथ सगर महाराजने मुझे बढ़ाया है और यह इक्ष्वाकुवंशीय श्रीरामचन्द्रजीका सचिव है। अतएव इसको कष्ट नहीं होना चाहिये। मुझे ऐसा करना चाहिये जिससे यह वानर विश्राम कर ले। विश्राम करनेके अनन्तर यह शेष मार्ग सुखसे तै कर सकेगा। ऐसा सुंदर विचार करके गोस्वामीजीने केवल अंतिम शब्द बिचारी ले लिया। इस तरह वे हनुमान्‌जीका वेग शब्दोंसे दिखा रहे हैं]।

* तेही—ना० प्र०, व० चं०। एही—भा० दा०, छ०।

२ 'तइँ मैनाक होहि श्रमहारी' इति। [(क) मैनाक हिमाचलका पुत्र माना जाता है। यह स्वर्णमय है। इसने हनुमान्‌जीसे अपना वृत्तान्त यों कहा है—'पहले सत्ययुगमें पर्वत पक्षयुक्त होते थे और सब दिशाओंमें गरुड़की तरह उड़ा करते थे। उनके उड़नेसे देवता, मुनि और मनुष्य सभी उनके गिरनेके भयसे भयभीत रहा करते थे। अतएव इन्द्रने हज़ारों पर्वतोंके पक्ष वज्रसे काट डाले और मेरे पास भी आए। उस समय आपके पिता महात्मा पवनदेवने मेरी सहायता की। मुझे शीघ्र ही अपने वेगसे उड़ाकर समुद्रमें लाकर छिपा दिया।' (वाल्मी. ५. १. ११५-११९)। यह पातालके विशाल द्वारको रोके रहता था। इसे चारों दिशाओंमें बढ़नेका सामर्थ्य है। (श्लोक ९०-९२)]। (ख) 'तइँ मैनाक होहि श्रमहारी'— समुद्रके इस कथन का भाव यह है कि मैनाक पक्षधारी पर्वत है और वानर स्वाभाविकही पर्वतपर विहार करते हैं। अतएव यदि यह बढ़ जाय तो वे स्वाभाविकही इसपर ठहरकर अपना श्रम निवारण करेंगे। अथवा, (ग) भाव यह है कि 'तुमपर पवनका ऋण है। पवनने तुम्हारा उपकार किया है कि इन्द्रके वज्रसे बचाकर तुमको यहाँ लाकर हमारे जलमें छिपा दिया। तुमभी उनके पुत्रका उपकार करके उनसे उऋण हो जाओ। (वाल्मीकीय सुं० सर्ग १ श्लोक १२१-१२८ में जो मैनाकके वाक्य हनुमान्‌जीके प्रति हैं उनसेभी यही आशय निकलता है। यथा—'पूजिते त्वयि धर्मज्ञ पूजां प्राप्नोति मारुतः॥ तस्मात्त्वं पूजनीयो मे शृणु चाप्यत्र कारणम्।....१२२।...ततोहं मानयामि त्वां मान्यो हि मम मारुतः॥ त्वया मे ह्येष संबन्धः कपिमुख्य महागुणः।' अर्थात् आपकी पूजासे वायुकी पूजा हो जाती है, अतः आप मेरे पूजनीय हैं; इसका कारण सुनिये।...इसी लिये मैं आपका सम्मान कर रहा हूँ। आप मुझपर और समुद्रपर कृपा करके मेरी पूजा स्वीकार करें)।

नोट--१ मैनाकसेही क्यों कहा? क्योंकि उसके भीतर जितने जलचर हैं वे कोई आकाशगामी नहीं हैं और न यह सामर्थ्यही किसीमें है कि हनुमान्‌जीको सँभाल सके। इस समय श्रीहनुमान्‌जी बहुत ऊपर आकाशमें हैं और मैनाक पक्षधारी है तथा शीघ्र उनतक पहुँच सकता है। दूसरे, उसपर पवनका ऋण है उनसे उऋण होनेकी इच्छा उसे अवश्य होगी।

टिप्पणी—४ शंका—'जलनिधि श्रीरामजीके पास न आया और उनके दूतको विश्राम देना चाहता है, यह क्यों?' समाधान—(क, अयोध्याकाण्डमें दिखाया है कि श्रीरामजीसे रामभक्तका मार्ग अधिक सुखदायी हुआ। यथा—'किये जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात। तस मग भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात।२१६।' वैसाही यहाँ जानिए। (ख) हनुमानजीके पराक्रमको देख रहा है, इससे विश्राम देता है, और श्रीरघुनन्दनजीने तो परम माधुर्य्यमय वचन कहे हैं जिससे उसे उनकी ईश्वरतामें भ्रम हो गया, इसीसे उनके पास न आया। परन्तु जैसेही उनका पराक्रम देखा वैसेही डरा हुआ आया। (ग) समुद्रके दो तट हैं। दोनोंपर एक एक शत्रु है। दक्षिण तटपर रावण है जिसे मारनेको तो रामजी जाते ही हैं और उत्तर तटपर साठ हजार आभीर (जो चोर हैं) वास करते हैं। उनके बधका उपाय विचारकर न आया कि जिसमें श्रीरामजी रोषपूर्वक बाणका अनुसंधान करें तब बाण छोड़नेके पहलेही, मेरे शरणमें जा प्राप्त होनेसे, उसी बाणसे मैं उन सबका वध करा सकूँगा। इस चतुराईसे प्रथम ही न आ गया। क्योंकि वह जानता है कि श्रीरघुपतिका बाण अमोघ है, धनुष पर चढ़नेपर फिर व्यर्थ नहीं जायगा।

☞ पर्वतोंके बढ़नेका वैज्ञानिक रहस्य—कल्पके आरम्भमें, अर्थात् इस वर्तमान श्वेतवाराह कल्पके उदय होनेके पूर्व उषः कालमें अबसे २ करोड़ ४४ लाख वर्ष पहिले, इस धरतीकी अत्यन्त उत्तप्त दशा थी। अग्निके उत्तप्त सागरके मन्थनसे चन्द्रमाका पिण्ड धरतीसे अलग हो चुका था। उस समय भी पत्थर और कच्ची धातुएँ कुछ वायव्य और अधिकांश द्रव और अर्धघन दशामें थीं। उस समय विशाल पर्वत तरल रूप में जलती हुई वायुके झोकोंसे इधर उधर उड़ते फिरते थे। लाखों वर्ष तक यही अवस्था रही। परन्तु धीरे धीरे ज्यों ज्यों समय बीतता जाता था और धरतीका ताप घटता जाता था

त्यों त्यों वायुमण्डलमेंसे वायव्य धातुओं और पत्थरोंका द्रव जलरूपमें जमकर बरसता जाता था और यह द्रव भी जमकर ठोस होता जाता था। जब पृथ्वी १२०० दर्जे तक ठण्डी हुई तब उसके ऊपरी तलका चिप्पड़ ठोस और अचल हो गया और पहाड़ भी स्थान स्थान पर अचल हो गये। फिर भी भूगर्भके भीतर बड़वानलसे उत्तप्त पहाड़ "चल" रह गये जो अब तक कहीं-कहीं धरती पर और अत्यधिक महासागरोंके भीतर ज्वालामुखके रूपमें मौजूद हैं। आजभी इनके चलनेसे भूकम्प हो जाता है और धरती फट जाया करती है, कितने टापू डूब जाते हैं और कितने नये निकल आते हैं। अभी तक वैज्ञानिक खोजियोंने भूकम्पके किसी नियमका पता नहीं लगा पाया है कि वह उसके सम्बन्धमें कोई भविष्यवाद कर सकें। यह चलनेवाले पहाड़ या भूगर्भका बड़वानल अपनी मरजीसे जब चाहे उपद्रव खड़ा कर देते हैं। इन्द्र मेघोंके राजा हैं और वर्षाके देवता हैं। पुराणोंमें लिखा है कि इन्द्रने पहाड़ोंके पर काट दिये। इससे पहिले सभी पहाड़ उड़ते थे। पवन देवताने मैनाकको लेजाकर समुद्रमें छिपाया इससे इसके पंख बाक़ी रह गये। मैनाककी कथा पिछले त्रेता युगकी है जिसको कमसे कम १५।१६ लाख बरस हो गये होंगे। परन्तु पर्वतोंके पंखोंकेकाटे जानेकी कथा उससे अत्यंत पूर्वकी है। कोई सवा दो करोड़ बरस पूर्वकी। गौड़जी)

दो०—*हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
रामकाजु कीन्हे बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥ १॥

अर्थ—श्रीहनूमान्‌जीने उसे हाथसे स्पर्श किया, फिर उसको प्रणाम किया (और कहा—) श्रीरामचन्द्रजीका काम पूरा किए बिना मुझे विश्राम कहाँ?। १।

टिप्पणी—१ मैनाकने मनुष्य रूप धरकर बातें कीं। यथा—'मानुषं धारयन्रूपमात्मनः शिखरे स्थितः। दुष्करं कृतवान्कर्म त्वमिदं वानरोत्तम ॥१११॥ निपत्य मम शृंगेषु विश्रमस्व यथासुखम्। वाल्मी० ५।१।', अर्थात् मनुष्य-रूप धरकर अपने शिखरपर बैठकर बोला कि मेरे शिखरोंपर आकर विश्राम कर लीजिए, आपने बड़ा दुष्कर कार्य किया है। श्रीहनुमान्‌जीने हाथसे स्पर्श करके मैनाकका सम्मान किया और उसे इन्द्रसे अभय कर दिया। वाल्मीकीयमें यह कथा है कि इन्द्रने स्वयं आकर मैनाकसे कहा कि 'हनुमान्‌जीको प्रसन्न करनेसे हम तुमपर प्रसन्न हुए। अब हमसे तुमको भय नहीं है।' यथा—"देवताश्चाभवन्हृष्टास्तत्रस्थास्तस्य कर्मणा॥ काञ्चनस्य सुनाभस्य सहस्राक्षश्च वासवः। उवाच वचनं श्रीमान्परितोषात्सगद्गदम्॥ सुनाभं पर्वतश्रेष्ठं स्वयमेव शचीपतिः। हिरण्यनाभशैलेन्द्र परितुष्टोऽस्मि ते भृशम्॥ अभयं ते प्रयच्छामि तिष्ठ सौम्य यथा-सुखम्॥ सुं० सर्ग १। १३७-१४०।"

२—'हनूमान तेहि परसा कर०' इति। पहले हाथसे स्पर्शकर सम्मान किया; यथा—'करसरोज प्रभु मम सिर धरेऊ। दीनदयाल अनुग्रह करेऊ॥' और मैनाक देवता है तथा हनुमान्‌जीके पिताका मित्र है। अतः उसे बड़ा जानकर पूज्यदृष्टिसे प्रणाम किया। (प्रणाम बिदा होनेका है। प्रणाम करके चल दिये)।

नोट—१ 'हनूमान तेहि परसा कर' इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि मैनाकने अपना परिचय और पवनका अपने ऊपर उपकार बताकर हनुमान्‌जीसे प्रेमसे दिया हुआ अतिथि-सत्कार और विश्राम स्वीकार करनेको कहा। तब श्रीहनुमान्‌जी बोले—'प्रीतोऽस्मि कृतमातिथ्यं मन्युरेषोऽपनीयताम्। त्वरते कार्यकालो मे अहश्चाप्यतिवर्तते। प्रतिज्ञा च मया दत्ता न स्थातव्यमिहान्तरा। ५-१-१३१-१३२।' अर्थात् मैं बहुत प्रसन्न हूँ। आपने अतिथिसत्कार किया। मेरे न ठहरनेसे आप बुरा न मानें। मुझे कार्यकी बड़ी त्वरा

* इस दोहे के पूर्व 'सिन्धु बचन उर आनि तुरत उठेउ मैनाक तब। कपि कहुँ कीन्ह प्रनाम पुलकित तनु कर जोरि कर॥' यह सोरठा काशी और ना० प्र० में है। अन्य प्राचीन प्रतियोंमें नहीं है।

यह दोहा १२-११ मात्राओंके विश्रामसे है। इसीसे इसके पहिले और तीसरे चरणमें एक मात्राकी कमी जान पड़ती है। ब्र० चं० इसे दोहरा कहते हैं।

है, दिन बीत रहा है। मैंने रास्तेमें न ठहरनेकी प्रतिज्ञा की है। ऐसा कहकर हाथसे पर्वतको छुआ। 'तेहि कर परसा' के पूर्व उपर्युक्त वार्ताका अध्याहार कर लेना चाहिए। किस हाथसे परसा यह वाल्मी., अ. रा., आ. रा. मेंभी नहीं बताया है पर सम्मान दाहिने हाथसेही किया जाता है, इसको दक्षिण हाथ समझना चाहिए।

आ. रा. सार. ९ में यह भी लिखा है कि जब हनुमान्‌जीने विश्राम करना स्वीकार न किया तब मैनाकने पुनः पुनः प्रार्थना की कि अपने स्पर्शसेही मुझे पवित्र कीजिए। इसपर श्रीहनुमान्‌जीने हाथके अग्रभागसे उसके शिखरको स्पर्श किया। यथा—'विश्रामः स्वामिकार्येऽत्र न करोम्यन्नभक्षणम्। मैनाकस्तं पुनः प्राह स्वस्पर्शात् पावयस्व माम्। ११। तथेति स्पृष्टशिखरः कराग्रेण ययौ कपिः। १२।' इसकाभी अध्याहार 'परसा कर' के पूर्व कर लेना चाहिए।

नोट—२ यहाँ 'रघुपति दूत बिचारी' के बाद एक दम 'तइँ मैनाक होहि श्रमहारी' कहा और मैनाकका श्रीहनुमान्‌जीतक जाना, उनसे फलादि खाने और कुछ देर विश्राम कर लेने तथा श्रीहनुमान्‌जीका विश्राम करना स्वीकार न करनेकी बात न कहकर केवल 'हनुमान तेहि ''बिश्राम' इतने शब्दोंसे सारी कथा कही गई। इससे कवि हनुमान्‌जीका वेग दिखा रहे हैं। समुद्र वेगको देख रहा है, मैनाकको संकेतसेही सब कह दिया। 'तइँ मैनाक होहि श्रमहारी' इतना कहते समयमेंही हनुमान्‌जी आधी दूर पहुँच गए। मैनाककाभी वेग दिखाया कि इतना सुनतेही वह हनुमान्‌जीके निकट पहुँच गया। प. प. प्र. स्वामीजी लिखते हैं कि यहाँ "मैनाकसे कहा, 'मैनाकने हनुमान्‌जीसे क्या कहा' इत्यादि सब शब्द अध्याहृत रखनेमें भाव यह है कि इतने शब्द लिखनेमें जितना समय व्यतीत हो जाता उतनेमें हनुमान्‌जी मैनाकको छोड़कर आगे बढ़ जाते और तब विचारसेभी उनका अनुगमन करना अशक्य हो जाता। इतना संक्षेप और इतना अध्याहार मानसमें अन्यत्र कहीं भी नहीं है।"

३ (क) 'रामकाज कीन्हे ''बिश्राम।'—अर्थात् श्रीरामजीका कार्य सिद्ध करके ही विश्राम लूंगा, पहले नहीं। इस वाक्यसे स्पष्ट है कि मैनाकने विश्राम करनेको कहा था। अ. रा. में इस प्रकार कहा है—'गच्छतो रामकार्यार्थं ''विश्रामो वा कथं मे स्याद्गन्तव्यं त्वरितं मया। ५-१-३३।' उपर्युक्त वाल्मी०, अ. रा., आ. रा. से मिलान कीजिए। देखिए मानसके वाक्यमें कितना लालित्य है। पढ़तेही चित्त द्रवित हो जाता है। (ख) 'कहाँ बिश्राम' से यह भी जनाया कि मुझे श्रम ही नहीं हुआ जो मैं विश्राम करूँ।

टिप्पणी—३ समुद्र के आज्ञा देनेके साथही मैनाक तुरन्त हनुमान्‌जीके पास पहुँच गया। इसी शीघ्रताको दिखलानेके लिये मैनाकका चलना और पहुँचना नहीं कहा। केवल हनुमान्‌जीका हाथसे स्पर्श करना कहा। इतनी शीघ्रता करनेपर भी हनुमान्‌जी ५० योजन समुद्र पारकर गये थे। समुद्रके बीचमें मैनाकसे भेंट हुई। मैनाक समुद्रके बीचमें रहता है। इस प्रसंगसे यह भी दिखाया कि रामभक्तको जलमेंभी ठहरनेका स्थल मिल जाता है और हरिविमुख थलमेंभी डूब मरते हैं जैसे कर्णका रथ पृथ्वीमेंही डूब गया। समुद्रने इनके श्रम हरनेकी इच्छा की, ये उसके मनोरथको भविष्यमें पूरा करेंगे जब 'रामकाज' कर चुकेंगे, यथा—'पूँछ बुझाइ खोइ श्रम धरि लघु रूप बहोरि।'; 'राम काज कीन्हें बिनु' से यहाँ यह बात सूचित कर दी है कि कार्य करके विश्राम लेंगे। मैनाकको प्रेरित करना यह समुद्रका उपकार है।

नोट—४ कोई-कोई मैनाकका प्रणाम करना कहते हैं। पर 'पुनि' उपर्युक्त अर्थका साधक है। 'कर' दीपदेहली है। (प्र०)

नोट—५ 'रामकाज कीन्हे बिनु मोहि कहाँ बिश्राम' इति। मैनाकपर हाथ फेरकर हनुमान्‌जीने उसका संतोष किया और कृतज्ञता प्रगट की। फिर प्रणामकर प्रतीकार करके वे बोले कि 'रामकाज कीन्हे बिनु '।

☞ हमको इससे कैसे महत्वकी शिक्षा मिलती है। जिस कार्यको उठाया उसे पूरा किये बिना दम लेना कैसा? कैसाभी प्रलोभन आगे आये पर क्या मजाल कि वह चित्तकी वृत्तिको विमोहित कर सके!

मनस्वी और कार्यार्थी पुरुषोंका चरित्र ऐसाही होता है। उनमें स्वामिकार्यमें तत्पर सेवकोंका धर्म जैसा होना चाहिए उसके श्रीहनुमान्‌जी महाराज परम आदर्श हैं। उस आदर्शके सम्मुख मैनाकका क्षुद्र प्रलोभन क्या कर सकता है, श्रीरामदूतके चरितपर विशेष ध्यान देना चाहिए। हमको उनके चरित्रसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। जो लोग किसी महत्कार्यको करना चाहते हैं और जिन्हें किसी कर्तव्य पथपर पैर रखना है, वे हमारे परम इष्टदेव भगवान् मारुतिके दौतकार्यको सम्यक् प्रकारसे अध्ययन और मनन करें।

परमार्थ मार्गमेंभी यह शिक्षा है। जब कोई मनुष्य परमार्थ मार्गपर आरूढ़ होने लगता है तब प्रथम उसके संबंधी प्रेमके नातेसे विघ्न डालते हैं जैसे मैनाकने हनुमान्‌जीके पिता पवनदेवके उपकारको मानकर अपना प्रेमका संबंध जनाकर उनसे विश्राम कर लेनेको कहा था। ऐसे ही परमार्थपथारूढ़को अपने ध्येयसे किसी सुहृदके कहनेसे भी कदापि न डिगना चाहिए।

जात पवनसुत देवन्ह देखा। जानै कहुँ बल-बुद्धि बिसेषा॥ १॥
सुरसा नाम अहिन्ह कै माता। पठइन्हि आइ कही तेहि बाता॥ २॥

अर्थ—देवताओंने पवनसुत हनुमानजीको जाते हुए देखा। उनके विशेष बल और बुद्धिको विशेष जाननेके लिये। १। उन्होंने सुरसा नामकी सर्पोंकी माताको (बलबुद्धिकी परीक्षाके लिये) भेजा। उसने आकर हनुमान्‌जीसे यह बात कही। २।

टिप्पणी—१ 'जात...' इति। ज्योंही हनुमान्‌जी चले त्योंही समुद्रने मैनाकको और देवताओंने सुरसाको भेजा, नहीं तो यदि किंचित्‌भी विलंब हो जाता तो ये पार पहुँच जाते। 'जात' शब्दसे पाया गया कि देवता इसी पार हैं। (स्वर्गमें बैठे हुएभी देवता ऐसाही प्रयोग करेंगे। आवश्यक नहीं है कि वे समुद्र तटपर देखने आते। वे वहींसे देख रहे हैं। प. प. प्र.)। 'पवनसुत' पदसे जनाया कि पवनके समान बल और वेगसे जा रहे हैं। यथा—'चला प्रभंजन सुत बल भाषी। ६। ५५।' 'देवन्ह' बहुवचन है। इससे जनाया कि परीक्षा लेनेमें सब देवोंका सम्मत है। (वाल्मी० ५. १. १४४ में 'ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः' जो कहा है वही यहाँ 'देवन्ह' से सूचित कर दिया है। सबका आपसमें विचारना अ. रा. ५.१ के 'परीक्षणार्थं सत्त्वस्य वानरस्येदमब्रुवन्।···एवं विचार्य···९. १०।' इससे स्पष्ट है। विचार आगे नोट १ में दिये हैं)।

२ 'जानै कहुँ बल बुद्धि बिसेषा' इति। बल बुद्धि जाननेका भाव यह है कि इन्हीं दोनोंसे शत्रु जीता जाता है। यथा—'नाथ बैरु कीजै ताही सों। बुधि बल सकिय जीति जाही सों। ६। ६।', 'देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकी जाहु। ५। १७।' 'विशेष' का भाव यह है कि उनके 'सामान्य' बलबुद्धिको तो देवता पहलेसेही जानते हैं। जाम्बवान्‌के मुखसे सुन चुके हैं। यथा—'पवनतनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञाननिधाना।' और जन्मसमय आँखोंसेभी देख चुके हैं। उन्होंने सूर्यको ग्रास कर लिया और इन्द्रके वज्रकोभी सह गये, यथा—'जयति जय बालार्क कपिकेलि कौतुक उदित चंडकरमंडल ग्रासकर्त्ता। राहु रवि सक्र पवि गर्व खर्वीकरन सरन भयहरन जय भुवनभर्त्ता। वि. २५।'; पर इस समय हनुमान्‌जी उन राक्षसोंके यहाँ जा रहे हैं जो इन्द्र, सूर्य आदि देवताओंको जीत चुके हैं। अतः उनके विशेष बल और बुद्धिको देखना चाहते हैं जिससे विश्वास हो कि वे मेघनाद रावणादि प्रबल शत्रुओंसे अपनी न्यूनता फ़जीहता न कराकर लौटेंगे। (पं०)। कूदना, छलांग मारना आदि तो वानरोंके स्वाभाविक धर्म हैं। यह विशेषता नहीं देखना चाहते, प्रत्युत् बलबुद्धिकी विशेषता देखना चाहते हैं। [पुनः, विशेष परीक्षा इससे चाहते हैं कि पवनभी तो रावणको डरता है तब ये तो उनके पुत्रही हैं। (प्र०)। मा. त. सु.-कार लिखते हैं कि "यहाँ 'देवन्ह' पद देकर गोस्वामीजीने सब देवताओंको परमअल्पज्ञ सूचित किया। क्योंकि रघुनाथजी बारंबार इन्हें निर्भय होनेको कह चुके हैं। 'निर्भय होहु देव समुदाई', 'निसिचरहीन करउँ महि'। हनुमान्‌जीको मुद्रिका दी, इनके सिरपर हाथ फेरा, इनका अवतारभी

रामकार्यके लियेही हुआ, इनके बलकोभी वे जानते हैं, बालपनका बल देखा है और अब तो वे युवावस्थाको प्राप्त हैं, फिरभी परीक्षा ले रहे हैं ।"]

नोट—१ श्रीहनुमान्‌जी वायुवेगसे जा रहे हैं किन्तु पता नहीं कि वे लङ्कामें घुस सकेंगे या नहीं। इसका पता लगानेकेलिये उनके बल और बुद्धिकी परीक्षाकेलिये देवताओंका सुरसाको भेजना अध्यात्म-रामायणमेंभी कहा है । यथा—"गच्छत्येष महासत्त्वो वानरो वायुविक्रमः । ६ । लङ्कां प्रवेष्टुं शक्तो वा न वा जानीमहे बलम् । एवं विचार्य नागानां मातरं सुरसाभिधाम् ॥१०। गच्छ त्वं वानरेन्द्रस्य किञ्चिद्विघ्नं समाचर ॥ ११ । ज्ञात्वा तस्य बलं बुद्धिं पुनरेहि त्वरान्विता ॥१२॥ सर्ग १।" इस उद्धरणमें केवल "बलबुद्धि" का जानना कहा है । मानसमें जो 'बिसेषा' शब्द है वह 'लङ्कां प्रवेष्टुं शक्तो वा न वा' का भाव दे रहा है । वाल्मीकीयमें परीक्षाकी विधि भी देवताओंने बताई है कि राक्षसका भयानक और पर्वतके समान विशाल रूप बनाओ जिसमें बड़े-बड़े दाँत, पीली-पीली आँखें और आकाश छूनेवाला लंबा-चौड़ा मुँह हो । हम लोग जानना चाहते हैं कि वे किसी उपाय द्वारा तुम्हें जीतते हैं. या किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं । यथा—"राक्षसं रूपमास्थाय सुघोरं पर्वतोपमम् ॥ दंष्ट्राकरालं पिङ्गाक्षं वक्त्रं कृत्वा नभः स्पृशम् । बलमिच्छामहे ज्ञातुं भूयश्चास्य पराक्रमम् ॥ त्वां विजेष्यत्युपायेन विषादं वा गमिष्यति । ५-१-१४६-१४८।"-ये सब भाव 'जानै कहुं' 'पठइन्हि' से सूचित कर दिये गए ।

टिप्पणी—३ 'सुरसा नाम अहिन्ह कै माता पठइन्हि' इति । सुरसाको परीक्षा लेनेके लिए, भेजनेके भाव (क) देवता हनुमान्‌जीके 'बल बुद्धि' को न जान सके और न परीक्षा ले सके, इससे उन्होंने स्त्रीको भेजा । स्त्री अवध्य है । (ख) राक्षस बली और मायावी होते हैं और सुरसामेंभी बल और माया दोनों हैं । अतएव सुरसाको भेजा । (ग) हनुमान्‌जीको 'पवनसुत' कहकर सुरसाको 'अहिन्ह कै माता' कहनेसे इसमें परीक्षा लेनेकी योग्यता दिखायी है । सुरसा हनुमान्‌जीको ग्रास कर सकती है, क्योंकि सर्पोंका आहार पवन है । (घ) देवताओंने विचारा कि यदि हम परीक्षा लेने जायेंगे तो हनुमान्‌जी अपना विघ्न मानकर क़दाचित् दण्ड दे दें, अतः स्त्रीको भेजा, जैसे सुग्रीवने ताराको भेजा था । यथा —"सुनु हनुमंत संग लै तारा ।...."(कि०) । (ङ) सर्पिणीको अपने पुत्रपरभी दया नहीं होती । अतः इसे भेजा कि यह निर्दय होकर परीक्षा लेगी । [(च) हनुमान्‌जी ब्रह्मचारी हैं, अतः स्त्रीको भेजा । प० प० प्र०]

४ (क) यहाँ 'सुरसा' और 'अहिन्ह कै माता' दोनों कहे । इसका एक कारण तो हो चुका । दूसरा कारण यह है कि 'सुरसा' में अतिव्याप्ति है । इससे औरके नामका संदेह होता, अतः अहिनकी माता कहा। पुनः, यदि अहिनकी माताही कहते तोभी संदेह होता । क्योंकि कद्रूभी सर्पोंकी माता है । अतः दोनों कहा। अहिनकी माता कहकर जनाया कि भयानक है, क्रूर स्वभाव है और तमोगुणकी मूर्ति है । (ख) 'पठइन्हि आइ' इति । यहाँ सुरसाका चलना और पहुँचना नहीं कहा । इससे शीघ्रता दिखलायी । वह बहुत जल्द आयी क्योंकि हनुमान्‌जी रामबाणके समान जा रहे हैं । जबतक मैनाकसे वार्ता हुई तब तक यह आ गयी ।

सुरसा—दक्षप्रजापतिकी आठ कन्यायें अदिति, दिति, दनु, कालिका, ताम्रा, क्रोधवशा, मनु और अनला कश्यपजीको ब्याही गईं। इनमेंसे ताम्राके क्रौंची, भासी, श्येनी, धृतराष्ट्री और शुकी पाँच कन्यायें हुईं। इनमेंसे शुकीके नता नामकी कन्या हुई और नताकी कन्या विनता हुई । विनताके दो पुत्र अरुण और गरुड़ और दो कन्यायें सुरसा और कद्रू हुईं । कद्रू नागोंकी माता हुई । इस तरह सुरसा गरुड़की बहिन है ।—'विनता च शुकीपौत्री कद्रूश्च सुरसा स्वसा । वाल्मी० ३।१४।३०। ..द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु गरुडोऽरुण एव च ।३१।' यह मत वाल्मीकीयका है । महाभारत आदि पर्वमें कद्रू और विनताको कश्यपजीकी स्त्रियाँ कहा है । मानसमें भी दोनोंको सौतें कहा है-'कद्रू बिनतहि दीन्ह दुख....२।१९।' सुरसाको कहीं-कहीं एक सहस्र सर्पोंकी माता कहा है । वाल्मीकीयमें इनको नागमाता और दाक्षायणी कहा है । यथा—'अब्रुवन्सूर्यसंकाशां सुरसां नागमातरम् । वाल्मी० ५ । १ । १४५ ।', 'प्रविष्टोऽस्मि हि ते वक्त्रं दाक्षायणि नमोऽस्तु ते । १६६ ।' यह सूर्यके समान बड़ी तेज-

स्विनी थी। यह स्वेच्छानुसार रूप धारण कर सकती थी। देवताओंने इससे भयानक पर्वताकार राक्षसीका रूप धारण करके परीक्षा करनेको कहा था। राक्षसी बनकर यह हनुमान्‌जीके सामने राह रोककर खड़ी हो गयी और कहा कि ब्रह्माका मुझे वरदान है कि कोई मुझे लाँघकर नहीं जा सकेगा। देवताओंने तुम्हें मेरा भक्ष्य किया है। अतएव यदि तुम जाना चाहते हो तो मेरे मुखमें प्रवेश करकेही जा सकते हो—'अहं त्वां भक्षयिष्यामि प्रविशेदं ममाननम् ॥१५१॥...प्रविश्य वदनं मेऽद्य गन्तव्यं वानरोत्तम ॥ वर एष पुरा दत्तो मम धात्रेति सत्वरा ॥ १५८–१५९ ॥' (वाल्मी० स० १)।

नोट—२ 'जात पवनसुत' पदसे 'अहिन्ह कै माता' तक 'पायकुलक' छंद है। 'पठइन्हि' तामरस छन्द है। (प्र० चं०)

३ आनन्द और अध्यात्म रामायणोंमें प्रथम सुरसाका मिलना पाया जाता है, तब मैनाकका आतिथ्य। यहाँ मानसमें प्रथम मैनाकका आगमन है, तब सुरसाका। कविकी उक्तिके अनुसार इस भेदका कारण 'कल्पभेद हरिचरित सुहाये' है। साहित्यिक दृष्टिसे इस भेदमेंभी चरित्र-चित्रण-चारुताकी झलक है। मैनाक समुद्रमें रहता है, अतएव उसका प्रथमही आना उचित है। वह विश्राम देनेको आता है पर इसमेंभी परीक्षाका अनुमान हो सकता है कि देखें कि ये रामकार्यमें कहाँतक तत्पर हैं। विश्रामकी चाह करते हैं या नहीं। 'रामकाज लवलीन मन' का यहाँ चरितार्थ है। जब लंकाके निकट आते हैं तब देवता सुरसा द्वारा परीक्षा लेते हैं। उसके बाद सिंहिका मिलती है जो लंकाकी रक्षा लंकातटके निकट समुद्रमें रहकर करती है। इसीसे इसको मारनेपर समुद्र पार हो जाता है। लंकामें पहुँचतेही द्वारपर लंकिनी टोकती है। यह क्रम स्वाभाविक है। विघ्नोंका एकसाथ क्रमसे होनाही विशेष स्वाभाविक है। वाल्मीकीयमें मैनाकके पश्चात् सुरसा आती है। पर उसमें लंकिनीका प्रसंग नहीं है।

४ 'आइ कही तेहि बाता'- बातही क्यों कही, पहलेसे खानेको क्यों न दौड़ी ? कारण कि वे वेगसे जा रहे हैं। उन्हें परीक्षाके लिये रोकना है, बात सुनकर रुकेंगे। दूसरे यदि प्रथमही खानेको दौड़ती तो वे राक्षसी जानकर मार डालते अथवा युद्ध छिड़ जाता। बल-बुद्धिकी परीक्षा मात्र लेना है, युद्ध नहीं करना है और युद्धमें उनसे जीतना संभव नहीं है। देवताओंने आहार दिया है यह सुनकर वे उसका सम्मान करेंगे। मा० त० सु० का मत है कि बातसे ही परीक्षा प्रारंभ की क्योंकि बातचीतसे अन्तःकरणका आशय लक्षित हो जाता है।

आजु सुरन्ह मोहिं दीन्ह अहारा। सुनत बचन कह पवनकुमारा ॥ ३ ॥

अर्थ—आज देवताओंने मुझे भोजन दिया। यह वचन सुनतेही पवनकुमार हनुमान्‌जीने कहा (बोले)। ३।

टिप्पणी—१ (क) 'आजु' से जनाया कि बहुत दिनोंसे भोजन नहीं मिला था, आज प्राप्त हुआ। यथा—'आजु सबन्ह कहँ भच्छन करऊँ। दिन बहु चले अहार बिनु मरऊँ ॥ कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा। आजु दीन्ह बिधि एकहि बारा ॥' (कि० २७)। (ख) 'अहार' शब्दसे यह सूचित किया कि सुरसा राक्षसी बनकर आयी है। क्योंकि राक्षस जीवोंको पकड़कर खाते हैं। यथा —'कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं', 'नर कपि भालु अहार हमारा'। (ग) देवताओंके भेजनेसे आयी; इसीसे 'सुरन्ह' का आहार देना कहा। अभी परीक्षा लेनेके लिये भेजना नहीं कहा, पीछे परीक्षा हो जानेपर कहेगी। यथा—'मोहिं सुरन्ह जेहि लागि पठावा। बुधि बल मरमु तोर मैं पावा' ॥ यदि परीक्षाकी बात पहलेही कह देती तो ठीक परीक्षा न मिलती। क्योंकि वे जान जाते कि यह परीक्षाके लिये मुँह फैला रही है, हमको खायेगी नहीं। (मा. तु. सु. का मत है कि 'सुरन्ह' बहुवचन शब्द देकर जनाती है कि समस्त देवताओंने सहमत होकर यह भक्ष्य दिया है। इस तरह अपनेको निर्दोष जनाया। साथही यह भी जनाया कि जिनके कार्यके लिये तुम उद्यत हो वेही तुम्हारे बाधक हैं, अतः प्रथम दैवकृत बाधा मिटानेका उपाय सोच लो तब असुरोंकृत बाधाका निवारण करने योग्य होगे। तुम

निःशंक चले जा रहे हो, पहले यह विचार लो कि जब देवताही ऐसा व्यवहार कर रहे हैं तब निशिचरगण तो उनसे कहीं अधिक बली और मायावी हैं वे क्या न करेंगे ? 'अहारा' में यह भी भाव है कि अन्य वस्तुके देनेमें पात्रका विचारभी करना पड़ता है परन्तु आहार देनेमें विचार नहीं किया जाता। अतिथि सर्वदा पूजनीय है)।

शंका—देवता झूठ नहीं बोलते, सुरसा देवी है, वह झूठ क्यों बोली कि 'सुरन्ह मोहिं दीन्ह अहारा'?

समाधान—(क) सुरसा स्त्री है। स्त्री स्वभावसे झूठ बोली। यथा—'नारि सुभाव सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥ साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच अदाया। ६।१६।' जैसे सतीजी झूठ बोलीं कि 'कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहि नाईं। १।५६।' वा, परोपकार-साधनमें झूठ बोलना दोष नहीं है। (पं. रा. कु.)। वा, परीक्षार्थ होनेसे असत्य नहीं है। (मा. त. सु.)। वाल्मीकीय सुं० सर्ग १ में इस चरणके जोड़का श्लोक यह है, 'मम भक्षः प्रदिष्टस्त्वमीश्वरैर्वानरर्षभ॥ अहं त्वां भक्षयिष्यामि प्रविशेदं ममाननम्। १५०।' (ख) भगवती सुरसा हनुमान्‌जीकी परीक्षा लेने आई है। 'आज देवताओंने मुझे आहार दिया' यह कहकर उसने युद्धका रास्ता रोक दिया। देवताओंने आज्ञा दी है, इसलिये भक्ष्य बनो। पहिले ही बुद्धिकी परीक्षा सामने आई। परीक्षामें जो धोखा दिया जाता है, उसकी गणना असत्यमें नहीं है, क्योंकि उससे भावोपहनन नहीं होता। और भावोपहनन ही (पाप) है, यथा—'तयो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः। स्वाभाविको ज्ञानविधिर्न कल्कः। असह्य वित्ताहरणं न कल्कः। सर्वाणि भावोपहतानि कल्कः।' अभिनयमें सब झूठ ही कहा और किया जाता है, पर वह कल्क नहीं है, क्योंकि भावोपहत नहीं है। यहाँ यह कहना ठीक नहीं कि सुरसा स्त्री-स्वभावसे झूठ बोली। यह कोई नियम नहीं है कि स्त्री झूठ ही बोले। रावणका वचन प्रमाणरूपसे सर्वत्र ग्रहण नहीं किया जा सकता। (वि. त्रि.)।

टिप्पणी—२ 'सुनत बचन कह पवन-कुमारा' इति। सुरसाके वचनका उत्तर देना कठिन है। सुरसा कहती है कि देवताओंने मुझे 'आहार' दिया। आहारको वह खानेको तैयार है। हनुमान्‌जी धर्मात्मा हैं। देवताओंके दिये हुए भक्ष्य हैं, तो नहीं कैसे करें? यथा—'परहित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही'। (बा. ८४)। और यदि शरीर खानेको दिये देते हैं तो रामकार्य नहीं बन सकता। दोनों तरहसे उत्तर देना कठिन है। ऐसे असमंजसके समयभी आपको उत्तरमें कुछ कठिनाई न हुई, आप तुरन्त बोले। अतः 'पवन-कुमार' कहा। तात्पर्य कि वचन पवनकीही प्रेरणासे निकलते हैं और ये पवनकुमारही हैं तब क्यों न तुरंत उत्तर देते? वचन सुनतेही बोले, इन्हें जराभी विचार न करना पड़ा, यह बुद्धि है।

रामकाजु करि फिरि मैं आवौं। सीता कइ*सुधि प्रभुहि सुनावौं॥ ४॥
तव† तुव† बदन पइठिहौं‡ आई। सत्य कहौं मोहि जान दे माई॥ ५॥

अर्थ—श्रीरामजीका कार्य करके मैं लौट आऊँ और श्रीसीताजीका समाचार प्रभुको सुना दूँ। ४। तब आकर तेरे मुखमें पैठूँगा (प्रवेश करूँगा, अर्थात् तब मुझे खा लेना)। मैं सच कहता हूँ। हे माई! मुझे जाने दे। ५।

टिप्पणी—१ (क) हनुमान्‌जीको रामकार्य होनेका निश्चय है। यथा—'होइहि काजु मोहि हरषु बिसेषी।' इसीसे कहा कि 'करि फिरि मैं आवौं।' जाम्बवान्‌का वचन है कि 'सीतहि देखि कहहु सुधि आई।' इसीसे कहा कि 'सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं।' तात्पर्य यह कि सीताजीको देखकर समाचार सुना देना यही 'रामकाज' है। मुझे इतना अवकाश दो। रामकार्य करनेपर मुखमें पैठना हो सकता है, पर प्रथम मुखमें पैठनेसे रामकार्य नहीं हो सकता, अतएव प्रथम 'रामकाज' करना कहा। क्षुधार्त्तको भोजन देना साधारण धर्म

* कै। ‡ पैठिहौं—(न० प्र०) † तव—गी. प्र.।

है और रामकार्य परमधर्म है; अतएव इसे प्रथम करना कहा। (ख) सुरसाने कहा था कि 'आजु सुरन्ह मोहिं दीन्ह अहारा'। इसपर हनुमान्‌जी कहते हैं कि देवताओंने तुम्हारा उपकार किया कि तुमको आहार दिया। तुम देवताओंका उपकार करो। रामकार्य होनेसे देवताओंका उपकार है। पीछे तुम्हाराभी उपकार होगा। हम आकर तुम्हारे मुखमें पैठेंगे। (ग) ['रामकाज करि...' में यह भी भाव है कि तुम श्रीरामजीके राज्यमें रहनेवाली हो, अतएव तुम्हेंभी इस कार्यमें मेरी सहायता करनी चाहिए। यथा—'तस्याः सकाशं दूतोऽहं गमिष्ये रामशासनात्॥ कर्तुमर्हसि रामस्य साह्यं विषयवासिनी। वाल्मी. ५। १। १५४-१५५।' (घ) 'सीता' शब्दका भाव कि श्रीराम लक्ष्मण सुग्रीवादि सब बिना सुध मिले संतप्त हैं, उनकी सुध पाकर सब शीतल होंगे। (पां०)] (ङ) 'प्रभुहि सुनावौं' का भाव कि प्रभु समर्थ हैं, वे अपने बलसे शत्रुको मारकर सीताको प्राप्त करेंगे। यथा—'कपि सेन संग सँहारि निसिचर राम सीतहि आनिहैं' (कि०)।

२ 'तब तुव बदन पइठिहौं आई' इति। (क) 'बदन पइठिहौं' से जाना गया कि सुरसाने हनुमान्‌जीसे अपने मुखमें प्रवेश करनेको कहा था। इसीसे इन्होंने बदनमें पैठनेको कहा। यह न कहा कि हम तुम्हारा भक्ष्य होंगे। तुम हमें भक्षण करना, क्योंकि हनुमान्‌जी सत्यवादी हैं। यथा—'सत्य कहौं'। वैसा कहनेसे वचन झूठ होता, क्योंकि इनको कोई भक्षण नहीं कर सकता। (ख) 'तब पइठिहौं आई' से पाया गया कि कदाचित् अपने प्राण बचानेके लिये हमें धोखा दे रहे हैं। अतएव उसकी प्रतीतिके लिये 'सत्य कहौं' कहा, अर्थात् हम धोखा नहीं दे रहे हैं। यथा—'रामदूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की'; पुनः यथा—'पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य प्रन सत्य हमारा'। (ग) 'रामकाज करि' से बल जाना गया अर्थात् बलवान हैं यह जाना। महर्षि कश्यपकी स्त्री जानकर 'माई' कहा। संत पर-स्त्रीको माता जानतेही हैं। यथा—'जननी सम जानहिं पर नारी।' इससे 'माई' कहा। 'तब तुव बदन' यह बुद्धि है। (पं०)। 'आई' से जनायाकि तू यहीं रह, मैं यहीं लौटकर आता हूँ।

शंका—कार्यमें विघ्न जानकर इसपर कोप क्यों नहीं किया ?

समाधान—(क) हनुमान्‌जीने विचार किया कि एक तो वह क्षुधार्त्त है, दूसरे देवताओंकी भेजी हुई है; इसपर कोप करनेसे देहदानमें कृपणता सूचित होगी। दो० २ (६) देखिए। (ख) यह स्त्री है और दीन वचन कह रही है; अतः इसपर कोप करना उचित नहीं। (ग) जान गये कि यह बुद्धि बल जानने आयी है; अतः क्षमासे अपनी बुद्धि दिखायी। (पं०)। यह बात आगे सिंहिकाके प्रसंगसे सिद्ध होती है। यथा—'तासु कपट कपि तुरतहि चीन्हा'। तथा, यहाँ इसके भावको भी हनुमान्‌जो जान गये। इसीसे सिंहिकाको तो मारा और सुरसासे दीन वचन बोले। (घ) कुपित हो जाते तो सन्देह होता कि रामकार्य कैसे कर सकेंगे ? वहाँ रावणको कैसे समझाते ? सबसे लड़तेही रह जाते ?

नोट—१ अ. रा. में मिलता हुआ श्लोक यह है—'गच्छामि जानकीं द्रष्टुं पुनरागम्य सत्वरः। रामस्य कुशलं तस्याः कथयित्वा त्वदाननम्। ५। १। १५। निवेक्ष्ये'। 'काज करि' और 'फिरि आवौं' को एक ही चरणमें देकर 'पुनरागम्य सत्वरः' का भाव जना दिया। अर्थात् कार्यमें देर न लगेगी, मैं शीघ्र कार्य करके लौटूंगा। श्लोकका उत्तरार्ध चौपाईके दूसरे चरणमें है। अ. रा. में शपथ नहीं है। वाल्मी. ५। १। १५५-१५६ में शपथ भी है। यथा—'अथवा मैथिलीं दृष्ट्वा रामं चाक्लिष्टकारिणम्। आगमिष्यामि ते वक्त्रं सत्यं प्रतिशृणोमि ते।'

☞ इन चौपाइयोंसे कितनी बड़ी निर्भयता और किस ऊँचे दर्जेके आत्मोत्सर्गका परिचय मिलता है ? स्वामीका इष्टकार्य हो जाना चाहिये, फिर चाहे शरीर रहे या न रहे। कार्यार्थी लोगोंका ध्यान अपने उद्देश्यपर रहता है। जिस प्रकार लक्ष्यवेधी लोग, निशानेबाज, अपने लक्ष्यके अतिरिक्त और कुछ नहीं देखते, उसमें तन्मय हो जाते हैं, उसी प्रकार साधककी दृष्टि अपने कार्य और साध्यहीपर रहा करती है। वे और किसी बातकी पर्वाह नहीं करते। किसी सांसारिक बाधाका भय नहीं करते। कोई उन्हें पागल कहता है तो कोई व्यर्थका आडम्बर करनेवाला कहता है। पर वे इन बातोंपर कुछभी ध्यान न देकर अपनीही धुनमें मस्त और

व्यस्त रहते हैं। कुछ काल के अनन्तर जब वे अपने काम कर चुकते हैं, तब संसार उनके कार्यके महत्वको आपही समझता है।

कवनेहु जतन देइ नहिं जाना। ग्रससि न मोहि कहेउ हनुमाना॥ ६॥

अर्थ—(सुरसा) किसीभी यत्नसे जाने नहीं देती। (तब) श्रीहनुमान्‌जीने कहा, (तो फिर) मुझे खा न ले! (खा क्यों नहीं लेती? अर्थात् मैं देखूँ तो कि तू मुझे कैसे खाये लेती है)। ६।

नोट—१ 'कवनेहु जतन' इति। इन शब्दोंसे पाया जाता है कि बहुतसे यत्न किये, पर यहां तो रामकार्य करके श्रीसीताजीका समाचार सुनाना, यही एक यत्न लिखा है। और कौनसे यत्न किये? पं० रामकुमारजीका मत है कि-(क) नीतियाँ चार हैं। साम, दाम (दान), दंड और भेद। इनमेंसे श्रीहनुमान्‌जी प्रथम दान नीति काममें लाये। यथा—'तब तुव बदन पइठिहौं आई'। बदनमें पैठना शरीरका दान है। फिर साम नीति बरते। यथा—'सत्य कहौं मोहि जान दे माई'। 'माई' कहना साम है। मातासे दंड या भेद न करना चाहिये। अतएव इनको नहीं बरता। प्रथम रामकार्य होना, दूसरे सीताजीका क्लेश छूटना, तीसरे देवताओंका उपकार होना, चौथे साम और दान यही अनेक यत्न हैं। यहाँ दान मुख्य है। वह ग्रास चाहती है, इसीसे प्रथम दान कहा। अथवा, (ख) 'कवनेहु' से जनाया कि अनेक मुनियोंने अनेक रामायणें गायी हैं। जिस जिसने जो जो यत्न लिखे हैं उन सबोंका ग्रहण करनेके लिये यहाँ 'कवनेहु जतन' पद दिया।

बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि वे अनेक यत्न यें हैं—(क) प्रथम 'राम' नाम लिया, यह सोचकर कि श्रीरामजी चराचरनाथ हैं, उनका काम सुनकर यह विघ्न न करेगी। फिर (ख) यह सोचकर कि यह स्त्री है और स्त्रियाँ स्त्रीका दुःख देख या सुनकर दुखी हो जाती हैं, 'सीता कै सुधि प्रभुहि सुनावौं।' यह कहा। (ग) संभव है कि वह सोचे कि ये आवें या न आवें अथवा आवेंभी तो अस्त्र-शस्त्र धारण करके आवें। अभी छलसे बचना चाहते हैं। अतएव 'तुव बदन पइठिहौं आई' कहा। अर्थात् हम आकर तुम्हारे मुँहमें पैठेंगे, तुम हमें खा लेना, तुम्हें कोई परिश्रम न पड़ेगा। (घ) फिर सोचे कि कोई अपने से अपने प्राण नहीं देता ऐसा समझकर झूठ मानती होगी। अतएव कहा कि 'सत्य कहौं'। (ङ) फिर सोचे कि पुत्र सबको प्रिय होता है। अतः पुत्र बने, उसे माता बनाया। 'जान दे माई' कहा।

नोट—२ 'मोहि जान दे माई' ये शब्द बड़े ही करुणावाचक हैं। हनुमान्‌जीके सब वचनोंमें यत्न भरे हैं, पर इनमें तो हद है। 'मोहि जान दे' अर्थात् अपनी ओरसे मुझे इतने कार्यभरके लिये प्राणका दान दे। यह शरीर तेरा हो चुका। पर रामकार्य भरके लिये दान चाहता हूँ, फिर तो तेरे मुँहमें पैठूंगा ही। कैसी दीनता है? 'माई' संबोधनसे जनाया कि मातापुत्रभावसे वह अवश्य दयार्द्र होकर जाने देगी। 'सीता कै सुधि' में यह युक्ति है कि स्त्री स्त्रीको विपत्तिमें सहायक होनेकी बात सुनकर दया करेगी। जब न माना तब कुपित होकर 'ग्रससि न' कहा। ये शब्द श्लेषार्थी हैं। 'न' निश्चय और निषेध दोनों अर्थ दे रहा है। 'नहीं' जाने देती तो ग्रास क्यों नहीं कर लेती?' और 'ग्रसना चाहती है, यह न होगा'। 'ग्रससि न मोहि' ये वचन क्रोधके हैं। यथा 'एवमुक्तः सुरसया क्रुद्धो वानरपुङ्गवः। अब्रवीत्कुरु वै वक्त्रं येन मां विषहिष्यसि। वाल्मी० ५।१।१६०।' वाल्मी० तथा अ० रा० के वाक्योंसे 'ग्रससि न मोहि' ये वचन कितने जोरदार हैं, पाठक स्वयं देख लें। इसमें अपने बलपर कैसा आत्म-विश्वास दिखाई दे रहा है।

टिप्पणी २ (क) 'कवनेहु जतन देइ नहिं जाना' यहाँ तक बुद्धि है और 'ग्रससि न मोहि' यह बल है। [बाबा हरिदासजी 'ग्रससि न मोहि' तक बुद्धिसे काम लेना कहते हैं। आगे मुँह फैलानेपर बल दिखाना है।] (ख) जबतक यत्नसे कार्य हो सके तबतक बल न करे, यह नीति है। यथा, 'जो मधु मरै न मारिये माहुर देइ सो काउ। जग जिति हारे परसुधर हारि जिते रघुराउ॥' (दोहावली ४३२)। अतएव प्रथम यत्न किया, पीछे बल। (ग) श्रीहनुमान्‌जीने उसे 'माई' कहा तबभी वह नहीं छोड़ती, नहीं जाने देती। इसका कारण यह है कि सर्पिणी अपनेही अंडे बच्चोंको खा जाती है। तब इनको कैसे छोड़े?

जोजन भरि तेहिं बदनु पसारा। कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा॥ ७॥
सोरह जोजन मुख तेहि ठयऊ। तुरत पवनसुत बत्तिस भयऊ॥ ८॥

अर्थ—उसने योजन (चार कोश) भरका मुख फैलाया तब कपि (श्रीहनुमान्‌जी) ने अपने शरीरको उसका दुगुना विस्तृत कर दिया। (अर्थात् दो योजनके हो गये जिसमें उनके मुखमें अँटही न सकें)। ७। उस (सुरसा) ने सोलह योजनका मुख किया तब पवनपुत्र तुरन्तही बत्तीस योजनके हो गये। ८।

टिप्पणी—१ 'जोजन भरि तेहि बदनु पसारा' इति। (क) इससे ज्ञात हुआ कि उनका शरीर एक योजनके भीतर ही था। (ख) 'बदन पसारा' अर्थात् फैलाया भर, खानेको नहीं दौड़ी। यथा, 'करि चिक्कार घोर अति धावा। बदन पसारि०।' (कुंभकर्ण लं० ६९); क्योंकि परीक्षा लेने आयी हैं, खाने नहीं आयी। (ग) शरीरको दुगुना विस्तृत करनेका भाव कि ले तू खाने आयी है तो हमभी तुझे दुगुना भक्ष्य देते हैं।

२ 'सोरह जोजन' इति। (क) शंका कपितन दो योजनका था तो सुरसाको चार योजनका मुख करना था। जब वे आठ के होते तब यह १६ का करती। अभी एकदमसे १६ का क्यों कर लिया?

समाधान—इससे ज्ञात होता है कि हनुमान्‌जीका स्वरूप देखकर वह घबड़ा गयी। क्रमभंगसे उसका घबड़ाना और हनुमान्‌जीका सावधान रहना सूचित किया। 'ठयऊ'=किया। यथा, 'एहि विधि हित तुम्हार मैं ठयऊ।' (बा० १३३ (२) देखिये)। (ख) 'तुरत' अर्थात् सुरसाके १६ योजन होनेके साथही तत्क्षण ये ३२ हुए, इसीसे शीघ्रतासूचक 'पवनसुत' नाम दिया।

३ (क सुरसा भक्षण करनेपर तत्पर है अतः उसके मुखहीकी प्रधानता दरसायी गयी और हनुमान्‌जी उसको पराभव करनेपर तत्पर हैं, अतः उनके सम्पूर्ण शरीरका विस्तार दिखाया। (ख) एक योजनके बाद १६ योजन कर लेने का तात्पर्य यह है कि सुरसाने इनको अपनेसे दुगुना बढ़ा देखकर सोचा कि इनकी इतनीही सामर्थ्य और शीघ्रता है या अधिक। यही निश्चय करनेके लिये सावधानतासे उसने १६ योजनका मुख बनाया। (मा० त० सु०)

जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा। तासु दून कपि रूप देखावा*॥ ९॥

अर्थ—जैसे-जैसे सुरसाने मुख बढ़ाया (वैसेही वैसे) कपिने उसका दुगुना रूप दिखाया। ९।

टिप्पणी—जब सुरसाने मुख योजन भरका किया तब इन्होंने दो योजनका रूप कर लिया। जब उसने १६ योजनका मुख किया तब इनने ३२ योजनका रूप दिखाया। सुरसाके बदन बढ़ानेमें कोई नियम नहीं है, कभी कम बढ़ाती है कभी अधिक; इसीसे उसके सम्बन्धमें 'जस जस···' कहा। हनुमान्‌जीके शरीर बढ़ानेमें नियम है कि उसके मुखसे दुगुना ही बड़ा रूप दिखाते हैं। अतएव इनके सम्बन्धमें 'तासु दून···' कहा। आगे दुगुना रूप बढ़ानेकी समाई (गुंजाइश) नहीं है। क्योंकि ३२ योजनके हनुमानजी हैं जब सुरसा ६४ योजनका मुख फैलावेगी तब ये १२८ के होंगे सो यह बात ठीक नहीं बनती। क्योंकि इस क्रमसे वे उसके शतयोजनमुख होनेके पूर्वही उससे अधिक बढ़जाते हैं यह संभव नहीं। तो फिर 'जस जस सुरसा बदन बढ़ावा' यह चौपाई सिद्ध नहीं होती? इससे यह जान पड़ता है कि यहाँ दूसरे रामायणोंका मत दिया है। अर्थात् सुरसाका मुख एक योजनका हुआ तब हनुमानजी दो योजनके हुए; जब वह दो योजनकी हुई तब ये चार, जब वह आठ तब ये सोलह इत्यादि। 'रूप देखावा' से जनाया कि केवल उसे दिखाने मात्रको इतना बड़ा रूप कर लेते हैं, उसे मारना नहीं चाहते। यह बल है।

वि० त्रि०—यहाँ पर कविने यह दिखलाया कि सुरसाके बदन पसारनेमें कोई क्रम नहीं है, और हनुमान्‌जीके शरीर विस्तारमें दुगुने होनेका क्रम है। सुरसाने एक योजन मुख पसारा, तो हनुमान्‌जी दो योजनके हो गये, उसने सोलह योजनका मुख किया, तो ये बत्तीस योजनके हो गये। यहाँ दिव्य बल सिद्धि'

* तासु दून कपि रूप देखावा 'स्वागता' छंद भेद है। व्र० चं०।

की परीक्षा हो रही है । दोनों अपनी अपनी महिमा सिद्धि दिखला रहे हैं । यदि मान लिया जाय कि तीसरी बार सुरसाने चालीस योजन मुँह फैलाया, तो हनुमान्‌जी अस्सी योजनके हो गये । यहाँ तीनों बारके सिद्धि-प्रदर्शनको लक्ष्य करके 'जस जस' शब्दका प्रयोग किया गया है ।

सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा । अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा ॥ १० ॥
बदन पइठि पुनि बाहेर आवा । माँगा बिदा ताहि सिरु नावा‡ ॥ ११ ॥

अर्थ—(जब) उसने (सुरसाने) सौ योजनका मुख किया, तब पवनसुतने अत्यन्त छोटा रूप कर लिया । १० । उसके मुखमें घुसकर (अति शीघ्रतासे) फिर बाहर निकल आये । और उसको मस्तक नवाकर बिदा माँगी । ११ ।

टिप्पणी—१ 'सत योजन तेहि आनन कीन्हा...' इति । (क) सौ योजन मुख करनेका भाव कि सौ योजनका समुद्र है, समुद्रभरमें उसीका रूप देख पड़ा । एक डाढ़ नीचे किये है और एक सौ योजनके ऊपर । (यहाँ सुरसाके मुखकी वृद्धि उत्तर-दक्षिणमें नहीं है किन्तु अध-ऊर्ध्व-भागमें है । यह वृद्धि देवमाया भी हो सकती है) । (ख) एक बार मुखका 'पसारना' लिखकर फिर 'करना' और 'बढ़ाना' लिखनेका भाव यह है कि मुख तो फैलाएही रही पर बढ़ाती गयी । सौ योजनका मुख सुरसाके बढ़ावकी अवधि है वैसेही इधर हनुमान्‌जीका 'अति लघुरूप' सूक्ष्मताकी अवधि है । उसने अत्यन्त बड़ा मुख किया और इन्होंने अत्यन्त-लघु रूप लिया ।❀ (ग) 'पवनसुत' नामसेही अतिशीघ्र अतिलघुरूप हो जाना जनाया । हनुमान्‌जीने दुगुना रूप होकर सुरसाको न जीता वरन् छोटे रूपसे जीता । ☞ इसमें यह उपदेश है कि बड़ेको छोटा होकर जीते । (घ) बहुत शीघ्र अति लघुरूप धारण किया, यह बुद्धि है ।

२ 'बदन पइठि पुनि बाहेर आवा ।' इति । हनुमान्‌जीने पूर्व 'बदन पैठिहौं आई' कहा था और सुरसाने भी मुखमें पैठनेको कहा था । अतएव उसके मुखमें प्रवेश करके अपने वचनको सत्य किया और उसके वचनको प्रमाण किया । (अ. रा. में अँगूठेके बराबर छोटा रूप बना लेना लिखा है) । मानसमें मसकको अति लघु रूप माना है—'तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता । नभ उड़ाहिं०' । 'मसक समान रूप कपि धरी' ।

वि॰ त्रि॰—सुरसाका ध्यान केवल मुखको अधिक फैलाकर हनुमान्‌जीको ग्रास कर लेनेपर है, इधर हनुमान्‌जीका ध्यान आरम्भसे ही उसके मुखमें प्रवेश करके सकुशल बाहर निकल आनेपर है, जिसमें देवताओंकी बात रह जाय । अतः जब उन्होंने ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि सुरसाको सौ योजन मुख फैलाना पड़ा, और देख लिया कि अब इसके बन्द करनेमें कुछ समय लगेगा, तो हनुमान्‌जी (बुद्धिमतांवरिष्ठ) ने एकाएक लघिमासिद्धि दिखलाई । एकदम छोटे होकर उसके मुखमें प्रवेश भी किया और बाहर भी निकल आये, सुरसा देवी उन्हें मुखमें रोक न सकीं । जबसे (तक) वह इतना बड़ा मुख बटोरे तबसे (तक) तो हनुमान्‌जी बाहर आ गये । हनुमान्‌जीकी जीत हो गई ।

टिप्पणी—३ 'माँगा बिदा ..' इति । यह प्रणाम बिदा होनेके लिये नहीं है । क्योंकि

---

‡ 'सत जोजन०० लीन्हा' पायकुलक है, 'बदन पइठि पुनि बाहेर आवा' द्रुतपा है और 'माँगा बिदा' से 'बुधि बल मरमु तोर मैं पावा ।' तक पायकुलक है । (व्रजचंद्र कवि) ।

❀ मा० त० सु०—१'अतिलघुरूप' का भाव यह है कि मेरे शरीरकी वृद्धिको तो जान गयी अब कुछ और विलक्षणता दिखाते हुए इसे पराजितकर अपने कार्यमें उद्यत हो जाऊँ, व्यर्थ समय क्यों खोऊँ ? २ बिदा माँगनेका भाव कि तेरी परीक्षा पूरी हो गई या अभी कुछ और बाक़ी है ? 'सिर नावा' उसको लज्जित करनेके लिए ।

ये पराक्रमी हैं, इनमें अपने पुरुषार्थका बल है। नीतिके अनुकूल बातोंसे छोड़नेको कहा किन्तु जीतनेपर शिर नवाया कि जो आज्ञा आपकी थी वह मैं कर चुका, अब हमें जानेकी आज्ञा हो। नीतिके अनुकूल छोड़नेकी बातें कहनेका भाव यह है कि प्रथम उसको माई कह चुके हैं, अन्तमें यहाँ उसी माता-भावसे प्रणाम किया, आदिसे अन्त तक माता भाव निबाहा। इसीपर सुरसाने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया। (ग) 'पुनि' शब्दसे जनाया कि जिधरसे घुसे उधरसेही बाहर निकले।

नोट—१☞ मिलानका श्लोक—'प्रविश्य वदनं तस्याः पुनरेत्य पुरः स्थितः। प्रविष्टो निर्गतोऽहं ते वदनं देवि ते नमः। अ. रा. सुं. १। २२।' 'पुनरेत्य पुरः स्थितः' से स्पष्ट हुआ कि मुखहीके द्वारा बाहर निकले। प. प. प्र. का मत है कि कर्णछिद्रसे निकले।

☞ यह घटना हमको सिखलाती है कि यदि अपने इष्ट-कार्य-पथपर कोई बाधा मिले तो उससे प्रथम तो बचना ही चाहिये, पर यदि वह पीछा करती है तो साहसपूर्वक उसका सामना करना चाहिये और किसी युक्तिसे शीघ्र उससे छुटकारा पानेकी चेष्टा करनी चाहिये, क्योंकि ऐसा न करनेसे उद्देश्यके साधनमें विलंब होगा। केवल बल ही सब कुछ नहीं कर लेता; उसके साधन बुद्धि और नीतिकी भी आवश्यकता पड़ती है।

नोट—२ सुरसा प्रसंगपर श्रीलमगोड़ाजीने अपने "नाटकीय महाकाव्य रामायण" सम्बन्धी लेखमें जो लिखा है उसे संक्षिप्तरूपमें हम पाठकोंके सामने रखते हैं—'महाकाव्यकलाके कविको हमारी कल्पनाशक्तिको ऐसा बनाना पड़ता है कि वह रबड़की तरह घट बढ़ सके; इसीसे मिल्टनने देव दानव जगत्के मूल सिद्धांत 'पैरेडाइज़ लास्ट' के प्रारम्भमें ही दे दिये हैं जैसे कि वे जो रूप चाहें धारण कर सकते हैं, उनमें लिङ्गभेदभी स्थाई नहीं होता। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीनेभी रामायणके प्रारम्भमें ही राक्षसोंको कामरूप धारण करनेवाला बताया है और वानरोंके लियेभी लिखा है कि वेभी वैसेही कामरूपधारी देवता थे। अब लंका और लंकाकाण्ड आनेवाला है; इस लिये हमारी कल्पनाशक्तिको विशेष सहायताकी आवश्यकता है जिसमें ओज-गुणका पूरा विकास हो सके। ऐसी अवस्थामें जैसे मिल्टनने शैतानोंके पंचायतघरका दृश्य बाँधा है कि पहले सब शैतान विशालकाय थे तब जगह न थी, परन्तु जब उनके राजाने आज्ञा दी कि प्रधान-प्रधान दानवोंके अतिरिक्त सभी दानव लघुरूप धारण कर लें जिसमें बाहर खड़ी हुई-दानव जनता भीतर आसके। तब कुछ इने गिने दानवों को छोड़ शेष सबने लघुरूप धारण कर लिया और सारी जनता उतनीही जगहमें समा गई, प्रत्युत जगह बच रही।

इसी प्रकार सुरसाके प्रसंगकी युक्ति समझिये। हम इस प्रसंगको देखही रहे हैं, अतः विस्तारकी आवश्यकता नहीं है।

"जस जस सुरसा बदन बढ़ावा"—२ (९)—

गौड़जी—हनुमान्‌जीको योगसाधनसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त थीं, इस लिये सुरसाके सामने उन्होंने जरूरत पड़नेपर अपने शरीरको जितना चाहा बड़ा कर लिया और जैसा चाहा छोटा बना लिया। परन्तु जो सर्पों और व्यालोंकी माता थी वह अपने मुखको इच्छानुसार छोटा और बड़ा कर सकती थी। इस पर, यह प्रश्न हो सकता है कि 'योग साधनवाला' चाहे अणिमा और महिमा सिद्धिके द्वारा ऐसा कर भी ले परन्तु यह कैसे माना जाय कि कोई स्थूल शरीरधारी प्राणी इस तरह अपने शरीरको घटा बढ़ा सकेगा? फिर यह भी प्रश्न हो सकता है कि 'इस तरहके विशाल-काय-प्राणी जैसी सुरसा थी या जैसे हनुमान्‌जी समझे जाते हैं मानना स्वाभाविक नहीं है; क्योंकि वर्तमान संसारमें तो ऐसे बन्दर नहीं देखे जाते जो ऐसे बलवान् हों, विद्वान हों, योगी हों और राजनीतिके पण्डित हों। यह तो क्या ऐसा कोई वानर जो मनुष्यसे बातचीत कर सके देखा और जाना नहीं गया, फिर १० सिर और २० भुजाओंवाला राक्षस तो क्या किसी तरहका कोई प्राणी नहीं देखा जाता।' वर्तमान कालमें प्रकृतिमें रामायणमें वर्णन किए हुए वानर, राक्षस या देवता कुछ भी नहीं मिलते, इसी

लिये आजकलके विचारक कहते हैं कि रामायणमें यह सब बातें अस्वाभाविक पायी जाती हैं। इस स्थल पर हम इन्हीं आपत्तियोंपर विचार करेंगे।

रामायणकी कथा आजसे कमसे कम १५, १६ लाख वर्ष पूर्वकी है। वैज्ञानिकोंका अनुमान है कि इस पृथ्वीपर एक लाख वर्ष पूर्व आजकलके-से मनुष्य मौजूद नहीं थे क्योंकि न तो उस समयकी अवस्था उनकी रायमें मानव जीवनके अनुकूल थी और न उसके इतने पुराने चिह्न ही मिलते हैं; परन्तु साथही उनका यह भी अनुमान है कि जब इस भूतल पर मनुष्य न थे तब यहाँ बड़े-बड़े दानव और व्याल बिचरते थे जो बीस-बीस हाथ ऊँचे और पचास-साठ हाथ तक लम्बे होते थे। इनके शरीर बहुत कम ठोस होते थे, प्रायः द्रव और लचीले होते थे। इनका पताभी वैज्ञानिकोंको इसलिए मिला कि इनकी ठठरियाँ मिलती हैं। परंतु जिन प्राणियोंके शरीरमें दृढ़ और ठोस ठठरियाँ न थीं उनका पता कैसे लग सकता है ? उस समयके प्राणियों के लिये अनुमान मात्र किया जाता है। जब दो लाख वर्ष पूर्व ऐसे विचित्र शरीरधारी प्राणी थे तो १५।१६ लाख वर्ष पूर्व तो इससे भी अधिक और अद्भुत विशालकाय प्राणी हो सकते हैं। इसके सिवाय यहभी सम्भव है कि जैसे दो लाख वर्ष पूर्वके दानवाकार प्राणियोंका बहुत कम चिह्न बाकी रह गया है और उनकी जातिका तो नाश हो चुका है, वैसेही १५-१६ लाख वर्ष पूर्वके राक्षसों, असुरों, वानरों, किन्नरों आदि प्राणियोंकी जातियाँभी कभीकी उच्छिन्न हो चुकी होंगी और उनका अब कोई चिह्न नहीं मिल सकता। कथाके इतने पुरानेपनपर विचार करनेसे वैज्ञानिक दृष्टिसे तो रामायणका कोई पात्र या उसकी क्रिया अस्वाभाविक या अनहोनी नहीं समझी जा सकती। इस लिये हम तो यह मानते हैं कि मनुष्योंका मांस खानेवाले भीमकाय राक्षस, मनुष्योंके बराबरकी संस्कृति और विकास रखनेवाले और उसी तरहका आचरण करनेवाले बिना अग्निसे पकाये हुए फल शाकाहारी विशालकाय वानर जातिके प्राणी और उसी तरहके भालू उस समय इस धरती पर रहते थे। यह लोग मनुष्योंसे बराबरीका सम्बन्ध रखते थे, वैसीही भाषा बोलते थे और अच्छे आचरण रखते थे। वानर और भालू जातिके विकासकी वह चरम सीमा थे। उनकी जातिमें उससे अधिक विकास नहीं हो सकता था। इस:लिये यह जातियाँ लाख दो लाख वर्षमें बिल्कुल नष्ट हो गई और उनके अत्यन्त पूर्वके रूपके लोग पशु रूपमें अर्थात् वर्तमान वानर भालूके रूपमें रह गये हैं। उसी तरह राक्षसोंकी जातिभी रावणके साथ साथ अपने विकास और उन्नतिकी चरम सीमाको पहुँच चुकी थी। इसी लिये वह भी रावणके बाद लाख दो लाख वर्षके आगे ठहर न सकी, उच्छिन्न हो गयी। महाभारतके हिडम्ब आदि राक्षस इस जातिके अवशेष मात्र हैं। रामायणमें जहाँ राक्षसोंकी असंख्य सेना है वहाँ महाभारतमें अकेला घटोत्कच है। वर्तमान समयमें राक्षस जातिका बिल्कुल उच्छेद हो चुका है। मनुजादोंकी जो जातियाँ इधर उधर पायी जाती हैं वह उनके अत्यन्त अविकसित पूर्वरूपसे बची खुची हैं। जो लोग रामायणकी घटनाओंको पाँच सात हजार वर्षोंके भीतरकी मानते हैं उन्हें हनुमान्‌जीको वानर और राक्षसादिको मनुष्य जातिके अतिरिक्त प्राणी माननेमें संकोच होता है और होना ही चाहिये क्योंकि ५।७ हजार वर्षके भीतर ऐसे प्राणियोंका अत्यन्ताभाव नहीं तो अभाव अवश्यही समझना चाहिये। परन्तु हम यह क्यों मान लें कि रामायणकी कथा केवल ५।७ हजार वर्षोंकी है ? हमें ऐसा कोई विशेष कारण देखनेमें नहीं आता कि हम उन पश्चिमी लोगोंसे अपने यहाँके इतिहासके मामलेमें समयके विषयमें अवश्यही सहमत हो जायँ जो हमारी प्राचीनताको घटानेके निरन्तर प्रयत्नमें लगे रहा करते हैं। सच्चा विज्ञान इस प्रयत्नका बराबर विरोध करता रहा है। मैं यह माननेके लिये तैयार नहीं हूँ कि हनुमान्‌जी कोई द्रविड़ देशीय मनुष्य थे, यद्यपि मैं पार्जिटरकी बहुतसी कल्पनाओंका आदर करता हूँ। जिन प्राणियोंका शरीर बहुत तरल पदार्थोंका बना हुआ होता है वह अपने शरीरको संकोच और प्रसारसे सहजमें छोटा और बड़ा कर सकते हैं। शरीरका पदार्थ जितनाही तरल होगा उतनीही इस बातमें आसानी होगी। वायुका संकोच इतना हो सकता है कि उसका बना पिण्ड लाखों गुना

छोटा हो जाय और इतना फैलाव हो सकता है कि लाखों गुना बड़ा हो जाय। चापका प्रभाव वायु पर सभी जानते हैं। प्राचीन कालके व्यालोंका शरीर अत्यन्त तरल पदार्थोंका बना होता था। सुरसा व्यालोंकी माता थी। उसका शरीरभी इसी तरहका बना हुआ था। इसी लिये बिना अणिमा और महिमा सिद्धिके ही वह अपने अंगोंको अत्यन्त अधिक फैला और सिकोड़ सकती थी।

मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा। बुधि बल मरमु तोर मैं पावा ॥ १२ ॥

अर्थ—(सुरसा बोली) देवताओंने मुझे जिस (बल बुद्धिकी परीक्षाके) लिये भेजा था, (सो) उस तुम्हारे बुद्धि और बलका मर्म मैं पा गई। १२।

टिप्पणी हनुमान्‌जीसे इसके कहनेका प्रयोजन यह था कि वे यह न समझें कि मैं विघ्न करने आई थी। अपनी सफाईके लिये ऐसा कहा। पुनः देवताओंका भेजना कहकर उनकीभी सफाई दी कि उन्होंने भी मुझे विघ्न करनेको नहीं भेजा किन्तु बलबुद्धिकी परीक्षाके लिये भेजा था। परीक्षाहेतु हमने तुमसे झूठ कहा था कि 'आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा'।

शंका—सुरसाने इस किस्मकी परीक्षा क्यों ली ?

उत्तर—जैसा काम लेना होता है वैसीही परीक्षाभी होती है। सुरसाने सोचा कि इन्हें लंकामें प्रवेश करनेके लिये बहुत छोटा रूप और सिंहिकावध तथा सीताजीके विश्वास एवं राक्षसोंसे युद्धके लिये बड़ा रूप धरना होगा। इसलिये ऐसी परीक्षा ली जिसमें दोनों रूप बनाना पड़े। (रामशंकर शरण व्यासजी)।

बलका मर्म इस तरह पाया कि बलसे उसके मुखमें न आ सके (उसके मुखसे दुगनेही रहे) और बुद्धिका मर्म इससे मिल गया कि बुद्धिसे मुखमें प्रवेश करके निकल भी आए। इतनी शीघ्रता की कि वह मुख बन्द न कर पाई थी; अथवा कान, नाक आदि छिद्रोंसे बाहर निकल आए।

इस अर्धाली और आगे दोहेसे मिलता हुआ श्लोक अध्यात्मरामायणमें यह है—"गच्छ साधय रामस्य कार्यं बुद्धिमतां वर ॥ २३ ॥ देवैः सम्प्रेषिताहं ते बलं जिज्ञासुभिः कपे। दृष्ट्वा सीतां पुनर्गत्वा रामं द्रक्ष्यसि गच्छ भोः ॥ २४ ॥"

दो०—रामकाजु सबु करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान।
आसिष देइ गई सो हरषि चलेउ हनुमान ॥ २ ॥

अर्थ—तुम बल बुद्धिके निधान (खजाना, पात्र, खान) हो (अतः) श्रीरामजीका सभी काम करोगे। आशीर्वाद देकर वह चली गयी (तब) हनुमान्‌जी हर्षपूर्वक चले। २।

टिप्पणी—१ (क) हनुमान्‌जीने प्रथम कहा था कि 'रामकाजु करि फिरि मैं आवौं। सीता कै सुधि प्रभुहि सुनावौं', उसपर यह कहती है कि 'रामकाजु सबु करिहहु' अर्थात् तुम यह सब करोगे, समुद्र लाँघकर श्रीसीताजीको देखोगे और उनका समाचार श्रीरामजीसे सुनाओगे (ख) 'बलबुद्धिनिधान' का भाव कि बिना बल और बुद्धिके रामकार्य हो नहीं सकता। यथा 'जो नाँघइ सतजोजन सागर। करइ सो रामकाज मतिआगर' (कि०)। (ग) हनुमान्‌जीने प्रणाम किया, इसीसे सुरसाने आशीर्वाद दिया। आशीर्वाद पानेसे हनुमान्‌जीको हर्ष हुआ; क्योंकि सुरसा देवी है। देवीके वचन असत्य नहीं होसकते, इसके आशीर्वादसे सब कार्य होगा। पुनः 'हरषि' इससे कि जो भारी विघ्न मिला था वह भलीभाँति निवृत्त होगया और विघ्नकारिणी भी आशीर्वाददायिनी हुई। पुनः भाव कि वह इनको इतनी देर रोके रही थी, इसलिये उनको प्रसन्न करनेके लिये उसने अपनी सफाई दी, आशीर्वाद दिया, प्रशंसा की और प्रसन्न किया। (घ) हनुमान्‌जी जबसे समुद्रतटसे चले तबसे यहीं रुके। बीचमें कहीं नहीं ठहरे। अतएव फिर 'हरषि चलेउ' कहा। जब कोई कहीं

रुकता या ठहरता है तब वहाँसे उसका चलना भी कहा जाता है, यथा 'लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी', 'चलेउ पवनसुत बिदा कराई' इत्यादि। [यह दोहरा छन्द है। (ब्र० चं०]

नोट—सुरसाने पहले हनुमान्‌जीको 'तोर' कहा—'बुधि बल मरमु तोर मैं पावा' और यहाँ 'तुम्ह' बहुवचनका प्रयोग किया है। परीक्षा छोटेकी ली जाती है, जबतक किसीको कार्यके योग्य नहीं समझा जाता तभीतक परीक्षा की जाती है। परीक्षा प्रायः बड़ा ही करता है। अतएव परीक्षासंबंधसे 'तोर' कहा। परीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर, बलबुद्धिनिधान जान लेनेपर उनको श्रीरामकार्य करने योग्य बलबुद्धिनिधान कहनेके समय सम्मानार्थ 'तुम्ह' बहुवचनका प्रयोग किया गया। स्वामी प्रज्ञानानंदजीका मत है कि वानररूप देखकर 'तोर' कहा पर जब बलबुद्धि कहनेका समय आया तब लज्जा लगी। इससे बहुवचनका प्रयोग किया। इससे उपदेश मिलता है कि जबतक किसी विशेष गुणकी प्रतीति न होगी तबतक कोई आदर न करेगा। 'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः'।

निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई। करि माया नभ के खग गहई॥ १॥

अर्थ—एक निशाचरी समुद्रमें रहती थी जो माया करके आकाशके खगोंको पकड़ लिया करती थी।१।

टिप्पणी—१ (क) निशाचरी कहनेका भाव कि सुरसा देवी थी और यह राक्षसी है; अतः जो निशाचर आते जाते थे उनको नहीं पकड़ती थी। (ख) 'सिंधु महुँ रहई' कहनेका भाव कि जीवोंके रहनेके नभ, जल और थल यही तीन स्थल हैं। इनमेंसे नभका विघ्न सुरसा द्वारा हुआ, जलमें सिंहिका विघ्न और थलमें लंकिनी विघ्न है। तीनों स्थलोंके विघ्न इस प्रसंगमें कहे हैं। सुरसा बाहरसे आई। यथा, 'पठइन्हि आइ कही००'। और यह सिन्धुमें रहती है। 'रहई' पदसे इसका निवासस्थान जलही निश्चय किया। (ग) कविने सुरसा, लंकिनी और त्रिजटा तीनके नाम लिखे, इस निशाचरीका नाम क्यों न लिखा? उत्तर—ये तीनों निश्छल हैं और रामकार्यकी साधक हुईं। यथा, 'रामकाजु सब करिहहु तुम्ह००' (सुरसा), 'प्रबिसि नगर कीजै सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर राजा।' (लंकिनी), 'सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना। सीतहि सेइ करौ हित अपना' (त्रिजटा)। यह निशाचरी आदिसे अन्ततक कपटिन और दुष्टा है, रामकाजमें बाधक हुई, हनुमान्‌जीको खाने दौड़ी अर्थात् खानेका विचार किया। यथा—'सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा'। अतएव रामद्रोही, रामविमुखी जानकर कविने उसका नाम न लिखा, यथा, 'काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै राम कर द्रोही॥' अथवा, यह जलमें गुप्त रहती है; इसीसे ग्रन्थकारनेभी गुप्त रक्खा, नाम न लिखा।

नोट—१ 'निसिचरि एक' इति। इसका नाम सिंहिका है। यह हिरण्यकश्यपकी कन्या और विप्रचित्ति दैत्यकी स्त्री थी। यह कामरूपिणी (इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली) और छायाग्राहिणी थी। हनुमान्‌जीको देखकर इसने सोचा कि आज बहुत दिनोंके लिये पेट भर जायगा। नमुचि और राहु आदि तेरह दैत्योंकी यह जननी थी। इनमेंसे राहु सबसे भयंकर था।

शंका—कविने सिंहिका निशाचरी, लंकिनी और त्रिजटा इन तीनोंके साथ 'एक' शब्द दिया है, यथा—'निसिचरि एक सिंधु महँ रहई', 'नाम लंकिनी एक निसिचरी', 'त्रिजटा नाम राच्छसी एका'। पर सुरसाके साथ यह शब्द नहीं दिया। यथा—'सुरसा नाम अहिन्ह कै माता'। यह क्यों? उत्तर—ये तीनों अपने अपने कार्यमें एकही (अद्वितीय) हैं, इनके समान दूसरा नहीं। निशिचरी (सिंहिका) के समान माया जाननेवाली लंकामें कोई नहीं है कि जो छाया पकड़कर जीवजंतुको खींच ले। लंकिनी लंकापुरी (का रूप) ही है। ऐसी दूसरी नहीं है जो लंकाके चोरकोही आहार कर ले। तीसरी त्रिजटा सो इसके समान रामभक्त और विवेक निपुण लंकामें दूसरी राक्षसी नहीं। अतएव इन तीनोंके साथ 'एक' शब्द दिया गया। और, सर्पोंकी माता सुरसा और कद्रू दोनों हैं; इससे सुरसाके साथ 'एक' विशेषण न दिया। ये (सिंहिका, लंकिनी और त्रिजटा) तीनों एकही एक प्रसिद्ध हैं और ये (सुरसा और कद्रू) दोनों प्रसिद्ध हैं। [कद्रू नागोंकी माता है और सुरसा

सर्पोंकी। यद्यपि नाग और सर्पमें बहुत भेद है तथापि हिन्दी भाषामें ये पर्यायी शब्द माने जाते हैं।]

वि० त्रि०—'करि माया' इति। राहुकी माता सिंहिका समुद्रमें रहती थी, यह मायासे आकाशचारियोंका शिकार बैठे बैठे करती थी। अघटित घटना पटीयसी माया है। जो न होता हो उसे कर दिखाना माया है। माया समझमें नहीं आती। समझमें आ जाय तो वह मायाही नहीं रह जाती। होता तो ऐसाही है कि छाया पकड़ी नहीं जाती। व्यक्तिके पकड़े जानेसे उसकी छाया पकड़ी जाती है। यहाँ सिंहिका छाया पकड़ती थी, और जिसकी छाया है, वह पकड़ा जाता था। यही माया है, यही अघटित घटना है। छाया पकड़कर जीवोंको अपने मुखमें खींच लेती थी, जैसे चढ़ी हुई पतंगको कोई डोरी पकड़ कर उतार लेते हैं।

टिप्पणी—२ खग=ख (आकाशमें) + ग (गमन करनेवाले)। यह शब्द यहाँ यौगिक है। आगे 'गहई' की विधि लिखते हैं अर्थात् बताते हैं कि किस विधिसे आकाशचारी जीवोंको पकड़ती है।

व्र० चं०—'निसिचरि एक' से 'जे गगन उड़ाहीं' तक 'पायकुलक' छन्द है। और फिर 'जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं' द्रुतपा है।

जीव जंतु जे गगन उड़ाहीं। जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं ॥ २ ॥
गहै छाँह सक सो न उड़ाई। एहि बिधि सदा गगनचर खाई ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—जीवजन्तु=छोटे बड़े सभी जीव। जीव शब्द बड़ेका और जंतु बहुत छोटेका वाचक है। यथा—'खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं।१-२१०-११।', 'जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना। ३-१३-७।', 'अस को जीवजंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं। २-१६२-६।' स्थूल और सूक्ष्म, बड़ेसे बड़ा और छोटेसे छोटा जनानेके लिये 'जीव जंतु' कहा।

टिप्पणी—१ 'जीव....' इति। (क) शंका होती हैं कि जंतुसे क्या आहार होता है जो उन्हें पकड़ती है। समाधान यह है कि जन्तुओंसे कुछ आहार नहीं होता, उनसे पेट नहीं भर सकता, यह ठीक है। पर यहाँ तो केवल उसकी मायाकी प्रबलता दिखानेके लिये कहा गया है कि जन्तु सरीखे सूक्ष्म जीवों तकको पकड़ लेती है। ['सभी गगनचारी जीवजंतुओंको क्यों पकड़ती है जब कि उनसे उसका पेट तो भरेगा नहीं?' इसका उत्तर बाबा हरीदासजी यह देते हैं कि राक्षसोंका देवताओंसे वैर है, पर देवताओंकी छाया नहीं पड़ती, इससे वह उनको नहीं पकड़ पाती। इसी कुढ़नसे वह सभी जीव-जंतुओंको पकड़ा करती है। यहभी सोचती है कि कहीं देवताही खग बनकर न जाते हों। समुद्रमें असंख्यों जलचर हैं उनको नहीं पकड़ती, खाती। क्योंकि जानती है कि वे देवता नहीं हैं, सत्यही जलचर हैं। प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'जीव जन्तु' शब्दसे जनाया कि श्रीहनुमान्जी न तो पर्वताकार शरीर होनेसे इसकी मायासे बच सकते थे और न अत्यन्त लघुरूप हो जानेसे (जैसे सुरसासे बचे थे)। इससे बचनेके लिये कोई तीसरी ही युक्ति करनी पड़ेगी।] (ग) 'जे गगन उड़ाहीं' का भाव कि सब जीवजंतु आकाशमें नहीं उड़ते; जो उड़ते हैं, उनको पकड़ती है। (घ) 'जल बिलोकि' से जनाया कि वह माया जलमें लगती है, सूखेमें परछाहीं पड़े और उसे वह पकड़ ले तो जीवजंतु पकड़े नहीं जा सकते। (ङ) 'खग' शब्द रूढ़ि पक्षिवाचक है अर्थात् पक्षीको कहते हैं। इसीसे पूर्व 'खग' शब्द देकर अब उसीको पुनः स्पष्ट करते हैं कि 'जे गगन उड़ाहीं' वा 'गगनचर', ये सब खग हैं। (च) 'एहि बिधि सदा गगनचर खाई' अर्थात् सदैव जलमेंही रहती है और आकाशचारियोंको ही खाती है, जलचर और थलचरोंको नहीं खाती। यथा—'सिंहिका नाम सा घोरा जलमध्ये स्थिता सदा। आकाशगामिनां छायामाक्रम्याकृष्य भक्षयेत्। अ० रा० ५-१-३५।' पुनः, इससे जनाया कि उसका पराक्रम अत्यन्त दुर्धर्ष था, कोई अब तक उसके कार्यमें बाधक नहीं हुआ।

वैज्ञानिक रहस्य

सिंहिका राहुकी माता थी। जब पृथ्वीकी छायामें चन्द्रमा आजाता है तब राहु नामक दैत्य चन्द्रदेवताको ग्रहण करने लगता है और जब सूर्य चन्द्रमाकी छायामें या ओटमें पड़ जाता है तब राहु नामक दैत्य

सूर्यको खींचने लगता है । यह विशेष प्रकारकी शक्ति राहु और उसकी माता सिंहिकाहीमें बतलाई जाती है । छायाका अर्थ यह है कि उतने स्थानका प्रकाश रुक गया है अथवा प्रकाश नामक एक विशेष पदार्थकी धारामें कमी होगई है । ऐसी अवस्थामें किसी सूक्ष्म चुम्बकत्वकीसी शक्तिसे छाया डालनेवाला पिण्ड खिंच जाता है और उसकी गतिमें रुकावट पड़ जाती हैं । चन्द्रमा और सूर्यकी गतिमें तो कोई रुकावट नहीं देख पड़ती पर साधारण गगनचारियोंमें ऐसी रुकावटका पड़ जाना और पिण्डका सिंहिकाकी ओर खिंच जाना असंभव नहीं हैं । हनुमान्‌जीकी गतिमें ज्योंही रुकावट मालूम हुई त्योंही उन्होंने उसे खतम कर दिया ।—(गौड़जी) ।

सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा । तासु कपटु कपि तुरतहि चीन्हा ॥ ४ ॥

अर्थ—(उसने) वही छल हनुमान्‌जीके साथ किया । उसका कपट हनुमान्‌जीने तुरन्त जान लिया । (छाया पकड़नेका हाल तुरन्त जान गये ।) । ४ ।

टिप्पणी—१ (क) हनुमान्‌जी कपटको पहिचानते हैं और कपटीको मारते हैं । इसीसे नाम-वन्दनामें नामको हनुमान् और कपटी कलिको कालनेमि कहा । यथा—'कालनेमि कलि कपटनिधानू । नाम सुमति समरथ हनुमानू' । उपमामेंभी 'सुमति समरथ' कहा । भाव यह कि कपि कपटके रूपही हैं इसीसे राक्षसीके कपटको तुरन्त पहिचान लिया, यथा 'कपट मर्कट बिकट व्याघ्र पाखंड मुख दुखद मृगव्रात उत्पातकर्त्ता । वि० ५६।' (ख) 'तुरतहि चीन्हा' का भाव कि न जाने कबसे वह समुद्रमें रहती रही, सदैव आकाशगामियोंको खाती रही, पर किसीने भी उसका कपट न जान पाया, सभी गिरकर मूर्छित हो जाते थे, पर 'कपि' तुरन्तही जानगए। [पाँड़ेजी कहते हैं कि—"'चीन्हा' शब्द पूर्व परिचयकाभी सूचक है । सुग्रीव जब राज्यसे निकाले हुए फिरते थे तब वे यहाँ आये थे । हनुमान्‌जीभी साथ थे ।" वाल्मीकीयमें सुग्रीवने इनको छायाग्राहिणीका परिचय दिया है । श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'पहिचाननेवाले पर मायाका बल नहीं चलता' यथा—'सो माया रघुबीरहि बाँची । लछिमन कपिन्ह सो मानी साँची ।' हनुमान्‌जी उसकी माया समझ गये । बुद्धिमतांवरिष्ठं हैं, समझनेमें देर न लगी, अतः उसके वधमें समर्थ हुए, मायाका बल न चला । 'हनूमान' नाममें भाव यह भी है कि जो बड़े-बड़े अभिमानियों शक्र, राहु, पवि आदिके मानका हनन करनेवाले हैं उनके साथ छल किया, अतः इसकाभी मान नष्ट करेंगे] । (ग) माया, छल और कपट तीनों पर्याय हैं । यथा—'करि माया नभके खग गहई', 'सोइ छल', 'तासु कपट' ।

नोट—सर्ग १ श्लोक १८१-१९१ में वाल्मीकिजी लिखते हैं कि छायाके पकड़ जानेपर हनुमान्‌जीने सोचा कि मुझे सहसा किसीने पकड़ लिया है । नीचे जलमें विकृत मुखवाली राक्षसीको देखकर समझ गए कि हो न हो यह वही अद्भुत छायाग्राही प्राणी है जिसे सुग्रीवने चलते समय बताया था । उसके मर्मस्थानोंको देखकर वे उसके मुँहमें घुसे और तीखे नखोंसे उन्होंने उसके मर्म-स्थानोंको फाड़डाला और वेगसे बाहर निकलकर पुनः चले । अध्यात्ममें पैरसे मारना लिखा है । इसके मारनेके सम्बन्धमें मतभेद है । गोस्वामीजीने 'ताहि मारि' पद देकर सबके मतोंकी रक्षा कर दी है ।

ताहि मारि मारुतसुत बीरा । बारिधि पार गएउ मतिधीरा ॥ ५ ॥

अर्थ—उसको मारकर वीर और धीरबुद्धि पवनपुत्र समुद्रके पार गए ।

टिप्पणी—१ 'मारुतसुत' कहनेका भाव कि मारुत (वायु) किसीके ग्रहणमें नहीं आता । ये उन्हींके पुत्र हैं, अतः ये भी सिंहिकाके ग्रहण में न आये । मरुतसे सब मायाका नाश होता है, इसीसे लोग मंत्र पढ़कर फूँक देते हैं; अतः इन्हें माया न लगी । यथा—'उठि बहोरि कीन्हेसि बहु माया । जीति न जाइ प्रभंजन जाया ।—[पुनः भाव कि-(क) यद्यपि ये मारुत (पवन) के पुत्र हैं तथापि उनसेभी वीर हैं, यथा—'बेग जीत्यो मारुत प्रताप मार्तंड कोटि । क० ५ । ६ ।' 'मारुतस्यौरसः पुत्रः प्लवने नास्ति मत्समः वाल्मी० कि० स० ६७।' पवनभी रावणसे डरते थे, ये निःशंक हैं । (मा० त० सु०) । (ख) [महावीरजी जलचर न थे, जलमें इन्होंने सिंहिकाको मारा

और फिर कूदते पर वहाँ कुछ आधार न था। जलही जल था तोभी वे विना सहारे अपनेही बलसे उछले और समुद्रपार पहुँच गए, यह पवनके वीर पुत्रकाही काम था। (रामशंकरशरणजी)]

२ 'बीरा, मतिधीरा' इति। वीर और मतिधीर कहने का भाव कि सिंहिका प्रबल मायाविनी थी सो बल और बुद्धिसे जीती गयी। मारा इससे वीर कहा और घबड़ाए नहीं, समुद्र पार गए और ग्लानि न हुई; इससे मतिधीर कहा। अथवा, वीर हैं, इससे मतिधीर कहा। यथा—'मुनि सरोष बोले सुभट वीर अधीर न होहिं। २। १९१।' सौ योजन जानेमें थकावट न हुई, उन्होंने एक साँसभी न ली और विघ्नपर विघ्न होनेपरभी क्षुब्ध न हुए। सावधान और आगेके लियेभी निःशंक, निश्चिन्त बने रहे, अतः मतिधीर कहा। यथा 'अनिःश्वसन् कपिस्तत्र न ग्लानिमधिगच्छति। वाल्मी० ५। २। ३।' अर्थात् सौ योजन समुद्र लाँघकरभी वे न थके, उन्होंने थकावटकी एक साँसभी न ली। 'पार गयउ' से श्रमरहित पार होना जनाया।

तहाँ जाइ देखी बन सोभा। गुंजत चंचरीक मधु लोभा॥ ६॥
नाना तरु फल फूल सुहाए। खग मृग बृंद देखि मन भाए॥ ७॥

अर्थ वहाँ जाकर वनकी शोभा देखी। मधुके लोभसे भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। ६। अनेक तरहके फलफूलसे शोभित वृक्ष और पशुपक्षियोंके समूह देख मनको अच्छे लगे। ७।

टिप्पणी—१ 'बनशोभा' इति। यथा—'सुंदर बन कुसुमित अति सोभा। गुंजत मधुपनिकर मधु लोभा। ४। १३। १।' (ख) 'तहाँ जाइ' से जनाया कि जलके समीप लंकापुरी नहीं है, कुछ दूरीपर है। (ग) 'देखी बन सोभा' इति। शोभा वही है जो आगे वर्णन की है (घ) 'नाना तरु फलफूल सुहाए' अर्थात् कोई वृक्ष ऐसा नहीं है जिसमें फलफूल न हों, किसीमें फल, किसीमें फूल और किसीमें फलफूल दोनों हैं। वनके आश्रयसे मृगवृन्द, फलके आश्रयसे पक्षी और फूलके आश्रयसे भ्रमरोंके वृन्द रहते हैं। (ङ) 'देखि मन भाए' का भाव कि हनुमान्‌जी वनचर हैं, यथा—'वनचर देह धरी छिति माहीं'। वनचरको वन प्रिय लगना ही चाहिये। [फिरभी इन्होंने फल छुए तक नहीं, क्योंकि उनका सिद्धांत है, प्रतिज्ञा है कि 'राम काज कीन्हे विना मोहि कहाँ विश्राम'। कार्य हो जाने पर अशोकवनके फलोंको देखकर भूख लगी। यथा—'सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुंदर फल रूखा।' यह मनका कैसा भारी संयम है!! 'मन भाए', 'सुहाए' से सूचित किया कि वह वन प्राकृतिक सौंदर्यसे मनको मोहित करनेवाला था]।

प० प० प्र०—यहाँ सागरतटके वनका वर्णन है। लंकाके परकोटेके भीतरके वन और उपवनका वर्णन आगे छन्दोंमें है। इस वर्णनके क्रममें एक विशेषता है जो मानसमें अन्यत्र नहीं देखी जाती। यहाँ पहले वन देखनेमें आया। यथा, 'तहाँ जाइ देखी बन सोभा'। तब भ्रमरोंकी गुंजार सुननेमें आई, यथा—'गुंजत चंचरीक'। फिर फल, फूल, पक्षी और पशु, क्रमशः देखनेमें आए। अन्य स्थानोंमें क्रम ऐसा है—'सुंदर बन कुसुमित अति सोभा। मंजुल मधुप निकर मधु लोभा।', 'सरन्हि सरोज विटप वन फूले। गुंजत मधुप निकर रस भूले। २।१२४।७।' अर्थात् वनका फूलना कहकर भ्रमरोंका गुंजार कहा गया है। यहाँ अन्यत्रका सा वर्णन न करके दिखाते हैं कि श्रीहनुमान्‌जी जैसे-जैसे वनकी ओर क्रमशः बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे स्वाभाविक अनुभूति क्रमसे हो रही है। दूरसे वन प्रथम दृष्टिगोचर हुआ, कुछ समीप पहुँचनेपर भ्रमरोंकी गुंजार सुन पड़ी। अधिक समीप पहुँचनेपर फल प्रथम देख पड़े क्योंकि ये बड़े होते हैं, तब फूल। वन घना होनेसे, पक्षी पत्तोंमें छिपे होनेसे अत्यंत निकट जानेपर दिखाई दिये और तब पृथ्वीपर चलनेवाले पशु।

वि० त्रि०—'खग मृग बृंद देखि मन भाए' से स्पष्ट है कि रावणभी अपने वनकी शोभाको बने रहनेके लिये, खगमृग वृन्दको मारने नहीं देता था। अतः 'कहुँ महिष मानुष धेनु अज खर खल निसाचर भच्छहीं' यह वर्णन उन जीवोंका है जो बाहरसे रसदकी भाँति पकड़कर लाये जाते थे। 'मानुष' का उल्लेख होनेसे इसी भावकी पुष्टि होती है।

सैल बिसाल देखि एक आगे । तापर धाइ † चढ़ेउ भय त्यागे ॥ ८ ॥

अर्थ—आगे एक बड़ा भारी पर्वत देखकर श्रीहनुमान्‌जी उसपर भय छोड़ दौड़कर चढ़ गये । ८ ।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम वन वर्णन किया फिर शैल । इससे पाया गया कि यह वन समुद्रके किनारेका है । यदि प्रथम शैलको कहकर तब वनका वर्णन करते तो पर्वतके ऊपरका वन समझा जाता । (ख) 'विशाल' और 'एक' से जनाया कि सब पर्वतोंसे यह भारी है । (ग) 'देखि एक आगे, धाइ चढ़ेउ' का भाव कि यह पर्वत मार्गपर और दुर्गम्य था । इससे 'धाइ चढ़ेउ' कहा । वानरोंके चढ़नेकी दो रीतियाँ हैं, एक तो कूदकर चढ़ते हैं, यथा 'कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर', 'कूदि लंक गढ़ ऊपर आवा । गहि गिरि मेघनादपर धावा' । दूसरे, दौड़कर चढ़ते हैं जैसे यहाँ । भाव यह कि सघन वनके कारण लंका न देख पड़ी; अतएव उसे देखनेके लिए ऊँचेपर चढ़े । (घ) 'भय त्यागे' का भाव—(१) उसपर रावणकी ओरसे कालका पहरा था । (यह बात अगली चौपाईसे स्पष्ट हैं) यथा कवित्तरामायणे, 'बड़ो बिकराल बेष देखि सुनि सिंहनाद डग्यो मेघनाद सबिषाद कह्यो रावनो । बेगजीत्यो मारुत प्रताप कोटि मारतंड कालऊ करालता बड़ाई जीत्यो बावनो ।' (क० सुं०) । [(२) मयङ्क-टीकाकार लिखते हैं कि—'शिवजीको' 'अकस' (मर्ष) था कि ब्रह्माजीके पाँच शिर हैं और मेरे भी पाँच ही हैं । एक बार ब्रह्माजीको इस पर्वतपर बैठे देख उन्होंने उनका एक शिर काट डाला । तब से ब्रह्माजीके चारही शिर रह गए । चतुर्मुख ब्रह्माने शाप दिया कि जो कोई इस पर्वतपर पैर देगा अर्थात् इसपर आवेगा उसका शिर फट जायगा और उसे काल-सर्प भक्षण कर लेगा; परन्तु हनुमानजीने इसकी कुछ पर्वाह न की, पर्वत पर निर्भय चढ़ गए।' (मा. म.) । (३) समुद्र पार करते समयमें ही दो विघ्न हुए थे और यह पर्वत तो खास लङ्का प्रदेशमें है, लङ्कापुरी अत्यन्त निकट है, न जाने इसपर क्या-क्या विघ्न उपस्थित हों, इसका भय छोड़कर उसपर चढ़ गये । (४) बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'लंका निकट है और पहिले पर्वत इनका वेग भार न सह सके थे' यह भय न किया । (५) पाँड़ेजी और वीरकविजी लिखते हैं कि "भय त्यागे' से शंका होती है कि क्या अबतक भय था ? उत्तर यह है कि समुद्रमें दो विघ्न हुए; इस लिये पार होने तक कोई और विघ्न न मिल जाय इसका सन्देह था, पर वह पार आ जानेसे दूर हो गया । अथवा, अबतक भय हनुमान्‌जीका साहस देखनेके लिये साथ था; किन्तु सिन्धु पार होनेपर वह हार मानकर चला गया, इससे निर्भय हुए ।" (६) निशाचरोंका भय न किया कि न जाने रावणकी आज्ञासे इसपर रहते हों । (७,८) बाबा हरिदासजी कहते हैं कि इस पर्वतपर रावणका विहार-स्थान (क्रीड़ा-भवन) बना है जिसकी रक्षाके लिये यहाँ सदैव निशाचरगण रहते हैं । ऐसे स्थानमें चुपचाप गुप्त रीतिसे जाना उचित था, पर हनुमान्‌जी उसपर भी निर्भय चढ़ गये । पुनः दूसरा समाधान विश्राम-सागरमें इस प्रकार है कि 'शिवा शापयुत शैलपर, गयेउ भयउ नहिं बाल । कछु प्रभाव नहिं कीश को, प्रभु प्रताप भखि काल ।' (शीला) । (९) उसपर चढ़नेसे लंकावासी इनको देख लेंगे यह भय न किया । (वि. त्रि.) ।

उमा न कछु कपि कै अधिकाई । प्रभु प्रताप जो कालहि खाई ॥ ९ ॥
गिरि पर चढ़ि लंका तेहिं देखी । कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी ॥ १० ॥
अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा । कनककोट कर परम प्रकासा ॥ ११ ॥

---

† धाइ—ना० प्र० । धाय—भा० दा० । कूदि—रा० प० (का०), पं० । 'धाइ' का भाव टिप्पणीमें है । 'कूदि' पाठके विषयमें मा० त० सु० का मत है कि—'जहाँ केवल ऊँचे चढ़ना है वहाँ कूदकर चढ़ना ही वानरोंका जातीय स्वभाव है । किसी ऊँचे स्थानपर दौड़कर नहीं चढ़ते किन्तु कूदकर ही चढ़ते हैं । 'धाइ' के समर्थनमें यह कहा जा सकता है कि यहाँ 'विशाल' विशेषण दिया गया है जिसका अर्थ प्रायः लंबा-चौड़ा और बड़ा होता है । लंबे चौड़े पर्वतोंमें ढाल भी होता है ।

अर्थ—हे उमा ! इसमें कुछ कपिकी बड़ाई नहीं है। यह प्रभुप्रताप है जो कालको भी खा जाता है। ९। उन्होंने पर्वतपर चढ़कर लंकापुरी देखी। अत्यन्त विशेष दुर्गका वर्णन नहीं हो सकता*। १०। वह अत्यन्त ऊँचा है। उसके चारों ओर समुद्र है। स्वर्णकोट परम प्रकाश कर रहा है। ११।

टिप्पणी—१ 'उमा न कछु...' इति। (उमा संबोधनसे यहाँ 'उमा-शंभु' संवाद जनाया। 'भय त्यागे' सुनकर श्रीपार्वतीजीकी चेष्टामें कुछ आश्चर्यकी झलक आ गई, यह देखकर शिवजी समाधान करने लगे कि 'उमा न कछु...')। हनुमान्‌जीको देखकर काल कैसे भाग गया ? इसपर शिवजी कहते हैं कि यह प्रभु का प्रताप है जो हनुमान्‌जीके साथ है। यही बात श्रीहनुमानजीने श्रीसीताजीसे तथा श्रीरामजीसे कही है। यथा 'प्रभु प्रताप तें गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल। १६।', 'तव प्रभाव बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल। ३३।' उनके प्रताप से कपि कालको खा सकता है। यथा—'पटकौं नीच मीच मूषक ज्यों सबहि को पाप बहावौं। तुम्हरिहि कृपा प्रताप तिहारेहि नेकु बिलंब न लावौं। गी० ६।८।' [श्रीरामजीने किष्किंधासे इनके पयानके समय 'परसा सीस सरोरुह पानी। कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी। ४। २३। १०।' यही प्रताप उनके साथ है। श्री वि० त्रि० जी लिखते हैं 'जिस शैल विशालपर हनुमान्‌जी दौड़कर चढ़े, वह इतना ऊँचा था कि उसपरसे लंकाका भीतरी दृश्य दिखाई पड़ता था। अतः उसपर चढ़ना और कालके मुखमें जाना एक ही बात थी। क्योंकि उसपर चढ़े हुएको लङ्का भरके निशाचर देख सकते थे। यह प्रभुका प्रताप था कि इतने विशाल पर्वतके शिखरपर आरूढ़ इतने विशालकाय हनुमान्‌जीको किसीने नहीं देखा।']

२ दूसरा कवि होता तो श्रीहनुमान्‌जीकी बड़ाई करता। पर शिवजी स्वयं हनुमान्‌रूपमें हैं, इससे अपने मुखसे अपनी बड़ाई कैसे करें ? अपने मुखसे अपनी बड़ाई करना निंदित है। इसीसे तो लक्ष्मणजीने परशुरामजीसे कहा—'अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी। १। २७४।...सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु। २७४।' (वीरकविजीका मत है कि यहाँ शिवजीने हनुमान्‌जीके पराक्रमका निषेध इसलिये किया कि उसका धर्म 'प्रभु प्रताप' में स्थापित करना अभीष्ट था जो कालका भी भक्षक है। यह 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार' है।')

३ ['कपि कै अधिकाई' का भाव कि यह करनी 'कपि' (बंदर) की नहीं है और न यह बंदर है। यह साक्षात् प्रभुप्रताप है (वानरका शरीर धारण करके आया है) जो कालका भक्षक है। इससे रौद्ररस साबित हुआ। (पाँड़ेजी)]

☞ प्र०—गोस्वामीजी जहाँ कोई चरित या प्रसंग समाप्त करते हैं वहाँ प्रायः संवादकर्ताका या अपना नाम रखते हैं, जो अध्यवसाय या सर्गका काम देता है। यहाँ शिवजी दैन्यघाटको बड़ाई दे रहे हैं।

टिप्पणी—४ (क) दुर्ग=किला, यथा, 'चढ़े दुर्ग पुनि जहँ तहँ बानर', 'उतरेउ बीर दुर्ग ते सनमुख चलेउ बजाइ', 'चला दुर्ग तजि सेन न संगा'। (ख) 'लंका तेहिं देखी' और, 'कहि न जाइ' इन पदोंसे जनाया कि देखतेही बनता है, कहते नहीं बनता। यथा, 'देखत बनै बरनि नहिं जाई।' (ग) 'तेहिं' अर्थात् जो कपि कालको खा सकता है उसीने पर्वतपर चढ़कर लंका देखी। तात्पर्य कि लंकाका नाश करेगा। प्रथम समुद्र पार करके वनकी शोभा देखी, अब लंका देखी। जितनी वस्तुयें देख पड़ीं उतनीका वर्णन आगे क्रमसे करते हैं।

नोट—१ ☞ 'गिरि पर चढ़ि लंका तेहिं देखी' इति। ☞ किसी देशमें, विशेषतः शत्रुके देशमें जानेके पहले उसकी रीति भाँतिका परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। पर्वतपरसे उन्होंने लंकाकी बहुतसी कामकी बातें देख लीं।

---

* पं० रामकुमारजीने 'क़िला' अर्थ किया है। अर्थात् लङ्काके क़िलेको देखा जो अति विस्तृत था, अतः 'कहि न जाइ'। बाबा हरिहरप्रसादने 'दुर्गम' अर्थ किया है। अर्धालीके अर्थ यों भी किये जाते हैं— 'जो विशेषकर अत्यन्त दुर्गम था' (मा.त.सु.)। 'अत्यन्त दुर्गम होनेकी विशेषता कही नहीं जाती' (वीरकवि)।

प्र. चं.—'सैल बिसाल देखि एक आगे।०' से 'लंका तेहि देखी।' तक पायकुलक है। 'कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी' द्रुतपा और 'अति उतंग...प्रकासा' पायकुलक है।

टिप्पणी—५ 'अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा' इति। (इस अर्धालीसे 'अति' शब्द उठाया गया है जो आगे छन्द और दोहेतक ले जाया गया है। अति उतंग, अति बल, अति लघु। 'अति उतंग' का भाव कि लङ्कापुरी अपने स्वरूपसे ऊँची है और पहाड़पर बसी है। अतः 'अति उतंग' है। यथा 'गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका।' क़िलेके चारों ओर खाई होती है। यहाँ समुद्र ही खाई है, यथा 'खाईं सिंधु गँभीर अति चारिउ दिसि फिरि आव। कनककोट मनिखचित गृह बरनि न जाइ बनाव'। 'परम प्रकासा' का भाव कि स्वर्णका प्रकाश है और उसमें दिव्य मणि लगे हैं। उनका परम प्रकाश है, जैसा आगे कहते हैं।

वि. त्रि.—'अति उतंग' कहनेसे भाव यह कि बड़ा भारी पाट समुद्रका चारों ओरसे है। कहींसे पृथ्वी सन्निकट नहीं है। पृथ्वीके गोलाकार होनेसे समुद्रकी ओर देखनेसे पृथ्वी आकाशसे मिली हुई मालूम होती है। अतः जितने ऊँचे पर चढ़े उतना ही विस्तार समुद्रका दिखाई पड़ता है। यथा 'सेतु बंध ढिग चढ़ि रघुराई। चितव कृपाल सिंधु बहुताई।' यहाँ तो गिरिपर चढ़कर हनुमान्‌जी देख रहे हैं। अत्यन्त विस्तार समुद्रका देखनेपर भी चक्षुके विषयका अवरोध समुद्रकी ऊँचाईसे ही हो रहा है। भाव यह कि किसी ओरसे लङ्कामें जानेके लिये सौ योजनसे कम पाट नहीं है।

नोट— ऊपर जो कहा था कि 'लंका तेहि देखी', उसीका वर्णन अब करते हैं। नगरके वर्णनमें खाईं, कोट, अटारी, ध्वजा, बावली, कूप, तालाब, वार नारि आसती और सतीका वर्णन होता है यह 'कवि प्रिया' का मत है। इनमेंसे सती और ध्वजाका वर्णन नहीं किया गया है।

छंद—कनककोट बिचित्र मनिकृत सुंदरायतना[1] घना।
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट[2] बीथी चारु पुर बहु बिधि बना॥
गज बाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरुथन्हि को गनै।
बहुरूप निसिचर जूथ अतिबल सेन बरनत नहिं बनै॥ १॥

अर्थ—सोनेकी चहारदीवारी (शहरपनाह, परकोटा) मणियोंसे विचित्र बनाई गई है‡ उसमें सुंदर आयतन (स्थान, घर) बहुतसे हैं। चौक (चौराहे), बाज़ार, सुंदर रास्ते अर्थात् राजमार्ग, सड़कें और गलियाँ हैं। सुंदर नगर (इनसे एवं औरभी) बहुत प्रकारसे बना (सजा) है। हाथी, घोड़ों और खच्चरोंके समूह, पैदल और रथोंके समूहोंको कौन गिन सकता है? बहुतसे रूपोंके निशाचरोंके यूथ (समूह) हैं जो अत्यन्त बलवान् हैं। अत्यन्त बलवती सेना वर्णन करते नहीं बनती। १।

टिप्पणी—१ (क) नगरके चारों ओर सोनेका शहरपनाह है जो अनेक रंगोंकी दिव्य मणियोंसे जटित है। अतः 'बिचित्र' कहा। बनाव अच्छा है अतः 'सुंदर आयतन' कहा। यथा 'कनक कोट मनिखचित

१ प्राचीन पाठ 'सुंदरायता घना' है। आधुनिक पाठ कहीं कहीं 'सुन्दरायत अति घना' है, जिसका अर्थ होगा 'अत्यन्त सुन्दर और चौड़ा एवं सघन है'। 'सुंदरायतना' का अर्थ सुन्दरताका स्थानभी किया गया है।

२ प्राचीन पाठ यही है। आधुनिक टीकाओंमें कहीं कहीं 'सुघट्ट' है।

‡ १ वीर कविजी लिखते हैं कि, ऊपरकी चौपाई ('कनककोट कर परम प्रकासा') में 'कोट' का अर्थ शहरपनाह किया गया है। छन्दके 'कनककोट' में 'कोट' का अर्थ राजप्रासाद है, शहरपनाह नहीं। 'कोट' शब्दके गढ़, शहरपनाह, राजमन्दिर और यूथ पर्यायीशब्द हैं। जब चौक, बाज़ार आदिका वर्णन है, तब यहाँ प्राचीर (शहरपनाह) से प्रयोजन नहीं है। शहरपनाहपर मणिका जड़ा जाना अयुक्त है। इससे लक्षणा राजमन्दिर ही को व्यञ्जित करती हैं। २—'विचित्र' से चित्रामका बना होना भी ले सकते हैं।

हृट्ट बरनि न जाइ बनाव' (बा० १७८)। 'घना' के दो अर्थ हैं, एक यह कि (घर) बहुत हैं, दूसरे बस्ती सघन है। यहाँ तक कोटका वर्णन हुआ। आगे पुरका वर्णन है, जिससे ज्ञात हुआ कि कोटके भीतर नगर है।

२ (क) 'चउहट्ट हट्ट' इति। यथा 'राजदुआर सकल बिधि चारू। बीथी चौहट रुचिर बजारू' (उ० २८), 'चौहट सुंदर गली सोहाई। संतत रहहिं सुगंध सिंचाई'। (ख) कोटका बनाव कनक और मणिसे होना कहा। पर पुरके बनावमें पाषाण, मृत्तिका आदि कुछभी न कहा। इससे जनाया कि वहभी कनकमणिरचित है। यथा 'सोइ मयदानव बहुरि सँवारा। कनकभवन मनिरचित अपारा।१।१७८।' 'बहु बिधि' का अन्वय सबके साथ है। (ग) प्रथम कोट, फिर राजाका स्थान और तत्पश्चात् पुरका वर्णन और प्रजाओंके स्थानोंका वर्णन किया गया, आगे पुरके रक्षकोंका वर्णन है।

३ 'गज बाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरूथन्हि ...' इति। (क) गज, बाजि, रथ और पदचरसे चतुरंगिणी सेना हुई। ('बहुरूप निसिचर यूथ' इति। 'यूथ' से यहाँ एकही जाति, वर्ग या रूपके अनेक निशाचरोंके समूह अभिप्रेत हैं। 'बहुरूप' से कामरूप एवं श्वान, शूकर, शृगाल, गर्दभ, अश्व, व्याघ्र, अज आदिके समान मुखवाले, अनेक रूप रंग और आकारके निशाचर समझना चाहिये। प्रत्येक रूपका अलग अलग यूथ है)। (ख) 'सेन बरनत नहिं बनै' इति। एक एक यूथपतिकी सेना अगणित है। यह सेना चतुरंगिणी सेनासे पृथक् है। जैसा छन्दमें क्रम-वर्णन है उसी रीतिसे पुरकी रक्षाके लिए सेना खड़ी है। हाथी (१), घोड़े (२), रथ (३), पैदल (४), खच्चर (५), मल्ल (६), और भट (७) यह सप्तावरण हैं।

४ (क) पुरवर्णनमें छहों दुर्गोंका वर्णन किया अर्थात् छहों दुर्गोंके भीतर पुर बसा है। 'गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका।' यह गिरि दुर्ग कहा। 'अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा', यह जलदुर्ग कहा। 'तहँ जाइ देखी बन सोभा' यह वन दुर्ग कहा। 'गज बाजि खच्चर' से 'नगर चहुँ दिसि रच्छहीं' तक नर दुर्ग कहा। किलेके भीतर जलवर्णन किया। यथा 'बनबाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं', पर क़िलेके बाहर जल वर्णन नहीं किया। इससे यह 'धन्व दुर्ग' कहा। निर्जल देशको 'धन्व' कहते हैं। (ख) 'कनककोट' से 'किला दुर्ग' कहा। (ग) महाभारतमें सात प्रकारके दुर्गोंका उल्लेख है। यथा 'धन्वदुर्गं महीदुर्गं अब्दुर्गं वार्क्षमेव वा। नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत् पुरम् ॥' अर्थात् निर्जलभूमि, दलदल, जलकी खाईं, वन, पर्वत, चतुरंगिणी सेना, और किला ये ही सात प्रकारके दुर्ग राजधानीके होते हैं। यहाँ छः कहे, सातवाँ दलदल दुर्ग गुप्त है।*

छंद—बन बाग उपवन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं।
नर नाग सुर गंधर्ब कन्या रूप मुनि मन मोहहीं ॥

अर्थ—बन, बाग़, उपवन (क्रीड़ाका वन), फुलवाड़ी, तालाब, कुएँ और बावलियाँ शोभा दे रही हैं। नर, नाग, सुर और गन्धर्वोंकी कन्याएँ अपने सौन्दर्यसे मुनियोंके मनको मोहित कर रही हैं।

नोट—१ 'बन' वह है जिसमें सिंह, बाघ रहें और जो बिना लगाए उपजे। यथा 'फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन।' जिसमें फलफूल हों वह बाग़ है, यथा—'भूप बाग बर देखेउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लुभाई। लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना। नवपल्लव फल सुमन सुहाये।' उपवन क्रीड़ावन है। यथा, 'सुंदर उपबन देखन गये। सब तरु कुसुमित पल्लव नये। ७। ३२। २।' बाटिका= फुलवारी। यथा 'सुमन बाटिका सबहि लगाई। बिबिध भाँति करि जतन बनाई॥ लता ललित बहु भाँति

* कोई कोई 'शस्त्रदुर्ग' और 'मंत्रदुर्ग' भी मानते हैं और 'मंडलीकमनि रावन राज करइ निज मंत्र' को मंत्रदुर्गका उदाहरण मानते हैं। इस श्लोकसे पं० रामकुमारजी तथा मा० त० सु० कारने सात दुर्ग माने हैं और किसी किसीने छः ही माने हैं।

सुहाई। फूलहिं सदा बसंतकी नाईं'। पुनः, उपवन वनसे बहुत छोटा होता है, प्रायः यह विधानपूर्वक लगाया जाता है और क्रीड़ा वा विहारके लिये होता है। पुराणोंमें चौबीस प्रकारके उपवन वर्णन किये गए हैं। बाग़में केवल फलफूलवाले वृक्ष होते हैं। यह उपवनसे छोटा होता है।

टिप्पणी—१ (क) 'बन बाग उपवन बाटिका'—बाटिका फूलती है, बाग फलता है और बन पल्लवित होता है। यथा—'सुमन बाटिका बाग बन बिपुल बिहंग निबास। फूलत फलत सुपल्लवित सोहत पुर चहुँ पास। १।२१२।' (ख) प्रथम वन है, वनके आगे बाग़, बाग़के आगे उपवन और उपवनके आगे बाटिका है। (ग) बाग़, उपवन और बाटिकाके मध्यमें जलाशय होता है। यथा 'मध्य बाग सर सोह सुहावा।' अर्थात् ये सातों (वन, बाग़, उपवन, बाटिका, सर, कूप और बापी) क्रम-क्रमसे एक एकके सम्बन्धसे सोह रहे हैं। वनसे बाग़की शोभा, बाग़से उपवनकी और उपवनसे बाटिकाकी शोभा होती है। जलाशयसे ये सब सोहते हैं और इनसे जलाशय। (घ) ये वन बाग़ आदि पुरके बाहरकी शोभा हैं। मिलान कीजिए—'पुर सोभा कछु बरनि न जाई, बाहेर नगर रुचिर अमराई॥ देखत पुरी अखिल अघ भागा। बन उपवन बापिका तड़ागा॥' (उ० २९)।

२ 'नरनाग सुर गंधर्व कन्या' इति। (क) यहाँ राक्षसियोंको नहीं कहते। जो त्रिलोककी सुन्दरी हैं उनका यहाँ वर्णन है। यथा—'देव यच्छ गंधर्व नर किंनर नागकुमारि। जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदरि बर नारि। १। १८२।' (ख) 'मुनिमन मोहहीं' अर्थात् मुनियोंका ज्ञान वैराग्य छूट जाता है। ज्ञान वैराग्य छूटनेसे मोह होता है। यथा 'सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाके॥ १। १२९।' (ग) ये सब स्त्रियाँ उस बाग बाटिका आदिमें विहार कर रही थीं। क्योंकि सायंकालमें थोड़ा दिन रहे हनुमान्‌जी वहाँ पहुँचे थे। विहारका समय है। इसीसे 'बाग उपवन बाटिका' कहकर उनके समीप इनको कहा।

नोट—२ यहाँ यह शंका करके कि 'इस समय तो लंकामें कोई मुनि था नहीं तब यहाँ 'मुनि मन' के साथ वर्तमानकालिक क्रिया 'मोहहीं' क्यों दी गई?' इसका उत्तर यह दिया जाता है कि—(क) व्याकरणके अनुसार भूत और भविष्य अर्थमें भी क्रिया वर्तमानवत् विकल्पसे होती है। यथा पाणिनिः, 'भूते भविष्यति च वर्त्तमानवद्वा', 'वर्तमान समीप्ये वर्तमानवद्वा। ३। ३। १३१।'। (ख) यहाँ इस समय श्रीहनुमान्‌जी मुनि हैं। यथा कवित्तरामायणे 'देख्यो बर बापिका तड़ाग बागको बनाव रागबस भो बिरागी पवनकुमार सो। ५। १।' कवितावलीका 'राग बस भो' ही मनका मोहित हो जाना है। 'मोहहीं' से कामोद्दीपनका अर्थ यहाँ नहीं लिया जायगा, बल्कि 'आश्चर्यमें पड़ गये' यह अर्थ होगा। देवकन्याओंको राक्षसोंके पुरमें देखकर आश्चर्य हुआ।' (मा. त. सु.)। इस समाधानके प्रत्युत्तरमें यह कहा जा सकता है कि देवकन्याओंके वहाँ होनेमें आश्चर्य क्यों होगा? यह सब जानते हैं कि देव नर नाग सभीकी कन्यायें रावण ले गया था। यथा 'देव यच्छ गंधर्व नर किंनर नाग कुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल०॥' (बा० १८२)। वस्तुतः 'मुनि मन मोहहीं' कहकर उन कन्याओंका अतिशय सौन्दर्य दिखाया है। वे ऐसी रूपवती हैं कि मुनितक मोहित हो जायँ, औरोंको कौन कहे!

टिप्पणी—३ 'गज बाजि...बरनत नहिं बनै' को छोड़ 'अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा।' से यहाँ तक लंकाकी सब वस्तुएँ जो वर्णन की गईं शोभासंपन्न हैं। अतएव उन सब ठौरोंमें शोभावाचक पद दिये यथा, 'तहाँ जाइ देखी बन सोभा', 'नाना तरु फल फूल सुहाए', 'खगमृग बृंद देखि मन भाए'। शैलकी शोभा भारी वन है और विशाल शब्द सुन्दरका भी वाचक है। यथा 'सैल बिसाल देखि एक आगें', 'कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी'। सब शोभायुक्त हैं इसीसे 'अति उतंग' से यहाँ तक बराबर शोभासूचक 'परम प्रकासा', 'सुंदर', 'चारु', 'सोहहीं', 'मोहहीं' शब्द आए हैं। राक्षसोंकी सेना और राक्षस शोभित नहीं हैं वरन् भयानक हैं; अतएव उनकी शोभा नहीं कही। यथा—'गज बाजि...बरनत नहिं बनै' और 'कहुँ माल देह' से 'निसाचर भच्छहीं' तक। इनमेंसे किसी चरणमें शोभावाचक पद नहीं लिखा।

कहुँ माल देह बिसाल सैल समान अति बल गर्जहीं।
नाना अखारन्ह भिरहिं बहु बिधि एक एकन्ह तर्जहीं ॥ २ ॥

अर्थ—कहीं कहीं पर्वतके समान विशाल शरीरवाले अत्यन्त बलवान पहलवान अत्यन्त बलसे गरज रहे हैं। अनेकों अखाड़ोंमें आपसमें एक दूसरेसे बहुत तरहसे भिड़ते (लड़ते) और एक दूसरेको ललकारते हैं। २।

टिप्पणी—१ (क) निशाचरके साथ तो यूथ कहा और 'माल' को 'कहुँ'। यद्यपि 'अतिबल' दोनोंमें है, यहा—'बहुरूप निसिचर यूथ अति बल।' कारण यह है कि निशिचर बहुत हैं इससे उनके यूथ कहे और मल्ल कम हैं इससे इनको 'कहुँ' कहा। हजारोंमें कोई एक पहलवान होते हैं, सब नहीं। (ख) 'देह बिसाल सैल समान' से सूचित किया कि जैसे विशाल शैलपर भय छोड़कर हनुमान्‌जी चढ़े वैसेही इनपरभी (कि जो विशाल शैल समान हैं) चढ़ेंगे अर्थात् इनको धर दबावेंगे। हनुमान्‌जीके ऊपर प्रभुप्रताप है जो कालको खाता है, अतः ये राक्षसरूपी कालको खायेंगे। (ग) अति बलका भाव कि जैसी विशाल देह है, वैसाही विशाल बल है, इसीसे महाध्वनि करके गरजते हैं। (घ) यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है।

२ 'नाना अखारन्ह' इति। नगरकी चारों ओरसे रक्षा करते हैं। प्रत्येक दिशामें अनेक अखाड़े हैं। 'बहुबिधि' से भिड़ते हैं अर्थात् अनेक दाँव पेंच करते हैं, एक-एकको डाँटते हैं, यह पहलवानोंकी चाल हैं। यथा—'गर्जहिं तर्जहिं गगन उड़ाहीं', 'गर्जत तर्जत सनमुख धावा'।

छन्द—करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं।
कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं ॥

अर्थ—भयंकर शरीरवाले करोड़ों योद्धा यत्न करके नगरकी रक्षा चारों दिशाओंमें करते हैं। कहीं भैंसा, कहीं मनुष्य, गाय, गधा और कहीं बकरा दुष्ट निशाचर खा रहे हैं।

टिप्पणी—१ (क) नगरकी रक्षा सबके पीछे लिखकर जनाया कि चतुरंगिणी सेना, निशाचरयूथ, मल्ल और भट, ये सब नगरकी रक्षा करते हैं। चार प्रकारके रक्षक हैं, चारोंको पृथक्-पृथक् छंदके एकएक चरणमें कहा और उत्तरोत्तर विशेष कहा। पदचरसे निश्चरयूथ प्रबल, इनसे मल्ल प्रबल और मल्लसे भट प्रबल हैं। (ख) 'करि जतन' इति। यत्न यह कि कोई मार्गमें बैठकर, कोई आकाशमें, कोई गुप्त कोई प्रकट रूपसे रक्षामें तत्पर हैं। वा यत्न यह कि चतुरंगिणी सेनाकी व्यूह रचना बाँधे हैं। पूर्व द्वारपर दश हजार भट, दक्षिणपर एक लक्ष भट, पश्चिम द्वारपर दश लक्ष और उत्तर द्वारपर शतकोटि भट हैं—यह जो वाल्मीकीयमें लिखा है उसे गोस्वामीजीने एक शब्द 'कोटिन्ह' से सूचित कर दिया है। (ग) 'चहुँदिसि' का अन्वय सबमें है अर्थात् चारों ओर सुंदर नगर बहुबिधि बना है, नगर चारों ओरसे सुंदर है, चतुरंगिणी सेना चारों ओरसे रक्षा करती है, बन बाग आदि चारों ओर सोह रहे हैं, चारों ओर समुद्र हैं, आगे दिए हुए मिलानसे यह भाव सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि जैसी शोभा चौक आदिकी वर्णन की है वैसी चारों ओर है; बीचमें क़िला है। मिलान कीजिये—'पुर चहुँ पास कोट अति सुंदर। रचे कँगूरा रँग रँग बर॥', 'हाट बाट मंदिर सुरबासा॥ नगर सँवारहु चारिउ पासा॥', 'करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रक्षहीं॥', 'फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ पास।' और 'अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा।'

(पं० रामकुमारजीका मत है कि 'कहुँ' पद 'माल' के विषयमें है। 'कहुँ माल' पूर्व कहकर यहाँ उन्हींके सम्बन्धमें 'कहुँ' पद दिया; जैसे अब भी पहलवान कसरतके बाद जलेबी आदि खाते हैं वैसेही ये मल्ल महिष आदि खाते हैं। और मा० त० सु० का मत है कि 'कहुँ' पद यहाँ कौतूहलसूचक हैं। कहीं-कहीं यही काम कौतूहलपूर्वक हो रहा था। यहाँ 'महिष मानुष भच्छहीं' यह वाक्य सामान्य रूपसे संपूर्ण लंकावासियोंके भक्ष्यपदार्थों का सूचक है। 'कोटि' शब्द असंख्यवाची है)।

२ (क) 'भच्छहीं' से कच्चा खाना जनाया। महिष मनुष्यादि सब जीवित खड़े हैं, इन्हें पकड़-पकड़कर खा जाते हैं। इसीसे 'खल' कहा। यदि जीता न खाते तो मांस खाना लिखते। (ख) राक्षसोंकी चार क्रियाएँ लिखी हैं—गर्जहीं, तर्जहीं, रक्षहीं और भक्षहीं। गरजकर तर्जन करनेसे भय उत्पन्न होता है, इसीसे गर्जहीं कह कर तर्जहीं कहा। रक्षा कहकर तब भक्षण कहनेसे राक्षसोंका स्वामि-धर्म दिखाया कि प्रथम स्वामीका कार्य कर लेते हैं, तब खाते हैं।

प० प० प्र० - रावणके बंदीखानेमें तो सभी लोकपालादि देवता हैं, ब्रह्मा और शिवकोभी नित्य पुजानेके लिए आना पड़ता है तब किसका भय था जो नगरकी रक्षाके लिये इतने रक्षक चारों दिशाओंमें रहते हैं? शूर्पणखाके वचनसे सिद्ध होता है कि खरदूषणवध तक यह बात न थी। यथा—'देस कोष कै सुरति बिसारी।''''सुधि नहिं तव सिर पर आराती। ३। २१। ६-८।' इससे अनुमान होता है कि सीताहरणके पश्चात् यह प्रबंध किया गया है। कहा ही है 'पर द्रोही कि होहि निरसंका।', यह वचन त्रैलोक्य-विजयी रावणमेंभी चरितार्थ हुआ। (अथवा, शत्रुओंसे कभी निश्चिन्त न रहना चाहिए। देवता वैरी हैं ही, न जाने कब अवसर पाकर चढ़ आवें। शत्रु न भी हो तब भी सेना आदिकी शिक्षा आदि शिथिल न पड़ने देना चाहिए)।

वि० त्रि०—छन्दकी आलोचनासे यह पता लगता है कि लङ्कामें दो बातोंकी क़दर थी, एक बलकी और दूसरे सुन्दर स्त्रीकी। स्त्री सुन्दरी होनी चाहिये, आप चाहे कुरूपही क्यों न हों। सुन्दरी मिलनेपर जाति आदिका कोई विचार नहीं, यथा—'नर नाग सुर गंधर्व कन्या रूप मुनि-मन मोहहीं'। आजभी आसुरी सम्पत् वाले इसका कोई विचार नहीं करते। कुत्तेकी नसलका विचार करते हैं, घोड़ेकी नसलका विचार करते हैं, पर अपनी नसलका विचार नहीं करते।

एहि लागि तुलसीदास इन्ह की कथा कछुएक है कही।
रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही॥ ३॥

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि इनकी कथा इसलिए कुछ थोड़ीसी (संक्षिप्त) कही कि रघुवीरके बाणरूपी तीर्थमें शरीरको छोड़कर ये मोक्ष पावेंगे, यह निश्चय है।* ३।

टिप्पणी—१ (क) 'कछुएक' का भाव कि कोट, पुर, चतुरङ्गिणी सेना, निशिचरयूथकी सेना, वनादि-की शोभा, त्रैलोक्यसुन्दरी, 'माल', पहलवानोंकी कसरत, नगरकी रक्षा, और राक्षसोंका भक्ष्य और भक्षण ये दशों बातें जो यहाँ कही गयीं वे सब एकही एक चरणमें लिखी गयीं और अन्तमें राक्षसोंकी मुक्तिका निश्चय कहा सोभी एकही चरणमें। (ख) 'एहि लागि' का भाव कि अधर्मियोंका चरित्र न वर्णन करना चाहिये, कुछ थोड़ासा जो कहा उसका कारण बताया। (ग) श्रीरामजी संग्राममें सबका बध करेंगे, अतएव 'रघुवीर' कहा। (घ) 'सही' का भाव कि तीर्थमें शरीर छूटनेसे निश्चयही मुक्ति होती है तथा रामबाणसे मरनेपरभी मुक्ति निश्चय प्राप्त होती है। अथवा, रामचन्द्रजीने निशिचर-वधकी प्रतिज्ञा की है, यथा 'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह' (आ०), और रावणने रामबाणसे मरनेकी प्रतिज्ञा की है; यथा, 'तौ मैं जाइ बैर हठि करउँ। प्रभुसर प्रान तजे भव तरउँ'। अतएव राक्षसोंकी मुक्ति निश्चित है। सुन्दरकाण्डसे लेकर लंकातक बाण द्वारा सद्गति दिखायी है। अतः यहाँ 'सर तीरथ' द्वारा मुक्ति कही।

मा० त० सु०—राक्षसोंकी मुक्ति मानसमें दो प्रकारसे कही गई है। एक तो 'राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्वान' (खरदूषणादि)। दूसरे रामबाणसे मरनेसे। जिनके आचरण असुरोंकेसे हैं वे सब राक्षस ही हैं। कलिकालमें रामबाणसे तो ये मरने योग्य नहीं हो सकते। उनके लिये 'रामनाम' उपाय है, यह बालकांड नामवन्दनामें बता आए हैं। श्रीहनुमान्‌जीकोभी रामबाणकी उपमा दे आए हैं। इस कांडमें जो

* वीरकविजी 'सही' का अर्थ 'शुद्ध' करते हैं अर्थात् 'शुद्ध गति (मोक्ष) पावेंगे।'

राक्षस इनके हाथसे मरेंगे वहभी 'रघुबीर सर तीरथ' में ही मरे हुए समझे जायँगे। इससे सिद्ध हुआ कि ये सब राक्षस पूर्वजन्मके बड़े सुकृती हैं यद्यपि इस शरीरमें उनके आचरण निन्द्य हैं।

प० प० प्र०—रामबाणरूपी तीर्थमें तन त्यागकर सद्गति पानेका लाभ अरण्यकांडसे ही प्रारंभ हो गया। विराध, मारीच, कबंध रामसरतीर्थमें मरे। रावणवध हो जानेपर यह तीर्थ गुप्त हो जायगा। रावणने जो गीधराजके संबंधमें कहा था कि 'मम कर तीरथ छाँड़िहि देहा। ३। २९। १४।' वह असत्य हो गया। कारण कि श्रीरामजीने जटायुसे कहा है कि 'तन राखहु ताता। ३। ३१। ५।'

टिप्पणी—२ (क) ग्रन्थकारने जहाँ जहाँ नगरका वर्णन किया वहाँ-वहाँ 'सुरवास' भी कहा, यथा 'विप्रभवन सुरभवन सुहाए', 'हाट बाट मंदिर सुरवासा। नगर सँवारहु चारिहु पासा', और 'तीर तीर देवन्हके मंदिर'। पर लंकावर्णनमें 'सुरवास' न कहा। कारण कि लंकामें तो देवता स्वयंही हाथ जोड़े हुए खड़े रहते हैं, सेवापूजा कौन करेगा? यथा—'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता। २०।७।' यह ग्रन्थकारका सँभाल है। (ख) लंकाकी सभी वस्तुएँ अद्भुत हैं इससे वर्णन नहीं हो सकतीं। इसीसे आदिमें 'गिरिपर चढ़ि लंका तेहि देखी। कहि न जाइ' यह कहा। सर्वत्र उसकी अद्भुतता कही है। यथा 'अति दुर्ग बिसेषी', 'खाईं सिंधु गंभीर अति', 'कनककोट बिचित्र', 'बहुरूप निसिचर यूथ अति बल०', 'गयउ दसानन मंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं', 'रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ' और 'दसमुख सभा दीख कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई।'

'जामवंतके बचन सुहाये' से यहाँ 'रघुबीर सर तीरथ' तक 'लांघत भयउ पयोधि अपारा' यह प्रसंग है।

नोट—१ 'कछुएक है कही' हेतु-सूचक बात कहकर संक्षेपमें कहनेके कारणका समर्थन करना कि 'रघुबीर सर''' 'सही' इससे विस्तारकी आवश्यकता नहीं, (मोक्ष पायेंगे इससे इतनाभी कह दिया), काव्यलिङ्ग अलंकार' है। 'रघुबीर सर' उपमेय और तीर्थ उपमानकी एकरूपतामें 'सम अभेदरूपक अलंकार' है। (वीरकवि।

'लंका कपि प्रवेस जिमि कीन्हा'-प्रकरण

दो०—पुर रखवारे देखि बहु कपि मन कीन्ह बिचार।
अति लघु रूप धरौं निसि नगर करौं पैसार॥ ३॥

शब्दार्थ—पैसार (सं० पदसरण)=प्रवेश।

अर्थ—नगरमें बहुतसे रक्षक देखकर कपिने (अपने) मनमें विचार किया कि अत्यन्त छोटा रूप धारण करूँ और रात्रिमें नगरमें प्रवेश करूँ। ३।

टिप्पणी—१ (क) 'पुर रखवारे देखि बहु' इति। यथा—'करि जतन भट कोटिन्ह।' (ख) विचार करनेका भाव कि हनुमान्‌जी राक्षसोंसे डरते नहीं, यथा 'तिन्हकर भय माता मोहि नाहीं'। डरते तो लड़नेकैसे जाते? पर उन्होंने विचार किया कि "जबतक 'रामकाज' सिद्ध न हो जाय तबतक हमें कोई न जाने। दर्शन किये बिना निशिचरोंसे प्रथमही उलझना उचित नहीं क्योंकि स्वामिकार्यमें विलम्ब होगा।" (ग) 'अति लघुरूप' का भाव कि विशाल रूपसे प्रवेश न पावेंगे और लघुरूपसेभी निर्वाह नहीं देख पड़ा। अतएव 'अति लघु' रूपका विचार निश्चय किया। (घ) 'निसि नगर करौं पैसार' का भाव कि दिनमें अति लघु रूपसेभी निर्वाह नहीं, अतएव रातमें प्रवेश करनेका निश्चय किया जिसमें कोई न देखे।

२ 'पइठार' शब्दको बदलकर यहाँ गोस्वामीजीने 'पैसार' कहा, यह भी भावगर्भित है। पुरमें प्रवेश करनेके लिये हनुमान्‌जीने अपने इष्टको बदला, 'नरहरि' का स्मरण किया, काल बदला अर्थात् दिनमें पहुँचे पर दिनके बदले रात्रिमें प्रवेश किया और रूप बदला अर्थात् 'मसक' समान बने; अतएव ग्रन्थकारनेभी अपना शब्द बदल डाला 'ठ' की जगह 'स' कर दिया। 'कीन्ह बिचार', 'अति लघुरूप धरौं' और 'निसि' इन पदोंसे रक्षकोंकी परम सावधानता दिखाई।

नोट—१ वाल्मी० स० २ में इनके विचार हैं। उनमेंसे श्रीसीताजीके पता लगानेके विषयमें जो उपाय सोचे वे यों हैं—'इस रूपसे मैं नगरमें प्रवेश नहीं कर सकता। क्योंकि क्रूर और बलवान् राक्षस इसकी रक्षा कर रहे हैं। श्रीजानकीजीका पता लगानेके लिए इन पराक्रमी योद्धाओंको मुझे धोखा देना पड़ेगा। इस बड़े कार्यकी सिद्धिके लिये रातमें प्रवेश करना उत्तम होगा और रूप ऐसा होना चाहिये कि कभी दिखायी पड़ूँ और कभी छिप सकूँ। रावणवधके इच्छुक श्रीरामजीका काम व्यर्थ हो जा सकता है यदि राक्षस मुझे देख लें। यहाँ राक्षसरूपमें या और किसीभी रूपमें कोई मनुष्य नहीं रह सकता, जिसे राक्षस जान न लें। छिपकर वायु भी यहाँ नहीं घूम सकता, ऐसा मैं समझता हूँ। इस लंकामें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसे ये भयानक राक्षस न जानते हों। यहाँ यदि मैं अपने रूपमें छिपकरभी रहूँ तो मार दिया जाऊँगा और स्वामीका कार्य नष्ट हो जायगा। इस कारण मैं अपना छोटा रूप बनाकर श्रीरामजीके मनोरथसिद्धिके लिये रात्रिमें लंकामें प्रवेश करूँगा। 'तदहं स्वेन रूपेण रजन्यां ह्रस्वतां गतः। लङ्कामभिगमिष्यामि राघवस्यार्थसिद्धये॥ ४६॥' 'रातको रावणकी नगरीमें प्रवेश करूँगा यद्यपि वहाँ प्रवेश करना कठिन है। मैं समस्त घर ढूँढ़कर श्रीसीताजीका पता लगाऊँगा। (सर्ग २ श्लोक ३३-४८)।'—ये सब विचार और निर्णय 'कपिमन कीन्ह बिचार।...पैसार॥' से ग्रन्थकारने सूचित कर दिये हैं।

२ (क) दिनमें प्रवेश कठिन है, इस शंकाके निवारणार्थ कपिका मनमें विचार करना कि 'अति लघुरूप धरौं निसि' वितर्क सञ्चारी भाव है। 'अति लघु रूप' क्या और कैसा धरा, यह अगली अर्धाली 'मसक समान' में देखिये। (ख) यह दोहा दोहरा-मिश्रित है (त्र० चं०)।

मसक समान रूप कपि धरी। लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी॥ १॥

अर्थ—कपि (हनुमान्‌जी) 'मसक' समान रूप धारण करके नृसिंहजीका स्मरण करके लंकाको चले॥१॥

टिप्पणी—१ (क) 'मसक' लघुरूपकी अवधि है, अन्तिम सीमा है। यथा 'तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता। ७। ९१। ५।' रातमें देख नहीं पड़ता। अतएव 'मसक समान रूप' धरा। इस ग्रन्थभरमें 'मसक' शब्दका अर्थ मसा या मच्छड़ है। यथा 'मसक दंस बीते हिम त्रासा', 'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहिं मसक ते हीन। ७। १२२।' और 'मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई। (अ० २३२)।' 'समान' शब्द देकर जनाया कि मच्छड़ नहीं बन गए, बानर ही रहे पर मशकसमान छोटे हो गये। (ख) लोग सन्देह करते हैं कि अंगूठी कैसे पास रही वह तो मच्छड़से बड़ी है। इसका उत्तर यह है कि मुद्रिका भी कपिके रूपके अनुकूल छोटी हो गई; जैसे बामनरूपके अनुकूल दंड बढ़ गया। यथा 'बड़ो गहे तें होत बड़ ज्यों बावन कर दंड। श्रीप्रभुके सँग सों बढ्यो, गयो अखिल ब्रह्मंड॥' (दोहावली ५२)।

(भगवान्‌के अस्त्र-शस्त्र आयुध, वस्त्र-भूषण सभी दिव्य एवं चिद्रूप हैं और उनमें सब शक्ति है। वे जो रूप चाहें धारण कर सकते हैं। अणु समान सूक्ष्म और छोटे हो सकते हैं। श्रीरामजीकी मुद्रिकाभी साक्षात् चिद्रूपा चैतन्यस्वरूपा थी। श्रीसीताजीसे इसने बातें कीं। गीतावलीभी इस बातकी प्रमाण है। यथा, 'कियो सीय प्रबोध मुदरी दियो कपिहि लखाउ। गी० ५।४।' जो मणिमुद्रिका बात कर सकती है, वह यदि घट बढ़ भी सकती है, सूक्ष्मरूप धारणकर लेती है, तो इसमें आश्चर्यजनक क्या है ?)

नोट—१ काष्ठजिह्वा स्वामी लिखते हैं,-"हनुमत तहँ लघु रूप बने। अनिमाके परभाव जने। अपुना जसके तस ही हैं पै लोगन छोट सरूप गने। अनिमाके प्रभाव ही से तौ निकट वस्तुमें दूर पने। १। कोउ बिडाल सम कोउ मसक सम कहत तहाँ संदेह जने। बड़ी नजर काहूकी छोटी भये नजर के भेद घने। २। घर घर लखत अलख बनि अपुना जस ईश्वर सब माँहि सने। मिलत जतनसे वह पतालको पानी जैसे मिलत खने। ३। मिली महाविद्या श्री सिय जू मुद्रा श्रुति परमान तने। बन उजारि पुर जारत कपिबर गह गह देव निसान हने। ४। अयोध्याबिन्दु। ७८।" श्रीहनुमान्‌जी अणिमा सिद्धिके प्रभावसे छोटे देख पड़ने लगे

यद्यपि वे ज्योंके त्यों वैसेही बने हैं जैसे वे हैं। जैसे सूर्य यद्यपि पृथ्वीसे बहुत बड़ा है तब भी अति दूर और बहुत छोटा देख पड़ता है। तात्पर्य यह कि जब वे जैसेके तैसेही हैं तब मुद्रिकावाली शंकाही कहाँ रह जाती है ? केवल दूसरोंके लिये वे सूक्ष्म हैं, अदृश्य हैं, वास्तवमें नहीं।

२ 'मसक समान' इति। (क) यहाँ अन्य वृहद्रूपोंकी व्यावृत्तिके लिये 'मसक' के साथ 'समान' पद लगा दिया। अभिप्राय यह है कि अत्यन्त छोटा रूप बन गये पर रहे बानर ही। यह बात पूर्वापर प्रमाणोंसे सिद्ध है। यथा, 'अति लघुरूप धरौं निसि', 'अति लघु रूप धरेउ हनुमाना'। वाल्मीकिजीने भी ऐसाही प्रथम सर्गमें कहा है, यथा—'ततः शरीरं संक्षिप्य तन्महीधरसंनिभम्। २०५।' फिर सर्ग २ में श्रीहनुमान्‌जीके रात्रिमें लंकापुरीमें छोटे रूपसे प्रवेश करनेका विचार लिखकर वे कहते हैं, 'सूर्ये चास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः। वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः।४७।' सूर्यके अस्त होनेपर रात्रिमें हनुमान्‌जीने अपना छोटा रूप बनाया, अपनी देहको संक्षिप्त कर दिया। वे बिल्लीके बराबर हो गये। इससेभी सिद्ध है कि बानर ही बने रहे, केवल बानरशरीरको बहुत छोटा कर लिया। सम्भवतः वाल्मीकीयका मत लेकर ही वाल्मीकीयपर भाष्य लिखनेवाले पं० शिवलाल पाठकजीने 'मसक' का अर्थ 'बिल्ली' किया है। बिल्ली बराबर शरीरमें तो मुद्रिकाका मुँहमें रहना सन्देहात्मक हो ही नहीं सकता। पर इतनी बात स्मरण रखनेको अवश्य है कि वाल्मी. रा. में 'अति लघु' के पर्यायी शब्द न होकर केवल 'देहं संक्षिप्य' कहा है जिसमें बिल्लीका अन्तर्भाव हो सकता है पर मानसके 'अति लघु' में बिल्लीका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। 'मसकहिं करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन' के प्रमाणसे अति लघु तो मच्छड़ ही होगा। अध्यात्मरामायणमें सूक्ष्म वानररूप धारण करना कहा है। यथा, 'धृत्वा सूक्ष्मं वपुर्द्वारं प्रविवेश प्रतापवान्। ५। १। ४२।' यही भाव यहाँभी है। (ख) वीरकविजी लिखते हैं कि 'योरपके नारवे प्रदेशके उत्तरी भागमें अबभी गौरैया पक्षीके बराबर मसा होते हैं। गौरैयाके बराबर वानर रूप होकर मुद्रिका साथ रखना कुछभी आश्चर्यकी बात नहीं।' मा० त० सु० कारका भी मत है कि रूपकी लघुता दरसानेके लिये अतिशयोक्ति अलंकारमें यहाँ अतिलघुतासूचक 'मसक समान' पद दिया। यह कवि और काव्यका स्वभाव ही है। वाल्मीकीयमें लिखा है कि उन्होंने एक अद्भुत बिड़ालवत् रूप धारण किया, यथा, 'वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः। २। ४९।' यहाँभी 'वृषदंशक' के साथ 'मात्र' प्रत्यय अन्य वृहद्रूपके अर्थकी व्यावृत्तिके लिये प्रयुक्त हुआ है। (घ) हनुमन्नाटकसेभी उपर्युक्त भावकी पुष्टि होती है, यथा—'अष्टाङ्गुलमयः कायः पुच्छो मे द्वादशाङ्गुलः। बाहू मे पश्य भो नाथ कथं रत्नाकरं तरे। हनु. ६। २।'

पं० विजयानंद त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'मसक' का अर्थ मच्छड़ है। हनुमान्‌जीने मच्छड़का रूप नहीं धारण किया। मच्छड़ जितने छोटे हो गये। वाल्मीकिजी कहते हैं 'वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः'। वृषदंशक उस मच्छड़को कहते हैं जो गाय बैलको लगते हैं, हम लोग उसे 'डंस' कहते हैं। वह बड़ी जातिका मच्छड़ है, सो हनुमान्‌जीका रूप तो डंसके बराबर और आकृति बन्दरकी, इसलिये वाल्मीकिजी अद्भुत दर्शन कहते हैं। हनुमन्नाटकमें 'अष्टाङ्गुलमयः कायः पुच्छो मे द्वादशाङ्गुलः' जो कहा है, वह उस समयका वर्णन है, जब हनुमान्‌जी रामजीके सम्मुख खड़े हुए। क्लिष्ट होना काव्यका दोष है, अतः मशकका प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर अप्रसिद्ध अर्थके ग्रहणमें कोई हेतु नहीं। जिस लघिमा सिद्धिसे शरीरकी हड्डी छोटी की जा सकती है, उससे क्या अङ्गूठी नहीं छोटी की जा सकती ?

श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामीजी लिखते हैं कि यदि हनुमान्‌जी मसक ही बन जाते तो गोस्वामीजी वैसा स्पष्ट लिख देते, 'मसक समान' न लिखते। जैसे 'बिप्ररूप धरि कपि तहँ गयऊ', 'बिप्ररूप धरि बचन सुनाए', 'बिप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत' इत्यादि विप्ररूप बन जानेपर कहा है, वैसे ही यहाँ 'मसकरूप हनुमान् तब धरी' लिखते।

वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि जिस देशके जलवायुके अनुकूल जैसे ह्रस्व दीर्घ आकारके मनुष्य होते हैं प्रायः वैसे ही वहाँके पशुपक्षी, कीट, पतंग, सरीसृप, वृक्ष, गुल्म, लतादि होते हैं। जैसे अफ़रीक़ाके

घने प्रदेशवाले आदमखोर जंगली विशालकाय होते हैं वैसे ही वहाँके जंगम स्थावर, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि भी होते हैं। यूरोप भ्रमणकारियोंने नारवे प्रदेशमें भारतीय गौरैया पक्षीके बराबर मच्छड़ इसी शताब्दीमें देखे हैं। डच न्यू गायनामें तीन-तीन हाथके लम्बे चूहे पाये जाते हैं और मलाया द्वीपमें कुछ ऐसे विचित्र पतिंगे मिलते हैं जो छिपकलीको भी पकड़कर निगल जाते हैं। इसी प्रकार विचार कर लेना चाहिए कि जिस लङ्काके निवासी राक्षसगण इतने लम्बे-चौड़े होते थे वहाँके मशक भारतीय बिल्ली कुत्तेके बराबर भी न होते होंगे। श्रीहनुमान्‌जीने तत्कालीन लङ्काके मशकके समान रूप धारण किया, भारतीय मशकवत् नहीं, क्योंकि उस समय वे लङ्कामें थे, भारतमें नहीं थे। श्रीहनुमान्‌जीने भगवत्प्रेरणासे तद्देशीय मशक समान वानर बननेकी चूक की, लङ्कामें इतने छोटे बन्दर हो नहीं सकते, इसीसे लंकिनीने चोरी पकड़ ली। लंकिनीको ब्रह्माके वरदान-का निश्चय करानेके लिए यह ग़लती हरि इच्छासे हुई।

प. प. प्र.—इस चौपाईके प्रत्येक चरणमें एक-एक मात्रा न्यून है। अरण्यकाण्ड १७ (१९) 'तब खिसिआनि राम पहिं गई।' में बताया जा चुका है कि इसमें काव्यदोष नहीं है। यह कविकी एक अनोखी भावदर्शक कला है। यहाँ चौपाईके पढ़नेमें गति भङ्ग और लय भङ्ग करके बताया है कि इस चौपाईके पढ़ते-पढ़ते पाठक आश्चर्यचकित होंगे कि हनुमान्‌जी जो कालको खानेमें समर्थ हैं, ऐसे (मसक समान) क्यों बन गए। यहाँ आश्चर्यका भाव और उसके अनुभाव अध्याहृत रखकर कथाका संक्षेप करना हेतु है। यत्रतत्र एक मात्रा न्यून करके भीति, आश्चर्य, भक्तिरस इत्यादि विविध भावोंका दिग्दर्शन किया गया है। [कविवर व्रज-चन्दजी लिखते हैं कि 'मसक समान....धरी' चौपाईका ३३५वाँ भेद है। 'लङ्कहि चलेउ....' ३६३वाँ भेद है]।

टिप्पणी—२ 'सुमिरि नरहरी' इति। नृसिंहजीके स्मरणमें भाव यह है कि जैसे हिरण्यकशिपुने सब प्रकारसे मृत्युका मार्ग रोका, ब्रह्मासे ऐसा वर माँग लिया तो भी वहाँ नृसिंहजीने मृत्युके लिये रास्ता निकाल दिया था; वैसे ही यहाँ पुरके रक्षकोंसे लङ्काका रास्ता रुका है, नृसिंहजी हमको रास्ता देंगे। नृसिंहजीके स्मरणसे रामोपासकोंको कोई दोष नहीं है। रामकार्यके लिये ही स्मरण किया है, जैसे सिन्धुके लाँघनेके समय सबको माथा नवाया था और गोस्वामीजीने भी ग्रन्थके प्रारम्भमें सबकी प्रार्थना की। सब अवतार श्रीरामजीके ही हैं। यथा, 'मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपुधरी॥ जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो। ६। १०९।', 'हिरन्याक्ष भ्रातासहित मधुकैटभ बलवान। जेहि मारे सोइ अवतरेउ। ६। ४७।', इस प्रकार सबमें श्रीरामको दिखाया। पुनः, भयनिवारणके समय रामजीको 'नरहरि' लिखा है। यथा, 'पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनिभयहरन। १। २०८।' 'अवध-नृपति दसरथ के जाये। पुरुषसिंह बन खेलन आये॥ जिन्हकर भुजबल पाइ दसानन। अभय भये बिचरहिं मुनि कानन। ३। २२।' इसी तरह यहाँ भी भयहरणका प्रसङ्ग है। कोई देख न ले यह भय है क्योंकि देख लिये जानेसे रामकार्यमें बाधा पड़ेगी, श्रीसीताजीका पता पाना कठिन हो जायगा, अतः नरहरिका स्मरण किया। भयङ्कर राक्षसों या रावणका भय नहीं है। उन सबोंके लिये तो वे अपनेको अकेले ही समर्थ जानते हैं।

नोट—२ 'नरहरि'के स्मरणके और भाव ये हैं—(क) नरहरि=नरोंमें सिंह, पुरुषसिंह, श्रीरघुनाथजी। यथा 'पुरुषसिंह दोउ बीर'। इस तरह नरहरिजी श्रीराम ही का नाम हुआ। (ख) नरहरि=नृसिंहजी जो प्रह्लाद-जीके लिये खम्भसे प्रकट हुए। यह श्रीरामजीका रूपान्तर अवश्य है तब इसका स्मरण क्यों किया? इसलिये कि श्रीरघुनाथजीका रूप दयालु है और श्रीहनुमान्‌जीको उपद्रव करना अभीष्ट है। अतएव लंकापुरीके भीतर प्रवेश करनेमें उन्होंने विकराल नृसिंह रूपका स्मरण किया। (पं०, पाँ०)। (ग) 'नर' से लक्ष्मणजी और 'हरि' से श्रीरामजीका ग्रहण कर लें तो 'नरहरी' से श्रीराम-लक्ष्मण दोनोंका स्मरण करना पाया जाता है। (पं०)। 'नरोंमें सिंह' से भी दोनों भाइयोंका स्मरण अभिप्रेत है। (मा. म.)। (घ) रावणने अपनी मृत्यु नर और वानर दोनोंसे माँगी है। यथा—'बानर मनुज जाति दुइ बारे।' अतएव 'नर' श्रीरामजी और 'हरी' (वानर) सुग्रीव दोनोंका स्मरण किया। ये दोनों ही हनुमान्‌जीके स्वामी हैं। (पाँ०)। अथवा, (ङ) नृसिंह

का स्मरण किया कि हमें अपनी आकृति और बल दीजिए कि हम क्रोधाग्निसे निशिचरों सहित लङ्काको भस्म कर सकें। (पं०)। ऐसा क्रोध किसी और रूपमें प्रकट नहीं किया गया। (च) श्रीहनुमान्‌जीकी 'जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः। राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥' इस प्रसिद्ध घोषणाके अनुसार 'नरहरि' का अर्थ नर (श्रीराम श्रीलक्ष्मण) + हरि (वानरराज सुग्रीव) ले सकते हैं। (छ) मा० शं० कार लिखते हैं कि लंकामें निशाचरोंको मारना, गाल फाड़ना, मुण्ड तोड़ना, आँतें निकालना है, इसमें रुधिरादिके स्पर्शसे नृसिंहजी नहीं घिनाते; अतः उनका स्मरण किया। राजकुमाररूपके लिये यह कार्य अपावन समझा। (ज) मा० शं० कार लिखते हैं कि निज इष्टदेवको छोड़ दूसरेमें रमे इसीसे लङ्किनीने विरोध किया और निज इष्टदेवमें बोध कराया जिसमें कार्य निर्विघ्न हो। यथा 'प्रविसि नगर कीजै सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर राजा' अतएव आगे लिखते हैं कि 'पैठा नगर सुमिरि भगवाना'। (नोट—मा० त० सु० कार इसका निषेध करते हैं कि ऐसा कहना भूल है। क्योंकि पहले भी तो प्रबल विघ्न हुए थे, वहाँ क्या कहा जायगा)। (झ) श्रीरामजीके स्मरणमें प्रह्लादजी अद्वितीय हुए। उनके लिये नृसिंह रूप धारण किया था। ये भी नाम-स्मरणमें अद्वितीय हैं।

☞श्रीहनुमान्‌जी श्रीराम-रूप-नामके परमानन्य हैं। श्रीकृष्णजीने इनकी अनन्यता प्रकट करनेके लिये इनको दर्शन देनेके लिये रामरूप धारण किया पर वंशी लगी रहने दी। जब हनुमान्‌जी आए और वंशी देखी तो उन्होंने वंशी लेकर फेंक दी तब प्रणाम किया। गरुड़ और सत्यभामाके गर्वहरणकी कथा प्रेमियोंने कल्याणमें पढ़ी ही होगी। इस अनन्यताके विचारसे 'नरहरी' के स्मरणका समाधान उपर्युक्त रीतिसे किया जाता है। नहीं तो श्रीराम 'सर्ववाचस्य वाचकः' हैं, सब उन्हींके नाम और रूप हैं। ध्रुवपति, प्रह्लादपति, गजेन्द्र मोक्ष-दाता इत्यादि सभीको तो ग्रंथकारने श्रीराम नाम वन्दना प्रकरणमें 'राम' नाम हीसे याद किया है। देखिये, प्रह्लाद सरीखा श्रीरामनाम जापक भक्त नहीं हुआ कि जिन्होंने पत्थरसे भगवान्‌को प्रकट कराके छोड़ा; उन श्रीरामनाम जापकके लिये ही तो 'नृसिंह' रूप श्रीरामजीने धारण किया था।

प. प. प्र.—मानसके 'कृपासिंधु नररूप हरि' (बा. मं. सो. ५) और 'माया मनुष्यं हरिं'। मं. श्लो.।' इन आधारोंसे 'नरहरि' का अर्थ स्पष्ट है कि द्विभुज धनुर्बाणधारी श्रीरामचन्द्ररूप हरिका स्मरण किया।

नाम लंकिनी एक निसिचरी। सो कह चलेसि मोहि निंदरी॥ २॥

अर्थ—लंकिनी नामकी एक राक्षसी (जो लंकाकी रक्षामें तत्पर) थी। वह बोली कि मेरा निरादर करके (कहाँ) चला जा रहा है?।२।

टिप्पणी १ (क)—लंकिनी नामसे सूचित किया कि यह लंकापुरी स्वयं है। 'निसिचरी' कहकर जनाया कि राक्षसीका रूप धारण किये हुये है। यथा—'पुनि संभारि उठी सो लंका', 'तत्र लंकापुरी साक्षात् राक्षसी-वेषधारिणी। अ. रा. ५।१।४३।' उसका नाम और स्वरूप दोनों कहे। (ख) लंकामें घुसते ही लंकिनीने श्रीहनुमान्‌जीको रोका, यथा—'लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी॥ नाम लंकिनी....कह'। इससे पाया जाता है कि वह पुरीके बाहर फाटक पर रक्षाके निमित्त बैठी थी। यह बात उसके वचन—'प्रबिसि नगर कीजे सब काजा'—से स्पष्ट हो जाती है। (ग) अत्यन्त लघु रूपसे प्रवेश करने लगे तब भी उसने देख लिया। इससे उसकी परम सावधानता दिखाई। पुरीके बाहर जितने रक्षक थे उनमें लंकिनी प्रथम मिलती थी। रक्षकसे बिना पूछे उल्लंघ कर जानेसे उसका तिरस्कार होता है। हनुमान्‌जीने न तो पुरीकी पूजा की और न उसे प्रणाम ही किया; इसीसे उसने कहा कि मेरा तिरस्कार करता है, मेरा डर तुझे नहीं है?

नोट—१ वाल्मीकिजी भी लिखते हैं—"नगरी स्वेन रूपेण ददर्श पवनात्मजम्।५।३।२०॥ सा तं हरिवरं दृष्ट्वा लंका रावणपालिता। स्वयमेवोत्थिता तत्र विकृताननदर्शना॥ २१॥" अर्थात् हनुमान्‌जीको नगरमें प्रवेश करते हुये स्वयं लङ्का नगरीने अपने रूपसे देखा। रावण द्वारा पालित लङ्का नगरी हनुमान्‌जीको

देखकर स्वयं उठकर सामने आ खड़ी हुई ''परिचय पूछनेपर उसने बताया कि मैं इस नगरकी रक्षा करती हूँ, मैं स्वयं लंका नगरी हूँ। मेरा तिरस्कार करके कोई नगरमें नहीं जा सकता।—"न शक्यं मामवज्ञाय प्रवेष्टुं नगरीमिमाम्।'''अहं हि नगरी लंका स्वयमेव प्लवंगम। वाल्मी० ५।३।२९, ३०।"

इन उद्धरणोंमेंके 'स्वेन रूपेण' और 'अहं हि नगरी लंका स्वयं' से स्पष्ट है कि यह 'लंकिनी' लंकाकी अधिष्ठात्रीदेवी है और 'विकृतानन' में 'निसिचरी' का भाव है; अर्थात् वह राक्षसीरूपसे रक्षा करती है। 'लंकिनी' नाम देकर यह भी सूचित किया है कि लंकाकी उत्पत्तिके साथ ही इसकी भी उत्पत्ति हुई। इसीसे वह अपनी रक्षा स्वयं करती आई।—['एक' से अद्वितीय, 'छटी हुई' भी जनाया। (पाँ०)]

अध्यात्मरामायण सुं० १ में प्रायः सब विशेषण यहाँके मिलते हैं, यथा—"धृत्वा सूक्ष्मं वपुर्द्वारं प्रविवेश प्रतापवान्। तत्र लंकापुरी साक्षाद्राक्षसीवेषधारिणी ॥४३॥''''कस्त्वं वानररूपेण मामनादृत्य लंकिनीम् ॥४४॥ प्रविश्य चोरवद्रात्रौ किं भवान्कर्तुमिच्छति।''''हनुमानपि तां वामनुष्टिनावज्ञयाहनत्। तदैव पतिता भूमौ रक्तमुद्वमती भृशम् ॥४६॥ उत्थाय प्राह सा लंका०।" ☞रेखांकित शब्दोंको क्रमसे मानसमें देखिए—"अतिलघुरूप, मसक समान" (धृत्वासूक्ष्मं), "राक्षसी" (निशाचरी), "मामनादृत्य" (मोहि निंदरी), "लङ्किनीम्" (नाम लंकिनी), "चोर" (चोरा), "मुष्टिना" (मुठिका), "हनत्" (हनी), "पतिता भूमौ" (धरनी ढनमनी), "रक्तमुद्वमती" (रुधिर बमत); "उत्थाय सा लङ्का" (उठी सो लङ्का)।

नोट—२ हनुमान्‌जीने 'निशि' (रात्रि) में पुरीमें प्रवेश किया, इस सम्बन्धसे यहाँ 'निसिचरी' पद साथक है। निशिचरी है अतः निशामें चलनेवालेको देखा ही चाहे।

३—वाल्मीकीयके 'न शक्यं मामवज्ञाय प्रवेष्टुं०' और "कस्त्वं केन च कार्येण इह प्राप्तो वनालय। २३।" के भाव 'चलेसि मोहि निंदरी' में आ गए। अर्थात् तू कौन है? किस कार्यसे यहाँ आया है? मेरा निरादर करके तू पुरीमें प्रवेश नहीं कर सकता। मुझे तूने कुछ न समझा? ये सभी भाव तीन ही शब्दोंमें आ गए।

प० प० प्र०—स्वयं लंकाकी देवी होकर भी राजाकी आज्ञाका पालन एकनिष्ठ भावसे कर रही है। उसकी कर्तव्य तत्परता देखकर उसके प्रति आदर उत्पन्न होता है और आजकलके धर्महीन स्वराज्यके संरक्षक गुप्त दलकी दक्षता तो जगत्प्रसिद्ध है कि एक राष्ट्रका एक महान् शत्रु दिनमें बंबई ऐसे बड़े नगरके विमान-तलपरसे अपना सब धन लेकर वायुयानमें बैठकर पाकिस्तानमें भाग जाता है और हमारे संरक्षक जान भी नहीं पाते।

नोट—४ 'नाम लंकिनी एक निसिचरी' पायकुलक है। 'सो कह०' चौपाईका १९८वाँ भेद है। (प्र.चं.)

टिप्पणी—२ नभ, जल, थल तीन ही स्थल जीवोंके रहनेके हैं और तीन ही मार्ग थे, तीनोंमें स्त्रियोंके ही द्वारा विघ्न हुआ; यह आश्चर्य हुआ। इससे उपदेश देते हैं कि ब्रह्मचारीको भवसागर पार होनेमें स्त्री विघ्न-स्वरूप है। हनुमान्‌जी ब्रह्मचारी हैं; अतः सागर पार करके लंकामें प्रवेश करनेमें स्त्रियों द्वारा ही विघ्न हुआ। पुनः, जैसे हनुमान्‌जीने इन तीनोंको जीतनेके बाद श्रीसीताजीको पाया, वैसे ही मायारूपी नारिके जीतनेपर ही जीव प्रभुकी भक्ति पाता है। जीवको शरणागत होनेमें ये बाधक होती हैं—'तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि', 'मुनि बिज्ञान धाम मन करहिं निमिष महँ छोभ'। (पां०)।

नोट—५ मानस तत्त्व भास्करमें लिखा है कि—"जीव जब शरणागत होकर भक्तिकी प्राप्तिके लिये उद्यत होता है तब सत्व-रज-तम-रूप त्रिगुणात्मिका माया बाधा करने लगती है। इनके जीतने पर भक्ति प्राप्त होगी। यहाँ सुरसा सत्त्वगुणी माया हुई, उससे हनुमान्‌जी मिलकर चले। सिंहिका तमोगुणी माया हुई जिसको उन्होंने नाश ही कर डाला। और लंका रजोगुणी माया हुई; इसे उन्होंने अधमरी कर डाला। इसी प्रकार जीवका कर्त्तव्य है कि रजोगुणसे निर्वाह मात्र प्रयोजन रक्खे, सत्ववृत्ति धारण किये रहे और तमोगुणसे सर्वथा अलग रहे।

पांडेजी एक भाव और लिखते हैं कि स्त्री मायारूपिणी है—'तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया-रूपी नारि ॥' इनमेंसे सुरसा देवताओंकी भेजी हुई स्वर्गकी माया हुई, समुद्रमें रहनेवाली सिंहिका पातालकी माया हुई और लङ्किनी भूलोककी माया हुई; इन तीनोंको जीतना मानों त्रैलोक्यकी मायाको जीतना है। जब इन तीनोंको जीते तब श्रीराम भक्तिकी प्राप्ति हो; जैसे सुरसा आदिको जीतनेपर हनुमान्‌जीको श्रीजानकीजीकी प्राप्ति हुई।

प० प० प्र०—सुरसा अन्तःकरणकी सात्त्विक धार्मिक वृत्तिका प्रतीक है। विषयासक्ति ही सुरसा है। इन्द्रियोंके देवता अन्तःकरणवृत्ति (सुरसा) को प्रेरित करेंगे। वह कहेगी इन्द्रियोंको दुर्बल करनेसे परमार्थ प्राप्ति थोड़े ही होगी। इन्द्रियोंको उनका आहार देना धर्म है, न देनेसे पाप लगेगा। इस वृत्तिको जीतनेके लिये शरीर और बुद्धि दोनोंसे काम लेना होगा। इससे उत्तीर्ण होनेपर ही जीवका विवेकरूपी हनुमान् विहंगम मार्गमें अग्रसर हो सकता है। यह मार्ग अति समीपका और शीघ्रतम आक्रमण करने योग्य है। यह है शुक-मार्ग। (वराहोपनिषद्)। युक्ति सूझनेके लिये श्रीरघुवीरका सतत स्मरण करना चाहिए।

सात्विक विषयासक्तिको जीतनेपर मोहसागर लाँघनेमें जीव अतिवेगसे आगे बढ़ता है तब उस विहं-गम मार्गसे आगे जानेवाले जीवके मार्गमें तमोगुण निवृत्ति रूपी सिंहिका विघ्न करती है। उसको तो मारना ही चाहिए, पर इसे मारनेके लिए शक्ति, युक्ति, धृति आदि अनेक सद्‌गुणोंकी आवश्यकता है। इस वृत्तिका कलेजा (मर्म) तो अज्ञान है जो आत्मस्वरूपमें साक्षात्कारसे ही नष्ट हो सकता है। सुषुम्नापथरूपी आकाश-मार्गमें अनाहत चक्रमें (हृदयकमलमें) प्रवेश करके वहाँ आत्मज्योतिका साक्षात् करनेपर अज्ञानका नाश होता है। इस प्रकार अज्ञानरूपी छाया-ग्रहका विनाश किये बिना मोहसागर पार करना अशक्य है। अज्ञान का नाश होनेपर सिद्धियाँ सामने आती हैं। यदि साधक उनमें न फँस गया तो वह त्रिकूटगिरिपर जहाँ इड़ा, पिंगला, सुषुम्नाका संगम होता है, उस भ्रू-स्थान तक पहुँच सकता है। अब लंका (मस्तक) में प्रवेश करना है, पर उसके चारों तरफ महान् दुर्ग, द्वार पर रक्षक और द्वारमेंसे जानेका मार्ग अत्यंत सूक्ष्म है। यह है आज्ञा-चक्र। यहाँ नरहरिरूपी सद्‌गुरुकी कृपासे ही प्रवेश हो सकता है। बड़े-बड़े हठयोगी यहाँसे लौट जाते हैं, या अहंकारादि राक्षसोंके कब्जेमें जाकर विनष्ट हो जाते हैं। अतः श्रीहनुमान्‌जीने 'नरहरि' का स्मरण किया।

यहाँ लंका दुर्गकी देवी बड़ी सजग है। वह आज्ञाचक्रके बीचमें ही द्वारका अवरोध करके बैठी है। उस चक्रकी शक्ति देखनेमें नहीं आती। उसको एक मुष्टिका लगाकर ही धरणीपर गिराना चाहिए, उसे मारनेसे काम नहीं चलेगा। जब वह जान लेगी कि यह साधक रामदूत है, भक्ति-सीताकी खोजमें जा रहा है तब प्रसन्न होकर आशीर्वाद देगी।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि जैसे श्रीहनुमान्‌जी समुद्रलंघनमें नभ, जल और थलकी निवा-सिनी तीन स्त्रियोंको जीतकर ही लंकामें प्रवेशकर श्रीसीताजीकी खोजमें प्रवृत्त हुए वैसे ही 'परमार्थ पक्षमें प्रबल वैराग्यवान होकर पहले रसनाको जीतना चाहिए। रसनाके देवता जलाधिपति वरुण हैं, इससे इसका जीतना समुद्रलंघनके समान है। रसना ही आहार देकर सब इन्द्रियोंके सहित देहसे प्रमाद कराती है, इसीसे इसके जीतनेके साथ-ही-साथ देहाभिमान भी जीता जाता है। देहाभिमानको सागर कहा भी है; यथा-'कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर··· प्रबल वैराग्य दारुन प्रभंजन तनय····' (वि० ५८)। रसना जीतनेमें तीनों गुणोंके संबंधी तीन प्रकारके आहार कहे गए हैं। गीता १७।८-१० देखिए। देहाभिमान जीतनेवाले विरक्तको प्रथम रामनामांकित मुद्रिकारूप राममंत्रोपदेश रामरूप गुरुसे प्राप्त करना चाहिए। जैसे श्रीहनुमान्‌जीको मुद्रिकांकित रामनामके अर्थ रूप सातों काण्डके चरित चन्द्रमा मुनि और जाम्बवान द्वारा प्राप्त हुए, वैसे ही मुमुक्षु भी गुरुमुखसे मंत्रार्थ श्रवण करे। जैसे उसके बाद वे समुद्रलंघनमें तत्पर हुए वैसे ही यह भी देहाभिमान जीतनेमें लगे। जैसे वहाँ उन्हें सुरसा मिली वैसे ही इसे विद्यारूपी सात्विकी मायाका सामना करना पड़ता है। सात्विक आहार सहित इसे विद्या पढ़ना एवं सत्संग करना चाहिए। जिस प्रकार सुरसाका मुँह बढ़ने लगता है उसी प्रकार इसे भी विद्याकी अपेक्षा बढ़ती

जाती है। जैसे सुरसाका मुख सौ योजनका हो गया, वैसे ही विद्याका भी विस्तार अनंत है। यह दीनता-रूपी लघु रूपसे विद्याके हृदयका तत्व ब्रह्मविद्याको जान उससे पृथक हो जाय और साधनके लिये उद्यत हो, तब वह विद्या सुरसाकी तरह आशिष देती है। फिर तमोगुणी मायाका सामना करना पड़ता है। जलमें सिंहिका रहती थी, उसने श्रीहनुमान्‌जीकी छायाको खींचकर इनका गतिरोध किया। वैसे तामसाहंकारसे शब्दादि विषय होते हैं, वे खार जल-रूप हैं; यथा 'बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।' (वि० १०२)। विषयसंबंधसे रागद्वेष आदि मुमुक्षुका गति-रोध करते हैं। अतः यह उन्हें नाश ही करनेका प्रयत्न करे; आगे मुमुक्षुको रजोगुणी मायारूपी लंकिनी मिलेगी। इसका विकार देह-पोषण करना है। इसे प्रथम व्रतोपवास आदिसे वशमें करे, जिस प्रकार एक मुष्टिका मारकर श्रीहनुमान्‌जीने लंकिनीको अधीन किया। तब लंकिनी रामकार्यमें सहायक हुई, वैसे ही स्वाधीन इन्द्रियोंके साथ देह भी परमार्थ-साधनमें सहाय होती है।

जानेहि नहीं मरम सठ मोरा। मोर अहार जहाँ लगि † चोरा॥ ३॥

मुठिका एक महाकपि हनी। रुधिर बमत धरनी ढनमनी॥ ४॥

अर्थ—अरे शठ (मूर्ख)! तू मेरा मर्म (भेद, स्वभाव) नहीं जानता (कि) जहाँ तक (लंकामें छिपकर आनेवाले) चोर हैं वे मेरा आहार (भोजन) हैं। ३। महाकपि (श्रीहनुमान्‌जी) ने एक मुष्टिका (घूँसा) मारी, जिससे वह खून उगलती हुई पृथ्वीपर लुढ़क पड़ी। ४।

टिप्पणी—१ (क) 'जानेहि नहीं…' इति। श्रीहनुमान्‌जी निर्भय चले जा रहे हैं; इसीसे वह कहती है कि मुझे नहीं जानते, यथा—'निर्भय चलेसि न जानेहि मोही।' (आ० २९), 'की धौं श्रवन सुनेहि नहीं मोही। देखौं अति असंक सठ तोही'। (सुं० २१)।' (ख) मर्म न जानना निरादरका हेतु है। न जाननेसे 'शठ' कहा‡ और फिर अपना मर्म बताती है कि 'मोर अहार ...'। अर्थात् तू चोर है, चोरकी तरह चला जा रहा है और चोर मेरा आहार है। अपने आहारको सब चाहते हैं, अतः मैं भी चाहती हूँ कि कोई भी चोर आवे वह जाने न पावे, मैं उसे खा लूँ। (ग) 'लंक कर चोरा' पाठ उत्तम नहीं है क्योंकि ऐसा कहनेसे लंकापुरीसे वह पृथक् हो जाती है, जो होना न चाहिए; क्योंकि वह तो स्वयं लंकापुरी ही है। 'जहाँ लगि' का भाव कि जहाँतक पुरी है वहाँ तकका चोर। (इससे जनाया कि जो पुरीमें न जाय, उससे उसे सरोकार नहीं।)

२—'मुठिका एक महाकपि हनी।०' इति। (क) उसे मारा क्योंकि एक तो वह रामकार्यमें विघ्न किया चाहती है, राक्षसी है और भक्षण करनेपर उद्यत हुई। दूसरे उसने चोर कहा है। चोरको जो पहचान लेता है वा उससे जो बोलता है उसे चोर अवश्य मारता है।* अथवा, श्रीहनुमान्‌जीने विचारा कि सब

† जहाँ लगि—ना. प्र., रा. गु. द्वि., छ०, का., मा. म., भा. दा.। लंक कर-पं., वै., पाँ.। टिप्पणी १ (ग) देखिए। ‡ १-पं०—लंकिनीके मुखसे तो 'शठ' सम्बोधन श्रीहनुमान्‌जीके प्रति ही है। पर सरस्वतीकृत अर्थ यह है कि 'मेरा शठ मर्म' 'मेरा शठताका मर्म नहीं जानता'। २-मा. त. सु. ने 'सठ' को देहलीदीपक मानकर अर्थ किया है—'अरे शठ! मेरा शठ मर्म नहीं जानता?' 'शठ मर्म' का भाव कि मेरा स्वभाव शठ है, मैं किसी प्रकार विनय-प्रार्थनासे भी आर्द्र नहीं होती। यथा—'सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती।०'।

☞ मेरी समझमें ऐसा अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं है। 'शठ' सम्बोधन स्वाभाविक उचित ही है। वाल्मीकीयमें भी इसका प्रमाण मिलता है। यथा—'कस्त्वं केन च कार्येण इह प्राप्तो वनालय।०।५।३।२३।…भूय एव पुनर्वाक्यं बभाषे परुषाक्षरम्॥ ३५॥ मामनिर्जित्य दुर्बुद्धे राक्षसेश्वरपालिता। न शक्यमद्य ते द्रष्टुं पुरीयं वानराधम। ३६।' वहाँके 'वनालय' (जंगली), 'दुर्बुद्धे' (मूर्ख) और 'अधम' के स्थानपर यहाँ 'शठ' शब्द है।

* विनयपत्रिकामें यही आशय पद २६६ में है। यथा—'चित्रकूट गये हौं लखी कलिकी कुचाल सब, अब अपडरनि डर्‌यो हौं।३। माथ नाइ नाथ सो कहौं हाथ जोरि खर्‌यो हौं। चीन्हों चोर जिय मारिहै तुलसी सो कथा सुनि, प्रभु सो गुदरि निबर्‌यों हौं।४।' अर्थात् कलिरूपी चोरको मैंने पहचान लिया इससे वह अब मेरे प्राण ही ले लेगा।

करनेसे ठीक न होगा, राक्षस सुनेंगे तो शोर होगा, अतः मारा। (ख) 'महाकपि' कहकर जनाया कि लंकिनीके मारनेके लिए पहलेका-सा विशाल रूप कर लिया, यह आगे कवि स्वयं स्पष्ट कहेंगे, यथा—'अति लघु रूप धरेउ हनुमाना।' इससे यह सूचित होता है कि लंकिनीका स्वरूप बहुत भारी था।

टिप्पणी—३ श्रीहनुमान्‌जीकी मुष्टिका लगनेसे मेघनाद आदि सब वीरोंको मूर्च्छाका होना कहा गया है, यथा—'मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई। ताहि एक छन मुरुछा आई।' (सुं० १९ मेघनाद), 'तब मारुतसुत मुठिका हनेऊ। परेउ धरनि व्याकुल सिर धुनेऊ॥' लं० ६४ कुम्भकर्ण), 'मुठिका एक ताहि कपि मारा। परेउ सैल जनु बज्र पहारा॥' (लं० ८३ रावण); परन्तु यहाँ लंकिनीको मुष्टिका लगनेपर मूर्छा न आई। उसका मूर्च्छित होना न कहकर जनाया कि जैसा घूँसा हनुमान्‌जीने औरोंको मारा वैसा इसको न मारा था। [इसका प्रमाण वाल्मीकीयमें भी मिलता है। सुं० अ० श्लोक २३-४२ में लिखा है कि—(उसे स्त्री जानकर) श्रीहनुमान्‌जी उसके कठोर वचनोंपर भी उससे तीन बार बहुत मृदु वचन बोले। उन्होंने पहले उससे पूछा कि 'तुम कौन हो और हमें क्यों डाँटती हो?' (श्लोक २६), और फिर पर्वत सदृश खड़े होकर दूसरी एवं तीसरी बार यही कहा कि 'मुझे इस नगरीके देखनेका बड़ा कुतूहल है। अतः, हे भद्रे! मैं उसे देखकर अपने स्थानको लौट जाऊँगा।'—'दृष्ट्वा पुरीमिमां भद्रे पुनर्यास्ये यथागतम्॥ ३७।' इसपर भी जब उसने शोर किया और हाथ चलाया तब उन्होंने उसे स्त्री जानकर बायें हाथकी मुट्ठीसे साधारण घूँसा मारा, पर उस प्रहारसे ही उसके अंग शिथिल हो गए।—'ततः संवर्तयामास वामहस्तस्य सोऽङ्गुलीः। मुष्टिनाभिजघानैनां हनुमान्क्रोधमूर्च्छितः ।४०। स्त्री चेति मन्यमानेन नातिक्रोधः स्वयं कृतः। सा तु तेन प्रहारेण विह्वलाङ्गी निशाचरी ।४१। पपात सहसा भूमौ विकृताननदर्शना।०।४२।' वाल्मीकीयके इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि हनुमान्‌जीने इसे जो घूँसा मारा वह एक तो बायें हाथकी मुट्ठीसे मारा, दूसरे साधारण क्रोध करके मारा (और मेघनादादिको दाहिने हाथसे अत्यन्त क्रोधमें भरकर घूँसा मारा था) अतएव वे मूर्च्छित हो गए और यह मूर्च्छित न हुई।'] अथवा, इसे ब्रह्माका बरदान था कि 'बिकल होसि तैं कपिके मारे।' इससे वह व्याकुल तो हुई पर उसे मूर्छा न आई। यह हलका घूँसा भी उसे इतने जोरसे लगा कि उसने कई मुटकनियाँ खाईं।

नोट—मा. त. सु. में 'महाकपि' अर्थात् बड़ा रूप धारण करनेका कारण यह लिखा है कि—उन्होंने सोचा कि यह स्त्री है, हमारा भयङ्कर रूप देखकर भयसे मार्ग छोड़ देगी; पर जान पड़ता है कि बड़ा रूप देखकर वह अत्यन्त क्रोधित हुई।

पुनि संभारि उठी सो लंका। जोरि पानि कर बिनय ससंका॥ ५॥

जब रावनहि ब्रह्म बर दीन्हा। चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा॥ ६॥

अर्थ—फिर वह लंका (अपनेको) सँभालकर उठी, और डरती हुई हाथ जोड़कर विनती करने लगी। ५। जब रावणको ब्रह्माने वर दिया था तब चलते समय विरंचि (ब्रह्माजी) ने मुझसे (निशिचर-संहारका यह) चिह्न बताया था। ६।

टिप्पणी—१ (क) 'सो लङ्का' कहनेका भाव कि जिसे हमने प्रथम लंकिनी निशिचरी कहा, वह वस्तुतः लंका नगरी ही है, निशिचरी नहीं है। प्रथम अपनेको छिपाए रही इससे ग्रन्थकारने भी गुप्त ही रखा। जब वह खुली, अपना हाल स्वयं बताने लगी, तब ग्रन्थकारने भी स्पष्ट लिखा। (ख) 'संभारि' से जनाया कि व्याकुल हो गई थी। आगे वह स्वयं कहती है—'बिकल होसि तैं कपिके मारे'। (ग) हाथ जोड़ना, विनय करना, अपराध क्षमा करनेके लिये शीघ्र प्रसन्न करनेवाली मुद्रा है। यहाँ मन, वचन, कर्म तीनोंसे नम्र दिखाया—'सशंका' मन, 'कर विनय' वचन और 'जोरि पानि' कर्म है। (घ) 'सशंक' है कि कहीं फिर न मार बैठें, क्योंकि मैंने बहुत दुर्वचन कहे थे। मानसमें 'शठ' और 'चोर' दो दुर्वचन लिखे गये। 'चोर' कहा

उसके बदलेमें एक मुष्टिका तो खा चुकी; अब रहा दूसरा दुर्वचन 'शठ', कहीं उसके बदलेमें दूसरा घूँसा न मिले जो प्राण ही निकल जायँ।

नोट—१ 'पुनि संभारि उठी' इति। वाल्मीकिजी स० ३ में लिखते हैं कि हनुमान्‌जीको प्रवेश करते देख लंकिनी उठी थी, यथा—'स्वयमेवोत्थिता तत्र विकृताननदर्शना। २१।' और सामने आकर खड़ी हो गई। मुष्टिका लगनेके पूर्वतक वह खड़ी रही। मुष्टिका लगनेसे वह मुटकरी खाकर गिर पड़ी थी। मानसके 'पुनि' शब्दसे यह भी जना दिया है कि एक बार वह पहले भी उठी थी—ललकारनेको। और अब गिरनेपर फिर उठी—विनय करनेको।

२—'जोरि पानि कर विनय' इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं—'ततो वै भृशमुद्विग्ना लङ्का सा गद्गदाक्षरम्॥ उवाचा गर्वितं वाक्यं हनुमन्तं प्लवंगमम्। प्रसीद सुमहाबाहो त्रायस्व हरिसत्तम॥ समये सौम्य तिष्ठन्ति सत्त्ववन्तो महाबलाः। अहं तु नगरी लङ्का स्वयमेव प्लवंगम॥ निर्जिताहं त्वया वीर विक्रमेण महाबल। ५।३।४३-४६।' अर्थात् 'दीनतापूर्वक गद्गद्‌वाणीसे बोली कि 'हे वानरश्रेष्ठ! हे महाबाहो! आप प्रसन्न होकर मेरी रक्षा करें। हे सौम्य! पराक्रमी वीर अपनी प्रतिज्ञाका पालन करते हैं। मैं स्वयं लंकापुरी हूँ। आपने अपने पराक्रमसे मुझे जीता है। मैं एक सत्य बात कहती हूँ उसे सुनिये।'—यही 'विनय' है।

३—'सशंका' इति। हनुमान्‌जी 'महाकपि' रूपसे अभी सामने खड़े हैं, इससे डर रही है कि कहीं अभी जीती देख मार न डालें जिसमें निश्चिंत होकर भीतर जा सकें। दूसरे ब्रह्माजीका वर स्मरण हो आया, अतएव शंकित है कि मुझसे भारी भागवतापराध हो गया, श्रीरामदूतको मैंने दुर्वचन कहे। तुरत क्षमा माँग लूँ। मार डाली गई तो यह पाप भोगना पड़ेगा।

४—'पुनि ··बर दीन्हा' पायकुलंक, 'चलत०' तामरस है—(अ० चं०)। लंकिनीके कोपरूप भावकी शान्ति हनुमान्‌जीके रुष्ट भावसे होना 'समाहित अलंकार' है।'

टिप्पणी—२ 'चलत बिरंचि····' इति। (क)—अग्निपुराणमें कहा है कि ''ब्रह्माजीने रावणको वर दिया था कि दिव्य लंकापुरीमें पाँच करोड़ वर्ष राज्य करेगा। ब्रह्माके वर देनेपर मैंने उनसे प्रार्थना की कि दुष्टोंके वाससे मुझे बड़ा दुःख होगा, कभी धर्मात्माका राज्य भी यहाँ होगा और कब? इसपर उन्होंने मुझे यह चिह्न बताया कि 'बिकल होसि०'। उसी समयसे मैं आपकी प्रतीक्षा करती रही हूँ।'' चीन्हा=चिह्न। यहा—'मन कपटी तन सज्जन चीन्हा', 'मातु मोहि दीजै कछु चीन्हा'। (ख) इस कथनका भाव यह है कि मुझसे अनजानमें आपका अपमान एवं अपराध हुआ, जान लेती तो आदर करती, तब आप न मुझे मारते; न मैं विकल होती और न ब्रह्माका वचन ही सिद्ध होता। अतएव 'छमहु चूक अनजानत केरी'। सफाईमें ब्रह्माका वचन कहा कि वह असत्य नहीं हो सकता। यथा—''स्वयंभुविहितः सत्यो न तस्यास्ति व्यतिक्रमः॥ ३।४६॥''

मा० त० सु०—'ब्रह्मा' और 'बिरंचि' में पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि एक रावण-वरदान-विषयक है और दूसरा लंकिनी प्रति कथोपकथन विषयक है और इसका अगली चौपाई तक संबंध है।

प्रज्ञानानन्द स्वामीजी लिखते हैं कि व्युत्पत्ति दृष्ट्या ब्रह्मा और बिरंचिमें बहुत भेद है। ब्रह्मा=प्रजाकी वृद्धि करनेवाले। रावणको वर देकर उन्होंने उसकी शक्ति, आयु, ऐश्वर्य आदिकी अत्यंत वृद्धि की, अतः उस कार्यमें 'ब्रह्मा' शब्द दिया। पर रावणके इस कार्यसे असंख्योंकी स्वतंत्रता आदिका क्षय होगा इसके विरुद्ध कोई रचना की गई या नहीं यह कहना आवश्यक था, अतः द्वितीयार्थमें यह कहनेके लिये 'बिरंचि' शब्द दिया गया। बिरंचि=विरुद्ध रचना करनेवाले। ('बिरंचि' शब्दका प्रयोग विशेष रचना करने अथवा सृष्टिकी रचनाके संबंधसे 'मन बिरंचि कर भूल', 'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी।···१।२२३।' आदि अनेक स्थानोंमें आया है।)

नोट—५ श्रीहनुमान्‌जीके बिना पूछे ही वह सब बातें कह चली। इसमें इसका गूढ़ अभिप्राय सच्ची बात कहकर रामदूतकी कृपा संपादन करनेका है। यह कल्पित प्रश्नका 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है। (वीरकवि)।

६—वाल्मी० सुं० अ० ३ श्लोक ४७ में कहा है कि जब कोई वानर अपने पराक्रमसे तुझे वशमें करले तब जान लेना कि राक्षसों पर विपत्ति आगई। उद्धरण आगेकी चौपाईमें दिया गया है।

बिकल होसि तैं † कपि के मारे। तब जानेसु निसिचर संघारे॥ ७॥

तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता॥ ८॥

अर्थ—जब तू कपिके मारने से व्याकुल होवे, तब जान लेना कि निशिचरोंका नाश हुआ (और धर्मात्माका राज्य होगा)।७। हे तात! मेरा बड़ा भारी पुण्य (उदय हुआ) है कि मैंने श्रीरामजीके दूतको नेत्रोंसे देखा। ८।

टिप्पणी—१ 'मोर अति पुण्य बहूता'। सन्तदर्शन भारी पुण्यके उदयसे होता है, यथा—'पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता', 'मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ'। (उ० ४५; अ० १२५)

नोट—१ "तात मोर अति पुन्य बहूता" इति। 'तात' शब्द यहाँ 'श्रेष्ठतावाची प्यारका' सम्बोधन है, रामदूत जानकर उनमें प्रेम हो गया, इसीसे 'तात' कहा। "अति पुन्य बहूता" अर्थात् मैं धन्य हूँ। यथा—"धन्याहमप्यद्य चिराय राघवस्मृतिर्ममासीद्भवपाशमोचिनी। तद्भक्तसङ्गोऽप्यतिदुर्लभो मम प्रसीदतां दाशरथिः सदा हृदि॥ अ० रा० ५। १। ५७॥" अर्थात् आज बहुत दिनोंमें भवबन्धनमोचिनी श्रीरामजीकी स्मृति मुझे हुई और उनके भक्तका अत्यन्त दुर्लभ संग प्राप्त हुआ; अतः आज मैं धन्य हूँ। "बिकल...संघारे" पायकुलक है, 'तात.... बहूता' स्वागता है और 'देखउँ नयन०' पायकुलक है। (न्न० चं०)।

टिप्पणी—२ 'देखेउँ नयन' इति। अर्थात् महात्मा लोग आपको ध्यानमें देखते हैं, वही आप मुझे आँखोंसे देखने को मिले, यथा—'देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेव्य जुगल पद कंज' (सुं० ४७)।

३—'राम कर दूता' से पाया गया कि ब्रह्माजीने बहुत संक्षेपमें इससे रामायण भी कही, जैसे चन्द्रमा मुनिने संपातीसे। नहीं तो 'बिकल होसि' इतनेसे ही उसने कैसे जान लिया कि ये रामदूत हैं?

नोट—२ आध्यात्मरामायण सुं० सर्ग १ में ब्रह्माजीका कथन भी है। लंकिनीसे उन्होंने पूरी कथा संक्षिप्त रूपमें कही है—अट्ठाइसवीं चतुर्युगीमें दशरथजीके यहाँ श्रीरामका और जनकमहाराजके यहाँ श्री-सीताजीका अवतार होना, श्रीसीतारामलक्ष्मणका वनको जाना और वहाँ सीताहरण होनेपर सुग्रीवजीसे मित्रता का होना और सीताजीकी खोजमें वानरोंका भेजा जाना (श्लोक ४८-५१) कहकर बताया है कि उनमेंसे एक वानर रात्रिमें तेरे पास आवेगा और तुझसे तिरस्कृत होनेपर एक मुष्टिका मारेगा, जिससे तू विकल हो जायगी, उसी समय रावणका अन्त होगा। यथा—"त्वया च भर्त्सितः सोऽपि त्वां हनिष्यति मुष्टिना॥ ५२॥ तेनाहता त्वं व्यथिता भविष्यति यदानघे। तदैव रावणस्यान्तो भविष्यति न संशयः॥ ५३॥" (अ० रा० ५। १)।

वाल्मीकीयमें चरितका कहना नहीं पाया जाता। किसी वानरसे पराजय होना मात्र कहा है, यथा—'यदा त्वां वानरः कश्चिद्विक्रमाद्वशमानयेत्॥ तदा त्वया हि विज्ञेयं रक्षसां भयमागतम्। ५।३।४७-४८।'

३ मा० त० सु०—(क) 'जब रावनहिं' यहाँसे 'निसिचर संघारे' तक सब पद साकांक्षित श्लेष हैं। इनमें बहुत भाँतिके अर्थ हैं। अन्वय—"जब रावण चलत और बिरंचि चलत मोहि चीन्हा तब मोहि निसिचर संहारे चीन्हा कहा (मैंने निशिचर-संहारका लक्षण पूछा) यह सुनि बिरंचि मोहिं कहा-जब कपि.... तब निसिचर संहार चीन्हा जानेसु।" (ख) 'अति पुन्य बहूता' इसके अर्थमें तीन कोटि हैं। पुण्य, अति पुण्य और बहुत अति पुण्य। ब्रह्माका समागम पुण्य है, यथा—'पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपद पूजा।' भगवत्-यशश्रवण अति पुण्य है, यथा—'कहेउँ परम पुनीत इतिहासा'। और 'बहुत अति पुण्य' [=पुण्य पुञ्ज] श्रीहनुमान्जीका दर्शन है। (ग) 'रामदूत' से सिद्ध हुआ कि उसने प्रेमपूर्वक ब्रह्मासे पूछा था तब उन्होंने चरित सुनाया। इससे श्लेषवाला अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

† जब-कोदवराम। तैं-१७२१, १७६२; छ०, १७०४

तात* स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिय तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥४॥

अर्थ—हे तात! स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको तराजूके एक पलड़ेमें रखिये और लवमात्र-सत्संग-सुख को दूसरे पलड़ेमें रखिये तो वे सब मिलकर भी उस सुखके बराबर नहीं हो सकते, जो लवमात्र के सत्संगसे होता है। ४।

नोट—१ यह दोहा मिश्रित है—(ब्र० चं०)।

टिप्पणी—१ 'तात स्वर्ग अपबर्ग सुख....' इति। (क)—यहाँ 'तुला' (तराज़ू) क्या है? बुद्धि ही तराज़ू है; यथा—'मैं मति-तुला तौलि देखी भइ मेरिहि दिसि गरुआई।' इति विनये। संसार सुखसे स्वर्गसुख विशेष है और स्वर्गसुखसे अपवर्ग (मोक्ष) सुख अधिक है और इन तीनों सुखोंसे सत्संग-सुखकी महिमा विशेष है। यह विशेषता दिखानेके लिये स्वर्ग, अपवर्ग और सत्संगको क्रमसे कहा गया।—[यज्ञ आदि सकाम पुण्य कर्मोंसे स्वर्गके दिव्यभोगोंकी प्राप्ति होती है, यथा—'अगम अपबर्ग अरु स्वर्ग सुकृतैक फल०' इति विनये। पर पुण्य क्षीण होनेपर फिर संसारमें (मर्त्यलोकमें) आना पड़ता है, यथा—'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। गीता ९।२१।', 'ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी। ७।१३।'; इतना ही नहीं स्वर्गमें भी सवतिया डाह बना रहता है, यथा—'स्वर्गहु मिटत न सावत' इति विनये, 'ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥' इत्यादि। अतएव स्वर्गसे मोक्षका सुख अधिक कहा। मोक्षसुख बिना हरिभक्तिके रह नहीं सकता, यथा—'तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥ (७।११९)। और भक्ति बिना संत-संगके नहीं मिलती, यथा—'सो बिनु संत न काहू पाई॥'] पुनः, (ख) स्वर्ग-सुखसे कर्म-काण्ड जनाया क्योंकि कर्मका ही फल स्वर्ग-सुख है, अपवर्ग-सुखसे ज्ञानकाण्ड क्योंकि ज्ञानका फल मोक्ष है, यथा—'ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना।' (३। १६), और सत्संगसे भक्ति अर्थात् उपासना काण्ड जनाया, क्योंकि भक्तिका फल सत्संग है। [सत्संगको भक्तिका फल कहनेका भाव यह है कि भजन करनेसे भगवान्की कृपा होती है, उससे फिर सत्संग मिलता है, यथा—'मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।१।२००।' 'जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु संगति पाइये।' (विनय १३६), 'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।' पुनः, सत्संग भक्तिका सर्वप्रथम अंग भी कहा गया है और भक्तिका सिद्ध फल भी है यथा—'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।३।३५।', 'संतसंगति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि०।१।३।']—अभिप्राय यह है कि ये सब मिलकर भी भक्ति (सत्संग) के सुखके तुल्य नहीं हो सकते।

नोट—२ स्वर्ग अनेक हैं और मोक्ष भी कई प्रकार का है। समस्त स्वर्गोंके सुख और समस्त मोक्षों के सुख मिलकर भी लवमात्रके सत्संगके सुखकी समता नहीं कर सकते। यह हमारे अनुभवी ऋषियोंका अनुभूति सिद्धान्त है। शौनकादि अट्ठासी हजार ऋषियोंने यही बात सूतजीसे कही है। यथा—'तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥ भा० १। १८। १३।'

३—'लव' का क्या परिमाण है इसमें मतभेद है। पांड़ेजी ६० लवका एक निमेष बताते हैं। दोनों पलकोंके एक बार मिलकर फिर उठ जानेमें जो समय लगता है उसे निमेष कहते हैं। हेमचन्द्रके मतसे ३६ निमेषोंका एक 'लव' होता है। यथा—'अष्टादश निमेषास्तु काष्ठाद्वयं लवः इति हेमचन्द्रः।' (रा० ब०)। और श्रीमद्भागवतमें तीन लवका एक निमेष कहा गया है, यथा—'निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः। क्षणान्पञ्च विदुः काष्ठां लघुता दशपञ्च च॥३।११।७।' अर्थात् तीन लवका एक 'निमेष' होता है, तीन निमेषका एक 'क्षण' पाँच क्षणकी एक 'काष्ठा' और पंद्रह काष्ठाका एक 'लघु' होता है। ☞ भागवतके श्लोकके लिये उसीका

* तात—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा०। सात—कोदवराम।

प्रमाण लेना होगा। इस तरह लव 'निमेष' का तिहाई समय हुआ।

नोट—४ सत्संग लाभकी अवधि है, सत्संग समान सुख नहीं है—यह अन्यत्र भी कहा गया है। यथा—'गिरिजा संत-समागम सम न लाभ कछु आन।' (उ० १२५), 'संत मिलन सम सुख कछु नाहीं।' (उ० १२१)। शंका—लङ्किनीने हनुमान्‌जीको चोर और शठ कहा; हनुमान्‌जीने उसे घूँसा मारा। इसमें सत्संग क्या हुआ? समाधान—यहाँ दर्शन और स्पर्शका माहात्म्य कहते हैं, ऐसा लङ्किनीने कहा भी है—'देखेउँ नयन राम कर दूता'। पुनः, यथा—'सतसंगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकौ बारा' यह जो कहा है सो निमिष मात्रका सत्संग, 'दर्शन' छोड़ और क्या हो सकता है? सत्संग कई प्रकारका कहा गया है। दर्शन-सत्संग, स्पर्श-सत्संग, समागम-सत्संग इत्यादि। यथा—'दरस-परस समागमादिक पापराासि नसाइये।' इति विनये १३६। दर्शन सत्संगका माहात्म्य विनयके उद्धरणमें आ गया। पुनः यथा—'संत दरस जिमि पातक टरई'। स्पर्श-सत्संगका उदाहरण है—'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥'; समागमके उदाहरण तो बहुत हैं—याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-समागम, भुशुण्डि-गरुड़-समागम, अगस्त्यजी और शिव सनकादिका समागम। यथा—'सुनु मुनि आजु समागम तोरे। कहि न जाइ जस सुख मन मोरे॥ बा० १०५॥', इत्यादि। समागमका माहात्म्य 'गिरिजा समागम०' और 'दरस परस०' में कहा जा चुका है।

दोहेका भाव यह है कि आपके दर्शन और स्पर्शसे मुझे स्वर्ग और अपवर्गके सुखोंसे भी अधिक सुख हुआ। ☞ देखिये, प्रत्यक्ष एक फल तो यही हुआ कि उसने अपनी तामसी वृत्ति छोड़कर सात्त्विक वृत्ति ग्रहण कर ली।

☞ पद्मपुराण पातालखण्ड अश्वमेधयज्ञ प्रसंगमें राजा सुबाहुसे युद्ध करते समय श्रीहनुमान्‌जीने बड़े क्रोधमें भरकर राजा सुबाहुकी छातीमें लात मारी थी जिससे राजा मूर्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़े थे। मूर्च्छासे जागनेपर जब वे श्रीशत्रुघ्नजीके समीप आये तब उन्होंने भी यही कहा है—'साधुओंका संग हो जाने पर इस पृथ्वीपर क्या-क्या नहीं मिल जाता। मैं महामूढ़ था किन्तु सन्तके प्रसादसे ही आज मेरा ब्रह्मशापसे उद्धार हुआ।' देखिये, उन्होंने भी 'लात' ही खाई थी। इसीको तो उन्होंने 'संतसंग' कहा है। उन्होंने भी हनुमानजीको सन्त कहा है।

वि० त्रि०—प्रश्न यह उठता है कि लंकिनीको हनुमान्‌जीके सत्सङ्गके लवसे कौन सुख मिला जो वह ऐसा कह रही है? उसे तो हनुमान्‌जीसे मुष्टिकाके आघातका ही लाभ हुआ, जिससे वह रुधिर वमन करती हुई पृथ्वीपर लोटने लगी। फिर सँभालकर उठी तो उसे ब्रह्मदेवके कथनकी याद आ गयी कि 'विकल होसि तैं कपिके मारे। तब जानेसि निसिचर संहारे।' उसने जान लिया कि ये रामजीके दूत हैं, ये यदि दूसरी मुष्टिका मारेंगे तो प्राण न बचेंगे। इसी शङ्कासे सशङ्कित होकर वह हाथ जोड़कर विनय करने लगी। कहा जा सकता है कि निशिचरोंके संहारकी आशासे उसे खुशी हुई, तो यह कोई उसके लिये नई बात नहीं थी। 'हरि प्रेरित जेहि कल्प जो जातुधानपति होइ। सूर प्रतापी अतुल बल दलसमेत बस सोइ।' उसपर सदासे ही निशिचर बसते चले आये हैं। यदि यह कहा जाय कि लङ्किनीके ऐसा कहनेका यह आशय है कि आप रामजीके दूत हैं, सन्त हैं, आपके सत्सङ्गके लवसे भी ऐसा सुख होना चाहिये, जिसके आगे स्वर्ग और मोक्ष भी अकिञ्चित्कर मालूम हों, आपके मिलनेसे प्राण-हानि न होनी चाहिये, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे सत्सङ्गके सुखका स्थापन नहीं होगा।

समाधान यह है कि हनुमान्‌जी लक्ष्यालक्ष्यरूप (मशक समान रूप) से रातको लङ्कामें प्रविष्ट हुए। कोई लख न सका, पर लङ्किनीने इतना लख लिया कि कोई चोरीसे पुरमें प्रवेश कर रहा है। जब उसने डाँटा तब हनुमान्‌जीने यह समझकर कि इस रूपसे इसका मैं कुछ नहीं कर सकता, विशाल रूप धारण करके उसे मुष्टिका मारी। गिरनेके बाद जब वह उठी तब हनुमान्‌जीके स्वरूपका उसे दर्शन हुआ। उस दर्शनसे उसे ऐसा बुद्धिग्राह्य अतीन्द्रिय अलौकिक सुख हुआ कि उसे स्वर्ग और मोक्ष तुच्छ मालूम होने लगे। अतः वह कहती

है कि 'तात मोर अति पुन्य बहूता । देखेउँ नयन राम कर दूता । सात स्वर्ग...' इत्यादि ।

मा० त० सु०—१ 'जो सुख लव सतसंग' कहनेका भाव यह है कि मुझे इस राक्षसमंडलीमें लव-मात्र भी सत्संग प्राप्त होना स्वर्गापवर्गादि सुखोंसे बढ़कर है ।' २—वह सत्संगजनित सुख कौन और कैसा है ? समाधान—यथा—'परानन्द-सन्दोह' ।—'अनिर्वाच्य विश्राम' ।

नोट—५ उत्तरकाण्डमें सत्संगको अपवर्गका मार्ग अर्थात् साधन कहा है, यथा—'सन्त संग अपवर्ग कर कामी भव कर पंथ । कहहिं सन्त कबि कोबिद श्रुति पुरान सद ग्रंथ । ३३ ।' और यहाँ सत्संगको अपवर्गसे विशेष कहते हैं । यह विपर्यय क्यों ? उत्तर यह है कि वहाँ सत्संग और अपवर्गकी चर्चा है और यहाँ सत्संगजनित सुख और अपवर्गजनित सुखकी चर्चा है । वह मोक्ष देहावसानपर प्राप्त होता है और यहाँका मोक्षसुख तो इसी शरीरमें प्राप्त होता है, यथा—'मज्जन फल पेखिय ततकाला । काक होहिं पिक बकहु मराला ।।' (१ । ३) ।

६—इस सम्बन्धमें एक कथा कही जाती है कि वसिष्ठजी और विश्वामित्रजीमें वादविवाद हुआ । वसिष्ठजी सत्संगको श्रेष्ठ कहते थे और विश्वामित्रजी तपको । अन्ततोगत्वा इसके निर्णयके लिए दोनों शेषजीके पास गये । शेषजीने कहा कि दोनोंमेंसे कोई ब्रह्माण्डके भारको थाम ले तो मैं इसका उत्तर दूँ । पहिले विश्वामित्रजीने अपनी सारी तपस्याका फल लगाकर पृथ्वीको थामना चाहा पर न सँभाल सके; तब वसिष्ठजी पल भरके सत्संग फलको लगाकर उसे हाथ पर दो घड़ीतक लिए रहे । बस इसीसे सत्संगके बड़े होनेका निर्णय हो गया । (पां०, वीरकवि) ।

नोट—७ ☞यहाँ अब एक प्रश्न और यह उठता है कि वे सन्त कौन हैं जिनके लवमात्रके सङ्गसे असीम लाभ और असीम सुख प्राप्त होता है ? ऐसे सन्त श्रीहनुमान्‌जी, श्रीअगस्त्यजी, श्रीभुशुण्डिजी इत्यादि ही हैं । विनयमें भी पद ५७ में जहाँ सत्संगकी प्रार्थना की गई है उसमें संतोंके लक्षण कहे हैं । यथा—'ये तु भव-दंघ्रिपल्लवसमाश्रित सदा भक्तिरत बिगत संसय मुरारी ।।१।।....सांत निरपेक्ष निर्मम निरामय अगुन शब्दब्रह्मैकपर ब्रह्मज्ञानी । दक्ष समदृक स्वदृक विगत अति स्वपरमति परमरति बिरति तव चक्रपानी ।। ४ ।। विश्व उपकार हित व्यग्रचित-सर्वदा त्यक्तमदमन्यु कृत पुन्यरासी ।'—ऐसे सन्त और भगवान्‌में भेद नहीं है । ऐसोंका हरिकृपासे लवमात्रका संग अवश्य परम सुखदाई होगा ।

☞वाल्मीकीयके उपर्युक्त श्लोकमें 'भगवत्संगिसङ्ग' शब्द आया है जिसका अर्थ है "जो भगवान् में निरन्तर रत रहते हैं, जिनका भगवानसे सदैव संग है (always in communion with God) जिन्हें 'बिनु हरि भजन काज नहिं दूजा'—उन भगवदनुरागी संतोंका संग" ।

श्रीहनुमान्‌जी वैसे ही सन्त हैं तभी तो उनके दर्शन और स्पर्शमात्रसे जरासी देरमें लङ्किनी क्यासे क्या हो गई ? तामसी वृत्ति छोड़कर वह सात्विक हो गई । यदि उसको परमसुख नहीं हुआ तो उसने कहा कैसे ? दर्शन और स्पर्शसे इतना सुख हुआ, समागम होता तब तो न जाने कैसा सुख होता !!

८—पंजाबीजी लिखते हैं कि—'स्वर्गादिके सुखसे सत्संग-सुख विशेष है इस बातको प्रत्यक्ष दिखानेके लिये ही 'तुला' का दृष्टान्त दिया गया है कि देख न लो स्वर्गादि सुखका पलड़ा ऊपर चला गया और सत्संग-सुखका नीचे पृथ्वीपर रह गया ।' भारी ही तो नीचे रहता है ।

प्रबिसि नगर कीजै सब काजा । हृदय राखि कोसलपुर राजा ।। १ ।।

अर्थ—कोशलपुरके राजा रामचन्द्रजीको हृदयमें रखकर नगरमें प्रवेश करके सब कार्य कीजिये ।१।

टिप्पणी—१ (क) 'प्रबिसि नगर' कहनेका भाव कि आपके इस अतिलघु रूपको मैं ही जान सकी, लङ्कामें कोई इसे न जान सकेगा, आप निर्भय होकर प्रवेश करें । (ख) 'सब काजा' अर्थात् सीता—दर्शन, अशोक वनका उजाड़ना, दुष्टदलन, इत्यादि । पुनः, ये उत्तम दूत हैं । स्वामीके अनुकूल बहुत काम करेंगे । संक्षेप से ब्रह्माने सब चरित इससे कह दिया था; इसीसे यह जानती है कि कई काम इनके द्वारा होंगे । अतएव यहाँ

केवल श्रीसीताजीकी सुध लेना न लिखा। (विशेष नोट २, ३ में देखिए)। 'हृदय राखि'—जिसमें कार्य सिद्ध हो। (ग) 'कोसलपुर राजा' के स्मरणका भाव कि इनके स्मरणसे कुशल होगी जैसे कोसलपुरीकी रक्षा करते हैं वैसे ही तुम्हारी करेंगे। अथवा, इनके स्मरणसे सब कामोंमें तुम्हारी शोभा होगी। राक्षसवध, लंका-दहन आदिमें तुमको कोई दोष न लगेगा; क्योंकि 'प्रभु समरथ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उन्हहिं सब छाजा। ३। १७। १४।' इसी प्रकार तुम्हें भी सब छजेगा। अथवा, लंकाका ऐश्वर्य देखकर इनको मोह न होगा क्योंकि कोशलपुरका ऐश्वर्य लंकासे बहुत अधिक है। (विशेष नोट ४, ५ देखिए)। (च) लंकामें प्रवेश करना बहुत कठिन है इसीसे बारम्बार स्मरण करते हैं, यथा—'लंकहिं चलेउ सुमिरि नरहरी', 'पैठा नगर सुमिरि भगवाना'। (सुं० ४, ५)।'

नोट—१ यह 'पायकुलक' है—(प्र० चं०)।

२—'सब काजा' इति। पांड़ेजीके मतानुसार वे सब कार्य ये हैं—(१) सुग्रीवकी प्रतिज्ञा श्रीजानकीजी को ला देनेकी। (२)-रामकार्य (सीताजीकी सुधि लाना, देखना, उनको धीरज देना, इत्यादि)। (३) वानरोंके श्रमको सफल करना। (४) श्रीजानकीजीका वियोग-विरह-दुःख दूर करना। (५) विभीषणजीका मनोरथ पूर्ण करना। और (६) लंकाको जलाकर त्रैलोक्यको सुखी करना।

३—अभिप्राय दीपककार 'सब काजा' के भावार्थपर यह दोहा देते हैं—'नगरी सगरी निसिचरी, है अधमरी पुकार। हरी प्राण लासी डरौं हौं बलि ताही जार।' अर्थात् लंकिनी कहती है कि राक्षसी रूपमें मैं यह सारी लंका नगरी ही हूँ, सारी लंका मेरी देह है, आपके घूँसेसे मैं अर्थात् सारी लङ्का-पुरी अधमरी हो गई, अब थोड़ी देरमें मैं मर जाऊँगी पर मैं डरती हूँ कि मेरी देह कोई जलायगा नहीं; अतएव मैं आपकी बलैयाँ लेती हूँ आप मेरे मरनेपर इसे जला दीजियेगा।—इसीसे हनुमान्‌जीने लङ्कापुरीको उलट-पलटकर जलाया जैसे लाशको जलाया जाता है। यह भाव 'सब काजा' में गुप्तरूपसे है।

नोट—४ 'हृदय राखि कोसलपुर राजा' का एक भाव यह है कि—श्रीहनुमान्‌जी लङ्कामें घर-घर श्रीसीताजीको खोजेंगे। लङ्कामें त्रैलोक्यसुन्दरियाँ देख पड़ेंगी, यथा—'देव जच्छ गंधर्व नर किन्नर नाग-कुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल बहु सुन्दर बर नारि॥' (बा० १८२)। उनको देखकर इनका चित्त विगड़ न जाय, इसीके लिये लंकिनीने उन्हें यह मूलमंत्र बताया। (पाँ०)

प० प० प्र० स्वामी लिखते हैं कि "रावण लंकाका राजा है, उसकी शक्ति अगाध है पर उसके पास 'कोसलपुर राजाका स्मरण' यह शक्ति नहीं है, तुम स्मरण करो तो तुम उससे अधिक बलवान हो जाओगे। उसे देवताओंसे डर नहीं है, मानवसे उसकी मृत्यु है, अतः तुम उनका स्मरण करते रहना।"

वि० त्रि० जी लिखते हैं कि "यदि 'लंका चलेउ सुमिरि नरहरी' अर्थ न करके श्रीरामचन्द्र अर्थ किया जायगा, तो लंकाकी अधिष्ठात्री देवताके 'हृदय राखि कोसलपुर राजा' ऐसे उपदेशके लिये अवसर न रह जायगा। यहाँ भाव यह है कि संकट आ पड़नेपर भी इष्टदेवके ध्यानमें परिवर्तन करना अच्छा नहीं। हनुमान्‌जी रामजीको हृदयमें धारण करके चले, पर लंकामें प्रवेशके समय नृसिंहजीका स्मरण किया तो छिपना चाहते हुए भी पहिचाने गये। देवी उपदेश देती है कि 'हृदयमें कोसलपुरके राजाको धारण करो, सब कार्य्य सिद्ध होगा, यथा—'बनै सो रघुबर ते बनैं वा बिगरै भरपूर। तुलसी बनै जो और ते ता बनिबे महँ धूर।' अतः पुनः भगवान् रामजीका स्मरण करना कहेंगे।"

लमगोड़ाजी—दैवी सम्पत्तिके संगठनका केन्द्र 'कोसलपुर' (जहाँ कुशल मति और सुमति ही हो) ठीक ही है; और हम देखेंगे कि लंकामें कुमति ही अधिक है। परिणाम 'जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥' होना ही है।

गरल सुधा रिपु करै मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥ २॥

गरुड़[1] सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा[2] जाही॥ ३॥

अर्थ—हे गरुड़! जिस पर श्रीरामचन्द्रजीने कृपा करके दृष्टि की, उसे विष अमृत हो जाता है, शत्रु उससे मित्रता करता है, समुद्र उसे गऊके खुरके समान हो जाता है, अग्नि शीतल हो जाती है और सुमेरु पर्वत रेणु (बालूका कण वा धूलि) के समान (हलका) हो जाता है। २, ३।

नोट—१ अर्धाली २ का सम्बन्ध अर्धाली ३ से है। इसलिए दोनोंका अन्वय साथ करके अर्थ किया गया है। २ 'गरुड़ सुमेरु…' नयमालिनी छन्द है और 'रामकृपा०' से 'देखे जहँ तहँ अगनित जोधा॥ (५)॥' तक पायकुलक है।—(ब्र० चं०)।

टिप्पणी—१ (क) 'राम कृपा करि चितवा जाही।' इति। श्रीरामकृपाका चिह्न यह है कि कृपापात्र पर कोई विघ्न नहीं व्याप्ते; यथा—'सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही। १।३९।' (ख) यहाँ विरोधी पदार्थों और गुणोंका अनुकूल होना कहकर रामकृपाकी परमोत्कृष्ट महिमा दिखाई है कि वह असम्भवको भी सम्भव कर देती है। (ग) 'चितवा जाही' का भाव कि कोई नियम नहीं है कि किसपर कृपादृष्टि करते हैं। जिस किसीपर भी कृपा दृष्टि करते हैं वही ऐसा हो जाता है। (इस कथनसे यह भी जनाती है कि विघ्न न व्यापनेपर कभी अभिमान न आने देना)।

☞ यहाँ श्रीरामकृपासे अर्थात् श्रीरामजीके अनुकूल होनेसे अहितका भी हितकारी हो जाना कहा है और अरण्यकांड जयन्त-परीक्षा-प्रसंगमें इसका विपर्यय कहा है। वहाँ कहा है कि श्रीरामजीके प्रतिकूल होनेसे हितकारी भी अहितकारी हो जाते हैं; यथा—'मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होई बिष सुनु हरिजाना। मित्र करइ सत रिपु कै करनी। ता कहँ बिबुध नदी बैतरनी। सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता। ३। २।' दोनोंका मिलान—

गरल सुधा	१	सुधा होइ बिष
रिपु करै मिताई	२	मित्र करै सत रिपुकै करनी
गोपद सिंधु	३	ताकहँ बिबुधनदी बैतरनी
अनल सितलाई	४	सब जग ताहि अनलहु तें ताता
राम कृपा करि चितवा जाही	५	जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता
गरुड़	६	हरिजान

(घ) जहाँ नीतिका वर्णन किया जाता है वहाँ भुशुण्डिजीकी उक्ति अवश्य है। ये नीतिके मुख्य वक्ता हैं, इसका हेतु गुरु-उपदेश है। यथा—'एक बार गुर लीन्ह बोलाई। मोहि नीति बहु भाँति सिखाई'। (उ० १०६)। गुरुजीने बहुत नीति इन्हें सिखाई है।

२ यहाँ श्रीरामकृपासे जिन पाँच बातोंका होना कहा है, वे सब श्रीहनुमान्‌जीमें चरितार्थ हुई। (१) सुरसा सर्पोंकी माता है; अतएव गरल है, वह ग्रास करने आई थी—'आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा', सो अमृत हुई। उसका आशीर्वाद कि 'रामकाज सब करिहहु तुम्ह बल बुद्धिनिधान' सुधा है। (२) लंकिनीने प्रथम शत्रुताकी बात कही कि 'जानेहि नहीं मरम सठ मोरा…'; वही अब मित्रताकी बात कहती है कि 'प्रविसि नगर कीजै सब काजा'। (३) सिंधु गोपद-सा हो गया, यथा—'बारिधि पार गयउ मतिधीरा।' (४) 'अनल सितलाई' और 'सुमेरु रेनु' ये दोनों भविष्य हैं। 'जरा न सो तेहि कारन गिरिजा' यह अग्निका शीतल होना है। और, (५) 'देखा सैल न औषध चीन्हा। सहसा कपि उपारि गिरि लीन्हा'; अथवा 'जेहि

---

१ गरुड़—१७२१, १७६२, १७०४, छ०, बंदनपाठक। गरुअ—कोदवराम। 'गरुड़' पाठ संबोधन है और 'गरुअ' पाठ 'सुमेरु' का विशेषण है। 'गरुड़' पाठपर टिप्पणी १ (घ) और 'पाठान्तर' देखिये।

२ चितवहिं—कोदवराम। चितवा—का०, छ०, भा० दा०, १७६२।

गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता।' यह सुमेरुका रेणु होना है।

नोट—१ यहाँ भूत, भविष्य और वर्तमान तीनोंमें श्रीरामकृपावलोकनसे इन बातोंका होना कहा है। एक-एक दो-दो उदाहरण यहाँ दिये हैं। 'गोपद सिंधु' और 'गरल-सुधा' से भूतकाल कहा; समुद्र गोपद समान पार कर चुके और सुरसा पूर्व आशीर्वाद दे चुकी है। 'रिपु करै मिताई' से वर्तमान कहा; रिपु लंकिनी मित्र बनकर यह आशीर्वाद दे रही है, नगर-प्रवेशमें सहायक हो रही है। 'अनल सितलाई' और 'सुमेरु रेनु सम' भविष्यमें होंगे। यथा—'ताकर दूत अनल जेहिं सिरिजा। जरा न सो तेहि कारन गिरिजा।' वाल्मीकीयमें स्वयं श्रीहनुमान्‌जीका इस विषयमें अनुभव कहा है। यथा—'सीतायाश्चा नृशंस्येन तेजसा राघवस्य च। पितुश्च मम सख्येन न मां दहति पावकः। ५। ५३। ३८।' अर्थात् सीताजीकी दया, श्रीरामचन्द्रजीके तेजसे और मेरे पितासे मैत्री होनेके कारण आग मुझे नहीं जला रही है। श्रीसीताजीकी आज्ञासे अग्नि शीतल हो गई यह भी उसी अध्यायमें कहा है। यथ—'यद्यस्ति परिशुश्रूषा यद्यस्ति चरितं तपः।२८। यदि वास्त्येकपत्नीत्वं शीतो भव हनूमतः।' वाल्मी० (५। ५३। २९)। अर्थात् यदि मैंने पतिकी सेवा की है, यदि मैंने तपस्या की है, यदि मैं एक श्रीरामजीकी पत्नी हूँ, तो, अग्नि! तुम हनुमान्‌जीके लिये शीतल हो जाओ। 'सुमेरु रेणु सम' के उदाहरण पर्वतके चूर्ण होने, उखाड़ लेनेके, ऊपर आगए। रावण सुमेरुवत् था या यों कहें कि रावणकी लंकाका जलाना, रावणका मान मर्दन करना सुमेरु था वह इनके लिये धूल समान सहल हो गया।—(पाँ०)।

प. प. प्र.—'गरल सुधा'—विषका शमन तो मणि, मंत्र और औषधि इत्यादिसे हो सकता है पर ब्रह्मबाणसे कोई बचता नहीं। हनुमान्‌जी ब्रह्मबाणसे बच गए, इतना ही नहीं किन्तु इसीके बहानेसे उन्हें लंका-दहनका अवसर मिल गया और उनका नाम अमृत (अमर) हो गया। 'रिपु करइ मिताई'—रावणका भाई बिभीषण मित्र बन गया। 'गोपद सिंधु'—रावण-बाहुबल सागर है, यथा—'मम भुज बल सागर जल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा।' यह भुज-बल-सागर गोपद सम हो गया। अशोकवनके १८ हज़ार रक्षक, ८० हज़ार सचिवसुत, अक्षयकुमार और उसकी सेना, तथा मेघनादादि बलरूपी सागर हनुमान्‌जीको गोपद समान हो गया। 'सुमेरु रेनु सम'—'सहित प्रान कज्जल गिरि जैसा' रावण हनुमान्‌जी और अंगदजीको रेणु समान लगा।

शंका—हनुमान्‌जीको पहले सुरसा मिली और फिर समुद्र पार होनेपर लंकिनी मिली, पर यहाँ पहले लंकिनीका मिलना कहकर तब 'गोपद सिंधु' कहा। इस क्रमभंगमें क्या हेतु है? समाधान—यहाँ सुरसा और लंकिनी दोनोंकी समानता दिखानेके लिए क्रमभंग किया गया। दोनोंकी समानता इस प्रकार है—(१) 'सुरसा नाम अहिन्ह कै माता' और 'नाम लंकिनी एक निसिचरी'। दोनोंके नाम कहे गये—यह नामकी समता हुई। (२) 'आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा' और 'मोर अहार जहाँ लगि चोरा।' दोनोंने आहार करनेको कहा—यह आहारकी समता हुई। (३) 'मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा' और 'चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा'। इन दोनोंमें देव-आज्ञाकी समता है। (४) 'रामकाज सब करिहहु तुम्ह बल बुद्धिनिधान' और 'प्रबिसि नगर कीजै सब काजा'।—दोनोंने रामकार्य करनेको कहा; यह आशीर्वादकी समता है। और (५) 'आसिष देइ गई सो हरषि०' और 'तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता'। अन्तमें दोनों प्रसन्न हुईं, यह प्रसन्नताकी समता हुई। यहाँ तक समानता देखी। इससे इन दोनोंको साथ कहा। पुनः, (६) यहाँ तीन तत्त्व कहे गए—जलतत्त्व, अग्नितत्त्व और पृथ्वीतत्त्व। सजातीय तत्त्वों को एकसाथ कहा। 'गोपद सिंधु' यह जलतत्त्व है, 'सुमेरु' अग्नितत्त्व है, 'रेणु' पृथ्वीतत्त्व। तत्त्वके सम्बन्धसे सिन्धुको सुमेरु और रेणुके साथ रखा।

पाठान्तर—१७२१ वाली प्रतिमें एवं काशीकी प्रतिमें और १७६२ वाली प्रतिमें 'गरुड़' पाठ है। पं० रा० गु० द्विवेदीकी प्रतिलिपि जो वंदनपाठकजीकी है उसमें 'गरुउ' ऐसा लिखा है; संभव है कि 'उ' न हो 'ड' ही हो क्योंकि इन दोनों की लिखावट एकसी होती है। ना० प्र० का पाठ 'गरुअ' है। कई टीकाओंमें

'गरुअ' पाठ है। यहाँ 'गरुड़' सम्बोधन प्रथम देकर फिर गुरुतासूचक 'सुमेरु' पद दिया गया। केवल 'गरुअ' से भुशुंडि-गरुड़-संवाद नहीं जान पड़ता परन्तु केवल 'गरुड़' से सुमेरुकी गुरुता भी आ जाती है और संबोधन भी।

वन्दन पाठकजीने उदाहरणमें ये श्लोक दिए हैं— 'अरिमित्रं विषंपथ्यं अधर्मोधर्मतां व्रजेत्। प्रसन्ने पुण्डरीकाक्षे विपरीते विपर्य्ययः॥' इति पाद्मे॥ १॥ 'वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्। मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरंगायते॥२॥ व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूष वर्षायते। यस्याङ्गेऽखिललोक वल्लभतमं शीलं समुन्मीलति। ३।' इति नीतिशतके।

नोट—२ ☞ सँभलनेपर लंकिनीने विनीत होकर हनुमान्‌जीसे क्षमा माँगी और जो कुछ कहा वह स्वर्णाक्षरमें लिखने योग्य है; प्रत्येक कर्मयोगीका मूलमंत्र है, सुखसारकी प्राप्तिका साधन है।

३—'गरलका सुधा होना, रिपुका मित्रता करना' इत्यादि विरोधी पदार्थों और गुणोंके वर्णनमें 'विरोधाभास अलंकार' है। मा० त० सु० कारका मत है कि इन दोनों अर्धालियोंमें 'अयुक्त अलंकार' है; यथा—'असुभै सुभ है जात जहँ, क्योंहूँ केसवदास। इहै अयुक्तै युक्त कवि बरनत बुद्धि बिलास॥' (कविप्रिया)।

४—कोई-कोई यह शंका करते हैं कि 'लंकिनीने तो बहुत कुछ वार्तालाप की पर श्रीहनुमान्‌जी कुछ भी न बोले?' मेरी समझमें लंकिनीने जो कुछ कहा वह तो सारी विनय है, जो यथा—'जोरि पानि कर बिनय ससंका।' जो इस डरसे उसने की कि कहीं प्राण न ले लें। वह राक्षसी थी, उसके उत्तरकी जरूरत न थी, वे तो रामकार्यमें तत्पर हैं, विघ्न दूर हुआ, मार्ग मिल ही गया, इतना ही काम था वह बन ही गया, अब समय क्यों खोते? दूसरे उसने जो कहा वह अब अनुकूल ही कहा, उसकी बातें ब्रह्माका वरदान इत्यादि सत्य मान लीं और चल दिये। उत्तर देनेकी कोई बात ही न थी।

अति लघु रूप धरेउ हनुमाना। पैठा नगर सुमिरि भगवाना॥ ४॥
मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा। देखे जहँ तहँ अगनित जोधा॥ ५॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीने अत्यन्त छोटा रूप धारण किया और भगवान्‌का स्मरण करके नगरमें प्रवेश किया। ४। एक-एक करके प्रत्येक मंदिरमें अच्छी तरह (बारंबार) ढूँढ़ा। जहाँ तहाँ (या, जहाँ देखें तहाँ ही) अगणित योद्धा देखे। ५।

नोट—१ 'अति लघु रूप०' इति। 'अति लघु रूप' कहकर जनाया कि कल्पनामात्र देह थी, कितना छोटा रूप था कहा नहीं जा सकता। यथा—'भूत्वा द्विदंशः। अकलित परिमाणो मात्रया सत्रपस्तां क्षिपति....हनु० ६। १३।' अर्थात् कल्पना करनेवाले देहकी मात्रासे लज्जित हुए।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ 'मुठिका एक महाकपि हनी' के 'महाकपि' का अर्थ स्पष्ट कर दिया। अर्थात् लंकिनीके मारनेके लिए विशाल रूप धारण कर लिया था, अब फिर 'अति लघुरूप' धर लिया। अर्थात् मशक समान छोटे हो गए। (ख) 'मुठिका एक महाकपि हनी' पर प्रसंग छोड़ा था। बीचमें लंकिनीकी दशा, उसकी वार्ता और रामकृपाका माहात्म्य कहा। अब पुनः वहींसे प्रसंग उठाते हैं। प्रथम 'अतिलघुरूप' धरकर लंकाको चले तब नृसिंहजीका स्मरण किया, यथा—'लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी', अब नगरमें प्रवेश करनेके समय भगवान्‌को स्मरण करना कहा। नगरके बाहर बहुतसे रक्षक थे, उनसे बचनेके लिए नृसिंहजीका स्मरण किया; क्योंकि नृसिंहजीका अवतार केवल भक्तकी रक्षाके लिये हुआ। भगवान् (=षडैश्वर्ययुक्त) का अब स्मरण किया कि लंकाका ऐश्वर्य देखकर मन मोहित न होने पावे। अथवा, लंकामें प्रवेश कठिन है; अतएव पुनः पुनः स्मरण करते हैं। ['भगवान्' शब्दकी व्याख्या बालकांड १३ (४) में विस्तारपूर्वक लिखी गई है, पाठक वहाँ देखें। प० प० प्र० स्वामीजी कहते हैं कि रावण त्रैलोक्य-विजयी राजा है, उसके मुकाबलेमें न जाने किस समय किस गुणकी आवश्यकता पड़े; अतः उन्होंने समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्यसे युक्त तथा उत्पत्तिं, प्रलय, भूतोंकी गति और अगति, एवं विद्या और अविद्याके जाननेवाले 'भगवान'

का स्मरण किया जिसमें वे जिस समय जिस गुणकी आवश्यकता हो उसकी शक्ति दे दें]—'देखे जहँ तहँ अगनित जोधा' इति। हनुमान्‌जीने अगणित योद्धा देखे पर इनको किसीने न देखा। तात्पर्य कि ये अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे जा रहे हैं और वे विशाल रूपसे खड़े हैं। वा, रातका समय है इससे न देख पाया। पुनः, यह भी भाव है कि अगणित योद्धा देख पड़े, पर सीताजी कहीं न देख पड़ीं।

नोट—१ हनुमान्‌जी स्वयं महावीर योद्धा हैं; अतएव उनकी दृष्टि योद्धाओंपर अवश्य पड़ती थी। इसमें यह भी ध्वनि है कि अपना प्रतिभट कहीं न देखा।

शंका—संपातीने तो वताया था कि वे अशोक-वाटिकामें हैं तव ये मन्दिर-मन्दिर क्यों ढूँढ़ते फिरे?

उत्तर—उन्होंने सोचा कि दिनमें वाटिकामें रहीं, रातमें रावणके स्थानमें होंगी। आगे यह वात स्पष्ट है, यथा—'सयन किये देखा कपि तेही। मंदिर महुँ न दीख वैदेही'। रावणके महलमें उनका होना संभव था। इसीसे कहा कि मन्दिरमें वैदेहीको न देखा। अथवा, चोर चोरीकी वस्तु अन्यत्र ही रखता है इससे नगर भरके घर-घर ढूँढ़ डाले। (पं० रा० कु०)। पुरके वाहरके योद्धाओंका वर्णन पूर्व हुआ, अव दिखाते हैं कि पुरके भीतर घर-घरमें अनेक रक्षक हैं।

[यह भी हो सकता है कि उनको मालूम नहीं है कि अशोकवाटिका कहाँ है; अतः वे घर-घर ढूँढ़ रहे हैं। वा, श्रीरामजीकी आज्ञा थी कि जानकीजीको देखना, उनको कुशल सुनाना, दुर्ग देखना और शत्रुकी गति देख आना। यथा—'दई हौं संकेत कहि कुसलात सियहि सुनाउ। देखि दुर्ग विसेषि जानकि जानि रिपु गति आउ।'—(मुद्रिका वचन गी० सुं० ४); इसीके अनुसार उन्होंने घर-घर देखा, कोई स्थान न छोड़ा।]

वे० भू०—वास्तु शास्त्रोंमें उपवनके कई भेद वतलाये गये हैं उनमें ग्रामोपवन और गृहोपवन दो प्रधान हैं। ग्रामकी परिधि (परकोटे) से मिला हुआ ग्रामके वाहर जो सार्वजनिक या राजकीय उपवन हो वह ग्रामोपवन है और जो घरके ही एक भागमें स्थित हो, वैयक्तिक हो, उसे गृहोपवन कहा जाता है। प्राचीन-कालमें सार्वजनिक उपवनोंमें देवमन्दिर, तालाव, वावड़ी, वैठक दालान, अनेक प्रकारके दर्शनीय वृक्ष खण्ड, रचित गिरि शृंग, अनेक पुष्प, लतामण्डप, कुंज आदि होते थे। उन सार्वजनिक उपवनोंका भ्रष्ट रूप आजका पार्क है। गृहोपवनमें लतामण्डप, पुष्पोद्यान, लघु वापिका, दर्शनीय वृक्षादि होते थे। गृहोपवनका ही भ्रष्ट रूप आजका कम्पाउण्ड (हाता) है। दोनों तरहके उपवनोंमें चारों तरफ कुछ विशिष्ट वृक्ष हुआ करते थे जिनके नामसे उन उपवनोंकी ख्याति हुआ करती थी। जैसे जिनके चारों ओर आम्रवृक्ष होते थे वे आम्रोपवन, जिनके चारों ओर चम्पाके वृक्ष वे चम्पकवन, ऐसेही जम्बूवन, चन्दनवन, अशोकवन, तमालवन, पनसवन आदि कहे जाते थे। उपवनोंमें प्रायः लोग अवकाशके समय दिवा मनोरंजन करते थे, विशेषावसरों पर रातको भी उपवनोंमें रह जाते थे।

उस दिन संपातीने वानरोंसे केवल अशोक उपवनमें सीताजीका उस समय वैठना वतलाया था कि इस समय अशोक उपवनमें वैठी शोक कर रही हैं। पर यह नहीं वतलाया था कि वह अशोक उपवन ग्रामोपवन है या गृहोपवन; और वह लंकामें किस स्थान पर किस घरके पास अथवा लंकानगर (वस्ती) के किस दिशामें कितनी दूरपर है। लंकामें तो अनेकों उपवनोंका होना संभव है। वह अशोक उपवन कहाँ है यह श्रीहनुमान्‌जीको ढूँढ़ना पड़ा। सम्पातीने दिनके समय वताया था, सम्भवतः वह अपराह्नकाल था। सम्पातीके जानेके किञ्चित् देर वाद ही हनुमान्‌जीको समुद्रोल्लंघन करना पड़ा था। उस पार पहुँचनेमें ही सूर्यास्तकी वेला आ गई। रात्रिका समय उपवनमें निवास का है नहीं, अतः वन्दिनी सीताजीको रावणने किस घरमें रातको वन्द कर रखा है यह जाननेके लिये घर-घर ढूँढ़ना आवश्यक था, न तो श्रीहनुमान्‌जी सम्पातीका वचन भूले थे और न उन्होंने सम्पातीके वचनपर अविश्वास ही किया था। यदि विभीषणजीसे भेंट न हुई होती तो भी जिस युक्तिसे घर-घर खोजकी थी उसी युक्तिसे अशोक उपवन भी ढूँढ़ ही लेते जैसा कि वाल्मीकीय रामायणमें वर्णित है।

प० प० प्र०—श्रीहनुमान्‌जी 'बलबुद्धि निधान' हैं। वे जानते हैं कि गृध्रकी दृष्टि दिनमें ही काय-क्षम होती है, वह रात्रिमें देख नहीं सकता, अतः उसने दिनका पता बताया, रातके निवासका नहीं।

गयउ दसानन मंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं॥ ६॥
सयन किये देखा कपि तेही। मंदिर महुँ न दीखि बैदेही॥ ७॥

अर्थ—वे रावणके मन्दिरमें गए। वह (ऐसा) अत्यन्त विलक्षण (सुन्दर) था (कि) कहा नहीं जा सकता। ६। कपि श्रीहनुमान्‌जीने उसे सोते हुए देखा, पर महलमें विदेहकुमारीजीको न देखा। ७।

टिप्पणी—१ (क) 'दशानन मन्दिर' कहनेका भाव कि और जितने घर नगरमें देखे, उनको नहीं जानते कि किस किसके थे पर इस महलको देखते ही जान गए कि यह रावणका है; इसीसे उसका नाम दिया गया। इसके पश्चात् फिर और भी सुन्दर मन्दिर देखा पर उसे भी न जाना कि किसका है इसीसे वहाँ फिर नाम नहीं दिया, यही कहा कि "भवन एक पुनि दीख 'सुहावा"। (ख) 'अति बिचित्र' का भाव कि पुर और उसके सब घर विचित्र हैं पर यह 'अति विचित्र' है, यथा—'कनककोट बिचित्र मनिकृत सुंदरायतना घना'। वाल्मीकिजीने विचित्रता विस्तारसे वर्णन की है वह गोस्वामीजीने 'अति विचित्र' पदसे ही जना दिया है। वाल्मी० सुं० अ० ४ श्लोक २५-३० देखिये।

नोट—१ 'अति विचित्र कहि जात सो नाहीं' इति। (क) रावणका विलास सैकड़ों इन्द्रोंके भोग विलासके समान कहा गया है, यथा—'सत सुरेस सम बिभव बिलासा', 'सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास'। लंकापुरीमें मणिजटित स्वर्णके प्रायः सभी भवन थे और सभीका वैभव भोगवती और अमरावतीके समान था, यथा—'कनक रचित मनिभवन अपारा। भोगावति जसि अहिकुल बासा। अमरावति जसि सक्रनिवासा'। (बा० १७८)। तब स्वयं रावणके महलका क्या कहना? सभी भवन विचित्र थे और यह राजभवन होनेसे अति विचित्र था। पुनः, (ख) 'दसानन मन्दिर' कहकर जनाया कि और सब घर तो एक-एक मुखवालोंके थे और यही तो दशमुखवालेका निवासस्थान है, तब यह 'अति विचित्र' और 'अकथनीय' क्यों न हो? जैसे दशानन 'अति विचित्र' वैसेही उसका महल 'अति बिचित्र'।

मा० त० सु० कार लिखते हैं कि—'कहि जात सो नाहीं' का भाव यह है कि 'यह भगवद्विमुखोंके शिरताजका घर है, इसीसे वर्णन नहीं किया गया।'; पर यह भाव यहाँ प्रसंगानुकूल नहीं है।

२—'गयउ दसानन मन्दिर माहीं' तामरस है, 'अति बिचित्र' द्रुतपा है और 'सयन किये··· बैदेही' पायकुलक है। (त्रं० चं०)।

टिप्पणी—२ (क) 'सयन किये देखा'—इससे जनाया कि अर्द्धरात्रि बीत गई है। क्योंकि अर्द्ध-रात्रितक सभा, राजकार्य और भोजन आदिसे छुट्टी पाकर सोते हैं। (ख) मन्दिर-मन्दिरमें अगणित रक्षकों का देखना कहा, पर यहाँ रक्षकका होना न कहा। कारण कि नीति है कि जहाँ राजा सोवे वहाँ कोई न रहे। इसीसे अकेला देखा। यहाँ श्रीसीताजीका होना संभव था, इसीसे न देख पड़नेपर 'वैदेही' नाम दिया अर्थात् रावणके भयसे या श्रीरामवियोगमें देहरहित न हो गई हों।

नोट—३ 'न दीखि बैदेही' कहकर यह भी सूचित किया कि मन्दोदरी, सुर-नाग-नर-कन्यायें, इत्यादि सब वहाँ सोती देख पड़ीं, केवल श्रीजानकीजीको वहाँ नहीं देखा।

'मंदिर महँ न दीखि बैदेही' इति। इन शब्दोंसे यह अनुमान होता है कि वे वैदेहीजीको पहचानते थे। इसका प्रमाण किष्किंधाकांडके सुग्रीवजीके वाक्यमें मिलता है। उन्होंने कहा है कि 'मंत्रिन्ह सहित इहाँ एक बारा। बैठ रहेउँ मैं करत बिचारा॥ गगनपंथ देखी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता॥ राम राम हा राम पुकारी। हमहिं देखि दीन्हेउ पट डारी। ४। ५।' और श्रीहनुमान्‌जी भी उन मंत्रियोंमेंसे एक हैं।

यदि ये मानें कि इतनी दूरसे देखे हुए पहचान लेना कठिन है तो दूसरा उत्तर यह है कि श्रीहनुमान्

९

जी बुद्धिनिधान हैं वे अपनी बुद्धिसे जान सकते थे कि इनमें सीताजी हैं या नहीं। इसकी पुष्टि वाल्मी० रा० से होती है। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि उन्होंने वहाँकी स्त्रियोंको देखा—परन्तु श्रेष्ठकुलमें जन्म लेनेवाली, धार्मिक राजकुलमें पाली पोसी, संकल्पमात्रसे उत्पन्न कोमलाङ्गी, सनातन मार्गमें स्थित, श्रीरामजीके प्रति अनुराग रखने तथा उनका ध्यान करनेवाली, पतिके श्रेष्ठ मनमें सदा निवास करनेवाली, विरहतापसे पीड़ित सदा आँसू गिरानेवाली, मेघादिसे ढकी हुई चन्द्रकलाके समान, धूलमें लिपटी हुई 'सुवर्ण रेखाके समान श्री-सीताजीको न देखकर वे दुःखी हुए' (सर्ग ५ श्लोक २३-२७)—ये ही श्रीजानकीजीकी पहचानके चिह्न हैं। आगे सर्ग १० में लिखा है कि मंदोदरीको देखकर एक बार उसीको 'सीता' समझ लिया। परंतु किंचित्‌हीमें उनका विचार पलट गया। वे सोचने लगे कि 'न रामेण वियुक्ता सा स्वप्तुमर्हति भामिनी। न भोक्तुं नाप्यलंकर्तुं न पानमुपसेवितुम्। ११। २। नान्यं नरमुपस्थातुं सुराणामपि चेश्वरम्। नहि रामसमः कश्चिद्विद्यते त्रिदशेष्वपि। ३।' अर्थात् श्रीरामसे अलग होकर वह सो नहीं सकती, भोग नहीं कर सकती, अलंकार धारण नहीं कर सकती, मद्यपान नहीं कर सकती, वह परपुरुषके साथ जा नहीं सकती, चाहे वह देवेश्वर इन्द्र ही क्यों न हो, क्योंकि श्रीरामके समान देवलोकमें भी कोई नहीं है।—इस तरह बुद्धिसे विचारकर जान लिया कि इनमेंसे कोई सीता नहीं है। संपातीने भी यह पहचान बतलाई थी कि 'सीता बैठि सोचरत अहई' इस लक्षणसे पहचान लिया कि सीताजी यहाँ नहीं हैं। अतः कहा—'न दीखि बैदेही'।

'बैदेही' शब्द देकर कविने वाल्मी० सर्ग १२ के 'सा राक्षसानां प्रवरेण जानकी स्वशीलसंरक्षणतत्परा सती। अनेन नूनं प्रतिदुष्टकर्मणा हता भवेदार्यपथे वरे स्थिता। ३।' तथा सर्ग १३ के 'किं तु सीताथ वैदेही मैथिली जनकात्मजा। उपतिष्ठेत विवशा रावणेन हृता बलात्। ६।' इत्यादि श्लोकोंका भाव भी सूचित कर दिया है। श्रीहनुमान्‌जी सोच रहे हैं कि 'अपने शीलकी रक्षामें तत्पर सती सीताको दुष्ट रावणने मार डाला हो, क्योंकि वह आर्योंके मार्गपर चलनेवाली थी।', वह तो सीता है, मिथिलापति विदेह जनकराजकी पुत्री है। वह रावणको स्वीकार नहीं कर सकती', रावण जब आकाशमें लिये जाता रहा होगा उसी समय कहीं वह समुद्रमें न गिर गई हो, अथवा रावणके बंधनमें पड़नेसे प्राण न त्याग दिया हो। अथवा इस राक्षस वा राक्षसियोंने उनको खा न लिया हो।—ये सब भाव 'बैदेही' शब्दमें आ जाते हैं।

श्रीहनुमद्विभीषणमिलन-प्रसंग

भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरि-मंदिर तहँ भिन्न बनावा॥ ८॥

दो०—रामायुध * अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका † बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ॥ ५॥

अर्थ—फिर एक (और) सुंदर घर देखा। उसमें (एक) हरिमन्दिर पृथक बना हुआ था। ‡।८। वह घर श्रीरामजीके आयुध (धनुष और बाण) से अंकित था (अर्थात् उसपर धनुप बाणके चिह्न बने हुए थे)। उसकी शोभा वर्णन नहीं की जा सकती। वहाँ नवीन (हरेभरे) तुलसीके वृक्षसमूह देखकर कपीश हनुमानजी आनन्दित हुए। ५।

टिप्पणी—१ 'भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरिमंदिर....' इति। (क) इससे ज्ञात होता है कि विभीषणजीका स्थान रावणके महलके समीप ही था। भाई हैं; इससे समीप ही इनको रहनेका घर दिया।

* 'रामायुध' पाठ ना० प्र०, छ०, का०, भा० दा०, अ० दीपक, आदिमें है। रामनाम—मा० म०।
† 'तुलसीके' पाठ कोदोरामजीकी छपी पुस्तकमें है।

‡ अथवा, 'इसकी बनावट राक्षसोंके अन्य मन्दिरोंसे भिन्न (दूसरे प्रकारकी) थी।'—(पाँ०)।

(ख) 'एक'=अद्वितीय, प्रधान। अर्थात् ऐसा सात्त्विकी स्थान लंकाभरमें नहीं है; यह एक ही है। (ग) 'हरिमंदिर....' इति। इससे ज्ञात हुआ कि त्रेतामें भी मूर्तिपूजन होता था, यथा—'तीर तीर देवन्हके 'मंदिर'। 'भिन्न बनावा' से जनाया कि मंदिर घरसे पृथक् होना चाहिए; पर गृहस्थीके घरसे न तो बहुत दूर हो और न बहुत ही मिला। क्योंकि दूर होनेसे राग-भोग-पूजा-सेवामें विक्षेप पड़ेगा और घरके भीतर ही होनेसे सूतक आदि दोषोंकी संभावना रहती है। (घ) अन्य घरोंकी शोभा केवल तामसी और राजसी थी, इससे उन्हें देखकर श्रीहनुमान्जी प्रसन्न न हुए। इस मन्दिरकी शोभा सात्त्विकी और राजसी है; इसकी सुंदरता 'हरिमन्दिर, श्रीरामायुध और तुलसीवृन्द' है; अतएव सात्विकी श्रीहनुमान्जीको इससे आनन्द मिला। इसीसे इसको 'सुहावा' कहा और औरोंको 'विचित्र' कहा था।

* हरिमंदिर तहँ भिन्न बनावा'....इति। *

शंका—रावणके भयसे शुभ आचरण कोई करने नहीं पाता था, यथा—'तेहि बहु विधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना'। तो वह विभीषणको क्यों नहीं मना करता था? समाधान—क्योंकि रावण जानता है कि इसने ब्रह्माजीसे हरिभक्ति माँगी है; अतएव यह भजन करता है, बिना उसके रह ही नहीं सकता। (पु.रा.कु)

गौड़जी—इसपर यह शंका की जाती है कि रावण हरिमन्दिर और विष्णु-भक्तिका विरोधी था फिर इसने लंकापुरीके भीतर ही हरिमन्दिर क्यों रहने दिया? इसका समाधान यह है कि विभीषण रावणका वात्सल्यभाजन था। रावण उसे बहुत प्यार करता था और उसके विरोधी मतोंको भी सहता था। अपने परिवारमें और नातेदारोंमें वह अनेक विरोधी पाता था तो भी पारिवारिक मामलोंमें महात्मा रावण बड़ा सहनशील था। मंदोदरीने अनेक बार विरोध किये, परन्तु उसकी सहज भीरुता समझकर वह कभी नाराज न हुआ। वह इस विषयमें बड़ा वीर और उदार था। उसने हनुमान्जीके और अंगदजीके तथा श्रीसीताजीके भी बहुत कड़े वचन सह लिये थे। कुंभकर्णने भी रावणका विरोध किया था जिसे रावणने चुपचाप सह लिया। रावणमें पारिवारिक सहनशीलताकी मात्रा बहुत बढ़ी हुई थी। यही बात थी कि वह विभीषणके मतभेदको, उपासनाको और अपने महलके पास हरिमन्दिर रखनेको सहता था और कुछ नहीं कहता था। विभीषण भी रावणके बराबर बलवान्, तेजस्वी और विद्वान् होते हुए भी बड़े भाईका बहुत आदर और मान करते थे और उसके दुराचरणोंको बराबर सहते थे। विभीषणका वैष्णव और रामोपासक होना रावण उसी तरह बरदाश्त करता था जैसे आजकल घोर आर्यसमाजी बड़ा भाई कट्टर छोटे भाईकी मूर्त्तिपूजाको अपने घरमें ही बरदाश्त करता है और बाहर सब जगह मूर्तिका खंडन करता फिरता है।

नोट—१ पं० रामकुमारजीकृत समाधान जो ऊपर लिखा गया है उसका भाव यह है कि रावण जानता है कि भगवन्तपदमें रतिका वरदान उसे मिला है और मुझे यह वरदान मिला है कि मनुष्य छोड़ और किसीसे मृत्यु न होगी। यदि विभीषणका वरदान मैं झूठा करनेका प्रयत्न करूँ तो वह झूठा हो नहीं सकता और अगर वह असत्य हो जाय तो मुझे भी जो बरदान मिला है कि नर छोड़ सबसे अजय और अमर रहूँगा यह भी वरदान फिर व्यर्थ हो जायगा। उसकी सत्यता फिर कैसे प्रमाणित हो सकती है? वह खूब समझता था कि यह भगवद्भजन छोड़ नहीं सकता चाहे जो कुछ मैं करूँ। अतएव वह रोकता न था। रावणने अंगदसे जो यह कहा कि मैं ब्रह्माके वचनको झूठ मानता हूँ वह उसके सच्चे हृदयकी बात न थी, केवल डींग थी। रावणका अन्तर और बाहर एक न था। मनमें तो वह महारानीकी चरणवंदना करता था और ऊपरसे दुर्वचन कहता था। मनमें भगवान्‌को स्मरण करता था। ऊपरसे वैरभाव रखता था। २—कुछ महानुभावोंने लिखा है कि वराह (?) पुराणमें कथा है कि लंकामें एक मूर्ति भगवान्‌की थी वह रावणने विभीषणको दी। जब वह देने लगा तब विभीषणजीने कहा कि मैं इस शर्तपर इसे ले सकता हूँ कि आप मुझे वचन दें कि मैं जैसा चाहूँगा वैसा पूजन आदि करूँगा, उसमें आप रोकटोक न करेंगे। रावणने यह बात स्वीकार कर ली।

इसीसे बिभीषणजीके पूजा पाठ हरि-स्मरण भजन और हरिमन्दिर एवं विभीषणके भवनपर रामायुध अंकित होनेपर कुछ रोकटोक न कर सकता था। पुनश्च यथा—'रावण जीत्यो इन्द्रहि जाई। लूटि भंडार लंक महँ आई॥ नाती सुतन वस्तु सब दीन्ह्यो। प्रभु-वराह-मूरति यक चीन्ह्यो॥ दियो विभीषण काहि बुलाई। कही विभीषन तब सिर नाई॥ जो मोहि देहु तो अस कहि दीजै। अपने मनकी सब करि लीजै॥ रावण कही करहु चित चाहा। तुम्है न होइ कछू दुखदाहा॥

तबहिं बिभीषण मुदित ह्वै नवमन्दिर बनवाय। रामायुध अंकित भवन दिय बराह पधराय।

धर्म अनेक करन सो लाग्यो। रह्यो न रावनके भय पाग्यो॥ समाधान ये युगल प्रधाना। विदित सरस्वति बायु पुराना॥—(भक्तमाल रीवाँनरेश श्रीरघुराज सिंह)।

वि० त्रि—'भवन एक·······बनावा' इति। प्रश्न उठता है कि सबके घर तो मन्दिर थे, यथा—'मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा', 'गएउ दसानन मंदिर माहीं', फिर विभीषणका घर मन्दिर क्यों नहीं, उसे भवन क्यों लिखा? उत्तर यह है कि 'भवनागार मन्दिरम्' आदि सोलह नाम घरके हैं। सब पर्य्यायवाची शब्द हैं, चाहे मन्दिर कहिये चाहे भवन कहिये, बात एक ही है। पद्यरचनामें जो शब्द उपयुक्त होता है, वही रक्खा जाता है, 'भवन भवन प्रति करि सोधा' अथवा 'गयउ दसानन भवन माहीं' लिखनेसे छन्दोभङ्ग होता इसलिये मन्दिर लिखा, और 'मंदिर एक पुनि दीख सोहावा' लिखनेसे भी छन्दोभङ्ग होता, कविको इन बातोंपर ध्यान रखना चाहिये।

दूसरी बात यह भी है कि 'ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं पूज्य बलवान् सुखी', यह आसुरी सम्पत् राक्षस लोग स्वयम् अपनेको पूज्य समर्थ समझते थे, अपने घरको मन्दिर मानते थे, अतः (कवि) उनके घरको मंदिर मानते थे। विभीषणजी दैवी सम्पत्‌के थे, 'मार्दवं ह्रीरचापलम्' आदि गुण उनमें थे, वे न अपनेको पूज्य समझते थे, न अपने घरको मन्दिर समझते थे, उन्होंने घरसे अलग 'हरि मन्दिर' बनवाया था, इसे मन्दिर मानते थे, मन्दिर और भवनमें भेद माननेपर भी सुचारु रूपसे अर्थ बैठ जाता है, दैवी सम्पत् आसुरी सम्पत्‌का भेद खुल जाता है।

वेदान्त भूषणजी—'लोक वेद मत मंजुल कूला। ....' हर बातमें लोकमत और वेदमतका विचार करना आवश्यक है। किसी-किसी वस्तु या बातमें लोक और वेद दोनोंमें प्रसंग मिलता है और कहीं लोक-मतमात्र और कहीं वेदमत मात्रकी रीति वर्ती जाती है। मन्दिरके सम्बन्धमें वेद और लोक दोनों पक्षकी बातें कही जा सकती हैं। वेदमतसे यह भाव है कि लंकाके राक्षसगण तामसी भावनासे श्रीशिवजी एवं (निकुम्भिला) देवीजी आदिका पूजन करते थे। यदि सात्विक भावनासे श्रीशिव दुर्गादिकी पूजादि की जाय तो वह परम्परया ज्ञान, भक्ति एवं मोक्ष प्रदायक होती है। शास्त्रानुसार अपने शयन कक्षसे देवस्थान अलग होना चाहिये और सत्व प्रधान लोगोंका होता ही है। परन्तु राक्षस लोग तमः प्रधान होनेके कारण अपने शयनकक्षमें ही देव स्थापन किये हुये थे और देव स्थापित स्थान मन्दिर कहा ही जाता है, इसीसे लंकाके राक्षसोंके, शयनकक्षको मन्दिर कहा—'मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा।···गयउ दसानन मंदिर माहीं।····सयन किये देखा कपि तेही॥' परन्तु महाभागवत श्रीविभीषणजी सत्व प्रधान थे—'विभीषणस्तु धर्मात्मानतु राक्षस चेष्टितः॥' (वा० रा०) इसीसे श्रीविभीषणजीके इष्टदेवका स्थापन शयनकक्षसे अलग था तभी भवन और मंदिर अलग अलग कहा गया—'भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा॥' यह तो हुआ वेदमतसे भाव, और लोक-मतसे यह भाव हुआ कि जहाँ दंपति पति-पत्नी दोनोंकी स्थिति रहती है उसे मन्दिर शब्दसे व्यवहृत किया जा सकता है और जहाँ पति या पत्नी एक ही हों उसे भवन आदि ही कहा जा सकता है, मन्दिर नहीं। इसीसे गोस्वामीजीने शायद बालकांडके पुष्पवाटिका प्रसंगमें एक बार भी गिरिजा मन्दिर नहीं कहा। बार बार प्रसंग आने पर गिरिजा गृह, भवानी भवन आदि ही कहा क्योंकि वहाँ शिवजीका स्थापित रहना नहीं कहा है, अकेले भवानीका ही स्थापित होना कहा गया है। लंकाके सभी राक्षस वीर अपने घरोंमें (उस हनुमद् भ्रमणके समय) थे और श्रीविभीषणजी उस समय घरमें अकेले थे उनकी पत्नी सरमा अशोकबाटिकामें श्रीजानकीजीकी सेवामें

लगी रहती थीं, इससे सब राक्षस वीरोंके घरको मन्दिर और श्रीविभीषणजीके घरको भवन कहा।

प० प० प्र०—राक्षसोंके निवास स्थानोंको मंदिर कहकर कविचूड़ामणिने श्रीहनुमान्‌जीके विषयमें अपनी उपास्य भावना और श्रीहनुमान्‌जीकी उपस्थितिमात्र तथा दृष्टिपातसे क्या लाभ होता है यह भी दिखाया है। जहाँ शिव, हनुमान् वा रामजीकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उपस्थिति होती है वहाँ मानसमें 'मंदिर' शब्द प्रयुक्त है। जब पाषाणादिकी मूर्तिकी स्थापनासे स्थान मंदिर (पूजा स्थान) बन जाता है तब 'जिस सदनमें वे साक्षात् खड़े हैं, जहाँ उनका चरणरज पड़ा है। उसको मंदिर कहना अनुचित है, ऐसा कौन कहेगा? श्रीहनुमान्‌जीके प्रवेशसे उनके दृष्टिपातसे और उनके अंगस्पृष्ट पवनके स्पर्शसे सब लंकावासी पावन और मोक्षके अधिकारी हो गए। सब मोक्षको प्राप्त होंगे। अतः सबके भवनोंको 'मंदिर' कहा। यह शब्द ३५ पैंतीस बार ग्रंथमें आया है।

विभीषणजीके भवनको मंदिर न कहा, क्योंकि श्रीहनुमान्‌जी इसके भीतर नहीं गए। जब उपास्य मूर्ति अन्दर नहीं है तब उस भवनको मंदिर कौन कहेगा? जब प्रवेश किया तब विप्ररूपसे, हनुमान्‌रूपमें नहीं! अतः उसे मंदिर कहनेका अवसर ही नहीं मिला।

* "रामायुध अंकित गृह" इति। *

श्रुतियोंमें सुना जाता है कि—धनुषबाणसे अंकित होनेवाला मनुष्य ही उत्तम संस्कारयुक्त होकर संपूर्ण वेदोंका अधिकारी बनता है। वही धर्ममार्गपर चलनेकी शक्ति प्राप्त करके संसाररूप महासमुद्रको जीत लेता है। वह अपने काम-क्रोध-लोभादि शत्रुओंको निर्मूल करके मोक्षको प्राप्त करता है; क्योंकि भगवद्बाण उसे सब पापोंसे बचाते हुए भगवत्प्राप्तिमें सहायक होता है। और, जिसका शरीर भगवत्-आयुध से अंकित नहीं रहता, वह कभी निष्पाप नहीं रह सकता, इसलिये ब्रह्मको भी नहीं प्राप्त कर सकता। अतएव मोक्षाभिलाषियोंको सर्वदा तप्त धनुष वाण धारण करने चाहिएँ। प्रमाण यथा—"धन्वनागा धन्वनाऽऽजि जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम। धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥ सुपर्ण बस्ते मृगोऽअस्याः दन्तो गोभिः सन्नद्धापतति प्रसूता। यत्रा नरः सं च विच द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन्॥ ४८। ऋजीते परि वृङ्धिनोऽश्मा भवतु न स्तनूः। सोमोऽअधिब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु॥४६॥"—(यजुर्वेद अ० २६ मं० ३६, ४८, ४६।); "पवित्रं तेविततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः। अतप्ततनूर्न तदा मोऽअश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत॥" (ऋग्वेद मं० ६ सूक्त ८३ मंत्र १); "चमूषच्छ्येनशकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्सः आयुधानि बिभ्रत्। अपामूर्मिं सच मानस्समुद्र तुरीयं धाम महिषो विवक्ति॥"—(सामवेद उत्तरार्चिके अ० ६ प्रपाठक ५ मंत्र ३)। रामपटलमें भी कहा है—"पशुपुत्रादिकान्सर्वान्गृहोपकरणानि च। अंकयेच्छङ्खचक्राभ्यां नामकुर्याच्च वैष्णवम्॥"—इसके अनुसार पशु, पुत्र, घर और घरकी सब सामग्री आदिको भी आयुधांकित करा देना वैष्णवोंका धर्म बताया गया है। पुनः, जो जिस देवताका उपासक होता है उसका चिह्न धारण करता है इसीसे बिभीषणजीने श्रीरामायुध अंकित किए। यथा महाशिवसंहितायाम्—'रामायुधाभ्यांसीतया मुद्रयासह। अंकित ये महाप्राज्ञा नित्यमुक्ताश्च मुक्तिदाः' ॥१॥ पुनः यथा—'मुनेरस्मिन् भारतेवर्षे चापबाणाङ्किता नराः। स्वपरं कुलसाहस्रं तारयन्ति सुखेन वै' ॥२॥ पुनः, यथा—'सर्वैर्गुणैर्नियमसंयम नित्ययुक्तो निःकल्मषस्सकलसिद्धिकरश्चनित्यम्। योनांकितो धनुशरैर्नच मंत्रराजस्योपासको न स जनो रघुनन्दनस्य'।

टिप्पणी—२ 'नव तुलसिकावृंद तहँ०' इति। (क) सन्त हरिमन्दिरके पास तुलसी अवश्य लगाते हैं। यथा—'तीर तीर तुलसिका सुहाई। बृंद बृंद बहु मुनिन्ह लगाई॥' हनुमान्‌जी भक्त हैं अतः सात्विक स्थान देख हर्ष हुआ। (ख) 'देखि हरष कपिराइ' इति। भाव यह कि राज्य पाकर 'कपिराइ' नहीं हुए किंतु भक्तिकी श्रेष्ठतासे सबके राजा हैं। वानरोंमें ऐसा रामोपासक दूसरा नहीं।* (ग) ऊपर जो 'सुहावा' कहा उसीकी व्याख्या इस दोहेमें है।

---

* जिस तरह आजके कुछ मास पूर्वतक भारतमें राजाओंमें दो भेद थे। एक सम्राट् और अनेक

नोट—(मा० त० सु०) नव तुलसीके वृन्दसे सूचित किया कि तुलसी सेवारूप कैंकर्यमें जलादि सिंचन सर्वदा उपयुक्त और भक्तोंका परम अभीष्ट धर्म है। 'वृंद' का भाव यह है कि पुष्पोंके शत आवरणोंसे वेष्टित तुलसीवाटिका लगी थी, जिससे निज इष्टदेवके रहनेका स्थान जानकर हर्षे। यथा—'तुलसीवाटिका यत्र पुष्पान्तरशतावृता। शोभते राघवस्तत्र सीतया सहितः स्वयम्॥' 'नव' पदका भाव यह है कि सेवासहित भगवदाराधनके भावयुक्त तुलसीको देखकर हर्ष हुआ। तात्पर्य कि तुलसी कोमल मञ्जरीयुक्त ही भगवान्‌को अर्पणकी जाती है।

'रामायुध अंकित....' यह चारों वक्ताओंका कथन है। दोहेमें लिखी सब बातें और हनुमान्‌जीके हर्षका स्थान यह सब सुयोग देख सब वक्ता आनन्दमें मग्न हो गए, अतः कहा कि 'शोभा बरनि न जाइ।'

पं०—हर्ष इससे कि कदाचित् इस मंदिरमें सीताजी रहती हों, उन्हींने रामनाम, रामायुधसे इसे अंकित किया हो, तुलसी लगाया हो। वे न हुईं तो कोई संत रहता होगा, उससे उनका पता मिल जायगा।

* 'तुलसिका बृंद' *

आश्वमेधिक पर्वमें श्रीकृष्णजीने अपने अतिप्रिय पुष्पोंके नाम ये बताये हैं—कुमुद, करवीर, चणक, चम्पा, मालती, जातिपुष्प, नन्द्यावर्त्त, नन्दिक, पलाशके फूल और पत्ते, दूर्वा, भृङ्गक और वनमाला। सब प्रकारके फूलोंसे अच्छा उत्पल, उससे पद्म, पद्मसे शतदल, इससे सहस्रदल, उससे पुण्डरीक और हजार पुण्डरीकसे बढ़कर तुलसीका गुण कहा है। पूजाके सम्बन्धमें कहा है कि पुष्प न मिलनेपर तुलसीके पत्तोंसे, पत्ते न मिलें तो उसकी शाखाओंसे यह भी न मिले तो तुलसीकी जड़के टुकड़ोंसे मेरी पूजा करे। यदि वह भी न मिले तो जहाँ तुलसीका वृक्ष लगा रहा हो वहाँकी मट्टीसे ही भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करे।—यह तुलसीकी महिमा है, इसीसे वैष्णवोंको यह प्रिय है।

पुनः, पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें श्रीशिवजीने कार्त्तिकेयजीसे कहा है कि—लक्ष्मीजी और मेरे समान ही तुलसी भगवान्‌को परमप्रिय हैं। तुलसीदलके बिना दूसरे-दूसरे पुष्पों, पत्तों तथा चन्दन आदिके लेपोंसे भगवान्‌को उतना संतोष नहीं होता। तुलसी उतारनेके मंत्रमें तुलसीकी उत्पत्ति अमृतसे कही गई है। फिर दूसरी जगह उनकी उत्पत्ति समुद्रमंथनके उद्योगके समय विष्णुभगवान्‌के आनंदाश्रुसे बताई है।

पुनः भूमिखण्डमें कहा है कि—'क्षीरसागरके मंथनसे चार कन्यायें प्रकट हुईं—लक्ष्मी, वारुणी, कामोदा और ज्येष्ठा। कामोदा अमृतकी लहरसे पैदा हुई। वही भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये भविष्यमें वृक्षरूप धारण करेगी और परम पवित्र तुलसीके नामसे विख्यात होगी। जो उसका एक पत्ता भी ले जाकर भगवान्‌को समर्पण करेगा, उसका भगवान् बड़ा उपकार मानेंगे और 'मैं उसे क्या दे डालूँ!' यह सोचते हुए वे उसके ऊपर बहुत प्रसन्न होंगे। (कुञ्जलोपाख्यान)।

धार्मिक विचारोंके अनुसार श्री'तुलसी'जीका महत्व कुछ ऊपर लिखा गया। प्राकृतिक व्यवहारमें भी तुलसी बड़ी भारी औषधि है। परन्तु बड़े शोककी बात है कि आजकल इसकी प्रथा ही उठती जाती है। अंग्रेजी पढ़े साहब लोगोंके बँगलोंमें तो तुलसीका पत्ता ही नहीं। श्रीलमगोड़ाजीने बताया था कि—अभी कुछ दिन हुए छपा था कि बंगालमें श्रीरामकृष्णमिशनके आश्रममें सर्पके विषके निवारणके लिये यह किया जाता है कि केलेका रस निचोड़-निचोड़कर जल्दी-जल्दी पिलाया जाता है और तुलसीकी पत्तियाँ पीसकर शरीरमें उसका लेपन किया जाता है और उसके रसकी नास लिवाई जाती है तथा उसका रस पिलाया भी

माण्डलिक थे। उसी तरह उस समय मनुष्योंमें तो था ही अप्रकृत वानरोंमें भी दो भेद थे। श्रीसुग्रीवजी वानरसम्राट् थे और माण्डलिक कपीश अनेकों थे। उन अनेकों माण्डलिकोंमें श्रीहनुमान्‌जीके पिता श्रीकेशरीजी भी चौबीस अर्बुद वानर वाहिनीके राजा थे, ऐसा ग्रंथोंमें उल्लिखित है। मानसके क्षेपकोंमें इसका वर्णन बड़े विस्तारके साथ दिया है। वानरराज केशरीके उत्तराधिकारी होनेसे श्रीहनुमान्‌जीको जहाँ-तहाँ 'कपीश', 'कपिराइ' आदि कहा है। (वे. भू.। सन् १९५१ ई०)

जाता है। सेन्ट्रल-हिन्दू-कालेज मेगज़ीनमें मेरे विद्यार्थी जीवनकालमें यह छपा था कि फ्रांसदेशकी एक महिला के बाग़में काम करनेके लिये मज़दूर नहीं मिलते थे; कारण कि उन्हें वहाँ मैलेरिया-ज्वर आने लगता था। जब वह भारतवर्ष आई तो यहाँसे तुलसीका पौधा ले गई और जाकर उसने वहाँ तुलसीके वृक्ष लगाये तो उसके बाग़का उपर्युक्त दोष जाता रहा।

प्र० चं०—'भवन एक पुनि....।' द्रुतपा है। 'हरिमंदिर....।' पायकुलक है। दोहा दोहरा है।

लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥ १॥

मन महुँ तरक करै कपि लागा। तेहीं समय बिभीषन जागा॥ २॥

अर्थ—लङ्कामें निशाचरसमूहका निवास है। यहाँ सज्जनका वास कहाँ?। १। कपि (हनुमान्‌जी) मनसें तर्क करने लगे। उसी समय विभीषणजी जागे। २।

टिप्पणी १—(क) 'निशिचर-निकर'का भाव कि जहाँ एक भी खल होता है वहाँ सज्जन नहीं रहते तब अनेक खलोंके बीचमें एक सज्जन कैसे रह सकता है? 'निवासा' और 'बासा' का भाव कि जहाँ खलोंका निरन्तर निवास है वहाँ सज्जनका थोड़ी देर भी एक साथ रहना कैसे सम्भव है? पुनः निवास=विशेष वास। तात्पर्य कि जहाँ खलका विशेष वास है वहाँ सज्जनोंके सामान्य वासमें भी सन्देह है, क्योंकि सज्जन भूलकर भी खलकी संगति नहीं करते, यथा—'सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहु संगति करिय न काऊ। ७। ३६। १।', 'खल परिहरिय स्वान की नाईं। ७। १०६।' (ख)—'तर्क' करनेका कारण यह कि स्थानमें तो सब सज्जनोंके चिह्न हैं और खलोंके बीचमें निवास सज्जनका हो नहीं सकता। यदि कहो कि कोई खल ही होगा तो उसपर यह तर्क होता है कि खल होकर मन्दिर क्यों बनाता? रामायुधसे घरको अङ्कित क्यों करता? तुलसी और वह भी एक दो नहीं, वृन्दके वृन्द क्यों लगाता? तुलसीकी सेवा क्यों करता?—यह सब तर्क है।—[पुनः, तर्क यह कि जहाँ धर्मका नाम नहीं, जहाँ सात्विक यज्ञके धुएँसे वैर, वहाँ उपासनाके चिह्न कैसे? कहीं लङ्किनीने तो मेरे साथ छल नहीं किया? उसीने तो यह माया मुझे फाँसनेके लिये नहीं रची? अथवा, उसने कहीं रावणको हमारी सूचना न दे दी हो और रावणने मुझे ठगनेको यह माया रची हो। यथा—'अस कहि जाइ रचेसि मग माया। सर मंदिर बन बाग बनाया॥' कालनेमिने ठगनेके लिये मंदिर आदि रचा ही था। फिर उसपर यह तर्क हुआ कि मायाकृत होता तो मेरे हृदयमें हर्ष न उत्पन्न होता। (पां०, मा. त. सु.)।]

२—'तेही समय बिभीषन जागा' इति। विभीषणजीके जागनेका समय आ गया। सज्जन प्रहर भर रात रहे जागते हैं। यथा—'पछिले पहर भूप नित जागा।' (अ० ३८), 'बड़े भोर भूपतिमनि जागे।' (बा०)। इससे जान पड़ता है कि हनुमान्‌जीको नगरमें घूमते-घूमते तीन पहर रात बीत गई थी, जब यहाँ पहुँचे। अथवा, उस समय विभीषणका जागना भगवान्‌की प्रेरणासे हुआ।

[☞भगवद्भक्तको जब जब असमंजस आ पड़ता है, तब-तब भगवान् इसी प्रकार कृपा करते हैं। यथा—'तरु पल्लव महँ रहा लुकाई। करई बिचार करउँ का भाई॥ तेहि अवसर रावन तहँ आवा। ५।६। १-२।', 'सुनत निसाचर मारन धाये। सचिवन्ह सहित बिभीषन आये॥५।२४।६।' तथा यहाँ 'मन महुँ तरक करै कपि लागा। तेहि समय०॥'—इस समय श्रीहनुमान्‌जीके मनमें तर्कपर तर्क उठ रहे हैं, तर्कका निराकरण तथा निवारण करने वाला वहाँ कोई न था, कुछ निश्चय कर न पाते थे; अतएव भगवान्‌ने कृपा की, उसके निराकरणका योग लगा दिया। जय! जय! जय!!]

नोट—१ 'लंका निसिचर....बासा' और 'तेही समय बिभीषन जागा।' पायकुलक है। 'मन महुँ तरक करै कपि लागा।' चण्डी है। (प्र० चं०)।

२—शंका-निवारणार्थ मनमें विचार करना 'वितर्क संचारी भाव' है।' 'तेही समय बिभीषन जागा' में 'समाधि अलंकार' है। (वीरकवि)।

३—'लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ....' में अयुक्त अलंकार है, यथा—जैसो जहाँ न बूझिये तैसो तहाँ जु होय। केशवदास अयुक्त कवि बरनत है सब कोई॥' (कविप्रिया; मा. त. सु.)।

राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा। हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा॥ ३॥

अर्थ—उन्होंने (विभीषणजीने राम नाम उच्चारण किया। कपि (हनुमान्‌जी) ने उनको सज्जन जाना और हृदयमें हर्षित हुए। ३।

टिप्पणी—१ सज्जन जागनेपर नाम स्मरण करते हैं यथा—'तजी समाधि संभु अविनासी॥ रामनाम सिव सुमिरन लागे। जाना सती जगतपति जागे। १। ६०।'—यहाँ सज्जनताके सब चिह्न कहे—अपने स्थानके पास हरिमन्दिर बनाया, रामायुधसे घर अंकित किया, तुलसी लगायी, ब्राह्ममुहूर्त्तमें जागकर रामनाम स्मरण करते हैं।

२—'हृदय हरष' इति। (क) पहले स्थान देखकर हर्ष हुआ था, यथा—'नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ।' और अब सज्जन जानकर हर्ष हुआ। खलसमूहके बीचमें वास होनेसे जो सन्देह हुआ था, यथा—'लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥' वह अब निवृत्त हो गया। ऊपरके चिह्नोंसे अन्तःकरणका चिह्न विशेष होता है (क्योंकि वाहरी चिह्नोंसे धोखा हो सकता है। कालनेमि, रावण और राहू इसके उदाहरण हैं। आज भी कितने ही सज्जनका वेष धारण करके लोगोंको ठगते देखे जाते हैं। पर अन्तः-करणका चिह्न भावकी यथार्थताको प्रकट करनेवाला है।)। इसीसे बाहरके चिह्न (रामायुध अंकित गृह और नवतुलसिका वृन्द) देखनेपर सन्देह रहा और जब प्रेमसे नामोच्चारण सुना तब सन्देह दूर हुआ। अथवा, (ख)—प्रथम हर्ष हुआ तदनन्तर तर्क करने लगे। जब मन तर्कमें लगा तब हर्ष न रह गया। अब नामोच्चारण सुना तब फिर हर्ष हुआ। पुनः (ग) 'हृदय हरष' दीपदेहली न्यायसे दोनों ओर लग सकता है और विभीषण-जीने हर्षपूर्वक स्मरण किया और कपिको हर्ष हुआ। पुनः बाहरी चिह्नोंको देखकर हर्ष हुआ और नामस्मरणसे हृदयके प्रेमको देखकर हृदयसे हर्षित हुए। अर्थात् पहले सामान्य हर्ष हुआ था, अब विशेष हुआ। सज्जनके चिह्नोंसे हर्ष हुआ कि इनसे हमारा काम होगा।

वि. त्रि.—'हृदय हरष....चीन्हा' इति। 'खलमण्डलीमें सज्जन नहीं रह सकता, यह बात इतनी तथ्य है कि 'हरिमन्दिर, रामायुध अंकित गृह नव तुलसिका वृन्द' देखनेपर भी हनुमान्‌जी कोई निश्चय नहीं कर सके, तर्क करने लगे कि खल भी अत्यन्ता खलता करनेके लिये बाह्य आडंबर साधु-सा रख सकते हैं, पर यहाँ तो कोई दूसरा सज्जन भी नहीं है, और न आ सकता है, जिसके ठगनेके लिये इस आडंबरकी आवश्यकता हो, इस प्रकार हनुमान्‌जी तर्क करने लगे तबतक विभीषणजी जागकर हरि स्मरण करने लगे। हनुमान्‌जी पहिचान गये कि यह सज्जन हैं। क्योंकि जो विचार करता हुआ आदमी सोता है, वही विचार लिये हुए उठता है, अर्थात् सुषुप्ति कालकी अन्तिम भावना ही जाग्रत्‌की प्रथम भावना होती है, यह राम राम कहता हुआ जागा है, अतः राम राम कहता ही सोया होगा; यह अवश्य सज्जन है, रावणका मन्दिर देखा परन्तु हर्षित न हुए—क्योंकि उसमें सज्जनका वास नहीं था।

नोट—१ प० प० प्र० तथा सभी इसमें एकमत हैं कि 'जागनेपर यदि प्रथम ही राम-नामका उच्चारण बिना किसी प्रयत्नके होता हो तो समझ लेना चाहिए कि रामनाम हृदय और वाणीमें स्थिर हो चुका है। यह हरिभक्तिका प्रथम लक्षण है।

२—अ. दीपककार इस अर्धालीपर यह दोहा लिखते हैं—'चली पंच रंग धाम ते रँगे पंच रँग गात। रँगी पंचरंग हृदय सुनि हर्षि उठी लपटात॥' अर्थात् भक्तराज विभीषणजीके हृदय (परावाणी) रूपी धामसे निकलकर पंचरसोंके पंचरंगोंसे रँगा हुआ राम नाम पश्यन्ती, मध्यमा होता हुआ जब वैखरीसे उच्चारण हुआ तब उनके शरीरमें सात्विक चिह्न गद्‌गद गिरा, रोमांच और अश्रुपातादि उत्पन्न हो गए जिससे हनुमान्‌जीका हृदय भी रँग गया, अतएव विभीषणजीको सज्जन जानकर वे उनसे मिले।—रामनामके स्मरणसे उत्तम भक्तोंमें

उपर्युक्त सात्विक भाव उदय होने चाहियें, नहीं तो 'हिय फाटहु फूटहु नयन जरौ सो तन केहि काम। द्रवै स्रवै पुलकै नहीं तुलसी सुमिरत राम ॥'(दोहावली)।

टिप्पणी—४ 'कपि सज्जन चीन्हा' इति। श्रीहनुमान्‌जी कपटी और सज्जन दोनोंकी पहचानमें बड़े ही प्रवीण हैं। पूर्व सिंहिकाका कपट जान गए थे, यथा—'तासु कपट कपि तुरतहि चीन्हा।' और यहाँ सज्जन को पहचाना।

नोट—'राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा' पायकुलक है। 'हृदय हरष०' चण्डी है। (ब्र० चं०)।

एहि सन हठि करिहौं पहिचानी। साधु ते होइ न कारज हानी ॥ ४ ॥

अर्थ—इससे हठ करके (अर्थात् अपनी ओरसे) जान-पहचान करूँगा। साधुसे कार्यमें हानि नहीं होती। ४।

टिप्पणी—१ 'एहि सन हठि करिहौं पहिचानी।' इति।—हठ करके पहचान करनेको कहते हैं। भाव यह है कि साधु प्रायः किसीसे जान-पहचान नहीं करते; यथा—'सदा रहहिं अपनपउ दुरायें। सब बिधि कुसल कुबेष बनायें ॥ १ । १६१ ॥' मैं अपने कार्यके लिये अवश्य जान-पहचान करूँगा। ये श्रीरामभक्त हैं और मैं श्रीरामजीका दूत हूँ, इस नाते मेरी इनकी जान-पहचान होगी और हो जानी ही चाहिये। हमने इन्हें पहचान लिया पर ये भी जब हमें पहचान लें तब हमारा कार्य सिद्ध हो। [पुनः भाव कि यद्यपि यह लङ्काका मध्य है, रावणका महल समीप है, सशस्त्र राक्षस पहरा दे रहे हैं और प्रभात होना ही चाहता है, इत्यादि अनेक विघ्न उपस्थित हैं, तथापि मैं अवश्य जान-पहचान करूँगा, क्योंकि यह साधु हैं। (मा० त० सु०)]

२—'साधु ते होइ न कारज हानी।' इति। (क) श्रीहनुमान्‌जी सूक्ष्म कपिरूप धारण किये हुए हैं जिसमें कोई पहचान न ले, और प्रकट हुए बिना जान पहचान हो नहीं सकती, साथ ही बिना जाने किसीसे जान पहचान करना, परिचय देना, नीतिके विरुद्ध है; यथा—'बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ। आयेहु बेगि न होइ लखाऊ ॥' (२ । २७१)। पुनः बनाये हुए वेषको प्रकट कर देनेमें हानिका भय रहता है। जैसे रुद्रगण और शुकसारनको हानि पहुँची। रुद्रगणको नारदजीने शाप दिया और शुकसारनको बानरोंने बाँधकर दुःख दिया। उसपर कहते हैं कि 'साधु ते होइ न कारज हानी'। जो पराया कार्य साधे वह साधु; तब कार्यमें हानि कैसे होगी? इसीसे यहाँ 'साधु' कहा। साधु और सज्जन पर्यायी शब्द हैं। पूर्व 'सज्जन चीन्हा' कहा था उसको अब 'साधु०' कहा।

नोट—'एहि सन०' चण्डी है। 'साधु ते००' से ६ (८) तक पायकुलक है। (ब्र. चं.)।

* श्रीहनुमद्विभीषण संवाद *

मानस हंस—हनुमान्‌जी और विभीषणजीके विषयमें दो प्रश्न होते हैं—(१) उसके प्रमाणका, और (२) उसके प्रयोजनका। इसका विचार अब इसी क्रमसे होगा। 'विभीषणगृहं त्यक्त्वा सर्वं भस्मीकृतं पुरम्' (अध्यात्म सर्ग ४), और 'वर्जयित्वामहातेजा विभीषणगृहं प्रति' (वाल्मी० सर्ग ५४।१६), इन प्रमाणोंसे निर्णित है कि हनुमान्‌जीको विभीषणका महल परिचित था। आगे चलकर यह उल्लेख मिलता है—'राज्यं प्रार्थयमानस्तु बुद्धिपूर्वमिहागतः। एतावत्तु पुरस्कृत्य विद्यते तस्य संग्रहः ॥'—(वाल्मी० लं० स० १७। ६७) ध्यानमें रहे कि यह उल्लेख उस समयका है जब कि विभीषण रामजीकी शरणमें आ गया था और उनको स्वीकार करनेके लिए रामलक्ष्मणके अतिरिक्त बाकी सब प्रतिकूल थे, और केवल एक हनुमान्‌जी ही उनकी सिफ़ारिश ज़ोरोंसे कर रहे थे। हनुमान्‌जीने इतना ज़ोर लगाया इससे स्पष्ट होता है कि विभीषणका हृद्गत उन्हें पूरा पूरा विदित था। यह कोई कह नहीं सकता कि दूसरेसे पूछपाछ करनेपर उन्हें वह मालूम हुआ था, क्योंकि एक तो यह कि हनुमान्‌जी गुप्त दूत थे; इस कारण उनके लिये वैसा करना बिल्कुल ही असम्भव था, और दूसरी बात यह कि इस तरह पूछताछ करनेका वर्णन कहीं भी उपलब्ध नहीं। इन कारणोंसे यही अनुमित

होता है कि हनुमान्‌जी विभीषणसे उनके महलमें एकान्तमें मिले थे।....विभीषणका महल उन्होंने बचा दिया, यह बात यदि स्वीकृत हो चुकी है तो हनुमान्‌जी और विभीषणकी भेंटके बारेमें स्वामीजीकी दृष्टिसे ही देखना पड़ेगा।

(२) उपर्युक्त भेंटके विषयमें संदिग्धता नहीं रही। अब उसका प्रयोजन देखना चाहिये। हनुमान्‌जी विभीषणको राज्याकांक्षी कह चुके थे। पश्चात् रामजीने भी उसे वैसा ही ठहराया है। इसी बातको गोसाईंजीने स्वयं विभीषणजी हीके मुख द्वारा 'उर कछु प्रथम बासना रही' इस प्रकार कहलाया है। उसपर 'मम दरसन अमोघ जग माहीं' ऐसा कहकर तुरन्त ही 'राम तिलक तेहि सारा'। इस तरह उसे लंकापति बनाकर रामजीने उसकी गुप्त वासना प्रकटकर दिखला दी।

विभीषणजीका राज्याकांक्षी होना तो एक बात हुई। अब दूसरी बात यह है कि वह राजनीतिनिपुण भी था। प्रमाण, यथा—'नीति बिरोध न मारिय दूता', 'कही बिभीषन नीति बखानि', 'अति नयनिपुन न भाव अनीति'। अब सोचिए कि ऐसा राज्याकांक्षी और राजनीतिज्ञ अर्थात् स्वार्थी, बुद्धिमान और चतुर, विभीषण भाईके प्रत्यक्ष शत्रुके शरणमें अल्प भी पूर्वपरिचय बिना एकाएक ही कैसे जा सकता है? कुछ न कुछ पूर्व अनुसंधानके बिना ऐसी बात होना एकदम ही अस्वाभाविक दिखती है।

उपर्युक्त अस्वाभाविकताका दोष निकाल देना यही हमारी समझसे हनुमद्विभीषण संवादका मुख्य प्रयोजन है। संवादसे विभीषणशरणागतिकी शृङ्खला जुड़ी जाती है और कथानककी त्रुटि साफ निकल जाती है! हमारी दृष्टि से तो यह संवाद विभीषणशरणागतिकी प्रस्तावना ही है जिसके कारण उसे (विभीषणशरणागतिको) इतनी रमणीयता आ सकी। ऐसी रमणीयता लानेवाली कविकल्पनाकी यथार्थ प्रशंसा हमारी समझसे हो ही नहीं सकती।

नोट—श्रीहनुमद्विभीषणमिलाप यहाँ कराकर कविने वाल्मीकि आदिकी त्रुटियोंकी पूर्ति कर दी है। 'कविकी दृष्टि इतनी पैनी थी कि कोई बात उसके देखने और मनन करनेसे छूटती नहीं थी'—इसका एक उदाहरण यह मिलाप भी कहा जा सकता है।

बिप्र रूप धरि बचन सुनाये। सुनत बिभीषण उठि तहँ आये॥ ५॥

करि प्रनाम पूँछी कुसलाई। बिप्र कहहु निज कथा बुझाई॥ ६॥

अर्थ—(ऐसा मनमें विचारकर हनुमान्‌जीने) ब्राह्मणका रूप धरकर वचन सुनाए। सुनते ही विभीषणजी उठकर वहाँ आए। ५। प्रणाम करके कुशल पूछी—'हे विप्र! अपनी कथा समझाकर कहिए'।६।

टिप्पणी—१ 'बिप्र रूप धरि....' इति। सज्जन पहचानकर भी ब्राह्मणका रूप धारण करनेका भाव यह है कि सज्जन ब्राह्मणोंमें अत्यन्त प्रेम रखते हैं, यथा—'ते सज्जन मम प्रानप्रिय जिन्ह के द्विजपद प्रेम', 'द्विजपदप्रीति धरम जनयत्री।....जानेहु तात संत संतत फुर।।७।३८।'

नोट—१ मानसतत्व सुधाव्याख्याकारका मत है कि—'सज्जनस्वरूपके दृढ़ परिज्ञानके लिये विप्रतन धारण किया। यहाँ यह भी अभिप्राय है कि यदि यह राक्षस होगा तो अवश्य अनादर करेगा।' (पाँ०)। बाबा हरिहर प्रसादजी लिखते हैं कि—'रुद्र ब्राह्मण हैं, यथा—'ब्रह्मकुलं कलंक शमनं'। और ये रुद्रावतार हैं। सज्जनसे कपट न करना चाहिए; अतः ये बानरशरीर छोड़ ब्राह्मणरूप धरकर मिले।'

टिप्पणी—२ शङ्का—श्रीहनुमान्‌जी सदा सबसे विप्ररूप धारण करके मिला करते हैं, यथा—'बिप्ररूप धरि कपि तहँ गयऊ', 'बिप्ररूप धरि बचन सुनाये' और 'बिप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जिमि पोत।'; पर श्रीजानकीजीसे विप्ररूप धरकर न मिले; अपने (वानर) ही रूपसे मिले—यह क्यों?

समाधान यह है कि उनके पास यदि विप्ररूप धारण करके जाते तो उनको विश्वास न होता; क्योंकि लंकामें ब्राह्मणका गम्य नहीं है। दूसरे, विप्ररूपसे फिर निज रूप बनाते तो महासन्देह होता; वे यही

समझतीं कि यह छली राक्षस है, छल करता है। अतएव वहाँ विप्र रूप न धारण किया—यह बुद्धि है।

३—'बचन सुनाये'। कौन वचन ? विभीषणजीको रामनाम प्रिय है, इसीको हनुमान्‌जीने भी कहा। राम नाम सुनतेही वे उठकर आये। इससे पाया गया कि यह वचन उनको अति प्रिय लगे। क्या वचन सुनाए इसमें मतभेद है। किसी मुनिने वेद सुनाना लिखा है, किसीने सीताराम उच्चारण। कोई लिखते हैं कि 'हम ब्राह्मण हैं आपसे मिलना चाहते हैं' ये वचन कहे। इत्यादि। इसीसे गोस्वामीजीने 'वचन सुनाए' लिखा, जिसमें सबके मतका ग्रहण हो जाय।

४—विभीषणजीका 'राम राम सुमिरन' करना कहा गया और श्रीहनुमान्‌जीका वचन 'सुनाना' कहा गया। इस भेदमें भाव यह है कि श्रीविभीषणजीका 'राम नाम' स्मरण करना उनके प्रेममय-अन्तःकरणसे स्वतः हुआ है, किसीको सुनानेके लिये नहीं; और श्रीहनुमानजीका वचन (श्रीराम नाम) सुनाना एक निमित्ति से हुआ है कि विभीषणजी सुनकर आवें और मिलें। अतएव दोनोंके अन्तःकरणोंके पृथक्-पृथक् भाव पाठक को जाननेके लिए 'सुमिरन' और 'सुनाये' पृथक्-पृथक् शब्दोंका प्रयोग किया गया।

मा० त० सु०—निश्चयात्मक परिचय चार प्रकारसे होता है—अनुमान, शब्द, प्रमाण और प्रत्यक्ष द्वारा। यहाँ चारों दिखाये। हरिमंदिर और नवतुलसिकावृन्दसे 'अनुमान' किया कि यह सज्जन है। 'राम राम सुमिरन' इस शब्दसे और शास्त्रप्रमाणोंसे सज्जन चिह्न निश्चय किया। प्रत्यक्ष करनेके लिए 'बचन सुनाये'

टिप्पणी—५ 'करि प्रनाम पूछी कुसलाई।' इति। (क) विभीषणजीने इनका स्वरूप देखकर निश्चय कर लिया कि ये ब्राह्मण हैं, अतएव इनको प्रणाम किया। [पुनः, 'प्रणाम' करना और कुशल पूछना यह दोनों सज्जनके लक्षण हैं, यथा—'सीस नवहिं सुर गुर द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेखी।' (२।१२६), 'द्विजपद प्रीति धर्म जनयत्री ॥ ये सब लच्छन बसहि जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर।' (७। ३८)। इससे विभीषणजीका धर्ममें प्रेम सिद्ध हुआ। और यह साधारण शिष्टाचार भी है। मा. त. सु.—कार लिखते हैं कि प्रणाम करनेका भाव यह है कि मैं आपके अधीन और आपका सेवक हूँ] (ख) 'पूछी कुसलाई' इति। कुशल-प्रश्न शिष्टाचार है, तो भी यहाँ कुशल पूछना साभिप्राय भी है, क्योंकि लंकामें ब्राह्मणोंकी कुशल कहाँ ? यहाँ तो निशाचर उन्हें खाही डालते हैं, यथा—'खल मनुजाद द्विजामिष भोगी।' ब्राह्मणका रात्रिमें रक्षकोंसे बचकर लंकापुरीमें घूमना आश्चर्यजनक है; अतएव पूछते हैं कि आप कुशलसे तो यहाँतक आए ? (पुनः, भाव कि मैं लंकापुरीमें आपके अनुकूल उद्योग करूँगा जिससे आपका कुशल हो, अतएव 'विप्र कहहु०')। (ग)—'निज कथा बुझाई' इति। 'बुझाई' का भाव कि आपका लंकामें कुशलपूर्वक प्रवेश और आगमन आश्चर्य-जनक है, मुझे कुतूहल हो रहा है, अतएव समझाकर कहिये। जैसे हनुमान्‌जीको लंकामें हरिमंदिर देखकर आश्चर्य हुआ वैसेही विभीषणजीको ब्राह्मण देख आश्चर्य हुआ। [पुनः भाव कि आपके यहाँ आगमनका अवश्य कोई कारण-विशेष होगा, अतएव आप 'निज कथा' (अपनी सारी व्यवस्था, अपना पूर्ण परिचय) संक्षेपमें नहीं किन्तु साङ्गोपाङ्ग कहिये, कुछ भी छिपाइये नहीं। (मा. त. सु.)] पुनः, 'बुझाई' से जनाया कि मेरे कुछ भी समझमें नहीं आता।

वि. त्रि.—'करि प्रनाम……बड़ भागी।' इति। विभीषणजी समझते हैं कि कुशलके लक्षण तो नहीं मालूम होते, बिना किसी भारी संकटके इस सर्पभरी गुफामें कोई क्यों प्रवेश करने लगा, इन्होंने जो मुझे आवाज दी है, तो कोई सद्यः विपत्ति तो इनके पीछे नहीं है, अतः परिचय पूछनेके पहिले कुशल पूछते हैं। तत्पश्चात् कहते हैं कि ब्राह्मण देवता अपनी कथा समझाकर कहो। भाव यह कि जैसे तुम दिखाई पड़ते हो, वैसे तो तुम नहीं हो। ठीक ऐसाही प्रश्न सरकारने विप्ररूपमें हनुमान्‌जीसे किया था, यथा—'आपनि कथा कहा हम गाई। विप्र कहहु निज कथा बुझाई।' और तुम्हारे आनेका प्रयोजन क्या ? या तो तुम स्वयं राम हो, या रामके दास हो, जितनी प्रीति मुझे तुम्हारे दर्शनसे हो रही है, वैसी प्रीति मेरी दूसरे पर होती नहीं। 'सतां हि सन्देह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करण प्रवृत्तयः।' इन प्रश्नोंका उत्तर बिना रामकथा कहे, दूसरी रीतिसे

हो नहीं सकता था, इसलिये हनुमान्‌जीने रामकथा कही। 'आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे' वाली बात नहीं है, प्रश्नका ठीक ठीक उत्तर वही था, जो हनुमान्‌जीने दिया।

की तुम्ह हरिदासन्ह महुँ कोई। मोरें हृदय प्रीति अति होई॥ ७॥

की तुम्ह राम दीन-अनुरागी। आयहु मोहि करन बड़भागी॥ ८॥

अर्थ—क्या आप हरिभक्तोंमेंसे कोई हैं? (क्योंकि) मेरे हृदयमें (आपके प्रति) अत्यन्त प्रीति (स्वतः स्वाभाविक ही) हो रही है। ७। (अथवा) क्या आप दीनों पर अनुराग (प्रेम) करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी ही (तो नहीं) हैं जो मुझे बड़ा भाग्यवान् बनाने आये हैं?। ८।

नोट—१ 'की तुम्ह हरिदासन्ह महुँ कोई।०' इति। (क) लंकामें किसी ब्राह्मणका सकुशल प्रवेश करना असम्भव प्रतीतकर और इनको ब्राह्मण वेषमें देखकर संशयात्मक प्रश्न करते हैं। 'हरिदासन्ह महुँ कोई' का भाव कि हरिदास नारदादि समर्थ हैं और सर्वत्र विचरते रहते हैं, अतएव हो सकता है कि आप उन्हींमेंसे कोई हों जो वेष बदलकर यहाँ दर्शन देने आये हैं। 'कोई' शब्द यहाँ पुरुषार्थवाची है, 'मुख्य' का अर्थ देता है; अर्थात् हरिदास तो कहनेको बहुत हैं परन्तु आप मुख्य जान पड़ते हैं, क्योंकि समर्थ हरिभक्त ब्रह्मर्षि ही यहाँ आ सकते हैं, अन्य नहीं। (ख)—'मोरें हृदय प्रीति अति होई।' इति। यह हरिदास समझने का कारण बताया। ☞ जिसे देखकर हृदयमें स्वतः स्वाभाविक सात्विक प्रीति उत्पन्न हो उसे हरिदास जानना चाहिये। जो उत्तम हरिदास होते हैं, उनके दर्शनसे उनके प्रति अत्यन्त प्रीति हो जाती है। इसी तरह हनुमान्‌जीको हरिजन जाननेपर अत्यन्त प्रीतिका बढ़ना कहा, यथा—'जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास। १३। हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी।'—विभीषणजीने अभी जाना नहीं है, अतः उनके सम्बन्धमें 'होई' कहा गया और श्रीसीताजीके संबंधमें 'बाढ़ी' शब्द देकर जनाया कि 'अति प्रीति' तो देखते ही होगई थी, हरिजन जान लेनेपर वही प्रीति और बढ़ गई। (ग) किसी बातका निश्चय न होना कि आप कोई हरिदास हैं या स्वयं श्रीराम हैं 'सन्देह अलंकार' है।

टिप्पणी—१ 'प्रीति अति' का भाव कि 'प्रीति' तो सभीमें करना चाहिए पर साधु, ब्राह्मणमें 'अत्यन्त' प्रेम करना चाहिए, यथा—'प्रथमहि बिप्रचरन अति प्रीति', 'संत चरन पंकज अति प्रेमा' (आ० १६)। हनुमान्‌जी साधु हैं और ब्राह्मणरूप धारण किए हैं, अतएव 'अति प्रीति' हुई। हरिदासोंमें जब अत्यंत प्रेम होता है तब श्रीरामजी मिलते हैं, यह ग्रन्थकारका यहाँ उपदेश है।

२ (क) 'राम दीन अनुरागी' का भाव कि श्रीरामजी दीनोंपर अनुराग करके उनको स्वयं मिलते हैं, यथा—'नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना' (आ० ८), 'दास तुलसी दीनपर एक राम ही के प्रीति।' (वि० २१६)। (ख)—प्रथम संत मिलते हैं फिर उसके पीछे भगवान् मिलते हैं, यथा—'भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्ह के चरन। तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुखहरन॥" (वि० २०३)। इसीसे प्रथम संत (हरिदास) का मिलना कहकर तब भगवान्‌का मिलना कहा। इसमें कारण यह है कि सन्तोंके प्रथम मिलनेसे जीव निर्मल होकर हरिके प्राप्तिका अधिकारी होता है तब रामजी मिलते हैं। श्रीरामजीसे उनके दासोंका माहात्म्य अधिक है, यथा—'राम ते अधिक राम कर दासा'।

वि. त्रि.—'की तुम्ह हरिदासन्ह····बड़ भागी' इति। जिस भाँति रूप बदलनेपर भी खल नहीं छिपते, उसी भाँति रूप बदलनेपर भी साधु नहीं छिपते। यथा—'किएहु कुबेष साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू।' यद्यपि हनुमान्‌जीने विप्ररूप धारण किया है फिर भी उनकी महिमा परम भागवत विभीषणजीसे छिपी न रही। वे प्रश्न करते हैं कि या तो आप 'हरिदास' हैं या स्वयम् 'हरि' हैं, प्रमाणमें विभीषणजी अपनी अन्तःकरण प्रवृत्तिको ही देते हैं कि 'मोरे हृदय प्रीति अति होई'। भाव यह कि जैसी प्रीति मुझे आप पर हो रही है, वैसी सिवा हरिदास या हरिके और कहीं होती नहीं। 'सतांसि सन्देह पदेषु वस्तुपु प्रमाणमन्तः करण प्रवृत्तय:।'

नोट—'विप्ररूप धरि....अनुरागी।' इति। इसपर अभिप्राय दीपककारका यह दोहा है—'आदि मध्य अवसान हूँ संत सपति महिदेव। लखे बिभीषन ते उलटि आनंद ही के भेव ॥ १५ ॥' भावार्थ यह है कि विभीषणजीने श्रीहनुमानजीको आनन्दमें भीगे हुए तीन रूपोंमें देखा। आदिमें विप्ररूपमें देखा अतः पूछा 'बिप्र कहहु', मध्यमें संत जानकर पूछा कि—'की तुम्ह हरिदासन्ह...' और अन्तमें अपना स्वामी 'राम' जानकर पूछा—'की तुम्ह राम'।

दो०—तब हनुमंत कही सब रामकथा निज नाम।
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुनग्राम ॥ ६ ॥

अर्थ—तब हनुमानजीने सब रामकथा और अपना नाम कहा। सुनते ही दोनोंके शरीर पुलकित हो गए, और श्रीरामजीके गुणसमूहका स्मरण करके दोनोंके मन मग्न हो गए। ६।

टिप्पणी—१ (क) 'तब' अर्थात् जब विभीषणजीने कहा कि 'मोरे हृदय प्रीति अति होई' यथा—'कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा। लछिमन रामचरित सब भाखा'। (४। ५)। (ख) विभीषणजीने तो इनकी कथा पूछी और इन्होंने रामकथा कही, अपनी कथा क्यों न कही? उत्तरः-क्योंकि रामकथाके भीतर उनकी कथा भी है। रामकथाके कहते समय कथाके सम्बन्ध आनेपर अपना नाम भी कहा, इस प्रकार कि हनुमान् नामक बानर समुद्र पारकर लंकामें गया, घरघर ढूँढ़ा। वह बानर हनुमान् पवनका पुत्र मैं ही हूँ। (ग) 'सब रामकथा' अर्थात् वनगमन, सीताहरण और उनके ढूँढ़नेके लिए यहाँ आना, घरघर ढूँढ़ना, यह सब कहा। (घ) 'सुनत जुगल तन००' इति। हनुमान्‌जी कथा कहनेसे और विभीषणजी सुननेसे पुलकित हुए।

[☞ रामचरितके कथन और श्रवणसे पुलक और आनन्द होना रामचरणानुरागियोंका लक्षण है, जिनको ऐसा होता है वे सुकृती माने गए हैं और जिनको नहीं होता उनका जन्म व्यर्थ माना जाता है,यथा-'जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी।' (बा०),'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥' (बा०),'कछु है न आइ गयो जनम जाय। सुने न पुलकि तनु कहे न मुदित मन किये जे चरित रघुबंसराय॥' (विनय)। ग्रंथमें वक्ताओं और श्रोताओं दोनोंमें यह गुण दिखाया गया है। 'रामकथा' सुनकर इष्टदेवके 'गुणोंका स्मरण' कर प्रेममें मग्न होना 'ईश्वरविषयक रतिभाव' है।] (ङ) यहाँ दोनों महात्माओंका तन मन वचनसे प्रेममें मग्न दिखाया। 'तन पुलक', 'मन मगन' और 'तब हनुमंत कही' यह वचन।

नोट—यह दोहा दोहरा-मिश्रित है (ब्र० चं०)।

सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्ह महुँ जीभ बिचारी ॥ १ ॥

अर्थ—(फिर विभीषणजी बोले)—हे पवनसुत! हमारी रहनी सुनो जैसे दाँतोंके बीचमें बिचारी जिह्वा (रहती है वैसे ही दंशकोंके बीचमें मैं रहता हूँ)। १।

टिप्पणी १ (क) 'पवनसुत'—इससे ज्ञात होता है कि इन्होंने अपना नाम बताकर अपनेको पवनका पुत्र भी बताया, यथा—'मारुतसुत मैं कपि हनुमाना। नाम मोर सुनु कृपानिधाना। ७। २। ८।' [पुनः, 'पवनसुत' का भाव कि पवनसे कोई बात छिपी नहीं रहती। पुनः, पवन सबका प्राणाधार है। तुम पवनके पुत्र हो अतः तुमसे कुछ छिपा नहीं है और तुम मेरे प्राणोंके रक्षक हुए।—(मा० त० सु०, पाँ०)] (ख) 'सुनहु रहनि हमारी' इति। जब सत्संगप्राप्तिसे सुख मिला तब कुसंगसे जो दुःख मिलता है वह कहने लगे। बिना हनुमान्‌जीके पूछे ही विभीषण अपने दुःखकी कहानी कहने लगे। इसमें गूढ़ अभिप्राय अपनी दीनता दिखाकर रामदूतकी कृपा सम्पादन करनेका है। [यह कल्पित प्रश्नका 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है। (वीर)] (ग) इस प्रसंगमें विभीषणजीने अपने लिए सर्वत्र एकवचनका प्रयोग किया है। यथा-'मोरे हृदय प्रीति अति होई' (१)। 'आयहु मोहि करन बड़भागी'—(२)। 'तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा'-(३)। 'अब मोहि भा भरोस हनुमंता'-(४)। 'तौ तुम्ह मोहि दरस हठि दीन्हा'--(५)। पर यहाँ बहुवचन 'हमारी' कहा। इस भेदका तात्पर्य यह है कि यहाँ

'हमारी' पद देकर परिवार सहित अपनेको दुःखी सूचित करते हैं। यही बात श्रीरामजी पूछेंगे, यथा—'कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा ।५।४६।' ['सुनहु०' पायकुलक है, 'जिमि दसनन्ह०' चण्डी है। (प्र० चं०)। 'जिमि दसनन्ह०' में उदाहरण अलंकार है।]

२ 'जिमि दसनन्ह महुँ जीभ बिचारी।' इति। भाव कि हमको जीतेजी ही यमयातना है। यहाँ 'दशन' शब्दसे यमपुरी एवं यमराजका भावार्थ जनाया, विश्वरूपमें 'दशन' यमरूप कहे गये ही हैं, यथा—'अधर लोभ जम दसन कराला। ६।१५।' श्रीरामजीने भी यही बात कही है, यथा—'बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता। ५। ४६।'

नोट—१ दशनोंको यमराज कहनेमें आशय यह है कि जैसे यमराज पापियोंको दण्ड देनेको सदा उद्यत रहते हैं वैसे ही ये सब राक्षस धर्म निर्मूल करनेमें तत्पर रहते हैं; यथा—'जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससीसा। आपुन उठि धावइ रहै न पावै धरि सब घालै खीसा ।१। १८३।' पुनः भाव कि दाँत हड्डी हैं जो कठोर होती है, वैसे ही राक्षस कठोर हैं। दाँत बहुत हैं वैसे राक्षस भी बहुत हैं। जीभ दाँतोंके बीचमें बहुत बच-बचाकर रहती है वैसे ही कठोर खलोंके बीच निवास होनेसे हमें क्षणक्षण अपनेको बचाते ही बीतता है।प्र०।

२—'जीभ बिचारी' का भाव कि—'इसको कुछ 'चारा' (इलाज, वश) नहीं है, फन्दमें पड़ी रहती है। अथवा, 'बिचारी' अर्थात् बहुत विचारपूर्वक निर्वाह करती है।' (पाँ०)। भाव कि ज़रा भी चूकी तो कटी।

३—जैसे दाँतोंको यम कहा गया है, वैसे ही जिह्वाको 'अंबुपति' कहा है, यथा—'आनन अनल अंबुपति जीहा। ६। १५।' जलसे ही रस होता है, यथा—'बिनु जल रस कि होइ संसारा।' और रसना जीभका एक नाम है, यह दोनोंमें संबंध है। जैसे जलसे सबका हित होता है, यथा—'होइ जलद जगजीवनदाता।'; वैसे ही मैं सदा सबकी रक्षा और हित ही करता हूँ।

☞ ४—श्रीतुलसीदासजीकी उपमायें स्वाभाविक और प्रत्येक दिनके अनुभवकी होती हैं। यह उनकी कलाकी विशेषता हो गई है। यही कारण है कि उनके जितने पद जनश्रुति बन गये हैं उतने कदाचित् ही किसी बिरले ही कविके सारे विश्वसाहित्यमें मिलेंगे। (लमगोड़ाजी)।

प० प० प्र०—विभीषणजी साधु हैं, रावणादि खल हैं। यथा 'साधु अवज्ञा तुरत भवानी कर कल्यान अखिल कै हानी।', 'खल मंडली बसहु दिन राती।' इस तरह इस छोटे से दृष्टान्तमें कविने संतों और दुर्जनोंके सब लक्षण भर दिये हैं। दशन=दुर्जन। जीभ=साधु (अमानी दास)। [स्वामीजीने दोनों-की एक विस्तृत तालिका दी है। अनावश्यक समझकर मैंने उसे नहीं दिया। (मा० सं०)]। जीभ जब वैद्यसे कहती है कि दाँत बहुत कष्ट देते हैं तब वैद्य उनको उखाड़ देता है वैसे ही साधुओंके कहनेपर श्रीरामजी निशाचरोंको निर्मूल करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। यथा 'निशिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'

टिप्पणी—३ 'बिचारी' का भाव कि जैसे जीभ और दाँतोंका संयोग विधाताका ही किया हुआ है, जीभका उसमें कोई वश नहीं है; वैसे ही हमारा और राक्षसोंका सम्बन्ध विधाताका ही किया हुआ है; हमारा कुछ वश नहीं। तात्पर्य कि हम परवश कुसंगमें बसे हैं जैसे जीभ दाँतको छोड़कर कहीं नहीं जा सकती, वैसे ही हम राक्षस-कुलमें उत्पन्न हुए; इनको छोड़कर कहीं नहीं जा सकते। जैसे अनेक दाँतोंके बीचमें जीभ एक, वैसे ही राक्षसोंके बीचमें विभीषण अकेले हैं और जैसे दाँतोंके जड़से उखड़ जानेपर जिह्वा बनी ही रहती है, वैसे ही सब राक्षस जड़से उखड़ जायँगे पर विभीषण बने रह जायँगे। 'बिचारी' कहा क्योंकि वह दाँतोंका कुछ नुकसान कर नहीं सकती चाहे दाँत जब तब उसे काट ही क्यों न लिया करें।

तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा ॥ २ ॥

अर्थ—हे तात! मुझे अनाथ जानकर सूर्यकुलके नाथ कभी (मुझपर) कृपा करेंगे? । २।

टिप्पणी—१ (क) विभीषणजी हैं तो भागवत-कृपापात्र पर कहते नहीं, यह उनकी दीनता है, कार्पण्य है। ऐसा ही श्रीभरतजीने कहा है—'कहु कपि कबहुँ कृपाल गोसाईं। सुमिरहिं मोहि दास की नाईं। ७। २।

१६।' (ख) 'अनाथ' कहनेका भाव यह कि अनाथपर भगवान् कृपा करते हैं, यथा—'सुंदर सुजान कृपानिधान अनाथपर कर प्रीति जो । ७ । १३० ।' (ग) 'भानुकुलनाथ' का भाव कि अनाथपर तो रघुकुलमात्र कृपा करता आया है और वे तो उस कुलके नाथ हैं उन्हें तो अवश्य ही कृपा करनी चाहिये । अथवा, जैसे भानुके उदयसे अंधकारका नाश होता है, वैसे ही श्रीरामजीके उदयसे निशाचर-तमका नाश होगा और हम सुखी होंगे, यथा—'रामबान रबि उये जानकी । तमबरूथ कहँ जातुधान की' । अथवा, 'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं' अतः वे मुझ दीन-पर कृपा करेंगे । [और भाव ये कहे जाते हैं—१ श्रीरामजी तो भानुकुलके भानु या नाथ हैं और मैं तमीकुल हूँ, ऐसेमें भी क्या वे कृपा करेंगे ? (प्र०) । २—सूर्यकी किरण छोटे-बड़े सब पर बराबर एकसी पड़ती है वैसेही मुझपर वे कृपा करेंगे । (पाँ०) । ३—'तात' श्लेषार्थी है । एक तो प्रिय संबोधन है ही दूसरा भाव यह है कि मुझे तात (जलता हुआ) और अनाथ जानकर । (पाँ०) । ४—यहाँ अधर्मरूप तमसमूह है, उसका नाश करके मुझे धर्मरूप प्रकाशमें बिठावेंगे । (वै०) । ५—भानुकुलनाथा' शब्दसे अपना और श्रीरामजीका कुल-संबंध जनाया । ब्रह्मा, पुलस्त्य, विश्रवा और विभीषण यह विभीषणकी कुलशाखा है वैसे ही ब्रह्मा, मरीचि (ये पुलस्त्यके भाई हैं=कश्यप) और कश्यपावतार दशरथजी, श्रीरामजी—यह श्रीरामजीकी कुलशाखा है । और मरीचि=भानु । इस तरह अपना भानुकुलसे निकट संबंध दिखाकर सूचित किया कि जैसे भार्याको सनाथ करनेको आतुर हैं वैसे ही मुझ भाईको सनाथ करेंगे । (प० प० प्र०)]

२ विभीषणजी यहाँ रामजीके मिलनेमें सन्देह करके अपनी दीनता प्रकट कर रहे हैं कि जिस गुणसे प्रभु मिलते हैं वह हममें नहीं है । वह यह कि सुसंगसे मिलते हैं, यथा—'भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्हके चरन । तुलसीदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुखहरन ।'—(विनय); सो प्रथम तो हमको संग अच्छा न मिला—(१) । दूसरे, हमारे कर्म बुरे हैं । कर्मका बिगड़ना आगे कहते हैं, यथा—'तामस तन०' अर्थात् हम पापी हैं, 'सहज पाप प्रिय तामस देहा' और पापीको भगवान् नहीं मिलते, यथा—'जो पै दुष्ट हृदय सो होई । मोरे सनमुख आव कि सोई'—(२) । तीसरे साधनसे भगवान् मिलते हैं, यथा—'सब साधन कर सुफल सुहावा । रामलखनसिय दरसनु पावा' । सो हममें कुछ साधन नहीं ।—(३) । पुनः, प्रेमसे मिलते हैं, यथा—'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा । प्रगटे हृदय हरन भवभीरा' । सो भी हममें नहीं, यथा—'प्रीति न पदसरोजमन माँहीं' ।—(४) ।

तामस तनु कछु साधन नाहीं । प्रीति न पद-सरोज मन माहीं ॥ ३ ॥
अब मोहि भा भरोस हनुमंता । बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता ॥ ४ ॥

अर्थ—हमारा तामसी शरीर है, कुछ साधन नहीं है और न मनमें श्रीरामजीके चरणकमलोंमें प्रीति ही है । ३ । हे हनुमन्त ! अब मुझको विश्वास हुआ कि बिना भगवत्-कृपाके सन्त नहीं मिलते । ४ ।

टिप्पणी—१ (क) कर्म ज्ञान और उपासनाके बलसे भगवत्-कृपाका निश्चय करते हैं; अतएव यहाँ कर्म, उपासना और ज्ञान कांडत्रयसे अपनेको रहित जनाया ।—तामसीको उल्लूकी उपमा दी गई है, यथा—'सहज पाप प्रिय तामस देहा । जथा उलूकहिं तमपर नेहा । ४५।८।' उल्लू सूर्यदर्शनसे विमुख होते हैं वैसेही तामसी जीव ज्ञानसे विमुख हैं । यथा—'होहिं उलूक संत निंदारत । मोह-निसा प्रिय ज्ञान भानु गत ।' (उ.) । अतः 'तामस तन' कहकर अपनेको 'ज्ञानरहित' जनाया । साधन कर्म है । अतः 'कछु साधन नाहीं' कहकर अपनेको 'कर्म रहित' जनाया । भगवान्में प्रेम होना भक्ति है । अतएव 'प्रीति न पदसरोज०' कहकर अपनेको 'उपासनारहित' जनाया ।—इस तरह 'तामस⋯नाहीं' से अपनेको ज्ञान, कर्म और उपासना तीनोंसे रहित सूचित किया । बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि–'तामस तनसे कर्महीनता कही, यथा—'होइ भजन नहिं तामस देहा । मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा ।।' और 'कछु साधन नाहीं' से ज्ञानकी हीनता जनाई ।]

(ख)—'कछु साधन नाहीं' इति । भाव कि साधन सात्विक प्रकृतिवालोंसे बनता है और रजोगुणी प्रकृतिवालोंसे भी कुछ बन जाता है; पर तामसी प्रकृतिवालोंसे कुछ भी नहीं बनता ।

(ग)—'प्रीति न पदसरोज मनमाहीं' इति। श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम होना शुभ साधनका फल है, यथा—'तव पदपंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर। ७। ४६। ४।' जब कुछ साधन ही नहीं तब प्रीति कहाँसे हो। अतः 'तामस तन' कहकर तब साधन रहित होना कहा और उसके पीछे प्रीतिका न होना।

(घ)—'पदसरोज' का भाव कि प्रभुके चरण कमलवत् हैं, उनमें मनको भ्रमर होकर लुब्ध रहना चाहिये सो हमारा मन मधुप होकर उसमें नहीं लुभाता, यथा—'राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू। १। १७। ४।' पद-कमलमें प्रीति नहीं है; इससे अपने मनको मधुप न कहा। जहाँ पदकमलके साथ मनको कहा है वहाँ उसे भ्रमर कहा है, यथा—'पद राजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनिमन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं।१।१४८। 'लुबुध मधुप इव तजै न पासू', 'करि मधुप मन मुनि जोगिजन जे सेइ अभिमत गति लहैं।१।३२४।'

२—'अब मोहि भा भरोस....' इति। (क) विभीषणजीने प्रथम पूछा था कि कभी मुझ अनाथपर कृपा करेंगे। अब उसका उत्तर स्वयं ही देते हैं; क्योंकि यह उत्तर हनुमान्‌जीके मुखसे शोभित न होता इसीसे हनुमान्‌जी चुप रहे। और, प्रश्नका उत्तर भी यही यथार्थ है जो विभीषणजी अब कह रहे हैं। हनुमान्‌जी ही उनके रामप्राप्तिके द्वार हैं। (ख) अब भरोसा हुआ। अर्थात् 'तामस तन कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद-सरोज मन माहीं।' इस कारणसे भरोसा न था, पर अब हुआ कि वे अवश्य मिलेंगे। (ग) 'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता' अर्थात् चाहे ब्रह्माण्डभर खोज डालें तो भी नहीं मिलते और जब कृपा होती है तब घर बैठे सन्त मिल जाते हैं, यथा—'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही। ७। ६९।' ग्रन्थकार यहाँ उपदेश देते हैं कि जब इस तरह साधन करे जैसे विभीषणजीने किया तब श्रीरामजी कृपा करें और तब सन्त मिलें।

वि० त्रि०—हनुमान्‌जीकी कथा सुनकर, विभीषणजीने जान लिया कि ये रामदूत हैं, इनके द्वारा मेरा कल्याण हो सकता है, अतः अपना दुःख और लाचारी कहकर कहते हैं कि मैं निराश था कि इसी भाँति दीन दशामें मेरा जीवन व्यतीत हो जायगा, सरकारका दर्शन मेरे भाग्यमें नहीं है, पर तुम सन्त हो तुम्हारे दर्शनसे भरोसा हुआ कि 'राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा'। रामजीने मुझपर कृपा की।

मा० त० सु०—'हरि कृपा' इति। हरि=जो भक्तोंका क्लेश हरता है। यथा—'सुमिरत हरिहि साप गति बाधी।' वैसे ही यहाँ सन्त-दर्शन देकर विभीषणजीका क्लेश हरण किया। इसीसे 'हरि' कहा।

नोट—१ तत्वानुसन्धान द्वारा विभीषणका यह निश्चय करना कि बिना भगवान्‌की दयाके सन्तजन नहीं मिलते 'मतिसञ्चारी भाव' है। उत्तरोत्तर अपकर्ष-कथन रसगङ्गाधरके मतसे 'सार' अलंकार है। २—'तामस तनु....माहीं' पायकुलक है। 'अब मोहिं भा०' नयमालिनी है और 'बिनु हरि कृपा०' से 'सुनहु बिभीषन प्रभु०' (६) तक पायकुलक है। (ब्र० चं०)। ३—जनश्रुति बन जानेवाली सरलताका एक उदाहरण 'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।' भी है। यहाँ तो कोई अलंकार भी नहीं है। (लमगोड़ाजी)।

जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहि दरसु हठि दीन्हा॥ ५॥

अर्थ—जब रघुबीर श्रीरामजीने कृपा की, तब आपने भी मुझे हठ करके दर्शन दिया। अर्थात् अपनी ओरसे 'वचन सुनाकर' दर्शन दिया। ५।

टिप्पणी—१ 'रघुबीर' शब्द पाँच प्रकारकी वीरताके सम्बन्धमें प्रयुक्त होता है, यथा—'त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः। पराक्रम महावीरो धर्मवीरः सदास्वतः॥ पंचवीराः समाख्याता राम एव च पंचधा। रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः॥' इन पाँचोंके उदाहरण क्रमसे लिखते हैं—

(१) त्यागवीर — 'पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर।
बिसमउ हरषु न हृदय कछु पहिरे बलकल चीर॥ २। १६५।'

(२) दयावीर — 'चरनकमलरज चाहती कृपा करहु रघुबीर। १। २११।'

(३) विद्यावीर — 'श्रीरघुबीरप्रताप तें सिंधु तरे पाषान॥

ते मति मंद जो राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन ॥ ६ । ३ ।'
(जल पर पत्थर तैरना तैराना एक विद्या है)।

(४) पराक्रमवीर 'सभय बिलोके लोग सब जानि जानकी भीर।
हृदय न हरष बिषाद कछु बोले श्रीरघुवीर ॥ १ । २७० ।'

(५) धर्मवीर 'श्रवन सुजस सुनि आयउँ प्रभु भंजन भवभीर।
त्राहि त्राहि आरतिहरन सरन सुखद रघुबीर ॥ ५ । ४५ ।'

☞ ये पाँचों वीरताएँ श्रीरामजी हीमें हैं और में नहीं। इस प्रसंगमें विभीषणजी एवं हनुमान्‌जी दोनोंने कृपा करनेसे (अर्थात् उनकी दया-वीरतागुणको स्मरण करके) 'रघुवीर' कहा, यथा—'जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा' और 'मोहू पर रघुवीर कीन्हीं कृपा सुमिरि गुन'। दयावीर हैं, इसीसे हमारेसे अधमपर कृपा की। 'दरस हठि दीन्हा', यथा—'एहि सन हठि करिहौं पहिचानी।' ये हनुमान्‌जीके ही वचन हैं। ['दरस हठि दीन्हा' इस पदसे श्रीभगवत्‌के अनुग्रहपूर्वक अपने भाग्यकी प्रबलता दरसाते हुए परमभागवत श्रीहनुमान्‌जी का अनुग्रह दरसाया। (मा० त० सु०)।]

सुनहु बिभीषन प्रभु कइ रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती ॥ ६ ॥
कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबही बिधि हीना ॥ ७ ॥

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जी बोले)—हे श्रीविभीषणजी! प्रभु श्रीरामजीकी रीति सुनिये। वे सेवकपर सदैव प्रीति करते हैं। ६। आप ही कहिए कि मैं कौन परम कुलीन (उत्तमकुलोत्पन्न) हूँ? कपि हूँ, चंचल हूँ और सब प्रकारसे हीन (गया-गुज़रा) हूँ। ७।

टिप्पणी—१ (क) 'सुनहु बिभीषन०' से जनाया कि विभीषणजीने हनुमान्‌जीको प्रणाम करते समय अपना नाम बताया था—यह रीति है; यथा—'पितु समेत कहि कहि निज नामा। लगे करन सब दंडप्रनामा' बा० २६९ (२) देखिए। इसी प्रकार हनुमान्‌जीने पितासहित अपना नाम उनसे बताया था, तब उन्होंने कहा था 'सुनहु पवनसुत रहनि०'। (ख)—'प्रभु कइ रीती'। भाव कि वे प्रभु हैं, सब प्रकार समर्थ हैं, सेवक उनका क्या उपकारकर सकता है? सेवकपर बिना कारण प्रीति करना उनकी रीति है, कुछ सेवापर रीझकर प्रीति नहीं करते, यथा—'कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती। ३ ।४५ । २ ।' (ग) 'करहिं सदा' का भाव कि प्रीतिको एकरस निबाहना कठिन है; पर प्रभु सदा एक-रस प्रीति करते हैं, आदिसे अन्ततक निबाहते हैं। यथा—'को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहनिहारा। २ । २४ । ४ ।' अर्थात् अपने सेवकको अपने बराबर मानते हैं, यथा—'प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति असि आहि। ६ । २ । ३ ।' यदि बराबर न मानते तो हनुमान्‌जी सदा प्रीति करना न कहते। विभीषणजी तो केवल पूछते हैं कि कृपा करेंगे? और हनुमान्‌जी प्रभुका विलक्षण स्वभाव कहते हैं कि वे तो बराबरका मानकर सदा प्रीति करते हैं। अतएव आप-पर भी वैसी ही प्रीति किये हुए हैं। [क्योंकि प्रीतिकी रीति एक रघुनाथजी ही जानते हैं, दूसरा नहीं, यथा विनये—'जानत प्रीति रीति रघुराई।' विभीषणजीने जो कहा था कि 'तात कबहुँ····करिहहिं कृपा····', उसीके उत्तर में हनुमान्‌जीने कहा—'करहिं सदा'; 'कभी करेंगे' की चर्चा कैसी? वे तो सदा किये रहते हैं। भाव यह कि वे तो ऐसे अहैतुकी कृपालु हैं कि अपराध होनेपर भी वे जान-बूझकर भी कभी उसपर ध्यान नहीं देते, यथा—'रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरत सय बार हिये की ।।····सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी ।।१।। २९।', 'अपराध अगाध भए जन ते अपने उर आनत नाहिंन जू।' कवितावली ७ । ७]

मा० त० सु०—'सुनहु' का भाव कि यह मेरा निजी अनुभव है, इस वचनको सर्वसिद्धान्त जानकर सुनिये और ग्रहण कीजिये।

टिप्पणी—२ 'कहहु कवन मैं परम कुलीना।०' इति। (क) विभीषणजीने 'तामस तन' कहकर

अपनेको अकुलीन, कुलका हीन, जनाया। उसपर श्रीहनुमान्‌जीका उत्तर यह है कि 'कहहु कवन मैं परम कुलीना'। अर्थात् तुम्हारा तो केवल शरीर ही तामसी है, पर कुल तो उत्तम है यथा—'उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती।' (लं० २०), 'उपजे जदपि पुलस्त्यकुल पावन अमल अनूप।' (बा० १७६)। तात्पर्य यह कि प्रभु श्रीरामजी कुलकी अपेक्षा नहीं रखते, वे तो केवल भक्तिका नाता मानते हैं; यथा—'कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥ जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई। भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥ आ० ३५॥'

(ख) हनुमान्‌जीने प्रथम यह कहा है कि 'करहिं सदा सेवक पर प्रीति।', प्रभु सेवकपर सदा प्रीति करते हैं। अब उसके उदाहरणमें अपनेहीको प्रत्यक्ष-प्रमाण-स्वरूप देते हैं कि 'कवन मैं००' इत्यादि। अर्थात् मैं कुलसे हीन हूँ, कपि (अर्थात् पशु) हूँ—कैसा कि 'असुभ होइ जिन्हके सुमिरन ते बानर रीछ बिकारी' (इति विनये) और चंचल हूँ। चंचलता बड़ा भारी दोष है। इस दोषके होनेसे मनुष्यको कर्म, ज्ञान और उपासना किसीमें अधिकार नहीं रह जाता। इस तरह मैं कर्म, ज्ञान और उपासना तीनोंसे रहित हूँ। 'सबही बिधी हीना' अर्थात् कुल, जाति, स्वभाव इत्यादि सब प्रकारसे हीन हूँ। अथवा, 'सब बिधि' अर्थात् शुभकर्म करनेकी जितनी भी विधियाँ हैं उन सबसे रहित हूँ। मिलान कीजिये—'मैं पावँर पसु कपि अति कामी। कि० २१।'

नोट—'करहिं सदा सेवक पर प्रीती' कुसुमविचित्रा है। अर्धाली ७ और ८ पायकुलक है। (त्र०चं०)।

प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥ ८॥

अर्थ—जो हमारा नाम प्रातःकालमें ले उसे उस दिन भोजन न मिले। (अर्थात् आप तो परम भागवत हैं, आपका नाम लेना मंगल है, आपका नाम तो प्रातःकाल लोग भागवतोंमें स्मरण करते हैं; यथा पाण्डवगीतायाम्—"प्रह्लाद नारद पराशर पुण्डरीक व्यासाम्बरीष शुक शौनक भीष्मदालभ्यान्। रुक्माङ्गदार्जुन वशिष्ठ विभीषणाद्यानेतानहम्परमभागवतान्नमामि॥")। ८।

टिप्पणी—इस प्रसंगभरमें हनुमान्‌जीने सर्वत्र अपने लिए एक वचनका प्रयोग किया है, यथा—'एहि सन हठि करिहौं पहिचानी', 'कहहु कवन मैं परम०' और 'अस मैं अधम सखा सुनु मोहूँ पर रघुबीर'। पर यहाँ 'हमारा' बहुवचनवाची पद दिया। तात्पर्य्य यह कि मैं ही दोषयुक्त नहीं हूँ, मेरी जाति भर दोषयुक्त है; किसीका भी नाम लो तो भोजन न मिले। अपना दोष और भगवत्‌का गुण कहना यह कपिकी साधुता है, यथा—'गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा' (२।१३१)।

नोट—१ यह कार्पण्य शरणागतिका लक्षण है। यहाँ अपने लिए अत्यन्त हीनता सूचक उदाहरण दे श्रीरामजीका परम कारुणीकत्व, परम कृपालुत्व दर्शित किया। वे तो प्रातःस्मरणीय हैं, यह केवल उनका कार्पण्य है। उनके द्वादशनामोंके मंत्रमें भी यही कहा है, यथा—"ॐ हनुमान् अञ्जनीसूनुर्वायुपुत्रोमहाबलः रामेष्टः फाल्गुनसखःपिङ्गाक्षोऽमितविक्रमः। उदधिक्रमणश्चैवसीताशोकविनाशनः। लक्ष्मण प्राणदाता च दशग्रीवस्य दर्पहा॥ द्वादशैतानि नामानि कपीन्द्रस्य महात्मनः। स्वापकाले प्रबोधे च यात्राकाले च यः पठेत्। तस्य सर्व भयन्नास्ति रणेच विजयी भवेत्॥" पुनः प्रातःस्मरणीय महात्माओंमें इनकी गणना पाई जाती है। यथा—'अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः। कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥१॥ सप्तैतान्संस्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम्। जीवद्वर्षशतं साग्रमपमृत्युर्विनश्यति॥ २॥'—अर्थ सरल है।

२—श्रीहनुमान्‌जीका उत्तरोत्तर अपनी हीनता वर्णन करनेमें 'सार अलंकार' है।

लमगोड़ाजी—नाटकीयकलाके ज्ञानके अभावमें, कि जिसमें देश, काल और पात्रका विचार आवश्यक है, "प्रात लेइ जो नाम हमारा।०" यह पद भी "चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी" की तरह बहुधा अनुचित प्रकारसे ही उपयुक्त होता है। बहुतसे लोग हनुमान्‌जीका परममाङ्गलिक नाम इसीको प्रमाण मानकर प्रातःकाल नहीं लेते।

दो०—अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर ।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर ॥ ७ ॥

अर्थ—हे सखे ! सुनो, मैं ऐसा अधम हूँ (तो भी) रघुबीर श्रीरामजीने मुझपर भी कृपा की। (वक्ता लोग कहते हैं कि प्रभुका अधमोद्धारण कृपालुता) गुण स्मरण कर (उनके) दोनों नेत्रोंमें जल भर आया।७।

टिप्पणी—१ (क) पूर्व जब विभीषणजीसे रामकथा कही थी, तब वहाँ 'सुमिरी गुनग्राम' पद दिया था, यथा—'तब हनुमंत कही सब रामकथा निज नाम। सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुनग्राम'। और यहाँ 'सुमिरि गुन' कहा। कारण कि अपनेको अधम कहकर प्रभुके अधमोद्धारण गुणका यहाँ स्मरण किया है। यह एक गुण है। इससे यहाँ एकवचन पद दिया। और, वहाँ रामकथा कही, कथामें बहुतसे गुणोंका स्मरण हुआ; इससे वहाँ 'गुणग्राम' पद दिया। (ख) विभीषणजीने अपनी अधमता कहकर रामकृपा होनेमें पहले सन्देह किया, हनुमान्‌जीके दर्शनसे वह संदेह दूर हुआ, तब उनको भरोसा हुआ। हनुमान्‌जीने अपनेसे अधमपर कृपा होना कहकर विभीषणपर कृपा करना पुष्ट किया। (ग) 'मोहू पर' कहकर उनकी परमकुलीनता, महाभागवत होना और मंगलके लिए स्मरण किया जाना जनाते हुए अपनेको इनसे रहित सूचित किया। अर्थात् आप सब तरह योग्य हैं; पुनः आपमें प्रेम भी है—'मगन सुमिरि गुनग्राम'—और मैं सब प्रकार अयोग्य हूँ।–['मोहू पर' अर्थात् जब मुझपर कृपा की तब जो धर्मादि-साधन-सम्पन्न हैं और फिर आप जो परम-भागवत हैं उनकी कथा ही क्या ? वे तो परमकृपापात्र हैं ही। (प्र०)]

नोट—१ (क) यहाँ सखा-पदसे सम्बोधन करनेका यह भाव है कि हम दोनोंका समान ही तमोगुणी स्वभाव है।–पुनः दूसरी समानता यह है कि जैसे आप बली रावणके पाले पड़े हैं वैसे ही मैं बली बालिके पाले पड़ा था और तीसरी समानता यह है कि जिन श्रीरघुबीरजीके वीरत्वसे मेरा भला हुआ उन्हींके वीरत्वसे आपका भी भला होगा। (पाँ०)। (ख) 'कीन्ही कृपा', यथा—'तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा। सुनु कपि जिय जनि मानसि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।....', 'परसा सीस सरोरुह पानी। कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी॥...हनुमत जनम सुफल करि माना।–'इसीका स्मरण किया। यही कृपागुण है। (ग)–यह दोहा 'दोहरा' है।

टिप्पणी—२ पूर्व दोहेमें प्रेमकी दो दशाएँ कहीं—पुलक तन, मगन मन। एक दशा 'नेत्रोंमें जल भर आना' बाक़ी था; उसकी पूर्त्ति यहाँ की।

जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥ १ ॥
एहि बिधि कहत रामगुनग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा ॥ २ ॥

अर्थ—जानबूझकर भी जो ऐसे स्वामी श्रीरघुनाथजीको भुलाकर (दुखःरूप विषयोंकी ओर) भटकते फिरते हैं, वे क्यों न दुःखी हों अर्थात् उन्हें दुःखी होना ही चाहिए। १। इस प्रकार श्रीरामजीके गुण-ग्राम कहते हुए (दोनों महात्माओंने) अकथनीय विश्राम (शान्ति-सुख) पाया। २।

नोट–१ जैसे यहाँ विभीषणजीके प्रसंगमें वक्ताओंकी उक्ति है–'जानत हूँ अस स्वामि बिसारी।....', ठीक उसी प्रकारकी उक्ति वालिवधके पश्चात् सुग्रीवजीके प्रसंगमें वक्ताओंकी है, यथा—'जानतहूँ अस प्रभु परि-हरहीं। काहे न बिपतिजाल नर परहीं। ४। १४।'

मा० त० सु०—यहाँ 'अस' पद अंगुल्यानिर्देश है। इस पदसे निश्चय कराते हैं कि ऐसे स्वामी ये ही हैं, दूसरा नहीं यथा—'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखौं', 'अस प्रभु छाँड़ि भजिय कहु काही। मोसे सठ पर ममता जाही'।

टिप्पणी—१ (क) 'जानतहूँ'=(स्वभाव) जानकर भी। भाव यह कि जाननेसे स्मरण होता है;

स्मरणसे दुःख नष्ट होता है। जानना मुख्य है; यथा—'जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीति॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई। ७।८९।' जाननेपर कि ऐसे अधमोद्धारण अहैतुकी कृपालु हैं भुलाया। अर्थात् दुःखके नाशका योग लगा, पर दुःखका नाश उन्होंने न किया (यह उन्हींकी भूल है)। 'जानतहूँ' अर्थात् शास्त्रपुराण आचार्य आदिसे सुनकर जानकर। यथा—'तुलसिदास हरिनाम सुधा तजि सठ हठि पियत बिषयबिष माँगी'। 'काहे न होहिं दुखारी' से जनाया कि अन्य किसी भी साधनसे दुःख दूर नहीं हो सकता। यथा—'तरहिं न बिनु सेये मम स्वामी।७।१२४।', 'रघुनाथ बिना दुख कौन हरै' (क०)। (ख) 'काहे न होहिं दुखारी'; यथा—'महामंद मन सुख चहसि ऐसे प्रभुहि बिसारि' (आ०३६); 'बहु रोग बियोगन्हि लोग हये। भवदंघ्रि निरादरके फल ये॥ भवसिंधु अगाध परे नर ते। पदपंकज प्रेम न जे करते। अति दीन मलीन दुखी नितहीं'। (उ० १४)।

पं० विजयानंद त्रिपाठीजी—विभीषणजीने कहा था कि 'सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्ह महँ जीभ बिचारी।' इसपर श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं कि जो तुमने कहा उसका कारण जानबूझकर प्रभुका विस्मरण है। आप ऐसे मालिकको जानकर भी भूले हुए हैं, अतः दुःखी न होनेका कोई कारण नहीं है। 'मन क्रम बचन चरन रति होई। सपनेहु संकट परै कि सोई।', 'बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बुझिअ बिपति कि ताही। ३२। २।' तुमने मन और वचनसे चाहे जो किया हो, पर क्रियारूपसे तो तुम राक्षसकी ही सेवा करते रहे। आप जानते हैं कि सीताहरण हो गया, सरकार ढूँढ़ते हुए वनोंमें घूम रहे हैं। आपने सीताहरण-प्रकरणमें सरकारकी कौन सेवा की? उन्हें विस्मरण किये ही बैठे हो। इसी उपदेशने विभीषणजीके लिये मन्त्रका काम किया, इससे उन्हें अनिर्वाच्य विश्राम हुआ। तबसे उन्होंने क्रियारूपसे सेवा आरंभ की। आपसे आप बिना पूछे सीताजीका समाचार सुनाने लगे (उन्हींके युक्ति बतलानेसे हनुमान्‌जीने श्रीसीताजीका दर्शन पाया), स्वयं रावणसे श्रीजानकी-प्रदानके लिये उलझ पड़े और अंतमें सब कुछ त्यागकर भगवान्‌के चरणोंमें चले गए।—(इस टिप्पणीके अनुसार ये वचन हनुमान्‌जीके हुए, न कि वक्ताओंके)।

टिप्पणी—२ (क) 'एहि बिधि कहत०' इति। रामगुणग्राम कहने, सुनने, समझनेमें (अर्थात् सभी प्रकार) सुखदायक है, यथा—'कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लषन सम प्रिय तुलसीके।' कहने, सुनने, समझने और सुमिरनेमें सुखद होनेके उदाहरण, यथा—'एहि बिधि कहत रामगुनग्रामा।००', 'सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुन ग्राम' और 'अस मैं अधम सखा सुनु मोहूपर रघुबीर। कीन्हीं कृपा सुमिरि गुन भरे००'। (ख) अनिर्वाच्य=जो वचनसे परे है, भिन्न है। यथा—'सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई।७।५।', 'सो सुख जानै मन अरु काना। नहि रसना पहिं जाइ बखाना। ७। ८८।' भाव यह कि रामगुणग्राम कहा जा सकता है, पर जो उससे सुख हुआ वह नहीं कहा जा सकता। इसीसे गुण कहे और सुखको अनिर्वाच्य कहा। [पूर्व कह आये हैं कि 'तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिय तुला इक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग'। सत्संग का महत्त्व कहा पर उसका स्वरूप नहीं दिखाया था, वही यहाँ दिखाते हैं कि 'पावा अनिर्वाच्य विश्रामा'। विश्राम पद यहाँ सुखवाचक है, यथा—'कोउ विश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु'। 'पावा' का भाव कि यह सुख ऐसी पुरीमें मिलना दुर्लभ था सो अकस्मात् पा गए। (मा० त० सु०)] (ग) शंका—कहने सुनने आदिसे विश्राम मिलता है। यहाँ 'एहि बिधि कहत' पद दिया, 'सुनत' न कहा, यद्यपि दोनोंने सुननेको कहा, यह क्यों? समाधान—दोनोंने अपनी-अपनी अधमता एक दूसरेसे कही; इसे सुनकर किसीको सुख न हुआ। परन्तु जब दोनोंने अपने-अपने ऊपर रघुबीरकी अनुग्रह कही, तब विश्राम पाया। इसीसे 'सुनत बिश्राम पावा' न कहा, 'कहत विश्राम पावा' कहा। (घ)—हनुमान्‌जीकी इच्छा विश्राम करनेकी न थी—'रामकाज कीन्हें बिना मोहि कहाँ बिश्राम'। पर रामकथा अपना प्रभाव नहीं छोड़ती, वह विश्राम देती ही है; अतः इनको विश्राम मिला। (मा०शं०का मत है कि बिना रामकार्यके किए विश्राम न करनेकी प्रतिज्ञा थी। यहाँ

मुख्य कार्य समुद्र पार करना था, क्योंकि सम्पातीने कहा था कि 'जो नाँघइ सत जोजन सागर। करै सो राम काज अति नागर', अतएव समुद्र पार करनेपर विश्राम पद दिया')।

नोट—'जानतहूँ०' पालयकुलक है, फिरहिं ते०' तामरस है और 'एहि बिधि....बिश्रामा' पायकुलक है। (अ० चं०)। 'पुनि सब कथा०।' चौपाईका ३०६वाँ भेद है और 'जेहि बिधि०' ३२२वाँ भेद है।

पुनि† सब कथा बिभीषन कही। जेहि बिधि जनकसुता तहँ रही ॥ ३ ॥

अर्थ—फिर विभीषणजीने सब कथा कही, जिस प्रकार वहाँ श्रीजानकीजी रहती थीं। (एवं जिस प्रकार दिन व्यतीत करती थीं)। ३।

टिप्पणी—१ (क) जब हनुमान्‌जीने सब रामकथा कही तब अपना लंकामें रात्रिको प्रवेश करना और घरघर श्रीसीताजीको ढूँढ़ना और उनका न मिलना भी कहा। इसीलिए विभीषणजीने सब वृत्तान्त इनसे बताया। जबसे श्रीजानकीजी लंकामें आईं तबसे आजतकका सारा समाचार कह सुनाया। (ख) 'जेहि बिधि... रही' अर्थात् जिस प्रकार रावणने उनको रखा, यथा—'हारि परा खल बहु बिधि भय अरु प्रीति देखाइ। तब असोक पादप तर राखिसि जतन कराइ। ३। २६।' इसीसे 'तहँ रही' अर्थात् अशोकवाटिकामें रहीं। अन्यत्र न रहीं, इसीसे अन्यत्र न मिलीं। पुनः, 'जेहि बिधि' अर्थात् जिस प्रकार ये दिन काटती थीं वह कहा, यथा— 'जेहि बिधि कपट कुरंग संग धाइ चले श्रीराम। सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम'—(आ० २६)। (ग) 'जनकसुता' का भाव कि जैसे राजाओंकी कन्याएँ रहती हैं, उस रीति-भाँति-कायदेसे ये वहाँ रहती हैं, अनेक राक्षसियाँ रक्षा करती हैं, वहाँ पुरुष नहीं जाते।

नोट—१ अनिर्वाच्य विश्राम छोड़कर कथा कहने लगे जैसे शिवजीने किया था, यथा—'मगन ध्यानरस दंडजुग पुनि मन बाहर कीन्ह। रघुबर चरित महेस तब हरषित बरनइ लीन्ह'। वहाँ श्रोता सामने बैठा है उसको कथा सुनाना, उसके प्रश्नोंका उत्तर देना आवश्यक है; अतः ध्यान छोड़ा। वैसे ही यहाँ हनुमान्‌जीको आवश्यक कार्य करना है, अतः उनको समाचार बतानेके लिए विश्रामसे मनको उपराम दिया।

२ यहाँ 'जनकसुता' साभिप्राय विशेषण है। भाव यह कि जैसे जनकजी ब्रह्मसृष्टिमें रहकर भी सब प्रकारसे निर्लेप रहे, वैसे ही ये भी लङ्कामें निर्लेप रहीं, यथा—'जे बिरंचि निर्लेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जल-जाये'। सीताजी अपनी चित्तवृत्तिको रोककर योगारूढ़ किए रहा करती थीं, यथा—'निजपद नयन दिये मन'। यह भूचरी मुद्रा और त्राटक भी कहा जा सकता है। चित्तवृत्तिको एकाग्र करनेकी क्रिया ही 'योग' है— 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' (मा० त० सु०) पुनः भाव कि जैसे वे जनकमहाराजके यहाँ रहती थीं अथवा जैसे अपने 'जनक' (पिता) के घर पुत्री रहती है वैसे ही यहाँ रक्खी गई हैं—यह दिखानेको 'जनकसुता' नाम दिया गया। (पाँ०)।

प०प०प्र०—'जनकसुता' शब्दके भाव।३।३१।२ 'तेहि खल जनकसुता हरि लीन्हीं' में देखिए। यहाँ भाव यह है कि श्रीजनक समान महाराजकी कन्याकी भी ऐसी दुर्दशा! यह कैसा दैव दुर्विपाक है। यह आश्चर्य, खेद, विषाद और शोकका निदर्शन है। इस भावकी पुष्टिके लिये ही इस अर्धालीके दोनों चरणोंमें एक-एक मात्रा न्यून रक्खी गई है। जो मर्म न समझनेसे दोष गिना जाता है। इससे यह सूचित किया कि जनसुकताकी कथा कहते-कहते विभीषणजीकी वाणीमें गति-विच्छेद होने लगा, कंठ अवरुद्ध हो गया। दूसरा भाव यह है कि श्रीजनकमहाराजकी कन्याको पतिवियोगमें जिस तरह रहना उचित है, उसी तरह वे यहाँ रह रही हैं।

टिप्पणी—२ ग्रंथकारने इस प्रसंगमें दोनों भक्तोंमें समानता दिखायी है—

† पुनि—छ०, भा०, दा०, १७०४, कोदवराम। सुनि—१७२१, १७६२। भा० दा० की पोथीमें 'पुनि' पर हरताल देकर 'सुनि' बनाया है।

श्रीहनुमान्‌जी	श्रीविभीषणजी
विप्ररूप धरि बचन सुनाये	१ रामराम तेहिं सुमिरन कीन्हा
हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा	२ की तुम्ह हरिदासन्ह महँ कोई
एहि सन हठि करिहौं पहिचानी	३ तौ तुम्ह मोहि दरसु हठि दीन्हा
तब हनुमंत कही सब रामकथा	४ पुनि सब कथा बिभीषन कही । जेहि०

५—सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुनग्राम ।

☞ दोनोंने अपने दोष और भगवद्गुण कहे—

'प्रात लेइ जो नाम हमारा । तेहि०'	६ 'तामस तन कछु साधन नाहीं । प्रीति न···'
'अस मैं अधम सखा सुनु मोहूपर रघुबीर। कीन्ही कृपा....'	७ जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा
तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता । देखी चहौं जानकी माता ।।	८ 'तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा । करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा ।।', 'देखिहौं जाइ चरन जलजाता'

☞ दोनोंको श्रीरामकृपाका ही अवलम्ब है—

मोहू पर रघुबीर कीन्ही कृपा	९ अब मोहिं भा भरोस हनुमंता । बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता ।

☞ श्रीहनुमानजीने विभीषणजीको श्रीरामजीसे मिलाया और विभीषणजीने हनुमान्‌जीको श्रीजानकीजीसे मिलाया ।

सादर तेहि आगे करि बानर । चले जहाँ रघुपति करुनाकर ।। १० जुगुति बिभीषन सकल सुनाई । चलेउ० ।।

टिप्पणी—३ सीताजीकी खबर मिलते ही हनुमान्‌जीने कहा—हे भाई! मैं देखना चाहता हूँ और युक्ति सुनते ही बिदा होकर श्रीसीताजीके पास जा पहुँचे—यह शीघ्रता ग्रंथकार आगे अपनी चौपाईमें दरसाते हैं।

तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता । देखी † चहौं जानकी माता ।। ४ ।।
जुगुति बिभीषन सकल सुनाई । चलेउ पवनसुत बिदा कराई ।। ५ ।।

अर्थ—तब हनुमान्‌जीने कहा—हे भाई ! सुनो, मैं श्रीजानकी माताको देखना चाहता हूँ । ४ । विभीषणजीने (मिलनेकी) सब युक्ति (कह) सुनाई । (सुनते ही) पवनसुत हनुमान्‌जी विदा माँगकर चल दिये । ५ ।

टिप्पणी—१ (क) 'तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता' इति ।—'भ्राता'—शब्द यहाँ निहोरा या प्रार्थना का भाव दे रहा है । यथा—'भाइहु लावहु धोख जनि आजु काज बड़ मोहि ।' (अ०१९१), 'तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई । सहि दुख कंदमूल फल खाई।। (सुं० १) ।' (ख) 'देखी चहौं जानकी माता' इति । कदाचित् विभीषण जी कहें कि वहाँ कोई पुरुष नहीं जा सकता, इससे प्रथमही 'माता' विशेषण दे दिया कि मैं उनके पास माताभावसे जाता हूँ, माता भावसे दोष नहीं और पुत्रको वहाँ रोक नहीं; यथा—'देखहु कपि जननी की नाईं । बिहँसि कहा रघुनाथ गुसाईं ।।' (लं० १०७) । (प० प० प्र० स्वामीका मत है कि विभीषणजीको राजद्रोह अथवा बंधुद्रोह दोष न लगे, मुख्यतः इसीलिये श्रीहनुमान्‌जीके मुखसे 'जानकी माता' ये शब्द कहलाए गए ।)

नोट—१ 'देखी चहौं' से दर्शनके लिये अपनी अत्यन्त आतुरता प्रकट करते हैं । इसमें उत्सुकता संचारी भाव है । पुनः, इससे उनका दृढ़ विश्वास और संकल्प भी सूचित होता है कि माता जानकीजी चाहे जैसे विकट स्थानमें हों मैं अवश्य उनके दर्शन करूँगा ।

२—दीपककारका मत है कि श्रीहनुमान्‌जी और श्रीविभीषणजी दोनों ही रामकार्यमें लीन हैं । विभी-

† १—देखा—(ना०प्र०,का०, व्र० चं०) । देखी—भा० दा०, १७२१ और १७६२ तथा छक्कनलालजी की प्रतियोंमें ।

२—'तब हनुमंत....भ्राता' तामरस है । शेष सब पायकुलक है । (व्र० चं०) ।

षणजी सोचते हैं कि ये रामदूत हैं, फँस गये तो मार डाले जायँगे जिससे रामकार्यमें बाधा होगी, इससे वे कहते हैं कि आप लौट जाइये; और इधर हनुमान्‌जी भी दृढ़ हैं, इनको विश्वास है कि जबतक मैं दर्शन न करूँगा और मुद्रिका न दूँगा तबतक रामकार्य हो नहीं सकता। हनुमान्‌जी बड़े गम्भीर हैं, इससे इनकी बातका आशय लखनेमें नहीं आता। इनकी निर्भयता और दृढ़ संकल्प देख विभीषणने युक्ति बताई।

नोट—३ हनुमान्‌जी एवम् विभीषणजी जानते हैं कि ये जगज्जननी हैं, अतएव ये उनको माता कहते हैं। इनका यही भाव मानसमें दिखाया गया है यथा-'रामदूत मैं मातु जानकी', 'यह मुद्रिका मातु मैं आनी', 'मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा' इत्यादि। और श्रीजानकीजी भी इन्हें पुत्र-सा ही मानती हैं, यथा—'सुनु सुत करहिं बिपिन रखवारी', 'सुनु सुत सदगुन सकल तव हृदय बसहु हनुमंत', इत्यादि। २—अनिर्वाच्य विश्राम छोड़कर सीताजीको देखनेके लिये उत्सुक हुए कारण कि 'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा'। प्रभुकी सेवा अपने सुखसे बढ़कर है। इसीसे हनुमान्‌जी सदैव 'रामकाज करिबेको आतुर' रहते हैं।

टिप्पणी—२ 'जुगुति बिभीषन०' इति। (क) जब देखनेकी इच्छा प्रकट की, तब विभीषणजीने देखनेकी युक्ति बताई; क्योंकि बिना युक्तिके वहाँ कोई जा नहीं सकता था। सब युक्ति यह कि वहाँ बाहर राक्षस पहरा देते हैं और भीतर उनके निकट राक्षसियाँ रक्षा करती हैं, इससे वह मार्ग और उपाय बताए जिसमें कोई मिले नहीं [पं० विजयानंद त्रिपाठीजी लिखते हैं कि अशोक उपवन प्रमदा वन था। ऐसी युक्तिसे बना था कि सम्पूर्ण लंका छान आवे, और उसका पता न लगे। ऐसी रचनाको आज कलकी भाषामें तिलस्म कहते हैं। उसे तोड़कर यदि बलपूर्वक सीताजीका दर्शन करना चाहे, तो रावणके जीते जी सम्भव नहीं था। अतः उस तिलस्मके भीतर प्रवेश करनेकी युक्ति विभीषणने हनुमान्‌जीको बतलायी, जिसमें बिना बाधाके सीताजीका दर्शन हो सके। आगेके 'जहवाँ'और 'तहवाँ' पदसे भी यही सूचित होता है कि उपवन उस स्थानसे जहाँ रावण और विभीषणका घर है, कुछ दूरीपर था। (वि० त्रि०)। युक्ति गुप्त रक्खी, क्योंकि 'जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलै तबहि जब करिअ दुराऊ। १। १६८। ४।' मानसमें सातों कांडोंमें युक्तिका उल्लेख है। यथा—'जुगुति मंजु मनि सीप सोहाई' (बाल), 'एकउ जुगुति न मन ठहरानी' (अ०), 'इहाँ राम जसि जुगुति बनाई' (आ० २३।८), इत्यादि। (प० प० प्र०)]

२ 'चलेउ पवनसुत....' इति। (क) अति शीघ्रता सूचित करनेके लिए 'पवनसुत' शब्द दिया। (ख) 'बिदा कराई'—प्रेमीसे और बड़ेसे आज्ञा लेकर चलना चाहिए; यह नीति है, यथा—'मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी। चले०', 'सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई। सीता सहित चले दोउ भाई'। (१।४८,३।३)।—['बिदा कराई' से सूचित किया कि विभीषणजी प्रेमाधिक्यके कारण हनुमान्‌जीको विश्रामके लिये ठहराना चाहते थे पर वे ठहरे नहीं।—'रामकाज कीन्हे बिना मोहिं कहाँ बिश्राम।' यह उनका सिद्धान्त है वि० त्रि०)]

नोट—४ विदा माँगकर जाना सनातन शिष्टाचार है? जानेके लिये आज्ञा माँगनेकी रीति हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभीमें पाई जाती है। यह प्रीतिकी रीति है। प्रीतिका एक अंग प्रणय है ही। आज्ञा लेनेसे उसका आदर-सम्मान प्रकट होता है। इस ग्रंथमें इसका चरितार्थ है; यथा—'करि पूजा सब बिधि सेवकाई। गयेउ राउ गृह बिदा कराई॥ १।२१७।' पाँड़ेजीका मत है कि 'बिदा कराई' का भाव यह कि बलात्कारसे विदा हुये, अब किंचित् भी रुकना स्वीकार न किया। पुनः यह भी भाव कहा जाता है कि मेरे पुनः लौटकर आनेकी अपेक्षा न कीजियेगा। संतसंग छोड़नेकी रुचि न होनेपर भी रामकार्यके लिये ज़बरदस्ती बिदा हुये, अतः 'कराई' कहा।

नोट—५ श्रीहनुमान्‌जी और श्रीविभीषणजीके प्रसंगके वचनोंकी समता दश प्रकारसे गिनाते हैं—'सुमिरन दर्शन हठ कथा जानब पुलक बखान। कृपा दोष गुन।'

	श्रीहनुमान्‌जी	श्रीविभीषणजी
स्मरण	'रामायुध अंकित गृह देखि' तर्क वितर्करूपी स्मरण-चिन्तन	राम राम तेहिं सुमिरन कीन्हा

दर्शन	'निज नाम' कहकर विप्ररूप छोड़ स्वरूपसे प्रकट हुये, यही 'दर्शन' है।	'सुनत विभीषन उठि तहँ आये।' 'आयहु मोहि करन बड़भागी।'
हठ	एहि सन हठि करिहउँ पहिचानी	तौ तुम्ह मोहि दरस हठि दीन्हा।
कथा	तब हनुमंत कही सब रामकथा	पुनि सब कथा विभीषन कही।
जानना	जानतहू अस स्वामि बिसारी	तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा।
पुलक	सुनत जुगल तन पुलक	सुनत··· पुलक
बखान	सुनहु बिभीषन०	की तुम्ह राम दीन अनुरागी
कृपा	करहिं सदा सेवक पर प्रीति	करिहहिं कृपा भानुकुल-नाथा।
दोष	कपि चंचल सबही बिधि हीना	तामस तन कछु साधन नाहीं
गुण	एहि बिधि कहत रामगुन-ग्रामा	'····कहत रामगुनग्रामा', 'सब कथा ·· कही।'

——उपर्युक्त 'बखान' में कथित 'सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती' इस उपदेशका उपसंहार 'श्रवन सुजस सुनि आयउँ' में होगा। (मा० त० सु०)

टिप्पणी—३ श्रीहनुमान्‌जीने समस्त लंका खोज डाली पर श्रीजानकीजी न मिलीं, जब विभीषणजीने युक्ति बताई तब मिलीं। इसी प्रकार बिना मर्मीके युक्ति बताए ईश्वर नहीं मिलते—यह ग्रंथकारका उपदेश है। यथा—'भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइ अनुकूला।'

करि सोइ रूप गयेउ पुनि तहवाँ। बन असोक सीता रह जहवाँ॥ ६॥

अर्थ—फिर वही (मशकसमान) रूप धारण करके अशोकवनमें जहाँ श्रीसीताजी रहती थीं वहाँ गए। (बीचमें विभीषणजीसे मिलनेके लिए विप्ररूप कर लिया था। अब पुनः पूर्व-सूक्ष्म-रूप धर लिया)।६।

टिप्पणी—१ 'तहवाँ'। विभीषणजीके वचनमें यह न खुला कि श्रीजानकीजी कहाँ हैं—'जेहि बिधि जनकसुता तहँ रही'। 'तहँ' को यहाँ खोला कि अशोक-वनमें जहाँपर वे थीं। वन बहुत बड़ा है, उसमें जहाँ वृक्षके नीचे वे बैठी थीं उसके समीपके वृक्षपर गए। इतने समीप गए कि जहाँसे उनका कृश शरीर और शीश-पर जटाकी एक वेणी रात्रिमें उन्हें देख पड़ी। कुछ रोशनी थी या नहीं, इसका पता नहीं।

२—पूर्व पर्वतपरसे लंकापुरीको जब हनुमान्‌जीने देखा था तब वहाँ 'बन बाग उपवन बाटिका००' सबको पृथक्-पृथक् कहा। पर जहाँ श्रीजानकीजी हैं, वहाँ वन, बाग, उपवन, वाटिका चारों हैं—ऐसा विलक्षण यह बाग है। चारोंके प्रमाण, यथा—'तहँ असोक उपवन जहँ रहई। सीता बैठि सोचरत अहई', 'बन असोक सीता रह जहवाँ'। 'चलेउ नाइ सिर पैठेउ बागा, फल खायउ०' और 'नाथ एक आवा कपि भारी। तेहि असोक बाटिका उजारी'।

३—रावणको शयन करते देखा था और श्रीसीताजीको अशोकवृक्षके तले बैठे देखा। भाव कि रावणकी मृत्यु होगी और श्रीसीताजी शोकरहित होंगी।

देखि मनहि महुँ कीन्ह प्रनामा। बैठेहिं बीति जात निसि जामा॥ ७॥

अर्थ—(श्रीसीताजीको) देखकर मन हीमें प्रणाम किया। (देखा कि उनको) रात्रिके पहर (अर्थात् सारी रात) बैठे ही बीत जाते हैं। अर्थात् रात सोनेका समय है पर इन्हें शोचमें बैठेही कटती है। ७।

टिप्पणी—१ (क) 'देखि मनहि महुँ०' इति। भाव कि अभी प्रकट होकर प्रणाम करनेका अवसर न था। यदि शरीरसे या वचनसे प्रणाम करते तो सब जान जाते। वहाँ राक्षसियाँ बहुत हैं; कोई जान न पावे, इससे मानसिक प्रणाम किया। (ख) 'निसि जामा'—रातमें कोई तीन, कोई साढ़े तीन, कोई चार प्रहर मानते हैं, अतः झगड़ेकी बात उठाकर केवल 'निसि जामा' कहा, अर्थात् जितने भी पहर हों सभी। (इस प्रसंगमें विप्रलम्भ अर्थात् वियोग शृंगारका वर्णन है।)

नोट—१ अग्निवेश रामायणमें श्रीहनुमान्‌जीका द्वादशीको सायंकाल समय लंकापुरीमें पहुँचना और सूक्ष्म अदृश्य रूपसे रात्रिमें लंकापुरीको देखना तथा पिछले अर्थात् चौथे प्रहरमें श्रीजानकीजीका दर्शन पाना वर्णित है। यथा—'सन्ध्यायां हरिवासरे हरिसुतो ह्यत्वांतरायानुपथि ।....कृत्वा सूक्ष्मदृश्यरूपमसुरैरालोक्य रात्रौ पुरीम्। पाश्चात्ये प्रहरे ददर्श हनुमान् तस्मिन्वने जानकीम् ॥'

२—बाबा हरिदासजी 'बीति गई' पाठ देते हैं और 'निसि जाम' (निसि याम) का अर्थ 'तीन पहर रात' करते हैं, यथा—'नक्त निशा रजनी क्षपा क्षणदा रैन त्रियाम। तमी शर्वरी रातिको यामिनि सारंग नाम ॥' भाव कि 'त्रियामा' रात्रिका एक नाम है। ☞ रात्रिको बैठे ही बैठे बिता देना, भर रात बैठे ही रह जाना यह विरहका देश और दशा भी है। श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि आज भी कोई पतिव्रता स्त्री यदि पराये वशमें पड़ जाती है तो रातको नहीं सोती, सारी रात जागते बैठी रहेगी, दिनमें चाहे सो ले।

३—वाल्मीकीयके मतानुसार कुछ रात बाकी रह गई थी जब इनको श्रीसीताजीका दर्शन हुआ; यथा—'किञ्चिच्छेषा निशाभवत्। सुं० १८। १।' उसी समय चन्द्रमाका उदय हुआ था जिससे वे उनको देख सके थे।

कृस तनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदयँ रघुपति-गुन-श्रेनी ॥ ८ ॥

अर्थ—शरीर दुबला हो गया है। सिरपर जटाकी एक 'वेणी' (जूड़ा, लट) हो गई है। (वे) हृदयमें श्रीरघुनाथजीके गुणसमूहको (स्मरण करती हुई श्रीरामनाम) जपती हैं। ८।

टिप्पणी—१ 'कृस तनु सीस जटा' से ज्ञात है कि अच्छी तरह ओढ़ने भरको वस्त्र भी नहीं है (अथवा बिरहकी दशामें वस्त्रका सँभार नहीं है, वस्त्र ठीकसे ओढ़े नहीं हैं। अथवा, शरीरका अत्यन्त कृश हो जाना तो केवल मुखारविन्दके दर्शनसे जान गये, शरीर और सिर खुला हुआ है। [गीतावली और रामचन्द्रिकामें इस प्रसंगका वर्णन भली प्रकार किया गया है। गी० सुं० २, यथा—'देखी जानकी जब जाइ। परम धीर समीरसुतके प्रेम उर न समाइ ।१। कृस सरीर सुभाय सोभित लगी उड़ि-उड़ि धूलि। मनहुँ मनसिज मोहनी मनि गयो भोरे भूलि ।२। रटति निसि बासर निरंतर राम राजिवनयन। जात निकट न बिरहिनी-अरि अकनि ताते बयन ।३।' बरवै रामायणमें श्रीजानकीजीने अपने कृश शरीरके सम्बन्धमें श्रीहनुमान्‌जीसे स्वयं कहा है, 'अब जीवन कइ है कपि आस न कोइ। कनगुरिया कइ मुँदरी कँगना होइ ।३८।', अर्थात् कनिष्ठ अँगुलीकी अँगूठी अब इतनी ढीली हो गई कि कलाईके कंगनका काम दे रही है। 'कृश तन' से जनाया कि वे शोकान्वित, चिन्तित और उदास रहा करती थीं तथा भोजन भी न करती थीं; यथा—'अश्रुपूर्णमुखीं दीनां कृशामनशनेन च। शोकध्यानपरां दीनां नित्यं दुःखपरायणाम्। वाल्मी० सुं० १५ ।१३।', 'उपवास कृशां दीनां निःश्वसन्तीं पुनः पुनः। १५। १६।' तथा च—'शुष्यन्तीं रुदतीमेकां ध्यानशोकपरायणाम्। दुःखस्यान्तमपश्यन्तीं रामां राममनुव्रताम्। १६। ८।' अर्थात् ध्यान और शोकपरायण होनेसे शरीर सूख गया था। दुःखका पार न मिलता था। वे केवल श्रीरामजीका ध्यान लगाये हुए थीं। पुनश्च—'उपवासेन शोकेन ध्यानेन च भयेन च। परिक्षीणां कृशां दीनामल्पाहारां तपोधनाम्। वाल्मी० ५। १६। २०।']

२—'सीस जटा एक बेनी' इति। [स्त्रियोंमें सिरके केशोंकी प्रायः तीन चोटियाँ बनाकर गुही जानेकी रीति है। वह तीनों चोटियाँ मिलकर एक लट बन गई हैं। अथवा, इससे जनाया कि केश बिखरे पड़े रहते थे, कभी बाँधे न जाते थे जिससे सब आपसमें मिलकर एक लट या जूड़ा सरीखे हो गये हैं। बाल साफ न किये जाने और कंघी न करनेसे मैलके संयोगसे ऐसे हो जाते हैं; यथा—'मलसंकुलमूर्धजाम्। वाल्मी० सुं० १७। १६।] पुनः भाव कि तीनों चोटियाँ मिलकर एक 'वेणी' हो गई हैं जैसे गंगा, यमुना, सरस्वती मिलकर (त्रि) वेणी हुई हैं।! वाल्मी० सुं० १६। १६ में भी एक ही वेणीका उल्लेख है; यथा—'एकया दीर्घया वेण्या शोभमानामयत्नतः।' श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि पतिव्रता पतिके वियोगमें तीन लड़ की वेणी नहीं

रखती। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ सेंदुर सरस्वती और मोती लड़ सुरसरि रहित केवल वाल यमुनावत् हैं'—पर वस्तुतः यहाँ त्रिवेणीवाली वेणी अर्थ नहीं है)।

टिप्पणी—३ इस अर्धालीमें बाह्यान्तर दोनों वृत्तियाँ कहीं। पूर्वार्द्ध 'कृस तन सीस जटा एक बेनी' बाह्य वृत्ति है और उत्तरार्ध 'जपति हृदय०' अन्तरंग वृत्ति है। रामविरहमें शरीर कृश हो गया है, वचन रामनाममें लगा है, श्रीरामजी अवश्य आयँगे यह विश्वास मनमें है और मनको रामचरणमें लीन किये हुए हैं। इस प्रकार मन, वचन, कर्म तीनोंसे श्रीरामचरणमें अनुरक्त हैं। इसीसे आगे हनुमान्‌जीसे संदेशा भेजा है कि 'मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी। ५। ३१।'

नोट—इससे उपदेश देते हैं कि भगवत्-प्राप्ति-विना संसारके समस्त भोग्य पदार्थ त्याज्य हैं।

टिप्पणी—४ 'जपति सदा रघुपति गुन श्रेनी' इति। (क) पूर्व आ० २९ में श्रीरामजीकी, कनकमृगके पीछे दौड़ते हुए जानेवाली, छबिको हृदयमें रखकर नाम रटते रहना कहा है, यथा—'सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम।' और यहाँ कहते हैं कि 'जपति सदा रघुपति गुन श्रेनी।' इसी प्रकार श्रीभरतजीके सम्बन्धमें कवि कहते हैं कि—'राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जल जात। ७। १।' पर श्रीहनुमान्‌जीने उनसे यही कहा कि—'जासु बिरह सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुन गन पाती। ७। २।'—इन उद्धरणों से सिद्ध होता है कि गुणगणश्रेणी एवं गुणगणपातीका अर्थ है 'राम राम' 'राम राम रघुपति' इत्यादि और 'जपति रघुपति गुन श्रेनी' का अर्थ है—'हृदयमें श्रीरामजीकी छविका ध्यान रखते हुए रामजीके नाम रटती हैं।' जपसे रटना और स्मरण दोनों जनाये। श्रेणी=पंक्ति। [अध्यात्म रामायणमें भी रामराम रटना कहा है, यथा—'भूमौ शयानां शोचन्तीं रामरामेति भाषिणीम्। सुं० सर्ग २।' 'गुणश्रेणी' से श्रीरामजीके पराक्रम, सौन्दर्य, करुणा, अनुकम्पा, दीन-दयालुता आदि गुणों एवं ऐसे गुणसूचक नामोंका स्मरण तथा विरहमें उनका उच्चारण भी अभिप्रेत हो सकता है।]

प० प० प्र०—हनुमान्‌जीने यह बात जान ली कि वे हृदयमें रघुपति गुणगणोंका चिंतन कर रही हैं। इससे सिद्ध हुआ कि श्रीहनुमान्‌जीको परचित्तविज्ञान-सिद्धि प्राप्त थी।

टिप्पणी—५ इस अर्धाली और दोहेमें ग्रन्थकारने नामजपकी विधि वताई है कि भगवान्‌की मूर्त्तिका अनुसंधान करके मंत्र जपे। श्रीसीताजीके हृदयमें श्रीरघुपतिगुण-श्रेणी है, मन श्रीरामचरणारविन्दमें लीन है, छबिका ध्यान है और 'रटति रहति हरिनाम'। इसी तरह श्रीरामजन्मपर और श्रीमनुशतरूपाजीके प्रसंगोंमें जपकी विधि कही गई है; यथा—'मज्जहिं सज्जनवृंद बहु पावन सरजू नीर। जपहिं राम धरि ध्यान उर सुंदर श्याम सरीर।१।३४।', 'द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग। बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग।१।१४३।'

नोट—'कृसतन०' तामरस और 'जपति०' पायकुलक है। (प्र० चं०)।

दोहा—निजपद नयन दिए मन रामचरन महुँ* लीन।
परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन॥ ८॥

अर्थ—(श्रीजानकीजी) नेत्रोंको अपने चरणोंमें लगाए हुए हैं, (और उनका) मन श्रीरामजीके चरणोंमें लीन (अनुरक्त, निमग्न) है। श्रीजानकीजीको दीन (दुःखकी अवस्थामें) देखकर पवनकुमार परम दुःखी हुए। ८।

टिप्पणी—१ 'निज पद नयन दिए' इति। (क)—['निज पद' में दृष्टिको लगानेमें भाव यह है कि जो अड़तालीस चिह्न श्रीरामपदमें हैं वे ही श्रीजानकीजीके चरणोंमें हैं। जो श्रीरामजीके वामपदमें २४ चिह्न हैं वे ही श्रीजानकीजीके दक्षिणपदमें और जो उनके दक्षिणपदमें हैं वे ही इनके वामपदमें हैं। इस प्रकार निज-

* चरन महुँ—१७२१, १७६२, कोदवराम। चरन महँ—छ०। कमल पद—का०, १७०४, दुलही।

पदमें श्रीरामपदोंका अध्याहार है। अपने चरणचिन्ह-दर्शनसे उद्दीप्त वे श्रीरामचरणचिह्न दर्शनमें मनसे लीन हैं।—(पां०, (शिला)] (ख)–नेत्रोंको अपने चरणोंमें लगाये हैं, जिसमें मनको संकल्प-विकल्प करनेका अवसर ही न मिले। नेत्रोंकी चंचलतासे मन चंचल हो जाता है, उसकी अन्तरंग वृत्ति छूट जाती है, बाह्य वृत्ति हो जाती है। अतः प्रथम नेत्रोंका निरोध कहा। अथवा, (ग)—पदके देवता विष्णु हैं। बाहर तो नेत्र और भीतर सूक्ष्म मन ये ही दो इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं। दोनों ही ध्यानके प्रतिबंधक हैं; अतः दोनोंको भगवान्‌में लगा दिया। दर्शनमें नेत्र और मन साथ-साथ प्रवृत्त होते ही हैं; यथा—'बालक बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा॥ १। २१६।', 'मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा॥ २।११५।' तथा यहाँ 'निज पद दिए…'।

नोट—१ 'निजपद नयन दिये मन'। चरणोंपर ध्यान जमाये रहना त्रिदंड संन्यासका लक्षण है। मन, वचन, कर्म तीनोंका निरोध करना त्रिदंड संन्यास है। पुनः, दोनों चरणोंके अंगुष्ठोंके मध्यमें नेत्रोंको स्थिर करना यह योगांग सिद्ध उन्मनी मुद्रा है, इससे जानकीजीकी योगावस्था जनाई। 'कृस तन सीस जटा एक बेनी' यह योगियोंका लक्षण है। निज पदोंमें श्रीरघुनाथजीके चरणोंका अध्याहार है।

२ शंका—यहाँ ग्रंथकारने चरणोंका विशेषण कमल क्यों नहीं दिया? समाधान—जिस समय श्री-राघवजी मृगके पीछे दौड़े, उस समय श्रीजानकीजीने उनके चरणोंको कमलवत् कोमल नहीं समझा था, नहीं तो रोक रखतीं और यह ध्यान उसी रूपका है; अतः कमल विशेषण न दिया। पुनः उसी छबिके स्मरण द्वारा भाव यह जनाया कि जैसे मेरे वचनको मान आप मृगके पीछे दौड़े, पृथ्वीकी कठोरताको तनिक भी नहीं बिचारा और चरणोंकी कोमलताको भी स्मरण न किया; उसी प्रकार इस समय भी आप अपने चरणोंकी कोम-लताको न स्मरण कीजिए, आइए और मेरा क्लेश दूर कीजिए। पुनः, संन्यासियोंके लिए सब रसोंका त्याग लिखा है, जानकीजी संन्यासावस्थामें हैं। कमल सरस, सुगन्ध तथा परागमय होता है, अतः भगवत्प्राप्तिमें रसोंको बाधक जान आचार्य्यने कमलकी उपमा नहीं दी। (मा० त० सु०)। पुनः धर्मशास्त्रका आदेश है कि जिस स्त्रीका पति परदेशमें हो उसे पुष्पमाला, इत्र, क्रीड़ा, शरीर संस्कार, समाजोत्सवमें सम्मिलित होना, गाना, ताम्बूल, स्निग्ध उत्तेजक भोजन, विनोद आदिका सर्वथा त्यागकर देना चाहिए।–'क्रीड़ा शरीर संस्कार समाजोत्सवदर्शनम्। हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषित भर्तृका।' (याज्ञवल्क्य स्मृति)। इसके अनुसार पुष्प एवं सौगंधिक होनेसे 'कमल' का स्मरण होना प्रोषितपतिकाके धर्म व्याघातका कारण होता है। यदि इस समय एकान्तमें वे चरणोंको कमलवत् स्मरण करतीं तो कमलके पुष्पत्व एवं सौगंधिकत्वका स्मरण होना अनिवार्य था जो उनके लिये शास्त्रवर्जित होनेसे धर्मघातक माना जाता इसीसे चरणके साथ 'कमल' विशेषण न तो यहाँ है और न आगे 'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना' में। (वेदान्तभूषणजी)।

३—पंजाबीजीका मत है कि 'निज पद' में नेत्रोंको लगानेका भाव यह है कि तुमही हमारे बंधनके कारण हो; यदि श्रीलक्ष्मणजीकी खींची हुई रेखाका उल्लंघन तुम न करते तो मैं इस दशाको न प्राप्त होती। और मनको श्रीरामचरणमें लगानेका भाव यह कि मानों मनसे कहती हैं कि तेरी ही प्रेरणासे ये चरण-कमल मृगके पीछे धाये। अथवा, नेत्रोंको चरणोंके सम्मुख इस विचारसे किया कि नेत्र द्वार हैं और चरण कपाट हैं, ये उनको बाहर न जाने देंगे; तथा मन प्रभुके चरणोंसे प्रार्थना करता है कि शीघ्र प्रयत्न करके आइये और हमारे दुःखको छुड़ाइये। पुनः, चरण ही वियोगमें संयोग करानेवाले हैं, अतः उनमें मनको लीन किया। (पां०)।

४—श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि नेत्रोंको चरणोंमें लगाना यह स्त्रियोंकी मुद्रा है और नेत्रोंसे नासिकाके अग्रभागको देखना पुरुषोंकी मुद्रा है।

टिप्पणी—२ पूर्व कहा कि 'जपति हृदय रघुपति गुनश्रेनी' अर्थात् रामनाममें मन लगा है और, यहाँ कहते हैं कि रामचरणमें मन लगा है। एक ही समयमें मन दो जगह नहीं लग सकता, यह सामर्थ्य जीवमें नहीं

है; ये ईश्वर हैं; अतः इनको यह सामर्थ्य है। (प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि मन दो प्रकारका होता है, एक बाह्य मन, दूसरा आन्तमन। बाह्य मन स्थूल है, वही चरणचिह्नोंमें लीन है। आन्तमन गुणश्रेणीका चिन्तन कर रहा है। एक मन तो यह विचार कर रहा है कि मेरे लिये प्रभुने कठोर शिवचापको तोड़ा, परशुरामका गर्व चूर किया, जयन्तकी आँख फोड़ी पर मुझे छुड़ाने क्यों नहीं आते हैं, इत्यादि। वे रघुपति हैं, अपने कुलकी कीर्तिके लिए वे अवश्यं आयेंगे, इत्यादि।)

३—'परम दुखी भा पवनसुत····' इति। (क) भाव यह कि विना देखे दुःखी थे और अब दीन दशा देखकर 'परम दुखी' हुए। (ख)—पवनसुत दुःखी हुए। भाव यह कि 'पवनतनय बल पवन समाना' अर्थात् ये परम बलवान् हैं; पर यहाँ कुछ भी पराक्रम करनेका मौक़ा इस समय नहीं है; इससे दुःख सह रहे हैं कि बल होते हुए भी कुछ नहीं कर सकते।

नोट—४ यथा (गीतावली पद ५)—'सुवन समीरको धीर धुरीन बीर बड़ोइ। देखि गति सिय मुद्रिका की बाल ज्यों दियो रोइ॥ १॥ अकनि कटु, बानी कुटिल की क्रोध विंध्य बढ़ोइ। सकुचि सम भयो ईस आयसु कलसभव जिय जोइ॥ २॥ बुद्धिबल साहस पराक्रम अछत राखे गोइ। सकल साजसमाज-साधक समउ कहै सब कोइ॥ ३॥' (सुं०)।—यहाँ द्वितीय उल्लास अलंकार है। इसी प्रकार वाल्मी० सुं० १९।२८ में श्रीहनुमान्‌जीके स्वयं वाक्य हैं कि सुख-भोगने योग्य इन जानकीजीको दुःखी देखकर मेरा कलेजा मारे दुःखके फटा जाता है; यथा—'सुखार्हां दुःखितां दृष्ट्वा ममापि व्यथितं मनः॥'

टिप्पणी—४ 'जानकी' नामका भाव यह कि रातदिन जागना, एक आसनपर निरन्तर बैठे मन्त्र जपना और मनको भगवान्‌में लीन करना ये योगीके काम हैं, सो ये कर रही हैं। यह यथार्थ ही है क्योंकि ये योगिराज जनकजीकी कन्या हैं—'जनको योगिनां वरः'।

५—इस प्रसंगके आदि और अन्त दोनोंमें दुःख ही कहा—'जानतहूँ अस स्वामि विसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी। ८। १।' उपक्रम है और 'परम दुखी भा····' उपसंहार। भाव यह कि स्वामीको भुलाकर दुःखी होना इन्होंने अंगीकार न किया, वरन् उनके विरहमें दुःखी बनी रहना स्वीकार किया इसीसे प्रभु भी दुःखी हुए। ☞ यह ग्रंथकारका उपदेश है। [यह दोहरा दोहा मिश्रित छन्द है]

'लंका कपि प्रवेस जिमि कीन्हा' प्रसंग समाप्त हुआ।

'पुनि सीतहि धीरजु जिमि दीन्हा'—प्रकरण

तरु पल्लव महुँ रहा लुकाई। करै विचार करौं का भाई॥ १॥

अर्थ—वृक्षके पत्तेमें छिप रहे और विचार करते हैं—अरे भाई! क्या करूँ? (अर्थात् सीताजी नीचेकी ओर दृष्टि किए हुए समाधि अवस्थामें हैं और बहुतसी राक्षसियाँ इनकी रक्षा कर रही हैं, ऐसेमें इनका शोक मैं क्योंकर दूर करूँ?)। १।

टिप्पणी—१ पल्लव एकवचन है। इतना सूक्ष्मरूप है कि एक ही पल्लवमें छिप गए। छिपे कि जिसमें राक्षसी न देख पावें। पुनः, रावणका आगमन जानकर छिप रहे।

नोट—१ वाल्मी० सुं० १८।३२ 'पत्रगुल्माह्यान्तरे सक्तो हनुमान्संवृतोऽभवत्॥' रावणका आगमन देखकर सघन पत्तोंमें छिपना कहा गया है। बाबा हरिदासजीका मत है कि वे श्रीसीताजीका दुःख न देख सके अतः छिप गए अथवा क्या करना कर्त्तव्य है यह विचार करनेके लिये एकान्तमें हो गए जिसमें मन दूसरी ओर न जाय। अथवा, जैसे लंकिनीने मुझे, अतिलघुरूप होनेपर भी देख लिया था वैसे ही यहाँ कोई निशाचरी मुझे न देख ले, यह सोचकर पल्लवके भीतर छिप रहे।

नोट—२ 'करै विचारु' इति। भाव यह कि श्रीजानकीजी तो सिर उठाती ही नहीं, दृष्टि चरणोंसे हटाती ही नहीं और ध्यानमें मग्न हैं तब मुद्रिका इनके पास कैसे पहुँचाऊँ, दूसरे राक्षसियाँ पहरा दे रही हैं; कुछ

समझमें नहीं आता कि क्या किया जाय। ऐसी ही अवस्थामें प्रायः 'करउँ का भाई' ऐसा स्वतः मनमें विचार उठ पड़ा करता है।

टिप्पणी—२ 'करै बिचारु' से हनुमान्‌जीकी बुद्धिमत्ता जनाई। ये बड़े बुद्धिमान् हैं, बिना विचारे काम नहीं करते। इनके विचारके उदाहरण ये हैं—'इहाँ पवनसुत हृदय बिचारा। रामकाज सुग्रीव बिसारा। ४। १९।', 'कपि करि हृदय बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब। ५। १२।', 'ब्रह्म अस्त्र तेहि साधा कपि मन कीन्ह बिचार। ५। १९।', तथा यहाँ। विचार करनेका तात्पर्य यह है कि विचारकर कार्य करनेसे कार्य सिद्ध होता है।

३—'करौं का भाई' इति। 'भाई' मनका सम्बोधन है; बोलने और विचार करने की यह भी एक रीति है।

नोट—३ 'जग बहु नर सर सरि सम भाई।१। ८।', 'जो नहाइ चह एहि सर भाई। १।३९।', 'करहिं बिचारु करउँ का भाई॥ १। ५२।', 'होइहि जात गहरु मोहि भाई। १। १३२।' इत्यादि सबोंमें मनके प्रति सम्बोधन 'भाई' शब्दसे किया गया है। यह बोलचालका मुहावरा है। पांड़ेजी कहते हैं कि—वृक्ष और वानरका सम्बन्ध है अतः 'भाई' कहा। अथवा, 'का भाई' अर्थात् समयानुकूल श्रीजानकीजीको क्या भावेगा जो मैं करूँ?

तेहि अवसर रावन तहँ आवा। संग नारि बहु किये बनावा॥ २॥

अर्थ—उसी समय रावण वहाँ आया। बहुत बनाव (शृंगार) किये हुए है और बहुत सी बनी-ठनी स्त्रियाँ उसके साथ हैं। २।

टिप्पणी—१ 'तेहि अवसर०' इति। [अर्थात् जिस समय श्रीहनुमान्‌जी विचारधारामें पड़ गये, उसी समय। ☞ जब भगवद्भक्तोंको असमंजस आ पड़ता है कि क्या करें, उस समय भगवत्कृपा उनकी सहायता करती है। 'तरुपल्लव' में इनका छिपना भी मानस-मतानुसार हरि इच्छा से ही हुआ और] रावणका इस प्रकार इसी अवसरपर (और संभवतः आज ही प्रथम-प्रथम) आगमन भी प्रभुकी प्रेरणासे हुआ। [इस ग्रंथमें ही बहुतसे उदाहरण ऐसे हैं जिनमें भगवद्भक्तोंको असमंजसके कुयोग ही सुयोग रूप हो गये। जैसे—(क) किष्किंधाकाण्डमें जब 'मन हनुमान कीन्ह अनुमाना। मरन चहत सब बिनु जलपाना। ४। २४।' तब विवर देख पड़ा जिसमें जानेपर तपपुंज स्वयंप्रभाका दर्शन हुआ जिसने समुद्र-तटपर सबको पहुँचा दिया। (ख) 'डरपे गीध बचन सुनि काना। अब भा मरन सत्य हम जाना। ४। २७।' यह कुयोग होनेपर उसी संपातीसे श्रीसीताजीका पता मिला। (ग) 'मिलिहि न पावक मिटिहि न सूला। ५। १२।' उस परम विरहाकुल दशामें 'मुद्रिका' मिलनेका सुयोग हुआ। (घ) मेघनाद जब हनुमान्‌जीको नागपाशमें बाँधकर ले गया और इनकी पूँछ जली तब 'जारा नगरु निमिष एक माहीं। एक बिभीषन कर गृह नाहीं।' यह सुयोग हुआ। इत्यादि। वैसे ही यहाँ रावणका एकायकी (अकस्मात्) आगमन, त्रिजटाका स्वप्न सुनाना और श्रीसीताजी का अशोकसे अंगार माँगना—यह सुयोग हुए। (मा० त० भा०)।]

२—'रावन तहँ आवा' इति। अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि रातको चौथे पहरमें रावणको स्वप्न हुआ कि एक वानर श्रीजानकीजीके समीप आया है और उनसे बातें कर रहा है अतएव वह जागते ही तुरन्त स्त्रियोंको लिये हुए वहाँ आया। (वाल्मीकीयमें स्वप्नका उल्लेख नहीं है, पर सोकर उठते ही श्रीसीताजीके पास आना उसमें भी है)।

नोट—१ अध्यात्मरामायण सर्ग २ श्लोक १३ और १४ में रावणको स्त्रियों सहित आते देखकर हनुमान्‌जीका पत्तोंमें छिपना कहा गया है और मानसकविने छिपनेके पश्चात् रावणका आगमन कहा है, जब वे विचारमें पड़े हुये थे कि क्या-क्या उपाय श्रीजानकीजीसे मिलनेका करूँ। श्लोक १७ में रावणका स्वप्न है। यथा—स्वप्ने रामेण सन्दिष्टः कश्चिदागत्य वानरः। कामरूपधरः सूक्ष्मो वृक्षाग्रस्थोऽनुपश्यति।१७।' आनन्दरामा-

यण सारकाण्ड सर्ग ६ में भी रावणका स्वप्न इत्यादि है। यथा—'ददर्श रावणः स्वप्ने कपिः कश्चित्समागतः। अशोकवनिकायां सा दृष्टा तेन विदेहजा।६६। रामहस्तान्मृतिः शीघ्रं लब्धुं धर्षयाम्यहम्। कपिर्दृष्ट्वा राघवाय निवेदयतु मत्कृतम्। ७०। आगमिष्यति तच्छ्रुत्वा रामो मां निहनिष्यति। इति निश्चित्य समयौ स्त्रीभिः संवेष्टितो मुदा।। ७१।।'

टिप्पणी—३ 'संग नारि बहु किये बनावा' इति। ये सब स्त्रियाँ उसकी रानियाँ हैं, यह बात कविने आगे स्वयं स्पष्ट कर दी है, यथा—'मंदोदरी आदि सब रानी। तव अनुचरी करउँ पन मोरा।६।४-५।' बालकाण्डमें कहा था कि 'देव यच्छ गंधर्व नर किन्नर नागकुमारि। जीति वरीं निज बाहु बल बहु सुंदर वर नारि। । १८२।' वही सब ये स्त्रियाँ हैं जो इसके साथ हैं। संग लाया, जिसमें जानकीजी जानें कि रावण स्त्रियोंको बहुत सुख देता है। 'बहु किए बनावा' जिसमें बनाव देखकर मोहित हो जायँ। स्त्रीको मोहित करनेके लिए पुरुष शृंगार करते हैं और पुरुषको मोहित करनेके लिए स्त्रियाँ शृंगार करती हैं। स्त्रियोंको शृंगार कराए हुए हैं जिसमें उन्हें देखकर मेरे वश हो जायँ और स्वयं शृंगार किए हैं, जिसमें जानें कि बड़ा ऐश्वर्यमान् है और बड़ा सुंदर है। [वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि वह रावण समस्त आभूषणोंको पहननेके कारण अपूर्व शोभायुक्त था और परम रूपवती स्त्रियोंसे घिरा हुआ ऐसा देख पड़ता था जैसे तारागणोंसे घिरा हुआ चन्द्रमा सुशोभित हो। यथा—'स सर्वाभरणैर्युक्तो बिभ्रच्छ्रियमनुत्तमाम्। ५। १८।६।', 'वृतः परम नारीभिस्ताराभिरिव चन्द्रमाः। ५। १८। २६।']

नोट—२ ☞ रावणने जो संकल्प किया था कि 'तौ मैं जाइ बैर हठि करिहौं...मन क्रम वचन मंत्र दृढ एहा', इसीको निबाहनेके लिए कुछ महानुभावोंने यह मानकर कि रावणके हृदयमें सीताजीके प्रति कामचेष्टा कदापि न थी, इस प्रसंगके भावार्थ दूसरी तरह किये हैं। अध्यात्ममें भी लिखा है कि अपनी मृत्यु शीघ्र रामजीके हाथों हो, इस विचारसे स्वप्न देखनेपर उसने निश्चय किया कि मैं अपने वचन-बाणोंसे सीताजीको बेधूँ जिसमें वानर शीघ्र रामजीको जाकर ले आवे।

३—जो अर्थ रावणको भक्त मानकर किये गये हैं वे क्लिष्ट हैं। उनको इस ग्रंथमें गुप्तार्थ (रावणपक्षका अर्थ) शब्दसे सूचित किया जायगा।

४—गुप्तार्थ—'संग नारि बहु किए बनावा'। इनको साथ ले जानेका कारण यह है कि सीताजी रावणकी इष्टदेवता हैं। वह सोचता है कि मेरी मुक्ति तो प्रभुके शरसे मारे जानेसे हो ही जायगी पर इनकी मुक्ति कैसे होगी? इनको ले जाकर शरणागत करा दूँ, इनकी कृपा हो जानेसे इनकी मुक्ति हो जायगी; इसीसे आगे कहेगा कि 'तव अनुचरी करौं', आपकी दासी इनको बनाता हूँ। पुनः साथ ले जाकर स्त्रियोंको शिक्षा देता है कि देखो पतिव्रता ऐसी होती हैं। पुनः, सांसारिक प्राणियोंको अपने द्वारा उपदेश देता है कि अपनी परमपूज्या देवीके समीप भी जाय तो एकान्तमें अकेले कभी न जाय; अतएव वह इष्टदेवीके पास भी इतनोंको साथ लेकर गया। (मा. त. सु.)।

५ प. प. प्र.—रावण किस हेतुसे आया इसमें मतभेद होनेपर भी मानसके पूर्वापर संदर्भानुसार यह निश्चित है कि वह कामवासनासे नहीं आया। 'मन महुँ चरन बंदि सुख माना। ३। २८। १६।' के टिप्पण देखिए। रावण भी अवतार है, यथा—'कहेसि बहुरि रावन अवतारा। ७। ६४।' श्रीरामजी अवतार हैं। दोनों अपना अवतारित्व छिपाकर लीला करते हैं। एक राक्षसलीला करता है दूसरे नरलीला करते हैं। 'तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ।।', 'मन क्रम वचन मंत्र दृढ़ एहा।', ये रावणके विचार हैं। मनमें दृढ़ संकल्प किया है। यहाँ कर्मसे और वचनसे बैरविरोध बढ़ानेके लिये ही आया है। रावण सीताजीका भक्त था ऐसा मानना भी सुसंगत नहीं है।

बहु बिधि खल सीतहि समुझावा। साम दान† भय भेद देखावा।। २।।

† दान—१७०४, का०, १७२१, भा०दा०, १७६२, र० दास, बं० पा०। दाम—कोदवराम, ना०प्र०।

अर्थ—उस दुष्टने बहुत प्रकार सीताजीको समझाया। साम, दाम, भय और भेद दिखाया। ३।

टिप्पणी—१ (क) 'खल' कहनेका भाव कि खलता (दुष्टता) से साम दान समझाया और 'खलता' से भय और भेद दिखाए। (ख) 'बहु बिधि' इति। जैसे रावणने समझाया वैसा गोस्वामीजी न लिख सके क्योंकि उसकी वार्ता अधर्ममय है। अधम बात है, इससे इतना ही कहा कि 'बहु बिधि समुझावा'। पहले भय और प्रीति दिखाकर हार गया है, यथा—'हारि परा खल बहु बिधि भय अरु प्रीति देखाइ।३।२९।' अतः अब बहुत विधिसे समझाकर भय और प्रीति दिखाता है।

२—रावण राजा है। राजाके उरमें नीति बसती है, यथा—'साम दान अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा।६।३७।' अतएव इन चारोंको दिखाया। क्रमसे इन चारोंके उदाहरण ये हैं—(क) 'कह रावन सुनु सुमुखि सयानी', (ख) 'मंदोदरी आदि सब रानी। तव अनुचरी करौं पन मोरा।', (ग) 'कटिहौं तव सिर कठिन कृपाना', (घ) 'संग नारि बहु किये बनावा।'

३—'देखावा' का भाव कि मारता नहीं है, भय दिखाता है कि हम ऐसे हैं, हमारे साथ बहुत-सी रानियाँ हैं, हम इनको सब प्रकार सुख देते हैं और तुम एक ही रहीं तो भी राम तुम्हारी रक्षा न कर सके। उसको पूरी आशा है कि वे उसके अनुकूल हो जायँगी।

नोट—१ 'खल' शब्द मात्र देकर जना दिया है कि उसकी सब वार्त्ता अधर्ममय थी। वाल्मीकिजीने अध्याय २० और २२ में लिखा है वह सब गोस्वामीजीने इन दो चरणोंमें कह दिया।

☞ लमगोड़ाजीकी धारणा ठीक ही है कि श्रीमद्गोस्वामीजी अपने सबसे सुंदर आलोचक हैं। प्रत्येक प्रसंग, वक्त्रता वा वक्तव्यपर यदि हम उन्हीं पूज्य कविके विचार देख लें तो आजकलकी बहुत सी ऊटपटांग शंकायें और आलोचनायें करकरके लोग हमें दुखी न करें। आगेकी वक्त्रता (वक्तव्य) की क्या इससे उत्तम और विवेचना हो सकती है ?

२—गुप्तार्थ—'सर्वेश्वरी' जानकर भी समझाने लगा, इसीसे उसे 'खल' कहा। गुप्त अर्थ यह है कि—'श्रीसीताजीको समझाया कि मैं बहुत प्रकारका खल हूँ।' (मा. त. सु.)।

३—पूर्वार्ध पायकुलक है और उत्तरार्ध स्वागता है।

कह रावन सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी॥ ४॥
तव अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा॥ ५॥

अर्थ—रावणने कहा-हे सुमुखी ! हे सयानी ! सुनो। मन्दोदरी आदि सब रानियोंको तुम्हारी दासी बना दूँगा, यह मेरी प्रतिज्ञा है, तुम एक बार मेरी ओर देख दो। ४-५।

टिप्पणी—१ 'कह रावन सुनु सुमुखि सयानी...' इति। (क) 'सुमुखि' का भाव कि पुरुष स्त्रीके मुखपर मोहित होता है, यथा—'जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मन तव आनन चंद चकोरू।२।२६।', 'अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सियमुख ससि भये नयन चकोरा।१।२३०।', 'प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा। सियमुख सरिस देखि सुख पावा।।१।२३७।', और, 'सोउ मुनि ज्ञाननिधान मृगनयनी बिधुमुख निरखि। बिबस होइ हरिजान नारि बिश्नु माया प्रगट।।७।११५।' इत्यादि। रावण सीताजीके मुखपर मोहित होकर मन्दोदरी आदि सब रानियों को उनकी अनुचरी करता है। 'सयानी'का भाव यह है कि ऐसे लाभको शीघ्र ग्रहण करना उचित है, चूको मत, इसका त्याग न करो।

नोट—१ 'सुमुखि०' के और भाव—(१) तुम्हारा सुन्दर मुख तपस्वीके योग्य नहीं है; यथा—'किं करिष्यसि रामेण सुभगे चीरवाससा॥ वाल्मी० ५।२०।२५।' (२)—यहाँ रावण केवल 'सुमुखि' कहता है और किसी अंगसे विशेषण नहीं देता। कारण कि महारानीजी अपने सब अंगोंको छिपाए, दोनों घुटनोंके बीच अपना सिर किए अपने पैरोंको देख रही हैं और दोनों हाथोंसे दोनों घुटनोंको बाँधे हैं; इसलिए उसे और

कोई अंग दिखाई नहीं पड़ता। मुख कपड़ेके भीतर होनेपर भी चमकता है; अतएव 'सुमुखि' कहा। 'सयानी'का अभिप्राय कि यदि ये मानवी हैं तो मेरी बातोंमें आ जायँगी और यदि ईश्वरी हैं तो बातोंमें न आयेंगी; मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। (रा० शं०) (३)—तुम 'सयानी' अर्थात् चतुर हो, समझ लो कि यदि अभी कहना मान लोगी तो इन सबोंको तुम्हारी दासी बना दूँगा नहीं तो तपस्वियोंको जीतकर जब तुम्हें रानी बनाऊँगा तब तो इन सबोंकी दासी बनाकर रक्खूँगा।

नोट—२ गुप्तार्थ—'सुमुखि' का भाव कि इसी मुखके आशीर्वादसे जीवोंका कल्याण है, हमारे कल्याणका मुख्य कारण आपका मुख है। 'सत्यसंध प्रभु वध करि एहि। आनहु चरम कहत वैदेही॥ तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुरकाज सँवारन।' जब आपने हमारे कल्याणके लिए कहा, तब प्रभु अभिप्राय लखकर उठे। 'सयानी' अर्थात् आप सर्वज्ञ हैं; जिस कारण यहाँ आई हैं वह जानती ही हैं। 'तव अनुचरी करौं' अर्थात् इनको दासी स्वीकार कीजिए। 'पन मोरा' क्योंकि मेरी प्रतिज्ञा तो, अपने ही उद्धारके लिए है। यदि आप कहें कि प्रभु जानें, मैं क्या करूँ, इसलिए कहता है कि यदि आप कृपाकटाक्ष कर दें तो विना परिश्रम मुक्त हो जाऊँ, नहीं तो प्रभुको और मुझको दोनोंको श्रम होगा। (मा० त० सु०)।

टिप्पणी—२ (क) 'मंदोदरी आदि सब रानी।' इति। 'मंदोदरी आदि' मन्दोदरीको आदिमें कहनेका भाव यह कि मन्दोदरी रावणकी समस्त रानियोंमें श्रेष्ठ और परम सुन्दरी है; यथा—'मय तनुजा मंदोदरि नामा। परम सुंदरी नारि ललामा॥१।१७८।' (ख) 'तव अनुचरी करउँ पन मोरा।' इति।—'अनुचरी करउँ' का भाव कि ये तुमसे 'सवति भाव' न रक्खेंगी, तुम्हारी दासी बनकर तुम्हारी सेवा करेंगी। ☞ सौतें कभी दासी बनकर नहीं रहतीं, वे अपना पतिका सुख कदापि नहीं छोड़ना चाहतीं; यथा—'नैहर जनमु भरब बरु जाई। जिअत न करबि सवति सेवकाई।२।२१।'; अतएव रावण कहता है कि मैं उनको दासी बना दूँगा। [वाल्मी० ५।२० में भी कहा है—'मम ह्यसितकेशान्ते त्रैलोक्यप्रवराः स्त्रियः। तास्त्वां परिचरिष्यन्ति श्रियमप्सरसो यथा। ३२।' अर्थात् मेरे रनिवासमें तीनों लोकोंकी परम श्रेष्ठ स्त्रियाँ हैं वे सब तुम्हारी टहल इस तरह करेंगी जैसे अप्सराएँ लक्ष्मीजीकी करती हैं।] यह कहकर अपने वचनकी पुष्टिके लिये कहता है कि यह मेरा प्रण है; मैं प्रतिज्ञा करके सत्य कहता हूँ।—क्योंकि प्रण करके उसे न निवाहनेसे मनुष्य (और फिर नृपति!) अशोभित होता है; यथा—जानकी मंगले—'नृप न सोह बिनु बात नाक बिनु भूषन॥ ४१।' और प्रतिज्ञाके असत्य होनेसे सुकृतोंका नाश होता है; यथा—'सुकृत जाइ जौं पनु परिहरऊँ। १। २५२।'; और सुकृतके नाशसे नरक होता है, इसीसे सुकृती लोग प्रणको पुष्ट रखते हैं। यथा—'सत्य सत्य प्रन सत्य हमारा', 'कह प्रभु हर तुम्हार पन रहेऊ', 'भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी' और 'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाई पन कीन्ह' इत्यादि।

३—'एक बार' का भाव कि यह सब केवल एक बार दृष्टि करनेका मोल है। अथवा, रावणकी ओर श्रीजानकीजी कभी नहीं देखतीं, अतएव एक बार अवलोकन करनेकी प्रार्थना करता है। अथवा, बहुत बनाव किए है सो उसीको दिखाना चाहता है और वे देखती नहीं, नीचेकी ही ओर दृष्टि किए हैं, अतएव एक बार देखनेको कहा।

नोट—गुप्तार्थ—'एक बार बिलोकु' में गुप्त भाव यह है कि एक बार ही के कृपावलोकनसे मेरा तामसी स्वभाव नष्ट हो जायगा और मैं विषयोंसे विरक्त होकर स्त्रियोंको त्यागकर भक्तिमें लग जाऊँगा।

तृन धरि ओट कहति बैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही॥ ६॥

अर्थ—तिनकेकी ओट (आड़, परदा) करके और अपने परम स्नेही अवधपति श्रीरामजीका स्मरण करके वैदेही श्रीजानकीजी कहती हैं—। ६।

* 'तृन धरि ओट कहति' *

सती स्त्रीको परपुरुषकी ओर देखना निषेध है; यदि बात करना पड़े तो परदेसे करे; यह मर्यादा

पतिव्रताओंके लिये रक्खी गई है। इस समय श्रीजानकीजीके शरीरपर अच्छी तरह तन ढकनेको कपड़ा भी नहीं है; परदेकी तो बात ही क्या ? अतएव उन्होंने तृणका ओट करके बात की, सम्मुख नहीं। वाल्मीकीय और अध्यात्म रामायणोंमें भी तृणकी ओटसे बात करना पाया जाता है; यथा—'तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता। वाल्मी० ५। २१। ३।', 'उवाचाधोमुखी भूत्वा निधाय तृणमान्तरे। आध्यात्मे ५।२।३१।'

तृणकी ओटसे बात करनेके अनेक भाव कहे जाते हैं—

(१) रावणने अयोग्य बात कही, अतएव उस पापात्मा दुष्टकी ओर देखना नहीं चाहतीं। अथवा, जैसे रामजी सीताजीको छोड़ किसी दूसरी स्त्रीकी ओर स्वप्नमें भी दृष्टि नहीं डालते, यथा—'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी।१। २३१।','न रामः परदारांश्च चक्षुर्भ्यामपि पश्यति। वाल्मी.२।७२।४८।'; वैसे ही जानकीजी श्रीरामजीको छोड़कर किसी पुरुषकी ओर दृष्टि नहीं करतीं; यथा—'जौ मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं।६।१०८।' 'यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्। वाल्मी. ६।११६।२५।' अतएव बातका उत्तर देनेमें तृणका ओट कर लिया। (पं. रा. कु.)।

(२) 'तृण' का अर्थ तुलसीशब्दार्थमें 'आँचर (अंचल)' और 'घूँघट' दिया है; यथा—'मुख झँपन सारँग दमन सती उपरना जौन। आपदेन भिन्नालयन ये पाँचों तृण तौन।' [पुनः यथा—'शिशु झँपन शारँग दहन चन्द्र अँगौछन जौन। विजय करन अरु त्रय करन तुलसी कह तृन तौन।' (रा. बा. दा.)]—तात्पर्य कि घूँघटकी ओटसे बात की। (मा. त. भा.)।

(३) तृणधरी=पृथ्वी। तृनधरि ओट=पृथ्वीकी ओट लेकर। अर्थात् मुख नीचे करके। [परन्तु वाल्मीकीयके उद्धरणसे स्पष्ट है कि मुख नीचे किये थीं तब भी तृणकी ओटसे बोली थीं। ☞ मानसमें तृण शब्द अनेक बार आया है और तिनकेके ही अर्थमें। यथा—'बिछुरत दीनदयाल प्रिय तन तृन इव परिहरेउ।१। १६।', 'तनु तिय तनय धामु धनु धरनी। सत्यसंध कहुँ तृन सम बरनी।२। ३५। ८', 'राम बिलोकि बंधुकर जोरें। देह गेह सब सन तृन तोरें। २।७०। ६।', 'नहिं तृन चरहिं न पिअहिं जलु...। २। १४२।','जो तृन तोरि लाज परिहरई। ३। १७। १८।', 'तृन समान सुग्रीवहि जानी। ४। ८। १।', इत्यादि।]

(४) वि. त्रि.—'तृण' का अर्थ तिनका ही है। वाल्मीकिजी भी यही कहते हैं 'तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता'। इसकी टीका रामभिरामीमें उक्त है 'तृणमन्तरतः कृत्वा। परमपुरुषस्य साक्षात्सम्भाषणा नर्हत्वात्। भूम्यां किञ्चिदन्तर्धाय मूत्रादि विसर्जनवत् तृणान्तरेण तस्यमुखे प्रत्युत्तरदानम्। कथमस्य दुरात्मनो रजस्तमो भूतस्य मयि दुराशेऽति शुचिस्मिता। प्रत्युवाचेति पुनरभिधानं प्रकार विशेष कथनार्थम्। एतेन तृणीकृत प्राणतया तृणतुल्यतमा रावणस्य ग्रहणाच्च निर्भय प्रत्युत्तर दानम् इति बोध्यम्।' भावार्थ यह कि परपुरुषसे साक्षात् सम्भाषण करना उचित न समझकर तृणको बीचमें करके बोलीं। जिस भाँति साक्षात् मूत्रपुरीषोत्सर्ग पृथ्वीपर न करके तृणादिको अन्तर करके ही किया जाता है। इससे यह भाव भी है कि रावणको तृणके समान मानकर और अपने प्राणको तृणके समान मानकर निर्भय होकर रावणको प्रत्युत्तर दिया। अध्यात्ममें भी 'उवाचाधोमुखीभूत्वा निधायतृणामन्तरे।' कहीं-कहीं मैंने तृणके अर्थको अञ्चल आदि करते सुना है, अतः लिखनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई।

(५) 'तिनका सामने रखकर जनाती हैं कि तू, तेरा समस्त ऐश्वर्य, और तेरी समस्त रानियाँ ये सब तिनकेके समान तुच्छ हैं और ज़रासी देरमें तिनकेके समान नष्ट हो जायँगी। तुझे मैं तृणके बराबर भी नहीं समझती और यह कि मैं अपने प्राणोंको तृणके समान समझती हूँ, शरीरको तृणवत् त्याग वा भस्म कर दूँगी पर तेरी बात न मानूँगी। (पाँ०, शिला)। इत्यादि।

नोट—'कहति बैदेही' इति। वाल्मीकिजीने भी यहाँ 'वैदेही' शब्दका प्रयोग किया है, यथा—'एवमुक्त्वा तु वैदेही रावणं तं यशस्विनी।५। २१। ५।' अतः यहाँ 'वैदेही' और 'अवधपति' से वाल्मीकीयके शब्दोंका भाव ले सकते हैं। वे कहते हैं कि—'कुलं सम्प्राप्तया पुण्यं कुले महति जातया। ५।' में उच्च कुलमें

उत्पन्न हुई और पवित्रकुलमें ब्याही गई। मैं ऐसा गर्हित कर्म कब कर सकती हूँ। वैदेही हूँ अर्थात् विदेहराज की कन्या हूँ, उनके सुकृतोंकी मूर्ति हूँ, यथा—'जनक सुकृत मूरति बैदेही।'; तब भला तेरी ओर कैसे देख सकती हूँ, 'वैदेही' शब्द बड़ा सारगर्भित है, विदेहराजकी कन्यापर प्रलोभनका क्या प्रभाव पड़ सकता है?

टिप्पणी—१ 'कहति बैदेही०' इति। (क) 'वैदेही' से यहाँ 'विदेहपुरकी मर्यादा ग्रहण किए हुए' और 'अवधपति' से रघुकुलकी मर्यादाको ग्रहण किये हुए रावणसे बोलना सूचित किया। अथवा, भाव कि विदेहकी कन्या है, अतः माधुर्यके अनुकूल बोलीं। ☞ न बोलनेसे समझा जाता कि रावणके वचन उन्हें स्वीकार हैं; यथा—'चलेउ सुमंत्र राय रुख जानी।२।३६।', 'सीय सकुच बस उतरु न देई। सो सुनि तमकि उठी कैकेयी।२।७६।', 'मौनं सम्मति लक्षणम्।'; अतएव वे बोलीं पर तृणको अपनी दृष्टिका लक्ष्य करके उसकी ओटसे बोलीं।

(ख)—'तृन धरि ओट' के साथ 'बैदेही' शब्दका भाव यह है कि रावणने वैभव दिखाया उसपर तृण ओटमें धरकर लक्षित किया कि तेरा सब ऐश्वर्य तृणवत् है; क्योंकि विदेहकी कन्या हैं, विदेहजी त्रैलोक्य की संपत्ति तृणके समान गिनते हैं। तब क्या उनकी कन्यापर कोई प्रलोभन असर कर सकता है? कदापि नहीं।

२—'सुमिरि अवधपति०' इति। (क)—रावणने लङ्काके विभवका लोभ दिखाया और अपनेसे स्नेह करनेको कहा; अतएव 'अवधपति' और 'परमसनेही' का स्मरण करना कहा। भाव यह है कि लंकाके वैभवसे अवधका वैभव अधिक है और रावणसे रामजी अधिक हैं। कितने अधिक हैं, यह आगे कहती हैं—'सुनु रावन खद्योत प्रकासा।००'। रावण खद्योत है, उसका वैभव खद्योतके प्रकाशके समान है। और, रामजी भानु हैं, अवधका ऐश्वर्य सूर्यके प्रकाशके समान है। भाव कि तुझमें और श्रीरामजीमें तथा तेरे राज्य और श्रीरामराज्यमें जुगनू और सूर्य तथा जुगनूके और सूर्यके प्रकाशका सा अन्तर है। 'अवधराज सुरराज सिहाई। दसरथ धन सुनि धनद लजाई॥२।३२४।'—ऐसे अवधके स्वामी हैं और वे ही जीवमात्रके 'परमसनेही हैं; यथा—'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपाल।' अतः वे ही स्नेह करने योग्य हैं; यथा—'राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।' (इति विनये)। अतः 'अवधपति परम सनेही'का स्मरण करना कहा। [☞ मारीचने भी कपटमृग बनते समय श्रीरामजीको ही 'परम प्रीतम' कहा है, यथा—'निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं।३-२६।'; वैसेही यहाँ 'परमसनेही' की ही ओर देखना और उन्हींके दर्शनसे सुखी होना यह अपना सिद्धान्त जनाया।] पुनः; (ख) 'अवधपति' के स्मरणका भाव कि आप मर्यादापुरुषोत्तम हैं, धर्मके रक्षक हैं, दुष्टोंके दलनकर्त्ता और सज्जनोंको सुखदाता हैं; अतएव मेरे धर्मकी रक्षा कीजिये, मर्यादाकी रक्षा कीजिये, इस दुष्टसे मुझे बचाइये क्योंकि आप ही मेरे परम स्नेही हैं। (ग) पुनः भाव यह है कि भक्त लोग जो कुछ भी कहते या करते हैं वह सब अपने स्वामीका स्मरण करके तथा उनके ही बल पर कहते-करते हैं। यथा—'बैठे शिव विप्रन्ह सिरु नाई। हृदय सुमिरि निज प्रभु रघुराई। १।१००।', 'अस कहि नारद सुमिरि हरि गिरिजहिं दीन्हि असीस।१।७०।', 'करि प्रनाम बोले भरत सुमिरि सीय रघुराज।२।२६७।', पैठा नगर सुमिरि भगवाना।' तथा यहाँ 'सुमिरि अवधपति०।' (घ)—[☞ पाँड़ेजी 'अवधपति' का अर्थ 'दशरथ' करते हुए यह भाव लिखते हैं कि श्रीरामजी दशरथजीके परम स्नेही हैं जैसे उन्होंने श्रीराम प्रेमके कारण विरहमें शरीर छोड़ दिया वैसे ही मैं 'देहरहित' हो जाऊँगी]।

गुप्तार्थः—'तू तृणमात्र भी मेरी दयाका पात्र नहीं। रामकृपा बिना तू तृणवत् तुच्छ है; अतः अवधपति परमसनेहीको सुमिर। अवधमें शरीर छूटनेसे मुक्ति होती है और ये उसके स्वामी हैं; उनका स्मरण कर, वे अवश्य तेरा कल्याण करेंगे। यह न डर कि तू पापी है, क्योंकि शरणागतपर परम स्नेह करते हैं। सिवाय उनकी शरणके किसी प्रकार तेरा कल्याण न होगा।'

व्र० चं०—'अस०' आदि चौपाईका २३३ वाँ भेद है 'खल०' पायकुलक है।

सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा । कबहुँ † कि नलिनी करइ बिकासा ॥ ७ ॥
अस मन समुझु ‡ कहति जानकी । खल सुधि नहि रघुबीर बान की ॥ ८ ॥

अर्थ—हे दशमुख ! सुन, क्या जुगनूके प्रकाशसे कभी कमलिनी * विकसित होती है ? । ७ । श्रीजानकीजी कहती हैं कि ऐसा मनमें समझ । अरे दुष्ट ! तुझे रघुवीरके बाणकी खबर नहीं है ? । ८ ।

नोट—१ 'सुनु दसमुख' इति । 'दसमुख' शब्दके प्रयोगमें कितना सुन्दर कटाक्ष है । इसमें संकेत है कि तेरा वक्तव्य केवल बकवास है; विचार-शक्ति मानों तेरे दस शीशोंमें नहीं है, तेरे केवल 'दस मुख' हैं । (लमगोड़ाजी) । —'अंधउ बधिर न अस कहहिं नयन कान तव बीस । ६ । २१ ।' से मिलान कीजिये ।

टिप्पणी—१ 'खद्योत प्रकासा । कबहुँ कि नलिनी०' इति । रावणने जो कहा था कि 'एक बार बिलोकु मम ओरा' उसीका वैदेहीजी उत्तर देती हैं कि तू जुगनू है, हमारे नेत्र कमल हैं; अतएव वे कैसे विकसित हो सकें । अर्थात् तेरी ओर ये नेत्र नहीं खुलते । कमलिनीका विकास करनेवाले तो सूर्य ही हैं । वैसे ही मेरे नेत्र रघुनाथजीको देखकर प्रफुल्लित होंगे; मैं उन्हींको देख प्रसन्न हो सकती हूँ । पुनः, भाव कि जबतक भानुका उदय नहीं होता तभी तक जुगनूका प्रकाश है, (वैसे ही जबतक श्रीरघुनाथजी यहाँ नहीं आते, तभीतक तेरी यह दुष्टता है; फिर न रहेगी) । पुनः जैसे कमलिनीके लिये एक सूर्य ही है, वैसे ही उत्तम पतिव्रताके मनमें अपना पति ही है, यथा—'उत्तम के अस बस मन माहीं । सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं ।३।५।' [वा, सीताजी कमलकी लता हैं; उनका मुख कमल है जो वे माता धरणीकी ओर झुकाये हुई हैं । जबतक दिनकर कुलदिवाकरका उदय न होगा, यह नलिनी अपने सिर-कमलको ऊपर उठाकर मुखकमलको विकसित न करेगी । (प. प. प्र.)]

वि० त्रि०—नलिनीका विकाश तो सूर्योदय होनेपर ही होता है, बीचमें उसका विकाश हो नहीं सकता, चाहे कोई उसकी एक-एक पँखुरी उखाड़ डाले , वह विकसित हो नहीं सकती । तू जुगनू है, तेरा प्रकाश ही कितना है, नलिनी चन्द्रके प्रकाशको भी गिननेवाली नहीं । रावण 'सुमुखि' कहकर अपनी आसक्ति जनाता हुआ सम्बोधन करता है, भगवती 'दशमुख' कहकर अपनी घृणा द्योतित करती हुई, सम्बोधन करती हैं ।

जुगनूसे उपमित करनेका कारण कहती हैं कि सूर्यके सामने उसका पता नहीं चलता, इसी भाँति श्रीरामजीके सामने तेरा पता नहीं था, उनके न रहनेपर चमकने आया है ।

टिप्पणी—२ 'अस मन समुझु' इति । (क) भाव कि जानकीजीने ऊपरकी चौपाईमें न साक्षात् रावणको खद्योत और न रामको भानु कहा था पर इन शब्दोंसे साक्षात् कह दिया । कम प्रकाशकी अवधि खद्योत है और पूर्ण प्रकाशकी अवधि सूर्य । अतएव खद्योत और भानुकी उपमाएँ दीं । पुनः (ख)—भाव कि ऐसा मनमें समझ ले कि मैं (रावण) खद्योत हूँ और श्रीरामजी भानु हैं । अथवा, ऐसा समझ ले कि सूर्यके प्रकाशसे कमलिनी विकसित होती हैं, खद्योतसे नहीं । वैसे ही सती स्त्री परपुरुषसे प्रसन्न नहीं होती, अपने पतिको पाकर ही प्रसन्न होती है । + रावणको सहस्रार्जुनने जंतु विशेष समझकर पकड़ा था । यथा—

† कबहुँक—कोदवराम ! ‡ समुझु—१७०४, १७२१, १७६२, भा. दा., छ० । समुझि—कोदवराम, द नपाठक ।

* नोट—शुद्ध संस्कृत 'नलिनी' शब्दका अर्थ है—'मूल-पत्र-पुष्प-फल-सहित कमलवृक्ष', यथा—'मूलनालदलोत्फुल्ला फलैः समुदिता पुनः । पद्मिनी प्रोच्यते प्राज्ञैर्बिसिन्यादिश्च सास्मृता ।'—(अमरकोश पाद-टिप्पणी । श्रीमन्नालाल 'अभिमन्यु' M. A.) । 'नलिन' का अर्थ है 'कमल' । यहाँ श्रीसीताजीके नेत्र कमल हैं । जहाँ-तहाँ कमलपुष्पका ही सूर्यसे विकसित होना सुना जाता है; इससे जान पड़ता है कि 'नलिनी' का अर्थ गोस्वामीजीने कमल लिया है । अथवा, 'नलिनी से कमलनेत्रयुक्त श्रीसीताजी अभिप्रेत हैं, अथवा, श्रीसीताजीका शरीर कमलनालके सदृश कृश हो जानेके कारण 'नलिनी' शब्द दिया गया ।

+ सारूप निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा या अन्योक्ति अलंकार है । यहाँ प्रस्तुत वृत्तान्त तो यह है कि

'धाइ धरा जिमि जंतु बिसेषी। ६। २४। १५।' इससे 'खद्योत' की उपमा बहुत फबती हुई है।]

नोट—२ जो भाव वाल्मी०। ५। २१। १६, १७, १८, १९ में श्रीसीताजीके वचनोंमें है वही यहाँ 'कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा'में हैं। अतः उन वचनोंको यहाँ उद्धृत किया जाता है। 'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा।... अहमौपयिकी भार्या तस्यैव वसुधापतेः॥ १७। व्रतस्नातस्य विप्रस्य विद्येव विदितात्मनः।१८। वने वासितया सार्धं करेण्वेव गजाधिपम्।१९।' अर्थात् जैसे सूर्यकी प्रभा सूर्यको छोड़ और किसीकी अनुगामिनी नहीं हो सकती वैसे ही मैं राघवकी अनन्या पत्नी हूँ, उनको छोड़ दूसरेकी नहीं हो सकती। मैं एकमात्र उन्हींकी उपयुक्त भार्या हूँ। जैसे ब्रह्मविद्या एकमात्र व्रतस्नायी ब्राह्मणके ही योग्य है। तथा जैसे वनमें बिछुड़ी हुई हथिनी हाथीको पाकर ही आनन्दित होती है, वैसे ही मैं राघवको पाकर ही प्रसन्न हो सकती हूँ।

गूढ़ार्थ—(क) मेरी कृपारूपी कमलिनी उसीपर विकसित हो सकती है जिसके हृदयमें रामरूपी सूर्यका प्रकाशरूपी ज्ञान हो। तू मेरी कृपाके योग्य नहीं। वा, (ख)—मेरी कृपारूपी जुगनूसे तेरा कुलरूपी कमलवन नहीं खिल सकता, वह तो रामरूपी सूर्यसे ही खिल सकता है। अतः 'अवधपति परम स्नेही' को सुमिर, उनकी शरण जा। यथा—'वधं चानिच्छता घोरं त्वयाऽसौ पुरुषर्षभः। विदितः स हि धर्मज्ञः शरणागतवत्सलः। वाल्मी० ५। २१। २०।' अथवा, (ग) तेरा प्रण जुगनूवत् अल्पज्ञानका प्रकाश है, उससे मेरी कृपारूपिणी कमलिनी तेरे लिये विकसित नहीं हो सकती। (घ) 'अस समुझु'=जो मैंने पूर्व कहा है कि 'सुमिरि अवधपति परम सनेही' और 'खद्योत प्रकासा कबहुँ कि नलिनी विकासा करहिं' उसीको मनमें कल्याणका परमोत्तम मार्ग समझ। पुनः, (ङ) 'अस मन समुझु' का भाव कि मेरा वचन अन्यथा नहीं है, मैं जनककी कन्या हूँ जिनके संबंधमें ब्रह्मर्षि विश्वामित्रका वाक्य है कि 'बचन तुम्हार न होइ अलीका।' (पं०)।

टिप्पणी—३ 'खल सुधि नहिं रघुबीर बानकी।' इति। (क) रघुवीरके बाण खलोंके शालक होते हैं; यथा—'हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं।...जद्यपि मनुज दनुजकुल घालक। मुनि-पालक खल सालक बालक॥३।१९।', 'खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा।३।२८।', 'खल दल दहन चले०' इत्यादि। अतएव रावणको 'खल' सम्बोधन किया और कहा कि तुझे उनके बाणोंकी सुध नहीं है जो तू ऐसी बातें करता है। [भाव कि पहिले तुझे सरकारके उन बाणोंकी सुधि रही, जिसने तेरे समकक्ष खरदूषणको मारा, जिसके न रहनेपर भी, तू उनके आ जानेके भयसे कुत्तोंकी तरह डरता हुआ मेरे पास आया था। यथा—'सो दसकंठ स्वान की नाईं। इत उत चितै चला भड़िहाईं।', आज तुम्हें वे बाण भूल गये। पर उन बाणोंको तेरा स्मरण है, यथा—'तव सोनित की प्यास तृषित रामसायक निकर।' (वि० त्रि०)] (ख)—शंका—अभी तो राम-रावणसे देखा-देखी भी नहीं हुई तब 'सुधि नहिं रघुबीर बान की' कैसे कहा? समाधान—रावणने शूर्पणखासे सुना है, यथा—'खरदूषन सुनि लगे पुकारा। छन महँ सकल कटक उन्ह मारा'। पुनः, मारीचसे सुना है कि 'मुनि मख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥ सत जोजन आयउँ छन माहीं।' पुनः वह स्वयं जानता है, यथा—'कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता'; इसी डरसे तो उसने सूनेमें सीताहरण किया।

सठ सूने हरि आनेहि[†] मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही॥ ९॥

अर्थ—अरे शठ! तू मुझे सूनेमें हर लाया। तू अधम है, तुझे लज्जा नहीं आती?। ९।

टिप्पणी—१ (क) 'निलज्ज' और 'लाज नहिं तोही' दोनोंका एक ही अर्थ है। यह लोकोक्ति है;

मैं तुझपर दृष्टि न डालूँगी। सीताजी यह अपना वृत्त कमलिनी पर ढारकर रावणसे कह रही हैं। 'कबहुँ कि' में वक्रोक्ति है। प्रसन्नराघव नाटकमें भी कहा है—'अपि खद्योत भासाऽपि समुन्मीलति पद्मिनी' (अंक ६। २८।)। यहाँ रामजी सूर्य, रावण जुगनू और सीताजीकी कृपादृष्टि वा सीताजी कमलिनी हैं।

† आनेसि—मा० म०, कोदवराम।

ऐसा प्रायः बोला जाता है कि तुम बड़े निर्लज्ज हो, तुमको लज्जा नहीं आती; ठीक वैसा ही ज्योंका-त्यों गोस्वामीजी ने लिखा है। अथवा, कोप, विषाद या विस्मयकी वीप्सासे पुनरुक्तिमें दोष नहीं होता। यहाँ कोपकी वीप्सा है। (ख) 'सूने हरि आनेहि' अर्थात् चोरकी तरह छल करके ले आया, रेखा न लाँघ सका, न सम्मुख युद्ध ही कर सका।

☞ २ (क) 'सठ सूने हरि आनेहि मोही' इस पदका सम्बन्ध सब वचनोंके साथ है। यथा—भानुके सूनेमें खद्योतका प्रकाश है, इसीसे भानुके सूनेमें तू मुझे ले आया। पुनः, रघुवीरके बाणकी तुझे सुध नहीं कि जिनके बाणके भयसे तू मुझे सूनेमें हर लाया। पुनः, अभी जबतक भानुका उदय नहीं होता तभीतक तेरा प्रकाश है। (ख) रावणने रामजीकी निन्दा की और अपनी वीरता कही; इसीसे कुपित होकर उसको खल, चोर, शठ, अधम और निर्लज्ज कहा है, यथा—'जब तेहि कीन्ह राम कै निंदा। क्रोधवंत अति भयउ कपिंदा॥ ६। ३१।', 'पुनि सकोप बोलेउ जुवराजा।....रे त्रियचोर कुमारगगामी। खल मलरासि मंदमति कामी॥६। ३२।' [अंगदजीने ये वचन रावणसे कहे हैं, वैसे ही यहाँ श्रीसीताजीने कहे)। 'नारी चौर्यमिदं क्षुद्रं कृतं शौटीर्य-मानिना। (वाल्मी०)।'

प० प० प्र०—'निर्लज्ज लाज नहि तोहि' में न द्विरुक्ति है न वाक्प्रचार। भाव यह है कि तू पुरुषार्थ की बड़ी प्रशंसा कर रहा है पर मेरी चोरी करनेमें तुझे लाज न लगी और आज भी वैसा ही निर्लज्ज बना है। मानसके इस प्रसंगमें रावणने श्रीरामजीकी अल्प भी निन्दा नहीं की है, अतः अन्य रामायणोंके संदर्भसे श्रीराम-जीकी निन्दा गृहीत समझना ठीक नहीं। कलियुगकी साधारण पतिव्रता भी रावणके समान 'सपदि मानु मम बानी' आदि दुष्टवासनादर्शक शब्द सुनते ही आगबबूला हो जाती हैं। श्रीरामजीकी निन्दा ग्रहण करनेका अर्थ यह होगा कि रावणकी दुष्टवासना सुननेसे क्रोध नहीं आया और परनिन्दा सुननेसे आया।

नोट—१ वाल्मी० ५। २१। २९-३२ में सूनेमें हर लानेपर रावणको अधम और कुत्ता कहा है। यथा—'जनस्थाने हतस्थाने निहते रक्षसां बले॥२९॥ अशक्तेन त्वया रक्षः कृतमेतदसाधु वै। आश्रमं तु तयोः शून्यं प्रविश्य नरसिंहयोः॥३०॥ गोचरं गतयोर्भ्रात्रोरपनीता त्वयाऽधम॥३१॥....शुना शार्दूलयोरिव॥३२॥' अर्थात् तेरे जन-स्थानके सब राक्षस जब मारे गए तब तुझसे कुछ करते-धरते न बना। अरे अधम! तू कुत्तेकी तरह जब दोनों नरसिंह आश्रममें न थे मुझे चुरा लाया। अध्यात्म रामायणमें भी कहा है—'राघवाद्विभ्यतानूनं भिक्षुरूपं त्वया धृतम्। रहिते राघवाभ्यां तु शुनीव हविध्वरे॥ हृतवानसि मां नीच तत्फलं प्राप्स्यसेऽचिरात्॥ ३२॥' अर्थात् निश्चय ही तूने राघवके भयसे भिक्षुकका रूप धारण किया था। जैसे कुतिया यज्ञशालासे हवि लेकर भागे, वैसे ही दोनों राघवोंके न रहनेपर तू मुझे हर लाया, इसका फल शीघ्र मिलेगा।

२—'रघुबीर बान' के भी अनेक भाव लोगोंने कहे हैं पर वे केवल व्यासोंके वाग्विलास हैं। यथा—(१) रघुवीरकी बानि कि भक्तके अपराधको नहीं सह सकते, अपना अपराध भले ही क्षमा कर देते हैं, अम्बरीषका अपराध करनेके कारण दुर्वासाकी क्या दशा हुई? (२)—रघुबीर रघुजीके वीर (पुत्र) अजके बाणकी सुध नहीं है कि जिस बाणसे भयभीत होकर तू लंकामें स्त्रियोंके बीचमें छिप रहा था। (३)—रघुवीर लक्ष्मणने जो बाणसे रेखा खींच दी थी जिसे लाँघनेका साहस तू न कर सका, यती बना। इत्यादि।

व्र० चं०—'सठ०' पायकुलक, 'अधम०' नयमालिनी है।

नोट—३ 'सठ सूने हरि आनेहि०' इति। इसमें ध्वनिसे भाव यह भी निकलता है कि मुझे श्रीराम-लक्ष्मणजीकी अनुपस्थितिमें लाया और यहाँ सबोंसे यह प्रकट किया कि मैं दोनोंको जीतकर लाया; यह कलई तेरी आज मैं प्रकट किये देती हूँ। परस्त्रीको चुराना अधर्म है, यथा—'कह कपि धर्मसीलता तोरी। हमहुँ सुनी परत्रिय कृत चोरी। ६। २२।'; अतः अधम कहा। और भय, भेदकी बातें कहकर अपनी बारंबार बड़ाई करता है, इससे निर्लज्ज कहा; यथा-'अब पति मृषा गाल जनि मारहु।....तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी।६।३५।'

गुप्तार्थ—खलका भाव यहाँ अल्प ज्ञानवाला है। रघबीरकी बानकी सुध नहीं है कि 'नीचहू

से करत प्रीति सुपेमहू पहिचानि' और 'देखि दोष कबहुँ न उर आने' इत्यादि। ये सब प्रकारके वीरोंमें श्रेष्ठ हैं, अपना बाना नहीं छोड़ सकते। वे अवश्य दया करेंगे। पुनः, जिस बाणसे मरकर भव पार होनेकी तूने प्रतिज्ञा की है, क्या वह भूल गया? उसीको स्मरण कर, उसीपर दृढ़ रह। यदि रावण कहे कि मैं उस प्रतिज्ञाको छोड़कर आपसे ही उद्धार चाहता हूँ, उसपर कहती हैं कि—'सठ सूने हरि आनेहि ...'। अर्थात् तूने बड़ी मूर्खता की। मुझे हर लाया, इससे अपने कार्यसिद्धिमें अधम (मूर्ख) निकला। इस अपने कार्य-नाशक अधमतापर लज्जित नहीं होता, मुझसे बार-बार कहनेमें लज्जा नहीं लगती; अतएव निर्लज्ज है। उनके सूनेमें न लाता तो तुरत प्रतिज्ञा पूरी हो जाती। पुनः, 'सूने हरि' अर्थात् क्लेश हरनेवाले राघवके ज्ञानसे तेरा हृदय शून्य है, इसीसे तू मुझे यहाँ अकेले लाकर मुझसे कृपा चाहता है, बिना उनके मेरी कृपा नहीं हो सकती। यह उपदेश है कि दोनोंकी शरणागति बिना जीवका कल्याण नहीं।—(म०त०सु०)।

दोहा—आपुहि सुनि खद्योत सम रामहि भानु समान।
परुष बचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसिआन॥९॥

अर्थ—अपनेको जुगनूके समान और रामचन्द्रजीको सूर्यके समान सुनकर और उनके कठोर वचनों को सुनकर तलवार निकालकर अत्यन्त खिसियाया हुआ बोला। ९।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ सुनना दो बार लिखा—'आपुहि सुनि खद्योत सम' और 'परुष बचन सुनि'। कारण कि जानकीजीने दो वचन कहे। एक तो 'सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा....', दूसरे 'सठ सूने हरि आनेहि मोही। अधम....'। पहलेके सम्बन्धमें 'आपुहि सुनि...' पूर्वार्द्ध कहा और दूसरेके सम्बन्धमें 'परुष बचन सुनि....' उत्तरार्द्ध कहा। (ख) 'अति खिसियान' का भाव कि 'खद्योत सम' सुनकर 'खिसियान' और 'परुष बचन' सुनकर 'अति खिसिआन'। खिसियानेका कारण यह कि कुछ उत्तर न बन पड़ा; इसी खिसिआनको मिटानेके लिए तलवार निकालकर मारनेकी धमकी दी। (ग) रावण सदा अपनी न्यूनता और शत्रुकी प्रशंसा सुनकर कुपित होता है, वैसे ही यहाँ क्रोधित हुआ। यथा—'आन बीर बल सठ मम आगें। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागें।६। २९।', 'हर गिरि मथन निरखि मम बाहू। पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू। ६। २८।', 'तेहि रावन कहँ लघु कहसि नर कर करसि बखान। ६। २५।' [वीर पुरुष अपना अपमान सह भी लेता है पर रिपुका उत्कर्ष नहीं सह सकता। यथा—'रिपु उतकरष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ है कोऊ। ५। ४०।' अतः श्रीरामजीको 'भानु' समान सुनकर वह न सह सका।]

नोट—१ यह 'वानर दोहा वैश्या' छन्दभेद है। (त्र० चं०)।

२—रावणको 'खद्योत' तो प्रकट कहा, यथा—'सुनु रावन खद्योत प्रकासा।' श्रीरामजीको 'भानु' प्रकट नहीं कहा, क्योंकि वे प्रत्यक्ष सामने नहीं हैं; अपनेको 'नलिनी' प्रत्यक्ष कहकर उनको आशयसे 'भानु' कहा।

प. प. प्र.—सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेसे सिद्ध होता है कि म्यानसे तलवार निकालनेमें क्रोध नहीं है, बोलनेमें ही क्रोध है। हेतु इतना ही है कि सीताजीके प्रार्थनाबलसे श्रीरामजी शीघ्र आ जायँ।

गुप्तार्थ—मा. त. सु.-कृत अर्थ—"अपने उद्योगको जुगनूके समान सुन और श्रीरामकृपाको सूर्यवत् सुन अपने उद्योगकी तुच्छताका सूचक परुष वचन जान खड्ग निकाल क्रोधित हो बोला। वहाँ कर्त्तारूपी रावणके उद्योगरूपी क्रियाका फल नहीं होनेसे अनर्थरूपी क्रोध जागा। परुष=अपने पुरुषार्थको तुच्छ दिखानेवाले रूखे।"

सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहौं तव सिर कठिन कृपाना॥ १॥
नाहित सपदि मानु मम बानी। सुमुखि होति न त जीवन हानी॥ २॥

अर्थ—सीता! तुमने मेरा अपमान किया। मैं तेरा सिर कठिन (जिसका वार खाली न जाय;

कठोर; भयंकर) कृपाण (चन्द्रहास) से काट डालूँगा। १। नहीं तो शीघ्र ही मेरे वचन मान ले। हे सुमुखि (सुंदर मुखवाली)! नहीं तो (तेरे) जीवनकी हानि होगी (तेरे प्राण जायँगे)। २।

नोट—१ 'सीता तैं मम०' इति। 'सीता' सम्बोधनका भाव कि तेरे नामका अर्थ है शीतल करनेवाली एवं शीतल, तेरे वचन शीतल होने चाहिये थे सो न होकर कठोर और तप्त करनेवाले हैं।

टिप्पणी—१ 'मम कृत अपमाना।०' इति। (क) अवज्ञा करना और कठोर वचन बोलना ही अपमान है। अपमान मृत्युके तुल्य है, यथा—'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू।२।९५।', 'सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते। गीता० २। ३४।' राजाका अपमान करना उसे मारनेके समान है, इसीसे वह सिर काटनेको कहता है। भाव यह कि तुमने हमें मरा सरीखा कर दिया, अतएव उसके बदलेमें मैं तुम्हारा सिर काटूँगा। (ख) 'कटिहौं' इति। भारी सजा राजा अपने सम्मुख अथवा अपने हाथसे देता है; इसीसे 'कटिहौं' कहा, अर्थात् अपने हाथसे काटूँगा। (ग) पुनः, किसी-किसी मुनिका मत है कि प्रथम अपराध सुनाकर तब दण्ड देना चाहिये; अतः रावणने पहले 'तैं मम कृत अपमाना' यह अपराध कहकर तब 'कटिहौं' दंड देना कहा। (घ) 'कठिन कृपाना' से चन्द्रहासनामक तलवार अभिप्रेत है जैसा आगे स्पष्ट किया है—'चंद्रहास हरु मम परितापं।'

२—'नाहिं त सपदि मानु मम बानी।०' इति। (क) 'सपदि मानु' शीघ्र मान लेनेको कहा क्योंकि राजाके अपमान करनेवालेका वध शीघ्र किया जाता है, यथा—'सुनि कपि बचन बहुत खिसिआना। बेगि न हरहु मूढ़कर प्राना। ५। २४।' (ख) 'मानु मम बानी', इति। पहले सब साहिबी देता था, तब अपमान किया। अब अपमानके बदलेमें अपनी बातोंकी सिद्धि चाहता है। (ग) पहली बार 'सुमुखि सयानी' विशेषण दिये थे, परन्तु उन्होंने अपमान किया। इससे अब केवल 'सुमुखि' सम्बोधन किया, 'सयानी' न कहा। (घ) 'होति जीवन हानी' अर्थात् हमारे वचन न माननेसे समस्त ऐश्वर्यकी हानि हुई और अब जीवनकी भी हानि होती है। अथवा, वाणी मान लेनेसे अपमान करनेका अपराध क्षमा हो जायगा और न माननेसे प्राण जायँगे—'आज्ञा भङ्गो नरेन्द्राणामशस्त्रवध उच्यते'। तुमने हमारा वध (तुल्य अपमान) किया, हम तुम्हारा वध करेंगे।

नोट—२ 'सुमुखि होति नत जीवन हानी।' इति। वाल्मीकीयमें भी यहाँ 'वरानने' सम्बोधन किया है, जिसका अर्थ है 'सुमुखि'। भाव यह कि तेरा सुन्दर मुख देखकर मुझे तेरे ऊपर स्नेह और दया उत्पन्न हो जाती है, इसीसे मैं नहीं मारता, नहीं तो ऐसे कठोर वचनोंपर तुझे मार डालना ही योग्य था; अब भी समझ ले, यथा—'स्नेहश्च किल जायते। ४। एतस्मात्कारणान्न त्वां घातयामि वरानने। वधार्हामवमानार्हां....।५। परुषाणीह वाक्यानि यानि यानि ब्रवीषि माम्। तेषु तेषु वधो युक्तस्तव मैथिलि दारुणः। ६।' (५। २२),

३—'सीता तैं....बानी'। पायकुलक और 'सुमुखि०।' द्रुतपा है। (ब्र० चं०)।

गुप्तार्थ—१ (क) 'सीते' (अर्थात् तेरा स्वभाव त्रयतापसे तपे हुएको शीतल करनेवाला है) यह जानकर मैं तेरी शरण आया पर तूने मुझे स्वीकार न किया. अतः तव अर्थात् तेरे इस कारणसे मैं अपना सिर अभी काट डालूँगा। (ख)—'सुमुखि' का भाव कि तेरे मुखसे तो सर्वदा शरणागतोंके स्वीकार हीके वचन निकलते आये हैं,यथा—'जानकी जगजननि जनकी किये बचन सहाय'। यहाँ सयानी विशेषण इससे नहीं दिया कि पूर्वकृत कार्य नहीं स्मरण कराना है। २—'सुमुखी' के भाव—(क) तुम्हारा सुन्दर मुख है, इसकी शोभा यही है कि हमसे हँसो बोलो। (ख) बहुत कालसे मुझपर विमुख (अप्रसन्न, रूखी या रूठी) हो अब 'सुमुखी' 'अनुकूल' हो।

स्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभु भुज करिकर सम दसकंधर॥ ३॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रवान † पन मोरा॥ ४॥

† प्रवान पन—भा. दा., छ., १७०४, कोदवराम। प्रवान मन—१७२१, १७६२। प्रनाम पन—ना. प्र.।

अर्थ—(श्रीसीताजीने कहा कि) हे दसकन्धर रावण ! श्याम कमलकी माला या श्रेणीके (कान्तिके) समान सुन्दर और हाथीकी सूँड़के समान (बलिष्ठ और चढ़ाव उतारकी जो) प्रभुकी भुजा है (या तो वे ही भुजा मेरे गलेमें लगेगी या तेरी भयंकर तलवार ही। रे शठ ! सुन, मेरा ऐसा प्रमाण प्रण (सत्य प्रतिज्ञा) है।३-४।

टिप्पणी—१ प्रभुकी भुजाओंकी उपमा नीलकमलके नामकी रामायणभरमें और कहीं नहीं आई है। सर्प, केशरी और करिकरकी उपमाएँ दी गई हैं, यथा—'भुजग भोगु भुजदंड कंज दर चक्र गदा बनि आई', (बि० ६२), 'अरुन पराग जलजु भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के। १। ३२५।' 'मरकत सैल पर लरत दामिनि कोटि सों जुग भुजग ज्यों।३। १८।', 'करिकर-सरिस सुभग भुजदंडा' (१। १४७)। राजा रघुराज सिंह लिखते हैं कि रावण किसी ऋषिके स्थानपर गया था और उनके तालाबके सब कमल नष्ट कर डाले थे तब ऋषिने उसको शाप दिया कि तुझे श्यामकमलका दर्शन जब होगा तब तेरी मृत्यु हो जायगी। श्याम-सरोजके देखनेसे रावणका नाश है; इसीसे यहाँ श्यामसरोजदामके समान कह रही हैं; जिसका तात्पर्य यह है कि इन भुजाओंके दर्शनसे तेरा नाश होगा, वे सुन्दर बलवान् भुजाएँ तुझे मारकर मेरा आलिंगन करेंगी। इसी भावको सूचित करनेके लिये 'प्रभु' कहा। [मानसमयंक और अभिप्रायदीपकमें भी कथा है कि एक बार दुर्वासा ऋषि श्यामकमलपर बैठे ध्यान कर रहे थे। रावणने कमलका नाल काट दिया। ऋषि डूबने लगे तब उन्होंने ध्यान करके जान लिया कि यह रावणकी करनी है और शाप दिया कि श्याम कमलके दर्शनसे तेरी मृत्यु होगी। उसीकी ओर संकेत करके 'श्यामसरोज दाम' की उपमा दी है। ☞ यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है। 'दाम'का अर्थ 'माला', 'समूह', 'श्रेणी' है। इसकी उपमा देकर अपार सौंदर्य सूचित किया।] ☞ प्रसन्नराघव ६। ३० और हनुमन्नाटक १०। १६ में भी ऐसा ही कहा है, यथा—'विरम विरम रक्षः किं वृथा जल्पितेन स्पृशति नहि मदीयं कण्ठसीमानमन्यः। रघुपतिभुजदण्डादुत्पलश्यामकान्तेर्दशमुख भवदीयो निष्कृपो वा कृपाणः।' अर्थात् अरे राक्षस ! मेरे कण्ठकी सीमाको नीलकमलके सदृश कान्तिवाले श्रीरामचन्द्रजीके भुजदण्डों अथवा तेरे कठोर निर्दयी कृपाणके अतिरिक्त दूसरा कोई स्पर्श नहीं कर सकता, अतएव तू शान्त हो जा, शान्त हो जा, व्यर्थ बकवाद करनेसे क्या लाभ ? ☞ इस श्लोक और मानसके 'श्यामसरोज दाम सम सुन्दर।' में भेद केवल यह है कि श्लोकके 'दाम', 'प्रभु' और 'करिकर' नहीं हैं। रघुपतिकी जगह यहाँ 'प्रभु' और 'दण्ड' की जगह 'करिकर' शब्द विशेष भावगर्भित हैं।

नोट—१ 'श्याम सरोज दाम सम सुन्दर' को केवल 'प्रभु' का ही विशेषण भी मान सकते हैं अर्थात् उनका सारा शरीर श्यामकमलसमूहके समान कान्तिमान और कोमल है तथापि उनकी भुजाएँ हाथीकी शुण्डके समान बलिष्ठ हैं, यथा—'काम कलभकर भुजबल सीवा। १। २३३।' और उसे भुजकाभी विशेषण मान सकते हैं क्योंकि उसीसे यहाँ प्रयोजन है जैसा आगेके 'सो भुज' से स्पष्ट है। दो विशेषण देकर जनाती हैं कि हमारे लिए वे 'श्यामसरोजदामसम' कोमल और सुन्दर हैं और तेरे दशों ग्रीवोंको काट डालनेके लिये 'करिकर सम' बलिष्ठ हैं।

२—'प्रभुभुज' और 'दसकंधर' शब्द देकर जनाती हैं कि प्रभुभुज दो ही हैं फिर भी दस ग्रीववाला 'दसकंधर' मुझे भयभीत नहीं कर सकता, चाहे बीस 'असि' क्यों न लिये हो। ☞ कुशल कवि जड़ियाकी तरह एक-एक शब्द ऐसा चुन-चुनकर रखता है कि हम उसे बदल नहीं सकते। यदि ऐसा साहस करें तो रचना ही बिगड़ जाय। (लमगोड़ाजी)।

३—यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है। प्रभुभुज उपमेय, श्मामसरोजदाम और करिकर उपमान, सम वाचक और सुन्दरता धर्म है।

टिप्पणी—२ (क) प्रथम 'सो भुज कण्ठ' कहा क्योंकि यह बात निश्चय ही होगी, रही तलवार सो उपस्थित है इससे फिर उसको कहा। रामविरह व्याकुल किए हुए है; इससे वधके लिये बारम्बार तलवारसे प्रार्थना करती हैं। पुनः, विरहकी शान्ति मृत्युसे होती है या संयोगसे, इसीसे 'भुज' और 'असि' दोनोंको

कहा। (ख) 'सो भुज कंठ' अर्थात् दूसरेकी भुजा हमारे कंठका स्पर्श नहीं कर सकती। रघुनाथजीकी भुजा ही कमलकी माला सम मेरे कंठमें शोभा देगी। अथवा, तेरी तलवार कंठमें लगनेसे शोभा देगी। लोग कहेंगे कि यह पतिव्रता धन्य है कि तलवारसे मर भले ही गई पर इसने पराये पतिको अंगीकार न किया, इससे भुजा और तलवारके लगनेकी समता की। अपने कंठके सम्बन्धसे भुजको कोमल कहा और भुजाओंकी जोड़में असिको घोर कहा। दोनोंके लगनेसे दुःख दूर होगा। इससे दोनोंको कहा।

नोट—४ (क) करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि "महारानीजीने पूर्व रावणको खद्योतसम कहा है, और शठ भी, तब यहाँ आर्तवचन न कहेंगी। इसलिए साधारण अर्थ अच्छा नहीं है। खण्डान्वयव्यंजनासे ठीक अर्थ सिद्ध होता है—'श्यामसुन्दर ऐसे प्रभु जिनकी भुजा सूँड़ सदृश है सोई भुज मेरे कंठ लगेगी और उस भुजाकी घोर असि तेरे कंठ लगेगी।' यहाँ 'कि' संदेहात्मक नहीं है। कि=की।" बैजनाथजीने भी यही अर्थ रखा है। (ख) पाँड़ेजी और मा० त० सु० कार लिखते हैं कि—"यहाँ 'तव' शब्द श्लिष्ट है। 'कितव'=उन्मत्त, धूर्त्त, मूर्ख। यहाँ अर्थ इस प्रकार होगा कि—'हे कितव! मेरी बात सुन। श्याम-कमल-श्रेणी-सम रघुनाथजीकी सुंदर भुजा मेरे कंठ लगेगी और बलयुक्त हाथीकी शुण्डसम भुजाका घोर खड्ग तेरे कंठमें लगेगा'।" (ग प्र० स्वामीजी इस प्रकार अर्थ करते हैं—'नील कमलोंके हारके समान कोमल सुगन्धित और दीर्घ तथा हाथीके शुंडके समान गठीली प्रभुकी भुजा मेरे जिस कंठमें पड़ी है, क्या उसी कंठमें तेरी तलवार पड़ेगी (कदापि नहीं)।' (घ) गुप्तार्थ—यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। भाव कि तेरा पन जो प्रभुके सरसे मरनेका है और राघवका पन जो निशाचरहीन करनेका है—दोनों रहेंगे, तू धीर धर। शठ कहा, क्योंकि अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर नहीं रहता।

टिप्पणी—३ 'अस प्रमान पन मोरा' अर्थात् तेरा प्रण प्रमाण नहीं है क्योंकि मैं तेरे सम्मुख दृष्टि न करूँगी; और मेरा प्रण प्रमाण है क्योंकि प्रभुभुज मेरे कंठमें लगेंगे या तेरी तलवार लगेगी; दोमेंसे एक अवश्य लगेगी।

नोट—५ 'श्यामसरोज०' ११७७ वाँ भेद, 'प्रभु०' १२२० वाँ भेद है, 'सो भुज....भारा' पायकुलक है।

चंद्रहास हरु† मम परितापं। रघुपति-बिरह अनल संजातं॥ ५॥
सीतल निसित बहसि‡ बर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा॥ ६॥

शब्दार्थ—निसित=पैनी, तीक्ष्ण। बहसि=बहती हो; धारण करती हो। भारा (भार)=बोझ, भारी।

अर्थ—(रावणसे इतना कहकर अब श्रीसीताजी चन्द्रहाससे कहती हैं—) हे चन्द्रहास! रघुपति-बिरहाग्निसे उत्पन्न मेरे परिताप (अत्यन्त जलन या दुःख) को हरण कर। अर्थात् रावणको यह उत्तर देती हैं कि तेरी तलवारसे मारा जाना मुझे स्वीकार है पर तेरा वचन मानना अंगीकार नहीं है। तू शीतल तीक्ष्ण और श्रेष्ठ धारा बहाती है, तू मेरे दुःखके भार (वा, भारी दुःख) को हर। ५-६।

टिप्पणी—१ 'चंद्रहास हरु मम परितापं' इति। (क) चन्द्रहास और प्रभुकी भुजा दोनों ही प्रतिज्ञामें हैं, इससे चन्द्रहाससे दुःख हरनेको कहा। रावणसे ताप हरनेको न कहा क्योंकि रावण तो तापदाता है, तापहर्त्ता नहीं; और चंद्रहास तापहर्त्ता है। (ख) 'हरु परितापं' अर्थात् इसी समय हर ले। इस कथनका भाव यह है कि रावणने वाणी न माननेपर तेरे चलनेका एक़रार किया है, यथा—'नाहि त सपदि मानु मम बानी। सुमुखि होति नत जीवन हानी।', मैं वाणी नहीं मानती हूँ, तब तू क्यों बिलम्ब कर रही है, शीघ्र मेरे कंठसे लग-

† हर—भा. दा.। ‡ निसित बहसि—रा. प्र., कोदवराम। निसि तव असि–१७०४, १७२१, १७६२, भा. दा.। 'निसि तव असि' पाठका अर्थ होगा—'हे तलवार! तेरी श्रेष्ठ धारा शीतल रात्रि (के समान) है।' भावार्थ यह होगा कि—चाँदनी रातसे दिनका ताप मिटता है। तेरी धार शीतल निशि अर्थात् चाँदनी रात्रिके समान है, अतः वह अवश्य मेरे परितापको हरण करेगी। 'हर' पाठमें यह ख़ूबी बताते हैं कि वह श्लिष्टपद होकर दीपदेहली न्यायसे दो अर्थ देता है—हर (महादेव) और हरु (हरण कर)।

कर मेरा ताप क्यों नहीं हर लेती ? रघुपति-विरह तलवारसे अधिक असह्य और कठिन है, यथा—'माँगु माथ अबहीं देउँ तोही। राम बिरह जनि मारसि मोही'।—(यह दशरथजीने कैकेयीजीसे कहा है)। अतएव मरनेको तैयार हैं, पर विरह नहीं सह सकतीं।

२—(क) चन्द्रहासका भाव कि चन्द्रमा तापहारक होता है। जैसे अशोकके प्रति कहा है कि 'सत्य नाम करु हरु मम सोका' वैसे ही यहाँ चन्द्रहाससे कहा कि मेरा दुःख दूर कर। (ख) पहले रावणने यह जो कहा कि 'कटिहौं तव सिर कठिन कृपाना', इसीपर सीताजी अब खड्गसे कहती हैं कि तू रावणकी आज्ञा तो सुन ही चुका, अब क्यों देर करता है ? शीघ्र मेरा सिर काटकर दुःख दूर कर। चन्द्रहासका अर्थ चन्द्रकिरण भी होता है। चन्द्रकिरण ताप हरता है, यथा—'सरदातप निसि ससि अपहरई।' अतः उससे परितापहरणको कहा।

नोट—१ 'चन्द्रहास' रावणकी महादीप्तिमान् खड्गका नाम है। काष्ठजिह्व देवतीर्थ स्वामीजी लिखते हैं कि यह खड्गकी एक जाति है जो अर्द्धचन्द्राकार होती है। वाल्मी० उत्तरकांडमें लिखा है कि रावणपर प्रसन्न होकर उसके माँगनेपर शिवजीने अपना महादीप्तिमान् खड्ग दिया जिसका नाम चन्द्रहास है, यथा—'एवमुक्तस्ततस्तेन रावणेन सशङ्करः। ददौ खड्गं महादीप्तं चन्द्रहासमिति श्रुतम्।'(१)। पुनः, चन्द्रहास खड्गका पर्याय भी है, यथा अमरकोशे....'खड्गे तु निस्त्रिंस चन्द्रहासासिरिष्टयः। कौक्षेय को मंडलाग्रः करवालः कृपाणवत्।'

* पाठपर विचार *

अधिक प्रतियोंमें 'सीतल निसि तव असि' पाठ है। प्राचीन प्रतियोंमें अक्षर अलग-अलग लिखनेकी रीति है। 'निसि तव हसि' और 'निसित वहसि' दोनों पढ़ सकते हैं। 'हसि' का अर्थ न लगनेसे 'असि' हो गया हो। रामायण परिचर्यामें भी 'निसित बहसि' है। यह चौपाई प्रसन्नराघव नाटक अंक ६ श्लोक ३३ की छायासी जान पड़ती है। श्लोक यह है—

'चन्द्रहास हर मे परितापं, रामचन्द्रविरहानलजातम्। त्वं हि कान्तिजितमौक्तिकचूर्णं धारयावहसि शीतलमंभः।'

इस श्लोकका पूर्वार्द्ध चौपाईके पूर्वार्द्ध अर्थात् अर्धाली (५) से पूर्णरूपसे मिलता है। श्लोकके उत्तरार्ध का 'त्वं हि धारया वहसि शीतलं' ही चौपाईका 'सीतल बहसि धारा' है और 'कान्तिजित मौक्तिक चूर्ण' का भाव चौपाईके 'बर' शब्दमें दे दिया गया है। उत्तरार्धका अर्थ है—'तू अपनी धारासे मोतीके चूर्णकी कान्ति को जीतनेवाले शीतल जलको धारण करती है।

यहाँ नदीका रूपक है। नदीकी धारा शीतल और तलवारमें भी धार। जल अग्निको बुझाता है, तलवारकी धारसे विरहाग्नि बुझेगी। यह सादृश्य है। यह पाठ 'प्रसन्नराघवनाटक' के अनुकूल है, भाव भी उत्तम है। अतएव हमने यही पाठ रक्खा है। गौड़जी, लालाभगवान्दीनजी एवं पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी भी मुझसे सहमत हैं।

नोट—२ मानसमें 'रघुपति बिरह अनल संजातं' और नाटकमें 'रामचंद्र विरहानलजातम्।' है, इत्यादि। मानसमें शब्द क्यों बदले गए ? उत्तर सुनिये—श्रीरघुनाथजी मर्यादापुरुषोत्तम हैं और श्रीसीताजी पतिव्रताशिरोमणि। अवधवासी उनको युगल सरकार कहते हैं। गोस्वामीजीके चर्मचक्षु और हृदयचक्षु दोनोंके सामने रामायणरचनाके समय युगलमूर्त्ति विराजमान् रहती थी और वह उनकी लेखनीसे मर्यादाके प्रतिकूल कोई बात निकलने नहीं देती थी। आजकलकी प्रथाके अनुसार स्त्रियोंके लिये पतिका नाम लेना बड़ा दोष है। इस लिये श्रीमुखसे 'रामचन्द्र' न कहलाकर 'रघुपति' कहलाया गया। उपर्युक्त श्लोककी तीसरी पंक्तिमें 'कान्तिजितमौक्तिक चूर्ण' है, वह विशेषण छोड़ दिया गया है। अब बचा 'त्वं हि धारया बहसि शीतलमंभः।', जिसका 'अम्भः' छोड़कर और अन्वय बदलकर अर्थ हुआ 'सीतल बहसि धारा।' पर इससे चौपाईका पद पूरा नहीं होता। इसलिये 'सीतल' और 'बहसि' के बीचमें तलवारका परम योग्य विशेषण 'निसित' (=पैनी; तेज़) डाल दिया गया और 'धारा' के आगे 'बर' जोड़ दिया गया। 'बर' में 'कान्तिजित०' वाला भाव भी ग्रहण कर लिया गया।

नोट—३ अन्य टीकाकारोंके भावार्थ ये हैं—(क) श.सुं.-"यहाँ, हे चंद्रहास! ऐसा संबोधनकर तलवार से सीताजीका कहना यह अर्थ अनुचित है; क्योंकि रावणकी बातोंसे संगति अच्छी बैठती है। वा, हे चंद्रहास खड्ग! तू रामविरहसे उत्पन्न मेरे परितापको मिटा दे अर्थात् रावणका शिरच्छेद कर। वा, रामविरहाग्निसे उत्पन्न मेरा संताप तेरे चंद्रहासके प्रतापको हर लेगा, अर्थात् यह खड्ग मेरा कुछ न कर सकेगा"—(यह भाव करुणासिंधुजीसे लिया हुआ है)।

(ख) वीरकविः—रावणसे न कहकर चंद्रहाससे निवेदन करना 'गूढ़ोक्ति अलंकार' है। प्रस्तुत कथन रावणसे है, तलवारका वृत्तांत अप्रस्तुत है। यह 'सारूप्य-निबंधना अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार' है।

(ग) मा. त. सु. में यह अर्थ है—'हे हर (शिवजी) के चंद्रहास०'। वे लिखते हैं कि—(१) 'सीताजी ने कहा था कि वह भुज मेरे कंठमें और घोर-असि तेरे कंठमें पड़ेगी, उसी उक्तिको यहाँ स्पष्ट कर रही हैं। यहाँ भुजका अभाव है, इसलिए भुज नहीं कहा, खड्ग रावणके हाथमें विद्यमान है, उससे अपना संबंध जनाती हुई कहती हैं। 'हर चंद्रहास'का भाव कि तू शंकरजीका है और उनसे मेरा भी संबंध है—'सेवक स्वामि सखा सिय पीके'। अतः मेरा दुःख हरण कर। 'हर' देहलीदीपकन्यायसे दोनों अर्थका प्रकाशक है। (२) 'सीतल निसि तव असि बर धारा' में असिका अर्थ 'अस्ति' है अर्थात् मेरे तापको नाश करनेके लिए तेरी धारा श्रेष्ठ है। (३) गुप्तार्थ—इन वाक्योंसे श्रीकिशोरीजीने रावणको यह दिखाया कि तुझसे मेरा दुःख भारी है।'

(घ) प. प. प्र.—'हे चंद्रहास (अर्थात् चंद्रतेजविनिंदक हास्यवाले) रघुपति! अपने विरहानलसे उत्पन्न मेरे परितापको हर लीजिए।' इस प्रार्थनासे भगवानकी माया मंदोदरीमें प्रवेश करके सीताजीको बचा लेती है।

नोट—४ 'हरु' दो बार आया है—'हरु मम परितापं' और 'हरु मम दुख भारा।' प्रथम बार नामके संबंधसे कहा कि तेरा चंद्रहास (चंद्रकिरण) नाम है, अतः मेरे परितापको हर और दूसरी वार रूप अर्थात् शीतल धारावत् होनेसे हरनेको कहा। अथवा, विषादके वचन होनेसे पुनरुक्ति नहीं है। (रा. बा. दा.)।

सुनत बचन पुनि मारन धावा। मयतनया कहि नीति बुझावा ॥ ७ ॥

अर्थ—(ये) वचन सुनते ही फिर मारने दौड़ा (अर्थात् मारनेपर उद्यत हुआ) तब मंदोदरीने नीति कहकर समझाया-बुझाया। ७।

टिप्पणी—१ (क) 'सपदि मानु मम बानी।००' रावणके इस वचनको न माना; अतएव वह मारने दौड़ा पहले मारनेको कह चुका था—'काटिहौं तव सिर००'। अतः अब 'पुनि मारन धावा' कहा। (ख) धावासे सूचित होता है कि रावण दूर था‡। (ग) रावण अनीति करता है। मंदोदरी नीति कहती है। अतएव यहाँ रावणसंबंधी मन्दोदरी नाम न दिया वरन पितासंबंधी नाम कहा। मयकी यह कन्या है। (घ) 'कहि नीति बुझावा'का भाव कि और किसी रीतिसे कहकर समझानेकी राह इस समय न थी। क्योंकि राजाका अपमान किया और आज्ञा भी भङ्ग की। नीति कहकर समझानेका रास्ता अभी है, क्योंकि स्त्रीका वध न करना चाहिए; जैसे जब कंस देवकी-का वध करने लगा तब वसुदेव-देवकीने नीति कहकर समझाया था। [स्त्रीहत्या महापातक है, यथा मनुस्मृतौ-'बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः। शरणागतहंतृंश्च न संवसेत्' अर्थात् बालकका वध करनेवाला, कृतघ्न, शरणागत एवं स्त्रीके मारनेवालोंका संग न करे, चाहे धर्मपूर्वक वे प्रायश्चित करके शुद्ध हो गए हों।]

‡ मा. त. सु.—(क) 'यहाँ धावा-पदका अर्थ दौड़ आना नहीं है, क्योंकि जिस वृक्षके नीचे जानकी-जी रहती थीं उसी वृक्षपर श्रीहनुमान्‌जी थे और नीचे रावण था। यथा—'तेहि अवसर रावन तहँ आवा।' तो समीपस्थ पुरुषका दौड़ आना कैसे संभावित हो सकता हैं? उसका यहाँ ठीक अर्थ यह है—(ख) गुप्तार्थ—आत्मशुद्ध्यर्थ अति सन्निकटमें गमन किया अर्थात् शरणागति चाही। क्योंकि धाव धातु का अर्थ गति और शुद्धि है। मंदोदरीने नीति समझाया कि इतनी शीघ्रता न करो।'—(नोट—पर 'धावा' पद बहुत ठौर आया है। वहाँ ऐसा अर्थ नहीं है)।

नोट—१ 'मयतनया'। मय दानव, दैत्य एवं राक्षसोंका विश्वकर्मा है उसकी कन्या मन्दोदरी है। रावण राक्षस भले ही हो पर यह तो दानव कन्या होती हुई भी दैवी सम्पत्तिसे पूर्ण है और प्रातःस्मरणीय मानी गई है। यह नीति जानती है तभी तो बराबर नीतिका उपदेश करती है, यथा—'बोली बचन नीतिरस पागी। ५। ३६।' तथा यहाँ प्र० स्वामीका मत है कि 'मयतनया' शब्द देकर जनाया कि दानव कन्या होकर भी उसने वह काम किया जो उसके कुल और जाति स्वभावके विरुद्ध है।

नोट—२ यहाँ भी ईश्वरताने काम किया। भक्तकी रक्षा भगवान् कैसी करते हैं! वह मन्दोदरी जिसे रावण सीताजीकी दासी बनानेकी प्रतिज्ञा करता है वही उनको बचावे! उसे तो रावणका बरताव देखकर उनके मारे जानेमें बहुत शीघ्रता करनी चाहिये थी। (रा० शं०)।

३—समझाना यह भी हो सकता है कि—जो स्त्री अपनेको नहीं चाहती उसकी चाह करनेवाले पुरुष सदा संतप्त ही रहा करते हैं; यथा—'अकामां कामयानस्य शरीरमुपतप्यते। वाल्मी० ५।२२। ४२।' प्रीति उससे करे जो अपनेसे प्रेम करे। श्रीजानकीजी पतिव्रता हैं तब उन्होंने जो कहा वह योग्य ही है, उनका अपराध क्या? इत्यादि।

वि० त्रि०—रावण स्त्रीजनसे परिवेष्ठित वहाँ आया था, अतः बहुत सन्निकट नहीं था। इतनी दूरी पर था जहाँसे बातचीत हो सके। मारने दौड़ा अर्थात् मारनेका उपक्रम किया जैसे 'सुनत निशाचर मारन धाए' में मारनेका क्रम ही अर्थ होगा। यदि दौड़ा होता तो मन्दोदरीको नीति कहनेका अवसर नहीं मिलता। जैसेही उसने दौड़नेका उपक्रम किया, वैसे ही मन्दोदरीने नीति समझाया, यथा—'त्यागहु दीना मानुषी, कृपिणा कृशा दुखारि। हैं केतिक गंधर्व सुर किन्नर नाग कुमारि॥ अनुरागिनि तुम पर सदा, मद माती सुकुमारि। काम कला महँ कुशल अति तिन कहँ भजौ सुरारि॥ कान कहैं दुखिया तिया, तनकी ममता त्यागि। ताहि कान नहि कीजिये जरत विरह की आगि॥ समय देहु जामे कछुक हियकी अगिन बुझाइ। तब अवसर किछु कहन को जब दुख घटत लखाय॥'

नोट—४ 'सुनत०' चण्डी, 'मयतनया०' तामरस है—(ब्र० चं०)

टिप्पणी—२ (क) पतिव्रता अपने पतिका अपमान नहीं सह सकती—'सिव अपमान न जाइ सहि हृदय न होइ प्रबोध। सकल सभहि हठि हटकि तब बोलीं बचन सक्रोध'। यहाँ मन्दोदरी आदि रानियाँ रावणके अपमानसे दुःखित न हुईं, क्योंकि रावणकी अनीति न अच्छी लगी। इसीसे नीति कहकर उसे समझाने लगीं कि यह बात तुमको नहीं शोभा देती। (ख) 'बुझावा' के यहाँ दोनों अर्थ लगते हैं—समझाना और ठंढा करना। इस शब्दको देकर जनाया कि बड़े क्रोधसे दौड़ा था, समझानेसे शान्त हुआ।

कहेसि सकल निसिचरिन्ह बोलाई। सीतहि बहु बिधि त्रासहु जाई॥ ८॥

मास दिवस कहुँ कहा न माना। तौ मैं मारब काढ़ि कृपाना॥ ९॥

अर्थ—(तब उसने) सब राक्षसियोंको बुलाकर कहा कि जाकर सीताको बहुत प्रकारसे डरवाओ।८। (यदि) एक महीनेमें कहना न माना तो मैं तलवार निकालकर (उसे) मारूँगा।९।

टिप्पणी—१ 'बोलाई' और 'जाई' से सूचित किया कि मन्दोदरीके समझानेपर फिर रावण वहाँसे चल दिया, ठहरा नहीं। समीप होता तो, 'जाई' का प्रयोजन न था। भाव यह कि जिस कामके लिए बनाव शृङ्गारसे आया था वह न हुआ बल्कि बिगड़ा-बिगड़ी हो गई, गाली भी सुनी, तब कौन मुँह लेकर वहाँ ठहरता।

नोट—१ 'सकल निसिचरिन्ह'—ये वही राक्षसियाँ हैं जो श्रीसीताजीकी रक्षा तथा पहरेके लिये अशोकवाटिकामें रक्खी गई थीं। यथा—'तब असोक पादक तर राखिसि जतन कराइ।३।२९।', 'सन्दिदेश ततः सर्वा राक्षसीर्घोरदर्शनाः। वाल्मी० ५।२२। ३२।' २—'बोलाई' से यह भी भाव ले सकते हैं कि रावणके आनेपर और श्रीजानकीजीसे बातें प्रारम्भ होनेपर वे वहाँसे हट गई थीं; अतः उन्हें अलग बुलाकर कहा। 'जाई' से स्पष्ट है कि वे श्रीसीताजीके पास नहीं हैं, रावणने उनसे यह बात सीताजीके सामने नहीं कही। मा० त० सु०

में 'जाई' का अर्थ 'मैं जाता हूँ' किया है पर ऐसा प्रयोग अन्यत्र देखनेमें नहीं आता।

३—'मास दिवस महुँ कहा न माना।०' इति। ☞ इसके दो प्रकारसे अर्थ हो सकते हैं। एक तो निशाचरियोंके प्रति लेकर और दूसरे निशाचरियोंसे श्रीसीताजीके प्रति कहनेको। निशाचरियोंके प्रति धमकी है कि एक मासमें मेरे वश न करा सकीं तो मैं तुम्हारा वध करूँगा और दूसरे पक्षमें यह अर्थ है कि 'तुम उनसे कहना कि महात्मा रावणने कहा है कि एक मासमें मेरी आज्ञा न मान ली तो मैं अवश्य मार डालूँगा, वह इस भ्रममें न रहे कि मैं मन्दोदरीके कहनेसे मान गया हूँ, अब न मारूँगा।

४—'मास दिवस' महीना दिन कथनका भाव यह है कि मासकी अवधि बीचमें भी रहती है, उसकी पूर्ति पूर्णिमा एवं संक्रान्तिपर भी हो जाती है। 'मास दिवस' अर्थात् 'मासके पूरे दिन गिनकर तीस दिन'—यह सूचित करने और उपर्युक्त भ्रमनिवारणार्थ 'मास' के साथ 'दिवस' पद दिया। अथवा, 'मास दिवस' बोली है, यथा—'मास दिवस कर दिवस भा०। १। १९५।', 'मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी।४।६।', 'मास दिवस महँ आएहु भाई। ४। २२।', 'मास दिवस महुँ नाथ न आवा। ५। २७।'

५—पंजाबीजी कहते हैं कि पौष आ रहा है, उसमें मंगल कार्य नहीं होते इससे एक मासकी अवधि दी। *

टिप्पणी—२ इस प्रसंगमें रावणने जानकीजीको तीन बार हुक्म दिया—(क) 'एकबार बिलोकु मम ओरा' यह दान है। (ख) 'नाहि त सपदि मानु मम बानी' यह भय है। (ग) 'मास दिवस महुँ कहा' माने।—यह मोहलत दी और इसपर भी न माना 'तौ मैं मारब००' यह दंड है।

शंका—रावणने ऐसी कड़ी-कड़ी बातें कह डालीं और हनुमान्जी तरुपल्लवमें छिपे हुए सुनते रहे। वे कैसे सहन करते रहे?—'हरिहर निंदा सुनइ जो काना। होइ पाप गोघात समाना।' अंगदजीके सामने जब रावणने निंदाकी तब वे क्रोधवंत हो गए थे।

समाधान—(वेदान्तभूषणजी)—समाधानके पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि निन्दा किसे कहते हैं। किसीके परोक्षमें उसके ऊपर 'मिथ्यादोषारोपण' का नाम 'निन्दा' है और समक्षमें मिथ्यादोषारोपणका नाम गाली है। रावणने श्रीरामजीके परोक्षमें श्रीरामजीपर मिथ्यादोषारोपण किया। यथा—'बल प्रताप बुधि तेज न ताके।....' इत्यादि, तब 'क्रोधवंत अति भएउ कपिंदा।६।३१।१।' किन्तु उसी रावणने जब रणांगनमें श्रीरामजीको कटु वचन कहे तब साथमें रहते हुए भी अंगदने कोप न किया, क्योंकि उसका प्रत्युत्तर करनेके लिए उसके सम्मुख ही श्रीरामजी उपस्थित थे। इसी तरह रावण जो कुछ कह रहा है वह श्रीजानकीजीके

---

* १ वाल्मीकीयमें दो मासकी अवधि देना कहा है, यथा—'द्वाभ्यामूर्ध्वं तु मासाभ्यां भर्तारं मामनिच्छतीम्।' 'द्वौ मासौ रक्षितव्यौ०' (५। २२। ६, ८), पर भट्टिकाव्यमें एक मासकी अवधि है, यथा—'न मासे प्रतिपत्ताऽसि मां चेन्मर्तासि मैथिलि'।

२—अर्धाली ८ व ९ पायकुलंक है—(प्र० चं०)।

३—गुप्तार्थ—'सीताजीके वचन सुनकर निजात्मघात (के उपायोंकी ओर) के लिए दौड़ा, मंदोदरीने नीति दिखाई कि इनकी सेवा करो इससे शीघ्र प्रसन्न होंगी; अतएव राक्षसियोंको बुलाकर कहा कि तुम जाकर त्रास अर्थात् कष्ट सहकर इनकी सेवा करो, एक मासमें प्रसन्न न हुईं तो समझूँगा कि तुमने ठीक सेवा नहीं की। तुमको मार डालूँगा। पुनः यदि सीताप्रति ये वचन हैं तो अर्थ होगा कि मैं खड्ग निकालकर अपना सिर काट डालूँगा।

☞ ४—मा० त० सु० लिखती है कि ये (गुप्त) विलक्षण अर्थ श्रीवाल्मीकीय-तिलककार-तीर्थ आदि महात्माओंने दरसाये हैं। प्रयागनिवासी पं० शिवसहायजीने तो स्पष्ट कर दिया है; अतः उन्हीं लोगोंकी शैलीका अवलम्बनकर तथा पुष्पाञ्जलि टीकानुकूल यह व्याख्या लिखी गई।

समक्ष और उन्हींसे कह रहा है और वे उसका प्रत्युत्तर कर ही रही हैं। रावण श्रीजानकीजीसे दूरी पर खड़ा है। यदि वह उनके पास पहुँच जाता तो अवश्य हनुमान्‌जीसे रहा न जाता। वे अवश्य रक्षा करते।

दूसरी बात यह भी है कि अङ्गदजीको प्रभुने पूर्णाधिकार देकर भेजा था, यथा—'काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई।' और हनुमान्‌जीको तो इतना ही आज्ञा दी थी कि 'बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु।' और अधिनायक श्रीजाम्बवान्‌ने भी यही कहा था कि 'एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई।' श्रीहनुमान्‌जी अन्वेषक दूतकी स्थितिमें थे और अंगदजी प्रतिनिधि (रामदूत) थे। अतएव दोनोंके दूतत्वमें अन्तर था। इसलिए दोनोंके कार्यमें अन्तर होना ही चाहिए।

तीसरे श्रीहनुमान्‌जी जिस श्रेणीके दूत बनाये गये हैं वे उसके कार्य-गौरवको खूब समझते हैं कि ऐसी स्थितिमें बिना दूरतक सोच लिये सहसा कुछ कर बैठना उचित नहीं। इस सम्बन्धमें आदिकवि प्राचेतस महर्षिने—'स्वामिकार्यं विनंश्यन्ति दूताः पंडित मानिनः।' इन शब्दोंमें श्रीहनुमान्‌जीका मन्तव्य स्पष्ट कह दिया। और श्रीहनुमान्‌जीको तो सर्वथा निश्चित ही है कि श्रीजानकीजीका विनाश किसी तरह हो ही नहीं सकता, उन्हींके वचनोंको पढ़िये—'त्रयाणां भरतादीनां भ्रातृणां देवता च या। रामस्य च मनः कान्ता सा कथं विनशिष्यति॥'

दोहा—भवन गयउ दसकंधर इहाँ पिसाचिनि बृंद।
सीतहि त्रास देखावहिं धरहिं रूप बहु मंद॥ १०॥

अर्थ—(ऐसा कहकर) रावण घर गया। यहाँ निशाचरि-समूह सीताजीको भय दिखाती हैं और बहुतसे बुरे-बुरे रूप धारण करती हैं। †॥ १०॥

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा कि 'कहेसि सकल निसिचरिन्ह' और यहाँ 'पिसाचिनि बृंद'; इस तरह दोनोंका पर्याय जनाया। वहाँ 'सकल' है, वही यहाँ 'बृंद' हैं। (ख) 'बहु बिधि त्रासहु जाई' अतएव 'इहाँ धरहिं रूप बहु मंद' कहा। बहु देहलीदीपक है। बहुत मन्द और बहुतसे रूप धारण करती हैं।

नोट—१ 'जब राक्षसियोंको बुलाया तब 'निसिचरिन्ह' कहा और अब अनेक भयंकर रूप धारणकर करके श्रीसीताजीको त्रास दे रही हैं अतः अब 'पिसाचिनि' पद दिया। पिशाचिनियोंके ऐसे ही आचरण होते हैं, यथा—"नाना भाँति पिसाच पिसाची। मारु काटु धुनि बोलहिं नाची॥ ६। ५१।" २—'सीतहि त्रास देखावहिं'। वाल्मी० ५ सर्ग २३, २४ में त्रास दिखानेका वर्णन है। ३ 'वृन्द' शब्दसे जनाया कि सब एकसाथ मिलकर भी डरवाती थीं।

त्रिजटा नाम राछसी एका। रामचरन रति निपुन बिबेका॥ १॥
सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना। सीतहि सेइ करहु हित अपना॥ २॥

अर्थ—एक राक्षसी त्रिजटा नामकी थी जिसकी श्रीरामजीके चरणोंमें प्रीति थी और जो विवेकमें निपुण थी। १। उसने सबोंको बुलाकर स्वप्न सुनाया (और कहा कि) सीताजीकी सेवा करके अपना भला कर लो। २।

नोट—१ 'त्रिजटा':—यह एक बूढ़ी राक्षसी थी जो बड़ी बुद्धिमान् थी। भूषण टीकाकार लिखते हैं कि यह विभीषणजीकी पुत्री थी। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि तीन गुणोंसे जटित होनेके कारण इसका नाम त्रिजटा हुआ—रामचरणरति, व्यवहार-निपुणता, और विवेक, ये ही तीन गुण हैं। स्वप्न सुनाकर श्रीसीताजीकी सेवाका उपदेश करना यह व्यवहारमें निपुणता है। 'सीतहि सेइ करहु हित अपना' यह भक्ति है।

† ब्र० चं०—दोहरा दोहा मिश्रित है।

इनकी सेवासे ही कल्याण होता है यह जानना ही विवेक है। सत्-असत्का ज्ञान विवेक है। यह जानती है कि हरिभजन ही सत्य है और सब जगत्-व्यवहार असत्य है। ऐसा विवेक होनेसे उसको श्रीरामचरणोंमें प्रेम है। अतः 'रामचरन रति निपुन बिबेका' कहा। अथवा, 'होइहि सत्य गये दिन चारी।' यह अनुभवकथन विवेक है। (पं०, रा० प्र०)।

टिप्पणी—१ (क) 'राछसी एका' अर्थात् उस वृन्दभरमें यही एक ऐसी थी। रामप्रेमसे ज्ञानकी और ज्ञानसे भक्तिकी शोभा है यथा—'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू' और 'जुग बिच भगति देवधुनि धारा। सोहत सहित सुबिरति बिचारा'। (ख)—रामचरणरति' से उपासना कही और विवेकसे ज्ञान कहा, कर्म न कहा; क्योंकि स्त्रीको कर्मका अधिकार नहीं है। जहाँ तीनोंका अधिकार होता है वहाँ तीनों कहे हैं। यथा—'धर्मधुरंधर गुननिधि ज्ञानी। हृदय भगति मति सारंगपानी' यहाँ धर्मधुरंधरसे कर्म, ज्ञानीसे ज्ञान, 'हृदय भगति····' से उपासना, तीनों कहे; क्योंकि ये तीनोंके अधिकारी हैं। (ग) रामचरणमें प्रेम है, इसीसे सीताजीकी सेवा करनेको कहती है और विवेकमें निपुण है इसीसे सबका हित किया, यथा—'अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम। सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम'। उसको स्वप्नमें भविष्यका ज्ञान प्राप्त हुआ।

२—'सबन्हौ बोलि ...' इति। रावणने सबको बुलाकर दुःख देनेकी आज्ञा दी थी, इसीसे इसने 'सब' को बुलाया जिसमें सब सुन लें, कोई दुःख न दे। 'बोलि' से ज्ञात हुआ कि वह औरोंसे कुछ दूर थी, पर इतनी दूर न थी कि श्रीसीताजी उसकी बात न सुन पातीं। इन्होंने भी सुना तभी तो उससे कहा कि 'मातु बिपति संगिनि तैं मोरी'। (ख) स्वप्न सुनानेका भाव कि यदि वैसे ही यह मना करती, स्वप्न न सुनाती तो कोई मानता नहीं, स्वप्न सुननेसे सबको विश्वास होगा। (ग) "करौ हित अपना" अर्थात् रावणके हितमें जो तुम तत्पर हो उसे छोड़ो और अपने हितमें लगो। भाव यह कि श्रीसीताजीको दुःख देनेसे तुम्हारा अहित होगा। त्रिजटा रामभक्त है, इसीसे उसने श्रीसीताजीका हित किया और राक्षसियोंसे सेवा कराके उनका हित किया। यह धर्म है। यथा—'परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई'।

नोट—२ "हित हमार सियपति सेवकाई" श्रीभरतजीके (२।१७८।१ के) इस वाक्यके अनुसार जीवका अपना हित भी श्रीसीतारामजीकी सेवाहीमें है। यहाँ स्वार्थ और परमार्थका एकीकरण हो जाता है। (लमगोड़ाजी)।

३—"सीतहि सेइ करहु हित अपना" इति। वाल्मी. ५।२७ में स्वप्नका विस्तृत उल्लेख है। श्लोक ९ से लेकर तीस श्लोकोंमें स्वप्न है। यह कहकर उसने हितके वचन कहे हैं कि—"तुम शीघ्र देखोगी कि श्रीसीताजी श्रीरामचन्द्रजीको शीघ्र प्राप्त होती हैं। राक्षसोंको मारकर वे तुम लोगोंको अवश्य मारेंगे क्योंकि अपनी प्राणप्रिय, बनवासमें भी साथ देनेवाली पत्नीका तुम लोगोंद्वारा भर्त्सन और तर्जन वे कदापि नहीं सह सकते, वे कभी क्षमा न करेंगे। अतएव उचित है कि अब तुम श्रीजानकीजीसे क्रूर वाक्य न कहो किन्तु उनको कोमल वचनोंसे धीरज दो। मुझे तो यही रुचता है कि हम सब मिलकर उनसे अनुग्रहकी प्रार्थना करें। यद्यपि तुम लोगोंने इनको बहुत त्रास दिया है, तो भी तुम इस बातकी चिन्ता न करो। ये मैथिलीजी प्रणाममात्रसे प्रसन्न हो जायँगी। वे ही इस भयसे हम सबोंकी रक्षा करेंगी।" यथा—"····नश्यध्वं सीतामाप स राघवः॥ ४०॥ घातयेत्परमामर्षी सर्वैः सार्धं हि राक्षसैः। प्रियां बहुमतां भार्यां वनवासमनुव्रताम्॥ ४१॥ भर्त्सितां तर्जितां वाऽपि नानुमंस्यति राघवः। तदलं क्रूरवाक्यैर्वः सान्त्वमेवाभिधीयताम्॥४२॥ अभियाचाम वैदेहीमेतद्धि मम रोचते।····भर्त्सितामपि याचध्वं राक्षस्यः किं विवक्षया॥४४॥ ··प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा॥४५॥ अलमेषा परित्रातुं राक्षसीर्महतो भयात्।"—ये सब भाव "सीतहि सेइ करहु हित अपना।" से जना दिये।

४—यह स्वप्न त्रिजटाको श्रीरामजीकी इच्छासे हुआ। झूठे ही स्वप्न बनाकर नहीं कहा गया। ☞ भक्त जब बहुत आपत्तिमें पड़ जाता है तब प्रभु ही उसकी रक्षाका उपाय रच देते हैं। त्रिजटाको स्वप्न हुआ

और वह भी प्रातःकाल। वह जानती है कि प्रातःकालका स्वप्न प्रायः सत्य होता है। उसको अनुभव है कि यदि दुखियारी स्त्रीके संबंधमें ऐसा स्वप्न हो तो वह अवश्य दुःखोंसे छुटकारा पाकर अपने पतिको पाती है। यथा—"यस्यामेवंविधः स्वप्नो दुःखितायां प्रदृश्यते। सा दुःखैर्विविधैर्मुक्ता प्रियं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥वाल्मी०२७।४३,४४॥"—इसीसे उसे ऐसा स्वप्न हुआ जिससे उसे स्वयं विश्वास हुआ और दूसरोंको वह विश्वास दिला सकी। श्रीहनुमान्‌जीसे भी भेंट करानेके लिये यह स्वप्न हरि इच्छासे हुआ।

५—'सीतहि' का 'हि' यहाँ निश्चयार्थक अव्यय है जिसमें भाव यह है कि एकमात्र श्रीसीताजीहीकी सेवासे हित होगा, अन्यथा नहीं।

६—वह स्वयं भक्ता और विवेकी है; इसीसे उसने उनको भी दोनोंका उपदेश दिया। 'सेवा करो' भक्ति है और 'इसमें अपना हित जानो' यह विवेक दिया।

सपनें बानर लंका जारी। जातुधान-सेना सब मारी॥ ३॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुंडित सिर खंडित भुज बीसा॥ ४॥
एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई। लंका मनहुँ बिभीषन पाई॥ ५॥

अर्थ—स्वप्नमें (मैंने देखा है कि एक) बानरने लंका जला डाली और राक्षसोंकी सारी सेना मार डाली। ३। दश सिरोंवाला रावण गधेपर सवार है, नंगा है, (उसके) सिर मुँड़े हुये हैं और बीसों भुजायें कटी हुई हैं। ४। इस प्रकार वह दक्षिण दिशाको जा रहा है और लङ्का मानों विभीषणजीने पाई है। ५।

नोट—१ 'सपने बानर लंका जारी' इति। पूर्व एक बार कह चुके हैं कि 'सबन्हौ बोलि सुनायेसि सपना' और अब फिर कहते हैं कि 'सपने बानर०'। दो बार स्वप्नका कहना लिखकर सूचित किया कि प्रथम यही कहा कि मैंने आज बड़ा भयंकर एवं रोमांचकारी स्वप्न देखा है जिसका फल है—रावणका नाश और श्रीसीताजीके पतिकी विजय। यह सुनकर सब राक्षसियाँ भयभीत हो गईं और उन्होंने उससे पूछा कि क्या स्वप्न देखा है? तब त्रिजटाने स्वप्न सुनाया। यथा—'स्वप्नो ह्यद्य मया दृष्टो दारुणो रोमहर्षणः। राक्षसानामभावाय भर्तुरस्या जयाय च ॥वाल्मी० ५। २७। ६॥....कथयस्व त्वया दृष्टः स्वप्नोऽयं कीदृशो निशि। तासां तु वचनं श्रुत्वा राक्षसीनां मुखाच्च्युतम् ॥८॥'—वाल्मीकीयके भाव प्रकट करनेको यहाँ दो बार लिखा।

२—प्रथम स्वप्नके वृत्तान्त नहीं सुनाये, केवल स्वप्न देखना कहा और कहा कि 'सीतहि सेइ करहु हित अपना'। इसपर राक्षसियोंने कहा होगा कि रावणके जीते जी हमारा अहित कौन कर सकता है? इसपर उसने स्वप्नका वृत्तान्त सुनाया जो स्वप्नविचारानुसार रावणके नाश और श्रीरामजीकी जयके सूचक हैं।

टिप्पणी—१ 'सपने बानर लंका जारी।....' इति। (क) लंका जलाना अगम है, यथा—'कहु कपि रावनपालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका। ३३। ५।' 'देखत तुम्हहि नगर जेहि जारा। ६ ।५५। ४।' लंकापुरी दुर्धर्ष है, रावण त्रैलोक्यविजयी है, ऐसी भी लंकाको रावणके रहते एक बन्दरने जला डाला। यथा—'रावन नगर अलप कपि दहई। सुनि अस बचन सत्य को कहई।६।२३। ८।' 'त्रिदशैरपि दुर्धर्षा लंकानाम महापुरी। कथं वीर त्वया दग्धा विद्यमाने दशानने'। (ख) इस चौपाईमें सुन्दरकाण्डकी कथा कही, आगे लंकाकाण्ड है।

२—(क) 'खर आरूढ़ नगन दससीसा।' इति। सेनाका मरना प्रथम कहकर तब रावणका मरण कहा, ऐसा ही हुआ भी और प्रायः ऐसा ही सब राजाओंकी लड़ाइयोंमें होता है। (ख) 'मुंडित सिर' से तो मरण न हुआ? खंडित सिर कहनेसे मरण जाना जाता सो क्यों न कहा? कारण कि स्वप्नाध्यायमें लिखा है कि जिनकी मृत्यु देख पड़ती है, उसकी मृत्यु नहीं होती; वरन् दूसरेकी मृत्यु होती है और जिसको सिर मुँड़ाए देखो उसकी मृत्यु अवश्य होती है। (ग) दक्षिण दिशामें यमपुरी है। दक्षिण दिशा या यमपुरको जाना मुहावरा है, मृत्यु होना इसका अर्थ है चाहे कोई स्वर्ग जाय, चाहे नरक, मृत्युसूचक स्वप्न सबोंको एक ही होते हैं। (घ)—'जाई' का भाव यह कि जिसको स्वप्नमें इस प्रकार देखे वह अवश्य मरता है। 'पाई' से जनाया कि जो

उसके हाथोंसे निकल गई थी, उस गई हुईको पुनः पाया । रावणने विभीषणजीको निकाल दिया था, इससे राज्य मिलनेकी आशा न रही थी; यथा—'करत राज लंका सठ त्यागी । ५३ । ५ ।' वह पुनः मिली । पुनः, जैसे सुग्रीवने किष्किन्धाका राज्य पाया था, यथा—'हरि लीन्हेसि सरबस अरु नारी ।' वैसे ही विभीषणजीने गई हुई संपत्ति पाई । 'गई हुई' के ही संबंधसे 'पाई' कहा जाता है; यथा—'गइ मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई ।२।४४।' ('मनहुँ बिभीषन पाई' इति । यहाँ 'मनहुँ' उत्प्रेक्षाका पद दिया क्योंकि यह स्वप्नकी बात है और स्वप्नकी बात कहनेकी ऐसी ही रीति है ।—['पाई'के इस भावमें एक दोष यह आता है कि विभीषणका राज्य छीना नहीं गया, वह कभी राजा न थे और न उत्तराधिकारी ही हो सकते थे ।]

नोट—३ 'मनहुँ' उत्प्रेक्षालंकारसे मानों कवि उस भेदको भी निबाह देता है जो घटनाओंकी वास्तविकता और स्वप्नके आधारवाली कल्पनामें प्रतीत होता है । (लमगोड़ाजी) ।

४—वाल्मी० ५ । २७ में भी कहा है—'गर्दभेन ययौ शीघ्रं दक्षिणां दिशमास्थितः । २६ ।....' लंका दृष्टा मया स्वप्ने रावणेनाभिरक्षिता । ३७ । दग्धा रामस्य दूतेन वानरेण तरस्विना । ३८ ।', 'एकस्तत्र मया दृष्टः श्वेतच्छत्रो विभीषणः । ३२ ।'

५—अर्धाली ३,४ पायकुलक, 'एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई'कुसुमविचित्रा और 'लंका मनहु०' पायकुलक भेद है ।

बाबा हरिदासजी—यहाँ त्रिजटाने दस बातें कहीं—लंकादहन, सेनावध, खंडित भुज, विभीषण-राज्य, विजय-घोषण, सीता-मिलाप, खरआरूढ़, नग्न, मुंडित सिर और दक्षिण दिशाको गमन । इसमें से प्रथम छः तो सत्य हुईं पर अंतिम चारका होना जान न पड़ा । यह शंका होती है । इसका समाधान यह है—(१) जब अंगदने प्रतिज्ञा की कि 'जो मम चरन सकसि सठ टारी; फिरहिं राम सीता मैं हारी', तब सबने हटाना चाहा पर चरण किसीके टाले न टला । इससे रावणकी हार हुई । हारनेपर गधेपर चढ़ानेकी रीति है—(भक्तमालमें इसके प्रमाण हैं)), रावणकी यह हार मानों गधेपर सवार होना है । (२) अंगदने हाथ पटका तब सभासहित सब गिर पड़े—'दुहुँ भुजदंड तमकि महि मारी ॥ डोलत धरनि सभासद खसे । चले भागि भय मारुत ग्रसे' । इससे रावणकी लज्जा मर्यादा जाती रही और नग्न होनेसे भी लज्जामर्यादा नहीं रहती । अतः यह नग्न होना हुआ । (३) 'भूतल परे मुकुट अति सुंदर' । रावणके शिरपरसे मुकुट गिर पड़े; इनमेंसे कुछको अङ्गदने उठाकर प्रभुके पास चला दिया, उसका सिर शोभाहीन हो गया । यही सिरका मुंडित होना हुआ । और (४) दक्षिणदिशिसे मरण कहा; क्योंकि मृतकका पैर दक्षिणदिशाकी ओर रखा जाता है; जीवित मनुष्य दक्षिण दिशाकी ओर पैर करके नहीं सोते ।

नगर फिरी रघुबीर दोहाई । तब प्रभु सीता बोलि पठाई ॥ ६ ॥
यह सपना मैं कहौं पुकारी । होइहि सत्य गएँ दिन चारी ॥ ७ ॥
तासु बचन सुनि ते सब डरीं । जनकसुता के चरनन्हि परीं ॥ ८ ॥

अर्थ—नगरमें रघुबीरकी दोहाई फिरी तब प्रभुने सीताजीको बुला भेजा । ६ । मैं पुकारकर कहती हूँ कि यह स्वप्न चार दिन बीते सत्य होगा । ७ । उसके वचन सुनकर वे सब डरीं और जानकीजीके चरणों पर पड़ीं । ८ ।

टिप्पणी—१ 'नगर फिरी रघुबीर दोहाई ।....' इति । (क) जिसका राज्य होता है, उसकी दुहाई फिरती है (उसके विजय एवं राज्यकी घोषणा डंके आदिके द्वारा होती है); यथा—'जब प्रतापरबि भयउ नृप

* प्र० चं०—'नगर०' तामरस, 'तब' से 'चारी' तक पायकुलक, 'तासु०' आ० चौ० का ३२१ वाँ भेद, 'जनकसुता०' ३४८ वाँ भेद हैं ।

फिरी दोहाई देस ।१।१५३।' सब निशाचर-सेनाको मारकर विजय-घोषणा की, इसीसे 'रघुवीर' कहा। (ख)—'तब' अर्थात् जब विभीषणको राज्य दे चुके। पहले शरणागतका काम किया, उसको निर्द्वन्द्वकर दिया, तब अपना काम पीछे किया—यह श्रीरामजीका स्वभाव है। जैसे पहले सुग्रीवको राज्य देकर तब सीताजीकी खोज करायी, वैसे ही विभीषणजीको राज्य देकर तब सीताजीको बुलाया। इसी प्रकार अवध पहुँचनेपर प्रथम सखाओंको स्नान कराके तब स्वयं स्नान किया। 'तब प्रभु सीतहि बोलि पठाई' कहनेका तात्पर्य्य यह है कि तुम सब इनको दुःख देती हो, जब इनको प्रभु बुलाकर पूछेंगे, ये सब हाल उनसे कहेंगी, तब तुम्हारी दुर्दशा होगी।

२—'यह सपना मैं कहौं पुकारी।....'इति।—भाव यह है कि स्वप्न सत्य होगा, हमने प्रातःकालमें अभी देखा है। अथवा, औरोंके स्वप्न चाहे असत्य हों परन्तु परमभक्तोंके स्वप्न सत्य ही होते हैं। जैसे श्रीपार्वतीजी, श्रीभरतजी और श्रीरामजीने जो-जो स्वप्न देखे, वे सब सत्य हुये। यथा—'सुनहि मातु मैं दीख अस सपन सुनावौं तोहि। सुंदर गौर सुबिप्रबर अस उपदेसेउ मोहि ॥१।७२॥ करहि जाइ तपु सैलकुमारी। नारद कहा सो सत्य बिचारी।', 'देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना ॥२।१५७।', 'उहाँ रामु रजनि अवसेषा। जागे सीय सपन अस देखा ॥ सहित समाज भरत जनु आए। नाथ बियोग ताप तनु ताए ॥ सकल मलिन मन दीन दुखारी। देखीं सासु आन अनुहारी ॥२।२२६।'–('होइहि सत्य' कहनेमें भाव यह है कि स्वप्न प्रायः असत्य होते हैं; यथा—'सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ। जागे लाभु न हानि कछु० ।२।९२।'; इसीसे कहती है कि इसे भी असत्य न समझ लेना, यह अवश्य सत्य होगा। 'हि' निश्चयार्थक है।)।

३—(क) "कहौं पुकारी" इति। अर्थात् पुकारकर कहती हूँ जिसमें सबको भली भाँति विदित हो जाय, पीछे कोई न कहे कि हमसे नहीं कहा। अब चाहे तुम मानो चाहे न मानो; न माननेसे तुम्हारा अहित हो तो इसमें हमारा दोष नहीं। यथा—"कालकवलु होइहि छन माहीं। कहौं पुकारि खोरि मोहि नाहीं। १।२७४।" [वाल्मी० ५।२४ में उन राक्षसियोंके नाम दिये हैं जो श्रीसीताजीके पहरेपर थीं। विनता, विकटा चण्डोदरी, प्रघसा, अजामुखा और शूर्पणखा। इन सबोंने सीताजीको डरवाया। शूर्पणखा कहती है कि जो अजामुखाने कहा वही मेरी भी राय है, शीघ्र सुरा ले आओ, मनुष्यका मांस खाकर हम लोग निकुम्भिलामें नाचें (श्लोक ४३-४७)। श्रीत्रिपाठीजी इसीके आधारपर 'पुकारि' का भाव यह कहते हैं कि 'यह ध्रुव सत्य है, मैं डिमडिम घोषसे कहती हूँ। जाय शूर्पणखा रावणसे कह दे, साँचको आँच क्या? (वि० त्रि०)। ☞ वचनकी प्रवीणता (eloquence) के नियमसे इसमें अपना स्वयं विश्वास तो है ही; पर वह इतना दृढ़ भी है कि बड़े ज़ोरसे कहा जाना सूचित होता है; दुविधा होती तो मौन रहती। (लमगोड़ाजी)] (ख)—"गएँ दिन चारी" इति। चार दिन अल्पकालका वाचक है; यथा—"बाँधि बारिधि साधि रिपु दिन चारि में दोउ बीर। मिलहिंगे कपि भालु दल संग जननि धरु धीर ॥गी० सुं० ६।" [दो चार दिन, चार छः दिन, चार दिन, छः सात दिन इत्यादि मुहावरे (लोकोक्ति) हैं। इनसे दिनोंकी ठीक २ संख्या न समझनी चाहिये। कवितावली, गीतावली और मानसमें इस प्रकारके और भी प्रयोग हैं; यथा—"दिवस छ सात जात जानिबे न मातु धरु धीर। अरि अंतकी अवधि रही थोरि कै। क०सुं० २७।", 'तौं लौं मातु आपु नीके रहिबो। जौ लौं हौं ल्यावौं रघुबीरहि दिन दस और दुसह दुख सहिबो। गी० ।५।१४।', 'दिन दस करि रघुपति पद सेवा। पुनि तव चरन देखिहउँ देवा।७।१६।८।', 'दिन दस गएँ बालि पहिं जाई। बूझेहु कुसल सखा उर लाई।६।२१।' इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि यहाँ दिनकी संख्या विवक्षित नहीं है।]

नोट—१ मानसमें प्रसाद-गुणही प्रधान है इस विचारसे ठीक अर्थ यही है तो भी लोगोंने 'दिनचारी' पर मस्तिष्कको पचाया है और अनेक भाव कहे हैं—इनमेंसे दो एक यहाँ दिए जाते हैं—ये सब वाग्विलास ही हैं—(१) 'होइहि सत्य गये दिन चारी'=चारी (चारों बातें) सत्य होइहहिं, (कुछ) दिन गये। चार बातें ये हैं–लंकादहन और सेनावध, रावण-वध, विभीषणराज्य, विजयघोषण और श्रीसीताराम-मिलाप। (२) रा० शं०—किसी कामके प्रारम्भसे समाप्ति तक जितने दिन लगते हैं, उनपर ध्यान न देकर जिस दिन

वह पूरा होता है उसे त्रिजटा एक दिन गिनती है। लंकादहन एक दिन, सेनाकी लड़ाईके दिन छोड़कर जिस दिन सेनाकी समाप्ति हुई वह एक दिन, रावणके युद्धके दिन छोड़कर उसके मरणका एक दिन, और युद्धके बाद जो दिन बीते, उन्हें छोड़कर विभीषणके राजतिलकका एक दिन। इस प्रकार चार दिन हुए। (१) और (२) में तो कुछ भाव भी हैं, पर आगे कोरी पंडिताई देखिए। (३) गयेदिन=रात्रि, निशि। गये दिनचारी=निशिचरी। अर्थात् हे निशाचरियों! यह स्वप्न सत्य होगा। (४) दिनचारी=वानर। अर्थात् हनुमान्‌जीके जानेपर।...इत्यादि। (१) का उत्तर यह है कि 'होइहि' एक वचन है और चारी बहुवचन।

मा० त० सु०—"त्रिजटाने लंकादहनसे ही क्यों कहा? वानरका लंकामें प्रवेश, अशोक वाटिकामें आगमन, आदि व्यवस्था क्यों न कही?" उत्तर—त्रिजटा को 'विवेकमें निपुण' कहा है; यथा—'रामचरनरति निपुन बिबेका'। उसने बिचारा कि यदि इसे कहूँगी तो राक्षस सुनकर वानरको खोजने लगेंगे, जिससे रामकार्यमें बाधा होगी।—[नोट—मा० त० सु०—कार 'सपना' को त्रिजटाका अनुभव समझते हैं, वस्तुतः स्वप्न नहीं। पर औरोंके मतसे यह उसने स्वप्नमें ही देखा, और हरिइच्छासे इतना ही स्वप्न देखा, वही उसने कह दिया। विभीषणजीके सम्बन्धसे केवल यह अनुमान ही है कि उसे वानरका आगमन मालूम है।]

टिप्पणी—४ 'तासु बचन सुनि ते सब डरीं।०' इति। (क)—त्रिजटाका रामभक्त और ज्ञानी होना प्रारम्भमें कहा था, यथा—'रामचरनरति निपुन बिबेका।'; पर 'ते सब डरीं' से जान पड़ता है कि उसने भक्ति और ज्ञान न कहा केवल भय दिखाया कि तुम इनका भर्त्सन और तर्जन कर रही हो अतएव विजय होनेपर श्रीरामजी तुम्हें अवश्य दण्ड देंगे। केवल भयदर्शनका कारण यह है कि ये निशाचरियाँ भक्ति या ज्ञानकी अधिकारिणी न थीं। (ख)—'जनकसुता के०' इति। जनकसुताके चरणोंपर अपराध क्षमा-हेतु पड़ीं और जनाया कि हम शरण हैं, इन्हीं चरणोंका अवलम्ब हमको है, हम अत्यन्त दीन हैं। ये जनक ऐसे महात्माकी कन्या हैं, इन्होंने क्षमा कर दिया।

नोट—२ वाल्मीकीयमें भी श्रीसीताजीको 'प्रणाम' से प्रसन्न होनेवाली कहते समय भी 'जनकात्मजा' ही कहा है; यथा—'प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा। २७। ४५।' वही भाव दरसानेके लिए यहाँ 'जनकसुता' पद दिया। यह भी जनाया कि ऐश्वर्य भावसे ईश्वरी जानकर प्रणाम नहीं किया। उन्होंने क्षमाकर दिया, यथा—'ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुर्विजयहर्षिता। अवोचद्यदि तत्तथ्यं भवेयं शरणं हि वः।२७।५३।' श्रीसीताजीने विश्वास दिलाया कि यदि ऐसा हुआ तो मैं अवश्य रक्षा करूँगी। [(पर यह श्लोक प्रक्षिप्त कहा जाता है। चतुर्वेदीजीने नहीं दिया है। श्रीवचनभूषणमें भी आया है।) त्रिजटाका अनुभव जो 'सीतहि सेइ करहु हित अपना' इन वचनोंमें निहित है, सत्य हुआ। निशाचरियोंको इसका प्रमाण रावणवधपर मिल ही गया। श्रीहनुमान्‌जीने रावणवधका समाचार देकर इन सबोंके चित्रवधकी आज्ञा माँगी, और श्रीजानकीजीने इनकी रक्षा की। वाल्मी. ६। ११६। ३०-४६ में यह प्रसंग है।]

प० प० प्र०-१ इस अर्धालीमें प्रत्येक चरणमें एक-एक मात्रा कम करके गतिविच्छेद, लयभंग करके (डरीं) के भाव दिग्दर्शित किये हैं। डरसे घिग्घी बँध गई, शरीर काँपने लगा इत्यादि भाव पाठसे ही बता दिया।

☞ २ जब राजसत्तान्तर होनेकी परिस्थिति निर्माण होती है तब अत्याचारी अन्यायी राजाकी प्रजा राजाज्ञाको कितना मानती है और क्षणमात्रमें लोगोंकी चित्तवृत्ति कैसी पलटती है यह इस प्रसंगसे स्पष्ट है। धर्मशील न्यायपरायण राजाकी प्रजा विश्वासघात नहीं करती, यह राजा भानुप्रतापके प्रसंगसे शिक्षा मिलती है।

दोहा—जहँ तहँ गईं सकल तब* सीता कर मन सोच।
मास दिवस बीतें मोहि मारिहि निसिचर पोच॥ ११॥

* मिलि—पाठान्तर। (रा. कु.)।

अर्थ—सब (मिलकर एक साथ) जहाँ-तहाँ चली गईं। तब श्रीसीताजी मनमें चिन्ता करने लगीं कि एक महीना बीतनेपर नीच निशाचर मुझे मारेगा। ११।

☞ नाटकी-कलामें कितना सुन्दर Aside है !! (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—१ 'जहँ तहँ गईं सकल' इति। (क)—सबने सम्मत किया कि 'हमें देखकर इनको भय लगता है', यहाँसे इधर-उधर चल दें, समीप न रहें। अतएव जहँ तहँ गईं'। पुनः यह हरिइच्छासे हुआ कि पास कोई न रहे। 'जहँ तहँ' अर्थात् पास ही इधर-उधर अशोकवाटिकामें रहीं, घर नहीं गईं। घर केवल त्रिजटा ही गई, यथा—'असि कहि सो निज भवन सिधारी।'; वे भी घर जातीं तो 'निज-निज भवन गईं' कहते। वे घर न गईं; क्योंकि रावणकी आज्ञा उनके पास रहनेकी है। (ख) त्रिजटाने तो सेवा करनेको कहा था—'सीतहि सेइ करौ हित अपना।' और ये सब चली गईं? इनका पाससे चला जाना यही बड़ी सेवा है; क्योंकि वे रावणकी आज्ञासे इनको 'बहु बिधि' 'त्रास देखावहिं धरहिं रूप बहु मंद'। पास रहनेसे सीताजीको उनका भय ही रहता, पास न रहेंगी तो भय जाता रहेगा। उपद्रवी उपद्रव न करे, यही उसकी बड़ी सेवा है, यथा—'यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चुराई'; अतएव भय दिखाना छोड़ चली गईं, यह सेवा की। [मा. त. सु.—इस समय वे सेवायोग्य अवसर न देख सेवामें प्रवृत्त न हुईं, जब इनका समय आवेगा अर्थात् धर्मात्मा विभीषण राजा होंगे तब ये सेवामें प्रवृत होंगी। यथा—'तब हनुमंत नगर महँ आये। सुनि निसिचरी निसाचर धाये॥ बहु प्रकार तिन्ह पूजा कीन्ही। जनकसुता दिखाई पुनि दीन्ही।६।१०६।' पुनः यथा—'तुरतहि सकल गये जहँ सीता। सेवहिं सब निसिचरी बिनीता। ६। १०७।']

नोट—१ 'तब' का भाव कि सबके चले जानेपर तो शोच दूर हो जाना चाहिये था और त्रिजटाके वचन सुनकर हर्ष होना चाहिये था, सो न हुआ। निशाचरियोंके त्रासका दुःख गया, 'तब' मासदिवसकी अवधिका और नीच राक्षसके हाथसे मरनेकी बातपर ध्यान आ गया; अतः वे सोच करने लगीं। यथा—'सा राक्षसेन्द्रस्य वचो निशम्य तद्रावणस्याप्रियमप्रियार्ता। सीता वितत्रास····। ५। २८। १।'

टिप्पणी—२ 'सीता कर मन सोच' इति। पूर्व सीताजीने कहा है कि 'चन्द्रहास हरु मम परितापं' आगे भी कहती हैं कि 'तजौं देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई'। इससे स्पष्ट है कि वे मरने पर तैयार थीं और आगे भी तैयार दिखती हैं। तब यहाँ बीचमें 'सीता कर मन सोच' कैसा? अर्थात् यहाँ मरनेका सोच क्यों करती हैं? इसका उत्तर यह है कि यहाँ सोच यह नहीं है कि हम मारी जायँगी, यह तो वे चाहती ही हैं। सोच इस बातका है कि महीनाभर बीत जानेपर मारेगा; तबतक हमको विरह सहना पड़ेगा, जो हमसे अभी ही नहीं सहा जा रहा है। इसीसे आगे कहती हैं कि 'करु बेगि उपाई' जिसमें शीघ्र मर जाऊँ। इसपर यदि कहा जाय कि हनुमान्‌जीसे भी तो ऐसा ही कहा है—'मास दिवस महुँ नाथ न आवा। तौ पुनि मोहि जियत नहिं पावा।२७।६।', तो वहाँ भी उन्होंने अपने मरनेके सोचसे यह बात नहीं कही, वहाँ केवल श्रीरामचन्द्रजीके शीघ्र आकर दुःख हरनेके अभिप्रायसे कहा (कि देर हुई तो आना व्यर्थ हो जायगा)। पुनः, उन्होंने हनुमान्‌जीसे यथार्थ जैसी बात रावणने कही थी वही ज्योंकी त्यों कही है। अथवा, सोच इससे कि नीचके हाथ मरण होगा। नीचके हाथ मरण होनेसे नरक होता है।

नोट—२ सोच यह है कि राक्षसके हाथसे मृत्यु होगी। यथा—'हा जीवलोकस्य हितः प्रियश्च वध्यां न मां वेत्सि हि राक्षसानाम्। वाल्मी० ५।२८।११।' अर्थात् हे प्राणिमात्रके हितैषी और प्रिय (श्रीराघवजी)! आपको यह नहीं विदित है कि मैं राक्षसोंके हाथसे मारी जानेवाली हूँ। यह भी सह लेती यदि तुरत मार डाली जाती; पर उसके लिये एक मासकी अवधि है। आत्मघात करना चाहती हूँ पर न विष ही मिलता है न शस्त्र। सत्य है कि समय आये बिना मृत्यु नहीं होती। वाल्मी० ५। २८। के ये सब भाव इस दोहेमें भरे हुए हैं। यथा—'सा जीवितं क्षिप्रमहं त्यजेयं विषेण शस्त्रेण शितेन वाऽपि। विषस्य दाता न हि मेऽस्ति कश्चिच्छस्त्रस्य वा वेश्मनि राक्षसस्य। १६।' 'सत्यं बतेदं प्रवदन्ति लोके नाकालमृत्युर्भवतीति सन्तः। ५। २८। ३।'

टिप्पणी—३ 'मारिहि निसिचर पोच' इति। स्त्री अबध्य है, स्त्रीका वध बड़ी नीचता है, सो भी करनेको रावण उद्यत हुआ, यथा—'नाहि त सपदि मानु मम बानी। सुमुखि होति नत जीवन हानी'; पर यह कहकर भी उसने वचनोंको प्रमाण न किया, शीघ्र मारनेको कहकर फिर भी मारा नहीं वरन् मास भरकी अवधि दे दी; यथा—'मास दिवस महुँ कहा न माना। तौ मैं मारब०'। दोनों कारणोंसे 'पोच' कहा। (रा. कु.)।

त्रिजटा सन बोलीं कर जोरी। मातु बिपति संगिनि तैं मोरी॥ १॥
तजौं देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई॥ २॥

अर्थ—(आत्महत्याका मनमें निश्चय कर वे) त्रिजटासे हाथ जोड़कर बोलीं—'हे माता! तू मेरे दुःखकी साथिनी है। १। शरीर छोड़ दूँ, इसका शीघ्र (कुछ) उपाय कर दे। विरह अत्यन्त कष्टदायक है, अब सहा नहीं जाता'। २।

टिप्पणी—१ 'त्रिजटा सन बोली' इति। (क) त्रिजटासे क्यों कहा? वह तो कहना करेगी नहीं, क्योंकि उसे विश्वास है अपने स्वप्नका। दूसरे वह श्रीरामजीकी भक्ता है; वह मारनेका उपाय क्यों करेगी? और राक्षसियोंसे क्यों न कहा कि खा लें? कारण कि वे तो खानेको दौड़ती ही थीं पर खाती न थीं, उन्हें रावणने आज्ञा दी थी कि डराओ, इससे वे केवल भयानक रूप धरकर डरवाती थीं। उन्हें खाना होता तो खा क्यों न लेतीं, ये तो मरनेको तैयार ही थीं, ये कब रोकतीं? अतएव उनसे क्या कहतीं? (ख) 'बोलीं कर जोरी' हाथ जोड़कर उपकार जनाती हैं। जो बात करनेको वे कहती हैं वह दुष्कर है, अगम है, त्रिजटा उसे न करेगी—वह कैसे कहेगी कि लो हम चिता लगाये देती हैं तुम जल जाओ? इसीसे हाथ जोड़कर निहोरा करती हैं। अगम बात इसी तरह माँगनेकी रीति है, यथा—'मागउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी। २। २९।' भरतको राज्य देनेमें राजाको दुःख न होगा इससे भरत-राज्य माँगनेमें हाथ न जोड़ा; यथा—'सुनहु प्रानप्रिय भावत जीका। देहु एक बर भरतहि टीका। २।२९। १।'; पर श्रीरामजीको वनवास देनेमें उन्हें बहुत दुःख होगा, वे यह वर दे नहीं सकते; इसीसे इसके माँगनेमें हाथ जोड़कर निहोरा करके तब वर माँगा। (ग) यहाँ श्रीसीताजीकी मन, वचन और कर्म तीनोंसे अत्यन्त दीनता दिखाई है—'सीताकर मन सोच', त्रिजटा सन बोलीं, 'कर जोरी' (कर जोड़ना कर्म है)।

२—(क) 'मातु बिपति संगिनि तैं मोरी'। इति। (भाव यह कि लंकाभरमें विपत्तिका साथी तेरे अतिरिक्त दूसरा नहीं है, इसीसे तुझसे कहती हूँ)। 'बिपति संगिनि' अर्थात् हे माता! जैसे तू मेरी एक विपत्ति काटकर मेरी विपत्तिमें सहायिका हुई कि स्वप्न सुनाकर राक्षसियोंको निवारण किया, वैसे ही मेरी दूसरी विपत्तिके निवारणमें सहायक बन। दूसरी कौन विपत्ति है सो आगे कहती हैं। (ख) 'तजौं देह' पहले कहकर तब 'करु बेगि उपाई' कहा। भाव यह कि उपाय करनेमें विलम्ब है, तन-त्यागमें विलम्ब नहीं। आगे आप ही बताती हैं। (ग) 'बिरह-अनल' नहीं सहा जाता। भाव कि प्राकृत अग्निसे विरहाग्निका ताप कठिन है, अग्निमें जलना सुगम है पर विरहाग्निमें जलना दुष्कर है। मरण सहन योग्य है; विरह असह्य है। (घ) 'अब नहिं सहि जाई' इति। प्रतिकूल बात कहनेसे विरहीका विरह बढ़ जाता है, यथा—'सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरत व्याकुल भये। लोचन सरोरुह श्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नये॥' माता कौसल्या आदिने राज्य करनेको कहा, यह भरतजीकी भक्तिके प्रतिकूल है। वैसे ही रावणके वचन कि 'एक बार बिलोकु मम ओरा' श्रीजानकीजीके पातिव्रत्यधर्मके प्रतिकूल हैं। अतएव कहा कि 'अब' नहीं सह सकती। †

आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई॥ ३॥
सत्य करहि मम प्रीति सयानी। सुनै को श्रवन सूल सम बानी॥ ४॥*

---

† मा. त. सु.—'दुसह बिरह' पदसे अपनेमें उज्ज्वलरस वियोग-शृङ्गार दरसाकर माधुर्यमय अन्तर्लापिका दरसाया है। * प्र. चं.—१२ (१) (२) (३) (४) पायकुलक हैं।

अर्थ—लकड़ी लाकर चिता बनाकर रच और फिर, हे माता! (उसमें) आग लगा दे। ३। हे सयानी! मेरी प्रीति सच्ची कर दे * शूलके समान बचनोंको कानोंसे कैसे सुने। ४।

टिप्पणी—१ 'आनि काठ रचु चिता बनाई।००' इति। (क) 'रचु बनाई' पद मङ्गलवाचक है। पतिके वियोगमें सतीका मरण होना मंगल है। जैसे उत्साहसे (उत्सवोंमें) लोग मङ्गल रचना रचते हैं, वैसे ही मेरे निमित्त उत्साहसे चिता रच दो। दशरथमरणपर भी इन्हीं शब्दोंका प्रयोग हुआ है, यथा—'सरजुतीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई'। तात्पर्य यह कि जो काम श्रीरामजीको न मिला वह हमको मिला।—[वहाँ भी रामविरहमें शरीर छूटा था, अतः मङ्गलवाचक पद दिया गया—(मा० सं०)]। चिता बनाकर लगा दे तो मैं उसमें प्रवेश कर जाऊँ; यथा—'श्रीखंड सम पावक प्रवेस कियो सुमिरि प्रभु मैथिली'। (ख)—कोई सम्बन्धी ही चितामें अग्नि लगाता है। यहाँ तुम मेरी माताके समान हो क्योंकि शरीर मातासे मिलता है और तुमने इस समय राक्षसियोंसे बचाकर मुझे मानों दूसरा जन्म दिया है। अतएव तुमको दग्ध करना उचित है। तुम आग लगा दो। †

नोट—१ 'मातु' इति। एक ओर इस करुणाजनक अपीलसे यह विरोध प्रकट होता है कि मातासे शरीर भस्म करनेको कह रही हैं और दूसरी ओर सूचित करती हैं कि इस समय मातृप्रेमका कर्त्तव्य है कि दुःखान्त करनेमें सहायक बने। ऐसे ही समय असाध्य रोगोंमें डाक्टर सकरुण हत्या (pitiful killing) तक उचित समझता है। इसी आगामी हितके विचारसे 'सयानी' शब्दका प्रयोग किया गया है। (लमगोड़ाजी)

२—'मम प्रीति' का साधारण अर्थ तो 'मेरी प्रीति' है।

टिप्पणी—२ 'सत्य करहि मम प्रीति' इति। जबतक प्रियके वियोगमें शरीर न छूटे तबतक प्रीति सत्य नहीं, यथा—'बंदउँ अवधभुआल सत्य प्रेम जेहि रामपद। बिछुरत दीनदयाल प्रिय तन तृन इव परिहरेउ ॥१। १६।', 'तनु परिहरेउ पेम पन लागी। २। २६४।', 'ऐसे सुतके विरह अवधि लौं जौ राखौं यह प्रान। तौ मिटि जाइ प्रीतिकी परमिति अजस सुनौं निज कान॥ तुलसिदास तनु तजि रघुपतिहित कियो प्रेम परवान॥ गी० २। ५६।'

---

* 'मम प्रीति' का साधारण अर्थ ऊपर दिया गया। कुछ लोगोंने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—(१) मेरे प्रति जो तेरा प्रेम है। (२) मेरी प्रीति जो तुझमें है और तेरी प्रीति जो मुझमें है। पं० राजकुमार-जीने—'मेरी प्रीति जो श्रीरघुनाथजीमें है'—यह अर्थ किया है और इसकी पुष्टि टिप्पणी २ में की है। बैजनाथ-जीने भी यही अर्थ किया है। वे लिखते हैं कि पतिवियोगमें प्राण त्याग देना ही योग्य है, शत्रुके वशमें रहनेसे मरण ही उत्तम है। कदाचित् त्रिजटा कहे कि प्रभुका संयोग शीघ्र होगा तो उसपर कहती हैं कि 'सुनैको श्रवन सूल सम बानी।' अर्थात् यह वचन सहे नहीं जाते। अर्थ (१) व (२) की पुष्टिमें यह कह सकते हैं कि सत्य प्रेम तो वह है जो वियोग होते ही निरुपाय प्राण निकल जायँ, बाहरी कोई साधन न करना पड़े। उसके लिये अग्नि या जलाशय आदिकी आवश्यकता नहीं। 'गीत-गोविन्द' वाले जयदेवकी धर्मपत्नी पद्मावतीजीने यही बात कही है। भक्तमाल देखिये। अतः यहाँ 'श्रीरामजीमें अपना प्रेम' सत्य करनेका भाव न होकर त्रिजटा का श्रीसीताजीमें और सीताजीका त्रिजटामें जो प्रेम है वही अभिप्रेत है। भाव यह कि अग्निमें जलाकर मेरा दुःख दूर कर तो जानूँ कि तेरा प्रेम सत्य है। विभीषणजीकी स्त्री और लड़कियाँ सब सीताजीसे प्रेम रखती थीं, यह बात वाल्मीकीयसे सिद्ध है। विभीषणजी इनके द्वारा जब तब ढाढ़स दिया करते थे।

† मा० त० सु०—(१) जिसके द्वारा श्रीराघवजी प्राप्त हों, वा, विरहाग्नि मिटे, वह उपाय सुन्दर ही होना चाहिए। अतः, 'रचु बनाई' कहा। (२) एक बार 'माता' सम्बोधन कर चुकीं फिर भी 'मातु-सम्बोधन' करके अति-आर्तता और प्रीति जनाई जिसमें वह भी अधिक स्नेह करे। [विनम्र निवेदन है। दुष्कर कार्य कराना है। अतः बारबार कहती हैं।]

टिप्पणी—३ 'सयानी' का भाव कि तुम जानती हो कि पतिविहीन स्त्रीका जीवन व्यर्थ है। अथवा, तुम भी प्रेमिन हो, जानती हो, कि तन छूटनेसे ही प्रीति सत्य होगी अन्यथा झूठी है, यथा—'निदहिं आपु सराहहिं मीना। धिग जीवन रघुबीर बिहीना', 'तुलसी जियै जो बारि बिनु तौ तु देहि कबि खोरि ॥ दोहावली ३१७।'

४—'सुनै को' अर्थात् श्रवणशूलसम वाणी सुननेसे मरण अच्छा है, यथा—'अरि बस दैव जियावत जाही। मरन नीक तेहि जीवन चाही'।

सुनत बचन पद गहि समुझाएसि। प्रभु प्रताप बल सुजस सुनाएसि ॥ ५ ॥
निसि न अनल मिल† सुनु सुकुमारी। अस कहि सो निज भवन सिधारी ॥ ६ ॥

अर्थ—वचन सुनते ही उसने चरण पकड़कर समझाया; प्रभुका प्रताप, बल और सुयश सुनाया। ५। हे सुकुमारी! सुनो, रात्रिमें आग नहीं मिलती।—ऐसा कहकर वह अपने घर चल दी। ६।

नोट—१ माताकी ममता एक बहाना ढूँढ़ लेती है, नहीं तो रात्रिमें दीपककी आग तो मिल ही सकती थी। (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—१ (क) 'पद गहि'। श्रीसीताजीने हाथ जोड़कर माता कहा तब त्रिजटाने चरण पकड़कर जनाया कि आप तो मेरी स्वामिनी हैं, मैं तो आपके चरणोंकी दासी हूँ। अथवा, आज्ञा न माननेके लिये अपराध-क्षमा-हेतु चरण पकड़े। अथवा, चरण पकड़कर (शपथपूर्वक) कहती है कि श्रीरामजी आयँगे, राक्षसोंको मारकर तुम्हें ले जायँगे, तुम धैर्य धारण करो; और, धीरज देनेके लिए 'प्रभु प्रतापबल सुजस' सुनाया। 'समुझाएसि' और 'सुनाएसि' दो पृथक्-पृथक् क्रियाएँ हैं। (ख) प्रभुका भाव कि वे समर्थ हैं। (ग) प्रताप यथा जयन्तकी कथा, बल यथा धनुषभंगकी कथा, सुयश यथा अहल्योद्धार अथवा यह कि प्रभु एक नारिव्रत हैं तुमको कदापि नहीं भुला सकते।

नोट—२ प्रताप बल सुयशके विषयमें जनकपुरके दूतोंने श्रीदशरथजीसे अपने आँखों देखी बात कही है; यथा—"जिन्ह के जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे ॥ संभु सरासन काहु न टारा। हारे सकल बीर बरिआरा।...जेहि कौतुक सिव सैलु उठावा। सोउ तेहि सभा पराभउ पावा ॥ तहाँ राम रघुबंसमनि सुनिअ महा महिपाल। भँजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकज नाल ॥१.२९२॥ सुनि सरोष भृगुनायक आए। बहुत भाँति तिन्ह आँखि देखाए ॥ देखि रामबल निज धनु दीन्हा।" मन्दोदरीने भी सीयस्वयंवर, जयन्त, मारीच और लक्ष्मणजीकी खींची हुई रेखके उदाहरण दिये हैं; यथा—'रामानुज लघु रेख खँचाई। सोउ नहिं नाँघेउ असि मनुसाई।...बान प्रताप जान मारीचा।...जनकसभा अगनित भूपाला। रहे तुम्हउ बल अतुल बिसाला। भंजि धनुष जानकी बिआही।

† १—मिल-भा. दा., बं. पा.। मिलु—का., पं., मा. म.। मानसमयंककार और उनके अनुयायी एवं पंजाबीजी अर्थ कहते हैं कि 'रातमें अग्निमें न मिलो अर्थात् न जलो'। वे कहते हैं कि सीताजी अपनेको मृतक मानकर भस्म हुआ चाहती हैं पर रात्रिमें मृतकको भी जलानेका निषेध शास्त्रोंमें है, यथा निर्णयामृते पारिजाते यमः—'सन्ध्यायां वा तथा रात्रौ दाहः पाथेय कर्मच। नवश्राद्धं च नो कुर्यात्कृतं निष्फलता व्रजेत्'। श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि रात्रिमें अग्नि माँगने पर किसीको देना मना है इसलिये कि क्या जाने यह अग्नि क्या करेगा। अतः अग्नि नहीं मिलना कहा। यदि त्रिजटा रात्रि विषे अग्निमें जलनेसे मना करती तो फिर सीताजी त्रिजटाके चले जानेपर अग्निकी चाह क्यों करतीं; यथा—'अवनि न आवत एकौ तारा।', 'सुनहि बिनय मम बिटप असोका।...' इत्यादि। अतः त्रिजटाने अग्निमें जलनेके लिये नहीं मना किया था। अग्नि रात्रिमें नहीं मिलेगी ऐसा कहकर चली गई। अतएव 'रात्रिमें अग्निमें न मिलो' यह अर्थ गलत है। २—अर्धाली ५ 'सुनत०' १२२० वाँ भेद, 'प्रभु०' १२२० वाँ भेद है। अर्धाली ६ से १२ तक पायकुलक है।—(प्र. चं०)।

तब संग्राम जितेहु किन ताही। सुरपतिसुत जानइ बल थोरा। ६।३५।' विराधवध, खरदूषणादिका वध और वालि का एक ही बाणसे वध सब बलके उदाहरण हैं। पुनः, सुयशसे यहाँ आर्त्तिहरण, दीनदयाल, प्रणतपाल, आश्रयदाता इत्यादि विरदसे जो सुंदर यश फैल रहा है वह भी अभिप्रेत है; कारण कि इस समय श्रीजानकीजी बहुत आर्त्त हैं। यथा—'जौ प्रभु दीनदयालु कहावा। आरतिहरन वेद जसु गावा।१।५६।', 'निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परागतिः।१६। आर्त्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम्। वाल्मी०। ४।१५।२०।' (अर्थात् वे साधुओंके आश्रयदाता तथा पीड़ितोंके रक्षक हैं, वे दुखियोंके आश्रयस्थान हैं और यशके एकमात्र भाजन हैं), 'श्रवन सुजसु सुनि आयउँ····आरति हरन सरन सुखद रघुबीर। ५। ४५।', 'सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ आयो सरन।··· सोक-श्रमसींव सुग्रीव आरति हरन। राम राजीवलोचन विमोचन विपति। गी० ५। ४३।', 'दीनहित विरद पुरानन्हि गायो। आरतबंधु कृपाल मृदुलचित जानि सरन हौं आयो।···जानत प्रभु दुख-सुख दासनि को ताते कहि न सुनायो। गी०। ५। ४४।' गीतावलीमें भी श्रीसीताजीका त्रिजटासे बात करना और उसका उत्तर देना पाया जाता है। यथा—'तुलसी त्रिजटा जानी सिय अति अकुलानी मृदु बानी कह्यो ऐहैं दवन-दुवन। तमीचरतमहारी सुरकंजसुखकारी रविकुलरवि अब चाहत उवन। ५। ४८।' इसपर सीताजीने कहा है कि—'तैं प्रभु सुजस-सुधा सीतल करि राखे तदपि न तृप्ति लहे री। ५। ४६।' इसके अनुसार 'दवन दुवन' आदि विशेषण 'सुयश' हैं।

☞ उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि त्रिजटाने कहा होगा कि श्रीरामजीने धनुपको तोड़कर आपकी चिन्ता मिटाई थी, रावण तो उठा भी न सका था, आपहीके लिये सहस्रबाहुके मारनेवाले परशुरामका गर्व हरण किया, आपहीके लिये जयन्तपर सींकका बाण चलाया जिससे तीनों लोकोंमें उसकी रक्षा कोई न कर सका, तब उनके बाणोंसे रावणकी रक्षा कौन कर सकता है। आपहीके लिये शूर्पणखाकी नाक काटी गई और रावण समान बली खरदूषणादिका संहार क्षणभरमें किया गया। वे सत्यसंकल्प हैं। उन्होंने तुम्हारे सामने ही—"निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।" तब यह प्रतिज्ञा कैसे व्यर्थ हो सकती है। वे अवश्य शीघ्र तुम्हारे दुःखको हरेंगे।

टिप्पणी—२ (क) विरह भारी है, समझानेसे संतोष न हुआ तब अग्नि न मिलनेका बहाना किया। (ख) 'सुकुमारी' अर्थात् तुम्हारा शरीर अग्निका ताप सहने योग्य नहीं है, अत्यन्त कोमल है, यथा—'अति सुकुमार न तनु तप जोगू।' (बा० ७४।)।—[नोट—भाव-मर्मज्ञ कवि 'सुकुमारी' शब्दमें कितना भाव भर देता है—(१) माताके लिए पुत्री कोमल ही है, चाहे जो अवस्था हो। (२) श्रीसीताजी तो यों ही कोमल हैं, उसपर भी इस समय तो वे विरहजन्य शोकसे अत्यन्त क्षीण हो गई हैं। (३) श्रीसीताजीको एक भोली-भाली कन्याकी तरह बहानेसे फुसलानेमें कितना वात्सल्य है? (लमगोड़ाजी)] (ग) 'निज भवन सिधारी' इति।—अर्थात् उसने बिचार किया कि जब तक मैं यहाँ रहूँगी तबतक ये ऐसे ही विलाप करती रहेंगी। अथवा, सयानी है, समझती है कि ये बड़ी बुद्धिमान् हैं जो मैं ठहरी तो ये अग्नि मिलनेका कुछ उपाय अवश्य बताएँगी तब कुछ कहते न बनेगा और आज्ञा भंग होगी। अतएव यह कहकर कि अग्नि न मिलेगी वह तुरत चल दी। पर, मुख्य तो रामजीकी इच्छा है। श्रीहनुमान्‌जीको संदेशा कहना और मुद्रिका देना है इसके रहते काम ठीक न होगा, प्रभुकी प्रेरणासे वह चल दी।

वि० त्रि०—'सुनत बचन······सिधारी'। त्रिजटाने देखा कि सीताजी प्राण देने पर उतारू हैं, तब चरण पकड़कर समझाया, यथा—'सिर पै तुम्हरे रघुनाथसे नाथ, अनाथ सी है किमि बैन उचारो। दशकंठको कुण्ठित साहस भो, तब चोरन की सरनी निरधारो। जनके पत की जेहि लाज सदा, बिजयानंद सो तुम्हरो रखवारो। आय गये प्रभु देर नहीं, यह जानि कै जानकी धीरज धारो।' तत्पश्चात् उसने निवेदन किया कि रात्रिको आग नहीं मिलती। पूर्वकालमें राजा लोग रात्रि के समय अग्नि के बुझा देने के लिये घण्टा बजवा देते थे। उस

समय सब लोग अपने घरोंकी अग्नि बुझा देते थे। अग्निके भयसे ही सम्भवतः ऐसा नियम था। यह शङ्का भी नहीं की जा सकती कि सोनेकी लंकामें अग्निसे भय कैसा? सोनेकी लंकाका अर्थ इतना ही है कि वहाँ स्वर्णका प्रयोग अधिक था, यह अर्थ नहीं है कि वहाँ ईंटा पत्थर लकड़ी आदिसे काम ही नहीं लिया जाता था। ऐसा होता तो लंका दाह कैसे हुआ?

नोट—☞१ तुलसीदासजीकी नाटकी-कलामें प्रगतियों तकका संकेत कितना मर्मपूर्ण और फ़िल्म-कलाका कितना साधक व सार्थक है! (लमगोड़ाजी)।

२—कुछ लोगोंका मत है कि त्रिजटा हनुमान्‌जीका आगमन जानती है, अतः वह जानबूझकर घर चली गई।

३—'पद गहि' में दूसरा भाव यह है कि आप तो ईश्वर हैं, मैं तो आपकी दासी हूँ। आपका श्रीरामजीसे सदा संयोग है, वियोग कभी नहीं। देखिए आपके चरणोंमें जो चिह्न हैं वे ही श्रीरामजीके चरणोंमें हैं तब वियोग कहाँ? यह वियोग देखनेमात्रको लीला हेतु है। नहीं तो रावणकी क्या बिसात थी कि हरण करता। (शिला)।

४—त्रिजटासे श्रीसीताजीके बातचीतका प्रसंग वाल्मीकीयमें नहीं है।

कह सीता बिधि भा प्रतिकूला। मिलिहि न पावक मिटिहि न सूला॥ ७॥
देखिअत प्रगट गगन अंगारा। अवनि न आवत एकौ तारा॥ ८॥
पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हतभागी॥ ९॥

अर्थ—(विपत्तियोंमें एकमात्र जो साथिनि थी वह भी चल दी, अतः आतुर होकर) श्रीसीताजी कहती हैं कि विधाता (मुझे) विपरीत हो गया है। न अग्नि मिलेगी न शूल मिटेगा। ७। आकाशमें अंगारे (चिनगारियाँ) प्रगट दिखाई देते हैं पर पृथ्वीपर एक भी तारा नहीं आता। ८। चन्द्र अग्निमय है पर मानों मुझे अभागिनी जानकर आग नहीं गिराता। ९।

टिप्पणी—१ (क) 'कह' शब्दसे जनाया कि त्रिजटाके जानेके बाद ये बातें श्रीसीताजीने मुखसे कहीं, तब इन्हें सुनकर हनुमान्‌जीने अग्निकी जगह मुद्रिका दी। (ख) विधिकी प्रतिकूलता यह है कि जो एक अपना हित करनेवाली थी, वह चली गई। यथा—'मो कहँ तिलकसाज सजि सोऊ। भएँ बिधि बिमुख बिमुख सब कोऊ।२।१८२।२।' (ग) न पावक मिलेगा न दुःख दूर होगा। अर्थात् विरहकी पीड़ा मिटनेका दूसरा उपाय नहीं है, शरीर छूटनेपर ही मिटेगी। शूल, यथा—'सुनै को श्रवन सूल सम बानी'।

२—'देखियत प्रगट०', यह विधाताकी प्रतिकूलता दिखाती हैं कि अंगारे दिखाता है, देता नहीं। भाव कि यदि न देख पड़ते तो संतोष होता कि अग्नि नहीं है, क्या करें? 'प्रगट' का भाव कि त्रिजटाने कहा था कि रात्रिमें आग नहीं मिलती; पर आग तो प्रकट दिख रही है, विधिके वाम होनेसे हमको नहीं मिलती। अङ्गारे क्या हैं, यह कवि स्वयं अगले चरणोंमें स्पष्ट करते हैं कि तारे ही को अङ्गार कह रही हैं। 'एकौ' अर्थात् आकाशमें अगणित हैं, पर मिलते एक भी नहीं। तात्पर्य्य यह कि एक भी मिल जाता तो काम चल जाता। इससे यह ज्ञात होता है कि वे स्वयं ही चिता लगानेका विचार कर रही हैं। अग्नि ही चाहिए, लकड़ी तो बागमें बहुत है इसीसे त्रिजटाने लकड़ी न मिलनेका बहाना न किया।

नोट—१ कोई उद्योग नहीं फुरता; विरह कैसे मिटे? विरहकी अन्तरज्वालाके कारण अत्यन्त शोक और व्याकुलता है। इसीसे इस समय तारागण अङ्गारेसे और शीतप्रधान शशि भी अग्निमय ही दीखता है। अधिक विरहाग्निके संतापसें ऐसा ही देख पड़ता है। विरहिणियोंको सभी सुखद वस्तुयें दुःखद होती हैं। यथा—'सीतलता ससिकी रहि सब जग छाइ। अगिनि-ताप है हम कहँ सँचरत आइ।बरवै ३३। डहकु न हैं उजियरिया निसि नहिं घाम। जगत जरत अस लागु मोहि बिनु राम॥ ३७॥'' यहाँ विषाद-संचारी भाव है। ☞ तुलना

कीजिये श्रीरामजीके सुवेलपर्वतपर शशिकी कालिमा-सम्बन्धी कथनसे। "मानहुँ" से फिर उत्प्रेक्षा ही तो है। "देखिअत प्रगट ···"में वीरकविजी 'द्वितीय निदर्शना' और भानुकविजी 'हेत्वापह्नुति' अलंकार मानते हैं।

प० प० प्र०—श्रीसीताजीकी आँखों और चित्तको सब कुछ पावकमय ही देख पड़ता है। कितनी व्यथा और तन्मयताका चित्र यहाँ खड़ा कर दिया है।

टिप्पणी—३ (क) 'पावकमय' है अर्थात् अग्नि भरे हुए बैठा है, पर उगल नहीं देता। अवनि पर तारा आ जाय या चंद्रमा वहींसे अग्नि टपका दे, गिरा दे, दोनोंमें से किसी भी एक प्रकारसे काम चल सकता है। आवे या श्रवैं। अतः दोनों शब्द दिये। (ख) 'मानहुँ मोहि जानि हत भागी' इति। पति-वियोग होनेसे हतभाग्य समझता है। अभागेका मनोरथ पूरा नहीं होता, इसीसे मुझे अग्नि देकर मेरा मनोरथ पूरा नहीं करता। (पहले विधाताको दोष दिया फिर भाग्यको, क्योंकि पहले विधाता लिखते हैं तब भाग्य बनता है। भाग्य अपने कर्मानुसार बनता है। 'हतभागी' कहकर विधाताको भी निर्दोष ठहराया, अपने कर्मको ही दोषी ठहराया)।

सुनहि बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका॥ १०॥
नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि तन[1] करहि निदाना॥ ११॥

अर्थ—(जिस अशोक वृक्षके नीचे बैठी हैं उसीको संबोधन करती हुई कहती हैं—) हे अशोक वृक्ष! मेरी विनती सुन। अपना नाम सत्य कर, मेरा शोक दूर कर।१०। तेरे नये किसलय (कोमल नये निकले हुये पत्ते वा कल्ले) अग्निके समान हैं। अग्नि दे और मेरे शरीरका अन्त कर दे। ११।

टिप्पणी—१ (क) 'सुनहि बिनय मम···' इति। श्रीसीताजी इस समय बड़ी विरहाकुल हैं इससे जड़ पदार्थ वृक्षसे सुननेको कहती हैं; यथा—'भये बिकल जस प्राकृत दीना।....पूछत चले लता तरु पाँती।३।३०।' (ख)—'विटप' परोपकारी होते हैं, यथा—'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी।७।१२५।६।' इसीसे अशोकके साथ 'विटप' शब्द भी दिया। तात्पर्य्य यह कि तुम परोपकारी हो, उसपर भी तुम्हारा नाम 'अशोक' है, अपने नामकी लज्जा सबको होती है। (ग) 'सत्य नाम करु' अर्थात् मेरे दुर्भाग्यकी ओर दृष्टि न कर, किन्तु अपने नामकी ओर देख और चन्द्रमाकी तरह न कर। मुझे शोकरहित करके अपने नामकी सत्यता प्रकट कर। आगे शोक हरनेका उपाय बताती हैं।

२—'नूतन किसलय अनल समाना....' इति। (क) भाव कि तेरे पास अनल बहुत है, उसकी वृष्टि कर दे, उसीसे मेरा शरीर भस्म हो जाय, मुझे लकड़ी जुटाकर चिता भी न बनाना पड़े, न उसमें आग लगाकर स्वयं जलना पड़े। (ख) शङ्का—मरनेके तो बहुत उपाय हैं, यथा—'तुम्ह सहित गिरि ते गिरउँ पावक जरउँ जलनिधि महँ परउँ'। ये सबसे अग्नि ही क्यों माँगती हैं? समाधान—अग्नि इससे माँगती हैं कि सती अग्निमें जलकर मरती है। अथवा, जहाँ बिम्ब है वहीं प्रतिबिम्ब जाकर मिलना चाहता है। बिम्ब अग्निमें है, यथा—'तुम्ह पावक महँ करहु निवासा।' अथवा, [अग्नि माँगना भी प्रभुकी इच्छासे हुआ। पहरेमें हैं, समुद्रमें जाकर डूब नहीं सकतीं। अस्त्र शस्त्र कोई देगा नहीं। पुनः, यहाँ हनुमान्‌जी अशोकपर मुद्रिका लिए बैठे हैं। सबसे अग्नि माँगते-माँगते अशोकसे भी माँगेंगी। चमकदार अँगूठी वहाँसे वे डालेंगे तब स्वाभाविक उसपर दृष्टि जायगी। यदि अग्नि न माँगतीं तो ऊपरसे अँगूठीके गिरनेपर दृष्टि उस ओर न जाती। यह सब हरि-इच्छासे हुआ। पुनः, ये वियोगिनी हैं, पति-वियोगिनीका अग्निमें जलना ही विहित है।]

प० प० प्र०—श्रीसीताजीने त्रिजटासे आग माँगी; यथा 'मातु अनल पुनि देहि लगाई', और

[1] तन–१७२१, १७६२, भा० दा०, कोदवराम। जनि–१७०४, छ० गी० प्र०, ब्र० चं०। भा० दा० में हाशियेपर 'जनि' बनाकर फिर उसपर हरताल लगाया गया है। 'जनि' पाठसे अर्थ होगा–"कुछ सोच-विचार न कर, कारण न विचार।"

'अशोकसे भी माँगा, यथा–'देहि अगिनि तन करहि निदाना', किन्तु आकाश और चन्द्रमासे माँगा नहीं; इतना ही कहा कि 'देखिअत प्रगट गगन अंगारा।····पावकमय ससि स्रवत न आगी', इसका कारण यह है कि चन्द्रमा 'बिरहिनि दुखदाई' है, वह कदापि अग्नि न देगा, क्योंकि अग्नि देनेसे सीताजीका दुःख मिट जायगा और ऐसा करना उसके स्वभावके विरुद्ध होगा, अतः उससे नहीं माँगा। चन्द्रमा तारागणका पति है, अतः वे भी अपने स्वामीके प्रतिकूल नहीं कर सकते, इसीसे उनसे भी न माँगा।

नोट–१ त्रिजटा और श्रीसीताजीके संवादमें अपने आपको अग्निमें समर्पण कर देनेके लिए सीताद्वारा त्रिजटासे अग्नि-याचनाका वर्णन अध्यात्म और वाल्मीकीय रामायणोंमें नहीं है। यह भाग प्र० रा० नाटक अंक ६ में भी है। परन्तु दोनों वर्णनोंको बारीकीसे देखनेपर यही दीखेगा कि निपुणता और मार्मिकता गोसाईंजीमें ही विशेष पाई जाती है। (मा० हं०)। यह प्रसंग गोस्वामीजीका ही 'वस्तु-विन्यास-कौशल' प्रकट करता है। (पं० रामचन्द्रशुक्लजी)।

देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता ॥१२॥

सोरठा—कपि करि हृदयँ बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ ॥१२॥

अर्थ—(कवि कहते हैं) श्रीसीताजीको विरहसे परम व्याकुल देखकर वह क्षण कपिको कल्पके समान बीता। १२। कपि श्रीहनुमान्‌जीने हृदयमें विचारकर तब अँगूठी गिरा दी, मानों अशोकने अंगारा दिया। श्रीसीताजीने हर्षित हो उठकर उसे हाथमें ले लिया। १२।

टिप्पणी—१ 'देखि परम बिरहाकुल सीता।००' इति। (क) अर्थात् कुछ खबर न रही कि क्या करें। देखा कि अब ये शरीर छोड़ना ही चाहती हैं इसलिए शीघ्र मुद्रिका डाल दी। (ख) पूर्व परमदीन देखकर परमदुःखी हुए थे; यथा 'परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन। ५। ८।' अब परमविरहाकुल देखकर क्षण कल्पके समान बीता। दोनोंका उत्तरोत्तर अधिक दुःख कहा। जब देखनेवालेको क्षण कल्पसदृश बीत रहा है तब श्रीसीताजीको जैसा बीता वह क्या कहें? तीन लवका एक निमिष, तीन निमिषका एक क्षण, यथा—'निमिषस्त्रिलवोज्ञेयः आम्नातस्तु त्रयक्षणं'। और हजार चतुर्युगका एक कल्प होता है।

नोट—१ क्षणकी मात्राके विषयमें बहुत मतभेद है। पतंजलके मतानुसार "कालका वह छोटा भाग जिसके विभाग न हो सकें 'क्षण' है"। कोई पल या निमिषके चतुर्थांशको 'क्षण' कहते हैं। मानसमें यह शब्द जहाँ तहाँ 'बहुत थोड़े काल' के अर्थमें आया है; यथा–'करि उपाय रिपु मारे छन महुँ कृपानिधान।३।२०।', 'छन महँ सकल कटक उन्ह मारा। ३। २२।', 'सत जोजन आयउँ छन माहीं। ३। २५।' इत्यादि। क्षणभरमें, पलभरमें इत्यादि अत्यन्त अल्पकालवाचक मुहावरे हैं।

पं० रा० कु०—कल्प समान बीतनेका भाव कि क्षण भर तो कुछ उपाय करते न बना। क्षण कह कर यहाँ कालका नियम भी कर दिया कि यह परमव्याकुलता क्षणभर ही रही कि हनुमान्‌जीने मुद्रिका गिरा दी।

नोट—२ 'तरुपल्लव महँ रहा लुकाई। करइ बिचार करउँ का भाई।' विचार करते हीमें रावण आया, उसकी बातें सुनीं, राक्षसियोंका त्रास देना देखा, त्रिजटाके स्वप्नका वृत्तान्त सुना। यह विचारने लगे कि श्रीसीताजीको तो मैंने ढूँढ़ लिया, 'सीता' यही हैं। पर इनसे बात कैसे करूँ? यदि विना बात किये लौट जाऊँ और श्रीरामजीको सेना सहित यहाँ लाऊँ तो कहीं इस बीचमें ये आत्मघात ही न कर लें जिससे सब कार्य ही व्यर्थ हो जायगा। इतनेमें निशाचरियाँ भी हट गईं और त्रिजटा भी चली गई। एकान्त मिला, पर डर यह था कि यदि प्रकट होकर बातें करूँ तो श्रीसीताजी मुझे रावण समझकर डरकर चीख न मारें जिससे राक्षसियाँ आ पड़ें और काम बिगड़ जाय। भगवत्कृपासे योग लग गया कि वे परमविरहाकुल हो अशोक से अंगार माँग रही हैं। इस समय वे मुद्रिकाको अवश्य अशोकका दिया हुआ अंगार समझकर उठा लेंगी।

किसीने इनको अग्नि न दी; अब अशोकसे माँगती हैं, यदि अब भी न पावेंगी तो मरण अवश्य होगा। यह सोचकर उन्होंने उसी समय मुद्रिका गिरा दी।

बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि हनुमान्‌जीने सोचा कि अशोक वृक्ष है और वृक्ष वानरकुलका घर है। यदि अशोक तरु इनका शोक न हरे तो हमारे कुलकी निन्दा होगी। अतः यह विचारकर मुद्रिका गिरा दी, फिर रामकथा कही और बुलानेपर निकट जायँगे।

☞ श्रीलमगोड़ाजी कहते हैं कि—वह सारा सीन नाटकी-कलाकी जान ही है। यहाँपर भी (उपर्युक्त 'कह सीता बिधि भा प्रतिकूला।' से 'मानहु मोहि जानि हतभागी॥' तक तथा उसके आगे भी जो 'बिटप असोका' को संबोधन करके कहा गया है वह) स्वगत वार्ता (Soliloquy) कितनी सुन्दर और उपयोगी है—यह आप (उनपर दी हुई) टिप्पणियोंमें देख ही चुके। अब अँगूठीका ठीक समयपर गिराना सोनेमें सुगंधकी तरह कलाको सुन्दर बना देता है।

टिप्पणी—२ (क) 'विचार' ही शब्दपर प्रसंग छोड़ा था, यथा—'करइ बिचार करउँ का भाई।' अब वहींसे प्रसंगको फिर उठाते हैं। 'कपिने हृदयमें विचार किया कि यह अच्छा मौका है, श्रीसीताजी अशोकसे अग्नि माँग रही हैं, मैं उसके स्थानपर उन्हें मुद्रिका दे दूँ। मुद्रिकामें माणिक्य-नगीना था; इसीसे उसे अंगारकी उपमा दी। नीचे सोना देकर माणिक्य जड़नेसे ललाई बहुत आ जाती है। (ख) 'जनु असोक अंगार दीन्ह' इस कथनसे अशोक नामकी सत्यता रह गई, क्योंकि अशोकसे मुद्रिका गिरी और उसीसे शोकका नाश हुआ। (ग) 'हरषि उठि कर गहेउ' से पाया गया कि उनका विरह सत्य है, वे हृदयसे चाहती थीं कि अग्नि मिले। उठकर लिया अर्थात् वह मुद्रिका इनके हाथकी पहुँचमें न थी, इससे उठकर लिया और न दूर ही गिरी क्योंकि दूर गिरती तो 'धाय गहे' ऐसा पद लिखते।

३—इस प्रसंगमें पाँचों तत्त्व कहे गए। इनमेंसे चार तत्त्वोंसे जानकीजीका अग्नि माँगना दिखाया गया। 'देखिअत प्रगट गगन अंगारा' यह आकाश तत्त्व है।—(१)। 'पावकमय ससि स्रवत न आगी', यह जलतत्त्व है। भारतमें चन्द्रमाको जलमय कहा है—(२)। 'सुनहि बिनय मम बिटप असोका', यह पृथ्वी तत्त्व है—(३)। अग्नि माँगती ही हैं—(४)। इनसे अग्नि माँगा कि जहाँसे न मिल सके और वायु तत्त्वसे न माँगा कि जिससे अग्निकी उत्पत्ति है, (यथा 'आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। तैत्ति० वल्ली २ अनु० ।१।'), और जहाँसे आग मिल सकती। वायुपुत्र मुद्रिका लिये बैठे ही हैं; अशोकसे माँगते ही मिली।

नोट—'कपि करि०' त्रिकल सोरठा है (त्र० चं०)।

तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुंदर॥ १॥

अर्थ—तब उन्होंने श्रीरामनाम अंकित अत्यन्त सुन्दर मनोहर मुद्रिका देखी॥ १॥

नोट—१ भाव कि अग्निके धोखे अँगूठी मुट्ठीमें ली; जब गर्म न लगी तब मुट्ठी खोलकर देखा, यथा—'तब लागि सियरे हाथ। यह आगि कैसि हे नाथ' इति रामचन्द्रिका। देखा, तो मुद्रिका थी और अच्छी तरह देखा, तो उसे रामनाम अंकित पाया।

टिप्पणी—१ (क) 'मनोहर' का भाव कि रामनाम मनोहर है, यथा—'आखर मधुर मनोहर दोऊ'। और यह मुद्रिका उस नामसे अङ्कित है, अतः यह भी मनोहर है। (ख) 'रामनाम अंकित' से पाया गया कि श्रीरामजीकी मुहर है। जिसकी मुहर होती है उसीका नाम लिखा रहता है। अथवा, पतिके प्रियके हेतु पतिके नामकी अँगूठी स्त्री धारण करती है। 'अति सुन्दर' का भाव कि बनाव सुन्दर है, श्रीरामनाम अंकित होनेसे 'अति सुन्दर' है। (ग) मुद्रिका स्त्रीलिङ्ग है। इसके विशेषण 'मनोहरि' और 'अति सुंदरि' स्त्रीलिङ्ग होने चाहिये थे, सो न देकर विशेषण पुलिङ्ग दिये। ऐसा करके गोस्वामीजीने यह सूचित किया कि 'मुँदरी' का नाम अब कंकन हो गया है, यथा—'तुम पूछति कहि मुद्रिके मौन होति एहि नाम। कंकनकी पदवी दई तुम बिनु एहि कहँ राम' इति रामचन्द्रिकायाम्। पुनश्च यथा हनुमन्नाटके—'एनां व्याहर मैथिलाधिपसुते नामान्तरेणाधुना, रामस्त्व-

द्विरहेण कंकणपदं ह्यस्यै चिरं दत्तवान्॥ ६ । १६ ॥' (अर्थात् आपके वियोगसे इस अँगूठीको श्रीरामचन्द्रजीने कंकणका स्थान दे दिया है)।

मा० त० सु०—(१) हिन्दीकाव्यमें स्त्रीलिङ्ग-पुल्लिग का नियम कहीं-कहीं नहीं भी रहता है, यथा 'रामनाम बिनु गिरा न सोहा', 'पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी'। पुनः, (२) 'राम नाम अंकित अति सुंदर' से सूचित हुआ कि कोई स्त्रीलिंग हो या पुल्लिग श्रीरामनाम अंकित होनेसे वह 'अति सुन्दर' हो जाता है। पुनः (३) 'मनोहर' और 'अति सुंदर' रामनामके विशेषण भी माने जा सकते हैं।

नोट—१ मिलान कीजिये—'सुवर्णस्य सुवर्णस्य सुवर्णस्य च मैथिली। प्रेषितं रामचन्द्रेण सुवर्णस्यांगुलीयकम्॥ हनु०। ६। १५।' अर्थात् सुन्दर वर्णवाले, सुन्दर वर्ण (रामनामाक्षर) युक्त, सुवर्ण (दशमाशे) की यह सुवर्णकी अँगूठी श्रीरामचन्द्रजीने तुम्हारे लिये भेजी है। पुनश्च—'अत्रांगुलीयकमणौ प्रतिबिम्बमासीद्रामस्य सादरमतीव विलोकयन्ती।...१७।'

श्रीलमगोड़ाजी—यह सुन्दरकाण्ड ही जो है वह सुन्दर है। इसमें 'एक सुन्दर भूधर' का दृष्य सुन्दर, श्रीरामनामांकित अँगूठी 'अति सुंदर' और आगे कवि कहेंगे कि कथा ही 'अति सुंदर' है।

नोट—२ प्रथम चरण १०६९ वाँ भेद और दूसरा चरण ११९३ वाँ भेद हैं। (त्र० चं०)।

चकित चितव मुदरी पहिचानी। हरष बिषाद हृदय अकुलानी॥ २॥
जीति को सकै अजय रघुराई। माया तें असि रचि नहिं जाई॥ ३॥

अर्थ—अँगूठीको पहचानकर उसे चकित (आश्चर्यान्वित) होकर देख रही हैं। हर्ष और विषादसे मनमें व्याकुल हो गईं। २। श्रीरघुनाथजी अजेय हैं, उन्हें कौन जीत सकता है (अर्थात् कोई नहीं)? और मायासे ऐसी अँगूठी बनाई नहीं जा सकती। ३।

टिप्पणी—१ 'चकित चितव ..' इति। (क) 'चकित चितव' का अर्थ चारों ओर देखना नहीं है। जहाँ चारों ओर देखनेका भाव कहना होता है वहाँ कवि चकित लिखकर 'चहुँदिशि' पृथक् लिखते हैं। यथा—'चितवति चकित चहूँ दिसि सीता' और 'चकित बिलोकत सकल दिसि०' (१। २२९) में। यदि 'चितव चकित' से चारों दिशाओंमें देखनेका भी ग्रहण होता तो 'सकलदिशि' या 'चहुँ दिशि' लिखनेका प्रयोजन ही क्या था? यहाँ आश्चर्ययुक्त होकर देखना अर्थ है, यथा—'जहँ जहँ जाहिं कुँअर बर दोऊ। तहँ तहँ चकित चितव सब कोऊ। १। २४४।' मुद्रिका मिलनेका 'हर्ष' और यहाँ कैसे आ गई यह 'विषाद' हुआ जैसा श्रीसीताजी आगे स्वयं कहती हैं—'जीति को सकै .'। (ग) 'हृदय अकुलानी' का भाव कि प्रथम विरहमें व्याकुल थीं तब मुखसे कुछ कहती रहीं, अब हृदयमें जो हर्ष और विषाद हुआ उससे हृदयमें व्याकुल हो गईं, मुँहसे कुछ कहती नहीं, यथा—'हृदय हरष बिषाद अति पति मुद्रिका पहिचानि। दास तुलसी दसा सो केहि भाँति कहै बखानि॥' (गी० ५।२)।

नोट—१ 'हरष' इति। यह पहचानकर कि यह अपने प्राणपतिके हाथकी शोभा बढ़ानेवाला आभूषण है उनको प्रियतमके मिलनेका-सा सुख हुआ; यथा—'गृहीत्वा प्रेक्षमाणा सा भर्तुः करविभूषणम्। भर्तारमिव सम्प्राप्तं जानकी मुदिताऽभवत्॥ ४॥ वाल्मी० ५। ३६।'

२—(क) आश्चर्य, हर्ष, विषाद और व्याकुलता कई भाव एक साथ उदय हुए हैं। यह 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है। (ख) प्रियतमका दिव्य भूषण देख धैर्य, गाम्भीर्य, सौशील्य आदि अनन्त गुणयुक्त मनोहर स्वरूप स्मरणकर हर्ष हुआ। 'राक्षसपुरीमें कैसे आई', इस बातके जाननेके उद्योगमें असमर्थ होनेसे यहाँ विषाद संचारी भाव हुआ। यह सोचकर 'अकुलानी' कि अब क्या प्राणनाथसे सदाके लिये वियोग हो जायगा? इसीपर विचार करने लगीं कि ऐसा सम्भव नहीं। (मा० त० सु०)। (ग) 'चकित...पहिचानी' चण्डी है और 'हरष...बरनै लागा।' पायकुलक है। (त्र० चं०)।

३—'जीतिको सकै' से प्रकट करती हैं कि वे श्रीरामजीका प्रभाव जानती हैं कि वे अजय हैं।

'अजय रघुराई' से जनाया कि वे उत्साही, पुरुषार्थी, वीर्यवान, दयालु, कृतज्ञ, विक्रमी और प्रतापी हैं जिन गुणोंसे युक्त होनेसे शत्रु सदा डरते हैं। यथा—'उत्साहः पौरुषं सत्त्वमानृशंस्यं कृतज्ञता। विक्रमश्च प्रभावश्च सन्ति वानर राघवे ॥ वाल्मी० ५। ३७।१५॥ चतुर्दशसहस्राणि राक्षसानां जघान यः। जनस्थाने विना भ्रात्रा शत्रुः कस्तस्य नोद्विजेत् ॥१६॥ न स शक्यस्तुलयितुं व्यसनैः पुरुषर्षभः अहं तस्य प्रभावज्ञा शक्रस्येव पुलोमजा ॥१७॥'

टिप्पणी—२ 'जीतिको सकै....' इति। (क) ऐश्वर्यमें श्रीजानकीजी जानती हैं कि श्रीरामजी अजय हैं। अर्थात् ईश्वरको जीव कैसे जीत सकता है? यथा—'सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहि समर न जीतनिहारा। २। १८९।' और माधुर्य्यमें आँखोंसे देखा है कि १४ हजार सेना सहित खरदूषणको क्षणभरमें जीत लिया। ख) 'रघुराई' का भाव कि एक रघुवंशीको ही कोई नहीं जीत सकता और ये तो रघुवंशियोंके राजा हैं। यथा—'रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई। कही जनक जसि अनुचित बानी। विद्यमान रघुकुल मनि जानी। १। २५३।'

टिप्पणी—३ 'माया ते असि रचि नहिं जाई' इति। ये जानती हैं कि मायासे नहीं बन सकती, क्योंकि ये सब मायासे परे हैं, सब माया इनकी मायाके भीतर है, यथा—'लखा न मरम राम बिनु काहू। माया सब सियमाया माहू'। (ख) 'असि' का भाव कि जैसी वह मुद्रिका है, उसके कारणको सीताजी ही जानती हैं, दूसरा नहीं जान सकता; इसीसे ग्रंथकारने कारण नहीं कहा। (ग) यहाँ सीताजी राक्षसोंके बलको और मायाको 'निवारण' करती हैं कि न तो शरीरके बलसे कोई इसे ला सकता है और न माया ऐसी बना सके। यह सच्ची है और सच्ची मुद्रिकाका आना कैसे संभव है?—यह सन्देह हुआ। [(घ) मायिक पदार्थ मेरे मनको नहीं हर सकता पर यह मेरे मनको हर रही है; अतः अवश्य सच्ची है।]

वि० त्रि०—यह मुदरी पहिचानी हुई है, क्योंकि इसने ब्याहके बाद ही कोहबरमें जाते समय सीताजीके मनको चुराया था, यथा—'पीत जनेउ महाछबि देई। कर मुद्रिका चोरि चित लेई।' उसी चोरको सरकारने चोरीसे हनुमान्‌जीके द्वारा भेज दिया। यह मुदरी सुनती है, बोलती है, सीताजीके पूछनेपर इसने कहा—'सदल सलखन हैं कुसल कृपालु कोसलराउ। सील सदन सनेह सागर सहज सरल सुभाउ। नींद भूख नदे बरहिं परिहरे कर पछिताउ........कियो सीय प्रबोध मुदरी, दियो कपिहि लखाउ।' इसीसे भगवतीने कहा 'माया ते अस रची न जाई।'

नोट—४ 'रावणने तो मायाके रामलक्ष्मण वानर बना लिए तब मुद्रिका बना लेनेमें क्या बड़ी बात है, जो कहा कि 'माया ते असि रचि नहि जाई?' यह शंका उठाकर मा० म०, मा० शं०, शिला आदिने इसका समाधान यों किया है—(१) यह रामनाम अंकित है। नाम निर्गुण और मायारहित है, वही अँगूठीमें विशेष प्रकाश कर रहा है। जो जैसा प्रभाव नामका जानता है उसको वैसा ही प्रकाश उसमें देख पड़ता है, अतः वे जान गईं कि यह मायाकी रची नहीं है। (शिला)। (२) निशाचरने मायाके रामलक्ष्मणादि बनाए, पर प्रभुके सामने (बाण लगते) वे नष्ट हो गए। माया उनके समीप रह नहीं सकती—'जिमि रबि उये जाहिं तम फाटी।' और श्रीसीतारामजी अभिन्न हैं, केवल रूपमात्रका भेद है; तब यदि माया की होती तो कर-स्पर्श होते ही वह नष्ट हो जाती। (मा० त० सु०)। (३) कोई ऐसा कहते हैं कि 'अस' अर्थात् अजयका पराजय होना, यह मायासे नहीं हो सकता। पर पाठ 'असि' है। पुनः, (४) मुद्रिका निशाचरी मायासे 'अदेख' है, वह माया देखी वस्तु बना सकती है, अनुभवकी बातमें उसका गम्य नहीं। (शिला)।'

५—वह मुद्रिका श्रीरघुनाथजीकी निजी चीज़ थी जिसको महारानीजीने हज़ारों बार अच्छी तरह देखा था। उसकी विशेष रेखायें, चिह्न, बनावट आदिकी मुख्य-मुख्य बातें (विशेषतायें) जो महारानी जीको मालूम हैं वह किसी औरको मालूम नहीं हो सकतीं। हूबहू जैसाका तैसा नक़ल करनेवाला भी ठीक वही रूपरेखा जो महारानीजीकी निगाहोंमें जँची हुई है तभी रच सकता है जब महारानीजीके अन्तर हृदयकी

बातोंसे अभिज्ञ हो । राक्षसी-माया वहाँतक कैसे पहुँच सकती है ? जब उन विशेष चिह्नोंको उन्होंने पहचान लिया तब उन्हें निश्चय हो गया कि मायासे ऐसी नहीं रची जा सकती ।

इस समय राक्षसीमाया और ईश्वरीमायाका मुकाबिला है । यदि रावणको यह पता लग जाय कि मैं मायाकी सीताको हर लाया हूँ, ये वास्तविक सीता नहीं हैं, तो वह वृथाके झगड़ेमें क्यों पड़े ? और यदि श्रीरघुनाथजीके दलवालोंको यह पता लग जाय कि वास्तविक सीताहरण नहीं हुआ है तो भगवान्‌की लीला की यहीं समाप्ति हो जाय । यहाँ भगवान्‌की माया जो महारानीका अभिनय कर रही है वह बहुत अच्छी तरह जानती है कि राक्षसी माया ईश्वरीमायाके सामने कहाँ तक चल सकती है; इसीलिये उसे निश्चय है कि यह मुद्रिका राक्षसीमायाके द्वारा रची नहीं जा सकती ; क्योंकि यह मुद्रिका भगवान्‌का पार्षद है, दिव्य है, चेतन है, चिदानंदमय है । उनके विग्रहमें पार्षद ही आभूषणादिरूपमें रहते हैं जो ईश्वरीमायासे भी परे हैं और सायुज्यमुक्तिपद भोग रहे हैं । उनकी छाँहको भी राक्षसीमाया छू नहीं सकती ।

हनु० ना० ६ । १६ में मुद्रिकासे श्रीजानकीजीका प्रश्न करना और उसका उत्तर देना पाया जाता है और गीतावली ५ । ३ व ४ में भी । यथा—'मुद्रे सन्ति सलक्ष्मणाः कुशलिनः श्रीरामपादाः सुखं । सन्ति स्वामिनि मा विधेहि विधुरं चेतोऽनयाचिन्तया ।।', 'बोलि बलि मुँदरी ! सानुज कुसल कोसलपालु ।००।३।', 'सदल सलखन हैं कुसल कृपालु कोसलराउ ।""कियो सीय प्रबोध मुँदरी""। ४ ।'—इन उद्धरणोंसे उसका दिव्य और चेतन होना स्पष्ट है । वैसे तो रावणने मायासे रामलक्ष्मणादि रूप बनाकर धोखा देना चाहा और मायाकी सीताने ऐसे अवसरपर राक्षसीमायाकी असलियतको जानते हुए भी विलाप आदिका लीलानाट्य किया है । परन्तु यहाँ तो कोई माया है ही नहीं । इसका निश्चय होनेमें ईश्वरीमायाको क्या कठिनाई हो सकती है ?

* मुद्रिका *

☞ नोट—६ किसी-किसीके विचारसे यह मुद्रिका श्रीसीताजीकी है जो केवटको देनेके लिये उन्होंने उतारी थी । उनके मतसे श्रीरामजी 'विशेष उदासी तापस वेष' के कारण स्वर्णमुद्रिका आभूषण नहीं धारण किये थे । यह मुद्रिका श्रीरामजीकी है यह प्राचीन प्रसिद्ध ग्रंथों तथा गोस्वामीजीका भी मत है । प्रमाण ये हैं—(१) 'ददौ तस्मै ततः प्रीतः स्वानामांकोपशोभितम् । अंगुलीयमभिज्ञानं राजपुत्र्याः परंतपः ।। वाल्मी० ४ । ४४ । १२ ।' इसपर श्रीगोविन्दराजजी भूषण-टीकामें लिखते हैं कि—'ननु त्यक्त सकल साधनस्य वनवृत्त्या वर्तमानस्य कुतोऽङ्गुलीयकमिति चेत्, इदमेतत्कार्यार्थरक्षितवान् अतएवांगुलियमुन्मुच्यनोक्तम् । ··'। (२) 'गृहीत्वा प्रेक्षमाणा सा भर्तुः कर-विभूषणम् । वाल्मी० ५ । ३६ । ४ ।' अर्थात् सीताजीने अपने पतिके हाथकी शोभा बढ़ानेवाली उस अँगूठीको हाथमें लेकर और देखकर । (३) 'अभिज्ञानाथ मे तन्मेह्यंगुलीयकमुत्तमम् । मन्नामाक्षरसंयुक्तं सीतायै दीहतांरहः अध्यात्म० ४ । ६ । २६ ।' अर्थात् मेरी इस उत्तम एवं मेरे नामके अक्षरों से अंकित मुद्रिकाको निशानीके तौरपर सीताजीको देना । (४) 'अंगुलीयक मे तन्मे परिज्ञानार्थमुत्तमम् । सीतायै दीयतां साधुमन्नामाक्षर मुद्रितम् ।। अध्यात्म० सर्ग ५ । ३ । ३४ ।' (५) ततो रामो मुद्रिकां स्वां ददौ मारुति सत्करे ।। आनंद० सारकांड० सर्ग ५ । ६३ ।' (६) 'तां राममुद्रिकां दृष्ट्वा नत्वातामब्रवीत् कपिम् ।। आनंद० सार० ६ । ११४ ।' (७) अपश्यन्मुद्रिकां रम्यां रामनामाङ्कितां शुभाम् । तदातिचकिता सीता ज्ञात्वा तां राममुद्रिकाम् ।। वशिष्ठ रा० प्रकरण ३ अ० ६ । २८ ।' (८)—'अयं मैथिल्याभिज्ञानं काकुत्स्थस्यांगुलीयकम् । भवत्याः स्मरताऽत्यर्थमर्पितः सादरं मम ।। भट्टिकाव्य ८ । ११८ ।' (९) 'या शैशवावधि मनोरम रामचन्द्रहस्तांगुली प्रणयिनी शुभगा सुवृत्या । अन्येव सा जनकराजसुता कथं नु लंकामुपागतवती मणिमुद्रिकेयम् ।। प्रसन्न राघव ना० ६ । ३८ ।' (१०) 'किमिदं हस्तेऽस्ति ? तन्मुद्रिका दत्तातेन तवैष तां निज करात् ।। हनु० ना० ६ । १४ ।' (११)—'निरखि-निरखि पियमुद्रिकहिं बरनति हैं बहु भाइ । रामचन्द्रिका १३ । ७८ ।' पुनश्च—'सुखदा सिखदा अर्थदा यशदा रसदातारि । रामचन्द्रकी मुद्रिका किधौं परमगुरुनारि । १३ । ८३ ।' (१३)–'लई सिया आतुर हुलसि पियमुदरी पहिचानि ।। रामरसायन सर्ग ८ दो० ११९ ।' (१४)–'करमुद्रिका

चोरि चितु लेई।' मानस १। ३२७। वैसे ही यहाँ 'तब देखी मुद्रिका मनोहर'। मनोहर=चित चुरालेनेवाली। (१५) 'पाइ नाथ-कर-मुद्रिका सियहिय हरष विषाद। प्राननाथ प्रिय सेवकहि दीन्ह सु आसिरवाद। रामाज्ञा प्र० ५। १६।', (१६)-हृदय हरष विषाद अति पति मुद्रिक पहिचानि॥ गी० ५।६२।'—(पं० रामकुमार दासजी)। विशेष उदासी वेषके कारण यदि प्रथम ही करमुद्रिकाका त्याग कर देना आवश्यक समझा गया होता तो श्रीसीताजीकी मुद्रिका भी तो अपने हाथमें न धारण कर सकते। 'उदासी' से केवल यही अभिप्राय था कि नगरमें न जायँ। यही बात, निषादराज, सुग्रीवजी तथा विभीषणजीसे श्रीरघुनाथजीने कही है। धनुष, बाण, तरकश, तलवार' भाई और स्त्रीको साथ लेना भी तो 'तापस वेष विसेषि उदासी' में नहीं आ सकता था। वस्तुतः लीलाकार्यके लिये जो भी आवश्यक था वह सब साथ था।

सीता मन विचार कर नाना। मधुर वचन बोलेउ हनुमाना॥ ४॥
रामचन्द्र गुन बरनै लागा। सुनतहि सीता कर दुख भागा॥ ५॥

अर्थ—श्रीसीताजी मनमें अनेक विचार कर रही हैं। (उसी समय) श्रीहनुमान्‌जी मधुर वचन बोले। ४। वे रामचन्द्रजीके गुण वर्णन करने लगे (जिसके) सुनते ही सीताजीका दुःख दूर हो गया। ५।

टिप्पणी—१ (क) 'नाना विचार' का भाव यह कि मुद्रिका मनोहर है। उसने सीताजीका मन हर लिया है। इसीसे उसके विषयमें अनेक विचार कर रही हैं कि यहाँ कैसे आई। [कहीं ऐसा तो नहीं है कि लक्ष्मण फल मूल लेने गए हों, श्रीरामजी सो गए हों, कोई पखेरू ले आया हो। वा, श्रीरामजीने हमारे हरणका अपराध समझ उनको त्याग दिया हो, तब अकेले सोते कोई चुरा लाया हो। वा, हमारे वियोगमें उन्होंने प्राण छोड़ दिया हो। तब कोई ले आया हो। वा, व्याकुलताके कारण मैं स्वप्न तो नहीं देख रही हूँ। इत्यादि, (रा० शं०)] कोई विचार ठीक नहीं होता; इसीसे विचारपर विचार उठते जाते हैं, नहीं तो 'नाना विचार' का प्रयोजन न था।

नोट—१ नाटकीयकलामें इस 'मन विचार' और पहलेवाली स्वागत वार्ताका अन्तर विचारणीय है। 'नाना' शब्दसे फिर श्रीतुलसीदासजीकी संकेतकलाका पता लगता है, केवल उदाहरणमात्रके लिये दो विचार लिख भी दिये। (लमगोड़ाजी)। २—मधुर=अमृतसम, यथा—'श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई।' भाव यह कि मरती थीं, सो जिलानेके लिए (यथा—'मृतक जियावनि गिरा सुहाई। श्रवनरंध्र होइ उर जब आई।') अथवा इसलिए कि श्रवण और मन लगाकर सुने, अमृत वचन कहे। यथा—'लागी सुनै श्रवन मन लाई।।'

☞ मानसकल्पकी कथामें कवि प्रथम मुद्रिकाका गिराना कहते हैं। अंगारे माँगनेपर अशोकसे मुद्रिकाका गिराया जाना कितना सुन्दर हुआ। यह श्रीरघुनाथजीके हाँथसे यहाँ कैसे आई? इस संबंधके विचारोंको शान्त करनेके लिए श्रीरामचन्द्रजीके चरित कहना भी बड़ा ही उत्तम हुआ है, इससे श्रीजानकीजीके समीप हनुमान्‌जीका प्रकट होना भी कैसा सुगम हो गया। एकके बाद एक कड़ी कितनी स्वाभाविक है। वाल्मीकीय, हनुमन्नाटक इत्यादि ग्रंथोंमें हनुमान्‌जीका प्रथम ही प्रकट होना और बहुत कुछ विश्वास हो जानेपर मुद्रिकाका दिया जाना वर्णित है।

२—'मधुर बचन बोलेउ०' इति। एक तो श्रीरामगुण और वह भी मीठी कोमल वाणीमें वर्णन किया जिसमें वे क्षुब्ध न हों और उनके वचनोंपर विश्वास करें। यथा—'श्रावयिष्यामि सर्वाणि मधुरां प्रब्रुवन्गिरम्। श्रद्धास्यति यथा....। मधुरमवितथं जगाद वाक्यं....। वाल्मी० ।५।३०।४३, ४४।' मधुर प्रिय होता ही है। मधुरमें धीमेका भी भाव है जिसमें कोई और न सुन सके। प्र० स्वामीजीका मत है कि यहाँ राम राम रामकी ध्वनि ही 'मधुर बचन' से समझना चाहिए, जब रामनामकी ध्वनिसे चित्ताकर्षित होगा तब कथा सुनानेसे लाभ होगा।

टिप्पणी—२ (क) रामचंद्र गुणका भाव यह कि सीताजी रामविरहानलसे संतप्त हैं, तापको चंद्रमा दूर करता है, यथा—'सरदातप निसि ससि अपहरई। संत दरस जिमि पातक टरई।' अतएव 'रामचंद्र' पद दिया।

पूर्व रावणके चन्द्रहाससे परिताप हरण करनेकी बिनती की थी। पर वह ताप न दूर कर सका। श्रीरामचन्द्रजीके गुण सुननेसे ताप दूर हुआ। श्रीरामजी चन्द्र हैं, उनके 'गुण' किरण हैं। 'गुण' अर्थात् करुणा, कृपालुता आदि; यथा—'दीनबंधु सुखसिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई' (वि० ८१)।

(ख)—जैसे श्रीरामजीके गुणोंके श्रवणसे ताप दूर होनेके कारण उनके नाम (राम) के साथ यहाँ चन्द्र शब्द दिया गया वैसेही गुणश्रवणसे शीतल हो जानेके सम्बन्धसे 'सीता' नाम दिया गया। 'सीता' से शीतलताके भावका उदाहरण, यथा—"तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥ ५.३६।"

नोट—३ 'सुनतहि सीता कर दुख भागा।' इति। (क) 'भागा' अर्थात् शीघ्र डरकर चला गया। इससे जनाया कि उसका नाश नहीं हुआ, श्रीहनुमान्‌जीके चले जानेपर फिर आ जायगा; यथा—"तोहि देखि सीतल भइ छाती। पुनि मो कहुँ सोइ दिन सो राती॥ ५.३७।" (ख) 'सुनतहि०' कुसुमविचित्रा है। (प्र० चं०)

☞ यहाँ ग्रंथकारका उपदेश है कि जैसे श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंके श्रवणसे श्रीसीताजीका दुःख भाग गया, वैसेही जोभी मन लगाकर सुनता है उसका दुःख भाग जाता है। 'सुनतहि' का भाव कि सुननेहीकी देर है, दुःख भागनेमें देर नहीं लगती। (रा० कु०)। दुःख सुख सब मनका धर्म है, यथा—'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही।' श्रीसीताजीने श्रीरामचन्द्रगुणवर्णन सुननेमें ऐसा मन लगाया कि दुःखका कहीं पता न रहा। (वि० त्रि०)।

लागी सुनै श्रवन मन लाई। आदिहुँ ते सब कथा सुनाई॥ ६॥

अर्थ—वे कान और मन लगाकर सुनने लगीं। श्रीहनुमान्‌जीने आदिही से (बालकाण्ड; जन्मसे) सब कथा सुनाई। ६।

टिप्पणी—१ (क) 'श्रवन मन लाई' का भाव। जब तक कोई दुःख रहता है तबतक कथामें मन नहीं लगता और जो मन लगाकर न सुने, उससे कथा कहनी न चाहिए चाहे कोईभी क्यों न हो; यथा—'यह न कहिअ सठ ही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि।७.१२८।'; अतएव प्रथम रामचन्द्रगुण सुनाकर दुःख दूर किया जिससे मन जो बिचारमें लगा था वह कथा श्रवण करने लगा। पुनः, जब वक्ताके कथनमें रस होता है तभी श्रोताका मन लगता है। श्रीहनुमान्‌जीकी वाणी अमृतसम है। अतएव श्रवण मन लगाकर सुनी। (ख) 'आदिहुँ ते....' इति। अर्थात् बालकाण्डसे अरण्यकाण्डतक जितनी कथा श्रीजानकीजीकी जानी हुई थी वह सब कही और उसके आगे जैसे सीताहरण हुआ, जिस रीतिसे श्रीरामजी मायामृगको मारकर आश्रमपर आए और जानकीजीको न देखकर विरहसे व्याकुल हो विलाप करते चारों ओर ढूँढते फिरे, वह सब कहा। फिर जटायु और शबरीजीकी सद्गति, [वाल्मीकीयके अनुसार सुग्रीवसे मित्रता, बालिवध भी], दूतोंका चारों दिशाओंमें भेजा जाना और उनमेंसे एक दूतका संपातीके बतलानेपर समुद्रको लाँघकर लंकामें पहुँचकर घर-घर ढूँढते हुये श्रीविभीषणजी से पता लगनेपर अशोकबाटिकामें पहुँचकर सीताजीका दर्शन पाना और श्रीरामचन्द्रजीके बताये हुये चिह्नोंसे उनको पहचानना और मुद्रिकाका गिराना—यह सब कथा उन्होंने कही। परन्तु बीचमें सुग्रीवजीसे रामजीकी मित्रताकी कथा न कही, क्योंकि उसके कहनेसे श्रीजानकीजीको संदेह होता।—यह उनकी बुद्धिमानीका परिचय है। और, श्रीजानकीजीने शंका की ही, यथा—'नर बानरहि संग कहु कैसे।५.१३।' तब हनुमान्‌जीके बतानेपर संदेह दूर हुआ, यथा—'कही कथा संगति भइ जैसे।' यदि कथा पूर्व कही होती तो यह प्रश्न और उत्तर न होते। [वाल्मीकीयमें सुग्रीवकी मित्रता और कामरूपी वानरदूतोंके भेजनेकीभी बात कही है। हो सकता है कि हनुमानजीने 'सुग्रीव-मिताई' और बालिवध करके सुग्रीवका राजा बनाया जाना और उनका दूतोंका भेजना कहा हो, केवल वानर-जाति न बताई हो; यह पूछनेपर कहा हो। क्योंकि दूत कहाँसे मिले, यह भी बताना ज़रूरी था, नहीं तो उसके विषयमेंभी संदेह होता। परन्तु वाल्मीकीयमेंभी "नर वानरहि संग कहु कैसे" वाला प्रश्न है, यथा—"क्व ते रामेण संसर्गः कथं जानासि लक्ष्मणम्। वानराणां नराणां च कथमा-

सीत्समागमः ॥ ३५.२।" और यह भी कहा कि श्रीराम-लक्ष्मणजीकी हुलिया फिरसे कहो जिसके सुननेसे मेरे मनको शोक न हो। उत्तरमें सुग्रीवका पटभूषण पाना (जो सीताजीने फेंके थे) और किस तरहसे मित्रता हुई वह पूरी कथा कही। प्रथम वार संक्षेपमें कही थी। अतः यहभी हो सकता है कि परमविरहातुर होनेसे सुग्रीवका वानर होना चित्तसे उतर गया हो। जब हनुमान्‌जी समीप आए तव कपिरूप देखकर और वोली मनुष्योंकी सुनकर संदेह हुआ।]

२ 'आदिहुँ ते सब कथा सुनाई' इति। श्रीहनुमान्‌जीको सब कथा सबसे पहले तो श्रीरामचन्द्रजीसे ही मालूम हो गई थी, यथा—'आपन चरित कहा हम गाई ।४.२।' तत्पश्चात् लक्ष्मणजीसेभी सब सुन चुके हैं, यथा—'लछिमन रामचरित सब भाषा ।४.५।' इसके अतिरिक्त पूर्वही मुनियोंसे सुन चुके हैं, यथा—"रामजनम सुभ काज सब कहत देव रिषि आइ। सुनि सुनि मन हनुमानके प्रेम उमँग न अमाइ॥ रामाज्ञा सर्ग ४.२२॥"; सूर्यसे सुनी है क्योंकि उन्हींने इनको सुग्रीवकी रक्षाके लिये नियुक्त किया था।—इसीसे उन्होंने आदिसे पूरी कथा कह सुनाई।—['आदिहुँ ते' से 'भइ संगति जैसे' तक पायकुलक है—(प्र० चं०)]

श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई। कही† सो प्रगट होत किन भाई॥ ७॥
तब हनुमंत निकट चलि गयऊ। फिरि बैठी मन बिसमय भयऊ॥ ८॥

अर्थ—(कथा कहकर जब हनुमान्‌जी चुप हो गए तब श्रीसीताजीने कहा—) जिसने कानोंको अमृत (समान लगने वाली) सुन्दर कथा कही, हे भाई! वह प्रगट क्यों नहीं होता? ।७। तब हनुमान्‌जी उनके पास चले गए। (हनुमान्‌जीको देखकर) उनके मनमें विस्मय (आश्चर्य सहित भय) हुआ। वे फिरकर (मुँह फेर कर) बैठ गईं ।८।

नोट—१ (क) 'श्रवनामृत०' इति। श्रीरामजीकी कथा अमृतसमान है, यथा—"बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी।'' 'सुनत बचन बिसरे सब दूषा। तृषावंत जिमि पाइ पियूषा॥ ७.२।" (ख)—'भाई' संबोधन प्रेम और प्यारका है। कथा सुनानेसे वे अति प्रिय लगे। ऐसेही श्रीदशरथजी और श्रीभरतजीने कथा सुनानेपर 'भाई' संबोधन किया है। यथा—'भैआ कहहु कुसल दोउ बारे ।१.२९१।' (दूतोंको 'भैया' कहा), "तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता॥ ७.२।' (हनुमान्‌जीको 'भ्राता' कहा)। अमृत मृतक को जिलाता है। सीताजी आत्महत्या करने जा रही थीं इस अवस्थामें कथा कहकर जिला लिया। अतः 'श्रवनामृत कथा' और 'भाई' कहा। भाई दुःखके साथी होते हैं, यथा—'होहिं कुठाँय सुबंधु सुहाए ।२।३०६।८।'

टिप्पणी—१ 'प्रगट होत किन' इति। प्रकट बुलानेका भाव कि रामचरितके वक्तासे महारानीको भी पर्दा नहीं है। त्रैलोक्यकी महारानीभी कथा सुनकर उसे प्रकट होनेको कहती हैं। 'प्रगट होत किन भाई' का भाव कि जिसने ऐसा भारी उपकार किया है उसको प्रकट होनेमें क्या भय है। तुम्हारे वचन सुनकर श्रवण तृप्त हुए, प्रकट होनेसे नेत्रभी तृप्त होवें, यथा—'तोहि देखि सीतल भइ छाती'।

२ (क) 'तब' अर्थात् जब आज्ञा हुई। बिना आज्ञा निकट न जा सके, यथा—'दूरि ते ताहि सबन्हि सिरु नावा। पूछें निज वृत्तांत सुनावा' (कि० २), 'दूरिहि ते प्रनाम कपि कीन्हा। रघुपतिदूत जानकी चीन्हा ।६.१०६।' 'चलि गयऊ' अर्थात् दौड़कर या कूदकर नहीं, यह अपराध होता। यथा—'मज्जन कीन्ह मधुर फल खाये। तासु निकट पुनि सब चलि आये'। (ख) 'फिरि बैठी' का भाव यह कि मुद्रिका गिरानेपर उठकर लेना कहा था—'हरषि उठि कर गहेउ'। खड़ेखड़े उसे देखती रहीं, मनमें अनेक विचार करती रहीं और मन लगाकर कथा सुनी एवं वक्ताको निकट बुलाया। जब हनुमान्‌जी निकट गए तब फिर गईं और बैठ गईं। (ग) 'मन बिसमय भयऊ' क्योंकि कथा सुनी मनुष्यकी बोलीसे और प्रकट हुआ वानर। कदाचित् यह रावण है, छल कर रहा है—यही विस्मय हुआ।

† कही—१७२१, १७६२, १७०४, भा० दा०। कहि—छ०, कोदवराम।

नोट—२-वाल्मीकीय सर्ग ३० में हनुमान्‌जीके विचार सर्गभरमें दिए हैं। उसीमें यहभी विचार है कि "मैं बहुत छोटा वानर हूँ पर मैं मनुष्योंके समान संस्कृतमें वचन कहूँगा, ब्राह्मणोंके समान न बोलूँगा, नहीं तो ये मुझे रावण समझकर डर जायँगी। ये मेरा रूप देखकर और मेरे वचन सुनकर कहीं डरकर चीख उठीं तो राक्षस दौड़ पड़ेंगे, मुझसे युद्ध होने लगेगा, इससे रामकार्य नष्ट हो जायगा। मेरे बोलनेमें यह बुराई है। पर न बोलनेसे इनका प्राण त्याग करनाभी निश्चित है।" अतः उन्होंने निश्चय किया कि श्रीरामजीके गुणोंका कीर्त्तन करनेसे ये उद्विग्न न होंगी, फिर मैं रामजीका सन्देश सुनाऊँगा, जिससे वे मुझपर विश्वास करें। यह विचार कर मधुर और सत्यवचन बोले। पुनः, स० ३४ में उल्लेख है कि उन्होंने इन्हें रावण ही समझा।—'यथा यथा समीपं स हनुमानुपसर्पति। तथा तथा रावणं सा तं सीता परिशंकते॥ ९॥' और बोलीं कि यह अच्छी बात नहीं कि तू मुझे कपटरूप बनाकर दुःख देता है। फिर सोचती हैं कि स्वप्न तो नहीं है? भ्रम या उन्माद तो मुझे नहीं? पर मैं तो प्रत्यक्ष देख समझ रही हूँ। अनेक विचार करके रावणही निश्चय कर फिर वानरसे कुछ न बोलीं। यथा—'रक्षसा कामरूपत्वान्मेने तं राक्षसाधिपम्। एतां बुद्धिं तदा कृत्वा सीता सा तनुमध्यमा॥ न प्रतिव्याजहाराथ वानरं जनकात्मजा। वाल्मी० ३४। २६-२७।' रावण एकबार यतीरूपसे छल चुका ही है। अतः ऐसा विस्मय हो सकता ही है।

रामदूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की॥ ९॥
यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहिदानी॥ १०॥

अर्थ—(हनुमान्‌जीने कहा) हे जानकी माता! मैं श्रीरामजीका दूत हूँ, करुणानिधानकी शपथ करके सत्य कहता हूँ। ९। हे माता! यह अँगूठी मैं (ही) लाया हूँ। श्रीरामचन्द्रजीने यह तुम्हें निशानी दी है। (तात्पर्य कि इसे देखकर श्रीजानकीजीको विश्वास होगा, हमारा दास जानेंगी सो आप इसीसे निश्चय कर लें)। १०।

वि० त्रि०—सीताजीको परम विरहाकुल देखकर, हनुमान्‌जीको भय हुआ कि यह तो विरहकी दशम दशाको प्राप्त हुआ चाहती हैं, अतः उनकी चित्तवृत्तिको दूसरी ओर फेरनेके लिये मुद्रिका गिरायी। चित्तवृत्ति फिरी। सन्देह उठा कि यह सरकारकी अँगूठी यहाँ आई कैसे? यह अदेय है, बिना जीते कोई इसे पा नहीं सकता, और रामजी अजेय हैं। सीताजी हर्ष विषादसे फिर व्याकुल हो उठीं। उनकी अवस्था इस समय बड़ी नाजुक हो रही थी, हनुमान्‌जी बहुत सँभालकर काम कर रहे हैं। 'कोई अपने पक्षका पुरुष यहाँ है' इसे जनाने के लिये रामगुण वर्णन आरम्भ किया, सारी रामकथा सुनाई। इससे मन कुछ स्वस्थ हुआ, तब कहने लगीं कि जिसने कथा सुनाई वह प्रगट क्यों नहीं होता। तब हनुमान्‌जी पास चले गये। रावण समझकर भगवतीने मुँह फेर लिया। तब हनुमान्‌जी बोले। मैं रामदूत हूँ, करुणानिधानकी शपथ लेकर सत्य कहता हूँ, यह अँगूठी मैं लाया हूँ, सन्देह मत करो कि यह अँगूठी अदेय है, इसे रामजीने तुम्हें दिया है, मैं केवल लानेवाला हूँ। तुम्हारे विश्वासके लिये मेरे हाथ भेजा है।

टिप्पणी—१ 'सत्य सपथ००' इति। भाव कि मैं रावण नहीं हूँ, इसके लिए मैं करुणानिधानकी शपथ करता हूँ। पुनः, यह कि यदि मैं छल करता हूँ तो मुझपर श्रीरामजीकी करुणा न रहे। यथा—'तेहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई'। हमारे स्नेह और सुकृतकी अवधि श्रीरघुनाथजी हैं, यदि मैं झूठी शपथ करता होऊँ तो मेरे सब सुकृत और स्नेह नष्ट हो जायँ। अथवा, भाव यह कि मैं उनका दूत होने योग्य नहीं हूँ, करुणानिधानने कृपा करके मुझे अपना दूत बनाया। यथा—'जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास'। शपथसे बातकी दृढ़ता होती है, यथा—'तेहि पर राम-सपथ करि आई। बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली'। शपथ करके अपना वचन मुद्रिकाका लाना पुष्ट किया, क्योंकि जानकीजीको निश्चय विश्वास है कि मुद्रिका रामजीकी है। इससे रामदूत निश्चित हुआ। अब केवल 'नर-वानर-संग' का सन्देह रहा। वह पूछती हैं और हनुमान्‌जी उसे कहेंगे। जब सब संदेह दूर हो गया तब 'जाना मन क्रम वचन यह कृपासिंधु कर दास'।

सहिदानी=निशानी, चिह्न; यथा—'मातु मोहि दीजै कछु चीन्हा। जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा।'

नोट—१ 'रामदूत' इति। रामराज्यही क्या प्राचीन भारतीयशासनप्रणाली मात्रका बड़ा आवश्यक अंग 'दूत' है। डाक्टर बेनीप्रसादजीके State in Ancient India और Theory of Government in Ancient India के आधारपर कुछ लिखता हूँ। ऋग्वेदकालमें वह राजाका प्रतिनिधि (Agent General) ही था, केवल जासूस नहीं। पीछे वैदिक कालमेंही उनका बड़ा समूह और दफ्तर बन गया। महाभारतकालमें तो डाक्टर-महोदयके शब्दोंमें मानों उनकी फौजकीसी बहुतायत थी (a host)। वे सबकी निगरानी करते थे और शासनविधान, प्रजाकी राय तथा विधानके संबंधमें वे बराबर रिपोर्ट करते थे। मौर्य-काल-में औरभी बहुतायत लिखी है; कारण कि वह साम्राज्य था। महाराज अशोकके समयमें जिनके 'धर्मचक्र'को अब स्वराज्यके झंडेमें स्थान मिला है, इनको Supervisor (देखरेख करनेवाला), Reporter (रिपोर्ट करने-वाला) और जासूस तीनों कहा है। मानव धर्मशास्त्र जो श्रीरामराज्यकाही राज्यधर्म वर्णन करता है, उसके सम्बन्धमें डाक्टर महोदय लिखते हैं—'सब कर्मचारियोंके ऊपर, चाहे वे न्यायविभाग (Judicial) के हों चाहे कर्मविभागके (Executive) या आय-व्यय (Fiscal) विभागके, उन सबों पर और जनतापरभी राजाको दूतों द्वारा देखरेख रखनी चाहिये। उन्हें राजाके नेत्र कहा है। उन्हें सबके व्यवहारकी खोज करनी है।' रामायणमें 'चर' शब्दभी आया है। दूतका राजदूत (ambassador) सफ़ीर, एलची रूप तो सभी जानते हैं। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानी-कालमें भी 'अखबारनवीस' कुछ वैसे ही थे। डाक्टर महोदयकी यह रायभी ठीकही है कि वे मानो पत्रकार (Journalist) भी थे। जनसत्तात्मक-वैध्य रामराज्य-प्रणालीवाले शासनमें उनका बड़ा हाथ है। श्रीजयदेवशर्माजी विद्यालंकारने अपने सामवेदसंहिताके भाष्यमें तीसरे मंत्रकी व्याख्याकी पाद-टिप्पणीमें जहाँ और वाक्य उपनिषद् इत्यादिसे उद्धृत किये हैं वहाँ एक यह भी है—'बहुकार्यसाधको राजभृत्यो वा।' (श्रीलमगोड़ाजी)।

नोट—२ 'मातु' संबोधनका भाव कि मैं माता ही मानता हूँ, माताको पुत्रसे पर्दा कैसा? श्रीरूपकला-जी 'करुणानिधान' का भाव यह बताते थे कि—स्त्रियोंका स्वामीको सम्बोधन करनेके लिए कुछ खास नाम रहता है। महारानीजी सरकारको 'करुणानिधान' विशेषणसे संबोधन किया करती थीं। यह गुप्त बात थी, प्रभुने हनुमान्‌जीसे बता दी थी। अतः, उन्होंने इस नामका यहाँ प्रयोग किया। मुद्रिका देनेपरभी विश्वास न हुआ पर इस नामके सुननेपर विश्वास हो गया। गोस्वामीजीने सीताजीके साथ इस नामका प्रयोग इसी विचारसे जहाँ-तहाँ किया है। यथा—'अतिसय प्रिय करुनानिधान की।', 'सरल प्रकृति आप जानियत करुनानिधान की' (विनय)।

प० प० प्र०—रामदूत, मातु और करुणानिधान ये तीन संशयनिरासके लिये पर्याप्त थे। दुर्जन ऐसी स्त्रीके लिये 'मातु' शब्दका प्रयोग न करेगा। दुर्जनोंके कोषमें करुणा शब्द है ही नहीं। दूत भेजा यह आपपर कृपा की और मुझे यह सेवा दी यह मुझपर कृपा की यह भी सूचित किया।

नोट—३ 'मैं आनी' का भाव कि यह अशोकने नहीं दी है। अशोकमें अँगूठी नहीं फलती। मैं रामदूत हूँ। श्रीरामजीने आपको देनेके लिये मुझे दी थी सो मैं ही उसे लाया हूँ। यह विश्वास दिलानेके लिये दी थी। यथा—'रामनामाङ्कितं चेदं पश्य देव्यङ्गुलीयकम्॥२॥ प्रत्ययार्थं तवानीतं तेन दत्तं महात्मना। वाल्मी० ५।३६।३।'

नर बानरहि संग कहु कैसें। कही कथा भइ संगति जैसें॥ ११॥

दो०—कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास॥ १३॥

अर्थ—(श्रीसीताजीने पूछा—) मनुष्य और बंदरका साथ कैसे हुआ? यह कहो। (तब श्रीहनुमान्-जीने सब) कथा कही कि जिस प्रकार संगति हुई थी। ११। कपिके प्रेमयुक्त वचन प्रेमपूर्वक सुनकर सीताजीके

मनमें विश्वास हुआ। उन्होंने जान लिया कि यह मन, कर्म और वचनसे कृपासागर श्रीरामजीका दास है।१३।

टिप्पणी—१ (क) 'वचन सप्रेम'। जब कथा कहने लगे तब प्रेमसे दोनों भाइयोंके स्वरूप वर्णन किये, सीताजीके आभूषण गिनाए जो उन्होंने वानरोंको देखकर पर्वतपर गिराये थे और जिस वस्त्रमें वे बँधे थे जैसा वह वस्त्र था वह बताया, कथा कहते समय बारंबार प्रेम उमड़ आता था। (ख) 'विश्वास उत्पन्न हुआ' इस कथनका भाव यह है कि उन्हें देखकर मनमें विस्मय हो गया था—'फिरि बैठी मन बिस्मय भयऊ'। अब विस्मय दूर हुआ। समझती थीं कि रावण न हो, सो अब उन्हें मनकर्मवचनसे दास जाना। (ग) प्रेम देखकर मनसे दास जाना। 'रामदूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ....' इन वचनोंसे दास निश्चय किया। और, 'यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्हि राम....' यह काम करनेसे कर्मसे दास जाना। प्रतीति होनेसे प्रीति बढ़ी, यथा—'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।' (घ) 'कृपासिंधु कर दास' अर्थात् मैं उनका दास होनेकी योग्यता नहीं रखता पर उन्होंने मुझपर कृपा करके अपना दास बनाकर भेजा, यथा—'अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता। ५। ७।'

❀ नर वानर ❀

इसपर श्रीगौड़जीका लेख 'सुरसा' के मुख बढ़ानेके प्रसंगमें आ चुका है। श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि—श्रीरामजीके प्रधान उपासक श्रीहनुमान्‌जीने श्रीरामजीसे कहा है कि—'सुन्दरता, वाक्‌चातुरी, बुद्धि और श्रेष्ठ योनि—इनमेंसे कोईभी गुण आपकी प्रसन्नताका कारण नहीं हो सकता; यह बात दिखानेके लिये ही आपने इन सब गुणोंसे रहित हम वानरोंसे मित्रता की है।' विचार कीजिये कि इस अवतरणमें 'जाति' नहीं किन्तु 'योनि' की भिन्नतापर जोर दिया है। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि उनके मनुष्य होने और केवल जंगलमें रहनेकी कल्पना कुछ बहुत ठीक नहीं है। यदि ऐसा न होता तो रावण 'नर, वानर' दो छोड़कर वरदान न माँगता, केवल 'नर' काफी होता। यह भी ठीक है कि वे केवल कपि न थे, यथा—'कस रे सठ हनुमान कपि ?' सबही महाकाव्यकलाकारोंने माना है कि दैवी तथा आसुरी दोनों श्रेणियाँ मनुष्यसे ऊपरकी हैं और दोनोंको अपनी इच्छासे भिन्न-भिन्न रूप धारण करनेकी शक्ति होती है। अँग्रेजी पढ़े सज्जन मिल्टनरचित पैरेडाइज़ लास्ट Paradise Lost देख सकते हैं। तुलसीदासजीने तो स्पष्ट लिखा है कि ब्रह्माजीके आदेशानुसार देवताओंनेही वानर रूप धारण किये। यहाँ कपिरूप है तो श्रीरामराज्याभिषेक-प्रसंगमें श्रीअयोध्यामें सुंदर मनुष्य रूप। विश्वसाहित्यसे मेलके लिये देखिये Canon Doyle का उपन्यास The Lost World जो भौतिक विज्ञानके आधारपर कल्पना करके वैसे लोगोंका वर्णन करता है जो बन्दरों और मनुष्योंके बीचकी खोई हुई शृङ्खला हैं। हम विस्तारभयसे केवल संकेत करते हैं। डाक्टर ब्रूमने अभी ईसी महीने अगस्त १६४७ ई० में कुछ Ape-man (वानर) की हड्डीके ढाँचेकी खोज की है; उससेभी यही पता लगता है कि वह मनुष्यसे पृथक् पर मिलते हुए थे।

मा० त० सु०—यहाँ अनुमान, शब्द, आप्तवाक्य और प्रत्यक्ष इन चारों प्रमाणोंद्वारा जाना कि यह रामजीका दास है। 'जीति को सकै अजय रघुराई। माया ते असि रचि नहिं जाई' अतः इसके लानेवालेका अवश्य रामजीसे सम्बन्ध है। यह अनुमान है (१)। 'आदिहु तें सब कथा सुनाई', यह शब्द और आप्तवाक्य है (२–३)। और मुद्रिका पहिचानी, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। (४)।

नोट—१ पं० रामकुमारजीने पिछली चौपाईमें कहा है कि 'श्रीरामचरितके वक्तासे परदा नहीं रहता'। पर प्रगट होनेपर उन्होंने मुँह फेर लिया। यह क्यों ? कारण यह कि कथा सुनकर समझी थीं कि वक्ता कोई सुयोग्य श्रीरघुवंशभूषणसम्बन्धी तत्कृपापात्र अधिकारी श्रेयस्कर दर्शनीय होगा। प्रगट होनेपर भगवत्‌संबंधीय संस्काररहित देखा अतः फिर बैठीं।

२—मिलानके श्लोक ये हैं—'क ते रामेण संसर्गः कथं जानासि लक्ष्मणम्। वानराणां नराणां च कथमासीत्समागमः। २।...एवं विश्वासिता सीता हेतुभिः शोककर्शिता॥ उपपन्नैरभिज्ञानैर्दूतं तमधिगच्छति। वाल्मी० । ५ । ३५ । ८४–८५ ।'

३—यह वानर-दोहा-वैश्या है।—(ब्र० चं०)।

टिप्पणी—२ पूर्व दोहा १२ में सीताजीके कर्म और वचनका व्यवहार बहुत है। यथा—'तजौं देह करु बेगि उपाई', 'आनि काठ रचु चिता बनाई'—यह कर्म है। 'कह सीता बिधि भा प्रतिकूला' से लेकर 'नूतन किसलय अनल समाना' तक वचन है। और इस तेरहवें दोहेमें मनका व्यवहार अधिक है, यथा—'सीता मन बिचार कर नाना', 'लागी सुनै श्रवन मन लाई', 'फिरि बैठी मन बिसमय भयऊ', 'उपजा मन बिस्वास।'

हरिजन जानि प्रीति अति † बाढ़ी। सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी॥ १॥
बूड़त बिरह-जलधि हनुमाना। भएहु‡ तात मो कहुँ जलजाना॥ २॥

अर्थ—भगवान्‌का जन (सेवक, दास) जानकर प्रीति अत्यन्त बढ़ी, नेत्रोंमें जल भर आया, शरीर पुलकित हुआ और रोम खड़े हो गए। १। (वे हनुमान्‌जीसे बोलीं) हे तात! हे हनुमान्! विरह-समुद्रमें डूबती हुई मुझको तुम जहाज हुए। २।

टिप्पणी—१ (क) 'हरिजन जानि' का भाव। जैसे हनुमान्‌जीने विभीषणजीको सज्जन पहिचाना, यथा—'राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा। हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा'। और, विभीषणजीने उनको हरिदास जाना, यथा—'की तुम्ह हरिदासन्ह महँ कोई'। वैसेही श्रीजानकीजीने इनको हरिजन जाना। (ख) हरिजन जाना, इसीसे प्रीति अत्यन्त बढ़ी। हरिजनके दर्शनसे प्रीति अपने आप हृदयमें बढ़ती है। विभीषणजीनेभी कहा है—'की तुम्ह हरिदासन्ह महँ कोई। मोरें हृदय प्रीति अति होई। ५। ६।' ये हरिजन हैं, संत हैं (जैसा कि विभीषणजीने कहा है—'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।') और सन्तोंमें अत्यन्त प्रेम करना ही चाहिये, यथा—'संत चरन पंकज अति प्रेमा। ३। १६।' (ग) ['प्रीति अति बाढ़ी' कहकर जनाया कि प्रीति तो पहले ही उत्पन्न हो गई थी जब रामचंद्रजीके गुण वर्णन किये थे, तभी तो प्रकट होनेको कहा था, और 'भाई' संबोधन किया था, यथा—'श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई। कही सो प्रगट होत किन भाई।' जब हनुमान्‌जी प्रकट हुए और अपनेको रामदूत बताया, सीताजीको माता संबोधन किया और कहा कि मैं यह अँगूठी लाया हूँ तब वह प्रीति बढ़ी पर संदिग्धचित्त होनेसे वह कुछ संकुचित थी। अब निश्चय होनेपर वह प्रीति अत्यन्त बढ़ी कि रोके न रुकी, अश्रु और पुलक द्वारा प्रकट हो गई। यथा—'मनसो हि मम प्रीतिरुत्पन्ना तव दर्शनात्। यदि रामस्य दूतस्त्वमागतो भद्रमस्तु ते। वाल्मी० ५। ३४। १८।' अर्थात् तेरे दर्शनसे मेरे मनमें तेरे प्रति स्वतः प्रेम उत्पन्न हो रहा है, यदि तू रामदूत है तो तेरा मंगल हो। 'अति बाढ़ी०', यथा—'अतुलं च गता हर्षं प्रहर्षेण च जानकी॥ नेत्राभ्यां वक्रपक्ष्मभ्यां मुमोचानन्दजं जलम्। वाल्मी० ५। ३५। ८५-८६।' अर्थात् दूत जानकर बहुत प्रसन्न हुईं, प्रसन्नताके कारण उनके नेत्रोंसे आनन्दाश्रु निकलने लगे। यहाँ हर्ष संचारी भाव है।]

२ (क) 'प्रीति अति बाढ़ी' यह अन्तःकरणका प्रेम हुआ, 'सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी' यह उस प्रेमका सबूत बाहर देख पड़ा। अर्थात् पहले चरण में जो 'प्रीति अति बाढ़ी' कहा, उसकी दशा दूसरे चरणमें दिखाई। तनमें पुलकावली होती है, यथा—'तासु दसा देखी सखिन्ह पुलकगात जल नयन', 'तन पुलकहिं अति हरष हिय देखि देखि दोउ भ्रात'। और, रोमावली खड़ी होती है, यथा—'बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयनन्हि नीर रोमावलि ठाढ़ी। १। १०४। २।', 'स्यामल गात रोम भये ठाढ़े।' यहाँ अंगके धर्म कहकर अंगका ग्रहण कराया। (ख) मन, तन और वचन तीनोंकी दशा यहाँ कही। 'प्रीति बाढ़ी' यह मनकी दशा है, 'सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी' यह तनकी और 'बूड़त बिरह····जलजाना' यह वचन की दशा है।

प० प० प्र०—विभीषणजीके हृदयमें विप्ररूप हनुमान्‌जीको देखकर अत्यन्त प्रीति उत्पन्न हुई, इससे उन्होंने अनुमान किया कि यह 'हरिदासन्ह महँ कोई' है, पर यहाँ क्रम उलटा है। इन्होंने जब जाना कि यह

† अति गाढ़ी—भा० दा०। उर बाढ़ी—ब्र० चं०। ‡ भएहु—का०, ना० प्र०, ब्र० चं०। भयहु, भयउ पाठान्तर। 'हरिजन' नयमालिनी, 'सजल' चण्डी और (२), (३) पायकुलक है—(ब्र. चं.)।

हरिजन हैं तब 'प्रीति अति बाढ़ी'। कारण कि एकतो रावणके वचनोंके कारण श्रीसीताजीको अत्यन्त दुःख है, दूसरे वे सतीशिरोमणि हैं और उनके सामने एक वानर आकर खड़ा होता है, ऐसी दशामें प्रथमही अति प्रीति होना असंभव है। इससे उपदेश मिलता है कि जब चित्त सभीत, सशंक या व्यग्र अथवा पूर्वग्रह-दूषित होता है तब हरिभक्तका दर्शन होनेपरभी उसमें अत्यन्त प्रीति उत्पन्न नहीं होती।

नोट—१ 'बूड़त बिरह जलधि०' इति। आत्महत्या करना चाहती थीं; यथा—'तजौं देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई...'—यही विरहसागरमें डूबता होना है। २—'हनुमाना' संबोधनसे जान पड़ता है कि जब हनुमान्जीने 'सब कथा' सुनाई तब उसीमें यहभी कह दिया था कि हनुमान-नामक दूत समुद्र पार करके अशोकवाटिकामें पहुँचा और परम विरहाकुल देख मुद्रिका उसीने गिराई। गीतावलीमें मुद्रिकानेभी इनका नाम और परिचय कराया है; यथा—'बोलि लियो हनुमान करि सनमान जानि समाउ।... कियो सीय प्रबोध मुँदरी दियो कपिहि लखाउ। गी० ५। ४।' वाल्मी० ५। ३५ में भी 'नर बानरहि संग कहु कैसे?' का उत्तर देते समय हनुमान्जीने कहा है—'रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत। हनूमन्तं च मां विद्धि तयोर्दूतमिहागतम्॥ ५२॥' अर्थात् इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी और सुग्रीवजीका मेल हुआ। मुझे हनुमान्नामक वानर तथा उन दोनोंका भेजा हुआ दूत समझो। पुनः यथा—'हनुमानिति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा॥ ८३॥' अतः यहाँभी 'नरबानरहि संग कहु कैसे।' के उत्तरमें जब हनुमान्जीने 'कही कथा भइ संगति जैसे' तभी उसके साथ अपना नाम कहा हो, यह भी हो सकता है। इसीसे वे नाम जानती थीं।

३—'भएहु तात मो कहँ जलजाना।' इति। 'तात' प्रिय सम्बोधन है, यथा—'तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू॥ २। ५३।', 'तात तुम्हारि मातु बैदेही।...लेहु तात जग जीवन लाहू॥ २।७४।' इत्यादि। 'भएहु जलजाना' जहाज होगये अर्थात् मुझ डूबती हुईको सहारा हो गये। मुद्रिका देकर, कथा सुनाकर और प्रकट होकर, विश्वास दिलाकर मरतेसे बचा लिया। यथा—'सुनतहि सीता कर दुख भागा', 'तोहि देखि सीतल भइ छाती।'

टिप्पणी—२ जलयान हुये कहकर जनाया कि यद्यपि हनुमान्जी आधार मिल गए, डूबतेसे बचा लिया। पर अभी जानकीजी उसके पार नहीं हुईं, पार तब होंगी जब श्रीरामजी मिलेंगे; यथा—'बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो। ७।५।' वहाँ भरतप्रसंगमें श्रीरामजीको जलयान नहीं कहते क्योंकि रामजी मिल गए; यहाँ पार होना है।

३ जैसे श्रीहनुमानजीने यहाँ श्रीसीताजीको विरहसागरसें डूबते बचाया, ऐसेही इन्होंने अंगदादिको, श्रीरामचन्द्रजीको और श्रीभरतादि सबोंको डूबते हुए बचाया। यथा—'गगन निहारि किलकारी भारी सुनि हनुमान पहिचानि भये सानंद सचेत हैं। बूड़त जहाज बच्यो पथिकसमाज मानों, आजु जाये जानि सब अंकमाल देत हैं।... अंगद मयंद नल नील बलसील महा, बालधी फिरावैं मुख नाना गति लेत हैं॥ क० ५। २६।' (श्रीसीताजीका समाचार लाकर अंगदादिके प्राण बचाये, नहीं तो सुग्रीव सबका वध करते, यथा—'उहाँ गये मारिहि कपिराई') 'सियवियोग-सागर नागर मन बूड़न लग्यो सहित चित चैन। लही नाव पवनज प्रसन्नता बरबस तहाँ गह्यो गुन मैन॥ गी० ५. २१।'—(यह सीताजीका समाचार देकर श्रीरामजीको डूबते बचाया); और, 'रामबिरहसागरमहँ भरत मगन मन होत। बिप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥ ७। २।' (श्रीसीतालक्ष्मणसहित श्रीरामजीका आगमन कहकर श्रीभरतजीको बचाया)।—[श्रीभरतप्रसंगमें 'पोत' कहा है। सूक्ष्म अन्तरपर कला निछावर है; कारण कि तब और बहुधा अबभी 'जलयान' किनारेसे दूर खड़े होते थे और वहाँसे किनारे तक आने-जानेके लिये 'पोत' (छोटी नाव) ही काम देती हैं। जब भरतजीको सन्देश दिया है तब मानो जलयानरूपी रामके पाससे पहले नावरूपमें ही हनुमान्जी आए और उन्हींके सहारेसे भरतजी स्वागतकी तैयारी करके श्रीरामजीकी अगवानीको जायँगे। (लमगोड़ाजी)]

अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी। अनुज सहित सुख-भवन खरारी ॥ ३ ॥

अर्थ—मैं बलिहारी जाती हूँ। अब छोटे भाई लक्ष्मणसहित सुखधाम खरके शत्रु श्रीराघवजीका कुशल-मंगल कहो। ३।

टिप्पणी—१ (क) 'अब' का भाव कि मेरा कुशल तो तुमने, मुझे विरहसमुद्रमें डूबतेसे बचाकर, किया; अब दोनों भाइयोंका कुशल कहो। विना कुशल-समाचार पाए व्याकुल हैं, कुशल पूछनेमें बलिहारी जाती हैं; क्योंकि जब मारीचने रामजीके स्वरमें स्वर मिलाकर आर्त्तस्वरसे लक्ष्मणजीको पुकारा था तब उस आर्त्तस्वरको सुन व्याकुल होकर सीताजीने लक्ष्मणजीको भेजा था। उसी बीच समय पाकर रावणने इनका हरण किया। तबसे आजतक कुछभी कुशल-समाचार किसीका न मिला। अपने प्राणोंके बचनेसे रघुनाथजीका कुशल-समाचार पाना अधिक है। इसीसे वे अत्यन्त उत्कंठित हैं और कुशल पूछ रही हैं। अपने प्राण बचाने में बलिहारी न गईं, स्वामीके कुशल कहने-सुनानेके लिए बलिहारी जाती हैं। पुनः, (ख) 'जाउँ बलिहारी' से अपना उपकार मानना सूचित किया। उपकार न मानतीं तो दोष लगता। उपकार मानकर कृतज्ञ होना सूचित किया। (ग) ☞ ऐसाही उपकार माननेपर रघुनाथजी और भरतजीने गलेसे भेंटकर कृतज्ञता जनाई है; यथा—'सुनत कृपानिधि मन अति भाए। पुनि हनुमान हरषि हिय लाये। ३०। ७।', 'दीनबन्धु रघुपति कर किंकर। सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर। ७। २।'; परन्तु यहाँ श्रीजानकीजी न तो भेंट कर मिलीं ही और न उनको हृदयसे ही लगाया। इसका कारण यह है कि स्त्रीका परपुरुषको भेंटना या हृदयसे लगाना अनुचित है। स्त्री-स्त्रीसे गले लगकर मिलती है और पुरुष-पुरुषसे। (प्र०)।

नोट—१ 'बलि जाना', 'बलिहारी जाना' मुहावरे हैं जो कुर्बान होने, निछावर होनेके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। यह मुहावरा प्रायः किसीपर प्रसन्न होनेपर, किसीसे कुछ मनभावता कार्य होनेपर, आपत्ति टलनेपर या अनुकूल काम करानेके लिये और वात्सल्यभावसे बोला जाता है जिसका भाव यह है कि तुम्हारी बलायें (आपत्तियाँ) अपने ऊपर लेती हूँ, तुम्हारा कल्याण हो, इत्यादि। यथा—'तात जाउँ बलि बेगि नहाहू।...भइ बड़ि बार जाइ बलि मैया ॥' २। ५३, 'मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारीं॥' १। ३५७, 'तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका।' २। ५५, 'पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथे पन जेहि अजसु न होई ॥ २। ४३।' वैसेही यहाँभी हनुमान्‌जीपर अपनी वात्सल्य भावकी प्रसन्नता वे दिखा रही हैं।

२ लक्ष्मणजीका कुशल पूछनेका कारण यह है कि निर्दोष लक्ष्मणका तिरस्कार करनेका फल ही राम-विरह है यह सीताजी जानती हैं। यथा—'हा लछिमन तुम्हार नहिं दोषा। सो फल पायउँ कीन्हेउँ रोषा।३।२९।३।', 'जेहि बिधि मोहि दुख दुसह सहाए। लछिमन कहुँ कटु बचन कहाए।६।९८।८।'; अतः वे जानना चाहती हैं कि वे मुझपर रुष्ट तो नहीं हैं। जब तक वे क्षमा न करेंगे मुझे यह दुःख भोगना ही पड़ेगा। गी० ५।३ में मुद्रिकासे पूछती हैं—"बोलि बलि मुदरी सानुज कुसल कोसलपाल।''''कहत हित अपमान मैं कियो होत हिय सोइ सालु। रोष छमि सुधि करत कबहुँ ललित लछिमन लालु। परस्पर पति देवरहि का होति चरचा चालु।" इससे स्पष्ट है कि बस इसी कारण उनको भी पूछती हैं।

३ यहाँ पहले लक्ष्मणजीका नाम दिया तब रामजीका इसके अनेक भाव कहे जाते हैं—(क) सुमित्रा-जीने कहा है कि 'तात तुम्हारि मातु बैदेही'। माताका पुत्रपर अधिक स्नेह होता है। पुनः, (ख) इनको कटु वचन कहे थे, उसकी ग्लानि है। अतः उनका नाम प्रथम लिया। (ग) वे रामजीके वनवासमें एकमात्र रक्षक और संगी हैं, ये सकुशल हैं तो स्वामीभी सकुशल होंगे। (घ)—रावणका पराजय विना मेघनाद-वधके न होगा, मेघनादवध इनकेही हाथों होना है। इत्यादि। (ङ) छन्द-रचनामें सुगमता देखकर शब्द आगे-पीछे रखे जाते हैं। पुनः, 'अनुज सहित' कहकर जनाया कि हमारे कारण रामजी उनपर कुपित तो नहीं हैं? (प्र०)।

पं० रामचन्द्रशुक्लजी,—हनुमान्‌जीको सामने पाकर सीताजी उसी मर्यादाके साथ अपने वियोग-

जनित दुःखकी व्यंजना करती हैं, जिस मर्यादाके साथ माता पुत्रके सामने कर सकती है। वे पहले 'अनुज-सहित' रामका (अकेले रामका नहीं) कुशल पूछती हैं, फिर कहती हैं—'कोमल चित कृपाल रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥....मृदुगाता'। प्रियके कुशल-मंगलके हेतु व्यग्रता भारतीय ललनाओंके वियोगका प्रधान लक्षण है। प्रिय सुखमें है या दुःखमें है, यह संशय विरहमें दया या करुण-भावका हलकासा मेल कर देता है। भारतकी कुलवधूका विरह आवारा आशिक़ों-माशूक़ोंका विरह नहीं है जिसमें विरह अपना ही जलना और मरना देखता है, प्रिय मरता है या जीता है, इससे कोई मतलब नहीं।

नोट—४ "कुसल...सुखभवन" इति। सुखभवनकी कुशल पूछनेमें भाव यह है कि यद्यपि वे सुखके धाम सदा आनन्दस्वरूप हैं, सुखसे रहने योग्य हैं पर कहीं मेरे वियोगविरह-जन्य-शोकसे सन्तप्त हो घवड़ा तो नहीं गए? उनका मुखकमल शोकसे मुर्झा तो नहीं गया? वे दुःख तो नहीं पाते? पुनः, 'कुशल'-प्रश्नका भाव कि यदि वे कुशलसे हैं तो वे इस लंकापुरीको भस्म क्यों नहीं कर देते, रावणको दण्ड क्यों नहीं देते? यथा—"कुशली यदि काकुत्स्थः किं न सागरमेखलाम्। महीं दहति कोपेन...॥ वाल्मी० ५.३६.१३।" कुशल कहनेसे बलिहारी जाऊँगी, तेरी बलैयाँ लूंगी,—इस कथनमें भाव यह है कि कुशल सुननेसे मुझे विश्वास हो जायगा कि वे अवश्य मेरा उद्धार करेंगे। "अनुजसहित" का भाव कि यदि वे कुशलसे हैं तो वे क्यों नहीं अपने शस्त्रास्त्रोंसे रावणका वध करके मेरा उद्धार करते। वाल्मी० ५.३६ के श्रीसीताजीके वचनोंके भाव इतने ही शब्दोंमें जना दिये गए।

टिप्पणी—३ (क) 'सुख भवन खरारी' का भाव कि दासोंके लिए सुखके स्थान हैं और खरके अरि हैं। ये विशेषण देकर अपनी अभिलाषा जनाई कि दुष्टोंको मारकर मुझको भी सुख देंगे। पुनः 'खरारी' का भाव कि खरने इतनाही कहा था कि 'देहु तुरत निज नारि दुराई' उसके इतनेही अपराधपर आपने अकेलेही सेनासहित उसका वध किया और अब तो रावण मुझे हर लाया तब भी आपने अबतक ख़बर न ली।-(प्र०)।

कोमल चित कृपालु रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥ ४॥
सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक† ॥ ५॥

अर्थ—हे कपि! श्रीरघुनाथजी तो कोमलचित्त और कृपालु हैं एवं रघुकुलके राजा हैं, उन्होंने किस कारण कठोरता धारण कर ली?।४। सेवकको सुख देनेवाले हैं यह जिनका सहज स्वभाव है वे रघुनायक क्या कभी मेरी याद करते हैं?।५।

टिप्पणी—१ "कोमलचित कृपाल"—['कोमलचितसे अन्तःकरणसे करुणामय और 'कृपाल' से दुःख हरनेमें समर्थ जनाया। यथा—"उमा राम मृदुचित करुनाकर।...अस कृपाल को कहहु भवानी॥ ६.४४।" दूसरेका दुःख देख नहीं सकते और समर्थभी हैं तब—] 'केहि हेतु धरी निठुराई' इति। अर्थात् निज स्वभावसे जब कोमलचित और कृपालु हैं तो निष्ठुरता न होनी चाहिए। यदि कहें कि वंशस्वभावसे निष्ठुर हैं तो कोई भी रघुवंशी निष्ठुर नहीं सुने जाते। सभी रघुवंशी कोमलहृदय हैं और ये तो उस वंशमें शिरोमणि हैं, इनमें तो स्वप्नमेंभी निष्ठुरता होनेका कोई कारण नहीं हो सकता। अतः तुम हेतु बताओ।

२ (क) 'सहजवानि०' इति। भाव कि कृपा तो सभीपर करते हैं, यथा—'सब पर मोरि बराबरि दाया', पर सेवकको सुख देनेकी सहज टेव है। अथवा, कुछ सेवककी सेवा देखकर नहीं सुख देते वरन् स्वाभाविकही सुख देते हैं, यथा—"श्रीरघुबीर की यह बानि। नीचहूँ सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि।०० राम सहज कृपालु कोमल दीनहित दिनदानि।...विनय २१५।" जब 'सेवकसुखदायक' सहज बान है तो उस बानके वस कभी मेरा स्मरण करते हैं? क्योंकि जो बान पड़ जाती है वह कभी छूटती नहीं। (ख) 'सेवक सुखदायक' कहकर 'सुरति' करनेका प्रश्न करनेका भाव कि मैं सेवकिनी हूँ, मुझे अपने सेवककी तरह कभी स्मरण करते हैं;

† व्र० चं०—'कोमल०' पायकुलक, 'कपि' तामरस, 'सहज०' ११६४वाँ भेद, 'कबहुँक०' १२२०वाँ भेद।

यथा—'कहु कपि कबहुँ कृपाल गुसाईं। सुमिरहिं मोहि दास की नाईं।७।२।१६।' पुनः, 'कबहुँक सुरति करत' ऐसा प्रश्न करना भक्तकी दीनता प्रकट करता है। भक्त अपने कर्म या पुरुषार्थका बलभरोसा नहीं रखते। इसी तरह आपनेभी ऐसाही प्रश्न किया। यथा—'तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा।५।७।२।' यह वचन अत्यन्त विरहसूचक हैं।

मा० त० सु०—'कोमलचित' से अन्तःकरणका और 'कृपालु' से बाहरका स्वभाव जनाया। 'केहि हेतु धरी' अर्थात् यदि इससे कोई अपराध हुआ हो तो मुझे मालूम नहीं, तुम जानते होंगे, अतः बताओ। फिर कहती हैं कि अपराधभी हो तोभी वे तो सेवक सुखदायक हैं, यथा—'रहति न प्रभु चित चूक किये की'; अतः कहो, कभी स्मरण करते हैं?

कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता॥ ६॥
बचन न आव नयन भरि† बारी। अहह नाथ हौं निपट बिसारी ‡॥ ७॥

अर्थ—हे तात! क्या कभी श्यामल कोमल शरीर (वाले राघव) को देखकर मेरे नेत्र शीतल होंगे?। ६। (वे अत्यन्त शोकातुर हो गईं, अतः मुखसे) वचन नहीं निकलता, नेत्रोंमें जल भर आया। (उन्होंने अत्यन्त दुःखसे कहा) हा नाथ! मैं बिल्कुलही भुला दी गई!। ७।

टिप्पणी—१ 'कबहुँ नयन मम सीतल ताता।००' इति। (क)—रघुनाथजीकी बान याद कर करके और स्वरूपकी 'सुरति' कर करके श्रीसीताजी विरहमें विलाप करने लगीं, यथा—'बहु बिधि करत बिलाप जानकी। करि करि सुरति कृपानिधान की'। ['सीतल होइहहिं' से जनाया कि ये श्रीरामविरहसंतापसे तप्त हैं; श्यामघनके दर्शनसे ही शीतल होंगे, अन्य किसी प्रकार नहीं। 'ताता' शब्द बड़ाही सुन्दर है, श्लिष्ट पद है। दो अर्थ देता है—'हे तात!' और 'तप्त'। पुनः 'नयन मम सीतल' का भाव कि वचन और मन तो तुम्हारे वचनामृतसे शीतल हो गए; यथा—"लागी सुनै श्रवन मन लाई।...", "भये सीतल श्रवन तन मन सुने वचन पियूष। दास तुलसी रही नयनन्हि दरस ही की भूख॥ गी० सुं० ६।", अभी नेत्र शीतल नहीं हुए।] यहाँ 'श्याममृदुगात' के दर्शनकी अभिलाषा प्यास है, यथा—'लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे'। (ख)—'श्याममृदुगाता' से जनाया कि श्रीरामजीका शरीर मेघ है, दर्शन जल है, लोचन चातक हैं। (ग) प्रथम 'सुरति' कहकर तब दर्शनकी अभिलाषा कहनेका भाव कि दर्शन श्रीरामजीके 'सुरति' के अधीन है, जब वे सुरति करें, निशाचरका वध करें, तब दर्शन हो। यथा—'कबहुँ कपि राघो आवहिंगे। मेरे नयनचकोर प्रीतिबस राका ससि मुख देखरावहिंगे। मधुप मराल मोर चातक होइ लोचन बहु प्रकार धावहिंगे। अंग अंग छबि भिन्न भिन्न सुख निरखि तहँ तहँ छावहिंगे। बिरह अगिनि जरि रही लता ज्यों कृपादृष्टि जल पलुहावहिंगे। रावनबध रघुनाथबिमलजस नारदादि मुनिजन गावहिंगे। यह अभिलाष रैन दिन मेरे...गी० सुं० १०'। (घ) 'श्याममृदुगात' का भाव कि स्त्रियोंकी अभिलाषा शृङ्गारकी होती है और शृङ्गारका वर्ण श्याम है, यथा—'श्यामो भवति शृङ्गारः'। यथा—'नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत शृंगार धरि मूरति परम अनूप।' (१। २४१), 'सीता चितव स्याम मृदुगाता। परम प्रेम लोचन न अघाता'—(आ० २१), 'अब सोइ जतन करहु तुम्ह ताता। देखउँ नयन स्याममृदुगाता'—(लं० १०७) तथा यहाँ।

२ (क) 'बचन न आव....बिसारी' से जनाया कि परम विरहाकुल हो गईं, मरणप्राय अवस्थाको प्राप्त हो गईं। जब श्याममृदुगातका स्मरण किया तब वचन बन्द हो गया, कुछ कह न सकीं, यथा—'राम लषन उर कर बर चीठी। रहि गये कहत न खाटी मीठी।१।२९०।' तात्पर्य कि मुखसे वचन निकलाभी तो अत्यन्त क्लेशसूचक और इतना ही। 'अहह' शब्द अत्यन्त दुःखका सूचक है। 'अहह इत्यद्भुते खेदे'। अर्थात् बड़ा आश्चर्य है,

† भरे—१७०४, १७२१, १७६२, भा० दा०। ‡ ब्र० चं०—'कबहुँ०' चण्डी, 'होइहहिं०' से १४ (९) तक पायकुलक।

खेद है। (ख)—'हौं निपट बिसारी' का भाव कि नाथके मुझको भुला देनेसे मैं अनाथ हो गई;—मेरी वे कभीभी 'सुरति' नहीं करते। (ग) प्रथम पूछा कि क्या कभी करते हैं, यथा—'कबहुँक सुरति करत०।' और अब कहती हैं कि कभी नहीं करते, निपट भुला दिया। ये वचन अत्यन्त क्लेशसूचक हैं।

'कहि बल बिरह'-प्रकरण

देखि परम बिरहाकुल सीता। बोला कपि मृदु बचन बिनीता ॥ ८ ॥
मातु कुसल प्रभु अनुज समेता। तव दुख दुखी सुकृपानिकेता ॥ ९ ॥

अर्थ—श्रीसीताजीको विरह से परम व्याकुल देख कपि श्रीहनुमान्जी मृदु और विनययुक्त वचन बोले। ८। हे माता! प्रभु भाईसहित कुशलसे हैं। अत्यन्त कृपाके स्थान प्रभु तुम्हारे दुःखसे दुःखी हैं। ९।

टिप्पणी—१ (क) 'परम विरहाकुल' अर्थात् दशवीं दशाको प्राप्त हैं वा होनेवाली हैं, (विरहकी दश दशाओंका उल्लेख दोहा ३१ में किया गया है), ऐसी दशामें कोई कठोर और अविनीत वचन समझाने या दशासे बचानेके लिए, बोले तो अवश्य तुरन्त मृत्यु हो जाय। अतएव मृदु विनम्र वचन बोले। (ख) 'देखि परम बिरहाकुल सीता' चौपाईका यह चरण पूर्वभी एक बार इसी प्रसंगमें आ चुका है, यथा—'देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलपसम बीता। १२। १२।' अब उसीको यहाँ फिर दोहराकर जनाया कि जैसी वे पूर्व परमविरहाकुल थीं वैसीही अब फिर हो गईं, जैसे उस समय मरनेपर उद्यत थीं, सबसे अग्नि माँगती थीं वैसीही इस समय मरणावस्थाको प्राप्त हैं। वहाँ परमविरहाकुल होनेका कारण था—'सुनै को श्रवनसूल सम बानी।' और, यहाँ 'नाथ हौं निपट बिसारी' यह कारण है। दोनोंका विरह समान है; अतः दोनों स्थलोंपर 'परम विरहाकुल' हुईं। वहाँ बोलनेका मौक़ा न था, इससे हनुमान्जी दुःख सहकर रह गए, यहाँ बोलनेका मौक़ा है, अतः बोले।

२ श्रीहनुमान्जी भक्तोंमें एक ही हैं, अद्वितीय हैं, अतः उनके लिए ग्रंथकार एक वचनका प्रयोग करते हैं।—'बोला कपि'।

३—हनुमान्जी इस प्रसंगमें तीन बार बोले और तीनों बार तीन भिन्न-भिन्न प्रकारके वचन बोले—(क) प्रथम बार जब सीताजी शरीर त्याग करनेको थीं उस समय उनको जीवित रखनेके लिये अमृतसम 'मधुर' वचन बोले; यथा 'श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई।....'। (ख) दूसरी बार, जब सीताजीको संदेह हुआ कि यह वानरवेषमें रावणही तो नहीं है तब विश्वास उत्पन्न करनेके लिए 'प्रेमसहित' वचन बोले; यथा—'कपिके बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास'। और, (ग) यहाँ धीरज धारण कराना है अतएव समझानेके लिए मृदु विनीत वचन बोले, यथा—'कहि सप्रेम मृदु बचन सुहाये। बहु बिधि राम लोग समुझाये। २। ८५।', पुनः यथा—'बोले लषन मधुर मृदु बानी। ज्ञान-बिराग भगति रस सानी। २। ९२।', 'राम सकल बनचर तब तोषे। कहि मृदुबचन प्रेम परिपोषे। २। १३७।', 'कृपासिंधु फेरहिं तिन्हहिं कहि बिनीत मृदु बैन। २। ११२।' अथवा इससे जनाया कि हनुमान्जीके वचन इन सब विशेषणोंसे युक्त हैं—मधुर हैं, सप्रेम हैं, मृदु हैं और विनीत हैं। हर जगह सब विशेषण नहीं लिखते बनते; अतएव प्रत्येक स्थानपर कुछ-कुछ लिखकर सर्वत्र इनका ग्रहण जनाया। ☞ पूज्य कविकी यह शैली है कि प्रत्येक स्थानपर सब विशेषण न देकर जहाँ जिसकी प्रधानता होती है वही वहाँ दे देते हैं।

टिप्पणी—४ 'मातु कुसल प्रभु....दुख दुखी सुकृपानिकेता' इति। (क) कुशलके साथ 'प्रभु' कहा और श्रीसीताजीके दुःखसे दुःखी होनेमें 'सुकृपानिकेता' कहा। तात्पर्य यह कि वे समर्थ हैं, उनके समीप कोई आपत्ति आ नहीं सकती और आपके ऊपर तो अत्यन्त कृपा करते हैं; इसी कारण वे आपके दुःखसे दुःखी हैं। (ख) श्रीजानकीजीने अनुजसमेत प्रभुका कुशल पूछा, अतएव दोनोंका कुशल कहा। [पहले दोनोंका कुशल पूछा, अतः उसे कहा। फिर 'सुखभवन खरारी' कहकर प्रश्न किया था; अतः उसके उत्तरमें कहा कि वे ऐसे

होकर भी आपके दुःखसे दुःखी हैं। इससे प्रभुमें अधिक प्रेम दिखाया। (रा० श० श०)। सुकृपा=सुंदर कृपा, अर्थात् बिना स्वार्थ या कारणके। 'निकेत' पद विशेष कृपाका द्योतक है—(मा० त० सु०)]

पं० प० प्र०—श्रीसीता-हनुमान्-संवादमें लगभग १४ बार 'मातु', 'जननी' वा 'माता' शब्दका प्रयोग किया गया है, परन्तु चौपाईके आरंभमें 'मातु' शब्द दो ही जगह आया है। एक तो यहाँ, दूसरे २७ (१) 'मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा' में। वाक्यके आरंभमें 'मातु' शब्द देकर प्रदर्शित किया है कि श्रीसीताजीकी परम विरहाकुल दशा देख हनुमान्‌जीभी व्याकुल हो गए और गद्गद होकर 'मातु' कहकर अवाक् हो गए, फिर धीरेसे कहा 'कुसल प्रभु' और पीछे 'अनुज समेता'।

जनि जननी मानहु जिय ऊना। तुम्ह तें प्रेम राम के दूना† ॥ १० ॥

अर्थ—हे माता! अपने मनमें न्यूनता न लाइए (श्रीरामजीके प्रेमको न्यून या कम न समझिए, ग्लानि न कीजिए), आपसे श्रीरामजी (के हृदय) में दुगुना प्रेम है। १०।

टिप्पणी—१ श्रीजानकीजीने कहा था कि 'अहह नाथ हौं निपट बिसारी', उसीपर श्रीहनुमान्‌जीका यह उत्तर है। जैसे हनुमान्‌जीके (प्रभुसे) कहनेपर कि 'पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान। ४। २।', प्रभुने उत्तरमें कहा था कि 'सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना। ४। ३। ३।'; वैसेही यहाँ कहा गया। दोनों स्थलोंपर 'बिसारने' के सम्बन्धसे 'ऊना' पदका प्रयोग किया गया है। ऊन=न्यून;=हानि। हानि न मानो, हानि तब मानो जब श्रीरामजीको प्रेम न हो, उनमें तो तुमसे दूना प्रेम है। [गीतावलीमें इस स्थानपर 'दीन' और 'प्रेम पीन' शब्दोंका प्रयोग किया गया है; यथा—'मातु! काहेको कहति अति बचन दीन? तब की तुहीं जानति अबकी हौं ही कहत सबके जियकी जानत प्रभु प्रबीन॥ ऐसे तो सोचहिं न्याय-निठुर-नायक-रत सलभ खग कुरंग कमल मीन। करुनानिधान को तो ज्यों-ज्यों तनु छीन भयो त्यों-त्यों मनु भयो प्रेम-पीन॥... सुं० ८।'—इस प्रकार 'ऊन' का भाव ग्लानि और दीनता होता है। और] 'प्रेम राम ते दूना' यह समझानेकी रीति प्रतीत होती है; यथा—'अस कस कहहु मानि मन ऊना। सुख सुहागु तुम्ह कहुँ दिन दूना॥ २॥ २१।'; 'सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥ ४। ३।' अथवा, (ख) हनुमान्‌जीने दोनोंका प्रेम अपनी आँखोंसे देख लिया है, उसीके अनुसार दूना कहते हैं, यथा—

श्रीजानकीजीको	श्रीरामजीको
'निशि' विपत्ति है, यथा—'पुनि मो कहँ सो दिन सो राती'	१ 'निसि' कालरात्रि है, यथा—'कालनिसा सम निसि'
चन्द्रमा पावकमय है, यथा—'पावकमय ससि श्रवत न आगी'	२ चन्द्रमा भानुसम है, यथा—'ससि भानू'

अग्निसे भानु अधिक है। अग्निको पास रखकर तापते हैं और भानुके पास जानेपर संपाती भस्म होने लगे थे।

कमल कमल समान भासित होता है यथा—'स्यामसरोजदाम सम सुंदर'	३ कमल कुन्तवन समान लगता है, यथा—'कुवलयबिपिन कुंतबन सरिसा'
(इनने) मुद्रिका पाकर पहचाना, निश्चय किया, पर उसे हृदयसे न लगाया।	४ (इनने) सुग्रीवसे पट-भूषण माँगकर, पहचाना, हृदयसे लगाया, शोक किया।
इनने चूड़ामणि माँगनेपर दिया, यथा—'मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा'	५ इनने मुद्रिका आपसेही दी, यथा—'कर मुद्रिका दीन्ह जन जानी'।

☞ यह भाव अक्षरोंकी रीतिसे कहा गया, जैसा सुना वैसा लिखा। दोनोंका परस्पर प्रेम समान है, इन दोनोंके प्रेमको ये ही दोनों जानें; यथा—'तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा।' अतः वे ही दोनों जान सकते हैं, दूसरा नहीं। यथा—'राम जोगवत सीय-मनु प्रिय-मनहि प्रानप्रियाउ। परम पावन प्रेम-पर-

† प्र० चं०—'जनि०' कुसुम विचित्रा, 'तुम्ह०' पायकुलक है।

मिति समुझि तुलसी गाउ ॥ गी० ७ । २५ ।' दूना प्रेम आगे संदेसेके द्वारा कहते हैं। श्रीरामजीका प्रेम स्मरण करके हनुमान्जी स्वयं प्रेमयुक्त हो गए।

नोट—१ मायापतिका अभिनय मायाके अभिनयसे सदा खरा ही निकलता है। ऊपर जो प्रभुके वियोगजनित दुःखको हनुमान्जीने दिखाया है, वह मायाकी सीताके बताये हुये वियोग दुखःसे दूना है। स्वयं नाटककार जैसा अभिनय कर सकता है, नटी उसको कहाँ तक पहुँच सकती है ?—(गौड़जी)।

२ मा० त० सु०—दू=दूसरा अर्थात् अन्यथा+ना=निषेधवाचक अव्यय। अतः, 'तुम्ह तें प्रेम रामके दूना'=रामजीका प्रेम आपसे दूसरा वा अन्यथा नहीं है। अर्थात् जैसे पहले था वैसाही बना हुआ है।

३ रा० शं०—द्विगुणका सबूत इससेभी है कि श्रीजानकीजीने जब अपना दुःख अपने मुँहसे कहा तब गद्गद हुईं और यह दशा हनुमान्जीकी इतना कहनेपरही हो गई कि रघुपतिका संदेश सुनिये। जिसके संदेशके स्मरणसे यह दशा हुई तो उसकी स्वयं क्या दशा होगी ? समझ लीजिए।

४ अरण्यकाण्ड श्रीसीताविलापप्रसंगमें 'हा जगदेक वीर रघुराया' से 'पुरोडास चह रासभ खावा ॥' २९ (१) से (५) तक केवल पाँच अर्धालियाँ हैं और श्रीजानकी-वियोग-विरहमें श्रीरामजीका विलाप 'हा गुनखानि जानकी सीता ।' से 'प्रिया वेगि प्रगटसि कस नाहीं ॥' ३० (६) से (१५) तक दस अर्धालियोंमें हैं। एकसे दूसरेके विलापमें द्विगुण अर्धालियाँ हैं। इससे अनुमान होता है कि यह भी एक कारण 'दूना' कहनेका हो।

५ मा० म०—(क) जानकीजी एक स्थानमें बैठी हैं और रामजी सवत्र ढूँढ़ते फिरते हैं, एक निरुपाय दूसरा उपायमें लगा; अतएव दूना। वा, (ख) रामजी लक्ष्मणसमेत दो हैं, दोनोंका प्रेम मिलकर दूना।

६ मा० शं० स०—भाव कि जिसको आपसे क्षणमात्र भी प्रीति है उसपर रामजी दूना स्नेह करते हैं, जैसे गृद्ध्रराज और सुग्रीवपर, तो तुम्हारे ऊपर इतना प्रेम करना कौन बड़ी बात है।

प० प० प्र०—दोनोंके प्रेममें तर तम भाव देखा जाता है पर दोनों भिन्न परिस्थितिमें हैं, इसका भी विचार करना चाहिए—जैसे, (१) श्रीसीताजी दुष्ट रावणकी कैदमें हैं और श्रीरामजी स्वतंत्र हैं। (२) मुद्रिकाको पहचाननेपर हृदयसे न लगा लेनेका कारण यह है कि सीताजी स्त्री हैं, शंकित हैं, भयभीत हैं, उनका चित्त स्थिर नहीं है। श्रीरामजीकी स्थिति इससे उलटी थी जब उन्होंने 'पट उर लाइ सोच अति कीन्हा'।

श्रीसीताजीका प्रेम श्रीरामजीसे अधिक था यह सिद्ध हो सकता है। जैसे, (१) इन्होंने स्नान, निद्रा, आहार इत्यादि सबका त्याग किया है और श्रीरामजीने श्रीशवरीजीके आश्रममें बड़ी प्रसन्नतासे फलाहार किया, पंपासरमें स्नान किया, 'परम सुख पावा', 'बैठे परम प्रसन्न कृपाला'। (२) सीताजी मरनेको उद्यत हैं, श्रीरामजीने वालिको मारा है, इधर उधर घूमते हैं और सीताजी रातदिन बैठी 'सोच रत अहई'। श्रीसीताजीने रामचिन्तन छोड़ दूसरी बातका चिंतन नहीं किया। और श्रीरामजी तो अनेक बातोंकी चर्चा करते रहे। सुग्रीव, हनुमान्, शबरी, नारदादि के साथ परम प्रसन्नताके साथ बात-चीत तथा व्यवहार करते रहे। इत्यादि।—अतः 'दूना' कहना समझानेकी रीति ही है। १४।

दो०—रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भएउ भरे बिलोचन नीर❀ ॥१४॥

अर्थ—हे माता ! अब धीरज धरकर रघुपतिका सँदेसा सुनिए। यह कहकर श्रीहनुमान्जी गद्गद हो गए (कंठ रुँध गया) और दोनों नेत्रोंमें जल भर आया। १४।

टिप्पणी—१ संदेश सुननेको कहकर धैर्य धारण करनेको कहा क्योंकि संदेश सुननेकी अभिलाषासे शीघ्र धैर्य धारण कर लेंगी। परम विरहाकुल थीं अतः धीरज धरनेको कहा। श्रीरामजीका संदेश हृदयमें आते

❀ व्र० चं०—मच्छ दोहा है।

ही कपि गद्‌गद हो गए, जैसे शिवजीके हृदयमें रामचरितके आतेही वे गद्‌गद हो गए थे, यथा—'हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए। १। १११। ७।' चरितसे वक्ता और श्रोता दोनोंको प्रेम उत्पन्न होना चाहिए, यथा—'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं। १। ४१। ६।' अतः यहाँ वक्ताने हनुमान्‌जीको प्रथम प्रेममें मग्न दिखाया; क्योंकि प्रथम इनकेही हृदयमें संदेशरूपी चरित आया, फिर श्रीजानकीजीको प्रेममें मग्न किया; क्योंकि इनको इस चरितकी प्राप्ति पीछे हुई, यथा—'प्रभु संदेस सुनत वैदेही। मगन प्रेम तनु सुधि नहिं तेही।' गीतावलीमें श्रीरघुनाथजीकी दशा स्मरण कर प्रेममें मग्न होना कहा है, यथा—'सियको सनेह रघुवरकी दसा सुमिरि पवनपूत देखि भयो प्रीति लीन। सुं० ८।'

२—प्रथम धैर्य छोड़े रहीं, यथा—'वचन न आव नयन भरि वारी। अहह...।' अतएव धैर्य धारण करानेके लिए वारंवार माता संवोधन दिया है, यथा—'मातु कुसल प्रभु अनुज समेता', 'जननी जनि मानहु जियँ ऊना' और 'सुनु जननी धरि धीर'।

३—'रघुपति कर संदेस अव' इति। 'अव' का भाव कि प्रथम मैंने श्रीरामजीके गुण कहे, फिर आदिसे सव कथा सुनाई; यथा—"रामचंद्र गुन वरनै लागा', 'आदिहुँ ते सव कथा सुनाई'। अव संदेश कहता हूँ।

कहेउ राम वियोग तव सीता। मो कहुँ सकल भए विपरीता॥ १॥
नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू। कालनिसा सम निसि ससि भानू[†]॥ २॥

अर्थ—(सावधान होनेपर हनुमान्‌जी वोले)—श्रीरामचन्द्रजीने (यह संदेश) कहा है—'हे सीते! तुम्हारे वियोगमें मुझे सभी (सुखद पदार्थ) उलटे हो गए। १। वृक्षोंके नये कल्ले मानों अग्नि हैं, रात्रि कालरात्रि सदृश और चन्द्रमा सूर्यके समान है। २।

विं० त्रि०—"कहेउ राम........" इति। 'कहेउ राम' ऐसा कहकर हनुमान्‌जी, अपने उत्तरदायित्वसे अलग होते हैं। भाव यह कि मैं तो सन्देशहर दूत हूँ, मैं रामजीके कहे हुए शब्दोंको दोहराता हूँ। इस सन्देशमें ऐसे वचन हैं, जिनका उच्चारण मेरे लिये उचित नहीं, पर 'दूतो वदति नान्यथा', मैं रामजीका कहना करता हूँ, मेरा कोई दोष नहीं है। तत्पश्चात् हनुमान्‌जीने सन्देश कहना प्रारम्भ किया। 'वियोग तव सीता। मो कहुँ सकल भए विपरीता' से लेकर 'जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं' तक प्रभुका सन्देश है। ऐसा अर्थ करना कि 'अस कहि कपि गदगद भयेउ भरे विलोचन नीर' हनुमान्‌जी तो गदगद हो गये वोल न सके तव स्वयम् रामजी ही वोलने लगे, अति साहस है। यदि ऐसी वात होती तो ग्रन्थकार 'प्रभु संदेस सुनत वैदेही' न लिखकर, लिखते कि 'प्रभुके वचन सुनत वैदेही'। सन्देशका अर्थ ही दूतादिके मुखसे कहे हुए वचन हैं।

टिप्पणी—१ (क) जैसे श्रीजानकीजीने श्रीरामजीके वनवासका समाचार सुनकर साथ ले जानेकी प्रार्थना करते हुए कहा था कि आपके वियोगमें मुझे कुछ और कोईभी सुखद नहीं हो सकता, सव दुःख-रूप हो जायँगे, यथा—'प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं। २। ६५।' वैसे ही यहाँ रघुनाथजी कह रहे हैं कि तुम्हारे वियोगमें मुझे सभी दुःखद हो गए हैं। इस प्रकार अपना दुःख कहकर श्रीजानकीजीका दुःख दूर कर रहे हैं। (ख) 'सीता' का भाव कि तुम शीतल करनेवाली हो, तुम्हारे बिना सभी मुझे तापदायक हो तप्त कर रहे हैं; कोई और शीतल करनेवाला नहीं है। (ग) 'मो कहुँ' एक वचनका प्रयोग करके अपनेको दुःखसे दीन जनाया। पुनः, भाव कि सव अपने अपने धर्म ग्रहण किए हैं और लोगोंके लिए दुःखद या विपरीत नहीं हुए, केवल मुझहीको विपरीत हो गए। पुनः, विपरीतका भाव कि यद्यपि सुग्रीवादि मित्रगण और सेवकगण उनकी प्रसन्नताके उपाय करते हैं...परन्तु उन सुखदायक वस्तुओंसे और भी दुःख होता है। यथा—'घनघमंड नभ गर्जत घोरा। प्रियाहीन डरपत मन मोरा', 'प्रियाहीन मोहि

† १५ (१) (१०) तक पायकुलक है—(ब्र. चं.)।

भय उपजावा' इत्यादि । (वाल्मीकीयमेंभी कहा है—'काननानि सुरम्याणि नदीः प्रस्रवणानि च । चरन्न रतिमाप्नोति त्वामपश्यन्नृपात्मजे । ५ । ३५ । ४७ ।' अर्थात् हे राजकुमारी ! यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी अत्यन्त रमणीय वनोंमें, नदियोंमें, झरनोंके तटोंपर विचरते हैं, तथापि तुम्हारे विना वहाँ उन्हें आनन्द प्राप्त नहीं होता ।) (घ) 'सकल' अर्थात् सभी सुखद पदार्थ । इनमेंसे छः को गिनाते हैं । ☞ (ङ) किष्किंधाकाण्डमें इस संदेशका कोई उल्लेख नहीं हुआ, पर यहाँके कथनसे वहाँ संदेशका हनुमान्‌जीसे कहना सूचित कर दिया है । यह ग्रंथकारकी शैली है । वाल्मीकिजीनेभी इसी प्रकार जयन्तकी कथा अरण्यमें नहीं कही, पर उसे सुन्दरकाण्डमें कहकर चित्रकूटमें उस चरितका होना सूचित कर दिया । दूसरा कारण किष्किंधामें न लिखनेका यह है कि वहाँ यह संदेसा श्रीरामजीने हनुमान्‌जीके कानमें कहा, उन्होंने सबसे गुप्त रक्खा; इसीसे गोस्वामीजीनेभी वहाँ गुप्त रखा, जब यहाँ हनुमान्‌जीने उसे खोला तब कविने उसे लिखा । गुप्तका प्रमाण, यथा—'कहँ हम पसु साखामृग चंचल बात कहौं मैं विद्यमान की । कहँ हरिसिवअज-पूज्य ज्ञानघन नहिं बिसरति वह लगनि कान की' (गी० सुं० ११) ।—[संकेत अवश्य है, यथा—'कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयहु ।']

२ 'नवतरु किसलय मनहुँ कृसानू ।....' इति । (क) श्रीसीताजीकी यही दशा ऊपर कही गई है, यथा—'नूतन किसलय अनल समाना' । (ख) यहाँ नये कोमल पत्तों कल्लोंको प्रथम कहा क्योंकि इन्हींका आसन, इन्हींकी साथरी और इन्हींपर सदा जहाँतहाँ दृष्टि पड़ती रहती है । लक्ष्मणजी रातको शयनके लिए नवीन किशलयकी शय्या बनाया करते हैं; यथा—'तहँ तरु किसलय सुमन सुहाये । लछिमन रचि निज हाथ डसाये । ६।११।३।'; वह कोमल साथरीभी मानों जलाये डालती है । दिनमें सूर्य प्रचण्ड किरणोंसे ताप देते हैं ही, यह बात 'ससि भानू' से जनाई । अर्थात् जब चन्द्रमा रात्रिमें सूर्यके समान संतप्त करता है, तब सूर्य जो तप्त है ही उसके तापदाता होनेकी कथाही क्या कही जाय ? स्वयं समझ लो । छायाके लिए वृक्षके तले जाते हैं तो वृक्षही जलाए डालता है, क्योंकि वहाँ तो पत्तोंका समूह है जो अग्निराशि सरीखे हैं । आगे कहते हैं कि शीतलताके लिये जलाश्रयके पास जाते हैं तो कमलवन कुन्तवन सदृश दुःख देता है और ऊपरसे जो जल मेघ बरसाते हैं तो वह मानों तप्त तेल ही है । प्रभु वनमें हैं; इस लिये वनकेही पदार्थोंको दुःखदाता कहा; नगरमें होते तो भोगके पदार्थोंको दुःखद कहते । रात्रिका हाल कहकर आगे दिनका हाल कहते हैं ।

नोट—१ कालनिशा—अ० ८३ (५) 'मानहु कालराति अँधियारी' देखिए ।

२ मा० त० सु०—(क) 'निसि ससि' का भाव यह है कि कृष्णपक्षमें चंद्रमा दिनमेंभी कभी-कभी वर्तमान रहते हैं । परंतु दिनके चन्द्रमा शीतल नहीं होते, रात्रि ही के शीतल होते हैं । उसमेंभी यह हेमंतऋतुका समय है जिससे अत्यन्त शीतकारक होना उचित था, पर वह प्रचण्ड-सूर्यसम तप्तकिरण हो रहे हैं । (ख) 'इस चौपाईमें 'ससि भानू' इन दोनों पदोंमें परस्पर विपरीतता दिखाई है; अर्थात् चन्द्रमा सूर्य समान और सूर्य चंद्रमाके समान हो रहे हैं, यह अर्थ नहीं करनेसे यह दोषापत्ति होगी कि हिमऋतुकी रात्रिमें अग्नितत्त्व अतिप्रिय होता है, यहाँ सूर्य अग्नितत्त्व ही हैं ।',—[परन्तु यह पूरा संदेश प्रसन्नराघवनाटकमेंभी है जो हम आगे दे रहे हैं—दोहा १५(५) देखिये । वहाँके 'हिमांशुश्चण्डांशुः' (प्र. रा. ६।४३) और हनु० ६।१६ के 'चन्द्रो यत्र दिनेशदीधितिसमः' के अनुसार तो उपर्युक्त अर्थ और टिप्पणीमें दिया हुआ भावार्थ ठीक ही जान पड़ता है । हनु० ५।१८ के "रामः—'सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते ।', लक्ष्मणः—'चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति ।" इस उद्धरणसेभी उसीकी पुष्टि होती है । श्रीरामजी विरह विलापमें चन्द्रोदय देखकर कहते हैं कि यह सूर्य उदय होता है इससे वृक्षका आश्रय करो ।] दोहा १५ (५) भी देखिये ।

कुवलय-बिपिन कुंत बन सरिसा । बारिद तप्त तेल जनु बरिसा ॥ ३ ॥
जे हित † रहे करत तेइ पीरा । उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा ॥ ४ ॥

† जे हित रहे—१७०४, १७२१, १७६२, भा० दा०, दुलही । जेहि तर रहे—कोदवराम । जेहि तरु

अर्थ—कमलका वन भालेके बनके समान है, मेघोंने मानों जलता हुआ तेल बरसाया। ३। (इत्यादि) जो हित करने वाले थे वेही पीड़ा दे रहे हैं। तीनों प्रकारकी हवा सर्पकी श्वासोंके समान (विषैली) है। ४।

टिप्पणी—१ (क) कमलको भाला कहा। कमलकी नाल उसकी छड़ हुई, फूल ग्रंथि हैं, फूलकी नोक भालेकी नोक है, मारनेवाला कमलरूपीभालेसे मारकर हृदयको विदीर्ण कर डालता है। कमल भाला है तो भाला चलानेवाला चाहिये। यहाँ कामदेव भाला चलानेवाला है; क्योंकि कमल कामदेवका बाण कहा गया है। इसी विचारसे कमलको भालासे रूपक दिया। (ख) 'बारिद तप्त तेल०' इति। विरहीको वर्षा अति दुःखदायी होती है, यथा—'मोर सोर घनघोर जोर दामिनि दमंकन। पावस सीतल पवन गमन जुगुनून चमंकन'। [तप्त तेल क्यों कहा, तप्त जल क्यों न कहा! उत्तर—तप्तजलभी किसी समय सुखदायक होता है और तपस्वियोंको तेल तो सर्वथा त्याज्य है (तेल भोग्य पदार्थ है)। (मा. त. सु.)] (ग) किसीका (हनुमन्नाटकका) मत है कि सीताहरण चैत्रशुक्लपक्ष मध्यान्हकालमें हुआ और संदेसा शरद्‌में भेजा गया; अतएव चैत्रसे शरद्‌तकके दुःखोंका संदेश कहा गया। (घ) 'नवतरुकिसलय०' यह वसन्त है क्योंकि वसन्तमें वृक्षोंके पुराने पत्ते झड़कर नये पत्ते निकलते हैं। 'कालनिसा सम निसि ससि भानू' यह ग्रीष्म है क्योंकि ग्रीष्मके सूर्य दुःखदायक होते हैं। 'कुवलय बिपिन' यह शरद् है क्योंकि कमल शरद्‌में फूलते हैं। और, 'बारिद तप्त तेल०' यह वर्षा है।—इस प्रकार यहाँ चार ऋतुओंका वर्णन हुआ। (ङ) शरद् वर्षाके बाद होती है और यहाँ वर्षाका दुःख प्रथम न कहकर पहले शरद्‌का दुःख कहा गया; इस व्यतिक्रमसेभी अपनी व्याकुलता प्रकट कर दी है। विह्वल हैं, कुछ सुधबुध नहीं है, अटपट कहते हैं, अतएव ऋतुक्रमसे दुःख नहीं कहा। पूर्व 'मो कहुँ सकल भये बिपरीता' कहा है, यहाँ वर्णनके व्यतिक्रमसेभी विपरीतता जनायी। यदि क्रमसे कहते तो व्याकुलता न जान पड़ती। अथवा, स्वयं कपिकोही क्रमका सँभाल न रहा, क्योंकि वह स्वयं उनकी दशाको स्मरण करके गद्‌गद हो गये हैं, यथा—'अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर।', इससे वे ही व्यतिक्रम कर गए।

वि. त्रि.—'नवतरु किसलय....समीरा' इति। हनुमान्‌जीने जो कहा था कि 'तुम्ह तें प्रेम राम कर दूना', वह रामजीके इसी उक्तिके बलपर कहा था। सीताजीको शीतल तारा, चन्द्रमा और नूतन किसलय ये तीन वस्तुएँ दुःखद हो गईं। रामजीकी उक्तिसे मालूम होता है कि उन्हें छवो ऋतुओंकी छः वस्तुएँ दुःखद हो गईं। सीताहरण फाल्गुन कृष्ण अष्टमीको हुआ, और हनुमान्‌जीको सीतादर्शन अगहन बदि द्वादशीको हुआ। इस भाँति यद्यपि सीताजीका बिछोह हुए दश महीने हुए थे, पर उसका स्पर्श छवो ऋतुओंसे हो गया था। फाल्गुन मास शिशिर ऋतु है। इस महीनेमें वृक्षोंके पुराने पत्ते गिरने और नये कोंपल निकलने लगते हैं, यह बड़ा सुखद महीना माना जाता है, सो वे कोंपल रामजीको आगसे मालूम हुए। हेमन्तकी रात्रि बड़ी होती है, और सुखद होती है, सो कालरात्रिके समान दुःखद हो गई। ग्रीष्म तो स्वभावसे ही दुःखद है पर रात्रिमें चन्द्रोदयसे कुछ शीतलता आ जाती है, सो रामजीको चन्द्रमाभी भानुकी भाँति तापदायक हो गये। शरद्‌ऋतुमें कुवलयका खिलना अति सुखद है, सो रामजीको भालेके वनकी भाँति दुःखद हो गया। पावसमें वर्षा बड़ी सुखद है, सो रामजीको मालूम हुआ कि गरम तेल बरस रहा है। वसन्तमें त्रिविध समीर अत्यन्त सुखद है सो रामजीको सर्पके फूत्कार सा दुःख मालूम हुआ। इस भाँति सीताजीके बिछोहसे छवो ऋतु दुःखद हो गईं। बिछोहमें सुखकी सामग्री ही दुःखद हो जाती है।

टिप्पणी—२ 'जे हित रहे करत तेइ पीरा' इति। जो अहित थे उनको यहाँ नहीं कहते; क्योंकि जो

रहे—छ०, रा. प्र.। ☞ ऊपर दिया हुआ पाठही उत्तम भी है क्योंकि यहाँ पूर्वसे सुखदायक वस्तुएँ गिनाते आये, अब कहते हैं कि ये सब जो पहले हितकर थे वे अब दुःखकर हो रहे हैं एवं औरभी जो जो हित पदार्थ थे वे सभी दुःखदायक हो गये। जैसा नाटकमें कहा है—'विपरीतं जगदिदम्' प्र. रा. ६।४३ अर्थात् जगत्मात्रही विपरीत हो गया है; वही भाव यहाँ है। 'जेहि तरु रहे०' का अर्थ होगा 'जिस वृक्षके नीचे रहते हैं वही दुःख देता है'।

हित थे जब वे ही अहित हो गए तब जो अहित थे उनका कहना ही क्या ? वे तो प्रथम ही अहित थे। दूसरे, हितका पीड़ा देना इससे कहा कि सुखद वस्तुका स्मरण होनेसे अधिक दुःख होता है कि अरे ! ये भी हमारे शत्रु हो गए।

३ 'उरगस्वास सम त्रिबिध समीरा' इति। त्रिविध समीर अर्थात् शीतल, मन्द, सुगन्धयुक्त। और उसके विपर्ययमें उरगश्वास गर्म, शीघ्रतायुक्त तीव्रगतिवाली और दुर्गन्धित है। त्रिविधवायु शीतलताप्रद, रोगहारक और सुखद है, उरगश्वास गर्मी पहुँचानेवाला, रोगवर्द्धक और दुःखद है।—यहाँ तक नवतरुकिसलय, निशि, शशि, कमल, वर्षा, त्रिबिध समीर—ये छः जो सदा सुख देते थे उनको कहा कि ये एवम् और भी जितने हित पदार्थ थे वे सब दुःखद हो गये। कृष्णगीतावलीमें गोपियोंके भी ऐसे ही वाक्य हैं; यथा—'सब बिपरीत भये माधव बिनु हित जो करत अनहित की करनि।....। ३०।'

नोट—१ यहाँतक इन चौपाइयोंमें यह भी दिखाया कि पाँचों तत्व भी दुःखदायक हैं—'नूतन किसलय मनहुँ कृसानू' यह अग्नितत्व, 'कालिनिस सम निसि ससि भानू' यह आकाश, 'कुवलयबिपिन कुंतबन सरिसा' यह पृथ्वी (क्योंकि कमलका आधार पृथ्वी है), 'बारिद तप्त तेल जनु बरिसा' यह जल और 'उरगस्वास सम त्रिविध समीरा' यह पवनतत्व है।—(मा. त. सु.)

कहेहू तें कछु दुख घटि होई। काहि कहौं यह जान न कोई ॥ ५ ॥

अर्थ—कह डालनेसे भी दुःख कुछ कम हो जाता है (अर्थात् भभक निकल जाती है), पर कहूँ किससे ? यह दुःख कोई जानता नहीं। (अर्थात् कहना तो चाहता हूँ जिसमें घट जाय, पर जो दुःखका जाननेवाला हो वही हमारे हृदयके दुःखको समझ सकता है और उसीसे कहते बने। जो न समझे उससे कहना ही व्यर्थ है। अतएव तुम्हारा दुःख भीतर भरा हुआ, हृदयको जला रहा है।)। ५।

टिप्पणी—'कछु' का भाव कि सब दुःख तो प्रियके मिलनेपर ही अच्छी तरह मिटता है, कहनेसे किंचित् घट जाता है; सो यहाँ उसका भी योग नहीं है। जो कहा सो मनमें ही है, यही आगे कहते हैं।

नोट—१ यहाँ ध्वनि यह है कि यद्यपि लक्ष्मणजी साथ हैं पर उनसे ये बातें कहनी उचित नहीं, अतः उनसे न कहीं।

२—यह पूरा सन्देश प्रसन्नराघवनाटक अंक ६ में है, यथा—'हिमांशुश्चण्डांशुर्नवजलधरो दावदहनः, सरिद्वीचीवातः कुपित फणिनिःश्वासपवमः। नवामल्ली भल्ली कुवलयवनं कुन्तगहनं, मम त्वद्विश्लेषात्सुमुखि विपरीतं जगदिदम् ।४३। कस्याख्याय व्यतिकर ममुं मुक्त दुःखो भवेयं, को जानीते निभृतमुभयोरावयोः स्नेहसारम्। जानात्येकं शशधरमुखि प्रेमतत्त्वं मनो मे, त्वामेवैतच्चिरमनुगतं तत् प्रिये किं करोमि ।४४।' मानससे मिलान कीजिये। देखिये, सरसता और गंभीरता किसमें अधिक है ?

तत्व प्रेमकर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा ॥ ६ ॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीतिरसु एतनेहि माहीं ॥ ७ ॥

अर्थ—हे प्रिये ! मेरे और तेरे प्रेमका तत्व एक मेरा मन ही जानता है। ६। सो वह मन भी सदैव तुम्हारे पास ही रहता है। (बस) इतने ही में मेरे प्रेमभावको समझ लो। अर्थात् तुम्हारे विना दुःखी रहता हूँ, रात दिन मन तुममें लगा रहता है, प्रीतिका रस यही है। ७।

नोट—१ 'तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा ।०' इति। (क) 'तत्व'=सार; 'स्वरूप; यथार्थता; वास्तविक स्थिति या भेद। प्रसन्नराघवनाटकमें भी 'स्नेहसारम्' और 'प्रेमतत्वं मनो मे' शब्द आये हैं। श्रीभरताचरणको अयोध्याकांडमें 'राम सनेहसुधाकर सारू' कहा है। 'प्रीतिरस'—जैसे ग्रंथमें 'प्रेमरस', 'सकोचरस', रणरस' इत्यादि आये हैं, यथा—'राम प्रेमरसु कहि न परत सो ।२। ३१८।', 'सो सकोचरसु अकथ सुबानी ।२। ३१८।', 'रनरस बिटपु पुलक मिस फूला। २। २२६।' वैसे ही यहाँ 'प्रीति रस'। अर्थात् जैसे शृङ्गार आदि रस हैं वैसे ही

'प्रीति' भी 'रस' है। प्रीतिरस अन्योन्याश्रित है। प्रेमी और प्रेमास्पद देखनेमें दो देह हैं पर वास्तवमें एक ही हैं। परिपूर्ण मनका लगना ही प्रीतिकी सरसता है। (ख) 'तत्वप्रेम...मोरा' का भाव यह है कि प्रिया-प्रियतमका यथार्थ भाव, उनके प्रेमकी वास्तविक स्थिति दूसरे किसीको विदित होना अत्यन्त असंभव है। हनुमन्नाटक ५। २५ में किंचित् प्रेमतत्वका दिग्दर्शन है—श्रीजानकीजीका आलिङ्गन करनेके समय गलेके हारका भी अन्तर श्रीरामजी न सह सकते थे, इसलिये हारको पहनते ही न थे।*

टिप्पणी—१ 'तत्व प्रेम कर' इति। प्रेमका तत्व अर्थात् दुःख यथा—'स्नेह मूलानि दुःखानि।' तत्वका भाव कि मेरा मन अच्छी तरह जानता है, मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, तुम्हारे पास ही हमारा मन सदा निवास करता है। (ख) 'एक मनु मोरा', अर्थात् मेरा मनही एक है जो जानता है, दूसरा कोई जाननेवाला नहीं है। यथा—'सियराम अवलोकनि परसपर प्रेम काहु न लखि परइ। मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रगट कवि कैसे कहइ।' (ग) पहले शरीरका दुःख 'जे हित रहे करत तेइ पीरा' तक कहा, फिर वचनका दुःख कहा कि 'कहेहू तें कछु दुख घटि होई। काहि कहौं०' और अब मनका दुःख कहते हैं कि 'जानत प्रिया एकु मनु मोरा।' सबका तात्पर्य यह हुआ कि शरीरसे दुःख सहते हैं, वचनसे किसीसे कुछ कहते नहीं और मन तुम्हारे पास रहता है।

२ (क) श्रीजानकीजीने जो कहा था कि 'कबहुँक सुरति करत रघुनायक' उसका यहाँ उत्तर हुआ कि 'सो मन सदा रहत तोहि पाहीं।' अर्थात् जैसा प्रेम हमारा तुमपर है, उसे इतनेहीमें जान लो, अधिक क्या कहूँ? जिसपर बहुत प्रेम होता है उसीमें दिनरात मन लगा रहता है, इससे अधिक प्रीति और कुछ नहीं है। (ख) प्रीतिरस=दुःख; यथा—'भेंटत भुज भरि भाइ भरत सो। राम प्रेमरस कहि न परत सो।' भाव कि मेरा मन तुम्हारा प्रेमी है—सदा पास रहता है। अ० ३१७ (४) देखिए। (ग) यहाँ तक प्रभुका सन्देश है, इसीसे 'प्रिया' सम्बोधन दिया गया। रामजीका यह सम्बोधन है।

नोट—२ 'सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीतिरसु०' इति। इससे स्पष्ट कर दिया कि प्रेमास्पदमें मनका निरन्तर विना विक्षेपके लगा रहना यही 'प्रीतिरस' की कुञ्जी है। वाल्मीकीयमें जो—'नैव दंशान्न मशकान्न कीटान्न सरीसृपान्। राघवोपनयेद्गात्रात्त्वद्गतेनान्तरात्मना॥ ४२॥ नित्यं ध्यानपरो रामो नित्यं शोकपरायणः। नान्यच्चिन्तयते किञ्चित्स तु कामवशं गतः॥ ४३॥ अनिद्रः सततं रामः सुप्तोऽपि च नरोत्तमः। सीतेति मधुरां वाणीं व्याहरन्प्रतिबुध्यते॥ ४४॥...स देवि नित्यं परितप्यमानस्त्वामेव सीतेत्यभिभाषमाणः।...॥ ४६॥ सर्ग ३६।' अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीका मन आपमें ऐसा लगा हुआ है कि डाँस, मच्छड़, पतंगे और सर्प उनके शरीरपर रेंगते रहते हैं पर उनको मालूम ही नहीं होता। वे आपके ध्यानमें, आपके शोकमें और आपकी कामनाहीमें परायण रहते हैं। उन्हें नींद नहीं आती, पर यदि कभी आँखें झपक गईं तो 'हे सीते! हे सीते!' कहते हुए ही आँख खुलती है।....विशेष क्या कहना? वे सदा आपके वियोगमें सन्तप्त रहते और 'सीते! सीते!' कहकर सदा आपको पुकारा करते हैं।—यह हनुमान्‌जीने कहा है, वह सब भाव इस अर्धालीका है और 'प्रीतिरस' की व्याख्या है।

वि० त्रि०—लौकिक प्रेमका तत्व दाम्पत्य भाव है, अलौकिक प्रेमका तत्व तादात्म्य भाव है, यथा—'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।' सरकार सन्देशमें कहते हैं कि उस अलौकिक प्रेमके तत्वको

---

* मा. त. सु.-प्रेमका तत्व, यथा हनुमान्नाटके—'हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेपभीरुणा। इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः॥ ५। २५।' अर्थात् उस समय मैंने अलग पड़ जानेके भयसे कण्ठमें हारका भी आरोपण नहीं किया और अब तो प्यारीसे और मुझसे अनेक पर्वत, समुद्र, नदी, वृक्षादिकोंका अन्तर पड़ रहा है। ३—'जानु प्रीतिरस एतनेहि माहीं' का भाव कि तुम्हारी विरहाग्निसे सन्तप्त होकर विदेहावस्थाको प्राप्त हो रहा हूँ।

मैं ही जानता हूँ, संसार उससे अपरिचित है, अतः नहीं समझ सकता। तादात्म्य भावमें मनका पार्थक्य असम्भव है, फिर भी मन प्रकृतिके अन्तर्गत है, पुरुषके नहीं। अतः स्वामी पुरुषका होता हुआ भी, उसका आधार प्रकृति ही है। इसलिये कहते हैं कि 'सदा रहत तोहि पाहीं' जिसमें यह शङ्का न उठ सके कि 'मुझे भूल गये।'

प० प० प्र०—प्रेमतत्व=प्रेमका रहस्य या मर्म। किस प्रकारका प्रेम है यह ज्ञान। प्रेम विविध प्रकारका हो सकता है। जैसे कि (१) अनन्य एकांगी प्रेम जैसे चातकका। (२) सापेक्ष प्रेम, यथा 'तुम्हहि राम प्रिय तुम्ह प्रिय रामहि'। (३) स्वार्थी वाणिज्य प्रेम, यथा 'सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहि सब प्रीती।' (४) तादात्म्य प्रेम। ऐसा प्रेम किसीका भी नहीं होता। केवल श्रीसीतारामजीका प्रेम तादात्म्य प्रेम है, कारण कि वे देखनेमें दो हैं पर हैं एक—'कहियत भिन्न न भिन्न'। इस प्रकारका प्रेम करना दूसरे किसीके लिये भी असंभव है, अतः दूसरा कोई उस प्रेमका तत्व कैसे जान सकता है?

'जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं'—भाव कि यह प्रेम स्वसंबंध होनेसे उसका वर्णन वाणीसे हो ही नहीं सकता। तुम सार जान लो।

श्रीलमगोड़ाजी—'कहेउ राम वियोग तव सीता।'····'जानु प्रीतिरस···' इति। मैंने अपनी विश्व-साहित्य रामचरितमानस (काव्य-समीक्षा) में लिखा है कि हनुमान्‌जी केवल सिपाही और कपि ही नहीं थे किन्तु बड़े कुशल कवि भी थे। इसका एक प्रमाण यहाँ भी है। देखिये श्रीरामजीने केवल संकेत रूपमें ही विरह कहा; पर श्रीहनुमान्‌जीने उसे कितने काव्यमय रूपमें वर्णन किया? यह आक्षेप ठीक नहीं है कि मातासे पिताके वियोग का ऐसा वर्णन क्यों किया? कवि सब ही विषय लिखता है और कहता है पर उसको दोष नहीं कहा जाता, क्योंकि वह उस वर्णनसे मुग्ध होता है, मोहित नहीं। दूसरे, श्रीराम और श्रीसीताजीके प्रेममें दूषित अंश है ही नहीं। तीसरे, यह वर्णन अलङ्कारों और युक्तियों द्वारा है, स्पष्ट नहीं। अतः दूषित नहीं कहा जा सकता। विश्वसाहित्यमें तुलसीदासके शृंगाररस सम्बन्धी कलाका कमाल ही यही है; नहीं तो 'सादी' और 'कालिदास' भी बच नहीं सके और 'शैक्सपियर' के शृंगारवर्णन यदि आप उनके असंशोधित संस्करण (Unexpunged Edition) में पढ़ें तो पढ़ा नहीं जाता। इस स्थानसे अधिक कमाल वहाँ है जहाँ भगवान्‌ने स्वयं भगवतीके अंगोंका सांकेतिक वर्णन लक्ष्मणजीके सामने वियोगके पहले ही आवेशमें किया है।

नोट—३ यहाँतक 'विरह' हुआ, आगे 'कहि बल'—प्रकरण है।

प्रभु-संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तनु सुधि नहिं तेही॥ ८॥
कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवक-सुखदाता॥ ९॥
उर आनहु रघुपति प्रभुताई। सुनि मम बचन तजहु कदराई॥ १०॥

अर्थ—प्रभुका संदेश सुनते ही वैदेहीजी प्रेममें मग्न हो गईं, उनको तनकी सुध न रह गई। ८। श्री-हनुमान्‌जीने कहा कि हे माता! हृदयमें धीरज धरो, सेवकोंको सुख देनेवाले श्रीरामजीका स्मरण करो। ९। श्रीरघुनाथजीकी प्रभुताको हृदयमें लाओ (स्मरण करो) और मेरे वचन सुनकर कायरताको छोड़ो। १०।

टिप्पणी—१ तनकी सुध न रही, अतः 'वैदेही' पद दिया। 'तत्व प्रेमकर मम अरु तोरा।···जानु प्रीतिरसु एतनेहि माहीं' यह प्रेमका संदेशा है; अतएव उसे सुनकर प्रेममें मग्न हो गईं। मन प्रेममें डूबा है; अतः 'तन सुधि' नहीं, यथा—'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुखसुख सुधि केही'। यहाँतक संदेशाकी सीमा है।

२—विपत्तिमें धैर्य धारण करना मुख्य है; इसीसे बारंबार धीरज धरनेको कहते हैं। यथा—'रघुपति के संदेस अब सुनु जननी धरि धीर', 'कह कपि हृदय धीर धरु माता', 'जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु', 'कछुक दिवस जननी धरु धीरा।' भाव यह है कि चार बातोंके लिये चार बार धैर्य धारण करनेको कहा।—प्रथम बार संदेश सुननेके लिये, दूसरी बार श्रीरामजीको स्मरण करनेके लिए, तीसरी बार निशाचरोंके मरणके लिए और चौथी बार श्रीरामजीको लंकामें आनेके लिए धीरज धरनेको कहा।

नोट—१ इस प्रसंगमें श्रीहनुमान्‌जीने 'माता' या उसका पर्यायी 'जननी' संबोधन प्रयुक्त किया है। 'माता' और कहीं 'जननी' यह भी भावसे खाली नहीं है। भिन्न-भिन्न शब्द भी साभिप्राय हैं। जब शरीरकी सुधबुध नहीं रहती, परमविरहाकुल दशा होती है तब परमप्रिय 'माता' सम्बोधन देकर वह दशा दूर की जाती है तत्पश्चात् 'जननी' का प्रयोग होता है जब वे सावधान होती हैं। यथा—'बचन न आव नयन भरि बारी।''''देखि परम बिरहाकुल सीता।''''मातु कुसल प्रभु अनुज समेता।''''जनि जननी मानहु जिय ऊना''''।५।१४।' कठिन असमंजस दूर करने, विश्वास दिलानेके लिये भी प्यारा 'माता' शब्द ही संबोधनमें आया है। यथा—'रामदूत मैं मातु जानकी।' 'यह मुद्रिका मातु मैं आनी।' 'जननी' से 'माता' अधिक सरस है।

२—श्रीजानकीजीके लिये इस संदेशप्रसंगमें 'सीता', 'प्रिया' और 'वैदेही' शब्दोंके प्रयोग भी साभिप्राय हुए हैं, 'कहेउ राम बियोग तव सीता' में 'सीता' पदसे जनाया कि आप शीतलत्वप्रदान करती थीं, अतः आपके वियोगसे ताप हो रहा है। प्रेमतत्त्वज्ञ और प्रेमपात्र होनेसे 'प्रिया' सम्बोधन दिया गया और विदेहदशा होनेसे 'वैदेही' कहा गया।

टिप्पणी—३ (क) श्रीजानकीजीने श्रीरामजीको 'सेवकसुखदायक' विशेषण दिया था, यथा—'सहज बानि सेवक सुखदायक', हनुमान्‌जी भी वही विशेषण देकर उनका स्मरण करनेको कहते हैं। तात्पर्य कि आप तो जानती ही हैं कि वे सेवक-सुखदाता हैं, उनका स्मरण करनेसे अवश्य दुःख मिटेगा और सुख प्राप्त होगा, यथा—'जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी'। (ख) 'उर आनहु प्रभुताई' और 'तजहु कदराई' का भाव कि हृदयमें जहाँ कायरता भरी है उसे निकालकर उसकी जगह प्रभुताको धर लो। ऐसा ही संपातीने बानरोंसे कहा था, यथा—'तासु दूत तुम्ह तजि कदराई। राम हृदय धरि करहु उपाई'। 'मम बचन'०—जो आगे कहते हैं।*

दोहा—निसिचर निकर पतंग सम रघुपति बान कृसानु।
जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु॥ १५॥

अर्थ—निशाचरसमूह पतंगोंके समान हैं, रघुपतिबाण अग्नि हैं। हे माता! हृदयमें धैर्य्य धारण करो, निशाचरोंको जला हुआ ही समझो। १५।

टिप्पणी—१ (क) पतंगे दीपकमें जला करते हैं, यथा—'दीपसिखा सम जुबतितन मन जनि होस पतंग' (आ० ४६)। यहाँ रघुपतिबाणको दीपक न कहकर कृशानु कहनेमें आशय यह है कि वहाँ मनरूपी पतंग अकेला एक ही है। युवतितनरूपी दीपशिखा अकेले ही उस एकको जलानेको समर्थ है! पर यहाँ 'निशाचर निकर' निकर-पतंगे हैं अर्थात् यहाँ पतंगोंका समूहका समूह है। दीपकमें अधिक पतंगोंके आ जानेसे दीपक बुझ भी जाता है पर अग्नि नहीं बुझती चाहे जितने उसमें आ पड़ें, सभी भस्म हो जाते हैं। अतएव बाणको कृशानु कहा। अथवा, दीपक पवनसे बुझ जाता है और अग्नि पवनसे प्रचण्ड होता है, अतएव कृशानु कहा। दीपक अबल है, कृशानु प्रबल। (ख)—यहाँ 'निसिचर' नाम साभिप्राय है। पतंगे रात्रिमें ही मोहवश जलते हैं, यथा—'जरहिं पतंग मोह बस भार बहहिं खरबृंद। लं० २९।' और, निशाचर मोहरूप हैं, यथा—'मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार', 'महामोह रावन बिभीषन ज्यों हयो हौं'। ये मोह-निशाको प्राप्त होकर अपने आप ही अपने नाशमें प्रवृत्त हो रामशरानलमें जलते हैं, यथा—'प्रभु सन्मुख धाये खल कैसे। सलभसमूह अनल कहँ जैसे। ६। ८५।' (ग) 'जरे निसाचर जानु' का भाव कि प्रभु इनके वधकी प्रतिज्ञाकर चुके हैं। पतंगे रात में जलते हैं और ये भी 'निशि'-चर हैं, अतः पतंगकी उपमा दी गई। ['पतंग' पद यहाँ अनायास जलनेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। बाणको कृशानु कहा, क्योंकि धर्म्मीका गुण धर्ममें भी रहता है, रामजीको 'हेतु कृसानु भानु हिमकर को' कह चुके हैं, उसीके अनुसार यहाँ कहा। (मा० त० सु०)]

---

* 'उर आनहु' अर्थात् शोकमें उन्हें विस्मरण न करो। प्रभुताई, यथा—'भृकुटिभंग जो कालहि खाई'; इसके आगे रावणकी प्रभुता क्या चीज है?

नोट—१ आपसे जल मरनेमें प्रमाण यह है—शूर्पणखा स्वयं पंचवटीमें आकर निशाचरकुलकी नाशक हुई। खरदूषणादि स्वयं आकर लड़े और मरे। रावणने स्वयं अपने मरणका उपाय रचकर सीताहरण किया। अतः पतंगका अग्निमें आकर जल मरना कहा। २—हनुमान्‌जी भी रघुपतिबाण सदृश हैं। ये लंकादहन करेंगे, आपसे ही आप निशाचर यहीं अपने जलनेका उपाय कर देंगे। मं० श्लो० ३ का 'दनुज-वनकृशानु' विशेषण चरितार्थ करेंगे। ३—यह दोहा दोहरा मिश्रित है।—(ब्र० चं०)।

जौं रघुबीर होति सुधि पाई। करते नहिं बिलंबु रघुराई॥ १॥

राम बान रबि उए जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की॥ २॥

अर्थ—यदि रघुबीर श्रीरामजीने सुध पाई होती तो वे रघुराई (रघुकुलके राजा, रघुकुलमें श्रेष्ठ रामचन्द्रजी) विलंब न करते। १। हे श्रीजनकनन्दिनीजी! रामबाणरूपी सूर्य्यके उदय होनेपर राक्षसोंका (सेनारूपी) समूह अंधकार कहाँ रह जायगा? *। २।

टिप्पणी—१ 'रघुबीर' और 'रघुराई' के भाव—सभी रघुवंशी कृपाल और बंदीछोर हैं और ये तो सब रघुवंशियोंके राजा हैं और वीर हैं; तब कैसे विलंब करते? कोई आर्त्त हो और वीरको उसकी ख़बर मिल जाय फिर भी यदि वह विलंब करे तो अनीति है। ये रघुराई हैं, रघुवंशी राजा नीतिमें बड़े निपुण होते आए हैं, तब ये कैसे विलंब करते? ख़बर ही न मिली, इससे कुछ कर न सके। तात्पर्य कि हमने जाकर ख़बर दी नहीं कि वे आए। यथा—'अब बिलंब केहि कारन कीजे। तुरत कपिन्ह कहँ आयसु दीजे', 'सिंधु बचन सुनि राम सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ। अब बिलंब केहि काम करहु सेतु उतरइ कटकु।' (लं०)।

नोट—१ (क) 'रघुबीर' और 'रघुराई'में पुनरुक्ति नहीं है। दो भावसे दो शब्द कहे गए। पराक्रम करके ले आनेमें रघुबीर कहा, यथा—'एक बार कैसेहुँ सुधि जानउँ। कालहु जीति निमिष महुँ आनउँ।४।१८।' राजा जनकी रक्षामें तत्पर रहते हैं, अतः विलंब न करते। (ख) 'रघुराई' शब्दमें लक्षणामूलक अगूढ़ व्यंग है कि रघुवंशी राजा सदासे धर्मात्मा, सत्संकल्प, सत्यप्रतिज्ञ, जनरक्षक, वीर, आश्रितपालक, आर्त्तदुःखहरण, परोपकारपरायण, दयालु इत्यादि गुणसंपन्न होते आये हैं, वे कभी विलंब नहीं कर सकते थे।

टिप्पणी—२ (क) सूर्योदयसे विना श्रम ही तमका नाश हो जाता है, यथा—'उयेउ भानु बिनु श्रमु तम नासा।' इसी तरह रामबाणसे विना परिश्रम राक्षसोंका नाश होगा। (ख) यहाँ जातुधानकी सेनाको 'तमबरूथ' कहा है, यथा—'तव बियोग संभव दारुन दुख बिसरि गई महिमा सुबान की। न तु कहु कहँ रघुपतिसायक-रबि तम अनीक कहँ जातुधान की' (गी० ५।११)। यहाँ सेना और मायाको प्रकट नहीं कहनेका तात्पर्य यह है कि यहाँ पहले रविका उदय कहा, सूर्योदयपर 'तमबरूथ कहँ'?—वैसे ही रामबाणके उदयपर जातुधानकी 'अनीक कहँ?' जब राक्षसोंकी सेनारूपी अंधकारसमूह उदय होते ही रह ही न गया तो दिखलाई कहाँसे दे, जब दिखाई नहीं देता तो लिखकर कैसे दिखावें? इसी विचारसे गोस्वामीजीने यह भाव दिखलानेके लिये कि राक्षसोंका पता ऐसे ही न लगेगा जैसे चौपाईमें 'अनीक' पदका। यहाँ सेना पदको गुप्त रखा, केवल 'जातुधानकी' कहा।

नोट—२ ऊपर टिप्पणी २ (ख) में दिये हुये गीतावलीके उद्धरणके अनुसार 'उए' (उदय होनेपर) का भाव यह भी हो सकता है कि आपके वियोगजन्य विरह-दुःखमें वे अपने सुन्दर 'बान' (स्वभाव, बाना; एवं बाण) को ही भूल गए, इसीसे 'रघुपतिसायकरवि' (रामबाणरूपी रवि) का उदय न हुआ, अब समा-

---

* १ 'रामबान रबिउए····' का दूसरा अर्थ—'राक्षससमूहरूपी अंधकारके लिये रामचन्द्रजीके बाणरूपी सूर्य उदय हो चुके हैं।' (तभी तो दण्डकारण्यमें जनस्थानके चौदहसहस्र राक्षसोंका खरदूषणसहित संहार हुआ)। इस अर्थको लेकर यह कहा जाता है कि यहाँ 'रामबानके उदयसे हनुमान्‌जी अपनी ओर संकेत कर रहे हैं अर्थात् उनके बाणरूप मैं निशिचरनाशके लिये आ गया। यथा—'जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही भाँति चलेउ हनुमाना॥ ५। १।'

चार पाकर वे उदय होंगे। बस, उनके उदय होते ही निशिचरतमका सहज ही नाश है। यह भाव वाल्मीकीयके—'त्वच्छोकविमुखो रामो देवि सत्येनते शपे ॥ ५। ३८। ५०।' (अर्थात् मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि आपके वियोगजन्य शोकके कारण वे विषयान्तरसे पराङ्मुख हो रहे हैं।), तथा 'रामे दुःखाभिभूते तु लक्ष्मणः परितप्यते ॥ ५। ४०। १३।' (अर्थात् और श्रीरामजीका दुःख देखकर श्रीलक्ष्मणजी भी सन्तप्त रहा करते हैं) —इन उद्धरणोंसे भी सिद्ध होता है।

प्र० चं०—'जौं ·· जानकी' पायकुलक और 'तम वरूथ कहँ जातुधान की' प्रियम्वदा है।

टिप्पणी ३—यहाँ राक्षसोंका नाश दो बार कहा। प्रथम 'रघुपतिवाणकृशानु' में पतंगसरीखे आ मरना दिखाया और अब दूसरा दृष्टान्त 'रामवाणरवि' से निशाचर अनीक-तमवरूथका नाश कहा। दो दृष्टान्त देनेका हेतु यह है कि—प्रथम उपमासे राक्षसोंका निःशेष नाश न हुआ क्योंकि अग्निमें सब पतंगे नहीं मरते; जो उसमें आकर गिरते हैं वही मरते हैं। अतएव निःशेष-नाश-सूचक दूसरा दृष्टान्त दिया। सूर्योदयसे सर्वत्र अंधकारका नाश हो जाता है। अथवा, प्रथम दृष्टान्तसे राक्षसोंके शरीरका नाश कहा और दूसरेसे उनकी मायाका। यथा—'एक बान काटी सब माया। जिमि दिनकर हर तिमिर निकाया।६। ५१।', 'प्रभु छन महुँ माया सब काटी। जिमि रबि उए जाहिं तम फाटी। ६। ६६।'; अथवा, एक दृष्टान्त रात्रिका दिया (पतंगे रात्रिमें ही अग्निमें आकर जल मरते हैं, दिनमें नहीं) और दूसरा दिनका (सूर्योदयसे दिनका प्रारम्भ होता है)। जो प्रथम दृष्टान्तसे अर्थात् रात्रिके दृष्टान्तसे बच गए उनका नाश दिनके दृष्टान्तसे हो गया। तात्पर्य यह है कि रामवाण राक्षसोंका दिन और रात्रि दोनोंमें अर्थात् निरन्तर नाश करेगा। यथा—'छीजहि निसिचर दिनु अरु राती। निज मुख कहे सुकृत जेहि भाँति। ६। ७१।'—[रामवाणपर रविका आरोप कर राक्षसवृन्दपर तमवरूथका आरोपण किया, क्योंकि सूर्योदयसे अंधकारका नाश अनायास और अवश्यम्भावी है। यहाँ परस्परितरूपक अलंकार है। लंकाके राक्षसोंको अभीसे मरे हुए मानना 'अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार' है]।

अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई। प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई॥ ३॥

कछुक दिवस जननी धरु धीरा। कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा॥ ४॥

अर्थ—हे माता! मैं अभी तुमको लिवा ले जाऊँ; पर 'रामदोहाई' प्रभुकी आज्ञा नहीं है। ३। हे माता! कुछ ही दिन धैर्य धारण करो, वानरों समेत रघुवीर श्रीरामजी आयेंगे। ४)।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम विश्वास दिलानेके लिए शपथ खाई थी, यथा—'रामदूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की। १३। १६।' यहाँ 'रामदोहाई' की। पहले शपथका प्रयोजन था, इससे वहाँ शपथ की और यहाँ 'दोहाई' का ही प्रयोजन है। 'दोहाई' में द्रोहताका भी भाव भरा हुआ है। अर्थात् विना आज्ञाके यदि मैं ले जाऊँ तो स्वामिद्रोही होऊँगा। आज्ञाभंग होगी और आज्ञाभंग वधके समान है; यथा—'आज्ञाभंगो नरेन्द्राणामशस्त्रवधमुच्यते।' तात्पर्य कि यदि मैं झूठ कहता हूँ तो स्वामीकी द्रोहताको प्राप्त होऊँ। अथवा, दोहाई और शपथ पर्याय हैं। वे कहते हैं कि मैं अभी ले जाऊँ। पर 'इस लघुरूपसे हनुमान्‌जी कैसे लंकासे ले जा सकेंगे? इनसे यह कार्य होना असंभव है'—ऐसा सन्देह कदाचित् जानकीजीके हृदयमें हो तो वे उसका समाधान प्रथम 'रामदोहाई' अर्थात् रामशपथ करके मिटाना चाहते हैं। अर्थात् यह कहते हैं कि मैं इसके लिए समर्थ हूँ, पर क्या करूँ प्रभुकी आज्ञा नहीं है। इसपर उनको विश्वास न हुआ, यथा—'हैं सुत सब कपि तुम्हहिं समाना....'। पुनः प्रथम हनुमान्‌जीने रावणका माहात्म्य कहा और अब 'अबहिं मातु मैं जाऊँ लवाई...', अपनी इस उक्तिसे रामबाणका प्रभाव अपनेमें जनाया और यथार्थ आप रामबाणसम हैं भी, यथा—'जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही भाँति चलेउ हनुमाना'। (ख) 'प्रभु आयसु नहिं', यथा—'कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयहु।' अर्थात् सन्देशा कहकर लौट आना, साथ न लाना। अध्यात्ममें

भी ऐसा ही कहा है। 'प्रभु'का भाव कि जब वे स्वयं समर्थ हैं तब मुझको ले जानेकी आज्ञा कैसे दें? [आज्ञा न होनेका कारण यह भी है कि प्रभु सत्यप्रतिज्ञ हैं। यदि हनुमान्‌जी श्रीसीताजीको ले जाते तो 'निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह। ३। ९।' यह श्रीरामजीकी प्रतिज्ञा असत्य हो जाती; क्योंकि निशाचरों का नाश न हो पाता। अतः श्रीसीताजीको लानेकी आज्ञा नहीं दी गई। वाल्मीकीयकल्पकी कथा इससे कुछ भिन्न है। वहाँ हनुमान्‌जी श्रीसीताजीसे कहते हैं कि मेरी पीठपर बैठ लो, मैं अभी ले चलूँ। पर सीताजी स्वयं पर-पुरुषके स्पर्शको राजी न हुईं; इससे हनुमान्‌जी साथ न ले जा सके। और यहाँ, हनुमान्‌जी अपने को समर्थ बताते हुए भी प्रभुकी आज्ञाके अधीन होनेसे नहीं ले जाते। गी० ५। ६ में भी ऐसा ही कहा है; यथा—'निदरि अरि रघुबीर बल लै जाउँ जौं हठि आज। डरौं आयसुभंग तें अरु बिगरिहै सुरकाज॥']

नोट—१ 'कछुक दिवस जननी धरु धीरा' इति। 'कछुक दिवस' अल्पकालका वाचक है। जिसे गीतावलीमें 'तौ लौं मातु! आपु नीके रहिबो। जौ लौं हौं ल्यावौं रघुबीरहिं दिन दस और दुसह दुख सहिबो॥ ५। १३॥', 'बाँधि बारिधि साधि रिपु दिन चारि में दोउ बीर। मिलहिंगे कपि-भालु-दल संग जननि उर धरु धीर॥ ५। ६।', और कवितावलीमें 'दिवस छ सात जात जानिबे न मातु धरु धीर अरि-अंतकी अवधि रही थोरि कै। ५। २३।' कहा है; उसीको यहाँ 'कछुक दिवस' कहा है। दस, चार, छ, सात वस्तुतः गिनतीके लिये नहीं हैं। धीरज बँधानेके लिये थोड़े ही दिनके अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं। वाल्मीकीयमें भी ऐसा ही कहा है—'न ते चिरादागमनं प्रियस्य क्षमस्व मत्सङ्गमकालमात्रम्॥ ५। ३९। ५४।' (अर्थात् आप तब तक प्रतीक्षा करें जब-तक मैं उन्हें जाकर लिवा लाऊँ। अब उनके आनेमें देर नहीं), 'तदाश्वसिहि भद्रं ते भव त्वं कालकाङ्क्षिणी। ५। ३९। ४४।' (अर्थात् आपका मंगल हो। आप धीरज धरें और कालकी प्रतीक्षा करें) इत्यादि। इस तरह 'कछुक दिवस' का तात्पर्य यही है कि बस मेरे जानेकी देर है, मैं गया, उनको समाचार मिला कि सेना लेकर वे आए—बस आप इतने समयकी प्रतीक्षा करें। वे आये और रावणका नाश हुआ।

टिप्पणी—२ 'कछुक दिवस'। यथा—'बाँधि बारिधि साधि रिपु दिन चार में दोउ बीर। गी० ५।६।' प्रथम जब (दोहा १५ में) कहा था कि 'जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु' तब उसमें दिनोंका कुछ प्रमाण नहीं कहा; अब 'कछुक दिवस' कहकर दिनका प्रमाण किया कि चार दिनमें आवेंगे इतने दिन धीरज धरो।

३—'कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा' इति। पूर्व राक्षसोंके नाशके संबंधमें रामबाणको कृशानु और भानु कहा। पर इससे यह निश्चय न हुआ कि किस प्रकारसे मारेंगे। वहींसे बाण छोड़ेंगे या यहाँ आकर युद्ध करेंगे? इस बातको यहाँ स्पष्ट करते हैं कि 'कपिन्ह सहित....'। 'रघुबीर' का भाव कि 'कपिन्ह सहित' राक्षसों पर चढ़ाई करेंगे, निशाचरोंको मारेंगे और तुमको ले जायेंगे।—[वाल्मी० ५। ३९। १४-१६ का भाव 'रघुवीर' शब्दमें यहाँ भर दिया है। अर्थात् मनुष्य, देवता, दैत्य, सूर्य, इन्द्र और यमराज भी उनके सामने नहीं ठहर सकते।]

मा० त० सु०—भाव कि प्रबल प्रचण्ड वीरधुरीण और समस्त निशिचरोंके नाशके लिए समर्थ होकर भी सुग्रीवकृत सेवाको स्वीकार करते हुए और 'हम काहूके मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे' इस वरदानको सत्य करनेके लिए 'रघुबीर' बानरोंके साथ आवेंगे। [नोट—जाम्बवन्तजीने इसका कारण किस सुंदरतासे कहा है, देखिए—'कौतुक लागि संग कपि सैना'। इससे ईश्वरता भी प्रगट न होगी।]

टिप्पणी—४ 'कह कपि हृदय धीर धरु माता' से यहाँ 'कछुक दिवस जननी धरु धीरा।....' तक 'बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु' इस संदेशको चरितार्थ किया।

निसिचर मारि तोहि लै जैहहिं। तिहुँ पुर नारदादि जसु गैहहिं॥ ५॥

हैं सुत कपि सब तुम्हहिं[1] समाना। जातुधान अति[2] भट बलवाना॥ ६॥
मोरें हृदय परम संदेहा। सुनि कपि प्रगट कीन्हि निज देहा॥* ॥ ७॥

अर्थ—निशाचरको मारकर तुम्हें ले जायँगे। तीनों लोकोंमें नारदादि यश गावेंगे। ५। श्रीसीताजी बोलीं—'हे पुत्र! सब बानर तो तुम्हारे ही समान हैं और राक्षस तो अत्यन्त योद्धा और अत्यन्त बलवान हैं।६। मेरे मनमें परम संदेह है। यह सुनकर कपिने अपना शरीर प्रकट किया। ७।

टिप्पणी—१ हनुमान्‌जीने प्रथम बालकाण्डकी सब कथा कही; यथा—'लागी सुनै श्रवन मन लाई। आदिहुँ तें सब कथा सुनाई'। अयोध्या और अरण्य भी कहा। किष्किंधाकी कथा न कही थी, वह श्रीसीताजीके पूछनेपर कही—'नर बानरहिं संग कहु कैसे। कही कथा भइ संगति जैसे।' सुंदर वर्तमान है; इसकी कथा न कही, क्योंकि कथा तो वे स्वयं देख रही हैं।—(मेरी समझमें किष्किंधाकांडकी भी कथा कही थी पर बहुत संक्षिप्त। दूतोंका भेजा जाना, स्वयंप्रभाद्वारा सिंधुतटपर पहुँचना और संपातीसे सीताजीका पता मिलना यह किष्किंधामें ही है। समुद्रलंघन, सीताजीको लंकापुरीमें रावणके महल तथा घर-घरमें खोजते हुए अशोक वाटिकामें पहुँचना और मुद्रिकाका गिराना—यह सुन्दरकांडकी कथा कही)।—रही लंका और उत्तरकी सो यहाँ कही। 'निसिचर मारि तोहि लै जैहहिं' यह लंकाकांड है और 'तिहुँपुर नारदादि जसु गैहहिं' यह उत्तरकांड है। यथा—'राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुर-मुनि बरबानी। १। २५।', 'बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं। ७। ४२।' पुनश्च यथा अध्यात्मे—'यस्यावतारचरितानि विरंचि लोके गायन्ति नारदमुखाभव पद्मजाद्याः', तथा 'नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं। ७। ४२।'—['निसिचर मारि तोहि लै जैहहिं।', यथा—'हत्वा तु समरे क्रूरं रावणं सहबान्धवम्। राघवौ त्वां विशालाक्षि स्वां पुरीं प्रापयिष्यतः। वाल्मी० ५। ४०। १६।']

२—☞जाम्बवन्तजीके वचन जो उन्होंने हनुमान्‌जीसे कहे थे वे हनुमानजीको अत्यन्त भाये थे, यथा—'जामवंत के बचन सुहाए। सुनि हनुमन्त हृदय अति भाए। ५। १।'; इसीसे हनुमान्‌जीने उन्हींके वचन श्रीजानकीजीसे कहे।—

जाम्बवन्तके वचन		हनुमान्‌जीके वचन
कपि सेन संग	१	कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा
सँहारि निसिचर	२	निसिचर मारि
राम सीतहि आनिहैं	३	तोहि लै जैहहिं
त्रैलोकपावन सुजस	४	तिहुँ पुर
सुरमुनि नारदादि बखानिहैं	५	नारदादि जसु गैहहिं

नोट—१ (क) प्रथम निशाचरका मारना कहकर तब ले जाना कहा। क्योंकि अवतारका मुख्य प्रयोजन निशिचरवध है। 'तोहि लै जैहहिं' अर्थात् अवश्य ले जायँगे, पर मुख्य कार्य करके। (ख)—यहाँ 'गैहहिं' का अन्वय 'तिहुँपुर' के साथ है। अर्थात् अभीतक तो केवल अनुभवसिद्ध नारदादि ही उसको गाते थे, किन्तु अब तीनों लोकोंके लोग गावेंगे। 'आदिसे याज्ञवल्क्य एवं और भी त्रिकालदर्शी महात्माओंको सूचित कर दिया; यथा—'यह सब जागबलिक कहि राखा'। नारद गानविद्यामें अग्रगण्य हैं। उनके द्वारा यश सबको सुलभ हो जायगा। अतः उनको प्रथम कहा। (मा. त. सु.)।

२—'हैं सुत कपि सब तुम्हहिं समाना।' इति। यहाँ 'सुत' संबोधन अत्यन्त स्नेह सूचक

१ तुम्हहिं—का., ना. प्र., गी. प्र.। तुम्हहि—भा. दा.। तोहि—रा. गु. द्वि.। २ भट अति—रा. प्र.।
* 'निसिचर मारि....।' १०३४वाँ भेद है। 'तिहुँ पुर.....' ११७८वाँ भेद है। अर्धाली ६ से ९ तक पायकुलक है। (ब्र. चं.)।

वात्सल्य भावमें है। उनको तरस आता है कि यह और इनके साथ सब इतने छोटे हैं, ये सब तो निशाचरोंके एक बारके आहार हो जायँगे। वात्सल्यवश वे नहीं चाहतीं कि ये मारे जायँ।

३—'जातुधान अति भट बलवाना।' इति। 'जातुधान' शब्दसे स्वाभाविक जातीय उत्कटता और 'भट' से समरके योग्य उत्कटता जनाई। यथा—'एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय। १। १८०।' और 'अति बलवाना' से मायिक बलमें निपुणता जनाई; यथा—'कामरूप जानहिं सब माया।'—(मा० त० सु०)।

टिप्पणी—३ 'जातुधान अति भट' इति। श्रीरामजी वानरों सहित आयँगे और राक्षसोंको मारकर ले जायँगे, इस विषयमें श्रीसीताजीको संदेह नहीं है। इसीसे इसके विषयमें वे संदेह नहीं करतीं। वानर सब बहुत छोटे डील-डौलके हैं, ऐसा अनुमान करके उनको वानरोंके विषयमें संदेह है। इसीसे इसकी शंका की। संदेह यह है कि वानर भालु तो निशाचरोंके आहार हैं, इनमें राक्षसोंसे युद्ध करनेकी योग्यता नहीं है, तब सब बेचारी वानरी सेना व्यर्थ क्यों मारी जाय? उनको लानेकी आवश्यकता क्या? श्रीरामजी तो अजेय हैं, वे समस्त राक्षसोंके लिये अकेले ही बहुत हैं, यथा—'जीति को सकै अजय रघुराई।'; सेना मारी जायगी तो श्रीरामजीको अपयश होगा।

४ 'मोरे हृदय परम संदेहा' इति। भाव कि तुम्हारा 'लघु' शरीर देखकर युद्धकी योग्यतामें 'संदेह' है। और, राक्षस 'अति भट बलवान' हैं। कहाँ 'परम लघु' और कहाँ 'अति भट·····'? अतः 'परम संदेह' है।

५ 'सुनि कपि प्रगट कीन्ह निज देहा।' इति।—देह प्रगट करनेका भाव कि हनुमान्‌जीने विचार किया कि मैं मुखाग्र (जबानी, वचनमात्रसे) कितना ही कहूँगा कि मेरा बहुत बड़ा रूप है, मैं बड़ा बलवान हूँ, तो कोरी बातसे इनको विश्वास न होगा। अतएव अपना रूप दिखाया, यथा—'सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आप।' 'निज देह' का भाव कि यह उनका सहज रूप है जिसमें वे सदैव रहा करते हैं और अन्य छोटे-बड़े रूप तो कार्यानुसार समय-समयपर इच्छानुसार धारण किया करते थे, पर वे असली रूप नहीं हैं।

नोट—४ वाल्मीकीयमें श्रीहनुमान्‌जीने श्रीसीताजीसे कहा है कि आप मेरी पीठपर सवार हो लें, मैं अभी आपको श्रीरघुनाथजीके पास पहुँचाता हूँ। उस समय उन्होंने ऐसा ही संदेह प्रकट किया है। यथा—'तदेव खलु ते मन्ये कपित्वं हरियूथप ॥ ५। ३७। ३१ ॥ कथं चाल्पशरीरस्त्वं मामितो नेतुमिच्छसि।····॥ ३२ ॥' अर्थात् तुम्हारे इन वचनोंसे तो तुम्हारा वानरपना प्रकट होता है। भला इतने छोटे शरीरसे तुम मुझे कैसे वहाँ पहुँचा सकते हो? तब हनुमान्‌जीने बहुत आगा-पीछा सोचकर शत्रुनाशकारी अपना रूप वैदेहीको दिखलाया।

कनक-भूधराकार सरीरा। समर भयंकर अति बल बीरा॥ ८॥
सीता मन भरोस तब भयऊ। पुनि लघु रूप पवनसुत लयऊ॥ ९॥

अर्थ—स्वर्ण-पर्वतके आकारका वह शरीर था, जो संग्राममें (शत्रुको सहज ही) अत्यन्त भय उत्पन्न करनेवाला, अत्यन्त बली और वीर था (एवं जो अत्यन्त बलवान् वीरोंको भी रणमें भय उत्पन्न करनेवाला था)। ८। (इसे देखकर) तब श्रीसीताजीके मनमें भरोसा आया। हनुमान्‌जीने पुनः लघु रूप कर लिया। ९।

टिप्पणी—१ (क) श्रीसीताजीने कहा था कि 'हैं सुत कपि सब तुम्हहिं समाना', इसके उत्तरमें यह रूप दिखाया। और, जो कहा था कि 'जातुधान अति भट बलवाना' उसके संबन्धसे 'समर भयंकर अति बल बीरा' विशेषण दिया गया। अर्थात् अति भटके लिए अति वीर हैं और बलवान्‌के लिये अति बली हैं। 'समर भयंकर' यह उनसे अधिक गुण है, यथा—'हनूमान अंगद रन गाजे। हाँक सुनत रजनीचर भाजे॥' (६।४६)।

नोट—१ श्रीजानकीजीने राक्षसोंमें तीन गुण और इनके द्वारा तीन प्रकारके भय सुनाये थे—जातुधान, अति भट, अति बलवान। इन तीनोंका प्रतिकार हनुमान्‌जीके 'कनकभूधराकार सरीरा। समर भयंकर अति बल बीरा।' इस रूप और इस अर्धालीमें कथित गुणोंसे हो गया। उनको कुछ कहना न पड़ा। वहाँ 'जातुधान' (पर्वताकार विशाल देहवाले, यथा—'कहुँ माल देह बिसाल सैल समान···') और यहाँ 'कनकभूधरा-

कार' (अर्थात् सुमेरु पर्वतके समान। सुमेरु पर्वतके समान कहकर राक्षसोंसे बहुत बड़ा और साथ ही परम सुन्दर तेजोमय जनाया)। सुमेरु सब पर्वतोंसे बड़ा है। 'अति बल बीरा' से यह भी जनाया कि राक्षस मायावी होते हैं तो हनुमान्‌जी उनकी मायाके नाश करनेमें भी समर्थ हैं। वाल्मीकीयके 'मेरुमन्दरसङ्काशो बभौ दीप्तानलप्रभः। ५। ३७। ३७।' के भाव 'कनकभूधराकार' में हैं। अर्थात् सुमेरुकी तरह लंबे, चौड़े, ऊँचे और दहकती हुई अग्निकी कान्तिके समान दीप्तिमान। '....ताम्रवक्त्रो महाबलः। वज्रदंष्ट्रनखो भीमो०। श्लो० ३८।' 'सपर्वतवनोद्देशां साट्टप्राकार तोरणाम्। लंकामिमां सनाथां वा नयितुं शक्तिरस्ति मे॥ ३९॥' के भाव 'समर भयंकर अति बल बीरा' में हैं अर्थात् लालमुख, महाबलवान्, वज्रसमान दाँतों और नखोंवाले भयंकर रूपधारी, लंकापुरीको त्रिकूटाचल तथा वन, महल इत्यादि सहित रावणको भी उठा ले जानेको समर्थ—ऐसा उनका रूप था।

टिप्पणी—२ 'समर भयंकर' इति। इस विशेषणसे जनाया कि हनुमान्‌जीका दर्शन भयंकर नहीं है, वे केवल समरमें भयंकर हैं, शत्रु इन्हें देखते ही भयके मारे भाग जाते हैं। यही रूप देखकर भीमसेन भी डर गये थे, यथा—'कौन के तेज बलसीम-भट भीमसे भीमता निरखि कर नयन ढाँके। क० लं० ४५।', 'जयति भीमार्जुन ब्यालसूदन गर्वहर....'। विनय २८।'

नोट—२ 'सीता मन भरोस तब भयऊ' इति। (क) श्रीहनुमान्‌जीका यह रूप देखकर वे शीतलता (शान्ति) को प्राप्त हुईं, अतः 'सीता' शब्द दिया। (ख)—पूर्व कहा था कि 'मोरे हृदय परम संदेहा' और यहाँ कहा कि 'सीता मन....'। इस तरह हृदय और मनको पर्यायी जनाया। यथा—'स्वान्तं हृन्मानसंमनः।' (ग)—भरोसा यह हुआ कि ये अकेले ही निस्सन्देह राक्षसोंको मार डाल सकते हैं; यथा—'कामं त्वमसि पर्याप्तो निहंतुं सर्वराक्षसान्। वाल्मी० ५। ३७। ५७।', और अन्य समस्त वानर भी अवश्य ऐसे ही समर्थ हैं। जब वे सबके सब साथ होंगे तब कहना ही क्या? अतः सन्देह दूर हो गया। (घ)—'तब' अर्थात् जब यह रूप देख लिया तब। ☞यह रूप श्रीसीताजीने ही देखा और किसीने नहीं।

३—'पुनि लघु रूप पवनसुत लयऊ' इति। (क) 'पुनि' अर्थात् जिस कामके लिये बड़ा रूप धारण किया था जब वह कार्य हो गया तब 'पुनः' छोटे हो गये। दूसरे अभी इस विशाल शरीरकी अधिक आवश्यकता भी नहीं है और औरोंसे यह रूप छिपाना है। (ख)—छोटा रूप धारण करनेमें 'पवनसुत' नाम दिया। पवन अत्यन्त सूक्ष्म है, वैसे ही इन्होंने सूक्ष्मरूप कर लिया। (पं०रा०कु०)। अथवा, अत्यन्त शीघ्रता से लघु हो जानेसे पवनसुत-पद दिया। (प्र० स्वामीका मत है कि हनुमान्‌जी रामदूत हैं, रामकृपांकित हैं, समुद्र लाँघकर आये हैं, इतनेपर भी उनके पराक्रममें संदेह हुआ। भक्तानामग्रगण्यके विषयमें होनेसे यह संदेह पापरूप है। इस संदेहरूपी पापका निरास करनेसे 'पवन सुत' नाम दिया)। (ग)—बृहत् रूपसे एकदम लघुरूप होकर यह भी जनाया कि मायाको जीतनेमें भी समर्थ हैं। बड़ेसे छोटा और छोटेसे बड़ा हो जाना भी तो माया ही है।

दोहा—सुनु माता साखामृग† नहिं बल बुद्धि बिसाल।
प्रभु-प्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल*॥ १६॥

अर्थ—(हनुमान्‌जीने कहा—) हे माता! सुनो। वानरोंमें बल और बुद्धि बहुत नहीं होती; (पर) प्रभुके प्रतापसे परम लघु सर्प गरुड़को खा सकता है। १६।

टिप्पणी—१ (क) भाव यह कि जो मैंने अपना विशाल और अत्यन्त बलवीर रूप दिखाया और बुद्धिसे आपको समझाया-बुझाया यह बलबुद्धि वानरोंमें नहीं होती। यह प्रभुका प्रताप है। इसमें देहके बड़े-

† साखामृग—१७०४, १७२१, छ०, भा० दा०। साखामृगन—१७६२। साखामृगहि—कोदवराम।
* दोहा दोहरा मिश्रित है—(प्र० चं०)।

छोटे होनेसे कुछ प्रयोजन नहीं, बल और बुद्धि का भी प्रयोजन नहीं। राम-प्रताप विशाल है, उसीसे सब काम होता है। प्रभु प्रतापसे गरुड़ लघु व्यालके समान हो जाता है और परम लघु व्याल गरुड़के समान हो जाता है, यथा—'देखि प्रताप न कपि मन संका। जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका।५।२०।' जैसे गरुड़का आहार गरुड़ को खा ले; वैसे ही हम सब राक्षसोंके आहार हैं, यथा—'नर कपि भालु अहार हमारा'; पर हम राक्षसोंको भी खा जायँगे। श्रीजानकीजीको सन्देह हुआ था कि वानर राक्षसोंसे लड़ भी सकेंगे? इसीसे गरुड़ और व्यालका दृष्टान्त दिया। अर्थात् युद्धकी क्या कही, वानर तो राक्षसोंको खा जायँगे।—[यहाँ 'गरुड़' से रावणादि निशाचर और 'परम लघु व्याल' से अपने तथा समस्त वानर भालु आदिको जनाया। यहाँ वानरोंमें बल और बुद्धिका निषेध इसलिए किया कि इन धर्मोंको 'प्रभु प्रताप' में स्थापन करना अभीष्ट है।—यह 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार' है।]

शा० सुं० दा०—पुराणोंमें कथा है—एक बार गरुड़जी कैलाशसे निकलकर कहीं जाने लगे कि शिवजीके लँगोटेमें बैठे हुए और इधर-उधर लिपटे हुए साँपोंने बड़े जोर-जोरसे फुफकारना आरम्भ किया; गरुड़ने कहा—जो शंकरका आश्रय छोड़कर मैदानमें आकर फुफकारो तो समझूँ। अथवा, एक बेर भगवान्‌की शरण गए हुए सर्पको गरुड़ने खानेकी इच्छा की, तब विष्णुने सर्पको समर्थ बना दिया जिससे वह गरुड़जीको ही खाने दौड़ा, फिर प्रार्थना करने पर भगवान्‌ने उनको छुड़ाया।

टिप्पणी—२ इसी तरह जब श्रीरामचन्द्रजीने हनुमान्‌जीसे पूछा—'कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका।५।३३।।',तब उन्होंने उसका उत्तर भी इसी प्रकार प्रभुप्रतापका द्योतक दिया है, यथा—'ता कहुँ प्रभु कछु अगम नहिं जापर तुम्ह अनुकूल। तव प्रभाव बड़वानलहिं जारि सकहि खलु तूल।५।३३।' जहाँ जैसा प्रयोजन पड़ा तहाँ तैसा उत्तर दिया; दोनों जगह प्रतापको मुख्य रक्खा। वहाँ लंका जलानेमें सन्देह किया गया इसीसे वहाँ 'तूल' (रुई) से बड़वानलका जलना कहा और यहाँ सन्देह हुआ कि वानरोंको राक्षस भक्षण न कर डालें, इससे यहाँ कहा कि लघु सर्प गरुड़को खा सकता है। जलानेके प्रसंगमें जलाने का दृष्टान्त दिया और खानेमें खानेका।

नोट—१ (क) 'साखामृग०' इति। बल बुद्धिकी हीनता दरसानेमें नरयुक्त वानर शब्दका प्रयोग न करके पशुत्व और चंचलता आदि सूचक शब्द शाखामृग दिया, यथा—'कहँ हम पसु साखामृग चंचल बात कहौं मैं बिद्यमान की। गी० ५।११।'; भाव यह कि एक डालीसे दूसरीपर कूदकर जाना बस इतना ही मात्र तो उसका पुरुषार्थ है; यथा—'साखामृग कै बड़ि मनुसाई। साखा ते साखापर जाई।।' (ख)—नहिं बल बुद्धि' इति। शत्रुको जीतनेके लिए बल और बुद्धि दोनोंकी आवश्यकता है; यथा—'देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकी जाहु।५।१७।','बुधिबल निसिचर परइ न पार्‌यो। तब मारुतसुत प्रभु संभार्‌यो।।६।६४।' अतएव इन दोनोंकी कमी बताई। (ग) 'बिसाल' नहीं हैं अर्थात् थोड़ी-सी कूदने-फाँदने इत्यादि वाली बुद्धि और बल है। (घ) 'नहिं बल बुद्धि बिसाल' ऐसा कथन कार्पण्य शरणागतिका लक्षण है। ☞श्रीरामभक्त स्वयं समर्थ होते हुए हुये भी जो कुछ कार्य करते हैं उसमें श्रीरामप्रताप, श्रीरामकृपा, ही को मुख्य मानते-जानते हैं। कभी उसमें अपने पुरुषार्थ का अभिमान मनमें नहीं आने देते। इन शब्दोंसे अभिमानरहितत्व दिखाया। यथा—'बोला बचन बिगत अभिमाना।…सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई।।५।५३।', 'तोरौं छत्रकदंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।१।२५३।' शंकरजीका भी यही सिद्धान्त है, यथा—'बाँधा सेतु नील नल नागर।…बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई। भए उपल बोहित सम तेई।। महिमा यह न जलधि कै बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कै करनी।। श्रीरघुबीरप्रताप ते सिंधु तरे पाषान।६।३।' और श्रीहनुमान्‌जी रुद्रावतार हैं ही। अतः दोनोंके सिद्धान्त एक ही हैं। पुनः अंगद-पदारोपणप्रसंगमें भी इसी सिद्धान्तको उन्होंने पुष्ट किया है; यथा—'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूत पन कहु किमि टरई।।६।३४।' श्रीभुशुण्डीजीका भी यही सिद्धान्त है, यथा—'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।।७।१२२।' (ङ)—'नहि बल बुद्धि' से सर्वथा अपनी असमर्थता जनाकर 'प्रभुप्रताप ते…' इस

उक्तिसे परम दुष्कर कार्यका भी श्रीरामसेवकों द्वारा सौकर्य जनाया। (मा० त० सु०)।

(च) बाबा हरिदासजी कहते हैं—बड़े बरगदके वृक्षमें बंदरोंको भागनेका अवकाश कम होता है इसीसे शिकारी लोग वटपर भगाकर घेरकर पकड़ लेते हैं; बुद्धि होती तो उसपर क्यों जाते। (एक मुट्ठी चना के लिये घटमें हाथ डालकर पकड़ जाते हैं; समझते हैं कि घटने हमारे हाथको पकड़ लिया। इतनी भी बुद्धि नहीं कि मुट्ठी खोलकर हाथ निकाल लें)।

मन संतोष सुनत कपि बानी। भगति प्रताप तेज बल सानी॥ १॥

अर्थ—भक्ति, प्रताप, तेज और बल से सानी हुई (संयुक्त, मिश्रित) कपिकी वाणी सुनते ही (श्री सीताजीके) मनको संतोष (आनंद) हुआ॥ १॥

टिप्पणी—१ 'मन संतोष सुनत कपि बानी' इति। श्रीहनुमान्‌जीकी वाणी ऐसी श्रेष्ठ है कि श्रोता प्रसन्न हो जाता है—यह इस प्रसंगके चारों बारके उनके भाषणोंसे स्पष्ट है। उन्होंने (१) श्रीसीताजीको ऐसी कथा सुनाई कि 'लागी सुनै स्रवन मन लाई' और वक्ताको उन्होंने प्रकट होनेकी आज्ञा दी।—'स्रवनामृत जेहि कथा सुहाई। कही सो प्रगट होत किन भाई।१३।७।' (२) ऐसी बात की कि विश्वास हो गया, यथा—'कपिके बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।' (३) ऐसा सन्देश सुनाया कि प्रेममें मग्न हो गईं, यथा—'प्रभु संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही'। और, (४) ऐसा धीरज देकर समुझाया कि संतोष हो गया, यथा—'मन संतोष सुनत कपि बानी।'

मा. त. सु.—'मन संतोष'। पहले केवल बाह्य प्रीति बढ़ी थी, अब भक्ति-प्रतापादि संयुक्त वाणी सुनकर आभ्यन्तरिक प्रसन्नता हुई।

टिप्पणी—२ 'भक्ति प्रताप तेज बल सानी' के उदाहरण क्रमसे सुनिए।—(क) भक्ति, यथा—'कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवक सुखदाता॥ उर आनहु रघुपति प्रभुताई।' (ख) 'प्रताप, यथा 'राम बान रबि उएँ जानकी। तम बरूथ कहँ जातु धानकी॥' 'प्रभु प्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल'। (ग) तेज, यथा—'निसिचर निकर पतंग सम रघुपति बान कृसानु। जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु'। कृशानुसे तेज सूचित किया, यथा—'तेज कृसानु रोष महिषेसा'। (घ) बल, यथा—'अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई' से 'निसिचर मारि तोहि लै जैहहिं' तक।

शिला—दोहा १७ में हनुमान्‌जीने चार बातें कहीं।—जातिकी हीनता; यह दीनता भक्ति है। 'नहिं बल' यह निर्बलताकथन प्रताप है। 'नहिं बुद्धि' यह तेज है और 'रामप्रताप तें....' यह बल है। श्रीजानकीजीने उनको यह सब देकर परिपूर्ण कर दिया।

टिप्पणी—३ अब इस प्रसंगमें जो प्रश्नोत्तर हुए उन्हें दिखाते हैं—

श्री सीताजीके प्रश्न	श्रीहनुमान्‌जीके उत्तर
१ अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी। अनुज सहित सुखभवन खरारी।	मातु कुसल प्रभु अनुज समेता। तव दुख दुखी सुकृपानिकेता॥
२ कोसल चित कृपालु रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई।	जनि जननी मानहु जिय ऊना। तुम्ह तें प्रेम राम के दूना॥
३ सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक॥	सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं॥
४ कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदुगाता॥	कछुक दिवस जननी धरु धीरा। कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा॥
५ बचन न आव नयन भरि बारी। अहह नाथ हौं निपट बिसारी॥	जौं रघुबीर होति सुधि पाई। करते नहिं बिलंब रघुराई॥

६—'सुनि मम बचन तजहु कदराई' से 'मन संतोष सुनत कपि बानी' तक हनुमान्जीके वचनोंकी सीमा है। यही 'बहु प्रकार' समझाना है।

नोट—१ श्रीरामजीकी आज्ञा थी कि 'बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु। कहि बल बिरह००'। समझाना सब है। बल ऊपर बताया गया। विरह 'कहेउ राम बियोग तव सीता' से 'जानु प्रीतिरस एतनेहि माहीं।' तक हुआ।

नोट—२ श्रीलमगोड़ाजी कहते हैं कि "इसीसे तो मेरी धारणा है कि तुलसीदासजी अपने ही बड़े सुन्दर आलोचक भी हैं। ऐसे कवि संसारमें विरले ही होते हैं। प्रत्येक प्रसंग वा वक्तव्य पर पहले या पीछे ऐसी आलोचना होती है जिससे सब रहस्य खुल जाता है। यही कारण है कि जहाँ ब्रैड्ले महोदयको कहना पड़ता है कि शैक्सपियर हमें भूलभुलैयोंमें सा डाल देता है, वहाँ तुलसीदासजी हमारे पथप्रदर्शक हैं। चरित्रोंपर उनके नोट (रामायणके प्रारंभमें) अपना जवाब नहीं रखते। सारे आध्यात्मिक रहस्य श्रीरामनामवन्दना-प्रकरणमें खोल दिये हैं और मानस-सरयूवाला रूपक तो मानों सारे ग्रंथकी धारावाहिक आलोचना ही है। आधिदैविक और दार्शनिक रहस्य 'वालको बाल' (आदि?) और 'उत्तरको अन्त' में समझाये गये हैं। तुलसीदासका रहस्यवाद—('राम रहस्य मनोहर गाऊँ।') रहस्यको सुबोध बनाता है; यह नहीं कि श्री जी. पी. श्रीवास्तव्यजीके व्यंग शब्दोंमें यह कहना पड़े कि यदि समझमें आ जाय तो रहस्य-वाद ही क्या? बरनार्ड शा (Bernard Shaw) महोदयने अभी हालमें (सन् १९४७ ई० में) लिखा है कि उनके प्रस्तावना और उपसंहार तथा बीचकी आलोचनायें एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही होते हैं, कारण कि जनता Pamphlet (आलोचनात्मक उपदेशपूर्ण पुस्तक) भी नाटकके साथ पढ़ना चाहती है। सोचिये तो शा महोदय-के वे अंश कितने रूखे-सूखे हैं और तुलसीदासजीके कितने काव्यकला और भावपूर्ण। जनताकी रुचि तो सभ्य देशमें वैसी होना स्वाभाविक ही है।"

३—'मन संतोष सुनत कपि बानी' पायकुलक है। 'भगति०' नयमालिनी है। (म्र. चं.)।

आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना। होहु तात बल सील‡ निधाना॥ २॥
अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ† बहुत रघुनायक छोहू*॥ ३॥

अर्थ—श्रीरामजीका प्रिय जानकर उन्होंने आशीर्वाद दिया—हे तात! तुम बल और शीलके निधान (खानि, खज़ाना) हो। २। हे पुत्र! अजर (बुढ़ापारहित, सदा एकरस युवावस्थावाले), अमर (जिसकी मृत्यु न हो) और गुणोंके समुद्र वा खज़ाना हो, श्रीरघुनाथजी तुमपर बहुत कृपा करें। ३।

टिप्पणी—१ (क) 'रामप्रिय जाना'। जो श्रीरामजीका परम प्रियपात्र होता है उसीमें ये गुण होते हैं, दूसरेमें नहीं। इन गुणोंसे रामप्रिय जाना। रामप्रियपर सभी प्रसन्न होते हैं, यथा—'राम सुहाते तोहि जो तू सबहि सुहातो'—(विनय)। अतएव प्रसन्न हुईं, आशीर्वाद दिया। [पूर्व हनुमान्जीको हरिजन जाना था, यथा—'हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी।' और अब रामप्रिय जाना। अर्थात् केवल हरिजन नहीं किन्तु श्रीराम-जीका 'निज दास' जाना। निज दास रामजीको प्रिय है; यथा—'तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा। ७। ८६।' इसीसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ आशीर्वादपर आशीर्वाद देती चली गईं।]

नोट—१ 'होहु तात बलसील निधाना' इति। (क) महाभारतमें कहा है कि—'मन-कर्म-वचनसे किसीसे भी द्रोह न करे। सब पर दया करे। शक्तिके अनुसार दान दे। जिस तरह जिस कार्यके करनेसे

‡ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंमें 'सील' है। 'बुद्धि' आधुनिक।

† करहुँ—भा. दा., रा. गु. द्वि., गी. प्र.। करहु—का.।

* 'आसिष....।' पायकुलक; 'होहु....।' स्वागता; 'अजर....' पायकुलक और 'करहु बहुत....' चरणडी है। (म्र. चं.)।

मानवसमाजमें प्रशंसा हो वह कार्य उसी तरह करे।'—यही शीलका स्वरूप है। साधारण अर्थ 'सौम्य' वा 'सज्जनताका स्वभाव' है। धर्म, सत्य, सदाचार, वल और लक्ष्मी ये सव शीलके ही आधारपर रहते हैं। यदि शील नहीं है तो बल आदि व्यर्थ हो जाते हैं। इसीसे वलके साथ शील भी दिया। इसीसे 'धर्मरथ' प्रसङ्गमें शीलको दृढ़ पताका कहा है। पताका गिरनेपर हार होती है। पताका ही विजयका चिह्न है। (ख) विना शीलके वलकी शोभा नहीं होती, यथा—'रिपुसूदन पदकमल नमामी। सूर सुसील भरत अनुगामी।'; अतएव वल और शील दोनोंका आशीर्वाद दिया।

टिप्पणी—२ (क) हनुमान्‌जीको प्रसन्न करनेके लिए इतने आशीर्वाद दिये। जवतक वे प्रसन्न न हुए तवतक आशीर्वाद देती ही गईं। 'वलसीलनिधान हो', इसपर न वोले। 'अजर हो, अमर हो, गुणनिधान हो' इसपर भी उनकी प्रसन्नता न देख पड़ी। तव कहा कि 'करहुँ वहुत रघुनायक छोहू' यह सुन वे प्रसन्न हो गये। श्रीरघुनाथजीकी कृपाका आशीर्वाद सवसे पीछे दिया, क्योंकि जवतक कुछ भी वासना हृदयमें वाक़ी रहती है तवतक रघुनाथजीकी भक्ति नहीं मिलती, यथा—'वहुत कीन्ह प्रभु लषन सिय नहिं कछु केवट लेई। विदा कीन्ह करुनायतन भगति विमल वर देइ। २। १०२।' (ख) 'वहुत छोह' का भाव कि कृपा तो तुमपर है ही, यथा—'आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना'। अव हमारे आशीर्वादसे वहुत कृपा करें। पुनः ☞ यहाँ छः आशीर्वाद दिए हैं, क्योंकि हनुमान्‌जीने छः काम किए। एक-एक कार्यके वदले एक-एक आशीर्वाद दिया। छः काम ये हैं—(१) मुद्रिका दी, (२) श्रीरामचन्द्रजीके गुण वर्णन किये, (३) कथा कही, (४) विश्वास उत्पन्न किया, (५) संदेश कहा, और (६) धीरज दिया। आशीर्वाद भी छ हैं—वल, शील, अजर, अमर, गुणनिधि और रघुनायक वहुत छोह करें।

गौड़जी—हनुमान्‌जीके बुद्धि, वल, विनय, शील और सेवापर माताका हृदय रीझ गया, आशीर्वाद पर आशीर्वाद निकलने लगे, गिनतीकी कोई वात नहीं। पुत्रको माता जव अजर अमर वल शील गुणनिधान कर चुकी तव सिवाय इसके कोई और वात वाक़ी न रही कि उसपर 'सियाराम' का वहुत छोह हो। इसलिए हनुमान्‌जी कृतकृत्य हो गए। और लघु वालककी तरह माताके सामने भूखकी शिकायत करने लगे।

नोट—२ 'सुत होहू। करहुँ वहुत रघुनायक छोहू'। एवं 'करहुँ कृपा प्रभु' इति। (क) गौड़जी—रामचरितमानसमें जिस भाषाका प्रयोग हुआ है उसके व्याकरणके अनुसार 'करहु' और 'करहुँ' दोनों रूप होते हैं; परन्तु 'करहुँ' स्वभाववाचक उत्तम पुरुष एकवचन वर्तमानकालके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है—'मैं या हौं करहुँ' का अर्थ है 'मैं करता हूँ' या 'मैं करती हूँ' यहाँ 'करहुँ'से दोनों प्रयोजन सधते हैं और अन्वय यों भी हो सकता है जिसमें दीप देहरी अलंकारसे 'करहुँ'का विवक्षित 'हौं' के साथ भी सम्वन्ध है। 'हौं करहुँ वहुत छोहू' 'करहुँ रघुनायक वहुत छोहू' (मैं स्वयं वहुत छोह करती हूँ, रघुनायक वहुत छोह करें)। इसी तरह 'हौं करहुँ कृपा, 'करहुँ कृपा प्रभु' (मैं कृपा करती हूँ और प्रभु कृपा करें)। ('सीताराम' दोनोंकी कृपा कानोंसे सुनकर हनुमान्‌जी प्रेममें मग्न हो जाते हैं)।

महारानीने यहाँ 'गुननिधि सुत होहू' कहकर हनुमान्‌जीके पुत्रत्वको स्वीकार कर लिया और अपनी कृपाके साथ-साथ रघुनायककी कृपाका भी आशीर्वाद दिया। माताके इस स्वीकार कर लेनेपर और अमोघ आशीर्वाद पा लेनेपर हनुमान्‌जी निर्भर प्रेममें मग्न हो गए। श्रीरामकी कृपा तो निश्चित थी ही उसीसे तो मातातक पहुँचनेका श्रेय मिला था। यहाँ माताकी भी कृपा हो गई और रघुनायकका वहुत छोह करना हर तरह सुनिश्चित हो गया।

(ख) 'करहुँ'=करें।—इस प्रकारका प्रयोग मानस द्वितीय सोपानमें वहुत आया है और विनय आदिमें भी। यथा—'प्रान जाहुँ वरु बचन न जाहीं।२।२८।','जानहुँ राम कुटिल करि मोहीं। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही।। जलद जनम भरि सुरति विसारउ। ···।।२।२८।', 'सोवहुँ समर सेज दोउ भाई।२।२३०।', 'लोग दुखित दिन दुइ दरस देखि लहहुँ बिश्राम।।२।२४८।', 'लखनु राम सिय जाहुँ बन भल परिनाम न पोचु।२।२८२।';

'बसहुँ राम सिय मानस मोरें ।' (बिनय १),'सुनि खल छलबल कोटि किये बस होहुँ न भगत उदार ।' (बिनय १८८), 'सुबस बसउ फिरि सहित समाजा । भरतहिं रामु करहुँ जुवराजा ।२।२७३।'

नोट— ३ पं० रामकुमारजीके खर्रेसे ऐसा जान पड़ता है कि उन्हें 'बलबुद्धिनिधान' पाठ अधिक अच्छा लगता था । क्योंकि उन्होंने उस पाठके भी भाव दिए हैं, जो ये हैं—'बलबुद्धि निधान' पाठ हो तो बलबुद्धि-निधान होनेका आशीर्वाद इसलिये दिया कि हनुमान्जीने कहा था कि—'सुनु माता साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल', अतएव बल बुद्धिका आशीर्वाद दिया । शत्रु बल और बुद्धिसे ही जीते जाते हैं । पुनः बल, बुद्धि आदिके क्रमका भाव—सीताजी शक्ति हैं, यथा—'परम सक्ति समेत अवतरिहौं' । इसीसे बल (शक्ति) दिया । बलकी शोभा बुद्धि है, वह भी शक्तिके देनेसे प्राप्त होती है, यथा—'जनकसुता जगजननि जानकी ।''''जासु कृपा निर्मल मति पावउँ ।' बुद्धिकी शोभा अजर होनेमें है, बुढ़ापेमें बुद्धि नष्ट हो जाती है, यथा—'लिखा बिरंचि जरठ मति भोरे' । अजरकी शोभा अमरसे है । अजर-अमर होकर बैल सरीखा बना रहे, गुण कुछ न हों तो शोभा नहीं; अतः 'गुण निधि हो' यह कहा । सर्वगुणसम्पन्न हो और प्रभुकी कृपा न हो तो सब गुण व्यर्थ हैं गुणोंकी शोभा रघुनायक-छोह है, यथा—'सूर सुजान सपूत सुलच्छन गनियत गुनगरुआई । बिनु हरिभजन इँदारुन के फल तजत नहीं करुआई ।। कीरति कुल करतूति भूति भलि सील सरूप सलोने । तुलसी प्रभु अनुराग रहित जस सालन साग अलोने ।।'—(बिनय ७५); 'भगतिहीन गुन सब सुख ऐसे । लवन बिना बहु बिंजन जैसे ।। ७।८४ ।।' प्रभुकी कृपासे भक्ति मिलती है, अन्यथा नहीं, यथा—'अबिरल भगति बिसुद्ध तव स्रुति पुरान जो गाव । जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव ।।''''देहु दया करि राम ।। ७।८४ ।।' अतएव 'रघुनायक छोह' का वर-दान पानेपर प्रसन्न हुए ।

नोट—४ इस प्रसंगमें हमें उपदेश मिलता है कि श्रीरघुपतिकृपा प्राप्तिके बिना अपनेको कभी कृतार्थ न समझें ।

करहुँ† कृपा प्रभु अस सुनि काना । निर्भर प्रेम मगन* हनुमाना ।। ४ ।।
बार बार नाएसि पद सीसा । बोला बचन जोरि कर कीसा‡ ।। ५ ।।

अर्थ—'प्रभु कृपा करें' ऐसा कानोंसे सुनकर श्रीहनुमान्जी पूर्ण प्रेममें डूब गए । † । ४ । कपि (हनुमान्जी) ने वारंबार चरणोंमें सिर नवाया और हाथ जोड़कर वचन बोले । ५ ।

टिप्पणी—१ (क) 'अस सुनि' अर्थात् लौकिक आशीर्वाद सुनकर प्रेम न हुआ, अलौकिक आशीर्वाद सुनकर प्रेममें मग्न हुए । (ख) श्रीहनुमान्जीने संदेश सुनाकर श्रीसीताजीको प्रेममें डुबा दिया था; यथा—'प्रभु संदेस सुनत बैदेही । मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही' । इसके बदलेमें श्रीजानकीजीने आशीर्वाद देकर श्रीहनुमान्जीको प्रेममें डुबा दिया । (ग) 'करहुँ बहुत रघुनायक छोहू' ये श्रीसीताजीके वचन हैं; उसीको ग्रन्थकार यहाँ 'करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि' लिखकर छोहका अर्थ स्पष्ट करते हैं । अर्थात् छोह=कृपा । (घ) श्रीहनुमान्जी बल, शील आदि लौकिक आशीर्वादोंसे प्रसन्न न हुये; क्योंकि लौकिक वस्तुओंकी प्राप्तिसे जीव कृतार्थ नहीं होते; यथा—'जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई । धन बल परिजन गुन चतुराई ।। भगतिहीन नर सोहइ कैसा । बिनु जल बारिद देखिय जैसा ।।' (ङ)—'निर्भर प्रेम मगन०' इति । अर्थात् तन-मनकी सुध न रह गई; यथा—'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी । कहि न जाइ सो दसा भवानी ।। ३ । १० ।'—मं० श्लो० २ में 'निर्भर'के अर्थ देखिये ।—

नोट—१ पंजाबीजी लिखते हैं कि श्रीरामकृपाकी तो हृदयमें सदा ही इच्छा है पर उसकी पूर्ति करनेवाली सीताजी ही हैं, अतः उनके मुखसे उसका आशीर्वाद मिलनेसे प्रेममें मग्न हो गए । मा० त० सु० का मत

---

† करहु—का० । करहिं—आधुनिक । * हरख—कोदवराम । ‡ 'करहुँ कृपा''''' अर्धाली ४ से ७ तक पायकुलक है । (व्र० चं०) । † अर्थान्तर—"प्रेममें मग्न हो निर्भर हो गए अर्थात् अपने देहकी सुध भूल गए । 'निर्गतः भरो देहस्वभावो यस्य असौ निर्भरः' ।"

है कि श्रीहनुमान्‌जीको संदेह था कि श्रीकिशोरीजी मुझे नहीं अपनायँगी और इसीसे मैं अभी अपनेको श्रीरघुनाथजीकी कृपाका पूर्णाधिकारी नहीं समझता था, पर अब 'करहुँ कृपा प्रभु' यह सुनकर वह संदेह दूर हुआ। क्योंकि जबतक श्रीजनकनंदिनीजी स्वीकार नहीं करतीं तबतक प्रभु दासको शरणमें नहीं रखते और न दास अपनेको उनकी कृपाका पूर्ण अधिकारी समझ सकता है।

टिप्पणी—२ 'बार-बार नाएसि पद सीसा' इति। चरणोंमें बार-बार मस्तक नवानेका कारण पूर्ण प्रेम (एवं कृतज्ञता) है; यथा—'मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा। ७। १२५।', 'देखि राम छबि अति अनुरागीं। प्रेम बिबस पुनि पुनि पग लागीं' (१। ३३६), 'प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिरु नावा। ३। ३४।' 'पद अंबुज गहि बारहिं बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा।'

३ यहाँ तन, मन, वचन तीनोंसे कृतार्थ होना दिखाया, यथा—'बार बार नाएसि पद सीसा' यह तन 'निर्भर प्रेम मगन....मुख बचन न आवा' यह मन और 'बोला बचन जोरि कर कीसा' यह वचन है।

अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता। आसिष तव अमोघ बिख्याता॥ ६॥

अर्थ—हे माता! अब मैं कृतार्थ हो गया। आपका आशीर्वाद अमोघ (निष्फल न होनेवाला) प्रसिद्ध है। (६)

टिप्पणी—१ (क) 'अब' अर्थात् 'बल, सील, अजर, अमर, गुननिधि' से मैं कृतकृत्य न हुआ, अब श्रीरामजीकी कृपाका अशीर्वाद पाकर कृतकृत्य हुआ।* (ख) 'विख्यात' का भाव कि आप आदिशक्ति हैं। आदिशक्तिका आशीर्वाद वेदोंमें विख्यात है। अमोघ है; अतएव अब अवश्य प्रभु मुझपर कृपा करेंगे। मैं किसी भी साधनसे इस कृपाको न प्राप्त कर सकता और न कृतार्थ होता पर आपकी कृपासे दोनों बातें होंगी, यथा—'यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई।

नोट—१ इसी प्रकार श्रीभरतजी कातर हो रहे थे कि प्रभु मेरा त्याग तो न कर देंगे, यथा—'करत कुतर्क कोटि मन माहीं। राम लषन सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ।.... २। २३३।' पर जब चित्रकूटमें पहुँचनेपर श्रीसीताजीको प्रणाम करनेपर उन्होंने 'सिर कर कमल परसि बैठाए। सीय असीस दीन्हि मन माहीं।....' तब 'सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता।२।२४२।' अर्थात् श्रीसीताजी की अनुकूलतासे उन्हें विश्वास हो गया कि श्रीरघुनाथजी अब अवश्य अपना लेंगे।—इससे श्रीसीताजीका पुरुषकारत्व सिद्ध है। वैष्णवाचार्योंका यही सिद्धान्त भी है।

२ 'अमोघ' शब्द पाँच बार आया है। उसमेंसे तीन बार इसी कांडमें। आदिमें श्रीरामबाणको अमोघ कहा, यथा—'जिमि अमोघ रघुपतिकर बाना', मध्यमें श्रीसीताजीके आशीर्वादको अमोघ कहा और अंतमें श्रीरघुनाथजीके दर्शनको अमोघ कहा। यथा—'मोर दरस अमोघ जगमाहीं। ४९। ६।' श्रीहनुमान्‌जीको श्रीरामजीका दर्शन किष्किंधामें हुआ, उसका फलस्वरूप श्रीसीताजीका अशीर्वाद मिला। इस आशीर्वादका फल आगे मिला है—'प्रभु कर पंकज कपिके सीसा।....कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा। ३३। २, ४।....नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी।....एवमस्तु तब कहेउ भवानी। ३४। १-२।'

'पुनि सीतहि धीरज जिमि दीन्हा'—प्रकरण समाप्त हुआ।

---

* यथा—'कामसे रूप, प्रताप दिनेससे, सोमसे सील, गनेससे माने। हरिचंद्रसे साँचे, बड़े बिधिसे, मघवासे महीप, विषय सुख साने॥ सुकसे मुनि, सारदसे वक्ता, चिरजीवन लोमस ते अधिकाने। ऐसे भये तो कहा तुलसी जो पै राजिवलोचन राम न जाने॥ क० उ० ४३।'

'बन उजारि रावनहि प्रबोधी'—प्रकरण

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा । लागि देखि सुंदर फल रूखा ॥ ७ ॥
सुनु सुत करहिं बिपिन रखवारी । परम सुभट रजनीचर भारी† ॥ ८ ॥

अर्थ—हे माता ! सुनिए। सुन्दर वृक्षोंमें सुंदर फल (लगे हुए) देखकर (वा, सुन्दर फलों और वृक्षोंको देखकर) मुझे अतिशय भूख लग आई है (अर्थात् भाँति भाँतिके मेवोंसे लदे हुए वृक्ष देखे, इससे भूख हो आई, न देखता तो भूखकी सुध भी न आती) ।७। (श्रीसीताजी बोलीं) हे पुत्र ! परम सुभट भारी-भारी निशिचर वनकी रखवाली कर रहे हैं । ८ ।

टिप्पणी—१ (क) 'भूख लागि' इति । स्वयंप्रभाके स्थानमें फल खाये थे । समुद्र तटपर पहुँचे तब अनशन किया । उस समयसे अबतक फल खानेको न मिले, अब देखा तो याद आ गई कि हमने उस दिनसे कुछ भी भोजन नहीं किया और भूख भी पीड़ित करने लगी, यथा—'चितइ मातु लागी अति भूखा ।' (ख)—फल तो सिन्धु तट पर भी देखे थे, यथा—'नाना तरु फल फूल सुहाये ।', पर वहाँ भूख न लगी, क्योंकि रामकाजमें मन लवलीन था, भूखकी सुधि भी न थी और बिना रामकार्य किये विश्राम भी नहीं चाहते थे, यथा—'रामकाज कीन्हें बिनु मोहिं कहाँ बिश्राम ।', जब रामकार्य बिना किये बैठनेका भी अवकाश नहीं था, तब फल खानेका अवकाश कैसे हो सकता ? वाल्मीकीयसे ज्ञात होता है कि श्रीहनुमान्‌जीने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक श्रीजानकीजीका दर्शन न कर लूँगा, जल भी ग्रहण न करूँगा । [यथा—'त्वरते कार्यकालो मे अहश्चाप्यतिवर्तते । प्रतिज्ञा च मया दत्ता न स्थातव्यमिहान्तरा ।५।१।१२४।' ये वचन मैनाकसे उन्होंने कहे हैं । अर्थात् एक तो मुझे कार्य करनेकी त्वरा है, दूसरे समय भी बहुत बीत चुका है और तीसरे मैंने वानरोंसे प्रतिज्ञा भी की है कि मैं बीचमें कहीं भी विश्राम न करूँगा ।] इसीसे अबतक भूखकी खबर भी न थी । अब श्रीसीताजीके दर्शन हो गए, उनको मुद्रिका दे दी गई, प्रभुका सन्देश सुना दिया गया, श्रीरामजीने जो कहा था कि—'बहु प्रकार सीतहि समुझायहु । कहि बल बिरह....।४।२३।', वह सब कार्य सिद्ध हो गया—यह जानकर कृतकृत्य हुए तब भूखकी सुध हुई ।

नोट—१ वाल्मीकीयकल्पवाली कथामें श्रीहनुमान्‌जी यहींपर श्रीसीताजीसे चूड़ामणि लेकर विदा होकर चल दिये हैं ? उसके पश्चात् उनके विचार हैं कि अभी शत्रुके बलका अटकल लेना यह कार्य बाक़ी है । अटकल बिना सम्मुख युद्धके नहीं हो सकता । मेघनादसे भी अधिक रावणको प्रिय जो अशोकवन है उसके नाशसे ही शत्रुका सामना हो सकता है; अतः वे वनमें घुसकर उसे उजाड़ने लगे । यथा–'अल्पशेषमिदं कार्य''''। ।२। परात्मसंमर्दविशेष तत्त्ववित्....।७। कथं नु खल्वद्य भवेत्सुखागतं प्रसह्य युद्धं मम राक्षसैः सह....।८। इदं विध्वंसयिष्यामि शुष्कं वनमिवानलः । अस्मिन्भग्ने ततः कोपं करिष्यति दशाननः ।११।' (वाल्मी. ५।४१) । कवितावलीमें कहा है कि अशोकतले बैठी हुई श्रीसीताजीकी दशा देखकर वह 'अशोक' नहीं, किन्तु शोकसार ही जान पड़ा, इससे उन्होंने उसको वैसा ही अर्थात् शोकवन बना दिया । यथा—'सीयकी दसा बिलोकि बिटप असोकतर, तुलसी बिलोक्यो सो तिलोक सोक सारु सो । ५ । १ । मेघनादतें दुलारो प्रान तें पियारो बाग, अति अनुराग जिय जातुधान धीरको । तुलसी सो जानि सुनि सीयको दरस पाइ, पैठो बाटिका बजाइ बल रघुबीरको ।....। २ ।' पुनः गीतावलीमें भी संकेत है । मुद्रिकाने जो संदेश दिया है, उसीमें कहा है कि—'देखि दुर्ग बिसेषि जानकि जानि रिपुगति आउ । ५ । ४ ।' अर्थात् हमारा कुशल सुनाकर धैर्य देकर फिर क़िलोंको देखना और शत्रुकी थाह लेकर आ जाओ ।

इन उद्धरणोंसे ज्ञात होता है कि श्रीहनुमान्‌जीके हृदयमें अशोकवनके विध्वंस द्वारा रिपुसैन्यमर्दन तथा रावणदर्पभंजन एवं शत्रुबल परीक्षाकी बात कुछ पूर्वसे ही थी । मानसकल्पमें 'अतिशय भूखको' निमित्त

† धारी....कोदवराम । 'सुनहु....रखवारी ।' पायकुलक है और 'परम सुभट....।' चण्डी है । (प्र. चं) ।

करके उसकी पूर्ति चाही है। माता बालकको भूखा देख नहीं सकती, फिर अतिशय भूख सुन आतुर हो क्यों न तुरत आज्ञा देगी। अतएव अतिशय भूख जताते हुए आज्ञा माँगते हैं। आज्ञा होनेसे मनोरथ निर्विघ्न सफल होगा।—इस तरह यहाँ 'पर्यायोक्ति अलंकारका द्वितीय भेद' है। फल लदे वृक्षोंको देखकर भूख लग आनेमें 'दूसरा सम अलंकार' है। मा. त. सु. का मत है कि युद्धादि कार्य करनेमें आज्ञाविरुद्ध होनेके भयसे श्रीकिशोरीजीकी आज्ञा ले बागमें जाना चाहा। परन्तु वाल्मीकीयमें इस कार्यको 'अविरुद्ध' कहा है और रामकार्य ही माना है। म. अ. दीपककारका मत है कि 'वृक्षों और फलोंको देखकर'का भाव ही यह है कि वृक्षोंको तोड़नेकी इच्छा हो रही है और फलोंको खानेकी। इससे वृक्षोंको तोड़ने और फलोंको खाने दोनोंकी आज्ञा माँगी गई और मिली। अतएव उन्होंने दोनों कार्य किये—'फल खाएसि तरु तोरै लागा।'

टिप्पणी—२ 'देखि सुंदर फल०' इति। (क) 'देखि' से पाया गया कि अब सवेरा हो गया, वृक्षों के फल दिखाई देने लगे। इस पदसे काल सूचित किया। (ख) वानरोंका स्वभाव है कि उन्हें वृक्षोंमें लगे हुए फलोंके खानेकी अधिक इच्छा रहती है, गिरे पड़े फलोंमें उतनी रुचि नहीं होती।

नोट—२'सुनु सुत करहिं विपिन रखवारी।०' इति। (क) 'करहिं रखवारी'से जनाया कि उस प्रिय वनकी रक्षामें राक्षस सुभट सदा सन्नद्ध रहते थे। यथा—'रहे तहाँ बहु भट रखवारे।' (ख) 'परम सुभट' से युद्धमें उनकी परम निपुणता जनाई। 'भारी'से परम विकरालस्वरूप, भयंकर दर्शन जनाया।

टिप्पणी—३ शंका—श्रीसीताजीको हनुमान्‌जीने अपना रूप दिखाकर बलका विश्वास करा दिया था, तब उन्हें क्यों फिर संदेह हुआ जो उन्होंने ऐसा कहा कि 'करहिं विपिन रखवारी'....? समाधान—यद्यपि रूप देखकर भरोसा हो गया था तथापि वात्सल्यभावसे (सुनु सुत!) छोह करके भयकी जगह जानेकी आज्ञा नहीं देतीं; यथा—'हृदय बिचारति बारहिं बारा। कवनि भाँति लंकापति मारा॥ अति सुकुमार जुगुल मेरे बारे। निसिचर सुभट महाबल भारे। ७। ७।७-८।' अर्थात् वात्सल्यमें विचार करती हैं कि इसको राक्षसोंका भय न प्राप्त हो जाय। जैसे माताको संदेह हुआ कि मेरे राम लक्ष्मणने रावणको कैसे मारा।

तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं। जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं† ॥ ९ ॥

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जी बोले) हे माता! मुझे उनका भय नहीं है, यदि आप मनमें सुख मानें (अर्थात् यदि आप सुख न मानें तब सर्वभय है)। ९।

टिप्पणी—१ (क) 'मोहि नाहीं'से जनाया कि मुझसे उनको भय होगा, उनसे मुझे नहीं हो सकता। क्योंकि 'समर भयंकर अति बल बीरा' यह रूप श्रीसीताजीको दिखा चुके हैं और वचनोंसे कह चुके हैं कि 'प्रभुप्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल।' (ख) 'तिन्हकर भय' इति। 'जौं तुम्ह०' के संबंधसे इसका भाव यह भी है कि उनका तो नहीं है पर एक मात्र आपका भय है कि आप दुःख न मानें क्योंकि वानर-स्वभावसे फल खानेसे वृक्ष अवश्य टूटेंगे, जिससे रखवाले अवश्य मेरे फल खानेमें विघ्न डालेंगे, तब मैं अवश्य ही उन्हें मारूँगा। आप यह मनमें न लावें कि यह फल खाने गया और उत्पात करने लगा और यह कि वनके विध्वंस होनेसे अब रावण और राक्षसियाँ और अधिक दुःख देंगी। अथवा, यह दुःख न मानें कि हमारी आज्ञा नहीं मानता, इसीका भय है।

२ 'जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं' इति। (क) इसमें ध्वनि यह है कि यदि आप किसी प्रकार का भी दुःख मानें तो मैं अतिशय क्षुधातुर होते हुये भी फल न खाऊँगा, क्योंकि 'जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥ सेवक हित साहिब सेवकाई। करै सकल सुख लोभ बिहाई॥ २। २६८।' पुनः 'सुख मानहु' अर्थात् यदि आप हृदयसे सुख मानें और आज्ञा दें तो मैं वनमें जाऊँ और मन-माने फल खाऊँ। ☞ हनुमान्‌जी उत्तम दूत हैं, स्वामीकी प्रसन्नता जिसमें हो वही काम करना चाहते हैं। (ख)

† यह पायकुलक है। (व्र० चं०)।

'मन माहीं' का भाव कि मेरी खातिरीके लिए ऊपरसे न कहिएगा, अन्तःकरणसे प्रसन्न होकर यदि आप आज्ञा दें तो मैं खाऊँ।

३ श्रीजानकीजीने पहले जब राक्षसोंको बड़ा कहा था, यथा—'जातुधान भट अति बलवाना', तब हनुमानजीने अपना रूप दिखाकर सन्देह दूर किया था; क्योंकि तब वचनमात्रसे कहनेसे संदेह दूर न होता। और यहाँ जब पुनः उन्होंने राक्षसों को बड़ा कहा, यथा 'परम सुभट रजनीचर भारी', तब वचनमात्रसे उनका सन्देह दूर कर दिया कि 'तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं'; क्योंकि अब कहनेसे ही पूर्व रूपका स्मरणकर सन्देह दूर हो जायगा।

दो०—देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकी जाहु। रघुपतिचरन हृदय धरि तात मधुर फल खाहु† ॥ १७ ॥

अर्थ—बुद्धि और बल में कपिको निपुण देखकर जानकीजीने कहा कि जाओ। हे तात! रघुनाथजी के चरणोंको हृदयमें धारण करके मधुर फल खाओ। १७।

टिप्पणी—१ (क) 'देखि बुद्धि बल निपुन' का भाव कि जो आशीर्वाद दिया था उसको यहाँ चरितार्थ देख लिया। 'तिन्ह कर भय नाहीं' यह बल है और 'जो तुम्ह सुख मानहु' यह बुद्धि है। (ख) बुद्धि बलमें निपुण देखकर तब जानेकी आज्ञा दी। क्योंकि जबतक बल और बुद्धि दोनों न हों तबतक शत्रुके समीप जाना उचित नहीं। शत्रुको पराजय करनेके लिये इन दोनों की आवश्यकता होती है। यथा—'नाथ बयरु कीजे ताही सों। बुधि बल सकिय जीति जाही सों ॥ ६ । ६ ।'—दोहा १६ भी देखिये। समयोचित कर्त्तव्य बिना बुद्धिके नहीं जाना जा सकता। माताके वचनोंका उत्तर किस खूबीसे दिया—'जौं तुम्ह सुख मानहु'—कि माता ने तुरत आज्ञा दे ही तो दी।—['कहेउ जानकी जाहु'—'जाहु' कहकर जनाया कि तुम जो कुछ भी करोगे वह उचित ही होगा और उससे मुझे सुख ही होगा। (मा० त० सु०)]

२—'रघुपतिचरन हृदय धरि....' इति। (क)—'रघुपति'=रघुकुलके स्वामी श्रीरघुनाथजी। वनमें भेजते हुये 'रघुपति' शब्दका प्रयोग साभिप्राय किया गया है। रघु=जीव। पति=रक्षक। पा रक्षणे। 'पा' धातु रक्षार्थक है। ये जीवमात्रके रक्षक हैं; अतः इनके चरणोंको हृदयमें धारण करनेसे ये अवश्य तुम्हारी भी रक्षा करेंगे।

नोट—१ श्रीरघुनाथजीको हृदयमें धारण करके कोई भी कार्य करना यह भगवद्भक्तोंकी भक्तिका एक लक्षण है। तभी तो प्रभु सब प्रकारसे उनकी रक्षा करते हैं। इसी विचारसे किष्किन्धासे प्रस्थानके समयसे लेकर यहाँतक बारंबार प्रभुका हृदयमें धारण करना दिखाया गया है। यथा—'चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना। ४. २३।', 'चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा। ५. १।', 'लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी ५. ४।', 'पैठा नगर सुमिरि भगवाना। ५. ५।' तथा यहाँ 'रघुपति चरन हृदय धरि।' प्रत्येक बार पृथक् पृथक् नाम दिये गए हैं—कृपानिधान, रघुनाथ, नरहरि, भगवान और रघुपति। ये सब साभिप्राय हैं। इनके भाव दिये जा चुके हैं। चरणोंका धारण करना अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—'रामचरन पंकज उर धरहू। ६ । १।' (जाम्बवान्ने सेतुबंधन समय कहा), 'बंदि चरन उर धरि प्रभुताई। अंगद चले....। ६ । १८।', 'रामचरन पंकज उर धरहू। लंका अचलु राजु तुम्ह करहू। ५ । २३।', 'चरन नलिन उर धरि गृह आवा।७।२०।'—इस तरह यह हम सबोंके लिये उपदेश है। (ग) ☞ जहाँ रारकी संभावना होती है वहाँ 'चरण' के साथ 'पंकज' आदि कोमलतासूचक विशेषण नहीं दिये जाते। अतः यहाँ भी केवल 'चरन' कहा।

---

† दोहा दोहरा मिश्रित है—(अ० चं०)।

२—'तात मधुर फल खाहु' इति। (क) हनुमान्‌जीने 'मातु' सम्बोधनकर अतिशय भूखा होना कहा था, उसके सम्बंधसे 'तात' संबोधन बहुत उपयुक्त हुआ। यह प्यार-सूचक संबोधन है। (ख) 'मधुर फल खाहु।' माताको सदा यही इच्छा रहती है कि पुत्रको मधुर-मधुर पदार्थ खिलावे; यथा—'तात जाउँ बलि वेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू। २। ५३।' अथवा, वानर मधुर ही फल खाते हैं, यथा—'मज्जन कीन्ह मधुर फल खाये।४। २५।', 'खाहिं मधुर फल बिटप हलावहिं। ६। ५।'; अतएव 'मधुर फल खाहु' कहा। (पं. रा. कु.)।

चलेउ नाइ सिरु पैठेउ बागा। फल खाएसि तरु तोरै लागा*॥ १॥

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जी श्रीसीताजीको) मस्तक नवा (प्रणाम) कर चले और बागमें प्रवेश किया, फल खाये और वृक्षोंको तोड़ने लगे। १।

टिप्पणी—१ (क) 'नाइ सिरु' इति। श्रीरघुपतिचरणोंको हृदयमें धारण किया और श्रीजानकीजीके चरणोंमें सिर नवाया। इस प्रकार भीतर बाहर दोनोंसे रक्षित हुए, क्योंकि यहाँ युद्धका मंगलाचरण है। (ख) 'चलेउ' अर्थात् धीरे-धीरे गए। कूदते-फाँदते नहीं; जिसमें अभी कोई जाने नहीं। पहले पेटभर फल खा लें तब लोग जानें, नहीं तो फल खाते ही युद्ध होने लगेगा, खा न सकेंगे। (ग) 'पैठेउ बागा। फल खाएसि', से जनाया कि बागमें जाते भी किसीने न देखा और न फल खाते ही जाना। जब वृक्ष तोड़ने लगे तब रक्षकोंने जाना।

मा० त० सु०—'पैठेउ' अर्थात् कूदकर मध्यमें प्रवेश किया। पुनः, पहले चुपचाप पैठे थे, अब श्रीरघुनाथजीका जयजयकार करते हुए पैठे, यथा—'पैठो बाटिका बजाइ बल रघुबीर को'—(क०)। पुनः, पहिले महारानीजीके दर्शनार्थ पैठे थे, अब राक्षस बल परीक्षार्थ और रावण मानभंजनार्थ पैठे।

टिप्पणी—२ शंका—बागमें तो हनुमान्‌जी श्रीसीताजीके समीप बैठे ही थे, अब यह कौन बाग है जिसमें पैठना कहते हैं? समाधान—अभी तक हनुमान्‌जी अशोकके उपवनमें थे जहाँ श्रीसीताजी बैठी हुई थीं। यथा—'तहँ असोक उपबन जहँ रहई। सीता बैठि सोच-रत अहई। ४। २८।' और अब उन्होंने बागमें प्रवेश किया जहाँ फलोंसे लदे हुए वृक्ष थे; क्योंकि इन्हें प्रथम फल ही तो खाना है। पूर्व 'बन असोक सीता रह जहँवाँ। ५। ८। ६।' में बताया गया है कि इसमें चार भाग हैं, पर चारोंमें 'अशोक' ही मुख्य है; इसीसे अशोकबाटिका, अशोकउपवन, अशोकबाग और अशोक वन सब एक ही कहलाते हैं। यह बड़ा ही अनुपम अद्भुत बाग है, इसकी जोड़का दूसरा नहीं है। इसके भीतर पृथक् पृथक् वन, बाग, उपवन और बाटिका चारों ही हैं।

३ 'तरु तोरै लागा' इति। (क) यह वानरोंका स्वभाव है, यथा—'कपि सुभाव तें तोरेउँ रूखा।२२।३।' अथवा, (ख) श्रीसीताजीको अशोक वृक्षके तले बहुत शोकमें देखा था, इसलिए अशोक विटप उखाड़े, यथा—'सीय की दसा बिलोकि बिटप असोक तर तुलसी बिलोक्यो तिलोक सोकसार सो। क० ५। १।'; अथवा, (ग) रावणने श्रीसीताजीको बड़ा दुःख दिया। अतएव अशोकबाटिका उजाड़ी जिसमें रावणको सुनकर बहुत बहुत दुःख हो। यह बाग रावणको प्राणप्रिय था; यथा—'मेघनाद तें दुलारो प्रान पियारो बाग अति अनुराग जिय जातुधान धीर को।क०।५।२।'; अथवा, (घ) ये पवनपुत्र हैं, इन्होंने अपने पिता पवनदेवको बागकी रक्षामें अति कष्ट देखा, यथा—'समय पुराने पात परत डरत बात पालत लालत रति मार को बिहारु सो। क० ५। १।' अथवा, (ङ) श्रीहनुमान्‌जीने सोचा कि जिसका फल खाया, उसको कुछ फल देकर उसका उपकार करना उचित है। अतएव उनको चौरासी योनिसे छुटकारा देनेके लिए उनको उखाड़ा। अथवा, (च)—इन्होंने विचारा कि रावणके पास चलकर कुछ बातचीत करनी चाहिए। सामसे यह कार्य न होगा, क्योंकि राक्षस प्रीति नहीं जानते। दामसे भी काम न चलेगा क्योंकि उनको द्रव्यकी कमी कहाँ। भेदसे भी काम न होगा

* 'चलेउ....।' द्रुतपा। 'फल खाएसि....' से (८) तक पायकुलक।

क्योंकि बलवान् हैं। बलवान्से भेद-उपायसे काम नहीं चल सकता; यथा—'भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा। जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिष महँ तेते।'; रहा भय वा दंड। इससे काम चलेगा। हम जब कोई भारी कसूर (अपराध) करें तब सब उसको खबर देंगे, हमको वहाँ बाँधकर ले चलेंगे। अतएव 'तरु तोरै लागा।'—विशेष १७ (७), १८ (२-४) देखिये।

रहे तहाँ बहु भट रखवारे। कछु मारे † कछु जाइ पुकारे॥ २॥
नाथ एक आवा कपि भारी। तेहि असोक-बाटिका उजारी॥ ३॥
खाएसि फल अरु बिटप उपारे। रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे॥ ४॥

अर्थ – वहाँ बहुत योद्धा रक्षक थे। कुछको तो उन्होंने मार डाला और कुछने (रावणसे) जाकर पुकार की। २। 'हे नाथ! एक भारी वानर आया है। उसने अशोकवाटिका उजाड़ डाली। ३। फल खाए और वृक्ष उखाड़े, और रक्षकोंको मलमलकर पृथ्वीपर डाल दिये। ४।

टिप्पणी—१ (क) 'भट रखवारे'का भाव कि उन्होंने बागकी रक्षाके लिए युद्ध किया। रक्षक थे, अतः रक्षा की। यह बाग रावणको प्राणप्रिय था और यहीं श्रीजानकीजी भी हैं; अतएव यहाँ 'बहुत भट' रक्षाके लिए थे, जिसमें कोई उनके समीप जा न सके। (ख) भट तो बहुतसे थे, उनमेंसे कुछ मारे गए और 'कछु जाइ पुकारे' तो बाक़ी सब क्या हुए? जो बाक़ी रहे उनमेंसे कुछ या सब हनुमान्जीके सामने हैं। इसी तरह जब अक्षयकुमार अपार सुभटोंको लेकर आया तब उनमेंसे कुछ मारे, कुछ मसले गए और कुछ धूलिमें मिला दिये गए। कुछका ही फिर रावणके पास जाना कहा है। यथा—'चला संग लै सुभट अपारा।....कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलएसि धरि धूरि। कछु पुनि जाइ पुकारे....। १८।' [इससे जान पड़ता है कि जो सामने आ गये वे मार डाले गए और जो प्रधान प्रधान योद्धाओंको मारे गए देख डरकर प्राण बचाकर भाग गए उनमेंसे कुछने रावणको जाकर खबर दी। संभव है कि मैदानमें कुछ योद्धा अभी रहे हों, जब रावणको सूचना दी गई। और यह भी हो सकता है कि अब वहाँ कोई नहीं रह गए। वाल्मीकिजीके मतसे तो अशोकवाटिकामें केवल राक्षसियाँ थीं और उन्होंने रावणको उसके विध्वंसकी खबर दी तब रावणने अस्सी हज़ार 'किंकर' नामक योद्धा भेजे थे। हनुमान्जीने सबको मार डाला, केवल कुछ भागकर बचे थे। उन्हींने जाकर खबर दी। वहाँ कोई न रह गया तब हनुमान्जी आगे फिर भी युद्धकी इच्छासे तोरणपर जा बैठे थे। यथा—'युद्धाकांक्षी पुनर्वीरस्तोरणं समुपाश्रितः। ५। ४२। ४२।' ऐसा ही यहाँ भी हो सकता है। यह भी हो सकता है कि प्रधानोंने ही कुछको समाचार देनेके लिये भेज दिया हो जब उन्होंने देखा हो कि हम लोग वानरसे पार न पायँगे। पुनः 'कछु मारेसि कछु...' का भाव कि वहाँ थे तो बहुत भट परन्तु श्रीहनुमान्जीकी दृष्टिमें वे कुछ ही थे।] (ग) कुछको कैसे मारा?—यह आगे खबर देनेवाले स्वयं कहते हैं—'रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे।'

२—'नाथ एक आवा कपि भारी' इति। (क) ['नाथ'का एक अर्थ 'स्वामिन्!' तो है ही तथापि यह 'उपताप' अर्थ भी सूचित करता है। यथा पाणिनि—'नाथ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्येषु'। भाव कि बड़े शोककी बात है। (मा० त० सु०)। पुनः, भाव कि उसने हम सबोंको अनाथकी तरह मारा है। 'एक आवा'का भाव कि अकेला ही है, उस अकेलेने ही समस्त रक्षकोंको मार डाला, उसे ऐसा-वैसा साधारण न समझिये। (ख) 'कपि भारी' इति। इससे वानरका विकराल पर्वताकार रूप और अमित पराक्रम-बलशील एवं तेजस्वी होना जनाया। यथा—'गिरिसङ्काशमतिकायं महाबलं' 'विरूपं वानरं भीमं' (वाल्मी० ५।४२।५, १२) इससे जनाया कि बागमें प्रवेश करनेपर श्रीहनुमान्जीने विशाल रूप धारण कर लिया था; क्योंकि हज़ारों वृक्षोंके फल खाना, वृक्षोंको उखाड़ना और युद्ध करना छोटे वानरका काम नहीं है, यह बड़े ही रूपसे संभव

† मारेसि—१७०४, गी० प्र०।

है। आगे 'भारी' का स्वरूप दिखाते हैं कि—'तेहि....'। (ख) 'असोक वाटिका उजारी' इति। रावणके बाग बाटिकायें आदि बहुत हैं अतएव जिसको उजाड़ा उसका नाम बताया जिसमें उसे फिर प्रश्न न करना पड़े। ['अशोकबाटिका' कहकर यह भी जनाया कि जो नन्दनकाननसे भी उत्तम था; इन्द्र, वरुण एवं ब्रह्माजी के भी वनोंसे अधिक सुहावना था, जो रावणका प्राणप्रिय था, उसीको उजाड़ डाला; यथा—'बासव बरुन बिधि बन तें सुहावनो, दसाननको कानन बसंतको सिंगारु सो। समय पुराने पात परत डरत बात, पालत लालत रति मारको बिहारु सो। देखे बर बापिका तड़ाग बागको बनाव, रागबस भो बिरागी पवनकुमार सो। क० ५।१।'; ऐसे अशोक वनको उजाड़ डाला। नाम इससे प्रथम ही कह दिया कि जिसमें रावणको अत्यन्त क्रोध उत्पन्न हो जाय और वह उद्दण्ड वानरको दंड देनेके लिये तुरत भारी भट भेजे। पुनः 'असोकबाटिका उजारी'में ध्वनि यह भी है कि उसने 'अशोक' उजाड़ डाला और आपके लिये 'शोकवाटिका' लगा दी, शोक बसा दिया। यथा—'सा विह्वलाशोकलताप्रताना वनस्थली शोकलताप्रताना। जाता दशास्यप्रमदावनस्य कपेर्बलाद्धि प्रमदावनस्य। वाल्मी० ५। ४१।२०।' अर्थात् अशोककी विशाल लताओंके मुरझानेसे वह वनस्थली मदयुक्त रावणकी स्त्रियोंके लिए शोककी विस्तृत लता बन गई।]

टिप्पणी—३ 'खाएसि फल अरु बिटप उपारे।०' इति। (क) यह 'कपि भारी'का स्वरूप दिखाते हैं कि जो हज़ारों वानरोंके खानेसे भी न चुक सकते थे, वह सब फल इस एकने ही खा डाले; सभी वृक्ष उखाड़ डाले और रक्षकोंको हाथसे ही मसल-मसलकर पृथ्वीपर डाल दिया। युद्धके लिये हाथमें एक वृक्ष भी न लिया। (ख) 'महि डारे' कहकर जनाया कि इन भटोंको उसने कुछ भी न समझा तभी तो उनको अपने अन्य अंगोंसे मर्दन करने योग्य न जानकर हाथसे ही मसलकर डाल दिया। आगे रावणने जब महाभट भेजे तब उनके मर्दन करनेमें अंगोंसे काम लिया है; यथा—'रहे महाभट ताके संगा। गहि-गहि कपि मर्दइ निज अंगा।१६।६।' (ग) 'मर्दि-मर्दि'का भाव कि बड़ा फुर्तीला है, ज़रासी देरमें इतने रक्षकोंको मसल डाला, किंचित् भी परिश्रम न हुआ, रक्षक पास आया नहीं कि मार डाला गया।

शंकाः—हनुमान्‌जीने तो वृक्षोंको तोड़ा और राक्षसोंने कहा कि 'बिटप उपारे' अर्थात् उखाड़े; यह क्यों? समाधान—पहले हनुमान्‌जीको क्रोध न था, वानर-स्वभावसे वृक्ष तोड़ने लगे। जब रक्षक लड़नेको सामने आए तब वे क्रोधसे वृक्षोंको उखाड़ने लगे। कहनेवालेने उखाड़ते देखा; अतः उखाड़ना कहा।

शंकाः—वनका उजाड़ना तो फल खानेसे ही सिद्ध हो गया, यथा—'जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुवराज'; तब फल खाना और बिटप उखाड़ना दोनों क्यों कहा? समाधान—दोनों न कहता तो समझा जाता कि केवल फल खाए हैं, वृक्ष सब हैं। अतः दोनोंको कहा।

प. प. प्र.—'नाथ! एक आवा!! कपि। भारी!!!' ऐसा पदच्छेद करनेसे यह भाव स्पष्ट हो जाता है कि समाचार देनेवाले भयग्रस्त हैं, हाँफते-हाँफते आये हैं, ऊर्ध्व साँस ले लेकर बोलते हैं। मानस नाट्य काव्य है। हर एक उद्गारके पीछे रावणने कुछ टेढ़े वचन सुनाये होंगे जिनकी कल्पना रावणके स्वभावानुसार पाठक कर सकते हैं।

नोट—१ अशोकवाटिका क्यों उजाड़ी गई इसका कारण वाल्मी० स० ४१ में यों लिखा है कि हनुमान्‌जी श्रीसीताजीके पाससे चलकर विचार करने लगे कि मैंने श्रीसीताजीका दर्शन पाया, संदेश सुनाया, धीरज दिया, यह सब कार्य हुआ, अब थोड़ा सा बाक़ी रहा अर्थात् शत्रुके बलका अटकल लेना। इस कार्य्यमें साम दाम भेदसे काम न चलेगा। दण्ड ही उचित उपाय जान पड़ता है। मेरे हाथों वीर जब मारे जायँगे तब चाहे शत्रु नर्म पड़े। प्रधान कार्य्य करके जो सेवक उसके अविरोधी और भी कार्य करता है वही यथार्थ कार्य्यकर्त्ता है। यदि मैं यहींसे शत्रु विनाशके सम्बन्धमें पूरी जानकारी और उपाय निश्चित करके जाऊँ तो स्वामीकी आज्ञा का यथार्थ पालन होगा। तभी मेरा आना सफल होगा। राक्षसोंसे मेरा युद्ध कैसे हो? रावण अपने बलके साथ मेरे बलको कैसे तोल सकेगा? युद्धसे रावण, उसके मंत्री और उसकी सेनाके बल, बुद्धि और आन्तरिक

अभिप्राय सबका पता लग जायगा। यह वन रावणको प्राणप्रिय है, इसके नष्ट-भ्रष्ट होनेपर वह कुपित होकर सेना लेकर आवेगा तब मैं सबको मारकर किष्किंधा लौट जाऊँगा। यह सोचकर पवनके समान कुपित होकर पवनसुत वनको विनष्ट करने लगे। १७ (७-८) भी देखिये।

सुनि रावन पठए भट नाना। तिन्हहि देखि गर्जेउ हनुमाना॥ ५॥
सब रजनीचर कपि संघारे। गए पुकारत कछु अधमारे॥ ६॥

अर्थ—यह सुनकर रावणने अनेक योद्धा भेजे। उन्हें देखकर श्रीहनुमान्‌जी गर्जे। ५। कपिने सब निशिचरोंको मार डाला, कुछ जो अधमरे थे वे पुकार करते हुए गए। ६।

टिप्पणी—१ (क) रक्षकोंने कहा था कि 'भारी' कपि है, इसीसे 'नाना भट' भेजे, नहीं तो साधारण जानकर कोई साधारण वीर भेजा जाता। 'भट नाना' इति।—['नाना' शब्दसे बहुत और अनेक प्रकारके (अर्थात् विविध प्रकारकी युद्ध-कलाओंमें कुशल) दोनों भाव सूचित किये। 'भट नाना'-पदसे यहाँ वाल्मीकीय सुंदरकाण्डके पाँच सर्ग (४२ से ४६ तक) के भटोंको कह दिया। अस्सीहज़ार किंकरनामक शूरवीर, चैत्यप्रासादके सैकड़ों रक्षक, प्रहस्तपुत्र जम्बुमाली, अत्यन्त पराक्रमी और बलवान् सप्त मंत्रिपुत्र, विरूपाक्ष, यूपाक्ष, दुर्धर, प्रघस और भासकर्ण नामक पाँच सेनापति और सेना जो रावणने भेजी—यही सब 'नाना भट' हैं।] (ख)—'तिन्हहि देखि' इति। [देखना कहकर इनकी सावधानता दर्शित की। सर्वत्र दृष्टि है। इससे यह भी जनाया कि वे किसी बहुत ऊँचे स्थलपर (जैसे कि बाग़का फाटक) बैठे हुये इनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। यथा—'युयुत्सुरेको बहुभिर्महाबलैः श्रिया ज्वलंस्तोरणमास्थितः कपिः ॥५।४१। २१ ।', 'युद्धाकांक्षी पुनर्वीरस्तोरणं समुपाश्रितः ॥५। ४२ । ४२ ।', 'युयुत्सुरन्यैः पुनरेव राक्षसैस्तदेव वीरोऽभिजगाम तोरणम् ॥' वाल्मी० ५ । ४५ । १७ ।]
(ग) 'देखि गर्जेउ हनुमाना' इति। 'गर्जेउ'से भटोंको देखकर प्रसन्न होना और युद्धके लिये उत्साही जनाया। [क्या गर्जन करते थे, इसका उल्लेख वल्मीकीयमें है, यथा—(सुन्दरकाण्ड सर्ग ४२) 'जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः। राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः।३३। दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः। हनुमाञ्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः।३४। न रावण सहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्। शिलाभिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः।३५। अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम्। समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्व रक्षसाम् ॥३६॥' अर्थात् अत्यन्त बलवान् श्रीरामचन्द्रजीकी जय, महाबलवान् लक्ष्मणजीकी जय, श्रीराघव द्वारा पालित राजा सुग्रीवजीकी जय। जिनके लिये कोई भी कार्य कठिन नहीं है उन कोसलपति श्रीरामजीका मैं दास हूँ। मैं शत्रुसैन्यका संहार करनेवाला पवनपुत्र हनुमान् हूँ। जब मैं शिलाओं और वृक्षोंसे बारबार प्रहार करने लगता हूँ तब सहस्रों रावण भी मेरा सामना नहीं कर सकते। मैं समस्त राक्षसोंके सामने लंकापुरीको ध्वंसकर और श्रीमैथिलीजीको प्रणाम कर अपना कार्य सिद्धकर चला जाऊँगा।—यह घोषणा उन्होंने प्रत्येक बार भट, सुभट और महाभटोंके आनेपर की है। वही घोषणा यहाँ जान पड़ती है। इस गर्जनका प्रभाव यह पड़ता था कि कितने ही राक्षस भयके मारे त्रस्त हो जाते थे। यथा—'तस्य सन्नादशब्देन तेऽभवन्भयशङ्किताः। वाल्मी० ।५।४२। ३७ ।' 'ननाद भीमनिर्ह्रादो रक्षसां जनयन्भयम् ॥ ४३ ।१२।' एक बारके गर्जनमें यह भी घोषणा की थी कि अमित बलशाली वानरोंकी सेना लेकर यहाँ सुग्रीवजी आयँगे तब न तुम बचोगे, न लंका और न रावण ही। यह श्रीरामजीसे वैर बाँधनेका फल है।]

२ (क)—'संघारे' इति। यहाँ न तो मर्दन करना ही कहा गया और न वृक्षोंसे ही मारना कहा। तात्पर्य यह कि निशिचरको निशिचरसे, हाथीको हाथीसे, घोड़ेको घोड़ेसे, रथको रथसे मारकर सबका संहार किया; यथा—'हाथिन सों हाथी मारे घोरे घोरेसों संघारे रथनिसों रथ बिदरनि बलवानकी ।क०६।४०।' तथा 'बलं तदवशेषं च नाशयामास वानरः। अश्वैरश्वान्गजैर्नागान्योधैर्योधान्रथैरथान्। वाल्मी० ५ ।४६।३७ ।'—वाल्मीकीय तथा कवितावली वाले भावको सूचित करनेके लिये यहाँ 'संघारे' पद दिया। (ख)—'गए पुकारत····' इति। 'पुकारत' 'अर्थात्

दुःख और शोकके वचन, हा हा इत्यादि, उच्चारण करते हुये शरीरसे पीड़ित फ़र्याद करते हुये चिल्लाते हुये गए; यथा—'तात मातु हा सुनिय पुकारा। एहि अवसर को हमहिं उबारा ॥ ५। २६।' गुहार मारते चले जाते हैं; क्योंकि किसीका सिर फट गया है, रक्त बह रहा है, किसीका हाथ पैर टूट गया है, लँगड़ाते चल रहा है, कोई पँजरी पकड़े हुए चला जाता है। सब अधमरे हैं।

३ (क) पहली लड़ाईमें 'जाइ पुकारे' पद दिया। यथा—'कछु मारे कछु जाइ पुकारे'। आगे अक्षयकुमारके युद्धमें जो मरनेसे बचे उनकाभी जा पुकारना कहा है, यथा—'कछु पुनि जाइ पुकारे प्रभु मर्कट बल-भूरि'। पर इस युद्धमें यहींसे पुकार-करते जाना लिखा—'गए पुकारत कछु'; क्योंकि ये अधमरे हैं। (ख) प्रथम बार जिन्होंने रावणसे जाकर पुकार की, उन्होंने पूरा व्योरा कह सुनाया कि एक वानर आया है, वह बहुत भारी है, इत्यादि। अब इन सब बातोंका कोई प्रयोजन न रहा, इससे अब पुकारना मात्र कहते हैं।

शंका.—जब प्रथम यह कह दिया कि 'सब रजनीचर कपि संघारे', तब कुछ अधमरे कहाँसे आ गए जो पुकारते हुये गए? समाधान—जो मुख्य-मुख्य थे, जैसे कि किंकर, जम्बुमाली, सप्त मंत्रीपुत्र इत्यादि, वे सब मारे गए। फौजमेंसे कुछको पुकार करनेके लिये, रावणको समाचार देनेके लिये, संभवतः अधमरा छोड़ दिया गया (ये भी तो अब मरे ही तुल्य हैं; अतः 'सब संघारे' कहा। अथवा, यह लेखशैली है, मुहावरा है। इने-गिनेही बचे इसीसे सबका मारा जाना कहा।)

श्रीलमगोड़ाजी.—प्रत्येक अवसर पर तुलसीदासजीके फिल्मकलाके संकेत और चित्रण अति उत्तम हैं; जैसे—'रुंड प्रचंड मुंड बिनु धावहिं। धरु धरु मारु मारु गोहरावहिं।'

पुनि पठएउ तेहिं अच्छ[1] कुमारा। चला संग लै सुभट अपारा ॥ ७ ॥
आवत देखि बिटप गहि तर्जा। ताहि निपाति महाधुनि गर्जा ॥ ८ ॥

अर्थ—फिर उसने (रावणने) अक्षयकुमारको भेजा। वह अगणित सुन्दर योद्धाओंको साथ लेकर चला। ७। इसे आता देख एक वृक्षको पकड़ (हाथोंमें ले) कर उन्होंने उसको डाँटा डपटा और तड़पे। और उसे मारकर महाध्वनिसे गर्जन किया। ८।

टिप्पणी—१ (क) 'पुनि पठएउ तेहि अच्छ·····' इति। पहले मंत्रियोंके पुत्रोंको भेजा था। मंत्रीके ऊपर राजा है। अतएव अबकी बार अपने पुत्रको भेजा। पहले 'नाना भट' भेजे गए थे, जो मारे गये। अतः अब 'सुभट' साथ लेकर गया और वहभी अपार। (ख)—'अच्छकुमार' इति। यह रावणका लड़का है। 'कुमार' से जनाया कि छोटी अवस्थाका है। लघुवयस्क होनेसे उसे अपने बल पराक्रमका बड़ा गर्व था। पराक्रम और उत्साहसे इसका मन बढ़ा-चढ़ा था। युद्धके लिये सदा उद्यत रहता था और उद्धत था। यथा—'समरोद्धतोन्मुखं कुमारमक्षं। वाल्मी० ४७। १।' 'पराक्रमोत्साह विवृद्धमानसः।' अर्थात् जिसका पराक्रम और उत्साह कभी क्षीण न होता था। (ग)—'संग लै' अर्थात् अपनी रक्षाके लिए इनको साथ लिया। भारी सेनापति है, अतः उसकी सेना भी भारी है।

२—'बिटप गहि तर्जा' इति।—यहाँ वृक्षको उखाड़ना न कहा, अनेक वृक्ष उखड़े पड़े हैं, उन्हींमेंसे एकको हाथमें लेकर उसका वध किया।

☞अक्षयकुमार वीर है। वीरको देखकर गर्जना उत्साह सूचित करता है, अतः गर्जे। यथा—'सुनि रावन पठए भट नाना। तिन्हहिं देखि गर्जेउ हनुमाना।' पहले वीरको देखकर गर्जे, फिर उसे मारकर भी गर्जना कहा। तात्पर्य कि यह भारी वीर था इसीसे इसे मार डालने पर अधिक उत्साह हुआ; अतएव अंतमें पुनः ज़ोरसे गर्जे। यह विजयका गर्जन है, यथा—'भिरे उभौ बाली अति तर्जा। मुठिका मारि महाधुनि गर्जा ।४।८।२।' इसके सामने और सब सुभट सामान्य ही थे, इससे उनके मारनेसे उत्साह न हुआ।

[1] अक्ष—भा० दा०।

३ महाध्वनिसे गर्जन करनेमें भाव यह है कि जितने बलसे लड़नेका विचार था उतना बल न लगाना पड़ा और वह मर गया। वह बल मनमें भरा हुआ था, अतएव महाध्वनि करके उत्साहको पूरा किया। यथा—'जयति राम जय लछिमन जय कपीस सुग्रीव। गर्जहिं सिंहनाद कपि भालु महाबल सींव। ६। ३८।' पुनः, इससे विजयघोषणा जनाई और ललकार भी कि और जो इससे भी बली हों उनको भेज।—विशेष चौ० ५ देखिये।

दो०—कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलएसि धरि धूरि।
कछु पुनि जाइ पुकारे प्रभु मर्कट बल भूरि॥१८॥❀

अर्थ—(उन्होंने) कुछको तो मारा और कुछको मसल डाला, कुछको पकड़कर धूलमें मिला दिया और कुछने पुनः जाकर पुकार की कि 'हे प्रभो! वानर बलका समूह अर्थात् परम बलवान् है। १८।

टिप्पणी—१ अक्षयकुमार अपार सेना लेकर आया, उसको 'कुछ' लिखनेका भाव यह कि हनुमान्जीको सब राक्षस कुछ ही जान पड़ते हैं। सभीको इन्होंने जीत लिया। यह सिद्धान्त वर्णन कर दिया। राक्षसोंका पराक्रम विस्तारके भयसे वर्णन न किया।

२ (क) अबतक तीन बार युद्ध हुआ। प्रथम युद्धमें मर्दन करना कहा, यथा—'रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे।', दूसरेमें संहार, यथा—'सब रजनीचर कपि संघारे।' कहा और तीसरेमें सेना अपार थी इससे उसमें कई क्रियाएँ कीं—मारा, मर्दन किया, धूलमें मिलाया।

३ (क) तीनों क्रियाओंके भावः—जब राजकुमार मर गया तब सेना अनाथ हो गई। जो उत्तम वीर थे वे सम्मुख आकर लड़े, अतएव उनको मारा। जो मध्यम श्रेणीके अर्थात् सामान्य वीर थे उनको मर्दन कर डाला और जो निकृष्ट थे उन्हें मींज (मलमसल) कर धूलमें मिला दिया। यथा—'कोटिन्ह गहि सरीर सन मर्दा। कोटिन्ह मींजि मिलाएसि गर्दा। ६। ६६।' (कुम्भकर्ण)। (ख) 'मिलाएसि गर्दा' का भाव कि प्रथम पकड़कर हाथसे मींजा। जब हाथ रुधिरसे भर गया तब अंजलिभर गर्द लेकर हाथ साफ़ किए तब मर्दे हुए गर्दमें मिल गए।

मा० त० सु०—जिन्होंने दूरसे बाणादिका प्रहार किया उन्हें दौड़-उछलकूद धरपकड़कर मारा। जो शरीरमें लिपटगए उनको शरीरहीमें मर्दन कर डाला। और जो दौड़ने उछलने आदिमें पैरों तले पड़े वे धूलमें मिल गए। जो भाग बचे उन्होंने जा पुकारा।

प्र०—वृक्षादिसे मल डाला, एकसे एकको टकरा दिया और लातसे धूलमें मिला दिया।

टिप्पणी—४ 'कछु पुनि जाइ पुकारे प्रभु मर्कट बल भूरि।' (क) 'मर्कट बल भूरि'। जब भारी सर्दार और उनकी अपार सेनाको मारा तब कपिका बल जाकर कहा। तात्पर्य कि अब उसके सामनेके लिये उसीको भेजिए जिसके 'भूरि बल' हो। (ख)—'प्रभु' का भाव कि समर्थ आप भी रहे पर उसके बल बहुत है। वा, आप भी समर्थ हैं, उसकी जोड़का बलवान् भट भेज सकते हैं। हम लोग उसका मुकाबला नहीं कर सकते, व्यर्थ ही उसके हाथों सेनाका नाश न कराइये। जो अत्यन्त बलवान् हो उसेही भेजिए। (ग)—'मर्कट' इति। अभीतक समाचार देनेवालोंने 'कपि' शब्दका प्रयोग किया था, यथा—'नाथ एक आवा कपि भारी। ३।', 'सब रजनीचर कपि संघारे। ६।'; पर इस बार 'मर्कट' कहा। यह भी साभिप्राय है। इससे जनाते हैं कि वह मारता भी है और काटता भी है।

प० प० प्र०—'प्रभु' शब्दमें व्यंग यह है कि आपका प्रभुत्व तो अब समाप्त हो गया; आपसे भी भूरि बल मर्कट अब 'प्रभु' हो गया।

टिप्पणी ४—☞ इस अशोकवनके युद्धमें चार आवृत्तियाँ हैं—

❀ न० चं०—दोहरा है।

१—पहली लड़ाईमें नहीं गर्जे। दूसरीमें गर्जे। तीसरीमें महाध्वनिसे गर्जे। चौथीमें कटकटाकर गर्जे। यथा क्रमसे—'रहे तहाँ बहु भट'। इनसे विशेष 'नाना भट' हैं; इनको देखकर गर्जे।'...भट नाना। तिन्हहिं देखि गर्जेउ।' इनसे विशेष 'सुभट' हैं; इन्हें देखकर महाध्वनिसे गर्जे; यथा—'आवत देखि....ताहि निपाति महाधुनि गर्जा'। आगे इनसे भी विशेष दारुण भट आया; उसे देखकर कटकटाकर गर्जे; यथा—'कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा०'। इति प्रथमावृत्ति।

२ (क) 'भट, सुभट, महाभट, दारुण भट। क्रमसे उदाहरण; यथा—(१) 'रहे तहाँ बहु भट रखवारे' और 'सुनि रावन पठये भट नाना'। (२) 'पुनि पठयेउ तेहिं अच्छकुमारा। चला संग लै सुभट अपारा' (३) 'रहे महाभट ताके संगा'। और, (४) 'कपि देखा दारुन भट आवा'। (ख) (दोहा)—'भट अरु गर्जब तरुग्रहण युद्ध अच्छरन जानु। मेघनाद कपि सम समर चार आवृत्ति बखान'। उत्तरोत्तर विशेष कहा। इति द्वितीयावृत्ति।

३ भटके मारनेमें वृक्ष न लिया, यथा—'रहे तहाँ बहु भट रखवारे। कछु मारे०'। पुनः यथा—'सुनि रावन पठए भट नाना।०० सब रजनीचर कपि संघारे' (१)। सुभटोंको वृक्ष लेकर मारा, यथा—'चला संग लै सुभट०० आवत देखि बिटप गहि तर्जा।'—(२)। दारुण भटको अति विशाल तरुसे मारा, यथा—'अति बिसाल तरु एक उपारा। बिरथ०'। इस प्रकारसे उत्तरोत्तर विशेष कहा। इति तृतीयावृत्ति।

४ रक्षक पाँच अक्षरोंमें मारे गए। अर्थात् इनके मारनेमें पाँच अक्षरोंका प्रयोग हुआ। यथा—'कछु मारेसि' (१)। दूसरे युद्धके वीर १२ अक्षरोंमें मारे गए; यथा—'सब रजनीचर कपि संघारे'।—(२)। तीसरी लड़ाईके वीर ३२ अक्षरोंमें मारे गए; यथा—'ताहि निपाति महाधुनि गर्जा॥ कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलएसि धरि धूरि'—(३)। चौथी लड़ाईमें मेघनाद और हनुमान्‌जीसे बराबरका युद्ध हुआ। दोनोंको क्रोध हुआ, दोनों गजराजोंके समान लड़े, दोनोंने परस्पर एक दूसरेको मारकर मूर्छित किया। यथा—

बंधु निधन सुनि उपजा क्रोधा	१	कटकटाइ गर्जा अरु धावा	
भिरे जुगल मानहु गजराजा।	२	(जुगलमें दोनों आगए)।	
ब्रह्मबान कपि कहँ तेहि मारा	३	मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई	
ताहि एक छन मुरुछा आई	४	तेहि देखा कपि मुर्छित भयऊ	

इति चतुर्थावृत्ति। इस प्रकारसे भी उत्तरोत्तर विशेष कहा।

नोट—इन आवृत्तियोंका बोध निम्न नक़शेसे शीघ्र होगा—

१ भट–'रहे तहाँ बहु भट रखवारे'	इनके युद्धमें गर्जे नहीं	बिना वृक्ष लिये 'कछु मारेसि'	'कछु मारेसि' में ५ अक्षर हैं
२ नाना भट–'सुनि रावन पठये भट नाना'	यहाँ गर्जे। 'तिन्हहिं देखि गर्जेउ'	बिना वृक्ष लिये 'सब संहारे'	'सब रजनीचर कपि संहारे' में १२ अक्षर है
३ सुभट–'पुनि पठएउ तेहि अच्छकुमारा। चला संग लै सुभट०'	आवत देखि बिटप गहि तर्जा। ताहि निपाति महाधुनि गर्जा॥	यहाँ 'बिटप गहि तर्जा' वृक्षलेकर लड़े	३ { तीसरेके मारनेमें ३२ अक्षर आये हैं–'ताहि निपाति महाधुनि गर्जा। कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलएसि धरि धूरि'
४ महाभट और दारुनभट–'रहे महाभट ताके संगा' कपि देखा दारुनभट आवा'	यहाँ 'कटकटाई गर्जा अरु धावा'	यहाँ 'अति बिसाल तरु एक उपारा'	चौथा युद्ध बराबरका हुआ।

सुनि सुतबध लंकेस रिसाना। पठएसि मेघनाद बलवाना॥ १॥
मारसि जनि सुत बाँधेसु ताही। देखिअ कपिहि कहाँ कर आही॥ २॥

† 'सुनि....।' पायकुलक, 'पठएसि....' नयमालिनी। (२), (३), (४) पायकुलक। (ब्र० चं०)।

अर्थ—पुत्रका वध सुनकर लंकेश (रावण) क्रोधित हुआ और बलवान मेघनादको भेजा ।१। (और उसे समझाया कि—) हे पुत्र ! मारना नहीं (वरन्) बाँध लाना । उस बंदरको देखें तो कि कहाँका है ! । २ ।

टिप्पणी—१ (क) 'सुनि सुतबध०' से स्पष्ट किया कि अक्षयकुमार उसका पुत्र था । इसीसे उसके मरनेपर क्रोध उत्पन्न हो गया । मंत्री आदिके पुत्रों और भट सुभटोंके मरनेपर क्रोध न आया था । (ख)—पुत्रका वध सुनकर शोक न किया; क्योंकि यह विषादका अवसर नहीं है । इस समय विषादसे कुछ हाथ न लगेगा, शत्रु सिरपर चढ़ा है, उसे मारनेका यह समय है; अतएव क्रोध किया । जब मेघनादने शत्रुको बाँध लेजाकर उसके सामने खड़ा कर दिया; अर्थात् जब काम हो गया, शत्रु बँध गया, तब सुतवधका स्मरण करके दुःखी हुआ; यथा—'सुतबध सुरति कीन्हि पुनि उपजा हृदय बिषाद ॥ २० ।' (ग)—'लंकेस रिसाना' इति । [वाल्मीकीयसे स्पष्ट है कि उसे प्रिय पुत्रके मारे जानेसे बहुत दुःख हुआ पर उसने मनको सावधानकर उस समय धैर्य धारण किया, दुःख प्रकट न होने दिया; पर दुःख रोषरूपसे बाहर निकल पड़ा । यथा—'मनः समाधाय तदेन्द्रकल्पं समादिदेशेन्द्रजितं स रोषात् ॥ ५।४८।१।' दूसरा कारण क्रोधका 'लंकेस' नामसे जनाते हैं कि त्रैलोक्यविजयीके लंकापतित्वमें लंकामेंही, जहाँ कि जगत्‌मात्रको अकेलेही जीत लेनेवाले अनेक वीर उपस्थित हैं वहीं उसका पुत्र मारा गया, अतः उसको क्रोध आना चाहिये ही कि पुत्रवध करनेवालेको समूल नष्ट कर डाले ।] पुनः, भाव कि यह लंकाका रक्षक है, लंकामें यदि कोई किसीका अपराध करता है तो रावण उसको दण्ड देता है और इसने तो उसके पुत्रकोही मार डाला तब क्योंकर न रुष्ट हो ? [प० प० प्र० का मत है कि 'बध' शब्दका प्रयोग प्रायः वहीं किया जाता है जहाँ किसी अपराधके लिये देहान्त दण्ड दिया जाता है । 'सुत बध' और 'लंकेस' शब्दोंका भाव यह है कि यह एक असंभव और अद्भुत घटना है कि रावणके जीतेजी उसका प्रिय वीर पुत्र 'अपराधीके समान मारा जाय' । ऐसा विश्वमें कौन है ?]

वि० त्रि०—'सुनि सुत वध' इति । पुकारनेवालोंने तो इतना कहा कि 'प्रभु मर्कट बल भूरि' । अक्षकुमार मारा गया, यह कहनेका किसीको साहस नहीं । पुकार करते समय बंदरके बलकी प्रशंसाका अर्थ ही यह था (कि उसके बलके आगे अक्षकुमारका बल न चला, वह मारा गया) । अतः कहते हैं कि 'सुनि सुत वध लंकेस रिसाना' । बिगड़ा कि उसे अभी तुरत दंड देना चाहिए ।

टिप्पणी—२ 'पठएसि मेघनाद बलवाना' इति । (क) क्रोध करके मेघनादको भेजा । इससे जान पड़ा कि अभी मेघनादको न भेजता । अनिप, अकंपन, अतिकाय, महोदर आदि वीरोंको भेजकर तब कहीं मेघनादको भेजता; जैसे लंकाकाण्डमें ये सब वीर जब युद्धमें काम आ चुके तब मेघनाद आया । (ख) पुकार करनेवालोंने आकर पुकार की कि वानर बड़ा बलवान् है । अतः अबकी 'पठएसि मेघनाद बलवाना ।' तात्पर्य कि रावणने समझ लिया कि और कोई वीर उसके समान बलवान् नहीं जान पड़ता और जो कोई जायगा वह मारा जायगा । मेघनाद बलवान् है, यह समझकर उसे भेजा । (सुतवध किया है, अतः तुरत दंड देना है । इसीसे जिसकी योद्धाओंमें प्रथम लीक संसारमें है उसे भेजा । वि० त्रि० ।)

नोट—१ रावणको मेघनादके बलका पूरा भरोसा है, यह उसने उससे स्वयं कहा है; यथा वाल्मी० ५।४८—'ममानुरूपं तपसो बलं च ते, पराक्रमश्चास्त्रबलं च संयुगे । न त्वां समासाद्य रणावमर्दे मनः श्रमं गच्छति निश्चितार्थम् । ६ ।' अर्थात तपोबल, शारीरिक बल, पराक्रम, अस्त्रबल और युद्धकलामें तुम मेरे समान हो; रणसंकटमें तुम्हारा स्मरण करते ही मुझे विजयका निश्चय हो जाता है, चिन्ताएँ और विषाद दूर हो जाते हैं । रावणको विश्वास है कि यह सबको मार सकता है, यथा—'जे सुर समरधीर बलवाना । जिन्ह कें लरिबे कर अभिमाना ।तिन्हहिं जीति रन आनेसु बाँधी । १।१८२ ।'; अतएव मेघनादको भेजा ।

२—'मेघनाद' का भाव कि जैसे हनुमान्‌जी गरज रहे हैं वैसे ही यहभी मेघ समान गरजता है । अतः जोड़का है । जब वह पैदा हुआ था तब ऐसी ज़ोरसे गर्जा था कि पृथ्वी काँप उठी थी ।

नोट—३ 'बलवाना' = अतुलित योधा (यथा—'चला इंद्रजित अतुलित जोधा ।३।'), = दारुण भट; यथा—'कपि देखा दारुन भट आवा ।४।' वाल्मीकिजी लिखते हैं कि अक्षकुमारको मारकर हनुमान्जीने राक्षसाधिपतिको बहुत विस्मित कर दिया । यथा—'महाकपिर्भूमितले निपीड्य तं चकार रक्षोऽधिपतेर्महद्भयम् । ५।४७।३७ ।'—इसीसे उसने तुरत मेघनादको ही भेजा । मेघनादको आज्ञा देते हुए उसने जो कहा है कि—'तुम ब्रह्मास्त्रवित् हो, शस्त्र चलानेवालोंमें श्रेष्ठ और सुरासुरको शोकदाता हो, त्रैलोक्यमें कोई ऐसा नहीं है जो तुमसे परास्त न हुआ हो । तुम अपने भुजबल और तपोबलसे सर्वप्रकार सुरक्षित हो । तपोबल आदिमें तुम मेरे समान हो । तुम उस वानरकी अन्तःशक्ति और पुरुषार्थ तथा अपना बल विचारकर सामर्थ्यानुसार अपना बल दिखलाओ । तुम्हारे युद्धक्षेत्रमें जातेही, ऐसा करो कि, मेरी सेनाका नाश होना बन्द हो जाय । तुम अकेले ही जाओ; क्योंकि कोई उस बलवान् शत्रुके सामने ठहर नहीं सकता । इत्यादि ।'—यह सब 'बलवान', 'अतुलित योधा' एवं 'दारुण भट' की व्याख्या ही समझिये । और, जो कहा है कि तुमको युद्धमें भेजना निश्चय ही ठीक नहीं है, परन्तु किया क्या जाय ? यथा—'न खल्वियं मतिः श्रेष्ठा यत्त्वां संप्रेषयाम्यहम् । ५।४८।१३।' इससे उसका अत्यन्त विस्मित और विवश होकर मेघनादको ही भेजना स्पष्ट है, यह समझकर कि यही उसको कंपायमानकर बाँध ला सकता है ।

टिप्पणी—३ (क) 'मारसि जनि सुत बाँधेसि ताही ।' इति । अक्षकुमारादिसे ऐसा न कहा था, मेघनादसे ही क्यों कहा ? क्योंकि (जम्बुमाली, मंत्रिपुत्र और अक्षयकुमारादिके संहारसे उसको ज्ञात हो गया कि वानरपर वज्र और अस्त्रशस्त्र भी व्यर्थ हो जाते हैं । दिव्यास्त्रवित् ही उसको परास्त कर सकेगा और मेघनाद ब्रह्मास्त्रवित् है इससे) रावणको उसके बलका भरोसा है । विशेष ऊपर टि० २ और नोटमें आ चुका है । (ख) 'मारसि जनि' कथनसे स्पष्ट है कि रावणको यह निश्चय था कि यह वानरको मार सकता है, मार डालेगा, इसीसे कहा कि उसका वध न करना । क्योंकि मार डालनेसे तो फिर असली शत्रुका पता न चलेगा कि जिसने इसे भेजा है अथवा जो इस रूपसे आया है । दण्ड तो वस्तुतः असली शत्रुको देना उचित है । अतः बाँध लानेको कहा । (ग) 'देखिय कपिहि कहाँ कर आही ।' इति । देखें तो कि वह कहाँसे आया है । तात्पर्य कि हमारा वैरी तो तीनों लोकोंमें कोई न था; (यथा 'सुर नर असुर नाग खग माहीं । मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं । ३।२३ ।); यह कौन है और कहाँसे पैदा हो गया ? जिसने इसे भेजा हो उसे कुल समेत मारना चाहिये । उसे उसकी करनीका मजा चखाना चाहिये । इसी भावसे रावणने प्रथम हनुमान्जीसे यही पूछा कि—'कवन तैं कीसा । केहिके बल घालेसि बन खीसा ।।'

नोट—४ 'देखिय' के अनेक भाव हैं । देखें तो; देखना चाहिये (अर्थात् युक्तिसे पता लगाना चाहिये कि किसने भेजा है); मजा चखाना या दंड देना चाहिये—'देख लेंगे' इस अर्थमें मुहावरा है । वाल्मीकीयमें जो रावणने वीरोंको (५ सेनापतियोंको) भेजते समय समझाया है कि मेरा मन कहता है कि यह वानर नहीं है, इंद्रादिने इसे अपने तपोबलसे हमारी बुराई करनेके लिए यहाँ भेजा होगा । वानर समझकर इसकी उपेक्षा न करना । मैंने विपुल पराक्रमी बालि, सुग्रीव, जाम्बवान्, नील आदिको देखा है; पर वे ऐसे भयंकर वेगवाले नहीं हैं, न उनमें ऐसा तेज या पराक्रम है और न बुद्धि, बल और ऐसा उत्साह है । और न उनमें रूपकल्पनाकी ऐसी बुद्धि है । अवश्य ही वानररूपमें यह कोई महाबलवान् प्राणी है । उसकी करनी पर विचार करनेसे मुझे यही जान पड़ता है । यथा—'न ह्यहं तं कपिं मन्ये कर्मणा प्रतितर्कयन् । सर्वथा तन्महद्भूतं महाबलपरिग्रहम् । ६ । भवेदिन्द्रेण वा सृष्टमस्मदर्थं तपोबलात् । ७ । नावमान्यश्च युष्माभिर्हरिर्धीर पराक्रमः । ८ । दृष्टा हि हरयः पूर्वं मया विपुलविक्रमाः । बाली च सहसुग्रीवो जाम्बवांश्च महाबलः । १० । नीलः सेनापतिश्चैव ये चान्ये द्विविदादयः । नैवं तेषां गतिर्भीमा न तेजो न पराक्रमः । ११ । न मतिर्न बलोत्साहो न रूपपरिकल्पनम् । महत्सत्त्वमिदं ज्ञेयं कपिरूपं व्यवस्थितम् । १२ । वाल्मी० ५ । ४६ ।'—वे सब भाव 'देखिय कपिहिं....' में आ जाते हैं । दोहा २१ (१) (३) भी देखिये ।

चला इंद्रजित अतुलित जोधा। बंधु निधन सुनि उपजा क्रोधा ॥ ३ ॥
कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा ॥ ४ ॥

अर्थ—अतुलित योद्धा, इन्द्रको भी जीतनेवाला, मेघनाद चला। भाईका वध सुनकर उसे क्रोध उत्पन्न हो गया। ३। कपिने देखा कि बड़ा भयानक और कठिन योद्धा आया है (तब दाँत) कटकटाकर क्रोध करके गर्जा और दौड़ा। ४।

टिप्पणी—१ (क) 'इंद्रजित' का भाव कि जैसे इन्द्रको जीतकर बाँध लाया था, वैसेही हनुमान्जीको बाँधकर पिताके आगे हाजिर करेगा। (ख) 'अतुलित'=जिसके तुल्य कोई नहीं। यथा—'बारिनाद जेठसुत तासू। भट महँ प्रथम लीक जग जासू ॥ जेहि न होइ रन सनमुख कोई। सुरपुर नितहि परावन होई। १।१८०।' ['इंद्रजित' और 'अतुलित जोधा' विशेषण देकर इसको हनुमान्जीकी जोड़का जनाया। हनुमान्जीने तो बालकेलि ही से इन्द्रके वज्रको तुच्छ कर दिया था, यथा—'राहु रबि सक्र पबि गर्ब खर्बी करन' (विनय २५), 'जाकी चिबुक चोट चूरन कियो रद मद कुलिस कठोर को।' (विनय ३१)। और 'अतुलित बल धाम' हैं ही, यह मं० श्लोक० ३ में कहा गया है। पर मेघनादने इंद्रको अपनी मायासे जीता था और इन्होंने पैदा होतेही बाल-क्रीड़ासेही उनके दाँत खट्टे कर दिये थे। अथवा, 'इंद्रजीत' कहकर जनाया कि उसने वैसा ही पराक्रम दिखाया जैसा इंद्रको जीतनेमें किया था।] (ग) 'चला इंद्रजित' कहकर जनाया कि वह अकेला ही चल दिया। उसके साथ किसी औरका चलना नहीं लिखते। भाव यह कि वह अतुलित योद्धा है, किसीकी सहायता नहीं चाहता। यथा—'मेघनाद सुनि श्रवन अस गढ़ पुनि छेका आइ। उतरेउ बीर दुर्ग तें सन्मुख चल्यो बजाइ। ६।४८।' इत्यादि। अन्य वीर सेनाकी सहायता चाहते हैं, यथा—'पुनि पठएउ तेहि अच्छकुमारा। चला संग लै सुभट अपारा।' इंद्रजित्के साथ जो महाभट संगमें आए, वह अपनी इच्छासे उन्हें संग नहीं लाया। [वाल्मीकीयमें रावणने इसे अकेले ही जानेको कहा। इसीसे संभवतः यहाँ भी चलते समय अकेला कहा गया। इससे उसकी निर्भीकता सिद्ध होती है। पीछे रावणने रक्षा के लिये तुरत ही महाभटोंको भी भेज दिया होगा जैसे कि लक्ष्मणजीसे युद्धके समय भेजा था; यथा—'इहाँ दसानन सुभट पठाए।६।५२।'

टिप्पणी—२ 'बंधु निधन सुनि' इति। भाईका मारा जाना सुनकर क्रोध हुआ। इन्द्रको जीतनेवाले मुझ अद्वितीय योद्धाके रहते मेरे भाईका वध एक वानरने किया, यह समझकर क्रोध हुआ। जैसे रावणको क्रोध हुआ यह समझकर कि इतना बड़ा राजा मैं सो मेरे पुत्रको उसने मारा। 'चला इंद्रजित' कहकर तब 'बंधुनिधन' का सुनना कहा। इससे सूचित होता है कि अक्षका वध किसीने उसे रास्तेमें सुनाया। [रावण का 'सुत बध' सुनना कहा और मेघनादका 'बंधु निधन' सुनना कहते हैं। वहाँ वध और यहाँ निधन शब्दका प्रयोग करके जनाया कि मेघनादका भाव है कि वह युद्धमें मारा गया, अतः शोच्य नहीं है। उसे सद्गति प्राप्त होगी। पर रावणको तो ऐसा लगा कि मैंने जो सीतापहरण अपराध किया है उसका दंड मेरे पुत्रको दिया गया। 'औरु करै अपराध कोउ और पाव फल भोग'। (प० प० प्र०)]

३ (क) 'कपि देखा दारुन भट आवा' इससे ज्ञात होता है कि भटको देखते ही ये जान लेते हैं कि उसमें कैसा बल है।‡ (ख)—'कटकटाइ गर्जा' इति। कटकटाना कपिकी क्रोधमुद्रा है, यथा—'कटकटान कपि कुंजर भारी। दोउ भुजदंड तमकि महि मारी। ६।३१।३।', 'कटकटाहिं कोटिन्ह भट गर्जहिं। दसन ओंठ काटहिं अति तर्जहिं। ६।४०।६।', 'कटकटाइ डारहिं ता ऊपर। ६।६४।४।' ['कटकटाइ'=क्रोधसे दाँतोंसे कटकट शब्द करते हुये। 'गर्जा', यथा—'आयान्तं सरथं दृष्ट्वा तूर्णमिन्द्रजितं कपिः। विननाद महानादं....॥ वाल्मी० ५।४८।२४।'

‡ 'देखा' से सावधानता भी दिखाई। बहुत दूरसे उसे देख लिया यह बात 'धावा' से स्पष्ट है। 'दारुण भट'—टि० १ 'अतुलित' और दोहा १९ (१) 'बलवाना' देखिये।

गर्जनसे यह जनाया कि आओ, हम तुम्हारे लिये तैयार हैं।] (ग) 'धावा' से जनाया कि दारुणभट समझकर किंचित् भी शंकित न हुए, दौड़कर आगे पहुँचे अर्थात् भट और सुभटके आनेपर उनको मारा और दारुणभटको देखकर उसको पास तक आने भी न दिया, स्वयंही उसके पास दौड़कर पहुँच गए। इससे हनुमान्‌जीका बल, वेग, निर्भीकता, युद्धोत्साह आदि प्रकट होते हैं।

अति बिसाल तरु एक उपारा। बिरथ कीन्ह लंकेसकुमारा॥ ५॥
रहे महाभट ताके संगा। गहि गहि कपि मर्दइ निज अंगा‡॥ ६॥

अर्थ—एक अत्यन्त विशाल वृक्ष उखाड़ा और लंकेश्वरके पुत्रको बिना रथका कर दिया (अर्थात् रथ नष्ट करके उसको रथसे गिरा दिया)। ५। उसके साथ (जो) बड़े-बड़े योद्धा थे, उनको पकड़-पकड़कर कपि अपने अंगोंसे मल देते हैं (वा, मर्दन करने लगे) ६।

टिप्पणी—१ (क) अक्षकुमारकी तरह वधकी इच्छा करके बड़ा विशाल वृक्ष लेकर चलाया, मेघनाद आकाशमें चला गया। रथ, सारथी और घोड़े नष्ट हो गए; यथा—'देखि पवनसुत कटक बिहाला। क्रोधवंत जनु धायेउ काला॥ महासैल एक तुरत उपारा००। आवत देखि गयउ नभ सोई। रथ सारथी तुरग सब खोई॥ ६।५०।' यह विद्या अक्षयकुमारमें न थी। मेघनाद राक्षसी विद्या (=माया) में अत्यन्त निपुण है। (ख) 'अति बिसाल' का भाव कि जैसा भारी वीर है, वैसाही भारी शस्त्र लिया। वहाँ अनेक शस्त्र पड़े थे पर वे इनको नापसन्द थे, और पर्वत वहाँ था नहीं, इसीसे 'अति बिसाल' वृक्ष उखाड़ा। 'विशाल' में यह भी ध्वनि है कि ऐसा बड़ा कि जो लंकेसकुमारको विशेष शाल (पीड़ा, करक) दे। (ग) 'बिरथ कीन्ह००' का भाव कि राजकुमारकी शोभा रथमें बैठे होनेसे थी। उसकी शोभा नष्ट कर दी कि ले, बहुत सजधजकर आया था, अब पैदल बनकर लड़।† [(घ) वृक्षका उखाड़ना कहकर मेघनादको रथरहित करना कहा। रथपर चलाना न कहकर केवल उसका परिणाम कहा। इससे अत्यन्त शीघ्रता दिखाई। जैसे श्रीरामजीकी शीघ्रता 'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े। तेहि छन राम मध्य धनु तोरा।' में दिखाई, वैसे ही यहाँ श्रीहनुमान्‌जीकी फुर्ती दिखाई है। (प० प० प्र०)। लं० १३ में इसी तरह श्रीरामजीका 'चाप चढ़ाइ बान संधाना। ८।' कहकर उसका कार्य भर कहा गया कि 'छत्र मुकुट ताटंक तब हते एकही बान। सबके देखत महि परे मरम न कोऊ जान॥ अस कौतुक करि राम सर प्रबिसेउ आइ निषंग।' (ङ) 'लंकेसकुमारा' कहा, नाम न दिया। इससे जनाया कि इसका बल पराक्रम लंकेसके समान था। (प० प० प्र०)। हनुमान्‌जीके सामने आनेपर इसका नाम न देनेका भाव यह भी हो सकता है कि उनको इसका नाम नहीं मालूम है।]

२ 'रहे महाभट ताके संगा।....' इति। (क) मेघनादको छोड़कर दूसरेसे युद्ध होने लगा। इससे पाया जाता है कि वह अन्तर्धान हो गया है; अभी प्रकट नहीं हुआ। क्षणभर अन्तर्धान रहा, उतनेहीमें इन्होंने सेनाका नाश कर दिया। रथ और महाभट पीछे वर्णन करके जनाया कि ये दोनों उसके चलनेके पीछे आए। घरसे वह पैदल ही चला था, बीचमें रथपर सवार हुआ और वहीं सेना आकर मिली। (ख) और सरदारोंके मारे जानेपर राक्षस भागकर रावणके पास जाते थे, यथा—'कछु मारे कछु जाइ पुकारे। गए पुकारत कछु अधमारे' और 'कछु पुनि जाइ पुकारे प्रभु मर्कट बल भूरि', पर यहाँ अभी मेघनाद जूझा नहीं है, आकाशमें चला गया है; इसीसे साथके महाभट भाग न सके, सभी मारे गए। (ग) 'अति....अंगा' से हनुमान्‌जीका अत्यन्त वेग, अप्रमेय पराक्रम, निर्भयता और युद्धकौशल दिखाया।

तिन्हहिं निपात ताहि सन बाजा। भिरे जुगल मानहु गजराजा॥ ७॥

‡ 'अति बिसाल....।' द्रुतपा, 'बिरथ....अंगा।' पायकुलक है।
† 'लंकेशकुमारा' का भाव कि इसमें लंकेश होनेकी योग्यता है। (रा० प्र०)।

मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई। ताहि एक छन मुरुछा आई॥ ॥ ८ ॥

अर्थ—उन्हें (महाभटोंको) मारकर (फिर) उससे (मेघनादसे) मल्लयुद्ध किया। (ऐसा मालूम होता था-) मानों दो गजराज भिड़े हों। ७। हनुमान्‌जी (एक) घूँसा मारकर वृक्षपर जा चढ़े। उसको एक क्षणभर मूर्छा आगई।८।

टिप्पणी—१ (क) महाभटोंको मच्छड़ सरीखा अंगमें मल दिया और मेघनादसे मल्लयुद्ध किया। इससे ज्ञात हुआ कि मेघनाद लाखों महाभटोंसे विशेष बलिष्ठ है। पूर्व पहले सरदारोंको मारकर तब सेना-को मारा करते थे. पर यहाँ सेनाका नाश करके तब सर्दारसे भिड़े—'तिन्हहिं निपाति ताहि सन बाजा।' कारण कि प्रथम मेघनादको जब बिरथ किया तब वह आकाशमें जा छिपा; इससे सेनाका ही नाश प्रथम करना पड़ा। पुनः मेघनादको बलका गर्व था; यथा—'पठयेसि मेघनाद बलवाना'। इसीसे उसने आकर मल्लयुद्ध किया। (ख)-शंका :—मेघनादका रथ टूट गया तो वह दूसरा रथ क्यों न तैयार करके चढ़ा? मल्लयुद्ध क्यों किया? समाधानः-उसने सोचा कि यदि दूसरा रथ तैयार करके चढ़ूँगा तो ये भारी वृक्षसे फिर मारेंगे, और यदि मल्लयुद्ध करूँ तो यह मुझसे जीत न सकेगा। क्योंकि वानर ही तो है, कहाँतक बली होगा? इस तरह यह धोखेमें आकर भिड़ पड़ा; हनुमान्‌जीके बलका मर्म न जान पाया था। यदि मर्म जानता तो न भिड़ता; यथा—'बार बार प्रचार हनुमाना। निकट न आव मरमु सो जाना। ६।५०।' (ग) मल्लयुद्ध पशुयुद्ध है; इसीसे दोनोंको गजराज कहा। दोनोंका बराबरका युद्ध हुआ।—दोहा १८ आवृत्तियाँ टि० ४ में देखिये।† 'बाजा' जनकपुरकी बोली है।

वि० त्रि०—'तिन्हहिं निपाति.......आई' इति। महाभटोंको मारकर हनुमान्‌जी मेघनादसे भिड़ गये। 'निपाति' और 'बाजा' का कर्त्ता एक ही है। मेघनादको भी बलपरीक्षाकी इच्छा थी। राक्षसोंने पुकारा था 'प्रभु मरकट बलभूरि', इसीलिये रावणने बलवान मेघनादको भेजा। दोनों गजराजकी भाँति भिड़े। गजराज शुण्डमें शुण्ड लपेटकर मस्तकमें मस्तक भिड़ाकर बल प्रदर्शन करते हैं। इसी भाँति हनुमान्‌जी और मेघनादकी भुजाएँ लिपटी हुई हैं, माथामें माथा भिड़ा हुआ है। मल्लयुद्धमें अस्त्र-शस्त्र नहीं चलते, मुष्टि प्रहार होता है। हनुमान्‌जीने हाथ छुड़ाकर ऐसा घूँसा मारा कि मेघनाद गिर गया। हनुमान्‌जीने समझा कि मर गया, इसलिये पेड़पर चढ़े कि देखें अब कौन आता है, पर वह मरा नहीं, क्षणभरके लिये मूर्छामात्र हुई।

टिप्पणी—२ (क) 'मुठिका मारि चढ़ा तरु जाइ।००' इति। भाव कि मेघनादसे मल्लयुद्धमें पार न पाया तब उसे मुष्टिका मारकर गिराया, यथा—'बुधि बल निसिचर परइ न पार्‍यो। तब मारुत सुत प्रभुहि सभार्‍यो॥ संभारि श्रीरघुबीर धीर प्रचारि कपि रावन हनेउ। महि परत पुनि उठि लरत देवन्ह जुगल कहुँ जय जय भनेउ। ६।६४।' [वा, 'मुठिका मारि' का भाव कि भिड़ते ही उसको मारा, यह इनका मल्लयुद्ध कौशल दिखाया। कैसी फुर्ती से भिड़े, मार गिराया और वृक्षपर जा चढ़े कि आगेके लिये सावधान रहें। यहाँ 'देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहा जानकी जाहु' का चरितार्थ है। भिड़ते ही मारना यह बुद्धि है। एक घूँसेसे ऐसे वीरको मूर्छित करना बल है।] (ख) मल्लयुद्धमें मुष्टिका मारनेकी विधि है, यथा—'भिरे उभौ बाली अति तर्जा। मुठिका मारि महाधुनि गर्जा।' (४।८)। (ग)—'चढ़ा तरु जाई' यह क्यों? यह डरसे नहीं, किन्तु इससे कि मेघनाद मूर्छित है, मूर्छितको क्या मारें? मूर्छितको मारना प्राचीनकालमें धर्मविरुद्ध माना जाता था, यथा—'मुरुछा भई सक्ति

❀ 'तिन्हहिं....।' नयमालिनी है। 'भिरे....' और (८), (९) पायकुलक हैं। (ब्र० चं०)

† १ मा० त० सु०—गजराजसे उपमा देनेका तात्पर्य यह है कि जैसे ये कपिराज वैसेही वह राक्षसराज, ये नरराजके आज्ञाकारी और वह राक्षसराजका। पुनः, गजराज = सिंह।—(नोट—परन्तु गोस्वामीजीने गजराजको गजेन्द्र, मतवाले श्रेष्ठ हाथीके अर्थमें प्रयोग किया है। यथा—'चितवत मनहुँ मृगराज प्रभु गजराज घटा निहारि कै' (आ०)। मृगराज = सिंह।)। २—यहाँ उक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

के लागें। तब चलि गयउ निकट भय त्यागे। ६।५३।', 'अंगदादि कपि मुरुछित करि समेत सुग्रीव। काँख दाबि कपिराज कहुँ चला अमित बलसींव। ६।६४।', 'मुठिका ताहि एक कपि मारा। परेउ सैल जनु बज्र प्रहारा॥ मुरुछा गै बहोरि सो जागा। ६।८३।', 'पुनि सत सर मारा उर माहीं। परेउ धरनि तल सुधि कछु नाहीं। उठा प्रबल पुनि मुरुछा जागी। ६।८२।', इत्यादि प्रसंगोंसे विदित है कि मूर्च्छा होनेपर शत्रुको वीर योद्धा मारते नहीं। उस नीतिका पालन दिखाया। और वीर जो संग थे उनको प्रथम ही समाप्त कर दिया था, अब कोई है नहीं, जिससे लड़ते। अतएव वृक्षपर चढ़ गए। वहाँसे देखेंगे भी कि और कोई तो नहीं आता और इसकी मूर्छासे जगनेकी प्रतीक्षा भी करेंगे।

३ श्रीहनुमान्‌जीकी मुष्टिका और मेघनादका ब्रह्मास्त्र दोनोंको बराबरका दिखाया। मेघनादको मुष्टिकासे मूर्छा हुई और हनुमान्‌जीको ब्रह्मास्त्रसे। (पर हनुमान्‌जी ब्रह्मास्त्रसे स्वयं बँधे, नहीं तो चाहते तो वह बाँध न सकता था)।

प० प० प्र०—यहाँ हनुमान्‌जीका वृक्षपर चढ़ना प्रथम कहा—'चढ़ा तरु जाई;' और मेघनादका मूर्छित होना पीछे—'ताहि एक छन मूर्छा आई'। इस प्रकार दिखाया कि श्रीहनुमान्‌जीका आत्मविश्वास कितना गहरा था। उनको दृढ़ विश्वास था कि मेरे इस घूँसेसे उसको अवश्य मूर्छा आयेगी। इसीसे घूँसा मारकर वे वृक्षपर चढ़ गए।

उठि बहोरि कीन्हिसि बहु माया। जीति न जाइ प्रभंजनजाया॥ ९॥

अर्थ—फिर उठकर उसने बहुत माया की। पवनपुत्र जीते नहीं जाते। ९।

टिप्पणी—१ (क) उठनेपर फिर न भिड़ा; क्योंकि अब इनके बलका मर्म पा गया कि लड़कर पार न पाऊँगा। शरीरके बलसे हार गया तब माया की। मायासे हारेगा तब ब्रह्मास्त्र चलावेगा। (ख) 'बहु माया' से जनाया कि जितनी माया आती थी वह सब की। (ग) 'जीति न जाइ' का भाव कि जो जो माया वह करता उसे हनुमान्‌जी निवारण कर देते, काट डालते। इसीसे 'प्रभंजनजाया' कहा। प्रभंजनका अक्षरार्थ है— जो प्रकर्ष करके भंजन करे। उसके ये पुत्र हैं; अतएव इन्होंने भी मायाको भंजन किया। भाव यह कि जितने भूत-पिशाचादि हैं वे सब पवनसे उड़ जाते हैं; इसीसे नजर टोना झाड़नेके पीछे फूँक देते हैं। [जब द्रोणाचलसे संजीविनी लानेको गए हैं तब कालनेमिकी मायाको तोड़ा है; इसलिये वहाँ भी यही शब्द आया है। यथा—'चला प्रभंजनसुत बल भाषी। ६।५५।']

नोट—१ (क) मायाका विस्तार लंकाकाण्डमें लिखेंगे, इससे यहाँ नहीं लिखा। (ख) मा० त० सु०—मेघनादकी माया न लगी क्योंकि ये मायापतिके सेवक हैं, और 'नट सेवकहिं न ब्यापइ माया'। (ग) बहुत माया करनेपर भी जीते नहीं जा सकते, इससे जनाया कि उसको श्रीहनुमान्‌जीमें कोई भी छिद्र न देख पड़ा। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि दोनोंमें किसीको एक दूसरेका छिद्र नहीं जान पड़ा, दोनों समान पराक्रमशाली थे। यथा—'हनूमतो वेद न राक्षसोऽन्तरं न मारुतिस्तस्य महात्मनोऽन्तरम्। परस्परं निर्विषहौ बभूवतुः....। ५।४८।३३।' तब मेघनाद विचार करने लगा कि यह अस्त्रशस्त्रसे अवध्य हैं, इनको किस उपायसे पकड़ा जाय। यथा—'ततस्तु लक्ष्ये स विहन्यमाने शरेष्वमोघेषु च संपतत्सु। जगाम चिन्तां महतीं महात्मा....। ५।४८।३४।... अवध्यतां तस्य कपेः समीक्ष्य कथं निगच्छेदिति निग्रहार्थम्। ३५।' यह सोचकर उसने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया।

दो०—ब्रह्मअस्त्र तेहिं साधा कपि मन कीन्ह बिचार।
जौं न ब्रह्मसर मानौं महिमा मिटइ अपार॥ १९॥

शब्दार्थ—ब्रह्मास्त्र—यह एक मंत्र है। गायत्री मंत्र उलटा 'त्यादचाप्रनो....' इत्यादि पढ़नेसे और कुछ विशिष्ट बीजाक्षरोंके लगानेसे बनता है। इस मंत्रके सामर्थ्यसे त्रैलोक्यका विनाश करना सुलभ है। पर यह तब सिद्ध होता है जब ब्रह्माजी प्रसन्न होते हैं। द्वापरके अंतमें भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा और अर्जुन

ही इसका प्रयोग कर सकते थे, पर अश्वत्थामा इसका उपसंहार नहीं जानते थे। (प० प० प्र०)। यह समस्त अस्त्रोंसे श्रेष्ठ और अमोघ है। साधना = संधान करना; प्रयोग करना।

अर्थ—उस (मेघनाद) ने ब्रह्मास्त्र साधा (तब) कपि हनुमान्जीने मनमें विचार किया कि यदि मैं ब्रह्मास्त्रका मान न करूँ (अर्थात् जैसे मैंने सब राक्षसी माया व्यर्थ कर दी वैसेही ब्रह्मास्त्रको भी व्यर्थ कर दूँ) तो उसकी अपार महिमा मिट जायगी। १९।

टिप्पणी—१ (क) ब्रह्मास्त्र साधारणतः नहीं चलाया जाता। जब मेघनाद सब तरह हार गया तब उसने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। यथा—'नाना बिधि प्रहार कर सेषा। राच्छस भयउ प्रान अवसेषा। ६।५३।', 'सोऽविषह्यं हि मां बुद्ध्वा स्वसैन्यं चावमर्दितम्। वाल्मी० ५। ५८। १२८।' अर्थात् इन्द्रजीतने अपनी सेनाको मर्दित देख और मुझे अपने मानका न जान 'ब्राह्मेणास्त्रेण स तु मां प्राबध्नाच्चातिवेगितः १२८।' बड़ी शीघ्रतासे ब्रह्मास्त्रसे मुझे बाँध लिया। जब लक्ष्मणजीसे युद्ध हुआ तब भी 'रावन सुत निज मन अनुमाना। संकट भयउ हरिहि मम प्राना॥ बीरघातिनी छाँड़ेसि साँगी।' (ख) पूर्व दोहा १२ में दिखा आए हैं कि हनुमान्जी सब काम विचारकर करते हैं; वैसेही यहाँभी उन्होंने ब्रह्मास्त्रके विषयमें विचार किया। (ग) 'जौं न मानौं' से जनाया कि हनुमान्जी इसके वशमें नहीं हैं, चाहते तो न मानते। पुनः, इसके साधतेही इनको मालूम भी हो गया कि हमपर वह ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करता है। (घ) 'महिमा मिटइ अपार'से जनाया कि ये उसके बलसे न हारे, न उसकी मायासे पराजित हो सके, ब्रह्मास्त्रकी महिमाके विचारसे हारे।—'मर्य्यादा भेदमिच्छन्ति प्रलयेपि न साधवः।' 'अपार महिमा' यह कि देवता, मनुष्य, राक्षस इत्यादि जितने भी जीव त्रिलोकमें हैं वे सब ब्रह्मास्त्रके वश हैं। हम इसका सन्मान न करेंगे तो ब्रह्मास्त्रकी यह बड़ाई संसारमें न रह जायगी।

नोट—१ वाल्मी० सर्ग ४८में ब्रह्मास्त्र चलानेमें मेघनादके विचार और उसके माननेमें हनुमान्जीके विचार इस प्रकार हैं—(क) अमोघबाणोंके भी निष्फल होनेपर मेघनादने विचार किया कि ये अवध्य हैं, इनको किस प्रकार पकड़ा जाय। यह सोचकर ब्रह्मास्त्र चलाकर उनको बाँध लिया।—(श्लो० ३४—३७)। (ख) श्रीहनुमान्जी चिन्तित और पीड़ित न हुए वरन् ब्रह्माके वरपर विचार करते हुए सोचने लगे। ब्रह्मास्त्रमें अपनी श्रद्धा और उस ब्रह्मास्त्रके तोड़नेकी अपनी शक्ति और ब्रह्माकी कृपाको विचारकर यही निश्चय किया कि उसे मानना ही चाहिए। अस्त्रसे बँध जानेपरभी मुझे भय नहीं है क्योंकि मैं ब्रह्मा, इंद्र और वायुके द्वारा रक्षित हूँ। मेरे पकड़े जानेमें भी मुझे यह गुण दिखाई पड़ता है कि रावणसे संभाषण होगा; अतएव ये लोग मुझे पकड़ ले जायँ यही अच्छा है। हनुमान्जीने अपना बाँधा जाना और राक्षसों द्वारा तिरस्कार इस विचारसे अच्छा समझा कि कदाचित् रावण कौतूहलवश मुझे देखना चाहे तो मेरी उससे बातचीत हो जायगी। (५।४८।३९-४७)। यथा—'स वीर्यमस्त्रस्य कपिर्विचार्य पितामहानुग्रहमात्मनश्च। विमोक्षशक्तिं परिचिन्तयित्वा पितामहाज्ञामनुवर्तते स्म।४२।' यही बात रावणसे भी उन्होंने कही है,—'वनं राक्षसराजस्य दर्शनार्थे विनाशितम्।....अस्त्रपाशैर्न शक्योऽहं बद्धुं देवासुरैरपि। पितामहादेष वरो ममापि हि समागतः। राजानं द्रष्टुकामेन मयास्त्रमनुवर्तितम्॥ विमुक्तोऽप्यहमस्त्रेण राक्षसैस्त्वभिवेदितः। केनचिद्रामकार्येण आगतोस्मि तवान्तिकम्।' (सर्ग ५० श्लो० १५—१८)। अर्थात् मुझे ब्रह्मासे वर मिला है; मैं किसी भी अस्त्रसे बाँधा नहीं जा सकता और न उससे बँधा हूँ, मैंने तो केवल तुम्हारे दर्शनार्थ वनको उजाड़ा और यहाँ रामचन्द्रजीका कुछ कार्य करनेके लिए आया हूँ।

२ प्रभु मर्यादापुरुषोत्तम हैं, वे स्वयं ब्रह्माके दिए हुए वरदानोंकी मर्यादाकी रक्षा करते हैं और मैं उनका दास हूँ, अतएव मुझे भी उसकी मर्यादा रखनी चाहिए; नहीं तो आगे कोई भी उनके वर देनेपर विश्वास न करेगा, उनका महत्व जो प्रभुने उन्हें दे रखा है, उठ जायगा।

३—हनुमन्नाटकमें कहा है कि प्रथम हनुमान्जीने मेघनादके प्रहारको निष्फल कर दिया तब उसने ब्रह्माजीकी निंदा की तब ब्रह्माजीके कहनेसे चतुर हनुमान्जी स्वयं ब्रह्मपाशसे बँध गए। यथा—'तत्कोपारुण-

लोचनेन्द्रजयिना प्राङ् निष्फलत्वाद्धृतं, ब्रह्मास्त्रेण विगर्हितेन विधिना बद्धो विदग्धः कपिः। ६।२१।'

४—अ० चं०—यह दोहरा है।

ब्रह्मबान कपि कहुँ तेहि मारा। परतिहु बार कटकु संघारा॥ १॥
तेहि देखा कपि मुरुछित भएऊ। नागपास बाँधेसि लै गएऊ॥ २॥

अर्थ—उसने (मेघनादने) कपिको ब्रह्मबाण मारा। (वे वृक्षपरसे नीचे गिरे) गिरते समय भी उन्होंने कटकका नाश किया (अर्थात् जितनी दूर तक सेना थी, उतनी दूरतक शरीर बढ़ाकर ऐसे गिरे कि सब पिस गए)। १। (जब) उसने देखा कि कपि मूर्च्छित हो गया (तब) नागपाशमें बाँधकर ले गया। २।

टिप्पणी—१ (क) ब्रह्मास्त्रने कपिको गिराया, कपिने सेनाका संहार किया। भाव कि गिरतेमें भी ब्रह्मास्त्रसे अधिक काम किया, तब सचेत अवस्थाकी क्या कही जाय? (ख) 'परतिहु बार'। अर्थात् युद्धमें तो कटकका संहार किया ही था, गिरतेमें भी किया। (ग) शंका—कटकका नाश तो प्रथम ही हो चुका—(यथा—'तिन्हहिं निपाति ताहि सन बाजा') अब कटक कहाँ था जिसका संहार किया? समाधान—यह कटक पीछेसे आया। रावण पुत्रकी सहायताके लिए सुभटोंको भेजता रहा। यथा—'इहाँ दसानन सुभट पठाये। नाना अस्त्र सस्त्र गहि धाये। ६।५२।' (घ) यहाँ कपिके गिरनेपर कटकका संहार कहते हैं और लंकाकांडमें राक्षसोंके गिरनेपर वानर-कटका दबना लिखते हैं, यथा—'परे भूमि जिमि नभ ते भूधर। हेठ दाबि कपि भालु निसाचर। ६।७०।', 'धरनि परेउ दोउ खंड बढ़ाई। चापि भालु मर्कट समुदाई। ६।१०२।' तात्पर्य कि इनका संहार हुआ, ये तो मर गए और वहाँ केवल दबे, प्राण बनेही रहे, पीछे वे निकल आए [कोई मरे नहीं। इससे श्रीहनुमान् जीकी उत्कृष्टता दिखाई। गिरनेमें भी स्वकार्य साधनही हेतु है, ब्रह्मास्त्र नहीं। सेनाका संहार करनेके लिये भी गिरे।]

२ (क) 'तेहि देखा' का भाव कि चारों वक्ताओंमें कोई भी यह नहीं कहता कि कपि मूर्च्छित है। और, वह मूर्च्छित है भी नहीं। वे ब्रह्मास्त्रका मान रखे हैं; इसीसे मेघनादको मूर्च्छित दिखते हैं। जब अच्छी तरह समझ लिया कि ये मूर्च्छित हैं तब पास गया; क्योंकि समझता है कि यदि कपि केवल दम साधे हुआ और मैं पास गया तो अबकी मुष्टिकासे प्राणही ले लेगा। अतएव जब निश्चय देख लिया कि मूर्च्छित है तब निकट गया। (ख) 'नागपास बाँधेसि'—मूर्च्छित दशामें ही बाँध लिया; क्योंकि मूर्च्छासे जगनेपर बाँधना संभव नहीं। बाँधा इससे कि मूर्च्छा दूर होनेपर फिर बड़ा उपद्रव करेगा और फिर ब्रह्मास्त्रभी न लगेगा (ग) 'लै गएऊ' से जनाया कि ये आपसे गए उसके सामर्थ्यसे नहीं; यथा—'दसमुख सभा दीख कपि जाई'।

मा० त० सु०—(१) नागपाशसे बाँधा क्योंकि जैसे ब्रह्मास्त्र व्यर्थ नहीं हुआ, वैसेही यह भी व्यर्थ न होगा। (२)—यहाँ सर्वोपरि प्रभावशाली ब्रह्मास्त्र तथा नागपाशके प्रयोगसे मेघनादका यह अन्तिम युद्ध-कौशल और श्रीहनुमान्जीका अजेयत्व प्रतिपादित हुआ। अत्यन्त प्रबलपराक्रमीसे युद्ध होनेमें नाग-पाश-बन्धन ही समर्थ होता है; यथा—'ब्यालपास बस भए खरारी। ६।७२।'

वंदनपाठकजी—जब मेघनाद इन्द्रको जीतकर बाँध ले गया, तब ब्रह्माजीने इन्द्रको जाकर छुड़ाया और बदलेमें ब्रह्मास्त्र दिया और कहा कि यह अमोघ है। और, हनुमान्जीको यह आशीर्वाद दिया कि ब्रह्मास्त्र भी तुम्हारा कुछ न कर सकेगा और यदि कुछ करेगा भी तो केवल ढाई दण्डतक, तत्पश्चात् तुम उससे विमुक्त हो जाओगे।

नोट—१ नागपाश वरुणका दिया हुआ है। बाबा हरिदासजीका मत है कि उसने सोचा कि यदि ब्रह्मपाशमें मैं इनको बाँध ले गया तो इसमें मेरी कौन वीरता कही जायगी, क्योंकि ब्रह्मपाशसे तो सभी फाँस सकते हैं; इससे नागपाशसे बाँधकर ले गया।

२—वाल्मीकिजीके मतानुसार 'परतिहु बार' और 'तेहि देखा कपि मुरुछित भएऊ' का भाव यह होगा कि ब्रह्मास्त्रमर्मवेत्ता मेघनादने अब यह जान लिया कि हनुमान्जी इससेभी अवध्य हैं, नहीं तो मर ही

जाते, केवल मूर्च्छित न होते; अतः उनको ब्रह्मास्त्रसे तुरत बाँध लिया। यथा—'अवध्योऽयमिति ज्ञात्वा तमस्त्रेणास्त्रतत्त्ववित्। निजग्राह महाबाहुर्मारुतात्मजमिन्द्रजित्॥ ५। ४८। ३७।'

जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भव-बंधन काटहिं नर ज्ञानी॥ ३॥
तासु दूत कि बंध तर आवा। प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा॥ ४॥

अर्थ—हे भवानी! सुनो! जिसका नाम जपकर ज्ञानवान् मनुष्य भव-बंधन काट डालते हैं, उसका दूत क्या बन्धनमें आ सकता है? (अर्थात् भवबन्धनके आगे नागपाश तो कुछ भी नहीं है)। प्रभुके कामके लिए कपिहीने अपनेको बँधाया था। ३-४।

नोट—१ 'जासु नाम जपि सुनहु भवानी।०' इति। श्रीशिव-पार्वती, श्रीभुशुण्डि-गरुड़ और श्रीयाज्ञवल्क्यभरद्वाजके जोड़े बीच-बीचमें सांकेतिक रूपसे अपने विचार उसी प्रकार प्रकट करते जाते हैं, जैसे महाकाव्य सम्बन्धी नाटकोंमें दूरसे उज्ज्वल गोलेमें कृष्ण भगवान् द्रौपदीके चीरहरणके समय अपना दुपट्टा फेरते दिखाये जाते हैं। महाकाव्यकलाका मेल नाटकीयकलासे करानेकी यह युक्ति सराहनीय है। पर संकेत इतने छोटे होते हैं कि रस भंग नहीं होता, हम उसे तनिक ही देरमें भूल-सा जाते हैं। २—रणका फिल्म-कलाको मात करनेवाला चित्र तो आपने देख ही लिया है।—(लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—१ (क) 'नर ज्ञानी' पदसे यह मालूम होता है कि ज्ञान होनेपर नाम जपे तब भव-बन्धन कटता है और नामका तो बड़ा महत्त्व नामवंदना-प्रकरण आदिमें कह आए हैं। दोनोंका समन्वय कैसे हुआ? उत्तर—यहाँ ग्रन्थकारका उपदेश है कि मुक्त, मुमुक्षु और विषयी तीनों नाम जपकरही भव-बन्धन काटते हैं, नाम प्रधान है, यथा—'गिरिजा जासु नाम जपि मुनि काटहिं भवपास। ६। ७२।', 'भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम। ७। ५८।' मुमुक्षु और नर विषयी हैं।❋ तथा यहाँ 'भवबंधन काटहिं नर ज्ञानी'॥ ज्ञानी जीवन्मुक्त जीव हैं, मुनि मुमुक्षु हैं और नर विषयी जीव हैं। इनमेंसे कोई भी बिना नामजपके भवपार नहीं हो सकता। यह भव-बंधन ऐसा कठिन है। [प० प० प्र० का मत है कि 'ज्ञानी नरके समान भवबंधनको काटते हैं, ऐसा अर्थ करना चाहिए; क्योंकि केवल ज्ञानसे भी मुक्ति होती है—'ज्ञान मोच्छ प्रद बेद बखाना'। भाव यह है कि जिस भवबंधन-विनाशके लिये ज्ञानदीपकमें कथित अपार कष्ट उठाने पड़ते हैं वही भवबंधन जिनका नाम जपनेसे नष्ट होता है]

२ (क) 'प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा'। तात्पर्य कि इनके बँधनेसे प्रभुका कार्य हुआ। दशमुख-सभा देखी, लंका जलाई, राक्षसोंका मान मर्दन किया। यह सब प्रभुका कार्य है; यथा—'मोहि न कछु बाँधे कर लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा'। पुनश्च यथा—'किं तु रामस्यप्रीत्यर्थं विषहिष्येऽहमीदृशम्। वाल्मी० ५३। १४।' अर्थात् श्रीरामजीकी प्रसन्नताके लिये मैं इस प्रकारके (बंधन, पूँछमें आग लगाकर घुमाया जाना, गाली आदि) अनादरको भी सह लूँगा। विशेष दोहा १९ में देखिये। (ख) 'कपिहि बँधावा' = कपिने अपनेको बँधाया। जैसे 'रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायो' रणकी शोभाके लिये प्रभुने अपनेको बँधाया। 'अपने को' पदका अध्याहार करना होगा। (ग) शंका—यह कैसे निश्चय हुआ कि 'प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा'? समाधान—जब आगे आपही नागपाशसे छूट गए। यथा—'निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी', तो क्या इस समय न छूट सकते? (घ) 'तासु दूत' का भाव कि और लोग तो नाम जपकर बंधन काटते हैं, जिनसे कुछ सम्बन्ध नहीं है और ये तो उनके दूत हैं, अथवा, इनका तो स्वामी-सेवकका नाता है। तब भला ये बंधनसे मुक्त न हो सकते?

नोट—२ 'प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा' इति। इसपर दोहा १९ के नोटमें लिखा जा चुका है। ☞ यहाँ उपदेश मिलता है कि स्वामीके कार्यके निमित्त स्वार्थका त्याग करके अपने यश और प्राणोंकी भी पर्वा न करके उसमें प्रवृत्त होना चाहिए। निषादराजनेभी कहा है—'ठाटहु सकल मरै के ठाटा।

❋ मा० त० सु—'ज्ञानी' शब्दसे ज्ञानाचार्य श्रीशिवजीने ज्ञानसंपन्नजनोंको नामावलंबी होनेका उपदेश दिया। 'नर' शब्द अल्पज्ञवाचक है अर्थात् पापी मनुष्य।

सनमुख लोह भरत सन लेऊँ।....रामकाजु छनभंगु सरीरा॥....स्वामि काज करिहउँ रन रारी।....तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरें।' इत्यादि। २। १९०।

☞ 'सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा' से 'प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा' तक 'बन उजारि' प्रसंग है।

'रावनहि प्रबोधी'—प्रसंग

कपिबंधन सुनि निसिचर धाए। कौतुक लागि सभा सब आए॥ ५॥
दसमुख सभा दीखि कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई॥ ६॥

अर्थ—कपिका बँधजाना सुनकर निशिचर दौड़े (कि अब कुछ भय नहीं है, अभीतक हनुमान्‌जीके भयसे छिपे बैठे थे)। कुतूहलके कारण सब सभामें आए। ५। कपिने जाकर रावणकी सभा देखी। उसकी अति प्रभुता कुछ भी कही नहीं जा सकती। (अर्थात् देखते ही बनती है। ऐसी साहिबी और सभा कपिने न देखी थी, सभा देखकर आश्चर्य हुआ)। ६।

टिप्पणी—१ (क) 'सुनि धाए' क्योंकि कौतुक देखनेकी उत्कंठा है। जिसको जिस चीजके देखनेकी इच्छा होती है वह उसके लिये दौड़ता ही है, यथा—'धाए धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी। १। २२०।', 'समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। प्रमुदित फिरहिं जनम फलु पाई। २। १२१।', 'जे जैसेहिं तैसेहिं उठि धावहिं। बालबृद्ध कहँ संग न लावहिं। ७। ३।' [पहले अक्षकुमारके वधसे अति शोकातुर होकर जहाँ तहाँ छिपे वा बैठे हुए थे। अब अति आनन्दित हो दौड़े। (मा० त० सु०)। बड़ा कौतुक कपिके देखनेका है, पर सैनिकोंका बारबार पलायन देखकर, भयसे कोई युद्धस्थलमें देखने नहीं जाता था। जब सुना कि बन्दर बँध गया, राजसभामें लाया जा रहा है, तब तो सब दौड़े और राजसभामें सब आये। रास्तेमें देखने नहीं गये कि कहीं बीचमेंही बन्धन न तोड़ डाले। सभामें स्वयं रावण हैं, अतः वहाँ कोई भयकी बात नहीं है। (वि. त्रि.)] (ख) 'कौतुक लागि'। अर्थात् ऐसा भारी और बलिष्ठ वानर न देखा था न सुना, देखने योग्य है, अवश्य शीघ्र चलकर देखना चाहिए। (ग) यहाँ 'कौतुक' शब्द पर प्रसंग छोड़ते हैं, बीचमें हनुमान्‌जीका सभामें आना और रावणसे संवाद होना कहकर तब फिर इसी 'कौतुक' शब्दसे प्रसंग मिलावेंगे—'कौतुक कहँ आये पुरवासी।'

नोट—श्रीलमगोड़ाजीने अपने 'विश्वसाहित्यमें श्रीरामचरितमानस' अन्तर्गत 'हास्यरस' में खेलाड़ी श्रीहनुमान्‌जीके करतब दिखाही दिये हैं। जो कौतुक देखने आये हैं, वे भरपेट कौतुक देख लें। ये अभी हँसते हैं, पर कभी रोवेंगे।

टिप्पणी—२ 'दसमुख सभा दीखि कपि जाई' इति। भाव कि चारों ओर स्वर्णके हजारों खम्भे लगे हैं, ऊपर रत्नमंडप है, नीचे स्फटिकमणिका फ़र्श है, मध्यमें रावणका सिंहासन है। सब खम्भों आदिमें रावण आदिका प्रतिबिंब झलक रहा है। पहचान नहीं पड़ता कि इसमेंसे कौन असली रावण है, कौन प्रतिबिंब। यहाँ हनुमान्‌जीकी बुद्धिमानी देखिए। उन्होंने देखा कि अमुक रावणके प्रथम हाथ उठानेसे अन्य सबका हाथ उठता है, उसीके सिर हिलानेसे सबके सिर हिलते हैं। इत्यादि। अतः अमुक-ही असली रावण है और सब प्रतिबिंब। रामचन्द्रिका देखिये।

नोट—वह 'अति प्रभुताई' क्या है, इसे आगे कहते हैं।

कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥ ७॥
देखि प्रताप न कपि मन संका। जिमि अहिगन महुँ गरुड़ असंका॥ ८॥

अर्थ—देवता और दिग्पाल हाथ जोड़े बड़ी नम्रतासे भयसहित सब रावणकी भौंह ताक रहे हैं

। ७ । यह प्रभुता देखकर कपिके हृदयमें (कुछ भी) शंका (डर) न हुई (वे वैसे ही निश्शंक देख पड़ते थे) जैसे सर्पोंके बीचमें गरुड़ निश्शंक रहते हैं । ८ ।

टिप्पणी—१ (क) सुरसे सामान्य देवता और दिशिपसे विशेष, इस प्रकार छोटे बड़े सभी देवता सूचित किये । 'सभीता' का भाव यह कि उसकी भृकुटी अवलोकन करते हैं, उससे भयभीत रहते हैं, तब भी रावणकी भृकुटी चढ़ी ही रहती है । यथा—'रबि ससि पवन बरुन धनधारी । अगिनि काल जम सब अधिकारी ॥ किंनर सिद्ध मनुज सुर नागा ।....आयसु करहिं सकल भयभीता । नवहिं आइ नित चरन बिनीता । १।१८२ ।' (ख) दशमुखकी सभामें कपि श्रीहनुमान्‌जीका जाना सुनकर सब निशाचरोंका दौड़कर जाना कहा, पर देवताओंका आगमन न कहकर केवल यही कहा कि 'कर जोरे सुर दिसिप....' । इस भेदसे यह जनाया कि देवता आठो पहर हाज़िर रहते हैं । सभाके प्रारम्भमें ही वे आकर खड़े हो जाते हैं ।* (ग) पहले जिसे 'अति प्रभुताई' कहा, उसीको यहाँ 'प्रताप' कहा । दोनोंको पर्यायी जनाया ।

नोट—१ मिलान कीजिये—'अष्टौ ते लोकपाला मम भयचकिताः पादरेणुं ववन्दुः । हनु० ८।१९ ।', 'इन्द्रं माल्यकरं सहस्रकिरणं द्वारि प्रतीहारकं, चन्द्रं छत्रधरं समीरवरुणौ सम्मार्जयन्तौ गृहान् ॥ पाचक्ये परिनिष्ठितं हुतवहं किं मद्गृहे नेक्षसे । हनु० ८।२३ ।', 'ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयतां, स्वल्पं जल्प बृहस्पते जडमते नैषा सभा वज्रिणः । स्तोत्रं संहर नारद स्तुतिकथालापैरलं तुम्बरो ।....॥ हनु० ८।४५ ।'—अर्थात् रावण अंगदसे कहता है कि अष्ट लोकपाल भयसे चकित होकर मेरे चरणरेणुकी वन्दना करते हैं । १९। इन्द्र तो माली है, सूर्य ड्योढ़ीदार है, चन्द्रमा छत्रका धारण करनेवाला है, पवन और वरुण झाड़ूबरदार हैं, अग्नि रसोई बनानेमें मेरे यहाँ स्थित रहता है—क्या तू यह नहीं देख रहा है ? २३। रावणका एक प्रतीहार ब्रह्मादिको फटकार रहा है कि—'हे ब्रह्मन् ! यह पठनका समय नहीं है, चुप होकर बाहर बैठो । हे जड़मति बृहस्पति ! यह इन्द्रकी सभा नहीं है, थोड़ा बोलो । हे नारद ! स्तोत्रोंको रहने दो ।....। ४५ । पुनः, यथा—'बेद पढ़ैं बिधि संभु सभीत, पुजावन रावन सों नित आवैं । दानव देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहि तें सिर नावैं । ऐसेउ भाग भगे दसभाल ते जो प्रभुता कबि कोबिद गावैं । क० ७ । २ ।'—यही सब 'अति प्रभुताई' वा 'प्रताप' है ।

टिप्पणी—(क) प्रताप देखकर शंका न हुई, यह कहकर सूचित किया कि हनुमान्‌जीका पराक्रम समस्त देवताओं और समस्त राक्षसोंसे अधिक है; यथा—'पंचमुख छमुख भृगुमुख्यभट असुर सुर सर्ब सरि समर समरत्थ सूरो । बाँकुरो बीर बिरुदैत बिरुदावली बेद बंदी बदत पैज पूरो ।' (बाहुक), 'कामं खल्वहमप्येकः सवाजिरथकुञ्जराम । लङ्कां नाशयितुं शक्तस्तस्यैष तु न निश्चयः । ३२ । वाल्मी० ५।५१ ।' अर्थात् मैं अकेला ही निस्सन्देह सारी लंकाको घोड़ों और हाथियों सहित नाश कर सकता हूँ, 'सर्वेषामेव पर्याप्तो राक्षसानामहं युधि । ५ । ५३ । १३ ।' अर्थात् मैं अकेला ही सब राक्षसोंसे युद्ध करनेको समर्थ हूँ ।; 'न कालस्य न शक्रस्य न विष्णोर्वित्तपस्य च । कर्माणि तानि श्रूयन्ते यानि युद्धे हनूमतः । वाल्मी० ७ । ३५ । ८ ।', 'देखी मैं दसकंठ सभा सब मोतें कोउ न सबल तो । गी० ५ । १३ ।' (ख) प्रथम कहा कि 'दसमुख सभा दीखि कपि जाई ।', देखना कहकर प्रभुता कहने लगे । प्रभुता कहकर तब फिर 'देखि' पदसे प्रारम्भ किया ।

३ (क) 'देखि प्रताप न कपि मन संका' का दूसरा भाव यह है कि रावणका प्रताप सुनकर ही भय उत्पन्न होता है, यथा—'की धौं श्रवन सुनेहि नहि मोही । देखउँ अति असंक सठ तोही । २१।२ ।' पर हनुमान्‌जी प्रताप देखकर भी शंकितहृदय न हुए । (ख) 'जिमि अहिगन महुँ गरुड़ असंका' । अहिगणको देखकर गरुड़को भक्षण करनेका उत्साह होता है वैसे ही राक्षसोंको देखकर हनुमान्‌जीको इनके 'वध' का उत्साह होता है । यथा—'देखी मैं दसकंठसभा सब मोतें कोउ न सबल तो'—(गीतावली) । पुनः जैसे गरुड़को देखकर सर्पोंको भय होता है, वैसे ही हनुमान्‌जीको देखकर राक्षस शंकित हुए कि ऐसा न हो कि छूट जाय तो फिर बड़ा

* २० (१) से २० (८) तक पायकुलक है । (प्र० चं०) ।

उत्पात वा अनर्थ करे। ☞ रावणका प्रताप देखकर शंका न हुई क्योंकि उनके हृदयमें प्रभुका प्रताप भरा हुआ है जो इसके प्रतापसे अधिक है। यथा—'प्रभु प्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल', 'प्रभु प्रताप कपि सहज असंका। रन बाँकुरा बालिसुत बंका। ६। १८।' ['जिमि अहिगन....' में उदाहरण अलंकार है]

दो०—कपिहि बिलोकि दसानन बिहँसा कहि दुर्बाद।
सुत बध सुरति कीन्हि पुनि उपजा हृदय बिषाद॥ २०॥

अर्थ—कपिको देखकर रावण दुर्वचन कहकर दसों मुखोंसे खूब हँसा। फिर सुतवधका स्मरण किया तो हृदयमें शोक और दुःख उत्पन्न हो गया। २०।

टिप्पणी—१ (क) 'बिहँसा कहि दुर्बाद' अर्थात् इस प्रकार हनुमान्‌जीका तिरस्कार किया। (ख) दुर्बादका स्वरूप गोस्वामीजीने प्रायः कहीं प्रकट नहीं लिखा, यथा—'लषन कहेउ कछु बचन कठोरा। २।१५२।'; 'मरम बचन सीता जब बोला। ३।२८।'; 'कहि दुर्बचन क्रुद्ध दसकंधर। ६।६०।'; और 'तेहि कारन करुनानिधि कहे कछुक दुर्बाद। ६।१०७।' इत्यादि। (ग) यहाँ रावणकी तन, वचन और मनकी दशाएँ दिखाई हैं। 'कपिहि बिलोकि दसानन' यह तनकी दसा, 'कहि दुर्बाद' यह बचन और 'उपजा हृदय बिषाद' यह मनकी दशा है। (घ) पहले जब सुतबध सुना था तब क्रोध हुआ था अब क्रोधका काम हो चुका, शत्रु बँध आया; उसे देखकर स्मरण हो आया कि इसीने हमारे पुत्रका वध किया है।—१९ (१) देखिए। अथवा, जब अक्षकुमार मारा गया तब उसने मेघनादको भेजा, पर मनमें चिन्तित रहा कि कहीं यह भी न मारा जाय। अतएव तबतक अक्षवधका शोक न हुआ। जब कपि बँधकर आ गया, चित्त स्वस्थ हुआ, तब सुतवधका स्मरण किया। पहले सुनना कह चुके हैं; यथा—'सुनि सुतबध लंकेस रिसाना।'; इससे अब सुनना न कहा किन्तु 'कीन्हि सुरति' कहा।

नोट—१ प्रारंभमें 'दसमुख सभा दीखि कपि जाई' कहा और यहाँ 'कपिहिं बिलोकि दसानन बिहँसा' कहा। इससे पाया गया कि रावण सभामें जब बैठता है तब दशोंशिरोंको धारण किये रहता है। इससे प्रभुता सूचित होती है। इससे यह भी जनाया कि उसने दशों मुखोंपर त्योरी चढ़ाकर बीसों नेत्रोंसे, जो क्रोधके मारे लाल हो रहे थे, घूरकर क्रूरदृष्टिसे देखा। यथा—'स रोषसंवर्तिततामदृष्टिर्दशाननस्तं कपिमन्वेक्ष्य। वाल्मी० ५।४८।६०।' वाल्मीकिजी भी यहाँ 'दशानन' शब्द दे रहे हैं।

२—प्रायः लोग यह शंका कर बैठते हैं कि—'क्या रावणके दश शिर थे ? दश शिर थे तो सोता कैसे था ?' गोस्वामीजीका मत है कि जन्मसे ही रावणके दस सिर थे। यथा—'काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भयउ निसाचर सहित समाजा॥ दस सिर ताहि बीस भुज दंडा। रावन नाम....॥ १।१७६।' और वह ही क्या, सभी निशिचर कामरूप थे। वे जिस समय जैसा रूप चाहते धारण कर सकते थे; यथा—'कामरूप खल जिनस अनेका। १। १७६।'; 'कामरूप जानहिं सब माया। १। १८१।', 'नाना रूप धरहिं करि माया। १। १८३।'; अतएव सोते समय उसके एक सिर रहता था, यह मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं आ सकती। सहस्रार्जुनके सम्बन्धमें बालकांडमें लिखा गया है कि वह सदा द्विभुजधारी था पर संध्यातर्पण और युद्धादिमें उसके एक हज़ार भुजायें हो जाती थीं। वाल्मीकीयमें हनुमान्‌जीने जब रावणको सोते देखा तब एक ही सिर और दोही भुजायें देखीं। यथा—'ददर्श स कपिस्तस्य बाहू शयनसंस्थितौ। मन्दरस्यान्तरे सुप्तौ महाही रुषिताविव॥ ५।१०।२१।' अर्थात् बिछौनेपर फैली हुई दोनों भुजाओंको हनुमान्‌जीने देखा। उस समय वे दोनों भुजायें ऐसी जान पड़ती थीं, मानों मन्दराचलपर्वतकी तलेहटीमें दो क्रुद्ध सर्प सो रहे हों। 'बाहू' संस्कृतभाषामें दो बाहुओंका वाचक है। दो सर्पोंकी उपमा भी इसीसे दी गई है।

३—'बिहँसा' इति। इसके साथ भी 'दशानन' है। श्लेषार्थक होनेसे 'दशों मुखोंसे' हँसा—यह अर्थ देता है। 'बिहँसना' इससे भी हो सकता है कि बँधकर आया है, उपद्रव करते न डरा, ले अब अपनी करनीका फल चक्खेगा। अथवा इस तरह उसने अपने हृदयका अन्तर्भाव छिपाया कि सभासद ग्लानि-

भावको न जान पायँ। यथा—'बिहँसि बाम कर लीन्ही रावन। ५। ५६।', 'बिहँसि गयउ गृह करि भय भोरी। ६। ६।', 'बिहँसि बचन कह जुगुति बनाई। ६। १४।', 'बिहँसा नारि बचन सुनि काना। ६। १६।', इत्यादि।

४—वानरके बंधनसे प्रसन्नता और सुतवध स्मरणसे विषाद दोनों भावोंके एक साथ उत्पन्न होनेसे 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है।

टिप्पणी २—'बिहँसा कहि दुर्बाद' और 'उपजा हृदय बिषाद' दोनों कहकर जनाया कि मुँहसे हँसता है, हृदय में दुःख है। [यह दोहरा छन्द है।]

कह लंकेस कवन तइँ कीसा। केहि के बल घालेहि बन खीसा॥ १॥
कीधौं श्रवन सुनेहि† नहिं मोही। देखौं अति असंक सठ तोही॥ २॥
मारे‡ निसिचर केहि अपराधा। कहु सठ तोहि न प्रान कै बाधा॥ ३॥

अर्थ—लंकेश्वर रावणने कहा (पूछा) 'हे वानर! तू कौन है? किसके बलसे तूने वनको उजाड़ डाला (विनष्ट किया)?। १। क्या तूने मुझे कभी कानोंसे नहीं सुना? रे शठ! मैं तुझे अत्यन्त निःशंक देख रहा हूँ। २। निशिचरोंको किस अपराधसे तूने मारा? अरे शठ! कह, (क्या) तुझे प्राणोंका भय नहीं है?। ३।

नोट—१ 'कवन तइँ' अर्थात् तेरा क्या नाम है? तेरे बापका क्या नाम है? तू किस जातिका वानर है? तेरा घर कहाँ है? किस देशका रहनेवाला है? किसका सेवक है? किसके राज्यमें रहता है? इत्यादि।

२ (क) 'कवन तइँ कीसा' इति। वानर! तू कौन है? इस कथनमें भाव यह है कि यद्यपि तू रूपसे वानर देख पड़ता है तथापि वानरोंमें ऐसा विक्रम नहीं होता जैसा तुझमें देखा गया, अतः निश्चय ही तू वानररूपधारी कोई तेजस्वी पुरुष प्रतीत होता है। सचसच बता कि तू वानर ही है या वानररूपधारी कोई और है? यथा—'न हि ते वानरं तेजो रूपमात्रं तु वानरम्। वाल्मी० ५।५०।१०।'—विशेष 'देखिअ कपिहि कहाँ कर आही' १९ (२) में टिप्पणी ३ और मेरा नोट देखिये। यदि वानर ही है तो बता कि कहाँका है? अर्थात् मैं सब देशोंके वीर वानरोंको जानता हूँ। हनुमन्नाटकमें भी यही प्रश्न किया गया है;—'रे रे वानर! को भवान्? (६। २२)। वाल्मीकीयमेंके 'जातिरेव मम त्वेषा वानरोऽहमिहागतः। ५।५०।१४।' में 'सचमुच वानर ही हूँ' इस उत्तरसे भी स्पष्ट है कि रावण इनको वानर नहीं समझता। इनकी बाल्यावस्थामें जब ये सूर्यसे विद्या पढ़ रहे थे तब 'कौतुक बिलोकि लोकपाल हरिहरबिधि' का अनुमान भी यही था कि यह 'बल कैधौं बीररस धीरज कै साहस कै तुलसी सरीर धरे सबनि को सार सो॥' है। तब रावणको भी संदेह हुआ तो आश्चर्य क्या? (ख)—'तइँ' इति। अक्षयकुमारके वधसे हृदयमें विषाद होनेके कारण अनादरसूचक एकवचन 'तइँ' का प्रयोग कर रहा है।

३—'केहि के बल घालेहि वन खीसा' इति। (क)—'केहिके बल' अर्थात् 'क्या इन्द्र, कुबेर, यम, वरुण, विष्णु इत्यादिके बलपर उनकी प्रेरणासे आए हो?', यह 'अब्रवीन्नास्मि शक्रस्य यमस्य वरुणस्य वा। धनदेन न मे सख्यं विष्णुना नास्मि चोदितः॥ वाल्मी० ५।५०।१३।' हनुमान्‌जीके इस उत्तरसे स्पष्ट है जो उन्होंने प्रहस्त द्वारा किये गये (वाल्मी० ५। ५० में) रावणके इन प्रश्नोंका दिया है—'समाश्वसिहि भद्रं ते न भीः कार्या त्वया कपे॥ ७॥ यदि तावत्त्वमिन्द्रेण प्रेषितो रावणालयम्। तत्त्वमाख्याहि मा भूत्ते भयं वानर मोक्ष्यसे॥ ८॥ यदि वैश्रवणस्य त्वं यमस्य वरुणस्य वा। चाररूपमिदं कृत्वा प्रविष्टो नः पुरीमिमाम्॥ ९॥ विष्णुना प्रेषितो वापि दूतो विजयकांक्षिणा। न हि ते वानरं तेजो रूपमात्रं तु वानरम्॥ १०॥ तत्त्वतः कथयस्वाद्य

† सुने—१७०४, १७२१, १७६२, कोदवराम। सुनेहि—छ०, भा० दा०।
‡ मारेहि—१७०४, कोदवराम। मारे—भा० दा०, १७२१, १७६२, छ०। मारेसि—रा० बा० दा०।
※ २१ (१) (२) (३) (४) (५) पायकुलक हैं। (ब्र० चं०)।

ततो वानर मोक्ष्यसे।' अर्थात् 'हे वानर! तुम्हारा कल्याण हो! तुम सचसच बता दो कि तुमको किसने भेजा है? इन्द्र, कुबेर, यम, वरुण या विष्णु ने भेजा है? क्योंकि वानरोंमें यह तेज नहीं, तुम वानररूपधारी हो, वानर नहीं हो, बतलानेसे तुम छोड़ दिए जाओगे, भय न करो'। भाव यह कि तुमको छोड़कर हम वन नष्ट कर डालनेका बदला उसीसे लेंगे। पुनः भाव कि यदि तेरे अपराधोंका हम तुझको दण्ड दें तो तेरा सहायक कौन होगा? अतएव सत्य कह दे तो तुझे छोड़ दें। यह हनुमान्‌जीको वह प्राणरूपी दान कर रहा है। पुनः 'केहि के बल' का भाव कि जगत्‌मात्रमें कोई नहीं है जो मुझसे तेरी रक्षा कर सके। (ख)—'घालेहि बन....' इति। सर्वप्रथम वन उजाड़नेका कारण पूछनेसे भी ज्ञात होता है कि यह वन उसे प्राणप्रिय था।

श्रीलमगोड़ाजी—एक आधुनिक आलोचकने लंकाके दरबारोंपर आलोचना करते हुए लिखा है कि 'ऐसा जान पड़ता है कि तुलसीदासजीको गाँवके जमींदारोंके चौपालोंका ही अनुभव था, राजदरबारोंका नहीं।'—यह ठीक नहीं है। अयोध्याके राजसभाओं और चित्रकूटकी कान्फ्रेन्सों (दरबारों) पर सभ्यता निछावर है। पशुबल गर्भित लंकेशके दरबारोंमें भी श्रीरामदूतोंने पहले सभ्य व्यवहार ही किया है, पर जवाबमें अवश्य ही मुँहतोड़ उत्तर हैं। भाई हमें भ्रम इस कारण होता है कि पत्रोंमें Frank talk दिलखुली वार्ता ही कहकर बातको टाल दिया जाता है, नहीं तो जैसी वार्ताएँ म्यूनिच Munich इत्यादिकी बैठकोंमें हुई उनका पता चले तो Civilization सभ्यता ही दाँतके नीचे उँगली दबा बैठती है, फिर Parliament पार्ल्यामेन्टमें भी आस्तीनें चढ़ जाती हैं और तू-तू-कारकी नौबत आ ही जाती है। अभी अन्तर-राष्ट्रीय U. N. की बैठकवाले नगरमें रूसी और अन्य प्रतिनिधिकी वैसी गुत्थम-गुत्थाकी मुठभेड़ छपी ही है—सन् १९४७ ई० में ही। (अयोध्याकांडमें भी इस संबंधके लेख आ चुके हैं)।

टिप्पणी—१ (क) 'की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही' इति। भाव कि यदि सुना होता तो ऐसा काम न करता और न ऐसा निर्भय रहता। यह बात भी अपनी बड़ाई रखनेके लिए कही। वनके उजाड़े और अक्षकुमारके मारे जानेसे रावणकी बड़ी बेइज्जती (अप्रतिष्ठा) हुई; इसीसे सभामें अपनी इज्जत (प्रतिष्ठा) को सँभालता है। (ख) रावणके रूपसे रावणका नाम अधिक भयंकर है। उसका रूप देखनेसे उतना भय नहीं होता, जितना उसका नाम सुननेसे; यथा—'तब रावन निजरूप देखावा। भई सभय जब नाम सुनावा। ३। २८।' अतः कहा कि 'सुनेहि नहिं मोही'। (ग) पूर्व कहा कि 'देखि प्रताप न कपि मन संका', उसी चेष्टाको देखकर रावणने यहाँ वैसा ही कहा। 'असंक'का भाव कि जहाँ तेरे सामने सब देवता और दिक्‌पाल सशंक हाथ जोड़े खड़े हैं, वहाँ तू वानर होकर ऐसा 'असंक' है? [पुनः भाव कि जो भी मेरा नाम सुन लेते हैं उनके होश-हवास ठिकाने नहीं रह जाते, वे डरके मारे काँप उठते हैं, यथा—'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा। १।१८२।', 'जाके डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं। ३।२८।'; तूने भी सुना होता तो ऐसा निडर न रहता। अथवा, इससे जनाया कि मुझे सारा जगत् जानता है; यथा—'रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाकें बंदीखाना। ६।८६।'; तब तूने न सुना हो यह समझमें नहीं आता। 'असंक' पूर्व कह आये हैं, यथा—'जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका।']

२—'मारे निसिचर केहि अपराधा' इति। रावणके हृदयमें पुत्रका शोक है तो भी वह पुत्रवधका कारण नहीं पूछता और राक्षसोंके वधका कारण पूछता है। यह उसकी बुद्धिमानी और चतुरताका प्रमाण है। पुत्रके विषयमें प्रश्न करनेसे उसकी हीनता होती, उसकी निर्बलता जानी जाती कि सुनकर भी उसका किया कुछ नहीं होता। इसी कारण उस बातको छिपाकर अपनी वीरता प्रकट करता है। इससे लोग जानेंगे कि अक्षवधका समाचार इसको नहीं मिला है। 'केहि अपराधा' अर्थात् उन्होंने तेरा क्या बिगाड़ा था?

नोट—४ 'कहु सठ तोहि न प्रान कै बाधा'का दूसरा अर्थ भी हो सकता है कि—'हे शठ! तू बता दे; तेरे प्राणोंकी बाधा न करेंगे, तुझे छोड़ देंगे। और यदि न बतायेगा तो तेरे प्राण लिये जायँगे।' यथा—'तत्त्वतः कथयस्वाद्य ततो वानर मोक्ष्यसे। अनृतं वदतश्चापि दुर्लभं तव जीवितम्। वाल्मी० ५।५०।११।' अर्थात् सत्य

बोलनेसे छोड़े जाओगे, झूठ बोलनेसे जीवन दुर्लभ हो जायगा। पुनः, 'तोहि न प्रान कै बाधा' कहकर जनाया कि विना अपराध राक्षसोंको मारने तथा वन उजाड़ने का दंड वध है, तेरे प्राण लिये जायँगे।

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥ ४॥
जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥ ५॥†

अर्थ—(हनुमान्‌जीने कहा) हे रावण! सुन। जिसका बल पाकर ब्रह्माण्डसमूहोंको माया रचती है।४। जिसके बलसे, हे दशशीश! ब्रह्मा, विष्णु, महेश, उत्पन्न, पालन और संहार करते हैं।५।

टिप्पणी—१ (क) जैसे रावणने कहा 'कहु सठ', वैसेही हनुमान्‌जीने कहा—'सुनु रावन'। (ख) 'पाइ जासु बल बिरचति माया'; यथा—'लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया। १.२२५।' मायाकरोड़ों ब्रह्माण्डोंको उनके बलसे पलभरमें निर्माण कर डालती है, यह भारी बात है। यह कहकर प्रभुका बल दिखाते हैं। पुनः, भाव कि वह अपने बलसे नहीं रच सकती, ईश्वरका बल पाकर रचती है, यथा—'एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके। ३.१५।' (ग) 'बिरचति' का भाव कि यह न समझो कि पलभरमें ब्रह्माण्डके ब्रह्माण्ड रचती है तो शीघ्रताके कारण अच्छे न बनते होंगे, वह पलभरमें ही विशेष-रचनायुक्त करके बना डालती है; यथा—'बिरचेउ मग महुँ नगर तेहि सत जोजन बिस्तार। श्रीनिवास पुर तें अधिक रचना बिबिध प्रकार। १.१२६।' [इससे रावणके लंकापुरीकी विचित्र रचनाके गर्वको भंजन किया (श०सुं०)]

नोट—१ 'सुनु रावन' यहाँ कहा और आगे 'दससीसा' सम्बोधन दिया। 'रावण' का भाव कि तुझे बड़ा अभिमान है कि तू लोकोंको रुलानेवाला है, इसीसे तूने पूछा कि 'केहि के बल?' अर्थात् जगत्-मात्रको तो मैं रुलानेवाला हूँ, मेरे आगे किसका बल चल सकता है—सो सुन। (जगत्‌मात्रको रुलानेका प्रमाण, यथा—'रोषेण महताविष्टो रावणो लोकरावणः। वाल्मी० ५. ५०. १।')। 'दससीसा' का भाव कि तुझे अभिमान है कि तेरे दश शिर हैं जिन्हें काट-काटकर शिवजीको बलि देकर उनसे यह ऐश्वर्य प्राप्त किया है। इस जरासे ऐश्वर्यपर जो तू इतना इतरा रहा है सो सुन। ☞इन सब वचनोंसे रावणका अत्यन्त निरादर और तिरस्कार तथा हनुमान्‌जीकी निश्शङ्कता प्रकट हो रही है।

२ (क) रावणने उलटा प्रश्न किया; पहले सेवकको पूछा तब स्वामीको। हनुमान्‌जीने सीधा उत्तर दिया, पहले स्वामीका बल कहकर पीछे अपना नाम कहा।—[दूसरे प्रश्नको प्रथम और पहलेको दूसरेमें परिवर्तित करके शेषको यथाक्रम कहनेसे यहाँ गूढ़ोत्तर और भंगक्रम यथासंख्यका सङ्कर है।—(वीर)] (ख) उसने पूछा 'केहि के बल', इसीसे सब चौपाइयोंमें 'बल' शब्द कहा।—['बल' शब्दकी पुनरुक्तिमें अँग्रेजी पढ़े महानुभावोंको बर्क Burke की वाक्-चातुरी (वचनकी प्रवीणता Oratory) का मजा आ जाता है।—(लमगोड़ाजी)] (ग) ब्रह्माण्डकी रचना कहकर आगे ब्रह्माण्डोंके भीतर काम करनेवालोंको कहते हैं।

३ 'पालत सृजत०' इति। यहाँ 'बिरंचि हरि ईसा' के क्रमानुसार 'सृजत, पालत, हरत' कहना चाहिए था। क्रमभंग हुआ है। पाठक्रमसे अर्थक्रम बली होता है, अर्थ करनेमें क्रमानुसार अर्थ कर लेना चाहिए। छन्द बिठानेके लिये उलटफेर कर लिया जाता है। अथवा, क्रमभंगसे यह जनाते हैं कि ब्रह्माण्ड अनेक हैं, सबका क्रम एकही नहीं है। जैसे अनेक ब्रह्माण्ड, वैसेही अनेक क्रम; यह भी ईश्वरकी अद्भुत लीलाका प्रतिपादक है; यथा—'उद्भव पालन प्रलय कहानी। कहेसि अमित आचरज बखानी। १.१६३।' कहीं ब्रह्मा पालन करते हैं, कहीं शंकर। कहीं शंकर उत्पन्न करते, कहीं विष्णु, कहीं ब्रह्मा। कहीं ब्रह्मा ही तीनों काम करते हैं। यथा—'जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बालकेलि सम बिधि मति भोरी। २.२८२।' कहीं विष्णु ही सब काम करते हैं, यथा—'आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा। ६. १५।' और, कहीं शंकर ही सब करते हैं, यथा—'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा।' अर्थात् ये क्रियायें प्रत्येकके लिये

† पालत सृजत हरत—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। सिरजत पालत हर-कोदवराम।

हैं। विरंचि पालत सृजत हरत, हरि पालत सृजत हरत और ईश (शिव) पालत सृजत हरत।—(भंग क्रमसे 'पालत सृजत' कहना यथासंख्यालंकार है)।

४ विरंचि आदि अपने तप-बलसे सब काम करते हैं, यथा—'तप बल तें जग सृजइ बिधाता। तपबल बिष्नु भए परित्राता। तपबल संभु करहिं संघारा। १. १६३।' तब यहाँ 'जाके बल' कैसे कहा? यह शंका यदि की जाय तो उसका समाधान यह है कि ब्रह्मादिने तप किया, पर किसका? उन्हीं प्रभुका न? उनका तप करके तब ऐसे समर्थ हुए। जिसको प्रभुने जो काम सौंपा उसीके करनेकी उसको सामर्थ्य भी दी, दूसरा उस कार्यको नहीं कर सकता। ब्रह्मादि उन्हीं प्रभु श्रीरामजीके अंशसे उत्पन्न होते हैं और उन्हें जो ब्रह्मत्व, हरत्व आदि अधिकार मिले हैं वह सब उन्हीं प्रभुके देनेसे मिले हैं; यथा—'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना। १. १४४।', 'हरि-हरहिं हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहिं दई। सो जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई। विनय १३५।'

जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन॥ ६॥
धरै † जो बिबिध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावनु दाता*॥ ७॥

अर्थ—जिसके बलसे सहस्रमुखवाले शेषजी पर्वत और वन सहित ब्रह्माण्डको अपने सिरपर धारण करते हैं (भाव यह कि तुझे जरासे कैलाश उठा लेनेसे ही बड़ा अभिमान हो गया है), जो देवताओंकी रक्षाके लिए अनेक प्रकारके शरीर धारण करता है और तुम्हारे ऐसे मूर्खोंको सिखावन (शिक्षा एवं दंड) देनेवाला है। ६-७।

टिप्पणी—१ (क) 'सीस धरत' का भाव कि ब्रह्मादिक श्रीरामजीके प्रतापसे केवल संकल्प द्वारा उत्पत्ति आदिका काम करते हैं, उन्हें हाथसे नहीं गढ़ना पड़ता। पर शेषजीको शरीरसे काम करना पड़ता है, श्रीरामजीके बलसे उनके शरीरमें ब्रह्माण्ड धारण करने योग्य बल हो जाता है और श्रीरामजीके प्रतापसे बोझ नहीं जान पड़ता। (ख) 'सहसानन' का भाव कि इनके हजार सिर हैं; हजार ब्रह्माण्डोंके धारण करनेकी इनको शक्ति है। वे केवल एक सिरपर ब्रह्माण्ड धारण किये हैं; यथा—'ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रजकनी। ६.८२।' (ग) ब्रह्माण्डकी गुरुता दिखानेके लिये 'समेत गिरि कानन' पद दिया।

२ यहाँ तक यह कहा कि जिसके बलसे मैंने यह सब किया वह वही है जिसके बलसे शरीरमें प्रताप होता है, शरीरमें बल होता है। माया और विधिहरिहर प्रतापसे काम करते हैं और शेषजी शरीर-बलसे ब्रह्माण्ड धारण करते हैं।

३ तीनों चौपाइयोंमें ब्रह्माण्डको कहा। अर्थात् आदि, मध्य और अन्त तीनोंमें ब्रह्माण्डको कहा। आदि में ब्रह्माण्डका निर्माण कहा, मध्यमें ब्रह्मादिका उसके भीतर काम करना कहा और अन्तमें उसका धारण करना कहकर ब्रह्माण्डकी इति की कि बस ब्रह्माण्ड इतना ही है। यहाँतक प्रभुसे बल पाये हुए माया, ब्रह्मादि और शेष इन लोगोंका वर्णन किया। आगे अब स्वयं उन्हीं प्रभुका अवतार कहते हैं या यों कह सकते हैं कि अब उनके शरीरका बल और संग्रामका बल कहते हैं।

४ 'बिबिध देह', यथा—'मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी'। 'सुरत्राता', यथा—'जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो। ६. १०६।'—('धरै जो बिबिध देह....' की जोड़का श्लोक गीतामें भी है। यथा—'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगेयुगे। ४. ८।')

५ 'तुम्ह से सठन्ह', यह तुर्की-बतुर्की जवाब है, जैसेको तैसा। उसने हनुमान्‌जीसे कहा था कि 'कहु

† धरे—भा० दा०; ब्र० चं०। धरइ—ना० प्र०, गी० प्रे०। * 'जा बल....।' १२११वाँ भेद, 'अंडकोस....।' १२८०वाँ भेद, २१ (७) (८) (९) 'पायकुलक हैं'—(ब्र० चं०)।

सठ तोहि न प्रान कै बाधा', इन्होंनेभी वैसाही कहा 'तुम्हसे सठन्ह०।' शठ शठतासे ही मानता है, दूसरी तरह नहीं। 'सिखावन दाता', यथा—'जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।....तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा। १.१२१।' यह अवतारका हेतु कहा। पूर्वार्द्धमें अवतार कहा था। ('सिखावनदाता' में यह भी भाव है कि वे लोकमात्रको शिक्षा देनेके लिये ही तुम ऐसे शठोंको दंड देते हैं।)

हर कोदंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत नृप दल मद गंजा॥ ८॥

खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली॥ ९॥

अर्थ—जिसने शिवजीका कठिन धनुष तोड़ा और तुझ समेत सब नृप-समूहका गर्व नाश किया। ।८। खर, दूषण, त्रिशिरा और बालिको मारा जो सभी अतुलित बलसे पूर्ण थे। (भाव यह कि जब ऐसोंको मार डाला, तब तू किस गिनतीमें है ?)। ९।

टिप्पणी—१ (क) 'कठिन कोदंड'—क्योंकि दशहज़ार राजाभी लगकर तिलभर भूमि न छुड़ा सकें। उसे इन्होंने बिना परिश्रम तोड़ डाला। (ख) 'तोहि समेत' अर्थात् उस सभामें तुम भी पराभवको प्राप्त हुए, यथा—'जेहिं कौतुक सिवसैल उठावा। सोउ तेहिं सभा पराभउ पावा। १. २९२।'

नोट—१ 'हर कोदंड' कहनेसे कोदंड (धनुष) का हर (शिव) से सम्बन्ध सूचित हुआ। जिस प्रकार सर्वसंहारकर्त्ता होनेसे हर (शिव) कठिन हैं; उसी प्रकार उनका धनुष भी कठिन था। उसको जिन्होंने तोड़ डाला। भाव कि सर्वसंहारक तेरे स्वेष्टदेव रुद्रजीसे भी मेरे स्वामी अजेय हैं, तो तेरी क्या गिनती है ? इस चौपाई द्वारा देवता, मनुष्य और राक्षस इन सबोंसे श्रीराघवजीकी अजेयता दिखायी। (मा०त०सु०)। जनकपुरके दूतोंने कहा भी है—'संभु सरासन काहु न टारा। हारे सकल भूप बरिआरा। तीनि लोक महँ जे भट मानी। सभ कै सकति संभु धनु भानी। १।२९२।'—इस प्रकार श्रीरामजीको त्रैलोक्यविजयी बताया। मन्दोदरीजीने भी कहा है—'जनकसभा अगनित भूपाला। रहे तुम्हउ बल अतुल बिसाला। भंजि धनुष जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन ताही।६।३५।'—ये सब भाव श्रीहनुमान्‌जीके शब्दोंसे प्रकट कर दिये।

श्रीलमगोड़ाजी—श्रीमद्गोस्वामीजीकी कलामें शब्दगुण (Sound force) हर जगह विचारणीय है। प्रसंगके अनुसार अक्षर आते हैं जैसे कि यहाँ ओजगुण है। रस्किन Ruskin की कहावत, कि 'कुशल कवि वा लेखकको शब्द-शब्द नहीं किन्तु अक्षर-अक्षर पढ़ना चाहिये', तुलसीदासजीकी कलामें पूर्णरूपसे लागू होती है। अँग्रेज़ी भाषामें तो साहित्यमर्मज्ञको इसीसे Man of Letters कहते हैं।

टिप्पणी—२ प्रथम चार अर्धालियोंमें 'सुनु रावन ब्रह्मांड००' से 'धरै जो बिबिध देह सुरत्राता।००' तक अवतारीका बल कहा। अब अवतारका बल कहते हैं। धनुषका तोड़ना शरीरबल है और खरदूषणादिका वध युद्धबल है—यही यहाँ दिखा रहे हैं।

३ (क) रावणको अवतारमें सन्देह है, भ्रम है, यथा—'जौं भगवंत लीन्ह अवतारा। तौ....जौं नररूप भूपसुत कोऊ। हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ। ३.२३।' इसलिये प्रथम अवतार होना निस्सन्देह किया और प्रमाण दिया कि मनुष्य होते तो धनुष कैसे तोड़ते और खरदूषणादिको कैसे मार सकते ? यथा—'सकल अमानुष करम तुम्हारे', 'खर-दूषन मोहिं सम बलवंता। तिन्हहिं का मारै बिनु भगवंता ३.२३।', 'सो नर क्यों दसकंध बालि बधेउ जेहि एक सर। ६.३२।' (ख) प्रथम 'हरकोदंड' का भंजन कहा जिसमें स्वयं रावणका गर्व चूर-चूर हो गया था, तब खरदूषणको कहा जिन्हें रावण अपने समान बली स्वीकार करता है, फिर बालिको जो रावणसे भी अधिक बली था, क्योंकि उसने रावणको छः मासतक बग़लमें दबाये रखा। यथा—'एक कहत मोहि सकुच अति रहा बालिकी काँख'—(लंका २४)।

नोट—२ वाल्मीकीयमें भी कहा है कि—'त्वया विज्ञातपूर्वश्च वाली वानरपुङ्गवः। रामेण निहतः संख्ये शरेणैकेन वानरः। ५।५१।११।' अर्थात् तुम तो वानरश्रेष्ठ बालिके बलपराक्रमको भलीभाँति पहलेसे

जानते ही हो। उस बालिको श्रीरामजीने युद्धमें एक ही बाणसे मार डाला। अंगदने कहा है—'कृत्वा कक्षागतं त्वां कपिकुलतिलको बालिनामा बलीयान्। भ्रान्तः सप्ताब्धितीरे क्षणमिव चरितं स्नानसंध्यार्चनं च।....' (हनु० ८।१४)। अर्थात् वानरश्रेष्ठ बालि तुझे काँखमें दबाकर क्षणमात्रमें सातों समुद्रोंके तीरपर फिरकर संध्यावन्दनादि करता रहा, वह भी एकही बाणसे मारा गया। भाव कि तू गर्व छोड़कर शरण जा, क्योंकि जब तुझे जीतनेवाला मारा गया तब तू क्या है?—ये सब भाव यहाँ जनाये।

दो०—जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु† प्रिय नारि‡ ॥२१॥

अर्थ—जिसके बलके लवलेशसे सारे चराचरमात्रको तुमने जीता और जिसकी प्रिय स्त्रीको तुम हर लाए हो, मैं उसीका दूत हूँ। २१।

टिप्पणी—१ (क) 'लवलेश' एक शब्द है, यथा—'जासु बिलोकि भगति लवलेसू', 'जाकी कृपा लवलेस तें मतिमंद तुलसीदासहू', इत्यादि। लवलेश = किंचित् अंश; लेशमात्र। तात्पर्य कि भगवान्के कामदार आदि का भी बल तुझमें नहीं है। (ख) 'जितेहु चराचर झारि' इति। यथा—'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसबरती नरनारी'। पुनः, भाव यह कि-(ग) ब्रह्मादिने बल पाया और तूने बलका लवलेश पाया; दूसरे, ब्रह्मादिने प्रभुसे बल पाया और तूने ब्रह्मादिसे पाया; इसीसे तुझमें प्रभुके बलका लवलेश है। (घ) झारि = झाड़पोंछकर, संपूर्ण, समस्त, एकमात्र। चराचरमात्रको लवलेश बलसे जीत लिया यह प्रभुके बलकी शोभा है।

श्रीलमगोड़ाजी—महाकाव्यकलामें राक्षस भगवान्के बल-वीर्यरूप हैं ही; पर नाटकी कलामें हनुमान्जीकी कितनी उदारता प्रकट है कि शत्रुकी भी यथार्थ प्रशंसा कर ही देते हैं, पर वाक्चातुरी यहाँ भी बनी ही है कि 'लवलेस' ही है।

नोट—१ मा० त० सु० का मत है कि "यहाँ 'जाके' पद पूर्वोक्त 'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा ॥....' चौपाईसे सम्बन्ध रखता है। यहाँ बल श्रीराघवजीका है और उस बलके लवमात्रके अधिकारी ब्रह्मादिक हैं, तपस्या द्वारा उनसे पाये हुये लवमात्र बलका अधिकारी तू है। इस लवके लेशमात्र बलसे तूने सब चराचरको जीता।"

२—यहाँ तक हनुमान्जीने परब्रह्म परमात्माके जाननेकी रीति शब्द, अनुमान, प्रमाण और प्रत्यक्ष चारों प्रकारसे दिखाई। 'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया' से 'तोसे सठन्ह सिखावन दाता' तक शब्द, 'हर कोदंड कठिन जेहि भंजा। तोहि०' यह अनुमान, 'खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे....' यह प्रमाण और 'जाके बल लवलेस' यह प्रत्यक्षके उदाहरण हैं।

३—मा० म०, मा० शं०, में इस दोहेका अन्वय यों किया है—'वे (माया, विरंचि, आदि जो ऊपर कहे गए) जाके बललवलेस ते चराचर झारि जितेहु तासु दूत मैं (हूँ)'। वे लिखते हैं कि पूर्व चार जगह जो बल लिख आए उसका मतवाद इस दोहेमें प्रसिद्ध है—उन रामजीके लवलेशबलसे मायाने ब्रह्मांडोंको उत्पत्ति द्वारा जीत लिया। ब्रह्माने चराचरको उत्पत्तिद्वारा, विष्णुने पालन और शिवने संहार द्वारा जीत लिया, इत्यादि'—(पाठक स्वयं विचार कर लें। मा० सं०)। पुनः, दूसरा भाव लवलेशका उन्होंने यह लिखा है कि 'राम' शब्दका रकार तेरे नाममें है। उसके बलसे तूने चराचरको जीता। यह भाव करुणासिंधुजीने लिखा है।

टिप्पणी—२ (क) 'तासु दूत मैं' अर्थात् मैं उसीका दूत हूँ जिसके बलकी शोभा (महिमा) ऊपर कही। तात्पर्य यह कि मुझे उसीका बल है जिसके बलका किंचित्ही भाग तुझमें है। अपने बलको साक्षात् न कहा, केवल अभिप्रायसे जना दिया। (ख) 'प्रिय नारि' अर्थात् पतिव्रता स्त्रीको। 'हरि आनहु' (अर्थात्

† आनिहु—भा० दा०। आनेहु-प्रायः औरोंमें। ‡ दोहा दोहरा मिश्रित है—(ब्र० चं०)।

जबरदस्ती ले आए), ऐसा कहकर रावणपर उन्होंने कसूर साबित किया। (ग) 'तासु दूत'—इस पदका सम्बंध उपर्युक्त सब चौपाइयोंसे भी है। 'जाके बल' तासु, 'जा बल०' तासु, 'धरे जो००' तासु, इत्यादि। (घ) यहाँ अपने आनेका प्रयोजन भी लक्षित कर दिया कि मैं खोज लगानेको ही यहाँ आया हूँ। चराचर-मात्रको जीतनेके अभिमानसे एवं मोहवश तुमने उनकी स्त्रीका हरण किया, यह समझकर कि हम उनको जीत लेंगे, वे भी चराचरमें ही हैं। इसीसे आगे सीताजीको लौटा देनेकी प्रार्थना करेंगे। अंगदने भी रावणके प्रश्नोत्तरोंको पूरा करके और ऐसाही कहकर सीताजीको देनेको कहा है, यथा—'बर पायहु कीन्हेहु सब काजा। जीतेहु लोकपाल सब राजा॥ नृप अभिमान मोहबस किंबा। हरि आनिहु सीता जगदंबा॥ अब सुभ कहा सुनहु तुम्ह मोरा। सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा....॥ ६। २०।'

नोट—४ 'हरि आनेहु' में यह भी भाव आजाता है कि तुम धर्म और अर्थको भली भाँति जानते हो, तपः प्रभावसे तुमने यह ऐश्वर्य संपादन किया है। अतः तुमको पराई स्त्री अपने घरमें चोरीसे लाकर वंद कर रखना उचित नहीं। इस धर्मविरुद्ध कार्यसे तुम्हारा जीवन और ऐश्वर्य नष्ट हो जायगा। यथा—'तद्भवान्दृष्टधर्म्मार्थस्तपः कृतपरिग्रहः। परदारान्महाप्राज्ञ नोपरोद्धुं त्वमर्हसि॥ वाल्मी० ५। ५१। १७॥ तपस्सन्तापलब्धस्ते योऽयं धर्मपरिग्रहः। न स नाशयितुं न्याय्य आत्मप्राणपरिग्रहः॥ २५॥'

५ उत्तरार्धका समानार्थी श्लोक अध्यात्म रा० ५।४ में यह है—'रामस्य दूतोऽहमशेष हृत्स्थितेः। यस्याखिलेशस्य हृताधुना त्वया भार्या स्वनाशाय शुनेव सद्धविः॥ ८।'

टिप्पणी—४ यहाँ तक रावणके दो प्रश्नोंका उत्तर हो गया—कौन हो? और, किसके बलसे वन उजाड़ा? आगे 'की धौं, श्रवन सुनेहिं नहिं मोहीं।०' का उत्तर देते हैं कि—'जानउँ....'।

जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई। सहसबाहु सन परी लराई॥ १॥
समर बालि सन करि जसु पावा। सुनि कपि बचन बिहँसि बहरावा*॥ २॥

अर्थ—मैं तुम्हारी प्रभुता जानता हूँ कि सहसबाहुसे लड़ाई पड़ी। १। (फिर तुमने) बालिसे समर करके यश पाया। कपिके वचन सुनकर उसने खूब हँसकर बहला दिया (टाल दिया)। २।

टिप्पणी—१ (क) 'जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई' इति। 'जानउँ' का भाव कि तुम पूछते हो कि मैंने तुम्हारा नाम और यश सुना है कि नहीं, उसपर मेरा उत्तर यह है कि तुम्हारी प्रभुता सुननेकी तो बात ही क्या है, मैं तो उसे भली-भाँति जानता हूँ कि कैसी है। उस प्रभुताको जानकर मैंने यह सब किया है। (ख)—'सहसबाहु सन परी लराई' अर्थात् तुम लड़ने गए, पर कुछ लड़ाई न हुई; उसने तुमको दौड़कर पकड़ लिया। सहस्रबाहुसे हारना कहकर जनाया कि तू सहस्रार्जुनसे हारा, वह परशुरामसे हारा और परशुराम श्रीरामजीसे हारे। यथा—'सहसबाहुभुज छेदनिहारा।१।२७२।', 'एक बहोरि सहसभुज देखा। धाइ धरा जिमि जंतु बिसेषा॥ कौतुक लागि भवन लै आवा। सो पुलस्ति मुनि जाइ छोड़ावा॥ ६।२४।' (इसमें अंगदजीने सहस्रार्जुनसे रावणका पराजय कहा है और) 'सहसबाहु भुज गहन अपारा। दहन अनल सम जासु कुठारा॥ जासु परसु सागर खर धारा। बूड़े नृप अगनित बहु बारा॥ तासु गर्ब जेहि देखत भागा। सो नर क्यों दससीस अभागा॥ ७।२६।' (इसमें सहस्रार्जुनका परशुराम द्वारा पराजय, भुजछेदन और बध कहकर परशुरामजीका विना युद्धही श्रीरामजीके सम्मुख गर्व चूर हो जाना कहा है। इस प्रकार जनाया कि तब तू किस बलपर घमंडकर उन श्रीरामजीसे विरोध कर रहा है? उनके आगे तू क्या चीज़ है जब कि तेरे जीतनेवालेके जीतनेवाले भी उनसे देखतेही हार मान गए। 'परी लराई' में भाव यह भी है कि लड़ाईका अवसर आया था, तुम लड़ने गए थे, पर थोड़ीही लड़ाईमें तुम हार गए। इसमें ऊपरसे प्रशंसा यह है कि बीसही भुज होनेपर भी हज़ार भुजावालेसे लड़ाई ठाना थी और व्यंगसे अपयश होना प्रकट किया है।)

* २२ (१) से २२ (६) तक पायकुलक हैं। (न० चं०)।

टिप्पणी—२ (क) बालिसे समर करके यश पाया। यह व्यंग है। भाव कि समर कुछ न हुआ, उसने जाते ही काँखमें दबा लिया जिससे तुझे बड़ा अपयश हुआ। तब हम तुझे क्या डरें कि जो तू कहता है कि 'देखौं अति असंक सठ तोही'। क्योंकि जिस बालिसे तू हारा उसीको एक बाणसे श्रीरामजीने मार डाला। (ख) 'बिहँसि बहरावा' इति।—हनुमान्‌जीने कहा कि तुमने चराचरको जीता, तुम्हारी प्रभुता मैं जानता हूँ, सहस्रबाहुसे लड़ाईमें तुम्हारी प्रभुता रही, बालिके समरमें तुमने यश पाया। रावणने सोचा कि अभी तो सभावाले ऐसाही अर्थ समझेंगे क्योंकि इनमें स्पष्ट बड़ाई है, व्यंगसे निन्दा भरी हुई है; इसीसे वह खूब हँस भी दिया जिसमें सभावाले समझें कि अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हुआ है, व्यङ्ग वे लोग न समझ पावें।

नोट—१ हास्यकलामें ज़ोरसे हँसकर झेंप मिटानेकी चतुराईपर ध्यान दीजिये। दोनों एक दूसरेके दाँवपेंचको समझ गए। श्रीहनुमान्‌जीके व्यङ्गकी विजय हुई कि उन्होंने प्रसंग बदला। इसीसे अब आगेके 'प्रभु' और 'स्वामी' शब्द रावणके राजा होनेके सम्बन्धसे सरल अर्थकेही वाचक हैं और जो चार्ज (फर्दजुर्म) उनपर रावणने लगाया था उसका चतुराईपूर्ण, पर स्वाभाविक, उत्तर कितना सुन्दर है कि वकीलोंके अभियुक्त-सम्बन्धी बयान-तहरीरी भी निछावर हों? विशेषकर स्वरक्षा Selfdefence वाली बात! क्या arrest बंधन वा गिरफ़्तारी ग़ैरकानूनी न हुई? (लमगोड़ाजी)।

सहस्रबाहु और रावणकी कथा

सहस्रार्जुन कृतवीर्यका पुत्र और माहिषमतीका राजा था। भगवान् दत्तात्रेयके आशीर्वादसे इसे, जब यह चाहता, हज़ार भुजायें हो जाती थीं। एकबार जब यह नर्मदामें अपनी स्त्रियोंके साथ जलविहार कर रहा था संयोगसे उसी समय रावण भी उसी स्थानके निकट जो यहाँसे दो कोस पर था, आया और नर्मदामें स्नान करके शिवजीका पूजन करने लगा। उधर सहस्रबाहुने अपनी भुजाओंसे नदीका बहाव रोक दिया जिससे नदीमें बाढ़ आ गई और जल उलटा बहने लगा। शिवपूजनके लिये जो पुष्पोंका ढेर रावणके अनुचरोंने तटपर लगारक्खा वह तथा सब पूजनसामग्री बह गई। बाढ़के कारणका पता लगाकर और पूजन सामग्रीके बह जानेसे क्रुद्ध होकर रावण सहस्रार्जुनसे युद्ध करनेको गया। उसने कार्तवीर्यकी सारी सेनाका नाश किया। समाचार पाकर राजा सहस्रार्जुनने आकर राक्षसोंका संहार करना प्रारंभ किया। प्रहस्तके गिरते ही निशाचर सेना भगी तब रावणसे गदायुद्ध होने लगा। यह युद्ध बड़ा ही रोमहर्षण अर्थात् रोंगटे खड़ा कर देनेवाला भयंकर युद्ध हुआ। अन्तमें अर्जुनने ऐसी ज़ोरसे गदा चलाई कि उसके प्रहारसे वह धनुषभर पीछे हट गया, और चोटसे अत्यन्त पीड़ित हो वह अपने चार हाथोंके सहारे बैठ गया—'स त्वर्जुन प्रमुक्तेन गदाघातेन रावणः। अपासर्पद्धनुर्मात्रं निषसाद च निष्टनन्। वाल्मी० ७। ३२। ६२।' रावणको विह्वल देख इसी बीचमें अर्जुनने उसे अपनी भुजाओंसे इस तरह पकड़ लिया जैसे गरुड़ सर्पको पकड़ लेता है और फिर उसे इस तरह बाँध लिया जैसे भगवानने बलिको बाँधा था। रावणके बँध जानेपर प्रहस्त आदि उसे छुड़ानेके लिये लड़े पर कुछ कर न सके, भागते ही बना। तब सहस्रार्जुन रावणको पकड़े हुए अपने नगरमें आया। अन्तमें श्रीपुलस्त्यमुनिने जाकर उसे छुड़ाया और मित्रता करा दी।—यह कथा वाल्मी० प्रक्षिप्त सर्ग ३१-३३ में है। विशेष 'एक बहोरि सहसभुज देखा। धाइ धरा जिमि जंतु बिसेषा। लं० २४।१५।' में देखिये।—इस कथाके अनुसार यह भी व्यंगसे जनाते हैं कि तू वही तो है जिस, सहस्रबाहुके कारागारमें बँधे पड़े हुएको तेरे पितामह पुलस्त्यजी दीन होकर भिक्षा माँग लाये थे—'जितं मन्ये कारागृहविनिहितं हैहयपतेः पुलस्त्यो यद्भिक्षामकृतकृपणं....। हनु० ना० १४। २५।'

बालि और रावणकी कथा

रावण दिग्विजयके समय बालिको जीतनेक लिये किष्किंधा गया। यह मालूम होनेपर कि वह दक्षिण समुद्रतटपर सन्ध्यावंदन करने गया है, रावण वहाँ गया और चाहता था कि चुपचाप पीछेसे जाकर

उसे पकड़ ले। बालि रावणकी धूर्त्तताको ताड़ गया और जैसे ही वह निकट आया बालिने तुरत फिरकर उसे पकड़कर बग़ल (काँख) में दबा लिया और दाबे हुए ही वहाँकी शेष संध्या पूरी करके आकाशमार्गसे उड़कर शेष तीन दिशाओंके समुद्रोंपर जा-जाकर उसने संध्यायें कीं। फिर वैसे ही दबाये हुए बालि किष्किंधामें आया और इसे बग़लसे गिराकर पूछा कि 'तुम कौन हो? कहाँसे आए हो?' रावणने लज्जित हो अपना परिचय दिया और बालिकी भूरि-भूरि प्रशंसाकर उससे मित्रताकर उसके यहाँ एकमास तक उसके छोटे भाई सुग्रीवकी तरह रहकर तब लंकापुरीको लौट गया। यह कथा वाल्मी० उ० सर्ग ३४ में है। कहीं-कहीं ऐसा उल्लेख है कि छः मास तक बालि इसे काँखमें दाबे रहा। हनुमन्नाटकमें अंगदने कहा है कि तुझे बालीने मेरे पालनेके ऊपर मेरी बालक्रीड़ाके लिये बाँध दिया था। मैं तुझे लातोंसे मारा करता था। यह तेरी बड़ी भूल और मोह है। यथा—'आस्तेऽत्रापि तवाऽस्ति विस्मृतिरहो मोहो महानीदृशः। पर्यङ्के निज-बालकेलिकृतये बद्धोऽसि येनोपरि। हनु० ८। ११।'—'जसु पावा' में व्याजनिन्दा अलंकार है कि दशशिरों और बीस भुजाओंवाले रावणको एक वानरने काँखमें दबा रक्खा और उसका लड़का अंगद अपने चरणोंके ताड़नसे उस रावणके शिरोंको गेंदकी तरह उछाल-उछालकर खेला करता था। यथा—'....तात-कक्षान्तरशिष्टः। प्रोद्धृत्योद्धृत्य पादप्रहतं बहुशिरः कंदुकैः क्रीडितोऽस्मि॥ हनु० ना० ८। ४६।'

टिप्पणी—३ (क) 'बहरावा' इति। बहला दिया। क्योंकि यहाँ बहलानेका योग है। यदि कपिने खोलकर कहा होता तो बहलाते न बनता। 'बहरावा' अर्थात् अन्यत्र देखने लगा, दूसरेसे बात करने या दूसरेकी बात सुनने लगा जिसमें हनुमान्‌जी चुप हो रहें, उस प्रसंगकी चर्चा छोड़ दें; नहीं तो यदि सन्मुख सुनता ही रहता तो ये कहते ही जाते। (ख) रावणका पराजय खोलकर क्यों न कहा? क्योंकि पराये छिद्रोंको खोलकर कहना खलता है। श्रीहनुमान्‌जी संत हैं; अतएव उन्होंने छिद्रको गुप्त रीति से जनाया—'जो सहि दुख परछिद्र दुरावा'।

खाएउँ फल प्रभु लागी भूखा। कपि सुभाउ ते तोरेउँ रूखा॥ ३॥
सब के देह परम प्रिय स्वामी। मारहिं मोहि कुमारगगामी॥ ४॥
जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे। तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारे॥ ५॥

अर्थ—हे प्रभो! मुझे भूख लगी थी, इसलिये मैंने फल खाये। (अर्थात् आपके नगरमें आनेपर भूख लगी तो क्षुधानिवारणार्थ कहाँ जाता? अतः खाने लगा)। वानर-स्वभावसे वृक्ष तोड़े। ३। हे स्वामी! देह (अपना-अपना शरीर) सबको परमप्रिय होती है। कुमार्गपर चलनेवाले आपके निशाचर मुझे मारने लगे। ४। जिन्होंने मुझे मारा, उन्हें मैंने (भी) मारा। इसपर भी आपके पुत्रने मुझे (नागपाशमें) बाँधा। ५।

टिप्पणी—१ (क) 'खायेउँ फल प्रभु लागी भूखा।....' यह रावणके 'केहि के बल घालेहि बन खीसा' का उत्तर है। इस उत्तरमें कैसी चतुरता भरी हुई है? यदि कहते कि जिसका बल ऊपर कह आए उसके बलसे हमने वन उजाड़ा तो क़सूर अपने ऊपर साबित हो जाता। इसीसे प्रभुका बल प्रथम कहकर वन उजाड़नेका उत्तर बड़ी युक्तिसे दे रहे हैं कि 'क्षुधा निवारणार्थ खाया....।', इसमें मैंने क्या अपराध किया? तुम 'प्रभु' हो; स्वयं विचार सकते हो कि मेरा कोई अपराध नहीं था। यदि वह कहे कि वानर-देह कौन उत्तम है कि जिसके लिए लाखोंका वध तुमने किया, (न खाते) तो उसपर कहते हैं कि देह सबको परमप्रिय है, चाहे कोई भी देह क्यों न हो! 'परम प्रिय'का भाव कि अन्य पदार्थ प्रिय हैं और देह परम प्रिय। यथा—'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।' (ख)—भूखेको फल खानेमें मारा इसीसे 'कुमारगगामी' हैं। 'मोहिं' का भाव कि मैं वानर हूँ, वानर वनमें फल फूल खाते ही हैं, तब भी मुझे मारा। यही बात मंदोदरीने भी कही है, यथा—'कानन उजार्‌यौ तौ उजार्‌यौ न बिगार्‌यो कछू बानर बिचारो बाँधि आन्यो हठि हार सों।' (क० ५। ११)। ['कुमारगगामी' कहकर यह भी जनाया कि कुमार्गपर चलनेसे तेज, बल, बुद्धि, जिनसे

रणमें जीत होती है, नष्ट हो जाते हैं, यथा—'इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा। ३।२८।१०।' इसीसे आपके कुमार्गगामी राक्षस अपने पापसे मरे। रावण भी कुमार्गगामी है, यथा—'रे त्रियचोर कुमारगगामी। ६.३२.५।' अतः 'कुमारगगामी' शब्द देकर यह भी जनाया कि तेरा भी तेज और बल नष्ट हो गया है, यथा—'सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं। ३।२८।६।' तू भी अपने पापसे शीघ्र ही नष्ट होगा। यथा—'बिस्व-द्रोहरत यह खल कामी। निज अघ गयउ कुमारगगामी। ६.१०१.४।']

नोट—१ यहाँ प्रभु और स्वामी शब्दमें कोई शंकाकी बात नहीं है। दूतको उचित है कि जब जहाँ जैसा उचित समझे वैसा कठोर या कोमल शब्दोंका प्रयोग करे। पहले रावणको 'शठ' कहा, यह उसके 'सुनु सठ' के उत्तरमें। दूसरे, रामदूतकी हैसियतसे अपने स्वामीका बल यहाँ कह रहे थे उस संबंधसे 'तुम्हसे सठन्ह' कहा। अब अपने ऊपर बात लेकर उत्तर देते हैं तब सभ्यता और धर्मशास्त्रकी मर्यादासे उत्तर देते हुए 'प्रभु' और 'स्वामी' सम्बोधन किये गए। 'प्रभो' सम्बोधन वाल्मीकीय और अध्यात्मादि रामायणोंमें भी आया है। यथा—'श्रूयतां चापि वचनं मम पथ्यमिदं प्रभो। वाल्मी० ५.५०.१९।', 'दृष्टा मया पद्मपलाशलोचना सीता कपित्वाद्विपिनं विनाशितम्। दृष्ट्वा ततोऽहं रभसा समागतान्, मां हन्तुकामान्धृतचापसायकान्। मया हतास्ते परिरक्षितं वपुः, प्रियोहि देहोऽखिलदेहिनां प्रभो। ब्रह्मास्त्रपाशेन निबध्य मां ततः समागमन्मेघनिनाद नामकः।'(अध्यात्म. रा० ५.४.१२-१३)। अर्थात् हे प्रभो! मेरे हित वचन सुनिये। १९। मैं कमलनयनी श्रीजानकीजीका दर्शन कर चुका हूँ। कपिस्वभावसे मैंने वन उजाड़ा। अस्त्रशस्त्र लिये मुझे मारनेको राक्षस आए, अतः मैंने उनको मारकर अपने शरीरकी रक्षा की। हे प्रभो! अपना शरीर तो सभी देहधारियोंको प्रिय होता है। फिर यह मेघनाद मुझे ब्रह्मपाशमें बाँध लाया। पुनः देखिय कविने रावणके लिए भी 'अवतार' शब्दका प्रयोग किया है, यथा—'कहेसि बहुरि रावन अवतारा।' और इस समय वह बड़ा भारी राजा भी है। तब 'प्रभु, स्वामी' संबोधन अनुचित नहीं हैं। तथापि करुणासिंधुजी और मयंककार आदिने इस प्रकार अर्थ किए हैं—(१) प्रभु=स्वामी=राजन्। (२)—हे फल प्रभु! अर्थात् फलोंके मालिक एवं हे कुमार्गगामी लोगोंके स्वामी! कुमार्गगामी मोहि मारहिं। (करु०)। (३) प्रभु (जो हमारे हृदयमें बसे हैं उन) को भूख लगी तब हमने फल खाये। वा, (४) अपने प्रभुके फल हमने खाये। (मा० स०, मा० शं०)। (५) व्यंगभावसे अथवा निर्भयता और निरादरके भावसे। (मा० शं० मो०)। (६)—अपने प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके फल खाये। भक्त सारी सृष्टि और पदार्थोंको प्रभुका ही जानते मानते हैं—इस भावसे ऐसा कहा। (पं०)। इत्यादि।—पर ये सब भाव क्लिष्ट कल्पनायें हैं, खींचतान और वाग्विलास ही हैं।

टिप्पणी—२ 'जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे।....' इति। (क) तात्पर्य कि हमने किसीको नहीं मारा, अपने प्राण बचानेके लिए मारा। (ख) पहले कहा कि कपिस्वभावसे हमने वृक्ष तोड़े। इसपर यह कहा जा सकता है कि सब वृक्षोंको उखाड़ डालना, यह कौन वानरी स्वभाव है? उसका उत्तर भी इसीमें आ गया। राक्षसोंने हमको अस्त्रशस्त्रसे मारा, तब हम वृक्ष उखाड़-उखाड़कर मारने लगे।—[वाल्मी० ५।५० में भी यही कहा है कि जो लड़नेके लिये मेरे पास आये उनसे मैं भी शरीररक्षार्थ लड़ा। 'ततस्ते राक्षसाः प्राप्ता बलिनो युद्धकाङ्क्षिणः॥ रक्षणार्थं तु देहस्य प्रतियुद्धा मया रणे। १५, १६।' इससे यह भी जनाया कि मैं उनसे कुछ निर्बल तो था नहीं कि मार खाता और न बोलता। पुनः, भाव कि आपके अनुचरोंने मुझे मार डालनेकी नीयतसे मुझपर अस्त्र-शस्त्रसे आघात किया पर मैं न मर सका और अपनी रक्षाके लिये मैंने तो वृक्षमात्रसे उनपर प्रहार किया, इसीमें वे मर गए तो मेरा इसमें क्या अपराध?] (ग) 'तेहि पर बाँधेउ'का भाव कि हमको बिना अपराध मारते रहे और फिर हमको ही बाँधा, इससे यह तुम्हारा पुत्र भी कुमार्गगामी है। (घ) 'तनय तुम्हारे' का भाव कि राजाका पुत्र होकर भी इसने अधर्म और अनीति किया जो उसे न चाहिए था। अथवा, जब तुम अधर्मी हो तो तुम्हारा पुत्र क्यों न अधर्म करे? पुनः भाव कि—(ङ) जिन्होंने मुझे मारा उनको मैंने मारकर बदला चुका लिया; पर तुम्हारे लड़केने जो मुझे बाँधा इसका बदला अभी

लेना है; अभी मैंने कुछ नहीं किया आगे करूँगा, यह आगेके 'कीन्ह चहौं निज प्रभु कर काजा। ६।' में निहित है। अंगदजीने भी इसी तरह कहा है—'याको फल पावहिगो आगे। ६। ६२।'

नोट—२ लङ्कापुरीको जलाना, रावणके दुर्गका नाश करना, बढ़िया-बढ़िया भवनोंको, अन्न-वस्त्र-द्रव्यादिको, अस्त्र-शस्त्र-यन्त्रालयों इत्यादिको भस्मकर अग्निको तृप्त करना, इत्यादि जो कुछ आग लगनेपर करेंगे वह सब इसी बंधनका बदला है। प्रमाण वाल्मीकीयमें इसका मिलता है—'भूयः सचिन्तयामास मुहूर्तं कपिकुञ्जरः। (कथमस्मद्विधस्येह वन्धनं राक्षसाधमैः। ३४। प्रतिक्रियास्य युक्ता स्यात्सति मह्यं पराक्रमे।') अर्थात् पूँछ जलनेपर वे विचार करने लगे कि (मुझसे व्यक्तिका इन राक्षसों द्वारा बंधन कैसे हुआ? यदि मुझमें पराक्रम है तो इसका बदला लेना चाहिए। (सर्ग ५३)। पर कोष्टकान्तर्गत विचार प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। प्रामाणिक प्रतियोंमें नहीं हैं। विशेष आगे (६) में देखिये।

मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहौं निज प्रभु कर काजा॥ ६॥
बिनती करौं जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन†॥ ७॥

अर्थ—मुझे कुछ अपने बाँधे जानेकी लज्जा नहीं है। मैं तो अपने स्वामीका काम किया चाहता हूँ। ७। हे रावण! मैं हाथ जोड़कर विनय करता हूँ; अभिमान छोड़कर मेरा सिखावन सुनो। ७।

टिप्पणी—१ (क) 'न कछु बाँधे कइ लाजा....'। इससे यह सूचित करते हैं कि हमने अपनेसे अपनेको बँधाया है, इससे मेरे स्वामीका काम निकलेगा। यथा—'करइ स्वामिहित सेवकु सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई। २. १८६।' 'न कछु लाजा' कहनेका भाव कि शत्रुसे परास्त होनेमें वीरको बड़ी लज्जा होती है; यथा—'मेघनाद कै मुरछा जागी। पितहि बिलोकि लाज अति लागी। ६।७४।' (ख) प्रभुका कौन काम है जो करना चाहते हैं? यहाँ कार्यका नाम नहीं बताया क्योंकि नाम लेनेसे सब सजग हो जायँगे, पूँछमें अग्नि न लगावेंगे; लंकादहन न हो सकेगा यही काम है। इसपर यह प्रश्न होता है कि वन उजाड़ना, युद्ध करना और लंकादहन इनकी आज्ञा तो प्रभुने दी नहीं थी तब यह उनका कार्य कैसे मान लें? इसका उत्तर यह है कि इसमें हनुमान्जीकी इच्छा है। उन्हें 'तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारा' इसका बदला लेना है। अथवा इसमें भी हरि-इच्छा है, यथा—'हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास।२५।' अथवा, श्रीसीताजीको लौटानेकी वार्ता करेंगे यह 'प्रभु-काज' है। रावणको उपदेश करना, यह प्रभुके मनकी बात है, यथा—'काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई'। वही आगे हनुमान्जी कहते भी हैं। यथा—'बिनती करौं....'। हनुमान्जी उत्तम दूत हैं। उन्होंने रामजीके मनका काम किया। 'मोहि न कछु बाँधे....' यहाँतक प्रश्नोत्तर है, आगे शिक्षा है।

नोट—१ वाल्मीकीयमें भी ऐसाही कहा है—'केनचिद्रामकार्येण आगतोऽस्मि तवान्तिकम्।१८।' (सर्ग ५०), 'वीक्षमाणस्ततो लङ्कां कपिः कृतमनोरथः। वर्धमानसमुत्साहः कार्यशेषमचिन्तयत्।१। किं नु खल्ववशिष्टं मे कर्तव्यमिह सांप्रतम्। यदेषां रक्षसां भूयः संतापजननं भवेत्।२। वनं तावत्प्रमथितं प्रकृष्टा राक्षसा हताः। बलैकदेशः क्षपितः शेषं दुर्गविनाशनम्।३। दुर्गे विनाशिते कर्म भवेत्सुखपरिश्रमम्।४।' (सर्ग ५४)। अर्थात् कुछ काम रामचन्द्रजीका है जिसके लिए तेरे पास आया हूँ। (वह कुछ कार्य एक तो समझानेका है, अतः उससे कहा कि) हमारे हितकारी वचन सुनो। पुनः आग लगनेपर सोचा कि हमारा काम अब इतना शेष है कि क़िलेका नाश करूँ। पुनः, सर्ग ५३ में कहा है कि मैं अकेला लंकाभरके लिए समर्थ हूँ पर राम-कार्यके लिए मैं यह बंधनका अपमान सह रहा हूँ। यथा—'छित्त्वा पाशान्समुत्पत्य हन्यामहमिमान्पुनः। यदि भर्तृहितार्थाय चरन्तं भर्तृशासनात्। ५. ५३. १२। वध्नन्त्येते दुरात्मानो न तु मे निष्कृतिः कृता। सर्वेषामेव पर्याप्तो राक्षसानामहं युधि।१३। किं तु रामस्य प्रीत्यर्थं विषहिष्येऽहमीदृशम्। लङ्का चारयितव्या वै पुनरेव भवेदिति।१४।'—प्रथम कार्य तो

† 'बिनती....।' ११७७ वाँ भेद है। 'सुनहु....।' ११६० वाँ भेद है—(ब्र० चं०)।

यही होगा कि ये लोग मुझे नगरमें घुमावेंगे तो मैं दिनमें नगरके सारे गुप्तस्थान जिनको मैं रातमें नहीं देख सका था, भलीभाँति देख लूँगा । २—☞ श्रीहनुमान्‌जीद्वारा हम सबोंको यह उपदेश मिल रहा है कि प्रभुके कार्यसिद्धिके लिये, उनके प्रीत्यर्थ हमें अपने शरीरापमानकी लज्जा न करनी चाहिये । मिलान कीजिये 'मोहि न सोच जग कहइ कि पोचू ।' इस श्रीभरतवचनामृतसे ।

वि० त्रि०—'मोहि न कछु....काजा' इति । 'देखहुँ अति असंक सठ तोही' का उत्तर देते हैं कि यदि मैंने कोई अपराध किया होता, तो बाँधे जानेकी लज्जा होती, मैं सिर झुकाकर खड़ा होता, मैं तो बँधकर अपने मालिकका काम किया चाहता हूँ । यदि मैं बाँधा न जाता, तो जो बातें मैं तुमसे करना चाहता हूँ, न कर पाता । मैं तो बँधकर प्रभुका काम कर रहा हूँ । यह सेवकके लिये गौरवकी बात है, लज्जाकी नहीं । यदि कहा जाय कि बँधकर अपने प्रभुका कौन सा काम करना चाहते हो, तो इसपर कहते हैं कि कुछ अर्ज (निवेदन) करना है । आगेकी चौपाईमें स्पष्ट है ।

श्रीलमगोड़ाजी—उपर्युक्त अर्धालियाँ हमारे सत्याग्रह-आन्दोलनके समय जन-श्रुति ही बन गये थे और कितनेही चित्र भी इनपर बन गए। विनम्र निवेदन सत्याग्रहका, विशेषकर जब वह सत्य + शील आग्रह—हो तो कितने प्रबल आयुधका काम करते हैं-यह १७ जुलाई सन् १९४४ ई० के गांधीजीके उस छोटेसे पत्रसे, जो उन्होंने चर्चिल महोदयको इन्हीं भावोंसे लिखा था, और उसके अंग्रेज जातिपर प्रभावसे विदित ही हो गया है । गांधीजी भी नंगे फ़क़ीर (Naked Faqir) कहे जानेसे लजाते नहीं, वरंच प्रसन्न होते हैं और कहते हैं कि मुझे मिलानेसे यह अच्छा है कि आप मुझसे अपनी जाति और उसके द्वारा सारे संसारकी सेवा लें ।☞ हाँ, रामचरितमानसके सत्य-शीलाग्रहमें प्रत्युत्तरमें बलका प्रयोग वर्जित नहीं है ।

टिप्पणी—३ 'बिनती करौं जोरि कर रावन....' इति । (क) तात्पर्य कि अपने प्रभुके कार्यके लिये बँधवाया है और तुम्हारे कार्यके लिये विनय करता हूँ । (ख) 'कर जोरि' का भाव कि बड़े लोग नम्रता एवं प्रार्थनापूर्वक उपदेश करते हैं; यथा—'औरौ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि । ७।४५ ।', 'कहै बिभीषन पुनि कर जोरी । ५।४० ।' हनुमान्‌जी सन्त हैं । सन्त शत्रुका भी भलाही करते हैं, यथा—'उमा संत कइ इहै बड़ाई । मंद करत जो करइ भलाई ।५।४१ ।'—[हाथ जोड़नेका भाव ऊपर दिया गया और पूर्व चौपाइयोंमें भी । विनम्र निवेदनसे उपदेश लगनेकी आशा रहती है । हाथ जोड़ना भयका सूचक नहीं है । यह भी सभ्यता है । लोगोंने इसमें भी खींचतान की है, यथा—(१) 'जोरि कर ।' रामजीके चलकर हाथ जोड़ो (क्षमा माँगो) । (२) मैं ज़ोर देकर कहता हूँ । (३) मैं तुझको बिन (बिना) ती (स्त्री) का कर दूँगा—(मा० शं०) । पर ये सब वाग्विलास हैं, इनका प्रमाण कहीं नहीं मिल सकता । रोज़ देखनेमें आता है कि दुष्टोंके भी लोग समझाने में हाथ जोड़ते ही हैं । इसी प्रकार दोनों हाथ जोड़नेके भाव यह कहे जाते हैं कि—इस तरह जनाते हैं कि—मेरा सिखावन लोक और परलोक दोनोंके लिये हितकारी है । अथवा, ब्रह्माजी और शिवजी दोनोंने तुम्हें वरदान दिया है, तुम उन दोनोंकी प्रतिष्ठा रखनेके लिये मेरी शिक्षा सुनो । इत्यादि । पर ये सब क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं ।]—'सुनहु' अभीतक 'सुनु' निरादरसूचक पद देते आए, अब 'सुनहु' आदरसूचक-पद देते हैं । कारण कि उपदेश देनेमें बिनती करते हैं । हाथ जोड़ते हैं; अतएव आदरसूचक शब्द दिया और पूर्व प्रश्नोत्तर और भयदर्शन था इससे वहाँ निरादरका शब्द दिया । (घ) मानी उपदेश नहीं सुनते, यथा—'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना । नारिसिखावन करेसि न काना । ४।८ ।' अतः मान छोड़नेको कहा । पर रावणने अभिमान न छोड़ा, यथा—'बोला बिहँसि महा अभिमानी' । इसीसे उसे उपदेश न लगा । शिक्षा देते हैं, इसीपर रावण कहेगा कि 'लागेसि अधम सिखावन मोही' ।

गौड़जी—हनुमान्‌जी इस स्थलपर किसी राजाके मन्त्रीकी हैसियतसे एक दूसरे राजा रावणको सिखावन देते हैं और वह भी निहायत अदबके साथ जैसा दस्तूर है । हनुमान्‌जी सुग्रीवके मन्त्री हैं और भगवान् रामचन्द्रजीके भी मंत्री हैं, राजनीतिके महान् पण्डित हैं ।

देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी । भ्रम तजि भजहु भगत-भय-हारी ॥ ८ ॥
जाके डर अति-काल डेराई । जो सुर असुर चराचर खाई ॥ ९ ॥
तासों बयरु कबहुँ नहिं कीजै । मोरे कहे जानकी दीजै† ॥१०॥

अर्थ—तुम अपने कुलहीको विचारकर देखो और भ्रमको छोड़कर भक्तोंके भयको दूर करनेवाले प्रभुको भजो । ८ । जिसके डरसे काल अत्यन्त (एवं महाकाल) डरता है, जो सुर, असुर और चराचर-मात्रको खा लेता है । ९ । उससे वैर कदापि न कीजिए, मेरे कहनेसे जानकीजीको दे दीजिए । १० ।

टिप्पणी—१ (क) कुलको विचार देखो कि तुम्हारा कुल कैसा है ? तुम कैसे उत्तम कुलके हो ? यथा—'उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती । ६।२० ।' ['कुलहि बिचारी' में यह भी भाव है कि तुम ब्रह्माजीके अत्युत्तम वंशमें उत्पन्न हुए हो तथा पुलस्त्यनन्दन विश्रवाके पुत्र और कुबेरके भाई हो । अतः देख विचार लो, तुम देहात्मबुद्धिसे भी राक्षस नहीं हो । तुम्हारे पिता, चाचा, पितामह, परपितामह सभी भगवद्भक्त हैं। यथा—'त्वं ब्रह्मणो ह्युत्तमवंशसम्भवः, पौलस्त्यपुत्रोऽसि कुबेरबान्धवः। देहात्मबुद्ध्यापि च पश्य राक्षसो, नास्त्यात्मबुद्ध्या किमु राक्षसो नहि ॥ अध्यात्म रा. ५।४।१६।']—ईश्वरका भजन करना तुम्हारा कुलधर्म है। अतएव तुम्हेंभी उस कुलधर्मका पालन करना कर्त्तव्य है। (ख)—'भ्रम तजि भजहु भगतभयहारी।' इति । रावणको श्रीरामजीके ब्रह्म होनेमें भ्रम है, वह उनको प्राकृत नर जानता है; यथा—'जौं भगवंत लीन्ह अवतारा ।', 'जौं नररूप भूपसुत कोऊ।३।२३।', 'जान्यो मनुज करि दनुज-कानन-दहन-पावक हरि स्वयं । ६।१०३ ।' जबतक संदेह रहेगा तबतक भक्ति नहीं हो सकती । इसीसे 'भ्रम' को त्याग करनेको कहा। भ्रमके कारण ही उसने बैर किया इसीसे 'बयरु नहिं कीजै' भी आगे कहते हैं। 'भगतभयहारी' का भाव कि जो उनका भजन करते हैं उनका भय वे भक्तवत्सल हरण करते हैं । यथा—'विसृज्य मौर्ख्यं हृदि शत्रुभावनां भजस्व रामं शरणागतप्रियम् ।....विमुच्यसे भयात् ॥ अध्यात्म० ५।४।२३।' (ग) यदि वह कहे कि मुझे किसका भय है, सभी तो हमारे डरसे डरते हैं; यथा—'पावक पवन पानी भानु हिमवान जम काल लोकपाल मेरे डर डँवाडोल हैं ।'.(क० सुं० २१) । उसपर कहते हैं कि 'जाके डर अति....' । अर्थात् जो काल सुर-असुरको खाता है वह तुमको भी खा सकता है, यह न समझो कि काल तुमको डरता है। वह अपना अवसर ताक रहा है । तुम कालके वश हो । काल श्रीरामजीको नहीं खा सकता, उनको डरता है, वे कालके वश नहीं हैं, यथा—'ऊमरितरु बिसाल तव माया । फल ब्रह्मांड अनेक निकाया । जीव चराचर जंतु समाना । भीतर बसहिं न जानहिं आना। ते फल भच्छक कठिन कराला । तव भय डरत सदा सोउ काला। आ० १३।' अतएव उनसे वैर न करो । [जो काल रावणको डरता है, वह शाश्वत काल नहीं है । और यहाँ जिस कालको ये कह रहे हैं वह शाश्वत काल है। 'अहमेवाक्षयः कालः । गीता १०।३३ ।', 'काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता । सुभ अरु असुभ करम फल दाता । ७।४१।५ ।' भाव यह कि जब रावणादि यम, धर्मराज, कृतान्त, काल इन नश्वर कालको नहीं डरते तब अक्षय कालही उनको मारता है । (प० प० प्र०) । काल जो लोकपाल वा दिक्पाल देवता है उसको रावणने जीता है । ये देवता तो नश्वर हैं । मन्वन्तरोंमें बदलते रहते हैं । 'लव निमेष परमान जुग बरष कलप', कला-मुहूर्तादि विभागवाला जो काल है वह अविनाशी है। गोस्वामीजीने स्वयं कहा है कि काल श्रीरामजीका धनुष है और लवनिमेष आदि प्रचण्ड बाण हैं। ये सब अक्षय हैं। यह काल दुरतिक्रम है ।] पुनः, भाव कि तुमको डरता है पर रामजीको 'अति' डरता है, अतः उनके आगे वह तुम्हें खाही लेगा । (घ)—'मोरे कहे जानकी दीजै' इति । यह बैर मिटानेका उपाय बताया । इस तरह वैर मिटाकर शरण हो, तब वे स्नेह करेंगे क्योंकि शरणार्थी उनको बहुत प्रिय है। यथा—'जौ सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रानकी नाई' ।—[पुनः, 'मोरे कहे' का भाव कि तुमने मेरा पराक्रम देख लिया कि लंकाका कोई वीर मेरे सामने न ठहर सका तब अनेक वानर-यूथपतियों और सुग्रीव तथा श्रीरामलक्ष्मणके आनेपर तुम्हारी

† २२ (८-१०) पायकुलक हैं—(ब्र० चं०) ।

क्या दशा होगी यह समझकर मेरा कहना मान लो। मैं तुम्हारे गुरुका अवतार हूँ, अतः तुम्हें शिक्षा माननी चाहिए।] पुनः, 'वैर कभी भी न करो' का भाव कि वैरके अनेक कारण होते हैं, यदि विरोधका कारण भी कुछ हो तो भी वैर न करो, क्योंकि वैरसे भलाई नहीं, यथा—'तिन्ह सन बयरु किये भल नाहीं। ३।२५।' (ङ) 'मेरे कहनेसे दो।' का भाव यह भी है कि इससे तुम्हारा मान भी रहेगा कि रामदूतने आकर हाथ जोड़कर विनती की तब रावणने जानकीजीको दिया।

☞रावणको अभिमानी जानकर सभी समझानेवालोंने ऐसा ही कहा है। यथा—'जनकसुता रघुनाथहि दीजै। एतना कहा मोर प्रभु कीजै। ५।५७।', 'तात चरन गहि माँगउँ राखहु मोर दुलार। सीता देहु राम कहँ अहित न होइ तुम्हार। ५।४०।', आगे शरण होनेको कहते हैं। तात्पर्य यह कि बड़ेसे वैर न करो और न बराबरका दर्जा मानकर प्रीति करो; क्योंकि प्रीति और विरोध समानसे किया जाता है, यथा—'प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति अस आहि। ६।२३।' [प० प० प्र० स्वामीका मत है कि यहाँ 'जानकी दीजै' कहनेपर भी रावण रुष्ट न हुआ। कारण कि हनुमान्‌जीके वचन संदिग्ध हैं। 'भजहु भगत भय हारी'से रावणने यह अर्थ लिया कि भक्तभयहारी शिवजीको भजनेको कहता है सो मैं उन्हें भजता ही हूँ, उनसे मेरा वैर है ही नहीं, उनको यह जानकी देनेको कहता है यह पागलपन है। दोहेमें 'रघुनायक खरारि' की शरण जानेको कहा है पर रावण सोचता है कि रघुनायक तो भरत हैं और वे खरारि नहीं हैं। जब 'भजहु राम रघुनायक' कहेंगे तब क्रोध करेंगे।]

☞३ (क) सिखावनके लिए मान बाधक है, अतः कहा कि 'सुनहु मान तजि मोर सिखावन'। भ्रम भजनका बाधक है, अतः कहा कि 'भ्रम तजि भजहु भगतभयहारी'। वैर जानकीजीके लौटा देनेमें बाधक है, अतः कहा कि 'तासों बैर कबहुँ नहिं कीजै। मोरे कहे जानकी दीजै'। (ख) 'जानकी दीजै' का भाव कि जैसे जनकमहाराजने अर्पण किया वैसेही सुताभावसे दो, यथा—'हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई। तिमि जनक रामहि सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई। १।३२४।'; इसी भावसे औरोंने भी कहा है, यथा—'जनकसुता रघुनाथहिं दीजै। ५।५७।' (शुकवाक्य), 'रामहि सौंपि जानकी नाइ कमल पद माथ। ६।६।' (मन्दोदरीवाक्य) और 'सादर जनकसुता करि आगे। एहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे। ६।२०।' तथा यहाँ 'मोरे कहे जानकी दीजै।' [पुनः भाव कि जैसे श्रीजनकमहाराजने श्रीजानकीजीको श्रीरामजीके करकमलोंमें समर्पण करके जगत्‌में कीर्त्ति पाई, वैसेही तुम भी श्रीरामजीकी खोई हुई श्रीजानकीजीको अर्पणकर संसारमें कीर्त्तिलाभ करो। (मा०त०सु०)] वाल्मी० ५।५१। में भी यही कहा है, 'तत्त्रिकालहितं वाक्यं धर्म्यमर्थानुबन्धि च। मन्यस्व नरदेवाय जानकी प्रतिदीयताम्॥२१॥' अर्थात् मैंने जो कुछ कहा है वह तीनों कालोंमें हितकर, धर्मयुक्त और शास्त्रसंमत है। अतः मेरा कहना मानकर, नरेन्द्र श्रीरामजीको श्रीजानकीजी लौटा दो।

दो०—प्रनतपाल रघुनायक करुनासिंधु खरारि।
गए सरन प्रभु राखिहैं† तव अपराध बिसारि*॥२२॥

अर्थ—रघुकुलके स्वामी श्रीरामचन्द्रजी प्रणत (अर्थात् प्रणाममात्र करनेवाले, विनम्र वा दीन होकर आनेवाले प्राणियों) के पालनेवाले, करुणा (अर्थात् पराया दुःख देखकर स्वयं दुखी हो जाने और दुःख दूर करनेमें तत्पर होनेका भाव) के समुद्र हैं, खरके शत्रु हैं, शरणमें जानेपर तेरा अपराध भुलाकर प्रभु शरणमें रखेंगे। २२।

टिप्पणी—१ (क) 'रघुनायक' विशेष्य है और प्रणतपाल, करुणासिंधु और खरारि उसके विशेषण हैं। (ख) तीन विशेषण देकर जनाया कि (१) प्रणतके लिये ये तीनों गुण धारण करते हैं। उसे पालते हैं,

† राखिहैं—भा० दा०, छ०, १७२१। राखिहें—१७६२। राखिहैं—को० रा०। राखिहि—१७०४, का०।
* दोहरा दोहा मिश्रित है।

पालन रजोगुण है। उसपर करुणा करते हैं, यह सत्वगुण है। उसके लिये खर आदिको वा खलोंको मारते हैं, यह तमोगुण है। वे रघुनायक हैं, अतः प्रणतको सब कुछ देते हैं—यह विशेष्यका भाव हुआ।—[नोट—यहाँ 'प्रनत' शब्द देकर जनाया कि शरणागतकी तो बात ही कौन, केवल विनम्र होनेसे, एकमात्र उनको प्रणाम करनेसे वे पालनमें तत्पर हो जाते हैं। यथा—'सकृत प्रनामु किहें अपनाए। २।२९९।' 'रघुनायक' अर्थात् वे जीवमात्रके स्वामी हैं, वे प्रणत जीवमात्रपर करुणा करते हैं, एवं रघुकुलमें जितने राजा हुए हैं उन सबमें वे श्रेष्ठ हैं तथा उस रघुकुलके स्वामी हैं जिसमें सभी राजा शरणागतपालक हुए, अपने हानिलाभका विचार छोड़कर सदा धर्मपर दृढ़ रहे; यथा—'सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरमहित कोटि कलेसा॥'; तब ये क्योंकर प्रणतपाल आदि न होंगे? 'करुनासिंधु' से जनाया कि कितना ही अपराध किया हो तो भी कोप नहीं करते, यथा—'अपराधिहु पर कोह न काऊ। २।२६०।' 'खरारि' से जनाया कि वे भगवान् ही हैं, खरादि किसी औरसे न मर सकते थे; यथा—'खर दूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता॥ ३।२३।'—(ये स्वयं रावणके विचार हैं)। भगवान् हैं, अतएव शरण जानेमें तुमको लज्जा न होनी चाहिये। शरण न जाओगे तो तुम भी मारे जाओगे। शरणागतके लिये वे करुणासिंधु हैं और विमुखोंके लिये 'खरारी' रूप हैं।] अथवा, प्रणतपाल विरद है, रघुनायक हैं अर्थात् उत्तमकुल है, करुणासिन्धु स्वभाव है, खरारि हैं, दुष्टोंको मारते हैं यह आचरण है। अतएव शरण होनेपर 'राखिहैं' अर्थात् रक्षा करेंगे, बध न करेंगे, यथा—'नाथ दीनदयाल रघुराई। बाघउ सनमुख गए न खाई'। पुनः 'राखिहैं' अर्थात् त्याग न करेंगे, यथा—'कोटि बिप्र बध लागहि जाहू। आए सरन तजउँ नाहिं ताहू। ४४।१।' (ग) 'तव अपराध' अर्थात् तूने जो अपराध किया है यह क्षमा करने योग्य नहीं; पर वे 'प्रभु' हैं, समर्थ हैं, वे ऐसे भी अपराधको, क्षमाकी कौन कहे, भुलाही देते हैं।

रामचरन-पंकज उर धरहू। लंका अचल राजु तुम्ह करहू॥ १॥
रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका। तेहि ससि महुँ जनि होउ† कलंका॥ २॥

अर्थ—श्रीरामजीके चरणकमलोंको हृदयमें धारण करो और लंकाका अचल राज्य तुम करो।१। पुलस्त्यऋषिजीका यश निर्मल चन्द्रमा है, उस चन्द्रमें कलंक (रूप) मत हो।*।२।

नोट—१ 'प्रनतपाल रघुनायक....॥२२। रामचरनपंकज उर धरहू।' इति। इसमें जो श्रीहनुमान्‌जीने उपदेश किया है वह वस्तुतः चरममंत्रका अर्थ ही है। चरममंत्रमें चार अर्थ होते हैं—तात्पर्यार्थ, वाक्यार्थ, प्रधानार्थ तथा अनुसंधानार्थ, यथा—'तात्पर्यार्थोऽस्य विज्ञेय आचार्यरुचिसंश्रयः। वाक्यार्थस्तु मतोऽभिज्ञैरेष निर्णीयते बुधैः॥ प्राप्य-प्रापकसम्बन्धस्वरूपाभिनिरूपणम्। प्रधानार्थस्तु तद्युग्मकैंकर्यस्य प्रधानता। स्वदोषाभ्यनुसन्धानमनुसन्ध्यर्थ उच्यते। एवमेवानुसन्धेयं मोक्षकामैरहर्दिवम्॥' श्रीहनुमान्‌जीके इस उपदेशका तात्पर्य यही है कि इसको ग्रहण करनेसे श्रीरघुनाथजी प्रसन्न होंगे—यही 'आचार्यरुचिसंश्रय' या 'तात्पर्यार्थ' है। मंत्रके 'प्रनतपाल' 'रघुनायक' शब्दोंमें प्राप्य ब्रह्मका स्वरूप कहा और 'सब अपराध' में प्रापक जीवका स्वरूप कहा। इन्हींमें दोनोंका सम्बंध भी दिखा दिया—जीव अपराधी है और प्रभु 'सब अपराध बिसारि' रख लेते हैं, क्योंकि वे रघु (जीवमात्र) के स्वामी हैं, करुणासिंधु हैं एवं प्रणाममात्रसे पालन करनेवाले हैं।—यही वाक्यार्थ है। ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण जो 'प्रनतपाल रघुनायक करुनासिंधु....गये सरन प्रभु राखिहैं' में है तथा प्रभुके कैंकर्य 'रामचरन पंकज उर धरहू।' का उपदेश इस मंत्रका प्रधानार्थ है। जीवका अपनेको सदा दोषयुक्त अपराधी समझना—यह भाव 'तव अपराध बिसारि' में निहित है और प्रभुकी ओरसे प्रणत एवं शरणागतके रक्षण पालनकी आतुरता 'करुनासिंधु' और 'खरारि' शब्दोंमें स्पष्ट झलक रही है। प्रभु करुणावश तुरत द्रवीभूत होकर सोचने लगते हैं कि क्या उपाय करूँ कि जिससे इसका दुःख तुरत दूर हो जाय और

† होउ—भा० दा०। होहु—रा० प्र०, गी० प्र०, ना० प्र०।
* २३ (१), 'रिषि....मयंका'—पायकुलक। 'तेहि....' चण्डी है। प्र० चं०।

उसके शत्रुओंके नाशके लिये सदा धनुष-बाण लिये तैयार रहते हैं।—यही अनुसंधानार्थ है।

टिप्पणी-१ (क) रामचरणकमलको हृदयमें धारण करनेको प्रथम कहकर श्रीरामचरणारविन्दको लंकामें राज्य करनेका आधार जनाया। चरणको उरमें धरनेका भाव कि चरणोंका धर्म चलना है, इन्हें 'उर धरहु' अर्थात् हृदयसे ये चलायमान न होने पावें तभी लंकाका राज्य भी अचल होगा। पुनः भाव कि अभी तुम्हारे हृदयमें मान और भ्रम भरा है, उनका त्याग करो और उनकी जगह चरणकमलोंको बसाओ। पुनः, चरणको कमल कहकर उरमें धरने और अचल राज्य करनेका भाव कि कमलमें लक्ष्मीका बास है और चरणोंकी उपासना भी लक्ष्मीजीकी है अर्थात् वे सदा चरणोंके समीपही बसती हैं। अतएव चरणोंको हृदयमें धारण करनेसे तुमको अचल राज्यकी प्राप्ति होगी। (ख) 'अचलराज करहू'का भाव कि 'श्री' परम चंचल है, वह स्थिर नहीं रहती; यथा—'जद्यपि परम चपल श्रिय संतत थिर न रहति कतहूँ। हरिपद पंकज पाइ अचल भइ करम बचन मनहूँ॥' (विनय ८६।३)। वे भी हरिपद प्राप्त करकेही अचल हुई हैं। तुम लंकाका राज्य तो करते हो पर वह अचल नहीं है। इसको अचल करना चाहते हो तो 'रामचरणपंकज' को अचलरूपसे हृदयमें बसाओ। श्रीरामजीके चरणकमलमें लक्ष्मीजी चरणचिह्नरूपसे अचल बसी हुई हैं। अतएव हृदयमें श्रीरामचरणारविन्दोंको बसा लेनेसे तुम्हारे यहाँ श्रीजी अचल होकर रहेंगी। इससे यह जनाया कि तुमने जिनसे यह ऐश्वर्य पाया है वे ब्रह्मा और शिव भी तो अचल नहीं हैं, तब उनका दिया हुआ ऐश्वर्य कब अचल हो सकता है और तुम्हारे इष्टदेवोंने भी तो इन्हीं चरणोंकी सेवासे सिद्धि प्राप्त की है। यथा—'जाके चरन बिरंचि सेइ सिधि पाइ संकरहूँ।....सकल सुर असुर ईस सब खाये उरग छहूँ।' (विनय ८६)। [(ग) चरणकमलोंको हृदयमें धारण करनेसे अचल हो जाओगे, कालका भय न रह जायगा; यथा—'कबहूँ काल न ब्यापिह तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही'।—(मा० त० सु०)। (घ) वंदनपाठकजीः—भाव कि जिस उरमें परद्रव्य, परद्रोह और परनारि धरे हो, उसमेंसे उन सबोंको निकालकर रामचरण-कमलको रखो जिसमें हृदय शीतल हो।] २—'राम चरन पंकज उर धरहू' से परलोकका सुधरना और 'लंका अचल राज तुम्ह करहू' से इह लोकका बनना कहा।

३—'रिषि पुलस्ति जस बिमल मयंका', यथा—'मुनि पुलस्ति के जस मयंक महँ कत कलंक हठि होहि। गी० ६।१।' प्रथम कहा कि 'देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी', उसीके अर्थको यहाँ स्पष्ट करते हैं कि तू पुलस्त्य-कुलोद्भव है इसीसे पौलस्त्य नाम भी है और पुलस्त्यकुलमें सभी भजनानन्दी होते आए हैं; यही विमलयश चन्द्र है, इसमें कलंक न बन। इस कुलमें भगवान्‌का वैरी उत्पन्न होना, परतियगामी होना, उस निर्मलयश-चन्द्रमें धब्बा लगाना है, इन आचरणोंसे वह कुल कलंकित हो जायगा, कोई पुलस्त्यजीका नामभी न लेगा, सभी इसे कलंकी चन्द्रके समान त्याग करेंगे। पुनः,—['विमल मयंक' का भाव यह कि वह मयंक परम-स्वच्छ रहनेपर भी गुरुपत्नीगमनरूपी कलंकसे कलंकित है किन्तु पुलस्त्ययशोमयंक विमल और निष्कलंक रहा है]। 'शशि कलङ्क' पर 'चले जहाँ रावन ससि राहू। ३। २८। ६।' देखिए]।

रामनाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥ ३॥
बसनहीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी॥ ४॥
राम-बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई*॥ ५॥

अर्थ—श्रीरामनाम बिना वाणी शोभित नहीं होती। मद और मोहको त्यागकर बिचार देखो।३। हे सुरारि (देवताओंके शत्रु)! सब (अर्थात् बारहो) भूषणोंसे भूषित सुंदर श्रेष्ठ स्त्री बिना वस्त्रके (नंगी)

* 'रामनाम....मोहा' (३), 'सब भूषन भूषित' से 'सुखाहीं।' (६) तक पायकुलक है; 'बसन-हीन....।' द्रुतपा है। (व्र० चं०)।

नहीं शोभित होती। ४ ।⊛ रामविमुखकी 'रही, पाई और बिनु पाई' सभी संपत्ति और प्रभुता व्यर्थ है।५।

टिप्पणी १—'रामनाम बिनु०' इति। रावण रामनाम कभी नहीं लेता था। क्योंकि वह उनको शत्रुभावसे भजता था। इसीसे वह श्रीरामजीके लिये नृप, रिपु, नर, तापस, भूप, मनुज, इत्यादि ही शब्दोंका प्रयोग करता था। यथा—'होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी। जेहि बिधि हरि आनौं नृप नारी।' (३.२५), 'रिपु उतकरष कहत सठ दोऊ।' (५, ४०), 'रिपुकर पच्छ मूढ़ तोहि भावा।....ममपुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती।' (५.४१), 'कहु तपसिन्हकै बात बहोरी।' (५.५३), 'कहसि न रिपुदल तेज बल....' (५. ५३), 'रिपु कर रूप सकल तैं गावा।' (६.१६), 'निज मुख तापस दूत कहाएहु।' (६.२१), 'तेहि रावन कहँ लघु कहसि नर कर करसि बखान।' (६.२५), 'भूप सुजस खल मोहि सुनावा' (६.२८), 'जिन्हके बल कर गर्व तोहि ऐसे मनुज अनेक।' (६. ३०×), 'हौं मारिहउँ भूप दोउ भाई।' (६.७८), 'देहउँ उतरु जो रिपु चढ़ि आवा।' (६.७७), 'सुनु तापस मैं तिन्ह सम नाहीं।'....'जौं रन भूप भाजि नहिं जाहीं।' (६. ८९), इत्यादि। इसीपर कहते हैं कि बिना नामके शोभा नहीं। अर्थात् कुलको अशोभित न करो। पुनः, भाव कि तुम्हारी वाणी जो वेदभाष्य है सो भी बिना रामनामके नहीं शोभित है। 'भनित विचित्र सुकवि कृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ॥ बिधु बदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी।' (१. १०) में इसकी व्याख्या देखिये।—[श्रीरामनामसे विमुख होनेसे वेदादिका पंडित होना भी व्यर्थ है; यथा—'कीबे कहा पढ़िबेको कहा, फल बूझि न बेदको भेद बिचार्यो। स्वारथको परमारथको कलि कामद राम को नाम बिसार्यो।....। क.७.१०४।' रामनामरहित वाणीकी, चाहे वह शास्त्र, स्मृति, संहिता आदि कोई भी काव्य क्यों न हों, गणना वाणीमें नहीं है। यथा पद्मपुराणे-'शास्त्रं न तत्स्यान्नहि यत्र रामः काव्यं न तत्स्यान्नहि यत्र रामः। न संहिता यत्र न रामदेवो न सा स्मृतिर्यत्र न रामचन्द्रः।....' अतः कहा कि 'राम नाम बिनु गिरा न सोहा।'; भाव कि तब जीव बिना रामनामके कैसे शोभित हो सकता है? (वै०)। इसीसे कहते हैं कि 'देखु बिचारि'। अर्थात् बिना ज्ञान-वैराग्यरूपी हृदयके चक्षुओंसे देखे यह न समझ पड़ेगा और ये नेत्र बिना मदमोह त्यागे नहीं खुलते; यथा—'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।' मोहसे मनुष्य अंधा बना रहता है, पुनः मद और मोह विचारके बाधक हैं, अतः उनको छोड़नेको कहा]।

२ (क) जैसे वस्त्रहीन स्त्री नहीं शोभा पाती, वैसेही वाणी सब आभूषणों (अर्थात् अलंकार, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि, आदि) से युक्त हो तो भी बिना रामनामके नहीं शोभा पाती। 'बर नारी' अर्थात् युवावस्थावाली, स्वरूपसे सुंदर और सौभाग्यवती। सब आभूषणोंके पहननेका अधिकार सावित्रीको ही है; अतः 'बर नारी' कहा। 'बसनहीन' का भाव कि जैसे नग्नस्त्रीको न देखना चाहिए, वैसे ही रामनामरहित कविताकोभी न देखना चाहिए। 'सुरारी' का भाव कि ऐसा विद्वान् होकर देवताओंसे वैर करना शोभा नहीं देता। पुनः, [(ख) 'सब भूषन भूषित' का भाव कि बुद्धिरूपी स्त्री सोलहो प्रकार पूजोपचारमें निपुण हो, द्वादशगुण (शील, लज्जा, सत्य, धर्म, स्वच्छता, साधुता, सहनशीलता, संतोष, दया, ज्ञान, वैराग्य, गुरुसेवा) रूपी विभूषणोंसे युक्त हो, बत्तीस अंगरूपी आभरणोंसे युक्त हो, तो भी श्रीराघवजीकी शुद्ध शरणागतिरूपी वस्त्रके बिना नहीं शोभित होती। (मा. त. सु.)। यहाँ 'रामनाम' वस्त्र है, रावण वा रावणकी वाणी 'बर नारी' है, तपार्जित समस्त ऐश्वर्य एवं वेदपांडित्य, कुल, बल, वीरता आदिकी श्रेष्ठता इत्यादि 'सब भूषण' हैं। 'रामनाम बिनु गिरा न सोहा' उपमेय वाक्य है और 'बसनहीन....बरनारी' उपमान वाक्य है, 'न सोहना' यही दोनोंका एक धर्म है। यह 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार है। (वीर)। दीपककारका मत है कि—'गिरा कुमारी रेफ पट, पँच रँग ते रँग धारि। सुने पुन्य रित नग्नवत, शठ तू गिरा उघारि।३५।' अर्थात् तेरी वाणी 'कुमारी' स्त्री है, 'रेफ' वस्त्र है, पंचवर्णविशिष्ट रामनाम पँचरँगी चूनरीवत् है—प्रथमाकार पीत, द्वितीयाकार श्याम, व्यंजन श्वेत, बिन्दु अरुण तड़ितवत्, अंतिम अकार नील। (दीपक चक्षुसे)]।

⊛ यथा वैष्णव धर्मरत्नाकरे रामनाममहात्म्ये—'रामनामविहीनास्तु न शोभन्ते गिरस्तथा। सर्वभूषाभूषितास्तु यथा नार्यो निरंशुकाः।'

टिप्पणी-३ 'जाइ रही पाइ बिनु पाई'। (क)। 'रही'=भूतकालमें मिली हुई। 'पाई'=वर्तमानकालमें जो प्राप्त है। 'बिनु पाई'=जो भविष्यमें प्राप्त होनेवाली है। जाइ (जाय)=व्यर्थ, यथा-'जाय जीव बिनु देह सुहाई'। अथवा, (ख)—'जाइ रही'=चली जायगी। 'पाई' (=पाई हुई; पूर्वकालमें वा वर्तमान्कालमें प्राप्त की हुई संपत्ति) 'बिनु पाई' (मानों पाई ही नहीं थी) सी हो जायगी। यही बात आगे कहते हैं-'बरषि गए पुनि तबहिं सुखाहीं।' अर्थात् वर्षा होनेपर नदीमें जलका आ जाना (किसी सुकृतसे) 'पाई' (हुई संपत्ति) के समान है और फिर वर्षाके हो जानेपर नदीके जलका सूख जाना (पुण्योंके क्षीण हो जानेपर) 'बिनु पाई' संपत्ति के समान है; मानों वर्षा हुई ही न थी, जल कभी था ही नहीं, संपत्ति कभी थी ही नहीं।—[नोट—इसके और भी अनेक प्रकारसे अर्थ किये जाते हैं।—(ग) 'रही' अर्थात् जो संपत्ति है वह 'जाइ' (जाती रहती है), पाई (जो किसी प्रकार पाई है) वह न पाई समान हो जाती है। (पं०)। (घ)—रामविमुखकी संपत्ति जो 'रही' वहभी 'जाइ' (व्यर्थ ही है)। क्योंकि परमार्थका साधन नहीं है। और जो प्रभुता 'पाई' अर्थात् हुईभी वह न हुई के समान है क्योंकि संतोंके मतमें वह नहीं ही है। (पं०)। (ङ)—'पाई' (=जिसके पाँव हैं अर्थात् जंगम जैसे हाथी, घोड़े आदि) और 'बिनु पाई' (=जिनके पैर नहीं हैं, जैसे कि भूमि. महल आदि), चर और अचर दोनों जाते रहेंगे। (पां०)। (च)—संपत्ति और प्रभुताई जाती रहेगी और 'बिनु पाई' (जो तूने नहीं पाई है अर्थात् दुःख और विपत्ति वा, मोक्ष आदि वह तू) 'पाई' (पावेगा)। (पां०)। (छ)—जो तूने इस समय पाई है वह 'बिन पाई' अर्थात् विभीषणजीके यहाँ 'जाइ रही' जाकर रहेगी। यथा—'सो संपदा विभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ।' (मा. त. सु.)। (ज) 'बिनु पाई'=शून्य (०) बराबर। (करु०) ☞अंतिम चार अर्थ तो वाग्विलासमात्र हैं।]

४—प्रथम 'रामनाम बिनु गिरा न सोहा।' कहकर वाणीकी अशोभा कही और अब 'रामबिमुख.... बिनु पाई' से लक्ष्मीकी अशोभा कहते हैं। 'संपति प्रभुताई' लक्ष्मीजीके ही कृपाकटाक्ष हैं। दोनोंके कथनका अभिप्राय यह है कि दोनों भगवान्की शक्तियाँ हैं, भगवान्के विना वे शोभा नहीं पा सकतीं। भगवान् गिरापति हैं. यथा—'तदपि जथाश्रुत कहउँ बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी'। वाणीका सम्बन्ध रामनामसे है, वाणीसे रामनाम उच्चारण किया जाता है; इसीसे रामनाम विना वह शोभा नहीं पाती। श्रीरामजीके लिए लक्ष्मीका खर्च करे तब उसकी शोभा है।—(श्रीलक्ष्मीजी भगवान्की पत्नी हैं, अतः माता हैं। जीव उन जगज्जननीका स्वयं पति बन बैठता है। कितना घोर पाप करता है। इसीसे वे रुष्ट हो जाती हैं। उनको प्रभुकी जानकर समस्त संपत्ति और प्रभुत्वको प्रभुकेही अर्पण कर देने, उन्हींके कार्यमें लगा देने, सत्कर्मोंमें उसको खर्च करनेसेही उसकी शोभा है। स्वयं उसका एक ट्रस्टी, अमानतदार, रक्षक आदि बनकर रहे; यथा—'संपति सब रघुपति कै आहीं। जौं बिनु जतन चलौं तजि ताही। २. १८५।')। (ग) विमुख होनेसे संपत्ति चली जाती है, इसीसे 'जाइ रही' कहा। रामनाम विना वाणी लक्ष्मीकी तरह चली नहीं जाती, किन्तु बनी रहती है, पर उसकी शोभा नहीं रहती; अतः इसके लिये 'न सोहा' कहा। पुनः (घ)—'राम चरनपंकज उर धरहू' यह हृदयका भजन है, 'रामनाम बिनु गिरा न सोहा' यह वचनका भजन है और संपत्तिसे सत्कर्म करके रामजीको अर्पण करे यह कर्मका भजन है। इन तीन बातोंको कहकर जनाया कि मनवचनकर्मसे भजन करो। वह मनकर्मवचनसे हरिविमुख है। इसीसे ऐसा कहा।

सरित† मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गए पुनि तबहिं सुखाहीं॥ ६॥

---

†सरित—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। सजल-१७०४, कोदवराम, गा० प्र०। 'सजल' पाठसे अर्थ होगा—'जिन नदियोंके मूल सजल नहीं हैं।' वा 'जिन नदियोंमें जलसंयुक्त मूल (जहाँसे जल निरन्तर बहता ही रहे) नहीं है।' "सरित" पाठमें 'सरितमूल' एक शब्द है जिसका अर्थ 'नदीकामूल=जलस्रोत=पहाड़, सर आदि जहाँसे निरन्तर जल बहनेपरभी वह अगाध ही बना रहता है।' पं० विजयानंद त्रिपाठीजी

सुनु दसकंठ कहौं पन रोपी। बिमुख राम त्राता नहिं कोपी ॥ ७ ।
संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही ॥*८।

अर्थ—जिन नदियोंमें 'सरितमूल' (अर्थात् पहाड़ या सर जहाँ अथाह जल भरा है बहता रहता है) नहीं है (केवल वर्षाजल पाकर ही जो बहती हैं) वे वर्षा हो जानेपर फिर तु जाती हैं (मानों पानी कभी रहा ही नहीं) । ६ । हे दशग्रीव ! मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि श्रीराम होनेपर कोई भी रक्षक नहीं हो सकता (अर्थात् तुम्हारे राज्य, कुल और सुन्दर वाणी अर्थात् और शरीर सभी नष्ट हो जायँगे) । ७ । हजारों शङ्कर, हजारों विष्णु और हजारों ब्रह्माभी श्रीराम रक्षा नहीं कर सकते । ८ ।

टिप्पणी—१ 'सरितमूल जिन्ह...' इति । सम्पत्तिकी उपमा नदीसे देकर जनाया कि र संपत्ति निर्मूल नदीके सदृश है, जिसका सब पानी बह जाता है । 'सरित-मूल' मूल स्रोत श्रीराम और प्रभुता नदी है, यथा—'रिधि सिधि-संपति नदी सुहाई ।' सुकृत मेघ हैं, यथा—'सुकृत मेघ बरषा भाव यह कि किसी सुकृतसे संपत्ति-प्रभुताई हुई भी तो शीघ्रही नष्टभी हो जाती है जैसे निर्मूल नदी हुए कि सब ऐश्वर्यादि गए । पुनः, रामभजन, श्रीरामजीकी शुद्ध शरणागति, श्रीरामसम्मुखता ही अ एवं प्रभुतारूपिणी नदियोंका अचल 'सरितमूल' है जो सदा परिपूर्ण ही बना रहता है । समूल नदी है । वैसे ही जो संपत्ति या प्रभुता श्रीरामजीसे सम्बद्ध है वही अचल है । यहाँतक 'सिखावन' भयदर्शन है ।

२ (क) 'दसकंठ' का भाव कि (कोई रक्षक नहीं है, अतएव) तेरे दसों सिर काटे जायँ 'सब जगु ताहि अनलहु ते ताता । जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता । ३. २ ।') 'कहौं पन रोपी' का सम्बन से भी है । पहले कहा कि रामविमुखका कोई रक्षक नहीं और अब कहते हैं कि तू तो विमुख ही द्रोही है; अतएव तेरी रक्षा तो त्रिदेवभी यदि आ जायँ तो भी नहीं कर सकते; यथा—'ब्रह्मधाम लोका । फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका । काहू बैठन कहा न ओही । राखि को सकै रामकर द्रोही ।' (हजारों त्रिदेवभी रक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि श्रीरामजीकेही बलसे उन सबोंमें बल है; यथा—'जाके हरि ईसा । पालत हरत सृजत दससीसा ।' पुनः ब्रह्मा, विष्णु, महेश सब रामजीके अधीन हैं, यथा—' बिष्नु अनेका । अमित प्रभाउ एक तें एका । बंदत चरन करत प्रभु सेवा । बिबिध बेष देखे सब देवा ।' (१.५ रावणकी संपत्ति सब शिवजीकी दी हुई है; यथा—'जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिये दस माथ बलभी शिवजीने ही दिया; यथा—'सादर सिव कहुँ सीस चढ़ाये । एक एक के कोटिन्ह पाये ।' (६.६ रक्षकोंमें श्रीशिवजीका नाम आदिमें दिया ।

नोट—१ 'त्राता नहिं कोपी । ...राम कर द्रोही ।' इति । वाल्मी० ५.५१ में भी श्रीहनुम ही वचन हैं । वे कहते हैं 'देवाश्च दैत्याश्च निशाचरेन्द्र, गन्धर्वविद्याधर नागयक्षाः । रामस्य ल कस्य, स्थातुं न शक्ताः समरेषु सर्वे ॥ ४४ ॥ ब्रह्मास्वयम्भूश्चतुराननो वा, रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरा इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा त्रातुं न शक्ता युधि रामवध्यम् । ४५ ।' अर्थात् हे र देव, दैत्य, गंधर्व, विद्याधर, नाग और यक्ष कोईभी युद्धमें त्रैलोक्यनायक श्रीरामचन्द्रजीके रहनेको समर्थ नहीं । स्वयम्भू चतुरानन श्रीब्रह्माजी, त्रिपुरासुरके संहारकर्त्ता त्रिलोचन रुद्र अथवा राजा महेंद्र इन्द्र ही क्यों न हों, युद्धमें श्रीराघवके सामने कोईभी रामवध्यकी रक्षा करनेको सम भाव यह है कि जबतक तू चराचर द्रोही रहा तबतकभी शिवादि वरप्रदानादि द्वारा तेरी रक्षा क

कहते हैं कि प्राचीन पाठ 'सजलमूल' है । 'सरितमूल' पाठ माननेसे भी घूमकर सजलमूलही अर्थ

जब तू रामविमुख हुआ, वरदाताओंके स्वामीका ही अपराध तूने किया तब वे कैसे रक्षा कर सकते हैं? उनसे बिगाड़कर तू सुखी नहीं रह सकता। 'न चापि त्रिषु लोकेषु राजन् विद्येत कश्चन। राघवस्य व्यलीकं यः कृत्वा सुखमवाप्नुयात्॥ वाल्मी. ५।५१।२०॥' ☞ 'त्राता नहिं कोपी' में उपर्युक्त श्लोक ४४ का भाव आ गया और 'संकर सहस...' में श्लोक ४५ से विशेषता यह है कि वहाँ तो ब्रह्मा, स्वयंभू और चतुरानन तीन नाम देकर तीन ब्रह्मा और रुद्र, त्रिनेत्र और त्रिपुरान्तकसे तीन शंकर कहे गए हैं और यहाँ सहस्र शंकर, सहस्र ब्रह्मा और सहस्र विष्णु कहे गए। विष्णुका नाम श्लोकोंमें नहीं है। विष्णुको भी यहाँ कहकर गोस्वामीजी यहाँ अवतारी श्रीरामजीका अवतार होना सूचित कर रहे हैं। 'संकर' नाम देकर यह भी जनाया कि जिनको तू अपना कल्याणकर्त्ता मानता है वे भी रक्षा नहीं कर सकते। मिलान कीजिए—'ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका। फिरा श्रमित व्याकुल भय सोका। काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकइ राम कर द्रोही। ३। २। ४-५।'

दो०—मोहमूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान॥ २३॥

अर्थ—मोहका मूल कारण, (वा, मोह जिसका मूल है), बहुत शूलोंका देनेवाला तमोगुणी अभिमान छोड़ दो। रघुनायक (रघुकुल एवं जीवमात्रके स्वामी), दयासागर, भगवान् (षडैश्वर्यसंपन्न) श्रीरामजीका भजन करो। २३।

नोट—१ 'मोहमूल' का दूसरा अर्थ इससे किया गया कि मोहको 'सकल व्याधिन्ह कर मूला' कहा है और अहंकार और मानको व्याधियोंमें गिनाया गया है। यथा—'अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नहरुआ॥ ७. १२१॥' रावणमें मोह और अभिमान दोनों हैं। मोहवश श्रीरामजीको मनुष्य समझता है और अभिमानवश है कि समस्त देव दानव मेरे वश हैं, मुझसे कौन जीत सकता है। इसीसे सीताहरण किया। यथा—'नृप अभिमान मोह बस किंवा। हरि आनिहु सीता जगदंबा।' (अंगदवाक्य)। वही हनुमान्जीने कहा है—'हरि आनेहु...'।

२—काम, क्रोध और लोभ आदि शूल हैं जिनसे सन्निपात हो जाता है, जिसका परिणाम मरण है। रावणमें यह सब कहे गए हैं; यथा—'सन्यपात जल्पसि दुर्बादा। भएसि काल बस खल मनुजादा। ६।२२।' (अंगदवाक्य); 'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ। सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत।५।३८।' (विभीषणवाक्य) 'परिहरि' से सूचित किया कि ये सब दोष रावणमें हैं।

३—मोहको मूल कहकर 'तामसी अभिमान' को वृक्ष और 'बहू सूल' को उसके फल जनाये।

टिप्पणी—१ (क) अभिमान समस्त शोकोंका देनेवाला है, यथा—'संसृतमूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना। ६। ७४।' (ख) 'तम अभिमान' का भाव कि अभिमान सतोगुणीभी होता है जो ग्राह्य है, यथा—'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।३।११।' तमोगुणी अभिमान त्याज्य है। (ग) 'राम रघुनायक...' इति। 'राम' अर्थात् इनमें सब योगी रमते हैं; यथा—'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परंब्रह्माभिधीयते।' (रा. ता. पू.)। अतएव तुमभी इनका भजन करो। इस कथनसे निर्गुण-उपासना पाई गई। अतः कहते हैं कि रघुनायक (जो रघुकुलमें दशरथनन्दनरूपसे अवतरे हैं उन सगुण) रामका भजन करो। वे कैसे हैं कि कृपाके समुद्र हैं, भगवान् हैं। अर्थात् कृपालु और सब लायक दोनों हैं, यथा—'प्रभु अकृपाल कृपाल अलायक जहँ जहँ चितहि डुलावौं'—(विनय)। श्रीरामजी ऐसे नहीं है जैसे और सब हैं; ये तो कृपालु हैं और सब कुछ देनेकी योग्यताभी इनमें है। अथवा, जब कहा कि रामको भजो तब सन्देह हुआ कि कौनसे राम? इसपर कहा कि रघुनायक जो कृपा करके सब ऐश्वर्य देते हैं। अथवा, राम हैं, सबके हृदयकी जानते हैं। रघुनायक हैं, अतएव बड़े दाता हैं। कृपासिन्धु हैं, कृपा करते हैं अर्थात् सब कुछ दे सकते हैं। भगवान् हैं अर्थात् अनन्त ऐश्वर्य संपन्न हैं। ☞ रावणको ईश्वरत्वमें भ्रम है,

इसीसे प्रसंगभरमें ईश्वरत्व वर्णन किया गया है।—['भजहु राम...' कहा क्योंकि बिना भगवद्भजनके जीवका कल्याण नहीं। यथा—'तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम। जब लगि भजत न राम कहुँ...'(५.४६)।]

वि. त्रि.—'मोह मूल...भगवान' इति। जिस मोहके वशमें पड़कर तुमने जगदम्बाका हरण किया है, उसे छोड़ो, और जिस अभिमानके कारण तुम्हें मोहका आवरण बना हुआ है, किसीकी शिक्षापर तुम ध्यान नहीं देते उसे छोड़ो। भावार्थ यह कि मेरे सिखावन पर ध्यान दो और जानकीको देकर रामजीको भजो। यदि कहिये कौन राम तो जिसे श्रुति कहती है 'चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णो जाते दशरथे हरौ। रघोःकुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः'। रघुकुलमें जो अवतीर्ण हैं, अवतारका कारण उनकी कृपा है, वे कृपासिंधु हैं, भगवान् हैं। 'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां स वाच्यो भगवानिति'। प्राणियोंकी उत्पत्ति प्रलयको जानते हैं, उनके आने-जानेको जानते हैं, और बन्ध मोक्षको जानते हैं। वे ही भगवान् आराध्य हैं।

टिप्पणी—२(क) उपक्रममें अभिमान त्याग करनेको कहा और यहाँ उपसंहारमें भी; यथा—'सुनहु मान तजि मोर सिखावन' और 'त्यागहु तम अभिमान'। (ख)—उपक्रम उपसंहार दोनोंमें भजन करनेको कहा यथा—'भ्रम तजि भजहु भगत भय हारी। २२। ८' और 'भजहु राम रघुनायक...'। (ग) उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें तीन-तीन विशेषण दिये; यथा-'प्रनतपाल रघुनायक करुनासिंधु खरारि' और 'राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान'।

नोट—४ यहाँ उपक्रम 'बिनती करौं...' और उपसंहार 'मोह...भगवान' के बीचमें श्रीहनुमान्‌जीने जीवोंके कल्याणार्थ नौ बातें कही हैं।—(१) जीवके उपदेशक आचार्यका स्वरूप (निरभिमान, सर्वशास्त्रवेत्ता, ज्ञान-वैराग्य-भक्ति-सौशील्यादि गुणोंसे युक्त होना)। 'बिनती करउँ जोरि कर रावन' इसका उदाहरण है। (२) ऐश्वर्य (ईश्वरत्व अर्थात् सर्वकारण, सर्वनियन्ता, और सर्वसृष्टिके आधारभूत परमेश्वरका प्रताप और प्रभाव)। यथा—'जाके डर अतिकाल डेराइ।....', 'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया २१। ४।' से 'जितेहु चराचर झारि। २१।' तक। (३) भगवान्‌का स्वाभाविक गुण (प्रणतपालकत्व, शरणागतवत्सलत्व आदि। यथा —'प्रनतपाल...गएँ सरन प्रभु राखि हैं...।' (४)—शरणागत-फल-प्राप्ति। यथा—'रामचरन-पंकज उर धरहू। लंका अचल राज तुम्ह करहू।' यह शरणागत होनेका तात्कालिक फल होगा। (५) परम्परागत धर्म (कुलधर्म)। यथा —रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका। तेहि ससि महुँ जनि होउ कलंका।' (६) भगवत्सम्बन्ध-बिना समस्त कृत्योंकी व्यर्थता। यथा—'रामनाम बिनु गिरा न सोहा' से 'जाइ रही पाई बिनु पाई।' तक। (७)—भगवत्-शरणागति बिना अन्य सब साधनोंका अल्पफलदातृत्व। यथा —'सरितमूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गएँ पुनि तबहिं सुखाहीं।' (८) —श्रीरामबिमुख रामद्रोहीका त्रैलोक्यमें शरणाभाव। यथा—बिमुख राम त्राता नहिं कोपी।' से 'राम कर द्रोही' तक (९) - सिद्धान्त, यथा—'भजहु राम रघुनायक...'। (मा० त० सु०)।

२—इस दोहेतक 'भयदर्शन' हुआ। 'कपि बंधन सुनि निसिचर धाये।' २० (५) से यहाँतक 'रावनहिं प्रबोधी' प्रसंग है। ३ दोहा दोहरा मिश्रित है। (ब्र० चं०)

'बन उजारि रावनहिं प्रबोधी'-प्रसंग समाप्त हुआ।

'पुर दहि नाँघेउ बहुरि पयोधी'-प्रकरण

('पुर दहि'-प्रसंग)

जदपि कही कपि अति हित बानी। भगति बिबेक बिरति नय सानी॥ १॥
बोला बिहँसि महा अभिमानी। मिला हमहि कपि गुर बड़ ग्यानी*॥ २॥

* अर्धाली (१) से (५) तक पायकुलक है। (ब्र. चं.)।

अर्थ—यद्यपि कपि (श्रीहनुमान्‌जी) ने अत्यन्त भलेकी (हितकर), भक्ति, विवेक, वैराग्य और नीतिसे भरी हुई (अर्थात् आदर करने योग्य) वाणी कही। १। तोभी वह महाअभिमानी रावण बहुत हँसकर (ठट्ठा मारकर निरादरपूर्वक) बोला—'हमें बड़ा ज्ञानी वानर गुरु मिला'। २।

नोट—१ 'जदपि कही कपि अति हित बानी।०' इति। श्रीहनुमान्‌जीके वचन अत्यन्त हितकर हैं। यथा—'तत्त्रिकालहितं वाक्यं धर्म्यमर्थानुबन्धि च। वाल्मी० ५। ५१। २१।' अर्थात् मेरा वचन तीनों कालोंमें हितकर धर्मयुक्त और शास्त्रसम्मत है। वाल्मीकिजीने भी इन वचनोंको 'सुंदर, अदैन्य और अनुपम' कहा है, यथा—'स सौष्ठवोपेतमदीनवादिनः। वाल्मी० ५। ५१। ४६।'

टिप्पणी—१ (क) 'अतिहित बानी'। हनुमान्‌जी सन्त हैं। सन्त का धर्म है पराया हित करना; यथा—'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी'। अतएव उन्होंने हितके वचन कहे। पुनः, (ख) हित तो एकहीसे हो सकता है पर यहाँ वाणी भक्ति, विवेक, विरति और नय चारोंसे संयुक्त है; अतएव वाणी 'अतिहित' है। ☞ इन चारोंके धारण करनेसे जीवका अत्यन्त हित होता है—यह उपदेश है।

☞ इस प्रसंगमें छः आवृत्तियाँ हैं; उनको क्रमसे दिखाते हैं।

दोहा—'प्रश्नोत्तर अरु कांडक्रम करहु प्रसंग बिभाग। अपराधी तुम्ह असुर सब मोहि अपराध न लाग॥१॥
त्याग ग्रहण फल तीनको करहु बिभाग बिचारि। भक्ति विवेक विरति नय पृथक्-पृथक् निर्धारि॥२॥

(१)—प्रश्न	उत्तर
केहिके बल	(१) 'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया' से 'जाके बल लवलेस तें जितेहु००' तक
कह लंकेस कवन तैं कीसा	(२) 'तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि।'
की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही	(३) 'जानौं मैं तुम्हारि प्रभुताई' से 'समर बालि सन करि जसु पावा' तक
केहि के बल घालेहि बन खीसा	(४) 'खायेउँ फल प्रभु लागी भूखा। कपि सुभाउ तें तोरेउँ रूखा॥'
मारे निसिचर केहि अपराधा	(५) 'सब के देह परमप्रिय स्वामी' से 'जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे' तक

यहाँ तक प्रश्नोत्तर हुए। आगे सिखावन है—'विनती करौं जोरि कर रावन।' इत्यादि। इति प्रथमावृत्तिः।

(२)—द्वितीयावृत्ति में रूप, अवतार, हेतु और लीला कही।—

(क) प्रथम भगवानका निज रूप कहा—'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया' से 'अंडकोस समेत गिरि कानन' तक
(ख) फिर अवतार कहा— 'धरइ जो बिबिध देह सुरत्राता'
(ग) अवतारका हेतु कहा— 'तुम्ह से सठन सिखावनदाता'
(घ) अवतारकी लीला कही। इसमें बाल, अरण्य, किष्किंधा और सुन्दरकांडोंके चरित कहे। 'हर को दंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत नृपदल मद गंजा।' यह बालकांड हुआ। 'खरदूषन त्रिसिरा' का वध अरण्यकांड है। बालिवध किष्किंधाकांड है। 'खायेउँ फल प्रभु लागी भूखा' से 'तेहि पर बाँधेउँ तनय तुम्हारा' तक सुंदरकांड है। इतनी लीला अभी तक हुई सो कही।

बीचमें अयोध्याकांड क्यों छोड़ दिया? उत्तर—अयोध्याकांड भरतचरित है, यथा—'भरतचरित करि नेम००'। हनुमान्‌जी रामचरित कहकर उसको श्रीरामजीका बल दिखा रहे हैं, इसीसे अयोध्याकांड न कहा। इसी प्रकार नामवंदना-प्रकरणमें भी जहाँ रामसे रामनामको अधिक कहा है वहाँ भी सब कांड कहे पर बीचका अयोध्याकांड नहीं कहा; यथा—'भंजेउ राम आपु भवचापू।'—(बाल), 'दंडकबन प्रभु कीन्ह सुहावन ०' (अरण्य), 'सबरी गीध सुसेवकनि'—(किष्किंधा), इत्यादि—बा० दोहा २३-२४ (८, देखिए। इसी तरह मंदोदरी आदिके वाक्योंमें अयोध्याकाण्डका चरित नहीं है, यथा—'भंजि धनुष जानकी बिबाही।...सुरपतिसुत जानइ बल थोरा।' (६। ३५)। इत्यादि। पुनः, यथा—'जेहि ताड़का सुबाहु हति खंडेउ हर कोदंड। खरदूषन तिसिरा बधेउ मनुज कि अस बरिबंड॥ ३। २५।'

(३) तृतीयावृत्तिमें सबका अपराध और अपनी सफ़ाई कही—
राजाका अपराध—'तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि'।
राक्षसोंका अपराध—'मारहिं मोहिं कुमारगगामी'।
मेघनादका अपराध—'तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारा।'
अपनी सफ़ाई—'खायउँ फल प्रभु लागी भूखा' इत्यादि।

(४) चतुर्थावृत्तिमें तीनबार 'सुनु' पद देकर इस प्रसंगमें तीन भाग जनाये। यथा—'सुन रावन ब्रह्मांड निकाया', 'सुनहु मान तजि मोर सिखावन', 'सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी'। प्रथम भाग में प्रश्नोत्तर दिया, दूसरे भाग में शिक्षा दी और तीसरे भागमें भय दिखाया। इति चतुर्थावृत्तिः।—यह 'प्रसंग विभाग' है।

(५) पञ्चमावृत्तिमें त्याग, ग्रहण और फल तीनोंका विभाग है—(क) मान, भ्रम, वैर, मद, मोह, तम और अभिमान इन छः का त्याग कहते हैं; यथा क्रमसे—'सुनहु मान तजि०', 'भ्रमतजि भजहु०', 'तासों बयरु कबहुँ नहिं कीजे', 'देखु बिचारि त्यागि मद मोहा', 'मोह मूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान'। (ख) ग्रहण पाँच वस्तुओंका कहा। (१) भजन करो; (२) अपना भय दूर करो; (३) श्रीजानकीजीको देकर शरण हो; (४) रामचरण उरमें धरो; (५) भजन करके ईश्वरके कृपापात्र बनो। क्रमसे इनके उदाहरण, यथा—'भजहु', 'भगतभयहारी', 'मोरे कहे जानकी दीजे', 'गए सरन प्रभु राखिहैं', 'राम चरनपंकज उर धरहू' और 'भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु'। (ग) अब इन पाँचोंका फल कहते हैं। क्रमसे यथा—(१) अचलराज; यथा—'लंका अचल राज तुम्ह करहू'। (२) कुलकी शोभा, यथा—'रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका। तेहि ससि महुँ जनि होउ कलंका'। (३) वाणीकी शोभा, यथा—'रामनाम बिनु गिरा न सोहा'। (४) संपत्तिकी स्थिरता, यथा—'रामविमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई'। (५) शरीरकी स्थिरता, यथा—'संकर सहस विष्णु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही'। इति पंचमावृत्तिः।

(६)—षष्ठमावृत्तिमें भक्ति और विवेक आदिका विभाग करते हैं।—
भक्ति—'देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी' से 'रामचरनपंकज उर धरहू' तक।
विवेक—'रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका' से 'बसन हीन नहिं सोह सुरारी' तक।
विरति—'राम बिमुख संपति प्रभुताई' से 'बरषि गये पुनि तबहिं सुखाहीं' तक।
नीति—'सुनु दसकंठ कहौं पन रोपी' से 'भजहु राम रघुनायक...भगवान्' तक।

☞ नीतिशास्त्र कहता है कि जो अपनेसे बल बुद्धिमें बड़ा हो उससे वैर न करे।—[श्रीहनुमान्जीके उत्तरमें सामादि चारों नीतियाँ दिखाई गई हैं। 'बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥' में साम, 'लंका अचल राज तुम्ह करहू' में दाम, 'रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका। तेहि ससि महुँ जनि होउ कलंका॥' में भेद और 'सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी' से 'सकहिं न राखि राम कर द्रोही' तक दण्ड है।]

नोट—२ मा० त० सु० का मत है कि यहाँ तीन आवृत्तियोंमें भक्ति विवेक वैराग्य और नीति समझाई गई है। 'बिनती करउँ' से 'अपराध बिसारी' तक प्रथम आवृत्ति, 'रामचरन पंकज' से 'भूषित बर नारी' तक द्वितीय और 'रामबिमुख संपति' से 'कृपासिंधु भगवान' तक तृतीयावृत्ति है। और प्रत्येक आवृत्तिमें भक्ति आदि चारों हैं। जैसे कि प्रथमावृत्तिमें 'प्रनतपाल...बिसारि' भक्ति है, 'सुनहु मान तजि ···' विवेक है, 'भ्रम तजि भजहु' वैराग्य और 'तासों बैर कबहुँ नहि कीजै।' नीति है। द्वितीयमें 'रामचरन...' भक्ति, 'बसनहीन ···' विवेक, 'त्यागि मद मोहा' विरति और 'रिषि पुलस्ति...कलंका' नीति है। इसी प्रकार तृतीयावृत्तिमें 'भजहु राम...' भक्ति, 'रामबिमुख त्राता नहिं कोपी' विवेक, 'त्यागहु तम अभिमान' विरति और रामबिमुख संपति ··· पाई' नीति है। ☞ इस प्रकार तीन-तीन बार प्रत्येक वस्तुको कथनकर उपदेश देते हैं कि यदि इतना कहनेपरभी मनुष्य अपने आचार्यवाक्यका निरादर करे तो रावणके समान क्लेश पाता है।

प० प० प्र०—(क) "हनुमान्‌जीके उत्तरोंमें ग्रथित अन्य सिद्धान्त"—(१) ब्रह्मा-विष्णु-शिवादि देवताओंकी शक्ति रामशक्तिका ही अंश है। अन्य बलवानोंका बलभी रामबलका अंशांश है।

(२) उद्भव, पालन, प्रलय और प्रलय उद्भव पालनका चक्र अनादिकालसे चला आ रहा है।

(३) क्षुधा शमन करनेवाले पशु-पक्षी आदिका विरोध करना पाप है, अपराध है।

(४) अभिमान विनाशका मूल है।

(५) स्वामिकार्यमें लोकलज्जा, अपमान, दण्ड आदिकी परवाह न करनी चाहिए।

(६) आत्मसंरक्षणमें प्राणिवध या मनुष्यहत्या पाप या अपराध नहीं है।

(७) निष्प्रभ हुए अभिमानी सत्ताधीश अपना अपमान हँसीमें उड़ाते हैं।

(ख) हितोपदेशकमें ये लक्षण होने चाहिए—विनय, दयाशीलता, परहितकी तीव्र इच्छा, निर्भयता स्वार्थ-विमुखता, अनीति-विमुखता, नीति, विरति, ज्ञान-भक्ति-निपुणता इत्यादि।

टिप्पणी—२ 'बोला बिहँसि...' इति। (क) वाणीके निरादरार्थ हँसकर बोला क्योंकि महा अभिमानी है। अभिमानी उपदेश नहीं मानते, यथा—'अस कहि चला महा अभिमानी। तृन समान सुग्रीवहि जानी। ४।८।११।' (ख) 'महा अभिमानी' का भाव कि हनुमान्‌जीने अभिमान् त्याग करनेको कहा तो भी इसने उसे न छोड़ा। अतः ग्रंथकार कहते हैं कि वह 'महा अभिमानी' है, वह अभिमान नहीं त्याग सकता। [☞ अभिमानी, कामी, क्रोधी आदिको भगवत्तत्त्वका उपदेश करनेका निषेध किया गया है, यथा—'कहिय न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि।' इत्यादि। तब हनुमान्‌जीने क्यों उपदेश किया? इससे कि वे महारुद्रावतार होनेसे उसकेभी-गुरु हैं। शंकरजी त्रिभुवनके गुरु हैं, यथा—'तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना। १। १११।'; गुरुका कर्तव्य है उपदेश करना, शिष्य माने या न माने। यथा—'गुर नित मोहि प्रबोध दुखित देखि आचरन मम। मोहि उपजइ अति क्रोध दंभिहि नीति कि भावई॥ ७। १०५॥...मानी कुटिल कुभाग्य कुजाती। गुर कर द्रोह करउँ दिन राती॥' (भुशुण्डि वाक्य)। इसी तरह मानी रावणको उपदेशपर क्रोध हुआ।] (ग) 'मिला हमहि कपि गुर' का भाव कि आजतक वानर गुरु किसीको न मिला था, हमको मिला। सरस्वती जनाये देती है कि हनुमान्‌जी शिवजीके अवतार हैं। पर अभिमानका मारा रावण न जान पाया।

नोट—३ "कपि गुर" कथनसे स्पष्ट है कि रावण समझ गया कि जो वचन हनुमान्‌जीने कहे हैं वे सद्‌गुरु-उपदेशके समान हैं। मोह, भ्रम, मान, अभिमान आदि कुरोगोंका नाश तभी होता है जब सद्‌गुरु मिलें और उनके उपदेशमें श्रद्धा और विश्वास हो और वे श्रीरघुपतिभक्तिरूपी औषधि देवें। यथा—"रामकृपा नासहिं सब रोगा।...सदगुर बैद बचन बिस्वासा।...रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा...। ७. १२२।"—यहाँ श्रीहनुमान्‌जी सद्‌गुरुरूपसे हितोपदेश कर रहे हैं, पर वह ग्रहण नहीं करता।

४—हास्यकालमें अभिमान जनित हँसी और व्यंग्य वचन कितने सुन्दर हैं। (लमगोड़ाजी)।

प० प० प्र०—'मिला हमहिं कपि गुर बड़ ज्ञानी' इति। रावणके अन्तरंगमें तो ये वचन यथार्थ हैं। रावणके मनमें जो संशय था कि ये राम भगवान हैं या नहीं वह इनके उपदेशसे नष्ट हो गया, 'सद्‌गुरु मिले जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ। ४। १७।'; अतः पूर्व की-हुई प्रतिज्ञापर, कि 'तौ मैं जाइ बैर हठि करऊँ। ३। २३। ४।', वह अब परम दृढ़ हो गया। इसीसे आगे अब जो कोई 'जानकी दीजै' कहता है उससे रुष्ट होता है—इसमें अपवाद केवल मंदोदरी है।

सद्‌गुरुके उपदेशसे विरोधी-भक्ति दृढ़ हो गई। विरोधीभक्ति प्रथानुसार गुरुकी दक्षिणा भी देनी चाहिए। रामविरोधभक्तिकी सिद्धिके लिये 'गुरुविरोधभक्ति' भी करना क्रम प्राप्त हो गया आगे 'मृत्यु निकट आई खल तोही' में-का 'खल' आवाहनकी पुष्पांजलि है। 'मृत्यु निकट' दक्षिणा है, पूँछ जलाना धूपदीप है। नैवेद्य तो पहले ही भक्षण कर चुके हैं। 'उलटा होइहि' यह देवताका आशीर्वाद है। गुरुपूजन मंत्रोपदेशके पूर्वही किया जाता है पर रावणकी पूजाविधि उल्टी है।

वि० त्रि०—रावण हनुमान्‌जीका उपदेश चुपचाप सुनता रहा। जब उन्होंने 'भजहु राम रघुनायक

कृपासिंधु भगवान' कहकर समाप्त किया, तब हँसा कि स्वयम् बन्दर होके उपदेष्टा बना है, और मनुष्यके भजन करनेका उपदेश दे रहा है। रावणने सदा मनुष्य और बन्दरको हेय दृष्टिसे देखा। सो बन्दरका इतना बड़ा साहस कि मुझे उपदेश दे। 'उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये'। रावणकी यह हँसी प्रसन्नताकी हँसी नहीं है, क्रोधकी हँसी है। वह महाअभिमानी है, उपदेशके पथ्यापथ्यका विचार नहीं करता, यथा—'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना।' इसी भाँति हितोपदेश देनेवाले मारीचपर बिगड़ गया, यथा—'गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा।'

मृत्यु निकट आई खल तोहीं। लागेसि अधम सिखावन मोहीं ॥ ३ ॥
उलटा होइहि कह हनुमाना। मति भ्रम तोहि‡ प्रगट मैं जाना ॥ ४ ॥

अर्थ—अरे दुष्ट! तेरी मृत्यु निकट आ गई है। अरे अधम! तू (अधम होकरभी) मुझे सिखाने लगा है। ३। हनुमान्‌जीने कहा कि इसका उलटा होगा। (अर्थात् तेरी मृत्यु होगी, मेरी नहीं)। मैं प्रत्यक्ष जान गया कि तुझे बुद्धिमें भ्रम हो गया है। ४।

टिप्पणी—१ 'मृत्यु निकट···' इति (क)—भाव कि तूने हमें उपदेश दिया, हम तुझको गुरु-दक्षिणामें 'मृत्यु' देते हैं। यथा—'कह कपि मुनि गुर-दछिना लेहू। पाछे हमहि मंत्र तुम्ह देहू। ६। ५७।' (कालनेमिप्रति श्रीहनुमत्वचन) [श्रीहनुमान्‌जीने कालनेमिको गुरुदक्षिणामें 'सिर लंगूर लपेटि पछारा' अर्थात् मृत्यु दी है! 'निकट' का भाव कि मेरी मृत्यु तो बहुत दूर है, पर तुझे मैं अभी तुरन्त मृत्युके हवाले करता हूँ। (ख) 'लागेसि अधम···' इति। छोटे मुँह बड़ी बात कहनेसे रावणने 'अधम' संबोधन किया। यथा—'रे कपि अधम मरन अब चहसी। छोटे बदन बात बड़ि कहसी ॥ ६। ३० ×।' (अंगदप्रति रावणवाक्य)। क्रोधमें परुष वचन निकलते ही हैं, यथा—'क्रोधके परुष बचन बल'। खिसियाया हुआ है क्योंकि उत्तर नहीं सूझता। अथवा, वानर-शरीरके विचारसे कहा। यथा—'अधम सरीर राम जिन्ह पाये'] अधम, यथा—'अस मैं अधम सखा सुन···।' (ग) 'सिखावन मोही' का भाव कि मैंने वेदोंपर भाष्य किया, मुझ पंडितको एक पशु शिक्षा दे। इसकी सजा वध है। अतः कहा कि तेरी मृत्यु निकट आगई। वा, मैं जगत्‌मात्रको शिक्षा देनेवाला हूँ; तू मुझे सिखाता है? शिक्षा देनेपर रावणको क्रोध होता है; यथा—'गुर जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा ॥ ३। २६।' (रावणवचन मारीचप्रति), 'सुत सन कह दसकंठ रिसाई। असि मति सठ केहि तोहि सिखाई ॥... ६। १०।' (प्रहस्तप्रति), 'रे कपिपोत बोलु सँभारी। मूढ़ न जानेहि मोहि सुरारी ॥ ६। २१।' (अंगदप्रति) 'बूढ़ भएसि न त मरतेउँ तोही। अब जनि नयन देखावसि मोही ॥ ६। ४८।' (माल्यवान् प्रति), 'सुनि दसकंठ रिसान अति तेहि मन कीन्ह बिचार। रामदूत कर मरौं बरु यह खल रत मल भार ॥ ६। ५५।' (रावण-कालनेमि-प्रसंग)। इत्यादि।

२—'मति भ्रम तोहि···' इति। (क) श्रीहनुमान्‌जीको बुद्धिमान देखकर रावण इनकी किसी वाणी-का उत्तर न दे सका। उसने समझ लिया कि उत्तर देतेही यह सभाभरमें हमको बेवकूफ (मूर्ख) बनाएगा; क्योंकि जितने प्रश्न हमने किये उनका उत्तर इसने तुरन्त दिया, हमारी सब बातोंको काट डाला। रावणका यह कहना कि तूने हमको शिक्षा दी अतः तू वधयोग्य है, ग़लत है; क्योंकि शिक्षा देना मृत्युका चिह्न नहीं है। 'मृत्युका यथार्थ चिह्न क्या है', इसे हनुमान्‌जी उत्तरमें कहते हैं कि 'तेरे बुद्धिमें भ्रम होगया है, इससे तुझे उलटा समझ पड़ता है, मरेगा तो आप और कहता है मुझको।' (ख) 'प्रगट' का भाव कि शास्त्रमें कहा है कि जिसकी बुद्धिमें भ्रम होता है उसकी मृत्यु होती है। अब हमने तेरी बुद्धिमें भ्रम प्रगट देख लिया कि हितोपदेशभी तुझे अहित समझ पड़ा, इसीसे निश्चय हो गया कि तेरी मृत्यु होगी। यथा—'तकइ नीच जो मीच साधु की सो

‡ तोरि—ना० प्र०, व्र० चं०। तोहि—छ०, का०। भा० दा०, १७२१, १७६२, १७०४। तोर—कोदवराम।

पामर तेहि मीचु मरै'—(विनय); *'हित मत तोहि न लागत कैसें। काल बिबस कहुँ भेषज जैसें। ६। १०।' (प्रहस्त-वचन)। हितको अहित, अहितको हित समझना यह भ्रम है। भ्रम होनेपर उलटा ही सूझता है, यथा—'जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा। ७।७३।' भ्रम, और अभिमान दोनों मृत्युके चिह्न हैं, यथा—'मंदोदरी हृदय अस जाना। कालबस्य उपजा अभिमाना। ६. ८।', 'मंदोदरि मन महुँ अस ठयऊ। पियहि काल बस मति भ्रम भयऊ। ६. १६।', 'निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं।६.३६।' इत्यादि। हनुमान्‌जीने इन दोनोंको त्याग करनेको कहा, पर वे दोनों उसमें अबभी प्रगट दिख रहे हैं, यथा—'बोला महा अभिमानी' और 'मति भ्रम तोहि'। पूर्वापर दोनों जगह मृत्युका हेतु कहा।

सुनि कपि बचन बहुत खिसिआना। बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना॥ ५॥
सुनत निसाचर मारन धाए। सचिवन्ह सहित बिभीषन आए† ॥ ६॥

अर्थ—कपिके वचन सुनकर (रावण) बहुत खिसियाया (लज्जित हुआ और लज्जाके कारण कुपित होकर राक्षसोंसे कहा कि) इस मूर्खके प्राण शीघ्र ही क्यों नहीं हरण कर लेते? ।५। सुनते ही निशाचर मारने दौड़े। (उसी समय) विभीषणजी मंत्रियोंसहित आये। ६।

नोट—१ 'हास्यकलामें 'खिसिआना' की झेंप और हँसीसे निर्हँस (क्रोध) स्वाभाविक ही है।' वाल्मीकिजी लिखतेभी हैं कि क्रोधके मारे रावणके नेत्र लाल हो गए। २—नाटकीय कलामें रंगमंचपर कितना सुंदर दृश्य बन पड़ा? फिर मंत्रियोंके आनेका अवसर (Enter) तो नाटकी और महाकाव्य दोनों कलाओंकी जान ही है। ३—फिल्मकलाभी निछावर है। (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—१ (क) 'बहुत खिसिआना'। भाव कि खिसियाया हुआ तो पूर्वही था जब उत्तर न बन पड़ा था और अब अपने वचनका प्रत्युत्तर सुनकर 'बहुत खिसिआना।' तात्पर्य कि उत्तर बन पड़ता तो खिसिआता नहीं, उत्तर देता। अथवा, कठोर वचन सुनकर बहुत खिसियाया, यथा—'परुष बचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसिआन। ५। ९।' वहाँभी तो सीताजीके वचनोंका उत्तर न बन पड़ा था। (ख) 'बेगि न हरहु' का भाव कि यदि शीघ्रता न करोगे तो यह फिर कुछ कहेगा। (ग) 'मूढ़' का भाव कि जो शास्त्रमर्यादाको जानता है, वह राजाका अपमान करनेवाले वचन राजासे नहीं कहता, यह शास्त्र कुछ नहीं जानता, कुछ पढ़ा नहीं है, मूढ़ है। (घ) शरीरसे 'अधम' है, विद्याहीन होनेसे मूढ़ है, और कटुवादी है; अतः वधयोग्य है; यथा—'कटुबादी बालक बध जोगू'। अतएव शीघ्र प्राण लेनेको कहा। अथवा, (ङ) पूर्वमें वह कह चुका है कि 'मृत्यु निकट आई खल तोही'; अतएव प्राण हरनेको कहा।

२ (क)—शीघ्र प्राण हरनेको कहा, अतः 'धाए'। पुनः, 'धाए' से जनाया कि राक्षस हनुमान्‌जीके डरसे दूर बैठे थे, क्योंकि वे जानते हैं कि उसने 'परतिहुँ बार कटक संहारा', गिरतेमें भी लाखोंका नाश किया था; ऐसा न हो कि उचककर गिरे तो हमारा मरण हो जाय। राक्षस हनुमान्‌जीके पास नहीं पहुँच पाये थे कि विभीषणजी वहाँ पहुँच गए और उन सबोंको मना कर दिया, तब रावणके पास गए। उनका प्रथम ही राक्षसोंको निवारण करना सूचित होता है; क्योंकि यदि वे पहले रावणके पास जाते और प्रार्थना करते तो तबतक राक्षस हनुमान्‌जीके पास पहुँचकर मारने लगते।—(वाल्मीकीय और अध्यात्मके अनुसार श्रीविभीषणजी सभामें पूर्वसेही विराजमान थे। उन्होंने रावणके पार्श्व (बगल) में खड़े हुए राक्षसोंको मारनेके लिये तैयार देख उन राक्षसोंको रोककर रावणसे प्रार्थना की। यथा अध्यात्मे—'पार्श्वे स्थितं मारय खण्डशः कपिं...। निवारयामास ततो विभीषणो महासुरं सायुधमुद्यतं वधे। ५। ४। ३०।' गोस्वामीजी मंत्रियोंसहित विभीषण

* यथा—'मुमूर्षूणां हि मन्दात्मन् ननुस्युर्विप्लवा गिरः'। यहाँ व्यंगार्थ वाच्यार्थ बराबर होनेसे 'तुल्य-प्रधान गुणीभूत व्यंग' है।

† भ्र० चं०—'सुनत०' तामरस, 'सचिवन्ह०' 'चण्डी'।

जीका ठीक उसी समय आगमन कहकर रावणसे बातचीत करना प्रारंभकर जनाते हैं कि विभीषणजीने कितनी शीघ्रता की। इसीसे उन्होंने राक्षसोंको रोकना कहा। अथवा, प्रथमसे ही प्रार्थना की कि दूतको न मारिये, यह नीतिके विरुद्ध है—यह रावणके भाईके मुखसे सुनकर राक्षस स्वयं रुक गये, इससे न लिखा गया। (ख) 'सचिवन्ह सहित' से जनाया कि प्रत्येक दिन मंत्रियों सहित आया करते थे। आगेभी लिखते हैं कि 'सचिव संग लै नभपथ गयेऊ'। (ग) ठीक इसी समयके आगमनसे ज्ञात होता है कि विभीषणजी पता लगाए रहे थे। जब उन्होंने सुना कि हनुमान्‌जीको बाँधकर मेघनाद सभामें ले गया है, तब हनुमान्‌जीकी सहायताके लिए आए। और युक्तिसे सहायता की। अथवा, परमेश्वरकी इच्छासे इस समय आना हुआ। रामकृपासे भक्तोंको दुर्योगमेंभी सुयोग हो जाता है। जैसे, (१) 'लागि तृषा अतिसय अकुलाने' तब स्वयंप्रभा मिली जिससे समुद्रतटपर जानेका योग लगा। यथा—'नयन मूँदि पुनि देखहिं बीरा। ठाढ़े सकल सिंधुके तीरा। ४। २५।'; (२) समुद्रके तटपर बानर सोच करने लगे तब संपाती मिल गया; यथा—'जो नाँघइ सत जोजन सागर। करइ सो रामकाज मति आगर। ४। २६।'; (३) हनुमान्‌जी मनमें तर्क करने लगे, उसी समय विभीषणजी मिले जिससे सीताजीके समीप पहुँचनेका योग लगा। यथा—'तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता। देखी चहौं जानकी माता। ५। ८।'; (४) तरुपल्लवमें छिपकर हनुमान्‌जी विचार करने लगे तब रावण आया जिससे मुद्रिका देने और वार्ता करनेका योग लगा। तथा यहाँ (५) राक्षस हनुमान्‌जीको मारने दौड़े तब विभीषणजी आए, अब लंका जलानेका योग लगा।

नाइ सीस करि बिनय बहूता। नीति बिरोध न मारिय दूता॥ ७॥
आन दंड कछु करिअ गोसांई। सबहीं कहा मंत्र भल भाई† ॥ ८॥

अर्थ—रावणको सिर नवाकर उन्होंने बहुत बिनती की कि दूतको न मारिये; यह (कर्म) नीतिके विरुद्ध है। ७। हे स्वामी! कोई दूसरा (साधारण) दण्ड दीजिए। यह सुन सभीने कहा—'भाई! यह मंत्र (सलाह, सम्मति) उत्तम है'। ८।

टिप्पणी—१ 'नाइ सीस करि बिनय बहूता।...' इति। (क) [अपनेसे बड़ेसे बोलनेमें अथवा अपने मनोरथकी सिद्धि एवं यों भी विशेष विनयके पूर्व मस्तक नवानेकी रीति है। यथा—'चरन बंदि करि बिनय बिसाला', 'नाइ सीस पुनि कह कर जोरी', 'माथ नाइ पूछत अस भयऊ', 'तब सिरु नाइ भरत कर जोरे', 'करि प्रनाम बोले भरत जोरि००'।] (ख) बहुत बिनय वाल्मीकि और अध्यात्ममें स्पष्ट है। बहुत विनतीका कारण यह है कि उस समय रावणको बहुत क्रोध था, सामान्य विनयसे वह कहना न मानता। इसीसे पहले बहुत विनय करके विभीषणजीने उसे प्रसन्न किया तब नीतिका विरोध दिखाया।

नोट १—वाल्मी० ५ सर्ग ५२ में विभीषणजीका पूरे सर्गमें विनय है। जिसका खुलासा यह है—क्षमा कीजिए, क्रोध छोड़िए, प्रसन्न हूजिए। मेरी बात सुनिए। दूतका वध करना धर्म-विरुद्ध, लोकव्यवहारसे निन्दित और राजधर्ममें निपुण राजाओंके अयोग्य है। योग्य अयोग्यका विचार करके आप दंड दें। इतना सुनकर उसने क्रोधसे उत्तर दिया कि पापीके वधमें पाप नहीं है। मैं अवश्य इसका वध करूँगा। विभीषणजी ने फिर निश्चित सिद्धान्तके वचन कहे—'प्रसीद लंकेश्वर राक्षसेन्द्र धर्मार्थतत्त्वं (युक्तं) वचनं शृणुष्व। दूता न वध्यान्समयेषु राजन्सर्वेषु सर्वत्र वदन्ति संतः॥ १३॥' सज्जन कहते हैं कि दूत सब कालोंमें और सर्वत्र अवध्य है। यह शत्रु बहुत बढ़ा हुआ है। इसने अप्रमेय अप्रिय काम किया है तथापि 'न दूतवध्यां प्रवदन्ति सन्तो दूतस्य दृष्टा बहवो हि दण्डाः। १४।' उनके लिए और अनेक दंड हैं पर वधका दंड कहीं सुननेमें नहीं आया। ...आपके समान शास्त्रज्ञानमें एवं लौकिक व्यवहारमें दूसरा नहीं है। सुर असुर सबमें आप श्रेष्ठ हैं, बलवान् हैं, आपको क्रोध न करना चाहिए। दूसरे इसके वधसे लाभ क्या? जिसने इसे भेजा है उसे दंड

* पायकुलक है—(प्र० चं०)।

दीजिए। 'साधुर्वा यदि वाऽसाधुः परैरेष समर्पितः। ब्रुवन्परार्थं परवान्न दूतो वधमर्हति॥ २१॥' भला है या बुरा, यह दूसरेका भेजा हुआ और दूसरेकी बात कहनेवाला पराधीन है; अतः वधयोग्य नहीं है। तीसरे इसके वधसे हानि है; क्योंकि आपकी शत्रुसे युद्ध करनेकी प्रवृत्तिका नाश हो जायगा। कारण कि इसके वध पर दूसरेका साहस नहीं जो समुद्र पार करके इस पार आ सके और फिर इसके स्वामीको खबर देकर यहाँ आपसे युद्ध करनेको ला सके। आप गुणी, श्रेष्ठ शस्त्रधारी सेनाको भेजकर उन राजकुमारोंको क़ैद करालें, पर दूतको न मारें। इस वानर यूथपतिके मार डालनेसे सब लोग आपकी सर्वत्र निन्दा करेंगे। इसके वधसे मुझे तो आपके लिये न तो कोई यशकी और न कोई भलाईकी ही बात देख पड़ती है। प्रत्युत इससे संसारभरमें आपकी निन्दा फैल जायगी। आपके राक्षस योद्धा आपके हितैषी हैं। आप इस वानरका वध करके अपने शूरवीर योद्धाओंके युद्धोल्लासको भंग न करें। रावणने इनके वचनोंको अपने कामका जानकर मान लिया। —इसीको गोस्वामीजीने 'बिनय बहूता' शब्दोंसे जना दिया है।

अध्यात्मरामायण ५। ४। श्लोक ३०-३२ में विभीषणजीका मारनेके लिये उद्यत हुए राक्षसोंको रोकना, रावणको समझाना कि दूतको न मारना चाहिए, इसके मारनेसे फिर आपके वैरी 'राम' को कौन समाचार देकर लायेगा, इसे और कोई दंड दीजिये, इत्यादि वर्णित है।

मा. त. सु.-कार नीतिका प्रमाण यह देते हैं—'उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा। सदैवावध्यभावेन यथार्थस्य हि वाचकः।' अर्थात् उसको मारनेके लिये हथियार उठाकर धमकानेसेभी दूत कुछका कुछ नहीं कह सकता। उसे कभी नहीं मारना चाहिये, क्योंकि वह यथार्थ (ठीक-ठीक) कहनेवाला है।

टिप्पणी—२ विभीषणजीने आते ही विनय करना प्रारंभ कर दिया। खड़े ही खड़े विनय की और विनय करके चले गए। इसीसे आनेपर उनका बैठना नहीं लिखा जैसे कि अन्य अवसरोंपर लिखते हैं; यथा—'अवसर जानि विभीषनु आवा। भ्राताचरन सीस तेहिं नावा। पुनि सिरु नाइ बैठ निज आसन'। यहाँ बैठना नहीं लिखा; क्योंकि यहाँ वे बैठे नहीं; न बैठनेका कारण यह है कि वे महात्माको दंड दिया जाना आखोंसे न देख सके। प्राण लेते थे, उसको बंद कराके विनती करके दूसरा कुछ दंड देनेको कहा; पर दूसराभी दंड देखना न सह सके; अतः चल दिये।

३ 'आन दंड कछु करिय गोसांई।' इति। (क) राजाकी आज्ञा भंग न करनी चाहिए, इसीसे अन्य दंड करनेको कहा। समझाया कि इसमें आपकी आज्ञाभी रहेगी और नीतिविरुद्ध भी न होगा। (ख) 'कछु' अर्थात् साधारण। (ग) 'गोसांई' का भाव कि आप पृथ्वीके स्वामी अर्थात् राजा हैं। आपको बहुत प्रकारके दंड मालूम हैं, उनमेंसे कोई दूसरा दंड दीजिये।

४—शंका—विभीषणजीने स्वयं क्यों न बताया कि यह दंड करो। समाधान—(क) उन्होंने श्रीहनुमान्‌जीके प्राण बचानेके लिये दूसरा दंड करनेको कहा। (प० प० प्र० का मत है कि ऐसा मानना कि उनके बचानेके लिये विभीषणने ऐसा कहा, क्योंकि मानसके विभीषण जानते हैं कि वे परम रामभक्त हैं, उनपर श्रीरामजीकी पूर्ण कृपा है, उनका बाल बाँका करनेको कोई समर्थ नहीं। वे इस समय केवल प्रभुकी प्रेरणासे आए)। दंडका नाम लेनेसे ये भी उस दंडमें शामिल हो जाते। अतः नाम न लिया। अथवा, (ख) नाम लेनेसे लंकादहनपर सब निशाचर इन्हींकी अपकीर्ति करते, इन्हींको दोष देते कि इन्हींके सम्मतिसे यह हुआ, न वे पूँछ जलानेकी सम्मति देते न हमारे घर जलाए जाते। लंकादहन तो हरि-इच्छा-भावी ही था, पर दण्डका प्रकार न बताना श्रीरामकृपासे ही हुआ। प्रभुने उनको अपकीर्तिसे बचा दिया।

नोट—२ अध्यात्मरामायणके विभीषणजीने यह कहते हुए कि अन्य दण्ड निश्चय कीजिये, यह भी कहा है कि 'दंड ऐसा हो कि जिसका चिह्न लेकर वह वानर जाय और सुग्रीव सहित श्रीरामजीको ले आवे।'—'अतो वधसमं किञ्चिदन्यच्चिन्तय वानरे। सचिह्नो गच्छतु हरिर्यं दृष्ट्वायास्यति द्रुतम्। अ. रा. ५।४।३२। रामः सुग्रीवसहितस्ततो युद्धं भवेत्तव।' वाल्मीकिजीके विभीषणजी इनसे महात्मा हैं, वे केवल इतना कहते हैं

कि—'दूतके लिये ये दण्ड बतलाये गए हैं—उसको अंगभंग कर देना, चाबुक लगवाना, सिर मुँड़वा देना, शरीरमें कोई चिह्न दगवा देना, इत्यादि। पर दूतका वध कहीं नहीं सुना है। आप कोई भी अन्य दंड दें।'—'दूतस्य दृष्टा बहवो हि दण्डाः।५।५२।१४। वैरूप्यमङ्गेषु कशाभिघातो, मौण्ड्यं तथा लक्षणसन्निपातः। एतान्हि दूते प्रवदन्ति दण्डान् वधस्तु दूतस्य न नः श्रुतोऽपि।१५।' पर मानसके विभीषणजी उपर्युक्त दोनोंसे श्रेष्ठ हैं।

लमगोड़ाजीभी इससे सहमत हैं। वे कहते हैं कि यदि कलाकी कल्पनाही समझी जाय तो भी वही ठीक जान पड़ता है जो 'प्रबंध' हमारे पूज्य कवि कर रहे हैं। क्या महाकाव्यकला और क्या नाटकीकलाके दृष्टिकोणसेभी 'बिनय बहूता' चाहे जितनी की हो पर 'मित्र' के लिये दुःख देनेवाले दण्ड तो उन्होंने कभी न बताये होंगे, चाहे बात टालनेके लिये 'कुछ' और दण्डकी बात कह दी हो। इसमें रावणके कौतुकपूर्ण और राजनीतिसम्बन्धी चतुराईके प्रकटीकरणका अवसरभी अधिक है। इस समय नायक और प्रतिनायक दो खेलाड़ी रावण और पवनसुत ही तो हैं। बहुत विस्तारसे मंत्रणा देनेमें यहभी भय था कि कहीं क्रोध अभी उधर उलट न पड़े कि मुझे सिखाने आये हैं। इससे सूत्ररूपमेंही मंत्रणा अति उत्तम है।

टिप्पणी—५ 'सब ही कहा मंत्र भल भाई' इति। (क) सभीने कहा, क्योंकि यह मंत्र नीति विरुद्ध नहीं है, वरंच नीतिशास्त्र सम्मत है और वध नीतिविरुद्ध था। अथवा, सभी राक्षस कौतुक देखनेके लिये सभामें आये थे; यथा—'कपिबंधन सुनि निसिचर धाए। कौतुक लागि सभा सब आए॥ ५। २०।' रावणकी पूर्वाज्ञापर वानरके मारे जानेका कौतुक देखनेको लालायित थे, राक्षसोंका मारने दौड़ना यह कौतुक देखा। अब इस मंत्रसे अधिक कौतुक देखनेको मिलेगा। (अबसे लेकर विभीषणराज्यतकका कौतुक देखेंगे)। अतः सभीने इस मंत्रको भला कहा। अथवा, जो मारने दौड़े थे वह यह सोचकर सहमत हुए कि वानर हमें अवश्य मार डालता, पर विभीषणकी सलाहसे हमारी जान बच गई। नहीं तो रावणकी आज्ञा पालन न करनेसे वे दंडके भागी होते और कायर समझे जाते। इस मंत्रमें युद्ध न करना पड़ेगा, अतः 'भल' कहा। अथवा, पहले रावणके वचनका प्रतिपालन किया कि 'मारन धाए', और अब विभीषणके वचनका प्रतिपालन करते हैं कि यह मंत्र भला है; क्योंकि दोनों बड़े हैं। इस प्रकार दोनोंमें उनका सद्भाव सूचित हुआ।

सुनत बिहँसि बोला दसकंधर। अंगभंग करि पठइअ बंदर* ॥ ९ ॥

अर्थ—दसकंधर (रावण) सुनतेही हंसकर बोला कि बंदरको अंगभंग करके भेजो। ९।

टिप्पणी—१ 'बिहँसि' इति। विभीषणजीकी बिनय सुनकर प्रसन्न हुआ। यहाँ हँसना प्रसन्नताका सूचक है। अथवा, वह पूँछ जलानेकी आज्ञा देनाही चाहता है, यह समझकर खूब हँसा कि इसमें बड़ा कौतुक होगा और इस अपमानके द्वारा इसका स्वामीभी देखनेमें आयेगा। अथवा, विभीषणके मंत्रको सबने भला कहा, इसीसे उसने स्वयंभी उनको प्रसन्न करनेके लिए हँसकर जनाया कि तुमने बहुत अच्छा कहा। दूतके मारनेसे क्या लाभ? इसके स्वामीको मारना चाहिए। यही बात पूर्वमें भी रावणने स्वयंही मेघनादसे कही थी; यथा—'मारसि जनि सुत बाँधेसु ताही। देखिअ कपिहि कहाँ कर आही। ५। १९।' अर्थात् इसके वधसे क्या लाभ? जिसने इसे भेजा है उसे दण्ड देना चाहिये जिसमें फिर कोई ऐसा साहस न कर सके।—[वाल्मीकीय एवं अध्यात्म रा० में राक्षसोंका विभीषणजीके मतको समर्थन करनेका उल्लेख नहीं है, पर रावणने विभीषणजीके उत्तम वचनोंको अपने कामका जानकर उनका आदर किया और कहा है कि आपका कथन ठीक है, दूतका वध निन्द्य कर्म है; पर इसको अन्य दंड अवश्य ही दिया जायगा।—'निशाचराणामधिपोऽनुजस्य विभीषणस्योत्तमवाक्यमिष्टम्। विभीषणोक्तं वचनं सुपूज्य। ५। ५२। २८-२९।' 'सम्यग्युक्तं हि भवता दूतवध्या विगर्हिता। ५। ५३। २।' 'बिहँसि' से विभीषणजीके मंत्रका आदर और स्वीकारत्व सूचित किया कि इन्होंने मुझे अनीति और अपकीर्त्तिसे बचा लिया। (२) 'बिहँसि' में प्रसन्नताके साथ कौतुकका भावभी है; मानों हास्य-

* 'सुनत...' ११४४ वाँ भेद है। 'अंग भंग ..' १२१४ वाँ भेद है। त्र० चं०।

कलामें उसे 'खेलाड़ी' हनुमान्‌पर विजयका दाँव मिल गया। इसीसे विस्तारसे समझाकर कहा है जो उपर्युक्त टिप्पणियोंमें आ गया है। (लमगोड़ाजी)। (३) अथवा, मेरे सामनेभी, इस वानरका निर्भय वचन सुनकर सब इसे मारनेमें डर रहे थे, किन्तु विभीषणजीका वचन इन सबोंके अनुकूल होनेसे सबोंने उसे एक मुखसे स्वीकार किया—यह समझकर हँसा।]

२ (क) 'दसकंधर'=दश मस्तकों वाला। अंग भंग करि पठइअ बंदर' इति। सबको देह और प्राण परम प्रिय होते हैं, यथा—'देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥ १ २०८।' (श्रीदशरथ-वाक्य विश्वामित्र प्रति)। उनमेंसे प्राणदंड तो नीतिविरुद्ध ठहरा। रहा शरीर सो यहभी सबको प्रिय है, यह स्वयं इस वानरने अभी-अभी कहा है; यथा —'सबके देह परम प्रिय स्वामी।'अतएव इसके शरीरका कोई अंग भंग कर दिया जाय। यह कहकर फिर स्वयं ही बताता है कि कौन अंग भंग किया जाय और किस तरह।

दो०—कपि के* ममता पूँछि पर सबहि कह्यौ† समुझाइ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ‡॥ २४॥

अर्थ—उसने सबको समझाकर कहा कि 'कपिकी ममता पूँछ परहोती है। वस्त्रोंको तेलमें डुबाकर (पूँछमें लपेटकर) बाँध दो और फिर आग लगा दो'। २४।

टिप्पणी—१ कपि के ममता पूँछि पर' इति। [वानरोंका ममत्व अपनी पूँछपर होता है, अर्थात् पूँछही उनका अत्यन्त प्यारा भूषण है, अपनी लांगूलपर ही उनको बड़ा अभिमान रहता है, प्रसन्नतामें वे पूँछ को उठाकर घुमाते-फिराते हैं, उसीसे वे बड़ी चोट करते हैं, इत्यादि। यथा—'कपीनां किल लांगूलमिष्टं भवति भूषणम्। वाल्मी० ५। ५३। ३।' (रावणवचन); 'वानराणां हि लांगूले महामानो भवेत्किल। अध्यात्म। ५। ४। ३४।'; 'अंगद मयंद नल नील बलसील महा, बालधी फिरावैं मुख नाना गति लेत हैं। क० सुं० २६॥', 'आयो हनुमान प्रानहेतु अंकमाल देत, लेत पगधूरि एक चूमत लंगूल हैं। ३०।' (लंकासे सीताजीका समाचार लेकर लौटनेपर वानरोंने अपनी प्रसन्नता इस प्रकार प्रकट की है)]

२ 'सबहि कह्यौ समुझाइ' इति। [पूर्व 'सुनत बिहँसि बोला' कहा और यहाँ 'सबहि कह्यौ' ऐसा कहकर जनाया कि पूर्वके वचन विभीषणजीके उत्तरमें कहे गए और दोहेके वचन सब राक्षसोंसे कहे गए। ऐसाही वाल्मीकिजीकाभी मत जान पड़ता है। वहाँ विभीषणजीसे रावणने यही कहा कि 'अवश्यं तु वधादन्यः क्रियतामस्य निग्रहः॥ वाल्मी० ५।५३।२।' वध न करके अन्य दंड अवश्य इसे दिया जायगा। और पूँछ जलानेकी आज्ञा राक्षसोंको दी] सबको समझाना यह कि तुम सब मिलकर यह काम करो। [ऐसा न हो कि कुछ लोग काममें लगें, शेष तमाशा देखनेमें रहें, आग लगाते समय यह कोई उपद्रव न कर बैठे। सावधानतापूर्वक काम करो। तुम लोग कपड़ा बाँधनेमें डरो मत। यह इस समय बेबस है, नागपाशमें बँधा हुआ है, और मेरे समक्ष है, अतः यह कुछ कर नहीं सकता। (मा० त० सु०)] क्या समझाया यह कवि स्वयं कहते हैं—

३ 'तेल बोरि पट बाँधि...' इति। (वाल्मीकीयमें यह समझाना नहीं है, केवल पूँछको आग लगाकर जला देना कहा है और अध्यात्ममें यत्नपूर्वक वस्त्र लपेटकर आग लगानेको कहा है। हनुमन्नाटकमें अवश्य 'तेलसे भिगोये हुये पुराने वस्त्र और बहुत सनसे लपेटी हुई पूँछ' ये शब्द मिलते हैं। यथा—'लांगूले चैलतैल-प्लुतबहलशणैर्वेष्टिते दीप्यमानो ६। २४।' कवितावलीमेंभी मानसकविने तेलमें डुबाकर बाँधना लिखा है, यथा—'बसन बटोरि बोरि-बोरि तेल तमीचर खोरि-खोरि धाइ आइ बाँधत लँगूर हैं। (सुं० ३)।' पर रावणका ऐसा राक्षसों

---

* के—१७२१, १७६२, १७०४, भा० दा०। कें—गी०प्र०। के—ना० प्र०। † कह्यौ—छ०, भा० दा०। कह्यो—१७२१, १७६२। कहेउ - ना० प्र०, गौड़जी। कहा—कोदवराम। कहौं—१७०४। कहउँ—गी० प्र०।

‡ चल दोहा है—ब्र० चं०। (११ गुरु और २६ लघु इस प्रकार ४८ मात्राका चल दोहा होता है)।

को समझाना वहाँभी नहीं कहा गया है। मानसकी ही यह विशेषता है कि रावणने समझाया कि पहले कपड़ा बाँधकर तब तेल न डालना, क्योंकि ऐसा करनेसे बीचमें कपड़ा सूखा रह जायगा, प्रथम तेलमें डुबोकर तब बाँधो जिसमें सूखा न रहे। बन्दरका ममत्व पूँछमें है, आग लगा दो तो जल जाय। तब स्वामीके पास जाकर स्वामीको ले आएगा।

वि० त्रि०—'सुनत बिहँसि''''देहु लगाइ।' इति। विभीषणजीने जब कहा कि दूतको मारना नीति-विरुद्ध है, कोई दूसरा दण्ड दीजिये, सारी सभाने अनुमोदन किया; परन्तु रावण साधारण खल नहीं है, वह हँसा कि आज तो सभी विभीषणकी बात मान गये। अच्छा, देखो सबको उल्लू बनाता हूँ। ये सब लोग वध दण्ड नहीं चाहते। मैं ऐसी बात कहूँगा, जिसमें सब लोग समझें कि हम लोगोंकी राय महाराजने मान ली, और हो यह कि बन्दर तड़प-तड़पकर मरे। अतः कहता है कि 'अंग भंग करि पठवहु बंदर'। अब प्रश्न यह होता है कि कौन सा अङ्ग भङ्ग किया जाय। इसपर कहता है कि 'बन्दरकी ममता पूँछ पर रहती है। इसलिये इसे पूँछहीन कर दो। अब उसकी विधि बतलाता है कि पहिले कपड़ेको तेलसे तर करो, तब पूँछमें लपेटो, उसके बाद आग लगाओ। इस भाँति उसकी पूँछ जल जायगी, तब यह पूँछहीन होकर जायगा, और अपने मालिकको ले आवेगा। मानो वह पूँछ जलकर राख होते तक जीता रहेगा। सारी लंका जल गई और हनुमान्‌जीकी पूँछ न जली यह बात दूसरी है। पर वह महादुष्ट तो अपनी समझमें बुरी मौत मार चुका था।

नोट—१ ☞ हमको उपदेश है कि जिसकी जिसमें ममता हो उसमें आग लगा देनेसे 'ममता मल जरि जाइ'। तब भगवान्‌के पास यह जीव पहुँच जाता है, स्वामी तो सर्वत्र और सबमें हैं ही। (मा. त सु)।

पूँछ† हीन बानर तहँ‡ जाइहि। तब सठ निज नाथहि लइ आइहि॥ १॥
जिन्ह कै कीन्हिसि बहुत बड़ाई। देखौं मैं तिन्ह कै प्रभुताई॥* ॥ २॥

अर्थ—जब पूँछरहित बानर वहाँ जायगा तब यह शठ अपने स्वामीको ले आयेगा। १। जिनकी इसने बहुत बड़ाई की है, मैं उनकी प्रभुता देखूँ। २।

नोट १ 'पूँछहीन बानर' कहनेका भाव कि अपनी अत्यन्त प्यारी वस्तु (पूँछ) के न रहनेसे यह बहुत दीन दुःखी हो जायगा। यथा—'ततः पश्यन्त्विमं दीनमङ्गवैरूप्यकर्शितम्। वाल्मी. ५। ५३। ४।' पुनः भाव कि इस बातका प्रत्यक्ष चिह्न सभी इसके इष्ट मित्र, भाई-बंधु आदिको देख पड़ेगा कि इसे दण्ड दिया गया है। यह चिह्न दूरसे ही बिना बताये देख पड़ेगा।

२ बाबा हरीदासजीका मत है कि रावणने अग्नि लगाकर पूँछ जला डालनेको इसलिये कहा कि श्रीरामजीने श्रीसुग्रीवजीसे अग्निको साक्षी करके मित्रता की है इस विचारसे कि दोनोंमेंसे जो भी दूसरेसे छल करेगा उसे अग्निदेव जला देंगे क्योंकि वे दंड देनेमें समर्थ हैं। हनुमान्‌जी सुग्रीवके मंत्री सुग्रीवरूप हैं। अग्निदेव जो इनकी पूँछ जला देंगे तो श्रीरामजी स्वाभाविक ही चौंक पड़ेंगे। समझ जायँगे कि सुग्रीवने बालि और अंगदसे छल किया और हमारे साथभी यह छल करनेको है—यह विचारकर वे उसका साथ छोड़ देंगे। दोनोंमें भेद पड़ जायगा। अतः जलानेको कहा, नहीं तो जलानेको न कहकर अस्त्रसे काट डालना सुगम था। (मेरी समझ में जलानेकी आज्ञा हरि-इच्छासे हुई। त्रिजटाका स्वप्न सत्य होना है कि—'बानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी'। वही बात श्रीहनुमान्‌जीके 'भइ सहाय सारद मैं जाना'से सिद्ध होती है)।

३ पूँछ ही को जलानेको कहा, नेत्र आदि अन्य अंगोंको विकृत क्यों न किया? कारण तो स्वयं उसने बताया है कि कपिका ममत्व पूँछपर होता है। जैसे मनुष्योंमें नाक और मूँछ वैसेही वानरमें पूँछ। पुनः, रावणकी बहिनकी नाक और कान लक्ष्मणजीने काटे थे। हो सकता है कि इसीसे रावणको 'अंग-भंग' करनेकी सूझी हो।

---

† पुच्छ-(व्र. चं.)। ‡ जब-कोदवराम। * 'पुच्छहीन...' ११९३ वाँ भेद, 'तब सठ...' १०५५ वाँ भेद, और (२), (३) पायकुलक हैं—(व्र. चं.)।

टिप्पणी—१ (क) 'तहँ जाइहि' इति। 'हि' निश्चयवाचक है। अर्थात् पूँछ न रहनेपर अपनी दीन दशा दिखाने अवश्य जायगा, अन्य प्रकार न जाने जाता या न भी जाता, यहीं फलफूलहीमें लुभाकर रह जाता। अब अवश्य जाकर जली पूँछ दिखावेगा और कहेगा कि रावणने यह मेरी दुर्गति की। (ख) 'तब सठ निज नाथहिं...' इति। (भारी अपराध करकेभी अपराध नहीं स्वीकार करता;—'मारे निसिचर केहि अपराधा ?' के उत्तरमें कहता है कि 'जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे।' और बड़ा निडर है; अतः 'सठ' कहा। यथा—'कहु सठ तोहि न प्रान कै बाधा', 'देखउँ अति असंक सठ तोही'। मेरा प्रताप देखकरभी क्षमाकी प्रार्थना नहीं करता, यथा—'देखि प्रताप न कपि मन संका।')। 'निज नाथ' अर्थात् जिनके विषयमें कहा था कि 'मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा। २२। ६।' (ग) 'लइ आइहि' इति। [भाव यह कि मेरा बल और प्रताप सुनकर इसका स्वामी कहीं लौट न जाता; यथा—'की भइ भेंट कि फिरि गए श्रवन सुजसु सुनि मोर। ५। ५३।' (रावणवाक्य शुकं प्रति)। किन्तु इस बानरने मुझसे बदला लेनेकी प्रतिज्ञा की है; यथा—तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारे।' ५।२२ (५) देखिये। इस पुच्छहीनताका बदला यह स्वयं तो ले नहीं सकता, किन्तु इसके स्वामीकी इच्छा न रहनेपरभी यह उसे किसी न किसी प्रकार अवश्य ले आवेगा। (मा० त० सु०)]

२ (क) 'जिन्ह कै'। पहले कहा कि 'निज नाथ' को ले आयेगा, पर 'निज नाथ' सुग्रीव भी हैं। अतः उनसे पृथक् श्रीरामजीको सूचित करनेके लिये वह पुनः कहता है कि 'जिन्ह कै००' अर्थात् जिनकी प्रथम इसने बड़ाई की है उनको लावेगा। रावण रामका नाम कभी नहीं लेता। यथा—'जिन्हके बल कर गर्व तोहि ऐसे मनुज अनेक'। अतएव यहाँ भी नाम न लिया [नोट—गोस्वामीजी 'निज नाथ' से उपर्युक्त 'कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा' वाले 'निज प्रभु' की ओर संकेत तो कर ही रहे हैं, पर इतना ही नहीं है। इससे वे अन्य रामायणोंकाभी मान रख देते हैं। अध्यात्मरामायणमें इस चौपाईकी जोड़का श्लोक यह है—'सचिह्नो गच्छतु हरिर्य दृष्ट्वायास्यति द्रुतम्। ५। ४। ३२। रामः सुग्रीवसहितस्ततो युद्धं भवेत्तव। ३३।' ये विभीषण के वाक्य हैं। वे कहते हैं कि कोई दंड ऐसा दीजिये जिसका चिह्न लेकर यह जाय जिसे देखकर सुग्रीव सहित राम तुरंत आवें, फिर उनसे आपका युद्ध हो। संभव है कि 'सुग्रीव सहित राम' के संकेतके लिये 'निज नाथ' पद दिया हो। अथवा, प्रथम 'निज नाथ' से सुग्रीवको कहा फिर 'जिन्ह कै ..' से श्रीरामजीकोभी कहा।] (ख)—'बहुत बड़ाई' यह कि 'जाके बल बिरंचि हरि ईसा।००' इत्यादि। इस कथन का भाव यह है कि यह सब कोरी बड़ाई है, ऐसा हो नहीं सकता कि सारा ब्रह्मांड उनका बनाया हो। आगे शुक-सारनभी यही बात कहेंगे; यथा—'राम तेज बल बुधि बिपुलाई। सहस सेष सत सकहिं न गाई।' इस वचनको भी झूठा कहेगा, यथा—'मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई। रिपु बल बुद्धि थाह मैं पाई।' पर यहाँ यही कहता है कि बहुत बड़ाई की, यह नहीं कहता कि झूठी बड़ाई की; क्योंकि हनुमान्जीका वचन ऐसा पुष्ट है कि उसे झूठा कहनेका साहस नहीं पड़ता। यथा—'हर को दंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत नृपदल मद गंजा। खरदूषन त्रिसरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली।' इस वचनको कैसे कहे कि झूठ है ?

बचन सुनत कपि मन मुसुकाना। भइ सहाय सारद मैं जाना॥ ३॥

अर्थ—(रावणके) वचन सुनते ही हनुमान्जी मनमें मुस्कुराए कि मैं समझ गया कि सरस्वतीजी सहाय हुईं। (भाव यह कि शारदाकी सहायता वाणी द्वारा ही होती है। सरस्वतीके दोनों रूप हैं—वाणी और देव। यहाँ वाणीरूप मंत्ररूपसे सरस्वतीकी सहायता हुई। जो हमारा अभीष्ट था, वही उन्होंने रावणसे कहला दिया। पूँछहीन तलवारसेभी हो सकते थे पर तलवारसे काटनेको न कहकर 'तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ' कहला दिया।)। ३।

नोट—१ हास्यकलामें 'सुनत' की अपूर्ण क्रियासे बुद्धिकी तीव्रता और मनमें मुस्करानेकी चातुरी सराहनीय है। (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—१ 'बचन सुनत...मुसुकाना' इति । रावणकी मूर्खतापर हँसे, यह अगली चौपाई से स्पष्ट हो जाता है; यथा—'जातुधान सुनि रावन बचना । लागे रचै मूढ़ सोइ रचना' । जब उसके वचन माननेवाले 'मूढ़' कहे गए तब रावणकी मूढ़ता तो आपही सिद्ध हो गई। अथवा, अपने अनुकूल कार्य समझकर 'मुसुकाने' । अथवा, शारदाकी सहायता समझकर मुस्कुराए। [वा, देवताओंकी चतुरतापर हँसे कि वे सदा ही इसीके द्वारा रावणको हानि पहुँचाया करते हैं। कुंभकर्णसे क्या का क्या कहला दिया। (मा० त० सु०)] अथवा, इससे कि रावण कहता है कि 'देखौं मैं तिन्ह कै प्रभुताई' । आपने सोचा कि पहले तो इसने मुझे ही देखनेको कहा था, यथा—'देखिय कपिहि कहाँ कर आही । १६ । २।', सो पहले मेरी 'प्रभुताई' तो देख ले, तब पीछे हमारे प्रभुकी प्रभुता देखना । जिस अग्निसे तू मेरी पूँछ जलानेकी सोच रहा है उससे मैं पहले तेरे नगरको जलाऊँगा और मेरी पूँछ तो जलेगी ही नहीं ।—यह सोचकर हँसे ।

वि० त्रि०—हनुमान्‌जी मुस्कुराए कि अपनी समझमें तो यह मुझे वध दण्ड दे रहा है, पर यह नहीं समझ रहा है कि इस भाँति वह मुझे 'आग लगानेके' दोषसे मुक्त कर रहा है । आग लगानेवाला आततायी है । पर बन्दरकी पूँछमें आग लगनेसे उसका चारों ओर भागना तथा जहाँ तहाँ पूँछ पटकना स्वभाव सिद्ध है। इस भांति लंका-दाह भी हो जायगा और मुझे पाप भी स्पर्श नहीं करेगा ।

नोट—२ वाल्मी० सुं० ५ । ५३ में लिखा है कि रावणकी आज्ञा पाकर जब राक्षस कपड़ा लपेटने लगे तब हनुमान्‌जी बहुत ही उत्साहित हुए और विचार करने लगे कि इनकी जो हानि मैंने की है उसका बदला ये लोग मुझसे न ले सके । मैं रातमें लंका अच्छी तरह देखभी न सका था, अब नगरमें मैं बँधा हुआ घुमाया जाऊँगा, इस प्रकार मुझे सब गुप्त प्रकट स्थान देखनेमें आ जायँगे ।

२—बाबा हरिदासजीने आठ भाव लिखे हैं जिनमेंसे कुछ ये हैं—(क) इस कार्यसे रावणको विस्मय होगा कि मणिजटित सोनेकी लंका जल रही है और बानर न जला, अवश्य मेरा समय फिर गया। (ख)—सिद्ध, मुनि, देवताओंको आनंद होगा । दो भाव टिप्पणीमें आ गए हैं ।

टिप्पणी—२ 'भइ सहाय सारद...' इति । इससे जाना जाता है कि इनको पूर्वसेही लंकादहनकी इच्छा थी । यह इच्छा वा प्रतिज्ञा इन्होंने कब की ? उत्तर—जब इन्होंने श्रीजानकीजीको अपना शरीर जलानेके लिये सबसे अग्निकी याचना करते देखा था तब 'सो छन कपिहि कलप सम बीता' था । उस समय क्षणके कल्पसमान बीतनेका कारण यही था कि वे इसी शोचमें निमग्न हो गए कि कब मैं इस विरहाग्निका बदला रावणसे लूँगा ? इसीसे शोचमें क्षणभरभी महान् सा हो गया था । बदला लेनेकी इच्छा उस समय हुई थी और अब बदला लेने योग्य अवसर सरस्वतीजीकी प्रेरणासे मिला । 'मैं जाना' अर्थात् इसे मैं ही जानता हूँ, दूसरा नहीं । [जो दूसरेका अनभल ताकता है उसीका अनभल होता है—यह सिद्धान्त मैं ही जानता हूँ, ये लोग नहीं। यथा—'तकै नीच जो मीचु साधु की सो पामर तेहि मीचु मरै ।' (विनय)—(मा. त. सु.)] इसीसे हनुमान्‌जी मनमें हँसे, जिसमें राक्षस इनके हर्षको न लख सकें । यह बात इन्होंने अपने मनमें निश्चित की । यदि राक्षस जानते कि इसमें हमारी हानि है तो यह काम कदापि न करते ।

प० प० प्र०—यह देख रहा है कि ब्रह्मास्त्रसे भी मरा नहीं और नागपाशमें बँधनेपरभी निःशंक है तब भी ऐसी आज्ञा रावणने दी । अतः निश्चय हुआ कि यह मति उसकी नहीं है । उरप्रेरक रघुवंशविभूषणने सरस्वती द्वारा ऐसा कहला दिया ।

जातुधान सुनि रावन बचना । लागे रचै मूढ़ सोइ रचना ॥ ४ ॥
रहा न नगर बसन घृत तेला । बाढ़ी पूँछ + कीन्ह कपि खेला ॥ ५ ॥*

+ पूँछि—ना. प्र. । पुच्छ-व्र. चं. । * 'जातुधान०' चन्द्रवर्तम, 'लागे' से 'तारी' तक पायकुलक ।—व्र. चं. ।

अर्थ—रावणका वचन सुनकर मूर्ख राक्षस वही रचना रचने लगे। ४। नगरमें वस्त्र, घी और तेल न रह गया; कपिने ऐसा खेल किया कि पूँछ बढ़ गई। ५।

नोट—१ अक्षरोंका क्रम शब्दगुणके विचारसे सराहनीय है। पहले 'च' की चाशनी (पाग) से रचना की, कौतुकी सरसता है। पर आगे घ, ढी, छ में कुछ भयानकता आती जाती है, पर इतनी नहीं कि खेलाड़ी हनुमान्‌के खेलमें विघ्न पड़े। यहाँ तो कविनेभी 'खेल' लिख ही दिया। (लमगोड़ाजी)।

२ 'जातुधान सुनि...' इति। 'यातुधान' शब्द यहाँपर साभिप्राय है। 'यातुधान' शब्द यत् धातुसे बना है जिसका अर्थ है—यातना वा पीड़ा पहुँचाना। 'यातुधान' का अर्थ हुआ पीड़ाओंका खजाना अथवा जो यातनाएँ पहुँचावे। यहाँ रावणकी आज्ञा पालन करनेवाले श्रीहनुमानजीको यातना पहुँचानेका यत्न कर रहे हैं; इसीसे 'जातुधान' कहे गए। (गौड़जी)।

३ 'लागे रचै' और 'रचना' शब्दोंसे प्रकट करते हैं कि अत्यन्त स्नेह और उत्साहपूर्वक वे रावणके वचनकी पूर्णतामें तत्पर हो गए। उत्साह इससे है कि आज वे अपनी समझमें बानरद्वारा मारे गए हुए अपने सम्बन्धियोंका बदला चुका लेंगे। उनको इनपर बड़ा क्रोध है इसीसे तन-मन-धनसे 'रचना' में लगे हैं। 'रचना' का प्रयोग प्राय: उत्साहके समय होता है। जनकपुरमें मण्डपरचनामें इस शब्दकी भरमार देखने योग्य है।

टिप्पणी—१ 'मूढ़' क्योंकि अपने हाथों अपने घर जलानेका उपाय करने लगे, यह विचार किसीने न किया कि बहुत अग्नि पाकर यह नगर जला देगा। रावणका नाम यहाँ सत्य हुआ। जो सबको रुलावे वह रावण। सबके घर जलेंगे, सब रोवेंगे।

२ 'रहा न नगर बसन घृत तेला' इति। भाव यह कि राक्षसोंको ऐसा उत्साह हुआ कि वे अपने-अपने घरोंसे सब वस्त्र, घृत और तेल उठा लाए, क्योंकि कौतुक देखना है। वा, सबके घरके राक्षस मारे गए हैं, अत: जब सबने सुना कि बानरकी पूँछ आग लगाकर जलाई जायगी तब सबने कहा कि जितना वस्त्र, घी, तेल हो सब ले जाओ, घरमें न रहे तो न सही। रावणने घी लगानेका हुक्म नहीं दिया, वह यह न समझता था कि तेलसे पूरा न पड़ेगा। जब तेल न पूरा पड़ा तब सब लोग अपने-अपने घरोंसे घी लाने लगे पर इसकी भी इतिश्री हो गई। जब घरघरमें कहीं वस्त्र, तेल और घी न रह गया तब सबने हारकर छोड़ दिया। (स्मरण रहे कि नगरके राक्षसोंका उत्साह है। रावण तो आज्ञा देकर अलग हो गया। हमारी समझमें राजमहल इस रचनामें शामिल नहीं है।)

टिप्पणी—३ (क) नगरभरसे 'बसन घृत तेल' आया; इसीसे नगरभर जलेगा। विभीषणजीके घरसे न आया; इसीसे वह न जला।—'जारा नगर निमिष एक माहीं। एक बिभीषन कर गृह नाहीं।' (ख) 'कीन्ह कपि खेला' का भाव कि एकदमसे पूँछ नहीं बढ़ा ली, नहीं तो सब जान जाते, सचेत हो जाते (आग न लगाते) इसीसे धीरे-धीरे बढ़ाते गए। [यथा—'संवेष्ट्यमाने लाङ्गूले व्यवर्धत महाकपिः। शुष्कमिन्धनमासाद्य वनेष्विव हुताशनः। वाल्मी. ५. ५३. ७।' अर्थात् ज्यों ज्यों हनुमान्‌जीकी पूँछमें वस्त्रादि लपेटे जाते थे, त्यों-त्यों हनुमान्‌जी वैसेही बढ़ते जाते थे, जैसे सूखे ईंधनको पाकर वनमें अग्नि बढ़ती है।]

नोट—४ यहाँ लोग शंका करते हैं कि—'यह कैसे संभव है कि लंकामें वस्त्र, घी और तेल न रह गया?' इसका समाधान मानस-कवि स्वयं ही कर देते हैं कि 'कीन्ह कपि खेला।' जब श्रीहनुमान्‌जीको कौतुक करना ही मंजूर (इच्छित) है और निशाचर 'कौतुक लागि सभा सब आए' ही हैं तब घी तेलके न रह जानेमें आश्चर्य क्या? यह महिमा हनुमान्‌जीके खेलकी वाल्मीकीय, आनन्द आदि रामायणोंमें भी ठीक ऐसी ही लिखी है, सबमें वस्त्रादिके लिए चिल्लपों मच गई। इसके समाधानके लिए कुछ लोग यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार कहते हैं। और कुछ इसका अर्थ अवरेबसे करते हैं कि कपिने वस्त्र घी तेलसे खेल किया कि नगर ही न रह गया। पर ये भाव रामायणोंके अनुसार नहीं हैं।

श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि 'यहाँ लक्ष्मीजीने सहायता की कि उस नगरका वस्त्र, घी और तेल उस समय समाप्त हो गया। रावणको रामविमुख जानकर यह सहायता की। प्रमाण यथा—'रामविमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई।' इस तरह हनुमान्‌जीकी पूंछ बढ़ानेमें विजय हुई।'

लमगोड़ाजी कहते हैं कि 'तुलसीदासजीकी अतिशयोक्तियोंका चमत्कार ही यह है कि तनिक सावधानीसे अर्थ किया जाय तो स्वाभाविकताभी नहीं जाती और 'मुबालिग़ा' (अतिशयोक्ति) का मज़ा बना ही रहता है। सोचिये तो कि यदि किसी नगरमें बड़ी रोशनी हो और कोई कहे कि रूई और तेल नगरमें न बचा तो अर्थ यही तो होगा कि जो रूई और तेल ऐसे कामके योग्य थी वह सब लग गई; तब यहाँ बहुत शाब्दिक अर्थ क्यों लिया जाय कि पहननेवाला कपड़ा भी न रहा; आख़िर जो लोग हनुमान्‌जीको चारों ओर घेरे खड़े थे वे कपड़ा पहने ही थे, क्या नंगे थोड़े ही हो गए थे।'

☞ वाल्मीकिजीने तो स्पष्ट शब्दोंमें लिख दिया है कि—'वेष्टयन्ति स्म लाङ्गूलं जीर्णैः कार्पासकैः पटैः ५।५३. ६।' अर्थात् पुराने सूती कपड़े लपेटने लगे। रेशमी और ऊनी भी नहीं, नये या पहनने योग्य भी नहीं, केवल 'पुराने' और 'सूती'—वही यहाँ समझना चाहिये और यही स्वाभाविक और यथार्थ है।

नोट—५ 'बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला' से यह जनाते हैं कि श्रीहनुमान्‌जी बड़े उत्साहपूर्वक सीधे-सादे भोलेभाले बने हुए तेलमें भिगोये हुए वस्त्र बँधवा रहे थे, जिसमें लंका जलानेके लिये प्रचण्ड प्रज्वलित अग्नि मिल सके। गीतावलीके 'कानन दलि होरी रचि बनाइ, हठि तेल बसन बालधि बँधाइ। ५। १६।'—इससे भी यही बात सिद्ध होती है।

कौतुक कहँ आए पुरबासी। मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी॥ ६॥
बाजहिं ढोल देहिं सब तारी। नगर फेरि पुनि पूँछ† प्रजारी॥ ७॥

अर्थ—कौतुकके लिए पुरवासी आए। (वे हनुमान्‌जीको लात मारते हैं और (उनकी) बहुत हँसी करते हैं। ६। ढोल बज रहे हैं। सब तालियाँ देते हैं। नगरमें इनको फिराकर तब (उन्होंने) पूँछमें आग लगा दी। ७।

टिप्पणी १—(क) लात मारना, हँसी उड़ाना, गाली देना, इत्यादि सब कौतुक हैं, जिसके लिये पुरवासी आए। (ख) प्रथम कौतुकके लिए राक्षस (जो डरसे छिपे थे) आये, यथा—'कपि बंधन सुनि निसिचर धाए। कौतुक लागि सभा सब आए'। जब घर-घरसे तेल, वस्त्र आदिकी उगाही हुई तब यह सुनकर कि बानरकी पूँछ जलाई जायगी, बड़ा कौतुक होगा, छोटे-बड़े सभी पुरवासी आए।

२—'इस कौतुकके वर्णनकी यहाँ क्या आवश्यकता थी ?' यह प्रश्न यहाँ हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि हनुमान्‌जी नगरको जलानेवाले हैं, लोग पीछे यह दोष न लगावें कि 'क्यों नगर जला डाला' इस विचारसे पुरवासियोंका अपराध प्रथमही वर्णन कर दिया। सब पुरवासियों ने प्रथम अपराध किया, इसका बदला हनुमान्‌जीने पीछे नगर जलाकर चुकाया, सबको उनकी करनीका फल दिया। स्मरण रहे कि वस्त्र और तेल लाकर पूँछको जलाना, यह अपराध पुरवासियोंका नहीं है; इसके लिये तो रावण की आज्ञा है और लात मारना इत्यादि पुरवासियोंके किए हुए अपराध हैं। यह रावणका हुक्म नहीं था।

३ 'करहिं बहु हाँसी' का तात्पर्य यह कि जब लात मारते हैं तब हनुमान्‌जी ऐसा बनते हैं, मानों डरते हैं, तब सब राक्षस हँसते हैं। यथा—'तैसो कपि कौतुकी डरात ढीलो गात कै कै, लात के अघात सहै जीमें कहै कूर हैं'। (क० ५। ३)।

लमगोड़ाजी—१ इस हास्यकलापर कि हज़रत (श्रीमान्‌जी) लातोंकी मारभी सहते जा रहे हैं मुँहसे निकल ही जाता है कि 'वाह रे खेलाड़ी पवनसुत !!', दबे तो इतना और बढ़े तो लंका-दाह 'बिकट रूप धरि

† पूंछि—ना. प्र.। पुच्छ—प्र. चं.।

लंक जरावा'। २—फ़िल्मकला तो निछावर है ही। ३—'बहु हाँसी' पर कला निछावर है। विरोधको कैसा उभारा है ? क्षणही भरमें सब रोवेंगे।

नोट—१ 'मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी'—फिरभी श्रीहनुमान्‌जी चुपचाप सब सह रहे हैं और नगरमें घुमाये जाते समय अपमान सहते हुये सुखपूर्वक चले जा रहे हैं; इसका कारण है—'कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा। २२। ६।' (विशेष २२।६ में देखिये)। इससे उनका गूढ़ स्वभाव दरसाया कि इन सब राक्षसोंसे अकेले लड़नेको पर्याप्त होते हुयेभी आगेका कार्य विचारकर चुप हैं।

टिप्पणी—४ (क) 'पुनि पूँछ प्रजारी' इति। 'प्रजारी' पदसे जनाया कि बहुत जगह आग लगाई जिसमें हाथसे न तो वानर उसे छुड़ा सके और न बुझाही सके; यथा—'वालधी बढ़न लागी ठौर ठौर दीन्हीं आगि, बिंध्य की दवारि कैधौं कोटि सत सूर है। क० ५। ३।', 'लाइ लाइ आगि भागे बालजाल जहाँ तहाँ। क० ५। ४।' (ख) जहाँ वानरका तमाशा होता है वहाँ बाजा बजता है; इसीसे ढोल बजाते हैं। जहाँ हँसी होती है, वहाँ लोग ताली देते हैं; इसीसे ये सब ताली देते हैं। (ग) 'नगर फेरि'। नगरभरमें बाँधकर घुमाना यहभी एक दण्ड है; यथा—'सुनि सुग्रीव बचन कपि धाए। बाँधि कटक चहुँ पास फिराए॥ बहु प्रकार मारन कपि लागे'। अथवा नगरमें फिराया कि सब जान लें कि राजाका अपराधी ऐसी सजा (दंड) को प्राप्त होता है। अथवा, इससे फिराया कि जिस-जिस घरके राक्षसोंको इसने मारा है, उनकी स्त्रियाँभी इसकी दुर्दशा देख प्रसन्न हो जायँ। (मा० त० सु०)।

नोट—२ रावणने स्वयंही यह आज्ञा दे रक्खी थी कि इसकी पूँछमें आग लगाकर इसको सारे नगरमें घुमाओ। यथा—'आज्ञापयद्राक्षसेन्द्रः पुरं सर्वं सचत्वरम्। लांगूलेन प्रदीप्तेन रक्षोभिः परिणीयताम्॥ वाल्मी० ।५।५३।५।'; मानसकल्पमें नगरमें घुमानेके पश्चात् पूँछमें आग लगाई गई। नगरमें घुमाते समय ढोल आदि बजा-बजाकर इनका अपराध (कि अशोकवनको इसने उजाड़ा, रक्षकोंको मारा, अक्षकुमार, मंत्रिपुत्रों आदिको मारा, तुम्हारे भाईबन्धु पुत्र पिता आदिको मारा है, इत्यादि) सबको सुनाते थे। और अध्यात्मरामायणमें तो 'यह चोर है' ऐसा कहते हुये घुमाना लिखा है। यथा—'समन्ताद् भ्रामयामासुश्चोरोऽयमिति वादिनः। तूर्यघोषैर्घोषयन्तस्ताडयन्तोमुहुर्मुहुः॥ ५।४।२८।' वाल्मीकिजी लिखते हैं कि हनुमान्‌जीको जासूस (भेदिया) बतला-बतलाकर वे राक्षस घोषणा करते जाते थे। 'घोषयन्ति कपिं सर्वे चार इत्येव राक्षसाः। ५।५३।२३।' लमगोड़ाजी कहते हैं कि मुझे तो तुलसीदासजीका प्रबंधही उचित जान पड़ता है कि कौतुकके लिये ही नगरमें फिराया, ढोल बजाये और तालियाँ दीं।

पावक जरत देखि हनुमंता। भयउ परम लघु रूप तुरंता॥ ८॥
निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी। भईं सभीत निसाचर नारी*॥ ९॥

अर्थ—अग्नि जलती हुई देखकर श्रीहनुमान्‌जी तुरन्त परम लघु रूप हो गए। (अर्थात् पूँछ छोड़ और सब अंगोंको छोटा कर लिया कि जो बँधे हुए थे; क्योंकि पूँछ छोटी करते तो कपड़ा जो बाँधकर जलाया गया वहभी निकल जाता। बँधे हुए अंगोंको छोटा करके बंधनसे निकल आए)। ८। कपि हनुमान्‌जी बंधनसे निकलकर सोनेकी अटारीपर चढ़ गये। (यह देखकर) निशाचरोंकी स्त्रियाँ भयभीत हो गईं। ९।

टिप्पणी १—(क) 'जरत देखि' का भाव कि अब देख लिया कि अग्नि अच्छी तरह प्रज्वलित होगई, दौड़ने-कूदने-फाँदनेसे बुझेगी नहीं। (ख)—'तुरंता' क्योंकि किंचित् भी विलंब होता तो राक्षस पकड़ लेते, कार्यमें विघ्न होता। ['ये लोग मुझे नगरमें घुमावें और आग लगावें तो मेरा बड़ा काम होगा' यह पूर्व का सोचा हुआ मनोरथ सिद्ध होगया; इसीसे वे उत्साहसे भरकर 'तुरंत' लघुरूप हो गए।—'कपिः कृतमनोरथः वर्धमानसमुत्साहः' (वाल्मी० ५।५४।१)।' 'तुरंता' से यह भावभी जना दिया।]

* छ० चं०—'पावक०' पायकुलक, 'भएउ०' चण्डी, (९) पायकुलक।

२ (क) 'निबुकि चढ़ेउ' कहकर 'प्रभु कारज लगि कपिहिं बँधावा' इस वाक्यको यहाँ चरितार्थ किया। अपनेसेही बँधाया और अपनेसेही बंधनसे निर्मुक्त हो गए।—[बंधन तोड़नेसे देवताका तथा नागपाश-का अपमान होता, मर्यादा भंग होती, अतएव उसे तोड़ा नहीं; स्वयं छोटे होगए, जिससे बंधन ढीले पड़ गये और वह आपही छूट गया। पं० रामकुमारजीका मत है कि पूँछ छोटी नहीं की, क्योंकि यदि पूँछ छोटी करते तो लपेटे हुए कपड़े निकल जाते। गौड़जी कहते हैं कि—'निबुक'में यह भाव है कि हनुमान्‌जीने अपने शरीरको एकदम छोटा कर लिया जिससे सहजही बंधनके बाहर होगये, साथही पूँछ भी छोटी होगई, जिससे बँधा हुआ अत्यन्त लंबा कपड़ोंका पुछल्ला जलता हुआ रह गया। इसीको लेकर वे कनक अटारीपर चढ़ गए और यद्यपि उन्होंने अपना आकार बहुत लंबा चौड़ा कर लिया तथापि अब उन्हें पूँछ बढ़ानेकी आवश्यकता न थी। 'परम-लघु रूप', यथा—'ह्रस्वतां परमां प्राप्तो बन्धनान्यवशातयत्। वाल्मी०। ५।५३।४२।', 'सूक्ष्मो बभूव बन्धेभ्यो निःसृतः' (अध्यात्मः ५।४।४०)।] (ख)—'कनक अटारी' से रावणका भवन अभिप्रेत है; यथा—'कौतुकी कपीस कूदि कनक कँगूरा चढ़ि रावनभवन जाइ ठाढ़ो तेहि काल भो।' (क० ५।४)। पूँछ जलानेकी आज्ञा रावणनेही दी थी इसीसे प्रथम उसके महलपर चढ़े। निशाचरियाँ श्रीजानकीजीको डरवाती थीं, इसीसे उनको डरवाया। (ग)—'भईं सभीत' से जनाया कि सब स्त्रियाँ तमाशा देखनेके लिए अटारियोंपर बैठी थीं।—[त्रिजटाका स्वप्न सुनकर निशाचरियाँ जो वहाँ थीं वे सब डरी थीं, यथा—'सपनें बानर लंका जारी।...यह सपना....होइहि सत्य...॥ तासु बचन सुनि ते सब डरीं।' (५।११।३-८)। उनसे औरोंनेभी सुना। अब वानरको प्रत्यक्ष अटारीपर देख स्वप्नको सत्य जानकर 'सभीत' अत्यन्त भयभीत हुईं। वा, रावणके महलपर चढ़े हैं, अतः 'निशाचर-नारी' से रावणकी स्त्रियाँ ऐसा अर्थभी कर सकते हैं। 'सभीत' हुईं कहकर वाल्मी० ५। ५४ के 'क्रन्दन्त्यः सहसा पेतुः स्तनन्धयधराः स्त्रियः। २६। काश्चिदग्निपरीताङ्गयो हर्म्येभ्यो मुक्तमूर्धजाः। पतन्त्योऽरेजिरेऽभ्रेभ्यः सौदामिन्य इवाम्बरात्। २७।' इन श्लोकोंका भाव जनाया है। अर्थात् वे ऐसी भयभीत हुईं कि दुधमुँहे शिशुओंको गोदमें लिये रोती हुईं सहसा आगमें गिर पड़ती थीं, बहुतसी स्त्रियाँ चारों ओरसे अग्निसे घिरकर सिरके बाल खोले अटारियोंपरसे नीचे कूद पड़ती थीं। पुनः यथा—'पानी पानी पानी, सब रानी अकुलानी कहैं, जाति हैं परानी, गति जानि गजचालि है। बसन बिसारैं मनि भूषन सँभारत न, आनन सुखाने कहैं क्यों हूँ कोऊ पालिहै?', (क० ५।१०)। 'रानी अकुलानी सब डाढ़त परानी जाहिं, सकैं ना बिलोकि बेष केसरीकुमार को। मीजि-मींजि हाथ धुनैं माथ दसमाथतिय....।' (क० ५।१२)।—यह रानियोंके भयका स्वरूप है।]

☞ ३ उस समयका रूप ध्यान करके देखिए। एक तो त्रिकुटाचल ऊँचा, उसपर लंकापुरी बसी है, सोभी बड़ी ऊँची, उसमेंभी रावणका भवन सबसे ऊँचा—इसके भी कँगूरेपर जाकर हनुमान्‌जी खड़े हुए और इस समय बड़ा विशाल रूप धारण कर लिया है; यथा—'कपि बढ़ि लाग अकास'। समस्त आकाश इस समय अग्निमय हो गया है, मानों आकाशरूपी समुद्रमें पूँछ बड़वानल है, यथा—'बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल जाल मानों, लंक लीलिबेको काल रसना पसारी है। कैधौं ब्योमबीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु, बीररस बीर तरवारि सी उघारी है॥ तुलसी सुरेसचाप कैधौं दामिनी कलाप, कैधौं चली मेरु तें कृसानुसरि भारी है। देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं, कानन उजार्‌यो अब नगर प्रजारी है॥'—(क० ५।५)।

दो०—हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास।
अट्टहास करि गर्जा कपि बढ़ि लाग अकास*॥ २५॥

शब्दार्थ—मरुत—वेदोंमें इन्हें रुद्र और वृश्निका पुत्र लिखा है और इनकी संख्या ६० की तिगुनी मानी गई है, पर पुराणोंमें इन्हें कश्यप और दितिका पुत्र लिखा गया है जिसे उसके वैमात्रिक भाई इन्द्रने गर्भ

* यह दोहा दोहरा है।—(त्र० चं०)।

काटकर एकसे उनचास टुकड़े कर डाले थे, जो उनचास 'मरुत' हुए। वेदोंमें मरुद्गणका स्थान अंतरिक्ष बताया है। उनके घोड़ेका नाम प्रशित बतलाया है तथा इन्हें इन्द्रका सखा कहा है। (श० सा०) अट्टहास = खिलखिलाकर उच्चस्वरसे हँसना।

अर्थ—उस समय भगवान्‌की प्रेरणासे उनचासों पवन चलने लगे। हनुमान्‌जी अट्टहास करके (खिलखिलाकर हँसकर उच्चस्वरसे) गर्जे और बढ़कर आकाशसे जा लगे। २५।

नोट—१ ओज गुणसंबंधी अक्षरोंके शाब्दिक प्रभावको विचार कीजिये। (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—१ (क) 'हरि प्रेरित०', यथा—'वायुर्वहति मद्भयात्'। 'भयादिन्द्रश्च वायुश्च ...' (कठ २।३।३)। 'हरि' शब्द बहुत अर्थोंका बोधक है—वानर, इन्द्र, भगवान्, पवनके अधिकारी देवता। 'हरिप्रेरित' का भाव यह कि उनचासों पवन प्रलयमेंही चलते हैं और कभी नहीं चलते। 'चले पवन उनचास' कहनेका भाव कि अग्नि पवनका सहारा पाकर अत्यन्त वेगसे कालाग्निकी तरह अत्यन्त प्रचण्ड होकर बढ़ने और एक घरसे दूसरे घरमें पहुँचने लगा। यथा—'श्वसनेन च संयोगादतिवेगो महाबलः। कालाग्निरिव सन्दीप्तः प्रावर्धत हुताशनः। २१। प्रवृद्धमग्निं पवनस्तेषु वेश्मस्वचारयत्। अभूच्छ्वसनसंयोगादतिवेगो हुताशनः।' (वाल्मी. ५. ५४. २२)।... 'युगान्तकालानलतुल्यवेगः समारुतोऽग्निर्ववृधेदिविस्पृक्। ३३।' पं० शिवलालपाठकजी 'हरि' का यहाँ 'वानर' अर्थ ग्रहण करके यह भाव लिखते हैं कि हनुमान्‌जीने रावणके बंदीखानेमें बँधे पड़े हुए उनचासों पवनोंके बंधन खोल दिये, इसीसे उनचासों पवन चलने लगे। वायु बंधन मुक्त होनेपर आकाशमें जा लंकादहनकी शोभा देख 'अट्टहास करि' अर्थात् हँसा।*(ख) 'अट्टहास' करके गर्जनेका भाव यह कि पहले सरस्वतीकी सहायता समझकर मुस्कुराए थे, अब उनचासों पवनोंकी सहायता समझकर 'अट्टहास' किया कि अब काम खूब अच्छा बनेगा। [पूर्व इस विचारसे कि कार्यमें विघ्न न पड़ जाय वे मनमें मुस्कुराये थे, अब पवनकी सहायता पाकर मनोरथकी विशेषरूपसे एवं शीघ्र सिद्धि देखकर खिलखिलाकर हँसे कि लो तुमने 'बहु हाँसी' की थी उसका बदला लो। बाबा हरिदासने हँसनेके सात भाव और लिखे हैं,—अट्टहास कर गर्जे जिसमें श्रीसीताजीको विश्वास हो जाय कि उनकी कृपासे मुझे अग्नि शीतल हो गया है, मैं जल नहीं रहा हूँ। ('सीतायाश्चानृशंस्येन तेजसा राघवस्य च।' वाल्मी. ५ ५३.३८)। जलता हुआ होता तो हँसता नहीं।—(१)। रावण विस्मित हो जाय कि इसके अद्भुत अभूत कार्य हैं अब मेरा काल आ गया।—(२)। सिद्ध मुनि और देवताओंको आनंद और विश्वास हो कि रावण अब अवश्य मारा जायगा।—(३)। रावणने सीताजीको संताप दिया, अब वह जान ले कि रामभक्तको संताप देनेवाला तुरंत दुःख पाता है।—(४)। श्रीरामनाम और श्रीरामभक्तिका प्रभाव दिखाते हैं कि देख, अग्नि मुझे न जलाकर तेरे नगरको जला रहा है।—(५)। वाटिकामें तू सीताजीको दुर्वचन कहता था और मैं छिपा सुनता था—मेरी इस करनीको धिक्कार है—उस कालिमाको मैंने धोनेकी प्रतिज्ञा की थी, सो श्रीरामकृपासे पूरी होनेको है।—(६)। ('कहौंगो मुखकी समरसरि कालि कारिख धोइ। करत कछू न बनत हरि हिय हरष सोक समोइ। कहत मन तुलसीस लंका करहुँ सघन घमोइ।' (गी. ५. ५)—सम्भवतः इन वचनोंको लेकर यह भाव कहा गया है)। जो वस्तु श्रीरामजीसे विमुख हो उसे जलानेमें शोच संकोच न करना चाहिये, यथा—'जरउ सो संपति सदन सुख...'। जलतेमें हँस-हँसकर देखना उचित है। अतः हँसे। (७)] (ग) पहले बन्धनसे निकलनेके लिए 'परम लघु रूप' हो गए थे, अब बढ़कर आकाशमें जा लगे; जिसमें राक्षस भयसे निकट न आवें। बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया। पहले एक अंगका बढ़ना कहा; यथा 'बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला' और अब 'कपि बढ़ि लाग अकास' अर्थात् पूँछके योग्य शरीर भी

* प० प० प्र० का मत है कि 'वानर' अर्थ होनेसे 'ईशित्व' सिद्धि प्रगट होती है। मा० त० सु०—एकही पवनसे काम चल जाता, उनचासों क्यों चलाए गए? उत्तर—इससे भक्तपर अनुकूलता दिखाई। पुनः, हनुमान्‌जीके 'राखि न सकहिं राम कर द्रोही' इस वचनको सत्य करनेके लिए। पुनः, हनुमान्‌जीके प्रताप और बलकी वृद्धि एवं रावणके भयके लिए।

हो गया। (घ) राक्षसोंकी करनीसे श्रीहनुमान्‌जीकी करनीका मिलान—

राक्षसोंकी करनी	कपिकी करनी
कौतुक लागि सभा सब आए	१ बाढ़ी पूंछ कीन्ह कपि खेला
मारहिं चरन	२ जातुधान पुंगीफल जव तिल धान हैं
करहिं बहु हाँसी	३ अट्टहास करि
बाजहिं ढोल देहिं सब तारी	४ गर्जे
पूँछ प्रजारी	५ मंदिर मंदिरमें आग लगाई
सबकी ममता घरमें	६ कपिकै ममता पूंछ पर
नगरकी प्रदक्षिणा कराई	७ नगर जलाकर सबको नगरके बाहर दौड़ाया
कपि बंधन सुनि निसिचर धाये	८ मंदिर ते मंदिर चढ़ि धाई

इस मिलानका भाव यह है कि कपिजी कहते हैं कि तुम हमें हँसे, पूंछमें आग लगाई, मारा, कौतुक देखा; अब हम तुमको हँसते हैं, घर घर आग लगाते हैं; तुमको मारते और तुम्हारा कौतुक देखते हैं।

नोट—२ कपि बढ़ि लाग अकास' इति। वैज्ञानिक दृष्टिसे इसपर गौड़जीका लेख पूर्व 'जस जस सुरसा बदन बढ़ावा' में आ चुका है। अब विश्व-साहित्यके नातेसे यहाँ श्रीलमगोड़ाजीका मत दिया जाता है।

महाकाव्य कलाके समझने और उससे आनन्द उठानेमें हमारी कल्पनाशक्ति ऐसी होनी चाहिए कि खूब घट और बढ़ सके। रबड़ क्या गैसका सा बढ़ना और सिकुड़ना हो तब ठीक लगे। इसीसे मिल्टननेभी 'पैरेडाइज़ लास्ट' में दानवोंके वैसे सम्मिलनको उनकी राजसभामें बाँधा है कि या तो बहुतसी जनता बाहर थी या जब सूक्ष्म हुए तो सब अंदर आ गए और जगह खाली रह गई।

हमारे यहाँ तो योगदर्शनमें वैसी स्थितियोंको योगद्वारा प्राप्त करनेके उपाय तक दिये हुए हैं। हाँ, दिव्य योनियोंमें वे स्वाभाविक होती हैं। देव, असुर, नाग इत्यादि योनियाँ सब दिव्य ही हैं, किसीमें दैवी संपत्तिका विकास है और किसीमें आसुरीका। फिर हनुमान्‌जी तो पवनसुत ही ठहरे। वायु (गैस) का घटाव-बढ़ाव उनमें होना कौनसी बड़ी बात है?

देह बिसाल परम हरुआई। मंदिर ते मंदिर चढ़ धाई॥ १॥
जरइ नगर भा लोग बिहाला। झपट † लपट बहु कोटि कराला॥ २॥
तात मातु हा सुनिय पुकारा। एहि अँवसर को हमहिं उबारा॥ ३॥

अर्थ— देह परम विशाल और परम हलकी है, एक मंदिरसे दूसरेपर दौड़कर चढ़ जाते हैं। १। नगर जल रहा है, लोग विह्वल और व्याकुल हो गए, बहुतेरी करोड़ों (असंख्य) भयंकर लपटें झपट रही हैं।२। हा तात! हा माता! इस अवसरपर हमें कौन बचानेवाला है? यही पुकार (चारों ओर) सुनाई पड़ती है।३।

टिप्पणी—१ 'देह बिसाल।...' इति। (क) विशाल देहमें हलकापन नहीं होता, वह भारी होती है, अतः विशाल देह कहकर 'परम हरुआई' कहा। अर्थात् यद्यपि देह विशाल है पर अत्यन्त हलकी हैं; इसीसे दौड़दौड़कर एक मंदिरसे कूदकर दूसरेपर, दूसरेसे तीसरेपर, इस प्रकार जा-जाकर उनमें आग लगाते हैं। (ख) जितनी ही देह विशाल है उसीके अनुमानसे उतना ही वह हलकी है। परम विशाल ऐसी कि आकाशसे लगे हैं, यह वृद्धिकी अवधि है, और, 'परम हरुआई' यह हलकेपनकी अवधि है। (ग) एक बार चढ़ना प्रथम कह चुके हैं— 'निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी', अब यहाँ पुनः चढ़ना कहकर जनाते हैं कि मन्दिर उत्तरोत्तर ऊँचे हैं, इसीसे एकसे दूसरेपर चढ़ना कहा। एकसे दूसरा ऊँचा न होता तो 'चलि जाई'

† दपट—कोदवराम। जरत—रा० प्र०। ॐ 'देह...।', 'जरइ...।', (३), (४) पायकुलक हैं। 'मंदिर...।', अनुकूल और 'झपट...' चण्डो भेद हैं। (ब्र० चं०)।

कहते। (घ) 'धाई' से जनाया कि बड़े जोरसे दौड़कर लंकाको क्षणमात्रमें जलाया, यह शीघ्रता आगे कवि स्वयं दिखाते हैं—'जारा नगर निमिष एक माहीं।' घी तेल पूँछसे टपकता जाता है और आग लगती जाती है, जैसे मोमसे रूईमें और बारूदमें आग लगे, इसी प्रकार आग छूतेही मणियों और स्वर्णके स्थानभी जल उठे। कपि तो दौड़ते मात्र हैं, आग लगती जाती है, उसके लगानेका यत्न नहीं करना पड़ता।

[मिलान कीजिये—'भवनाग्रेषु लङ्कायां विचचार महाकपिः। ६। गृहाद्गृहं राक्षसानां...'। (वाल्मी० ५. ५४)। वाल्मीकिजीने जो श्लोक ६ से १६ तक में लिखा है कि हनुमान्‌जी भवनोंकी अटारियों-पर घूमने लगे घूमते घूमते उन्होंने फिर क्रमसे प्रहस्त, महापार्श्व, वज्रदंष्ट्र, शुक, सारण, मेघनाद, इत्यादि समस्त प्रधान प्रधान राक्षसोंके घर फूँके—यह सब भाव 'मंदिर ते मंदिर...' से जना दिया है।]

प. प. प्र.—'मंदिर ते मंदिर...' इति। यहाँ गोस्वामीजी अपनी भावना प्रकट कर रहे हैं। पाषाणादिकी प्रतिमा होनेसे स्थान मंदिर बन जाता है और यहाँ तो साक्षात् श्रीहनुमान्‌जी खड़े हैं तब वह उनकी भावना-उपासनाके अनुकूल मंदिर है ही। प्रथम तो हनुमान्‌जीने 'मंदिर मंदिर प्रति सोधा' करके राक्षसभवनोंको भीतरसे पवित्र किया और अब अपने स्पर्शसे उन्हें बाहरसे पवित्र करके अग्निदेवको समर्पण करते हैं। इस पावककी ज्वालासे समस्त निशाचरोंके अन्तःकरण पवित्र होंगे और वे रावणके प्रतिकूल तथा रामकार्यानुकूल बन जायँगे।

टिप्पणी—२ 'जरइ नगर भा लोग बिहाला...' इति। (क) यहाँ 'भा' एकवचन पद दिया—जातीत्वके विचारसे अथवा यह जनानेके लिए कि प्रत्येक राक्षस, जनतामेंका प्रत्येक जन व्याकुल है एकवचन क्रिया दी। (ख) ['जरइ नगर' से यहभी जनाया कि हीरा, मूँगा, पन्ना, मोती, चाँदी और स्वर्ण आदि अनेक धातुएँ भी अग्निके तापसे पिघलकर बहती थीं; यथा—'वज्रविद्रुमवैदूर्यमुक्तारजतसंहितान्। विचित्रान् भवनाद्धातून्स्यन्दमानान्ददर्श सः।५।५४।२८।' लंका सोनेकी थी, अनेक रत्नजटित उसमें भवन थे। सभी जलकर पिघल गए—यह अग्निकी करालता है।] (ग) आदिमें 'जरइ नगर', अंतमें 'झपट लपट बहु...' और मध्यमें 'भा लोग बिहाला' कहकर जनाया कि सब लोग अग्निके बीचमें हैं, अग्निसे घिरे हुए हैं। अथवा, यह कि लोग इससे व्याकुल हैं कि नगरभरमें एकबारगी अग्नि लग गई, लोग निकलकर भाग न सके, जहाँके तहाँही रह गए। (घ) उनचासों पवन चले इसीसे 'झपट बहुत' और बहुत जगह आग लगी इसीसे 'बहुकोटि लपट' कहा। करालसे अग्निकी विलक्षणता दरसाई। यथा—'युगषट भानु देखे प्रलयकृसानु देखे, सेषमुख अनल बिलोके बार बार हैं। तुलसी सुन्यो न कान सलिल सर्पी समान अति अचरज किये केसरीकुमार हैं।'—(क० ५।२०)। ऐसी अग्नि नहीं देखी कि पानी पड़नेसे ऐसी बढ़े जैसे घी पड़नेसे। कहाँ तो हनुमान्‌जीको जलाने गए और जल गए आपही ? (ङ) यहाँतक बड़ोंका बेहाल होना कहा, आगे छोटोंकी व्याकुलता कहते हैं।

टिप्पणी—३ (क) उबारना=बचाना। यथा—'उबरा सो जनवासहि आवा'। 'तात मात हा...' कहकर 'को हमहिं उबारा' कहनेका भाव कि जो हमें इस समय बचा ले वह माता पितासेभी अधिक है। 'हा' इति कष्टे। बड़े कष्टसे पुकारते हैं, बहुत व्याकुल हैं। (ख) 'पुकारा' का भाव कि हाय हमारी पुकार तो सुनिए, कोई भी नहीं सुनता। (ग) 'तात' पद पिता, पुत्र, भाई, मित्र इत्यादि सभीका वाचक और बोधक है। एकही शब्दसे सबका ग्रहण करा दिया। यथा—'धीय को न माय बाप पूत न सँभारहीं'—(क० ५। १५)।

नोट—१ 'भा लोग बिहाला . सुनिअ पुकारा' का स्वरूप वाल्मीकीय और कवितावलीमें बड़ा सुंदर दिखाया गया है। स्त्रियोंका सभीत होना ऊपर दिखाया जा चुका है।—२५ (९) देखिये। नगरनिवासी सभी व्याकुल हैं, रोते चिल्लाते हैं, यथा—'रुरोद दीना तुमुलं सशब्दम्। वाल्मी० ५। ५४। ३६।' तथा 'हा तात हा पुत्रक कान्त मित्र हा जीवितेशाङ्ग हतं सुपुण्यम्। रक्षोभिरेवं बहुधा ब्रुवद्भिः शब्दः कृतो घोरतरः सुभीतः। वाल्मी० ५. ५४. ४०।' अर्थात् हा तात! हा पुत्र! हा कान्त! हा मित्र! हा जीवितेश! आज हमारे समस्त शुभ पुण्य नष्ट हो गए। इस प्रकार सब राक्षस डरे हुए बहुत बक रहे हैं। पुनः कवित्तरामायणे यथा—'हाट बाट

कोट ओट अट्टनि अगार पौरि, खोरि खोरि दौरि दौरि दीन्ही अति आगि है । आरत पुकारत सँभारत न कोऊ काहू, व्याकुल जहाँ सो तहाँ लोग चले भागि हैं । ५.१३ ।', 'लागि लागि आगि भागि भागि चले जहाँ तहाँ, धीयको न माय बाप पूत न सँभारहीं । छूटे बार बसन उघारे धूमधुंध अंध, कहैं बारे बूढ़े बारि बारि बारबार ही ।...नाम लै चिलात बिललात अकुलात अति, तात तात ! तौंसियत झौंसियत झारहीं । १५ ।', 'लपट कराल ज्वालजालमाल दुहूँ दिसि, धूम अकुलाने पहिचानैं कौन काहि रे । पानी को ललात बिललात जरे जात गात, परे पाइमाल जात भ्रात ! तू निबाहि रे । प्रिया तू पराहि नाथ नाथ ! तू पराहि, बाप बाप ! तू पराहि, पूत पूत तू पराहि रे । तुलसी बिलोकि लोग व्याकुल बिहाल कहैं, लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे । १६ ।'—(देखिये, 'तात मातु हा...' का कैसा सुंदर दृश्य है)। व्याकुल ऐसे हैं कि सर्वत्र वानर ही देख पड़ता है, नेत्र मूँदने परभी वह सामने देख पड़ता है । यथा—'बीथिका बजार प्रति अटनि अगार प्रति, पँवरि पगार प्रति बानर बिलोकिए । अध ऊर्द्ध बानर बिदिसि दिसि बानर है, मानहु रह्यो है भरि बानर बिलोकिए । मूँदे आँखि हीय में, उघारे आँखि आगे ठाढ़ो, धाइ धाइ जहाँ तहाँ और कोऊ को बिलोकिए । १७ ।'

२—मा० त० सु०—'को हमहिं उबारा' का भाव कि जिसको पुकारा जाता है वह स्वयंही उसी में पड़कर पुकार रहा है अर्थात् अपनी अपनी सबको पड़ी है तब कौन किसको बचावे ।

हम जो कहा यह कपि नहिं होई । बानर रूप धरे सुर कोई ॥ ४ ॥
साधु अवज्ञा कर फल ऐसा । जरै नगर अनाथ कर जैसा* ॥ ५ ॥

अर्थ—हमने जो कहा कि यह बानर नहीं है या हो सकता, यह कोई देवताही वानररूप धरे हुए है (वही ठीक निकला) । ४ । साधुकी अवज्ञा (अनादर, अवहेलना) का ऐसा ही फल होता है कि (यह) नगर अनाथके (नगरके) समान जल रहा है । अर्थात् लंकाका नाथ रावण बैठा है तबभी यह अनाथ-नगरका सा जल रहा है) । ५ ।

टिप्पणी—१ 'कपि नहिं होई०' । वानरमें इतना पराक्रम नहीं होता । ऐसा पुरुषार्थ देवतामें ही है और रावणसे देवताओंसेही वैर है, यथा—'हमरे बैरी बिबुध बरूथा' । अतएव हमारा अनुमान ठीक है कि यह वानर नहीं, देवता है ।—यह उक्ति मंदोदरीकी है । रावणको अशोकवनके उजड़नेका बड़ा कष्ट है; उसपर मंदोदरी कहती है—'कानन उजार्‌यो तो उजार्‌यो न बिगार्‌यो कछू, बानर बिचारो बाँधि आन्यो हठि हार सों । निपट निडर देखि काहू न लख्यो बिसेषि, दीन्हों ना छुड़ाइ कहि कुलके कुठार सों । छोटे औ बड़ेरे मेरे पूतऊ अनेरे सब, साँपिन सों खेलैं मेलैं गरे छुराधार सों । तुलसी मदोवै रोइ रोइ कै बिगोवै आपु, बार बार कह्यो मैं पुकारि दाढ़ीजार सों'—(क० ५ । ११) ।

नोट—१ (क) 'हम जो कहा...' यह वचन किसके हैं । इसमें मतभेद है । बाबा हरिप्रसादजीका मत है कि पूर्व जो राक्षस रावणके पास पुकारते आये थे उनने ऐसा कहा होगा यह संभव है । 'प्रभु मर्कट बल-भूरि', 'कपिभारी' आदिमेंभी यही भाव झलकता है । इसीपर रावण और उसके मंत्रियोंनेभी यही कहा कि यह बानर नहीं हो सकता । मा० त० सु० का मत है कि पुरवासियों या मंत्रियोंने पहले इस विषयमें राय दी थी । पुनः, विपत्तिकालमें इस प्रकारके प्रलाप प्रायः लोगोंके मुखसे निकल पड़ते हैं । पुनः, अति उत्कट अधर्म करनेवालेको दुःख ही पड़नेपर चिन्ता होती और सूझती है, यथा—'जमपुरपंथ सोच जिमि पापी ।' वाल्मीकीयके अनुसार तो अशोकवाटिकाकी राक्षसियोंने प्रथम-प्रथम रावणसे कहा था कि यह इन्द्र या कुबेर आदिका दूत जान पड़ता है जो वानररूपसे आया है । मेघनादद्वारा लाये जानेपर प्रहस्तने रावणके कहनेसे भी हनुमान्‌जीसे ऐसे ही प्रश्न किये हैं कि तुम वानररूपमें किसके भेजे हुए आए हो? इन्द्र, यम, कुबेर, विष्णु आदिके दूत हो । पर लंकादहनपर वाल्मीकिजी कहते हैं कि उस समय अनेक समझदार राक्षसनेता एकत्र

* 'साधु...' अनुकूल, 'जरै नगर...' से (८) तक पायकुलक है । (व्र. चं.) ।

होकर ऐसी कल्पनाएँ कर रहे थे। यथा—'नूनमेषोऽग्निरायातः कपिरूपेण हा इति। ५. ५४. २६।' अर्थात् लोग चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे थे कि हाय! निश्चय ही कपिका रूप धर कर यह अग्निदेव ही आये हैं। 'वज्री महेन्द्रस्त्रिदशेश्वरो वा, साक्षाद्यमो वा वरुणोऽनिलो वा। रुद्रोऽग्निरर्को धनदश्च सोमो, न वानरोऽयं स्वयमेव कालः ।३६। किं ब्राह्मणः सर्वपितामहस्य, सर्वस्य धातुश्चतुराननस्य। इहागतो वानररूपधारी, रक्षोपसंहारकरः प्रकोपः ।३७। किं वैष्णवं वा कपिरूपमेत्य रक्षोविनाशाय परं सुतेजः।...आगतं वा।३८। इत्येवमूचुर्बहवो विशिष्टा रक्षोगणास्तत्र समेत्य सर्वे। वाल्मी० ५।५४।३९।'—(अर्थात्) लंकापुरीको प्राणियों, घरों इत्यादि सहित भस्मसात हुई देख समझदार राक्षस नेता एकत्र हो इस प्रकार कह रहे थे कि—यह या तो वज्रधारी देवराज इंद्र है, या साक्षात् यम है, या वरुण, पवन, रुद्र, अग्नि, सूर्य, कुबेर अथवा सोम है। यह वानर नहीं है, प्रत्युत साक्षात् काल है। या सबके पितामह चार मुखवाले ब्रह्माका क्रोध ही अथवा विष्णु भगवान्‌का महातेज कपिरूपसे आया है।—गोस्वामीजीने यह सब 'हम' बहुवचन पद देकर जना दिया है कि बहुतसे लोग ऐसा कह रहे हैं। 'हम' से नगर-निवासी पुरुषोंके अतिरिक्त राक्षसियों और मन्दोदरीकाभी ग्रहण हो सकता है। 'कहा' को भूतकालिक क्रिया लेनेसेही यह प्रश्न उठता है कि पूर्व किसने कहा था। परन्तु 'हमने जो कहा' यह बोलचालका मुहावराभी है। आपसमें बात करते समय आगे पीछे ऐसा कहा जा सकता है। (ख) 'सुर कोई' कहनेसे वाल्मीकीयके उपर्युक्त सभी अनुमानोंका ग्रहण हो गया। 'हम जो कहा...कोई' में भाव यह कि हमारी सम्मति न थी कि इसे दंड दें पर रावणके दुराग्रहका फल हमें भी भोगना पड़ रहा है। (मा.त.सु.)

टिप्पणी—२ (क) 'साधु अवज्ञा०' हनुमान्‌जी साधु हैं। लड़ना, चरण-प्रहार करना, हँसना, पुच्छमें आग लगाना, यह सब उनका अनादर है। (ख) 'अनाथ कर जैसा'। भाव कि लड़की लड़के 'तात मातु' कहकर पुकारते हैं, कोई सुनताही नहीं। वस्तु जलती है, कोई सँभाल नहीं करता। घर जलता है मानों इनका कोई नाथ (मालिक, स्वामी, रक्षक) नहीं है।—यह वक्ताओंकी उक्ति है। यहाँ माल असबाबका जलना कहा।

नोट—२ जिसके माता-पिता न हों वह पुत्र अनाथ, जिस 'अबला' के पति वा पुत्र न हो वह विधवा अनाथ, जो हाथ, पैर और नेत्र आदिसे रहित हो वह भी एक प्रकारसे अनाथही है। जिस पशु, पक्षी, भवन आदिका कोई मालिक न हो वह अनाथ, जिस नगरका शासन करनेवाला राजा आदि कोई न हो वह भी अनाथ है—इनको कोई लूटे, जलावे, संताप दे तो कोई सहायक नहीं होता है, कोई रक्षा नहीं करता। यहाँ रावण राजा होते हुए भी नगर उसके देखते-देखते भस्म कर दिया गया और वह कुछ न कर सका। इसीसे "अनाथ कर जैसा" कहा। "अनाथ कर जैसा" से जनाया कि अनाथ नहीं होते हुये भी 'अनाथकासा' जल रहा है। कवितावलीमें मन्दोदरीजीने रावणको समझाते हुयेभी ऐसाही कहा है, यथा—"नगर प्रजार्‍यो सो बिलोक्यो बल कीस को। तुम्हैं बिद्यमान जातुधान मंडली....। ६. २२।' 'सहित समाज गढ़ राँड़ कैसो भाँड़िगो। २४।' (यह अंगदके संबंधमें कहा है पर भाव अनाथकाही है); "ख्याल लंका लाई कपि राँड़ की सी झोपरी। २७।'—यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है।

लमगोड़ाजी—श्रीतुलसीदासजीके उपदेश कितने मौक़ेके हैं, पर कैसे भावपूर्ण होते हैं। 'शा' महोदयकी तरह गद्यात्मक और रूखे नहीं।

जारा नगर निमिष एक माहीं। एक बिभीषन को† गृह नाहीं ॥ ६ ॥
ताकर दूत अनल जेहि सिरजा। जरा न सो तेहि कारन गिरिजा ॥ ७ ॥

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जीने) नगरको निमिषमात्रमें जला डाला। एक विभीषण ही का घर नहीं जलाया। ६। हे गिरिजे! जिसने अग्निको पैदा किया, उसीके दूत हनुमान्‌जी हैं; इसी कारण वह (श्रीहनुमान्‌जी) न जले। ७।

† कर—ब्र० चं०।

टिप्पणी—१ (क) 'निमिष एक माहीं' अर्थात् बड़ी शीघ्रता जलानेमें की, जबतक लंका न जली तबतक पलक न मारी। जो 'सर्षप' शब्द उच्चारण होनेसेभी कम समयमें ६० लक्ष योजन जा और लौट सकते हैं, उनका पलभरमें लंका जला डालना क्या बड़ी बात है ?* अथवा, निमिष 'अल्पकाल'का वाचक है। 'पलभरमें' यह मुहावरा है, लोकोक्ति है। अथवा, साधु अवज्ञा का फल शीघ्र मिलता है इसी लिए 'निमिष एक माहीं' कहकर शीघ्रता दर्शित की। यथा—'साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी।५.४२।' (ख)-'एक बिभीषण'—अर्थात् इस एक घरको छोड़ कोई और स्थान लंकाभरमें न बचा। ये विभीषणका घर जानते हैं, क्योंकि पूर्व ही हो आए हैं। वहाँ हरिमन्दिर, तुलसी, रामायुध आदि हैं। पुनः, विभीषण सनाथ हैं, उन्होंने 'साधु अवज्ञा' नहीं की, इत्यादि कारणोंसे उनका घर बचा। अवज्ञाका फल है कि धातुमें और पाषाणमेंभी आग लगती है। और पासके घर जले तो भी उन मन्दिरोंसे विभीषणके मन्दिरमें आग न पहुँच सकी।

२ (क) 'अनल जेहिं सिरिजा'। अग्नि भगवान्‌के मुखसे उत्पन्न हुआ यथा—'मुखादग्निरजायत', 'आनन अनल अंबुपति जीहा', 'हेतु कृसानु भानु हिमकर को'। (ख) 'गिरिजा' सम्बोधनका भाव कि तुम हिमांचल की कन्या हो, हनुमान्‌जीको अग्नि तुम्हारे पिताके समान शीतल हो गई। यथा—'गोपद सिंधु अनल सितलाई।' पुनः, जनाया कि उनको यह सुनकर शंका हुई कि 'हनुमान्‌जी अग्निसे कैसे बचे ?' उसीका समाधान शिवजी करते हैं। (ग)—☞'साधु अवज्ञा कर फल ऐसा। जरै नगर अनाथ कर जैसा' इसमें साधुका और 'ताकर दूत अनल जेहि सिरिजा। जरा न सो तेहि कारन' इसमें भगवान्‌का प्रताप कहा। साधुकी अवज्ञासे लोगोंके स्थान जले, साधुके आदरसे विभीषणजीका स्थान बचा, और श्रीरामकृपासे हनुमान्‌जी बचे। 'जरा न सो', सो कौन ? 'जारा नगरु' जो (हनुमान्) सो 'जरा न'। 'सो' का अन्वय पिछली चौपाईसे है। 'तेहि कारन'—कारण पूर्वार्द्ध 'ताकर दूत००' में कहा गया।

श्री लमगोड़ाजी—महाकाव्यकलाकी इस युक्तिकी ओर ध्यान दिलाया जा चुका है कि कितना संक्षिप्त संकेत आधिदैविक रहस्यकी ओर होता है; पर होता है अवश्य। मसनवी मौलाना रूममेंभी जब एक संत अग्निमें नहीं जले तो कविने कहा है कि—'तुम इस ओरसे देखते हो, इसीसे अग्नि जड़ दिखती है। परदेके उस ओर देखो तो चैतन्य शक्ति दिखै।' टैगोरजीका कहना है कि हम चित्रके बाहरी अंशको देखते हैं, कैनवस (Canvas) के उस ओर हमारी दृष्टि नहीं जाती, जिधरसे बिधाता चित्र खींचते हैं।

नोट—१ मा० त० सु० और अन्यभी कुछ टीकाकारोंने 'सो' को विभीषणका बोधक माना है। इसके उत्तरमें वीरकविजीका लेख उद्धृत किया जाता है—'जब जलानेवालेने स्वयं विभीषणजीका घर नहीं जलाया, जान बूझकर उसे बचाया, तब पार्वतीजीको इसमें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है। हनुमान्‌जीके साथमें

* यह चरित उस समयका है जब शक्तिसे लक्ष्मणजी मूर्छित पड़े थे और यह समस्या उपस्थित थी कि धवलागिरि, जो लंकासे साठलक्ष योजनपर है, पर कौन जाकर रात्रिमेंही संजीविनी ला सकता है ? यथा हनुमन्नाटकके—'नलस्त्रिरात्रं पुनरेति गत्वा तत्रैव मैन्दद्विविदौ द्विरात्रम्। सुग्रीवनीलौ पुनरेकरात्रं वीरांगदो यामचतुष्टयेन। १९। नीत्वा लंकां सुषेणं पुनरनिलसुतः प्रार्थयामास रामं, देवाज्ञां देहि वीरस्तव हितकरणोपस्थिताः सन्ति सर्वे। लक्षाणां षष्टिरास्ते द्रुहिणगिरिरितो योजनानां हनूमाँस्तैलाग्नेः सर्षपस्य स्फुटनरवपरस्तत्र गत्वाऽत्र चैमि। १३. २०।' अर्थात् नल तो द्रुहिणगिरिपर जाकर तीन रात्रिमें लौट सकते हैं, मैन्द और द्विविद दो रात्रिमें, सुग्रीव और नील एक दिनरात्रिमें और वीर अंगद चार पहरमेंही लौटकर आ सकते हैं। १९। सुषेणको लंकामें पहुँचाकर पवनसुतजी श्रीरामजीसे विनय करने लगे कि-स्वामिन्! आज्ञा दीजिये। वह पर्वत यहाँसे साठ लाख योजनपर है। अग्निपर धरे हुए तेलकी ज्वालामें डाले हुए सरसोंके फूटनेका शब्द जितनी देरमें हो उतने ही बीचमें मैं वहाँ जाकर पर्वतको लेकर आ जाऊँगा।२०।—यह आपका वेग और सामर्थ्य है।

जो उपकार विभीषणजीने किया था उसको पार्वतीजी सुन चुकी हैं, प्रत्युपकार करना हनुमान्‌जीका धर्म है।' अतः यहाँ विभीषणजीके घरके विषयमें शंका करनेकी कोई बात नहीं है। अतएव 'सो' को विभीषणमें खींचकर लगानेकी आवश्यकता नहीं है। अध्यात्म रामायणमें शिवजीने कहा है कि—'विभीषणगृहं त्यक्त्वा सर्वं भस्मीकृतं पुरम्। ४४।....यन्नामसंस्मरणधूतसमस्तपापास्तापत्रयानलमपीह तरन्ति सद्यः। तस्यैव किं रघुवरस्य विशिष्टदूतः संतप्यते कथमसौ प्रकृतानलेन। अध्यात्मे ५. ४. ४७।' अर्थात् जिनके नामस्मरणसे मनुष्य समस्त पापोंसे छूटकर तुरन्तही तापत्रयरूप अग्निको पार कर जाते हैं, उन श्रीरघुनाथजीके विशिष्ट दूतको यह प्राकृत अग्नि भला किस प्रकार संताप पहुँचा सकता था! (अध्यात्म रामायणमेंभी विभीषणजीके विषयमें शंका नहीं है। शंका केवल हनुमान्‌जीके विषयमें है और उसका समाधान है। उसकेही अनुकूल गोस्वामीजीनेभी आगे पीछे कहा है। पर मानसकविकी उक्ति अध्यात्मसे अधिक श्रेष्ठ है। श्रीरामनामके प्रभावकथनकी उक्ति यहाँ उतनी सुन्दर नहीं है। पाठक स्वयं विचार कर लें।)

वाल्मीकीये सुं० स० ५४ श्लो० २८ से ३३ पर्यन्त अग्नि प्रज्वलित होनेपर हनुमान्‌जीने स्वयं तर्क-वितर्क किया है कि अग्नि इतने वेगसे जलती है, किन्तु वह मुझे नहीं जलाती, इसका क्या कारण है? यद्यपि भयंकर ज्वाला देख पड़ती है, तोभी पूँछमें ठंढक प्रतीत होती है। जब श्रीरामचन्द्रजीकी कृपासे समुद्रमें मैनाक पर्वत विश्राम देने आया तब क्या अग्निदेव कुछभी अनुग्रह न करेंगे? अग्नि मेरे पिताके मित्र हैं। श्रीरामचंद्रजीके प्रताप और श्रीसीताजीके अनिन्द्यत्वके प्रभावसे वे मुझे नहीं जलाते हैं। इस आवश्यक प्रश्नको भला गोस्वामीजी क्यों छोड़नेवाले थे, उन्होंने एकही चौपाईमें कह दिया।

वाल्मी० ५. ५५. २५ में भी हनुमान्‌जीके विचार यही हैं; यथा—'नूनं रामप्रभावेण वैदेह्याः सुकृतेन च। यन्मां दहनकर्मायं नादहद्धव्यवाहनः॥' यह निश्चय है कि श्रीरामजीके प्रताप और श्रीसीताजीके पुण्यप्रभावसे मैं न जला।

नोट—२ प्रत्येक धर्म (मजहब) में ऐसी घटनाएँ अधिदैवी व्यक्तियोंके संबंधमें मानी जाती हैं। जैसे, 'शबेमेराज' की कथा मुसलमानी धर्ममें। डाक्टर ऐनीबेसेन्ट और शंकराचार्य दोनोंके उसूल (कथन) मिलते हैं कि 'हमें अपनी भौतिक कसौटीपर ऐसी घटनाओंको न परखना (कसना) चाहिये; कारण कि वह बहुत सीमित है।'

प० प० प्र० का मत है कि यहाँ 'दूत' का अर्थ 'सेवक' करना चाहिए जिसमें विभीषण और हनुमान् दोनोंका अन्तर्भाव होगा। और 'एक' का अर्थ 'केवल' लेना अनुचित है क्योंकि ऐसा करनेसे कुंभकर्णका घर और सब शिवमंदिरोंका भी भस्म होना मानना पड़ेगा। कुंभकर्ण नारदोपदिष्ट रामभक्त है। अतः दूतका अर्थ 'सेवक' माननेसे शंकाका स्थान नहीं रह जाता।

उलटि पलटि लंका सब जारी। कूदि परा पुनि सिंधु मझारी॥ ८॥

अर्थ—उलट पलटकर सारी लंका जलाकर तब (हनुमान्‌जी) समुद्रमें कूद पड़े। ८।

टिप्पणी—१ 'उलटि पलटि' से जाना गया कि एक बार ओरसे छोरतक (एक ओरसे दूसरी छोर तक) आग लगाकर फिर उलटे और उलटकर जलानेपर फिर वहाँसे पलटे फिर तीसरी बार आग लगाई। एक बार एक ओरसे छोरतक गए फिर उधरसे जलाते हुए उलटे (लौटे) और दूसरी छोरतक पहुँचकर फिर जलाते हुए पलटे। इस प्रकार तीन फेरेमें लंका भस्म हो गई।

श्रीनंगे परमहंसजी—'उलटि पलटि' का अर्थ यह है कि 'एक किनारे (से) आग लगाते गए, फिर बीचसे वापस आए, उसीका नाम है उलटा। फिर किनारेसे आग लगाते गये, उसीका नाम है पलटा।'

वि. त्रि.—लंकाभरके पुराने वस्त्र और तेल पूँछके बाँधनेमें खर्च हो चुका था, अतः पूंछकी आग शीघ्र बुझनेवाली नहीं थी। तीन फेरेमें लंका भस्म हो गई, यथा—'जारत प्रचारि फेरि फेरि सो निसंक लंक, जहाँ बाँको बीर तोसो सूर सिरताज है।'

लंकादाहका विस्तृत वर्णन कवितावलीमें दिया हुआ है। निविष्ट चित्तसे देखनेसे, उसमें तीनों फेरों का वर्णन पृथक् पृथक् मालूम होता है। पहिले फेरेका वर्णन कवित्त नं० ३ से १३ 'बसन बटोरि बोरि बोरि तेल तमीचर' से 'याही बल बालिसों बिरोध रघुनाथ सो' तक।

दूसरे फेरेका वर्णन क० नं० १४ से २१ 'हाट बाट कोट ओट अटनि अगार पौरि' से 'मालवान् रावरेके बावरेसे बोल हैं' तक। तीसरेका १५ से २५ 'भूमि भूमिपाल, ब्यालपालक पताल' से 'रतन जतन जारि कियो है मृगाँक सो' तक।

हनुमान्जीका बड़ा विशाल शरीर है, अतः गहरे समुद्रमें कूदे जिसमें पूँछभी बुझे और अवगाह स्नानभी हो।

नोट—१ भाव यह कि जिसमें कुछ बच न जाय। जो पहले बच गए उसे दूसरे फेरेमें जलाया। 'उलट-पलट कर' यह मुहावरा है अर्थात् अच्छी तरहसे, एवं घूमफिरकर। इसमें दोनों भाव हैं। कुछ टीकाकारोंने और भी भाव लिखे हैं।—

(१) रा० शं०—प्रत्येक नगर दो श्रेणियोंमें बसा होता है, पूरब-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण, और बीचमें सड़क होती है। महावीरने पहले एक ओरसे जलाना आरंभ किया और आखीरतक जलाकर दूसरी तरफ भी जलाया।

(२) प्र०—'उलटि' अर्थात् ऊपरसे नीचे, नीचेसे ऊपर। पलटि='घूमघामकर'।

(३) बाबू श्यामसुन्दरदासने एक कथा कहींसे शनिके उखाड़ने और पुनः गाड़नेकी यहाँ लिखी है, उसीसे उलटि और पलटि कहा। पर न तो कोई प्रमाण है और न यह यहाँ अर्थ है।

☞ लंकादहन क्यों हुआ इसका उत्तर इस प्रसंगमें पूर्वमें बीच-बीचमें आ चुका है। रामचन्द्रिकामें जो कारण दिया है, वह इस ग्रन्थके अनुकूल नहीं है। अतः यहाँ नहीं लिखा गया।

नोट—२ 'सब जारी' से जनाया कि नगरके मणि-सुवर्णमय घरही नहीं किन्तु खाने, पीने, पहनने, व्यसन और शौक़के सब साज-सामान, हाथी घोड़े, रथ, रत्न इत्यादि सब कुछ भस्म कर दिया। यथा—'झपट लपट भरे भवन भँडारहीं। तुलसी अगार न पगार न बजार बच्यो, हाथी हथिसार जरे घोडे घोरसारहीं। २३।' (क. सुं.)। लंकाके पर्वत, वृक्ष और बहुतेरे प्राणी भी भस्म हो गये यथा—'ततस्तु लंकापुरपर्वताग्रे समुत्थितो भीमपराक्रमोऽग्निः।...। ३२।', 'सप्राणि सद्मं सगृहां सवृक्षां दग्धां पुरीं तां सहसा समीक्ष्य। ४०। ततस्तु लंका सहसा प्रदग्धा सराक्षसा साश्वरथा सनागा। सपक्षिसंघा समृगा सवृक्षा...।४१।', 'दग्ध्वा पुरीं तां गृहरत्नमालिनीं...। ४५।' (वाल्मी. ५.५४)

टिप्पणी—२ 'कूदि परा पुनि...' इति। (क) भाव कि पूँछ बुझाने और श्रम खोनेके लिए समुद्रमें कूद पड़े जैसा आगे कहते हैं; यथा—'पूँछ बुझाइ खोइ श्रम...।' (ख) समुद्रने समुद्र पार करते समय श्रम दूर करनेकी इच्छा प्रकट की थी, यथा—'तैं मैनाक होहि श्रमहारी'। उसकी इच्छा पूरी करनेको उसमें कूद पड़े। स्नानसे श्रम दूर होता ही है; अतः 'खोइ श्रम' कहा; नहीं तो 'पूँछ बुझाइ' इतना ही लिखते। इसपर प्रश्न होता है कि 'उन्हें क्या श्रम हुआ ?' प्रथम सौ योजन समुद्र लाँघनेका, दूसरे राक्षसोंसे युद्धमें और तीसरे लंकादहनमें जो परिश्रम हुआ वह सब स्नान करके दूर किया। (ग) यह अवभृथस्नान है जो यज्ञके अन्तमें किया जाता है। यज्ञका रूपक कवित्तरामायणमें है। यथा—'तुलसी समिधसौंज लंक जज्ञकुंड लखि, जातुधान पुंगीफल जव तिल धान हैं। श्रुवा सो लँगूल बलमूल प्रतिकूल हवि, स्वाहा महा हाँकि हाँकि हने हनुमान् हैं।७।' यह यज्ञ है। (२) 'हाट बाट हाटक पिघिल चलो घी सो घनो, कनक कराही लंक तलफति ताप सों। नाना पकवान जातुधान बलवान सब, पागि पागि ढेरी कीन्हीं भली भाँति भाय सों। पाहुने कृसानु पवमान सो परोसो, हनुमान सनमानि कै जेंवाये चित्त चाय सों। २४।'—यह भोजन है। (३) 'तुलसी निहारि अरिनारि दै दै गारि कहैं, बावरे सुरारि वैर कीन्हों राम-राय सों।१४।' यह गाली गान है। और 'कूदि परा पुनि सिंधु मँझारी' यह अभिमंत्र स्नान है। मँझारी=में, यथा—'कैकइ कत जनमी जग माँझा', 'मुनि सग माँझ अचल होइ बैसा।'

दो०—पूँछ† बुझाइ खोइ श्रम धरि लघु रूप बहोरि।
जनकसुता के आगे ठाढ़ भएउ कर जोरि* ॥ २६ ॥

अर्थ—पूँछ बुझाकर, थकावट दूर करके और फिरसे लघुरूप धारण करके श्रीजानकीजीके आगे हाथ जोड़कर आ खड़े हुए। (और बोले—)। २६।

टिप्पणी—१ (क) 'धरि लघुरूप बहोरि' यह पूर्वार्द्धमें ही 'पूँछ बुझाइ' और 'खोइ श्रम' के साथ देकर जनाया कि ये तीनों बातें सिन्धुके तीर ही हुईं। वहीं स्नान करके वहीं लघुरूप हो गये तब श्रीजानकीजी के पास आये। ['बहोरि' के दोनों अर्थ यहाँ लगते हैं—एक तो 'तत्पश्चात्, उसके बाद'; दूसरे 'फिर, दुबारा, तिबारा...'। हनुमान्‌जी पाँच बार लघुरूप पूर्वमें धारण कर चुके हैं, यथा—'अति लघुरूप पवनसुत लीन्हा।२.१०।'; 'अति लघुरूप धरौं...। ३।', 'मसक समान रूप कपि धरी। ४ (१)।' (लंकामें प्रवेशके लिए); 'अति लघुरूप धरेउ हनुमाना। ५ (१)।' (लंकिनीके शासनके पश्चात्); 'करि सोइ रूप गयउ पुनि तहँवा। ८ (६)।' (विभिषणके यहाँसे अशोकवाटिकामें जाते समय); 'पुनि लघुरूप पवनसुत लयऊ। १६ (८)।' (श्रीसीताजी-को विशाल रूप दिखानेके पश्चात्)। और अब छठी बार लंकादहनके पश्चात् पुनः लघुरूप हो गए। अतः 'बहोरि' कहा। पर यह वह लघुरूप है जिस रूपसे वे श्रीजानकीजीके समीप फल खानेकी आज्ञा माँगनेके समय थे।] (ख) 'ठाढ़ भयउ कर जोरि' इति। यहाँ हाथ जोड़कर खड़े होना प्रार्थनाके निमित्त है, क्योंकि इनसे चिह्न माँगने आए हैं। लंकादहन आदि अपना पुरुषार्थ जानकीजीसे न कहा। क्योंकि शूरवीर अपनी करनी अपने मुखसे नहीं कहते। 'फल खानेकी आज्ञा लेकर गए थे सो फल खाकर अब आगए', बस इतनी ही बात सामने खड़े होनेसे प्रकट हुई। अब आवृत्ति कहते हैं—

२—प्रथमावृत्ति—पाँचों तत्त्वोंने हनुमान्‌जीकी सहायता की—

(१) पवनतत्त्व—'हरिप्रेरित...चले पवन उनचास'—अग्नि बढ़ाई
(२) आकाश—'अट्टहास करि गर्जा०'—अवकाश देकर शब्द बढ़ाया
(३) पृथ्वी—'देह बिसाल परम हरुआई'—देहकी गुरुता न रही
(४) अग्नि—'ताकर दूत अनल जेहि सिरिजा। जरा न०' - जलाया नहीं
(५) जल—'कूदि परा पुनि सिंधु...पूंछ बुझाइ ...'—आग बुझाई, श्रम दूर किया।

३—अब दूसरी आवृत्ति कहते हैं। (क) 'खोइ श्रम' से मज्जन सूचित किया, क्योंकि स्नानसे श्रम दूर होता है यथा—'मज्जन कीन्ह पंथश्रम गयऊ', 'मज्जन करिय समर श्रम छीजै'। पुनः (ख) इससे समुद्रकी इच्छा की पूर्ति हुई। उसने मैनाकसे कहा था, मैनाकने हनुमानजीसे कहा था, तब इन्होंने उत्तर दिया था कि 'राम-काज कीन्हें बिनु मोहिं कहाँ विश्राम'। अब कार्य करके समुद्रमें श्रम दूर किया। (ग) श्रीजानकीजीके समीप से फल खानेको लघु रूपसे चले थे, उसी रूपसे पुनः उनके पास जा खड़े हुए, अपना वृत्तान्त कुछ न कहा, क्योंकि अभिमानरहित हैं। (घ) हाथ जोड़कर खड़े हुए जैसे राजाके सामने सेवक खड़े होते हैं, मानों कुछ करनी कीही नहीं, फल खाकरही चले आए। अपनी करनी मानते तो लौटकर प्रणाम करते। यहाँ प्रणाम नहीं किया। — [वाल्मीकीय और अध्यात्ममें तथा हनुमन्नाटकमें भी प्रणाम करना कहा गया है; यथा—'ततस्तां शिंशपामूले जानकीं पर्यवस्थिताम्। अभिवाद्य...' (वाल्मी. ५. ५६. १), 'ततः सीतां नमस्कृत्य...' (अध्यात्म ५. ५. १), 'जानकीं प्रणम्य रामाभिज्ञानं याचते स्म हनूमान्। हनु. ना. ६. ३१।'—प्रणाम करनेका भाव 'कर जोरे' से ले सकते हैं। तरुपल्लवसे उतरकर जब सामने आये थे, तब प्रणामका उल्लेख नहीं है—'तब हनुमंत निकट चलि गयऊ'। फल खानेको जाते समय प्रणाम किया है। कवितावलीमेंभी प्रणाम किया है, यथा—'नाइ माथा पगनि ठाढ़ो कर जोरि कै' (५.२६)।

† पूँछि—ना० प्र०। पुच्छ बुझाई-ब्र चं.। * दोहा दोहरा मिश्रित है। (ब्र० चं०)।

४—☞ हनुमान्‌जीको अष्टसिद्धियाँ प्राप्त हैं, यथा—

		उदाहरण
अणिमा (छोटा हो जाना)	१	भयउ परम लघुरूप तुरंता
महिमा (बड़ा होना)	२	कपि बढ़ि लाग अकास
गरिमा (भारी होना)	३	जेहि गिरि चरन देइ, चलेउ सो गा पाताल०
लघिमा (हलकापन)	४	देह बिसाल परम हरुआई
प्राप्ति (अलभ्य लाभ)	५	पावक जरत देखि । अग्नि अलभ्य थी
प्राकाम्य (कामना पूर्ण होना)	६	उलटि पलटि लंका सब जारी
ईशित्व (निर्भय होना)	७	देखि प्रताप न कपि मन संका
वशित्व (वश करना)	८	पाँचों तत्वोंका वशमें करना

नोट—'जदपि कही कपि अति हित बानी' से 'पूँछ बुझाइ०' तक 'पुर दहि' प्रसंग है ।

लमगोड़ाजी,—भौतिकविज्ञानदर्शनने हमारे विचार इतने संकुचित कर दिये हैं कि हम योगको मानते हुए भी जब कहीं पुराणोंमें वैसे सिद्धियोंवाले व्यक्तिका वर्णन देखते हैं तो नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं । हम अंग्रेजी पढ़े महानुभावोंका ध्यान 'शा' महोदयके Back to Mathuselas नामक नाटक और उसकी भूमिका की ओर फेरना चाहते हैं जिसने धुँधली तरह ही सही, पर Science of Metabiology के आधारपर अब विकासवादकोभी केवल भौतिक नहीं किंतु रचनात्मक (creative) और संकल्पात्मक माना है ।

प० प० प्र०—दोहा २६ के तीसरे चरणमें केवल १२ मात्रायें हैं । मात्रा कम करके जनाया कि इस समय श्रीजानकीजीको सजीव देख हनुमान्‌जीको हर्ष हुआ और विपत्तिमें छोड़कर जाना है इससे विषादभी है। अतः उनकी वाणी रुक गई, वे श्रीसीताजीके चरणोंमें मस्तक नवाना भी भूल गए, हाथ जोड़कर चित्रलिखितसे तटस्थ हो गए । 'मातु ! मोहि दीजे ! कछु ! चीन्हा !!' ऐसा पदच्छेद करनेसे भाव स्पष्ट हो जाता है । 'नाथ, एक आवा, कपि, भारी । १८ । ३ ।', 'मातु ! कुसल प्रभु ! अनुज समेता । १४ । ९ ।' देखिए ।

'नाँघेउ बहुरि पयोधी'-प्रसंग

मातु मोहि दीजे† कछु चीन्हा । जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा ॥ १ ॥
चूड़ामनि उतारि तब दएऊ । हरष समेत पवनसुत लएऊ* ॥ २ ॥

अर्थ—हे माता ! मुझे कुछ चिह्न दीजिए, जैसे रघुनायकजीने मुझे दिया था । (भाव कि अब रघुनाथजीके पास चला ही चाहता हूँ) । १ । तब (श्रीसीताजीने) चूड़ामणि उतारकर दिया । हनुमान्‌जीने हर्षसहित उसे लिया । २ ।

टिप्पणी – १ 'दीजे कछु चीन्हा' । (क) चिह्न माँगा, आज्ञा न माँगी; क्योंकि कहीं प्रेमवश आज्ञा न दें तो बड़ा असमंजस होगा । अथवा, ये विरहसे व्याकुल हैं, यदि जानेको न कहें तो आज्ञाभंग करते न बन पड़ेगा और बिना गए भी नहीं बनता । यह बात जानकीजीकी उक्तिमें स्पष्ट है, इसीसे चलना अपने अधीन रखा और यही समझकर जानकीजी दीन होकर कहती हैं—'कहु कपि केहि बिधि राखउँ प्राना । तुम्हहू तात कहत अब जाना ॥ तोहि देखि सीतल भइ छाती । पुनि मो कहँ सो दिन सो राती ।', ['ततः प्राह हनूमन्तं जानकी दुःखकर्शिता ।४। त्वां दृष्ट्वा विस्मृतं दुःखमिदानीं त्वं गमिष्यसि । इतः परं कथं वर्ते रामवार्ताश्रुतिं विना । ५ । अध्यात्म ५ । ५ ।' हाथ जोड़कर खड़े होकर चिह्न माँगनेसे ही जना दिया कि जानेको तैयार हैं, 'जाने' का वियोगसूचक कष्टदायक अप्रिय वचन न कहा । अध्यात्ममें जानेकोभी कहा है - मानसकवि बाजी मार ले गये ।]—विशेष २७ (७) देखिए । (ख) 'कछु' का भाव कि जानकीजी दीन हैं, इनके पास विशेष

† दीजै—ना० प्र०, व्र० चं० । * पायकुलक है—(व्र० चं०) ।

वस्तु नहीं है। [अध्यात्ममें भी 'किञ्चित्' शब्द है। यथा—'देवि किञ्चिदभिज्ञानं देहि मे येन राघवः। ५०। विश्वसेन्मां प्रयत्नेन ततो गन्ता समुत्सुकः।' (५। ३. ५१)। अर्थात् हे देवि! मुझे कोई ऐसा चिह्न दीजिये जिससे श्रीरघुनाथजी मेरा विश्वास करें। उसे लेकर मैं बड़ी सावधानीसे उत्सुकतापूर्वक जाऊँगा।] (ग) 'जैसे रघुनायक दीन्हा' अर्थात् आपके विश्वासके लिए उन्होंने मुद्रिका दी थी, वैसेही आपभी मुझे कुछ दें जिससे उनको विश्वास हो।—[पुनः भाव कि रघुनाथजीने चिह्न दिया, उसीकी सहायतासे मैं सब विघ्नोंका अन्त कर आपके समीप पहुँच सका—'स्वयंसिद्ध सब काज नाथ मोहि आदर दियो। ६. १७।' (अंगदवाक्य)। वैसेही आपका दिया हुआ चिह्न मुझे कुशलपूर्वक प्रभुके पास पहुँचावेगा। - (पं०)।]

नोट—१ चूड़ामणि सिरका भूषण है। इसे शीशफूलभी कहते हैं। अध्यात्म ५। ३। ५२। में शिरकी लटोंमेंसे निकालकर इस मणिका देना लिखा है, यथा—'विमुच्य केशपाशान्ते स्थितं चूडामणिं ददौ'। वाल्मीकि रा० में महारानीजी कहती हैं कि 'यह मणि आजतक मैंने बड़े यत्नसे रखी है। इसे देखकर इस दुःख में भी तुम्हारे देखनेके समान मैं सुख पाती हूँ।—'एतं दृष्ट्वा प्रहृष्यामि व्यसने त्वामिवानघ ॥७॥ ७४ निर्यातितः श्रीमान्मया ते वारिसंभवः।'—(५।४०)। इस भूषणको रामचन्द्रजी अच्छी तरह पहिचानते हैं। इसे देखकर वीर राम माताको, मुझको और राजा दशरथको अवश्य स्मरण करेंगे। इसे देखकर राघव समुत्साहित होंगे और तुमको प्रेरित करेंगे। पुनः सर्ग ६६ में श्रीरामजीने इसे पानेपर कहा है कि जनक महाराजने विवाहके समय इसे सीताजीको दिया था। यह समुद्रसे उत्पन्न हुआ। देवताओं द्वारा प्रशंसित है। इन्द्रने जनकमहाराजपर यज्ञमें प्रसन्न होकर यह मणि उनको दिया। सीताजीके मस्तकपर बँधनेसे इसकी बड़ी शोभा होती थी। इसे देखकर मैंने अपने पिता और श्वसुरका दर्शन पाया है। आज उसे देखकर मैं सीताजीकोही आई हुई समझता हूँ। यथा—'मणिरत्नमिदं दत्तं वैदेह्याः श्वशुरेण मे। वधूकाले यथा बद्धमधिकं मूर्ध्नि शोभते। ४। अयं हि जलसम्भूतो मणिः प्रवरपूजितः। यज्ञे परमतुष्टेन दत्तः शक्रेण धीमता। ५। इमं दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं यथा तातस्य दर्शनम्। अद्यास्म्यवगतः सौम्य वैदेहस्य तथा विभो।६। अयं हि शोभते तस्याः प्रियाया मूर्ध्नि मे मणिः। अद्यास्य दर्शनेनाहं प्राप्तां तामिव चिन्तये।७।' वाल्मीकिजीके मतानुसार श्रीजानकीजीने इसे बड़े यत्नसे अपने आँचलमें बाँधकर रक्खा था, इसका दर्शन करती थीं, और आँचल खोलकर ही हनुमान्‌जीको यह चूड़ामणि दी थी। यथा—'ततो वस्त्रगतं मुक्त्वा दिव्यं चूडामणिं शुभम्। ५। ३८। ६८।...मणिवरमुपगृह्य तं महार्हं जनकनृपात्मजया धृतं प्रभावात्। ७३।' हनुमन्नाटकमें शिरसेही निकालकर देना कहा है—'शिखां धूमशिखां शत्रोः कालव्यालवधूमिव। उद्यम्यास्य शिरोरत्नं संज्ञानं स्वामिनं ददौ॥ ६। ३१॥' अर्थात् शत्रुको कालरूप सर्पकी स्त्रीके सदृश, धूमशिखाके तुल्य अपनी शिखाको खोलकर इस अपने शिरके रत्नको स्वामी श्रीरामचन्द्रजीके लिये सहदानी दी। मानसकविका 'उतारि' शब्द अध्यात्म और नाटकके मतसे मिलता है।

२—'जनकराय तपसे एहि पायउ मोहि सम याहि दुलारत। करहि रामचन्द्र जेहि परसत त्रिभुवन नहिं पारत। अपनो रूप जानि चूड़ामनि सिय कपि करमें डारत। इष्टदेव तेहि जान महाकपि दृगसे अँसुआ ढारत॥'

टिप्पणी—२ 'चूड़ामनि उतारि तब दएऊ'। (क) जैसे रघुनाथजीने अमूल्य, दिव्य, आभूषण चिह्नके लिये दिया, वैसेही इन्होंने अमूल्य दिव्य आभूषण दिया। (ख) 'उतारि' अर्थात् सिरसे निकालकर। 'चूड़ामणि' शिरोरत्न। (ग) श्रीरामजीने हाथका भूषण देकर जनाया कि हम तुम्हें हाथसे ग्रहण किये हैं, श्रीजानकीजीने शिरका भूषण देकर सूचित किया कि मैं अपना मस्तक आपके चरणोंपर रखती हूँ, मुझे दासी जानकर उबारिये। हाथका धर्म ग्रहण करना और मस्तकका नमित होना है; यथा—'ते सिर कटु तुँबरि सम तूला। जे न नमत हरिगुरपदमूला' और 'सीस नवहि सुरगुरुद्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी'। [नोट—चूड़ामणि क्यों दिया?' इसपर महानुभावोंने अनेक भाव लिखे हैं। जैसे कि—(१)और कोई आभूषण पास न था जो देतीं। (पं०)। (२) शिरोभूषण देकर जनाया कि मेरा सिर आपकी भेंट है, नजर है; अब जीवनकी

आशा नहीं है । इस आशयमें सहायता हेतु अत्यन्त आर्त्तता प्रकट हो रही है । (पं०) । (३) शिरके तुल्य शिरोभूषण भेजती हूँ, सशरीर शिर आपके निकट जाना आपके पराक्रमके अधीन है । (मा. त. सु.) । (४)—हाथकी मुद्रिका भेजकर स्वामीने अपने हाथोंकी सहायताका संदेश ही मानों भेजा है, अतएव शिरोरत्न भेजकर महान् कृतज्ञता सहित आत्मसमर्पण जनाती हैं । (५)—वंदनपाठकजी—चूड़ामणि देकर जनाया कि मैं दुःख समुद्रमें केशपर्यन्त डूबी हूँ, शीघ्र उबारिए । मुद्रिका भेजकर जनाया कि तुमको न लेजाऊँ तो राज्यसे बाज़ आऊँ।

३—'हरष समेत' लिया यह जानकर कि ऐसी वस्तु लोकमें नहीं है और इसे पाकर रामजीको विश्वास होगा कि यह सीताजीका दिया है, वे बहुत प्रसन्न होंगे ।—(वाल्मीकिजी लिखते हैं कि हनुमान्‌जी चूड़ामणिको पाकर ऐसे प्रसन्न हुए जैसे पर्वतशिखरपर पवनके झोंकेसे मुक्त हुआ पुरुष प्रसन्न होता है ।—'गिरिरिव पवनावधूतमुक्तः सुखितमनाःप्रतिसंक्रमं प्रपेदे । ५ । ३८ । ७३ ।' सुफल-मनोरथ होनेसे हर्ष हुआ । अथवा, यह सोचकर कि मुद्रिका लानेसे मैं माता श्रीजानकीजीका कृपापात्र हुआ, उन्होंने दुर्लभ आशीर्वाद दिये; अब चूड़ामणि ले जाकर प्रभुको देनेसे मैं उनकाभी विशेष कृपापात्र बनूँगा और आशीर्वाद पाऊँगा । इसे पाकर वे मुझे बहुत मानेंगे (जैसा कि श्रीजानकीजीने उनसे कहा है) यथा—'अथ मामब्रवीत्सीता गृह्यतामयमुत्तमः । मणिर्येन महाबाहू रामस्त्वां बहु मन्यते । ५. ५८. १०१ ।' (वाल्मीकीयमें यह हनुमान्‌जीने बानरोंसे बताया है । यह तथा युगलसरकारोंकी परमकृपाका लाभ समझकर हर्षित हुए ।)

कहेहु [†] तात अस मोर प्रनामा । सब प्रकार प्रभु पूरन कामा ॥ ३ ॥
दीन-दयालु बिरिदु [‡] संभारी । हरहु नाथ मम संकट भारी* ॥ ४ ॥

अर्थ—(तब श्रीसीताजीने कहा—) हे तात ! मेरा इस प्रकार प्रणाम कहना (प्रणामकी चेष्टा करके बताया । अर्थात् राम लक्ष्मणका ध्यान करके, चरन पकड़कर प्रणाम किया—'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना' से यह भाव स्पष्ट है) । और ऐसा कहना कि प्रभु सब प्रकारसे पूर्णकाम हैं (अर्थात् आपको किसी बातकी इच्छा नहीं है, किसीसे कुछ चाहते नहीं, अतएव हमारे बिना आपको कुछ कमी नहीं है, पर) । ३ । दीन-दयाल आपका बाना है (मैं दीन हूँ); उसे याद करके, हे मेरे नाथ ! मेरे भारी संकटको दूर कीजिए । ४ ।

नोट—१ 'अस' इस अंगुल्यानिर्देशसे और अगले विनयसूचक पदोंसे यह भाव निकला कि श्री-किशोरीजीने अति आर्त्ततापूर्वक गलेमें अंचल डाल, पृथ्वीपर अपना मस्तक झुका, स्वचरणादि स्पर्शकर और शीघ्रप्रसादिनीबद्धाञ्जलि आदि मुद्रा हनुमान्‌जीको दिखाकर कहा कि हे पुत्र ! मेरी ओरसे ऐसीही मुद्रा दिखाते हुए सन्देसा कहना ।—पूर्णकाम हैं अर्थात् आप भावग्राहक हैं, हमारे भावको ग्रहण कीजिये । (पं०, मा० त० सु०) । २—'अस' शब्द देकर यह भी जनाती हैं कि मेरा संदेसा ज्योंका त्यों कह देना । 'अस' दीपदेहरी है ।

टिप्पणी—१—(क) 'पूर्णकाम' हैं; अर्थात् मुझसे आपका कोई स्वार्थ नहीं सिद्ध होगा पर बाना स्मरणकर क्लेशहरण कीजिए । 'प्रभु' अर्थात् आप समर्थ हैं, आपकी प्रभुता रहते हुए भी मैं दुःखी रहूँ, यह उचित नहीं । सामर्थ्य न होता तब दुःख सहना ठीक था । (ख) 'सब प्रकार' अर्थात् यावत् ऐश्वर्य, यावत् सद्गुण हैं सबसे पूर्णकाम हैं, कुछ एक दासियोंके सम्बन्धमें नहीं; पुनः आप सबके प्रभु हैं, ब्रह्मादिक आपके सेवक हैं, ऋद्धि-सिद्धि सब दासी हैं, समस्त ब्रह्माण्डोंके आप पति हैं, यथा—'तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी । ब्रह्म सकल उर अंतरजामी ।'

२ (क) 'मम' देहलीदीपक है । मेरे नाथ और मेरा संकट । तात्पर्य कि मुझपर दया करनेसे आपका बिरद रहता है, संकट दूर करनेसे यश रहता है, यथा—'जौं प्रभु दीनदयालु कहावा । आरति हरन बेद जसु गावा ।'

---

† कहेउ—ब्र० चं० । ‡ बिरिदु—भा० दा०, १७२१, १७६२, छ०, गी० प्र० । बिरद—कोदोराम । बिरुद—रा० प०, १७०४, ना० प्र० । * 'दीनदयालु...' पायकुलक, 'हरहु नाथ...' द्रुतपा । (ब्र० चं०) ।

(१ । ५६), 'सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ आयो सरन। उपल केवट गीध सबरी संसृतसमन, सोक-श्रम-सीव सुग्रीव आरति हरन। राम राजीवलोचन बिमोचन बिपति', 'दीनहित बिरद पुराननि्ह गायो। आरतबंधु कृपाल मृदुलचित जानि सरन हौं आयो' (गी० । ५ । ४३,४४) । 'सँभारी' से जनाया कि आपका 'दीनदयाल' बाना गिरनेको है, उसे सँभालिए। (ख) 'भारी' अर्थात् जिन-जिन दीनोंका आपने संकट हरा उन सबसे मेरा संकट भारी है। [पुनः भाव कि पूर्व जो-जो मेरे संकट आपने दूर किये, जैसे कि रंगभूमिमें धनुष तोड़कर संकट हरा, यथा—'मन ही मन मनाव अकुलानी।...अति परिताप सीय मन माहीं। लव निमेष जुग सय सम जाहीं। १। २५७-८।' 'देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही। १। २६१।', उस समयका संकट थोड़ी देरका था और उन्हींके मनमें था, दूसरोंपर प्रकट न था और यह संकट सीताहरणसे बराबर चल रहा है, सालभरसे प्रत्येक निमेष कल्पकल्प समान बीत रहा है। इसे देखकर देखनेवालेकोभी एक क्षण कल्पसमान बीतने लगता है। यथा—'परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन। ५। ८।', 'देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता। ५। १२।', इत्यादि; फिर वनमें विराध, कबंध, शूर्पणखा आदि द्वारा जो संकट उपस्थित हुये, वे दूर किये।); उनसे यह 'भारी' है। भारीका स्वरूप गीतावली पद १७-१८ में तथा आगे दोहा ३०-३१ में देखिये। मा० त० सु० का मत है कि 'भारी' इससे कहा कि श्री जनकपुरमें आपके मिलनेमें संदेहरूपी वियोगदुःख था, वह वियोग दैवाधीन और पितृप्रतिज्ञाजन्य सुखमय था और उस समय मैं पिताके घरमें थी; और यह संकट कालाधीन और प्रबल-शत्रुसंकल्पजन्य है, इस समय मैं आपकी विवाहिता स्त्री हूँ और शत्रुके घरमें हूँ।] (ग) जैसे कोई आर्त्त पहले कुछ भेंट देता है, पैरों पड़ता है तब अपना दुःख छुड़ानेकी प्रार्थना करता है, उसी रीतिसे गोसाईंजी सीताजीमें यह सब बातें क्रमसे दिखाते हैं। 'चूड़ामनि उतारि तब दएऊ' यह भेंट है, 'कहेहु तात अस मोर प्रनामा' यह पाँव पड़ना है और 'हरहु नाथ मम संकट' यह दुःख निवेदन है।

तात सक्रसुत कथा सुनाएहु। बानप्रताप प्रभुहि समुझाएहु॥ ५॥
मास दिवस महुँ नाथ न आवा†। तौ पुनि मोहि जिअत नहिं पावा*॥ ६॥

अर्थ—हे तात! इन्द्रके पुत्र जयन्तकी कथा सुनाना और बाणका प्रताप (कहकर) प्रभुको समझाना। ५। यदि महीनेभरमें नाथ न आए तो फिर मुझे जीवित न पावेंगे (क्योंकि यह रावणकी प्रतिज्ञा है कि महीनेभरमें कहना न माना तो सिर काट लूँगा। वा, उसके हाथसे वध होनेके पहलेही मैं शरीर छोड़ दूँगी)। ६।

टिप्पणी—१ 'सक्रसुत कथा' यह केवल श्रीरामजानकीजी जानते हैं और कोई नहीं जानता, इसीसे यहभी चिह्न दिया।—['शक्रसुतकथा' से उस समयका ऐकान्तिक गुप्त रहस्य लक्षित कराया है जो अरण्यकांडमें लिखा गया है। श्रीरघुनाथजी श्रीजानकीजीकी गोदमें सिर रखकर सो रहे थे। यह एकान्तकी बात थी। उसी समय शक्रसुत जयन्त परीक्षाके लिये आया था। इस एकान्त रहस्यको कोई न जानता था। केवल बलकी परीक्षा की चाहसे जयन्तका वहाँ जाना और बाणप्रतापका हाल मन्दोदरी आदिभी जानती थीं, यथा—'सुरपति सुत जानइ बल थोरा। राखा जिअत आँखि गहि फोरा। ६. ६५।'—कथा अरण्यकांड दोहा १ व २ में देखिये। 'सक्रसुत' से जनाया कि उसने इन्द्रके समान करतूत की थी। छली, कुचाली, मलीन और किसीपर विश्वास न रखनेवाला था। यथा—'काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती। २. ३०२।', 'कपट कुचालि सींव सुरराजू'। वह कौआ बनकर आया था। वाल्मीकीयमें यह कथा सर्ग ३८ श्लोक १२ से ३९ तक विस्तारसे है। शक्रसुतकथाको वहाँ श्रीसीताजीने सर्वश्रेष्ठ चिह्न कहा है—'इदं श्रेष्ठमभिज्ञानं ब्रूयास्त्वं तु मम प्रियम्। ५. ३८. १२।', ☞ शक्रसुतकथासे ही मनसिलके तिलक लगानेवाली गुप्त बात भी सूचित की है; यथा—

† आवै पावै—१७६२, कोदवराम।
* ब्र० चं०—'तात०' ११२५ वाँ, 'बान०' १२११ वाँ भेद, (६-८) पायकुलक।

'मनः शिलायास्तिलको गण्डयोश्च निवेशितः। २३। त्वया प्रनष्टे तिलके तं किल स्मर्तुमर्हसि। ५. ६५.-२४।' तथा—'सिय अंग लिखैं धातुराग सुमननि भूषन बिभाग, तिलक करन का कहौं कला निधानकी। माधुरी हासबिलास...।' (गी. १. ४४), 'मनः शिलायास्तिलकं तथा मे गण्डस्थले पाणितलेन मृष्टम्। स्मरेति संज्ञानमपि प्रयच्छ जीवाम्यतो राघव मासमात्रम्। हनु० ६. ३३।' अर्थात् जब मनशिलका तिलक मेरे कपोलस्थलमें हाथके रखनेसे छूट गया था, उस समयके पहचानको याद कीजिये—यह मेरा चिह्न तुम लेकर जाओ।]

२—'कथा सुनाएहु। बान प्रताप समुझाएहु' अर्थात् कहना कि मेरे लिये थोड़ेसे अपराधपरभी उसको भारी दंड दिया अर्थात् थोड़े संकटमें भारी पुरुषार्थ किया था और अब तो मैं भारी संकटमें हूँ। (यथा—'मत्कृते काकमात्रे तु ब्रह्मास्त्रं समुदीरितम्। कस्माद्यो मां हरेत्त्वत्तः क्षमसे तं महीपते। वाल्मी० ५.३८.३९।' अर्थात् मेरा छोटासा अपराध करनेपर आपने एक कौए मात्रपर ब्रह्मास्त्र चलाया था, तब जिसने मुझे चोरीसे हर लिया ऐसे महान् अपराधीको क्यों क्षमा कर रहे हैं? उसपर अपना अति प्रबल उत्साह दिखाइये)। अथवा, शक्रसुतकथाके भीतर बाणप्रताप है, उसे समझाना कि जयन्तपर सींकका बाण छोड़ा तब उसको तीनोंलोकोंमें कोई न रख सका।—['बाणप्रताप' यह कि आपके एक कुशके बाणमें जब यह शक्ति है कि त्रैलोक्यमें समस्त दिशा-विदिशाओंमें, सुर-नर-मुनि, असुर, सुरराज एवं त्रिदेवभी इंद्रपुत्रको शरण न दे सके, यथा—'त्राणकाम इमं लोकं सर्वं वै विचचार ह। स पित्रा च परित्यक्तः सुरैः सर्वैर्महर्षिभिः। ३३। त्रींल्लोकान्सं-परिक्रम्य तमेव शरणं गतः।' (वाल्मी.५.३८.३४); 'ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका।...काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकइ राम कर द्रोही। ३.२।'; तब आपके दिव्यास्त्रोंके प्रभावका तो कहनाही क्या? समझाना यह कि आप इस प्रकारके अस्त्रोंके जाननेवाले, महाबलवान्, पराक्रमी और शीलवान् होकरभी राक्षसोंपर उन अस्त्रोंका प्रयोग क्यों नहीं करते? यथा—'एवमस्त्रविदां श्रेष्ठः सत्त्ववाञ्शीलवानपि। १८। किमर्थमस्त्रं रक्षःसु न योजयति राघवः।' (वाल्मी. ५. ६७)। पुनः भाव कि किंचित् अपराधपर पाँचमुखवाले सर्पके समान क्रोध आया था कि शरण आनेपरभी उसकी एक आँख लेही ली थी; यथा—'आशीविष इव क्रुद्धः...।२६। कः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना। वाल्मी० ५।३८।२७।' तब रावण ऐसे अपराधीपर वह क्रोध क्यों नहीं प्रकट करते?] पुनः भाव कि निशानीके लिये कथा सुनाना और उनको यहाँ लानेके लिये बाणप्रताप समझाना। पुनः, समझानेको इससे कहा कि हनुमान्‌जीने यह कहा था कि 'तुव बियोग संभव दारुन दुख बिसरि गई महिमा सुबान की। गी० ५। ११।'; अथवा इससे समझानेको कहा कि प्रभु अपने पुरुषार्थके अभिमानी नहीं हैं। [अथवा, शक्रसुतकथा सुनानेका यह प्रयोजन है कि रावणवधमें वे इस बात की शंका न करें कि वह ब्रह्मवीर्य है। क्योंकि जयन्तभी तो देवता था। (मा० शं०)]

३—'मास दिवस महुँ नाथ न आवा।००' इति। (क) भाव यह कि रावणने एक मासकी प्रतिज्ञा की है और मैं तो अबभी प्राण नहीं रख सकती, यथा—'कहु कपि केहि बिधि राखउँ प्राना'। (ख) मासके साथ 'दिवस' पद देनेका भाव कि मासकी अवधि बीचमें भी रहती है। सौर मास संक्रान्तिपर समाप्त होता है और चान्द्रमास पूर्णिमापर और कहीं-कहीं अमावास्यापर मासकी पूर्त्ति होती है। भ्रम न हो, इस विचारसे 'दिवस' शब्दभी साथ दिया। मास-दिवस=मासके तीस दिन। गिनकर=जिस दिन कहा है उससे तीस दिन गिनकर। अर्थात् पूरे दिन गिननेके निमित्त यह पद दिया। अथवा, मासदिन, वर्षदिन यह बोली है, यथा—'मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी'।

४ यहाँ 'आवा, पावा' हलका पद एकवचन देनेका भाव यह है कि एकमासके भीतर यदि न आवेंगे तो 'गुरुता' कहाँ रह जायगी, रावण मारेगा तो बड़ीही 'हलकाई' (अप्रतिष्ठा) हो जायगी। यही सूचित करनेके लिए एकवचन-पद दिया।

५ 'तौ पुनि मोहि जियत नहिं पावा' इति।—यहाँ यह नहीं कहतीं कि रावण हमको मार डालेगा, केवल यही कहा है कि हमको जीवित न पायँगे।

नोट—१ ऐसा ही वाल्मीकीयमेंभी है, यथा—'जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज । ६७ । ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं सत्येनाहं ब्रवीमि ते । ५ । ३८ । ६७ ।' अर्थात् मैं सत्य कहती हूँ कि एक मास बीतनेपर मैं जीवित न बचूँगी । पुनश्च 'धारयिष्यामि मासं तु जीवितं शत्रुसूदन । मासादूर्ध्वं न जीविष्ये त्वया हीना नृपात्मज । ५ । ४० । १० ।' में जो कहा है कि एक मासतक मैं आपकी राह देखती रहूँगी, इतनेमें दर्शन न हुये तो मैं प्राण त्याग दूंगी, वही भाव इस चरणमें है । रावणके हाथ मारा जाना स्वीकार नहीं है । यथा—'रावणाद्विनिवृत्तार्था मर्तव्यकृतनिश्चया । ५ । ६५ । १५ ।' (हनुमद्वाक्य श्रीरामप्रति) । उन्होंने कहा है कि मैं रावणकी सूरत देखना नहीं चाहती । यदि आपके आनेमें विलंब मैंने सुना तो एक क्षण न जिऊँगी ।—'त्वां च श्रुत्वा विषज्जन्तं न जीवेयमहं क्षणम् । ५ । ४० । ११ ।'

२—'नाथ न आवा' कहकर 'जियत नहिं पावा' कहनेका भाव कि आप ऐसे नाथके रहते हुए मैं अनाथिनीसी हो रही हूँ । एक मास बीतनेपर मैं अनाथिनीकी तरह मर जाऊँगी फिर आप मुझे न देख पावेंगे । यथा—'न मां द्रक्ष्यति काकुत्स्थो म्रिये साऽहमनाथवत् । वाल्मी० ५ । ५८ । १०६ ।' (यह जाम्बवानादिसे हनुमान्‌जीने बताया है) ।

३—'तौ पुनि' का भाव कि अबकी बार तो उनके भेजे तुमने मुझे जीवित पा लिया पर यदि विलंबसे नाथ आए तो अब दूसरी बार जीवित न पायेंगे । क्योंकि रावण कह चुका है (और तुमने सुनाभी है) कि 'मास दिवस महुँ कहा न माना । तौ मैं मारब काढ़ि कृपाना ।' हनुमान्‌जीने स्वयं कानोंसे सुना है यह बात उन्होंने श्रीसीताजीसे कही है । यथा—'मैं सुनी बातैं असैली जे कही निसिचर नीच । क्यों न मारैं गाल बैठो काल-डाढ़नि बीच । गी० ५ । ६ ।'

मा० त० सु०—'पुनि' का भाव कि जैसे जनकपुर जाकर मेरा प्राणान्त कष्ट देखकर धनुषको खण्डित करके मुझे जीवित पा लिया था, (यथा—'देखी बिपुल बिकल बैदेही ।...तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा । मुये करै का सुधा तड़ागा । अस जिय जानि जानकी देखी ।) वैसेही यदि एकमासके भीतर न आवें तो फिर मुझे जीवित न पावेंगे ।

कहु कपि केहि बिधि राखौं प्राना । तुम्हहू तात कहत अब जाना ॥ ७ ॥
तोहि देखि सीतलि भइ छाती । पुनि मो कहुँ† सो दिन सो राती ॥ ८ ॥

अर्थ—हे कपि ! कहो तो मैं किस प्रकार प्राण रक्खूँ ? हे तात ! तुमभी तो अब जानेको कहते हो (अर्थात् महीने भरके बाद तो मरनेका ठिकाना हुआ, पर महीनेके भीतर किस आधारसे प्राण रक्खूँ ? तात्पर्य कि तुम्हारा बिछुड़ना प्राण हरनेवाला है; यथा—'बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं । १. ५ ।') । ७ । तुझे देखकर छाती ठंढी हुई थी, फिर मुझको वही (दुःखके) दिन और वही (दुःखकी) रातें (हैं) ! । ८ ।

टिप्पणी—१ 'कहु कपि केहि बिधि राखौं प्राना' इति । श्रीसीताजी हनुमान्‌जीसे तीन बातें कह रही हैं । (क) नाथका वियोग 'मास दिवस महुँ नाथ न आवा' । (ख) तुम्हारा बिछुड़न—'तुम्हहू तात कहत अब जाना' । और, (ग) रातदिन राक्षसोंकी साँसति—'पुनि मोकहुँ सो दिन सो राती' । किस प्रकार प्राण रक्खूँ, तुम तो बुद्धिमान् हो, तुमही विचारकर बताओ । कोई उपाय संभव समझते हो ? भाव कि अब कौन अवलंब रह जायगा ? पहलेभी न था, तब तुम आकर अवलंब हो गए थे; यथा—'बूड़त बिरह जलधि हनुमाना । भयउ तात मोकहँ जलजाना' । वह अवलंब फिर न रहनेसे कैसे प्राणकी रक्षा हो सकेगी ?

२ (क) 'सीतलि भइ छाती' इति । भाव यह कि रामदर्शन बिना छाती जल रही थी, तुझे देखकर शीतल हुई । ऐसाही श्रीभरतजीनेभी श्रीहनुमान्‌जीसे कहा है, यथा—'कपि तव दरस सकल दुख बीते । मिले आजु

† 'मोकहुँ सोइ दिन सोइ राती' (का०, ना० प्र०) । 'मोकहु सो दिन सो राती'—(भा० दा० । पहले 'सोइ दिन' और 'कहुँ' था पीछे 'इ' और अनुस्वारपर हरताल लगाया है ।) । 'मो कहुँ सोइ दिनु सो राती ।' (गी० प्र०) ।

मोहि राम पिरीते'। ☞ इससे जनाया कि श्रीहनुमान्‌जीके आगमनसे उनको श्रीरामजीके दर्शनके समान सुख प्राप्त हुआ था। (ख) 'सो दिन सो राती' अर्थात् जो तुमने देखा है, यथा—'देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता'। पुनः, इसमें व्यंग यह है कि तुम्हारे दर्शनके बाद फिर हमको दुःखके दिन क्या आने चाहिएँ? आशय यह कि हमारे क्लेशको भूल न जाना, तुरन्त उसके हरणका उपाय करना।

नोट—१ वाल्मी० ५। ३९ में लिखा है कि श्रीहनुमान्‌जीको तैयार खड़े देखकर कहा कि 'यदि ठीक समझो तो एक दिन और यहीं कहीं किसी गुप्त स्थानमें ठहर जाओ। विश्राम करके कल चले जाना। क्योंकि तुम्हारे मेरे पास रहनेसे मेरा अपार दुःख कुछ देरके लिये अवश्य घट जायगा। तुम्हारे यहाँसे लौट जानेपर और पुनः यहाँ आनेके समयतक मुझे संदेह है कि मैं जीती रहूँ या न रहूँ। तुम्हारे न देखनेका शोकभी मुझे सन्तप्त करेगा, यह दुःख मुझे भस्म ही कर डालेगा। यथा—'ततस्तं प्रस्थितं सीता वीक्षमाणा पुनः पुनः।१६। यदि वा मन्यसे वीर वसैकाहमरिन्दम्। कस्मिंश्चित्संवृते देशे विश्रान्तः श्वो गमिष्यसि।२०। मम चैवाल्पभाग्यायाः सांनिध्यात्तव वानर। अस्य शोकस्य महतो मुहूर्त्तं मोक्षणं भवेत्। २१। गते हि हरिशार्दूल पुनरागमनाय तु। प्राणानामपि सन्देहो मम स्यान्नात्र संशयः। २२। तवादर्शनजः शोको भूयो मां परितापयेत्। दुःखाद्दुःखपरामृष्टां दीपयन्निव वानर। २३।' और अध्यात्ममेंभी कहा है कि तुम्हें देखकर मैं अपना दुःख भूल गई थी, तुम्हारे जानेपर अब श्रीरामवार्ता सुने बिना मैं कैसे रहूँगी? २७ (१) टि० १ देखिये।

२—'केहि बिधि...राती।' से जनाते हैं कि हनुमान्‌जीके चलनेकी तैयारी समझकर श्रीसीताजी बहुत घबड़ा गईं। यथा—'ममोत्पतनसम्भ्रान्ता शोकवेगसमाहता। वाल्मी० ५। ६७। ३४।', 'अश्रुपूर्णमुखी दीना वाष्पसन्दिग्धभाषिणी। ३३।' अर्थात् चलनेको तैयार देख वे घबड़ा गईं, आँखोंमें आँसू भर लाईं और उनका कण्ठ गद्‌गद हो गया। यह चौपाईके भाव कवितावली ५। २६। से भी स्पष्ट हो जाते हैं, यथा—'कहा कहौं तात देखे जात ज्यों बिहात दिन, बड़ी अवलंब ही सो चले तुम तोरि कै। तुलसी समीर नैन नेह सों सिथिल बैन बिकल बिलोकि कपि कहत निहोरि कै।' इसीसे आगे 'बहु बिधि' समझाना कहा है। २७ (१) टिप्पणी और दोहा २७ देखिये।

३—गर्गसंहितामें राधिकाजीके ऐसेही वचन ('तोहि देखि०') हैं। वहाँ उन्होंने इसी प्रसंगका दृष्टान्त दिया है—'दृष्ट्वा क्षणं त्वां मम हृच्चशीतलं जातं प्रसन्नाऽस्मि समागते त्वयि। यथा प्रसन्ना जनकात्मजा पुरा, लंकापुरे वायुसुते समागते।' (मथुरा खण्ड अ० ५ श्लोक ११)।

दोहा—जनकसुतहि समुझाइ करि बहु बिधि धीरजु दीन्ह। चरनकमल सिरु नाइ कपि गवनु राम पहिं कीन्ह॥ ॥२७॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीने श्रीजानकीजीको समझाकर बहुत तरहसे धीरज दिया। चरण-कमलोंमें सिर नवाकर हनुमान्‌जी श्रीरामजीके पास चले। २७।

टिप्पणी—१ हनुमान्‌जीके चलनेके समय सीताजी बहुत विरहाकुल हो गईं, उनका हृदय भर आया, इत्यादि; यथा—'कपि के चलत सिय को मनु गहबरि आयो। पुलक सिथिल भयो नीर नयनन्हि छायो। कहन चह्यो संदेस नहिं कह्यो पियके जिय की जानि हृदय दुसह दुख दुरायो। देखि दसा व्याकुल हरीस...।' (गी० ५।१५) अतएव समुझाया। पुनः, श्रीजानकीजी धैर्य छोड़कर बोलीं कि 'मास दिवस महँ...केहि बिधि राखौं प्राना', इससे 'बहु बिधि धीरज दीन्ह'। और इसीसे ग्रन्थकारनेभी बहुत बार लिखा। १५ (९) कह कपि हृदय धीर धरु माता' से 'तिहुँ पुर नारदादि जसु गइहहिं। १६। ५।' तक समझाना पूर्व लिखा गया है। वही यहाँ है।

नोट—१ 'बहु बिधि'—बानर-भालु-सहित श्रीरामलक्ष्मणजी तुरंत आवेंगे, शत्रुको जीतकर आपको ले जायँगे। त्रैलोक्यमें सुर, असुर, मनुष्यादि सबका मिलकर भी यह सामर्थ्य नहीं कि रामबाणके आगे ठहर

* यह शार्दूल दोहा है। (म० चं०)

सकें। वे आपके लिए यम, काल, आदिसे भी युद्ध कर सकते हैं। सुग्रीवने आपके उद्धारके लिए अग्निको साक्षी देकर प्रतिज्ञा की है। महापराक्रमी, मानसिक संकल्पके साथही काममें लगनेवाले, वायुके मार्गमें चलनेवाले, मुझसे कहीं अधिक बलवाले असंख्यों वानरोंको लेकर सुग्रीव साथ आवेंगे। सुग्रीवकी सेनामें मुझसे छोटा कोई नहीं है, सब एक छलांगमें लंका आ पहुँचेंगे। मेरी पीठपर श्रीरामलक्ष्मणजी आयेंगे। आप धैर्य धारण करें। श्रीरामजीसे बड़ा कौन है? लक्ष्मणजीके समान कौन है? वे दोनों आपके रक्षक हैं। इत्यादि जो वाल्मी० ५ सर्ग ३९, ४० और ५६ एवं ६८ में कहा है वह सब 'बहु बिधि' में आ गया। और भी जिसमें जिस प्रकार लिखा हो उस सबका समावेश इसमें हो गया।

२ पुनः, यथा—(गीतावली ५।१४)—'तौ लौं मातु आपु नीके रहिबो। जौलौं हौं ल्यावौं रघुबीरहिं दिन द्वै (दस?) और दुसह दुख सहिबो। १। सोखि कै खेत कै बांधि सेतु करि उतरिबो उदधि न बोहित चहिबो। प्रबल दनुज दल दलि पल आधिमें जीवत दुरित दसानन गहिबो। २। बैरिबृंद बिधवा बनितनिको देखिबो बारिबिलोचन बहिबो। सानुज सैन समेत स्वामिपद निरखि परम मुद मंगल लहिबो। ३। लंकादाह उर आनि मानिबो साँच राम-सेवक को कहिबो। तुलसी प्रभु सुर सुजस गाइहैं मिटि जैहैं सकल सोच दव दहिबो।'; पुनः यथा—'मातु काहे को कहति अति बचन दीन। तब की तुहीं जानति, अब की हौं ही कहत, सबके जिय की जानत प्रभु प्रबीन। ऐसे तो सोचहिं न्याय-निठुर-नायक-रत सलभ खग कुरंग कमल मीन। गी. ५। ८।'; पुनः यथा कवितावल्यां—'दिवस छ सात जात जानबी न मातु धरु धीर अरिअंतकी अवधि रही थोरिकै। बारिधि बँधाइ सेतु ऐहैं भानुकुलकेतु सानुज कुसल कपि कटक बटोरि कै। बचन बिनीत कहि सीताको प्रबोध करि...' (५. २७)।

वि. त्रि.—जानकीजीको समझाकर बहुत प्रकारसे धैर्य दिया, यथा—'अब मोहि यहँ ते चलनमें होइहि बेर जितेक। प्रभु प्रयानमें जानबी जननी देर तितेक॥ तोहि खोजन हित कपि कटक गयउ चहूँ दिसि धाय। सीता सुधि पायों नहीं कहे होयंगे आय॥ दच्छिण दिसि जे कपि गये तिन पर आस लगाय। बाट जोहते होयंगे अति आरत रघुराय। समाचार तेरो सुनत प्रभुको धीरज होय। घटै पीर रघुबीर हिय उचित करन अब सोय॥ मेरो लंक प्रवेश कोउ सके न निशिचर जानि। ताते सम गति विधि समुझि रहिहैं ते भय मानि॥ लंक शंक आतंक अति दशकंधर उर माहिं। अब तोको दुख देन हित कोउ आइहै नाहिं॥ यामें मोहि अब एक छन जानि रोके तू माय। जाइ बेगि रघुबीर को आवौं तुरत लवाय॥'

नोट—३ ☞ बाबा हरिदासजीने 'बहु बिधि' के कई भाव लिखे हैं जो माधुर्य प्रसंगके अनुकूल नहीं हैं। एक प्रकार यह कि—"आप 'जनक' की सुता हैं, केवल पिताके मिष प्रकट हुई हैं, माता रहित हैं, गर्भवासरूपी विधिबंधनसे रहित अगर्भा हैं; आपका जन्म अलौकिक हुआ, आप पृथ्वी फोड़कर प्रकट हुई हैं; आप जीवोंके मंगल-कल्याणके लिये उन्हें भवबंधनसे छुड़ानेके लिये अवतरी हैं, आप परमशक्ति हैं तब आपका तुच्छ रावणके बंधनमें पड़ा होना कैसे घटित हो सके?—यह 'जनकसुता' का भाव है।' अन्य भाव क्लिष्ट कल्पनायें जानकर नहीं लिखता। पुनः, 'जनकसुतहि०' का भाव कि आप जनक ऐसे धीर योगीकी कन्या हैं, आपको ऐसा अधीर होना उचित नहीं। (पं०)।

४ 'गमन राम पहिं कीन्ह'। भाव कि तन यहाँ है और मन श्रीराघवजीके निकट पहुँच गया। (मा० त० सु०)। यथा—'हृदयेन गतो रामं शरीरेण तु निष्ठितः।' (वाल्मी० ५. ३८. ७२)।

टिप्पणी—२ 'चरन कमल सिरु नाइ कपि गवनु...' इति। यहाँ श्रीहनुमान्‌जीका प्रणाम तो कहा पर उनको श्रीसीताजीका आशीर्वाद देना नहीं लिखा गया। क्योंकि बिछुड़नसे वे शिथिल हो गई थीं। (दोहा २७ (८) नोट २ देखिये)। उनके मुखसे वचन नहीं निकला पर उन्होंने हनुमान्‌जीको मन ही मन आशीर्वाद दिया, यथा—'कपि के चलत सियको मन गहबरि आयो। पुलक सिथिल भयो सरीर नीर नयनन्हि छायो॥१॥...कै प्रबोध मातु प्रीति सों असीस दीन्हीं होइहै तिहारोइ मन भायो॥३॥'—(गी० सुं० १५)। [वाल्मीकीयमें आशीर्वाद देना कहा गया है, यथा—'शिवश्च तेऽध्वास्तु हरिप्रवीर।५।४०।२४।' अर्थात् तुम्हारी यात्रा निर्विघ्न हो। परन्तु लंकादहनके पश्चात् चलते समय श्रीहनुमान्‌जीका प्रणाम मात्र है—'गमनाय मतिं कृत्वा वैदेहीमभ्यवादयत्।

५। ५६। २२।' आशीर्वाद नहीं है। नाटकमेंभी प्रमाण भर है। हनु० ६। ३४। यथा—'नत्वा पादारविन्दद्वयमपि जनकस्यात्मजाया हनूमान्। पाणिभ्यामंघ्रियुग्मं....' अर्थात् श्रीजनकसुताजीके दोनों चरणकमलोंको प्रणाम करके दोनों हाथोंसे उनके चरणोंको छूकर। गीतावलीके उद्धरणमें आसिष देना कहा है पर 'मन' शब्द अपनी ओरसे ही लगाया गया है]

चलत महाधुनि गर्जेसि भारी। गर्भ स्रवहिं[†] सुनि निसिचर नारी* ॥ १ ॥

अर्थ—चलते समय श्रीहनुमान्‌जीने महाध्वनिसे भारी गर्जन किया, जिसे सुनकर निशाचरोंकी स्त्रियोंके गर्भ गिर जायँ। १।

टिप्पणी—१ (क) 'भारी' गर्जनसे अपनी उपस्थिति प्रसिद्ध की और श्रीसीताजीका भय नाश किया। श्रीजानकीजीने जो कहा था कि मुझको फिर वैसेही दिन और वैसेही रातें बीतेंगी, राक्षस रात-दिन दुःख देंगे; उसीपर हनुमान्‌जीने गर्जकर धीरज दिया कि निर्भय रहिए, अब राक्षस आपके पास न आवेंगे। यथा—'हनुमान अंगद रन गाजे। हाँक सुनत रजनीचर भाजे'। अथवा, (ख) भारी गर्जनसे जनाया कि लंका जलाकर हम चले नहीं गए, अभी हम बैठे हैं। तात्पर्य यह कि कोई यह न समझे कि "चोरीसे चला गया। बाग उजाड़ा राक्षसोंको मारा, उसकी सज़ा मिली कि 'बाँधा गया', जलाया गया, जो चोरीसे चला न जाता तो लंका जलानेकी सज़ा पाता"। गर्जन द्वारा रावणको चुनौती देते हैं कि लंकादहनका बदला चुका सकते हो तो चुका लो, नहीं तो मैं सफल-मनोरथ होकर अब जाता हूँ। यदि कुछ कर सकते हो तो कर लो। (पं०)। अथवा, (ग) हनुमान्‌जीने सब काम गर्ज-गर्जकर किए; इसीसे चलते समयभी गर्जे। यथा—'तिन्हहिं देखि गर्जेउ हनुमाना'।—(१) 'ताहि निपाति महाधुनि गर्जा'—(२)। 'कटकटाइ गर्जा अरु धावा'—(३)। 'अट्टहास करि गर्जा'—(४)। तथा यहाँ 'चलत महाधुनि गर्जेसि' (५)। अथवा, (घ) शरीरके बलसे करोड़ों राक्षसोंको मारा और महाध्वनिसे अब गरजकर निशाचरवंशकी वृद्धि रोक दी। (ङ) प्रथमभी तो महाध्वनिसे गर्जे थे, तब गर्भका गिरना नहीं कहा गया? इसका समाधान कविके शब्दोंमेंही है। पूर्व केवल एक शब्द 'महाधुनि' ही गर्जनका विशेषण है—'ताहि निपाति महाधुनि गर्जा'। और यहाँ गर्जनके साथ दो विशेषण दिये हैं—'महा धुनि' और 'भारी'। महाध्वनिकी गर्जनसे गर्भ न गिरे थे और अब गर्भ गिरना तथा आगेके लिये गर्भादानकी स्थिति को रोकना अभिप्रेत है इससे 'भारी महाध्वनि' से गर्जे। जैसे यहाँ 'भारी' विशेषण अधिक वैसेही 'गर्भ स्रवहिं' यह कार्य अधिक है। अथवा, शब्दमें कुछ और कारण कर दिया हो जिससे गर्भ गिर गए।

नोट—१ गर्जन वही है जो पूर्व १८ (५) में लिखा गया—'जयत्यतिबलो रामो....अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम्। समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम्। वाल्मी० ५। ४२। ३३-३६।' कवितावलीमें इस प्रकार है—"बचन बिनीत कहि सीताको प्रबोध करि, तुलसी त्रिकूट चढ़ि कहत डफोरि कै। 'जय जय जानकीस दससीस-करि केसरी', कपीस कूद्यो बातघात बारिधि हलोरि कै। ५। २७।"

मा० त० सु० कार लिखते हैं कि 'गर्भ स्रवहिं' से ग्रंथकारने हनुमान्‌जीके बलकी पराकाष्ठा दिखाई। इस गर्जन द्वारा समस्त लंकानिवासियोंको भयभीत करते हुये भविष्यके लिए उनके हृदयमें इन्होंने चिन्ता उत्पन्न कर दी। रा० शं० व्यासका मत है कि गर्जनका कारण यह है कि महाबीरजीने सोचा कि प्रभुकी प्रतिज्ञा है कि 'निसिचर हीन करउँ महि'। जो युद्धमें जायँगे, उन्हें तो वे अवश्य मारेंगे; पर उनके मरनेपर जो गर्भ उनकी स्त्रियोंके हैं, उनसे फिर राक्षस पैदा होंगे तो प्रतिज्ञा पूर्ण न होगी। अतः गर्भोंका प्रथमही नाश किया।

नोट—२ यहाँ 'स्रवहिं' वर्तमानकालिक क्रिया देकर जनाया कि जो थे वे गिर गए और गिरते

---

† स्रवहिं सुनि निसिचर—१७०४, १७२१, १७६२, भा० दा०, छ०। स्रवहिं रजनीचर—कोदवराम।

* 'चलत...' तामरस, 'गर्भ...' पायकुलक। (ब्र० चं०)।

जाते हैं, आगे चले जानेपरभी इसका प्रभाव पड़ेगा, यथा—'समुझत जासु दूत कै करनी। स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी। ५। ३६।' (मन्दोदरिवाक्य रावण प्रति)।

वि० त्रि०—रुद्रावतार हनुमान्‌जीने रावणके किये हुए प्रायः सभी महा अनर्थोंका बदला चुकाकर दण्ड दिया। 'चलत दसानन डोलत अवनी। गर्जत गर्भ श्रवहिं सुररवनी।' सो ये चलते समय ऐसे गर्जे कि निशाचरियोंका गर्भश्राव होने लगा। रावणने जिस-जिस देशमें गो ब्राह्मणको पाया, उस नगर ग्राम और पुरको जला दिया, यहाँ बदलेमें 'उलट पलटि लंका कपि जारी।' सीताजीको 'क्रोधवंत पुनि रावन लीन्हेसि रथ बैठाइ' तो इधर 'धरि केस नारि निकारि बाहिर तेऽति दीन पुकारहीं', इत्यादि।

नाघि सिंधु एहि पारहि आवा। सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा॥ २॥
हरषे सब बिलोकि हनुमाना। नूतन जनम कपिन्ह तब जाना॥ ३॥
मुख प्रसन्न तन तेज बिराजा। कीन्हेसि रामचंद्र कर काजा* ॥ ४॥

अर्थ समुद्र लाँघकर श्रीहनुमान्‌जी इस पार आए और किलकिला शब्द बानरोंको सुनाया। (किलकिल शब्द वानरोंकी आनंदसूचक हर्षध्वनि है। इसे किया जिसमें सब वानर जान लें कि रामकार्य कर लाये)।२। श्रीहनुमान्‌जीको देखकर सब हर्षित हुए और तब वानरोंने अपना नया जन्म समझा।३। मुख प्रसन्न है, तनमें तेज विराजमान है। (इसीसे जाना कि) श्री रामचन्द्रका कार्य किया है।४।

टिप्पणी—१ 'नाघि सिंधु एहि पारहि आवा सबद...' इति। (क) महाध्वनिसे गर्जकर निशाचरियोंके गर्भ गिराए और किलकारी से वानरोंको जिलाया यथा—'गगन निहारि किलकारी भारी सुनि, हनुमान पहिचानि भये सानंद सचेत हैं। बूड़त जहाज बच्यौ पथिकसमाज मानो, आज जाये जानि सब अंकमाल देत हैं।'—(क० ५। २९)। (ख) 'एहि पारहि आवा' से जनाया कि शब्द न पहुँचा और हनुमान्‌जी पहुँच गए। इससे उनका भारी वेग दिखाया, यथा—'मारुतनंदन मारुतको मनको खगराज को वेग लजायो।' (क० लं० ५३)।—यह वेग द्रोणाचल लानेके समयका है जिसका उदाहरण दिया गया। उस समय कालनेमि द्वारा विघ्न उपस्थित हुआ और श्रीअवधमें श्रीभरतके बाणकी महिमाका प्रभावभी पड़ा था तब यह वेग था कि आपके वेगसे पवनदेव, गरुड़ एवं मनभी लज्जित होगए थे और इस समय तो मार्ग साफ़ है, कोई विघ्न करनेवाला नहीं है, अतः इस समय उससेभी अधिक वेगसे उड़कर इस पार पहुँचे हैं। जैसे तोपका गोला पहले पहुँचता है और शब्द पीछे होता है वैसेही यहाँ जानिये।—यह बात अगली अर्धाली 'हरषे सब बिलोकि हनुमाना' से सिद्ध होती है; उसमें शब्द सुनकर हर्षित होना नहीं लिखते किन्तु श्रीहनुमान्‌जीको देखकर हर्षित होना कहते हैं।

नोट—१ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि जब हनुमान्‌जीको उत्तरतटवर्त्ती महेन्द्रपर्वत कुछही दूर रहा देख पड़ा तब वे बड़े ज़ोरसे गर्जे। उनका वह सिंहनाद समस्त दिशाओंमें प्रतिध्वनित हुआ। गरजते हुए वे उत्तर तटपर जा पहुँचे। रीछ-वानर जो उनके लौटनेकी प्रतीक्षामें बैठे थे, उन्होंने गर्जनका घोष सुना। सुनकर सब प्रसन्न हुए। हनुमान्‌जी गर्जे और उन वानरोंने आकाशमें उन्हें चले आते हुए देखा। यथा—स किंचिदनुसंप्राप्तः समालोक्य महागिरिम्। १४। महेन्द्रं मेघसंकाशं ननाद हरिपुङ्गवः। स पूरयामास कपिर्दिशो दश समन्ततः। १५। नदन्नादेम महता मेघस्वनमहास्वनः। स तं देशमनुप्राप्तः सुहृद्दर्शनलालसः। १६।...पूर्वं संविष्ठिताः शूराः वायुपुत्रदिदृक्षवः। ...शुश्रुवुस्ते तदा घोषमूरुवेगं हनूमतः। २०।...निशम्य हरयो हृष्टाः...२५।...एवं जगर्ज बलवान्हनूमान्मारुतात्मजः। तमभ्रघनसङ्काशमापतन्तं महाकपिम्। २८। (वाल्मी. ५. ५७)।' अध्यात्मरामायणमेंभी प्रथम सिंहनाद सुनना है, साथही तुरत हनुमानजीका दर्शन हुआ।—जैसे वाल्मीकीयमें 'स तं देशमनुप्राप्तः' वैसेही यहाँ 'एही पारहि आवा', जैसे 'शुश्रुवुस्ते...निशम्य हरयो' वैसेही यहाँ 'कपिन्ह सुनावा', जैसे 'आपतन्तं० वैसेही

* 'नाँघि...' स्वागता, 'सबद...', (३), पायकुलक। 'मुख....' द्रुतपा। 'कीन्हेसि....' पायकुलक: (ब्र० चं०)।

'बिलोकि' । 'सुनावा' से यह भाव ले सकते हैं कि वानरोंने इसे सुना, सुनतेही आकाशकी ओर दृष्टि डाली तो हनुमान्‌जीभी देख पड़े । दोनों कार्य ताबड़तोड़ तले ऊपर हुए, इसीसे 'हरषे सब बिलोकि' कहा । कवितावलीके उपर्युक्त उद्धरणसेभी ऐसाही जान पड़ता है, क्योंकि वहांभी 'किलकारी सुनि' 'हनुमान् पहिचानि' है अर्थात् उनके शब्दसे उनको पहचाना ।—'हनुमानेव पश्यध्वं वानरा वानरर्षभम् । अ० रा० । ५ । ५ । १३ ।' इस प्रकार प्राचीन रामायणोंके साथ समन्वयभी हो जाता है । लमगोड़ाजीभी इससे सहमत हैं । सरल भाव यही है कि सुनकर उस ओर देखा कि स्वयं हनुमान्‌जी देख पड़े ।

नोट—२ 'हरषे सब' इति । वृक्षोंकी डालियोंको हाथमें ले कपड़ेकी तरह हिला रहे थे । श्रीहनुमान्‌जीको देखकर सब वानर हाथ जोड़े हुए खड़े हो गए । और आ जानेपर वे फलों और फूलोंकी भेंटें ला लाकर उनका पूजन करने लगे । यथा—'वासांसीव प्रशाखाश्च समाविध्यन्त वानराः ।...२७ । दृष्ट्वा ते वानरा सर्वे तस्थु प्राञ्जलयस्तदा ।...२९। प्रहृष्टवदनाः सर्वे तमरोगमुपागतम् । उपायनानि चादाय मूलानि च फलानि च ।३३। प्रत्यर्चयन्हरिश्रेष्ठं हरयो मारुतात्मजम् । ३४ ।' (वाल्मी. ५ । ५७) । पुनः यथा कवितावल्यां—"बूड़त जहाज बच्यो पथिकसमाज मानो आजु जाये जानि अंकमाल देत हैं । 'जय जय जानकीस जय जय लषन कपीस' कहि कूदैं कपि कौतुकी नटत रेत रेत हैं । अंगद मयंद नलनील बलसील महा बालधी फिरावैं मुख नाना गति लेत हैं । ५ । २९ ।", 'आये हनुमान प्रानहेतु अंकमाल देत लेत पगधूरि एक चूमत लँगूल हैं । एक भूखे जानि आगे आने कंदमूल फल एक पूजै बाहुबल मूल तोरि फूल हैं । एक कहैं तुलसी सकल सिधि ताके जाके कृपापाथ-नाथ सीतानाथ सानुकूल हैं । ३० ।'

३—'नूतन जनम कपिन्ह तब जाना' इति । श्रीसुग्रीवजीने कहा था कि 'अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाये । आइहि बनिहि सो मोहि मराये ।' अब सुध पा गए, अतः नया जन्म हुआ । समुद्रतटपर सब मरनेके लिए बैठे थे—'बैठे कपि सब दर्भ डसाई', कि अवधि बीत गई सुध भी न मिली, अब अवश्य मारे जायँगे; इससे यहाँ स्वयंही प्राण देनेपर उद्यत थे । अतएव कहा कि 'नूतन जनम...' । नोट ९ भी देखिये ।

टिप्पणी २—'हरषे सब बिलोकि...' इति । (क) महाध्वनि पूरी न हो पायी कि इस पार आ गए । जब समुद्र थोड़ा पार करनेको रह गया तब वानरोंको शब्द सुन पड़ा और हनुमान्‌जी आकाशमें पहलेही देख पड़े । यह बात अगली चौपाईसे स्पष्ट करते हैं कि 'मुख प्रसन्न तन तेज बिराजा' । यह देखकर सब प्रसन्न हुए और यह समझकर कि रामकार्य कर लाए हैं सबने अपना नया जन्म जाना । इससे सूचित हुआ कि सन्तदर्शनसे नया जन्म होता है । (ख) 'रामचन्द्रकर काजा ।' इति । श्रीसुग्रीवजीने वानरयूथपोंसे कहा था—'रामकाजु अरु मोर निहोरा । बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा ।'...'रामचंद्र कर काज सँभारेहु ।'; और 'पाछे पवनतनय सिरु नावा । जानि काज प्रभु निकट बोलावा ।' (कि० २२, २३) । जाम्बवन्तजीनेभी कहा है कि 'रामकाज लगि तव अवतारा । कि० ३० ।'—इसी संबन्धसे कहा कि 'कीन्हेसि रामचंद्र कर काजा ।' [तीनही पदार्थ तेजोमय माने गये हैं—चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि । सूर्य और अग्नि तापदायक हैं, चन्द्रमा शीतलत्व प्रदान करनेवाला है । अमृतमयभी है । सब वानर मरणप्राय थे उनको शीतल किया, जिलाया । अतः यहाँ तेजके संबंधसे 'चंद' विशेषण दिया । अग्नि और सूर्य नहीं कहा । 'रामचंद्र कर काज' अर्थात् सब काम किये जो कहे गए थे—'बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु । कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु । ४. २३ ।' यथा—'सर्वथा कृतकार्योऽसौ हनूमान्नात्र संशयः ॥ वाल्मी. ५. ५७. २३ ।' ☞ 'सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा' से 'रामचंद्र कर काजा' तक जो कुछ कहा गया वह आकाशमें उड़ते हुए समयका है । आगे 'मिले सकल' यह नीचे वानरोंके मध्य उतरकर आ जानेपरकी बात है । प्रसन्न देख कार्यसिद्धिका निश्चय करना 'अनुमान प्रमाण अलंकार' है ।]

मिले सकल अति भये सुखारी। तलफत मीन पाव जिमि † बारी* ॥ ५ ॥

अर्थ—सब वानर श्रीहनुमान्‌जीसे मिले और (ऐसे) अत्यन्त सुखी हुए जैसे तड़पती हुई मछली जल मिल जानेसे (सुखी होती है)। ५।

नोट—१ 'मिले सकल अति भये सुखारी।' इति। इससे जनाया कि वानरोंने उन्हें अत्यन्त हर्षपूर्वक गले लगाया। किसीने उनकी पूंछ चूमी और कोई मारे खुशीके अति उत्साहसे नाचने लगे। कोई सिंहनाद करने लगे, कोई गर्जने लगे, कोई किलकिलाने लगे, कोई पूँछोंको खड़ी कर प्रसन्नता प्रकट करने लगे, कोई पूँछोंको बार-बार फटकारने लगे।—'अति सुखारी' से ज्ञात होता है कि हनुमान्‌जीने कह दिया है कि हम सीताजीको देख आये। इसीसे अत्यन्त सुख हुआ। यथा—'इत्युक्ता वानराः सर्वे हर्षेणालिङ्ग्य मारुतिम्। १६। केचिच्चुचुम्बुर्लाङ्गूलं ननृतुः केचिदुत्सुकाः। १७।' (अध्यात्म० ५।५); 'ततो दृष्टेति वचनं महार्थममृतोपमम्। निशम्य मारुतेः सर्वे मुदिता वानराऽभवन्। ४०। क्ष्वेलन्त्यन्ये नदन्त्यन्ये गर्जन्त्यन्ये महाबलाः। चक्रुः किलकिलामन्ये प्रतिगर्जन्ति चापरे। ४१। केचिदुच्छ्रितलाङ्गूलाः प्रहृष्टाः कपिकुञ्जराः। अञ्चितायत दीर्घाणि लाङ्गूलानि प्रविव्यधुः। ४२।' (वाल्मी० ५।५७)।

टिप्पणी—१ 'तलफत मीन पाव जिमि बारी।' इति। (क) भाव यह कि इनके बिना व्याकुल और दुःखी थे, इनको पाकर सुखी हुए। यथा—'जो अति आतप व्याकुल होई। तरु छाया सुख जाने सोई'। (ख) प्रथम हनुमान्‌जीको देखकर सुखी हुए—'हरषे सब बिलोकि'। अब गले मिले, तब 'अति सुखी' हुए। (ग) मीनके जल पानेकी उपमा देकर जनाया कि हनुमान्‌जी सबके प्राणोंके रक्षक हुए, यथा—'नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना। राखे सकल कपिन्हके प्राना'। (घ) 'तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई। सहि दुख कंद मूल फल खाई। जब लगि आवौं सीतहिं देखी।' इन चरणों वा वचनोंका यहाँ चरितार्थ है। सब अत्यन्त दुःख सहकर यहीं बने रहे और हनुमान्‌जीकी प्रतीक्षा कर रहे थे। हनुमान्‌जीने आकर उनको यहाँ पाया और 'होइहि काजु' जो कहा था उसकी पूर्त्तिकी सूचना दी।

नोट—२ 'तलफत मीन पाव जिमि बारी' इति। श्रीदशरथमहाराजके प्रसंगमें भी कुछ ऐसा ही कहा है—'तलफत मीन मलीन जनु सींचत सीतल बारि। २। १५४।'; पर यहाँ 'जिमि' है और वहाँ 'जनु'; यहाँ उदाहरण है और वहाँ उत्प्रेक्षा। मानसकविका सँभाल प्रशंसनीय है। 'जिमि' और 'जनु' का भेद साभिप्राय है, भावपूर्ण है। वहाँ राजाको वस्तुतः जीवनदान हुआ नहीं, क्योंकि कार्यसिद्धि नहीं हुई, श्रीरामजी लौटे नहीं। और, यहाँ कार्यसिद्धिरूपी जीवनदान हुआ। अतएव 'जिमि' पाठ उत्तम है।

वि० त्रि०—हनुमान्‌जी सब वानरोंको परमप्रिय हैं। हनुमान्‌जी इस बातको जानते हैं। जाते समय सबको सहेज गये हैं 'तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई। सहि दुख कंद मूल फल खाई॥ जब लगि आवहुँ सीतहिं देखी।' भाव यह कि मेरे विरहके दुःखको सहकर मेरी प्रतीक्षा करना, मेरी सहायताके लिये समुद्र पार जानेका साहस न करना। अथवा मेरे लिये अनशन न करना; दुखी होनेपर भी फल मूल खाना। सो हनुमान्‌जीके विरहसे सब दुखारी थे, मिलकर सब सुखारी हुए। जैसे तड़पती हुई मछलियोंको जल मिल जाय। मछलियाँ बहुत हैं, अकेला जल सबसे मिलकर सबको सुखी करता है, इसी भाँति हनुमान्‌जीसे मिलकर सब सुखी हुए।

☞ 'जनकसुताके आगे ठाढ़ भयउ कर जोरि' दोहा २६ से यहाँ तक 'नांघेउ बहुरि पयोधी' प्रसंग है।

'आये कपि सब जहँ रघुराई'—प्रकरण।

चले हरषि रघुनायक पासा। पूछत कहत नवल इतिहासा॥ ६ ॥

---

† जनु—१७०४, कोदवराम। जिमि—भा० दा०, १७२१, १७६२, छ०, गी० प्र०।—नोट २ देखिये।

* 'मिले...' पायकुलक। 'तलफत' नयमालिनी—(म० चं०)।

अर्थ—सब हर्षपूर्वक श्रीरघुनाथजीके पास चले। नवीन इतिहास पूछते कहते (चले जा रहे) हैं।६।

टिप्पणी—१ 'चले हरषि...पूछत कहत' इति। (क) विनयपत्रिकामें कहा है कि श्रीरामकृपासे सन्तोंका दर्शन होता है। संतके दर्शन, स्पर्श और समागमसे पापसमूह नाशको प्राप्त होते हैं, सुख प्राप्त होता है। यथा—'जब द्रवै दीनदयाल राघव साधु संगति पाइये। जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये। १३६।' श्रीहनुमान्‌जी भगवद्भक्तशिरोमणि हैं, सन्त हैं। अतः इस प्रसंगमें 'हरषे सब बिलोकि हनुमाना।' से यहाँ तक साधु हनुमान्‌जीका दर्शन, स्पर्श और समागम क्रमशः दिखाया गया है। पहले दर्शन और स्पर्श हुआ। 'हरषे सब बिलोकि' दर्शन है, 'मिले सकल' स्पर्श है। अब इस अर्धालीमें 'पूछत कहत नवल इतिहासा' यह समागम कहा है। (ख) दर्शन, स्पर्श और समागमसे प्रभुकी प्राप्ति होती है, इसीसे श्रीरामजीके पास चलना कहा, सुग्रीवके पास नहीं। (ग)—उत्तरोत्तर वानरोंके हर्षकी वृद्धि दिखाते हैं—देखकर 'हर्ष' हुआ; मिले तब सुखी हुए और श्रीरामजीके पास चले तब और हर्ष हुआ।

प. प. प्र.—'चले हरषि' इति। वाल्मीकिजीके 'प्रीतिमन्तस्ततः सर्वे वायुपुत्रपुरः सराः। महेन्द्राग्रं परित्यज्य पुप्लुवुः प्लवगर्षभाः। ५। ६१। २। राघवे चार्थनिर्वृत्तिं कर्त्तुं च परमं यशः। समाधाय समृद्धार्थाः कर्मसिद्धिभिरुन्नताः। ५। प्रियाख्यानोन्मुखाः सर्वे सर्वे युद्धाभिनन्दिनः। सर्वे रामप्रतीकारे निश्चितार्था मनीस्विनः। ६।' अर्थात् समस्त वानर हनुमान्‌जीको आगे-कर प्रसन्न होते हुए महेन्द्राचलको छोड़ उछलते कूदते चल दिये। श्रीरामचन्द्रका कार्य करके सफलमनोरथ और यशको प्राप्त होनेसे वे अपनेको अन्य दिशाओंमें भेजे हुए वानरोंसे उत्कृष्ट समझ रहे थे। सभी वानर श्रीरामजीको शुभ संवाद सुनानेको उत्सुक हो रहे थे। सबके सब युद्धका अभिनन्दन करनेको तत्पर थे। वे मनस्वी वानर श्रीरामचन्द्रजीका बदला रावणसे लेनेका दृढ़ संकल्प किये हुए आकाशमें उछलते कूदते चले जा रहे थे।—इस उद्धरणके सब भाव 'चले हरषि' में हैं। पुनः, हर्षपूर्वक चले इससे कि—(क) श्रीसीताजीका समाचार पाकर अब श्रीरामजी हम सबोंपर विशेष प्रसन्न होंगे। (ख) दर्शनकी उत्कंठा है। (ग) यात्राके समय हर्ष शकुन है। (घ) पूर्व जो सुग्रीवका भय था कि 'उहाँ गए मारिहि कपिराई। ४। २६।', वह भय जाता रहा। सुग्रीवजीभी हमपर विशेष प्रसन्न होंगे। (ङ) इस प्रसंगका उपक्रम 'हम सीता कै सुधि लीन्हें बिना। नहिं जैहैं जुबराज प्रबीना। कि० २६।' है, उस प्रतिज्ञाकी पूर्त्तिसे प्रसन्न हैं, अतः 'चले हरषि'। (च) श्रीरामजीका वियोगजनित शोक दूर होगा, यह समझकर 'हरषि चले।' (छ) किष्किंधासे जब यह वानरयूथ चला तब हर्षपूर्वक श्रीरघुनाथजीका स्मरण करते हुए चला था, यथा—'चले हरषि सुमिरत रघुराई' और श्रीहनुमान्‌जीने तो रामकार्य सौंपे जानेसे अपना जन्म सुफल समझा और हृदयमें कृपानिधानको धारण करके प्रस्थान किया था। यथा-'हनुमत जन्म सुफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना।' इसीसे कार्य श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा हुए, ये कभी कृपानिधानको भूले नहीं, इसीसे इनको किसी प्रकारका कष्ट और भय नहीं हुआ। वानरयूथ हर्षित होकर प्रभुका स्मरण करते चला था, अतः इस वानरयूथको भी इस कार्यका यश प्राप्त हुआ। और इसीसे लौटते समय सब 'चले हरषि रघुनायक पासा।' इससे उपदेश मिलता है कि जिस कार्यका प्रारंभ हर्षित होकर और भगवत्स्मरणयुक्त किया जाता है उस कार्यमें विघ्न उपस्थित होनेपरभी भगवान्‌की कृपासे कार्य सुफल होता है।

टिप्पणी—२ 'नवल इतिहास'—लंकाका वृत्तान्त, यथा—'सीय को सनेह सील कथा तथा लंक की चले कहत चाय सो सिरानो पथ छन में।'—(क० सुं० ३१)। श्रीहनुमान्‌जी अपना पुरुषार्थ अपनी ओरसे अपने मुखसे नहीं कहना चाहते। इसीसे 'पूछत कहत' लिखा अर्थात् जब सब पूछते हैं, तब जितना पूछते हैं, उतना कहते हैं। ऐसा न होता तो 'पूछे कहत' ऐसा लिखते। वे वारंबार पूछते हैं और ये बार-बार उत्तर देते हैं।

नोट—१ वाल्मी० ५।५८ में जाम्बवान्‌जीका प्रश्न करना वर्णित है। यथा—'जाम्बवान्कार्यवृत्तान्तम-पृच्छदनिलात्मजम्। २। कथं दृष्टा त्वया देवी कथं वा तत्र वर्तते। तस्यां वा स कथंवृत्तः क्रूरकर्मा दशाननः।३। तत्त्वतः सर्वमेतन्नः प्रब्रूहि त्वं महाकपे।...श्रुतार्थाश्चिन्तयिष्यामो भूयः कार्यविनिश्चयम्।४-५।' अर्थात् पूछा कि—तुमने देवी

श्रीसीताजीको कैसे देखा ? वे वहाँ किस प्रकार हैं ? क्रूरकर्मा रावणका उनके प्रति कैसा व्यवहार है ? समस्त वृत्तान्त बताओ जिससे हम आगेका कर्त्तव्य निश्चय करें। इसके पूर्व सर्ग ५७ में भी लिखा है कि हनुमान्‌जीने प्रथम संक्षेपसे सब वृत्तान्त कह दिया। फिर वानरोंके पूछनेपर पुनः श्रीसीताजीके दर्शन पानेकी बात कही। (दो श्लोकोंमें)। फिर वानरोंने उनके समुद्रलंघन, लंकामें प्रवेश, सीताशोध, रावणके दर्शन, लंकादहन, श्रीसीताजीसे वार्तालाप आदि सब वृत्तान्त सुननेकी इच्छा प्रकट की। तब जाम्बवान्‌जीने प्रश्न किया और उन्होंने विस्तृत उत्तर दिया जो सर्ग ५८ में है।—इसीसे ग्रंथकारने 'पूछत' 'कहत' शब्द दिये। ☞ परन्तु वाल्मीकीयमें यह सब पूछना और कहना महेन्द्राचल समुद्रतटपर ही है। मानसकल्पके वानर श्रीरामकार्यमें विशेष लवलीन हैं, स्वामीका वियोगजनित दुःख शीघ्र दूर करनेकी उत्कंठा है, अतएव वे अब समुद्र-तटपर समय बिताना नहीं चाहते, रास्ते ही में सब वृत्तान्त सुन लेंगे, और रास्ताभी शीघ्र कट जायगा। अध्यात्म ५। ५ में भी तुरन्त चल दिये हैं। यथा—'इदानीमेव गच्छामो रामसुग्रीवसन्निधिम्। १६।' —श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं कि हम सब इसी समय श्रीराम और सुग्रीवजीके पास चल देंगे।

तब मधुबन भीतर सब आए। अंगद संमत मधु फल खाए॥ ७॥
रखवारे जब बरिजइ † लागे। मुष्टि प्रहार हनत सब भागे* ॥ ८॥

अर्थ—तब सब मधुवनके भीतर आए और अंगदजीके सम्मतिसे मीठे-मीठे फल खाए एवं मधुपान किया। ७। जब रखवाले मना करने डाँटने लगे तब घूँसेका प्रहार करतेही सब (रक्षक) भाग गए। ८।

नोट—१ 'मधुबन भीतर सब आए' इति। (क) यह सुग्रीवजीका विहार-उपवन था। यह इन्द्रके नन्दनवनके समान वृक्षों और लताओंसे युक्त था। इसमें कोईभी बानर जाने न पाता था। यह अपनी शोभासे सभीका मन हर लेता था। श्रीसुग्रीवजीका यह अत्यन्त प्यारा महावन था। यह उनके बाप-दादाके समयका था। देवता लोगभी इसके भीतर न जा सकते थे—'पितृपैतामहं दिव्यं देवैरपि दुरासदम्। वाल्मी० ।५।६२।३३।' देवताओं द्वारा यह श्रेष्ठ मधुवन प्राप्त हुआ था—'वनं दत्तकरं दिव्यं' (५।६२।२७), 'ऋक्षरजसे ब्रह्मणादत्तमित्यवगम्यते।' हजारों बानररक्षकों सहित सुग्रीवका मामा दधिमुख इसकी रखवाली करता था। (ख) 'सब आए' का भाव कि कहाँ तो उसमें अंगदजीभी बिना आज्ञाके न जा सकते थे, और कहाँ सबके सब बानर घुस पड़े।

२ 'अंगद संमत' से जनाया कि बानरोंकी इच्छा थी कि आज भरपेट फल खाकर और मधु पान करके तृप्त हो जायँ। इच्छा प्रकट करनेपर युवराजने आज्ञा दी। यथा—'क्षुधिताः स्मो वयं वीर देह्यनुज्ञां महामते। भक्षयामः फलान्यद्य पिबामोऽमृतवन्मधु। अध्यात्म ५।५।१९।' (अर्थात्) हे वीर ! हम सब बहुत भूखे हैं; हमें आज्ञा दीजिये कि हम इस वनके फल खायें और अमृततुल्य मधु पियें। पुनश्च यथा—'कुमारमभ्ययाचन्त मधूनि... । ११ ।...अनुमान्य ददौ तेषां निसर्गं मधुभक्षणे। १२। (वाल्मी० ५। ६१)। अर्थात् उन्होंने अङ्गदजीसे मधुफलोंका मधु पीनेकी आज्ञा देनेके लिये प्रार्थना की। उन्होंने सबको मधुवनमें जानेकी तथा मधु फल खानेकी आज्ञा दे दी।

३ यहाँ 'मधु फल' पाठ है। यही पाठ सब प्राचीन प्रतिलिपियोंका है। आधुनिक कुछ टीकाकारोंने 'अंगद सहित मधुर फल खाए' पाठ कर दिया है। 'मधु फल' का भाव यह है कि 'मधु पान किया और मीठे फल खाए'। यह बात वाल्मीकीय और अध्यात्म रामायणोंसे भी सिद्ध होती है। यथा—'अव्यग्रमनसो यूयं मधु सेवत वानराः॥१। प्रत्युवाच प्रसन्नात्मा पिबन्तु हरयो मधु। अवश्यं कृतकार्यस्य वाक्यं हनुमतो मया।३।', 'पपुः सर्वे मधु तदा रसवत्फलमाददुः ।७।' इत्यादि। (वाल्मी० ५।६२)। अर्थात् हनुमान्‌जीने कहा कि सब मधुपान करो, अंगद भी सहमत हुए। मधुपानकी आज्ञा दे दी और सब मधु पान करने लगे एवं फल खाने लगे। 'मधु=मकरंद,

† बरजन—का०, ना० प्र०, गी० प्र०। बरजइ—भा० दा०। बरजै—व्र० चं०।
* पायकुलक—(व्र० चं०)।

फूल फलका रस। शहद, ताड़ी। गीतावलीमेंभी मधुका पीना कहा है, यथा—'पीवत मधु मधुवन मगन मोद' (सुं० १६)।

टिप्पणी—१ (क) 'अंगद संमत' देहलीदीपक है। उनके सम्मतिसे बागमें गए और संमतिसेही फल खाए। तात्पर्य कि इस बागमें जाना और इसके फल खाना दोनों दुर्लभ हैं; अतएव युवराजकी संमतिसे गए और खाया। यथा—'कह्यो जुवराज बोलि बानरसमाज आजु खाइ फल सुनि पेलि पैठे मधुबन में। मारे बागवान ते पुकारत दिवान गे उजारे बाग अंगद दिखाये घाय तन में॥' (क० ५।३१)। (ख) 'नवल इतिहास' कहते सुनते मधुवनमें आगए, विलंब न लगा। इस कथनसे दिखाया कि रामचरित कहते-सुनते-मात्र रास्ता 'सिराइ' (शीघ्र चुक) जाता है। यथा—'बरनत पंथ बिबिध इतिहासा। बिश्वनाथ पहुँचे कैलासा' (१।५८), 'पंथ कहत निज भगति अनूपा। मुनि आश्रम पहुँचे सुरभूपा। ३। १२।' (ग) 'भीतर सब आए' से जनाया कि वन बहुत बड़ा था। (घ) 'अंगद संमत०' से जनाया कि जबसे ये वानर अनशन व्रत करके समुद्रतटपर बैठे थे, तबसे अबतक फल न खाए थे, बहुत भूखे थे, तबभी अपनी ओरसे ये फल न खा सके; जब युवराजने आज्ञा दी तब खाया। क्योंकि युवराजभी मालिक ही होता है। यथा—'युवराजस्त्वमीशश्च वनस्यास्य महाबल। वाल्मी० ५। ६४। ७।' (यह दधिमुखने स्वयं अंगदजीसे कहा है)।

२ (क) 'रखवारे' और 'लागे' बहुवचन हैं। इससे जनाया कि रक्षक बहुत थे। उनको मारा क्योंकि उन्होंने युवराजकाभी हुक्म कुछ न समझा, न रामजीको माना न वानरोंको। वानरोंको रामकार्य करनेका बल है, इसीसे उन्होंने फल खाए। प्रमाण, यथा—'जौं न होति सीता सुधि पाई। मधुबन के फल सकहिं कि खाई।' दूसरे, अंगदकी संमतिका बल है और तीसरे क्षुधार्त्त थे ही; अतः फल खाए। रोकनेपर क्रोध हुआ, अतः मारा। यथा—'अतिसर्गाच्च पटवो दृष्ट्वा श्रुत्वा च मैथिलीम्। पपुः सर्वे मधु तदा रसवत्फलमाददुः॥ उत्पत्य च ततः सर्वे वनपालान्समागतान्। ताडयन्ति स्म शतशः सक्तान्मधुवने तदा।...पिबन्तःसहिताः सर्वे निघ्नन्ति स्म तथापरे॥'(वाल्मी०५।६२।७-६)। अर्थात् अंगदकी आज्ञा पाने, सीताजीका समाचार लानेसे सब अत्यंत उद्दण्ड हो मधु पीने और फल खाने लगे। जो रक्षक उनको वर्जते थे उनको इकट्ठे होकर मारते थे। (ख)—'जब बरजै लागे' से जनाया कि रखवालोंने जब मना किया तब इन्होंने मारा, पहलेहीसे नहीं मारा। रखवालोंका किसीको मारना नहीं कहते क्योंकि रखवाले सबको जानते हैं कि अंगद युवराज हैं और जाम्बवान्‌जी एवं हनुमान्‌जी मंत्री हैं जो इनके साथ हैं। (ग) 'मुष्टिप्रहार हनत सब भागे', यथा—'तेऽपि तैर्वानरैर्भीमैः प्रतिषिद्धा दिशो गताः। वाल्मी० ५।६२।१५।'

दो०—जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुवराज।
सुनि सुग्रीव हरष कपि करि आए प्रभु काज* ॥ २८ ॥

अर्थ—उन सबोंने जाकर पुकार (फ़रियाद) की कि युवराज वनको उजाड़ रहे हैं। यह सुनकर सुग्रीव हर्षित हुए कि वानर प्रभुका कार्य कर लाए। २८।

टिप्पणी—१ (क) 'सब भागे' पूर्वमें और यहाँ 'पुकारे ते सब' कहकर जनाया कि वानरोंने सभी रक्षकोंको मारकर निकाल दिया। ☞ इससे यह उपदेश मिला कि उत्तम कार्य करनेवालेको उत्तम फल मिलता है। और विघ्नकर्त्ताको दंड होता है। रामकार्य करनेवाले सेवकोंके कार्यमें विघ्न डालनेवालोंको यही फल मिलता है। (ख)—'पुकारे ते सब' इति। सभीने पुकार की, कारण कि जो न खबर देता, उससे जवाब माँगा जाता कि क्यों आकर ख़बर न दी। पुनः, सबने मना किया और सबने पुकार की, इससे ज्ञात हुआ कि यह वन बहुत भारी है; इसमें ठौर ठौर पर रक्षक नियुक्त थे।—(इसमें दधिमुखके नीचे हज़ारों वनरक्षक थे, यथा—'वीराः पालास्तत्र सहस्रशः। वाल्मी० ५। ६२। २४।') जब जिसकी हदमें वानर गए तब उसने मना किया और मार खातेही भागा।

* दोहरा है-(प्र० चं०)।

नोट—१ 'बन उजार जुवराज' इति। 'उजार' से जनाया कि अघा-अघाकर मधु पान किया, फल खाये, मधुपानसे मतवाले हो जो फल बचे उन्हेंभी नष्ट कर डाला, पत्ते तोड़ डाले इत्यादि। यथा—'एभिः प्रधर्षिताश्चैव वानरा वनरक्षिभिः। मधून्यचिन्तयित्वेमान्भक्षयन्ति पिबन्ति च। शिष्टमत्रापविध्यन्ति भक्षयन्ति तथापरे। वाल्मी. ५. ६३. ६-७।' पुनः भाव कि अबभी उजाड़ रहे हैं, आपका उनको किंचित् भी भय नहीं है। अपना मारा जाना नहीं कहा। अध्यात्म ५. ५. २५ में भी ऐसाही है—'नष्टं मधुवनं तेऽद्य कुमारेण...'।

टिप्पणी २—पूर्व 'अंगद संमत' ऐसा कहा और यहाँ 'युवराज' पद दिया। भाव यह कि पूर्व सेनामें अंगद सेनापति थे और दूसरा कोई इस नामका न था और यहाँ किष्किंधामें इस समय असंख्य वानर हैं, उनमें न जाने कितनेका नाम अंगद होगा। अतः यहाँ 'युवराज' कहा, जिसमें यह न पूछना पड़े कि कौन अंगद? क्योंकि इनके आनेकी तो अभी सूचना थी ही नहीं। पुनः, इन्होंने हुक्म दिया कि फल खा लो। राजाका हुक्म चलता है, इसीसे सबने खाया। यह कहकर अंगदका दोष दिखानेके लिए 'युवराज' कहा।

नोट—२ वाल्मी० स० ६२में मधुवनके दारोगा दधिमुखने सब रक्षकोंसे कहा है कि सब दोष हम लोग अंगदपर डालेंगे जिससे अमर्षी सुग्रीव सबको दंड देंगे, यथा—'सर्वं चैवांगदे दोषं श्रावयिष्यामि पार्थिवे। अमर्षी वचनं श्रुत्वा घातयिष्यति वानरान्। ३२। घातयिष्यति दण्डेन सुग्रीवः ससुहृज्जनान्। ३३। वध्या ह्येते दुरात्मानो नृपाज्ञापरिपन्थिनः। अमर्षप्रभवो रोषः सफलो नो भविष्यति। ३४।' अर्थात् सुग्रीवजी इसे नहीं सह सकेंगे, वे इन सबोंको बंधु-बान्धवोंसहित मार डालेंगे, इनके मार डाले जानेपर हम लोगोंका यह अक्षमा-जन्य क्रोध सार्थक होगा।—अतएव 'युवराज' अंगदका नाम लिया। 'जुवराज' पदसे यहभी जनाया कि युवराज-पदके अभिमानमें अपना मालिकपना दिखानेके लिये उन्होंने मधुवन उजाड़ा। इनका नाम इससे भी लिया होगा कि इससे सुग्रीवको बालिकी शत्रुता स्मरण हो आयेगी और वे मधुवनके मिष इनको मार-कर निष्कण्टक होनेकी चेष्टा अवश्य करेंगे।

वि. त्रि.—मधुवनके रखवारोंने जब बन्दरोंको रोका, तो वे रुके नहीं, घूँसा चलाने लगे। रखवारे भाग खड़े हुए। उन सबोंने जाकर सुग्रीवके यहाँ पुकार मचाई कि युवराजने वन उजाड़ डाला। अंगद न कह कर युवराज कहनेका भाव यह कि दूसरा कोई होता तो हम लोग युद्ध करते। पर जब स्वयम् युवराज ही उजाड़ रहे हैं, उनपर प्रहार कैसे करें? मना तो किया, पर जब उधरसे घूँसा चलने लगा तो हमलोग सरकारको समाचार देने आये हैं। उन सबोंने आशा की थी कि सुनकर सुग्रीव नाराज होंगे। दण्डविधान करेंगे सो कुछ न हुआ।

लमगोड़ाजी,—'सुनि सुग्रीव हरष...' इति। नाटकीय विरोधाभास (Dramatic Irony) अति उत्तम है। कहनेवालोंका भीतरी अभिप्राय तो यह है कि सुग्रीवजी अप्रसन्न हों, पर वे उलटे प्रसन्नहोते हैं।

टिप्पणी—३ 'सुनि सुग्रीव हरष कपि००' से जनाया कि जबतक यह समाचार न मिला तबतक सुग्रीवको बड़ी चिन्ता रही। 'प्रभुकाज' का भाव कि वे समर्थ हैं; जिससे चाहते हैं उससे अपना कार्य करा लेते हैं।

नोट—३ ☞ यहाँ उपदेश है कि रामकार्यमें अपने परमप्रियस्वार्थसम्बन्धी पदार्थकी हानिकी भी पर्वाह न करनी चाहिए।

जौं न होति सीता सुधि पाई। मधुबन के फल सकहिं कि खाई॥ १॥
एहि बिधि मन बिचार कर राजा। आइ गए कपि सहित समाजा॥ २॥†

अर्थ—जो श्रीसीताजीकी सुध न पाई होती तो मधुबनके फल कौन खा सकता? (अथवा, क्या कोई खा सकते?) अर्थात् कदापि नहीं। १। इस प्रकार राजा मनमें विचार कर ही रहे थे कि वानर समाज-सहित आ गए। २।

† पायकुलक—(प्र० चं०)।

टिप्पणी—१ 'जौं न होति सीता सुधि पाई ।००' यह अनुमान सुग्रीवजीका बहुत पुष्ट है । इस कथनसे यह जाना गया कि सुग्रीवको मधुवन अत्यन्त प्रिय है । वहाँ किसीको जानेकी आज्ञा नहीं ।

२ 'जौं न . मधुबन...सकहि कि०' इति । [भाव कि श्रीसीताजीकी सुधि न पाई होती तो मधुवनके फल खाना, मधु पान करना, तो दूर रहा उसकी ओर ताकभी न सकते । यथा—'दृष्टागतो न सन्देहः सीतां पवननन्दनः । २६ । नो चेन्मधुवनं द्रष्टुं समर्थः को भवेन्मम ।' (अध्यात्मे ५. ५. २६-२७; सुग्रीववाक्यं श्रीरामं प्रति)] ।

शंका—रखवालोंने बनका उजाड़ना कहा, यथा—'जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुवराज', तब सुग्रीव ने उससे मधुवन कैसे समझ लिया ? समाधान-रखवालोंको पहचानते हैं, जानते हैं कि ये मधुवनके रक्षक हैं ।

३ 'एहि बिधि मन बिचार कर राजा ।००' । तात्पर्य कि इस प्रकारके विचार करते हुए शोभाको प्राप्त हुए—मन प्रसन्न हुआ, सोच मिटा; इसीसे 'राजा' कहा । 'राजृ दीप्तौ' । पुनः, जब जाना कि रामकार्य कर आए तब जाकर मधुवनमेंही सबसे मिलते, यह नहीं किया; क्योंकि ये 'राजा' हैं । राजाको ऐसा न करना चाहिये कि दौड़कर सिपाहियोंसे जाकर मिले; यह नीतिविरुद्ध है; इससे न गए । मनमें विचार करते बैठे रहे । (ख)—मनमें विचार करनेका भाव यह कि अनुमान मनमें ही किया जाता है । 'आइ गए' से जनाया कि बहुत शीघ्रतासे फल खाए और सुग्रीवजीके पास आगए ।

नोट—१ वाल्मी० ५. ६३ और ६४ में सुग्रीवजीने विचार यों प्रगट किये हैं—"बिना कार्य किए यह साहस नहीं हो सकता कि वनको उजाड़ दें और रक्षकोंको मारें । निस्सन्देह हनुमान्‌हीने पता लगाया है, दूसरेने नहीं । और कोई इस कार्यको सिद्ध नहीं कर सकता, उन्हींमें यह शक्ति और बुद्धि है । उद्योग, बल और ज्ञानभी उनमें हैं । प्रतिष्ठित जाम्बवान् जिसके संचालक, महाबली अंगद जिसके नेता और हनुमान्‌जी अधिष्ठाता हों वह दल अन्याय नहीं करेगा । निश्चित है कि उन लोगोंने पता लगा लिया है, तभी हमारे उपभोगके वनमें जाकर वे मधु पान कर रहे हैं । बिना श्रीसीताजीको देखे ऐसा कदापि न करते, देवताभी इस वन पर दृष्टि नहीं डाल सकते । और रक्षकोंसे बोले कि हम प्रसन्न हैं कि उन्होंने कार्य करके वनको खा डाला । हम उनके अनुचित व्यवहारको क्षमा करते हैं । तुम जाकर उन्हें शीघ्र भेज दो । दधिमुखके विनम्र वचन सुनकर अंगदजी सबको लेकर चल दिए । और इधर सुग्रीव फिरभी वही विचार करते रहे कि अवधि बीत गई, ऐसी दशामें अंगद कभी न लौटते यदि कार्य सिद्ध न होता । इत्यादि । इतनेमेंही सब आ पहुँचे ।" मा० त० सु० का मत है कि विचार यह कर रहे हैं कि यह समाचार जाकर श्रीरामजीको सुनाऊँ, कि मधुवन में जाकर तुरंत वानरोंसे मिलूँ, या सबको साथ लेकर रामजीके पास जाऊँ, इत्यादि । ☞ मानसमें ये सब सुग्रीवजी अपने मनमें विचार कर रहे हैं । वाल्मीकीयमें ये विचार उन्होंने श्रीलक्ष्मणजी एवं श्रीरामजीसे कहे हैं ।

आइ सबन्हि नावा पद सीसा । † मिलेउ सबन्हि अति प्रीति कपीसा ।। ३ ।।
पूँछी कुसल कुसल पद देखी । रामकृपा भा काजु बिसेषी* ।। ४ ।।

अर्थ - सभीने आकर (सुग्रीवजीके) चरणोंमें माथा नवाया । कपिराज सुग्रीव सभीसे अत्यन्त प्रेमसे मिले । ३ । और कुशल पूछी । (उन्होंने उत्तर दिया कि) आपके चरणोंके दर्शनसे कुशल है । श्रीराम जीकी कृपासे विशेष कार्य हुआ । ४ ।

टिप्पणी—१ 'आइ सबन्हि नावा पद सीसा...' इति । (क) 'आइ' का भाव कि जाते समय सुग्रीवके चरणोंमें सिर नवाना भूल गए थे । कारण कि उस समय बड़ा उग्र हुक्म हुआ था, उसे सुनकर प्रणाम करना भूल गए, तुरन्त चल दिए । यथा—'वचन सुनत सब बानर जहँ तहँ चले तुरंत' । अब जब लौटे तब प्रणाम

† 'मिलेउ...प्रीति'— भा० दा०, १७२१, १७६२, छ० । प्रेम—१७०४, कोदवराम, गी० प्रे० । मिले— रा० प्र०, कोदवराम ।

* 'मिले...'—चण्डी, 'आइ...।', (४), (५) पायकुलक—(प्र० चं०) ।

किया। (ख) पुनः, 'सबन्हि नावा' का भाव कि पहले केवल अंगदादिने प्रणाम किया था; यथा–'सुनहु नील अंगद हनुमाना। जामवंत मतिधीर सुजाना॥।...आयसु माँगि चरन सिरु नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई॥४।२३।' और सबने न किया था पर अब आकर सबने प्रणाम किया, कोई न छूटा। (ग) 'मिलेउ अति प्रीति' का भाव कि वानर आकर सेवक-स्वामि-भावसे चरणोंपर झुके और सुग्रीवने उनको बराबरका मानकर उनसे गले लगाकर भेंट की। क्योंकि ये सब रामकार्य कर लाए हैं; यथा—'प्रीति विरोध समान सन करिय नीति असि आहि'। ६। २३।', 'अति प्रीति' का भाव कि प्रीति तो सबपर प्रथमहीसे थी, पर अब रामकार्यके संबन्धसे 'अत्यन्त' प्रीति हुई।

नोट—१ 'मिलेउ सबन्हि अति प्रीति' इति। 'अति प्रीति' से सूचित करते हैं कि उन्होंने जो अवधि बिताने और प्राणप्रिय मधुवनके उजाड़नेका अपराध किया था वह सब इस कार्यके आगे क्षम्य और तुच्छ समझकर वे इनके अपराधपर अति प्रसन्न हैं—'प्रीतोऽस्मि सोऽहं यदभुक्तं वनं तैः कृतकर्मभिः॥ मर्षितं मर्षणीयं च चेष्टितं कृतकर्मणाम्॥ वाल्मी० ५। ६३। २९-३०।' (यह सुग्रीवजीने दधिमुखसे कहा है)। 'अति प्रीति' उनके हृदयका महामोद प्रकट कर रहा है—'उजारे बाग अंगद दिखाए घाय तन में। कहैं कपिराज करि काज आये कीस, तुलसीस की सपथ महामोद मेरे मन में।' (क० ४। ३१)। पुनः, पूर्व जो 'मास दिवस महुँ आएहु भाई। ४। २२। ७।' में जो भाव कह आये हैं कि जो सीताजीको देखकर आवेगा वह हमारा 'भाई' होगा, उससे बढ़कर हमारा प्रिय कोई न होगा, बहुत अपराध करनेपरभी वह 'भाई' और प्राणप्रिय होगा—'ततः प्रियतरो नास्ति मम प्राणाद्विशेषतः। कृतापराधो बहुशो मम बन्धुर्भविष्यति॥ वाल्मी० ४। ४१। ४८।' उसको 'अति प्रीति मिलेउ' कहकर यहां चरितार्थ किया। अर्थात् इस प्रकार भेंटकर उनको अपना बंधु मान लिया। पुनः, आज इन कृतकर्मा वानरों द्वारा सुग्रीवकी प्रतिज्ञा सत्य हुई कि—मिलिहिं नाथ मिथिलेसकुमारी। सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥ ४। ५।', अतः अत्यन्त प्रीति उमड़ आई है।

टिप्पणी—२—शंका—सब वानर रघुनाथजीके पास चले, ऐसा पूर्व कहा गया है; यथा—'चले सकल रघुनायक पासा', तब यहाँ प्रथम सुग्रीवके पास क्यों आए? समाधान—सुग्रीवके पास प्रथम आए, क्योंकि इससे सुग्रीवकी कीर्त्ति बढ़ेगी, उनकी शोभा इसमें होगी कि वे श्रीसीताजीका समाचार मँगवाकर हाजिर हुए, नहीं तो यही कहा जाता कि वानरोंने खबर लाकर दी और सुग्रीव प्रमादवश घरमें ही बैठे हैं। [यहभी कारण हो सकता है कि सुग्रीवजीने वानर रक्षकोंसे कहा हो कि जाकर सबको शीघ्र मेरे पास भेज दो। उनके कहनेसे सब सीधे तुरंत सुग्रीवजीके पास आये। मानसकविने शीघ्रता दरसानेके कारण यह न लिखा हो। वाल्मीकीय और अध्यात्म आदिके अनुसार दधिमुखसे सुग्रीवने उनको तुरंत भेजनेको कहा है। वह क्षणभरमें वहाँ पहुँच गया और उनसे संदेसा कहा। यथा—'प्रहृष्टो मां पितृव्यस्ते सुग्रीवो वानरेश्वरः॥ शीघ्रं प्रेषय सर्वांस्तानिति होवाच पार्थिवः। वाल्मी० ५। ६४। ११-१२।' दधिमुखने अंगदजीसे कहा—'आपके चाचा कपिराज सुग्रीवजीने अत्यन्त प्रसन्न हो मुझसे कहा है कि समस्त वानरोंको शीघ्र मेरे पास भेज दो।', अतः वे सब तुरंत गए। अथवा, यहभी हो सकता है कि अंगदादिने यह विचारकर कि दधिमुख आदि सुग्रीवजीसे शिकायत करने गये हैं वा थे, प्रथम उन्हींके पास चलना उचित है, उनके पास गए।]

३—यहाँ 'नावा' एकवचन पद देकर जनाया कि प्रत्येक वानरने आकर प्रणाम किया। पर 'जब एक-एक से मिले तो बहुत देर लगी होगी?' यह शंका होती है, क्योंकि यहाँ इसका समाधान कवि या वक्ताने नहीं किया, जैसे रामजीसे मिलनेपर किया है; यथा—'यह नहिं कछु प्रभु कै अधिकाई। बिस्वरूप व्यापक रघुराई।' इसका समाधान यह है कि जिनको राजासे मिलनेका अधिकार था वे ही भीतर गए जहाँ राजा बैठे थे, राजा उन सबसे मिले। सब सेना भीतर नहीं जा सकती। नील नल अंगद हनुमान् जाम्बवन्त आदि गए।

नोट—२ मा० त० सु०-कारका मत है कि यद्यपि श्रीसुग्रीवजी महलमें थे तो भी वनररक्षकोंके आनेपर वे बाहर दरबारमें आ वनध्वंस सुनकर विचार करने लगे। इतनेहीमें सब आगए। समूहमें आदरदृष्टिसे

देखना और कुशल प्रश्न करना यही मिलना है। प्रत्येक व्यक्तिसे एक साथ मिलना, यह तो ईश्वरहीका धर्म है, जीवका नहीं; यथा—'छन महँ सबहि मिले भगवाना ।७।६।'—(यहाँ 'सबन्हि' का प्रणाम करना और 'सबन्हि' से मिलना लिखकर, केवल कुछसे मिलनेका निषेध किया है)।

नोट—३ 'पूँछी कुसल कुसल पद देखी' इति'। कुशल पूछना शिष्टाचार है यथा—'पूँछी कुसल निकट बैठाई ॥ नाथ कुसल पद पंकज देखे। २।८८।' (श्रीरामजीने निषादराजसे पूँछा), 'रामसखहिं मिलि भरत सप्रेमा। पूँछी कुसल सुमंगल खेमा ।२। १९५।...कुसलमूल पद पंकज पेखी।', 'पूछी कुसल नाथ अब कुसल देखि पद कंज। सुं० २९।', 'कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा। ५। ४६।', 'बूझत कृपानिधि कुसल भरतहिं... । ७। ५।' इत्यादि। दूसरे यह रीति अबभी देखनेमें आती है कि किसी दुर्गम कार्यके लिये जब कोई जाता है तब उसके लौटनेपर पूछते हैं—'कहो कुशल तो है ?' जिसका आशय यह है कि कार्य कुशलतापूर्वक सिद्ध हो गया ? मधुवनका उजाड़ना सुन सुग्रीवके मनमें जो अनुमान उठ रहे थे उनकी शीघ्र पुष्टिके लिये ऐसा प्रश्न उचितही था।

मा० त० सु०—'कुशल पद देखी' यह उत्तर सुग्रीवके 'अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाये। आवइ बनिहि सो मोहि मराये। ४। २२।' इस वचनपर लक्ष्य करके कहा। तात्पर्य कि कुशल न रहता तो चरणों-का दर्शन कैसे करते ? फिर उनके अभिप्रायको लखकर स्पष्ट कहा कि 'रामकृपा०'।

टिप्पणी—४ 'रामकृपा भा काजु बिसेषी' इति। (क) अर्थात् सब कार्य हो गया। ['काज बिसेषी' से यहभी सूचित किया कि श्रीहनुमान्‌जी उत्तम दूत हैं। मुख्य कार्यको प्रथम करके जो दूत औरभी कई एक कार्यों को, जिनसे शत्रुके बलाबलका ठीक विचार किया जा सके, करके आवे वही दूत वास्तवमें दौत्यकर्मयोग्य और स्वामीके आदेशका यथावत् पालन करनेवाला कहा जा सकता है। यथा—'कार्ये कर्मणि निर्दिष्टे यो बहून्यपि साधयेत्। पूर्वकार्याविरोधेन स कार्यं कर्तुमर्हति॥ वाल्मी० ५।४१ ।५।...परात्मसंमर्दविशेषतत्त्ववित्ततः कृतं स्यान्मम भर्तृशासनम् ।७।'] यथा—'प्रभुकी कृपा भयउ सब काजू'—[सुग्रीवजीकी आज्ञा थी—'रामकाजु ..। जनकसुता कहँ खोजहु जाई। कि २२।', 'रामचंद्र कर काजु सँवारेहु ।४। २२।' और श्रीरामजीने हनुमान्‌जीसे कहा था कि—'बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु ॥४। २३।' तथा जामवन्तजीने कहा था कि 'सीतहि देखि कहहु सुधि आई। ४। ३०।' इसके अनुसार 'काजु' केवल इतना ही था – श्रीसीताजीको खोजना, उनका दर्शन करके मुद्रिका देना, प्रभुका बल, विरह आदि कहना तथा प्रबोध करना, और शीघ्र लौट आना। यह सब 'काज' विशेषरूपसे हो गया। और कुछ कार्य विशेषभी हुआ जिसके लिये स्पष्ट कहा नहीं गया था। अशोकवन विध्वंस करना, अक्षकुमार आदि सेनापतियों एवं राक्षसोंको मारना, लंकापुरीको जलाना इत्यादि विशेष कार्य हैं। (ख)—यहाँ वानरोंने रामकार्य होनेमें 'रामकृपा' को ही कारण कहा। उन्होंने श्रीरामकृपाका अनुभव बराबर किया है—प्यासे सब मरने लगे तब स्वयंप्रभाके दर्शन हुये जिसने समुद्रतटपर पहुँचाया; मरण निश्चय कर 'बठे कपि सब दर्भ डसाई।', तब संपाती मिला; उससे श्रीसीताजीका पता और आशीर्वाद मिला—'बचन सहाइ करबि मैं पैहहु खोजहु जाहि ।४।२७।' हनुमान्‌जीको श्रीरामकृपाका पूर्ण अनुभव सुंदरकाण्ड में पूर्व बराबर टीकामें दिखाया ही गया है जब-जब वे असमंजसमें पड़े। विभीषणजीका मिलना, त्रिजटाका स्वप्न और राक्षसियोंका हट जाना, नागपाशके मिष रावण तक पहुँचना, राक्षसोंही द्वारा स्वयं उनके नाशका और लंकादहनका उपाय रचा जाना, स्वयं न जलना और न अशोकवाटिकाका जलना—इत्यादि सब रामकृपासे हुये। अतः उन्होंने सत्यही कहा। पुनः, रामकृपासे हुआ कहनेका भाव कि रामकार्य सब स्वयं-सिद्ध हैं, हम लोगोंके करनेसे उनकी सिद्धि नहीं हुई, किन्तु उन्होंने हमको कृपा करके कार्य सौंपकर हमें मान दिया। यथा—'स्वयं सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदर दियउ ।६।१७।' (अंगदवाक्य), 'जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया।.. तासु सुजसु त्रैलोक उजागर।'; बिना प्रभुकी कृपाके कार्य सिद्ध न होता।] सुग्रीवसे यह न कहा कि आपकी कृपासे सब काम हुआ, क्योंकि यदि वे ऐसा कहते तो सुग्रीव नाराज होते कि श्रीरामजीको छोड़कर हमको क्यों कहा ?

कारण कि वे सब कार्योंकी सिद्धि श्रीरामकृपासेही मानते-जानते हैं। उनको सब कामोंमें रामकृपाकाही भरोसा रहता है; यथा—'उपजा ज्ञान वचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयो अलोला', 'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिन राती', 'यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ-कोई'। (ग)—सुग्रीवके सम्मान हेतु 'चरणोंको देखकर कुशल है, ऐसा कहा। यथा—'कुसलमूल पद पंकज देखी। मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी'—(निषादराज)। (घ) सुग्रीवका तन, मन, बचन वानरोंमें लगा हुआ है—'मिले सबन्हि अति प्रीति कपीसा' यह तन, 'एहि बिधि मन बिचार कर राजा' यह मन, 'पूछी कुसल' वचन हैं।

नाथ काजु कीन्हेउ हनुमाना। राखे सकल कपिन्हके प्राना॥ ५॥
सुनि सुग्रीव बहुरि तेहि मिलेऊ। कपिन्हसहित रघुपति पहिं चलेऊ*॥ ६॥

अर्थ—(जाम्बवन्तजीने कहा—) हे नाथ! (सब) कार्य हनुमान्‌जीने किया और सब वानरोंके प्राणोंकी रक्षा की।५। यह सुनकर सुग्रीवजी उनसे फिर मिले और वानरों समेत श्रीरघुनाथजीके पास चले।६।

नोट--१ दक्षिण जो समाज गया था उसमें सबसे वृद्ध जाम्बवान् ही थे। ये ब्रह्माके अंशावतार और सुग्रीवजीके मंत्रीभी हैं। यह कथन इन्हींका जान पड़ता है। आगे श्रीरघुनाथजीके समीप पहुँचनेपरभी ये ही बोले हैं, यद्यपि सुग्रीवजी साथ हैं। अतएव यहाँभी इन्हींके वचन समझना चाहिये।

टिप्पणी--१ (क) पूर्व कहा कि 'रामकृपा भा काजु बिसेषी।' इस कथनसे फिरभी पूछनेकी अपेक्षा बाकी रही कि कौन कृपापात्र है जिसके द्वारा कार्य हुआ? उसीपर कहते हैं कि 'नाथ काज०' अर्थात् इस कार्यसाधनके यशके पात्र श्रीहनुमान्‌जी ही हैं, ये ही वह परम कृपापात्र हैं जिन्होंने वह कार्य किया। (ख)--'राखे सकल...' इति। (अर्थात् केवल रामकार्यही नहीं किया किन्तु हमारे प्राणभी बचाये। हम सबभी इनके कृतज्ञ हैं, इनसे उऋण नहीं हो सकते)। सबका जीवन रामकार्यकी सिद्धिके अधीन था। यही बात आगे फिर जाम्बवन्तजी श्रीरघुनाथजीसे कहेंगे, यथा—'जापर नाथ करहु तुम्ह दाया।' से 'पवन तनयके चरित सुहाए। जामवंत रघुपतिहि सुनाए।' तक। सुग्रीवजीकी प्रतिज्ञा थी कि 'अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाये। आवै बनिहि सो मोहि मराये।' सो उसका संयोग आ बना था, अवधि बीत गई थी, पता न लगा था, अतः सबके प्राण गए ही थे पर इन्होंने इससे बचा लिया। अतः कहा कि 'राखे सकल०'। पुनः 'राखे प्राना', यथा—'मन हनुमान कीन्ह अनुमाना। मरन चहत सब बिनु जल पाना। ४. २४।', वहाँ जल पिलाकर प्राण बचाए थे। और रामकाज होनेसे जन्मका सफल होना श्रीरामजीसे कहेंगे। यथा—'प्रभुकी कृपा भयउ सब काजू। जनम हमार सुफल भा आजू'। ☞ यहाँ उपदेश है कि श्रीरामजीका कैंकर्य (सेवा) करनेसे जन्म सुफल होता है। यही उपदेश सुग्रीवजीने प्रथम दिया था, यथा—'देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई। ४। २३।' भज् सेवायाम्। इस उपदेशका अनुसरण यहाँ दिखाया।

२ (क) 'बहुरि तेहि मिलेऊ' इति। पुनः मिलना कार्य करनेका उपकार मानकर हुआ। इससे यह जनाया कि सब वानर प्रिय हैं। प्रिय होनेसे लोग हृदयसे लगाते हैं। हनुमान्‌जी सबसे अधिक प्रिय हैं; इससे उन्हें दो बार हृदयसे लगाया। यदि उनसे पुनः न मिलते तो कृतघ्नता पाई जाती। [पुनः, 'बहुरि मिलेऊ' क्योंकि कार्यसिद्धि करके अपने वचन—'सो सीता कर खोज कराइहि'—सत्य करके हमारी प्रतिष्ठा बढ़ाई और हमारी प्रतिज्ञाको भी सत्य किया 'मिलिहि नाथ मिथिलेसकुमारी', 'सब प्रकार करिहौं सेवकाई...'—इस प्रकार हमको कृतघ्नतासे बचा लिया। इसी प्रकार पहलेभी हमको बचाया था जब हम विषयमें मग्न हो गए थे। यथा—'रामकाज सुग्रीव बिसारा'। और मित्रने जो कहा था कि 'सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी।', उस पापसे बचा लिया। अतएव कृतज्ञतापूर्वक मिले। (मा.त.सु.)] (ख)--'रघुपति पहिं चलेऊ' से जनाया कि पदल गए। जैसे सब वानर अपनी-अपनी सेना सहित अपने स्वामी श्रीसुग्रीवजीसे मिलने आये थे--'आइ

* 'सुनि...' पायकुलक, 'कपिन्ह...' मनिगुन है। (प्र० चं०)।

गए कपि सहित समाजा', वैसेही सुग्रीवजी सबके सहित अपने स्वामी श्रीरघुनाथजीसे मिलनेको चले। यथा—'हरषि चले सुग्रीव तब अंगदादि कपि साथ। रामानुज आगे करि आये जहँ रघुनाथ।४.२०।' (इस प्रकार पूर्व श्रीरघुनाथजीके पास श्रीलक्ष्मणजीके साथ गये थे। तात्पर्य यह कि वानरोंके राजा सुग्रीव हैं और कपिपतिके राजा रघुपति। 'कपिन्ह सहित' से जनाया कि सुग्रीवजी आगे हैं।)

राम कपिन्ह जब आवत देखा। किए काजु मन हरष बिसेषा॥ ७॥
फटिकसिला बैठे द्वौ भाई। परे सकल कपि चरनन्हि जाई॥ ८॥

दो०-प्रीति सहित सब भेंटे रघुपति करुनापुंज।
पूँछी कुसल नाथ अब कुसल देखि पद कंज*॥ २९॥

अर्थ—जब श्रीरामचन्द्रजीने वानरोंको कार्य किये हुए मनमें विशेष आनन्दित आते देखा तब उनके मनमें विशेष हर्ष हुआ। ७। (गुफा या पर्णशालासे निकलकर) दोनों भाई स्फटिकशिलापर (आकर) बैठे। सब वानर जाकर चरणोंपर पड़े। ८। करुणाके समूह श्रीरघुनाथजी सबसे प्रीति सहित मिले और कुशल पूछी। (उन्होंने कहा—) हे नाथ! आपके चरणकमलके दर्शन पानेसे अब कुशल है। २९।

टिप्पणी—१ 'राम कपिन्ह जब आवत देखा...।' इति। (क)—कार्यसिद्धि होनेसे सबको ऐसाही हर्ष हुआ है, यथा—'हरषे सब बिलोकि हनुमाना। नूतन जनम कपिन्ह तब जाना', 'सुनि सुग्रीव हरष कपि करि आए प्रभु काज'। तथा यहाँ 'किए काजु मन हरष बिसेषा।' (ख) श्रीरामजी वानरोंकी राह देखते रहे कि कब वे आवें और जानकीजीका समाचार मिले। इसीसे रामजीका प्रथम देखना लिखते हैं—'आवत देखी'; वानरोंका उन्हें देखना नहीं लिखा। (ग) 'हरष बिसेषा' का भाव कि रामजी आनंदमूर्त्ति हैं, उन्हें सदा हर्ष रहता है, अब कार्यसिद्धिसे माधुर्यमें उन्हें विशेष हर्ष है।

नोट—१ यहाँ 'मन हरष बिसेषा' वानरों और श्रीरामजी दोनोंमें लगता है। यह अर्थ उत्तम और विशेष ठीक है। कि० २४ (९) 'जानि काज०' उपक्रम है और यहाँ 'किए काज०' उपसंहार है।

टिप्पणी—२ (क) फटिकशिलापर बैठे जिसमें सबसे भेंट करते बने। दूसरे, यहाँ बैठनेसे यहभी जनाया कि इस समय सावकाशसे बैठे हैं, इस समय उनसे मिलनेका मौका है। यथा—'सावकास सुनि सब सिय सासू। आयउ जनकराज रनिवासू। २। २८१।' शिष्ट लोग सावकाश देखकर दूसरेके पास आते जाते हैं। पुनः, इससे यहभी ज्ञात होता है कि वानर श्रीरामजीके पास पहरभर दिन रहे पहुँचे थे। प्रायः सब नित्यकृत्यसे सावकाश होकर पहरभर दिन रहे श्रीरामजी बैठा करते हैं, यथा—'रिषय संग रघुबंसमनि करि भोजन बिश्राम। बैठे प्रभु भ्राता सहित दिवस रहा भरि जामु' (बा० २१७)।—[प्रथम श्रीरामजीका वानरोंको देखना कहा तब दोनों भाइयोंका फटिकशिलापर बैठना कहकर जनाते हैं कि हर्षमें गर्जन करते हुए आए थे, ध्वनि सुनकर श्रीरामजीने देखा और यह देखा कि यहीं आ रहे हैं, अतः बाहर आकर बैठे। वाल्मीकीय और अध्यात्म आदि रामायणोंमें कथामें अन्तर है। वहाँ सुग्रीवजी श्रीरामलक्ष्मणजीके पास ही बैठे थे जब ये सब वानर आये; यथा—'निपेतुर्हरिराजस्य समीपे राघवस्य च। वाल्मी० ५। ६४। ४०।', 'रामसुग्रीवयोरग्रे निपेतुर्भुवि सत्वरम्। अध्यात्म ५।५।३५।'] (ख) 'परे सकल कपि चरनन्हि' इति।' 'परे' से जनाया कि लेटकर साष्टाङ्ग दण्डवत की। सब वानरोंने सुग्रीवजीके चरणोंमें मस्तक नवाया था, यथा—'आइ सबन्हि नावा पद सीसा।' और श्रीरामचन्द्रजीको सबने साष्टांग दण्डवत् की, यह विशेषता है। पुनः, सुग्रीवके चरणोंके लिये 'कंज' विशेषण नहीं दिया और यहाँ 'पदकंज' कहा, यह विशेषता है। पुनः, जब यहाँसे गए थे तब व्यग्रचित्त थे, इससे उस समय आतुरतामें केवल मस्तक नवाकर चले गए थे—'आयसु माँगि चरन सिरु नाई'; और अब स्वस्थचित्त

* प्र० चं०—(७) (८) पायकुलक; २९ दोहरा है।

हैं, अतः अब साष्टांग प्रणाम करते हैं। (ग) 'चरनन्हि जाई' कहा। 'जाई' पदसे दरसाया कि कविकी बुद्धि सेवकोंके साथ है, रामजीके साथ होती तो 'आई' कहते। वे अपनेको श्रीहनुमान्‌जी आदिके साथ जना रहे हैं।

३ 'प्रीति सहित सब भेंटे ...' इति। (क) प्रीतिसहित भेंट की, क्योंकि सबको अपना मानते हैं; यथा—'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। ७। ८। ७।' [पुनः, सबका मन रामकार्यमें लवलीन रहा है, यथा— 'रामकाज लवलीन मन बिसरा तनकर छोह।४।२३।'; उसपरभी कार्य करके आये हैं, प्राणप्रिया श्रीजनकनन्दिनीजी का समाचार लाये हैं और सेवक श्रीसरकारको अतिप्रिय है ही, यह स्वयं उन्होंने श्रीमुखसे कहा है—'मोरे अधिक दासपर प्रीती। ७। १५।' 'मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं। ७। ८६।'—अतएव 'प्रीतिसहित भेंटे'। पुनः 'प्रीति-सहित' भेंटका कारण कवि स्वयं बतलाते हैं कि वे 'रघुपति' (जीवमात्रके एवं रघुकुलके स्वामी) हैं और 'करुनापुंज' हैं।] (ख) 'सब भेंटे'। लाखों वानरोंसे एकही साथ कैसे मिले? इसका समाधान वक्ता पहलेही कर आए हैं; वही समाधान यहाँ भी कर लें। भगवान् राम शक्तिमान् हैं। जितने वानर-भालू आये हैं उतनेही रूप धारणकर उन सबोंसे एक साथ एकही समय क्षणमात्रमें प्रभुने भेंट कर ली। यहाँ उनका ऐश्वर्य दिखाया है। यथा—'अस कपि एक न सेना माहीं। राम कुसल जेहि पूछी नाहीं। यह कछु नहिं प्रभु कइ अधिकाई। बिश्वरूप ब्यापक रघुराई। ४। २२।' तथा 'मिलेउ सबन्हि अति प्रीति कपीसा ५। २६' (३) देखिये पुनः यथा—'प्रेमातुर सब लोग निहारी।...अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला। ७। ६।' (ग) 'करुनापुंज' का भाव कि जो मुनियोंको ध्यानमेंभी दुर्लभ हैं वे ही वानरोंसे भेंट कर रहे हैं। भेंटमें करुणा ही प्रधान है, यथा—'मुनि जेहि ध्यान न पावहिं नेति नेति कह बेद। कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद। ६। ११६।' (घ) 'कुसल देखि पद' यथा—'अब पद देखि कुसल रघुराया'। दोहा २९ (४) देखिये।

प० प० प्र०—दोहेके प्रथम चरणमें एक मात्रा कम रखकर जनाया कि श्रीरघुनाथजी सत्त्वभावापन्न हो गए। इस भावकी पुष्टि 'करुनापुंज' शब्दसे होती है। यह भाव दरसानेके लिये जानबूझकर मात्रा कम की गई, नहीं तो 'भेंटेउ' लिखकर मात्रा पूरी कर सकते थे। 'पुंज'-'कंज' यह तुकान्तकी विषमताभी आश्चर्यका भाव प्रकट करती है। 'प्रभु तरुतर कपि डारपर ते किय आपु समान।१।२९।' यह वचन यहाँ चरितार्थ किया गया।

☞ 'चले हरषि रघुनायक पासा।२८।६।' से यहाँ तक 'आये कपि सब जहँ रघुराई' यह प्रकरण है।

'बैदेही कै कुशल सुनाई'—प्रकरण

जामवंत कह सुनु रघुराया। जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया॥ १॥
ताहि सदा सुभ कुसल निरंतर। सुर नर मुनि प्रसन्न ता ऊपर॥ २॥
सोइ बिजई बिनई गुनसागर। तासु सुजसु त्रैलोक उजागर*॥ ३॥

अर्थ—जाम्बवन्तजी कहते हैं—हे रघुराज! सुनिए। हे नाथ! जिसपर आप कृपा करें।१। उसको सदाही कल्याण है और निरन्तर उसकी कुशल है। सुर, नर, मुनि सभी उसपर निरंतर प्रसन्न रहते हैं।२। वही विजयी है, वही विनयी और गुणसागर है, उसीका सुयश तीनों लोकोंमें प्रकाशित रहता है। ३।

टिप्पणी—१ (क) 'जामवंत कह'। यहाँ जाम्बवान्‌जीका नाम कहकर जनाया कि पूर्व जो 'कुसल देखि पदकंज' कहा गया, वह सब वानरोंकी उक्ति है और यह जाम्बवन्तजीकी उक्ति है। यहाँ जाम्बवन्तजीकी उक्ति कहकर यहभी जनाया कि सुग्रीवसेभी जो वचन कहे गए थे कि 'नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना' वहभी इन्हींकी उक्ति थी। (ख) 'जापर नाथ करहु तुम्ह दाया' अर्थात् हम सबोंपर आपकी दया है। आपने करुणा करके हम सबोंको हृदयसे लगाया और कुशल पूछा, यही दया है।

प० प० प्र०—'सुनु' एकवचन है पर आगे 'करहु', 'तुम्ह' बहुवचनके प्रयोग हैं। श्रीरामजी

---

* (१) पायकुलक, फिर क्रमसे १२११, १०४२, ११५७ वाँ भेद और पंक अवली हैं। (ब्र० चं०)।

'प्रीति सहित सब भेंटे' थे, इससे सब आनंदविभोर हो गए। उस आनंदमें भेदभाव नहीं रह गया – 'ते किये आपु समान।' समान प्रेमी मित्र परस्पर भाषणमें एकवचनका उपयोग करते हैं। [पर पीछे अपनी चूक समझ गए; सावधान हो गए। श्रीशंकरजी, श्रीहनुमान्जी, श्रीभरतजी और श्रीलक्ष्मणजी बड़े सावधान रहते हैं। यथा 'आप माने स्वामी कै सखा सुभाइ पाइ पति ते सनेह सावधान रहत, डरत। वि० २५१।'] शरभंगजीनेभी ऐसा ही प्रयोग किया है। यथा 'कह मुनि सुनु रघुबीर कृपाला।...तब लगि रहहु दीन हित लागी। जब लगि मिलौं तुम्हहि तनु त्यागी। ३।८।१, ६।' ['सुनु' का प्रयोग अनेक स्थानोंमें आया है। यथा—'सुनु सर्वग्य कृपा सुखसिंधो। ७।१८।१।', 'कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी। ३।११।१।' इत्यादि प्रेमी पाठक विचार करें]।

टिप्पणी—२ 'ताहि सदा सुभ...' इति। (क) तात्पर्य कि आपकी दयाका फल 'सदा शुभ और निरन्तर कुशल' है और किसीकी दयासे सदा शुभ और निरन्तर कुशल नहीं हो सकती। यथा—'सुर नर मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती।' (४. १२)। (यहाँ निरन्तरसे तात्पर्य 'प्रतिक्षण' वा 'किसी समय अंतर न पड़ने वाला' से है। कोई 'शुभ' को 'कुशल' का विशेषण मानते हैं अर्थात् शुभकुशल=पारमार्थिक कुशल।)। (ख) जब सुर, नर आदिकी स्वार्थसिद्धि न हुई तो वे प्रसन्न नहीं रहते; पर आपकी दया होनेसे ये सबभी प्रसन्न हो जाते हैं। यथा-'सीतापति सनमुख सुखी सब ठाएँ समातो। राम सुहाते तोहि जौं तू सबहि सुहातो। काल करम कुल कारनी कोऊ न कोहातो।...होतो मंगल मूल तू अनुकूल बिधातो।' (बिनय १५१), जा पर कृपा राम कै होई। तापर कृपा करइ सब कोई।' सुर, नर, मुनि, इन तीनकी प्रसन्नतासे मनुष्य तीन ऋणसे छूट जाता है। अथवा, 'सुर मुनि' से जनाया कि तीनों गुणोंवाले जीव प्रसन्न रहते हैं—सुरसे रजोगुणी, नरसे तमोगुणी और मुनिसे सतोगुणी।

नोट—१ श्रीहनुमान्जीपर श्रीरामजीकी कृपा हुई थी। उन्हींको 'जानि काज प्रभु निकट बोलावा। परसा सीस सरोरुह पानी। कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी। इत्यादि। उसीपर लक्ष्य करके जाम्बवन्तजीने ये वचन कहे हैं। वहाँ के 'जनजानी' और यहाँके 'करहु तुम्ह दाया' से जनाया कि जिसे आप जन जानकर शरण में लेते हैं वह तीनों ऋणोंसे मुक्त हो जाता है। यथा-'देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां, न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तुम्। भा. ११।५।४१।' अर्थात् हे राजन्! जो समस्त कार्योंको छोड़कर सम्पूर्णरूपसे शरणागतवत्सल भगवान्की शरण जाता है, वह देव, ऋषि, भूत-गण, कुटुम्बीजन अथवा पितृगण किसीकाभी दास वा ऋणी नहीं रह जाता।

टिप्पणी-३ 'सोइ बिजई' इति। (क) विजयकी शोभा विनयसे है और गुणकी शोभा यशसे; अतएव क्रमसे कहा। पुनः, विजयी विनयी कहकर गुणसागर कहनेका भाव कि वह विजयी और विनयीही नहीं वरन् सब गुणोंसे पूर्ण हो जाता है। तात्पर्य यह कि हनुमान्जीपर आपकी दया हुई इससे वे सर्वगुणसंपन्न हो गए (ख) जो जो गुण देख रहे हैं। वही-वही यहाँ कहते हैं—हनुमान्जीने लंकामें सबपर विजय पाई, अतः 'बिजई' कहा। विजयसे अभिमान हो जाता है, पर इनको अभिमान नहीं है, इनमें विशेष नम्रता है; अतः 'बिनई' कहा। तीनों लोकोंमें इनके लंकादहन आदि कर्मोंसे उज्ज्वल यश दीप्तमान है, अतः 'त्रैलोक उजागर' कहा। यथा—'ततस्तु तं वानरवीरमुख्यं महाबलं मारुततुल्यवेगम्। महामतिं वायुसुतं वरिष्ठं प्रतुष्टुवुर्देवगणाश्च सर्वे॥....देवाश्च सर्वे मुनिपुङ्गवाश्च गन्धर्वविद्याधरकिन्नराश्च। भूतानि सर्वाणि महान्ति तत्र जग्मुः परां प्रीतिमतुल्यरूपाम्॥ वाल्मी० ५।५४।४८–५१)। पुनश्च—'अहो खलु कृतं दुष्करं हि हनूमता। ५।५५।३१।'—देव, मुनि, गंधर्व, विद्याधर, किन्नर, चारण आदि सभी लंकादहनपर हनुमान्जीकी प्रशंसा कर रहेथे। मैनाक, सुरसा, सिंहिका और लंकिनी आदिके सम्बन्धमें इनके बल, बुद्धि, शील आदि देखे; अतः 'गुणसागर' कहा।

मा० त० सु०—बिजई=विश्वविजेता। यथा—'महाअजय संसाररिपु जीति सकै सो बीर। ६।७६।' 'बिनई', यथा—'सोइ पंडित सोइ पारखी सोई संत सुजान। सोई सूर सचेत सो सोई सुभट प्रमान'—(वै० सं०)।

प० प० प्र०—इस अर्धालीका भाव 'दोउ बिजई बिनई गुन-मंदिर। हरि प्रतिबिंब मनहुँ अति

सुंदर।७। २५। ७।' इस चौपाईसे प्रकट हो जाता है। लव और कुश दोनोंको जैसे 'बिजई, बिनई, गुन-मंदिर' कहा वैसे ही यहाँ हनुमान्‌जीको ये तीनों विशेषण देकर जनाया कि ये भी मानों हरि प्रतिबिंब ही हैं, आपकाही दूसरा रूप हैं।

प्रभुकी कृपा भएउ सबु काजू। जन्म हमार सुफल भा आजू ॥ ४ ॥
नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी। सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी ॥ ५ ॥
पवनतनय के चरित सुहाए। जामवंत रघुपतिहि सुनाए* ॥ ६ ॥

अर्थ—प्रभु (आप) की कृपासे सब कार्य हुआ। आज हमारा जन्म सफल हुआ। ४। हे नाथ! पवनपुत्र श्रीहनुमान्‌जीने जो करनी की वह हजारों मुखोंसे एवं जिनके हजारमुख हैं उन शेषजीसेभी वर्णन नहीं की जा सकती। ५। जाम्बवन्तजीने पवनपुत्रके सुन्दर चरित रघुपति श्रीरामजीको सुनाए। ६।

टिप्पणी—१ (क) 'प्रभुकी कृपा' का भाव यह कि आप प्रभु अर्थात् समर्थ हैं; अतः आपकी कृपासे कार्य हुआ, नहीं तो हमारे किये न हो सकता। 'हममें इसके करनेकी योग्यता न थी', यही जनानेके लिए दोनों जगह प्रभुकी कृपाको ही प्रधान रक्खा—'रामकृपा भा काज बिसेषी' और 'प्रभुकी कृपा०'। विशेष २९ (४) में देखिये। (ख) 'सब काजू'— सीताजीकी सुध मिली, शत्रुका अभिमान भंग हुआ, शत्रुकी सेना मारी गई, लंकादहन, इत्यादि। २९ (४) देखिये। (ग) 'जनम हमार' अर्थात् हम सब वानरोंको सुग्रीवजीने उपदेश दिया था कि 'देह धरे कर यह फलु भाई।०'; उसीके अनुसार अब रामकार्य करनेपर हम सब अपने जन्मकी सफलता मानते हैं। (घ) 'भा आजू'। आज सफल होना कहा; क्योंकि कार्य करके आज आकर स्वामीसे निवेदन किया। (नोट—प्रभुने कहा था कि 'कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु'। 'आना' और 'समाचार कहना' यह आजही हुआ, यह काम बाकी था, सो आज हुआ। अत: 'सफल भा आजू' कहा)।

प० प० प्र०—उपदेश—भगवान्‌का कार्य तो उनकी कृपा, उनका प्रताप ही करता है। पर सेवक निमित्तमात्र बनकर अपना जन्म सफल कर लेते हैं और अनायास ही सुयशको प्राप्त होते हैं।

टिप्पणी—२ 'नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी' इति। (क) इस कथनसे भक्तके चरितकी अनन्तता दिखाकर उसको यथामति कहते हैं। (ख) 'करनी' के संबन्धसे 'पवनसुत' कहा। 'करनी' बलसे होती है, पवन बलवान् हैं और ये उनके पुत्र हैं—'पवनतनय बल पवन समाना'। करनी=पुरुषार्थ; यथा—'सुनि संपाति बंधु कै करनी' (४। २७), 'करहिं भालु कपि अदभुत करनी' (६। ४६), 'जूझे सकल सुभट कै करनी' (१।१७५) तथा यहाँ (ग) 'सहसहुँ मुख' अर्थात् शेषजी। यहाँ प्रभुका पराक्रम दासके पराक्रमसे अधिक जनानेके लिए 'सहसमुख' कहा क्योंकि पहले कहा है कि प्रभुकी कृपासे सब कार्य हुआ, अतएव प्रभुका पराक्रम अधिक हुआ ही चाहे। प्रभुके चरितके संबंधमें 'शत सहस शेष' कहा है; यथा—'राम तेज बल बुधि बिपुलाई। सेष सहस सत सकहिं न गाई। ५। ५६।', अतएव पवनसुतकी करनीके सम्बन्धमें केवल 'सहसहु मुख' कहा।

३—पवनतनयके चरित सुहाये।००' इति। (क) यहाँ रुद्रावतार हनुमान्‌जीके चरित हैं, ब्रह्मावतार जाम्बवान्‌जी वक्ता हैं और भगवान् श्रोता हैं। जैसे श्रोता, वैसेही वक्ता और वैसाही चरित है, सब यथा-योग्यका सम्बन्ध जुट गया है। यथा—'श्रोता बक्ता ज्ञाननिधि कथा राम कै गूढ़' ।१।३०।'जैसे रामचरित गूढ़, वैसेही भक्तचरित गूढ़। [(ख) मा० त० सु०—'सुहाये' का भाव कि प्रथमही यात्रामें प्रभुकी कार्यसिद्धि, शत्रुमानमर्दन इत्यादि अपूर्व यश प्राप्त हुआ, अतएव चरित सुन्दर हुआ।] (ग) 'जामवंत रघुपतिहि सुनाये'। अपना पुरुषार्थ अपने मुखसे कहनेमें हनुमान्‌जीको संकोच होता है; अतः जाम्बवन्तजीने सुनाया। ये सुन चुके हैं। इन सबोंके पूछनेपर उन्होंने कहा था, यथा—'पूछत कहत नवल इतिहासा।'

पं० विजयानंद त्रिपाठी—किष्किन्धाकाण्डके २९-३ अर्थात् 'कहइ रीछपति सुनु हनुमाना।

* छंद (४), (५), (६), (७) पायकुलक—(प्र० चं०)

का चुप साधि रहेहु बलवाना' से लेकर, यहाँ तक हनुमच्चरित है। इसके वक्ता जाम्ववान्‌जी तथा श्रोता साक्षात् रामजी हैं। प्रवर्षणगिरिपर कथा हुई। अत्यन्त संकटके समयही इसके अनुष्ठानका विधान है, नहीं तो मनोरथ सिद्धिके लिये किष्किन्धा काण्ड यथेष्ट है।

सुनत कृपानिधि मन अति भाए। पुनि हनुमान हरषि हिय लाए ॥ ७ ॥
कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की *॥ ८ ॥

अर्थ—(श्रीपवनतनयके सुंदर चरित) सुनते ही वे (चरित और चरितनायक हनुमान्‌जी) कृपासागर श्रीरामजीके मनको अत्यन्त भले (प्रिय) लगे। उन्होंने हर्षित होकर पुनः श्रीहनुमान्‌जीको हृदयसे लगा लिया। ७। हे तात ! कहो; जानकी किस प्रकार रहती और अपने प्राणोंकी रक्षा करती हैं ? (अर्थात् ये दोनों बातें असंभवसी जान पड़ती हैं)। ८।

टिप्पणी—१ (क) 'सुनत कृपानिधि ...' इति। पुनः हृदयसे लगाया, यह कृपा है; अतः 'कृपानिधि' विशेषण दिया। 'कृपानिधि' इससेभी कहा कि 'स्वयंसिद्ध सब काज' हैं फिरभी दासोंको ही बड़ाई देते हैं। यथा—'संतत दासन्ह देहु बड़ाई। तातें मोहि पूँछेहु रघुराई। ३। १३।' (ख) 'पुनि' अर्थात् एक बार सब वानरोंके साथ आनेपरही मिल चुके थे, अब उपकार मानकर पुनः मिले, संजीवनी बूटी लानेपर कहा है कि प्रभु अत्यन्त कृतज्ञ हैं, इसीसे कार्य कर लानेपर वे हनुमान्‌जीको हृदयसे लगाकर भेंटे, यथा—'हरषि राम भेंटेउ हनुमाना। अति कृतज्ञ प्रभु परम सुजाना। ६। ६१।' (ग) प्रथम जब सब वानरोंके साथ भेंट की तब प्रभुको 'करुणापुंज' कहा था—'प्रीतिसहित सब भेंटे रघुपति करुनापुंज'। और जब यहाँ पृथक् भेंट की, तब 'कृपानिधि' कहा। इस भेदका तात्पर्य यह है कि और सबोंसे इनपर कृपा अधिक है, जैसे 'पुंज' से 'समुद्र' विशेष है। (घ) 'अति भाये' का भाव कि अपना चरित (जो जाम्बवन्तजीने कहा था—'जापर नाथ करहु तुम्ह दाया' से 'जन्म हमार सफल भा आजू' तक वह) 'भाया' और हनुमत्‌चरित ('नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी' इत्यादि) 'अति' भाया। जैसे हनुमान्‌जीको रामचरित 'अति भाया' था। यथा—'जामवंत के बचन सुहाए। सुनि हनुमंत हृदय अति भाए।५।१।' ☞ यहाँ स्वामी-सेवककी अन्योन्य प्रीति दिखाई है। जाम्बवान्‌जीके वचन ऐसे हैं कि श्रोताको 'अति' भाते हैं। पूर्व हनुमान्‌जीसे वचन कहे थे जो उनको 'अति भाए' और यहाँ श्रीरघुनाथजीसे कहे जो इनको 'अति भाए।' दोनों जगहका मिलान—

जामवंतके बचन सुहाये	१ पवनतनयके चरित सुहाये
सुनि हनुमंत हृदय अति भाये	२ सुनत कृपानिधि मन अति भाये
चले हरषि हिय धरि रघुनाथा	३ पुनि हनुमान हरषि हिय लाये

[श्रीहनुमान्‌जी "अति भाए" ऐसा अर्थ लेनेसे भाव यह होगा कि 'भाए' तो पूर्व ही थे इसीसे निकट बुलाकर इनके सिरपर हाथ रक्खा था और मुद्रिका देकर संदेसा कहा था। यथा 'जानि काज प्रभु निकट बोलावा। परसा सीस सरोरुह पानी। कर मुद्रिका दीन्ह जन जानी।...। ४। २३। ९-११।' अब कार्य कर लाए, अतः 'अति भाए'।]

(ङ) हनुमान्‌जी सीताजीको देख आए हैं, अतः हृदयसे लगाकर उनका वृत्तान्त पूछा। यथा—'भूप सुमंत्र लीन्ह उर लाई। बूड़त कछु अधार जनु पाई'। (श्रीरामजीके पाससे आनेपर सुमंतजीको राजाने हृदयसे लगा लिया था)।

२—वानर सुग्रीवजीसे मिले और श्रीरामजीसेभी। वानरोंसे मिलनेमें जो जो बातें सुग्रीव तथा वानरोंके संबंधमें कही गई हैं वही सब यहाँभी देखी जाती हैं। दोनोंका मिलान—

* 'कहहु...' प्रियम्वदा और 'रहति...' पायकुलक भेद हैं। (प्र. चं.)

सुनि सुग्रीव हरष... कपि करि आये प्रभु काज	१ राम कपिन्ह जब आवत.. किए काजु मन हरष....।
आइ सबन्हि नावा पद सीसा	२ परे सकल कपि चरनन्हि जाई
मिलेउ सबन्हि अति प्रीति	३ प्रीतिसहित सब भेंटे रघुपति
पूँछी कुसल कुसल पद देखी	४ पूँछी कुसल...देखि पदकंज
रामकृपा भा काज बिसेषी	५ प्रभु की कृपा भयउ सब काजू
नाथ काजु कीन्हेउ हनुमाना	६ नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी
सुनि सुग्रीव बहुरि तेहि मिलेऊ	७ पुनि हनुमान हरषि हिय लाए

☞ दोहा—"हरषु १ प्रणाम २ मिलब ३ अरु कुशल प्रश्न ४ भा काज ५ काज कीन्ह हनुमान ६ पुनि बहुरि मिले दोउ राज ७ ॥"

नोट—१ 'चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना । ४ । २३ ।' उपक्रम है और 'पुनि हनुमान हरषि हिय लाए ।' उपसंहार है। मा. त. सु.-कार 'केहि भाँति' कोभी एक प्रश्न मानते हैं। किस दशामें हैं? अर्थात् मृतकावस्थामें तो नहीं देख आये? यथा—'एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं। कालहु जीति निमिष महँ आनौं ।४।१८।'; पर मेरी समझमें जाम्बवान्‌जीसे चरित सुन चुकनेपर ऐसा प्रश्न हो नहीं सकता।

टिप्पणी—३ (क) 'रहति करति रक्षा...' इति। अर्थात् राक्षसोंके बीचमें देहका और धर्मका कैसे निर्वाह करती हैं? ऐसाही विभीषणजीसे प्रभुने पूछा है, यथा—'खल मंडली बसहु दिन राती। सखा धरम निबहै केहि भाँती।५।४६।' (ख) करति रक्षा स्वप्रान की' का भाव यह कि वे तो अत्यन्त सुकुमारी हैं, श्रीअवधमें तो वे कहती थीं कि—'राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जानिअहिं प्रान। २। ६६।' तो अब मेरे वियोगमें प्राणोंकी रक्षा क्योंकर कर रही हैं?

नोट—२ वाल्मीकीयमें श्रीहनुमान्‌जीसे उन्होंने पूछा है कि—'कथं सा मम सुश्रोणी भीरु भीरुः सती सदा। भयावहानां घोराणां मध्ये तिष्ठति रक्षसाम्। ५। ६६। १२। शारदस्तिमिरोन्मुक्तो नूनं चन्द्र इवाम्बुदैः। आवृतं वदनं तस्या न विराजति राक्षसैः। १३।' अर्थात् यह बतलाओ कि मेरी वह सुंदरी और अत्यन्त भीरु सती सीताजी उन अत्यन्त भयंकर राक्षसोंके बीच किस प्रकार रहती हैं? राक्षसोंसे घिरी हुई उस सतीका मुखमण्डल मेघसे ढके हुए अंधकारसे युक्त शरद्‌चन्द्रके समान शोभायमान न होता होगा?—ये सब भाव 'रहति करति रक्षा...'के हैं। काशीके एक संस्करणमें 'दुःखाद् दुखतरं प्राप्य कथं जीवति जानकी' यह प्रक्षिप्त अर्धश्लोकभी है।

दो०—नाम पाहरू दिवस निसि* ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट॥ ३०॥

शब्दार्थ—जंत्रित=निबद्ध, स्थापित, नियमित।

अर्थ—(पूछनेपर श्रीहनुमान्‌जीने कहा) आपका नाम रात-दिनका पहरा देनेवाला (रक्षक) है, और आपका ध्यान किंवाड़े हैं। नेत्र अपने चरणोंमें लगाए हैं। (तब बताइए कि) प्राण किस मार्गसे निकल सकें?। (भाव यह कि निरन्तर रातदिन इसी दशामें बैठी रहती हैं—सिर नीचे किये हुए आपके ध्यानमें निमग्न निरन्तर आपका नाम लेती रहती हैं। जब रात-दिन किंवाड़े लगे और ज़ंजीर, कुंडी लगी रहे, उसपर भी रक्षक निरन्तर पहरा देते रहें, तब कोई कैसे निकल सकता है?)। ३०।

* रात दिनु-१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, ब्र० चं०, कोदवराम। दिवस निसि-१७०४, गी० प्र०। हमको 'दिवस निसि' पाठ अच्छा लगता है, इससे यही पाठ इस संस्करणमें दिया है। प्र० सं० में दोनों पाठ दिये थे। दोहा दोहरा मिश्रित है—(ब्र० चं०)।

नोट—१ वानर (श्रीहनुमान्जी) को देखकर श्रीजानकीजी बहुत विस्मित हो गई थीं, उस समय उनके मनके विचार जो वाल्मीकिजीने दिये वह इस दोहेसे मिलते-जुलते हैं। यथा—'स्वप्नोऽपि नायं न हि मेऽस्ति निद्रा, शोकेन दुःखेन च पीडितायाः। सुखं हि मे नास्ति यतोऽस्मि हीना, तेनेन्दुपूर्णप्रतिमाननेन।५।३२।१०। रामेति रामेति सदैव बुद्धया, विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव। तस्यानुरूपां च कथां तमर्थमेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि।११। अहं हि तस्याद्य मनोभवेन संपीडिता तद्गतसर्वभावा। विचिन्तयन्ती सततं तमेव, तथैव पश्यामि तथा शृणोमि।१२।' अर्थात् मैं सो थोड़ेही रही हूँ जो स्वप्न देखती। मुझ दुःख और शोकसे पीड़िताको नींद कब आने लगी? निद्रा तो सुखी लोगोंको आती है। जबसे उन चन्द्रानन (श्रीरामजी) से वियोग हुआ तबसे मुझे सुख कैसा? इसका कारण तो यह जान पड़ता है कि मैं रातदिन उनके ध्यानमें रहती हूँ और राम राम यह निरंतर रटा करती हूँ। इसीसे मुझे तदनुरूप ही देख और सुन पड़ता है। सदाकी भाँति आजभी उन्हींका ध्यान कर रही थी, मैं तो सदा उन्हींका ध्यान किया करती हूँ...।

२—गीतावलीमें वर्णित श्रीहनुमानजीके वचनोंसे मिलान कीजिये। यथा—'चित्रसे नयन अरु गढ़ेसे चरन कर मढ़ेसे श्रवन नहिं सुनति पुकारे। रसना रटति नाम कर सिर चिर रहै नित निज पद कमल निहारे। दरसन आस लालसा मन महँ राखे प्रभु ध्यान प्रान रखवारे।५।१८।', 'तुलसिदास जद्यपि निसि बासर छिन-छिन प्रभु मूरतिहि निहारति। मिटति न दुसह ताप तउ तनुकी यह बिचारि अंतर्गति हारति।१६।'

३ गोस्वामीजीकी 'नाम पाहरू...प्रान जाहिं केहि बाट', इस उक्तिको गीतावलीमें दी हुई उक्तिसे मिलान कीजिए। कौशल्याजी राम-विरहसे व्याकुल हैं, पर मरती क्यों नहीं? इसका कारण कवि उन्हींके मुखसे यों सुना रहे हैं—'लगेइ रहत मेरे नयननि आगे राम लषन अरु सीता। तदपि न मिटत दाह या उर को बिधि जो भयो बिपरीता॥२॥ दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत तनु न रहै बिनु देखे। करत न प्रान पयान सुनहु सखि अरुझि परी यहि लेखे॥३॥' (२।५३)।

☞ उपर्युक्त उद्धरणोंके सब भाव इस दोहेमें भरे हुए हैं। सारांश यह है कि आप पूछते हैं कि वे कैसे जीती हैं? पर वास्तविक बात यह है कि आपके वियोग-विरहमें उनके प्राण निकल गए होते पर वे क्या करें? प्राणोंको निकलनेका रास्ता ही नहीं मिलता।

टिप्पणी १—जो दशा हनुमान्जीने देखी थी—'बैठेहि बीति जात निसि जामा।' से 'निज पद नयन दिए मन रामचरन महँ लीन।८।' तक, वही ज्योंकी त्यों कह रहे हैं। 'दिवस निसि' अर्थात् निरंतर। तात्पर्य यह कि स्नान न करें, न भोजन, न विश्राम, न तुम्हारे ध्यानसे अलग हों, न मनसे पृथक् हों, न नाम छोड़ दूसरी बात बोलें, दृष्टि भी ऊपर नहीं करतीं और न उठतीही हैं, सारी रात और दिन बैठेही बीत जाते हैं। इस भाँति वे रहती हैं।

२—आपमें उनका प्रेम ऐसा है कि नाम और ध्यान छूटतेही प्राण निकल जाय। इसीसे आपकी मूर्त्ति और नामका निरन्तर संयोग रखती हैं, पलभरभी वियोग नहीं होने पाता, यथा—'जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम। सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम।३.२६।' इस भाँति प्राणकी रक्षा करती हैं। दोनोंका उत्तर होगया।

३—यहाँ दिखाया कि श्री जानकीजीके मन, वचन और कर्म तीनों आपमें लगे हैं। 'ध्यान तुम्हार कपाट' (मन), 'नाम पाहरू दिवस निसि' (वचन) और 'लोचन निजपद जंत्रित' (कर्म) है। पदके देवता भगवान् हैं।

४—इस कथनसे श्रीजानकीजीकी अत्यन्त दीन हीन दशा दर्शित की। 'निज पद नयन दिये मन रामचरन महँ लीन। परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन।५८।' जो देखा था वही दीन दशा यहाँ कही।

मा० त० सु०—१—निज पद जंत्रित=अपने चरणोंहीके निरीक्षणमें लीन हो रहे हैं।—२ यहाँ

'लोचन निजपद जंत्रित' पदसे बाह्य आभ्यन्तर दोनों रक्षामें सावधानतापूर्वक परम दृढ़ता दिखाई। अर्थात् समस्त इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयमें चंचल करनेमें केवल नेत्रही प्रधान होते हैं, वे आपके दर्शनकी प्याससे खुले हुये रहते हैं, उन्हें अन्य दर्शनीय विषयोंसे रोक अपने चरणोंमें दृढ़तापूर्वक स्थिर किये हुये हैं। पुनः, १—यहाँ वैराग्य, भक्ति और योग तीनों वर्णित हैं—'नाम पाहरू' वैराग्य है (क्योंकि रात दिन जागना यह वैराग्यका लक्षण है), 'ध्यान तुम्हार' भक्ति है और 'लोचन निज पद०' यह योग है। तात्पर्य यह कि जो इस प्रकार मन, कर्म, वचनसे आपके नामरूपमें लगे रहें उनपर कालका अधिकार नहीं रह जाता। [नोट—पद्म-पुराणमें ययाति राजाकी कथा है कि उनके राज्यमें भक्ति ऐसी हुई कि ५ लाख वर्ष तक कोई मृत्यु न हुई... (व्यासजी)]—(करु०)।

टिप्पणी—५ 'जाहिं प्रान केहि बाट' अर्थात् प्राण तो निकलना चाहते हैं, पर उन्हें निकलनेके लिए रास्ताही नहीं मिलता। यह आगे स्पष्ट है—'अवगुन एक मोर मैं जाना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना॥ नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा॥' पुनः, यथा रस-चन्द्रिकायां—'मनो विलासैः स्वासैश्च प्रियैकाग्र मनोगतिः। कार्येषु यत्र विद्वेषः साचेष्टा मरणं मतं'। इससे मरणावस्था सूचित की। इस भाँति प्राणोंकी रक्षा करती हैं।

नोट—४ नामपर पाहरू, ध्यानपर कपाट और लोचनपर यंत्रिकाका आरोपण किया। इस प्रकार प्राणपर कैदीका आरोपण समझलेना चाहिए। यह एकदेशविवर्त्तित साङ्गरूपकालङ्कार है। प्राणरक्षाके लिये जो हेतु कहे गये हैं, वे उत्कर्षके कारण नहीं हैं। किसीके प्राण पहरेदार वा ताला लगे कपाटके भीतर बन्द रखनेसे नहीं रुक सकते, तौ भी उसकी कल्पना करना 'प्रौढ़ोक्ति अलंकार' है। (वीरकवि)।

नोट—५ ☞ मनके रोकनेवालोंके लिये यहाँ साधन बताया गया है। मनके रोकनेके लिये ध्यानकी आवश्यकता बताई गई और ध्यान स्थिर रहे, टूटने न पावे, इसके लिये नेत्रोंका किसी स्थानपर, जैसे कि नासिकाग्र, भ्रू-मध्य आदि पर, स्थिर करना आवश्यक है। मन और प्राण दोनोंका ऐसा सम्बन्ध है कि एकके रुकनेसे दूसरेकी गतिभी रुक जाती है। इसीसे योगमें प्राणायाम बताया गया है। (श्रीगंगाधरब्रह्मचारीजी)।

☞ जैसे रामचन्द्रजीने अल्प अक्षरोंमें बहुतसे प्रश्न किए वैसेही अल्प अक्षरोंमें इन्होंने सबका उत्तर भी दे दिया।

पं० विजयानंद त्रिपाठी—किसीको बलपूर्वक रोक रखनेका यह उपाय है कि से तालामें बन्द करदे, और पहरा बिठा दे, उसे जानेका मार्ग न मिले, फिर वह नहीं जा सकता। यही काल वञ्चनका उपाय है। प्राणके ऊपर नामका पहरा बिठा दे। श्वास छोड़नेके समय 'रा' और खींचनेके समय 'म' कहे। रात दिनमें इस भाँति २१६०० बार श्वासोछ्वास चलता है। इस भाँति २१६०० बार नामका जप होता है। इसीको अजपा जप कहते हैं। जब तक जागता रहे, इसी विधिसे नामसे प्राणका साथ न छूटने पावे, तो रातको आपसे आप न छूटेगा। जिसका जी चाहे करके देख ले। विधि बतलाते हुए पूज्यपाद ग्रन्थकार कहते हैं 'तुलसी 'रा' के कहत ही निकसत सकल विकार। पुनि आवन पावत नहीं देत मकार किवार।' इसी भाँति मनसे ध्यान सरकारका बनाये रखना किवाड़ देना है, और दृष्टि सदा नीचे अपने पैरोंसे बँधी रखना ताला बन्द करना है। जब तक यह क्रिया अनवरत चलती रहेगी, प्राण जा नहीं सकता। यह बड़ा भारी योगशास्त्रका भेद गोस्वामीजीने हनुमान्‌जीके मुखसे कहलवा दिया। प्रक्रिया कठिन अवश्य है, पर असम्भव नहीं है। इसके थोड़ेसे अभ्यासमें चमत्कार हैं, योगनिद्रादि सिद्धियाँ आपसे आप होती हैं। गुरुमुखसे प्राप्त करनाही श्रेयस्कर है।

चित्रशक्ति (Picture force)

श्री राजबहादुर लमगोड़ाजी—काव्यकी दूसरी शक्ति चित्रशक्ति है। चित्र वह है कि जिसमें चित्रकार की लेखनी चित्र खींचते हुए समस्त भावोंका फोटो लाकर सामने उपस्थित कर दे, चित्रका प्रत्येक अंग आंतरिक भावको बता दे। तुलसीदासजीने इस दोहेमें—'नाम पाहरू दिवसनिसि ध्यान तुम्हार कपाट…'—जिस

सुंदरता तथा सफलतासे अशोकके नीचे रामके स्मरणमें तल्लीन बैठी हुई सीताजीकी पदपृष्ठपर आँखोंकी टकटकी लगी हुई दशाका चित्र खींचा है, उसे मर्मज्ञ ही समझ सकता है। उन्होंने पंचज्ञानेन्द्रियोंमें विशेष कार्य-कर्त्ता श्रवण, नेत्र और जिह्वाको रूपकके वंदीगृहमें कैसा जकड़ा है! जिह्वापर रामनामका पहरा है, अतएव इस मार्गसे प्राणका निकलना अथवा मृत्युका आना कठिन है। इसी भाँति जिह्वा तो रामनामके आनंदमें लीन है और श्रवण जिह्वासे निकले हुए आध्यात्मिक आनन्दसे पूर्ण उस नामके सुननेमें तल्लीन हैं। (यह स्मरण रहना चाहिए कि अपनी जिह्वाका शब्द चाहे वह कितनाही मंद क्यों न हो, कानोंको अवश्य सुनाई पड़ता है।) आह! फिर यह तन्मयता या पहराभी किस ग़ज़बका है कि 'दिवस-निसि' दिन रात रहता है, कोई समय ख़ाली नहीं। आलस्यका कहीं पता नहीं। 'लोचन निज पद जंत्रित' दृष्टिमें सूत्रकी कैसी सुंदर ज़ंजीर है! पैर पर तल्लीनताकी टकटकी लगी हुई है। जब मनुष्यका ध्यान अधिक गहराईमें होता है, तब बाह्येन्द्रियाँ इसी प्रकार प्रकट रूपमें एकाग्र हो जाती हैं। टेनिसन (Tennyson) ने भी (Passing of Arthur) पासिंग अफ़ आर्थरमें, जब सर बेडीवेर (Sir Bedivere) आर्थरकी तलवार फेंकने अथवा छिपानेके संबंधमें सोच कर रहा था तब, लिखा है कि वह (Counting the dew bubbles) ओसकणकी गणना कर रहा था।

अब उन अन्तरेन्द्रियोंको लीजिए जिनके लिए 'ध्यान तुम्हार कपाट' रामके ध्यान कपाट हैं। दर्शन-शास्त्रका कहना है कि मनुष्य अपने मनसे जिस वस्तुका ध्यान निकाल डाले उसका अस्तित्व वहाँ नहीं रह सकता। भला जब भीतरी और बाहरी इन्द्रियोंको रामके अतिरिक्त किसी और बातको स्मरण करनेका समय ही नहीं, तब फिर मृत्यु बिचारीकी क्या शक्ति है कि इस सदेह तन्मयतामें प्रवेश कर सके?

☞ ऐसे उत्तम शब्दचित्र उन लोगोंकी भाषाओंमें कितने हैं जो हमारी भाषाको गँवारी भाषा कहनेका दुस्साहस करते हैं?

☞ उपर्युक्त लेख २८-३० वर्ष हुये लिखा गया था। पीछे श्रीअयोध्याजीमें एक महात्माने बताया था कि भक्तिकी चैतन्य समाधि (योगकी जड़समाधि नहीं) कुछ ऐसी ही होती है। अन्तर केवल यह होता है कि 'निज पद' के बदले वहाँ 'प्रभु पद' होता है। यहाँ तो 'आदि शक्ति' हैं, इससे 'निज पद' कहा गया क्योंकि दोनों अभिन्न हैं। यथा—'गिरा अरथ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीता-राम-पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न।' वचनकी प्रवीणता (Oratory Rhetoric) का आनन्दही यह है। प्रश्नके उत्तरमें प्रश्नही मानों दाँवको लौटा देता है। भगवान्ने पूछा 'केहि भाँति रहति?' उत्तर दोहा स्वयं कह रहा है—'प्रान जाहिं केहि बाट?' नाटकीकलामें एक सुन्दर गुप्त आनन्द और है—यदि श्रीरामजीके हृदयमें गुप्त शङ्का हो (है नहीं) कि सीताजी तो कहती थीं कि वियोगमें मैं जीती नहीं रह सकती—('की तन प्रान कि केवल प्राना')-तो अब जीती कैसे हैं? क्या वह दावा झूठ था?, तोभी कुशल दूत और भावसमर्मज्ञ उसे जड़से उखाड़ देता है और कहता है कि मरनेकी फ़ुरसत (अवकाश) भी हो, उधर ध्यानभी तो जाय!-(सम्वत् २००४)।

चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही। रघुपति हृदय लाइ सोइ लीन्ही॥ १॥
नाथ जुगल लोचन भरि बारी। बचन कहे कछु जनककुमारी॥ २॥

अर्थ—चलते समय मुझको चूड़ामणि दिया (यह कहते हुए श्रीहनुमान्‌जीने उसे श्रीरामजीको दे दिया)। श्रीरघुनाथजीने उसे हृदयसे लगा लिया। १। हे नाथ! दोनों नेत्रोंमें अश्रु भरकर जनकसुताजीने कुछ वचन कहे। २।

टिप्पणी—१ 'चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही' इति। (क) श्रीहनुमान्‌जी लंका जलाकर पूँछ बुझाकर चलनेको तैयार हो विदा होनेके लिये श्रीसीताजीके पास गये और उनसे कुछ चिह्न माँगा यथा—'मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा। जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा। ५। २७।', तब उन्होंने चूड़ामणि दी। परन्तु यहाँ हनुमान्‌जी यह नहीं कहते कि उन्होंने माँगनेपर दिया; कारण कि ऐसा कहनेसे प्रेममें न्यूनता पाई जाती। अतएव उन्होंने

इतनाही कहा कि चलते समय दिया। पुनः, भाव यह कि व्याकुलतामें सुध भूल गई थीं इसीसे माँगनेपर दिया। (ख) 'मोहि चूड़ामनि दीन्ही' कहकर अपने ऊपर उनकी विशेष कृपा जनाई। क्योंकि बिना कृपापात्र-के और किसीको ऐसा पदार्थ नहीं दिया जाता। यथा—'कर मुद्रिका दीन्ह जन जानी'।

२ 'रघुपति हृदय लाइ तेहि लीन्ही' इति। (क) प्रियका पदार्थ प्रियके तुल्य है, ऐसा जानकर हृदय-से लगाया; यथा—'कनक बिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे। २। १९९।' (ख) जब सुग्रीवने जानकीजीका वस्त्र दिया था तब उसे हृदयसे लगाकर श्रीरामजीने बड़ा शोच किया था; यथा—'पट उर लाइ सोच अति कीन्हा। ४। ५।'; पर उन्होंने चूड़ामणि पानेपर वह शोक न किया। इसका कारण यह है कि तब उनकी खबर न थी कि कहाँ हैं और व्याकुलभी थे, इससे वस्त्र पाकर अत्यन्त शोकवश हो गए थे। और अब पूरा समाचार मिल गया जिससे बहुत संतोष हो गया है। इसीसे अब वैसा सोच नहीं किया। (ग) वानरों के आतेही प्रभु सबसे मिले, कुशल पूछी। जाम्बवन्तने हनुमत्‌चरित कहा, तब प्रभु फिर मिले। यहाँ तक कोई मौक़ा चूड़ामणि देनेका न था। इससे जनाया कि श्रीजाम्बवान्‌जीने अथवा वाल्मीकीयके अनु-सार वानरोंने) किसी चिह्नका दिया जाना अबतक न कहा था, [यद्यपि हनुमान्‌जीने वानरोंसे चूड़ामणिका लाना कह दिया था;—वाल्मी० ५। ५८। १००–१०२ में स्पष्ट कहा है, यथा—'इत्युक्त्वा तु बरारोहा मणिप्रवर-मद्भुतम्। प्रायच्छत...। १०२।' यह जाम्बवान्‌जीकी बुद्धिमानी है कि उन्होंने स्वयं उसे न कहा। जिसको उन्होंने अभिज्ञान दिया है उसीका कहना उचित है—यही समझकर न कहा था। नहीं तो प्रभु उसे तभी माँगते।] जब हनुमान्‌जीसे पुनः मिलकर प्रभुने वृत्तान्त पूछा तब हनुमान्‌जीने सब कहकर चूड़ामणिका दिया जाना कहा और उसे श्रीरामजीको दिया। समय जानकर काम करना यह बुद्धिमत्ता है।

३ 'नाथ जुगल लोचन भरि बारी।' इति। आगे श्रीजानकीजीका दुःख वर्णन करते हैं, इसीसे प्रथम नेत्रोंमें जल भरना कहकर अन्तःकरणका दुःख दिखाया। पुनः, यह जनाया कि वे मन, तन, वचनसे दुःखी हैं। हृदयमें दुःख है, वचनसे अपना दुःख कहा है और तनसे प्रणाम किया है। पुनः नेत्रोंमें जल भरना इससे कहा कि आगे जानकीजीके नेत्रोंसे निरन्तर जलका प्रवाह चलता रहना कहेंगे—'नयन स्रवहिं जल०'।

नोट—१ श्रीपंजाबीजीका मत है कि, 'नाथ जुगल' को सम्बोधन मानकर अर्थ करना चाहिये; क्योंकि स्पष्टरूपसे सीताजीने लक्ष्मणजीके संबंधमें पूर्व कोई बात नहीं कही है। 'जुगल' से दोनोंका बोध हो गया। अर्थात् हे नाथ! आप दोनोंसे कहा है। अथवा, 'युगल' नेत्रोंमें जल भरना इससे कहा कि श्रीराम-लक्ष्मण दोनोंके दो-दो अपराध किये हैं। श्रीरामजीका कहना न माना कि साथ न चलो, दूसरे उनको हिरण-का चर्म लानेको कहा। और लक्ष्मणजीको दुर्वचन कहे और उनकी खींची हुई रेखाके बाहर निकल आईं।

टिप्पणी - ४ ☞ जो वचन कहे उन्हें आगे लिखते हैं—'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना।' अर्थात् 'अनुजके समेत प्रभुके चरण पकड़कर प्रणाम किया', ऐसा कहनेको कहा है। प्रणाम करनेको नहीं कहा। यह नहीं कहा कि तुम अनुजसहित प्रभुके चरण पकड़ना किन्तु यह कहा कि 'कहेहु तात अस मोर प्रनामा।' यदि वे हनुमान्‌जीसे प्रणाम करनेको कहतीं तो वे अवश्य श्रीजानकीजीकी ओरसे प्रणाम करते। और, वहाँ पाठ होता 'करेहु तात अस मोर प्रनामा'। कहेहु तात अस मोर प्रनामा' उपक्रम है और 'बचन कहे कछु जनककुमारी' उपसंहार है। उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें कहना ही लिखा।

५ 'बचन कहे कछु'। 'कछु' का भाव कि सारे व्याकुलताके दुःख विस्तारसे न कहते बना। यथा—'कहि प्रनामु कछु कहन लिय सिय भइ सिथिल सनेह। थकित बचन लोचन सजल पुलक पल्लवित देह। २। १५२।' अथवा, वस्तुका चिह्न (चूड़ामणि) देकर फिर कुछ वचनकी चिन्हारी कही। अर्थात् कुछ वचन कहे जो चिह्नरूप हैं, जिनसे आपको विश्वास हो कि मैं उनके पास गया था—वह जयन्तकी कथा है, जो आप दोनोंही जानते हैं, दूसरा नहीं।

नोट—२ 'बचन कहे कछु', यथा अध्यात्मे—'इत्युक्ता सा शिरोरत्नं चूडापाशेस्थितं प्रियम्। दत्वा काकेन यद्वृत्तं चित्रकूटगिरौ पुरा। ५। ५। ५३। तदप्याहाश्रुपूर्णाक्षी ..।' अर्थात् केशपाशमें स्थित अपनी प्रिय चूड़ामणि दी और चित्रकूटमें काकके साथ जो कुछ हुआ वह सुनाकर नेत्रोंमें जल भरकर कहा। श्रीसीताजीने जो कहा था कि—'तात सक्रसुत कथा सुनाएहु। बानप्रताप प्रभुहि समुझाएहु। ५। २७।', वह मानसमें स्पष्ट शब्दोंमें हनुमान्‌जीने नहीं कहा, केवल उसका संकेत कर दिया कि 'कुछ वचन-चिह्न भी कहे थे।

मा० त० सु०—जयन्तकी कथा रहस्यसूचक है; अतः 'कछु' इतनाही कहकर रहस्यको सूचित कर दिया। क्योंकि वह रहस्य अति गुप्त है जो अत्यन्त निकटवर्ती हो उसीके जानने योग्य है। अतः गुप्तही कहा।

दीनजी—'जनककुमारी' शब्द साभिप्राय है। इससे व्यंजित किया गया कि 'जनककुमारी' अर्थात् जिसका दुःख देखकर आपने धनुष तोड़ा था, उसीने कुछ बातें कही हैं; उनका दुःख दूर कीजिए। 'चितई सीय कृपायतन जानी बिकल बिसेषि ॥ देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही।'

अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। दीनबंधु प्रनतारति हरना ॥ ३ ॥
मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी ॥ ४ ॥
अवगुन एक मोर मैं माना†। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना※ ॥ ५ ॥

अर्थ—(कहना कि) अनुज समेत प्रभुके चरण पकड़े (इस प्रकार प्रणाम करते हुए कहा कि प्रभो!) आप दीनबन्धु हैं, प्रणतके दुःखके हरनेवाले हैं। (वा हे दीनबन्धु! हे प्रणतार्त्तिहरण!)‡ मैं, मन, कर्म, वचनसे आपके चरणोंकी अनुरागिनी हूँ। हे नाथ! किस अपराधसे मैं त्याग दी गई? ४। मैं मानती हूँ कि मेरा यह एक अवगुण है कि वियोग होते ही प्राण न चलता कर दिया।(अर्थात् यह अपराध त्यागनेके योग्य है, पर मैं आपके दर्शनार्थ जीती हूँ यह समझकर दर्शन दीजिए)।

टिप्पणी—१ 'अनुज समेत गहेहु...' इति। लक्ष्मणजी रामभक्त हैं। भक्तभावसे चरण पकड़े। जैसे भरतजीने कहा है—'सोक समाजु राजु केहि लेखें। लखनरामसिय-पद बिनु देखें। २। १७८।' अथवा, स्नेहकी व्याकुलतासे चरण गहे, जैसे वियोग होते देखकर श्रीकौशल्या अम्बाजी श्रीरामजीके चरणोंमें लपट गई थीं। यथा—'बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी। २. ५७।'

नोट—१ लक्ष्मणजीके चरण क्यों पकड़े? इसका समाधान कई प्रकार लोगोंने किया है। अध्यात्म-रामायणमें लिखा है कि उन्होंने अश्रुपूर्णलोचन होकर कहा कि मेरी कुशल रघुनाथजीसे कहकर लक्ष्मणजीसे कहना कि 'मैंने जो दुर्वचन कहे, हे कुलनन्दन! उनको क्षमा करो और जिस तरह श्रीरामजी मेरा उद्धार करने को उद्यत हों, वह करो।'—'तदप्याहाश्रुपूर्णाक्षी कुशलं ब्रूहि राघवम्। लक्ष्मणं ब्रूहि मे किंचिद्दुरुक्तं भाषितं पुरा॥ तत्क्षमस्वाज्ञभावेन भाषितं कुलनन्दन। तारयेन्मां यथा रामस्तथा कुरु कृपान्वितः अ० रा० ।५।५।५४,५५।' इसके अनुसार चरणस्पर्शसे क्षमा-प्रार्थना और अपनी अति दीन दशा प्रकट की। और समाधान (२) अनुजसमेत तुम (दोनों) प्रभुके चरण पकड़कर कहना। (३) अनुज समेत जो प्रभु हैं उनके चरणोंको स्पर्श करना अर्थात् जब दोनों साथ हों तब कहना, जिसमें लक्ष्मणजीभी सुन लें (मा० म०, करु०, प्र०)।

† 'जाना'—रा० प्र०, रा० व० श०, व्र० चं०।

※ व्र० चं० 'अनुज०' पायकुलक, 'दीनबंधु०' चंद्रवर्तन (४), 'अवगुन०' पायकुलक, 'बिछुरत०' तामरस है।

‡ यह अर्थ पं० रामकुमारजीके मतानुसार है। इस अर्थका कारण वे ऊपर चौ० (२) टिप्पणी ४ में कह चुके हैं। अन्य टीकाकारोंने यह अर्थ किया है कि 'छोटे भाई लक्ष्मणजीके सहित प्रभुके चरणोंको पकड़ना (स्पर्श करना) और कहना कि'। और 'गहेहु' का अर्थभी यही होता है कि 'तुम पकड़ना'।

(४) श्रीजानकीजीने केवल श्रीरामजीसे प्रणाम कहा था, लक्ष्मणजीके चरणस्पर्श कहनेमें महाबीरजीकी चतुराई है। उन्होंने सोचा कि दोनों साथ हैं, यदि अकेले रामजीकाही नाम लूँ तो लक्ष्मणजी कहेंगे कि मेरे लिए माताने कुछ न कहा और यह कहूँ कि माताने मुझे दोनोंके चरणारविन्द छूने योग्य समझकर लक्ष्मणजीके भी चरण छूनेको कहा तो अनुचित न होगा। (५) श्रीसीताजी आर्त्त हैं और 'आरत के न रहत चित चेतू।' आर्त्तके वचनोंमें सँभाल नहीं रहता। अतः ऐसा कहा।

टिप्पणी—२ (क) 'दीनबंधु प्रनतारतिहरना।' ऐसा कहकर चरण पकड़नेकी विधि है; यथा—'त्राहि त्राहि आरति-हरन सरन सुखद रघुवीर। अस कहि करत दंडवत देखा।' 'दीनबंधु' अर्थात् मैं दीन हूँ, मेरी सहायता कीजिए, क्योंकि आप दीनोंके सहायक हैं। 'प्रनतारति हरना' अर्थात् मैं मनकर्मवचनसे चरणानुरागिनी हूँ, शरण हूँ और आर्त्त हूँ; आप मेरे दुःखको हरण करें। यथा—'दीजै दरस दूरि कीजै दुख हौ तुम्ह आरत आरति-दौन। गी० ५. २०।'

३—'मनक्रमबचन चरन अनुरागी ..' इति। (क) मनवचनकर्मके उदाहरण क्रमसे ये हैं—'नाथ जुगल लोचन भरि बारी'; 'बचन कहेउ कछु जनककुमारी', 'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना'। (ख) 'कहि अपराध नाथ हौं त्यागी' का भाव कि आप तो जनका अवगुण मानतेही नहीं, यथा—'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ'। (७.१), 'अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन'; 'दास दोष सुरति चित रहति न...' इति विनये, 'रहति न प्रभुचित चूक किए की। १. २६।' तब मेरा अपराध क्यों देख रहे हैं, मुझसे क्यों रूठ गए हैं जो मेरा शीघ्र उद्धार नहीं करते? (नोट—वाल्मी. ५. ६७ के 'सुराणामपि दुर्धर्षौ किमर्थं मामुपेक्षतः। ममैव दुष्कृतं किञ्चिन्महदस्ति न संशयः॥ २३॥ समर्थावपि तौ यन्मां नावेक्षेते परन्तपौ।' अर्थात् 'समर्थ और अजेय होकरभी मेरी उपेक्षा कर रहे हैं इससे जान पड़ता है कि निस्सन्देह मेरा ही कोई बड़ा पाप वा अपराध है।'—इसका भाव इस अर्धालीमें है।) ☞ जैसा हनुमान्‌जीसे सीताजीने कहा था वैसाही उन्होंने रामजीसे कहा; यथा—

चूड़ामनि उतारि तब दयऊ	१ चलत मोहि चूड़ामनि दीन्हीं
कहेहु तात अस मोर प्रनामा	२ अनुज समेत गहेहु प्रभुचरना

दीनदयाल बिरद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी ३ दीनबंधु प्रनतारति हरना

टिप्पणी—४ 'अवगुन एक मोर मैं माना...' इति। (क) 'मैं माना' मैं स्वीकार करती हूँ क्योंकि मैंने प्रथम कहा था कि 'राखिय अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान' (२. ६६), और उसे करके न दिखाया। अपराध करके उसे न माने यह बड़ा दोष है। अपराध होनेपर उसे मान ले अतः कहती हैं कि 'मैं माना।' अवगुण और अपराध पर्याय हैं। यहाँ 'अवगुन एक मोर मैं माना' कहा है और आगे उसीके विषयमें 'नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा।' कहते हैं।

नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा॥ ६॥
बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहि सरीरा॥ ७॥
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी। जरै न पाव देह बिरहागी*॥ ८॥

अर्थ—हे नाथ! वह अपराध नेत्रोंका है कि प्राण निकलनेमें हठ करके (बलात्) बाधक होते हैं।६। बिरह अग्नि है, शरीर रूई है, श्वास पवन है। शरीर क्षणभरमें जल जाय।७। (पर) नेत्र अपने हितके लिए (रूपदर्शनके निमित्त) जल गिराते रहते हैं जिससे विरहाग्निसे देह जलने नहीं पाती।८।

नोट—१ यहाँ फिर कविका काव्यकौशल स्पष्ट है। २—कृष्ण गीतावलीमें गोपिकाओंने श्रीकृष्णविरहमें अपने प्राण न निकलनेका कारण जो दिया है वह इससे मिलता-जुलता है। यथा—'सुनत कुलिस सम वचन तिहारे। चित दै मधुप सुनहु सोउ कारन जातें जात न प्रान हमारे॥ ज्ञान कृपान समान लगत उर, बिहरत छिन-

* (६), (८) और 'स्वास...।' पायकुलक है, 'बिरह...' चण्डी है।

छिन होत निनारे । अवधि जरा जोरति हठि पुनि पुनि, याते तनु रहत सहत दुख भारे ॥ पावक-बिरह समीर-स्वास तनु तूल मिले तुम्ह जारनिहारे । तिन्हहिं निदरि अपने हित कारन राखत नयन निपुन रखवारे ॥- जीवन कठिन मरन की यह गति दुसह बिपति ब्रजनाथ निवारे । तुलसिदास यह दसा जानि जिय उचित होइ सो कहौ अलि प्यारे । ५६ ।', 'तुम्ह कहि रहे हमहुँ पचि हारी, लोचन हठी तजत हठ नाहीं । तुलसिदास सोइ जतन करहु कछु बारक श्याम इहाँ फिरि जाहीं । ५८ ।', 'मोको अब नयन भए रिपु माई । हरि बियोग तनु तजेहि परम सुख ए राखहिं सोइ है बरिआई । बरु मनु कियो बहुत हित मेरो बारहि बार काम दव लाई । बरषि नीर ये तबहिं बुझावहिं स्वारथ निपुन अधिक चतुराई ।...ए हठ-निरत दरस लालच बस परे जहाँ बुधिबल न बसाई । तुलसिदास इन्हपर जो द्रवहिं हरि तौ पुनि मिलौं बैरु बिसराई ।५६।'- **इन उपर्युक्त उद्धरणोंके सब भाव इन अर्धालियोंमें हैं और उसी कविके हैं । गीतावलीमें भी इन अर्धालियोंकी जोड़के वचन हैं जो श्रीसीताजीने श्रीहनुमान्‌जीसे कहे हैं । यथा—**'बिरह अनल स्वासा समीर निज तनु जारिबे कहँ रही न कछु सक । अति बल जल बरषत दोउ लोचन दिन अरु रैन रहत एकहिं तक । ५. ६ ।' **श्रीहनुमान्‌जीने श्रीरघुनाथजीसे यह दशा यों कही है—**'अतिहि अधिक दरसन की आरति । रामबियोग असोकबिटप तर सीय निमेष कलप सम टारति । बार बार बर बारिज लोचन भरि भरि बरत बारि उर ढारति । मनहुँ बिरहके सद्य घाय हिये लखि तकि तकि धरि धीरज तारति । तुलसिदास जद्यपि निसि बासर छिन-छिन प्रभु मूरतिहि निहारति । मिटति न दुसह ताप तउ तनु की यह बिचारि अंतरगति हारति । ५.१६ ।'—☞ **इन उद्धरणोंके सब भाव यहाँ गोस्वामीजीने थोड़ेमें कह दिये हैं।**

टिप्पणी—१ 'करहिं हठि बाधा ।' भाव कि प्राण रहना नहीं चाहते, नेत्र उन्हें हठात् रोके हुए हैं। प्राणोंका यह हाल कहकर फिर शरीरका हाल कहती हैं कि वह विरहाग्निसे जलने नहीं पाता । देह और प्राण दोनों ही सबको परमप्रिय होते हैं; आपके वियोगमें वे दोनोंमेंसे किसीकोभी नहीं रखना चाहती हैं; पर करें तो क्या ? लाचार हैं । न प्राण निकलने पावें और न देह ही जलने पावे । मिलान कीजिये श्रीदशरथवाक्यसे जो उन्होंने विश्वामित्रजीसे कहे हैं, यथा—'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं । सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं ।'

२—'बिरह अगिनि तनु तूल समीरा । स्वास जरइ छन ..' इति । (क) तनको तूल कहनेका भाव कि शरीरका रक्त और मांस तो विरहाग्निसे जल गया, सूखा शरीर बचा हुआ है । शरीरके भीतर विरह और श्वासा हैं, जो उसे जलाते हैं । जैसे रूईके भीतर अग्नि और पवन रहकर रूईको जलाते हैं । (ख) 'छन माँह' अर्थात् काष्ठादिकके जलनेमें कुछ देर लगती है, पर रूईके जलनेमें किंचित् भी विलंब नहीं होता । ☞ इन चौपाइयोंमें अपने हृदयकी ग्लानि कहती हैं । विरहाग्निसे शरीर निरन्तर जलता है, ऊर्ध्वश्वास चलती है, दिन रात अश्रुपात होते हैं, प्राण निकलना चाहते हैं—यह दशा जनाई ।

३—'नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी...' इति । भाव कि दर्शनार्थ शरीर रखे हुए हैं, यथा—'रामदरस लगि लोग सब करत नेम उपबास । तजि तजि भूषन भोग सुख जियत अवधि की आस ।' **इससे सूचित होता है कि रुदनसे विरह कुछ शान्त हो जाता है, अश्रुपात न हो तो विरहाग्निसे मृत्यु हो जाय । विरहाग्नि इतनी तीव्र है कि शरीर क्षण भर रह नहीं सकता । पर उसकी तीव्रताको अश्रु निरन्तर बहकर शान्त कर देते हैं जिससे शरीर नहीं जल पाता, प्राण नहीं निकल पाते; जैसे रूई पानीमें भीग जानेसे फिर कुछ देर तक नहीं जल पाती । बरवै रामायणमें श्रीसीताजीने हनुमान्‌जीसे यही कहा है; यथा—**'बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ । ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिं बुझाइ । ५ । ३६ ।' नोट १ देखिये ।

दीनजीः—नेत्र रुकावट डालते हैं । उनकेही कारण मृत्यु नहीं हो सकी; क्योंकि वे अपनेही चरणोंको देखती हुई श्रीरामजीके चरणोंका ध्यान कर रही थीं । नेत्र भगवान्‌के चरणोंके ध्यानका लोभ संवरण नहीं कर सकते, इसीसे प्राण नहीं निकले । अर्थात् नेत्रों द्वारा यदि ये अपने चरणोंको देखकर भगवान् रामचन्द्रजीके चरणोंका ध्यान न करती होतीं तो उनकी मृत्युमें संदेह ही न था । अश्रुद्वारा हृदयको कुछ सांत्वना मिल जाती है । ध्वनि यह है कि आपके दर्शनके लिए बराबर रोया करती हैं ।

मा० त० सु०—'छन माहिं' जलानेका भाव कि उसपर अग्निका सहायक दुःखमय श्वासरूपी पवन सदा प्रवृत्त रहता है।

वीरकविजी—प्राण न निकलनेका कारण श्रीसीताजीने किस मनोहर हेतुसूचक युक्तिसे पुष्ट किया कि इसके अपराधी नेत्र हैं। दर्शनके लाभसे उसे बाहर निकलने नहीं देते। शरीर नहीं जलता क्योंकि नेत्र पानी बहाकर बुझा देते हैं। यहाँ 'काव्यलिंग अलंकार' है।

पं० विजयानंद त्रिपाठी, 'बिरह अगिनि .. बिरहागी' इति। यहाँ सती होनेका विज्ञान ग्रन्थकारने बतलाया है। विरहकी अग्निके तापसे थोड़ा बहुत तो सभी परिचित हैं पर यह ताप पराकाष्ठाको उसीमें पहुँचता है, जब पति-प्राणाको पति-विरह होता है! श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि यह ताप इतना तीव्र होता है कि शरीरको रूईकी भाँति भस्म कर सकता है। आँसू गिरनेपर तापकी शांति हो जाती है। अतः पतिके वियोग होनेपर पत्नीके आँसू न गिरनेपर आजभी लोग सशंक हो उठते हैं। पर यह सब उसीमें सम्भव है, जिससे मानसिक व्यभिचार भी नहीं हुआ हो। अतः पतिकी भावना हृदयमें आनेके पहिले ही विवाह कर देनेका पूर्वकालमें नियम था, जिसमें पतिभावनाके हृदयमें आते ही कन्याका ध्यान अपने पति पर ही जाय। यह पातिव्रत्यका पाठशाला था, अब वह कानूनसे तोड़ दिया गया, फिरभी सालमें दो एक दृष्टांत सती होनेके मिल ही जाते हैं।

जो हो पर यहाँ सतीशिरोमणि सीताजी कहती हैं कि इन आँखोंको दर्शनकी आशा है, अतः ये आँसू गिरा देते हैं, जिससे शरीर भींग जाता है, और भींगी हुई रूई नहीं जलती।

सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहे भलि दीनदयाला॥ ९॥

दोहा—निमिष निमिष करुनानिधि‡ जाहिं कलप सम बीति।
बेगि चलिय प्रभु आनिअ भुजबल खल दल जीति†॥३१॥

अर्थ—श्रीसीताजीकी विपत्ति अत्यन्त विशाल है, हे दीनदयाल! बिना कहेही भला है। (अर्थात् कहना भला नहीं है। शीघ्र चलकर शत्रुको मारकर ले आइए, बस इसीमें भला है)। ९। हे करुणानिधे! उन्हें पल-पल कल्पके समान व्यतीत होता है। प्रभो! शीघ्र चलिए, और भुजाओंके बलसे दुष्टोंके दलको जीतकर उन्हें ले आइए। ३१।

टिप्पणी—१ (क) 'अति बिपति बिसाला'। खलमंडलीमें रहना विपत्ति है, उसपर आपका वियोग यह विशाल विपत्ति है। और इसपरभी रावण और राक्षसियोंका उपद्रव यह अति विशाल विपत्ति है। [प० प० प्र० का मत है कि "रामवियोग ही मुख्य विपत्ति है। खलोंकी बस्तीमें सत्संगविहीन रहना 'विशाल विपत्ति है और रावणका दुर्वाद सुनना 'अति विशाल विपत्ति' है।" पं० श्रीकान्तशरणजीने यहाँ शंका उठाकर कि 'कराला' विशेषण न देकर 'बिसाला' क्यों दिया, उसका समाधान यह किया है कि—'कराला' उचित था, पर 'बिसाला' कहा गया, क्योंकि यह विपत्ति वियोग-शृङ्गाररूपमें रामस्नेहके कारण है, इसीसे शोभासूचक विशेषण है। जैसा कि रामस्नेहमें देहत्यागके संबंधसे राजा दशरथकी चिताको भी 'सुहाई' कहा गया है, यथा—'सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई॥' (अ० दो० १६६)।'—पर इस दीनकी समझमें तो यहाँ वस्तुतः 'विपत्ति' के साथ 'बिसाला' और आगे 'बिनहिं' के आनेसे एक प्रकारका अनुप्रास अलंकार है। 'कराला' से अलंकार नष्ट हो जाता। दूसरे, 'बिसाल' इससे कहा कि विपत्ति बहुत दिनोंकी है, बहुत भारी और बड़ी है, औरकठिनता तो 'बिनहिं कहे भलि' इसमें आगई; अलगसे 'कराल' शब्द देनेकी आवश्यकता न

‡ करुनायतन—(कोदवराम)। औरोंमें 'करुनानिधि'।
† 'सीता...' पायकुलक, 'बिनहिं०' तामरस, ३१ दोहरा है। (व्र० चं०)।

रह गई। केवल 'कराल' से कठोरता-मात्र दर्शित होती है, विशालताका भाव उसमें आ ही नहीं सकता। 'बिपति' के साथ 'कराला' शब्दके प्रयोगका उदाहरण उन्होंने यहाँ नहीं दिया है जिससे हम मिलान कर सकें।] (ख) 'बिनहिं कहे भलि'। रावणने कटु बचन कहे, मारनेको दौड़ा, यह बात बिना कहेही अच्छा है; इसीसे नहीं कहते। अथवा, यह बात कहने योग्य नहीं, यह कहकर 'दीनदयाल' विशेषण देनेका भाव यह है कि उनकी दशा बहुत दीन है, आपको सुनकर, सहन न होगी; (उसे सुनकर कहीं यहींसे त्रिलोकीका नाश करनेको सन्नद्ध न हो जायँ); मैं ही देखकर व्याकुल हो गया, यथा—'देखि परमबिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलपसम बीता॥', 'परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन', 'देखि दसा व्याकुल हरीस ग्रीषम के पथिक ज्यों धरनि तरनि तायो। गी० ५।१५।' इसीसे श्रीसीताजीने हनुमान्‌जीसे कहा था कि—'सुनु हनुमंत अनंत-बंधु करुना-सुभाव सीतल कोमल अति। तुलसिदास यहि त्रास जानि जिय बरु दुख सहौं प्रगट कहि न सकति'—(गी०५।९)।

नोट—१ यहाँ 'दीनदयाल' शब्दमें अगूढ़ व्यंग है।

पाँड़ेजी,—सह न सकेंगे; इसीसे अधिक कहना उचित न समझकर एकही पद 'विशाल' कहकर संक्षेप कर दिया। दूसरा अर्थ—'सीताजीकी बिपत्ति इतनी भारी है कि उसकी ओर देखकर आपको दीन-दयाल न कहना ही अच्छा है। अर्थात् वह अति शीघ्रही निवृत्त करने लायक है।'

टिप्पणी—२ 'निमिष निमिष करुनानिधि००' इति। (क) 'करुनानिधि' अर्थात् आप करुणाके समुद्र हैं, करुणा करके शीघ्र चलिए। [गीतावलीमेंभी 'अति बिपति' कहते समय 'करुनानिधि' सम्बोधन दिया गया है। यथा—'सुनहु राम विश्रामधाम हरि! जनकसुता अतिबिपति जैसे सहति। हे सौमित्रिबंधु करुनानिधि मन महँ रटति प्रगट नहिं कहति। निज पद-जलज बिलोकि सोकरत नयननि बारि रहत न एक छन।' (५।१७)।—मानसमें यही दशा ऊपर दोहा ३० में दिखाई गई है।] निमिष-निमिष कल्पसम बीतता है, अर्थात् वे अत्यन्त व्याकुल हैं; यथा—'देखी विपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही'। ऐसी व्याकुल हैं कि मुझ देखनेवालेको क्षण कल्पसम बीता, यथा—'सो छन कपिहि कलप सम बीता'। क्षणसे निमिष कम होता है। देखनेवालेको क्षण कल्पके समान और भोगनेवालेको निमिष कल्पसमान बीता। तात्पर्य कि भोगनेवालेको देखनेवालेसे अधिक दुःख होता है। (ख) 'बेगि चलिय' अर्थात् वे मरणावस्थाको प्राप्त हैं, विलंब होनेसे शरीर छूट जायगा। (ग) ☞ विरहकी दश दशाएँ हैं—(१) अभिलाषा। (२) चिन्ता। (३) स्मरण। (४) गुणकीर्त्तन। (५) उद्वेग अर्थात् कुछभी अच्छा न लगना (६) प्रलाप। (७) उन्माद (पागल हो जाना)। (८) व्याधि (अर्थात् संताप)। (९) जड़ता (चेष्टारहित हो जाना)। (१०) मरण। यहाँतक जानकीजीकी नौ दशाएँ दिखाई, दसवीं न कही। इससे सूचित किया कि वह दशा न कहनी चाहिए। (घ) 'भुजबल खलदल जीति' का भाव कि शत्रुकी इच्छा युद्धकी है, यथा—'जिन्ह कै कीन्हिसि बहुत बड़ाई। देखौं मैं तिन्ह कै प्रभुताई' (५।२५)। अथवा, जाम्बवान्‌से सुना है कि 'तब निज भुजबल राजिवनयना। कौतुक लागि संग सब सैना॥ कपिसेन संग सँहारि निसिचर राम सीतहिं आनिहैं'। इससे कहते हैं कि 'बेगि चलिय प्रभु आनिअ भुजबल खलदल जीति'।

नोट—२ 'बेगि...प्रभु.. भुजबल ...' इति। श्रीजानकीजीका जो संदेशा वाल्मी० ५। ६७। १८-२१ में हनुमान्‌जीने कहा है वह इस उत्तरार्द्धमें आ जाता है। आप 'प्रभु' हैं अर्थात् सुरासुर किसीमें आपके सम्मुख रणमें खड़े रहनेकी शक्ति नहीं है। 'बेगि खलदल जीति' अर्थात् शीघ्र अपने तीक्ष्ण बाणोंसे युद्धमें रावणको मारकर मुझे ले जाइये। पुनः, इन शब्दोंसे यहभी गुप्तरूपसे जना दिया कि रावणको मारकर तो मैं ही श्रीसीताजी को ला सकता था, पर इससे आपके यशमें बट्टा लग जाता, स्वयं अपने पराक्रमसे रावणको बंधुबान्धवों-सहित मारकर श्रीसीताजीको ले आना आपकी परम मर्यादाके अनुकूल होगा। यथा—'कामं त्वमसि पर्याप्तो निहन्तुं सर्वराक्षसान्। राघवस्य यशो हीयेत्त्वया शस्तैस्तु राक्षसैः॥ वाल्मी० ५।३७।५७।...यदि रामो दशग्रीवमिह हत्वा सबान्धवम्। मामितो गृह्य गच्छेत तत्तस्य सदृशं भवेत्।६४।...न देवगन्धर्वभुजङ्गराक्षसा भवन्ति रामेण समा हि संयुगे।६५।'

(श्रीजानकीवाक्य श्रीहनुमान्‌जी प्रति)। श्रीसीताजीके इन वचनोंको सुनकर उन्होंने उनसे कहा था कि ऐसा ही होगा, आप धैर्य धारण करें। यथा -'हत्वा तु समरे क्रूरं रावणं सहबान्धवम्। राघवौ त्वां विशालाक्षि स्वां पुरीं प्रापयिष्यतः। ५। ४० १६।' उसीके अनुसार वे यहाँ प्रभुसे कह रहे हैं। वाल्मीकीयमें यह संदेश कहा है कि— 'बलैः समग्रैर्यदि मां हत्वा रावणमाहवे। विजयी स्वां पुरीं रामो नयेत्तत्स्याद्यशस्करम्॥ यथाहं तस्य वीरस्य वनादुपधिना हृता। रक्षसा तद्भयादेव तथा नार्हति राघवः॥५।६८।१२-१४।' (अर्थात्) यदि श्रीरामचन्द्रजी रावणको उसकी सेनासहित मारकर, विजय प्राप्तकर मुझे ले जायँ तो उनकी कीर्त्ति होगी। जैसे रावण चोरीसे हर लाया उस प्रकार ले जाना उनके योग्य, उनके स्वरूपानुरूप, नहीं है। जिस कार्यसे उनका पराक्रम प्रकाशित हो वह उपाय तुम करना। श्रीहनुमान्‌जीने इन सब बातोंके अनुसार ही यहाँ कहा है। यहाँके 'भुजबल' 'खलदल जीति' की जोड़में 'बलैः' और 'समग्रैः हत्वा रावणमाहवे विजयी' शब्द उपर्युक्त उद्धरणमें हैं। अतः वे सब भाव यहाँ गृहीत हैं। पुनः भाव कि बलदर्पित पुरुषोंके बीचमें पराक्रमसेही काम लेना हनुमान्‌जीको रुचता है (क्योंकि ऐसे लोगोंसे साम, दान और भेदसे काम नहीं चल सकता यह पूर्व कहा जा चुका है), यथा—न भेदसाध्यो बलदर्पिता जनाः पराक्रमस्त्वेव ममेह रोचते। वाल्मी० ५।४१।३।'—इसीसे 'भुजबल खलदल जीति' कहते हैं। अथवा, श्रीसीताजीके कहनेसे हनुमान्‌जी जानते हैं कि रावण कभी सीताजीको जीतेजी न लौटायेगा। यथा —'मम प्रतिप्रदानं हि रावणस्य न रोचते। रावणं मार्गते संख्ये मृत्युःकालवशं गतम्॥ ज्येष्ठा कन्याऽनला नाम विभीषणसुता कपे। तया ममेदमाख्यातं मात्रा प्रहितया स्वयम्॥ वाल्मी० ५। ३७। १०–११।' अतएव 'भुज . जीति' कहा। पुनः, वाल्मी० ६।३ में हनुमान्‌जीने श्रीरामजीसे कहा है कि—रावण आजकल द्यूतादि व्यसनोंसे मुँह मोड़कर, युद्ध के लिये कमर कसे तैयार है। वह सदा जागरूक रहता है और बड़ी सावधानीसे सेनाकी देखरेख किया करता है। यथा—'स्वयं प्रकृतिसम्पन्नो युयुत्सू राम रावणः।१६। उत्थितश्चाप्रमत्तश्च बलानामनुदर्शने।२०।'—यह हनुमान्‌जी देख आए हैं, अतः जानते हैं कि युद्ध अवश्य करना होगा, बिना युद्धके काम न चलेगा। इसीसे 'खलदल जीति' कहा।

मा० त० सु०—'नाम पाहरू' से 'जरइ न पाव देह बिरहागी' तक जीवकी शुद्ध-प्रपत्ति-दशा दिखाई और 'सीता कै अति बिपति०' से 'खलदल जीति' तक जीवको भगवद्‌ग्राह्य करानेमें आचार्यकी तत्परता दिखाई। आगे शुद्ध शरणागतरूप जीवको देख श्रीरघुनाथजीका दयालुतागुण दिखाते हैं। अभिप्राय यह कि जीव जब श्रीकिशोरीजीके सदृश भगवद्‌विरहमें लीन हो जाय और श्रीहनुमान्‌जीके सदृश शुद्ध आचार्य जीवको भगवत्प्राप्ति करानेमें तत्पर हो जायँ, तब भगवान्‌की कृपा शीघ्र हो।

सुनि सीता-दुख प्रभु सुखअयना। भरि आए जल राजिव-नयना॥ १॥

बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिअ बिपति कि ताही॥ २॥

अर्थ—श्रीसीताजीका दुःख सुनकर समर्थ और सुखके धाम प्रभुके कमलनेत्रोंमें जल भर आया।१। वचन, कर्म (शरीर) और मनसे जिसको मेरी गति है, क्या स्वप्नमेंभी उसे विपत्ति होनी चाहिये ?।२।

टिप्पणी—१ 'सुनि सीतादुख...' इति। (क) 'प्रभु', का भाव कि समर्थ हैं, पर असमर्थकी तरह दुःखी होगए। भीतरका दुःख बाहर दर्शित हो गया। (ख) 'सुखअयन' का भाव कि आप तो सुखधाम हैं, आपको दुःख कहाँ ? पर आपभी भक्तके दुःखसे दुःखी हो जाते हैं। यथा—'तव दुख दुखी सुकृपानिकेता'। (५। १४); 'तुलसिदास दुखसुखातीत हरि सोच करत मानहु प्राकृत जन।' (गी० ५. १७)। [पाँड़ेजी कहते हैं कि—सीताजीके दुःखकी बात सुननेके समय 'सुखअयन' विशेषण सुननेमें बेजोड़ सा जान पड़ता है, परन्तु समझनेके योग्य है; क्योंकि यदि प्रभु श्रीसीताजीको अपने वियोगमें सुखी सुनते तो दुखी होते और जब अपने बिना दुखी सुना तब सुखी हुए। सुखकी उमंगमें नेत्रोंमें जल भर आया।] इस तरह 'सुखअयन' कहकर जनाया कि

* (१), (२), (३) पायकुलक है। (त्र० चं०)।

सीताजीका दुःख सुनकर उनकी प्रीति समझकर सुख हुआ; यथा—'अस जिय जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेषी।' (ग) 'राजिवनयन' विशेषण कृपाका द्योतक है; यथा—'राजिवनयन धरे धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक' (१।१८), 'देखी राम सकल कपि सैना। चितइ कृपा करि राजिव नैना'। (५।३५), 'देखी राम बिकल कटकाई। रिपु अनीक नाना बिधि आई। सुनु सुग्रीव....। मैं देखउँ खल बल दलहि बोले राजिवनैन। ६। ६६।', 'राजीवलोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी। अति प्रेम हृदय लगाइ अनुजहिं मिले प्रभु त्रिभुवन धनी।....बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि....। ७। ५', 'राजीव बिलोचन भवभयमोचन पाहि पाहि सरनहिं आई। १। २११।'—३५ (२) देखिये। इससे जनाया कि सीताजीपर कृपा करके दुःखी हुए। अथवा, हनुमान्‌जीने कहा है कि 'नाथ जुगल लोचन भरि बारी' इससे आपके भी नेत्रोंमें जल भर आया। क्योंकि आपका वचन है कि—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता)।

प० प० प्र०—'बचन काय मन मम गति जाही' इति। श्रीसीताजी की दीनता और अनन्यगतित्व सुनते ही माधुर्यभाव भूल गए, ऐश्वर्यभाव प्रगट हो गया। यह 'मम गति' से सूचित हो गया।

टिप्पणी—२ 'सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही'। (क) भाव कि रामानुरागी को विपत्ति नहीं होनी चाहिए। जो भक्त नहीं हैं वे ही विपत्ति में पड़ते हैं। यथा—'जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी', 'जानतहूँ अस प्रभु परिहरहीं। काहे न बिपतिजाल नर परहीं। ४।१२।' (ख) 'सपनेहु' का भाव कि 'जाग्रतिमें विपत्ति है ही नहीं, सुषुप्तिमें तो कुछ खबरही नहीं रहती, और स्वप्नमें भक्त वही देखता है जो भावना रहती है—तात्पर्य कि कहीं भी किसी अवस्थामें उसे विपत्ति नहीं। अनन्यगतिक तो सदा सुखी रहता है। जब भगवान् प्रत्यक्ष नहीं हैं तब वह उनके ध्यानमें सुखी रहता है, जैसे श्रीसुतीक्ष्णजी। यथा 'जाग न ध्यान जनित सुख पावा'। और जब प्रभुका साक्षात् दर्शन प्राप्त होता है तब तो उसके सुखका कहना ही क्या ? दुःख तो दोनों दशाओंमें नहीं होता।

नोट—'सपनेहु....' के अन्य अर्थ ये हैं-१ उससे पूछो कि क्या उसे स्वप्नमें भी विपत्ति है-(पं. रा. कु.)। २-उसके लिये क्या स्वप्नमें भी विपत्ति पूछनी चाहिए ?-(मा० त० सु०)। ३-विचारो तो सही क्या उसे स्वप्नमेंभी विपत्ति हो सकती है-(दीनजी)। क्या उसे स्वप्नमेंभी विपत्ति समझ सकते हो वा समझनी चाहिए। ४-क्या स्वप्नमें भी उसे विपत्ति समझ पड़ती। (पं० श्रीकान्तशरण)। ५-क्या स्वप्नमें भी उसे विपत्ति पूछ सकती है ? अर्थात् स्वप्नमें भी न होनी चाहिये। इत्यादि। ☞ पर 'बूझिअ' को कविने 'चाहिये' के अर्थमें प्रयुक्त किया है। यथा—'ऐसी तोहि न बूझिए हनुमान हठीले।' (विनय ३२)। यही अर्थ यहाँभी है।

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥ ३॥

केतिक बात प्रभु जातुधान की। रिपुहि जीति आनिबी जानकी॥ ४॥*

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीने कहा—हे प्रभो! विपत्ति वही है कि जब आपका भजन स्मरण नहीं होता। ३। हे प्रभो! राक्षसोंकी बात ही कितनी है ? शत्रुको जीतकर जानकीजीको ले आवेंगे। ४।

टिप्पणी—१ 'बिपति प्रभु सोई।००' इति। भाव कि श्रीसीताजी मनकर्मवचनसे चरणानुरागिनी हैं। मनसे चरणसेवा करती हैं; यथा 'मन रामचरन महँ लीन'। वचनसे नामस्मरण करती हैं-'नाम पाहरू'। तनसे चरणसेवा आदि बन नहीं पड़ती, यही विपत्ति है। इसके बाधक राक्षस हैं, सो उन्हें मारकर जानकीजीको ले आवेंगे, बस यह भी विपत्ति मिट जायगी। ☞ हनुमान्‌जीने श्रीसीताजीकी विपत्ति कही और श्रीरामजी सुनकर सजलनयन हुए। अतएव श्रीसीताजीकी विपत्ति निश्चित हुई। और, भक्तको विपत्ति न चाहिए, इसीसे हनुमान्‌जीने दो ही बातें कहीं और दोनों को सिद्ध किया—'स्मरण होता है इससे विपत्ति नहीं है। भजन नहीं होता, यही विपत्ति है।' स्मरण और भजन दो बातें हैं; यथा—'कबहूँ काल न व्यापिहि

* 'केतिक बात....।' प्रियम्बदा, 'रिपुहि....' से (८) तक पायकुलक है।

तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही' (७।८८)। नामस्मरण 'सुमिरन' है। यथा—'रामनाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे।' (१।६०), 'रामराम तेहि सुमिरन कीन्हा। हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा' (५।६)। भजन सेवा है—भज सेवायाम्।

नोट—१ अभिप्रायदीपककार लिखते हैं कि 'सहित नाह बिनु पति कहे, कहे नाह जुत नाह। सुनि कीसहु पतिजुत कहे रहित रूप दुख छाँह। ४०।' अर्थात् विपति=विना पतिका=पतिरहित। श्री-सीताजी तो सदैव प्रभुको हृदयमें बसाये रहती हैं पर हनुमान्‌जी उनको बिना पतिका कहते हैं। उसपर स्वामी श्रीरामजीने कहा कि—'सपनेहु बूझिअ बिपति कि ताही', अर्थात् वे तो सदा पतियुक्त हैं, उन्हें विपत्ति कैसी? प्रभुके वचन सुनकर और उनका आशय समझकर श्रीहनुमान्‌जीने भी उनको पतियुक्त कहा। अर्थात् कहा कि मनसे तो वे सेवा करती हैं पर प्रत्यक्ष सेवा नहीं होती, यही विपत्ति है।

२ श्रीहनुमान्‌जीने श्रीसीताजीको मन, कर्म और वचन तीनोंसे प्रभुके चरणों में रत कहा है, यथा—'नाम पाहरू राति दिनु ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित०। ३०।' और सीताजीके संदेशमें भी यह बात कही गई है, यथा—'मन क्रमं बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी। ३१। ४।'—यह सब कहकर अन्तमें श्रीहनुमान्‌जीने कहा कि 'सीता कै अति बिपति बिसाला।'—इसीपर श्रीरघुनाथ-जीका कहना है कि जिसको मन, कर्म, वचनसे हमारी ही गति है, उसको विपत्ति स्वप्नमें भी न होनी चाहिये। इसमें मेरी समझमें दो भाव हैं। एक तो यह कि उसमें विपत्ति कहना विरोधाभास है। क्योंकि केवल मनके ही अनुरक्त होनेसे तनको दुःखका भान नहीं होता, यथा—'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही। २। २७५।', तब जहाँ मन, तन और वचन तीनों रघुनाथजीमें लगे हैं वहाँ तो स्वप्नमें भी विपत्तिका नामनिशान कहाँ हो सकता है? दूसरे यह कि प्राणप्रिया बड़ी विपत्तिमें है यह सुन प्रभु भी दुःखित हुए और ग्लानिपूर्वक कहने लगे कि सत्य ही उसको हमारे होते हुए विपत्ति न होनी चाहिये थी, शोक है कि मैं अब तक उनको विपत्तिसे न छुड़ा सका।—यही सोचकर तो 'भरि आये जल राजिवनयना।' श्रीहनुमान्‌जी यही दोनों भाव समझे, इसीसे दोनोंके उत्तरमें उन्होंने दो वचन कहे। पहलेके उत्तरमें कहा कि—'बिपति प्रभु सोई।....'। और दूसरेके उत्तरमें कहा कि—'केतिक बात प्रभु....'।

शङ्का—'तब क्या सीताहरणसे लेकर अग्निपरिशोधनतककी विपत्तिको झेलकर भी श्रीजनकनन्दिनी-जी विपद्ग्रस्ता नहीं थीं? अथवा उपर्युक्त प्रसङ्ग भगवतभागवतके मनोविनोदार्थ युक्तिमात्र ही है?'

किसी महानुभावकी इस शङ्काका टिप्पणी १ में दिया हुआ ही समाधान करके फिर वे० भू० जी लिखते हैं—परन्तु लङ्कामें जब तब (यदाकदा) जितनी देर तक कभी रावणके कारण और कभी रावण प्रेरित निशचरियोंके कारण स्मरण एवं ध्यान छूट जाता है, उतनी देर तक अति विशाल विपत्ति रहती है। भगवद्ध्यान स्मरणमें लीन अध्यात्मतत्त्वज्ञ महारथियों परम भागवतोंका अनुभव है कि—'सा हानिस्तन्म-हच्छिद्रं तद्धि दुःखं महत्तमम्। यदा पुंसो हरेर्नाम विस्मरणं किल जायते। (भक्तिरसायन)।' हा! हन्त!! कहाँ तो क्षणमात्रके स्मरण-विस्मरणको महत्तम दुःखका अनुभव किया जाता था और कहाँ आज क्षणमात्र भी समुचित रूपेण सुमिरण भजन नहीं हो पाता तब भी हमलोगोंको पश्चात्ताप नहीं होता।

नोट—३ स्मरण रहे कि समस्त प्राचीन प्रामाणिक पोथियोंका पाठ 'तव' ही है, 'तब' पाठ किसी में नहीं है।

वि० त्रि०—श्रीहनुमान्‌जी विपत्तिकी परिभाषा बतलाते हैं। जिस समय सुमिरन भजन न हो उसी समयका नाम विपत्ति है। सुमिरन भजन न होनेका मतलब संसारकी ओर उन्मुख होना है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि मनका बहिर्मुख होना ही विपत्ति है। शङ्कर भगवान् कहते हैं कि 'सत हरि भजन जगत सब सपना।' 'सपना' का भाव यह है कि सब जगत् क्षण-भङ्गुर है। क्षणभङ्गुरका नाश ही होगा, अतः उसमें मन लगानेवालेको पदे पदे विपत्ति है।

श्रीनंगे परमहंसजी—'श्रीरामजीका प्रश्न बहुवचनमें अपने भक्तोंके लिये है और हनूमान्‌जीका उत्तर भी बहुवचनमें है; अर्थात् आपके भक्त दो प्रकारके हैं—एक आपके नामका सुमिरन करनेवाले हैं और दूसरे आपका भजन (सेवा) करनेवाले; परन्तु इस प्रश्नकी मुख्य कारण श्रीसीताजी हैं; उन्हींके लिये प्रश्न और उत्तर हो रहा है। श्रीहनूमान्‌जी कहते हैं कि जो आपका नामस्मरण करनेवाले हैं उनके स्मरणमें बाधा पड़ती है तो उनकी विपत्ति वही है और उनके लिये दूसरी कोई विपत्ति नहीं है। पुनः जो आपकी सेवा करनेवाले भक्त हैं। आपकी सेवामें जब बाधा पड़ती है, उनसे आपकी सेवा नहीं होती, तो उनकी विपत्ति वही है और दूसरी विपत्ति उनके लिये नहीं है। अतः जानकीजी सेवा करनेवाले भक्तोंमें हैं, आपकी सेवा उनसे छूटी हुई है। इसलिये उनकी विपत्ति यही है। रह गया जो वे नामका सुमिरन और ध्यान कर रही हैं वह तो श्रीरामजीके वियोगमें कर रही हैं, नहीं तो संयोगमें सिवा सेवाके दूसरी भक्ति नहीं करतीं; क्योंकि संयोगमें उसका मौक़ा ही नहीं है।'

टिप्पणी—२ 'केतिक बात प्रभु जातुधान की' इति। यथा—'देखी मैं दसकंठ सभा सब मोतें कोउ न सबल तौ। गी० ५। १३।' अथवा, आप 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं; आपके सामने राक्षस क्या चीज़ हैं? उनका मारना कुछ बात नहीं है।

नोट—४ 'केतिक....आनिबी' इति। इसमें तीन अर्थ और भाव हैं। एक तो यह कि राक्षसोंका नाश करना आपके लिये कोई बड़ी बात नहीं है, यही बात हनूमान्‌जीने श्रीसीताजी और रावणसे कही है, यथा—'नतु कहँ रघुपति-सायक-रबि तम-अनीक कहँ जातुधान की।', 'रावन जु पै राम रन रोषे। को कहि सकै सुरासुर समरथ बिसिष काल-दसननि ते चोषे।'—(गी० ५। ११, १२), 'रामबान-रबि उएँ जानकी। तम-बरूथ कहँ जातुधान की। ५। १५।'; और आगे स्वयं प्रभुने कहा है—'जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनइ निमिष महँ तेते। ५। ४४।'—तब चिन्ताकी क्या बात? आप उन्हें शीघ्र ले आवेंगे। दूसरे यह कि आपकी आज्ञा हो तो आपकी कृपासे मैं ही सबको जीतकर ले आऊँगा। यथा—'जौ हौं प्रभु आयसु लै चलतो। तौ यहि रिस तोहि सहित दसानन जातुधान दल दलतो॥ रावन सो रसराज सुभट-रस सहित लंक खल खलतो। करि पुटपाक नाक-नायकहित घने-घने घर घलतो॥....गी० ५। १३।', 'अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई। प्रभु आयसु नहिं....' (५। १६)। भाव कि मैं सेवाके लिये तैयार हूँ, आप शोच न करें। तीसरे यह कि हम सब भी साथ चलें, चलकर ले आइये। 'आनिबी' में तीनों भावार्थ हैं।

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी॥ ५॥

अर्थ—(श्रीरामजी बोले) हे कपि! तेरे समान उपकारी सुर, नर, मुनि, कोई भी शरीरधारी नहीं है।५।

नोट—१ इस चौपाईकी जोड़का श्लोक अध्यात्ममें यह है—'हनूमंस्ते कृतं कार्यं देवैरपि सुदुष्करम्। उपकारं न पश्यामि तव प्रत्युपकारिणः। ५। ५। ६०।' अर्थात् तुमने जो कार्य किया है वह देवताओंसे भी होना कठिन है, मैं इसके बदलेमें तुम्हारा क्या उपकार करूँ—सो नहीं जानता। और, वाल्मी० युद्धकांडमें उपकार माननेका कारण यह कहा है कि 'देवता, दानव, यक्ष, गंधर्व, राक्षस और उरग आदि किसीका भी सामर्थ्य नहीं कि लंकापुरीमें पहुँचकर जीतेजी वहाँसे लौट आ सके और हनुमान्‌जीके अतिरिक्त किसीकी मजाल नहीं, ताब नहीं, शक्ति नहीं कि अकेला उसमें प्रवेश कर सकता। उनके सीताजीका समाचार ले आनेसे मैं तथा बलवान् लक्ष्मण तथा अन्य रघुवंशियोंका धर्म बच गया। मुझे एक बात बहुत खटक रही है कि मैं इस प्रिय संवाददाताको इस कार्यके अनुरूप कुछ भी पारितोषिक नहीं दे सकता। यथा—'देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्। अप्रधृष्यां पुरीं लङ्कां रावणेन सुरक्षिताम्। ६। १। ४।....प्रविष्टः सत्वमाश्रित्य श्वसन्को नाम निष्क्रमेत्। ५।....अहं च रघुवंशश्च लक्ष्मणश्च महाबलः। वैदेह्या दर्शनेनाद्य धर्मतः परिरक्षिताः। १२। इदं तु मम दीनस्य मनो भूयः प्रकर्षति। यदिहास्य प्रियाख्यातुर्न कुर्मि सदृशं प्रियम्। १३।'—येही कारण यहाँ समझना चाहिये।

टिप्पणी—१ (क) सुर-नर-मुनिका ऋण जगत् मात्रपर है। यथा—'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ इति मनुः।' देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण सबपर रहता है। सो ये तीनों भी तुम्हारे ऋणी हुए। ये भी तुम्हारा प्रत्युपकार नहीं कर सकते (तात्पर्य कि सुर-नर-मुनि सबको रावण दुःख देता है, तुमने उसका मान भंग करके सबको सुख दिया)। ये तीनों विशेष उपकारी होते हैं; और जीव वैसा उपकार करना नहीं जानते। अतएव प्रधान तीन ही लिखे और जितने देहधारी जीव हैं, उनको गौण रक्खा। अभिप्राय यह है कि कपितनसे जो उपकार तुम्हारे द्वारा हुआ, वह सुर-नर-मुनि-तनसे किसीसे नहीं हुआ। अथवा, (ख) तुम्हारे समान हमारा उपकारी कोई नहीं है। तात्पर्य यह कि हनुमान्‌जीके 'रिपुहि जीति आनिबी जानकी' ये वचन सुनकर प्रभु प्रसन्न हो गए। जैसे—'सब प्रकार करिहौं सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई ॥', सुग्रीवजीके इन वचनोंको सुनकर प्रभु प्रसन्न हो गए थे। यथा—'सखा बचन सुनि हरषे कृपासिंधु बलसींव। ४। ५।' अतः यह कहकर अपनी प्रसन्नता प्रदर्शित की। अथवा, (ग)—जब उपकार करके ईश्वरको ऋणी बनाया तब सुर-नर-मुनिने हनुमान्‌जीको बराबर उपकारी कहा है कि किसने ऐसा काम किया है? किसको ईश्वरने ऐसा कहा है?

नोट—२ (क) अध्यात्म और वाल्मीकीय रामायणोंके उपर्युक्त उद्धरणोंके अनुसार उपर्युक्त टिप्पणी—१ (ख) का भाव अधिक प्रसंगानुकूल जान पड़ता है। भाव यह है कि यह दुष्कर कार्य कोई और कर ही नहीं सकता था; क्योंकि सभी रावणसे भयभीत रहते हैं; दूसरे वे सब स्वार्थी होते हैं; यथा—'सुर-नर-मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती।' और तुमने स्वार्थरहित उपकार किया है। अतएव ऐसा उपकार करनेवाला कोई नहीं। (ख) सुरसे स्वर्गलोक और नर-मुनिसे भूलोक कहे। दोनों लोकोंमें कोई नहीं। पाताल लोक को न कहा क्योंकि वे तो शत्रु ही हैं, वहाँ उपकारीका नाम ही कहाँ?

रा० शं०—कोई ऐसा उपकारी नहीं—सुग्रीव बालिके डरसे मारे-मारे फिरते थे। उनकी प्रभुसे मित्रता कराके उनका दुःख मिटाया। वानर प्यासे मरते थे उनको बचाया। समुद्रतटपर सब अनशनव्रत करने लगे तब समुद्र पारकर लंकामें जाकर सीताजीका समाचार लाकर सबके प्राण बचाये....।

प्रति-उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा ॥ ६ ॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं ॥ ७ ॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता ॥ ८ ॥

अर्थ—मैं तेरा क्या प्रत्युपकार करूँ (तुम्हारे उपकारके बदलेमें क्या उपकार करूँ?)। मेरा मन सन्मुख नहीं हो सकता। ६। हे पुत्र! सुन, मैं तुझसे उऋण नहीं, मैंने मनमें (खूब) विचारकर देख लिया। ७। देवताओंके रक्षक प्रभु बारम्बार कपिको देखते हैं, उनके नेत्र सजल हैं और शरीर अत्यन्त पुलकित है (रोमावलि खड़ी है)। ८।

टिप्पणी—१ 'सनमुख होइ न सकत मन मोरा' इति। भाव कि—(क) उपकार समझकर मन थक जाता है, वहाँ तक नहीं पहुँचता, तब तनसे क्या कर सकता हूँ? अथवा, (ख) प्रत्युपकारके योग्य कुछ भी मेरे मनमें आता ही नहीं। अथवा, (ग)—जब प्रत्युपकार कुछ भी नहीं बन पड़ता तब लोग लज्जित हो जाते हैं। मैं तुम्हारा कुछ प्रत्युपकार नहीं कर सका, इसीसे मेरा मन सम्मुख नहीं होता। अर्थात् मैं मनसे लज्जित हो रहा हूँ। (घ) यहाँ प्रभुने मन, कर्म, वचन तीनोंसे अपनी हार दिखाई—'सनमुख होइ न सकत मन मोरा' (मन है)। 'कपिहि चितव सुरत्राता' (कर्म है)। 'प्रतिउपकार करौं का'—(वचन है)।

२—'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं....' इति। (क) विचारकर देख लिया; यथा—'एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं ॥ नाहिंन तात उरिन मैं तोही।' (भरतवाक्य हनुमान्‌प्रति। ७।२।)। पुनः यथा—'अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि-पुनि रमा। का देउँ तोहि त्रैलोक महुँ कपि किमपि नहिं बानी

समा' । (६ । १०६ । श्रीजानकीवाक्य हनुमान्‌प्रति) । (ख)—ऋणी जब 'व्योहर' (व्यवहारी) से उऋण नहीं होता तब आँख सामने नहीं कर सकता, यह सब ऋणियोंकी रीति है ।

नोट—१ यहाँ कृतज्ञताकी इति है । इनमें गूढ़ ध्वनि यह है कि प्रत्युपकार तो उसके साथ किया जाता है जिसके मन में कोई इच्छा वर्तमान हो, परन्तु तुम्हारे हृदयमें स्वार्थका लेशभी नहीं है, तब मैं क्या कर सकता हूँ ? (वीरकवि) ।

२ हनुमन्नाटकमें प्रभुने कहा है कि मैं चाहता हूँ कि प्रत्युपकारका विचार भी मेरे मनमें न आवे। क्योंकि ऐसा विचार करना मानों यह मनाना है कि जिसने हमारे साथ उपकार किया, वह भी ऐसी ही विपत्तिमें पड़े, जिसमें हम बदला चुका दें । अतएव 'तोहि उरिन मैं नाहीं' कहकर सूचित करते हैं कि ऐसा कभी भी अवसर न पड़े । यही ठीक है कि मैं ऋणी ही बना रहूँ । (प्र०)

३ कालनेमिका वध करके द्रुहिणगिरि लानेपर ऐसा कहा गया है। यथा—'एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे । प्रत्यक्षं क्रियमाणस्य शेषस्य ऋणिनो वयम् । ३५ । अङ्गेष्वेव जरां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे । भवान्प्रत्युपकारार्थमापत्सु लभतां पदम् ॥ ३६ । हनु० ना० १३ ।' अर्थात् हे वानर ! प्रत्यक्ष किये हुये तुम्हारे एक-एक उपकारके बदलेमें मैं प्राणदान कर दूँ पर शेष उपकारोंके लिये तो मैं ऋणीही हूँ । अर्थात् लक्ष्मणजीके प्राणदानके बदलेमें मैं तुम्हें प्राण दे दूँ परन्तु समुद्रलंघन, सीताशोध आदिके प्रत्युपकार करनेमें मैं असमर्थ हूँ अतः ऋणी हूँ । ३५ । हे कपिराज ! तुमने जो उपकार किये हैं वे मेरे शरीरमेंही जीर्ण हो जायँ, तुम्हारे प्रत्युपकारके लिये आपत्तियोंमें स्थानको न पावें । अर्थात् तुम्हारे शरीरमें कभी आपत्ति ही न हो कि हम उन उपकारोंका प्रत्युपकार करें । यही बात वाल्मीकीयमें उत्तरकाण्ड सर्ग ४० में श्लोक २२ व २३ में कही है, किंचित् शब्दोंका हेर-फेर है, अर्थ वही है ।

४—इस कथनसे प्रभुके शील स्वभाव तथा प्रीतिकी रीतिकी जानकारीमें परम प्रवीणताभी दिखाई है । यथा—'सुनि सीतापति सील सुभाउ ।····कपिसेवावस भये कनौड़े कह्यो पवनसुत आउ । दीबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तूं पत्र लिखाउ ॥ विनय १०० ।', 'जानत प्रीति रीति रघुराई ।····प्रेम कनौड़ो राम सों प्रभु तिभुवन तिहुँ काल न भाई । तेरो रिनी हौं कह्यो कपि सों ऐसी मानिहि को सेवकाई ॥ विनय १६४ ।'—यही प्रेमकनौड़ापन यहाँभी कहा है।

५ उपकार करनेमें 'सुनु कपि' कहा, क्योंकि कपितनसे उन्होंने उपकार किया है और उऋण न होनेमें 'सुनु सुत' कहा, क्योंकि पिताको पुत्र अत्यन्त प्यारा होता है, वह कभी स्वप्नमेंभी नहीं चाहता कि पुत्रपर कोई भी विपत्ति आवे, कभी पुत्रके साथ ऐसी प्रत्युपकारकी भावना उसके जीमें नहीं आनेकी । उसी भावसे 'सुत' सम्बोधन किया । पुनः, यहाँ यह भी दिखाया कि श्रीजानकीजीने उनको 'सुत' मान लिया है, यथा—'हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना', 'अजर अमर गुननिधि सुत होहू । करहु बहुत रघुनायक छोहू ॥'; अतएव अब प्रभुने भी सुत मान लिया और उनके दिये हुए आशीर्वादको यहाँ चरितार्थ कर दिया । ☞स्मरण रहे कि श्रीरघुनाथजीसे प्रथम भेंटमें जो हनुमान्‌जीने कहा था—'सेवक सुत पति मातु भरोसे । रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें । ४।३।', उसमेंसे सेवक तो पूर्वही मान लिया था—'सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ । ४।३।' और सुत अब ऋणी होनेपर मान लिया । इस प्रकार 'सुत' शब्दसे भगवान्‌ने उस सम्बन्धका समर्थन किया जिस सम्बन्धको महारानीजीने मानकर श्रीहनुमान्‌जीको आशीर्वाद दिया है । यह महारानीजीका पुरुषकारत्व सिद्ध हुआ ।

प० प० प्र०—१ पूर्व ३० (८) में 'कहहु' बहुवचनका प्रयोग किया है । अब यहाँसे 'तोरा' 'सुत' 'तोहि' इत्यादि एकवचनके प्रयोग हैं । यह भेद परम प्रसन्नताका सूचक है। यह सिद्धान्त प्रभु-नारद-संवाद (अरण्यकांडमें) स्पष्ट किया है। 'सुत' शब्दसे दोनोंकी समानता बताई गई—'आत्मा वै पुत्र नामासि' (श्रुति)

२ सुतका जन्म प्रथम माता ही जानती है तब पिता । इसीसे प्रथम श्रीसीताजीने हनुमान्‌जीको सुत बनाया तब श्रीरामजीने । यह कविका व्यवहार मर्यादा पालन कौशल धन्य है !

मा० त० सु०—(क) यहाँ 'सुत' 'शब्दसे सम्बोधन अतिस्नेहसूचक है । (ख)—'करि विचार' का

भाव कि जन्मसमय देवताओंके वरद्वारा तुम सब कुछ पा ही चुके, फिर किशोरीजी तुमको सब कुछ देही चुकीं। अब क्या रहा जो मैं दूँ और फिर तुम सब प्रकारकी वासनाओंसे रहित हो। अतएव उऋण नहीं हो सकता।

टिप्पणी—३ 'पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता'। (क) बारबार देखनेका कारण यह है कि मन सम्मुख नहीं होता, इसीसे नेत्रभी सम्मुख नहीं होते। देखा कि दृष्टि सामनेसे नीचे हो जाती है। देखकर तुरंत आँख नीची कर लेते हैं। यदि एकबारगी एकटक देखते रहते तो 'चितइ रहे' ऐसा लिखते; यथा—'रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार-मद-मोचन। १। २६६।' (ख) 'पुनि पुनि' अर्थात् एकबार देखा, फिर सिर नीचा कर लिया, फिर देखते हैं फिर दृष्टि नीचे कर लेते हैं; इस प्रकार देखते हैं। तात्पर्य कि आँख सामने जातेही मनमें लज्जित हो जाते हैं। पुनः, भाव कि देखनेसे तृप्ति नहीं होती, इससे बारम्बार देखते हैं। यथा—'पुनि पुनि प्रभुहिं चितव नरनाहू। पुलकगात उर अधिक उछाहू। १। २१७।' अथवा प्रेमके कारण बारंबार देखते हैं। यथा—'कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहि। चितवति कृपासिंधु रनधीरहि' (७। ७), 'पुनि पुनि रामहिं चितव सिय सकुचति मन सकुचै न। बा० ३२६।' उत्तरार्द्धमें प्रेमकी दशा भी दिखाते हैं—'लोचन नीर०'। अतएव सिद्ध हुआ कि प्रेमके मारे बारंबार देखते हैं। (ग) ☞ देखिए जिनकी कृपादृष्टिके लिये देवगण तरसते हैं, चाहते हैं कि प्रभु हमारी ओर एकबार कृपादृष्टिसे देख लें, यथा—'अब करि कृपा बिलोकि मोहि आयसु देहु कृपाल' इति इन्द्रः। (६। ११२), 'मामवलोकय पंकजलोचन। कृपाबिलोकनि सोचबिमोचन' इति नारदः (७। ५१); 'रघुनंद निकंदय द्वंद्वघनं। महिपाल बिलोकय दीनजनं' इति शिवः। (७। १४); वे ही रामजी बारंबार हनुमान्-जीकी ओर देखते हैं कि इसने हमारा बड़ा काम किया, हमारे साथ बड़ा उपकार किया।

४ 'सुरत्राता'का भाव कि जो प्रभु देवताओंका उपकार कर रहे हैं वेही कपिके उपकारके वश हो गए।

५ जैसे भक्त भगवान्को देखकर पुलकित होता है, वैसेही भगवान् भक्तको देख देखकर पुलकित हो रहे हैं। यथा—'मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुर्ष लोचन जल भरई' (७। ५०)। (भक्त)। और यहाँ 'लोचन नीर पुलक अति गाता'।

दो०—सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥३२॥

बार बार प्रभु चहैं† उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा*॥ १॥

अर्थ—प्रभुके बचन सुनकर और मुख एवं शरीर देखकर हनुमान्जी शरीरसे पुलकित एवं हर्षित और प्रेमसे व्याकुल होकर 'त्राहिं त्राहि भगवंत' अर्थात् 'हे भगवन्! मेरी रक्षा कीजिये, मेरी रक्षा कीजिये'—यह कहते हुए प्रभुके चरणोंपर पड़ गए। ३२। प्रभु बारबार उठाना चाहते हैं। हनुमान्जी प्रेममें मग्न हैं। उन्हें उठना नहीं सुहाता। १।

❀ कांडका नाम 'सुन्दर' क्यों पड़ा ❀

मा० हं०—१ रामायणके कांडोंका नाम-निर्देश नायककी अवस्था, स्थल और क्रियापर ध्यान रखकर ही किया गया दिखता है। इस पद्धतिके अनुसार इस कांडको 'सीताशुद्धिकांड' अथवा इसी प्रकारका कोई दूसरा नाम देना चाहिये था; परन्तु सबसे पहिले वाल्मीकिजीनेही इसे 'सुन्दर' नाम दिया और बादमें उसी नामका प्रचार हुआ। २—यथार्थमें इस कांडकोही 'सुन्दर' कहनेसे ऐसा हो गया कि बाकी सब कांड सुंदर नहीं हैं। यह ध्वनि क्या वाल्मीकिजीकी समझमें न आई होगी? तौ भी उन्होंने इस कांडका वही नाम रखा

---

† चहहिं—(ना० प्र०)। चहइ—गी० प्र०। चहैं—भा० दा०।

❀ दो० ३२ दोहादोहरामिश्रित है। (१) (२) पायकुलक। (ब्र० चं०)।

है—इसका कारण क्या होगा ? इस प्रश्नका विचार होना आवश्यक है। ३—जब ऐसा निश्चय हो जाता है कि असाध्य वस्तुके साध्य होनेके साधन आकस्मिक योगसे प्राप्त हो जाते हैं, तब भावी आनन्दकी प्रभा, एकदम चित्तपर झलकने लगती है। रावणके कुलक्षयका मुख्य साधन सीताशोध था। श्रीहनुमान्‌जी द्वारा उस साधनके हाथमें अकस्मात् उपस्थित होनेसे रामजी एकदम आनन्दमें मग्न हो गये। यह आनन्दकी अवस्था बहुतही सुंदर रहती है। श्रीरामजीकी इसी अवस्थाका निदर्शक समझकर आदिकविने इसे 'सुन्दर-कांड' का प्रेमयुक्त नाम दिया होगा।

एक दूसरी कल्पना यहभी है कि वाल्मीकि और अध्यात्म दोनों रामायणोंका सुन्दरकांड, सीताशोध तथा हनुमान्‌जीके प्रेमानन्दतक है। इस राम-हनुमान्-प्रेमकी समरसताका परिणाम, वाल्मीकिजीकोभी समरस करनेमें हुआ ही होगा, क्योंकि गोसाईंजीकीभी वह समरस अवस्था हुई थी। यह हमें उन्हींके 'सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत। चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत ॥३१॥ बारबार प्रभु चहैं उठावा। प्रेममगन तेहि उठब न भावा। प्रभुपदपंकज कपि कै सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥ सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर॥' इन शब्दोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है।

इसी समरस अवस्थाका सूचक (या उपलक्षण) समझकर इस कांडको 'सुन्दर' विशेषण आदि-कविने यदि प्रेम और गौरवसे दिया हो, तो वहभी बिलकुल स्वाभाविक हो सकता है। हर तरहसे देखनेसे हमारा अभिप्राय यही होता है कि काव्यगुणकी दृष्टिसे कांडका तारतम्य भाव सोचकर इस कांडका नाम 'सुन्दर कांड' नहीं रखा गया है। यह नाम रामजीके अथवा कविके प्रेमाविष्कारसे, (अथवा, हनुमान्‌जीको यदि उपनायक समझें तो उनके प्रेम प्रागल्भ्यसे) धरा गया होगा।—मं० श्लो० १ भी देखिए।—[☞गोस्वामीजीके इस ग्रंथमें इस कांडका नाम 'पंचम सोपान' है। अथ और इति दोनोंमें यही नाम है।]

श्रीगौड़जी—इस कांडका नाम 'सुंदर' क्यों पड़ा, इसपर लोग अनेक कल्पनायें करते हैं। इसके सम्बन्धमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—'सुन्दरे सुन्दरो रामः सुन्दरे सुन्दरी कथा। सुन्दरे सुन्दरी सीता सुन्दरे किन्न सुन्दरम्।' भाव यह कि सुन्दर कांडमें सुन्दर राम और सुन्दरी सीताकी सुन्दरी कथा दी हुई है, इसीलिये इसका नाम सुन्दरकाण्ड है। परन्तु इस युक्तिमें यह दोष है कि राम और सीताकी कथा तो सारी रामायणमें दी हुई है। काव्यका सौंदर्य तो हर काण्डमें अपने-अपने ढंगपर अपूर्व है। यदि सुंदरताके ही विचारसे इस कांडको सुंदर कांड कहा जाय तो और कांडोंको इसकी अपेक्षा असुंदर ठहराना पड़ेगा। इसके कथाभागमें भी प्रधानता राम और सीताकी नहीं है। इस कांडके मुख्य नायक हनुमान्‌जी हैं। जिनसे कि सुन्दर शब्दसे कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक काण्डका नामकरण किसी न किसी विशेष कारणसे हुआ है। जिसमें उसके नायकका कोई न कोई विशेष सम्बन्ध है। बालकाण्डके नायक चारों कुमारोंके बालचरितपर बालकाण्डका नाम रक्खा गया है। अयोध्याकाण्ड इसलिये नाम पड़ा कि सारी घटनाएँ अयोध्याके राज्यके सम्बन्धमें हुई हैं। अरण्य या बनकाण्ड इसलिये कहा गया कि वनवासका सबसे अधिक समय दण्डकारण्यमें बीता। किष्किन्धाकाण्डकी सारी घटनाएँ किष्किन्धामें हुई हैं। लंकाकाण्डकी सारी घटनाएँ लंकामें हुई हैं। राज्य-सिंहासन पर बैठनेके बादकी कथाएँ उत्तरकाण्डमें आई हैं। उत्तरका अर्थ ही है पीछेका। इस तरह प्रत्येक काण्डका नाम किसी विशेष प्रयोजनसे रक्खा गया है, उस काण्डमें वर्णन किये गये विषयकी ओजस्विता माधुर्य प्रसाद वा सौंदर्य आदि गुणोंके ऊपर नामकरण नहीं हुआ है। यदि ऐसा होता तो लंकाकाण्डका नाम ओजस्वीकाण्ड होता। बालकाण्डका नाम मधुरकाण्ड होता। अयोध्याकाण्डका नाम कारुण्यकाण्ड होता। अरण्यकाण्डका नाम वियोगकांड होता। किष्किन्धाकाण्डका नाम मैत्रीकांड होता। परन्तु रामायणी कवियोंने नामकी ऐसी कल्पना नहीं की। मेरी रायमें इस काण्डका नाम उस गिरिशिखरके नामसे पड़ा है जिसपरसे समुद्र लंघनके लिये हनुमान्‌जीने पहिली छलांग मारी है। उस शिखरका नाम सुंदर था, ऐसा कई लोगोंका मत है। हनुमान्‌जीके उस चरित्रका इस काण्ड भरमें वर्णन किया गया है जिसका आरम्भ सुंदर

नामक शिखरसे हुआ था, इसलिए सुन्दरकाण्ड स्थानवाचक नाम है। (विशेष मं० श्लो० १ में लिखा जा चुका है)

टिप्पणी—१ (क) 'सुनि प्रभु बचन'। प्रभुकी आज्ञा थी कि 'सुनु सुत', 'सुनु कपि'; इसीसे उनके वचनका सुनना कहा। 'प्रभु' का भाव कि कहाँ वे ऐसे समर्थ स्वामी और कहाँ उनके ऐसे दीन वचन कि 'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं'? (ख) 'बिलोकि मुख' से जनाया कि जब प्रभु प्रशंसा करने लगे कि 'सुनु सुत तोहि समान उपकारी। नहि कोउ....', तब हनुमान्जीने सकुचकर सिर नीचे कर लिया था, जैसा कि सत्पुरुषों, शिष्ट लोगों, सन्तोंका सहज स्वभाव है; यथा—'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।' (३।४६)। अब प्रभुके वचन सुनकर मुखकी ओर देखा कि आपसे हद है, आप हमारी प्रशंसा कर रहे हैं, और, 'गात' (शरीर) की ओर देखा कि आप मुझे देखकर 'अति पुलकित' हो रहे हैं।

२ 'त्राहि त्राहि भगवंत' अर्थात् इस बड़ाईसे मेरी रक्षा कीजिए, बड़ाई प्रशंसा भक्तके लिए बाधक हैं; यथा—'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥ ये सब रामभगतिके बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक। ३।७।'

नोट—१ 'त्राहि त्राहि भगवंत' इति। (क) श्रीहनुमान्जीने सोचा कि ऐसे समर्थ प्रभु कि जिनके प्रतापसे 'बड़वानलहिं जारि सकै खलु तूल।' और 'गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल'—(ये दोनों उक्तियाँ श्रीहनुमान्जीकी ही हैं। प्रथम उक्ति आगे दोहा ३३ में है और दूसरी उक्ति पूर्व दोहा १६ में किशोरीजीसे कही गई है)—एवं जो 'मसकहि करहिं बिरंचि अजहिं मसक ते हीन' वे मेरे ऋणी बनते हैं और कहते हैं कि 'सनमुख होइ न सकत मन मोरा' इससे बड़ा भारी भय मुझे अभिमानरूपी शत्रुका है, इस बड़ाईसे मुझे अहंकार न उत्पन्न हो जाय, कहीं इस माधुर्यमें मैं भूल न जाऊँ, मुझे प्रभुकी बलवती माया न धर दबावे! इन्हीं शत्रुओंसे बचनेके लिये वे 'त्राहि त्राहि' कर रहे हैं। तात्पर्य कि मैं इस बड़ाईके योग्य नहीं, ऐसा न कीजिए कि मुझे अभिमान हो जाय और मैं आपको खो बैठूँ; यथा—'होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना। उ० ६२।' (ख)—हनुमान्जीके उपकारसे स्वामीके मनमें संकोच हुआ और उससे भूरि भूरि कृतज्ञता प्रकाशकर वे ऋणी बने, इससे हनुमान्जीके हृदयमें व्रीड़ा, हर्ष, चपलता, आवेग, त्रास आदि संचारी भावोंका उदय होना 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है। व्रीड़ा—स्वामी प्रदत्त विशेष मानमर्यादासे। हर्ष—स्वामीकी प्रसन्नतासे। चपलता—अत्यन्त प्रेमसे। आवेग—मुझे मान न उत्पन्न हो, इस भयसे। त्रास—चित्तकी विह्वलतासे। प्रेममें मग्न होकर स्वामीके पाँवपर पड़ना और त्राहि त्राहि करना, इन दोनों अनुभावोंसे उपर्युक्त भावोंकी पुष्टि होती है। (वीरकवि)। (ग)—हनुमान्जी चरणपादुकाके अवतार हैं, अतः चरणोंपर पड़ना योग्यही है, इसीसे उठतेभी नहीं (बंदनपाठकजी)। (घ)—यह प्रेमकी क्रांत दशा है।—(बैजनाथजी)।

टिप्पणी—३ (क) 'भगवंत' संबोधनका भाव कि आप ईश्वर हैं, ईश्वरका उपकार भला जीव क्या कर सकता है? (ख) इस दोहेमें हनुमान्जीका मन-वचन-कर्मसे शरण होना दिखाया।—'हरषि' (मन), त्राहि०' (वचन) और 'चरन परेउ' (कर्म) हैं। और, प्रभुने उनकी रक्षा की, इसीसे अभिमान नहीं हुआ जैसा कि आगे कवि स्वयं स्पष्ट कहते हैं; यथा—'बोला बचन बिगत अभिमाना'। यदि रक्षा न करते तो अभिमान उत्पन्न हो जाता। आगे लंकाकांडमें श्रीभरतजीके—'चढु मम सायक सैल समेता। पठवौं तोहि जहँ कृपा निकेता। ५९ (६)।' इन वचनोंको सुनकर अभिमान हुआ है पर प्रभु का प्रभावस्मरण हो आनेसे वह तुरतही दूरभी हो गया; यथा—'सुनि कपि मन उपजा अभिमाना। मोरे भार चलिहि किमि बाना॥ राम प्रभाव बिचारि बहोरी। बंदि चरन कह कपि कर जोरी॥ तव प्रताप उर राखि....'।

४ 'बार बार प्रभु चहै उठावा।००' इति। यथा—'परे भूमि नहिं उठत उठाये। बर करि कृपासिंधु उर लाये'। (७।५। श्रीभरत-राम-प्रसंगे)। 'बारबार' उठानेका भाव कि-(क) न उठानेसे अनादर सूचित होता है और दास जल्दी उठ पड़े तो उसमें प्रेमकी न्यूनता पाई जाती है। पुनः, (ख) प्रभु हृदयसे लगानेके लिए उठाना चाहते हैं जैसा आगे स्पष्ट करते हैं—'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा' और, हनुमान्जीको उठना

अच्छा नहीं लगता; क्योंकि ये सेवक हैं, सेवक चरणके उपासक हैं, तब अपने इष्टदेवके परम श्रेयस्कर चरण पाकर कैसे छोड़ें ? उधर जो दास चरणोंको नहीं छोड़ते उन्हें प्रभु हृदयसे लगाते हैं, यथा—'अस सज्जन मम उर बस कैसे । लोभी हृदय बसत धन जैसे ।' अथवा, (ग) हनुमान्‌जीके वचन सुनकर प्रभु प्रेममें मग्न हो गए; यथा—'लोचन नीर पुलक अति गाता', इसी तरह श्रीरामजीके वचन सुनकर हनुमान्‌जी प्रेममें डूब गए। अन्योन्य प्रेम दिखाया।

मा० त० सु०—चरणोंपर गिरते ही प्रभुने 'उठावा' अर्थात् हस्तावलम्बन दे दिया, तब उस समय श्रीहनुमान्‌जीने स्वच्छन्दतापूर्वक चरणरजका स्पर्श न पानेके कारण उठना नहीं चाहा। पुनः, भाव कि प्रभुके 'सनमुख होइ न सकत मन मोरा' इन वचनोंको सुनकर भयभीत हो गए थे, अतएव चरणोंपर गिरे थे; जब प्रभुने उठाना चाहा तब हनुमान्‌जी अधिक भयभीत हो गये कि प्रभु मुझे दूर करना चाहते हैं; अतएव उन्होंने उठना न चाहा।

नोट—२ प्रभु उठाना चाहते हैं फिर वे क्यों नहीं उठते ? इसका उत्तर वक्ता स्वयं देते हैं कि 'वे प्रेममें डूबे हैं'। प्रभुके चरणोंकी प्राप्ति, करकमलकी छाया ही नहीं वरञ्च सिरपर साक्षात् करकमल रखा हुआ, जानकर जो सुख वे अनुभव कर रहे हैं, उसको कौन जानता है ? उस सुखको पाकर कौन उसे हटाना चाहेगा कि जिसकी दशामात्रका स्मरण करके गौरीश भी मग्न हो गए ?

मा० त० सु०—शङ्का—भरतजीको प्रभुने बल करके उठाया था, यथा—'परे भूमि नहिं उठत उठाये । बर करि कृपासिंधु उर लाये'। वैसे ही हनुमान्‌जीको क्यों न उठाया ? समाधान—भरतजी यद्यपि दास्यभावसे पदपंकजपर पड़े, पर रघुनन्दनजीने बिचारा कि यद्यपि इन्होंने दास्यधर्म स्वीकार किया है तथापि ये मेरे भाई हैं, अतः ये मेरे समान आदरणीय हैं। इनका स्थान बगल है और दासोंका स्थान चरण है; यथा—'जनमे एक संग सब भाई ।....बिमल बंस यह अनुचित एकू । बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ।' अतः लौकिक रीतिसे प्रभुने भ्रातृभाव ही दिखलाया; इसीसे उनको तुरंत बलपूर्वक उठा लिया। किन्तु श्रीहनुमान्‌जी तो सदाके दास हैं, इसीसे जब उठानेपर उन्होंने न उठना चाहा, तब यह बिचारकर कि इस समय यह अपने परम धनको पाये हुए हैं, जब कुछ समय तक इसका अनुभव कर लें तब उठाऊँ।

प० प० प्र०—वाल्मीकीयमें इसके आगेकी सब कथा युद्धकाण्डमें है। मानसमें सागर-निग्रह तककी कथा सुन्दरकाण्डमें ही देकर कवि जनाते हैं कि इसके सप्त सोपान सप्तपुरियाँ हैं। सुन्दरकाण्ड कांचीपुरी है। कांचीमें दो विभाग हैं, शिवकांची और विष्णुकांची। श्रीहनुमान्‌जीका चरित कहकर यदि काण्डको समाप्त कर देते तो कांचीपुरी नाम अयथार्थ हो जाता। 'पवन-तनयके चरित सुहाए। जामवंत रघुपतिहि सुनाए' पर शिवकांची (श्रीहनुमच्चरित्र) पूर्ण हो गई। आगेके ३० दोहे विष्णुकांचीके हैं; कारण कि इसमें मुख्यतः श्रीरामजीका ही चरित्र है। इस तरह सागर-निग्रह-कथापर इस कांडकी समाप्ति करके इस कांडको यथार्थतः कांचीपुरी सिद्ध किया।

प्रभु कर पंकज कपि के† सीसा । सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा ॥ २ ॥
सावधान मन करि पुनि संकर । लागे कहन कथा अति सुंदर* ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रभुका करकमल हनुमान्‌जीके सिरपर है। इस (प्रेमकी) दशाको स्मरण करके श्रीगौरीश जो (प्रेममें) मग्न हो गए। २। फिर मनको सावधान करके शंकरजी अत्यन्त सुन्दर कथा कहने लगे। ३।

टिप्पणी—१ 'प्रभु कर-पंकज कपिके सीसा ।....' इति। (क)—हनुमान्‌जी महारुद्रावतार हैं, यह पूर्व लिखा जा चुका है। शिवजी यह बिचारकर कि यह आनन्द और प्रेम उस रूपमें प्राप्त हुआ था, उस

† के—भा. दा. । कें—गी. प्र. । कै—का., ना. प्र. । हालना (भगवानदासजी) 'कै' को उत्तम कहते हैं। ❀ 'सावधान....' १२१४वाँ भेद है, 'लागे....' ११६१वाँ भेद है। (व्र० चं०)।

दशाको स्मरण करके, उसका ध्यान करके कि हमारे सिरपर प्रभु अपना हस्तकमल रखे हुए हैं, शिवजी उसकी दशामें स्वयं भी मग्न हो गए। वा, (ख) यह अलभ्य लाभ है। इसकी सभी महात्मा इच्छा करते हैं, यथा—'कबहूँ सो करसरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे', पर किसी-किसीको ही यह सौभाग्य प्राप्त होता है। अतएव उस दशाको स्मरणकर उसमें मग्न हो गये।—['सुमिरि' कहकर जनाया कि शिवजी अपने शिव-रूपमें उस दशाको अनुभव नहीं कर सके। इसीसे तो वे राज्याभिषेकके समय 'अनपायिनी भक्ति'की याचना करते हैं, यथा—'बार-बार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरंग। पदसरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग। ७।१४।'; और हनुमान्‌जीको तो तत्काल ही उसकी प्राप्ति हो गई। जैसा आगे कहा गया है—(मा० त० सु०)। 'गौरीसा'का भाव कि दशाको स्मरणकर सम्मुखोपस्थित गौरी-सी पत्नीको भी भूल गये। (मा० त० सु०)]

२ (क) सीताशोधके लिये किष्किंधासे प्रस्थान करते समय भी श्रीरामजीने अपना कर-कमल हनुमान्‌जीके सिरपर रक्खा था और अब भी। 'परसा सीस सरोरुह पानी' (४।२३) उपक्रम है और 'प्रभु कर-पंकज कपिके सीसा' उपसंहार है।—(प्रायः उपक्रम और उपसंहार किसी विषयके प्रतिपादनमें दिये जाते हैं)। (ख) 'गौरीश' पदसे यह भी सूचित होता है कि गौरी और ईश (शंकर) श्रोतावक्ता दोनों ही मग्न हो गए, कपि मग्न हैं और ग्रंथकार भी। इसीसे कथाको 'अति सुंदर' विशेषण दिया। [नोट—आगे शंकरजीका मन सावधान करना कहकर 'गौरीशका' अर्थ शंकरजी (गौरीपति) ही जनाया; गौरी और शंकर दोनों नहीं।]

प० प० प्र०—मनुजी, जटायुजी और भुशुंडीजीके सिरपर हाथ रखनेकी कथा कहते समय शिवजी ऐसे प्रेममें मग्न नहीं हुए; केवल हनुमान्‌जीकी कथा कहते समय 'प्रभु कर पंकज कपि के सीसा' कहते ही 'सुमिरि सो दसा' अर्थात् श्रीहनूमान्‌जीके शरीरमें पूर्वानुभूत दशाका स्मरण होते ही उसी दशामें गौरीश मग्न हो गए। इस कथनसे ध्वनित किया कि हनुमान्‌जी श्रीशिवावतार हैं।

वंदनपाठकजी—'यहाँ श्रीरामजी, हनुमान्‌जी और शिवजी तीनों प्रेममें मग्न हैं। इससे एकता दिखाई है'।

मा० म०—भाव यह कि श्रीरामचंद्रजी अपना हाथ रखकर मानों अपना ऋण चुकाते हैं। उस ऋणमें रामचंद्रजीने क्या दिया सो पानेवाला ही चीन्ह सकता है; क्योंकि जिसके स्मरणसे स्वयं शिवजी प्रेममें मग्न हो गए उसे दूसरा क्योंकर कह सकता है ?

मा० हं०—'सुनि प्रभु बचन०'से 'सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा' तक, यह वर्णन वाल्मीकि और अध्यात्ममें नहीं है। यह गोस्वामीजीका निजका ही उनका भक्त्युद्रेक है। किंबहुना उसमें स्वामीजी ही प्रतीत हुएसे भावुकोंको दिखेंगे। इसका कारण उन्हींके ही प्रकट किए हुए इस संवादके निम्नलिखित माहात्म्यमें देखिए।—'यह संबाद जासु उर आवा। रघुपति चरन भगति सोइ पावा'।

टिप्पणी—३ 'सावधान मन करि पुनि संकर।....' इति। (क) पूर्व कहा कि 'सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा'। इसमें मनका नाम न दिया और अब यहाँ कहते हैं कि मनको सावधान किया। कारण कि मन प्रेमसें डूब गया था, इसीसे ग्रन्थकारने भी उसे शब्दोंमें प्रकट न किया था, अब जब सावधान हुआ तब उसे प्रत्यक्ष कहा। (ख) मनको सावधान किया। भाव यह कि जिस समय तक प्रभु श्रीहनुमान्‌जीके सिरपर करकमल रक्खे रहे, उस समय तक ये भी मग्न रहे। जब प्रभुने उठाकर हृदयसे लगाया तब शिवजी भी जगे और सावधान होकर कपिको उठाकर हृदयसे लगाया जाना कहने लगे। यथा—'मगन ध्यान रस दंड जुग पुनि मन बाहर कीन्ह। रघुपतिचरित महेस तब हरषित बरनइ लीन्ह'। [नोट— मेरी समझमें पं० रामकुमारजीका आशय यह है कि कथा कहते समय वह दृश्य श्रीशिवजीके मनःपटलपर प्रत्यक्ष हो रहा था। —विशेष १। १११ में देखिये।] (ग) 'शंकर' नाम दिया, क्योंकि सबके कल्याणार्थ कथा कहने लगे। (घ) 'कथा अति सुंदर'का भाव कि सुंदर तो ध्यान भी था पर कथा 'अति सुंदर' है। प्रमाण यथा—'जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान। जे हरिकथा न करहिं रति तिन्ह के हिय पाषान' (उ० ४२)। पुनः, 'अतिसुंदर'

विशेषण देकर जनाया कि कविभी प्रेममें मग्न हो गए थे, विशेष्य विशेषण समानाधिकरणकी खबर न रही, प्रेम-हृदसे स्नान करके मन निकला, बस उसी मनसे कथा कहने लगे; इसीसे कथा अति सुन्दरी हुई।

नोट—१ 'अति सुन्दर' क्योंकि इस सम्वादका बड़ा भारी महत्व है कि बिना किसी साधनके सहजही भक्ति प्राप्त होती है। केवल इतनाही हृदयमें लाना है कि किसपर किस रीतिसे कैसी कृपा की, इत्यादि। (प्र०)। विशेष प० प० प्र० की टिप्पणी देखिए।

श्रीलमगोड़ाजी—१ फ़िल्मकलाकी सुकुमारता तो जगह-जगह है ही, कहाँतक कही जाय? २—सारी कथाही 'अति सुन्दर' है, एक किस अंशको लिया जाय? सच है—'सुत' और 'शिष्य' दोनों सूत्रात्माही हैं। भगवान्ने अपने मुख्य 'हरिजन' हनुमान्जीकोही सेवा-भक्तिके मन्त्रकी दीक्षा दी थी।—'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचररूप स्वामि भगवंत। ४।३।'—मैं तो इसीको रामायणका मूल मन्त्र समझता हूँ। आज निस्स्वार्थ हनुमान्जी सेवाका सार्टीफिकेट स्वामीकी कृतज्ञताके रूपमें पाते हैं और मग्न होकर स्वामीके चरणपर गिरकर ही प्रेम शरण लेता है। इससे सुन्दर और क्या कथा होगी? इसीसे तो शङ्करजी, जो और प्रसंगों में मग्न नहीं हुए, यहाँ अपनेको न रोक सके और मग्न हो गए।—यह वास्तविक 'वहदानियत', 'एक-ईश्वरवाद' है। शेखसादीभी कहते हैं—'ऊ जाने-जहानस्त वो जहाँ जुस्ला बदन। तौहीद हमीनस्त वो दिगर शेवा वो फ़न॥' (अर्थात् वह सारे जगत्की जान है और सारा जगत् उसका शरीर है। असल तौहीद यही है और सब ढोंग और धोखा है।)—इसीसे भुशुण्डीजीने भी कहा है कि—'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।' ३—मेरी समझमें इस 'अति-सुन्दर' कथाके कारण ही कांडका नाम सुंदर है। ☞रचना, प्रसाद गुण तथा सरलता और सरसता का उदाहरण ही है। इसीसे बहुधा विद्यार्थियोंको यही काण्ड पहले पढ़ाया जाता है। ४—धन्य हैं श्रीहनुमान्जी जिन्हें भगवान्ने 'सुत' की उपाधि दी जो और किसीको नहीं मिली—(This is the Peerage of रामराज्य)। जस्टिस मेरेडिथने, पटनाहाईकोर्टके जजकी हैसियतसे ठीक लिखा है कि सरकारी नौकर केवल ताज (Crown) का नौकर नहीं (भौतिक राज्यसत्ताका चिह्नमात्र), पर उसे अपनेको Servant of the Idial (आदर्शका सेवक) ही मानना चाहिए। वह 'सेवा-आदर्श' इससे बढ़कर क्या होगा? काउण्ट टाल्सटूवाय भी समाजके आदर्शका मूल मन्त्र निःस्वार्थ सेवा तथा त्यागही मानते हैं, Communism और Socialism (समाजवादके दो रूपों) के कृत्रिम साधन नहीं। ☞ सच है, रामराज्य (आदर्श राज्य) का यही मूल मन्त्र हो सकता है। H. G. Wells नेभी अपनी Modern Utopia में 'समुदाई' नामक सेवक संघको ही आदर्श-राज्य शैलीका आधार माना है और उनकी सेवाभी कुछ-कुछ ऐसीही है।

प० प० प्र०—इस काण्डका समग्र चरित ही सुंदर है तथापि यह चरित 'अति सुंदर' है। क्योंकि इसमें भगवान्ने हनुमान्जीको 'सुत' बनाया, उनके ऋणिया बने, इस एकही प्रसंगमें अपने भक्तसे तीन बार मिले, बार-बार उनको उठाना चाहते हैं पर वे उठना नहीं चाहते, चरणकमलोंपर पड़े हैं और भगवान् बार-बार उनके सिरपर अपना कर कमल फेर रहे हैं। भगवान् और भक्त दोनों प्रेममें मग्न हैं। भगवान् भक्तके मुखारविन्दको बारंबार देख रहे हैं, परम निकट बिठाते हैं, उसको अनपायिनी भक्ति प्रदान करते हैं।—यह कथा समग्र मानसमें एकमेवाद्वितीय, अति प्रलोभनीय, परम आदरणीय और चित्तको परम द्रवित करनेवाली होनेसे 'अति सुन्दर' है।

कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा॥ ४॥

अर्थ—कपिको उठाकर प्रभुने हृदयसे लगाया। हाथ पकड़कर बिलकुल पास बिठा लिया। ४।

नोट—१ भगवान्ने अपनेको ऋणी कहा और श्रीहनुमान्जीके कार्यके अनुरूप कोई पारितोषिक है ही नहीं जो देते यह विचारकर सर्वस्वदानरूप आलिङ्गनही कार्यके योग्य पुरस्कार उनको दिया। यथा—

'एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गो हनूमतः। मया कालमिमं प्राप्य दत्तश्चास्तु‡ महात्मनः॥ इत्युक्त्वा प्रीतिहृष्टाङ्गो रामस्तं परिषस्वजे। हनूमन्तं महात्मानं कृतकार्यमुपागतम्॥ † वाल्मी० ६। १। १४-१५।' अर्थात् जो हो, इस समय मेरा यह सर्वस्वदानरूप आलिङ्गनही महात्मा हनुमान्‌जी के कार्यके योग्य पुरस्कार हो, यह कहकर पुलकित शरीरसे श्रीरामजीने उनको गले लगा लिया। और अध्यात्ममें तो यह कहकर कि 'बदलेमें क्या उपकार करूँ—यह नहीं जानता' फिर तुरन्त कहते हैं कि—'लो, मैं अभी तुम्हें अपना सर्वस्व सौंपता हूँ।' और ऐसा कहकर हनुमान्‌जीको खींचकर गाढ़ आलिङ्गन करके कहा कि—'संसारमें मुझ परमात्माका आलिङ्गन मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। अतः तुम मेरे परम भक्त और प्रिय हो।' यथा—'उपकारं न पश्यामि तव प्रत्युपकारिणः॥ अ. रा. ५।५।६०। इदानीं ते प्रयच्छामि सर्वस्वं मम मारुते। इत्यालिङ्ग्य समाकृष्य गाढं वानरपुङ्गवम्। ६१।...परिरम्भो हि मे लोके दुर्लभः परमात्मनः। अतस्त्वं मम भक्तोऽसि प्रियोऽसि हरिपुङ्गव।६३।' ☞ गोस्वामीजीके 'राम', वाल्मीकीय और अध्यात्म कल्पके 'राम' से कहीं अधिक सुशील और सङ्कोची हैं, तब भला वे अपनेको ऋणी कहकर फिर यह बातें कैसे कहते जो वाल्मीकीय आदिके 'राम' जीने कही हैं? तथापि 'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा' मात्र कर्मसे मानसकविने उपर्युक्तभाव भी गुप्तरूपसे दरसा दिये हैं कि यह आलिङ्गन सर्वस्वदानरूप है और परमदुर्लभ पदार्थ है-पर यह कार्यका पारितोषिक हो, यह कथन उनको न भाया।

२—'कपि उठाइ....' इति। चरणोंपर पड़ते ही प्रथम उठाना चाहा था पर प्रेममें मग्न होनेसे उठाना न भाया, तब प्रभुने प्रबोधके लिये करकमल शिरपर रख दिया। फिर देहाध्यासरहित देख जैसे चेतनाशून्यको उठाया जाय वैसे उठाकर हृदयसे लगाया। भाव यह कि तुम मेरे हृदयमें धारण करने योग्य हो, यथा—'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसत धन जैसे।' फिर जब चैतन्यतायुक्त देखा, तब हाथ पकड़कर अत्यन्त निकट बैठाया। (मा० त० सु०)।

टिप्पणी—१ प्रभु बारबार कपिको उठाना चाहते थे, सो उठाकर हृदयसे लगा लिया—यह रामजीकी प्रीति कही। और, हनुमान्‌जीको, उठाना न अच्छा लगा, इसीसे वे अपने से न उठे—यह कपिकी प्रीति कही।

२ (क) श्रीरामचन्द्रजीने तीन बार कपिको हृदयसे लगाया—प्रथम जब चरणोंपर पड़े तब 'प्रीति सहित सब भेंटे रघुपति करुनापुंज'। दूसरे, जब जाम्बवन्तजीसे इनका चरित सुना तब—'पुनि हनुमान हरषि हिय लाये'। तीसरे, जब हनुमान्‌जी पुनः चरणोंपर प्रेमाकुल होकर पड़े तब 'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा' (ख) हनुमान्‌जी उठना न चाहते थे। इससे पाया गया कि जब बहुत देर तक पड़े रहे तब प्रभुने 'बरबस' उठाकर हृदयसे लगाया; यथा—'बरबस लिये उठाइ उर लाये कृपानिधान।', 'परे भूमि नहिं उठत उठाये। बर करि कृपासिंधु उर लाये'। (भरतजीके प्रसङ्गमें)। बरबस=बल करके।

३—'कर गहि परम निकट बैठावा'। हाथ पकड़ना और निकट बिठाना दोनों अत्यन्त प्रेम (एवं आदर) सूचित करते हैं। यथा—'सुनि सनेह बस उठि नरनाहा। बैठारे रघुपति गहि बाँहा॥' (अ० ७७), 'कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे'; 'भरत बसिष्ठ निकट बैठारे। नीति धरममय बचन उचारे' (२। १८७।१), 'स्वागत पूँछि निकट बैठारे। लछिमन सादर चरन पखारे' (आ० ४१), इत्यादि।

मा० त० सु०—१ हाथ पकड़नेका भाव कि जिस मायासे भयभीत होकर तू इस दशाको प्राप्त हुआ है, वह मेरे हाथकी छायामात्रसे निवृत्त होती है। यथा—'सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति ताप पाप माया', उसी हाथको मैंने तेरे अधीन कर दिया। २—निकट बिठानेका भाव कि तू मेरा पार्श्ववर्ती होने योग्य है, मेरे समग्र ऐश्वर्यका अधिपति है—यह भाव 'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं' के आशयके अनुसार है।

प० प०प्र०—हाथ पकड़कर बैठाना, निकट बैठाना, हाथ पकड़कर निकट बैठाना और हाथ पकड़कर

‡ दत्तस्तस्य। † 'हनूमंतं कृतात्मानं कृतवाक्यमुपागतम्' पाठान्तर है।

परम निकट बैठाना, ये उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रीति तथा आदरके निदर्शक हैं। श्रीहनुमान्‌जीके समान यह आदर संपूर्ण मानसमें किसीको भी नहीं मिला।

कहु कपि रावनपालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका॥ ५॥
प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना। बोला बचन बिगत अभिमाना॥ ६॥

अर्थ—हे कपि! कहो तो, तुमने रावणसे रक्षित लंका और उसका अत्यन्त बाँका किला कैसे जलाया?। ५। श्रीहनुमान्‌जीने प्रभुको प्रसन्न जाना (तब) वे अभिमानरहित वचन बोले। ६।

प० प० प्र०—'कपि' का भाव कि इन्द्रादि देवताओंको भी जो काम अगम्य है वह तुमने कपि होकर कैसे कर डाला? इसका उत्तर हनुमान्‌जीने सीताजीको दोहा १६ में और प्रभुको आगे दोहा ३३ में दिया है। ☞ इस प्रश्नको करके भगवान् दिखाते हैं कि देखो सच्चे सेवक कितने निरहंकारी और विनीत होते हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'केहि बिधि' अर्थात् लंकादहनकी कोई विधि नहीं देख पड़ती कि कैसे कोई उसे जला सकता है। क्योंकि उसका रक्षक दिग्विजयी रावण है। पुनः उसका किला 'अति बंका' है। (ख) 'अति बंका' अर्थात् किले तो सभी बंक होते हैं, पर यह सबसे अत्यन्त बाँका है, ऐसा दूसरा नहीं। [नोट—१ 'दुर्ग अति बंका' इति। वाल्मीकीयमें हनुमान्‌जीने श्रीरघुनाथजीसे जो बताया है कि—लंका ऐसे पहाड़पर है जो सीधा खड़ा हुआ है (अर्थात् उसपर चढ़नेका रास्ता नहीं है), वह देवताओंके दुर्गके समान नितान्त दुर्गम है। उसमें नदी दुर्ग, गिरिदुर्ग, वनदुर्ग और कृत्रिम दुर्ग हैं। उसके चारों ओर खाई है और वह शतघ्नी तथा विविध प्रकारके यंत्रोंसे सुशोभित है। वह दुर्धर्ष और दुर्जेय बनी हुई है। यथा—'लङ्कापुनर्निरालम्बा देवदुर्गा भयावहा। ६। ३। २०। नादेयं पार्वतं वन्यं कृत्रिमं च चतुर्विधम्।' इत्यादि।—यही सब 'दुर्ग अति बंका' से अभिप्रेत है। २—ऐसाही प्रश्न हनुमन्नाटकमें श्रीहनुमान्‌जीसे हुआ है और उत्तरभी वैसाही है जैसा यहाँ। यथा—'त्रिदशैरपि दुर्धर्षा लंका नाम महापुरी। कथं वीर त्वया दग्धा विद्यमाने दशानने। ६। ४२।' अर्थात् हे वीर! दशमुखवाले रावणके रहते हुयेभी तुमने देवताओंसे दुर्धर्ष ऐसी लंकापुरीको कैसे जला डाला?—अर्धालीके 'दुग अतिबंका' को ही यहाँ 'त्रिदशैरपि दुर्धर्षा' कहा है। अर्थात् उसे देवताभी नहीं तोड़ सकते और न जीत सकते हैं। पूरी अर्धालीके भाव इस श्लोकमें हैं।]—(ग) प्रभुने समुद्रका लाँघना, अशोकवनका उजाड़ना, इत्यादि, न पूछा, केवल लंकादहनके विषयमें प्रश्न किया। कारण यह कि यह कार्य सबसे कठिन है, यथा—'उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते जारि गयेउ कपि लंका', 'आवा प्रथम नगर जेहि जारा। सुनत बचन कह बालिकुमारा। ६। २३।' 'जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा। ६। ३५।', 'जारत नगरु कस न धरि खाहू। ६। ६।' इत्यादि। लंकादहनसे ही राक्षस शंकित हुए हैं, दूसरे किसी कामसे नहीं।

नोट—१ 'प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना।' इति। पूर्व प्रभुने कहा था कि 'सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥ सुनु कपि तोहि उरिन मैं नाहीं।' जिसका तात्पर्य यह होता है कि तुम धनी हो मैं ऋणिया हूँ, तुम महाजन हो मैं तुम्हारा करजदार हूँ, इस प्रकार प्रभु हनुमान्‌जीको अपनी 'साहिबी' दे रहे थे। इसीपर हनुमान्‌जीने त्राहि त्राहि करते हुए चरणोंपर गिरकर सूचित किया कि मैं तो इन चरणोंका दास हूँ, दासत्व छोड़कर मुझे साहिबी न चाहिये। प्रभुने इनके सिरपर हस्तकमल रखकर दासत्व देना स्वीकार किया। इससे हनुमान्‌जीने जाना कि प्रभु प्रसन्न हैं, नहीं तो प्रथम लंकासे आनेपर क्या वे अप्रसन्न थे? (शिला)

टिप्पणी—२ 'प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना। ००' का तात्पर्य यह है कि जब प्रभु प्रसन्न होते हैं, तब जीव अभिमानरहित होता है। 'प्रसन्न जाना' का भाव कि प्रसन्नतामें संदेह था, क्योंकि नगरमें आग लगाना आततायीका काम है, इससे कहीं प्रभु अप्रसन्न न हों? यथा—'सत्य नगर कपि जारेउ बिनु प्रभु आयसु

❀ 'कहु....' तामरस, 'केहि बिधि....' से 'मतुसाई' तक पायकुलक।

पाइ। फिरि न गयउ सुग्रीव पहिं तेहि भय रहा लुकाइ। ६।२३।' पर इसी बातको प्रभु बड़े आदरसे पूछते हैं, अतः निश्चय हुआ कि प्रसन्न हैं। (सिरपर हस्तकमल रक्खा, उठाया, हृदयसे लगाया और हाथ पकड़कर बगलमें बिठाया—यह उत्तरोत्तर अधिक कृपा और प्रसन्नताका द्योतक है ही। अतः 'प्रसन्न जाना' कहा)। पुनः उठाकर हृदयसे लगाया, परमनिकट बिठाकर प्रेमसे प्रश्न किया, इससे प्रसन्नता जानी। पुनः, मस्तकपर हाथ रखना पूर्ण कृपाका चिह्न है। हनुमान्‌जी प्रेममें मग्न हो गए, इसीसे प्रभुने अत्यन्त कृपा की; यथा—'उमा जोग जप दान तप नाना व्रत मख नेम। राम कृपा नहिं करहिं तस जस निःकेवल प्रेम'।

३ (क)—अभिमानरहित वचन बोले, इसीसे 'बोला' एकवचन पद दिया, नहीं तो बहुवचन 'बोले' पद देते। (ख) 'बिगत अभिमान' वचन बोले क्योंकि भगवान्‌को अभिमान अच्छा नहीं लगता, यथा—'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ। ७। ७४।'

नोट—२ प्रभु ऋणी बने तब भी अभिमान न हुआ, यह प्रभुकी ओरसे रक्षा हुई। जो बात कोई न कर सके उसके करनेपर अभिमान हो जाना स्वाभाविक है, अतः 'बिगत अभिमान' कहा।

साखामृग कै बड़ि मनुसाई। साखा ते साखा पर जाई॥ ७॥
नाघि† सिंधु हाटकपुर जारा। निसिचरगन बधि बिपिन उजारा॥ ८॥
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू‡ मोरि प्रभुताई*॥ ९॥

अर्थ—वानरकी यही बड़ी बहादुरी (पुरुषार्थ) है कि वह एक डाल परसे दूसरी डालपर जाता है।७। (जो) सिंधुको लाँघकर सोनेका नगर जलाया और निशाचारोंके समूहको मारकर वनको उजाड़ा।८। यह सब, हे रघुराई! आपका प्रताप है (आपके प्रतापने किया है)। हे नाथ! इसमें मेरी प्रभुता कुछभी नहीं है।९।

टिप्पणी—१ (क) शाखासे शाखापर जाना कहते हैं, इसीसे यहाँ 'शाखामृग' साभिप्राय नाम दिया। (ख) 'बड़ि मनुसाई' अर्थात् सारा पुरुषार्थ बस इतनेमें ही हो जाता है। आगे समुद्रलंघन, आदिको रामप्रतापसे कहेंगे, इसीसे अपना पुरुषार्थ इतनेमेंही समाप्त कर दिया। यहाँ 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार' है।

२ 'नाघि सिंधु०' अर्थात् शाखापर कूदफाँद करनेवाला समुद्र नहीं लाँघ सकता, सोनेके घर आग लगानेसे जल नहीं सकते, एक निशाचर वानरसमूहका नाश कर डालता है और एक वानर एक निशाचरको भी नहीं मार सकता फिर निशाचरगणको भला क्या मारेगा? 'बिपिन उजारा' अर्थात् रावणके बागकी ओर देवता तो दृष्टि डाल ही नहीं सकते तब वानर किस गिनतीमें है?

नोट—१ 'हनुमन्नाटक'के—'शाखामृगस्य शाखायाः शाखां गन्तुं पराक्रमः। यत्पुनर्लंघितोऽम्भोधिः प्रभावोऽयं प्रभो तव॥', 'निःश्वासेनैव सीताया राजन् कोपानलेन ते। दग्धपूर्वा तु सा लंका निमित्तमभवत्कपिः' अंक ९। ४४, ४३ से प्रतापका भाव स्पष्ट हो जाता है—अर्थात् सीताजीकी निःश्वास और आपकी कोपाग्निने तो लंकाको पहलेही जला डाला, कपि तो एक निमित्तमात्र हुआ। ऐसाही कवितावलीमें कहा है—'राम कोह पावक, समीर सिय-स्वास, कीस ईसबामता, बिलोकु बानरको ब्याज है।' (५. २२)। २—मानसचन्द्रिकाकार 'सो सब तव प्रताप' का भाव यों लिखते हैं—'प्रभु मुदरी उहि पार लै चूड़ामनि एहि पार। सीयबिरह लंका जरी प्रभु परताप तुम्हार॥' अर्थात् आपकी मुद्रिकासे समुद्र पार हुआ, महारानीजीका चूड़ामणि इस पार ले आया। सीताजीके विरह और आपके प्रतापसे लंका जली। पुनः, 'प्रभु प्रताप' यह कि यहाँसे आपका स्मरण करके चला, उसीसे स्वयंप्रभा और संपातीकी सहायता मिली, समुद्र लाँघनेके समय फिर आपका स्मरण किया तो उससे बीचके विघ्न शांत हुए, लंकामें प्रवेश करनेमें स्मरण किया तो विभीषणजी सहायक मिले जिससे मैं सीताजी तक पहुँचा, बागमें फल खाने पैठा तब आपको हृदयमें धरकर ही, उससे निशाचरोंको मारा, गर्जनभी करता था। तब आपके प्रतापका ही गर्जन

† नाघि–ना. प्र.। ‡ कछुक—कोदवराम। * 'साखाते....' चम्पकमाला। (८), (९) पायकुलक। (प्र. चं.)

करता था; उसीसे और श्रीसीताजीके आशीर्वादसे लंका जली और मेरा कुछ न विगड़ा।

टिप्पणी—३ हनुमान्‌जीने समुद्र पारकर पहले वाटिका उजाड़ी, फिर निशाचर-वध किया और अन्तमें लंकादहन किया। पर उन्होंने यहाँ अपने कार्यक्रमानुसार नहीं कहा। प्रथम लंकादहन कहकर तव वन-विध्वंस आदि कह रहे हैं। क्रमसे कहनेमें भी अभिमान सूचित होता, क्रमभङ्गसे निरभिमानता दिखाई। (वास्तवमें लंकादहन प्रथम कहनेका कारण श्रीरघुनाथजीका प्रश्न ही है। वे 'लंकादहन' का ही प्रश्न करते हैं, अतएव प्रथम उसीका उत्तर देना उचित ही है।) अथवा, उनको कुछ याद ही न रहा, प्रभुके पूछनेपर उलटा-पुलटा जैसा कुछ याद आता गया सुना दिया।

४ (क) 'सो सब तव प्रताप रघुराई।००'। तात्पर्य यह कि यह सब पुरुषार्थ हमसे कब हो सकता है ? (ख) 'सो सब'। रामजीने तो केवल लङ्कादहन पूछा था, यदि केवल उसीको कहते तो समझा जाता कि शेष सब कार्य अपने पुरुषार्थसे किया और लङ्कादहन रामप्रतापसे। इसीसे सबको गिनाकर तब 'सब' का प्रभुप्रतापसे होना कहा। (ग) 'न कछू मोरि प्रभुताई'।—अर्थात् मेरा पुरुषार्थ किसी कार्यमें भी किंचित् नहीं है; सबमें आपके प्रतापनेही काम किया।

वंदनपाठकजी—हनुमन्नाटकका श्लोक इस प्रसङ्गपर देखिए—'का श्रृंगारकथा कुतूहलकथा गीतादिविद्याकथा, माद्यत्कुंभिकथा तुरंगमकथा कोदंडदीक्षाकथा। एकैवास्तिमिथः पलायनकथा त्वद्भीतरक्षः पतेर्देव-श्रीरघुनाथ तस्य नगरे स्वप्नेपि नान्याकथा।' अर्थात् हे देव रघुनाथजी ! आपके शत्रुसे रक्षित नगरमें आपके प्रतापके भयसे क्या कहीं श्रृंगारकी कथा, कुतूहलकथा, गीतवाद्यादिकी चर्चा, विद्याकी चर्चा या मस्त हाथी और घोड़ोंकी कथा, या धनुर्विद्याशिक्षा आदिकी चर्चा होती है ? अर्थात् इनका तो, मारे डरके, कहीं नाम नहीं है। हाँ ! वहाँ तो केवल एक कथा नगरमें हो रही है—वह परस्पर लंकासे भाग जानेकी कथा है और दूसरी चर्चा वहाँ नहीं है।—(६। ४१)।

दो०—ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं जा पर तुम्ह अनुकूल।
तव प्रभाव† बड़वानलहि जारि सकै खलु तूल॥ ॥३३॥

अर्थ—हे प्रभो ! जिसपर आप प्रसन्न हों, उसे कुछ भी कठिन नहीं। आपके प्रभावसे रुई बड़वानल (समुद्रमें रहनेवाली अग्नि) को भी निश्चय जला सकती है। भाव कि रुई अग्निको जलावे और उसपर भी बड़वानलको, यह महान् असंभव है; पर यह भी आपके प्रतापसे संभव हो जाता है, तब लंका जलाना कौन बड़ी बात है ?। ३३।

टिप्पणी—१ प्रभुने लंकादहनको अगम्य कहा। उसका इन्होंने ऐसा सुंदर उत्तर दिया कि उसमें कुछ भी अगमता न रही, रामप्रताप ही मुख्य ठहरा। श्रीरामजीकी ऐसी अनुकूलता है कि इनको ज़रा भी अभिमान न आया।

२-'तव प्रभाव....जारि सकै'। इस उत्तरकी खूबी देखिए। वे यह नहीं कहते कि रुईने जलाया या जलाती है, वरंच कहते हैं कि आपका प्रताप रुईद्वारा बड़वानलको भी जला सकता है। हनुमान्‌जीने उपमामें भी अपना पुरुषार्थ नहीं आने दिया; क्योंकि यहाँ रुईके स्थानपर हनुमान्‌जी अपनेको दिखा रहे हैं। रुई जला सके, यह विश्वास नहीं होता; इसीसे 'खलु' शब्द दिया अर्थात् निश्चय है, इसमें संदेह नहीं। यहाँ 'दूसरी असंगति' अलंकार है।

नोट—१ 'बड़वानलहि' इस पदसे तेजस्वियोंकी यहाँ तक अवधि जनाई। भाव यह कि समुद्र-

† प्रभाव—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, १७०४। प्रताप—कोदवराम, व्र० चं०। ❀ कच्छ दोहा है—(व्र० चं०)। इसमें ८ गुरु, ३२ लघु होते हैं।

सरीखे अगाध जलनिधिके जलकोभी बड़वानल जला देनेवाला है, उसको भी रुई निश्चय ही जला सकती है, तब लंकाका जलाना क्या ? तात्पर्य कि जीवका सब कार्य भगवत्कृपासाध्य होनेहीसे कल्याण है और केवल उद्योगसाध्य होनेसे नहीं। यथा—'हरिप्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।' (मा० त० सु०)।

वि० त्रि०—'ता कहुँ प्रभु....तूल' इति। प्रभुकी अनुग्रह-शक्तिही सब शक्तियोंसे बड़ी है। ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति तथा माधुर्याधिष्ठात्री आदि महाशक्तियाँ उसीके वशीभूत होकर काम करती हैं। भावार्थ यह कि सरकारके अनुकूल होनेसे सरकारकी अनुग्रह शक्ति काम करने लगी, उसीने महाअसम्भवको सम्भव कर दिया, समुद्रोल्लंघन, लंकादाह, निशिचरोंका वध, वन विध्वंसादिक कार्य उसी शक्तिके बलसे हुआ। नहीं तो मेरेमें क्या रखा है। 'अष्टाङ्गुलं शरीरं मे पुच्छं मे द्वादशाङ्गुलम्। बाहू मे पश्य भो राजन् कथं वारान्निधिं तरे।' (हनुमन्नाटके)। मेरा शरीर आठ अङ्गुलका, पूँछ बारह अङ्गुलकी, बाहुभी देख लीजिये, मैं समुद्र पार कैसे जा सकता हूँ ?

प० प० प्र०—भाव कि आपकी कृपासे क्षुद्रातिक्षुद्र जन्तुभी परम समर्थ हो जाता है। सब काम किया आपके प्रतापने, पर मुझको निमित्त बनाकर मुझे सेवाका लाभ दिया यह मुझपर असीम अहेतुकी कृपा की।

लमगोड़ाजी—नवीन भौतिक बलपर निर्धारित जगत् ध्यान दे। रामराज्यका मूल मंत्र उसकी ध्वजापर अंकित है। वह है—'सत्य शील'। लंकाके Militarism सेनानिर्धारित राज्यके 'दुर्ग अति बंका' की दुर्गति आपने देखी और हनुमान्‌जीका 'रामप्रताप' पर विश्वासभी देखा।—यह केवल कथनीमात्र नहीं है। Hitlerism और Mussolism का नाशभी आपने उन हाथोंसे देख लिया जिनके नेताओंको पहले 'आँसू' और 'हार' ही दिखाते थे। भगवान् कहाँसे और कैसे सत्यकी विजय कराते हैं यह मनुष्यको दिखता नहीं, इसीसे धोखा खाता है। सन्तोंका अनुभव था कि संसारपर बड़ा संकट है यह श्रीहरिनाम-यश-कीर्त्तनसेही पार हो सकता है। अतः भारतवर्षमें श्रीअयोध्याजी आदिमें अखण्ड कीर्त्तन जारी हो गया। 'जय सिय राम जय जय हनुमान' का प्रभाव यह हुआ कि संकट बहुत टल गया। यह वही समय था जब ग्रीनिच (Greenich) में एक ऐसा भूकम्प यंत्र द्वारा जाना गया जो तीन घंटे रहा। यह भूकंप पैसिफिक महासमुद्रमें ऐसी जगह था जहाँ कोई टापूतक न था, नहीं तो उसकी क्या दुर्गति होती कौन कह सकता है ? हाँ, बिहारकी जो गति १९३४ के तीन मिनट वाले भूकंपसे हुई थी, उससे किंचित् अनुमान मात्र भलेही कर लें। पैसिफिकका वह भूकंप सात हजार मीलपर यंत्रद्वारा अनुमानमें आया और Record हुआ। फिर पाँच स्थानोंपर छोटे बड़े भूकंपही होकर रह गए। यह वही समय था जब उड़ीसा और बंगालमें Cyclone आँधीपानीका तूफान आया था पर बहुत आगे नहीं बढ़ा। भृगुसंहिताके अनुसार भारतवर्षको उत्तर-पूरब और दक्षिणपश्चिमसे बड़ा भय था और भयका निवारण सन्तों द्वारा ही लिखा था। सन्तोंने कीर्त्तन आदि उपाय कराये। जिसके प्रभावसे उत्तर-पूरबवाला आक्रमण नाममात्रको हुआ और दक्षिण-पश्चिमवाला भय मैडागास्करतकही आकर रह गया। वर्तमान संसार-युद्ध नं० २ अभी स्थगित ही है, कारण कि अभी किसीभी सन्धिपत्रपर हस्ताक्षर नहीं हुये। भृगुसंहिताके अनुसार अभी दस वर्षतक संघर्ष चलता रहेगा और तीसरे युद्धकी भी सम्भावना है। हाँ, उसका निवारण 'ईश-भजन' नाम-यश-कीर्त्तन इत्यादि ही हैं। गांधीजीकी विजयभी सत्यका विजय (वह भी निरायुध) एक चमत्कार है; पर 'शील' अभी बहुत कम है, इसीसे हथियारों की खड़क बंद नहीं है, कायरतासे बेगुनाह लोग मारे जा रहे हैं। रामराज्यके 'भगवान्‌पर विश्वास' का मूल मंत्रही इस दोहेमें है और सारे संसारके लिये विचार करने योग्य है।

नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी†॥ १॥

† प्र० चं०—आदि चौपाइके २३२ और २२५ वें भेद हैं। कोदवरामजीकी पुस्तकमें 'तव अति सुखदायिनि' और 'सो अनपायिनी' पाठ है।

शब्दार्थ—'अनपायनी' (सं० अनपायिन्, अनपायिनी)=निश्चल, स्थिर, नाश न होनेवाली। 'अनपायिनी' अनपायिन्‌का स्त्रीलिङ्ग है।

अर्थ—हे नाथ ! मुझे अपनी अत्यन्त सुख देनेवाली निश्चल भक्ति कृपा करके दीजिये। १।

प० प० प्र०—'अति सुख....' इति। जो सुख प्रयत्न-साध्य है और लोक-लोकान्तरोंमें ऐश्वर्य आदि भोगोंके रूपमें मिलता है वह 'सुख' है। वह इन्द्रिय-ग्राह्य होता है। 'अति सुख' वह है जो बुद्धिग्राह्य और इन्द्रियातीत है। यथा—'सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। गीता ६। २१।' (नोट—यह तभी होता है जब चित्त सर्वथा निरुद्ध हो जाता है, समस्त मनोवृत्तियाँ निवृत्त हो जाती हैं, केवल एक आत्मविषयक बुद्धि ही रह जाती है जिससे योगी मनसे आत्माका साक्षात्कार करता हुआ अन्यकी प्रतीक्षा न करके आत्मामें ही संतुष्ट हो जाता है। इसकी प्राप्ति परम लाभ कही गई है। यथा—'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। गीता ६। २२।'

टिप्पणी—१ 'नाथ भगति अति०' इति। (क) भक्ति माँगते हैं, अतः 'नाथ' संबोधन दिया। यथा—'अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिवमनभावनी। ५। ४६।' (विभीषणजी), 'नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु। जनम-जनम प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥ (७। ४९ वशिष्ठजी), इत्यादि। 'अति सुखदायिनी' का भाव कि ज्ञानादि सब गुण सुखदायी हैं पर भक्ति 'अत्यन्त सुखदायिनी' है। यथा—'सब सुख खानि भगति तैं माँगी। ७। ८५।' यहाँ चरणकी भक्ति माँगते हैं, यह बात आगे स्पष्ट की है।—'रघुपतिचरन भगति सोइ पावा'। (ख) यहाँ भक्ति माँगनेका कौन मौका है ? उत्तर—(१) हनुमान्‌जीपर प्रभु इस समय बहुत प्रसन्न हैं। प्रभुके अनुकूल होनेपर कोई बात अगम्य नहीं और भक्तिसे प्रभु सदैव अनुकूल रहते हैं। यथा—'भगतिहि सानुकूल रघुराया'। अतएव इस समय भक्ति माँगी कि मिल भी जायगी और इसके मिलनेसे आगे भी प्रभु अनुकूल रहेंगे। अथवा, (२) प्रभुने कहा है कि 'प्रतिउपकार करौं का तोरा'। यह भक्ति माँग लेनेका अच्छा मौका है। अतएव उसीके उत्तरमें हनुमान्‌जी कहते हैं कि 'हे नाथ! मुझपर कृपा करके अपनी भक्ति दीजिए। प्रत्युपकार तो बराबरवालेसे किया जाता है, और मैं तो आपका दास हूँ। यह न कहिए कि 'प्रत्युपकार करौं का०' इत्यादि, जो आपने कहा है। आपके पास तो सभी पदार्थ हैं। जो साधनों द्वारा भी दुष्प्राप्य हैं और जो केवल आपकी कृपासे ही मिल सकते हैं। अतएव मुझपर कृपा हो।'

२—'देहु कृपा करि अनपायनी' इति। (क) कृपा करके देनेका भाव कि भक्ति सुकृतसे भी मिलती है, यथा—'जप जोग धर्म समूह तें नर भगति अनुपम पावई' ३। ६)। मुझमें जप, योग आदि कुछ भी नहीं है; केवल आपकी कृपाका अवलंब है। आप कृपा करके मुझे दें, कृपासे जो भक्ति मिलती है उसका नाश नहीं होता और जो धर्मसे मिलती है उसका नाश भी है; क्योंकि पुण्य जब क्षीण हो जायँगे तब वह भी न रह जायगी। पुण्योंका नाश हो जाता है पर कृपाका नाश नहीं है, यथा—'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती'। अतएव कृपासे मिली हुई भक्तिका अन्त नहीं और इसीसे सब लोग भक्तिकी प्राप्तिमें कृपाहीको प्रधान रखते हैं। यथा—(१) 'बाल बिनय सुनि करि कृपा रामचरन रति देहु'—(१। ३। गोस्वामीजी)। (२) 'अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू'—(२। १०७। भरद्वाजजी) (३) 'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करउँ दिन राती'– (४। ७। सुग्रीवजी)। (४) 'अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर मागऊँ। जेहि जोनि जनमौं कर्मबस तहँ रामपद अनुरागऊँ' (४। १० बालि)। (५) 'अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव-मन भावनी'—(५। ४६। बिभीषणजी)। (६) 'करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर माँगहीं। मन वचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं'—(७। १३। वेद)। (७) 'परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम। प्रेम-भगति अनपायनी देहु हमहिं श्रीराम'—(७। ३४। सनकादिक)। (८) 'नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु। जन्म जन्म प्रभुपद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु'—(७। ४९। वसिष्ठजी)। (९) 'भगत कलपतरु प्रनतहित कृपासिंधु सुखधाम। सोइ निज भक्ति मोहि प्रभु देहु दया करि राम'—(७। ८४। भुशुण्डिजी)।

प० प० प्र०—सारांश यह है कि जब भगवान् कृपा करके अनपायिनी भक्ति देते हैं तभी 'माया संभव सकल भ्रम' नहीं व्यापते। देखिए लोमशजीने भुशुण्डीजीको आशीर्वाद दिया था कि 'रामभगति अविरल उर तोरे। बसिहि सदा।' फिर भी उनको मोह हो गया था। जब भगवान् प्रसन्न होकर वर देते हैं कि 'माया संभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहिं तोहि' तब ऐसा होता है।

सुनि प्रभु परम सरल कपि बानी। एवमस्तु तब कहेउ भवानी॥ २॥

उमा राम सुभाउ† जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना*॥ ३॥

अर्थ—(शिवजी कहते हैं कि) हे भवानी! कपिकी परम सरल वाणी सुनकर तब प्रभुने एवमस्तु (=ऐसाही हो) कहा। २। हे उमा! जिसने श्रीरामजीका स्वभाव जाना उसे भजन छोड़ दूसरी बात नहीं अच्छी लगती। ३।

टिप्पणी—१ 'एवमस्तु तब कहेउ' इति। 'तब' का भाव कि प्रभुने इनको तीनबार हृदयसे लगाया, सिरपर हाथ फेरा, कृपादृष्टिसे देखा, और ऋणी बने; पर बिना माँगे अपनेसे भक्ति देनेको न कहा, भुशुण्डीजीके प्रसंगमें भी यह बात देखनेमें आती है, उन्हें भी बिना माँगे अपनी ओरसे प्रभुने भक्ति नहीं दी। देखिये ७। ८४ (४); यथा—'प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही'। भक्ति ऐसी दुर्लभ वस्तु है। जब परम सरल वाणी सुनकर हृदयको शुद्ध देखा तब 'एवमस्तु' कहा। उपक्रममें 'बोला बचन बिगत अभिमाना।' और उपसंहारमें 'परम सरल बानी' कहकर जनाया कि 'अभिमानरहित' वाणी 'परम सरल' वाणी कहलाती है।

२—'उमा राम सुभाउ जेहिं जाना'। (क) हनुमान्जीने भक्ति माँगी, उसीपर महादेवजीके ये वचन हैं कि जो स्वभाव जानता है, वह भजनही चाहता है। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि हनुमान्जी रामजीका स्वभाव जानते हैं। प्रमाण, यथा—'तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ। ७.३६।'; इसीसे उन्होंने भक्ति माँगी। इससे यह भी जाना गया कि भक्ति और भजन पर्याय हैं। (ख) 'स्वभाव' अर्थात् रामजी ऐसे उदार, ऐसे पतितपावन, ऐसे कृतज्ञ, इत्यादि हैं। यह जिसने जाना उसे भजन ही 'भाता है'। भुशुण्डिजी स्वभावके जानकार हैं, यथा—'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ। ५। ४८।'; इसीसे उन्हेंभी भजन ही 'भाया', यथा—'प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥ भजन-हीन सुख कौने काजा। अस बिचारि बोलेउँ खगराजा।'

नोट—१ श्रीरामजीका स्वभाव जाननेवाले श्रीशिवजी, लक्ष्मणजी और भरतजी भी हैं, यथा—'राम रावरो सुभाउ गुन शील महिमा प्रभाउ जान्यो हर हनुमान लषन भरत'—(विनय २५१)। शिवजी जानते हैं, इसीसे उनने भक्ति माँगी, यथा—'बारबार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरंग। पदसरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग।' स्वभाव जाननेसेही श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं कि 'मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतर-जामी' (२। ७२) और 'मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करउँ चरनरजसेवा' (३। १४)। भरतजीका नेमभजन अवधि भरके कठिन तपस्यासेही समझ लें। उनका तो मत ही है कि—'साधन सिद्धि रामपग नेहू।' पुनः, रामकलेवामें स्वभावके विषयमें प्रभुके वचनामृत ये हैं—

'गिरिजा शंभु भुशुण्डि खगेशू शबरी औ कपिराऊ। जाम्बवन्त हनुमन्त विभीषण जानहिं मोर सुभाऊ॥१॥ साँची प्रीति करै जो मोसे होय जो जान अजानौ। प्राण समान सदा तेहि राखौं अवगुण एक न मानौं॥२॥ मो सन प्रीति लगाइ करै जो और देव की आसा। कोटिन विनय करै सो प्राणी मैं न जाउ तेहि पासा॥ ३॥ अपने और वाके शरीरमें नेकहु भेद न राखौं। कबहूँ छोह न छाड़ौं ताको चूक करै जो लाखौं॥ ४॥ जो निज मन समेटि सबन से बाँधहि मम पद प्रीती। ताके साथ सदा मैं डोलूँ असि मोरी

† सुभाव—(ना० प्र०)। * (२), (३), (४), (५), (६) पायकुलक है।

नित रीती ॥ ५ ॥ प्रेमपरायन अति चित चायन मित्रभाव हिय लेखे। ऐसे प्रीतिवंत प्राणी को कल न परै बिन देखे ॥ ६ ॥'

नोट—२ भगवान् श्रीरामजीने अपना स्वभाव स्वयं आगे दोहा ४८ में विभीषणजीसे कहा है। यथा—'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ।....जौ नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही ॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना ॥ जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी। समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं ॥ अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदय बसइ धनु जैसें ॥ तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे ॥ सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम। ते नर प्रान समान मम जिन्हके द्विजपद प्रेम ॥ ४८ ॥' श्रीभरतजीने भी प्रभुका स्वभाव कहा है।—'मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ। २।२६०।', एवं 'राउरि रीति सुबानि बड़ाई।' से 'यों सुधारि सनमानि जन किए साधु सिरमोर। २।२९९।' तक। इसी तरह भुसुण्डीजी और शिवजीने भी स्वभाव कहा है। यथा—'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ ॥....सेवक पर ममता अति भूरी....। ७।७४।'—इन गुणोंको जानकर ऐसा कौन है जो भजन न करेगा ?—'तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि। ७।७४।'

३—'भाव न आना' इति। भगवान्के गुण ही ऐसे हैं कि बड़े-बड़े निवृत्तिपरायण, निरपेक्ष, श्रीशुक सनकादि सरीखे आत्माराम और जीवन्मुक्त मुनीश्वर भी उनका भजन करते रहते हैं। यथा—'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः। भा० १।७।१० ॥ हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः। अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः। ११।' शौनकजीके प्रश्न करनेपर सूतजीने यह कहा है। पुनः यथा—'सुक सनकादि मुकुत बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ। विनय ८६।२।', 'जीवन-मुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान। ७।४२।'—अतः 'भजन तजि भाव न आना।' कहा।

टिप्पणी—३ 'भाव न आना' इति। ज्ञानादि अन्य सब सद्गुण 'आना' में आ गए। अर्थात् जो चौपाईमें कहा कि 'भाव न आना' वे अन्य पदार्थ ये हैं जो स्वयं प्रभुने श्रीमुखसे भुसुण्डीजीको अपनी ओरसे देनेको कहे थे; यथा—'कागभुसुंडि माँगु बर अतिप्रसन्न मोहि जानि। अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुखखानि। ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना। मुनि दुरलभ गुन जे जग जाना ॥' पुनः, 'भाव न आना' का भाव यह है कि रामस्वभावके जाननेवालोंके हृदयमें वासना नहीं रह जाती; इसीसे भक्ति छोड़ उन्हें अन्य कुछ नहीं सुहाता, यथा—'तुलसी जौं लौं बिषय की मुधा माधुरी मीठि। तौ लौं सुधा सहस्र सम रामभगति सुठि सीठि' (दो० ८३)। भक्तिकी माधुरीके आगे सब विषय सीठे पड़ जाते हैं। भक्तिकी मधुरताके विषयमें स्वयं भुशुण्डीजी कहते हैं—'ब्रह्म पयोनिधि मंदर ज्ञान संत सुर आहिं। कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहि ॥ बिरति चर्म असि ज्ञान मद लोभ मोह रिपु मारि। जय पाइअ सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि। ७।१२०।'—इसमें भक्तिकी माधुरी और दुर्लभता दिखाई गई है।

यह संवाद जासु उर आवा। रघुपति-चरन भगति सोइ पावा ॥ ४ ॥

अर्थ—यह संवाद जिसके हृदयमें आया (अर्थात् जिसने इसे समझा और धारण किया) उसीने रघुनाथजीके चरणोंकी भक्ति पाई। ४।

टिप्पणी—१ (क) 'यह संवाद' अर्थात् 'प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना।' ३३ (६) से 'देहु कृपा करि अनपायनी' ३४ (१) तक। (ख) 'जासु उर आवा' अर्थात् जिसके हृदयमें आयेगा, वह रामस्वभाव जानेगा, स्वभाव जाननेसे उसे भक्ति प्राप्त होगी, फिर तो उसे भक्तिको छोड़कर ज्ञानादि कुछ भी न अच्छे लगेंगे। पुनः, 'उर आवा' से यह भी जनाया कि केवल पढ़ने या सुननेवालेको भक्ति नहीं प्राप्त होगी, जिसके हृदयमें संवाद बैठ जायगा वही पावेगा। 'सोइ' का सम्बन्ध दो जगहसे है—'जासु उर आवा सोइ पावा' और 'सोइ रघुपति-चरणभक्ति पावा' जो हनुमान्जीको मिली है। (ग) 'आवा' और 'पावा' से जनाया

कि भक्तिकी प्राप्तिमें किंचित् विलंब नहीं, सम्वाद उरमें आनेकी ही देरी है, वह हृदयमें आया नहीं कि भक्ति मिली। तात्पर्य कि हनुमान्‌जीको बड़े परिश्रमसे मिली, इसीसे 'पावा' पद दिया अर्थात् पाई।

मा० हं०—"गोस्वामीजीने हनुमान्‌जीका चरित्रांकन यही ध्यानसे किया हुआ दिखाता है कि उन्हें हरतरहसे ऐसी प्रतापशाली और बुद्धिशाली व्यक्ति सारी रामायणमें अन्य कोई भी नहीं दिख पड़ी। यही कारण है कि अन्य किसीभी रामायणमेंके हनुमान्‌जी स्वामीजीके हनुमान्‌जीसे हस्तांदोलन करनेको पहुँच नहीं सकते। रामहनुमान्-संवादपर स्वामीकी यह छाप है—'यह संबाद जासु....'। इस प्रकारकी छाप रामायणके अन्य किसीभी संवादपर न होना, यही हम इन हनुमान्‌जीकी अधिक विशेषता समझते हैं।"

"इस पात्रका पूर्ण परिचय थोड़ेमें ही चाहो तो इस तरह हो सकता है—रामजीकी ओजस्विता और विवेक, रावणका पौरुष और कार्यप्रवणता, कुंभकर्णका धैर्य और धड़क, और निजका बुद्धिचातुर्य, अतुलवल और मनोजव इन गुणोंका समीकरण गोसाईंजीके हनुमान्‌जीमें है।"

मा० त० सु०—इस प्रसंगमें 'सुनु सुत॰' आदि पदोंके द्वारा प्रभुका वात्सल्यगुण ही प्रधानरूपसे दिखाया गया है। क्योंकि यहाँ प्रभु अपने ऐश्वर्य शौर्यादि गुणोंको भक्तवश होनेसे भूल गये हैं, यथा—'ऐसी हरि करत दास पर प्रीति। निज प्रभुता बिसारि जनके बस होत सदा यहि रीति'—(विनय ९८)। अतएव चारों वक्ताओंने इसी प्रसंग को भक्ति प्राप्तिके लिये मुख्य माना, शेषको गौण।

टिप्पणी २—अब संवादका फल कहते हैं। सब संवादोंके फल पृथक् पृथक् कहे गए हैं, यथा—(१) 'यह उमासंभुविवाह जे नरनारि सुनहिं जे गावहीं। कल्यानकाज बिवाह मंगल सर्वदा सुख पावहीं। १. १०३।' (२) 'यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा। १. १९२।', (३) 'उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं। बैदेहि-राम प्रसाद ते जन सर्वदा सुख पावहीं। १. ३६१।', (४) 'भरतचरित करि नेमु तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयरामपदपेमु अवसि होइ भवरसबिरति। २. ३२६।', (५) 'कलिमल समन दमन मन राम-सुजस सुखमूल। सादर सुनहिं जे तिन्हपर राम रहहिं अनुकूल। ३. ६।', 'रावनारि जसु पावन गावहिं सुनहिं जे लोग। रामभगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग। ३।४६।', (७) 'भव भेषज रघुनाथ जसु सुनहिं जे नर अरु नारि। तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि। ४. ३०।', (८) 'सकल सुमंगलदायक रघुनायक गुनगान। सादर सुनहिं ते तरहिं भव सिंधु बिना जलजान। ५. ६०।', (९) 'समर बिजय रघुबीरके चरित जे सुनहिं सुजान। विजय बिवेक बिभूति नित तिन्हहिं देहिं भगवान। ६. १२०।', (१०) 'महाराज कर सुभ अभिषेका। सुनत लहहिं नर बिरति बिवेका। जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना बिधि पावहिं। ७. १५।', (११) 'यह सुभ संभु उमा संवादा। सुख संपादन समन बिषादा। भवभंजन गंजन संदेहा। जन रंजन सज्जन प्रिय एहा। ७. १३०।', (१२) 'रघुबंसभूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं। ७. १३०।', इत्यादि।—विचार देखने से स्पष्ट हो जायगा कि फलश्रुति सर्वत्र विषय वा प्रसंगके अनुकूल ही दी जाती है।

सुनि प्रभु बचन कहहिं कपिबृंदा। जय जय जय कृपाल सुखकंदा॥ ५॥

शब्दार्थ—कंद = मेघ। 'कं जलं ददाति इति कन्दः मेघः'। सुखकंद अर्थात् सुखरूपी जलकी वर्षा करनेवाले मेघस्वरूप श्रीरामजी।

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर कपिवृंद कह रहे हैं कि 'कृपाल सुखकन्दकी जय हो! जय हो! (अर्थात् हनुमान्‌जीको जब प्रभुने अनपायिनी सुखदायिनी निजभक्ति दी तब सब वानर जयजयकार करने लगे।)।५।

टिप्पणी—१ (क) अपने जातिकी भलाई देखकर लोग सुखी होते हैं, यथा—'रिषिनिकाय मुनिवर गति देखी। सुखी भये निज हृदय बिसेषी। ३।९।' पुनः, हनुमान्‌जी सबको प्रिय हैं, सबके प्राणदाता हैं। अतएव अपने ऊपर उपकार करनेवाले और प्रियको अनपायिनी भक्ति सी अलभ्यपदार्थकी प्राप्ति देखकर स्वाभाविक ही सबको प्रसन्नता होनी ही चाहिये। पुनः, सबके सामने ही यह संवाद हुआ है, सबने प्रभुका स्वभाव प्रत्यक्ष देखा; इस प्रकार सबके उरमें यह संवाद आया, जिससे सबको भक्तिकी प्राप्ति हुई। अतएव इन कारणोंसे

सब प्रसन्न हुए और सबने जयजयकार किया। (ख) 'प्रभु वचन' इति। 'सुनु कपि तोहि समान उपकारी'से 'देखेउँ करि बिचार मन माहीं' तक, ये वचन सुनकर हनुमान्‌जी 'त्राहि त्राहि' कहकर प्रभुके चरणोंपर पड़े और इन्हीं वचनोंको सुनकर वानर 'जय जय जय' शब्द बोले। इसीसे 'सुनि प्रभु बचन' यह पद दोनों जगह रखा गया, यथा—'सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत' और 'सुनि प्रभु बचन कहहिं कपिबृंदा।'

२—'जयजयजय कृपाल सुखकंदा' इति। भाव कि—(क) प्रभु कृतज्ञ हैं, सबसे उत्कर्ष बरतते हैं। कृपाल हैं, हम सबपर कृपा करते हैं। सुखकंद हैं, ऐसी मधुर वाणी बोलकर हम सबोंको सुख दे रहे हैं; यथा—'तब रघुबीर बोलि कपि लीन्हे। कहि प्रिय बचन सुखी सब कीन्हे'। अथवा, (ख) सुख सुकृतसे मिलता है क्योंकि सुख सुकृतका फल है। हमने कोई सुकृत नहीं किए। हममें कोई सुकृत नहीं हैं। यह सुख आपने अपनी कृपासे दिया। सुख धर्म या सुकृतसे मिलता है, यथा—'सब दुख बरजित प्रजा सुखारी। धरमसील सुंदर नर नारी।', 'तिमि सुख संपति बिनहिं बुलाए। धरमसील पहिं जाहिं सुभाये', 'भुवन चारिदस भूधर भारी। सुकृतमेघ बरषहिं सुख बारी', 'बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग' इत्यादि। धर्म करनेसे जो फल होता है वह हमको प्रभुने अपनी कृपासे (बिना कोई धर्म किए) योंही दे दिया।—यह सोचकर जयजयकार करते हैं। ☞इससे यह जनाया कि जिसपर भगवान्‌की कृपा हुई वह सब धर्म कर चुका। पुनः, (ग) रामस्वभाव समझकर मारे हर्षके रह-रहकर एवं समय-समयपर जय जय शब्द उच्चारण करते हैं, यथा—'मुदित भये पुनि पुनि पुलकाहीं।'

नोट—बारंबार जय शब्द उच्चारण करनेमें अत्यन्त उत्साह और आनंदकी वीप्सा है, यथा—'जय शब्दो नभश्शब्दस्तत्रासीत्सर्व संस्कृतः। तदोत्साहो महानासीत्सर्वेषां सुखवर्द्धनः। ४२।'—(शिवपुराण रुद्र-संहिता अ० २०)। (हरिजनजी)। तीन बार लिखकर बहुत बार एवं बारंबार जयजयकार जनाया।

लमगोड़ाजी—तुलसीदासजीके नाटकीय सत्य (Dramatic truthfulness) को धन्य है। शब्द लिखे बादको हैं, पर साफ बता दिया है कि वे कहे कब गये थे। रंगमंचका प्रभाव अपनी कल्पना-शक्तिसे चित्रित कीजिये और मजा लीजिये। अभिनेताओंको भी सुंदर संकेत है; पर बड़ी सावधानीकी जरूरत है, नहीं तो गड़बड़ मच जाय।

☞ 'जामवंत कह सुनु रघुराया' से यहाँ तक 'बैदेहीकी कुसल सुनाई' यह प्रसंग है।

'सेन समेत जथा रघुबीरा। उतरे जाइ बारिनिधि तीरा॥'—प्रकरण

तब रघुपति कपिपतिहिं बोलावा। कहा चलै कर करहु बनावा॥ ६॥
अब बिलंब केहि कारन कीजै। तुरत कपिन्ह कहुँ आयसु दीजै॥ ७॥
कौतुक देखि सुमन बहु बरषी। नभ ते भवन चले सुर हरषी॥ ८॥*

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजीने सुग्रीवजीको बुलाया और कहा कि चलनेकी तदवीर (सामान वा तैयारी) करो। ६। अब देर किस कारण करते हैं? तुरन्त वानरोंको आज्ञा दीजिए। ७। कौतुक देखकर बहुत फूल बरसाकर और हर्षित होकर देवता आकाशमार्गसे (अपने अपने घरको चले)। ८।

टिप्पणी १—'तब रघुपति कपिपतिहि बोलावा' इति। (क) 'तब' का भाव कि यहाँ तक परमार्थ हो चुका, अब स्वार्थकी बात चली। सज्जन पहले परमार्थसाधन करते हैं, पीछे स्वार्थ, यह ग्रंथकारका उपदेश है। (ख) सब वानरोंपर सुग्रीवका हुक्म चलता है, अतः 'कपिपति' कहा। सुग्रीवपर रामजीका हुक्म है, अतः 'रघुपति' कहा। (ग) 'बोलावा' से जान पड़ता है कि सुग्रीव कहीं दूर हैं; पर वे तो पास ही बैठे हैं तब 'बुलावा' कैसे कहते हैं? उत्तर यह है कि वानर मारे हर्षके 'जय जय जय' शब्द बारंबार उच्चारण कर

* 'अब बिलंब....' द्रुतपा, 'तुरत....' चण्डी, (८) पायकुलक।

रहे हैं, शोरके मारे कुछ सुनाई नहीं पड़ता; अतएव बात सुननेके लिए परम निकट बुलाकर तब कहा। (घ)—'बनावा'—अर्थात् व्यूहरचना करके सब यूथपति अपना अपना यूथ लेकर चलें। ☞ 'तुलसिदास प्रभु सखा अनुज सों सैनहिं कह्यो चलहु सजि सैन। गी० ५। २१।' यह 'जो चलहु सजि सैन' है वही यहाँ 'करहु बनावा' में अभिप्रेत है।

२ 'अब विलंब केहि कारन कीजै।' इति। (क) तात्पर्य कि विलंबका कारण था कि सीताजीका समाचार न मिला था। अब खबर मिल गई, तब देर न करनी चाहिए। जौं रघुबीर होति सुधि पाई। करते नहिं बिलंब रघुराई', हनुमान्‌जीके इन वचनोंकी सत्यता अनुभूत हुई। (ख) 'तुरत' क्योंकि हनुमान्‌जीकी प्रार्थना है कि 'बेगि चलिय प्रभु आनिये०'। पुनः इससे कि उस समय यात्राके लिए बहुत शुभ मुहूर्त था।

नोट–१ अध्यात्मरा०में भी कहा है कि 'सुग्रीव सैनिकान्सर्वान् प्रस्थानायाभिनोदय। इदानीमेव विजयो मुहूर्तः परिवर्तते। ६। १। २७।' अर्थात् सब सैनिकोंको चलनेकी आज्ञा दे दो, इसी समय 'विजय' मुहूर्त है। ३५(४) देखिये।

वाल्मी० ६। ४ में श्रीरघुनाथजी सुग्रीवजीसे कह रहे हैं कि—सूर्यके मध्य आकाशवर्त्ती होनेपर अभिजित मुहूर्तमें यात्रा करनेसे हमारी जय है। आज उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र है, कल हस्तनक्षत्रसे इसका योग होगा। यथा—'अस्मिन्मुहूर्ते विजये प्राप्ते मध्यं दिवाकरे।....उत्तराफाल्गुनी ह्यद्य श्वस्तु हस्तेन योक्ष्यते। अभिप्रयामस्सुग्रीव सर्वानीकसमावृताः। ४. ६।' अतः सब सेनाके साथ तुरंत चल दें। शुभ शकुन भी हो रहे हैं। हनुमन्नाटकका मत है कि आश्विनकी विजयदशमीको श्रीरामचन्द्रजीने सेना सहित प्रस्थान किया, यथा 'अथ विजयदशम्यामाश्विने शुक्लपक्षे दशमुखनिधनाय प्रस्थितो रामचन्द्रः। ७। २।'; पर वाल्मीकीयके मतसे इसका विरोध होता है। पद्म पु० पाताल खंड अ० ३६ में मार्गशीर्ष वृकको उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र और विजयनामक मुहूर्तमें दोपहरके समय श्रीरघुनाथजीका लंकाके लिये प्रस्थान होना लिखा है। स्कंद पुराण ब्रह्मखण्ड धर्मारण्य माहात्म्यके अ० ३० में भी प्रायः वही श्लोक हैं जो प० पु० पा० अ० ३६ में हैं। यह मत वाल्मीकीयसे मिलता है।

पं० विजयानंद त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'तुरत कपिन्ह कहँ आयसु दीजे' का भाव यह है कि आज इसी समय बन्दरोंको आज्ञा दीजिये। कल हस्त नक्षत्र लग जायगा। पुनर्वसुमें जिसका जन्म हुआ हो, उसके लिये हस्त वधतारा है, और आज उत्तरा फाल्गुनी है जो श्रीसीताजीका जन्मतारा है। जो क़ैद है उसके छुड़ानेके लिये उसके जन्मतारामें प्रयाण करनेसे वह अवश्य छूटता है, सो आज उत्तरा है, और इस समय अभिजित् विजयप्रद मुहूर्त है, अतः इसी समय यात्राके लिये शुभ मुहूर्त है। सीताजीके हरणके बाद जब जब सरकार खोजने चले तो रास्तेमें वसन्तका वर्णन आया है। इससे स्पष्ट है कि सीताहरण शिशिरमें हुआ अर्थात् फालगुनमें हुआ, और सीताजीने हनुमान्‌जीसे कहा कि 'वर्तते दशमो मासो द्वौ तु शेषो प्लवंगम'। भाव यह कि यह दसवाँ महीना लंकामें आये जा रहा है। इस हिसाबसे यात्राका समय अगहन पूस पड़ता है, और अमान्त नामसे अगहन कृष्ण अष्टमी या सप्तमीको उत्तरा नक्षत्र आता है, अतः अगहन सुदि पूर्णिमाके बाद सातवें या आठवें दिन सरकारकी विजय यात्रा हुई। वाल्मीकीयमें कहते हैं—'उत्तराफाल्गुनी ह्यद्य श्वस्तु हस्तेन योक्ष्यते। अभिप्रयामस्सुग्रीव सर्वानीक समावृताः।' इससे स्पष्ट है कि सरकारकी विजययात्रा उत्तराफाल्गुनीमें हुई है। विजयदशमीको श्रवणमें विजय यात्रा होती है, जो उत्तरा फाल्गुनीसे बहुत दूर पड़ता है। अतः विजयदशमी कथमपि सरकारके विजययात्राका दिन वाल्मीकिके हिसाबसे नहीं पड़ सकता। अध्यात्मका कथन 'इदानीमेव विजयो मुहूर्तः परिवर्तते' से अभिजित मुहूर्तका संकेत है, जो दोपहरको पड़ता है। विजय मुहूर्तके ग्रहणसे विजयदशमीका ग्रहण नहीं हो सकता है।

२—'बिलंब केहि काज' और 'तुरत आयसु दीजे' से पाया जाता है कि सुग्रीवजी विलंब कर रहे थे, नहीं तो ऐसा कहनेका क्या अभिप्राय हो सकता है? इस कथनका तात्पर्य यह है कि जब हनुमान्‌जीने खबर दे दी थी, तभी तैयारी करना था। नहीं तो कमसे कम उस समय तो अवश्य तैयारी

करते जब हनुमान्‌जीके बचन सुन लिए थे कि 'बेगि चलिये....।' उचित था कि तुरंत उसी समय प्रभुकी आज्ञा लेकर चलनेकी तैयारी करते। बुलाकर आज्ञा देनेपर चले यही 'बिलंब' है।

टिप्पणी—३ 'कौतुक देखि सुमन बहु बरषी'। (क) वानरीसेना साथ लेना, यही कौतुक है, यथा—'कौतुक लागि संग कपि सैना' (४। ३०)। अतएव कौतुक देखना कहा।—[पुनः, कौतुक—१ रंगबिरंगके अनेक जातिके वानर भालु संग लेकर रावणको जीतने जाना, उन प्रभुका कि जो 'प्रभु सक त्रिभुवन मारि जियाई', यह कौतुक ही तो है। वानरभालु निशाचरोंके भक्ष्य हैं, उन्हींसे निशाचरोंको जीतेंगे। पुनः २—वानरोंकी कूद फाँद किलकिला गर्जन तर्जन आदि का कौतुक।—(प्र०)] (ख) बहुत सुमन बरसानेका भाव यह कि जितनी दूरतक वानर थे वहाँ तक फूल बरसाए। यह समयकी सेवा है, सो की, यथा—'बरषहिं सुमन जनावहिं सेवा', 'सुमन बरषि सुर घन करि छाहीं।....सेवहिं सकल रामप्रिय जानी। २. ३११।', 'समय समय सुर बरषहिं फूला। १। ३१६।' अथवा, प्रयाण (प्रस्थान) जानकर पुष्पोंकी वृष्टि की, क्योंकि पुष्पवृष्टि मंगल है, यथा—'बरषहिं सुमन सुमंगलदाता'। पुनः, (ग)—पूर्व कह चुके हैं कि इस संवादको कहकर या सुनकर जो हृदयमें धारण करता है वह भक्ति पाता है। देवताओंने सुना और आँखों देखा इससे उन्होंने भक्ति पाई। इसीसे फूल बरसाए। फूल बरसाना भक्ति है।

४ (क) यहाँ भी देवताओंकी स्वार्थपरायणता देख लीजिए—जब 'सीतासुधि' सुनाई तब फूल न बरसाए और जब हनुमान्‌जीको भक्ति प्रदान हुई तब भी न बरसाए; क्योंकि उन्होंने सोचा कि इन्हें भक्ति मिली तो इसमें हमारा क्या काम हुआ? हमको क्या लाभ है जो हम हर्ष प्रकट करें? जब चलनेकी तैयारीकी आज्ञा दी, तब वर्षा की; क्योंकि अब विश्वास हुआ कि रावणको मारेंगे, हम सब सुखी होंगे। ये सदाके स्वार्थी हैं—'आये देव सदा स्वारथी'। (ख) 'नभते भवन चले'। इससे जनाया कि अभीतक सब देवता पृथ्वीपर थे, यथा—'मधुकर खग मृग तनु धरि देवा। करहिं सिद्ध मुनि प्रभुकै सेवा। ४। १३।' प्रस्थानका समय जानकर निज (देव) रूप धारण करके आकाशमें गए; अब वहींसे घरको चल दिए। तात्पर्य कि वर्षा और शरद्‌में भगवान्‌की सेवामें रहे, जब वे लंकाको चले तब ये घरको चल दिए।

श्रीलमगोड़ाजी—'अब बिलंब....' के प्रश्नरूपसे कितनी सरलता और सरसतासे भगवान्‌का उत्साह और कर्तव्यपरायणता दिखाई गई है कि तनिक बिलंबभी नहीं सहा जाता, देवताओंकी सुमनवृष्टिपर तो फिल्मकला ही निछावर है; कारण कि अवसर बड़ा सुन्दर है। हमें साफ़ दिखने लगता है कि भौतिक नाटकके द्रष्टा देवगण भी होते हैं और 'हिम्मते मरदां मददे खुदा' (पुरुषार्थ करनेवालेको ईश्वर सहायक होता है) को चरितार्थ करते रहते हैं। और, यहाँ तो उन्हींका काम ही है; अब जाकर उनकी चिन्ता निवारण हुई और वे आशा के साथ घर गए।

दो०—कपिपति बेगि बोलाए आए जूथप जूथ।
नाना बरन अतुल बल बानर भालु बरूथ* ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—यूथ = एक ही जाति या वर्गके अनेक जीवोंका समूह, झुंड, दल, सेना। यूथप = सेनापति।

अर्थ—(श्रीरघुनाथजीकी आज्ञा सुनकर) कपिपति सुग्रीवने सेनापतियोंके यूथों (समूहों) को तुरन्त बुलाया, वे तुरन्त आ गए। बानर और भालुके झुंड अनेक रंग एवं जातिके हैं, उनमें असीम बल है।३४।

टिप्पणी—१ श्रीरामजीने सुग्रीवको आज्ञा दी, सुग्रीवने यूथपतियों और यूथपतियोंने अपनी-अपनी सेनाके वानर-भालु-बरूथोंको। वानरभालुबरूथ सेना है। 'बेगि' बुलाया, इसीसे वे 'बेगि' आए। 'बुलाए' और 'आए' ये दोनों क्रियाएँ एकसाथ हुईं; इसीसे दोनोंको साथ रखा। श्रीरामजीकी आज्ञा थी 'तुरत कपिन्ह कहँ आयसु दीजै'; अतः 'कपिपति बेगि बोलाए'। 'आए' बहुवचन है, क्योंकि यूथपतियोंके बहुतसे

* यह दोहरा है।

झुंड हैं। यथा—'पदुम अठारह जूथप बंदर'। ४—उत्तरार्द्धमें यूथपतियोंका वर्ण और बल कहा। वानरभालु-से जाति और वरूथसे सेना कही। नाना वर्णोंके वानर भालुओंका वाल्मीकीयमें विस्तृत वर्णन है।

प्रभु-पदपंकज नावहिं सीसा। गर्जहिं भालु महाबल कीसा† ॥ १ ॥

अर्थ—सब प्रभुके चरणकमलोंमें सिर नवाते हैं। महाबली वानर और भालु गर्ज रहे हैं।१।

टिप्पणी—१ सुग्रीवजीके चरणोंमें माथा नवानेसे वे प्रसन्न नहीं होते, किन्तु श्रीरामजीके चरणोंमें मस्तक नवानेसे वे प्रसन्न होते हैं; इसीसे जहाँ तहाँ श्रीरामजीके ही चरणोंमें मस्तक नवाना पाया जाता है। यथा—'एहि बिधि होत बतकही आए बानर जूथ। नाना बरन सकल दिसि देखिय कीस बरूथ ॥ ४। २१।....आइ रामपद नावहिं माथा'; पुनः, यथा—'आयसु माँगि चरन सिरु नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई। ४। २३।'—[नोट—यह रीति है कि जब किसी समाजमें कोई बड़ा बैठा होता है, तब उसीको प्रणाम किया जाता है, उसके प्रणामसे सबको प्रणाम हो जाता है। ऐसी भी रीति देखनेमें आती है कि प्रधानको प्रथम प्रणाम करके तब औरोंको वहींसे साधारणतः प्रणाम कर लिया जाता है। यहाँ सुग्रीव श्रीरामजीके पास हैं, इससे श्रीराम-जीको ही प्रणाम किया]। २—जब सुग्रीव रामजीके समीप नहीं होते तब उनको प्रणाम करते हैं, यथा—'आइ सबन्हि नावा पद सीसा। मिलेउ सबन्हि अति प्रीति कपीसा' (५। २८)—[मा० त० सु०—'नावहिं सीसा' का भाव यह कि सिर झुकाकर प्रणाम करने लगे, क्योंकि समुदायमें साष्टांग प्रणाम करनेका अवकाश नहीं मिलता। पुनः केवल सिर नवानेसे शीघ्र चलनेकी तय्यारी सूचित की।]३—'महाबल' इति। ऊपर दोहेमें 'नाना बरन अतुल बल' कहकर यहाँ 'गर्जहिं भालु महाबल कीसा' कहा; इससे जनाया कि किसीके महाबल है और किसीके 'अतुल' बल है। ४—'गर्जहिं' से जनाया कि शत्रुपर चढ़ाई समझकर वीररसका आवेश हो आया। अतः गरजने लगे। प्रथम जब सब वानर (श्रीसीताजीका पता लगानेके लिए बुलाए जानेपर) आए थे, तब न गर्जे थे; यथा—'आइ रामपद नावहिं माथा। निरखि बदन सब होहिं सनाथा'। तब वीररसका आवेश न हुआ था क्योंकि उस समय युद्धका प्रयोजन न था; केवल सीताजीके 'खोज' लगानेका ही प्रयोजन था।

देखी राम सकल कपि सेना। चितइ कृपा करि राजिवनयना ॥ २ ॥
राम कृपा बल पाइ कपिंदा। भए पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा ॥ ३ ॥
हरषि राम तब कीन्ह पयाना। सगुन भये सुंदर सुभ नाना ॥ ४ ॥*

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने सब वानरी सेना देखी और कमल-नयनोंसे उस पर कृपादृष्टि की। २। रामकृपाका बल पाकर कपिश्रेष्ठ मानों पक्षवाले श्रेष्ठ पर्वत हो गए [वा, वे 'कपीन्द्र' और 'पक्षयुत' हो गए मानों पक्षयुत सुमेरु पर्वत हैं। अर्थात् उनमें उड़ने का सामर्थ्य हो गया। इसीसे आगे लिखते हैं कि 'चले गगन महि इच्छाचारी']। ३। तब प्रसन्न होकर श्रीरामचन्द्रजीने प्रस्थान किया (अर्थात् चले)। अनेक सुंदर और मंगल शकुन होने लगे। ४।

टिप्पणी—१ (क) पहले सामान्य दृष्टिसे देखा फिर विशेष दृष्टिसे देखा। तात्पर्य कि जब सब वानर मस्तक नवा चुके तब श्रीरामचन्द्रजीने सेनाको देखा कि इतनी है। फिर उनको बल पराक्रम देनेके लिए कृपा-दृष्टि करके पुनः उनकी ओर देखा। जैसा कवि आगे स्वयं लिखते हैं—'रामकृपा बल पाइ'।—['देखी' और 'चितइ' में पुनरुक्ति नहीं है। दो क्रियायें दो पृथक्-पृथक् बातोंके लिये दी गई हैं। पहले देखा कि सेना कितनी है और कैसी है। फिर उनको रावणके मुकाबलेमें निर्बल जानकर उनको निशाचरराज और उसकी सेनासे युद्ध करने योग्य बल प्रदान करनेके लिये कृपादृष्टिसे देखा। प्रभुने देखा कि सब देवता ही वानररूप

† 'प्रभु....' तामरस, 'गर्जहिं' पायकुलक। (ब्र० चं०)
* (२) (३) पायकुलक, 'हरषि०' द्रुतपा, 'सगुन०' कुसुमविचित्रा।

धारण किये उपस्थित हैं, पर देवरूपमें ये रावणसे पराजित हो चुके हैं. यथा—'रवि ससि पवन बरुन धनधारी ।...नवहिं आइ नित चरन बिनीता । १. १८२ ।' तब ये भला रावणसे कैसे लड़ेंगे ? यह सोचकर 'चितइ कृपा करि' । कृपादृष्टिसे उनके शरीर और बल युद्ध योग्य कर दिये । (रा० प्र०) । 'चितवना' का प्रयोग मानसमें प्रायः प्रेमसे देखनेके अर्थमें होता है । जैसे, रामहि चितइ रहे थकि लोचन । १।२६४।८ ।', 'रामहि चितव भाव जेहि सीया । सो सनेह सुखु नहिं कथनीया । १।२४२।६ ।', 'बिहसे करुनाऐन चितइ जानकी लषन तन । २ । १०० ।', 'पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता । लोचन नीर पुलक अति गाता । ३२ । ८ ।' इत्यादि । प० प० प्र०)] (ख) 'राजिवनयन' कृपाका सूचक है । ३२ (१) 'भरि आये जल राजिवनयना' देखिए । पुनः यथा—'तब निज भुजबल राजिवनयना' (४ । ३०), 'मैं देखउँ खलबल-दलहिं बोले राजिवनयन' । (६ । ६६) । (ग) जैसे राजा लोग अपनी सेनाकी संख्या कर पारितोषिक बाँटकर चढ़ाई करते हैं, वैसे ही यहाँ कृपाबल पारितोषिक सबको मिला । (घ) 'पच्छयुत मनहुँ गिरिंदा' इति । श्रीरामकृपाका फल तत्क्षण हुआ, वे बलवान् तो थे ही, अब पक्षयुत हो गए मानों असंख्य सुमेरुपर्वत एकत्र हो गए हैं । 'भये' देहलीदीपक है । कृपासे बल पाकर 'कपिन्द' हुए और 'पक्षयुत' हुए ।

नोट—१ 'भये पच्छयुत मनहुँ गिरिंदा' के और भाव ये हैं—(१) जब पहाड़ोंके पक्ष थे (जैसे मैनाकके), तब वे उड़ते फिरते थे, वैसे ही ये वानर स्वामीका सान्निध्य पाकर अपने ऊपर कृपा देखकर बल और उत्साहके अतिरेकसे उड़ते फिरते हैं, मानों पहाड़के पंख हो आए हैं । (गौड़जी) । (२) 'गिरिंदा' हो गए । अर्थात् वे युद्धमें शत्रुओंसे दुर्दम हो गये, अचल हो गए, अब शस्त्रादिके आघात वे सहेंगे, हटेंगे नहीं । यथा—'कृपादृष्टि कपि भालु बिलोके । भये प्रबल रन रहहिं न रोके ॥' (रा. प्र.) । (३) हनुमान्जीने अपना पर्वताकार रूप दिखाकर श्रीसीताजीको सांत्वना दी थी कि ऐसे ही सब वानर हैं, मैं तो सबसे छोटा हूँ । तो अब यदि छोटे-छोटे वानर जाते तो महावीरजीका वचन ठीक न उतरता । अतः वानरोंको पहाड़ोंके समान बना दिया । (रा० शं०) । (४) प्रभुके कृपामय चितवनमात्रहीसे समयानुकूल कार्य सिद्ध हो जाता है, यथा—'राम कृपा करि चितवा जबहीं । भये बिगत श्रम बानर तबहीं', 'कृपादृष्टि कपि भालु बिलोके । भये प्रबल रन रहहिं न रोके' ।

लमगोड़ाजी—ओजगुणकी महाकाव्यकलापूर्ण उत्प्रेक्षा सराहनीय है ।

टिप्पणी—२ 'हरषि राम तब कीन्ह पयाना' इति । (क) प्रस्थानके समय हर्ष होना उत्तम शकुन है । [पुनः, पूर्व 'निसिचरहीन करउँ महि' (३. ९), यह जो प्रतिज्ञा की थी उसकी पूर्त्तिका संयोग जानकर, अभीष्टकी सिद्धि समझकर हर्ष हुआ । शुभ शकुन देखकर भी हर्ष है ।] (ख) 'तब' अर्थात् जब सेनाको कृपा करके बल दे दिया और देख लिया कि सेना बलिष्ठ और उत्तेजित हो गई है तब उनको हर्ष हुआ और उन्होंने प्रस्थान किया । (ग) 'हरषि' यह भीतर हृदयका शकुन है और 'सगुन भये सुंदर सुभ नाना' यह बाहरके शकुन हैं । बाहरसे भीतरका शकुन श्रेष्ठ होता है । अतः उसे पहले कहा । (घ) 'कीन्ह पयाना' इति । ३४ (७) में देखिए ।

नोट—२ ☞ अध्यात्मरामायणमें केवल मुहूर्तका नाम दिया है और हनुमन्नाटकमें आश्विन विजयदशमीको प्रयाण करना कहा गया है । वाल्मीकीयमें उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र अभिजित नाम विजयके मुहूर्तमें प्रस्थान बताया गया है । पद्मपुराण पातालखण्डमें मार्गशीर्ष कृष्णपक्षकी अष्टमीको उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र और विजय नामक मुहूर्तमें दोपहरके समय प्रस्थान है । मानसके मतसे यही तिथि जान पड़ती है; कारण कि चतुर्मासा बीतनेपर वानर भेजे गए थे और एक मासकी अवधि स्वयंप्रभाके आश्रममें ही बीत चुकी थी । अतः मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष ही मानसका मत है ।

३—'सगुन भये सुंदर सुभ नाना' इति । वाल्मीकिजी लिखते हैं कि, 'निमित्तानि च धन्यानि यानि प्रादुर्भवन्ति च । निहत्य रावणं सीतामानयिष्यामि जानकीम् । उपरिष्टाद्धि नयनं स्फुरमाणमिदं मम । विजयं समनुप्राप्तं शंसतीव मनोरथम् । वाल्मी० । ६ । ४ । ७,८ ।...महान्ति च निमित्तानि दिवि भूमौ च

रावव। ४६। शुभानि तव पश्यामि सर्वाण्येवार्थसिद्धये। अनुवाति शुभो वायुः सेनां मृदुहितः सुखः। ४७।' श्रीरामजी सुग्रीवजीसे कह रहे हैं कि जो शकुन शुभ कहे जाते हैं वे भी हो रहे हैं, जिससे प्रकट होता है कि हम रावणको मारकर जानकीजीको ले आवेंगे। देखो, मेरी दाहिनी आँखके ऊपरका पलक बराबर फड़ककर कह रहा है कि तुम्हारा विजय समीप है और मनोरथ पूर्ण होनेवाला है। श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं कि आकाश और पृथिवीपर अनेक प्रकारके शकुन देख पड़ते हैं जो आपके लिये शुभ और स्वार्थसिद्धिके द्योतक हैं। शीतल, मन्द, सुगंधित अनुकूल पवन चल रहा है, मृग और पक्षी मधुर स्वरसे बोल रहे हैं, सूर्य निर्मल किरणोंसे प्रकाशित हैं, शुक्र पीछे हैं, सप्तर्षि ध्रुवकी परिक्रमा-सी कर रहे हैं, इक्ष्वाकुकुलका नक्षत्र (विशाखा) उपद्रवरहित हो चमक रहा है, विश्वामित्रसहित त्रिशङ्कु निर्मल प्रकाश कर रहे हैं। इत्यादि। शकुनोंका वर्णन बालकांड दोहा ३०२—३०३ में देखिए।

☞ कठिन कार्यकी सिद्धिके लिये प्रस्थान समय 'हरषि राम तब कीन्ह पयाना।' इस मंत्ररूप अर्धालीका स्मरण जप मांगलिक माना जाता है।

जासु सकल मंगलमय कीती। तासु पयान सगुन येह नीती॥ ५॥
प्रभु पयान जाना बैदेही। फरकि बाम अँग जनु कहि देहीं॥ ६॥
जोइ जोइ सगुन जानकिहि होई। असगुन भयउ रावनहिं सोई॥ ७॥*

अर्थ—जिसकी कीर्ति सकल मंगलमय है, उसके प्रस्थानमें शकुन होना—यह नीति है। (ऐसे धर्मात्माको प्रयाण-समय शकुन होने ही चाहिएँ। अधर्मीके पयानमें शकुन होना अनीति है, उसमें शकुन न होने चाहिएँ)। ५। प्रभुका प्रस्थान विदेहनन्दिनीजीने जान लिया। उनके बाएँ अंग फड़ककर मानों कह रहे हैं (कि प्रभु आ रहे हैं, तुमको दर्शन शीघ्र होगा)। ६। जो जो शकुन श्रीजानकीजीको होते हैं, वही वही अपशकुन रावणको हुए (अर्थात् दोनोंके बाम अंग फड़क रहे हैं, स्त्रीका बाम अंग फड़कना शुभ है, अतः वह श्रीसीताजीको शकुन हुआ और पुरुषके बाम अंगका फड़कना बुरा है, अतः रावणको ये अपशकुन हो रहे हैं)। ७।

नोट—'जासु सकल मंगलमय कीती।....' इति। (१) कीर्तिका अपभ्रंश 'कीति' है, छन्दोभंगके भयसे 'नीती' की जोड़में 'कीती' रखा। (२)—भाव यह कि इनकी तो कीर्त्तिके कथन वा श्रवण-मात्रसे जीवमात्रका मंगल होता है, तब इनके लिए मंगल शकुन होना क्या? पर लोकके लिये नियम बनाया है कि कार्यकी सिद्धिकी सूचनाके शकुन होते हैं, इससे वे नियम सत्य होनेके लिए समयपर अपना कार्य करते रहते हैं। (३) श्रीरामजीकी कीर्ति सर्वमंगलमय है, यथा—'कीरति कलित ललित सिय पी की।....कलिमल हरनि विषयरस फीकी। सुभग सिंगार मुक्ति जुवती की। दलन रोग भव मूरि अमी की। तात मात सब विधि तुलसी की।' (आरती)। उनके लिये शकुन हों वा न हों, वे तो सदा सिद्धकार्य हैं। शकुन तो अपनेको सफल करनेके लिये होते हैं, यथा—'जनु सब साँचे होन हित भये सगुन एक बार। १।३०३।'; (४) 'सगुन यह नीती'का भाव कि श्रीरामजी जानते हैं कि वे रावणका वध करेंगे, सीताजीको ले आवेंगे, फिर भी वे धर्मनीतिके परम सुजान हैं, यथा—'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ। २।२५४।'; इसीसे अपने कार्योंमें भी वे नीतिकी मर्यादा रखते हैं, यथा—'जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुरत्राता।'; अतएव प्रस्थानके समय शुभ शकुन हो रहे हैं। इस समय शकुन न होते तो शुभाशुभ शकुनोंकी कभी कोई पर्वा ही न करता।

टिप्पणी—१ 'फरकि बाम अग जनु कहि देहीं' इति। (क) यथा—'रामसीयतन सगुन जनाये', 'भरत आगवनु सूचक अहहीं॥ २।७।४-६।' देखिए। पुनः, यथा—'मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई' एवं 'सगुन होहिं सुंदर सकल मन प्रसन्न सब केर। प्रभु-आगमन जनाव जनु नगर रम्य चहुँ फेर। ७।१।' (ख) यहाँ बाम अंगोंका फड़

* (५) से (१०) तक पायकुलक है—(ब्र० चं०)।

कना, यही कहना है। आशय यह कि श्रीजानकीजी भली प्रकार जान गईं कि प्रभु चल दिए। [मा० त० सु०—१ 'जनु कहि देहीं' यह लोकोक्ति है। २—कालगति जनानेके लिए दोही शास्त्र प्रधान हैं, एक ज्योतिष दूसरा सामुद्रिक। ज्योतिषके गणितसे गणितज्ञ लग्नद्वारा कुछ विलंबसे जानते हैं, किन्तु अंग फड़कने आदिसे फलग्रन्थानुसार सब कोई कालगतिको शीघ्रही जान लेते हैं। अंग-स्फुरण सबको होता है, इसके लिए धर्मी अधर्मीका कुछ विचार नहीं। और किसी तरह तुरत जान लेना संभव न था।]

२ 'बैदेही' पद देकर जनाया कि—(क) जानकीजी जिस समय विरहसे ऐसी व्याकुल थीं कि तन की सुधबुध न रह गई थी, उसी समय यह शकुन होने लगे। वा, (ख) विरहाकुल होकर शरीर रखना नहीं चाहतीं थीं, उसी समय वाम अंग फड़ककर उन्हें सूचना देने लगे कि प्रभु आ रहे हैं, तुम शरीर न छोड़ो। [अथवा, (ग) प्रभु का प्रस्थान जानकर वे आनंदमें मग्न हो गईं, देह सुध भूल गईं (प० प० प्र०)]

३ 'असगुन भयेउ रावनहिं सोई' इति।—(क) श्रीजानकीजीके शकुनमें मिलाकर रावणका अपशकुन कहनेका कारण यह कि एक तो रावणके अपशकुनका हेतु 'सीताजी' ही हैं, यथा—'जब तें तुम्ह सीता हरि आनी। असगुन होहिं न जाहिं बखानी। ६। ४७।' (माल्यवन्तवाक्य)। दूसरे नाशका हेतुभी श्रीसीताजीही हैं, यथा—'तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई। ५। ३६।', 'कालराति निसिचरकुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी। ५। ४०।' (ख)—बात एकही है, पर उससे एकको शकुन और दूसरेको अपशकुन होना 'प्रथम व्याघात अलंकार' है।

प० प० प्र०—'जानकी' शब्दके साथ 'असगुन भयउ रावनहिं सोई' का भाव यह है कि जैसे शुभ शकुनोंने प्रयाण कहकर श्रीसीताजीको बहुत आनन्द दिया वैसेही अशुभ शकुनोंने श्रीरामजीका प्रस्थान कहकर रावणको आनंद दिया; कारण कि 'प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ' यह उसका साध्य है।

चला कटकु को बरनै पारा। गरजहिं बानर भालु अपारा॥ ८॥
नख आयुध गिरि पादप धारी। चले गगन महि इच्छाचारी॥ ९॥
केहरिनाद भालु कपि करहीं। डगमगाहिं दिग्गज चिक्करहीं॥ १०॥

अर्थ—कटक (सेना) चला, उसे वर्णन करनेमें कौन समर्थ हो सकता है? (वा, पार कौन वर्णन करे, वह तो अपार है—पं० रा० कु०)। अपार (अगणित) वानर भालु गर्ज रहे हैं। ८। नख (नाखून) ही उनके शस्त्र हैं। वे पर्वत और वृक्ष धारण किए हुए हैं, इच्छाचारी हैं, कोई आकाश (मार्ग) से और कोई पृथ्वी पर चल रहे हैं (जैसी जिसकी इच्छा है)। ९। रीछ और वानर सिंहका-सा गर्जन कर रहे हैं। दिशाओंके हाथी डगमगा रहे हैं और चिंघाड़ते हैं। १०।

टिप्पणी—१ 'चला कटक····भालु अपारा' इति। अर्थात् कटक अपार है और पृथक्-पृथक् वानर भालु अपार हैं। ☞प्रथम श्रीरामजीने प्रस्थान किया। इस तरह कि हनुमान्‌जीकी पीठपर श्रीरामजी बैठे और अंगदजीकी पीठपर लक्ष्मणजी सवार हुए। ये आगे-आगे चल रहे हैं। पीछे-पीछे अपार कटक और अपार वानर-भालु जा रहे हैं। 'को बरनै पारा'—अर्थात् इसका पार कौन वर्णन करे? 'जो 'पार' कहे, वह मूर्ख गिना जायगा। यथा—'बानर कटक उमा मैं देखा। सो मूरुख जो करन चह लेखा' (४। २२)। [नोट—'पारा' का अर्थ 'सकना, कर सकना' 'समर्थ होना' भी है, यथा—'बाली रिपुबल सहइ न पारा' (४। ६), 'सोक बिकल कछु कहइ न पारा'।]

२ (क) 'नख आयुध गिरि पादप धारी' से अस्त्रशस्त्र दोनों जनाए। नख शस्त्र हैं, गिरि और पादप अस्त्र हैं। (शत्रुके समीपस्थ होनेपर 'नख' उनके आयुध हैं और दूरस्थ होनेपर फेंककर मारनेके लिये गिरि और पादप आयुध हैं।) अथवा, नख आयुध हैं अर्थात् इनमें पूरा बल नखोंका है; यथा—'एक नखन्हि रिपुबपुष बिदारी', 'नखन्हि लिलार बिदारत भयऊ' (६। ६७)। और ऊपरसे देखनेके लिए गिरि

और वृक्ष लिए हैं, यथा—'बिटप महीधर करहिं प्रहारा' (६ । ६७), 'गहि गिरि तरु अकास कपि धावहिं' (६ । ७२)। (ख) पूर्व जो कहा था कि 'रामकृपाबल पाइ कपिंदा । भये पच्छयुत मनहुँ गिरिंदा'; वही यहाँ चरितार्थ है—'चले गगन महि इच्छाचारी' । आकाशमार्गसे बहुत चले, इसीसे 'गगन' शब्द प्रथम दिया । 'इच्छाचारी' पदसे उनकी अव्याहतगति सूचित की ।

नोट—१ 'गर्जहिं बानर भालु''''केहरिनाद''''' इति । क्या गर्जन कर रहे थे ? वाल्मीकिजी लिखते हैं कि वे गरज-गरजकर बारंबार कह रहे थे कि रावण तथा अन्य समस्त राक्षसोंको हम मार डालेंगे । कोई-कोई महानाद करते और कोई-कोई सिंहनाद करते थे । यथा—'रावणो नो निहन्तव्यः सर्वे च रजनीचराः । इति गर्जन्ति हरयो राघवस्य समीपतः । वाल्मी० ६ । ४ । ३० । महानादान्विमुञ्चन्ति क्ष्वेलामन्ये प्रचक्रिरे। ६८ ।' ☞जैसे मार्गमें जाते हुये तीन बार गर्जन वाल्मीकिजीने लिखा, वैसेही मानसमें भी मार्गमें तीन बार लिखा गया । मानसमें 'गर्जहिं, केहरिनाद करहीं, और कटकटहिं' शब्द हैं और वाल्मीकीयमें 'गर्जन्ति, महानाद आदि शब्द हैं । २—'केहरिनाद' कहकर 'दिग्गज चिक्करहीं' कहनेका भाव कि वानरोंका केहरिनाद सुनकर दिग्गज चिंघाड़ने लगे । वानरोंका सिंहनाद वे न सह सके । (रा० कु०) ।

टिप्पणी—३ (क) वानर वारंवार गरज रहे हैं, इसीसे कविने चार बार गर्जन लिखा। पुनः, (ख)—वानर और भालु पारी पारीसे गर्जन कर रहे हैं। जब वानर गर्जन करते हैं तब भालु चुप रहते हैं, और जब भालु गरजते हैं तब कपि चुप रहते हैं। दोनोंको पारी-पारीसे प्रधान रखकर गर्जनमें दोनोंकी समानता यहाँ दिखाई है । (१) 'गर्जहिं भालु महाबल कीसा', यहाँ प्रथम भालु गर्जे । (२) 'गर्जहिं वानर भालु अपारा', यहाँ वानरको प्रथम कहा, अर्थात् वे प्रथम गर्जे । (३) 'केहरिनाद भालु कपि करहीं' यहाँ प्रथम भालुको कह कर उनका प्रथम गरजना दिखाया। (४)–'कटकटहिं मर्कट विकट भट बहु कोटि कोटिन्ह धावहीं', यहाँ वानर प्रथम गर्जे । पुनः भाव कि (ग)–जब प्रभुके पास आए तब गर्जे, यथा—'प्रभुपदपंकज नावहिं सीसा । गर्जहिं भालु महाबल कीसा'-(१)। जब चले तब गर्जे, यथा–'चला कटक को बरनै पारा । गर्जहिं बानर भालु अपारा' (२)। मार्गमें गरजते हुए चले, यथा—'केहरिनाद भालु कपि करहीं । डगमगाहिं०'-(३)। और, कोटि-कोटि धावा करने लगे तब गर्जे, यथा—'कटकटहिं मर्कट बिकट भट बहु कोटि कोटिन्ह धावहीं' । इस प्रकार चार प्रसंगोंसे चार बार गर्जन कहा गया। यह भी जनाया कि गर्जनकी बराबर मार्गभर इस प्रकार ड्योढ़ लगी ही रही ।

(हरिगीतिका) छन्द

चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे ।
मन हर्ष† दिनकर सोम सुर मुनि नाग किन्नर दुख टरे ॥
कटकटहिं मरकट बिकट भट बहु कोटि कोटिन्ह धावहीं ।
जय राम प्रबल प्रताप कोसलनाथ गुनगन गावहीं ॥ १ ॥

अर्थ—दिग्गज चिंघाड़ते हैं । पृथ्वी हिलती है । पर्वत चंचल हो गए, समुद्र (के जलमें) खलबली पड़ गई । सूर्य, चन्द्र, देवता, मुनि, नागदेव और किन्नरोंके मनमें हर्ष हुआ, उन सबोंके दुःख टले । बहुतेरे भयंकर योद्धा वानर कटकटाते (क्रोधपूर्वक दाँतोंसे शब्द करते) हैं और बहुतसे करोड़ों-करोड़ों मिलकर दौड़ते हैं । 'श्रीरामचन्द्रजीकी जय हो कि जिनका प्रताप प्रबल है और जो कोशलपुरीके राजा हैं'—इस प्रकार वे सब कोशलनाथ रामचन्द्रजीके गुण गान कर रहे हैं ।

श्रीलमगोड़ाजी—हमारे यहाँ तो महाकाव्य तबतक पूर्ण नहीं होता जबतक कवि अपनी पराकाष्ठा तक न पहुँचे, अर्थात् 'क्रान्तदर्शी और सूक्ष्मदर्शी' न हो और दैविक और आध्यात्मिक रहस्योंको खोल

† हरष (ना० प्र०, का०, न्र० चं०) ।

न दे।—हाँ, होना चाहिये यह सब सरस (मनोहर) रीति पर।—'रामरहस्य मनोहर गाऊँ।' पाश्चात्य जगत् में वहाँके महाकाव्य (Epic) की परिभाषा केवल इतनी ही है कि किसी घटना या घटनाक्रमको विस्तारके साथ ओजस्वी भाषामें लिखा जाय। रामायणमें दोनों परिभाषायें घट जाती हैं, पर होमरके महाकाव्यों या महाभारतकी तरह लड़ाइयोंके वर्णनका इतना वाहुल्य नहीं है कि जी ऊब जाय। केवल मुख्य लड़ाइयाँ लिखी गई हैं, पर बहुतसी छोड़ दी गईं जिनका वृत्तान्त अन्य ग्रन्थोंमें मिलता है।

टिप्पणी—१ जब दिग्गज चिंघाड़ने लगे तब पृथ्वी काँपी। पृथ्वीपर पर्वत और समुद्र हैं; इससे वे हिल गए, उनमें खलबली पड़ गई। अतएव इसी क्रमसे कहा। 'चिक्करहिं' और 'खरभरे' दोनों बहुवचन क्रियाएँ देकर जनाया कि आठों दिग्गज चिक्कार करने लगे और सातों समुद्र चलायमान हो गए।

२—'मन हरष दिनकर सोम' इति। (क) यहाँ सूर्यचन्द्रमाको आदिमें रखकर जनाया कि रावण इनको अधिक दुःख देता था, क्योंकि अष्ट दिग्पालोंमें ये प्रथम हैं। यथा—'रवि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥ किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पंथहि लागा....' (१। १८२)। अथवा सूर्यचन्द्रमाके प्रथम नाम लेनेसे सब लोकपालोंका ग्रहण हुआ। (ख) रावण सबों पर चढ़ाई करता था। आज प्रबल शत्रु श्रीरामजी उसपर चढ़ाई कर रहे हैं; इसीसे हर्ष हुआ। [पृथ्वीपर तो गड़बड़ मच गया—'चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोलु सागर खरभरे'; परन्तु पृथ्वीके हितकर्ता सूर्य और चन्द्र ('जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन') मनमें हर्षित हुए, कि अब पृथ्वीका भार उतरेगा, और वे लोग स्वयम् सुप्रभ होंगे, क्योंकि रावण के सामने इनका तेज फीका पड़ गया था, यथा—'तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेज-हीन पावक ससि तरनी।' और सुर मुनि नाग तथा किन्नरका दुःख टला, क्योंकि रावणके मारे सबको नाकों दम था, यथा—'भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न स्वतंत्र। मंडलीकमनि रावन राज्य करै निजमंत्र'। रावणके राज्यमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी सबकी छिन गई थी। यज्ञयागादि धर्म कर्म नहीं होने पाते थे। (वि० त्रि०)] (ग) 'टरे' बहुवचन दिया; क्योंकि इन सबोंको बहुत दुःख है; यथा—'देव जच्छ गंधर्व नर किन्नर नाग कुमारि। जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदरि बर नारि। १। १८५।' (१)। 'द्विज-भोजन मख होम सराधा। सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा' (१. १८१)—(२)। 'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरुगिरिखोहा' (१। १८२)—(३)। 'रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बंदीखाना' (६. ८६)—(४)। 'आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता' (१. १८२)—(५)। 'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता।' (५. २०)—(६)। इत्यादि दुःख टले। 'टले' अर्थात् अभी नाश नहीं हुए, केवल हट गए हैं, रावणवध पर इनका नाश होगा।

३—'कटकटहिं मर्कट....' इति। (क) तात्पर्य कि कहीं सामान्य और कहीं विशेष गर्जन करते हैं, कभी कटकट करते हैं, कभी रामगुणगान करने लगते हैं, कभी जयजयकार करते हैं—सब उत्साहमें भरे हैं। (ख) वानरोंका कटकटाना क्रोधसूचक है; यथा—'कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा' (५. १६), 'कटकटान कपि कुंजर भारी। दुहु भुजदंड तमकि महि मारी' (६. ३१)। (ग)—'कटकटहिं' से जनाया कि शब्द भयदायक है। 'बिकट' भट हैं अर्थात् देह भयदायक है। 'बहु कोटि कोटिन्ह धावहिं' से जनाया कि उनके कर्म भी भयदायक हैं।

४ (क) 'जय राम प्रबल प्रताप कोसलनाथ गुनगन....' इति।—'श्रीरामजीकी जय हो, वे रावणादिको मारें, जिनका प्रबल प्रताप है वे रामजी कोशलपुरीके राजा हों अर्थात् राज्य करें, उनके प्रतापसे समस्त ब्रह्माण्डको आनन्द होगा; यथा—'जब ते राम प्रताप खगेसा....'। इस प्रकार गुणगान करते हैं। (ख)—'प्रबल प्रताप' का भाव कि प्रताप सूर्यरूप है, यथा—'जब तें राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा। ७.३१।' सूर्यके उदयसे तमका नाश होता है, वैसे ही रामप्रतापसे निशाचरनाश है। अथवा, इस समय वानर प्रबल हुए हैं सो रामजीके प्रतापसे, यथा—'रामप्रताप प्रबल कपिजूथा'। अतएव प्रथम प्रताप-

को प्रशंसा की। पुनः, (ग) रामसे नाम, प्रतापसे रूप, कोसलनाथसे धाम और गुणगानसे लीला कही। इस तरह नाम, रूप, लीला और धाम चारोंके गुण गाते हैं।

प० प० प्र०—इस छन्दके प्रथम चरणसे ओज बढ़ता गया और तीसरा चरण पूर्ण ओजस्वी वर्णोंसे भरा है। इन तीन चरणोंमें वीर, भयानक और रौद्र रसोंका आविष्कार है। इन सभी रसोंका परिपाक चतुर्थ चरणमें भक्तिरसमें हुआ। यह गोस्वामीजीका वैशिष्ट्य है। इस छन्दमें मर्कटोंका रूप, ध्वनि, क्रिया सबकी सब भयानक बतायी है पर यह 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' है, यह चतुर्थचरणसे सूचित किया है।

नोट—१ दिग्गज, नाग, किन्नरकी व्याख्या बालकाण्डमें देखिए। श्रीरामजीके गुणोंका वर्णन अ० १ (८) में देखिए।

छंद—सहि सक न भार उदार अहिपति बारबारहिं† मोहई।
गहै‡ दसन पुनि पुनि कमठपृष्ठ कठोर सो किमि सोहई॥
रघुबीर रुचिर पयान प्रस्थिति जानि परम सुहावनी।
जनु कमठ खर्पर सर्पराज सो लिखत अबिचल पावनी॥

अर्थ—श्रेष्ठ और बड़े भारी शेषनागजी भी इस भारी बोझको नहीं सह सकते। बारंबार मोहको प्राप्त हो जाते हैं, पुनः पुनः (बारबार) कछुवेकी कठोर पीठको दाँतोंसे पकड़ते हैं; उसकी कैसी शोभा हो रही है मानों श्रीरघुबीरजीके सुन्दर प्रस्थानयात्राकी मुहूर्तको परम सुहावना जानकर उस अविचल और पवित्र-यात्राको अविचल पवित्र रीतिसे कछुएकी खर्पर (पृष्ठभाग, खपड़ा) पर सर्पराज शेषजी लिख रहे हैं।।२।

नोट—१ हनुमन्नाटकके—'नृपतिमुकुटरत्न त्वत्प्रयाणप्रशस्तिं प्लवगबलनिमज्जद्भूभराक्रान्तदेहः। लिखति दशनटङ्कैरुत्पतद्भिः पतद्भिर्जरठकमठभर्तुः खर्परे सर्पराजः। ७। ३। श्वासोम्मर्यातसन्धिरुन्धितगल प्रच्छिन्न हारावली, रत्नैरप्यदयालुभिः कृतफणा प्राग्भारभङ्गक्रमः। श्रोत्राकाश निरन्तरालमिलितस्तब्धैः शिरोभिर्भुवं, धत्ते वानरवीर विक्रमभराभुग्नो भुजङ्गाधिपः। ४।' (अर्थात् श्रीहनुमान्‌जी श्रीरामचन्द्रजीसे कहते हैं—'हे राजाओंके मुकुटमणि! शेषजी, वानरोंके बलसे डूबती हुई पृथिवीके भारसे आक्रान्त देह-वाले आपके यात्राकी प्रशस्ति (अक्षरावली) को ऊपर उठते हुए और नीचेको बैठते हुए दंतरूप टाँकोंसे वृद्ध कच्छपराजजीकी पीठरूप कपालपर लिखते हैं। सेनाके भारसे वारंवार श्वास लेनेके कारण गलेके रुकनेसे जिनकी हारावलीके रत्न छिन्न हो गए हैं और परस्पर संधानकी पीड़ाको न जाननेवाले और वानरोंके पराक्रम से जो भार हो रहा है उससे वक्र (टेढ़े) हुए और फणोंके व्यग्र होनेसे भंग होते हुए शेषजी कानोंमें निरन्तर अवकाश शून्य होनेसे स्वभावसे सुकुमार शिरोंके द्वारा शेषजीने कठिनतासे पृथिवीको धारण किया।)—इन श्लोकोंसे मिलान कीजिये। इसके भाव इस छन्दमें हैं। (नोट—३ व ४ भी देखिये)।

श्रीलमगोड़ाजी—धन्य है महाकविकी यह ओजपूर्ण युक्ति!! अंग्रेजी पढ़े लोग सोचें कि मिल्टनकेसे ओज (Miltonic Grandeur) से मानसकी कला कितनी बढ़ीचढ़ी है!

टिप्पणी—१ 'सहि सक न भार उदार अहिपति' इति। (क) वानर भालु पहले भी तो पृथ्वीपर रहते थे तब कैसे उनका बोझा सह सकते थे जो अब ऐसा लिखते हैं? उत्तर—पहिले सब एक जगह नहीं थे—'गिरि कानन जहँ तहँ भरि पूरी। रहे निज-निज अनीक रचि रूरी'। अब सब सिमिटकर एकत्र हुए हैं; अतएव भार भारी हो गया। अथवा, प्रथम कपि 'कपिन्द' थे, अब पक्षयुत-सुमेरुसम हो गए; अतएव भार अधिक हो गया। यथा—'रामकृपा बल पाइ कपिंदा। भये पक्षयुत मनहुँ गिरिंदा'। अथवा, जब वानर आकाशमें चलते हैं तब

† बार बार बिमोहई—वंदनपाठक, प्र० चं०। ‡ गहि—गौड़जी, ना० प्र०, प्र० चं०।

शेषपर भारी बोझ नहीं रहता, जब पृथ्वीपर उतरकर 'कोटि कोटिन्ह धावहीं' तब बोझ भारी हो जाता है तब सह नहीं सकते। (ख) गर्जन दिग्गज न सह सके, भार शेष न सह सके।

नोट—२ एकत्र होनेपर बोझा एक ही तरफ पड़नेसे पृथिवीका एक ओर झुकना स्वाभाविक है पर बोझा तो ज्योंका त्योंही बना रहेगा। हाँ, यह अवश्य है कि ऊपरसे कूदकर पृथ्वीपर आनेसे फिर उछलनेसे और फिर कूदनेसे धमधमाहट और झोंका होनेसे पृथिवीका डगमगाना उचित ही है। और, उस समय शेषादिका भार न सह सकना ठीक है। वस्तुतः यहाँ 'अतिशयोक्ति अलंकार' है।

३ यहाँ तक दिखाया कि रघुवीरप्रयाणकी खबर त्रैलोक्यमें पहुँच गयीः—फड़कन (अंगस्फुरण) द्वारा श्रीजानकीजीको धैर्य धारण करानेके लिए उनके अंग फड़के। ४०० कोशमें खलबली मची और खबर पहुँची—(१)। मनके हर्ष द्वारा सूर्यलोक, चन्द्रलोक, इन्द्रलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक, दशों दिग्पालों और मुनियोंके आश्रमोंमें खबर पहुँची—(२)। भारके द्वारा शेषजीको खबर पहुँची—(३)।

टिप्पणी—२ 'बार बारहिं मोहई' से जनाया कि सावधान होते हैं, फिर थोड़ी ही देरमें पुनः 'मोह' को प्राप्त हो जाते हैं जैसा आगे कहते हैं—'गह दसन पुनि पुनि....'।

नोट—४ 'बार बारहिं मोहई' इति। 'मोहई' के भिन्न-भिन्न अर्थ लोगोंने किये हैं जो ये हैं— 'व्याकुल या असावधान हो जाते हैं', 'मूर्च्छित हो जाते हैं', 'भ्रम या संदेहमें पड़ जाते हैं।' श्रीमहादेव-दत्ताजी लिखते हैं कि यहाँ "भ्रम या चित्तमें अनेक प्रकारकी चिन्ता होना' यह अर्थ 'मोह' का है; वे सोचते हैं कि भार सहन करनेमें ऐसा रहस्य मेरा कभी न हुआ कि भार सहना कठिन हो गया हो। 'मूर्छित' अर्थ यहाँ असंगत है क्योंकि यदि शेषजी मूर्छित हो जाते तो पृथ्वी उलटकर गिर जाती।"

मेरी समझमें 'मोहई'की विस्तृत व्याख्या श्रीहनुमन्नाटकके उपर्युक्त उद्धृत श्लोकों (जो ऊपर नोट १ में अर्थके पश्चात् दिये गए हैं) में है और किंचित् गीतावलीके निम्नलिखित उद्धृत पदमें है, वही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। हनुमन्नाटकके उद्धृत श्लोकोंके 'कृतफणाप्राग्भारभंगक्रमः', 'स्तब्धैः शिरोभिर्भुवं' और 'भुग्नो भुजंगाधिपः' इन पदोंसे भाव यह निकलता है कि वीर वानरोंके विक्रम भारसे शेषजी घबड़ा गए, बारंबार साँस लेते हैं, उनके फणोंके अग्रभाग भुग्न अर्थात् मर्दित हो गए हैं, वे स्तब्ध सिरोंसे पृथ्वीको धारण किए हुए हैं। तीसरे श्लोकका भावार्थ यह है कि वानरोंकी सेनासे धँसी हुई पृथ्वीके भारसे आक्रांत देह शेषजी उखड़कर गिरते हुए अपने दशनरूपी टाँकीसे कमठराजके खर्परपर आपके प्रयाणकी प्रशस्तिको लिख रहे हैं। गीतावली ५।२२ में कहते हैं कि—'नभ निसान हनुमान हाँक सुनि समुझत कोउ न अपान। ६। दिग्गज कमठ कोल सहसानन धरत धरनि धरि धीर। बारहि बार अमरषत करषत करकैं परीं सरीर। ७।' यहाँ 'मोहई' के स्थानपर 'अमरषत करकैं परी सरीर' है। अर्थात् क्रोधमें भर जाते हैं कि आज यह क्या हमारा अपमान हो रहा है कि पृथ्वीका भार हमसे नहीं सहा जाता और यह समझकर बलसे खींचते हैं, उससे शरीरमें करक (पीड़ा) हो आती है।

टिप्पणी—३ 'गह दसन पुनि पुनि कमठपृष्ट कठोर'।—(क) पुराणानुसार पृथ्वीके नीचे दिग्गज हैं, उनके नीचे शेष, शेषके नीचे कमठ—अतः उसी क्रमसे यहाँ कहा। (ख) शेषका फण नम्र हुआ जाता है, इसीसे वे कमठपृष्टको दाँतोंसे पकड़ते हैं, तब आधार पानेसे सावधान हो जाते हैं। जब कमठपृष्ठपर दाँत नहीं ठहराता या छूट जाता है तब वे मोहको प्राप्त होते हैं। (ग) 'सो किमि सोहई'—भगवान्‌के कार्य करनेमें 'मोह' भी हो तो शोभा है, अतः 'सोहई' कहा। अथवा, रामयश लिखना शोभा है। इसके संबंधसे 'मोह' होना शोभा ही है। अतः 'सोहई' कहा।—(इस कथनसे कच्छप भगवान्‌की स्थिरता दिखाई, शेषजी भी उनका सहारा लेते हैं। यहाँ शंका यह भी हो सकती है कि जब शेषजी कमठपृष्ठको दाँतोंसे पकड़ने लगते हैं तब पृथ्वी अपने स्थानपर कैसे स्थिर रहती है? इसका समाधान यह है कि शेषजीके एक सहस्र मस्तक हैं। जिस मस्तकपर पृथ्वी रहती है वह मस्तक जब पृथ्वीके भारसे पीड़ित हो जाता है तब वह सहारेके लिये

कच्छपकी पीठपर अपने दाँत दे देता है, उस समय उसके बगलवाले सिरपर ही पृथ्वी थम जाती है। इसी प्रकार जब यह भी पीड़ित होकर नीचे जाता है तब पूर्ववत् उसके बगलवाले सिरपर पृथ्वी टिकी रहती है और उधर जो पहले नीचे गये हैं वे शान्त होकर ऊपर उठ आते हैं। ☞ शेष, कच्छप भगवान्, दिग्गज और वराह भगवान् किस क्रमसे स्थित हैं इस विषयपर बालकाण्ड २६० (१-३) में विस्तारसे लिखा आ चुका है।

टिप्पणी—४ 'रघुवीर रुचिर पयान प्रस्थिति जानि।' इति। (क) प्रबल शत्रुपर प्रभुने चढ़ाई की, अतः 'रघुबीर' कहा। [मा० त० सु०—१ 'रघुबीर' साभिप्राय है। राघवजीका वीररस यहींसे प्रारंभ हुआ; वा, युद्धकार्यमें वीररसका ही ध्यान मंगलकारक है; अतः 'रघुबीर' पद दिया। २—'रुचिर' क्योंकि यात्रा सुर-नर-मुनि सबको आनंददायिनी हुई। ३—'पावनी प्रस्थिति' क्योंकि इस यात्रामें महा अधम राक्षस तुरंत पवित्र हो परमधामको प्राप्त हुए। 'परमसुहावनी' क्योंकि विभीषणको राज्य, वानरोंको कीर्ति और चरित्र गानेवालोंको भक्ति और परमपददायिनी है—'रावनारि जस पावन गावहिं सुनहिं जे लोग। रामभगति दृढ़ पावहिं०।'] (ख)—प्रस्थिति=मुहूर्त। पुनः, प्रस्थिति=प्रकर्ष करके स्थिति। अर्थात् पयानकी स्थिति बनी रहे कि अमुक समयमें प्रभुने प्रस्थान किया था, इसलिए मानों इस समयकी कुण्डली लिख रहे हैं। (ग) 'जानि परम सुहावनी'का भाव कि जो वस्तु बहुत सुन्दर होती है उसे लोग लिख लेते हैं, इसीसे ये भी लिख रहे हैं। अथवा, सबको सुहावनी है और शेषजीको परम सुहावनी है; क्योंकि प्रभु इनका भार उतारने जा रहे हैं। 'परम सुहावनी' है; इसीसे स्वयं लिखते हैं। यहाँ पयान, कमठ और शेष तीनोंकी शोभा कही। (घ) 'जनु कमठ खर्पर।' इति। रामयश पवित्र है एवं अविनाशी। अतएव पवित्र और अविचल वस्तुपर लिखते हैं, जिसमें बहुत दिन रहे। मिट न जाय, भूल न जाय, इससे पुनः पुनः लिखते हैं। जैसे कई पंक्ति लिखनेमें लेखनी एक पंक्तिके अन्तपर छूटकर तब दूसरी पंक्तिपर आती है; वैसे ही शेषजी मकठपृष्ठमें दाँत लगाए मानों लिखते हैं। दाँतका उसपरसे छूट या हट जाना एक पंक्तिका लिख जाना है। पुनः पुनः पीठको पकड़ना यही नई-नई पंक्तियोंका लिखना है। (ङ) कवियोंने यहाँ बहुत समझ-बूझकर उत्प्रेक्षा की है। शेषजी भगवद्भक्त हैं, उनके लिए ऐसी उत्प्रेक्षा चाहिए ही थी कि मोहमें भी श्रीरामजीके प्रस्थानकी कुण्डली लिखते हैं।

नोट—५ यहाँ शेषजी लेखक हैं, उनके अविचल हजारों मुखोंके दाँत लेखनी हैं, कच्छप भगवान्‌की अविचल कठोर पृष्ठ अविचल पत्र (कागज) है, पीठको पकड़ना लिखना है—यदि ऐसा कहें तो स्याही (मसि) क्या है, यह बाहरसे लाना होगा। इससे हनुमन्नाटकके अनुसार रूपक विशेष संगत होगा। पत्थर आदि कठोर वस्तुपर अक्षर खोदे जाते हैं, वे बहुत कालतक रहते हैं, टाँकीसे अक्षर खोदे जाते हैं। वैसे ही यहाँ शेषजी (अक्षरावलीके) करोदने, नक्शा करनेवाले, टाँकी द्वारा लिखनेवाले हैं। उनके दाँत टाँकी हैं। मोहित होनेपर शिरोंके नीचे झुक जानेपर दाँतोंसे कच्छप भगवान्‌की कठोर अविचल पीठको पकड़ना जिससे उसपर चिह्न बन जाते हैं, यही दंतरूपी टाँकीसे अक्षरोंका खोदना है। टाँकीसे एकबार चोट देकर फिर टाँकीको उठाकर फिर चोट दी जाती है, वैसे ही शेषजीका सावधान होकर सिर उठाना यही टाँकीका पुनः उठाना है और फिर मोहित हो कमठपृष्ठ पकड़ना पुनः टाँकी लगाना है। इस प्रकार बारंबार टाँकी लगती है। हजारों मुखोंके दाँत एक साथ पीठपर पड़नेसे एक पंक्ति-सी बन जाती है, यही एक पंक्तिका एक ही बारमें लिखना है।

यहाँ शेषजी, कच्छपजी और उनके सर्वाङ्ग सभी सुंदर, पावन और अविचल हैं।

वीर कविजी—शेषनाग पृथिवीका भार धैर्यपूर्वक धारण करनेमें आदर योग्य हैं। उन्हें अयोग्य ठहराकर इस संबंधसे वानरी दलकी अतिशय प्रशंसा करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है। बोझसे दबकर और यह सोचकर कि कहीं खिसक वा फिसल न पड़ें कमठपृष्ठको दाँतोंसे पकड़नेकी चेष्टा करनेसे उसपर निशान हो रहे हैं। यही उत्प्रेक्षाका विषय है। न तो कमठपृष्ठ कागज है और न शेषदशन लेखनी हैं। केवल कविकी कल्पनामात्र 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

प० प० प्र०—इन छन्दोंका मिलान धनुर्भंगके 'भरे भुवन घोर कठोर रव रबिबाजि तजि मारग चले। चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरुम कलमले। १। २६१।', इन चरणोंसे मिलान करनेसे धनुर्भंग ध्वनिमें यह विशेषता थी कि 'कोल कूरुम कलमले' और इस समय 'कोल कूरुम' (वराह तथा कच्छप भगवान्) स्थिर बने रहे। पुनः भाव कि 'कौतुक लागि संग कपि सेना' ली है (अतः यह भी एक कौतुक दिखाया)।

दो०—एहि बिधि जाइ कृपानिधि उतरे सागर तीर।
जहँ तहँ लागे खान फल भालु बिपुल कपि बीर ॥३५॥❀

अर्थ—इस प्रकार दयासागर श्रीरामजी समुद्र-तटपर जाकर उतरे। बिपुल (बहुत) वीर भालु-वानर जहाँ-तहाँ फल खाने लगे। ३५।

टिप्पणी—१ (क) 'एहि बिधि'=जैसा ऊपर 'चितइ कृपा करि राजिवनयना ॥'''हरषि राम तब कीन्ह पयाना। ३५। २।' से 'गह दसन पुनि पुनि०' तक कह आए। (ख)—'कृपानिधि' विशेषण दिया; क्योंकि जब चले तब वानरोंपर कृपा की, यथा—'चितइ कृपा करि राजिव नयना'। और जब समुद्रपर पहुँचे तब उसपर कृपा की; उसके मर्यादाकी रक्षा की; नहीं तो चाहते तो चले जाते, यथा—'माँगत पंथ कृपा मन माहीं'। [वा, रावणपर कृपा करके इसी पार उतर पड़े कि अबभी खबर पाकर वह समझ जाय और वानरोंके उपद्रवसे लंकाका नाश न हो। (पां०)। जानते हैं कि विभीषणजी शरणमें आनेवाले हैं।] अथवा, वानरोंपर कृपा करके 'उतरे' कि वे भूखे हैं, खूब फल खा लें, तब चारसौ कोश समुद्र पार करें। (ग) 'उतरे' शब्दके दो अर्थ हैं—एक तो हनुमान्जी और अंगदजीकी पीठसे उतरे।—[वाल्मीकिजीका मत यही है, यथा—'यास्यामि बलमध्येऽहं बलौघमभिहर्षयन्। अधिरुह्य हनूमन्तमैरावतमिवेश्वरः ॥ अङ्गदेनैष संयातु लक्ष्मणश्चान्तकोपमः।' (६।४।१६–२०।)। पर, मा० त० सु० का मत है कि यहाँ गोस्वामीजीने कुछ न कहकर यह जनाया कि जैसा एक बार पूर्व किष्किंधामें कहा गया है वैसाही यहाँ भी समझ लें। अर्थात् दोनों भाई हनूमान्जीकी पीठपर चढ़कर आए, यथा—'लिये दुवौ जन पीठि चढ़ाई'।] दूसरा अर्थ है—डेरा डाला। समुद्र हमारे कुलसे उत्पन्न हुआ है, उसकी मर्यादा नष्ट न करनी चाहिए। यह समझकर 'सागर तीर' उतरे।

नोट—१ 'एहि बिधि जाइ....' इति। (क) 'एहि बिधि' से यह भी जनाया कि उत्साहमें भरी हुई युद्ध करनेकी इच्छासे, श्रीसीताजीको छुड़ानेके लिये सारी सेना बड़ी उतावली और शीघ्रतासे समुद्र तटपर आ गई, कहीं उसने विश्राम न किया, न भोजन किया। यथा—'गता चमूर्दिवारात्रं क्वचिन्नासज्जत क्षणम्। अध्यात्म० १।४०।', 'हृष्टा प्रमुदिता सेना सुग्रीवेणाभिरक्षिता। वानरास्त्वरितं यान्ति सर्वे युद्धाभिनन्दिनः। वाल्मी० ६।४।७१। मुमोक्षयिषवः सीतां मुहूर्त्तं क्वापि नासत। ७२।' अध्यात्ममें मार्गमें फल खालेनेका वर्णन नहीं है। और मानसकाभी मत यही है। (ख) 'उतरे सागर तीर' इति। समुद्रपर डेरा डाल देनेका कारण यह है कि आपसमें परामर्श करना है कि समुद्र कैसे पार किया जाय। यथा—'इदानीं विचिन्ता सा या नः पूर्वं समुत्थिता। अतः परमतीरोऽयं सागरः सरितां पतिः ॥ न चायमनुपायेन शक्यस्तरितुमर्णवः। तदिहैव निवेशोऽस्तु मन्त्रः प्रस्तूयतामिति ॥'''' सर्वाः सेना निवेश्यन्तां वेलायां हरिपुङ्गवाः ॥ साम्प्राप्तो मन्त्रकालो नः सागरस्यास्य लङ्घने। वाल्मी० ६।४।१०२–१०५।' अर्थात् यहाँ पहुँचनेपर वही चिन्ता उत्पन्न होगई है, इस समुद्रका दूसरा तट दिखाई नहीं देता। बिना किसी श्रेष्ठ उपायको विचारे पार होना कठिन है। अतः यहाँ ठहरकर विचार करना चाहिए। हे सुग्रीव! सेनाको तटपर टिका दो, क्योंकि पार होनेके सम्बन्धमें परामर्श करना आवश्यक है।

नोट—२ मार्गमें सात दिन लगे। मार्गशीर्षकी शुक्ला प्रतिपदासे लेकर तृतीयातक ठहरे रहे, चौथे दिन विभीषणजीका आगमन हुआ।

❀ दोहरा-दोहा-मिश्रित है—(ब्र० चं०)। विषम चरणोंमेंसे एकमें बारह मात्रा और दूसरेमें तेरह मात्राएँ होनेसे दोहरा-दोहा-मिश्रित कहा जाता है।

टिप्पणी—२ 'जहँ तहँ लागे खान फल' इति। इतने वानरोंको एकही जगह भोजन नहीं अट सकता, अतः 'जहँ तहँ' पद दिया। यथा—'सिंधुपार प्रभु डेरा कीन्हा। सकल कपिन्ह कहँ आयसु दीन्हा॥ खाहु जाइ फल मूल सुहाए। सुनत भालु कपि जहँ तहँ धाए। ६। ५।' सब रीछों, बंदरोंने फल खाए। श्रीरामजीने तीर्थव्रत किया। अतः उनका फल खाना न कहा। समुद्र तीर्थपति है। (प० प० प्र० जी इस मतका विरोध करते हैं। वे लिखते हैं कि शबरीजीके आश्रममें श्रीरामजीने फल खाये। इसके पश्चात् मानसभरमें कहीं भोजनका उल्लेख नहीं है तो क्या इतने दिन उपवास करते रहे? इतने दिन कौनसे तीर्थ व्रत करते रहे? वस्तुतः भाव यह है कि सभी वानर-गण रामभक्त हैं, अतः प्रथम जब श्रीरामजीने फलमूलादिका भोग लगाया तब 'जहँ तहँ लागे खान फल भालु बिपुल कपि बीर')।

☞ 'तब रघुपति कपिपतिहि बोलावा' से यहाँ तक 'सेन समेत जथा रघुबीरा। उतरे जाइ बारिनिधि तीरा' यह प्रसंग है।

'मिला बिभीषन जेहि बिधि आई'—प्रकरण

उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते जारि गएउ कपि लंका॥ १॥
निज निज गृह सब करहिं बिचारा। नहिं निसिचर कुल केर उबारा॥ २॥
जासु दूत-बल बरनि न जाई। तेहि आए पुर कवन भलाई*॥ ३॥

अर्थ—जबसे वानर लंका जलाकर चला गया, तबसे वहाँ निशाचर शंकित (डरे हुए, शंका-सहित) रहते हैं। १। सब अपने-अपने घरमें विचार करते हैं कि निशाचर वंशका (अब) उबार (बचाव, रक्षा) नहीं है। २। जिसके दूतका बल वर्णन नहीं हो सकता, उसके आनेपर नगरकी क्या और कौन भलाई हो सकती है?। ३।

नोट १—२। २२६ (३) 'उहाँ राम रजनी अवसेपा। जागे सीय सपन०' में लिखा जा चुका है कि कविका 'इहाँ' 'उहाँ' का प्रयोग साभिप्राय है। 'इहाँ' से अपनी स्थिति दिखाते हैं कि हम कहाँ हैं, किसके साथ हैं? और 'उहाँ' से दूसरे पक्षके साथ अपना न होना दरसाते हैं। अतः राक्षसोंके बारेमें जब कुछ लिखना होता है, तब प्रायः 'उहाँ' पद देते हैं—उदाहरण लंकाकांडमें दिए जायँगे।

टिप्पणी—१ (क) वहाँ निशाचर शंकित रहते हैं, यह कहकर जनाया कि यहाँ वानर तभीसे शंकारहित हैं। लंकादहनसे राक्षसोंका गर्व नष्ट हुआ, जैसा कि आगे मन्दोदरीजीने रावणसे कहा है। लं० ३५ (६) यथा—'जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा। कहाँ रहा बलगर्व तुम्हारा', इसीसे वे 'सशंका' हैं। (ख) 'जारि गयउ' अर्थात् स्वर्णके मकानोंका जलाना संभव न था, जिस कामका सामर्थ्य किसीको नहीं था वह काम एक वानर करके चलाभी गया, किसीका कुछ किया न हुआ। अतः 'ससंका' रहते हैं। (ग) 'रहहिं' में यहभी भाव है कि रावणका भय न होता तो सबके सब यक्षोंकी तरह भाग जाते। यथा—'देखि बिकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गये पराई। १। १७९।'

मा० म०—भाव यह है कि हनुमान्‌जीके न रहनेपरभी उन सबको हनुमान्‌जीकी विकराल मूर्ति प्रत्यक्ष देख पड़ती थी, इसीसे वे भयभीत रहते हैं।

टिप्पणी—२ 'निजनिज गृह सब करहिं बिचारा०' इति। आशय यह कि न रावण मानेगा न निशाचरकुल बचेगा। अपने-अपने घरमें विचार करते हैं, रावणके डरसे किसीसे कहते नहीं। (संभवतः पेनल-कोडका पारच्छेद १४४ जारी था। प० प० प्र०)। क्या विचार करते हैं यह आगे कहते हैं—'जासु दूत००' इत्यादि। यह मनमें विचार करते हैं और 'नहिं निसिचरकुल केर उबारा' यह मुखसे कहते हैं; क्योंकि यदि यह

---

* प्र० चं०—(१) से (५) तक पायकुलक है।

मुखसे न कहते तो आगे यह कैसे कहते कि 'दूतिन्ह सों सुनि पुरजन बानी' तात्पर्य यह है कि कुलकी रक्षाका विचार करते हैं, कुछ बचाव नहीं देख पड़ता, तब कहते हैं कि 'नहिं निसिचरकुल केर उबारा'। ['करहिं बिचारा' का भाव यह है कि अपने-अपने घर ब्रह्मराक्षसोंको बुलाकर सगुन निकलवाते थे, तो यही फल निकलता था कि सबका नाश होगा। (मा० म०)]

टिप्पणी—३ उधर कपिकी शंका, इधर श्रीरामजीके आनेकी शंका दोनों शंकायें हैं। दोनों शंकाओं-के बीचमें पड़े हुए उबरनेका विचार कर रहे हैं। दोनों चौपाइयोंके बीचमें 'उबरनेका विचार' लिखकर अक्षरोंकी स्थितिके द्वारा ही उनके संकटका स्वरूप यहाँ दिखा दिया है। पुनः, इन विचारोंसे यह भी सूचित करते हैं कि इन लोगोंको खबर मिल चुकी है कि समुद्रपार शत्रुकी सेना आ गई है। यह बात आगे स्पष्ट है—'बैठेउ सभा खबरि अस पाई। सिंधुपार सेना सब आई'। पुरके लोगोंको पहले खबर मिली, पीछे रावणको।

४—'जासु दूत बल बरनि न जाई।०', यथा—'नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी। सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी', 'समुझत जासु दूत कइ करनी। स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी'। 'बल' अर्थात् बाटिकाको उजाड़ना, निशाचरोंको मारना, इत्यादि। 'पुर आए कवन भलाई' अर्थात् पार आ गई, अब पुरमें आवेंगे, उनके न आनेमें ही हमलोगोंकी भलाई है, अन्यथा नहीं।

नोट—२ मिलान कीजिये—'मरुत्पुत्रस्त्वेकः कपिकटकरक्षामणिरसौ समुद्यल्लाङ्गूलोर्ध्वज इव समाश्लिष्टगगनः। पुनः प्रत्यायास्यत्यहह कपिसैन्ये प्रचलिते पदं प्रोचुर्नीचैर्भयचकित लंकापुरजनाः॥ हनु० ६। २९।' अर्थात् लंकानिवासी भयसे चकित हो धीरे-धीरे कहने लगे कि "वह वानरसेनाकी रक्षा करनेमें शिरोमणिरूप, ऊँची लांगूलवाला, ध्वजाके सदृश आकाशको आलिङ्गन करनेवाला मरुत्पुत्र हनुमान्, जिस समय सेना चलेगी उस समय फिर अकेलाही हमारी लंकामें आवेगा"। पुनश्च 'अथवा कपिनैकेन कृतं नः कदनं महत्। दुर्ज्ञेयाः कार्यगतयो ब्रूत यस्य यथामति। वाल्मी० ६। १२। २२।', रावणने ये वचन मंत्रियोंसे कहे हैं कि यद्यपि समझमें नहीं आता कि वे समुद्र क्योंकर पार करेंगे तथापि यह भी विचार उत्पन्न होता है कि जब एक ही वानरने मेरा इतना बड़ा अपमान किया और मेरी सेनाका नाश कर डाला तब उनके कार्यक्रमका जानना कठिन है। तथा 'लंकादाहु देखे न उछाहु रह्यो काहुन को, कहैं सब सचिव पुकारि पाँव रोपि हैं। बाचि है न पाछे त्रिपुरारिहू मुरारिहू के, को है रन रारि को जौं कौसलेस कोपिहैं। क० ६। १।'—उपर्युक्त उद्धरणोंके सब भाव 'उहाँ निसाचर....भलाई' में हैं। कवितावलीमें भी कहा है—'सुभुज मारीच खर त्रिसिर दूषन बालि। दलत जेहि दूसरो सर न साँधो। आनि परबाम बिधिबाम तेहि रामसों सकत संग्राम दसकंध काँध्यो॥ समुझि तुलसीस कपि-कर्म घरघर घैरु....लंक नहिं खात कोउ भात राँध्यो॥ ६। ४।'—इसमें 'रहहिं ससंका', 'करहिं बिचारा' और 'तेहि आये कवन भलाई' की सुन्दर व्याख्या है। इतना भय समा गया है कि साना हुआ भात सामने रक्खा रह जाता है, वे डर और चिन्ता-से खा नहीं पाते। यह भय और चिन्ताकी सीमा है कि कहीं फिर तो नहीं आ रहा है।

३ 'जासु दूत बल बरनि न जाई।....'; यथा—'बेग जीत्यो मारुत, प्रताप मारतंड कोटि, कालऊ करालता बड़ाई जीती बावनो। तुलसी सयाने जातुधान पछिताने मन, जाको ऐसो दूत सो साहब अबै आवनो। काहे की कुसल रोष राम बामदेवहूके बिषम बलीसों बादि बैरको बढ़ावनो। क०।५।९।' 'यत्संदेशहरेण मारुतसुतेनातारि वारान्निधिः, क्षिप्रं गोष्पदवन्निजालयमिव प्राविशि लंकापुरी। सीताऽदर्शि समभ्यभाषि च वनं चाभञ्जि रक्षः पतेः, सैन्यं भूर्यवधि व्यदाहि च पुरी रामः कथं वक्ष्यते? हनु० ८। १५।' अर्थात् जिनके दूत हनुमान्जी गौके खुरके समान सहजही समुद्रको पारकर अपने घरकी तरह लंकापुरीमें प्रवेशकर सीताजीको देख और उनसे बातें कर वनको विध्वंसकर बहुतसी सेनाको मारकर और लंकापुरीको अच्छी तरह जलाकर लौट भी गए, तब तो फिर उनके स्वामी श्रीरामजीका कहना ही क्या?—यह बात जो अंगदजीने रावणसे कही है तथा जो मन्दोदरीजीने कहा है 'पिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा। जाके दूत केर यह कामा॥ ६। ३५।'—वे सब भाव 'जासु दूत बल....भलाई' में हैं।

४ दूतकी बड़ाईसे स्वामीकी प्रशंसा व्यंजित होना व्याजस्तुतिका दूसरा भेद है।

दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी। मंदोदरी अधिक अकुलानी॥ ४॥
रहसि जोरि कर पति-पद लागी। बोली बचन नीति-रस पागी॥ ५॥
कंत करष हरि सन परिहरहू। मोर कहा अति हित हिय धरहू*॥ ६॥

अर्थ—दूतियोंसे पुरवासियोंके वचन सुनकर महारानी मन्दोदरी अधिक व्याकुल हुई।४। एकान्तमें हाथ जोड़कर पतिके चरणोंसे लगकर वह वचनोंको नीतिरसमें पागकर (नीतियुक्त वाणी) बोली।५। हे कन्त (पति, स्वामी)! भगवान्‌से वैर छोड़ो। मेरा कहना अत्यन्त हितकर जानकर हृदयमें धारण करो।६।

टिप्पणी—१ 'दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी....' इति। (क) यहाँ दिखाते हैं कि जो विचार लोग घरघर करते थे, वह पुरुषों द्वारा न खुला, स्त्रियों द्वारा खुला। दूतियाँ स्त्रियोंसे सुन आई हैं। (ख) 'अधिक अकुलानी' अर्थात् जितना पुरवासी व्याकुल हैं, उससे अधिक विकल ये हैं। क्योंकि ये धर्मात्मा हैं, धर्मात्मा लोग प्रजाका दुःख देख नहीं सकते। यथा—'व्याकुल नगर देखि तब आयउ बालिकुमार' (४.१६), 'कौसल्यादि सकल महतारी। तेउ प्रजासुख होहिं सुखारी' (२.१७५), 'सिर धरि गुरुआयसु अनुसरहू। प्रजा पालि पुरजन दुख हरहू' (२.१७६)। इत्यादि। [और भाव—पहले अक्षयकुमारपुत्र आदिके शोकसे व्याकुल थी, अब अपना भविष्य वैधव्य विचारकर अधिक व्याकुलता हुई। (प्र०)। अथवा, रावणहीका इसमें दोष है, वह हठ पकड़े है, समझाये नहीं समझता, सब पुरवासीभी उसीको दोष दे रहे हैं—यह समझकर 'अधिक अकुलानी'—(मा० त० सु०)]।

२ रहसि=एकान्त। एकान्तमें कहा; क्योंकि यह बात सबके सामने कहने योग्य नहीं। दूसरे, अभिमानी लोग एकान्तमें कहनेसे बात मान लेते हैं, बहुत लोगोंके सामने कहनेसे नहीं मानते। [पुनः, एकान्तमें कहा क्योंकि-(क) स्त्रियोंका प्रभाव पुरुष और फिर कामीपर एकान्तमें ही अधिक पड़ता है। (ख) दूसरोंके सामने कहतीं और वह न मानता तो अप्रतिष्ठा होती। पं०)। इसी तरह 'लंकायां रहसीत्युवाच वचनं मंदोदरी मंदिरे।' (हनु० ९.५) में भी एकान्तमें ही हाथ जोड़कर विनय करना कहा है। वहाँभी 'रहसी' शब्द है।] 'पदलागी', पाँव पकड़कर, समझाना स्त्रीका धर्म है, यथा—'गहि कर चरन नारि समुझावा। कि० ७।' 'नीतिरसपागी' का भाव कि रावण अनीति करता है। बड़ेसे वैर करना अनीति है; वही आगे कहती है-'कंत करष०', 'पिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा। जाके दूत केर यह कामा'। इसमें नीति यह है कि जो अपनेसे बली हो उससे 'साम' कर लेना चाहिए—'प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति अस आहि'। ६.२३)।

नोट—१ मिलान कीजिए—'सन्दधानो हि कालेन विगृह्णंश्चारिभिः सह।८। स्वपक्षवर्धनं कुर्वन्महदैश्वर्यमश्नुते। हीयमानेन कर्त्तव्यो राज्ञा सन्धिः समेन च॥ ९। न शत्रुमवमन्येत ज्यायान्कुर्वीत विग्रहम्। वाल्मी० ६.३५.१०।' अर्थात् जो राजा समयानुकूल शत्रुके साथ सन्धि और विग्रह करके अपने पक्षको दृढ़ करता है, वह भारी ऐश्वर्यको प्राप्त करता है। उसे उचित है कि जब वह अपनेको शत्रुसे हीनबल या समानबल जाने तब शत्रुसे मेल कर ले। ये वचन माल्यवान्‌ने कहे हैं। 'नीतिरस पागी वचन बोली' से जनाया कि पहले इस प्रकार नीति कहकर तब कहा कि 'कंत करष....'। जैसे माल्यवान्‌ने नीति कहकर फिर कहा—"तन्मह्यं रोचते सन्धिः सहरामेण रावण। वाल्मी० ६। ३५। १०।" गीतावलीमें विभीषणजीने भी रावणसे ऐसा ही कहा है यथा—"मतो नाथ सोई जातें भलो परिनामै॥ सुभट सिरोमनि कुठारपानि सारिखेहू लखी औ लखाई इहां किये सुभ सामैं। ५.२५।" और कवितावलीमें मन्दोदरीने स्वयं यही कहा है, यथा—"विदित विदेहपुर नाथ भृगुनाथगति, समय सयानी कीन्हीं जैसी आइ गौ परी। ६.२७।", 'राम सों साम किये नित है हित। २८।' ☞ नीति-विना राज्य स्थिर नहीं रहता; यथा—'राजु कि रहै नीति बिनु जाने।' (७.११२), 'राजनीति बिनु....' (३. २१)। रावण अनीति पर तुला हुआ है,

* "कंतु...." चक्र है। (ब्र० चं०)।

इससे उसका राज्य नष्ट हो जायगा और वह मारा जायगा,—यह सोचकर मन्दोदरीने नीतिके वचन कहे। पं० रामकुमारजीका मत है कि 'नीतिरसपागी' = नीतिरसमें पगी हुई।—यह स्त्रीलिंग है और वचन पुल्लिङ्ग है। अतः यह वचनका विशेषण नहीं है। मन्दोदरीका विशेषण है। किसी औरने भी इसे मन्दोदरीका ही विशेषण माना है पर प्रायः अन्य सब टीकाकारोंने इसे वचनका ही विशेषण माना है। 'नीतिरस पागी'को एक शब्द माननेसे लिङ्गभेद जान पड़ता है। वास्तवमें ये दो शब्द अलग-अलग हैं। अर्थ है—(वचनोंको) नीतिरसमें पागकर। अर्थात् नीतिमय वचन बोली। नीतिरसपागी वाणी कहनेमें यह भी भाव कविने दरसाया है कि वह रावणको जो प्रभुसे वैर करनेको रोकती है वह कुछ इससे नहीं कि सीताजीके आनेसे उसे ईर्ष्या है, वह तो जानती है कि प्रभु ब्रह्म हैं और सीताजी परमशक्ति हैं। वह नीतिशास्त्रके वचन कहती है। (पं०)। पूर्व अशोकवाटिकामें भी उसने रावणको नीतिका उपदेश किया था—'मयतनया कहि नीति बुझावा॥'

टिप्पणी—२ 'कंत करष हरि सन परिहरहू।०' इति। (क) 'कंत' = कं (कल्याणको)+त (तनोति = जो विस्तार करे)। 'कंत' संबोधनका भाव कि आप हमारे सौभाग्यके बढ़ानेवाले हैं तथा हम सबोंका कल्याण आपके हाथ है, आप कृपा करके वह कीजिये जिससे हमारा अहिवात रहे और कल्याण हो। संबोधनसे यह सूचित कर आगे उसका उपाय बताती है कि श्रीहरिसे वैर छोड़नेसे हमारे (सौभाग्य) सुखका विस्तार होगा, कुल बचेगा, पुत्र बचेंगे, राज्य बचेगा; अतः वैर छोड़िये, सबको बचाइए। यथा—'पाहि मामंगदं राज्यं कुलं च हरिपुंगव। अ. रा. ४।२।३२।' नहीं तो वे हरि हैं; सब हर लेंगे। बड़ेसे वैर त्याग देना नीति है। (ख) भाव कि हरिसे वैर करनेसे किसीका भला नहीं हुआ; यह मेरा कथन सत्य है, इसे मान लो। यथा—'मैं जु कहौं कंत सुनु संत भगवंत सों बिमुख है बालि फल कौन लीन्ह्यो। क० ६.१८।' पुनः, 'हरिसन' कहकर जनाया कि राम मनुष्य नहीं हैं, भगवान् हैं, जीवमात्रके क्लेशोंके हरनेवाले, सबोंके मनोंको हरनेवाले हैं; अतः उनसे विरोध अयोग्य है, यथा—'सोइ अवतरेउ हरन महि भारा॥ तासु बिरोध न कीजिय नाथा। काल करम जिव जाके हाथा। ६. ६।'; इत्यादि भाव 'हरि' में हैं। (ग) 'मोर कहा अति हित' इति। 'मोर कहा (= मेरा कथन) का भाव कि मेरे समान आपका अत्यन्त हित चाहनेवाला दूसरा कोई नहीं है, और लोग 'हितकारी' हैं पर मैं 'अतिहितकारिणी' हूँ; अतः मेरी सलाह हृदयमें धारण कीजिये। सीताजीको दे देनेमें ही 'अति हित' है, यह आगे कहेगी—'सुनहु तात सीता बिनु दीन्हें। हित न तुम्हार....।' 'हिय धरहू' कहा, क्योंकि रावण हितकी बात हृदयमें धारण नहीं करता, यथा—'हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहुँ भेषज जैसे'। अर्थात् जिससे लोक परलोक दोनों बनें वह वचन उसको बुरे लगते हैं। (६.१० प्रहस्तवाक्य)।

श्रीलमगोड़ाजी—'दूतिन्ह सन सुनि....' इति। दूत-प्रणालीकी उपयोगिता देखिये। उनमें स्त्रीशूपर्णा दूतियोंकी। फिर यह भी विचारिये कि राज्यशासनमें रानी भी कितनी उपयोगिनी है। पर यह है सब तभी जब 'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना।'—वाली बात न हो। गांधीजी इसीसे तो मंदोदरीकी प्रशंसा ही करते हैं और हमारे यहाँ उसे प्रातस्मरणीय माना गया है; कारण कि उसकी ऐसी ही अनेक एकान्तकी विनीत वक्तृताओंसे स्पष्ट हो जाता है कि उसे 'रहस्य' का ज्ञान है।

प०प०प्र०—घरके बाहर किसीसे चर्चा करनेकी मनाही थी। इतना होनेपर भी मंदोदरीके गुप्तचरोंने सब कुछ जान लिया, यह ध्यान रखनेकी बात है। शंका उपस्थित होती है कि रावणने क्यों नहीं सुना? समाधान यह है कि उसके स्वभावानुसार किसी दूतको कहनेका साहस न पड़ा अथवा रावणने सुनकर 'बिहँसि बहरावा'।

वि० त्रि०—मन्दोदरी राजकार्यमें भाग लेती हैं, जिस भाँति रावणके दूत अनेकरूप धारण किए हुए नगरका समाचार रावणको देते हैं, उसी भाँति मन्दोदरीकी दूतियाँ घरोंके भीतरका समाचार मन्दोदरीको देती हैं। रावणके डरसे घरके बाहर कोई विचार नहीं करता, पर घरके भीतर सभी विचार करते हैं कि निशिचरकुल अब उबरता नहीं दिखाई पड़ता। अतः घरके भीतरकी बातका पता मन्दोदरीकी दूतियोंने दिया। बाहर कोई कुछ नहीं कहता था, इसलिये न दूतोंने जान पाया, और न रावणको समाचार दिया। यह समाचार

सुनकर सभी रानियाँ आकुल हुईं पर मन्दोदरी बहुत व्याकुल हुई, क्योंकि उसे रामजीके स्वरूपका ज्ञान था।

समुझत जासु दूत कइ करनी। स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी॥ ७॥
तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत जो चहहु भलाई॥ ८॥
तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥ ९॥
सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हे। हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे*॥१०॥

अर्थ—जिनके दूतकी करनी समझतेही निशाचरियोंके गर्भ गिर जाते हैं। ७। हे कन्त! यदि भला चाहो तो अपने मंत्रीको बुलाकर उनकी स्त्री भेज दो। ८। तुम्हारे कुलरूपा कमलवनको दुःख देनेवाली सीता ठंडकालकी रात्रिके समान आई हैं। (अर्थात् जैसे तालावमें कमल खिले रहते हैं, वैसे ही लंकामें निशाचर प्रसन्न रहते हैं और जैसे शरद्रात्रि कमलका नाश करती है वैसे ही सीताजी तुम्हारे कुलकी नाश करनेवाली हैं।)। ९। हे नाथ! सुनिए। बिना सीताजीको दिये शंभु और ब्रह्माकेभी करनेसे तुम्हारा भला नहीं हो सकता। (अर्थात् आपका 'अति हित' इसीमें है कि मेरा कहा माने, दूसरा कोई आपका हित नहीं कर सकता)। १०।

टिप्पणी—१ 'समुझत जासु दूत कइ करनी' इति। (क) 'करनी' सुन्दरकांड 'निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी' २५ (९) से 'जारा नगरु निमिष एक माहीं।' २६ (५) तक तथा 'चलत महाधुनि....' में वर्णित है। कवितावली सुंदरकांड तो पूरा नमूना है। लंकादहनके समय इतनी शीघ्रता हुई कि सब भयभीत हो सर्वत्र हनुमान्‌जीको ही देखते थे, यहाँ तक कि आँख बंद करनेपर भी वे हृदयमें देख पड़ते थे। यथा—'अध ऊर्द्ध बानर बिदिसि दिसि बानर है, मानहु रह्यो है भरि बानर तिलोकिए॥ मूँदे आँखि हीय में उघारे आँखि आगे ठाढ़ो....' (५.१७)।—वही दृश्य नेत्रोंमें समा गया है, नेत्रोंमें छाया है। अतः 'समुझत दूत कै करनी' कहा। कवितावलीमें मन्दोदरीने करनी यों कही है—'गहन उज्जारि पुर जारि सुत मारि तव कुसल गो कीस बरबेर जाको। ६.२१।', 'उदधि अपार उतरत नहिं लागी बार केसरी-कुमार सो अदंड कैसो डाँड़िगो। वाटिका उजारि अच्छ रच्छकनि मारि भट भारी-भारी रावरे के चाउर-से काँड़िगो॥ २४।', 'ख्याल लंका लाई कपि राँड़ की सी झोंपरी। २७।' (ख) 'स्रवहिं गर्भ' इति। करनी विचारते समझतेही गर्भ गिर जाते हैं, गर्जनमात्रसे गर्भ गिर गए, जब अनेकों आकार गर्जेंगे तब क्या होगा यह विचारती हैं। भाव यह कि पहले तो उसके गर्जनसे गर्भ गिरे थे, यथा—'चलत महाधुनि गर्जेसि भारी। गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचरनारी'। और, अब जो गर्भ धारण होते हैं वे उसकी करनी समझते ही गिर जाते हैं—(इससे सब स्त्रियोंका अत्यन्त भयभीत होना दिखाया क्योंकि इससे आगे भी वंशकी वृद्धि नहीं हो सकती)। (ख) मंदोदरीने सुना है कि राक्षस सशंक रहते हैं पर उसने यह बात रावणसे न कहकर स्त्रियोंका भयभीत होना ही कहा। कारण कि निशाचर रावण के भयसे अपने घरघर बैठे गुप्त विचार करते हैं, इससे उनका भय न कहा। पुनः, वीरोंका सभय होना कहना अनुचित है, अतः न कहा। कहती तो रावण राक्षसोंको दंड देता।

२ 'तासु नारि निज सचिव बोलाई....' इति। यथा—'जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभ गति सुख नाना॥ सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चौथि के चंद कि नाईं॥' (५। ३७) तात्पर्य यह कि वैरकी निवृत्ति सीताजीके देनेसेही है। (क) 'निज सचिव'=माल्यवान्, यथा—'माल्यवंत अति जरठ निसाचर। रावन-मातु-पिता मंत्री बर। ६।४७।' भाव कि माल्यवंत भक्त था और सब मंत्री दुष्ट थे, यथा—'कहहिं सचिव सब ठकुरसोहाती' (६।६)। (ख) 'निज सचिव' भेजनेका भाव कि उसके जानेसे तुम्हारा जाना समझा जायगा। (ग) रावणको जानेको नहीं कहतीं, क्योंकि उसे भय है; यथा—'सादर जनकसुता करि आगे। एहि बिधि चलहु

* प्र० चं०—'समुझत' से 'दीन्हे' तक पायकुलक, 'हित०' नयमालिनी।

सकल भय त्यागे' (६।२०)। और अंगदने कहा है कि इस प्रकारसे चलो, इस डरसे वह कदापि न जायगा। अतः कहा कि मंत्रीके साथ भेज दो। (घ) 'सचिव बोलाई' अर्थात् इसमें शीघ्रता करो, जब मंत्री आवेगा तब उससे कहोगे, यह नहीं, वरंच अभी बुलाकर भेजो; नहीं तो रामचन्द्रजी अब आने ही चाहते हैं, उनके आनेमें देर नहीं है। अतः 'पठवहु' जिसमें वे यहाँ आने न पावें और मंत्री वहाँ पहुँच जाय। (रावण महा अभिमानी स्वभावका है, वह किसीके सामने नवनेवाला नहीं, इसीसे जो कोई शरणमें जानेको कहता है उसपर वह क्रोध करता है—यह मंदोदरी जानती है। रावणने माल्यवान्‌के समझानेपर अपना स्वभाव कहा है, यथा—'द्विधा भज्येयमप्येवं न नमेयं तु कस्यचित्। एष मे सहजो दोषः स्वभावो दुरतिक्रमः। वाल्मी० ६।३६।११।' अर्थात् मैं क्या करूँ? यह मेरा स्वाभाविक दोष है कि भलेही मेरे दो टुकड़े हो जायँ, पर मैं किसीके सामने नवनेवाला नहीं। और, स्वभाव होता ही दुरतिक्रम है। मन्दोदरीने सोचा कि यदि स्वयं जानेको कहूँगी तो वह यही उत्तर देगा तब फिर कुछ कहते न बनेगा, जैसे माल्यवान् फिर चुपही हो गया। अतः मंत्रीद्वारा भेजनेको कहा।)

नोट—१ 'जो चहहु भलाई' इति। विभीषणजीने जो कहा है कि—'अयशस्यमनायुष्यं परदाराभिमर्शनम्। अर्थक्षयकरं घोरं पापस्य च पुनर्भवम्॥ १५॥ एतन्निमित्तं वैदेही भयं नः सुमहद्भवेत्'। (वाल्मी० ६।९), (अर्थात्) दूसरेकी स्त्रीको हर लेना केवल बदनामीका ही कारण नहीं है, किंतु आयुको क्षीण करनेवाला भी है। उससे धनका नाश होता है और भारी पाप लगता है। 'सीता' हम लोगोंके लिये बड़े भयकी वस्तु हैं। यदि आप 'सीताजी' को न दे देंगे तो समस्त शूरवीर मारे जायँगे और लंका उजड़ जायगी। (६।९।२०)। वे सब भाव 'जौ चहहु भलाई' में हैं। ☞ इससे जनाया कि श्रीरामजीका अपराध करनेसे किसीका कुशल नहीं हुआ और न तुम्हारा हो सकता है, एकमात्र सीताको दे देनेसे ही उबारा है, अन्यथा नहीं। यथा—'पिय पूरो आयो अब काहि कहु करि रघुबीर बिरोध॥....कहु धौं कंत कुसल बीती केहिं किये राम अपराधु॥....और प्रकार उबार नहीं कहूँ मैं देखेउँ जगु जोहि॥ गी० ६।१।' (मंदोदरीवाक्य)। न दोगे तो क्षणमें नाश हो जायगा; यथा—'पावक न होइ जातुधान-बेनु-बन मैं। तुलसी जानकी दिये स्वामी सों सनेह किए कुसल नतरु सब ह्वै है छार छन मैं॥ गी० ५। २३।' (मन्दोदरीवाक्य)।

टिप्पणी—३ 'तव कुलकमलबिपिन दुखदाई....' इति। (क) 'सीता' नाम यहाँ साभिप्राय है। 'सीता' जो सदा शीतल रहती हैं इसीसे क्रोध करके तुमको भस्म नहीं करतीं। कारण कि उनकी शीतलता तुम्हारे कुलभरका नाश करेगी और क्रोध केवल तुमको भस्म करता।—[पूर्व लिखा जा चुका है कि श्रीसीताजी उसे भस्म कर सकती थीं; यह स्वयं उन्होंने रावणसे कहा है। यथा—'न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा॥ नापहर्तुमहं शक्या तस्य रामस्य धीमतः। विधिस्तव वधार्थाय विहितो नात्र संशयः॥ वाल्मी० ५। २२। २०-२१।'—अर्थात् मैं अपने पातिव्रत्यके तेजसे तुझे जलाकर भस्म कर डालूँ; तेरी मजाल न थी कि तू मुझे श्रीरामजीके रहते हर लाता। निश्चय जान ले कि तेरे द्वारा मेरे हरणका विधान विधाताने तेरे नाशके लिये ही रचा है। ये वचन श्रीसीताजीने मन्दोदरी आदि रानियोंके सामने रावणसे कहे थे। उन्हीं वचनोंको सोचकर मन्दोदरीने कहा है—'तव कुल....'] (ख) 'आई' अर्थात् ये तुम्हारे ले आनेसे नहीं आईं, किन्तु तुम्हारे कुलका नाश करनेके लिए स्वयं आई हैं। अथवा, इससे 'आई' कहा कि यदि यह कहूँगी कि कुलका नाश करनेवाली सीताको तुम ले आए हो तो रावण बड़ा क्रुद्ध होगा। यथा—'जब ते तुम्ह सीता हरि आनी। असगुन होहिं न जाहिं बखानी॥.... ताके बचन बान सम लागे। करिया मुख करि जाहि अभागे॥' (६। दो० ४७-४८)।

मा० त० सु—१ रावणका कुल कमलवन है, श्रीसीताजी हिमऋतुकी रात्रि हैं। कमल तालाब के जलके आश्रित रहता है। यहाँ लंका तालाब है, रावणका बल जल है जिसके आश्रित राक्षसकुल है। जल रहनेपरभी कमल हिमऋतुकी रात्रि आनेपर नष्ट हो जाता है, वैसेही तुम्हारे रहते हुएभी सब कुल नष्ट हो जायगा। २ (क) 'निशा सम' का भाव कि हिमऋतुकी रात्रिही दुःखदायी होती है, दिन दुःखदायी नहीं होता। पुनः, (ख) हिमऋतुकी रात्रिके संयोगसे चन्द्रमा कमलोंका नाश करता है, वैसेही रामरूपी चन्द्र सीतारूपी शीतनिशा

के संयोगसे क्रोधरूपी हिमको बरसाकर तुम्हारे कुलका नाश कर देंगे। यथा—'प्रगटें जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्व सुखद खल कमल तुषारू'। (ग)—हिमसे कमलका अनायास नाश वैसे ही निशाचरकुलका अनायास नाश है। पूर्णोपमा अलंकार है।

टिप्पणी—४ 'हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे'। (क) कुलका हित कहकर अब रावणका हित कहती हैं। सीताको देकर तुम अपना और अपने कुलका हित कर सकते हो। बिना दिये हित न होगा। (ख) शंभु और अजका नाम लिया, क्योंकि रावण ब्रह्माका परपोता है। और शिवजीका सेवक है। रामका द्रोही है, अतः हित नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मा और शिव रामके सेवक हैं; यथा—'जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी' (७। १०६)। पुनः, यथा—'बीस भुज सीस दस खीस गए तबहिं जब ईसके ईस सों बैर कीन्हो॥ क० ६। १८।'

नोट—२ पूर्व जो हनुमान्‌जीने कहा है—'सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी। बिमुख राम त्राता नहिं कोपी॥ संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही। २३ (८)।'—वही यहाँ मन्दोदरी कह रही है। इससे जान पड़ता है कि हनुमानजीके वचनोंका भारी प्रभाव उसपर पड़ा है। क्यों न हो, जो कहकर उसका नमूना करके दिखा देता है उसका प्रभाव क्योंकर न पड़े? भाव यह है कि महाकालके भी जो काल शङ्करजी हैं और तेरे गुरु हैं तथा तेरे पर-पितामह ब्रह्माजी भी यदि तुझे गोदमें लेकर बैठ जायँ और तुझे बचाना चाहें तो भी नहीं बचा सकते। यथा—'जीवन्न रामेण विमोक्ष्यसे त्वं गुप्तः सुरेन्द्रैरपि शङ्करेण। न देवराजाङ्कगतो न मृत्योः पाताल लोकानपि सम्प्रविष्टः॥ अध्यात्म० ६।२।२६।'—(विभीषणवाक्य)। 'जीवंस्तु रामस्य न मोक्ष्यसे त्वं गुप्तः सवित्राऽप्यथ वा मरुद्भिः। न वासवस्याङ्कगतो न मृत्योर्न खं न पातालमनुप्रविष्टः। वाल्मी० ६।१४।६।'—वाल्मीकीय और अध्यात्मके वाक्योंसे 'संभु और अज' मानसके इन दोही शब्दोंमें कितना अधिक गौरव और शक्ति है? शंकरजीको प्रथम कहा क्योंकि ये गुरु हैं, इष्टदेव हैं। और कहा है कि 'राखइ गुर जौं कोप बिधाता। १।१६६।' इसकी ओर संकेत है कि गुरु भी रक्षा नहीं कर सकते।—यहाँ 'प्रथम विनोक्ति अलंकार' है।

दो०—राम-बान अहिगन सरिस निकर निसाचर भेक।
जब लगि ग्रसत न तब लगि जतनु करहु तजि टेक॥३६॥❀

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके बाण सर्पोंके समूहके समान हैं और निशाचर-समूह मेंढकके समान हैं। जबतक वे ग्रसते (=निगलते) नहीं तभीतक हठ छोड़कर उपाय कर लो। ३६।

टिप्पणी—१ मंदोदरीकी वाणीको 'नीतिरस पागी' कहा है। उसके वचनोंमें साम, दाम, भय और भेद चारों नीतियाँ हैं। यथा—१—'कंत करष हरि सन परिहरहू', यह साम है, वैर छोड़ो मेल कर लो। २—'तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत०', यह दाम है। कुछ देकर शत्रुको मिलाना 'दाम' है। ३—'जो चहहु भलाई' से 'जब लगि ग्रसत न तब लगि जतन करहु तजि टेक' यह भय है। ४—'समुझत जासु दूत कै करनी। स्रवहिं गर्भ रजनीचरघरनी।' यह भेद है। अर्थात् न मानोगे तो डरे हुए निशाचर उधर जाकर मिल न जायँ।

नोट—१ मिलान कीजिये अन्य रामायणोंके ऐसेही विभीषणके वाक्योंसे; यथा—'सुवर्णपुंखाः सुभटाः सुतीक्ष्णा वज्रोपमा वायुमनः प्रवेगाः। यावन्न गृह्णन्ति शिरांसि बाणाः प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली। हनु० ७।८।' अर्थात् हे रावण! सुवर्णके पुङ्खोंवाले, अमोघ, अत्यन्त तीक्ष्ण, वज्रके सदृश, पवन और मनके तुल्य वेगवाले बाण जबतक तुम्हारे शिरोंको नहीं लेते, तबतक तुम दशरथके पुत्र श्रीरामजीको जानकी दे दो। पुनश्च, 'पुरा शरत्सूर्यमरीचिसन्निभान्नवान्सुपुङ्खान्सुदृढान्नृपात्मजः। सृजत्यमोघान्विशिखान्वधाय ते प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली। वाल्मी० ६।९।२२।' अर्थात् जबतक श्रीरामजी सूर्यकिरणके समान चमचमाते हुए पंखवाले अत्यन्त दृढ़ और

❀ दोहा दोहरा मिश्रित है—(ब्र० चं०)।

अमोघ बाण आपके वधके लिये नहीं छोड़ते उसके पूर्वही आप 'सीताजी' उनको दे दें। पुनश्च, 'यावन्न गृह्णन्ति शिरांसि बाणा रामेरिता राक्षसपुङ्गवानाम्। वज्रोपमा वायुसमानवेगाः प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली॥ वाल्मी० ६।१४।४।' अर्थात् वज्र समान भयंकर और वायुवेगवाले बाण जबतक राक्षसोंके सिरोंको नहीं काटते उसके पूर्वही जानकीजीको दे दो। (यह विभीषणजीने कहा है)। रामबाणकी करालता खर-दूषणवध प्रसंगसे मन्दोदरीको विदित हो चुकी है; इसीसे वह उनको अहिगण कह रही है और युद्धमें वह चरितार्थ भी है। यथा—'तब चले बान कराल। फुंकरत जनु बहु व्याल॥....चले बिसिख निसित निकाम।' (आ० २०)। 'सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा। कालसर्प जनु चले सपच्छा। ६.६७।', 'तानेउ चाप श्रवन लगि छाँड़े बिसिख कराल। राम मारगन गन चले लहलहात जनु व्याल। ६।९०। चले बान सपच्छ जनु उरगा।', एवं 'खैंचि सरासन श्रवन लगि छाँड़े सर एकतीस। रघुनायक सायक चले मानहु काल-फनीस। ६।१०१।....अपर लगे भुज सिर करि रोषा।'—उपर्युक्त उद्धरणोंमें रामबाणके लिये जो विशेषण या उत्प्रेक्षायें आई हैं, वे सब 'अहिगन सरिस' की व्याख्या ही समझिये। २—इस दोहेमें धर्मलुप्तोपमा और रूपक अलंकार हैं।

टिप्पणी—२ (क) रामबाण अहिगणसदृश हैं; अर्थात् सर्पसरीखे वे भी सविष हैं, सपक्ष हैं; 'लंबित' हैं, ग्रासक हैं, फुङ्कारयुक्त हैं, सवेग हैं, भयंकर हैं, और मृत्युकारक हैं। (ख)—निशाचर मेंढक हैं; अर्थात् जैसे सर्प मेंढकोंको खोज-खोजकर खाते हैं, वैसेही रामबाण निशाचरोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर मारेंगे। जैसे मेंढक कुछ कर नहीं सकते, वैसेही निशाचर कुछ कर न सकेंगे। (ग) 'जतन करहु' अर्थात् यत्न करनेसे बच सकेंगे, युद्ध करनेसे नहीं बच सकेंगे, जैसे मेंढक सर्पसे युद्ध नहीं कर सकता। क्या यत्न करें? यह प्रथम ही बता चुकी हैं कि सीताको लौटा दो। [कवितावलीमेंभी कहा है—'तौ लौं मिलु वेगि नहिं जौं लौं रन रोष भयो, दासरथि वीर बिरुदैत बाँको। ६। २१।', 'तौ लौं मिलु वेगि जौ लौं चाप न चढ़ायो राम, रोषि बान काढ़्यो न दलैया दससीसको। २२।', 'तुलसी गरब तजि मिलवेको साज सजि देहि सीय न तौ पिय पाइमाल जाहिगो। २३।'—यही यत्न है।] (घ) 'जब लगि ग्रसत न तब लगि' अर्थात् जब युद्धका प्रारंभ होगा तब यत्न न काम देगा, क्योंकि रामबाण अमोघ हैं, धनुषसे छूटे फिर व्यर्थ नहीं जा सकते। यथा—'जबहिं समर कोपिहि रघुनायक। छुटिहहिं अति कराल बहु सायक। तब कि चलिहि अस गाल तुम्हारा। ६। २७।' (अंगदवाक्य रावणप्रति)।

२—यहाँतक पूरे दोहेके भावका सिंहावलोकन :—निशाचरोंको शंकित सुनकर उनके बचानेके लिये मन्दोदरीने विनती की और जो-जो बातें पुरजनोंकी दूतियोंद्वारा सुनी थीं, वही-वही रावणसे कहीं—

पुरवासी	मंदोदरी
१ उहाँ निसाचर रहहिं ससंका	मंदोदरी अधिक अकुलानी
२ निज निज गृह सब करहिं विचारा	दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी
३ नहिं निसिचरकुल केर उबारा	तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता....
४ जासु दूत बल बरनि न जाई	समुझत जासु दूत कै करनी।००
५ तेहि आए पुर कवन भलाई	तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत जो चहहु भलाई
६ नहि निसिचरकुल केर उबारा	दोहा ३६ में निशिचरनिकरका उबार माँगा

प० प० प्र०—अशोकवाटिकामें मन्दोदरीके कहनेसे रावणने सीतावध करनेका प्रयत्न छोड़ दिया। इससे उसे आशा है कि वह मेरी बात मानेगा। यही समझकर उसने चार बार समझानेका प्रयत्न किया है। प्रथम बार (यहाँ प्रेम-शृङ्गार-रसके सामर्थ्यपरही रावणको मनानेका प्रयत्न किया है, यह बात 'कंत' संबोधनसे सूचित होती है। दूसरी बार 'सुनहु बचन पिय परिहरि क्रोधा' से उपक्रम है जिसमें शृङ्गार और वीररसोंका मिश्रण है। तीसरी बार 'सजल नयन कह जुग कर जोरी। सुनहु प्रानपति....। ६।१४।३' में करुणारसका आश्रय लिया है। चौथी बार ६।३६।१ में वीर, हास्य, भयानक, रौद्र और अद्भुत रसोंका आश्रय लिया है, क्रोध सवत्र व्याप्त है।

श्रवन सुनो सठ ताकर बानी। बिहँसा जगत बिदित अभिमानी* ॥ १ ॥

अर्थ—शठ और जगत्प्रसिद्ध अभिमानी रावण उसकी वाणी कानोंसे सुनकर खूब हँसा। (और बोला—)। १।

टिप्पणी—१ (क) मन्दोदरीने विनती की थी कि सुनो, यथा–'सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हें'; अतः 'श्रवन सुनि' कहा। मन्दोदरीके आदरके लिए वाणी सुनी पर मानी नहीं। वाणी निष्फल हुई, जैसे ऊसरमें पड़नेसे बीज निष्फल जाता है। इसी भावको दरसानेके लिए वक्ताओंने 'सठ' विशेषण दिया। यथा—'सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती....ऊसर बीज बयें फल जथा। ५।५८।' (ख) मन्दोदरीने श्रीरामजीकी बड़ाई की है; अतः उसने हँसकर निरादर किया, क्योंकि अभिमानी है। अभिमानी अपने बलके आगे किसीको कुछ गिनता ही नहीं–यह बात उसके अगले वचनोंसे स्पष्ट है। [पुनः, हँसकर उत्तर दिया जिसमें बात न मानने-से उसके चित्तमें ग्लानि न हो। अथवा, यह समझकर हँसा कि मेरे समीप रहकरभी यह मेरा प्रभाव नहीं जानती। (मा० त० सु०)। अथवा, मेरा पराक्रम जानकरभी डरती है और मुझे सिखाती है।] 'जगत विदित अभिमानी', यथा—'रनमदमत्त फिरइ जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा'। इसीसे जगत्भर जानता है और इसीसे यह हँसा कि मेरे समान त्रैलोक्यमें कोई योद्धा नहीं है और यह मुझे नरवानरका भय दिखाती है।

श्रीलमगोड़ाजी—हास्यकलामें अभिमानकी हँसीका आनन्द लीजिये। पाश्चात्यशिक्षा पाये हुए सज्जन Sardonic Laughter का आभास देखें।

सभय सुभाउ† नारि करि साँचा। मंगल महुँ भय मन अति काँचा ॥ २ ॥
जौं आवै मर्कट कटकाई। जियहिं बिचारे निसिचर खाई‡॥ ३ ॥

अर्थ—सत्यही स्त्रियोंका स्वभाव डरपोक होता है। मङ्गलमेंभी भय! बड़ा ही कच्चा मन है। वा, उनको मङ्गलमें भी भय लगता है (क्योंकि उनका) मन अत्यन्त कच्चा होता है। २। जो वंदरोंकी सेना आवेगी तो विचारे निशाचर उन्हें खाकर जियेंगे। ३।

टिप्पणी—१ 'सभय सुभाउ नारि कर साँचा' इति। (क) स्त्रियोंके आठ अवगुण कहे हैं। उनमेंसे 'सभय होना' भी एक है। यथा—'साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया। ६।१६।' तात्पर्य कि जहाँ भय नहीं है, वहाँ भी यह भय करती हैं, यथा—'नारि सुभाउ सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं'। (ख) 'साँचा' अर्थात् जो नीतिमें कहा है वह सत्य है; प्रत्यक्ष देखनेमें आ गया कि जिस (मन्दोदरी) को किसीका भय नहीं वहभी डर रही है, यह नारिस्वभाव है। यथा—'कंपहि लोकप जाकी त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हाँसा'। (ग)—स्वभावसेही भयभीत हुई; इसीसे मनको 'कच्चा' कहा। और, मङ्गल समयमें भय किया; इससे 'अति' कच्चा कहा। मङ्गल यह कि कोई भारी शत्रु नहीं है, नर वानर हैं, जो हमारे भक्ष्य हैं—'नर कपि भालु अहार हमारा' (६।८)। पुनः, शत्रुको देखकर भय होनेसे 'कच्चा' और भक्ष्यको देखकर भय हुआ इससे 'अति कच्चा' कहा। भक्ष्यकी प्राप्ति मङ्गल है, यही आगे कहते हैं—'जो आवै०'। 'युद्धकी प्राप्ति मंगल है' यह अर्थ जो करते हैं वह ठीक नहीं; क्योंकि रावण युद्धका नाम नहीं लेता। वह भोजनकी प्राप्ति कह रहा है तब युद्ध करना मंगल कैसे कहें? यहाँ 'प्रथम विषम अलंकार' है। [मंगलमेंभी भयभीत, यह कहकर स्त्रियोंकी विचारहीनता दिखाई। बिना उपायके भोजन मिलना मंगल है, यथा—'कबहुं न मिल भरि उदर अहारा। आजु दीन्ह बिधि एकहिं बारा' (४।२७), 'गृह बैठे अहार बिधि दीन्हा' (६।३६)। (मा. त. सु.)। अथवा, शूरवीरके लिये युद्धभी मंगल है। अथवा परमसुंदरी सीताजीकी प्राप्ति मंगल है उसीको वह लौटानेको कहती है इससे ऐसा कहा। (ब्रह्मचारी)]

* तामरस और पायकुलक क्रमसे। (ब्र० चं०)।

† सुभाव—(ना. प्र.)। ‡ क्रमसे नयमालिनी, पायकुलक, मत्ता और कुसुमविचित्रा छन्द हैं।

२ (क) 'जौं आवै' से उनके आनेमें संदेह जनाया। अर्थात् वे भयसे न आवेंगे और यदि आ गए तो जान लो कि उनका काल ही प्रेरणा करके उन्हें यहाँ ले आया है। मंदोदरीने जो कहा था कि 'राम-वान अहिगन....। ३६।', उसीका यह उत्तर है कि राक्षस तो खानेके लिए उनकी राह देख रहे हैं कि कब आवें और हम भक्षण कर लें। (ख) 'मर्कट कटकाई' अर्थात् बहुत आहारका नाम लेकर जनाया कि निशाचर बहुत भूखे हैं; एक दोसे काम न चलता। वानरसेना बहुत आहार है जिसे पाकर राक्षस जी सकेंगे। श्रीरामलक्ष्मण दोही हैं, ये एकही निशाचरको पूरे न पड़ेंगे; इसीसे उनका नाम न लिया। (ग) विचारे=गरीब, भूखके मारे दीन। अर्थात् बहुत क्षुधावन्त, यथा—'आये कीस कालके प्रेरे। क्षुधावंत सब निसिचर मेरे। ६। ३६।' और भी यथा—'भालु नर बानर अहार निसिचरनि को। सोऊ नृपबालकनि माँगी धारि लही है। देखो कालकौतुक पिपीलिकनि पंख लागो। भाग मेरे लोगनि के भी चित चही है।' (गी. सुं. २४)। 'विचारे' में यह भी भाव है कि गरीब निशाचर जो भरपेट मांस न पाते थे वे भी भरपेट पाकर प्रसन्न होंगे। (घ) 'जियहिं विचारे निसिचर खाई' कहकर अपनी सेनाका बल जनाया और आगे अपना बल कहता है—'कंपहिं लोकप जाकी त्रासा।' (ङ) मंदोदरीने रावण और उसकी सेना दोनोंको निर्बल कहा था—'हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे।', और '....निकर निसाचर भेक'। इसीसे रावणने दोनोंका बल कहा।

कंपहिं लोकप जाकी त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा॥ ४॥
अस कहि बिहँसि ताहि उर लाई। चलेउ सभा ममता अधिकाई॥ ५॥

अर्थ—जिसके डरसे लोकपाल काँपते हैं उसकी स्त्री भयभीत हो, यह बड़ी हँसीकी बात है। ४। ऐसा कहकर खूब हँसकर रावणने उसे छातीसे लगाकर और अधिक ममत्व (प्रेम) दिखाकर एवं बड़े अभिमानसे वह सभाको चला। ५।

टिप्पणी—१ 'कंपहिं लोकप....' इति। (क) यह 'हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे' का उत्तर है। अर्थात् तू हमें मनुष्यका भय दिखाती है और मेरे भयसे तो लोकपालतक काँपते हैं, यथा—'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता' (५। २०)—(इस तरह अपनी प्रभुता कहकर मन्दोदरीके भयको निवारण करना चाहता है; यथा—'कहै लाग खल निज प्रभुताई। सुनु तैं प्रिया बृथा भय माना। जग जोधा को मोहिं समाना। बरुन कुबेर पवन जम काला। भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला। देव दनुज नर सब बस मोरें। कवन हेतु उपजा भय तोरे। ६। ८।' अर्थात् भयका कोई कारण नहीं है, भय छोड़ो। यहाँ 'दूसरा विषम अलंकार' है। (ख) 'तासु नारि सभीत' अर्थात् और साधारण किसी व्यक्तिकी स्त्री सभीत हो (कि हमारा पति मारा न जाय) तो कोई चाहे न हँसे, पर लोकपाल जिससे डरें उसकी स्त्री नर-वानरसे डरे, इसमें बड़ी हँसी है। इसी बातपर हँसकर हृदयसे लगा लिया। (नोट—किसी निशाचरकी स्त्री वानरसे डरे तो 'हँसी' की बात है और रावण की रानी डरे यह 'बड़ी हँसी' की बात है।)

नोट—१ इसकी जोड़का श्लोक हनुमन्नाटकमें यह है—'रावणः (निजभुजाडम्बरं नाट्यति)। किं ते भीरु भिया निशाचरपतेर्नासौ रिपुर्मे महान्, यस्याग्रे समरोद्यतस्य न सुरास्तिष्ठन्ति शक्रादयः। मद्दोर्दण्ड-कमण्डलोद्धृतधनुः शिक्षाः क्षणान्मार्गणाः, प्राणानस्य तपस्विनः सति रणे नेष्यन्ति पश्याधुना॥ ८। ६।' अर्थात् रावण अपने भुजाओंके बलका नाट्य करता हुआ कहता है—'हे भीरु प्रिय! तू क्यों डरती है। मुझ निशाचरराजके लिये यह शत्रु कोई बड़ा शत्रु नहीं है। जब मैं समरके लिए उद्यत होता हूँ तब इन्द्रादि देवता भी मेरे सन्मुख खड़े नहीं रह सकते। रणभूमिमें मेरे भुजदण्डोंके समूहसे उठाये हुए धनुपसे निकले हुए बाण उस तपस्वीके प्राण एक क्षणमें हर लेंगे। यह तू निश्चय ही देखेगी'।—यह श्लोक इस अर्धालीका

* (४) और 'अस कहि....।' पायकुलक, 'चलेउ....' तामरस—(अ० चं०)।

व्याख्या समझिये। जहाँ डरकी किंचित् बात नहीं वहाँ डरना 'बड़ी हँसी'की बात है। लोग क्या कहेंगे?।

वि० त्रि०—'तासु नारि सभीत बड़ि हाँसा' कहनेके बाद स्वयं भी हँसे। नहीं तो हास्य सिद्ध कैसे हो। मन्दोदरी भयभीत हो गई थी, अतः उसे आश्वासन देनेके लिये हृदयसे लगा लिया। रावण पंडित तो थे, पर पोथीके ही पंडित थे, हृदय उनका अहन्ता ममतासे पूर्ण था। कालनेमिने उनकी ऐसी मानसस्थितिकी निन्दा भी स्वयं उनसे की, यथा—'मैं तैं मोर मूढ़ता त्यागू। महामोह निसि सूतत जागू। ६। ५५। ७।' पर ये महात्मा उपदेश करनेवालेपर क्रोध करते थे। सो ममता तो इन्हें स्वाभाविक थी, स्त्रीको हृदयसे लगानेसे और बढ़ गई, यथा—'पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई'। ऐसी ही अवस्थामें सभामें पधारे, विभीषणका त्याग भी इसी अवस्थामें हुआ।

टिप्पणी—२ 'अस कहि विहँसि ताहि उर लाई।' (क) यहाँ दुबारा हँसा। प्रथमभी हँसा था—'विहँसा जगतविदित अभिमानी।' दो बार (आदि और अन्तमें) हँसनेका भाव यह कि मन्दोदरीकी बात उसने हँसीमें उड़ा दी। (ख) हँसकर हृदयमें लगाया–उसकी खातिरीके लिए ऐसा किया जिसमें उसके वचनके निरादरसे उसको कष्ट न हो। पुनः, मंदोदरी पतिके पाँव लगी थी—'रहसि जोरि कर पति पद लागी।' रावणने उसके बदलेमें उसको हृदयमें लगा लिया। 'पति पद लागी' यह मन्दोदरीकी भक्ति है और 'ताहि उर लाई' यह रावणका प्रेम है। (ग) 'ममता अधिकाई' इस पदसे जनाया कि मन्दोदरीका ज्ञान-कथन व्यर्थ गया। ममतामें रत मनुष्यसे ज्ञानकथन करनेका यही फल होता है। यथा—'ममता-रत सन ज्ञान कहानी।.... ऊसर बीज बएँ फल जथा। ५८। ३-४।' पुनः भाव कि ममता तरुण अंधकारसे पूर्ण अमावस्याकी रात्रिके समान है, उसमें सत्-असत्का ज्ञान नहीं रहता। ममतामें राग और द्वेषका ही विलास देखनेमें आता है जैसे रात्रिमें उलूकको ही सुख होता है। यथा—'ममता तरुन तमी अँधियारी। राग द्वेष उलूक सुखकारी। तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रवि नाहीं। ४७।३-४।' (विभीषणवाक्य श्रीरामप्रति)। श्रीरामजीके प्रताप का ज्ञान न होनेसे ही उसे ममता हैं, जिससे उसे सत्-असत्का ज्ञान नहीं हो पाता, उसे कुछ सूझता नहीं, उसे तो राग-द्वेष ही सूझता है। इसीसे उसने स्त्रीसे राग किया और श्रीरामजीसे द्वेष कर रहा है।

नोट—२ मन्दोदरी रावणको अत्यन्त प्रिय है। उसकी बात टालना भी है और साथ ही अपनी हठ भी रखना है। ऐसे अवसरोंपर स्त्रैण पुरुष जैसा स्वाभाविक करते हैं वही रावणने किया कि उसको बड़े प्रेमसे हृदयसे लगाया और हँसते हुए सभामें चला गया; अन्यत्र जाता तो संभव था कि वह भी साथ चल देती।

टिप्पणी—३ मंदोदरीने श्रीरामजीका प्रताप कहा, पर रावणके हृदयमें वह न लगा; क्योंकि ममता आदि 'तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु-प्रताप-रवि नाहीं'। स्त्रीपुत्रादिमें स्नेह करना ममता है। स्त्रीको हृदयमें लगाया, इसीसे ममता अधिक बढ़ी; यथा—'पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि-सिसिर रितु पाई। ३। ४४।'

नोट—३ 'ममता' के अर्थ हैं—स्नेह, मोह और अभिमान (अहंता)। ये तीनों अर्थ यहाँ घटित होते हैं। स्त्रीपर अधिक स्नेह दिखाकर उसका बड़ा प्यार करके चला। वानरोंकी सेना है और रामलक्ष्मण मनुष्य हैं; इनसे क्या डरना। यह मोह बढ़ा। और, मेरे सामने लोकपाल तो खड़े ही नहीं हो सकते, मेरे अनुचरके सामने खड़ा होनेवाला तो कोई देवता भी नहीं है, नर वानर किस गिनतीमें हैं? यह अभिमान भी बढ़ाए हुए सभामें गया। मा० त० सु० कार लिखते हैं कि ममता अपने हठपर और मंदोदरीपर अधिक थी, इसीसे तुरन्त चल दिया।

श्रीलमगोड़ाजी—क) देखा, कविकी हास्यकलाकी निपुणता! कि रावणद्वारा हँसीमें उड़ाई हुई बातका कितना सुंदर विस्तारसे वर्णन किया है मानों उसके हृदयका फोटो ही सामने धर दिया है जिसमें अभिमान, चतुराई और ममता सभीका विवेचन है। इसीसे मैंने पूर्व कहा कि अभी Sardonic Laughter (अर्थात्) शैतानी हँसीका केवल आभास है। कविकी यह सुकुमारता भी सराहनीय है। (ख) ☞ नाटकीय-

कलासे अनभिज्ञ लोग ऐसे नारिके निरादरसूचक शब्दोंको कविके सिर मढ़कर उसका निरादर करते हैं। यह ठीक नहीं है। देश, काल और पात्रका विचार कर लेना चाहिये। (ग) 'नसीम' के प्रशंसक 'विचारे' के 'विना चारे (भोजन) वाले' शब्द-संकेतकी सराहना अवश्य करेंगे।

मंदोदरी हृदय कर चिंता। भएउ कंत पर बिधि बिपरीता॥ ६॥

अर्थ—मंदोदरी हृदयमें चिन्ता करने लगीं कि पतिपर विधाता प्रतिकूल हो गये हैं। ६।

टिप्पणी—१ तात्पर्य यह कि अब अपनी चिन्ता किससे कहे। जिससे कहना था उससे कह चुकी और उसने न माना। तब यह निश्चय किया कि विधाता उसके विपरीत हैं, अब वह न बचेगा; अतएव उसे अपने अहिवातकी चिन्ता हुई। यथा—'अस कहि नयन नीर भरि गहि पद कंपित गात। नाथ भजहु रघुनाथहि अचल होइ अहिवात। लं० ७।', 'अस बिचारि सुनु प्रानपति प्रभु सन बैरु बिहाइ। प्रीति करहु रघुबीरपद मम अहिवात न जाइ। ६। १५।'

२ निशाचरोंका भावी विनाश सुनकर प्रथम मंदोदरी व्याकुल हुई और उनके वचनेका उद्योग किया, पतिसे प्रार्थना की। पर वह उद्योग नष्ट हुआ। तब वह चिन्ता करने लगी। प्रथम निशाचरोंके वचनेकी चिन्ता थी, अब पतिके वचनेकी चिन्ता हुई। यह चिन्ता क्यों हुई कि विधाता विपरीत है? रावणके अभिमानयुक्त वचनोंसे उसने जान लिया कि रावण कालके वश है, यथा—'काल बिबस मन उपज न बोधा।६। ३६।' पहले भलाई होनेका उपाय कहा—'पठवहु कंत जो चहहु भलाई'। जब उपदेश न माना तब भलाईसे निराश हुई—'बिधि बिपरीत भलाई नाहीं। १। ५२।'

बैठेउ सभा खबरि असि पाई। सिंधु पार सेना सब आई॥ ७॥
बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मष्ट करि रहहू॥ ८॥
जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं*॥ ९॥

अर्थ—सभामें (जाकर) बैठा तब यह खबर पाई कि सब सेना समुद्रपार आई है।७। उसने मंत्रियोंसे पूछा कि जो मत (सलाह) उचित हो वह कहो। वे सब हँसे कि चुप होकर बैठे रहिए।८। जब सुर और असुरको जीता तब (तो कुछ) श्रम हुआ ही नहीं। नर और वानर किस गिनतीमें हैं।९।

टिप्पणी—१ 'बैठेउ सभा खबरि असि पाई....' इति। (क) विना मौक़ेके बात न कहनी चाहिए, इससे महल आदिमें ख़बर न दी। राजसभा ऐसी ख़बर देनेका उचित स्थान है। हरकारों या दूतोंने ख़बर दी। (ख) बैठतेही और राजकाज कुछ न सुनाया गया, यही समाचार दिया गया। इससे ज्ञात होता है कि जबसे हनुमान्‌जी लंका जलाकर गए तबसे कचहरीका और सब काम बंद है, सब जासूसीमें ही लगे हैं। (ग) 'पार'=दूसरे तटपर, उस पार। 'पार' दोनों तट कहलाते हैं। प्रत्येक तटके लोग दूसरे तटको 'पार' कहते हैं। यदि 'पार' शब्द न देते तो संदेह होता कि लंकावाले तटपर तो नहीं आ गई। (घ) 'सेना' की अनंतता और बल नहीं कहा; क्योंकि इनके कहनेवालेपर रावण कोप करता है।

२ 'बूझेसि सचिव००' इति। (क) उचित कहो अर्थात् अनुचित न कहो। उसका उचितसे तात्पर्य है कि 'सीताको दे दीजिए, शत्रुसे मेल कर लो' यह अनुचित है, इसे न कहना; किंतु कहो कि शत्रुसे युद्ध करो, युद्ध किस प्रकार किया जाय, यह कहो, इत्यादि, उचित मत है। यथा—'सभा आइ मंत्रिन्ह तेहि बूझा। करब कवन बिधि रिपु सें जूझा' (६। ८)। यह सम्मत कहो कि उस पार चलकर लड़ें या उन्हें उतर आने दें। यथा—'अदेया च यथा सीता वध्यौ दशरथात्मजौ॥ भवद्भिर्मन्त्र्यतां मन्त्रः सुनीतिश्चाभिधीयताम्॥' अर्थात् जिसमें सीताको न देना पड़े और दोनों पुत्र दशरथके मारे जायँ, ऐसी सुंदर नीतियुक्त राय तुम लोग कहो। (वाल्मी० यु०

* प्र० चं०—(६) (७), 'ते०' (९) पायकुलक, 'बूझेसि' चक्र है।

सर्ग १२। २५-२६)। (ख)—'ते सब हँसे' अर्थात् यह बात हँसीकी है। चुप हो रहो। ऐसी बात न कहो। जो सुनेगा वही हँसेगा कि त्रैलोक्यविजयी होकर नरवानरसे युद्ध करनेमें उपाय पूछता है। रावणके प्रश्नपर सब हँसे और उसे चुप कर दिया, जैसे रावणने हँसकर मंदोदरीको चुप किया था कि 'तासु नारि सभीत बड़ि हासा'। तात्पर्य कि जो अच्छे लोगोंकी वाणीको हँसते हैं, उनकी भी वाणीको लोग हँसते हैं। मंत्रियों-की वाणी सुनकर रावण प्रसन्न हुआ कि जो बात हमने मन्दोदरीसे कही, यथा—'जो आवै मर्कट....', वही संमत इनका है। रावणने कहा कि 'उचित मत' कहो; इसीपर मंत्री हँसे कि हमें उचित कहनेको कहते हो और तुम अनुचित पूछते हो—नरवानरोंकी लड़ाईके लिये सम्मति न पूछना चाहिये थी।

नोट—१ 'मष्ट करना' = चुप रहना। यथा—'मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं'—(१। २७८)। 'ते सब हँसे....लेखे माहीं' इति। यथा—'स्वैरं कुर्वन्तु कार्याणि भवन्तो विगतज्वराः। एकोऽहं भक्षयिष्यामि तान्सर्वान्हरियूथपान्॥ स्वस्थाः क्रीडन्तु निश्चिन्ताः पिबन्तो मधु वारुणीम्।'' (वाल्मी० ६। ८। २३-२४), अर्थात् आप इस बातकी चिन्ता न कर अपने-अपने कामोंमें लगिये। मैं अकेलाही सब वानरयूथपतियोंको खा डालूँगा। आप सब लोग सावधान और निश्चिन्त होकर खेलिये कूदिये तथा वारुणी और मधु पान कीजिये।—इनमें तथा वाल्मी० ६। ७। २६ में जो कहा गया है वह सब 'ते सब हँसे मष्ट करि रहहू।' इत्यादिमें कविने कह दिया है।

नोट—२ 'किं करिष्यामि भद्रं वः किं वा युक्तमनन्तरम्। वाल्मी० ६। ६। ४। उच्यतां नः समर्थं यत्कृतं च सुकृतं भवेत्। ५।....कार्यं सम्प्रतिपद्यन्तामेतत्कृत्यं मतं मम। १६।' अर्थात् सिंधुपार सेना आ जानेकी खबर पाकर रावणने मंत्रियोंसे पूछा कि क्या करना उचित है? वह उपाय बताओ जिससे भला हो और जो हम कर सकें। आप सब एकमत होकर कर्तव्य निश्चित करें, वही हम करें। ☞रावणका इस सम्बंधमें यह प्रथम दरबार है। इस दरबारमें वही बात कही है जो मानसमें है-'उचित मत कहहू' और उत्तर भी दोनोंमें एक सा है। सर्ग ७ श्लोक ४ से १९ तकमें 'ते सब हँसे....माहीं' की ही व्याख्या समझिये। 'तिष्ठ वा किं महा-राज श्रमेण तव....।१९।' (हे महाराज! आप बैठे भर रहें। आप किञ्चित्‌भी श्रम न करें।) यही 'मष्ट करि रहहू' में भाव है, आप चुपके बैठें, हममेंसे कोईभी जाकर वानरोंको खा डालेगा। 'जितेहु सुरासुर....'—भोगवतीके नागों, यक्षों सहित कुबेर जो शिवजीके मित्र हैं, पूर्वमें अमरत्वका वर पाये हुये दानवों, मधुदैत्य, समस्त लोक-पालों, वीरक्षत्रियों इत्यादिको जीता। मयने डरकर कन्या व्याह दी। यह कहकर अन्तमें जो कहा है कि—राजन्! आप नर-वानररूप नगण्य लोगोंसे, जो विपद्‌की शंका कर रहे हैं सो इसकी चिन्ता तो करनीही न चाहिये। आप निश्चय 'राम' को मारेंगे।—यही 'नर बानर केहि लेखे माहीं' है। यथा—'राजन्नापदयुक्तेयमागता प्राकृताज्जनात्। हृदि नैव त्वया कार्या त्वं वधिष्यसि राघवम्। वाल्मी० ६। ७। २६।' इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि रावणके अन्तःकरणमें जो भी रहा हो पर उसने मंत्रियोंसे उचित सलाह देनेको कहा और यहाँ तक कहा कि तुम जो कुछ एक मत होकर कहोगे वही मैं करूँगा। यह मंत्रियोंका अपराध है कि उन्होंने उचित सलाह न दी, यह समझकर कि वह हमलोगोंको कायर न समझे, इत्यादि। इसीपर तो ग्रन्थकार आगे दोहेमें अपनी टिप्पणी करते हैं—'सचिव बैद....।' टिप्पणी २ (क) में का उद्‌धृत श्लोक दूसरी बारके दरबारमें कहा गया है।

लमगोड़ाजी—हास्यरसकी कलामें 'मष्ट करि रहहू' की बेतकल्लुफ़ी इतनी सुन्दर है कि सराहते नहीं बनती, मानों मंत्रियोंसे याराना (घनिष्ट मित्रता) है। पर कविकी सुकुमार विवेचनाकी कहाँ तक प्रशंसा की जाय, जब हम देखते हैं कि इसकी आड़में जो भय है उसे कविने ताड़ लिया है, जैसा नीचेवाले दोहेसे विदित है।

नोट—३ यहाँ 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है।

टिप्पणी—३ 'जितेहु सुरासुर....' इति। (क) अर्थात् जो सुर और असुर लेखेमें थे अर्थात् कुछ गिने जाते थें, उन्हें तो तुमने जीत लिया, नर वानर किसी लेखेमें नहीं हैं; इनके लिए क्या पूछना? ये तो हमारे आहारही हैं, आए और हमने खाया। यही बात आगे लंकाकाण्डमें फिर कहेंगे। (ख) सुरसे स्वर्ग लोकका

और असुरसे पाताल लोकका जीतना कहा, रहे मर्त्यलोकके 'नर-वानर' सो किसी लेखेमें नहीं हैं। (ग) सुरासुरके जीतनेमें श्रम नहीं हुआ, यथा—'देखि विकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गए पराई', 'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा। १। १८२।'; 'एक बार कुबेर पर धावा। पुष्पक जान जीति लेइ आवा। १। १७९।' और 'दिगपालन्हके लोक सुहाये। सूने सकल दसानन पाए। १। १८२।'

दो०—सचिव बैद गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिहीं नास॥३७॥

सोइ रावन कहुँ बनी सहाई। अस्तुति करहिं सुनाइ सुनाई॥ १॥

अर्थ—मंत्री, वैद्य और गुरु, यदि ये तीन भय या आशासे प्रिय बोलते हैं तो राज्य, शरीर, और धर्म इन तीनोंका शीघ्रही नाश हो जाता है। ३७। वही बात रावणको सहायक हुई। सब सुना सुनाकर स्तुति करते हैं। १।

नोट—१ 'सचिव बैद गुर....नास' इति। जोड़का श्लोक यह है, यथा हितोपदेशे—'वैद्यो गुरुश्चमंत्री च यस्य राज्ञः प्रियंवदः। शरीरधर्मकोषेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते' अर्थात् जिस राजाके वैद्य, गुरु और मंत्री प्रियवादी हों वह शीघ्र शरीर, धर्म और कोषसे रहित हो जाता है। भाव यह कि वैद्य भयसे या रोगीको प्रसन्न करनेके लिए कुपथ्य माँगनेपर कुपथ्य दे दे, तो रोगी मर जायगा। गुरु लोभके वश शिष्यको अधर्मसे न रोके, यथार्थ उपदेश सन्मार्गका न दे, तो दोनोंका धर्म नष्ट हो, यथा—'लोभी गुरू लालची चेला। घोर नरक महँ ठेलमठेला'। मंत्री राजनीति न सिखावे वरन् उसकी हाँमें हाँ मिलावे, उसका रुख देखकर ठकुरसोहाती कहे, तो राज्यका नाश होता है।

टिप्पणी—१ (क) 'राज धर्म तन तीनि कर....' इति। राज्यसे यह लोक, धर्मसे परलोक और तनसे लोक और परलोक दोनोंका साधनेवाला—इन तीनका विनाश सूचित किया; यथा—'संग ते जती कुमंत्र ते राजा। मान ते ज्ञान पान ते लाजा॥ प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति असि सुनी॥' (३। २१)। जो यहाँ दोहेमें कहा है 'होइ बेगिही नास', वही इन चौपाइयोंमें कहा है—'नासहिं बेगि'। यहाँ दोहेमें यथासंख्य नहीं है। अर्थ करनेमें क्रमसे अर्थ समझ लें—'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्'। (यहाँ भङ्गक्रम यथासंख्य अलंकार है) (ख) परन्तु दोहावलीमें यही दोहा यों लिखा है—'मंत्री गुर अरु बैद जौं प्रिय बोलहिं भय आस। राज धर्म तन तीनिकर होइ बेगिही नास।५२४।', इससे प्रश्न होता है कि यहाँ लोगोंने पाठ अशुद्ध कर दिया है या इस क्रमभंगमें भी कुछ भाव है? इसका उत्तर यह है कि यह पाठ शुद्ध है। और समझ-बूझकर रक्खा गया है। यहाँ विपरीत कथन द्वारा जनाते हैं कि सचिव, वैद्य और गुरु तीनों रावणपर विपरीत हैं—मंत्री सुना-सुनाकर स्तुति करते हैं। यह आगे कवि स्वयं यहीं लिखते हैं। वैद्य सुषेण जन्मभर लंकामें सुख भोगता रहा, उसीने लक्ष्मणजीके लिए संजीवनी बताई, राक्षसोंके जिलानेके लिए सञ्जीवनी न मँगा रक्खी। गुरु महादेवजी प्रतिदिन पुजाने आते थे। इन्होंने रावणको श्रीरामजीके वैरसे और अधर्म करनेसे न रोका, यथा—'वेद पढ़ैं बिधि संभु सभीत पुजावन रावन सों नित आवैं'—(क० उ० २), 'संभु सेवक जान जग, बहु बार दियेउ दससीस। करत राम-बिरोध सो सपनेहु न हटकेउ ईस'—(विनय २१६)। भाव कि भगवद्विमुख होनेसे सभी विमुख हो जाते हैं। इसीसे कविने क्रमभंग करके वैषम्यको दिखाया है।

२ (क) 'सोइ रावन कहुँ बनी सहाई'। 'सहाय' बननेका भाव कि रावण आपही सब नष्ट कर रहा है, उसमें ये भी सहाय हो गए। विनाशके उपायको इन्होंने पुष्ट किया। कुमंत्रसे राजाका शीघ्र नाश होता है, अतएव कुमंत्र देकर मंत्री विनाशमें सहाय हुए—'ते सब हँसे मष्ट करि रहहू। जितेहु सुरासुर तब श्रम

॥ यह पयोधर दोहा है। (व्र० चं०)।

नाहीं ।००' इत्यादि कुमंत्र है। (ख)—'सुनाइ' अर्थात् मुँहपर स्तुति करते हैं, पीछे नहीं। पीछे तो यही कहते हैं कि 'जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आए पुर कवन भलाई'; 'नहिं निसिचर कुल केर उबारा' इत्यादि।

'विभीषण-शरणागति प्रसंग'

अवसर जानि बिभीषन आवा। भ्राता चरन सीस तेहिं नावा॥ २॥
पुनि सिरु नाइ बैठ निज आसन। बोला बचन पाइ अनुसासन॥ ३॥
जौं कृपाल पूँछेहु मोहि बाता। मति अनुरूप कहौं हित ताता*॥ ४॥

अर्थ—अच्छा मौक़ा जानकर विभीषणजी आए और भाईके चरणोंमें उन्होंने मस्तक नवाया। २। फिर सिर नीचा करके (वा, सिर नवाकर) वे अपने आसनपर बैठे और आज्ञा पाकर वचन बोले। ३। हे कृपालो! यदि आप मुझसे बात पूछते हैं तो, हे तात! मैं अपनी बुद्धिके अनुसार हितकी बात कहता हूँ। ४।

टिप्पणी—१ (क) 'अवसर जानि' अर्थात् उचित मंत्र (शरणागतिके उपदेश) देनेके लिए अच्छा अवसर समझकर। आगे इसे स्पष्ट कहते हैं—'मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन कहि पठई यह बात। तुरत सो मैं प्रभु सन कही पाइ सुअवसर तात। ३९।' अथवा, अवसर यह कि अब सब मंत्री अपना-अपना मंत्र कह चुके, अब चलना उचित है, क्योंकि बीचमें जानेसे उनके मतोंका खण्डन करना पड़ता और यह बात रावणको अच्छी न लगती। देखिए प्रहस्तने खण्डन किया है, यथा—'सबके बचन श्रवन सुनि कह प्रहस्त कर जोरि। नीति-बिरोध न करिये प्रभु मंत्रिन्ह मति अति थोरि। ६। ८।', 'कहहिं सचिव सब ठकुरसोहाती। नाथ न पूर आव एहि भाँती।', तब रावणने क्रुद्ध होकर 'सुत सन कह दसकंठ रिसाई। असि मति सठ केहि तोहि सिखाई'। अथवा, अपने आनेका समय जानकर आए।

नोट—१ अवसर देखकर बुद्धिमान लोग काम करते हैं। प्रमाण यथा—'समय जानि गुर आयेसु पाई। लेन प्रसून चले०'। (१. २२७), 'सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना' (१. १९०), 'सीयमातु तेहि समय पठाईं। दासीं देखि सुअवसरु आईं' (अ० २८१), 'राजकुँअर तेहिं अवसर आए' (बा० २४१), 'देखि सुअवसर प्रभु पहिं आयउ संभु सुजान' (६. ११३), 'अवसर जानि सप्त रिषि आए' (१. ८९), इत्यादि। इसका कारण दोहावली दो० ३४४, ४४८ में यह दिया है कि 'अवसर कौड़ी जो चुकै बहुरि दिए का लाख। दुइज न चंदा देखिए उदौ कहा भरि पाख।', 'समरथ कोउ न राम सों तीयहरन अपराधु। समयहि साधे काज सब समय सराहहिं साधु।' इस समय बड़ा सुंदर अवसर है कि रावणने सबसे सलाह पूछी है कि 'उचित मत' कहो और सबोंने अनुचित कहा है, अभी कहनेसे संभव है कि मेरा उचित मत उसको हृदयमें जँच जाय और वह मान ले। दूसरे, अभी-अभी पुलस्त्यजी, अपने पितामहका संदेश रावणसे कहनेको मिला वह लेकर तुरत अवसर जानकर आए हैं, यही कहनेका अवसर है, क्योंकि पूछ रहा है। (प्र० सं०)। पुनः प. प. प्र. स्वामीजी लिखते हैं कि हनुमत्प्रसंगमें भी विभीषणजी सभाका कार्यारंभ होनेके पश्चात् ही आये हैं। इससे सूचित होता है कि विभीषणजी अन्य सभासदोंके समान रावणके आनेके पूर्वसे ही नहीं आते थे। वे यथासमय आते थे और आवश्यकता न रहनेपर चले जाते थे। 'दुष्ट संग जनि देइ बिधाता' के अनुसार वे दुर्जनोंकी संगतिसे यावच्छक्य दूर ही रहते थे। वे भजनमें ही लगे रहते थे। ☞ वे अपने आचरणसे उपदेश देते हैं कि विषयी लोगोंकी संगतिसे दूर रहना चाहिए।

२—विभीषणजी अवसर ताककर आए तो अपमान क्यों हुआ? उत्तर—(मा. त. सु.) बुद्धिमान् लोग कार्यका परिणाम देखते हैं, इस समय अपमान हुआ पर भविष्यमें लंकेश हुए। पुनः खलका त्याग

* प्र० चं०—'अवसर०' तामरस, 'भ्राता०' पायकुलक, 'पुनि०' ११७८वाँ भेद, 'बोला०' ११८२वाँ भेद, 'जौं०' पायकुलक, 'मति०' तामरस है।

उचित है; विभीषणजीने ऐसा न किया, अतः अपनी साधुताका फल अपमान पाया। पुनः अवसरपर जानेसे प्रभुको शरणागति और भक्तिकी प्राप्ति हुई।

३—'भ्राता चरन' का भाव कि और सब लोग राजाके भावसे प्रणाम करते थे और विभीषणजीने अपना बड़ा भाई, पिताके समान, मानकर प्रणाम किया। यह भाव आगे इनके वचनोंसे स्पष्ट है—'तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा।' (पं० रामकुमारजी)।

टिप्पणी—२ (क) 'निज आसन' से जनाया कि क़ायदेसे सबके बैठक वा आसन बने हुए हैं। (ख) रावणकी सभामें विभीषण द्वारा बुद्धिमानी, धर्म और क़ायदा देख पड़ता है—अवसरसे आए, भ्राताके चरणोंमें सिर नवाया, पुनः सिर नवाकर बैठे और आज्ञा पाकर बोले। और, मंत्रियोंके द्वारा अधर्म और मूर्खता देख पड़ती है—राजाके वचन सुनकर सब हँसने लगे. सुना-सुनाकर स्तुति करते हैं। (ग) 'पाइ अनुसासन' से एवं 'जौं कृपाल पूँछेहु' से ज्ञात होता है कि सब मंत्रियोंके मतसे रावणका समाधान और संतोष न हुआ; इसीसे विभीषणजीके आसनपर बैठते ही उसने इनसे पूछा। क्योंकि यदि समाधान हो गया होता तो क्यों पूछता ? [(मा० त० सु०)—१—'पाइ अनुशासन' दीपदेहली है। २—सिर नवाकर बैठना शिष्टोंकी रीति है, यथा—'आसन दीन्ह नाइ सिर बैठे।' बिना पूछे राय भी न देना चाहिए।]

३—जौं कृपाल पूँछेहु मोहि बाता।००'। (क) देखिए, जो बात विभीषणजीने कही, वही बात शुकने कही है। यथा—'नाथ कृपा करि पूँछेहु जैसे। मानहु कहा क्रोध तजि तैसे' (५. ५४); पर जो कोमलता विभीषणजीकी वाणीमें है वह शुककी वाणीमें नहीं है; कारण कि विभीषणजी साधु हैं। दोनोंके वचनोंका अभिप्राय एक ही है। पर भेद इतना ही है कि विभीषणजीके वचनोंके भीतर वह अभिप्राय भरा है, जिसमें ऊपरसे रावणमें दोष न पाया जाय। और, शुकके वचनोंसे रावणका क्रोधी और हठी होना शब्दसे ही प्रगट है—उसने कहा था कि 'मानहु कहा क्रोध तजि।' शुकने क्रोधका त्यागना कहकर प्रथम ही उसे 'क्रोधी' सिद्ध किया और 'मानहु' कहकर 'हठी' जनाया। (ख)—'जौं कृपाल' का भाव कि आपने जो कृपा करके पूछा यह मुझको बड़ाई दी, अतएव मैं मतिके अनुरूप कहता हूँ। तात्पर्य यह कि आपको शिक्षा देने योग्य तो मुझमें बुद्धि है नहीं, इसीसे मैं केवल 'हित' कहता हूँ, कुछ आपको उपदेश नहीं देता। उपदेश देनेसे रावण क्रोध करता है, यथा—'मृत्यु निकट आई खल तोही। लागेसि अधम सिखावन मोही' (५।२४। यह हनुमान्‌जीसे रावणने कहा है।)। पुनः यथा—'गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा' (३।२६। यह रावणने मारीचसे कहा है।)। 'मति अनुरूप'—अपनी बुद्धिका अभिमान नहीं है, इसीसे कहते हैं कि 'मति अनुरूप' अर्थात् जैसी कुछ मेरी बुद्धि है उसके अनुसार कहता हूँ, उपदेश नहीं देता। 'मति अनुरूप कहता हूँ'—बड़े लोगोंमें इस प्रकार कथन करनेकी रीति है, यथा—'कहउँ सो मति अनुहारि अब०', 'तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी', 'निज मति सरिस नाथ मैं गावा' इत्यादि। ['मति अनुरूप०' का भाव कि मंत्रियोंका कथन उनकी मतिके अनुरूप नहीं है। उनकी मतिमें तो और ही है, यथा—'नहिं निसिचर कुल केर उबारा'; पर कहते आपकी मतिके अनुरूप हैं; अतः उनका मंत्र हितकारक नहीं है।—'कहनि आन बिधि करनि आन बिधि....सुख पाइय कैसे'—(विनय)। (मा० त० सु०)।]

जो आपन चाहइ कल्याना। सुजसु सुमति सुभ गति सुख नाना॥ ५॥
सो पर नारि लिलारु गोसाईं। तजउ चौथि के चंद कि नाईं*॥ ६॥

अर्थ—हे गोसाईं ! जो अपना कल्याण, सुन्दर यश, सुमति, शुभ गति और अनेक प्रकारके सुख चाहे, वह परस्त्रीके ललाटको चौथके चन्द्रमाकी तरह त्याग दे। अर्थात् परस्त्रीका मुख न देखे, उसके देखनेसे कलंक लगता है। ५-६।

---

* अर्धाली ५, ६, ७, ८ पायकुलक हैं। (प्र० चं०)।

टिप्पणी—१ 'जो आपन चाहइ' इति। विभीषणजी औरोंपर ढारकर उनके बहाने रावणको उपदेश दे रहे हैं जिसमें वह क्रोध न करे और न अनुचित ही माने। (पुनः वह बड़ा भाई है और राजा है, अतः सीधे न कहकर अन्यके प्रति उद्देश्य करके कहते हैं, जिसमें वह समझकर अपनेको सुधार ले। यहाँ 'गूढ़ोक्ति अलंकार' है)। रावणमें काम, क्रोध, लोभ परोक्ष कहे। ('नारिलिलार' से काम, 'भूतद्रोह'से क्रोध और 'अल्पलोभ'से लोभ, इस प्रकार तीनों दोष कहे)। पर वह परोक्ष-कथनसे न समझेगा। (क्योंकि अभिमानवश है); अतः दोहेमें अपरोक्ष कहते हैं; यथा—'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ'। यहाँ प्रस्तुत प्रसंगमें श्रीसीताजीके देनेकी प्रार्थना करते हैं; इसीसे प्रथम कामके दोष दिखाते हैं कि उससे एक तो सुयशका नाश होता है, यथा—'कामी पुनि कि रहहिं अकलंका' (७.११२)। दूसरे सुमतिका नाश होता है, यथा—'मुनि अति बिकल मोह मति नाठी' (१।१३५)। तीसरे शुभगतिका नाश होता है, यथा—'सुभ गति पाव कि परत्रियगामी'। चौथे नाना सुखोंका नाश होता है, यथा—'अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि। ३।४४।' पाँचवें कल्याण अर्थात् भलाईका नाश होता है, यथा—'तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत जो चहहु भलाई'। कहनेका तात्पर्य यह कि इन पाँचोंको नष्ट करनेवाली 'परस्त्री' ही है और, ये पाँचो सत्संगसे प्राप्त होते हैं—बा० १० (४) 'बिधुबदनी सब भाँति सँवारी....' देखिए। विभीषण संत हैं, इससे पाँचोंका उपदेश करते हैं।

नोट—१ इन अर्धालियोंके जोड़का श्लोक प्रसन्नराघवनाटकमें यह है। 'उदर्कभूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते। चतुर्थीचन्द्रलेखेव परस्त्रीभालपट्टिका। ७।१७।' अर्थात् भलाई, ऐश्वर्य और उन्नतिके चाहनेवाले निश्चय ही परस्त्रीके ललाटपटलको चौथके चन्द्रमाकी तरह कभी नहीं देखते। यहाँ 'लिलारु'की जोड़में 'ललाट-पटल' और 'भालपट्टिका' हैं। इस श्लोकमें केवल 'उदर्क भूति' दो ही बातोंके इच्छुकोंकी चर्चा है और मानसमें 'कल्याण, सुयश, सुमति, शुभगति और नाना सुख' पाँचोंका नाश 'परनारिलिलार' के दर्शनसे कहा है।

टिप्पणी—२ 'सो परनारि लिलारु....' इति। (क) काव्योंमें स्त्रियोंके मुखके लिये चन्द्रमाकी उपमा दी जाती है। इसीसे यहाँ भी चन्द्रमाकी उपमा दी गई। और 'चौथके चंदकी नाईं' कहा गया; क्योंकि अन्य तिथियोंके चन्द्रमा त्याज्य नहीं हैं। 'परनारि' कहा, क्योंकि जिस स्त्रीके साथ धर्मशास्त्रानुकूल पाणिग्रहण और विवाह हुआ है, वह त्याज्य नहीं है। 'लिलार' शब्दसे 'मुख'का बोध कराया है, 'मुख' शब्दका प्रयोग नहीं करना भी साभिप्राय है। परस्त्रीका मुख चौथके चन्द्रमाके समान कलंकका देनेवाला है, कलंकी है, अतएव त्याज्य है—यह उपदेश दूसरेको दे रहे हैं। जैसी आपकी कहनी है वैसी ही करनी भी है, दूसरेसे त्याग करनेको कहते हैं और स्वयं उसे इस तरह त्यागे हुए हैं कि अपने मुँहसे 'मुख' शब्दका प्रयोग भी नहीं करते, 'मुख' शब्दतकका त्याग कर दिया है, केवल 'लिलार' से उसका संकेत कर दिया है।—ऐसा अपूर्व त्याग विभीषणजीका है।—[मेरी समझमें केवल 'लिलार' इससे कहा कि चतुर्थीका चन्द्रमा केवल पूर्ण (चंद्र) का चतुर्थ होता है और ललाट भी मुखमंडलका चतुर्थ ही समझिये।] (ख) 'काम' कल्याण और सुयश आदि पाँचोंका नाशक है। यह यहाँ 'परनारि-लिलार-दर्शन' द्वारा कहा। आगे क्रोधसे चौदहों भुवनोंके ऐश्वर्यका और लोभसे समस्त गुणोंका नाश होना कहते हैं। (ग) 'गोसाईं' का भाव कि आप राजा हैं, आपको चाहिए कि जो परस्त्रीको ग्रहण करे, उसे दंड दें, और आपको तो परस्त्री कदापि न ग्रहण करनी चाहिए वरन् उसकी ओरसे इन्द्रियजित होना चाहिए। राजा प्रजाके लिये आदर्श होता है।

नोट—२ 'तजउ चौथके चंद....' इति। प्रायः लोकव्यवहारमें भाद्र शु० ४ के चन्द्रमाके दर्शनका निषेध देखा जाता है; परन्तु—'पंचाननगते भानौ पक्षयोरुभयोरपि। चतुर्थ्यामुदितश्चन्द्रो नेक्षितव्यः कदाचन। चतुर्थ्यौभाद्रमासस्य चन्द्रचूड़स्य भामिनी। दिन द्वयं वर्षमध्ये पति वक्त्रं न पश्यति। ३। ३९० ग।' (उद्भट सागर परिशिष्ट)। अर्थात् सिंहराशिपर सूर्यके होनेपर दोनों पक्षोंकी चतुर्थीमें उदय हुए चन्द्रमाका दर्शन कदापि न करना चाहिये। ग्रंथकार कहते हैं कि भवानी इसीसे चन्द्रशेखर अपने पतिके मुखका

दर्शन भाद्रमासकी चतुर्थियोंको अर्थात् वर्षमें दो दिन नहीं करतीं। क्योंकि पतिके मुखके दर्शनसे ललाट-स्थित चन्द्रमाका भी दर्शन हो जायगा।—इस प्रमाणके अनुसार दोनों पक्षोंके चतुर्थीके चन्द्रदर्शनका निषेध जान पड़ता है। इसीसे 'चौथि के चंद' कहा है, किसी पक्षका नाम न देनेसे दोनों मतोंका पोषण हो जाता है। अथवा, भाद्र शु० ४ प्रसिद्ध है, इससे पक्षका नाम न दिया। वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि उद्भटसागर तृतीय प्रवाह ३९० ग० के उपर्युक्त श्लोकके प्रमाणमें टीकाकारने 'पंचानन गते भानौ पक्षयोरुभयोरपि। चतुर्थ्यामुदितश्चन्द्रो नेक्षितव्यः कदाचन।' यह स्मार्तवाक्य उद्धृत किया है। ज्योतिष चन्द्रिकामें-भी ऐसा ही कहा है—'सिंहादित्ये भाद्रमासे चतुर्थ्यां चन्द्रदर्शने। मिथ्याभिदूषणं कुर्यात्तस्मात्पश्येन्नतं सदा।'

भाद्र शु० ४ गणेशचौथ है। उस दिनके चन्द्रदर्शनके निषेधकी कथा ब्रह्मचारी श्रीगंगाधरजीसे यह सुनी थी कि एक बार श्रीगणेशजी अपने वाहन मूसापरसे फिसल पड़े थे, यह देख चन्द्रमा हँस पड़ा था, उसपर उन्होंने शाप दे दिया कि तेरा दर्शन जो करेगा उसे कलंक लगेगा। शाप सुनकर देवताओंमें हाहाकार मच गया, क्योंकि चन्द्रमा के विना संसारका पोषण असम्भव हो जायगा। देवताओंकी प्रार्थना-पर उन्होंने अनुग्रहकर यह कहा कि अच्छा, केवल हमारी चतुर्थिको चन्द्रदर्शनका निषेध रहेगा। तबसे भाद्रशुक्ल ४ को उसका दर्शन लोग नहीं करते।

मा. म. का मत है कि सत्ययुगके भाद्र शु० ४ को बृहस्पतिने चन्द्रमाको तारा (बृहस्पतिपत्नी) के साथ व्यभिचार करनेके कारण शाप दिया था कि आजकी रातको तेरा मुख पतित रहेगा अर्थात् तेरा मुख दर्शन-योग्य न रहेगा, जो कोई देखेगा उसे कलंक लगेगा। वेदान्तभूषणजी कहते हैं कि भाद्र कृ० ४ को अहल्याके साथ व्यभिचार करनेमें चन्द्रमाने इन्द्रकी सहायता की थी, इससे उस तिथिका चन्द्रमाभी त्याज्य है।

३ साधारण जीवोंकी कौन कहे, भगवान् कृष्णजीको चौथके चन्द्रमाके दर्शनसे स्यमंतकमणिकी चोरीका मिथ्या कलंक लगा था। अतः चौपाईका भाव यह है कि चन्द्रमा कैसा सुंदर स्वच्छ और नेत्रोंको सुखद होता है, पर परतियगामी होनेके कारण वह सुयश आदिसे ऐसा रहित हो गया कि उस दिन बुद्धिमान् अपने सुयशादिके नाशके भयसे उसकी ओरभी नहीं देखते। वैसेही परस्त्रीके मुखके देखनेका फल होता है।

४ धोखेसे यदि चन्द्रदर्शन हो जाय तो उसका परिहार यह है कि भगवान् श्रीकृष्णको जो स्यमंतक मणिकी चोरी लगी थी उस कथाका श्रवण कर ले, जो भा० १०।५७ में है। ऐसा आजभी लोग करते हैं। पर इसमें शंका यह की जाती है कि 'स्यमंतकमणिकी कथा तो द्वापरसे प्रचलित है और विभीषणजी रावणसे त्रेतायुगमें त्याज्य बताते हैं, तब लोग क्या सुनाते थे?' भा. १०।५७ में स्यमन्तकोपाख्यानकी फलश्रुति इस प्रकार है—'यस्त्वेतद्भगवत ईश्वरस्य विष्णोर्वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमंगलं च। आख्यानं पठति शृणोत्यनुस्मरेद्वा दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिम्॥ ४२।' अर्थात् ईश्वर भगवान् विष्णुका यह पराक्रमयुक्त दुःखहरण और अत्यन्त मंगलकारी चरित्र जो पढ़े, सुने या स्मरण करे उसका कलंक तथा कलंकका उत्पन्न करने-वाला पापभी नष्ट हो जाय और वह शान्तिको प्राप्त हो। यद्यपि इस श्लोकमें भाद्र चतुर्थीके चन्द्रदर्शन दोषका परिहार स्पष्ट नहीं लिखा है तथापि 'दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य' में उसकाभी समावेश हो जाता है।

वे. भू. जी शंकाका समाधान इस प्रकार करते हैं कि "स्यमन्तकोपाख्यान इसी द्वापरका होते हुए भी भगवान्‌की सभी लीलाओंके समान यह भी नित्य है। और भागवतमें तो श्वेत वाराह कल्पके अतिरिक्त पाद्मकल्प और ब्राह्मकल्पकीभी कथायें हैं अर्थात् पाद्म और ब्राह्म कल्पमेंभी भागवतानुसार श्रीकृष्णलीलायें हुई थीं। अतः त्रेतामें स्यमन्तकोपाख्यानका प्रचलित होना कौन आश्चर्य है? अथवा इस द्वापरान्तके पूर्व कलंकित चन्द्रदर्शनके दोष-परिहारका कोई दूसरा साधन रहा होगा।" मुझे जहाँतक स्मरण है इस चन्द्रदर्शन-दोषका एक परिहार यहभी है कि फिर प्रतिमास शुक्लपक्षके द्वितीयाके चन्द्रका दर्शन करता रहे। पूर्व कहीं यह लिखा जा चुका है।

चौदह भुवन एक पति होई। भूतद्रोह तिष्टइ† नहिं सोई॥ ७॥
गुनसागर नागर नर जोऊ। अलप लोभ भल कहै न कोऊ॥ ८॥

दो०—काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत‡॥ ३८॥

अर्थ—जो चौदहो भुवनोंकाभी अकेलाही स्वामी हो, वहभी भूत (जीव) द्रोहसे ठहर नहीं सकता। (अर्थात् ऐसाभी राजा भूतद्रोह करनेसे नष्ट हो जाता है)। ७। जो मनुष्य गुणसागर (सर्वगुणसम्पन्न) और चतुर हो उसकोभी चाहे अल्पही लोभ क्यों न हो तोभी कोई भला नहीं कहता। ८। हे नाथ! काम, क्रोध, मद, लोभ ये सब नरकके मार्ग हैं। इन सबोंको छोड़कर रघुवीरको भजो जिन्हें सन्त भजते हैं।३८।

नोट—१ 'चौदह भुवन एक पति होई'। भूः, भुवः, स्वः, जनः, तपः, सत्य, तल, अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल और पाताल—ये ही चौदह भुवन हैं। इन सबोंका एकमात्र स्वामी कहकर 'सर्व-सामर्थ्ययुक्त' जनाया 'भूत द्रोह तिष्ठइ नहिं' से 'रक्षाशक्तिराहित्य' जनाया। अर्थात् उसका शीघ्र ही पुण्य-नाश और आत्मनाश हो जाताहै, यथा—'तैं सुर नर मुनि नाग बिरुद्धे। सादर सिव कहुँ सीस चढ़ाए। एक एक के कोटिन्ह पाए॥ तेहि कारन खल अब लगि बाँच्यो। अब तव काल सीस पर नाच्यो।' (६। ६३)। (मा. त. सु.)।

प. प. प्र.—इससे उपदेश मिलता है कि 'तलवारकी और क़ानूनी सत्तापर जो राज्यशासन किया जाता है (और प्रजाको प्रसन्न रखनेका प्रयत्न नहीं किया जाता है) वह सत्ता शीघ्र ही नष्ट हो जाती है'। कविकालीन शासनोंकी नीति किस प्रकारकी थी, यह सूचनाभी इस अर्धालीमें गर्भित है।

टिप्पणी १—'भूतद्रोह तिष्टइ नहिं सोई'। भाव कि भूतद्रोही ईश्वरका विरोधी होता है; क्योंकि ईश्वर सर्वभूतमय है, यथा—'जेहि पूँछउँ सोइ मुनि अस कहई। ईस्वर सर्वभूतमय अहई। ७। ११०।' भूतद्रोह भारी पाप है, यथा—'सरन गए प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा।' और पापसे नाश होता है। इस कथनसे जनाया कि रावण विश्वद्रोही है, यथा—'बिस्वद्रोहरत यह खल कामी।' इसीसे उसका नाश हुआ, यथा—'निज अघ गयउ कुमारग गामी।' (६। १०६)। काम क्रोध तो समय टल जाने पर शान्तभी हो जाते हैं, पर लोभ कभी शान्त नहीं होता, लोभीको कभीभी तृप्ति नहीं होती। कामनाकी प्राप्ति हो जाने-पर भी संतोष नहीं होता।

२—'गुनसागर....अलप' इति। 'गुनसागर' से शान्ति, शौर्य और दया आदि लोकगुणोंसे युक्त और 'नागर' से शास्त्रजन्यप्रवीणता सूचित की। वा नागरसे यशस्वी सूचित किया। भाव यह कि अल्प लोभभी हो तो बहुत हो जाता है; यथा—'प्रति लाभ लोभ अधिकाई' (६। १०१)। 'अल्प लोभ' गुणके समुद्रसे भी अधिक बड़ा है; क्योंकि गुणसागर होनेपरभी प्रशंसा नहीं होती और लोभ अल्पभी होनेसे ही निन्दा होती है। जैसे श्वेत कुष्टके एक विन्दुसेभी मनुष्य निन्दित होता है, वैसेही अल्प लोभसे।

नोट—२ भगवान्ने उद्धवजीसे ऐसा ही कहा है, यथा—'यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः। लोभः स्वल्पोऽपि तान्हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्। भा० ११।२३।१६।' अर्थात् जिस प्रकार थोड़ासाभी कोढ़ सर्वाङ्गसुन्दर स्वरूपको बिगाड़ देता है, उसी प्रकार तनिकसाभी लोभ यशस्वियोंके शुद्ध यशको और गुणवानोंके प्रशंसनीय गुणोंको नष्ट कर देता है। यहाँ 'गुनसागर नरनागर' की जोड़में 'यशस्विनां गुणिनां' है।

टिप्पणी—३ (क) 'काम क्रोध मद लोभ....' इति। पहले केवल काम, क्रोध और लोभको कहा क्योंकि गीतामें केवल इन्हीं तीनको नरकका द्वार कहा है। परन्तु पुराणोंमें यमद्वार चार लिखे हैं अतएव इस दोहेमें चारोंको एकत्र करके एकसाथ सबको 'नरकके पंथ' कहकर इन चारोंका त्याग करनेको कहते हैं। 'सब

† तिष्ठइ—ना. प्र.। ‡ दोहा दोहरा मिश्रित (ब्र० चं०)।

परिहरि' कहकर जनाया कि ये चारों दोष तुममें हैं। यदि रावणमें कामादि न कहते तो सब कथन व्यर्थ हो जाता है। अतएव प्रत्यक्षरूपसे यह न कहकर कि आप कामी, क्रोधी आदि हैं उन्होंने यही बात युक्तिसे सुन्दरता के साथ इस प्रकार कह दी कि कामादि नरकके पंथ हैं, उनका त्याग करो। और, रघुवीर श्रीराम-जीका भजन अपवर्गका मार्ग है, उसे ग्रहण करो। यथा—'संतसंग अपवर्ग कर कामी भव कर पंथ। ७। ३३।' [काम, क्रोध और लोभ तीनों नरकके पंथ हैं; यथा—'त्रिविधं नरकस्यैतद् द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ गीता १६। २१।' ☞ भेद गीता और मानसमें केवल इतना है कि गीतामें इनको नरकका द्वार कहा है और मानसमें नरकका पंथ। भावार्थ एकही है। ☞ श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अ० २३ में भगवान् श्रीकृष्णजीने 'अर्थ' (धन) के कारण जो पन्द्रह अनर्थ मनुष्योंको होते हैं उनको इस तरह वर्णन किया है—'अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये। नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥ १७। स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः। भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥ १८।' अर्थात् धनके उपार्जनमें और उपार्जन कर लेनेपर उसकी वृद्धि, रक्षा एवं व्यय करनेमें तथा उसके नाश और उपभोगमें मनुष्योंको निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रमका सामना करना पड़ता है। १७। चोरी, हिंसा, मिथ्याभाषण, पाखण्ड, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा (होड़, ईर्ष्या) और (स्त्री, द्यूत एवं मद्यके) व्यसन—ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्योंको धनके कारणसे होते हैं। ☞ यह कहकर भगवान्ने कहा है कि कल्याणके इच्छुकोंको इनका दूरसेही त्याग करना चाहिये; यथा—'एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्। तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥ १९ ॥' और इनके पूर्व प्रारम्भमें यहभी बताया है कि इस लोकमें कदर्यका धन उसके चित्तको संतप्त करनेके लिये होता है और मरनेपर उसके नरकका कारण होता है। उपर्युक्त उद्धरणोंमें काम, क्रोध, मद (लोभको पूर्वही कह आये हैं) को नरकका कारण और इह लोक और परलोक दोनोंका नाशक कहा है।—यही सब भाव इस दोहेमें हैं।] (ख) 'के' बहुवचन देकर जनाया कि इनमेंसे प्रत्येक नरकका मार्ग है। और आपमें सब हैं। ☞ कामादि पहले कल्याण, सुयश, सुमति आदिका नाश करते हैं, फिर अंतमें नरकको ले जाते हैं। अतः पहले कल्याण आदिका नाश कह-कर तब नरकदायक कहा। इस तरह प्रथम इहलोकका नाश कहकर परलोकका भी नाश जनाया।

नोट—३ रावणमें ये चारों होनेके प्रमाण, यथा—'देव जच्छ गंधर्व नर किंनर नाग कुमारि। जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदर बर नारि। १। १८२।' (यह कामासक्ति है); 'रावन आवत सुनेउ सकोहा।....देव देवतन्ह गारि पचारी ॥ १। १८२।', 'आपुन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खीसा। १। १८३।' (यह क्रोध है); 'रन मद मत्त फिरइ जग धावा। १। १८२।', 'परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस। ५। ३९।', 'तेहि कहँ पिय पुनि-पुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू ॥ ६। ३६।', 'उमा रावनहि अस अभिमाना। जिमि टिट्टिभ खग सूत उताना ॥ ६। ३६।', 'अति गर्व गनइ न सगुन असगुन....। ६। ७७।', 'बैठ जाइ सिंघासन फूली। अति अभि-मान त्रास सब भूली ॥ ६। ३७।'—(यह मद, गर्व वा अभिमान पर्यायी शब्दोंके उदाहरण हैं)। दूसरेकी वस्तुको छीननेमें लोभही कारण है, सो तो इसके सारे चरित्रमें है—'एक बार कुबेर पर धावा। पुष्पकजान जीति लै आवा। १। १७९।' ☞ काम, क्रोध, मद, लोभ कहकर जनाया कि तुमको मोह है; यथा—'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि। ३। ४३।'। 'सब परिहरि' का भाव कि इनमेंसे यदि एकभी रह जाय तो जीवको यथार्थ सुख नहीं होता। (मा० त० सु०)। 'भजहिं जेहि संत' इति। मन्दोदरीनेभी ऐसाही कहा है, यथा—'तासु भजन कीजिअ तहँ भर्ता।....मुनिबर जतन करहिं जेहि लागी। भूप राज तजि होहिं बिरागी ॥ सोइ कोसलाधीस रघुराया। ६। ७।' कामादिसे सुयशका नाश है और प्रभुके भजनसे सुयशकी प्राप्ति है, यथा—'जौं पिय मानहु मोर सिखावन। सुजसु होइ तिहुँ पुर अति पावन ॥ ६। ७।'

मा० त० सु०—तीन अर्धालियोंमें तीन उपदेश दिये। 'सो परनारि....', 'भूतद्रोह तिष्टइ नहिं....' और 'अलपलोभ....'। प्रथम उपदेशमें कामको; दूसरेमें क्रोधको और तृतीयमें लोभको त्याग करनेको

कहा उन तीनोंके फलोंका समुच्चय दिखलाते हुए उनका त्याग और जीवनका महाकल्याणकारक मुख्य उपदेश दोहेमें कहते हैं।

☞ नरकपंथसे और संतसे मिलान नहीं होता। अर्थात् नरकपंथसे संत नहीं जाते। इसीसे ग्रन्थकारने 'पंथ' और 'संत' का अनुप्रास न मिलाया। यहाँ संत, वहाँ पंथ—दोनोंमें केवल एक मात्राका अनुप्रास है। 'चंद्रहास हर मम परितापं। रघुपति बिरह अनल संजातं' में आधे मात्राका (अनुस्वार मात्रका) अनुप्रास है। 'द्विविद मयंद नील नल अंगद गद बिकटास्य। दधिमुख केहरि निसठ सठ जामवंत बलरासि' में कुछ अनुप्रास नहीं है। वस्तु दिखानेके लिए कवि अशुद्ध शब्दोंका प्रयोग किया करते हैं।

नोट—४ इस दोहेमें 'पंथ' और 'संत' पद विषम तुकान्तके होने परभी मित्रवर्गीय और सममात्रिक होनेसे कविकुलसंमत और अदूषित माना गया है। इसी प्रकार कहीं वर्गमैत्री, कहीं प्रयत्न-(उच्चारण स्थान)-साम्य, कहीं केवल मात्रासाम्य और कहीं समवर्ण-मात्रिक अनुप्रास न मिलनेसे विषम-तुकान्त प्रयुक्त होते हैं। पर यदि इन्हीं कारणोंसे प्रयुक्त विषम तुकान्त हों तब तो वे सुकवि संमत होते हैं, अन्यथा नहीं। सुन्दरकांडके विषम-तुकान्त; यथा—'परितापं, संजातं', 'बृंद, मंद', 'चिंता, बिपरीता', 'बिभूषन, बिभीषन', 'पुंज, कंज', एवं 'भृंग, मतंग' इत्यादि। (मा० त० सु०)।

टिप्पणी—४ (क) 'भजहिं जेहि संत'। भाव कि सन्तसे बड़ा कोई नहीं, सो नारद, शुक-सनकादि शिव आदि सन्त जिनका भजन करते हैं। (ख) 'सब परिहरि' का भाव कि संत सब छोड़कर भजते हैं वैसेही तुमभी भजो, यथा—'संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन॥ तासु भजन कीजिय तहँ भरता।....', 'रामहिं सौंपि जानकी नाइ कमलपद माथ। सुत कहँ राज समर्पि बन जाइ भजिय रघुनाथ' (लं०६)। सन्त सुत, वित्त और लोक इन तीनोंकी ईषणा छोड़कर प्रभुका भजन करते हैं, यथा—"एतं वैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्चलोकैषणायाश्च व्युत्थायाथभिक्षाचर्यं चरन्ति। बृह० १.५.१।" (?) [पुनः, 'सब परिहरि' अर्थात् काम क्रोध मद लोभ जो नरकके मार्ग हैं इन सबोंको छोड़कर। (प० प० प्र०)। 'रघुबीर' से पंचवीरतायुक्त जनाया। कृपावीर हैं, अपराधोंको क्षमा करेंगे। दानवीर हैं, लंकाका अचल राज्य तुमको देंगे। विद्यावीर हैं, ज्ञानभक्ति शुभगति देंगे। धर्मवीर हैं, धर्मरक्षार्थ लड़ेंगे, धर्मयुद्ध करेंगे। युद्धवीर हैं, अतः तुम्हारी वीरता उनके आगे कुछ काम न देगी। (प० प० प्र०)]। ☞ सन्त उनको भजते हैं, यह प्रमाण देकर इनके भजनसे उपदेश दिया। इस दोहे तक अपना 'मति अनुरूप हित' कहा। आगे पुलस्त्यजीका सन्देश कहते हैं।

तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला॥ १॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता। ब्यापक अजित अनादि अनंता*॥ २॥

अर्थ—हे तात! 'राम' नर भूपाल नहीं हैं। वे (समस्त) भुवनों (ब्रह्माण्डों) के स्वामी और कालकेभी काल हैं। १। ब्रह्म हैं, अविद्यारूपी रोगोंसे रहित हैं, अजन्मा और षडैश्वर्ययुक्त हैं, व्यापक, अजित अनादि और अनन्त हैं। २।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम विकारोंका त्याग कहकर पीछे (अब) ईश्वरके स्वरूपका ज्ञान कहते हैं, क्योंकि कामादि विकारोंसे रहित होनेपरही जीव परमेश्वरके जाननेका अधिकारी होता है, यथा—"करहु हृदय अति बिमल बसहिं हरि कहि कहि सबहिं सिखावौं। हौं निज उर अभिमान मोह मद खलमंडली बसावौं॥ बि०१४२।", "जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत।" और आगे भी कहा है—"परिहरि मान मोह मद भजहु कौसलाधीस।" जबतक चित्तमें कामादि रहते हैं तबतक भगवत्तत्वका न बोध होता है और न भक्ति होती है। इसीसे भक्त सदा माँगते हैं कि "कामादि दोषरहितं कुरु मानसं च॥" (ख) रावणको संदेह है। वह प्रभुको नर समझता है, यथा—'तेहि रावन कहँ लघु कहसि नर कर करसि बखान॥ ६.२५॥" और सब मंत्रीभी यही कह रहे

* (१) से (५) तक पायकुलक है। (६) का 'भजहु....' द्रुतपा है। (व्र० चं०)।

हैं कि "नर वानर केहि लेखे माहीं ।" इसीपर विभीषणजी कहते हैं कि 'तात राम नहिं नर भूपाला' । अर्थात् ये मंत्री जो कहते हैं तथा आप भी जो समझ रहे हैं कि ये मनुष्य हैं, राजकुमार हैं, यह विचार ठीक नहीं है । (ग) भुवन = ब्रह्माण्ड । ब्रह्माण्ड अनेक हैं, यथा—'देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया । अवधपुरी प्रति भुवन निनारी । सरजू भिन्न-भिन्न नर नारी'—(उ० ८१) । ब्रह्माण्डोंको काल खाता है, यथा—'ऊमरि तरु बिसाल तव माया । फल ब्रह्मांड अनेक निकाया ।....ते फल भच्छक कठिन कराला । तव भय डरत सदा सोउ काला'—(आ० १३) । 'भुवनेश्वर कालहु कर काला' कथनका भाव यह हुआ कि काल ब्रह्माण्डोंको खा सकता है, पर बिना प्रभुकी आज्ञाके वह ऐसा कर नहीं सकता; क्योंकि प्रभु समस्त ब्रह्माण्डोंके मालिक हैं और 'कालके भी काल हैं; अर्थात् जो काल ब्रह्माण्डोंको खा जाता है उस कालको भी प्रभु खा जाते हैं, यथा—'भृकुटिभंग जो कालहि खाई । ६.६५ ।'; अर्थात् उसके भी मालिक हैं, शासक हैं, प्रेरक हैं, न्यामक हैं, प्रवर्तक हैं । इस प्रकार प्रभुको देशकालातीत सिद्ध करके तब उनको 'ब्रह्म' कहते हैं । क्योंकि ब्रह्ममें देशकाल दोनों ही नहीं हैं । इन दोनोंका नाश हो जानेपर एक वही ब्रह्म (राम) रह जाते हैं । पुनः, भुवनेश्वरका भाव कि जबतक समस्त भुवन रहते हैं तभीतक देश (भुवन) का संबंध रहता है और वे 'भुवनेश्वर' कहे जाते हैं । जब काल समस्त भुवनोंको खा लेता है तब देशसंबंध छूट जाता है । फिर जबतक काल रहता है तबतक कालका संबंध रहनेसे वे 'कालहु कर काला' अर्थात् कालके पति कहलाते हैं । जब कालका भी नाश हो जाता है तब यह संबंध भी नहीं रहता, केवल ब्रह्म रहता है जो देशकालातीत है, दोनोंसे रहित है, परे है । (घ) 'अनामय अज' आदि ब्रह्मके विशेषण हैं । उनके क्रमका भाव—ब्रह्ममें अविद्या नहीं है । अविद्याके वश प्राकृतोंका जन्म होता है । प्रभु निरामय हैं, उनका अवतार या जन्म कर्म मायाके वश नहीं होता; क्योंकि वे भगवन्त हैं—स्वयं उत्पत्ति और प्रलय करते हैं, विद्या और अविद्या दोनोंके प्रेरक हैं । व्यापक हैं, इसीसे अजित हैं; क्योंकि व्यापकको कौन जीत सकता है । अनादि हैं, इसीसे अनन्त हैं—'आदि अंत कोउ जासु न पावा' । आगे अवतारका हेतु कहते हैं ।

म० त० सु०—पहिले 'तात राम नहिं नर भूपाला' इत्यादि वचनोंसे व्याप्यात्मक ब्रह्मस्वरूप दिखलाया, फिर तदात्मक शुद्ध ब्रह्मका स्वरूप आठ विशेषणोंद्वारा प्रतिपादित किया ।

नोट—१ 'ब्रह्म अनामय अज....' इति । (क) ब्रह्म आदि शब्दोंकी विस्तृत व्याख्या कई बार लिखी गई है । कुछ व्याख्या यहाँ भी की जाती है । स्थूल-सूक्ष्म व्यक्त-अव्यक्त संपूर्ण जीवोंको नित्य अपने कल्याण गुणोंसे बढ़ानेसे और अपने स्वरूप-रूप-गुण-वैभवसे सदा बढ़नेसे श्रीरामजीका नाम 'ब्रह्म' है । यथा—'व्यक्ताव्यक्त समष्ट्यादि पुरुषाश्चैव नित्यशः । गुणैश्च कल्याणतमैर्ब्रह्म वृंहयतीति च ॥ रूपै स्वरूपेण गुणैर्विभवैश्च स्वयं मुहुः । ब्रह्मेति स तु वा 'ब्रह्म' षडर्णः सन्ततिप्रदः ॥' इति निरुक्त । संपूर्ण जगत्में अपने स्वरूप-रूप-गुणोंसे व्याप्त तथा स्वयं बढ़नेवाले और आश्रितोंको बढ़ानेवाले हैं । पुनः, ब्रह्म = परम अक्षर अर्थात् जिसका कभी नाश न हो ऐसा सच्चिदानन्दघन परमात्मा ब्रह्म है, यथा—'अक्षरं ब्रह्म परमं ।' (गीता ८ । ३)

(ख) अज = जिसका जन्म समझमें नहीं आता; यथा—'यस्या जननं नोपलभ्यते तस्मादुच्यते अजा' (श्रीदेव्यथर्वशीर्षम्) । अथवा भक्त प्रह्लादके लिये खंभसे प्रकट होनेसे तथा इतर जीवोंके जैसा प्रकट नहीं होनेसे 'अज' नाम है । यथा—'स्तम्भजातत्वादितरवन्नजातत्वादजः स्मृतः ।'

(ग) 'भगवंता' इति । भगवान् भगवन्तौ-भगवन्तः । 'सर्व हेय प्रत्यनीक कल्याणगुणवत्तया पूज्यात्पूज्यतमो योऽसौ भगवान्' इति शब्द्यते । निरुक्तः । अर्थात् त्याज्य मायिक दोष गुणोंके विरोधी, जैसे अंधकारका विरोधी प्रकाश, और दिव्य कल्याणगुणोंसे युक्त तथा सम्पूर्ण पूज्योंसे भी पूज्यतम होनेसे 'भगवान्' नाम हैं । पुनः 'भगवंत' = समयक्-ऐश्वर्य-संपन्न; कर्तुं अकर्तुं को समर्थ इत्यादि ।

(घ) 'व्यापक' इति । अर्थात् चेतनाचेतन संपूर्ण व्याप्य वस्तुओंमें सदा (मौजूद, उपस्थित) रहते हैं ।

(ङ) 'अजित' = किसीसे न जीते जाने योग्य । पुनः, प्राकृतों द्वारा न जीते जाने योग्य, 'अपरा-

जिता, अजिता अयोध्या' नामक पुरामें निवास होनेसे 'अजित' नाम है। यथा—'प्राकृतैर्नजिता या सा यस्यास्तीत्यजितापुरी 'अजित स्तेन विज्ञेयः सतार्णां मुक्तिदो मनुः ॥' पुनः, चाक्षुप नामक छठे मन्वन्तरमें भगवान्ने वैराजकी पत्नी सम्भूतिके गर्भसे 'अजित' नामका अंशावतार ग्रहण किया, समुद्रमंथन कर अमृत निकाला और वही कच्छपरूप धारणकर मन्दराचलरूपी मथानीके आधार बने थे। अतः 'अजित' कहलाये।

(च) 'अनादि' 'अनंता' इति। यथा—'आदि अंत कोउ जासु न पावा'। कबसे हैं, इसका पता कोई न लगा पाया। 'अनन्त' अर्थात् देशतः कालतः त्रिविध-परिच्छेदशून्य; सब देशोंमें सब कालोंमें सब वस्तुओंमें जिसकी आधि (अवधि) नहीं। यथा—'देशतः कालतो वापि गुणतो वस्तुतोपि वा। अवधिर्यस्य नास्तीति सोऽनन्तः समुदाहृतः ॥' निरुक्त; 'नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे' (गीता १० । १९); 'अथैतस्यैवान्तो नास्ति यद् ब्रह्म' (यजुर्वेद का० ७ । ३, ४); 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ०)।

गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुप तनु धारी ॥ ३ ॥
जनरंजन भंजन खलब्राता। वेद धर्म रक्षक सुनु भ्राता ॥ ४ ॥

अर्थ—पृथ्वी, ब्राह्मण, गऊ और देवताओंका हित करनेवाले हैं, दयासागर हैं, (दया करके) मनुष्य शरीर धारण करते हैं। ३। हे भाई! सुनिए, 'राम' (रघुराई) जनके आनन्द देनेवाले, दुष्टोंके समूहके नाशक, और वेद और धर्मके रक्षक हैं। ४।

टिप्पणी—१ (क) वर्तमानका हाल कहते हैं, इसीसे 'मानुप तनु धारी' कहा; नहीं तो वे तो नाना प्रकारके शरीर धरकर देवताओं आदिके दुःख दूर करते हैं। (ख) यहाँ गौ (पृथ्वी) को आदिमें कहा, क्योंकि जब पृथ्वीका भार उतरे, निशाचर मरें, तब द्विज और देवताका हित हो। (ग) मनुष्य तन धारण करनेमें 'कृपासिंधु' विशेषण दिया। क्योंकि अवतारका मुख्य कारण कृपा ही है। यथा—'सो प्रगट करुनाकंद सोभावृंद०', 'हिरन्याक्ष भ्रातासहित मधुकैटभ बलवान। जेहिं मारे सोइ अवतरेउ कृपासिंधु भगवान' (६.४७)। 'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा ॥ व्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना ॥ सो केवल भगतन्ह हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी ॥' बालकाण्ड १३ (३-५) देखिये। (घ) यहाँ दिखाया कि श्रीरामजी प्राकृत नर नहीं हैं, ब्रह्म नररूप हैं। प्रथम कहा था कि 'राम नहिं नर', वे मनुष्य नहीं हैं। जो कहिए कि देखनेमें तो नर हैं उसीपर कहते हैं कि वे ऐसे मनुष्य हैं—'गो द्विज धेनु....'।

२—'जनरंजन भंजनखलब्राता....' इति। (क) विभीषणजीने प्रगट नहीं कहा, केवल अभिप्रायसे जना दिया कि भगवान् 'गोद्विज....धर्म'के रक्षक हैं और तुम इन सबके विरोधी हो। दोनोंका मिलान—

श्रीरामजी	रावण
गो-द्विज-धेनु-देव-हितकारी	जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगरगाउँपुर आगि लगावहिं।
जनरंजन	मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा।
भंजन खलब्राता	बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट परधन परदारा।
वेद-रक्षक	बहु बिधि त्रासइ देस निकासै जो कह वेद पुराना।
धर्मरक्षक	जेहि बिधि होइ धरम निर्मूला। सो सब करहिं वेद प्रतिकूला।

तात्पर्य कि 'नरतन' तुम्हारे मारनेके निमित्त हुआ है, तुम्हारी मृत्यु मनुष्यके हाथ है, इसीसे साक्षात् ब्रह्म नररूप हुए, तुम उनसे वैर न करो। (ख) गो, द्विज, धेनु आदि उनके 'जन' हैं। इसीसे उनके विरोधियोंको मारकर उनको आनन्द देते हैं। नरतन-धारी होना प्रथम कहकर फिर 'जनरंजन भंजन खल ब्राता' यह उसका व्यवहार कहा। गीतामें भी भगवान्ने अवतारका यह कारण कहा है। यथा—'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥' (ग) प्रथम जनरंजन कहा; क्योंकि इन्हींकी रक्षाके लिये खलोंका वध करते हैं। खलवध होनेसे वेदधर्मकी रक्षा होती है, इसीसे 'भंजन खलब्राता' कहकर तब 'वेदधर्मरक्षक' कहा।

ताहि बैरु† तजि नाइय माथा । प्रनतारति* भंजन रघुनाथा ॥ ५ ॥
देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही । भजहु राम बिनु हेतु सनेही ॥ ६ ॥

अर्थ—वैर छोड़कर उनको मस्तक नवाइए। श्रीरघुनाथजी शरणागतके दुःखके नष्ट करनेवाले हैं।५। हे नाथ ! प्रभुको वैदेही दे दीजिए और बिना कारणही स्नेह करनेवाले रघुनाथजीको भजिये। ६।

मा० त० सु०—'ताहि बैर तजि' का भाव कि 'गो, द्विज, धेनु' आदिसे जो तुमने वैर किया वही उनके साथ हुआ, यथा—'मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक वैर वैर अधिकाई'।

टिप्पणी—१ (क)–'प्रनतारति भंजन रघुनाथा' ऐसा संबोधन करके अर्थात् आर्त्त वाणी कहकर प्रणाम करो। ☞श्रीविभीषणजी जैसा रावणसे कह रहे हैं वैसा ही प्रभुकी शरण जानेपर उन्होंने स्वयं प्रणाम करते समय कहा है, यथा—'त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर। ४५। अस कहि करत दंडवत देखा।' 'त्राहि त्राहि' कहना यही आर्त्तगिरा है, यथा—'प्रनतपाल रघुबंसमनि त्राहि त्राहि अब मोहि। आरत-गिरा सुनत प्रभु अभय करैगो तोहि। लं० २०।' पुनः भाव कि श्रीसीताजी आर्त हैं, वे 'दीनदयाल बिरुद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी।', इस प्रकार श्रीरामजीकी शरण गई हैं। उनकी आर्तिको भंजन करनेके लिये तथा रघुवंशीय अबलाको सनाथ करनेके लिये वे तुमको मारेंगे, यह 'प्रनतारतिभंजन' 'रघुनाथा' से सूचित किया। (ख) 'नाइय माथा' इति। विभीषणजीने रावणके कल्याणहेतु मुख्य उपाय बताया कि इस दरबारमें केवल मस्तक नवानेका काम है, कुछ भेंट-पूजा भी न चाहिए, यथा—'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। ततकाल तुलसीदास जीवन जन्मको फल पाइहै।'—(विनय), 'सकृत प्रनाम किहें अपनाए। २। २९९।' (ग) यहाँ 'रघुनाथ' पद देकर समस्त ऐश्वर्यकी घटना माधुर्यमें की, यथा—'एहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसल राऊ। १।२४२।'; अर्थात् इस शब्दको देकर जनाया कि जो ऐश्वर्य ऊपर 'भुवनेश्वर कालहु कर काला' से 'वेदधर्म-रक्षक सुरत्राता' तक वर्णन किया गया वह इन्हीं 'राम' का है जो दशरथात्मज रूपसे रघुकुलमें अवतरित हुए हैं, वे 'राम' कोई और नहीं हैं।

२—'देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही।....' इति। (क) याचना करनेके योगसे 'नाथ' संबोधन किया। [पुनः, भाव कि आप मेरे तथा समस्त राक्षसोंके नाथ हैं। आपके विनाशसे हम सब अनाथ हो जायँगे। (प. प. प्र.)] 'प्रभु' का भाव कि वे समर्थ हैं, न दोगे तो भी वे अपने सामर्थ्यसे ले लेंगे। तब क्या बात रह जायगी ? (ख)—'राम बिनु हेतु सनेही' अर्थात् और सब स्वामी कारण पाकर ही स्नेह करते हैं और ये बिना कारणही सबपर स्नेह करते हैं, यथा–'हेतुरहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी। ७।४७।', 'बिनु हेतु हित तैं नहिं लखा' (वि० १३५), 'बिनु हेतु करुनाकर उदार अपार माया तारनं।' (वि. १३६), 'मातु पिता स्वारथरत ओऊ। ७।४७।', 'अस प्रभु दीनबंधु हरि कारनरहित दयाल १।२११।' वे तो बिना कारणही स्नेह करते हैं और तुममें जब स्नेहके कई कारण हो जायँगे—जैसे कि प्रणाम करना, वैदेहीको दे देना, भजन करना—तब तो बात ही क्या ? वे स्नेह क्यों न करेंगे ? (ग) 'वैदेही' का भाव कि जैसे विदेहराजने अर्पण किया वैसेही तुमभी अर्पण करो—२२ (१०) 'मोरे कहे जानकी दीजे' में 'जानकी' के जो भाव कहे गए हैं वे ही 'वैदेही' के हैं। अतः दोहा २२ की अर्धाली १० देखिए। ऐसाही शुक, मन्दोदरी, अंगदजी और माल्यवान्ने कहा है; यथा क्रमसे—'जनकसुता रघुनाथहि दीजे। एतना कहा मोर प्रभु कीजे'-(५७), 'रामहिं सौंपि जानकी नाइ कमलपद माथ। सुत कहुँ राजु समर्पि बन जाइ भजिय रघुनाथ' (लं० ६), 'सादर जनकसुता करि आगे। एहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे।' (लं० २०) और 'परिहरि बैरु देहु बैदेही। भजहु कृपानिधि परम सनेही'—(लं० ४८)। सर्वत्र यही भाव है। [पूर्व जो कहा था कि 'ताहि बैर तजि नाइय माथा।' उसीका यहाँ स्पष्टीकरण है—'देहु....बैदेही'। वैदेहीका दिया जाना ही वैरका त्याग है। (मा.

† बयरु—ना० प्र०। * प्रनतारत—भा० दा०।

त. सु.)। अथवा, भाव कि सीता वैदेही हैं, उनको देहका ममत्व नहीं; अतः वे कभीभी तुम्हारे वशमें नहीं हो सकतीं। इस प्रकार न तो सीता तुमको प्राप्त होंगी, न ऐश्वर्य ही रह जायगा और न तुम जीवित ही बचोगे। (प. प. प्र.)]

सरन गएँ प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा॥ ७॥
जासु नाम त्रयताप नसावन। सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन* ॥ ८॥

अर्थ—शरण जानेपर प्रभुने उसकाभी त्याग न किया जिसे संसारभरसे द्रोह करनेका पाप लगा हो। ७। जिनका नाम तीनों तापोंका नाशक है वही प्रभु प्रकट हुए हैं—हे रावण! इसे हृदयसे समझो।८।

लमगोड़ाजी—वर्तमान जनसत्तात्मक राजनीतिकी यह अभी गुत्थी ही है कि मंत्रीमण्डल राजसभा (पारलियामेन्ट) के हाथमें या प्रजाके हाथमें खिलौना हो, या कमसे कम अमेरिकाकी तरह निश्चित समयके लिये कुछ स्वतन्त्र। भाई, यदि राजाका भय चला गया तो प्रजाका भय तो बना ही है। मेरे मित्र पं० शंकरलालजी मजाक़में बड़ी गूढ़ बात कहा करते हैं कि 'भैया, राजाका भय नहीं है, पर मैकू भाईके मारे जब हमारे प्रधानमन्त्री स्वतन्त्र हों तब तो ठीक बात हो सके; नहीं तो कल निकाल दिये जायँ; कारण कि वोट तो मैकू भाईके ही अधिक हैं। श्रीरामराज्यमें—१ राजा, २ साधु, ३ लोकमत, ४ मन्त्री, ५ पंडित साधारणतया स्वतंत्र हैं और Bryce के कथनके अनुसार whole nature सब जनताका मत तब ही हो सकता है जब ये पाँचों एकमत हों, विशेषकर important matters खास बातोंमें। देखिये, दोनों लड़ाइयोंके समय इंगलैंड में भी Party Government चल न सकी। वोटकी गणना तो साधारण समयके लिये और सामान्य विषयोंके लिये ही हो सकती है। 'साधारणतया' का शब्द विचारमें रहना चाहिये, असाधारण संकटके समय तो स्वयं ऋषिगण ही राजा वेनके मृत्युका कारण बने; जैसा कि श्रीसम्पूर्णानन्दजीने अपने फतेहपुरके स्पीच में कहा था।

टिप्पणी—१ (क) कदाचित् रावणको यह संदेह हो कि हमने तो उनका बड़ा अपराध किया है, शरण जानेपर भी हमको शरणमें न लेंगे, उसीपर कहते हैं कि 'सरन गएँ....'। (ख) बिस्वद्रोह कृत....' का भाव कि तुम विश्वद्रोही हो, यथा—'बिस्वद्रोहरत यह खल कामी। ६।१०६।' (ग) 'प्रभु'का भाव कि शरणागतके विश्वद्रोहकृत पापकोभी नाश करनेमें समर्थ हैं। शरण जातेही ऐसा पापभी नष्ट हो जाता है, यह शरणागतिका माहात्म्य है; यथा—'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं। ४४।२।' पुनः यथा—'जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही। तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना। ४८। २-३।' आशय यह कि शरणागतको रखनेका सामर्थ्य है, उसके त्यागका सामर्थ्य नहीं है।

२ 'जासु नाम त्रयतापनसावन....' इति। (क) यह कहकर अलभ्य लाभ दिखाते हैं कि लोग जिसका नाम जपते हैं पर रूपके दर्शन नहीं पाते, वही प्रभु प्रकट हुए हैं। तुमको उस रूपकी प्राप्ति सुलभ हुई है। यथा—'जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा। सो मम लोचन गोचर आगें'—(गृध्रराज ३।३१), 'जासु नामबल संकर कासी। देत सबहि सम गति अबिनासी। मम लोचन गोचर सोइ आवा'—(बालि ४।१०) तथा यहाँ 'सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन'। तात्पर्य यह कि बिना समझे ऐसे लाभकी हानि हो जाती है; ऐसा अवसर पाकर चूकें तो 'बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनाया। ४। १०।' (ख) 'समुझु जिय रावन'—यह कथन पुलस्त्यजीका है; विभीषणजी अपनी ओरसे ऐसा न कहते। ये तो 'तात, नाथ, भ्राता', इत्यादि सम्बोधन देते आ रहे हैं। (ग) गोस्वामीजी दोहावलीमें लिखते हैं कि 'पय अन्हाइ फल खाइ जपु रामनाम षट मास। सकल सुमंगल सिद्धि सब करतल तुलसीदास'। छः महीने नियमसे नामका जप करनेसे त्रिताप नाश होते हैं। [पुनः, 'त्रयतापनसावन'; यथा—'राम राम राम जीय जौं लौं तू न जपिहै। तौ लौं तू जहाँ जैहै तहाँ

* 'सरन....' तामरस, 'बिस्व....' पायाकुलक, (८) में ११५९ वाँ, १२२०वाँ भेद। (प्र० चं०)।

तिहुँ ताप तपिहैं'—(विनय ६८)। ['सोइ' अर्थात् जिनके नामका ऐसा प्रभाव और प्रताप है वही प्रभु ये हैं। दुष्टोंको मारकर जनके त्रितापको नाश करनेके लिये प्रकट हुए हैं—यह 'समझ ले'। 'रावन' का भाव कि जिन लोगोंको तू रुलाता है उन सबोंके सदृश इनको न समझ। (मा० त० सु०)]।

दो०—बार बार पद लागउँ बिनय करउँ दससीस।
परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस॥
मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन कहि पठई येह बात।
तुरत सो मैं प्रभु सन कही पाइ सुअवसरु तात॥ ३९॥

अर्थ—हे दशशीश! मैं बारंबार चरणोंमें लगकर विनती करता हूँ कि मान, मोह और मदको छोड़कर कोशलेश रामचन्द्रजीका भजन करो। पुलस्त्यमुनिने अपने शिष्यसे यह बात कहला भेजी थी। हे तात! सुन्दर अवसर पाकर मैंने तुरंतही वह बात आपसे कही। ३९।

टिप्पणी—१ शंकाः—विभीषणजी पुलस्त्यजीका संदेश कह रहे हैं, तो बारबार पद क्यों लगते हैं? क्या पुलस्त्यजीने ऐसा करनेको कहला भेजा था? समाधान—विभीषणजी बात तो पुलस्त्यजीकी कही हुई कह रहे हैं, पर चरणस्पर्श अपनी ओरसे करते हैं, विनय करते हैं, एवं हाथ जोड़ते हैं। क्योंकि नम्रता-से उपदेश करना यह बड़ोंकी रीति है; यथा—'बिनती करउँ जोरि कर रावन', 'औरौ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि'—(श्रीरामः। ७। ४५ ।—[पुनः; 'बारबार पद लागउँ' यह पद अतिस्नेहसे और भ्रातृभावसे कहा गया। (मा० त० सु०)] नम्रतापूर्वक उपदेशसे सफलताकी आशा रहती है।

२—'परिहरि मान मोह मद भजहु' ये तीनों भजनके बाधक हैं, इसीसे बुद्धिमान् लोग इनका त्याग करते हैं। प्रथम काम, क्रोध, मद और लोभको त्याग करनेको कह चुके हैं, अब मान, मद, मोहको छोड़नेको कहते हैं—ये दोनों मिलकर षट्विकार हैं। इस प्रकार षट्विकारका त्याग सूचित किया।—[मान सर्वलोक-विजयित्व आदिका, मोह श्रीराघवजीमें नरबुद्धि आदिका और मद कुम्भकर्णमेघनादादि प्रबल अजेय कुटुम्ब तथा अपने भुजबलका; यथा—'कुंभकरन अस बंधु मम सुत प्रसिद्ध सक्रारि। मोर पराक्रम नहिं सुनेहि जितेउँ चराचर झारि। ६। २७।' 'परिहरि मान मोह मद' कहकर जनाया कि मानादि त्याज्य हैं। 'भजहु कोसलाधीस' यह कर्तव्य कार्य बताया। (मा० त० सु०)। रावणने कुम्भकर्णसे अपनेमें मोह-मद-मानका होना स्वीकार किया है; यथा—'विभ्रमाच्चित्तमोहाद्वा बलवीर्याश्रयेण वा। नाभिपन्नमिदानीं यद्व्यर्थास्तस्य पुनः कथाः॥ वाल्मी० ६।६३।२४।' अर्थात् मैंने चित्तविभ्रमसे, मोहवश अथवा अपने बलवीर्यके अहंकारसे जो कार्य नहीं किया (अपने भाई और स्त्रीकी सलाह नहीं मानी) उसको अब बारंबार कहना व्यर्थ है। अथवा, किसीके सामने नम्र न होनेवाला स्वभावही 'मान' है। (वाल्मी० ६। ३६।११ पूर्व आ चुका है)।]

३—'कोसलाधीस' का भाव कि इनके भजनसे इहलोक और परलोक दोनोंमें कुशल है। ☞ विभीषणजीका सिद्धान्त है—'भजन करना'; इसीसे वे बारंबार 'भजन' करनेको कहते हैं—'सब परिहरि रघुबीरहि भजहु'—(१), 'भजहु राम बिनु हेतु सनेही'—(२), 'भजहु कोसलाधीस'—(३)।

नोट—'मुनि पुलस्ति' इति। मुनिसे जनाया कि मनन निदिध्यासन करके उन्होंने जो संदेश भेजा है, उसका स्वयं साक्षात्कार कर लिया है, तब सन्देश भेजा है। वे त्रिकालज्ञ हैं। 'पुलस्ति' का भाव कि उनका सुंदर निर्मल यश जगत्में प्रसिद्ध है, चन्द्रवत् सबको आनन्द देता है, उनकी बात माननेसे आपकाभी कल्याण

※ 'बार बार....' दोहरा, 'मुनि....' कच्छ दोहा है। (ब्र० चं०)। यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलं-कार' है। (वीर)।

होगा। 'कहि पठई यह बाल' का भाव कि तुमको अपने वंशमें उत्पन्न जानकर यह परमश्रेयस्कर मार्ग कहला भेजा है कि हमारे कुलमें भगवद्भक्तिही प्रधान है, तुमभी उसीका अनुसरण करो, कलंकरूप न हो। (मा० त० सु०)।

टिप्पणी—४ (क) 'पाइ सुअवसरु' इति। अवसर जानकर विभीषणजी आये थे और सुसअवर जानकर बात कही। भाव यह कि आनेका अवसर तो अपने अधीन था, इससे अवसर जानकर आए और 'सुअवसर' पराधीन है। जब रावण पूँछे, तब बात कहनेका अवसर मिले; इसीसे 'सुअवसर' कहा। (ख)—'तुरत' से जनाया कि पुलस्त्यजीका शिष्य अभी कह गया है, वैसेही मैं आपके पास आया और शीघ्रही संदेश सुना दिया। शीघ्र सुनानेमें तात्पर्य यह कि न जाने बात कुछ जरूरी हो और उसके न कहने- से, या उसमें विलंब करनेसे कदाचित् कोई हानि हो जाय (तो पीछे न कहनेवालेको बड़ा पश्चात्ताप हो)। संदेशमें विलंब न करना चाहिए, यथा—'तुरत नाइ लछिमनपद माथा। चले दूत बरनत गुन गाथा' (५।५३। शुक सारन लक्ष्मणजीका संदेश लेकर 'तुरत' अपने स्वामी रावणके पास गए और संदेश सुनाया)। अथवा, कल्याणकारी संदेश शीघ्रही कह देना चाहिए। कुछ बिगड़ गया, तब पीछे कहनेसे क्या होगा ? वा, मंत्री भय और आशावश प्रिय बोलते हैं, जिससे वेगिही नाश होनेवाला है; यह समझकर नाश बचानेके लिए तुरतही कहा। वा, 'राज धर्म तन तीनि कर होइ वेगिही नास', अतः इनका नाश न हो इस विचारसे तुरत कहा। (ग)—पुलस्त्यजीने स्वयं आकर न कहा, क्योंकि रावण हठी है, अपना नाती (पौत्र) है, कहा न मानेगा तो अपना अपमान होगा। इसीसे शिष्यसे संदेश विभीषणजीके पास भेजा। अपमानकी शंकासेही शिष्यको रावणके पास न भेजा।

५ इस प्रसंगमें प्रभुके नाम, रूप, लीला और धाम चारों कहे गए। यथा—'तात राम नहिं नर भूपाला' से 'कृपासिंधु मानुषतनुधारी' तक रूप कहा—(१)। 'जनरंजन भंजन खलव्राता। वेद धर्म रच्छक सुरत्राता' यह लीला है—(२)। 'जासु नाम त्रयताप नसावन' यह नाम है—(३)। और 'परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस' यह धाम है। 'कोसलाधीस' से जनाया कि कोशलपुरी अयोध्या उनका धाम है। विभीषणजीने चारों समझाए, पूर्ण उपदेश किया। 'तात' से प्रारंभ करके 'तात' पर समाप्ति की--संदेशकी शिक्षा दिखाई।

माल्यवंत अति सचिव सयाना। तासु वचन सुनि अति सुख माना॥ १॥

तात अनुज तव नीति बिभूषन। सो उर धरहु जो कहत बिभीपन*॥ २॥

अर्थ—माल्यवन्त अत्यन्त चतुर एवं बुड्ढा मंत्री है। उसने विभीषणजीके वचन सुनकर अत्यन्त सुख माना। १। (और रावणसे बोला—) हे तात! तुम्हारा छोटा भाई नीति-विभूषण है, जो विभीषण कहते हैं, उसे हृदयमें धारण करो। २।

टिप्पणी—१ 'अति सयाना'=अति वृद्ध; यथा—'माल्यवंत अति जरठ निसाचर। ६.४७।' यह रावण- की माताका पिता है। रावणको इकहत्तर चतुर्युगसे अधिक काल राज्य करते हो गया। उसके न जाने कितने पूर्वका माल्यवान् है इसीसे उसका अत्यन्त वयोवृद्ध होना स्पष्ट है। वृद्धका भाव कि बहुत दिनोंका है, वह बहुत बातें जानता है। अथवा, 'सयाना'=नीतिमें निपुण, नीतिका ज्ञाता; यथा—'बोला वचन नीति अति पावन। ६.४७।'—(वाल्मीकिजीने इसे 'महाप्राज्ञ' और अध्यात्ममें 'बुद्धिमान्नीतिनिपुणो' और वृद्ध कहा है।—'ततःसमागमद् वृद्धो माल्यवान् राक्षसो महान्। बुद्धिमान्नीतिनिपुणो राज्ञोमातुः प्रियः पिता॥ ६।५। २५।'—ये सब भाव 'अति सचिव सयाना' के हैं। पंडित और शास्त्रतत्वज्ञभी कहा गया है।) (ख) 'अति सुख माना'; क्योंकि अति सयाना है। वा, मंत्रियोंके वचन सुनकर इसे अत्यन्त दुःख हुआ था, अब इनके वचन सुनकर अत्यन्त सुख हुआ। रावणके भयसे किसी और मंत्रीने यह नहीं कहा कि विभीषणने

* (१) पायकुलक, 'तात....' पंक अवली, 'सो....' १२११९वाँ भेद। (ब्र० चं०)।

अच्छी राय दी है। (ग) पूर्व जब रावणने हनुमान्‌जीके वधकी आज्ञा दी थी और विभीषणजीने आकर प्रार्थना की थी कि 'आन दंड कछु करिय गोसांई' तब 'सब ही कहा मंत्र भल भाई', पर यहाँ ऐसा न कहा। कारण कि वह मंत्र रावणके अनुकूल था, उसमें दंड देनेका निषेध नहीं था, केवल 'अन्य दंड'का मंत्र था। और, यहाँ विभीषणजी सीताजीको दे देनेकी राय देते हैं, जो उसके मनके प्रतिकूल है, इसीसे इसमें किसीने 'हाँ' न की। विभीषण राजाका भाई है, इसीसे सब चुप रहे, किसीने कुछ बुरा या भला न कहा।

२ 'तात अनुज तव नीति बिभूषन....' इति। (क) माल्यवान्‌ने विभीषणजीके वचनोंका अनुमोदन किया जिससे उनकी रायकी पुष्टि हुई। यदि सभी चुप रहते, कोई प्रशंसा या समर्थन न करता तो धर्मकी हानि थी। नीति है कि कोई उत्तम बात सुने तो अवश्य प्रशंसा करे, नहीं तो सुननेवाला दोषका भागी होता है। यह नीतिमें अति चतुर है, अतः इसने प्रशंसा की। (ख) 'नीति-विभूषण' अर्थात् इनके द्वारा नीति शोभा पा रही है; पुनः भाव कि विभीषण नीतिसे विशेष भूषित हैं। (ग) नीतिकी प्रशंसा करनेका भाव यह है कि विभीषणजीने केवल नीति कही है। बड़ेसे वैर करना नीतिविरुद्ध है, इसीसे रामजीकी बड़ाई दिखा-दिखाकर वैर छोड़नेको कहा है। (घ) 'तव अनुज'का भाव कि तुम्हारा छोटा भाई है और नीति कहता है, इसका मान रखो, यही बात आगे विभीषणजी स्वयं कहेंगे, यथा—'तात चरन गहि माँगउँ राखहु मोर दुलार'। ['अनुज' का भाव कि तुम्हारे पीछे-पीछे गमन करनेवाला है, अतः तुम्हारा विशेष कल्याण-कारक है और तुम्हारे कल्याणसे अपना कल्याण मानता है। (मा० त० सु०)। विभीषणजीने मानमदादिको छोड़कर भगवत्-शरणागतिका उपदेश दिया, इसीसे 'नीतिविभूषन' कहा, यथा—'नीतिनिपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना ॥....जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा ॥ ७.१२६ ।'; और माल्यवंतने इनका अनुमोदन किया है, इसीसे उसको 'अति सयाना' कहा गया। वाल्मी० ६। ३५ में माल्यवान्‌ने भी यही नीति कही है कि "शत्रु कैसा भी हो उसे तुच्छ न मानना चाहिए। प्रबल शत्रुसे सन्धि कर लेना चाहिए। चढ़ाई 'सीता' के लिये ही है। उनको दे देने मात्रसे सबका कल्याण है"। वही बात विभीषणने कही है। इसीसे उनको 'नीतिविभूषण' कहा।] (ङ) 'सो उर धरहु००' अर्थात् जो अन्य मंत्रियोंने कहा है उसे हृदयमें न धरो—'नीतिबिरोध न करिय प्रभु मंत्रिन्ह मति अतिथोरि। लं० ९।'; इनके वचन ग्रहण करो।

रिपु उतकर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ हइ कोऊ ॥ ३ ॥
माल्यवंत गृह गएउ बहोरी। कहइ बिभीषन पुनि कर जोरी ॥ ४ ॥

अर्थ—(रावण बिगड़ उठा और बोला—) दोनों शठ शत्रुकी बड़ाई कहते हैं। इन्हें दूर (क्यों) नहीं करते ? (अरे) यहाँ कोई है ?। ३। तब माल्यवंत (तो) अपने घर चला गया, विभीषण पुनः हाथ जोड़कर फिर कहने लगे। ४।

नोट—१ माल्यवान्‌का इस सभामें होना और विभीषणजीके वचनोंका समर्थन करना वाल्मीकीय, अध्यात्म, हनुमन्नाटक आदि कई ग्रंथोंमें नहीं पाया जाता। उसका रावणको समझाना युद्ध छिड़ जानेपर अथवा श्रीरामजीके लंकामें पहुँच जानेपर ही मिलता है। विभीषणजी इसके पूर्व ही श्रीरामजीकी शरणमें जा चुके थे।

२ 'रिपु उतकष कहत सठ दोऊ' इति। भाव यह है कि मैंने शत्रुओंको जीतकर जो अतुलित यश प्राप्त किया है, जिससे त्रैलोक्य मेरा सम्मान कर रहा है, वह मेरा सौभाग्य इन दोनोंको अच्छा नहीं लगता। मुखिया, कार्यसाधक, विद्वान् और महात्माका कुटुम्बवाले सदा अपमान ही किया करते हैं और उनमें जो शूरवीर होता है, उसका वे तिरस्कार करना चाहते हैं—इसीसे ये शत्रुका उत्कर्ष कहते हैं। यथा—'त्वं नेद-मिदं सौम्य यदहं लोकसत्कृतः। ऐश्वर्येणाभिजातश्च रिपूणां मूर्ध्न्यव-स्थितः। वाल्मी० ६. १६. १०।', 'प्रधानं साधकं वैद्यं धर्मशीलं च राक्षस। ज्ञातयो ह्यवमन्यन्ते शूरं परिभवन्ति च। ६।१६।४।'—यह रावणने विभीषणजीसे कहा

है। पुनः, वाल्मी० ६।३६ में जो रावणने माल्यवान्से कहा है कि "शत्रुका पक्ष लेकर तुमने कठोर वचन कहे। पंडित और शास्त्रतत्त्वज्ञ मंत्री प्रभावशाली राजाको उत्साहित करनेके सिवा ऐसी बातें नहीं कहते। मैं राक्षसराज देवताओंका भयदाता हूँ, पराक्रमी हूँ; तुम मुझे कैसे हीन समझते हो? रामको तुम सामर्थ्य-वान् कैसे समझते हो? पिताने उसे निकाल दिया है, वह वनवासी है और वानरोंके अधीन है? मुझे तुमपर संदेह हो रहा है। क्या तुम्हें मेरी वीरतासे द्वेष है, अथवा शत्रुके पक्षपाती हो?—'वीरद्वेषेण वा शंके पक्षपातेन वा रिपोः। वाल्मी० ६।३६।६।' तथा 'रामेण प्रेषितो नूनं भाषसे त्वमनर्गलम्। ६।५।३९।' जो अध्यात्ममें कहा वह सब भाव यहाँ 'रिपु....' में आ गए।

टिप्पणी—१ (क) 'रिपु उतकर्ष कहत सठ....' इति। अर्थात् ये दोनों शत्रुसे मिले हुए हैं, इसीसे उसका उत्कर्ष कहते हैं, अतः शठ हैं। शत्रुसे मिले हैं, सभामें बैठने योग्य नहीं हैं, अतएव यहाँसे निकाल दो। (ख) इस प्रकार विभीषणजीके सब बचनोंको उसने 'उत्कर्ष' कहकर जनाया कि यह सब झूठ है, सत्य नहीं है; यथा—'जिन्ह कै कीन्हेसि बहुत बड़ाई। देखौं मैं तिन्ह कै प्रभुताई। ५। २५।'

२ (क) 'इहाँ हइ कोऊ' का भाव कि जान पड़ता है कि यहाँ कोई है ही नहीं, जो ऐसी बातें सुन रहे हैं और बोलते नहीं; देखो तो जब हमारी प्रशंसा मंत्रियोंने की तब यह बुड्ढा न बोला और जब शत्रुकी बड़ाई सुनी तब प्रसन्न हो गया; अतएव ये दोनों 'शठ' हैं। (ख) शत्रुकी बड़ाई न सुननी चाहिए, उसका सुनना नीतिविरुद्ध है, अतः क्रोध किया, यथा—'आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे। ६।२८।' (यह रावणने अंगदजीसे कहा है)। [यथा—'रिपूणां प्रतिकूलानां युद्धार्थमभिवर्ततामम्। उभाभ्यां सदृशं नाम वक्तुमप्रस्तवे स्तवम्॥ वाल्मी० ६।२६।८।' शत्रुदलकी प्रशंसा करनेपर रावणने शुकसारणसे यह कहा है कि युद्धके लिये प्रस्तुत एवं अपने विरोधी शत्रुओंकी इस प्रकार अनवसर प्रशंसा करना क्या तुम दोनोंको उचित था?]

नोट—३ 'दूर न करहु' का भाव कि जैसे इसके वचन सुनकर माल्यवान् इसका पक्षपाती हो गया वैसे ही और भी कोई न हो जावें। 'इहाँ हइ कोऊ' अर्थात् क्या सभी इसके मतके अनुयायी तो नहीं हो गए जो कोई बोलता भी नहीं? क्या सभी इसके पक्षके हो गए? (मा० त० सु०)।

इसमें भाव यह है कि कोई शत्रु या विषैले सर्पके साथ भले ही रह ले किन्तु शत्रुके पक्षपाती मित्र-रूपी शत्रुके साथ कभी न रहे।....स्वार्थपरायण एवं भयंकर अपने जातिवालोंसे डरना चाहिये। सब भयोंसे बढ़कर भाई-बिरादरीवालोंका भय कष्टदायक है, क्योंकि ये ही शत्रुको पराजयका उपाय बताते हैं। यथा—'वसेत्सह सपत्नेन क्रुद्धेनाशीविषेण वा। नतु मित्रप्रवादेन संवसेच्छत्रुमेविना॥ २॥ नाग्निर्नान्यानि शस्त्राणि न नः पाशा भयावहाः। घोराः स्वार्थप्रयुक्तास्तु ज्ञातयो नो भयावहाः॥ उपायमेते वक्ष्यन्ति ग्रहणे नात्र संशयः। कृत्स्नाद्भयाज्ज्ञातिभयं सुकष्टं विदितं च नः। वाल्मी० ६। १६। ७,८।'—(यह रावणने विभीषणजीसे कहा है। इसमें हाथीकी कही हुई नीति भी कही है। यह सब भाव 'दूर न करहु इहाँ हइ कोऊ' कहकर जना दिये गए हैं)। पुनः भाव कि विभीषण भाई हैं और माल्यवान् वृद्ध है एवं नाना है; इसलिये उनके वधकी आज्ञा नहीं दी, केवल नेत्रोंके सामनेसे हटानेको कहा। यथा—'हन्यामहं त्विमौ पापौ शत्रुपक्षप्रशंसकौ। वाल्मी० ६।२६।१३।' (रावण-वाक्य शुकसारणप्रति)। 'गच्छ वृद्धोऽसि बन्धुस्त्वं सोढं सर्वं त्वयोदितम्॥ अध्यात्म ६।५।३६।' अर्थात् शत्रुपक्षकी प्रशंसा करनेवाले तुम दोनोंको मैं अवश्य मार डालता। १३। जाओ, तुम बुड्ढे हो और मेरे सगे संबंधी हो, इससे मैंने सह लिया। ३६। अब तुम मेरे सामनेसे हट जाओ—'अपध्वंसत गच्छध्वं सन्निकर्षादितो मम।....वाल्मी० ६। २९। १४।' शत्रुके पक्षपातकी सजा प्राणदण्ड है।

टिप्पणी—३ 'माल्यवंत गृह गएउ बहोरी....'। (क) माल्यवान् बड़ा सयाना है, आपही उठकर चल दिया। क्योंकि दूसरा कोई पकड़कर उठा देता, तो बड़ा अपमान होता। (ख) विभीषण संत हैं। इनको मान, अपमान, क्रोध आदि कुछ भी नहीं हैं। रावणके हितपर ही इनको दृष्टि है; इसीसे वे पुनः हाथ जोड़कर कहते हैं, यथा—'अति दयाल गुर स्वल्प न क्रोधा। पुनि पुनि मोहि सिखाव सुबोधा'—(उ० १०६)। [हितैषी भाईका

यही कर्त्तव्य है कि वह सदैव हितकी बात कहे। बन्धुभाव और भ्रातृस्नेहसे प्रेरित हो वे बारंबार कह रहे हैं। यथा—'अवश्यं तु हितं वाच्यं सर्वावस्थं मया तव ॥ बन्धुभावादभिहितं भ्रातृस्नेहाच्च पार्थिव। वाल्मी० ६।६३।३२-३३।'—(कुम्भकर्ण वाक्य रावणप्रति)।] (ग) 'गएउ बहोरी' का भाव कि जब मंत्रियोंने कुमंत्र दिया था तब उसे अच्छा न लगा था, वह उठकर चला गया था, परन्तु जब विभीषणजी आए तब वह फिर आया था कि ये अच्छी राय देंगे, उसे सुनकर मैंभी समर्थन करूँगा। अतः अब उसका फिर जाना कहा। (घ) 'पुनि कर जोरी' से जनाया कि प्रथम जब बोले थे तबभी हाथ जोड़े थे। (अथवा, 'पुनि' 'कहइ'—का क्रिया-विशेषण है)।

वि. त्रि.—'माल्यवंत....कर जोरी' इति। तत्पश्चात् माल्यवान् घर चले गये। 'बहोरी' शब्द 'तत्पश्चात्' के अर्थमें भी आता है, यथा—'प्रनवौं पुर नर नारि बहोरी', 'बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम। प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम।' इत्यादि। माल्यवान् जानते थे कि यदि मैंने जानेमें देर की, तो निश्चय ही निकाल दिया जाऊँगा। अतः अप्रतिष्ठाके डरसे उठके चले गये। विभीषणको सम्बन्ध-प्रागल्भ्य था, समझते थे कि दूसरे किसीकी मजाल नहीं है जो मुझे निकाले, और साथ ही साथ यह बातभी थी कि कुलके सर्वनाशका प्रश्न उपस्थित था, विभीषणजी तुल गये थे कि चाहे जो हो, आज मैं कहनेमें कसर न करूँगा। आज ही तो सीताहरण-विषयकी राय पूछी जा रही है, आज ही भविष्यत् कार्यक्रम निर्णय होने जा रहा है, आज न कहूँगा, तो फिर कब कहूँगा! युद्ध आरम्भ हो जानेपर तो फिर समझाने-बुझानेका अवसर न रह जायगा। अतः रावणके क्रोधका खयाल न करके विभीषणजी फिर हाथ जोड़कर बोले।

प. प. प्र.—विभीषणजी नहीं गए और न किसीने उनको निकाला। रावणकी आँखोंके सामने सभी सभाने उसकी आज्ञाका भंग किया, ऐसा क्यों? कारण कि सभी लोग त्रिजटाके स्वप्न और उसकी सत्यता 'बानर लंका जारी' देखकर समझ गए हैं कि 'लंका बिभीषन पाई'; अतएव उनसे विरोध करनेका साहस स्वार्थी सभासदोंसे कैसे हो सकता? [यह भी इससे जान पड़ता है कि भीतर-भीतर सब विभीषणजी से सहमत थे। और फिर यह रावणका दुलरवा भाई ही तो था]।

सुमति कुमति सब के उर रहहीं। नाथ पुरान निगम अस कहहीं† ॥ ५ ॥
जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥ ६ ॥
तव उर कुमति बसी बिपरीता। हित अनहित मानहु रिपु प्रीता ॥ ७ ॥
काल-राति निसिचर-कुल केरी। तेहि सीतापर प्रीति घनेरी ॥ ८ ॥

अर्थ—हे नाथ! वेद पुराण ऐसा कहते हैं कि—सुमति और कुमति सबके हृदयमें रहती हैं। ५। जहाँ सुमति है वहाँ अनेक प्रकारकी सम्पत्ति रहती है और जहाँ कुमति है वहाँ अंतमें विपत्ति ही है (वा, विपत्ति है और नाश)। ६। तुम्हारे हृदयमें विपरीत कुमति बसी है (इसीसे तुम) उलटा मानते हो—हितको अनहित और शत्रुको मित्र मानते हो। ७। जो राक्षसकुलकी कालरात्रि है उस सीतापर तुम्हें घनी (बहुत) प्रीति है। ८।

टिप्पणी—१ 'सुमति कुमति सबके उर रहहीं' इति। (क) इस कथनसे पाया गया कि रावणने विभीषण और माल्यवान दोनोंको 'कुमति' कहा। इसीपर विभीषणजी कहते हैं कि किसीके कहनेमात्रसे कुमति या सुमति नहीं होती। उनका तो चिह्न यह है कि जहाँ सुमति है वहाँ नाना संपत्ति है और जहाँ कुमति है वहाँ विपत्ति ह। 'उर रहहीं' अर्थात् प्रगट नहीं देख पड़तीं। भीतरही छिपी रहती हैं। 'उर रहहीं' यथा—'सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। १। ३६। १।'

२ 'बिपति निदाना'=विपत्ति और नाश। यथा—'काहे करसि निदानु' (अ० ३६), 'देहि अगिनि

† प्र० चं०—रहई, कहई। 'तव' चण्डी, शेष सब पाथकुलक।

तन करहिं निदाना'। (५। १२)। आगे क्रमसे पहले विपत्ति, फिर नाश कह रहे हैं—'तव उर कुमति बसी बिपरीता....।' इससे निश्चय है कि विपत्ति पड़ेगी। और 'काल राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीतापर प्रीति घनेरी।' जो आगे कहा है, उससे निश्चय कराते हैं कि नाश होगा। प्रथम कुमति होती है तब नाश, अतएव यहाँ प्रथम कुमति कहकर तब नाश कहा।

नोट—१ 'जहाँ सुमति तहँ संपति....' इति। सबके संपत्ति और आपत्तिके ये ही दो कारण हैं। यथा—'सर्वस्य द्वे सुमति कुमती संपदापत्ति हेतू।' (भो. प्र.। सुभाषित रत्नाकरे समस्या पूरणे १६)। सुमतिसे संपत्ति बढ़ती है। यथा 'सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। विषय आस दुर्बलता गई। बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई। ७। १२२। १०, ११।' यह दैवी संपत्ति बढ़ती है और लौकिक संपत्ति इससे अचल होकर रहती है। कुमतिसे विपत्ति होती है। यथा—'काई कुमति केकई केरी। परी जासु फल बिपति घनेरी। १। ४१। ८।', 'बिपति बीज बरषारितु चेरी। भुइँ भइ कुमति कैकई केरी। २। २३। ५।'

वि. त्रि.—'तव उर कुमति....' इति। सात्विकी बुद्धि ही सुमति है, राजसी बुद्धि कुमति है। कुमति में धर्म अधर्म तथा कार्याकार्यका यथावत् ज्ञान नहीं होता, यथा—'यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च। अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी। गीता १८। ३१।' और तामसी बुद्धि विपरीता कुमति है। जो तमोगुणसे ढकी हुई बुद्धि अधर्मको ही धर्म मानती है, सब अर्थकोही उलटा देखती है, वह बुद्धि तामसी है। यथा 'अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी। गीता १८। ३२।'

नोट—२ वाल्मी० में भी विभीषणजीने सभामें कहा है कि हमारे राजा ही कुबुद्धिके वश हुए हैं और तुम लोग इनके मित्र रूप अमित्र हो। यथा—'अयं हि राजा व्यसनाभिभूतो मित्रैरमित्रप्रतिमैर्भवद्भिः।६।१४।१७।'

टिप्पणी—३ 'तव उर कुमति बसी ०' इति। 'तव उर' का भाव कि सबके उरमें दोनोंका वास है, पर तुम्हारे हृदयमें 'कुमति' बसी है जिसका चिह्न है कि तुम 'हित अनहित मानहु....'। हमने हित कहा सो हमें शत्रु मानते हो और जो अनहित कहते हैं वे वस्तुतः शत्रु हैं पर उन्हें प्रिय मानते हो।—[वंदनपाठकजी,—पुलस्त्यजी पितामह हैं, माल्यवन्त नाना है और मैं भाई हूँ, सो हम तीनों हित हैं उनको अहित मानते हो। और मंत्री ठकुरसोहाती कहते हैं वे अहित हैं, पुनः, सीता रिपु हैं। तुम इन दोनोंपर प्रीति करते हो।] इसका तात्पर्य यह है कि औरोंकी कुमतिसे विपत्ति होती है पर तुम्हारी कुमतिसे तुम्हारे कुलभरका नाश होगा। 'विपरीता मानहु', यथा—'हितपर बढ़ै बिरोध जब अनहितपर अनुराग। रामबिमुख बिधि बामगति सगुन अघाइ अभाग'—(दोहावली ४२०), 'काल दंड गहि काहु न मारा। हरै धर्म बल बुद्धि बिचारा॥' [☞ रावणकी बुद्धिकी विपरीतता दिखाकर आगे उसके आचरणकी विपरीतता दिखाते हैं। (मा० त० सु०)]

४ 'काल राति०' का भाव कि सब रातें निशाचरोंको सुखदायी हैं पर कालरात्रि सुखदायी नहीं होती, उसमें तो नाशही होता है। वैसेही सब स्त्रियाँ तुमको सुखदायी हुईं पर सीता तुमको नाश करनेवाली हैं। यथा—'तजि जानकी कुसल गृह जाहू। नाहित अस होइहि बहु-बाहू।....होइहि सकल सलभ कुल तोरा', 'तव कुलकमलबिपिन दुखदाई। सीता सीतनिसा सम आई। ३६। ६।' (अंतमें मंदोदरीके वचनोंमें इसका चरितार्थ है, यथा—'रामबिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनिहारा। ६। १०३।')

नोट—३ (क) ऐसाही वाल्मी० सुं० ५१ में हनुमान्‌जीका वाक्य रावण प्रति है, यथा—'यां सीतेत्यभिजानासि येयं तिष्ठिति ते गृहे। कालरात्रीति तां विद्धि सर्वलंकाविनाशिनीम्। ३४।' अर्थात् तेरे घरमें जो सीता हैं इन्हें तू सम्पूर्ण लंकाको विनाश करनेवाली कालरात्रि समझ। (ख) कालरात्रिके अर्थ और भाव अ० ८३ (५) 'मानहुँ कालराति अँधियारी' में देखिए। (ग) 'सीता' वह रात्रि है जिसमें काल प्राणोंको मारने आता है। रात प्रथम आती है तब काल आता है, वैसेही सीताजी प्रथम आ गईं, पीछे काल आ रहा है। श्रीरामजी कालरूप हैं, यथा—'काल रूप तिन्ह कर मैं भ्राता'। भुवनेश्वर कालहु कर काला'। (शीला)

प्र०—निशिचर हु, अतः इन्हें निशि रूपसे आई हैं जिसमें वे प्रीति करें।

दो०—तात चरन गहि माँगौं राखहु मोर दुलार।
सीता देहु राम कहुं अहित न होइ तुम्हार॥ ४०॥

बुध पुरान श्रुति संमत बानी। कही बिभीषन नीति बखानी॥ १॥*

अर्थ—हे तात! मैं आपके चरण पकड़कर माँगता हूँ कि मेरा दुलार (लाड़ प्यार) रखिए। श्रीरामचन्द्रजीको सीता दे दीजिए, आपका अहित न होगा। ४०। विभीषणजीने बुध (पंडित)-पुराण-वेद-सम्मत वचनसे नीति बखानकर कही। १।

नोट—१ 'चरन गहि' का भाव कि यद्यपि आप मुझे दूर करनेको चाहते हैं तथापि मैं तो आपके चरणोंके आश्रित हूँ, आप बड़े भाई होनेसे पिताके समान हैं; यही आगे कहा है—'तुम्ह पितु सरिस....'। 'मांगौं' वात्सल्य भावसे कहा। जैसे बच्चा मचलकर पैर पकड़ता है।

वे० भू०—विभीषणको रावण मानता था—दुलार करता था, जिसका विभीषणको गर्व था। तभी तो कहते हैं—'राखहु मोर दुलार।' रावणके दुलार करनेका बहुत बड़ा कारण था। वह यह कि रावण तो अधिकतर—'रन मद मत्त फिरै जग धावा।' तथा कुम्भकर्ण छः महीनेसे पूर्व जग ही नहीं सकता था, जागता भी था तो कुछ देरके लिये ही और मेघनादके लिये तो भरी सभामें ही विभीषणजीने कहा था—'न तात मंत्रे तव निश्चयोऽस्ति बालस्त्वमद्याप्यविपक्वबुद्धिः। (वाल्मी० ६।१५।९)।', अर्थात् बेटा! अभी तुम कच्ची बुद्धिवाले बच्चे हो; अभी राजमन्त्रणामें तुम्हारा कोई मूल्य नहीं। यही हाल रावणके सभी बेटे-पोतोंका कहा जा सकता है। अर्थात् उन नवजवानोंको खेलने-खाने लड़ने-भिड़नेमात्रसे काम था। ऐसी दशामें रावणकी अनुपस्थितिमें लंकाका राज्य विभीषणके ही निरीक्षणमें चलता था। तभी तो रावणने कहा था—'करत राज लंका सठ त्यागी।'

टिप्पणी-१ (क) 'राखहु मोर दुलार' इति। पुलस्त्यजीने अपनी ओरसे सीताजीको देने और भजन करनेको कहा। ☞विभीषणजीने उनका वह संदेश आकर कहा। इसीसे रावणने सभासे निकाल देनेका हुक्म दिया। अतएव विभीषणजी अब अपना दुलार रखनेका वर माँगते हैं और भजन करनेको नहीं कहते। श्री-सीताजीको देनेके लिए चरण नहीं पकड़ते वरन् दुलार रखनेके लिए। यह दुलार रखना कठिन है; इसीसे पैर पकड़कर माँगते हैं। भाव यह कि सीताको अपनी ओरसे न दो वरन् हमारा दुलार रखनेके विचारसे दो। ['दुलार' = प्रसन्न करनेकी वह चेष्टा जो प्रेमके कारण लोग बच्चों या प्रेमपात्रोंके साथ करते हैं। लाड़-प्यार। भाव कि मैं छोटा भाई हूँ, पुत्रके समान हूँ। जैसे वात्सल्यके कारण माता-पिता पुत्रका स्नेह नहीं तोड़ते, जो वह माँगता है देकर प्रसन्न रखते हैं। इसी तरह मेरा स्नेह रखिए, जो मैं माँगता हूँ वही दीजिए। 'तात' पद भी यहाँ स्नेह-सूचक है।] (ख) इस प्रसंगमें दिखाया कि महात्मा लोग हाथ जोड़कर पाँव पकड़कर अहितसे बचाते हैं।

मा० त० सु०—'अहित न होइ' का भाव कि सीताजीको लौटा देनेसे यदि त्रिदेव भी तुमसे रुष्ट होंगे तो भी कुछ बुराई न होगी, क्योंकि 'सीम कि चापि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू।'

टिप्पणी—२ विभीषणजीने आदिसे अंततक अपनी साधुता निबाही। आदर, अनादर एवम् चरण-प्रहारसे भी वे विकारको न प्राप्त हुए—तीनों अवस्थाओंमें उसके चरण पकड़े और एकरस रहकर हितकी कहते रहे।

आदरमें	{ अवसर जानि बिभीषन आवा। भ्राता चरन सीस तेहि नावा॥	जौं कृपाल मोहि पूछिहु ताता। मति अनुरूप कहौं हित ताता॥
अनादरमें	{ तात चरन गहि माँगौं राखहु मोर दुलार ४०।	'दूर न करहु इहाँ है कोऊ' अनादर है, तो भी—'सीता देहु अहित न होइ' यहाँ कहा।

* प्र० चं०—दो० ४० दोहरा है। 'बुध०' द्रुतपा, 'कही०' और चौ० (२) पायकुलक।

मारनेपर { अस कहि कीन्हेसि चरनप्रहारा। तुम्ह पितु सरिस भले मोहि मारा।
अनुज गहे पद बारहिं बारा॥ राम भजें हित होइ तुम्हारा॥

नोट—२ 'सीता देहु....', यथा—'धनानि रत्नानि विभूषणानि वासांसि दिव्यानि मणींश्च चित्रान्। सीतां च रामाय निवेद्य देवीं वसेम राजन्निह वीतशोकाः। ६। १५। १४।' अर्थात् धन, रत्न, वस्त्र, उत्तम भूषण और दिव्य मणियों सहित तुम सीताको दे डालो। ऐसा होनेसे स्वच्छन्द शोकरहित होकर लंकापुरीमें बसे रहो। (ये वाक्य अंतिम बारकी सभामें कहे हैं)।

टिप्पणी—३ बुध पुराण श्रुति संमत, यथा—'नाथ पुरान निगम अस कहहीं'। बृहस्पति, शुक्र, याज्ञवल्क्य आदिकी नीतिसे मिली हुई है। (क) प्रथम जब वचन कहे थे तब माल्यवान्‌ने प्रशंसा की थी, अब यहाँ कोई प्रशंसा करनेवाला नहीं है और वाणी प्रशंसा योग्य है; इसलिए वक्ता लोग स्वयं ही प्रशंसा करने लगे। (ख) रावण वेदविरुद्ध चलता है और विभीषणजी वेद-संमत कहते हैं, इसीसे उसे नीति अच्छी न लगी जैसा आगे उसके वचनोंसे स्पष्ट है—'मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती'। वेद-पुराण-कथनसे वह क्रुद्ध होता है, यथा—'तेहि बहु विधि त्रासै देस निकासै जो कह वेद पुराना।' तथा यहाँ इनको मारनेको उठा, मारा और देशसे निकाल दिया।

नोट—३ 'बुध पुरान श्रुति संमत' सभी वाणी है, फिर भी इस प्रकार विभाग भी किया जाता है—'अवसर जानि विभीषन आवा'से 'मति अनुरूप कहउँ हित' तक बुधसंमत है क्योंकि अवसर जानकर काम करना और पूछनेपर बोलना. यह पंडितोंकी रीति है। 'जो आपन चाहै कल्याना'से 'भजहु भजहिं जेति संत।' तक पुराणसंमत है, क्योंकि इन विषयोंको विशेपतासे पुराणोंने ही प्रतिपादित किया है। 'तात राम नहिं नर भूपाला'से 'सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन' तक श्रुतिसंमत है, क्योंकि परमात्माके प्रतिपादनमें श्रुति ही प्रधान है और 'सुमति कुमति सबके उर रहहीं' से 'सीता देहु राम कहँ' तक बुध, पुराण. श्रुति तीनोंकी संमत वाणी एकत्रही दिखाई। यहाँ 'बानी'का संबंध बुध, पुराण, श्रुति और नीति चारों पदोंके साथ है। (मा.ता.सु.)।

२ वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि विभीषणजी इस प्रकारसे शुभदायक हितकारी वचन कहकर चुप हो रहे। ये वचन न्याययुक्त, महाअर्थसमन्वित, हेतुगर्भ, वर्तमान व भविष्यकालमें शुभकारी थे। यथा 'रावणं रक्षस श्रेष्ठं पथ्यमेतद्विभीषणः। २६। हितं महार्थं मृदु हेतुसंहितं व्यतीत कालायति संप्रतिक्षमम्।....।६।१०।२७।'

सुनत दसानन उठा रिसाई। खल तोहि निकट मृत्यु अब आई॥ २॥
जियसि सदा सठ मोर जिआवा। रिपु कर पच्छ मूढ़ तोहि भावा॥ ३॥

अर्थ—उसे सुनकर रावण क्रुद्ध हो उठा (और बोला—) अरे दुष्ट! अब मृत्यु तेरे निकट आ गई। २। अरे शठ! तू सदासे मेरे जिलाये जीता रहा है (अर्थात् मेरे ही कारण तेरा जीवन वहन हो रहा है, मैंने ही बचपनसे तुझे पाला पोसा)। पर, अरे मूढ़! तुझे शत्रुका ही पक्ष भाता है। अर्थात् तू नमकहराम ही बना रहा। ३।

नोट—१ 'दसानन उठा रिसाई'। हनुमन्नाटकमें रावणका वचन है कि मैं दसमुखवाला हूँ, इससे मैं सीताको न दूँगा। अर्थात् दसमुखवाला होकर एकमुखवालेको सीता कैसे दे सकता है? यही भाव यहाँ 'दसानन....' का है। ऐसा कहकर उसने लात मारी। यथा—'दशास्यस्तथापि सीतां न समर्पयामि॥ ११॥ इति वाम चरणेन विभीषणं ताडयामास।' (अंक ७)।

टिप्पणी—१ 'दसानन उठा रिसाई।....' इति। (क) जब रावणने आज्ञा दी कि इनको यहाँसे निकाल दो—'दूरि न करहु इहाँ है कोऊ। ४०।३।', और कोई न उठा तब यह जानकर कि इन्हें निकालनेको कोई न उठेगा, वह स्वयं मारकर निकालनेको उठा। (ख)—सुनते ही क्रुद्ध हुआ। वक्ता लोग कहते हैं कि जो वाणी बुध-वेद-पुराण-सम्मत और नीति है और जिसे सुनकर भले लोग सुख मानते हैं—जैसे माल्यवान्‌ने सुख माना

था, उसीको सुनकर रावणको क्रोध हो आया क्योंकि वह कालके वश है (यद्यपि वह उलटाही समझता है और विभीषणको कालवश कहता है)। यथा—'हित मत तोहि न लागत कैसे। काल विवस कहुँ भेषज जैसे ।६।१०५।' (ऐसाही अध्यात्म रामायणमें कहा है, यथा—'शुभं हितं पवित्रं च विभीषणवचः खलः। प्रतिजग्राह नैवासौ म्रियमाण इवौषधम्॥ ६।२।२।' यहाँ 'पंचम विभावना अलंकार' है)। (ग) 'खल तोहि निकट मृत्यु अब आई' इति। जो विभीषणजीने कहा था कि 'तव उर कुमति बसी विपरीता' वह यहाँ प्रत्यक्ष देख पड़ रहा है क्योंकि स्वयं कालवश है और विभीषणको कालवश कहता है। अथवा, (घ) क्रोध हुआ; क्योंकि वह उसका स्वभाव है कि जो भी सीताजीके देनेकी बात कहता है उसीपर वह क्रोध करता और उसीको मारता है या मारनेको कहता है। यथा—'जब तेहि कहा देन बैदेही। चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही। ५७। ८।' (शुकको), 'परिहरि बैर देहु बैदेही।....ताके बचन बान सम लागे। करिया मुख करि जाहि अभागे॥ बूढ़ भएसि न त मरतेउँ तोही॥ ६। ४८।' (माल्यवान्‌को) तथा यहाँ विभीषणजीके कहनेपर कि 'सीता देहु राम कहँ....' इनपर क्रोध हुआ और इनको मारा—'अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा'।

नोट—२ श्रीहनुमान्‌जीसे भी उसने ऐसा ही कहा था ('मृत्यु निकट आई खल तोही। २४। ३।') जैसा विभीषणजीसे ('खल तोहि निकट मृत्यु अब आई')। दोनोंमें 'खल, मृत्यु, निकट, आई और तोही (तोहि)' शब्द हैं। केवल 'अब' शब्द पूर्व सम्बन्धके कारण अधिक है जिसका इस मिलानमें होना न होना बराबर है। दोनोंके लिये एकसे शब्दोंका प्रयोग हुआ; क्योंकि दोनोंने रिपुका उत्कर्ष कहकर वैर छोड़ने, प्रभुकी शरण जाने, श्रीसीताजीको देनेको कहा था। श्रीहनुमान्‌जीके 'तासों बयरु कबहुँ नहिं कीजै', 'मोरे कहे', 'जानकी दीजै', 'गए सरन प्रभु राखिहहिं तव अपराध बिसारि', 'लंका अचल राज तुम्ह करहू' इत्यादिकी जोड़में क्रमशः विभीषणजीके 'ताहि बयरु तजि नाइअ माथा', 'राखहु मोर दुलार', 'सीता देहु राम कहँ' (एवं 'देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही'), 'सरन गएँ प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा।', 'अहित न होइ तुम्हार' इत्यादि वाक्य हैं। ☞ इस मिलानसे यह भी सिद्ध होता है कि श्रीहनुमान्‌जीके मिलनका कितना प्रभाव भक्त विभीषणपर पड़ा। भगवान् श्रीरामके स्वरूपका वर्णन विस्तृत होनेसे हमने नहीं दिया। प्रेमी पाठक स्वयं मिला लें।

३ 'अब' का भाव कि अभी तक छोटा भाई जानकर तरह देता रहा। एक बार कहनेपर छोड़ दिया, अब नहीं सह सकता, अतः मारूंगा।

४ मंदोदरीसे कभी 'सीताजीके देनेकी बात' कहनेपर रुष्ट न हुआ, कारण कि ऐसा करता तो संभव था कि घर ही में बाप बेटोंहीमें फूट हो जाती। इस संबंधमें पूर्व भी लिखा जा चुका है।

टिप्पणी—२ प्रथम जब कहा था कि 'देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही। भजहु राम बिनु हेतु सनेही॥' तब चरण प्रहार न किया था, क्योंकि उन्होंने कहा था कि यह पुलस्त्यजीका संदेश है, इससे तब मारा न था; फिर भी उनके निकाले जानेकी आज्ञा दे दी थी। और, अब जो कहा कि 'सीता देहु....' यह विभीषणजीने अपनी ओरसे कहा; अतः मारा कि एक बार मना भी कर दिया तबभी तूने नहीं माना।

३ 'जियसि सदा सठ मोर जियावा।....' इति। (क) तात्पर्य कि मेरे जिलानेसे जीता है, मेरे मारनेसे मरेगा, तब उचित था कि मुझसे वैर न करता, यथा—'तासों तात बयरु नहिं कीजै। मारें मरिय जियाएँ जीजै। ३। २५। ४।' (मारीचवाक्य)। पर तुझे मेरे शत्रुका ही पक्ष सदा भाता है, अतएव तू मूढ़ है। मेरा शत्रु बनना चाहता है, अतः निश्चय है कि तेरा मरण निकट है। (ख) सदा मेरे जिलानेसे तेरा जीवन है, यह भी 'कुमति बसी बिपरीता' का उदाहरण है। वस्तुतः विभीषणजीकी बदौलत उसका जीवन है, यथा—'अस कहि चला बिभीषन जबहीं। आयूहीन भये सब तबहीं ।४२।१।' 'सठ, मूढ़, खल' आप है और कहता है विभीषणको।

प्र०—'जियसि मोर जियावा' का भाव कि तेरा आचरण निशिचरकुलके विपरीत होनेसे अबतक तुझे निशिचरोंने मार डाला होता, मेरे डरसे कोई तुझसे न बोला।

मा० त० सु०—मूढ़का भाव कि इतनेपरभी तू शत्रुका पक्ष ग्रहण किये है, कर्त्तव्यविचारशून्य होनेसे तू मूढ़ है।

नोट—५ मिलान कीजिये अ० रा० के 'कालेन नोदितो दैत्यो विभीषणमथाब्रवीत्। मद्दत्तभोगैः पुष्टाङ्गो मत्समीपे वसन्नपि ॥२८॥ प्रतीपमाचरत्येष ममैव हितकारिणः। मित्रभावेन शत्रुर्मे जातो नास्त्यत्र संशयः ॥२९॥ (लं० स० २)' इन श्लोकोंसे। अर्थात् कालकी प्रेरणासे वह दैत्य विभीषणजीसे बोला कि मेरे ही दिए हुए भोगोंसे तेरा शरीर पला और पुष्ट हुआ, तू मेरे समीप बैठता है, पर मुझ अपने हितकारीके प्रतिकूल ही सदा तेरा आचरण रहता है। इसमें संदेह नहीं कि तू मित्रभाव द्वारा मेरा शत्रु उत्पन्न हुआ है।

६ वाल्मी० रा० में रावणने जो कहा है कि 'जातिवालों और उनमें विशेषकर प्रधान पंचगण विद्वान्, धार्मिक और वीर पुरुषोंका निरादर करते और उनको परास्त करनेके लिये सदाही छिद्र ढूँढ़ा करते हैं और विपत्ति आनेपर वे हर्षित होते हैं। ऐसे स्वार्थपरायण लोगोंसे अत्यंत भय रहता है। हमने जो अतुलनीय ऐश्वर्य प्राप्त किया है उससे त्रिलोकी हमारा आदर करता है, किन्तु हमारा यह सौभाग्यही तुम्हारे असन्तोषका कारण हुआ है। दुर्जनसे मित्रता निष्फल जाती है, वह अपना कार्य सिद्ध कर लेनेपर स्वयं ही पहलेवाले स्नेहको भूलकर मित्रताका नाश करता है। वैसा ही तू है। तेरे जीवनको धिक्कार है। तू हमारा सगा भाई होनेके कारण अबतक जीता है।' इत्यादि सब भाव 'जियसि सदा....भावा' इन शब्दोंसे व्यक्त किया गया है। वाल्मी० ६। १६। १-१६।'

कहसि न खल अस को जग माहीं। भुज बल जाहि† जिता मैं नाही ॥ ४ ॥
मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती ॥ ५ ॥
अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहि बारा ॥ ६ ॥

अर्थ—अरे खल! कहता क्यों नहीं? संसारमें ऐसा कौन है जिसे मैंने अपनी भुजाओंके बलसे जीता न हो?। ४। मेरे नगरमें रहकर तपस्वियोंसे प्रीति रखता है (तो) अरे शठ! उनसेही जाकर मिल और उन्हींसे नीति कह। ५। ऐसा कहकर चरणका प्रहार (आघात, मार) किया अर्थात् लात मारी। छोटे भाई विभीषणने बारंबार चरण पकड़े। ६।

टिप्पणी—१ 'कहसि न खल....' इति। (क) तू मूढ़ है; क्योंकि मेरे पराक्रमको नहीं समझता, निर्बल शत्रुको बलवान् समझता है। (ख) 'कहसि न' का भाव कि शत्रुका बल कहता है और मेरा बल क्यों नहीं कहता? अतः तू खल है। नहीं तो क्यों न कहता कि मैंने किसे नहीं जीता—'ब्रह्मसृष्टि जह लगि तनुधारी। दसमुख बसवर्ती नरनारी। १। १८२। १२।' (ग) 'भुजबल' अर्थात् अपने निज पुरुषार्थसे सेनाके बलसे नहीं, यथा—'बरुन कुबेर पवन जम काला। भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला। ६। ८।', 'भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न स्वतन्त्र। १। १८२।'

२ 'मम पुर बसि....' इति। (क) अर्थात् तू छलिया है। मेरे राज्यमें सुख करता मौज उड़ाता है और प्रीति तपस्वियोंपर करता है कि जहाँ कुछ सुख नहीं है। तो अवश्य तू आगे छल करेगा। तू शठ है, राज्यसुख भोग करने योग्य नहीं है, अतः तू तपस्वियोंसे जाकर मिल। वे नीति नहीं जानते, उन्हें जाकर नीति सिखा, हम तो सब नीति जानते हैं। (ख) 'कही बिभीषन नीति बखानी' इसीकी जोड़में रावणका यह वचन है कि 'सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती'।

रा० प०—सारी लंका जली पर विभीषणका घर न जला, यह बात हृदयमें लाकर रावण क्रोधित होकर कह रहा है कि तेरी तपस्वियोंसें प्रीति है, मेल न होता तो तेरा घरभी क्यों न जलता?

† जेहि जीता मैं—ना० प्र०।

वि० त्रि०—'ममपुर बसि....नीती।....गहे पद बारहिंबारा।' इति। तू राजद्रोही है, बसता है मेरे पुरमें, और प्रीति तेरी तपस्वियोंपर है। 'राखहु मोर दुलार' कहकर उन्हींका हित चाह रहा है। मेरे पुरमें जो बसे उसे तपस्वियोंसे वैर रखना चाहिये, यथा—'निसिचर निकर सकल मुनि खाये।' जिसे तपस्वियोंसे प्रेम करना है, वह मेरा पुर छोड़ दे। यह तो सामान्य नियम है। यहाँ तो जिन तपस्वियोंपर तेरा प्रेम है, उनसे मेरी विशेष रूपसे शत्रुता है। शत्रुवर्गीका पुरमें रहना ठीक नहीं। अतः निकल जा मेरे पुरसे। यदि कहो कि मैं तो नीति कह रहा हूँ, तो रावण कहते हैं कि मुझे तेरी नीतिकी आवश्यकता नहीं। तेरी ही नीतिसे मेरी लंका जली। अतः तू यहाँसे भाग जल्दी, और अपने प्रेमी तपस्वियोंसे जाकर मिल जा, और उन्हींको अपनी सत्यानाशी नीति बतला, जिसमें उनका सत्यानाश हो जाय।

रावणने देखा कि यह जाता नहीं है, और इसे निकालनेका साहस दूसरेको नहीं। अतः मैं इसे स्वयं मारूँगा, विना लात खाये यह न जायगा। अतः लात मारकर निकाला। रावनकी लात विभीषण ही सह सकते हैं। विभीषणजी साधु हैं, अतः उन्होंने बारबार चरणोंको प्रणाम किया। यह प्रणाम लंका छोड़नेका, अर्थात् विदाईका है।

वि० त्रि०—रावणके कहनेका भाव यह है कि 'तू मेरे पुरमें बसता है, मेरी प्रजा है, जैसे सब प्रजा वैसे ही तुम। प्रजाको राजाके अनुसार चलना चाहिये, हमारी सब प्रजा तपस्वियोंको खानेवाली है, यथा—'निसिचर निकर सकल मुनि खाये।' पर तेरा विचार ही स्वतन्त्र है, तू तपस्वियोंमें प्रेम करता है, अपनेको कुछ समझता है, मन्त्री साथमें लेकर राजाका स्वाँग बनाये है। निकल जा मेरे नगरसे, तेरी नीतिसे मुझे नाकोंदम है, तेरी नीतिने ही मेरी लंका जलाई। तू जा यहाँसे और उन तपस्वियोंसे मिल, उन्हें नीतिका उपदेश कर, वे ही सुनेंगे। विभीषणजी नहीं गये। तब लात मारी कि निकल यहाँसे। पर छोटे भाईके नाते विभीषणजी पैर ही पकड़ते रहे कि तुम भले मुझे लात मार लो, पर रामको भजो, इसीमें तुम्हारा कल्याण है, मैं अपने रहते तुम्हारा अमंगल नहीं होने दूँगा।

मा० त० सु०—(क) 'तिन्हहिं कहु नीती' का भाव कि एकबार तो तूने नीति कहकर—'नीति बिरोध न मारिय दूता'—लंका भस्म करा दी, अब फिर नीति सिखाने आया है। पुनः, (ख) यह तेरा कहा हुआ धर्म उन्हींका है मेरा नहीं, यथा—'अद्यो द्विजान् देवयजीन् निहन्मः कुर्मः पुरं प्रेतनराधिवासम्' इत्यादि। (ग) 'सठ मिलु जाइ' का भाव कि नीति उनकी और मेल मुझसे, यही उभयविरोध तेरी शठता है।

वंदनपाठकजी—उनको जाकर सिखावे। वे नीति नहीं जानते, इसीसे एक स्त्रीके कहनेपर राज्य छोड़ भागे। मैं नीति जानता हूँ, नहीं तो इतने दिन (७२ चौकड़ी) राज कैसे करता ? वे वैष्णव और तू भी वैष्णव, अतः स्वपक्षमें जा मिल। यहाँ विभीषणको शारदा सहाय हुई जैसे हनुमान्‌जीको हुई थी—('भइ सहाय सारद मैं जाना') इसीसे रावणसे ऐसा कहला दिया।

टिप्पणी—३ 'अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा....' इति। (क) रावणने वचनसे कठोर कहा, तनसे मारा और मनसे त्याग किया। और विभीषणने, बड़ा भाई समझकर, उसके चरणही पकड़े जैसे बड़ा भाई जानकर अबभी लोग प्रणाम करते हैं। आदि अंतमें प्रणाम कहकर कवि दिखाते हैं कि आदिसे अन्ततक इनने अपनी साधुता निवाही। उदाहरण ४१ (१) टिप्पणी २ पृष्ट ३२९ में आ चुके हैं। (ख) 'चरणप्रहार' का भाव कि तू शत्रुके उपकारके लिए बारबार मेरे चरण पकड़ता है इससे तुझे चरणप्रहारकी सजा देनी चाहिये। 'अनुज गहे पद बारहिं बारा' का दूसरा भाव कि इन्हीं चरणोंकी कृपासे श्रीरामचरणकी प्राप्ति हुई, कुसंग छूटा।

नोट—१ रावणने विभीषणजीके हृदयपर लात मारी, यह गीतावलीसे स्पष्ट हो जाता है। यथा—'तुलसी हुमकि हिये हन्यो लात भले तात चल्यो सुरतरु तकि तजि घोर बारहिं। पद २५।' बारबार पाँय पकड़नेका भाव कि मेरा शरीर कठोर है, आपके चरण कोमल हैं, चोट लगी होगी। (दीनजी)।

प० प० प्र०—ऊपरसे देखनेमें तो विभीषणसरीखे संतका अपमान हुआ पर व्यवहारमें जो घटना

आज वर्तमान कालमें अनिष्ट, दुःखदायक और अपमानकारक सी देख पड़ती है, वही भविष्यमें परम इष्ट, परम सुखदायक और परम स्पृहणीय सिद्ध होती है। 'दुख सो सुख मानि सुखी चरिये।' 'उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः। अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते।'

रावणके इस प्रसंगके वाक्योंसे कविसम्राट्ने विभीषणको पूर्ण निर्दोष बना दिया है। रावण बड़ा भाई है और 'ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः'। अतः भाईके आज्ञानुसार '(सठ) मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती' लंकाका त्याग करना आवश्यक ही था। कठोपनिषदमें नचिकेताके पिताने जब उनसे कहा कि 'मैंने तुझको यमराजको दे दिया।' तब बालक नचिकेता पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये यमराजके पास चले गए।

यहाँके विभीषणजीके वाक्योंमें राज्यलोभकी गंध भी नहीं मिलती। यदि उनको राज्यका लोभ होता तो वे भाईसे प्रत्यक्ष विरोध न करके ही यहाँका सब भेद शत्रुको दे देकर अपना स्वार्थ पूरा कर सकते थे।

प० प० प्र०—विभीषणजीका लंका-त्याग। मानसके ठौर-ठौरके वाक्योंके समन्वयसे यह स्पष्ट हो जाता है कि विभीषणजीने राजद्रोह या भ्रातृद्रोह नहीं किया, और न उनको राज्यकी लालसा थी।

(१) विभीषणपर विश्वासघातका आरोप मन्दोदरी, रावण अथवा कुम्भकर्ण आदि किसीने भी नहीं किया। 'रे कुभाग्य सठ मंद कुबुद्धे। तैं सुर नर मुनि नाग विरुद्धे। ६। ९३। ५।', विभीषणजीके ऐसा कहनेपरभी रावण कुछ न बोला।

(२) जब प्रहस्तने रावणसे कहा कि 'सीता देइ करहु पुनि प्रीती। नारि पाइ फिरि जाहिं जौं.... ।६।९।' इत्यादि, तब भी रावणने विभीषणपर बंधुद्रोह अथवा विश्वासघातका अपराध नहीं लगाया।

(३) रावणने शुकसे विभीषणजीके संबंधमें प्रश्न किया कि 'पुनि कहु खबरि बिभीषन केरी। जाहि मृत्यु आई अति नेरी। करत राज लंका सठ त्यागी। होइहि जव कर कीट अभागी। ५३। ४।'; इसमें भी विभीषणको कोई कलंक नहीं लगाया, 'अभागी' ही कहा है।

(४) कुम्भकर्णसे जब विभीषण रणभूमिमें जाकर मिलते हैं। देखिये तब कुम्भकर्ण क्या कहता है—'धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भयहु तात निसिचर कुल भूषन। बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा सुख सागर। बचन कर्म मन कपट तजि भजेहु राम रघुबीर। ६३।' क्या विश्वासघाती, भ्रातृ-द्रोही वा राजद्रोहीको कोई ऐसा प्रशस्तिपत्र, धन्यवाद और शुभाशीर्वाद देता? वह तो कहता है कि तुमने रावणके वंशको उजागर कर दिया।

महात्मा गान्धीः—विभीषणजीमें तो मैं कोई दोष नहीं पाता। विभीषणने अपने भाईके साथ सत्याग्रह किया था। विभीषणका दृष्टान्त हमें यह सिखाता है कि अपने देश या अपने शासकके दोषोंके प्रति सहानुभूति रखना या उन्हें छिपाना देशभक्तिके नामको जलाना है। इसके विपरीत देशके दोषोंका विरोध करना सच्ची देशभक्ति है। विभीषणजीने श्रीरामजीको सहायता करके देशका भला ही किया था।

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥ ७॥
तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा। रामु भजे हित नाथ तुम्हारा॥ ८॥

अर्थ—(भगवान् शंकर कहते हैं—) हे उमा! सन्तकी यही बड़ाई है कि जो बुराई करनेपरभी भलाई करे। ७। (विभीषणजीने कहा) आप पिताके समान हैं, अच्छा किया जो मुझे मारा, पर हे नाथ! तुम्हारा भला रामभजनसेही होगा। ८।

टिप्पणी—१ 'उमा संत कइ इहइ बड़ाई।....' इति। (क) भाव कि संतकी बड़ाई इसीमें होती है कि जो उनके साथ नीचता करे उसके साथभी वे बुराईके बदलेमें भलाई ही करें। जैसे खलकी बड़ाई इसीमें है कि जो उसके साथ भलाई करता है उसके साथभी वह नीचता करे। यथा—'भलो भलाइहि पै लहै लहै निचाइहि नीच। १। ५।' ये दोनों बातें यहाँ देख पड़ीं। श्रीविभीषणजी साधुताकी सीमा हैं (रावणके चरणप्रहार

करनेपर भी वे उसकी भलाई ही चाहते हैं, उसके हितको कहते रहे) और रावण खलताकी अवधि है (कि अपने हितैषीको शत्रु समझकर उसको निकाल दिया)। पुनः, 'संत कइ इहइ बड़ाई' का भाव कि शत्रुके साथ भी भलाई करना यह संतका ही काम है, इसमें संतकी ही बड़ाई है, दूसरे किसीकी नहीं। दूसरेमें तो यह गुण नहीं किंतु दोष माना जायगा। यथा—'रन चढ़ि करिअ कपट चतुराई। रिपु पर कृपा परम कदराई। ३।१६।१३।' (यह श्रीरामजीने कहा है), 'जौं पै समर सुभट तव नाथा।....रिपु सन प्रीति करत नहिं लाजा। ६।२८।८।' (यह रावणने कहा है)। शत्रु राजाके साथ भलाई करनेवाले राजाकी निंदा ही होती है। मुहम्मद गोरीके साथ बारबार भलाई करनेका फल भारतवर्षका नाश ही हुआ। पुनः, 'इहइ' निश्चयात्मक वाक्य देकर सूचित किया कि ऐसा करनेमें ही उनकी प्रशंसा है, अन्यथा नहीं।

नोट—१ 'तुम्ह पितु सरिस' इति। बड़ा भाई पिताके समान होता है, इसीसे 'पितु सरिस' कहा। वाल्मी० रा० में भी कहा है 'स त्वं भ्रातासि मे राजन्ब्रूहि मां यद्यदिच्छसि। ज्येष्ठो मान्यः पितृसमो (न च धर्मपथेस्थितः)। ६।१६।१८।' पुनः यथा अध्यात्मे—'धिक्कृतोपि तथापि त्वं ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः। ६।२।२४।' २—रावणके 'जियसि सदा सठ मोर जियावा' का यह उत्तर है कि 'तुम्ह पितु सरिस' अर्थात् आप पिताके समान हैं और पिताका धर्म रक्षा ही करना है, यथा—'पाति रक्षति इति पिता', आपने मुझे पाला पोसा। अतएव मुझे मारा तो अच्छा किया और पुत्रका धर्म है कि 'पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते इति पुत्रः।'; अतएव कहा कि 'राम भजे हित नाथ तुम्हारा'। (मा० त० सु०)

टिप्पणी—२ (क) 'भलेहि मोहि मारा' इति। भाव कि आपके मारनेसे मेरा हित हुआ कि मुझे श्रीरामजी मिलेंगे, यथा—'अंतहु भाव भलो भाई को कियो अनभलो मनाइ कै। भई कूबर की लात बिधाता राखी बात बनाइ कै॥ ३॥ नाहि त क्यों कुबेर घर मिलि हर हित कहते चित लाइकै। जो सुनि सरन राम ताके मैं निज बामता बिहाइ कै॥ ४॥ गी० ५।२८।'; पर इससे आपका हित नहीं होनेका, आपका हित राम-भजनसे ही होगा। (ख) विभीषणजी पूर्व जन्मके धर्मरुचि नामक मंत्री हैं जैसे तब मंत्रोपदेश करते थे, वैसे ही अब भी हितोपदेश और धर्म ही कहते हैं, यथा 'नृप हितकारक सचिव सयाना। नाम धर्मरुचि सुक्र समाना। १।१५४।१।' विभीषणजीने पूर्व जन्ममें क्या धर्म कहा और कैसे हितकारक थे, क्या हित सिखाते थे, यह यहाँ कहा—'राम भजे हित नाथ....'। (ग) 'मति अनुरूप कहौं हित ताता' उपक्रम और 'राम भजे हित नाथ तुम्हारा' उपसंहार है। आदिसे अन्त तक परमार्थ-उपदेश करके वेद-रीतिसे निर्दोष हुए। (घ) इस प्रसंगमें यह भी दिखाया कि श्रीविभीषणजीने सम्मान और अपमान, आदर और निरादर दोनोंमें समान भाव रक्खा, इसीसे उन्हें संत कहा—'सम मान निरादर आदरही'। रावणने सम्मति पूछकर इनका सम्मान दिखाया। यथा 'जौं कृपाल पूँछिहु मोहि ताता। ३८।४।' और चरणप्रहार करके तिरस्कार किया। इन्होंने दोनों अवस्थाओंमें हित ही कहा। यथा—'मति अनुरूप कहउँ हित ताता। ३८।४।', 'सुमति कुमति....अहित न होइ तुम्हार। ४०।', 'राम भजे हित नाथ तुम्हारा'।

सचिव संग लै नभ-पथ गएऊ। सबहि सुनाइ कहत अस भएऊ॥ ९॥

दो०—रामु सत्य-संकल्प प्रभु सभा काल बस तोरि।
मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि॥ ४१॥

अर्थ—(यह कहकर श्रीविभीषणजी) मंत्रियोंको साथ लेकर आकाशमार्गमें गये और सबको सुनाकर ऐसा कहने लगे। ९। श्रीरामजी सत्यप्रतिज्ञ हैं, समर्थ हैं और तेरी सभा कालके वश है। मैं अब रघुवीरकी शरण जाता हूँ, मुझे अब दोष न देना। ४१।

नोट—१ 'सचिव संग लै....' इति। चारों मन्त्रियोंके नाम ये हैं—अनल, पनस, सम्पाति और प्रमति। यथा—'अनलः पनसश्चैव सम्पातिः प्रमतिस्तथा। वाल्मी० ६।३७।७।' ये चारों विभीषणजीके परम हितैषी

परमभक्त मंत्री थे और उनके अनुकूल आचरण करनेवाले विश्वासपात्र थे। साथ ही ये बड़े विक्रमशाली थे और जब जैसा रूप चाहें धारण कर सकते थे। जैसा 'ये चाप्यनुचरास्तस्य चत्वारो भीमविक्रमाः। ६।१७।३।', 'खात्पपातावनीं हृष्टो भक्तैरनुचरैः सह। वाल्मी० ६।१९।२।' से स्पष्ट है। इनको साथ ले जानेका प्रधान कारण मेरी समझमें यह था कि सीताहरणसे लेकर अबतक मैं भगवान्‌की कुछ भी सेवा न कर सका। अब जब वे वानर दल लेकर रावणवधके लिये आये हैं तब इस कार्यमें शक्तिभर उनकी सेवा करूँ। यह बात वाल्मीकीयके 'गत्वा लंकां ममामात्याः पुरीं पुनरिहागता। ७। भूत्वा शकुनयः सर्वे प्रविष्टाश्च रिपोर्बलम्। विधानं विहितं यच्च तद् दृष्ट्वा समुपस्थिताः। ६।३७।८।', विभीषणजीके इस वाक्यसे सिद्ध होती है। युद्ध छिड़नेके पूर्व ही विना किसीके कहे उन्होंने अपने चारों मंत्रियोंको रावणका सारा विधान देख आनेके लिये भेजा था। वे पक्षी बनकर शत्रुकी सेनामें जाकर वहाँका सारा समाचार ले आए थे। इसी तरह आगे भी मेघनाद और रावणके यज्ञों आदिका समाचार भी मंत्रियों द्वारा ही प्राप्त कर-करके इन्होंने श्रीरघुनाथजीकी सेवा की। मंत्री साथ क्यों आये? एक कारण तो बताया गया कि वे विभीषणजीके परम भक्त अनुचर थे, साथ ही भगवद्भक्त भी थे। दूसरे, पुलस्त्यजीके संदेशसे वे जान गए थे कि भगवान् रावणका वध करनेके लिये अवतरित हुए हैं और उसका कुल समेत वध निश्चित है। अतएव उसका वध होनेपर विभीषणजी अवश्य यहाँका राज्य पावेंगे, हम उनके मन्त्री हैं, अतः उनके राज्यमें सुख भोगनेको मिलेगा। यह लालच भी हो सकता है। फिर यदि विभीषणजी इनको साथ न लाते तो यह भी संभव था कि रावण उनपर विश्वास नहीं कर सकता था, उसे संदेह रहता कि ये शत्रुको यहाँका गुप्त समाचार देते रहेंगे, अतः या तो उनको मरवा डालता या युद्धमें उनको प्रथम ही जुझवा डालता। दोनों तरहसे इनके प्राण जाते। अतः साथ ले आए।

टिप्पणी—१ (क) 'सचिव संग लै०' इति। 'स्वाम्यमात्य सुहृत्कोप राष्ट्र दुर्गबलानि च' इत्यमरः। अर्थात् राजा, मंत्री, सुहृद, कोष, देश, क़िला और सेना ये राजाके सात अंग हैं। इन सात अंगोंमेंसे प्रधान अंग मंत्री है, यदि यह बना रहे तो बिगड़ा हुआ सब बन जाता है? यथा—'तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा।'; इस कारण उसने 'पावा राज कोष पुर नारी।' तथा विभीषणजीके साथ चार मंत्री हैं। (ख) 'नभपथ गएऊ'—देवता और राक्षस प्रायः आकाशमार्गसे चला करते हैं—(समुद्र पार जानेमें आकाशमार्ग ही इनको सुगम होगा)। अथवा, सभा भारी है, इससे सबको सुनानेके लिए नभ पर गए, ऊँचेपरसे सबको सुनाई पड़ेगा। अथवा, रावणने जो कहा था कि 'मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती', उसीसे नभमें गये कि हम अब लंका पुरवासी नहीं हैं, हम राजा हैं, जब यह पुरी हमारी होगी तभी हम इसपर पैर रखेंगे। यह भाव 'उर कछु प्रथम बासना रही' एवं गी० ५। ३० के 'राम गरीब-निवाज निवाजिहैं जानिहैं ठाकुर ठाउँ गो' से निकलता है। (ग) सबको सुनाकर लोकरीतिसे निर्दोष हुए।

नोट—२ बाबा जयरामदासजी लिखते हैं कि "श्रीविभीषणजीको 'मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती' ये वचन सहन न हो सके; क्योंकि भक्तको अपना अपमान सहन हो सकता है, पर अपने इष्टके प्रति कहे हुए अपमानके वचन उनके मर्मको बेध डालते हैं। 'मम पुर' से उसने अपनेको सम्राट् और विभीषणजीको अपने राज्यमें बसनेवाली साधारण प्रजा सूचित किया। एवं 'तपसिन्ह' शब्दसे श्रीरामलक्ष्मणजीको गृहादिसे हीन, अनिकेत बतलाकर यह सूचित किया कि तू भी बिना घरद्वारका बन जा। इसलिये विभीषणजीके अन्तःकरणमें यह स्फुरणा हुई कि देखें यह अब वास्तवमें किसका ठहरता है। जिस प्रभुका समस्त जगत् है उसे गृहहीन बताना, और अपनेको राजा मानना! यदि भगवान्‌की विभूति सत्य है तो निश्चय है कि भगवान्‌का दास इसका अधिकारी बनेगा। इसी वासनाके अनुसार विभीषणजी 'सचिव संग लै नभ-पथ गयऊ', अन्यथा भगवान्‌की शरणमें जानेके समय सचिवको साथ लेनेकी क्या आवश्यकता थी? इसी अभिप्रायको आगे चलकर गोस्वामीजीने 'उर कछु प्रथम बासना रही' से व्यक्त कर दिया है।

यद्यपि 'उर बासना' का निराकरण भी श्रीरघुनाथजीकी सन्निधि प्राप्त होते ही हो गया और 'जदपि

सखा तव इच्छा नाहीं' इस वचनसे भगवान्ने उसे स्वीकृत भी कर लिया, तथापि श्रीभगवान्ने 'मोर दरस अमोघ जग माहीं', 'अस कहि राम तिलक तेहि सारा।'—इस प्रकार उस पुरको अपने दासका बनाकर ही छोड़ा और रावणके 'मम पुर' को असिद्ध कर दिया।"

वाल्मी० तथा अ० रा० से पता चलता है कि विभीषणजी सभाके मध्यसे उड़कर आकाशमें गए, यथा 'उत्पपात गदापाणिश्चतुर्भिः सह राक्षसैः। वाल्मी० ६। १६। १६।', 'उत्पपात सभामध्याद्गदापाणिर्महाबलः। अ. रा. ६। २। ३२।' वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि उस कालमें व्योमयानोंकी भरमार थी। महर्षि भरद्वाजजीने अपने 'आशुबोधिनी' ग्रन्थमें आठ प्रकारके व्योमयानोंकी चर्चा की है। 'आशुबोधिनी' के—'शक्त्युद्गमाद्यष्टौ' इस सूत्रपर वृत्ति करते हुए भगवान् बोद्धायन पुरुषोत्तमाचार्यजीने आठोंका नाम भेद बतलाया है कि—'शक्त्युद्गमो, भूतवाहो, धूमयानः, शिखोद्गमः। अंशुवाहस्तारामुखो मणिवाहो मरुत्सखः॥' मानसकारभी बतलाते हैं कि-'सती बिलोकेउ ब्योम बिमाना। जात चले सुंदर बिधि नाना।', 'मेघनाद मायामय रथ चढ़ि गयउ अकास।', 'चला गगनपथ आतुर भय रथ हाँकि न जाइ।' लंकामें अनेकों तरहके वायुयान थे। पुराणोंमें विभीषणजीके पास भी व्योमयानका होना वर्णित है। परन्तु विभीषणजी मंत्रियोंको लेकर विमानसे इस पार नहीं आये थे, सभासे उड़कर सीधे श्रीरामजीके पास उड़ते हुए ही आये थे, रावणकी कही जानेवाली कोई वस्तु साथ नहीं ली थी।

३ मिलान कीजिये—'चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सार्द्धं गगनस्थोऽब्रवीद्वचः।....कालो राघवरूपेण जातो दशरथालये। ३४। तेनैव प्रेरितस्त्वं तु न शृणोषि हितं मम॥ ३६॥ अध्यात्म रा० ६। २।' अर्थात् अपने चारों मंत्रियोंको साथ लेकर विभीषणजी आकाशमें स्थित होकर ये वचन बोले "....तुम्हारा कालही राघवरूपसे दशरथजीके घरमें पैदा हुआ है, उसीकी प्रेरणासे तुम मेरे हितकारी वचन नहीं सुनते।"

टिप्पणी—२ (क) 'राम सत्यसंकल्प प्रभु' इति। अर्थात् उनकी प्रतिज्ञा सत्य है, इसीसे तुम्हे उपदेश नहीं लगता, उपदेश लगता तो उनकी प्रतिज्ञा ही झूठी हो जाती। ['प्रभु'का भाव कि—(१) जो प्रतिज्ञा की, उसे सत्य कर दिखानेकी सामर्थ्यभी उनमें है। (२) मा० त० सु०—यद्यपि वे तुम्हे मारनेका संकल्प कर चुके हैं तथापि यदि तू शरणमें जाय तो वे अपना संकल्प छोड़कर तुम्हे स्वीकार कर लेते] (ख)—'सभा काल बस तोरि'—भाव कि इसी कारण किसीको मेरी राय अच्छी नहीं लगती, यथा 'हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहुँ भेषज जैसे'। हमने कालसे बचानेके बहुत उपाय किए; पर वे कुछ काम नहीं आए। कारण यह कि 'निसिचरहीन करउँ महि....' यह श्रीरामजीकी प्रतिज्ञा असत्य नहीं हो सकती। श्रीरामजीकी प्रतिज्ञा केवल रावणवधकी नहीं है वरन् निशाचरमात्रके वधकी है, इसीसे सारी सभाको कालके वश कहा।

वि० त्रि०—'सभा' इति। महाभारतमें कहा है कि वह सभा सभा नहीं है, जिसमें वृद्ध न हों। और वे वृद्ध वृद्ध नहीं हैं जो धर्म न कहें तथा वह धर्म धर्म नहीं है जहाँ सचाई नहीं एवं वह सचाई सचाई नहीं जिसमें छल हो। अतः सभामें प्रवेशके लिये धर्म-शास्त्रोंमें बड़े कठिन नियम हैं। उनमें स्पष्ट लिखा है कि सभामें न जाना चाहिए और यदि जाय तो साफ़ बात कह दे, क्योंकि विरुद्ध कहनेवाले और चुप रहनेवाले दोनों पापी हो जाते हैं। जिस सभामें धर्म अधर्मसे मारा पड़ता है, वहाँके सभासदोंकोही मरा समझना चाहिए। रावणकी सभामें इतना बड़ा अन्याय विभीषणजीके साथ हुआ और सभासद सब चुप बैठे रह गए, न कोई बोला, अतः विभीषणजी कहते हैं—'सभा काल बस तोरि'।

नोट—४ दोहेसे मिलते हुये श्लोक ये हैं—'तदन्यथा कथं कुर्यात्सत्यसङ्कल्प ईश्वरः। अ. रा. ६। २। ४३। हनिष्यति त्वां रामस्तु सपुत्रबलवाहनम्। हन्यमानं न शक्नोमि द्रष्टुं रामेण रावण। ४४। त्वां राक्षसकुलं कृत्स्नं ततो गच्छामि राघवम्। ४५।' अर्थात् ईश्वर सत्यसंकल्प हैं, इसलिये वे अपनी प्रतिज्ञाको अन्यथा कैसे कर सकते हैं। अतः श्रीराम अवश्य आपको पुत्र, सेना और वाहनादि सहित मारेंगे। मैं आपका तथा राक्षसवंशका संहार नहीं देख सकता। अतः मैं श्रीरघुनाथजीके पास जाता हूँ।

वाल्मी० में भी आकाशमें स्थित होकर यही कहा है कि समस्त प्राणियोंके नाशक कालकी फाँसीमें बँधकर नष्ट होते देख हमने हितकी कामनासे कहा था। तुम्हारा और निशाचर कुलका नाश मुझसे नहीं देखा जा सकता। तुम बड़े भाई हो पर अधर्ममें रत हो। इत्यादि।

टिप्पणी—३ (क) प्रतिज्ञा तो है पृथ्वीको निशाचरहीन करनेकी और निशाचर तो विभीषणजीभी हैं? उसीपर वे कहते हैं कि 'मैं रघुवीर सरन जाउँ०'। इससे यह भी उपदेश है कि जो कोई उनकी शरण जायँगे वे ही उनकी प्रतिज्ञासे बचेंगे, वे शरणागतको नहीं मारते। 'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि', 'आये सरन तजउँ नहिं', यह उनका व्रत है। ['रघुवीर' शब्दसे सूचित किया कि वे पंचवीरतायुक्त हैं, शरणमें जानेपर वे मुझपर दया करेंगे, तुमसे मेरी रक्षा करेंगे। वे तुमसे अधिक विक्रमसंपन्न हैं, धर्मात्मा हैं, बातके पक्के हैं। ऐसेहीकी शरणमें जाना योग्य है। यथा 'वीर महा अवराधियें जेहि साधे सिधि होइ।' (वि०)] (ख) लोक वेद दोनोंसे निर्दोष होकर प्रभुकी शरण होना यह सर्वोपरि है। लोक वेद दोनों शुद्ध होने चाहिएँ—वेदमत यह कि जहाँतक बलबुद्धि चली वहाँतक मृत्युसे बचानेका प्रयत्न किया। यथा—'मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो यावद्बुद्धि बलोदयम्। यद्यसौ न निवर्तेत नापराधोसि देहिनः' इति भागवते। इस प्रकार समझाकर वेदसे शुद्ध हुए। और, सबको सुनाकर लोकसे शुद्ध हुए।

रा० शं० श०—१ विभीषणने रावणके हितके बहुत उपाय किए:—(१) अपना कल्याण आदि चाहते हो तो जानकीजीको दे दो। यह न माना; तब (२) मरनेका भय दिखाया और अन्तमें यह उपाय किया कि (३) तेरी सभा कालवस है। सबको सुनाकर कहनेका अभिप्राय है कि सभावाले अपना काल समझकर अपने बचनेके लिए रावणको समझावेंगे, तबभी हमारा काम बनेगा। यह अंतिम उपाय करके चले गये।

२—मंदोदरीने भी यही कहा था, उसे क्यों न मारा? कारण कि उसने समझा कि यह भीरु स्वभाव है, भयभीत होनेसे ऐसा कहती है और विभीषणके कहनेपर समझा कि यह मेरे राज्यका अभिलाषी है, और शत्रुके पक्षमें है।—[पुनः, रावण महाकामी है और यह एक तो उसकी प्रिया है, दूसरे उससे भय नहीं है कि वह पतिको छोड़कर शत्रुसे जा मिलेगी]।

सरयूदासजी—यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि विभीषण समुद्रपार जाकर क्यों शरण हुए, प्रभु तो आतेही थे यहीं शरणागति कर लेते तो क्या अनुचित होता? उत्तर—अनुचित तो कुछ न था; परन्तु ऐसा करनेसे तृतीय शरणागतिका स्वरूप नष्ट हो जाता जैसा स्वरूप श्रीमहर्षिजीने दिखाया है—'परित्यक्ता मया लंका मित्राणि च धनानि च'। सबका त्याग तीसरी शरणागति (प्रातिकूलस्य वर्जनम्) का स्वरूप है। (तुलसीपत्रसे।– दूसरा कारण टिप्पणीमें है)।

प्रोफ० पं० रा० चं० शुक्लजी—गृहनीतिकी दृष्टिसे विभीषण शत्रुसे मिलकर अपने भाई और कुलका नाश करनेवाले दिखाई पड़ते हैं, पर और विस्तीर्ण क्षेत्रके भीतर लेकर देखनेसे उनके इस स्वरूपकी कलुषता प्रायः नहीं के बराबर हो जाती है। गोस्वामीजीने इसी विस्तृत दृष्टिसे उनके चरित्रका चित्रण किया है। विभीषण रामभक्त थे, अर्थात् सात्विक गुणोंपर श्रद्धा रखनेवाले थे। वे रामके लोकविश्रुत शील, शक्ति और सौंदर्यपर मुग्ध थे, भाईके राज्यके लोभके कारण वे रामसे नहीं मिले थे। इस बातका निश्चय उनके बारबार तिरस्कार होनेपरभी रावणको समझाते जानेसे हो जाता है। यदि उन्हें राज्यका लोभ होता तो वे एक ओर तो रावणको युद्धके लिए उत्तेजित करते, दूसरी ओर शत्रुकी सहायता करते। पर वे रावणकी लात खाकर खुल्लमखुल्ला रामकी शरणमें यह कहते हुए गए—'राम सत्य संकल्प प्रभु....देहु जनि खोरि'।

लोभवश न सही, शायद विभीषण भाईके व्यवहारसे रूठकर क्रोधवश रामसे जा मिले हों। इस संदेहका निवारण रावणके लात मारनेपर विभीषणका कुछ क्रोध न करना दिखाकर गोस्वामीजीने किया है। लात मारनेपर विभीषणजी इतनाही कहते हैं—'तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा। राम भजे हित नाथ तुम्हारा'। वाल्मीकिका वर्णन इसी प्रकार है।

इस स्थानपर गोस्वामीजीका चरित्र-निर्वाह-कौशल झलकता है। यदि यहाँ थोड़ीसी भी असावधानी हो जाती, विभीषण क्रोध करते हुए दिखा दिए जाते, तो जिस रूपमें विभीषणका चरित्र वे दिखलाया चाहते थे, वह बाधित हो जाता, अधिकतर यही समझा जाता कि क्रोधके आवेशमें विभीषणने रावणका साथ छोड़ा। कविने विभीषणको साधु-प्रकृति बनाया। हरी हुई सीताको लौटानेके बदले रावणका रामसे लड़नेके लिए तैयार होना असाधुताकी चरम सीमा थी, जिसे विभीषणकी साधुता न सह सकी, गोस्वामीजीका पक्ष यह है। विभीषणकी साधुता औसत दरजेकी थी। वह इतनी बड़ी नहीं थी कि राम द्वारा दिए हुए भाईके राज्यकी ओरसे वे उदासीनता प्रकट करते।

नोट—५ रावणके प्रति कहे हुए विभीषणजी और हनुमान्‌जीके वाक्योंकी समता—

श्रीविभीषणजी	श्रीहनुमान्‌जी
१ पाइ अनुसासन	कह लंकेस
२ बोला बचन	सुनु रावन०
३ सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चौथि के चंद कि नाईं॥	रिषि पुलस्त्यजसबिमलमयंका। तेहि कुल महँ जनि होसि कलंका॥
४ काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरकके पंथ। सब परिहरि रघुबीरहिं भजहु०॥	मोह मूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान। भजहु रामरघुनायकहिं०॥
५ 'तात राम नहिं नर भूपाला' से 'वेदधर्मरच्छक सुनु भ्राता' तक	'ब्रह्मांडनिकाया' से 'बधे सकल अतुलितबलसाली' तक
६ ताहि बैर तजि नाइय माथा	तासों बैर कबहुँ नहिं कीजै
७ प्रनतारतिभंजन रघुनाथा	प्रनतपाल रघुबंसमनि करुनासिंधु०
८ देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही	मोरे कहे जानकी दीजै।
९ भजहु राम बिनु हेतु सनेही	रामचरनपंकज उर धरहू।....
१० सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा।०	गये सरन प्रभु राखिहहिं सब०
११ बिनय करौं कर जोरि	बिनती करौं जोरि कर रावन
१२ परिहरि मान मोह मद०	सुनहु मान तजि मोर सिखावन
१३ तव उर कुमति बसी बिपरीता	उलटा होइहि कह हनुमाना
१४ बुध पुरान श्रुति संमत बानी	भगति बिबेक बिरति नयसानी
१५ सुनत दसानन उठा रिसाई	सुनि कपिबचन बहुत खिसिआना
१६ अस कहि कीन्हेसि चरनप्रहारा	सुनत निसाचर मारन धाए
१७ सचिव संग लै नभपथ गएऊ	निबुकि चढ़्यो कपि कनक अटारी

अस कहि चला बिभीषन जबहीं। आयूहीन भए सब तबहीं॥ १॥
साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी॥ २॥
रावन जबहि बिभीषनु त्यागा। भएउ बिभव बिनु तबहिं अभागा*॥ ३॥

अर्थ—ऐसा कहकर जभी विभीषण चले तभी सब निशिचर आयुहीन हो गए (अर्थात् 'सभाकाल बसतोरि' विभीषणका यह कहना ही शापरूप हो गया)। १। हे भवानी! साधुका अपमान तुरंत सम्पूर्ण

---

* प्र० चं०—'साधु०' अनुकूल है, शेष सब पायकुलक हैं। 'असकहि....हानी' में 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है।

कल्याणकी हानि करता है। २। रावणने जभी विभीषणका त्याग किया उसी समय वह भाग्यहीन वैभव-रहित होगया। ३।

टिप्पणी—१ 'आयूहीन भए सब तबहीं' इति। भाव कि-(क) (आध्यात्मिक दृष्टिसे वि० ५८ में जो साङ्गरूपक कविने दिया है उसमें शरीरको ब्रह्मांड, प्रवृत्तिको लंकादुर्ग, मोहको दशमौलि और जीवको विभीषणसे रूपित किया है इस प्रकार) लंकामें विभीषण जीवरूप थे, यथा—'जीव भवदंघ्रिसेवक विभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता।' (विनय ५८)। जीवके निकल जानेसे सब आयुहीन हो गए। अथवा, (ख)—अनादर करनेसे आयुहीन कहा जैसा आगे कहते हैं—'साधु अवज्ञा तुरत····'। अखिल कल्याणमें प्रथम आयुको कहा है, यथा—'आयुःश्रियं यशोधर्मं लोकानाशिष (लोकान् वाशांसि) एव च। हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः॥' (भा०)।

२ पूर्व कहा कि 'सबहि सुनाइ कहत अस भयऊ' और यहाँ फिर कहते हैं कि 'अस कहि चला'। इससे जान पड़ता है कि दोहेकी बातको बारबार कहा।—(नोट—पर यह जरूरी नहीं है। पहले कहते हैं कि ऐसा सबको सुनाकर कहा। और अब कहते हैं कि सुनाकर चल दिए।)

मा० त० सु०—'तबहीं' का भाव यह है कि यद्यपि 'निसिचरहीन करौं महि' यह प्रभुकी प्रतिज्ञा होतेही वे आयुहीन हो गए थे, तथापि प्रभु भक्तवश हो प्रतिज्ञाका परित्याग भी करते हैं; अतएव जब विभीषणने कहा था कि 'सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा' इसपर यदि रावन वहाँ जाता तो वह अपनी प्रतिज्ञा छोड़ देते। फिर जब विभीषणजीने कहा कि 'सभा कालबस तोरि' तब प्रभुकृत प्रतिज्ञा दृढ़ हो गई। अतः उसी समय वे आयुहीन हो गए। यथा वाल्मी० युद्धकांडे १९ सर्ग श्रीरामवाक्यम् 'अहत्वा रावणं संख्ये सपुत्रबलबान्धवम्। अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि त्रिभिस्तैर्भ्रातृभिः शपे॥ २१॥' अर्थात् पुत्रकुटुम्बसेनासहित रावणका वध किए विना मैं अयोध्यामें नहीं प्रवेश करूँगा, मैं तीनों भाइयोंका शपथ करता हूँ। इस उक्तिके अनुसार वे इसी समय आयुहीन हुए।

टिप्पणी—३ 'साधु अवज्ञा तुरत०' इति। (क) 'तुरतका भाव कि और पापोंका फल विलंबसे होता है पर इसका फल तुरंत मिलता है। और पाप एक दोही कल्याणोंके नाशक हैं और यह समस्त कल्याणोंका। 'तुरत' और 'अखिल' शब्द देकर इस पापको, भागवतापराधको, सबसे भारी जनाया। (ख) साधुके आदरका फल शीघ्र मिलता है—'देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ'। वैसेही यहाँ दिखाया कि अनादरका फल भी शीघ्र मिलता है। आगे 'तुरत' शब्दको चरितार्थ करते हैं—'रावन जबहिं····तबहिं'। और इसी विचारसे ४२ (१) में भी 'जबहीं' 'तबहीं' पद दिए गए।

४ [(क) 'रावन जबहि....त्यागा'—भाव कि विभीषणने रावणको नहीं त्यागा, रावणनेही उन्हें जबरदस्ती त्याग दिया] (ख) 'भयेउ बिभव बिनु तबहिं अभागा' इति। जिस सभामें साधुका अनादर हो उसमें अकल्याण होता है। अतएव सभाका अकल्याण (आयूहीन भये सब तबहीं) कहकर अब राजाका अकल्याण कहते हैं कि 'भएउ बिभव बिनु....'। विभव = ऐश्वर्य, राजसम्पत्ति, सुखसामग्री। (ग) 'अभागा' का भाव कि सत्संगकी प्राप्ति बड़े भाग्यसे होती है, यथा—'बड़े भाग पाइय सतसंगा। ७। ३३। ८।' और रावणने अपने घरकेही साधुको निकाल दिया। अतः अभागा है। अथवा, विभवके नाशसे अभागा कहा।

नोट—१ इसी बातको कवितावलीमें बड़ी मार्मिकतासे दूसरी प्रकारसे गोस्वामीजीने कहा है। यथा—'वेद बिरुद्ध महामुनि सिद्ध ससोक चराचर लोक उजार्‌यो। और कहा कहूँ तीय हरी तबहूँ करुनानिधि कोप न धार्‌यो॥ सेवक छोह ते छाड़ी छमा तुलसी लख्यो राम सुभाउ तिहार्‌यो। तौलौं न दाप दल्यो दसकंधर जौ लौं बिभीषन लात न मार्‌यो। क० ७। ३।'

☞ देखिए श्रीमीराजीके छोड़तेही रानाका सब वैभव जाता रहा, इसी तरह परम भागवत विभीषणको निकालते ही रावणका वैभव जाता रहा, जैसा कवितावलीमें ऊपर दिखा आए हैं। इस समय उसका वैभव अब ऐसाही है जैसे खोखला वृक्ष बाहरसे देखने भरका वृक्ष है। 'सुमति' अब चली गई, केवल कुमति रह

गई। उसका परिणाम आगे विपत्तिही विपत्ति है। यहाँ 'प्रथम विनोक्ति अलंकार' है।

वि० त्रि०—विभीषणने रावणको नहीं त्यागा। रावणनेही विभीषणका त्याग किया। 'वधो वा त्यागो वा'। त्यागभी वधही है। अब तीनों लोकोंमें विभीषणको कहीं शरण नहीं है, यथा—'रावन-रिपुहि राखि रघुबर बिनु को तिभुवन पति पाइहै।' इतनेपरभी विभीषणजी माँ के पास गये, उसकी अनुमति ली, तब बड़े भाई कुवेरजीके यहाँ गये। वहाँ शंकर भगवानसे भेंट हुई, उन्होंने मन्त्र दिया, 'राम की सरन जाहि सुदिन न हेरै।'; अतः विभीषणजी तो रामजीके शरण जाकर बड़भागी हुए, पर रावण विभीषणके त्यागनेसे अभागा हो गया। विभीषणके रहनेसे रावणकी सर्वत्र विजय थी, विभीषणके त्यागसे उसका विजयरथ टूट गया। यदि दाँत जीभका परित्याग करे तो उसका परम अभाग्य समझना चाहिये।

चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मन माहीं॥ ४॥

अर्थ—(श्रीविभीषणजी) मनमें बहुत मनोरथ करते हुए हर्षपूर्वक श्रीरघुनाथजीके पास चले।४।

☞ गीतावली सुन्दरकाण्डके निम्न पदोंसे 'बहु मनोरथ' स्पष्ट हो जाते हैं।—

'पद पदुम गरीबनिवाज के। देखिहौं जाइ पाइ लोचन फल हित सुर साधु समाज के॥
गईबहोर ओर निर्बाहक साजक बिगरे साज के। सबरीसुखद गीध गतिदायक समन सोक कपिराज के॥
नाहिन मोहि और कतहूँ कछु जैसे काग जहाज के। आयो सरन सुखद पदपंकज चोंथे रावन बाज के॥
आरतिहरन सरन-समरथ सब दिन अपनेकी लाज-के। तुलसी पाहि कहत नत-पालक महुँसे निपट निकाजके॥२९।'

'महाराज राम पहिं जाउँगो। सुख स्वारथ परिहरि करिहौं सोइ साहिबहि सोहाउँगो॥
सरनागत सुनि बेगि बोलिहैं हौं निपटहिं सकुचाउँगो। राम गरीबनिवाज निवाजिहैं जानिहैं ठाकुर ठाउँगो॥
धरिहैं नाथ हाथ माथे एहि तें केहि लाभ अघाउँगो। सपनो सो अपनो न कछू लखि लघु लालच न लुभाउँगो॥
कहिहौं बलि रोटिहा रावरो बिनु मोलही बिकाउँगो। तुलसी पट ऊतरे ओढ़िहौं उबरी जूठन खाउँगो॥३०।'

ये सब मनोरथ दर्शनके अन्तर्गत हैं, अन्य वासनाकृत मनोरथ नहीं हैं। किस प्रकारके मनोरथ करते हैं, यह कवि यहाँभी स्वयं आगे लिखते हैं।

टिप्पणी १ (क) 'रघुनायक' इति। कृपणके पास जानेसे एकभी मनोरथकी सिद्धिका निश्चय नहीं होता पर सभी रघुवंशी उदार शिरोमणि हैं और ये तो उनके राजा तथा सबसे श्रेष्ठ हैं, यहाँ सभी मनोरथके सिद्ध होनेका भरोसा है, अतः 'रघुनायक' के पास चले और 'बहुत मनोरथ' करते हुए चले। गी० २९में सकाम मनोरथ करना दिखाया है। वही यहाँ (आगे) अहल्या और दंडकवनकी पावनतासे जनाया। पद ३० में निष्काम भक्ति कहकर जनाया कि विभीषणजी निष्काम मनोरथ कर रहे हैं....। (ख) 'हरषि' इति। जब पहिले चलना कहा तब हर्ष न कहा था। यथा—'अस कहि चला बिभीषन जबहीं'। और अब हर्षित होकर चलना कहते हैं। भाव यह कि पहले चलनेके समयमें लोकलाजका सन्देह था। जब माता और कुबेरने आज्ञा दे दी तब हर्षपूर्वक चले। पुनः, जब माताके पास गए, एवं जब कुबेरके पास गए, तब शकुन न हुए थे; परन्तु जब श्रीरामजीके पास चले तब शकुन हुए, वही बात मानसमें 'हरषि' पदसे जनायी। हर्ष हुआ कि दुष्ट संग छूटा, अब दर्शन होगा।

मिलान कीजिए—'जाइ माय पायँ परि कथा सो सुनाई है। समाधान करति बिभीषन को बार-बार, कहा भयो तात लात मारे बड़ो भाई है॥ साहिब पितु समान जातुधान को तिलक ताके अपमान तेरी बड़ीयै बड़ाई है। गरत गलानि जानि सनमानि सिख देति रोप किये दोप सहें समुझे भलाई है॥ इहाँ ते बिमुख भये राम की सरन गये भलो नेकु लोकु राखे निपट निकाई है। मातुपग सीस नाइ तुलसी असीस पाइ चले भले सगुन कहत मन भाई है॥ गी० २६।'

'भाई कैसो करों डरों कठिन कुफेरैं। सुकृत संकट परेउ जात गलानिन्ह गरयो कृपानिधिको मिलों पै मिलि कै कुबेरैं॥ जाइ गहे पाँय धाइ धनद उठाइ भेंट्यो समाचार पाइ पोच सोचत सुमेरैं। तहँई मिले महेस

दियो हित उपदेस 'राम की सरन जाहि सुदिन न हेरैं।। जाको नाम कुंभज कलेससिंधु सोखिवे को मेरो कह्यो मानि तात बाँध जिनि वेरैं। तुलसी मुदित चले पाये हैं सगुन भले रंक लूटिवे को मानों मनिगनि ढेरैं।। गी० ५।२७',

'संकर सिख आसिष पाइकै। चले मनहिं मन कहत बिभीषन सीस महेसहि नाइकै।। गये सोच भये सगुन सुमंगल दस दिसि देत देखाइकै। सजल नयन सानंद हृदय तन प्रेम पुलक अधिकाइ कै।। गी० ५।२८।'

श्रीलमगोड़ाजी—अँग्रेजीके विद्वान मित्र विभीषणजीके 'करत मनोरथ बहु मन माहीं' इस मनन-की तुलना शैक्सपियरके नाटकोंकी स्वगत वार्ताओं (Soliloquy) से करें और देखें कि वे कितने कृत्रिम हैं। कविके गुप्त होनेसे ही उस कृत्रिम साधनका प्रयोग होता है। अभिनेताको प्रगतियोंसे अवश्य ही कुछ प्रकट करना होगा, (जैसे, आँख या हाथके संकेतसे), तभी मूक रंग-मंचपर इस मनके मनोरथकी कवि-द्वारा व्याख्या अच्छी लगेगी। (जैसे 'इन्ह नयनन्ह' और 'अब' इत्यादिके साथ)।

देखिहौं जाइ चरन जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता ।। ५ ।।
जे पद परसि तरी रिषि नारी। दंडक कानन पावनकारी ।। ६ ।।

अर्थ—जाकर चरणकमलोंको देखूँगा जो लाल, कोमल और सेवकोंको सुख देनेवाले हैं। ५। जिन चरणोंको छूकर ऋषिपत्नी अहल्या तर गई और जो दंडकवनके पवित्र करनेवाले हैं। ६।

रा० शं० श०—'देखिहौं....'। देखना तीन प्रकारका है, आँखोंसे देखना, हाथसे स्पर्श करके मालूम करना, हृदयसे महिमा विचार करना। विभीषणजी कहते हैं कि नेत्रोंसे मैं चरणोंकी ललाई देखूँगा, हाथ-से छूकर कोमलता देखूँगा और हृदयसे सेवकसुखदातत्व महिमाको विचार करूँगा।

वीरकवि—'देखिहउँ जाइ....' में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। यहाँ विभीषणके मनमें ईश्वर-दर्शनकी इच्छासे अपूर्व उत्कंठाका उत्पन्न होना 'देवविषयक रति स्थायी भाव' है।

टिप्पणी—१ 'देखिहौं जाइ....' इति। विभीषणजी रामभक्त हैं। इसीसे चरणदर्शनकी अभिलाषा कर रहे हैं, यथा—'तेहि माँगेउ भगवंतपदकमल अमल अनुराग। १। १७७।' ☞ औरोंको उपदेश है कि सब छोड़कर एकमात्र प्रभुके चरणकमलके दर्शनोंका मनोरथ करें। (ख) विभीषणजीको शकुन हुए। वे हर्षित होकर चले हैं, इसीसे कहते हैं कि 'देखिहौं जाइ....'। यथा—'होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी। ५।१।३।' (ग) कमल कई प्रकारके हैं, अतः 'अरुण' कहा। (घ) 'जलजात अरुण मृदुल' से चरणोंका स्वरूप कहा। 'सेवक सुखदाता' से फल कहा। देखतेही सेवकको सुख देते हैं, यह चरणदर्शनका फल है। 'जे पद परसि तरी....' से स्पर्शका फल कहा। 'जे पद जनकसुता उर लाए....' और 'हर उर सर सरोज पद जोई' में ध्यान करनेवालोंको कहा। और, 'जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि....' में मज्जन कहा; क्योंकि भरतजी इनका नित्य पूजन करते हैं—'नित पूजत प्रभु पावरी....'।

२ (क)—ऋषिपत्नी और दंडकवनको एक साथ कहा। क्योंकि दोनों व्यभिचारके कारण ही शापित हैं, दोनों जड़ हैं, दोनोंका प्रायश्चित्त प्रभुके चरणोंसे हुआ और प्रभुने दोनोंको उनके यहाँ जा-जाकर तारा है। (ख) 'जे पद परसि तरी....' का भाव इन उद्धरणोंमें है—'सिलासापमोचन चरन सुमिरहु तुलसीदास। तजहु सोच संकट मिटहि पूजिहि मन की आस।', 'सिला साप संताप बिगत भइ परसत पावन पाउ। वि० १००।', 'दंडक बन पावन करन चरनसरोज प्रभाउ। ऊसर जामहिं खल तरहिं होइ रंक को राउ।' इति रामाज्ञाग्रंथे। ३। १।' (ग) अहल्या, दंडकवन और कपटमृगको श्रीरामजीने चलकर कृतार्थ किया। ये तीनों निम्नकोटिके हैं जिनको चर्मचक्षुओंसे दर्शन हुआ। श्रीजानकीजी, श्रीभरतजी और श्रीशिवजी ये तीनों उत्तम सेवक हैं, उच्चकोटिके भक्त हैं जो चरणकमलकी सेवा रूपी भजन करते हैं; इनको श्रीरामजी सदा ध्यानमें प्राप्त रहते हैं। तात्पर्य कि महात्मा लोग चरणोंको हृदयमें लाकर उनको सेवते हैं और पातकीको प्रभु चरणोंसे चलकर

कृतार्थ करते हैं—ऐसे पतितपावन हैं। [विभीषणजी विचारते हैं कि मैं भी निम्नकोटिका होनेके कारण इन नेत्रोंसे श्रीचरणोंका दर्शन करूँगा। (श्रीजयरामदास दीन)]

वीरकवि—विभीषणजीके सभी मनोरथ साभिप्राय हैं। अरुण रजोगुणका सूचक है इससे राज्य पानेकी इच्छा और कोमलसे अल्पसाधनद्वारा मिलनेका अभिप्राय प्रकट होता है।

मा० त० सु०—(क) यहाँ अरुणका राज्यसम्बन्धी रजोगुणसूचक अर्थ असंगत है, क्योंकि तनिकभी वासना रहनेसे शुद्ध शरणागति नहीं होती, यथा गीतावली—'गयो छाँड़ि छल सरन रामकी जो फल चारि चार्यौं जनै' (५।४०)॥ पुनः, विभीषणजी ऐश्वर्यके उपासक हैं, अतः रजोगुण असंभव है। (नोट—अध्यात्म यु० स० २ में भी ऐसा ही कहा है। यथा—'विभीषणो रावणवाक्यतः क्षणाद् विसृज्य सर्वं सपरिच्छदं गृहम्। जगाम रामस्य पदारविन्दयोः सेवाभिकांक्षी परिपूर्णमानसः। ४६।' अर्थात् सन्तुष्टचित्त विभीषण रावणके कठोरभाषणसे एक क्षणमें ही समस्त सामग्रीके सहित अपने घरको छोड़कर भगवान् रामके चरणकमलोंकी सेवाकी कामनासे उनके पास चले गए।)। (ख)–'जे पद परसि....' यह दृष्टांत है। इसके द्वारा दार्ष्टान्त दिखाते हैं।–अहल्याकीसी बुद्धि मेरी है। (मा० म०)। वह तामसी बुद्धिसे नष्ट हुई, वैसे ही मैं बहिर्मुख हुआ। (ग) यहाँ विभीषणजीमें परम ऐकान्तिक प्रपन्नका लक्षण दिखाया है। अतः इनमें कुछ भी स्वार्थ-साधन आरोपित करनेसे वाल्मीकीय रामायणोक्त दीर्घ शरणागति व्यर्थ हो जाती है, यथा—'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः। ६।१७।१६।' 'परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च' (वाल्मी० ६।१९।५)। अर्थात् स्त्री, पुत्र, लंका, मित्र और धन आदि सब कुछ परित्याग कर दिया, अब मेरे ये सब कुछ आपही हैं। यह निरपेक्षता गीतावलीमें दिखाई है—'सपनो सो अपनो न कछू लखि लघु लालच न लुभाउँगो। कहिहौं बलि रोटिहा रावरो बिन मोल ही बिकाउँगो....। ५।३०।'

जे पद जनकसुता उर लाए। कपट कुरंग संग धर धाए॥ ७॥
हर उर सर सरोज पद जेई। अहो भाग्य मैं देखिहौं तेई॥ ८॥

अर्थ—जिन चरणोंको श्रीजानकीजी हृदयमें लाईं (धारण किया), जो कपटमृगके साथ उसे पकड़नेको दौड़े। ७। जो चरणकमल शिवजीके हृदयरूपी सरोवरमें निवास करते हैं—उन्हींको आज मैं (चर्म चक्षुओंसे) देखूँगा। अहो मेरा परम धन्य भाग्य है!!। ८।

नोट—१ मिलान कीजिए श्रीमद्भागवतके स्कं० ११ अ० ५ श्लोक ३३-३४ से—'ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्। भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्। त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्। मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्।॥ ३४॥'

२ 'उर लाये' अर्थात् संयोग, वियोग सर्वकाल हृदयमें धारण किए रहती हैं। इससे ऐकान्तिक स्नेह सूचित किया।

३ (क) हर-उर सर है, श्रीरामचरण कमल हैं, यह कहकर जनाया कि शिवजीका मन-भ्रमर इस कमलमें लुब्ध रहता है, यथा—'मन मधुकर पन करि तुलसी रघुपतिपदकमल बसैहौं', 'रामचरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू'। पुनः, कमल सदा सरमें ही रहता है, वैसे ही श्रीरामपदारविन्द निरंतर हर-उरमें रहते हैं। (ख) यहाँ परंपरितके ढंगका 'सम अभेद-रूपक अलंकार' है।

टिप्पणी—१ (क) जनकसुता और मृग दोनों कपट (माया) के हैं; यथा 'पुनि माया सीता कर हरना', 'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता।', 'तब मारीच कपट मृग भयऊ'; और दोनों छवि देखते हैं, यथा—'जेहि बिधि कपट कुरंग संग धाइ चले श्रीराम। सो छवि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम। ३।२९।', 'मन पाछे पर धावत धरे सरासन बान। फिरि-फिरि प्रभुहिं बिलोकिहौं धन्य न मो सम आन। ३।२६।' अतः दोनोंको साथ रखा। (ख)

* प्र० चं०—४१ (४, ५, ६, ८), 'जे पद०' पादाकुलक, 'कपट०' नयमालिनी।

श्रीशिवजी और श्रीभरतजी दोनों रामभक्तिके ज्ञाता हैं, यथा—'जानी है संकर हनुमान लषन भरत रामभगति।....। रामप्रेमपथ तें कबहुँ डोलति नहिं डगति। गी० २।८२।', 'राम रावरो सुभाउ गुन सील महिमा प्रभाउ जान्यो हर हनुमान लषन भरत। जिन्हके हिय सुथल रामप्रेम सुरतरु लसत सरल सुख फूलत फरत। वि० २५१।' शिवजी वैष्णवाग्रगण्य हैं, यथा 'वैष्णवानां यथा शम्भुः। भा० १२।१२।१६।' और श्रीभरतजी भी भक्तशिरोमणि कैसे हैं कि 'जहँ न जाइ मन बिधि हरिहर को'। दोनों परमोच्चकोटिके भक्त हैं। श्रीशंकरजी पूज्य हैं, श्रीराम और श्रीभरत उनका पूजन करते हैं, अतः उनको भक्तोंकी गणनामें सर्वत्र प्रथम रक्खा है, वैसे ही यहाँ भी प्रथम कहा। अतएव इन दोनोंको पास पास रखा। पुनः, (ग) दिखाया कि श्रीरामचरणमें सबका अधिकार है, स्त्री वा पुरुष कोई भी हो। पुरुषोंमें शिवजी, स्त्रियोंमें श्रीजानकीजी और अहल्याजी। श्रीजानकीजी तथा अहल्याजीके दृष्टान्तसे जनाया कि चाहे पतिव्रता हो चाहे व्यभिचारिणी दोनोंको अधिकार है। मारीच कपटी है, भरतजी और शिवजी निष्कपट हैं—इनके उदाहरणसे जनाया कि चाहे कपटी हो चाहे निश्छल दोनोंको अधिकार है। पुनः, दंडकवन जड़ है और अन्य सब चैतन्य हैं। दोनोंको कहकर जनाया कि जड़ हो वा चेतन दोनोंको अधिकार है।

रा० शं० श०—श्रीविभीषणजीके हृदयमें श्रीरघुवीरपदकमलसे लाभ उठानेवालोंकी पहले दो उपमाएँ आईं, पर संतोष न हुआ; क्योंकि उनकी गिनती महान्‌में नहीं है। अहल्या और दंडकवन दोनों जड़ थे। अतएव तीन और उपमाएँ हृदयमें आईं कि—जानकीजी आदिशक्ति हैं; वे भी इनका ध्यान करती हैं। दूसरे 'प्रभु समर्थ सर्वज्ञ सिव सकल-कला-गुन-धाम। जोग-ज्ञान-वैराग्य-निधि प्रनत कलपतरु नाम॥' ऐसे महादेवजी भी हृदयमें उन्हें बसाए रहते हैं और तीसरे भरतजी, जिनकी महामहिमा त्रिदेव, सरस्वती आदि भी नहीं कह सकते, उनके पादुकाओंमें ही निमग्न रहते हैं। (आगे दोहा ४२ भी देखिए)।

पाँडेजी—श्रीजनकनन्दिनीजीका नाम लेनेमें आशय यह है कि यदि दूर ही रक्खेंगे तो सीताजीकी भाँति उनके चरणोंको हृदयमें धारण करूँगा। मैं कपटी हूँ, कदाचित् त्याग करें? इसपर संतोष प्रकट करते हैं कि वे कपटी मृगके पीछे दौड़े हैं। परंपराकी ओर देखकर विचारते हैं कि हमारे कुलके गुरुदेव शिव भगवान्‌के हृदयमें बसते हैं, आज मैं उन्हींका दर्शन करूँगा, अहोभाग्य है।

टिप्पणी—२ 'अहो भाग्य' का भाव कि मेरा भाग्य जानकीजी, शिवजी और भरतजीसे भी अधिक है क्योंकि सब भगवान्‌के चरण ध्यानमें देखते हैं और मैं उन्हींको इन नेत्रोंसे देखूँगा।

३ पूर्व चरणोंको जलजात विशेषण दिया—'देखिहौं जाइ चरन जलजाता'। अब दिखाते हैं कि वह कमल किस तालाबमें हैं—'हर उर सर सरोज पद०'।

दो०—जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ।
ते पद आजु बिलोकिहौं इन्ह नयनन्हि अब जाइ* ॥ ४२॥

अर्थ—जिन चरणोंकी पादुकाओं (खड़ाऊँ) में श्रीभरतजीने मनको लगा रखा है, उन चरणोंको आज अब जाकर इन नेत्रोंसे देखूँगा। ४२।

टिप्पणी—१ 'भरत रहे' अर्थात् वे पादुकाएँ भरतजीको अवलंब हुईं, इसीसे वे (जीवित) रहे, नहीं तो न रहते, यथा—'सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पार पावउँ जेहि सेई। २। ३०७। ८।' 'मन लाइ' अर्थात् उसीमें मनबचनकर्मको लगाए हैं, यथा—'नित पूजत प्रभुपाँवरी' (कर्म), 'प्रीति न हृदय समाति' (मन), 'माँगि माँगि आयसु करत राजकाज बहु भाँति' (वचन)। २।३२५।' (ख) विभीषणजीको चरणोंके दर्शनका बड़ा उत्साह है, इसीसे बारंबार चरणोंके देखनेको कहा—'देखिहौं जाइ चरनजलजाता' (१)। 'अहो भाग्य मैं देखिहौं तेई' (२)। 'ते पद आजु बिलोकिहौं इन नयनन्हि अब जाइ (३)।

* प्र० चं०—वानर दोहा है।

'इन नयनन्हि' अंगुल्यानिर्देश है । तात्पर्य कि वे ध्यानमें देखते हैं और मैं प्रत्यक्ष देखूँगा । 'अब जाइ' का भाव कि जब कुसंग छूटे तब भगवान्के दर्शन हों ।

श्रीजयरामदासजी 'दीन'—यहाँ शरणागतिके छः विधान होनेके कारण ही छः भक्तोंका निर्देश हुआ है, यथा—'आनुकूलस्य सङ्कल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम् । रक्षिष्यतीतिविश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥ आत्मनिक्षेप-कार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः ॥' (नारद पञ्चरात्र)

अतएव अहल्याकी भाँति सर्वसङ्कल्पशून्य 'अनुकूल' सङ्कल्प, दण्डककी भाँति प्रतिकूलसे हानिकी शिक्षा ले 'प्रतिकूल वर्जन', श्रीजनकसुताकी भाँति 'रक्षाका अतीव विश्वास'; मारीचकी भाँति 'ते नररूप चराचर ईसा' से 'गोप्तृत्व वरण', श्रीशिव भगवान्की भाँति 'आत्म-समर्पण', और श्रीभरतकी भाँति कार्पण्यकी दृढ़ता की गयी ।

अहल्याके प्रथम स्मरणसे विभीषणके हृदयकी तत्कालीन सर्वोपाय-शून्यता तथा सब प्रकारकी दीनता, हीनता एवं जड़बुद्धिकी भावना प्रकट होती है । अहल्याकी शापावस्थासे उन्हें अपने विप्रशापका स्मरण हो जाता है, जिससे अपनेकोभी निश्चित अवस्वरूप समझ उनके हृदयमें आशाका सञ्चार होता है कि जिस प्रकार भगवान्ने निर्हेतु कृपाकर स्वयं जाकर अहल्याका उद्धार किया था वैसेही आज प्रभु यहाँ मेरा उद्धार करनेके लिये स्वयं पधारे हैं । इसी प्रकार शेष पाँच भक्तोंके स्मरणके तद्वत् ही भाव उनके हृदयमें उठते हैं, जिनका वर्णन करनेसे लेख बहुत बढ़ जायगा । इस स्थलपर सम्मान्य ग्रन्थकारके रचनापर मन न्यौछावर हो जाता है, उन्होंने तीन निम्न और तीन उच्च कोटिके जोड़े किस खूबीके साथ मिलाये हैं । निम्नकोटिके शापग्रस्त हुए अहल्या और दण्डकके जोड़ेको आदिमें रक्खा । उच्च कोटिके श्रीशिव और भरत-के जोड़ेको अन्तमें रक्खा; अब बचा एक जोड़ा, जिसमें एक परम उच्चकोटिकी श्रीसीताजी और दूसरा नीच कोटिका मारीच । इस जोड़ेको बीचमें रख दोनोंके बीचमें 'कपट' शब्द रख ऐसी योजना कर दी कि जिससे यह भेद खुल गया क्योंकि न तो असली जानकीजी हैं—'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता', और न असली मारीच ही है—'भयउ कपट मृग तेहि छलकारी' । बस, केवल कपटकी क्रीड़ा है !

पश्चात्—'हर उर सरसरोज पद जेई । अहोभाग्य मैं देखिहौं तेई ॥'

इस 'अहोभाग्य' से उनके हृदयका आह्लाद स्पष्ट है, तथा 'जे हर हिय नयनन्हि कबहुँ निरखे नहीं अघाय'—उन्हीं श्रीचरणकमलोंको आज मैं इन नयनोंसे देखूँगा !

वीरकविजी—यहाँ श्रीभरतजीके स्मरणसे ऐश्वर्य-मद त्यागकर निरंतर तपस्थलमें निवास कर चरणोंमें लय लगानेका मनसूबा बाँधते हैं ।

नोट—१ 'देखिहौं जाइ चरन जलजाता ॥....ते पद आज बिलोकिहउँ' इति । मिलान कीजिए विनयकेपद २१८ से—'कबहुँ देखाइहो हरि चरन ? समन सकल कलेस कलिमल, सकल-मंगलकरन ॥ सरद-भव सुंदर तरुनतर अरुन बारिज बरन । लच्छि लालित ललित करतल छबि अनूपम धरन ॥ गंग जनक, अनंग-अरि-प्रिय, कपटु बटु बलि-छरन । बिप्रतिय, नृग, बधिक के दुख दोष दारुन दरन ॥ सिद्ध सुर-मुनि-बृन्द बंदित सुखद सब कहुँ सरन । सकृत उर आनत जिन्हहिं जन होत तारन तरन ॥ कृपासिंधु सुजान रघुवर प्रनत-आरति-हरन । दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन ॥'

श्रीनंगे परमहंसजी—'जे पद परसि तरी....' इसमें विभीषणजीने श्रीरामजीके चरणोंका प्रताप सूचित किया है कि इन चरणोंका स्पर्श करके अघी अहल्या तर गई तो मैं भी तर जाऊँगा । जैसे दण्डक वन शापवश अपावन था और चरणस्पर्शसे पावन हो गया, वैसेही निशाचर वंशमें उत्पन्न होनेके कारण मैं अपावन हो गया हूँ सो आज चरणस्पर्श करके पावन हो जाऊँगा । जनकसुता, शिवजी और भरतजी इन तीनों भक्तोंसे श्रीरामजीका चरण सेवित कहकर विभीषणजी अपने भाग्यकी सराहना कर रहे हैं कि जो ऐसे बड़ों-बड़ोंके मनसे सेवित हैं उन चरण कमलोंको मैं बाह्य नेत्रोंसे देखूँगा ।

'जे पद जनकसुता उर लाये' इत्यादिमें जो 'पद शब्द है उससे केवल चरणका ध्यान समझना अयोग्य है क्योंकि श्रीसीताजी सर्वाङ्गका ध्यान करती हैं, यथा—'जेहि बिधि कपट कुरंग संग धाइ चले श्रीराम। सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम।' छबि शब्द सर्वाङ्गको सूचित करता है। इसी तरह श्रीशिवजी सर्वाङ्गका ध्यान करते हैं। यथा 'जो सरूप वस सिव मन माहीं', 'शंकर सोइ मूरति उर राखी'।

मा० त० सु०—(क) चरणोंकी अपेक्षा पादुका अति तुच्छ होती है; उनका अवलंब ऐसे महान् भरतजीने लेकर समग्र वैभवका तिरस्कार किया—ऐसा आनन्द उनको इनसे प्राप्त हुआ। (ख) 'आजु' का भाव कि जिनकी प्राप्तिके लिए मुनि लोग सर्वस्व त्यागकर नाना प्रकारके साधन करते हैं, यथा—'जिन्ह के चरन सरोरुह लागी। करत बिबिध जप जोग बिरागी'। ऐसे दुष्प्राप्य चरणकमलोंको मैं अल्पसाधन (केवल गमनमात्र) से अवलोकन करूँगा। (ग) 'इन नयनन्हि' अर्थात् इन्हें मुनि आदि ज्ञानवैराग्य-नेत्रोंसे देखते हैं मैं साक्षात् इन चर्मचक्षुओंसे देखूँगा। (घ) यहाँ 'नयनन्हि' बहुवचन पद देकर जनाया कि आज भगवद्दर्शनसे यथार्थ नेत्रवान् मैं ही हूँगा।

पाँचों उदाहरणोंके भाव—अहल्या और दंडकवनका शाप छूटा, मेरा ब्रह्मशाप छूटेगा और मैं आनंदको प्राप्त हो जाऊँगा—'पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं। ६। ११५।' श्रीजानकीजीकी तरह मैं अहर्निशि हृदयमें धारण करूँगा। प्रभुने कपटमृगके कपटको न स्मरणकर उसके अभीष्टको पूरा किया, वैसेही मेरे कपटमिश्रित भावको न स्मरण करके अभीष्ट पूर्ण करेंगे। हर मेरे गुरु हैं इस कारण मेरा परम्परागत सम्बन्ध है। अतएव जो मेरे गुरुके परमकल्याणकारक हैं उनको मैं जाकर देखूँगा। अहोभाग्य है! पुनः, भरतजी तो पादुकावलंबी हैं किन्तु मैं चरणावलंबी होऊँगा; अतः अहोभाग्य।

एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा। आएउ सपदि सिंधु येहि पारा॥ १॥

अर्थ—इस प्रकार प्रेमसहित विचार करते हुए (श्रीविभीषणजी) शीघ्रही समुद्रके इस पार आए॥१॥

नोट—१ विभीषणजीकी इस दशा और विचारोंसे अक्रूरजीकी दशा और विचारोंका मिलान करने योग्य है। दोनोंकी एकसी दशा हो रही है, अतः उसका कुछ अंश उद्धृत करते हैं—

'किं मयाऽऽचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः। किं वाथाप्यर्हते दत्तं यद्, द्रक्ष्याम्यद्य केशवम्॥ ३॥ ममैतद् दुर्लभं मन्य उत्तमश्लोकदर्शनम्। विषयात्मनो यथा ब्रह्मकीर्तनं शूद्रजन्मनः॥ ४॥ मैवं ममाधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनम्। ह्रियमाणः कालनद्या क्वचित्तरति कश्चन॥ ५॥ ममाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः। यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम्॥ ६॥ कंसो बताद्याकृत मेऽत्यनुग्रहं द्रक्ष्येऽङ्घ्रिपद्मं प्रहितोऽमुना हरेः। कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः पूर्वेऽतरन्यन्नखमण्डलत्विषा॥ ७॥ यदर्चितं ब्रह्मभवादिभिः सुरैः श्रिया च देव्या मुनिभिः ससात्वतैः। गोचारणायानुचरैश्चरद्वने यद् गोपिकानां कुचकुंकुमाङ्कितम्॥ ८॥....तं त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम्। रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं द्रक्ष्ये ममासन्नुषसः सुदर्शनाः॥ १४॥ (भा० १०। ३८)।'

महात्मा अक्रूरजी मनमें ऐसा विचार कर रहे हैं—'मैंने ऐसा कौनसा मंगल कर्म किया है, कौन महान् तप किया है, अथवा सत्पात्रको दान दिया है जो आज मुझे भगवान्‌के दर्शन होंगे। ३।....आज मेरा जन्म सफल हो गया कि मैं उन चरणकमलोंको साक्षात् नमस्कार करूँगा, योगी लोग जिनको ध्यानमें देखनेकी चेष्टा करते हैं, ध्यानमें जिनका यथार्थ दर्शन वे नहीं कर पाते। ६। यह कंसकी मुझपर बड़ी कृपा हुई कि मुझे उन प्रभुके पास भेजा....। ७। जिन चरणोंकी ब्रह्मा-शिवादि देवता, लक्ष्मीजी, और प्रेमी भक्तों सहित बड़े-

* प्र० चं०—'एहि०' चण्डी, 'आएउ' पायकुलक।

बड़े मुनि जिनकी आराधना करते हैं उनका मुझे साक्षात् दर्शन होगा। ८।'—यही सब 'अहो भाग्य मैं देखब सोई' का भाव है।

श्लोक ४, ५ में जो विचार हैं कि मुझ विषयासक्तको उनका दर्शन परम दुर्लभ है तथापि यह भी कोई बात नहीं, मुझे भी दर्शन हो सकते हैं, जैसे नदीमें बहते हुये तिनके भी कभी-कभी इस पारसे उसपार लग जाते हैं—ये 'देखिहउँ जाइ चरन जलजाता। जे पद परसि तरी रिषिनारी। दंडककानन पावनकारी' इन चौपाइयोंमें आ जाते हैं। जैसे पापिनी अहल्या और दण्डक वनको दर्शन प्राप्त हुआ और उनके सब पाप शाप मिट गए।

☞ यहाँतक 'अहोभाग्य मैं देखब सोई' वाले विचार हैं। दर्शन पानेपर क्या व्यवहार होगा वे मनोरथ आगे श्लोक १५ से २३ तक हैं।

टिप्पणी—१ मनोरथ करते चले थे और यहाँ अंतमें लिखते हैं कि विचार करते आए। इससे मनोरथ और विचार यहाँ पर्याय सिद्ध हुए।

२—मनोरथमें रामायण कही, पर काण्डक्रम इसमें नहीं रखा। इसका कारण 'सप्रेम' शब्दमें पूज्य कविने दरसा दिया है। प्रेममें नेम नहीं रहता। विभीषणजीका श्रीरामचरणमें प्रेम है और 'रामहिं केवल प्रेम पियारा'। इसीसे सप्रेम विचार करते हुए आए। और श्रीरामचरणदर्शनकी अति उत्कंठा है, इसीसे 'सपदि' (शीघ्र) आए। यथा—'बहु विधि करत मनोरथ जात लागि नहिं बार।.१।२०६।' जितनी देर विचारमें लगी, उतने हीमें पार पहुँच गए और श्रीरामचरणप्रेम तो शीघ्र ही भवसागर पार कर देता है, यह समुद्र कितना है ?

श्रीलमगोड़ाजी—हाँ; यह नियम अवश्य है कि पहले भक्त अपनेको पतित अवस्थामें समझकर 'पतितपावन' रूपका ही ध्यान करता है।

कपिन्ह बिभीषनु आवत देखा। जाना कोउ रिपुदूत बिसेषा॥ २॥
ताहि राखि कपीस पहिं आए। समाचार सब ताहि सुनाए॥ ३॥

अर्थ—वानरोंने विभीषणजीको आते देखा तो जान गए कि अवश्य यह शत्रुका कोई विशेष दूत है। २। उसे रोक (ठहरा) कर सुग्रीवके पास आए और सब समाचार उनको सुनाए। ३।

टिप्पणी—१ (क) ('आवत देखा' कहकर वानरोंकी सैन्य रक्षा और स्वाम्याज्ञापालनमें सावधानता सूचित की)। (ख) चार मंत्रियोंके साथ और बड़ा तेजस्वी देखकर विशेष दूत जाना और दूत जानकर मारा नहीं। ['विशेष दूत' क्योंकि चार शस्त्रधारी वीर (मंत्री) भी साथ हैं और सभी आभूषणोंसे भूषित हैं। यथा—'ये चाऽप्यनुचरास्तस्य चत्वारो भीमविक्रमाः। तेऽपि सर्वायुधोपेता भूषणैश्च विभूषिताः—(वाल्मी० ६।१७।३)] (ग) रिपुदूत इससे जाना कि वे समुद्र पार लंकाकी ओरसे आए हैं, आकाशमार्गसे निरवलंब आते देखा और वेष भी राक्षसका है। विभीषणजी निष्कपट हैं इसीसे उन्होंने अपना रूप नहीं बदला, असली रूपसे ही आए। सिंधुके पार आकर पृथ्वीपर उतर पड़े, पैदल ही श्रीरामजीके पास चले तब वानरोंने रोका। (घ) 'कोउ रिपुदूत बिसेषा'—यद्यपि विभीषणजीने बता दिया है कि हम रावणके भाई हैं, श्रीरामजीके दर्शनको आए हैं। पर उन्हें विश्वास न हुआ, यही जाना कि कोई दूत है, भाई नहीं है और न मिलने आया है। अतः 'कोउ' पद दिया और उसे कटकमें न आने दिया, बाहर ही रोक रक्खा।

२ (क) 'ताहि राखि कपीस पहिं आए' इति। इससे ज्ञात होता है कि श्रीरामजी और सुग्रीवजी सेनाके बीचमें हैं। इसीसे उन्होंने विभीषणको आते नहीं देखा। वानर चारों ओरसे दलकी रक्षा कर रहे हैं, उनकी सब तरफ दृष्टि है; इसीसे उन्होंने आते देख लिया। (ख) 'समाचार सब ताहि सुनाए' से जनाया कि वानरोंने उनसे आनेका समाचार पूछा और उन्होंने सब बताया। क्या समाचार है ? यह यहाँ नहीं

प्र० चं०—'कपिन्ह०' तामरस, 'जाना०' (३, ४) पायकुलक।

खोला, समाचारका खुलासा श्रीरामजीके सामने सुग्रीवके वचनोंमें कहा है—'आवा मिलन दसानन भाई'। बारंबार लिखनेसे ग्रंथ बढ़ जाता, इससे एक ही जगह लिखा।

नोट—वाल्मी० ६।१७ में उन्होंने जो अन्तरिक्षमें स्थित होकर कहा है—'रावणो नाम दुर्वृत्तो राक्षसो राक्षसेश्वरः। तस्याहमनुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः। १२।....सोऽहं परुषितस्तेन दासवच्चावमानितः। त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः। १६। सर्वलोकशरण्याय राघवाय महात्मने। निवेदयत मां क्षिप्रं विभीषणमुपस्थितम्। १७।' अर्थात् 'राक्षसोंके राजा दुष्ट रावणका मैं छोटा भाई हूँ, विभीषण नाम है। उसने दुर्वचन कहकर दासके समान मेरा अपमान किया। मैं स्त्री-पुत्रादि सबका त्यागकर श्रीराघवकी शरण आया हूँ। सब लोकोंको शरण देनेवाले महात्मा श्रीराघवसे आप निवेदन कर दें।' वही यहाँ वानरोंसे कहना समझ लें। गीतावलीमें विभीषणजीने ऐसा ही श्रीरामजीसे कहा है। यथा—'बंधु अपमान गुरु गलानि चाहत गरन। पतित पावन प्रनतपाल करुना सिंधु! राखिए मोहि सौमित्रि सेवित चरन। ५।४३।', 'तुम्हरे रिपुको अनुज बिभीषन बंस निसाचर जायो।....५।४४।' ['सुनाये' का भाव कि विना आज्ञा लिए किसी आगन्तुकको राजाके पास ले जाना नीति विरुद्ध है, यथा—'भूपद्वार तिन्ह खबर जनाई। दसरथ नृप सुनि लिये बोलाई। १।२६०।', 'तुरत निसाचर एक पठावा। समाचार रावनहि जनावा। ६।१६।१।' (मा० त० सु०)]

लमगोड़ाजी—नाटकीय कलाके हिसाबसे भी यहाँ उचित है, नहीं तो उत्कण्ठा भङ्ग हो जाती।

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। आवा मिलन दसानन भाई॥ ४॥

अर्थ—सुग्रीवजीने कहा—हे रघुराई! सुनिये, रावणका भाई मिलने आया है। ४।

टिप्पणी—१ (क) इन शब्दोंसे ज्ञात होता है कि वानरोंने विभीषणजीसे पूछा और उन्होंने सब हाल बताया कि मैं रावणका भाई हूँ, मेरा अपमान हुआ तब मैं शरणमें आया हूँ। (ख) यहाँ सुग्रीवका श्रीरामजीके पास आना नहीं लिखा पर इसका अध्याहार ऊपरसे कर लेना चाहिए कि जैसे वानर सुग्रीवके पास गए वैसे ही सुग्रीव श्रीरामजीके पास आए। यदि कहें कि दोनों एक ही जगह बैठे थे तो शंका होती है कि जब वानरोंने सुग्रीवसे कहा तब श्रीरामजीने भी सुन लिया, सुग्रीवके कहनेकी आवश्यकता ही कहाँ रही? वानरराज सुग्रीव हैं और सुग्रीवके राजा रामजी हैं। इसीसे 'कपीस' और 'रघुराई' पद दिए। वानरोंने सुग्रीवसे कहा और सुग्रीवने रामजीसे [जहाँ राजाओंके अनुकूल काम करनेका भाव होता है वहाँ 'रघुराई' शब्द ग्रन्थकारने प्रयुक्त किया है, यथा—'इहाँ प्रात जागे रघुराई। पूछा मत सब सचिव बोलाई। ६।१४।१।' 'सुनहु रघुराई' का भाव कि आपको नीतिका अवलंबन करना आवश्यक है। (मा० त० सु०)]

२ 'आवा मिलन दसानन भाई' में भाव यह है कि इससे क्या हित हो सकता है, रावणने कुछ छल सोचकर किसी उपायसे इसे भेजा है। सुग्रीवके अन्तःकरणका यह अभिप्राय उनके शब्दोंसे झलक रहा है। 'दशाननभाई' का भाव कि आपका प्रबल शत्रु है। दशाननवालेके भाईको एकाननवालेसे क्या प्रयोजन है, इसमें कुछ कपट रहस्य अवश्य है। (पां; प्र०)। दशाननके भाईको दूसरा दशानन जानना चाहिये।

कह प्रभु सखा बूझिए काहा। कहै कपीस सुनहु नरनाहा॥ ५॥
जानि न जाइ निसाचर माया। काम रूप केहि कारन आया॥ ६॥
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा†॥ ७॥

अर्थ—प्रभुने कहा—हे सखे! आपका क्या विचार (राय) है? सुग्रीव ने कहा—हे राजन्! सुनिए। ५। निशाचरकी माया जानी नहीं जाती, ये कामरूप (इच्छारूप धरनेवाले) होते हैं, न जाने किस कारण आया है। ६। यह शठ हमारा भेद लेने आया है। मुझे तो यही अच्छा जान पड़ता है कि इसे बाँध

† प्र० चं०—'कामरूप०' स्वागता, 'जानि०', (७, ८, ९) पायकुलक।

रखिये (अर्थात् बाँध रखनेसे न इसकी माया लगेगी, न इसका कामरूप होना कुछ काम देगा, न इसे कुछ भेद लगेगा, जो कुछ विचार करके आया है उसका वह विचार ही नष्ट हो जायगा)। ७।

टिप्पणी—१ 'कह प्रभु सखा बूझिए काहा....' इति। [(क) 'प्रभु' का भाव कि सर्वशक्तिमान् हैं, राक्षसों तथा उनकी मायाका नाश करनेमें सदा समर्थ हैं तथापि नीतिका पालन करते हैं, इसीसे मंत्री सखासे पूछते हैं। इस मिष शरणागतिका रहस्य कहेंगे]। सुग्रीवजी नीति कहते हैं, इसीसे 'कपीश' कहा। नरनाहा का भाव कि आप सब नीति जानते हैं, आप नीतिका पालन करें। (ख) सुग्रीवके हृदय का अभिप्राय चौपाई से दर्शित हो रहा है। श्रीरामजी पूछते हैं कि सखे! इस बातको सोचिए कि क्या बात है? इसपर सुग्रीवको उचित था कि रामजीकी बड़ाई करके तब कहते। यथा—'अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही। मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी। ३।१३।३-४।' इस प्रकार प्रश्न करनेपर अगस्त्यजीने प्रथम उत्तरमें ऐश्वर्य कहकर तब पीछे मंत्र कहा, यथा—'है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ....।' इसी प्रकार वाल्मीकिजीने भी प्रथम रामजीकी बड़ाई की तब चित्रकूटमें निवास करनेको कहा और आगे विभीषणजीभी समुद्र पार होनेकी सलाह पूछे जानेपर प्रथम यह कहकर कि 'कोटिसिंधु सोषक तव सायक। जद्यपि' तब कहा कि 'तदपि नीति अस गाई' इत्यादि। पुनः, लंकामें पहुँचनेपर जब प्रभुने 'पूछा मत सब सचिव बोलाई। कहहु बेगिका करिय उपाई' तब 'जामवंत कह पद सिर नाई। सुनु सर्वज्ञ सकल उरबासी। बुधि बल तेज धर्म गुनरासी। मंत्र कहौं निज मति अनुसारा। दूत पठाइए बालिकुमारा। ६। १७।'—यह रीति मंत्र देनेकी है। सुग्रीवने इस रीतिका पालन नहीं किया, बड़ी जल्दी विभीषणजीके दोष कहने लगे; इसीसे इनका वचन खंडित हुआ, यथा—'सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी।'

नोट—१ मिलान कीजिये—'अन्तर्धानगता ह्येते राक्षसाः कामरूपिणः। शूराश्चनिकृतिज्ञाश्च तेषु जातु न विश्वसेत्। वाल्मी० ६।१७।२१। प्रविष्टः शत्रुसैन्यं हि प्राज्ञः शत्रुरतर्कितः। निहन्यादन्तरं लब्ध्वा उलूको इव वायसान्। २८। छादयित्वात्मभावं हि चरन्ति शठबुद्धयः। प्रहरन्ति च रंध्रेषु सोऽनर्थः सु महान्भवेत्।४०।', 'रावणेन प्रणिहितं तमवेहि विभीषणम्। ६।१८।१७।' अर्थात् राक्षस कामरूप और बलवान् होते हैं, कूट उपायसे वे दूसरेका बुरा किया करते हैं, उनपर विश्वास न करना चाहिये। यह शत्रुकी ओरका कोई भेदिया है जो असावधानीसे हमारे सेनामें घुसकर अवसर पाकर हमलोगोंको मार डालेगा, जैसे उल्लू कौवेको मार डालता है। क्रूर राक्षस अपने मनका भाव छिपाये घूमा करते हैं और समयपर ऐसा प्रहार करते हैं कि वह महाभयंकर हो उठता है। यह निश्चय ही रावणका भेजा हुआ है। अतः मेरी रायमें इसको दंड देना चाहिए। यह जो वाल्मी० में कहा है वह सब 'जानि न जाइ....भावा' की ही व्याख्या समझिए।

टिप्पणी—२ 'कामरूप केहि कारन आया' अर्थात् निशाचर लोग अनेक रूप धरकर छल करते हैं जैसे रावण मारीच आदिने किया। 'जानि न जाइ' सबके साथ है, उनकी न तो माया समझ पड़े न रूप, न काम जान पड़े न प्रयोजन कि क्यों यह आया। आनेका कारण जानना असंभव है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि भेद लेनेको आया है। यहाँ रावणका इसे भेजना स्पष्ट नहीं कहा, पर आगेके 'भेद लेन पठवा दस-सीसा' से यह भाव सिद्ध होता है। [यदि प्रभु कहें कि यह परमधर्मात्मा है, मेरा हितैषी है, मैं जानता हूँ, यथा—'मैं जानौं तुम्हारि सब रीती....', तो इसपर सुग्रीवजीने 'कामरूप' पद दिया। अर्थात् इनके विभीषण होनेमें भी सन्देह है, कदाचित् कोई राक्षस विभीषणका रूप धारणकर कोई प्रयोजन साधनेके लिए यहाँ आया हो। अतः यहाँ आनेका कारण विचारमें नहीं आता, मैं अपनी बुद्धिके अनुसार नीति कहता हूँ। यह भ्राता बनकर भेद लेने आया है कि रघुनाथजी रावणका भेद पानेके लोभसे उससे निरस्कृत मुझको अवश्य ग्रहण कर लेंगे। तब मैं इनके गुप्त भेदोंको जानकर रावणको सचेत कर दूँगा। (मा० त० सु०)। अंगद या देश देशके यूथपोंमें फोड़फाड़ न कर दे, भेद न डाल दे। (पं०, पां)]।

३ (क) दो बातोंका विचार है; वही सुग्रीव कहते हैं कि यदि यह मिलने आया हो तो रखने योग्य

नहीं; क्योंकि 'जानि न जाइ निसाचर माया....'। तात्पर्य यह कि राक्षस मायावी होते हैं; न जाने मिलकर क्या छल करे; हमारे दलमेंसे किसीका रूप धरकर न जाने क्या काम बिगाड़े। जो काम करने आया है वही करनेके लिए यह मिलनेका बहाना करता है। वस्तुतः यह मिलने नहीं आया, यह छली है, भेद लेने आया है। (ख) बाँधनेकी राय दी, क्योंकि हनुमान्‌जी बाँधे गये थे।

श्रीलमगोड़ाजी—आगेके परामर्शमें कितनी विचारोंकी स्वतंत्रता है और अनेक दृष्टिकोणोंका एक दूसरेके प्रति कितना आदर भाव!

प० प० प्र०—१ मानसके सुग्रीवको जो शंका हुई है उसके लिये पर्याप्त स्थान है। वे जानते हैं कि हनुमान्‌जी और विभीषणजीकी मित्रता है। यहाँ इस शंकासे सुग्रीवजीकी नीतिनिपुणता, दूरदर्शिता, सावधानता, रामकार्यतत्परता और वानरोंके कुशलकी चिंता, इत्यादि अनेक गुण दर्शित किये गए हैं।

२ भेद तीन प्रकारका कहा गया है। यथा—'स्नेह रागापनयनं संहर्षोत्पादनं तथा। संतर्जनं च भेदज्ञै भेदस्तु त्रिविधः स्मृतः। अमरव्याख्यासुधा।'

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भय हारी॥ ८॥
सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना। सरनागत बच्छल भगवाना॥ ९॥

अर्थ—हे सखा! तुमने नीति अच्छी विचारी। (पर) शरणागतका भय हरण करना, यह मेरा पण है। ८। प्रभुके वचन सुनकर हनुमान्‌जी हर्षित हुए कि भगवान् शरणागतवत्सल हैं। ९।

मा० त० सु०—१ सखाका भाव कि तुम हमारे शत्रुपक्षका बल विचारने और मेरा कार्य सुधारनेमें तत्पर हो, यथा—'बल अनुमान सदा हित करई'। मित्रवाचक शब्द सखा, सुहृद, बंधु और मित्र चारों हैं, पर इनके अर्थोंमें कुछ (सूक्ष्म) भेद है। वियोगको न सहनेवाला बन्धु, समान वय और बलवाला सखा, एक प्रकारके काममें रहनेवाला मित्र और सदा साथ रहनेवाला सुहृद कहलाता है।

नोट—१ 'सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी' का भाव कि आपने जो कहा है ऐसा वही कह सकता है जिसने बहुत काल तक बुद्धिमान् पुरुषोंकी सेवा की हो और शास्त्रोंका अध्ययन किया हो। यथा 'अनधीत्य, च शास्त्राणि वृद्धाननुपसेव्य च। न शक्यमीदृशं वक्तुं यदुवाच हरीश्वरः। वाल्मी० ६। १८। ८।'

टिप्पणी १—सुग्रीवजीके वचनोंका खंडन प्रभु बड़े माधुर्यके साथ कर रहे हैं। उनकी खातिरी करते हैं जिसमें वे उदास न हों, क्योंकि वे सखा हैं। उनने अपनी मतिके अनुकूल हित कहा है, जैसा सखाका धर्म है वैसा ही, हितकी बात विचारकर, उन्होंने कहा। उनकी खातिरीके लिए प्रभु उनके विचारको 'नीकि' कहते हैं। राय अच्छी है, नीतिके अनुसार है, यह कहकर फिर शरणागति-धर्म समझाते हैं—यह रामजीके स्वभावकी सुन्दरता ग्रन्थकार दिखा रहे हैं। तुमने नीति विचारा और मेरा पण 'शरणागत भयहारी' है। यथा–'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम। वाल्मी० ६। १८। ३३, अ० रा० ६। ३। १२।' अर्थात् मेरा यह नियम है कि जो कोई एक बारभी मेरी शरण आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर अभय माँगता है, मैं उसे समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ। यदि मैं शरणमें न रखूँ तो मेरा प्रण जाता रहेगा और प्रतिज्ञा भंग होनेसे पाप होगा जैसा कि आगे दोहेमें कहते हैं–'सरनागत कहँ जे तजहिं निज अनहित०'। [भयहारी, यथा—'मायासंभव भ्रम सब अब न ब्यापिहैं तोहि। जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि', 'काल कर्म गुन दोष सुभाऊ। कछु दुख तुम्हहिं न ब्यापिहि काऊ।' पुनः भाव कि मेरा प्रण नष्ट हो जायगा और एक विभीषणके फिरनेसे सब सन्त निराश हो जायँगे। (मा० म०)] नीतिके प्रतिकूल चलनेसे हानि होती है; इसका समाधानभी आगे करते हैं कि 'भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा॥ जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिष महँ तेते।'

२ 'सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना।....' इति। सुग्रीव वानरराज हैं, इससे हनुमान्‌जी उनके बचनका

खण्डन न करसके, पर सुनकर बहुत दुःखी हुए। जब श्रीरामजीने उनके वचनका खण्डन करके शरणागतिको मुख्य रखा तब सुखी हुए। वे विभीषणजीकी साधुता जानते हैं।

नोट—२ 'हरष हनुमाना' इति। प्रभुकी भक्तवत्सलता और स्वभाव इन्होंने विभीषणजीसे कहा था (यथा—'अस मैं अधमसखा सुनु मोहू पर रघुबीर। कीन्ही कृपा०' इत्यादि) यह पूर्व उस प्रसंगमें दिखा आए हैं। यदि अब प्रभु शरणमें न लेते, सुग्रीवकी बातपर चलते, तो भगवान्पर भी धब्बा आता। अतः हर्ष हुआ। पुनः, भगवान्के मुखारविन्दसे उनकी 'भक्तवत्सलता' की प्रतिज्ञा सुनी और यह भी जानकर कि ये केवल भक्तवत्सल ही नहीं किन्तु भगवान् हैं, सब कुछ दे सकते हैं—इन सब कारणोंसे हर्ष हुआ।

प० प० प्र०—(१) सुग्रीवका मत सुनकर विषाद हुआ था। कारण कि जिसने रामकार्यमें सहायता की, सीताजीका पता बताया, उसका त्याग करनेसे प्रभुकी अपकीर्ति होगी। कृतघ्नतारूपी दोष लगेगा। (२) यह कहना, कि हनुमान्जीने जो विभीषणसे कहा था वह सत्य हो गया इससे उनको हर्ष हुआ, यह सूचित करता है कि कहनेवालेको उनके स्वभावका मर्म समझमें नहीं आया है। भक्तको अपने यश अपयशके लिये शोक नहीं होता। वह 'अपना' ऐसा कुछभी मानता ही नहीं। इसीसे तो विभीषणके 'बिप्र कहहु निज कथा बुझाई' ऐसा कहनेपरभी 'तब हनुमंत कही सब राम कथा', अपना चरित्र नहीं कहा।

प्र०—हनुमान्जी इस रहस्यके ज्ञाता हैं, अतः उनको हर्ष हुआ।

नोट—३ बच्छल=वत्सल। 'शरणागत वत्सल' का भाव कि जैसे नई ब्यायी हुई गाय अपने बछड़ेके मलको स्वयं शुद्ध कर देती है, और अपने बच्चेके पीछे अति स्नेहसे दौड़ती है, उसकी रक्षा करती है, वैसेही भगवान् अपने भक्तको शुद्ध कर लेते हैं और शरणागतकी रक्षामें सदा तत्पर रहते हैं। ऐसा करनेमें वे समर्थ हैं, क्योंकि वे भगवान् हैं। षडैश्वर्य सम्पन्न हैं।

दो०—सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि ॥४३॥*

अर्थ—जो लोग अपना अनहित विचारकर शरणागतका त्याग करते हैं वे मनुष्य नीच हैं, पापमय हैं, उन्हें देखतेही हानि होती है। ४३।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ शरणागतके त्यागका दोष दिखाते हैं। इसमें ध्वनि यह भी है कि जो अपने हितकी हानिभी करके शरणागतकी रक्षा करते हैं वे धर्मात्मा हैं। उनके दर्शनसे पुण्य होता है। (ख) सुग्रीवजीने हितकी हानि विचारकर राय दी थी कि इसे बाँध रखो। उसपर प्रभु कहते हैं कि तुम इनके रखनेसे हमारे हितकी हानि समझते हो, यह अनुमान मात्र है, वस्तुतः इनसे हमारे हितकी हानि कुछ नहीं है। दूसरे अनहित होता भी हो तो भी उसके विचारसे यदि हम इन्हें शरणमें न लें तो बड़ा भारी पातक होगा, शरण आए हुएका त्याग करनेवालेके दर्शनमात्रसे दूसरोंको पाप लग जाता है तब त्याग करनेवालेके पापका क्या अंदाजा किया जा सकें। (ग) 'पाँवर' का भाव कि यह तो इसे बड़ा समझकर इसकी शरण आया और इसने न रखा, तब यह बड़ा कैसा? यह तो छोटा है, नीच है, तभी तो न रख सका। यह पापमय है, महापातकीके संसर्गसे पातक होता है, अतः कहा कि उसे 'बिलोकत हानि' है।

---

* 'त्यजति किल तं जयश्रीर्जहति च मित्राणि बन्धुवर्गश्च। भवति च सदोपहास्यो यः किल शरणागतं त्यजति॥' (मृच्छकटिके)। अर्थात् शरणमें आए हुएका त्याग करनेवालेको जयश्री छोड़ देती है और उसके मित्र और बंधु भी उससे विमुख हो जाते हैं, उसका सदा उपहास होता है। दोनों असम वाक्योंके अर्थमें भिन्नता रहते हुए भी समता भाव सूचक आरोप होना 'प्रथम निदर्शन अलंकार' है।

व्र० चं०—४३ कच्छ दोहा है।

नोट—१ मिलान कीजिए—'धर्मो हि महतामेव शरणागतपालनम्। शरणागतं च विप्रं च रोगिणं वृद्धमेव च। य एतान्न च रक्षन्ति ते वै ब्रह्महणो नराः। ५३। शरणागतशब्देन आगतस्तव सन्निधौ। संरक्षणीयः पोष्यश्च त्वया नास्त्यत्र संशयः॥५४॥' (स्कन्द पु० माहेश्वर-केदारखण्ड ९)। देवर्षि नारदजीने राजा बलिसे कहा कि 'शरणमें आये हुएकी रक्षा करना महापुरुषोंका धर्म है। जो लोग ब्राह्मण, रोगी, वृद्ध तथा शरणागतकी रक्षा नहीं करते वे ब्रह्महत्यारे हैं। इन्द्र इस समय 'शरणागत' शब्दसे अपना परिचय देते हुए तुम्हारे समीप आये हैं। अतः इनका भलीभांति रक्षण और पोषण करना तुम्हारा कर्तव्य है, इसमें तनिक भी संदेहकी बात नहीं है। इस श्लोकमेंका 'ते वै ब्रह्महणो नराः' मानसका 'ते नर पापमय' है। महापातकी चार कहे गए हैं। उनमेंसे ब्रह्महत्यारा सर्वप्रथम रखा गया है। यथा 'ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः। एते महापातकिनो यश्च तैः सहसंवसेत। याज्ञवल्क्य स्मृति प्रायश्चित्ताध्याय।' उपर्युक्त श्लोकमें 'ब्रह्महणो' कहकर शरणागतका त्याग करनेवालेको महापातकी कहा। मानसमें 'पापमय' कहकर जनाया कि वह महापातकीसे बढ़कर पापी है।

नोट—२ 'निज अनहित अनुमानि' कहकर जनाया कि अपना अहितभी होता हो तब भी शरणागतका त्याग नहीं ही करना चाहिए, केवल अहितकी शंकाकी तो बात ही क्या? उसके ग्रहण करनेमें हित अनहितका विचार करना ही न चाहिए। बिना किसी विचारके शरणागतका कदापि त्याग न करना चाहिए। इस संबंधमें श्रीरामजीने सुग्रीवजीसे एक इतिहास कहा है—एक व्याधाने वनमें एक कबूतरीको पकड़ा, इतनेमें तीव्र वर्षा हुई। व्याधा भूख और शीतसे अत्यन्त व्याकुल उसी वृक्षके नीचे आया जिसपर वह कबूतर रहता था जिसकी कबूतरीको उसने पहले ही पकड़ा था। कबूतरने अपनी शरणमें आये हुए उस शत्रुको शीतसे आर्त देख सूखे तिनकेका घोंसला गिराकर और कहींसे अग्नि और तिनके लाकर उसका शीत निवारण कर फिर उसकी क्षुधा निवारणार्थ स्वयं अग्निमें कूद पड़ा। यथा—'श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः। अर्चितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमंत्रितः। वाल्मी० ६।१८।२४।' यह इतिहास कहकर श्रीरामजीने कहा कि जब एक पक्षीने शरणमें हुए अपनी भार्याको मार डालनेवाले शत्रु व्याधाका निरादर न करके यथाविधि उसका सम्मान ही किया तब मनुष्य होकर मैं शरणमें आए हुए शत्रुको कैसे त्याग सकता हूँ?

इस सुने हुए इतिहासको कहकर फिर उन्होंने धर्मिष्ठ सत्यवादी परमर्षि कण्डुजीके वाक्य कहे—'बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्॥ न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परन्तप। आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः॥ अपि प्राणान्परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना। तं चेद्भयाद्वा मोहाद्वा कामाद्वापि न रक्षति॥ स्वया शक्त्या यथान्यायं तत्पापं लोकगर्हितम्। विनष्टः पश्यतोयस्यारक्षितुः शरणागतः॥ आदाय सुकृतं तस्य सर्वं गच्छेदरक्षितः। वाल्मी० ६।१८।२७–३१।' अर्थात् कोई भी जो हाथ जोड़े हुए दीन भावसे शरणमें आये, चाहे वह शत्रु ही क्यों न हो, तो धर्मरक्षार्थ उसे मारना न चाहिए। शत्रु आर्त हो वा अहंकारयुक्त हो पर यदि वह कातरभावसे शरणमें आए तो प्राण देकर भी उसकी रक्षा करनी चाहिए। यदि भय वा मोह आदिके कारण मनुष्य शरणागतकी रक्षा नहीं करता तो वह पापग्रस्त और निन्दित होता है। यदि शरणागतकी रक्षा न करनेसे उसका नाश हो जाता है तो उसकी रक्षा न करनेवालेके समस्त पुण्य उस शरणागतको प्राप्त हो जाते हैं।

यह जो श्रीरामजीने सुग्रीवजीसे कहा है वह सब गोस्वामीजीने इस दोहेसे सूचित कर दिया है। शरणमें आना किसे कहते हैं यह भी यहाँ बता दिया है।

श्रीभरताचार्यजीने शरणागतिके ये लक्षण कहे हैं 'अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः।' (सि० ति० से उद्धृत श्लोक)। अर्थात् अपने अभीष्टको अन्य उपायोंसे सिद्ध होता न देखकर महाविश्वासपूर्वक 'आपही मेरे उपाय हैं' ऐसी प्रार्थना करना शरणागति है।

परमर्षि कण्डुकी धर्मगाथा 'सरनागत कहुँ०' इस दोहेकी पूरी व्याख्या है। 'ते नर' में कपोतका इतिहास कहकर जो श्रीरामजीने कहा है 'सहितं प्रतिजग्राह भार्याहर्तारमागतम्। कपोतो वानरश्रेष्ठ किं पुन-

मद्विधो जनः । २५ ।' उसका भाव जना दिया है । अर्थात् शरणमें न लेनेसे हम मनुष्य कहलाने योग्य नहीं रह जायँगे, हम तो पशु-पक्षीसेभी गए-बीते समझे जायँगे ।

'तिन्हहिं बिलोकत हानि' में परमर्षि कण्डुजीके 'तत्पापं लोकगर्हितम्' का भाव है। भाव कि विभीषणका त्याग करनेसे हम लोकमें ऐसे निंदित हो जायँगे कि कोई हमारा मुख न देखना चाहेगा। और जो शरणागतका त्याग करता है मैं उसका मुख नहीं देखता तब भला मैं स्वयं शरणागतका त्याग कैसे कर सकता हूँ ?

कोटि बिप्र बध लागहि जाहू । आए सरन तजौं नहिं ताहू ॥ १ ॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥ २ ॥
पापवंत कर सहज सुभाऊ । भजनु मोर तेहि भाव न काऊ† ॥ ३ ॥

अर्थ—जिसे करोड़ों ब्राह्मणोंका वध (हत्या) भी लगा हो उसे भी शरण आनेपर मैं नहीं त्याग करता । १ । जीव जभी मेरे सम्मुख होता है उसके करोड़ों जन्मोंके पाप तभी (उसी समय) नष्ट हो जाते हैं । २ । पापीका यह सहज स्वभाव है कि मेरा भजन उसे कभी नहीं भाता । ३ ।

टिप्पणी १—'कोटि विप्रवध लागहिं जाहू....' इति । भाव यह कि शरणागतके त्याग करनेवालेका तो मैं मुख नहीं देखता पर जिसे अगणित ब्रह्महत्याएँ भी लगी हों उसे शरणमें ले लेता हूँ क्योंकि जिन्होंने शरणागतकी रक्षा न की वे तो पापमय हो गए हैं—'ते नर पाँवर पापमय'—और कोटिविप्रवध करनेवाला पापमय नहीं हुआ । इसे जो पाप लगा है उसे मैं छुड़ा सकता हूँ, यही बात आगे कहते हैं-'सनमुख होइ....' । इससे जनाया कि शरणागत भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है । [गी० सुं० ४५ में प्रभुने अपना जो सहज स्वभाव कहा है, उसे 'आए सरन....' की व्याख्या समझिए—'सत्य कहौं मेरो सहज सुभाउ। सुनहु सखा कपिपति लंकापति तुम्ह सन कवन दुराउ ॥ १ ॥ सब विधि हीन दीन अति जड़मति जाको कतहुँ न ठाँउ । आये सरन भजौं न तजौं तिहि यह जानत रिषिराउ ॥ २ ॥ जिन्ह के हौं हित सब प्रकार चित नाहिन और उपाउ । तिन्हहिं लागि धरि देह करौं सब डरौं न सुजस नसाउ ॥ ३ ॥ पुनिपुनि भुजा उठाइ कहत हौं सकल सभा पतिआउ । नहिं कोउ प्रिय मोहि दास सम कपट प्रीति बहि जाउ ॥ ४ ॥ सुनि रघुपतिके बचन बिभीषन प्रेम मगन मन चाउ । तुलसिदास तजि आस त्रास सब ऐसे प्रभु कहँ गाउ ॥ ५ ॥ ॥']

मा० त० सु०—अरण्यकांडमें तो यह कह आए कि 'मोहि न सुहाइ बिप्रकुलद्रोही' और यहाँ उसके विपरीत कहते हैं कि 'कोटिविप्र वध लागहिं जाहू । आए सरन तजौं नहिं ताहू'। यह कैसा ? समाधान—वहाँ उन जीवोंके लिए प्रवृत्तिमार्गमें वैसा उपदेश है जो सामान्य वर्णाश्रमधर्ममें प्रवृत्त हैं और यहाँ सर्वपरित्यागपूर्व निवृत्तिमार्ग (भगवच्छरणागति) विषयक अभिप्राय है ।

गौड़जी—कबन्धके प्रसंगमें जब उसने शाप देनेवाले ऋषिकी तिरस्कारवाली बात कही तो उसपर भगवान्‌ने अपना स्वभाव बतलाया कि मुझे ब्रह्मकुलद्रोही नहीं सुहाता; यह तो बिलकुल ठीक ही है । उस प्रसंगमें यह तो नहीं कहा है कि जिसे विप्रवध लगा हो वह शरणमें आवे तब भी न रखूँगा । पापी प्राणी तो कभी भगवद्‌शरणागतिमें आही नहीं सकता, पाप करके जो पछताता कि हा ! मैंने यह घोरकर्म कैसे कर डाला ! अब मुझे भगवच्छरण छोड़कर और कहाँ गति है, ऐसा सोचकर जो शरणागत होता है,—गुनाह-के बाद तोबा करके जो प्रभुके पास जाता है, उसे प्रभु त्याग नहीं करते । कबन्ध यदि शरणमें आया होता तो बात दूसरी थी; वह तो वरके प्रभावसे भगवान्‌के करकमलोंसे मुक्त हुआ । वह शरणागत भक्त नहीं था । रही पापवाली बात; उसके सम्बन्धमें तो श्रीगीताजीमें साफ़ है—'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्य-

† 'कोटि' स्वागता, 'आए०' 'सनमुख०' 'पापवंत०', (४, ५) पादाकुलक, 'जन्म०' चन्द्रवर्त्म, 'भजन', द्रुतपा ।

भाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ गीता ९। ३०। क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥'

कैसाही दुराचारी हो, जो मुझे अनन्यभावसे भजे उसे साधुही मानना चाहिए। (जब अनन्य भावसे भजेगा तब सारे जगत्को प्रभुसे अन्य देखेगा ही नहीं—'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध। ७।११२।', 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत। ४।३।'; वह तो सम्यक् रीत्या पूरी तौर पर व्यवसित है, वह पूर्णतया और निश्चितरूपसे पापवृत्तियोंसे रहित हो गया है। (क्योंकि अब उसका अच्छा संकल्प है। अनन्य भक्ति दुराचारको शान्त कर देती है।) यह तुरन्त धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर शान्ति पाता है। हे कौन्तेय! तू निश्चयपूर्वक जानना कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता। गीता ९।३१

टिप्पणी—२ 'सनमुख होई जीव मोहि जबहीं....' इति। यह शरणका माहात्म्य कहा। पापीको नहीं त्याग करते, यह अपना स्वभाव कहा था, यथा—'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ।.... । ४८।१-३।' और यहाँ शरणका फल कहकर आगे पापीका स्वभाव कहते हैं—'पापवंत कर....'।

३—कोटि विप्रवध कोटि जन्म करे ऐसाभी पाप नष्ट हो जाता है, यह अभिप्राय दर्शित करनेके लिए 'कोटि बिप्र बध लागहि जाहू' कहा। इसमें 'अघ' शब्द न दिया किन्तु 'जन्म कोटि अघ नासहि तबहीं' इसमें दिया। ऐसा करके दोनों चरणोंका अर्थ एकही जनाया। ☞भगवान्‌के सन्मुख हो तब पाप नाश होवें, पापके नाशसे भजन अच्छा लगेगा, भजनसे मन निर्मल होनेपर प्रभुकी प्राप्ति होती है—यह प्रभुके उपदेशका खुलासा है।

मा० त० सु—'कोटिबिप्रबध०' यह एक जन्मका सूचक हुआ। इसपर यह संदेह हुआ कि यदि एक जन्ममें इतना पाप करनेपरभी शरण न हुआ और इसी तरह औरभी दोचार जन्मों तक ऐसाही पाप करता गया तब यदि जीव शरणमें जाय, तो क्या उसको न ग्रहण करेंगे? इस शंकाकी निवृत्तिके लिए परमदयालु प्रभुने कहा कि प्रत्येक जन्ममें कोटिविप्रवधका पाप लग जानेपर भी जभी वह शरण हो उसी समय 'जन्म कोटि अघ नासहिं'। अभिप्राय कि किसी प्रकार भी हमारी शरण हो जाना ही कल्याणकारक है।

रा० शं० श०—'कोटिबिप्रवध....' से यहाँतक का आशय यह है कि जो जानबूझकर इस विचारसे पाप करे कि इसके उपरान्त शरणमें जाकर पाप छुड़ा लूँगा उस मनुष्यकी आशा व्यर्थ है।

टिप्पणी—४ 'पापवंत कर सहज सुभाऊ....' इति। भाव यह कि मैं पापीको, शरण आनेपर, त्याग कभी नहीं करता, रहा पापी सो उसे हमारा भजन अच्छाही नहीं लगता क्योंकि भजनका बाधक पाप है, यथा—'एकहि एक सिखावत जपत न आप। तुलसी राम भजन कर बाधक पाप'—(बरवै० रा० ६४)। बिना सम्मुख हुए पापी बना रहा, इसीसे भजन नहीं भाता। इस कथनका तात्पर्य यह है कि विभीषण शुद्ध हैं तभी शरणमें आए हैं, यथा—'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। गीता। ७। १५।'

जौं पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई ॥ ४ ॥
निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥ ५ ॥

अर्थ—जो निश्चयही वह वैसा दुष्टहृदय होगा (जैसा तुमने कहा है, यथा—'जानि न जाइ....' इत्यादि) तो क्या वह मेरे सम्मुख आ सकता है?। ४। जो जन निर्मलमन है वही मुझे पाता है। मुझे कपट छल छिद्र नहीं सोहाता। ५।

नोट—१ गीतामें इससे मिलता हुआ भगवद्वाक्य यह है—'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः। ७। १५।' अर्थात् मूढ़, नराधम, मायासे हरे गये ज्ञानवाले और आसुरी प्रकृतिका आश्रय लिये हुये पापाचारी मनुष्य मेरी शरण ग्रहण नहीं करते।

यहाँ 'दुष्ट हृदय' कहकर श्लोकके चारों प्रकारके दुष्ट कर्म करनेवाले पापाचारी लोगोंको सूचित किया है। इनमेंसे 'मूढ़' वे हैं जो भगवान्‌के स्वरूपको न समझनेके कारण प्राकृत विषयोंमें आसक्त रहते हैं और जो आत्माको और भोग्यवस्तु मात्रको अपने अधीन समझते हैं। ये विपरीत ज्ञानी मनुष्य ही मूढ़ हैं। 'नराधम' वे हैं जो सामान्यतया प्रभुके स्वरूपको जाननेपर भी सम्मुख होनेके योग्य नहीं हैं। 'माययाऽपहृत ज्ञाना' वे हैं जिनको स्वरूप और ऐश्वर्यका ज्ञान होनेपर भी उनका ज्ञान कूट युक्तियों द्वारा हर लिया गया है। और 'आसुरं भावमाश्रिताः' असुरोंके भावका आश्रयण करनेवाले वे हैं जिन्हें प्रभुके स्वरूप और ऐश्वर्यका सर्वथा सुदृढ़ ज्ञान प्राप्त है पर वह ज्ञान केवल मुझमें द्वेष उत्पन्न करनेवाला है। ये चारों क्रमशः एकसे एक बढ़कर अधिक पापी हैं। (श्रीरामानुजभाष्य)।

'न मां प्रपद्यन्ते' ही 'मोरे सनमुख आव कि सोई' है। सम्मुख होना शरणमें आना है।

पूर्व जो सुग्रीवजीने कहा है कि 'जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया॥ भेद हमार लेन सठ आवा।' और आगे जो भगवान्‌ने 'निर्मलता' के विपर्ययमें कहा है कि 'मोहि कपट छल छिद्र न भावा।' वह सब भी 'दुष्ट हृदय' की व्याख्या ही है।

इन दोनों चौपाइयोंका भाव यह है कि विभीषण शरणमें आया है, अतः वह दुष्टहृदय नहीं है, किंतु निर्मल-हृदय है। गीतावलीमें प्रभु श्रीहनुमान्‌जीसे कहते हैं—'सुमति साधु सुचि सुहृद विभीषन बूझि परत अनुमान सों।' इसपर हनुमान्‌जी बलिहारी जाते हैं—'हौं बलि जाउँ और को जानै ? कही कपि कृपानिधान सों। छली न होइ स्वामि सन्मुख ज्यों तिमिर सातहय जान सों।' अर्थात् जैसे सूर्यके समीप अंधकार नहीं आ सकता, वैसे ही छलिया स्वामीके सम्मुख कदापि नहीं आ सकता। यही बात मानसमें 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा....।' से कही गई। कपट छल छिद्र अंधकार रूप हैं, भगवान् सूर्यरूप हैं।

पुनः, 'दुष्ट हृदय' से जनाया कि ऊपरसे चाहे दुष्ट हो पर हृदयका दुष्ट न हो तो भी सम्मुख आ सकता है। महर्षिकण्डुकी धर्मगाथामें शरणागतका लक्षण बताया है कि 'वह हाथ जोड़े हुये दीन सभीत होकर रक्षाके लिये शरणमें आता है'। दुष्ट हृदयमें यह भाव, यह दीनता, आ ही नहीं सकती, इसीसे वह शरणमें आ ही नहीं सकता।

☞ जीव जब भगवान्‌की शरणमें जाता है तब जिन शब्दोंसे वह शरण होता है वे ये हैं—'न्यस्याम्यकिञ्चनः श्रीमन्ननुकूलस्यवर्जितः। विश्वासप्रार्थनापूर्वमात्मरक्षा भरं त्वयि॥ १॥ स्वामिन् स्वशेषं स्ववशं स्वरक्षा भरत्वेन निर्भरम्। स्वदत्त सुधिया स्वार्थं स्वस्मिन् न्यससि मां स्वयम्॥ २॥ श्रीमन्नभीष्टवरद त्वामहं शरणंगतः। एतद्देहावसाने मां त्वत्पादं प्रापय स्वयम्। ३। त्वच्छेशत्वे स्थिरमतिं त्वत्प्राप्त्यैकप्रयोजनम्। निषिद्ध काम्य रहितं कुरु मां नित्यकिङ्करम्। ४। देवी भूषण हेत्यादि जुष्टस्य भगवन्स्तव। नित्यं निरपराधेषु कैङ्कर्येषु नियुङ्क्ष्व मां स्वयम्। ५। मां मदीयं च निखिलं चेतनाचेतनात्मकम्। स्वकैङ्कर्योपकरणं वरद स्वीकुरु स्वयम्। ६। त्वदेक रक्षस्य मम त्वमेव करुणाकर। न प्रवृत्तय पापानि प्रवृत्तानि निवारय। ७। श्रीमन्नियतपञ्चाङ्ग मद्रक्षण भरार्पणम्। अचीकरः स्वयं स्वस्मिन्नतोऽहमिह निर्भरः। ८। स्वाग्रे पतितं दृष्ट्वा श्रुत्वा च प्रार्थनामिमां। अङ्गीचकार श्रीरामस्तदप्यस्मीह निर्भरः। ।' इस तरह आचार्य उसकी शरणागति कराते हैं।—यह शरणागतिका प्रसंङ्ग है, इससे जिज्ञासुओंके लिये हमने ये मंत्र यहाँ दे दिये जिसमें इससे लोग लाभ उठावें।

टिप्पणी—१ 'जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई' इति। कहनेका तात्पर्य कि रावणको कोटि-विप्रवध लगा है, यदि वह भी शरण आवे तो मैं उसे भी न त्यागूँ। पर वह दुष्टहृदय है। वह मेरे सम्मुख आवेगा ही नहीं। विभीषण निर्मलहृदय है, इसीसे मेरी शरण आया है। सम्मुख होते ही हम कोटिजन्मोंके भी पाप नाश कर सकते हैं, रहा दुष्ट वह तो सम्मुख होता ही नहीं—ये दो बातें कहकर दोनोंके अधिकारी कहे फिर शरण न होनेमें हानि कही—क्रमसे यथा—

१—कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजौं नहिं ताहू। } का संबंध पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ। } से है

अर्थात् हम पापीको भी नहीं त्यागते पर वही हमको नहीं भजता।

२—सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्मकोटि अघ नासहिं तबहीं॥ } का संबंध जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई॥ } से है

अर्थात् सम्मुख होते ही पाप नाशको प्राप्त हो जाते हैं पर वह सम्मुख ही नहीं होता।

३—भगवत्-शरणका बाधक हृदयकी दुष्टता है।

टिप्पणी—२ 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा....' इति। तात्पर्य कि यदि विभीषण कपटी होते तो मुझे कैसे सुहाते? हम कैसे उन्हें शरण रखनेको कहते? मैं उनको रुचता हूँ, वह मुझे सुहाता है, इसीसे समझ लो कि वह निष्कपट है। अथवा, जो पापी होता तो हमारा भजन कैसे रुचता? जो दुष्ट-हृदय होता तो सन्मुख कैसे आता? जो मलिन मन होता तो हमको कैसे पाता? सुग्रीवने विभीषणको कपटी और छली कहा था—'जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया।' श्रीरामजी उसीका खण्डन कर रहे हैं कि मैं दुष्टहृदयको नहीं प्राप्त होता, मुझे कपट छल छिद्र नहीं रुचता। 'कपट-छलछिद्र' होना यही हृदयकी दुष्टता है—यह यहाँ स्पष्ट कर दिया।

नोट—२ निर्मल=षट्विकाररहित, शुद्ध निर्विकार। कपट=अभिप्रायसाधनके लिए हृदयकी बातको छिपानेकी वृत्ति, यथा—'जो जिय होत न कपट कुचाली। केहि सुहात रथ बाजि गजाली।' छल=वह व्यवहार जो दूसरेको धोखा देनेके लिए हो, वास्तविक रूप छिपानेका कार्य्य जिससे कोई वस्तु या बात औरकी और देख पड़े। छिद्र=दोष। छलछिद्र यौगिक शब्द भी है।

करु०—'न भावा' का दूसरा भाव यह कि यदि कोई कपटछलयुक्त हो और फिर भी मेरी शरण आवे तो सन्मुख आते ही उसका कपट छल दूर हो जाता है, वह निर्मल हो जाता है।

भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा॥ ६॥
जग महुँ सखा निसाचर जेते। लछिमनु हनइ निमिष महुँ तेते॥ ७॥
जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाई॥ ८॥

अर्थ—दशशीश (रावण) ने भेद लेने भेजा हो तो भी, हे वानरराज! कुछ भय या हानि नहीं है। ६। हे सखे! जगत्भरमें जितने भी निशाचर हैं, लक्ष्मणजी उन सबोंको पलभरमें मार सकते हैं। ७। यदि वह सभीत होकर शरणमें आया है तो उसे प्राणोंकी तरह रखूँगा। ८।

टिप्पणी—१ 'भेद लेन पठवा दससीसा....' इति। [(क) भाव कि उसे रावणने कभी भी भेद लेने न भेजा होगा, क्योंकि उसे अपने दश शिर होनेका, शिव-ब्रह्माके वरदानों-द्वारा-प्राप्त बलका गर्व है, तो भी यदि मान लें कि उसने भेजा हो] (ख) सुग्रीवका मन और मान्य रखनेके लिए अब संदिग्ध वचन कह रहे हैं। अथवा, सुग्रीवका पक्ष लेकर उसमें भी विभीषणको निष्कपट दिखाते हैं अर्थात् तुमने जो कहा कि भेद लेने भेजा गया है, यह भी ठीक सही, तो भी उसका दोष इसमें क्या? वह तो भेजनेसे आया है फिर भी उसका मन निर्मल ही है।—इससे सूचित किया कि प्रभु विभीषणजीकी रीति जानते हैं, इसीसे ऐसा कह रहे हैं। यथा—'मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती....।' (ग) 'पठवा दससीसा' का भाव कि सुग्रीवजी विभीषणको कपटी सिद्ध करनेके लिए कहते हैं कि इसे रावणने भेजा है, पर यह कहता है कि मैं स्वयं आया हूँ, यह कपट है। उसी बातको लेकर श्रीरामजी उसका समाधान करते हैं कि जगत्भरके निशाचरोंको लक्ष्मणजी मार सकते हैं तब एक लंकाके राक्षस कितने हैं जो उन्हें डरते हो।

* प्र० चं०—'भेद०' स्वागता, 'तबहु०' चण्डी, शेष पायकुलक।

मा० त० सु०—(क) 'पठवा दससीसा' का भाव कि केवल भेद जानकर ही छलपूर्वक हमसे विजय चाहता है। (ख)—'तबहूँ'=हमारा भेद प्रकट हो जानेपर भी। (ग) बारंबार 'सखा' संबोधनसे अपना उनपर अतिस्नेह जनाया।—(इस प्रकार उनका मन रख रहे हैं, उनको प्रसन्न करके विभीषणजीको शरणमें लेंगे)।

टिप्पणी—२ 'लछिमन हनइ निमिष महुँ तेते' इति। (क) यहाँ ऐश्वर्य (ईश्वरता) दिखाते हैं। ईश्वरका पलक बंद करना प्रलय है, पलक खोलना सृष्टिकी स्थिति है। (ख) 'लछिमनु हनइ' का भाव कि हमको कुछ भी न करना पड़ेगा, हम तो लीला करते हैं। निशाचरनाशके लिए लक्ष्मणजीका अवतार है, यथा—'सेष सहस्रसीस जगकारन। जो अवतरेउ भूमि भय टारन। १। १७।', 'सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारै भुवन चारिदस आसू। ६। ५४। १।', 'जो सहस सीस अहीस महिधर लषन सचराचर धनी। सुरकाज धरि नरराजतनु चले दलन खल निसिचर अनी। २। १२६।', 'ब्राह्ममस्त्रं प्रयोक्ष्यामि वधार्थं सर्वरक्षसाम्। वाल्मी० ६। ८०। ३७।' (अर्थात् मैं संसार के समस्त राक्षसोंके वधके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करना चाहता हूँ।—यह लक्ष्मणजीने श्रीरामजीसे कहा था जब मेघनादने अंतरिक्षमें छिपे हुये सारी सेना तथा श्रीरामलक्ष्मणको बाणोंसे वेध डाला था। श्रीलक्ष्मणजीमें यह सामर्थ्य है, इसीसे श्रीरामजीने उन्हें समझाकर रोका कि एकके कारण सबका नाश करना उचित नहीं है) तात्पर्य कि ऐसे बलीसे कौन भेद लग सकेगा? यथा—'न भेदसाध्या बलदर्पिता जनाः। इति वाल्मीकीये। ५। ४१। ३।' निमिष महँ, यथा 'जारै भुवन चारिदस आसू।'

'लछिमनु हनइ निमिष महँ'। यहाँ अपना पराक्रम न कहा। श्रीराघवजीने विचारा कि सप्ततालवेधन आदिसे यह सामर्थ्य तो जानही चुका है, अब लक्ष्मणजीका भी ऐश्वर्य इसे स्मरण करा देना चाहिए; अतएव प्रसंग पाकर जना दिया। 'निमिष महुँ' अर्थात् इच्छामात्रसे।

प्र०—प्रभु अपना पराक्रम नहीं कहते, यह उनकी रीति है। युद्धमें देवतादिसे भी और जानकीजीसे रणभूमि दिखाते समय लक्ष्मण आदिका ही नाम लिया। यथा—'कह रघुबीर देखु रन सीता। लछिमन इहाँ हतेउ इंद्रजीता। हनूमान अंगदके मारे।....' (लं० ११८)।

मा० म०—लक्ष्मण निमिषमात्रमें मार सकते हैं। संदर्भ यह कि यदि विभीषण निशाचर बुद्धिमय होगा तो लक्ष्मणजी उसका छल और कपट पहिचानकर उचित दंड देंगे। ऐसा कहनेसे सुग्रीव लक्ष्मणजीको अपने विचारमें न सहमत कर सकेंगे।

टिप्पणी—३ 'जौं सभीत आवा सरनाई।....' इति। (क) सभीतका भाव कि यदि वह भयसहित यहाँ आया है तो हम उसका भय हरण करेंगे; क्योंकि 'मम पन सरनागत-भयहारी।' है। उसे जो भी भय होगा वह हम हरण करेंगे—चाहे संसारका भय हो, चाहे शत्रुका, और चाहे पापका। (ख) 'प्रान की नाईं' अर्थात् शरणागत मुझे प्राण समान प्रिय है, यथा—'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। प्रभुने प्राण समान रखनेको कहा और रखा प्राणसेभी अधिक मानकर, यथा—'आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा। तुरत बिभीषन पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सो सेला। ६। ६३। १-२।' यहाँ धर्मलुप्तोपमा अलंकार है।

४—शरणागत पालनमें रामजी अद्वितीय हैं इसीसे उसमें लक्ष्मणजीका नाम न लिया और राक्षसवधमें लक्ष्मणजी अद्वितीय हैं इसीसे उस संबंधमें अपना नाम न लिया।

मा० त० सु०—'कोटिबिप्र बध०' से 'जन्मकोटि अघ०' तक दो चौपाइयोंमें जो कुछ कहा, उसका वहाँ पाप नाश करनेमें मुख्य तात्पर्य है।....और, 'जौं सभीत....' से जनाया कि यदि लोक वा परलोकके भयसे शरणमें आया हो तो उसको प्राणोंके समान रखूँगा।

नोट—१ वाल्मीकीय ६।१८ के 'सदुष्टो वाप्यदुष्टो वा किमेष रजनीचरः ॥२२॥ सूक्ष्ममप्यहितं कर्तुं ममाशक्तः कथंचन। पिशाचान् दानवान् यक्षान् पृथिव्यां चैव राक्षसान्।२३। अंगुल्यग्रेण तान्हन्यामिच्छन् हरिगणेश्वर।२४। आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणागतः।२८। अपि प्राणान्परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना।२९।

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया। विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम् ३५।' इस वाक्यसे मिलान कीजिए। अर्थात् वह दुष्ट हो या साधु, यह राक्षस क्या चीज है? यह हमारा किंचित्‌भी अहित करनेमें समर्थ नहीं। जितने भी पिशाच, दानव, यक्ष और राक्षस पृथ्वीपर हैं उनको, हे कपीश! अंगुली-के अग्रभागके इशारेसेही, यदि मैं चाहूँ, मार सकता हूँ। कृतात्मा (महात्मा) की शरणमें यदि कोई आर्त्त या दर्पपूर्ण शत्रु भी आये तो अपने प्राणोंकोभी देकर उसकी रक्षा करे। हे कपिश्रेष्ठ सुग्रीव! उसे ले आओ, मैंने उसे अभय दिया; चाहे वह विभीषण हो और चाहे स्वयं रावणही क्यों न हो।

दो०—उभय भाँति तेहि आनहु हँसि कह कृपा निकेत।
जय कृपाल कहि कपि चले अंगद हनू समेत* ॥४४॥

अर्थ—कृपाके स्थान श्रीरामजीने हँसकर कहा कि दोनों प्रकारसे उसे ले आओ (अर्थात् चाहे भेद लेने आया हो, चाहे शरणमें आया हो)। 'जय कृपाल' (कृपालु श्रीरामजीकी जय!) ऐसा कहकर श्रीअंगद और हनुमान्‌जीके सहित वानर चले। ४४।

श्रीलमगोड़ाजी—'उभय' भाँतिमें दूसरे पक्षका कितना आदर है। भगवान् कहते हैं कि भाई! सावधानीभी रक्खो और ले भी आओ; तुम्हारी नीतिभी रहे और मेरा शरणागतवत्सल धर्मभी।

'हँसि' पर तो हास्यकलाही निछावर है। इसमें कितनी कृपालुता है और कितनी निर्भयता तथा कितनी हँसमुखता भरी हुई है! और साथही किंचित् सुग्रीवजीकी चुटकी भी है कि पाँच व्यक्तियोंके इतने कटकमें गुप्त नहीं वरन् खुले खजाना आनेपर भी धोखा खा गए वा डर गए।

वि० त्रि०—'उभय भाँति' इति। सरकारने कहा कि दोनों भाँतिसे, अर्थात् भेदियाकी भाँतिभी और शरणागतिकी भाँतिभी विभीषणको ले आओ। इस दुरंगी आज्ञाको बुद्धिमान बन्दर तुरंत समझ गये, और अंगद हनुमान्‌के साथ चल पड़े। तीन ओरसे विभीषणजीको घेरकर ले चले। एक हिसाबसे बिभीषणजी पहरेमें हैं, दूसरे हिसाबमें सेनाके प्रधान लेने आये हैं और विभीषणजीको आगे करके चल रहे हैं। इस भाँति सरकारकी कही हुई आज्ञाका 'उभय भाँति' का पालन हुआ।

नोट—१ 'उभय भाँति' का भाव कि भेद लेने आया हो वा शरणागत हो, वह रावण ही विभीषणके वेषमें हो अथवा विभीषण ही हो, दुष्ट हो अथवा साधु हो, उसके ले आनेमें संकोच न करो। ऊपर चौपाईमें उद्धृत श्लोक देखिए।

नं० प०—श्रीरामजीके इतना समझानेपर सुग्रीवजीने जब कुछ उत्तर न दिया तब यह जानकर कि वे अपनी नीतिके हठपर हैं, उन्होंने हँसकर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा कि दोनों प्रकारसे ले आओ, मर्यादाके साथ लाना, बंदी बनाकर न लाना।

टिप्पणी—१ 'कृपानिकेत' कहा क्योंकि विभीषणजीपर कृपा करके उन्हें ले आनेको कहा। यह कृपा देखकर वानरलोगभी आनन्दमें भरकर बोल उठे कि कृपालूकी जय हो। यथा—'सुनि प्रभु बचन कहहिं कपिबृंदा। जय जय जय कृपाल सुखकंदा। ३४।५।', 'रामबचन सुनि बानर जूथा। सकल कहहिं जय कृपाबरूथा।'

[शत्रु मित्र दोनोंपर भगवान्‌ने कृपालुता गुणकी प्रधानता दिखायी, अतः 'कृपानिकेत' विशेषण दिया। (मा० त० सु०)। विभीषणजी अभी प्रत्यक्ष शरणमें आये भी नहीं तथापि कृपाकिरणोंकी अविरल वर्षा पहिलेही की गई। अतः कृपानिकेत कहा। (प० प० प्र०)]

२—'हँसि कह' से जनाया कि—(क) हम दोनों तरहसे प्रसन्न हैं। (ख) हमारी कृपा विभीषणपर है, यथा—'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा। १।१९८।७।' [नोट—हँसकर कहनेमें यह

* प्र० चं०—दोहरा दोहा मिश्रित।

भी भाव है कि जिससे सुग्रीवको बुरा न लगे। (प्र० सं०)। अथवा, एक दुर्जनके कपटसे लोग सज्जनके विषयमें शंकित होते हैं, यह मायाका प्रताप देखकर हँसे। (प० प० प्र०)। वा, एक भक्तकी प्राप्ति हुई इससे प्रसन्न हुए।]

टिप्पणी-३ 'अंगद हनू समेत' इति। विभीषण राजा हैं। उनको लानेको राजकुमार अंगद और राजाके मंत्री हनुमान्‌जी चले। जैसा कुछ राजाओंके मिलनेका क़ायदा है वैसा श्रीरामजीकी तरफ़से हुआ। जैसे विभीषण राजा नहीं हैं, राजाके भाई हैं; वैसेही यहाँ अंगद ख़ास राजा नहीं हैं, युवराज हैं और राजाके पुत्र हैं। विभीषण छोटा भाई है, छोटा भाई पुत्र के समान होता है, इसीसे सुग्रीवने अपने लड़के अंगदको भेजा। पुनः, अप्रधानको प्रधान बनाने चले हैं, इसीसे यहाँ अप्रधान (वानर) को प्रधान रखा। अंगद हनुमान् प्रधान हैं। इनको यहाँ गौण रखा, इनके साथ 'समेत' शब्द देकर जनाया कि वानर यहाँ प्रधान हैं, उनके साथ ये भी हैं अर्थात् इनको सामान्य जनाया। पुनः, 'हनू' यहाँ पूरा नाम न दिया। एक कारण तो यह है कि छन्दहेतु ऐसा किया-'हनू' से हनुमान्‌का ग्रहण होगा, यथा—'नामैक देशे नाम ग्रहणम्' (व्याकरणसूत्र)। दूसरा भाव यह है कि भक्तसे मिलने जाय तब मान छोड़कर जाय यह जनानेके लिए 'हनूमान' नाममें जो 'मान' ये अक्षर हैं इन्हेंभी कविने निकाल दिया—यहाँतक 'मान' त्यागकी पराकाष्ठा दिखाई।

प० प० प्र०—नामके अंशसे संपूर्ण नामका बोध होता है। जैसे, अमा=अमावस्या। सत्या वा भामा=सत्यभामा। तथापि यहाँ 'कृपानिकेत' शब्दका प्रयोग करनेकी इच्छासे 'हनू' का प्रयोग करना पड़ा, नहीं तो कृपानिधान लिखकर उसकी जोड़में हनुमान शब्द रख सकते थे। निकेत=नि केत्यते अस्मिन् इति निकेत। कित निवासे। जिसमें नित्य निवास किया जाता है उसीको 'निकेत' कहते हैं। भाव यह है कि अब विभीषणजी भगवान्‌के कृपारूपी निकेत (भवन) में नित्य निवास करेंगे। यह भाव 'कृपानिधान' शब्दसे नहीं सूचित होता।

मा० त० सु०—'अंगद हनू समेत' का भाव कि शरणागत धर्ममें अंगद और हनुमान्‌जी मुख्य हैं। अंगद यथा—'गहि बाँह सुरनरनाह अंगद दास आपन कीजिये'; इसका फल 'पिता वधे पर मारत मोही। राखा राम निहोर न ओही'। हनुमान्‌जी यथा—'तब रघुपति उठाइ उर लावा।०० तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना'।

सादर तेहि आगे करि बानर। चले जहाँ रघुपति करुनाकर॥ १॥
दूरिहि ते देखे द्वौ भ्राता। नयनानंद दान के दाता॥ २॥
बहुरि राम छबिधाम बिलोकी। रहेउ ठठुकि एकटक पल रोकी*॥ ३॥

अर्थ—आदरसहित उसे आगे करके वानर वहाँ चले जहाँ करुणाकी खानि श्रीरघुनाथजी हैं।१। नेत्रोंको आनन्द रूपी दान देनेवाले दोनों भाइयोंको दूरसे ही विभीषणजीने देखा। २। फिर छविके धाम श्रीरामजीको देखकर पलक रोककर एकटक देखते खड़े रह गये। अर्थात् पैरोंका चलना और नेत्रोंका पलक मारना बंद हो गया। ३।

टिप्पणी—१ 'सादर तेहि आगे करि....' इति। (क) पहले उनका अनादर किया था, इसीसे यहाँ 'सादर' पद दिया, अर्थात् अब आदरपूर्वक लिए आ रहे हैं। आगे करना यह आदर है। (ख) पहिले अनादर और अब आदरका दूसरा भाव यह कि भगवत्-शरण होनेमें प्रथम देवता बाधा करते हैं। ये सब वानर देवता हैं-'बनचर देह धरी छिति माहीं। १।१८८।', पहले इन्होंने विभीषणको शरण आनेमें रोक दिया, उन्हें श्रीरामजीके पास न आने दिया और यही राय दी कि इसे शरणमें न लीजिए। पर, उसी विभीषणपर श्रीरामजीकी प्रसन्नता देखकर अब सहायक हुए और सादर प्रभुके पास ले चले; यथा—'धाई धारि फिरि कै गोहार हितकारी होत आई

---

* व्र० चं०—'सादर०' ११४३, 'चले०' १२१० वें भेद हैं। (२) पायकुलक 'बहुरि०' द्रुतपा, 'रहेउ०' पायकुलक।

मीचु मिटत जपत रामनाम के ॥' पुनः, (ग)—प्रभुने सुग्रीवसे जो कहा था कि 'मम पन सरनागत भयहारी' उसे सबने सुना था, इससे सादर लिवा ले चले जिसमें उनको यह भय या संदेह न हो कि ये हमको बाँधने या मारनेको लिए जाते हैं।

२ 'चले जहाँ रघुपति करुनाकर' इति। विभीषणजीपर प्रभुकी बड़ी कृपा हुई है, अतएव यहाँ आदि मध्य अन्त तीनोंमें कृपासूचक विशेषण दिए हैं, यथा—'हँसि कह कृपानिकेत'—(१), 'जय कृपाल कहि कपि चले'—(२), और 'चले जहाँ रघुपति करुनाकर'—(३)। पुनः, 'करुनाकर' विशेषण देकर यहभी जनाया कि इनपर कृपा की और आगे और भी करेंगे।

श्रीलमगोड़ाजी—क्या प्रगतियोंके इस चित्रपर स्वयं फ़िल्मकलाभी निछावर नहीं है? यदि कवि सामने न होता तो सुंदर आलोचना कौन करता?

टिप्पणी—३ 'दूरिहि ते देखे दोउ भ्राता।००' इति। इससे ज्ञात हुआ कि वानर सामनेसे हट गए हैं, रास्ता प्रभुके समीपतक साफ़ है, दोनों भाई सामने बैठे हुए हैं।

४ 'नयनानंद-दान के दाता'। भाव कि जितने नेत्रवाले हैं उन सबोंको, दोनों भाइयोंके दर्शनसे आनन्द प्राप्त होता है। 'दान' का भाव यह कि कोई अपने सुकृतोंके बलसे दर्शन नहीं पा सकता, इतना सुकृत किसीका भी नहीं है (कारण कि कर्तापनके अभिमानपूर्वक सकामभावसे किये जानेवाले सुकृत कर्म हैं। वे स्वयं अनित्य हैं और अनित्य फलके देनेवाले हैं। अतः जो सर्वथा स्वतःसिद्ध नित्य है, क्रियासाध्य नहीं है उसकी प्राप्ति वे नहीं करा सकते। यथा 'नास्त्यकृतः कृतेन। मुण्डक १। २। १२।')। प्रभु अपनी कृपासे दर्शन देते हैं। दर्शन देना परमार्थ-दान है और लंकाका राज्य देना स्वार्थदान है।

प० प० प्र०—'दाता' शब्द देकर जनाया कि आनंद तभी मिलेगा जब वे देंगे, अन्यथा उनका दर्शन होनेपरभी आनंद न होगा। खरदूषणादिने देखा तो उनको उनपर दया आ गई—'बध लायक नहिं पुरुष अनूपा'; पर आनंद नहीं हुआ। यदि दर्शनमात्रसे सभीको आनंद होता तो 'जिन्ह की रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी।' यह बात असंभव हो जाती। भावनाके अनुसार ही भगवान् दान करते हैं। सुग्रीव, बाली, तारा, अंगद इत्यादि किसीको भी प्रथम दर्शनमें इतना आनंद न हुआ जितना विभीषणको हुआ।

बाबा जयरामदासजी रामायणी—शरण्यकी कृपामयी चितवन पहले शरणागतके नेत्रोंको ही अपना अनुकूल भाव जताकर जो परम सन्तुष्टि प्रदान करती है वही 'नयनानंद दान' है।

मा० त० सु०—'नयनानंद दान' का भाव कि नेत्रोंके आनन्दकी अवधि यहीं तक है, यथा—'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा', 'लोचनगोचर सुकृतफल मनहु किये बिधि आनि॥ २।१०६।....लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥ इति भरद्वाजः। २।१०७।७।'

पाँडेजी—विभीषणको संदेह था कि अंगीकार करेंगे या नहीं। इसीलिये नीतिके अनुसार दूरसे ही देखा तो उनको नयनानंददानका दाता देखा।

टिप्पणी—५ 'बहुरि राम छबिधाम बिलोकी।००' इति। (क) पहले दोनों भाइयोंको देखा, फिर श्रीरामजीकी छबि देखकर विदेहदशाको प्राप्त हो गए। सब भाई छबिधाम हैं; पर श्रीरामजी सबसे अधिक सुखसागर हैं, यथा—'चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा। १।१९८।६।' इसीसे जो प्रभुको देखता है वही विदेह हो जाता है, एकटक देखने लगता है, पलक नहीं मारता। यथा—

श्रीमनुशतरूपाजी—'छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयनपट रोकी। १।१४८।५।'
श्रीसीताजी— 'थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकन्हिहूँ परिहरी निमेषें। १।२३२।५।'
श्रीजनकपुरवासी—'देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे। १।२४४।३।'
श्रीपरशुरामजी— 'रामहिं चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मारमदमोचन। १।२६९।८।'
श्रीमगवासी— 'एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुखचंद्र चकोरा। २।११५।५।'

श्रीसनकादिकजी— 'एकटक रहे निमेष न लावहिं। प्रभु कर जोरे सीस नवावहिं।'
श्रीअत्रिजी— 'तन पुलक निर्भर प्रेम पूरन नयन मुख पंकज दिये। ३। ६।'
इसी तरह दोनों भाइयोंके दर्शनसे सबको आनन्द हुआ—
श्रीविश्वामित्रजी— 'पुनि चरनन्हि मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी। १। २०७। ५।'
श्रीजनकजी और उनके मंत्री आदि } 'भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता। मूरति मधुर मनोहर देखी। भये बिदेहु बिदेहु बिसेषी। १। २१५। ७-८।'
श्रीपरशुरामजी— 'रामु लषनु दसरथके ढोटा। दीन्हि असीस जानि भल जोटा।'
देवगण— 'मरकत कनकबरन बर जोरी। देखि सुरन्ह भै प्रीति न थोरी॥ पुनि रामहिं बिलोकि हिय हरषे। १। ३१५। ७।'
अत्रिजी— 'प्रेमबारि दोउ जन अन्हवाये॥ देखि राम छबि नयन जुड़ाने। ३। ३।'

पाँड़ेजी—यहाँ 'राम' पद दिया। भाव कि ये रमानेवाली छबिके धाम हैं, इसीसे विभीषणजी इनमें रम गए। 'रहेउ ठठुकि एकटक पल रोकी' पदसे बाह्यनेत्रानन्दद्वारा आन्तरिक सर्वेन्द्रियोंका आनन्द दिखाया, यथा—'मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी। भये मगन मन सकहिं न रोकी', 'इकटक रहे निमेष न लावहिं' (मा० त० सु०)।

भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। स्यामल गात प्रनत-भय-मोचन॥ ४॥

अर्थ—विशाल भुजाएँ (आजानुबाहु) हैं, लाल कमलके समान नेत्र हैं, साँवला शरीर है, (ये सब) शरणागतके भयको छुड़ानेवाले हैं। ४।

टिप्पणी—१ (क) श्रीविभीषणजीने लंकासे चलते समय 'रघुबीर'-शरणमें जाना कहा है, यथा—'मैं रघुबीरसरन अब जाउँ देहु जनि खोरि'। अतः यहाँ वीर-रसयुक्त-स्वरूपका दर्शन हुआ। अथवा, विभीषणजी शत्रु (रावण) से सभीत हैं, अतः अभयदायक वीररसयुक्त मूर्त्ति देखी। (ख) भुजबलसे शत्रुका नाश होगा, अतः प्रथम भुजाएँ देखीं। मिलान कीजिए—

(१) "पुरुषसिंह दोउ वीर हरषि चले मुनि भय हरन। कृपासिंधु मति धीर अखिल बिस्व कारन करन॥ १। २०८। अरुन नयन उर बाहु बिसाला। नील जलद तन स्याम तमाला॥"

(२) "लछिमन चले क्रुद्ध होइ बान सरासन हाथ। ६। ५१। छतज नयन उर बाहु बिसाला। हिम गिरि निभ तनु कछुएक लाला॥"

यहाँ आयुध नहीं कहे गए। इसमें भाव यह है कि—(१) आयुध लिए मिलनेकी विधि नहीं है; इसीसे धनुषबाण उतारकर रख दिए हैं। अथवा, (२) इस समय धनुषबाण लक्ष्मणजीके पास हों, यथा—'लछिमन बान सरासन आनू। सोखौं बारिधि बिसिख कृसानू'। अथवा, (३) विभीषणजी भवभयत्रस्त शरणमें आए हैं, यथा—'श्रवन सुजस सुनि आएउँ प्रभु भंजन भवभीर'। और प्रभुकी भुजाएँ भवभय नाशक हैं, यथा—'सुमिरत श्रीरघुबीरकी बाहैं। होत सुगम भव उदधि अगम अति कोउ लाँघत कोउ उतरत थाहैं॥१॥....सरनागत आरत प्रनतनि को दै दै अभयपद ओर निबाहैं। करि आई करिहैं करती हैं तुलसिदास दासनि पर छाहैं॥६॥ (गी० ७।१३)।'

२ 'कंजारुन लोचन' से कृपायुक्त नेत्रोंका दर्शन जनाया। विशेष भाव सं० सोरठा ३, बा० १।१८ (१०) और सुं० ३५ (२) में देखिए।

३ 'प्रनतभयमोचन' यह सबका विशेषण है। प्रभुके सब अंग प्रणतके भय छुड़ानेवाले हैं। यथा—'पाथोद गात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं। नित नौमि रामु कृपाल बाहु बिसाल भव भय मोचनं। ३। ३२।' यहाँ 'भय' का अर्थ खुल गया कि भवभयको दूर करते हैं।

❀ प्र० चं०—'भुज....' ११३९, 'श्यामल०' १२११ वें भेद हैं।

मा० त० सु०—'अरुण' पद शत्रुनाशवाचक और 'श्यामलगात' पद जीवनरक्षक है। 'कंजारुण-लोचन' पद भक्तोंके पोषण अर्थमें है।

पाँडेजी—मनोरथकी पूर्तिके विचारसे भुजाओंको प्रथम देखा। फिर रावणपर कोप करनेवाले लाल-लाल नेत्र देखे और फिर श्याम शरीर देखा जो शरणागतके भयको छुड़ानेवाला है।

नोट—१ 'भुज प्रलंब....भयमोचन' में महात्मा अक्रूरके इन विचारोंका भाव है कि "जब मैं चरणोंमें प्रणाम करूँगा तो वे मुझे इन विशाल भुजाओंसे उठाकर हृदयमें लगायेंगे जो कालरूपी सर्पसे भयभीत होकर शरणमें आनेवालोंको अभय करनेवाले हैं। इस आलिंगनसे मैं पवित्र हो जाऊँगा, मेरी आत्मा औरोंके लिये तीर्थरूप हो जायगी और मेरे कर्मबंधन छूट जायेंगे"। कंजारुणलोचनमें भाव है कि 'वे मुझे करुणामयी दृष्टिसे देखेंगे, तो मैं तुरत पापोंसे मुक्त होकर परमानंदको प्राप्त होऊँगा'। (श्लोक १९)। यथा—'अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्य मे विभुः शिरस्यधास्यन्निजहस्तपङ्कजम्। दत्ताभयं कालभुजङ्गरंहसा प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां नृणाम्। भा० १०। ३८। १६। सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदैवतं दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेऽथ माम्। आत्मा हि तीर्थीक्रियते तदैव मे बन्धश्च कर्मात्मक उच्छ्वसित्यतः। २०। अप्यङ्घ्रिमूलेऽवहितं कृताञ्जलिं मामीक्षिता सस्मितमार्द्रया दृशा। सपद्यपध्वस्तसमस्तकिल्बिषो वोढा मुदं वीतविशङ्क ऊर्जिताम्। १९।'

सिंघ कंध आयत उर सोहा। आनन अमित मदन मन मोहा॥ ५॥
नयन नीर पुलकित अति गाता। मन धरि धीर कही मृदु बाता*॥ ६॥

अर्थ—सिंहके कन्धेके समान कन्धे हैं, छाती चौड़ी (विशाल हृदय) शोभित है। मुख असंख्य कामदेवोंके मनको मोहित कर रहा है।५। विभीषणजीके नेत्र सजल और शरीर अत्यन्त पुलकित है। मनमें धीरज धरकर उन्होंने कोमल वचन कहे। ६।

प० प० प्र०—चौ० ४, ५ की शब्दरचनापर दृष्टि डालनेसे यह प्रतीत होता है कि प्रथम चरणोंमें वीररस सूचित है और दूसरे चरणोंमें शृङ्गार और वीर है। 'भुजप्रलंब', 'भयमोचन', 'सिंघकंध' और 'आयत उर' वीररससूचक हैं। 'श्यामल गात', 'आनन अमित मदन मन मोहा' में शृङ्गाररस है। प्रथम वीररसका वर्णन करके सूचित करते हैं कि इस समय भगवान्‌के शरीरमें वीररसका संचार प्रधान है। प्रणतका भय निवारण करनेके लिये मानो 'फरकि उठी दोउ भुजा बिसाला'। भगवान् भक्तसे मिलने और उसको अभय करनेको आतुर हो रहे हैं।

टिप्पणी—१ 'सिंहकंध' कहकर राक्षसोंको गजगण जनाया, जिनका पुरुषसिंह श्रीरामजी नाश करेंगे। 'अमित मदन मन मोहा', यथा—'जो बिलोकि बहु काम लजाहीं'। ['सिंह कंध आयत०' से भवभय-मोचनमें अलौकिक और शत्रुभयनाशनमें समर्थतर जनाया। 'आनन अमित मदन०' से सर्वचित्ताकर्षक अति सौन्दर्ययुक्त सूचित किया, यथा—'हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई' (मा० त० सु०)। 'सिंह कंध' अर्थात् ऊँचे और सुढार]।

२ 'नयन नीर पुलकित....' इति। यह विभीषणकी दशा कही। श्रीरामजीको देखकर धीरज जाता रहता है; इसीसे 'धरि धीर' कहा। और कुछ उदाहरण ये हैं—

(१) 'मूरति मधुर मनोहर देखी। भए बिदेहु बिदेहु बिसेखी।
प्रेम मगन मन जानि नृप करि बिबेक धरि धीर। १। २१५।'

(२) 'केहरि कटि पटपीतधर सुखमा-सील-निधान।
देखि भानुकुल भूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान॥ १। २३३।'
धरि धीरजु एक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी॥

* न्न० चं०—चौ० (५), 'नयन०' पायकुलक, 'मन०' तामरस।

(३) 'मंजु मधुर मूरति उर आनी। भई सनेह सिथिल सब रानी ॥ पुनि धीरज० ॥ १।३३७।'
(४) 'रामु लषनु उर कर बर चीठी। रहि गये....॥ पुनि धरि धीर०। १।२९०।५-६।'
(५) 'राम बदन बिलोकि मुनि ठाढा। मानहु चित्र० ॥ तब मुनि हृदय धीर धरि०। ३।१०।'
(६) 'पुलकित तन मुख आव न बचना ॥ देखत० ॥ पुनि धीरज धरि०। ४।२।६-७।'

३—विभीषणजी तन मन वचनसे प्रेममें मग्न हैं। यथा—'नयन नीर पुलकित अति गाता', 'मन धरि धीर' और 'कही मृदु बाता।'

प० प० प्र०—'मन धरि धीर' से जनाया कि वाणी रुक गई है जिसकी प्रतीति आगे 'नाथ' शब्दके उच्चारणमें मिलती है। 'नाथ !' कहकर एक दीर्घश्वास छोड़ते हैं तब आगे बोल सकते हैं।

श्रीलमगोड़ाजी—तुलसीदासजीकी चित्रणकलामें भगवान्‌के नखशिखवर्णनोंका बड़ाही विचित्र स्थान है। कारण कि वे इतने सुंदर और प्रसंगानुकूल बन पड़े हैं कि यदि हम उन्हें एकत्रित कर लें तो चित्रोंमें ही सारी रामायण आजायगी।

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बंस जनम सुरत्राता ॥ ७ ॥
सहज पाप प्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा* ॥ ८ ॥

अर्थ—हे नाथ ! मैं दशाननका भाई हूँ। हे देवताओंके रक्षक ! मेरा जन्म निशाचरकुलमें है।७। मेरा तामसी शरीर है, मुझे पाप स्वाभाविकही प्रिय है जैसे उल्लूका सहजही अंधकारपर प्रेम रहता है।८।

नोट–१ 'नाथ दसानन कर....सरन सुखद रघुबीर'में महात्मा अक्रूरके 'न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः कंसस्य दूतः प्रहितोऽपि विश्वदृक्। योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा। भा. ५।३८।१८।' के विचारोंका भाव आ जाता है कि यद्यपि मैं दशाननका भाई हूँ और उसकी आज्ञासे ('सठ मिलु जाइ....') यहाँ आया हूँ, तो भी वे सर्वान्तर्यामी हैं, मुझे शत्रुका पक्षपाती न जानेंगे, प्रत्युत अपना भक्तही जानेंगे।

इन सब भावोंकी पूर्त्तिभी आगे श्रीराममिलनमें हुई। यह 'देखा', 'भुज बिसाल गहि हृदय लगावा' और 'बोले बचन भगत भयहारी' में चरितार्थ है।

टिप्पणी—१ 'नाथ दसानन कर....' इति। (क) अपनी अधमता दिखानेके लिए अपनेको रावण का भाई कहकर अपना परिचय दे रहे हैं। पिताका नाम लेकर प्रणाम करनेकी रीति है। ये अपने पिताका नाम नहीं लेते क्योंकि वे ऋषि हैं, उससे कुलीनता पाई जाती। पिताकी जगह बड़े भाईका नाम लिया क्योंकि बड़ा भाई पिताके समान है। (ख) चार बातोंसे पुरुषकी परीक्षा होती है—कुल, संग, स्वभाव और शरीरसे। विभीषणजी अपने मुँहसे अपनी अधमता चारों प्रकारसे कह रहे हैं। क्रमसे सुनिए–'निसिचर-बंस जनम' यह कुलसे अधम, 'दसानन कर भ्राता' यह संग अधमका, 'सहज पाप प्रिय' यह स्वभावसे अधम और 'तामस देहा' यह शरीरसे अधम दिखाया। मिलान कीजिए—'जनम सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंक।....' बा० २३७—२३८ (१) और बा० ३८ (१३) में विस्तृत व्याख्या और मिलान देखिए। बा० २६९ (२) 'पितु समेत कहि निज निज नामा' देखिए। 'सुरत्राता' संबोधनका भाव कि आप तो देवताओंके रक्षक हैं और मैं सुरत्रासक हूँ, उनके विरोधियोंके वंशमें हूँ। (ग) 'नाथ' का भाव कि ऐसा अधम होते हुए भी मैं आपको अपना 'नाथ' समझकर आया हूँ, मुझे सनाथ कीजिए।

नोट—२ यहाँ मयंककार आदिने शंका की है कि इन्होंने निशिचरवंश क्यों कहा, इनके पिता तो ऋषि हैं ? इसके दो कारण टिप्पणीमें आ चुके कि अपनी अधमता दिखलानेके लिए ऐसा कहा। दूसरे माता निशाचरी है, माताकेही यहाँ पले भी और वंशकी सत्यता संस्कारपरही होती है, अतः निशिचरवंश यथार्थ है। अपनी अधमता दिखाना यह दीनता है और षट्शरणागतिमेंसे यह कार्पण्यशरणागति है। मानस-

* प्र० चं०—'निसिचर०' नयमालिनी, 'सहज०' 'द्रुतपा', शेष पायकुलक।

मयङ्कके टीकाकारोंने 'निसिचर' का अर्थ सूर्य करके 'निशिचरवंशजन्म' से रामजी वा सुग्रीवका अर्थ किया है और सुरत्राताकोभी फोड़कर अर्थ किया है पर ऐसा करनेसे शरणागति प्रकरणकाही सत्यानाश हो जाता है और पूर्व और आगे दिए हुए विशेषण व्यर्थ हो जाते हैं। दूसरे इन अर्थोंमें कविने कहीं इन शब्दोंका प्रयोग नहीं किया है। विशेष दोहा ४५ में देखिए।

श्रीविजयानंद त्रिपाठीजी लिखते हैं—'संततिर्गोत्रजनन कुलान्यभिजनान्वयौ। वंशोन्वायः सन्तानो वर्णाःस्यु ब्राह्मणादयः। इत्यमरः।' सन्तति, गोत्र, जनन, कुल, अभिजन, अन्वय, वंश, अन्वाय और सन्तान ये सात नाम वंशके हैं। अतः कुल और वंश पर्याय शब्द हैं। सो मातृकुल पितृकुल भेदसे दो कुल या वंश होते हैं। रावणादिका पितृकुल ऋषिकुल था, और मातृकुल दैत्य कुल था। उसीसे ये लोग राक्षस कहलाये। विभीषणजीने अपना परिचय मातृकुलसे दिया, अपने स्वजनोंकी करणी विचार करके ऋषिकुलसे परिचय देनेमें उन्हें लज्जा लगी। कार्पण्य भक्तिके लक्षणोंमें है, अतः निशिचरवंश कहना सर्वथा प्राप्त था। निशिचरवंशसे परिचय देनेका कारणभी विभीषणजीने कहा 'सहज पाप प्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा।'; अतः सीधा अर्थ छोड़कर 'निशिचर' का अर्थ सूर्यनारायण करना विडम्बना ही है।

श्रीनंगे परमहंसजी—विभीषणजीने अपना परिचय देते हुये पहले अपनेको दशाननका भाई कहा तब निशिचरवंशमें अपना जन्म कहा, यद्यपि उन्हें पहले जन्म कहना चाहिए था क्योंकि जन्म होनेपर भाईका नाता होता है। प्रथम नाता कहा जिसमें किंचित् भी संदेह मनमें न आवे कि शत्रुका भाईपना छिपाता है। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि 'दसानन भाई' कहनेसे निशिचरवंश सूचित हो ही गया तब इसकी सूचना देनेका क्या प्रयोजन ? उत्तर यह है कि दशाननका भाई कुबेर भी है (पर वह देवता है, धन्य है, शंकरजीका मित्र है, यक्षराज है और ऋषिकुलमें है), इसलिये निशाचरवंशकी सूचना दी। तीसरी शंका यह है कि ये भी ऋषिकुल के हैं तब निशिचर वंश क्यों कहा ? समाधान यह है कि कुल और वंशमें भेद है। कुल सनातन खानदानको कहते हैं और वंश जन्मके खानदानको कहते हैं। जन्मस्थल माताको कहते हैं। उनकी माता निशाचरी थी, इसलिये अपना जन्म निशिचरवंशमें कहा।

वीरकवि—'निसिचर बंस' कहनेमें अपनी लघुता सूचित करनेकी ध्वनि है। व्यंगार्थ और वाच्यार्थ बराबर होनेसे 'तुल्य प्रधान गुणीभूत व्यंग' है।

शिला—यहाँ विभीषणजीके कथनमें अति निश्छल दीन देश दिखाते हैं। दशाननका भाई हूँ। यदि आप कहें कि तुम तो पृथक् हो, उसपर कहते हैं कि मैं निशाचरवंशमें हूँ। जो आप कहें कि वंशसे हमें क्या करना, उसपर कहते हैं कि आप सुरत्राता हैं, अतः वंशभरसे वैर हुआ, यथा—'जो मैं राम तो कुलसहित कहिहि दसानन आइ।'; अतएव मैं भी वैरी हूँ, पर आपकी शरण आया हूँ।

टिप्पणी—२ (क) 'सहज पाप प्रिय' में ध्वनि यह है कि 'धर्म प्रिय नहीं है', यथा—'मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ। सुभ आचरन कीन्ह नहिं काऊ। ४७।७।' पुनः, भाव कि पापीके संगमें पाप प्रिय लगता है। पर मैं रावणका भाई हूँ, उसके संगसे पाप प्रिय लगता हो, यह बात नहीं है। मेरा स्वभावही ऐसा है, किसीके संगके कारण यह दोष मुझमें नहीं है किन्तु यह मेरी सहज प्रकृति है। (ख) जो विनयमें गोस्वामीजीने कहा है कि 'रपुको अनुज बिभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी।' (पद १६६), वही बात यहाँ विभीषणजी अपने मुखसे कह रहे हैं। विनयके 'रिपुको अनुज', 'निसिचर', और 'कौन भजन अधिकारी' क्रमसे यहाँ 'दसानन कर भ्राता', 'निसिचर बंस जनम' और 'सहज पाप प्रिय' हैं। पापसे भजन नहीं होता, यथा—'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ'। अतएव 'कौन भजन अधिकारी' और 'सहज पाप प्रिय' दोनों एकही बातें हैं। (ग) 'जथा उलूकहिं तम पर नेहा' इति। उल्लूको अंधकार सहजही प्रिय है, वह अशुभ पक्षी है वैसेही मुझे पाप सहज प्रिय है और देह तामसी है अतएव अशुभ है। जैसे तम दुःखद वैसेही

पाप दुःखद। [सूर्यके रहते हुए भी उल्लूको अंधकार प्रिय, वैसेही धर्मका ज्ञान होतेहुए भी मुझे अधर्म प्रिय है। (मा० त० सु०) पुनः, उलूकसे संत-विरोधी जनाया, यथा—'होहिं उलूक संत निंदारत।'

दो०—श्रवन सुजस सुनि आएउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरतिहरन सरनसुखद रघुबीर ॥४५*॥

अर्थ—कानोंसे आपका सुन्दर यश सुनकर आया हूँ कि प्रभु भवभयके भंजन करनेवाले और समर्थ हैं। हे आर्तके दुःखके हरनेवाले! हे शरणागतको सुख देनेवाले! हे रघुवीर! मेरी रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए। ४५।

नोट—१ गीतावलीमें भी सुयश सुनकर आना और क्या सुयश सुना तथा किस मनोरथसे आये यह सब यों कहा है—"सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ आयो सरन। उपल केवट गीध सबरी संसृत समन। सोक-श्रमसीव सुग्रीव आरति हरन॥ राम राजीवलोचन विमोचन बिपति। श्याम नव तामरस दाम बारिद बरन॥ लसत जटाजूट सिर चारु मुनिचीर कटि। धीर रघुबीर तूनीर सर धनु धरन॥ जातुधानेसु भ्राता बिभीषन नाम। बंधु अपमान गुरु ग्लानि चाहत गरन॥ पतितपावन प्रनतपाल करुनासिंधु। राखिए मोहि सौमित्रि सेवित चरन। ५।४३।' दोहेका 'भंजन भव भीर' इसमें 'उपल केवट गीध संसृत समन' है; 'त्राहि आरति-हरन....'का भाव 'सोक-श्रमसीव सुग्रीव आरतिहरन।....' में है। 'सरनसुखद रघुबीर' ही को 'राम राजीव-लोचन बिमोचन बिपति।....रघुबीर....प्रनतपाल करुनासिंधु' इन शब्दोंसे कहा है। 'त्राहि त्राहि' का भाव 'बंधु अपमान गुरु ग्लानि चाहत गरन। राखिए मोहि सौमित्रि सेवित चरन' में है। गी० ५।४४ में भी कहा है—'दीनहित बिरद पुराननि गायो। आरतबंधु कृपाल मृदुल चित जानि सरन हौं आयो। तुम्हरे रिपुको अनुज बिभीषन बंस निसाचर जायो। सुनि गुन सील सुभाउ नाथ को मैं चरननि चित लायो।'

टिप्पणी—१ (क) 'प्रभु, भंजन भवभीर....' आदि विशेषणोंके भाव कि आप समर्थ हैं, मैं सब प्रकार असमर्थ हूँ। आप भवभीरभंजन हैं, मैं सभीत हूँ। आप आर्तिहरण हैं, मैं आर्त्त हूँ। आप शरणसुखद हैं, मैं शरण हूँ। आप रघुवीर हैं, मैं आपके शत्रुका भाई हूँ। आपके दरबारमें दीनका आदर है, मैं सब प्रकार दीन हूँ। अथवा, 'नाथ दसमानन कर मैं भ्राता।....तम पर नेहा' को लेकर इस दोहेका भाव यह है कि—(ख) दशानन आपका विरोधी है, मैं उसका भाई हूँ, अतः शरणके योग्य नहीं हूँ। आप सुरत्राता हैं, मैं निशाचर सुरविरोधी हूँ; तात्पर्य कि जो आपके स्नेही हैं मैं उन्हींका विरोधी हूँ। और जो आपके विरोधी हैं उनका मैं स्नेही हूँ। आपको धर्म प्रिय है, मुझको पाप प्रिय। सब प्रकारसे मैं आपकी शरणके अयोग्य हूँ, किसी प्रकार भी योग्य नहीं। रही एक बात वह यह है कि मैंने आपका यह सुयश सुना है कि आप शरणसुखद हैं, कैसा भी कोई पापी हो आपकी शरण जानेपर आप उसे अवश्य शरण देते हैं, यथा—'सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा। ३९।७।' पुनः, भाव कि आप भवभीरके भंजनमें समर्थ हैं अतः मेरा दुःख दूर कीजिए और शरणसुखद हैं, अतएव मुझको शरणमें रखकर अपने सुयशकी रक्षा कीजिए और मुझे शरणका सुख दीजिए। भारी शत्रुसे वीर बचाते हैं, भव भारी शत्रु है और आप रघुवीर हैं, अतएव मुझे शत्रुसे बचाइए।

नोट—२ लगभग यह सब भाव श्रीधर मिश्रजीने दिए हैं—'मैं निशिचर हूँ और आपका प्रण है 'निशि-चरहीन करउँ महि', दूसरे शत्रुका भाई हूँ, तीसरे सुरारी हूँ और आप सुरत्राता हैं, चौथे मैं तमोगुणी और आप सतोगुणी हैं, अतः आपका विरोधी हुआ—इस तरह सब प्रकारसे बधयोग्य हूँ; पर आपका आर्तिहरण आदि सुयश सुनकर शरण आया हूँ। अब चाहे वध कीजिए, सुग्रीवके वचनके अनुकूल मुझे बाँध रखिए, चाहे 'मम पन सरनागतभयहारी' इस विरदको विचारकर अभय कीजिए। दोनों वचनोंको विचारकर ऐसा कहा।'

* प्र० चं०—दोहरा मिश्रित है।

नोट—३ भगवान्‌ने जो सुग्रीवसे कहा था कि 'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं', उस वचनको यहाँ चरितार्थ किया। वे सभीतको शरणमें रखते हैं और ये (विभीषणजी) सभीत हैं, यथा—'सरन आयउँ प्रभु भवभयबिकल डरेउ'।

४ (क) 'श्रवन सुजस सुनि आएउँ' इति। किससे सुना? हनुमान्‌जीसे। यथा—'तब हनुमंत कही सब राम कथा निज नाम....। ६। अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर। कीन्ही कृपा०। ७।' पुनः यथा गीतावल्यां—'बिषम बिषाद बारिनिधि बूड़त थाह कपीस कथा लही। गये दुख दोष देखि पद पंकज अब न साथ एकौ रही। ५। ३१।' अथवा, नारदादिसे सुना। नारदसे सुनना कुंभकर्णके 'कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहि देवक। सिव बिरंचि सुर जाके सेवक॥ नारद मुनि मोहि ज्ञान जो कहा। कहतेउँ तोहि समय निरवहा। ६।६२।५-६।'; इन वाक्योंसे ध्वनित होता है। विभीषणजीसे भी कहा होगा, क्योंकि ये तो हरिभक्त ही थे। चाहे दोनोंसे एक साथ कहा हो चाहे अलग अलग। श्रीशङ्करजीसे भी सुना ही है; यथा 'रामकी सरन जाहि सुदिन न हेरै। जाको नाम कुंभज कलेस सिंधु सोखिबे को। मेरो कह्यो मानि तात बाँधै जिनि बेरै। गी० ५।२७।'; पर श्रीरघुनाथजीके पास जानेका संकल्प करनेके पश्चात् शंकरजीने यह कहा है। यथा 'मातु पग सीस नाइ तुलसी असीस पाइ चले....। ५।२६।', 'कृपानिधान को मिलौं पै मिलि कै कुबेरै।....तहँई मिले महेस....। ५।२७।' गी० ५।४४ में पुराणों द्वारा दीनबंधुता, कृपालुता आदि गुणों और शील स्वभावका सुनना विभीषणजीने स्वयं कहा है। स्मरण रहे कि यह सुनना प्रभुके समीप आनेके पूर्वका ही है। विभीषणजीके आनेपर जो सुग्रीवसे प्रभुने कहा है वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है। (ख) 'मैं रघुबीर सरन अब जाउँ०' उपक्रम है और 'श्रवन सुजस सुनि आयउँ....सरनसुखद रघुबीर' उपसंहार है।

वि० त्रि०—छः विधि शरणागतिकी हैं। 'आनुकूलस्यसंकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा। आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।' (१) 'राम सत्यसंकल्प प्रभु' कहकर अपनी अनुकूलता दिखलाई। (२) 'सभा काल बस तोर' कहकर प्रतिकूलका वर्जन द्योतित किया। (३-४) 'मैं रघुबीर सरन अब जाउँ' कहकर 'रक्षिष्यतीति विश्वास' तथा 'गोप्तृत्व वरण' कहा। (५) दण्डवत् करनेसे आत्म-निवेदन दिखलाया। (६) 'निसिचरबंस जन्म' कहकर कार्पण्य सूचित किया। इस प्रकारसे शरणागतिकी सब विधि विभीषणजीमें दिखलायीं। परन्तु शरणागति वस्तु क्या है, इसका भी निरूपण होना चाहिये। अहिर्बुध्य संहितामें कहा गया है कि 'अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः। त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः शरणागतिनिरति॰प्रोक्ता' इत्यादि। (१) मैं अपराधोंका आलय हूँ, (२) अकिञ्चन हूँ, (३) अगतिक हूँ, (४) 'आपही मेरे लिये उपाय रूप हो जायँ'—ऐसी प्रार्थनाकी बुद्धिही शरणागति है। प्रभुके सामने विभीषणजी शरणागतिका स्वरूप खड़ा किये देते हैं। 'सहज पाप प्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा' कहकर अपना अपराधोंका आलय होना स्वीकार किया। 'आर्तिहरण' सम्बोधनसे अपना अकिञ्चन होना आर्त होना सूचित किया। 'त्राहि त्राहि' कहकर अपना अगतिक होना कहा। अतः विभीषणजीकी शरणागति स्वरूपतः भी ठीक उतरी। [पृ० ३४५,३५२,३५५ और ३७६ द्वितीयावृत्ति देखिए]

प० प० प्र०—'श्रवन सुजस सुनि' से ध्वनित होता है कि उन्होंने सुयशका श्रवण किया है। भगवान्‌का सुयश सुनानेवाले संतही होते हैं। यथा 'बिनु सतसंग न हरि कथा'। अतः इससे यह भी सिद्ध हुआ कि इन्होंने सन्तसंग किया है। 'आयउँ' से सिद्ध होता है कि इनकी सन्तवाक्यमें दृढ़ श्रद्धा है। संतके दर्शनसे पाप मिटते हैं, उनका संग मोक्षका मार्ग है, उनसे हरिसुयश सुननेपर सब मनोरथ सिद्ध होते हैं, यथा 'संतदरस जिमि पातक टरई', 'संतसंग अपबर्ग कर', 'भवभेषज रघुनाथ जसु सुनहिं जे नर अरु नारि। तिन्हकर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिपुरारि (त्रिसिरारि)। ४।३०।' विभीषणजीने त्रिपुरारिके अवतार हनुमान्‌जीसे ही श्रीरघुनाथयश सुना। अतः इनके सब मनोरथ पूरे होंगे। [नोट-'सरन सुखद रघुबीर' का भाव कि आपही समस्त प्राणियोंको शरण देनेवाले हैं। यथा—'भवन्तं सर्वभूतानां शरण्यं शरणंगतः। वाल्मी० ६।१६।५।']

श्रीलमगोड़ाजी—सुंदरकाण्ड वास्तवमें अति सुंदर कथाओंका भंडार है। कारण कि सेवाधर्मकी पराकाष्ठा हनुमान्‌जीमें और शरणागतधर्मका उच्चतम उदाहरण विभीषणजीमें मौजूद है। श्रीमद्भागवतमें भी भगवान्‌की विरदावली कहते हुए उनको शरणागतरक्षक और सेवकोंकी समस्त आर्ति और विपत्तिका नाशक कहा है (एकादश अध्याय ५)। मुझे बार-बार यह बात याद आती है, इसीसे लिखे देता हूँ कि कृष्णपरक ग्रन्थ होते हुये भी इस स्थानपर भागवतमें भी श्रीरामावतारपर ही (विशेषकर कलियुगमें) विशेष जोर दिया गया है; कारण कि इसी अवतारमें भगवान्‌ने धर्म (सत्य) और प्रेम (शील) के द्वन्द्वोंकी पराकाष्ठा दिखाई है और दोनोंकी मर्यादाओंको हर जगह निवाहा है, यह नहीं कि एकको छोड़ भागे हों, मानों 'उभय भाँति' का निर्वाह ही इस मर्यादा पुरुषोत्तम अवतारका मुख्य उद्देश्य है। मुझे तो यह प्रतीत होता है कि भगवान्‌का उद्देश्य इस अवतारमें निर्द्वन्द्वका अर्थ यह स्थापित करनेका था कि किसी एक द्वन्द्वसे बँधे नहीं किन्तु दोनोंका एकीकरण करे, द्वन्द्वसे नकेल तुड़ाकर न भाग जाय।

अस कहि करत दंडवत देखा। तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा॥ १॥
दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा॥ २॥
अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी। बोले बचन भगत भयहारी॥ ३॥

अर्थ—ऐसा कहकर दंडवत करते देखा (त्योंही) तुरंत प्रभु बहुत हर्षसहित उठे। १। दीन वचन सुनकर (वे) प्रभुको बहुत अच्छे लगे। उनको विशाल भुजाओंसे पकड़कर हृदयमें लगाया। २। छोटे भाई लक्ष्मणजी सहित उनसे मिलकर उनको पास बिठाकर भक्तके भयको हरण करनेवाले वचन बोले। ३।

टिप्पणी—१ (क) 'अस कहि करत दंडवत....' इति। दंडवतसे अष्टांग प्रणाम सूचित किया। ['पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा तथा। मनसा वचसा दृष्ट्या प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः।' प्र० संस्करणमें यह श्लोक हमने दिया था, पर इसका प्रमाण न ज्ञात होनेसे इस संस्करणमें प्रामाणिक ग्रन्थोंके श्लोक दे रहे हैं। आह्निक सू० पृष्ठ १४४ पूजा प्रसंगमें श्लोक इस प्रकार है—'उरसा शिरसा दृष्ट्या मनसा वचसा तथा। पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यां प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते।' अर्थात् उर, शिर, दृष्टि (नेत्र), मन, वचन, पैर, भुजा और घुटना इन आठ अङ्गोंसे युक्त प्रणामको साष्टाङ्ग प्रणाम कहते हैं। शाण्डिल्य स्मृतिमें बताया है कि 'निधाय दण्डवद्देहं प्रसार्य चरणौ करौ। बद्ध्वा मुकुलवत्पाणी प्रणामो दण्डसंज्ञितः। पादौ शिरस्तथा हस्तौ निकुंच्य मुकुलाकृती। मनोबुद्ध्यभिमानेन प्रणामोऽष्टाङ्ग संज्ञितः॥' अर्थात् देहको दण्डाकार पृथ्वीपर डालकर चरणोंको जोड़े हुये लंबी फैलाकर हाथोंको फैलाकर अंजली बाँधकर इस तरह लंबा पड़कर जो प्रणाम किया जाता है उसे दण्ड प्रणाम कहते हैं। दोनों चरण, शिर, दोनों हाथ, मन बुद्धि और अहंकार युक्त प्रणामकी अष्टाङ्ग प्रणाम संज्ञा है। भगवान्‌के सामने साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करनेका विधान है कि अपनी दीनता कहता हुआ प्रणाम करे। प्रणामके समयका एक प्रसिद्ध श्लोक यह है—'अपराध सहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे। अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात् कुरु।'; अतः विभीषणजीने भी दण्डवत् प्रणाम करते समय वही सब 'नाथ दसानन....त्राहि-त्राहि आरतिहरन....' कहकर दण्डवत् की। यह बतानेके लिए 'अस कहि....' शब्द दिये।] (ख) दीन वचन कहे और साष्टांग दंडवत् की। आगे दोनोंको क्रमसे चरितार्थ करते हैं—'दीन बचन सुनि' और 'भुजबिसाल०'। तात्पर्य कि स्वामीको अपना दुःख सुनानेसे दीनताका नाश होता है। यथा—'तुलसी राम कृपाल सों कहि सुनाउ गुन दोष। होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष। दो० ९६।' 'तुरत उठे' क्योंकि यदि बहुत देर पड़े रहने दें तो उनका अनादर होता है। (ग) 'हरष बिसेषा' इति। विभीषणजीने अपनेको पतित कहा यह सुनकर रामजीको विशेष हर्ष हुआ क्योंकि प्रभुका 'पतितपावन' बाना है, यथा—'जासु पतित-पावन बड़ बाना। गावहिं कवि श्रुति संत पुराना। ७।१३०।' पुनः, श्रीरामजीसे मिलने जब विभीषण चले तब उन्हें हर्ष हुआ था—'चलेउ हरषि रघुनायक पासा'। और जब विभीषणसे मिलनेको श्रीरामजी

उठे तब श्रीरामजीको विशेष हर्ष हुआ। वहाँ हर्ष और यहाँ विशेष हर्ष दिखाकर सूचित किया कि श्रीरामजीसे मिलनेमें जितना हर्ष भक्तको होता है उससे कहीं अधिक हर्ष श्रीरामजीको भक्तसे मिलनेमें होता है।

२ 'दीन बचन सुनि....' इति। (क) दीन वचन सुनकर मनमें अच्छे लगे, क्योंकि प्रभु दीनबंधु हैं। वा, उनका दीन-दयाल विरद है, यथा—'दीनदयाल बिरद संभारी'। [पुनः, 'दीन बचन सुनि' का भाव यह कि यद्यपि प्रभु अन्तःप्रेमको जानते हैं तथापि जबतक भक्त दीन वचनों द्वारा प्रार्थना नहीं करता तबतक वह प्रभुके मनको विशेष नहीं भाता। यथा—'सुनि सेवक दुख दीनदयाला। फरकि उठीं दोउ भुजा बिसाला ४।६।१४।', 'तब लगि जो दुख सहेउँ कहेउँ नहिं जद्यपि अंतरजामी' (वि०)] 'प्रभु' का भाव कि शत्रुका भय और भवका भय दूर करनेको समर्थ हैं, इसीसे 'मन भावा'। [(ख) 'भुज बिसाल गहि' का भाव कि विभीषणजी दूर पड़े हैं, उनके उठानेके लिए बड़ी-बड़ी भुजाएँ बढ़ाईं। विभीषणजी दूरसे दर्शन करते ही ठिठक रहे, वहींसे उन्होंने दंडवत की और वहींसे श्रीरामजीने उन्हें उठा लिया।

शंका—जब भरतजी चरणोंमें गिरे, उस समय 'परे भूमि नहिं उठत उठाये' और हनुमान्‌जीके यहाँ 'बार-बार प्रभु चहइ उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा। ३३।१।' अर्थात् ये उठानेसे भी न उठते थे और विभीषणजी ग्रहण करते ही उठ गए, तो क्या इनका प्रेम उनसे न्यून था?

समाधान—भरतजी चरणपर गिरते ही अति ग्लानिसे चिन्तित हो गए,....ग्लानिवश न उठते थे। हनुमान्‌जीसे जब प्रभुने कहा कि मैं तुमसे उऋण नहीं और 'सनमुख होइ न सकत मन मोरा' तब वे घबड़ाये कि प्रभु मुझे त्यागते हैं, अतएव आर्त्त होकर चरणोंपर गिर पड़े और त्राहि-त्राहि करने लगे, उठानेसे न उठे। इसमें हेतु यह है कि मैं तो दास हूँ, कैंकर्य मेरा मुख्य धर्म है, तब आप ऐसा क्यों कहते हैं? और यहाँ विभीषणजी चाहते थे कि प्रभु मुझे स्वीकार करें; अतएव केवल भुजमात्रके अवलंबनसे उठ गए। अथवा, बिशाल शब्दसे बलपूर्वक उठाना सूचित किया, क्योंकि विभीषणजी तो प्रेममें मग्न थे, उन्हें उठनेकी सुध ही न थी। श्रीसुतीक्ष्णजीके प्रसंगमें भी 'भुज बिसाल गहि लिये उठाई। परम प्रीति राखे उर लाई' कहा है। (मा० त० सु०)]

रा० शं० श०—विभीषणजीकी दृष्टि पहले भुजाओं ही पर पड़ी थी, इसलिए पहिले भुजाओंने उनका हित किया। फिर चौड़ी छातीपर, इसलिए बादको छातीने अपनाया।

पाँडेजी—'भुज बिसाल' अर्थात् ये ऐसी भुजाएँ हैं कि जिसको एक बार पकड़ा फिर कभी न छोड़ा।

पं० रा० कु०—श्रीरामजीका चलना नहीं कहते और विभीषणजी दूर पड़े हैं तब दूरसे उठाना और मिलना कैसे बने? इससे ज्ञात हुआ कि भुजा बढ़ाकर उठाया। यथा—'उठे उमँगि आनंद-प्रेम-परिपूरन बिरद बिचारि कै। भयो बिदेह बिभीषन उत इत प्रभु अपनपौ बिसारिकै। भली-भाँति भावते भरत ज्यों भेंट्यो भुजा पसारि कै॥ गी०। ५।३६।' पुनः, यथा—'रिपु को अनुज बिभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी। सरन गये आगे होइ लीन्ह्यो भेंटेउ भुजा पसारी। इति विनये। १६६।' अति प्रियको लोग हृदयसे लगाते हैं, विभीषण श्रीरामजीको अत्यन्त प्रिय हैं, अतएव उन्हें हृदयसे लगाया, यथा—'सुनु लंकेस सकल गुन तोरे। ताते तुम्ह अतिसय प्रिय मोरे।'

मा० त० सु०—(क) 'तुरत उठे' पदसे अनुमान होता है कि प्रभु चले भी। इसी प्रकार भरतजीके प्रकरणमें श्रीभरतजीका दूरसे प्रणाम करना लिखा और प्रभुका उठकर उठाना लिखा परन्तु चलना नहीं लिखा। प्रकरण देखने और अनुमानसे सिद्ध होता है कि प्रभु चले, वहाँ—'कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा' का छूटना लिखा। इसमें हेतु यह कि प्रभु वहाँ असावधान थे, किन्तु यहाँ विभीषणजीसे मिलनेके लिए सावधान हैं, अतः यहाँ धनुष आदिका छूटना नहीं कहा।

वि० त्रि०—पूर्णतः शरणागत देखकर सरकार स्वयं उठ पड़े। उठते ही सबने देखा, कैसे विभीषणके पास पहुँचे यह किसीने न देखा। यह सरकारका लाघव है, यथा—'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े'। इतनी त्वराका कारण सरकारकी भक्तवत्सलता है, शरणागतको जमीनपर पड़ा हुआ नहीं देख सकते। सरकार अजानुबाहु हैं, विभीषणके उठानेमें अधिक झुकना भी न पड़ा, उठाकर हृदयसे लगा लिया।

टिप्पणी—३ 'अनुज सहित मिलि००' इति। (क) भाई सहित मिलना न कहते तो विभीषणसे मिलनेमें उनकी अप्रसन्नता समझी जाती जैसी सुग्रीवकी अप्रसन्नता जान पड़ी। जिसे श्रीरामजी अंगीकार करते हैं, उसे लक्ष्मणजी भी अंगीकार करते हैं। जब श्रीरामजीने उन्हें हृदयसे लगाया और वे प्रभुके मनको अच्छे लगे तब लक्ष्मणजीने भी उन्हें हृदयसे लगाया। पुनः, राजाओंसे मिलनेका ऐसाही क़ायदा है, यथा—'सादर मिलेउ नाइ पद माथा। भेंटेउ अनुज सहित रघुनाथा। कि० ४।७।' (गीतावलीमें सबसे विभीषणजीको मिलाकर परम निकट बैठाना लिखा है, यथा 'सादर सबहि मिलाइ समाजहि निपट निकट बैठारि कै।५।३।६।'; मानसमें कविकी सावधानता दृष्टिगोचर होती है। 'कर गहि परम निकट' बिठाये जानेका सौभाग्य श्रीहनुमान्‌जीको मिला है)। (ख) 'ढिग बैठारी'। यह अत्यन्त आदर है, यथा—'अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि कृपाल खरारी। ६।३७।४।', विशेष 'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा। ३३।४।'में देखिए।

४ जैसे विभीषणजी मन वचन कर्मसे प्रभुके प्रेममें मग्न थे वैसेही यहाँ प्रभुने भी इनमें अपना तन मन वचन लगाया। तनसे भक्तका भय दूर किया और देखकर उठे, भुजासे उठाकर हृदयसे लगाया। अब बचनसे भक्तका भय हरते हैं और आगे उरमें बसाना कहते हैं—'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय०'।

कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा ॥ ४ ॥
खलमंडली बसहु दिनराती। सखा धर्म निबहइ केहि भाँती* ॥ ५ ॥

अर्थ—हे लंकेश! परिवारसहित अपना कुशल कहो। तुम्हारा निवास कुठौर (बड़े बेमौक़े, बुरे स्थानपर) है।४। हे सखा! तुम दिनरात खलोंकी समाजमें रहते हो, तुम्हारे धर्मका निर्वाह कैसे होता है?।५।

टिप्पणी १—'कहु लंकेस....' इति। (क) लंकेश बनानेकी इच्छा है; इसीसे लंकेश सम्बोधन देकर लंकापति बनाया। लंकाके भविष्याधिपत्यका इस शब्दसे प्रथमही बीजविन्यास कर दिया। यहाँ 'भाविक अलंकार' है। वचनसे 'लंकेश' कहतेही वे लंकेश होगए; क्योंकि प्रभुका वचन असत्य नहीं होता, यथा—'जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई। ४।७।२३।' (ख) परिवारकी कुशल पूछी क्योंकि 'प्रनत कुटुंबपाल रघुराई'। कुशल पूछनेके हेतु 'कुठाहर बास' और 'खल मंडलीमें निवास' हैं जहाँ सज्जनोंके लिये अनेक विघ्न बनेही रहते हैं। यथा 'मिलत एक दारुन दुख देहीं'। 'कुठाहर' में कुशल असंभव है, यथा—'सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी' (यह विभीषणजीने श्रीहनुमान्‌जीसे स्वयंही कहा है।) (ग) 'बास तुम्हारा' का भाव कि औरोंके लिए तो वह 'सुठाहर' ही है किन्तु तुम्हारे लिए 'कुठाहर' है।

२ 'खल मंडली बसहु....' इति। (क) किस बातकी कुशल पूछी, यह यहाँ स्पष्ट किया। धर्मका निर्वाह होना कुशल कहलाता है। यही संदेह हनुमान्‌जीने भी किया था कि 'लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा।' (ख) 'खल मंडली बसहु' अर्थात् उनके बीचमें बसते हो, जहाँ धर्म कानसे भी नहीं सुनाई देता, यथा—'अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धरम सुनिय नहि काना।१।१८३।'; तात्पर्य कि खल धर्मके नाशक हैं, यथा—'जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं वेद प्रतिकूला। १।१८३।५।' यहाँ कुठाहरका अर्थ स्पष्ट किया कि चाहे सोनेका चाहे मणिका स्थान बना हो पर जहाँ खलमंडली है वही कुठाहर है [इससे सूचित किया कि ऐसा स्थान धर्माचरणके लिये उपयुक्त नहीं है। (प० प० प्र०)] और चाहे झोपड़ी हो पर वहाँ संतमंडली हो तो वही सुठाहर है। (पुनः, 'खलमंडली' का भाव कि एक खलका ही संग दुखदायी होता है, क्योंकि 'खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव....।७।१२१।१८।', 'पर दुख हेतु असंत अभागी। ७।१२१।१५।' और तुम तो खलसमाजमें ही रहते रहे हो तब तो धर्मका निर्वाह वहाँ असंभव ही था, क्योंकि खलोंका स्वभाव ही है कि 'करहिं मोहबस द्रोह परावा। संत संग हरिकथा न भावा।' (ग)

* प्र० चं०—दोहा ४५ (१, २, ३, ५) 'कहु०' पायकुलक, 'कुशल०' तामरस।

'दिन राती'। भाव कि कुछ भी समयका अन्तर पड़े तो धम निबह जाय। पर तुम्हें तो कभी भी छुटकारा ही नहीं मिलता। यह बात सुनकर विभीषणजी कुछ भी न बोले, तब प्रभु स्वयं ही कहने लगे। [सखा संबोधन करके पूछनेका एक भाव यह है कि तुम्हारा हमारे साथ सख्यत्व धर्म किस प्रकार निबहता है। (पां०)]

मैं जानौं तुम्हार सब रीती। अति नय निपुन न भाव अनीती॥ ६॥
बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता*॥ ७॥

अर्थ—मैं तुम्हारी सब रीति (व्यवहार) जानता हूँ। तुम नीतिमें अत्यन्त निपुण हो। तुम्हें अनीति अच्छी नहीं लगती। ६। हे तात! नरकका वास भले ही हो पर विधाता दुष्टका संग न दे। ७।

टिप्पणी—१ 'मैं जानौं तुम्हार सब रीती।....' इति। (क) भाव यह कि जैसे विभीषणजी लंकामें भी रहकर श्रीरामजीकी रीति जानते हैं, वैसे ही श्रीरामजी उनकी रीति जानते हैं। (ख)-'सब रीति'=लोक-रीति, वेदरीति, धर्मरीति, साधुरीति, और नीतिरीति। (ग) प्रथम 'खल मंडली बसहु' कहकर अब 'न भाव अनीती' कहा। इससे जनाया कि उनका दोष तुममें नहीं व्याप्त हुआ, यथा—'बिधिबस सुजन कुसंगत परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं। १।३।१०।', 'अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई। २।१८४।८।' (घ) विभीषणके 'सहज पाप प्रिय' का यह उत्तर है—'मैं जानौं....'। अर्थात् तुम पापी नहीं हो, धर्मात्मा हो। [ऐश्वर्यभावमें तो श्रीरामजी स्वतः सर्वज्ञ होनेसे सब जानते हैं। माधुर्यपक्षमें श्रीहनुमान्‌जीसे सुनकर जानते हैं।]

२ 'बरु भल बास नरक कर....' इति। (क) 'देइ बिधाता'का भाव कि विधिवश सज्जन कुसंगतिमें पड़ते हैं वही यहाँ कहते हैं कि विधाता दुष्टसंग न दे। तब प्रश्न होता है कि पापके फलका भोग कैसे होगा? उसपर कहते हैं कि कुसंगके बदलेमें नरकवास दे दें वह अच्छा है। [यद्यपि नरकका वास अंगीकार करने योग्य नहीं है फिर भी दुष्ट-संगकी अपेक्षा उसे गुणकारी मानकर स्वीकार करना 'अनुज्ञा अलंकार' है। (वीर)] (ख) विभीषणजीने अपनेको रावणका भाई कहकर अपनेमें संग-दोष दिखाया। श्रीरामचन्द्रजी अपनी ओरसे इस बातको समझकर दुष्टसंगका दोष कहते हैं। (ग)—विभीषणजीने उनसे कुछ न कहा, हनुमान्‌जीसे कहा था, यथा—'सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी' और कुंभकर्णसे भी कहा है कि 'तात लात रावन मोहि मारा। कहत परम हित मंत्र बिचारा। लं० ६३।'; इस भेदसे जनाया कि स्वामीसे प्रपंचकी बात न कहे और न बहुत कहे, यथा—'सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि। २।३००।'

नोट—१ 'बरु भल बास नरक कर ताता' इति। नरकवासको भला कहा, क्योंकि—(क) वहाँ भगवान् याद आते हैं और दुष्टकी संगतिमें भगवान् कभी याद नहीं आते। (नं० प०)। (ख) वहाँ पापरूप अपकर्मोंका प्रायश्चित हो जाता है। नरककी निवृत्ति तो हो भी जाती है पर खल-संगसे प्रथम भी दुःख और अंतमें नरकका भी दुःख; दुःखकी निवृत्ति कभी भी नहीं होती। (मा० त० भा०)। 'वरं हि नरके वासो नतु दुश्चरिते गृहे। नरकात् क्षीयते पापं कुगृहान्न निवर्तते॥' (गरुड़पुराण)। नरकवास क्यों अच्छा है? इसका कारण इस श्लोकमें दिया है कि नरक भोगसे पापका क्षय होता है और कुगृहवाससे तो पाप बढ़ता ही है।

श्रीलमगोड़ाजी—श्रीतुलसीदासजीकी कलामें सिद्धान्त और उपदेशपूर्ण वाक्य भी ऐसे मौक़ेके होते हैं कि वे रस और भावसे ओत-प्रोत हो जाते हैं, रूखे-सूखे नहीं रह जाते।

अब पद देखि कुसल रघुराया। जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया†॥ ८॥

---

* प्र० चं०—'अति०' चण्डी, 'दुष्ट०' स्वागता, शेष पायकुलक।
† प्र० चं० ने सात ही अर्धालियाँ दी हैं। दोहा ४६ मच्छ दोहा है।

दो०—तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहु मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोकधाम तजि काम॥ ४६॥

अर्थ—हे रघुराज! अब चरणोंके दर्शनसे कुशल है, जो आपने जन जानकर मुझपर दया की (भाव कि जब आप अपना जन जानते हैं, तब दया करते हैं, तब आपके चरणोंके दर्शन होते हैं और दर्शन होनेसे कुशल होता है)। १८। तबतक जीवका कुशल नहीं और न स्वप्नमें भी मनको विश्राम (मिलता) है जबतक शोक-धाम (शोकका घर) कामको त्यागकर वह श्रीरामको नहीं भजता। ४६।

टिप्पणी—१ (क) 'अब पद देखि कुसल' अर्थात् पदही कुशलका मूल है, यथा—'कुसलमूल पद पंकज पेखी। मैं तिहुँ काल भाग्य निज लेखी॥ २। १६५। ७।' (ख) 'अब पद देखि कुसल' से अपना कुशल कहा और 'जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया' से परिवारका कुशल जनाया। यथा—'अब प्रभु परम अनुग्रह तोरे। सहित कोटि कुल मंगल मोरे॥ २। १६५। ८।'

२ विभीषणजीने पाँच प्रकारसे कुशल कही—पदारविन्दके दर्शनसे-(१)। प्रभुकी दयासे—(२)। भजनसे, यथा—'जब लगि भजत न'—(३)। रामजीके हृदयमें निवाससे, यथा—'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना। जब लगि उर न बसत रघुनाथा'। क्योंकि जबतक खल हृदयमें बसते हैं तब-तक कुशल कहाँ संभव है।-(४)। प्रभुप्रतापके हृदयमें बसनेसे, यथा—'ममता तरुन तमी अँधियारी। रागद्वेष उलूक सुखकारी॥ तब लगि बसत जीव मन माहीं। जब लगि प्रभुप्रताप रबि नाहीं'। ममतादिके रहते सुख नहीं। (५)।

३ 'अब पद देखि' उपक्रम है, 'देखेउँ नयन बिरंचि-सिव-सेव्यजुगलपदकंज' उपसंहार है। पदके दर्शनसे प्रसंग उठाया और उसीपर समाप्त किया।

४ (क) 'जानि जन दाया'। जीवको अपना उत्पन्न किया हुआ जानकर उसपर दया करते हैं, यथा—'अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया। ७। ८७।' जीवकी कुशल नहीं होती, कुशल तभी होती है जब प्रभु अपना जन जानकर दया करते हैं। यही भाव 'अब' शब्दका है, अर्थात् तब न थी क्योंकि तब आपके पदकमलका दर्शन प्राप्त न था, अब हुआ। (ख) 'जौं' का भाव कि यदि शत्रु रावणका भाई, राक्षस और पापी समझकर आप दया न करते तो कुशल न होती।

५ (क) 'तब लगि कुसल न....' इति। कुशल और विश्राम दो शब्द देकर बाहर और भीतर दोनोंका कुशल और विश्राम जनाया। 'न' और 'सपनेहु' दोनों दीप-देहली-न्यायसे दोनोंमें लगेंगे। (ख) 'शोक-धाम तजि काम' इति। काम भजनका बाधक है, इसीसे उसे छोड़कर भजन करनेको कहा, यथा—'बचन करम मन मोरि गति भजन करहिं निःकाम। तिन्हके हृदयकमल महँ करउँ सदा बिश्राम। ३। १६।'; भाव कि निष्काम भजनसे प्रभु हृदयमें बसते हैं, तब कामादि विकार वहाँसे भाग जाते हैं; जबतक निष्काम भजन नहीं होता तब तक विश्राम नहीं मिल सकता, यथा—'पाकारिजित काम बिश्राम हारी। विनय ५८।' भजनही मनको विश्राम देनेवाला है। (ग) ☞ शोक होना कुशलका न होना है। जैसे लंकामें विभीषणकी कुशल न थी वैसेही प्राणीके हृदयरूपी लंकामें कामादि विकारोंके रहते जीवका कुशल नहीं। यह उपदेश है।

नोट—१ 'जब लगि भजत न राम कहुँ०', यथा—'हरिमायाकृत दोष गुन बिनु हरिभजन न जाहिं। भजिय राम तजि काम सब अस बिचारि मन माहिं। ७। १०४।' 'काम' समस्त वासनाओंका वाचक है। [श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—'तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः। तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयंप्रवृणीत लोकः॥' (भा० ३। ९। ६।) अर्थात् जब तक यह जीव आपके अभयरूपी चरणोंको नहीं भजता तभीतक धन, गृह, सुहृदके कारण होनेवाला भय है। तभीतक शोक, आकांक्षा, पराभव, भारी लोभ और कष्टकी जड़ 'मैं हूँ' 'यह मेरा है' इस प्रकारका असत् आग्रह भी रहता

है। (ब्रह्माजीने ये बचन भगवान्‌से कहे हैं)। कामनायें शोककी देनेवाली हैं, यथा 'तुलसी अद‌्भुत देवता आसा देवी नाम। सेए सोक समर्पई बिमुख भये अभिराम। दो० २५८।'; इसीसे कामको शोकधाम कहा। उनसे बिमुख होनेपर ही शान्ति प्राप्त होती है, इसीसे 'तजि काम' कहा।]

तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ १॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि माथा॥ २॥

शब्दार्थ—मच्छर=मत्सर, ईर्ष्या, डाह।

अर्थ—लोभ, मोह, मत्सर, मद और मान आदि अनेक खल तब तक हृदयमें बसते हैं, जब तक धनुषबाण और कमरमें तर्कश धारण किए हुए श्रीरघुनाथजी हृदयमें नहीं बसते। १-२।

टिप्पणी—१ (क) हृदयमें कामही नहीं किन्तु और भी बहुत विकार हैं; इसीसे 'नाना' पद दिया। और षट् शत्रु जनानेके लिए छः विकार कहे—एक 'काम' तो दोहेमें कहा गया और पाँच यहाँ कहते हैं। (ख) 'खल मंडली बसहु दिन राती।००' इस वचनका उत्तर दे रहे हैं कि बिना आपके इसका संग नहीं छूटता, बाहरके खल छूटे तो भीतर अनेक खल हैं। (ग) खलोंमें 'काम' को प्रथम स्थान दिया, आदिमें कहा (क्योंकि यह सबसे प्रबल और प्रधान है), यथा—'मारि कै मारु थप्यो जग मैं जाकी प्रथम रेख भट माँहीं। वि० ४।', 'खल कामादि निकट नहिं जाहीं। ७। १२०। ६।', 'काम आदि मद दंभ न जाके।३।१६।१२।' जैसे खलोंमें मेघनादका आदि स्थान है, वैसेही पट्‌विकाररूपी खलमंडलीमें कामका आदि स्थान है, मेघनादको कामसे उपमा दी गई है, यथा—'बारिदनाद जेठ सुत तासू। भट महँ प्रथम लीक जग जासू।', 'जेहि न होइ रन सनमुख कोई। सुरपुर नितहिं परावन होई। १। १८०।', 'पाकारिजित काम बिश्रामहारी' (विनय ५८)।

प० प० प्र०—विभीषणजीने लोभ, मोह, मत्सर, मद और मानकोही कहा। काम और क्रोधको नहीं कहा। कारण कि बिना काम क्रोधके त्याग किये कोई भगवत्सम्मुख होता ही नहीं। शरण जानेपर भी मान प्रतिष्ठाका लोभ, भगवान्‌की गूढ़ लीला देखनेपर मोह, भक्तिका और काम-क्रोधादिको जीतनेका मद (गर्व), अपनेसे दूसरोंकी अधिक मान प्रतिष्ठा देखकर मत्सर, इत्यादि अनेक खल हृदयमें प्रवेश कर सकते हैं। इस कथनमें विभीषणजीका आशय यह है कि दर्शनसे नेत्रोंको तो अतीव आनंद हुआ पर जब तक मेरे हृदयमें आप साकार श्रीरघुनाथरूपसे न बसेंगे तब तक मेरे हृदयको पूरी शान्ति न मिलेगी। अतएव यह कृपा कर दीजिए।

टिप्पणी—२ 'जब लगि उर न बसत रघुनाथा।००' इति। (क) 'रघुनाथ' पद देकर जनाया कि सगुन ब्रह्म जब बसें तब मन निर्विकार हो। शत्रुको मारनेके लिए धनुषबाण लेकर हृदयमें बसकर दासकी रक्षा करते हैं, यथा 'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। ३। ४३।' निर्गुन ब्रह्म रक्षा नहीं करते। यथा 'अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी। १। २३। ७।' उदाहरण—निर्गुण उपासक लोमशको क्रोध हुआ, यथा—'उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा। मुनि तन भये क्रोधके चीन्हा'। सगुणउपासक भुशुण्डिजीको क्रोध न आया, यथा—'उमा जे रामचरनरत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध। ७। ११२।' निर्गुण ब्रह्मने ऋषिकी रक्षा न की, सगुणने भुशुण्डिकी रक्षा की। यथा—'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥', 'करउँ सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी।' (आ० ४३)।

मा० त० सु०—श्रीविभीषणजी हृदयमें वीरस्वरूपका ध्यान रखकर लंकासे चले हैं; यथा—'राम सत्यसंकल्प प्रभु सभा काल बस तोरि। मैं रघुबीर सरन अब जाउँ....। ४१।'; अतः इस समय भी वीरभावसेही देख रहे हैं। दूसरे, श्रीरामजी इस समय शत्रुनाशनमें तत्पर होनेसे शस्त्रसंपन्नही रहा करते थे, अब उन्हें शरचापादियुक्त देखा।

श्रीलमगोड़ाजी—सामवेदके अंतमें कहा है कि आप "सबके ऊपर शासक होनेसे सबके भय देने-वाले (भीमः) हैं। आप हमारे बाहरी और अन्तः शत्रुओंका, राजाके समान, विनाश करें।" पर हम अगर-मगरमें पड़े रहते हैं जो रजोगुणका प्रभाव है (जैसे यदि वे राजा हैं तो जीत लूँगा और यदि भगवान् हैं तो भी उनके हाथसे ही मरना अच्छा है) और प्रत्यक्ष प्रकट होनेपर भी शरणागत नहीं होते। रावणकी अवस्था भी ग़नीमत है, नहीं तो अंग्रेजोंकी कहावत ही ठीक है कि 'हम युगोंतक प्रभुकी प्रतीक्षा करते हैं और जब वे आते हैं तब हम उन्हें सूलीपर चढ़ा देते हैं।' कारण कि चारों तरफ़ तमो-गुणकाही राज्य है। हाँ, इसीलिये तो 'धनुषधारी राम' की ज़रूरत है।

ममता तरुन तमी अँधियारी। राग द्वेष उलूक सुखकारी॥ ३॥
तब लगि बसत जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु-प्रताप-रबि नाहीं॥ ४॥

अर्थ—ममता पूर्ण अँधेरी रात है। रागद्वेषरूपी उल्लुओंको सुख देनेवाली है। ३। ये तबतक जीवके हृदयमें बसते हैं जबतक प्रभुप्रतापरूपी सूर्य (वहाँ) नहीं है। अर्थात् जैसे सूर्योदयसे अन्धकारका नाश हो जाता है वैसे ही हृदयमें रामप्रतापके आनेसे ये विकार नष्ट हो जाते हैं। रामप्रताप सूर्य है। ४।

टिप्पणी—१ (क) षट्शत्रुरूपी निशाचरोंका नाश कहकर अब 'निशा' का नाश कहते हैं, क्योंकि जबतक यह बनी रहेगी यही दुःख देगी। (ख) स्त्री, पुत्र, धन, धाम, प्रतिष्ठा आदिमें आसक्ति ममत्व है, यथा—'सुत बित दार भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी। वि० १४०।' ममता सदा तरुण बनी रहती है, इसीसे उसको 'तरुण तमी अँधियारी' अर्थात् अमावस्याकी और वह भी अर्द्धरात्रिके घोर अन्ध-कारवाली रात्रिसे उपमा दी। तमी=रात्रि, निशा। पुनः, (ग) ममतामें कुछ सूझता नहीं, इससे 'अँधि-यारी' कहा। (घ) रागद्वेषको ममताके स्नेही कहनेका भाव कि जहाँ ममत्व है वहीं रागद्वेष (किसीसे प्रीति, किसीसे विरोध) है, जैसे उल्लू अंधकारका स्नेही है।

मा० त० सु०—जिस प्रकार यहाँ 'ममता तरुन तमी अँधियारी' कहा, उसी प्रकार बालकाण्डमें 'नृपन्ह केरि आसा निसि नासी। १।२५५।१।', अरण्यकांडमें 'नारि निबिड़ रजनी अँधियारी। ३।४४।७।' और उत्तरमें 'प्रथम अविद्या निसा नसानी' कहा है। पुनः, जिस प्रकार यहाँ 'रागद्वेष उलूक सुखकारी' कहा उसी प्रकार बालकांडमें 'कपटी भूप उलूक लुकानें', अरण्यमें 'पाप उलूक निकर सुखकारी' और उत्तरमें 'अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने' कहा है। मायाका प्रधान रूप स्त्री ही होती है, यथा—'तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि', 'नारि बिस्नुमाया प्रगट'। ममताके उदयका भी प्रधान कारण नारी ही है, अविद्याका मूल भी स्त्री ही होती है और राजाओंकी आशाओंका कारण भी नारी ही है; अतएव नारी ही निबिड़ (घनी) अँधियारी रात्रि हुई। क्योंकि श्रीराघवने स्पष्ट कहा है, यथा—'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि। तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि॥', पुनः, 'अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि। ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि॥', पुनः, 'एहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सो भारी॥' पापरूपी उलूक सब जगह रहता है।

प० प० प्र० स्वामीका भी यही मत है कि "यहाँ 'ममता' से 'नारि निबिड़ रजनी अँधियारी' नारिका, मायाका ही ग्रहण करना उचित है। यह ऊपरकी अर्धालीसे मिलान करनेसे स्पष्ट हो जाता है। यहाँ ध्वनितार्थ यह है कि रावणके हृदयमें 'कालराति निसिचरकुल केरी। तेहि सीतापर प्रीति (ममता) घनेरी' है। इस ममतारूपी रात्रिका नाश लंकामें आपके प्रतापरविके उदित हुए विना नहीं होगा।"

टिप्पणी—२ 'तब लगि बसत००', यथा—'जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥....प्रथम अविद्यानिसा नसानी॥ अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने॥ ७।३१।', 'तुलसी मिटै न मोह तम किये कोटि गुन ग्राम। हृदय कमल फूलै नहीं बिनु रबिकुल रबि राम।

वै० सं० २ ।' यहाँ 'परंपरित रूपक अलंकार' है । प्रथम विनोक्तिकी ध्वनि भी प्रदर्शित हो रही है ।

अब मैं कुसल मिटे भय भारे । देखि राम पद कमल तुम्हारे ॥ ५ ॥

तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला । ताहि न व्याप त्रिबिध भवसूला ॥ ६ ॥

अर्थ—हे राम ! आपके पदारविन्द देखकर भारी भय मिटे । अब मैं कुशलसे हूँ । ५ । हे कृपालु ! आप जिसपर अनुकूल हों उसे तीनों प्रकारकी भव पीड़ा नहीं व्याप्त होती (भाव कि मुझे तो आपने अपने हृदयसे लगाया तब भवशूल अब कहाँ रह सकता था) । ६ ।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम चरणदर्शनसे कुशल कही थी । जब अन्तःकरणके खलोंका नाश कहा तब यहाँ कुशल और भारी भयका मिटना कहते हैं । (ख) 'अब मैं कुशलसे हूँ' अर्थात् कामादि खल मिटे, ममता मिटी, रागद्वेष मिटे, भारी भय मिटे, तीनों शूल मिटे । [पुनः, 'अब' का भाव कि जबतक मैं सुत-वित्त-कलत्रादिमें अनुरागयुक्त हो आपका भजन करता था तबतक विषय-वासना रहनेसे कुशल नहीं था, जब सबको त्यागकर चरणकमलोंको देखा तब कुशल हुआ और भवभाररूपी 'ममता तरुन तमी अँधियारी' मिटी जिससे मैं सुखी हुआ । यथा 'सुखी मीन जे नीर अगाधा । जिमि हरिसरन न एकौ बाधा ।' (मा० त० सु०)]

२ 'देखि राम पद कमल तुम्हारे' इति । भाव कि—(क) भीतरके दुष्टोंका भारी भय है सो आपके चरणोंके ध्यानसे निवृत्त होता है, और मुझे तो साक्षात् दर्शन हुआ (तब क्यों न मिटते) । ममता, राग और द्वेष जिन आपके प्रतापसे नाश होते हैं वे ही आप मेरे दृष्टिगोचर हो रहे हैं तब ये सब विकार मेरे हृदयसे क्यों न निकल जाते ? तात्पर्य कि अब ये कोई विकार मेरे हृदयमें नहीं रह गए । अथवा, (ख)—जिसके हृदयमें आप और आपका प्रताप निवास करे उसमें विकार नहीं रह जाते और मुझे तो आपने हृदयसे लगाया, मेरा तो अहोभाग्य है ।

३—उरमें लगाना यह अनुकूलता है । आपकी प्रसन्नतासे भवशूल नहीं होता, यथा—'देखि पवन-सुत पति अनुकूला । हृदय हरष बीती सब सूला', 'जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे । भवखेद-छेदन-दच्छ हम कहुँ रच्छ राम नमामहे । ७ । १३ ।' कृपा करना अनुकूलता है, इसीसे अनुकूल होनेमें 'कृपाल' विशेषण दिया ।

वंदनपाठकजी—त्रिविध भवशूल ये हैं—'दैहिक, दैविक, भौतिक'—(१), जन्म जरा मरण—(२), उत्पत्ति पालन लय—(३), त्रयशरीर, त्रय अवस्था और त्रयगुण—(४), 'सुत-वित-नारि ईषना तीनी'—(५), और 'काल कर्म स्वभाव' यथा—'काल सुभाउ करम बरिआई । भलउ प्रकृति बस चुकइ भलाई'—(६) ।

पाँड़ेजी—यहाँ दैहिकशूल राज्यमनोरथ, दैविक शूल गति-अगतिका भय और भौतिक शूल रावणकृत जो भय है—ये सब मिटे ।

मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ । सुभ आचरन कीन्ह नहिं काऊ ॥ ७ ॥

जासु रूप मुनि ध्यान न आवा । तेहिं प्रभु हरषि हृदय मोहि लावा† ॥ ८ ॥

अर्थ—मैं निशाचर हूँ, मेरा अत्यन्त अधम स्वभाव है, (मैंने) शुभ आचरण (व्यवहार) कभी भी नहीं किए । ७ । जिसका स्वरूप मुनियोंके ध्यानमें नहीं आता, उन्हीं प्रभुने हर्षित होकर मुझे हृदयसे लगाया । ८ ।

टिप्पणी—१ (क) 'मैं निसिचर....' इति । अपनेको निशिचर कहा, क्योंकि निशिचर शुभ आचरण कदापि नहीं करते । यथा—'मानहिं मातु पिता नहिं देवा । साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ॥ जिन्ह के यह आचरन भवानी । ते जानेहु निसिचर सब प्रानी । १।१८४ ।' (ख) 'अति अधम' । अर्थात् निशाचर अधम होते ही हैं, मैं उनमें भी अधिक अधम हूँ । ऐसे ही शबरीजीने अपने संबंधमें कहा है, यथा—'अधम ते अधमअधम अति नारी । तिन्ह महँ मैं अति मंद अघारी । ३।३५।३ ।' [वा, निशाचर होनेसे अधम और कभी भी शुभाचरण न

† प्र० चं०—'जासु०' स्वागता, शेष दोहा भर पायकुलक ।

करनेसे 'अति अधम' कहा। (मा० त० सु०)। ☞ यहाँ संक्षेपमें 'निशाचर' और 'अधम' की व्याख्या बताई कि 'जिनका स्वभाव अधम है वेही निशाचर हैं' और 'जो शुभ आचरण नहीं करते वेही अधम हैं'। इसीका विस्तार बालकांड १८४ में है। (प० प० प्र०)] (ग) तन मन वचन तीनोंसे अधमता दिखायी। यथा—'मैं निसिचर' (तन), 'अधम सुभाऊ' (मन), 'सुभ आचरन कीन्ह नहिं' (कर्म) और वचनसे कह ही रहे हैं। (घ)—शुभ आचरणसे भगवान् मिलते हैं, यथा—'सब साधन कर सुफल सुहावा। राम लखन सिय दरसनु पावा', 'सिय सौमित्रि राम छबि देखहिं। साधन सकल सफल करि लेखहिं'। पर मैंने कोई शुभ आचरण नहीं किये।

२ (क) 'जासु रूप मुनि ध्यान न आवा।....' इति। भाव कि बड़े बड़े अच्छे सुकृती भी साधन द्वारा आपको नहीं पा सकते, इतना सुकृत हो नहीं सकता कि दर्शन हो; आप अपनी कृपासे ही मिलते हैं। मुझे जो आपने हृदयसे लगाया यह भी अपनी कृपासे। (मिलान कीजिये—'मुनि जेहि ध्यान न पावहिं नेति नेति कह बेद। कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद। ६।११६।', 'जो मूरति सपने न बिलोकत मुनि महेस मन मारि कै। तुलसी तेहि हौं लियो अंक भरि कहत कछू न सँवारि कै। गी० ५। ३६।')। ☞ यहाँतक रूपके ध्यान, प्रताप, चरणदर्शन, और अनुकूलताके फल दिखाए जो क्रमसे ये हैं-लोभादिका नाश, ममता रागद्वेषका नाश, लोकपरलोक दोनोंके भयका नाश और त्रिविध शूलका नाश। ☞ इस उक्तिसे भक्ति द्वारा भगवानको अति सुलभ जनाया। (ख) यहाँ 'प्रथम विषम' और 'सार अलंकार' हैं।

दो०—अहो भाग्य मम अमित अति राम कृपा सुखपुंज।
देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेव्य जुगल पदकंज ॥४७*॥

अर्थ—हे श्रीरामजी! हे कृपा और सुखके समूह! मेरा अमित (अन्दाज़, संख्या, या सीमारहित, बेहद) और अत्यन्त आश्चर्य भाग्य है कि ब्रह्मा और शिव जिन चरणकमलोंकी उपासना (ध्यानसे) करते हैं मैंने उन्हींको आँखोंसे देखा। ४७।

टिप्पणी—१ आँखोंसे दर्शन पानेमें महत्‌भाग्यकी प्रशंसा कर रहे हैं, अहोभाग्य मानते हैं। भाव यह कि (क) रामचरणानुरागी भाग्यवान हैं, यथा—'सोइ गुनज्ञ सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी'—(कि०), 'भूरि भाग भाजन भयउ मोहि समेत बलि जाउँ। जो तुम्हरे मन छाँड़ि छल कीन्ह रामपद ठाउँ'।—विशेष बा० २११ छन्द 'अतिसय बड़ भागी चरनन्हि लागी' में देखिए। और जिनका इनमें अनुराग नहीं वे जीतेजीभी नरकरूप हैं, यथा—'ते नर नरकरूप जीवत जग भवभंजन पद बिमुख अभागी' इति विनये। अथवा, (ख) हृदयमें लगानेसे अहोभाग्य माना क्योंकि यह बात अपने मनोरथसे बाहर है, मनोरथ चरणदर्शनका था, यथा 'अहो भाग्य मैं देखिहौं तेई॥', 'ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ। ४२।' हृदयमें लगानेका न था क्योंकि ऐसा होना असंभव था, मनोरथ वहीं तक किया जाता है जहाँतक संभव हो। प्रभुने यह बात अपनी ओरसे अधिक की।

२ 'अहोभाग्य मम अमित अति' इति। (क) पदकमलके दर्शनकी अभिलाषाके समय अपनेको अहोभाग्य माना था, यथा—'अहोभाग्य मैं देखिहौं तेई'। अब दर्शन होनेपर 'अति अमित अहोभाग्य' माना। (ख) पहले अपनेको जीवोंसे अधिक कहा। इस प्रकार कि सब जीवोंमें षट्शत्रु तबतक वास करते हैं जब तक श्रीरामजी उनके हृदयमें नहीं बसते। मैं उन्हीं श्रीरामजीको प्रगट देख रहा हूँ। मेरा भाग्य उनसे अधिक है। (अतः अहोभाग्य है)—(१)। फिर सोचे कि सब जीवोंसे मुनि लोग अधिक भाग्यवान् हैं। पर मैं उनसे भी अधिक भाग्यवान हूँ; क्योंकि 'जासु रूप मुनि ध्यान न आवा। तेहि प्रभु हरषि हृदय मोहि लावा'। (अतः, अत्यन्त अहोभाग्य है)—(२)। फिर सोचे कि मुनियोंसे अधिक ब्रह्मा और

* प्र० चं०—यह त्रिकल दोहा है। ४७ (१-४) पायकुलक है। यहाँ 'काव्यलिंग अलंकार' है।

शिव हैं। ये जीव नहीं हैं, ईश्वर हैं। ये भी इन चरणोंका ध्यान किया करते हैं, हृदयमेंही इनकी सेवा करते हैं, तनसे इनको भी सेवा प्राप्त नहीं है। मेरा भाग्य इनसे भी अधिक है कि मुझे वेही चरण साक्षात् प्राप्त हुए। (ये अमित भाग्य हैं। मेरा 'अति अमित' अहोभाग्य' है) ।—(३) । पुनः, (ग) कृपा करके यह भारी सुख दिया। अतः 'अति अमित अहोभाग्य' माना।

नोट-१ 'अति अमित'=बहुत बड़ा। यही अर्थ प्रायः सभी टीकाकारोंने किया है। मा० त० सु०-कार लिखते हैं कि 'अति'-पदका अन्वय 'कृपासुख पुंज' पदके साथ है अर्थात् आपकी कृपा अतिसुखका पुंज है। इसी प्रकार 'अमित' पदका अन्वय 'अहोभाग्य' के साथ है अर्थात् मेरा अमित भाग्योदय है। वैजनाथजी लिखते हैं कि भाग्य सराहना प्रेमकी विक्रान्त दशा है।

२—मिलान कीजिए—'पुमान् शेषे सिद्धैर्हृदि विमृशिताध्यात्मपदविः, स एवाद्याद्दणोर्यः पथि-चरसि भृत्यानवसि नः॥ भा० ४। ७। ४२।' दक्षयज्ञ में भगवान्की स्तुति करते हुए देवताओं ने कहा है कि 'सिद्धगण भी अपने हृदयमें आपकेही आध्यात्मिक स्वरूपका चिन्तन करते हैं। वही आप आज हमारे नेत्रोंके विषय हो रहे हैं, सो हे प्रभो ! आप हम दासोंकी रक्षा कीजिए।

३ 'रामकृपासुखपुंज' इति। कृपापुंज हैं, अतः कृपा करते हैं, सुखपुंज हैं अतः सुख देते हैं। पुनः कृपा करके सुख देते हैं, सुकृतकी उपेक्षा नहीं करते हैं, अतः 'कृपासुखपुंज' कहा। (पं० रा० कु०)।

प्र०—'जुगल' पदसे कविके तीन आशय झलक रहे हैं—चरण-संख्या (अर्थात् दोनों चरण), दूसरा शक्तिसहित ब्रह्मा और रुद्र और तीसरा दाहिना वाम रामसीता भाग।

विभीषण-शरणागतिके इस प्रसंगकी आवृत्तियाँ

(अर्थात् सूक्ष्म दिग्दर्शन)

प्रथमावृत्ति—दर्शनलालसाकी सफलता

विभीषणजीने तीन बार दर्शनकी अभिलाषा की, यथा—'देखिहौं जाइ चरन जलजाता'—(१)। 'अहोभाग्य मैं देखिहौं तेई'—(२)। 'ते पद आज बिलोकिहौं....' (३)। इसीसे यहाँ तीन बार चरणोंका देखना अर्थात् इस मनोरथका सफल होना कहते हैं। यथा—'अब पद देखि'—(१)। 'अब मैं कुसल मिटे भय भारे। देखि राम पद कमल तुम्हारे'—(२)। 'देखेउँ नयन बिरंचि०'।—(३)। इति प्रथमावृत्ति।

२—द्वितीय आवृति—पट् शरणागति।

श्रीनारदपञ्चरात्रोक्त षट् प्रकारकी शरणागतियाँ ये हैं,—'आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥ आत्मनिक्षेप कार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः'। अर्थात् श्रीरामजीके शरण-प्राप्तिमें जो जो बात अनुकूल हो उसकी प्रतिज्ञा करना और प्रतिकूलका त्याग करना। प्रभुकी रक्षा में दृढ़ विश्वास हो अर्थात् प्रभु मेरी रक्षा अवश्य करेंगे यह विश्वास दृढ़ रहे। रक्षकरूपसे भगवान्को वरण करना, अर्थात् आपही एकमात्र मेरे रक्षक हैं इस भावसे उनको स्वीकार कर लेना। अपनी आत्माको प्रभुको समर्पण कर देना और अपनी दीनता निवेदन करना। महाराज करुणासिंधुजी और वैजनाथजीनेभी षड्विध शरणागतिको विस्तारसे लिखा है। करुणासिंधुजीने वाल्मीकीयके श्लोक भी यहाँ दिए हैं। उन्होंने 'वरणं' की जगह 'वर्णनं' पाठ दिया है। बाल दोहा २८ देखिए। श्रीविभीषणजीने इन छओ प्रकारसे शरणागति की।

अनुकूलका संकल्प—चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मन माहीं।

प्रतिकूलका त्याग—मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि। अस कहि चला बिभीषन....।

रक्षामें विश्वास—सरन गए प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोह कृत अघ जेहि लागा

गोप्तृत्ववरणं—श्रवन सुजस सुनि आएउँ प्रभु भंजन भव भीर। त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर।

आत्मनिवेदन—अस कहि करत दंडवत देखी (त्राहि त्राहि कहकर चरणोंपर गिरना)

कार्पण्य—'नाथ दसानन कर मैं भ्राता' से 'जथा उलूकहि०' तक। दोहा ४५ में वि० त्रि० की टिप्पणीभी देखिए

३—तृतीयावृत्ति षडङ्गदर्शन और उनके कृत्य

विभीषणजीने प्रभुके छः अंग देखे—भुज प्रलंब (१)। कंजारुणलोचन—(२)। श्यामल गात—(३)। सिंह कन्ध—(४)। आयत उर—(५)। आनन अमित मदन०—(६)। विभीषणपर इन छहों अंगोंसे कृपा हुई। इन अंगोंके कृत्य कहते हैं—

(१) प्रलंब भुजासे उठाया,—'भुज बिसाल गहि....'।

(२) कंजारुण लोचनसे देखा,—'अस कहि करत दंडवत देखा'

(३) श्यामलगातसे भय मिटाया,—'स्यामल गात प्रनतभयमोचन'

(४-५) सिंहकंध, आयत उर से भेंटे,—'हृदय लगावा'

(६) 'आनन अमित मदन मन मोहक' से 'बोले बचन भगत भयहारी'

४—चतुर्थावृत्ति

जो अंग विभीषणजीने प्रभुमें लगाए, वही प्रभुने उनमें लगाए। दोनोंके इन्द्रियों आदिके कार्यों में समता।

अंग	श्रीविभीषणजी	श्रीरामजी
१ श्रवण	श्रवन सुजस सुनि आयउँ	दीन बचन सुनि
२ नेत्र	दूरिहि ते देखे दोउ भ्राता	करत दंडवत देखा
३ चरण	चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं	तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा
४ मन, वचन, कर्म	नयन नीर पुलकित अति गाता। मन धरि धीर कही मृदु बाता	दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा भुज बिसाल गहि हृदय लगवा। बोले०
५ मुख	मन धरि धीर कही मृदु बाता	बोले बचन भगत भय हारी
६ स्वभाव	मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ	सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ।
७ भुजा	पद अंबुज गहि० (हाथ से)	भुज बिसाल गहि हृदय लगावा।

५—पंचमावृत्ति। अधमोद्धारक प्रश्नोत्तर—

प्रश्न	उत्तर
१ कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा।	अब पद देखि कुसल रघुराया। जौं तुम्ह कीन्ह जानि जन दाया॥
२ खलमंडली बसहु दिन राती।	तब लगि हृदय बसत खल नाना।....

उत्तरका भाव यह कि आपके बिना हृदयमें खलमण्डली बसती है। मोहादि विकार ही खल समाज है। यथा विनये—'करहुं हृदय अति बिमल बसहिं हरि कहि कहि सबहिं सिखाऊँ। हौं निज उर अभिमान मोह मद खल मंडली बसाऊँ'।

३ सखा धर्म निबहै केहि भाँती—मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ। सुभ आचरन कीन्ह नहिं काऊ॥

४ बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥	तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला। ताहि न व्याप त्रिबिध भवसूला॥

६ षष्टमावृत्ति—पाँच फल कहे।

(१) भजनका फल कुशल और मनका विश्राम है। यथा—'तब लगि कुसल न जीव कहँ सपनेहु मन बिश्राम। जब लगि भजत न राम कहुँ'।

(२) रूपके ध्यानका फल लोभादि विकारका नाश है, यथा—'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥'

(३) प्रतापका फल ममता और रागद्वेषका नाश है, यथा—'ममता तरुन तमी अँधियारी। रागद्वेष उलूक सुखकारी ॥ तब लगि बसत जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं ॥'

(४) चरणके दर्शनसे लोक परलोकके भय मिटते हैं, यथा—'अब मैं कुसल मिटे भय भारे। देखि राम पद कमल तुम्हारे'।

(५) रामकृपाका फल त्रिविध शूलका नाश है। यथा—'तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला ताहि न ब्याप त्रिबिध भवसूला'।

७—सप्तमावृत्ति

(१)—जीवके हृदयमें चोर बसते हैं, यथा विनये—'मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा ॥ तम मोह लोभ अहंकारा। मद क्रोध बोध-रिपु मारा ॥' (वि० १२५)

(२)—रात्रि पाकर चोर उपद्रव करते हैं। यहाँ रात्रि बताते हैं कि 'ममता तरुन तमी अँधियारी' है। चोरोंका उपद्रव, यथा—'अति करहिं उपद्रव नाथा। मर्दहिं मोहि जानि अनाथा'—(विनय १२५)

(३)—सूर्यके उदयमें रात्रिका नाश है, प्रभुप्रतापके हृदयमें रहनेसे ममता आदिका नाश है—'तब लगि बसत जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रतापरबि नाहीं'। रामप्रताप सूर्य है, यथा—'जब ते राम-प्रताप खगेसा। उदित भएउ अति प्रबल दिनेसा। ७। ३१। १।'

(४)—सूर्योदयपर चोरोंका उपद्रव नहीं रहता तथा यहाँ 'मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा ॥ ७।३१।६।' मिटे तब जीवका कुशल हुआ, यथा—'अब मैं कुसल मिटे भय भारे'।

८—अष्टमावृत्ति। हृदयका लंकासे रूपक

(१)—हृदय लंका है। (२)—जीव विभीषण है, यथा—'जीव भवदंघ्रि सेवक विभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता ॥ वि० ५८।', 'तब लगि कुसल न जीव कहँ'। (३)—काम मेघनाद है। लोभ मोह मद मान मत्सरादि अनेक राक्षस हैं, यथा—'*तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना।*' (४)—निशाचरको निशा चाहिए सो ममता है—'ममता तरुन तमी'। (५)—जबतक रामजी धनुषबाण लेकर लंकापर चढ़ाई नहीं करते तभी तक राक्षस हैं, इसी तरह जबतक धनुर्धर राम हृदयमें नहीं बसते तभीतक लोभादि विकार हैं। (६)—जब श्रीरामजी लंकापर चढ़ आए तब त्रिलोकीके जीव सुखी हुए उनके भय मिटे; वैसेही 'अब मैं कुसल मिटे भय भारे। देखि०'। जीवपर प्रभुके अनुकूल होतेही उसके त्रिविधि भवशूल मिटते हैं, यथा—'तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिबिध भवसूला'। (७)—'सबका आदि' (सर्वोपरि) भजन है; इसीसे उसे प्रसंगके आदिमें लिखा, यथा—'तब लगि कुसल न जीव कहँ सपनेहु मन बिश्राम। जब लगि भजत न राम कहँ०'।

☞ इस रूपकका प्रमाण विनयमें है, यथा—'बपुष ब्रह्मांड सुप्रवृत्ति लंकादुर्ग रचित मन-दनुज-मय-रूपधारी। बिबिध कोसौघ अति रुचिर मंदिर निकर सत्वगुन प्रमुख त्रय कटककारी ॥ २ ॥ कुनप अभिमान....॥ ३ ॥ मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार पाकारजित काम बिश्रामहारी। लोभ अतिकाय मत्सर-महोदर, दुष्ट क्रोध पापिष्ट बिबुधांतकारी ॥ ४ ॥....जीव भवदंघ्रिसेवक बिभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता। नियम जम सकल सुरलोक लोकेस लंकेस बस नाथ अत्यंत भीता ॥ ६ ॥....दुष्ट दनुजेस निर्बंसकृत दासहित बिश्वदुखहरन बोधैकरासी। अनुज निज जानकीसहित हरि सर्वदा दास तुलसी हृदय कमल बासी ॥ ९ ॥ पद ५८।'

९—नवमावृत्ति

विभीषणोक्ति	श्रीरामजीकी उक्ति
१—स्वामी! आपने मुझे हृदयसे लगाया 'सो प्रभु हरषि हृदय मोहि लावा'	तुम तो मेरे हृदयमें बसते हो—'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे ॥
२—'मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ'	अधमउधारन हूँ। 'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ'।

३—मुझमें लोभादिका बास है—'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना'।	'तजि मद मोह कपट छल नाना। करौं सद्य तेहि साधु समाना।' अर्थात् मैं इनपर दृष्टि नहीं डालता।
४—जिनका रूप मुनियोंके ध्यानमें नहीं आता उन प्रभुने मुझे हृदयसे लगाया।	तुम्हीं ऐसे संतोंके लिए हम अवतार लेते हैं,—'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरेउँ देह नहिं आन निहोरे'
५—'सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा।' इसकी रामजीने पुष्टि की।	'जो नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥....करौं सद्य तेहि०।'
६—मैं पापी हूँ—'सहज पाप प्रिय तामस देहा'।	मैं पापीको शरणमें रखता हूँ—'जो नर होइ चराचर द्रोही।००' इत्यादि।
७—ये सब परिवार छोड़कर आये हैं।	अतः श्रीरामजी कहते हैं—'जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा। सब कै ममता ताग बटोरी।....अस सज्जन मम उर बस....

१०—दशमावृत्ति—भक्तोंकी तीन कोटियाँ

१ निकृष्ट { 'जो नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करौं सद्य तेहि साधु समाना॥' (यह असाधु था, शरण आनेसे साधु हुआ)।

२ मध्यम { 'जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बर डोरी॥ समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहि मन माहीं॥ अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे॥' (यह निकृष्टसे अच्छा है। सबकी ममता छोड़कर इसने रामचरणमें ममत्व किया)।

३ उत्तम { 'सगुन उपासक परहितनिरत नीति दृढ़ नेम। ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विजपद-प्रेम॥' (इनका विप्र हनुमान्‌जीमें प्रेम देखा गया।)

११—एकादशावृत्ति—कर्मी, ज्ञानी, उपासक।

१ चराचर-द्रोही पापकर्म करता है, शरण आनेपर प्रभु उसे साधु समान करते हैं। अर्थात् पापीको सुकृती बनाते हैं।—यह कर्मीका वर्णन हुआ।

२ 'जननी जनक बंधु सुत दारा' से 'अस सज्जन' तक ज्ञानीका वर्णन है। ममताका त्याग ज्ञानी करते हैं, यथा—'ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी। ४। १६। ५।' पुनः, ज्ञानी समदर्शी भी होते हैं, यथा—'देख ब्रह्म समान सब माहीं', 'रूप धरे जनु चारिउ बेदा। समदरसी मुनि बिगत बिभेदा।'

३ 'सगुन उपासक परहित निरत०' ये उपासक हैं। तात्पर्य यह कि पापीको सुकृती बनाते हैं, ज्ञानीको हृदयमें बसाते हैं और उपासक प्राणके समान प्रिय हैं।

दोहा—अक्षरार्थ आवृत्ति पुनि षट शरणागति जानु।
प्रभुदर्शन उपकार पुनि इंद्रिन उतर बखानु॥ इति॥

श्रीभरत-विभीषण-शरणागतिका मिलान

आनुकूलस्य संकल्प	१ 'एकइ आँक इहै मन माहीं। प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं॥'	१ 'मैं रघुबीर सरन अब जाउँ' 'देखिहौं जाइ चरन जल जाता।' इत्यादि
प्रातिकूलस्य वर्जनं	२ 'जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहि जाई॥'' 'तज्यो....भरत महतारी'—(विनय)। 'कैकेयी जौं लौं जियति रही। तौं लौं बात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कही'—गी० सोक-समाज राज केहि लेखे। लखन राम सियपद बिनु देखे॥'	२ 'सचिव संग लै नभपथ गयऊ। सबहि सुनाइ कहत अस भयऊ॥ राम सत्य संकल्प....' इत्यादि।

रक्षामें विश्वास	३ 'तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। करिहहिं मोपर कृपा बिसेषी॥ जद्यपि जनम कुमातु तें मैं सठ सदा सदोस। आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस॥ इत्यादि। 'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।' 'मैं जानौं निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥ ०॥'	३ सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोहकृत अघ जेहि लागा॥
कार्पण्य	४ 'महीं सकल अनरथ कर मूला।००' 'फरइ कि कोदव बालि सुसाली' इत्यादि कार्पण्य तो सर्वत्र भरा है।	४ 'नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बंस जनम सुरत्राता॥ सहज पापप्रिय तामस देहा' इत्यादि
आत्मनिवेदन	५ 'पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं। भूतल परे लकुटकी नाईं॥'	५ त्राहि-त्राहि आरतिहरन सरन सुखद रघुबीर। अस कहि करत दंडवत०
गोप्तृत्व वरण	६ 'जग अनभल भल एक गोसाईं। कहिय होइ भल कासु भलाई।'	६ श्रवन सुजस सुनि आयउँ....

श्रीलमगोड़ाजी—World Literature (विश्व-साहित्य) की पुकार करनेवाले ध्यान दें कि महाकाव्य कलाकी पराकाष्ठा कहाँ है ? इसीसे अर्नेस्ट उड महोदयने अपनी 'An Englishman defends mother India' में साफ़ लिखा है कि तुलसीकृत रामायण 'तुलनामें लेटिन और ग्रीक भाषाओंके प्रामाणिक ग्रन्थोंसे भी भारी उतरती है (weighs favourably with the classics of Latin and Greek)। पर इस कलाका पूर्ण ज्ञान न होनेसे ही Growse (ग्राउस) महोदयने लिखा है कि अयोध्याकांडके बाद कविकी कलाका उतार है। पाठक देखें कि चढ़ाव है या उतार !

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥ १॥
जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥ २॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करौं सद्य तेहि साधु समाना॥ ३॥

अर्थ—हे सखा! सुनो, मैं अपना स्वभाव कहता हूँ जिसे भुशुण्डि, शंभु और गिरिजा (वा गिरिजा भी, शिवजीके बतलानेसे) जानती हैं। १। जो मनुष्य चराचरमात्रका द्रोही हो, वह भी भयभीत होकर मेरी शरण तककर मेरे पास आवै। २। तो उसके मद, मोह और अनेक कपट छलको छोड़कर अर्थात् उसके दोषोंपर दृष्टि न करके, मैं उसे शीघ्र साधुके समान कर देता हूँ। ३।

नोट—१ 'सुनहु सखा....सुभाऊ' इति। (क) श्रीरामजीने वनवासके समयमें मुख्य तीन सखा बनाए। प्रथम निषादराज गुहको सखा बनाया, यथा 'कहेहु सत्य सब सखा सुजाना। २।८८।८।' तबसे सब उन्हें 'सखा' मानने लगे। यथा—'सखा समुझि अस परिहरि मोहू। ९४।१।' (श्रीलक्ष्मणजी), 'रामसखा तब नाव मँगाई। २।१५१।३।' (श्रीसुमंत्रजी), 'भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा। रामसखा सुनि संदनु त्यागा। २।१९३।' इत्यादि। फिर सुग्रीवजीको सखा बनाया। यथा 'सखा सोच त्यागहु बल मोरे।', 'सखा बचन मम मृषा न होई।' (४।७।१०,२३)। तीसरे, विभीषणजीको, यथा 'सखा धर्म निबहइ केहि भाँती', 'सुनहु सखा....'। गुह निषादराज थे। सुग्रीव वानरराज थे और फिर राजा होंगे। विभीषण राजाके भाई हैं और अब प्रभुने उनको राजा बनानेका संकल्प करके 'लंकेस' कह तिलक कर दिया। तीनों राजाओंको सखा बनाया। क्योंकि स्वयं राजा हैं और 'प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति असि आहि।' अतः नीतिका पालन किया। (ख) स्वभाव जाननेसे भक्ति दृढ़ हो जाती है, प्रभुमें अत्यन्त प्रेम होता है, फिर भजन छोड़ विषयोंकी ओर मन कदापि नहीं जाता। यथा—'उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना। ३४।३।' अतएव प्रभुने कृपा करके अपना स्वभाव कहा।

टिप्पणी—१ 'जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ' इति । (क) भुशुण्डिजी और शिवजी, ये दोनों, श्रीरामजीके स्वरूप और स्वभावके जाननेवालोंमें प्रामाणिक माने जाते हैं, यथा—'जो सरूप बस सिव मन माहीं । जेहि कारन मुनि जतन कराहीं । जो भुसुंडि मन मानस हंसा ।....देखहिं हम सो रूप भरि लोचन । १ । १४६ ।' (मनुः) । यह रूपका प्रमाण हुआ । स्वभावका प्रमाण, यथा—'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ । केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ । ७ । १२४ ।', 'उमा रामसुभाउ जेहिं जाना । ताहि भजन तजि भाव न आना ।३४।३।' (ख)—यहाँ शम्भुको मध्यमें रखा, एक ओर भुशुण्डिजी हैं और एक ओर गिरिजा; इसका तात्पर्य यह है कि शिवजीकेही द्वारा दोनोंने जाना, यथा—'रचि महेस निज मानस राखा । पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा । १ । ३५ । ११ ।', 'सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा । रामभगत अधिकारी चीन्हा । १ । ३० । ४ ।'

[नोट—क्रमका कारण यह भी हो सकता है कि गिरिजा-तनमें जो कथा और तदन्तर्गत स्वभाव गिरिजाजीसे श्रीशंकरजीने कहा वह वही है जो भुशुण्डिजीसे उन्होंने (शिवजी ने) सुना था; यथा—'तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई । कागभुसुंडि गरुड़ प्रति गाई । ७ । ५३ । ८ ।' एवं 'सुनु सुभ कथा भवानि....। कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़ । १ । १२० ।'; अतएव प्रथम भुशुंडि, फिर शंभु तब गिरिजाजीको कहा । और, श्रीरामजीने अपना स्वभाव भुशुंडिजीसे स्वयंही कहा है—'निज सिद्धांत सुनावउँ तोही । २ । ८६ (३)-८८ ।', अतः इनको प्रथम रखा]

वि. त्रि.—श्रीरामजीका स्वभाव कैसा है, यह तो आगेके अर्धालियोंमें कहेंगे । यहाँ तो स्वभाव जाननेवालोंका नाम गिनाया जा रहा है । सो तीनका नाम लिया गया, भुशुंडि, शम्भु और गिरिजाकाभी । फल देखकर साधनके उत्कर्षविकर्षका पता चलता है । सो रामजीके स्वभाव जाननेका फल तीनोंको प्राप्त है, यथा—'उमा राम सुभाउ जेहि जाना । ताहि भजन तजि भाव न आना ।' तीनों निरन्तर भजन करते हैं । भुशुंडि, यथा—'तजि हरि भजन काज नहिं दूजा ।' शंभु यथा—'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अनंग आराती ।' गिरिजा, यथा—'सहस नाम सम सुनि सिव बानी । जपति सदा पिय संग भवानी ।' फिरभी 'गिरिजाऊ' कहकर कुछ न्यूनता गिरिजामें क्यों कहते हैं ? उत्तर इसका यही मालूम होता है कि भुशुण्डि और शम्भु एकान्त भजन करनेवाले हैं, इनके भजनमें किसीका साझा नहीं । गिरिजा पतिदेवता-शिरोमणि हैं, इनका भजन एकान्तिक नहीं हो सकता, पतिका भजन भी साथ ही साथ चलता रहेगा, यथा—'पति अनुकूल प्रेम दृढ़, हरिपद कमल बिनीत'। अथवा ये पहले जप नहीं करती थीं । शिवजीसे माहात्म्य सुनकर जपने लगीं, इसलिये 'गिरिजाऊ' कहा ।

टिप्पणी—२ 'चराचर द्रोही' का भाव कि जिसे चराचर-द्रोहका पाप लगा हो, उस पापके भयसे शरण आवे । पूर्व कहे हुए 'सरन गए प्रभु ताहु न त्यागा । बिस्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा । ३९ । ७ ।' विभीषणजीके इन वचनोंको यहाँ पुष्ट करते हैं । 'तकि मोही' का भाव कि फिर और किसीका एवं कोई अवलम्ब या भरोसा न हो, केवल मुझसेही अपना परम कल्याण समझकर मुझको ही एकमात्र अपना रक्षक जानकर शरणमें आवे ।

३ (क)—'तजि मद मोह' का भाव कि पापीके भारी पापको देखकर भी मैं उसका त्याग नहीं करता, किन्तु उसके मदमोहादि विकारोंका नाश करके उसे साधुके समान पवित्र और निर्विकार बना देता हूँ । यह अपनी शरणागतिका माहात्म्य दिखाया । (ख)—नाना छल मन कर्म वचनके, यथा—'करम बचन मन छाँड़ि छल जब लगि जन न तुम्हार' । (ग) 'सद्य' से जनाया कि शरणागतको शीघ्रही फल मिलता है ।

प. प. प्र.—१ यहाँ काम, क्रोध और लोभका उल्लेख न करके सूचित किया कि भले ही वे आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासू क्यों न हों, मैं उनको भी त्याग नहीं सकता । २ यहाँ 'मद' से मुख्यतः साधनाहंकार और विद्या, जाति, कुल, धन, सत्ता, ऐश्वर्य, यौवन, सौंदर्य आदिका गर्व ही अर्थ लेना चाहिए । 'मोह' का अर्थ यहाँ विपरीत ज्ञान या अज्ञान नहीं है, पर भगवान्‌के सगुण साकार विग्रहके विषयमें संदेह, संशय, भ्रम है । जैसे मानसमें श्रीसतीजी, श्रीगरुड़जीको और श्रीमद्भागवतमें चतुरानन तथा इन्द्रादिको होना वर्णित

है। यह कनिष्ठ प्रकारके भक्तका लक्षण है।

नोट—३ मिलान कीजिये—'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः। गीता ९। ३०। क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।....। ३१।' अर्थात् यदि कोई अति दुराचारी भी अनन्यभाक् होकर (केवल मेरे भजनको ही अपना एकमात्र प्रयोजन समझनेवाला होकर) मुझे भजता है तो उसे साधु मानना चाहिए। इसलिये कि वह ठीक निश्चयवाला है। (भाव कि उसने यह निश्चय कर लिया है कि एकमात्र भगवान् ही हमारे स्वामी, हमारे गुरु, हमारे परम भोग्य—सब भावोंसे अनुभव करने योग्य—इत्यादि सब कुछ हैं। ऐसा निश्चय करके भजनमें तत्पर है। अतः उस पुरुषका जो विपरीत आचरण है, वह बहुत छोटा है)। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है (भाव कि मेरी भक्तिकी महिमासे उसके समस्त विरोधी-गुण-समुदायका नाश हो जाता है, वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और शाश्वत शान्तिको प्राप्त होता है।

श्लोकके (१) 'सुदुराचारी', (२) 'अनन्यभाक्', 'सम्यग्व्यवसितो हि', (३) 'साधुरेव स मन्तव्यः' 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' की जोड़में मानसमें (१) 'चराचर द्रोही', (२) सभय सरण तकि, (३) 'करउँ सद्य तेहि साधु समाना' हैं। 'स मन्तव्यः' की जोड़में 'समाना' है। 'क्षिप्रं भवति' से 'करउँ सद्य' विशेष ज़ोरदार शब्द हैं।

'सभय' का भाव यह है कि यह समझकर आवे कि मेरे पापों, मेरे मनके समस्त विकारोंसे बचानेवाले ये ही हैं। उनका नाश एकमात्र प्रभु ही कर सकते हैं, दूसरा नहीं, यथा—'तम मोह लोभ अहंकारा। मद क्रोध बोधरिपु मारा ॥ अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहि जानि अनाथा ॥ मैं एक अमित बटपारा। कोउ सुनै न मोर पुकारा ॥ भागेहु नहि नाथ उबारा। रघुनायक करहु सँभारा।' (वि० १२५)। ये सब श्रीरामजीकी कृपासे ही छूट सकते हैं। यथा 'क्रोध मनोज लोभ पद माया। छूटहिं सकल राम की दाया। ३।३९।३।', 'जासु कृपा छूटहिं मद मोहा। ४।१८।६।'

वाल्मी० ६।१८ में इसकी तथा 'कोटि विप्र बध लागहिं....। ४४। १–२।' की जोड़में भगवान्का वाक्य यह है—'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम्। ३।' अर्थात् जो हमारे समीप मित्र भावसे आया है उसमें चाहे कितने ही दोष क्यों न हों, उसको मैं नहीं त्याग सकता; क्योंकि उसका त्याग करनेसे सत्पुरुषोंके समीप मैं निन्दनीय हो जाऊँगा।

नोट—४ 'तजि मद मोह....' का अर्थ कतिपय प्राचीन टीकाकारोंने वही किया है जो हमने दिया है, और शरणागति-प्रसंगके अनुकूल मुझे यही अर्थ अच्छा जँचता है। भगवान्के सम्मुख इन सबोंसे भयभीत होकर जानेसे वे कृपा करके इन सबोंको स्वयं ही छुड़ा देते हैं।

श्रीनंगे परमहंसजीने इस अर्थका बड़े ज़ोरोंसे खंडन किया है। वे कहते हैं कि इसी ग्रंथमें कहा है कि 'करम बचन मनु छाँड़ि छल जब लगि जन न तुम्हार। तब लगि सुख सपनेहु नहीं किये कोटि उपचार।', 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा'; तब यह अर्थ कैसे हो सकता है कि छल कपट सहित श्रीरामजीकी शरण जाय।....ग्रंथमें 'आवै सभय' कहा। तब मदमोह सहित आना कैसे कह सकते हैं। मद तो भयको रहने ही नहीं देता। यथा—'अति अभिमान त्रास सब भूली।' अतः अर्थ यही है कि 'भय सहित मद मोहको छोड़कर शरणमें आवे।

सम्मानपूर्वक मैं उनके इस अर्थसे सहमत नहीं हूँ। मेरी समझमें भगवान्की कृपासे ही ये छूट सकते हैं, विशेषकर इस कराल युगमें। यह शरणागतिका महत्व है। प्राणी इन सबोंसे भयभीत होकर शरणमें जाय।

देखिए, भगवान्ने कहा है कि रावण ही क्यों न विभीषणके रूपमें (अर्थात् कपटसे) आया हो पर वह सबके सामने कह रहा है कि मैं महात्मा राघवकी शरणमें आया हूँ, अतः मैं उसे अभय देता हूँ, तुम

उसे ले आओ। ☞ यह श्रीवचन ही हम सरीखे कपटी कुटिल जीवोंका आधार है, यही हमको उनके सम्मुख ले जाता है। नहीं तो हम ऐसे कुटिल जीव अपने पुरुषार्थसे मद-मोहादि छोड़कर शरण हो सकते, एक जन्म क्या करोड़ों जन्म बीत जायँ !!

हाँ! यह अवश्य है कि जब तक ये विकार निर्मूल न हो जायँगे तब तक सुख न मिलेगा और तब तक भगवत्प्राप्ति न होगी। पर इनके रहते हुए प्रभुकी शरण ही प्राणी न जाय यह बात यहाँ नहीं कहते। बल्कि यह कहते हैं कि इनके उपद्रवसे डरकर शरणमें जानेसे प्रभु उसके विकारोंको दूरकर उसे साधु समान कर देते हैं। 'चराचरद्रोही' कहकर 'तजि मद....' कहनेसे यह भी ध्वनित होता है कि मद मोह कपट छल आदिके कारण ही चराचरद्रोही हो रहा है। शरणमें आनेसे यह सब छूट जायँगे।

नोट—'अस सज्जन....जैसे' में उदाहरण अलंकार है।

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥ ४॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥ ५॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥ ६॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे॥ ७॥

अर्थ—माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, घर, मित्र और परिवार। ४। (इन) सबोंके ममत्वरूपी तागोंको बटोरकर (उन सबोंको मिलाकर) डोरी बटकर मनको उससे मेरे चरणोंमें बाँधे।५। समदर्शी हो, कुछ इच्छा न हो और न मनमें कोई हर्ष, शोक या भय हो। ६। ऐसा सज्जन मेरे हृदयमें कैसे बसता है, जैसे लोभीके हृदयमें धन। ७।

टिप्पणी—१ 'जननी जनक....' इति। स्त्री, पुत्र, आदि सब कुसमाज माने गए हैं, इसीसे इनसे ममताका त्याग उचित कहा गया। यथा—'सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महाकुसमाजहि रे। सबकी ममता तजि कै, समता सजि संत सभा न बिराजहि रे॥ नरदेह कहा, करि देखु बिचारि, बिगारु गँवारु न काजहि रे। क० उ० ३०।'

२ 'सब कै ममता ताग बटोरी।००' इति। (क) सबसे ममता हटाकर प्रभुहीमें सर्व प्रकार ममत्व करना, यही डोरी बटना है। (ख) सबसे ममत्व हटाना कहा, क्योंकि ये सब रामभक्तिके बाधक हैं, यथा—'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥ ए सब रामभगति के बाधक। ३।७।१६, १७।' इसीसे इन सबोंकी ममता समेटकर श्रीरामचरणमें लगावे, यथा—'है जग में जहँ लगि यह तनु की प्रीति प्रतीति सगाई। ते सब तुलसिदास प्रभुही सों होहिं सिमिटि एकठाईं' (विनय १०३)। तात्पर्य कि सब श्रीरामजीकोही माने जाने। यथा—'जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥ मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥ २।७२।५-६।', 'राम हैं मातु पिता सुत बंधु औ संगि सखा गुरु स्वामि सनेही। रामकी सौहैं भरोसो है राम को, राम रँगी रुचि राचौं न केही। जीवत राम मुए पुनि राम सदा रघुनाथहि की गति जेही। सोइ जियैं जगमें तुलसी नत डोलत और मुये धरि देही॥' (क०), 'रामो माता मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः। सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने। (सनत्कुमार संहिता)।' विशेष अ० ७२ (५-६), अ० ७५ (७), अ० १३०, ३।१६ (१०) में देखिए। (ग)—औरोंमें ममत्व दोष था; वही रामजीमें लगनेसे गुण हो गया, भक्ति कहलाने लगी।

नोट—१ ममताको तागा कहा अर्थात् वह कच्चे धागेके समान है जो शीघ्र टूटनेवाला है। वैसेही स्त्री-पुत्रादिमें जो ममत्व है वह अल्पकालीन है, सदा निबहता नहीं क्योंकि ये सब नश्वर हैं, स्वारथके साथी हैं। इसीसे कहा है 'सुत बनितादि जानि स्वारथ-रत न करु नेह सबही तें। अंतहुँ तोहि तजैंगे पामर तू न तजै अबही तें। वि० १९८।', 'देह जीव जोगके सखा मृषा टाँचनु टाँच्यो। वि० २७७।' कई कच्चे तागे

मिलकर बट लिए जानेपर दृढ़ डोरी हो जाती है जिसका टूटना कठिन है, उसी तरह सब सांसारिक नाते प्रभुमेंही दृढ़ कर लिए जावें कि फिर टूट न सकें। यह भाव है।

प० प० प्र०—'सब कै ममता....' इति। प्रापंचिक ममत्वका त्याग यकायक एकही बारमें नहीं होता, यथा 'रस रस सूख सरित सर पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।' भगवान्‌में किंचित् ममत्व लग जानेसे प्रपंचमेंकी ममता कुछ कम होगी। इस प्रकार एक एक विषयका ममत्व रूपी तागा बटोरते रहनेसे और उस ममत्वसे भगवान्‌के चरणोंमें मन लगानेसे प्राणी क्रमशः निर्मम हो जायगा।

नोट—२ (क) 'समदरसी' इति। ममताका त्याग कहकर समदर्शी कहा, क्योंकि भक्तका मन संसारके विषयोंसे हटकर जब प्रभुमें लग जाता है तब वह सबमें अपने प्रभुको ही देखने लगता है। यथा 'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध। ७। ११२।' दुःख-सुख मान अपमान आदि सभीमें समान बुद्धि रहती है। ☞जब 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत', 'अग-जग-रूप भूप सीतावर', 'सीयराम मय सब जग' यह दृष्टि हो जायगी तब किसीसे राग-द्वेषादि भी नहीं रह सकते। (ख) 'इच्छा कछु नाहीं' इति। अर्थात् निष्काम हो, सकल-कामना-हीन हो। भाव कि 'जाहि न चाहिए कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेह' ऐसी वृत्तिवाला हो। (यह कैसे मालूम हो कि इच्छारहित है, इसकी परीक्षा 'हर्ष सोक भय नहिं मन माहीं' इस कसौटीपर होती है। यदि मनमें हर्ष, शोक वा भयका प्रवेश हो जाय तो समझना चाहिए कि हृदयमें कहीं-न-कहीं कुछ इच्छा या ममता अवश्य छिपी हुई उपस्थित है। प. प. प्र.)। हर्ष पदार्थके लाभका और शोक पदार्थकी हानिका। भाव कि जब तक ममता रही तबतक विषय दृष्टिमें रहा, जब ममता छूटी तब समदर्शी हुआ। (पं. रा. कु.)।

टिप्पणी—३ 'लोभी हृदय बसै धनु जैसे' इति। लोभीको धन बहुत प्रिय है, यथा—'लोभिहि प्रिय जिमि दाम। ७।१३०।', 'हित ज्यों धन लोभ लीन को' (वि०)। इसी प्रकार सज्जन मुझको प्रिय है। यही प्रियत्व आगे विभीषणजीमें 'घटाते' (घटित करते) हैं। यथा—'तुम सारिखे संत प्रिय मोरे। धरेउँ देह नहिं आन निहोरे'। अर्थात् तुम ऐसेही सज्जन हो कि मुझे लोभीके धनके समान प्रिय हो। प्राणप्रिय हो, प्राणसे अधिक प्रिय संसारमें कुछ नहीं।

४—भक्तोंकी तीन कोटियाँ यहाँ दिखाई गईं—दोहा ४७ में आवृत्ति १०, ११ देखिए। सविकारी निकृष्ट है। उसको साधु बनाया पर उसका प्रिय होना न कहा। क्योंकि वह असाधु था।—(१)। मध्यमने सब तरफ़से ममत्व हटाकर प्रभुमें ममत्व किया; अतः उसे लोभीके धनके समान प्रिय कहा और अगले दोहे ४८ में उत्तम उपासकको कहते हैं कि वह प्राणसमान प्रिय है।

नोट—३ गीतामें भगवान्‌ने अपने प्रियका एक लक्षण 'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः। १२।१५।' इस श्लोकमें यह बताया है कि जो पुरुष कोई ऐसा कार्य नहीं करता जिससे लोग उद्विग्न हो जायँ और जिसके उद्देश्यसे दूसरे लोगभी कोई उद्वेगकारक कर्म नहीं करते क्योंकि सभी उसको अविरोधी समझते हैं। इसीलिये जो किसीके प्रति हर्ष, किसीके प्रति ईर्ष्या, किसीसे भय और किसीके प्रति उद्वेगसे रहित हो गया है वह मेरा प्रिय है। 'समदरसी इच्छा कछु नाहीं' में श्लोकके पूर्वार्धका भाव है और 'हर्ष सोक भय नहिं मन माहीं' श्लोकके 'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो' का ही अर्थ है तथा 'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे।' 'यः स च मे प्रियः' की व्याख्या है।

इसी तरह श्लोक १३ से १९ तक प्रियके और श्लो० २० में अतिप्रियके लक्षण कहे हैं जो मानसके उद्धरणोंसे पाठक मिलान कर सकते हैं।

तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरौं देह नहिं आन निहोरे॥ ८॥

दो०—सगुन उपासक पर हित निरत नीति दृढ़ नेम ।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विज पद प्रेम ॥४८॥❀

अर्थ—तुम्हारे ऐसे संत मेरे प्रिय हैं। दूसरेके निहोरे या कारणसे मैं शरीर नहीं धारण करता हूँ (अर्थात् तुम ऐसे सन्तोंके लिएही अवतीर्ण होता हूँ) । ८ । जो सगुण ब्रह्मके उपासक हैं, परोपकार और नीति-में तत्पर हैं, नेमके पक्के हैं और जिनका विप्रचरणमें प्रेम है, वे मनुष्य मुझे प्राणके समान (प्रिय) हैं । ४८ ।

नोट—१ (क) 'तुम्ह सारिखे संत' इति।—भाव कि संत तो और भी हैं पर सर्वगुण संपन्न संत तुम्हारे समान कोई कोई होते हैं। ऐसे संत मुझे प्राणप्रिय हैं और ऐसोंके लिये ही अवतार लेता हूँ। यह कहकर ऐसे सत का लक्षण आगे कहते हैं—'सगुन उपासक....प्रेम।' (ख) यहाँ 'तुम्ह सारिखे संत' और दोहेमें 'प्रान समान' कहकर भक्तों वा संतोंकी तीन कोटियाँ दिखाईं। (१) निकृष्ट वा असाधु। अर्थात् जो असाधु था, पर शरणमें आनेपर साधु समान बना लिया गया। यथा 'जौं नर होइ चराचर द्रोही।···करौं सद्य तेहि साधु समाना।' (२) मध्यम वा संत जो सबका ममत्व छोड़कर शरणमें हैं, समदर्शी, निष्काम और हर्ष-शोक-भय रहित हैं। (३) विभीषण सरीखे संत जो सगुणोपासक, परहित-निरत, नीति-निरत, नियमके पक्के और द्विजपद प्रेमी इत्यादि सर्वगुणसंपन्न हैं। यह उत्तम कोटिवाले हैं। इन्हींके अनुसार प्रियकी तीन कोटियाँ हुईं—(१) साधारण प्रिय (प्रिय), (२) अधिक प्रिय, (३) अतिशय वा प्राणसमान प्रिय। उपर्युक्त निकृष्ट कोटिवाले साधारण प्रिय हैं। मध्यम कोटिवाले अधिक प्रिय हैं और विभीषण सरीखे उत्तम संत प्राण समान अतिशय प्रिय हैं। विशेष दोहा ४७ दशमावृत्ति देखिए। (ग) विभीषण-सारिखे संत कौन हैं ? इसका उत्तर मानसमें ही मिल जाता है। जिससे प्रभुने इस प्रकारके वचन कहे हों जैसे इनसे, वही इनके समान संत है। ये गुण श्रीशबरीजी और श्रीभुशुण्डीजीमें कहे गए हैं। तीनोंके मिलानसे यह स्पष्ट हो जायगा।

संत	श्रीरामजीके वचनामृत।
श्रीविभीषणजी—	सुनु लंकेस सकल गुन तोरें। ताते तुम्ह अतिसय प्रिय मोरें।
श्रीशबरीजी—	नव महँ एकहु जिन्हके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
	सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ॥
श्रीभुशुंडिजी—	'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी ॥
	सर्वभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ ॥'
	'सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।'

उपर्युक्त मिलानसे यह भी प्रतीति होती है कि 'सकल गुन तोरें', 'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें', 'भगतिवंत', 'सर्वभाव भज कपट तजि' और 'शुचि सेवक' पर्याय हैं, एक दूसरेके अर्थ और भावको स्पष्ट करते हैं। इसी तरह यहाँ 'अतिशय प्रिय', 'प्राणप्रिय', 'प्राण समान प्रिय', और 'परम प्रिय' भी पर्याय हैं।

टिप्पणी—१ 'तुम्ह सारिखे....पद प्रेम' इति। (क) तात्पर्य कि तुम संत हो, सगुणोपासक, पर-हितनिरत इत्यादि सर्वगुणसंपन्न हो; अतएव प्राणप्रिय हो—यही प्रभुने प्रथम भी कहा था, यथा—'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रानकी नाई'। (ख) 'धरौं देह नहिं....' अर्थात् ऐसे सन्त मुझे इतने प्रिय हैं कि मैं उनका दुःख देख वा सह नहीं सकता; अतः उनकी रक्षाके लिए अवतार लेता हूँ। (विनयमें भी कहा है—'जाको नाम लिये छूटत भव जनम मरन दुखभार। अंबरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जनम्यो दस बार।' (वि० ९८)। मानसमें भी कहा है 'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप'। (७।७२)। विशेष 'सो केवल भगतन्ह हित लागी। १। १३। ५।' में देखिए।

❀ प्र० चं०—दोहरा दोहा मिश्रित है। इसमें प्रथम निदर्शना अलंकार है।

नोट—२ 'सगुन उपासक' कहकर जनाया कि निर्गुण-उपासक भी संत होते हैं पर वे मुझे वैसे प्रिय नहीं होते जैसा भक्त प्रिय होता है। 'परहित निरत' भी संतलक्षण है, यथा—'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया। संत सहहिं दुख परहित लागी।....भूर्जतरू सम संत कृपाला। पर-हित निति सह बिपति बिसाला। ७।१२१।१४-१६।' 'निरत नीति'—नीतिका त्याग कभी नहीं करते। यह भी संत-लक्षण है, यथा—'सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। ३।४६।२।', 'सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। ७।३८।८।' 'दृढ़' दीप-देहलीन्यायसे दोनों ओर है। नीतिमें दृढ़ हैं, कैसाही विघ्न आ पड़े नीतिका त्याग नहीं करते। यथा—'कोटि विघ्न ते संत कर मन जिमि नीति न त्याग। ६।३३।' 'द्विजपद प्रेम'—भाव कि जिस संतमें यह गुण नहीं है, वह प्राणप्रिय नहीं है।

टिप्पणी—२ 'जिन्हके द्विजपद प्रेम'। ब्राह्मणोंमें प्रेम होना सब साधनोंकी अवधि है। इसीसे इसे अंतमें लिखा। सब साधनोंमें इसका स्थान आदिमें है, यथा—'प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज धरम निरत श्रुति नीती'।

मा० त० सु०—दृढ़ शब्दका अन्वय सबमें है। प्रवृत्तिमार्गमें दृढ़तापूर्वक द्विजपदप्रीति ही भक्ति-प्राप्तिमें मुख्य कारण है, यथा—'प्रथमहि बिप्रचरन अति प्रीती।....तब मम चरन उपज अनुरागा। ३।१६।६-७।' और निवृत्तिमार्गमें सगुणोपासनामें दृढ़ता मुख्य कारण है, यथा—'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा। ३।३५।८।' दोनोंको कहकर जनाया कि दोनों मार्गोंमें दृढ़ रहे, क्योंकि दोनों श्रीराघवजी-के अति प्रिय हैं।

सुनु लंकेस सकल गुन तोरे। ताते तुम्ह अतिसय प्रिय मोरे॥ १॥

अर्थ—हे लंकेश! तुममें समस्त गुण हैं, इसीसे तुम मेरे अतिशय प्रिय हो। १।

टिप्पणी—१ 'सकल गुण' अर्थात् जो ऊपर कह आए वे सब गुण विभीषणमें हैं—(१) सबकी ममता त्यागकर आए हैं, समदर्शी हैं, कुछ इच्छा नहीं है, यथा—'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।' लंका छुटनेका शोक नहीं, लंकेश होनेका हर्ष नहीं, रावणादि राक्षसोंका भय नहीं। (२) विभीषणजीने कहा था कि मैं कर्म, ज्ञान और उपासनासे रहित हूँ—निशाचरवंशमें जन्म है, इससे शुभ कर्म नहीं होते; यथा—'मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ। सुभ आचरन कीन्ह नहिं काऊ'। 'तामस देह' है, इससे ज्ञान नहीं है। ज्ञानका उदय सत्वगुणसे होता है। और, 'सहज पाप प्रिय' हूँ, इससे उपासना नहीं बन पड़ती; क्योंकि पापीको भजन अच्छा नहीं लगता। यथा 'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ'। इसपर भगवान् कहते हैं कि तुममें सब गुण हैं, कर्म ज्ञान उपासना तीनों हैं। (३) सगुन उपासक हैं, यथा—'हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा। रामायुध अंकित गृह०। ५।५।' इत्यादि। (४) परहित-निरत हैं। इसीसे अपमान सहकर भी रावणको उपदेश किया, यथा—'मति अनुरूप कहौं हित ताता। ३८।४।', 'तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा। राम भजे हित नाथ तुम्हारा'। (५) सन्त हैं, क्योंकि पराया हित करना संतस्वभाव है, यथा—'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया'। (६) नीति-निरत हैं, यथा—'तात अनुज तव नीति बिभूषन। ४०। २।' (७) नेम दृढ़ है, यथा—'राम नाम तेहि सुमिरन कीन्हा'। (८) द्विजपद-प्रेम है, यथा—'करि प्रनाम पूछी कुस-लाई। बिप्र कहहु निज कथा बुझाई' (हनुमान्‌जी विप्रवेषसें मिले थे)।

२—'अतिशय प्रिय' का भाव कि जिसमें कुछ भी गुण होते हैं वह प्रिय होता है और तुममें तो सब गुण हैं; अतः तुम 'अतिशय प्रिय' हो।

३—उपक्रममें 'लंकेश' संबोधन करके जनाया कि तुम लंकाके राजा हुए और यहाँ उपसंहारमें भी 'लंकेश' सम्बोधन देकर जनाया कि यद्यपि तुम सन्त हो और मुझे अतिशय प्रिय हो तथापि मैं तुमको लंकाका राज्य दूँगा। इसीपर आगे विभीषणजी कहते हैं कि 'उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभुपद प्रीति सरित सो बही॥....'

राम बचन सुनि बानरजूथा। सकल कहहिं जय कृपाबरूथा॥ २॥
सुनत बिभीषन प्रभु कै बानी। नहिं अघात श्रवनामृत जानी॥ ३॥
पद अंबुज गहि बारहिं बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा†॥ ४॥

अर्थ—श्रीरामजीके वचन सुनकर समस्त वानरोंके यूथ कह रहे हैं कि कृपाके समूह श्रीरामजीकी जय हो। २। प्रभुकी वाणी सुनकर, उसे कानोंके लिए अमृत जानकर विभीषणजी तृप्त नहीं होते। ३। बारंबार चरणकमलोंको पकड़ते हैं, अपार प्रेम है, हृदयमें नहीं समाता। ४।

टिप्पणी—१ 'सकल कहहिं जय कृपाबरूथा'। (क) कृपाकी बहुतायत इससे कही कि अपनी कृपासे प्रभुने इनको सर्वगुणसंपन्न कहा; नहीं तो निशाचरोंमें कौन गुण? यथा—'रिपुको अनुज बिभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी। वि० १६६।' पुनः, कृपा करके उठकर उन्हें हृदयसे लगाया, हाथ पकड़कर पास बिठाया, सखा बनाया, लंकेश बनाया, शरणमें रक्खा और सम्मान किया। (ख) जब हनुमान्‌जीको हृदयसे लगाकर परम निकट बैठाकर उनपर कृपा की और अनपायिनी भक्तिका वर दिया तब भी सब वानरवृन्दोंने जय-जयकार किया था, यथा—'सुनि प्रभु बचन कहहिं कपिबृंदा। जय जय जय कृपाल सुखकंदा। ३४।५।' फिर विभीषणजीकी शरणागति स्वीकार करनेपर भगवान्‌की प्रतिज्ञा सुनकर सबने जयजयकार किया, यथा 'जय कृपाल कहि कपि चले अंगद हनू समेत। ४४।', और अब प्रभुके मुखारविंदसे उनका शरणागतवत्सल स्वभाव सुनकर तथा भक्त-वत्सलता देखकर प्रसन्न हो जय-जय-कार कर रहे हैं। प्रथम बार 'कृपाल सुखकंदा', दूसरी बार 'कृपाल' और अब 'कृपा बरूथा' विशेषण दिये, इससे जनाया कि तीनों बार प्रभुके कृपा-गुणका अनुभव सबने किया। (ग) वानरयूथ प्रभुका स्वभाव सुनकर सुखी हुए, इस विचारसे कि जब हमारे स्वामीका ऐसा शरणागतवत्सल स्वभाव है तब हम सब अधम लोग कृतार्थ ही हैं। यही बात आगे कवि कहते हैं, यथा 'प्रभु सुभाउ कपिकुल मन भावा।' ['जय बोलनेकी प्रथा वैसी ही है जैसी पाश्चात्य-शिक्षा-प्राप्त लोगोंके समाजमें ताली बजाने या 'Hear Hear' (सुनिये-सुनिये) कहनेकी। (घ) वाल्मी० रा० में लंकेश बनानेपर वानरोंने किलकिला शब्द और 'धन्य है, धन्य है' इस प्रकार बड़ाई करके अपना हर्ष प्रकट किया है। यथा—'तं प्रसादं तु रामस्य दृष्ट्वा सद्यः प्लवंगमाः। प्रचुक्रुशुर्महात्मानं साधु-साध्विति चाब्रुवन्। ६।१६।२७।' अ० रा० में साधुवादके पश्चात् सुग्रीवने विभीषणजीसे कहा कि आप हम सबमें प्रधान हैं क्योंकि आपने केवल भक्तिसे प्रभुकी शरण ली है] (ङ) उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें स्वभाव शब्द दिया है। 'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ' और 'प्रभु सुभाउ सुनि००'। (च) यहाँ वानरोंका जयजयकार करना कहा पर विभीषणका जय-जयकार करना नहीं कहा। उन्होंने जयजयकार न किया क्योंकि यदि वे जयजयकार करते तो समझा जाता कि अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हुए हैं। अतएव वे सकुचाकर चुप हो रहे, यथा—'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। ३।४६।१।'

२ 'नहिं अघात श्रवनामृत जानी' इति। श्रीरामजीके वचनामृत सुननेपर यही हाल भुशुण्डीजीका हुआ था। यथा—'प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ। तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ॥ सो सुख जानै मन अरु काना। ७।८८।' वही भाव और दशा यहाँ सूचित की। नहिं अघात=जी नहीं भरता, तृप्ति नहीं होती, जी चाहता है कि सुना ही करें। अमृत समान अर्थात् जन्म, जरा, मरण छुड़ानेवाली और अत्यन्त मधुर है। [नोट—मिलान कीजिए 'मृतक जिआवनि गिरा सुहाई। श्रवनरंध्र होइ उर जब आई॥ हृष्टपुष्ट तन भये सुहाये।....श्रवन सुधा सम बचन सुनि पुलक प्रफुल्लित गात। बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदय समात॥ १।१४५ (७)—१४५।' देखिए]

३ 'पद अंबुज गहि बारहि बारा' इति। (क) उत्तम लोगोंकी यही रीति है, यथा—'सुनत सुधासम बचन राम के। गहे सबनि पद कृपाधाम के। ७।४७।१।' 'सुनत बिभीषन बचन राम के। हरषि गहे पद कृपाधाम

† व्र० चं०—(१, २), 'सुनत०' 'पद०' पायकुलक, 'नहिं०' द्रुतपा, 'हृदय०' तामरस।

के। ६।११६।' (ख)—'बारहिं बारा' इति। विभीषणजी श्रीरामचरणके अनुरागी हैं और प्रेममें मग्न हैं, इसीसे बारंबार चरण पकड़ते हैं, यथा—'प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि-पुनि पदसरोज सिरु नावा। ३।३४।६।'; बार-बार चरण पकड़ना कृतज्ञता सूचक है। (ग) 'हृदय समात न' अर्थात् बाहर उमड़ा पड़ता है, नेत्रसे जलरूप हो वह निकला, शरीरसे पुलकावलि द्वारा प्रकट हुआ, इत्यादि।

सुनहु देव सचराचर स्वामी। प्रनतपाल उर अंतरजामी॥ ५॥
उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु-पद-प्रीति-सरित सो बही॥ ६॥
अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी†॥ ७॥

अर्थ—हे देव! हे चराचरमात्रके स्वामी! हे शरणागतपालक और हे सबके उरके अन्तर्यामी! सुनिए। ५। पहले कुछ वासना हृदयमें थी वह प्रभुके चरणोंकी प्रीतिरूपी नदीमें बह गई। ६। हे कृपाल! अब सदा शिवजीके मनको रुचनेवाली और पवित्र निजभक्ति मुझे दीजिए। ७।

टिप्पणी १—'देव' अर्थात् आप दिव्य हैं। चराचरके स्वामी अर्थात् पालन करनेवाले हैं। 'प्रनत-पाल' हैं, यथा—'जगपालक बिसेषि जनत्राता। १।२०।५।', अतएव मेरा पालन कीजिए। 'अन्तर्यामी' हैं, अतः मेरे जीकी जानते हैं कि मेरे हृदयमें अब कोई वासना नहीं है, केवल भक्तिकी इच्छा है, सो मुझे देकर मेरा पालन कीजिए, यथा—'जन्म को भूखो भिखारी हौं गर बनेवाज। पेट भरि तुलसिहि जेंवाइए भक्ति सुधा सुनाज। वि० २१६।'

२ 'उर कछु प्रथम बासना रही' इति। (क) श्रीरामजीने आदि अंत दोनोंमें इन्हें लंकेश कहा था जिससे विभीषणजी समझ गए कि मुझे ये लंकाका राजा बनाना चाहते हैं, इसीसे वे कहते हैं कि अब इसकी वासना नहीं है। यहाँ वासनाको प्रकट नहीं किया कि क्या वासना थी, आगे श्रीरामजीके वचनोंसे स्पष्ट होती है क्योंकि प्रभुने 'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं' कहकर 'तिलक तेहि सारा' उनको राजा बनाया। (ख) 'कछु' का भाव कि प्रभुपदप्रीतिके आगे राज्य 'कुछ' नहीं है, तुच्छ है। पुनः, यहाँ यह भी जनाया कि प्रभुपदप्रीतिसे वासनाका नाश हो जाता है।

३—'पदप्रीति'को नदी कहा क्योंकि ये पद सरिताके मूल हैं, इनसे गंगाजीकी उत्पत्ति हुई। प्रीतिको गंगा कहा, क्योंकि वासनाएँ अशुद्ध हैं, मलरूप हैं। हृदयसे वासनाओंके दूर हो जानेपर भी हृदय अशुद्ध रहता है, जैसे जमीनपरसे कोई बुरी वस्तु हटा दो तो भी वह जगह अशुद्ध ही बनी रहती है, बिना धोए वह शुद्ध नहीं होती। इसी तरह प्रीति-गंगाको पाकर वासना बह गई और हृदय भी शुद्ध हो गया।

नोट—१ बाबा जयरामदासजी पं० रामकुमारजीसे सहमत हैं। वे लिखते हैं कि 'सच्चे और शुद्ध भक्त निष्काम होते हैं। यदि विभीषणजीको यहाँ अर्थार्थी कहें तो युक्त न होगा; क्योंकि उन्होंने पहले ब्रह्मासे वरदानमें निर्मल अनुराग माँगा था। यथा 'तेहि माँगेउ भगवंत पद कमल अमल अनुरागु। १।१७७।' यदि राज्यकी इच्छा होती तो उसी समय वे क्यों न माँग लेते? अमल अनुरागसे तो निष्काम भक्तिका ही बोध होता है। फिर श्रीहनुमान्‌जीके मिलन-प्रसंगमें इनकी शुद्ध साधुता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त वे रावणके द्वारा बार-बार तिरस्कृत हो उसे हितकी शिक्षा देते गए। यथा—'बार बार पद लागउँ बिनय करउँ दससीस। परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस।'—इत्यादिसे भी विभीषणकी साधुवृत्ति स्पष्ट हो जाती है। वे यही चाहते थे कि रावण भी भगवद्भक्त हो जाय जिससे उसका तथा निशिचरकुलका नाश न हो। श्रीरामगीता-वलीमें इस प्रसंगको दिखलाते हुए गोसाईंजी कहते हैं—'सब भाँति बिभीषन की बनी।....हिय कछु और और कीन्हीं बिधि रामकृपा औरै ठनी।' हृदयमें तो उनके था कि रावण राम-शरण होकर सुधर जाय और उसका राज्य-वैभव भी ऐसा ही बना रहे। परन्तु विधिने विभीषणको ही घरसे निकलवा दिया और श्रीरामकी कृपासे और ही बात हो गयी अर्थात् विभीषण ही लंकेश बन गये। अतः मानना पड़ेगा कि इस प्रसंगके

† प्र० चं०—(५) द्रुतपा, १९९ वाँ, २२५ वाँ भेद, प्रियम्बदा, २२४ वाँ भेद।

पूर्व विभीषणको राज्य-वासना नहीं थी। पहलेकी राज्यवासना मानेंगे तो रावणको दी हुई विभीषणकी शिक्षा असत्य और दम्भपूर्ण माननी होगी, जो विभीषण-जैसे साधुके लिये सर्वथा असम्भव है, फिर यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब विभीषणकी पहलेसे राज्य-वासना नहीं थी, और उपर्युक्त प्रसंगमें कारणवश कुछ हो गयी थी वह भी रामदर्शनसे नष्ट हो गयी थी, तब भगवान्‌ने उन्हें राज्य क्यों दिया? उत्तर यह है कि प्रथम तो भगवान्‌की बान ही है कि अपने भक्तोंकी स्वप्नमें भी उठी हुई इच्छाको पूरा किये बिना नहीं रहते, दूसरे मानसिक भावसे विभीषणको राज्य तो उसी समय दे चुके थे जिस समय लंकामें रावणके 'मम पुर' कहनेपर उनके हृदयमें राज्यवासनाकी किञ्चित् वासना हुई थी, श्रीभगवान्‌के दरबारमें ऐसे अवसरोंपर विलंब कैसे हो सकता है?

२ पं० विजयानंद त्रिपाठीजी लिखते हैं कि विभीषणजी कहते हैं कि पहिले मुझे कुछ ऐश्वर्यकी कामना रही। अतः तीनों भाइयोंने साथ ही तप आरम्भ किया। वरदानमें भी मैंने बिना शिक्षाके ब्रह्मास्त्र-की प्राप्ति ब्रह्मदेवसे माँगा, यथा—'अशिक्षितं च ब्रह्मास्त्रं भगवन् प्रतिभातु मे।' (वाल्मी०।७।१०।३१)। रावणके साथ लंकामें रहा, राजकार्यमें भी हाथ बँटाता था, यथा—'करत राज लंका सठ त्यागी।' दाँतोंमें जीभकी भाँति रहनेपर भी, लंका परित्याग नहीं किया। इन सबका कारण अब यदि मैं विचार करता हूँ तो मालूम होता है कि मुझमें कुछ ऐश्वर्यकी वासना अवश्य रही। पर अब वह भी नहीं है, सरकारकी प्रीतिकी नदी ऐसी उमड़ी है कि उसका कुछ पता भी नहीं है कि कहाँ गई, अतः अब मैं सदाशिवमनभावनी निर्भय राम-भक्तिका पात्र हुआ हूँ, अतः उसीको माँगता हूँ। कुछभी वासना रहते जीव निर्भरा भक्ति नहीं पा सकता।

३ श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि कुछ वासना चरणारविन्दोंके दर्शनके विषयमें थी, वह अब नदी रूप होकर प्रवाहित हो चली है, यह आपके दर्शनका प्रभाव है। यह राज्यकी वासना नहीं है। इत्यादि। इसीको मा० त० सु० कारने अपने शब्दोंमें यों लिखा है—(१) 'कछु वासना' अर्थात् पहले अपनी तामस प्रकृतिको स्मरणकर अपने ऊपर आपकी कृपाकी कामना कुछ कुछ मेरे हृदयमें थी (राज्यकी नहीं), यथा—'तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥ तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पदसरोज मन माहीं॥' जो वासना पहले बहुत थोड़ी थी वह अपने ऊपर पूर्ण कृपा देख प्रभुपदमें प्रीतिरसरूप नदी हो उमग कर बह चली, यथा—'पद अंबुज गहि बारहिं बारा'। यहाँ पर कुछ वासना राज्यसंबंधी कहनेसे श्रीविभी-षणजीकी भक्तिमें न्यूनता आ जायगी, क्योंकि वे परमानन्य भागवत हैं, यथा—'समदरसी इच्छा कछु नाहीं।०'। (२) 'अब' का भाव कि यद्यपि भक्तजन अनपायिनी भक्तिसे पूर्ण रहते हैं, तथापि जब जब प्रभुको वे अति प्रसन्न देखते हैं तब तब वही भक्ति माँगकर विषयादि सुखसे अनिच्छा सूचित करते हैं, जैसे यहाँ शिवमन-भावनी कहा और उत्तरकांडमें शिवजीने अनपायिनी भक्ति माँगी, यथा—'पद सरोज अन-पायनी भगति सदा सतसंग', तो क्या उनमें यह भक्ति न थी? यद्यपि थी, किन्तु यह परमभक्तोंका लक्षण ही है।

स्वामी प्रज्ञानानंदजी श्रीकरुणासिंधुजीके भावसे सहमत होते हुए लिखते हैं कि विभीषणजीको राज्यलोभ नहीं था यह पूर्व दिखाया जा चुका है। भक्ति पूर्वसे प्राप्त थी तो भी फिरसे भक्तिकी ही याचना करनेमें सिद्धान्तभूत हेतु है जिसका विवरण ३४ (१) में देखिए। भक्तिके प्रवाहका मायाके प्रभावसे रुक जाने अथवा कामादि विकारोंसे कलुषित हो जानेकी संभावना तबतक रहती है जबतक भगवान् स्वयं कृपा करके भक्ति प्रदान नहीं करते हैं। देवर्षि नारद, गरुड़, सती तथा भुशुंडीजी सभीके भक्ति-राकेशको मोह-रूपी राहुने ग्रस लिया था यह मानसमें लिखा है। फिर भक्ति माँगनेवाले प्रभुको बहुत भाते हैं, यथा 'माँगेहु भगति मोहि अति भाई।', 'सुनि सुनि बचन राम मन भाए। ३। ११।' (सुतीक्ष्णप्रसंग)। इस कथानकसे सिद्ध हुआ कि मंगलाचरण श्लोक २ विभीषण-चरित्र का सूचक है।

टिप्पणी—४ (क) 'अब कृपाल निज भगति....' इति। जब तक किंचित् भी अन्य कोईभी वासना हृदयमें रहती है तब तक प्रभु अपनी 'निज भक्ति' नहीं देते। क्योंकि भक्ति प्रभुकी अति प्रिय वस्तु है, यथा—

'मागेहु भगति मोहिं अति भाई। ७। ८५। ५।', 'पुनि रघुबीरहिं भगति पिआरी। ७। ११६। ४।' प्यारी वस्तु कोई जल्दी नहीं देता। देखिए भुशुण्डीजीपर प्रसन्न होनेपर भी 'प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही।' यद्यपि ये निष्काम भक्त थे और इनका सिद्धान्त था कि 'भगतिहीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥ ७।४८।' तथापि उनके माँगनेपर कि 'सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम।' वह भक्ति दी है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि 'सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः।....स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्। ५।१९।२७।', यह सत्य है कि भगवान् सकाम पुरुषोंको माँगनेपर अनेक अभीष्ट पदार्थ देते हैं; किन्तु यह असली पदार्थ नहीं है, क्योंकि उन्हें फिर भी कामनाएँ होती ही रहती हैं। इसके विपरीत जो उनका निष्काम भावसे भजन करते हैं, उन्हें तो साक्षात् अपने चरणकमल ही दे देते हैं, जिन्हें पाकर मनुष्यकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

इसी तरह नाविक केवटको बहुत प्रलोभन दिया जानेपर भी जब उसने कुछ न लिया तब उसे सांसारिक भोगोंसे निस्पृह देखकर श्रीरामजीने अपनी निर्मल भक्ति दी। यथा 'बहुत कीन्ह प्रभु लषन सिय नहिं कछु केवटु लेइ। बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ। २। १०२।'

जब तक विषयमें स्वाद मिलता है तबतक भगवद्भक्ति फीकी लगती है, यथा—'तुलसी जौं लौं बिषय की मुधा माधुरी मीठि। तौं लौं सुधा सहस्र सम रामभगति सुठि सीठि। दोहावली ८३।'; इसीसे भगवान् अपनी भक्ति नहीं देते। विषय-वासना-रहित होनेपर ही देते हैं। इसीलिये 'प्रभु पद प्रीति सरित सो बही' अर्थात् वासनाका नाश कहकर तब भक्तिका वर माँगा। यह 'अब' शब्दसे जना दिया।

(ख) 'कृपाल' का भाव कि कृपा करके दीजिए, मुझमें उसके प्राप्तिका साधन कुछ भी नहीं है। यथा—'जप जोग धर्मसमूह ते नर भगति अनुपम पावई'। सो ये मुझमें नहीं हैं। (ग) 'निज भक्ति' अर्थात् अपने रामावतारकी भक्ति दीजिए कि जिसमें निषाद, कोल, किरात, गीध, वानर, निशाचरादि कृतार्थ हुए। ('निज' का अर्थ 'खास; सच्ची, जो आप कठिनतासे किसीको देते हैं' यह भी है)। रामभक्तिके आचार्य शंकरजी हैं। निर्विकार और अनपायिनी भक्ति शिवजीके पास है, यथा—'रिपि पूछी हरिभगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई। १।४८.४.' 'सदा सिव भावनी' अर्थात् उनमें अचल भक्ति है। [श्रीशिवजीकोमनभावती भक्ति कौन है, यह उनके 'बार बार बर माँगऊँ हरषि देहु श्रीरंग। पदसरोज अनपायिनी भगति सदा सतसंग। ७। १४।' इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है। वे सदा-सत्संग युक्त अनपायिनी भक्ति माँगते हैं। यही विभीषण-जीका अभीष्ट है। (प० प० प्र०)]

प० प० प्र०—'उर कछु प्रथम बासना रही।०' इस अर्धालीके चरणोंमें और 'देहु सदा सिव मन भावनी' में १५-१५ मात्रायें देकर जनाया कि विभीषणजी स्तुति करते-करते प्रेमानंदविभोर हो गए, वाणी रुकने लगी, कंठ गद्गद् हो गया।

नोट—४ 'अब कृपाल निज भगति पावनी।....' इति। अ. रा. में भी भक्ति माँगी है, यथा 'न याचे राम राजेन्द्र सुखं विषयसम्भवम्। त्वत्पादकमले सक्ता भक्तिरेव सदास्तु मे। ६। ३। ३७।' अर्थात् 'हे राज-राजेश्वर! मैं विषयजन्य सुख नहीं चाहता। आपके चरण कमलोंमें मेरी आसक्तिरूपा भक्ति सदा बनी रहे।' और भगवान् रामने यह वर दिया भी।

प० प० प्र०—विभीषणकृत स्तुति स्वाती-नक्षत्र है।

(१) स्वाति पन्द्रहवाँ नक्षत्र है, वैसेही यह स्तुतिभी १५वीं है।

(२) नक्षत्रका नाम स्वाति (स्व+अति) है और विभीषणजी श्रीरामजीको अपने प्राणोंसेभी अतिप्रिय हैं। यथा—'तुरत बिभीषन पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सोइ सेला। ६। ९३। २।' अतः नाम-साम्य मिल गया।

(३) स्वाति नक्षत्रमें एक ही तारा है, वैसेही इस स्तुतिमें शरणागति (प्रपत्ति) एकही साधन है।

(४) नक्षत्रका रूप विद्रुमके समान है। मूँगा क्रूर ग्रह मंगलका रत्न है वैसेही विभीषणजी क्रूर रावणके भाई हैं।

(५) इस नक्षत्रका देवता वायु है और विभीषणजीको वायुनंदनने ही भगवान्‌का स्वभाव, सुयश आदि सुनाया था। 'श्रवन सुजस सुनि' कहते हुए ही वे प्रसन्न हुए। पवनदेव और पवनपुत्र समान ही हैं, यथा 'पवन तनय बल पवन समाना'।

(६) 'कामद घन दारिद दवारि के' इसकी फलश्रुति है। और यहाँ 'रावन क्रोध अनल निज.... अखंड।' है। श्रीरामकृपाबारिधरने अपनी कृपारूपी वृष्टिसे उस 'दवारि' को शान्त कर दिया। और मोह-दरिद्ररूपी दवारिको सदैवके लिये बुझा देनेवाली अपनी भक्ति-चिन्तामणि दे दी। भाव कि विभीषणजीको पूर्णकाम बना दिया।

एवमस्तु कहि प्रभु रनधीरा। माँगा तुरत सिंधु कर नीरा॥ ८॥
जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघु जग माहीं॥ ९॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन बृष्टि नभ भई अपारा†॥१०॥

अर्थ—'एवमस्तु' (ऐसाही हो) कहकर रणधीर प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने तुरंत समुद्रका जल माँगा (अर्थात् जो इच्छा है वह दी और जो इच्छा पूर्व थी, अब नहीं रह गई, वह भी पूरी की; क्योंकि 'गई-बहोर' हैं)। ८। और, 'हे सखा! यद्यपि तुम्हारी इच्छा नहीं है पर मेरा दर्शन संसारमें निष्फल नहीं जाता, (तात्पर्य कि मेरी इच्छासे इसे लो), ऐसा कहकर श्रीरामजीने उनका तिलक किया। आकाशसे फूलोंकी अपार वृष्टि हुई। ९, १०।

टिप्पणी—१ (क) 'एवमस्तु' ऐसा कहनेसे आशीर्वाद हो गया, श्रीरामजीका वचन सत्य है, यथा—'सखा बचन मम मृषा न होई। ४। ७। २३।' भक्तिके मिलनेसे सब पदार्थ मिलते हैं इसीसे भक्तिके मिलनेपर लंकाका राज्यभी मिलेगा। (ख) 'प्रभु रनधीरा' अर्थात् श्रीरामजी रणमें धीर हैं और शत्रुसे जीतनेमें समर्थ हैं, रावणको मारकर विभीषणको राज्यसिंहासनपर बिठायेंगे। पुनः, भाव कि कोई शत्रुको उपायसे जीतनेको समर्थ होता है पर रणधीर नहीं होता और कोई रणधीर होता है पर शत्रुको जीतनेको समर्थ नहीं होता। श्रीरामचन्द्रजीमें दोनों गुण हैं। [भक्ति प्रदानमें 'प्रभु' के साथ 'रणधीर' शब्दकी आवश्यकता न थी। इसे भी देकर सूचित करते हैं कि भक्ति तो देही दी पर अब शीघ्र रणदुन्दुभी बजेगी। इत्यादि। (प० प० प्र०)। पूर्ण साहसी रणधीर पुरुष ही ऐसा कर सकता है। यहाँ 'परिकरांकुर अलंकार' है। (वीरकवि)] (ग) 'तुरंत' इति। श्रीरामदर्शन तथा प्रसन्नताका फल शीघ्र मिलता है। (घ) 'माँगा सिंधु कर नीरा' इति। सिंधुका जल माँगा, क्योंकि सिंधुमें सब तीर्थोंका जल है—'अहो महत्वं महतामपूर्वं विपत्तिकालेऽपिपरोपकारः। आस्यस्य मध्ये पतितश्चराहो रविः शशिः पुण्य च यं तनोति॥' इति साहित्यदर्पणे।

नोट—१ 'माँगा तुरत' इति। किससे माँगा? यह अध्यात्म रा० में खोला है। वहाँ भक्तवत्सल श्रीरामजीने लक्ष्मणजीसे कहा है कि 'यह अभी मेरे दर्शनका फल देखे। तुम समुद्रसे जल ले आओ। मैं इसे लंकाके राज्यपर अभिषिक्त किये देता हूँ।....'। यथा 'इत्युक्त्वा लक्ष्मणं प्राह श्रीरामो भक्तभक्तिमान्। पश्यत्विदानीमेवैष मम सन्दर्शने फलम्। ६।३।४२। लङ्काराज्येऽभिषेक्ष्यामि जलमानय सागरात्।....। ४३। इत्युक्त्वा लक्ष्मणेनाम्बु ह्यानाय्य कलशेन तम्। ४४।' श्रीलक्ष्मणजीसे जल मँगवाया और वे लाए। 'पश्यत्विदानीमेवैष मम सन्दर्शने फलम्' का भाव यहाँ 'तुरत' और 'मोर दरस अमोघ' शब्दोंमें जना दिया है। वाल्मी० मेंभी श्रीलक्ष्मणजीसेही जल लानेको कहा है। पर उन रामायणोंमें श्रीलक्ष्मणजीने ही तिलक किया है। यहाँ श्रीरामजीने स्वयं उनका तिलक किया। सुग्रीवजीका तिलक वालि-वधके पश्चात् किष्किंधा नगरमें

† प्र० चं०—पायकुलक।

हुआ था, इसलिये श्रीलक्ष्मणजीने उनका तिलक किया और यहाँ वन है, नगर नहीं है; अतः स्वयं श्रीरामजीने किया। यह ग्रंथकारका सँभाल है। इससे विभीषणपर विशेष कृपा भी सूचित की।

टिप्पणी—२ 'जदपि सखा तव इच्छा नहीं।....' इति। विभीषणजीने जो कहा है कि 'उर कछु प्रथम वासना रही।०', उसीपर ये वचन कहे गए जिनका तात्पर्य यह है कि हमारी इच्छा ऐसीही है अतः मेरी इच्छासे इसे लो। यथा—'दिये पीठ पाछे लगै सनमुख होत पराय। तुलसी संपति छाँह ज्यों लखि दिन बैठि गँवाय॥' (दो०)। 'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं' यह कथन 'उर कछु वासना रही' का तिलक है, 'कछु' का अर्थ यह खोला है। इससे प्रभुका अंतर्यामी होना दिखाया। विभीषणजी ने 'अंतर्यामी' विशेषण देकर तब कहा था कि 'उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभुपदप्रीति सरित सो बही'। उन्होंने स्पष्ट न कहा कि लंका-राज्य लेनेकी वासना थी (क्योंकि अब वह रहही नहीं गई तब कहकर क्या करते?) श्रीरामचन्द्रजी अन्तर्यामी हैं, अतः उन्होंने अन्तःकरणकी बात खोलकर कह दी। यद्यपि तुमको राज्यकी चाह नहीं है, तथापि मैं अपने दर्शनका फल देता हूँ। यदि प्रभु ऐसा न कहते कि तुमको इच्छा नहीं है तो संभव था कि उनको संदेह होता कि 'श्रीरामजी हमारे हृदयकी न जान पाए इसीसे हमें राज्य देते हैं; यदि हम स्पष्ट कह देते कि हमें राज्यकी इच्छा नहीं है तो राज्य न देते। वे अन्तर्यामी नहीं हैं।

नोट—२ नाटकी कलामेंभी यही अति उत्तम है कि उधर वासना गुप्त रखी जाय, पर भगवान् जान लें। कला और भी उभर आती है कि भगवान्‌ने इतनी शीघ्रता की कि इन्कार (अस्वीकार) करनेका अवसरही न मिले। फिर देवताओं द्वारा पुष्पवृष्टिका होना तो महाकाव्य और नाटकीय दोनों कलाओंके एकीकरणमें सोनेके साथ सुगंधका काम करता है। (श्रीलमगोड़ाजी)।

☞जो लंकाधिपतित्वका बीज 'कहु लंकेस सहित परिवारा' में बोया था वह अंकुरित होकर यहाँ 'मोर दरसु अमोघ' पर वृक्षरूप होकर 'तिलक तेहि सारा' पर फलित हो गया। फलके रसकी प्राप्ति रावणवध पर 'तिलक सारि अस्तुति अनुसारी' पर होगी। (मा० त० सु०)

मा० त० सु०—१ ☞इस कार्य्यसे यह उपदेश सूचित किया कि शरणमें प्राप्त होतेही तुरतही सभी सुख अनायास प्राप्त होते हैं। २—'तव इच्छा नाहीं....' का भाव कि तुमको इच्छा नहीं है, परन्तु संसारके लोग कहेंगे कि रावणसे अनादृत हो जिस राज्यके लोभसे विभीषण रामजीकी शरण गए वह उनको न प्राप्त हुआ; इन अल्पज्ञ जीवोंके मोहकी निवृत्तिके लिए, मेरे प्रति विशेष कामनायुक्त जीवोंकी शीघ्र प्रवृत्तिके लिए और मेरे दर्शनका अमोघ-फल-दातृत्व दिखानेके लिए इसे तुम ग्रहण करो। यथा दोहावली—'काह बिभीषन लइ मिलेउ काह दियो रघुनाथ। तुलसी यह जाने बिना मूढ़ मींजिहहिं हाथ॥' इसका आशय यह है कि मूर्ख यही कहेंगे कि जैसे विभीषण राज्यकी इच्छासे मिले वैसेही प्रभुनेभी दिया, किन्तु यथार्थमें ऐसा नहीं है; क्योंकि विभीषणजी परमप्रेम लेकर मिले और श्रीराघवजीने उन्हें अविरल भक्ति दी; इस भावको न जान मूर्ख हाथ मींजते रह जायँगे, यानी प्रभुका उपहास करेंगे, अतएव लंकाराज्य भी दिया।

नोट—३ प्रायः पं० शिवलाल पाठक आदिने वही अर्थ किया है जो टिप्पणीमें दिया गया। अर्थात् लंकामें जब रावणने लात मारी तब उसका नाश सोचकर स्वयं राजा होनेकी इच्छा हुई थी, वह प्रभुके दर्शनके साथही दूर होगई।

टिप्पणी—३ 'मोर दरसु अमोघ....' इति। 'जग माहीं' का भाव कि यह बात जगत्‌में प्रसिद्ध है कि मेरा दर्शन निष्फल नहीं जाता। [वाल्मी० यु० में रावणवधके पश्चात् ब्रह्माजीने स्तुति करते हुये कहा है कि 'अमोघं देव वीर्यं ते न ते मोघाः पराक्रमाः। २९। अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः। अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिवन्तो नराभुवि। ३०। ये त्वां देवंध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम्। प्राप्नुवन्ति सदा कामानिह लोके परत्र च। ३१। सर्ग १२०।', आपका वीर्य अमोघ है, आपका पराक्रम निष्फल नहीं होता। हे श्रीराम!

आपका दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता। आपकी स्तुतिभी कभी निष्फल नहीं जाती और जो लोग आपकी भक्ति किया करते हैं, उनको भी अमोघ फल प्राप्त होता है।—इसीसे जगत्में प्रसिद्ध कहा है। श्रीरामका दर्शन, स्तुति, भक्ति सभी अमोघ हैं और अमोघ फल देनेवाले हैं]। अथवा, लोगोंकी इहलोक और परलोक दोनोंकी कामनायें प्राप्त हो जाती हैं। अतः तुम्हारी दोनों कामनाएँ पूर्ण करता हूँ, इस समय तिलक करके इहलोक सुख देता हूँ, अन्तमें मेरा धाम तो मिलेगा ही। यथा 'करेहु कलप भरि राज तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं। पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं। ६।११५।' [मिलान कीजिए—'न भवति महतां हि क्वापिमोघः प्रसादः' इति हरिविलास। अर्थात् महत्पुरुषोंकी प्रसन्नता कभी खाली नहीं जाती।]

टिप्पणी—४ 'अस कहि राम तिलक तेहि सारा....' इति। (क) यहाँ सिन्धुजलका ले आना न लिखा। इससे शीघ्रता दिखाई। 'तिलक तेहि सारा' से ही जना दिया कि वह माँगतेही तुरंत ले आया गया था। 'माँगा तुरत' अतएव 'तुरत लाए।' (तिलकमें इतना उत्साह है कि बीचमें कुछ और कहनेका विलंब कवि नहीं सह सके)। यथा—'जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा। सो तेहि काजु प्रथम जनु कीन्हा। २।७।१।' तथा यहाँ समझना चाहिए कि जिसे यह आज्ञा दीगई उसने इतनी शीघ्रतासे इसे किया मानो पहलेसे ही ला रखा था।

५—'सुमन बृष्टि नभ भई अपारा' इति। अब देवताओंको निश्चय होगया कि रावण अब अवश्य मारा जायगा क्योंकि विभीषणका तिलक प्रभु कर चुके, बिना रावणवधके इनको राज्य कैसे मिल सकता है? देवताओंने अपना स्वार्थ समझकर तिलक होनेपर फूल बरसाए, नहीं तो वे न बरसाते। यह बात रावणवधपर स्पष्ट हो जाती है क्योंकि जब राज्य वस्तुतः उनको मिला और लंकापुरीके राज्यसिंहासनपर उनका राज्याभिषेक किया गया तब इन्होंने फूल न बरसाये। और, इसी प्रकार सुग्रीवके राज्याभिषेकपर पुष्पवर्षा न की थी। यहाँ 'आये देव सदा स्वारथी। ६।१०९।२।' चरितार्थ हुआ।

६—विभीषणजीपर सब प्रकारसे प्रभुने कृपा की। वह सब यहाँ पूज्य कविने दिखाया है—

(१) उनसे उठकर मिले, यथा—'तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा। ४६। १।'
(२) उनको हृदय में लगाया, यथा—'भुज बिसाल गहि हृदय लगावा। ४६। २।'
(३) उनको समीप बिठाया, यथा—'अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी। ४६। ३।'
(४) उनसे कुशल पूछी, यथा—'कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर....। ४६। ४।'
(५) उनका दर्द पीड़ा समझे, यथा—'खल मंडली बसहु दिन राती। सखा धर्म०। ४६। ५।'
(६) उनके धर्मकी सराहना की, यथा—'मैं जानौं तुम्हार सब रीती। अति नय निपुन....। ४६। ६।'
(७) अपना स्वभाव कहा, यथा—'सुनहु सखा निज कहौं सुभाऊ। ४८। १।'
(८) उनका साधु-गुण सराहा, यथा—'सुनु लंकेस सकल गुन तोरे। ४६। १।'
(९) उनको भक्ति दी, यथा—'एवमस्तु कहि प्रभु रनधीरा। ४६। ८।'
(१०) उनका तिलक किया, यथा—'अस कहि राम तिलक तेहि सारा। ४६। १०।'

☞नोट—४ यहाँ पर कई उपदेश हमको मिलते हैं।

(१) प्रायः लोग कहा करते हैं कि मनको प्रथम वशमें करो तब भजन करो; बिना मनके वश हुए भजन व्यर्थ है। इसी चिन्तामें लगे हुए अनेक कर्म धर्म आदिमें अल्प आयु बीत जाती है। प्रभुने विभीषण-जीको शरण आनेपर तिलक करके राजा बना दिया, पर यह न कहा कि जाओ अब शत्रुसे लड़कर राज्य ले लो; किन्तु स्वयं शत्रुसे लड़कर उसको मारकर राज्य दिया। इससे उपदेश दिया है कि जो हमारी शरण-में आवेगा उसको हम तुरंत अभय देते हैं कि इनसे न डरो और फिर धीरे-धीरे स्वयं हमही उसके मनको क़ाबूमें (उसके वशमें) कर देते हैं। मुमुक्षुको चाहिए कि तुरंत शरण हो जाय, और यह भरोसा रक्खे कि प्रभु हमें मोहादि पर जय देंगे। हमारा कर्त्तव्य यही है कि हम शरण होकर भजनमें तत्पर हो जायँ, मन लगे या न लगे—प्रभुका काम प्रभुपर छोड़ें, अपना कर्त्तव्य आप करें।

(२) तिलकके विषयमें भी जनाया कि यदि तिलकका सामान किसी जगह न हो तो तीर्थजलसेही तिलक कर सकते हैं।

दो०—रावन क्रोध अनल निज श्वास समीर प्रचंड।
जरत बिभीषन राखेउ* दीन्हेउ राजु अखंड॥
जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिए दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥४९॥

अर्थ=रावणका क्रोध अग्नि है, विभीषणकी वा रावणकी ही अपनी श्वासा प्रचण्ड वायु है। विभीषणको प्रभुने जलतेसे बचाया और अखण्ड राज्य दिया। जो ऐश्वर्य शिवजीने दस सिर चढ़ा देनेपर रावणको दिया था वही संपत्ति रामचन्द्रजीने विभीषणजीको सकुचकर दी। ४९।

टिप्पणी—१ 'निज स्वास समीर' अर्थात् विभीषणजीकी श्वासा समीर है। तात्पर्य कि रावण क्रोधी है, क्रोधसे जलता रहता है, और विभीषण क्षमाशील हैं। जब वह क्रोध करता है तब ये ऊर्ध्वश्वास लेकर रह जाते हैं, क्रोध नहीं करते।† पवनकी तरह शीतल हैं। आगसे पवन गर्म हो जाता है, पर रावणके क्रोधसे इनमें गर्मी नहीं होने पाती, साँस शीतल ही रहती है। जैसे पवनसे अग्नि प्रचण्ड होती है, वैसेही विभीषणके ऊद्ध्वश्वास लेनेसे रावणका क्रोध बढ़ता है। वह सोचता है कि यह मनका कपटी है, ऊद्ध्वश्वास लेकर रह जाता है कुछ कहता नहीं। जब रावण अनीतिकी बात करता है तब और मन्त्री प्रशंसा करते हैं, पर ये उसकी प्रशंसा न कर उलटे ऊद्ध्वश्वास लेते हैं, जिससे रावण क्रोध करता है कि यह हमारी बड़ाई नहीं सह सकता, उनकी अर्थात् शत्रुकी बड़ाईकी बार वक्ता बनता है और हमारी बार मौन धारण कर लेता है। अतएव उक्त कारणोंसे यहाँ 'निज' पद दिया। 'निज' से रावणका अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि रावणके ऊद्ध्वश्वाससे रावणका क्रोध कैसे बढ़ेगा? (ख)—विभीषणको जलनेसे बचाया अर्थात् प्राणकी रक्षा की और अखण्ड राज्य दिया। (ग) 'अखंड' का भाव कि रावणके राज्यका खण्डन हुआ पर विभीषणके राज्यका खंडन कोई नहीं कर सकता।

पं., मा. त. सु.–१ इस दोहेमें 'निज' पद श्लेष है, इसका कारण यह है कि यह रावण, विभीषण और श्रीरामजी तीनोंमें लग सकता है। इसी प्रकार 'प्रचंड' पद अनल और समीर दोनोंके साथ लग सकता है—(क) रावणका क्रोध प्रचंड अग्नि है और उसका क्रोधमय श्वास समीर है, दुर्वचन कहना यह भी साँस है, यथा—'खल तोहि निकट मृत्यु अब आई'। इत्यादि।—[करुणासिंधुजीने यही अर्थ किया है। श० सुं० दा० और नं० प० जी ने 'अपने श्वासरूपी प्रचण्ड वायुसे प्रज्वलित होनेवाले रावणकी क्रोधाग्निमें' यह अर्थ किया है।] (ख) निज=विभीषणका। [रा० प्र०, दीनजी, वीरकवि, आदिने यही अर्थ रखा है]। (ग) रावणपर जो श्रीरघुनन्दनजी का अपना क्रोध है वही अग्नि है। इस क्रोधाग्निसे बचानेवाला कोई नहीं, यही अग्निकी

---

* राषा-प्र० चं०—'रावन०' दोहरा, 'जो०' चल दोहा। 'जो संपति....' में उपमानसे उपमेयमें अधिकत्व वर्णन 'व्यतिरेक अलंकार' है। (वीर)।

† श्रीलमगोड़ाजी—फ़ारसीके एक कविने भी कहा है 'बितर्स अज़ आहे मज़लूमाँ कि हंगामे दुआ करदन। इजाबत अज़दरे हक़ बहरे इस्तक़बाल मी आयद।' ऐसे व्यक्तियोंकी आहसे डरो कि जिनको तुम सता रहे हो। कारण कि प्रार्थना करते समय भगवान् की स्वीकृति स्वयं स्वागतके लिये उनके द्वारसे आगे बढ़कर आती है। बातभी ठीक है। वे सत्य (हक़) हैं, असत्य (ना-हक़) का नाश हो ही गा। धर्मपर निर्भर राजनीतिका कितना सुंदर दृश्य है। विभीषणकी आहका असर (प्रभाव) रावण-राज्य-नाशमेंभी कितना प्रबल है।

प्रचण्डता है। यथा—'संकर सहस बिष्नु अज तोही।....'। श्रीसीताजीका श्वास प्रचंडसमीर है। यथा 'राम कोह पावक समीर सीय श्वास। (क०)।

☞रामचन्द्रजीको यहाँ दृढ़व्रत, भविष्यके यथार्थ ज्ञाता और निज कर्त्तव्यपर दृढ़ दिखाया है।

मा० हं०—स्वामीजीने विभीषण-राज्याभिषेकमें रामजीकी प्रशंसा इस दोहेमें की है। यह दोहा 'या विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्छेदेऽपि शंकरात्। दर्शनाद्रामदेवस्य सा विभूतिर्विभीषणे' (हनु० ना० ७।१४) इस सुभाषितका अक्षरशः भाषान्तर है। परन्तु दोहेमें कविने केवल 'सकुचि' इतना ही पद डालकर कैसा काव्यकलानैपुण्य दिखलाया यह विचार करने योग्य है। अत्याचार और हिंसासे मिलाई हुई, अतएव खूनसे भरी हुई लंकाकी राज्यरूपी अपवित्र संपत्ति भक्त विभीषणको देकर शुद्धको अशुद्ध ही बनाना होगा; अथवा विभीषणकी सहायतासे यदि सीतादेवीका लाभ हो तो लाभके प्रमाणसे लंकाकी संपत्ति दर्यावमें खसखस-सी ही होगी; इन विचारोंसे रामजी 'सकुचि' यानी लज्जित हुए। एक 'सकुचि' पद डालनेसे श्रीरामजीकी कृतज्ञता, वात्सल्य और औदार्य कैसे ध्वनित हुए, यह कोई भी स्पष्ट देख सकता है। कवित्वगुण ईश्वरदत्त होता है, इसमें कुछ संदेह नहीं।

नोट—१ 'सकुचि दीन्ह' इति। ऐसा ही कविने अन्यत्र भी कहा है। यथा 'जो संपति दस सीस अरपि कै रावन सिव पहिं लीन्ही। सोइ संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्ही। वि. १६२।' संकोचके दो कारण तो ऊपरके लेख (मा. हं.) में आ गए कि अत्याचार और हिंसासे सनी हुई अपवित्र संपत्ति ऐसे परम भक्तको दे रहे हैं, इत्यादि; और भाव ये हैं कि हमने इसको कुछ भी तो न दिया। लंका जो दी वह भी इस समय जली-भुनी हुई है, उसकी सारी विभूति राखमें मिल गई है और यहाँ हमारे पास कुछ है नहीं जो देते, श्रीअवधमें होते तो भले ही कुछ देते। यह भाव दोहावलीके 'बलकल बसन (भूषन) असन फल तृनसज्या द्रुम प्रीति। तिन्ह समयन लंका दई यह रघुबरकी रीति। १६२।' इस पदसे ध्वनित होता है। (पं० रा० कु०)। अथवा, भक्त तो 'तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी' होते हैं, उनके लिये यह तुच्छ है। (वं० पा०)। वा, यह राज्य तो तृणासन सदृश तुच्छ है यह समझकर सकुच है। यथा—'बार कोटि सिर काटि साटि लटि रावन संकर पै लई। सोइ लंका लखि अतिथि अनवसर राम तृनासन ज्यों दई। गी. ५। ३८।' अथवा, यह तो उसीके घरकी है, उसीकी वस्तु उसको दी इसमें क्या उपकार हुआ। (बं. पा., पां., रा. प्र.)। अथवा, पहले तो हमने इन्हें निज भक्ति दी। अब यह तुच्छ संपत्ति देते हैं जो भक्तिका बाधक है अतः सकुचे। (मा. त. सु.)।

श्रीलमगोड़ाजी—'सकुचि' पर संकेतकला ही निछावर है (न जाने और कितना देना चाहते हैं!)। फिर 'सकुचि' इतना गूढ़ बन पड़ा है कि व्याख्या ही मूक हो जाती है।

टिप्पणी—२ 'सकुच दीन्हि' इस कथनसे दिखाया कि ऐसे ऐसे भारी तपसे भी प्रभुकी शरणागतिका माहात्म्य अधिक है। उसने जो तपसे पाया वह इनने शरण लेने मात्रसे पा लिया। पुनः, जो (शिवजीने) तपका फल समझकर दिया (वही ऐश्वर्य) श्रीरामजीने अपनी शरणका माहात्म्य समझकर संकोचसे दिया (अर्थात् इतना ही देनेमें लज्जित होते थे)। इसमें ग्रन्थकार किसीको न्यूनाधिक्य नहीं कहते, (वस्तुतः ऐसा है ही कि) हजारवर्षका तप श्रीरामजीको एकबार प्रणाम करनेके बराबर भी नहीं तुल सकता, यथा—'दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय' अर्थात् दशाश्वमेधीका तो पुनर्जन्म होता है पर भगवान्‌को प्रणाम करनेवालेका जन्म नहीं होता।

नोट—२ सुग्रीवको बालिबधके पीछे राज्य दिया। रावणके जीतेजी ही विभीषणका तिलक किया। यह क्यों? उत्तर—(क) श्रीजानकीजीको धैर्य्य देनेके लिए। (ख) इससे जनाया कि अब उसको मृतक समझो। (मा. शं.)। (ग) सुग्रीव माधुर्यके उपासक थे, उन्हें प्रथम श्रीरामद्वारा वालिबधकी प्रतीति न हुई। दुंदुभि-अस्थिताल'के द्वारा परीक्षा ले ली तब 'बालि बधब इन्ह भइ परतीती'। इसीसे पहले बालिबध

करके उनको राज्य दिया। सुग्रीवने बलको ही विशेषरूपसे देखा छविको नहीं। यथा—'पुरुष जुगल बल रूप निधाना', 'आवत देखि अतुल बल सींवा' इत्यादि। और, विभीषणजी प्रथमसे ही ऐश्वर्य भावको दृढ़ ग्रहण किए थे, रावणको भी ऐश्वर्यका उपदेश किया था और जब चले तब भी प्रभुके ऐश्वर्यका स्मरण किया, यथा—'जे पद परसि तरी०' इत्यादि। फिर जब प्रभुका अवलोकन किया, तब योगियोंका ही परम ध्येय स्वरूप ही देखा, यथा—'बहुरि राम छबिधाम बिलोकी' इत्यादि। अतः प्रभुने भी अपना ऐश्वर्य दरसाते हुए रावणके जीतेजी तिलक कर दिया (मा. त. सु., मा. शं. म.)।

नोट—३ कोई-कोई विद्वानोंको उपर्युक्त दोहेमें स्वामीजीका भरपूर पक्षपात नज़र आनेके कारण उन्होंने बड़ी ही कड़ी टीका की है। वे लिखते हैं कि 'स्वामीजी उक्त दोहेके द्वारा रामजीकी प्रशंसा करनेके लिए शंकरजीकी निन्दा करनेको ज़रा भी नहीं हिचकते।' घोड़ा मैदान सामने ही है, हमें अधिक वाच्यता करनेकी आवश्यकता नहीं।—(नोट—यह दोहा हनुमन्नाटकके श्लोकका अनुवादमात्र है। इससे यह भी स्वयं सिद्ध है कि जो लोग गोस्वामीजीपर लांछन लगाते हैं वे कम पढ़े हैं, उनको और रामायणोंका ज्ञान नहीं है, नहीं तो वे ऐसा न करते। गोस्वामीजीके जन्मके न जाने कितने पूर्व अन्य रामायणें रची गईं जिनमें यही कहा गया है।)

वि. त्रि.—यहाँ शिवजीका प्रकरण नहीं है, प्रकरण रामजीका है, अतः इस दोहेकी प्रवृत्ति शिवजीके अपकर्ष-कथनमें नहीं है, केवल रामजीकी स्तुति करनेमें है। 'न निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवृत्ता किन्तु विधेयंस्तोतुम्'। निन्दाका तात्पर्य, जिसकी निन्दा की जाती है, उसके निन्दामें नहीं है, वल्कि विधेयकी स्तुतिमें है।

बलाबलाधिकरणमें 'सा वैश्व देव्याऽऽमिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' वह छेना विश्वदेवके लिये है, छेनाका पानी वाजी देवताओंके लिये। वैश्वदेवयागमें छेना दिया जाता है। प्रकरण यहाँ विश्वदेवका है बाजी देवताका नहीं है, अतः यहाँ बाजी देवताको छेनाका पानी देनेमें आकांक्षा नहीं है। अभिप्राय इतना ही है कि विश्वदेवको छेना दिया जाय, बाजी देवताको छेनाका पानी देनेमें कोई तात्पर्य नहीं।

इसी भाँति यहाँ रामजीके उत्कर्षमें वाक्यका तात्पर्य है, शिवजीके अपकर्षका नहीं, क्योंकि यहाँ रामजीका प्रकरण चल रहा ह, शिवजीका नहीं चल रहा है। शास्त्रके इस रहस्यके न जाननेवाले, एक देवताके प्रकरणमें दूसरेकी निन्दा देखकर, तथा भस्म रुद्राक्षके प्रकरणमें तुलसी ऊर्ध्वपुण्ड्रकी निन्दा तथा ऊर्ध्वपुण्ड्र तुलसीके प्रकरणमें भस्मरुद्राक्षकी निन्दा देखकर घबराते हैं, और बड़े भ्रममें पड़ जाते हैं। वाक्यजन्य-ज्ञान-निरूपक शास्त्रकी पदे-पदे आवश्यकता पड़ती है। जिन्हें यहाँ शिवजीकी निन्दाकी गन्ध आती है, निःसन्देह वे वाक्यजन्य ज्ञानके कारणोंसे नितान्त अनभिज्ञ हैं।

श्रीलमगोड़ाजी—यहाँकी तुलनामें जैमिनिजीका सिद्धान्त न भूलें कि बहुधा तुलना करनेमें हम अपने प्रतिपाद्य व्यक्तिका आदर बढ़ाना चाहते हैं, पर दूसरेका अनादर करना हेतु नहीं होता। यहाँ शंकर-जीका निरादर नहीं है, बल्कि उनके 'महादेव' (महादानी) वाले गुणकी सराहनाके आधारपर श्रीरामजीको अधिक बड़ा प्रमाणित किया है। देखिए जहाँ शंकरजीको बढ़ाना है वहाँ (विनयपत्रिकामें) कवि स्वयं कहता है—'जोग कोटि करि जो गति हरि सों मुनि माँगत सकुचाहीं। वेदबिदित तेहि पद पुरारि पुर कीट पतंग समाहीं।'

अस प्रभु छाँड़ि भजहिं जे आना। ते नर पसु बिनु पूँछ बिषाना॥ १॥
निज जन जानि ताहि अपनावा। प्रभु सुभाव कपि कुल-मन भावा†॥ २॥

अर्थ—ऐसे (प्रणतपाल, परम उदार) प्रभुको छोड़कर जो किसी दूसरेको भजते हैं, वे मनुष्य बिना सींग और पूँछके पशु हैं। (अर्थात् उनमें और पशुओंमें इतना ही अन्तर है कि पशुके सींग और पूँछ होती है, ये ही इनके नहीं हैं; बाक़ी हैं वे पशु ही)। १। अपना जन जानकर उसे अपना लिया, प्रभुका स्वभाव कपिकुलके मनको अच्छा लगा। २।

† प्र० चं०—'निज०' नयमालिनी, शेष पायकुलक।

नोट—१ (क) 'अस' उपर्युक्त दोहेमें कहे हुए गुणोंका संकेत कर रहा है । अर्थात् जो कैसा भी कोई पापी, कपटी, कुटिल, सर्वगुणहीन आदि मनुष्य शरणमें आये तो उसका त्याग नहीं करते ऐसे शरणागतपालक, शरणागतवत्सल, सत्यसंकल्प, दृढ़व्रत, परम उदार हैं, जो भक्तकी वे सब वासनायें भी पूरी कर देते हैं जो उसके मनमें शरणमें जानेके समय वा उसके पूर्व उठी हुई होती हैं । यह अंगुल्यानिर्देश 'निश्चय'-प्रतिपादक है जो अन्य अर्थको निवृत्त करता है ।—'भजन विभीषनको कहा फल कहा दियो रघुराज। राम गरीब-निवाजके बड़ी बाँह बोलकी लाज । वि० १९३ ।' (ख) 'प्रभु'—क्योंकि रावण ऐसे समस्त-लोक-विजयी, सुर-मुनि-त्रासकसे, उसके निकाले हुए भाईको शरणमें लेकर, विरोध लिया । ऐसे समर्थ हैं और सामर्थ्यपर दृढ़ विश्वास है कि रावणके जीते जी उसके भाईका तिलक कर दिया । ऊपर दोहेमें जो कहा है, उसीके संबंधसे 'प्रभु' कहा । (ग) 'छाड़ि' का भाव कि ऐसे प्रभुको छोड़ना न चाहिये । यथा—'सीतापति से साहिबहि कैसे दीजै पीठि । दो० ४८ ।', 'रे मन सब सों निरस ह्वै सरस राम सों होहि । भलो सिखावन देत है निसि दिन तुलसी तोहि । दो० ५१ ।'

वि० त्रि०—केवल वह प्रभुही स्वतन्त्र है, जीव चाहे जैसा भी हो मायाके परतन्त्र ही है, यथा—'परबस जीव स्वबस भगवंता । जीव अनेक एक श्रीकंता ।' जो स्वयम् परतन्त्र है, उसके भजनेसे लाभ क्या ? 'देव दनुज नर नाग मनुज सब माया बिबस बिचारे । इनके हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे ।'

टिप्पणी—१ 'अस प्रभु छाँड़ि भजहिं जे आना ।....' इति । (क) भाव यह कि औरोंको छोड़कर ऐसे प्रभुका भजन करना चाहिए और ये उलटा ही करते हैं; इनको छोड़कर दूसरेको भजते हैं । (ख) बिना पूँछ और सींगके पशुका भाव कि अज्ञानमें वे पशुके समान हैं । क्योंकि जिसको अपने हित अनहितका ज्ञान है, वह कभी नहीं छोड़ सकता । यथा 'तुलसी जाके होयगी अंतर बाहर दीठि । सो कि कृपालुहि देइगो केवट-पालहि पीठि । दो० ४९।', 'बालमीकि केवट कथा कपि भील भालु सनमान । सुनि सनमुख जो न राम सों तेहि को उपदेसै ज्ञान । वि० १९३।' पशुकी शोभा पूछ और सींगसे है, बिना सींग पूछका पशु शोभाहीन है, वैसेही नर शरीरमें अज्ञान ज्ञानरंकता अशोभा है । ऐसे अज्ञानके कारण वे बिना पूछ बिषानके पशु कहलाते हैं । [नोट-'पशु बिनु पूछ बिषान' से जनाया कि वे सूकर, श्वान, शृगालके सदृश हैं, उन मनुष्योंका जन्म दुःखदायक है और वे नरकरूप हैं, यथा विनये—'ते नर नरकरूप जीवत जग भवभंजन पद-बिमुख अभागी ।.... नहिं सतसंग भजन नहिं हरि को श्रवन न रामकथा अनुरागी ॥....सूकर श्वान शृगाल सरिस जन जनमत जगत जननि दुखलागी ॥ वि०१४०।', 'तिन्ह ते खर सूकर श्वान भले जड़ता बस ते न कहैं कछु वै । तुलसी जेहि राम सों नेह नहीं सो सही पसु पूँछ बिषान न द्वै । जननी कत भार मुई दस मास, भई किन बाँझ, गई किन च्वै । जरि जाउ सो जीवन जानकीनाथ जियै जग में तुम्हरो बिनु ह्वै । क० ७।४०।'] अथवा, भाव यह कि वे नरपशु हैं, शरीर नरका है पर उनमें अज्ञान पशुका है; दोनों मिलकर वे नरपशु हुए, न केवल नर ही हैं न केवल पशु । पशुकी शोभा सींग और पूछसे है, वह भी उनके नहीं । तात्पर्य कि नरतनमें भजनका पूर्ण अधिकार है, मोक्षसाधन केवल नरशरीरमें हो सकता है; यथा—'हरि तुम्ह बहुत अनुग्रह कीन्हों । साधनधाम बिबुध दुर्लभ तन मोहि कृपा करि दीन्हो ।' (विनय), पुनः, 'बड़े भाग मानुष तन पावा । सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा । साधनधाम मोच्छ कर द्वारा । पाइ न जेहि परलोक सँवारा ॥ ७ । ४३ । ७ ।'; इसीसे हरिभजनके बिना नरतनकी निन्दा करते हैं ।

नोट—२ 'निज जन' अर्थात् जो अनन्यगतिक हैं जिन्हें स्वप्नमेंभी दूसरेका आशा-भरोसा नहीं है । कर्म मन वचनसे दास । जैसे मनु-शतरूपाजी, सुतीक्ष्णजी, भुशुण्डीजी, हनुमान्‌जी इत्यादि । यथा—'प्रभु सर्वज्ञ दास निज जानी । गति अनन्य तापस नृप रानी । १ । १४५ ।', 'मन क्रम वचन राम पद सेवक । सपनेहु आन भरोस न देवक ॥....देखि दसा निज जन मन भाए ॥....हृदय चतुर्भुज रूप देखावा ॥ मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे । बिकल हीन मनि फनिबर जैसे ॥ ३ । १० । २, १६, १८, १९ ।', 'मन वच क्रम मोहिं निज जन जाना । ७. ११३. ३ ।', 'तोहि निज भगत राम कर जानी ।', 'ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा ॥ एवमस्तु तव वच मुनि ग्यानी ।

यह मम भगत करम मन बानी। ७.११४।' श्रीहनुमान्‌जीका तो कहना ही क्या ? उन्होंने प्रभुको अपने वशमें ही कर रक्खा है। ☞ऐसे ही भक्तोंके विषयमें श्रीवचनामृत है कि 'जिन्ह के हौं हित सब प्रकार चित नाहिंन और उपाउ। तिन्हहिं लागि धरि देह करौं सब डरौं न सुजस नसाउ। गी० ५। ४५।', 'तजि मम चरन सरोज प्रिय जिन्ह कहँ देह न गेह। ३। ४५।'; ऐसे ही भक्त भगवान्‌को अतिशय प्रिय हैं।

टिप्पणी—२ 'निज जन जानि' का भाव कि—(क) अपनाए तो सभी जीवोंको हैं, क्योंकि सभी उनकेही बनाए हुए हैं, यथा—'सब मम प्रिय सब मम उपजाये'। पर इनको 'अपना जन' जानकर अपनाया। (ख) अन्य समस्त-गुण-सम्पन्न होनेसे नहीं अपनाते, अपना जन जानकर अपनाया करते हैं।

३ 'प्रभु सुभाव कपिकुल मन भावा' इति। अर्थात् वानरगण अपनेको कृतार्थ समझते हैं, सोचते हैं, कि ऐसे उदार और प्रणतपाल स्वामीके हम सब सेवक हैं, हमको अपना करके क्यों न मानें ? (अर्थात् हमको अपना जन मानते हैं, यह उनके उदार और प्रणतपाल स्वभावके योग्यही है)। प्रभुके स्वभावसे औरोंका भला होता है तो हमारा भला क्यों न होगा। अथवा, भाव कि वानरलोग श्रीरामजीके स्वभावको नहीं जानते थे। उनका स्वभाव कोई जल्दी नहीं जान पाता; इसीसे प्रभु अपने स्वभावके जाननेवाले तीनको ही बतलाते हैं, यथा—'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ।' जब उन्होंने अपना स्वभाव विभीषणजीसे कहा तब वानरोंने जाना और उनको वह जानकर अच्छा लगा कि हम सबके निर्वाहके लायक कोमल सरल स्वभाव है। ['मन भावा' का भाव कि शत्रुका भाई, निशाचर आदि होनेका विचार न किया, शरणागत-वत्सलताहीको प्रधान रक्खा, उसके हृदयकी सरलताको देखकर उसे अपना लिया, यहाँ तक कि राजनीतिकी भी पर्वाह न की तब हमपर अवश्य ही कृपादृष्टि रहती होगी। पुनः, भाव कि प्रभुका वात्सल्यादि गुणयुक्त स्वभाव वाणीसे अकथनीय है, अतः 'मन भावा' कहा, अर्थात् कहा नहीं जा सकता। (पं०, मा० त० सु०)] ☞ कपि पशु हैं सो इन तकको प्रभुका स्वभाव प्रिय लगा तब मनुष्योंको यदि न भावे तो वे पशुओंसे भी गत (गए गुजरे) हैं।

४—'सुनहु सखा निज कहौं सुभाऊ। ४८। १।' उपक्रम है और 'प्रभु सुभाव कपिकुल मन भावा' उपसंहार।

☞'उहाँ निसाचर रहहिं ससंका' से यहाँतक 'मिला बिभीषन जेहि बिधि आई' यह ग्यारहवाँ प्रसंग है।

☞ धन्य हैं ऐसे हरिजन जिन्हें श्रीरामजी 'निज जन' जाने

श्रीसुग्रीव और विभीषणजीका मिलान

१	अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिन राती॥	उर कछु प्रथम बासना रही।.... अब कृपाल निजभगतिपावनि देहु।०
२	जो कछु कहेउ सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई॥	जदपि सखा तोहि इच्छा नाहीं। मोर दरस अमोघ जग माहीं॥
३	यह कहकर सुग्रीवको राजा बनाया	अस कहि राम तिलक तेहि सारा।

४—दोनों सखा माने गये

(क) सखा बचन मम मृषा न होई।	जदपि सखा तोहि इच्छा नाहीं।
(ख) सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी।	सखा कही तुम्ह नीकि उपाई।
(ग) सखा सोच त्यागहु बल मोरे।	सखा धर्म निबहै केहि भाँती।
(घ) मित्रके लक्षण कहे।	सुनहु सखा निज कहौं सुभाऊ। यहाँ स्वभाव कहा
५ बालिसे रक्षा की—'बालि त्रास ब्याकुल....सो सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ'	रावणसे त्रिलोकमें रक्षा कोई न कर सकता। प्रभुने रक्षा की-'रावनक्रोध'०।

६ प्रभुकृत सीस कपीस उछंगा।	कह लंकेस मंत्र लगि काना (यहभी सिरहाने बैठे हैं)
७ जानतहूँ अस प्रभु परिहरहीं॥ काहे०॥	अस प्रभु छाँड़ि भजहिं जे आना।
८ दोनोंके साथ समान प्रेम व्यवहार (क) 'सुनु कपीस लंकापति बीरा०'	
(ख) भेंटेउ अनुज सहित रघुनाथा	अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी
(ग) तब सुग्रीवहि आयसु दीन्हा।	करहु क्रिया परिहरि सब सोका॥
(घ) मृतक कर्म बिधिवत सब कीन्हा।	कीन्हि क्रिया प्रभु आयसु मानी।
(ङ) राम कहा अनुजहि समझाई।	तुम्ह कपीस अंगद नल नीला।००
राज देहु सुग्रीवहि जाई॥	सारेहु तिलक कहेउ रघुनाथा॥
(च) पुर न जाउँ दस चारि बरीसा	पिता बचन मैं नगर न जाऊँ॥
(छ) राज दीन्ह सुग्रीव कहँ	सादर सिंहासन बैठारी।०

९—दोनोंका कार्पण्य, यथा—

(क) मैं पामर पशु कपि अति कामी	निसिचर बंस जनम सुरत्राता।००
(ख) नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई	नाथ दसानन कर मैं भ्राता
(ग) सादर मिलेउ नाइ पद माथा	अस कहि करत दंडवत देखा
१० तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा	सचिव संग लै नभपथ गएऊ
११ अतिसय जन्म धन्य करि लेखा	नयनानंद दानके दाता
१२ जब सुग्रीव राम कहुँ देखा	दूरिहि ते देखे दोउ भ्राता
१३ सुख संपति परिवार बड़ाई।००	उर कछु प्रथम बासना रही
१४ जो कछु कहेउ सत्य सब सोई	एवमस्तु कहि प्रभु० इत्यादि

नोट—३ दोनोंमें जो अंतर है वहभी स्मरण रखना चाहिए। सुग्रीवजीकी मित्रतामें राजनीति प्रधान है और विभीषणजीमें पूर्ण शरणागति-भक्ति है, यद्यपि सुग्रीवजीभी भक्त हैं केवल राजनीति संबंधी मित्र नहीं।

'सागरनिग्रह कथा सुनाई'–प्रकरण

पुनि सरवग्य सर्व उर बासी। सर्वरूप सबरहित उदासी॥ ३॥
बोले बचन नीति प्रतिपालक। कारन मनुज दनुज कुल घालक*॥ ४॥

अर्थ—फिर सब जाननेवाले, सबके हृदयमें बसनेवाले, सर्वरूप (विश्व आपका ही रूप है) और सबसे रहित, उदासी प्रभु नीति-प्रतिपालक वचन बोले। इसका कारण यह कि वे मनुष्यरूप धारण किए हैं और राक्षसकुलके नाश करनेवाले हैं (अर्थात् ऐश्वर्यके अनुकूल उन्होंने वचन नहीं कहे, किन्तु माधुर्य्यके अनुकूल कहे हैं। तात्पर्य कि राजा हैं, राजाओंको नीतिका पालन करना ही चाहिए, यथा—'सोचिय नृपति जो नीति न जाना'। अतः नीतिके वचन बोले)। ३-४।

टिप्पणी—१ 'पुनि सर्वग्य....' इति। (क) 'पुनि' का भाव कि परमार्थकी बात करके अब व्यवहारकी बात कहते हैं। यहाँ दूसरे प्रसंगका आरंभ करते हैं। प्रथम अपने दासका काम करके उसे राज्य देकर और अपनाकर तब सबके पीछे अपने कार्य्यकी बात कही। यथा—'तब रघुपति कपिपतिहि बोलावा। कहा चलै कर करहु बनावा'।—वहाँभी प्रथम हनुमान्‌जीका सम्मान करके और उनको भक्ति देकर तब अपने कार्य्यकी बात कही थी। और इसी तरह सुग्रीवजीको प्रथम राज्य देकर तब सीताशोधकी आज्ञा दी थी। पुनः, इसी तरह रावणवध करके विभीषणको राज्य देकर तब सीताजीको बुलाया। पुनः अपने राज्याभिषेकमें प्रथम सब

* प्र० चं०—(३) पायकुलक, ११८२ और १२१९ वाँ भेद।

सखाओं और भाइयोंको स्नान कराके तब स्वयं स्नान किया। यही हाल उनके भक्तोंका है। ये भी प्रथम भगवान्‌को अर्पण करके तब स्वयं ग्रहण करते हैं।—इससे प्रभुका वचनामृत चरितार्थ होता है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। गीता ४।११।'

श्रीलमगोड़ाजी—श्रीरामराज्यकी धर्मपरक नीतिमें मित्रताका लक्षण श्रीरामजीने सुग्रीवजीसे यही कहा है कि 'देत लेत मन संक न धरई'। इसमें देना पहले कहा तब लेना। इसका उलटा तो बनियापना और स्वार्थ है, इसीसे तो वहाँ 'लेन-देन' होता है।

टिप्पणी—२ (क) 'सर्वज्ञ' से बहिर्यामी (बाहरकी सब जाननेवाले) और 'सर्वउरवासी' से अन्तर्यामी अर्थात् भीतर की सब जाननेवाले हैं। इस तरह जनाया कि सबके भीतर और बाहरकी जानते हैं, उनसे कुछभी छिपा नहीं है। यथा—'ज्ञानहू गिराके स्वामी बाहेर अंतरजामी, इहाँ क्यों दुरैगी बात मुखकी औ हियकी। वि० २६३।' पुनः, सर्वज्ञसे यह भी जनाया कि भूत, भविष्य, वर्तमान सबका आपको स्वतः सर्वदा ज्ञान है। अन्तर्यामी कहकर सर्वरूप कहा, इससे जनाया कि व्याप्य और व्यापक दोनों हैं। उदासी अर्थात् शत्रुमित्ररहित हैं। अथवा, (ख)—सर्वज्ञ हैं इससे जो होनहार है वह सब जानते हैं। सर्वउरवासी हैं अतः जानते हैं कि मंत्री क्या कहेंगे। सर्वरूप हैं अतः जिसे बाँधना है वह वहीं है वह स्वयं अपने ही हैं। [सिंधुका कुछभी भय नहीं है क्योंकि सर्वरूप हैं। (पं०)]।

यदि कोई शंका करे कि 'सर्वरूप हैं तो समुद्रके बन्धनसे इनका भी बंधन हो गया', तो उसपर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, वे सर्वरूप होते हुए भी सर्वरहित (सबसे अलग) भी हैं। यथा 'अगजगमय सब रहित बिरागी। १। १८५। ७।' यदि कोई कहे कि 'उनके तो शत्रु मित्र हैं, वे रावणसे शत्रुता रखते हैं; इसीसे उसके लिए यह उद्योग कर रहे हैं', तो उसपर कहते हैं कि ऐसा नहीं है उनका कोई न शत्रु है न मित्र, वे उदासीन हैं। यह लीला है, सर्वज्ञ होकर भी पूछते हैं कि 'केहि बिधि तरिय जलधि गंभीरा'। सर्वउरवासी भी सुग्रीव एवं विभीषणसे पूछते हैं मानों इनके हृदयकी जानते ही नहीं। सर्वरूप हैं अतः समुद्रभी आपका ही रूप हुआ तब किससे तरनेके लिए कहते हैं? मकर उरग सब वे ही हैं, तब ग्रास कौन करेगा? सर्वरहित होकर इस तरह पूछते हैं मानों सबमें लिप्त हैं और उदासी हैं पर जगत्‌के प्रपंचकी बात करते हैं। इत्यादि सब क्यों? क्योंकि नरनाट्य करते हैं।

३—'बोले बचन नीति प्रतिपालक।....' इति। (क) नीति है कि मंत्रीसे राय लेकर तब राजा कार्य करे। यथा—'जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुरत्राता। ४। २३। १३।' ऐसा वचन बोलनेका कारण बताते हैं कि आप मनुष्यरूप धारण किए हुए हैं, इसीसे अज्ञानीकी तरह बात पूछते हैं और रावणकी मृत्यु मनुष्यके हाथसे होनी है इससे राक्षसकुलके विनाशके लिए मनुष्योंकीसी बातें करते हैं।

वि. त्रि.—सरकारने नरावतार धारण किया है, अतएव ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्तिसे काम नहीं ले रहे हैं, माधुर्याधिष्ठात्री महाशक्तिका आश्रयण किये हुए हैं। इसलिये नीतिके अनुसार कार्य करते हैं। सबकी सम्मति ले रहे हैं। नीति यही है कि सहसा कार्य नहीं करना चाहिये, विचारपूर्वक कार्य करनेवालेको ही सफलता प्राप्त होती है, यथा—'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्। वृणुते हि विमृश्यकारिणम् गुण लुब्धा स्वयमेव सम्पदः।' निशिचरहीन पृथ्वी करनेकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं, उसके पूरा करनेके लिये समुद्रोल्लंघन अनिवार्य है। अतः समुद्र सन्तरणकी विधि पर विचार करना चाहते हैं।

सुनु कपीस लंकापति बीरा। केहि बिधि तरिअ जलधि गंभीरा॥ ५॥
संकुल मकर उरग झष जाती। अति अगाध दुस्तर सब भाँती†॥ ६॥

अर्थ—हे वीर कपीश सुग्रीव! हे वीर लंकापति विभीषण! सुनो! यह गहरा समुद्र कैसे

† त्र० चं०—पायकुलक।

पार किया जाय ?' । ५ । यह मगर, सर्प, अनेक जातिकी मछलियों (वा, मत्स्यविशेष) से भरा हुआ है, अत्यन्त गहरा है और सब प्रकारसे इसका पार करना कठिन है । ६ ।

टिप्पणी—१ (क) सुग्रीव पहलेके सखा हैं, विभीषण अब सखा हुए, अतः पहले सुग्रीवको सम्बोधन किया । यह भी नीति है । [सुग्रीवसे पहले पूछा क्योंकि इनकी सेनाको पार उतरना है, ये सेनाके बलको जानते हैं कि वानर किस प्रकार पार जा सकेंगे—उड़कर, तैरकर, या सेतुहीके द्वारा । यदि सेतु ही बाँधना हो तो उसका सामान एकत्र किया जाय । विभीषणजीसे इसलिए पूछा कि ये इसके समीप ही रहते हैं, इसके भेदको जानते हैं और पार जाकर इनके शत्रुको मारकर इनको राज्य देना है । सुग्रीव पहले न बोले क्योंकि इसके विषयमें विभीषण, जो तटपर ही रहते हैं, विशेष जान और कह सकते हैं । जब भेद मिल जायगा तब जो कुछ करना उचित होगा वह करेंगे । (रा. शं. श.) । विशेष आगे चौ० ७ की टिप्पणी १ देखिए] । (ख) 'बीरा' अर्थात् तुम वीर हो, समुद्रका पार करना वीरताका काम है । [इसकी गंभीरता नष्ट करनेमें आप सब समर्थ हैं । यथा—'सोखहिं सिंधु सहित झष ब्याला । पूरहिं न त भरि कुधर बिसाला ।....ऐसेइ बचन कहहिं सब कोसा । ५५।६,७ ।' जैसे यह अंबुपति है वैसे ही आप कपिपति और लंकापति हैं; परस्पर सामर्थ्ययुक्त होनेसे बताइए कि कैसे पार हों । (मा. त. सु.)] । इसीसे प्रथम विभीषणजीनें वीरताकी बात कही कि 'कोटि सिंधु सोषक तव सायक' । 'गंभीरा' अर्थात् पानी बहुत है, इससे उसमें हलकर पार नहीं हो सकते । [शत्रुको छोटा मानकर उसके लिये अल्प उपाय करनेसे हानि होती है । इसीसे प्रभुने सिंधुको अगाध, गंभीर, अति दुस्तर कहा । राजनैतिक दृष्टिसे मंत्र पूछनेसे उनकी बुद्धिमत्ताकी परीक्षा भी हो जायगी । दोनोंको वीर विशेषण दिया, क्योंकि दोनों सखा हैं, एक ही को वीर कहते तो दोनोंमें वैमनस्य हो जाना संभव था जिससे राजकार्य बिगड़ जाता है । (पं०) । दोनों वीर हैं ही । वाल्मीकीयमें सुग्रीवकी वीरता स्पष्ट ही है और विभीषण भी रावणसे अकेले ही लड़े हैं, यह तो मानसमें ही देख लीजिए] ।

२—'अति अगाध दुस्तर सब भाँती' । (क) एक बार 'गंभीर' कह चुके, अब फिर वही बात कही । गंभीर और अगाध एक ही बात है । दो बार कहकर जनाया कि इसकी गहराई अधिक बाधक है । (ख) 'सब भाँती' अर्थात् गम्भीरतासे, चौड़ाईसे, अपने स्वरूपसे, मकर आदि अनेक जीवों इत्यादि सब तरहसे कठिन है; न उसमें हल कर जा सकें, न तैरकर जा सकें, न कूदकर लाँघा जा सके ।

कह लंकेस सुनहु रघुनायक । कोटि सिंधु सोषक तव सायक ॥ ७ ॥
जद्यपि तदपि नीति असि गाई । बिनय करिअ सागर सन जाई* ॥ ८ ॥

अर्थ—श्रीविभीषणजीने कहा—हे रघुनायक ! सुनिए, यद्यपि आपका बाण करोड़ों समुद्रोंका सोखनेवाला है तो भी नीति ऐसी कही गई है कि (प्रथम अपना पराक्रम या पुरुषार्थ न करे, पहले सामनीति बरते, यथा—'जो मधु मरै न मारिये माहुर देइ सो काउ । दो० ४३३ ।') सागरसे जाकर प्रार्थना कीजिये । ७-८ ।

टिप्पणी—१ 'कह लंकेस....' इति । श्रीरामजीने तो सुग्रीवसे भी पूछा था पर उन्होंने उत्तर न दिया । कारण कि—उन्होंने विभीषणको बाँध रखनेकी सलाह दी थी, उसे प्रभुने न स्वीकार किया, इसी तरह अब समुद्रको बाँधनेकी यदि राय देंगे तो इसे भी न मानेंगे और समुद्र बिना (सेतु) बाँधे पार उतरना हो नहीं सकता । विभीषणजी विनय करनेकी राय देते हैं । श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाई वीर हैं, यह बात वीरोंको शोभा नहीं देती कि छोटेसे प्रार्थना करें । पर हमारी बात न मानेंगे जैसा आगे स्पष्ट है । अतएव सुग्रीव चुप रहे । अथवा, सुग्रीवकी पारी हो चुकी है, यथा 'कह प्रभु सखा बूझिये काहा । कहै कपीस सुनहु नरनाहा । ४३।५ ।' अब विभीषणजीकी बारी है; आगे जाम्ववंतके बोलनेकी बारी आवेगी,—'सुनहु भानुकुलकेतु जामवंत कर जोरि कह । लं० मं० ।'; अतएव यहाँ विभीषण ही बोले । [अथवा, सुग्रीवने विचार

* प्र० चं०—१२०९ वाँ, ११९३ वाँ भेद, पायकुलक ।

किया कि प्रभु इनको स्वीकार कर चुके हैं और मन्त्र भी पूछा है, अब इससे इनके हृदयका भाव भी हमारे और रावणके विषयमें प्रगट हो जावेगा। अतएव न बोले और विभीषणजी अपनी सरलता और रावणके साथ अपना वैर लक्षित कराते हुए सुंदर नीतियुक्त वचन बोले। (अज्ञात। प्र० सं०)

२—'रघुनायक' का भाव कि आप रघुवंशशिरोमणि हैं, मर्यादा पुरुषोत्तम हैं; अतएव मर्यादाका पालन करते हुए काम कीजिए।

३—'कोटि सिंधु सोषक....' इति। श्रीरामजीने माधुर्यभावसे पूछा और विभीषणजीने ऐश्वर्य-भावसे उत्तर दिया। श्रीरामजीने इस समुद्रको 'अति अगाध दुस्तर सब भाँती' कहा। विभीषणजी उसको अत्यन्त लघु दिखा रहे हैं—यह समुद्र क्या है? ऐसे-ऐसे असंख्य समुद्र भी हों तो आपका एक बाण उन्हें सोख लेनेको पर्याप्त (काफ़ी) है। इसी प्रकार जाम्बवन्तजी, भरद्वाजजी, वाल्मीकिजी, अगस्त्यजी आदि जो प्रभुका ऐश्वर्य जानते हैं उनसे जब प्रभुने माधुर्यमें कुछ पूछा तब उन्होंने भी प्रभुकी इसी प्रकार बड़ाई कहकर, ऐश्वर्य जानकर, बात कही है, यथा—

प्रश्न	उत्तर
१—अब बिलंब केहि काम—	'सुनहु भानुकुलकेतु जामवंत कर जोरि कह।'
करहु सेतु—	'नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं॥
उतरइ कटक—	यह लघु जलधि तरत कति बारा।'
२—नाथ कहिअ	'मुनि मन बिहँसि राम सन कहहीं।'
हम केहि मग जाहीं—	'सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं।'

३—विशेष अ० १२५-१३१ और आ० १३ (३-५) देखिए।

४—'जद्यपि तदपि नीति अस गाई' इति। (क) प्रभुने नीति प्रतिपालक वचन कहे, इसीसे विभीषणजी नीतिका प्रमाण देकर कह रहे हैं। सागरसे विनय करना नीतिका पालन है। यथा वाल्मी-कीये—'एवमुक्तस्तु धर्मज्ञः प्रत्युवाच विभीषणः॥ समुद्रं राघवो राजा शरणं गन्तुमर्हति। यु० कां० १९। ३०-३१।' विभीषणजीने कहा कि श्रीराघवजी! समुद्रका शरणमें जाना चाहिये। वाल्मीकीयमें श्रीहनुमान्‌जी तथा श्रीसुग्रीवजीने श्रीविभीषणजीसे प्रश्न किया है। अतः उन्हींको उन्होंने उत्तर दिया। वाल्मी० में 'शरण' शब्द आया है। अतः 'बिनय करिय सागर सन' का अर्थ है कि समुद्रकी शरण जाइये। इस शब्दमें यह ध्वनि है कि यदि वह रास्ता न दें अथवा उपाय न बताये तो वह पापमय समझा जायगा, क्योंकि 'सरना-गत कहँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि। ते नर पामर पापमय....'। यह दोष आ जानेपर वह दंडका भागी होगा, तब उसे बाणद्वारा सोख लिया जायगा। यही विचारकर श्रीरामजी समुद्रतटपर बैठे। यथा—'अद्य मे तरणं वाथ मरणं सागरस्य वा। वाल्मी० ६।२१।८। इति रामो धृतिं कृत्वा....।' (ख) 'सागर' शब्द साभि-प्राय है। भाव कि सागर आपके पुरुषों (पूर्वजों) द्वारा उत्पन्न हुआ है, अतः उससे प्रार्थना करना उचित है, यथा—'प्रभु तुम्हार कुलगुरु जलधि'। (ग) 'सागर सन जाई' अर्थात् उसके समीप जाइये, यथा—'सिंधु समीप गये रघुराई।' तात्पर्य कि यहाँ बैठे-बैठे प्रार्थना करनेसे उसपर भार न पड़ेगा, वह सोचेगा कि अपनी सेनामें बैठे हैं, हमारे ऊपर (अर्थात् सहारे या धन्ना दिए) थोड़े ही बैठे हैं।

दो०—प्रभु तुम्हार कुलगुर जलधि कहिहि उपाय बिचारि।
बिनु प्रयास सागर तरिहि सकल भालु कपि धारि॥५०॥

अर्थ—हे प्रभो! समुद्र आपके कुलका पुरुषा (बड़ा) है। वह विचारकर उपाय कहेगा। सब भालु वानर-सेना बिना परिश्रम सागरके पार हो जायगी। ५०।†

† ब्र० चं०—सच्छ दोहा।

टिप्पणी—१ (क) कुलगुरु है; अतः उसका उल्लंघन करना या सोख लेना उचित नहीं। प्रथम दंडनीति न चाहिए, पहले सामनीतिसे काम लेना चाहिए, अतएव आप प्रथम कुलगुरु समझकर विनय करें। वह अपना कुल समझकर उपकार करेगा। (ख) 'कहिहि उपाय विचारि।' भाव कि हमारे विचारमें कोई उपाय नहीं आता, यह तो न बाँधा जा सकने योग्य है न तैरकर और न कूदकर पार किए जाने योग्य है। इसके पार होनेका उपाय यही बतायेगा। क्योंकि यह कुलगुरु है, इसका सहायता करना उचित ही है। यथा—'जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैंनाक होहि श्रमहारी। १।६।' यथा वाल्मीकिये—'खानितः सगरेणायमप्रमेयो महोदधिः। कर्तुमर्हति रामस्य ज्ञातेः कार्यं महामतिः। यु० कां० १६। ३१।' अर्थात् श्रीरामके पूर्वज सगरने इस अपार महासागरको खोदा था। इस सागरको अपने सजातीय राघवका कार्य अवश्य करना चाहिए। विशेष १ (६) में देखिए। (ग) 'बिनु प्रयास' का भाव कि और सब उपायोंमें परिश्रम होगा और उसके बताये हुए उपायमें श्रम न होगा। यह आगे स्पष्ट ही है—'रामप्रताप सुमिरि मन माहीं। करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं'।

२—विभीषणजीने समुद्र पार करनेका उपाय कुछ न बताया, उसे समुद्रकेही अधीन रखा। इनके कुछ समझमें न आया कि क्या कहें क्योंकि ये संत हैं, न बंधन करनेको कह सकें और न सोखनेको। इन्होंने उसका मान करनेकीही राय दी; क्योंकि संत 'सबहि मानप्रद आपु अमानी' होते हैं।

श्रीमलगोड़ाजी—महाकाव्य कलामें सभी (वस्तुओं) के अभिमानी देवता माने जाते हैं। अंग्रेजी पढ़े मित्र 'Tiber Father Tiber to whom the Romans pray' वाली बात स्मरण करें। पर हमारे यहाँ केवल कलाकी बात नहीं है। आधिदैविक पथके विचारसे सभीके अभिमानी देवता तथा जीव माने जाते हैं। जहाँ किसी चेतन केन्द्रके संबंधसे विशेष संगठन होता है। अब तो भौतिक विज्ञान भी वृक्षादिमें जीव मानने लगा है और meta-biology अभौतिक जीव-विज्ञानमें तो विकासवादको चैतन्य अर्थात् रचनात्मक (Creative Evocutive) माना जाने लगा है। हमारे तर्कप्रधान और पुराणोंको न माननेवाले भाईभी सोचें कि सामवेदके भाष्य पृ० ८३८ पर श्रीजयदेव विद्यालंकारने उस मंत्रपर टिप्पणी करते हुये, जिसमें जल, ओषध, वनस्पति आदिमें जीव माना है, लिखा है कि फल वृक्षादिमेंभी वही जीव है। जो सज्जन वैसा न भी मानें वे उतना तो अवश्य कलाके नाते मानें जितना अंग्रेज भाई मिल्टन आदिकी कलाको पढ़ते समय मान लेते हैं, नहीं तो आनंद न आयेगा।

सखा कही तुम्ह नीकि उपाई। करिअ दैव जौं होइ सहाई॥ १॥
मंत्र न यह लछिमन मन भावा। राम बचन सुनि अति दुख पावा॥ २॥

अर्थ—हे सखा! तुमने अच्छा उपाय बताया है, उपाय करें, देखो जो दैव सहायक हो। १। यह राय लक्ष्मणजीके मनको न रुची, श्रीरामजीके वचन सुनकर उन्होंने अत्यन्त दुःख पाया। २।

प० प० प्र०—'सखा' इति। यद्यपि विभीषणजी दास्यभावसे शरणमें आये हैं तथापि लंकेश्वर होनेसे भगवान् व्यवहारमें माधुर्य लीलामें उनको सखा ही मानते हैं। ☞इससे यह उपदेश मिलता है कि अन्तरंगके पारमार्थिक कैसेभी क्यों न हो, जिसका जैसा वाह्य व्यावहारिक अधिकार होगा उसी प्रकार उससे व्यवहार करना चाहिये।

टिप्पणी—१ (क) श्रीरामजीका स्वभाव है कि सबका सम्मान करते हैं। इसी प्रकार सुग्रीवसे कहा था—'जो कछु कहेउ सत्य सब सोई। सखा०। ४।७।२३।' (ख) 'सखा' का भाव कि जैसा सखाका धर्म है वैसा ही आपने अच्छा उपाय कहा। (ग) 'जौं' से जनाया कि दैवकी सहायतामें सन्देह है। प्रभु त्रिकालज्ञ हैं, वे जानते हैं कि विनयसे काम न चलेगा, काम दंडसे होगा—ये बातें आगे प्रभु अपने वचनसे स्वयं स्पष्ट करते हैं, यथा—'ऐसेइ करब धरहु मन धीरा'। माधुर्यके अनुकूल संदेह कहा। माधुर्यके अनुकूल यह सिद्धांत हुआ कि सामसे काम न होगा। (घ) उपाय करें जो दैव सहायक हों। इस कथनसे यह जनाया कि

उपाय करे और उसमें देवताका भरोसा रखे। उपाय करनेपर जब देवता उसमें सहाय होते हैं तब कार्य सिद्ध होता है, यथा—'तदपि एक मैं कहौं उपाई। होइ करै जौ दैउ सहाई। १। ६६। १।', 'राम करहु सब संजम आजू। जौं बिधि कुसल निबाहै काजू। २। १०। ३।'

२—'मंत्र न यह लछिमन मन भावा' इति। (क) जब कोई श्रीरामजीके विरुद्ध कोई धर्मकर्मकी बात कहता है जिससे उनकी न्यूनता वा अपमान झलकता है, तब लक्ष्मणजीको नहीं अच्छा लगता। वे उसे नहीं सह सकते। उदाहरण, यथा—'पुनि कछु लषन कही कटु बानी। अ० ६६। ४।', 'कही जनक जसि अनुचित बानी। १। २५३।२।', तथा 'आजु रामसेवक जस लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ। २। २३०। ३।' देखिए। अर्थात् पिता, ज्ञानिशिरोमणि जनक, और भाईको भी कुछ न समझा। [परशुरामको भी इसीसे कुछ न समझा था, यथा—'सुनि मुनिबचन लषन मुसुकाने। बोले परसुधरहि अपमाने। १। २७१। ६।' देखिये] तथा यहाँ विभीषणको, दैवको और कुलगुरु सागरको कुछ न माना समझा, तीनोंकी अवहेलना की। 'मंत्र न यह लछिमन मन भावा' यह विभीषणको कुछ न समझना है। 'नाथ दैव कर कवन भरोसा' यह दैव प्रति कहा। और 'सोखिअ सिंधु करिय मन रोषा' यह कुलगुरुको न मानना है। अथवा, (ख) जिनके कोपसे चौदहो भुवन क्षणभरमें भस्म होते हैं, उन (लक्ष्मणजी) के स्वामीको दूसरेसे प्रार्थना विनती करनेको कहते हैं; अतएव यह मंत्र 'न भावा'। इससे तो वे कायर समझे जायँगे। रावणने कह ही डाला कि 'जौं असि मति सहाय कृत कीसा॥ सहज भीरु कर बचन दृढ़ाई। सागर सन ठानी मचलाई॥ मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई। रिपु बल बुद्धि थाह मैं पाई। ५६। ४-६।'

मा० त० सु—न भाया क्योंकि यह समुद्र रावणका प्रबल रक्षक है, इसीके बलसे तो रावण उद्धत हो रहा है। अतः इससे प्रार्थना करना रावणसे प्रार्थना करनेके तुल्य है।

टिप्पणी—३ 'अति दुख पावा' का भाव कि विभीषणजीकी राय सुनतेही दुःख हुआ और श्रीरामजीने उसे स्वीकार कर लिया; इससे 'अति दुःख' हुआ। क्योंकि एक तो विनती करनेसेही बलकी हीनता (असमर्थता) व्यंजित होती है, उसपर भी दैवकी सहायता हो, यह चाहना; इससे तो बलकी अत्यन्त हीनता दर्शित होती है। तात्पर्य कि ऐसे पुरुषार्थीको ऐसा वचन कहना न चाहिए। अथवा समुद्रका और दैवका भरोसा है, यह सुनकर अतिदुःख पाया। यदि संदेहका वचन न कहते तो अति दुःख न होता।

प० प० प्र०—१ यह कार्य अपनी इच्छाके विरुद्ध हुआ, इससे लक्ष्मणजीको दुःख हुआ हो, यह बात नहीं है। मानसके लक्ष्मणजीके स्वभावकी यह विशेषता है कि श्रीरामजीका अपमान, तिरस्कार देखनेमें आता है, या कोई व्यक्ति ऐसा कार्य करता है जिससे श्रीरामजीको व्यर्थका क्लेश हो, वहाँ उनसे सहा नहीं जाता, वे तुरत क्रुद्ध होकर रामापमानादिकर्ताको दंड देनेको ऊतारू हो जाते हैं। पर यहाँ श्रीरामजी स्वयं स्वापमानकारक और क्लेशदायक साधन करनेको तैयार हो गए हैं, तब क्या करें? उनपर क्रोध तो कर ही नहीं सकते। अतः अति दुःख हुआ। जहाँ क्रोध अगतिक होता है, वहाँ उसका रूपान्तर दुःख और शोकमें होता है।

२ जिन लक्ष्मणजीको श्रीरामजीकी सेवा छोड़कर भरतजीसे मिलनेमें भी अत्यन्त संकोच हुआ था वे ही यहाँ बिना पूँछे कड़े शब्दोंमें अपना मत कहते हैं—यह रामप्रेमका अलौकिक उदाहरण है।

श्रीलमगोड़ाजी—श्रीलक्ष्मणजी कर्मवीर हैं। इसीसे वे कमज़ोरी (असमर्थता कायरता) की बात पसंद नहीं करते। जो लोग रामायणको परिवारमें गुलामी सिखानेवाली पुस्तक कहते हैं वे सोचें कि विचारकी यह स्वतंत्रता है कि बड़े भाईको भी, घुमाकर ही सही, कादर और आलसी कह दिया गया, पर उनके 'नाथ' होनेको स्वीकार करते हुये फिर घुमाकर सिद्धान्त रूपमें बात कही गई है, जिस रूपमें ही छोटेको कहना उचित था।

पर संयमित जीवनमें यहभी सोचनेकी बात है कि एक सामाजिक संगठनका एकही मुखिया होता है और अब तो समाजशास्त्र (Sociology & Civics) में भी परिवारकोही समाज संगठनकी पहली श्रेणी माना गया है; यहाँ तक कि Count Tolstoy ने भी उसे समाज सेवाकी पहली सीढ़ी कहा है। इसीसे

लषनलालजी भी विचारोंमें स्वतंत्र होते हुए भी रामाज्ञाका भंग नहीं करते। आजकलका छोटोंका वड़ोंके प्रति व्यवहार स्वतंत्रता (liberty) नहीं है किंतु स्वच्छन्दता (license) है।

नोट—१ श्रीरामजीने जो यह कहा कि 'करिअ दैव जौं होइ सहाई' इन शब्दोंको सुनकर दुःख हुआ। कारण कि इन शब्दोंसे यह निश्चित होता है कि वह विनय करनेमे सहायता न करेगा। तब उससे विनय क्यों की जाय ? भाव कि आप समर्थ श्रेष्ठ क्षत्रिय हैं, आप दैवकी प्रतिकूलताको दूर कर सकते हैं। असमर्थ लोग भाग्यका अवलंब लेते हैं। वस्तुतः भाग्य कोई वस्तु नहीं, पुरुषार्थके सामने वह कोईभी कार्य सिद्ध नहीं कर सकता। यथा—'यथा ह्येवमशौण्डीरं शौण्डीरः क्षत्रियर्षभः। किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिशंससि। वाल्मी० २।२३।७।' कर्त्तव्यशील शूरवीरोंको दैवका सहारा कैसा ?

२—श्रीरामजीने यह जानकर भी फिर समुद्रसे विनयवाला मत क्यों मान लिया, इसका उत्तर 'माँगत पंथ कृपा मन माहीं। ५६। ३।' है। विभीषणपर कृपा, समुद्रपर कृपा, समुद्रतटवासियोंपर कृपा, नल नीलपर कृपा इत्यादि कृपा ही कृपा है। दूसरे श्रीरामजी धर्मात्मा हैं। समुद्र नदी-नदपति है, तीर्थ है। तीर्थपर त्रिरात्रि निवासका नियम है वह भी पूरा होगा। इसीसे वाल्मीकिजीने यहाँ 'नयज्ञो धर्मवत्सलः। ६। २१। ११।' विशेषण दिया है।

नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोखिअ सिंधु करिअ मन रोसा॥ ३॥
कादर मन कहुँ एकु अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥ ४॥
सुनत बिहँसि बोले रघुबीरा। ऐसइ करब धरहु मन धीरा॥ ५॥
अस कहि प्रभु अनुजहि समुझाई। सिंधु समीप गए रघुराई† ॥ ६॥

अर्थ—हे नाथ ! दैवका क्या भरोसा है ? मनमें रोष कीजिए और समुद्रको सोख लीजिए (भाव कि जब आप स्वयं दैवके भरोसेमें संदेह करते हैं तब उसका कौन भरोसा ? यदि आपके मुखसे निकलता कि दैव सहायता करेगा तो वह अवश्य सहायता करता और तब उसका भरोसा करना उचित होता)।३। कायरके मनका एक यही (दैव) आधार है और आलसी (पुरुषार्थहीन) लोग दैव ! दैव ! पुकारा करते हैं (अर्थात् वीर और उद्योगी लोग दैवका आधार नहीं लेते। कायर और आलसीसे पुरुषाथ नहीं होता, इससे वे दैवका आधार लेते हैं। कायर अपना कादरपन छिपानेके लिए मनमें दैवका आधार लेते हैं और आलसी प्रकट दैव दैव पुकारते हैं। आलस प्रकट होनेपर कुछ निन्दा नहीं होती)। ४। सुनते ही हँसकर रघुवीर श्रीरामजी बोले कि ऐसाही करेंगे, मनमें धीरज रक्खो। ५। ऐसा कहकर प्रभुने भाईको समझाया, फिर वे रघुराई श्रीरामजी समुद्रके समीप गए। ६।

प० प० प्र०—१ 'नाथ' इति। यह शब्द दुःखाभिभूत होकर ही उच्चारण किया गया है। इस एक शब्दके उच्चारणमें ही उन्होंने अपनी सब भावनाएँ प्रकट कर दी हैं। भाव कि—(क) आप अनाथ, असमर्थ नहीं हैं, आप समर्थ हैं, अनन्त ब्रह्माण्डोंके नाथ हैं, अतः क्षुद्र अहंकारी जीवसे याचना करनेमें आपका अपमान है। (ख) आप मेरे नाथ हैं, मैं सेवक होकर आपकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम कर नहीं सकता, नहीं तो इसे क्षणभरमें सुखा देता; तथापि आपका अपमान मुझसे सहा नहीं जाता, इसीसे कहता हूँ।

२ 'दैव कर कवन भरोसा।'....इति । [श्रीलक्ष्मणजी माताका संदेश सुन चुके हैं 'निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति', 'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना' भी सुना है। इससे उन्हें क्षण-क्षणका विलंब भी असह्य हो रहा है, इसीसे वे ऐसा कह रहे हैं]। कथनका भाव यह है कि पुरुपार्थसे सहज और शीघ्र साध्य होनेवाला कार्य दैवपर छोड़कर स्वस्थ बैठकर काल व्यतीत करना वीरोंके लिये अनुचित है।

† प्र० चं०—'नाथ०' स्वागता, शेष (१) से (६) तक पायकुलक।

टिप्पणी—१ (क) 'नाथ दैव कर०' इति। दैवका भरोसा श्रीरामजीके मनमें आता है, इसीसे लक्ष्मण-जी प्रार्थना करके कहते हैं और विभीषणजीका जो सम्मत है कि समुद्रसे विनय करें इसका साफ-साफ खण्डन करते हैं कि उससे विनय न कीजिए किन्तु उसपर रोष कीजिए और सोख लीजिए। (ख) यहाँ मन वचन और कर्म तीनों कहे—वीर पुरुषार्थ करते हैं—'सोखिअ सिंधु करिय मन रोसा' यह वीरोंका कर्म है। 'कादर मन कहुँ एक अधारा'—यह मन है। 'दैव दैव पुकारा' वचन है। तात्पर्य कि वीर कर्म करते हैं, पुरुषार्थहीन मनमें दैवका भरोसा करते हैं और आलसी दैव दैव चिल्लाया करते हैं। दैवका आधार लेनेवाले कायर और आलसी होते हैं और आप तो वीर-शिरोमणि हैं, आपको वीरोंका कर्त्तव्य करना चाहिए। समुद्रका सोखना पुरुषार्थ है।

नोट—१ भाव यह है कि जो पौरुषहीन हैं, कायर हैं, वे ही भाग्यपर भरोसा करते हैं। जो वीर हैं जिनके पराक्रमकी लोकमें प्रसिद्धि है, वे भाग्यका अनुसरण नहीं करते। जो पुरुषार्थसे भाग्यको दवा सकते हैं उन्हें भाग्यके कारण अपनी असफलतापर पश्चात्ताप करनेका अवसर नहीं मिलता। यथा—'विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते। वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते।१६। दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रवाधितुम्। न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति।१७। वाल्मी. २।२३।' (यह श्रीलक्ष्मणजीने श्रीरामजीसे अयोध्याकांडमें कहा है)।

वाल्मी० यु० कांडमें तो श्रीलक्ष्मणजीने कहा है कि विभीषणजीका परामर्श हम लोगोंको भला क्यों अप्रीतिकर होगा। मानसमें अयोध्याकांडमें तो वे चुप हैं पर इस स्थानपर उन्होंने दैव-पुरुषार्थ-वाद छेड़ा है जो 'ऐसइ करव धरहु मन धीरा' से तुरत शांत हो जाता है।

अ० रा० में विभीषणजीसे सागर तरणोपाय पूछना इत्यादि प्रसंग ही नहीं है। इन चौपाइयोंकी जोड़के श्लोक ये हैं—'आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः। नास्त्युद्यम समो बन्धुः कुर्वाणो नावसीदति। उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति। दैवं निहत्य कुरु पौरु-षमात्म शक्त्या यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः।' (नीति शतक—राजर्षि भर्तृहरि) तथा 'उद्यमेन विना राजन् न सिद्ध्यन्ति मनोरथाः। कातरा इति जल्पन्ति यद्भाव्यं तद्भविष्यति' अर्थात् उद्यमके विना मनो-रथ सिद्ध नहीं होता, कायर लोग कहा करते हैं कि जो होना है वही होगा। (पंचरात्रे)।

मा० त० सु०—'कवन भरोसा' का भाव कि दैव तो प्रत्यक्ष है नहीं, अतः उसका भरोसा करना व्यर्थ है। 'करिय मन रोसा' का भाव कि सरलताको त्यागिये।

वीरकवि—लक्ष्मणजीने पहले एक विशेष बात कही, फिर साधारण बातसे उसका समर्थन करना कि यह कादरोंके मनका सहारा है इत्यादि 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है।

टिप्पणी—२ 'सुनत बिहँसि बोले'। लक्ष्मणजीने 'राम वचन सुनि अति दुख पावा', उनको विभीषणकी राय अच्छी न लगी। उन्होंने दैवका भरोसा न करना चाहा और न समुद्रको कुछ माना वरन् वे पुरुषार्थ करनेको तैयार हुए—इस साहसपर श्रीरामजीने हँसकर धीरज दिया कि जो तुम कहते हो वही करेंगे, इसीसे 'रघुवीर' पद दिया।

श्रीलमगोड़ाजी—'बिहँसि' में हास्यकला बड़ी सुंदर बन पड़ी है। इसमें कितनी उदारता, सौहार्द है पर साथ ही कैसी गुप्त चुटकी भी है कि भैया! बड़ी जल्दी करते हो। 'अनुजहिं' शब्द ही बता रहा है कि उन्हें लषनलालके अनुगामी होनेपर भरोसा है और 'समुझाई' शब्दसे साफ पता चलता है कि उन्होंने छोटे भाईका अनादर नहीं किया किंतु समझा बुझाकर ठीक कर लिया।

प० प० प्र०—'बिहँसि' इति। (क) श्रीलक्ष्मणजीकी अलौकिक प्रीति देखकर हँसे। यथा—'मन बिहँसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि।२। १००।' पुनः, (ख) रावणके गुप्तचर वानररूपसे आए हुए हैं जो अभी पहचाने नहीं गए हैं। अतः बिहँसकर उनका कपट खोलनेके लिये मायाको प्रेरणा दी। वा, (ग) बिहँस-कर सागरकी मतिको मोहित किया। कारण कि 'राम तें अधिक रामकर दासा।' इस सिद्धान्तको श्रीहनुमान्-

जीके विषयमें चरितार्थ करना है। 'सुनि प्रभु वचन मोह मति करषी। २।१०१।५।' भी देखिए।

मानसमें श्रीरामजीका १६ बार 'हँसना', १७ बार 'मुसुकाना' और २० बार 'बिहँसना' लिखा है। प्रत्येक स्थानमें ऐसी ही कुछ लीला है। यह अभ्यासका एक स्वतंत्र विषय है।

नं० प०—'रघुबीरा' शब्द देकर सूचित किया कि समुद्रको अपनी वीरता दिखायेंगे, उससे वीरता करनी पड़ेगी। सिंधु समीप जानेमें 'रघुराई' अर्थात् राजा कहा, क्योंकि नीतिको बरत रहे हैं, नीतिका पालन करना है।

नोट—२ 'रघुबीर' का भाव कि मैं भी पुरुषार्थको ही मुख्य मानता हूँ। जो तुम कहते हो वही करूँगा, मैंने तुम्हारा ही सिद्धान्त दृढ़ कर रखा है; पर ये अभी आए हैं, इनका जी प्रथम ही तोड़ देना ठीक नहीं। 'प्रभु' 'रघुराई' का भाव कि सर्वसामर्थ्ययुक्त होते हुए भी राजा हैं, अतः नीति आपको अवश्य पालनीय है। (मा० त० सु०)। २—दोनों भक्त हैं इससे दोनोंका पक्ष क्रमसे रक्खेंगे—(वंदनपाठक)।

टिप्पणी—३ 'अनुजहि समझाई' इति। समझाया कि विभीषणने राय अच्छी दी है, समुद्र कुलगुरु है। उसका मान रखना चाहिये। इससे समुद्रका मान रहेगा और विभीषण संत हैं, इनका भी मान रहेगा। समुद्र न मानेगा तब उसको दंड देना अनुचित न होगा, अभी दण्ड देना अनुचित है। नीतिमें लिखा है कि जो काम करे वह अपने इष्ट-मित्र प्रियके मनसे करे, उनको अप्रसन्न करके न करे। जब लक्ष्मणजी भी प्रसन्न हो गए तब सिन्धुतटपर गए।

४ 'सिंधुसमीप गए', क्योंकि—(क) विभीषणजीने यही कहा है—'विनय करिय सागर सन जाई'। अथवा, (ख) जलसे प्रार्थना करना है इससे जलके पास गए। इससे यह पाया जाता है कि सेना समुद्रतटसे कुछ दूरीपर है। कारण कि समुद्रका जल न स्नानके कामका है न पीनेके कामका। पहले तीर (अर्थात् निकट) उतरना कहा—'एहि बिधि जाइ कृपानिधि उतरे सागर तीर', अब तटपर जाना कहते हैं। तीर और तट (समीप) में यही भेद है, यथा—'ठाढ़े सकल सिंधुके तीरा' फिर वहाँसे सबका तटपर जाना कहा—'अस कहि लवनसिंधु तट जाई'।

प्रथम प्रनामु कीन्ह सिरु नाई। बैठे पुनि तट दर्भ डसाई ॥ ७ ॥

अर्थ—पहले तो माथा नवाकर प्रणाम किया, फिर कुशासन बिछाकर बैठ गए। ७।

टिप्पणी—१ समुद्र कुलगुरु है, इसीसे प्रणाम किया। पहले प्रणाम करके तब विनय करना यह विनयकी रीति है, यथा—'सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेखी। २।१२९।३।'

२ 'बैठे तट दर्भ डसाई'। इससे निरायुध, मौनव्रत धारण किए हुए और अनशन सूचित किया। तीन दिन इस प्रकार बैठे रहे—लक्ष्मणजीसे बाण-शरासन माँगा, इससे जाना गया कि निरायुध बैठे, यथा—'लछिमन बान सरासन आनू'। शुक अपना मुनितन पाकर श्रीरामजीके पास गया, बारबार प्रणाम किया पर वे कुछ न बोले; इससे जाना गया कि वे मौन भी थे, यथा—'बंदि रामपद बारहिं बारा। मुनि निज आश्रम कहुँ पगु धारा। ५७।१२।' अनशन व्रत कवित्तरामायणसे जाना गया, यथा—'तीसरे उपास बनवास सिंधुपास सो, समाज महाराजजू को एक दिन दान भो। क० ५।३२।'

नोट—१ 'दर्भ डसाई' इति। कुलगुरु है, अतः उसके सामने अभिमानरहित आचरण दिखाया कि अपने ही हाथसे आसन बिछाया। यथा—'निज कर डासि नागरिपु छाला'। १। १०६ (५) देखिए। अनुष्ठान पूजा-पाठ आदि बिना आसनके व्यर्थ हो जाते हैं। आसन बिछाना शास्त्रविहित है। आसनोंके भेद, यथा—'कृष्णाजिने धनं पुत्रा मोक्षः श्रीर्व्याघ्रचर्मणि। कुशासने ज्ञानवृद्धिः कम्बले चोत्तमागतिः॥ काष्ठासने व्याधिभयं पाषाणे हानिरेव च। वस्त्रासने वृथा पूजा धरण्यां निर्धनो भवेत्॥' (गुप्तसार संग्रहे)

न्न० चं०—प्रथम नयमालिनी, 'बैठे०', (८) पायकुलक।

श्रीलमगोड़ाजी—सत्याग्रहीके अनशनमें क्रोध नहीं होता (जैसे गांधीजीके व्रतोंमें); फिर भगवान् राम तो सत्य-शीलाग्रही हैं, केवल सत्याग्रही नहीं। पर अन्तर भी विचारियेगा कि जब वैसे काम नहीं चलता, तब 'भय बिनु होइ न प्रीति' की बात भी भगवान्‌ने ही आगे कही है।

जबहिं बिभीषन प्रभु पहिं आए। पाछे रावन दूत पठाए॥ ८॥

अर्थ—जिस समय विभीषणजी प्रभुके पास आये, उसी समय उनके पीछे रावणने दूत भेजे। ७।

टिप्पणी—१ 'पाछे रावन दूत पठाए' इति। जब दूत चले तब उनका चलना न लिखा, यहाँ उनका समाचार लिखते हैं; कारण कि दूत जब चले तब छिपकर यहाँ आए, यहाँ आकर प्रकट हुए, इसीसे कविने प्रथम उनका चलना न खोला, अब प्रकट होनेपर लिखा।

नोट—१ 'पाछे रावन दूत पठाए' इति। इस प्रसंगमें वाल्मी० और अ० रा० से मानस-कल्पकी कथामें अन्तर है। वाल्मी० में प्रथम शार्दूल राक्षसने रावणको सेनाके उतरनेका समाचार दिया है तब रावणने शुकको सुग्रीवजीको फोड़नेके लिए भेजा है। यह पक्षी रूपसे गया। पकड़ जानेपर इसके पंख उखाड़ डाले गए और नेत्र फोड़े जाने लगे। तब वह रोने लगा और श्रीरामजीकी दुहाई देने लगा—'व्याचुक्रोश महात्मानं रामं दशरथात्मजम्। लुप्येते मे बलात्पक्षौ भिद्येते मे तथाक्षिणी। ६।२०।३२।', तब श्रीरामजीने बचा दिया। पर समुद्रपार सेना पहुँच जानेके पश्चात् वह छोड़ा गया। अ० रा० में भी प्रायः ऐसा ही है। रावणको समाचार देनेपर वह बड़ा कुपित हुआ और इससे कहा कि अब मुँह न दिखाना।

तत्पश्चात् शुक सारण दो मंत्रियोंको सेनाका समाचार लेनेको भेजा। इन दोनोंने वानर-रूप धरकर सेना देखी।—'हरिरूपधरौ वीरौ प्रविष्टौ वानरं बलम्।' (वाल्मी० ६।२५।९)। विभीषणजी इन्हें पकड़वाकर श्रीरामजीके पास ले आए। भगवान् श्रीरामने कहा कि यद्यपि कपट रूपसे सेनामें प्रवेश करनेसे ये मारने योग्य हैं तथापि इन्हें छोड़ दो—'प्रच्छन्नौ च विमुञ्चैतौ चारौ रात्रिचरावुभौ॥ शत्रुपक्षस्य सततं विभीषण विकर्षिणौ। ६।२५।२१-२२।' ये दोनों राघव धर्मवत्सलकी जय कहते हुए गए।—'जयेति प्रतिनन्द्यैतौ राघवं धर्मवत्सलम्। २५।२७।' श्रीरामजीने इनके द्वारा रावणको संदेसा भी भेजा। इन्होंने जाकर नील, नल, अंगद, कुमुद, चण्ड आदि यूथपतियोंके नाम आदि बताये और अन्तमें कहा—'अलं विरोधेन शमो विधीयतां प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली। ६। २५। ३६।' आप उनसे संधि कर लें, सीताजीको दे दें। रावणने दोनोंको डाँटा-फटकारा और कहा कि रिपुका उत्कर्ष कहते हो, मार डालने योग्य हो, मन्त्री होने योग्य नहीं, तुम्हारे पूर्वकृत उपकारोंसे मैं तुमको छोड़े देता हूँ। हमारे सामनेसे दूर हो, अब सामने न आना।

तदुपरान्त रावणने शार्दूलके नेतृत्वमें अनेक दूतोंको भेजा। ये सब भी पकड़े, मारे और सेनामें घुमाये गए। श्रीरामजीसे पुकार करने और प्राणोंकी भिक्षा माँगनेपर छोड़ दिये गए। उनके द्वारा भी श्रीरामजीने रावणको संदेश भेजा था।

'दूत पठाए' कहनेसे तीनों बारके दूतोंका ग्रहण हो सकता है। मानसकल्पके अवतारमें एक ही बार दूत भेजे गए और वे भी सेतुबंधनके पूर्व। मानसमें दूत वानररूप धरकर आए। वाल्मी० रा० में शुक सारण जो भेजे गए थे वे भी वानररूप धरकर आये थे। इससे यहाँ 'शुक सारण' नामक दूतोंको ले सकते थे, क्योंकि दोके लिये भी 'पठाए'का प्रयोग ही होता पर आगे 'बाँधि सकल'से दोसे अधिकका ही बोध होता है। उसका पता लगाना है। इसलिये इन्हीं शुकसारणके साथ और दूतोंका भी आना मान लेनेसे 'दूत पठाये' और 'सकल बाँधि' आदि बहुवचनसूचक शब्दोंके प्रयोगका समाधान भी हो जाता है। शुकका नाम मानसकारने आगे खोला है—'कह सुक नाथ सत्य सब बानी। ५७।३।' अ० रा० में अगस्त्यजीके शापकी कथा भी शुकके संबंधमें दी हुई है। वाल्मी० में शापकी चर्चा नहीं है। इससे यह प्रसंग विशेषतः अ० रा० के अनुसार है।

---

* प्र० चं०—दोहरा।

दो०—सकल चरित तिन्ह देखे धरे कपट कपि-देह ।
प्रभु गुन हृदय सराहहिं सरनागत पर नेह ॥ ५१ ॥

अर्थ—मायासे नक़ली वानरशरीर धारण किए हुए उन्होंने सब चरित देखे । शरणागतपर प्रेम (मुख्य) यह (एवं और भी) प्रभुका गुण हृदयमें सराह रहे हैं । ५१ ।

टिप्पणी—१ (क) 'सब चरित' अर्थात् जबसे विभीषणजी यहाँ आये तबसे अबतक सब चरित । आदरसे बुलाना, हृदय लगाना, भाईसहित मिलकर पास बिठाना, कुशलप्रश्न करके बड़ाई करना, अपना स्वभाव कहकर भक्ति प्रदान करना, तिलक करना और सखा बनाना तथा मंत्र पूछकर सागरसे विनय करना, इत्यादि सब चरित हैं जो देखे । (ख) 'प्रभु गुन हृदय सराहहिं' क्योंकि छिपकर आए हैं, स्पष्ट सराहते तो कपट खुल जाता । (ग) शरणागतपर स्नेह है, यथा—'मम पन सरनागत भय हारी'—(१), 'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू । आये सरन तजौं नहिं ताहू'—(२), 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं—(३), 'जौं सभीत आवा सरनाई । रखिहौं ताहि प्रानकी नाई'—(४) । यह श्रीरामजीके मुखारविन्दसे सुना । और शरणपर प्रेम आँखों देखा भी, यथा—'अस कहि करत दंडवत देखा' से 'बरु भल बास नरक कर ताता । दुष्ट संग०' तक सब चरित देखकर शरणागतपर प्रभुके स्नेहकी प्रशंसा करते हैं । (घ) 'शरणागतपर नेह'—इस कथनसे पाया गया कि संपूर्ण चरितमें शरणागतपर नेह अधिक या प्रधान है । और भी गुणोंकी सराहना करते हैं पर उनको यहाँ स्पष्ट नहीं किया । आगे जब दूत रावणसे कहेंगे तब और गुणोंको खोलेंगे । यथा—'राम तेज बल बुधि बिपुलाई', 'माँगत पंथ कृपा मन माहीं' और 'मिला जाइ जब अनुज तुम्हारा....' इत्यादि ।

प्रगट बखानहिं राम सुभाऊ । अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ ॥ १ ॥
रिपु के दूत कपिन्ह तब जाने । सकल बाँधि कपीस पहिं आने ॥ २ ॥
कह सुग्रीवँ सुनहु सब बानर । अंग भंग करि पठवहु निसिचर† ॥ ३ ॥

अर्थ—श्रीरामजीका स्वभाव प्रत्यक्ष अत्यन्त प्रेमसे बखान करते हैं, कपट भूल गया ।१। तब वानरों ने जाना कि ये शत्रुके दूत हैं । सबको बाँधकर सुग्रीवके पास लाए । २ । सुग्रीवजीने कहा—सब वानरो ! सुनो । निशाचरका अंग भंग करके भेजो । ३ ।

टिप्पणी—१ (क) अत्यन्त प्रेममें कपट नहीं रह जाता, यथा—'अस कहि परेउ चरन अकुलाई । निज तन प्रगटि प्रीति उर छाई । ४ । ३ । ५ ।' (ख)—'प्रगट बखानहिं' । प्रभुके गुण हृदयमें सराहते थे, और अब स्वभाव सुनकर अधिक प्रेममें मग्न हो गए, इससे स्वभाव प्रगट बखान करने लगे । गुण सराहनेमें 'प्रेम' था इसीसे तबतक सँभाल रहा । स्वभाव सुनकर 'अति प्रेम' हुआ, प्रेमकी मात्रा बहुत बढ़ गई । इसीसे न रहा गया, प्रगट सराहने लगे । (ग) स्वभावका लक्ष्य—'सुनहु सखा निज कहौं सुभाऊ । ४८ ।१ ।' से 'प्रभु सुभाव कपिकुल मन भावा । ५० । २ ।' तक । (घ) यहाँ दिखाया कि भगवद्गुण बखान करनेसे कपट नहीं रह जाता; राक्षस महाकपटी होते हैं सो उनका भी कपट छूट गया, यह श्रीराम-गुण-स्वभावका प्रभाव है । [(ङ) 'गा बिसरि दुराऊ ।....बाँधि ।' इति । प्रेमकी मात्रा अत्यन्त बढ़ जानेपर जब वे प्रगट बखान करने लगे तब बंदरोंने देखा कि यह कौन बोली बोल रहा है । यह बोली तो बंदरोंकी नहीं है, यह भाषा तो राक्षसोंकी सी है । अतः ये निश्चय ही शत्रुके दूत हैं । इसीसे उनको तुरत बाँध लिया; क्योंकि तनक-सी असावधानी होनेसे ये कूदकर वानरोंमें जा मिलेंगे । फिर ये पहिचाने न जा सकेंगे । (वि. त्रि.)]

२ (क) 'सकल बाँधि' से जनाया कि कई दूत थे । आगे स्पष्ट किया है, यथा—'सुनि लछिमन सब निकट बोलाये' । (नोट—'पाछे रावन दूत पठाये', 'सकल चरित तिन्ह देखे', 'प्रभुगुन हृदय सराहहिं', 'प्रगट

† प्र० चं०—(१) (२) तामरस, १२०९ वाँ, १५९१ वाँ भेद ।

बखानहिं', 'रिपुके दूत', और 'जो हमार हर नासा काना' ये सब बहुवचन पद देकर कईका होना स्पष्ट कर दिया है)। (ख) 'तब जाने' अर्थात् जब राक्षसरूप प्रगट हो गया, कपटवेष जाता रहा, तब। (अथवा, वानररूप बना रहा, बोलीसे पहचाना)। 'कपीस पहिं आने' कि जो आज्ञा हो सो करें, राजाज्ञासे दंड होता है और सुग्रीव वानरोंके राजा हैं, इससे उनके पास वानर ले गए। (घ) वाल्मीकिजीने शुकका दो बार बाँधा जाना लिखा है, इसीसे गोस्वामीजी भी दो बार लिखते हैं—एक तो यहाँ 'सकल बाँधि०', दूसरे 'बाँधि कटक चहुँ पास फिराये।' [(ङ) आज भी यह नियम चला जाता है कि हाकिमके सामने अपराधीका बन्धन पूछ-ताछके समय खोल दिया जाता है। अतः सुग्रीवजीके सामने एक बार उनका बन्धन खोल दिया गया था, इसीसे ग्रंथकार पुनः बाँधना लिखते हैं। (वि. त्रि.)। वाल्मीकीयमें जो शुक प्रथम भेजा गया था वह मंत्री नहीं था। दूसरी बार जो भेजा गया वह मंत्री था। इससे पं. रामकुमारजीका यह भाव शिथिल जान पड़ता है।]

३ (क) सुग्रीवने मारनेका हुक्म नहीं दिया, वरन् अंग भंग करनेका दिया; क्योंकि सुग्रीव नीति जानते हैं कि 'नीति बिरोध न मारिय दूता'। (ख) सबको हुक्म दिया कि अंगभंग करो, जैसे रावणने हनुमान्‌जीके लिए हुक्म दिया था। रावणने अंगका नाम बतलाया था कि पूँछ जलाओ, पर सुग्रीवने कोई नाम न लिया; कारण कि सब जानते हैं कि कौन अंग भंग करने चाहिए—जो अंग लक्ष्मणजीने निशिचरी शूर्पणखाके काटे थे अर्थात् नाक और कान। वानर राक्षसोंको वही दंड देते हैं जहाँ वे मिलते हैं, यथा—'जहँ कहुँ फिरत निसाचर पावहिं। घेरि सकल बहु नाच नचावहिं। दसनन्हि काटि नासिका काना। कहि प्रभु सुजस देहिं तब जाना। ६। ५। ७-८।', 'काटेसि दसन नासिका काना। गरजि अकास चलेउ तेहिं जाना। ६। ६५। ६।' तथा यहाँ नाक कान काटेंगे, यथा—'जो हमार हर नासा काना'। (ग)—'पठवहु' जिसमें रावण जान ले कि जैसा हमने उनके दूतके साथ किया वैसाही उन्होंने किया।

सुनि सुग्रीव बचन कपि धाए। बाँधि कटक चहुँ पास फिराए॥ ४॥
बहु प्रकार मारन कपि लागे। दीन पुकारत तदपि न त्यागे॥ ५॥
जो हमार हर नासा काना। तेहि कोसलाधीस कै आना॥ ६॥

अर्थ—सुग्रीवके वचन सुनकर वानर दौड़े, और निशाचरोंको बाँधकर सेनाके चारों ओर फिराया। ४। वानर बहुत तरहसे मारने लगे। वे दीन होकर पुकार रहे हैं, तौ भी नहीं छोड़ते। ५। (तब वे इस प्रकार पुकार करने लगे) जो हमारे नाक कान काटे उसे कोशलाधीशकी शपथ है। ६।

टिप्पणी १ (क)—'धाए' अर्थात् जो दूर थे वे कौतुक देखने एवं कपीशकी आज्ञा तुरत सिद्ध करनेके लिए दौड़ आए, यथा—'सुग्रीवो उग्रशासनः' इति वाल्मीकीये। आगे कौतुक करना लिखते हैं। (ख) 'बाँधि' यहाँ पुनः लिखकर जनाया कि प्रथम साधारण बाँधा था अब विशेष बाँधा। दो बार बाँधा क्योंकि हनुमान्‌जीको भी राक्षसोंने दो बार बाँधा था—एक बार नागपाशसे बाँधा, दूसरी बार पूँछ बाँधी। [जब सुग्रीवके पास ले गए तब बन्धन खोल दिए, अतः फिर बाँधा। वा, पहले हाथ ही बाँधे थे अब कमर भी बाँधी। वा, अब अंगभंग करना है, अतः अब फिरसे दृढ़ करके बाँधा।] (ग) 'बहुप्रकार'। राक्षसोंने हनुमान्‌जीकी पूँछ बहुत प्रकारसे जलाई, अतएव कपि इनको बहुत प्रकारसे मारने लगे। (वाल्मी. ६। ३० में शार्दूलने रावणसे कहा है कि वानरोंने हम लोगोंको घुटनों, दाँतों, पैरों (लातों) तथा हाथोंसे मारा काटा है। यथा—'जानुभिर्मुष्टिभिर्दन्तैस्तलैश्चाभिहतो भृशम्। परिणीतोऽस्मि हरिभिर्बलवद्भिरमर्षणैः। ८।' यही बहुप्रकार है)।

२—'दीन पुकारत तदपि न त्यागे' इति। (क) भाव कि दीनको न मारना चाहिए वरन् छोड़ देना चाहिए, पर वे उनको शत्रुके दूत होनेके कारण नहीं छोड़ते। (ख)—यहाँ रिपुदूत जानकर बाँधा और मारा पर विभीषणजी आए तब भी तो 'जाना कोउ रिपुदूत बिसेषा', उनको क्यों न बाँधा मारा ? कारण कि वे

प्र० चं०—(४-८) पादाकुलक।

निजरूपसे आए, विना आज्ञाके श्रीरामजीके दलमें उन्होंने प्रवेश न किया वरन् कह सुनाया कि हम श्रीरामजीसे मिलने आए हैं। और, दूत कपट-वानरवेषसे छिपकर दलमें आए; इस अपराधके कारण इनको दंड मिला और उनको कुछ न हुआ।

३ (क) 'जो हमार हर नासा काना....' इति। भाव कि जब वे दीन होकर पुकारने लगे तब मारना छोड़कर नाक कान काटने लगे। अंग-भंगकी जो आज्ञा मिली थी, अब वही करने लगे। अंगभंग करके छोड़ेंगे। (ख) श्रीरामजीकी शपथ सुग्रीवके हुक्मसे गुरुतर है, इसीसे सुग्रीवके हुक्मको नाजायज़ किया और राम-शपथको सिद्ध रखा। भाव कि सुग्रीवने श्रीरामजीके प्रेमी, श्रीरामजीके गुणस्वभाव वर्णन करनेवालेके अङ्गभङ्ग करनेका हुक्म दिया; इसीसे उनका हुक्म भंग हुआ, किन्तु उनके अंगभंग न हुए। दूतोंने रामप्रेममें मग्न होकर गुणस्वभाव बखान किए, ऐसोंको वानरोंने बाँधा और रामदोहाई होनेपर भी न छोड़ा क्योंकि ये रिपुके दूत हैं, पहचान लिए गए हैं—यह काम वानर नीतिके अनुसार कर रहे हैं। श्रीलक्ष्मणजी भावुक हैं, अतएव कोशला-धीशकी दुहाई देते सुन उन्होंने उनको छुड़ा दिया। दूतोंके विषयमें विभीषणजी कुछ न बोले यह समझकर कि छुड़ावें तो सब कहेंगे कि राक्षसोंका पक्ष लेते हैं और मारनेको तो किसीको कहते नहीं; दूत तो भक्त हैं, इन्हें मारनेको कैसे कहें, इसीसे चुप रहे। राजाकी दोहाई देते हैं, इसीसे 'कोसलाधीस' कहा। 'कोशलाधीश' की दोहाईका भाव कि जो इनकी शपथ न मानेगा उसका कुशल नहीं। वा, कोसल धर्मकी पुरी है जो वहाँके राजाकी शपथ न मानेगा उसके धर्मकी हानि होगी। वा, हम कोशलाधीशकी शपथ देते हैं, जैसे वे कोशल-पुरीकी रक्षा करते हैं वैसेही हमारी रक्षा करें। वा, लंकेशकी शरण छोड़कर कोशलाधीशकी शपथ देते हैं कि हमारी कुशल हो; नाक कान न काटें। वानर यहाँ हनुमान्‌जीका वदला ले रहे हैं। दोनों प्रसंगोंका मिलान

नाग पास बाँधेसि लै गएऊ	१	सकल बाँधि कपीस पहिं आने
'सुनत बिहँसि बोला दसकंधर।	२	'कह सुग्रीव सुनहु सब वानर।
अंग भंग करि पठइय बंदर॥		अंग भंग करि पठवहु निसिचर॥'
सुनत निसाचर मारन धाये	३	सुनि सुग्रीव वचन कपि धाये
मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी	४	बहु प्रकार मारन कपि लागे
नगर फेरि पुनि पूँछ प्रजारी	५	बाँधि कटक चहुँ पास फिराये
कपि कै ममता पूँछि पर सबहि कहा	६	श्रवन नासिका काटन लागे
× ×	७	'दीन पुकारत तदपि न त्यागे' यह अधिक है।

श्रीलमगोड़ाजी—अंग-भंगकी बात तो तुर्की-बतुर्की-जवाब थी ही पर फौजी निर्दयताने 'बहु प्रकार ....दीन पुकारत तदपि न त्यागे' और जोड़ दिया। पर रामराज्यकी नीतिपर विश्वास तो देखिए कि रावणके दूतभी श्रीरामजीकी दुहाई देते हैं। देखिए महात्मागांधीजीने दिल्लीके भाषणमें (जो २१-९-४७ के सप्ताहमें छपा था) हिन्दुओंसे कहा है कि दो गलतियाँ मिलकर एक सही नहीं होती। दाँतके बदले दाँत और आँखके बदले आँख' वाली नीति हर जगह लागू नहीं होती; यह ठीक है, आगे श्रीलक्ष्मणजी जैसे वीरकी दया भी सराहनीय है।

वीरकवि—शत्रु होनेसे शत्रुका व्यवहार करना शत्रुपक्षीय 'प्रत्यनीक' अलंकार है। पुकार मचानेसे प्रश्नकी कल्पना होती है। कोशलाधीशकी सौगंद देनेमें अभिप्राय यह है कि नाक कान कटनेसे बच जायँगे। यह कल्पित प्रश्नका 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है।

सुनि लछिमन सब निकट बोलाए। दया लागि हँसि तुरत छोड़ाए॥ ७॥
रावन कर दीजहु* यह पाती। लछिमन बचन बाँचु कुलघाती॥ ८॥

* —'दीजेहु'—(ना० प्र०)।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीने सुनकर सबको निकट बुलाया, दया लगी, इससे हँसकर तुरंत छुड़ा दिया।७। (और उनसे कहा) रावणके हाथमें यह पत्रिका देना और कहना—'हे कुलके नाश करनेवाले! श्रीलक्ष्मणजीके वचनोंको पढ़' (यह पत्रिका उन्होंनेही दी है)।८।

टिप्पणी—१ 'सब निकट बोलाए।००' इति। (क) तात्पर्य कि जब आर्तवचन सुने तब बुलाया, और कोशलाधीशकी दुहाई सुनी तब निकट बुलाया। पुनः सँदेसा भेजना है, पत्रिका देना है, अतः निकट बुलाया। (ख) 'दया लागि' श्रीरामजीके नाते चाहे कोई भी हो सबपर दया करते हैं, इसीसे दया लगी। हँसकर अर्थात् कृपा करके छुड़ा दिया; ये सब बातें कृपासूचक हैं, यथा—'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा। १। १९८। ७।' पुनः, हँसे कि राक्षस जो नरवानरको अपना आहार समझते हैं, आज रामकृपासे उन्हीं वानरोंसे ये त्राहि त्राहि कर रहे हैं। (मा० त० सु०)। ['हँसि' शब्द यहाँ ऐसा सुंदर बन पड़ा है कि कहते नहीं बन पड़ता। दो भाव तो ऊपर आ ही गए, और भी भाव ये हैं—(३) क़लई खुल गई। (४) कैसा सुंदर अवसर पत्र भेजनेका मिल गया, घर बैठे बिठाये। (५) कौतुकी बाँके लषनलालको न तो अपने पक्षकी सेनापर क्रोध है, और न शत्रुके दूतोंका भय। वे हँस ही रहे हैं। इत्यादि। ☞ सचमुच श्रीतुलसीदासजी (जी० पी० श्रीवास्तवके शब्दोंमें) हास्यरसमें भी कील-काँटेसे दुरुस्त रहते हैं। (श्रीलमगोड़ाजी)] ग) 'तुरत छोड़ाये'—श्रीरामजीको दुःखमें पुकारतेही दुःख दूर होता है, तुरत न छुड़ावे तो रामशपथका महत्वही घट जाता; इसीसे तुरत छुड़ाया और लक्ष्मणजीकी दयासे जीव जल्द बंधनसे छूटता है। (घ) इस समय श्रीरामजी समुद्रतटपर हैं, लक्ष्मणजी यहीं हैं, अतः श्रीरामजीकी जगह इन्हींने उनको छुड़ाया।

२ (क) रावणके हाथमें देनेको कहा। तात्पर्य कि मंत्री, सेवक आदि दूसरे किसीके हाथ न भेजना स्वयं जाकर देना, नहीं तो वह, शत्रुकी चिट्ठी समझकर रावणको, उसके डरके मारे न देगा। (ख) 'लछिमन बचन बाँचु' अर्थात् उससे कहना कि स्वयं पढ़े जिसमें चिट्ठीको वह अच्छी तरह समझ जाय। ['लछिमन वचन' कहनेका भाव कि प्रभुका छोटा भाई हूँ, यह मेरी ओरसे चेतावनी है। श्रीरामजी 'कुलघाती' 'मूढ़' आदि कठोर शब्द नहीं कहते। अपनी तरफ़से कहनेसे श्रीरामजीका उत्कर्ष होगा, अतः 'लछिमन वचन' कहा। ये तो प्रभुकी कीर्त्तिपताकाके फहरानेवाले हैं, अतः अपनी तरफ़के सन्देश भेज रहे हैं, इस समय श्रीरामजी यहाँ हैं भी नहीं, समुद्रतटपर हैं। अतः इन्होंने संदेश भेजा।] (ग) 'कुलघाती' विशेषणसे जनाया कि तू अपने कुलका नाशक है, ऐसा न कर। यह चिट्ठीमें लिखा है, आगे इसे स्पष्ट करेंगे, यथा—'बातन्ह मनहि रिझाइ सठ जनि घालसि कुल खीस।५६।' (घ) पत्रिका देनेमें भाव यह है कि सब महात्माओंने रावणको मृत्युसे बचानेके लिए उपदेश दिया, इसीसे श्रीलक्ष्मणजी भी उपदेश देकर दोषसे बाहर हुए। श्रीहनुमानजी, विभीषण-जी और पुलस्त्यजी ने भी यही उपदेश दिया था। और आगे जाम्बवान्ने 'बतकही' करनेका मंत्र दिया था (अर्थात् श्रीरामजीको राय दी कि अंगदको दूत बनाकर भेजिए कि उसे समझावें)। और उसके बचानेके लिए श्रीरामचन्द्रजीने अंगदसे यही कहा था कि 'काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई'।

नोट—रणबहादुरसिंहकी टीकामें बालरामायणमें पत्रिका बताई जाती है। यथा—'भो लंकेश्वर दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते। कोयं ते मतिविभ्रमः स्मरनयं नाद्यापि किञ्चिद्गतम्॥ १॥ नैवं चेत्खरदूषण-त्रिशिरसां कण्ठासृजा पङ्किलः। पत्री नैव सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः॥ २॥' अर्थात् हे रावण तू शीघ्र जानकीको दे दे। श्रीरामचन्द्रजी स्वयं याचना करते हैं। यह कैसी तेरी बुद्धि भ्रांत हो रही है? नीतिशास्त्र-का स्मरण कर। आज भी तेरा राज्य, पुत्र, कलत्रादि, कुछ नष्ट नहीं हुए हैं। इतना समझानेपर भी यदि तू न मानेगा, तो खरदूषण त्रिशिरा आदिके कंठरुधिरसे लिप्त और धनुषकी डोरीपर चढ़ाया हुआ यह मेरा बाण तेरे जीवनके अस्तित्व या तेरी अनीतिको नहीं सहेगा।—(र० ब०)

दो०—कहेहु मुखागर मूढ़ सन मम संदेसु उदार।
सीता देइ मिलहु न त आवा कालु तुम्हार ॥ ५२ ॥

तुरत नाइ लछिमन पद माथा। चले दूत बरनत गुन गाथा† ॥ १ ॥

अर्थ—जबानी अपने मुखसे उस मूर्खसे मेरा उदार (श्रेष्ठ) संदेश कहना कि श्रीसीताजीको देकर मिलो नहीं तो तुम्हारा काल (मृत्यु) आ गया। ५२। श्रीलक्ष्मणजीके चरणोंमें माथा नवाकर गुण-गाथा (गुणसमूह) वर्णन करते हुए दूत तुरंत चल दिये। १।

टिप्पणी—१ (क) कुलका नाश चिट्ठीमें लिखा और रावणकी मृत्यु मुखाग्र कहलाई; क्योंकि कुलको मृत्यु तो और भी पढ़कर सुना देंगे पर रावणकी मृत्युकी बात कोई भी पढ़कर न सुनावेगा। इसीसे कहा कि तुम यह बात जबानी कहना। (ख) 'मूढ़' कहा क्योंकि उसे अपनी हानि लाभ, अपनी मृत्यु नहीं सूझ पड़ती। (ग) संदेशको उदार कहा, क्योंकि इसीसे सबके प्राण बचेंगे। (घ)—पूर्व कहा कि 'लछिमन बचन बाँचु कुलघाती' और अब कहते हैं कि 'सीता देकर मिलो नहीं तो तुम्हारा काल आ गया'। पहलेसे जनाया कि मैं मेघनादको मारकर तेरे वंशका नाश कर दूँगा और श्रीरामचन्द्रजी तुझे मारेंगे। आगे इसको स्पष्ट किया है—'रामबिरोध न उबरसि सरन विष्णु अज ईस। ५८।'

श्रीलमगोड़ाजी—धन्य हैं भावमर्मज्ञ कवि जिन्होंने जोशीले (लछिमन) का इतना ठीक चित्रण किया है। वे केवल पत्रिका देकर चुप न रह सके। कारण कि पत्रिका राजनीति संबंधी शिष्टाचारपूर्ण रही होगी जिसमें एक सेनानायक या राज्यकर्मचारीकी हैसियतसे 'लक्ष्मणजी' का उपदेश इत्यादि रहा होगा; पर बाँके लषन कुछ अधिक तो जबानी कहना ही चाहें! 'कुलघाती' और 'मूढ़' की गुंजाइश इस पत्रिकामें कैसे होती?

उस पत्रिकामें क्या था, यह हम संकेत द्वारा भले ही मान लें, पर उसके विषयको संकुचित न करना ही उचित है। कारण कि आगे रावणने उसे 'बाग बिलास'से भरी ही कहा है—'लघु तापस कर बाग बिलासा' और घृणाकी हँसीके साथ सही, पर उसकी उड़ानको आकाश ग्रहण करना बताया है। संकेत-कला निछावर है!

नोट—१ 'चले दूत बरनत गुनगाथा' इति।—तुरत जानेका भाव कि-(क) संदेश जल्द कहना चाहिये, यथा—'तुरत सो मैं तुम्ह सन कही पाइ सुअवसरु तात' दोहा ३६ देखिए। लोकमें भी प्रसिद्ध है कि चिट्ठी लेकर लोग शीघ्र चलते हैं। अथवा, लक्ष्मणजी कहते हैं कि 'आवा काल तुम्हार'; अतः उसकी निवृत्तिके लिए शीघ्र चले। तुरतका संबंध 'चले' के साथ है।

२ किसके गुणगाथ? श्रीरामजीके, यथा—'कहत रामजस लंका आए'। तात्पर्य कि पूर्व गुणोंको हृदयमें सराहते थे और स्वभाव प्रकट बखान करते थे, अब गुणोंको भी प्रकट बखान करने लगे, क्योंकि अब निडर हो गए हैं। सुग्रीवको प्रणाम न किया, क्योंकि उन्होंने अंगभंग करनेका हुक्म दिया था जिसपर वानरोंने इन्हें मारा था और लक्ष्मणजीने कृपा करके छुड़ाया इससे इनको प्रणाम किया। [वाल्मी० में 'जयेति प्रतिनंद्यैतौराघवं धर्मवत्सलम्। ६।२५।२७।' इस प्रकार जय कहते हुए दूत लंकाको गए।]

कहत रामजसु लंका आए। रावन चरन सीस तिन्ह नाए ॥ २ ॥

अर्थ—रामयश कहते हुए लंका आए और उन्होंने रावणके चरणमें सिर नवाया। (क्योंकि रावण राजा है और इन्हींकी कृपासे रामदर्शन हुआ)। २।

टिप्पणी—१ 'कहत' पद दिया क्योंकि दूत कई हैं, आपसमें कहते चले आए। अकेला दूत होता तो'बिचारत' पद देते। यथा—'भरत बाहुबल सील गुन प्रभुपद प्रीति अपार। मन महुँ जात सराहत पुनि-पुनि

† ब्र० चं०—दोहादोहारामिश्रित। (१-३) पायकुलक।

पवनकुमार। लं० ५६।' यदि कहा जाय कि विभीषणजी भी मंत्रियोंसहित आये थे पर उनके संबंधमें भी विचारत पद दिया है, यथा—'एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा', तो उसका उत्तर है कि वे मनोरथ करते हुए आ रहे हैं (किसीसे बात करते नहीं)। मनोरथ मनमें किया जाता है, उसका वर्णन नहीं होता। अतएव वहाँ 'कहत' पद न दिया, किंतु 'करत' कहा। पुनः एक ही तुकमें रामयश कहते लंकामें आ जाना लिखकर जनाया कि रामयश कहते-कहते लंका पहुँच गए। इसीसे पन्थ जल्द चुक गया, वे शीघ्र आ गए, रास्ता कुछ जान न पड़ा। यथा—'एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा। आयउ सपदि सिंधु एहि पारा। ४३। १।', 'पूछत कहत नवल इतिहासा॥ तब मधुबन भीतर सब आए। २८। ६-७।', 'सीय को सनेह सील कथा तथा लंककी चले कहत चाय सों सिरानो पथ छनमें। क० ५। ३१।'

श्रीलमगोड़ाजी—धन्य है रामयश कि शत्रुके दूत भी पीठ पीछे उसका गान कर रहे हैं। और, धन्य है सूक्ष्मदर्शी कविकी कला! जिसने उनसे पहले ही भावावेगमें श्रीरामस्वभावका प्रकटीकरण करा लिया फिर अब तो यशमें शब्दकी भी गुंजाइश नहीं रक्खी, कारण कि पीठ पीछे है, वहाँकी बातको मुँह-देखी और खुशामद कहा जा सकता था।

बिहँसि दसानन पूँछी बाता। कहसि न कस† आपनि कुसलाता॥ ३॥
पुनि कहु खबरि बिभीषन केरी। जाहि मृत्यु आई अति नेरी॥ ४॥
करत राजु लंका सठ त्यागी। होइहि जव कर कीट अभागी॥ ५॥

अर्थ—रावणने खूब हँसकर बात पूछी। अपनी कुशल क्यों नहीं कहता?। ३। फिर बिभीषणका समाचार कह कि जिसकी मृत्यु अत्यन्त निकट आ गई। ४। राज्य करता (सो ऐसी) लंकापुरीका राज्य उस शठने त्याग दिया (अर्थात् लंकाराज्यके समान त्रैलोक्यमें कोई दूसरा राज्य नहीं; अतएव शठ है और) भाग्यहीन है, वह अभागा यव (जौ) का कीड़ा (घुन) बनेगा। (अर्थात् लंकामें मृत्युका भय नहीं है, इसे छोड़कर तपस्वियोंसे जा मिला कि जिनको मरना है, उनके साथ यह भी पिस जायगा)। ५।

श्रीलमगोड़ाजी—'कहसि न कस....' यहाँ और अंतमें 'कहसि न रिपु दल तेज बल बहुत चकित चित तोर' ये दोनों वाक्य बीचके प्रश्नोंके साथ नाटकीयकलाके संबंधसे भी बहुत ही सुंदर बन पड़े हैं। कारण कि

(१) ये दूतोंकी आकृतिको साफ़ बता रहे हैं कि वे भयभीत और चकित हैं (अभिनेताको कितना सुंदर संकेत है कि बिना शब्दोंके वैसी आकृति जना दें)।

(२) जितना ही वे चुप हैं, उतनी ही वक्ताकी उत्कण्ठा और बेसबरी बढ़ती जा रही है कि अनुमानोंके साथ प्रश्नके पुल बाँध दिये।

(३) अनुमानों और वास्तविकताके भेदका अवसर भी तो तनिक चुप्पीसे ही मिला और नाटकीय विरोध Dramatic Irony को बड़ी कुशलतासे उभार दिया गया।

(४) 'बिहँसि' से बात प्रारंभ हुई इससे ऊपरी नाटक विरोधके कारण हास्य-प्रिय द्रष्टा तो कह ही उठेगा कि 'लेना लपकके', विशेषकर जब रावण लक्ष्मणजीकी पत्रिकाको "लघु तापस कर 'बाग बिलासा" कहता है।

(५) हँसी और अनुमानोंने दूतोंके 'माख' को और भी उभार दिया। इसीसे उत्तर बहुत कड़े हैं और कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण भी। मानों दूत संकेत कर रहे हैं कि बागविलास तो तुम्हारा ही कथन है, तुम ही आकाशको उठाना चाहते हो, लघु तापस नहीं, हँसते हो हम सबोंपर, पर बात उलटी है।

'खबरि'—यह अर्बी भाषाका शब्द यहाँ कई बार आया है, इससे मेरा वह अनुमान पुष्ट होता है कि 'एख़बार नवीस' की शक्लमें राजदूत मुग़ल ज़मानेमें भी थे।

---

† सुक—(ना० प्र०, का०)। ब्र० चं०—'पुनि०' चरणडी, 'जाहि०', (५) पायकुलक।

वीरकवि—'करत राज लंका सठ त्यागी' उपमेय वाक्य है, 'होइहि जव....' उपमान वाक्य है। दोनों वाक्योंमें विना वाचक पदके बिम्व प्रतिबिंब झलकना कि घुनकी तरह तपस्वियोंके साथ वह भी पिसेगा 'दृष्टान्त अलंकार' है।

टिप्पणी—१ (क) 'बिहँसि पूछी' इससे सबका निरादर जनाया जैसा आगे स्पष्ट है, यथा—'मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई'। (ख) 'कहसि न कस' से पाया गया कि रावणने एकबार पहले भी कुशल पूछी पर दूत कुछ न बोले, चुप ही रहे, अतएव न कहनेका कारण पूछा। दूतोंने पहलेही बार न कह दिया, चुप रहे जिसमें इसे जो कुछ पूछना है, सब पूछ ले, तब उत्तर दें।

२ 'पुनि कहु खबरि....' इति। (क) 'पुनि' अर्थात् अपना कुशल-समाचार कहकर तब विभीषणकी खबर पूछता है, कुशल नहीं। क्योंकि जब उसकी 'मृत्यु आई अति नेरी' तब कुशल तो है ही नहीं, कुशल पूछकर क्या करे? अतः 'खबर' पूछी। (ख) 'अति नेरी' का भाव कि मृत्यु तो तभी आ गई थी जब उसने सीताको देनेको कहा था और शत्रुकी बड़ाई की थी, यथा—'सुनत दसानन उठा रिसाई। खल तोहि निकट मृत्यु अब आई। ४१। २।'; और अब शत्रुसे जा मिला, इससे जान पड़ा कि मृत्यु 'अति निकट' आ गई है। 'अति नेरी' का स्वरूप आगे कहता है कि—'होइहि जव....'।

३ (क) 'करत राज लंका....' इति। रावणके कथनका आशय यह है कि लंकामें मृत्यु नहीं आती। जिसकी मृत्यु निकट आती है उसकी बुद्धि हर जाती है, यथा—'काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा।'; विभीषणकी बुद्धि हर ली गई, इसीसे उसने राज्यका सुख आपहीसे छोड़ा, आगे प्राणोंकी भी हानि होगी। वैसे तो हम उनको न मारते पर अब वह यवका कीड़ा हो गया है, जब मैं शत्रुरूप अनाजको पीसूँगा तब उसीके साथ वह भी पिस जायगा। यवके भीतर घुसा है, इसीसे उसकी भी मृत्यु अति निकट है क्योंकि शत्रुको हम बहुत शीघ्र मारना चाहते हैं। [वंदनपाठकजी—यहाँ यव रामलक्ष्मण और कपिसेना है, विभीषण घुन, मैं (रावण) जाँत; अतः पीस डालूँगा। वा, कुंभकर्ण और मैं चक्की के दोनों पल्ले हैं, मेघनाद बीचकी कील है]। (ख) राज्य खोया और प्राण भी खोवेगा; अतएव अभागा है। जिसका विभव नष्ट हो जाय और जो अल्पायु हो वह अभागा है, यथा—'रावन जबहि विभीषन त्यागा। भयो विभव बिनु तबहिं अभागा।', 'आयूहीन भये सब तबहीं'। रावण जो कहता है इसका उलटा होगा, विभीषणने राज्य भी पाया और प्राण भी बचे। यथा—'रावन क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड। जरत विभीषण राखेउ दीन्हेउ राज अखंड।' इससे सिद्ध हुआ कि रावणकी बुद्धि हरण हो गई है।

पुनि कहु भालु कीस कटकाई। कठिन काल प्रेरित चलि आई॥ ६॥
जिन्ह के जीवन कर रखवारा। भएउ मृदुल चित सिंधु बिचारा†॥ ७॥
कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी। जिन्ह के हृदय त्रास अति मोरी‡॥ ८॥

अर्थ—फिर भालु-वानर-सेना (का समाचार कि कितने हैं) कह जो कठिन कालकी प्रेरणासे चलकर आई है। ६। जिनके प्राणोंका रक्षक कोमल चित्तवाला बिचारा समुद्र हुआ है (अर्थात् समुद्र चाहता तो उनको रास्ता दे देता यह बात उसके अख्तियार की थी, सब इस पार उतर आते, यथा—'अपर जलचरन्ह ऊपर बिनु श्रम पारहिं जाहिं'। पर समुद्रको उनपर करुणा आगई; इससे रास्ता नहीं देता कि पार जातेही राक्षस इन्हें खा डालेंगे)। ७। फिर तपस्वियोंकी बात कह जिनके हृदयमें मेरा बड़ा डर है। ८।

टिप्पणी—१ 'पुनि कहु भालु कीस....' इति। भालु कीसकी सेना कितनी है यह बता। भाव कि जितनी अधिक हो उतनाही अच्छा है, सभी राक्षस तृप्त हो जायँगे। यथा—'आए कीस काल के प्रेरे। छुधावंत रजनीचर मेरे। ६।३६।३।' (ख) 'कठिन काल' का भाव कि सामान्य कालकी प्रेरणा से आते तो चाहे बच भी

† बेचारा—(ना.प्र.)। ‡ प्र. चां.—'पुनि.' नयमालिनी, 'कठिन०' 'जिन्ह.' पायकुलक, 'भएउ.' चांद्री'।

जाते पर कठिन कालके भेजे आए हैं, इससे न बचेंगे। जैसे सामान्य अल्प और विशेष अल्प वैसेही सामान्य काल और कठिन काल। सामान्य अल्पमें लोग बच जाते हैं, पर विशेष अल्पमें नहीं बचते। (ग) 'काल प्रेरित' का भाव कि तपस्वियोंके लानेसे नहीं आई, काल ले आया है; नहीं तो उनसे सेनाको क्या लाभ था कि जो पृथ्वीभरके समस्त वानर एकत्र होकर मरने आए। (मिलान कीजिए—'भालु नर वानर अहार निसचरनि को, सोऊ नृपबालकनि माँगी धारि लही है। देखो काल कौतुक पिपीलिकनि पंख लागो, भाग मेरे लोगनि के भई चित चही है। गी० ५।२४।')। (घ) 'चलि आई'—भाव कि वानर निशाचरोंके सामने न आते, क्योंकि वे तो राक्षसोंके भक्ष्य हैं, कालप्रेरित उनके मुखमें आ रहे हैं। जो पूर्व मंदोदरीसे कहा था कि 'जौं आवै मर्कट कटकाई। जिअहिं बिचारे०', वही यहाँ 'कठिन काल' से जनाया।

२—'भयउ मृदुल चित सिंधु अपारा' इति। मृदुलचित हो गया इसीसे उनकी मृत्युसे रक्षा की। 'बिचारा' का भाव कि वह समर्थ रक्षक नहीं है कि उनके प्राण बचा ले। पुनः, भाव कि काल तो बहुत कठिन है वह तो उन्हें यहाँ लाकर छोड़ता और सिन्धु मृदुल हुआ है (यह उसकी मूर्खता है, वह बिचारा भला कठिन कालसे उन्हें बचा सकता है ?)

नोट—१ इससे यह भी सूचित होता है कि रावणका यह विश्वास है कि वानर-सेना पारसे लंकामें आ नहीं सकती, समुद्र पार करना संभव नहीं। 'तिन्ह के जीवन कर रखवारा' पर शंका हो सकती है कि 'निशाचर क्या पार नहीं जा सकते थे ?' समाधान यह है कि रावणके कथनका आशय यह है कि जब तक हमारे निशाचर उस पार नहीं जाते तभी तक उनका जीवन बचा है। समुद्र उन्हें देर तक बचा नहीं सकता। कठिन कालकी प्रेरणासे सब समुद्रतटपर एकत्रित हो गये हैं। लंकामें आ जानेपर कहा है कि 'घर बैठे अहार बिधि दीन्हा।', निशाचरोंको उस पार जानेका कष्टभी न उठाना पड़ा।

टिप्पणी—३ 'कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी।००' इति। (क) 'बात कहु', इससे न खुला कि क्या बात पूछता है, अतः दोहेमें उसे स्पष्ट करता है—'भइ भेंट कि०'। (ख)—यहाँ 'कुशल, खबर, कटक, और बात' इन चार शब्दोंका प्रयोग पृथक् पृथक् चारके लिये किया है। यह साभिप्राय है। दूतोंकी कुशल पूछी क्योंकि सोचता है कि उनके दूतको हमने दंड दिया, इससे उन्होंनेभी हमारे दूतोंको मारा न हो। विभीषणकी खबर पूछी क्योंकि जानता है कि वह मिलने गया है इससे उसे मारेंगे नहीं। भालुकीशकटकका भय है, अतः कटक पूछा। श्रीरामलक्ष्मणका डर है इससे यह कहकर कि उनको मेरा अत्यंत डर है (अर्थात् अपना डर उनपर ढालकर) उनको पूछता है। दूत, विभीषण और वानरोंको पूछकर अंतमें दोनों भाइयोंको पूछा। जिसमें लोग यह न समझें कि रावणके हृदयमें उनका भय है। यदि सबके पहले उन्हींको पूछता तो सब समझ जाते कि वह उनको डरता है। हृदयका भय छिपानेके लिए अन्तमें पूछा। (ग)-प्रथम हँसकर पूछा, शत्रुको अंतमें पूछा, उनको तपस्वी कहा और अपना भय उनमें आरोपण किया। यह सब अपने हृदयका भय छिपानेके लिए, यथा—'सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई। ५७.१।' (घ) 'अति त्रास' का भाव कि मेरा भय तो सभी तपस्वियोंको है पर इन दोनोंको अत्यन्त भय है, क्योंकि ये हमारे शत्रु हैं, मैं भारी शत्रु हूँ; इसीसे इनको 'अति त्रास' है।

श्रीलमगोड़ाजी—'तपसिन्ह' शब्दका बार बार प्रयोग करके कवि किस सुंदरतासे भोगी रावणकी घृणा वनवासी रामके प्रति प्रकट करता है। इन्द्रियलोलुप सभ्यता आज भी तो महात्मा ईसा, बुद्ध और गांधीकी अवहेलना करती है, चाहे शब्दोंमें आदर भले हो। चर्चिल महोदयने तो गांधीजीको Naked Fakir नंगा फ़क़ीर शब्दोंमें भी कह दिया।

दो०—की भइ भेंट कि फिरि गए श्रवन सुजस सुनि मोर।
कहसि न रिपु दल तेज बल बहुत चकित चित तोर॥५३॥❀

❀ प्र० चं०—शार्दूल दोहा।

शब्दार्थ—चकित = चकराया हुआ, हक्का-बक्का, आश्चर्यान्वित, चकपकाया हुआ।

अर्थ—उनसे भेंट हुई या कि वे कानोंसे मेरा सुयश सुनकर लौट गए? शत्रुकी सेना, तेज, और बल क्यों नहीं कहता? तेरा चित्त बहुत चकित है। ५३।

टिप्पणी—१ (क) रावण बारबार पूछता है कि कहता क्यों नहीं? प्रथम कहा था कि 'कहसि न कस आपनि कुसलाता' और यहाँ पुनः कहा कि 'कहसि न रिपु दल००'। इससे जान पड़ता है कि दूत उसके डरसे श्रीरामजीका दल, तेज, बल आदि नहीं कह रहे हैं, क्योंकि शत्रुकी प्रशंसा सुनकर उसको क्रोध आ जाता है। यथा—'रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ....', 'आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहत लाज भय त्यागे'। इसीसे दूत क्षमा माँगकर तब उत्तर देते हैं। यथा—'नाथ कृपा करि पूछेहु जैसे....'। अथवा, (ख) बराबर एकके बाद एक प्रश्न करता जाता है—'कहसि न कस आपनि कुसलाता', 'पुनि कहु खबर०', 'पुनि कहु भालु०', 'कहु तपसिन्ह कै०' और 'कहसि न रिपुदल तेज०'—, इन प्रश्नोंके वाक्योंसे कवि उसके हृदय-का भय सूचित करते हैं कि दूत प्रश्नका उत्तर नहीं देने पाता और वह पूछता ही चला जाता है। (ग) प्रथम शत्रुका दल पूछा, पीछे शत्रुका तेजबल, उसी क्रमसे यहाँ दोहेमें 'रिपु दल तेज बल' पूछता है।

२ 'श्रवन सुजस सुनि' इति। सुयश यह कि रावणसे कोई नहीं जीत पाता, वह ऐसा प्रबल वीर है। सुयश सुनकर चले गए, क्या इसीसे तेरा चित्त बहुत चकित है कि ये क्या पूछते हैं, वे तो चले गए, मिले ही नहीं, तब हम क्या समाचार वर्णन करें? वा, उनकी सेना और तेजबल देखकर और स्वभाव सुनकर दूत चकित हो गए हैं, इसलिए रावण इस प्रकार कह रहा है कि तू चकरा गया है। क्या देखकर? रिपु दल तेज बल क्यों नहीं कहता?

नोट—१ रावणके इन सब वाक्योंमें ('बिहँसि दसानन पूछी बाता' से यहाँतक) पांड़ेजी आदि कुछ मानसविज्ञोंने गूढ़ अर्थ (अंतर्लापिका वाणीमें) दिए हैं। प्रसंगानुकूल न जानकर उनको यहाँ नहीं दिया।

मिलान कीजिए—'अयथावच्च ते वर्णो दीनश्चासि निशाचर। नासिकच्चिदमित्राणां क्रुद्धानां वशमागतः। वाल्मी० ६।३०।३।' रावण दूतसे पूछ रहा है कि तू विवर्ण और दीनसा हो रहा है, इसका क्या कारण है? शत्रुओंने बल सहित क्रुद्ध होकर तुझे वशमें तो नहीं कर लिया—यह भी भाव 'बहुत चकित चित तोर' और 'कहसि न' में है। अ० रा० में भी कहा है 'प्रहसन् रावणः प्राह पीड़ितः किं परैः शुक। ६।४।१४।' जैसा मानसमें प्रारंभमें कहा है—'बिहँसि दसानन पूछी बाता। कहसि न कस आपनि कुसलाता।५३।३।'

नाथ कृपा करि पूँछेहु जैसे। मानहु कहा क्रोध तजि तैसे॥ १॥
मिला जाइ जब अनुज तुम्हारा। जातहि राम तिलक तेहि सारा॥ २॥
रावनदूत हमहि सुनि काना। कपिन्ह बाँधि दीन्हें दुख नाना॥ ३॥
श्रवन नासिका काटइ लागे। रामसपथ दीन्हें हम त्यागे॥ ४॥

शब्दार्थ—सारना = संपूर्णरूपसे करना, करना।

अर्थ—हे नाथ! जैसे आपने कृपा करके पूछा वैसेही क्रोध छोड़कर मेरा कहना (सत्य) मानिए। १। जब आपका छोटा भाई जाकर मिला, तब जातेही श्रीरामचन्द्रजीने उसका तिलक कर दिया। २। हमें रावणदूत कानोंसे सुनकर वानरोंने हमें अनेक दुःख दिए। ३। नाक कान काटने लगे। जब हमने श्रीराम-जीकी शपथ दी तब उन्होंने छोड़ा। ४।

टिप्पणी—१ 'नाथ कृपा करि....' इति। (क) कृपा करके पूछना यह कि पहले आपने हमारा कुशल पूछा और प्रसन्नतापूर्वक पूछा। (ख) जो बात कहनेकी है उसमें रावणको क्रोध होता, इसीसे प्रथम क्रोध छोड़नेको कहता है और रावण किसीकी बात मानता नहीं, इसीसे कहा कि मेरा वचन ठीक मानिए। अतएव दोनों बातोंके लिए प्रार्थना प्रथम की। (ग) 'पूँछेहु' और 'मानहु तैसे' का भाव कि मैं आपके पूछनेपर कहता

हूँ, नहीं तो न कहता। (घ) 'अनुज तुम्हारा' अर्थात् तुम शत्रु हो, शत्रुके भाईको शरणमें रखा। जातेही राज्य दिया जैसे कोई किसीको भेंट दे। श्रीरामजीने स्वयं अपने हाथसे तिलक किया दूसरेसे नहीं कराया, ऐसा बड़ा आदर उनका किया। ['तुम्हारा अनुज' ऐसा कहनेका कारण कि विभीषणजीने स्पष्ट यही रामजीसे कहा था, यथा—'नाथ दसानन कर मैं भ्राता।' (प्र०)। तिलक करनेसे रावणके वध करनेकी दृढ़ता व्यंजित करना व्यंग है।] पुनः, (ङ) 'तिलक सारा' अर्थात् लंकाका राज्य दे दिया। ऐसा उनका कोमल स्वभाव है और शरणागत उनको इतना प्रिय है। तात्पर्य कि आप भी यदि जाकर मिलें तो आपपर भी कृपा करेंगे, यही बात आगे स्पष्ट कहेंगे, यथा—'अति कोमल रघुबीर सुभाऊ....मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिहैं....'।

२ रावणने प्रथम दूतोंका कुशल पूछा, पीछे विभीषणकी खबर, और दूतोंने प्रथम विभीषणका हाल कहकर तब अपना हाल कहा। कारण कि जैसे जैसे जिस क्रमसे जो बात हुई है उसी क्रमसे उन्होंने कहा। पहले विभीषण मिले, उनका तिलक हुआ, पीछे दूत पहिचाने और मारे गए।

३ (क) 'सुनि काना' का भाव कि जैसेही कानमें भनक पड़ी कि ये रावणके दूत हैं वैसेही उन्होंने मारना शुरू कर दिया, फिर न विचार किया कि दूत हैं कि नहीं। इससे जनाया कि वानरोंको तुमपर इतना क्रोध है। और, शरणागतपर ऐसा प्रेम कि उसे (यद्यपि वह तुम्हारा भाई था) राज्य दिया। (ख) पूर्व कहा है कि 'रिपुके दूत कपिन्ह तब जाने। सकल बाँधि०'; और यहाँ कहते हैं कि 'रावन दूत हमहिं सुनि काना।' दोनों वाक्योंका समानाधिकरण यों होता है कि जब राक्षसोंका अपना तन प्रगट हो गया, कपटी वानरतन जाता रहा तब कुछ वानरोंने देखकर कहा कि ये रावणके दूत हैं, यह सुनतेही और सब वानर भी आ गए और मारने लगे। अथवा, यों कि जब राक्षस तन प्रगट हुआ तब वानरोंने पूछा कि तुम कौन हो तब इन्होंने बताया कि हम रावणके दूत हैं। अथवा, विभीषणजीके मंत्रियोंने बता दिया कि हमारे साथके नहीं हैं, यह सुनकर दुःख दिया। (ग) 'रावनदूत हमहि००' का तात्पर्य कि हमने उनका कुछ अपराध नहीं किया, केवल तुम्हारे नामसे (तुम्हारे संबंधसे) मारे गए। 'कपिन्ह' अर्थात् रामजीने दुःख नहीं दिया, वानरोंने दुःख दिया।

४ 'राम सपथ दीन्हे हम त्यागे।' इति। भाव यह कि तुम्हारे निहोरेसे हमने यहाँतक दुःख सहा, हमने रामशपथ न दी; पर जब वे हमारे नाक कान काटने लगे तब हमने उनको रामजीकी शपथ दी। रामशपथ सुनते ही उन्होंने छोड़ दिया। यदि हम प्रथम रामदोहाई करते तो वे कदापि दुःख न देते। पूर्व 'कोशलाधीशकी आना' कहा था उसका अर्थ यहाँ खोला—'रामसपथ'। (वाल्मीकीयमें दूतने कहा है कि हमने श्रीरामजीसे प्राणोंकी भिक्षा माँगी तब उन्होंने छुड़ा दिया। मानस कल्पके वानर श्रीरामजीके परम भक्त हैं, श्रीरामदोहाई सुनते ही उन्होंने छोड़ दिया)।

पूछेहु† नाथ राम कटकाई। बदन कोटि सत बरनि न जाई॥ ५॥
नाना बरन भालु कपि धारी। बिकटानन बिसाल भयकारी॥ ६॥
जेहि पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा। सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा॥ ७॥

अर्थ—हे नाथ! आपने श्रीरामजीकी सेना पूछी। सौ करोड़भी मुख हों तो वह वर्णन नहीं कीजा सकती। ५। वानरभालुकी सेना अनेक वर्ण (रंग) की है। उनके मुख विकट (भयंकर) हैं, वे विशाल और भयंकर हैं। ६। जिसने तुम्हारा नगर जलाया और तुम्हारा पुत्र मारा उसका बल तो सब वानरोंसे कम है। ७।

टिप्पणी—१ 'बदन कोटि सत....' का भाव कि आपके इस प्रश्नका कि सेना कितनी है, हम क्या उत्तर दे सकते हैं, शतकोटि मुख भी यदि किसीके हों तो भी वह वर्णन नहीं कर सकता तब भला एक एक मुखसे हम कैसे वर्णन कर सकें। अपना और विभीषणका हाल हमने कहा, कटकका हाल हम नहीं कह सकते, यथा—'बानरकटक उमा मैं देखा। सो मूरुख जो कर चह लेखा। ४।२२।१।' (ये शिवजीके वाक्य हैं। मूर्ख

† पूछेहु—(का., ना. प्र.)। 'पूछिहु'—(भा. दा.—छे पर हरताल लगाकर छि बनाया है)।

ही भले कहे, दूसरा नहीं कह सकता। हम कुछ कहें तो हमारी गणना भी मूर्खोंमें होगी)। २—'नाना बरन' से अनेक देशोंके अनेक जातिके सूचित किए। विशाल अर्थात् भारी शरीरवाले हैं, इसीसे भयंकर हैं; पुनः उनके मुख विकट, विशाल और भयकारी हैं। 'धारी'-जो सेना मारने-काटनेवाली होती है उसे धारि कहते हैं। (वाल्मी० ६।२६।९ से लेकर ६।२९।५ तक कुछ वानर-सेनाका वर्णन है। किष्किन्धामें नाना वर्णोंका वर्णन है)।

३ 'जेहि पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा....' इति। ये दोनों काम कठिन थे। उनमेंसे लंकापुरदहन तो अत्यन्त कठिन है, इसीसे पुरका जलाना प्रथम कहा। हनुमान्जीका बल बहुत थोड़ा कहकर जनाया कि और वानरोंका बल बहुत है—यह बात आगे कहते हैं।

श्रीहनुमान्जी	अन्य वानर
समुद्र लाँघ गए—'बारिधि पार गयउ'	सोखहिं सिंधु सहित झख ब्याला
कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु०	मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा
इनको प्रभुने आज्ञा दी थी	इनको आज्ञा नहीं देते कि जो कहते हैं उसे सत्य करें।
उलटि-पलटि लंका सब जारी	'मानहु ग्रसन चहत हहिं लंका।', 'अमित नागबल बिपुल बिसाला'

तात्पर्य यह कि रामदलकी प्रबलता दिखानेके लिए हनुमान्जीके बलको सबके बलसे थोड़ा कहा। यथा—'जो अति सुभट सराहेहु रावन। सो सुग्रीव केर लघु धावन॥ चलै बहुत सो बीर न होई। पठवा खबरि लेन हम सोई। ६।२३।९-१०।' (वाल्मी० यु० में जो शुकनामक दूत प्रथम भेजा गया था उसने भी श्रीहनुमान्जीके संबंधमें यही कहा है कि वह तो अंगदके नेतृत्वमें उनके साथ था और अंगदका भेजा यहाँ आया था। इसी तरह श्रीहनुमान्जीने श्रीसीताजीको धीरज देनेके लिये कहा है कि वानरराज सुग्रीवके यहाँ मुझसे छोटा कोई वानर नहीं है, मुझसे सब बड़े हैं, कुछ मेरे समान हैं। मैं छोटा हूँ इसीसे यहाँ भेजा गया। बड़े दूत बनाकर नहीं भेजे जाते। यथा 'मद्विशिष्टाश्च तुल्याश्च सन्ति यत्र वनौकसः। मत्तः प्रत्यवरः कश्चिन्नास्ति सुग्रीवसन्निधौ। ५।३९।३८। अहं तावदिह प्राप्तः किं पुनस्ते महाबलाः। न हि प्रकृष्टाः प्रेष्यन्ते प्रेष्यन्ते हीतरे जनाः। ३९।' वैसे ही रावणको भयदर्शनके लिये शुकने हनुमान्जीको सबसे छोटा कहा। श्रीहनुमान्जीको अल्पपराक्रमी कहकर अन्य वीरोंकी अतिशय बड़ाई करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है)। अथवा, थोड़ा बल इससे जाना कि वहाँ जो इसने देखा तो उनकी प्रधानता कुछ न देख पड़ी; न तो श्रीरामचन्द्रजीने उनसे कोई राय पूछी और न वह और वानरोंकी तरह 'मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा' इत्यादि कुछ बोलते देख पड़ते थे। न तो वे रूपमें किसीसे बड़े हैं और न वे गरजते कूदते पाये गये। मानों वे सेनामें हैं ही नहीं।—[श्रीहनुमान्जी तो बड़ी दीनतापूर्वक छोटे रूपसे हाथ जोड़े हुए प्रभुके समीप चुपचाप खड़े होंगे। इसीसे शुकने जैसा देखकर अनुमानसे समझा वैसा ही कहा। (मा० सं०)]।

श्रीलमगोड़ाजी—अनुमान और वास्तविकताके विरोधका नाटकीय-कलावाला आनंद तो उपर्युक्त कोष्टकमें आ ही गया। मजेकी बात यह है कि दूतोंकी बढ़बत्तीका आनंद भी आ चला है, कारण मैं पहले बता चुका हूँ।

अमित नाम भट कठिन कराला। अमित नाग बल बिपुल बिसाला॥ ८॥

दो०—द्विबिद मयंद नील नल अंगद* गद बिकटास्य‡।
दधिमुख केहरि निसठ† सठ जामवंत बलरासि॥ ५४॥

अर्थ—संख्यारहित भट हैं, अमित नामके हैं, (स्वभावके एवं युद्धमें उनका जीतना) कठिन और

---

* अंगदादि—(रा० प०)। ‡ विकटासि—(का०, ना० प्र०, व० चं०)। पं० रामगुलाम द्विवेदीका पाठ और भा० दा० का वह है जो पाठ में दिया गया। † कुमुद गव—का०, ना० प्र०।

(देहसे) भयङ्कर हैं। ८। उनमें अमित हाथियोंके बलसे भी भारी विशाल बल है एवं वे बहुत विशाल हैं। (अमित नामके भट हैं। उनमेंसे कुछ ये हैं) द्विविद, मयन्द, नील, नल, अंगद, गद, विकटास्य, दधिमुख, केहरि, निसठ, सठ और जामवन्त—ये सब बलराशि हैं। (तात्पर्य कि ये सब सुभट सुग्रीवके पास बैठे थे। सब दूतोंको वानर वहाँ ले गए थे। इसीसे इनके नाम गिनाये और इन्हें सुग्रीवके समान बलवान बताया)। ५४।

नोट—१ (क) द्विविद और मयन्द अश्विनीकुमारके पुत्र और उन्हींके समान दुर्धर्ष बलवान् थे—'मैन्दश्च द्विविदश्चोभौ बलिनावश्विसम्भवौ। वाल्मी० ६।३०।२५।' ये देवताओंके समान रूपवान्, युवक, युद्धमें दुर्धर्ष और दुष्प्रेक्ष्य थे। ब्रह्माकी आज्ञासे ये अमृत पान कर चुके थे। (वाल्मी० ६।२८।६)। (ख) नील अग्निदेवके पुत्र और नल विश्वकर्माजीके पुत्र हैं। ये दोनों विन्ध्याचलनिवासी और दश-दश-करोड़ वानरोंके यूथपति थे। (वाल्मी० ६। ३०। ३३, ६। २७। ४७, ४८)। (ग) दधिमुख चन्द्रमाका पुत्र सौम्यस्वभाव। (६।३०।२२)। (घ) केहरि=केसरीजी। ये देवगुरु बृहस्पतिके पुत्र हैं। (६।३०।२१)। ये श्रीहनुमान्जीके पिता हैं। अंगद और जामवंतको सब जानते ही हैं। 'गद' नाम वाल्मी० में नहीं मिला। 'गव' और 'गज' नामके एक-एक यूथपति गिनाये गये हैं। अन्यत्र भी यह नाम आया है। यथा—'संग नील नल कुमुद गद जामवंत जुवराजु। चले राम पद नाइ सिर सगुन सुमंगल साजु।' विश्वकोश तथा शब्द सागरमें भी गद, सठ, निसठ शब्द नहीं मिले।

हालनाजी लिखते हैं कि—मर्मज्ञोंसे छिपा नहीं है कि 'विकटास्य' संस्कृतका शुद्ध और कठिन शब्द है। यह नहीं माना जा सकता कि गोसाईंजीने 'विकटास्य' पाठ रखा हो। ठीक 'विकटासि' ही है। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि दोहेमें तुकान्त मिलना चाहिये। यहाँ 'विकटासि' और 'बलरासि' का तुक मिल जाता है पर विकटास्य और बलरासिका तुक न मिलनेसे बड़ा कर्णकटु मालूम होता है। भागवतदासजीका पाठ 'विकटास्य' है और पं० रामकुमारजीने भी इसी पाठको दिया है। तुकान्त न मिलनेके कारण वे दोहा ३८ में कह चुके हैं। अतः हमने वही पाठ रक्खा है।

टिप्पणी—१ यहाँ वीरोंकी गणनामें श्रीहनुमान्जीका नाम नहीं कहा, क्योंकि इन सबोंको बलराशि कहता है और हनुमान्जीको थोड़े बलका कह चुका है। यहाँ रावणदलसे रामदलकी विशेषता दिखाते हैं—

कुमुख अकंपन कुलिसरद धूमकेतु अतिकाय — द्विविद मयंद०० बलरासि ॥
एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय ॥ — तृन समान त्रैलोकहिं गनहीं

ए कपि सब सुग्रीव समाना। इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना ॥ १ ॥
रामकृपा अतुलित बल तिन्हहीं। तृन समान त्रैलोकहि गनहीं ॥ २ ॥
अस मैं सुना* श्रवन दसकंधर। पदुम अठारह जूथप बंदर ॥ ३ ॥
नाथ कटक महँ सो कपि नाहीं। जो न तुम्हहिं जीतइ रन माहीं ॥ ४ ॥

अर्थ—ये सब कपि सुग्रीवके समान (बलवान्) हैं। इनके समान करोड़ों हैं, अनेक हैं, उन्हें कौन गिन सकता है?।१। श्रीरामकृपासे उनमें अतीव बल है, वे त्रैलोकको तिनकेके समान गिनते हैं। २। हे दशकंधर! मैंने कानोंसे ऐसा सुना कि बंदरोंके यूथपतियों (की संख्या) १८ पद्म है। ३। हे नाथ! श्रीरामजीकी सेनामें ऐसा कोई वानर नहीं है जो तुम्हें संग्राममें जीत न सकै। ४।

नोट—१ (क) 'ए कपि सब सुग्रीव समाना' कहनेका भाव कि यह सुग्रीवके मंत्रियोंकी सेना मैंने कही, यथा—'अन्येषां तु बलं नाहं वक्तुं शक्तोऽस्मि रावण। अ० रा० ६। ४। ३६।' यह सेना ४० कोस लंबाई और चालीस कोस चौड़ाईमें पड़ी थी।

टिप्पणी—१ (क) 'इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना'। यहाँ कोटिन्ह कहकर फिर 'नाना' भी कहने

* श्रवन सुना—का०, ना० प्र०।

का प्रयोजन यह कि इनके समान 'कोटिन्ह' हैं, फिर उन 'कोटिन्ह' के समान 'कोटिन्ह' हैं, पुनः उनके समान और 'कोटिन्ह' हैं, इस प्रकार अनेक हैं। कौन गिने ? अर्थात् जो गिने वह मूर्ख बने—'सो मूरुख जो करन चह लेखा'। (ख) इस प्रकार क्यों कहा ? यहीं क्यों न कह दिया कि सब सुग्रीवके समान हैं ? उत्तर—यह ग्रंथकार का सँभाल है। प्रधान यूथपतियोंको सुग्रीवके समान कहा क्योंकि ये सब सर्दार हैं ? और वानर जो सेनामें सिपाही हैं उनको सुग्रीवके समान कैसे कह सकता है ? राजा और सिपाही बराबर नहीं हो सकते, सिपाहीको राजाके समान कहना अनुचित है। इनके समान कहा, यह मर्यादा है—'पूर्णगुणमुपमानं न्यून गुणमुपमेयं' अर्थात् उपमानमें पूर्ण गुण होते हैं, उपमेयमें उससे न्यून होते हैं, इस नियमानुसार 'सुग्रीव समाना' कहकर भी उन्हें सुग्रीवजीसे कुछ न्यून जनाया। फिर कोटिन्हको जिनके समान कहा, उन्हें उनके उपमानोंसे कुछ न्यून जनाया। इसी तरह क्रमशः प्रथमसे दूसरोंमें, दूसरोंसे तीसरेमें इत्यादि न्यूनता भी युक्तिसे जना दी। यद्यपि साधारण दृष्टिसे तो सब सुग्रीवके समान ही कहे गए हैं। (अथवा, प्रथम सबको समान कहा, उसमें शंका हो सकती है कि सब समान कैसे ? अतः आगे कहते हैं कि 'रामकृपा अतुलित बल तिन्हहीं')। ['कोटिन्ह' और 'नाना' शब्द अत्यन्तसे भी अत्यन्त बाहुल्यका बोधक है। (मा० त० सु०)]

२ (क) 'रामकृपा अतुलित बल तिन्हहीं....' इति। भाव यह कि पहले बलराशि थे, अब रामकृपासे उनमें सुग्रीवके समान अतुलित बल है, यथा—'राम कृपा बल पाइ कपिंदा। भये पच्छयुत मनहु गिरिंदा। ३५।३।' (ख) 'अतुलित' का भाव कि पहले उनके बलकी तौल (अन्दाज) थी कि 'अमित नाग बल विपुल०' और अब रामकृपासे अतुलित बल है। अतुलित बलका स्वरूप दिखाते हैं कि त्रैलोक्यको तृणवत् समझते हैं।

नोट—१ 'तृन समान....' इति। बालकांडमें रावणके प्रधान सुभटोंके संबंधमें कहा था कि 'कुमुख अकंपन कुलिसरद धूमकेतु अतिकाय। एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय। १। १८०।', और वानरोंके संबंधमें इतना ही कहा था कि 'बनचर देह धरी छिति माँहीं। अतुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं। १।१८८।३।'; वहाँ 'अतुलित बल' को स्पष्ट नहीं किया। यहाँ अवसर आनेपर उसे खोला कि ऐसा अतुलित बल है कि 'तृन समान त्रैलोकहि गनहीं।' अथवा, उस समय भी असीम बल था पर ऐसा सामर्थ्य उस समय न था, अब श्रीरामकृपासे उनका बल ऐसा हो गया कि त्रैलोक्यको वे कुछ नहीं समझते, इसीसे उस समय यह बल न कहा गया, अब जब वह सामर्थ्य प्राप्त हुआ तब कहा।

इस तरह श्रीरामकृपासे वानरोंमें निशाचर-सुभटोंसे अधिक बल दिखाया। भाव कि आपके एक एक राक्षस तो जगत्को जीत सकते हैं और वानर तो त्रैलोक्यको अपने सामने तृणवत् तुच्छ समझते हैं, जीतनेका तो वहाँ प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

टिप्पणी—३ (क) श्रवणसे सुना कि १८ पद्म यूथप हैं, निश्चय नहीं कि इतने ही हैं या अधिक। भाव कि इतने यूथप हैं तब सेना तो अमित होगी। अतः 'बदन कोटि सत बरनि जाई'। यूथपकी भी संख्या सुनी कही, उसको निश्चय नहीं किया क्योंकि जो निश्चय करनेका साहस करे वह मूर्ख ही होगा—'सो मूरुख जो०'। (ख)—यूथ = समूह, यथा—'गगन बिमल संकुल सुर जूथा....सुर समूह बिनती करी'। वा, 'अर्बुदं दशकोटीनां मुनिभिः कथितं बुधैः, दशार्बुदं भवेद्यत्र सोपि यूथः प्रकथ्यते'। अर्थात् सौ करोड़ का एक यूथ होता है, प्रत्येक यूथका एक यूथप होता है। अर्थात् सौसौ करोड़ एक-एक सेनापतिके हिसाबसे १८पद्म सेनापति हैं ऐसा सुना है।

मा० त० सु०—बुद्धिमान लोग वस्तुओंको गिनकर उसकी संख्या नहीं करते, अपने पक्के अनुमानसे जाँच लेते हैं। अतएव पहलेही कहा कि मैं वानररूप धारण कर वहाँ घूम रहा था तब वहाँके मुखिया लोगोंसे सुना, किन्तु स्वयं गिनती नहीं कर सकता। पहले यह कह आए हैं कि 'सो मूरुख जो करन चह लेखा' और यहाँ पद्म संख्या कहते हैं, यह क्यों ? उत्तर यह है कि वह वाक्य समुदाय सेनाके विषयमें है और यह परिगणित सेनापतियोंके विषयमें है।—(मा० त० सु०)।

नोट—२ वंदनपाठकजीका मत है कि दूत मार खानेसे घबड़ा गया है इसीसे पद्म कहा, नहीं तो संख्या महापद्म है। हनुमन्नाटक आदि प्रमाण हैं। पुनः यथा अग्निवेशरामायणे—'एतेषां गणना नवद्वय-महापद्मावधिर्वर्णिता।' अर्थात् १८ महापद्म कही गई है। वाल्मीकीयमें दूतोंने पद्म आदिकी व्याख्या इस प्रकार की है—एक लक्ष कोटि = शङ्ख। एक लक्ष शङ्ख = महाशङ्ख। एक लक्ष महाशङ्ख = वृन्द। एक लक्ष वृन्द = महावृन्द। एक लक्ष महावृन्द = पद्म। एक लक्ष पद्म = महापद्म। इसी प्रकार आगे खर्व, महाखर्व, समुद्र, मोघ और महोघकी संख्या कर लीजिए। वाल्मी०। ६। २८। ३५, ३६, ३७।

टिप्पणी—४ 'जो न तुम्हहिं जीतै०' इति। (क) प्रत्येक वानर त्रैलोकको तृणवत् समझता है, तब एक रावण क्या है, कोई भी वानर तो ऐसा नहीं जो तुमको न जीत सके। तात्पर्य कि एक कपि जो सबसे बलमें कम है जब वही सारी लंकाको जीतकर चला गया, तब जो उससे बड़े हैं वे तुम्हें क्यों न जीतेंगे? अब रावणका डर छोड़कर दूत यथार्थ कह रहा है, ऐसे कठोर वचनभी सुनकर रावणने क्रोध न किया, क्योंकि वह प्रथमही विनय कर चुका है कि 'मानेहु कहा क्रोध तजि तैसे'।

वि० त्रि०—प्रश्नानुरूप उत्तर है। रावणने प्रश्न किया 'पुनि कहु भालु कीस कटकाई। कठिन काल प्रेरित चलि आई॥ जिन्हके जीवन कर रखवारा। भयेउ मृदुल चित सिंधु बिचारा।' रावण उन वन्दरोंको प्राकृत बन्दर समझ रहे हैं। हनुमान्‌जीका पराक्रम देख लिया है, फिर भी वही राग अलापते हैं। ऐसे रोगीको चैतन्य करनेके लिये तीव्रातितीव्र उपचारकी आवश्यकता है, अतः वह कहता है कि इस ख़यालमें न रहिये, मैं उनका बल देखकर आ रहा हूँ। मुझे बाँध लिया और मेरा किया कुछ न हुआ, आपका किया भी कुछ न होगा। इसलिये कहता है 'नाथ कटक महँ सो कपि नाहीं। जो न तुम्हहिं जीतै रन माहीं।'

दूसरी बात भी ठीक है। 'अस कपि एक न सेना माहीं। राम कुसल जेहि पूछा नाहीं।' जिससे रामजीने कुशल पूछा, उसका पराभव कौन कर सकता है?

नोट—३ रावणने पूछा था 'पुनि कहु भालु कीस कटकाई', वही दूत कहता है कि 'पूँछेहु नाथ राम कटकाई'; यहाँ 'कटक महँ सो कपि नाहीं' कहकर जनाता है कि 'कटकाई' के धोखेमें न रहना, वहाँ बड़ा भारी 'कटक' है, जिसका एक एक वानर आपको रणमें सम्मुख संग्राम करके जीतनेको समर्थ है।

श्रीलमगोड़ाजी—महाकाव्यकलाके प्रेमी 'दिव्य' और अंशी वानरोंकी महिमा और लघिमा आदि सिद्धियोंका आनंद लें और अँग्रेज़ी पढ़े मित्र मिल्टनके वर्णनोंको न भूलें जिनमें भी वैसीही सिद्धियाँ मानी गई हैं। पर मज़ा तो यह है कि हमारा कुशल कवि नाटकीय और महाकाव्य कलाओंका एकीकरण ज़मीन आसमानके कुलाबे मिलाकर एक कर देता है। देखिए बढ़वत्ती मारने और दूनकी लेनेकी अवस्थामें दूत हैं ही और ज़िससे सुना होगा वह भी डींगकी ले रहा होगा। जैसे, रावणको मर्दि गर्द कर धूलमें मिलाना, इत्यादि। जन-साधारण हज़ारका मेला देखकर आवे तो लाखों कह देगा। फिर नाटकीय कलामें 'सुने' शब्द इस ओर भी संकेत कर रहा है कि 'बेपरकी उड़ानेमें दूत 'सुने' शब्दकी आड़ ही ले रहा है कि पोल खुल गई तो कह दूँगा कि सुनी सुनाई बात थी, मैंने गिना थोड़े ही था।' कहाँतक व्याख्या की ज़ाय, भाव और कला-मर्मज्ञ कवि धन्य है। दोनों कलाओंका ठीक ज्ञान न होनेसे ही वैसी शंकायें होती हैं जैसी मा.त.सु. और वंदन पाठकजीकी टिप्पणियोंमें की गई हैं। एक फ़ारसीका मसला है 'जहाँदीदा बिसियार गोयद दरोग़।' दुनियाँ देखे हुए मनुष्य घरवालोंसे बढ़बत्ती लेनेमें बहुत झूठ बोलते हैं। दूसरा मसला यह है कि 'दरोग़गो रा हाफ़िज़ा न बाशद', झूठेको स्मरण नहीं रहता, उसकी बातोंमें पूर्वापर विरोध रहता है।

नाटकीय सत्य दिखानेमें कविने बड़ा कौशल दिखाया है और फिर कमाल यह है कि महाकाव्य-कलाभी हाथसे न जाने पाये। सोचिये तो, बोलनेवाला युधिष्ठिर नहीं, किन्तु रावणद्वारा अपमानित राक्षस दूत है, जिसमें आख़िर आसुरी सम्पत्ति ही तो प्रधान है।

परम क्रोध मीजहिं* सब हाथा। आएसु पै न देहिं रघुनाथा ॥ ५ ॥
सोखहिं सिंधु सहित झख ब्याला। पूरहिं न त भरि कुधर बिसाला ॥ ६ ॥
मर्दि गर्द† मिलवहिं दससीसा। ऐसेइ बचन कहहिं सब कीसा ॥ ७ ॥
गर्जहिं तर्जहिं सहज असंका। मानहुँ ग्रसन चहतहहिं लंका ॥ ८ ॥

अर्थ—परमक्रोधसे वे सब हाथ मींजते (मलते) हैं; पर रघुनाथजी आज्ञा नहीं देते।५। समुद्रको मछली और सर्पों सहित हम सोख लेंगे, नहीं तो उसे बड़े बड़े पर्वतोंसे भरकर पुर (पाट) देंगे, दसशीश-को मसलकर धूलमें मिला देंगे—इसी प्रकारके वचन सब वानर कह रहे हैं। ६, ७। सब स्वाभाविकही निःशंक हैं, गर्ज रहे हैं, दपट रहे हैं, मानों लंकापुरीको ग्रास करना (निगल जाना) ही चाहते हैं।८।

टिप्पणी—१ (क) 'परम क्रोध००' इति। अर्थात् तुमको पा जायँ तो जीत ही लें; नहीं पाते इससे हाथ मलते हैं क्योंकि बीचमें समुद्र है; उसे सोख सकते हैं, पाट सकते हैं, पर क्या करें आज्ञा नहीं मिलती। (ख) रावणने जो कहा था कि वानर सेना कठिन कालकी प्रेरणासे चली आई है, उसका उत्तर यहाँ दिया कि वानर तुम्हारे काल हैं, पर श्रीरघुनाथजी आज्ञा नहीं देते। (ग) रावणने जो कहा था कि 'भयउ मृदुल चित सिंधु बिचारा' उसका उत्तर देते हैं कि 'सोखहिं सिंधु००'। (घ) प्रथम तो यही चाहते हैं कि समुद्रको सोख लें और सोखही डालेंगे; पर कदाचित् इसकी आज्ञा न मिले तो वे उसे पर्वतोंसे तोप देनेको तैयार हैं, इसमें सिंधु उन्हें नहीं रोक सकता, श्रीरामजीकी आज्ञाही रोके हुए है। जिस समुद्रमें हजारों कोसके एकएक जलचर भरे पड़े हैं उसे ये सोख लेनेको कहते हैं, बस, इसीसे इनके स्वरूपका अनुमान कर लो।

२—'मर्दि गर्द मिलवहिं....' इति। (क) भाव कि जब तक उस पार हैं तभीतक हाथ मलते हैं, जहाँ सिंधु को सोख या पाटकर इस पार आए तब तो, वे कहते हैं कि हम, रावणको मसलकर गर्दमें मिला देंगे। सब ऐसा कहते हैं; भाव कि जब एक कहता है कि हम मर्दन करेंगे तब दूसरा कहता है कि हम 'मर्देंगे', इस प्रकार सब कहते हैं क्योंकि सभी विशाल हैं. यथा—'नाथ कटक महँ सो कपि नाहीं। जो न तुम्हहिं जीतै रन माहीं।' (मिलान कीजिये—'एषैवाशंसते लंकां स्वेनानीकेन मर्दितुम्। वाल्मी०। ६। २६। २३।', 'शक्ताः सर्वे चूर्णयितुं लङ्कां रक्षोगणैः सह। अ० रा० ६। ४। ३७।')। (ख) 'गर्जहिं तर्जहिं००'। हाथ मलते हैं कि आज्ञा पावें तो समुद्रको सोखकर रावणको गर्दमें मिला दें—ऐसा कह कहकर गर्जते हैं, मानों रावणको मारकर गर्ज रहे हों; ऐसा आवेश उनमें हो आया है। सहज अशंक हैं, तुम्हारी शंका उनको नहीं है। (ग) 'मानहु ग्रसन चहतहहिं०' इति। भाव यह कि जब लंकाकी ओर क्रोधमें भरकर देखते हैं तब ऐसा मुख फैलाते हैं मानों लंकाको खानाही चाहते हैं। जब उनमें यह शक्ति रामकृपासे है कि मछली और व्यालसहित समुद्रको सोख सकते हैं तब लंकाको ग्रास कर जाना क्या बात है?

नोट—१ इन चौपाईयोंसे जनाया कि सब वानर बड़े शूरवीर, तेजस्वी, विशालकाय और युद्धो-त्साही हैं। यथा—'शूराः सर्वे महाकायाः सर्वे युद्धाभिकांक्षिणः।' (अ० रा० ६। ४। ३६)। उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णनमें 'सार अलंकार' है।

श्रीलमगोड़ाजी—धन्य है फिर नाटकीय कला! लक्ष्मणजीने तो कहा था कि आप क्रोध करके समुद्र सोख लें, पर श्रीरामजी समुद्रसे प्रार्थना ही करते हैं। उधर वानर ले डंडे, लगे दूनकी लेने और इधर दूतोंने भी वही कह सुनाया और कहा कि समुद्रका डर नहीं है, जैसा आप सोच रहे हैं, किन्तु श्रीरामजीही आज्ञा नहीं दे रहे हैं।

---

* मीजहिं—(ना. प्र.) † गर्दि—(का.)।

दो०—सहज सूर कपि भालु सब पुनि सिर पर प्रभु राम।
रावन काल कोटि कहुँ जीति सकहिं संग्राम❀ ॥ ५५ ॥

अर्थ—सब वानर भालु सहजही शूरवीर हैं फिर उनके सिरपर (अर्थात् सबके स्वामी, रक्षक) समर्थ श्रीरामचन्द्रजी हैं। जो रावण क्या, करोड़ों कालोंको भी संग्राममें जीत सकते हैं। ५५।

मा० त० सु०—'सहज सूर' का भाव कि बिना अस्त्रशस्त्रके नख और वृक्ष आदि द्वारा महा अतिरथ योद्धाओंसे भी युद्ध करनेवाले हैं। कवच आदि धारण करनेकी उन्हें अपेक्षा नहीं है। (भाव कि जन्मसे ही ऐसे शूरवीर हैं, शिक्षा वा अभ्यास आदिसे नहीं)।

टिप्पणी—१ (क) 'पुनि सिरपर प्रभु राम' अर्थात् राम ऐसे स्वामीको पाकर वे अत्यन्त शूरवीर हो गए हैं। यथा—'छत्रिजाति रघुकुल जनम राम अनुग जग जान। २। २२६।' (ख) रावणने कहा था कि 'पुनि कहु भालु कीस कटकाई। कठिन०'। उसका उत्तर देते हैं कि वे कालकी प्रेरणासे नहीं किन्तु श्रीरामकी प्रेरणासे आए हैं। जो कोटिकालको भी जीत सकते हैं वे राम उनके प्रभु हैं। और, रावण के 'की भइ भेंट कि फिरि गये....' इन वचनोंका उत्तर दिया कि वे फिर-जानेवाले नहीं हैं, उनके दलका एकएक वानर एकएक रावणको जीत सकता है, और राम तो कोटिकालकोभी संग्राममें जीत सकते हैं तब तुम्हारा भय क्या ? (ग) 'जीति सकहिं संग्राम' का भाव कि काल योगाभ्यास एवम् ज्ञानसे भी जीता जा सकता है, यथा—'तुम्हहिं न ब्यापत काल अति कराल कारन कवन। मोहि सो कहहु कृपाल ज्ञान प्रभाव कि जोगबल। ७। ९४।' उसका यहाँ निषेध करते हैं अर्थात् ज्ञान या योगबलसे नहीं किन्तु सम्मुख लड़कर जीत सकते हैं। क्योंकि 'काल कोटिसत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत' (७।९१), ऐसा भी उन प्रभुको कहनेमें अत्यन्त लघुता होती है। यथा 'निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै। जिमि कोटिसत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै। ७। ९२।' जब ऐसे प्रभावशाली पराक्रमी हैं तब तुम्हारा डर क्या ? (घ) रावणने जो कहा था कि विभीषणका काल अति निकट आगया, यथा 'ताहि मृत्यु आई अति नेरी', 'होइहि जब कर कीट अभागी।' (५।३४-५) और वानरोंको काल घेर लाया उसपर कहते हैं कि उनके रक्षक ऐसे समर्थ श्रीरामचन्द्र हैं।

आवृत्तियों द्वारा सिंहावलोकन

प्रथमावृत्ति

(किस वाक्य से)	(क्या सूचित किया)
'पूछेहु नाथ रामकटकाई।०० बरनि न जाइ'	१ इससे सेनाकी बहुतायत
नाना बरन भालु कपि धारी	२ सेनाकी विचित्रता
बिकटानन बिसाल भयकारी	३ वानरोंकी आकृति
द्विविद-मयंद नील नल०० जामवंत	४ प्रसिद्ध वीरोंके नाम
अमित नाग बल बिपुल बिसाला	५ वीरोंका बल
परमक्रोध मीजहिं सब हाथा	६ वानरोंका उत्साह
पदुम अठारह जूथप बंदर	७ यूथपतियोंकी संख्या
सोखहिं सिंधु सहित झष ब्याला। पूरहिं० ॥	८ वानरोंका पराक्रम
मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा	९ वानरोंकी शूरवीरता
गर्जहिं तर्जहिं सहज असंका	१० वानरोंकी निश्शंकता
पुनि सिरपर प्रभु राम	११ वानरोंकी सनाथता

❀ प्र० चं०—दोहरा दोहा मिश्रित।

द्वितीयावृत्ति

प्रश्न		उत्तर
कहसि न कस आपनि कुसलाता	१	रावनदूत हमहिं सुनि काना । कपिन्ह बाँधि दीन्हे दुख नाना
पुनि कहु खबरि बिभीषन केरी ।....	२	जातहि राम तिलक तेहि सारा
पुनि कहु भालु कीस कटकाई	३	'पूछेहु नाथ रामकटकाई' से 'सहज सूर' तक
'जिन्हके जीवन कर रखवारा । भयेउ मृदुल चित सिंधु बिचारा ।।'	४	'सोषहिं सिंधु सहित झष ब्याला । पूरहिं नत भरि कुधर बिसाला ।।'
कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी	५	राम तेज बल बुधि बिपुलाई । सेष सहस सत सकहिं न गाई । रामानुज दीन्ही यह पाती । नाथ बँचाइ जुड़ावहु छाती ।।
'जासु मृत्यु आई अति नेरी', 'कठिन काल प्रेरित चलि आई', 'जिन्हके हृदय त्रास अति मोरी',	६	'रावन काल कोटि कहुँ जीति सकहिं संग्राम' । तब उनके भक्तोंकी मृत्यु कैसे होगी ? वे निःशंक हैं ।

राम तेज बल बुधि बिपुलाई । सेष सहस सत सकहिं न गाई ।। १ ।।
सक सर एक सोषि सत सागर । तव भ्रातहि पूँछेउ नयनागर ।। २ ।।
तासु बचन सुनि सागर पाहीं । मागत पंथ कृपा मन माहीं† ।। ३ ।।

अर्थ—श्रीरामजीके तेज, बल और बुद्धिकी अधिकताको लाखों शेष भी नहीं कह सकते । १ । वे एक बाणसे सैकड़ों समुद्र सोख सकते हैं, (ऐसे पराक्रमी हैं) पर, नीतिमें चतुर हैं इससे तुम्हारे भाईसे उन्होंने (उतरनेका उपाय) पूछा । २ । उसका वचन सुनकर वे सागरसे रास्ता माँगते हैं, उनके मनमें कृपा है । ३ ।

श्रीलमगोड़ाजी—महाकाव्य और नाटकीय कलाके एकीकरणकी युक्ति देखी ! इतनी देरतक कलामें नाटकीयता प्रधान रही और उसका आनन्द आया, फिर किस मजेसे 'सेष सहस सत सकहिं न गाई' से बता दिया कि दूतोंने भगवान्‌को पूरी तरहसे महाकाव्यसम्बन्धी व्यक्तित्वमें पहचान लिया है और उनके 'मानुष तन' धारण करनेसे धोखा नहीं खाया, आख़िर ठहरे तो राक्षसपति रावणके दूत (महाकाव्यमें अधिदैविक विचारसे असुर और देवता भाई भाई ही तो हैं, इसीसे असुरगण देवोंसे नीचे पर और सबोंसे ऊँचे गिने जाते हैं) ।

नोट—१ तेज बल बुद्धि, यथा—उ० ९१ 'मरुत कोटि सत विपुल बल रबि सतकोटि प्रकास' से 'निरुपम न उपमा....' ९२ तक । इसमेंसे 'मरुत कोटि सत बिपुल बल' बलकी, 'रवि सतकोटि प्रकास', 'धूमकेतु सतकोटि सम दुराधर्ष भगवंत' तेजकी और 'सारद कोटि अमित चतुराई । विधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई ।' बुद्धिकी किंचित् उपमा देकर भुशुण्डीजीने कहा है कि ये उपमायें श्रीरामके बल, तेज आदिके सामने ऐसी लघु हैं—'जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै ।' यही भाव है 'बिपुलाई सेष सहस सत सकहिं न गाई' का । जो कुछ भी कहा जाय वह किंचित् ही होगा । सूर्य, चन्द्र और अग्नि ये तीन तेजोमय कहे गए हैं । शतकोटि सूर्य, चन्द्र और अग्नि मिल जायँ तो भी श्रीरामके कणमात्र तेजकी बराबरी नहीं कर सकते । तेज यह है कि शत्रु उसे देखकर काँप उठे, आँख सामने न कर सके । [मिलान कीजिए—'राजन रामु अतुल बल जैसें । तेज निधान लषनु पुनि तैसे । कंपहिं भूप बिलोकत जाकें । जिमि गज हरिकिसोरके ताकें । १ । २९३ ।' तेजकी व्याख्या भगवद्गुणदर्पणमें इस प्रकार है—'स्वानधीनानपेक्षात्वमन्योद्दीपनमित्यपि । आदित्यस्य प्रतापश्च सामन्ताग्निमदर्शनम् । परैरपिरभावत्वं दर्शनादेव दर्शितम् । दुःप्रेक्षत्वं तु येन स्यात्तत्तेजः समुदाहृतम् ।' अर्थात् स्वतंत्र रहनेकी तथा किसीकी अपेक्षा (परवा) न करनेकी

† प्र०-चं०—(१) (३) पायकुलक, 'सक०' ११७८ वाँ, 'तव' ११९६ वाँ भेद ।

भावना तथा दूसरोंको भी उद्दीप्त करनेकी शक्तिका नाम तेज है। सूर्यके समान प्रताप और अग्निके समान सब तरफ़से अप्रधर्षत्व, देखने मात्र ही से दूसरा (शत्रु) प्रभावित हो जाय और यह सब होते हुए भी दुष्प्रेक्ष्यत्व न हो (सौम्यता हो), उसका नाम तेज है।

'बल'—'कितना ही दुर्घट कार्य सामने आ जाय तो भी उसके करनेमें किंचित् श्रम न होना 'बल' है। जैसे अनेकों ब्रह्माण्डोंके धारण करनेमें विष्णु को कभी परिश्रम नहीं होता। यथा—'यायाद्रामस्य गुर्व्यास्तु खेदाभावो बलं गुणः। श्रमो न जायते विष्णोर्ब्रह्माण्डानेक धारणे।'

'बुद्धि—बुद्धिके आठ अंग कहे गए हैं। यथा 'बुद्ध्या ह्यष्टाङ्गया युक्तं।' (वाल्मी० ४।५४।२)। वे अष्टाङ्ग ये हैं—'शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा। ऊहापोहार्थ विज्ञानं तत्वज्ञानं च धीगुणाः।' (वाल्मी० रा० शिरोमणि टीकासे उद्धृत)। शुश्रूषा = गुरुकी सेवा। श्रवण = शास्त्रोपदेशको सुनकर समझना। ग्रहण = सारासार समझकर सारमात्रको लेना। धारण = ग्रहण किये हुए सारको स्मरण रखना। ऊह = तर्क-वितर्क करना। अपोह = युक्तिके बलसे संदेहका निराकरण करना। अर्थविज्ञान = अर्थका समझना। तत्वज्ञान = ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान। नैयायिकोंके मतसे प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह और स्थान इन सोलह पदार्थोंके ज्ञानका नाम तत्वज्ञान है।

जिज्ञासापंचकमें जप, यज्ञ, तप, त्याग, आचार और अध्ययन बुद्धिके छः अंग कहे गए हैं। यथा 'जपो यज्ञात्तपस्त्याग आचारोऽध्ययनं तथा। बुद्धेश्चैव षडङ्गानि ज्ञातव्यानि मुमुक्षुभिः।'

टिप्पणी १—'राम तेज बल बुधि बिपुलाई।००' इति। (क) भाव कि जिनकी कृपादृष्टिसे वानरोंमें अतुलित बल है उनके बलको कौन कह सकता है। (ख) सहस शत शेष नहीं कह सकते। हनुमान्‌जीकी करनी एक शेष नहीं कह सकते, यथा—'नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी। सहसहु मुख न जाइ सो बरनी। ३०। ५।' श्रीरामजी उनके स्वामी हैं, स्वामीका बल अधिक होना ही चाहिए, इसीसे कहा कि रामजीके तेज बल बुद्धिको लाखों शेष नहीं कह सकते। अथवा, सेनाके वर्णनमें साधारण बदन कहा, यथा—'पूँछेहु नाथ राम कटकाई। बदन कोटि सत बरनि०'। और, श्रीरामजीके तेज आदिको वर्णन करनेवाला कोई पण्डित होना चाहिए, अतः कहा कि 'शेष सहससत०।' यह 'कहसि न रिपु दल तेज बल' का उत्तर है।

२ 'सक सर एक सोषि सत सागर।....' इति। (क) विभीषणसे उपाय पूछा, इससे यह न समझो कि उनमें पराक्रम नहीं है और न वे नीति जानते हैं। वे नीतिमें प्रवीण हैं, यथा—'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ। २। २५४।४।', और बड़े पराक्रमी हैं। मंत्रीसे पूछना नीति है, अतः 'नयनागर' कहा। [पुनः, 'नयनागर' का भाव कि आप ऐसे अनीतिमें निरत कि अपने भाईका भी अनादर किया और वे इस प्रकारके नीतिकुशल कि शत्रुके भाईको शरण देकर रक्षा भी की और प्रतिष्ठा देते हुए मंत्र भी पूछा। (मा० त० सु०)] विभीषणजीने कहा था कि आपका बाण 'कोटि सिंधु सोषक' है और दूतोंने 'सोषि सत सागर' कहा। दोनोंका भाव एक ही है, शत, सहस्र, कोटि आदि सब शब्द अनेकवाची हैं, अथवा, विभीषण अधिक माहात्म्य जानते हैं इससे उन्होंने 'कोटि सिंधु सोषक' कहा और दूत उतना माहात्म्य नहीं जानते, अतः उन्होंने 'सत सागर' कहा।

३—तेज, बुद्धि और बलके उत्तर क्रमसे ये हैं—'सक सर एक सोषि सत सागर', 'तव भ्रातहिं पूछेहु नयनागर' और 'रावन काल-कोटि कहँ जाति सकहिं संग्राम।'

नोट—२ रावणने पूछा था—'कहसि न रिपु दल तेज बल बहुत चकित चित तोर', अतएव शुकने प्रथम 'पूँछेहु नाथ राम कटकाई' से 'रावन काल कोटि कहँ जीति सकहिं संग्राम। ५५।' तक रिपुदल कहा। तब 'सक सर एक सोषि सत सागर' यह तेज कहा। और 'सहज सूर कपि....रावन कालकोटि कहँ जीति सकहिं संग्राम' में ही बलका उत्तर आ गया कि जिनका बल पाकर वानर कोटि कालको जीत सकते हैं उनके बलको कौन कह सकता है? बुद्धिका प्रश्न तो रावणने किया ही नहीं तब इसने बुद्धिकी विपुलता क्यों कही?

इससे जान पड़ता है कि वह विभीषणको शरण लेनेपर इतना मुग्ध हो गया है कि उससे रहा न गया, उसे इसमें श्रीरामकी नीति-निपुणता देख पड़ी, अतः उसने 'तव भ्रातहिं पूछेउ नयनागर' कहकर उनकी बुद्धिकी बड़ाई की । अथवा, बल पाँच प्रकारका कहा गया है । बाहुबल (यह साधारण बल है), सत्मंत्रीका बल, ऐश्वर्यका बल, अभिजात वा कौलिक बल (जो पिता, पितामहके समयसे सहजही चला आता है) और बुद्धिबल । बुद्धि बल सबसे उत्कृष्ट बल है, यह बलकाभी बल है, इससे और सब बल प्राप्त हो जाते हैं । यथा—'बलं पंचविधं नित्यं पुरुषाणां निबोधमे । यत्तद्बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते ॥ अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते । धनलाभस्तृतीयं तु बलमाहुर्जिगीषवः ॥ यत्त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम् । अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम् ॥ ये त्वेतानि सर्वाणि संग्रहीतानि भारत । यद्बलानामपिबलं तत्प्रज्ञाबलमुच्यते ॥ महाभारत उद्योग पर्व ।'

वाल्मी० ४ । ५४ । २ में अङ्गदजीको 'चतुर्बलसमन्वितम्' कहा है । चार बल कहनेका कारण संभवतः वहाँ यह हो कि 'बुद्धि' को उसमें साथही साथ अलग प्रथमही कह दिया है । अथवा, किसीके मतसे बल चार ही प्रकारका हो ।

बुद्धिबल ही जिसके पास हो वही सर्वप्रकार बलवान कहा गया है—'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ।' प्रसिद्ध ही है । अतएव शुकने शरीरबल कहकर फिर 'बुद्धिबल' भी कहा । रावणने 'बल' पूछा अतः दूतने इसेभी कहा, क्योंकि यही मुख्य बल है, यह जिसमें नहीं वह 'निर्बल' है ।

टिप्पणी—४ 'तासु बचन सुनि....' इति । (क) भाव कि तुम्हारे भाईसे उपाय पूछा और उनके वचन मानकर सागरके पास जाकर रास्ता माँगते हैं । तात्पर्य यह कि जिससे मन्त्र पूछे, यदि वह उचित कहे तो उसे मानना चाहिए । दूत इसी बातको प्रथमही प्रार्थना कर चुके हैं—'नाथ कृपा करि पूँछेहु जैसे । मानेहु कहा क्रोध तजि तैसे' । (ख) 'कृपा मन माहीं' अर्थात् मनमें कृपा है; इसीसे पंथ माँगते हैं, नहीं तो सोख लेते । समुद्रपर कृपा है उसे न सोखा, विभीषणपर कृपा है इससे उनका मान रक्खा, यद्यपि समर्थ हैं । [भाव कि समुद्र आपका पक्षपाती है तो भी वे किसीकी मर्यादाको भंग करनेकी बात अपने मनमें तनिक भी नहीं लाते क्योंकि मर्यादापुरुषोत्तम हैं । (मा० त० सु०)]

सुनत बचन बिहँसा दससीसा । जौं असि मति सहाय कृत कीसा ॥ ४ ॥
सहज भीरु कर बचन दिढ़ाई* । सागर सन ठानी मचलाई‡ ॥ ५ ॥

अर्थ—वचन सुनतेही रावण खूब हँसा (और बोला) जब ऐसी बुद्धि है तभी तो वानरोंको सहायक बनाया । ४ । स्वाभाविकही डरपोक विभीषणके वचनको दृढ़कर सागरसे मचल रहे हैं (हठ ठाना है । राह न देगा तो डूब मरेंगे । अथवा इससे हठ ठाना कि कोई हँसे नहीं, कह देंगे कि राह न मिली तो हम क्या करते । मचलनेसे बालबुद्धि जनाई) । ५ ।

टिप्पणी—१ 'सुनत बचन बिहँसा....' इति । जबतक 'माँगत पंथ कृपा मन माहीं' नहीं कहा था तबतक कोई छिद्र न मिला था, ये वचन सुनकर उसे बोलनेके लिए छिद्र मिला और वह ठट्ठा मारकर हँसा कि मैं जान गया कि उनमें कुछ बुद्धि नहीं है । समुद्रसे मचलना ठाना इससे जान गया कि बल कुछ नहीं । अथवा, वानरोंको सहायक बनाया इससे उनके बलकी थाह मिली, और, विभीषणको मन्त्री बनाया इससे उनकी बुद्धिकी थाह मिली । हँसकर दूतके वचनोंका निरादर किया ।

२—'सहज भीरु कर बचन दिढ़ाई ।....' इति । (क) रावणने विभीषणका उपदेश नहीं माना था और रामजीने उनकी सलाह मानी; इसीसे वह कहता है कि डरपोकके वचनको उन्होंने दृढ़ किया । (ख)—'भीरु' का भाव कि नीति है कि डरपोकको मन्त्री न करे और उन्होंने डरपोकको मन्त्री बनाया ।—(ऐसा ही अंगदसे कहा है—'अनुज हमार भीरु अति सोऊ ॥ ६ । २३ । ३ ।'

---

* दृढ़ाई—(का०, ना० प्र०) । ‡ 'सुनत०' चरणी, 'जौं०' (५) पायकुलक ।

श्रीराजारामशरण लमगोड़ाजी—धन्य है नाटकीय चरित्रसंघर्षकला (Confict of characters)! रावणको कैसा सुंदर मौक़ा बढ़वत्ती रोकनेका और मज़ाक़ उड़ानेका मिल गया? हास्यकला निछावर है कि मौक़ा हाथसे नहीं जाने दिया, और 'सागर सन ठानी मचलाई' की व्यङ्गपूर्ण आलोचना करके बाज़ी मारता ही जान पड़ता है।

☞ तुलसीदासजीकी शैलीही यह है कि अनेक दृष्टिकोणके विचार किसी भी प्रसंगपर अनेक प्रकारसे किसी-न-किसी द्वारा प्रकट करा ही देते हैं। समुद्रसे मार्ग माँगनेपर विभीषण, लक्ष्मण, रावण-दूत, रावण और समुद्रके विचार देखिये और कलाका आनंद लीजिए, पर सब विचारोंको कविके मत्थे कभी न मढ़िये। 'जितने मुँह उतनी बातें' वाली जनश्रुति बड़ी मार्मिक है।

मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई। रिपु बल बुद्धि थाह मइँ पाई ॥ ६ ॥
सचिव सभीत बिभीपन जाके। बिजय बिभूति कहाँ जग† ताके ॥ ७ ॥

अर्थ—अरे मूर्ख! झूठ क्या बड़ाई करता है। मैंने शत्रुके बल और बुद्धिकी थाह पा ली। ६। जिसके विभीषण सा डरपोक मन्त्री है, उसको संसारमें विजय और विभूति (वैभव, ऐश्वर्य) कहाँ? ।७।

टिप्पणी—१ 'मूढ़ मृषाका करसि०' इति। (क) जिसके कुछ भी बल बुद्धि नहीं उसको बलका समुद्र (बलराशि) समझा और मैं जो बल बुद्धिका समुद्र हूँ सो मुझको कुछ न समझा। इससे निश्चय हुआ कि तू 'मूढ़' है। तुझमें बुद्धि होती तो तुझे यथार्थ समझ पड़ता। तूने झूठेही बड़ाई की। बलबुद्धि होती तो समुद्र सोख लेते, डरपोकके वचनको दृढ़ न करते। ऐसा करनेसे जाना गया कि वे भी डरपोक हैं, शूर नहीं हैं। (ख) 'थाह मैं पाई' का भाव कि तू रिपुके बल बुद्धिको अथाह कहता था और मैंने उसकी थाह पा ली—'जौं असि मति०' से बल की और 'सचिव सभीत विभीपनः०' से बुद्धिकी थाह मिली। (रावणके हृदयमें असूया और गर्वसंचारी भाव हैं)।

२—'सचिव सभीत बिभीषन जाके।....' इति। (क) तात्पर्य कि सभीत मन्त्री संग्रामसे भागता है (भागनेकी सलाह देता है) तब विजय कैसे हो सकती है? और शत्रु सब विभूति ले लेता है, अतः कहा कि विभूति कहाँ है? (ख) विभीषण डरपोक है, उसके इतनी ही बुद्धि है। जब हमारे यहाँ था तब हमसे कहा था कि शत्रुसे विनती करो, जब वहाँ गया तो उनसे कहा कि तुम समुद्रसे विनती करो। इसी कारण तो हमने उसे निकाल दिया पर उन्होंने रख लिया और मन्त्री बनाया। (ग)—राजाको विजय और विभूति अच्छी सेनासे और अच्छे मन्त्रीसे मिलती है, उनकी न सेना अच्छी न मन्त्री अच्छे। दूतने कहा कि 'तव भ्रातहि पूछेहु०', इसीसे रावण उनको मन्त्री कहता है।

सुनि खल बचन दूत रिस बाढ़ी। समय बिचारि पत्रिका काढ़ी ॥ ८ ॥
रामानुज दीन्ही यह पाती। नाथ बँचाइ जुड़ावहु छाती ॥ ९ ॥
बिहँसि बाम कर लीन्ही रावन। सचिव बोलि सठ लाग बचावन ॥१०॥‡

अर्थ—दुष्ट रावनके वचन सुनकर दूतके क्रोध बढ़ आया। उसने अवसर समझकर पत्रिका निकाली (और बोला-) ।८। रामके छोटे भाईने यह पत्रिका दी है। हे नाथ! इसे पढ़ाकर छाती ठंढी कीजिए। ९। हँसकर रावणने उसे बाएँ हाथसे लिया और मन्त्रीको बुलाकर वह शठ उसे पढ़वाने लगा। १०।

श्रीलमगोड़ाजी—हास्यरस संबंधी विचार कुछ ऊपरकी टिप्पणीमें आ ही गए। हाँ, एक बात याद रहे कि फिर हँसीसे निरहसही हुआ और जिसे मैंने 'माष' कहा था वह 'रिस' हो गई और अधिक

† 'लगि'—(का०, ना० प्र०)। ब्र० चं०—'मूढ़०' अनुकूल, 'रिपु०' पायकुलक, (७) तामरस।
‡ (८) (९) पायकुलक, 'बिहँसि०' ११६०वाँ, 'सचिव०' ११६०वाँ भेद।

'बाढ़ी भी'। नाटकीय कलाके विचारसे तो बड़े मौक़ेसे पत्रिका निकालना और जोरसे बोलकर रिसकी प्रगतिके साथ रावणके हाथमें देना कविके कौशलका प्रमाण ही है। पर 'नाथ' का शब्द न भूले और अभिनेता जामेसे बाहर न हो। इस संकेतपर तो कला निछावर है।

टिप्पणी-१ (क) 'रिस बाढ़ी' से जनाया कि जब रावणने अनादरसे हँसकर प्रश्न किया था तभी दूतको क्रोध आ गया था, अब वह क्रोध बढ़ा। यथा—'जब तेहि कीन्ह राम कै निंदा। क्रोधवंत अति भयेउ कपिंदा।' (६।३१।१)। श्रीरामके निन्दकको तलवार निकालकर मारे। रावणने निन्दा की, इसीलिए खड्गके समान पत्रिका निकाली। तलवार म्यानसे बाहर निकाली जाती है और पत्रिका लिफ़ाफ़ेसे बाहर निकाली गई। जैसे तलवार अंग विदीर्ण करती है, वैसेही पत्रिका इसके हृदयको विदीर्ण करेगी, यथा-'सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई'। (ख) 'समय विचारि' अर्थात् वधका समय है। प्रसंगके अनुकूल यह समय है कि रावणने दूतके सब वचनोंको काट डाला, अब पत्रिका देनेका समय है। [दूतने विचारा कि यदि मैं इसकी बातोंका खण्डन करूँगा तो अवश्य यह मुझपर बहुत क्रोध करेगा। अतः इसके मानकी ध्वंसिनी पत्रिकाही ठीक है जिससे इसका मानभंजन होगा। (मा० त० सु०)] इस वाक्यमें ध्वनि यह है कि जो आप पूछते हैं कि भेंट हुई या फिर गए, सो इस पत्रिकासे समझ लीजिए कि क्या वे लौटनेवाले हैं!

२—'रामानुज दीन्ही यह पाती....' इति। (क) रावणने दोनों भाइयोंकी बात पूछी थी, यथा—'कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी।'; इनमेंसे रामजीकी बात तो कह चुका, अब लक्ष्मणजीकी बात कहता है। (ख) लक्ष्मणजीने दूतोंसे कहा था कि रावणसे कहना कि यह लक्ष्मणजीकी पत्रिका है, यथा-'रावन कर दीजहु यह पाती। लछिमन बचन बाँचु कुल घाती। ५२।८।' इसीसे दूतने कहा कि 'रामानुज दीन्ही०'। (ग) श्रीलक्ष्मणजीने अपना नाम बतानेको क्यों कहा? इसलिए कि पहलेही न बता दिया जायगा तो वह उसे श्रीरामजीकी पत्रिका समझकर अपमान करेगा जिससे रामजीमें न्यूनता आवेगी। (घ) लक्ष्मणजीने कहा था कि उससे कहना कि 'लछिमन वचन बाँचु कुलघाती' पर दूत कहते हैं कि 'बँचाइ जुड़ावहु छाती'। ऐसा कहनेका कारण यह था कि दूतने रावणकी खलता देखकर जान लिया कि यह ठीक ठीक न 'बाँचेगा' और दूसरेसे पढ़ावेगा तो वह जो कुछ लिखा है, वही पढ़ेगा। अतएव पढ़ानेको कहा। [नोट—दूसरेसे पढ़वानेसे सभा भर जान जायगी, रावण स्वयं पढ़ लेता तो दूसरोंको न मालूम होता और न रावण लज्जित होता। दूसरे, रावणके मंत्रियोंने कहा था कि 'नर बानर केहि लेखे माहीं', अतः वे भी पढ़ सुनकर लज्जित होंगे] यह तो अन्तःकरणका अभिप्राय हुआ और ऊपरसे यह दिखाया कि शत्रुकी पत्रिका है, अतएव आप न पढ़ें, मंत्रीको बुलाकर पढ़वा लें। (ङ) 'जुड़ावहु छाती' यह व्यंग है, उसे सुनकर उसकी छाती जलेगी न कि ठंढी होगी। यथा—'सुनत सभय मन....'। पुनः, 'जुड़ावहु' का भाव कि मेरी बात झूठी समझकर क्रोधाग्नि तेज होती है, छाती जलती है, तो इस पत्रिका को बाँचकर मेरे वचनको सत्य मानकर छाती ठंडी कर लीजिए।

३—'बिहँसि बाम कर०' इति। हँसना निरादरार्थ है, बाएँ हाथसे लेना भी निरादर है। अथवा, बाम (शत्रु) की पत्रिका है इससे बाएँ हाथमें ली। पत्रिकाकी बात न मानेगा। अतः शठ कहा। ('सचिव बोलि' से ज्ञात होता है कि शुकसे यहाँतक एकान्तमें बातें हुईं, अब मंत्री बुलाए गए।)

दो०—बातन्ह मनहि रिझाइ सठ जनि घालसि कुल खीस।
राम बिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज ईस*॥
की तजि मान अनुज इव प्रभु पद पंकज भृंग।
होहि कि राम सरानल खल कुल सहित पतंग†॥ ५६॥

* भ० चं—दोहा दोहरा मिश्रित, दोहरा। † दोहरा—(भ० चं०)

शब्दार्थ—खीस=नष्ट, बरबाद, नाश। घालना=कर डालना। यथा—'कोहि के बल घालेहि बन खीसा', 'सो भुजबल राख्यो उर घाली'।

अर्थ—अरे शठ! बातोंसे मनको रिझाकर (प्रसन्न करके) कुलका नाश न कर। रामविरोधसे ब्रह्माविष्णुमहेशकी शरण जानेपर भी न बचेगा। या तो अभिमान छोड़कर अपने छोटे भाईकी तरह प्रभुके चरणकमलका भौंरा बन और चाहे (अर्थात् नहीं तो) अरे खल! श्रीरामजीके बाणरूपी अग्निमें कुलसहित पतंगा हो अर्थात् शरण न आनेसे कुलका नाश होगा। (अत्र दोनोंमेंसे जो रुचे सो कर)। ५६।

टिप्पणी—१ (क) मन, वचन और कर्म तीनही होते हैं। तीनोंके विषयमें कहते हैं कि तू बातोंसे और मनसे वीर बना बैठा है, पर युद्धमें तेरे किए कुछ न होगा, तू न बचेगा। [बातें यह कि ब्रह्माशिवसे वर पा चुका हूँ, कैलाश उठा लिया, समग्र देवता, दिग्पाल आदि मेरे नौकर हैं, नर वानर मेरा क्या कर सकते हैं। एवं कुमंत्रियोंकी ठकुरसुहातीके वचन। इत्यादि] (ख) 'जनि घालसि कुल खीस' इति। भाव कि पुलस्त्य ऋषिका उत्तम कुल है, ऐसे कुलके नाशमें खेद होता है; इसीसे कुलके नाशका निषेध करते हैं। (ग) 'रामबिरोध न....ईस', यथा-'संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही। २३।८।', 'ब्रह्मा स्वयंभूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा त्रातुं न शक्ता युधि रामवध्यम्। वाल्मी०। ५।५१।४४।', विष्णुका रक्षण-धर्म मुख्य है अतः यहाँ दोहेमें उन्हें प्रथम कहा। अथवा, एकएक बार सबको प्रथम कहा—(ऐसा करके तीनोंको एक समान प्रधान जनाया), यथा—'संकर सहस बिष्नु अज तोही', 'ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही। ६। २७।' तथा यहाँ 'सरन बिष्नु अस ईस'।

२—'पदपंकज भृंग' अर्थात् प्रभुके चरण कमलरूप हैं, तापके हरनेवाले हैं, उनका रसिक होकर सुखरूपी मकरंद पान कर। चाहे भ्रमर की जोड़में पतङ्ग होकर शरानलमें जल, तापको प्राप्त हो, दुःख भोग कर।—यही पत्रिकामें लिखा है।

श्रीलमगोड़ाजी—ये दोनों दोहे पत्रिकाके अंतिम अंश अर्थात् टीपके बंद ही हैं और संभवतः ज्योंके त्यों दिये गए हैं। हैं भी बड़े जोरके। विस्तार भयसे व्याख्या नहीं की जाती। जिसे वाग्विलासका अन्त समझना चाहिए वे पद हैं अवश्य ऐसे कि वाणी निछावर हो।

नोट—मात्राकी कमीके विचारसे इस दोहेका पाठ आजकलके संशोधक पंडितोंने 'की तजि मान' के बदले 'होउ मान तजि' और 'होहि कि रामसरानल खल' की जगह 'रामसर अनल खल जनि' कर दिया है! पर प्राचीन पाठ वही है जो ऊपर दिया गया। प्राचीन दोहेकी शुद्धताके विषयमें श्रुतबोधका प्रमाण है—'संयुक्ताद्यं दीर्घं सानुस्वारं विसर्ग संमिश्रम्। विज्ञेयमक्षरं गुरु पादान्तस्थं विकल्पेन'। इसके अनुसार पदके अन्तका अक्षर (लघु) विकल्पसे गुरु माना जाता है। इस प्रकार मात्राकी पूर्ति हो जाती है। श्रीलमगोड़ाजी कहते हैं कि मुझे तो विरोधालंकारके और उभारनेके लिये नाटकीय कलाके शब्दगुणके विचारसे यह अधिक ठीक जान पड़ता है कि प्रारंभका 'की' ही इतना बढ़ाकर बोला जाय कि मात्राकी कमी पूरी हो जाय।

सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई॥ १॥
भूमि परा कर गहत अकासा। लघु तापस कर बाग बिलासा॥ २॥

अर्थ—सुनकर (रावण) मनमें डरा पर (डर छिपानेके लिए) मुखसे हँसकर और सबको सुना कर रावण कहता है। १। जैसे कोई पृथ्वीपर पड़ा हुआ हाथसे आकाशको पकड़ना चाहे वैसेही इस छोटे तपस्वीकी वाणीका विलास (वचनचातुरी, मनोरंजक वाक्यमात्र) है। २।

टिप्पणी-१ (क) 'सुनत सभय मन....' इति। पत्रिका सुनकर मन सहम गया, मुखपर उदासी आ गई। मुखपर उदासी आनेसे हृदयका भय खुल जाता, इसीसे उनकी लघुता सबसे सुनाकर कहता है। पहले

ब्र० चं०—तामरस।

मनका भय मुखसे हँसकर छिपाया फिर उसीको वचनद्वारा छिपाया। मुसुकाना थोड़ेही लोगोंने देखा जो पास थे और वचनसे सब लोग जानेंगे कि इसको भय नहीं है। अतः सबको सुनानेके लिये वचन कहे। (ख) 'दसानन' से जनाया कि दशोमुखोंसे बोला, यथा—'दसमुख बोलि उठा अकुलाना।' (६।५।१०)।' जहाँ जहाँ भयसे घबड़ाकर बोला, वहाँ वहाँ ऐसा ही लिखा है। (ग) इस प्रसंगमें चार बार हँसना लिखा गया। 'बिहँसि दसानन पूछी बाता'; 'सुनत बचन बिहँसा दससीसा'; 'बिहँसि वाम कर लीन्हीं रावन', और 'सुनत सभय मन मुखु मुसुकाई'।

श्रीलमगोड़ाजी—कवि सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म अंतरको जान लेता है और प्रकट कर देता है। इसीसे तो क्रान्तदर्शी और सूक्ष्मदर्शी कहा जाता है। हँसी और शब्दोंसे दूत धोखा खा गया और क्रोध समझा; पर कवि स्पष्ट कहता है कि 'सभय मन' है। अंग्रेजीमें जो कहावत है कि 'A bully is a Coward turned inside out', उसे हमारे मित्र यहाँ प्रमाणित बनावेंगे।

टिप्पणी—२ 'भूमि परा कर गहत अकासा।....' इति। अर्थात् हमको चिट्ठी द्वारा भय दिखाकर जीतना चाहता है। कोई बैठकर या खड़े होकर तो आकाशको पकड़ही नहीं सकता, पृथ्वीपर पड़ा हुआ भला कैसे पकड़ सकता है? वैसेही यह तपस्वी हमें किसी तरह जीत तो सकते ही नहीं, बातोंसे जीतना चाहते हैं। राजाभी होते तो कुछ बल समझा जाता, अब तो ये राजभ्रष्ट और बलहीन हैं, करही क्या सकते हैं? [धरती पर पड़ा हुआ जिसको अपनेसे उठकर बैठनेका भी सामर्थ्य नहीं वह भला आकाशको क्या पकड़ेगा। भाव यह कि स्वयं तो राज्यसे निकाल दिया गया, वनोंमें भटकता फिरता है, सामर्थ्य होता तो बापके दिये हुए राज्य पर बैठ जाता। दूसरोंको राज्य देता फिरता है और मुझ त्रैलोक्यविजयी रावणको सामनीति बरतनेको कहता है। बढ़-बढ़कर बातें मारता है]। श्रीलक्ष्मणजीने लिखा कि 'बातन्ह मनहि रिझाइ सठ' इसीसे उत्तरमें रावण कहता है कि 'लघु तापस कर बाग बिलासा'।

प० प० प्र०—'भूमि परा' में भाव यह है कि सार्वभौम राजसत्ताको खो बैठे, क्षत्रियत्व छोड़कर तपस्वी बने। अब पूर्वका वीर्य-शौर्य पुरुषार्थ तो कुछ रहही न गया, तब 'वाचिवीर्यं द्विजानां' बता रहे हैं।

कह सुक नाथ सत्य सब बानी। समझहु छाड़ि प्रकृति अभिमानी॥ ३॥
सुनहु बचन मम परिहरि क्रोधा। नाथ राम सन तजहु बिरोधा॥ ४॥

अर्थ—शुकने कहा कि 'हे नाथ! 'अभिमानी प्रकृति (स्वभाव) को छोड़कर सब वाणीको सत्य समझिए। ३। हे नाथ! क्रोध छोड़कर मेरा वचन सुनिए। हे नाथ! श्रीरामजीसे वैर छोड़िए। ४।

टिप्पणी १—(क) लक्ष्मणजीकी वाणीको उसने वाग्विलास कहा अर्थात् यह सब झूठ है। उसीपर दूत कहता है कि यह वाग्विलास नहीं है, वरन् सत्य है, रामसे विरोध करके सत्यही तुम बच नहीं सकते, रामशरानलमें सत्य ही तुम्हारा कुल भर जल मरेगा—यह जो कुछ चिट्ठीमें लिखा है सब सत्य है। 'सत्य सब बानी' से जनाया कि जैसा पत्रिकामें लिखा था वैसा ही सब शुकने भी कहा। (ख)—अभिमानी अपने आगे किसीको भी कुछ नहीं समझते। और न किसीकी मानते हैं। यथा 'अस कहि चला महा अभिमानी। तृन समान सुग्रीवहि जानी। ४।८।१।', 'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना। ४।९।९।' इसीसे समझनेको और अभिमान छोड़नेको कहा। 'समझहु' से जनाया कि वाणी गंभीर है, समझने के योग्य है, अभिप्राययुक्त है, समझनेसे ही समझ पड़ेगी, तुम्हें अभिमानके मारे समझ नहीं पड़ती, अभिमान छोड़कर समझनेसे समझ पड़ेगी।

अति कोमल रघुबीर सुभाऊ। जद्यपि अखिल लोक कर राऊ॥ ५॥
मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिही।† उर अपराध न एकौ धरिही॥ ६॥

† करिहौं, धरिहौं (क०, ना० प्र०)

जनकसुता रघुनाथहि दीजे† । एतना कहा मोर प्रभु कीजे ॥ ७ ॥

अर्थ—श्रीरघुवीरका स्वभाव अत्यन्त कोमल है यद्यपि वे समस्त लोकोंके राजा हैं। ५। मिलते ही प्रभु आपपर कृपा करेंगे, हृदयमें एक भी अपराध न धारण करेंगे। ६। श्रीरघुनाथजीको जनकसुता दे दीजिए। हे प्रभो! इतना कहना मेरा कीजिए। अर्थात् और चाहे कुछ न मानिए पर इतना अवश्य मानिए, चाहे आपकी इच्छा भी न हो)। ७।

टिप्पणी—१ (क) श्रीरघुवीरके स्वभावमें दूतोंका प्रेम है, क्योंकि वह स्वभाव उनके हृदयमें पैठ गया है। यथा—'प्रगट बखानहिं राम सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ।' (५२।१)। इसीसे रावणसे भी उन्होंने स्वभाव कहा। (ख) कोमलता आँखों देखी और कानों सुनी है, यथा—'जो नर होहि चराचर द्रोही००' इत्यादि। (ग) 'जद्यपि अखिल लोक कर राऊ' का भाव कि थोड़ासा भी राज्य पाकर राजाओंका स्वभाव कठोर हो जाता है और ये अखिल लोकोंके राजा हैं तो भी इनका कोमल स्वभाव है, शुद्ध सात्विक स्वभाव है, रजोगुणी वा तमोगुणी नहीं है।

२ 'मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु०' इति। (क) राजस वा तामस वृत्तिवाले राजाओंका अपराध करके फिर उनसे मिलो तो वे क्रोध करते हैं, पर रघुवीरका स्वभाव ऐसा नहीं है, वे मिलते ही कृपा करेंगे और अपराध समझकर कभी त्याग न करेंगे—ऐसा अत्यन्त कोमल स्वभाव है। श्रीरामजीके मुखसे सुना कि 'कोटि बिप्र बध लागहि जाहू।....', वही उसने यहाँ रावणसे कहा। (ख) 'अपराध न एकौ' का भाव कि तुमने बहुत अपराध किये हैं। जैसे कि सीताहरण, जटायुवध, हनुमान्‌जीकी पूँछ जलाना, विभीषणको लात मारना, भूतद्रोह, देवमुनियोंसे द्रोह, इत्यादि। तुम्हारा छोटा भाई मिला, उसे लंकाका राज्य दिया। तुम बड़े हो, मिलोगे तो तुमपर भी कृपा करेंगे। कृपाका फल न जाने क्या दे दें। अपराध क्षमा करेंगे और कृपा करेंगे, इन बचनोंसे भयकी निवृत्ति करता है।

३ (क) 'जनकसुता रघुनाथहि दीजे' इति। 'मोरे कहे जानकी दीजे। २२।१०।' में देखिए। (ख) 'सीता देइ मिलहु' यह लक्ष्मणसंदेश है; पर दूतने लक्ष्मणसंदेश उनकी ओरसे न कहकर उसे अपनी ओरसे कहा—'एतना कहा मोर प्रभु कीजे'। ऐसा क्यों किया? क्योंकि वह जानता है कि लक्ष्मणजीकी ओरसे कहनेसे रावण उन्हें गाली देगा. जो हमको न सुननी चाहिए, यथा—'हरि हर निंदा सुनहिं जे काना। होइ पाप गोघात समाना'। अपनी ओरसे कहनेमें हमें जो चाहे सो करे। अपनी ओरसे कहा तब 'चरनप्रहार कीन्ह सठ तेही'। यहाँ शुक भूला—यदि वह लक्ष्मणजीका संदेश कहता। तो न मारा जाता। अपनी ओरसे कहा इससे मारा गया। जैसे, विभीषणने जब पुलस्त्यका संदेश कहा कि वैदेही दे दो तब रावणने न मारा और जब अपनी ओरसे कहा तब मारे गये। (ग) मेरा कहा करो। ऐसा कहनेसे अभिमानीका मान रह जाता है। इसीसे सब लोगोंने ऐसाही कहा—'मोरे कहे जानकी दीजे' (श्रीहनुमान्‌जी), 'तात चरन गहि माँगौं राखहु मोर दुलार' (श्रीविभीषणजी), तथा यहाँ। इत्यादि।

श्रीलमगोड़ाजी—भगवान्‌की कोमलताका विचार करतेही दूतकी वाणी और विचार दोनोंमें कोमलता आ गई। अब वह अपील करता है और अपनी तरफ़से केवल लक्ष्मणजीके संदेशको दोहराता नहीं है।

प० प० प्र०—लक्ष्मणजीने जो मौखिक संदेश कहनेको कहा था वह उसने नहीं कहा; पर अपनी विनयके ढंगपर उसका सार सुना दिया। इसमें मुख्य हेतु यह है कि अब शुक रावणका तथा लंकाका त्याग करना चाहता है। वह जानता है कि दूतका स्वामीको उपदेश करना अनधिकार चेष्टा है, अपराध है। रावण दंड दिये बिना न रहेगा। जिसने भाईको पदप्रहार करके निर्वासित किया वह क्या अपराधी दूतको क्षमा करेगा? कदापि नहीं। अतः शुकने जानबूझकर ही यह अपराध किया।

---

† दीजै, कीजै—(ना० प्र०)। 'कह०' नयमालिनी। 'जनकसुता०' तामरस। शेष पायकुलक।

जब तेहिं कहा देन बैदेही। चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही॥ ८॥
नाइ चरन सिरु चला सो तहाँ। कृपासिंधु रघुनायक जहाँ॥ ९॥

अर्थ—जब उसने वैदेहीको देनेके लिये कहा तब उस शठने उसे लात मारी। ८। वह चरणोंमें सिर नवाकर वहाँको चला जहाँ दयासागर श्रीरघुनाथजी (सिंधुतटपर बैठे) हैं। ९।

टिप्पणी—१ (क) जबतक रामजीकी बड़ाई की, रावणकी न्यूनता दिखाई और कठोर वचन बोला—'अस कपि एक न सेना माहीं। जो न तुम्हहिं जीतै रन माहीं'—तबतक क्रोध न किया क्योंकि दूतने बारंबार विनय की है कि वचन सुनकर क्रोध न कीजिएगा। सबके पीछे वैदेहीजीको देनेकी बात कही क्योंकि यदि प्रथम कहता तो प्रथम ही मार खाता, श्रीरामजीकी बड़ाई और कृपालु कोमल स्वभाव कहनेको रह जाता। [दूसरे, अभी तक उसने जितना दूतका अधिकार था उतना ही कहा। आगे बिना पूछे उपदेश देने लगा तब रावण न सह सका। पूर्व ५१ (८) में लिखा जा चुका है कि (वाल्मी० रा० में) रावणने कहा है कि तुम मंत्री होने योग्य नहीं हो। तुम वध करने योग्य हो पर तुम्हारे पूर्वकृत उपकारोंसे मैं तुम्हें छोड़े देता हूँ। हमारे सामनेसे दूर हो, अब मुँह न दिखाना। 'चरण प्रहार' वाल्मी० और अ० रा० में नहीं है।]

२ वक्ता उसे 'शठ' विशेषण देते हैं क्योंकि शठसे विनय करना व्यर्थ ही होता है—'सठ सन बिनय....'। यह शठ है इसने बिनती न मानी, उलटे चरणका प्रहार किया।

३ 'नाइ चरन सिरु....' इति। (क) ['चला सो' से जनाया कि यद्यपि दूत तो सारण, शार्दूल आदि और भी इसके साथ भेजे गए थे पर डाँट-फटकार इसीको हुई, कारण कि यही सबका नेता था, रावणने सब इसीसे पूछा और इसीने उत्तर दिया और सब यद्यपि साथ आये थे, यथा 'रावन चरन सीस तिन्ह नाये', तथापि वे सब अलग चुप खड़े रहे। रावणने शुकको ही नेता बनाकर भेजा था क्योंकि ऐसा पूर्वसे ही विधान विधाताने रच दिया था। अगस्त्यजीने शापानुग्रह करते हुए यही कहा था कि रावण तुमको दूत बनाकर भेजेगा तब तुम रामदर्शन पाकर शापसे मुक्त हो जाओगे, फिर रावणको तत्वज्ञानका उपदेश करोगे, तब तुम पुनः पूर्व मुनिशरीर प्राप्त करोगे। इसीसे शुक ही उपदेश करनेपर निकाला गया। और रामदर्शन पाकर पूर्व मुनिशरीर उसने प्राप्त किया। डरके मारे दलमें न गया कि कहीं वे फिर न बाँधकर मारें। (ख) शुकने आदिसे अन्ततक अपना धर्म निबाहा था। आदि और अन्त दोनोंमें प्रणाम किया, यथा—'कहत रामजस लंका आये। रावन चरन सीस तिन्ह नाये' और यहाँ 'नाइ चरन सिरु'। जैसे श्रीविभीषणजीने किया था। यथा 'अवसर जानि बिभीषन आवा। भ्राताचरन सीस तेहि नावा' और 'अनुज गहे पद बारहि बारा'। (ग) चरणोंमें सिर नवाकर चला कि आपने बड़ी कृपा की कि लात मारकर विषयोंसे छुड़ा रामसन्मुख कर दिया। (घ) 'कृपासिंधु' विशेषण देकर जनाया कि इसपर श्रीरामजी कृपा करेंगे।

श्रीलमगोड़ाजी—नाटकीय कलामें विरोधी प्रगतियोंके संकेत बड़े उत्तम हैं; विशेषकर दूतवाली, कारण कि यदि वैसी प्रगतियोंके संकेत न होते तो संभव था कि अभिनेता गलती कर जाता। जो अपीलकी भावना और भगवान् रामकी सहनशीलता (कोमलता) के प्रभावोंके विरुद्ध 'रिस' का ही रूप लिये रहतीं।

करि प्रनामु निज कथा सुनाई। रामकृपा आपनि गति पाई॥ १०॥
रिषि अगस्ति की † साप भवानी। राछस भएउ रहा मुनि ग्यानी॥ ११॥
बंदि राम पद बारहि बारा। मुनि निज आश्रम कहुँ‡ पगु धारा††॥ १२॥

अर्थ—उसने प्रणाम करके अपनी कथा सुनाई और श्रीरामजीकी कृपासे अपनी गति पाई। अर्थात् अपने पूर्व मुनि स्वरूपको प्राप्त हुआ।१०। हे भवानी! यह ज्ञानी मुनि था। अगस्त्य ऋषिके शापसे राक्षस

* 'चरन०' नयमालिनी, ९ में २८७, ३१५ वें भेद। † के—ना० प्र०। श्राप-का०। ‡ कहु—भा० दा०। †† 'करि०', (११), 'मुनि०' पायकुलक, 'राम०' अनुकूल, 'बंदि०' 'स्वागता।

हो गया था।११। बारंबार श्रीरामजीके चरणोंकी वन्दना करके वह मुनि अपने आश्रमको चला गया।१२।

टिप्पणी—१ 'निज कथा' यह कि मैं रावणका दूत हूँ। विभीषणके पीछे रावणने मुझे भेजा था, वानर मुझे पहिचानकर नाक कान काटने लगे तब आपकी दोहाई देनेपर श्रीलक्ष्मणजीने छुड़ा दिया और रावणके लिए पत्रिका दी। हमने जाकर पत्रिका दी और विनती की कि श्रीसीताजीको जाकर दो और शरण हो, यह सुनकर उसने लात मारी, तब मैं भागकर प्रभुकी शरण आया। इतना कहते ही वह श्रीराम-कृपासे मुनि हो गया। प्रणाम करतेही प्रभुने अपना लिया—'सकृत प्रनाम किये अपनाये', 'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। तत्काल तुलसीदास जीवन जन्मको फल पाइहै'—(विनय)।

'शुक'—यह पूर्व जन्ममें वेदज्ञ ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण था। यह वानप्रस्थ विधिसे अपने धर्म कर्ममें स्थित होकर वनमें रहता था। देवताओंकी वृद्धि और राक्षसोंके नाशके लिए इसने वनमें बसकर बहुत यज्ञ और तप किए। अतः राक्षस इससे वैर रखते थे। वज्रदंत नामक राक्षस इसके पीछे पड़ा था। विप्रदेवका अपकार करनेपर उतारू होकर वह अवसरकी घातमें रहने लगा। एक दिन अगस्त्यजी मुनिके आश्रममें आए। मुनिने उनको भोजनके लिए निमंत्रित किया। अगस्त्यजी स्नान करने गए। उसी समय वह राक्षस उनका रूप धरकर मुनिके पास आया और इनसे कहा कि बकरेका मांस भोजन करेंगे वही बनाना। शुक-मुनिने मांस बनाया और अन्य बहुत प्रकारके भोजन भी बनाए। जब अगस्त्यजी आ गए और भोजन करने बैठे तब राक्षसने मुनिकी स्त्रीको मोहित कर दिया और स्वयं स्त्री बनकर मनुष्यका मांस भोजनमें मिलाकर अगस्त्यजीके आगे परोसकर गायब हो गया। मुनिने अपने आगे अभक्ष्य मनुष्यका माँस देख शाप दे दिया कि तू राक्षस हो जा और मनुष्यका मांस खाया कर। मुनिने प्रार्थना की कि आप ऐसा ऐसा कह गए थे, अब मेरा क्या अपराध ? अगस्त्यजीने ध्यान करके सब हाल जान लिया तब शापानुग्रह किया कि तुम जाकर रावणके सहायक होगे। वह तुमको गुप्त दूत बनाकर भेजेगा, रामदर्शन करनेपर तुम शापमुक्त हो जाओगे और लौट-कर तुम रावणको जाकर तत्वज्ञानका उपदेश करोगे तब तुम मुक्त होकर परम पद प्राप्त करोगे। मुनिवर अगस्त्यके ऐसा कहने पर वह राक्षस होकर रावणके पास रहने लगा। अब श्रीरामदर्शनकर वह पुनः पूर्ववत् ब्राह्मण शरीर हो वानप्रस्थोंके साथ रहने लगा। (अध्यात्म रा० ६। ५। ५-२४)।

मा० त० सु०—'मुनि ज्ञानी' का भाव कि वह ज्ञानके अभिमानमें सदा मग्न रहता था, भक्त न था, इसीसे पतनको प्राप्त हुआ, यथा—'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभ-पदादपि परत हम देखत हरी'।

टिप्पणी—२ शुकके वचन सुनकर श्रीरामजी कुछ न बोले; कारण कि वे मौनव्रतमें हैं। राम-कृपासे पुनः मुनिस्वरूप प्राप्त हो गया, अतएव बारंबार प्रणाम करते हैं। जैसे अहल्या अपना स्वरूप पानेपर 'बारबार हरिचरन परी'। मुनि हो गया, इसीसे अब मुनि कहा।

दो०—बिनय न मानत जलधि जड़ गये तीन दिन बीति।
बोले राम सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति॥ ५७॥

लछिमन बान सरासन आनू। सोखौं बारिधि बिसिप कृसानू॥ १॥*

अर्थ—जड़ समुद्र विनय नही मानता, तीन दिन बीत गए। तब श्रीरामजी कोपसहित बोले कि बिना भयके प्रीति नहीं होनेकी।५७। लक्ष्मण! धनुषबाण लाओ। मैं अग्निबाणसे समुद्रको सोख लूँ।१।

नोट—१ 'बिनय न मानत....' इति। भाव यह कि तीन दिनतक बिनती करनेपर समुद्रने दर्शन नहीं दिये, इससे जान पड़ता है कि उसे बड़ा गर्व है। हम जानते हैं कि शान्ति, क्षमा, सरलवृत्ति और प्रियवादिता

* प्र० चं०—५७ वानर दोहा, 'लछिमन०' तामरस, 'सोखौं' पायकुलक।

इत्यादि साधुओंके गुणोंका, गुणरहित दुर्जनोंके समक्ष, प्रयोग असमर्थताका सूचक होता है। जो गुणहीन होनेपर भी अपनी शूरता आदिकी प्रशंसा करते फिरते और विना प्रयोजन ही लोगोंको दंड दिया करते हैं उन्हीं लोगोंका सत्कार दुराचारी अहंकारी लोग किया करते हैं।....यथा 'प्रशमश्च क्षमा चैव आर्जवं प्रियवादिता। १४। असामर्थ्यफला ह्येते निर्गुणेषु सतां गुणाः। आत्मप्रशंसिनं दुष्टं धृष्टं विपरिधावकम्। १५। सर्वत्रोत्सृष्टदण्डं च लोकः स कुरुते नरम्। न साम्ना शक्यते कीर्तिर्न साम्ना शक्यते यशः। १६।' (वाल्मी० ६।२१)। इसी तरह अ. रा. में कहा है कि इसने मेरा अभिनन्दन नहीं किया, समझता है कि यह एक मनुष्य ही तो है, मेरा क्या कर सकता है। यथा—'जानाति मानुषोऽयं मे किं करिष्यति वानरैः।' (६।३।६२)। यह सब जो श्रीरामजीने कहा है यह इस दोहेके पूर्वार्ध और 'भय बिनु होइ न प्रीति' से कविने सूचित कर दिया है।

टिप्पणी—१ (क) 'गये तीन दिन बीति' से सूचित हुआ कि तीन दिनका प्रमाण करके बैठे थे, उसके बीत जानेपर चौथे दिन बोले। (ख) विनय नहीं मानता क्योंकि जड़ है, यथा—'गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कै नाथ सहज जड़ करनी'। (ग) 'बोले राम सकोप तब' का भाव कि अपना कोप पहले वचनसे कहकर दिखाते हैं; जिसमें वह सुनकर हाज़िर हो जाय, बाणका अनुसंधान न करना पड़े।—यह श्रीरामजीके हृदयकी कृपा है। जो पूर्व कह आए कि 'माँगत पंथ कृपा मन माहीं' वही कृपा अब भी मनमें है; नहीं तो इसके कहने का कोई प्रयोजन न था। 'तीन दिन बैठे' क्योंकि समुद्र तीर्थ है और तीर्थमें तीन रात निवास करना शास्त्रमें लिखा है। [प. पु. सृष्टिखंडमें श्रीरामजीने श्रीभरतजीसे कहा है कि हम तीन दिनतक समुद्रतटपर इस आशासे ठहरे रहे कि वह हमें दर्शन देगा और अपना कुटुम्बी समझकर मेरा कार्य करेगा। (अ० ३५)] जड़ प्राणी विनयसे प्रीति नहीं करते, भयसे प्रीति करते हैं।

शंका—समुद्रने हनुमान्‌जीको रामदूत जानकर उनको विश्राम देनेके लिए मैनाकको भेजा था। श्रीरामजी तीन दिन तक बैठे रहे; इनके पास क्यों न आया ? समाधान-(क) हनुमान्‌जीका पुरुषार्थ देखकर तब मैनाकको भेजा था और श्रीरामजीके वचन सुनकर माधुर्यमें भूल गया। 'सुनु कपीस लंकापति बीरा। केहि बिधि०० दुस्तर सब भाँती'। इसीसे मार्ग न दिया। गंगाजीभी इसी तरह मोहको प्राप्त हुई थीं—अ० १०१ (५) देखिये। जब श्रीरामजीका बल उसने देखा तब वह प्रसन्न हुआ और मार्गका उपाय बताया।—'देखि रामबल पौरुष भारी। हरषि पयोनिधि भयउ सुखारी।' (६०। ७)। ५९ (१) देखिए। अथवा, (ख) उत्तरतटवासियोंका नाश करानेके लिए न आया जिसमें प्रभु क्रोध करके बाण संधान करें तब मैं जाकर प्रार्थना करके उसी बाणसे उनका नाश कराऊँ जैसा आगे स्पष्ट है—'यह सर मम उत्तर तटवासी। हतहु नाथ०'।

मा० त० सु०—यदि वह चाहता तो प्रथमही प्रार्थना कर उत्तरतट-वासियोंको मरवाकर अपना कष्ट दूर कर लेता क्योंकि दुष्टनिग्रहके लिए तो प्रभुका अवतार ही था, यथा—'खलदल-दलन देवहितकारी'। परन्तु यहाँ पहले प्रभुकी अवज्ञा कर क्रोध उत्पादन किया, पीछे शरणमें आकर दुःख निवेदन किया, यही जड़ता है।

टिप्पणी—२ 'भय बिनु होइ न प्रीति' से जनाया कि प्रीति करनेके लिए कुपित वचन सुनाकर भय दिखाया, हृदयमें क्रोध नहीं है।

३ 'लछिमन बान००' इति। (क) यह वचन द्वारा भय दिखाया जैसे सुग्रीवको दिखाया था, यथा—'भय दिखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव'। लक्ष्मणजी सदा श्रीरामजीकी सेवामें हाज़िर रहते हैं, अतः कहा कि 'लछिमन००'। यदि वे सेनामें होते तो ऐसा कदापि न कहते। (ख) धनुषबाण माँगकर जनाया कि वे व्रतमें निरायुध बैठे हैं। माँगते ही उन्होंने धनुषबाण हाज़िर कर दिए, इसीसे आगे कहते हैं कि 'अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा'। (ग) वारिको सोखनेको कहते हैं इसीसे 'बारिधि' पद दिया। [सोखनेका भाव कि जो इसका गर्व है कि मैं जलका अधिष्ठान हूँ यह गर्व मिटा दूँगा; दूसरे सारी सेना विना प्रयास पैदलही उस पार चली जायगी। 'बिसिख कृसानू' से जनाया कि यह अग्निबाण है। ☞ भारतवासी देखें कि उस समय हमारे यहाँ की धनुर्विद्या कितनी बढ़ी चढ़ी थी। हम पाश्चात्य शिक्षा पाकर अपने शास्त्रों की निन्दा करने लगे, अपनी

संस्कृति ही भूल गए और स्वतंत्रता प्राप्त करके भी हम अपनी आँखोंसे नहीं देखना चाहते। न उस प्राचीन संस्कृतिकी ओर ध्यान देते हैं। (घ) श्रीलक्ष्मणजीसे जो कहा था कि 'ऐसइ करब....' उसे चरितार्थ किया। लक्ष्मणजीने कहा था 'करिय मन रोषा', अतः 'बोले राम सकोप' और 'सोखिय' अतः 'सोखौं वारिधि' कहा]

सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपन* सन सुंदर नीती॥ २॥
ममता-रत सन ज्ञान कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी॥ ३॥
क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बए फल जथा† ॥ ४॥

अर्थ—मूर्खसे विनय, कुटिलसे प्रीति, स्वाभाविक कृपण (कंजूस) से सुन्दर नीति। २। जो ममता में अनुरक्त है उससे ज्ञानकथन करना, अत्यन्त लोभीसे वैराग्य वखान करना। ३। क्रोधीसे शम एवं समता बुद्धि और कामीसे हरिकथा (कहने) का फल वैसाही है जैसा ऊसरमें बीज बोनेका फल हो। (अर्थात् व्यर्थ जाता है क्योंकि जहाँ तृण नहीं जमता वहाँ अच्छा बीज कैसे जमेगा)। ४।

टिप्पणी—१ (क) 'शठसे विनय'—यहाँ यही प्रस्तुत प्रसंग है अतएव इसे प्रथम कहा। विभीषणजी-ने सागरसे विनय करनेकी राय दी, तीन दिन विनय की, उसने न सुना तब कहते हैं कि शठसे विनय करना व्यर्थ है, उसको दण्ड देनाही ठीक है यथा—'श्रवन सुनी सठ ता करि बानी। बिहँसा०। ३६।१।' [शठसे विनय करनेसे वह समझता है कि यह मुझसे डरता है। इसीसे मुझसे विनय करता है। (मा० त० भा०)] (ख)-कुटिलसे प्रीति व्यर्थ है, यथा—'मैं खल हृदय कपट कुटिलाई। गुरु हित कहइ न मोहि सोहाई। ७। १०६। १६।' (ग) 'सहज कृपन' अर्थात् वह कृपण नहीं कि जो कृपणके संगसे कृपण हो जाता है, क्योंकि इसकी कृपणता तो छूट जाती है, किन्तु जो स्वभावसे जन्मका ही कृपण है उसे यहाँ कहा क्योंकि इसकी कृपणता नहीं छूटती; अतः उससे सुंदर नीति कहना व्यर्थ है। धनको धर्ममें तथा उचित भोगमें व्यय करना उत्तम नीति है अन्यथा राजा, चोर आदि ही उसे ले जाते हैं, उसका नाश ही होता है। पर कृपणको कितना ही यह समझाओ उसकी बुद्धिमें नहीं चढ़ता। अतः समझाना व्यर्थ होता है।

२ (क)—'ममता-रत सन ज्ञान कहानी' विरक्त ज्ञानका अधिकारी है, यथा—'बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू।' (२।१७८।४)। ब्रह्मविचारके लिए वैराग्य चाहिए, यही आगे स्वयं स्पष्ट करते हैं कि 'अति लोभी सन बिरति बखानी' व्यर्थ है। (ख)—ममता 'तरुन तमी अँधियारी' है और ज्ञान प्रकाशरूप है, इससे ये दोनों एकत्र नहीं हो सकते। (उसको सूर्यरूप कहा है, यथा-'जासु ज्ञान रबि भव निसि नासा।....तेहि कि मोह ममता नियराई। २।२७७।१-२।' ममता ज्ञानका बाधक है, इसीलिए ज्ञानी इसका त्याग करते हैं, यथा—'ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी। ४। १६। ५।' (ग) पहले कृपणको कहा आगे लोभीको कहते हैं। दोनोंमें यह भेद है कि कृपण अपनी चीज नहीं देता और लोभी दूसरेकी वस्तु ले लेता है। कृपणता दूसरे-के देनेमें है और लोभ धन जुटानेमें।

३ (क) काम, क्रोध और लोभ तीनों ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके नाशक हैं। क्रोध 'सम' अर्थात् ज्ञान (समता-बुद्धि; देख ब्रह्म समान सब माहीं) को नष्ट करता है, यथा—'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अज्ञान। ७।१११।', 'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं। ३।१५।' काम हरिकथा अर्थात् भक्तिका नाश करता है। भाव कि कामीका मन सदा विषयोंमें ही लगा रहता है वह हरिकथाके पास जायेगा ही नहीं, कथा उससे कहोगे तो वह सुनेगाही नहीं। यह भजनका बाधक है इसीसे कामको त्यागकर भजन करनेको कहा है-'जब लगि भजत न राम कहुँ, सोकधाम तजि काम। ४६।' लोभ वैराग्यका नाशक है। (ख) 'लोभी' के साथ 'अति' विशेषण दिया। तात्पर्य कि और विकार अपने प्रमाण भर रहते हैं पर लोभ

* कृपिन—(का०, ना० प्र०)। † ब्र० चं०—'सठ०' पायकुलक, 'सहज०' (३) चण्डी, ४ में ३५५, ३१३ वाँ भेद।

'अति' हो जाता है अर्थात् इसका पेट कभी नहीं भरता। 'चाहे त्रिलोकीका राज्य ही इसे क्यों न मिल जाय तब भी यह न अघायगा, कोई न कोई इच्छा बनी ही रह जायगी। यथा 'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई। ६।१०१।' ☞'बखानी' क्रिया सबके साथ है। अथवा, क्रिया न देकर जनाते हैं कि ये क्रियाएँ (कर्म) न करे; जैसे हमारी चौपाइयोंमें क्रियाका नाम नहीं। इसीसे 'सठ सन बिनय' यह कहा पर उसके साथ 'करब' क्रिया न दी, जिससे जनाया कि शठसे विनय करना ही न चाहिए। इसी भावसे और चरणोंमें भी क्रियायें नहीं दी गईं।

शठ, कुटिल, कृपण, ममतारत, लोभी, कोधी और कामी ये सातो ऊसरभूमि हैं। विनय, प्रीति, नीति, ज्ञानकहानी, विरति, सम और हरिकथा बीज हैं। इनको बीज कहा। सप्त धान्य प्रसिद्ध हैं इसीसे सात ही बीज गिनाए गए।

शिला—१ ये सातो अवगुण सिन्धुमें कहकर जनाया कि ऊसर भूमि समान शरीरमें यदि सात अवगुण हों तो उसमें उसके प्रतिकूल सात गुण जो बीज रूप हैं वे कैसे जम सकते हैं।

२—सातो अवगुण सिन्धुमें हैं, यथा—वह शठ अर्थात् जड़ है, अतः विनय व्यर्थ हुई—(१)। वह कुटिल है। हमने साम करना चाहा, इसीसे उसने न माना। प्रेम करने योग्य होता तो रावण कूट न करता कि 'सागर सन ठानी मचलाई'—(२)। सहज कृपण है। रत्नाकर है, पर न धन दे न खाए; तब कुलगुरु मानकर नीतिसे आशा करना व्यर्थ हुआ—(३)। जलमें ममत्व है अतः खारी हो गया कि कोई पी न जाय, अथाह बना रहा। उसको ज्ञान देना कि सोख लेंगे, व्यर्थ है।—(४)। लोभी है तब कैसे चाहे कि जलसे विरक्त हो जाय, जल सोख लेने दे—(५)। क्रोधी है प्रलयमें क्रोध करता है तब कैसे चाहेगा कि रावणवध करके हम समता विस्तार करें, यथा—'रामप्रताप बिषमता खोई' (६)। नदियोंका पति है अतएव कामी है, उसे कैसे रुचे कि रावणवध होकर रामायण बने, लोग गागाकर भगवान्‌में अनुरक्त हों, कामादिको छोड़ें—(७)।

मा० त० सु०—शठता, कुटिलता, कृपणता, ममता, अतिलोभ, क्रोध और काम। ये सातों जीवके लिए भगवद्भक्तिके बाधक हैं। इसी प्रकार जीवके कल्याणके लिए—'विनय, प्रीति, सुनीति, ज्ञान, वैराग्य, शान्ति और हरिकथा—ये सात ही साधन भी हैं। उदाहरण क्रमसे—(१) शठ, यथा 'तुलसिदास हरिनाम सुधा तजि सठ हठि पियत बिषय बिष माँगी'। विनय, यथा—'सीतलता सरलता मइत्री'। (२) कुटिल, यथा—'कहनि आन बिधि रहनि आन बिधि मन सुख पावै कैसे'—(सरल सुभाउ न मन कुटिलाई)। प्रीति, यथा—'सीस नवहिं सुर गुर द्विज देखी। प्रीति सहित०'। (३) कृपण, यथा—'कृपन बिमूढ़ा। जीवत सव सम चौदह प्रानी'। सुनीति, यथा—'नीति निपुन जिन्ह कै जग लीका। घर तुम्हार तिन्ह के हिय नीका'। (४) ममता, यथा—'ममता केहिकर जस न नसावा'। ज्ञान यथा—'सब ते मोहि परमप्रिय ज्ञानी।' (५) लोभ, यथा—'लोभ ग्रसे सुभ कर्म', 'लोभ न अंध कीन्ह केहि केही'। वैराग्य यथा—'बिरति चर्म संतोष कृपाना', 'कहिय तात सो परमबिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी।' (६) क्रोध, यथा 'क्रोध करहि जिमि धर्महि दूरी', ('क्रोध पापकर मूल')। शम, यथा 'सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं', 'सम अभूतरिपु बिमद बिरागी।' (७) कामी, यथा—'को जग काम नचाव न जेही'। हरिकथा यथा—'जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावहीं।' सातो बाधक नरक-दायक हैं और सातो साधक मुक्तिदायक हैं। (☞इन भावोंके देनेका तात्पर्य यह है कि पाठक लोग और उत्तम भाव विचारकर सूचना दें कि ये सात दोष और गुण समुद्रके प्रसंगमें देनेका तात्पर्य क्या है?)

श्रीलमगोड़ाजी—उपर्युक्त टिप्पणियोंके विचारोंसे प्रभावित होकर मेरा हृदय प्रफुल्लित हो उठा और मेरी यह धारणा और भी पक्की हो गई कि तुलसीदासजीके इस कौशलको संसारका कोई कवि नहीं पहुँचा जिसके द्वारा वे बिना कृत्रिमताके नाटकीय और महाकाव्यकलाओंका एकीकरण करते हैं। देखिए, नाटकीयकलामें भगवान्‌के भावमें जिस नीतिके सिद्धान्तसे परिवर्तन हुआ है उसको किसी नीतिके ग्रन्थके अवतरणके रूपमें दोहराना कितना स्वाभाविक है! नीतिज्ञ लक्ष्मणसे ही कहना तो मानो सोनेमें कुन्दन है; कारण कि लक्ष्मणजी ही के विचारोंको दोहराकर (कहना) उनकी नीतिका ही समर्थन है। अवतरण

या मसल (कहावत) का रूप कितना सुंदर है ! ऐसे अवसरपर मसलका कुछ अंश फ़ाज़िल होता ही है। यहाँ सिंधुमें शठता और कुटिलता दो ही स्पष्ट हैं। विनय और प्रीति धर्म एवं दैवी नीतिके अंग हैं। शठता और कुटिलता आसुरी नीतिके अंग हैं, जो कूटनीति है। कौटिल्य अर्थशास्त्रके जोड़का, सम्भवतः बृहत् शुक्रनीति जैसे ग्रन्थका प्रमाण अनुमानसे जान पड़ता है, कारण कि दोनोंके एकीकरणका उद्योग है। पर उपर्युक्त टिप्पणियोंके विचारोंसे स्पष्ट है कि सूक्ष्मदर्शी महानुभाव यहाँ सभी ठीक पाते हैं। धन्य हैं कवि और सूक्ष्मदर्शी विद्वान्।

अब लोग सोचें कि ग्राउस महोदयका विचार ठीक है कि अयोध्याकांडके बाद कलाका उतार है, या वास्तवमें कलाका महाकाव्यरूपमें चढ़ाव है, जहाँ भौतिकवाद पहुँच नहीं पाता और इसलिये 'अंगूर खट्टे' कह देता है।

नोट—१ यहाँ समुद्रकी शठता ही वर्ण्य विषय है। शठसे विनय करना व्यर्थ जाता है, यही यहाँ प्रस्तुत प्रसंग है। शेष सब अवर्ण्य विषय है, केवल लोकशिक्षार्थ सबका एक धर्म होनेसे कह दिये गये। सबका एक ही धर्म है 'ऊसर बीज बये फल जथा' अर्थात् व्यर्थ होना, इसीसे वे सब कह दिये गए, यद्यपि कारण भिन्न-भिन्न हैं।

हम अरण्यकाण्डमें बता आये हैं कि यह कविकी शैली है कि वह ऐसे अवसरोंपर नहीं चूकता, लोकशिक्षार्थ समान धर्मवाली नीतियाँ कह देता है। शूर्पणखाके मुखसे इसी तरह अनेक नीतियाँ कहलाई हैं। ३। २१। (८-११) देखिए।

इसी तरह अयोध्याकांडमें अवध-दरबारमें श्रीभरतजीको समझाते समय मुख्य प्रयोजन तो केवल 'सोचु जोगु दसरथ नृप नाहीं' इतनेसे ही था तथापि कविने शोचनीय कौन है और कौन नहीं है यह सब श्रीवसिष्ठ द्वारा कहलाकर उन्होंने लोकशिक्षा दृष्टिसे चारों वर्णों और आश्रमोंके धर्म कह दिये हैं। वर्ण्य विषय 'सोचु जोगु दसरथु नृप नाहीं' से उठाकर आगे सब अवर्ण्य विषय १७२ (३) से १७३ (४) तक कहा गया है।

इसी प्रकार श्रीभुशुण्डीजीसे लोमशजीको क्रोध आनेपर 'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु' वर्ण्य विषयके साथ अनेक युक्तियाँ कहलाई हैं। ७। १११। से ११२ (१०) तक। इत्यादि अनेक उदाहरण इसी ग्रंथमें हैं। वैसे ही यहाँ भी कहे गए। यह आवश्यक नहीं है कि सारा अवर्ण्य विषय सागरमें घटाया जाय।

२ मेरी समझमें तो जो वाल्मी० ६। २१। १४-१५ में श्रीरामजीने कहा है कि शान्ति, क्षमा, सरलवृत्ति और प्रियवादिता आदि साधुओंके गुणोंका, गुणरहित दुर्जनोंके समक्ष, प्रयोग असमर्थता सूचक होता है उसीको यहाँ विस्तार और बड़े सुंदर ढंगसे कहा गया है। यह हुआ साहित्यिकदृष्टिसे और यों तो मानसकल्पमें ऐसा ही कहा गया है, वही कविने लिखा।

अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥ ५॥
संधानेउ प्रभु बिसिख कराला। उठी उदधि उर अंतर ज्वाला॥ ६॥
मकर उरग झषगन अकुलाने। जरत जंतु जलनिधि जब जाने॥ ७॥
कनकथार भरि मनिगन नाना। बिप्ररूप आएउ तजि माना॥ ८॥

अर्थ—ऐसा कहकर रघुपति श्रीरामजीने धनुष चढ़ाया। यह मत लक्ष्मणजीके मनको अच्छा लगा। ५। प्रभुने कठिन भयंकर बाण धनुषपर चढ़ाया, तब समुद्रके हृदयमें अग्निकी ज्वाला उठी। ६। मगर, सर्प, और मछलियोंके समूह व्याकुल हो गए। (जब) समुद्रने जीवोंको जलते जाना। ७। तब सोनेके थालमें अनेक मणियोंको भरकर अभिमान छोड़कर वह ब्राह्मण रूपसे आया। ८।

† प्र० चं०—(५) चण्डी, (६-८) पायकुलक।

टिप्पणी—१ (क) 'अस कहि' का भाव कि प्रथम वचनसे भयमात्र दिखाया, सकोप होकर बोले कि जिसमें कोप देखकर वह रास्ता दे दे। श्रीरामजीने सागरपर मन वचन कर्मसे अपनी कृपा दिखाई। मनसे तो कृपा विभीषणादिसे समुद्र पार होनेका मंत्र पूछनेके समयसे ही है। नहीं तो विभीषणजीका मत न मानकर लक्ष्मणजीका मत तभी मान लेते। 'माँगत पंथ कृपा मन माहीं' कहा ही है। कर्मसे कृपा यह है कि तीन दिन तटपर बैठे रहे कि आकर पार जानेकी युक्ति बतावे। फिर न आनेपर केवल वचनसे भय-दर्शन कराया, तब भी न आया तो भी केवल धनुषपर प्रत्यंचा चढ़ाई कि अब भी आ जाय। वचनसे कृपा यह की कि लक्ष्मणजीको समझाया कि प्रथम ही बाण चढ़ाना उचित नहीं, 'ऐसहि करब धरहु मन धीरा'। धनुष चढ़ानेपर भी जब वह न आया तब कराल बाण संधान किया, अभी छोड़ा नहीं। बाण चढ़ाकर उसके उरमें ज्वाला प्राप्त करदी जिससे व्याकुल होकर हाजिर हो जाय, नहीं तो बाण छोड़तेही वह सूख जायगा। यहाँ तक कृपा है। (ख) यह मत लक्ष्मणजीको रुचा। भाव कि जब समुद्रने श्रीरामजीका अपमान किया तब इनको बहुत क्रोध हुआ पर क्या करते, प्रभुकी आज्ञा नहीं है कि उसे दंड दिया जाय। अतः जब श्री-रामजी उसे दंड देनेको उद्यत हुए तब ये बड़े प्रसन्न हुए। यह भाव जनानेके लिए यहाँ लिखा कि 'यह मत०', नहीं तो उनके मनमें तो यह भाव पूर्वसेही था उसके लिखनेका यहाँ क्या प्रयोजन था? (ग) पूर्व कहा था कि 'मंत्र न यह लछिमन मन भावा' उसीकी जोड़में यहाँ कहते हैं कि 'यह मत०'।

२—'संधानेउ प्रभु....' इति। (क) लक्ष्मणजीने माँगतेही धनुषबाण दिया, प्रभुने बाण धनुषपर चढ़ाया। समुद्रमें ज्वाला उठी। जो विभीषणने कहा था कि 'कोटि सिंधु सोषक तव सायक' वह सत्य है; यदि यह बाण छूटे तो अवश्य सोख ले। (ख) यहाँ सामर्थ्य दिखाया, अतः 'प्रभु' पद दिया। समुद्रमें ज्वाला उठी, यह बाणकी करालता कही। अन्तर, माँझ, मध्य, बीच सबका अर्थ 'में' है।

३—'मकर उरग झखगन अकुलाने' इति। (क) इससे जनाया कि वे समुद्रके बाहर नहीं निकल सकते। जलका जलना समुद्रको न जान पड़ा क्योंकि जल जड़ है, और जन्तु चैतन्य हैं, अतः उनका 'जलना जानना' कहा। जड़को जब ज्वाला व्याप्त हो तब वह जाने। जलनिधि इतना जड़ है कि रामजीने प्रणाम किया, अनशनव्रत किया, तीन दिन बैठे रहे, फिर कोप किया, इत्यादि, तबतक न आया, जब देखा कि मेरे सब आश्रित मरे जाते हैं इनको बचाना चाहिए, तब आया।

४—'कनकथार भरि मनिगन....' इति। (क) ये मणिगण ऐसे दिव्य थे कि कनकथालमें रखे गए। समुद्र रत्नाकर है और श्रीरामजी राजा हैं, इसीसे मणिगण भेंटके लिए लाया, यथा—'सागर निज मर्जादा रहहीं। डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं।' (ख) मणि लानेका भाव। उसने विचारा कि जब १४ रत्न निकले तब भगवान्‌ने कौस्तुभमणि और लक्ष्मीको लिया, हम मणिगण देंगे तब प्रसन्न होंगे, पर श्रीरामजी मणि पाकर प्रसन्न न हुए, वरन् विनीत वचन सुनकर प्रसन्न हुए। [राजाके समीप खाली हाथ न जाना चाहिए, यथा—'रिक्त हस्तो न गच्छेत राजानं देवता गुरुम्'] (ग) 'विप्र रूप' इससे धरा कि वे ब्रह्मण्यदेव हैं, ब्राह्मणरूपपर अस्त्रका प्रहार न करेंगे, यथा—'सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन्ह पर न सुराई। १।२७३।६।' 'प्रभु ब्रह्मण्य देव मैं जाना। १।२०६।' भगवान् नररूप हैं, इसीसे नररूपसे आया। (घ) 'तजि माना'—समुद्रको अभिमान था कि मैं बड़ा हूँ, इनको उतारा देनेसे मेरी बड़ाई न होगी। यथा—'उतरिहि कटकु न मोरि बड़ाई।' अथवा मान छोड़कर शरणमें आनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं, यथा—'की तजि मान अनुज इव प्रभुपद पंकज भृंग'। अतः 'मान तजि' कहा।

दो०—काटेहि पइ कदरी* फरै कोटि जतन कोउ सींच।
बिनय न मान खगेस सुनु डाटेहि पइ नव† नीच ॥५८॥

* कदली † नव—(का., ना, प्र,)। * कदरी † नवै—(भा. दा,)। ‡ वानर दोहा—त्र. चं.।

अर्थ—चाहे कोई करोड़ों यत्नसे केलेको सींचे (वह नहीं फलेगा) पर वह तो काटनेहीसे फलेगा (अन्यथा किसी प्रकार नहीं)। हे खगेश गरुड़जी! सुनिए। नीच विनयसे नहीं मानता, वह तो डाँटनेपर ही झुकता है। तात्पर्य कि नीचसे विनय न करे, उसे डाँटे)। ५८।

टिप्पणी—१ (क) श्रीरामजीने विनती की। जब विनयसे कुछ सिद्ध न हुआ तब ऊसर और बीजकी उपमा दी; क्योंकि ऊसरमें बीज सफल नहीं होता, व्यर्थ जाता है। और, जब उनके डाँटनेपर समुद्र आकर चरणों पर पड़ा, तब कदलीकी उपमा दी; यह काटनेपर ही सफल होता है। (ख) बहुतसे वृक्ष ऐसे हैं जो काटनेसे फल देते हैं, पर यहाँ कदलीकीही उपमा देनेका कारण यह है कि और वृक्ष विना काटे भी कुछ न कुछ फल देते हैं; पर कदली बिना काटे बिलकुल नहीं फलता। (केलेका वृक्ष जब एक बार फल दे देता है तब न तो उसमें दुबारा फल लगता है और न उसकी जड़से जो उसके बच्चे और पेड़ निकलते हैं उनमें फल लगता है जब तक वह पेड़ काट न डाला जाय जो फल दे चुका है। यह नियम है।) (ग) 'कोटि जतन कोउ सींच'। सींचनेका बहुत यत्न लिखकर जनाया कि नीचसे विनती करे, उसकी सेवा करे, उसके साथ उपकार करे इत्यादि अनेक यत्न करे तो भी वह नहीं माननेका। सामनीति सींचना है और दंड काटना।

२—'खगेश' संबोधनका भाव कि तुम जानते हो कि समुद्रने एक पक्षीके अंडे डुबा दिये थे, तब उसने तुमसे पुकार की। जब तुमने जाकर डाँटा तब उसने अंडा दिया। यह कथा भारतमें है। जलकी नीच संज्ञा है, यथा—'कीचहि मिलै नीच जल संगा'। दो० ३५४ से मिलान कीजिए—'नीच निरादर ही सुखद, आदर सुखद बिसाल। कदरी बदरी बिटप गति, देखहु पनस रसाल।'

श्रीलमगोड़ाजी—कहाँतक व्याख्या की जाय? जहाँसे महाकाव्य-कलाका अधिक विकास प्रारंभ हुआ है (अर्थात् 'निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह। ३।९।' वाले सीनसे), वहाँसे महाकाव्यकलाके दोनों रूप साथ-साथ हैं। आधिदैविक और आध्यात्मिक एक ओर, राष्ट्रीय रूप दूसरी ओर। इसीसे उन्हींके अनेक सुंदर रत्न ही काव्योंमें भरे पड़े हैं, मानों उन रत्नोंका समुद्र ही उमड़ रहा है और उन रत्नों को बिखेर रहा है। धन्य है कला कि काकजीभी 'खगेस' ही कहकर संबोधन करते हैं और दूसरे रहस्य छोड़कर राजनीतिके दृष्टिकोणसे ही आलोचना करते हैं। 'सुनु' शब्द तो इतना सुंदर बन पड़ा है कि कहते नहीं बनता। यह बता रहा है कि गरुड़जी और ही उधेड़बुनमें विचार ले जा रहे थे और संभव था कि फिर मोह की उलझनमें पड़ जाते; इसीसे जोरसे ध्यान उस ओरसे वापस लौटाकर बड़े जोरसे रामराज्यकी इस नीतिका समर्थन करते हैं।

शेख़सादीने भी तो कहा है 'निकोई बा बदाँ करदन चुनानस्त। कि बद करदन बजाये नेक मर्दां।' (बुरेके साथ भलाई करना वैसा ही है जैसा भलेके साथ बुराई करना)।

पर अपने अपने भावके सामयिक जोरसें सब हो कुछ अधिक कह जाते हैं। भगवान्ने राजा रूपसे शठ तो कहा ही और काकजीने तो 'नीच' तक कह डाला। पर धन्य है कवि कि निष्पक्ष आलोचना करते हुए केवल 'मान' कहता है, अभिमान भी नहीं। सोचिए कि समुद्रने आगे यही तो कहा है कि भगवन्! मैं तो आपहीकी बनाई हुई मर्यादा 'मान' की रक्षा करता हूँ। यदि और कड़ी आलोचना ठीक होती तो इतनी जल्दी समुद्र 'नवता' न, कि काटनेकी जरूरत न पड़ी और (केलेने) फल दे दिया।

तनिक विस्तारसे इसलिये लिखा गया कि महाकाव्य-कलाके सब अंगों और नाटकीय कलाका भी विचार रखते हुए ही रामायणके इधरके अंशोंपर आलोचना की जाय, नहीं तो भ्रमका भय ही है।

सभय सिंधु गहि पद प्रभु केरे। छमहु नाथ सब अवगुन मेरे॥ १॥
गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी॥ २॥
तव प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथन्हि गाए॥ ३॥

प्रभु आयसु जेहि कहँ जस अहई । सो तेहि भाँति रहे सुख लहई† ॥ ४ ॥

अर्थ—समुद्र भयभीत होकर प्रभुके चरण पकड़कर (बोला—) हे नाथ! मेरे सब अवगुण क्षमा कीजिए।१। आकाश, पवन, अग्नि, जल और पृथ्वी इन सबकी, हे नाथ! स्वाभाविकही जड़ करनी है (अर्थात् ये पाँचों जड़ हैं)।२। सब ग्रंथ कहते हैं कि सृष्टिके लिए आपकी प्रेरणासे मायाने इनको उत्पन्न किया।३। हे प्रभो! आपकी जिसको जैसी आज्ञा है वह उसी प्रकार रहता है और सुख पाता है। (अर्थात् पाँचों आपकी आज्ञानुकूल बरतते हैं; इसीसे सुख पाते हैं। यदि अपना स्वभाव छोड़ दें तो सभी दंड देने लगें कि हमको मार्ग दो; हमको न जलाओ; इत्यादि)।४।

नोट—१ अध्यात्मरामायणके युद्ध कांड सर्ग ३ के इन श्लोकोंसे मिलान कीजिये—'दण्डवत्प्रणिपत्याह रामं रक्तांतलोचनम्। त्राहि त्राहि जगन्नाथ राम त्रैलोक्यरक्षक ॥७०॥ जडोऽहं राम ते सृष्टः सृजता निखिलं जगत्। स्वभावमन्यथा कर्तुं कः शक्तो देवनिर्मितम् ॥७१॥ स्थूलानि पंचभूतानि जडान्येव स्वभावतः। सृष्टानि भवतैतानि त्वदाज्ञां लंघयंति न ॥७२॥ त्वामहं मायया छन्नं लीलया मानुषाकृतिम् ।७६। जडबुद्धिर्जडो मूर्खः कथं जानामि निर्गुणम् ॥७७॥ शरणं ते व्रजामीश शरण्यं भक्तवत्सल ।७८।' अर्थात् समुद्रने भेंट आगे रखकर दंडवत प्रणाम किया और जिनके नेत्र क्रोधसे लाल हैं उन श्रीरामजीसे बोला—हे जगत्के नाथ! हे त्रैलोक्यरक्षक राम! मेरी रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए। हे राम! आपने सृष्टि रचते समय हमको जड़ बनाया। हे देव! आपका दिया हुआ स्वभाव कौन अन्यथा कर सकता है? पंचभूत सहजही जड़ हैं, आपनेही उन्हें ऐसा रचा है, इसीलिये वे आपकी आज्ञा उल्लंघन नहीं करते।

टिप्पणी—१ 'सभय सिंधु गहि....' इति। (क) प्रभु सकोप धनुष पर बाण संधान किए हुए हैं, इसीसे सभीत है कि मुझसे बड़ा अपराध हुआ, ऐसा न हो कि बाण छोड़ दें और मैं भस्म हो जाऊँ। अतः वह मन कर्म वचनसे शरण हुआ—'सभय' से मानसिक, 'गहि पद' से कायिक और 'छमहु नाथ' से वाचिक शरणागति जनायी। ('छमहु' का भाव कि आप क्षमाशील हैं, यथा 'छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता ।१।२८५।६।', 'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ ।७।१।६।', 'तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी ।२।१८३।४।') (ख) सब अवगुण ये कि आपको न पहिचाना, विनय न मानी, आदर न किया वरन् तीन दिन कष्ट दिया। हाजिर न हुआ। इस प्रकार पैरों पड़कर, प्रार्थना करके प्रसन्न करना चाहता है, इसीसे अपना अपराध स्वीकार करके क्षमाकी प्रार्थना करता है। यह करके फिर अपराधका निराकरण करता है कि मेरा अपराध कुछ नहीं है, आपने ही तो मुझे जड़ बनाया और जड़ही बने रहनेकी आज्ञा दी, तब मेरा क्या दोष?

२ (क) माया जड़ है, यथा—'जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया'। ये पाँचों तत्व मायाके उपजाए हैं, अतः ये भी जड़ हैं। (ख) यहाँ जल प्रस्तुत है, उसे पहले कहना चाहिए था सो न कहा। क्योंकि यहाँ उत्पत्ति कहते हैं, पाँचोंकी जैसे जैसे क्रमसे उत्पत्ति हुई है उसी क्रमसे यहाँ कहा गया। [तैत्तिरीय उ० ब्रह्मानंदवल्लीमें यही क्रम है। यथा '....एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। अनुवाक ।१।' अर्थात् इस परमात्मासे (पहले पहल) आकाशतत्व उत्पन्न हुआ। आकाशसे वायु-तत्त्व, वायुसे अग्नितत्व, अग्निसे जल-तत्व और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई।] किष्किंधामें 'छिति जल पावक गगन समीरा' यह क्रम है क्योंकि वहाँ शरीररचना-विषय प्रतिपादन किया गया है। किष्किन्धाकांडमें देखिए। (ग) पाँचोंकी जड़ करनी है—अग्नि जलाता है, उसे कुछ विवेक नहीं कि यह वस्तु जलाने योग्य है या नहीं। जल सबको डुबाता है, किसीको मार्ग नहीं देता। पृथ्वी पापी पुण्यात्मा, नीच ऊँच सभीको धारण करती है, सबको समान गंधवती है। आकाश सबको अवकाश देता है। पवन

† व्र. चं.-(१) (२) 'तव', (४) पायकुलक, 'सृष्टि०' स्वागता।

सबको समान स्पर्श करता है। अतएव सबकी करनीको जड़ कहा।

नोट—२ वाल्मीकीयमें भी जो कहा है कि 'पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च राघव। स्वभावे सौम्य तिष्ठन्ति शाश्वतं मार्गमाश्रिताः ।६।२२।२३।' हम स्वभावसे अगाध और लाँघनेके अयोग्य हैं। यदि लोग सुगमतासे हमारे पार चले जायँ या जल थोड़ा हो जाय तो बताइए, हमारे स्वभावमें अंतर हो या नहीं। हम अपनी जलराशिको नहीं रोक सकते। पर जैसी आपकी इच्छा हो वह हम करेंगे।—यह सब भाव यहाँ हैं।

टिप्पणी—३ 'तव प्रेरित माया उपजाये....' इति। (क) बिना आपकी प्रेरणाके अकेली माया कुछ नहीं कर सकती। यथा—'एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके। ३। १५। ६।' (ख) 'ग्रंथन्हि गाए' अर्थात् सबका यही मत है कि पाँचो तत्व सृष्टिके हेतु (कारण) हैं। ईश्वरकी इच्छा सृष्टिको जड़ बनानेकी थी, इसीसे सृष्टिके 'हेतु' भी जड़ बनाए। यदि हम पाँचों अपनी अपनी मर्यादाको छोड़ दें तो सृष्टिकी मर्यादाका नाश हो जायगा। हमारी करनी जड़ बनी रहनेसे सृष्टिकी मर्यादा यथार्थ बनी रहती है; इसीसे आपने हमें जड़ बनाया।

४ (क) 'प्रभु आयसु जेहि....' इति।—आपकी आज्ञा पाँचों तत्वोंपर और उनको उत्पन्न करनेवाली मायापर भी है। यथा 'ईस रजाइ सीस सब ही के। उतपति थिति लय बिषहु अमी कें।' (२।२८२।५)। 'सो तेहि भाँति रहे सुख लहई' का भाव कि अपना जड़ स्वभाव छोड़ देनेसे हमको सभी कोई दंड देने लगेंगे—कोई कहेगा हमें मार्ग दो, कोई कहेगा हमें न जलाओ, इत्यादि। और, एकरस रहनेसे कोई कुछ नहीं कह सकता, यही कहेगा कि पाँचो जड़ हैं, जैसे हैं वैसेही रहते हैं।

प० प० प्र०—इन महाभूतोंमेंसे यदि एक भी अपना स्वभाव छोड़ दे तो सृष्टिका प्रलय ही हो जाय; इसीसे सृष्टिके नियमोंका पालन सब करते हैं, केवल मनुष्य शरीरधारी जीवही ईशाज्ञा वा निसर्गनियमोंका भंग करता है। मनुष्यको बुद्धिस्वातन्त्र्य अंशतः दिया गया है पर वह उसका शास्त्रविरुद्ध व्यवहार करके दुरुपयोग करता है और अपने तथा अन्य जीवोंके दुःखका कारण बनता है। वह भूल गया है कि यह शरीर 'पाइ न जेहि परलोक सँवारा। सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ। ७। ४३।'

प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही। मरजादा पुनि तुम्हरिअ कीन्ही ॥ ५ ॥
ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना कै अधिकारी* ॥ ६ ॥

अर्थ—हे प्रभो! आपने अच्छा किया जो मुझे शिक्षा दी। पर रही मर्यादा सो तो आपकी ही बनाई हुई है। (तात्पर्य कि इस सिखावनसे मर्यादाका नाश है। आपने जो मर्यादा बाँध दी कि जड़ बने रहो, किसीको उतरने न दो, आपकी इस दी हुई मर्यादाको मैंने पाला)। ५। ढोल, गँवार, शूद्र, पशु और स्त्री ये सब ताड़नाके अधिकारी हैं।६।

टिप्पणी १— 'प्रभु भल कीन्ह०' इति। भाव कि—(क) सेवासे सबका भला होता है सो मुझसे कुछ सेवा न बनी। आपने दंड देकर सेवा कराई इससे आपने मेरा भला किया। (ख)—'दंड दिया' न कहकर 'शिक्षा' दी यह कहा क्योंकि दंड दिया जाना कहना विरोधकी बात है और 'सिख दीन्ही' कहना मृदु है। जिससे भला हो वह दंड नहीं किन्तु शिक्षा है। शिक्षा देना भला है, नाश करनेमें कुछ भलाई नहीं है। (ग) 'मरजादा पुनि तुम्हरिअ कीन्ही' कहनेका तात्पर्य कि यह आपकी दी हुई मर्यादा है, आप इसकी रक्षा करें, बड़े लोग अपनी दी हुई वस्तुको आपही नाश नहीं करते। अथवा, हम ताड़नाके अधिकारी हैं। आपने भले ही ताड़ना की। रही मर्यादा बड़ाई, यह आपकीही दी हुई है, चाहे इसे रखिए चाहे मिटा दीजिए। (घ) 'प्रभु भल०' की व्याख्या 'ढोल गँवार००' में करते हैं 'मर्यादा पुनि तुम्हरिअ कीन्ही' की व्याख्या 'प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई....' में करते हैं।

---

* छ० चं०—'प्रभु०' नयमालिनी, शेष पायकुलक।

नोट—१ 'ढोल गँवार....' इति। अ० रा० में सागरने कहा है कि 'जडबुद्धिर्जडो मूर्खः कथं जानामि निर्गुणम्। दण्ड एव हि मूर्खाणां सन्मार्गप्रापकः प्रभो। ६।३।७७। भूतानाममरश्रेष्ठ पशूनां लगुडो यथा।' मैं जड़बुद्धि मूर्ख आप निर्गुण परमात्माको कैसे जान सकता हूँ? हे देवश्रेष्ठ प्रभो! जैसे लाठी पशुओंको ठीक-ठीक मार्गमें ले जाती है, वैसे ही (मुझ जैसे) मूर्ख लोगोंको दण्ड ही सन्मार्गपर लानेवाला होता है।—इसमें जड़, जड़बुद्धि, मूर्ख और पशु ये नाम आये हैं। इनमेंसे मानसमें गँवार और पशु तो मूर्ख और पशुकी जगह हैं ही। जड़में ढोलको ले सकते हैं। शूद्र और नारीको जड़बुद्धिकी जगह रखकर कवि अपना अभिप्राय स्पष्ट कर देता है कि जो जड़बुद्धि शूद्र या स्त्रियाँ हैं उन्हें सन्मार्गमें लानेके लिये कभी-कभी आवश्यकता पड़ सकती है; जैसे पशुओंको ठीकमार्गपर चलानेके लिये चरानेवाला लाठीसे काम लेता है। लाठीसे पशु मारा अवश्य जाय यह बात नहीं है। हाँ, यदि उसकी आवश्यकता पड़े तो वैसा भी किया जाय।

टिप्पणी—२ 'ढोल गँवार०' इति। (क) यह (समुद्र अर्थात् जलतत्त्व) आप पाँच तत्त्वोंमेंसे एक है पर अकेले अपने 'जल तत्त्व'को न कहकर इसने पाँचों तत्त्वोंको गिनाया था, इसीसे पाँच दृष्टान्त दिए। पाँचों तत्त्वोंको जड़ कहा है—'इन्ह कै नाथ सहज जड़ करनी' और यहाँ 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी'मेंसे 'ढोल' जड़ है; इसीसे उसको प्रथम कहा। शेष चार 'गँवार, शूद्र, पशु और नारि' ये चेतन हैं; इनको पीछे कहकर सूचित किया कि जैसे ढोल जड़ है वैसे ही ये भी जड़ हैं, जैसे ढोल पीटे जानेपर बोलता है और सुख देता है, वैसेही ये सब पीटने (शासन) से सीधे रहते हैं और सुख देते हैं। तात्पर्य कि आपका दंड देना उचित है क्योंकि पाँचों दंडके अधिकारी हैं, और मुझे उचित है जड़ता करना क्योंकि मैं जड़ हूँ। (ख) इसकी जोड़की चौपाई उ० १२५ (६) 'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी' है। यहाँ 'संत' चेतन हैं उनको प्रथम कहा और 'बिटप' आदि जड़ हैं इनको पीछे कहा। 'संत' को प्रथम कहकर सूचित किया कि विटप, सरिता, गिरि और धरणी यद्यपि जड़ हैं तथापि परोपकारी होनेसे ये चेतनके समान हैं।

श्रीगौड़जी—इस चौपाईपर नई पच्छाहीं शिक्षाके ऊपर न्यौछावर होनेवाले अक्सर चौंक उठते हैं कि 'इसमें गोस्वामीजीने स्त्रियोंको ताड़नाका अधिकारी क्यों कहा?' जो लोग अहिंसाके बड़े कट्टर भक्त हैं वे तो नारी क्या गँवार शूद्र और पशुकी ताड़ना भी गवारा नहीं कर सकते। इसलिए उनकी दृष्टिमें भी इस चौपाईमें जो नीति दी गई है, अच्छी नहीं कही जा सकती। जो लोग गोस्वामीजीको स्त्री-द्वेषी ठहराते हैं वे अन्य अनेक स्थलोंके अवतरणोंसे मिलाकर इसे भी प्रमाणमें पेश करते हैं। परन्तु इस प्रसंगको लोग भूल जाते हैं कि कविने यह चौपाई समुद्रके मुखसे कहलवाई है। इसमें एक साधारण नीति और रीति कही गई है। यह आदर्श कथन नहीं है, स्वभाव कथन है। यह नहीं कहा गया कि शूद्रों गँवारों पशुओं और स्त्रियोंको पीटना ही चाहिए। पीटना कर्तव्य नहीं बताया गया है। शिक्षकको अधिकार है कि शिष्य बालककी ताड़ना करे, परन्तु यह उसका अधिकार मात्र है। जब आवश्यकता समझे तब उस अधिकारका प्रयोग करे। बहुत सम्भव है कि उस अधिकारके प्रयोगका उसे जीवन भरमें अवसर ही न मिले। अधिकार और कर्तव्य दोनों एक नहीं हैं। कर्तव्य तो पालन करना आवश्यक है, अनिवार्य है; परन्तु जिस कामका हमको अधिकार है उसे हम आवश्यकता पड़नेपर ही करते हैं। इसलिए प्रस्तुत प्रसंगमें ढोल आदि ताड़नाके अधिकारी बताये गये हैं। तात्पर्य यह कि आवश्यकता पड़नेपर इनकी ताड़ना अनुचित नहीं है। गँवार और शूद्र दोनों शब्द पुल्लिङ्ग हैं। यहाँ स्त्री-पुरुष किसीके साथ पक्षपात नहीं है। सभी ताड़नाके अधिकारी बताये गये हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि जो लोग अच्छे हों वे भी ताड़नाके अधिकारी समझे जावें। गँवारों और शूद्रोंमें भी बड़े-बड़े साधु महात्मा और सज्जन प्रकृतिके लोग होंगे। पशुओंमें कपिला गऊ भी है और स्त्रियोंमें असंख्य पूज्य देवियाँ भी हैं जो सब ताड़नाके अधिकारी नहीं हो सकते। जिनका आचरण ऐसा हो जो विना ताड़नाके सुधर न सकें वे ही ताड़नके अधिकारी समझे जायँगे; परन्तु शूद्रोंमें गँवारोंमें पशुओंमें और स्त्रियोंमें बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगोंकी होती है जो शिक्षा और सुधारके लिये किसी न किसी तरहके दण्डके अधिकारी होते हैं।

ताड़ना शब्द लक्षार्थसे ढोलके सिवाय औरोंके बारेमें शिक्षा और सुधारके लिये दण्डके अर्थमें आया है। समुद्रके कहनेका भाव यह है कि आपने मेरी शिक्षाके लिये, मुझे दण्ड देनेके लिए, जो धनुष बाण उठाया तो कुछ अनुचित नहीं किया क्योंकि मैं गँवार हूँ, इस शिक्षाका अधिकारी हूँ। मुझे चाहिये था कि आपका आगमन सुनकर मैं आपही सेवामें उपस्थित होता। आपने जो मुझे धमकाया अच्छा ही किया।

जिन्हें स्त्रियोंके ताड़नाके अधिकारी होनेमें बड़ी आपत्ति है वे आज आँखें खोलकर संसारमें वास्तविक घटनाएँ देखें कि आदर्श औचित्य नीति और धर्म क्या है और वास्तविक व्यवहारमें क्या होता है। संसारकी आजकलकी सबसे अधिक सभ्य कहलानेवाली जाति जिनके यहाँ स्त्रियोंका बहुत बड़ा आदर है आजकल अँगरेज़ समझे जाते हैं, परन्तु कई अँगरेज़ोंके पारिवारिक जीवनका हाल मालूम है जो अपनी स्त्रियोंको पीटनेमें संकोच नहीं करते। हमारे देशमें तो स्त्रियोंका पिटना एक मामूली-सी बात है। यह तो हुई साधारण व्यवहारकी बात। आजकलकी परिस्थितिको देखिए कि आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयके एम० ए०, बैरिस्टर, पण्डित जवाहरलाल नेहरू और जगत्प्रसिद्ध भारत नेता पञ्जाब-केसरी लाला लाजपतराय तक डण्डोंसे पीटे जाते हैं और ताड़नाके अधिकारी समझे जाते हैं जो न ढोल हैं न गँवार हैं न शूद्र हैं न पशु हैं न नारी*। अहिंसावादी सत्याग्रही संसारकी परम सभ्य जातिवालों द्वारा ताड़नाके पूरे अधिकारी समझे जाते हैं और वीरमगाँवकी शान्त स्त्रियाँ इस बातकी अधिकारिणी समझी जाती हैं कि उनपर घोड़े दौड़ाये जायँ और वह कुचलवा दी जायँ। व्यवहारमें जब यह दशा है और जब शिक्षाके लिए नीति हर शिक्षा पानेवालेको ताड़नाका अधिकारी बताती है तो स्त्रियोंको अपवाद कैसे समझा जा सकता है।

महात्मा गांधीजी—टीकाकारोंने तो वेद, बाइबिल और कुरानमें भी बहुतेरे दोष बताए हैं। परन्तु उन ग्रन्थोंके भक्त उनमें दोषोंका अनुभव नहीं करते। प्रत्येक ग्रंथकी परीक्षा पूरे ग्रंथको देखकर ही की जानी चाहिए यह बाह्य परीक्षा है। अधिकांश पाठकोंपर ग्रंथविशेषका क्या असर हुआ यह देखकर ही ग्रंथकी आन्तरिक परीक्षा की जाती है। किसी भी साधनसे क्यों न देखा जाय रामायणकी श्रेष्ठता ही सिद्ध होती है।....रामचरितमानसके लिये यह दावा अवश्य है कि उससे लाखों मनुष्योंको शान्ति मिली है। जो ईश्वर विमुख थे वे ईश्वरके सम्मुख गये हैं और आज भी जा रहे हैं। श्रीरामचरितमानसमें स्त्रीजातिकी काफ़ी निंदा मिलती है परन्तु उसी ग्रन्थद्वारा सीताके पुनीत चरित्रका भी हमें परिचय मिलता है। बिना सीताके राम कैसे? रामका यश सीताजीपर निर्भर है। सीताजीका रामजीपर नहीं। कौशल्या, सुमित्रा आदि भी मानसके पूजनीय पात्र हैं शबरी और अहल्याकी भक्ति आज भी सराहनीय है। रावण राक्षस था मगर मन्दोदरी सती थी। ऐसे अनेक दृष्टान्त इस पवित्र भण्डारमेंसे मिल सकते हैं। मेरे विचारमें इन सब दृष्टान्तोंसे यही सिद्ध होता है कि तुलसीदासजी ज्ञानपूर्वक स्त्रीजातिके निन्दक नहीं थे। ज्ञानपूर्वक तो वे स्त्रीजातिके पुजारी ही थे। ('नवजीवन'से)

☞ जिसके दिलमें इस सम्बन्धकी शंकाएँ शुद्ध भावसे उठें उन्हें मेरी सलाह है कि वे मेरे या किसी औरके अर्थको मंत्रवत् स्वीकार न करें। जिस विषयमें हृदय शंकित हो उसे छोड़ दें। सत्य, अहिंसादिकी विरोधिनी किसी वस्तुको स्वीकार न करें। रामचन्द्रने छल किया इसलिए हम भी छल करें, यह सोचना औंधा पाठ पढ़ना है। यह विश्वास रखकर कि रामजी कभी छल कर ही नहीं सकते, हम पूर्ण पुरुषका ही ध्यान करें और पूर्ण ग्रन्थका ही पठन-पाठन करें। परन्तु 'सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता' न्यायानुसार सब ग्रंथ दोषपूर्ण हैं, यह समझकर हंसवत् दोषरूपी नीरको निकाल फेकें और गुणरूपी क्षीरही ग्रहण करें। इस तरह अपूर्णपूर्णकी प्रतिष्ठा करना गुण दोषका पृथक्करण करना, हमेशा व्यक्तियों और युगोंकी परिस्थितिपर निर्भर रहेगा। स्वतंत्र सम्पूर्णता केवल ईश्वरमें ही है और वह अकथनीय है।—(नवजीवनसे)।

* यह लेख लगभग सन् १९२७ का है जो प्र० सं० में छपा था, उस समय ब्रिटिशराज्य था तबकी यह बात है।

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी—कवि जो दूसरोंके मुँहसे कहलाता है वह उसकी उक्ति नहीं हो सकती। जो पात्र जैसा होता है उसके मुँहसे वैसी ही उक्ति करायी जाती है। अन्यथा होनेसे कविकी निन्दा होती है। पर आक्षेप करनेवाले यह बातें क्यों सोचने लगे? उन्हें तो गोस्वामीजीपर आक्षेपकर पाण्डित्य दिखाना है। अस्तु।

'मानस रामायण' की जिन पंक्तियोंके कारण गोस्वामीजीपर आक्षेप होता है, अब एक-एककर उनपर ही विचार करता हूँ। आशा है कि पाठक गोस्वामीजीके पक्षमें ही निर्णय करेंगे।

अच्छा सुनिये—"कौने अवसर का भयेउ, गयेउँ नारि बिश्वास। जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अविद्या नास॥" "गयेउँ नारि बिश्वास" बस यही इसमें आक्षेपका कारण है। पर इससे गोस्वामीजीपर आक्षेप नहीं हो सकता, क्योंकि महाराजा दशरथकी उक्ति है और उस समयकी है जब कैकेईने कहा था—"सुनहु प्रानपति भावत जी का। देहु एक बर भरतहि टीका॥ मांगउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥ तापस बेष बिसेष उदासी। चौदह बर्ष राम बनबासी॥" "चौदह बर्ष राम बनबासी" वाक्य राजा दशरथको बाणसे लगे। इसपर वह पश्चात्ताप कर कहते हैं "गयेउँ नारि विश्वास", अर्थात् इस नारी कैकेईका विश्वासकर मैं फँस गया। इसका संकेत कैकेईकी ओर है। सारे नारि-समाजकी ओर नहीं, क्योंकि वह कैकेईका ही विश्वासकर फँसे और किसीका विश्वासकर नहीं। इस लिये गोस्वामीजीपर आक्षेप व्यर्थ है।

अब दूसरा दोहा लीजिये—"काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ। का न करै अवला प्रबल, केहि जग काल न खाइ॥" यहाँ भी वही हाल है। श्रीरामचन्द्र जब वन जानेको तैयार हो गये तब अयोध्यावासी आपसमें दुःखी हो बातचीत करते हैं। कोई कैकेईको सब अनर्थोंका मूल बताकर गालियाँ देता है, कोई भाग्यको दोष देता है। मतलब यह कि सब ही अपनी समझके अनुसार कुछ न कुछ कहते हैं। उन्हीं दुःखी अयोध्यावासियोंकी उक्ति है कि 'का न करै अबला प्रबल' अर्थात् स्त्रियाँ क्या नहीं कर सकती हैं—मतलब, सब कुछ कर सकती हैं। तुलसीदासजीने तो अयोध्याकी जनताका भाव प्रदर्शित किया है। फिर उनपर आक्षेप क्यों?

इसी प्रकार—'सत्य कहहिं कबि नारि-सुभाऊ। सब बिधि अगम अगाध दुराऊ॥ निज प्रतिबिंब बरुक गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई॥' यह भी जनताकी उक्ति है; गोस्वामीजीकी नहीं।

'बिधिहु न नारि-हृदय-गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥'—यह भरतजीकी उक्ति है। ननसारसे आनेपर जब उन्होंने पिताका मरण और रामलक्ष्मणसीताका वनगमन सुना; तब शोकसे व्याकुल हो गये। जब मालूम हुआ कि इन अनर्थोंकी जड़ रानी कैकेईही है, तब तो वह बुद्धिहत हो माताको फटकारने लगे। माताको फटकारते फटकारते नारी-समाज तकको फटकार डाला। क्योंकि क्रोधमें ऐसा होताही है। आजकल भी किसीसे लड़ाई होती है तो एकके अपराधपर उसके सारे खानदान और जाति भरको गालियाँ सुननी पड़ती हैं। एक मारवाड़ी और एक बंगालीसे झगड़ा हो तो मारवाड़ी है न? इसीसे ऐसा कहता है। इसी तरह भरतजीने माताके गुस्से पर सारी स्त्रियोंको कपटिन, पापिन और समस्त अवगुणोंकी खानि तक कह दिया तो क्या बुरा किया? इस स्वाभाविक वर्णनके हेतु गोस्वामीजीपर आक्षेप न कर उनकी प्रशंसा करनी चाहिये।

"ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥" यह उक्ति भी समुद्रकी है। श्रीरामचन्द्रजीने जब धनुष चढ़ाया तब समुद्र "बिप्र रूप आयो तजि माना"। उसी समयकी यह उक्ति है। गोस्वामी जी यहाँ भी बाल बाल बच गये। विस्तार भयसे और अधिक न लिख यह लेख समाप्त करता हूँ। पर इतना और भी निवेदन कर देता हूँ कि यदि तुलसीदासजी स्त्रियोंके निन्दक होते तो कौशल्या, सुमित्रा, अनसूया, तारा, मन्दोदरीसे अच्छी अच्छी उपदेशमय बातें न कहलाते। मेरी समझसे गोस्वामीजी महिला-समाजका जितना आदर करते थे उतना शायद आक्षेप करनेवाले भी न करते होंगे।—(शिक्षा खण्ड ३० संख्या ३३ से)

पं० विजयानंद त्रिपाठी—इस अर्धालीको लेकर आजकल स्त्रीस्वातन्त्र्यके जमानेमें बड़ा विवाद खड़ा हो गया है। श्रीगोस्वामीजीपर लोग आक्षेप करने लग गये हैं। उन्हें समझना चाहिये कि सबसे पहिले स्वामीजीने 'ढोल' शब्द क्यों रक्खा? ढोल एक आनंददायक वाद्य है, बड़ा प्रिय है, बड़े हिफ़ाजतसे रक्खा जाता है, पर जब वह काम नहीं देता, और बिना ठोंके काम नहीं चलता, तो उसे काममें लानेके लिये ठोंका भी जाता है। स्वयम् बृहदारण्यक श्रुति जो कहती है, वही पूज्यपाद गोस्वामीजी अति शिष्ट भाषामें कहते हैं। श्रुति कहती है 'सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेत्। ६।४।७' इसपर भाष्यकार कहते हैं 'सा चेदस्मै न दद्यान्मैथुनं कर्तुं काममेनामवक्रीणीयादाभरणादिना ज्ञापयेत्। तथापि सा नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेन्मैथुनाय।' अर्थात् यदि वह (स्त्री) मैथुन न करने दे तो उसे गहना आदिक देकर मना ले। यदि इसपर भी न माने तो छड़ीसे या हाथसे ठोंक-ठाँककर ठीक कर ले। निःसन्देह यह उस समयकी बात है, जब स्त्रियाँ अति लज्जावती होती थीं, इस समय उसकी भी आवश्यकता नहीं है। पर यह चोद्य गोस्वामीजीपर नहीं है, यह तो वेद पर चोद्य है, वही इसका उत्तरदाता है और दे रहा है।

प० प० प्र०—इसमेंके शूद्र और नारी शब्दोंके लिये आजकलकी सुशिक्षित कहलानेवाली जनता गोस्वामीजीपर कड़ी आलोचना करती है। यदि वे पूरे ग्रंथका अवलोकन करके उसका समन्वय करते तो यह आलोचना कभी न करते। 'पशु' शब्द बीचमें देकर कविने यह बात स्पष्ट कर दी है कि जो शूद्र पशुके समान व्यवहार करता है वह और जो नारी पशुके समान है वह ही ताड़नकी अधिकारी है। अन्यथा तुलसीदासजीने सीता, कौसल्या, सुनयना और अनुसूया आदि पतिव्रताओंका जैसा वर्णन मानसमें किया है वैसा वे करते ही नहीं। चौपाईका अर्थ यह नहीं है कि इन पाँचोंको अहर्निश बिना कारण ही पीटा जाय। 'लालयेत् पंचवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्। प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रवाचरेत्।' इस सुभाषितमें छठे वर्षसे सोलहवें वर्षतक पुत्रको ताड़नका अधिकारी कहा है। वह जिस भावसे कहा है उसी भावसे सागरके इस वचनको समझना चाहिए। भाव यह कि वे पाँचों अपना हिताहित नहीं जानते, वचनोंसे समझानेपर मानेंगे नहीं। अतः वे दंड, शिक्षा, ताड़न करनेसे रास्तेपर आ जायँ तो आ जायँ। शूद्रका अर्थ सेवक लेना ही उचित है।

श्रीलमगोड़ाजी—ऊपर लेखोंमें बड़े सुंदर सुंदर विचार आ चुके हैं। इतनेपर भी आक्षेप बड़े ज़ोरसे अब भी जारी है, यहाँतक कि बालिकाओंके एक कालेजमें झगड़ातक हो गया। इससे कुछ मैं भी लिखनेका साहस करता हूँ।

विश्वसाहित्यके नातेसे प्रथम यह कहना उचित है कि संसारके सुधारक कवियोंने स्त्रीके उस रूपकी निंदा ही की है जिसमें वह हमारे पतन और विलासिताका कारण बनती है, पर सभीने सहधर्मिणी या माता रूपमें उसकी प्रशंसा ही की है। देखिए, फ़ारसी भाषाके शेख़ सादी जैसा कवि भी ताड़नाकी बात कहते हुए यहाँतक कह डालते हैं कि यदि स्त्री उसकी पात्र न होती तो 'ज़न रा मज़न नाम बूदे न ज़न', स्त्रीका नाम 'मज़न' (न मारो) होता न कि 'ज़न' (मारो)। पर वही कवि कहता है कि 'ख्वाही क़ि रज़ाय हक़ बजोई। आँकुन कि रज़ाय मादरानस्त।' अर्थात् यदि तू ईश्वरकी प्रसन्नता चाहता है तो वह कर जिसमें माता प्रसन्न हो। तुलसी भी माताको पितासे भी बड़ा मानते हैं—'जानि बड़ि माता।'

उपर्युक्त लेखोंमें देश, काल, पात्र और प्रसंगके अनुसार ही वाक्योंकी आलोचना करनेकी बात बड़े सुंदर रूपमें आ गई है।

विश्वसाहित्यके नाते कहना पड़ता है कि हम कलाका ठीक आदर करना नहीं जानते, नहीं तो ऊपरके सिद्धांत सामने रखते हुए कलाका आदर ही करते। कविवर शैक्सपियरने हैमलेट जैसे पात्रसे कहलाया है—'Frailty thy name is woman' कमज़ोरी तेरा नाम ही स्त्री है। इससे अधिक कड़ी बात हो नहीं

सकती। पर अमरीकाके एक साहित्यिज्ञने इस पदकी इतनी सराहना की है कि यहाँतक कह डाला कि यदि यही एक पद रहे और शैक्सपियरके अन्य सारे साहित्यको सागरमें डुबा दिया जाय तो भी उसे संसारका बड़ा कवि कहा जायगा; कारण कि उपमाके एक अंगको जातिवाचक संज्ञाके स्थानमें गुण-वाचक संज्ञाका रूप देकर 'असीमता' लाना साहित्यमें उसीने किया है। 'सुंदरता कहँ सुंदर करई' के साथ इस वाक्यकी तुलना करते हुए मैंने विस्तारसे उस लेखमें लिखा है जो तुलसी ग्रंथावलीमें छपा है, इसीसे यहाँ अधिक नहीं लिखता। ☞हमें गुण भी देखना और सीखना चाहिए।

साहित्यके दृष्टिकोणसे गुण देखिए। भगवान् रामने किसी नीति-ग्रंथका अवतरण दिया—(भय बिनु होइ न प्रीति, इत्यादि)। उत्तरमें समुद्र भी ठीक वैसा ही करता है, पर दीपक अलंकारके साथ। इस अलंकारकी खूबी यही है कि एक शब्दसे दियासलाईकी तरह कई वाक्य दीपकोंकी तरह जल उठें। यहाँ एक 'ताड़न' शब्दसे कितने वाक्य बन जाते हैं। धन्य हैं कवि!

भाई! जितने ही एक दूसरेसे विपरीत शब्दोंके साथ एक शब्द निभ सके उतना ही उत्तम यह अलंकार होता है। तुलसी ही का दूसरा उदाहरण आप देख चुके हैं—'युवती शास्त्र नृपति बस नाहीं।'

हाँ, इस अलंकारकी व्याख्यामें बहुधा बड़े-बड़े विद्वान् धोखा खा जाते हैं। उदाहरणार्थ देखिए रायबहादुर लाला श्यामसुंदरदासजीने 'बस' शब्दका युवतीके साथ प्रयोग होनेके कारण, सम्भवतः वाल्मीकीयके प्रसंगसे प्रभावित होनेके कारण यह कह दिया कि श्रीरामजीकी वैसी शंका श्रीसीताजीके प्रति अनुचित थी और यह न सोचा कि तुलसीदासजी वाल्मीकिजीसे बाजी मार ले गए। कारण कि आगे गृध्रराजके मुखसे 'पर बस परी बहुत बिलखाता' कहला 'बस' की व्याख्या कर दी और कोई शब्द भी श्रीरामजीके मुखसे ऐसा नहीं कहलाया कि इसकी और कोई व्याख्या हो सके। फिर वह वाक्य भी पशु (हाथी) के मुँहमें रक्खा है और वह भी 'मानहु' की उत्प्रेक्षाके साथ। हम प्रतिदिन बुझव्वल बुझाते हैं कि एक वाक्यमें उत्तर दोः 'घोड़ा क्यों अड़ा? पान क्यों सड़ा और रोटी क्यों जली?' उत्तर—फेरा न गया। अब बताइये, क्या पानका फेरना और घोड़ेका फेरना एक तरहका होता है?

भाई, ढोल और स्त्रीकी ताड़ना एक तरहकी नहीं होती। ताड़नका अर्थ 'नियमबद्ध' (Disciplined) ही है। संस्कृत सभ्यतामें ५ वर्षसे १६ वर्षतक बालककी ताड़ना भी तो कही गई है। क्या उसका अर्थ है कि हर समय पीटा करे? फिर प्रसंग भी तो स्त्रीका नहीं है। मसल (कहावत) कहनेमें कुछ अंश फाजिल (बिना प्रयोजनका) हो तो कौन-सी मुशकिल (कठिनता) है। 'ये तीनों अपने नहीं, सूजी सुवा सुनार', यदि किसीके मुखसे तोतेके काटनेके समय निकले, विशेषकर जब वह उसे चारा खिला रहा हो तो सुनारकी निन्दाका दोष लगाना (जब कि वहाँ सुनार हो भी नहीं) बुद्धिमानी नहीं।

अब ज़रा 'अधिकारी' शब्दपर विचार कीजिये। गौड़जीके विचार बड़े सुंदर हैं पर उन्होंने 'अधिकार' शब्दको श्रीरामजीकी ओर मोड़ दिया है।

समुद्र रामराज्यके शासननियमपर मुग्ध है। वह जानता है कि वहाँ ताड़न (दंड) उद्धार और शिक्षाके लिये होता है, इसीसे वह कहता है कि यदि वैसी सुंदर ताड़ना न हो तो मानों अधिकार (privilege, right) छीना जा रहा है। भागवतमें भी कालिया नागके ताड़ित होनेपर उसकी पत्नियाँ कहती हैं—'आप जो किसीको दंड देते हैं तो उसके पापोंका प्रायश्चित कराने और उसका परम कल्याण करनेके लिये ही। (भागवतांक पृष्ठ ७०५)। इस अध्यायका शीर्षक भी है 'कालिया नागपर कृपा'। समुद्रका कथन इसी रूपमें है और अपना पश्चात्ताप प्रकट करनेके लिये है।

पर मर्यादावाली बात ('मरजादा पुनि तुम्हरिहि कीन्ही') साथ कहनेसे इसमें एक सुंदर और मर्म चुटकीका मजा भी है। इसमें 'परिस्थिति व्यंग' Circumstantial humour है। यद्यपि समुद्रका यह आशय नहीं है तथापि जिस परिस्थितिमें बातें कही गई हैं उससे राजा रामकी चुटकी भी हो गई। मानों उससे ध्वनि

यह निकली कि हम तो दण्डके अधिकारी हैं ही पर आप भी तो क्षणिक क्रोधावेशमें अपनी ही बनाई हुई मर्यादाको तोड़ना चाहते हैं। क्या यह उचित है ? इस प्रकार तो कुशल कवि बात ही और की और कर देता है; मानों हमें सिखाता है कि 'खुल खेलके नियमानुसार ही होना चाहिए' (Play the game within the rules of the game)। घोड़ेको ढाईघरसे अधिक चलकर मात देना शातिरकी चतुराई नहीं गिनी जाती।

इसीलिये भगवान्‌के लिये आगे ही दोहेमें आया है 'कह कृपाल मुसुकाइ'। (इस मुस्कानपर व्यंग और हास्यकला स्वयं निछावर है)। 'सत्य' के साथ 'शील' का प्रयोग समुद्रने किया और श्रीरामका क्रोध काफ़ूर हो गया। धन्य है भावमर्मज्ञता और नाटकी कलाका चरित्रसंघर्ष !

मैंने पहले तुलसीदासजीकी उस शैलीकी ओर ध्यान आकर्षित किया है जिसके द्वारा नाटकीय कलाके सहारे वे प्रत्येक विषयपर अनेक दृष्टिकोणके विचार प्रकट कर देते हैं। स्त्रीके सम्बन्धमें भी वैसा ही है। यदि आप वैसे प्रत्येक प्रसंगका देश, काल, पात्र और परिस्थितिके साथ मनन करें और सब विचारोंको एकत्रित कर लें तो एक शास्त्रसा ही बन जावे। निर्णय भी बड़ी सुगमतासे करते हैं। देखिए, मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामका निर्णय कि एक ओर तो विश्वकल्याणके लिये महादेवजीका व्याह कराते हैं और दूसरी ओर नारदको व्याहसे रोक देते हैं और पूछनेपर कहते हैं कि 'मोह विपिन कहँ नारि बसंता।' फिर वानरराज बालिको डाँटते समय तो साफ़ कहा कि 'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना।' (देखिये, स्त्रीशिक्षक रूप भी तो)। हाँ ! सुधारक कवि चेतावनी बराबर देता रहता है, कारण कि स्वयं भुगत चुका है; और अंतमें कैसी बाग मोड़ता है—'कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम। तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम।'—यह है अंतिम प्रार्थना रामायणकी।

'कंचन' और 'कामिनी' ही बहुधा पतनका कारण होते हैं। कुशल कविने यहाँभी बाज़ी मार ली। कहावतको उलटकर उन्होंने इन दोनोंमेंसे कामिनीको ही पहला स्थान दिया है।

नं० प०—भाव यह है कि जो कोई इन पाँचोंपर शासन नहीं करेगा वह इनसे सुख नहीं उठावेगा।

प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई। उतरहि कटकु न मोरि बड़ाई॥ ७॥

प्रभु अज्ञा† अपेल श्रुति गाई। करौं‡ सो बेगि जो तुम्हहि सोहाई॥ ८॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपके प्रतापसे मैं सूख जाऊँगा। सेना उतर जायगी। इसमें कुछ मेरी बड़ाई नहीं है अर्थात् मेरी मर्यादा न रह जायगी। ७। आपकी आज्ञा अपेल है (जिसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता) ऐसा श्रुतियाँ कहती हैं आपको जो अच्छा लगे वही शीघ्र कीजिए। ८।

टिप्पणी—१ (क) समुद्रने यह कहा कि आपके प्रतापसे मैं सूख जाऊँगा, इत्यादि, पर मार्ग न बताया, न उतरनेका उपाय बताया। इसका तात्पर्य यह कि जो आपकी आज्ञा मुझे मिल चुकी है उसे कैसे भंग करूँ ? आपकी आज्ञा कोई नहीं टालता तब मैं कैसे टाल सकता हूँ ? (ख) प्रताप सूर्य है अथवा भारी बड़वानल है, यथा—'प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि भारी। ६।१।२।'*

२ प्रभुकी आज्ञा अपेल है, अतएव मैंने आपकी आज्ञा पालन की। जैसी मुझ जड़को आज्ञा रही है, वैसा मैं अबतक करता रहा, मैंने आज तक किसीको मार्ग नहीं दिया। अब यह आज्ञा होती है कि मार्ग दो, नहीं तो सोख लेंगे, तो जैसा आपको रुचे वैसा आप करें। तात्पर्य कि मैं आपकी इस आज्ञाका पालन नहीं कर सकता, अब आपको जो पसन्द हो वह कीजिए—चाहे अपना वचन रखिए, चाहे मिटाइए। दोनोंका एक साथ पालन कैसे हो सकता है ? या तो जड़ही रहूँ या चेतन, या तो पूर्वकी आज्ञाका उल्लंघन करूँ अब

† अज्ञा—(भा० दा०)। आज्ञा—(ना० प्र०) ‡ करइ—(ना० प्र०)। करौं—व्र० चं।

* दीनजी—प्रताप भानुवत् तप्त माना जाता है। अतएव 'प्रताप' से समुद्रको सोख लेना कहा जाना बहुत ही सुंदर प्रयोग है। व्र० चं०—'प्रभु०' (८) पायकुलक०, 'उतरिहि०' चण्डी।

की आज्ञाको मानूँ; या इस समयकी आज्ञाका उल्लंघन करूँ पहिलेकी मानूँ, दोमें एक ही हो सकता है।

३—'श्रुति गाई' का भाव कि वेद तो आज्ञाको अपेल कहते हैं, उसी आज्ञाको आप भंग करनेको कहते हैं, जिससे वेदमर्यादा मिटती है। अतएव कहा कि जो अच्छा लगे वही कीजिए, चाहे वेदमर्यादाकी रक्षा कीजिए चाहे उसे मिटाइए। चाहे मेरी मर्यादा रखिये चाहे मुझे सुखाकर सेनाको पार उतारिये। जो आज्ञा रही वह अबतक की जो अब हो वह अब करूँ; क्योंकि आपकी आज्ञा कोई मिटा नहीं सकता। समुद्र जानता है कि ये ईश्वर हैं, मर्यादापुरुषोत्तम हैं, सबकी मर्यादाकी रक्षा करना उनको सुहाता है, इसीसे उसने ऐसे वचन कहे। हृदयमें ज्वाला उठी है इसीसे 'करौ सो बेगि' कहा। अर्थात् इस बाणको तुरत शांत कीजिए, यह असह्य हो रहा है।

दो०—सुनत बिनीत बचन अति कह कृपाल मुसुकाइ।❀
जेहि बिधि उतरइ कपि कटकु तात सो कहहु उपाइ॥५९॥

अर्थ—उसके अत्यन्त विनम्र वचन सुनकर कृपालु श्रीरामजी मुस्कुराकर बोले—हे तात! जिस प्रकार कपिकटक पार उतरे वह उपाय कहो। ५९।

टिप्पणी—१ (क) 'अति बिनीत'। प्रभु किंचित् विनयको भी 'अति' मानते हैं, यथा—'सुनि कृपाल अति आरत बानी। एक नयन करि तजा भवानी। ३।२।१४।', 'सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसा निज पानी। ४।१०।१।' तथा यहाँ 'अति बिनीत'। (ख) 'कृपाल मुसुकाइ' इति। यहाँ मुस्कुराकर समुद्रको अपनी कृपालुता दरसाई—'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा। १।१९८।' जिसमें वह अभय हो जाय क्योंकि शरणको अभय देना प्रभुका प्रण है, यथा—'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम। वाल्मी० ६।१८।३४।', 'मम पन सरनागतभयहारी।' (४३।८)। अथवा, समुद्रकी चतुरता देखकर मुस्कुराए कि अपनेको कहता तो जड़ है और उत्तर देता है पण्डितकी तरह, सब ग्रन्थों और श्रुतियोंका प्रमाण देता है, यथा—'सृष्टि हेतु सब ग्रंथन्हि गाये', 'अज्ञा अपेल श्रुति गाई'।† [इस मुस्कानसे सागरके हृदयमें प्रादुर्भूत ऐश्वर्यभावको दबाकर माधुर्यभावना जागृत की गई। इसीसे 'तात' शब्दका प्रयोग किया गया और सिंधु भी आगे इसी भावसे 'करिहउँ बल अनुमान सहाई' कहता है। इसी भावसे मुस्कानके प्रसंग १।१९२ छंद ३, २।१२८।१, १।२१५।७ देखिए। (प० प० प्र०)]

२ (क) श्रीरामजी अपने भक्त विभीषणका वचन मानकर समुद्रसे सेनाके उतरनेका उपाय पूछते हैं, यथा—'प्रभु तुम्हार कुलगुरु....'। (ख) 'कृपाल' कहनेका भाव कि प्रथम कोप किया था, अब कोप छोड़कर कृपाल हुए। यह कृपा मुस्क्यान द्वारा प्रकट की। (ग) 'जेहि बिधि उतरै कपि कटक....' इति। समुद्रने कहा है कि 'उतरै कटक न मोरि बड़ाई'। इसीपर श्रीरामजी कहते हैं कि जिस प्रकार सेना उतरै और तुम्हारी बड़ाई रहे वही उपाय कहो। यहाँतक प्रभु विभीषणके वचन पर आरूढ़ हैं, इसीसे समुद्रसे उपाय पूछते हैं।

नाथ नील नल कपि द्वौ भाई। लरिकाईं रिषि आसिष पाई॥ १॥

❀ मा० त० सु०—दोहेके विषम चरणोंमें १३ और सम चरणोंमें ११ मात्राएँ होती हैं और पहले एवं तीसरे चरणोंके आदिमें जगण नहीं होता। इस दोहेके प्रथम और तीसरे चरणोंमें एक-एक मात्रा कम होनेसे यह 'दोही' छन्द कहलाता है। इसके और भी उदाहरण इसी कांडमें हैं, यथा—'बार-बार पद लागौं बिनय करौं दससीस....'।—दो० ५६ में भी देखिए। ब्र० चं० के मतानुसार यहाँ दोहरा दोहा मिश्रित है।

† मा० त० सु०—मुसकानेका भाव कि तीन दिन तो मुझसे प्रार्थना कराई, अब शरण आकर अपराध क्षमा कराते हो, यदि प्रथम ही विचार किया होता तो तुम्हारी पूर्ण मर्यादा भी बनी रहती और सारी सेना भी पार हो जाती।

तिन्हके परस किए गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे† ॥ २ ॥

अर्थ—हे नाथ! नील और नल वानर दोनों भाइयोंने लड़कपनमें ऋषिसे आशीर्वाद पाया है। १। उनके स्पर्शसे भारी-भारी पर्वत आपके प्रतापसे समुद्रपर तैरेंगे। २।

टिप्पणी—१ (क) पहले ही स्पष्ट करके सब बात कही जिसमें कुछ पूछना न पड़े—नील नलसे नाम, कपिसे जाति, दोउ भाईसे परस्पर सम्बन्ध और एक साथ रहना जनाया। नीलको प्रथम कहकर बड़ा बताया और नलको छोटा, यथा—'राम लषन दसरथ के ढोटा। १।२६६।७।'. 'नाम राम लछिमन दोउ भाई। ४।२।२।', 'नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई। ४।६।' (ख) 'लरिकाई' पद देकर सूचित किया कि ये अनुचित करते थे। लड़कपनकी अवस्थामें इन्होंने लड़कपन वा अज्ञानमें ऋषिका अपराध किया। ऋषिका स्नान करनेवाला पत्थर डिबो दिया। [ये दोनों भाई रिषियोंकी शालग्राममूर्तियोंको लेकर जलमें डाल दिया करते थे। त्रिकालज्ञ महर्षियोंने उनको शाप न दिया वरन् अपना प्रयोजनसाधक और भावी समुद्रबन्धनरूपकार्य देख शापके ब्याजसे ऐसा वरदान दिया।] (ये विश्वकर्माके पुत्र हैं)। पुनः भाव यह कि बात बालपनेकी है, नील नलको भी स्मरण नहीं, और भी कोई नहीं जानता, मैं जानता हूँ क्योंकि मैं जलस्वरूप हूँ और मुनिने जलहीमें पाषाण न डूबनेका आशीर्वाद दिया था। (ग) 'ऋषि आसिष' का भाव कि ऋषिका वचन असत्य नहीं हो सकता। जो पत्थर ये डिबोवें वह न डूबे, यह आसिष है। (घ) 'पाई' का भाव कि यह आशीर्वाद ऋषिकी सेवा करके नहीं प्राप्त किया गया, अकस्मात् ही उनको प्राप्त हो गया। न तो ऋषिने प्रसन्न होकर यह वर दिया और न इनके सामने। परोक्षमें कह दिया कि उसके स्पर्शसे पत्थर न डूबे, वह आसिष इनको प्राप्त हो गया। (ङ) यदि कहते कि उन वानरोंने उनको दुःख दिया तो 'शाप' पद देते, वह शाप आशीर्वादसदृश हो गया, जिससे श्रीरामजीकी सेवा बनी और जगत्में यश हुआ, अतएव उसे आसिष कहा। अथवा, शापित वस्तु न ग्रहण करना चाहिए; इससे 'आसिष' कहा।

नोट—१ अ० रा० में केवल नलको वरकी प्राप्ति कही है। यथा 'नलः सेतुं करोत्वस्मिन् जले मे विश्वकर्मणः। सुतो धीमान् समर्थोऽस्मिन्कार्ये लब्धवरो हरिः। ६।३।८४।' अर्थात् विश्वकर्माका पुत्र चतुर नल वरके प्रभावसे मेरे जलपर सेतुका निर्माण करे।

टिप्पणी—२ (क) गिरि भारे=पर्वतसमूह, भारी-भारी पर्वत। (ख) 'प्रताप तुम्हारे'। यहाँ शंका होती है कि 'जब नीलनलके स्पर्शसे गिरिसमूह तैरेंगे तब प्रभुकी इसमें बड़ाई और प्रताप क्या? और यदि प्रभुके प्रतापसे तैरे तो ऋषि-आसिषकी चर्चा ही क्या?' समाधान यह है कि नील और नलके स्पर्शसे समुद्रमें पर्वत तैरेंगे और प्रभुप्रतापसे जहाँ वे जलमें डाले जायँगे वहीं स्थिर रहेंगे, उनपरसे अपार सेना चलेगी, डूबेगी नहीं। ऋषिका आसिष ऐसा नहीं है कि एक जगह स्थिर रहेंगे, हिलंडोलेंगे नहीं और सब पुल सरीखे एकत्र रहेंगे। यह प्रभु-प्रताप है। यथा—'महिमा यह न जलधि कै बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कै करनी। श्रीरघुबीर प्रताप तें सिंधु तरे पाषान। ६। ३।'

मा० त० सु०—'प्रताप तुम्हारे' का भाव कि ऋषियोंसे शाप दिलवाकर और उनके हाथोंसे समुद्र बँधवाकर कपिसेनाका पार होना यह आपहीका प्रभाव है। ६० (३) भा देखिए।

मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करिहौं बल अनुमान सहाई ॥ ३ ॥
एहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइअ। जेहि एह सुजसु लोक तिहुँ गाइअ* ॥ ४ ॥

अर्थ—फिर मैं भी हृदयमें प्रभुकी प्रभुता धारण करके बलके अनुकूल सहायता करूँगा। ३। हे नाथ! इस प्रकार समुद्रको बँधवाइए जिससे तीनों लोकोंमें आपका यह सुन्दर यश गाया जाय। ४।

† प्र० चं०—(१) 'तिन्ह' पायकुलक, 'तरिहहिं०' चण्डी।
* प्र० चं०—(३) पायकुलक; 'एहि०' ११५७, 'जेहि०' ११८३वाँ भेद।

टिप्पणी—१ (क) 'मैं पुनि' यह गहोरादेशकी बोली है। यहाँ पुनिका कुछ अर्थ नहीं होता। मैं पुनि = मैं। यहाँ भी पुनिका और कुछ अर्थ नहीं है। यथा—'मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। २।५६।१।', 'मैं पुनि करि प्रमान पितु बानी। २।६२।१।', 'मैं पुनि गएउँ बंधु सँग लागा। ४।६।४।' तथा यहाँ 'मैं पुनि....'। [अथवा, यहाँ 'पुनि' शब्द समुच्चयार्थक है जिससे 'भी' का अर्थ निकलता है। प्रसङ्गवश इससे और भी अर्थ हो सकते हैं। (मा० त० सु०)] (ख) 'उर धरि प्रभु प्रभुताई' का भाव कि मुझमें सहायता करनेकी योग्यता या सामर्थ्य नहीं है, आपकी प्रभुताका बल है। आपकी प्रभुतासे जैसा बल मिलेगा उसीके अनुमानसे सहायता कर सकूँगा। [आशय यह कि प्रथम जो प्रभुत्व मैं हृदयमें धारण किए हुए था वह माधुर्य्य देखकर विस्मृत हो गया था, उसे अब पुनः हृदयमें धारणकर बलके अनुसार पार होनेमें जलचरादिद्वारा भी सहायता करूँगा। (मा० त० सु०)] (ग) 'करिहौं बल अनुमान सहाई' इति। क्या सहायता करेंगे ? यह कि जलको स्थिर रखूँगा, ज्वारभाटा लहर न होने पायगी। बड़े बड़े जीव जलपर उतरायेंगे; उनपर वानर चढ़कर पार जायँगे। (घ) पहले वचनसे सहायता की कि 'नील नल....' और अब शरीरसे सहायता करनेको कहता है।

शीला—काष्ठकी नाव जलपर अवश्य तैरती है पर यदि उसपर बेप्रमाण बोझा रख दिया जाय तो वह डूबही जायगी। वैसेही भारी पर्वत तैरेंगे पर जब उनपर वानरसेनाका बोझ पड़ता तब वे रसातलको चले जाते। इस बोझको आपका प्रताप सँभालेगा और मेरी लहरोंका झोंका इसमें न लगेगा जिससे सब पर्वत एकत्र जुड़े रहेंगे।

टिप्पणी—२ 'यह सुजस लोक तिहुँ गाइअ।', यथा—'तिहुँ पुर नारदादि जस गैहहिं'। भाव कि इस सेतुका सुयश भवसागरमें कई सेतु तैयार कर देगा जिसपर चढ़कर जीव भवपार होंगे, यथा—'जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं। ६।६५।३।', 'त्रैलोक पावन सुजसु सुर मुनि नारदादि बखानिहैं॥ 'जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई। ४। ३०।'

नोट—१ सेतु बाँधनेसे क्या यश होगा ? एक तो यह कि चार सौ कोसका पुल समुद्रमें जलके ऊपर बाँध दिया, ऐसा असम्भव कार्य कोई न कर सका। दूसरे, आगे चलकर जब बड़े-बड़े राजा दिग्विजय करते हुये यहाँ आयेंगे, तब वे भी आपके यशका गायन करेंगे। यथा—'बध्नीहि सेतुमिह ते यशसो वितत्यै गायन्ति दिग्विजयिनो यमुपेत्य भूपाः। भा० ९।१०।१५।' इस असंभव कार्यके होनेसे सब लोग आपकी संसारमलापहारिणी कीर्त्ति जान जायँगे। यथा—'कीर्त्तिं जानन्तु ते लोकाः सर्वलोकमलापहाम्। अ० रा० ६। ३। ८५।'

एहि सर मम उत्तर तट बासी। हतहु नाथ खल नर अघरासी॥ ५॥

सुनि कृपाल सागर मन पीरा। तुरतहि हरी राम रनधीरा*॥ ६॥

अर्थ—इस बाणसे मेरे उत्तरतटवासी पापके राशि दुष्ट मनुष्योंको मारिए। ५। सागरके मनकी पीर (पीड़ा, दुःख, दर्द) सुनकर कृपाल और रणधीर श्रीरामजीने उसे तुरंत हर लिया। ६।

टिप्पणी—१ 'एहि सर मम००'—इस वाक्यसे ज्ञात होता है कि श्रीरामजीने उससे पूछा था कि 'हमारा बाण अमोघ है, यह निष्फल नहीं हो सकता, इसको हम कहाँ सफल करें ?' तब समुद्रने इनको बताया। (यथा अध्यात्मे 'अमोघोऽयं महाबाणः कस्मिन्देशे निपात्यताम्। लक्ष्यं दर्शय मे शीघ्रं बाणस्यामोघपातिनः। ६।३।७९।' अर्थात् मेरा यह बाण व्यर्थ जानेवाला नहीं। इसे किस देशमें चलाऊँ ? शीघ्र मुझे इस बाणका लक्ष्य बताओ। ☞ अ० रा० में पहले बाण चलाकर उत्तरतटवासियोंका नाश किया गया, पीछे समुद्रने सेतु बाँधनेकी युक्ति बताई है। मानसमें क्रम उल्टा है)। श्रीरामजी पापी और खलोंका वध करते हैं। उन्होंने 'तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं। ३।१९।९।' यह उत्तर खरदूषणादिको दिया था और वालिको पापी कहकर मारा था—'इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई। ४।९।८।' अतः कहा कि उत्तरतट

* पादाकुलक—(व्र० चं०)।

पर पापराशि खल रहते हैं, आपको उनका वध करना उचित है, इस बाणसे उन्हें मारिये।

नोट—१ वाल्मी० में सागरने बताया है कि यहाँसे उत्तर दिशामें द्रुमकुल्यनामक हमारा एक सुविख्यात पुण्य स्थान है। वहाँपर उग्रस्वभावयुक्त क्रूर कर्म करनेवाले पापाचारी बहुतसे आभीर चोर रहते हैं और हमारा जल पान करते हैं।—'आभीरप्रमुखाः पापाः पिबन्ति सलिलं मम। ६। २२। ३३।' (आभीर = महाशूद्र। इनकी संख्या साठ हजार थी)। उनके जलस्पर्शसे जो पाप होता है, उसे मैं नहीं सह सकता। यह बाण आप वहीं छोड़िए। वह बाण प्रभुने वहाँ छोड़ा, तबसे वह स्थान मरुकान्तार नामसे प्रसिद्ध हुआ। श्रीरामजीने उस भूमिको सुखाकर फिर उसे वर दिया कि यहाँ विशेषकर रोग न होंगे, यह देश फल फूलयुक्त वृक्षों आदिसे परिपूर्ण रहेगा' (वाल्मी०। ६।२२।२९-३९।) ।

२ (क) 'सुनि कृपाल सागर मन पीरा' से जनाया कि उसने अपना सब दुःख कह सुनाया था। कविने थोड़ेमें ही जना दिया। ['मन पीरा'—मनकी पीड़ा एक तो यह थी कि वे जलको अपवित्र कर देते थे, उनका पाप अपने ऊपर आता है। दूसरे, यह कि वे रात-दिन बराबर समुद्रको पीड़ा पहुँचाते थे। जोड़का श्लोक अ० रा० में यह है—'रामोत्तरप्रदेशे तु द्रुमकुल्य इति श्रुतः॥ प्रदेशस्तत्र बहवः पापात्मानो दिवानिशम्। ८१। बाधन्ते मां रघुश्रेष्ठ तत्र ते पात्यतां शरः। अ. रा. ६।३।८२।'] 'पीर' सुनकर तुरत कृपा करके उसे दूर की, इसीसे 'कृपाल' कहा।—'करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराई। २।८५।२।' (ख) 'तुरतहि' का भाव कि समुद्रने प्रार्थना की थी कि शीघ्रता कीजिए, मुझसे बाणकी ज्वाला सही नहीं जाती, यथा—'करौं बेगि जो तुम्हहि सुहाई'। इसीसे तुरंत बाण छोड़कर, बाणके तेज प्रतापसे जो उसका हृदय जल रहा था और शत्रुओं द्वारा जो उसके मनमें पीड़ा थी दोनोंसे उसे निवृत्त किया। (ग) यहाँ रणधीरा विशेषण और आगे 'देखि राम बल पौरुष भारी' कहकर जनाया कि उत्तरतटवासी खल बहुत प्रबल थे। ☞भगवान् अपने शरणका सब दुःख दूर करते हैं और तुरतही। समुद्र शरण आया, अतः उसका दुःख सुनकर तुरत उसे दूर किया। कैसा भी अपराध किया हो शरण होनेपर क्रोध नहीं करते, कृपा ही करते हैं, 'मैं जानौं निज नाथ सुभाऊ। अपराधहु पर कोप न काऊ।' और रामकृपाका फल तत्क्षण देख पड़ता है।

देखि राम बल पौरुष भारी। हरषि पयोनिधि भयउ सुखारी॥ ७॥
सकल चरित कहि प्रभुहि सुनावा। चरन बंदि पाथोधि सिधावा†॥ ८॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीका भारी बल और पुरुषार्थ देखकर समुद्र हर्षित होकर सुखी हुआ। ७। सारा चरित कहकर प्रभुको सुनाया और चरणोंकी वंदना करके समुद्र चला गया। ८।

टिप्पणी—१ (क) 'बल पौरुष'। बल शरीरका जो धनुष खींचनेसे प्रकट हुआ और आभीरोंके वधसे पुरुषार्थ जाना। [अध्यात्ममें लिखा है कि बाणने जाकर एक क्षणमें ही समस्त आभीरोंका नाश किया और फिर पूर्ववत् तरकशमें आ प्राप्त हुआ। यही बल और पुरुषार्थ है। प्रमाण—'रामेण सृष्टो बाणस्तु क्षणादाभीरमण्डलम्। ८२। हत्वा पुनः समागत्य तूणीरे पूर्ववत् स्थितः। अ. रा. ६।३।८३।' (ख) यहाँ अपात्र और पात्र शरणागति दिखाई। प्रभुका समुद्रकी शरण जाना अपात्रशरणागति है। इसीसे प्रभुने अपात्रसेवनका फल लोगोंको दिखाया। और समुद्र द्वारा पात्रशरणागति दिखाई कि कितना ही अपराध करनेपर भी शरण जानेपर प्रभुने उसके क्लेशको दूर कर दिया। (मा० त० सु०)] (ख) 'हरषि भयो सुखारी' का भाव कि श्रीरामजीकी माधुर्य लीला देखकर पहले संदेह हो गया था, वह संदेह बल और पौरुष देखकर दूर हुआ। हर्ष हुआ और मनकी पीड़ा दूर हुई, अतः सुखी हुआ। अथवा, 'हरषि' = प्रीति करके—'मत्प्रीती प्रमुदो हर्षः इत्यमरः'। तात्पर्य कि रामजीमें प्रीति करके सुखी हुआ। (ग) जितना हर्ष 'बल पौरुष' देखकर हुआ उतना अपने शत्रुओंके नाशसे उसको नहीं हुआ। इसीसे शत्रुनाशमें यही कहा कि सुनि कृपाल सागर मन पीरा। तुरतहि हरी....', अर्थात्

† 'देखि०' स्वागता, शेष पादाकुलक।

उसके मनकी पीड़ा दूर हुई, इतनाही कहा, 'हर्षित हुआ' ऐसा वहाँ नहीं कहा। 'हर्ष' बल पौरुष देखनेपर ही हुआ।

पं० विजयानंद त्रिपाठी—'सकल चरित' इति। अपना काम हो जानेपर, समुद्रने सब चरित्र कह सुनाया। भाव यह कि रघुपति दूत विचारकर जिस समुद्रने उनके विश्रामके लिये मेनाकको भेजा, वही समुद्र सरकारकी तीन दिनों तक विनतीकी उपेक्षा करे, यह कैसे सम्भव है। पर समुद्रने उपेक्षा की और तबतक की जबतक कि सरकारने क्रोध करके शरसन्धान नहीं किया। शरसन्धान करनेपर शरण आये, और शरका लक्ष्य उत्तर तटवासी अघराशि मनुष्योंको बताया, जिनसे समुद्रको बड़ी पीड़ा थी, क्योंकि सरकारका शरसन्धान व्यर्थ जा नहीं सकता। अर्थात् समुद्रने यह चरित जान-बूझकर किया। कहाँ तो सरकारकी चढ़ाई लंका परहै, और कहाँ यह विनय करना कि उत्तर तटवासी पापियोंको मारकर तब आगे बढ़िये, किसी तरहसे उपयुक्त नहीं। लंका विजय करके लौटनेके समय भरतजीसे मिलनेकी जल्दी रहेगी, वह समयभी ऐसे विनयके लिये उपयुक्त अवसर न ठहरेगा, इसलिये समुद्रने यह नाटक रचा। कार्यसिद्धि होनेपर सरकारसे सब भेद खोल दिया।

टिप्पणी—२ 'सकल चरित' उत्तर तटवासियों और रावणके नगरका। पहले क्यों न सुनाया था? कारण कि उसने सोचा कि हमारे कुलके हैं, लंकामें जाते हैं, न जाने इनमें बल पुरुषार्थ है या नहीं, राक्षस इन्हें जीत या खा न लें—इसीसे पहले न सुनाया, अब पुरुषार्थ और बल देखनेपर सुनाया।

३—उपक्रममें मन कर्म वचन दिखा आए, यहाँ उपसंहारमें भी—मनसे सुखी हुआ, वचनसे शत्रुचरित्र कहा और चरणोंकी वंदना करके घर चला गया यह कर्म है।

नोट—१ 'चरन बंदि पाथोधि सिधावा', यथा 'इत्युक्त्वा राघवं नत्वा ययौ सिन्धुरदृश्यताम्। अ. रा. ६।३।८५।' अ. रा. में वह अन्तर्धान हो गया।

(हरिगीतिका)

छंद—निज भवन गवनेउ सिंधु श्रीरघुपतिहि यह मत भायऊ।
यह चरित कलिमलहर जथामति दास तुलसी गायऊ॥
सुख-भवन संसय-समन दवन-बिषाद रघुपति गुनगना।
तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि संतत सठ मना॥

अर्थ—समुद्र अपने घर गया। श्रीरघुनाथजीको यह मत अच्छा लगा। यह चरित कलिके पापोंका हरनेवाला है, मुझ तुलसीदासने बुद्धिके अनुसार इसे गाया (कहा)। श्रीरघुपतिके गुणगण सुखके धाम, संशयके शमन (शान्त, नाश) करनेवाले और दुःखके दमन (दबाने वा नष्ट) करनेवाले हैं। अरे शठ मन! सब आशा भरोसा छोड़कर इन्हें निरन्तर गा और सुन।

टिप्पणी—१ (क) 'निज भवन गवनेउ' से सूचित हुआ कि समुद्रके अधिष्ठात्री देवताके रहनेका कहीं स्थान है। यदि जलमें रहता होता तो कहते कि समुद्रमें प्रवेश किया, क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी समुद्रतटपरही हैं, 'गवनेउ' न कहते। (ख)-'श्रीरघुपतिहि यह मत भायऊ'। पूर्व कहा था कि 'अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा', इसीसे यहाँ कहा कि श्रीरघुनाथजीको वह मत न भाया था, यह भाया। समुद्रकी मर्यादा रखनेसे उनकी शोभा है। इसीसे यहाँ 'श्री' पद दिया। ['यह मत भायऊ' का भाव कि इससे लक्ष्मणजीकी बात भी रह गई, समुद्रकी मर्यादा भी रह गई और अब नील नल आदिका यशभी विख्यात होगा तथा सागरमें सेतु बाँधनेका यश संसारमें फैलेगा। (मा० त० सु०)]।

२—यहाँ इस सोपानकी समाप्ति है, इसीसे इसका माहात्म्य कहते हैं। 'यथामति' से चरितकी अनंतता जनाई, यथा—'निज मति सरिस नाथ मैं गाई', 'रघुपतिकृपा जथामति गावा'। कलिमलहर अर्थात् जो पापी हैं उनको शुद्ध करता है। आगे भक्तोंका कृतार्थ होना कहते हैं। ('गायऊ'का भाव कि इसके रचयिता श्रीशंकरजी हैं, मैंने हिन्दी भाषामें छन्द बद्ध करके वर्णन किया)।

टिप्पणी—३ 'मलहर'से कलियुगका फल कहा, यथा—'मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की'। सुख कर्मका फल है, यह त्रेतामें प्रधान है, यथा—'सब विधि सुख त्रेता कर धर्मा। ७।१०४।२', अतः 'सुख भवन' शब्दसे त्रेताका फल कहा। संशयका शमन होना ज्ञानका फल है, यह सत्ययुगका धर्म है', यथा—'कृतजुग सब जोगी बिज्ञानी।' (७।१०३।१)। विषादका नाश भगवान्‌की पूजाका फल है, यह द्वापरमें प्रधान है, यथा—'द्वापर करि रघुपतिपद पूजा।' (७।१०३)। यहाँ चार प्रकारका माहात्म्य कहकर जनाया कि रामचरित चारों युगोंके फलको प्रदान करता है।

४—यहाँ फलश्रुतिमें तीन आवृत्तियाँ कहीं। कलियुगका धर्म रामचरितगान है, (और कोई धर्म इस युगमें नहीं रह गए। अन्य धर्मको कलिने ग्रस लिया। यथा—'धर्म सकल कलिकाल ग्रसे।'), जिसका फल 'कलिमलहर' है। गोस्वामीजी कलियुगमें हुए, इसीसे उन्होंने अपने वर्तमान युगका धर्म प्रथम कहा। इति प्रथमावृत्तिः। ज्ञानीके लिए सुखभवन और जिज्ञासुके लिए संशयशमन है। आर्त्तके लिए विषाददमन है। और, अर्थार्थीके लिए सकल सुमंगलदायक है। चारों भक्त मोक्ष नहीं लेते। जो मुमुक्षु हैं उन्हें भव-सिंधुपार करता है, इति द्वितीयावृत्तिः। 'तजि सकल आस भरोस' अर्थात् लोक परलोक दोनोंके पदार्थोंकी आशा छोड़कर, निष्काम होकर गाये सुने। अथवा, इह लोकमें किसीका आशाभरोसा न करे, संतत रामचरित कहे सुने, इसके कहने सुननेमें अनध्याय न करे। इति तृतीयावृत्तिः। [मनको शठ कहनेका भाव कि बारबार उपदेश करनेपर भी यह अपनी मूढ़ता नहीं छोड़ता, यथा—'मेरो मन हरिजू हठ न तजै। निशि-दिन नाथ देउँ सिख बहुबिधि करत सुभाउ निजै॥ इत्यादि। संतत, यथा—'रामहि सुमिरिय गाइय रामहिं। संतत सुनिय रामगुनग्रामहिं। ७।१३०।६।' निरंतर इसीमें डूबे रहो]।

प० प० प्र०—'यह चरित' में सुन्दरकांडका पूरा चरित्र और विशेषतः 'सागर निग्रह चरित्र' दोनों ही आगए। दोनोंही कलिमलके हरनेवाले हैं।

प० प० प्र०—(क) 'तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि' यह अनन्य, साधनहीन शरणागतों के लिये है। यथा 'विश्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे। जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव। ७।१३।३।' (ख) 'संतत' का भाव कि सतत (निरंतर) गाने सुननेसे श्रीरामजी हृदयमें निवास करेंगे। यथा—'जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥ भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्हके हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे।' (ग) 'तजि सकल....मना' की फलश्रुति आगे दोहेमें कहते हैं—'सादर सुनहिं ते तरहिं भव....'।

दो०—सकल सुमंगलदायक रघुनायक गुन गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव-सिंधु बिना जलजान* ॥६०॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीका गुणगान समस्त सुंदर मंगलोंका देनेवाला है। जो इसे आदरसहित सुनते हैं वे बिना किसी जलयान (जहाज़ आदि जलमें चलनेवाली सवारियों) के भवसागर तर जाते हैं। ६०।

टिप्पणी—१ अपनी इति लगाकर अब यहाँ भक्तोंकी इति लगाते हैं। 'सकल सुमंगल' से अर्थ, धर्म और कामका दाता और 'भव तरहिं' से मोक्षदाता, अर्थात् चारों पदार्थोंका दाता जनाया। पुनः, इस लोकमें सकल सुमंगलदायक है और परलोकमें भवपार करता है।

२—'बिना जलजान' का भाव कि भवसमुद्र सूख जाता है, वा, थाह हो जाता है, वा, भवसिंधु-को ऐसे तर जाते हैं मानों उसमें जल नहीं है—उस सिंधुको विना जलका जानो इस प्रकार तर जाते हैं। यथा—'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं' और 'एहि महँ रघुपतिनाम उदारा' है ही।

३—प्रथम गाना, सुनना दोनों लिखा—'गावहि सुनहि संतत सठ मना'। अब दोनोंका पृथक्

* प्र० चं०—दोहरा दोहा मिश्रित है।

पृथक् फल कहते हैं। 'सकल सुमंगलदायक' गुणगानका फल है और 'ते तरहिं भवसिंधु बिना जलजान' सादर श्रवणका फल है।

☞ यहाँ समुद्र उतरनेका प्रसंग है। अतएव ग्रंथकारने समुद्र उतरनेके प्रसंगमें काण्डकी समाप्ति की। रघुनायकने अपने जनोंके उतरनेके लिए समुद्रमें सेतु बाँधा और रघुनायकगुणगान बिना जलयानके पार कर देता है। रघुनायकको श्रम उठाना पड़ा, यथा—'सेतु हेतु श्रम कीन्ह न थोरा', और गुणगान बिना परिश्रम पार करता है, यथा—'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं', तात्पर्य कि रामगुणगान श्रीरामजीसे अधिक काम करता है, रामगुणगानमें ज्ञान है; ज्ञान होनेपर भव नहीं रह जाता; अज्ञानदृष्टिमें भव है।

प० प० प्र०—अयोध्याकांडमें कहा है कि 'सकल सुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेह।२।२०७।' अर्थात् श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें स्नेह समस्त सुमंगलोंको देनेवाला है और यहाँ कहते हैं कि 'सकल सुमंगलदायक रघुनायक गुनगान'। इस तरह सूचित किया कि 'तजि सकल आस भरोस' सतत गाने सुननेसे श्रीरामचरणस्नेह होगा जिससे शर-चाप-धर श्रीरामजी हृदयमें निवास करेंगे।

प० प० प्र०—इस कांडमें ६० दोहोंका रखना भी साभिप्राय है। सप्तसोपानोंकी समता सप्त-पुरियोंसे दी गई है। बाल० मं० श्लोक ७ देखिए। इस तरह यह कांड कांचीपुरी और किष्किंधा काशीपुरी हुआ। किष्किंधारूपी शिवपुरीमें ३० दोहे दिये हैं। सुंदरकांडरूपी कांचीपुरीमें शिवकांची हनुमत् चरित है और विष्णुकांची रामचरित है। शिवकांची शिवपुरी ही है। और काशी-शिवपुरीमें ३० दोहे दिये हैं अतः हनुमत् चरित शिवकांचीमें भी ३० दोहे दिये। 'पवनतनयके चरित सुहाए। जामवंत रघुपतिहि सुनाए। ३०। ८।' तक यह चरित है। फिर शिव-विष्णु-प्रभेद-भावसे विष्णुकांची-श्रीरामचरितको भी ३० दोहोंमें कहा। इस कारण ६० दोहोंमें यह कांड समाप्त किया।

टिप्पणी—४ 'पुनि सर्वज्ञ सर्व उर बासी' से यहाँ तक 'सागर-निग्रह कथा सुनाई' यह प्रसंग है।—सुंदरकांडमें भुशुंडिजीने १२ प्रसंग कहे। वे यहाँ समाप्त हुए।

सुंदरकांड और उसके विस्तार पर विचार

मा० हं०—"इस काण्डके विस्तारका भी विचार होना चाहिए। अध्यात्म और वाल्मीकि रामा-यणमें सुन्दरकांडका कथाक्रम सीताशोधतक ही रखा है; परन्तु स्वामीजीके सुंदरकांडका कथाक्रम सागर-निग्रहतक बढ़ गया है। बढ़ाये हुए कथानक (यानी सैन्यका सागराक्रमण, बिभीषणशरणागति, बिभीषण-राज्य दान और सागरनिग्रह) स्वामीजीको सीताशुद्धि सदृश ही रसीले दिखे हों, अथवा अन्य रामायणोंके युद्धकाण्डके समान उनका लंकाकाण्ड विस्तृत न हो, ऐसे कोई न कोई विचारके कारण उन्होंने (=यह उनकी ?) अपनी लङ्काकांड की योजना दिखायी है उस तरह की। कांडके बढ़ने घटनेका हमें महत्व नहीं। असलमें महत्वकी बात उनका विचार स्वातंत्र्य है। अंतमें इतनाही कथन है कि स्वामीजीके सुन्दरकांडके दो विभाग होते हैं—'पूर्वार्द्ध सीताशुद्धि तक, और उत्तरार्द्ध सागर-निग्रह तक। स्वामीजीके सुन्दरकाण्डका अनु-ष्ठान इस विभागविचारसे होना चाहिए या नहीं इसका निश्चय अनुष्ठाता स्वयंही कर लेंगे।"

२ रा० प०—'सुंदरकांड नाम पड़ा क्योंकि उत्तर और दक्षिण ध्रुवके दो तारे हैं। उत्तर सुमेरु है जिसकी नक़ल दक्षिणमें लङ्का है। सुमेरुके तीन शिखर हैं। वैसेही यहाँ त्रिकूट है, इनके नाम नील, सुंदर और सुवेल हैं। नील शिखर पर नगर बसा है, सुंदर पर अशोकवाटिका बनी और सुवेलपर रणभूमि है। यह मेरु उपमेरु तंत्रमें कहा है। इस कांडकी प्रधान लीला सुंदर शिखरसे प्रारंभ हुई अतः सुंदर नाम पड़ा। इसी प्रकार अयोध्यामें प्रधान कार्य प्रारंभ होनेसे अयोध्याकांड नाम पड़ा।'

☞ उपर्युक्त दोनों विषयोंपर पूर्व लेख आ चुके हैं। कांचीपुरीके दो विभाग होनेसे सुन्दरकांड-रूपी कांचीपुरीके भी दो विभाग हुये यह ऊपर बताया गया है। श्रीशिवजी रचित रामचरितमानस-

रामायणमें भी सुन्दरकांड पंचम सोपानकी कथा यहीं तक होगी, इसीसे हिन्दी भाषावद्ध रामचरितमानस-में भी वैसा रक्खा गया।

उपक्रम	(प० प० प्र०)	उपसंहार
१ निर्वाण शान्ति प्रदं (मोक्ष और प्रेमाभक्तिदाता)		१ 'तरहिं भवसिंधु' (मोक्ष), 'सुमंगलदायक' (प्रेमाभक्ति दायक)
२ भक्ति प्रयच्छ (मं० श्लोक २)		२ श्रीहनुमान्‌जी और विभीषणजीको अनपायिनी भक्ति मिली।

३ वाल० मं० श्लो० ५ सुंदरकांडका प्रतिनिधिरूप है, यह सुं० मं० श्लो० १ पृष्ठ ४ में लिखा जा चुका है। यह उपसंहारसे भी सिद्ध हुआ है। उपक्रममें 'सर्वश्रेयस्करी' है, वही उपसंहारमें 'सकल सुमंगल दायक' है। प्रथम श्रीसीताजीने ही हनुमान्‌जीको 'सुत' बनाया और भक्ति दी। श्रीसीताजीही विभीषण-जीको भक्तिप्राप्तिका कारण हुईं।

उपक्रम	उपसंहार
४ भक्ति प्रयच्छ (यहाँ भक्तिकी याचना)	४ भक्तिका साधन 'तजि आस....गुन गान'
५ कामादि दोष रहितं कुरु मानसं	५ 'कलिमल हर', संसय समन दमन बिपाद'
६ मं० श्लो० १ में श्रीरामचरित, श्लो० २ में विभी-षणचरित और श्लो० ३ में श्रीहनुमत्‌-चरित सूचित किया।	६ काण्डमें व्यतिक्रम ये तीनों चरित हैं। प्रथम हनुमान्‌जी, फिर विभीषणजी तब श्रीरामचरित कहा गया।

इति श्रीरामचरितमानसे सकल कलिकलुष विध्वंसने ज्ञानसम्पादिनी नाम पंचमः सोपानः समाप्तः।

अर्थात् श्रीरामचरितमानसका कलिके सम्पूर्ण पापोंका नाश करने और ज्ञान प्रदान करनेवाला सोपान समाप्त हुआ।

श्रीसीतारामभक्तार्पणमस्तु।

श्रीहनुमते नमः। श्रीरामभक्त-भगवन्त-गुरुचरणकमलेभ्यो नमः॥
श्रीरामं रामभक्तिञ्च रामभक्तांस्तथा गुरून्। वाक्काय मनसा प्रेम्णा प्रणमामि पुनः पुनः॥
सब मिलि कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि तुम्हहिं भजौं दिन राती॥
मनकी सकल बासना भागै। सीतारामचरण लौ लागै॥
बार बार माँगौ कर जोरे। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरे॥
श्रीराम जय राम जय जय राम।

'मानस-पीयूष' सुन्दरकांड पंचम सोपानके संस्करण

संस्करण	आकार	पृष्ठसंख्या	प्रकाशनकाल	प्रेस जिसमें छपा
प्रथम	डेमाई अठपेजी	५०४	तुलसी सं० ३०८ (संवत् १९८७-१९८८)	श्रीसीताराम प्रेस, बनारस
द्वितीय	२०×३० / ८	४५६+१६	गुरु पूर्णिमा सं० २०११	,,
तृतीय	,,	,,	चैत्र शु. ९, सं० २०१५	राष्ट्रभाषा मुद्रणालय, वाराणसी-४ में अधिकांश छपा

श्रीरूपकलादेव्यै नमः

श्रीहनुमते नमः

॥ श्रीसीताराम ॥

मानस-पीयूष

(श्रीरामचरितमानसका संसारमें सबसे बड़ा तिलक)

षष्ठ सोपान (लंकाकाण्ड)

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायणपर काशीके सुप्रसिद्ध रामायणी श्री पं० रामकुमारजी, पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज (व्यास), श्रीरामायणी रामबालकदासजी एवं श्रीमानसी वंदनपाठकजी आदि साकेतवासी महानुभावोंकी अप्राप्य और अप्रकाशित टिप्पणियाँ एवं कथाओंके भाव; बाबा श्रीरामचरणदासजी (श्रीकरुणासिंधुजी), श्रीसंतसिंहजी पंजाबी ज्ञानी, देवतीर्थ श्रीकाष्ठजिह्व स्वामीजी, बाबा श्रीहरिहरप्रसादजी (सीतारामीय), श्रीहरिदासजी पाण्डे, श्रीरामबख्शजी, श्री पं० शिवलाल पाठकजी, श्रीवैजनाथजी आदि पूर्व मानसाचार्यों टीकाकारोंके भाव, मानसराजहंस पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी तथा प० प० प्र० श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजीके अप्रकाशित टिप्पण; आजकलके प्रायः समस्त टीकाकारोंके विशद एवं सुसंगत भाव तथा प्रो० श्रीरामदासजी गौड़ एम० एस-सी०, प्रो० लाला भगवानदीनजी, प्रो० पं० रामचन्द्र शुक्लजी, पं० यादवशंकरजी जामदार रिटायर्ड सब जज, श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी, श्रीनागा परमहंसजी (बाबा श्रीअवधविहारीदासजी) और बाबा जयरामदास दीनजी आदि स्वर्गीय तथा वेदान्तभूषण साहित्यरत्न पं० रामकुमारदासजी आदि आधुनिक मानसविज्ञोंकी आलोचनात्मक व्याख्याओंका सुन्दर संग्रह।

सम्पादक एवं लेखक

श्रीअंजनीनन्दनशरण

श्रीसंत-भगवन्त-गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

प्रथम संस्करणका वक्तव्य

लङ्काकाण्डका 'मानस-पीयूष' तिलक श्रीसीतारामजीकी कृपासे अनेक विघ्न पड़नेपर भी श्रीगुरु-पूर्णिमापर प्रेमी पाठकोंके करकमलोंमें पहुँच गया। इसके लिये पूज्यपाद कृपालु गुरु भगवान् अनन्त श्रीरूपकलाजीको धन्यवाद है; क्योंकि वस्तुतः उन्हींकी गरीयसी आज्ञा और शुभाशिषका यह फल है। अब उत्तरकाण्ड और 'मानस-पीयूषकी भूमिका' उनकी कृपासे शीघ्र प्रकाशित होनेकी आशा है।

'मानस-पीयूष' एक संग्रहमात्र है जिसमें पाठक एक ही स्थानपर समस्त रामायणियोंके भावोंका अवलोकन कर सकें और स्वयं उनपर विचार भी कर सकें। जहाँ-तहाँ मैंने अपने विचार भी पाठकोंके आग्रहसे दे दिये हैं।

प्राचीन पोथियोंमें पाठ-भेद होनेसे यही उचित समझ पड़ा कि भागवतदासजीकी पोथीसे पाठ मूलमें दूँ और अन्य पोथियोंका पाठ पाठान्तरमें दे दूँ। पर टीकामें गौड़जीके गुटकासे उदाहरण दिये हैं।

इस लङ्काकाण्डके लिखते समय मुझे एक नवीन बातका पता लगा जिसे मानसप्रेमियोंपर प्रकट कर देना परमावश्यक है। वह है टेकारीके श्रीमान् बाबू रणबहादुरसिंहजी द्वारा—श्री पं० मातृदत्त सहगौर त्रिपाठी तथा पं० ललिताप्रसाद ओझा आदि पण्डितोंसे २७ वर्षतक सम्पादन कराकर—गंगाधर प्रेस, रायबरेलीसे प्रकाशित की हुई 'तुलसीकृत रामायणकी टीका' की पोल। मैंने बहुत विद्वानोंद्वारा इस पुस्तककी प्रशंसा सुनी थी। इसलिये सुन्दरकाण्डतक इसी पुस्तकसे संस्कृतके समानार्थी श्लोकोंके अधिकांश उद्धरण दिये थे। परंतु लङ्काकाण्ड लिखनेके पूर्व उक्त पुस्तकका लङ्काकाण्ड प्रकाशित नहीं हुआ था इसलिये मैंने स्वयं विभिन्न पुस्तकोंको पढ़कर उनसे समानार्थी श्लोकोंके उद्धरण दिये। इधर कुछ दिनोंके बाद जब उक्त पुस्तकका लङ्काकाण्ड प्रकाशित हो गया, तब मैंने उसे मँगवाकर उन स्थलोंके समानार्थी श्लोकोंको देखना आरम्भ किया जिनके समानार्थी श्लोक मुझे ढूँढ़नेसे नहीं मिले थे। तब उक्त पुस्तककी पोल मुझे ज्ञात हुई। मैंने देखा कि बहुतेरे उद्धृत श्लोकोंपर उन्हीं पुस्तकोंके नाम दिये हुए हैं जिनमें मुझे उनके समानार्थी श्लोक नहीं मिले थे—तब तो मैंने उस पुस्तककी गहरी छान-बीन प्रारम्भ की। जिससे यह पता लगा कि उस पुस्तकमें लगभग ७५ प्रतिशत श्लोक अपनी ओरसे गढ़कर लिखे गये हैं। मैंने बाबू बजरङ्गबलीजीद्वारा मन्त्रीजी (जिन्होंने वह टीका मेरे पास भेजी थी) के पास पत्र भेजा कि वाल्मीकि आदिके छपे हुए संस्करणोंमें श्लोक नहीं मिलते, आपने किन संस्करणोंसे दिये हैं—पर उन्होंने कुछ उत्तर न दिया जिससे मेरा संदेह दृढ़ हो गया कि ये श्लोक गढ़े हुए हैं।

श्लोकोंके अतिरिक्त जो पादटिप्पणियाँ उसमें हैं, वह भी अन्य टीकाओंकी अविकल नकल हैं। काण्डके काण्डकी नकल एक ही टीकासे कर ली गयी है। उदाहरणस्वरूप अयोध्याकाण्डमें अक्षरशः नकल विनायकी टीका और किष्किन्धाकाण्डमें पं० रामकुमारजीकी टीकासे की गयी है। मैं यहाँपर कुछ गढ़े हुए श्लोकोंको उद्धृत करता हूँ—

लं० पृ० ३ में—अध्यात्मे—'ततो रामस्तु सुग्रीव [जामवन्तौ समाहृयत् । युवां सेतोर्विरचने विलम्बेथेऽधुना कथम्] ।

पृ० ८—वाल्मीकीये—केचिद्वैहायसगताः सुपर्णा इव पुप्लुवुः । (२२ । ८१) [वारिचारिण आरुह्य कैश्चित्तीर्णः सरित्पतिः] ।

इसके आगे चार-पाँच श्लोक सब गढ़े हुए हैं ।

पृ० २९ हनुमन्नाटके—[अनुशासनमुपलभ्य दूता अंगदमाहूयानीतवन्तः]

उपर्युक्त उद्धरणोंमें जितना अंश कोष्ठकान्तर्गत है वह अपनी ओरसे गढ़ा गया है । स्थानाभावके कारण मैंने कुछ ही श्लोक उद्धृत किये हैं । पाठकोंको चाहिये कि उक्त पुस्तकका एकदम विश्वास न करें; क्योंकि मूल पुस्तक अवलोकन किये बिना यह ज्ञात होना असम्भव है कि कौन-कौनसे श्लोक गढ़े गये हैं और कौन-कौनसे श्लोक मूल पुस्तकोंके हैं । इस काण्डमें जो श्लोक मेरे चुने हुए हैं उनका पूरा पता दिया हुआ है । इसके अतिरिक्त पं० रामकुमारजीके खर्रोंमेंके श्लोक भी दिये गये हैं क्योंकि मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे श्लोक गढ़े हुए नहीं हैं, जैसा कि अधिकांशकी परीक्षासे मुझे ज्ञात हुआ है ।

७४ (१) पृष्ठ ६०४ में मूल पाठ 'सो' और ७४ (१५) पृष्ठ ६०९ में 'सर' शुद्ध पाठ है । प्रेसकी असावधानीसे अशुद्ध छप गया है ।—सम्पादक

तुलसी सं० ३०९
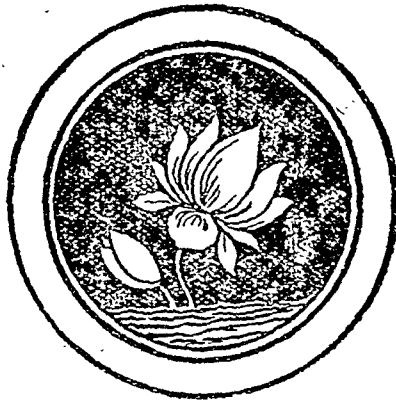
दूसरे संस्करणके दो शब्द

शरीरकी जिस रुग्ण और जर्जर अवस्थामें 'मानस-पीयूष' के इस नवीन परिमार्जित तथा अत्यन्त परिवर्द्धित संस्करणके लेखन तथा प्रकाशन-कार्यका आरम्भ हुआ था, उससे कौन आशा कर सकता था कि यह महान् सेवा इस शरीरसे पार लग जायगी।

प्रेमी पाठकोंका हृदय भी धक-धक हो रहा था। वे भगवान्‌से प्रार्थना करते और इस दासको आशीर्वादके पत्र भेजा करते थे कि यह महान् कार्य श्रीसीतारामकृपासे शीघ्र सम्पन्न हो जाय।

श्रीगुरु-हनुमत्कृपा तथा प्रेमी महानुभावोंके आशीर्वादसे ही यह सेवा अब पार लगी दीखती है। लंकाकाण्ड प्रेमियोंकी सेवामें भेंट किया जा रहा है और उत्तरकाण्डका छपना प्रारम्भ हो गया। अतः आज दासके चित्तमें आह्लाद हो रहा है। दास उन समस्त शुभेच्छुक प्रेमियों तथा महात्माओंको हृदयसे धन्यवाद देता है।

यह संस्करण नाममात्रको ही दूसरा है। वस्तुतः इसका पूरा ढाँचा ही बदल गया है और इसमें मानसराजहंस पं० विजयानन्द त्रिपाठी तथा प० प० प्र० स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजीके अप्रकाशित टिप्पणों तथा श्रीनंगे परमहंसजी, वे० भू० पं० रामकुमारदासजी आदिके प्रकाशित लेखोंका भी समावेश कर दिया है।

इस संस्करणमें वाल्मीकीयके जो नये श्लोक दिये गये हैं वे पं० द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदीके छपाये हुए संस्करणसे दिये गये हैं और उनमें 'च० सं०' सकेत दे दिया गया है। इस काण्डकी समाप्तिके साथ ही इसके प्रकरणों तथा सङ्केताक्षरोंकी सूची भी बना दी गयी है और कुछ विशेष काममें आनेवाले विषयों तथा शब्दोंकी अनुक्रमणिका भी छपा दी है। यह अनुक्रमणिका पाठकोंके विशेष कामकी होगी या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता, जैसी हृदयमें उरप्रेरककी प्रेरणा हुई वैसी ही लिख दी गयी है। इससे अपनेको एक लाभ यह अवश्य होगा कि आगे इनकी पुनरुक्ति न हो। शीघ्रताके कारण विषयोंकी तालिका जैसी चाहिये थी वैसी वृहत् नहीं बन सकी।

इस संस्करणके विषयोंकी सूची बनाते समय अचानक जहाँ-जहाँ अशुद्धियोंपर दृष्टि पड़ गयी उनका शुद्धिपत्र बना दिया है।

इस काण्डके अन्तिम प्रूफ देखते समय श्रीबजरङ्गबली गुप्त विशारद फार्मको स्वयं आदिसे अन्त-तक पढ़ लेते थे, इसी विश्वासपर मैं एक ही बार प्रूफ देखकर छपनेका आर्डर देता रहा; यद्यपि बहुधा प्रूफ आर्डरके योग्य न होता था। अब देखनेसे पता चला कि लंकाकाण्डका अन्तिम प्रूफ उन्होंने अधिक रुग्ण हो जानेके कारण दूसरोंपर छोड़ दिया। छापनेवालोंने भी बहुत असावधानता दिखलायी है। मात्राएँ तो इतनी टूटी हैं कि कुछ कहा नहीं जाता और यत्र-तत्र अक्षर भी टूटे और घिसे हुए हैं। उनको सोचना चाहिये था कि इससे प्रेसकी अपकीर्ति होगी। शुद्धिपत्रमें केवल कुछ अशुद्धियोंका हमने संशोधन किया है।

श्रीसीतारामानुरागियोंका सेवक,

अञ्जनीनन्दनशरण

तीसरा संस्करण

पू० श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजी महाराजने मानस-पीयूषके अधिक प्रचारकी इच्छासे अपना वर्तमान पूरा स्टाक तथा उसके पुनर्मुद्रण तथा विक्रय आदिके सर्वाधिकार स्वेच्छापूर्वक गीताप्रेस, गोरखपुरको प्रदान कर दिये, जिसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। जो-जो खण्ड जैसे-जैसे समाप्त होते जायँगे, वैसे-वैसे ही उनके पुनर्मुद्रणकी व्यवस्था की जा सकेगी।

गीताप्रेस, गोरखपुर
दि० १२-४-५९

—प्रकाशक

लङ्काकाण्डमें आये हुए प्रकरणों तथा तदन्तर्गत प्रसङ्गोंकी सूची

संकेताक्षरोंकी तालिका

अ०—अयोध्याकाण्ड, अध्याय

अ० ८, २। ८—अयोध्याकाण्डका दोहा ८ या उस दोहेकी चौपाई

अ० दी०—मानस-अभिप्राय दीपक

अ० दी० च०—मानस अभिप्राय दीपक चक्षु

अ० रा०, अ० र०—अध्यात्मरामायण

अमर०—अमरकोष

आ०—अरण्यकाण्ड

आ० ८, ३। ८—अरण्यकाण्डका दोहा ८ या उसकी चौपाई

आ० रा०—आनन्दरामायण

उ०—उत्तरकाण्ड, उत्तरखण्ड, उपनिषद्

उ० ११, ७। ११—उत्तरकाण्डका दोहा ११ या उसकी चौपाई

क०—कवितावली

कठ०—कठोपनिषद्

करु०—श्रीकरुणासिंधुजीकी 'आनन्दलहरी' टीका

कल्याण—गीताप्रेसका मासिकपत्र

का०—काशिराजकी पोथी

कि०—किष्किन्धाकाण्ड

को० रा०—कोदवरामजीका गुटका

खर्रा—पं० रामकुमारजीके प्रथम टिप्पण

गी०—गीतावली

गीता—श्रीमद्भगवद्गीता

गौड़जी—प्रो० श्रीरामदास गौड़जी एम्० एस सी० के अप्रकाशित टिप्पण।

चौ०—चौपाई

छ०—लाला छक्कनलाल

छां०—छान्दोग्योपनिषद्

जा० दा०—बाबा जानकीदासजीके टिप्पण 'भाव-प्रकाश' से उद्धृत

टिप्पणी—पं० पुरुषोत्तमदत्तसे प्राप्त पं० रामकुमारजीके हस्तलिखित टिप्पण

तैत्ति०, तै०—तैत्तिरीयोपनिषद्

दो०—दोहा, दोहावली

द्वि०, रा० गु० द्वि०—पं० रामगुलाम द्विवेदी

नं० प०—श्रीअवधविहारीदास (श्रीनागापरमहंस) जी

ना० प्र०—नागरीप्रचारिणीसभाका मूल पाठ

नृ० पु०—नृसिंहपुराण

नोट—प्रायः पं० रामकुमारजी और अन्य महानुभावोंके विशेष भाव तथा संपादकीय विचार। महानुभावोंके भावोंके अन्तमें उनके नाम कोष्ठकमें दिये गये हैं।

पं०, पंजाबीजी—श्रीसंतसिंह पंजाबीजीकी टीका

पं० रा०व० श०—श्री पं० रामवल्लभाशरणजीकी कथाके अथवा तुलसीपत्र आदिके लेखोंसे लिये हुए टिप्पण

प० पु०—पद्मपुराण

प० प० प्र०, प्र० स्वामी—श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजी

पां०, पांडेजी—मुं० रोशनलालकी टीका

पु० रा० कु०, पं० रा० कु०—पुरुषोत्तमजीसे प्राप्त पं० रामकुमारजीके हस्तलिखित टिप्पण।

प्र० सं—मानसपीयूषका प्रथम संस्करण

वं० पा०—श्रीमानसी वन्दन पाठकजीके हस्तलिखित टिप्पण

बा० ८, १।८ बालकाण्डका दोहा ८ या उसकी चौपाई

वि०, विनय—विनयपत्रिकाका पद।

वै० सं—वैराग्य संदीपनी।

भ० गु० द०—भगवद्गुणदर्पण श्रीवैजनाथजीकी टीकासे

भा०—श्रीमद्भागवत

भा० दा—श्रीभागवतदासजीकी हस्तलिखित पोथी

मं० श्लो०—मङ्गलाचरणका श्लोक

मं० सो०— " सोरठा

मा० त० प्र०—श्रीचण्डीप्रसादसिंहकृत मानसतत्त्वप्रबोधिनी

मा० म०—मानसमयंककी टीका

मा० मु० टी०—मानसमुक्तावली टीका

मा०शं०—श्रीमन्मानसशंकावली(श्रीमहादेवदत्तकृत)

मा० सं०—मानसपीयूषका सम्पादक

मुण्ड०, मुं०—मण्डकोपनिषद्

मा० हं०—श्रीयादवशंकरजी रिटायर्ड सबजजकृत तुलसी-रहस्य

यजु०—यजुर्वेद

यु०—युद्धकाण्ड

रा० चं०—केशवदासजीकृत रामचंद्रिका

रा० प०—रामायणपरिचर्या

रा० प्र०—रामायण परिचर्यापरिशिष्ट प्रकाश

रा० बा० दा०—श्रीरामायणी रामबालकदासजी

रा० शं० श०—श्रीरामशंकरशरण व्यास

लं०—लङ्काकाण्ड

वाल्मी०—वाल्मीकीय

वि० टी०—विनायकी टीका

वि० त्रि०—पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी

वीर—पं महावीरप्रसाद मालवीय 'वीरकवि'

वे० भू०—वेदान्तभूषण पं० रामकुमारदासजी

वै०—श्रीवैजनाथजीकी टीका

श० सा०—हिंदी शब्दसागर (कोष)

श० सुं० दा०—बाबू श्यामसुंदरदासजीकी टीका

शीला—बाबा हरीदासजीकी शीलावृत्त टीका

शु० ला०—पं० शुकदेवलालकी टीका

श्वे०—श्वेताश्वतरोपनिषद्

सि० ति०—सिद्धान्त तिलक। इस टीकामें मानसपीयूष प्र० सं० के रुपयेमें साढ़े पंद्रह आने चोरी है। सन् १९४७ से इसका वेचना और छपाना जुर्म है। जो उसमें नवीन भाव हैं वे इसी नामसे दिये गये हैं।

सुं०—सुंदरकाण्ड

सु० र० भा०—सुभाषित रत्न भाण्डागार

हनु०, हनु० ना०—श्रीहनुमन्नाटक

[ ] ( ) कोष्ठकान्तर्गत लेख प्रायः सम्पादकीय हैं जहाँपर किसीका नाम नहीं दिया गया है।

स्मरण रहे कि इस काण्डके उद्धरणोंमें हमने प्रायः लं० या '६' न देकर केवल दोहेकी संख्या अथवा दोहे और उस दोहेकी चौपाईकी संख्या दी है। जैसे ११०। ५=लङ्काकाण्डके दोहा ११० की पाँचवीं चौपाई। इसी तरह वाल्मी० और अ० रा० के युद्धकाण्ड सर्ग और श्लोकमात्रकी संख्या दी है।

बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किंधा, सुंदर और उत्तरकाण्डोंके लिये क्रमशः १, २, ३, ४, ५ और ७ सूचक अंक दिये गये हैं।

लङ्काकाण्डमें आये हुए कुछ विशेष विषयों और शब्दोंकी अनुक्रमणिका

कुछ नये ग्रन्थोंके नाम जिनसे इस काण्डमें सहायता ली

अष्टाध्यायी	माधुर्यकादम्बिनी
अग्निपुराण	मुण्डकोपनिषद्
ऋग्वेद	मोक्षधर्म
कौटिल्य अर्थशास्त्र	रत्नकोष
नारदभक्तिसूत्र	वृत्तरत्नावली, बृहदारण्यकोपनिषद्
नीतिप्रकाशिका	हयशीर्ष पंचरात्र
पंचतंत्र	हरिभक्तिविलास
भोजप्रबंध	हितोपदेश
मण्डव्योपनिषद्	

☞ प्रायः शेष ग्रन्थोंके नाम पूर्वकाण्डोंमें आये हैं

॥ श्रीः ॥

ॐ नमो भगवते श्रीमते रामानन्दाचार्याय ।

श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते रामचन्द्राय नमः ।

ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्य्यायै श्रीरूपकलादेव्यै

श्रीसद्गुरुभगवच्चरणकमलेभ्यो नमः ।

ॐ नमो भगवते मङ्गलमूर्तये कृपानिधये गुरवे मर्कटाय श्रीरामदूताय सर्वविघ्नविनाशकाय क्षमामन्दिराय ।

शरणागतवत्सलाय श्रीसीतारामपदप्रेमपराभक्तिप्रदाय सर्वसंकटनिवारणाय श्रीहनुमते ।

ॐ साम्बशिवाय नमः । श्रीगणेशाय नमः । श्रीसरस्वत्यै नमः ।

परमाचार्याय श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः

श्रीरामचरितमानसाखिलटीकाकर्तृभ्यो नमः ।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गतनानाविधभावाधारग्रन्थकर्तृभ्यो नमः ।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गतनानाविधभावसूचकमहात्मभ्यो नमः ।

सुप्रसिद्धमानसपण्डितवर्य्यश्रीसाकेतवासी श्रीरामकुमारचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

अथ श्री

मानस-पीयूष

श्रीरामचरितमानस षष्ठ सोपान

(लङ्काकाण्ड)

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

दो०—लव निमेष परमानु जुग बरष कल्प सर चंड ।
भजसि न मन तेहि राम कहँ काल जासु कोदंड ॥ १ ॥

शब्दार्थ—१८ निमेष=१ काष्ठा । ३० काष्ठा=१ मुहूर्त । ३० मुहूर्त=१ दिन-रात्रि । शब्दकल्पद्रुममें 'लवम्' शब्दके अर्थोंमें इस प्रकार दिया है—'कालभेदः । यथा । अष्टादश निमेषास्तु काष्ठाद्वयं लवः । इति हेमचन्द्रः ।' अर्थात् हेमचन्द्रके मतसे दो काष्ठाओंका एक 'लव' होता है, अर्थात् ३६ निमेषोंका एक 'लव' होता है । 'परमाणु' वह कालभेद है जो वस्तुसत्ताके एक परमाणुद्वारा भोगा जाता हो, अर्थात् एक परमाणु पदार्थ अपनी गतिमें जितना समय लेता हो वह एक 'परमाणु काल' है । यह काल निश्चित नहीं है और यह भेद इतना सूक्ष्म है कि अगोचर है । —(शब्दकल्पद्रुमके आधारपर) । 'जुग' (युग)—ये चार हैं, सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलि । सतयुग १७२८००० वर्षका है और वैशाख शु० ३ से इसका प्रारम्भ होता है । त्रेता १२९६००० वर्षका है और अक्षयनवमी (कार्तिक शु० ९)

से इसका प्रारम्भ होता है। द्वापर ८६४००० वर्षका है और भाद्र कृ० १३ गुरुवारको इसकी उत्पत्ति होती है। कलि ४३२००० वर्षका है, इसका आरम्भ ईसासे ३१०२ वर्ष पूर्वसे माना जाता है; अर्थात् अबसे ५०५६ वर्ष और विक्रम संवत्के ३०४५ वर्ष पूर्व इसका आरम्भ हुआ।—कालके इन विभागोंका वर्णन श्रीमद्भागवत स्कन्ध ३ अध्याय ११ में दिया है। विशेष नोट १ में देखिये। चंड=प्रचंड। तीक्ष्ण। काल=वह सम्बन्ध-सत्ता जिसके द्वारा भूत, भविष्य, वर्तमान आदिकी प्रतीति होती है और एक घटना दूसरीसे आगे-पीछे आदि समझी जाती है। वैशेषिकमें यह एक नित्य द्रव्य माना गया है। आगे-पीछे आदि उसके लिङ्ग बतलाये गये हैं। यह सबका कारण, व्यापक और एक माना गया है।—(श० स०)।

अर्थ—लव, निमेष, परमाणु, युग, वर्ष और कल्प ही जिनके प्रचंड बाण हैं और काल जिनका धनुष है, हे मन! तू उन श्रीरामजीका भजन क्यों नहीं करता?

नोट—१ 'लव निमेष…' इति। श्रीमैत्रेयजीने विदुरजीसे श्रीमद्भागवत स्कन्ध ३ अध्याय ११ में कालके विभागोंका वर्णन इस प्रकार किया है—जो कार्यरूप पृथिवी आदि स्थूल पदार्थोंका अन्तिम भाग है (जिसका और कोई विभाग नहीं हो सकता) तथा जो कार्यावस्थाको अप्राप्त, असंयुक्त एवं नित्य है उसे 'परमाणु' जानना चाहिये। उनके परस्पर मिलनेसे ही मनुष्यको भ्रमवश साकार वस्तुकी प्रतीति होती है। १। जिसका चरम अंश परमाणु है उस अपने स्वरूपमें स्थित सम्पूर्ण कार्यवर्गकी एकताका नाम ही 'परम महान्' है, जो सर्वदा निर्विशेष रूप है। (यह वस्तुके सूक्ष्म और महान् रूपका विचार हुआ)। इसीके समान परमाणु आदि संस्थानोंमें व्याप्त होनेके कारण व्यक्त पदार्थोंको भोगनेवाला उत्पत्ति आदिमें दक्ष अव्यक्त भगवान् कालकी भी सूक्ष्मता और स्थूलताका अनुमान किया जाता है। जो काल परमाणुमें व्याप्त रहता है वह परमाणुरूप है और जो सम्पूर्ण निर्विशेष कार्यवर्गका भोग करता है वह 'अति महान्' है। २–४। दो परमाणु मिलकर एक अणु होते हैं और तीन परमाणुका एक त्रसरेणु कहा जाता है, जो झरोखेमें होकर आयी हुई सूर्य-किरणोंके प्रकाशमें आकाशमें उड़ता देखा जाता है। वैसे तीन त्रसरेणुओंको पार करनेमें सूर्यको जितना समय लगता है उसे 'त्रुटि' कहते हैं। इससे सौगुना काल 'वेध' कहलाता है। तीन वेधका एक 'लव' होता है। तीन लवका एक 'निमेष' और तीन निमेषका एक 'क्षण' होता है। ५-७। शुक्ल और कृष्ण पक्षोंके समुच्चयका नाम मास है जो पितरोंका एक दिन-रात है। दो मासकी एक 'ऋतु' और छः मासका एक 'अयन' होता है, जो दक्षिणायन और उत्तरायण भेदसे दो प्रकारका है। ये दोनों अयन देवताओंके एक दिन-रात कहे जाते हैं। बारह मासका एक वर्ष होता है। ११-१२। सत्ययुग आदि चारों युगोंमें क्रमशः चार, तीन, दो और एक सहस्र दिव्य (देवताओंके) वर्ष होते हैं। प्रत्येक युगमें जितने सहस्र वर्ष होते हैं उससे दुगुने सौ वर्ष उसकी संध्या और अंशके और होते हैं। १९। त्रिलोकीके बाहर महर्लोकसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त यहाँकी एक सहस्र चतुर्युगीका एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी रात्रि होती है जिसमें ब्रह्माजी शयन करते हैं। यथा—'चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा। परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः। १। सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत्। कैवल्यं परम-महानविशेषो निरन्तरः। २। एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च सत्तम। संस्थानभुक्त्या भगवानव्यक्तो व्यक्तभुग्विभुः। ३। स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम्। ततोऽविशेषभुग्यस्तु स कालः परमो महान्। ४। अणुर्द्वौ परमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृताः। जालार्करश्म्यवगतः खमेवानुपतन्नगात्। ५। त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः स त्रुटिः स्मृतः। शतभागस्तु वेधः स्यात्तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः। ६। निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः।…तयोः समुच्चयो मासः पितॄणां तदहर्निशम्। द्वौ तावृतुः षडयनं दक्षिणं चोत्तरं दिवि। ११। अयने चाहनी प्राहुर्वत्सरो द्वादश स्मृतः। १२। चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम्। संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च। १९। संध्यांशयोरन्तरेण यः कालः शतसंख्ययोः। तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते। २०।…त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम्। तावत्येव निशा तात यन्निमीलति विश्वसृक्। २२।'

नोट—२ 'लव निमेष…सर चंड' इति। (क) लङ्काकाण्डमें युद्धका प्रयोजन है अतः युद्धके सम्बन्धमें काण्डके प्रारम्भमें ही धनुषबाणका रूपक देकर श्रीरामजीकी वीररसयुक्त मूर्तिका मंगलाचरण ग्रन्थकारने किया। (पं० रा० कु०)।

(ख) लव, निमेष और परमाणु ये तीन छोटे बाण हैं। कितने ही जीव ऐसे हैं जो इतने ही अल्पकालमें जन्मते मरते हैं। वर्ष, युग और कल्प ये तीन बड़े बाण हैं। बड़ी आयुवाले इन बाणोंसे मरते हैं। (वं० पा०)। पंजाबीजी लिखते हैं कि 'रामबाणसे असुर मरेंगे। बाणोंका पराक्रम देखकर कोई आश्चर्य न करे इस विचारसे इस दोहेमें प्रभुके (बाणोंके) महत्त्वको प्रथम कहा। (ग) 'सर चंड'—बाणको चंड विशेषण देनेका भाव कि कालरूपी बाण समस्त जीवोंकी आयुका नाश अवश्य करते हैं, व्यर्थ नहीं जाते (घ) यहाँ कालवाची शब्द लव-निमेषादि क्रमसे नहीं लिखे गये। कारण कि कालरूपी बाण क्रमसे नहीं चलते; जब जिसकी आयु पूरी हो जाती है तभी वह मृत्युको प्राप्त हो जाता है। (पं० रा० कु०)। अथवा, छन्दहेतु क्रम-भंग हुआ है। (पं०)।

३ **'भजसि न मन तेहि राम कहँ'** इति। (क) इस कथनका भाव यह है कि श्रीरामजीका भजन करनेसे ही कालसे बच सकते हैं, अन्यथा नहीं। यथा **'कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही।** ७। ८८। १।' वे अपने भक्तको नहीं मारते, जैसे लङ्काके सब निशाचरोंका संहार किया और विभीषणजीको कालसे बचा लिया। (पं० रा० कु०)। (ख) इस दोहेमें अपने मनको शिक्षा दी है। मनके द्वारा उपदेश करनेका कारण यह है कि परमार्थ (अध्यात्म) रामायणमें मोह ही रावण है और यह काण्ड 'विमल-विज्ञान-सम्पादनी सोपान' है। (वं० पा०)।

नोट—४ **'काल जासुको दण्ड'** इति। (क) कालको कोदण्ड कहा, क्योंकि दोनोंका धर्म नाशकर्तृत्व और वक्रता है। कालमें अगणित लवनिमेष युग कल्प आदि बीतते हैं, वैसे ही धनुषसे अनेक बाण छूटते हैं। बाणसे नाश और कालसे नाश। (वं० पा०)। काल किसीकी रूरियायत, शील-मुलाहजा नहीं करता, यही उसका टेढ़ापन (वक्रता) है। यथा **'अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जग काल कलेवा। अंडकटाह अमित लयकारी। कालु सदा दुरतिक्रम भारी।** ७। ९४। ७-८।' (ख) कालको धनुषबाण कहा; क्योंकि श्रीरामजीके कालरूपी धनुषबाणसे अनन्त ब्रह्माण्डोंका नाश होता है। यथा **'ऊमरितरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया। जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना। ते फल भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला।** ३। १३।' (पं० रा० कु०)। (ग) आरम्भमें ऐसा मंगलाचरण करनेका भाव यह भी है कि जिसके कालरूपी धनुष-बाणका यह प्रभाव है, उसके लिये लङ्काके निशाचरोंका नाश करना कौन-सी बड़ी बात है? (पं० रा० कु०)।

धनुष-बाण हाथमें रहते हैं। अतः दोनोंको काल कहनेका भाव यह है कि काल जिनके हाथमें है, वशमें है उनको क्यों नहीं भजता। (वै०)।

५ यहाँ शङ्का होती है कि 'यहाँ कालको धनुष कहा; पर लव, निमेष आदि जिनको बाण बनाया है वे भी तो काल (के अंग) ही हैं। इस तरह काल ही धनुष हुआ और काल ही बाण। अर्थात् धनुष और बाण दो नहीं कहे गये, वरन् एक ही हैं। जब लवादि सब कालमें हैं तब किस कालको धनुष कहा है?' समाधान यह है कि कालके दो रूप हैं—महत् (अखंड, अक्षय) और सखंड (व्यष्टि), [वा सूक्ष्म और व्यावहारिक स्थूल रूप (मा० म०) वा, अवयव और व्यव] उनमेंसे महत् (अखंड अक्षय) काल धनुष है और उसके अन्तर्गत लव, निमेष, परमाणु-युगादि जो छोटे-बड़े काल भेद बर्तते हैं वे सखण्डकाल बाण हैं जो उसमेंसे निकल-निकलकर ब्रह्मादिकोंका नाश करते रहते हैं औरोंकी क्या गिनती? (पां०)

पं० विजयानंद त्रिपाठीजी लिखते हैं कि कालके दो भेद हैं—(१) परिच्छिन्न काल (२) अखण्ड दण्डायमान काल। अखण्ड दण्डायमान कालमें ही परिच्छिन्न कालोंकी कल्पना होती है। ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त जीवोंमें मानका तारतम्य है। ब्रह्मदेव सबसे बड़े, स्तम्ब सबसे छोटा। अतः जीवोंकी आयुकी इयत्ताके अनुसार उनके मानदण्ड भी पृथक्-पृथक् हैं। स्तम्बकी आयु परमाणुसे नापी जाती है, और ब्रह्मदेवकी कल्पसे। न तो ब्रह्मदेवकी आयु परमाणुसे नापी जा सकती है, और न स्तम्बकी कल्पसे नापी जा सकती है। इसलिये परमाणु, लव, निमेष, युग, वर्ष और कल्प ये विभिन्न जातिके जीवोंकी आयुके नापनेके मानदण्ड हैं, इन्हीं परिच्छिन्न कालको चण्डशर कहा, क्योंकि ये ही सबकी आयु समाप्त करते हैं, और धनुषको अखण्ड दण्डायमान काल कहा, जिनसे ये परिच्छिन्नकालरूपी शर निकला करते हैं। फिर भी काल पृथ्वी,

अप, तेज, वायु, आकाश और दिक्की भाँति जड़ पदार्थ है, यह शर कोदण्डकी भाँति स्वतन्त्ररूपेण कार्य करनेमें असमर्थ हैं, अतः इनकी प्रेरणाके लिये वैसा ही धनुर्धर चाहिये, जो इन्हें चला सके। सो वैसे धनुर्धर तो रामजी ही हैं। वे कालके भी काल हैं, निशिचरसंहार उनके लिये बड़ी बात नहीं है। (यथा—**'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभय भवति ओदनो मृत्युर्यस्योपसेचनम्'**)। उसीके शरण ग्रहणसे मृत्युका उत्क्रमण सम्भव है। (वि० त्रि०)।

दूसरी शङ्का यह है कि 'जिस वस्तुका बाण बनता है उस वस्तुका धनुष नहीं बनता। तब एक काल ही धनुष और बाण कैसे हो सकता है?' समाधानमें कामका धनुष बाण प्रमाण है। उसके धनुष और बाण दोनों ही पुष्पोंके हैं। यथा—**'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे। १। २५७। १।'** (पा०)। चाप और बाण एक ही पृथ्वीतत्त्वके विकार परिणामभेद हैं, वैसे ही अक्षयकालप्रेरित नश्वरकालके ही अंश लवनिमेषादि हैं। (प० प० प्र०)। (ख) यहाँ बाण और धनुषको काल बताया है। इसी प्रकार आगे कुम्भकर्णयुद्ध प्रसंगमें त्रोणको भी काल कहा है। यथा—**'सरन्हि भरा मुख सनमुख धावा। काल त्रोन सजीव जनु आवा। ६। ७०। ३।'** (रा० बा० दा०)। भगवान् राम स्वयं भी अक्षयकालस्वरूप हैं। यथा—**'काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता' 'सुभ अरु असुभ करम फल दाता। ७। ४१। ५।', 'अहमेवाक्षयः कालो। गीता १०। ३३।' 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो। गीता। ११। ३२।'** (ग) इस कथनसे कवि श्रीरघुनाथजीमें निरन्तर वीररसकी प्रधानता दिखाते हैं, क्योंकि इस काण्डमें वीररसका प्रयोजन है (पा०)। कालके नियन्तृत्वकथनसे सर्वेश्वरत्व सूचित किया। यहाँ वस्तुनिर्देशात्मक मनको शिक्षा है (मा० मु० टी०)।

६ यहाँ कोदण्ड उपमेय और काल उपमान है तथा 'चण्ड सर' उपमेय और लवनिमेषादि उपमान हैं। 'यहाँ सम अभेद रूपक' और 'उल्लेख' अलंकारोंकी संसृष्टि है। (वीर)।

'मङ्गलाचरण दोहा'

श्रीभागवतदासजीकी हस्तलिखित पोथी जो उन्होंने सं० १७२१ की प्रतिसे शोधकर सं० १८२८ में लिखकर श्रीअवध भेजी उसमें यह दोहा श्लोकोंके बाद है, पर जो उनकी छपी प्रतियाँ हैं उनमें यह दोहा सबके आदिमें है। पं० रामगुलामद्विवेदीजी और लाला छक्कनलालकी प्रतियोंमें यह दोहा आदिमें है। बाबा विहारीदासजी (वृद्धकाल, काशी) की प्रतिलिपि (सं० १८१८ की लिखी हुई) में भी दोहा आदिमें है। पं० शिवलालपाठकके मानसमयङ्क, काशीराजकी प्रति (सं० १७०७), लाला छीतूरामकी हस्तलिखित प्रतिलिपि सं० १७१८ की जो गोस्वामी हरिभक्तदासजीकी पोथीसे उतारी गयी, पाण्डेय रामबख्शजी, पंजाबीजी और श्रीबाबा रामचरणदासजीकी पोथियोंमें यह दोहा श्लोकोंके पीछे दिया गया है।

बन्दनपाठकजी कहते हैं कि "लङ्काकाण्डमें आदिमें दोहा है, इससे वन्दनाका क्रम मिलता है। एक दोहा और एक श्लोकमें श्रीरामजीका मङ्गलाचरण है और दो श्लोकोंमें शङ्करजीकी वन्दना की है। दोहेको पीछे कर देनेसे क्रमभङ्ग होता है। पुनः लङ्काकाण्डका प्रारम्भ है, इसीसे श्रीरघुनाथजीका परत्व आदिमें कहा और रावणको भयदर्शन देते हैं। जो लोग दोहेको श्लोकोंके पीछे रखते हैं उनका मत है कि रकार (राम) से काण्डका प्रारम्भ ग्रन्थकारने किया और रकारपर ही समाप्ति की। अतएव—**'रामं कामारि०'** आदिमें चाहिये। आदिमें **'रामं'** है और अन्तमें **'नाहिंन आन अधार'** है। वे यह भी कहते हैं कि रकार अग्निबीज है, और इस काण्डमें राक्षसोंका नाश कहा गया है।

मा० म०-कार लिखते हैं कि गोस्वामीजीको लङ्काकाण्ड रचनेके समय यह संदेह हुआ कि रावण शुद्ध ब्राह्मण है और माधुर्य्यमें श्रीरामचन्द्रजी परम ब्रह्मण्य क्षत्रिय हैं तो इनके करसे उसका वध क्योंकर लिखें। इस कल्पनामें पाँच दिन व्यतीत हो गये तब श्रीहनुमान्जीने स्वयं आकर यह दोहा लिख दिया। जिसका भाव यह है कि ये रघुनाथजी वह हैं कि जो रात-दिन चराचरका कालद्वारा नाश कर रहे हैं, उनके दुष्ट रावणके वधमें क्यों संदेह कर रहे हो! ऐश्वर्य विचारकर संकोच न करो। लिख चलो। तब गोस्वामीजीने वह दोहा ज्यों-का-त्यों रखा और युद्धकाण्ड लिखने लगे।

रा० प्र० का मत है कि 'ल' का अर्थ मोक्ष और लक्ष्मी है। इस काण्डमें लक्ष्मी श्रीजानकीजीकी तथा विजय (लक्ष्मी) की प्राप्ति होगी अतः 'ल' से काण्डका आरम्भ किया।

प्र० स्वामीका मत है कि 'अन्य किसी भी काण्डका मङ्गल दोहा या सोरठासे आरम्भ न करके श्लोकोंसे ही किया गया। यही प्रणाली यहाँ भी लेनी उचित है।'

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं—'श्रीगोस्वामीजीका यह भी एक नियम मालूम होता है कि कोई नियम निभने नहीं देते। मङ्गलाचरणमें उन्होंने उसी रीतिको अक्षुण्ण रक्खा। लङ्काकाण्डका मङ्गलाचरण श्लोकसे न करके दोहेसे प्रारम्भ किया। कल्पना करके इसके लिये कारण भी दिखाये जा सकते हैं, पर कहाँ-कहाँ कारण दिखाया जायगा। छन्द, सोरठा, दोहा तथा चौपाइयोंकी संख्या तथा क्रमकी ओर ध्यान देनेसे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि उन्होंने जान-बूझकर क्रम निभने नहीं दिया है। पुराना नियम देखा जाता है कि किले (दुर्ग) को जान-बूझकर किसी ओरसे टेढ़ा बना देते थे।

वै०—"लव (अत्यन्त सूक्ष्मकाल) बाणके गाँसीकी अनी है, निमेष गाँसी है, दण्ड, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु अयनादि अनेक रङ्ग हैं, वर्ष पोढ़ हैं, चारों युग चार परगीरी है, कल्पान्त फोंक है, कल्प प्रचंड बाण है और महाप्रलय महत्काल कोदंड है।"

प० प० प्र०—इस दोहेसे यह बताया है कि रावणादि राक्षसोंका नाश कालरूप कोदंड ही करेगा। श्रीरामजी शुभाशुभकर्मानुसार उस कालके प्रेरक बनेंगे। उनको पुलस्त्यकुलोद्भव रावणादिके वधका कोई दोष न लगेगा।

मा० हं०—गोस्वामीजीने इस काण्डमें लङ्काक्रमणसे ही उपक्रम किया है। वाल्मीकि, अध्यात्म आदि रामायणोंमें इस काण्डका प्रारम्भ युद्धकी तैयारीसे हुआ है इसीसे उनके रचयिताओंने इस काण्डका नाम युद्धकाण्ड रक्खा है। किष्किन्धासे वानरभालुकटकसहित प्रस्थान होकर श्रीरामजीका समुद्रतटपर आना, विभीषणका त्याग, शुकसारनकी कथा, समुद्रपर कोप इत्यादि युद्धकी प्रास्ताविक कथाएँ जो वाल्मीकि आदिमें युद्धकाण्डमें हैं। वे सब मानस-कविने सुन्दरकाण्डमें दे दी हैं। इस छठे सोपानका नाम इसीसे 'लङ्काकाण्ड' प्रख्यात हुआ।

प० प० प्र०—१ यह छठा सोपान है। बालकाण्ड मं० श्लोक ६ इस सोपानका प्रतिनिधि स्वरूप है।

२ सोपान ५ और ६ मिलकर श्रीसीतारामचरितका मुख्यतः वर्णन करते हैं। अतः 'रामं कामारिसेव्यं····' का मिलान 'उद्भवस्थिति···। बा० मं० श्लो० ५।' 'शान्तं शाश्वतं ··।' सुं० मं०।' तथा 'यन्मायावशवर्त्ति···। बा० मं० श्लो० ६।' से करना आवश्यक है। (सुन्दरकाण्ड मा० पी० पृष्ठ ४ में सुं० मं० 'शान्तं···' का मिलान बा० मं० श्लो० ६ और लं० मं० श्लो० १ से किया गया है)। उससे ज्ञात होगा कि सुं० मं० और लं० मं० में साम्य है और दोनोंका बा० श्लो० ६ से साम्य है।

३ श्रीसीताराम भिन्नाभिन्न रूप होनेसे सोपान ५ व ६ की रचना इस प्रकार भिन्न और अभिन्न रूपोंमें की गयी है।

श्लोक—

रामं कामारिसेव्यं भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहं योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारं
मायातीतं सुरेशं खलबधनिरतं ब्रह्मवृन्दैक देवं वन्दे कन्दावदातं* सरसिजनयनं देवमुर्वीशरूपं ॥१॥

शब्दार्थ—मत्तेभ=मत्त+इभ=मतवाला हाथी। कंद=कं (जल)+द (देनेवाला)=बरसनेवाले श्याम मेघ। अवदात=शुभ्र, श्वेत, निर्मल। मनोज्ञ, मनोहर, सुन्दर। कन्दावदातं=श्याममेघ समान सुन्दर, यथा—'सान्द्रानन्दपयोद-सौभगतनुं'—(अ० मं० श्लो०)

अर्थ—कामके शत्रु शिवजीके द्वारा सेवाके योग्य, संसार (आवागमन) के भयके हरनेवाले, कालरूपी मतवाले हाथीके लिये सिंहरूप, योगियोंके स्वामी (योगीश्वर), ज्ञानद्वारा जाने-जाने योग्य (एवं योगीश्वरोंको ज्ञानद्वारा प्राप्त

* कन्दाभगात्रं—(मा० म०)=मेघकी कान्तिसम शरीरवाले।

होनेवाले), गुणसागर, किसीसे पराजित न होनेवाले, सत्त्व, रज, तमसे रहित, विकाररहित, मायासे परे (उसकी पहुँचसे बाहर), देवताओंके स्वामी, दुष्टोंके वधमें तत्पर, ब्राह्मणवृन्दके एकमात्र (प्रधान) देवता, मेघके समान सुन्दर मनोहर, कमलनयन, पृथ्वीपति राजारूपमें देव श्रीरामचन्द्रजीकी मैं वन्दना करता हूँ। मं० श्लो० १।

टिप्पणी १—(क) यहाँ आदिमें गुरुवर्ण त्र्योच्चारण हैं। इसलिये मगण-गण हैं जिसका देवता 'भू' है और फल 'श्री' है। इस प्रकार इस काण्डमें शत्रुविजयकीर्तिजनित एवं स्वकान्ताप्राप्तिजनित श्रीरामजीको श्रीकी प्राप्ति दिखायी। (ख) यह स्रग्धरावृत्त है। इसके चारों चरण २१—२१ अक्षरके होते हैं और प्रत्येक चरणमें मगण (तीनों वर्ण गुरु) रगण (मध्यवर्ण लघु) भगण (आदिवर्ण गुरु), नगण (तीनों वर्ण लघु) और तीन यगण (आदि वर्ण लघु) रहते हैं। मानसमें केवल दो वृत्त ऐसे आये हैं, एक यह और एक उत्तरकाण्डमें। यहाँ नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया गया है।

२—'कामारिसेव्यं' इति, 'कामारि' पद सेवा करनेके योगसे दिया। भाव यह कि जब जीव कामका शत्रु हो जाय अर्थात् उसे जीत ले तब वह श्रीरामजीकी सेवाके योग्य हो, यथा—'**जहाँ राम तहँ काम नहिं जहाँ राम नहिं काम। तुलसी दूनौ ना फबै रबि रजनी एक ठाम॥**'

नोट—१ काम भजनका बाधक है, इसीसे कामको त्याग कर भजन करनेको कहा है, यथा—'**जब लगि भजत न राम कहुँ सोकधाम तजि काम।** ५। ४६।' एवं '**क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बये फल जथा।**' अतएव सेवा करनेमें 'कामारि' पद युक्तियुक्त है। कामारि सेव्यं, यथा—'**ब्रह्मादि संकर सेव्य राम नमामि करुनाकोमलं।** ६। ११२।', '**सिव बिरंचि सुर जाके सेवक।** लं० ६२। ५।', '**सिव अज पूज्य चरन रघुराई।** ७। १२४। ३।', '**पद पंकज सेवित संभु उमा।** ६। ११०।'

मा० म०—'कामारिसेव्यं' का भाव यह है कि रावण अपने हृदयमें कामको बसाये है और शिवको भी। पर काम शिवका शत्रु है अतएव शिव रावणकी सहायता न करेंगे वरन् उसके नाशकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

पं०—भाव यह है कि कामी ही सेवा नहीं करते वरन् निष्काम शंकर ऐसे ऋषिसे सेवित हैं। 'राम' का भाव कि सब संतोंके रमण-स्थान हैं।

नोट—२ 'भवभयहरणं' इति। जीव (मनुष्य) का जन्ममरण कर्माधीन होता है, जन्ममरणमें दुःसह दुःख होता है, यथा—'**जनमत मरत दुसह दुख होई।** ७। १०९।' इति शिवोवाच। भक्तको जन्ममरणका दुःख नहीं होता। यही भवभयका हरण है। यथा—'**सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग।** ४। १०।' भवभयहरण यथा—'**भव बारिधि कुंभज रघुनायक।** ७। ३५।', '**भव बारिधि मंदर।** १। १८६।', '**भव भय मोचन पाहि पाहि सरनहिं आई।** १। २११।'

३—'कालमत्तेभसिंहं' इति। काल जिसपर धावा करता है उसे मार लेता है किसीके फेरे नहीं फिरता, यथा '**काल सदा दुरतिक्रम भारी।** ७। ९४। ८।' अतः उसे मतवाला हाथी कहा। सिंह मत्तगजका भी नाशक है। इसलिये श्रीरामजीको सिंह कहा, क्योंकि ये कालके भी काल हैं, यथा—'**काल ब्याल कर भच्छक जोई। सपनेहु समर कि जीतिअ सोई।** ६। ५५। ८।', '**तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला।** सुं० ३९।', **तव भय डरत सदा सोउ काला**—(आ० १२); '**जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई।** सुं० २२।'; '**उमा काल मरु जाकी इच्छा।** लं० १०१।' आशय यह है कि जो कालके भी काल हैं उनके लिये रावणादिका मारना क्या कठिन है?

३ (क) 'योगीन्द्रं' इति। योगीन्द्र अर्थात् योगियोंमें परम ऐश्वर्यवान्, परम श्रेष्ठ हैं। यथा गीतायाम्—'महायोगेश्वरो हरिः ११। ९।' (ख) 'ज्ञानगम्य' यथा—'**अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी ग्यानगम्य जय रघुराई** १। २११।' यथा गीतायाम्—'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्'। (ग)—'गुणनिधि' अर्थात् सम्पूर्ण दिव्यगुणोंसे सम्पन्न।

करुणा, दया, क्षमा, शील, भक्तवत्सलता और शरणागतपालकता आदि गुणोंके समुद्र हैं, यथा **'विनय सील करुना गुन सागर। १। २८५।'** इति परशुरामोक्ति। अजितं, यथा **'जीति को सकइ अजय रघुराई'। ५। १३। ३।', 'अजित अमोघ सक्ति करुनामय। १०९। ६।', 'सबदरसी अनवद्य अजीता। ७। ७२। ५।'** निर्गुण, यथा—**'ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्याके गोद। १। १९८।'** (घ) निर्विकार=षट् विकार-रहित, यथा—**'सकल बिकार रहित गत भेदा'।** (ङ) देव=अतिदिव्य, यथा—**'देवीदेवविभागो न स्यात्सच्चिदानन्द-विग्रहः'** इति श्रुतिः। **'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी।'**

नोट—विशेषणोंके भाव। जितने विशेषण यहाँ दिये गये हैं वे सब साभिप्राय हैं। रावणवध और निशिचरकुलनाशमें प्रभुके अनेक चरित मोहमें डालनेवाले इस काण्डमें आयेंगे। उन सबोंके संदेह निवारणार्थ श्रीरघुनाथजीका यहाँ परत्व इन विशेषणोंद्वारा कहा है और लङ्काकाण्डकी कथा भी जना दी है।

१ 'कामारिसेव्यं' कहकर जनाया कि जो कामको जीतनेवाला है वह भला कामीकी सेवा कब करेगा? अतः यह सिद्ध हुआ कि प्रभुका सेतुबन्धनके लिये शीघ्रता करना और सीताविरहसे पीड़ित होना, (यथा—**'अब बिलंब केहि काम करहु सेतु उतरै कटकु'** एवं **'जारत बिरहवंत नर नारी। लं० १२। १०।'**) नरनाट्य मात्र है। पुनः शङ्करजीसे सेवित हैं; अतएव लिङ्ग-स्थापनमें पाठक शङ्का न करें कि यह कैसे किया? माधुर्यमें रघुनाथजीने शिवजीको बड़ाई दी है जैसा शिवजी स्वयं कह रहे हैं कि **'गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती॥ लं० ३। ६।'** पुनः, ये शङ्करसेव्य हैं इसीसे रावणवधपर आकर शिवजीने स्तुति की और वर माँगा है।

(प्र० स्वामीका मत है कि ''कामारिः सेव्यः यस्य' शिवजी जिनके सेव्य हैं। ऐसा अर्थ करनेसे रामेश्वरस्थापना और पूजन सूचित होता है। ब्रह्मवृन्दैकदेवं=जो ब्राह्मणोंको देवसमान पूज्य मानते हैं। यह अर्थ भी अभिप्रेत है; क्योंकि रणाङ्गणमें बिप्र चरन पंकज सिर नावा' कहा है। **'बिप्र बंस कै असि प्रभुताई। 'अभय होइ जो तुम्हहि डेराई'** से इस भावकी पुष्टि होती है।''

२—'भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहं'। भाव कि जो जीवोंको जन्ममरणादि भयसे छुड़ानेवाले हैं उन्हें भवमें पड़ा हुआ प्राणी क्या भय दे सकता है? और जो कालका भी काल है उसे काल कब सता सकता है? अतएव इन्द्रजित्‌के नागपाशबन्धन और कुम्भकर्णके काल समान युद्धमें वानरोंपर आक्रमण करने, एवं मेघनादके लक्ष्मणजीको शक्ति मारनेसे क्या भय हो सकता है? वह तो खेल मात्र है, यथा—**'प्रभु कृत खेल सुरन्ह बिकलई। ९३। ३ 'एहि पापी मैं बहुत खेलावा। ७५। १४।', 'अब जनि राम खेलावहु एही ८५। ६।' 'ब्यापक ब्रह्म अजित भुवनेस्वर। लछिमन कहाँ बूझ करुनाकर। ५४। ५।' 'जिमि कोउ करइ गरुड़ सैं खेला। डरपावइ गहि स्वल्प सपेला ५०। ८।'** इत्यादि।

३—'योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं'। परम योगीश्वर हैं, सब कुछ जानते हैं; अतः यह न समझो कि रावणके अमृतकुण्डका और रावण और मेघनादके यज्ञोंका हाल विभीषणजीके बतानेसे जाना। यथा—**'सो प्रभु जन कर प्रीति परीछा। १०१। ३।'** ये योगीन्द्रोंको ज्ञानद्वारा प्राप्त होते हैं, उनके ज्ञानका विषय हैं, यथा—**'पश्यन्ति यं योगी, जतन करि०'।** यह उपदेश मन्दोदरी, अङ्गद, माल्यवानादिका होगा।

४—'अजित' हैं अर्थात् किसीसे जीते नहीं जा सकते, तब लक्ष्मणजी आदिका जीता जाना कैसे सम्भव है? यथा—**'सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारइ भुवन चारिदस आसू॥ सक संग्राम जीति को ताही। सेवहिं सुर नर अग जग जाही॥ यह कौतूहल जानइ सोई। जापर कृपा राम कै होई॥ ५४। १—३।'**

५—'निर्गुण' 'निर्विकार' विशेषणोंसे जनाया कि लक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर जो आपने प्रलाप किया है उससे यह न समझना कि प्रभुको मोह प्राप्त हुआ। यह सब नरनाट्य है, यथा—'जस काछिय तस चाहिय नाचा।' इस प्रलापसे प्रभुने मनुष्यकी परम प्रिय बन्धुके वियोगमें क्या दशा होती है, यह दिखाया है। यथा—**'बोले बचन मनुज अनुहारी', 'उमा एक अखण्ड रघुराई। नरगति भगत कृपाल दिखाई। ६०। १८।'** पुनः, निर्विकार कहकर इनको सच्चिदानन्द ब्रह्म जनाया, यथा—**'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी'**—(अ०)।

६ 'मायातीत' का भाव कि मेघनाद और रावणादिकी माया वहाँ कब लग सकती है, यथा—'जासु प्रबल माया बस सिव बिरंचि बड़ छोट। ताहि देखावइ निसिचर निज माया मति खोट॥ ५०।', 'सो माया रघुबीरहि बाँची। सब काहू मानी करि साँची॥ ८८। ७।'

७ 'सुरेशं' विशेषण देकर जनाया कि ब्रह्मा, शिव, इन्द्रादि सब देवता रावणवधपर आपकी स्तुति करके आपसे वर माँगेंगे। पुनः सुरोंके स्वामी हैं अतः आप सदा उनकी रक्षा करते हैं, यथा—'जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तन धरि तुम्हइँ नसायो। १०९। ८।' इसीसे 'सुरेश' कहकर 'खलवधनिरत' कहा।

८—'ब्रह्मवृन्दैकदेवं'। यहाँ तक परत्व कहकर अब खलवधका कारण बताया कि देवताओं और ब्राह्मणवृन्दके एकमात्र ये ही स्वामी हैं, इनकी रक्षाके लिये ही प्रभु दुष्टोंका वध करनेपर तत्पर रहते हैं। यथा—'निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह'।

९ (क) 'वन्दे कन्दावदातं सरसिजनयनं' आदि विशेषण देकर नमस्कार करनेका भाव कि उपर्युक्त विशेषणयुक्त 'राम' सगुण ब्रह्म श्यामशरीरवाले पृथ्वीपति रघुनाथजी ही हैं, दूसरा कोई नहीं। (ख) 'कन्दावदातं सरसिजनयनं' विशेषणोंसे कृपालु और अभयप्रद जनाया। यथा—'भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। स्यामल गात प्रनत भय मोचन॥ ५। ४५। ४।' कृपादृष्टि प्रभु ताहि बिलोका। करहु क्रिया परिहरि सब सोका॥ १०४। ७।', कृपादृष्टि करि बृष्टि प्रभु अभय किये सुरबृंद। १०२।', 'स्यामगात राजीव बिलोचन। दीनबंधु प्रनतारति मोचन॥ ११४ छंद।', 'पाथोदगात सरोजमुख राजीव आयत लोचनं। नित नौमि राम कृपालु बाहु बिसाल भवभयमोचनं॥ आ० ३२।' 'स्याम गात कलकंज बिलोचन। जो मारीच सुभुज मदुमोचन॥ बा० २२१। ५।', तथा, ये रावणके मदके छुड़ानेवाले हैं।

१०—'उर्वीशरूपं' इति। (क) इससे जनाया कि ये चक्रवर्ती हैं; अतः रावणको मारकर विभीषणको राज्य देंगे। पुनः, (ख) उर्वीशरूपकी वन्दना की, क्योंकि इनको 'कामारिसेव्य' और 'सुरेश' कहा है और ये नृप रामकी वन्दना करेंगे और उन्हींसे नृपस्वरूपमें अनुरागका वर माँगेंगे। यथा—'नृपनायक दे बरदानमिदं चरनांबुज प्रेम सदा सुभदं'—(ब्रह्माजी), 'मोहि भाव कोसलभूप श्रीराम सगुन सरूप। बैदेहि अनुज समेत मम हृदय करहु निकेत॥' (इन्द्र), 'अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु रामनृप मम उर अंतर' (शिवजी)।

११— वन्दनपाठकजी लिखते हैं कि इस प्रथम श्लोकमें षोडश (१६) विशेषण देकर रघुनाथजीकी वन्दना करके उनका पूर्णत्व अर्थात् सोलहो कलाओंसे पूर्ण होना जनाया है।

१२—मा० म०-कार इन विशेषणोंके भाव यह लिखते हैं—

मूलमें प्रथम 'राम' नाम देनेका भाव यह है कि श्रीरामजी संयुग (रण) भूमिमें रणक्रीडार्थ रमेंगे और संयुगकारी रावणादि निशाचरोंके प्राणोंको अपनेमें रमावेंगे।

'भवभयहरणं' का भाव कि भव अर्थात् शिवजी रावणसे भयभीत रहते हैं (क्योंकि उन्हें भी नित्य रावणके यहाँ पुजानेके लिये हाजिरी देनी पड़ती है)। रावण विश्वद्रोही है जिससे शिवजीकी निन्दा होती है क्योंकि ये उसके गुरु हैं। अतएव श्रीरामजी रावणवध करके उनके भयको छुड़ावेंगे। यथा—'दससीस बिनासन बीस भुजा कृत दूर महा महि भूरिरुजा।' (शिवोवाच)।

'कालमत्तेभसिंहं' अर्थात् रावणरूपी कालमत्तगजके लिये राम सिंह हैं।

'योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं' अर्थात् ये कामपीड़ित नहीं हैं। प्रिय भक्तोंके एवं सुरविप्रके हेतु खलवधपर निरत हुए हैं।

'ज्ञानगम्यं' अर्थात् जिनको यह ज्ञान है कि परतम प्रभु केवल रणलीला कर रहे हैं उन्हींकी गति श्रीरामचन्द्रजीके यथार्थ स्वरूप जाननेमें होगी, अन्यथा भटकते रहेंगे।

'गुणनिधिमजितं' अर्थात् युद्धविद्याके समुद्र हैं। अजित हैं। निर्गुणोंके पार। अर्थात् पराजय होनेवाले गुणोंके पार हैं। रावणादिके गुण रामजीको न लगेंगे।

'निर्विकारं' अर्थात् विकाररहित प्रेमके मुख्य आश्रय हैं, अथवा निर्विकार ब्रह्मके भी सार हैं—(मा० म०)। मेघनादकृत सर्पादिका विष इन्हें न लगेगा।—(मा. शं.)

'मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं' अर्थात् निशिचरोंकी माया न लगेगी। देवताओंके भयको हरेंगे और खलोंका नाश करना तो इनकी नीति ही है।

'ब्रह्मवृन्दैकदेवं' अर्थात् ब्राह्मणमात्रके इष्टदेव ये ही हैं। भाव कि जो उनको त्यागकर अन्य देवी-देवताका सेवन करे वह ब्राह्मण नहीं। 'देव' का भाव कि ये सर्वत्र व्यापक हैं।

शङ्खेन्द्वाभमतीवसुन्दरतनुं शार्दूलचर्माम्बरं कालव्यालकराल* भूषणधरं गङ्गाशशाङ्कप्रियम्।
काशीशं कलिकल्मषौघशमनं कल्याणकल्पद्रुमं नौमीड्यं गिरिजापतिं गुणनिधिं कन्दर्पहं शंकरम्॥२॥

शब्दार्थ—**शंखेन्द्वाभमतीव**=शंख इन्दु आभम् अतीव। शार्दूल—यह सिंह जातिका पशु है, जो सिंहको भी दबा लेता है। इसे सिंहका पर्याय भी मानते हैं। शशाङ्क=शश (चन्द्रमाका लाञ्छन या कलंक)+अंक (=धब्बा, चिह्न, शरीर) =जिसके शरीरमें लाञ्छन है=चन्द्रमा। कल्मष=पाप। ओघ=समूह, यथा—**'सियनिंदक अघ ओघ नसाये'**। ईड्य—(ईडा=स्तुति, प्रशंसा)=स्तुतियोग्य=वंदनीय, यथा—**'नौमीड्यं जानकीशं रघुवरमनिशं पुष्पकारूढरामं'** (उ० मं० श्लोक०)। द्रुम=वृक्ष।

अर्थ—शंख और चन्द्रमाकी कान्तिके समान अत्यन्त सुन्दर शरीरवाले, शार्दूलका चर्म जिनका वस्त्र है अर्थात् जो शार्दूल-चर्म पहिने हैं। भयानक कालके समान भयङ्कर सर्प एवं (मुण्डमालादि) भयङ्कर भूषण धारण करनेवाले, गङ्गा और चन्द्रमा जिनको प्रिय हैं, काशीपति, कलिके पापसमूहके नाश करनेवाले, कल्याणके कल्पवृक्ष, गुणसागर, कामके भस्म करनेवाले, (उन जगत्) वंदनीय, श्रीपार्वतीजीके पति श्रीशङ्करजीको मैं नमस्कार करता हूँ॥ २॥

नोट—१ **'शंखेन्द्वाभ'** इति। शंख स्वच्छ और सचिक्कन होता है; चन्द्रमा निर्मल, उज्ज्वल और प्रकाशयुक्त होता है। इनसे उज्ज्वल प्रकाशमान गौर वर्ण जनाया, यथा—'कुन्द इन्दु दर गौर शरीरा। १। १०६। ६।' **'अतीव सुन्दर तनुं'** अर्थात् सौन्दर्यनिधान हैं। **'शार्दूलचर्माम्बरं कालव्यालकरालभूषणधरं'** से वैराग्यवान् और समर्थ जनाया। **'गङ्गाशशाङ्कप्रियं'** से श्रीरामभक्त और शरणपाल दीनदयाल जनाया। गङ्गा ब्रह्मद्रव हैं, अतः उनको मस्तकपर धारण करते हैं। क्षीण कलाहीन द्विजचन्द्रको ललाटपर धारणकर उसको जगत्-वंदनीय कर दिया। ऐसे दीनप्रिय हैं।—**'यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते'**। 'जटामुकुट सुरसरित सिर लोचन नलिन बिसाल। नीलकंठ लावन्यनिधि सोह बालबिधुभाल॥ १। १०६।' देखिये।

अ० मं० श्लो० १ में **'कालव्यालकराल०'** इस दूसरे चरणसे मिलता यह दूसरा चरण है—**'भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसिव्यालराट्'**; अतः जो भाव वहाँ कहे गये वे सब यहाँ समझ लें।

[पं०—गङ्गा और चन्द्रमा दोनों प्रिय हैं इसीसे गङ्गाका काशीमें निवास है और चन्द्रग्रहणका माहात्म्य यहाँ अधिक है।]

२ यहाँ तक आधे श्लोकमें शङ्करजीका स्वरूप, उनका ज्ञान, उपासना और कर्म कहे। आगे उनका निवासस्थान, शक्ति और सामर्थ्य कहते हैं।

वं० पा०—**'कल्याणकल्पद्रुमं'** इति। कल्याणरूपी चारों फल देनेको कल्पवृक्ष हैं। द्वादश विशेषण देकर द्वादशाङ्ग परिपूर्ण दिखाया। अङ्ग द्वादश माने गये हैं। इसीसे वैष्णवोंमें द्वादश तिलकका विधान है और इसीलिये

* कपाल (करु. भा. दा.)

चन्द्रमाके अवगुण-कथन समय द्वादश अवगुण प्रभुने (१ । २३७ । ८ से १ । २३८ । २ तक) वर्णन किये हैं।

प० प० प्र०—१ श्लोक १ में श्रीरामजीको 'कामारिसेव्य' कहा। श्लोक २ में कामारि (कंदर्पहं) के रूप और ऐश्वर्यादिका वर्णन करते हैं। दोनों श्लोकोंके मिलानसे देख पड़ता है कि दोनोंके विशेषण एक-से हैं। श्लोक १ मेंके **भवभयहरणं, कालमत्तेभसिंहं, गुणनिधिं, खलवधनिरतं, कन्दावदातं**—इन विशेषणोंकी जोड़में यहाँ श्लोक २। ३ में **कल्याणकल्पद्रुमं, कालव्यालकरालभूषणधरं, गुणनिधिं, खलानां दण्डकृद्, अतीवसुन्दरतनुं**—ये विशेषण हैं। दोनों ईड्य हैं।

२ 'ईड्य'का सम्बन्ध 'लिंग थापि बिधिवत करि पूजा' से है। 'कलिकल्मषौघशमनं' का अर्थ 'जो रामेश्वर दरसनु करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं ॥' से स्पष्ट किया है। 'गङ्गाप्रियम्' का फल 'जो गङ्गाजल आनि चढ़ाइहि। सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहि ॥' इससे बताया। दुर्लभ कैवल्य किस प्रकार सुगमतासे देते हैं इसका साधन भी 'गङ्गाजल आनि चढ़ाइहि' में बताया।

नोट—यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है। काशीकी प्रतिमें **'कंदर्पहं शङ्करम्'** पाठ है। पं० रा० गु० द्वि०, भा० दा० और छ० की पोथियोंमें **'श्रीशंकरं मन्मथारिं'** पाठ है। अर्थ दोनोंका एक है। पर इस पाठसे शार्दूलविक्रीडितमें छन्दोभंग होता है, **'श्रीशंकरं कामहम्'** पाठ पं० रा० व० श० की छपी पोथीमें है।

श्लोक—**यो ददाति सतां शंभुः कैवल्यमपि दुर्लभम्। खलानां दण्डकृद्योऽसौ शंकरः शं तनोतु माम्*॥३॥**

शब्दार्थ—सतां=सत् (सज्जन) को। अपि=निश्चय ही। कृद्योऽसौ=कृत् यो असौ=जो करते हैं। शं=कल्याण।

अर्थ—जो शङ्करजी सज्जनोंको दुर्लभ कैवल्यमुक्ति निश्चय ही देते हैं और दुष्टोंको दंड देनेवाले हैं, वे शंकर मेरे कल्याणका विस्तार करें। मं० श्लो० ३

वं० पा०—दो विशेषण—पाप और पुण्यके फलदाता—से ईश्वरत्व कहा।

नोट १—"कैवल्य" पद बहुत दुर्लभ है। यथा—'अति दुर्लभ कैवल्य परमपद। संत पुरान निगम आगम बद ॥ ७। ११९। ३।' 'कैवल्य' मुक्ति वह है जिसमें प्रभुमें जीव मिल जाता है। इसीको 'ऐक्य' भी कहते हैं। २—'खलानां दण्डकृद्यो' यथा—'जौं नहिं दंड करउँ खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुतिमारग मोरा ॥ ७। १०७। ४।'

वि० त्रि०—**'खलानां दण्डकृद् योऽसौ'** इति। सरकार ही 'खल-वधनिरतम्' नहीं हैं, शङ्करजी भी 'खलानाम् दण्डकृत्' हैं। और लङ्का खलमण्डलीका साम्राज्य है, रावण 'परद्रोहरत अतिदुष्ट, पापिष्ठ' है, पर उसके इष्टदेव शङ्करजी हैं—(यथा—'साहिब महेस सदा संकत रमेस मोहि निज तप साहस बिरंचि लियो मोल हैं') यहाँ 'खलानां दण्डकृत्' कहनेका भाव यह है कि रावणने बड़ी भारी खलता की है, इसका दण्ड देना शङ्करजीको प्राप्त था, पर सरकार स्वयं दण्ड देनेको उठ खड़े हुए हैं, अतः शङ्करजी हनुमान् रूपसे साथ हैं, दण्ड देनेमें अग्रगण्य हैं, इष्टदेव होनेपर भी उसके बचानेकी चेष्टा नहीं करते, उसके वधसे प्रसन्न हैं (यथा—'दस सीस बिनासन बीस भुजा। कृत दूरि महा महि भूरि रुजा ॥')

प० प० प्र०—'शं' का अर्थ 'होइ अकाम जो छल तजि सेइहि ॥' भगति मोरि तेहि संकर देइहि' से स्पष्ट किया है। शं=रामभक्ति। कैवल्यका उल्लेख प्रथम करके तब **'शं तनोतु माम्'** कहनेका भाव कि जो कैवल्यका निरादर करते और 'मुकुति निरादर भगति लुभाने' हैं वे भक्ति ही माँगते हैं। सुतीक्ष्णजीने भी ऐसी ही याचना की है। यथा 'धर्मं वर्म नर्मद **गुणग्रामः। संतत शं तनोतु मम रामः** ॥' और जो आगे 'जो कोसलपति राजिव नयना। ३। ११। २०।' से 'मम हिय गगन इंदु इव बसहु···। ११।' तक कहा है वह **'शं तनोतु'** का अर्थ ही है। 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे ॥ ३। ११। २१।' यही **'शं'** है।

* मे—(भा० दा०)।

सेतुबन्ध-प्रकरण

**सोरठा—सिंधु बचन सुनि राम सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ।
अब बिलंबु केहि काम करहु सेतु उतरइ कटकु॥**

अर्थ—प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने समुद्रके वचन सुनकर मन्त्रियोंको बुलाकर ऐसा कहा—अब किस कार्यके लिये देर कर रहे हो, (शीघ्र) सेतु बाँधो जिसमें सेना पार उतरे।

टिप्पणी—१ (क) 'सिंधुबचन'—ये वचन सुंदरकांडके अंतमें हैं। वचनका सुनना लंकाकाण्डके प्रारम्भमें लिखकर सुन्दरकाण्ड और लंकाकांडका सम्बन्ध मिला दिया। **'नाथ नील नल कपि दोउ भाई। लरिकाईं रिषि आसिष पाई॥ तिन्हके परस किए गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे॥ मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करिहउँ बल अनुमान सहाई॥ एहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइय। जेहि यह सुजस लोक तिहुँ गाइय॥'** सुं० ६० (१-४)।—यह सिंधुवचन है। श्रीरामजी इन्हें सुनकर आगे समुद्र बाँधनेकी आज्ञा देते हैं। (ख) 'सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ' इति। मंत्रियों-को बुलानेका भाव कि श्रीरामजी 'प्रभु' अर्थात् स्वामी वा राजा हैं और राजाका धर्म है कि मन्त्रीकी सम्मतिसे काम करे।— [पुनः, 'प्रभु' का भाव कि आप स्वयं समर्थ हैं, यथा 'लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥' पर नरनाट्यमें ऐसा कहते हैं मानो सिंधुके बतानेपर इन्हें पार उतरनेका यत्न मालूम हुआ। पुनः नरनाट्यमें नीतिकी मर्यादा रखते हैं]। (ग) **'अब बिलंबु केहि काम'** का भाव कि प्रथम विलंबसे यह काम निकला कि समुद्रतरणका उपाय मिला, पर अब बिलंब किस कामके लिये है? अब तो समुद्रने पार होनेका उपाय बता दिया है, वह उपाय करना चाहिये। पहिले उपाय न मालूम था, यथा—**'केहि बिधि तरिय जलधि गंभीरा'**—[खर्रा—अथवा, कर्त्तव्य वस्तुमें विलंब न करना चाहिये, यथा—'आदानस्य प्रदानस्य कर्त्तव्यस्य च वस्तुनः। क्षिप्रं क्रियमाणेन कालः कार्यं विनाशयेत्॥'] (घ)—हनुमान्‌जीने जानकीजीसे कहा है कि **'जौं रघुबीर होति सुधि पाई। नहि करते बिलंबु रघुराई॥'**, उनके वे वचन यहाँ चरितार्थ हुए। यहाँ पार उतरनेमें उत्सुकता दिखायी। जानकीजीकी प्राप्तिके लिये आतुर हैं। विलम्ब नहीं सह सकते, क्योंकि हनुमान्‌जी उनकी दशा प्रभुसे कह चुके हैं कि **'निमिष निमिष करुनायतन जाहिं कलप सम बीति'**। यह भक्तवत्सलता है। (ङ)—**'करहु सेतु उतरइ कटकु'**, इस कथनसे सूचित किया कि कटक भारी है; अतः भारी सेतु बनाओ। इसीसे वानरोंने ४० कोस चौड़ा और ४०० कोस लम्बा सेतु बनाया। [यह भी जनाया कि केवल कपिकटकके उतरनेके लिये सेतुकी आवश्यकता है। श्रीराम, लक्ष्मण, हनुमान्, सुग्रीव, आदिके लिये नहीं। यह भाव सुं० ५९ **'जेहि बिधि उतरै कपिकटक तात सो कहहु उपाइ'** में है। प० प० प्र०]

पं०—'राम' और 'प्रभु' शब्दोंका भाव कि आप सब कामोंके लिये समर्थ हैं परन्तु दासोंके रमावनेवाले हैं, वा, बड़ाई देनेवाले हैं, यथा—संतत दासन्ह देहु बड़ाई। **तातें मोहि पूछेहु रघुराई॥**'); इसलिये मन्त्रियोंको आज्ञा देकर आनन्द दिया। [**'जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुरत्राता॥'**—जानते हैं कि नलनील सेतु बनायेंगे पर उनसे न कहकर मन्त्रियोंसे कहा।]

**सोरठा—सुनहु भानुकुलकेतु जामवंत कर जोरि कह।
नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं॥**

अर्थ—जाम्बवन्तजी हाथ जोड़कर बोले—हे सूर्यकुलके ध्वजारूप श्रीरामजी! सुनिये! हे नाथ! आपका (तो) नाम (ही) सेतु है, मनुष्य (उसपर) चढ़कर भवसागर पार होते हैं।

टिप्पणी—१ **'जामवंत कर जोरि कह'** इति। (क) हाथ जोड़कर स्तुति करनेकी रीति है इसीसे हाथ जोड़कर श्रीरामजीकी बड़ाई करते हैं। (ख)—[खर्रा—श्रीरामजीके बहुतसे मन्त्री यहाँ हैं। सबको बुलाकर उन्होंने कहा था।

वे मंत्री ये हैं—द्विविद, मयन्द, हनुमान्, जाम्बवान्, कुमुद, गवाक्ष, नल, नील इत्यादि* । इन सबोंमें जाम्बवंत श्रेष्ठ और वृद्ध हैं; ब्रह्माके पुत्र हैं या यों कहिये कि साक्षात् ब्रह्मा ही हैं; इसीसे वे ही प्रथम बोले । वा, रचना करना ब्रह्माका काम है, अतः ये ही बोले ।] २—'सुनहु भानुकुल केतु' इति । भाव कि सूर्यवंश सबसे बड़ा है, श्रेष्ठ है, उसके भी आप केतु (पताका) हैं अर्थात् सब रघुवंशियोंसे आप श्रेष्ठ हैं, यह कुल आपहीसे शोभाको प्राप्त हुआ है ।—(एक खर्रेमें भानुकुलकेतुके भाव यह भी लिखे हैं कि—भानुकुलमें सब श्रेष्ठ ही हुए हैं पर धनुषभंग, परशुरामगर्व-हरण, समुद्रमें सेतुबन्धन इत्यादि दुष्कर कार्य किसीने नहीं किये हैं, अतः आप भानुकुलमें ध्वजारूप हैं । (पुनः, सूर्य जगत्का प्रकाशक है और आप उसके भी प्रकाशक हैं क्योंकि आपने उसको रावणकी कैदसे छुड़ाया । वंदनपाठकजी लिखते हैं कि इस विशेषणका भाव यह है कि इस कुलमें बड़े प्रतापी राजा हुए, जिनने बड़े-बड़े पराक्रम किये हैं और आप तो इसकी ध्वजा हैं, अतएव आप अवश्य ही सबसे विशेष कार्य किया ही चाहें) ।

३—'नाथ नाम तव सेतु' यह प्रभुके 'करहु सेतु उतरइ कटकु' का उत्तर है । भाव यह कि जब आपका नाम ही ऐसा है तब आपको समुद्र तरनेमें क्या विलंब हो सकता है—यही बात आगे कहते हैं, यथा—'यह लघु जलधि तरत कति बारा' । पुनः आप भानुकुलकेतु हैं, भानुकुलमें एकसे एक बड़े प्रतापी और तेजस्वी राजा हो गये हैं । आप-का यश उन सबोंसे अधिक है; क्योंकि आपका नाममात्र लेनेसे मनुष्य भवसागर पार होते हैं; अब जो इस समुद्रमें सेतुबन्धनकी आज्ञा हो रही है इसमें भी आपका यश है, क्योंकि आज तक समुद्रमें किसी राजाने ऐसा सेतु नहीं बाँधा ।

प० प० प्र०—'नाम तव सेतु' इति । 'मन्त्राणां प्रणवः सेतुः', 'मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि-हर सुर सर्ब । १ । २५६ ।' मन्त्रोंका भी सेतु प्रणव है । प्रणव और राम-नाम वेदसार है यह 'नाम-वन्दना' में स्पष्ट किया है । 'भवसागर तरहिं' यथा—'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं' ।

टिप्पणी—४ ग्रंथकारने लंकाकाण्डका उत्थान और समाप्ति नाममाहात्म्यसे ही किया है । कारण यह है कि विमल विज्ञान सिद्ध करनेके लिये जैसा 'राम' नाम साधन है वैसा साधन और कोई नहीं है । अतएव काण्डका उपक्रम और उपसंहार नाममें ही किया ।

शु० ला०—जाम्बवंतके वचनोंका भाव यह है कि जब आपके नामरूपी सेतुपर चढ़कर जीव संसार-सागरहीके पार हो जाते हैं तो हम आपके सेवकोंको उसी सेतुपर चढ़कर इस अति अल्प समुद्रके तरनेमें भला क्या ढील होगी, दूसरे सेतु बाँधनेकी क्या आवश्यकता है ?

वीरकवि—यहाँ पर्यस्तापह्नुति अलंकारकी ध्वनि है कि यह कृत्रिम सेतु सेतु नहीं है, वस्तुतः आपका नाम ही सेतु है ।

मिलान कीजिये—'जासु नाम सुमिरत एक बारा । उतरहिं नर भवसिंधु अपारा ॥ सोइ कृपाल केवटहि निहोरा ।' (अ० १०० देखिये) ।

रा० श०—रघुनाथजीने सेतुबन्धनकी आज्ञा दी और कहा कि—'अब बिलंब केहि काम'; इसपर चाहिये था कि ये कार्य तुरंत प्रारम्भ कर देते पर ऐसा न करके जाम्बवंतने इतनी बात बढ़ायी । इसका कारण यह है कि मन्त्रियोंको चाहिये कि राजाको घबराहट न होने दें । श्रीरामचन्द्रजीके वचनोंसे घबराहट जान पड़ी, इससे प्रथम उनको सावधान करते हैं कि आप घबरायें नहीं, यह काम तो पलमात्रका है, अभी हो जायगा, सेतुबन्धन क्या बड़ा कार्य है ?

यह लघु जलधि तरत कति बारा । अस सुनि पुनि कह पवनकुमारा ॥ १ ॥

शब्दार्थ—कति=कितनी, कौन । बार=समय, काल, देर यथा—'निज तनु प्रगटेसि मरती बारा । ६ । ५७ । ५ ।' 'बड़ी बार लगि रहे निहारी । १ । १३१ । १ ।'

---

* अध्यात्ममें श्रीसुग्रीव और श्रीलक्ष्मणजीसे संमत करके रघुनाथजीका नलको आज्ञा देना लिखा है—'ततो रामस्तु सुग्रीव लक्ष्मणाभ्यां समन्वितः । नलमाज्ञापयच्छीघ्रं वानरैः सेतुबन्धने ॥ ३ । ८६ ।'

अर्थ—यह तुच्छ छोटा-सा समुद्र पार करनेमें क्या देर लगेगी (अर्थात् यह तो उतरा उतराया ही है)। ऐसा सुनकर फिर पवनपुत्र हनुमान्‌जी बोले—। १ ।

टिप्पणी—१ (क) **'यह लघु जलधि'** अर्थात् भवसमुद्रके आगे यह समुद्र बहुत छोटा है। (ख) श्रीरामजीके **'अब बिलंब केहि काम'** इस वचनका उत्तर जाम्बवन्तने यह दिया कि **'यह लघु जलधि तरत कति बारा'**। [यहाँ काव्यार्थापत्ति अलंकार है। जिसका नाम भवसागरको तुरत पार कर देता है उसके लिये इस छोटेसे समुद्रके पार होनेकी बात ही क्या ? (वीर)]

नोट—**'यह लघु जलधि'** का भाव कि इसको तो न जाने कितने पार कर चुके, कितने सोख चुके; पर भवसागरका अन्त तो अबतक किसीने न पाया कि यह कैसे बना, किस प्रकारका है, इत्यादि। आखिर यही मानना पड़ा कि अनादि है और उसके पार होनेके उपाय भी पातञ्जलि आदि अनेक ऋषियोंने अनेक कहे हैं। ऐसा दुस्तर है सो भी आपके नामसे सहज ही पार हो जाता है—**'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं'** । १ । २५ । ४ ।'

मा० म०—जाम्बवन्तजी ब्रह्माके अवतार हैं और ब्रह्माने ही भवसागर और जलसागर दोनों ही बनाये हैं, यथा—**'बंदउँ बिधिपदरेनु भवसागर जेहिं कीन्ह जहँ'**...। १ । १४ ।' स्वयं रचयिता होनेसे वे सागरको असत्य क्योंकर कह सकें, इसीसे उन्होंने अपने मतसे दोनोंको सत्य ठहराकर उसके लिये सेतु बताया। पर हनुमान्‌जीके मतमें न तो भवसागर ही सत्य है और न यह विद्यमान समुद्र ही। इसीके अनुसार उनकी उक्ति आगे है। यहाँ यह संदेह होता है कि सागर तो दोनों ही विद्यमान हैं, तब हनुमानजी झूठ क्यों बोले ? इसका समाधान यह है कि हनुमान्‌जीने श्रीरामजीके प्रभावसे इस सागरके साथ सूखा ही ऐसा आचरण किया है और करनेको समर्थ हैं। यथा—**'जासु बल बिपुल जल भरति जग जलधि झूरो'** इति बाहुके; और प्रभुके संनिकट भवसागरका अत्यन्ताभाव है ही। यही संतमत है। श्रीहनुमान्‌जी रुद्रावतार हैं। और शिवजीके मतमें जगत् स्वप्न है, यथा—**'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना ॥ ३ । ३९ । ५ ।'** अतः शिवावतार श्रीहनुमान्‌जी भी जगत्‌को मिथ्या मानकर कुछ नहीं समझते। [श्रीहनुमान्‌जी ज्ञानघाटके आचार्य और श्रीशिवजीके अवतार हैं। इनकी दृष्टि ब्रह्ममय है, ब्रह्मके शरीररूपमें देखनेसे जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता रह ही नहीं जाती। ज्ञानदृष्टिमें जो वस्तु आगे नाश होनेको होती है, वह ब्रह्मके सत्यसंकल्पसे पहले ही नाश हो जाती है, जैसे गीतामें भविष्य-नाश भगवान्‌ने अर्जुनको पहले ही दिखा दिया है। यथा—**'मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः**। गीता ११ । ३४ ।' ये अपनी दृष्टिसे कहते हैं (स० ति०)। (विशेष आगे चौ० २-३ में गौड़जीका टिप्पण देखिये)]

टिप्पणी—२ 'अस सुनि पुनि कह ...' इति। (क) पुनि=तत्पश्चात्, फिर। ['श्रीरामचन्द्रजीकी उत्सुकता देखकर मनोरथकी (शीघ्र) पूर्णताके अनुकूल जाम्बवन्तजीने वचन कहे कि जिसके नामसे मनुष्य महाभवसागर तर जाते हैं उसको इस सागरके उतरनेमें क्या देर ! 'कति बारा' शब्द कहनेसे श्रीरघुनाथजीके मनोरथकी सम्पूर्ण पूर्णता नहीं पायी गयी' इससे श्रीहनुमान्‌जी बोले।' (पाँ०)] जाम्बवन्तजीकी 'कहनि' (कथन) में यह समुद्र बना रहा। इसीसे श्रीहनुमान्‌जी बोले। इनकी 'कहनि' (उक्ति) में यह समुद्र ही न रह गया। (ख) 'पवनकुमार' का भाव कि पवनसे वाणीकी उत्पत्ति है और हनुमान्‌जी पवनके पुत्र हैं, इसीसे इनका वचन विलक्षण है।

प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी ॥ २ ॥
तव रिपु नारि रुदनजल धारा। भरेउ बहोरि भएउ तेहि खारा ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—बड़वानल=समुद्रके भीतरकी अग्नि या ताप। भूगर्भके भीतर जो अग्नि है उसीका ताप कहीं-कहीं समुद्रके जलको भी खौलाता है। कालिकापुराणमें लिखा है कि कामको भस्म करनेके लिये शिवजीने जो क्रोधानल उत्पन्न किया था, उसे ब्रह्माने बड़वा या घोड़ीके रूपमें करके समुद्रके हवाले कर दिया जिसमें लोककी रक्षा रहे। पर वाल्मीकिरामायणमें लिखा है कि बड़वाग्नि और्व ऋषिका क्रोधरूपी तेज है, जो कल्पान्तमें फैलकर संसारको भस्म करेगा। (श० स०)। पद्म-पु० सृष्टिखण्ड पुष्कर-माहात्म्यप्रसंगमें लिखा है कि देवताओंकी प्रार्थनासे ब्रह्माजीकी आज्ञा

पाकर भगवान् विष्णुसे स्वर्णघटमें रक्खे हुए बड़वानलको ले जाकर सरस्वतीने खारे समुद्रमें पधरा दिया था। पयोनिधि= पय (=जल) + निधि=जलका अधिष्ठान वा खजाना=समुद्र। रुदन=रोना, विलाप।

अर्थ—प्रभुका प्रताप भारी बड़वानल है। उसने पहिले ही समुद्रका प्रथम (पूर्वका) जल सोख लिया। २। आपके शत्रुकी स्त्रियोंके रोनेकी जलधारासे वह फिर भर गया इसीसे वह खारा हो गया। ३।

टिप्पणी—१ 'प्रभु प्रताप बड़वानल भारी।...' इति (क) प्रतापको बड़वानलसे भारी कहा; क्योंकि उसके समान होनेसे वह समुद्रको नहीं सोख सकता था! बड़वानलसे भारी है इसीसे समुद्रको सोख लिया। प्रताप सूर्य है, यथा—'जब ते रामप्रताप खगेसा। उदित भएउ अति प्रबल दिनेसा॥' (ख) 'पयोनिधि बारी' कहनेका भाव कि पहिलेका जल मीठा था। 'पय' से जनाया कि दूधके सदृश था, पर अब खारा हो गया। खारा होनेका कारण आगे कहते हैं। खारा कहकर आँसूसे समुद्रका भरना सूचित किया। आँसू खारा होता है।

२ 'तव रिपु नारि' इति। (क) जो जो शत्रु मारे गये उनकी स्त्रियाँ रोती हैं और जो अभी नहीं मारे गये उनकी भी स्त्रियाँ पतिके मारे जानेके भयसे रोती हैं। (ख) 'जलधारा' कहा; क्योंकि बूँदसे समुद्र नहीं भर सकता, धारासे भरता है। हजारों स्त्रियाँ रोयीं जिनसे हजारों धाराएँ चलीं, तब समुद्र भरा है। तात्पर्य कि यह तो आँसुओंका समुद्र है- यथार्थ कुछ है नहीं।

मा० हं०—ये भाषण बड़े ही गम्भीर और कौशलदर्शक हुए हैं। ऐसे शौर्योद्दीपक भाषण युद्धके पुरोगामी रखनेसे कविकी कल्पकता बड़ी ही प्रशंसनीय मालूम होती है।

मा० शं०—यहाँ मन्दोदरीके रुदनसे समुद्रका भरना सूचित किया। मन्दोदरीके रुदनसे रामदूतजीने रावणवध सूचित कर दिया; क्योंकि उनके सिद्धान्तसे न समुद्र है न रावण ही, रावण मरा हुआ ही है, यथा—'जीवत सव सम चौदह प्रानी'। सेवक ऐसा ही चाहिये कि स्वामीका मनोभीष्ट लखकर कार्यसिद्धिमें उत्साह-वर्द्धन करे।

करु०—श्रीरघुनाथजीकी प्रसन्नताहेतु यह कथन सभाचातुरी है।

गौड़जी—यहाँ अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार है। इसे मिथ्यावाद नहीं कहना चाहिये। इसे कोई सुननेवाला यह समझकर धोखा नहीं खा सकता कि भगवान्‌को जरूरत पड़नेके पहले ही उनके प्रतापने समुद्रको सुखा दिया था और केवल आँसुओंसे यह फिर भर गया है। भगवान् मारुतिके इस वाक्यसे यह प्रकट होता है कि वह कितने उत्कृष्ट कवि हैं और अपने स्वामीके प्रतापका बखान किस खूबीसे कर सकते हैं। इसे झूठ बोलना वही कहेंगे जो काव्यरसका आस्वादन करनेमें समर्थ नहीं हैं।

मयूख (मा० म०)—हनुमान्‌जीने झूठ क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि हनुमान्‌जीकी अत्युक्ति अभ्यन्तर नारदपञ्चरात्रकथित श्रीरामचन्द्र और अग्निके युद्धका कथन है, जिसमें अग्निका सिर भगवान्‌के चक्रसे कटकर समुद्रमें गिरा और जल सूख गया; तब अग्निकी स्त्री स्वाहा पतिके मरनेसे विलाप करने लगी। उसके आँसूसे समुद्र फिर भर गया। अतएव जल खारा हो गया। इस कारण हनुमान्‌जीकी उक्ति सत्य है।

मा० म०—चौपाईका अर्थ यह है कि बड़वानलसे प्रथम ही जल सूख गया था और आपका प्रताप तो उस बड़वानलसे भारी है तब यह समुद्र तो सूखा-सुखाया ही है।

वीर—हनुमान्‌जीका कथन है कि आपके प्रतापने पूर्व ही समुद्र सोख लिया, कारणसे पहिले कार्यका प्रकट होना 'अत्यन्त अतिशयोक्ति' है। सोख लिया तो यह जलपूर्ण कैसे देख पड़ता है? इसका युक्तिसे समर्थन कि शत्रुकी स्त्रियोंके आँसूसे भरा 'काव्यलिंग' अलंकार है। समुद्रजल उपमेयको असत्य ठहराकर कहना कि आँसूरूपी उपमानसे भरा इसीसे खारा है, यह 'हेत्वापह्नुति' अलंकार है।

शु० ला०—भाव यह है कि जबसे आपने कोप करके लंकाको पयान किया है तभीसे आपके प्रतापके बड़े भारी बड़वानलने इसके समस्त जलको प्रथमहीसे सुखा दिया है और आपके वैरियोंकी स्त्रियाँ उनको मृततुल्य जानकर पहलेहीसे रो बैठी हैं जिससे यह फिर भर गया और इसीसे खारा है।

सुनि अति उक्ति पवनसुत केरी। हरषे कपि रघुपति तन हेरी॥ ४॥

शब्दार्थ—उक्ति=कथन, वचन, अनोखा वाक्य। अति उक्ति=अत्युक्ति=बढ़ाचढ़ाकर वर्णन करनेकी शैली। यह एक अलंकार है जिसमें शूरता, उदारता आदि गुणोंका अद्भुत और अतथ्य वर्णन होता है—(श० स०) तन=ओर, तरफ, यथा—'**बिहँसे करुनाऐन चितइ जानकी लषन तन**'। हेरना=देखना। हेरी=देखकर।

अर्थ—पवनपुत्र हनुमान्‌जीकी अत्युक्ति सुनकर वानर रघुपति (श्रीरामजी) की ओर देखकर हर्षित हुए॥ ४॥

टिप्पणी १—'**अति उक्ति**' कहकर सूचित किया कि यह '**अत्युक्ति अलंकार**' है। झूठ और अद्भुत बात वर्णन करे, यही अत्युक्ति अलंकारका लक्षण है। प्रमाण यथा—'**अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णनम्। त्वयि दातरि राजेन्द्रायाचकाः कल्पशाखिनः॥ १॥ राजन् सप्ताप्यकूपारास्त्वत्प्रतापाग्निशोषिताः। त्वद्वैरिराजवनिताबाष्पपूरेण पूरिताः॥ २॥' इति चन्द्रालोके।**

टिप्पणी—२ '**हरषे कपि रघुपति तन हेरी**' का तात्पर्य यह है कि हनुमान्‌जीकी अत्युक्ति सुनकर हर्षित हुए और श्रीरामजीकी मूर्ति देखकर हर्षित हुए कि इस मूर्तिका प्रताप भारी है। जिनके किंचित् प्रतापसे समुद्र सूख गया वे स्वयं यहाँ विद्यमान हैं। तब यह समुद्र क्या है? तन=तरफ, यथा—'**होइ बुद्धि जो परम सयानी। तिन तन चितइ न अनहित जानी॥**'—(उ०)। तनका अन्वय 'कपि' और 'रघुपति' दोनोंमें है।

वं० पा०—अत्युक्ति सुनकर कपि हर्षित हुए कि ऐसे प्रतापी स्वामी और ऐसे बुद्धिमान् सचिव धन्य हैं। अत्युक्ति ईश्वरमें तो हो नहीं सकती, यह केवल माधुर्य रामकुमारमें है। अतः यहाँ माधुर्यसूचक 'रघुपति' नाम दिया।

पं०—भाव कि हमारे स्वामी ऐसे शक्तिमान् हैं तब हमको रावणादिके वधकी क्या चिन्ता है?

प० प० प्र०—जिस अत्युक्तिमें भगवान्‌का वर्णन है वह अत्युक्ति होनेपर भी पावनताकी उत्पत्ति करनेवाली होगी यह भाव 'पवनसुत' शब्दका योग 'अति उक्ति' से करके सूचित किया। जब '**प्रभु प्रताप बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल**' यह सम्भव है तब '**प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी॥**' कैसे असम्भव होगा।

गौड़जी—'हरषे ''हेरी।' इस अत्युक्तिको सुनकर श्रीरघुनाथजीकी ओर देखकर कपियोंने हर्ष प्रकट किया। वह इस अत्युक्तिकी खूबीपर खुश हुए और इस तरह दाद दी। भगवान्‌ने इस अत्युक्तिपर केवल मुस्कराकर दाद दी थी। अदबके ख्यालसे कपियोंको भी इसी तरह दाद देना उचित ठहरा। इससे ज्यादा बढ़ना बेअदबी होती। सेवक तो प्रभुका ही सदा अनुगामी होता है। जो वानर बोलने-चालने आदि सभी बातोंमें मनुष्योंके आचरण करते थे, जिनके सरदार हनुमान्‌जी ऐसे उत्कृष्ट गायक, अभिनेता, वेदज्ञ, सर्वकलाकुशल और ऐसे श्रेष्ठ कवि थे, वह भी कुछ साधारण बंदर न थे। वह काव्य-रसका आस्वादन भी कर सकते थे। आजकलके-से वानरोंकी तरह अदरकके स्वादसे अनभिज्ञ न थे। भगवान्‌का प्रताप कहिये, सत्सङ्ग कहिये या देवांश कहिये कारण जो हो, कम-से कम वह उन अरसिकोंसे अच्छे ही थे जो इस अत्युक्तिकी खूबी न समझकर मिथ्यावादिताका आरोप करते हैं।

जामवंत बोले दोउ भाई। नलनीलहि सब कथा सुनाई॥ ५॥

शब्दार्थ—बोलना=बुलवाना, पास आनेके लिये कहना, बुलाना। यह प्रयोग प्रान्तिक है और केवल पद्यमें होता है। 'लिए बोलि अंगद हनुमाना। ४६। १।' पुनः, बोलना=कहना। बोले=कहा, यथा 'बोले अंगदादि कपि नाना। ७४। ६।'

अर्थ—जाम्बवन्तजीने नल-नील दोनों भाइयोंको बुलाया और सब कथा सुनाकर कही। वा नल-नील दोनों भाइयोंको सब कथा सुनाकर उनसे बोले—॥ ५॥

* रघुपति कपि तन—(भा० दा०)।

टिप्पणी १—'सब कथा' यह कि समुद्रने श्रीरामचन्द्रजीसे प्रार्थना की कि नल-नीलके स्पर्शसे पत्थर समुद्रमें तैरेंगे, इनको ऋषियोंका आशीर्वाद है कि इनका स्पर्श किया हुआ पत्थर जलमें नहीं डूबेगा। अतएव तुम सेतु बाँधो। 'सब कथा सुनाई' से यह सूचित हुआ कि जब समुद्रने रामजीसे सेतुबन्धनका उपाय बताया था ये दोनों वहाँ न थे, नहीं तो इस कथाके कहनेका प्रयोजन न था।

नोट—'नल नील'—नल विश्वकर्माके पुत्र हैं। इन्होंने पितासे सब वस्तुओंके जाननेका वर पाया है। (वाल्मी० २२। ४१, ४२)। नलने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा है कि हमारे पिताने हमारी माताको वरदान दिया था कि तुम्हारा पुत्र हमारे ही समान उत्पन्न होगा। अतएव हम पिताके समान सब कुछ बनानेमें चतुर हैं (वा० २२। ५१)। पुराणानुसार नल ऋतुध्वज ऋषिके शापके कारण घृताचीके गर्भसे वानररूपमें उत्पन्न हुए थे।—(श० स०)। आनन्दरामायण खण्ड १ अध्य० १० में कथा है कि ये ब्राह्मणोंके शालग्रामको जलमें फेंक दिया करते थे। तब उन्होंने शाप दिया कि पाषाण तुम्हारे स्पर्शमात्रसे जलमें न डूबेगा वरन् तैरेगा (श्लोक ६५-६८)। वह शाप इस समय वरदानतुल्य हो गया। ये वचन समुद्रके हैं। यथा '**मयि सेतुं कारयस्व नलेनोपलनिर्मितम्। विश्वकर्मसुतश्चायं वरो लब्धोऽस्त्यनेन हि ॥**' आ० रा० १। १०। ६६। **द्विजस्य जाह्नवीतोये शालिग्रामस्त्वनेन हि। त्यक्तस्तदा तेन शप्तः पाषाणादि तरिष्यति ॥ ६७ ॥ त्वद्धस्तादिति शापोऽयं वर एवाऽत्र संस्मृतः ॥**'

वाल्मीकि सर्ग ३० में लिखा है कि नील अग्निका पुत्र है; यह बात दूतोंके सरदार शार्दूलने रावणसे कही है। नल और नील दोनोंकी माता एक ही हैं। जान पड़ता है कि एक ही स्त्रीसे नील अग्निके तेजसे उत्पन्न हुए और नल विश्वकर्माके तेजसे, अतः दोनों भाई कहे गये।

पं०—रामजीने स्वयं क्यों न कहा, जाम्बवन्तसे क्यों कहलाया ? उत्तर—राजनीतिमें बहुधा यह नियम है कि नृप मन्त्रियोंद्वारा बात करते हैं और ये वृद्ध मन्त्री हैं। अथवा, जाम्बवंतको कहना है कि रामप्रताप स्मरणकर सेतु रचो, ये अपनी बड़ाईके वचन रामजी स्वयं कैसे कह सकते थे ? अतः जाम्बवन्तने कहा।

मा० म०—जाम्बवान्ने सकटक नल-नीलको हेतुबन्धकी आज्ञा देकर अपने करतबको सत्य किया और समुद्रके अस्तित्वका निरूपण किया एवं श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञाका पालन किया।

रामप्रताप सुमिरि मन माहीं। करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—प्रयास=परिश्रम।

अर्थ—मनमें श्रीरामजीका प्रताप स्मरण करके सेतु रचो, कुछ परिश्रम नहीं होगा ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) रामप्रताप स्मरण करनेको कहा; क्योंकि समुद्रने श्रीरामजीका प्रताप कहा था, यथा—'**तिन्ह के परस किए गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे ॥**' फिर श्रीहनुमान्जीने भी श्रीरामजीका प्रताप कहा, यथा—'**तव प्रताप बड़वानल भारी।**' अतएव वही उपदेश जाम्बवन्तजी नल-नीलको कर रहे हैं कि तुम भी रामप्रतापका मनमें स्मरण करके सेतु बाँधो। (ख) 'प्रयास कछु नाहीं' कहनेका भाव कि विभीषणजीने जो कहा था कि समुद्र उपाय बतायेगा तो सेतुबन्धनमें कुछ प्रयास न होगा, यथा—**प्रभु तुम्हार कुलगुरु जलधि कहिहि उपाय बिचारि। बिनु प्रयास सागर तरिहि सकल भालु कपि धारि ॥**', वह बात जाम्बवन्त नहीं कहते; इन्होंने रामप्रतापको ही मुख्य रक्खा।'

नोट—रामप्रताप स्मरण करके जो-जो कार्य किये गये वे सब सिद्ध हुए, यह बात आगे ४३ (१) में दिखायी गयी है। इसी विचारसे प्रताप स्मरण करके कार्य प्रारम्भ करनेको कहा। 'रामप्रताप' वानरोंके सामने कई बार कहा गया है। एक तो यही जाम्बवन्त और हनुमान्जीने और पूर्व सुं० ३३ में भी हनुमान्जीने कहा है, यथा—'**तव प्रभाउ बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल**', तथा समुद्रने भी कहा था; यथा—'**तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे**। ५। ६०। २। **मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करिहउँ बल अनुमान सहाई ॥ एहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइअ।**' अतएव प्रतापके उदाहरण न दिये।

वं० पा०—वही राम-प्रताप जो ऊपर कहा गया, जो समुद्रको सोखनेवाला है उसीका स्मरण करनेको कहा।

बोलि लिए कपि-निकर बहोरी। सकल सुनहु बिनती कछु* मोरी॥ ७॥
रामचरनपंकज उर धरहू। कौतुक एक भालु कपि करहू॥ ८॥
धावहु मर्कट बिकट बरूथा। आनहु बिटप गिरिन्ह के जूथा॥ ९॥

शब्दार्थ—बोल लेना=पास बुला लेना। बरूथ=झुंड, समूह, जत्था, सेना। आनना=लाना, यथा—'आनहु रामहि बेगि बोलाई'। यह प्रयोग केवल पद्यमें होता है। संस्कृत शब्द 'आनयन' से बना है। जूथ (यूथ)=झुंड, एक जाति या वर्गके पदार्थोंका समूह। विकट=विशाल, भयंकर, विकराल, दुर्गम कार्य करनेवाले।

अर्थ—फिर वानर-समूहको बुला लिया (और उनसे बोले, आप सब मेरी कुछ विनती सुनिये। ७। (वह विनती यह है कि) अपने हृदयमें श्रीरामजीके चरणकमलोंको धारण कीजिये और (आप सब) भालु-वानर एक कौतुक कीजिये। ८। विकट वानरोंके समूह दौड़ जावें और वृक्षों और पर्वतोंके समूह ले आवें। ९।

वं० पा०—प्रथम कारीगरोंको तैयार करके अब मसाला देनेवालोंको बुलाते हैं; क्योंकि विना मसाला कारीगर क्या कर सकते हैं!

टिप्पणी—१ (क) 'कपि निकर०' इति। प्रथम नल-नील दोको बुलाया था, अब समूहवानरोंको बुलाया। सबको समीप बुलाया; क्योंकि सबसे विनती करना चाहते हैं। (ख) 'सकल सुनहु बिनती'। विनती करनेका भाव यह है कि जाम्बवन्तजी सब वानरोंसे पत्थर 'ढोआवनेका' काम कराना चाहते हैं जो काम मजदूरोंका है, अतएव विनती करके कहते हैं जिसमें सब वानर प्रसन्न रहें, नाराज (अप्रसन्न) न हों। दूसरा भाव यह है कि सुग्रीव सबोंके राजा हैं, वे सबको आज्ञा दे सकते हैं, मैं आपको आज्ञा नहीं देता, मैं विनती करके काम करनेको कहता हूँ। [विनय आदर-सम्मानार्थ है—(वं० पा०)। अथवा काम कराना है, कार्यके लिये बड़ोंकी रीति है विनीत वचन कहना। दूसरे, वे सबको रामजीका दास मानते हैं—(पं०)। पुनः श्रीजाम्बवान्‌जी ऋक्षराज भी हैं और सुग्रीवजीके प्रधान मन्त्री भी हैं, श्रीरामजीके युद्धमन्त्री हैं। लङ्काकाण्डमें मन्त्रियोंमें प्रायः इन्हींकी प्रधानता देखनेमें आती है। यथा—'पूछा मत सब सचिव बोलाई। कहहु बेगि का करिअ उपाई॥ जाम्बवंत कह पद सिरु नाई। १७। १-२।'; 'जाम्बवंत कह बैद सुषेना॥ लंका रहइ को पठई लेना॥'''। ५४। ७। युद्धमन्त्री होनेसे सबको आज्ञा दे सकते हैं। फिर भी ऋक्षराज होनेसे पहले 'भालु' को ही सम्बोधन किया है, यह इनकी बुद्धिमत्ता है]

टिप्पणी—२ 'राम चरन पंकज''' इति। (क) रामचरणकमलोंको हृदयमें धारण करनेका भाव यह है कि ऐसा करनेसे कठिन कार्य सुगम हो जाता है, यथा—'रघुपति चरन हृदय धरि तात मधुर फल खाहु। ५। १७।' रावणके बागके फल खाना कठिन था जो रघुपति-चरणको हृदयमें धारण करनेसे सुगम हो गया। पुनः, यथा—'राम चरन सरसिज उर राखी। चला प्रभंजनसुत बल भाषी। ५५। १। ६० लक्ष योजनसे रातभरमें द्रोणाचलको ले आना कठिन था। उसे वे रामचरणकमलको हृदयमें धारण करके ले आये। पुनः, भाव कि रामचरण हृदयमें धारण करनेसे भवसागर पार हो जाता है, यथा—'पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ। ७। १८। ७।' तब यह समुद्र कितना है। वा, (ग) इष्टभावसे धारण करनेको कहा। रामचरणको कमल कहा। उसके सम्बन्धसे 'उर' सर हुआ जिसमें वह कमल रहेगा, यथा—'हर उर सर सरोज पद जोई। ५। ४२। ८।' हृदय-सरमें रामचरण-कमल रहनेसे श्रमरूपी ताप न होगा। (वं० पा०)

३ 'कौतुक एक०' इति। भाव यह कि श्रीरामचरणकमलको हृदयमें रखनेसे यह कठिन काम भी कौतुक (खेल, तमाशा) सा हो जायगा, उसमें कुछ भी श्रम नहीं पड़ेगा। पुनः, पत्थर और वृक्षका ढोना न कहकर 'कौतुक करहु' कहते हैं; क्योंकि वैसा कहना अशोभित था। वृक्षों और पर्वतोंको उखाड़कर ले आना इनके लिये

* एक (का)।

कौतुक अर्थात् खेल ही है। आगेके 'अति उतंग गिरि पादप लीलहि लेहिं उठाइ।' 'सैल बिसाल आनि कपि देहीं। कंदुक इव नल नील ते लेहीं॥' में यह 'कौतुक' चरितार्थ हुआ है।'

नोट—१ जाम्बवन्तजी वानरकटकका साथ लेना भी कौतुक ही समझते हैं, यथा—'तव निज भुज बल राजिवनयना। कौतुक लागि संग कपि सयना। कि० ३०। १२।' 'कौतुक' कहकर प्रभुके प्रतापको प्रधान सूचित करते हैं। (ख) स्वामीकी आज्ञा 'अब बिलंब केहि काज' के अनुकूल यहाँ 'धावहु' और 'मर्कट बिकट बरूथा' पद दिये।

टिप्पणी—४ (क) 'धावहु' से जनाया कि यह काम जल्दीका है, शीघ्र ले आओ; क्योंकि श्रीरामजीकी इच्छा है कि सेतु शीघ्र बँध जाय, यथा—"अब बिलंबु केहि काम करहु सेतु उतरइ कटकु॥" (ख) 'बिकट बरूथा' का भाव कि तुम सब बड़े-बड़े दुर्गम कार्य करनेवाले हो, अतः तुम सब बड़े-बड़े पर्वत और वृक्ष ला सकते हो। पुनः, भाव कि तुम सब समूह-के-समूह मिलकर जाओ और समूहवृक्ष और पर्वत ले आओ जिसमें नल-नीलके पास वे धरे रहें। सेतु बनानेमें घटने न पावें। (ग) वृक्ष और पर्वत दोनोंको लानेको कहा; क्योंकि पर्वतोंसे सेतु बाँधा जायगा और उसपर छाया एवं शोभाके लिये वृक्ष लगाये जायँगे अथवा नीचे वृक्ष लगाकर ऊपर पत्थर धरे जायँगे।

नोट—१ वाल्मी० २२ श्लोक ५१ से ५५ तकमें शाल, अश्वकर्ण, ताल, अर्जुन, कुटज, धव, शतपत्र, बेल, तिनिश, तिलक, अशोक, आम इत्यादि अनेक वृक्षोंका लाया जाना लिखा है। २—"मेघाभैः पर्वताभैश्च तृणैः काष्ठैर्बबन्धिरे। पुष्पिताग्रैश्च तरुभिः सेतुं बध्नन्ति वानराः॥" (वाल्मी० २२। ६१) अर्थात् मेघ तथा पर्वतके समान काष्ठों, तृणों और पुष्पित वृक्षोंसे समुद्रपर पुल बाँधा।

सुनि कपि भालु चले करि हूहा। जय रघुबीर प्रताप समूहा॥ १०॥

अर्थ—जाम्बवन्तजीके वचन सुनकर वानर और भालू हूह (शब्द) करके चले। 'जिनका समूह प्रताप है उन रघुवीर रामजीकी एवं उनके प्रताप समूहकी जय हो॥' (ऐसा कहते हुए चले)। १०।

टिप्पणी—१ (क) हूह=वानरोंका हर्ष-सूचक शब्द है। क्या शब्द किया यह दूसरे चरणमें दिया। (ख) 'तव प्रताप बड़वानल भारी। सोषेउ प्रथम पयोनिधि बारी॥' हनुमान्‌जीका यह वचन सुनकर जाम्बवन्तजीने वानरोंसे कहा कि 'राम प्रताप सुमिरि मन माहीं। करहु सेतु प्रयासु कछु नाहीं॥' यह सुनकर वानर रामप्रताप कहकर चले जिसमें रघुवीरके प्रतापसे सबका पुरुषार्थ सिद्ध हो। (ग) हूह शब्द करके जनाया कि जाम्बवन्तके वचन सुनकर वे रामकार्य करनेके लिये हर्षित हैं। 'अभिपेतुर्महारण्यं हृष्टाः शतसहस्रशः॥ ५०॥' (वाल्मी० २२)

नोट—यहाँ 'रघुवीर-प्रतापसमूह'का जय-जयकार करके चले हैं और आगे दिखायेंगे कि इस प्रतापसे ही सब कार्य हुआ, यथा—'श्री रघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान'। दोनों स्थलोंपर 'रघुवीर' पद प्रयुक्त हुआ है। 'रघुवीर' पदका भाव कि सब वानर समरके उत्साही हैं, वीररससे पूर्ण हैं; इसीसे वे वीरतासूचक 'रघुवीर' पद उच्चारण करके जय-जयकार कर रहे हैं।

रा० प्र०—प्रताप-समूहकी जय मनाते हैं। हूहा उत्साहवर्द्धक शब्द परस्पर सुनाते हैं। 'समूह' का अन्वय कपि और भालुके साथ भी है।

दो०—अति उतंग गिरि* पादप लीलहि लेहिं उठाइ।
आनि देहिं नल नीलहि रचहिं ते सेतु बनाइ॥ १॥

---

* का०—'तरु सैलगन'। छ०, भा० दा०—'गिरि पादप'।

शब्दार्थ—उतंग (उत्तुङ्ग) = ऊँचा, यथा—'अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा। ५। ३। ११।' पादप=पैर अर्थात् जड़द्वारा जल पीनेवाला=वृक्ष। लीलहि=लीलापूर्वक, खेल-सरीखा। लीला=वह व्यापार जो चित्तकी उमंगसे केवल मनोरञ्जनके लिये किया जाय, खेल, क्रीड़ा।

अर्थ—अत्यन्त ऊँचे पर्वतों और वृक्षोंको खेलवाड़में ही उखाड़कर उठा लेते हैं, नलनीलको लाकर देते हैं और वे अच्छी तरह रचकर सेतु बनाते हैं। १।

टिप्पणी—१ अत्यन्त ऊँचे वृक्ष और पर्वत लाते हैं जिसमें बहुत दूरतक सेतु बँध जाय। 'लीलहि' लीलापूर्वक खेल-सरीखा अर्थात् उनके उखाड़ने और उठानेमें कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता। जो जाम्बवन्तने कहा था कि **'कौतुक एक भालु कपि करहू'** वही कौतुक यहाँ दिखाया कि खेल-सरीखा ही पर्वतोंको उखाड़ लेते हैं। (ख) 'आनि देहिं।' से जनाया कि जहाँ नल-नील समुद्रपर हैं वहीं लाकर देते हैं। **'ते नगान्नगसंकाशाः शाखामृगगणर्षभाः। बभञ्जुः पादपांस्तत्र प्रचकर्षुश्च सागरम्॥** वाल्मी० २२। ५१॥' पर्वताकार वानर वृक्षों और पर्वतोंको तोड़कर समुद्रमें फेंकने लगे। (ग) **'रचहिं बनाइ'** से सेतुकी अत्यन्त सुन्दरता सूचित की जैसा आगे स्पष्ट है, यथा—**'देखि सेतु अति सुंदर रचना'**।

बं० पा०—'रचहिं ते सेतु बनाइ' में भाव कि पहिले सेतु बनाते हैं फिर उसमें कलाकी सुन्दर रचना करते हैं। इसी भावमें इसका प्रयोग प्रायः सर्वत्र हुआ है। यथा—**'सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई १। १७०। ४।', 'रचहु बिचित्र बितान बनाई'। १। २८७। ६।' 'तदपि प्रीति कै रीति सुहाई। मंगल रचना रची बनाई। १। २९६।'** इत्यादि।

प० प० प्र०—रावणको दूतोंसे नित्य ही समाचार मिल रहा है कि सेतुबन्धनका विचार हो रहा है तथापि उसने सेतुबन्धनमें विघ्न नहीं डाला और न समुद्रपार सेना भेजकर युद्धारम्भ किया। इससे स्पष्ट है कि वह **'प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ'** अपने इस मन्त्रपर दृढ़ है। [दूसरे पक्षवाले कहते हैं कि रावण भ्रममें पड़ा है। वह निश्चिन्त बैठा है कि समुद्रपर सेतु बँध नहीं सकता, तभी तो सेतुबन्धन सुननेपर वह घबरा गया। यथा **'सुनत श्रवन बारिधि बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना॥ ६। ५। १०।'** नर-वानरको तुच्छ समझता है अतः वह निःशङ्क बैठा है। इत्यादि]

सैल बिसाल आनि कपि देहीं। कंदुक इव नल नील ते लेहीं॥ १॥

अर्थ—वानर भारी-भारी पर्वत ला-लाकर देते हैं और नल-नील उन्हें गेंदकी तरह लेते हैं। १।

टिप्पणी—१-ऊपर दोहेमें जो कहा कि **'अति उतंग गिरि पादप लीलहि लेहिं उठाइ।** आनि देहिं०', वह वानरोंका पराक्रम कहा गया, अब यहाँ **'कंदुक इव नल नील ते लेहीं'** में नल-नीलका पराक्रम कहते हैं कि जैसे उनको उखाड़कर उठा लानेमें परिश्रम नहीं होता वैसे ही इनको ऊपरसे आते हुए हाथसे रोक लेनेमें किञ्चित् श्रम नहीं होता, जैसे गेंदके रोकनेमें श्रम नहीं होता।

२—यह चौपाई पुनरुक्ति है। जो बात दोहेमें कही वही अर्थ इस चौपाईमें है। तब इसके कहनेका क्या प्रयोजन था? उत्तर—जाम्बवन्तजीने सेतु रचनेवालों (नल-नील) से कहा था कि सेतु रचनेमें कुछ परिश्रम नहीं है, यथा—'रचहु सेतु प्रयास कछु नाहीं।' और तब पर्वत लानेवालों समस्त भालु-वानरोंसे कहा था कि तुमको पर्वत लानेमें कुछ श्रम नहीं है, यथा—'कौतुक एक भालु कपि करहू' अर्थात् पर्वत ले आना तुम्हारा कौतुक है। अब कवि दोनों बातोंको चरितार्थ करते हैं—दोहेमें दिखाया कि पर्वत लानेवाले वानरोंको श्रम नहीं हुआ और यहाँ दिखाया कि सेतु रचनेवालोंको श्रम नहीं हुआ। अतः पुनरुक्ति नहीं है।

रा० प्र०—'कंदुक इव' दीपदेहरीसे दोनों ओर लगता है।

देखि सेतु अति सुंदर रचना। बिहँसि कृपानिधि बोले बचना॥ २॥

अर्थ—सेतुकी अत्यन्त सुन्दर रचना (बनावट) देखकर दयासागर रामजी हँसकर वचन बोले। २।

टिप्पणी—१—'देखि सेतु रचना' कहनेका भाव कि उनके देखनेके लिये ही अत्यन्त सुन्दर रचना की गयी थी जिसमें इसे देखकर उनका मन प्रसन्न हो, यही बात आगे कहते हैं, यथा—'**बाँधि सेतु अति सुदृढ़ बनावा। देखि कृपानिधिके मन भावा॥**' (ख) 'बिहँसि कृपानिधि' का भाव कि सेतु देखकर प्रसन्न हुए, प्रसन्न होकर वानरोंपर कृपा की। अर्थात् 'बिहँसि' से अन्तःकरणकी कृपा जनायी, यथा—'**हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥**' जिसके अनुशासनसे माया निमेषमात्रमें अनेक ब्रह्माण्ड रचती है, यथा—'**लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥ १। २२५। ४३।**' उसके आगे यह सेतु रचना क्या है; पर श्रीरामजी कृपानिधि हैं, वे इतनी ही सेवासे प्रसन्न हो गये। और भी कृपा आगे कहते हैं कि 'करिहौं इहाँ संभु थापना'; शिवस्थापनासे अनन्त जीवोंपर कृपा हुई क्योंकि शिवदर्शन करके सब जीव कृतार्थ होंगे। यथा—'**जे रामेस्वर दरसन करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं॥ जो गंगाजल आनि चढ़ाइहि। सो साजुज्य मुक्ति नर पाइहि॥ होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥ ६। ३। १-३।**'

वं० पा०—'बिहँसि कृपानिधि०' का भाव—(क) '**स्मितपूर्वाभिभाषी च**' अर्थात् यह प्रभुका स्वभाव है कि वे हँसकर बोलते हैं। अथवा, (ख) अपने परमभक्त शिवजीकी प्रतिष्ठावृद्ध्यर्थ करुणा करके शिवस्थापनार्थ हँसकर बोले। अतः 'कृपानिधि' कहा, यथा—'**गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती**' इति वक्ष्यमाण शिववचनात्। वा, (ग) शिवस्थापनाके विचारमें चित्तका उत्साह सूचित किया—'**उत्साहभंगे धनधर्महानिः**'। वा, (घ) वानरोंके सम्मानार्थ सेतु देखकर हँसकर अपनी कृतज्ञता सूचित की। वा, (ङ) अपने मनोरथ सीताप्राप्तिकी सिद्धि देख हँसे।

रा० प्र०—कृपानिधिके हँसनेका भाव कि इस सेतुका दर्शन और स्पर्श कर लोग भवसागर पार होंगे। पुनः जलनिधिपर कृपा हुई उसके साहचर्यसे 'कृपानिधि' कहा।

वीरकवि—यहाँ 'तीसरा सम अलंकार' है; क्योंकि जिसके लिये उद्योग किया गया वह कार्य निर्विघ्न तत्क्षण सिद्ध हो गया।

परम रम्य उत्तम यह धरनी। महिमा अमित जाइ नहिं बरनी॥ ३॥

अर्थ—यह पृथ्वी परम रमणीय (सुन्दर) है, परम उत्तम है, इसकी महिमा अमित (अतोल, सीमारहित) है, वर्णन नहीं की जा सकती। ३।

नोट—'परम रम्य उत्तम यह धरनी'। इति। (क) 'परम रम्य०' का भाव कि अन्य धरणी रम्य है, उत्तम है और यह भूमि परम रम्य है, परम उत्तम है। (पं० रा० कु०)। अथवा, जितने परम रम्य स्थान हैं उनमें यह उत्तम है। तीर्थ, पुण्य नदी आदिके होनेसे स्थल उत्तम माना जाता है और यह तो सङ्गमस्थल उत्तमस्थल उत्तमोत्तम समुद्रगा है; इसलिये विशेष है। (रा० प्र०)। यहाँ दो समुद्रों महोदधि और रत्नाकरका संगम है अतः यह परम रम्य और परम उत्तम है। जहाँ सरिता-समुद्र-संगम होता है वह रम्य और उत्तम है। (पं० मा० म०)। पुनः, समस्त पुण्य नदियोंका तट परम रम्य माना जाता है और समुद्र तो समस्त तीर्थों और नदियोंका पति और सर्वतीर्थमय है, अतः उसका तट परम रम्य और अतिपावन है। (गौड़जी, खर्रा)।

यह द्रविड़ देश है। श्रीमद्भागवत स्कन्ध ५ अ० ५ में लिखा है कि इस देशमें भगवद्भक्त बहुत होंगे अतः संतोंकी जन्मभूमि होनेसे इसे परम उत्तम कहा गया। यथा—'**क्वचित्क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः। ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी॥ ३९। कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी। ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर। प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः॥ ४०।**' अर्थात् हे राजन्! कलियुगमें भगवद्भक्त कहीं-कहीं कोई होंगे। अधिकतर द्रविड़ देशमें बहुतसे भगवद्भक्तजन उत्पन्न होंगे। द्रविड़ देशमें ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, कावेरी और महापवित्र प्रतीची आदि नदियाँ बहती हैं। हे नरेश! जो लोग उनके पवित्र जलको पान करते हैं, उनका हृदय शुद्ध हो जाता है और वे सज्जन भगवान् वासुदेवके दृढ़ भक्त होते हैं।

पद्मपुराणान्तर्गत श्रीमद्भागवतमाहात्म्यमें इस देशको भक्तिका उत्पत्तिस्थान भी कहा है। यथा—'उत्पन्ना द्राविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता। क्वचित् क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥ भा० माहात्म्य। १। ४८।' (भक्ति कहती है कि) मैं द्रविड़ देशमें उत्पन्न हुई, कर्णाटकमें बढ़ी, कुछ-कुछ महाराष्ट्र देशमें और सर्वथा गुजरातमें जीर्ण और बूढ़ी हुई।—अतः इस भूमिको उत्तम कहा। (वं० पा० पाँ०)। और भी भाव ये कहे जाते हैं—यह अष्टवैकुण्ठान्तर्गत है। (मा० म०, मा० शं०)। अथवा, श्रीजानकीजीकी प्राप्तिके सब उद्योग यहाँ सिद्ध हुए और जानकी-विरह मिट गया। दूसरे, देवाराधनके निमित्त एक पर्वत सिद्धपीठ है और यहाँ तो अनेक पर्वतोंका मिलाप हो गया है तथा यह समुद्रतट है। अतएव पवित्र कहा।

नोट—२ मुनियोंको भानेवाली, प्रभुको सुख देनेवाली और मनोहर होनेके सम्बन्धसे 'परम रम्य' विशेषण स्थानोंको जहाँ तहाँ दिया गया है, यथा—'**परम रम्य आराम येहु जो रामहिं सुख देत। १। २२७।**' '**परम रम्य मुनिवर मनभावन। १। ४४। ६।**' पुनः यहाँ शिवजीका बास होगा इससे परम रम्य कहा, यथा—'**परम रम्य गिरिबरु कैलासू। सदा जहाँ शिव उमा निवासू॥ १। १०५। ८।**' पुनः वह स्थल है ही बड़ा रमणीक। यहाँपर प्रभु स्वयं इस स्थलको 'परम रम्य उत्तम' कहकर जनाते हैं कि उनको सेतुतीर्थ स्थल देखकर बड़ा ही सुख प्राप्त हो रहा है।

टिप्पणी—१ (क) सुन्दर और उत्तम स्थानमें उत्तम पुरुष वास करते हैं, यथा—'**आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥ १। १२५। २।**' '**सुचि सुंदर आश्रम निरखि हरषे राजिवनयन। २। १२४।**', '**है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पंचबटी तेहि नाऊँ। ३। १३। १५।**', अतएव सुन्दर और उत्तम पृथ्वी जानकर उसमें शिवजीके स्थापनकी इच्छा की। (ख) इस स्थानपर शिवजीकी स्थापना करना चाहते हैं; इसीसे पहिले धरणीका माहात्म्य कहा और आगे शिव-स्थापन करनेपर स्थापित शिवका माहात्म्य कहा है। यथा—'**जे रामेश्वर दरसन करिहहिं। ते तनु तजि सुरलोक सिधरिहहिं॥**' इसी तरह सेतु बाँधकर सेतुका माहात्म्य कहा है; यथा—'**मम कृत सेतु जो दरसन करिही। सो बिनु श्रम भवसागर तरिही॥**'

मा० म०—इसी स्थानसे श्रीहनुमान्‌जी लङ्का (उस पार) गये थे। अतएव शम्भुस्थापनके मिष यहाँ रुद्र श्रीहनुमान्‌जीहीको मानो स्थापन करेंगे। इसीसे स्थल परम रम्य और उत्तम लग रहा है।

गौड़जी—'परम रम्य यह उत्तम भूमि है, इसकी महिमा अमित है'…', इस कथनका क्या कारण है? क्या इससे उत्तम भूमि कहीं और न थी?

यह लोकप्रसिद्ध बात है कि सब नदियाँ और उनका तट परम रम्य माना जाता है। इस विचारसे भारतवर्षमें भौगोलिक दृष्टिसे देखिये तो जितने पवित्र और बड़े-बड़े तीर्थ-स्थान हैं वह सब नदियोंके किनारे हैं, जैसे मथुरा, प्रयाग, काशी आदि। उसपर भी समुद्र सब नदियोंका पति है; क्योंकि सभी नदियाँ उसके अन्तर्गत हैं, इसलिये समुद्र अति पावन तीर्थ है और उसका तट परम रम्य है। जलतट और पवित्र स्थलमें देवस्थान होना अत्युत्तम है, इस विचारसे श्रीरघुनाथजीने कहा कि यह स्थान पवित्र और परम रम्य है, यहाँ शम्भु-स्थापना करूँगा।

यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि यह स्थान भारत-जैसे विशाल देशकी दक्षिणी सीमा है। यहाँ अवश्य ही कोई-न-कोई पवित्र तीर्थ-स्थान होना ही चाहिये; क्योंकि इसमें दो लाभ हैं—एक तो यह कि दक्षिणमें शिवकाञ्ची और विष्णुकाञ्ची दोनों तीर्थोंकी सीमा मिलती है। शैवों और वैष्णवोंमें परस्पर विरोध रहता है। यदि यहाँ दोनों तीर्थोंके अलग-अलग होते वैष्णवद्वारा शिवकी स्थापना की जाय भी तो परस्परका विरोध कम होगा। दूसरे जो यहाँतक तीर्थयात्रा करेंगे वे देशाटनके लाभ उठायेंगे और परस्परका मेल-मिलाप बढ़ेगा। बड़े लोग इसी दृष्टिसे तीर्थ स्थापित करते हैं।—(राम-चरितमानसकी भूमिकासे उद्धृत)।

करिहौं इहाँ संभु थापना। मोरे हृदय परम कलपना* ॥ ४ ॥

* कल्पना (का०)

शब्दार्थ—थापना (स्थापना)=स्थापित करना, (मूर्त्तिकी) प्रतिष्ठा करना । कलपना (कल्पना) भावना, संकल्प ।

अर्थ—यहाँ शिवजीकी स्थापना करूँगा (यह) मेरे हृदयमें परम कल्पना है ॥ ४ ॥

'परम कल्पना'

पु० रा० कु०—'परम कल्पना' अर्थात् बड़ी इच्छा है, इस कथनसे जनाया कि जो हमको परम प्रिय है। (बारम्बार विचार हृदयमें उठ रहा है) ।

पां०—रावण शङ्करजीका परम दास है। अतएव शङ्करजीकी इस पार स्थापना करके उनको प्रसन्न करते हैं— (पं०); जिसमें रावणका विनाश देख उनका चित्त उदास न हो। पुनः, दूसरा कारण यह है कि शैव-वैष्णव-विरोध मिटाने, दोनोंका अधर्म और अज्ञान निवारण करनेके लिये यह परम सङ्कल्प है।

रा० प्र०—रा० प० में जो कहा है कि 'शम्भुवरदानसे रावण उन्मत्त है इससे राजनीतिके अनुसार उनको अपनी ओर करनेके लिये स्थापना की ।' इसमें शङ्का यह होती है कि राम और शिव दोनों परस्पर प्राणप्रिय हैं तब उनको अपनी ओर कर लेना कैसे लिखा ? समाधान यह है कि सेवकका पराभव सुन व्याकुल हो प्रियकी सुध भूल न जायँ, यह समझाना अपनी ओर करना है।

श्रीहरिजनलालजी—इस काण्डमें रघुनाथजीने विशेष राजनीतिका उपदेश किया है। इससे यह सूचित करते हैं कि जब शत्रुपर चढ़ाई की जाय तो प्रथम उसके मन्त्री आदिको जो शत्रुके पूर्ण मर्मका ज्ञाता हो तथा शत्रुका जो प्रबल सहायक हो उसको मिला लेना चाहिये। इस नीतिके अनुसार पूर्ण मर्मज्ञ विभीषणको मिला लिया। अब रावणके प्रबल सहायक श्रीशङ्करजी हैं, उनको भी मिलाना चाहते हैं, अतएव स्थापना करनेकी इच्छा हुई है। स्थापना और भक्तियुत पूजन, स्तुति आदि करके उन्हें भी मिला लिया है, यह श्रीशङ्करजीके श्रीमुखवचनसे स्पष्ट है। यथा—(शङ्कर सती प्रति) '**भक्तहेतोरहं देवि रावणसगणं क्रुधा । त्यजति स्म कृतो नैव पक्षपातो हि तस्य वै ॥**' अर्थात् हे देवी ! (श्रीरामभक्त) के निमित्त ही मैंने रावणको क्रोध करके गणोंके सहित त्याग दिया, उसका पक्ष नहीं किया ॥ ४४॥ (शिवपुराण रु. सं. सती खं. २–अ. २३)। नहीं तो कहीं शङ्करजी रावणकी सहायताके लिये न आ जाते जैसे कृष्णावतारमें बाणासुरके पक्षमें आकर युद्ध किया है। वैसा होनेसे श्रीरामजीको बड़ा असमञ्जस होता, क्योंकि वे वधकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं और शङ्करजी उसे शरणागत न करा दें।

नोट—महाशिवपुराण चतुर्थी कोटि रुद्रसंहिता अध्याय ३१ श्लोक २१ आदिमें यों कहा है कि पार्थिव-पूजन करके श्रीरामजीने प्रणाम किया और स्तुति की कि रावण प्रबल है, आपने ही उसे वरदान दिया है। मुझ भक्तकी रक्षा कीजिये। इस युद्धमें सहायता कीजिये, आपकी सदा जय हो ।……शङ्करजी प्रकट हो गये। तब रघुनाथजीने उनका पूजन किया और शङ्करजी लिङ्गरूपसे वहाँ स्थित हो गये।

गौड़जी—'करिहौं……कल्पना ।' यहाँ १५-१५ मात्रा होनेसे चौपाई छन्दकी अर्द्धाली है। ऐसा देखकर कुछ लोगोंका कहना है कि यह क्षेपक है। परंतु क्षेपक समझकर इसे निकाल दें तो पूर्वापर-प्रसङ्ग नष्ट हो जाता है। इसके सिवा मानसमें अन्यत्रकी बीच-बीचमें चौपाईकी अर्धालियाँ आयी हैं—जैसे—'मुठिका एक महा कपि हनी। रुधिर बमत धरनी ढनमनी ॥ ५ । ४ । ४ ।' अतः यहाँकी १५ मात्रा कोई असाधारणता नहीं है। आर्यसमाजी मूर्तिपूजाके विरोधी होनेके कारण और कुछ कट्टर वैष्णव मोहवश शिवद्रोही होनेके कारण इस प्रसङ्गको मानससे निकाल देना चाहते हैं। परंतु इसे निकालना तो रगपर नश्तर मारना है। विष्णु और शिवका अभेद दिखाना तो मानसका चरम उद्देश्य है जो इसी स्थलपर परिपक्व होकर अपने पूर्ण परिणामको पहुँचता है। यदि यही प्रसङ्ग प्रक्षिप्त है तो सारे मानसको ही प्रक्षिप्त मानना पड़ेगा। आरम्भमें ही सीतारूपधारिणी सतीको माता सम्बोधन करके '**जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू॥**' आदि भी प्रक्षिप्त होना चाहिये। भरतजीका 'सिव अभिषेक

करहि बिधि नाना' और श्रीरामजीका 'पूजि पारथिव नायउ माथा।' आदि भी प्रक्षिप्त हो जायगा। प्रक्षिप्त बनाते-बनाते सारी पोथी निर्जीव हो जायगी। 'शाम्भवानां यथा विष्णुः वैष्णवानां तथा शिवः' यहीं चरितार्थ होता है। इसके आगे 'लिंग थापि बिधिवत करि पूजा' उसके लिये सर्वथा समीचीन और सुसङ्गत है जो पार्थिव-पूजा और शिव-अभिषेक करता ही आया है।

वं० पा०—मानस रामायणमें जिसे सब लोग चौपाई कहते हैं, उसमें चार जातिके छन्द हैं। चार चरणकी एक चौपाई कहलाती है। जिसमें १६ मात्राएँ हों और अन्तिम वर्ण लघु हो वह शुद्ध 'चौपाई छन्द' है। जिसमें १६ मात्राएँ हैं और अन्तके दो वर्ण गुरु हैं वह 'पायाकुलक' छन्द है। जिसमें दो चरण चौपाईके हैं और दो पायाकुलकके वह अलिनी छन्द है। और जिसमें कुल १५ मात्राएँ होती हैं और अन्तिम वर्ण गुरु होता है वह चपला छन्द है। परंतु अब इन चारों जातिके छन्दोंको लोग चौपाई ही कहते हैं। यदि चौपाईकी प्रस्तार पिंगलकी रीतिसे करके देखें तो १५९७ भेद होते हैं। जिसके तुकमें आठों अक्षर गुरु हैं वह प्रथम भेद चौपाईका है, यथा—'झूठै लेना झूठै देना।' में। जिसमें सोलहों अक्षर लघु हों वह १५९७ वाला अन्तिम भेद चौपाईका है।—(शंकावली)

प० प० प्र०—यहाँ एक-एक मात्राकी न्यूनता तथा गतिविच्छेद करके बताया है कि शङ्करजीका स्मरण करते ही श्रीरामजी गद्‌गद कण्ठ हो गये। 'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें' इसका कारण है। 'संतत दासन्ह देहु बड़ाई' यही शिवस्थापनमें हेतु है। माधुर्यभावमें शिवजी उपास्य हैं, ऐश्वर्यभावमें शिवजी उपासक हैं।

सुनि कपीस बहु दूत पठाए। मुनिबर सकल बोलि लै आए॥ ५॥

अर्थ—श्रीरामजीके वचन सुनकर सुग्रीवने बहुत-से दूत भेजे जो सब श्रेष्ठ मुनियोंको बुलाकर ले आये॥ ५॥

टिप्पणी १—पूर्व यह तो कहा कि 'बिहँसि कृपानिधि बोले बचना' पर यह न कहा था कि किससे बोले, वह बात अब यहाँ खोली कि सुग्रीवसे यह बात कही थी इसीसे यहाँ सुग्रीवका सुनना कहा। (ख)—बहुत-से मुनियोंको बुलाना था इससे बहुत-से दूत भेजे—(शीघ्रताके लिये भी ऐसा किया जिसमें एक-एक दूत एक-एकको बुला लावे)। (ग) बहुत-से मुनियोंको बुलानेका कारण यह कि शिवस्थापनमें बहुत-से वेदपाठी ब्राह्मण होने चाहिये। पुनः, दूसरा भाव यह कि यह सब वन है, उस वनमें जितने मुनि थे उन सबोंको बुलाया जिसमें किसीका अपमान न हो, कोई यह न कहे कि अमुक-अमुकको बुलाया हमको न बुलाया।

लिंग थापि बिधिवत करि पूजा। सिव समान प्रिय मोहिं न दूजा॥ ६॥
सिवद्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न पावा॥ ७॥
संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥ ८॥

शब्दार्थ—लिंग=चिह्न, शिवजीकी प्रतिमा। नारकी=नरक भोगनेवाला, नरकमें जाने योग्य कर्म करनेवाला, पापी।

अर्थ—शिवलिंग (मूर्ति) स्थापित करके विधिपूर्वक पूजा कर* (प्रभु बोले) शिवजीके समान दूसरा कोई मुझे प्रिय नहीं है। ६। जो शिवद्रोही है और मेरा भक्त कहलाता है ऐसा मनुष्य मुझे स्वप्नमें भी नहीं पाता। १७। शंकरजीसे विमुख होकर मेरी भक्तिकी चाह करे वह नरकगामी है, मूर्ख है और क्षुद्रबुद्धि है। ८।

टिप्पणी—१ (क) पूजाके बाद स्तुति करना चाहिये, यहाँ प्रभु पूजाके बाद उपदेशरूप स्तुति कर रहे हैं। (ख) 'बिधिवत' पद देकर जनाया कि प्राणप्रतिष्ठाकी, जैसा वेदमें लिखा है वैसा पूजन किया। (ग) शिवजीमें रामजीकी भक्ति तन-मन-वचनसे है—'मोरे हृदय परम कल्पना', यह मनकी भक्ति है, हृदय मन है; 'लिंग थापि बिधिवत करि पूजा' यह तनकी भक्ति है और, 'सिव समान प्रिय मोहि न दूजा' यह वचनकी भक्ति हुई।

* 'इत्युक्त्वा स्थापयामास स्वनाम्ना लिंगमुत्तमम्। रामेश्वराग्निदिग्भागे कुम्भजन्मा मुदान्वितः। ९१। पूजयामास तल्लिङ्गमगस्तीश्वरनामकम्। नत्वा स्तुत्वा विश्वनाथं रामं रामेश्वरं तथा॥ आ० रा० १। १०। ९२।'

नोट—१ यह लिङ्ग १२ ज्योतिर्लिङ्गोंमेंसे एक है। ऐसा शङ्करजीने स्वयं प्रकट होकर कहा है। 'ओंकारं[१] सोमनाथश्च[२] त्र्यम्बको[३] मल्लिकार्जुनः[४]। नागेशो[५] वैद्यनाथश्च[६] काशिविश्वेश्वरस्त्वहम्[७]। १६८। केदारेशो[८] महाकालो[९] भीमेशो[१०] घुसृणेश्वरः[११]। एवमेकादश ज्ञेया ज्योतिर्लिङ्गं मया शुभा॥ ' ' 'ज्योतिर्लिङ्गं द्वादशं तव रामेश्वराभिधम्[१२]। १७८। इति शिवोवाच। आ. रा. १। १०।'

२—'शिव समान प्रिय मोहि न दूजा।' इति। इस चरणमें लिङ्गरूपसे शिव-स्थापन करनेका एक कारण बताया कि शङ्करजी हमको परम प्रिय हैं, वे भक्तोंमें अग्रगण्य हैं, यथा—'वैष्णवानां यथा शम्भुः। भा० १२। १३। १६।' अतः मैंने उनकी स्थापना की। शिवसमान कोई प्रिय नहीं है। यह याज्ञवल्क्यजी आदि तथा भगवान्‌ने स्वयं अन्यत्र भी कहा है। यथा—'पनु करि रघुपति भगति देखाई। को शिव सम रामहि प्रिय भाई। १। १०४॥' 'शिवस्य हृदयं विष्णुः विष्णोश्च हृदयं शिवः'। पूर्व नारदजीसे भी यही कहा है, यथा—'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। अस प्रतीति तजहु जनि भोरें॥ १। १३८। ६।' प्रियत्व कैसा है कि प्रभु कहते हैं कि 'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥ १। १३८। ७।' यह प्रियत्वका स्वरूप नारदसे कहा है। आ. रा. काण्ड १ अ० १० श्लो० ७१ आदिमें लिङ्गस्थापनकी कथा इस प्रकार है कि रघुनाथजीने हनुमान्‌जीसे कहा कि काशी जाकर विश्वनाथजीको मुहूर्तभरमें यहाँ स्थापनाके लिये ले आओ। काशी आनेपर इन्होंने देखा कि शङ्करजी और अगस्त्यजीका सत्सङ्ग हो रहा है, ये सत्सङ्ग-समाप्तिकी राह देखने लगे। इतनेमें वह मुहूर्त भी जाने लगा तब ऋषियोंने रघुनाथजीसे कहा कि मुहूर्त जाता है, शीघ्र स्थापना कीजिये। श्रीरामजीने तुरंत तीन अञ्जलि बालू ले उसीका लिङ्ग स्थापित कर दिया। यथा—'ततः सागरसंयोगे स्वनाम्ना लिंगमुत्तमम्। स्थापयामीति निश्चित्य मारुतिं वाक्यमब्रवीत्॥ ७१॥ काशीं गत्वा शिवाल्लिङ्गमाननीयमनुत्तमम्। मुहूर्तमध्ये नो चेन्मे मुहूर्तातिक्रमो भवेत्॥ ७२॥ ' ' 'तद्गर्वं राघवो ज्ञात्वा सुग्रीवादीन् वचोऽब्रवीत्। मुहूर्तातिक्रमो मेऽद्य भविष्यति ततस्त्वहम्॥ १२२॥ कृत्वा लिङ्गं सैकतं च सेत्वादौ स्थापयामि वै। इत्युक्त्वा वानरान् सर्वान्मुनिभिः परिवेष्टितः॥ १२३॥ सैकतं स्थापयामास लिङ्गं रामो विधानतः। आ० रा० १। १०।'

रघुनाथजीने कौस्तुभमणिका स्मरणकर उसीसे उन्होंने ऋषियोंको भोजन कराया और दान दिया। यथा—'तदा संस्मार मनसि कौस्तुभं रघुनन्दनः॥ १२४॥ तावद्ययौ मणिः शीघ्रं खात्कोटितपनोपमः। तं बबन्ध मणिं कण्ठे कौस्तुभं रघुनन्दनः॥ १२५॥ ततस्ते मुनयस्तुष्टा राघवेणातिपूजिताः। ययुः स्वीयाश्रमान् मार्गे तान् ददर्श स मारुतिः॥ १२७॥ आ० रा० १। १०।'

पाँ०—यहाँ कविने शङ्करजीके अनेक शोभन नामोंको छोड़कर लिङ्गस्थापन लिखा है; क्योंकि कोई-कोई शिवजीके और नामोंका अर्थ और-का-और करते हैं। जैसे वाल्मीकिके 'महादेव' शब्दका अर्थ किसी-किसीने समुद्र किया है। 'लिङ्ग' स्थापन लिखकर गोस्वामीजीने वह अड़चन निकाल दी क्योंकि यह शब्द केवल शङ्करजीके लिये रूढ़ है।

वि० त्रि०—सरकारने सावयव मूर्ति शिवजीकी स्थापन न करके लिङ्गस्थापन इसलिये किया कि सावयव मूर्तिसे लिङ्गकी महिमा अधिक है, यथा—'मूले ब्रह्मा तथा मध्ये विष्णुस्त्रिभुवनेश्वरः। रुद्रोपरि महादेवः प्रणवाख्यः सदाशिवः॥ लिङ्गवेदी महादेवो लिङ्गसाक्षान्महेश्वरः। तयोः सम्पूजनान्नित्यं देवी देवश्च पूजितौ॥ लिङ्गपुराणे।' अर्थात् लिङ्गके मूलमें ब्रह्माजी, मध्यमें त्रिलोकीनाथविष्णुजी और उपरिभागमें प्रणव नामवाले शङ्करजी स्थित हैं, लिङ्ग वेदी अर्थात् जलधरी महादेवी हैं, और लिङ्ग साक्षात् महेश्वर हैं। लिङ्ग-वेदी और लिङ्गके पूजनसे देवी और देवताका पूजन हो जाता है। भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं—'लिङ्गमध्ये जगत्सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्। लिङ्गाद् ब्रह्म परं नास्ति तस्माल्लिङ्गं प्रपूजयेत्॥' अर्थात् सचराचर सम्पूर्ण जगत् तीनों लोक लिङ्गमें हैं, लिङ्गसे परे कोई ब्रह्म नहीं है, इसलिये लिङ्गकी पूजा करनी चाहिये। महाभारतमें तो व्यासजीने अश्वत्थामासे अपने पराजयका कारण पूछनेपर कहा कि तुमने महादेवजीके सावयव मूर्त्तिकी पूजा की है, और कृष्णार्जुनने लिङ्गका पूजन किया, अतः युद्धमें विजय कृष्णार्जुनकी होगी। अतः मर्यादापुरुषोत्तमने विजयके लिये सावयवमूर्त्ति स्थापन न करके लिङ्गकी ही स्थापना की, और पूजा की। सरकारसे स्थापित होनेके कारण श्रीरामेश्वर लिङ्ग ज्योतिर्लिङ्ग माना गया। ज्योतिर्लिङ्ग बारह हैं, और वे शिवावतार माने जाते हैं।

पं० श्रीकान्तशरणजी—'**सिव समान प्रिय मोहि न दूजा**' इति। 'भक्त-दृष्टिसे ही श्रीरामजीने इन्हें प्रिय कहा है। 'प्रिय' शब्दका व्यवहार अन्यत्र भी भगवान्‌ने भक्तके लिये ही किया है; यथा—'**भक्तिमान्यः स मे प्रियः।**' '**मद्भक्तः स मे प्रियः**'।

श्रीगोस्वामीजीने पहले ही सती-मोह-प्रसंग कहा और उसमें श्रीशिवजीकी श्रीरामजीमें अत्यन्त उच्च निष्ठा दिखलायी और सतीकी परीक्षाद्वारा श्रीरामजीका पर-ब्रह्म-परत्व प्रकट किया। साथ ही श्रीशिवजीका जीवत्व भी; यथा—'**तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना॥**' (बा० दो० ५५)। श्रीशिवजीको जिन सतीका चरित जाननेके लिये ध्यान धरना पड़ा उन्हीं सतीके कपट-रूपको देखते ही श्रीरामजीने स्पष्ट कह दिया कि आप सती हैं, शिव-पत्नी हैं इत्यादि।

पुनः जहाँ-तहाँ श्रीरामजीका श्रीशिवजीको प्रणाम करने आदिका वर्णन है, वहाँ स्तुतिवाद है। स्तुतिमें छोटेको बड़ा कहकर प्रशंसा की जाती है। परंतु जहाँ प्रशंसामें अधिकता कही गयी है, वहीं समाधान भी दे दिया गया है; जैसे कि वैदिक मुनि श्रीशिवजीके अनन्य भक्त थे, ये स्तुतिमें श्रीशिवजीको कहते हैं—'**निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं। चिदाकाशमाकाशवासं भजेऽहम्। निराकारमोंकारमूलं तुरीयं। गिरा ज्ञान गोतीतमीशं गिरीशं॥**' (उ० दो० १०७)। इसमें उन्हें परब्रह्म कहकर स्तुति की गयी है। इसी प्रसंगमें पहले ही उन्हें वैदिक मुनिने कहा है; यथा '**सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई॥ रामहि भजहिं तात सिव धाता। नर पामर कर केतिक बाता॥ जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी॥**' (उ० दो० १०५) इन वचनोंमें श्रीशिवजी जीव हैं और श्रीरामजीके भक्त हैं। इसमें स्तुतिवाद नहीं है। क्योंकि मुनि अपने शिष्यको तत्त्वोपदेश दे रहे हैं।

वैसे ही यहाँ श्रीरामजीने अपने परम भक्त श्रीशिवजीको प्रतिष्ठा देनेके लिये माधुर्य रूपसे लिङ्ग-स्थापन-विधिसे उनकी पूजा की है। पूजावाद भी स्तुतिवादका-सा आदरके लिये होता है। इस युक्तिसे लिङ्ग-पुराण आदिका मत भी लेकर श्रीशिवजीको ब्रह्मतत्त्व भी दिखलाया है।

श्रीगोस्वामीजी '**नानापुराणनिगमागमसम्मत**' लेकर चल रहे हैं। अतः स्तुतिवाद एवं पूजावादके रूपमें और पुराणोंके मत भी दिखा देते हैं। कल्पभेदसे अन्य पुराणोंके मत भी युक्तियुक्त ही हैं। जैसे पूजावादकी दृष्टिसे यहाँ लिङ्गपुराणका मत कह दिया है।…"

[नोट—पुराणोंमें ही नहीं किंतु श्वेताश्वतरादि उपनिषदोंमें भी श्रीशिवजीको ब्रह्म कहा है। इस सम्बन्धमें मानस-पीयूष बालकाण्ड ५८ (५—८) आदि कई स्थानोंपर प्रकाश डाला गया है। जैसे उपनिषदोंमें उनको ब्रह्म कहते हुए भी उनकी उत्पत्ति श्रीमन्नारायणसे और उनका श्रीरामोपासक होना कहा गया है, वैसे ही मानसमें उनको ब्रह्म कहते हुए भी श्रीरामजीका उपासक कहा गया। उपनिषदोंमें ऐश्वर्यभावसे श्रीरामजीका शिवोपासक होना नहीं पाया जाता। माधुर्यमें क्षत्रिय राजाके भावसे शिवपूजन पुराणोंमें मिलता है]

सि० ति०—यदि कहा जाय कि लिङ्गस्थापन विधिमें सच्चिदानन्द ब्रह्मकी ही प्रतिष्ठा लिङ्ग-स्वरूपमें होती है। जब श्रीरामजी भी ब्रह्म हैं तब उन्होंने शिवजीको ब्रह्म मानकर कैसे उनकी प्रतिष्ठा की ? तो इसका समाधान यही है कि 'प्रतिष्ठा-विधान तो आप राजकुमारके रूपसे ही कर रहे हैं। जैसे राजा एवं राजपुत्र सभी देवताओंको समय-समयपर पूजते हैं वैसे श्रीरामजीने भी पूजा की। जैसे श्रीरामजी माता, पिता एवं वसिष्ठ आदिको पूजते थे; उन्होंने गङ्गा, त्रिवेणी आदिकी भी पूजा की है, वैसे ही श्रीशिवजीकी भी पूजा की। श्रीशिवजी आपकी एक विशिष्ट विभूति भी हैं। पुराणोंमें कल्पभेदसे इनसे सृष्टिका भी विधान है, प्रभुने वह महत्त्व लेकर पूजा की और लोकोंमें अपने भक्तकी प्रतिष्ठा बढ़ायी। जिस देवताका जो ऐश्वर्य किसी कल्पमें होता है, वह दूसरे कल्पोंमें उसके उपासकोंका विषय होता है। प्रमाण—'**सर्वे शाश्वता नित्या देहास्तस्य परात्मनः।**' (वाराहपुराण)। श्रीवाल्मीकिजीने भी श्रीरामजीका अश्वमेधयज्ञ करना लिखा ही है और—'**जेपतुः परमं जपम्**' (वाल्मी० १। २३। ३), अर्थात् किसी परम जपका जपना भी कहा है। यह सब राजकुमार-दृष्टिसे ही संगत होगा।

टिप्पणी—२ (क) '**मम भगत कहावा**' का भाव कि वह भक्त कहलाता भर है पर मेरा भक्त है नहीं, वह भक्तिहीन है, क्योंकि शिवद्रोहीको मेरी भक्ति नहीं मिलती जैसा आगे कहते हैं—'**संकरबिमुख भगति चह मोरी ।०**' । (ख) '**सो नर सपनेहु मोहि न पावा**' का भाव कि शंकरकी कृपासे हम मिलते हैं, शंकर-द्रोही हमारा वैरी है, यथा—'**मानत सुख सेवक सेवकाई । सेवक बैर बैर अधिकाई ॥** २ । २१९ । २ ।' अन्यत्र भी ऐसा ही कहा है । यथा—'**शिवपदकमल जिन्हहिं रति नाहीं । रामहि ते सपनेहु न सोहाहीं ॥** १ । १०४ । ५ ।' रामभक्तका लक्षण श्रीयाज्ञवल्क्यजीने यह बताया है—'**बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू । राम भगत कर लच्छन एहू** ॥ १ । १०४ । ६ ।'

३—'**संकर बिमुख**' इति । (क) प्रथम '**शिवद्रोही**' '**मोहि न पावा**' कहा । अब '**संकर बिमुख**' होकर अपनी भक्ति (अर्थात् श्रीरामभक्ति) की इच्छा करनेवालेको '**मूढ़ मति थोरी**' कहते हैं । भाव यह कि शङ्करद्रोहसे न हम मिलते हैं, न हमारी भक्ति मिले । (ख) '**नारकी मूढ़ मति थोरी**' में तीन बातें तीन सम्बन्धमें कहीं—**शंकर**-विमुख होनेसे नरकगामी हुआ; शंकरविमुख होकर मेरी भक्ति चाहता है; क्योंकि मूढ़ है, यदि वेद-पुराण पढ़े होता तो जान लेता कि शिवद्रोहीको भगवान्की भक्ति नहीं मिलती; और वेद-पुराण पढ़ा है पर मन्दबुद्धि है इसीसे यह रहस्य नहीं समझ सकता । नहीं तो पुराणोंमें स्पष्ट लिखा है कि शिवजी वैष्णवोंमें अग्रगण्य हैं । यथा—**वैष्णवानां यथा शम्भुः** । भा० १२ १३ । १६ ।' यह उसने पढ़ा है फिर भी भक्तापराध करता है ।

नोट—'**सिवद्रोही मम भगत कहावा**' से लेकर '**घोर नरक महँ बास**' तक लिङ्गस्थापनका दूसरा कारण कहा गया । मेरे भक्त शिवद्रोह न करें और शिवभक्त भगवद्द्रोह न करें यह उपदेश भी है । जब दोनों श्रद्धासे यहाँ आयेँगे तो परस्परका विरोध न रह जायगा ।

दोहा—संकर प्रिय मम द्रोही सिवद्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास ॥ २ ॥

अर्थ—जिनको श्रीशंकरजी प्रिय हैं और जो मेरे द्रोही हैं (एवं) जो शिवद्रोही हैं और मेरे दास हैं, वे मनुष्य कल्पभर घोर नरकमें वास करते हैं । भाव कि ऐसा करना बड़ा पाप है और बड़े पापसे घोर नरक होता है ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) समानार्थी श्लोक यह है । '**मद्भक्तः शंकरद्वेषी मद्द्वेषी शङ्करप्रियः । तावुभौ नरकं यातौ यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।**' (अज्ञात) । (ख)—पूर्व जो '**नारकी**' कहा था—'**सो नारकी मूढ़मति थोरी**' उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट किया कि '**ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महँ बास ।**' कल्प ब्रह्माके दिनको कहते हैं । जब ब्रह्मा सोये तब प्रलय हुआ । कल्पभर अर्थात् प्रलयतक । घोर नरकमें वास करना कहकर जनाया कि यह घोर पाप है इसीसे घोर नरक हुआ । श्रीरामजी यह उपदेश मनुष्योंको दे रहे हैं, इसीलिये आपका अवतार ही है । यथा—'**मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम् ।**' भा० ५ । १९ । ५ ।

२—यहाँ शङ्का होती है कि राक्षसोंने तो श्रीरामजीसे वैर किया और शिवजीकी उपासना की तब वे नरकमें क्यों न पड़े ? समाधान यह है कि वे श्रीरामजीके बाणसे मरे और उन्होंने (मरते समय) रामनाम उच्चारण किया; अतएव वे मुक्त हो गये ।

जे रामेस्वर दरसन करिहहिं । ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं ॥ १ ॥
जो गङ्गाजलु आनि चढ़ाइहि । सो साजुज्य मुक्ति नर पाइहि ॥ २ ॥

शब्दार्थ—साजुज्य (सायुज्य)=पाँच प्रकारकी मुक्तियोंमेंसे एक यह है जिसमें जीव ईश्वरके विग्रहमें युक्त हो जाता है । (प्र० सं०) जिसका भगवान्से निरन्तर संयोग रहे । यह मुक्ति दो प्रकारकी होती है—(१) परिकर' (२)

परिच्छद। परिच्छद वे हैं जो भूषण-वस्त्ररूपसे नित्य-संयुक्त रहते हैं। परिकर वे हैं, जो सेवा करते हैं, क्षणभरके लिये भी प्रभुसे पृथक् होते ही व्याकुल हो जाते हैं (सि० ति०)

अर्थ—जो रामेश्वर महादेवका दर्शन करेंगे वे शरीर छोड़कर मेरे लोकको जायँगे। १। जो गङ्गाजल लाकर चढ़ायेगा वह मनुष्य सायुज्य मुक्ति पायेगा॥ २॥

नोट—१ 'जे रामेश्वर' इति। पूर्व जब स्थापनाके लिये कहा, तब 'करिहौं इहाँ संभु थापना' ये शब्द कहे अर्थात् 'शंभु' नाम दिया। और, स्थापनाके समय 'लिङ्ग थापि' पद दिया। शिवजीकी मूर्तिको 'लिङ्ग' कहते हैं। अब यहाँ 'जे रामेश्वर दरसन करिहहिं' कहकर जनाया कि इस मूर्तिका नाम 'रामेश्वर' रक्खा गया। यह नामकरण हुआ। यह नामकरण करके गोस्वामीजीके 'सेवक स्वामि सखा सिय पी के। १। १५। ४।' इन शब्दोंको यहाँ चरितार्थ किया है। 'रामेश्वर' 'शब्दमें ये तीनों भवा तीन प्रकार—बहुव्रीहि, तत्पुरुष और कर्मधारयसे समास करनेसे आ जाते हैं। रा० प्र० में इसपर यह दोहा कहा है—'राम कहत तत्पुरुष हैं बहुव्रीहि हर गाय। कर्मधारयै मुनि निकर रामेश्वर पद पाय॥' जो इस श्लोकका उलथा-सा है—'रामस्तत्पुरुषं वक्ति बहुव्रीहिं महेश्वरः। ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे ब्रह्माद्याः कर्मधारयम्॥' इसकी विशेष व्याख्या १। १५ (४) में की जा चुकी है।

टिप्पणी—१ (क) श्रीरामजीने प्रथम कहा था कि शिवद्रोही मुझे नहीं पाता—'सिवद्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न पावा।' और यहाँ कहते हैं कि शिवभक्त मुझे पाते हैं—'जे रामेश्वर दरसन करिहहिं।' हमारे लोकको जायँगे वहाँ हमारे दर्शन होंगे। (ख) दोहेके पीछे यह चौपाई लिखनेमें भाव यह है कि वहाँ जो कहा है कि 'शंकरप्रिय मम द्रोही' और 'शिवद्रोही मम दास' ये दोनों घोर नरक पाते हैं, उसीका यहाँ प्रायश्चित्त बताते हैं कि यदि ऐसे पापी भी रामेश्वरदर्शन करें तो नरकमें न पड़ेंगे वरन् मेरे धामको जायँगे। यहाँ 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है।

२ 'जो गङ्गाजल' इति। (क) यहाँ भगवान्‌की प्राप्ति दो प्रकारकी कही—एक सगुण एक निर्गुण। सगुणकी प्राप्ति कह चुके—'ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं'। अब निर्गुणकी प्राप्ति कहते हैं—'सो साजुज्य मुक्ति०'। (ख)—गङ्गाजल चढ़ानेसे सायुज्य मुक्तिकी प्राप्तिका भाव यह है कि गङ्गा ब्रह्मद्रव हैं, उसने शिवजीको जाकर ब्रह्मद्रवकी प्राप्ति करायी अतः आप भी ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होता है। शिवजीकी मूर्तिका दर्शन किया इससे आप भी मूर्तिमान् होकर भगवत्-लोकमें वास करता है। [गङ्गाजल चढ़ानेसे वह प्रियाप्रियतमके भूषणोंमें मणि माणिक्य और मुक्ता इत्यादि रूपसे युगल शरीरके स्पर्शसुखको अनुभव करेगा। (मा० म०)]

नोट—२'जो गंगाजलु आनि चढ़ाइहि।' इति। यहाँ यह नियम नहीं किया कि गङ्गाजल कहाँसे लाकर चढ़ावे। मा० म० और पंजाबीजी लिखते हैं कि गङ्गोत्तरीका जल लाकर चढ़ावें और रा० प्र० का मत है कि जहाँ भी गङ्गाका प्रवाह है वहीं कहींसे ले जावे। परंतु इनके प्रमाण कोई नहीं दिये गये हैं। अध्यात्मरामायणमें काशीजीसे जल ले जाना लिखा है, यथा—'प्रणमेत्सेतुबन्धं यो दृष्ट्वा रामेश्वरं शिवम्। ब्रह्महत्यादिपापेभ्यो मुच्यते मदनुग्रहात्॥ २॥ सेतुबन्धे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा रामेश्वरं हरम्। संकल्पनियतो भूत्वा गत्वा वाराणसीं नरः॥ ३॥ आनीय गङ्गासलिलं रामेशमभिषिच्य च। समुद्रे क्षिप्ततद्भारो ब्रह्म प्राप्नोत्यसंशयः॥ ४॥' (सर्ग ४)। अर्थात् जो रामेश्वर महादेवका दर्शन कर सेतुबन्धको प्रणाम करेंगे वे हमारे अनुग्रहसे ब्रह्महत्यादि पापोंसे छूट जायँगे। जो मनुष्य सेतुबन्धपर स्नानकर रामेश्वर महादेवका दर्शन कर संकल्प करके नियमसे वाराणसी (काशी) जाकर वहाँसे गङ्गाजल ला रामेश्वरका उससे पूजनकर उस (काँवरि और जलपात्र आदि) भारको समुद्रमें डाल देगा वह निस्संदेह ब्रह्मको प्राप्त होगा। आनन्दरामायणमें सेतुबन्ध, लिङ्गस्थापन और इस तीर्थका महत्त्व काण्ड १ अध्या० १० में विस्तृत रूपसे वर्णित है। उसमें गङ्गाजल चढ़ानेके विषयमें यह उल्लेख है—'सेतुबन्धमें स्नान कर रामेश्वरका दर्शन करके यहाँकी रेत लेकर काशीजी जाकर मणिकर्णिकातटपर गङ्गाजीमें उस बालूको छोड़कर वहाँसे गङ्गाजल लावे और उससे रामेश्वरजीको स्नान करावे और समुद्रमें स्नान करे तो उसे निस्संदेह ब्रह्मकी प्राप्ति होगी।—(श्लोक १८२—६)। यथा—'स्नानार्थमानयिष्यन्ति मणिकर्णिजलं मम॥१८२॥ ''सेतुबन्धे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा रामेश्वरं शिवम्॥ १८३॥ संकल्पनियतो भूत्वा गृहीत्वा सेतुवालुकाम्। करण्डिका-भिर्यत्नेन गत्वा वाराणसीं शुभाम्॥१८४॥ क्षिप्त्वा वेण्यां वालुकां तां त्यक्त्वा वालुकराण्डकाम्। आनीय गङ्गासलिलं''॥१८५॥'

नोट—३'जे रामेश्वर...' से लेकर आगेके 'भगति मोरि तेहि संकर देई' तक तीसरा कारण लिङ्गस्थापनका कहा गया। जीवोंको सालोक्य, सायुज्य-मुक्ति और रामभक्ति सुगमतासे प्राप्त हो जाय इस लोकहितके लिये स्थापना की। यथा—'संस्थाप्य पूजयित्वाह रामो लोकहिताय च। अ० रा० सर्ग ४। १।'

रा० प्र०—'सिव समान प्रिय मोहि न दूजा' से लेकर जो वचन प्रभुने कहे हैं उनका भाव यही है कि सदा यही भावना रक्खे कि हमको शिवसमान प्रिय दूसरा कोई नहीं है। इन वचनोंसे अभेद-बुद्धि रखनेका उपदेश देते हैं। पूर्व बालकाण्डमें भक्तिकी रीति कह आये हैं कि 'हरिहरपद रति मति न कुतरकी' वही यहाँ कहा है। श्रीरामजीके नाम, रूप और धामादिसे जो ब्रह्मकी प्राप्ति होती है उसकी रामेश्वरजीसे प्राप्ति कहकर दोनोंमें अभेद बताया।

होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥ ३॥

अर्थ—जो निष्काम होकर छल छोड़कर शिवजीकी सेवा करेगा उसे शङ्करजी मेरी भक्ति देंगे॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'अकाम होइ'। भाव कि जबतक कुछ भी कामना रहती है तबतक भक्ति नहीं मिलती। (ख) 'छल तजि' कहा; क्योंकि भगवान्‌को छल नहीं भाता। यथा—'**मोहिं कपट छलछिद्र न भावा। ५। ४४। ५।**' अतः कहते हैं कि छल त्यागकर शिवसेवा करे, यथा—'**बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। रामभगत कर लच्छन एहू। १। १०४। ६।**' भक्ति मिलना कठिन है, निष्काम होकर छल छोड़कर जब सेवा करे तब मिले। छल यह है कि रामभक्तिके लिये शिव-सेवा करता है पर हृदयमें शिवभक्ति नहीं है। छल छोड़कर सेवा करे तब कृपा होती है। यथा—'**मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई। १। २००। ६।**', '**मन बच क्रम बानी छाँड़ि सयानी सरन सकल सुरजूथा। १। १८६।**', [(ग) 'सेइहि' शब्दसे जनाया कि यहाँ कुछ दिन रहकर सेवा करे। (वं० पा०)] सेवाका फल रामभक्तिकी प्राप्ति होगी। यथा—'**सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई। ७। १०६। २।**' [(घ) '**संकर देइहि**' कहनेका भाव कि शङ्करजी रामभक्तिके कोषाध्यक्ष बना दिये गये हैं, वे ही रामभक्तिके दाता हैं। उत्तरकाण्डमें भी यह रहस्य कहा है। यथा—'**औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि। संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि। ७। ४५।**' भक्तिका दातृत्व तापनीय और उपासना रहस्यसे सिद्ध है। ब्रह्मा आदिने इन्हींसे भक्ति पायी। पञ्चरात्रमें जो नारदादिको उपदेश है वह सब यहाँ समाजमें श्रीरघुनाथजीने उपदेश दिया है। (रा० प्र०)] शङ्करजी भक्तिके दाता हैं अतः उनके विमुख होनेसे मेरी भक्ति नहीं मिलती—'**संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥**' उनकी सेवासे भक्ति मिलती है—यह उपदेश करते हैं।

२ (क) कर्म, ज्ञान और उपासना तीन हैं। यहाँतक दिखाया कि इनसे तीनोंकी प्राप्ति होती है। कर्म और ज्ञानका फल देते हैं और उपासना देते हैं। यथा—

१ **जे रामेश्वर दरसनु करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं॥**—भगवद्धाममें वास बड़े सुकृतका फल है।

२ **जो गङ्गाजलु आनि चढ़ाइहि। सो साजुज्य मुक्ति नर पाइहि॥**—यह ज्ञानका फल है। ज्ञानसे स्वरूपकी प्राप्ति होती है।

३ **होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥**—यह उपासनाकी प्राप्ति है।

कर्म और ज्ञानके फलकी प्राप्ति कही, पर उपासनाके फलकी प्राप्ति नहीं कहते; क्योंकि उपासक उपासनाका फल नहीं चाहते। यथा—'**राम उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं॥**' उपासक उपासनाका फल उपासना ही चाहते हैं, यथा—'**परहु नरक, फलचारि-सिसु, मीच डाकिनी खाउ। तुलसी रामसनेह को जो फल सो जरि जाउ। दो० ९२।**' [भगवान्‌ने ऐसा ही दुर्वासाजी और उद्धवजीसे कहा है। यथा—'**मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्। नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविद्रुतम्॥ भा० ९। ४। ६७।**' (अर्थात् जो अपनेको केवल मेरी सेवासे परिपूर्ण मानते हैं वे भक्त सालोक्यादि चारों मुक्तियोंको भी नहीं चाहते, तब कालके द्वारा नष्ट होनेवाले अन्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या है?), '**न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥ भा० ११। १४। १४।**' (अपने चित्तको मुझमें अर्पण करनेवाला भक्त ब्रह्माका पद,

इन्द्रका आसन, चक्रवर्त्ति-पद, पातालका राज्य इत्यादिकी तो बात ही क्या, मेरे विना योगकी सिद्धियों और मोक्षकी भी इच्छा नहीं करता)। तभी तो गोस्वामीजी विनय करते हैं कि—'**मोको अगम सुगम तुम्हको प्रभु तउ फल चारि न चहिहौं। खेलिबेको खग मृग तरु किंकरु ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। एहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं या विनु परमपदहु दुख दहिहौं। इतनी जियलालसा दास के०** वि० २३१।।' भक्त भगवान्‌से क्या चाहते हैं इस विषयमें वृत्रासुरके वचन प्रमाण हैं। भक्तोंके बड़े कामके हैं अतः हम उन्हें यहाँ उद्धृत करते हैं—'**पुंसां किलैकान्तधियां स्वकानां याः सम्पदो दिवि भूमौ रसायाम्। न राति यद्द्वेष उद्वेग आधिर्मदः कलिर्व्यसनं सम्प्रयासः।** भा० ६। ११। २२।' '**अहं हरे तव पादैकमूल-दासानुदासो भवितास्मि भूयः। मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः॥** २४। **न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥** २५। **अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः। प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥** २६।' वृत्रासुरने इन्द्रसे कहा कि 'भगवान् अनन्य प्रेमी निजभक्तोंको स्वर्ग, पृथ्वी अथवा रसातल कहींकी भी सम्पत्तियाँ नहीं देते; क्योंकि उनसे द्वेष, उद्वेग, मानसिक पीड़ा, अभिमान, कलह, व्यसन और श्रम ही प्राप्त होते हैं' फिर भगवान्‌से प्रार्थना करने लगा कि 'हे हरे! जिन्हें आपके चरणकमलोंका ही आश्रय है, मैं फिर भी आपके उन दासोंका ही दास होऊँ। मेरा मन आप प्राणनाथके गुणोंका ही चिन्तन करे, मेरी वाणी आपका ही गुणगान करे और शरीर आपका ही कैंकर्य करे। मुझे आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मपद, सार्वभौम साम्राज्य, रसातलका आधिपत्य, योगसिद्धि अथवा मोक्ष आदि किसी भी पदार्थकी इच्छा नहीं है। हे कमलनयन! जिनके पंख नहीं जमे हैं, वे पक्षियोंके बच्चे जैसे माताकी प्रतीक्षा करते हैं, भूखसे पीड़ित बछड़े जैसे माताका दूध पीनेके लिये उत्सुक रहते हैं तथा जैसे विरहव्यथित कामिनी अपने प्रवासी प्रियतमकी बाट जोहती है उसी प्रकार मेरा मन आपकी झाँकी करना चाहता है।' (ख) कर्मसे ज्ञान विशेष है और ज्ञानसे उपासना विशेष है। अतएव इनके फल उत्तरोत्तर विशेष कहते हैं—सालोक्यसे विशेष सायुज्य है और सायुज्यसे उपासना विशेष है।

रा० प्र०—१ हरिलोक, ब्रह्मस्वरूप वा सायुज्य और भक्तिकी प्राप्ति तीनों रामेश्वरजीसे कही। इतना बड़ा महत्त्व इसका क्यों न कहा? अभेद भाव स्थापित करनेके लिये एवं प्रतिष्ठा करनेवाला जितना ही बड़ा संत होता है उतना ही अधिक महत्त्व उसकी प्रतिष्ठित मूर्तिका होता है। भगवान्‌ने स्वयं इनकी प्रतिष्ठा की इसीसे इतना महत्त्व उन्होंने रामेश्वरको दिया।

गौड़जी—'**लिङ्ग थापि**...**संकर देइहि**।' [१ (६) से २ (३) तक]—भगवान् रामेश्वरकी स्थापना करके राम-शिव अभेद-प्रतिपादन-पूर्वक माहात्म्यका और दर्शन, पूजा, सेवा आदिका फल श्रीमुखसे यों वर्णन करते हैं कि मुझे शिव समान कोई प्रिय नहीं है, शिव दूसरे नहीं हैं, (गुप्त भाव '**न दूजा**' का यह है कि मैं ही हूँ)। परंतु इस ज्योतिर्लिङ्गका विशेष माहात्म्य यह है कि (इस राम-ईश्वर नामक लिङ्गसे राम और शिवकी अभेदता सिद्ध होती है और जिसे इस विषयमें श्रद्धा है और) जो राम-ईश्वरके दर्शन (मेरे या शिवके द्रोही रह चुकनेपर भी) करेंगे वह मरकर सालोक्य (और इसीलिये 'सारूप्य' भी) गति पावेंगे। (उनके शिव या विष्णुद्रोह करनेका यही एकमात्र प्रायश्चित्त होगा।) और जो गङ्गाजल चढ़ावेगा वह सायुज्य (जिसमें 'सामीप्य' का भी अन्तर्भाव हो सकता है) मुक्ति पावेगा। और जो (शिव या विष्णुका द्रोही रह चुका है, परंतु फिर भी मेरी भक्ति चाहता है,) कामनारहित निष्कपट भावसे सेवा करेगा उसे भगवान् शङ्कर मेरी भक्ति देंगे।

मम कृत सेतु जो दरसनु करिही। सो बिनु श्रम भवसागर तरिही॥ ४॥

अर्थ—जो मेरे बनाये हुए सेतुका दर्शन करेगा वह बिना परिश्रम भवसागर तर जायगा॥ ४॥

टिप्पणी—१ प्रथम शिवदर्शन कहकर तब सेतुदर्शन कहकर जनाया कि पहले रामेश्वरदर्शन पड़ता है तब सेतु, यदि समुद्र पार जाकर 'थापना' करते तो प्रथम सेतुदर्शन कहते तब शिवदर्शन। यथा—'**प्रणमेत्सेतुबन्धं यो दृष्ट्वा रामेश्वरं शिवम्।** अध्यात्म० ४। २।' '**ययौ स्वीयाश्रमं तुष्टः कुम्भजन्मा मुनीश्वरः॥** १९३॥ (अ० रा० १। १०।) '**बिनु श्रम**' अर्थात् जैसे पुलपर चढ़कर लवणसिंधु पार होनेमें कुछ श्रम नहीं है वैसे ही सेतुदर्शनसे भवसागर पार होनेमें कुछ श्रम नहीं है।

नोट—सेतुबन्धनका एक कारण यह है। जीवोंको भवसिंधु पार होनेका यह एक सुलभ साधन बनाना था। भगवान् समुद्रको सोख लेनेको समर्थ थे पर अनेक कारणोंमेंसे मुख्य कारण यह था कि उन्होंने वैसा नहीं किया, जो सुन्दरकाण्डमें कहा था—'**माँगत पंथ कृपा मन माहीं।**' उस 'मनकी कृपा' में इसका भी अन्तर्भाव है। सेतुबन्धनके कुछ कारण आ० रा० में इस प्रकार वर्णित हैं—एक बार सूर्य-ग्रहण पर्वपर श्रीरघुनाथजीके साथ श्रीमिथिलेशनन्दिनीजी भी कुरुक्षेत्रमें पधारी थीं। वहाँ अगस्त्य-धर्मपत्नी श्रीलोपामुद्राजी उनसे भेंट करने आयीं। वार्तालापके बीचमें हँसते-हँसते श्रीलोपामुद्राजीने उनसे कहा कि महाराज रामचन्द्रजीने व्यर्थ ही सेतुबन्धका परिश्रम किया, मेरे पतिसे प्रार्थना करते तो वे क्षणभरमें उसे पीकर सुखा देते। व्यर्थ ही तीन उपवास कर सागरसे मचले और वानरोंसे पहाड़ ढोवाये। इसपर महारानीजीने उत्तर दिया०—

(१) बाणसे समुद्रको इसलिये नहीं सुखाया कि अकारण ही अनेकों जलचरोंकी हत्या होगी।

(२) यदि लाँघकर पार चले जाते तो रावण कैसे समझता कि ये मनुष्य हैं।

(३) यदि हनुमान्‌जीकी पीठपर आरूढ़ होकर समुद्र पार करते तो लोकमें उनका पुरुषार्थ ही क्या रह जाता?

(४) मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरघुनाथजी ब्राह्मणके मूत्रभूत समुद्रको तैरकर पार जानेको उचित समझनेकी भोंडी गलती कैसे कर सकते थे?

(५) श्रीअगस्त्यजी महाराजजीके परमैकान्तिक भक्त हैं अतः श्रीराघवेन्द्रकी आज्ञा होनेपर वे कार्य, अकार्य, विकार्य सब कुछ कर सकते हैं, अतः श्रीराघवेन्द्रजीकी आज्ञासे वे अपना मूत्र भी पी जाते, यह सर्वथा सत्य है। पर क्या श्रौतस्मार्तधर्मसेतुपालक श्रीरघुनाथजी ऐसा अभूतपूर्व अपराध कर सकते थे कि उन्हींका मूत्र (समुद्र) उन्हींको पिलावें? ऐसा घोर दण्ड तो महागुरुतर अपराधीको भी नहीं दिया जाता और महर्षि अगस्त्यजी तो सर्वथा शुद्ध निष्पाप तथा भक्त हैं।

इत्यादि कारणोंसे पत्थरोंको जलमें तैराकर सेतुबन्धन करके उन्होंने अपनी अचल कीर्ति स्थापित की। यह उत्तर सुनकर श्रीलोपामुद्राजी लज्जित हो गयीं। (वे० भू०)।

रामबचन सब के जिय भाए। मुनिबर निज निज आश्रम आए॥ ५॥

अर्थ—श्रीरामजीके वचन सबके जीको अच्छे लगे। वचन सुनकर मुनिश्रेष्ठ अपने-अपने आश्रमोंको लौट आये॥ ५॥

टिप्पणी—'**सबके जिय भाए**' कहकर जनाया कि रामेश्वर और सेतुबन्धु दोनोंका माहात्म्य सबने स्वीकार किया और माहात्म्य सुनकर सबने शिवपूजन करके सेतुका दर्शन श्रद्धापूर्वक किया। [पुनः, सबको भाए, क्योंकि श्रवणसुखद परलोक-हितकारी और वेदप्रमाण हैं। (पां०)। मयङ्ककार कहते हैं कि इस वाक्यके अन्तर्गत भाव यह है कि जो वचन रामचन्द्रजीने पहिले कहे वे सबको अच्छे नहीं लगे; क्योंकि श्रीमतावलम्बियोंके विरुद्ध वे वचन थे; पर सेतुदर्शनसे तरना जो कहा यही इनके अनुकूल हुआ अतः यह वचन सबको प्रिय लगा। (नोट—पर यहाँ 'भाए' क्रिया बहुवचन है; इससे श्रीरामजीके सभी वचनोंका प्रिय लगना स्पष्ट अभिप्रेत जान पड़ता है)।

२ (क) '**मुनिबर निज निज आश्रम आए**' उपसंहार है। **मुनिबर सकल बोलि लै आए। २ (५)।**' इसका उपक्रम है। [मुनिबर निज-निज आश्रम 'गये' न कहकर 'आये' कहनेमें यह ध्वनित है कि मुनियोंको सम्मानपूर्वक अपने-अपने स्थानोंको सुग्रीवके चरोंने पहुँचाया, एवं कवि भी मानो हर एकके साथ-साथ उन्हें उनके आश्रमों तक पहुँचा आया। (गौड़जी)] 'आए' से जनाया कि जब ऋषिगण अपने-अपने स्थानोंमें पहुँच गये तब श्रीरामजीकी सेना चली।

गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती॥ ६॥

अर्थ—हे गिरिजे! श्रीरघुपतिकी यह रीति है कि शरणागतपर सदा प्रीति करते हैं॥ ६॥

गौड़जी—रामचरितमानसकी सारी कथाका मूल कारण श्रीपार्वतीजीका यह मोह था कि भगवान् शंकर स्वयं सच्चिदानन्द हैं इन्होंने रामजीको सच्चिदानन्द कहकर क्यों प्रणाम किया। यहाँ भी उसी विमोहके उत्पन्न होनेकी आशङ्का है क्योंकि राजा रामचन्द्रजीने भगवान् शंकरकी स्थापना पूजादि करके इतना माहात्म्य बखाना है। इसी आशङ्काके निराकरणके लिये भगवान् शंकर विना उनके पूछे ही कहते हैं कि 'हे गिरिजा, सुनो, 'रघुपतिकी यह रीति है अर्थात् 'राजा' रामचन्द्रजीकी यह रीति है कि निरन्तर अपने शरणागतपर प्रीति रखते हैं। मैं उनकी शरणमें रहता हूँ इसीलिये उनका मुझपर इस दरजेका प्रेम है। मैं दास हूँ वे स्वामी हैं।' यहाँ यह ध्वनित है कि इस प्रसंगसे इस धोखेमें न आना कि मैं ही रामका ईश्वर हूँ, मैं तो अपनी ओरसे अपनेको उनकी शरणमें पड़ा दीन दास मानता हूँ।

मा०म०—श्रीशिवजीको श्रीरामचन्द्रद्वारा सेवित जानकर पार्वतीजीका मनमतङ्ग मदसे पूरित हो गया कि हमारे पति श्रीरामचन्द्रके भी उपास्य हैं। उनको इस अवस्थामें देख शिवजी कहते हैं कि हे गिरिजे! श्रीरामचन्द्रकी यही रीति है, ये सदैव सेवकपर स्नेह रखते हैं।

तात्पर्य यह कि श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा करनेसे ही यह बड़ाई प्राप्त है, बिना उनकी सेवाके यह बड़ाई दूर है। पुनः, हे प्रिय! यह वात्सल्यरस है जैसे माता बालककी सेवा करती है वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी भक्तोंको सेवते हैं, यह विचारकर सुखके रसका रसिक होना चाहिये।

नोट—'प्रणत पर प्रीति' करना कहकर अपना सेवक-भाव दृढ़ किया, यथा—'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं।' पुनः इससे यह भी जनाया कि ऐसे प्रभुका जो भजन नहीं करते वे मतिमन्द और अभागे हैं; यथा—'**कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अति प्रीती॥ जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी। ज्ञान रंक नर मंद अभागी॥** श्रीरामजीको सेवक अत्यन्त प्रिय है, यथा—'**सब के प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती॥** ७।१६।८।' '**ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे...। भरतहु ते मोहि अधिक पियारे।** ७।८।७-८।' '**मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जे गाइहहिं। संसार सिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहहिं।** लं० १०।' '**सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥** सुं० ३२। ७।' '**गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥** ७। ५०। ९।' इस तरह शिवजीके कथनका भाव यह है कि मुझको अपना दास जानकर यह बड़ाई दी है—('**संतत दासन्ह देहु बड़ाई**' इति अगस्त्यवचनात् (३। १३। १४)।

इस वाक्यसे सूचित हुआ कि शंकरजी भक्तिमें कैसे परम सावधान हैं। स्वामी उनको स्वामी कहते हैं फिर भी वे इस प्रशंसामें भूल नहीं जाते, वे स्वामीकी इस प्रीति-रीतिकी, इस स्वभावगुण शीलकी सराहना करने लगते हैं। यही बात विनयमें भी कही है। यथा—'**राम रावरो सुभाउ गुन सील महिमा प्रभाउ जान्यो हर हनुमान लषन भरत। जिन्ह के हिये सुथल राम प्रेम सुरतरु लसत सरल सुख फूलत फरत॥ आप माने स्वामी कै सखा सुभाइ पाइ पति ते सनेह सावधान रहत डरत। साहिब सेवक रीति प्रीति परमिति नीति नेम को निबाह एक टेक न टरत॥** वि० २५१।'

टिप्पणी—१ श्रीरामजीने शिवजीकी पूजा और बड़ाई की, अब शिवजी श्रीरामजीकी प्रीतिको सराहते हैं। इस कथनका भाव यह है कि जब स्वामी सेवककी प्रीतिसे प्रसन्न होता है तब अपने मुखसे सराहना करता है, यथा—'**गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥**'

श्रीरामजीने स्वामिभावसे शिवपूजन किया, रामेश्वर नाम रक्खा, यथा—'**जे रामेस्वर दरसन करिहहिं**', '**रामस्य ईश्वरः रामेश्वरः**'। शिवजी रामजीको अपना स्वामी कहते हैं, यथा—'**संतत करहिं प्रनत पर प्रीती**'। इसने 'रामेश्वर' का बहुव्रीहि समास किया इस प्रकार कि '**रामः ईश्वरो यस्य स रामेश्वरः।**'

करु०—इस कथनसे यह ध्वनि निकलती है कि कोई भी शुभ कार्य करे तो उसमें प्रथम रामभक्तकी स्थापना (पूजा) करे तो कार्य अवश्य सिद्ध होता है।

बाँधा * सेतु नील नल नागर। रामकृपा जसु भएउ उजागर॥ ७॥

अर्थ—चतुर नल-नीलने सेतु बाँधा। श्रीरामजीकी कृपासे उज्ज्वल यश (वा, यश प्रसिद्ध) हुआ॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) 'आनि देहिं नल-नीलहिं रचहिं ते सेतु बनाइ। दोहा १।' पर सेतुबन्धन प्रसंग छोड़ा था, अब वहींसे पुनः उठाते हैं—'बाँधा सेतु०।। [वा, देखि सेतु अति सुंदर रचना' पर प्रसंग छोड़कर रामेश्वरस्थापन और माहात्म्य कहने लगे थे अब फिर सेतुका प्रसंग उठाया]। (ख) 'नागर' विशेषण देकर जनाया कि, बड़े चतुर हैं, इन्होंने बड़ी सुन्दर रचना की है। (रावणने भी प्रशंसा की है, यथा—'सिल्प कर्म जानहिं नलनीला')। (ग) 'रामकृपा' का भाव कि सेतु बाँधा सो रामकृपासे और यश हुआ सो भी रामकृपासे ही, नहीं तो सब पत्थर तरंगोंके झकोरसे विथर जाते, सेनाके चढ़नेसे पत्थर डूब जाते, क्योंकि बिना आधारके हैं; रामकृपासे सब बात बन गयी।

नोट—१ रामकृपासे उनको यश प्राप्त हुआ, यह बात आगे कवि स्वयं दिखाते हैं। पुनः, 'रामकृपा' का भाव कि यदि वे सेतु न बँधाते तो यश न होता। श्रीरामचन्द्रजीने सेतु बँधाया इससे समुद्रको, नल नीलको, वानर-समूहको सभीको यश प्राप्त हुआ। यथा—'इहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइअ। जेहि यह सुजस लोक तिहुँ गाइय॥ ५। ६०। ४।'

२ 'संतत करहिं प्रनत पर प्रीती'—इसका एक उदाहरण तो रामेश्वरका स्थापन और उसको इतना महत्त्व देना ही बताया, अब दूसरा उदाहरण सेतुबन्ध और उससे नलनीलादिको स्थायी यश देनेका देते हैं।

इनपर प्रभुकी कृपा है इसलिये इनका सुयश त्रिलोकीमें हुआ। यथा—'जापर नाथ करहु तुम्ह दाया।...' सोइ बिनई बिजई गुनासागर। तासु सुजस त्रयलोक उगागर॥ ५॥ ३०। १, ३।'

बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई। भए उपल बोहित सम तेई॥ ८॥
महिमा यह न जलधि कै बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कै करनी॥ ९॥

अर्थ—जो (पत्थर) आप डूबते हैं और दूसरोंको (अर्थात् वृक्ष-तृण आदि भी जो उनपर होते हैं और अलग होनेसे न डूबते उनको भी) डुबा देते हैं, वही पत्थर जहाजके समान हो गये† ॥ ८॥ यह महिमा (कवि लोगोंने) समुद्रकी नहीं वर्णन की। यह न तो पत्थरका ही गुण है और न यह नलनील वानरोंका ही कर्तव्य है॥ ९॥

टिप्पणी—१ 'महिमा यह न जलधि कै बरनी' इति। समुद्रने श्रीरामजीसे कहा था कि 'मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करिहौं बल अनुमान सहाई', अतः कहते हैं कि यह समुद्रकी महिमा नहीं है, समुद्रकी सहायतासे पत्थर जलपर नहीं उतरा रहे हैं। और न यह 'पाहनगुण' है क्योंकि पत्थरका गुण तो डूबना और डुबाना है, तैरना वा उतराना गुण उनमें नहीं है।

पं०—'महिमा यह न जलधि कै बरनी।···' इति। यदि कहें कि समुद्रने तारा है तो यह मान नहीं सकते क्योंकि समुद्र तो अथाह है उसमें महाचपल मीनोंने निराधार बैठकर पर्वत कैसे उठाए और अबतक कैसे बैठे रहे; इसलिये यह समुद्रकी महिमा नहीं हो सकती। जो कहो कि पाषाणोंकी जातिका गुण है, जैसे सुदामा जातिका पत्थर कहा जाता है कि जलमें नहीं डूबता, तो उसका उत्तर यह है कि उस सेतुमेंका कोई भी टुकड़ा लेकर समुद्रमें डालकर देख लो कि वह डूब जाता है कि नहीं, न डूबे तब मानें कि पत्थरकी जातिका स्वभाव है। तीसरे यदि कहो कि नलनीलके स्पर्शका प्रभाव है तो यह प्रभाव ऋषियोंके वाक्यमें श्रीरामचन्द्रजीके भजनकी शक्तिसे है। अतएव रामप्रतापसे ही पत्थरका तरना सिद्ध होता है।

नोट—१ नलनीलको यद्यपि यह वर था कि उनके स्पर्श किये पाषाण जलमें डूबेंगे नहीं, तो भी समुद्र स्थिर तो है नहीं, वह तो लहरें लेता रहता है और वरदान यह है नहीं कि जहाँ जलमें पाषाण डालेंगे वहाँ ही वह जलपर स्थिर बने

* बाँधेउ—(का० मा० मा०)। † चतुर्थ विभावना अलंकार है।

रहेंगे, एवं उस पाषाणपर ऊपरसे भारी बोझ पड़नेसे वह जलमें धँसेगा नहीं । पत्थरोंका एकत्र जुटकर स्थिर रहना नल-नीलके शिल्पकौशलसे बाहरकी बात है । यह केवल प्रभु-प्रतापसे हुआ ।—विशेष दोहा ३ में देखिये । पुनः, जाम्बवन्तजीने जब इनसे सेतु रचनेको कहा तब यही कहा था कि **'रामप्रताप सुमिरि मन माहीं । रचहु सेतु०'** अतएव यहाँ कहते हैं कि सेतुमें वही प्रताप मुख्य है, नल-नीलकी करनी नहीं । पुनः समुद्रने भी यही कहा है **'तिन्ह के परस किये गिरि भारे । तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे । ५ । ६० । २'** **'भये उपल बोहित सम तेई'** अर्थात् स्वयं तर रहे हैं और वानरसेनाको पार करनेवाले हुए—(प्रमाण दोहा ३ में देखिये) । इतना ही नहीं किंतु मनुष्योंको भव पार करनेवाले हुए, यथा—**'मम कृत सेतु जो दरसन करिही । सो बिनु श्रम भवसागर तरिही ।'**

वि० त्रि०—समुद्रकी महिमा, पत्थरके गुण और बंदरोंकी करणी स्वभावसे ही संतरणके विरोधी हैं । समुद्रकी महिमा अगाध, अपार तथा विघ्नबहुलमें है (यथा **'केहि बिधि तरिअ जलधि गंभीरा ॥ संकुल मकर उरग झख जाती । अति अपार दुस्तर सब भाँती ।'** पत्थरका गुण भारी होनेमें है, वह स्वयं डूबता है, और जो उसे गले बाँधे उसे भी ले बढ़ता है, पत्थरका तिरना महा असम्भवकी गिनतीमें है (यथा—**'शिला तरति पानीयम् । गीतं गायति वानरः'** । इसी भाँति बंदर शाखामृग ठहरे । इनकी करणी प्रसिद्ध है कि न ये अपने लिये घर छायें, और न दूसरेको रहने दें, स्वयं भगवान् मारुति कहते हैं कि **'साखामृग कै बड़ि मनुसाई । साखा ते साखा पर जाई ।'** अतः नल-नीलने जो सेतु बाँधा उसमें समुद्रकी महिमा, पत्थरके गुण या बंदरोंकी करणीकी कोई कार्यकारिता नहीं थी ।

दो०—श्रीरघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान ।
ते मतिमंद जे राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—'जाइ'=जाकर । =व्यर्थ ।

अर्थ—श्रीरघुवीर रामचन्द्रजीके प्रतापसे पत्थर समुद्रपर उतराये । वे लोग मन्दबुद्धि हैं जो उन श्रीरामचन्द्रजीको छोड़कर व्यर्थ दूसरे स्वामीको जाकर भजते हैं ॥ ३ ॥

नोट—१ **'श्रीरघुबीर प्रताप ते०'**, इस सम्बन्धमें आनन्दरामायण काण्ड १ अध्या० १० की कथा यहाँ संगत जानकर लिखी जाती है—सेतु बाँधते समय नलको अहंकार उत्पन्न हुआ कि हमने समुद्रपर बिना आधारके पुल बना दिया । श्रीरामजी उनके हृदयकी जान गये । फिर क्या ? दासमें अभिमानका अंकुर वे कब रहने दे सकते हैं ? यथा—**'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ । जन अभिमान न राखहिं काऊ ॥' 'ताते करहिं कृपानिधि दूरी । सेवकपर ममता अति भूरी ॥ ७ । ७४ ।'** बस, लहरोंके थपेड़ोंसे सब शिलाएँ इधरसे उधर बह जाने लगीं, कोई उपाय न चला । सब-के-सब बड़े दुखी हुए । नलका गर्व चूर हो गया । व्याकुल देख प्रभुने कहा कि हमारे नामके दोनों अक्षरोंको पत्थरोंपर इस तरह लिखो कि एकपर 'रा' हो तो दूसरे पर 'म' । बस, ये दोनों शिलाएँ आपसमें जुड़कर अचल हो जायँगी, क्योंकि ये दोनों वर्ण 'सहज सँघाती' हैं । ऐसा किया गया और सेतु बँध गया ।—यह प्रभुके नामका प्रताप था ।—(श्लो० १९६–२०० । यथा 'किंचिद् गर्वसमाविष्टस्तज्ज्ञातं राघवेण हि ॥ १९६ ॥ यावदेकां शिलां त्यक्त्वा **नलोऽन्यां प्राक्षिपच्छिलाम् । तावत्तरङ्गकल्लोलैः सागरस्य इतस्ततः ॥ १९७ ॥ गच्छन्तिस्म शिलाः सर्वास्ता दृष्ट्वा खिन्नमानसः । गतगर्वस्तदा रामं नलो वृत्तं न्यवेदयत् ॥ १९८ ॥ रामः श्रुत्वा नलं प्राह रामेति द्व्यक्षरे मम । दृषदोः संधिसिद्ध्यर्थं पृथग्विलिखतां द्वयोः ॥ १९९ ॥ सर्वत्रैवं लिखित्वा हि दृढः संधिर्भविष्यति ।'**—(आ० रा० १ । १०)

☞ मिलान कीजिये **'ये मज्जन्ति निमज्जयन्ति च परांस्ते प्रस्तरा दुस्तरे वार्धौ वीर तरन्ति वानरभटान् संतारयन्तेऽपि च । नैते ग्रावगुणा न वारिधिगुणा नो वानराणां गुणाः श्रीमद्दाशरथेः प्रतापमहिमारम्भः समुज्जृम्भते ॥'** (हनु० ना० अंक ७ । १९ श्रीहनुमद्वाक्यम्) । अर्थात् हे वीर ! जो आप स्वयं डूब जाते हैं और दूसरोंको भी डुबा देते हैं, वे ही पत्थर दुस्तर समुद्रमें तर रहे हैं और वानरयोद्धाओंको तारते भी हैं; सो यह केवल श्रीदशरथनन्दन

रामचन्द्रजीके प्रतापकी महिमाका ही रूप शोभित हो रहा है।—ये वचन हनुमान्‌जीके हैं। यही प्रताप **'सुनियत सेतु पयोधि पषानन करि कपि कटक तर्‍यो'** विनयके इस वाक्यसे भी सिद्ध होता है।

२ यहाँ रामको छोड़ अन्यको भजनेवालेको 'मन्दमति' कहा। इसी तरह भुशुण्डिजीने प्रभुका प्रताप कहकर उनके भजन करनेवालोंको 'प्रवीण' वा 'चतुर' कहा है। यथा—**'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन। अस बिचारि तजि संसय रामहिं भजहिं प्रबीन॥** उ० १२२।' अन्यत्र भी भजन करनेवालोंको ही चतुर कहा है, यथा **'कठिन कालमल कोस धर्म न ज्ञान न जोग जप। परिहरि सकल भरोस रामहि भजहिं ते चतुर नर॥** ३। ६।' पुनः भाव कि ये मतिमन्द हैं, इससे इनका हृदय विमोहवश है। विमोहवश होनेसे ये श्रीरघुपतिचरित नहीं समझते। चरित न समझनेसे वे उनको छोड़कर अन्य स्वामीको भजते हैं।—**'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥'** मिलान कीजिये—**'अति बिचित्र रघुपति चरित जानहिं परम सुजान। जे मतिमंद बिमोह बस हृदय धरहिं कछु आन॥'** मतिमन्द होनेसे वे सेतुबन्धको समुद्र एवं नल-नीलकी करनी समझते हैं।

३ 'रघुबीर' अर्थात् ये पञ्चवीरतायुक्त हैं, यथा—**'त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः। पराक्रममहावीरो धर्मवीरो सदा स्वतः॥ पञ्चवीरसमाख्याता राम एव स पञ्चधा। रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः॥'**

वि० त्रि०—समुद्रजी सरकारसे पहिले ही कह चुके हैं कि मेरी जड़ करणी है (यथा—**'गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी'**)। अतः जलकी करनी डुबोने की है, जो पर्वत समुद्र तिर गये, वह इस कारणसे नहीं तिरे कि समुद्र उन्हें ऊपर उठाये रहा, और न नील-नलके स्पर्श करनेसे उनकी गुरुता नष्ट हुई। नील-नलको तो शाप प्रस्तरखण्ड शिल-लोढ़ा आदिके न डूबनेके लिये था, क्योंकि ऐसी ही हानि नील-नल बचपनमें ऋषिजीको पहुँचाया करते थे। अर्थात् शालिग्रामकी बटिया, सिल, लोढ़ा आदि नील-नलके डुबानेपर नहीं डूबते थे। शापकी इयत्ता इतनी ही थी। अब श्रीरघुवीरके प्रतापसे शाप आशीर्वाद रूप हो गया, न डूबनेकी महिमा इतनी बढ़ गयी कि अब उनके डुबाये पहाड़ भी नहीं डूबते, पत्थर मात्रपर वह नियम लागू हो गया।

श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि वे मतिमन्द हैं जो ऐसे प्रतापी प्रभुका भजन छोड़कर दूसरा मालिक खोजते फिरते हैं। जो पत्थरको सिंधु पार करनेकी शक्ति प्रदान कर सकता है, वही शठ सेवककी प्रीति और रुचि रखनेमें भी समर्थ है, (यथा—**'सठ सेवककी प्रीति रुचि रखिहहिं राम कृपालु। उपल किये जलजान जेहि सचिव सुमति कपि भालु॥'**)।

प० प० प्र०—भाव कि विषय-प्राप्तिकी आशामय मन्दबुद्धिसे विविध विषयोंकी प्राप्तिके लिये अन्य देवताओंको भजते हैं, पर उनका वह भजन स्थिर चिर सुखदायी हो नहीं सकता। इस भजनसे मानसरोगोंका विनाश न होगा।

वीर—यहाँ समुद्रकी महिमा और वानरोंका निषेध करके उसके धर्मको रघुवीरप्रतापमें स्थापन करना 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार' है। रामचन्द्रजीविषयक रतिभावके अङ्गसे शान्तरसका वर्णन होना 'रसवत अलंकार' है।

बाँधि सेतु अति सुदृढ़ बनावा। देखि कृपानिधि के मन भावा॥ १॥

अर्थ—सेतुको बाँधकर अत्यन्त सुन्दर और दृढ़ बनाया। (अत्यन्त बढ़िया दृढ़ बनावट) देखकर कृपानिधान श्रीरामजीके मनको वह सेतु भाया॥ १॥

नोट—१ 'सु' उपसर्ग श्रेष्ठ, सुन्दर, अत्यन्त बढ़िया आदिका अर्थ देता है। यहाँ 'अति' विशेषण भी साथ ही है। इससे 'सुदृढ़'का अर्थ सुन्दर बढ़िया मजबूत लिया गया।

२ प्रथम सेतुबन्धका प्रसंग **'देखि सेतु अति सुंदर रचना। बिहँसि कृपानिधि बोले बचना॥'** २ (२) पर छोड़कर सेतुबन्ध रामेश्वरकी स्थापना और उनका माहात्म्य प्रभु कहने लगे। तत्पश्चात् शिवजीने फिर सेतु-प्रसंग उठाया, यथा, **'बाँधेउ सेतु नील नल नागर'**; पर वह केवल यह दिखानेके लिये कि प्रभुने हमपर ही कृपा नहीं की वरन् सेतुबन्धसे नलनीलादिको भी सुयश दिया, क्योंकि सेतुबन्धमें केवल रामप्रताप ही कारण है और सब कारण दिखावमात्रके हैं। अतएव २ (२) पर छूटा हुआ प्रसंग अब यहाँ फिर उठाया गया। वहाँपर **'देखि सेतु अति सुंदर रचना।'** और 'कृपानिधि' पद आये वैसे ही यहाँ **'सेतु अति सुदृढ़ बनावा। देखि 'कृपानिधि'** कहा।

३ 'कृपानिधि के मन भावा'। भाव कि जो चिन्ता थी कि वानरसेना किस प्रकार सुगमतासे पार हो वह दूर हुई, अतएव वह सेतु पसंद आया और प्रिय लगा। 'कृपानिधि' का भाव कि—(क) वानरोंपर आपकी बड़ी कृपा है इसीसे सेतुबन्ध कराया जिसमें सेना बिना श्रम पार हो जाय। कृपाके कारण ही पूर्व चिन्ता थी और उसके भेदियोंसे उतरनेका उपाय पूछा था। यथा, प्रथम विभीषणसे—'केहि बिधि तरिय जलधि गंभीरा', फिर समुद्रसे—'''कह कृपाल मुसुकाइ। जेहि बिधि उतरइ कपिकटक तात सो कहहु उपाइ॥ सुं० ५९।' पुनः, भाव कि (ख) इनके लिये यह सेतुरचना क्या है कि जिनकी आज्ञासे माया लवमात्रसे अगणित ब्रह्माण्ड रच देती है, ये तो केवल अपने भक्तोंकी प्रसन्नताके लिये उसे देखकर प्रसन्न हुए, क्योंकि कृपालु हैं। यथा—'लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥ भगति हेतु सोइ दीनदयाला। चितवत चकित धनुपमख साला॥ १। २२५।' पुनः (ग) 'अति सुदृढ़ बनाव' देखकर प्रसन्न हुए। अति सुदृढ़ बनावसे जनाया कि यह पुल अचिन्तनीय तथा अशक्य, आश्चर्यजनक और रोएँ खड़ाकर देनेवाला था, तथा बड़ा सुन्दर बना हुआ था, यथा—'तमचिन्त्यमसह्यं च ह्यद्भुतं लोमहर्षणम्। वाल्मी० सर्ग २२। ७३...विशालः सुकृतः श्रीमान्सुभूमिः सुसमाहितः। ७५।

नोट—सेतु पाँच दिनमें तैयार हुआ। प्रथम दिन १४, दूसरे दिन २०, तीसरे दिन २१, चौथे दिन २२ और पाँचवें दिन २३ योजन। इस तरह यह सेतु १०० योजन लंबा था और दस योजन चौड़ा था। यथा—'कृतानि प्रथमेनाह्ना योजनानि चतुर्दश। (प्रहृष्टैर्गजसंकाशैस्त्वरमाणैः प्लवङ्गमैः। ६४।) द्वितीयेन तथैवाह्ना योजनानि तु विंशतिः। (कृतानि प्लवगैस्तूर्णं भीमकायैर्महाबलैः॥ ६५॥ अह्ना तृतीयेन यथा योजनानि तु सागरे। त्वरमाणैर्महाकायैरेकविंशतिरेव च। ६६। चतुर्थेन तथा चाह्ना द्वाविंशतिरथापि वा। (योजनानि महावेगैः कृतानि त्वरितैस्ततः)। ६७। पञ्चमेन तथा चाह्ना प्लवङ्गैः क्षिप्रकारिभिः। योजनानि त्रयोविंशत्सुवेलमधिकृत्य वै॥ ६८॥ ०० दशयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमायतम्॥ ७२॥—(वाल्मी० २२)

☞ रावणके वधके बाद लंकासे लौटनेके समय विभीषणजीकी प्रार्थनापर रघुनाथजीने सेतुको तोड़ दिया। इस तरह कि पहिले अपने धनुषसे सेतुके दो टुकड़े किये, फिर दोनोंके तीन-तीन टुकड़े किये। फिर १०-१० योजनपर टुकड़े किये। इत्यादि तत्पश्चात् १-१ योजनपर टुकड़े किये। (पद्मपुराण सृष्टिखंड अ० ३८ श्लोक २८'''३२)

☞ सेतुबन्धन प्रकरण 'सिंधुबचन सुनि राम०' से यहाँतक है। सेतुबन्धन प्रकरण समाप्त हुआ।

'कपिसेन जिमि उतरी सागर पार' प्रकरण

चली सेन कछु बरनि न जाई। गर्जहिं मर्कट भट समुदाई॥ २॥
सेतुबंध ढिग चढ़ि रघुराई। चितव * कृपाल सिंधु-बहुताई॥ ३॥
देखन कहुँ प्रभु करुनाकंदा। प्रगट भए सब जलचर बृंदा॥ ४॥

शब्दार्थ—सेतुबंध=वह पुल जो लंकापर चढ़ाईके लिये बाँधा गया। पुल। अब इसे 'सेतुबंध रामेश्वर' कहते हैं। यह हिन्दुओंके चार मुख्य धामोंमेंसे एक है। ढिग=तट, किनारा, छोर, समीप, पास। बहुताई=बहुतायत, अधिकता, गहराई, विस्तार, अपारता। करुणा=वह मनोविकार जो दूसरोंके दुःखके ज्ञानसे उत्पन्न होता है और उनके दुःखको दूर करनेकी प्रेरणा करता है। दया। कंद=मेघ, यथा—'कंद तड़ित बिच ज्यों सुरपतिधनु निकट बलाक-पाँति चलि आई'—(गीतावली)। समुदाई=झुण्ड, समूह, गिरोह।

---

* चितइ। चितये।

अर्थ—सेना चली, उसका कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता। वानर-योधाओंके झुंड-के-झुंड गर्जते हैं ॥ २ ॥ कृपालु रघुराई सेतुबन्धके किनारे (ऊँचेपर) चढ़कर समुद्रकी बहुतायत देखने लगे ॥ ३ ॥ करुणाकन्द समर्थ स्वामी श्रीरामजीके दर्शनोंके लिये सब जलचरोंके सब वृन्द प्रकट हो गये अर्थात् जलके ऊपर आ गये ॥ ४ ॥

नोट—१-(क) 'कछु बरनि न जाई' अर्थात् अपार है। (ख) 'सिंधु बहुताई' आदि कौतुक देखनेके सम्बन्धसे 'रघुराई' पद दिया। राजा लोग कौतुक देखते ही हैं। यथा—'**अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई। बिहँसि चले कृपाल रघुराई** ॥ ६ । ५ १ ।' यहाँ जलजंतुओंपर कृपा करनेके सम्बन्धसे 'कृपाल' कहा। यथा—'**देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन** ॥ १ । १४६ । ६ ।' पुनः वानर-सेनापर भी कृपा करनेको हैं—शेष दोहा ४ देखिये।

पा०—'करुणाकन्द' कहा; क्योंकि जैसे मेघ श्याम और ऊँचाईपर होते हैं वैसे ही प्रभु श्यामवर्ण हैं और ऊँचेपर खड़े हैं। पुनः जैसे मेघके मीठे जलकी वृष्टिका सुख लेनेके लिये जलचर निकलते हैं वैसे ही प्रभुकी कृपा-दृष्टिरूपी वृष्टिके निमित्त सब उतरा आये।

पं०—१-'करुणाकन्द' हैं अतः इनके दर्शनके लिये अभय होकर प्रकट हुए। करुणामय हैं अतएव वैरी इनके सामने हमें न सता सकेंगे।

२—'वृंद' अर्थात् जाति-जातिके झुंड एक साथ निकलते हैं।

गौड़जी—प्रभु करुणाके मेघ हैं। भक्तोंपर वात्सल्य भावसे शुचिस्मित होना ही दामिनीका दमकना है। कृपा विलोकनि, उस मेघसे वर्षाका होना है।

मा० म०—प्रभुको करुणाकन्द कहा। यहाँ रामजी श्याम मेघ हैं, नासामोती मानो दामिनी है, श्रीरामजीकी बातें करना मानो मेघका गर्जन है, यथा—'**बोल घनघोरसे बोलत थोर थोर हैं**। गो० १ । ७१ ।' और माधुर्य रूपका दर्शन ही मेघका बरसना है।

२—प्रभुके दर्शनार्थ जलचरोंका उतराना '**पंचम विभावना अलंकार**' है; उनको यह ज्ञान कहाँ?—(वीर)।

मकर नक्र नाना झख ब्याला। सत जोजन तन परम बिसाला ॥ ५ ॥
अइसेउ एक तिन्हहि जे खाहीं। एकन्ह के डर तेपि डेराहीं ॥ ६ ॥
प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भए सुखारे ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—मकर=मगर। जल-जन्तुओंकी एक विशेष जाति जिसमें अनेक उपजातियाँ हैं, जो सबसे भयानक और हिंसक समझी जाती है। नक्र=नाक। घड़ियालकी जातिके जल-जीवोंका प्रतिनिधि। झष=मत्स्य, मीन, मछली। व्यालु=उरगजातिके जलचर।

अर्थ—अनेक जातिके मगर, नाक, मत्स्य, उरग जो सौ-सौ योजनके बड़े लंबे-चौड़े ऊँचे शरीरवाले हैं ॥ ५ ॥ कुछ ऐसे भी हैं जो उन्हें भी खा जाते हैं और कुछ ऐसे हैं कि जिनके डरसे ये (दूसरे) भी डरते हैं ॥ ६ ॥ (पर ये सब विषमता भूलकर) प्रभुको देख रहे हैं, टाले (हटानेसे) नहीं टलते। सबके मनमें हर्ष है, सभी सुखी हो गये ॥ ७ ॥

नोट—१-'अइसेउ एक तिन्हहिं जे खाहीं।...' इति। हनुमन्नाटकमें अंगदने रावणसे तीन प्रकारके विशाल शरीरवाले मत्स्योंकी चर्चा की है। यथा—'**अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तरः। तिमिङ्गिलगिलोऽप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राघवः**। अङ्क ८ श्लोक ४७।' अर्थात् शतयोजनके विस्तारवाला एक तिमि नामवाला मत्स्य है और उसको निगल जानेवाला एक तिमिङ्गिल मत्स्य है और इसको भी निगल जानेवाला राघव मत्स्य है। (वज्ररत्न भट्टाचार्यने अन्तिम चरणका अर्थ किया है कि 'रामचन्द्रजी तो उसका भी नाश करनेवाले हैं)। मछलियाँ एक दूसरेको खा जाती हैं, यह नित्यके अनुभवकी बात है। इसी तरह मगर, घड़ियाल, व्यालादि जलचरोंकी जातियाँ

होती हैं। बड़ा छोटेको खा जाता है। विनयमें भी कहा है—'जलचर बृंद जाल अन्तर्गत होत सिमिट एक पासा। एकहि एक खात लालच बस नहिं देखत निज नासा। वि० ९२।'

२—ऊपर जो कहा है कि 'चितव कृपालु सिंधु बहुताई' वह बहुताई इस वर्णनसे दिखायी कि ऐसे-ऐसे परम विशाल शरीरधारी जीव उसके भीतर एक दूसरेसे छिपे हुए ऐसे पड़े हैं कि कहीं पता भी नहीं चलता। ऐसा अथाह और अपार यह सिंधु है!

३—एक-दूसरेको खा जानेवाले तीन जातिके विशाल जलचरोंका वर्णन करके 'प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे' यह कहनेका भाव यह है कि 'छबि समुद्र हरि रूप' के दर्शनमें सब ऐसे निमग्न हो गये कि परस्परका वैर-भाव जाता रहा। प्रभुके दर्शनका यही प्रभाव है, यथा—'जिन्हहिं निरखि मग साँपिन बीछी। तजहिं बिषम बिष तामस तीछी। २। २६२। ८।', 'करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥ फिरत अहेर राम छबि देखी। होहिं मुदित मृगबृंद बिसेषी॥ अ० १३८। १–२।'

ऐसे भी निर्भय हो स्थिर हो गये हैं। प्रभु सबको ही प्राणोंसे भी प्यारे हैं, यथा—'प्रानहु ते प्रिय लागहिं सब कहँ राम कृपाल', 'ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी'—(कौशिकवचन)

देखिये, जनकपुर-यज्ञशालामें प्रभुको देख मनुष्योंकी ऐसी ही दशा हुई थी, सब देखकर सुखी हुए और देह-सुध भूल एकटक प्रेमपूर्वक देखने लगे थे। यथा—'देखि लोग सब भए सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे॥ १। २४४। ३।'

पं०—१–'मन हरषित सब भए सुखारे' से मन और तन दोनोंसे सुखी जनाया। २—यहाँ यह भी दिखाया कि जहाँ कोई छोटा प्राणी भगवान्‌का दर्शन कर रहा हो वहाँ बड़ा उसको भय देकर हटा नहीं सकता। प्रभुके सामने छोटे-बड़े, नीच-ऊँचका भेद नहीं है। प्रभुके दर्शनसे सभी सुखी होते हैं, यथा—'सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद मुख चंद निहारी'—(अ० १)

करु०—दोनों भाइयोंको देख वे परमानन्दसे परिपूर्ण हो रहे हैं, जड़ीभूत हो गये हैं, शरीर-सुध भूल गयी। ऐसी समाधि दशा योगियों, मुनियोंको दुर्लभ है जो इनको रामकृपासे प्राप्त हुई है। यहाँ अतिशृङ्गाररसमें शान्तरस और परम भक्ति जानो।

तिन्ह की ओट न देखिअ बारी। मगन भए हरिरूप निहारी॥ ८॥
चला कटकु प्रभु-आयसु पाई*। को कहि सक कपिदल बिपुलाई॥ ९॥

अर्थ—उन जलचरोंकी आड़में जल नहीं दिखायी पड़ता! वे भगवान्‌का रूप देख मग्न हो गये। ८। प्रभुकी आज्ञा पाकर सेना चली, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वानरसेनाकी बहुतायतको कौन कह सके? अर्थात् कोई मूर्ख ही भले कहे और तो कोई कह ही नहीं सकता; क्योंकि वह तो अपार है। ९।

नोट—१–'मगन भए हरिरूप निहारी' इति। यह ऐसा ही सुन्दर मनोहर रूप है कि जड़-चेतन—सभी देखकर इस छबि-समुद्रमें डूब ही जाते हैं। देखनेसे तृप्ति नहीं होती, जी नहीं भरता। यथा—'खगमृग मगन देखि छबि होहीं। लिए चोरि चित राम बटोही॥ अ० १२३। ८।' 'छबि समुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी॥ चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनुसतरूपा॥ १। १४८।',

श्रीरघुनाथजी सर्वात्मा राम हैं अतएव जड़चेतन सभी आकर्षित होते हैं। जैसे श्रीसीताजी इनकी छवि देख चित्रलिखी-सी रह गयी थीं, यथा—'जाइ समीप राम छबि देखी। रहि जनु कुँवरि चित्र अवरेखी'। १। २६४।'; तथा ये सब जलपर स्थिर हैं, हिलते-डोलते नहीं।

* 'चला कटकु कछु बरनि न जाई'—(का०)। मा० म० और भा० दा० का पाठ ऊपर दिया गया है।

२—'चला कटकु···' इति। पूर्व सेनाका चलना कहना प्रारम्भ किया—'चली सेन कछु बरनि न जाई'। बीचमें सिंधु-बहुताई और जलचरोंका हरिदर्शन कहा, क्योंकि इसका भी प्रयोजन सेना उतरनेमें पड़ेगा। अब फिर वहींसे प्रसङ्ग उठाया।—'चला कटकु···'।

दो०—सेतुबंध भइ भीर अति कपि नभपंथ उड़ाहिं।
अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि-चढ़ि पारहि जाहिं॥ ४॥

अर्थ—सेतुबंधपर बहुत ही भीड़ हुई (कि चलनेको रास्ता नहीं मिलता; अतएव कुछ) वानर आकाशमार्गसे उड़ते जा रहे हैं और कितने ही और जलचरोंपर चढ़-चढ़कर पार जा रहे हैं॥ ४॥

नोट—१—ऊपर बताया कि सेना अपार है—'को कहि सक कपि दल बिपुलाई'। इसीसे अब कहते हैं कि ४० कोश चौड़े और ४०० कोस लम्बे सेतुपर भी तिलभरकी जगह नहीं है। इस समय सभी सबसे आगे पार हो जानेके लिये लालायित हैं। इसलिये जो अत्यन्त उत्साही हैं उनका मन रोके न रुका, वे आकाशसे उड़ते हुए चले। जो आकाशसे जानेको समर्थ न थे वे जलचरोंपर चढ़कर पार जाने लगे।

२—ऊपर जो जलचरवृंदका वर्णन हुआ उसका कारण यहाँ खोला। सेना अपार थी, सेतुबन्ध उसके लिये बहुत छोटा था; अतएव वानरोंकी सहायताके लिये एवं जलचरोंको कृतार्थ करनेके लिये 'सेतु ढिग' खड़े होकर कृपालु प्रभु सिन्धुको देखने लगे थे। ये जलचर इस समय सेतुका काम दे रहे हैं, सेनाको पार करनेमें सहायक हुए—यह भी प्रभुकी कृपासे। ये सेतुका काम देंगे, इसीसे प्रथम ही इनका 'टाले न टलना' और 'हरिरूप देखकर मग्न हो जाना' कहा। प्रभुदर्शनके कारण ये जलचर अचल स्थित हो गये हैं।

गगनपन्थसे पार जाना यहाँ कहकर सुन्दरकाण्डके 'जिय संसय कछु फिरती बारा' पर जो अनेक भाव लोग कहते हैं उनका निषेध कर दिया है। हनुमान्‌जीको कार्य सौंपा गया; इसीसे इन सबने संशय प्रकट किया, यही सिद्ध रक्खा।

सिंधु पार जानेके तीन मार्ग

रा० प्र०—तीन मार्गसे जाना कहकर जनाया कि सेतुबन्धन केवल मर्यादा-पालनार्थ है। और सिन्धुने जो सहायता करनेको कहा था,—'करिहउँ बल अनुमान सहाई'—वह भी सफल हो गया (क्योंकि जलचर उसीमें थे जो इस समय सेतुरूप हो रहे हैं)।

पां०—श्रीगोस्वामीजीने यहाँ समुद्र उतरनेवालोंके लिये तीन रास्ते कहे, इसका हेतु यह है कि संसार-समुद्र उतरनेके भी तीन मार्ग हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। जो सेतुपर चढ़कर जाते हैं वे कर्मकाण्डी हैं, जो जलजन्तुओंपर चढ़कर जाते हैं, वे उपासक हैं और जो आकाशमें उड़कर जाते हैं वे ज्ञानी हैं। अन्तमें इन तीनोंको एक ही फल मिलता है—'रघुनाथजीकी प्रसन्नता, भक्तिरूपा जानकीजीकी प्राप्ति और मोहादिरूपी शत्रु रावणादिका नाश।'

अन्य लोगों (वंदनपाठकजी, मा० म०) ने जलचरको कर्ममार्ग और सेतुको उपासनामार्ग माना है। उनका मत है कि—जलचर और कर्ममार्गमें समता यह है कि दोनोंमें डूबनेका भय रहता है, पार कर दे तो कर दे, पर निश्चय नहीं है। और सेतु और उपासना मार्गमें समानता यह है कि दोनोंमें श्रम नहीं और न गिरने या डूबनेका डर है, दूसरे यह सबको सुगम है, सब इसके अधिकारी हैं; यथा—'कहहु भगतिपथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥', 'सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥' (७। ४६; ७। ४५) और 'अति अपार जे सरित बर जौं नृप सेतु कराहिं। चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहिं जाहिं॥ बा० १३।' नभमार्ग और ज्ञानमें समता यह है कि दोनों निरवलंब हैं, सब इसके अधिकारी नहीं हैं, यथा—

'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका । साधन कठिन न मन कहँ टेका ॥ ७ । ४५ । ३ ।' 'ज्ञान पंथ कृपान कै धारा । परत खगेस होइ नहिं बारा ॥ ७ । ११९ । १ ।' यहाँ उपासना, ज्ञान, कर्म यह क्रम है जैसे संतसमाज-प्रयागमें ।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि—बंदनपाठकजीका मत उचित है । जलचरोंपर चढ़कर पार होना कर्ममार्ग है । कर्ममार्ग गहन होता है । जैसे गङ्गा, यमुना और सरस्वती भी तीन मार्गके प्रदर्शक हैं । उनमें 'कर्मकथा रविनंदिनि बरनी' । सागरकी उत्पत्तिमें रवि (रविकुल) से है और यह यमुनासे भी गहन अपार है । तीसरा नभपन्थ है जो योगियोंका ज्ञानमार्ग है; 'योग ते ज्ञाना' कहा ही है ।

अस कौतुक बिलोकि द्वौ भाई । बिहँसि चले कृपाल रघुराई ॥ १ ॥
सेन सहित उतरे रघुबीरा । कहि न जाइ कपि जूथप भीरा ॥ २ ॥

अर्थ—दोनों भाई ऐसा कौतुक देख हँसे । हँसकर कृपालु रघुनाथजी चले ॥ १ ॥ रघुबीर श्रीरामचन्द्रजी सेनासहित समुद्र पार उतरे । वानर-यूथपतियोंकी भीड़ कही नहीं जा सकती (कि कितनी है) ॥ २ ॥

नोट—१ (क) कौतुक जलचरोंका एवं वानर-सेनाका । कौतुकका प्रसंग ४ (३) से दोहा ४ तक कहा । 'सेतुबंध ढिग चढ़ि रघुराई । चितव कृपाल सिंधु बहुताई ॥' उपक्रम है और 'अस कौतुक बिलोकि··· कृपालु रघुराई' उपसंहार ।

(ख)—यहाँ 'द्वौ भाई' पद देकर जनाया कि 'सेतुढिग' जब श्रीरामजी चढ़े तब लक्ष्मणजी भी साथ ही थे । (ग)—अभीतक सेनाका आगे जाना कहा, पीछेसे दोनों भाइयोंका । इसमें एक कारण यह भी है कि ऐसा न होता तो भय था कि जलचर इधर-उधर हिलते-डोलते जिससे वानरोंका डूबना सम्भव था जो उनपर चल रहे थे । सेना और प्रभु साथ-साथ पार उतरे । (घ) श्रीसुग्रीवजीने श्रीरामचन्द्रजीसे प्रार्थना की कि आप हनुमान्‌जीकी पीठपर सवार हो लें और लक्ष्मणजी अंगदपर । श्रीरामजीने उनकी सलाह मानकर ऐसा ही किया ! आगे प्रभु हैं, सुग्रीवादि साथ हैं । वानर कोई तैरते हैं, कोई उड़ते जाते हैं और कोई सेतुमार्गसे चले जा रहे हैं । "हनूमन्तं त्वमारोह अङ्गदं त्वथ लक्ष्मणः । अयं हि विपुलो वीर सागरो मकरालयः ॥ ७८ ॥ वैहायसौ युवामेतौ वानरौ धारयिष्यतः । अग्रतस्तस्य सैन्यस्य श्रीमान्रामः सलक्ष्मणः ॥ ७९ ॥ जगाम धन्वी धर्मात्मा सुग्रीवेण समन्वितः । अन्ये मध्येन गच्छन्ति पार्श्वतोऽन्ये प्लवङ्गमाः ॥ ८० ॥ सलिलं प्रपतन्त्यन्ये मार्गमन्ये प्रपेदिरे । केचिद्वैहायसगताः सुपर्णा इव पुप्लुवुः ॥ ८१ ॥—(वाल्मी० २२) ।" मानसका मत यह है कि प्रभुने आज्ञा दी कि कटक चले— 'चला कटक प्रभु आयसु पाई ।' इसलिये कुछ सेना आगे है कुछ पीछे रह गयी, उसके पार करनेके निमित्त दोनों आनन्दकन्द खड़े हैं । सेनाको पार करके आप पार उतरे इसीसे आगे लिखते हैं कि सेनासहित रघुनाथजी उतरे, यथा— 'सेन सहित उतरे रघुबीरा' । (मयूख) ।

(ङ) पूर्व सेनाकी अपारता कही थी—'को कहि सक कपिदल बिपुलाई' ४ (९), अब कहते हैं कि यूथपतियोंकी भीड़का भी अंदाजा नहीं किया जा सकता (तब भला सेनाकी कौन कहे ?) ।

(च) 'उतरे' अर्थात् समुद्र पार हुए । इस शब्दसे यह भी सूचित करते हैं कि ये हनुमान् और अंगदपर सवार थे, नभमार्गसे आये और पार तटपर उतरे ।

२—सेतुबंध और सेनाके पार होनेमें एक मासका समय लगा यह महाभारतका मत है । यथा—'विभीषणमते चैव सोऽत्यक्रामन्महार्णवम् ।···ससैन्यः सेतुना तेन मासेनैव नराधिप ॥ (वनपर्व अ० २८३ श्लो० ५०) अर्थात् विभीषणका मत मानकर रामजीने समुद्रको पार किया । सेनासमेत सेतुद्वारा एक मासमें उतरे ।

स्कन्द पु० ब्राह्मखण्ड अ० ३० में लिखा है कि पौष शुक्ल १० से सेतुबन्धनका कार्य प्रारम्भ हुआ और त्रयोदशीको पूरा हुआ । चतुर्दशीको सुवेलपर्वतपर पहुँचकर श्रीरामचन्द्रजीने सेनाका पड़ाव डाला । पूर्णिमासे लेकर द्वितीयातक तीन दिनोंमें सारी सेना समुद्र पार करके लंकामें पहुँची । यही मत प० पु० (पातालखण्ड अ० ३६) का है ।

मानसका मत प० पु० तथा स्कन्द पु० के अनुकूल जान पड़ता है। अन्तर इतना अवश्य है कि उपर्युक्त पुराणोंमें श्रीरामचन्द्रजीका प्रथम ही पहुँचना लिखा है और मानसके मतानुसार समस्त सेनाके साथ ही श्रीरामचन्द्रजी पार उतरे।

तिथियोंमें मतभेद होनेसे गोस्वामीजीने कोई तिथि न देकर सब मतोंकी रक्षा की है।

३—सेना कैसे टिकी? वाल्मी० २४ में लिखा है कि रामजीने आज्ञा दी कि पुरुष-व्यूहके मध्यमें नीलसहित अंगद अपनी सेनासहित अवस्थान करें। उसके दाहिने ऋषभ और बायें दुर्धर्ष गन्धमादन वानर सेनासहित रहें, हम लक्ष्मणसहित आगे रहेंगे। जाम्बवान् और सुषेण वेगदर्शी कुक्षिकी रक्षा करें तथा सुग्रीव इस सेनासमूहके जघन देशकी रक्षा करें। (श्लो० १४–१८)।

सेतुबन्धन-समुद्र-उल्लङ्घन-प्रकरण समाप्त हुआ।

सिंधु पार प्रभु डेरा कीन्हा। सकल कपिन्ह कहुँ आयसु दीन्हा॥ ३॥
खाहु जाइ फल मूल सुहाए। सुनत भालु कपि जहँ तहँ धाए॥ ४॥

शब्दार्थ—डेरा=पड़ाव, थोड़े दिनके लिये निवास। डेरा करना=टिक रहना, निवास करना, ठहरना। मूल=कंद आदि।

अर्थ—प्रभु (श्रीरामचन्द्रजी) ने समुद्रपार डेरा डाला। सब वानरोंको आज्ञा दी कि जाकर सुन्दर फल-मूल खाओ। यह सुनते ही रीछ और वानर जहाँ-तहाँ दौड़ पड़े॥ ३-४॥

नोट—१ पार उतरकर तटपर सुग्रीवने सेना ठहरायी जहाँ फल-मूल परिपूर्ण थे। यथा—'वानराणां हि सा तीर्णा वाहिनी नलसेतुना। तीरे निविविशे राज्ञा बहुमूलफलोदके'। (वाल्मी० २२। ८३) तत्पश्चात् प्रभुने लक्ष्मणजीसे कहा कि जहाँ शीतल जल और फलमूल हों वहाँ व्यूह रचकर रहें। तथा—'सौमित्रिं सम्परिष्वज्य इदं वचनमब्रवीत्। १। परिगृह्योदकं शीतं वनानि फलवन्ति च। बलौघं संविभज्येमं व्यूह्य तिष्ठेम लक्ष्मण। २।' (वाल्मी० २३) इसके बाद सुबेल-तटपर गरुड़व्यूह रचकर टिके।' यह सुबेलपर्वत सिंधुतटपर है। यथा 'रामः सुवेलाद्रितटेऽवतीर्णः समुद्रमुल्लङ्घ्य विकीर्णसैन्यः।' इति नाटके। ततस्तमक्षोभ्यबलं लंकायां नृपतेश्चराः। सुवेले राघवं शैले निविष्टं प्रत्यवेदयन्—(वाल्मी० ३०। १)

२—'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, इसीसे शत्रुके राज्यप्रदेशमें भी वानरोंको निर्भय फल-मूल जहाँ चाहें तहाँ जाकर खानेकी आज्ञा दी। आप सबकी रक्षाके लिये सर्वत्र पर्याप्त हैं।

३ 'सकल कपिन्ह कहँ आयसु दीन्हा' इति। (क) सब वानरोंको सेतुबन्धन एवं पार उतरनेमें श्रम हुआ है। जब सेना किष्किन्धासे उत्तर तटपर आकर उतरी थी तब वानरोंने वहाँ फल खाये थे, यथा—'एहि बिधि जाइ कृपानिधि उतरे सागर तीर। जहँ तहँ लागे खान फल भालु बिपुल कपि बीर॥'—(सुं० ३५)। उसके बादसे फिर कार्यमें लगे रहे, बीचमें फल खानेको न मिले थे। वे सब भूखे भी अवश्य होंगे, यह जानकर फलमूल खानेकी आज्ञा दी।—यह सेवकपर प्रभुका प्रेम दिखाया। (ख) उत्तर तटपर सेनाको आज्ञा देना नहीं लिखा, वहाँ वे स्वयं खाने लगे थे—'जहँ तहँ लागे खान फल०'। यहाँ आज्ञा देनेकी आवश्यकता थी क्योंकि शत्रुकी पुरी है, रावणसे इन्द्रादि तक डरते हैं तब उसके नगरमें निर्भय फल खानेका साहस न हो सकता था। आज्ञा पाकर वे निर्भय हो गये। इसी प्रकार श्रीसीताजीकी आज्ञा पानेपर, हनुमान्जीने फल खाये थे।

४ (क) 'सुहाये' पदसे प्रभुका उनपर प्रेम और प्रसन्नता दिख रही है। सुहाये अर्थात् मधुर फल खाओ। यथा—'रघुपति चरन हृदय धरि तात मधुर फल खाहु' (सीताजीकी आज्ञा हनुमान्जीको)। (बं० पा०—'खाहु जाइ०', यह मानो सेनाको रसदका चिट्ठा बँटा।

(ख) 'खाहु जाइ फल मूल सुहाये।'' इति। श्रीहनुमान्‌जीने सिंधुपार पहुँचनेपर वहाँ सुन्दर फल-फूलसे लदे वृक्ष देखे थे। यथा 'बारिधि पार गयउ मतिधीरा। तहाँ जाइ देखी बन सोभा॥ गुंजत चंचरीक मधु लोभा। नाना तरु फल फूल सुहाये। खग मृग बृंद देखि मन भाये॥ ५। ३। ५-७।' यह वही सागरोपान्त सिंधुतटका वन है जहाँ इस समय सेना पार आकर टिकी है, यह 'सुहाए' विशेषणसे भी सूचित किया है।

जैसे हनुमान्‌जीने 'फल फूल सुहाये' देखकर भी उनको नहीं छुआ था वैसे ही इन वानरोंने भी स्वामि-कार्यमें क्षुधा-तृषाको भुला दिया था, इस तरह श्रीहनुमान्‌जीके 'राम काज कीन्हे बिना मोहि कहाँ विश्राम' ये वाक्य इन सभी वानरोंके सम्बन्धमें भी चरितार्थ हुए। (प० प० प्र०)। (ग) 'धाए' पद भी निर्भयता जनाता है। वानर-सेना अपार है इससे जो जहाँ पाते हैं वहीं दौड़े हुए जाकर खाने लगते हैं। पंजाबीजी लिखते हैं कि लूटने-मारनेकी भी आशा लख पड़ती है।

सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु* कालगति त्यागी॥ ५॥
खाहिं मधुर फल बिटप हलावहिं। लंका सनमुख सिखर चलावहिं॥ ६॥

शब्दार्थ—सिखर (शिखर) = सबसे ऊपरका भाग, चोटी। 'हित'=प्रसन्नता, लाभ मंगल, प्रेम।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके हितके लिये सब वृक्ष ऋतु और कुऋतु (फसल-बेफसल) तथा समयकी गति (चाल) को छोड़कर फले॥ ५॥ (वानर और रीछ) मीठे-मीठे फल खाते, वृक्षोंको हिलाते और लंकाकी ओर (पर्वतके) शिखरोंको फेंकते हैं॥ ६॥

पं०—'रामहित लागी'। यहाँ रामहित यह कि उनकी सेना बिना बहुत फलमूलके तृप्त न हो सकेगी, उसकी तृप्तिके लिये फले। अथवा, २—शत्रुका अहित होनेसे अपना हित होता है। जिस देशमें बिना ऋतुके वृक्ष फलते हैं उसके राजाका नाश होता है। इस प्रकार रावणकी पुरीमें अकालिक कुसुमादिके होनेसे उसका नाश होगा, जिससे श्री-रामजीका हित होगा। [नोट—मिलान कीजिये—'भयदायक खल कै प्रिय बानी।' जिमि अकाल के कुसुम भवानी॥ ३। २४। ८।' 'अकालकुसुमानिव भयं संजनयन्ति हि' इति मत्स्यपुराणे। अर्थात् अकालके फूल देशमें भय उपजानेवाले होते हैं।]

रा० प्र०—'रितु अनरितु अकाल गति त्यागी' इति। ऋतु अर्थात् जिसमें फलना चाहिये, और जितनेका नेम है कि ५, २५, ३० आदि फलें उतना फलना यह ऋतु है। ऋतुके विपरीत होना अऋतु है वा कुऋतु। काल अर्थात् जाड़ा, गर्मी, वर्षा।

वै०—बहुत वृक्ष ऐसे हैं कि बहुत कालतक फले रहते हैं पर उनके फल एक ही कालमें पकते हैं; जैसे इमली। सो वे सब पक आये; यही 'कालगति' का त्याग है।

बं० पा०—'कालगति त्यागी' से बालवृक्षोंका भी फलयुक्त होना सिद्ध हुआ। पुनः भाव कि जो न ऋतुमें फलें न कुऋतुमें, वे भी फले, क्योंकि राम सर्वात्मा हैं।

नोट—१ भाव यह है कि जो ऋतुमें होने चाहिये वे भी हैं और जो उस ऋतुमें न फलने चाहिये वे भी फलोंसे लद गये हैं। समय है या नहीं है इसका विचार नहीं रह गया, सभी एकदम फलयुक्त हो गये, यह सब श्रीरामजीकी कृपादृष्टिसे हुआ। यथा दोहावल्याम्—'बिनहीं रितु तरुवर फरैं सिला द्रवहिं जल जोर। राम लषन सिय करि कृपा जब चितवहिं जेहि ओर॥ १७३।' बंदन पाठकजी लिखते हैं कि 'रामहित फले' अर्थात् श्रीरामजीकी ही आज्ञासे यह नियम था कि ऋतुके अनुसार फलते थे और उन्हींकी प्रेरणासे कुऋतुमें फल रहे हैं, क्योंकि ये सबके अन्तरात्मा हैं; यथा—'प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम। २। २९०।' और, इनकी आज्ञा सबको शिरोधार्य है, यथा—'ईस रजाइ सीस सबही के। २। २८२।', 'राम रजाइ सीस सबही के। २। २५४। ८।'

* रितु अनरितु अकाल—(का०), 'रितु अनरितुहि कालगति'—(मा० म०)

२ 'खाहिं मधुर फल बिटप हलावहिं ।' इति । (क) मधुर फल खाना और वृक्ष हिलाना यह तो वानरोंका स्वभाव ही है । पर पाँड़ेजीका मत है कि 'इतने फल फले कि मीठे-मीठे खाते हैं और सब छोड़ देते हैं । वा सबमें प्रभुकी प्रेरणासे मीठे ही फल लगे हैं । इसीसे प्रभुने कहा था कि 'खाहु जाइ फल मूल सुहाये' । (ख) बिटप हिलानेका दूसरा भाव यह है कि जो वानर नीचे हैं वे भी खावें ।

३ 'सिखर चलावहिं' । (क) पं०—शिखरसे वृक्षोंके शिखर भी ले सकते हैं । वृक्षोंको तोड़कर फेंकते हैं, क्योंकि हनुमान्‌जीसे सुन चुके हैं कि वृक्ष तोड़ते देख राक्षसोंने आकर युद्ध किया था । ये भी इसीलिये तोड़ते हैं कि वे आवें । जब वे नहीं आये तब पर्वत-शिखर चला-चलाकर फेंकने लगे । इस तरह ये सेनासहित श्रीरामजीका आगमन और बल सूचित कर रहे हैं ।

(ख) रा० शं०—तीन प्रकारके वानर यहाँ कहे गये और तीन ही प्रकार यहाँ फलका खाना दिखाया है— 'खाहिं मधुर फल बिटप हलावहिं' और 'लंका सनमुख सिखर चलावहिं' । जो सबसे बड़े बलवान् हैं वे वृक्ष हिलाकर फल गिराकर खाते हैं, जो मध्यम दर्जेके बलवान् हैं वे वृक्षोंपर चढ़कर खाते हैं और जो साधारण हैं वे पत्थरोंसे झोर-झोरकर खाते हैं । लङ्काकी ओर फेंकनेका कारण यह है कि लङ्काकी ओर वानरसेना नहीं है इससे उसी ओरके वृक्षोंपर पत्थर चलाते हैं ।

जहँ कहुँ फिरत निसाचर पावहिं । घेरि सकल बहु नाच नचावहिं ॥ ७ ॥
दसनन्हि काटि नासिका काना । कहि प्रभु सुजसु देहिं तब जाना ॥ ८ ॥

अर्थ—जहाँ कहीं फिरते हुए निशाचरको पा जाते हैं वहीं सब उसे घेरकर बहुत नाच नचाते हैं ॥ ७ ॥ दाँतोंसे उसके नाक-कान काटकर प्रभुका सुयश कहकर (वा, जब वह प्रभुका सुयश कहता है) तब उसे जाने देते हैं ॥ ८ ॥

नोट—'जहँ कहुँ' का भाव कि निशिचर इधर कोई आते नहीं, क्योंकि उनको लङ्कादहनके समयसे डर समा गया है, यथा—'उहाँ निसाचर रहहिं ससंका । जब तें जारि गयउ कपि लंका ॥ ५ । ३६ । १ ।' एका-दुक्का भूला भटका जो कोई मिल जाता है उसे पकड़ लेते हैं ।

२—'काटि नासिका काना ।' इति । नाक-कान काटना तो लक्ष्मणजीके शूर्पणखाके नाक-कान काटनेसे सीखा है; इसीसे शुकसारन दूतोंको भी पकड़नेपर उनके भी नाक-कान काटने लगे थे, यथा—'जो हमार हर नासा काना । तेहि कोसलाधीस कै आना ॥ ५ । ५२ । ६ ।' दूसरे, रावणने हनुमान्‌जीके लिये कहा था कि— 'अंग भंग करि पठवहु बंदर ।' यह शिक्षा रावणसे मिली; उसके अनुसार ये भी निशाचरोंका अङ्ग-भङ्ग करते हैं । नाक-कान काटते हैं, क्योंकि नकटे, बूचे अपनेको छिपा नहीं सकेंगे, दूसरे, उनको ऐसे जीवनसे ग्लानि होगी, वे अवश्य जाकर रावणसे समाचार कहेंगे, जैसे शूर्पणखाने कहा था, यथा—'तोहि जिअत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ । ३ । २१ ।' तब वह युद्धके लिये सेना भेजेगा । जैसे लक्ष्मणजीने शूर्पणखाद्वारा रावणको चुनौती दी थी वैसे ही वानर भी मानो उसे चुनौती दे रहे हैं ।

पां०—नकटा बूचा कर दिया क्योंकि प्रथम-प्रथम ऐसोंसे शत्रुका समाचार सुनना अमङ्गल है ।

नोट ३—पूर्व जब निशाचर मिलते थे तब वानर उनको मार डालते थे, यथा—'कतहुँ होइ निसिचर सैं भेंटा । लेहिं प्रान एक एक चपेटा ॥ ४ । २४ ।' पर यहाँ छोड़ देते हैं । कारण कि पूर्व यह समझा करते थे कि यही रावण है; दूसरे, पूर्व यह चिन्ता न थी कि वह रावणसे जाकर कहे और इस समय रावणतक अपने आगमनका समाचार पहुँचाना है जिसमें और भी निशिचरोंकी यही दशा कर सकें ।

नोट—'कहि प्रभु सुजसु' । यथा—'कपिलीला करि तिन्हहिं डेरावहिं । रामचंद्र कर सुजस सुनावहिं ॥ ४३ । ५ ।', 'कपि भालु चढ़ि मंदिरन्ह जहँ तहँ रामजस गावत भये ।४० ।' तथा यहाँ रामका सुयश सुनाते हैं—शूर्पणखाकी गति,

खरदूषणादिका वध, बालीवध इत्यादि सुयश है; पुनः कुछ लोग 'कहि' का भाव यह भी कहते हैं कि उनसे कहते हैं कि, 'रामचन्द्रजीकी जय कहो'। जब वह कहता है तब जाने देते हैं। 'कहि' का अर्थ 'कहो' भी होता है।

वि० त्रि०—सम्भावना यह थी कि यद्यपि सेतुबन्धमें शत्रुकी ओरसे कोई बाधा नहीं हुई, पर पार जाते ही शत्रुसे मुठभेड़ बिना हुए नहीं रहेगी, अतः पार पहुँचनेपर भी सेना जमी हुई एकत्रित थी, पर जब सरकार स्वयं आ गये, डेरा भी डाल दिया, पर शत्रुकी ओरसे कोई रुकावट नहीं हुई, तो सरकारने बंदरोंको स्वेच्छानुसार जाकर फल-मूल खानेकी आज्ञा दे दी। भूखे बंदरोंने पहिले तो फल खाये, और फिर शत्रुके साथ छेड़-छाड़ करनेके लिये उत्पात आरम्भ किया। असंख्य बंदर हैं, पेड़ हिलाना जो आरम्भ किया तो सम्पूर्ण वन काँपने लगा। इतनेपर भी सगबगाते न देखकर स्वयं लङ्काकी ओर पर्वत-शिखर फेंकने लगे। युद्धके लिये बड़ा उत्साह है, पर कोई राक्षस दिखलायी ही नहीं पड़ रहे हैं। और तो कोई मिले नहीं, जो वनमें विचरते थे, वे बंदरोंके हाथमें पड़ गये, वे बंदी हो गये। बंदर लोग जानते ही हैं कि स्वातन्त्र्य खो देनेपर नाचना पड़ता है (यथा—'धन्य कीस जो निज प्रभु काजा। जहँ तहँ नाचहि परिहरि लाजा') अतः जहाँ-तहाँ उन्हें घेर-घेरकर तमाशाइयोंकी तरह खड़े हो गये, और उन्हें मार-मारकर नचाने लगे। एक प्रकारका नाच पसंद न आनेपर दूसरे प्रकारसे नाचनेके लिये विवश करते थे, इस तरह अनेक नाच नचाते थे। देखा कि इसे पूँछ तो है नहीं जिसे काटकर हनुमान्‌जीका बदला चुकावें, अतः नाक-कान काट लेते थे। शस्त्र कोई था नहीं अतः दाँतोंसे ही शस्त्रका काम लिया। भाव यह कि बिना नाक-कानका होकर वह जब जायगा, तब रावण किलेसे बाहर निकलेंगे (यथा—'पूँछहीन बानर जब जाइहि। तब सठ निज नाथहि लै आइहि'), पर जिसकी इतनी दुर्दशा की उसका कुछ भला भी करना चाहिये, अतः 'राजा रामचन्द्रजीकी जय' कहलाकर तभी उसका पिण्ड छोड़ते थे (यह—'बिबसहु जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं' का उदाहरण है।

जिन्ह कर नासा कान निपाता। तिन्ह रावनहि कही सब बाता॥ ९॥
सुनत श्रवन बारिधि बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना॥ १०॥

शब्दार्थ—निपातना=काटकर गिराना, नष्ट करना, यथा—'केहि तव नासा कान निपाता'। बन्धान=पुलका बाँधा जाना।

अर्थ—जिनके नाक-कान काट डाले गये, उन्होंने रावणसे सब बातें कहीं॥ ९॥ कानोंसे समुद्रपर सेतुका बाँधा जाना सुनते ही रावण घबराकर दसों मुखोंसे बोल उठा॥ १०॥

नोट—'कही सब बाता' अर्थात् सेतुबन्धन, सेनासहित श्रीरामजीका लङ्कामें आगमन, अपार सेना, सेनाका बल, वृक्षादिका तोड़ना, अपना नचाया और नाक-कान काटा जाना एवं रावणको चुनौती देना इत्यादि 'सब बातें' हैं। अपनी बीती सब कही।

२ (क) 'बोलि उठा अकुलाना'। आकुलताका कारण है कि वह स्वप्नमें भी नहीं समझता था कि सेना इस पार आ सकती है या सेतु बँध सकता है। यथा वाल्मीकीये युद्धकाण्डे—

'नहि शक्तिं प्रपश्यामि जगत्यन्यस्य कस्यचित्। सागरं वानरैस्तीर्त्वा निश्चयेन जयो मम॥ १२। २६॥',
'समग्रं सागरं तीर्णं दुस्तरं वानरं बलम्। अभूतपूर्वं रामेण सागरे सेतुबन्धनम्॥ २५। २॥'

अर्थात् वानर उस पारसे हमें जीतनेमें समर्थ नहीं हो सकते और जगत्‌में किसीकी शक्ति नहीं जो इस पार लड़ने आवे। सेतुबन्धका समाचार पा शुकसारन मन्त्रियोंको रावणने बुलाकर कहा कि पुल बाँधकर सेना आ गयी। हमने कभी किसीको ऐसा कार्य करते नहीं देखा। यह अभूतपूर्व आश्चर्यजनक कार्य हुआ—८(७) देखिये। पुनः यथा—'जिन्हके जीवन कर रखवारा। भयउ मृदुलचित सिन्धु बिचारा॥ सुं० ५३।', 'सुंदर सहज अगम अनुमानी। कीन्हि तहाँ रावन रजधानी॥ १। १७८।'

मन्दोदरी, माल्यवान् आदि सभीने सेतुबन्धन होनेसे ही प्रभुका मनुष्य न होना निश्चय किया है। (ख) दशों मुखोंसे एक साथ बोल उठा इसीसे 'दशमुख' नाम दिया। यही व्याकुलताका स्वरूप है जैसा आगे कहते हैं।

दो०—बाँध्यो बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस।
सत्य तोयनिधि कंपति* उदधि पयोधि नदीस॥ ५॥

बन, नीर, वारि, तोय, कं० उद् और पय सबका अर्थ जल है।

अर्थ—क्या सत्य ही बननिधि, नीरनिधि, जलधि, सिन्धु, वारीश, तोयनिधि, कम्पति, उदधि, पयोधि, नदीशको बाँध लिया? ॥ ५॥

नोट—रावणके दसमुख थे पर बोलता एक समय एक ही मुखसे था। इस समय समुद्र-बन्धनरूपी दुष्कर कर्म सुनकर घबरा गया, चित्त विशेष भ्रमित हो गया, इसी घबराहटमें समाचार देनेवालोंसे वह एक साथ ही दशों मुखोंसे समुद्रका एक-एक नाम लेता हुआ पूछने लगा कि क्या सत्य ही ऐसा हुआ? यथा सु० र० भ० चित्रप्रकरणे श्लो० ६१—

'श्रुत्वा सागरबन्धनं दशशिराः सर्वैर्मुखैरेकदा तूर्णं पृच्छति वार्तिकान् सचकितो भीत्या परं सम्भ्रमात्।
बद्धः सत्यमपांनिधिर्जलनिधिः कीलालधिस्तोयधिः पाथोधिर्जलधिः पयोधिरुदधिर्वारान्निधिर्वारिधिः॥'

'सत्य' पदसे जनाया कि उसको विश्वास न होता था कि ऐसा सम्भव है। उसने शुकसारनसे कहा भी है कि समुद्रपर सेतु बाँधनेकी बातको मैं किसी प्रकार विश्वास नहीं कर सकता, यथा—'सागरे सेतुबन्धं तं श्रद्दध्यां कथंचन' (वाल्मी० ६। २५। ३)।

रावणके दशों मुखोंसे दस नाम निकले। इस सम्बन्धमें वन्दनपाठकजीने निम्न श्लोक किसी नाटकके दिये हैं, उनसे मिलान कीजिये—

पाषाणः पयसि प्रसन्नवपुषस्तिष्ठन्ति सेतुङ्कृताः श्रुत्वैवं वदतां दसाननधरः क्रुद्धः समुद्रं प्रति।
धिक् त्वां नाम तवाम्बुधिः सलिलधिः पानीयधिस्तोयधिः पाथोधिर्जलधिः पयोधिरुदधिर्वारान्निधिर्वारिधिः॥ १॥
पीतस्त्वं कलशोद्भवेन मुनिना ध्वस्तोऽसि देवासुरैराबद्धोऽसि च रामनाम हरिणा शाखामृगैर्लङ्घितः।
नाम्नामारभटी तथैव भवतो लोकैरिवोद्घुष्यते पाथोधिर्जलधिः पयोधिरुदधिर्वारान्निधिर्वारिधिः॥ २॥

पं० रा० चं० शुक्लजी—१ 'आश्चर्यको लेकर कविजन 'अद्‌भुत रस' का विधान करते हैं जिसमें कुतूहलवर्द्धक बातें हुआ करती हैं। पर इसका 'आश्चर्य' से मिलता-जुलता एक और हलका भाव होता है जिसे, कोई और अच्छा नाम न मिलनेके कारण हम 'चकपकाहट' कह सकते हैं और आश्चर्यके संचारीके रूपमें रख सकते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञानियोंने दोनों (Wonder और Surprise) में भेद किया है। आश्चर्य किसी विलक्षण बातपर होता है—ऐसी बातपर होता है जो साधारणतः नहीं हुआ करती। 'चकपकाहट' किसी ऐसी बातपर होती है जिसकी कुछ भी धारणा हमारे मनमें न रही हो और जो एकाएक हो जाय। जैसे किसी दूर देशमें रहनेवाले मित्रको सहसा अपने सामने देखकर हम 'चकपका' उठते हैं। रामका सेतु बाँधना सुन रावण चकपकाकर कहता है—'बाँधे बननिधि? नीरनिधि?' इत्यादि। यह ऐसा ही है जैसा सहसा किसीका मरना सुनकर चकपकाकर पूछना—'अरे कौन? रामप्रसादके बाप? माताप्रसादके लड़के? शिवप्रसादके भाई? अमुक स्टेटके मैनेजर?' इस भावका प्रत्यक्षीकरण भी यह सूचित करता है कि गोस्वामीजी सब भावोंको अपने अन्तःकरणमें देखनेवाले थे, केवल लक्षण-ग्रन्थोंमें देखकर उनका सन्निवेश करने-वाले नहीं।

२—स्वभावोक्तिका यह बड़ा ही अनोखा दृष्टान्त है। रावण भयसे अत्यन्त व्याकुल हो घबरा उठा यह उसके दशों मुखसे एक साथ ही दस भिन्न-भिन्न नामोंके सहसा निकल जानेसे ही दिखला दिया है।

* कंपती—(गौड़जी)।

वीरकवि—यहाँ भय या व्याकुलताकी विप्सा है। घबराहटसे चित्तका विभ्रम होना आवेग संचारी भाव है।

निज बिकलता* बिचारि बहोरी। बिहँसि गएउ गृह करि भय भोरी॥ १॥

शब्दार्थ—भोरी करना=भुलाना।

अर्थ—फिर अपनी व्याकुलताको विचारकर, डरको भुलाकर और हँसकर वह महलमें चला गया॥ १॥

नोट—'बिचारि बहोरी'। भाव कि जब बेबसकी तरह दशों मुखोंसे वही एक बात दश प्रकारसे निकल गयी तब वह स्वयं मनमें लज्जित हुआ कि मुझसे यह क्या हो गया। मैं ऐसा घबरा गया कि अपने ऊपर अपना वश न रह गया। तब यह सोचकर कि सभासद् एवं समाचार देनेवाले सब समझेंगे कि मैं डर गया, वह अपनी व्याकुलता और भय छिपानेके लिये हँस दिया कि सेतुबंधनसे क्या होता है। यथा 'यदि तावत्समुद्रे तु सेतुर्बद्धो यदृच्छया। रामेण विस्मयः कोऽत्र येन ते भयमागतम्॥' (वाल्मी० ३६। १२ रावणवचन माल्यवान्प्रति) अर्थात् रामने अकस्मात् पुल बाँध लिया तो इसमें विस्मयकी क्या बात है जो तुम सब डर गये। इस तरह हँसकर शत्रुका निरादर किया।

२—यह सोचकर घर चला गया कि ऐसा न हो कि फिर ऐसी ही कोई बात निकल पड़े। (वै०)। और, सभाको इससे यह जनाया कि कोई चिंताकी बात नहीं है, सब जाकर सुखसे विश्राम करो। पुनः 'करि भय भोरी' का यह भी भाव हो सकता है कि इतनेपर भी वह निर्भय होकर भोग-विलासके लिये महलमें गया, भयको भुला दिया। यथा—'परम प्रबल रिपु सीसपर तदपि न सोच न त्रास॥ १०॥'

३—किसीका मत है कि रावणको किसीने यह बताया था कि जब तेरे दशों मुखोंसे एक साथ ही एक ही बातके लिये दस शब्द निकल पड़ें तब जान लेना कि तेरा काल आ गया। यह विचार उसके मनमें आया। पर इसकी भी उसने परवा न की।

—मन्दोदरीका रावणको द्वितीय बार उपदेश—

मंदोदरी सुन्यो प्रभु आयो। कौतुकही पाथोधि बँधायो॥ २॥
कर गहि पतिहि भवन निज आनी। बोली परम मनोहर† बानी॥ ३॥

शब्दार्थ—पाथोधि=समुद्र। पाथ=जल।

अर्थ—मंदोदरीने सुना कि प्रभु आए हैं और खेलहीमें उन्होंने समुद्र बँधा लिया॥ २॥ हाथ पकड़कर पतिको अपने महलमें लाकर वह अत्यन्त सुन्दर वाणी बोली॥ ३॥

नोट—१ 'सुन्यो'। दूतियोंसे सुना, यथा—'दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी। मंदोदरी अधिक अकुलानी'—(सुं० ३५) प्रथम प्रभुका सेनासहित लंकामें आना सुना, तब सेतु बँधवाना सुना, अतएव उसी क्रमसे लिखा। प्रथम वानरसेनाको फल खाते देख आगमन जाना, पीछे पता लगानेपर कि कैसे आए, सेतुबन्धन जाना वैसा ही दूतियोंने कहा।

२ 'प्रभु आयो' इति। कौतुकसे ही समुद्र बँधा लिया; अतएव 'प्रभु' पद दिया। यथा—'सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ। अब बिलंबु केहि काम। करहु सेतु उतरइ कटकु॥' भाव यह कि समुद्रमें पुल बाँधना असम्भव था सो इन्होंने खेलमें वानरोंसे बँधा लिया; अतएव ये 'प्रभु' ही हैं। ये सब कुछ करनेको समर्थ हैं।

३ 'कौतुकही' अर्थात् सेतुरचनामें किंचित् श्रम न हुआ। यथा—'करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं', 'कौतुक एक भालु कपि करहू', 'अति उतंग तरु सैल गन लीलहि लेहिं उठाइ। आनि देहिं नल नीलहिं रचहिं ते सेतु बनाइ'॥

* यह पाठ का० और भा० दा० में है। 'व्याकुलता निज समुझि'—ना० प्र०। † अति बिनीत मृदु।

'कर गहि पतिहि भवन निज आनी'

पं०—हाथ पकड़कर लाना—(१) सम्मान है। वा, (२) इससे कि किसी और रानीके महलमें न चले जायँ। उपदेश करनेके लिये संग ले आयी। पुनः (३) ग्रन्थकारका अभिप्राय यह भी है कि निशिचरोंके नाक-कान कटे देख और सेतुबन्धन सुनकर भी यह नहीं समझता, अतएव मानो अन्धा जानकर हाथ पकड़कर लायी। यथा—'परसुराम से सूर सिरोमनि पलमें भए खेल के धोखे। कालिकी बात बालि की सुधि करि समुझहि ता हित खोलि झरोखे॥ जासु प्रसाद जनमि जग पुरखनि सागर सृजे खने अरु सोखे। तुलसिदास सो स्वामि न सूझत नयन बीस मंदिर के से मोखे॥ गी० ५। १२॥'

पां०—रावण घबराया हुआ है, मन्दोदरी उसकी दशा देख एवं सिखावनका उत्तम अवसर जान उसे हाथ पकड़कर अपने महलमें ले गयी।

वीर—हृदयमें भयका स्थायीभाव होनेसे रावण रंगमहलका मार्ग भूल गया, तब मंदोदरी हाथ पकड़कर मंदिर-में ले गयी।

वि० त्रि०—रावण सपनेमें भी नहीं सोचते थे कि रामजी समुद्रपर सेतु बाँधकर इस पार आ सकेंगे। इस समाचारसे अत्यन्त विकल हो गये। असावधानताके कारण दशो मुखसे 'समुद्र' शब्द निकल पड़ा। भरे दरबारकी बात है, फैलते देर न लगी। मन्दोदरीने भी सुना। तबतक रावणकी सवारी आ गयी। मन्दोदरी समझती थी कि आज ये मेरे महलमें नहीं आवेंगे, किसीका समझाना इन्हें अच्छा नहीं लगता, अतः किसी दूसरे महलमें न चले जायँ, अतः हाथ पकड़कर अपने महलमें ले गयी। उसे आज रावणको समझाना है; जीवन-मरणका प्रश्न उपस्थित है। युद्धारम्भ हो जानेपर समझानेका अवसर नहीं रह जाता, और अभिमानी पुरुष दस आदमीके बीचमें समझानेमें अपनी अप्रतिष्ठा मानता है, अतः रावणके पास गयी; देखा कि सचमुच दूसरे महलकी ओर चले जा रहे हैं, अतः हाथ पकड़ लिया और अपने महलमें ले गयी।

बं० पा०—भाव कि आपने हमारा पाणिग्रहण किया है, इसलिये मुझको अधिकार है कि आपको हाथ पकड़कर महलमें ले चलूँ।

नोट—'परम मनोहर'। पतिकी रक्षाके वचन हैं और इसमें रामयश भी है। अतः 'परम मनोहर' विशेषण दिया।

चरन नाइ सिरु अंचल रोपा। सुनहु बचन पिय परिहरि कोपा॥ ४॥

शब्दार्थ—अंचल=साड़ी वा दुपट्टेका वह भाग जो सिरपरसे होता हुआ सामने छातीपर फैला हो। छोर, अँचरा। रोपना=फैलाना, पसारना। अंचल रोपना—गुरुजनों या देवताओंसे माँगनेके समय स्त्रियाँ अंचलको दोनों हाथोंसे आगे फैलाती हैं जिससे वे अपनी दीनता और उद्वेग जनाती हैं। यह दीनता और विनयकी मुद्रा है।

अर्थ—चरणोंमें माथा नवाकर आँचल पसारा। (और बोली) हे प्राणप्रिय! क्रोध छोड़कर मेरा वचन सुनिये॥ ४॥

यहाँ दिखाते हैं कि विनती किस प्रकार करनी चाहिये। मन्दोदरीने किस रीतिसे विनती की। अवधपुरकी स्त्रियाँ देवताओंको मनाती हैं कि राम राजा हों, जानकीजी रानी हों, इत्यादि; तब वे भी इसी तरह विनय कर रही हैं, यथा—'रमारमनपद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥ राजा राम जानकी रानी।'''अछत रामराजा अवध मरिय माँग सब कोउ॥ अ० २७३॥' वैसे ही यहाँ मन्दोदरी अंचल पसार, चरणोंमें सिर नवा, विनय करके रावणसे माँगती है कि 'मम अहिवात न जाइ'॥

पं०—पतिव्रताको इसी तरह विनय करना उचित है।

रा० प्र०—चरणोंमें सिर धर आँचर पसारनेका भाव यह है कि मेरे माँग और कोखकी कुशल आपहीकी सुमतिके अधीन है।

'परिहरि कोपा'

क्रोध छोड़कर वचन सुननेको कहा; क्योंकि क्रोधमें मनुष्य समझता नहीं, न उपदेश वा विनयका कुछ प्रभाव ही पड़ता है। यथा—'सुनत बालि क्रोधातुर धावा। गहि कर चरन नारि समुझावा ॥' ताराने वालीको समझाया, पर वह न समझा, उसे उपदेश न लगा क्योंकि वह क्रोधावेशमें था। पुनः यथा—'नाथ कृपा करि पूछेहु जैसे। मानहु कहा क्रोध तजि तैसे ॥ (इति शुकवचनात् ५। ५४), 'सुनहु बचन मम परिहरि क्रोधा ॥ ५।५७।४॥'

मुं० राजबहादुर लमगोड़ा—'पिया' का प्यारा शब्द, वह शब्द जिसको हिंदू स्त्रियाँ अपने प्रेमभरे सच्चे भावोंके प्रकट करनेको संसारके कानोंसे दूर प्रयोग करती हैं, इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि पत्नीत्वके स्वत्वपर मन्दोदरीको पूरा विश्वास है और पतिके भावोंके उभारनेकी पूर्ण चेष्टा की जा रही है।

बं० पा०—'पिय' अर्थात् हमारे पोषणकर्ता हो, हमपर कोप न करके बात सुनो। पाणिग्रहणके समय स्त्रीके तीन अपराध क्षमा करनेकी प्रतिज्ञा पति करता है। इस प्रकार भी क्रोध छोड़कर सुननेको कह सकती है पुनः, पिय=प्राणपति, प्रिय। प्रियको क्रोध न करना चाहिये।

पं०—कोप त्याग करनेको कहा। यह कोप किसपर है? भाव यह है कि यदि सभामें किसीपर कुपित हुए हो तो उस कोपको छोड़ दो एवं मुझपर भी कोप न करना।

प० प० प्र०—यह मन्दोदरीका रावणको दूसरी बार समझाना है। (प्रथम बार सुन्दरकाण्डमें समझाया था। सुं० ३६ (५) से ३६ तक) ।प्रथम उपदेशमें 'कंत करष हरिसन परिहरहू' ऐसा कहा था और यहाँ 'सुनहु परिहरि क्रोधा' ऐसा कहा। दोनोंमें भाषणका आरम्भ शृंगाररसमें ही किया है। ५। ३६। ६ देखिये। 'परिहरि क्रोधा' में यह भी भाव है कि श्रीरामचन्द्रजीपर क्रोध करना छोड़ दीजिये। इस भावकी पुष्टि 'खलु खद्योत दिनकरहि जैसा' और 'नाथ बैरु कीजे ताही सों ॥…' से होती है।

नोट—जब कोई रावणसे रिपुका उत्कर्ष कहता है या श्रीजानकीको लौटानेकी बात करता है तब उसे क्रोध होता है। यथा—'जब तेहि कहा देन बैदेही। चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही ॥ सु० ५७॥', 'रिपु उतकर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ है कोऊ ॥…सुनत दसानन उठा रिसाई ॥५।४०।३, ।४१।' इत्यादि। और, मन्दोदरी भी दोनों तरहकी बात कहनेको है; इसीसे प्रथम ही कोप छोड़कर सुननेकी प्रार्थना करती है। वह तीन उदाहरण (माल्यवान्, विभीषण और शुकके) देख चुकी है।

पा०—रावणको भय हुआ है पर वीरमें भय कहना योग्य नहीं है, इससे भय न कहकर कोप कहती है।

नाथ बयरु कीजे ताही सों। बुधि बल सकिअ जीति जाही सों ॥ ५ ॥
तुम्हहि रघुपतिहि अंतरु कैसा। खलु खद्योत दिनकरहि जैसा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—अंतर=बीच, फर्क। खलु=निश्चय, अवश्य, यथा—'तव प्रभाउ बड़वानलहि जारि सकै खलु तूल'। खद्योत=जुगनू।

अर्थ—हे नाथ! वैर उसीसे करना चाहिये जिससे बुद्धि और बलसे जीत हो सकती हो ॥ ५ ॥ आपमें और रघुनाथजीमें निश्चय ही कैसा (बड़ा) अन्तर है जैसा निश्चय ही जुगनू और सूर्यमें है ॥ ६ ॥

मिलानके श्लोक १—'शक्यो न राघवो जेतुं त्वया चान्यैः कदाचन। रामो देववरः साक्षात्प्रधान पुरुषेश्वरः ॥" (अ० रा० १०। ४५॥ अर्थात् (मेघनादवधके बाद मन्दोदरीने रावणको समझाया है कि) तुम या कोई भी राघवको जीत नहीं सकते, वे देवश्रेष्ठ साक्षात् प्रधानपुरुष ईश्वर हैं।

२—'हीयमानेन कर्तव्यो राज्ञा संधिः समेन च। न शत्रुमवमन्येत ज्यायान्कुर्वीत विग्रहम् ॥'—(वाल्मी० ३५। ९)। माल्यवान्ने कहा कि जब राजाकी शक्ति हीन हो या उसका शत्रु उसके समान बलवान् हो तो उसे सन्धि कर लेनी चाहिये और यदि बली हो तो विग्रह करे।

३—'बलिना सह संधिः स्यादबलेन च विग्रहः। तेनैव सह वैरत्वं बुद्ध्या जेतव्य एव यः॥' (शुक्रनीतौ)। अर्थात् बलवान्‌के साथ मिलाप और प्रबलके साथ विरोध होता है, उसीसे वैर करे जो बुद्धिसे जीता जाने योग्य हो।

नोट—१ 'नाथ बयरु कीजे''' इति। (क) 'नाथ' का भाव कि ऐसा न करनेसे मैं अनाथा हो जाऊँगी। पुनः, भाव कि आप इनको बुद्धि और बलद्वारा जीत नहीं सकते, अवश्य आपकी मृत्यु होगी, यदि आप इनसे वैर करेंगे। वैर करनेसे वह जीतेजी अनाथ हुई भी, यथा—'धरि केस नारि निकारि बाहेर तेऽति दीन पुकारहीं॥ ८४॥' पुनः भाव कि वैर करनेसे आपकी दशा भी अनाथकी-सी हो जायगी। यथा—'भुजबल जितेहु काल जम साईं। आजु परेहु अनाथ की नाईं॥ १०३। ८।' यहाँ उदाहरण अलंकार है।

(ख) बुद्धि और बल दो कहे; क्योंकि शत्रुपर जयके लिये ये ही दो मुख्य हैं, यथा—'जात पवनसुत देवन्ह देखा। जानै कहुँ बल बुद्धि बिसेषा॥ सुरसा नाम अहिन्ह कै माता। पठइन्हि''सुं० २। १।' 'मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा। बुधि बल मर्म तोर मैं पावा॥ रामकाजु सब करिहहु तुम्ह बलबुद्धिनिधान। सुं० २।', 'देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहा जानकी जाहु॥०० सुं० १७।' भाव यह कि जब शत्रुके बल और बुद्धिसे अपनेमें अधिक बल और बुद्धि हो तभी शत्रुके सम्मुख जाना, उससे वैर करना चाहिये; नहीं तो कुछ देकर संधि कर ले। देखिये, जब बुद्धिबलसे हनुमान्‌जी रावणसे पार न पा सके तब उन्होंने प्रभुका स्मरण किया, यथा—'बुधि बल निसिचर परइ न पारयो। तब मारुतसुत प्रभु संभारयो। ९४। ८।' (ग) मिलान कीजिये—'प्रीति बिरोध समान सन करिअ नीति असि आहि। २३।' (अङ्गदवाक्य रावणप्रति)।

वं० पा०—'तुम्हहि रघुपतिहि अंतर कैसा।००' भाव यह कि जिनको तुमने परास्त किया, जिनपर विजय पायी, वे सब जीव हैं और ये राम 'रघुपति' हैं अर्थात् जीवमात्र (रघु=जीव, यथा—'रघु—र्जीवात्मबुद्धिश्च भोक्ता भुक् चेतनस्तथा' इति विश्वकोशे) के रक्षक ईश्वर हैं। इसलिये तुमसे उनसे बड़ा अन्तर हुआ। यह कहकर इसपर दृष्टान्त देती है, खद्योत और दिनकरका। जीव खद्योतसम किञ्चित् प्रकाशवाला है, यथा—'किंचिद् प्रकाश ममैवांशो जीव लोके' और राम सूर्यवत् हैं, यथा—'राम सच्चिदानंद दिनेसा। सहज प्रकाशरूप भगवाना॥ पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रगट परावर नाथ। १। ११६। ५।—११६।' जीव ईश्वरांश है। श्रीरामजी जीवके भी प्रकाशक हैं। यथा—'विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥ सब कर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई। १। ११७। ५-६।' अंश अंशीकी, प्रकाश्य प्रकाशककी बराबरी कैसे कर सकता है। अतः जीव और ईश्वरका विरोध किसी प्रकार नहीं बनता। इसपर यदि रावण कहे कि उन्हें ईश्वर कैसे मान लें तो उसपर पुराणोंका प्रमाण देती है।

नोट—२ 'खद्योत दिनकरहि जैसा'। भाव कि जैसे जुगुनू असंख्य भी क्यों न हों पर उनसे रातका अन्धकार दूर नहीं हो सकता और सूर्य अकेला ही है पर उसके उदयसे अन्धकार कहीं नहीं देख पड़ता; तब जुगुनू सूर्यके समान कैसे कहा जा सकता है। यथा—'निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै। जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै। ७। ९२।' वैसे ही तुम्हारे समान यदि असंख्य रावण भी एकत्र होकर श्रीरामजीकी बराबरी करनेका विचार करें तो उपहास योग्य ही होंगे। पुनः, भाव कि खद्योतका प्रकाश तभीतक है जबतक सूर्योदय नहीं होता, इसी तरह तुम अबतक जगमगाते रहे जबतक रघुनाथजी यहाँ तुम्हारा प्रकाश हरने नहीं आये थे, पर अब वह जगमगाहट दूर होती जा रही है। आशय यह है कि जबतक उनके बाण नहीं चलते तबतक उपाय कर लो। राम बाणका चलना रविका उदय है, यथा—'रामबान रबि उए जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की। सुं० १६।' जब अँधेरा ही न रहेगा तब तुम्हारी जगमगाहट कहाँ देख पड़ेगी?

३ 'खलु खद्योत दिनकरहि जैसा' इति। यही आशय श्रीसीताजीके 'सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा॥ अस मन समुझु कहति जानकी। ५। ९। ७—८।' इन वचनोंका है अर्थात् तू खद्योत-समान है और रघुनाथजी सूर्य हैं। इस बातको समझकर रावण श्रीसीताजीको मारने दौड़ा था, यथा—'आपुहि सुनि खद्योत सम रामहि भानु समान। परुष बचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसियान। सुं० ९।' मन्दोदरीने

उससे भी अधिक कह डाला। इनके वचनमें 'खलु' शब्द बड़ा मार्मिक है। मन्दोदरी कहती है कि सीताजीने जो तुमको 'खद्योत' और रामजीको 'भानु' कहा था, वह यथार्थ है, इसमें किञ्चित् झूठ नहीं है। तुम निश्चय ही खद्योतसम हो, यद्यपि तुम सीताके वचनपर कुपित हुए थे। इस प्रकार सीताजीके वाक्यका यहाँ इसने समर्थन किया। पर रावणने क्रोध न किया; क्योंकि वह प्रथम ही प्रार्थना कर चुकी है (प्र० सं०)। अथवा, क्रोध न करनेका कारण एकमात्र यह है कि मन्दोदरी पतिव्रता, पटरानी तथा प्रिय पत्नी है। पुरुष अपनी प्रिय पत्नीके अपमानकारक वचन सह सकता है, पर दूसरोंके नहीं। यह कामी पुरुषोंका स्वभाव ही है। नहीं तो विभीषण और शुकने भी तो प्रथम ही क्रोध न करनेकी प्रार्थना की थी तब उनपर क्रोध क्यों किया? (प० प० प्र०)।

अति बल मधु कैटभ जेहि मारे। महाबीर दितिसुत संघारे॥ ७॥
जेहि बलि बाँधि सहसभुज मारा। सोइ अवतरेउ हरन महि भारा॥ ८॥

शब्दार्थ—मधु-कैटभ—ये दोनों दैत्य थे। मधु बड़ा भाई है और कैटभ छोटा। दितिसुत=हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु।

अर्थ—जिन्होंने अत्यन्त बलवान् मधु और कैटभ दैत्योंको मारा और बड़े भारी वीर दितिपुत्र हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुका नाश किया॥ ७॥ जिन्होंने दैत्यराज बलिको बाँधा और सहस्रबाहुको मारा, वे ही पृथ्वीका भार हरनेके लिये अवतरे हैं॥ ८॥

नोट—१ सृष्टिके आदिसे क्रमानुसार जो महाबली वीर हुए उन्हें मन्दोदरी गिनाती है। ये वीर ऐसे हुए कि इनके समयमें इनके समान दूसरा वीर न था। इनके मारनेके लिये स्वयं भगवान्‌को ही आना पड़ा।

२ ☞ 'महाबीर दितिसुत संघारे·····महि भारा।' इति। इन तीन चरणोंकी जोड़में अ० रा० सर्ग १० में ये श्लोक हैं—'हिरण्याक्षोऽतिदुर्वृत्तो हतोऽनेन महात्मना। क्रोडरूपेण वपुषा क्षोणीमुद्धरता क्वचित्॥ ४८। त्रिलोककण्टकं दैत्यं हिरण्यकशिपुं पुरा। हतवान्नारसिंहेन वपुषा रघुनन्दनः॥ ४९॥ विक्रमैस्त्रिभिरेवासौ बलिं बद्ध्वा जगत्त्रयम्। आक्रम्यादात्सुरेन्द्राय भृत्याय रघुसत्तमः॥ ५०॥ राक्षसाः क्षत्रियाकारा जाता भूमेर्भरावहाः। तान्हत्वा बहुशो रामो भुवं जित्वा ह्यदान्मुनेः॥ ५१॥ स एव साम्प्रतं जातो रघुवंशे परात्परः। —(अ० रा० १० मन्दोदरीवाक्य)। अर्थात् किसी समय वराहरूप धारणकर पृथ्वीका उद्धार करते समय इन्हीं महात्माने महादुराचारी हिरण्याक्ष दैत्यको मारा था। इन रघुनन्दनने ही नृसिंह शरीरसे त्रिलोकीके कण्टकरूप हिरण्यकशिपु दैत्यको मारा था। इन्हीं रघुश्रेष्ठने (वामन अवतार लेकर) बलिको बाँधकर सम्पूर्ण त्रिलोकीको तीन ही पगोंसे नापकर अपने सेवक इन्द्रको दे दिया था। जिस समय राक्षसगण क्षत्रियरूपसे उत्पन्न होकर पृथ्वीके भाररूप हुए तब इन्हींने परशुरामरूपसे उन्हें कई बार संग्राममें मारा और पृथिवीको जीतकर उसे कश्यप मुनिको दे दिया। इस समय वे ही परात्पर प्रभु रघुवंशमें रामरूपसे अवतीर्ण हुए हैं। पाठक देखेंगे कि ये श्लोक मानसके उपर्युक्त तीन चरणोंकी व्याख्या ही हैं। अ० रा० में मधुकैटभको नहीं कहा है। और यह उपदेश मेघनादवधके पीछे हुआ है।

'मधु-कैटभ'—महाभारतके वनपर्व अध्याय २०३ में मार्कण्डेय ऋषिने युधिष्ठिरजीसे मधुकैटभका वृत्तान्त कहा है। ये दोनों दैत्य प्रलयके बाद श्रीमन्नारायणके नाभिकमलपर विराजमान ब्रह्माको देख उन्हें बारम्बार डरवाने लगे, तब भयभीत होकर ब्रह्माजीने कमलको हिलाया जिससे भगवान् योगनिद्रासे जाग पड़े और दोनों दैत्योंसे स्वागत-प्रश्न करके उनसे बोले कि मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे वर माँगो। तब वे बोले कि हम स्वयं वर दे सकते हैं, तुम जो चाहो हमसे वर माँग लो। भगवान्‌ने लोकहितार्थ उनसे वर माँगा कि तुम्हारी मृत्यु हमारे हाथ हो। एवमस्तु कहकर उन्होंने भगवान्‌से वर माँगा कि आप हमें खुले मैदानमें मारें और हम आपके पुत्र हों। भगवान्‌ने उन्हें अपनी जाँघोंपर रखकर चक्रसे उनका सिर काटा।—(हिन्दी महाभारत इंडियनप्रेससे)।

शिवसंहिता भव्योत्तर खण्डान्तर्गत श्रीरामार्चामें लिखा है कि श्रीमन्नारायणने प्रतिज्ञा की कि हम इनको मार लें तो रामार्चा करेंगे। इनका वध करके भगवान्‌ने रामार्चा की।

प० पु० सृष्टिखण्डमें कथा इस प्रकार है—

श्रीमन्नारायणजीके नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ जिसके सारभागका नाम पृथ्वी है और सारभागके भारी अंशको दिव्य पर्वत माना गया है । कमलके भीतर एक और कमल है जिसके भीतर एकार्णवके जलमें पृथिवीकी स्थिति मानी गयी है । इस कमलके चारों ओर चार समुद्र हैं । ब्रह्माजी उस एकार्णवके जलमें धीरे-धीरे पद्मरूप निधिकी रचना करने लगे । इसी समय तमोगुणसे उत्पन्न मधु नामका महान् असुर तथा रजोगुणसे उत्पन्न कैटभ नामधारी असुर ब्रह्माजीके कार्यमें विघ्नरूप होकर उपस्थित हुए । उन दोनोंके सब ओर मुख थे । उन्होंने ब्रह्माजीसे पूछा—"तुम कौन हो ? जिसने तुम्हें सृष्टिकार्यमें नियुक्त किया है वह तुम्हारा कौन है ? कौन तुम्हारा स्रष्टा है और कौन रक्षक है ? और वह किस नामसे पुकारा जाता है ?" प्रश्नोंका उत्तर पानेपर वे श्रीमन्नारायणके समीप गये और कहा कि 'देव ! हम आपसे हितकारी वरदान चाहते हैं । हम आपको नमस्कार करते हैं ।' भगवान्‌ने कहा कि तुम लोगोंकी आयु समाप्त हो चुकी, फिर भी तुम जीवित रहना चाहते हो, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ।' मधुकैटभने कहा—'प्रभो ! जिस स्थानमें किसीकी मृत्यु न हुई हो, वहीं हमारा वध हो—हमें इसी वरदानकी इच्छा है ।' एवमस्तु कहकर भगवान्‌ने उनको अपनी जङ्घापर गिराकर मारा ।

'दिति सुत' ।—इनकी कथा बा० २७, १ । १२२ (३–६) में दी गयी है । ये पूर्व श्रीमन्नारायणके (जय-विजय नामक) द्वारपाल थे । श्रीसनकादिक ऋषियोंके शापसे इन्हें तीन बार जन्म लेना पड़ा । श्रीमद्भागवतमें इनकी कथा विस्तारसे है । ये त्रैलोक्यविजयी हुए ।

'राजा बलि'—ये प्रह्लादके वंशज हैं । ये भक्त भी थे, यद्यपि दैत्यराज थे । भगवान्‌की इनसे किसी तरह न चली तब हारे दर्जा वामन अवतार धारणकर भिक्षाद्वारा उन्होंने इन्द्रको पुनः इन्द्रलोक दिया ।—इनकी संक्षिप्त कथा अ० ३० (७) और आ० ४ छंद ६ 'सचीपति प्रियानुज'में दी जा चुकी है ।

'सहसबाहु' ।–इनको परशुरामजीने मारा जो चौबीस अवतारोंमेंसे एक हैं । इनकी कथा १ । ४ । ३, २७२ (८), २ । २२९ । १· में दी गयी है ।

२—'अति बल' और 'महाबीर' पद देकर जनाया कि तुम बली और वीर ही हो और वे 'अति बली' और 'महावीर' थे । हिरण्यकशिपु ऐसा था कि उसके कवच और कुण्डल भी तुम्हारे उठाये न उठ सके, तब भला उनके मारनेवालेको तुम क्या जीत सकोगे ?

'सहसबाहु' का उदाहरण देकर जनाया कि उसके तो हजार भुजाएँ थीं और वह एक साथ ५०० धनुषपर बाण चला सकता था, सो उनको भगवान्‌ने काट गिराया । तब उसका वध किया, जिसमें उसके मनमें यह न रहे कि हम पराक्रम न दिखा सके । और तुम्हारे तो बीस ही भुजाएँ हैं तब तुम किस बिरतेपर अभिमान करते हो । दूसरे, सहसबाहुसे तुम हार चुके तब उसके मारनेवालेसे कब जीत सकते हो ?

३—प्रथम मधुकैटभको कहा–क्योंकि इनको भगवान्‌ने चतुर्भुज रूपसे मारा था । फिर हिरण्याक्षादि-को कहा जिनके लिये भिन्न-भिन्न अवतार प्रभुको धारण करने पड़े, क्योंकि वे वरदानद्वारा चतुर्भुजरूपसे अमर थे ।

४—**'सोइ अवतरेउ हरन महिभारा'** अर्थात् जिन्होंने श्रीमन्नारायणरूपसे मधुकैटभको मारा, वराहरूपसे हिरण्याक्ष-को, नृसिंहरूपसे कनककशिपुको मारा, वामनरूपसे बलिको छला और परशुरामरूपसे सहस्रार्जुनको जीता, वे ही अब पृथ्वीको निशिचरहीन करनेके लिये पुनः अवतरित हुए हैं ।

५—राक्षस महिभार हैं—यथा—**'गिरि सरि सिंधु भार नहि मोही । जस मोहि गरुअ एक परद्रोही ॥ सकल धरम देखै बिपरीता । कहि न सकै रावन भयभीता ॥ १ । १८४ ।'** इस भारके हरनेकी प्रतिज्ञा आकाशवाणीमें हुई थी—**'हरिहौं सकल भूमि गरुआई । निर्भय होहु देव समुदाई ॥ १ । १०७ । ७ ।'** फिर दण्डकारण्यमें भी हुई, यथा—**'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह । ३ । ९ ।'**

मन्दोदरी हनुमान्‌जी और विभीषणजीसे भी अवतार सुन चुकी है, यथा—'धरइ जो विविध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावनदाता॥ ५। २०। ७०।', 'तात राम नहिं नर भूपाला।···गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुष तनुधारी॥ जनरंजन भंजन खलब्राता।···सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन॥ ५। ३९।' अतएव वही बात वह स्वयं भी कह रही है।

६—मन्दोदरीने सीधे-सीधे न कहा कि ये भगवान् हैं। इतने उदाहरण देकर घुमाकर भगवान्‌का ही स्वयं अवतरित होना कहनेका कारण है। रावणको अपने बलका बड़ा अभिमान है, यथा—'बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइहि पारा। २८। ४।' 'उमा रावनहि अस अभिमाना। जिमि टिट्टिभ खग सूत उताना। ३९। ६।', 'बिहँसा जगत बिदित अभिमानी' इत्यादि। उदाहरणोंसे इसका अभिमान चूर्ण हो, तब ज्ञान होगा। अभिमान रहते उपदेश व्यर्थ होता है, यथा—'बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन। सुं० २२।' सीधे-सीधे कहनेसे हँसकर उड़ा देता। यहाँ 'प्रथम पर्यायोक्ति अलंकार' है।

गीतावली (६। १) मेंका मन्दोदरीकृत उपदेश मिलान करने योग्य है—

'मातु अजहूँ सिख परिहरि क्रोधु। पिय पूरो आयो अब काहि कहु करि रघुबीर-बिरोधु॥ १॥
जेहि ताड़का सुबाहु मारि मख राखि जनायो आपु। कौतुक ही मारीच नीच मिस प्रगट्यो बिसिष प्रतापु॥ २॥
सकल भूप बल गर्ब सहित तोर्‍यो कठोर सिव चापु। ब्याही जेहि जानकी जीति जग हर्‍यो परसुधर दापु॥ ३॥
कपट काक सासति प्रसाद करि बिनु स्रम बध्यो बिराधु। खरदूषन त्रिसिरा कबंध हति किये सुखी सुर साधु॥ ४॥
एकहि बान बालि मार्‍यो जेहि जो बल उदधि अगाधु। कहु धौं कंत कुसल बीती केहि किए राम अपराधु॥ ५॥
लाँघि न सके लोकबिजई तुम जासु अनुज कृत रेखु। उतरि सिंधु जार्‍यो प्रचारि पुर जाको दूत बिसेषु॥ ६॥
कृपासिंधु खलबन कृसानु सम जस गावत श्रुति सेषु। सोइ बिरदैत बीर कोसलपति नाथ समुझि जिय देखु॥ ७॥
मुनि पुलस्ति के जसमयंक महुँ कत कलंक हठि होहि। और प्रकार उबार नहीं कहूँ मैं देख्यों जग टोहि॥ ८॥
चलु मिलु बेगि कुसल सादर सिय सहित अग्र करि मोहि। तुलसिदास प्रभु सरन सब्द सुनि अभय करहिंगे तोहि॥ ९॥

गौड़जी—'सहसभुज मारा' कहकर 'सोइ अवतरेउ' कहनेसे यह ध्वनित होता है कि रावणको वाराह, नृसिंह, वामन और परशुरामके मधुकैटभारि विष्णु या नारायणके अवतार होनेका पूरा पता है, जिनमें परशुरामजी मौजूद हैं। धनुर्भङ्गके अनन्तर यह परशुरामका पराभव जरूर सुन चुका होगा। स्वयं बलि और सहस्रबाहुसे हार चुका है। मन्दोदरीका इशारा है कि जब तुम इन हारे हुओंसे हार चुके हो तो यह अवतार हैं इनसे कब जीत सकोगे।

तासु बिरोध न कीजिअ नाथा। काल करम जिव जाके हाथा॥ ९॥

अर्थ—हे नाथ! उनका विरोध न कीजिये कि जिनके हाथमें काल, कर्म और जीव हैं (अर्थात् जो काल, कर्म और जीवके नाथ हैं—तुम जीव हो तुम्हारे भी नाथ हैं* ॥ ९॥

टिप्पणी—१ काल सारे ब्रह्माण्डको नाश करता है। यथा—'अंड कटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥ ७। ९४। ८।' 'जो सुर असुर चराचर खाई। ५। २२।', 'कालो जयति भूतानि कालः संहरते प्रजाः'। अर्थात् काल संहारकर्ता है। कर्म जन्मका हेतु है, यथा—'जेहि जोनि जनमौं कर्म बस—कि० १० छं०।', एवं 'कर्मणा जायते जन्तुः' इति कर्मविपाके। चराचर जीव सब हाथमें हैं, यथा—'काल, करम, गति अगति जीवकी सब हरि हाथ तुम्हारे' इति विनये।

नोट—१ करुणासिंधुजी अर्थ करते हैं कि 'जीवका काल और कर्म जिसके हाथ है' और लिखते हैं कि जिस कालमें जीवको जैसी प्रेरणा कर्मानुसार प्रभु करते हैं वैसा ही कर्म जीव करता है और कर्मानुसार फल भोग करता है।

---

* 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है।—(वीर)।

नोट—२ हनुमान्‌जीके—'जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई। तासों बैर कबहुँ नहिं कीजै। ५। २२।' इस उपदेशसे मिलान कीजिये।

३ काल, कर्म और जीव तीनों श्रीरामजीके अधीन हैं, यथा हनुमानबाहुके—'माया जीव कालके करमके सुभावके करैया राम बेद कहैं साँची मन गुनिये।'

४ काल प्रभुके अधीन है, उनका रुख देखकर संहार करता है, यथा दोहावल्याम्—'काल बिलोकत ईस रुख भानु काल अनुहारि। ५०४।' कर्मके फलदाता भी प्रभु ही हैं, यथा—'काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥ ७। ४१।' 'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥' जीव भी उन्हींके अधीन है, जब वे इसपर करुणा करें तभी इसकी सद्‌गति हो सकती है, यथा—'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाउ गुन घेरा। कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ ७। ४४।', 'परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥ ७। ७८।', 'काल करम गति अगति जीव कै सब हरि हाथ तुम्हारे। वि० ११२।'

४—ध्वनि यह है कि वैर करोगे तो तुम अवश्य कालके हवाले कर दिये जाओगे और यदि वैर छोड़कर मिलोगे तो यदि तुम्हारा काल भी आ गया होगा तो भी वे तुम्हें छोड़ देंगे, तुम्हें अमर कर देंगे, इत्यादि। पुनः, कर्म उनके अधीन है अतएव जिस कर्मवश तुम राक्षस हुए उसे भी वे पलट देंगे और तुमको सद्‌गति देंगे। 'बैर न करो' का भाव कि जानकी दे दो, यथा—'तासों बैर कबहुँ नहिं कीजै। मोरे कहे जानकी दीजै'—(हनुमद्वाक्य)।

वं० पा०—भाव कि जब काल, कर्म, जीव सब उनके हाथ हैं तब तुम भी तो जीव ही हो; इसलिये तुम भी उन्हींके हाथ हो, तब क्या कर सकते हो?

दो०—रामहि सौंपि* जानकी नाइ कमलपद माथ।
सुत कहुँ राज समर्पि बन जाइ भजिअ रघुनाथ॥ ६॥

शब्दार्थ—समर्पि=समर्पण करके। समर्पण करना=आदर वा प्रतिष्ठापूर्वक देना, देना।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंमें माथा नवाकर उनको श्रीजानकीजी सौंपकर लड़केको राज्य दे वनमें जाकर श्रीरघुनाथजीका भजन कीजिये॥ ६॥

नोट १—(क) पूर्व कहा कि 'तासु बिरोध न कीजिअ,' अब बताती हैं कि विरोध कैसे मिटे? श्रीजानकीजीको दे देनेसे। (ख) 'सौंपि' का भाव कि श्रीजानकीजी उन्हींकी हैं, तुम्हारी नहीं हैं। यदि कहो कि हम तो हरण कर ले आये तब यह कैसे कहें, तो तुम यह कह सकोगे कि हमने अपने कुलमात्रके कल्याणार्थ ऐसा किया था, अब आपके यहाँ आनेसे हम सबका कल्याण निश्चय है अतः अब सौंपे देते हैं। 'जानकी' का भाव कि जैसे जनक-महाराजने समर्पण किया था वैसे ही तुम समर्पण करो, यथा—'हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्रीसागर दई। तिमि जनक रामहि सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई। १। ३२४ छंद।' विशेष वहीं छंदमें देखिये।

२—'नाइ पद कमल माथ'। क्योंकि एक तो वे प्रभु हैं, परब्रह्म परमात्मा हैं, दूसरे तुमने उनकी प्रियाका हरणरूपी अपराध किया है, उसके क्षमार्थ भी ऐसा करना योग्य है। तीसरे, ऐसा करनेसे वे तुमको अपना लेंगे, और अपराध भूलकर कृपा करेंगे, यथा—'सकृत प्रनाम किए अपनाए। २। २९९। ३।', 'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। वि० १३५।'

* सौंपहु—(का०)। सौंपिअ—(ना० प्र०)

३—'सुत कहुँ राज समर्पि बन०' इति। (क) वनमें जाकर रघुनाथजीका भजन करनेको कहती है। भाव यह कि तुम्हारा चौथापन है, चौथेपनमें शास्त्रानुशासन है कि राजा वनमें जाकर भगवद्भजन करे। यही बात वह आगे कहती है, यथा—**'संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथे पन जाइहि नृप कानन॥ तासु भजन कीजिअ तहँ भर्ता।'** दूसरे, घरमें विषयोंसे वैराग्य नहीं होता, यथा—**'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथ पन। हृदय बहुत दुख लाग जनम गएउ हरिभजन बिनु॥ १। १४२।'** (ख) विषयसे वैराग्य होनेके दो उपाय बताये। एक तो पुत्रको राज्य देना जिससे राज्यमें ममत्व न रह जायगा, दूसरे वनगमन जिससे परिवारभरकी ममता जाती रहेगी। पुनः, (ग) राज्य पुत्रको देना आवश्यक है; क्योंकि बिना इसके एक तो तुम्हारा मोह बना रहेगा दूसरे अराजकतासे प्रजा दुखी होगी। प्रजाको क्लेश होनेसे राजा नरकका अधिकारी होता है, यथा—**'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥'**—(अ०)। (घ) 'सुत कहुँ राज समर्पि'। समर्पिका भाव कि प्रतिष्ठापूर्वक दो क्योंकि राज्य धरोहर (अमानत) है, वह किसी एककी वस्तु नहीं है—**'संपति सब रघुपति कै आही।'** राजा केवल कर्मचारी, अमानतदार वा मुतवल्ली है। उसके बाद नीतिके अनुसार उसका पुत्र अधिकारी होता है। अतः यह पुत्रका है, ऐसा समझकर उसको दो।

मनुजीने भी बरबस राज्य पुत्रको दिया था, यथा—**'बरबस राज सुतहिं नृप दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा।'**

४—'रघुनाथ' पदसे जनाया कि सगुणरूपसे रघुकुलमें अवतरित हुए हैं, ये ही जीवमात्रके नाथ राम हैं, इनको भजो। पुनः, भज सेवायाम्‌के अनुसार 'रघुनाथ' पद दिया।

प० प० प्र०—'भजिय रघुनाथ' का भाव कि वे जीवोंके नाथ हैं। जीव जबतक उनको नहीं भजता तबतक वह अनाथ ही है। 'भज' का अर्थ 'आश्रय करना' भी है। भजिय=अर्थात् उनकी शरण लीजिये। इस भावकी पुष्टि आगेके 'बाघउ सनमुख गये न खाई।' से होती है। सन्मुख होना=शरण होना।

नोट—☞ अ० रा० में इस दोहेकी जोड़का वचन यह है—**'इतः परं वा वैदेहीं प्रेषयस्व रघूत्तमे। विभीषणाय राज्यं तु दत्त्वा गच्छामहे वनम्॥ १०। ५४।'** अर्थात् आप अब भी श्रीजानकीजीको रघुनाथजीके पास भेज दीजिये, फिर विभीषणको राज्य देकर हम वनको चलेंगे।

अ० रा० में मानसके 'सुत कहुँ' के बदले 'विभीषणाय' है; कारण कि वहाँ मन्दोदरीका उपदेश मेघनादवधके पीछे हुआ है, जब वानरोंने रावणके सामने ही उसके केश पकड़कर उसे महलसे निकाला था।

नाथ दीन दयालु रघुराई। बाघौ सनमुख गए न खाई॥ १॥

अर्थ—हे नाथ! श्रीरघुनाथजी दीनदयालु हैं। बाघ भी सन्मुख जानेपर नहीं खाता है। (भाव कि जब पशुमें यह रीति है तब रघुराईकी तो बात ही क्या? वे तो रघुवंशके राजा हैं, पुरुषसिंह हैं, स्वाभाविक ही दीनोंपर दया करना उनका विरद है; उनके सन्मुख जानेमें तो स्वप्नमें भी सन्देह न करना चाहिये।)॥ १॥

नोट—ऊपर दोहेमें श्रीरामजीको श्रीजानकीजी देनेको कहा। इसपर यदि रावण कहे कि मैं तो विरोध कर ही चुका, और वे मेरे नाशकी प्रतिज्ञा भी कर चुके तथा विभीषणका तिलक कर चुके तब उनसे मिलनेपर वे मेरे अपराधको कब क्षमा करने लगे, अवश्य मेरा वध करेंगे। इस संदेहके निवारणार्थ 'रघुराई' और 'दीनदयालु' कहा और 'बाघ' का दृष्टान्त दिया कि वीर पशुओंतकका यह नियम है और वे तो रघुराई हैं तब वे अपना विरद कब छोड़ने लगे। ऐसा कहकर रावणको शरण होनेका उपदेश देती है। यथा **'जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी॥ तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी॥ सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥ अ० १८३।'**

२—बाघके विषयमें यह प्रख्यात है कि उसके सम्मुख देखते रहनेसे वह हमला नहीं करता, वरन् राह छोड़कर बचा जाता है। कहते हैं कि दृष्टि इधर-उधर होनेपर ही वह मारता है।

☞ 'बाघ' का अर्थ प्रायः सबने सिंह किया है। पर मानसकार बाघ और सिंहको पर्याय शब्द नहीं मानते। यदि ये दोनों अभेद होते तो कवि दोनोंको एक साथ कभी न लिखते। यथा—'करि केहरि अहि बाघ बराई'—(अ०), 'तिन्ह के बचन बाघ हरि ब्याला। १। ३८। ७।', 'भालु बाघ बृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरज भागा॥ अ० ६२। ८।' 'खगहा करि हरि बाघ बराहा।' 'बयरु बिहाइ चरहिं एक संगा। अ० २३६।'

रामायणी श्रीरामबालकदासजी कहते हैं कि बिन्ध्याचलके जंगलोंमें नौ हाथके बाघ होते हैं जिनको 'केहरि' कहते हैं। छोटी जातिवालेको बाघ, तेंदू वा चीता भी कहते हैं।

नं० ५०—यहाँ बाघकी उपमा देकर शरणागतिकी महिमा दिखायी है कि बाघके सामने यदि दीन हो जाइये अर्थात् जमीनपर लम्बा पड़ जाइये तो बाघ भी मुर्दा जानकर छोड़ देता है, नहीं मारता, क्योंकि बाघ मुर्दा नहीं खाता, जिन्दा मारकर खाता है। स्कूलके लड़के भी पढ़ाये जाते हैं कि भालू और बाघके सामने जमीनमें लम्बा पड़ जानेसे वह नहीं मारता।

बाघसे नेत्र मिलाये रहिये तो नहीं मारता, ऐसा ठीक नहीं है। क्योंकि कबतक आँख मिलाये रहेगा, ज्यों ही नेत्र झँपे कि उसने खाया। दूसरे इस अर्थसे प्रसंगविरोध होगा, क्योंकि नेत्रका मिलाना तो बराबरीका भाव सूचित करता है। और मन्दोदरी तो दीन होनेको कह रही है जिसमें प्राण अवश्य बच जायँ। बाघके सामने लम्बा पड़ जानेसे प्राण बच जायँगे वह केवल सूँघकर चला जायगा।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं—'नैपालराज्य मिथिला देशके पँडौल ग्राममें एक बार जमीनका सरकारी बंदोबस्त हो रहा था। लोगोंने दिनमें ही एक भारी बाँसकी आड़में छिपे हुए दो बड़े-बड़े बाघोंको देखा। शीघ्र ही उन्होंने बंदूकवाले राज्यकर्मचारियोंसे आकर कहा। उन्होंने आधे फर्लांगकी दूरीसे उनपर गोलियाँ चलायीं, पर बाँसोंके कारण निशाना चूक गया। निदान दोनों बाघ उधरको ही वेगसे टूट पड़े। वहाँ कुल ४-५ कर्मचारी और करीब २५ मजदूर वगैरह थे। उनमें कुछ भागकर बच गये। दो-तीन मरे और छः-सात घायल हुए, परंतु एक कुली मारे डरके घबड़ाकर चार अंगुल गहरी नालीमें लम्बा गिर पड़ा। बाघोंने औरोंको झपट-झपटकर मार डाला। पीछे एक आकर इसकी पीठपर अपने अगले पाँव (हलकेसे) रखकर खड़ा हो, हाँफने लगा। फिर दोनों जंगलकी ओर (जो वहाँसे ५ मील दूर था) भाग गये। उस पड़े हुए मजदूरको एक नख भी नहीं गड़ा और न उसपर कुछ दबाव ही पड़ा। उसीने मुझसे कहा और वहाँके रईसोंने भी कहा कि हम लोगोंने भी इसे प्रत्यक्ष देखा है।'

चाहिअ करन सो सब करि बीते। तुम्ह सुर असुर चराचर जीते॥ २॥
संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन॥ ३॥

शब्दार्थ—करि बीते=कर गुजरे, कर चुके। पन=आयुके चार भागोंमेंसे एक अवस्था। बाल्य, युवा, प्रौढ़ा और वृद्धा—ये चार अवस्थाएँ हैं। जाइहि=जाना चाहिये, जाय।

अर्थ—जो कुछ भी करना चाहिये था वह सब तुम कर चुके (कुछ करना बाकी नहीं है जो तुम अब भी राज्य छोड़कर भजन करने न जा सको)। तुमने सुर, असुर (ही नहीं किंतु), चराचरमात्रको जीत लिया (अब किसीको जीतना शेष नहीं है)॥ २॥ हे दशानन! संत ऐसी नीति कहते हैं कि राजा चौथेपनमें वनको जाय॥ ३॥*

नोट—१-सुरोंमें देवराज इन्द्र सबसे बड़ा है, उसको भी जीत लिया। जितने दिग्पाल हैं उनको जीता। ब्रह्मा और महेशतक तुम्हारे यहाँ नित्य हाजिरी (उपस्थिति) देते हैं। असुरोंमें विद्युज्जिह्वको मारा और सभीने तुमको अपना राजा माना। जड़में कैलास पर्वतको भी गेंद-सरीखा उठा लिया। कोई जीतनेको न रह गया, यथा—

* प्रथमेनार्जिता विद्या द्वितीयेनार्जितं धनम्। तृतीयनार्जितं धर्मं चतुर्थे किं करिष्यति॥

'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी । दसमुख बसवर्ती नर नारी ॥ १ । १८२ । ११ ।' ऐसा ही अङ्गदने कहा है— 'बर पाएहु कीन्हेहु सब काजा । जीतेहु लोकपाल सब राजा ॥ २० । ४ ।'

भाव यह कि इस लोकमें प्राणी इससे अधिक ऐश्वर्य प्राप्त नहीं कर सकता और न किसीने इससे अधिक कुछ किया । आगे कवि इसके ऐश्वर्यका वर्णन स्वयं करते हैं, यथा—'सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास । १० ।' इससे हद है ।

इससे यह भी जनाया कि अब केवल परमार्थ बनाना रह गया है सो उसे रघुवीरका भजन करके पूरा कर लो । इसमें यह भी ध्वनि है कि यदि नहीं करते तो पूर्वका सब कमाया हुआ ऐश्वर्य एवं जीवन व्यर्थ ही हो जायगा । यथा कवितावल्याम्—'राज सुरेस पचासक को, बिधि के कर को जो पटो लिखि पाए । पूत सुपूत पुनीत प्रिया निज सुंदरता रति को मद नाए ॥ संपति सिद्धि सबै तुलसी मन की मनसा चितवैं चित लाए । जानकि जीवन जाने बिना जग ऐसेउ जीवन जीवत जाए । ७ । ४५ ।', 'काम से रूप प्रताप दिनेस से सोम से सील गनेस से माने । हरिचंद से साँचे बड़े बिधि से मघवा से महीप विषय सुख साने ॥ सुक से मुनि सारद से बकता चिरजीवन लोमस से अधिकाने ।' 'ऐसे भए तो कहा तुलसी जु पै राजिवलोचन राम न जाने । ७ । ४३ ।'

२—'संत कहहिं०' । संत=सत्पुरुष, सज्जन । जैसे मनु, याज्ञवल्क्य, पुलस्त्य, वाल्मीकि, व्यासजी इत्यादि ? नीति, यथा—'गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः । अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ इति मनुस्मृतौ ।

'संत कहहिं' का भाव कि कुछ मैं अपनेसे गढ़कर नहीं कहती, संतोंने ऐसा कहा है; उन्हींका कथन मैं आपसे कहती हूँ ।

तासु भजनु कीजिअ तहँ भरता । जो करता पालक संहरता ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—भरता (भर्ता)=स्वामी, पति । करता (कर्त्ता)=उत्पन्न करनेवाला ।

अर्थ—हे प्राणपति ! वहाँ (वनमें जाकर) उनका भजन कीजिये जो जगत्‌के उत्पन्न, पालन और नाश करनेवाले हैं ॥ ४ ॥

नोट—'कर्ता, पालक, संहर्ता' । परब्रह्म परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपोंसे यह तीनों कार्य करते हैं, यथा—'जाके बल बिरंचि हरि ईसा । पालत सृजत हरत दससीसा । सुं० २१ । ५ ।' 'बिधि सतकोटि सृष्टि निपुनाई ।' बिष्नु कोटिसत पालनकर्ता । रुद्र कोटि सत सम संहरता । उ० ९२ ।'

इस कथनका भाव यह है कि पैदा करना, जिलाना वा पालन करना एवं संहार करना जब यह सब इन्हींके हाथ है, तब इनको छोड़ और किसका भजन होना चाहिये ? ब्रह्मादिक एक-ही-एक कार्य कर सकते हैं; दूसरा कार्य उनके अधिकारमें नहीं है । ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी इन्हींके अधीन हैं । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है ।

वि० त्रि०—मन्दोदरी कहती है कि संसारमें जो कुछ करना चाहिये, वह सब तुम कर चुके, अब कुछ भी शेष नहीं है अब तुम्हारी अवस्था वनमें जाकर भजन करनेकी है, यही सनातन रीति है । घरमें रहकर मनोरथकी सिद्धियोंके लिये लोग देवताओंकी उपासना करते हैं (यथा—आरोग्यं भास्करादिच्छेत् धनमिच्छेत् हुतासनात्) और वनमें जाकर उस औपनिषत् पुरुषको भजते हैं, जो कर्त्ता, पालक और संहर्ता है, यथा—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति (यत्प्रयन्त्यभि) संविशन्ति । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिविशन्ति (तैत्तिरीयोपनिषद्) ।' 'अर्थात् जहाँसे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हुए प्राणी जीते हैं और जिसमें साथ हो जाते हैं । वह कौन है इसका प्रतिपादन करते हुए श्रुति कहती है कि आनन्दसे ही प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे ही जीते हैं और आनन्दमें ही लय होते हैं । वही आनन्दसिन्धु राम हैं, यथा—'जो आनंदसिंधु सुखरासी । सीकर ते त्रैलोक्य सुपासी ॥ सो सुखधाम राम

अस नामा । सकल लोक दायक बिश्रामा । अतः विविक्तवासिनः सदा भजन्ति मुक्तये मुदा ।' एकान्त वनमें बसनेवाले मुक्तिके लिये उसी आनन्दसिन्धु रामका भजन करते हैं अतः तुम भी वनमें जाकर उन्हीं रामको भजो ।

सोइ रघुबीर प्रनत अनुरागी । भजहु नाथ ममता* सब त्यागी ॥ ५ ॥

अर्थ—हे नाथ ! उन्हीं (कर्ता, पालक, संहरता एवं) शरणागतपर प्रेम करनेवाले रघुवीरको सब ममत्व छोड़कर भजो ॥ ५ ॥

नोट—१–'रघुबीर' अर्थात् रघुकुलमें जितने राजा रघु आदि हो गये उन सबसे ये वीर हैं, एवं पञ्चवीरता-युक्त हैं । 'प्रनत अनुरागी' हैं; यह बात हनुमान्‌जी और विभीषणजीसे सुन चुकी है, यथा—'प्रनत पाल रघुबंसमनि करुनासिंधु खरारि । गए सरन प्रभु राखिहहिं तव अपराध बिसारि । सुं० २२ ।', 'सरन गए प्रभु ताहु न त्यागा । बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा । सुं० ३९ ।'

'भजहु नाथ ममता सब त्यागी' । (क)—'सब ममता' अर्थात् स्त्री, पुत्र, भाई, परिवार, राज्य आदि-का ममत्व । यथा—'जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धन भवन सुहृद परिवारा ॥ सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहिं बाँधि बरि डोरी ॥ सुं० ४८ ।' (ख)—'सब ममता' छोड़नेको कहा; क्योंकि मन तो एक ही है यदि वह प्राकृत सम्बन्धियों और जगत्‌के जंजालोंमें फँसा रहेगा तो प्रभुमें नहीं लग सकता । स्त्री, पुत्र, भाई-बन्धु आदि सब सम्बन्ध एक प्रभुहीसे मानकर सब भावसे उन्हींमें ममत्व करो । (ग)—संसारके पदार्थों सम्बन्धोंमें ममत्व होना भजनका बाधक है, यथा—''सुख संपति परिवार बड़ाई । सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ॥ ये सब राम भगति के बाधक । कहहिं संत तव पद आराधक ॥ (कि० सुग्रीववाक्य रामप्रति) । क० उ० ३० में भी ऐसा ही कहा है । यथा—''सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महा कुसमाजहि रे । सब की ममता तजि कै समता सजि संत सभा न बिराजहि रे ॥'

संतसभामें विराजमान होने अर्थात् भगवद्भजन करनेके लिये, सबका ममत्व छोड़ना आवश्यक है । सुं० ४८ (४–५) देखिये । पुनः, यथा—'करहिं जोग जोगी जेहि लागी । लोभ मोह ममता मद त्यागी' ॥

(घ) ममता छोड़ भजन करना कहकर जनाया कि ऐसा करनेसे तुम प्रभुके अत्यन्त प्रियपात्र हो जाओगे, यथा—'अस सज्जन मम उर बस कैसे । लोभी हृदय बसइ धन जैसे ॥ सुं० ४८ ।'

☞ वाल्मीकिजीने १४ स्थान प्रभुके निवासके बताये हैं, उनमेंसे दो स्थान ये भी हैं, यथा—''स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम तात । मन मंदिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात ॥ अ० १३० ।'',

''जाति पाँति धन धर्म बड़ाई । प्रिय परिवार सदन सुखदाई ॥
सब तजि तुम्हहि रहइ लौ लाई । तेहि के हृदय रहहु रघुराई ॥ २ । १३१ ।''

सब ममत्व छोड़नेसे प्रभुका हृदयमें निवास होगा ।

(३) सब ममता त्याग करनेको कहती है । आगे बताती है कि मैं कुछ नई बात नहीं कहती, पूर्व भी राजाओंने सब छोड़ भजन किया है ।

मुनिबर जतनु करहिं जेहि लागी । भूप राजु तजि होहिं बिरागी ॥ ६ ॥
सोइ कोसलाधीस रघुराया । आएउ करन तोहि पर दाया ॥ ७ ॥

अर्थ—जिसके लिये बड़े-बड़े श्रेष्ठ मुनि यत्न करते हैं और राजा लोग राज्य छोड़कर वैरागी हो जाते हैं ॥ ६ ॥ वही कोशलराजके स्वामी रघुनाथ रामचन्द्रजी तुमपर दया करने आये हैं ॥ ७ ॥

नोट—१ 'मुनिबर जतन करहिं जेहि लागी', यथा—'जनम जनम मुनि जतन कराहीं । अंत राम कहि आवत नाहीं । कि० १० । ३ ।' 'जतन करहिं' का भाव कि साधन करते हैं, फिर भी निश्चय नहीं कि उनकी

* 'ममता मद' पाठान्तर कुछ आधुनिक पुस्तकोंमें मिलता है ।

प्राप्ति अवश्य हो, यथा—'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं । कि० १० ।' 'मुनिवर' से जनाया कि महर्षि अगस्त्य, पर्वत, शरभंग, अत्रि आदि मुनिश्रेष्ठ उन्हींके लिये साधन किया करते हैं (इतर मुनियोंकी बात ही क्या ?) जिन (ऋषियों) को तुम भी डरते हो । इसलिये तुमको भी उनका भजन करना योग्य ही है । 'जतन'—पंच प्राण, मन, इन्द्रिय आदिका वश करना, विषयोंसे वैराग्य करना इत्यादि यत्न हैं । कि० १० छंद देखिये) ।

२ 'भूप राज तजि होहिं बिरागी' । भाव कि मनु आदिने राज्यादि लौकिक सुखोंको भोगकर उन्हें तुच्छ समझकर छोड़ दिया और प्रभुका भजन श्रेष्ठ समझा, यथा—'बरबस राज सुतहिं तब दीन्हा । नारि समेत गवन बन कीन्हा ॥ १ । १४३ । १ ।'—(मनु) 'जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा । हरि हित आपु गवन बन कीन्हा ॥' —(सत्यकेतु बा० १५३) । तुम भी राजा हो, तुम्हारा भी यही कर्तव्य है कि उनके अनुभवका लाभ उठाओ और भजनमें लगो । बिना राज्य छोड़े विषयोंसे वैराग्य नहीं होता, यथा—'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन । १४२ ।'

३ 'सोइ कोसलाधीस०' इति । (क) मुनिश्रेष्ठ और वैराग्यवान् राजा लोग जिनके लिये यत्न करते हैं, वे यही हैं, कोसलाधीशरूपसे प्रकट हुए हैं । (ख) पंजाबीजी लिखते हैं कि यदि रावण कहे कि वे तो हमारा राज्य लेने आये हैं तो उसपर वह कहती है कि वे 'कोसलाधीस' हैं अर्थात् वे कोशलपुरीमें ही राज्य करेंगे, लंकाका राज्य नहीं चाहते । इसपर यदि वह कहे कि अपना हठ छोड़नेसे मेरी निन्दा होगी तो उसपर आगे कहती है कि "जौं पिय ⋯" । (ग) 'आयउ करन तोहि पर दाया' भाव कि मुनिवरोंके यत्न करनेपर उनको ध्यानमें भी कदाचित् ही प्राप्त होते हैं और तुम्हें तो साक्षात् घर बैठे दर्शन देने आये हैं, तुम्हारे समान कौन बड़भागी हो सकता है ? इससे उत्तम अवसर तुम्हें बिगड़ी सँवार लेनेका कहाँ मिलेगा ? यथा—'भवदर्थे रघुश्रेष्ठो मानुषत्वमुपागतः',—(अ० रा० १० । ५२), 'मम लोचन गोचर सोइ आवा । बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा ॥ कि० १० । ५ ।'

रा० प्र०—भाव कि महात्मा शबरी, शरभंग, सुग्रीव, विभीषण और समुद्र आदिपर कृपा करते चले आ रहे हैं; अब तुम्हारी बारी है, तुमपर कृपा करने आये हैं ।

वीर—मंदोदरीने प्रथम यह विशेष बात कही कि जिनके लिये मुनि यत्न करते हैं और राजा राज्य छोड़ देते हैं, फिर इसका समर्थन साधारण बातसे करती है कि वही कोशलेश तुमपर दया करने आये हैं । इतनेपर संतुष्ट न हो फिर विशेष प्रार्थना करना कि मेरी शिक्षा मानिये, त्रिलोकमें यश होगा, 'विकस्वर अलंकार' है ।

जौं पिय मानहु मोर सिखावन । सुजसु होइ तिहुँ पुर अति पावन ॥ ८ ॥

अर्थ—हे प्राणपति ! जो तुम मेरा कहा मानो तो तुम्हारा अत्यन्त पवित्र सुन्दर यश तीनों लोकोंमें होगा ॥ ८ ॥

नोट—'जौं' संदिग्ध वचन है । इससे जनाया कि इतना उपदेश होनेपर भी रावणकी चेष्टा ऐसी न हुई जिससे समझा जाता कि वह इसका कहा करेगा । यह भी जनाया कि मंदोदरीको उसके शिक्षा ग्रहण करनेमें संदेह है, वह समझती है कि यह न मानेगा क्योंकि अबतक उसने किसीका उपदेश नहीं माना ।

२ 'सुजसु होइ तिहुँ पुर अति पावन' । (क) भाव कि मिलनेपर तुमपर कृपा करेंगे, यथा—'मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिहहिं । उर अपराध न एकउ धरिहहिं ॥' (सुं० ५७ शुकवाक्य) । वे जिसपर कृपा करते हैं उसका सुयश त्रैलोक्यमें विख्यात हो जाता है । यथा—'जामवंत कह सुनु रघुराया । जापर नाथ करहु तुम्ह दाया । ताहि सदा सुभ कुसल निरंतर । सुर नर मुनि प्रसन्न ता ऊपर । सोइ बिजई बिनई गुनसागर । तासु सुजसु त्रैलोक उजागर । सुं० ३० ।'

पुनः, भाव कि जो तुम्हारा अपयश हो रहा है वह मिट जायगा और ध्रुव, प्रह्लाद, बलिके समान यश मिलेगा।—'दलि दुख दोष बिमल जसु देहीं'। 'अतिपावन' का भाव कि उस कीर्तिको सुनकर और भी लोग पावन हो जायँगे। यथा—'जाको हरि दृढ़ करि अंगु कर्‍यो। सोइ सुसील पुनीत बेदबिद बिद्या गुनन्हि भर्‍यो॥ उतपति पांडुसुतन्हि की करनी सुनि सत पंथ डर्‍यो। ते त्रैलोक्य पूज्य पावन जस सुनि सुनि लोग तर्‍यो॥ वि० २३९।' (ख) रा० प्र०—भाव कि सब यही कहेंगे कि रावण सर्वविजयी, परमज्ञाता, पण्डित और ज्ञानी था इसीसे अन्तमें प्रभु (को अवतार लिवाकर उन) की शरण गया। अन्य लोग भी तुम्हारी देखादेखी ऐसा ही करेंगे अतएव तुम सबके आचार्य होगे।

दो०—अस कहि नयन नीर* भरि गहि पद कंपित गात।
नाथ भजहु रघुनाथहिं† अचल होइ अहिवात॥ ७॥

शब्दार्थ—अहिवात=सोहाग, सौभाग्य, स्त्रीकी सधवा रहनेकी अवस्था। यथा—'अचल होउ अहिवात तुम्हारा। जब लगि गंग जमुन जल धारा॥'

अर्थ—ऐसा कह नेत्रोंमें जल भरकर उसने पतिके चरण पकड़ लिये। उसका सारा शरीर काँपने लगा (वह यह कहने लगी) हे नाथ! रघुनाथजीको भजो जिससे मेरा सुहाग अचल हो जाय॥ ७॥

नोट—१ 'अस कहि' पूर्व कथित वचनोंके साथ है और आगेके भी। २ 'नयन नीर भरि', 'गहि पद' और 'कंपित गात' ये सब भावी वैधव्यके भय और सोच एवं शोकके कारण हैं। धैर्य छूटनेपर भी यह दशा होती है। रावण सुनी-अनसुनी कर रहा है; इसलिये वह अधीर हो गयी, यथा—'कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥ अ० ७०।' (यह लक्ष्मणजीकी दशा हो गयी थी, यह सोचकर कि वियोग तो नहीं हो रहा है)। आदिमें, चरणोंमें मस्तक नवा अञ्चल पसारकर ये सब बातें कहीं; पर उसपर कुछ प्रभाव न पड़ा देख उसे अपने सुहागकी चिन्ता हो गयी, वैधव्यके भयसे अत्यन्त दुःख उत्पन्न हो गया और वह डरके मारे काँपने लगी, आँखोंसे आँसू बरबस निकल पड़े। अतएव अब वह चरणोंपर गिर पड़ी और चरण पकड़े-पकड़े ही यह उसने कहा कि 'नाथ भजहु…'।' कुछ लोगों (पां०, वं० पा०) का मत है कि 'रावणको उसने खद्योत समान कहा है; इससे डरी। अथवा, अनीतिमान रावणसे नीति कहनेमें डरती है—(पां०)। वा, इससे डरी कि इसने सीताको बहुत दुःख दिया है, इसके पीछे न जाने वानर मेरी क्या दशा करें।—(पं०)।'

पं०—(क) यह दशा अति विह्वलताके कारण हुई। (ख) नेत्रोंमें जल भरकर सूचित किया कि अब तुमसे मुझसे वियोग होनेके लक्षण जान पड़ रहे हैं। (ग) 'पद गहि' का भाव कि इन चरणोंका संग मैं सदा चाहती हूँ, इनका संग न छुड़ाइये। (घ) इन चरणोंका संयोग बना रहे, इसका उपाय बताती है कि रघुनाथजीको भजो। भाव यह कि रघुवीरको छोड़ तुमको और कोई मार नहीं सकता, अतएव उनकी शरण जानेसे तुम सबसे अमर हो जाओगे, यह सिद्ध हुआ। तुम्हारे अमर होनेसे मेरा सुहाग अचल हुआ ही है।

नोट—श्रीहनुमान्‌जीके वचन सुन चुकी है कि श्रीरघुनाथजीका भजन करनेसे राज्य अचल हो जायगा, यथा—'रामचरनपंकज उर धरहू। लंका अचल राज तुम्ह करहू॥ सुं० २३।' उसीको समझकर यहाँ मन्दोदरी अपने सुहागकी अचलताके लिये रघुनाथजीको भजनेका उपदेश करती है। पुनः, उत्तरार्द्धमें यह भी ध्वनि है कि इनको छोड़ और किसीके भी भजनसे मेरा अहिवात अचल नहीं हो सकता। यह बात भी हनुमान्‌जीसे सुन चुकी है, यथा—'सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी। बिमुख राम त्राता नहिं कोपी॥ संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥ सुं० २३।'

* 'बारि'—(का०), (मा० म०) † 'रघुबीर पद मम अहिवात न जात'—(का०)। 'रघुबीरपद अचल होइ अहिवात'—(ना० प्र०)। रघुनाथ पद—(मा० म०)।

वीर—इस दोहेमें विविध भावों और अनुभावोंका सम्मेलन है।

मा० म० (मयूख)—१ मन्दोदरीने अनेक रीतिसे रावणको उपदेश दिया। (क) 'मम अहिवात न जाइ' अर्थात् तुम्हारे वधसे मेरा सुहाग चला जायगा, यह पतिव्रतधर्मकी रीतिसे शिक्षा हुई। (ख) 'सुत कहुँ राज समर्पि बन जाइ०', यह जीवधर्म उपदेश किया क्योंकि रामचन्द्रजीका भजन करना ही जीवका परम धर्म है।

२ **'अतिबल मधुकैटभ जेहि मारे। महाबीर दितिसुत संहारे॥ जेहि बलि बाँधि सहसभुज मारा। सोइ अवतरेउ हरन महिभारा॥'** यह विष्णुकल्पकी कथा है। इसके पश्चात् परतम अवतारकी कथा है अर्थात् पार निरक्षर रामचन्द्रकी कथा है। मन्दोदरीके वचनका संदर्भ यह है कि अत्यन्त बलवान् मधुकैटभ, महावीर हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुको जिसने मारा, बलिको जिसने बाँधा और सहस्रार्जुनको जिसने मारा वह भगवान् पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अवतार लेते हैं, उनसे युद्ध करना तुम्हारे लिये अत्यन्त दुष्कर है, तो तुम परतम श्रीरामचन्द्रजीसे वैर कर कब पार पावोगे, जिसके हाथमें काल, कर्म और जीव हैं। ऐसा विचारकर वैर न करो, सीताको दे दो और पुत्रको राज्य देकर भजन करो।

तब रावन मयसुता उठाई। कहइ लाग खल निज प्रभुताई॥ १॥
सुनु तइँ प्रिया बृथा भय माना। जग जोधा को मोहि समाना॥ २॥

अर्थ—तब मयदानवकी कन्या मन्दोदरीको उठाकर दुष्ट रावण अपनी प्रभुता (महिमा) कहने लगा॥ १॥ हे प्रिये! सुन, तूने व्यर्थ डर मान रक्खा है; (बतला तो सही कि) संसारभरमें मेरे समान कौन योधा है॥ २॥

नोट—१ (क) 'तब' अर्थात् जब मन्दोदरी बहुत प्रकार विनीत हो विनतीकर थकके पैरोंपर गिर पड़ी तब। (ख) 'रावन' का भाव कि यह जगत्को रुलानेवाला एवं स्वयं रोनेवाला है। इसके इस कर्त्तव्यसे उसको एवं मन्दोदरीको रोना पड़ेगा।

पं०—'मयसुता' का भाव कि इसी बातके कहनेपर विभीषणको रावणने लात मारकर निकाल दिया था, यह बात तो मन्दोदरीकी भी न मानी पर मयदानव, जो बड़ा प्रतिष्ठित है, उसकी सुता जानकर उसने इसका निरादर न किया वरन् उसके ढारसके लिये अपनी प्रभुता कहने लगा।—

[मयदानवका बड़ा उपकार रावणपर है क्योंकि उसने इसे अमोघशक्ति दी है जिससे वह अपने प्राणोंकी रक्षा कर सके। यही शक्ति वाल्मीकिके मतानुसार लक्ष्मणजीको उसने मारी पुनः इसने नीतिके वचन कहे इससे 'मयसुता' पद दिया, यथा—**'सुनत बचन पुनि मारन धावा। मयतनया कहि नीति बुझावा।** सु० १०।' पुनः यथा—**'इयं ममात्मजा राजन्हेमयाप्सरसा धृता॥१८॥ कन्यामन्दोदरी नाम पत्न्यर्थं प्रति गृह्यताम्। बाढमित्येव तं राम दशग्रीवोऽभ्यभाषत॥ १९॥ अमोघां तस्य शक्तिं च प्रददौ परमाद्भुताम्॥ २१॥ परेण तपसा लब्धां जघ्निवाँल्लक्ष्मणं यया।** वाल्मी० उ० १२। २२॥'

रा० प्र०—'कहइ लाग खल' इति। प्रायः वक्ता बड़े बेलाग होते हैं और अच्छेहीकी ओर ढरनेवाले होते हैं। रावणके हठ आदि दोषोंको देख उसे 'खल' कहा।

पु० रा० कु०—अपनी प्रभुता आप ही कहने लगा। अतएव 'खल' अर्थात् मूर्ख कहा। अपनी प्रभुता अपने मुखसे कहनेसे लघुता प्रमाणित होती है, यथा—**'इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः'**। मिलान कीजिये— **'अपने मुह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी।** इति लक्ष्मणवचन परशुराम प्रति १। २७४। ६।'

नोट—२ 'बृथा भय माना।०' का भाव कि भयकी कोई जगह वा योग नहीं है; तुमने अपनेसे मान लिया है। जगत्मात्रमें कोई मेरे समान नहीं है, तब ये मनुष्य-शत्रु क्या हैं? यथा हनुमन्नाटके—**'किं ते भीरु भिया निशाचरपतेर्नासौ रिपुर्मे महान्। यस्याग्रे समरोद्यतस्य न सुरास्तिष्ठन्ति शक्रादयः॥ मद्दोर्दण्ड कमण्डलोद्धृत धनुः शिक्षाः क्षणान्मार्गणाः। प्राणानस्य तपस्विनः सति रणे नेष्यन्ति पश्याधुना॥** (९। ६)

अर्थात् जब मैं निशाचरपति रावण संग्राममें उद्यत होता हूँ तब मेरे सामने इन्द्रादि देवगण भी नहीं खड़े रह सकते, यह शत्रु तो मेरे लिये कुछ भी बड़ा नहीं है । फिर तेरे भयसे क्या है ? मेरे भुजदण्डोंसे निकले हुए बाण क्षणमात्रमें तपस्वीके प्राण ले लेंगे ।

जो मन्दोदरीने कहा था कि 'तुम्हहि रघुपतिहि अंतर कैसा । खलु खद्योत दिनकरहि जैसा ॥ ६ । ६ ।', उसका उत्तर है कि 'जग जोधा को मोहि समाना ।'—(खर्रा—यह बात ठीक है कि जगत्‌में कोई रावणके समान योद्धा नहीं है, पर ये तो जगत्से परे हैं ।)

वि० त्रि०—तब रावणने मयकी बेटीको उठाया । सभी रानियोंमें रावण मन्दोदरीकी बड़ी प्रतिष्ठा करता है; क्योंकि वह मय (दैत्योंके विश्वकर्मा) की बेटी और पट्टाभिषिक्ता महिषी थी । वह चरणपर गिरी हुई अञ्चल रोपे हुए अहिवात माँग रही है । अतः प्रेमसे उसे उठा लिया । कहने लगा कि प्रेमीका चित्त पापशङ्की होता है, इसलिये तुझे झूठा भय उत्पन्न हो गया । सीताके मुखसे तुमने सुन लिया कि 'खद्योत प्रकासा, कबहु कि नलिनी करइ बिकासा' बस, उसीको सच मान लिया कि मैं खद्योत हूँ, और वह तपस्वी सूर्य है, वह कीड़ेकी भाँति मुझे मल देगा, और मैं मर जाऊँगा । मेरी प्रभुता तो सुनो कि मैंने क्या-क्या किया है, क्या इनमेंसे एक कार्य भी उस तपस्वीसे हो सका है कि तुम इतना डर रही हो ।

बरुन कुबेर पवन जम काला । भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला ॥ ३ ॥
देव दनुज नर सब बस मोरे । कवन हेतु उपजा भय तोरे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—दिगपाल (दिक्‌पाल) दशों दिशाओंके पालन करनेवाले देवता, यथा—पूर्वके इन्द्र, अग्निकोणके वह्नि, दक्षिणके यम, नैर्ऋत्यकोणके निर्ऋत वा काल, पश्चिमके वरुण, वायुकोणके मरुत, उत्तरके कुबेर, ईशानकोणके ईश, ऊर्ध्व दिशाके ब्रह्मा और अधोदिशाके अनन्त । पुनः, यथा—'इन्द्रो वह्नि पितृपतिर्नैर्ऋतो वरुणो मरुत कुबेर ईशः । पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात् इत्यमरः ।' दनुज—दक्षकी कन्या दनु जो कश्यपको व्याही थी उससे ४० पुत्र हुए । ये और इनके वंशज दनुज एवं दानव कहलाते हैं ।

अर्थ—वरुण, कुबेर, पवनदेव, यमराज, काल आदि सभी दिक्पालोंको मैंने अपनी भुजाओंके बलसे जीत लिया ॥ ३ ॥ देवता, दैत्य, मनुष्य सभी मेरे अधीन हैं । (तब) किस कारण तुझे डर पैदा हो गया ॥ ४ ॥

नोट—"भुजबल जितेउँ ।' का भाव कि मन्त्रसे भी देवता वशमें किये जाते हैं । यथा—'मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब । १ । २५६ ।' पर मैंने मन्त्र या विनयसे वशमें नहीं किया, वरन् सन्मुख बाहु-बलसे लड़कर जीता है । यम और कालको लोग योगद्वारा जीतते हैं, मैंने भुजबलसे जीता है ।

२—'सकल दिग्पाला' । यहाँ वरुण, कुबेर, पवन और यम, इन चारके नाम दिये । 'सकल दिग्पाला' कहकर जो शेष रहे उनको भी कह दिया । सब वशमें हैं, यथा—"रबि ससि पवन बरुन धनधारी । अगिनि काल जम सब अधिकारी ॥ किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा । हठि सब ही के पंथहि लागा ॥ ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी । दसमुख बसवर्ती नर नारी ॥...भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र ॥ १ । १८२ ।", 'बरुन कुबेर सुरेस समीरा । रन सनमुख धरि काहु न धीरा ॥ भुजबल जितेहु काल जम साईं । १०३ । ७-८ ।'

३ वरुण—वैदिककालमें ये प्रधान देवता थे । ये अदितिके ८ पुत्रोंमें कहे गये हैं । ये जलके अधिपति देवता हैं और जलाशयोत्सर्गमें इनका पूजन होता है । साहित्यमें ये करुणरसके अधिष्ठाता माने गये हैं । निरुक्तकार इन्हें द्वादश आदित्योंमें बतलाते हैं ।

यम—ये दक्षिण दिशाके दिक्पाल कहे जाते हैं और आजकल मृत्युके देवता माने जाते हैं । वैदिककालमें यमको लोग मृत्युसे भिन्न मानते थे । पर पीछेसे यम ही प्राणियोंको मारनेवाले माने जाने लगे । वैदिककालमें ये मृत पितरोंके अधिपति तथा मरनेवालेको आश्रय देनेवाले माने जाते थे । तबसे अबतक इनका एक अलग लोक माना

जाता है जो यमलोक कहलाता है। स्मृतियोंमें १४ यमोंके नाम आये हैं—यम, धर्मराज, मृत्यु, अन्तक, वैवस्वत, काल, सर्वभूतक्षय, उदुम्बर, दध्न, नील, परमेष्ठी, वृकोदर, चित्र और चित्रगुप्त। ये सूर्यके पुत्र विश्वकर्माकी कन्या 'संज्ञा' से हुए।

कुबेर—इन्द्रकी नौ निधियोंके भण्डारी और शिवजीके मित्र हैं। समस्त संसारके धनके स्वामी हैं। ये उत्तर-दिशाके अधिपति हैं।

४ 'देव दनुज नर' से त्रैलोक्यका वशीभूत होना जनाया। देवसे स्वर्गलोक एवं सब देवलोक, दनुजसे पाताल-लोक और नरसे भूलोक। सब वशमें हैं अर्थात् मुझसे डरते हैं, सब नित्य मेरे यहाँ हाजिरी देते हैं और मेरी आज्ञाका पालन करते हैं, मेरे यहाँ नीच टहल करते हैं। यथा—'आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता॥ १। १८२।', पुनः यथा हनुमन्नाटके 'मरुद्रुद्रादित्यौ शतमुखमुखास्ते क्रतुभुजः पुरद्वारे यस्याः सभयमुदसर्पन्त्यनुदिनम्'॥ (अङ्क १४) अर्थात् मरुत्, रुद्र, आदित्य और इन्द्रादि देव जिस लङ्काके द्वारपर प्रतिदिन भयसहित फिरते हैं।

५ दिक्पाल एवं देव, दनुज, नर सब वशमें हैं, यह कहकर **'कवन हेतु उपजा भय तोरे'** कहनेका भाव कि मुझ दिग्विजयी रावणकी स्त्री होकर तेरा भयभीत होना उपहास योग्य है, सब हँसेंगे। यथा—**'कंपहिं लोकप जाकी त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा॥ सु० ३७।'**

करु०—रावण कहता है कि मैंने सभी दिक्पालोंको जीत लिया। यहाँ रावण वीररसके अवान्तर शान्तरस कह रहा है। वीररस जो कह आये (कि) उन सबको जीत लिया, यह कथा प्रसिद्ध है; पर कालका जीतना कैसे सम्भव है? काल जो यमराजादि आठों दिक्पालों एवं ब्रह्माण्डोंको भी भक्षण कर लेता है, उसे रावण कैसे जीत सकता है। यदि जीत लिया था तो मरा कैसे? यह शङ्का उत्पन्न होती है। इसका समाधान यह है कि यहाँ रावणने वीररसके वचन कहे हैं जिसके अवान्तर शान्तरस है। वह मन्दोदरीसे कहता है कि तुमने जो कहा कि वे ईश्वर हैं, काल उनके वश है सो मैंने भी तो कालको जीता है। यह कैसे? सो सुनो। जबसे मेरा जन्म हुआ तबसे कितने युग बीत गये, पर मेरे भयसे काल मेरे समीप नहीं आ सका; और जिनकी तूने बड़ाई की है उनसे युद्धकर परमपदको जाऊँगा, फिर इस प्रकृतिमण्डलमें न आऊँगा। रावण पूर्ण पण्डित और तत्त्ववेत्ता है क्योंकि ब्रह्मा स्वयं उसे वेद पढ़ाते, सुनाते थे।

गौड़जी—वरदानके कारण रावण रामजीके हाथ ही मरेगा। काल उसे मार नहीं सकता। यही बात है कि उसने सब दिक्पालोंमें निर्भृत या कालको भी जीत लिया था। 'काल' से पहले तो काल नहीं मार सकता। अतः इस तरह भी उसका कालपर चढ़ाई करके उसको पराजित करना सम्भव हो गया।

☞ स्मरण रहे कि एक नश्वर काल है और एक शाश्वत काल। काल जो देवता और दिक्पाल है वह नश्वरकाल है जिसे रावणने जीता है। शाश्वतकाल तो स्वयं प्रभु ही हैं जो 'भुवनेश्वर कालहु कर काला' हैं।

नाना बिधि तेहि कहेसि बुझाई। सभा बहोरि बैठ सो जाई॥ ५॥
मंदोदरी हृदय अस जाना। काल बस्य * उपजा अभिमाना॥ ६॥

अर्थ—अनेक प्रकारसे उसने समझाकर कहा, फिर वह सभामें जाकर बैठ गया॥ ५॥ मन्दोदरीने हृदयमें ऐसा जान लिया (निश्चय कर लिया) कि कालके वश होनेसे पतिको अभिमान उत्पन्न हो गया है॥ ६॥

नोट—१ **'बिहँसि गएउ गृह करि भय भोरी। ६ (१)।'** उपक्रम है और **'सभा बहोरि बैठ सो जाई'** उपसंहार। ६ (४) से ८ (५) तक मन्दोदरी-रावण-संवाद है।

२—**'सभा बहोरि बैठ सो जाई'** कहकर जनाया कि सभामें लज्जित होता था तब महलमें चला जाता था कि वहाँ विश्राम मिलेगा और वहाँ मन्दोदरी उपदेश करती तब वहाँसे सभामें शरण लेता कि यहाँ जी बहल जाय पर उसे कहीं सुख न मिलता था—**'रामबिमुख सुख सपनेहु नाहीं'** 'बहोरि' अर्थात् यहींसे उठकर गया था अब फिर वहीं आ बैठा।

* 'बिबस'—(का०), बस्य—(छ०, भा०, दा०)।

गौड़जी—मन्दोदरीने सोचा कि अब मृत्यु होनेवाली है। उसीके वशमें इन्हें यह मोह अभिमान उत्पन्न हुआ है।

सभा आइ मंत्रिन्ह तेहिं बूझा। करब कवन बिधि रिपु सैं * जूझा॥ ७॥

अर्थ—सभामें आकर उसने मन्त्रियोंसे पूछा कि किस प्रकार शत्रुसे युद्ध करना होगा॥ ७॥

नोट—१ भाव कि हम यह नहीं पूछते कि सामादिमेंसे क्या बर्तें, लड़ें या न लड़ें, यह हमारा आशय नहीं है; हम युद्धका निश्चय कर चुके हैं, तुम केवल यह सलाह बताओ कि किलेसे लड़ाई करें, या मैदानमें जाकर प्रथम हमारी ओरसे ही युद्ध किया जाय, या व्यूह-रचना करें, या और कोई युद्धका प्रकार बता सको सो बताओ, जिससे हमारी युद्धमें जीत हो, सीताको न देना पड़े और शत्रुका नाश हो। यथा—'पारे पारे समुद्रस्य पुरस्कृत्य नृपात्मजौ। सीतायाः पदवीं प्राप्य संप्राप्तौ वरुणालयम्॥ २४॥ अदेया च यथा सीता वध्यौ दशरथात्मजौ। भवद्भिर्मन्त्र्यतां मन्त्रः सुनीतं चाभिधीयताम्॥ २५॥' (वाल्मी० ६। १२)

नोट—२ रावण तो मनमें युद्ध ठान ही चुका था और अभी-अभी मन्दोदरीसे अपने भुजबलकी प्रशंसा अभिमानपूर्वक करके आया है; तब उसे मन्त्रियोंसे पूछनेकी आवश्यकता ही क्या थी, विशेषत: जब वह हितोपदेश किसीका सुनता ही नहीं? इसका समाधान एक तो यह है कि ऊपरसे वह यह भी दिखाना चाहता है कि मैं राजनीतिके अनुसार चलता हूँ, राजाको मन्त्रियोंसे सम्मति लेकर कार्य करना चाहिये। दूसरे, रावण रामचन्द्रजीका समुद्रपर सेतु बाँधकर सेनासहित लङ्कामें आना सुनकर घबड़ाया हुआ था; इससे मन्त्रियोंसे सलाह पूछने लगा। यथा—'चाराणां रावणः श्रुत्वा प्राप्तं रामं महाबलम्। जातोद्वेगोऽभवत्किंचित्सचिवानिदमब्रवीत्॥ (वाल्मी० ३१। २)

अर्थात् रामजीका लङ्कामें आना दूतोंसे सुनकर वह कुछ घबड़ा गया था, इससे मन्त्रियोंको बुलाकर बोला।

वाल्मी० ३१ के ये वचन रावणके उस समयके हैं जब वानरसेना समुद्रपार सुवेलपर आ पहुँची थी। उसने मन्त्रियोंसे पूछा कि वह सलाह बताओ जिसमें सीताको देना न पड़े और दोनों राजकुमारोंका नाश हो जाय।

कहहिं† सचिव सुनु निसिचर नाहा। बार बार प्रभु पूछहु काहा॥ ८॥
कहहु कवन भय करिअ बिचारा। नर कपि भालु अहार हमारा॥ ९॥

शब्दार्थ—नाह=स्वामी, राजा।

अर्थ—(यह सुनकर) मन्त्री बोले—हे राक्षसराज! हे प्रभो! सुनिये। आप बार-बार क्या पूछते हैं? ॥ ८॥ कहिये तो; क्या भय है जिसके लिये विचार किया जाय? नर और वानर-भालु तो हमारे आहार (भोजन, भक्ष्य) ही हैं॥ ९॥

नोट—१ 'निसिचर नाहा' और 'प्रभु' सम्बोधन देनेका भाव कि आपकी प्रजामें ऐसे-ऐसे सुभट हैं कि एक-एक जगत् भरको जीत ले, यथा—'कुमुख अकंपन कुलिसरद धूमकेतु अतिकाय। एक-एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय॥ १। १०८।', और आप तो सबके स्वामी हैं। आपके बलकी तो सीमा ही नहीं, तब आप क्या भय वा चिन्ता कर रहे हैं। [पुनः 'निसिचर नाहा' का भाव कि आप हम सबके राजा हैं, आपने जो विचार कर रक्खा है वह हमारे हितकर ही है। आप निशिचरकुलका भला ही करते आये हैं और करेंगे, क्योंकि आपका जो विचार है कि कालकी प्रेरणासे वानरी सेना घर बैठे आ गयी, यथा—'पुनि कहु भालु कीस कटकाई। कठिन काल प्रेरित चलि आई॥ सुं० ५३।', हम भी उसमें सहमत हैं। (खर्रा)] 'प्रभु' अर्थात् आप स्वयं भी समर्थ हैं, यह नहीं कि निशिचरोंके ही सहारे हों, यथा—'भुज बल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न स्वतंत्र'।

---

* तें—(गौड़), सै—(का०)। † 'कहहि'—(का०)

२—'बार बार पूछहु काहा।' भाव कि आप पूर्व पूछ चुके ही हैं जब सेना समुद्रके उत्तर तटपर आयी थी और हमने अपना संमत भी कह दिया। यथा—'बैठेउ सभा खबरि अस पाई। सिंधु पार सेना सब आई॥ बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मष्ट करि रहहू॥ जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं॥ सुं० ३७।'

मन्त्री ऐसा क्यों कह रहे हैं? इसका उत्तर कवि स्वयं सुन्दरकाण्डमें दे चुके हैं कि—'सचिव बैद गुर तीनि जो प्रिय बोलहिं भय आस। राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगि ही नास॥ ३७॥ सोइ रावन कहुँ बनी सहाई। अस्तुति करहिं सुनाइ सुनाई॥'

अर्थात् उसका नाश-काल आ गया है, वह किसीकी अच्छी सलाह मानता ही नहीं और जो उचित नीति कहते हैं उनको मारनेपर उद्यत होता है, इस प्रकार वह स्वयं अपने नाशका उपाय कर रहा है। ये भी विनाश-के उपायोंमें, ठकुरसोहाती कहकर, उसके सहायक हो रहे हैं। भयके कारण उचित न कहकर प्रिय बोल रहे हैं क्योंकि भाई विभीषण, वृद्ध मन्त्री और नाना माल्यवान् और शुकसारनके साथ जो बरताव हुआ वह आँखों देख चुके हैं। यथा—

१ 'रिपु उतकर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ है कोऊ॥ सुं० ४०। ३।'

२ 'सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती। अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। ५। ४१। ५-६।'

३ 'जब तेहि कहा देन बैदेही। चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही॥ सु० ५७। ८।'

उचित मन्त्र कहनेपर पुत्र और नानाको कठोर वचन कहे हैं—

४ 'ताके बचन बान सम लागे। करिया मुख करि जाहि अभागे॥

बूढ़ भएसि नतु मरतेउँ तोही। अब जनि नयन देखावसि मोही। लं० ४८।' (माल्यवान्)

५ 'असि मति सठ केहि तोहि सिखाई॥ अब ही ते उर संसय होई। बेनु मूल सुत भयउ घमोई॥ सुनि पितु गिरा परुष अति घोरा।' (प्रहस्त १०। २-४)

३—'कहहु कवन भय करिअ बिचारा।' भाव कि भय हो तो विचार करनेकी बात है; जब भय है ही नहीं तब विचार क्या करें? देवता और दैत्य जिनसे भय हो सकता था सो उनसे युद्धमें तो कभी मन्त्रविचारकी आवश्यकता ही न हुई तब इस सेनामें कोई योधा हमारे मुकाबिलेका कहाँ है, ये तो सब नर वानर ही हैं, उन्हें निशिचर नित्य भक्षण किया ही करते हैं, उनसे हृदय शङ्कित होनेकी तो कोई बात ही नहीं है, हम सब जाकर उन्हें तुरत खा लेंगे, सलाह क्या करना है?

दो०—सब के बचन* श्रवन सुनि कह प्रहस्त कर जोरि।
नीति बिरोध न करिअ प्रभु मंत्रिन्ह मति अति थोरि॥ ८॥

अर्थ—सबके वचन कानोंसे सुनकर प्रहस्त हाथ जोड़कर कहने लगा—हे प्रभो! नीति-विरुद्ध (नीतिके प्रतिकूल) न कीजिए, मन्त्रियोंमें अत्यन्त कम बुद्धि है। (भाव कि इन मन्त्रियोंका कहा न मानिये, ये मन्त्र देने योग्य नहीं हैं।)॥ ८॥

नोट—१ 'कर जोरि'। बड़ेके आगे विनय करनेके पूर्व हाथ जोड़ना शिष्टाचार्य है एवं सम्मानार्थ होता है। दूसरे, रावण जिस बातसे चिढ़ता है वही बात उसे उपदेश करना है अतः हाथ जोड़कर विनती की, जिसमें वह सलाह मान ले और रुष्ट न हो। यथा—'बिनती करौं जोरि करि रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥' —(हनुमद्वचन सुं० २२), 'रहसि जोरि कर पति पद लागी। बोली बचन०'—(सुं० ३१), 'सजल नयन कह

* पाठान्तर—'बचन सबहिं के'—(गौड़जी)।

जुग कर जोरी। सुनहु प्रानपति बिनती मोरी॥' इति मन्दोदरीवचनात्। तीसरे, अनुचित-क्षमार्थ हाथ जोड़े क्योंकि यह लड़का है, बापको सलाह देनेको है।

२ (क) पहिले कहा कि 'नीति बिरोध' न करो, फिर कहा कि मन्त्री अल्पबुद्धि हैं, उनकी बुद्धि अत्यन्त न्यून है। इससे जनाया कि 'अतिथोरी' और 'नीतिविरुद्ध' एक ही बात है। (ख) 'नीति बिरोध न करिय' अर्थात् इन्होंने जो सलाह दी है वह नीतिशास्त्रके प्रतिकूल है। (ग) 'मति अति थोरि' का भाव कि मन्त्री बुद्धिमान्, सयाना और नृपहितकारक होना चाहिये जो नीति ही बतावे, यथा—'नृप हितकारक सचिव सयाना। नाम धरमरुचि सुक्र समाना॥ १। १५४। १।', 'नृप हित हेतु सिखब नित नीती। १। १५५।' 'माल्यवंत अति सचिव सयाना। ५। ४०। १।', 'रावनु मातु पिता मंत्रीवर। बोला बचन नीति अति पावन। ४७। ५-७।' 'नीति बिरोध' और 'मति अति थोरि' की व्याख्या आगेके वचनोंमें है।

जब इनमें बुद्धि ही नहीं तब इनकी सलाह कब हितकारक हो सकती है? इनकी सलाह हानिकारक है जैसा आगे कहते हैं—'सुनत नीक आगे दुख पावा। सचिवन्ह अस मत प्रभुहि सुनावा॥' राजा अपना विनाश कर रहा है और मन्त्री उसे विनाशसे न बचाकर उलटे विनाशमें सहायक हो रहे हैं इसलिये मतिको तुच्छ कहा। ४७ (५-७) देखिये।

३—हनुमन्नाटकमें विरूपाक्ष मन्त्रीका इसी प्रकारका कथन है, यथा—'देव त्वां प्रति संप्रति प्रतिभटप्रोल्लासनं नो मुदे। देवायं प्रतिपद्यते हितमिदं यस्माद्वयं मन्त्रिणः। ९। ९।

अर्थात् इस समय शत्रुपक्षके युद्धार्थ प्रेरणा करना तुम्हारे आनन्दका कारण न होगा। हम मन्त्री हैं इसलिये यह हित कहते हैं।

कहहिं* सचिव सब† ठकुरसोहाती। नाथ न पूर आव एहि भाँती‡॥ १॥
बारिधि नाघि एक कपि आवा। तासु चरित मन महुँ सबु गावा॥ २॥

शब्दार्थ—ठकुरसोहाती=जो स्वामीको अच्छा लगे, स्वामीको प्रसन्न करनेवाली बात, लल्लोचप्पो; मुँहदेखी। ठकुर=ठाकुर, मालिक। पूर आव=पूरा पड़ना। यह मुहावरा है अर्थात् काम बनना, कार्य सम्पन्न होना। मन महुँ=मन-ही-मन। चरित=करनी, लीला।

अर्थ—सब मन्त्री मुँहदेखी बात कह रहे हैं। हे नाथ! (काम पड़नेपर) इस तरह (अर्थात् इन बातोंसे) पूरा न पड़ेगा॥ १॥ एक बंदर समुद्र लाँघकर आया। उसका सब चरित सब मन-ही-मन गाया करते हैं॥ २॥

नोट—१ (क) 'ठकुरसोहाती मतसे' सबका नाश है। कैसे जाना? यह आगे प्रमाणसे सिद्ध करता है। पाण्डेयजी लिखते हैं कि 'ठकुरसोहाती' पद देकर रावणकी भी बुद्धिको अति तुच्छ जनाया। क्योंकि मन्त्री जो कहते हैं वह इसीका मत है। 'ठकुरसोहाती' का प्रमाण देता है कि 'बारिधि०'। अर्थात् सब रोते हैं पर डरके मारे प्रकट नहीं करते। (ख) 'नाथ न पूर आव एहि भाँती।' इति। मुँहदेखी, श्रवणसुखद सलाह स्वामीको रुचिकर अवश्य है, पर यह मत आगे दुःख और हानि पहुँचानेवाला है। इस मन्त्रसे जब आप दुःख-समुद्रमें पड़ेंगे तब ये आपको उससे निकालनेको समर्थ न होंगे। मारीचके, 'जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा॥ आ० २५ (८), इन वचनोंसे मिलान कीजिये। इसपर यदि रावण कहे कि मन्त्रियोंने तो सत्य ही कहा कि नर-वानर हमारे आहार हैं, तो उसपर कहता है कि 'बारिधि नाँघि'।

२—"एक कपि आवा"। भाव कि तब तो एक कपि अकेला आया था और अब तो उसके समान बली वानरोंकी सेना-की-सेना आ गयी है; एकने जो कर्म किये उसको आज भी सब याद करते हैं तो इतनी सेनाके आनेपर तो न जाने क्या होगा!

* 'कहहि'। † सठ (भा० दा०)। ‡ 'भाती' (का०)

'कपि' सबसे छोटा शब्द देकर जनाया कि वह तो सबमें छोटा था और अब तो उससे अधिक बलवानोंकी पलटन आयी है, यथा— 'जेहि पुर दहेउ बधेउ सुत तोरा। सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा॥ सुं० ५४।'

'तासु चरित सब मन महुँ गावा'। (क) सब दीपदेहरी है—सब चरित और सब गावा। (ख) 'सब चरित' अर्थात् समुद्रलङ्घन, अशोकवाटिका, बाग और वनका विध्वंस, अक्षयकुमार और योद्धाओंका वध, रावणसे निःशंकता तथा लङ्कादहन और उसको दण्ड देनेमें रावणकी असमर्थता। इत्यादि। (ग) भाव कि एक बंदर आया उसका यह तमाशा देखा, यह तो एक वानरका चरित हुआ। अब जिसे सब 'नर' कहते हैं उसको सुनो कि कैसा है। (घ) 'सब मन महुँ गावा'। 'सब' का भाव कि कोई निशिचर एवं कोई घर ऐसा नहीं जो इसकी चर्चा न करता हो। भुलानेसे भी नहीं भूलता। यथा—'उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जबतें जारि गयउ कपि लंका॥ निज निज गृह सब करहिं बिचारा। नहिं निसिचर कुल केर उबारा॥ जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आए पुर कवन भलाई॥ ५॥ ३६।' (ङ) मनमें ही कहते हैं, रावणसे डरके मारे नहीं कह सकते। पुनः, भाव कि जैसी दशा (गति) उसने की वह सबका मन ही जानता है। कवितावलीके निम्न कवित्तोंमें यह दशा खूब वर्णित है—

"लंकदाहु देखे न उछाहु रह्यो काहुन को। कहैं सब सचिव पुकारि पाँव रोपि हैं॥
बाचिहै न पाछे त्रिपुरारिहू मुरारिहू के। को है रन रारि को जौं कौसलेस कोपिहैं॥क०लं०१।"
"समुझि तुलसीस कपिकर्म घर घर घैरु। बिकल सुनि सकल पाथोधि बाँध्यो॥
बसत गढ़ लंक लंकेस नायक अछत। लंक नहि खात कोउ भात राँध्यो॥क०लं०४।"

कथनका आशय यह है कि यह तो एक लघु दूत ही था, जब उसी एकसे किसीकी न चली तब भला उसके स्वामीको क्या जीतोगे? ऐसा ही आगे मन्दोदरीने भी कहा है, यथा—'पिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा। जाके दूत केर यह कामा॥ कौतुक सिंधु नाँघि तव लंका। आयउ कपि केसरी असंका॥ रखवारे हति बिपिन उजारा। देखत तोहि अच्छ जेहि मारा॥ ३५। ३-५।'

रा० प्र०—'मन महुँ गावा' का भाव कि परस्पर एक दूसरेसे तो कहते हैं, पर आपसे नहीं कहते; ये सब बड़े धूर्त हैं, इनका विश्वास न कीजिये।

छुधा न रही तुम्हहि तब काहू। जारत नगर कस न धरि खाहू॥ ३॥

अर्थ—तुममेंसे किसीको तब भूख न थी? नगर जलाते समय उसे पकड़कर क्यों न खा लिया?॥ ३॥

पं०—रावणसे बात करते हुए प्रहस्त यह वचन मन्त्रियोंकी ओर दृष्टि करके कह रहा है। भाव यह कि जो मन्त्री कहते हैं कि नर-वानर हमारे आहार हैं उनसे मेरा यह प्रश्न है कि क्या नगर जलाते समय भूख न थी कि उसे तुम खा लेते जिससे नगर बच जाता?

नोट—१ मन्त्रियोंकी ओर मुँह करके कह रहा है पर तात्पर्य रावणको ही सुनाने और उसकी चुटकी लेनेका है कि एक अकेले वानरका आप और आपके वीरसमूह बाल बाँका न कर सके तो अब सेनाका क्या कर लोगे? जो मन्त्रियोंने कहा था कि 'कौन भय है, वानर हमारे आहार हैं, सो एक वानरसे ही सबका बलाबल देख लिया गया।

२ 'जारत नगर' से जनाया कि वह चोरीसे या छिपकर नहीं रहा, वरन् सबको ललकारकर उसने सबके देखते ये सब चरित किये। मन्दोदरी-वाक्यसे मिलान कीजिये—'जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा। कहाँ रहा बलगर्ब तुम्हारा॥ ३५। ६।' पुनः, इसमें यह भी ध्वनि है कि जिसकी गतिको पहिले तुम न रोक सके; वह अब फिर आ गया है, अब उसकी गति कैसे रोक सकनेको समर्थ हो गये? यथा—'देखत तुम्हहिं नगर जेहि जारा। तासु पंथ को रोकनिहारा'॥—(कालनेमिवचन)।

सब चरितोंमेंसे 'लङ्कादहन' सभीने कहा है। सबने इसीको अत्यन्त दुर्गम कार्य माना है। वाल्मी० २८। ११—१६ में सारनने रावणसे जो कहा है कि 'जिस वीरने आपके प्रतापसे रोकी हुई अग्निको प्रज्वलित करके

उसे लङ्कामें ही छोड़ा था; भला फिर आप किस कारण उस वीरको भूलते हैं?' वह सब भाव भी इस चौपाईके शब्दोंसे ध्वनित होता है।

सुनत नीक आगे दुख पावा। सचिवन्ह अस मत प्रभुहि सुनावा॥ ४॥

अर्थ—इन मन्त्रियोंने प्रभु (आप) को वह मन्त्र (सलाह) सुनाया है जो सुननेमें तो अच्छा है पर आगे जिससे दुःख प्राप्त होगा॥ ४॥

नोट—यहाँतक **'बानर भालु अहार हमारा'** के विषयमें कहा। आगे 'नर' के सम्बन्धमें बताता है कि वह कैसा है जिसे तुम 'नर' और 'अहार हमारा' कह रहे हो।

हनुमन्नाटक अंक ९ में महोदर मन्त्रीका रावणको नीतिका जो उपदेश है वह मिलान करने योग्य है—**'राजन् मुखसुखा वाचो मधुराः कस्य न प्रियाः। तव क्षोदक्षमाः किं तु नैता व्यसनसंगमे॥ १४॥ प्रिया वा मधुरा वाक् च हर्म्येष्वेव विराजते। श्रीरक्षणे प्रमाणं तु वाचः सुनयकर्कशाः॥ १५॥ यैरेव स्तुतिभिः स्वामी प्राप्यते व्यसनाटवीम्। पश्चान्मूकत्वमापन्नैरुद्धर्तुं शक्यते कथम्॥ १८॥'**

अर्थात् हे राजन्! मुखको सुख देनेवाली मधुर वाणी किसे प्रिय नहीं लगती? पर दुःख प्राप्त होनेपर ये मधुर वचन आपके दुःखके सहन करनेवाले न होंगे। प्यारी वा मधुरवाणी महलोंमें ही शोभित होती है पर श्रीकी रक्षाके लिये तो सुन्दर नीति-संयुक्त और कठोरवाणियाँ ही प्रमाण हैं। जिन स्तुति करनेवाले मन्त्रियोंके उपदेशसे राजा दुःखरूपी वनमें प्रवेश करते हैं फिर पीछेसे उन्हीं मौनको प्राप्त मन्त्रियोंद्वारा वह स्वामी निकलनेको क्योंकर समर्थ हो सकता है?

जेहिं* बारीस बँधाएउ हेला। उतरेउ सेन समेत सुबेला†॥ ५॥
सो भनु मनुज खाब हम भाई। बचन कहहिं सब गाल फुलाई॥ ६॥

शब्दार्थ—हेला=खेल, खेलवाड़, सहज ही, लीलापूर्वक। भनु-'भणन्' (= कथन) से बना है और भणन् भी 'वर्णन' से बना है। भनु=कहो। यथा—**'सुकबि लखन मन की गति भनई। २। २४०। ५।'** वि० त्रि० जी 'सोभनु' को एक शब्द 'शोभनु' (=सुन्दर) मानते हैं। गाल फुलाना=गर्वसूचक आकृति बनाना, अभिमान और गम्भीरता दिखाना, डींग मारना।

अर्थ—जिसने खिलवाड़ मात्रसे समुद्र बँधा लिया और जो सेनासहित सुबेल पर्वतपर उतरा॥ ५॥ कहो वह मनुष्य है? हे भाइयो! हम उसे खायँगे? सब मन्त्री गाल फुला-फुलाकर डींगके वचन कह रहे हैं॥ ६॥

नोट—१ **'जेहिं बारीस''सुबेला'** इति। (क) समुद्रका बाँधना अर्थात् उसपर सेतु बनाना असम्भव कार्य था, यह तो सेतुबन्धन सुनकर रावणके घबड़ानेसे ही स्पष्ट है। यथा—**'सुनत श्रवन बारिधि बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना॥ बाँध्यो बननिधि नीरनीधि''। ५।'** पर यहाँ सुबेलपर उतरनेको भी दुष्कर कार्य कहा है। कहा जाता है कि इस पर्वतपर रावणकी तरफसे कालका पहरा रहता था, क्योंकि त्रिकूटाचलके जिस शिखरपर लङ्का बसी है उसकी अपेक्षा यह शिखर बहुत ऊँचा है। शत्रुका इसपर दखल हो जानेसे उसे लङ्काको जीतनेमें सुविधा होगी। इसीसे रावणने उसपर कालको नियुक्त कर दिया कि वहाँ कोई न आ सके और आ जाय तो काल उसे खा जाय।—'उतरेउ सुबेला' कहकर जनाया कि वे कालके भी काल हैं, काल उनको देखकर ही भाग गया। (ख) यहाँ 'सुबेला' शब्दमें 'श्लेष' अलंकार है। इससे कवि—इच्छित अर्थके अतिरिक्त 'अच्छे मुहूर्त' का भी अर्थ प्रकट होता है। (रा० प्र०)।

नोट—२ 'सो भनु मनुज'। भाव कि समुद्र-बन्धन आदि परमाद्भुत कार्य हैं, ये मनुष्यकी सामर्थ्यसे बाहर हैं; अतएव यह निश्चय है कि ये मनुष्यमात्र नहीं हैं, यथा—**'न हि मानुषमात्रोऽसौ राघवो दृढविक्रमः॥ १॥ येन बद्धः**

* 'जेहि'। † 'उतरेउ'—(का०), उतरे—(भा० दा०)। 'प्रभु दल सहित' पाठान्तर है।

समुद्रे च सेतुः स परमाद्भुतः।' इति माल्यवतो वचनम् रावणं प्रति॥ (वाल्मी० ३५)। पुनः भाव यह भी है कि तुम ऐसा कहते हो। पर वे मनुष्य हैं नहीं।

पु० रा० कु०—'कहहिं सब गाल फुलाई'। भाव कि गाल फुला-फुलाकर कहते हो तो गाल फुलाना ही रहेगा, खा नहीं सकते हो। यह केवल अभिमानी बोल है, यथार्थ नहीं है।

वि० त्रि०—'सो भनु…'। 'भनु' का अर्थ 'कहते हो' नहीं हो सकता, और न ऐसा प्रयोग मानसमें कहीं देखा जाता है, 'शोभन' संस्कृतका शब्द है, उसका अर्थ है 'सुन्दर' 'सोभनु' उसीका तद्भवरूप है, और अर्थ भी बैठ जाता है। रावणको दिलासा देने और प्रसन्न करनेके लिये, वे एक दूसरेसे कहते हैं कि उस सुन्दर मनुष्यको हम खा जायँगे' अर्थात् एक तो खाद्य स्वादु है, और देखनेमें सुन्दर है (मनुष्यके मांसमें अन्य मांसोंसे अधिक स्वाद होता है, यथा खल मनुजाद द्विजामिष भोगी) अतः उस सुन्दर मनुष्यको कहीं तुम न खा जाना, खानेके लिये बंदर-भालुओंका घाटा नहीं है। मौका आ जानेपर भी उसे मेरे लिये छोड़ देना।

'भनु' को पृथक् मान लेनेसे वह निरर्थक हो जाता है—'सो मनुज खाब हम भाई। बचन कहहिं सब गाल फुलाई॥' इतना लिखना ही यथेष्ट था, 'भनु' लिखनेका प्रयोजन क्या था?'

तात बचन मम सुनु अति आदर। जनि मनु गुनहु मोहि करि कादर॥ ७॥
प्रिय बानी जे सुनहिं* जे कहहीं। अइसे† नर निकाय जग अहहीं॥ ८॥
बचन परम हित सुनत कठोरे। सुनहिं‡ जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे॥ ९॥

शब्दार्थ—कादर=डरपोक। निकाय=बहुत।

अर्थ—हे तात! मेरे वचन अत्यन्त आदरसे सुनिये! मुझे मनमें डरपोक न समझियेगा॥ ७॥ संसारमें ऐसे मनुष्य बहुत हैं जो प्रिय वाणी सुनते हैं और जो प्रिय वाणी कहते हैं॥ ८॥ हे प्रभो! सुननेमें कठोर पर (परिणाममें) अत्यन्त हितकारी वचन जो सुनते हैं और जो कहते हैं वे (अर्थात् सुनने और कहनेवाले) मनुष्य कम हैं॥ ९॥

नोट—१ 'तात बचन…' इति। 'तात' प्यारका सम्बोधन है और 'पिता' भी इसका अर्थ है। 'सुनु अति आदर' अर्थात् चित्त देकर वचन सुनिये और मानिये, उसकी उपेक्षा न कीजिये। यथा 'तात सुनहु सादर अति प्रीती। ७। १२१।' (रा० प्र०)। 'जनि मन गुनहु मोहि करि कादर' इति। भाव कि मैं यथार्थ कहता हूँ, इसलिये मेरी सलाह मानिये। (पु० रा० कु०)।

नोट—२ प्रहस्त यहाँ कहता है कि उस सलाहसे, जो मैं देनेवाला हूँ, यह न समझ लीजियेगा कि मैं कादर हूँ। ऐसा क्यों कहा? क्योंकि ऐसा समझनेका मौका है! एक तो यह कि कहीं प्राणोंके डरसे न कहता हो; यही रावणने समझा भी है यथा—'अबही ते उर संसय होई'। दूसरे, प्रहस्त देख चुका है कि रावणने अपने भाई विभीषणको कादर कहा ही है, यथा—'सहज भीरु कर बचन दृढ़ाई। सागर सन ठानी मचलाई॥ सुं० ५६। ५।', 'सचिव सभीत बिभीषन जाके। बिजय बिभूति कहाँ जग ताके॥ सुं० ५६।', और 'अनुज हमार भीरु अति सोऊ' [(लं० २३)—ये वचन अङ्गदसे कहेगा]। वही सलाह मैं भी देनेवाला हूँ तब मुझे भी कादर अवश्य ही समझेगा। उसपर भी विभीषणजी तो बड़े हैं और मैं छोटा लड़का हूँ। अतएव यह प्रथम ही प्रार्थना कर रहा है कि मेरे वचनोंकी अवहेलना न कीजियेगा।

पुनः, दूसरा भाव 'जनि मन गुनहु करि कादर' का यह है कि आप यह भी निश्चय जानिये कि यदि आप मेरी सलाह मानेंगे तो मैं आपके साथ हूँ ही और यदि आप मेरी सलाह न भी मानेंगे तो भी मैं आपका पुत्र और सेवक ही रहूँगा, विपत्ति आनेके विचारसे साथ न छोड़ूँगा, वरन् जो आज्ञा होगी उसका पालन करूँगा। हनुमन्नाटकमें महोदर

---

* सुनहि। † ऐसे—(गौड़जी)। ‡ सुनहि जे कहहि—(का०)।

और विरूपाक्षके ऐसे ही वचन हैं, यथा—'आवामामुष्मिकौ राजन् विरूपाक्षमहोदरौ। मैथिली दीयतां तूर्णं नो चेत्सहचरौ तव'—(हनु० ९। २९)। अर्थात् विरूपाक्ष और महोदर हम दोनों परलोकमें सुख देनेवाले हैं। आप मैथिलीको शीघ्र दे दीजिये; नहीं, तो भी हम दोनों आपके अनुचर हैं ही।

३ 'प्रिय बानी जे सुनहिं' 'सुनत कठोरे।' इति। (क) प्रथम कहा कि 'प्रिय बानी जे सुनहिं' और दूसरी अर्धालीमें कहते हैं कि—'बचन परम हित सुनत कठोरे'; इससे 'कठोर' का अर्थ 'सुननेमें अप्रिय, श्रवणको अरुचिकर' जनाया। पुनः, सूचित किया कि वह वाणी सुननेमें प्रिय है पर हितकारी नहीं है और यह सुननेमें अप्रिय है पर परम हितकर है। इन वचनोंमें आशय यह है कि मन्त्रियोंने जो कहा वह विपत्ति लानेवाला है और जो मैं कहूँगा उससे आपका परम हित होगा, यद्यपि मेरे वचन कड़वे लगेंगे। वाल्मीकीयमें मारीच और विभीषणने रावणसे यही बात कही है, यथा—'सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः। अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ १६। २१॥'' अर्थात् हे राजन्! प्रिय (मीठी बात ठकुरसोहाती) कहनेवाले बहुत मिलते हैं पर श्रवणको अप्रिय और परिणाममें हितकारक ऐसे वचन कहने और सुननेवाले दुर्लभ हैं। (दोनोंके ये वचन हैं। मारीचने 'भोक्ता', 'विभीषणने 'श्रोता' कहा है। इतना ही भेद है। वाल्मी० ३। ३७। २।)

प्रथम बसीठ पठउ* सुनु नीती। सीता देइ करहु पुनि प्रीती॥ १०॥

शब्दार्थ—बसीठ—(सं० अवसृष्ट=भेजा हुआ)=दूत।

अर्थ—नीति सुनिये। पहिले दूत भेजिये और सीता देकर फिर प्रीति (मेल) कर लीजिये॥ १०॥

नोट—यहाँ नीतिमें तीन बातें क्रमसे बतायीं—१ दूत भेजा जाय। २ श्रीसीताजी दी जायँ। और ३ मेल कर लिया जाय। क्रमका भाव कि पहिले केवल दूत जाय, वह शत्रुसे जाकर मौका देखकर संधिकी बात निश्चित कर ले। यदि वे श्रीजानकीजीको पाकर शत्रुता छोड़ने और लौटनेको स्वीकार करें तो सीताजीको दे दो। स्त्री पाकर शत्रुता दूर हुई तब आगेके लिये उनसे संधि कर लो कि तुम्हें काम पड़े तो वे और उन्हें काम पड़े तो तुम सहायता करो।

रा० प्र०—नीतिका प्रथम चरण 'साम' है। दूत भेजकर संधिकी बात साम है। दूसरा चरण दाम है सो यहाँ 'सीता देइ' यह दाननीति हुई। 'पुनि प्रीति करो' अर्थात् श्रीसीताजीको अपनी स्वामिनी मानकर स्तुति कर प्रसन्न करोगे तो वे अपराध क्षमा करा देंगी, यह सूचित किया। इस तरह विभेद नीति भी आ गयी।

पं०—'करहु पुनि प्रीती'। भाव कि आप मिलकर प्रीति करें, यह कहकर कि आपसे शूर्पणखाकी अवज्ञा हुई और हमसे श्रीसीताजीकी, अब दोनों ओरसे एक दूसरेको क्षमा करें और सुहृद् हो जायँ।

दो०—नारि पाइ फिरि जाहिं जौं तौ न बढ़ाइअ रारि।
नाहिं त सनमुख समर महि तात करिअ हठि मारि॥ ९॥

शब्दार्थ—रारि=(रार) झगड़ा-टंटा। समरमहि=रणभूमि। मारि=लड़ाई, मारपीट। हठि=प्रतिज्ञापूर्वक, किसी-का कहा न मानकर। शत्रुपर पीछेसे आक्रमण करनेको भी 'हठ' कहते हैं।

अर्थ—यदि स्त्री पाकर वे लौट जायँ तो झगड़ा-टंटा न बढ़ाइये, नहीं तो, हे तात! संग्रामभूमिमें हठ-पूर्वक उनसे सम्मुख मार-काट कीजिये॥ ९॥

पं०—भाव यह कि श्रीसीताजीको पा जानेपर यदि वे न लौट जायँ और लङ्काके राज्यकी इच्छा करें तो ऐसी मार करिये कि वह भी जन्मभर याद रक्खें कि किसीसे पाला पड़ा था। पुनः भाव कि नीतिमें दण्ड अन्तिम उपाय है, आप इस नीतिको अन्तमें बरतिये। यहाँ उक्ताक्षेप अलङ्कार है।

यह मत जौं मानहु प्रभु मोरा। उभय प्रकार सुजसु जग तोरा॥ १॥

* 'पठव' पाठान्तर है।

अर्थ—प्रभो ! यदि आप मेरी यह सलाह मानें तो दोनों प्रकारसे संसारमें आपका सुयश ही होगा ॥ १ ॥

टिप्पणी—१ 'उभय प्रकार' अर्थात् साम या दण्ड दोनोंमें आपका ही यश होगा, उनका अपयश होगा। साम अर्थात् श्रीसीताजीको देकर मिलनेमें भी यश और दण्ड अर्थात् पीछे लड़नेमें भी यश।

नोट १—देनेमें यश इस तरह कि शत्रुने अपना दूत भेजा था और विनय की कि स्त्री लौटा दो, यथा—'मोरे कहे जानकी दीजे। इति हनुमद्वाक्य सुं० २२। १०।' फिर उनके भाईने भी संधिका संदेसा भेजा था, यथा—'कहेहु मुखागर मूढ़ सन मम संदेस उदार। सीता देइ मिलहु॥ सुं० ५२।' तीसरे नीतिमें भी 'साम' नीति प्रथम है और शत्रुकी ओरसे ही प्रथम संधिका संदेसा आया। अतः देकर संधि कर लो।

पं०—देनेमें यश यों कि लोग कहेंगे कि शूर्पणखाका अपमान हुआ था, उसके कारण सीताहरण किया था और यह समझकर कि परस्त्रीका छलसे हरण करना अयोग्य था एवं परदारामें उसका किंचित् लोभ न था, उसने सीताको दे दिया।

पं०—लड़नेमें यश इस तरह कि शत्रुताका मुख्य कारण सीताहरण था, सीता लौटा दी गयीं तब कोई कारण युद्धका न रह गया था, पर इन्होंने स्त्री मिलनेपर भी उसका राज्य भी छिनना चाहा तब वह बेचारा न लड़ता तो करता ही क्या ? अपनी और अपने राज्यकी रक्षाके लिये उसे बरबस लड़ना पड़ा। जीते तो अच्छा और न भी जीते तो भी लोक उन्हींको दोष देगा, हमको नहीं।

मा० म०—प्रहस्तके वचनोंका तात्पर्य यह है कि प्रथम श्रीजानकीजीको भेज दो; यदि श्रीरामचन्द्र ग्रहण न करें और युद्ध करना चाहें तो युद्ध करो। उस युद्धमें यदि हारोगे तो लोग तुम्हारा यश ही बखान करेंगे और कहेंगे कि रावण श्रीरामचन्द्रको उनकी स्त्री देता था परंतु उन्होंने नहीं लिया, तब बेचारा युद्धमें प्रवृत्त हुआ, इसके अतिरिक्त और क्या करता ? यदि जीतोगे तो श्रीरामचन्द्रहीको सब लोग कहेंगे कि जब रावण जानकीजीको देता था तब उन्होंने न लिया और युद्धमें प्रवृत्त हुए, परिणाम यह हुआ कि जानकी भी न मिलीं और प्राण भी गये।

नोट—परस्त्रीके त्याग करनेवाले सुयशके भागी होते ही हैं, यथा—'जो आपन चाहइ कल्याना। सुजसु सुमति सुभगति सुख नाना॥ सो परनारि लिलार गोसाईं। तजहु०-(सुं० ३८)'

सुत सन कह दसकंठ रिसाई। असि मति सठ केहिं तोहि सिखाई॥ २॥
अबहीं ते उर संसय होई। बेनु मूल सुत भएहु घमोई॥ ३॥

अर्थ—दशग्रीव क्रोधित होकर * पुत्रसे कहने लगा कि अरे शठ ! तुझे ऐसी बुद्धि किसने सिखायी ?॥ २॥ अभीसे मनमें संदेह होने लगा है। रे सुत ! तू तो बाँसकी जड़में घमोई उत्पन्न हुआ है॥ ३॥

नोट—'असि मति सठ केहिं तोहि सिखाई' इति। (क)—नीति कही और सीताजीको देनेको कहा; अतः 'सठ' कहा जैसे—'सीता देहु राम कहँ अहित न होइ तुम्हार', विभीषणके इस वाक्यपर रावणने कहा था कि 'जियसि सदा सठ मोर जिआवा' 'सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती'। वैसे ही यहाँ प्रहस्तके 'सीता देइ करहु पुनि प्रीती' पर उसे 'सठ' कहा। माल्यवान्ने विभीषणकी नीतिका समर्थन किया था इसलिये उसे भी 'सठ' कहा, यथा—'रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ॥ सुं० ४०॥'

(ख)—किसने सिखाया ? ध्वनि यह है कि विभीषण और माल्यवान् ये दोनों शत्रुपक्षकी कहनेवाले थे, इन्हींने सिखाया होगा। यथा—'रिपु कर पच्छ सदा तोहि भावा' एवं 'रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ'। अथवा, माने सिखाया होगा।

पं०—भाव कि तेरी माता मन्दोदरीने अपने वाक्यकी प्रतिष्ठाहेतु तुझे यह शिक्षा दी होगी (कि जाकर सभामें यही सलाह देना), अथवा माल्यवान् विभीषणादिने कुटुम्बमें भेद करानेके निमित्त यह मत सिखाया होगा।

* यहाँ 'तृतीय विषम' अलङ्कार है। उपाय किया हितका और फल हुआ 'क्रोध'।

☞ प्रहस्त, मन्दोदरी, विभीषणका मिलान —

प्रहस्त	मन्दोदरी	विभीषण
'तात वचन मम सुनु अति आदर'	१ मोर कहा अति हित हिय धरहू	मति अनुरूप कहउँ
'वचन परमहित सुनत कठोरे'		हित ताता
'वारिधि नाँघि एक कपि आवा	२ समुझत जासु दूत कै करनी	
तासु चरित सब मन महँ गावा'	स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी ॥	
'प्रथम बसीठ पठउ सुनु नीती	३ 'तासु नारि निज सचिव बोलाई।	'सीता देहु राम कहँ०'
सीता देइ करहु पुनि प्रीती ॥'	पठवहु'–(सुं०)। रामहि सौंपि०'	
'सुनत नीक आगे दुख पावा।	४	जहाँ कुमति
सचिवन्ह अस मत प्रभुहि सुनावा ॥'		तहँ बिपति निदाना
'सुजसु प्रभु तोरा'	५ जो पिय मानहु मोर सिखावन।	'जो आपन
	होइ सुजसु तिहुँ पुर अतिपावन ॥	चाहइ कल्याना ।०'
जेहि बारीस बँधाएउ हेला।	६ तुम्हहि रघुपतिहि अंतर कैसा ॥	तात राम नहिं
सो भनु मनुज०	खलु खद्योत दिनकरहि जैसा।	नर भूपाला

बेनुमूल सुत भएउ घमोई

'घमोई' के अनेक अर्थ मिलते हैं। गौड़जी लिखते हैं कि 'घमोई' कटंगी बाँसका एक प्रकारका रोग है जिसके पैदा होनेसे उस बाँसमें नये कल्ले नहीं निकलने पाते। इस बाँसकी जड़ोंमें बहुतसे पतले और घने अङ्कुर निकलते हैं जो बाँसकी बाढ़ और नये कल्लोंकी उत्पत्ति रोक देते हैं।

२—'पंजाबीजी लिखते हैं कि 'घमोई' एक घासका नाम है जो बाँसकी जड़के पास पैदा होती है, उसका आकार लघु होता है परंतु वह बाँसके वृक्षकोनष्ट कर देती है।

३—किसी टीकाकारका कथन है कि 'घमोई' नामका एक कल्ला बाँसमें होता है जो निकलते ही गुड़मुड़ाकर सूखकर रह जाता है।

४—शब्दसागरमें 'घमोय' का अर्थ सत्यानाशी भी किया है। पर 'घमोई' शब्दमें यह अर्थ नहीं दिया है।

बाबा हरिहरप्रसादजीने रा० प्र० में 'घमोय रोग' अर्थ किया है। वे लिखते हैं कि बाँसकी जड़में वंशनाशक यह रोग उत्पन्न हो जाता है।

गोसाईंजीने इस शब्दका प्रयोग गीतावलीके सुन्दरकाण्डमें भी किया है' यथा—'बुद्धि बल साहस पराक्रम अछत राखे गोइ।'''देवि बिनु करतूति कहिबो जानिहैं लघु लोइ। कहौंगो मुखकी समर सरि कालि कारिख धोइ ॥ करत कछु न बनत हरि हिय हरष सोक समोइ। कहत मन तुलसीस लङ्का करउँ सघन घमोइ ५ ॥'

बाबा हरिहरप्रसादजीने वहाँ उसका अर्थ 'कटीला, सत्यानाशी और भड़भड़ा' किया है। बैसवाड़ा प्रदेशमें इसे कडुवा कहते हैं। रामायणी रामबालकदासजी कहते हैं कि बाँसके मूलमें घासके पास ही यह भी जम जाता है पर यह बहुत तुच्छ और कोमल होता है, छड़ी मार देनेसे ही कट जाता है।

सत्यानाशी पौधेका सम्बन्ध बाँससे कोई नहीं जान पड़ता। यदि 'घमोई' का अर्थ सत्यानाशी, कटीला आदि लें, तो यहाँ 'बेनमूलमें घमोई' हुआ, इसका भाव यह होगा कि—हमारे पुत्र होकर तुझे वीरोंके समान वचन कहना चाहिये था पर तू हमारे वंशके अनुहरित पैदा नहीं हुआ; जैसे कहाँ तो बाँस कैसा कठोर होता है और घमोई कैसी कोमल और नर्म कि छड़ी लगते ही कट जाय। प्रहस्तकी तुच्छता दिखानेके विचारसे उसे घमोई और अपनेको बाँस कहा। (पु० रा० कु०)

अर्थ–३ से भी यही भाव निकलता है। अर्थ २ के अनुसार भाव यह होगा कि तू अभी बालक है, घमोईके

समान छोटा है, पर तू इसी अवस्थामें ही कुलका विनाशक उत्पन्न हुआ जान पड़ता है—(पंजाबीजी) । और अर्थ १ के अनुसार भाव यह होगा कि तू हमारे वंशका विनाशक वंशमें रोगरूप उत्पन्न हुआ है जैसे बाँसके मूलमें 'घमोई' रोग उत्पन्न होकर बाँसोंका नाशक होता है ।

मा० म०—कार लिखते हैं कि इसका तात्पर्य यह है कि जैसे घमोय न तो बाँससे पैदा होता है और न बाँसका कुछ गुण उसमें रहता है, परन्तु वह बाँसका नाशक है; वैसे ही हमारा कुछ भी गुण तुझमें नहीं है, 'तू मुझसे पैदा नहीं हुआ' (पर रावण उसे स्वयं ही 'सुत' सम्बोधन कर रहा है । मा० सं०) तू हमारे कुलका नाश करनेवाला है ।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि—

वि० त्रि०—जनश्रुति प्रसिद्ध है कि 'बाँसकी जड़में बाँस ही होता है ।' दूसरा पौदा उग नहीं सकता । 'घमोय' एक कंटीला पौदा है, जो खंडहरोंमें पैदा होता है, उसका फूल पीला होता है । बनारसमें उसे भँड़भाँड़ कहते हैं। यह बड़ा नाजुक होता है, दबाते ही टूट जाता है । यदि वह बाँसके पास उगे भी तो वह बाँसका कल्ला नहीं है । कहीं-से भँड़भाँड़का बीज छिटककर वहाँकी मिट्टीपर पड़ गया, उसीसे पौदा उग आया । कहनेका भाव यह है कि 'तू मेरे वीर्यसे उत्पन्न नहीं है' इसलिये ऐसा कहता है ।

यहाँपर लाचार होकर यही अर्थ करना पड़ेगा, नहीं तो **'सुनि पितु गिरा परुष अति घोरा'** का अर्थ नहीं लगेगा।'

नोट—'अबहीं ते उर संसय होई' । भाव कि अभी तो युद्धका आरम्भ भी नहीं हुआ । जब अभीसे ऐसे वचन कहता है तब आगे क्या खाके लड़ेगा । तात्पर्य यह है कि तू कादर है कि बिना युद्ध हुए ही, बिना शत्रुबलके देखे पहले से ही ऐसा डरने लगा कि शूरोंके लिये उपहास योग्य वचन मेरे सम्मुख कह रहा है ।

सुनि पितुगिरा परुष अति घोरा । चला भवन कहि बचन कठोरा ॥ ४ ॥
हित मत तोहि न लागत कैसें । काल बिबस कहुँ भेषज जैसें* ॥ ५ ॥

अर्थ—पिताकी अत्यन्त कठोर और कड़ी वाणी सुनकर वह यह कठोर वचन कहकर घर चला ॥ ४॥ तुझपर भलाईकी सलाह उसी तरह असर नहीं करती वा लगती जैसे मरनेवाले रोगीको दवा नहीं लगती ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ **'परुष अति घोरा ॥ इति । 'असि मति सठ केहि तोहि सिखाई'** यह परुष है; **'अबहीं ते उर संसय होई ।'** अर्थात् कादर है, यह 'घोर' है, और **'बेनुमूल सुत भएउ घमोई'** यह घोर और अति परुष दोनों है ।

'चला भवन' जिसमें फिर कुछ न कहे । जैसे सुन्दरकाण्डमें **'दूरि न करहु इहाँ है कोऊ ।'** यह सुनते ही **'माल्यवंत गृह गयउ (बहोरी)'**—(सुं० ४०); दूसरी बार फिर जब सलाह पूछनेपर माल्यवान्‌ने वैदेहीजीको लौटा देनेको कहा तब रावणने कठोर वचन कहे कि **'करिया मुह करि जाहि अभागे ।···'** इत्यादि । जिन्हें सुनकर **'सो उठि गयउ कहत दुर्बादा** । लं० ४८ ।' वैसे ही प्रहस्त **'चला भवन कहि बचन कठोरा ।'** क्या वचन कहे यह कवि स्वयं आगे कहते हैं—**'हितमत०'**† नं० (पु० रा० कु०)

काल बिबस कहुँ भेषज जैसें

काल जिसको दबा लेता है उसको हित करनेवाली ओषधि भी लाभ या हित नहीं करती, अथवा नहीं लगती । इसी प्रकार मैंने परम हितके वचन कहे कि जिसमें आपका विनाश न हो पर आप उन्हें नहीं मानते । यहाँ परमहितकी अच्छी सलाह हित औषध है; मान लेना उसका असर है । यहाँ ओषधिका प्रयोग होता है, वह

* कैसें, जैसें—(का०) ।

† मा० म०—प्रहस्तने कहा कि तुमने जो कहा वह तुम्हारे ही देशमें है अर्थात् तुम्हीं अपने पितासे नहीं पैदा हुए क्योंकि वह मुनि हैं और तपमें रत रहते हैं और तुम राक्षस हो, पापमें रत रहते हो; ऐसी दशा हमारी नहीं है क्योंकि जैसे राक्षस तुम, वैसे हम, जैसी करनी तुम करते हो वैसी हम भी करते हैं ।

दी जा रही है; पर उसका असर नहीं होता। और रावण सलाह सुनता है, पर नहीं मानता; क्योंकि वह कालवश है। यह दोनोंमें समता है। विभीषण और मारीचके इसी प्रकारके वचन वाल्मीकीयमें हैं, यथा—'सुनीतं हितकामेन वाक्यमुक्तं दशानन। न गृह्णन्त्यकृतात्मानः कालस्य वशमागताः। ६। १६। २०।' 'स च न प्रतिजग्राह रावणः कालचोदितः। उच्यमानं हितं वाक्यं विपरीत इवौषधम्॥ ६। १७। १५।' 'मारीचस्य तु तद्वाक्यं क्षमं युक्तं च रावणः। उक्तो न प्रतिजग्राह मर्तुकाम इवौषधम्॥ ३। ४०। १।'

अर्थात् हे दशानन! मैंने हितकी कामनासे सुन्दर नीतियुक्त वचन कहे, पर कालके वशमें प्राप्त और अकृतात्मा होनेसे तुमने उनको न ग्रहण किया अर्थात् न माना। २०। विभीषणजी श्रीरामचन्द्रजीसे कहते हैं कि यद्यपि मैंने उसके हितकी बात कही थी तथापि उस कालप्रेरित रावणने मेरे वचन न माने जैसे कालविवश मनुष्य ओषधि सेवन नहीं करता। १५। मारीचके उचित एवं मानने योग्य वचन रावणने ग्रहण न किये जैसे मरनेवाला मनुष्य ओषधि ग्रहण नहीं करता।

'दवा लगना' मुहावरा है। दवा जब असर नहीं करती तब कहते हैं कि दवा नहीं लगती। यहाँ 'लागत' शब्द देकर यही भाव कविने सूचित किया है।

संध्या समय जानि दससीसा। भवन चलेउ निरखत भुज बीसा॥ ६॥

अर्थ—दशशीश रावण संध्याका समय जानकर अपनी बीसों भुजाओंको देखता हुआ घरको चला॥ ६॥

नोट—१ **'संध्या समय जानि'** इति। इससे जनाया कि सभा सबेरेसे संध्यातक हुआ करती है। संध्यासे फिर अखाड़ा नृत्यगानादिमें जाया करता था। अथवा, आज मन्त्रियोंसे युद्ध किस तरहसे किया जाय इसकी सलाह लेनेमें तथा इस सम्बन्धमें बातचीत करनेमें इतना समय लग गया, संध्या हो गयी और संध्यासे अखाड़े आदिका प्रोग्राम (कार्यविवरण) रहता है अतः संध्या जानकर उसने सभा विसर्जन की।

नोट—२ **'निरखत भुज बीसा'**। इति। (ख) बीसों भुजाएँ देखना कहकर निज भुजबलके अभिमानकी अधिकता (अति गर्व) दिखायी। यथा—**'मम भुजसागर बलजल पूरा। जहँ बूड़े अगनित नृप सूरा॥ २८। ३॥'** (पु० रा० कु०, पं०)। भाव कि इन्हींके बलसे मैंने चराचर जीता है। लोकपालोंको जीतनेवाली इन भुजाओंके सामने नर-वानर क्या हैं; एवं २० भुजावालेका दो भुजावाला क्या कर सकता है? यथा—**'बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइहि पारा॥ २८। ४।'** (पी०, पं०, रा० प्र०)। बीस भुजाओंके देखनेके सम्बन्धसे ही 'दससीस' नाम लिखा गया। पंजाबीजी लिखते हैं कि बीसो भुजाओंके देखनेका अभिप्राय अति धृष्टता है; जिसमें लोग यह न समझें कि प्रहस्तके वचन सुनकर वा रघुनाथजीका आगमन जानकर भयभीत हो गया है।

(ख) भुजनिरीक्षणमें गर्व और असूया संचारीभावोंकी ध्वनि है कि मैंने इन २० भुजाओंके भरोसे वैर बढ़ाया है, यथा **"निज भुजबल मैं बयरु बढ़ावा। देहउँ उतरु जो रिपु चढ़ि आवा॥ ७७। ६।"** फिर दो भुजावाला प्रहस्त रूठ ही गया तो क्या? दूसरे, अपनी दुर्नीतिसे शङ्का संचारीभावकी ध्वनि है कि मैंने ऐसा विरोध ठाना है कि अब इनके अस्त होनेका समय आ गया। (वीर)। (ग) 'दससीसा' कहकर बीस भुजा निरीक्षणके उल्लेखसे जनाया कि बीसों नेत्रोंसे देख रहा था।

लंका सिखर उपर आगारा। अति बिचित्र तहँ होइ अखारा॥ ७॥
बैठ जाइ तेहि मंदिर रावन। लागे किंनर गुनगन गावन॥ ८॥

शब्दार्थ—आगार=भवन, घर, मकान। अखाड़ा=नृत्यगान।

अर्थ—लङ्काके शिखरके ऊपर एक अत्यन्त विचित्र भवन था। वहाँ बड़ा ही विलक्षण नृत्यगान हो रहा था॥ ७॥ रावण उस मकानमें जाकर बैठ गया। किन्नर लोग उसके गुणगण गाने लगे॥ ८॥

"लंका सिखर उपर आगारा"

(१) रा० प्र०—लङ्काके सुन्दर, सुबेल और नील तीन शिखरोंमेंसे नील नामक एक शिखरपर रावणका मुख्य राजभवन था।

(२) पु० रा० कु०—लङ्का त्रिकूटाचलपर है, यथा—'गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका । तहँ रह रावन सहज असंका ॥ कि० २८ ।' और यह भवन उससे भी ऊपर एक कंगूरेपर है । यहाँ रावण, जितने गुणी हैं उनका गुण देखता है । [जैसे मल्लोंके अखाड़ेमें देखा जाता है कि कौन पहलवान जबर है वैसे ही यहाँ नृत्यगान करनेवालोंका अखाड़ा देखता है कि इनमें कौन उत्तम गायक, और उत्तम साज बजानेवाला है । रा० बा० दा०]

नोट—'अति बिचित्र' का भाव कि विचित्र तो सभी भवन हैं, यथा—'कनक कोट बिचित्र मनिकृत सुंदरायतना घना । चौहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथी चारु पुर बहु बिधि बना ॥'''सुं० ३ ।'; पर यह दशाननका मन्दिर 'अति विचित्र है, यथा—'गएउ दसानन मंदिर माहीं । अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं ॥ सुं० ५ ।'

प० प० प्र०—रावण शिवभक्त है । संध्या समय शिवजीकी पूजाका एक महत्त्वका अवसर होता है । शिवजी गानप्रिय हैं अतः यह 'मंदिर' शिवमन्दिर समझना चाहिये ।

२ (क)—'किन्नर' एक देव कोटि है । ये बड़े उत्तम गवैये होते हैं । इन्हें किंपुरुष भी कहते हैं । देवता सब अधीन हैं ही; अतएव गुणी गवैये गन्धर्व, किन्नर आदि देवता गाना सुनाते हैं । १ । ७, १ । ६१ । १ ।' देखिये । (ख) 'गुणगण' अर्थात् रावणके दिग्विजय आदि ।

बाजहिं ताल पखाउज बीना । नृत्य करहिं अपछरा प्रबीना ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—पखावज—एक बाजा जो मृदंगसे कुछ छोटा होता है । ताल=मजीरा वा झाँझ । बीन—यह बाजा सितारकी तरहका, पर उससे बड़ा, होता है । इसमें दोनों ओर बड़े-बड़े तूँबे होते हैं जो बीचके एक लम्बे डाँड़से मिले होते हैं । इसमें साधारणतः पाँच या सात तार होते हैं । यह बाजा बहुत उच्च कोटिका माना जाता है ।

अर्थ—ताल, पखावज और वीणा बज रहे हैं । नृत्यमें कुशल अप्सराएँ (मेनका, रम्भा, उर्वशी आदि) नाच रही हैं । ९ ।

नोट—१ 'अपछरा, प्रबीना' यथा—'रंभादिक सुरनारि नबीना । सकल असमसर कला प्रबीना ॥ करहिं गान बहु तान तरंगा ॥ १ । १२६ । ४ ।', जो इन्द्रके यहाँ नाचती गाती थीं वे अब यहाँ गाती नाचती हैं, इसीसे आगे 'इन्द्र' के समान विलास करना कहा ।

दो०—सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास ।
परम प्रबल रिपु सीस पर तदपि न सोच न त्रास* ॥ १० ॥

शब्दार्थ—सुनासीर=इन्द्र । विलास=आनन्दमय क्रीड़ा, सुखभोग ।

अर्थ—सैकड़ों इन्द्रोंके समान वह (रावण) सदा भोग-विलास करता है । परम प्रबल शत्रु सिरपर है तो भी उसे न सोच है और न डर ही । १० ।

☞ 'सुनासीर' नाम मानसमें दो ही स्थलोंपर आया है । एक तो नारद-मोह-प्रकरणमें, दूसरे यहाँ । वहाँ भी उसे अति चिन्ता थी और यहाँ तो राज्य छिन ही सा गया है,—'सुनासीर मन महुँ अति त्रासा । चहत देवरिषि मम पुर बासा ॥ १ । १२५ ।' यह शब्द इन्द्रके लिये रूढ़ है ।

मा० म०—मुनि लोमशकी आयुकी तरह रावणके भोग-विलासकी आयु भी नहीं घटती है वरन् नख और दाँतके समान बढ़ती जाती है । जैसे नख काटनेपर और दाँत टूटनेपर पुनः उत्पन्न होता है वैसे ही रावणका भोग बढ़ता ही जाता है । यद्यपि श्रीरामचन्द्रजीसे शत्रुता करनेसे सर्वनाश निश्चय है तथापि विषय-सिन्धुमें रावण निमग्न है । लङ्कामें कितने जल गये, कितने कट गये कितने अधमरे हो गये, अर्थात् सब प्रकार लङ्का अबल होती जाती है और

* 'तदपि न कछु मन त्रास'—(का०); 'तदपि न सोच न त्रास'—(छ०) 'तदपि सोच नहिं त्रास' । 'तदपि सोच न त्रास'—(भा० दा०) ।

यद्यपि रावणको लङ्काके जलने आदिका शोक होना चाहिये तो भी वह महाभयानक मृत्युसागरमें आनन्दसे भोग कर रहा है, उसे कुछ चिन्ता नहीं है।

करु०—(१) रावणका अति हर्षसे नृत्यगान कराना वीररसका स्थायीभाव है अर्थात् उत्पादक है। (२) शत इन्द्रसे अधिक भोग कहनेका भाव कि—(क) रावण युवावस्थाका है। इन्द्र बुड्ढा है। वा, (ख) रावणके एक ही पुत्रने इन्द्रको बाँध लिया, इससे। वा, (ग) इन्द्रको सदा दानव, दैत्य, राक्षसका भय बना रहता है और जहाँ किञ्चित् भी भय होता है वहाँ सुख कहाँ? वहाँ तो विषयानन्दका अभाव है और यहाँ रावण निर्भय भोग करता है। अतः शत इन्द्र सरिस कहा।

रा० बा० दा०—रावण पूर्वका भानुप्रताप राजा है। उस जन्ममें उसने सहस्र-सहस्र यज्ञ किये थे। यथा—'जहँ लगि कहे पुरान श्रुति एक एक सब जाग। बार सहस्र सहस्र नृप किए सहित अनुराग॥ १५५।' सौ यज्ञसे इन्द्रपद प्राप्त होता है। दश हजार यज्ञसे १०० इन्द्रका विलास प्राप्त होता है। अतः पूर्वजन्मके सहस्रों यज्ञोंका फल इस जन्ममें उसे सैकड़ों इन्द्रोंके समान भोगनेको मिला। क्योंकि इस जन्ममें उसकी मुक्ति होनी है।

नोट—'परम प्रबल' से बली, महाबली वा प्रबल और परम प्रबल तीनका बोध हुआ। सब वानर बलवान् हैं, यथा—'सहज सूर कपि भालु सब। ५। ५५।' हनुमान्‌जी महा बलवान् हैं, यथा—'है कपि एक महाबल सीला। २२। ५।' जिनने लङ्का जला दी, पुत्रको मारा। और श्रीरामजी परम प्रबल हैं क्योंकि इन्होंने अतुलित बलशाली बाली आदिको मारा है, यथा—'खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली॥ सुं० २१। ९।'

रा० प्र०—'परमप्रबल' का भाव कि अपनी मृत्यु नरके हाथ ललाटपर देख चुका है और अपने समान बलवान् खरदूषणादिका वध भी इनके हाथों सुन लिया, यथा—'खरदूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता॥ ३। २३। २।' यह निश्चय हो गया कि ऐसा बीर कोई नहीं। मारीचसे भी सुन लिया कि 'जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा॥ ३। २५। ८।' इससे यह जानता है कि 'परम प्रबल' हैं, तो भी किञ्चित् चिन्ता नहीं हैं। इस दोहेमें तीसरी 'विभावना अलङ्कार' है।

प० प० प्र०—सु (=सुष्ठु) नासीरं सेनामुखं यस्य सः सुनासीरः। अर्थात् जिसकी अच्छी सेना है। 'सुनासीर सत सरिस सो' का भाव कि रावणके पास इन्द्रसे शतगुणी अच्छी सेना है, इससे वह निश्चिन्त है। उसका पुत्र इन्द्रजित् मेघनाद ही अकेले समस्त शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ है, यह रावण जानता है और मेघनादके समान उसके यहाँ अनेक सुभट हैं, यथा—'मेघनाद सम कोटि सत जोधा रहे उठाइ', तब उसको चिन्ता क्यों होने लगी।

☞ नोट—रावणको विनयमें महामोह और मोहसे रूपक दिया है, यथा—'महामोह रावन बिभीषन ज्यों हयो हौं।' एवं 'मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार०'। (पद १८१, ५८)। महामोहमें फँसे हुए जीवकी यही दशा है जो दोहेमें कही गयी। यह आसुरी प्रकृतिवाला जीव अपने विलासको इन्द्रसे हजारों गुणा अधिक और अपनी आयुको न नाश होनेवाली समझकर मृत्यु सिरपर खड़ी देखकर भी कुछ भय नहीं खाता और न अपने उद्धारकी चिन्ता करता है।

रावण-मन्दोदरी-मन्त्रिसंवाद प्रकरण समाप्त हुआ

सुबेल पर्वतकी झाँकी

इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा। उतरे सेन सहित अति भीरा॥ १॥

अर्थ—यहाँ रघुवीर श्रीरामचन्द्रजी सुबेल पर्वतपर सेनासहित बड़ी भीड़के साथ उतरे। १।

नोट १—पूर्व ५ (३) में सिन्धुपार उतरकर डेरा करना कहा। बीचमें सेनाका फल खाना, राक्षसोंके नाक-कान काटना, रावणका सेतुबन्धन समाचार सुनना, मन्दोदरीका उसे समझाना, सभामें रावणका मन्त्रियोंसे सलाह

करना, प्रहस्तका उसे समझाना और फिर लंकाशिखरपर रावणका अखाड़ा देखना वर्णन किया । अब पुनः पूर्व प्रसङ्गको जहाँ छोड़ा था वहींसे उठाकर रावणके महारसका भङ्ग कहेंगे । अतः 'इहाँ' पद देकर दूसरे प्रसङ्गका प्रारम्भ जनाया । जब एक ओरका प्रसङ्ग कहकर उसी समयका दूसरी ओरका प्रसङ्ग कवि कहते हैं तब 'इहाँ' या 'उहाँ' या इसके पर्य्याय शब्दोंका प्रयोग उन्होंने जहाँ-तहाँ किया है । जब रावणपक्षका समाचार कहकर उसी समयका रामपक्षका समाचार कहना प्रारम्भ करते हैं तब प्रायः सर्वत्र उन्होंने 'इहाँ' शब्दका प्रयोग किया है । इहाँ=इधर, इस पक्षमें, हमारी ओर । 'इहाँ' पदके इस प्रयोगसे वक्ता अपनी स्थिति रामचन्द्रजीके समीप सूचित करते हैं और इससे अपना निजत्व-ममत्व श्रीरामजीसे प्रकट कर रहे हैं । इसके और उदाहरण ये हैं—**इहाँ प्रात जागे रघुराई ।** १७ (१), **इहाँ राम अंगदहि बुलावा ।** ३७ (३), **इहाँ देवरिषि गरुड़ पठाएउ ।** ७३ (१०), **इहाँ बिभीषन मंत्र बिचारा ।** ७४ (३), **इहाँ बिभीषन सब सुधि पाई ।** ८४ (१) । ये सब उदाहरण रावणपक्षके समाचार-कथनके पश्चात् उसी समयके रामपक्षसमाचार-कथनके हैं । रामपक्षके समाचार-कथनके साथ बहुत-से स्थलोंपर 'उहाँ' का प्रयोग भी हुआ है, यथा—(क) **उहाँ राम रजनी अवसेषा । जागे सीय सुपन अस देखा ॥** अ० २२५ (३), (ख) **उहाँ राम लछिमनहि निहारी । बोले बचन मनुज अनुसारी ।** लं० ६० (१) । इत्यादि ।

भेद यह है कि—वक्ता संत हैं, रामभक्त हैं । वे सदा रामभक्तके साथ रहते हैं । रामभक्तके साथ होनेसे वे रामभक्तके प्रसङ्गका प्रारम्भ 'इहाँ' शब्दसे और रामपक्षका समाचार 'उहाँ' शब्दसे प्रारम्भ करते हैं । अयोध्या-काण्डमें भरतचरित कहते समय उन्होंने, भरतजीके साथ अपनी स्थिति दिखानेके लिये, वहाँसे दूर चित्रकूटका प्रसङ्ग लिखनेमें, '**उहाँ राम रजनी अवसेषा**' कहा । इसी प्रकार '**उहाँ राम लछिमनहि निहारी**' में 'इहाँ' का प्रयोग उनकी स्थिति श्रीहनुमान्‌जीके साथ प्रकट कर रही है ।

साथ ही यह भी जान लेना चाहिये कि 'इहाँ' शब्द रावणपक्षका समाचार कहनेमें भी प्रयुक्त हुआ है, यथा—**इहाँ अर्ध निसि रावन जागा । निज सारथि सन खीझन लागा ॥** ९९ । ७ ।' '**इहाँ दसानन सुभट पठाए । नाना अस्त्र सस्त्र गहि धाए ॥** ५२ । २ ।'

प्राचीन सभी हस्तलिखित प्रामाणिक प्रतिलिपियोंमें यही पाठ है । अतएव 'इहाँ' और 'उहाँ' के प्रयोगके सम्बन्धमें यह कहना सर्वथा प्रमाणित नहीं होता कि जब रामपक्षका समाचार कहना होता है तब कवि 'इहाँ' और जब रावणपक्षका कहना होता है तब 'उहाँ' लिखते हैं । और न इससे यह समझ लेना चाहिये कि जहाँ भी 'इहाँ' का प्रयोग है वहाँ कविका निजत्व अवश्य है । हाँ, इतना अवश्य निर्विवाद सिद्ध है कि वक्ताका ममत्व, निजत्व और स्थिति सदा श्रीराम या रामभक्तके सङ्ग है । जब इनका समाचार लिखते हुए फिर रावणपक्षका समाचार लिखना होता है तब वक्ताकी स्थिति जहाँ है वहाँसे यदि रावणपक्षके प्रसङ्गका स्थल दूर है तो 'उहाँ' और निकट है तो 'इहाँ' का प्रयोग किया है अर्थात् वक्ताकी स्थितिपर 'इहाँ' और 'उहाँ' का प्रयोग होता है । इनके प्रयोगमें राम और रावणकी स्थितिकी विशेषता नहीं है । [पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि "**इहाँ दसानन सुभट पठाए**': इस प्रसङ्गमें मेघनाद और श्रीलक्ष्मणजीका द्वन्द्व युद्ध है, मेघनादकी सहायताके लिये रावणने सेना भेजी है । जिनके साथ मेघनादने वैरभावकी सेवासे श्रीलक्ष्मणजीको बाणोंसे तृप्त किया है और उसीसे उसने परम लोक पाया है, यथा—'**गतः स परमाँल्लोकान्शरैः संतर्प्य लक्ष्मणम् ।** वाल्मी० ६ । ९२ । ३ ।' अतः श्रीगोस्वामीजीने उस पक्षमें भी निजत्व दिखाया है ।" "**इहाँ अर्ध निसि रावन जागा । निज सारथि सन खीझन लागा**' इस प्रसङ्गमें भी रावण अपने पराक्रमसे श्रीरामजीको प्रसन्न करना चाहता था; यथा '**शत्रोः प्रख्यातवीर्यस्य रञ्जनीयस्य विक्रमैः । पश्यतो युद्धलुब्धोऽहं कृतः कापुरुषस्त्वया ॥** वाल्मी० ६ । १०४ । ६ ।' अर्थात् प्रख्यात पराक्रमी शत्रुको मैं अपने पराक्रमसे प्रसन्न करना चाहता था, मैं उससे युद्ध करनेके लिये उत्सुक था, पर तुमने उसके सामने मुझे कापुरुष (कायर, डरपोक) बना दिया । इसलिये वहाँ ग्रन्थकारने उस ओर भी निजत्व दर्शाया है । रण भी श्रीरामजीकी क्रीड़ा है ।] रावणपक्षके साथ 'उहाँ' के प्रयोगके उदाहरण—'**उहाँ सकोपि दसानन सब सन कहा रिसाइ ।** ३१ ।', '**उहाँ दसानन सचिव हँकारे ।** ४७ । ३ ।', '**उहाँ दूत एक मरमु जनावा ।** ५५ । २ ।', '**उहाँ निसाचर रहहिं ससंका ।** सुं० । २६ । १ ।', '**उहाँ दसानन जागि करि करै लाग कछु जग्य ।** ८३ ।', इत्यादि ।

२—"सुवेल सैल"। प्रथम सिन्धुपार होकर सुवेलतटपर उतरे, यथा—"कौतुक ही बारिधि बँधाइ उतरे सुबेल तट जाइ। तुलसिदास गढ़ देखि फिरे कपि प्रभु आगमन जनाइ॥" विशेष लं० । ५ (३) में देखिये। जब वानर फलमूल खा चुके और सुस्ता लिये तब पर्वतपर जा ठहरे। जैसे वाल्मीकिमें दो बार उतरना कहा है, वैसे ही यहाँ भी कहा गया।

३ (क) 'रघुवीर' का भाव कि शत्रुपुरीमें पहुँचकर भी आप निर्भय हैं, क्योंकि पराक्रमी वीर हैं, पीछे हटनेवाले नहीं हैं। इसीसे समुद्रपार होकर अब और आगे बढ़कर पर्वतपर उतरे।—"प्रतस्थे पुरतो रामो लंकामभिमुखो विभुः"(वाल्मी० ६ । २३ । १४)। (ख) "उतरे सेन सहित" कहकर जनाया कि यह पर्वत बहुत बड़ा है कि इसपर सेना भी आ गयी। इसका शिखर, जिसपर श्रीरामचन्द्रजीका मन्त्रियोंसहित रात्रिमें निवास हुआ, आठ कोश विस्तारका था, यथा—'ततो रामः सुवेलाग्रं योजनद्वयमण्डलम्। उपारोहत्ससुग्रीवो हरियूथैः समन्वितः॥ वाल्मी० ६ । ४० । १॥' अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी दो योजन विस्तारवाले सुवेल पर्वतपर सुग्रीव तथा अन्य वानरयूथपोंसहित चढ़े। पुनः यह भी जनाया कि यहाँ फल, मूल और जलाशय भी बहुत हैं जिससे सेनाको सब प्रकारका सुख मिल सकेगा। राजनैतिक दृष्टिसे सुवेलपर दखल कर लेना बड़ी बुद्धिमानी सूचित करता है। इसके शिखर बड़े-बड़े हैं और ऐसे ऊँचे हैं कि उनपरसे शत्रुका नगर अच्छी तरह देख पड़ेगा और शत्रुपर वहाँसे ही निशाना लगा सकेंगे।

यह वही पर्वत है जिसके शिखरपर चढ़कर श्रीहनुमान्‌जीने लंकाके भीतरका दृश्य देखा था। यथा—'सैल बिसाल देखि एक आगे। तापर धाइ चढ़ेउ भय त्यागे॥' 'गिरिपर चढ़ि लंका तेहिं देखी।' ' । सुं० ३ । ८–१० ।'

४ (क) "अति भीरा" में यह भी भाव है कि चोरीसे नहीं उतरे वरन् डंकेकी चोटपर। (ख) "सेन सहित अतिभीरा" इति। (ग) पूर्व जब सेना सेतुबंधपर चली तब भी 'अति भीर' पद दिया गया है, यथा—'सेतुबंध भइ भीर अति कपि नभपंथ उड़ाहिं। ४। और अब 'सुबेल' पर उतरनेपर भी 'अति भीरा' पद दिया गया। भाव यह है कि सेतुपर सब वानर पार होनेके लिये एकत्र हुए थे, इससे वहाँ भीड़ दिखायी पड़ी थी और अब पर्वतपर टिकनेपर सब सेना एकत्र होनेसे पुनः भीड़की अपारता देख पड़ी। पूर्व वानर फल खानेके लिये इधर-उधर फैले थे। इससे भीड़ न जान पड़ती थी। अब सिमिटकर एकत्र हुए तब जान पड़ी। पुनः इस पदसे 'रघुवीर' पदको चरितार्थ किया है। ये रघुवीर हैं अतः धूम-धड़क्केसे रावणके समीप पर्वतपर उतरे कुछ चोरीसे नहीं उतरे। पुनः (ग) रा० प्र० का मत है कि सेना इससे इकट्ठी हुई कि अब शत्रुका सामना है, व्यूह रचना करनी होगी।

६—'सेन सहित उतरे रघुबीरा। कहि न जाइ कपि जूथप भीरा॥ ५ । २॥' उपक्रम है और 'इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा। उतरे सेन सहित अति भीरा॥' उपसंहार है। इस तरह पूर्वापर प्रसंग मिलाया। 'यूथप' शब्दसे स्पष्ट कर दिया कि सुबेलपर केवल यूथपति ही हैं।

सिखर एक उतंग अति देखी। परम रम्य सम सुभ्र बिसेषी॥ २॥

शब्दार्थ—सुभ्र=सफेद, श्वेत। शुक्लः शुभ्रः शुचिः श्वेत इत्यमरः।

अर्थ—सुवेल पर्वतपर एक अत्यन्त ऊँचा, परम रमणीय (सुन्दर), समतल और बहुत ही उज्ज्वल श्वेत शिखर देखकर। २।

☞ यह पाठ भा० दा० का है। का० और मा० म० में पाठ यह है—

'सैल शृंग एक सुंदर देखी। अति उतंग सम सुभ्र बिसेषी॥'

नोट—१ पाठ दोनों ही निर्दोष हैं पर भा० दा० के पाठमें 'सिखर एक उतंग अति देखी' शिखरकी वास्तविक उत्तुङ्गता और उबड़-खाबड़पनके अनुरूप है। भावके अनुरूप शब्दोंका रखना विशेष काव्य-कौशल समझा जाता है, इसलिये हमारी रायमें भा० दा० का ही पाठ समीचीन है। (गौड़जी)।

२—'एक उतंग अति' इति। 'एक' का भाव कि इसकी समताका वहाँ दूसरा न था। यह सबसे ऊँचा था। सुवेल पर्वतपर सेना टिकी, अब उसके सर्वोच्च शृङ्गकी देख-रेख हुई; इससे यह सूचित करते हैं कि लंकापुरी भी ऐसे ही ऊँचे पर्वतपर बसी थी, सुवेल पर्वतपरसे लङ्कापुरीके भीतरका भाग न देख पड़ता था। अतः सर्वोच्च शिखरपर जानेका विचार हुआ। वाल्मी० ३७–३८ में लिखा है कि सेनाको चारों दिशाओंमें स्थित करके प्रभुने लक्ष्मण, सुग्रीव और विभीषणसे कहा कि आज रात्रिको हमलोग सुवेल पर्वतपर निवास करेंगे, क्योंकि वह बहुत सुन्दर है और उसपरसे हमलोग लङ्का और उसमें राक्षस रावणका घर देख सकेंगे, यथा—'**सुवेलं साधुशैलेन्द्रमिमं धातुशतैश्चितम्। अध्यारोहामहे सर्वे वत्स्यामोऽत्र निशामिमाम्॥ ६। ३८। ३॥ लङ्कां चालोकयिष्यामो निलयं तस्य रक्षसः।**' वाल्मी०। ३८। ४।' लंका भी अति उतंग है, यथा—'**अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा**' सुं० ३।' अतः उसके मुकाबिलेमें यहाँ भी 'अति उतंग' शिखरपर टिकेंगे।

पंजाबीजी लिखते हैं कि ऊँचे शृङ्गपर डेरा करनेका दूसरा कारण यह है कि राजाका डेरा सेनाके मध्यमें सेना-द्वारा चारों ओरसे सुरक्षित और ऊँचे स्थानमें होना ही चाहिये।

३—यह पर्वत सुन्दर और अनेक प्रकारकी धातुओंसे विभूषित एवं चित्रित हो रहा था, इसीसे 'परम रम्य' कहा, यथा—'**सुवेलं साधु शैलेन्द्रमिमं धातुशतैश्चितम्।** वाल्मी० ३८। ३।', '**रामः सुवेलमासाद्य चित्रसानुमुपारुहत्॥** ३८। ६॥'

परम रम्य कहकर जनाया कि प्रभुको सुख देनेवाला है, उनके मनको रमानेवाला है, यथा—'**परम रम्य आराम यह जो रामहि सुख देत**'। इस पदसे इस शिखरका दिव्य अलौकिक सौन्दर्ययुक्त होना सूचित किया है।

४—'**सम सुभ्र बिसेषी**'। (क) 'सम' अर्थात् उसकी जमीन चौरस है, समतल है, ऊँची-नीची उबड़-खाबड़ नहीं है। समतल देखनेका भाव यह कि जिसमें प्रभुके समीप ही उनके समीपवर्ती सेवक भी रह सकें। (ख) शुभ्र स्थानपर चाँदनीका प्रकाश अधिक रहता है, अतः शुभ्र स्थान देखा—(पं०)। वा, श्वेतसे जनाया कि यह स्फटिकमणिकी है जो अत्यन्त श्वेत होती है। चित्रकूट और किष्किन्धामें भी सरकारके निवासस्थानपर स्फटिक शिला थी, जहाँ वे बैठा करते थे, यथा—'**बैठे फटिक सिला पर सुंदर**। आ० १। ४।' '**फटिकसिला बैठे दोउ भाई**। ५। १९। ८।' '**फटिकसिला अति सुभ्र सोहाई। सुख आसीन तहाँ दोउ भाई**' (किष्किन्धाके प्रवर्षण गिरिपर); वैसे ही यहाँ भी फटिकमणिकी शिला होना युक्तयुक्त ही है। वन्दनपाठकजी लिखते हैं कि इस शब्दको देकर प्रभुका सत्त्वगुणमें वास जनाया। (ग) 'सम' और 'शुभ्र' से यह भी जना दिया कि कुशकण्टकादिसे रहित है।

तहँ तरु किसलय सुमन सुहाए। लछिमन रचि निज हाथ डसाए॥ ३॥
तापर रुचिर मृदुल मृगछाला। तेहि आसन आसीन कृपाला॥ ४॥

शब्दार्थ—किसलय=नये निकले हुए कोमल पत्ते।

अर्थ—उसपर लक्ष्मणजीने वृक्षोंके नये कोमल पत्ते और सुहावने फूल अपने हाथोंसे रचकर बिछाए (अर्थात् पहले कोमल-कोमल नवीन पत्तोंको बिछाया फिर उसपर सुन्दर खिले हुए फूल रच-रचकर बिछाकर फूलका सेज प्रभुके लिये तैयार किया)। ३। फिर उसपर 'रुचिर' कोमल मृगछाला बिछा दी। इसी आसनपर दयालु रघुनाथजी विराजमान हुए। ४।

पं०—रामाश्वमेधके अनुसार पौष शुक्ल पूर्णिमाके दिन रघुनाथजीका सुवेलपर डेरा हुआ। लंकामें दिनरात बराबर होते हैं इससे शीत-उष्णकी विशेषता नहीं होती इसीसे शिखरपर चाँदनी देखनेको बैठे।

☞ १—लंकाकी स्थिति Equator विषुवरेखाके दक्षिणमें थी, इससे वहाँ पौषमें भी शीत नहीं होता, बल्कि ज्यों-ज्यों दक्षिण जाते हैं त्यों-त्यों उत्तर गोलार्द्धकी ठीक उलटी ऋतुएँ मिलती हैं। पूस-माघमें कड़ी गरमी पड़ती है। २—वाल्मी० यु० ३८। १३ से भी पौषकी पूर्णिमाहीको शिखरपर जाना सिद्ध होता है; यथा—

'ततोऽस्तमगमत्सूर्यः संध्यया प्रतिरञ्जितः । पूर्णचन्द्रप्रदीप्ता च क्षपा समतिवर्तते ॥ १८ ॥ ततः स रामो हरिवाहिनी-पतिर्विभीषणेन प्रतिनन्द्य सत्कृतः । सलक्ष्मणो यूथपयूथसंयुतः सुवेलपृष्ठे न्यवसद् यथासुखम् ॥ १९ ॥'

अर्थात् तब सूर्य अस्त हो गया और साँझकी शोभासे आकाश रङ्गीन हो गया । आकाशमें पूर्णिमाका चाँद निकल आया और रात हो चली । वानर-सेनाके स्वामी भगवान् श्रीरामचन्द्रजी विभीषण, लक्ष्मण और सेनानायकोंके साथ सुवेलशैलपर सुखसे विराजे ।

आज पूर्णिमा है, यही मानसकारका मत है जैसा अगले दोहेसे स्पष्ट है । यथा—'पूरब दिसा बिलोकि प्रभु देखा उदित मयंक' । पूर्णचन्द्र पूर्णिमाको ही पूर्व दिशामें उदय होता है, अन्य तिथियोंमें नहीं ।

मानसके मतानुसार सेना उसी दिन समुद्र पार हुई । दिन-ही-दिनमें सेना समुद्रतटपर उतर चुकी थी और रावणको भी दिनमें ही समाचार मिल गया था जब वह सभामें ही था । अत्यन्त घबड़ाहट और व्याकुलताके कारण जब उसके दशमुखोंसे बरबस सहसा समुद्रका एक-एक नाम एक साथ ही निकल पड़ा तब अपना भय छिपानेके लिये वह सभासे घरमें चला गया—'बिहँसि चला गृह करि भय भोरी' । यहाँ मन्दोदरीकी फटकार पड़ी तब फिर यहाँसे उठकर सभामें जा बैठा, यथा—'सभा बहोरि बैठ सो जाई' । सन्ध्या या निशा आदि शब्दोंका अभाव और 'बहोरि' पद प्रमाण हैं कि उसी दिन दो बार सभामें यह गया । यदि दूसरा दिन होता तो 'सन्ध्या, 'प्रात' आदि शब्दोंका प्रयोग अवश्य होता जैसे अन्य स्थलोंपर कविने किया है । यथा—'संध्या समय जानि दससीसा । भवन चलेउ निरखत भुज बीसा ॥ १० । ६ ॥', 'एहि बिधि करत बिनोद बहु प्रात प्रगट दसकंध । सहज असंक सुलंकपति सभा गयउ मदअंध ॥ १६ ॥' 'साँझ जानि दसकंधर भवन गएउ बिलखाइ । ३४ ।', 'सभा गएउ उठि होत बिहाना । ३७ । १ ।'

नोट—'सुमन सुहाए' । 'सुहाए' का भाव कि फूल देखनेमें सुन्दर, नवीन, पूरे खिले हुए, सुगन्धित और कोमल हैं ।

रा० प्र०—लछिमन रचि निज हाथ डसाए' इति । (क)—'रचि' का भाव कि ऐसे कोमल पत्ते बिछाए जो सीधे और बराबर हैं, फिर ऊपरसे सुन्दर पुष्प सजकर इसी प्रकार बिछाये जिसमें ऊँचा-नीचा कहीं न हो जो गड़े, सेज चौरस और गुलगुला हो । (ख)—लक्ष्मणजीने अपने हाथसे बिछाया, इसका कारण यह है कि सज्जा (शय्या)—सेवा आपकी नित्यकी सेवा है यहाँतक कि गर्भमें भी यह सेवा नहीं छोड़ी ।—यह मत काष्ठजिह्वा स्वामीका है ।

'तापर रुचिर मृदुल मृगछाला'

यह मृगछाला माया-मृग मारीचवाली है । 'रुचिर' विशेषण कविने यही बात सूचित करनेके लिये यहाँ भी दिया है । वहाँ सीताहरणके पूर्व 'सीता परम रुचिर मृग देखा' और पतिसे उन्होंने इसके लानेकी प्रार्थना की—'सत्यसंध प्रभु बध करि एही । आनहु चर्म कहति बैदेही'; और, उसके पश्चात् रुचिर मृगछालेका उल्लेख प्रथम-प्रथम यहीं आया है । यहाँ भी वही 'रुचिर' शब्द है । आ० २७ (३) (७) में 'रुचिर' की व्याख्या और 'सत्यसंध', 'प्रभु' और 'कठिन सर' के भाव देकर यह बताया जा चुका है कि यह मृगचर्म मायामृगवाला है । आ० २७ देखिये । गीतावली और हनुमन्नाटक इसके सुप्रसिद्ध प्रमाण हैं । 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई । करै अन्यथा अस नहिं कोई', ये शिववाक्य हैं । फिर भला मृगचर्म कैसे न मिलता ? यह भी विदित रहे कि मानसमें वनवासके समयसे मारीच-कनक-मृगके पूर्व कहीं मृगचर्मका नाम नहीं है । कुशासनहीका बराबर वर्णन है । इससे यह निश्चय है कि दूसरा कोई मृगचर्म साथ नहीं था । विशेष आगे ११ (५-६) में देखिये । मारीचवधके बाद जब लक्ष्मणजी मायासीतासे प्रेरित होकर श्रीरामजीके पास गये तब उन्होंने मृगचर्म भाईके हाथसे पाया । उस समयसे बराबर यह लक्ष्मणजीके ही पास रहा है, यथा—'हेमको हरिन हनि फिरे रघुकुलमनि लखन ललित कर लिए मृग छाल । गी० आ० पद ९ ।', क्योंकि जिनके लिये वह 'रुचिर मृगचर्म' लाया गया था उनका तबसे बराबर वियोग ही रहा ।

२—सीताहरणके समयसे आजके पूर्व यह चर्म कहीं बिछाया नहीं गया; क्योंकि यदि ऐसा हुआ होता तो किसी न किसी ढंगपर इसका उल्लेख कुछ-न-कुछ अवश्य पाया जाता । यह क्यों ? पूर्व अ० १९८, आ० ३०

(९ । १४) एवं कि० ५ (६) और सुन्दरकाण्डमें बताया जा चुका है कि प्रियकी कोई वस्तु एवं प्रियका स्मरण दिलानेवाली कोई भी वस्तु जब वियोगीके सामने पड़ती है तब उससे उसमें विरहका उद्दीपन होता है । **'कनकबिंदु दुइ चारिक देखे'** भरतजीका शोक कैसा बढ़ जाता ? पुनः 'सीय साथरी' देख क्या दशा होती है ? वे कैसे शोकाकुल हो जाते हैं, यह उन्हींके शब्दोंमें आपने देखा है—**'बिहरत हृदय न हहरि हर पबि ते कठिन बिसेषि ।'** अ० १९९ ।' इत्यादि । श्रीरघुनाथजीका विलाप श्रीसीताहरणके बाद सम्पूर्णतः इस उद्दीपनका प्रमाण है । फिर किष्किन्धामें भी **'पट उर लाइ सोच अति कीन्हा'** सुन्दरकाण्डमें समाचार पा जानेपर यह शोक कुछ कम हुआ—**'चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही । रघुपति हृदय लाइ सोइ लीन्ही ॥'** पर सीताजीका दुःख सुननेपर फिर **'भरि आए जल राजिव नयना ।'** अस्तु ! इस उद्दीपनके स्वयं ही कारण न बन जायँ, इस विचारसे लक्ष्मणजी युक्तिपूर्वक इसे रक्खे ही रहे।

सीताशोध होनेपर तुरंत प्रस्थान हो गया । आज शत्रुकी पुरीमें प्रवेश हुआ है । और जैसा वह 'रुचिर' मृगचर्म है वैसा ही परम रमणीय स्थान भी उसके बिछाये जाने योग्य मिला है । श्रीलक्ष्मणजीके चित्तमें अम्बा श्रीजानकीजीका हनुमान्‌जी द्वारा भेजा हुआ संवाद **'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना । दीनबंधु प्रनतारतिहरना'**—बराबर चुभता रहा है जिसकी झलक एक स्थानपर किञ्चित् आ भी गयी है—**'नाथ दैव कर कवन भरोसा । ... कादर मन कर एक अधारा । दैव दैव आलसी पुकारा ॥'** देखिये तो प्रभुकी आँखके इशारेसे ही दब जानेवाले छोटे भाई यहाँ उन्हीं प्रभुको क्या कह डालते हैं ? पाठक, बस इतनेसे ही श्रीसीताजीके उपयुक्त वचनोंका प्रभाव उनपर पड़ा है, उसका अंदाजा कर लें ।

कहनेका आशय यह है कि वे उस समयसे ही सीताप्राप्ति-साधनमें किञ्चित् विलम्ब नहीं सह सकते । आज सीताप्राप्तिके लिये हृदयमें विरहका उद्दीपन करके शीघ्र शत्रुका संहार करानेके लिये प्रथम और बहुत ही उत्तम अवसर और स्थान प्राप्त जानकर उन्होंने वह सीताजीका परम अभीष्ट रुचिर मृगचर्म पुष्पशय्याके ऊपर बिछाया है तथा प्रभु उसपर जाकर विराजमान हुए । वाल्मीकिजी लिखते हैं कि इस समय रामचन्द्रजीको रावणपर बड़ा क्रोध है, क्रोधावेशमें वे सुवेलपर चढ़े थे, यथा—

'एवं संमन्त्रयन्नेव सक्रोधो रावणं प्रति । रामः सुवेलमासाद्य चित्रसानुमुपारुहत् ॥ ३८ । ८ ।'

बस, क्रोध तो है ही, उससे पूरा कार्य लेनेके लिये लक्ष्मणजीने मृगचर्म बिछाकर उसे उत्तेजित किया ।

स्वामी प्रज्ञानानन्दजीने इस मतका विरोध किया है। अरण्यकाण्ड दोहा २७ में उनका लेख दिया जा चुका है। पाठकोंने वहाँ पढ़ा ही है, अब भी वहीं देख लें। यहाँपर भी वे लिखते हैं—'यह मृगछाला कहाँसे आयी इस विषयमें मतभेद है पर मतभेदके लिये स्थान नहीं है। श्रीरामलक्ष्मणजी मुनिवेषमें रहते थे। मुनिवेषमें मृगछालाका अन्तर्भाव होता ही है । मारीचमृगका चर्म यह नहीं है । यहाँ आसन=राजाके छः गुणोंमेंसे एक । यथा—**'संधिर्नाविग्रहो यान-मासनं द्वैधमाश्रयः'** **'कालादिप्रतीक्षया विजिगीषोर्दुर्गादीन् वर्धयतः स्थितिः आसनम् । अमरव्याख्यासुधायाम् ।'**

पं०—'कृपाला' विशेषण दिया क्योंकि यहाँ समीपवर्ती वानरों सखाओंपर कृपा करके उनसे वार्तालाप करेंगे ।

प्रभु कृत सीस कपीस उछंगा । बाम दहिन दिसि चाप निषंगा ॥ ५ ॥
दुहुँ कर कमल सुधारत बाना । कह लंकेस मंत्र लगि काना ॥ ६ ॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामचन्द्रजी कपिराज सुग्रीवजीकी गोदमें अपना सिर रक्खे हैं । बायीं ओर धनुष और दाहिनी ओर तरकश रक्खा हुआ है ॥ ५ ॥ दोनों हस्तकमलोंसे (प्रभु) बाण सुधार रहे हैं । लंकेश विभीषणजी कानोंसे लगकर मन्त्र कह रहे हैं ।

नोट—१ यहाँसे चार अर्धालियोंमें प्रभुका ध्यान वर्णन किया जा रहा है । यह ध्यान हनुमन्नाटकमें भी है। वहाँ भी सुग्रीव, विभीषण, हनुमान्, अङ्गद और लक्ष्मणजीहीका साथमें होना वर्णित है। यथा—

अंके कृत्वोत्तमाङ्गं प्लवगबलपतेः पादमक्षस्य हन्तुर्भूमौ विस्तारितायां त्वचि कनकमृगस्यांगशेषं निधाय ॥
बाणं रक्षःकुलघ्नं प्रगुणितमनुजेनार्पितं तीक्ष्णमक्ष्णोः कोणेनोद्वीक्ष्यमाणस्त्वदनुजवचने दत्तकर्णोऽयमास्ते ॥ ७ ॥'

भ्रूभंगाद्बद्धसिन्धू रघुपतिरवताद्वन्दिना वेदितोऽसौ विष्टस्ते मातुलस्य त्वचि पुनरनुजे मन्त्रिणि प्रत्तकर्मा ॥
बाणे दत्तार्धदृष्टिस्तव जयपिशुने लक्ष्मणे सस्मितो यः सुग्रीवग्रीवबाहुः कृतचरणभरः सोऽङ्गदे वायुपुत्रे ॥ ११ । ८ ॥'

अर्थात् (रावणके प्रश्न करनेपर कि रामचन्द्र कहाँ हैं महोदर बोला कि) वानरराज सुग्रीवके अङ्कमें अपने सिरको रखकर अक्षकुमारको मारनेवाले हनुमान्‌जीकी गोदमें चरणको रखकर और पृथ्वीमें बिछायी हुई सुवर्णके मृगकी मृगछालमें शेष शरीरको रखकर लक्ष्मणजीके दिये हुए राक्षसकुलनाशक तीक्ष्ण बाणको नेत्रोंके कोनोंसे देखते हुए और तुम्हारे भाई विभीषणकी बातोंमें कान लगाये हुए यह रामचन्द्र हैं। (पुनः महोदर मन्त्री बोला) हे रावण! जिन्होंने भ्रूके विलाससे ही सागरको बाँधा और जो स्तुतियोंको प्राप्त होकर, रक्षा करनेके निमित्त मारीचके मृगचर्मपर बैठे, तुम्हारे छोटे भाईको जिन्होंने मन्त्रीका कार्यभार सौंपा है वे, बाणोंकी ओर आधी दृष्टि लगाये, तुम्हारी जयका विनाश करनेवाले लक्ष्मणकी ओर हँसते हुए, सुग्रीवके गलेमें बाहें डाले हुए और हनुमान् तथा अङ्गदकी गोदमें चरण दिये हुए, ये रामचन्द्र हैं।

२—श्रीसुग्रीवजीकी गोदमें शिर है। क्योंकि ये प्रथम सखा हैं और वानराधीश हैं। इन्हींके ऊपर सेना और सीता-प्राप्तिका सारा भार है। इसीसे 'कपीश' पद यहाँ दिया गया। इनको राज्य प्राप्त हो चुका है। विभीषण राजा बना दिये गये हैं पर अभी राज्य प्राप्त नहीं हुआ। अतः सुग्रीवका स्थान यहाँ उनसे ऊँचा है।) इससे सुग्रीवका सम्मान अधिक जनाया।

३—'बाम दहिन दिसि चाप निषंगा' में यथासंख्य अलङ्कार है। धनुष बायें हाथ वा कंधेपर रक्खा ही जाता है अतः यहाँ लेटनेपर वह बायीं ओर रक्खा है और बाण दहिनेमें रहता है इसीसे तरकश दाहिनी ओर रक्खा है जिसमें आवश्यकता पड़नेपर उठानेमें अड़चन न पड़े और न विलम्ब हो।)

४—'दुहुँ कर कमल सुधारत बाना' इति। (क) श्रीलक्ष्मणजीने ही बाण लाकर प्रभुके हाथोंमें दिया है—'बाणं रक्षःकुलघ्नं प्रगुणितमनुजेनार्पितं'। हनु० ११। ७।' इससे यह भी जान पड़ा कि उन्होंने धनुष और तरकस भी प्रभुके पास रक्खे हैं। अथवा, प्रभुने स्वयं ही लेटते समय शरीरपरसे उतारकर रख दिये हैं। दोनों ही बातें सम्भव हैं। पर प्रथम भावसे श्रीलक्ष्मणजीकी त्वरा सिद्ध होती है। (ख) 'सुधारत' इति। सीताहरणके बादसे अबतक धनुषबाणका काम केवल दो बार पड़ा—कबन्ध-वध एवं बालि-वधपर। ये दोनों काम भी सीताहरणके बाद शीघ्र ही हुए थे। फिर भी एक ही बाण काम आया, दूसरेकी जरूरत न पड़ी थी। तबसे आजपर्यन्त इनका काम न पड़ा था, अब इनसे काम लेनेका समय प्राप्त हुआ है, अतः सुधार रहे हैं। (ग) दोनों हाथोंसे सुधारना कहकर जनाया कि एकमें लिये हैं, दूसरेसे उसकी फोंक आदि पोंछकर साफ करते हैं। हनु० ११। ७, ८ के अनुसार 'सुधारने' का भाव यह निकलता है कि श्रीलक्ष्मणजीके दिये हुए राक्षसकुलनाशक बाणको नेत्रोंके कोनोंसे देखते हैं। रा० प्र०-कार भी यही भाव लिखते हैं कि 'बाणकी सुधाई (सीधापन) कानोंके समीप जाँच रहे हैं। उनका एवं करुणासिन्धुजीका प्रधान मत यह है कि दोनों हाथोंसे सुधारनेका भाव यह है कि दोनों करकमलोंसे तीरको फिरा रहे हैं, यथा चित्रकूटमें 'कर कमलन्ह धनुसायक फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत' तथा यहाँ फेरते हैं। पर 'सुधारनेके' इस अर्थका प्रमाण कोई दासको नहीं मिला।

वि० त्रि०—जीतनेवालेका लक्षण कहते हैं। विश्रामके समयमें भी सरकार असावधान नहीं हैं, बाणोंमें लगे हुए परको ठीक कर रहे हैं, जिसमें ठीक लक्ष्य वेध हो सके, बाणोंके फलको झाँवासे माँज रहे हैं, इसीलिये कविने कहा है कि 'बिसिख काल दसनन से चोखे'। यहाँ तो उनसे शीघ्र ही काम लेना है, जहाँ काम नहीं भी है, वहाँ भी शस्त्रका सुधार अपने हाथसे करते हैं (यथा—कर कमलनि धनुसायक फेरत), और साथ-ही-साथ मन्त्रणा भी हो रही है, विभीषणजी कानमें लगकर मन्त्र कह रहे हैं यद्यपि यहाँपर सब अपने ही हैं, फिर भी कोई सुनने न पावे इसलिये कानसे लगकर कह रहे हैं। नीतिशास्त्रका मर्यादा-पालन हो रहा है। 'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः'।

नोट—५—'कह लंकेस मंत्र लगि काना' इति। (क) सुग्रीवके बाद विभीषणका स्थान और नाम आता है, क्योंकि ये भी राजा हैं। ये भी सिरसे लगे हुए हैं। सेना और युद्धका काम सुग्रीवके हाथ है, तो शत्रुसमाचार और

उससे युद्ध करनेके लिये जो भी सलाह आवश्यक हो उसका भार विभीषणपर है। ये यहाँ भी कानसे लगे हुए कुछ मन्त्र दे रहे हैं। यथा—'**पुनरनुजे मन्त्रिणि प्रत्तकर्मा**। हनुमन्नाटके ११। ८।' (ख)—गुप्त मन्त्र कानसे लगकर दिया ही जाता है, यथा—'**श्रवन समीप भए सित केसा। मनहु जरठपन अस उपदेसा**॥ २। ७।' इससे जनाया कि मन्त्र गुप्त कह रहे हैं। मन्त्र गुप्त रखना चाहिये, यथा—'**जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलै तबहिं जब करिय दुराऊ**। १। १६८। ४।' कविने इसीसे प्रकट नहीं किया कि क्या मन्त्र दिया गया।

बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चापत बिधि नाना॥ ७॥

अर्थ—बड़े ही भाग्यवान् अङ्गद और हनुमान्‌जी अनेक प्रकारसे प्रभुके चरणकमलोंको दबा रहे हैं॥ ७॥

☞ पूर्वके सभी काण्डोंमें बराबर दिखाया गया है कि जो-जो श्रीरामपदानुरागी हुए एवं जिन-जिनको इन चरणोंके स्पर्श या सेवाका सौभाग्य प्राप्त हुआ वे सब बड़े भाग्यवान् कहे गये हैं। बा० २११ छन्द देखिये। यहाँ ये दोनों सेवामें प्राप्त हैं; अतः बड़भागी कहे गये।

नोट—१-सुग्रीवकी स्थिति बतायी कि वे सिरहाने हैं। फिर धनुष और तरकसकी स्थिति बतायी कि धनुष वाम और निषंग दाहिनी ओर है। निषंगको दाहिने बताकर तब उसीके पास उपस्थित विभीषणजीको कहा और इनके बाद इन्हींकी ओर बैठे हुए अङ्गदको कहा, तब हनुमान्‌जीको। इस प्रकार क्रमसे एक तरफसे कहते चले आये। निषंगकी स्थिति दिखा देनेसे और सबकी स्थिति भी निश्चित हो गयी। पुनः चाप और निषंगकी स्थिति इससे कहनेकी आवश्यकता हुई कि निषंग पीठपर रहता है पर लेटनेपर वह पीठपर नहीं रह सकता। यदि 'चाप सर' होता तो वाम-दहिन लिखनेकी आवश्यकता न होती; क्योंकि सब जानते हैं कि चाप बायें और सर दाहिने हाथमें रहता है, यथा—'**रुचिर चाप सायक दुहुँ हाथा**। १। २०९।', '**चारु चाप सर सोहत हाथा**। १। २१९।', '**कटि निषंग कर सर कोदंडा**। १। १४७। ८।', '**कटि तूनीर पीतपट बाँधे। कर सर धनुष बाम बर काँधे**॥ १। २४४। १।', '**सोहहिं कर कमलन्ह धनु तीरा**। अ० ११५।' तथा यहाँ ही आगे '**कटि निषंग कर बान सरासन**'। पुनः चाप और निषंगकी स्थिति इससे कही कि ये अब काममें आनेवाले हैं। पुनः विभीषणादिके विषयमें दाहिना-बायाँ कुछ न लिखा गया; क्योंकि जहाँ उल्लेख न हो वहाँ स्वाभाविक दाहिना ही पहले समझा जाता है, दाहिना-बायाँ प्रायः बोला ही जाता है। इस प्रकार भी अङ्गद दाहिने हुए।

२—सुग्रीव और विभीषण दोनों राजा हैं, राजाके बाद उसके उत्तराधिकारीका स्थान होना योग्य ही है, अतः उनके बाद अङ्गदका नाम दिया गया। हनुमान्‌जी मन्त्री हैं, यथा—'**सचिवन्ह सहित यहाँ एक बारा। बैठि रहेउँ कछु करत बिचारा**॥ (कि०)।' अतः अङ्गदके बाद इनका नाम आया। मन्त्री राजाके सप्त प्रधान अङ्गोंमेंसे है इससे उसका स्थान युवराजके बराबर होना चाहिये, यह बात भी यहाँ जना दी है।

'बड़भागी अङ्गद हनुमाना'

पं०—सुग्रीवादिके सत्कारपूर्वक अति समीप होते हुए भी हनुमान्‌जीको 'बड़भागी' कहनेमें क्या भाव है? उत्तर—(१) ईश्वरके पृष्ठ, कान, मुख और नेत्रादि सभी अङ्गोंमें चरण मुख्य (प्रधान) हैं और ये दोनों उनकी सेवाको प्राप्त हैं; अतः 'बड़भागी' कहे गये हैं। (२) सुग्रीव और विभीषण बड़े भक्त हैं तथापि उनके मनमें राज्य और मित्रताका भी अङ्ग है और ये केवल दास हैं, अतएव बड़भागी हैं।

नोट—अङ्गदका अनुराग कविने उ० दोहा १८ में दिखाया है। इन्हींको प्रभुने अपने सब प्रसाद वस्त्र-भूषणादि पहिनाये—'**निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ**'। उस समय भी ये प्रभुके चरणोंपर पड़ गये हैं और किसीका चरणोंपर गिरना वहाँ नहीं देखा जाता है।

☞ यहाँ सुग्रीव और विभीषण 'बड़भागी' विशेषणसे वञ्चित रक्खे गये, पर उनका सम्मान एककी गोदमें सिर देने और दूसरेको सिरके पास ही बिठानेसे, अङ्गद और हनुमान्‌जीसे कम नहीं किया गया है। कविने यहाँ चारोंका बराबर सम्मान दिखाया है। उनको उच्चस्थान बैठकमें दिया, उसके बदलेमें इनको 'बड़भागी' विशेषण

दिया। इस प्रकार लौकिक दृष्टिसे जो अनादर समझ पड़ता उस त्रुटिकी, परमोच्च विशेषण देकर, पूर्ति कर दी गयी है।

पं०—(१) सुग्रीव और विभीषणकी ओर पृष्ठ और एक अङ्ग है और इनकी ओर दृष्टि है। युद्ध सभी करेंगे, पर इन दोनोंको बड़ा पराक्रम करना है। स्वामीकी अधिक सेवा इन्हीं दोनोंने की है। (२) सुग्रीव और विभीषण दोनों ही भक्त हैं, पर वे प्रथम सकाम होकर शरणमें आये थे और ये दोनों निष्काम, हृदयके प्रेमसे भक्त हैं। (३) वालीने अन्त समय अङ्गदको श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंसे लगाया—**'अङ्गद दास आपन कीजिए'**। और, प्रभुने उसकी बाँह पकड़ी। रहे पवनसुत। सो इनके लिये तो श्रीमुखवचनामृत है कि **'प्रति उपकार करउँ का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा'**॥ अतएव उपर्युक्त कारणोंसे कविने इन दोनोंको 'बड़भागी' कहा है।

रा० प्र०—दासका सर्वस्व चरण ही है, जो वात्सल्यादि भावकोंको दुर्लभ है—**'पदहीसे गति, पदहीसे रति'**।

बाबा जयरामदासजी—'बड़भागी' शब्दका प्रयोग दोनों चरणसेवकोंके लिये ही किया गया है। यद्यपि विभीषण-जी और सुग्रीवजीको सिर और कानके पास बैठनेमें इनसे अधिक सम्मान प्राप्त है तथापि 'बड़भागी' शब्दसे वे वञ्चित रहे; कारण यह है कि ग्रन्थकारने केवल चरणसेवकोंके लिये ही 'बड़भागी' शब्दका सर्वाधिकार सुरक्षित (All rights reserved) कर रक्खा है।' (कल्याण ५। ४)।

गौड़जी—चरणसेवा, पदानुराग आदि पद भक्तिके पाँचों रसोंके लिये प्रयुक्त होते हैं। सभी बड़भागी भी कहे गये हैं। जनकपुरकी सखियाँ शृंगारकी, गीध और दशरथ तथा जनकादि वात्सल्यके, निषादादि सख्यके, अगस्त्य, शरभंगादि शान्तके और हनुमानादि दास्यरसके उपासक हैं, स्थल-स्थलपर सबके भाग्यकी पूरी सराहना की गयी है और उचित रीतिसे की गयी है, क्योंकि भक्तिके ये पाँचों रस हैं और (भज् सेवायाम्) धात्वर्थसे ये सभी रस दास्यके ही प्रकारान्तर हैं, सख्यमें एक प्रकारकी सेवा है, शृंगारमें दूसरे प्रकारकी, वात्सल्यमें सभी प्रकारकी, शान्तमें और दास्यमें और-और प्रकारकी सेवाएँ होती हैं, इन्हींके नाते यह भक्ति रस कहलाते हैं। अवसर-अवसरपर सबके भाग्य बढ़े-चढ़े होते हैं। किसी रसके लिये भाग्यशालित्वका सर्वाधिकार सुरक्षित समझना भारी भूल है और स्वामीके समभावमें बट्टा लगाना है।

☞ श्रीरामानुरागी (कोई भी क्यों न हों), श्रीरामचरितानुरागी, पितुमातुचरणानुरागी, गुरुपदानुरागी, भक्तिका वरदान माँगनेवाले, इन सब एवं और भी कुछ लोगोंके सम्बन्धमें 'बड़भागी' पद ग्रन्थमें आया है—
'रामकाज कारन तनु त्यागी। हरिपुर गयउ परम बड़भागी॥ ४। २७। ८।' (जटायु, वात्सल्यरस)
'सब प्रकार भूपति बड़भागी। २। १७४। १।' 'त्रिभुवन तीनि काल जगमाहीं। भूरि भाग दसरथ सम नाहीं॥ अ० २।' (वात्सल्यरस)
'हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥ ४। २६। १३।' (जाम्बवन्तवाक्य)
'जे सुनि सादर नर बड़भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी॥ १। १५२। ३।' (चरितानुरागी)
'सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥ अ० ४१। ७।' (मातापिताके आज्ञाकारी)
'जे गुरपद अंबुज अनुरागी। ते लोकहु बेदहु बड़भागी॥ अ० २५८। ५।' (गुरुचरणानुरागी)
'सब सुख खानि भगति तैं माँगी। नहि जग कोउ तोहि सम बड़भागी॥ उ० ८५।' (भक्ति माँगनेवाले)

पं०—'विधि नाना' इति। भाव यह कि चरण दबानेका भी विधान है, उसके अनुसार दाब रहे हैं। अथवा, प्रीतिकी उमंगमें अनेक प्रकारसे चरणसेवा कर रहे हैं।

प्रभु पाछे लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर बान सरासन॥ ८॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी कमरमें तरकश कसे और हाथोंमें धनुषबाण लिये वीरासनसे प्रभुके पीछे विराजमान हैं॥ ८॥

☞ 'प्रभु पाछे' अर्थात् सुग्रीवके पीछे उनसे कुछ दूरीपर हैं। पहरा देनेका यही ढंग है और इसी तरह बराबर ये रक्षामें सावधान रहते रहे हैं, यह बात शृङ्गवेरपुरके समय (अ० ९० में) कवि एक बार दिखा चुके हैं। 'वीरासन' संनद्ध जनाया—(पु० रा० कु०)।

शृङ्गवेरपुर—	कछुक दूरि	सजि बान सरासन	जागन लगे बैठि बीरासन
सुवेल पर्वत—	प्रभु पाछे	कटि निषंग कर बान सरासन	लछिमन बीरासन

पं०—प्रभुके पीछे लक्ष्मणजीकी स्थिति इस निमित्त है कि—जितने सेवक समीप बैठे हैं उनका ध्यान प्रभुकी ओर है। श्रीलक्ष्मणजीने सोचा कि हम पीछे बैठकर सब ओर ध्यान रक्खें; क्योंकि शत्रुपुरी है, शत्रुकी समीपता है और अब रात्रिका समय भी है।

'वीरासन'। इस आसनमें बायें पैर और टखनेपर दाहिनी जाँघ रखकर बैठा जाता है। प्रमाणम् अगस्त्यसंहितायाम् अध्याय १८ अगस्त्यवाक्यं सुतीक्ष्णं प्रति, यथा—'वामपादे निधायैकं मूलं पादं च दक्षिणम्। वामाङ्काग्रे कृतं ह्येतद्वीरासनमुदीरितम्॥' अन्यश्च—'एकपादमथैकस्मिन् विन्यसेदूरुसंस्थितम्। इतरस्मिन् तथा बाहुं वीरासनमिदं स्मृतम्॥'—(अज्ञात)।

मा० हं०—ऊपरका ('सैल सृङ्ग एक सुन्दर देखी' से यहाँतक) शब्द-चित्र कैसा प्रसंगोचित, रमणीय और मार्मिक हुआ है। यह वर्णन स्वामीजीकी शब्द-चित्र उतारनेकी शक्तिका प्रेक्षणीय उदाहरण है।

☞ साधारण भाव ऊपर दिये गये पर बड़े लोगोंके सभी कार्यमें कुछ-न-कुछ विशेष कारण या गूढ़ भाव अवश्य होता है, इसी विचारसे पाण्डेजी आदिने सुग्रीवकी गोदमें मस्तक रखने, विभीषणके मन्त्रणा देने आदिके कुछ विशेष भाव भी कहे हैं जो यहाँ लिखे जाते हैं—

पां०—१ (क) श्रीसुग्रीवजीको सिर सौंपते हैं कि यह आपकी गोदमें है। (ख) बाणोंको सुधारना बाणोंका दुलार वा आदर है। तात्पर्य कि जन्मभर तुमको सेते आये, अब तुम्हारा काम पड़ा है (धोखा न देना)। (ग) अंगद और हनुमान्‌जीको चरण देनेका आशय यह है कि जहाँ ले चलोगे वहाँ चलेंगे। और, (घ) लक्ष्मणजीके वीरासनसे बैठनेका प्रयोजन यह है कि वे लोग यदि रघुनाथजीकी आज्ञाके प्रतिकूल हों तो उनको दण्ड दूँगा। पुनः, राजनीतिके अनुसार यहाँ श्रीरघुनाथजी शत्रुके जीतनेका विहित उपाय कर रहे हैं।—(यहाँ जितनी क्रियाएँ हैं वे सब युक्तिपूर्वक की गयी हैं। रणाङ्गणकी तैयारी है, युद्ध होना निश्चय है। अतएव योग्यताके अनुसार यहाँ प्रधान कर्मचारियोंको कार्य सौंपा जा रहा है।)—इस तरह कि—(क) सुग्रीवकी गोदमें शीश देकर समरका भार सौंप देना सूचित करते हैं जिससे मस्तककी रक्षा होगी। (ख)—धनुष और तरकशको तनकी रक्षा सौंपी। (ग)—बाण सुधारनेकी क्रियासे जनाया कि अब पुरुषार्थका समय है, इससे शीघ्र ही कार्य लेना है। (घ) कान विभीषणको देकर शत्रुका भेद देनेका भार इनको सौंपा। कान दिया अर्थात् शत्रु-विषयक जो भी बात तुम कहोगे वही मैं सुनूँगा अर्थात् शत्रु-विषयक-मन्त्रणा भाग इनको दिया। (ङ) चरण देकर चलना और न चलना इनके अधीन किया। [अर्थात् इनका संग्राममें अचल-विचल करना, पैर जमाना, आगे बढ़ना या पीछे हटना तुम्हारे अधीन है। सुयश-अपयश तुम्हारे हाथ है। बं० पा० कहते हैं कि दोनोंको चरण देकर दोनोंको समपुरुषार्थ दिया।] (च) सब सावधान रहें। कोई गाफिल न रहे इसलिये लक्ष्मणजी पीछे बैठे; जिसमें उनकी असावधानीपर योग्य निगरानी रक्खें और उसे सुधारें।

☞ पाँड़ेजीके इन भावोंको ही लेकर प्रायः आधुनिक टीकाकारोंने एवं रामायणियोंने अपने शब्दोंमें लिखा है। इस मर्मको सूचित करनेके लिये युक्तिपूर्वक क्रिया करना, किसीको सिर, किसीको कान इत्यादिकी रक्षाका भार समर्पण करना 'युक्ति अलंकार' है।—(वीर)

मयंककार यहाँ श्रीरामचन्द्र और रावणके आनन्दका सादृश्य दिखाते हैं। यद्यपि वह तमोगुणमें लिप्त है और श्रीरामचन्द्रजी सात्त्विक धर्ममें प्रवृत्त हैं, तथापि दोनों राजा हैं। मिलान, यथा—

	लंकामें महात्मा रावण	सुवेलपर श्रीरामजी
१	रावणका लंकामें निवास	रामचन्द्रजी सुवेलशैलपर विराजमान
२	वह मन्दिरमें स्थित	ये शिखरपर शोभित
३	मन्दिर श्वेत	यहाँ शिखरकी चट्टान श्वेत

४ दोनों समतल अर्थात् बराबर हैं

५	वहाँ अनेक प्रकारके चित्रित पट बिछे	यहाँ अनेक प्रकारके फूल-पत्ते
६	वहाँ उज्ज्वल और चमकीले जड़ाऊ बादलेकी गद्दी बनी है जिसपर लाल-लाल बूटे शोभित हो रहे हैं। उसपर रावण बैठा है।	यहाँ सर्वश्रेष्ठ अति पवित्र सुन्दर स्वर्ण-विद्रुम-रचित मृगचर्मपर रामजी विराजमान हैं।
७	वहाँ रावणके सेवकोंने बिछौने बिछाये	यहाँ शेषके प्राणस्वरूप श्रीलक्ष्मणजीने
८	वहाँ कामका घर रावण	यहाँ कृपाके सदन रामचन्द्र
९	वहाँ सुकेशी (सुन्दर केशवाली अप्सरा) की गोदमें रावणका शिर	यहाँ सुग्रीवकी गोदमें रामचन्द्रजीका मस्तक
१०	वहाँ अनेक प्रकारका गान	यहाँ हनुमन्तादिके वचन
११	वहाँ अप्सराओंका नृत्य	यहाँ वानरोंका अनेक प्रकारका विनोद
१२	वहाँ अनेक प्रकारका भोगसाज सजा	यहाँ धनुषबाण सजा
१३	वहाँ हाथमें कुमकुमा	यहाँ बाण
१४	वहाँ तिलोत्तमा अप्सरा कानसे लगी	यहाँ परम भक्त विभीषण कानसे लगे
१५	वहाँ उर्वशी चमर लिये पीछे खड़ी	यहाँ धनुष-बाण लिये लक्ष्मण
१६	वहाँका विषयसाज देख विषयमें प्रवृत्ति होनेसे सुखका नाश	यहाँ श्रीरामजीका ध्यान सात्त्विक भाव उत्पन्न कर सुख सम्पादन करता है।
१७	वहाँ स्त्रियोंके विलासमें रात कटे	यहाँ सेवा, भक्ति और ध्यानमें कटे

☞ यहाँ सुवेलशैलपर सखाओंसहित झाँकी और वहाँ लंकाशिखरपर रावणका अखाड़ा दिखाकर दैवीसम्पत्ति और आसुरी सम्पत्तिका अन्तर दिखाया है। एक शान्त है, दूसरा चञ्चल।

दो०—एहि बिधि कृपा-रूप-गुन-धाम* रामु आसीन।
धन्य† ते नर एहि ध्यान जे रहत सदा लवलीन॥ ११॥

अर्थ—कृपा, रूप और गुणोंके धाम श्रीरामचन्द्रजी इस प्रकार विराजमान हैं। वे मनुष्य धन्य हैं जो इस ध्यानमें सदा लवलीन (निमग्न) रहते हैं॥ ११॥

☞ यहाँ ध्यानका सम्पुट दिया। उपक्रममें **'तेहि आसन आसीन कृपाला'** है और उपसंहारमें **'एहि बिधि कृपा-रूप-गुन-धाम राम आसीन'** है।

नोट—**'कृपा-रूप-गुन-धाम'** इति। (क) किसीकी गोदमें सिर, किसीकी बातोंको कान लगाये सुनते, किसीकी गोदमें चरण—यह सब कृपा ही है। यह सौभाग्य इन सबोंको आज ही प्रथम-प्रथम प्राप्त हुआ है। (ख)

---

*पाठान्तर—☞ का०, भा० दा० और रा० गु० द्वि० में उपर्युक्त पाठ है। ना० प्र०, पां०, पं० में 'करुना-सील गुन धाम' पाठ है। 'ते नर धन्य' (गौड़जी) पाठान्तरके भाव ये कहे जाते हैं।

इस दोहेमें गोसाईंजी रघुनाथजीको तीन विशेषण देते हैं—"करुणा, शील और गुण। युद्धके समय करुणा और शील अति प्रतिकूल हैं और गुण सामान्य हैं ? इसका समाधान यह है कि जो ऊपर चौपाइयोंमें लिख आये हैं—कपिपतिकी गोदमें सिर रखना, बाणको सुधारना, विभीषणको कान देकर उनका सम्मत सुनना और दोनों चरण हनुमान्, अंगदको देना—यह सब करुणा है। (पां०)

† पं०—करुणाधाम ऐसे कि सुग्रीव-जैसे दीनपर करुणा करके उसको कपिपति बनाया। शीलधाम ऐसे कि विभीषणको उठकर मिले और उसको प्रधान मन्त्री बनाया। और, गुणधाम ऐसे कि हनुमान्जीको भक्तिसहित सर्वगुण प्रदान कर दिये।

'कृपारूपगुणधाम' विशेषण देनेका भाव यह भी है कि ध्यान करते समय प्रभुकी कृपा, सौन्दर्य और भक्तवत्सलादि दिव्यगुणोंका स्मरण भी करे। कृपा यह कि आज इन वानरों आदिको अपने अन्तरङ्ग गोष्ठीमें सम्मिलित कर लिया और उनको अपने समान पावन बना लिया, यथा—'प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किय आपु समान। १। २९।', 'को साहिब सेवकहि निवाजी। आपु समान साज सब साजी॥ २। २९९। ५।' रूपगुणधाम, यथा—'बल बिनय बिद्या सील सोभा सिंधु इन्ह सम एइ अहैं॥ १। ३११ छन्द।', 'भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहिं। सोभा सील रूप गुन धामहिं॥ ७। ३०। २।'

३—"धन्य ते नर०" से सुग्रीवादिको अतिशय धन्य जनाया। इस झाँकीके ध्यानमें लीन रहनेवाले जब धन्य हैं तब जो इस ध्यानके अङ्गभूत हैं उनके भाग्यकी सराहना कौन कर सकता है? वे अतिशय धन्य हुआ ही चाहें।

दो०—पूरब दिसा बिलोकि प्रभु देखा उदित मयंक।
कहत सबहि देखहु ससिहि मृगपति सरिस असंक॥ ११॥

अर्थ—पूर्व दिशाकी ओर दृष्टिकर, चन्द्रमाको उदय हुआ देख, प्रभु सबसे कहने लगे—चन्द्रमाको देखो, कैसा सिंहके समान निडर है॥ ११॥

नोट—१ आज पूर्णिमाकी रात्रि है, इसीसे पूर्व दिशामें चन्द्रमा देखा। इससे पूर्व-कथित ध्यानको और स्पष्ट करते हैं। पूर्व यह न बताया था कि किस दिशामें किस अङ्गका ध्यान करना होगा। उसे यहाँ खोला कि पश्चिम दिशामें सिर है और पूर्वमें चरण। दक्षिण ओर कानके समीप विभीषणजी हैं। दक्षिणमें ही लङ्का नगरी है। विभीषणजीकी ओर चरणोंको गोदमें लिये वा दाबते हुए अङ्गद और बायीं ओर हनुमान्‌जी हैं। दोनों ऐसे बैठे हैं कि चन्द्रमा उनको भी देख पड़े। इससे पूर्वकी ओर पीठ होनेका निषेध हुआ। चरण-सेवामें स्थान निश्चित नहीं किया जा सकता। चरण-सेवा करनेमें पूर्व-दिशामें भी दोनोंकी पीठ हो सकती है। प्रश्न होनेपर एक बार उधर सिर घुमाकर देख लिया हो यह भी हो सकता है। २—यहाँ चन्द्रमाको सिंहकी उपमा दी। आगे इसका रूपक देते हैं। यहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार है।

मा० म०—'अशंक' का भाव यह है कि हमको वियोगी जानकर चन्द्रमा शीतलताको त्यागकर तापकी वर्षा करता है, यथा—'काल निसा सम निसि ससि भानू। ५। १५। २।' इसको हमारे बाणके आघातका डर नहीं है, अतः अशङ्क होकर उदित हुआ है और विरहाग्नि बढ़ानेको ताप वर्षाता है।

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी॥ १॥
मत्त-नागतम कुम्भ बिदारी। ससि केसरी गगन बन चारी॥ २॥
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा। निसि सुंदरी केर सिंगारा॥ ३॥

शब्दार्थ—कुम्भ=हाथीके सिरके दोनों ओर ऊपर उभड़े हुए भाग। हल=समूह। 'प्रताप' यह कि दूर होनेपर भी उसका भय ताप उत्पन्न कर दे। 'तेज' वह कि जिसे देख भय उत्पन्न हो जाय।—१७ (२) (१०) देखिये।

अर्थ—(यह चन्द्र-सिंह) पूर्व-दिशा-रूपी पर्वतकी गुफाका रहनेवाला है। परम प्रतापी, तेजस्वी और बलकी राशि है॥ १॥ अन्धकाररूपी मतवाले हाथीके मस्तकके उभड़े हुए भागको विदीर्ण (फाड़) कर यह चन्द्रसिंह आकाशरूपी वनमें विचर रहा है॥ २॥ आकाशमें छिटके हुए तारागण मुक्तासमूह हैं जो रात्रिरूपी सुन्दर स्त्रीके शृंगार हैं॥ ३॥

नोट—१ चन्द्रमापर सिंहका आरोप किया। सिंह कन्दरामें रहता है और पूर्ण चन्द्रमा पूर्व-दिशासे उदय होता है, इस सम्बन्धसे पूर्वदिशापर गिरिगुहाका आरोप हुआ। सिंह वनमें विचरता फिरता है और चन्द्रमा आकाशमें, सिंह गजकुम्भको विदीर्ण करता है और चन्द्रमा अन्धकारको फाड़ देता (नष्ट करता) है अतएव आकाशपर वनका और अन्धकारपर कुम्भका आरोप किया गया। यह 'परंपरित रूपक' है। २—अर्धाली ३ में भी परंपरितरूपक है। गजके मस्तकसे मुक्तामणि (गजमुक्ता) निकलती है जिससे युवा स्त्रीका शृङ्गार होता है अर्थात् स्त्रियाँ मस्तकपर मोती गुहाकर लगाती हैं, यह उनका एक शृङ्गार है। यथा—'मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥

नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥'—(बा० १०)। रात्रिमें तारागण आकाशमें रहते हैं, इनसे रात्रिकी शोभा है। अतः तारागणपर मुक्ताहलका आरोप किया गया और रात्रिपर सुन्दरीका।—(पु० रा० कु०)।

३ पाण्डेजी लिखते हैं कि 'यहाँ चन्द्रमाके व्याजसे अपनी शूरता जनाते हैं, और तीन भेदसे निःशङ्कता कहते हैं।—पूर्वनिवासी चन्द्रसिंह, गिरिनिवासीसिंह स्वयं प्रभु ही और गुहानिवासीसिंह प्राकृत सिंह—ये तीनों प्रताप, तेज और बलकी राशि हैं। चन्द्रसिंह तमनागकुम्भ, गिरिनिवासी प्रभु रावण मत्तनागकुम्भ और प्राकृत सिंह प्राकृत मत्तनागकुम्भके विदीर्ण करनेवाले हैं। तीनों सिंह केशरी हैं—चन्द्रमाकी किरणें केश, रामजीके मस्तकके केश और प्राकृत सिंहकी गर्दनके केश हैं। पुनः तम-नागका तारागणरूपी मुक्ता रात्रिरूपी सुन्दरीका शृङ्गार है। रावण-नागकुम्भके निशाचरगणकी मुक्ति मुक्ताहल हैं, जो महारानीजीका शृङ्गार है और प्राकृत गजमुक्ता प्राकृत सुन्दरीका शृङ्गार है।'

बन्दनपाठकजीने भी ऐसा ही कहा है। बाबू श्यामसुन्दरदासजीने भी इसको उतार दिया है। वीरकविजी कहते हैं कि वास्तवमें इस रूपकसे कविका उद्देश्य भिन्न है; और इसमें रामचन्द्रजी अपने मुखसे अपना प्रताप वर्णन करते हैं, यह सर्वथा अयुक्त है।

रा० प्र०—निसि-सुन्दरीके शृङ्गार हेतु तारागण नभमें मुक्तागण-सरीखे छिटके हैं। भाव कि निशा सुन्दरी है, उसका मुख चन्द्र है, तारे शृङ्गारके मोती हैं, आकाश ही उसकी नीली साड़ी है।

प० प० प्र०—'मत्त नाग तम' के निर्देशसे सूचित होता है कि श्रीरामजीके मनमें रावण मत्त गजराजके विनाशके विचार छा रहे हैं। मं० श्लो० में भी 'कालमत्तेभसिंह' कहा है। और आगे 'जय राम रावन मत्त गज मृगराज' कहा ही है।

२ 'निसि सुन्दरी' शब्दोंसे प्रतीत होता है कि जानकीविषयक विचार भी श्रीरामजीके हृदयमें प्रबल हैं। 'सीता सीत निसा सम आई' कहा ही है।

३ 'परम प्रताप तेज बल रासी' से सूचित किया कि श्रीरामजीके चित्तमें वीररस जाग्रत् हुआ है।

४ इन वचनोंसे वक्ता सूचित करते हैं कि वनरूपी गगनचारी रामचन्द्ररूपी केसरी, निशाचर सुन्दरीके शृङ्गार (श्रवणताटंक) गिरा देंगे और रावण मत्त गजराजका अहङ्काररूपी तम विदीर्ण करेंगे।

☞ समानार्थी श्लोक सु० र० भ० चन्द्रोदयवर्णन-प्रकरण, यथा—'**मयूखनखरत्रुटत्तिमिरकुम्भिकुम्भस्थलोच्छलत्तरल-तारकागणविकीर्णमुक्तागणः। पुरन्दरहरिद्दरीकुहरगर्भसुप्तोत्थितस्तुषारकरकेसरी गगनकाननं गाहते॥ ८६॥**'

अर्थात् अपने किरणरूपी नखोंसे टूटे हुए तिमिररूप कुम्भस्थलसे उछलते निकलते हुए वेगके साथ तारागण ही फैले हुए मोतियोंका समूह है जिसमें स्वर्गरूप पर्वतकी दरीसे सोकर उठा हुआ तुषारकर चन्द्रमारूप सिंह आकाशरूप वनको अवगाहन कर रहा है।

कह प्रभु ससि महुँ मेचकताई। कहहु काह निज निज मति भाई॥ ४॥

अर्थ—प्रभु बोले कि—हे भाइयो! अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार कहो कि चन्द्रमामें जो श्यामलता वा कालापन है, वह क्या है?॥ ४॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—निर्भयता इतनी है कि चन्द्रके कलङ्कपर उत्प्रेक्षा करनेकी आज्ञा हो रही है। 'काव्य-शास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्। व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥' बुद्धिमानोंका समय काव्यशास्त्रके विनोदमें कटता है और मूर्खोंका समय शौकीनीमें या सोनेमें या कलहमें बीतता है। कविने यहाँपर 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' का उदाहरण दिखलाया। आगे चलकर रावणके नाच देखनेके व्याजसे '**व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा**' का **दृश्य उपस्थित करेंगे।**

पु० रा० कु०—यहाँ 'भाई' आदरका सम्बोधन है। अथवा, सखाभावसे 'भाई' कहा, यथा—'**ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे**'—(उ०)। २—'मति भाई' में यह भी भाव है कि जो जिसको रुचता हो सो कहे।

☞ हनु० ५ में सीताविरहसे व्याकुल रामचन्द्रजीके इसी प्रकारके प्रश्न लक्ष्मणजीसे मिलते हैं। मिलान कीजिये—

रामः—'सौमित्रे दाववह्निस्तरुशिखरगतो वार्यतां निर्झरौघैः।'

लक्ष्मणः—'का वार्ता दाववह्नेरयमुदयगिरेरुज्जिहीते हिमांशुः॥'

अर्थात् हे लक्ष्मण! वनमें यह दावाग्नि तरुशाखाओंको जला रही है, इसे झरनोंके जलसे शान्त करो। यह सुनकर लक्ष्मणजीने कहा कि भगवन्! यह तो उदयाचलसे चन्द्रमा उदय हो रहा है, यहाँ दावाग्नि कहाँ? तब रामचन्द्रजी प्रश्न करते हैं कि चन्द्रमामें धूम कहाँसे आया? **'धत्ते धूमं हिमांशुः कथय कथमयम्।'** लक्ष्मणका उत्तर पाकर कि **'नैव धूमो धरण्याश्छायेयं संगताभूत्'**—यह धुआँ नहीं है, यह भूमिकी छाया है, श्रीरामचन्द्रजी जानकी-विरहसे करुणायुक्त होकर कहने लगे।

'शङ्कं शशाङ्कं जगुरङ्कमेके पङ्कं कुरङ्गं प्रतिबिम्बितागम्।
धूमं च भूमण्डलमुद्धताग्नेर्वियोगजातस्य मम प्रियायाः' ॥ २१ ॥

अर्थात् कोई तो चन्द्रमामें चिह्नकी शङ्का करते हैं और कोई कलङ्क अथवा समुद्रका कीच कहते हैं, कोई मृगलाञ्छनयुक्त बताते हैं और कोई धूम तथा कोई पृथ्वीकी छाया भी कहते हैं। पर मैं तो इसे प्रिया-वियोगकी प्रचण्ड अग्निका धूम ही कहूँगा।

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महुँ प्रगट भूमि कै झाँई॥ ५॥

अर्थ—सुग्रीव बोले—हे रघुराई! सुनिये। चन्द्रमामें पृथ्वीकी परछाईं (छाया) प्रकट हो रही है॥ ५॥

नोट—साधारणतया यह प्रभुका अपने निज भक्तोंके साथ विनोद है। उधर रावणका हासविलास और निःशङ्कता कह आये—**'परम प्रबल रिपु सीस पर तद्दपि न सोच न त्रास'** अब उसके मुकाबिलेमें प्रभुकी निःशङ्कता कवि दिखाते हैं। इस प्रश्नसे प्रभु इनपर अपना निजत्व, ममत्व वा अपनपौ दर्शित कर रहे हैं। "भाई" सम्बोधन भी कैसा प्यारा है? प्रभुका प्रश्न हुआ। उसके उत्तर यहाँ चार दिये गये हैं और इनसे पृथक् एक उत्तर स्वयं प्रभुका है। चार उत्तरोंमेंसे पहला तो सुग्रीवका है और अन्तिम हनुमान्‌जीका। ये दो नाम तो कविने स्पष्ट लिख दिये हैं, यथा—**'कह सुग्रीव सुनहु रघराई'** और **'कह मारुतसुत सुनहु प्रभु०'**। बीचके दो उत्तरोंमें नाम नहीं हैं; केवल अनिश्चय-वाचक 'कोई' और 'कोउ' शब्दोंका प्रयोग हुआ है। यथा—**'मारेहु राहु ससिहि कह कोई'** और **'कोउ कह जब बिधि रति मुख कीन्हा'**। इस स्थानपर इतना ही कह देना काफी (पर्याप्त) होगा कि उन दोनोंके नाम उनके सम्मानार्थ उनकी प्रतिष्ठाके कारण ही प्रकट नहीं किये गये। पर ऊपर दिये हुए ध्यानसे वह नाम स्पष्ट हो जाते हैं और क्रम भी बता देता है कि कौन उत्तर किसका है।

ऊपर सुवेलकी झाँकीमें क्रम यह है—१ प्रथम अर्धालीमें **'प्रभु कृत सीस कपीस उछंगा'**, दूसरीमें **'कह लंकेस मंत्र लगि काना'** और तीसरीमें **'बड़भागी अंगद हनुमाना'**। बस, चारकी गिनती हनुमान्‌जीपर पूरी हो गयी। झाँकीमें भी आदिमें 'सुग्रीव' और यहाँ प्रश्नोत्तर देनेमें भी प्रथम अधिकार इन्हींका है। बीचमें 'लंकेस' और 'अङ्गद' झाँकीमें हैं वैसे ही प्रश्नोत्तर देनेमें भी क्रमसे 'कोई' और 'कोउ' यही सिद्ध होते हैं। फिर अधिकारानुसार भी सुग्रीवके पश्चात् विभीषण ही आते हैं। यह सुग्रीवके पीछेके सखा हैं, राज्य अभी प्राप्त नहीं है पर तिलक हो चुका है और प्रभु इनको लंकेश बना चुके हैं। अतः सुग्रीवके पश्चात् स्वाभाविक इनका स्थान हुआ ही चाहे। अङ्गद दास हैं पर युवराज भी हैं अतः विभीषणके बाद इनका नम्बर है। लक्ष्मणजी भी शिखरपर समीप ही हैं पर वे पहरेमें दत्तचित्त हैं और प्रभुके पीछे कुछ दूरीपर हैं। प्रश्न सम्मुख समीपवर्तीसे ही होता है और वही उसका उत्तर देता है। लक्ष्मणजी इस प्रश्नोत्तरमें सम्मिलित नहीं हैं। यदि इन्होंने भी इसमें भाग लिया होता तो इनका नाम कवि अवश्य स्पष्ट लिखते। इनकी दूरीपर और पीछेकी ओर स्थिति निःसन्देह इसका प्रमाण है कि वे इसमें सम्मिलित नहीं हुए हैं।

जिसके हृदयपर जैसा संस्कार पड़ जाता है, जो जिस परिस्थितिमें होता है, जिसकी जैसी भावना होती है एवं जिसपर जैसी बीती होती है, वैसी ही उसके चित्तकी वृत्ति भी हो जाती है, उसको वही सूझता है—कहावत है कि—**'आप बीती, जग बीती'**।

अस्तु! इसीके अनुकूल सबने उत्तर दिये हैं। यह परिस्थिति, यह अपनेपर बीती हुई भी 'कोई' और 'कोउ' की कुंजी है।

स्वाभाविक ही प्रथम उत्तर सुग्रीवका होना ही चाहिये। इनको सबसे उच्चासन दिया गया है। ये प्रथम शरणागत सखा हैं और राजा हैं। इन्होंने जो कारण बताया है वह वर्तमान विज्ञानके अनुसार है। दूसरा भाव इनकी परिस्थितिके अनुकूल यह है कि इनकी छिनी हुई भूमि मिली, यह संस्कार हृदयपर है ही। पुनः, राज्यकी सीमा बढ़ानेपर राजाकी दृष्टि सदा रहती ही है। अतएव इनको सर्वत्र भूमि ही दीख पड़ती है।

खर्रा—सुग्रीव राज्यके लिये आतुर था एवं उसमें आसक्त हो गया था। यह रजोगुणवृत्ति है। इसीसे उसने 'भूमि' का नाम लिया।

मारेहु राहु ससिहि कह कोई। उर महँ परी स्यामता सोई॥ ६॥

अर्थ—किसीने कहा कि चन्द्रमाको राहुने मारा, वही काला धब्बा उसके हृदयपर पड़ा है। (गहरी चोट लगनेसे चोटके स्थानपर स्यामता आ जाती ही है, काला चिह्न पड़ जाता है)॥ ६॥

नोट—१ 'कोई'। ये विभीषणजी ही हैं, सुग्रीवके बाद ध्यानमें इन्हींका स्थान है। दूसरे, यहाँ मारनेकी बात कही गयी है और विभीषणजी रावणकी लातकी मार खाकर यहाँ आये हैं, यथा—'तात लात मोहि रावन मारा' इति। विभीषण-वाक्य कुम्भकर्ण प्रति। पुनः, यथा—'अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहिं बारा॥ तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा। ५। ४१।' यह लातकी चोट उनको अभी भूली नहीं है। अभी क्या, वरन् कुम्भकर्णके रणभूमिपर आनेपर भी यह ज्यों-की-त्यों नयी ही बनी हुई देख पड़ती है। दो स्थलोंपर 'मारा' का प्रयोग इनके मुखसे हुआ है, एक बार पूर्व और एक बार आगे। अतएव मध्यमें यहाँ भी यह वाक्य निस्संदेह इन्हींका है। इस मारका बदला युद्धभूमिमें रावणसे विभीषणने उसकी छातीमें गदा-प्रहार करके लिया है। मा० म० एवं महादेवदत्तजी लिखते हैं कि लात जो विभीषणको रावणने मारी उसका 'लिलासावां' (नीला दाग) अबतक शरीरपर बना हुआ है। अतएव इन्हें सर्वत्र मार ही देख पड़ती है, क्योंकि इनके चित्तकी वृत्ति दागमय हो गयी है।*

२ सु० र० भ० के चन्द्रवर्णनप्रकरणके तुलनात्मक श्लोक—"तरुणतमालकोमलमलीमसमेतदयं कलयति चन्द्रमाः किल कलङ्कमिति ब्रुवते। तदनृतमेव निर्दयविधुन्तुददन्तपदव्रणविवरोपदर्शितमिदं हि विभाति नभः॥ १६१॥" अर्थात् कोमल तरुण तमालके समान इस कलङ्कको चन्द्रमा धारण किये है, ऐसा जो कहते हैं वह मिथ्या है। किंतु हमारे समझमें दयारहित राहुके दाँतके छिद्रसे यह आकाश देख पड़ता है।

कोउ कह जब बिधि रति मुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा॥ ७॥
छिद्र सो प्रगट इंदु उर माहीं। तेहि मग देखिअ नभ परिछाहीं॥ ८॥

अर्थ—कोई बोला कि जब ब्रह्माने कामदेवकी स्त्री रतिका मुँह बनाया (तब उसके योग्य सुन्दरता कहीं न देखी, एक चन्द्रमामें ही देख पड़ी, अतएव) तब चन्द्रमाका सार-भाग निकाल लिया॥ ७॥ वही छेद चन्द्रमाके हृदयमें दिखायी पड़ता है जिसकी राहसे (उस पार) आकाशकी (नीली) परछाहीं उसमें दिखायी पड़ती है॥ ८॥

नोट—१ "कोउ" का इशारा अब अङ्गदजीकी ओर है। क्योंकि ये ही चारमेंसे रह गये हैं। मा० म० और उस परम्परावालोंका मत है कि 'यह वाक्य जाम्बवान्‌का है; क्योंकि उनकी तरुणाई चली गयी, इसीसे उनके चित्तकी वृत्ति वृद्धतामय सारहित हो गयी है।'† पर मानसकारके लेखमें शिखरपर छः व्यक्तियोंको छोड़

* वंदनपाठकजीका मत है कि ये "ये वचन अङ्गदके हैं। इनको 'पुरुषार्थ'-भाग सौंपा गया है; अतः इन्हें रावणको मारना ही सूझता है। इसीसे 'मारेहु राहु ससिहि' इन्होंने कहा"। पर अङ्गदको लेनेसे प्रधानताका क्रम भङ्ग होता है। पाण्डेयजी लिखते हैं कि 'किसीने राहु-चन्द्रमाका समर कहा। इससे कहनेवालेमें वीरता और समरका उत्साह सूचित हुआ'।

† रा० प्र०-कार इसे किसी शृङ्गारी तरुण अनुरागीकी उक्ति कहते हैं। वे किसीका नाम नहीं देते। पर इन्हें अङ्गदके वचन माननेवालोंको यह भाव अङ्गदमें ग्रहण करना अनुचित होगा, क्योंकि वे तो परम अनुरागी चरणसेवक हैं; इसीसे 'बड़भागी' की उपाधि उनको दी गयी है।

और किसीका नाम नहीं आया है। यदि जाम्बवन्त भी समीप होते तो, वृद्ध मन्त्री होनेके कारण, उनका नाम अवश्य आता और उनका स्थान भी बताया गया होता; पर ऐसा उल्लेख न होनेसे निश्चय है कि इस 'अन्तरंग सभा' में वे सम्मिलित नहीं किये गये हैं। इसी तरह कोई महानुभाव 'कोउ' से 'नील-नल' को लेते हैं। पर मानसकारके शब्दोंसे यह भाव प्रमाणित नहीं होता। मानस और हनुमन्नाटकका मत एक है—११ (५-६) में देखिये।

वाल्मीकिजीके अनुसार लक्ष्मणजी, अपने-अपने मन्त्रियोंसहित सुग्रीव और विभीषणजी, हनुमान्‌जी, अङ्गदजी और नील, गज, गवाक्ष, द्विविद, जाम्बवन्त आदि सब शृङ्गपर गये—वाल्मी० यु० ३८। ४। ९। पर वहाँ इस झाँकी और इस अन्तरंगका नामनिशान भी नहीं है; इसलिये इस प्रकरणके भाव वाल्मी० रा० के आधारपर नहीं कहे जा सकते।

अब अङ्गदकी परिस्थिति देखिये। किष्किन्धाकाण्डमें भी लिखा जा चुका है कि वालीने सुग्रीवको मारकर निकाल दिया। इसका कारण एक यह भी है कि अङ्गद राज्यका उत्तराधिकारी था, उसके रहते सुग्रीव स्वयं राजा बन बैठे थे। अङ्गदके जीमें यह बात खटकती ही होगी कि जिसका मैं अधिकारी था वह मुझे न मिलकर दूसरेको दे दिया गया, मैं केवल युवराज बनाया गया। यही 'सार भाग' का अपहरण है। 'छिद्र सो प्रगट' जनाता है कि इनके हृदयमें मानो छेद हो गया है। वही अपनी बीतीके अनुसार उत्तर दिया है।

प० प० प्र०—अङ्गद युवराज हैं, पर 'दास अङ्गद कीजिये' के अनुसार अङ्गदजी दास भी हैं। अतः मानसमें जहाँ अङ्गद और हनुमान्‌जीका उल्लेख एकत्र किया गया है वहाँ बहुधा (युवराज होनेके कारण) अङ्गदको प्रथम कहा है। यथा—**'अंगद हनू समेत', 'सुनहु नील अंगद हनुमाना', 'अंगद हनुमत अनुचर जाके', 'अंगद अरु हनुमंत प्रबेसा'**, इत्यादि। अतः विभीषणजीके बाद अङ्गदजीका ही अधिकार उत्तर देनेका है।

उत्तरकाण्ड १७ (६-८) में भी सुग्रीव, लङ्कापति और अङ्गदका उल्लेख करके तब जाम्बवन्तादिका उल्लेख किया गया है। यथा—**'सुग्रीवहि प्रथमहि पहिराए।', 'प्रभु प्रेरित लछिमन पहिराए। लंकापति रघुपति मन भाए।', 'अंगद बैठ रहा नहिं बोला।'** वही क्रम यहाँ भी लेना उचित है।

श्रीहनुमान्‌जीका श्रीरामजीके पीछे उत्तर देना भी अनन्य सेवककी मर्यादाके अनुकूल ही है। सेवक अनुगामी होता ही है।

नोट—२ ☞ **"सारभाग ससिकर हरि लीन्हा"** इति।—इसी तरह १। ३२४ में श्रीसुनयनाजीके विषयमें कहा है, यथा—**'सुजस सुकृत सुख सुंदरताई। सब समेटि बिधि रची बनाई॥'** पं० रामकुमारजीने समानार्थी यह श्लोक कहींका दिया है—

'ब्रह्मणा रतिमुखं चिकीर्षता संगृहीतममृतं विधोस्तदा।
तेन छिद्रमभवद्धि तद्यथा दृश्यते गगनविम्बनीलता॥'

काव्यप्रभाकरमें इसीको लेकर यह दोहा रचा गया जान पड़ता—

'लीन्हों राधामुखरचन विधिने सार तमाम। तेहि मग होइ अकास यह ससि में दीखत श्याम॥'

यहाँ रतिकी अतिशय सुन्दरता कार्यरूप है। उसे न कहकर उसका कारण (चन्द्रमाका सारभाग) कहना कारणके मिष कार्यकथन करना 'कारणनिबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार है।—(वीर)।

प्रभु कह गरल बंधु ससि केरा। अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा॥ ९॥
बिष संजुत कर निकर पसारी। जारत बिरहवंत नर नारी॥१०॥

शब्दार्थ—केरा=का। संजुत (संयुक्त)=सहित, मिला हुआ। कर=किरण।

अर्थ—प्रभु बोले कि विष चन्द्रमाका अत्यन्त प्रिय भाई है, इसीसे उसने विषको अपने हृदयमें ठहराया है॥ ९॥ विषसंयुक्त अपने किरण-समूहको फैलाकर विरही नर-नारियोंको जलाता रहता है॥ १०॥

मा० म०—श्रीरामचन्द्रजीके वचनका तात्पर्य यह है कि माघ (? यह पौषकी पूर्णिमा है) महीनेमें भी

चन्द्रमामें शीतलताका लेश नहीं, यह विषसंयुक्त किरणोंसे जला रहा है। यहाँ 'नर' 'नारी' से अपनेको और श्रीजानकीजीको सूचित किया। भाव यह कि यदि यह श्यामता उसके अति प्रिय बन्धु गरलके निवासके कारण न होती तो वह हमारे हृदयको जलाता न, वरन् शीतल करता। अतएव यह दण्डके योग्य है।

पं० रा० व० श०—प्रभुके हृदयमें अति प्रिय बन्धु भरतका वास है, यथा—**'जग जपु राम राम जपु जेही'**। अतः चन्द्रमामें उसके अति प्रिय बन्धुका वास कहा। और, प्रियाकी विरहाग्नि है इसलिये जलना कहा। यहाँ **'असिद्धविषयागम्य हेतूत्प्रेक्षा'** है।—(वीर)।

नोट—१ 'गरलको चन्द्रमाका **'अति प्रिय बंधु'** कहा; क्योंकि दोनों क्षीरसागर-मन्थनसे निकले, यथा—**'जनम सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंक। १। २३७।'** सहोदर भ्राता है; अतः अतिप्रिय है, यथा—**'मिलइ न जगत सहोदर भ्राता। ६०। ८।'**

२—चन्द्रको देखकर श्रीजानकी-वियोग विरहका उद्दीपन हुआ। प्रभु विरही हैं। अतएव इन्होंने अपनी स्थितिके अनुसार श्यामताको विष बताया।

रा० प्र०—भाव यह कि विष और शशि भाई हैं। दोनों समुद्रसे उत्पन्न हुए। हमने इनके पिता समुद्रपर सेतु बाँधा, इसीसे उसने हमसे वैर मान लिया और अपने भाईकी सहायता लेकर हमको जला रहा है।

'चन्द्रं वीक्ष्य जगाद चन्द्रवदना श्रीरामचन्द्रं स्मरन् चन्द्र त्वं विषसोदरो हि गरलोऽतिष्ठत् त्वयि प्रेमतः।
तच्छङ्के विषसंयुतैः स्वकिरणैः कान्ताविहीनान् जनान् कष्टं संजनयत्यपि त्वयि ततस्सद्धर्मता स्यात्कुतः॥'

सीताशृङ्गारचम्पूग्रन्थके इस श्लोकसे मिलान कीजिये। वहाँ—चन्द्रमाको देखकर चन्द्रवदना श्रीविदेहकुमारीजीने श्रीरामजीका स्मरण करते हुए कहा है—हे चन्द्र! तू विषका सहोदर भ्राता है और गरल तुझको प्रिय है, इसलिये वह प्रेमसे तुझमें रहता है। इसीसे अनुमान होता है कि विषसंयुक्त अपनी किरणोंसे कान्ताविहीन जनोंको तू कष्ट देता है; तब तुझमें सद्धर्मता कहाँसे कही जा सकती है?

दोहा—कह हनुमंत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार निज* दास।
तव मूरति बिधु उर बसति सोइ स्यामता† अभास॥ १२॥

शब्दार्थ—अभास (आभास)=प्रतिबिम्ब, छाया, झलक। निज=खास, सच्चा। भासना=प्रतीत होना, ज्ञात होना।

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी बोले—हे प्रभो! सुनिये, चन्द्रमा तो आपका खास दास है। आपकी (साँवली) मूर्ति चन्द्रमाके हृदयमें बसती है, वही आपकी श्यामताकी चन्द्रमामें झलक है॥ १२॥

नोट—१ 'प्रभुका भाव कि आप समर्थ हैं, आप अमरको भी मारकर फिर उसे जिला सकते हैं, यथा—**'प्रभु सक त्रिभुवन मारि जिआई। लं० ११३।'** पर चन्द्रमा तो आपका खास दास है।

नोट—२ **'निज दास'** इति। रूपके हृदयमें बसने-बसानेके कारण 'निज दास' कहा। (वं० पा०)।

पं० शिवलाल पाठकजी लिखते हैं कि चन्द्रमा 'निजदास' इस तरहसे है कि—(क) सुषेण वानर चन्द्रमाका अवतार है। सुग्रीवका यह श्वशुर है। चन्द्रमाने सुषेणको सुग्रीवका सखा किया और रुमाके मिलनेकी आशा दी। सुग्रीव आपके सेवक हैं, अतः चन्द्रमा भी आपका दास हुआ। (ख) आप साकेतमें शशिमुद्रामें वास करते हैं। अतएव वह सेवक सिद्ध ही है। (ग) शिवजी आपके परम प्रिय हैं। वे इसको मस्तकपर बसाये हैं। इस तरह भी यह दास ही है।

बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि उत्पन्न होनेसे आत्मा ही है। आत्मा होनेसे प्रियत्व सिद्ध है।

श्रीकरुणासिंहजी लिखते हैं कि हनुमान्‌जीके वचनोंमें यथार्थ युक्ति है; क्योंकि रामजीके विहारके समय पुरुषवर्ग एक चन्द्रमा ही रहता है। इसलिये उसको 'प्रिय दास' कहा।

* प्रिय दास—(मा० म०, वं० पा०)। † स्यामता भास—(का०)।

३ 'मूरति' शब्दसे देवभाव सिद्ध हुआ। (अर्थात् परब्रह्म परमात्मा जानकर बसाया है)। अतएव स्थापन आवश्यक है। (अर्थात् मूर्तिकी प्रतिष्ठा की जाती है। उसकी स्थापना होती है। आपकी मूर्तिकी स्थापना चन्द्रमाने हृदयस्थलमें की है)। हनुमान्‌जीने अपने ध्यान और उपासनाके भावसे, 'श्यामता' क्या है, इसका उत्तर दिया। (बं० पा०)।

नोट—श्रीहनुमान्‌जी प्रभुके अनन्य भक्त हैं। प्रभु उन्हें स्वयं अनन्यताका लक्षण उपदेश कर चुके हैं। यथा—'**सो अनन्य जाके असि मति न टरै हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥** कि० ३।' उस उपदेशके अनुसार वे चराचर मात्रमें प्रभुहीको देखते हैं। अतएव वे चन्द्रमें भी प्रभुहीको देख रहे हैं। दूसरे, (ख) उनके हृदयागारमें सदा धनुर्धर प्रभुका निवास रहता है, यथा—'**जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर।** १। १७।' अतएव वे दूसरोंके हृदयमें भी प्रभुका निवास समझते हैं। इसी विचारसे विधुके 'उर' में प्रभुकी मूर्तिका बसना कहते हैं। इस प्रकार हनुमान्‌जीने जो विचार श्यामताके विषयमें प्रकट किया वह उनकी चित्त-वृत्तिके ही अनुकूल है।

श्रीहनुमान्‌जीने श्रीरामजीके पीछे अपना विचार प्रकट किया। अङ्गदके बाद ही क्यों न कहा? यह प्रश्न उठाकर महानुभावोंने अनेक प्रकारसे उत्तर भी दिये हैं।

बंदन पाठकजी कहते हैं कि—सबका बोलना केवल व्यावहारिक है और इनका पारमार्थिक। अथवा श्रीरामजीके भी पीछे कहा, क्योंकि '**राम ते अधिक राम कर दास**'। और, किसीका मत है कि बारी हनुमान्‌जीकी थी पर श्रीरामजी ही स्वयं बोल उठे।

मा० म०—श्रीरामजीके मतको मिटाकर हनुमान्‌जीने अपना मत स्थापन किया। इस मतान्तरको सत्य न समझो क्योंकि हनुमान्‌जीने देखा कि श्रीरामचन्द्रजी चन्द्रमाको मारनेके लिये उद्यत हैं, अतएव ऐसा वचन कहकर चन्द्रमाको वध करनेसे श्रीरामचन्द्रको बचाया।

बाबा हरीदास—सबने अपनी-अपनी मतिके अनुसार 'श्यामता क्या है?' इस प्रश्नका उत्तर दिया। श्रीरामजीने भी अपना मत कहा। वह यह कि इसके अत्यन्त प्रिय भाई विषका इसके हृदयमें निवास है इसीसे विष मिली हुई किरणोंसे यह विरही नर-नारिको जलाता है।

जब रघुनाथजीने चन्द्रमामें अभिमानरूपी दोष दिखाया कि वह '**मृगपति सरिस असंक**' होकर मुझ विरहीके हृदयको दग्ध कर रहा है, मेरा इसको किंचित् भय नहीं है, तब चन्द्रमापर प्रभुकी दोषान्वेषक कड़ी दृष्टि और प्रभुके बायें ओर धनुष रक्खा हुआ एवं करकमलोंमें तीक्ष्ण बाण देख हनुमान्‌जीने विचार किया कि कहीं ऐसा न हो कि प्रभु चन्द्रमापर बाण छोड़ दें और वह मरकर पृथ्वीपर आ गिरे। मेरा कर्तव्य है कि मैं ऐसी युक्तिका उत्तर दूँ कि उससे प्रभु प्रसन्न हो जायँ, चन्द्रदेव बच जायँ और यह उसके बदले शत्रुपर छोड़ा जाय। अतएव उन्होंने कहा कि शशि आपका निजदास है, इत्यादि।

रा० प्र०—उत्तम सेवक हनुमान्‌जीने स्वामीकी बातसे विरुद्ध क्यों कहा? इसका समाधान यह है कि प्रभुने वियोगाभाससे चन्द्रमाको दोषी ठहराया। बाण सुधारते हैं, उसपर कहीं चला दिया तो वह नष्ट हो जायगा। चन्द्रमा बिना अपराध मारा गया तो स्वामीको कलङ्क लगेगा। अतः उन्होंने दोनोंकी रक्षाके लिये ऐसा कहा।

बाबा जयरामदासजीने लिखा है कि 'अब (अङ्गदके बाद) हनुमान्‌जीके बोलनेकी बारी थी। प्रभुने देखा कि मैंने तो चन्द्रमाके दोष पूछे थे (जो कालिमाके प्रश्नसे स्पष्ट है), सबको धब्बेका लक्ष्य कराया था, पर इन तीनोंने तो उसे अमल, चोट खाया हुआ और सार छीना हुआ, दीन दुखी बताकर निर्दोष बना दिया, इनका मत मेरे अनुकूल नहीं हुआ, इन्होंने तो अपनी-अपनी स्थिति ही स्पष्ट की, अतः बीचमें ही अपने मतका लक्ष्य करवाकर श्रीहनुमान्‌जीके मतको अपने अनुकूल कर लेना चाहिये। इसलिये सरकार बीचमें ही बोल उठे।—'**प्रभु कह गरल बंधु ससि केरा।**०'...

अब पाँचवें नंबरवाले श्रीहनुमान्‌जीकी सम्मति सुनिये। उन्होंने विचारा कि 'यह बड़ा ही गूढ़ प्रसंग उपस्थित हुआ! इधर प्रभुके हाथोंमें बाण सुधर रहा है और उधर चन्द्रमापर उनकी दोषान्वेषक दृष्टि पड़ रही है। स्वामी

शायद अपने दलको ऐश्वर्य दिखलाकर निर्भर करनेके लिये इस बाणसे असली चाँदकी चाँदमारी कर फिर उसे ज्यों-का-त्यों बना दें। अवश्य ही प्रभु सर्वसमर्थ हैं, उनकी शक्ति अघटितघटनापटीयसी है, परंतु विचार इस बातका है कि—'**असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु। जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजनम कर हेतु॥**'...

जब '**सुरन्हको थापना**' (दैवी विभूतिकी रक्षा करना) रामजन्मका हेतु है, तो चन्द्र देवतापर अस्त्र चलाना कैसे उचित हो सकता है? भगवान् ऐसा कभी नहीं करेंगे। वास्तवमें प्रभु हम सब मन्त्रियों और सेवकोंकी बुद्धिकी परीक्षा कर रहे हैं। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् यह भी एक मर्यादाकी लीला करके दिखला रहे हैं कि मन्त्री अपने राजाको किस प्रकार उचित मन्त्रणा देकर यथार्थ कार्य करते हैं। अतएव मुझे ऐसी राय देनी चाहिये कि चन्द्रमा निर्दोष सिद्ध हो और प्रभु भी प्रसन्न रहें।'''श्रीहनुमान्‌जीके कथनानुसार चन्द्रमा प्रभुका दास सिद्ध हो गया, इससे अब सिवा इसकी रक्षाके उस-पर अस्त्रप्रयोगकी तो कोई बात ही नहीं रह गयी।'''सुजान' विशेषणद्वारा सरकारकी अमित सुबोधताको सूचित किया, हनुमान्‌जीके परम चातुर्यके भावको जानकर उनकी सम्मति स्वीकार करते हुए सरकार परम प्रसन्न हुए और उस सुधारे हुए बाणको काममें लानेके लिये चन्द्रमापरसे अपनी दृष्टिको हटाकर दक्षिण दिशाकी ओर दृष्टि डाली।' (कल्याण ५।४।७१०-७१२)

प० प० प्र०—प्रभुकी आज्ञा थी कि '**कहहु निज निज मति भाई**', अतः ठकुरसुहाती कहना सच्चे सेवकका धर्म नहीं है। अतः सबने अपनी मतिके अनुसार ही कहा। इसमें स्वामीकी मतानुकूलताका विचार अनावश्यक है।

गौड़जी—इस प्रसंगमें लोगोंने जो यह भाव प्रकट किया है कि प्रभुके आसन्न-क्रोधकी शान्तिके लिये भगवान् मारुतिने विभिन्न मत प्रकट किया है, उसमें प्रभुकी मर्यादाका विचार न किया। प्रभुके स्वाभाविक गाम्भीर्य विचारशीलता आदि ऐश्वर्यके गुणोंमें ऐसी उतावली और मोह-क्रोधका आरोप भारी धृष्टता है और इस प्रसंगके समझनेमें अरसिकता। थोड़ी देरके लिये भगवान् विश्राम कर रहे हैं और उसी समय सखाओंसे विनोदपूर्ण बात-चीत हो रही है। बाण जो सुधार रहे हैं वह तो अभी काममें आयेगा ही। इसमें चन्द्रमाको कोई भय नहीं है। इसी विनोद-पूर्ण वार्तालापमें प्रभुने जो चन्द्रमाके बहाने विरहकी याद की वह तो ध्वनिसे आगे निःशङ्क शत्रुपर बाण चलानेके लिये प्रेरक थी। भगवान् मारुतिने इस विनोदको बड़ी चतुराईसे आगे बढ़ाया और अपनी उक्तिसे यह ध्वनित किया कि विरह-का कारण तो और ही कोई है, चन्द्रमा गरीब तो आपका दास है। जो विरहका कारण है उसकी ओर दक्षिणमुख बैठा हुआ चरण दाबनेवाला दास युक्तिसे इशारा करता है। विभीषणजीने भी अपनी युक्तिमें अपनी दुर्दशाका इशारा किया है। इसीसे अब प्रभु दक्षिणकी ओर दृष्टि फेरकर विभीषणको सम्बोधन करके पूछते हैं। लंकाके सम्बन्धमें इन्हीं दोकी तो जानकारी है।

वे० भू०—श्रीगोस्वामीजीसे कई सौ वर्ष प्रथमके महाकवियोंने चन्द्रमाकी मेचकताको लेकर बड़ी सुन्दर-सुन्दर उक्तियाँ लिखी हैं। जैसे विक्रमकी बारहवीं शताब्दीमें कविताकामिनीके हर्षरूप श्रीहर्षने अपने परमप्रसिद्ध नैषधमहाकाव्यमें '**हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा। कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरनीलनीलिमम्॥**' (नैषध २। २५) लिखा है। '**सारभाग शशिकर हरि लीन्हा।**' नैषधके इस श्लोकका अनुवाद मात्र मालूम होता है। केवल 'दमयन्ती' की जगह 'रति' बदला है। इसी तरह श्रीहर्षसे भी पूर्ववर्ती महाकवि विल्हणने '**शशि तुम्हार प्रियदास। तव मूरति तेहि उर बसै०।**' का सांगरूपक ही वर्णन किया है।

'**नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः।**
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नासौ कलङ्कः शयितो मुरारिः॥'

श्रीविश्वनाथ कविराजने तो इस श्लोकको प्रथमापह्नुति (अपह्नवपूर्वक आरोप) का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण साहित्यदर्पण-में माना है।

मा० हं०—यह वर्णन वाल्मीकि, अध्यात्म, हनुमत्प्रसन्नराघवादि नाटकोंमें नहीं मिला। यदि यह कविकल्पना अनुच्छिष्ट हो तो गोसाईंजीपर कविमण्डन, कविकेसरी, कविकुलावतंस इत्यादि पदवियोंकी वर्षा आज भी हुए बिना नहीं रह सकती।

बाबा जयरामदासजीके भाव ऊपर आ चुके हैं। मा० म०, रा० प्र० और शिलाके भावोंके अनुसार इसका कारण

यह है कि तीनके विचार जो सुने उनमें कोई बात ऐसी न थी कि ये अपना विचार प्रकट करनेमें शीघ्रता करते; पर जब चन्द्रमापर सरकारकी कड़ी निगाह देखी तब तुरंत बोले। यह भाव 'मारुतसुत' पदसे प्रकट होता है।

वर्तमान सम्पादक गौड़जीसे सहमत हैं। वे कहते हैं कि हनुमान्‌जी बड़े उत्कृष्ट कवि और दास हैं। इन्होंने अङ्गदके बाद जान-बूझकर कुछ न कहा। वह तो प्रभुका वास्तविक अभिप्राय ताड़ रहे थे। प्रभुके कहनेपर ही इनके बोलनेका मौका आया और उसीके अनुकूल इन्होंने ध्वन्योक्ति की।

हनुमान्‌जीका दास्यभाव बहुत उत्कृष्ट है। स्वामी अभी नहीं बोले हैं। उनके क्या विचार हैं, वे क्या कहेंगे इसका भी पता नहीं है। स्वामीके पहिले ही सेवक बोल उठे, यह सेवक-स्वामी-भावके प्रतिकूल होगा। अतएव उनका अन्तमें बोलना ही युक्तियुक्त है।

यह प्रश्न हो सकता है कि यह क्योंकर उन्होंने समझ लिया कि प्रभु अवश्य कुछ कहेंगे। इसका उत्तर यह है कि यह प्रभुका अन्तरङ्ग खास दरबार है। प्रभु निजभक्तोंके साथ विनोद कर रहे हैं। यथा—**'मुनि जेहि ध्यान न पावहिं नेति-नेति कह बेद। कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद॥** *लं० ११६।' सबका मत पूछते हैं, अतएव आप भी* अवश्य अपना मत कहेंगे।

☞ रसचन्द्रिकाका निम्न श्लोक इसी भावका है—

'केऽप्यङ्कं केऽपि पङ्कं वदत सुकवयः केऽपि शङ्कुं शशाङ्के। छायां केऽपि क्षयं के क्षपिततरदशः कज्जलं के विलङ्के॥
शङ्के सर्वान्तरस्थः स्फुरति च सततं सान्द्रनीलाम्बुदाभः। श्रीवत्साङ्कः कृपावानुपदिशति जनान् बोधयन्नात्मतत्त्वम्॥'

अर्थात् कोई कवि चन्द्रमामें चिह्न बतलाते हैं, कोई पङ्क कहते हैं, कोई कील गड़ी हुई बताते हैं, कोई छाया कहते हैं, कोई छिद्र कहते हैं और कोई केवल कज्जल कहते हैं; पर मैं अनुमान करता हूँ कि सान्द्रनीलमेघके समान कृपावान् श्रीवत्साङ्क भगवान् चन्द्रमामें निरन्तर स्फुरित होकर अपने जनोंको अपना तत्त्व बोधन करा रहे हैं।

सि० ति०—यहाँका यह विनोद गूढ़ अभिप्राययुक्त है। परमार्थपक्षमें श्रीसुग्रीवजी ज्ञानस्वरूप हैं, इसीसे ज्ञानमय सूर्यके पुत्र कहाते हैं। विभीषणजी जीवरूप और श्रीहनुमान्‌जी प्रबल वैराग्यरूप हैं। सब वानर शम-दमादि साधनरूप एवं उनके नेता श्रीअङ्गदजी सत्त्वगुणरूप हैं। सब वानर शम-दमादि साधनरूप एवं उनके नेता श्रीअङ्गदजी सत्त्वगुणरूप हैं। प्रमाण—**'ज्ञानसुग्रीव कृत जलधि सेतू।**''जीव भवदंघ्रि सेवक विभीषण''प्रबल वैराग्य दारुन प्रभंजन तनय'' कैवल्य साधन अखिल भालु मर्कट''' (वि० ५८) श्रीसुग्रीवजीने अपने हृदयपर भूमिकी छाया कही है। इससे रक्षाके लिये युद्धोपरान्त उ० दो० १६ में श्रीरामजी उन्हें श्रीभरतजीसे भूषणवस्त्र पहनवाकर राज्य करनेके लिये भेजेंगे। तब उन्हें शुद्ध कर इसका भय मिटावेंगे। पृथिवीके अंशसहित बुद्धिकी उत्पत्ति कही गयी है, यथा **'बुद्धिर्जाता क्षितेरपि'** (जिज्ञासापञ्चक) बुद्धिके द्वारा ज्ञान होता है। बुद्धिका ज्ञातृत्वाभिमान ही यहाँ भूमिकी छाया है। श्रीभरतजी परम विवेकी हैं, उनकी माताने उनके लिये भूमिका भोग माँगा, पर अपनी वृत्तिसे वे उसके वरको पूरा करके भी निर्विकार बने रहे। वैसे ही वृत्तिसहित रहनेके लिये श्रीभरतजीका सारूप्य बनाकर श्रीसुग्रीवजीको किष्किन्धा भेजेंगे। श्रीविभीषणजी जीवरूप हैं। इन्हें पूर्व जन्ममें कालकेतुरूपी राहुने हरण करके इस राक्षसयोनिमें प्राप्त कराया। यथा **'जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू।** १। १५६।' उसी काल-बाधाको राहुके प्रहाररूपमें इन्होंने ऊपर कहा है। इनकी इस बाधासे रक्षाके लिये उत्तरकाण्डमें श्रीरामजी श्रीलक्ष्मणजीसे वस्त्राभूषण पहनवाकर श्रीलक्ष्मणजीकी वृत्तिसे रहनेके लिये इन्हें लङ्का भेजेंगे कि वहाँ अहर्निशि प्रभुसेवापरायण होकर रहें, तब काल बाधा न लायेगा। पुनः सत्त्वगुणमें प्रकाशत्व श्रीरामजीका है, यथा **'सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।'** गीता१०। ३६। पर ज्ञानी यदि इसका अभिमानी होता है तो उसमें विकार प्राप्त होता है। यही अङ्गदजीको सुग्रीवजीका भय है। इससे श्रीरामजीने अङ्गदजीको अपना भूषण-वस्त्र स्वयं पहनाकर अपना सारूप्य करके भेजा। उ० दो० १८ देखिये कि इससे सुग्रीवजी तुम्हें मेरा रूप देखेंगे, तब उक्त भय न होगा। पुनः ऊपर जो सार भाग हरण एवं राज्यसे निराशताका संदेह था, उसे भी दूर करेंगे कि सुग्रीवजी तुम्हें मेरा रूप देखते हुए यौवराज्य हरण न कर सकेंगे। शेष जाम्बवान् आदि अङ्गदजीके अनुयायी हैं, ये भी सत्त्वांश हैं। यथा **'कैवल्यसाधन अखिल भालु मर्कट॥** वि० ५८।'; इसीसे अङ्गदजीकी तरह मानकर इन्हें भी स्वयं श्रीरामजीने स्वयं वस्त्राभूषण पहनाकर अपना सारूप्य करके

भेजा। श्रीहनुमान्‌जीके हृदयमें अनन्य भक्ति ही यहाँ पायी गयी, इसीसे आगे प्रभुने इन्हें विदा नहीं किया, सेवामें ही रक्खा है।

दो०—पवनतनय के बचन सुनि बिहँसे राम सुजान।
दच्छिन दिसि अवलोकि प्रभु बोले कृपानिधान॥ १२॥

अर्थ—पवनपुत्र श्रीहनुमान्‌जीके वचन सुनकर सुजान श्रीरामचन्द्रजी हँसे। और दक्षिण दिशाकी ओर देखकर दयासागर प्रभु (विभीषणजीसे) बोले।

नोट—'**पवन तनय**' शब्दसे जनाया कि जैसे पवनदेव बुद्धि-विवेक-विज्ञान-निधान हैं, वैसे ही उनके पुत्र हनुमान्‌जी हैं। यथा—'**पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥** ४। ३०। ४।' इनके वचन बुद्धि-विवेकयुक्त हैं।

प्र० स्वामीजी कहते हैं कि प्रथम 'हनुमंत' (**कह हनुमंत सुनहु प्रभु**··) शब्दसे सूचित किया कि वे कुछ अद्‌भुत बात कहेंगे और फिर यहाँ '**पवन तनय**' शब्द देकर जनाया कि अंजनीनन्दनके वचन '**अनन्य भक्ति**' मय होनेसे पावनताका विस्तार करनेवाले हैं।

पु० रा० कु०—'**बिहँसे राम सुजान**' इति। (क) श्रीहनुमान्‌जीकी बुद्धिकी परमचतुरता देखकर 'बिहँसे' यथा—'**परम चतुरता श्रवन सुनि बिहँसे राम उदार**। ३७।' क्यों न हो वे बुद्धिमान् पवनके ही तो पुत्र हैं। पुनः हँसे कि अपनी स्थिति, चित्तकी वृत्ति एवं सच्ची भावनाके अनुसार उत्तर दिया है। जैसे इनके हृदयमें मेरा निवास है, वैसे ही ये सबके हृदयमें जानते हैं। (पं०) वा, हँसकर परम अनुग्रह प्रकट किया, यथा—'**हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥**' पुनः हँसकर इनके मतिको अङ्गीकार किया। [श्रीरामजी अपने भक्तकी अलौकिक प्रीति देखकर भी हँसते हैं। यथा '**मन बिहँसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि।**' '(प० प० प्र०)। (ख) '**राम सुजान**' राम हैं, सब प्राणियोंमें रमण करते हैं। अतः सबके हृदयकी जानते हैं। पुनः, रमु क्रीडायाम्। 'राम' पद देकर जनाया कि यहाँ प्रभु अपने भक्तोंके साथ क्रीड़ा (विनोद) कर रहे हैं। दोहा ३७ देखिये। सुजान, यथा—'**स्वामि सुजान जान सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥** अ० ३१४। ३।'

गौड़जी—भगवान् मारुतिके वचन सुनकर 'बिहँसे' का भाव यह है कि और मतदाताओंने संकेत न समझा, पर हनुमान्‌जीने ही संकेतको समझा है। इसी भावसे मुसकराकर उन्होंने दक्षिण दिशाकी ओर निगाह फेरी। सामने विभीषण हैं, इसीलिये वह विभीषणको ही सम्बोधन करते हैं। लेटनेपर स्वभावसे ही निगाह ऊपरको ही जाती है, दिशा चाहे जो हो। परंतु जिस प्रकार प्रभु लेटे हुए हैं, उससे पहले पूरबमें ही निगाह जाना स्वाभाविक है।

२—'**दच्छिन दिसि अवलोकि प्रभु०**' इति। (क) बाण अभी कर-कमलोंमें है। चन्द्रमाकी ओरसे दृष्टि हटाकर अब सिरको दक्षिण ओर किंचित् झुकाकर देखने लगे, दक्षिण ओर ही लङ्कानगरी है। वस्तुतः जिस लिये वह बाण प्रभुके करकमलोंमें लक्ष्मणजीने दिया था या स्वयं प्रभुने लिया था, जिस लिये वह सुधारा जा रहा था, वही उद्देश्य पूरा करनेके लिये, अब पूर्वका विनोद समाप्तकर शत्रुपर दृष्टि जमायी गयी। (ख) जिस विचारसे दक्षिणकी ओर देखा, उसके लिये आप समर्थ हैं, अतः 'प्रभु' पद दिया। (ग) '**कृपानिधान**' इति। बोलनेमें '**कृपानिधान**' कहा। क्योंकि अब जो करनेवाले हैं उससे विभीषण एवं रावणपर कृपा सूचित हो रही है। एक तो विभीषणसे पूछना ही कृपा है, यथा—'**संतत दासन्ह देहु बड़ाई। ताते मोहि पूछेहु रघुराई॥** अ० १३।' दूसरे रावणके मुकुटादि गिराकर विभीषणपर विशेष कृपा करनेको हैं। और रावणपर कृपा यह है कि उनके बाण-प्रतापको समझकर अब भी वैर छोड़कर शरणमें आ जाय तो प्राण बच जायँ।

वि० त्रि०—हनुमान्‌जीने बड़ी दूरकी बात कही जय-विजयकी याद दिलायी। और सरकार सुजान हैं, उसकी कदर करनेवाले हैं, इसलिये हँसे और कृपानिधान हैं, हनुमान्‌जीके इङ्गितके अनुसार रावणपर कृपा करना चाहते हैं, अतः पूर्वकी ओरसे मुड़कर दक्षिणकी ओर देखा, और विभीषणको घटाका उठना, बिजलीका चमकना और बादलका गरजना

दिखलाया, जिसमें विभीषण सब भेद कहें, और लोग तो वही समझते थे, जो सरकार कह रहे हैं, अतः उन लोगोंको सम्बोधन नहीं किया। इस समय सरकार शत्रुको अपनी बनैती दिखाना चाहते हैं, जिसमें उसका माथा कुछ ढीला हो, और अपनी सेनामें उत्साह हो कि सरकार यदि चाहते तो शत्रुका सिर यहीं बैठे-बैठे काट देते, पर नहीं काटा। यदि वे अपशकुन समझकरके भी सीता प्रदान कर दें तो उनका कल्याण हो जाय। अतः 'कृपानिधान' पद दिया।

प० प० प्र०—इस दोहेके पूर्वार्धमें पूर्व-विषयका उपसंहार करके उत्तरार्धमें ही अगले विषयका उपक्रम कराकर यह भाव सूचित किया कि भगवान्‌ने चन्द्र-कलङ्क-विषयक जो प्रश्न किया था इसमें भी रावणविषयक कल्पना ही मुख्य थी। अतः एकका उपसंहार और दूसरेका उपक्रम एक ही दोहेमें किया।

'शशि-मेचकताई'-प्रश्नका रहस्य'

पँड़ेजी आदिका मत है कि जो कार्यभार प्रभुने इस सभाके लोगोंको सौंपा था उसकी यहाँ प्रश्नद्वारा परीक्षा ली है—

मा० शं०—शशि-श्यामताके विषयमें प्रश्न करके प्रभुने सबकी परीक्षा ली। सबके मनके अभिप्राय, वासना, उपासना और मतमतान्तरके मतवादकी परीक्षा ले ली।

बं० पा०—पूर्व जो अन्तरभावसे सबको काम सौंपा था—(११ (८) देखिये)—उसकी यहाँ परीक्षा ले ली। सब परीक्षामें उत्तीर्ण हुए। इस प्रकार कि—१ प्रथम सुग्रीवके अङ्कमें सिर रखकर उनके शिरो भार सब मिलकियत दी। उन सुग्रीवको आपकी विजय-भूमि ही देख पड़ती है, इसीपर उनकी दृष्टि है, इसीसे वे कहते हैं कि **'ससि महँ प्रगट भूमि की झाईं।'** २—अङ्गदको पुरुषार्थ भाग दिया सो उनके चित्तमें रावणका मारना अर्थात् वध ही है। यह बात **'मारेहु राहु ससिहि'** से सूचित करते हैं। ३—जाम्बवन्त वृद्धमन्त्री ब्रह्माके अंशसे हैं; इससे उन्होंने सृष्टिहीका देश कहा कि शत्रुका छिद्र सदा देखता रहे—(नोट—पर पूर्व जाम्बवंतजीको कोई कार्यभार सुपुर्द करना नहीं दिखाया गया; और न वहाँ इनका नाम ही आया है।) । ४—रामचन्द्रजीके **'बाम दहिन दिसि चाप निषंग'** होना और **'दुहुँ कर कमल सुधारत बाना'** कहकर शत्रुवधके लिये इनकी अत्यन्त आतुरता दिखायी; इसीसे इन्होंने दोका विरह कहा—प्रथम तो भरतका, दूसरे प्राणप्रियाका। भाव कि यह आजकी रात्रि हमको अत्यन्त दुःसह है। ५—अन्तमें हनुमान्‌जीने अपना अनन्य भाव कहा। ६—विभीषणको मन्त्र-भाग दिया। वे अपना कार्य कर ही रहे हैं यथा—**'कह लंकेस मन्त्र लगि काना।'** इस प्रकार सभी कर्मचारियोंकी, सौंपे हुए अपने-अपने कामोंमें सावधानता दिखायी।'

पां०—चन्द्रमाकी श्यामताके विषयमें प्रश्न करके प्रभुने सबके अन्तःकरणका भाव प्रकट किया। सुग्रीवने **'भूमिकी झाईं'** कही, इससे राज्यकी अभिलाषा सूचित हुई। किसीने राहु-चन्द्रका समर कहा इससे वीरता और समरका मनोरथ मिला। किसीने रतिमुखकी शोभा कही इससे समर-विमुखता पायी गयी।* रघुनाथजीके निज समयानुकूल प्रश्न-वचन और सबके रीति-अनरीतियुक्त उत्तर-वचन सुन श्रीमहावीरजी स्वामी श्रीरघुनाथजीके मनोरथानुकूल वचन बोले कि 'चन्द्रमा आपका प्रिय दास है…'। इस कथनका भाव यह है कि ये सब रीछ और वानर चाहे शूर हों चाहे कादर, परन्तु वे सब आपको अपने हृदयमें बसाये हुए हैं। शरीर भिन्न हो जायगा तभी शत्रु आपको देख सकेगा। (अर्थात् जबतक इनका शरीर है तबतक शत्रु आपके निकट नहीं आ सकता)। यह उत्तर अपने अनुकूल पाकर रघुनाथजी हँसे; इसीसे 'सुजान' कहा।

खर्रा—सुग्रीव राज्यके लिये आसक्त थे। राजसवृत्ति होनेसे उसने 'भूमिकी झाँईं' कही। तामसी-वृत्तिवालोंने राहुका शशिको मारना कहा। कामीने रतिमुखकी उपमा दी। राम विरही हैं इन्होंने विरह वर्णन किया। हनुमान्‌जीने अपनी भावना कही, क्योंकि ये सात्त्विक वृत्तिके हैं।—(इस भावपर १२ (८) पाद-टिप्पणी देखिये)।

---

* पर श्रीरामदलमें जो उत्साह और बल मानसकार वर्णन कर आये हैं वह इस भावका निषेध करता है।—'मर्दि गर्दि मिलवहिं दससीसा। ऐसेइ बचन कहहिं सब कीसा॥ 'सहज सूर कपि भालु सब पुनि सिर पर प्रभु राम। सु० ५५।' तब 'समर-विमुखता' का भाव किसीके हृदयमें अभीसे कैसे सम्भव है?

देखु बिभीषन दच्छिन* आसा। घन घमंड दामिनी बिलासा॥ १॥
मधुर मधुर गरजै घन घोरा। होइ बृष्टि जनि† उपल कठोरा॥ २॥
कहत बिभीषन सुनहु कृपाला। होइ न तड़ित न बारिदमाला॥ ३॥

शब्दार्थ—घमंड=समूह, गर्व। आसा=दिशा। 'बिलासना'=विशेषरूपसे शोभा देना, बहुत अच्छा जान पड़ना। अथवा, दामिनी-बिलास=दामिनीका दमकना। माला=समूह, झुंड। तड़ित=बिजली।

अर्थ—विभीषण! दक्षिण दिशाकी ओर देखो, समूह बादल गर्वसहित उमड़े हैं। बिजली (बादलोंके बीचमें) विशेष शोभित हो रही है अर्थात् चमक रही है॥ १॥ भयंकर बादल मधुर-मधुर (धीमे-धीमे) गरज रहे हैं, कहीं घोर वर्षा न हो और कठोर पत्थर (ओले) न गिरें॥ २॥ विभीषणजी बोले—हे कृपालु! सुनिये। यह न तो बिजली है, न मेघोंका समूह॥ ३॥

नोट—१ (क) दोहेमें यह जान पड़ा था कि किससे कहा। उसे यहाँ स्पष्ट किया कि विभीषणसे कहा। (ख) दक्षिणदिशाके मर्मी विभीषणजी हैं। अतः इस प्रश्नके उत्तरके लिये इन्हींको सम्बोधन किया। अन्य सब तो वही समझते हैं जो प्रभु कह रहे हैं। सम्मानार्थ सर्वज्ञ प्रभु अज्ञकी तरह पूछ रहे हैं। (ग) 'घन घमंड'—अर्थात् बड़ी काली घटावाले बादलोंके समूह, यथा—'**सोइ जनु जलद घटा अति कारी**'। पुनः यथा—'**धूप धूम नभ मेचक भयऊ। सावन घन घमंड जनु ठयऊ॥ १। ३४७।**' (घ) बादलका गरजना भी विरहका उद्दीपक है, यथा—'**घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रियाहीन डरपत मन मोरा॥**'—(कि०)। (ङ) 'घमंड' शब्दका भाव कि बादल घुमड़-घुमड़कर एकत्र हैं मानो गर्वसे भरे हैं कि हम सब भूमिको जलमयी कर देंगे। और उधर रावण भी अभिमानसे परिपूर्ण बीसों भुजाएँ देखता हुआ नाच-तमाशेमें लगा है।

४—पहले 'घन घमंड' कहकर तब उनका 'गर्जन' कहा, उसी क्रमसे 'होइ बृष्टि' और 'उपल कठोरा' कहा। उमड़ते हुए मेघ हैं इसलिये वर्षाकी झड़ीकी सम्भावना है और गरज रहे हैं इससे ओलोंकी सम्भावना है। 'होइ बृष्टि जनि' में भाव यह कि हम सब मैदानमें पड़े हैं, वर्षा होनेकी सम्भावना हो तो उसका उपाय तुरंत कर लेना चाहिये।—यहाँ भ्रान्ति अलंकार है। विभीषणजीके उत्तरमें 'भ्रान्त्यापह्नुति अलंकार' है।

लंका सिखर उपर आगारा। तहँ दसकंधर देख अखारा॥ ४॥
छत्र मेघडंबर सिर धारी। सोइ जनु जलद घटा अति कारी॥ ५॥
मंदोदरी श्रवन ताटंका। सोइ प्रभु जनु दामिनी दमंका॥ ६॥
बाजहिं ताल मृदंग अनूपा। सोइ रव मधुर सुनहु सुरभूपा॥ ७॥

शब्दार्थ—मेघडंबर=बड़ा चँदोवा, शामियाना, दलबादल, एक प्रकारका छत्र। ताटंक=कर्णफूल, तरकी। मृदंग—यह बाजा ढोलकसे कुछ लम्बा होता है। इसका ढाँचा पक्की मट्टीका होता है। इसीसे मृदंग नाम पड़ा।

अर्थ—लंकाके शिखर (कँगूरे) पर एक भवन है। दशकंधर रावण वहाँ अखाड़ा (नृत्यगानादि, नाच-तमाशा) देखता है॥ ४॥ सिरपर मेघडंबर नामक छत्र धारण किये है। वही मानो अत्यन्त काली घटा है॥ ५॥ हे प्रभो! मन्दोदरीके कानोंमें कर्णफूल हैं, वही (ऐसे चमक रहे हैं) मानो बिजली चमक रही है॥ ६॥ हे देवताओंके सिरताज स्वामी! सुनिये, अनुपम ताल मृदंग बज रहे हैं (वा, मृदंग अनुपम तालसे बज रहा है), वही मधुर (मीठी-मीठी) ध्वनि (सुनायी पड़ती) है‡॥ ७॥

---

* भा० दा०, का०, आदिमें 'छ' है, आधुनिक पाठ 'च्छ' है। † जनु पाठान्तर।

‡ भट्टिकाव्ये सर्ग १४ श्लोक ४, यथा—'मृदङ्गा धीरमास्वेनुर्हतैः स्वेने च गोमुखैः। घण्टाः शिशिञ्जिरे दीर्घं जह्रादे पटहैर्भृशम्।' अर्थात् युद्धमें राक्षसोंद्वारा घंटे ऊँचे-ऊँचे बजते हैं तथा नगाड़े ऊँचे स्वरसे बजते हैं। मृदंग गम्भीर नाद करते हैं। गोमुख रणसिंहे (तुरही) बजाये जाते हैं।

नोट—लंकाके शिखरपर यह भवन है। रावण और मन्दोदरी एवं छत्र-मेघडंबर दिखायी पड़ते हैं। प्रभु लेटे हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि वह शिखर भी सुवेलके शिखरकी ऊँचाईका है। वाल्मीकीय रामायण एवं नाटकमें रावणका महलपरसे ही शिखरपर स्थित यूथपादिको देखकर सारन और महोदर आदिसे सबका परिचय लेना कहा है। जिससे सिद्ध होता है कि लंकाशिखरपरसे सुवेल और सुवेलशिखरपरसे लंका देख पड़ती है।

टिप्पणी—१—१३ (१-७) से शृङ्गाररसकी उत्पत्ति कही। प्रमाण भरताचार्यग्रन्थे, यथा—'**ऋतुमाल्यालंकारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः, उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति॥**' अर्थात् ऋतुके फूलोंकी माला और आभूषणोंके द्वारा, प्रियजनोंके गाने-बजाने-नाचने, कवितापाठ आदि मनोरञ्जकसे सेवाओंके द्वारा तथा उपवनमें जाने और विहारोंके द्वारा शृङ्गाररस उत्पन्न होता है।

२ 'मन्दोदरी श्रवन ताटंका।…' इति। इससे जनाया कि मन्दोदरीको रावण गोदमें बिठाये है, इसीसे अत्यन्त काली घटामें मानो बिजली चमकती जान पड़ती है। (खर्रा)

३ ['सुरभूप' का भाव कि देवता अन्तर्यामी होते हैं, वे सब जानते हैं और आप तो उनके भी स्वामी हैं, सब जानते हुए भी मुझसे पूछते हैं—'**सो सब कहिहि देव रघुबीरा। जानतहू पूछहु मतिधीरा॥** आ० ३६। १२।' (श्रीशबरीवाक्य), '**जानतहूँ कस पूछहु स्वामी। तुम्ह कृपाल उर 'अंतरजामी॥'** 'सुरभूपा' का भाव कि देवकार्यके लिये ही तो आपका अवतार है—(वं० पा०)। या, देवता सब रावणकी कैदमें हैं, आप उनके राजा हैं, अब शीघ्र उनको छुड़ाइये।]

४ मेघडंबर छत्रमें घनघटाका भ्रम कहनेसे पाया गया कि मेघडंबर छत्र मेघसदृश काला और बहुत लम्बा-चौड़ा है। जलवृष्टि-निरोधक होनेसे यह नाम पड़ा।

प्रभु मुसुकान समुझि अभिमाना। चाप चढ़ाइ बान संधाना॥ ८॥

शब्दार्थ—संधानना=धनुषपर बाण चढ़ाकर लक्ष करना, निशाना लगाना; बाण चलाना।

अर्थ—इसे रावणका अभिमान समझकर प्रभु मुस्कुराये (अर्थात् ऐसा अभिमान है कि हमारा किंचित् भय नहीं है) और धनुष (पर रौंदा या प्रत्यञ्चा) चढ़ाकर उसपर बाणका संधान किया॥ ८॥

☞ अध्यात्मरामायण और हनुमन्नाटक दोनों एकमत हैं कि यह बाण लक्ष्मणजीने प्रभुके कर-कमलमें दिया था। यथा—'**रामोऽपि धनुरादाय लक्ष्मणेन समाहृतम्। दृष्ट्वा रावणमासीनं कोपेन कलुषीकृतः॥ ४२॥ किरीटिनं समासीनं मन्त्रिभिः परिवेष्टितम्। शशाङ्कार्द्धनिभेनैव बाणेनैकेन राघवः॥ ४३॥ श्वेतच्छत्रसहस्राणि किरीटदशकं तथा। चिच्छेद निमिषार्द्धेन तदद्भुतमिवाभवत्॥ ४४॥**'—(अध्यात्म० ५)। अर्थात् रावणको किरीट धारण किये मन्त्रियोंसहित बैठा हुआ देखकर लक्ष्मणजीके लाये हुए धनुषको उठाया और अर्द्धचन्द्राकार गाँसी लगे हुए बाणको लेकर कोप करके एक ही बाणसे हजारों श्वेतच्छत्रों और दसों किरीटोंको आधे पलमें काट गिरानेका अद्भुत कार्य किया। लक्ष्मणजीकी चतुरता पुष्प-शय्यासे यहाँतक बराबर झलक रही है। शय्याका सिरहाना पश्चिमकी ओर किया जिसमें पूर्णचन्द्रपर स्वाभाविक ही दृष्टि पड़े। कनक-मृगचर्मसे विरहका उद्दीपन होगा, फिर चन्द्रमाको देखकर विरहाग्नि और भी प्रज्वलित होगी; बस फिर करकमलोंसे दुलराया हुआ बाण कब बिना कुछ कार्य किये रहने पावेगा? आज ही युद्धका श्रीगणेश हुए बिना कब रह सकेगा?

'**समुझि अभिमाना**'। निडर नाचरंगमें मस्त होना अभिमानसूचक है, यथा—'अति अभिमान त्रास सब भूली। ३७। २।'

दो०—छत्र मुकुट ताटंक तब हते एक ही बान।
सब के देखत महि परे मरमु न काहू जान॥ १३॥

अर्थ—तब (बाणका निशाना लगाकर) एक ही बाणसे छत्र, मुकुट और कर्णफूल सबको मारा। सबके देखते वे पृथ्वीपर गिरे; परन्तु भेद किसीने न जाना* ॥ १३ ॥

नोट—भाव यह कि अत्यन्त शीघ्रतासे आधे ही पलमें बाणने सबको काट गिराया। इसीसे किसीकी दृष्टिमें न आया। ऐसा अद्भुत कार्य किया।—'चिच्छेद निमिषार्द्धेन तदद्भुतमिवाभवत्' (अ० रा०)।

मा० म०—श्रीरामचन्द्रजीने विचारा कि हम तो विभीषणको लंकेश बना चुके, यह जानकर भी रावण हमारे सामने ही राजसी ठाट-बाटसे भोग-विलास कर रहा है, छत्र-मुकुटादि धारण किये अभिमानपूर्वक राजा बना बैठा है। अतएव अब राजा होनेका गर्व और इसका यह भोग-विलास आज इसी समय चूर्ण कर देना चाहिये। अतः रावणका छत्र और मुकुट और मन्दोदरीका ताटंक काटकर यह सूचित किया कि अब तुम लंकाके राजा नहीं हो, तुम्हारे स्थानपर विभीषण राजा है।

मा० शं०—वहाँ रावणका ऐश्वर्य प्रत्यक्ष कहा और यहाँ प्रभुका ऐश्वर्य गुप्त रीतिसे चन्द्र-वर्णन और छत्रादिके भङ्गसे कहा—'ससि तुम्हार प्रिय दास' और 'छत्र मुकुट०'।

वीरकवि—रावणका नाच-गान देखकर श्रीरामचन्द्रजीने अदृश्य बाण छोड़कर ऐसी सूक्ष्म क्रिया की कि उसका मर्म कोई न जान सका। यहाँ 'सूक्ष्म अलङ्कार' है।

दो०—अस कौतुक करि राम सर प्रबिसेउ आइ निषंग।
रावनसभा ससंक सब देखि महारस-भंग ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—रस=किसी विषयका आनन्द, क्रीड़ा, केलि, विनोद। भङ्ग=विनाश, बाधा, विघ्न, विध्वंस। रसभंग=आनन्दक्रीड़ामें विघ्न। यथा—'जेहि बिधि रामराज रस भंगू। अ० २२२। ७।'

अर्थ—ऐसा तमाशा करके श्रीरामचन्द्रजीका बाण तर्कशमें आकर प्रविष्ट हो गया। (पैठ, घुस वा समा गया।) इस बड़े आनन्दमें बड़ा भारी विघ्न देखकर रावणकी सभामें सब-के-सब भयभीत और शङ्कायुक्त हो गये॥१३॥

रा० प्र०—'कौतुक' पदसे धनुर्वेदोक्त पटुता जनायी। रसभङ्ग अर्थात् उत्पातसे नृत्यादिकी निवृत्ति।

पं०—'महारसभङ्ग'—एक तो नृत्य-गानादिका रसभङ्ग, दूसरे मुकुटोंका गिरना शीशके गिरनेके समान है; यथा—'आइगो कोसलाधीस तुलसीस जेहि छत्रमिस मौलिदस दूरि कीन्हे। क० ६। १९।'—(मुकुट गिरनेसे राज्यभ्रष्ट होना जनाया)—और कर्णफूल, जो सोहागका भूषण है, उसका गिरना रावणकी मृत्यु और मन्दोदरीको वैधव्यका सूचक है। अतएव 'महारसभङ्ग' जाना।

नोट—'ससंक' में दोनों भाव हैं—एक तो सब डर गये कि अभी और न जाने क्या विघ्न उपस्थित हो जाय, अपने प्राणोंका भी डर हो गया। दूसरे रावणके विषयमें शङ्का हो गयी कि इसका राज्य गया मालूम होता है।

वि० त्रि०—सरकारने अद्भुत बनैतीका कौशल दिखलाया। रावणके छत्र और मुकुटको बाणने गिराया और रावणके शिरमें खरोच न आयी। जैसे कोई किसीकी टोपी उतार ले और उसे मालूम न हो। फिर जिस बाणने छत्र-मुकुट गिराया, उसीने घूमकर मन्दोदरीके कानोंका ताटंक भी काट दिया, मन्दोदरीको मालूम भी न हुआ कि कैसे गिरा। सब लोग सङ्गीतमें दत्तचित्त थे, जिस लाघवसे बाणने काम किया कोई लख न सका। इतना ही नहीं बाण लौटकर सरकारके निषङ्गमें प्रवेश कर गया और उधर सब मजा ही किरकिरा हो गया। क्या समाँ बँधा हुआ था,

* मिलान कीजिये—'अथ श्रीरामचन्द्रोऽपि सुवेलाद्रौ स्थितस्तदा। लीलया चापमादाय मुमोच शरमुत्तमम् ॥ २४५ ॥ तेनच्छत्रसहस्राणि किरीटदशकं तथा। लंकायां राक्षसेन्द्रस्य प्रासादे संस्थितस्य च ॥ २४६ ॥ चिच्छेद निमिषार्धेन कपीनां पश्यतां प्रभुः।' (आ० रा० १। १०)। 'राघव-सर लाघवगति छत्र मुकुट यों हयो। हंस सबल अंसु-सहित मानहु उड़ि कै गयो' ॥—(रा० चं० १५। ४०)

ताल, पखावज, वीणा बज रही थी, गन्धर्व गान कर रहे थे, अप्सराओंका नृत्य हो रहा था, सो छत्र, मुकुट, ताटङ्क गिरते ही सब रसभङ्ग हो गया। सभा-की-सभा डर गयी कि यह हुआ क्या ?

पु० रा० कु०—'महारसभङ्ग' इति। महारस शृंगाररस है जो रसराज कहलाता है। गीत-नृत्यादि शृंगार-रसके विभाव हैं। प्रमाण १३ (१–७) में दिया गया है! यहाँ रावणके निज हृदयानन्दार्थ नृत्यगीतादिके उद्यममें छत्रादिहनन अनिष्टकी प्राप्ति हुई। इसलिये 'यह तीसरा विषम अलङ्कार' हुआ, यथा—'अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्चेत्त-दिष्टार्थसमुद्यमात्'।

नोट—'रसभंग' पद पूर्व अयोध्याकाण्डमें रामराज्यके सम्बन्धमें आया है, दूसरे यहाँ। इससे जनाया कि अब रावणका राज्य जा रहा है।

कंप न भूमि न मरुत बिसेषा। अस्त्र सस्त्र कछु नयन न देखा॥ १॥

शब्दार्थ—अस्त्र=वह हथियार जिसे फेंककर शत्रुपर चलावें। जैसे—बाण, शक्ति। एवं जिससे कोई चीज फेंकी जाय, जैसे धनुष, बन्दूक। शस्त्र=वह हथियार जो हाथसे चलाये जायँ, जैसे तलवार। पुनः, यथा—'**अस्त्रमन्त्रैः प्रयोक्तव्यं शस्त्रमुक्तं तु तैर्विना**' अर्थात् अस्त्रको मन्त्रोंद्वारा काममें लाना होता है और शस्त्र उसके बिना।

अर्थ—न तो पृथ्वी कँपी (हिली-डोली), न बहुत हवा ही चली और न कोई अस्त्र-शस्त्र आँखोंसे देख पड़े। अर्थात् मुकुटादि कैसे कट गिरे, क्या कारण है, यह कुछ न जान पड़ा॥ १॥

रा० बा० दा०—रामायणी माधोदासजी कहते थे कि यह वायव्य बाण था। 'मरुत बिसेषा' से 'साधारण' मरुत और 'विशेष' मरुत दो सूचित किये।

नोट—अध्यात्ममें जो 'अद्भुतमिवाभवत्' कहा था वह यहाँ कविने स्पष्ट कहा कि किसीने न तो बाण देखा, न मर्म जान पाये। जिन कारणोंसे ऐसा होना सम्भव था वे कोई उपस्थित नहीं देख पड़ते। यही अद्भुतता है।

सोचहिं सब निज हृदय मँझारी। असगुन भयउ भयंकर भारी॥ २॥

शब्दार्थ—मँझारी=में, यथा—'**गिरि त्रिकूट इक सिंधु मँझारी।**' असगुन=अपशकुन।

अर्थ—सभी अपने-अपने हृदयमें सोच रहे हैं कि यह बड़ा भयंकर अपशकुन हुआ है॥ २॥

पु० रा० कु०—इसे शास्त्रमें अति-निकट मृत्यु-सूचक अपशकुन कहा है।

पं०—इसे महा अपशकुन इससे विचारते हैं कि यदि मुकुटादिका गिरना किसी निमित्त (द्वारा) होता तो भी अपशकुन था और यहाँ तो कोई निमित्त देख नहीं पड़ा, सब अकारण ही हुआ है। अतएव सब अति चिन्तातुर हैं।

पां०—हृदयमें सोचते हैं; क्योंकि प्रत्यक्ष सोच करनेमें रावणका डर है। यथा—'**तासु चरित मन महँ सब गावा। ८। २।**' (प्रहस्तवाक्य)।

नोट—ऊपर 'ससंक' कहा फिर दो अर्धालियोंमें शङ्का कही और अन्तमें 'असगुन भयउ' कहा। इन शब्दोंसे जनाया कि रावणकी ही मृत्यु नहीं होगी वरन् निशिचर-कुलका विनाश जान पड़ता है। यथा—'**उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते जारि गयउ कपि लंका॥ निज निज गृह सब करहिं बिचारा। नहिं निसिचरकुल केर उबारा॥ ५। ३६। १–२।**'

पुनः, 'सोचहिं' का भाव कि यह अपशकुन कैसे दूर हो। शङ्कानिवारणार्थ विचार करना 'वितर्क' संचारी भाव है।

दसमुख देखि सभा भय पाई। बिहँसि बचन कह जुगुति बनाई॥ ३॥
सिरौ गिरे संतत सुभ जाही। मुकुट परे* कस असगुन ताही॥ ४॥

---

* खसे—(का०)। अर्थ वही है जो 'परे' का है। प्र० स्वामीका मत है कि 'खसे' पाठ अधिक सुन्दर है, क्योंकि ख, क एक वर्गके हैं और से, स से अनुप्रासका सौन्दर्य बढ़ता है। कारण बिना गिरनेके अर्थमें 'खसना' का प्रयोग मानसमें उपलब्ध है—'खसी माल मूरति मुसुकानी'। और कुछ कारणसे मुकुटोंका गिरना 'परे' शब्दसे कथित है—'भूतल परे मुकुट अति सुंदर। ३२। ५।'

शब्दार्थ—जुगुति (युक्ति)=असल मर्म छिपानेके लिये दूसरेसे कोई चतुराईकी बात बनाकर कहना जिससे वह मर्म न जान सके। परे=गिरनेसे।

अर्थ—सभा भयभीत है यह देख रावणने हँसकर युक्ति बनाकर ये वचन कहे ॥ ३ ॥ जिसके सिरोंका भी कटना सदा शुभ (कल्याणकारी शकुन) होता आया है; उसके लिये मुकुटका गिरना कैसे अपशकुन हो सकता है ॥ ४ ॥

नोट—१ 'दसमुख' पदसे जनाया कि बीसों नेत्रोंसे देखा जिसमें कोई रह न जाय, और दसों मुखोंसे खिलखिलाकर हँसा।

पं०—हँसनेका भाव—(क) सभाका निरादर किया कि तुम बड़े कायर हो। (ख) उसने विचारा कि यदि मैं सकुच जाऊँगा तो इन लोगोंको विशेष शोक होगा और यदि मैं हँसकर इस अपशकुनका निरादर कर दूँगा तो सबका चित्त शान्त हो जायगा कि जिसके मुकुट गिरे जब वही प्रसन्न है तब हम व्यर्थ क्यों चिन्तातुर हों। अतः हँसा। (ग) युक्ति भी शीघ्र स्फुरित हो आयी अतः हँसकर कहा।—(प्रत्यक्ष अपशकुनको छिपानेके लिये हँसा कि जिसमें लोग इसे अपशकुन न समझ शकुन ही जानें)—[यह व्याजोक्ति अलङ्कार है—(वीर)]

नोट—२ 'सिरौ गिरे संतत सुभ०' इति। भाव कि शिवजीको सिर काटकर चढ़ाये उससे मुझे दिग्विजय, इन्द्रसे भी सैकड़ों गुणा अधिक विलास और अनुपम ऐश्वर्य आदि प्राप्त हुए; मुकुटादि तो सिरके भी ऊपर रहते हैं अतः उनके गिरनेसे और भी अधिक लाभ होनेकी सूचना है। रामचन्द्रपर जय और सीताप्राप्ति होगी।

वै०—सिर गिरे लोकमें कल्याण हुआ और मुकुट गिरनेसे परलोकका लाभ होगा। (रा० प्र०—यह भाव सरस्वतीकी ध्वनिसे निकाला हुआ है।)

मा० हं०—यहाँ एक ही चौपाईसे गोस्वामीजीने रावणका स्वरूप ठीक उस बेशरम (निर्लज्ज) का-सा बतलाया है जो लातें खाकर भी कहता ही है कि पीठका मैल झड़ गया।

सयन करहु निज निज गृह जाई। गवने भवन सकल सिर नाई ॥ ५ ॥

अर्थ—अपने-अपने घर जाकर शयन करो (सोओ। भाव यह कि विश्राम करनेसे यह सोच मिट जायगा)। (तब, आज्ञा होनेपर) सब लोग माथा नवा (प्रणाम) कर (अपने-अपने) घर गये ॥ ५ ॥

वं० पा०—रावणने किसीको प्रसन्न न देखा तब दूसरा उपाय यह किया कि सभा बरखास्त हो। 'सिरनाई' में दोनों भाव हैं—एक तो प्रणाम करके; दूसरे नीचा सिर करके (यह शोचकी एक मुद्रा है)। क्योंकि सब सशोकातुर हैं—(रा० प्र०, पं०)।

पं०—शयनकी आज्ञा भी उनके निरादरार्थ दी। अथवा, यह सोचकर कि यहाँ रहेंगे तो मुझे भी भयकी ही बात सुनायेंगे।

मंदोदरी सोच उर बसेऊ। जब ते श्रवन पूर महि खसेऊ ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—श्रवणपूर=ताटंक, कर्णफूल। खसना=गिरना।

अर्थ—जबसे मन्दोदरीके कानोंका भूषण पृथ्वीपर गिरा, तबसे उसके हृदयमें शोच बस गया। भाव यह कि यह शोच अब बराबर बना ही रहेगा, हृदयसे जानेका नहीं है ॥ ६ ॥

नोट—१ मन्दोदरीको मुकुटादिके गिरनेका शोक न हुआ और अपने कर्णफूलके गिरनेका शोक हुआ। कारण यह है कि कर्णफूल अहिवात (सौभाग्य) का चिह्न है। कानोंसे इनका गिरना उसका वैधव्य और रावणकी मृत्यु निश्चय बताता है। यथा—'**आइगे कोसलाधीस तुलसीस जेहि छत्र मिस मौलिदस दूरि कीन्हें**। क० लं० १९।' पतिका मरण समझ शोचका निवास हृदयमें हो गया। मुकुटके गिरनेसे राज्यकी हानि ही समझी जाती है। इससे वह इतनी शोचनीय नहीं थी। पंजाबीजीने अपनी इस शङ्काका समाधान यह किया है कि श्रवणपूर मुकुटादिका भी उपलक्षक है। 'बसेऊ' का भाव कि पहले शोच होता था तो चला जाता था, अब न जायगा।

मन्दोदरीका तृतीय उपदेश

सजल नयन कह जुग कर जोरी। सुनहु प्रानपति बिनती मोरी॥ ७॥

अर्थ—नेत्रोंमें जल भरकर दोनों हाथ जोड़कर वह रावणसे कहने लगी—प्राणपति! मेरी विनती सुनिये॥ ७॥

प० प० प्र०—पिछले दो बारके उपदेशोंमें मन्दोदरीने 'कन्त' और 'प्रिय' शब्दोंका प्रयोग किया और शृङ्गाररसकी सामर्थ्यसे समझानेका प्रयत्न किया; पर उसने कुछ काम न किया। अतएव अब 'सजल नयन' होकर करुणरसका आश्रय लेकर समझानेका प्रयत्न करती है। स्त्रियोंका स्वभाव है कि जब शृङ्गारसे काम नहीं चलता तब रो-रोकर विनती करती हैं जिससे पुरुषका हृदय द्रवित हो जाता है, उसे दया आती है और वह विनय मान लेता है।

नोट—१ 'सजल नयन' हृदयके शोक और सुहागकी चिन्तासे। विनती करती है अतः हाथ जोड़े। हाथ जोड़कर अपनी अति दीनता दिखायी, यथा—'**हृदय दाह अति बदन मलीना। कह कर जोरि बचन अति दीना॥** २। ९४। ५।' 'प्राणपति' का भाव कि हमारे प्राणोंके आप स्वामी हैं, आपके रखनेसे ये रह सकते हैं। 'बिनती मोरी' अर्थात् मैं नम्रतापूर्वक आपसे यह प्रार्थना करती हूँ, कुछ आपको उपदेश नहीं देती, क्योंकि आप मेरे प्राणोंके रक्षक हैं। ☞ वियोग सिरपर खड़ा जानकर नम्रतापूर्वक विनयकी यह रीति है। अङ्गदादि जब अवधसे घर लौटाये गये उस समय वियोगसे भयभीत अंगदके वचन इसी प्रकारके हैं, यथा—'**तब अंगद उठि नाइ सिरु सजल नयन कर जोरि। अति बिनीत बोलेउ बचन मनहु प्रेम रस बोरि॥** उ० १७॥'

कंत राम बिरोध परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ मन धरहू॥ ८॥

शब्दार्थ—कंत (कान्त)=पति। यथा—'**सिंधुसुता प्रिय कंता**', '**सो मम हित लागी जन अनुरागी भए प्रगट श्रीकंता॥** १। १९२।', '**पठवहु कंत जो चहहु भलाई॥** ५। ३६। ८'

अर्थ—स्वामिन्! श्रीरामजीसे वैर छोड़ दीजिये। उन्हें मनुष्य समझकर मनमें हठ न धारण कीजिये॥ ८॥

वं० पा०—'कन्तका भाव कि आप हमारे सुखके विस्तार करनेवाले हैं, सब सुखोंके देनेवाले हैं। (यथा—'**अमित दानि भर्ता बैदेही' इति अनुसूयावाक्य**)! कं=सुख। सुखको बढ़ावे वह 'कंत', यथा—'**सुखं तनोतीति कंतः**'। [प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'कंत' शब्द संस्कृत भाषाका नहीं है। अतः ऐसा अर्थ सयुक्तिक नहीं है। यह कान्तका अपभ्रंश है। कान्त=पति। यथा—'**कान्ता नार्यां प्रियङ्गौ स्त्री, शोभने त्रिषु, ना (कान्त) धने (पतौ) इति विश्वमेदिन्यौ।**']

नोट—मन्दोदरी पतिको 'राम-विरोध' करनेसे रोकती है क्योंकि रामद्रोहीकी रक्षा कोई नहीं करता, यह बात वह जयन्तके प्रसङ्गसे जानती है, हनुमान्‌जीसे भी सुना है। और शुकने भी कहा है। मारीचने रावणको समझाया है। उसने भी यही कहा था—यह भी मन्दोदरी जानती है। यथा—'**संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥** ५। २३। ८।', '**राम बिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज ईस।**···कह सुक। सुं० ५६।' '**सुरपतिसुत जानइ बल थोरा। राखा जिअत आँखि गहि फोरा॥** ३५। १२।', '**बानप्रताप जान मारीचा। तासु कहा नहिं मानेहु नीचा॥** ३५। ९।', '**तासों तात बयरु नहिं कीजै। मारे मरिय जिआए जीजै॥** आ० २५। ४।'

'जानि मनुज' इति। इससे जनाया कि रावण श्रीरामजीको साधारण मनुष्य ही समझता है। इसीसे मारीच, विभीषण, प्रहस्त, मन्दोदरी, कुम्भकर्णने उससे कहा है कि ये 'नर' नहीं हैं। यथा—'**ते नर रूप चराचर ईसा।**' (आ०), '**तात राम नहिं नर भूपाला।** ५। ३९। १।', '**सो भनु मनुज खाब हम भाई।** ९। ६।', '**सो नर क्यों दसकंध अभागा।** २६। ४।', '**हैं दससीस मनुज रघुनायक।** ६२। ३।', एवं '**मनुज कि अस बरिबंड।** ३। २५।' इन बचनोंसे कविने जना दिया है कि श्रीरामजी 'नर' नहीं हैं।

'**जनि हठ धरहू**' का भाव कि मनुष्य समझते हो इसीसे हठ करते हो, ईश्वर जानते तो हठ न करते। पुनः, सिखावन न सुननेसे मनमें हठ होना कहा, मनमें हठ होता है तभी सिखावन नहीं सुना जाता, यथा—'**मनु हठ परा न सुनइ सिखावा।** १। ७८।' सिखावनपर विश्वास करनेको कहेगी, इसीसे प्रथम 'जनि हठ धरहू' कहा।

दो०—बिस्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु॥ १४॥

शब्दार्थ—कल्पना=अनुमान, भावना, मान लेना। प्रति=में।

अर्थ—मेरे वचनोंपर विश्वास कीजिये कि रघुकुलमें शिरोमणि श्रीरामचन्द्रजी विश्वरूप हैं। (अर्थात् सारा संसार उन्हींका रूप है, उन्हींका अङ्ग है, वे अङ्गी हैं, वे परमात्मा विश्वरूपमें भासते हैं। विराट् रूप हैं) जिनके अङ्ग-अङ्ग (का लक्ष्य करते हुए प्रत्येक) में वेद लोककी कल्पना करते हैं॥ १४॥

नोट—१-'करहु बचन बिस्वास' इति। (क) पूर्व दो बार समझाया तब इसकी बात नहीं मानी, इससे जाना कि हमारे वचनपर विश्वास नहीं है। विश्वास होता है तब उपदेश हठपूर्वक ग्रहण किया जाता है, यथा—'तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥ १। ८१॥', 'गुरु के बचन प्रतीति न जेही। १। ८०। ८।' (ख) प्रथम सिखावन न माननेका हठ छोड़नेको कहा और अब उपदेशको ग्रहण करनेमें हठ करनेको कहा, जो विश्वास होनेपर ही होगा।

२—'लोक कल्पना बेद कर'। विश्वास करनेको कहा; पर स्त्रीके वचनपर विश्वास कैसे करें? दशरथजी विश्वासमें मारे गये, यथा—'गयउँ नारि बिस्वास'। अतः विश्वास करनेका कारण बताती है, कि जो मैं कहती हूँ उसके प्रमाण वेद हैं, वेद सब मानते हैं। पुनः, 'कल्पना कर' का भाव कि वेद भी उनको पूर्णरूपेण नहीं जानते, इसीसे उनका यथार्थ वर्णन नहीं कर सकते, अनुमानसे कहते हैं, यथा—'मति अनुमानि निगम अस गावा। १। ११८।' 'रघुवंशमणि' का भाव कि रघुकुलश्रेष्ठ राम ही विराट्रूप भगवान् हैं।

वि० त्रि०—मन्दोदरी कहती है कि उपनिषद्का वचन है कि रघुकुलमणि विश्वरूपधारी व्यापक निर्विकार नारायण, पूर्णानन्दैकविज्ञान परब्रह्म हैं। यथा—'विश्वरूपधरं विष्णुं नारायणमनामयम्। पूर्णानन्दैकविज्ञानं परं ब्रह्मस्वरूपिणम्॥ रा० ता०॥' इस स्वतःप्रमाण वचनपर विश्वास करो। सब शास्त्र पढ़ जानेसे ही सिद्धि नहीं होती, विश्वास करनेसे सिद्धि होती है। सरकार इस समय विभवरूपसे विराजमान हैं। इनके अङ्ग-अङ्गके प्रति वेदोंने लोकोंकी कल्पना की है। यथा—''नाभ्याऽसीदन्तरिक्षꣳ शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ २॥ऽ अकल्पयन्। (पुरुषसूक्त)।''

पद पाताल सीस अजधामा। अपर लोक अँग अँग बिश्रामा॥ १॥
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घन-माला॥ २॥
जासु घ्रान अस्विनीकुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा॥ ३॥

शब्दार्थ—पाताल=अधोलोक, सबसे नीचेका लोक, यथा—'अधोभुवनपातालमित्यमरः। अजधाम=सत्य वा ब्रह्मलोक। घ्राण=नासिका, नाक। घ्रायतेऽनेन इति घ्राणम्। घ्रा गन्धोपादाने इति धातोः। क्लीबे घ्राणं गन्धवहः घोणा नासा च नासिका—इत्यमरः। अश्विनीकुमार'—ये सूर्यके दो यमज (जुड़िया) पुत्र हैं जो देवताओंके वैद्य हैं—बा० ३२ (३) में देखिये। अपार=संख्यारहित, अमित।

अर्थ—(इस विश्वरूपका) चरण पाताल है, सिर ब्रह्मलोक है और अन्य सब लोकोंका (जो ब्रह्मलोक और पातालके बीचके हैं उनका बीचके) एक-एक अङ्गमें विश्राम (ठहरनेका स्थान) है॥ १॥ भौंहका फेरना (भ्रूभङ्ग) भयङ्कर काल है। नेत्र सूर्य हैं, केश मेघमाला हैं॥ २॥ जिनकी नाक अश्विनीकुमार हैं, रात और दिन अपार पलकोंका मारना (खोलना, बंद करना) है॥ ३॥

पं० रा० व० श०—जो हमारी इन्द्रियोंके देवता हैं वे ही देवता ईश्वरकी वे इन्द्रियाँ हैं। जैसे हमारे मुखका देवता अग्नि है, वह अग्नि ही भगवान्का मुख है, जिह्वाका देवता वरुण है, वही वरुण भगवान्की जिह्वा है। घ्राणके देवता अश्विनीकुमार हैं। वही भगवान्के घ्राण हैं। सूर्य नेत्रके देवता हैं और वही स्वयं भगवान्के नेत्र हैं। इत्यादि।

मा० शं०—यह प्रकरण व्यष्टि और समष्टिकी विधिसे चतुर्धा विराटसिद्ध श्रीरामजीके हैं। पद नहीं हैं मानो द्वितीय पाताल जानो; अथवा, पातालोंमें प्रभुका पद है; वा पातालकी उत्पत्ति पदसे है। वा, महाप्रलयमें प्रभुके पदमें पाताल समा जाते हैं।

सि० ति०—चरणको पाताल कहा है। चरणका तल भाग सम्पूर्ण शरीरका आधार है। वैसे ही पातालमें आप सूक्ष्म (वामन) रूप हैं। वह सूक्ष्मरूप व्यापक सत्ताका उपलक्षक है, उसी सत्तापर विश्वरूप शरीर भी स्थित है। इसीसे सबके चरणके देवता वामन (विष्णु) अर्थात् व्यापक कहे गये हैं।

नोट—१ भ्रूभङ्गको काल कहा क्योंकि भ्रूभङ्गसे भी ब्रह्माण्डोंका लय होता है, यथा—**'भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई। ३। २८। ४।'** कालको भयङ्कर कहा क्योंकि अमित ब्रह्माण्डोंको खा लेता है। 'तेज' धर्म लेकर नेत्रको सूर्य कहा, यथा— **'तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत कामु भयउ जरि छारा॥** बा० ८७।' **'भानु कमलकुल पोषनिहारा। बिनु जरि जारि करइ सोइ छारा॥** अ० १७।' बाल और मेघ दोनों श्याम हैं। बाल बहुत होते हैं इसलिये घनमाला कहा। घ्राण जिससे सूँघा जाय। इसमें दो नथुने (छिद्र) होते हैं और अश्विनीकुमार यमज हैं, यह समता हुई। पलकें बराबर खुलती-मुँदती हैं वैसे ही रात्रि और दिन लगातार बारम्बार होते रहते हैं।

श्रवन दिसा दस बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी॥ ४॥
अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला॥ ५॥
आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा॥ ६॥

अर्थ—कान दसों दिशाएँ हैं—ऐसा वेदोंने कहा है। (वेदोंने कहा है कि) पवन श्वास है, वेद उनकी अपनी खास वाणी है॥ ४॥ ओष्ठ (होंठ) लोभ है, कराल दाँत कठिन भयंकर यमराज हैं। हँसी माया है। बाहु दिक्पाल हैं॥५॥ मुख अग्नि है। जिह्वा वरुण हैं। उत्पत्ति-पालन-प्रलय उनकी इच्छा (कर्म वा चेष्टा) है॥ ६॥

पु० रा० कु०—'बेद बखानी' का सम्बन्ध दीपदेहरीन्यायसे आगे-पीछे दोनोंसे है। २—**'मायाहास'**। हास्यको माया कहा क्योंकि हँसे नहीं कि मोहित कर लिया। ३—**'उतपति पालन प्रलय समीहा'**। इति। यथा—**'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति॥** इति श्रुतिः' (तैत्ति० ३।१) अर्थात् जिससे सब उत्पन्न और पालन होते हैं और जिसमें अन्तमें सब प्रविष्ट होते हैं। पुनः यथा—**'यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादि युगागमे। यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये॥'** इति स्मृतिः। अर्थात् आदि सृष्टिमें जिससे सब प्राणी होते हैं और जिसमें युगक्षयके समय सब लीन हो जाते हैं, वह ब्रह्म है।

नोट—१ अंबुपति=वरुण। क्योंकि आगे उदरको समुद्र कहते हैं।

२—पं०—उत्पत्ति आदि सामान्य इच्छा है। भाव कि उत्पत्ति आदिके लिये इनको कुछ यत्न नहीं करना पड़ता। प्रमाणं श्रुतिः **'एकोऽहं बहुः स्याम्'**। जैसे संकल्प मात्रसे ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति वैसे ही बिना यत्न उनका पालन एवं लय आदि। यथा **'लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥** १। २२५।'

रोमराजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा॥ ७॥
उदर उदधि अधगो जातना। जगमय प्रभु का* बहु कल्पना॥ ८॥

शब्दार्थ—रोमराजी=रोमावलि, रोयोंकी वह पंक्ति जो पेटके बीचोंबीच नाभिसे ऊपरकी ओर जाती है। भार—यह १२ करोड़ ३० लाख एक हजार छः सौ साठ वृक्षोंकी संज्ञा है। पुनः 'भारः समूहे वृक्षे च सहस्रे द्वितये तथा। विविधे चौषधे सोमे गुरुतायां दिवाकरे॥' इत्यनेकार्थ शब्दमाला। जार (जाल)=समूह। अधगो=नीचेकी इन्द्रियाँ—शिश्न वा गुदा। यातना=नरक, यमकी तीव्र वेदना, यथा—**'यातना तीव्रवेदना इत्यमरः।'**

अर्थ—१८ भार वनस्पतियाँ उनकी रोमावलि हैं, पर्वत हड्डियाँ हैं, नदियाँ नसोंका समूह है॥ ७॥ उनका पेट

* 'की बहु कल्पना' पाठान्तर है। अर्थ दोनोंका आ गया।

समुद्र है, नीचेकी इन्द्रियाँ (मलमूत्रवाली) नरक हैं। (कहाँतक कहा जाय ? समझ लो कि) विश्वमय स्वामीकी ऐसी ही बहुत कल्पना है एवं प्रभु जगन्मय हैं (सब जगत् उन्हींका शरीर है) तब बहुत कथनसे क्या (प्रयोजन) है ?॥८॥

☞ मिलान कीजिये—भा० १०। ६३—'**रोमाणि यस्यौषधयोऽम्बुवाहाः केशा विरिञ्चो धिषणा विसर्गः। प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्मः स वै भवान् पुरुषो लोककल्पः॥ ३६।**' ओषधियाँ आपके रोम हैं, मेघ केश, ब्रह्मा बुद्धि, प्रजापति लिङ्गेन्द्रिय और धर्म आपका हृदय है। ऐसे आपके त्रिलोकमय विराट्‌रूपकी कल्पना की जाती है। पुनः यथा—'**भुवन अनेक रोम प्रति जासू। यह प्रभुता कछु बहुत न तासू॥ सो महिमा समुझत प्रभु केरी। यह बरनत हीनता घनेरी॥ उ० २२।**

पु० रा० कु०—६ भार कंटक, ६ भार फूलवाले और ६ भार फलवाले, सब १८ भार वनस्पति हैं। [प्रमाण तत्त्ववेत्ताजी—'**बारह कोटि बन बृक्ष लाख तहँ तीस सुनिज्जै। सोरह सत और आठ भार एक ताहि गनिज्जै॥ चार भार बन पुहुप चार फल फूल बिराजै। षट बेली भूभार चार सिर कंटक राजै॥ तत्त्ववेता तुलसी बिना भार अष्टादस संज्ञा कही। और अनेक उपजे खपे अलख पुरुष अविचल कही॥' वं० पा०**]७२ हजार नदियाँ हैं। बहुत कल्पना है—अर्थात् और भी जो बहुत-से अङ्ग और उपाङ्ग हैं उनके विषयमें भी बहुत-सी कल्पनाएँ की गयी हैं। प्रभु प्रधान हैं।

नोट—१ शरीरभरमें रोएँ होते हैं, वैसे ही पृथ्वीमें सर्वत्र वनस्पतियाँ हैं। हड्डियाँ बड़ी दृढ़ वैसे ही पर्वत; दधीचि ऋषिकी हड्डीसे वज्र बना था। पर्वत बड़े वैसे ही शरीरमें हड्डियाँ बड़ी। नदियाँ लम्बी, छोटी, बड़ी और जाल सरीखी फैली हुई; वैसे ही नसें भी ऊपरसे नीचेतक फैली हुई होती हैं—यह समता है। २—उदरमें नाभि है जो परम गँभीर है, यथा—'**नाभि गँभीर जान जिहिं देखा १।१९९।४**' अर्थात् ब्रह्माजी भी उसका पता न लगा सके थे। और समुद्र अथाह है। यह समता है। 'अधगो' में मलमूत्र, नरकमें भी मल, पीव आदि। दोनोंसे शुद्धि होती है। एकसे शरीरकी दूसरेसे जीवके कर्मों वा पापोंकी। यह समता है।

दोहा—अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥ १५॥

अर्थ—अहंकार शिव हैं, बुद्धि ब्रह्मा हैं, मन चन्द्रमा हैं और चित्त महत्तत्त्व है वा विष्णु हैं। जड़ चेतनसहित विश्वरूप भगवान् रामचन्द्रने मनुष्यरूपमें निवास किया है। (भाव कि देवताओंकी विनतीपर विश्वरूपसे मनुष्यरूप हुए) ॥१५॥

रा० प्र०—अन्तःकरण चार हैं—मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार उसीको एक-एक करके पूर्वार्द्धमें कहा। ('चर अचरमय' पाठान्तर है)

टिप्पणी १—अहंकार क्रोध है अतः उसे शिव कहा। चित्त महत्तत्त्व है जिससे सब होता है [महान्=आत्मा वा महाविष्णु। (करु०)] २—'मनुज बास०' अर्थात् मनुष्य हैं, इनका चराचरमें निवास है, रूपसे राम हैं। अथवा, मनुजमें जिनका वास है और जिनमें मनुजका वास है जो चराचररूप हैं। ☞ मिलान कीजिये—'**नाभिर्नभोऽग्निर्मुखमम्बुरेतो द्यौः शीर्षमाशा श्रुतिरङ्घ्रिरुर्वी। चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा अहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः॥ भा० १०।६३।३५।**' (रुद्रजी कहते हैं) आकाश आपकी नाभि है, अग्नि मुख, जल वीर्य, स्वर्ग मस्तक, दिशाएँ कान, पृथ्वी चरण, चन्द्रमा मन, सूर्य नेत्र, अहंकाररूप मैं (शिव) आपका आत्मा, समुद्र उदर और इन्द्र आपकी भुजा हैं। (१०।६३)

वै० भू०—'लोक कल्पना वेद कर···। १४।' से 'रूप राम भगवान। १५।' तक।' इति। अथर्ववेदके दशवें काण्डके सातवें सूक्त "**सर्वाधारवर्णनम्" में श्रुति कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधितिष्ठति०।" "कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम्। कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिताद्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः**" आदि ९ मन्त्रोंमें प्रश्न करती है और दसवें मन्त्रसे पूरे सूक्तमें चौंतीस मन्त्रोंमें उत्तर है। इन चौंतीस मन्त्रोंका निष्कर्ष, संक्षेपरूपसे मानसके इस एक दोहेमें रख दिया गया है। इसी तरहके प्रसंगोंको गागरमें सागर कहा जाता है।

नोट—शुकदेवजीने राजा परीक्षित्‌से भगवान्‌का विराट् रूप श्रीमद्भागवत स्कन्ध २ अ० १ श्लोक २३ से ३७ तकमें कहा है। बहुत अंशोंमें मन्दोदरीका विराट्‌रूपवर्णन उससे मिलता-जुलता है। सप्तावरणयुक्त यह ब्रह्माण्ड भगवान्‌का विराट्

शरीर वा विशेष देह है। अध्यात्मरामायण अरण्यकाण्ड सर्ग ९ में कबन्धने गन्धर्व शरीर पानेपर स्तुति करते हुए कुछ ऐसा ही कहा है। यजुर्वेदके ३१ वें अध्यायमें और ऋगवेदमें भी विराट् रूपका वर्णन है। वाल्मी० यु० ११९ में भी अग्निप्रवेश होनेपर देववृन्दने आकर प्रभुके स्वरूपका कथन किया है। पर मानसकथित विश्वरूप भागवतवाले वर्णनसे विशेष मिलता है। भा० स्कंध— १० अ० ६३ में भी कुछ है। मिलान यहाँ दिया जाता है—

मानस		श्रीमद्भागवत (श्लोक)	अध्यात्मरामायण (३।९)
पद पाताल	१	पातालमेतस्य हि पादमूलं (२६)	पातालं ते पादमूलं।३६।
सीस अजधामा	२	सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः (२८)	सत्यलोको रघुश्रेष्ठ शीर्षाण्यास्ते रघूत्तम।३९।
भृकुटि बिलास भयंकर काला	३	तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यम् (३०)	भ्रूभङ्ग एव कालस्ते।४१।
नयन दिवाकर	४	द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतङ्गः (३०)	चक्षुस्ते सविता राम।४१।
कच घनमाला	५	ईशस्य केशान्विदुरम्बुवाहान् (३४)	
जासु घ्रान अश्विनीकुमारा	६	नासत्यदस्रौ परमस्य नासे घ्राणोऽस्य गन्धो (२९)	अश्विनौ नासिके राम।४०।
आनन अनल	७	मुखमग्निरिद्धः—(२९)	वक्त्रं तेऽग्निरुदाहृतः।४०।
निसि अरु दिवस निमेष अपारा	८	पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च (३०)	'निमेषोन्मेषेण रात्रिर्दिवा।४४।
श्रवन दिसा दस	९	कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः (२९)	दिशः श्रुतिः।४०।
मारुत स्वास	१०	अनन्तवीर्यः श्वसितं मातरिश्वा (३३)	
निगम निज बानी	११	'प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वता यस्य सतीं स्मृतिं हृदि। स्वलक्षणा प्रादुरभूत्किलास्यतः स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्'	वाचच्छन्दांसि ते।४२।
अधर लोभ	१२	व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव लोभो (३२)	
जम दसन कराला	१३	दंष्ट्रायमः (३१)	यमस्ते दंष्ट्रदेशस्थः।४२।
माया हास	१४	हासो जनोन्मादकरी च माया (३१)	हासो मोहकरी माया।४३।
बाहु दिगपाला	१५	इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः (२९),	इन्द्रादयो लोकपाला बाहवस्ते।४०।
अंबुपति जीहा	१६	आपोऽस्य तालू रस एव जिह्वा (३०)	
सरिता नस जारा,		नद्योऽस्य नाड्योऽथ	नाड्यो नद्यस्तव।४४।
रोमराजि अष्टादस भारा	१७	तनूरुहाणि महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र (३३)	रोमाणि वृक्षौषधयः।४५।
अस्थि सयल	१८	गिरयोऽस्थिसङ्घाः (३२)	
उदर उदधि	१९	'समुद्रो जठरं'—भा० १०।६३।३५	
उतपति पालन प्रलय समीहा	२०	—१४ (५) में देखिये	
जगमय प्रभुकी बहु कल्पना	२१	'स वै भगवान्पुरुषो लोककल्पः' भा० १०।६३।३६	
अहंकार सिव	२२	आत्मा अहं १०।६३	'रुद्रोऽहंकाररूपस्ते।४२।
बुद्धि अज	२३	विरिञ्चो धिष्णा १०।६३	बुद्धिस्ते वाक्पतिर्भवेत्।४१।
मन शशि	२४	मनश्च स चन्द्रमाः (३४)। चन्द्रो मनो १०।६३	मनश्चन्द्र उदाहृतः।४१।
चित्त महान	२५	'विज्ञानशक्तिमहिमामनन्ति सर्वात्मनोऽन्तःकरणं गिरित्रम्' (३५)	महिमा ज्ञानशक्तिस्ते।४५।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान	२६	वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं मनुर्मनीषा मनुजो निवासः (३६) (सब प्राणी उनका निवास-स्थान हैं।)	

दोहा—असु बिचारि सुनु प्रानपति प्रभु सन बयरु बिहाइ।
प्रीति करहु रघुबीरपद मम अहिवात न जाइ॥१५॥

अर्थ—हे प्राणपति ! सुनिये । ऐसा विचारकर प्रभुसे वैर छोड़कर श्रीरघुवीरके चरणोंमें प्रेम कीजिये, जिससे मेरा सुहाग न जाय ॥ १५ ॥

टिप्पणी—"अस बिचारि" इति । भगवान् रामचन्द्रजीके स्थूल अर्थात् विराट्‌रूपके कथन करनेका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के इस रूपको निश्चित करनेसे मोक्षलक्षणयोग शीघ्र ही प्राप्त होता है । श्रीशुकदेवजीने विराट्‌रूप कथनके आरम्भमें यह कहकर कि **'स्थूले भगवतो रूपे मनः संधारयेद्धिया'** अर्थात् भगवान्‌के स्थूलरूपमें बुद्धिद्वारा मनको लगावे, फिर विराट्‌के अङ्गोंका वर्णन करके अन्तमें बताया है कि चित्तको इस रूपकी धारणामें स्थिर करनेका यह फल है—**"इयानसावीश्वरविग्रहस्य यः सन्निवेशः कथितो मया ते । संधार्यतेऽस्मिन्वपुषि स्थविष्ठे मनः स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किंचित् ॥३८॥ स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः । ते सत्यमानन्दनिधिं भजेत नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः ॥३९॥**

(अ० रा० में भी विराट्‌का वर्णन करके गन्धर्व कबन्धने यही फल कहा है ।)

अर्थात् ईश्वरके विग्रहका इतना सन्निवेश है अर्थात् विराट्‌के स्थूल शरीरका यही स्वरूप है जो मैंने तुमसे कहा है। इस स्थूल शरीरमें मनकी धारणा बुद्धिसे होती है इससे भिन्न कुछ भी नहीं है । वही ईश्वर सबकी बुद्धि-वृत्तियोंका अनुभव करनेवाला है जैसे स्वप्नकी सृष्टिका देखनेवाला एक आत्मा ही है । उसी सत्य आनन्दनिधिका भजन करना चाहिये, अन्यत्र आसक्त न हो; क्योंकि अन्यासक्तिमें आत्माका पतन ही होता है ।

उपर्युक्त दोनों श्लोकोंमें जो भाव है वही पूज्य कविने **'अस बिचारि'** और **'प्रीति करहु रघुबीरपद'** से जनाया है। श्रीकागभुशुण्डिजीने भी गरुड़जीसे यही कहा है कि प्रभुका यह स्वरूप जाननेपर रघुनाथजीके चरणोंमें प्रेम होता है, यथा—**'भुअन अनेक रोम प्रति जासू ।' यह प्रभुता कछु बहुत न तासू ॥ सोउ महिमा खगेस जिन्ह जानी । फिरि येहि चरित तिन्हहु रति मानी ७।२२ ।**, सारांश यह कि मंदोदरीने यह विराट्‌रूप वर्णन किया कि यदि रावण इस महिमाको सुनकर समझेगा तो अवश्य वह विरोधको त्यागकर प्रभुकी शरण हो जायगा । पर उसने इसे हँसीमें उड़ा दिया ।

नोट १—**'सुनहु प्रानपति'** उपक्रम है और **'अस बिचारि सुनु प्रानपति'** उपसंहार । २—**'प्रभु सन बयरु बिहाइ'** का भाव कि ये 'प्रभु अर्थात् समर्थ हैं, समर्थसे वैर उचित नहीं । **'नाथ बयरु कीजै ताही सों । बुधि बल सकिअ जीति जाही सों । दोहा ६।५।'** देखिये । ३—**'प्रीति करहु रघुबीरपद'** इति । पिछली बार भी मंदोदरीकी यही अन्तिम प्रार्थना थी,—**'नाथ भजहु रघुनाथहि अचल होइ अहिवात ॥७॥'** भाव कि सोहाग न जाय इसका एकमात्र यही उपाय है ।

बिहसा नारि बचन सुनि काना । अहो मोह महिमा बलवाना ॥ १ ॥

शब्दार्थ—मोह=कुछका कुछ समझनेवाली बुद्धि ।=प्रेम ।

अर्थ—स्त्रीके वचन कानोंसे सुनकर (रावण) खूब हँसा (और बोला—) अहा ! (क्या ही आश्चर्य है !) मोहकी महिमा बड़ी बलवती है ॥ १ ॥

नोट—१ (क) 'बिहसा' । इससे स्त्रीके वचनोंका निरादर जनाया । हँसकर दिल्लगीमें बात उड़ाता है । मोहका बल देख हँसा कि कैसा बड़ा बलवान् है । [पंजाबीजीका मत है कि यह प्रसन्नताकी हँसी है । वह प्रसन्न हुआ कि मैं उनको परमेश्वर मानकर हठ कर रहा हूँ और इसके वचनसे भी वे परमेश्वर ही सिद्ध होते हैं । करुणासिन्धुजीका मत है कि रावण हँसा कि इतना जानती है तो भी अनित्यको नित्य मानकर संसार-सुखकी चाह करती है, अर्थात् अपने अहिवातके स्वार्थहेतु परमेश्वरकी शीघ्र-प्राप्तिमें बाधा डालती है । यह मोहका प्रताप है] (२) 'सुनि काना' का भाव कि मंदोदरीने विनय की थी **'सुनहु प्रानपति बिनती मोरी'**, अतः रावणने सब सुना । पुनः, 'सुनि काना' से यहाँ मंदोदरीके वचनोंका उपसंहार जनाया; **'सुनहु प्रानपति बिनती मोरी'** १४ (७) उपक्रम है (ग) **"अहो मोह महिमा बलवाना"** इति । **'अहो' इति आश्चर्येण ।** इससे जनाया कि वह विस्मित हो गया कि मोह ऐसा बलिष्ठ है कि मुझ दिग्विजयीकी स्त्रीको भी उसने दबा लिया । [इससे सिद्ध हुआ कि रावण अपनेको मोहित नहीं समझता । (रा० प० प०) मोहकी महिमापर आश्चर्य कहकर सूचित किया कि मोह जीतनेका उपाय रावणको अलभ्य है । (रा० प्र०) महिमा बलवान् है अर्थात् मोहमें मनुष्य अंधा हो जाता है, उसे यथार्थ बात नहीं सूझती । यथा—**'मोह न अंध कीन्ह केहि केही ७।७०।'**

पं०—भाव कि जिसकी आज्ञा चराचरमात्र शिरोधार्य किये है उस (मुझ) त्रैलोक्याधिपतिको यह जीव समझती है और जो मनुष्य है एवं राज्यसे भी जिसका निर्वासन हो गया है और जिसकी आज्ञा केवल वानर मानते हैं उसे वह ईश्वर मानती है।

शु० ला०—'**अहो मोह महिमा०**' का भाव कि देखिये तो कि यह अपने ही मुखसे तो शत्रुका पराजय और मेरा विजय कह रही है। उसपर भी मुझे बलहीन और शत्रुको बलवान् जानती है।

नारि सुभाउ सत्य कबि*कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥ २॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥ ३॥

शब्दार्थ—अनृत=झूठ। चपलता=चंचलता, उतावली। ढिठाई। अबिबेक=सत्-असत्-विचार-रहित।

अर्थ—कवियोंने स्त्रीका स्वभाव सत्य ही कहा है कि उनके हृदयमें आठ दोष सदा रहते हैं॥२॥ साहस, झूठ, चंचलता, माया, भय, अज्ञान, अपवित्रता और निर्दयता॥ ३॥

नोट—'साहस' शब्दके अर्थ और शब्दसागरमें ये दिये गये हैं। (१) वह मानसिक गुण या शक्ति जिसके द्वारा मनुष्य यथेष्ट बलके अभावमें कोई भारी काम कर बैठता है या दृढ़तापूर्वक विपत्तियों तथा कठिनाइयों आदिका सामना करता है। हिम्मत। हियाव। (२) जबरदस्ती दूसरेका धन लेना। (३) दुष्टकर्म। (४) द्वेष। (५) अत्याचार। (६) क्रूरता, बेरहमी। (७) परस्त्रीगमन। (८) बलात्कार। (९) दंड, सज़ा। (१०) जुर्माना।

यहाँ रावण स्त्रियोंके स्वभावके अवगुण कह रहा है। अतएव अर्थ (१), (७), (९) और (१०) से यहाँ कोई तात्पर्य नहीं है। रहे अवगुणसम्बन्धी अन्य अर्थ। इनमेंसे (५) और (६) 'अदाया' में आ गये। अब शेष चार रहे—लूटना,दुष्टकर्म, द्वेष और बलात्कार। इसके अतिरिक्त शब्दसागरमें 'साहसिक' शब्दका यह अर्थ किया है—कर्कश वा कठोर वचन बोलनेवाला, हठीला।' इससे साहसका अर्थ 'कठोर वचन कहना' और 'हठ' सिद्ध होता है। प्रसङ्गानुकूल 'कठोर वचन कहना' और 'हठ' ये दोनों अर्थ जान पड़ते हैं। अन्य टीकाकारोंने 'साहस' शब्दपर अपने विचार प्रकट नहीं किये हैं।

पं०, मा० म० शीला—ये आठों अवगुण रावणने मन्दोदरीमें दिखाये हैं—(१) यद्यपि जानकीजीको न देनेका मेरा निश्चय देख लिया है तो भी पुनः-पुनः देनेको कहती है, यह 'साहस' है। (२) हमारे पावन यशको त्यागकर मनुष्यका यश बराबर कहती है—यह अनृत है। (मा० म०) राम दशरथपुत्र और मनुष्य हैं, उनको ईश्वर कहती है (शीला)। (३) हमारे गुणोंके लक्षणोंको विराटमें कहे, यह चपलता है—(शीला)। कभी हाथ जोड़ती, कभी पैरों पड़ती, कभी गलेसे लगती, क्षण-क्षण अनेक उपाय अभीष्ट-सिद्धिके लिये करती है—यही मुख्य चपलता है। (म० म०)। (४) आँचर पसारती है, कभी रोती है कि मेरा सौभाग्य न रहेगा, कभी शत्रुका बल दिखाकर डरवाती है और कभी उसका विराट् रूप कहकर, इत्यादि।—यह सब माया है। (५) नरवानरोंसे डरती है—यह भय है। (६) मेरा महत्त्व नहीं जानती और मेरे गुण शत्रुमें आरोपण करके मुझे सुनाती है। यह अविवेकका सूचक है। (७)'असौच', यथा—'**सहज अपावनि नारि०**। आ० ५।' (८) अदाया। (क) सीतापर दया नहीं कि जो उसे राजमहल छुड़ाकर तपस्वियोंको देनेको कहती है। मुझपर दया नहीं, मैं उसके द्वारा परमपदको प्राप्त करना चाहता हूँ उससे मुझे रोकती है। (पं० मा० म०)। (ख) जो नर-वानर-भालु निशिचरोंके आहार हैं वे दैवयोगसे राक्षसोंको बैठे भक्षणके लिये मिल गये उन्हें निशिचरोंके पाससे हटा देना चाहती है। इसको निशाचरोंपर दया नहीं। (शीला)।

नोट—'**सत्य कबि कहहीं**।' भाव कि—(१) कवि लोग बहुत झूठ भी लिखते हैं पर यह कविताई न समझो, यह सत्य ही कहा है। (२) मैं पहिले समझता था कि यह झूठ है पर आज तुझमें सब सत्य ही देखकर उनकी सत्यताका निश्चय हो गया। (शीला)।

पं० रा० चं० दूबे (तुलसी ग्रन्थावली);—गुसाईंजीके ग्रन्थ दो दृष्टियोंसे देखे जा सकते हैं। एक महाकविकी कृतिकी और दूसरी विरक्त साधुकी कृतिकी दृष्टिसे। कविदृष्टिसे गुसाईंजीने नारी-चरितका चित्रण किस खूबीसे किया है, उनकी

*कबि—(का०, मा० म०), सब—(भा० दा०)

दृष्टिमें स्त्रीका कितना उच्च स्थान है, महारानी मंदोदरीका चित्र भी उसी उच्चादर्शकी ओर संकेत करता है। रावणको जो कोई समझानेका प्रयत्न करता है, भाई, पुत्र, वृद्ध मन्त्री सभीको कटु वचन सुनने पड़ते हैं, ठोकरें खानी पड़ती हैं; पर जब मयतनुजा वही बात कहती है तब वह सिर्फ हँसकर टाल दी जाती है। एक बार भी कटु शब्दका प्रयोग नहीं होता। यद्यपि महारानी कठोर-से-कठोर शब्दोंका प्रयोग कर डालती है, पर पतिदेव चुपचाप सहन कर लेते हैं।

लंकादहनके पश्चात् लंकेश्वरी पतिको समझाते हुए कहती है—**'तासु नारि निज सचिव बुलाई। पठवहु कंत जो चहहु भलाई॥ सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हे। हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे॥'** इतना ही नहीं, कुछ और भी—**'रामबान अहिगन सरिस निकर निसाचर भेक। जब लगि ग्रसत न तबहिं लगि जतन करहु तजि टेक॥'**

इतना कह डालनेपर भी लंकेश्वर केवल—**'बिहँसा जगत बिदित अभिमानी'** और दो-चार चिकनी-चुपड़ी बातें कह डालीं और फिर **'अस कहि बिहँसि ताहि उर लाई। चलेउ सभा ममता अधिकाई॥'**

श्रीरामचन्द्रजी समुद्र पार कर लंका द्वीपमें पहुँच जाते हैं। **'मंदोदरी सुनेउ प्रभु आयो। कौतुक ही पाथोधि बँधायो॥'** *भावीका चित्र उसकी आँखोंके सामने खिंच जाता है। वह फिर समझानेका प्रयत्न करती है*—**'कर गहि पतिहिं भवनु निज आनी। बोली परम मनोहर बानी॥'** **'तुम्हहिं रघुपतिहिं अंतर कैसा। खलु खद्योत दिनकरहि जैसा॥'**

कैसी फटकार है! जिसकी सभामें—**'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकहिं सकल सभीता।'**, उसीको खल-खद्योत तक कह डाला, और जिस शत्रुको वह तपसी ही कहता रहा और जिसके साहसको—**'भूमि परा कर गहत अकासा। लघु तापस कर बाग बिलासा॥'** समझता रहा, उसीको महारानी दिनकर बताती हैं और वह इस उपदेशामृतको सानन्द सुन रहा है। यहाँतक कह डाला जाता है—**रामहिं सौंपहु जानकी नाइ कमलपद माथ। सुत कहुँ राज समर्पि बन जाइ भजिअ रघुनाथ॥'**

यह तो **'मनहुँ घाव महँ माहुर देई'** वाली बात है। रावणको Abdication राज्याधिकार छोड़ने तकके लिये कहा जाता है। यह लम्बा-चौड़ा व्याख्यान कटुवचनोंसे भूषित महाराज सुन रहे हैं और जब समाप्त हो जाता है—**'तब रावन मय सुता उठाई। कहै लाग खल निज प्रभुताई॥ सुनु तैं प्रिया बृथा भय माना। जग जोधा को मोहि समाना॥'** इतनी बड़ी कड़ी बातें सुननेपर भी महारानी वही 'प्रिया' है। इसको स्त्रीका आदर कहा जाय या अनादर, पाठक स्वयं विचार लें।

तीसरी बार मंदोदरी फिर एक लम्बा-चौड़ा उपदेश दे डालती है और उसमें शत्रुका और भी विकट बखान करती है। यह उस समयका वर्णन है जब लंका-शिखरपर महफ़िल जम रही है, नाचरंग हो रहा है और रघुनाथजीने—**'छत्र मुकुट ताटंक सब हते एक ही बान। सबके देखत महि परे मरम न कोऊ जान॥'** पर इस बार लंकापति—**'बिहँसा नारि बचन सुनि काना। अहो मोह महिमा बलवाना॥ जानेउँ प्रिया तोरि चतुराई। एहि मिस कहेउ मोरि प्रभुताई॥ तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भयमोचनि॥'**

महारानीकी लम्बी-चौड़ी बातोंको मज़ाक़में उड़ा दिया जाता है। इसी उत्तरमें लंकाधिपति कुछ स्त्रीचरितके विषयमें भी कह डालते हैं—**'नारि सुभाव सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥ साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥'**

गुसाईंजीके द्वारा स्त्रियोंकी जो निन्दा की गयी है, उसकी पुष्टिमें यह भी एक प्रमाण पेश किया जाता है। यह किसी संस्कृत श्लोकका अनुवाद है।

असत्यं साहसं माया मात्सर्यं चातिलुब्धता। निर्गुणत्वमशौचत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥ *

पर इस निन्दाके असली कर्ताका नामतक नहीं लिया जाता, और बेचारे गुसाईंजीके माथे सारा दोष मढ़ा जाता है! सच पूछिये तो कविने इसको ऐसे स्थानमें जड़ दिया है जिससे इसकी भयंकरता लुप्तप्राय हो गयी है और इसमें केवल परिहास-की छटा रह गयी है। अंग्रेजी कवि 'स्काट' ने इससे भी अधिक निन्दा की है।

* 'अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता। अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥१॥ (सु० र० भ० स्त्रीस्वभावनिन्दा)

एक बार फिर मन्दोदरी समरानलको भभकनेसे रोकनेका प्रयत्न करती है और इस बार ऐसी जली-कटी सुनाती है कि हद हो गयी। श्रीबालिकुमार अङ्गदजी अपना दूतकार्य कर बिदा होते हैं। लंकेश्वर अन्तःपुरमें पधारते हैं और उनका मधुर शब्दोंसे स्वागत होता है—**'कंत समुझि मन तजहु कुमतिही। सोह न समर तुम्हहिं रघुपतिही॥'''** इत्यादि। कैसे कड़े शब्द हैं। पर लंकापति इनको चुपचाप सुन लेते हैं, करारी-करारी बात होनेसे कुछ उत्तर नहीं बन आता। उसको ये शब्द कड़वे जरूर लगते हैं, लेकिन फिर भी उस नीतिका अवलम्बन नहीं करता जिसमें गुसाईंजीने कहा है—

ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥

न 'Ajax' (एजैक्स) के समान यही आज्ञा दी जाती है, Silence 'बस चुप'। इसके विपरीत लंकेश्वर—**'नारिबचन सुनि बिसिख समाना। सभा गएउ उठि होत बिहाना॥'**

कैसा जब्त है! यहाँपर भी स्त्रीजातिके प्रति उच्च आदरका ही भाव झलकता है।

वे० भू०—**'नारि स्वभाव सत्य कबि कहहीं।'** इति। शुक्ल यजुर्वेदकी माध्यन्दिनशाखाकी वाजसनेयि-संहिताके चालीसवें अध्यायके आठवें मन्त्रमें **'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः।'** आदि कहकर ब्रह्मको कवि कहा है। ब्रह्मका कथन वेद है। अभी-अभी मन्दोदरीने भी **'निगम निज बानी।'** कहा ही है। 'रावण वेदोंका पंडित था।' ऐसी ख्याति विद्वत्संसारमें व्याप्त है। अतः यहाँ रावणके **'कवि कहहीं'** का अभिप्राय प्राकृत कवियों एवं वेद दोनोंसे हो सकता है। वेदमें स्त्रियोंके गुण, अवगुण दोनोंका प्रचुर वर्णन पाया जाता है। यहाँ रावण अवगुणका वर्णन कर रहा है। अतः वेदकथित कुछ प्रमाण दिये जाते हैं—(१) **गूहन्ती तमो ज्योतिषोषा अबोधि। अग्रएति युवतिरह्रयाणा।** (ऋग्वेद ७। ८०। २)। (२) **सा बृकीरश्विना वृषणा नरेति।** (ऋ० १ ।११७। १८)। (३) **अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः। पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनतागभीरम्॥** (ऋ० ४। ५। ५)। (४) **अरे मत् रहसूरिवागः।** (२। २९। १) (५) **कुहस्विद् दोषा कुहवस्तोरश्विना कुहाभिपित्वंकरतः कुहोषतुः।** (ऋ० १०। ४०। २ पूरासूक्त १४ मन्त्र)। (६) **गोष्ठं गाव इवाशत।** (ऋ० ८। ४३। ४)। (७) **एषस्य मानुषीष्वा श्येनो न विक्षुसीदति। गच्छन् जारो न जोषितम्॥** (९। ३८। ४) (८) **योषा जारमिव प्रियम्। अगन्नार्जि यथाहितम्॥** (ऋ० ९। ३२। ५) (९) **सरज्जारो न जोषणां वरो न योनिमासदम्॥** (९। १०१। १४) (१०) **युवेहि मक्षा पर्यश्विना मध्वोसा भरत निष्कृतं न योषणा॥** (ऋ०-१०। ४०। ६) (११) **पुरूरवो मा मृथा मा प्रपप्तो मा त्वा बृकासो अशिवास उक्षन्। न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता॥** (ऋ० १०। ९५। १५)। (१२) **यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते। प्रजायंस्ते जिघांसति तमितो नाशयामि॥** (ऋ० १०। १६२। ५) (१३) **मोघसंहिता एव योषा०।** (शतपथ ब्राह्मण ३।२।४।६)। श्रीगोस्वामीजीपर नारी-निन्दाका दोषारोपण करनेवाले स्वयं समयनोचक (समालोचक) पंडितम्मन्य जनोंको चाहिये कि इन वेदमन्त्रोंको ध्यानपूर्वक देखें।

☞ 'गोस्वामीजी और नारिजाति' के विषयमें कुछ लेख अ० २८५, आ० २८ (१—३), ३। २९ (७।११), ३। ४४, और सुं० दोहा ५९ (६) इत्यादि में दिये जा चुके हैं, पाठक वहाँ देख लें।

रिपु कर रूप सकल तैं गावा। अति बिसाल भय मोहि सुनावा॥ ४॥
सो सब प्रिया सहज बस मोरे। समुझि परा प्रसाद अब तोरे॥ ५॥
जानिउँ प्रिया तोरि चतुराई। एहि बिधि* कहेउ† मोरि प्रभुताई॥ ६॥

अर्थ—तूने शत्रुका अत्यन्त बड़ा (विराट्) समग्र रूप विस्तारसे कहकर मुझे बहुत बड़ा डर सुनाया॥ ४॥ हे प्रिये! वह सब स्वभावसे ही मेरे वशमें हैं। अब तेरी कृपासे मुझे समझ पड़ा॥ ५॥ हे प्रिये! तेरी चतुरता मैं समझ गया। तूने इस बहाने, मेरी प्रभुता कही है॥ ६॥

टिप्पणी—**'सब सहज बस मोरे।०'** क्योंकि वरुण, कुबेर, यम, अग्नि, काल, इन्द्र, चन्द्रमा, शिव, ब्रह्मा ये ही

* 'एहि मिस' पाठान्तर है। † कहहु—गी० प्रे०।

सब तुमने शत्रुके अङ्ग बताये, सो ये सब मेरे वशमें हैं ही—दोहा ७ (२) देखिये। मैं यह न जानता था कि ये सब शत्रुके अङ्ग ही हैं, अब तुम्हारी कृपासे जान पड़ा।

पं०—'**समुझि परा अब**'। तात्पर्य कि गम्भीर स्वभावके कारण मैं अपने गुणोंकी ओर दृष्टि नहीं करता था, तेरे कहनेपर जाना। 'प्रसाद' पद सम्मान, हेतु है। अथवा, भाव कि जिसका विराट्‌रूप मेरे अधीन है उसके मनुष्यतनको दीन कर देना क्या बड़ी बात है?

पं०, मा० म०—'**एहि बिधि०**'। भाव कि मुखपर प्रशंसा करना अनुचित है, लोग खुशामदी कहते हैं। अतः यह उचित है कि किसीकी ओटसे प्रशंसा करे। बस इसी कारण तूने विराट्‌के रूपके मिष मेरी प्रशंसा की। यही तेरी चतुराई है—[वीर—यहाँ रावणको अभीष्ट तो है मन्दोदरीकी बात उड़ाना, उसको बहानेसे पलटकर कार्यसाधनका प्रकार इच्छानुसार वर्णन करना, 'द्वितीय पर्यायोक्ति अलंकार' है।]

तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भयसोचनि* ॥ ७ ॥
मंदोदरि मन महुँ अस ठयऊ। पिअहि काल बस मति भ्रम भयऊ ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—ठयऊ=ठाना, निश्चय किया, दृढ़ संकल्प किया। यथा—'**जब ते कुमत कुमति जिय ठयऊ**' (अ०)।

अर्थ—हे मृगनयनी! तेरी 'बतकही' (वाणी) गूढ़ (छिपी हुई, शीघ्र जो न समझमें आ सके, गम्भीर भावयुक्त) है। समझनेमें सुख देनेवाली और सुननेसे भयकी सूचना देनेवाली है ॥ ७ ॥ मन्दोदरीने मनमें ऐसा निश्चय कर लिया कि पतिको मृत्युवश भ्रम हो गया है। ('**सो सब प्रिया सहज बस मोरे**', यही बुद्धिका भ्रम है) ॥ ८ ॥

शीला—'**मृगलोचनि**' सम्बोधनके दो हेतु हैं। एक तो मृगके समान सुन्दर बड़े-बड़े नेत्रवाली जनाया। दूसरे, भाव कि मृगके नेत्र भ्रमयुक्त होते हैं; इसीसे वे '**रविकर बारि**' (मृगतृष्णा) को जल जानकर प्यासके मारे दौड़ते हैं यथा—'**कहिं न जाइ मृगबारि सत्य भ्रम तें दुख होइ बिसेषे**। वि० १२१', **मृग भ्रम बारि सत्य जल जानी** ॥ वि० १३६ ॥'। वैसे ही तुझे औरका और सूझता है।—[मृगीकी चितवनमें भय भी होता है, यथा—'**चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत**। १। २२९ ॥' मन्दोदरीको सुहागका भय है।]

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—यहाँ '**भय सोचनि**' पाठ है, '**भय मोचनि**' नहीं है। सबसे प्राचीन प्रति मानसकी जो श्रीकाशिराजके पुस्तकालयमें है उसमें '**भय सोचनि**' पाठ है। मेरा स्वयं अपनी आँखका देखा हुआ है। '**भय सोचनि**' का अर्थ है 'भयकी सूचना देनेवाली है।' '**सूचनि**' का तद्भव रूप '**सोचनि**' है, जैसे '**धुरी**' का '**धोरी**' रूप हो जाता है। सुखद और भयमोचनि एक ही बात है। इसमें गूढ़ताका स्पर्श भी नहीं है। गूढ़ता दिखानेके लिये लोगोंने जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाये हैं, फिर भी व्याख्या प्रसङ्ग-विरुद्ध पड़ जाती है। यहाँ सीधा-सा अर्थ है, रावण कहता है कि '**हे मृगलोचनि!** तुम्हारी बतकही गूढ़ है, यदि समझें तो सुखद है, और सुननेमें डरावनी है। '**रिपु कर रूप सकल तैं गावा। अति बिसाल भय मोहि सुनावा**', यह तो सुनत भयसोचनि है, और '**सो सब प्रिया सहज बस मोरे। समुझ परा प्रसाद अब तोरे**' यह 'सुखद' है। यही गूढ़ता है कि बात सुननेमें डरावनी हो, और समझें तो उससे सुख मिले। रावण कहता है कि जब '**पद पाताल सीस अजधामा**' यही शत्रुका रूप है, तो ये सब तो मेरे वशमें हैं, इन्हें मैं जीत चुका हूँ। तेरे प्रसादसे मैंने समझ पाया कि शत्रुको तो मैं पहिलेसे ही जीते बैठा हूँ, अब जीतनेमें क्या रक्खा है।

नोट—विचार करनेसे मुझे श्रीत्रिपाठीजीका मत समीचीन जान पड़ता है। इसीसे इस संस्करणमें 'सोचनि' पाठ हमने दिया है। 'मोचनि' पाठ प्रायः अन्य सभीमें है, इसलिये उसके भाव भी दे दिये हैं, जो प्रथम संस्करणमें छपे थे।

पु० रा० कु०—१ '**समुझत सुखद''मोचनि**' इति। भाव कि तुमने श्रीरामके गूढ़ स्वरूप-कथनद्वारा हमें यह जनाकर कि यह मेरा ही स्वरूप है अत्यन्त निर्भय कर दिया और मुझे सुख दिया। परमार्थ-पक्षमें भी समझनेमें सुखद और सुननेसे भयमोचन है। २—कालवश भ्रम हो गया, यथा **गीतायाम् 'स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्**

* भवसोचनि—काशिराजकी प्रति। भयमोचनि—अन्यमें।

प्रणश्यति'। ३—बुद्धिभ्रमका चिह्न देखकर अनुमानबलसे रावणको ध्रुव कालवश समझना 'अनुमान प्रमाण अलङ्कार' है। रावणके 'गूढ़' शब्दमें श्लेषकी ध्वनि है कि भगवान्‌के बाणोंसे मेरी मृत्यु होगी, यह समझनेसे सुखदाई है और परमात्माके हाथसे मारे जानेपर संसारका भय दूर होगा, यह भय छुड़ानेवाला है।—[करु०—एकपाद विभूति भयानकरस वर्णन किया, अतः 'गूढ़' कहा। मंदोदरी उसकी गूढ़ वाणी न समझी] 'बतकही'—बा० ९(१) बा० २३१, में देखिये।

पं०—(१) तात्पर्य यह कि तूने जो समझ लिया है कि मेरा पति ऐसा है इससे तुझको सुख है और जो मेरा प्रभाव सुनेंगे वे भी रामचन्द्रके भयसे निश्चिन्त हो जायँगे। पुनः, (२) भगवत्-पक्षमें अर्थ यह है कि जो प्रभुके समष्टि शरीरको समझते हैं उनकी व्यष्टता मिटकर उन्हें सुख होता है और जो सुनते हैं उनके नरकादि भय निवृत्त हो जाते हैं।

दो०—एहि बिधि करत बिनोद बहु प्रात प्रगट दसकंध*।
सहज असंक सुलंकपति† सभा गएउ मद अंध ॥१६॥
सो०—फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरुख हृदय न चेत जौं गुर मिलहिं बिरंचि सिव‡ ॥१६॥

शब्दार्थ—विनोद=हँसी, क्रीड़ा। मदअन्ध=अभिमान वा गर्वके कारण अंधा।

अर्थ—इस प्रकार बहुत हँसी-दिल्लगी करते सबेरा हो गया। स्वभावसे ही निडर लङ्कापति मदान्ध सभामें गया। यद्यपि मेघ जल बरसते हैं तो भी बेत फूलता-फलता नहीं। मूर्खके हृदयमें चेत (ज्ञान) नहीं होता चाहे ब्रह्मा और शिव ही उसे गुरु (क्यों न) मिल जायँ ॥ १६ ॥

टिप्पणी—बिरंचि वेदोंके कर्ता और शिव ज्ञानके स्वरूप हैं। यद्यपि यहाँ विष्णुको नहीं कहा तथापि 'बिधि हरि हर' इन तीनोंका सहचारित्वधर्म है, इससे विष्णुका भी ग्रहण होता है। गुरुदेवके विषयमें त्रिदेवत्व कथन है, यथा—**'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः'** अतएव 'विष्णु' का भी यहाँ ग्रहण होगा।

मा० हं०—यह देखने योग्य है कि मन्दोदरीके उपदेशका परिणाम इस सोरठेमें कैसी मार्मिक रीतिसे दर्शाया गया है।

मा० म०—भाव कि जब श्रेष्ठगुरु ईश्वर हार जाते हैं और मूर्खको उपदेश नहीं लगता तब स्त्री क्योंकर उपदेश करके जीत सकती है।

रा० बा० दा०—बिरंचिका रावण पनाती है और शिव गुरु वा इष्टदेव हैं। अतएव इन दोनोंका उपदेश देना स्वाभाविक ही है। विनयमें कहा भी है—**'संभु सेवक जानि जग बहु बार दियो दससीस। करत रामबिरोध सो सपनेहु न हटक्यो ईस॥ और देवन्हकी कहा कहो सब स्वारथहिके मीत।'** इन्हीं दोनोंने इसे आदिमें वरदान दिये हैं अतः यहाँ 'बिरंचि सिव' दोनोंको कहा।

वीरकवि—उत्तरार्द्ध उपमेय वाक्य है और पूर्वार्द्ध उपमान वाक्य है। 'फूलना फलना' और 'न चेत होना' दोनोंका एक धर्म समानार्थवाची शब्दोंद्वारा प्रकट करना 'प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार' है।

'तुलसीदासजीकी उक्तियोंमें प्रकृतिपर्य्यवेक्षणकी प्रतिकूलता'

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र 'मुकुन्द' 'साहित्यरत्न'—बाबू श्यामसुन्दरदासजीने अपने 'साहित्यालोचनमें कविताका विवेचन' करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजीके इस सोरठेमें प्रकृति-पर्यवेक्षणकी प्रतिकूलता बतलायी है। बाबूसाहबका कहना है कि 'बेत जरूर फूलता-फलता है पर इसमें प्रदर्शित किया गया है कि वह फूलता-फलता नहीं। इसकी समालोचना

* बहु बिधि जलपेसि सकल निसि प्रात भये दसकन्ध।—(का०)। † लंकपति—(भा० दा०), सुलंकपति—(का०)। ‡ सत (का०, मा० म०)। सम—भा० दा० १७६२। शिव—छ०, १७२१।

श्रीयुत कालीप्रसादसिंह चौधरीजीने 'माधुरी' की विगत वर्षीया नवीं संख्यामें उपर्युक्त शीर्षकद्वारा की है। चौधरी-साहबका कहना है कि 'सोरठेका वेत शब्द 'वियत' का विकृत रूप है जिसके अर्थ आकाशके होते हैं। आकाश सचमुच फूलता-फलता नहीं। यही भाव तुलसीदासजीका था'।

अब पं० धनेश्वरप्रसाद पाठकजीने श्रावणकी 'कविकौमुदी' में चौधरी साहबके लेखकी समालोचना की है। पाठकजीका कहना है कि "तुलसीदासजीने ऐसा क्यों लिखा? यह कहा नहीं जा सकता। क्योंकि वेतके फूलने-फलनेके भी दृष्टान्त मौजूद हैं और न फूलने-फलनेके भी।...यदि तुलसीदासजीने लिख दिया कि 'फूलहिं फलहिं न बेत' तो यह उनकी गलती नहीं—प्रकृतिहीने उन्हें भुलावा दिया।"

किन्तु खेदके साथ कहना पड़ता है कि तीनों सज्जन कुछ भूलपर हैं। लोग तुलसीदासजीको और उनकी बातोंको समझनेका प्रयत्न न करके बिना सोचे समालोचना ही करनेपर उतारू हो जाते हैं। लोगोंसे यदि पूछ-ताछ की जाती, तो ये लोग समझ जाते कि तुलसीदासजी जो कुछ कह गये हैं वह कहाँतक ठीक है। तुलसीदासजीने यह भूल की है या उसके समालोचक भूल कर रहे हैं। यह तभी ज्ञात हो सकता है जब समालोचकगण तुलसीदासजीकी बातोंपर बारम्बार विचार करें। साथ ही उनके समय और उनकी परिस्थितिका भी ध्यान रखें।

वस्तुतः 'वेत' दो प्रकारके होते हैं। १—'जलवेत' २—'स्थलवेत'। 'जल-वेत' जिसे संस्कृतमें 'अम्बु-वेतस्' कहते हैं, नदियों या तालाबोंके किनारेपर होता है। यह फूलता-फलता है। किन्तु 'स्थल-वेत' जिसे संस्कृतमें 'वंजुल' कहते हैं, यह पर्वतोंपर होता है, फूलता-फलता नहीं। तुलसीदासजी चित्रकूटमें रहते थे, वे बराबर ऐसे ही वेत देखते रहे, जो कभी फूलता फलता ही नहीं। अतएव यदि उन्होंने ऐसा लिखा तो ठीक लिखा, कुछ बुरा नहीं किया। फिर तुलसीदासजी 'वेत' के लिये जलदकी आवश्यकता बतलाते हैं। वह 'जल-वेत' ('जो फूलते-फलते हैं) के लिये कैसे सुसङ्गत होगी? क्योंकि नदी या सरोवरके किनारे रहनेके कारण इनकी प्यास तथा अन्य आवश्यकताओंकी पूर्ति तो नदी या सरोवरसे हो ही जायगी। इनके लिये जलद' बरसे या न बरसे, दोनों ही बराबर हैं। रहे 'स्थल-वेत' (जो फूलते-फलते नहीं) सो इन्हें अपनी जीवनरक्षाके निमित्त चातककी भाँति जलद-जीवत (जल) की आवश्यकता रहती है।

फिर तुलसीदासजीने ही ऐसा लिखा है सो बात नहीं है। फारस देशका प्रसिद्ध कवि, गुलिस्तां-बोस्तांका लेखक शेखशादी (शीराजी) भी ऐसा ही लिख गया है जो तुलसीदासजीसे ३०० वर्ष पहले हुआ था। शेखसादी लिखता है—

अब्र गर आबेज़िन्दगी बारद। हरगिज़ अज़ शाखे बेद बर न खुरी॥ *

शेखसादीका शेर पढ़नेसे ज्ञात होता है कि तुलसीदासजीने तो ठीक उसका अनुवाद ही कर दिया है; पर तुलसीदासजीने अनुवाद नहीं किया है, अपने अनुभवसे लिखा है। सादी अलबुर्जके पहाड़ोंको नित्य देखता था जिसमेंके पैदा हुए 'बेत' फूलते-फलते न थे। अतएव उसने भी 'वेत' का न फूलना-फलना लिखा। भिन्न-भिन्न देशके पर्वतवासी दो कवियोंने एक ही बातका अनुभव किया और उसे लिखा। दोनोंके भाव टकरा गये।

केवल वेतमें ही 'जल-वेत' और 'स्थल-वेत' दो भेद हों या इसीमें 'फूलने-फलने' और 'न फूलने-फलने' का भेद पाया जाय, ऐसी बात भी नहीं है। और भी बहुत-सी वस्तुओंमें ऐसे भेद पाये जाते हैं। जैसे 'कमल' कहनेसे सरोवर या नदीमें पैदा होनेवाले कमलका ही सबको बोध होता है किन्तु स्थलकमल भी होता है जो जल-कमलकी अपेक्षा बड़ा होता है, इसका भी वर्णन लोगोंने किया है। इसमें फल (कमलगट्टा) नहीं होता।

इसी प्रकार अशोकवृक्षके भी कई भेद हैं। एक फूलता-फलता है और एक केवल फूलता है, फलता नहीं। और भी बहुत-से वृक्षोंमें इस प्रकारके भेद पाये जाते हैं। कवि जिसका जैसा अनुभव करेगा वैसा ही लिखेगा। उसको दोष देना भूल है।

ऊपरकी बातोंसे पाठकगण समझ गये होंगे कि न तो 'वेत' शब्द 'वियत' शब्दका विकृतरूप है और न तो तुलसीदासजीने 'रामचरितमानस' में 'फूलहि फलहि न बेत' लिखकर कुछ भूल की है। ऐसा लिखना उनके लिये स्वाभाविक

* अर्थ—यदि बादल आबेहयात (अमृत) भी बरसे तो भी वेतवृक्षसे फल कदापि खानेको न मिलेगा।

था और ऐसा उन्होंने लिखा तो बहुत ठीक लिखा। क्योंकि जिस बातको हम प्रत्यक्ष देखते हैं उसका वर्णन यदि यथातथ्य करें तो इसमें हम दोषके भागी नहीं, बल्कि स्पष्टवक्ता कहे जायँगे।

अस्तु; गोस्वामी तुलसीदासजीके समालोचकोंने उन्हें और उनकी बातोंके समझनेमें भूल की है न कि यह भूल तुलसीदासजीकी है। मैं आशा करता हूँ कि अब सब लोगोंका भ्रम दूर हो जायगा। फिर भविष्यमें समालोचक-युवक इस विषयपर व्यर्थ ही दिमाग-पच्ची करके ऊटपटांग अर्थ निकालनेका प्रयत्न न करेंगे, क्योंकि इस प्रकारके बुद्धिविलाससे साहित्य-हत्या ही होती है, किसी प्रकारका लाभ नहीं होता और बेचारे पढ़नेवाले भी भ्रममें पड़ जाते हैं। उन्हें यह निश्चय ही नहीं होने पाता कि किसकी बात ठीक है।—(कविकौमुदी वर्ष १ संख्या ८। ९)

वे० भू:—कोषोंमें वेत शब्दके कई पर्याय बतलाये गये हैं! कई वर्ष पूर्व माधुरीमें किसी कोषका यह दोहा प्रकाशित हुआ था—**'वेत कहत आकाश को वेत कहत पाखान। वेत वेंत तृण को कहत वेत कहत हैं पान॥'**

यहाँ 'फूलै फलै न वेत' में आकाशका तो ग्रहण नहीं है क्योंकि आधार नहीं, असम्भवमें सम्भव संघटित नहीं, अभूतपूर्वको तत्त्वतः (निश्चित-रूपेण) कथन नहीं किया जाता है। इसीलिये पाषाणका भी ग्रहण नहीं है और वेत तृणको फूलते हुए आज भी देखा जा सकता है। अतः यहाँ वेतसे तात्पर्य 'पानकी लता' से है क्योंकि उसमें कभी भी फूल-फल नहीं होता। देवीपाटनवाले तुलसीदासजी [द्वितीय] रचित प्रश्नोत्तररूपसे दो दोहे पानके अर्थको पुष्ट करते हैं! पानकी लता सदैव हरी रहती है। उसके थालेमें बराबर पानी भरा रखा जाता है; ऊपर एवं चारों तरफसे टट्टर बंद ऐसा छप्पर छाया रहता है कि सूर्य-चन्द्रमाकी किरणें उसे साक्षात् स्पर्श नहीं कर सकती हैं और समय-समयपर नीम, महुआ आदिकी खली खादरूपमें दी जाती है। इन्हीं सब बातोंको एकत्र करके प्रश्नोत्तर किया गया है। वे दोहे ये हैं—**"हरी वेल छाया घनी पानी रेलापेल। कबहूँ नहि फूलै फलै कहि मत नागरबेल॥ संगति कीनी खलन की रविशशि सो नहि हेत। तुलसी याही कारणे फूलै फलै न बेत॥"** (तुलसीवाणी)

इस प्रश्नोत्तर रूपमें वेत शब्दसे पान [नागरवेल ताम्बूल] की लताका ही ग्रहण किया गया है। और इस जिज्ञासित सोरठेका वेत शब्द सर्वथा पानमें ही संघटित होता है क्योंकि सभी लताएँ फूलती तो हैं ही, कोई-कोई लताएँ फलती भी हैं परन्तु पानकी लता फूलने-फलनेवाली वस्तु होकर भी कभी फूलती-फलती नहीं। यहाँपर यह अर्थ बिना खींचा-तानीके परिष्कृत है, वेत तृण लताको बिना फूलनेवाली कहना तो सरासर सत्यका गला घोटना है। अतः इस सोरठेमें वेतका अर्थ पान ही समीचीन है।

पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी—फूल, फूल-पद-वाच्य तब होता है, जब उसमें सुगन्ध हो, मनोहरता हो, और फल, फल-पदवाच्य तब होता है, जब वह खाने योग्य हो। वनस्पतिशास्त्रके ज्ञाता भले ही भड़भाँड़के पेड़के फूलको फूल मान लें और मदारके फलको फल मान लें, परन्तु कविका हृदय तो ऐसे फूल और फलकी गिनती फूल-फलमें नहीं कर सकता। ठीक ऐसा ही पद हम 'गुलिस्ताँ' में पाते हैं, यथा—**'अब्र गर आबे जिन्दगी बारद। हरगिज़ अज़ शाखे बेद बर न खुरी॥'** अर्थ—यदि मेघ अमृतकी वर्षा करे तो भी बेंतकी शाखासे फूल नहीं खा सकता। यहाँ खुरी (खा सकता) शब्दने बातको बहुत स्पष्ट कर दिया कि फलसे यही अभिप्राय है कि जो किसी कामका हो। चाहे जल-बेंत हो चाहे, स्थल-बेंत हो, उसके फल-फूल फल-फूलकी गिनतीमें आने लायक नहीं हैं। यहाँपर भी 'मूरख हृदय न चेत' आगे चलकर कहते हैं, तो क्या इसका अर्थ यह किया जायगा कि मूर्ख मूर्छित रहता है? चेत तो उसको भी रहता है, पर वह चेत किसी कामका नहीं। अतः पाण्डित्य प्रदर्शनके लिये निष्प्रयोजन बालकी खाल निकालना उचित नहीं है।

नं० प०—मन्दोदरीने श्रीरघुनाथजीका ऐश्वर्य रावणको बहुत समझाया, परन्तु रावणको भ्रमवश उलटा समझ पड़ा कि हमारा ही ऐश्वर्य इस बहाने कहा है। उसीपर ग्रन्थकारने बेतकी उपमा दी। अमृतकी वर्षा होनेपर भी बेत न फूले न फले, क्योंकि बेतका स्वभाव ही फूलने-फलनेका नहीं है। 'जिसके हृदयमें अज्ञान निश्चय हो गया है उसीको मूर्ख कहते हैं।' श्रीरामजी ब्रह्म हैं पर रावणको भूप निश्चय हो गये हैं, अतः उसे मूर्ख कहा। मूर्खके हृदयमें चेत होनेका गुण नहीं है अतः ब्रह्माके उपदेशसे भी उसके हृदयमें ज्ञान उत्पन्न हो नहीं सकता।

बेतका अर्थ आकाश नहीं हो सकता; क्योंकि जिसमें फूल-फल लगनेका आकार है, उसीके लिये कहा जायगा कि फूल-फल नहीं लगा है। जिसमें फूल-फल लगनेका आकार ही नहीं है उसके लिये फूल-फल लगना क्यों कहा जायगा ? जैसे आकाशमें फूल-फल लगनेका आकार ही नहीं है तब उसमें फूल-फल लगनेकी उपमा क्यों दी जायगी कि फूल-फल नहीं लगेगा। जैसे मूर्खका आकार चेत होनेका है, वह मनुष्य है और मनुष्यहीमें चेत होता है; पर मूर्खको चेत नहीं होता। वैसे ही बेतमें फूल-फल लगनेका आकार है, क्योंकि बेत वृक्ष है और वृक्षकी ही लतामें फूल-फल लगता है, परन्तु बेतमें फूल-फल नहीं लगता। अतः आकाश अर्थ अयोग्य है। यदि कहो कि 'फूलइ नभ बरु बहु बिधि फूला' तो मानसमें ही कहा है तो उत्तर यह है कि यह वचन भी आश्चर्यजनक है। 'बरु फूलै' का भाव ही यह है कि आकाशमें फूल-फल नहीं लगता। अतः यह प्रसङ्ग भी असम्भवतासूचक होकर आकाशमें फूल न होनेकी ही पुष्टि करता है, इसलिये बेतका अर्थ आकाश करना सर्वथा असंगत है।

"सेतु बाँधि कपिसेन जिमि उतरी सागर पार"—प्रकरण समाप्त हुआ।

"गयउ बसीठी बीरबर जेहि बिधि बालिकुमार"—प्रकरण

इहाँ प्रात जागे रघुराई। पूछा मत सब सचिव बोलाई॥ १॥
कहहु बेगि का करिअ उपाई। जामवंत कह पद सिरु नाई॥ २॥

अर्थ—यहाँ प्रातःकाल रघुनाथजी जगे। सब मन्त्रियोंको बुलाकर सलाह पूछी—॥ १॥ शीघ्र कहिये कि क्या उपाय करना चाहिये। चरणोंमें मस्तक नवाकर जाम्बवन्तजी बोले॥ २॥

नोट—१ "इहाँ प्रात जागे रघुराई।०" इति। (क) 'इहाँ'—११ (१) देखिये। (ख) 'रघुराई' कहकर मन्त्र पूछना कहनेका भाव कि रघुवंशी राजा नीतिनिपुण होते हैं, अतः मन्त्रियोंसे पूछते हैं। यथा—'**बोले बचन नीति-प्रतिपालक। सुं० ५०।**' (ग) 'सब सचिव'—सुग्रीव, विभीषण, हनुमान्, जाम्बवान्, अङ्गद, शरभ, परिवारसहित सुषेण, मैन्द, द्विविद, गज, गवाक्ष, कुमुद, नल और पनस। यथा—"**नरवानरराजानौ स तु वायुसुतः कपिः। जाम्बवानृक्षराजश्च राक्षसश्च विभीषणः॥ १॥ अङ्गदो बालिपुत्रश्च सौमित्रिः शरभः कपिः। सुषेणसहदायादो मयन्दो द्विविदेव च॥ २॥ गजो गवाक्षः कुमुदो नलोऽथ पनसस्तथा। अमित्रविषयं प्राप्ताः समवेताः समर्थयन्॥ ३॥** (वाल्मी० ३७)" सब दीपदेहरी है।

२ 'कहहु बेगि का करिअ उपाई।छ' इति। (क) 'बेगि' का भाव कि अब तो शत्रुपुरीमें भी आ गये, अब शत्रुसंहारमें देर करनेका प्रयोजन क्या ? फिर शत्रुके बीचमें पहुँचकर असावधान भी न रहना चाहिये—पृष्ठ ११ 'अब बिलंबु केहि काम' मं० सो० १ देखिये।—(ख) 'का करिय उपाई' अर्थात् किस प्रकार कार्य सिद्ध करना होगा।—'**कार्यसिद्धिं पुरस्कृत्य मन्त्रयध्वं विनिर्णये**' (वाल्मी० ३७। ५)। (ग) पुनः भाव कि साम, दान, दण्ड और भेद—इन चार उपायोंमेंसे कौन करें—'**सामो दामः दण्डभेदमित्युपायचतुष्टयम्**' (पु० रा० कु०)।

३ "जामवंत कह पद सिरु नाई"। पां०—रघुनाथजीने सब मन्त्रियोंको बुलाकर सबसे पूछा। सबसे पहले जाम्बवन्तके बोलनेका भाव कि श्रीरामजीके तीन मन्त्री मुख्य हैं, जिनमेंसे सुग्रीवका मत विभीषण-शरणागति और विभीषणका समुद्र पार होनेके सम्बन्धमें हो चुका है, यथा—'**कह प्रभु सखा बूझिए काहा। कहइ कपीस सुनहु नरनाहा॥ सुं० ४३। ५।**', '**केहि बिधि तरिय जलधि गंभीरा।**…**कह लंकेस सुनहु रघुनायक॥ सुं० ५०। ५। ७।**', अब जाम्बवन्तकी बारी है। अतः वे प्रथम बोले। (जाम्बवन्तके मतका सबने समर्थन किया, इस तरह सबका मत आ गया)।

सुनु सरबग्य सकल उरबासी*। बुधि बल तेज धर्म गुनरासी॥ ३॥

* गुनरासी। सत्यसंध प्रभु सब उरबासी॥—का०; को० रा०।

अर्थ—हे सर्वज्ञ ! हे समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें निवास करनेवाले ! हे बुद्धि-बल-तेज-धर्म और गुणोंके राशि ! सुनिये ॥ ३ ॥

पु० रा० कु०—सर्वज्ञादिके भाव । आप सर्वज्ञ हैं इसलिये बाह्य सब बातोंको जानते हैं । 'सकल उरवासी' अर्थात् हृदयमें बसनेसे अन्तर्यामी हैं अतः अन्तःकरणकी जानते हैं, यथा—**'सब के उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ । अ० २५७ ।'** 'बुधि बल०' से जय होती है—६ (५) पृष्ठ ४८ देखिये । बुद्धि और बल दोनोंकी राशि हैं । अतः आपके लिये शत्रुपर विजय क्या बड़ी बात है । तेजसे शत्रुमें भय उत्पन्न होता है और धर्मसे जय होती है—**'यतो धर्मस्ततो जयः'; 'सखा धर्ममय अस रथ जाके । जीतन कहुँ न कतहुँ रिपु ताके** ॥ ७९ । ११ ।' आप इन गुणोंकी भी राशि हैं । (पुनः सर्वज्ञादि कहनेका भाव कि ऐसे होकर भी पूछना केवल मर्यादा-पालनार्थ है । रा० प्र०)

शीला—१ विशेषणोंके भाव । आप सर्वज्ञ हैं । अतः जो कुछ हमलोग कहेंगे वह भी आप जानते हैं और वह भी आपका ही कहना है क्योंकि आप सर्व उरवासी हैं । (जो कुछ कोई कहता है वह आपकी प्रेरणासे) । बुद्धि-बलादिकी राशिका भाव कि—(क) आप राशि हैं और हम सब उस राशिके इधर-उधर बिखरे हुए दाने हैं, दाना राशिकी बराबरी नहीं कर सकता । इसीसे आगे कहते हैं कि बुद्धिके अनुसार कहता हूँ । (ख) आप ईश्वर राशिरूप हैं, आप जीवरूप दानेको बढ़ाना चाहें तो बढ़ा सकते हैं, अङ्गदको मान्य दीजिये ।

२—रामचन्द्रजीने सब गुण अङ्गदको दिये—प्रथम रावणका पुत्र मिला उसे मारा, यह बल हुआ । सभामें पहुँचते ही सब सभासद खड़े हो गये,—**'उठे सभासद कपि कहुँ देखी ।'** यह तेज है । रावणने अङ्गदको फोड़ना चाहा, २१ (५-६) देखिये । पर अङ्गद अपने सेवकधर्ममें दृढ़ रहे, यह धर्म है । रावणसे सत्त्व, रज, तम त्रिगुण-मय वार्ता उन्होंने की । **'उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती '** २० (३) इत्यादि । यह सात्त्विक गुण हुआ । **'सो सुग्रीव केर लघु धावन'** से अपना ऐश्वर्य दिखाया; यह राजस गुण है । और, **'क्रोधवंत तब भयौ कपिंदा'** यह तामस गुण है । रही बुद्धि सो तो संवादके आदि, मध्य और अन्त सब प्रसङ्ग भरमें है ।

मंत्र कहौं निज मति अनुसारा । दूत पठाइअ बालिकुमारा ॥ ४ ॥

अर्थ—मैं अपनी बुद्धिके अनुसार सलाह कहता हूँ । बालिपुत्र अङ्गदको दूत बनाकर भेजिये ॥ ४ ॥

नोट—१ (क) **'निज मति अनुसारा'** का भाव कि आपको मन्त्र बताना मानो सूर्यको दीपक दिखाना है । (रा० प्र०) (ख) 'दूत पठाइय' । भाव कि उत्तम राजाको उचित है कि प्रथम दूत भेजकर शत्रुसे अपना प्रयोजन माँगे, जब वह न माने तब युद्ध करे, यथा—**'प्रथम बसीठ पठउ सुनु नीती । ९ । ९ । १० ।'** इत्यादि । (ग) यहाँ 'बालिकुमारा' अर्थात् बालिसम्बन्धी नाम देनेका भाव यह है कि बालीके साथ रावणकी सन्धि थी, इसलिये वह अङ्गदको जानता है । इस सम्बन्धसे वह बात करेगा और अपनी ओरसे भी कहेगा । पुनः, दूत ऐसा चाहिये कि उसके प्रतापसे शत्रु दब जाय । अङ्गदके जानेसे बालिवधका वृत्तान्त सुनकर और उसके महाबली पुत्रको शत्रुके दौत्य-कर्ममें प्रवृत्त देखकर रावण निश्चय ही भयभीत होगा । अथवा, दूतमें दो गुण विशेष चाहिये—वाक्यविशारदत्व और बल—इसमें वे दोनों गुण हैं क्योंकि यह बालिकुमार है ।

पु० रा० कु०—जाम्बवन्तने अङ्गदको ही दूत बनाकर भेजनेकी क्यों सलाह दी ? उत्तर—तारा और मन्दोदरी दोनों पञ्चकन्याओंमेंसे हैं अतः बहिनें हैं । यथा—**'अहल्या द्रौपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा । पञ्चकन्याः स्मरेत्प्रातः सर्वपातकशान्तये ॥' इति व्यासवचनात् ।** [पञ्चकन्या पाठमें सन्देह है । बालकाण्डमें लिखा गया है कि प्राचीन पोथियोंमें यह पाठ नहीं है] इस प्रकार रावण और अङ्गदमें सम्बन्ध है । अङ्गदके पिताको श्रीरामजीने मारा है । अङ्गदको भेजनेसे उसके हृदयका सदसद् अभिप्राय (भेद) भी खुल जायगा, उसकी परीक्षा हो जायगी ।—यह राजनीतिधर्म विचारकर अङ्गदको भेजनेकी अनुमति दी ।—[यह भाव हनुमन्नाटकके अङ्गदसे निकल सकता है, पर मानसके अङ्गद और बाली कुछ और ही हैं ।—मा० सं०]

नीक मंत्र सब के मन माना। अंगद सन कह कृपानिधाना॥ ५॥
बालितनय बुधिबलगुनधामा। लंका जाहु तात मम कामा॥ ६॥

शब्दार्थ—मन मानना=स्वीकार करना, अच्छा लगना, पसंद आना, यथा—'**कौसिक कहेउ मोर मनु माना।** १। २१४। ६।'; '**ज्ञान नयन निरखत मन माना।** १। ३७। १।'

अर्थ—मन्त्र अच्छा है, सबके मनको अच्छा लगा। कृपासागर श्रीरामजी अङ्गदसे बोले—॥ ५॥ हे बुद्धि, बल और गुणोंके धाम बालिपुत्र! हे तात (प्रिय, सौम्य)! तुम मेरे कामके लिये लङ्का जाओ॥ ६॥

नोट—१ '**नीक मन्त्र सब के मन माना,**' इति। (क) इस पदसे कवि जनाते हैं कि जाम्बवान् सब प्रधान मन्त्रियोंमें श्रेष्ठ हैं। प्रधान तीन मन्त्री हैं, सुग्रीव, विभीषण और जाम्बवान्। सुग्रीवजीका मत विभीषण-शरणागतिके समय न तो श्रीरामजीको अच्छा लगा था और न हनुमान्‌जीको ही। यथा—'**सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥ सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना।** सुं० ४३।' विभीषणजीसे सिन्धु-तटपर सलाह ली गयी; पर उनकी सलाह लछिमनजीको न भाई—'**मन्त्र न यह लछिमन मन भावा।** ५। ५१। २।' श्रीरामजीको भी यह मन्त्र ठीक न जँचा था; पर विभीषणका मन रखनेके लिये उन्होंने उनकी सलाह मानी थी। यथा—'**सखा कही तुम्ह नीकि उपाई। करिय दैव जौं होइ सहाई॥** ५। ५१। १।' इसीसे लक्ष्मणजीसे सहमत होते हुए उन्होंने कहा कि '**ऐसेहि करब धरहु मन धीरा**'। पर जाम्बवन्तका मन्त्र किसीको भी बुरा न लगा वरन् सबको अच्छा लगा। (ख) 'सबके मन माना' से जनाया कि सर्वसम्मतसे बालिपुत्रका भेजना निश्चित हुआ। [जो मन्त्र सर्वसम्मत हो वह शुभदायक होता है—'**सब ही कहा मंत्र भल भाई**'। जो सबको नहीं भाता, वह अशुभ होता है।—(पं०)] निश्चित होनेपर श्रीरामजीने अङ्गदजीसे कहा। (ग) 'कृपानिधाना' के भाव कि अङ्गदको भेजकर उसको यश देंगे। बालीने रावणको अकेला पाकर उसका मान-मर्दन किया था और यह उसके परिजन, परिवार, सभा आदिके सहित सभाके बीचमें उसका मान-मर्दन करेंगे। यही अङ्गदपर कृपा करते हैं—(शीला)। पुनः, (ख) शत्रुकुलपर कृपा है, इससे इनको दूत बनाकर भेजते हैं। यथा—'**रामः सुवेलाद्रितटेऽवतीर्णः समुद्रमुल्लंघ्य विकीर्णसैन्यः। कृपामुपेत्यारिकुलस्य दूतं सुरेन्द्रनप्तारमथादिदेश॥** हनु० ८। १।' (अर्थात् समुद्रको पारकर सुवेलतटपर स्थित विस्तृत सेनायुक्त श्रीरामचन्द्रजी राक्षसोंके ऊपर कृपाको प्राप्त होकर इन्द्रके पौत्र अङ्गदको दूत बनाकर आज्ञा देते हुए); '**कारुनीक दिनकरकुलकेतू। दूत पठायेहु तव हित हेतू॥** ३६। २।' देखिये। पंजाबीजी लिखते हैं कि कृपा सब भक्तोंपर है; पर इसे बालीने सौंपा है अतः इसपर अधिक कृपा है। इसीसे 'कृपानिधान' कहा। मयंककारका मत है कि रावणको धाम देंगे, यह कृपा है।

२ 'बालितनय' का भाव कि तुममें बालीके सब गुण हैं—'**यह तनय मम सम बिनय बल०**।' कि० १० छंद २ देखिये। (पं०—बालीका सम्बन्ध अभय जनानेके लिये दिया)। 'बुधि-बल-गुन-धाम' अर्थात् दूतमें जो गुण चाहिये वह सब तुममें हैं—१७ (७) देखिये। यह अङ्गदको आशीर्वाद है। कहनेके साथ ही उन्होंने अङ्गदको बुद्धि-बल-गुणधाम बना दिया, यह अङ्गदपर कृपा हुई, यही बात आगे स्वयं अङ्गदजी कहते हैं। यथा—'**सोइ गुनसागर ईस राम कृपा जापर करहु॥ १७॥**'

प० प० प्र०—'बालितनय बुधि···' इति। (क) बालिने स्वयं ही कहा है कि '**यह तनय मम सम बिनय बल।** ४। १० छंद।' बाली महाबली अवश्य था, पर विनयी न था; किन्तु अभिमानी था। अङ्गद वैसा नहीं है। भगवान्‌ने ही उसे 'बुधि बल गुनधाम' बनाया। यही कारण है कि जो अङ्गद पक्षहीन सम्पातीको देखकर घबड़ा गया था, वही अब दशाननको देखकर न डरा। यथा '**गयउ सभा मनु नेकु न मुरा**'। (ख) जैसे हनुमान्‌जी बल-बुद्धि-गुण-निधान थे; यथा '**तुम्ह बल बुद्धि निधान**', '**अतुलितबलधामम्**', '**सकलगुणनिधानम्**'; वैसा ही श्रीरामजीने अङ्गदको बना दिया। दोनों ही '**रन बाँकुरे बीर अति बाँके।** ३६। ४।' हैं। युद्धके समय वानर-सेनामें श्रीरामजीने केवल इन्हीं दोका नामनिर्देश किया है और सेनाने भी इन्हीं दोकी पुकार की है। यथा—'**हनूमान अंगद के मारे। रन महँ परे निसाचर भारे॥**' 'अंगद

अरु हनुमंत प्रबेसा। कीन्ह दुर्ग अस कह अवधेसा॥ ४४। ७।', 'कोउ कह कहँ अंगद हनुमंता। ४२। २।', 'त्राहि त्राहि अंगद हनुमाना॥'

नोट—**'लंका जाहु तात मम कामा'** इति। (क) यहाँ 'लंका जाहु' कहा। रावणके पास जाओ, ऐसा न कहा। भाव यह कि केवल रावणसे बात ही नहीं करनी है वरन् उसके पुत्रका वध भी करना है, गढ़के समाचार भी लेना है, इत्यादि दोहा ३८ देखो। (ख) श्रीरामचन्द्रजीने अङ्गदको 'तात' कहकर सँभाल लिया अर्थात् सूचित किया कि तुम हमारे पुत्र हो, अतः हमारा कार्य तुम्हारा ही कार्य है, हमारी हानि-लाभ तुम्हारी हानि-लाभ है। इसलिये तुम लंका जाओ, अपना काम अपने ही हाथ ठीक बनता है। भाव कि तुम्हारा लङ्काको जाना दूतत्व नहीं है वरन् यह तुम्हारा ही कार्य है। दौत्यकर्मसे तुम्हारी मान-मर्यादाको हानि न पहुँचेगी। (पं०, मा० म०)। (ग) पु० रा० कु० का मत है कि 'मम कामा' का भाव यह है कि दुष्ट शत्रुके यहाँ न जाना चाहिये, पर मेरे कामके लिये तुम जाओ। यह निहोरा है।

बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ॥ ७॥
काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥ ८॥

अर्थ—तुम्हें बहुत क्या समझाकर कहूँ! तुम परम चतुर हो, यह मैं जानता हूँ॥ ७॥ शत्रुसे वहीं बातचीत करना जिससे हमारा काम बने और उसका कल्याण (भी) हो॥ ८॥

नोट—१ 'परम चतुर' का भाव कि दूतके वाक्पटुतादि सभी गुण तुममें हैं, बिना हमारे समझाये ही तुम जान सकते हो कि रावणसे क्या कहना होगा।

२ दूतमें क्या गुण होने चाहिये यह सु० र० भा० में इस प्रकार वर्णित है—**'मेधावी वाक्पटुः प्राज्ञः परचित्तोपलक्षकः। धीरो यथोक्तवादी च एष दूतो विधीयते॥ ६९॥ उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा। सदैवावध्यभावेन यथार्थस्य हि वाचकः॥ ७०॥ भक्तो गुणी शुचिर्दक्षः प्रगल्भोऽव्यसनी क्षमी। ब्राह्मणः परमर्मज्ञो दूतः स्यात्प्रतिभानवान्॥ ७१॥ साकारो निःस्पृहो वाग्मी नानाशास्त्रविचक्षणः। परचित्तावगन्ता च राज्ञो दूतः स इष्यते॥ ७२॥'** अर्थात् बुद्धिमान्, बोलनेमें चतुर, पण्डित, दूसरेकी चित्तवृत्तिको जाननेवाला, धीर, जैसा कहा जाय वैसा ही कहनेवाला, ऐसेको दूत बनाना चाहिये॥ ६९॥ उसके सामने हथियार भी उठा हुआ हो तब भी वह अयथार्थ बात न कहेगा। वह सदैव अवध्य है, अतः वह सदा यथार्थ ही कहता है॥ ७०॥ भक्त, गुणवान्, पवित्र, कुशल, गम्भीर, व्यसनोंसे बचा हुआ, क्षमाशील, वेदवित् और ब्राह्मण, पराये मर्मको जाननेवाला और प्रतिभाशाली ही दूत होता है॥ ७१॥ साधिकार हो, निःस्पृह हो, वाक्पटु हो, नाना शास्त्रोंका गम्भीर ज्ञान रखता हो, परचित्तज्ञान रखता हो, ऐसा पुरुष राजदूत बनाया जाना चाहिये॥ ७२॥

३ 'मैं जानत अहऊँ' इति। परम चतुर कैसे जाना? (क) अपनी सर्वज्ञतासे। (ख) तारापुत्र होनेसे। ताराकी मति कभी गलत न होती थी—कि० ११ (१-२) देखिये। (ग) समुद्र-तटपर इनके बुद्धिकी परीक्षा हो चुकी है जब सम्पातीसे सब डर गये थे, यथा—**'कह अंगद बिचारि मन माहीं। धन्य जटायू सम कोउ नाहीं॥'** वह उनकी बुद्धि काम भी कर गयी। लौटनेपर श्रीरामजीसे यह बात भी कही गयी होगी। (घ) बाली बुद्धि और बलका अभिमानी था और यह उसके समान है—कि० १० छंद (२) देखिये। (ङ) वचन कहनेके साथ ही प्रभुने उसे 'परम चतुर' बना दिया। अतः 'परम चतुर' कहकर तब 'जानत अहहूँ' कहा। यह 'परम चतुरता श्रवन सुनि बिहँसे राम उदार। ३७।' में चरितार्थ हुआ है। (च) गौड़जी कहते हैं कि गुरुजनोंकी ओरसे शाबाशी और प्रोत्साहन मिलता है तब छोटोंका हौसला बढ़ता है और बढ़ावा पाकर अयोग्य भी योग्य हो जाता है। यहाँ सरकार माधुर्य भावसे तो केवल गुरुजन हैं, स्वामी हैं, परन्तु ऐश्वर्यभावसे भगवान्‌का यह जान जाना ही कि देवदत्त परम चतुर है, देवदत्तको महामूढ़से परमचतुर बनाना है। भगवान्‌ने इस बहाने अङ्गदको परमचतुर बनाकर भेजा। तुलना कीजिये 'पठवा पुनि बल देइ बिसाला'।

'काज हमार तासु हित होई'

पं०, मा० म०, शीला—जब अन्तर्यामी प्रभुकी यह इच्छा थी कि उसका भला हो तब रावणने संधि क्यों न

की? रामेच्छाको मिटानेवाला तो कोई है ही नहीं, सभी उनकी इच्छाके अनुकूल कार्य करते हैं। यथा **'राम रजाइ मेट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं ॥ २। २९८। ७।', 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई ॥ १। १२८। १।', 'राम रजाइ सीस सब ही के। २। २५४। ८।', 'सब कर हित रुख राउरि राखे। अ० २५८।'**, तब वैसा क्यों न हुआ? इससे साधारण अर्थ, कि 'हमें सीताजी मिलें और वह मारा न जाय' के अतिरिक्त इसमें गूढ़ अर्थ यह है कि प्रभुका कार्य सन्धि नहीं है वरन् युद्ध है, निशिचर-वध होकर विश्वका भार हरण हो, श्रीजानकीजी मिलें और रावणको परधामकी प्राप्ति हो, तुम्हारी जीत हो और मेरी सत्यप्रतिज्ञा रहे—**'निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह। ३। ९।', 'जदपि सखा तोहि इच्छा नाहीं। मम दरसन अमोघ जग माहीं ॥ अस कहि राम तिलक तेहि सारा'**। इसीसे 'रिपु' पद दिया, यदि सन्धि करनी होती तो 'भूप' पद देते।

पु० रा० कु०—काज 'सीता-प्राप्ति' और 'तासु हित' विभूतिसहित रावणका सकुटुम्ब रक्षण है। यहाँ शङ्का होती है कि लङ्काका राज्य तो विभीषणको दे दिया और अङ्गदसे कहते हैं कि **'काज हमार तासु हित होई।'** ये दोनों बातें असंघटित होती हैं। बिना रावणवधके विभीषणका राज्य कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि रावण अपने जीतेजी श्रीसीताजीको न देगा। उसकी प्रतिज्ञाको श्रीरघुनाथजी जानते हैं।

नोट—इस गुप्त आशयमें रावणवध रामकरसे होना ही उसका हित है, क्योंकि यही उसका अभीष्ट है, यथा—**'होइहि भजन न तामस देहा।', 'प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ'**—(आ० २३)।

☞ यह प्रसङ्ग बहुत अंशमें हनुमन्नाटकमें मिलता है। अङ्क ८ में अङ्गद-रावण-संवाद ही है। समानार्थी श्लोक क्रमशः प्रकरणमें योग्य स्थानमें मिलानेके लिये दिये गये हैं। वाल्मीकीयमें यह प्रसङ्ग बहुत संक्षिप्तरूपमें है। वहाँ अङ्गदके द्वारा रामचन्द्रजीने संदेश भेजा जो अङ्गदने ज्यों-का-त्यों रावणसे कहा है। संदेशके अन्तमें रामजी कहते हैं कि—**'ब्रवीमि त्वां हितं वाक्यं क्रियतामौर्ध्वदैहिकम्। सुदृष्टा क्रियतां लङ्का जीवितं ते मयि स्थितम् ॥'** (यु० ४१। ७२)—अर्थात् हे निशाचर! हम तुम्हारे हितका वचन कहते हैं कि तुम अपने मरनेके बादके कल्याणकारी काम कर डालो। लङ्काके प्रति जो तुम्हारे कर्तव्य हों उनका अच्छी तरह पालन किये रहो, क्योंकि तुम्हारा जीवन हमारे ही अधीन है। और यहाँ प्रभु कहते हैं कि **'काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई'** अतएव जो वाल्मीकिमें अङ्गदने सन्देशा कहा है वह **'हित बतकही'**, हुआ। वह सन्देश यह है कि 'युद्ध करो और अपना पुरुषार्थ दिखाओ, मन्त्रि-पुत्र, बान्धववर्गसहित मैं तुमको मारकर त्रिलोकको निश्चिन्त करूँगा। देव दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग और राक्षसोंके शत्रु, ऋषियोंके कण्टकरूप तुमको अब हम नाश करेंगे। तुम्हारे मारे जानेपर विभीषणको ऐश्वर्य प्राप्त होगा। यदि सत्कारपूर्वक और चरणोंपर गिरकर जानकीजीको नहीं दे दोगे'। यथा **'निष्पत्य प्रतियुद्ध्यस्व नृशंस पुरुषो भव ॥ ७८ ॥ हन्तास्मि त्वां सहामात्यं सपुत्रज्ञातिबान्धवम्। निरुद्विग्नास्त्रयो लोका भविष्यन्ति हते त्वयि ॥ ७९ ॥ देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्। शत्रुमद्योद्धरिष्यामि त्वामृषीणां च कण्टकम् ॥ ८० ॥ विभीषणस्य चैश्वर्यं भविष्यति हते त्वयि। न चेत् सत्कृत्य वैदेहीं प्रणिपत्य प्रदास्यसि ॥ ८१ ॥ वाल्मी० यु० ४१।'** मानसके अङ्गदके **'दसन गहहु तृन कंठ कुठारी।'** इन वचनोंमें भी वही अभिप्राय भरा हुआ है।

प० प० प्र०—१ श्रीजानकीजीको समर्पण करके लङ्काका अचल राज्य करनेमें रावणका 'हित' था। श्रीरामजीका भजन करनेमें उसका परमहित था। पर **'होइहि भजन न तामस देहा'**। अतः इस मार्गसे परमहितकी प्राप्ति उसके लिये असम्भव थी। अतः रावणको युद्धके लिये प्रेरित करनेमें ही उसका हित हो सकता था। (और कारण ऊपर टिप्पणियोंमें आ चुके हैं)। अतएव पहिलेसे ही अङ्गदजीने रावणका अपमान करना प्रारम्भ कर दिया।

२ श्रीहनुमान्‌जी और अङ्गदजी दोनोंने ही दूतकार्यमें रावणसे सम्भाषण किया है। पर दोनोंके भाषणोंमें महदन्तर है। कारण कि हनुमान्‌जीका कार्य रावणको युद्धोन्मुख करना नहीं था और अङ्गदका यही मुख्य कार्य था।

सोरठा—प्रभु अज्ञा धरि सीस चरन बंदि अंगद उठेउ।
सोइ गुनसागर ईस राम कृपा जा पर करहु ॥

स्वयं सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदरु दियेउ ।
अस बिचारि जुवराज तन पुलकित हरषित हियेउ ॥१७॥

अर्थ—प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य कर चरणोंमें प्रणाम करके अंगद उठे । (और बोले) हे ईश रामचन्द्रजी ! आप जिसपर कृपा करें वही गुणोंका समुद्र और समर्थ हो जाता है । नाथके सब कार्य स्वयंसिद्ध (अपने आप ही किये हुए) हैं, स्वामीने तो मुझे आदर दिया है—ऐसा विचारकर युवराज अंगदका शरीर रोमाञ्चित हो गया और वे हृदयमें हर्षित हुए ॥१७॥

नोट—'प्रभु अग्या धरि सीस०' इति । (क) प्रभु अर्थात् समर्थ हैं, स्वामी हैं, आपकी आज्ञा अटल है और उसका शिरोधार्य करना सेवकका धर्म है, यथा—'प्रभु अग्या अपेल श्रुति गाई । ५ । ५९ ।' 'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा । परम धरमु यह नाथ हमारा ॥ मातु पिता प्रभु गुर कै बानी । बिनहिं बिचार करिय सुभ जानी॥ १ । ७७ ।' यह भाव 'अग्या धरि सीस' का हुआ । (ख) 'चरन बंदि' बड़ोंको प्रणाम करके बोलना शिष्टाचार है, यथा—'जामवंत कह पद सिरु नाई ॥ १७ (२) ।'

पु० रा० कु०—१ प्रभुने जो कहा था कि 'बालितनय बुधि बल गुन धामा' 'परम चतुर मैं जानत अहऊँ' इसीका उत्तर अंगदजीने यह दिया कि 'सोइ गुनसागर ईस राम कृपा जापर करहु' । २—'ईश' का भाव कि प्रबल शत्रुसे बात करनेमें निर्भयता चाहिये । आपकी कृपासे मैं उस प्रबल शत्रुसे बातचीत करनेमें भी समर्थ रहूँगा ।

नोट १—ऊपर जो कहा था कि 'अंगद सन कह कृपानिधाना' उस 'कृपानिधाना' का भाव अंगदजीने अपने पक्षमें यहाँ दिखाया कि आपने मुझपर कृपा की । अतः मैं बल-बुद्धि-गुणधाम एवं परम चतुर भी हो गया । प्रभुने 'गुणधाम' कहा था । अंगदने कहा कि धाम तो छोटा होता है वह तो गुणोंका सागर हो जाता है । २—मालिकसे साधारणतया खुशामदमें ऐसी बातें कही जा सकती हैं, परन्तु यहाँ तो वास्तविक बात यह है कि भगवान्‌की कृपासे 'मूक होइ बाचाल'' 'गहन' । फिर परम चतुर होने वा गुणसागर बन जानेमें क्या सन्देह रह जाता है ।—(गौड़जी) । ३—रामकृपामें सभी उत्कृष्ट गुणोंकी समता देना 'तृतीय तुल्ययोगिता अलंकार' है—(वीर) । ४—प्रभुने जो कहा कि 'काज हमार तासु हित होई ।०' उसीपर यह विचार अंगदका है । 'अस बिचारि' से जनाया कि यह मानसिक विचार है । हर्ष और उत्साह वीररसके संचारी भाव हैं और भावी सफलताके सूचक हैं । ५—यहाँ सात्त्विक भाव यह है कि पूर्व हनुमान्‌जीपर कृपा की थी तब उनका यश हुआ । अब मुझे आदर दे रहे हैं इसलिये मुझे भी यश मिलेगा । (पं०)

वि० त्रि०—अङ्गदजीका कहना कि अपने दूत होने (रामदूत) का पद देकर सरकार मुझे आदर दे रहे हैं । नहीं तो सब कार्य स्वयं सिद्ध है । सीताजीकी प्राप्ति तो निश्चय होनी है, रावणका शिर भी सरकारके चरणोंमें निश्चय गिरेगा । चाहे शरणागत होनेसे वे शिर शरणप्रान्तकी पृथ्वीको स्पर्श करें, चाहे सरकारी बाणोंसे कटकर चरणप्रान्तकी भूमिपर गिरें । यदि शरण आयेगा तो भी सरकारको सीता-प्राप्ति होगी, यदि युद्ध करेगा तब भी होगी । यथा—'सन्धौ वा विग्रहे वापि मयि दूते दशाननी । 'अक्षता माक्षता वापि क्षितिपीठे लुठिष्यति' । रामदूतपद पाने, और कार्यसिद्धिकी प्राप्तिके निश्चयसे अंगद आनन्दसे पुलकायमान हो रहे हैं ।

बंदि चरन उर धरि प्रभुताई । अंगद चलेउ सबहि सिरु नाई ॥ १ ॥
प्रभुप्रताप उर सहज असंका । रन बाँकुरा बालिसुत बंका ॥ २ ॥

शब्दार्थ—बाँकुरा=बाँका, कुशल, चतुर, यह प्रयोग प्रान्तिक है और पद्यमें ही होता है । बंका=पराक्रमी, बलशाली, पुरुषार्थी ।

अर्थ—चरणोंकी वन्दना कर और हृदयमें प्रभुताको धरकर अंगद सबको मस्तक नवाकर चले ॥ १ ॥ रणमें बाँका बलशाली बालीपुत्र प्रभुका प्रताप हृदयमें रखकर स्वाभाविक निडर है ॥ २ ॥

टिप्पणी—प्रभुप्रतापके स्मरणमात्रसे शत्रुका हृदय विदीर्ण होगा, यह समझकर सहज अशङ्क है । अथवा स्वाभाविक अशङ्क है, उसपर भी प्रभु-प्रताप उरमें है ।

नोट—१ प्रणाम करके कार्य प्रारम्भ करनेसे दुर्गम कार्य भी सुगम हो जाता है—दोहा ७४ देखिये। प्रभुका प्रताप स्मरण करनेसे निर्भयता आ जाती है। यथा **'समुझि राम प्रताप कपि कोपा। सभा माँझ पन करि पद रोपा॥** ३३। ८।', विशेष ४३ (१) में देखिये। अतएव **'बंदि चरन उर धरि प्रभुताई'** यह प्रस्थानके समयका मङ्गलाचरण हुआ। २—प्रताप, यथा—**'जाकी कीरति सुनि होत शत्रु उर ताप। जग डरात सब आपही कहिये ताहि प्रताप॥'**— (वै०)। ३—बालिका बेटा है इसीलिये यह भी वैसा ही बाँका वीर है। बालिने रावणको हराया है, इस ओर भी इशारा—दोहा २४ और २९ (८) देखिये। यह भी रावणको हरायेगा। शत्रुकी पटरानीने भी इनको यही विशेषण दिये हैं—**'रन बाँकुरे बीर अति बाँके'** । ३६। ४।' 'अशङ्क' के तीन कारण दिये—बालिपुत्र है, रणबाँकुरा है और हृदयमें रामप्रताप है।

प० प० प्र०—**'उमा न कछु कपि कै अधिकाई। प्रभु प्रताप जो कालहि खाई॥'**, **'प्रभु प्रताप बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल।'** **'प्रभु प्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल॥'** यह प्रभुप्रतापका सामर्थ्य अंगदजी अच्छी तरह निश्चयपूर्वक जानते हैं।

पुर पैठत रावन कर बेटा। खेलत रहा सो * होइ गै भेटा॥ ३॥
बातहिं बात करष बढ़ि आई। जुगल अतुल बल पुनि तरुनाई॥ ४॥

शब्दार्थ—पैठना=प्रवेश करना, घुसना। भेंट=मुलाकात। करष (कर्ष)=तनाजा, आमर्ष, ताव, लड़ाईका जोश। यथा—**'भलेहि नाथ सब कहहिं सहरषा। एकहि एक बढ़ावइ करषा॥** २। १९१। २।'

अर्थ—नगरमें प्रवेश करते ही रावणके बेटेसे भेंट हो गयी जो वहाँ खेल रहा था॥ ३॥ बातों-ही-बातोंमें कर्ष बढ़ गया (दोनोंमें कलह बढ़नेसे जोश आ गया) क्योंकि दोनों ही अतुलित बली और उसपर भी तरुणावस्थाके (जवान) थे॥ ४॥

पु० रा० कु०, पं०—कर्षकी बात यहाँ नहीं लिखी गयी है पर अनुमानसे ऐसा जाना जाता है कि रावणका पुत्र कुश्ती, दाँव-पेंच आदि खेलता हुआ मिला। उसने अङ्गदसे पूछा तू कौन है? इनके बतानेपर कि मैं बालिपुत्र रामदूत हूँ, उसने कहा कि तेरे बापको रामने मार डाला और माँको तेरे देखते ही सुग्रीवने बिठा लिया, वही तू है? और, उन्हींका तू दूत बनकर आया है? तुझे धिक्कार है! यथा—**'अंगद तहीं बालि कर बालक। उपजेउ बंस अनल कुल घालक॥'** इत्यादि (रावण-वचन)। रावण और उसके पुत्रकी उक्ति एक ही है। अङ्गदने कहा कि मैं उस बालिका पुत्र हूँ जिसने तेरे बापको महीनों काँखमें दबाये रखा। जिन रामने तेरे बापकी बहिनकी नाक-कान काट उसे नकटी बूची कर दिया, उनका दूत हूँ। तूने अपनी बूआकी गति देखी। लज्जा न आयी! तुझे धिक्कार है! यथा—**'सूपनखा कै गति तुम देखी। तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी॥'**—यह मन्दोदरीकी उक्ति है)। उसने कहा कि वे ही राम हैं न, जिनकी स्त्रीको मेरा बाप हर लाया? अङ्गदने उत्तर दिया—ये वही राम हैं जिनके पास तेरे बापकी बहिन कामातुर हो उन्हें अपना खसम बनाने गयी थी और जिनके रहते तेरा बाप पर्णकुटीके पास जानेका साहस न कर सका। कुत्ते-की तरह चोरीसे यती बनकर गया था।—यह रावणपुत्र प्रहस्त है।

पु० रा० कु०—रावण और उसके पुत्रकी उक्ति एक है। पुनः, मन्दोदरी और तारा बहिनें हैं। अतः रावणपुत्र और अङ्गदकी उक्ति एक-सी दिखायी—। [☞ मन्दोदरी मयदानवकी और तारा सुषेण वानरकी कन्या है। इस प्रकार इस जन्ममें तो वे बहिनें नहीं हैं। हाँ, पञ्चकन्याएँ मानकर बहिनें कही गयी हों, फिर एक माता या एक पिताकी वे नहीं हैं]

नोट—**'अतुल बल पुनि तरुनाई'** का भाव कि हर्ष बढ़नेपर लड़ जानेके लिये दोनोंका अतुलबली होना ही पर्याप्त था और ये दोनों तो जवान भी हैं, जो अवस्था स्वयं ही अनर्थकी जड़ है, तब भिड़ जानेमें सन्देह ही क्या हो सकता है? यथा—**'यौवनं धनसंपत्तिः प्रभुत्वमविवेकता। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥'** (हितोपदेश कथारम्भ ११) अर्थात्

* 'रहा सो होइ'—(का०)। 'रहा होइ'—(भा० दा०)।

यौवन, धन-संपत्ति, प्रभुता और अविवेकता—ये एक-एक भी अनर्थके लिये पर्याप्त हैं और जहाँपर ये चारों हों वहाँपर अनर्थका क्या कहना ?

तेहि अंगद कहुँ लात उठाई। गहि पद पटकेउ भूमि भँवाई॥ ५॥
निसिचर निकर देखि भट भारी। जहँ तहँ चले न सकहिं पुकारी॥ ६॥
एक एक सन मरमु न कहहीं। समुझि तासु बध चुप करि रहहीं॥ ७॥

शब्दार्थ—भँवाना (सं० भ्रमणसे। हिंदी भँवाना)=घुमाना, फिराना, चक्कर देना। यह प्रयोग पद्यमें ही होता है।

अर्थ—उसने अङ्गदको लात उठाई (अङ्गदने वही) पैर पकड़कर उसे घुमाकर पृथ्वीपर पटककर मार डाला॥ ५॥ निशिचरसमूह (जो साथ थे) भारी भटको देखकर जहाँ-तहाँ चल दिये, (डरके मारे) पुकार भी नहीं कर सकते॥ ६॥ एक दूसरेसे मर्म नहीं कहते, उसका वध (मनमें) समझकर चुप साधकर रह गये॥ ७॥

वं० पा०—प्रहस्तने प्रथम लात उठाई क्योंकि वह राजपुत्र और जवान होनेके अतिरिक्त अपने नगरमें है।

पु० रा० कु०—'**गहि पद पटकेउ**....' इति। पूर्व कहा कि '**जुगल अतुल बल**' अर्थात् दोनोंका बल समान था तब अङ्गदकी विशेषता कैसे हुई ? उत्तर—श्रीरामप्रतापसे हुई; अन्यथा प्रताप कैसे जान पड़ता ? जिसकी ओर भगवान्‌का बल है उसकी ही जय होती है। यथा—'**यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम**॥ गीता १८। ७८।' अर्थात् जहाँ (जिस पक्षमें) योगेश्वर श्रीकृष्णजी और जहाँ धनुर्धर अर्जुनजी हों वहींपर श्री, विजय और ऐश्वर्य एवं अचल नीति भी है यह मेरा निश्चय मत है। (यह संजयने धृतराष्ट्रसे गीताके अन्तमें कहा है)।

नोट—१ '**जहँ तहँ चले न सकहिं पुकारी**' इति। (क) यहाँ '**चले**' पद देकर जनाया कि उधरकी ओर पीठ देकर चुपचाप खिसके, भागे नहीं कि कहीं रावणपुत्रका साथी जानकर पीछा न करें। ऐसे चले मानों उनके सामने कोई बात हुई ही नहीं। (ख)—पुकार न सके, यह भी उनका अत्यन्त भय सूचित करता है। किसी दूसरेको अथवा अपनेसे बलीको पुकारते नहीं, और न दूसरेसे कुछ कहते हैं। कारण कि वे डरते हैं कि हमें भी न मार डाले, दूसरे औरोंको बतानेसे लोग हमारा नाम धरेंगे कि तुम्हारे सबके रहते यह कैसे हुआ ? तीसरे यदि कहेंगे तो रावणको खबर हो जायगी कि ये लोग साथ थे पर ये सब झगड़ा देख भाग आये उसको बचाया नहीं, जो सुनकर रावण जीता न छोड़ेगा। यहाँ शङ्का संचारी भाव है। २—कवि भयका कारण स्वयं आगे देते हैं।

भएउ कोलाहल नगर मझारी। आवा कपि लंका जेहिं जारी॥ ८॥
अब धौं काह* करिहि करतारा। अति सभीत सब करहिं बिचारा॥ ९॥

अर्थ—(अङ्गदके भयसे राक्षसोंको भागते देख) नगरमें शोर और खलबली मच गयी कि वह वानर फिर आया है जिसने लङ्का जलायी थी॥ ८॥ अत्यन्त भयभीत होकर सब विचारते हैं कि न जाने अब, विधाता (वा० हे विधाता वह) क्या करेगा॥ ९॥

नोट—श्रीहनुमान्‌जी लङ्का जला गये उससे सब सभीत थे ही—'**उहाँ निसाचर रहहिं ससंका**', अब वही फिर आया यह समझकर '**अति सभीत**' हुए। पुनः प्रहस्तवधसे सभीत और 'आगे न जाने क्या करेगा' यह सोचकर '**अति सभीत**' हुए। '**भयो कोलाहल**', यथा—'**आयो आयो आयो सोई बानर बहोरि भयो सोर चहुँ ओर लङ्का आये जुवराजके। एक काढ़ैं सौंज एक धौंज करैं कहा ह्वै है, 'पोच भई महा' सोच सुभट समाज के॥ गाज्यो कपिराज रघुराजकी सपथ करि मूँदे कान जातुधान मानों गाजे गाज के। सहमि सुखात बातजात की सुरति करि, लवा ज्यों लुकात तुलसी झपेटे बाज के**॥ क० ६। ९।' '**यो लङ्कां समदीदहत् स च पुनर्ह्येषोऽधुना वानरः इत्येवं पुरवासिराक्षसगणाः कोलाहलं चक्रिरे**॥' इति नाटके॥

* काह—को० रा०। कहा—मा० दा०।

बिनु पूँछे मगु देहिं दिखाई। जेहि बिलोक सोइ जाइ सुखाई॥ १०॥

अर्थ—बिना पूछे (रावणकी सभाका) मार्ग दिखा देते हैं, जिसकी ओर अङ्गदजी देखने लगते हैं वही सूख जाता है॥ १०॥

नोट—१ (क) बिना पूछे बताते ही नहीं वरन् रास्ता भी दिखा देते हैं जिसमें वह सीधा रावणके पास चला जाय, हम लोगोंको कुछ हानि न पहुँचावे। (ख) बिना पूछे बतानेसे कृतज्ञता मानकर प्रसन्न होकर वे बतानेवालेकी ओर देखते हैं पर वह यह समझकर सहम जाता है कि कहीं हमारे प्राण लेनेके लिये न देखते हों (पु० रा० कु०)। क्योंकि पूर्व अक्षवध, लङ्कादहन आदि, और इस समय प्रहस्तवध देख चुके हैं, तब उनकी प्रसन्नता तो स्वप्नमें भी कैसे समझ सकते? इससे दिखाया कि भय समा गया है। ☞ मिलान कीजिये—'**जेहि सुभाय चितवहिं हित जानी। सो जानइ जनु आयु खुटानी॥** १। २६९।' वहाँ परशुरामजीकी करनी पूर्व देखे-सुने होनेसे ऐसा भय राजाओंमें छाया हुआ था।

वीर—यहाँ राक्षसोंके मनमें भय स्थायी भाव है। अङ्गद आलम्बन विभाव हैं, राजपुत्रका वध उद्दीपन विभाव है, बिना पूछे मार्ग दिखाना और निहारनेपर सूख जाना अनुभाव है। वह दैन्य, आवेग, चिन्ता, शङ्का आदि सञ्चारी भावोंसे वृद्धिको प्राप्त होकर 'भयानक रस' हुआ है।

इस वर्णनसे अङ्गदका तेज दिखाया। तेज देखकर सब काँप जाते हैं, यथा—'**तेजनिधान लषन पुनि तैसे। कंपहिं भूप बिलोकत जाके॥ जिमि गज हरि किसोर के ताके।** १। २९२।' और अङ्गदको यहाँ सिंह कहा ही है—'सिंह ठवनि…'।

दोहा—गएउ सभा दरबार तब सुमिरि रामपदकंज।
सिंहठवनि इत उत चितव* धीर बीर बलपुंज॥ १८॥

शब्दार्थ—दरबार=द्वार। ठवनि=अङ्गकी स्थिति या सञ्चालनका ढब; खड़े होने या चलनेकी शान। यथा—'**बृषभकंध केहरि ठवनि**…'। १। २४३।' विशेष १। २४३ देखिये।

अर्थ—तब अङ्गद श्रीरामचरणकमलोंका स्मरण करके सभा-भवनके द्वारपर गये। धीर बलराशि वीर खड़े होकर इधर-उधर सिंहके ढंगपर देखने लगा॥ १८॥

पु० रा० कु०—रावणपुत्रका वध देख सब शङ्कित हो गये, इसीसे बीचमें कोई रोकनेका साहस न कर सका—'**बिनु पूछे मग देहिं दिखाई। जेहि बिलोक सोइ जाइ सुखाई॥**' अतएव जहाँ रावणकी सभा होती थी उसके द्वारपर पहुँच गये। 'दरबार' का अर्थ यहाँ है—द्वार। क्योंकि सभामें जाना तो रावणके बुलानेपर आगे कहा गया है, यथा—'**सुनत बिहँसि बोला दससीसा। आनहु बोलि कहाँ कर कीसा॥** १९। २।', एवं '**गयउ सभा मन नेकु न मुरा। बालितनय अति बल बाँकुरा॥** १९। ७।'

द्वार अर्थके उदाहरण, यथा—१ '**एक प्रबिसहिं एक निर्गमहिं भीर भूप दरबार।** अ० २३।' यहाँ द्वारपर भीड़ थी, यथा—'**द्वार भीर सेवक सचिव कहहिं उदित रबि देखि।** अ० ३७।', '**करि मज्जन सरजू जल गए भूप दरबार।** १। २०६। **मुनि आगमन सुना जब राजा। मिलन गएउ लेइ बिप्र समाजा॥**' यहाँ भी द्वारपर राजा मुनिसे आकर मिले, '**पुर आठ आठ दरबार बिराजे युत आठ आठ सेना बल साजे। रहैं चारि चारि घटिका परिमाने घर जाहिं और जब आवत जाने।**' (रामचन्द्रिकायां)।

☞ 'सिंह ठवनि'—सिंह थोड़ा चलता है फिर अकड़कर खड़ा होकर इधर-उधर दृष्टि करके फिर चलता है। उसकी चितवन निर्भयताकी होती है। यही निर्भयता जाननेके लिये 'सिंह ठवनि' पद दिया, यथा—'**ठाढ़े भए उठि सहज सुभाए। ठवनि जुबा मृगराजु लजाए॥** १। २५४। ८।'

* चितइ—(छ०)।

वं० पा०—१ **'इत उत'** देखनेका भाव कि कोई मुखिया मिले तो कहला भेजें। (रा० प्र०—सिंह ठवनिके सम्बन्धसे 'इत उत चितव' कहा; सिंहावलोकन ख्यात ही है।) 'धीर' का भाव कि राजकुमारके वध करनेमें हृदयमें कम्प न हुआ। ३—'वीर' से संग्रामका उत्साही जनाया कि कोई भी बोले तो उसे भी मार ही डालूँ। 'बलपुंज कहा क्योंकि बली राजकुमारका पैर पकड़कर उसे दे पटका।

अङ्गद-दौत्य

मा० हं०—इस वर्णनमें हनुमन्नाटककी कल्पनाएँ कुछ फेर-फारके साथ ली हुई दिखायी देती हैं। परंतु उसका उपयोग प्रसंग-वर्णनको आकर्षक बनानेमें जितना होना चाहिये था, उतना हुआ-सा नहीं देख पड़ता। अङ्गदजीकी मर्मभेदक वक्रोक्ति और रावणकी बेढंगी गर्वोक्ति नमूनेदार है। इस वर्णनमें अङ्गद और रावण इनमें परस्पर गुणवैधर्म्य बड़ी ही खूबीसे दिखलाया गया है। अङ्गदजीकी तेजस्विता, आत्मविश्वास, स्वामिभक्ति (रामभक्ति) इत्यादि गुण उत्तरोत्तर कैसे वृद्धिंगत होते गये यह देखने योग्य है। रावण-सभामें किसीने भी पाँव उठाया तो सीताजीको हार जानेका जो पण अङ्गदने किया हुआ दर्शाया है वह उसके इन सभी गुणोंका अपरिमित उत्कर्ष ही समझना चाहिये।

'परंतु वैसा प्रण ठानना विषकी परीक्षा ही है इस समझसे अङ्गदके पाँवके समीप रावण आतेसे ही स्वामीजीने सब प्रसंग एकदम औंधा कर दिया। यह प्रसंग उलटानेका प्रकार इतना बेहद खूबीदार हुआ है कि वह कविकी कल्पकता, समय-सूचकता और विनोदी स्वभावका परिचय कराये बिना रह ही नहीं सकता।

'अङ्गददौत्यका गर्भितार्थ यह दिखता है कि रामजीका कृपापात्र एक छोटा-सा बंदरबच्चा भी रावण-सरीखेकी ताक़त और होश गूँगा कर देनेका सामर्थ्य रख सकता है। हमारी दृष्टिसे **'ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं जापर तुम्ह अनुकूल। प्रभु प्रताप बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल'** ॥ जो हनुमान्‌जीद्वारा कहा गया है उसीका यह अङ्गद-दौत्य-प्रकरण-केवल एक आदर्श ही हुआ है।'

पं० रा० चं० शुक्ल—अङ्गद और रावणका संवाद राजसभाके गौरव और सभ्यताके विरुद्ध है। पर इसका मतलब यह नहीं कि गोस्वामीजी राजन्यवर्गकी शिष्टताका चित्रण नहीं कर सकते थे। राजसमाजके सभ्य भाषणका अत्यन्त सुन्दर नमूना उन्होंने चित्रकूटमें एकत्र सभाके बीच दिखाया है। पर राक्षसोंके बीच शिष्टता, सभ्यता आदिका उत्कर्ष वे दिखाना नहीं चाहते थे।

गौड़जी—गोस्वामीजीने भिन्न-भिन्न सभाओंके विविध चित्र तत्तत्परिस्थितिके अनुकूल खींचे हैं। देवताओंकी सभाका वर्णन रावणके अत्याचारसे पीड़ित हो विचार करनेके प्रसंगमें है। स्वयंवर तो एक बड़ी राजसभा है। फिर चित्रकूटकी राजसभा श्रीरघुनाथजीकी ही है। यहाँ रावणकी सभा है। श्रीहनुमान्‌जी भी इस सभामें पधार चुके हैं। निषादराज भी अपनी टोलीका दृश्य दिखा चुके हैं। गोस्वामीजी यहाँ राक्षसी सभाका नमूना दे रहे हैं। वर्तमान जगत्‌में भी भिन्न-भिन्न देशोंकी सभाओंकी भिन्न-भिन्न दशा है। लंडनकी पार्लियामेंटमें घूँसेबाजी और गाली-गलौजतक होती है। अमेरिकाकी कांग्रेसमें लोग खर्राटे लेते रहते हैं। यदि इन सभाओंका कच्चा चिट्ठा कोई वर्णन करे तो उनकी असभ्यताकी कथा कहनेसे उसपर कोई जिम्मेदारी नहीं आती। रावणमें विनय, शील और सभ्यताका तो अभाव ही था। यदि ऐसा न होता तो आनेके साथ ही तेजवान् तथा सभासदोंसे अभ्युत्थानमानप्राप्त अङ्गदसे 'कवन तैं बंदर' न कहता। इस तिरस्कारपर अङ्गदको भी उसी ढंगपर उत्तर देना आवश्यक हुआ क्योंकि—**'मम जनकहि तोहिं रही मिताई। तव हित कारन आयेउँ भाई'** ॥ बापसे हारा था, अङ्गद उसके साथ खेला था, भाई करके सम्बोधन भी किया। इसपर भी रावणका ढंग नहीं बदला, क्योंकि देवताओंपर विजय पानेसे उसका मिज़ाज बेहद बहँका हुआ था। यह कहा जा सकता है कि हनुमान्‌जीने तो विनती की, हाथ जोड़े, स्वामी, प्रभु आदि कहा और अङ्गदजीने ठीक उलटा व्यवहार किया, इसमें अङ्गदकी उद्धतता और उजड्डपन था। इसका उत्तर यह है कि हनुमान्‌जी रावणके पास भेजे नहीं गये थे। अपनी ओरसे पहुँचे थे, स्वयं मन्त्री-पद भोगी थे, सरकारके सेवक थे अवश्य, परंतु रावणके दरबारमें गिरफ्तार होकर अभियुक्तकी हैसियतसे गये थे, जब उन्होंने अपनेको रामदूत जाहिर किया तब भी

अभियुक्त ही थे।। अपनी ओरसे दौत्य करनेमें विनय और शिष्टता बरतना कर्तव्य था। यहाँ अङ्गदजी उसीके पास भेजे हुए दूत हैं, कोई अभियुक्त नहीं हैं, रावणसे इनका अपना भी वास्ता है और बराबरीका वास्ता है, रावणके अशिष्ट व्यवहारका वैसा ही उत्तर इन्होंने दिया। इन्होंने अङ्गदके विशिष्ट शीलके उपयुक्त ही काम किया। अङ्गदजी महात्मा गान्धी या ईसा या राम तो न थे जो ब्राह्मण रावणके दुर्वचनपर उससे **'मारतहूँ पा परिय तिहारे'** कहते।

तुरत निसाचर एक पठावा। समाचार रावनहि जनावा॥ १॥
सुनत बिहँसि बोला दससीसा। आनहु बोलि कहाँ कर कीसा॥ २॥
आयसु पाइ दूत बहु धाए। कपि कुंजरहि बोलि लै आए॥ ३॥

अर्थ—तुरन्त एक निशिचर भेजकर (अपने आगमनका) समाचार रावणपर प्रकट किया॥ १॥ समाचार सुनते ही दशशीश (दूतके निरादरार्थ) बहुत हँसकर बोला कि उसे बुला लाओ, कहाँका बंदर है?॥ २॥ आज्ञा पाकर बहुतसे दूत दौड़े और वानरश्रेष्ठको बुला लाये॥ ३॥

☞ हनुमन्नाटकमें प्रहस्तका जाकर खबर देना और उसीका अङ्गदको जाकर साथ ले आना कहा है, यथा—**'ततः प्रविशत्यञ्जलिबद्धः प्रहस्तः। देव रामस्य दूतः शाखामृगो द्वारे॥ प्रवेशय। ततः प्रविशति प्रहस्तेन सहाङ्गदः॥'** (८। ४)। अर्थात् तदनन्तर प्रहस्त हाथ जोड़े हुए प्रवेश करके रावणसे कहता है—हे देव! रामका दूत एक वानर द्वारपर स्थित है। रावणने कहा 'प्रवेशय' अर्थात् ले आओ। तब प्रहस्त अङ्गदसहित दरबारमें आये. गोस्वामीजीने 'दूत बहु धाए' कहकर अङ्गदको अधिक सम्मान दिया है। रा० प्र०, बं० पा०—'एक' का अर्थ 'मुख्य' है। 'दूत बहु धाए' आज्ञापालनमें फुर्ती और आज्ञाकी उत्कर्षताका बोधक है। (पुनः 'एक' से जनाया कि द्वारपर कई द्वारपाल निशाचर थे उनमेंसे 'एक' भेजा गया)।

अंगद दीख दसानन बैसा*। सहित प्रान कज्जल गिरि जैसा॥ ४॥
भुजा बिटप सिर सृंग समाना। रोमावली लता जनु नाना॥ ५॥
मुख नासिका नयन अरु काना। गिरि कंदरा खोह अनुमाना॥ ६॥

शब्दार्थ—बैसना (सं० वेशन)=बैठना, यथा—**'जाइ कपिन्ह सो देखा बैसा। आहुति देत रुधिर अरु भैंसा॥ ७५। १।'** यह मागधी भाषाका शब्द है। (बं० पा०)। कंदरा=गुफा, गुहा। खोह=पहाड़के बीचका गहरा गड्ढा; दो पहाड़ोंके बीचमें की तंग जगह। अनुमानना=अनुमान वा अंदाज़ा करना, भावना, करना विचारना, समझना।

अर्थ—अङ्गदने दशाननको ऐसा बैठे हुए देखा जैसे कोई काजलका पर्वत प्राणोंसहित बैठा हो॥ ४॥ भुजाएँ, वृक्ष और सिर शिखरके समान हैं। शरीरकी रोमावली मानो बहुत-सी लताएँ हैं॥ ५॥ मुख, नाक, नेत्र और कान पर्वतकी कन्दराएँ और खोह-से लगते थे॥ ६॥

नोट—१ यहाँ रावण और गिरिका साङ्गरूपक बाँधा गया है। इसीसे अङ्गदको सिंह और गज दोनों कहा है। (रा० प्र०)। काजल बहुत काला वैसे ही रावण बहुत काला। पर्वतपर वृक्ष, शिखर, लताएँ और खोह होते हैं, यहाँ भुजाएँ, शिर, रोएँ, मुख, नाक और नेत्र तथा कान हैं। मुख और नासिका बहुत गहरे और भीतर होते हैं इससे वे कन्दराएँ हैं, नेत्र और कान बाहरके गढ़े हैं।

पु० रा० कु०—१ प्राणसहित कहकर चेतन जनाया नहीं तो जड़ समझा जाता। यहाँ व्यतिरेक अलंकार है—**'व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः।'** 'बैसा' भोजपुरी बोली है। २—काजलका पहाड़ एक लात लगते ही छिन्न-भिन्न हो जाता है वैसे ही यह एक लातसे होगा।

खर्रा—रावण उठा नहीं इससे जड़की उपमा दी और हाथ न उठाया इससे काष्ठकी उपमा दी, सिर न नवाया इसलिये शृंगकी उपमा दी। शिखर सबसे ऊपर होते हैं, शरीर पर्वत है उसके ऊपर शिर शिखर हैं।

* बैसा, जैसा—(का०), बैसे, जैसे—(भा० दा०)।

गएउ सभा मन नेकु न मुरा। बालितनय अति बल बाँकुरा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—नेकु=ज़रा भी, किञ्चित्। यह व्रजभाषाका शब्द है—(बं० पा०)। मुरना=मुड़ना, फिरना, पलटना, दबाव वा प्रताप देख लच वा डर जाना।

अर्थ—अत्यन्त बाँका बली बालिपुत्र सभामें गया, उसका मन (रावणका प्रताप देख) ज़रा भी न शङ्कित हुआ ॥ ७ ॥

नोट—१ पर्वताकार रावण और उसकी सभा देखकर मनमें जरा भी डर न हुआ। यह कहकर उसका कारण बताते हैं कि वह बालीका पुत्र है जो **'बाली रिपुबल सहै न पारा'**, और जिस बालीसे यह रावण भी पराजित हो चुका था। हारे हुएसे क्या डरना? फिर वह स्वयं बाँका बली है। सभाका वर्णन सुन्दरकाण्डमें कर ही चुके हैं। यथा—**'दसमुख सभा दीख कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई ॥ २० । ६ । कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता ॥ ७ ॥'**

वहाँ हनुमान्‌जीके विषयमें कहा था कि—**'देखि प्रताप न कपि मन संका। जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका ॥'**, वही सब भाव यहाँ **'मन नेकु न मुरा'** से सूचित करते हैं। सुं० २० (८) देखिये।

२ मन शङ्कित होनेका कारण उपस्थित था कि इन्द्र, वरुणादि सब सेवामें हाजिरी दे रहे हैं। एक ड्योढ़ीदार तक ब्रह्मादिकको डाँटता-फटकारता है। ऐसे रावणका प्रताप देख कौन न डर जाय? पर ये न डरे। प्रताप, यथा हनुमन्नाटके—**'ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयतां स्वल्पं जल्प बृहस्पते जडमते नैषा सभा वज्रिणः ॥ स्तोत्रं संहर नारद स्तुतिकथालापैरलं तुम्बुरो।** ८ । ४५।' अर्थात् (प्रतीहार सबको इस तरह डाँट रहा है—) हे ब्रह्मन्! यह पठनका समय नहीं है, चुप होकर बाहर बैठो। रे जडमति बृहस्पति! थोड़ा बोलो, यह इन्द्रकी सभा नहीं है। हे नारद! स्तोत्रोंको रहने दो। हे तुम्बुरु! कथाओंकी वार्तालापोंसे बस अब उनका कुछ प्रयोजन नहीं है। किसीने हनुमन्नाटकके इस भावको इस प्रकार लिखा है—**'पढ़ौ बिरंचि मौन बेद जीव सोर छंडिरे। कुबेर बेर कै कही न यज्ञ भीर मंडिरे ॥ दिनेश जाइ दूरि बैठि नारदादि संगही। न बोलु चंद मंद बुद्धि इन्द्र की सभा नहीं ॥'**

प० प० प्र०—चौपाईमें मात्रा कम करके जनाया कि यह बड़े आश्चर्यकी बात हुई। सभी देखनेवाले आश्चर्यचकित हो गये। इसका परिणाम अगली अर्धालीमें कहा है।

उठे* सभासद कपि कहुँ देखी। रावन उर भा क्रोध बिसेषी ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—सभासद=जो किसी सभामें सम्मिलित हो और उपस्थित विषयोंपर सम्मति देनेका अधिकार रखता हो। सदस्य।

अर्थ—सभासद कपिको देख उठकर खड़े हो गये (यह देख) रावणके हृदयमें बड़ा क्रोध हुआ ॥ ८ ॥

नोट—१ सभासदोंके उठनेका कारण अङ्गदका तेज है। तेजस्वीको देख बरबस दूसरोंमें उसके सम्मानका भाव आ जाता है। यथा—**'राजन राम अतुलबल जैसे। तेजनिधान लषन पुनि तैसे ॥** १ । २९३ । ३।' 'उठे सकल जब **रघुपति आए। बिस्वामित्र निकट बैठाए ॥** १ । २१४ । ६।'

इसी प्रकार परीक्षित् महाराजकी मुनि-सभामें जब शुकदेवजी आये तब यद्यपि वे १६ वर्षके बालक ही थे, सब मुनिसमाज देखकर आसनसे उठ खड़े हुए थे। यथा—भागवते (१ । १९ । २८)—**'प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्यस्तल्लक्षणज्ञा अपि गूढवर्चसम् ॥'** अर्थात् यद्यपि उनका तेज छिपा हुआ था तथापि उनके लक्षणोंको जाननेवाले समस्त मुनिजन उन्हें पहचानकर अपने आसनोंसे उठ खड़े हुए।

वि० त्रि०—**'उठे सभासद''''देखी'** इति। यहाँपर कवि अङ्गदजीका व्यक्तित्व कहते हैं। रावणका इतना भयानक व्यक्तित्व है (यथा—**'सहित प्राण कज्जल गिरि जैसा'**), पर उसका कोई प्रभाव अङ्गदजीपर नहीं पड़ा, पर अङ्गदजीके व्यक्तित्वका ऐसा प्रभाव सभासदोंपर पड़ा कि वे बैठे नहीं रह सके। उन सबोंने विचार-

---

* उठेउ—(भा० दा०), उठे—(का०)।

पूर्वक अङ्गदजीको अभ्युत्थान नहीं दिया। अङ्गदजीके देखनेसे उनके हृदयमें ऐसा धक्का लगा कि उठ खड़े हुए। सिंहके चले जानेसे मत्त गजयुथ विचारपूर्वक नहीं खड़ा होता। सिंहके देखने मात्रसे उनके हृदयपर ऐसा धक्का पहुँचता है कि वे बैठे नहीं रह सकते।

नोट—२ रावण यह समझकर क्रोधित हुआ कि दरबारमें मेरे बैठे हुए भी इन लोगोंने उसे अभ्युत्थान दिया। इस सम्मानसे उसके तेज और मानका अपमान हुआ। अपने सामने दूसरेका उत्कर्ष वह न सह सकता था। यहाँ असूया संचारीभाव है। रा० प्र० का मत है कि वह क्रोधित हुआ कि बंदरसे ऐसे डर गये, आगे क्या करेंगे।

दो०—जथा मत्त गज जूथ महुँ पंचानन चलि जाइ।
रामप्रताप सुमिरि* मन बैठ सभा सिरु नाइ॥ १९॥

शब्दार्थ—पञ्चानन=सिंह। सिंहको पञ्चानन कहनेका कारण लोग दो प्रकारसे बतलाते हैं। कुछ लोग तो पञ्चशब्दका अर्थ 'विस्तृत' करके पञ्चाननका अर्थ 'चौड़े मुँहवाला' करते हैं। कुछ लोग चारों पंजोंको जोड़कर पाँच मुँह गिना देते हैं और कहते हैं कि वह चारों पंजोंसे मुखके समान चीड़-फाड़ करता है इससे वे पंजे भी मुखके समान हैं। मत्त गज=वह हाथी जिसके मस्तकसे मद बहता हो। मतवाला हाथी।

अर्थ—जैसे मतवाले हाथियोंके झुंडमें सिंह चला जाता है (वैसे ही अङ्गद **'गयउ सभा मन नेकु न मुरा'**) हृदयमें श्रीरामप्रतापका स्मरण कर वे सभामें सिर नवा (प्रणाम करके) बैठ गये॥ १९॥

पु० रा० कु०—१९ (३) में कहा कि **'कपि कुंजरहि बोलि लै आये'** और यहाँ लिखते हैं कि **'पंचानन चलि जाइ'**, यह पूर्वापर विरुद्ध देख पड़ता है। इसका समाधान यह है कि—

(क) उपमामें वस्तुसे प्रयोजन नहीं है, गुणसे प्रयोजन है। वहाँ वानरोंमें कुञ्जर-सदृश अर्थात् श्रेष्ठ कहा और यहाँ जब राक्षसोंको 'मत्त गज यूथ' की उपमा दी; तब उनके बीचमें जाते हुए इनको पञ्चाननकी उपमा दी। जैसे मत्तगजसमूहमें सिंह निर्भय रहता है वैसे ही राक्षससमूहमें ये निर्भय चले गये—यह बात दिखानेके लिये यहाँ इनको सिंह कहा। यथा—**'ठाढ़ भए उठि सहज सुभाए। ठवनि जुवा मृगराज लजाए॥** १। २५४। ८।'... **'सहजहि चले सकल जगस्वामी। मत्त मंजु बर कुंजरगामी॥** १। २५५। ५।'

अथवा, (ख) रावणको इसी स्थानपर वन, कन्दरा, खोह इत्यादि कहकर वर्णन करना था, इससे इनको कुञ्जर और पञ्चानन दोनों कहा। वनके अनुकूल कुञ्जर कहा और खोहके अनुकूल पञ्चानन कहा। तात्पर्य कि जैसे कुञ्जर और सिंह वनमें निःशङ्क विहार करते हैं वैसे ही अङ्गद रावणके समीप निःशङ्क हैं।

अथवा, (ग)—विचार करनेसे कुछ विरोध नहीं है। जहाँ जैसा प्रयोजन होता है वहाँ वैसा कहते हैं। जैसे प्रथम अङ्गदको सिंह कहा, यथा—**'सिंह ठवनि इत उत चितव धीर बीर बलपुंज।** १८।' फिर 'कुञ्जर' कहा, यथा—**'कपि कुंजरहि बोलि लै आए'** और अन्तमें पुनः सिंह कहा, ऐसे ही श्रीरामलक्ष्मणजीके सम्बन्धमें जनकपुरके दूतोंके वचन हैं, यथा—

आदिमें—**'पूछन जोग न तनय तुम्हारे। पुरुषसिंह तिहुँ पुर उजियारे॥'**
मध्यमें—**'तहाँ राम रघुबंसमनि सुनिय महामहिपाल।**
भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकजनाल॥'
अन्तमें—**'कंपहिं भूप बिलोकत जाके। जिमि गज हरिकिसोर के ताके॥'**

नोट—१ (क) सिंह मत्तगजगणमें निर्भय और उत्साहपूर्वक जाता है, यथा—**'मनहु मत्त गजगन निरखि सिंहकिसोरहि चोप** । १। २६७।' सिंह निडर है; क्योंकि वह जानता है कि मैं अकेला सबको विदीर्ण कर डालनेको समर्थ हूँ। अतः निर्भीकतामें अङ्गदजीको पञ्चाननकी उपमा दी गयी। निशिचर मोटे, काले, ऊँचे और (मद्यपानसे) मतवाले हैं, एवं इनका मान-मर्दन बालिपुत्रद्वारा होना है, अतएव राक्षसोंको मत्तगजकी उपमा दी गयी। (वं०पा०)।

* सँभारि उर—पाठान्तर।

२—'रामप्रताप···' इति। यहाँ रघुवीरका ध्यान न कहकर प्रताप-स्मरण करना कहा। इसका भाव यह है कि सभाभरपर तेजका ऐसा प्रभाव देख वे रामप्रतापका स्मरण करने लगे अर्थात् आपके प्रतापसे ही यह बात हुई। (पं०)

३—**'बैठ सभा सिरु नाइ'**। 'सिरु नाइ' पद मानसमें अनेक स्थलोंमें आया है और उसका—मस्तक नवाकर या 'प्रणाम करके', यही अर्थ प्रायः सर्वत्र है। यथा—**'तब अंगद उठि नाइ सिरु सजल नयन कर जोरि०।** ७। १७।', **'भ्राताचरन सीस तेहि नावा। पुनि सिरु नाइ बैठ निज आसन॥** सुं० ३८। २-३।।' **'माथ नाइ पूछत अस भएऊ'** (कि०), **'सकल द्विजन्ह मिलि नायेउ माथा।** ७। ५। ५।', **'आयसु माँगि चरन सिरु नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई॥** कि० २३। ८।।' **'पाछे पवनतनय सिरु नावा।** कि० २३। ९।', **'कहि जय जीव बैठ सिरु नाई।** अ० ३८। ६।', **'सिर धरि बचन चरन सिरु नाई। रथ चढ़ि चलत भए दोउ भाई॥** अ० १८८। ७।'

वैसे ही यहाँ सभाको प्रणाम करके ही अङ्गदका बैठना अभिप्रेत है। सभाको प्रणाम क्यों किया? इसके तीन कारण यहाँ स्पष्ट हैं। एक तो रावण दिग्विजयी राजा है और राजसिंहासनासीन है, दूसरे पुलस्त्य ऋषिका नाती है, तीसरे सभासदोंने अङ्गदका अभ्युत्थानद्वारा सत्कार भी किया है, अतएव नीति और शिष्टाचार दोनों अङ्गदके प्रणामके पक्षमें हैं। राजाके भावसे ही हनुमान्‌जीने रावणको 'प्रभु', 'स्वामी' इत्यादि कहा है, यथा—**'खायउँ फल प्रभु लागी भूखा', 'सबके देह परम प्रिय स्वामी'**—(सुं० २२)। बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि 'सभाको ईश्वररूप जानकर प्रणाम किया—जहाँ पंच तहाँ परमेश। राजाका शरीर सर्वदेवमय होता है इसलिये उसे सिर नवाया।'* प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि अङ्गदकी शिष्टतामें 'जैसे को तैसा' यह विशेषता सर्वत्र झलकती है। सभासदोंने प्रत्युत्थान दिया अतः इन्होंने भी सबको प्रणाम किया। इससे अङ्गदकी विनयशीलता सूचित की।

कह दसकंठ कवन तैं बंदर। मैं रघुबीर दूत दसकंधर॥ १॥
मम जनकहि तोहि रही मिताई। तव हित कारन आयउँ भाई॥ २॥

शब्दार्थ—दसकंधर=दशग्रीव, रावण। कंधर=ग्रीवा, गर्दन।

अर्थ—दशग्रीव बोला—अरे बंदर! तू कौन है? (अङ्गदने उत्तर दिया—) हे दसकंधर! मैं रघुवीरका दूत हूँ॥ १॥ मेरे पितासे और तुझसे मित्रता थी, इससे हे भाई! मैं तेरी भलाईके लिये आया हूँ॥ २॥

नोट—**'कह दसकंठ कवन तैं बंदर'** इति। सभासदोंने अङ्गदको अभ्युत्थान दिया यह देख रावण इसमें अपना अपमान समझकर कुढ़ गया है, यथा—**'उठे सभासद कपि कहँ देखी। रावन उर भा क्रोध बिसेषी॥** १९। ८।।' इसीसे वह इस तरह अपमान करते हुए बोला—'बन्दर! तू कौन है?' रावण अपने सामने दूसरेका उत्कर्ष सह नहीं सकता, यह उसका स्वभाव है, अतः ये वचन उसके स्वभावके अनुकूल हैं 'कवन तैं बन्दर' में यह भी भाव ले सकते हैं कि जो पूर्व आया था वही तो नहीं है? हनु० ८। ५ में ऐसा ही प्रश्न है, यथा—**'सोऽपि त्वं कमित्रावगच्छसि पुरा योऽङ्गहि लाङ्गूलतो'**।

नोट—२ (क) 'रघुबीर दूत'। भाव कि त्रैलोक्यमें ऐसा वीर कोई नहीं है। आगे इसको विस्तारपूर्वक कहेंगे। पुनः, यह भी जनाया कि मैं उनके पक्षका हूँ पर तू मेरे पिताका मित्र है इससे तेरा भी भला मैं चाहता हूँ इसीसे मैं दूत बनकर आया हूँ कि तुझे समझा दूँ, तू मेरा कहा अवश्य मानेगा। 'रघुवीर' पदसे वाल्मीकिके **'कोशलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः'** और सुं० २१ (७)-२१ में के **'तुम्ह से सठन्ह सिखावन दाता'** इत्यादिके भाव

* (१) तेजसे सब सभासद खड़े हो गये, इस प्रकार उनका सिर नीचा करके सभामें बैठा। वा, (२) अङ्गदको उत्थापन देकर जब अङ्गद बैठ गये तब सभासद भी अङ्गदको सिर नवाकर बैठ गये, (मा० म०, पं०)। वा, (३) अङ्गद बैठ गये, इनके बैठनेसे सारी सभाका सिर भयसे नीचा हो गया—(पां०)। वा, (४) हृदयमें स्थित रामजीका स्मरण और उन्हींको प्रणाम करके बैठ गया।—(पं०, करु०)।

भी जना दिये हैं। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'रघुवीर' शब्दके भाव अङ्गदके अगले वचनोंमें निहित हैं। 'हरि आनेहु' से युद्धवीरता, **'सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा'** से विद्यावीरता (प्रभु) और धर्मवीरता, 'प्रनतपाल' और 'अभय करेंगे' से कृपा और दानवीरता जनायी। इस तरह इस शब्दसे श्रीरामजीकी पंचवीरता सूचित की। वन्दन-पाठकजी कहते हैं कि इससे जनाया कि वे तेरे वधके उत्साही हैं। (बं० पा०)। 'रघुवीर दूत' से गीतावलीके **'खर दूषन त्रिसिरा कबंध रिपु जेहि बाली जमलोक पठाएउ। ताको दूत पुनीत चरित हरि प्रभु संदेस कहन हौं आयो॥ ६। २।'** का भाव भी है। (ख) 'दसकन्धर' इति। जैसे रावणने 'बंदर' सम्बोधन किया था वैसे ही अङ्गदने 'दसकन्धर' सम्बोधन किया। जैसेको तैसा। रावण, सुरारि, निशाचरपति आदि शब्द ऐश्वर्यबोधक हैं, वैसा 'दसकन्धर' नहीं है (प० प० प्र०)। आगेके दो चरणोंमें भी 'तोहि' 'तव' निरादरसूचक एकवचनका प्रयोग किया है।

३ 'मम जनकहि' इति। इसमें व्यङ्गसे रावणकी लघुता भी सूचित करते हैं। मिलान कीजिये—**'कस्त्वं? वालितनूद्भवो रघुपतेर्दूतः।'**—(हनु० ८। ३९) **'हितं तु ब्रूमस्त्वां मम जनकदोर्दण्डविजयस्फुरत्कीर्तिस्तम्भस्त्यज कमलबन्धोः कुलवधूम्॥ ३८।'** अर्थात् तू कौन है? मैं रघुपतिदूत बालिका पुत्र हूँ। मैं तेरे हितकी कहता हूँ क्योंकि तू मेरे पिताके भुजदण्डोंकी विजयकी कीर्तिके लिये स्तम्भरूप है—यह गूढ़ोत्तर अलङ्कार है।—इस तरह इसमें व्यङ्ग यह है कि मेरा पिता तुम्हारा मित्र था, मित्रको चाहिये कि अपने मित्रका यश न डूबने दे उसको स्थित रखे; पर तू जो काम कर रहा है इससे अवश्य मारा जायगा, तेरे मारे जानेसे तेरे मित्रकी कीर्तिका स्मारक स्तम्भ नष्ट हो जायगा। अतः मैं तुमको उत्तम बुद्धि प्रदान करने आया हूँ।

प० प० प्र०—भाव यह है कि तेरा बल और प्रताप इतना बड़ा है कि तुझे एक बंदरके साथ मित्रता करनेकी आवश्यकता पड़ गयी। मेरे पिताने जैसा तेरा हित किया वैसा ही मैं भी करना चाहता हूँ।

पु० रा० कु०—१ (क) **'तव हित कारन…'** का भाव कि न हमारा कुछ काम है और न रामके ही कामके लिये आया हूँ, जिससे तुम्हारा हित हो उस तुम्हारे ही कामके लिये आया हूँ। हितके लिये यों आया कि पिताके मित्र हो। (ख) 'आएउँ भाई' इति। रावण राजा है और पिताका मित्र है इस सम्बन्धसे चाचा है, तब उसको 'भाई' कैसे कहा? उत्तर—अङ्गद उससे सब सम्बन्ध तोड़े हुए बातें कर रहे हैं अथवा उसकी लघुता-सूचनार्थ भाई सम्बोधन किया?

गौड़जी—हिंदीमें 'भाई' पद घनिष्ठ सम्बन्धियोंके सम्बोधनमें उसी तरह प्रयुक्त होता है जिस तरह संस्कृतमें 'तात'। यहाँ भी पिताकी मित्रतासे घनिष्ठताका सम्बन्ध है।

नोट—'तव हित कारन' कहा क्योंकि प्रभुने कहा था कि 'तासु हित होई' सो कहना। 'भाई' बराबर-वालोंके लिये भी यह एक प्रकारका सम्बोधन है। जैसे,—'बर अनुहारि बरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई॥ १। ९३। १।' रावणने भी उत्तरमें 'भाई' सम्बोधन किया है, यथा—'कहु निज नाम जनक कर भाई। २१। २।' यह साधरण बोलचालकी रीति है।

उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती। सिव बिरंचि पूजेहु बहु भाँती॥ ३॥
बर पाएहु कीन्हेहु सब काजा। जीतेहु लोकपाल सब राजा॥ ४॥

अर्थ—तुम्हारा कुल उत्तम है। तुम पुलस्त्यजीके नाती हो। तुमने शिवजी और ब्रह्माजीकी बहुत प्रकारसे पूजा की (और उनको प्रसन्न किया) है॥ ३॥ उनसे बहुत प्रकारके वर पाये और सब कार्य किया। सब लोकपालों और सब राजाओंको जीता॥ ४॥

नोट—१ (क) **'तव हित कारन आएउँ'** कहकर अब यहाँ वह 'हित' कहते हैं। (ख) 'उत्तम कुल०' इति। ब्रह्माके मानसी पुत्र पुलस्त्यजी हुए। पुलस्त्यजीके पुत्र विश्रवाजी हुए और उनका पुत्र रावण है। पुलस्त्य-कुलोद्भव होनेसे 'उत्तम कुल' कहा, यथा—**'रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका। तेहि ससि महुँ जनि होहु कलंका॥**

५ । २३ । २ ।' एवं **'उपजे जद्यपि पुलस्त्यकुल पावन अमल अनूप** । १ । १७६ ।' (ग) **'सिव बिरंचि पूजेहु बहु भाँती'** इति । तप, जप, यज्ञ, ब्रह्माकी आज्ञाओंका पालन, अपने सिरोंका बलिदान, सिर काटकर रुधिरधारासे शिवपदकमलका प्रक्षालन, इत्यादि 'बहुत भाँति' की पूजा है । 'बहु भाँती' दीपदेहरी है । बहु भाँति पूजा की और बहु भाँतिके वर पाये । 'पूजेहु' कहकर 'बर पाएहु' कहनेका भाव कि पूजनसे दोनों संतुष्ट हुए; दोनोंने वर दिये, नर-वानर छोड़ सबसे अमर किया और भी अनेक वर समय-समयपर दिये—(ये प्रसङ्ग आनेपर लिखे गये हैं)। (घ) 'कीन्हेउ सब काजा०' के भाव ७ (२) और ८ (३-४) में आ चुके । (ङ) 'सब राजा' से मनुष्य राजाओंको भी जीतना कहा, लोकपालमें सुरराज आ गये और राक्षस-राज तो वह स्वयं ही है । ☞ मा० म० और पं० 'सुरराजा' पाठ देते हैं ।

प० प० प्र०—'बर पाएहु···' में व्यङ्ग यह है कि तुमने जो कुछ पराक्रम किया वह केवल वर-सामर्थ्यसे; तुममें अपनी निज शक्ति कुछ नहीं है । और मेरे पिताकी शक्ति तो उनकी स्वसम्पादित थी, वरलब्ध नहीं ।

नोट—☞ २ (क) 'उत्तम कुल०' से कुलकी श्रेष्ठता कही, फिर तीन चरणोंमें उसकी निज श्रेष्ठता कही । इनमें रावणका उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन 'सार अलंकार' है—**'उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते'** । पुनः, प्रथम उत्तम कुल कहा, फिर उसका फल कहा कि शिवविरंचिकी पूजा की—ब्रह्मा कुलके पुरुष हैं और शिव इष्टदेव हैं । इन दोनोंको प्रसन्न करनेका फल कहा कि अनेक वर पाये, यथा—**'काहु न इन्ह सम सिव अवराधे । काहु न इन्ह समान फल लाधे'** ॥ फिर वर-प्राप्तिका फल कहा कि बड़े-बड़े दुर्गम कार्य कर डाले, दिग्विजय किया । (ख) इस कथनमें भाव यह है कि इन सबका फल होना चाहिये हरिभक्ति, यथा—**'सिवसेवा कर फल सुत सोई । अबिरल भगति रामपद होई** ॥ ७ । १०६ । २ ।' ये सब श्रीरामजीकी भक्ति करते हैं, यथा—**'रामहिं भजहिं तात सिव धाता** । ७ । १०६ । ३ ।' पर तुम इसके विपरीत कर्म करते हो जो कुलोचित नहीं हैं और जिससे कुलमें कलंक लगता है ।

३—मिलान कीजिये—**'तू दसकंठ भले कुल जायो । तासहँ सिव सेवा बिरंचिबर भुजबल बिपुल जगत जस पायो** ॥ गी० ६ । २ ।'

बं० पा०—कुलपरम्पराको लेकर हितोपदेश करते हैं कि बड़े कुलवालेको बड़े उत्तम काम करने चाहिये, विचारिये तो आपका कुल उत्तम है और आपने कर्म भी उत्तम किये कि शिवादिका पूजन किया; जिससे उनकी प्रसन्नतासे वर पाया, अखण्ड चक्रवर्ती राज्य किया, जन्मभर बड़े ही काम करते आये; पर यह एक काम तुमसे छोटा हो गया कि तुमने पर-स्त्री-हरण किया ।

मा० म०, पं०—तुम्हारे पिता, पितामह आदि तुम्हारे कर्म देख लज्जित होते हैं । यदि वह कहे कि मैंने ऐसे कर्म नहीं किये तो उसपर आगे कहते हैं कि 'नृप अभिमान०' ।

नृप अभिमान मोह बस किंबा । हरि आनेहु * सीता जगदंबा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—किंबा=किंवा अथवा, यदि वा, या तो । आनेहु=लाये, ले आये ।

अर्थ—राज्यमदसे अथवा मोहवश तुम जगन्माता श्रीसीताजीको हर लाये ॥ ५ ॥

मिलान कीजिये—(**रामः—'भो महावीराङ्गद !'**) **'अज्ञानादथवाऽऽधिपत्यरभसादस्मत्परोक्षे हृता । सीतेयं परिमुच्यतामिति वचो गत्वा दशास्यं वद ॥'** अर्थात् रामचन्द्रजीने अङ्गदसे कहा कि हे महावीर ! तुम जाकर रावणसे इस प्रकार कहो कि अज्ञान (मोह) से अथवा राज्यके गर्वसे हमारे पीछे चुरायी हुई सीताको तुम छोड़ दो । (हनु० ८ । २) । पुनश्च **'श्रीमद नृप अभिमान मोहबस जानत अनजानत हरि लायो** । गी० ६ । २ ।'

पं०—भाव कि तुमने जान-बूझकर न किया होगा । पर राजमदसे या मतिमें भ्रम हो जानेसे ऐसा किया होगा ।

नोट—१ 'नृप-अभिमान' का भाव कि राज्यसे राजमद एवं मोह, और इनके होनेसे धर्म-मर्यादाका उल्लङ्घन हो जाता है । तुमने धर्म-मर्यादा मिटा दी, इससे जान पड़ता है कि तुम्हें या तो राज्याभिमान हो गया है या मोह ।

* आनिहु—(भा० दा०) ।

यथा—'बिषई जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोहबस होहिं जनाई॥ भरत नीतिरत साधु सुजाना। प्रभुपद प्रेम सकल जग जाना॥ तेऊ आजु राजपद पाई। चले धरम मरजाद मिटाई॥...भरतहि दोसु देइ को जाए। जग बौराइ राजपद पाये॥ अ० २२८।'

राजमदसे कलङ्क होता है, यथा—'केहि न राजमद दीन्ह कलंकू। २। २२९। १।' और मोहसे नाश होता है। तुमको इस कर्मसे कलङ्क मिलेगा और नाश होगा—'तेहि ससि महँ जनि होहु कलंका। ५। २३। २।', 'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला॥...एक व्याधि बस नर मरहिं ए असाध्य बहु व्याधि॥' नृप-अभिमान यह कि मेरे समान संसारमें दूसरा कोई नहीं है।

२ 'हरि आनेहु सीता जगदंबा' इति। 'हरि आनेहु' का भाव कि सूनेमें चोरीसे ले आया, श्रीलक्ष्मणजीके भी रहते ले आनेका साहस न हुआ। 'सीता जगदंबा' का भाव कि वे जगज्जननी हैं। तेरे पिता, पितामह, गुरु, ब्रह्मा और शिवजीकी भी माता हैं। तब तेरी भी माता हुईं। उनका हरण अधर्म है। 'जगदंबा' को हर लाना कहनेका भाव कि साधारण किसी भी पर-स्त्रीका हरण महा-अपराध है और ये तो जगदम्बा हैं। कुम्भकर्णने भी कहा है कि 'जगदम्बा हरि आनि अब सठ चाहत कल्यान। ६१।' अर्थात् इनके हरणके पापकी तो मिति ही नहीं। पुनः 'जगदम्बा' कहकर श्रीरामजीका जगतपिता परब्रह्म परमात्मा होना जनाया। श्रीहनुमान्‌जीने जो प्रभुका ऐश्वर्यरूप कहते हुए उत्तर दिया था वह इसमें आ गया।

पं०—तुमने उत्तम-उत्तम कर्म किये अतः यह कर्म तुमसे न होना चाहिये था। जान पड़ता है कि राजमद या मोह हो गया होगा उसीसे ऐसा बुरा कर्म तुमसे जान या अनजानमें हो गया।

अब सुभ कहा सुनहु तुम्ह मोरा। सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा॥ ६॥
दसन गहहु त्रिन कंठ कुठारी। परिजन सहित संग निज नारी॥ ७॥
सादर जनकसुता करि आगे। एहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे॥ ८॥

अर्थ—अब तुम मेरा कल्याणकारी कहना सुनो। प्रभु तुम्हारे सब अपराध क्षमा करेंगे॥ ६॥ दाँतों तले तिनका दाबो। कंठमें कुठारी बाँधो। कुटुम्बियोंसहित अपनी स्त्रियोंके साथ श्रीजानकीजीको आदरपूर्वक आगेकर इस प्रकार सब भय छोड़कर चलो॥ ७-८॥'

नोट—१ 'अब' का भाव कि जो कुछ हुआ, सो हुआ अब भी कुछ विशेष हानि नहीं हुई है। 'शुभ कहा' अर्थात् इससे तुम्हारा कल्याण होगा। पुनः, शुभका भाव कि इससे सबका कल्याण है। 'रघुनाथजी पौलस्त्य-वधके पापसे बचेंगे', श्रीसीताजी सुखी होंगी, मुझको यश होगा, तेरा राज्य अचल होगा, मन्दोदरी आदिका सोहाग बना रहेगा। (पं०)। (ख) 'सब अपराध'—सीताहरण, जटायुवध, विभीषणका अनादर और चरणप्रहार, ब्राह्मण, गौ, ऋषि, मुनि और देवतादिको मदमत्त होकर सताने आदिके अपराध, इत्यादि। यथा वाल्मी० यु० ४१—'ऋषीणां देवतानां च गन्धर्वाप्सरसां तथा। नागानामथ यक्षाणां राज्ञां च रजनीचर॥ ६२॥ यच्च पापं कृतं मोहादवलिप्तेन राक्षस। नूनं ते विगतो दर्पः स्वयम्भूवरदानजः॥ ६३॥—(श्रीरामवचन)

☞ २ 'अब सुभ...तोरा' इस वार्तालापमें यह प्रभुकी ओरसे अङ्गदकी पहली प्रतिज्ञा है कि क्षमा माँगो तो भगवान् तुम्हें छोड़ देंगे; परन्तु क्षमापनकी शर्तें ऐसी कठिन रखीं कि रावण-सा स्वाभिमानी उन्हें स्वीकार ही नहीं कर सकता था। इतना ही नहीं इन शर्तोंको सुनकर ही उसके क्रोधका पारा कितना ऊँचे चढ़ जाता है। यदि रावण अङ्गदका कहा मान जाता तो विभीषणको राज्य कैसे मिलता? प्रतिज्ञा भंग हो जाती। यह बात अङ्गद उसी तरह जानते थे जिस तरह वह रावणकी ऐंठको खूब समझते थे। इसीलिये इस बतकहींमें 'काज हमार तासु हित' दोनों बातें मौजूद हैं।

पु० रा० कु०—'दसन गहहु तृन कंठ कुठारी।...' इति। दाँत तले तिनका दाबनेका भाव कि हम पशु समान अज्ञ हैं यह सूचित करनेके लिये ऐसा करो। 'कंठमें कुठारी गहहु' का भाव कि हमने अपने हाथसे अपना सिर काटा कि सीताहरण किया। ऐसा करनेसे वे तुम्हें न मारेंगे। यथा—'रिपवोऽपि विमुच्यते दन्ताग्रे तृणधारणात्', 'जे तृण दंतहि

धरहि तिनहि मारहि न सबल कोइ' ॥ [पुनः, दाँतमें तृण दाबनेका भाव कि पशुके समान दीन बनकर जाओ। 'कंठ कुठारी' का भाव कि हमने अपराध किया है, यह कुठार हमारी गर्दनपर है, चाहे इससे हमारी गर्दन काट डालिये, चाहे रखिये। हम शरणमें हैं, जो चाहें कीजिये। बड़ा भारी अपराध क्षमा करानेकी यह एक रीति है। यह सब ऐसा करनेवालेकी अति हीनता दीनताका सूचक है। यहाँ 'अस्फुट गुणीभूत व्यङ्ग' है। मिलान कीजिये—"**कही राजा रानी सों जु बात यह साँच भई आँच लागी हिये अब कहो कहा कीजिए। चलेही बनत चले सीस तृण बोझ भारी गरेसों कुल्हारी बाँधि तिया संग भीजिए ॥ निकसे बजार ह्वै के डारि दई लोकलाज कियो मैं अकाज छिन छिन तन छीजिये। दूर ते कबीर देखि ह्वै गए अधीर महा, आये उठि आगे कह्यो डारि, मति रीझिये ॥**" (भक्तिरसबोधिनीटीका कवित २७६)। *

वि० त्रि०—सरकारने कहा था '**काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई**' ॥ अङ्गदजी ठीक तदनुरूप बोल रहे हैं, कहते हैं कि आदरपूर्वक जनकसुताको आगे करके चलो, जिससे देखते ही सरकारको सन्तोष हो कि 'काम मेरा हो गया'; पर इतनेसे ही रावणका कल्याण नहीं है, उससे जगदम्बाहरणरूप ऐसा अपराध बन पड़ा है, कि जिसमें क्षमाको स्थान नहीं है उस अपराधके क्षमापनका उपाय तो यथार्थरूपसे शरण ग्रहण है। शरणकी परिभाषा शास्त्रकारोंने इस भाँति दी है कि '**अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिंचनोऽगतिः। त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः। शरणागतिरिति प्रोक्ता तद्देवे विनियुज्यताम् ॥**' मैं अपराधोंका आलय हूँ, न मेरे पास कोई साधन है, न कोई गति है। आप ही कृपा करके मेरे लिये उपायभूत हो जाइये। यह शरणागतिकी सामान्य विधि है, यहाँ परिस्थितिके अनुसार वाञ्छनीय विधि यह है कि दाँततले तृण दाबो कि मैं आपकी गाय हूँ, कण्ठमें कुठारका भाव यह कि जो उचित समझिये दण्ड दीजिये मुझे सब स्वीकार है। मैं ही नहीं मेरे बाल-बच्चे सब हाजिर हैं। सीताजीकी शुद्धिके विषयमें मेरी स्त्रियाँ प्रमाण हैं (यथा '**तेहि अवसर रावन तहँ आवा। संग नारि बहु किये बनावा**' इत्यादि)।

नं० प०—दाँतमें घास दबानेका भाव कि गऊ बन जाओ तो गऊका वध वे न करेंगे। 'कंठ कुठारी'—भाव कि गला कटा हुआ मृतकके समान है, इससे मरे हुएको कोई नहीं मारता। अतः तुम्हारा अपराध क्षमा हो जायगा।

नोट—३ '**परिजनसहित संग निज नारी**' इति। भाव कि—१ (क) अपराध क्षमा करानेके लिये इनको भी साथ लाया हूँ। अथवा, ये साक्षी हैं कि हमने श्रीसीताजीको सुखी रक्खा है। वा, मन्दोदरी भक्त है इसका मैं पति हूँ, इसकी ओर दृष्टि करके मुझपर कृपा कीजिये। (पं०)। (ख) मैंने आपकी स्त्री हरण की, मेरी सब स्त्रियाँ हाजिर हैं, जो चाहे कीजिये। वा, अपनी लीजिये और हमारी भी सेवाके लिये हाजिर हैं। (बं० पा०)। ☞ गी० लं० १ में मन्दोदरीने स्वयं कहा है कि मुझे आगे करके ले चलो, यथा—'**चलु मिलि बेगि कुसल सादर सिय सहित अग्र करि मोहिं। तुलसीदास प्रभु सरन शब्द सुनि अभय करहिंगे तोहि ॥**' तथा क० लं० १७ में दाँततले तिनका दाबकर शरण होनेको कहा है, यथा—'**कंत! तृन दंत गहि 'सरन श्रीराम' कहि, अजहुँ यहि भाँति लै सौंपु सीता।**'

'सादर जनकसुता करि आगे।०' इति।

पं०, मा० म०—श्रीसीताजीको सुखपाल पालकीपर चढ़ाकर आगे करो, तुम उनके आश्रित हो पीछे चलो। भाव कि माताके आश्रित बालककी तरह पीछे-पीछे चलो। अथवा, श्रीसीताजीको आगे देखते ही प्रभुका कोप निवृत्त हो जायगा तब पीछे तुम्हें देख तुमपर कृपा करेंगे। २ पां०—'जनकसुता' पदका भाव कि ये लङ्कामें वैसे ही रही हैं जैसे जनकजीके घरमें रहती थीं। अब मैं इनको समर्पण करता हूँ।

नोट—४ (क) 'एहि बिधि चलहु,' यहाँतक चलनेका प्रकार दिखाया। आगे श्रीजानकीजी, उनके पीछे तुम्हारी स्त्रियाँ, फिर कुटुम्बी, तब तुम। (ख) 'सकल भय त्यागे'। भाव कि इस प्रकार चलनेपर फिर तुम्हें कोई भय नहीं रहेगा। रघुनाथजी अवश्य तुम्हें क्षमा करेंगे। 'सकल भय'—अपराधक्षमा, राज्यच्युत होने, इत्यादिका।

* मा० म०—कंठकुठार गला छेदनेवाले कुठारको कहते हैं। पुनः, ऐंठे हुए वस्त्रसे गला बाँधनेको कंठकुठार कहते हैं। पुनः, कण्ठकुठार=काठका तौक जो गाय-बैलके गलेमें डाला जाता है। पुनः, कण्ठकुठार=गलेमें फँसरी-सरीखा बँधा हुआ वस्त्र।

दो०—प्रनतपाल रघुबंसमनि त्राहि त्राहि अब मोहि।
आरत गिरा सुनत* प्रभु अभय करहिंगे† तोहि॥ २०॥

अर्थ—'हे शरणागतके पालन करनेवाले ! हे रघुवंशशिरोमणि ! अब मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये' (इस प्रकार चलकर कहनेसे) तुम्हारी आर्त्तवाणी सुनते ही प्रभु तुमको अवश्य निर्भय करेंगे॥ २०॥

नोट—१ 'प्रणतपाल' का भाव कि मैं शरणागत हूँ यद्यपि विश्वद्रोही हूँ। आप शरणागतकी सदा रक्षा करते हैं, हमारी भी रक्षा कीजिये। यथा—'**सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा॥ ५। ३९। ७॥**'

२—'**रघुवंशमणि**' का भाव कि रघुकुलमें सभी शरणपाल होते आये और आप तो उस कुलके शिरोमणि हैं, मेरी रक्षा कीजिये। ३—'आरत गिरा'। 'त्राहि त्राहि' यह आर्तवाणी है, यथा—'**चले भागि कपि भालु भवानी। बिकल पुकारत आरत बानी। पाहि पाहि प्रनतारति हारी॥ ६९। ४।**'

प० प० प्र०—श्रीहनुमान्‌जीने रावणसे कहा था कि '**प्रनतपाल रघुनायक करुनासिंधु खरारि। गए सरन प्रभु राखिहैं तव अपराध बिसारि॥ ५। २२।**' जब विभीषणजी शरण गये तब उन्होंने '**श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर। त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥ ५। ४५।**' ऐसा कहा। इन दोनों वाक्योंका यहाँके अङ्गदवाक्यसे मिलान करनेसे स्पष्ट है कि 'प्रभु' शब्द तीनोंमें है। यहाँ 'रघुबंसमनि' है। इसके बदलेमें ५। २२ में 'रघुनायक' और ५। ४५ में 'रघुबीर' है। विभीषणका रक्षण बिना रावणके विनाशके असम्भव है यह जानकर वहाँ 'रघुबीर' शब्दका प्रयोग किया गया। रावणका रक्षण करनेमें केवल क्षमाकी आवश्यकता थी, अतः यहाँ तथा ५। २२ में 'रघुबीर' शब्दकी आवश्यकता न थी। 'रघुबंसमनि' का भाव ऊपर नोटमें आ गया है।

रे कपिपोत ‡ बोलु संभारी। मूढ़ न जानेहि मोहि सुरारी॥ १॥

शब्दार्थ—पोत=पशु-पक्षी आदिका छोटा बच्चा, लघु बालक। '**पोतःस्याद्‌बृहती नौका पोतःस्याल्लघुबालके' इत्यनेकार्थशब्दमाला।**

अर्थ—अरे वानरके बच्चे ! सँभालकर बोल। अरे मूर्ख ! तू मुझको नहीं जानता कि मैं देवताओंका शत्रु हूँ॥ १॥

प० प० प्र०—'कपिपोत' सम्बोधनसे रावणने बालीको एक साधारण कपि और अङ्गदको एक क्षुद्र बंदर सिद्ध किया। इस तरह सभासदोंके हृदयमें उसने धीरज बँधाया। अङ्गदके समान एक वानर त्रैलोक्यविजयी सुरारि रावणका उसीकी राजधानीमें भरी सभामें इतना अपमान करता है तथापि वह कुछ दण्ड नहीं देता, इससे मानसके रावणकी इन्द्रियनिग्रह शक्ति और अङ्गदकी तेजस्विताका सुचारुरूपेण दर्शन होता है।

नोट—१ 'सुरारी' का भाव कि मैंने इन्द्रादि देवताओंको जीता है ऐसे मुझ पराक्रमशाली रावणको मनुष्यके अधीन होने, उससे विनती करनेको कहता है। मुझे तृणवत् समझता है। मैं मनुष्यको क्या समझता हूँ। यथा (हनु० ८। २५)—'**विस्पष्टं विष्टपानां विजयिनमपि मां मन्यसे त्वं तृणाय**'।

गौड़जी—महाभारत वनपर्व, २८३ वें अध्यायमें, जो रामोपाख्यानके अन्तर्गत है, कुछ इसी प्रकारका सन्देश है जिसपर रावण क्रोधसे मूर्च्छित हो जाता है और उसके इशारेसे चार राक्षस अङ्गदसे लिपट जाते हैं। उसकी वदनीयती देखकर अङ्गदजी जोरसे धक्का देते हुए उछलकर छतपर हो जाते हैं और चारोंको जो धरतीपर गिरते हैं, गहरी चोट आती है। अङ्गदजी उछलकर फिर लङ्कापुरी लाँघकर सुबेल शैलके समीप श्रीराघवजीके पास पहुँचते हैं।—(वाल्मी० ४१। ८२-८९ में भी ऐसी ही कथा है)। महाभारतका रावण क्रोधावेशमें बेअख्तियार हो जाता है परंतु मानसका रावण अधिक मानसिक बल रखनेवाला है। साथ ही अङ्गदका दौत्य भी इतनी जल्दी समाप्त नहीं होता।

---

* सुनतहि आरत बचन—(का०)। † करहिंगे—(का०, रा० गु० द्वि०), करैगो (भा० दा०)।
‡ पाठान्तर—कपि पोच। ☞ २—का० एवं भा० दा० दोनोंमें 'रे कपिपोत बोलु' पाठ है। ना० प्र० ने 'रे करैपोत न बोल' पाठ दिया है, किस प्रतिलिपिका यह पाठ है इसका पता नहीं है।

कहु निज नाम जनक कर भाई। केहि नाते मानिए मिताई॥ २॥

अर्थ—भाई! अपना और अपने बापका नाम बता। किस नाते (सम्बन्ध) से मित्रता मानता है॥ २॥

नोट—१ (क) अङ्गदकी मानमर्दन करनेवाली बातें बढ़ती हुई एवं उनका उत्साह बढ़ता देख पहले उनको 'रे कपि पोत—' कहकर चुप किया और अपना बल 'सुरारी' पदसे जनाकर तब अङ्गदने जो पूर्व कहा था कि **'मम जनकहि तोहि रही मिताई'** वही पूछने लगा। इसीसे पहिले 'कपिपोत' सम्बोधन किया और अब 'भाई'। क्योंकि अङ्गदने भी मित्रता कहनेमें 'भाई' सम्बोधन किया था। (ख) अभीतक अङ्गदने न अपना नाम कहा था और न पिताका और न यह कि क्या मित्रता थी। अतएव वही तीनों प्रश्न रावणने किये। (ग) 'केहि नाते' का भाव कि मित्रता अनेक कारणोंसे होती है, उनमेंसे किस नातेसे मुझसे तेरे पितासे मित्रता है। ध्वनि यह भी है कि हम राक्षस हैं तू वानर है, वानर और राक्षसमें मित्रता कैसी? तब और क्या सम्बन्ध है? यह ध्वनि सूचित होना 'वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग' है। 'मानिये' का भाव कि मित्रको मित्र जानता है; पर हम तुम्हें नहीं जानते तब बता कि किस नाते तूने मित्रता मान ली। (घ) मिलान कीजिये—**'कस्त्वं कस्यापि पुत्रः क्व पुनरिह गतः किं नु कृत्यं च कस्मात्।'** (हनु० ८। २५) अर्थात् तू कौन है? किसका पुत्र है? और फिर तू यहाँ क्यों आया? तेरा क्या कार्य है?

अंगद नाम बालि कर बेटा। तासों कबहुँ भई ही * भेटा॥ ३॥

अर्थ—मेरा नाम अङ्गद है, मैं बालिका पुत्र हूँ। उससे तुमसे कभी भेंट हुई थी?॥ ३॥

नोट—१ रावणके तीन प्रश्न—'कहु निज नाम', 'जनकका नाम' और **'केहि नाते मानिए मिताई'**। तीनोंका उत्तर यहाँ क्रमसे है—अङ्गद मेरा नाम, बालि पिताका नाम, उससे कभी भेंट हुई थी? २—'भई ही भेंटा' का भाव कि जब भेंट हुई थी और उसने दबा रक्खा था तब ब्रह्माजीने जाकर मित्रता करा दी थी और तुमको छुड़ाया था—यह याद है या भूल गये?—**'जगत बिदित अति बीर बालि बल जानत हौ किधौं अब बिसरायो?'**—(गी० लं० ४)। पुनः इसमें व्यङ्ग यह भी है कि उसने तेरे साथ उपकार किया तब भी तू उसे भूल गया, तू बड़ा कृतघ्न है। मिलान कीजिये—**"कस्त्वं वन्यपतेः सुतो वनपतिः कः सार्थिकस्त्वेकदा यातः सप्तसमुद्रलङ्घनविधावेकोऽह्निको वेद्मि तम्॥** हनु० ८। १०।" **"हं हो पौलस्त्यपुत्रस्तव बलमथनस्याङ्गदोऽहं"**॥ (हनु० ८। २५)। अर्थात् '(रावण)—तू कौन है? (अङ्गद)—मैं वनवासी जीवोंका राजा बालिका पुत्र हूँ। (रावण)—कौन वनपति बालि? (अङ्गद)—जो आर्थिक (याचक) के साथ एक ही दिनमें सातों समुद्र उल्लङ्घन करनेमें एक ही था। (रावण)—'मैं उसको जानता हूँ'। 'मैं तेरे बलके मन्थन करनेवाले बालिका पुत्र हूँ'।

पु० रा० कु०—यह रावणकी बालीसे पराभवसूचक सतर्क उक्ति है। एक बार बलके गर्वसे रावण बालिसे युद्ध करने किष्किन्धा गया। उस समय वह दक्षिण-समुद्रमें सन्ध्या करने गया था। रावणने चाहा कि चुपचाप पीछे जाकर उसे पकड़ लें। इधर बालिने भी ताड़ लिया कि वह आता है। दोनों एक दूसरेकी ताकमें थे। अन्ततोगत्वा बालिने उसे पकड़कर काँखमें दाब लिया; फिर पश्चिम-समुद्रमें गया; वहाँसे उत्तर और पूर्वसमुद्रमें जाकर तर्पण किया। तत्पश्चात् सन्ध्या-वन्दन करके किष्किन्धामें आकर रावणको काँखसे गिरा दिया और पूछा कि 'कहो कहाँसे आते हो?' रावण बड़ा लज्जित हुआ और अपनी हार मान अग्निकी साक्षी देकर उससे मित्रता कर ली। वह एक मासतक बालिके यहाँ छोटे भाईकी तरह रहा—(वाल्मी० उ० ३३, अ० रा० उ० २। ५८, ५९)

अंगद बचन सुनत सकुचाना। रहा बालि बानर मैं जाना॥ ४॥

अर्थ—अङ्गदका वचन सुनते ही वह सकुच गया और बोला कि (हाँ) बालि एक वानर था, मैं उससे परिचित हूँ॥ ४॥

---

* ही (का०, भा० दा०), होइ (ना० प्र०)।

पं०—'सकुचाना' से जनाया कि वह समझ गया कि यह मेरा मर्म जानता है। कहीं ऐसा न हो कि मेरी पराजय सभाके वीचमें कह दे, इससे तुरंत बोला (—यह 'पिहित' अलंकार है) और फिर अपनी उसकी जान-पहचान जताते हुए भेद करानेवाले वचन कहे।

रा० प्र०—'रहा बालि०' का भाव कि व्यङ्ग वचन सुनकर भूली-सी बात यादकर कहता है कि हाँ जाना, बालि बंदर था। (का० में 'हाँ' पाठ है)।

गौड़जी—अपने बड़प्पनके घमंडमें यहाँ भी रावण बालिकी मैत्री नहीं स्वीकार कर रहा है। केवल जान-पहचान मानता है। सभाके सामने घनिष्ठताका प्रदर्शन करनेमें उसकी पराजयका भेद खुलनेका डर था। अब बालि था नहीं, इस लिये इस तिरस्कारके प्रतिकारका उसे भय न था।

अंगद तहीं बालि कर बालक। उपजेहु बंस अनल कुल घालक॥ ५॥
गर्भ न* गएउ व्यर्थ तुम्ह जाएहु। निज मुख तापस दूत कहाएहु॥ ६॥

अर्थ—अरे अङ्गद! तू ही बालिका पुत्र है? कुलका नाश करनेवाला, वंशमें कुलरूपी बाँसके लिये अग्निरूप पैदा हुआ है?॥ ५॥ तेरी माताका गर्भ न गिर गया? तू व्यर्थ पैदा हुआ कि अपने मुखसे तू तपस्वीका दूत बनता है॥ ६॥ †

शीला—रावण कहता है कि जैसे वनमें बाँसोंके परस्पर रगड़से आग उत्पन्न होकर वनको जला देती है वैसे ही तू अपने कुलका नाशक हुआ। तेरे ही कारण बालिने सुग्रीवको निकाल दिया कि मेरे पुत्रके रहते तू कैसे राज्यपर बैठा, तू न होता तो वे सुग्रीवसे वैर न करते; क्योंकि उसके मरनेपर वही तो राज्य पाता। तेरे ही कारण सुग्रीवने रामसे मित्रता की और बालि मारा गया। अब तुम दोनों लोभवश उनकी सहायता करने आये हो तो परिवारसहित सब मारे जाओगे।

वीर—यहाँ 'वंश' शब्दके दो अर्थ 'बाँस और कुल' जबतक न लिये जायँ तबतक रूपकका चमत्कार नहीं भासता। मुख्य रूपकके अन्तर्गत यह श्लेषद्वारा दूसरा रूपक भासित होनेसे 'परम्परित रूपक अलंकार' है।

पु० रा० कु०—१ (क) जैसे अग्नि बाँसको नाश कर डालती है वैसे ही तूने पिताकी कीर्ति नाश की। '**लोवानन्दन चन्दनद्रुम सखे नास्मिन् वने स्थीयतां दुर्वंशैः कठिनैरसारहृदयैराक्रान्तमेतद्वनम्। ते ह्यन्योन्यविघर्षजातदहनज्वालावलीसङ्कुलाः न स्वान्येव कुलानि केवलमिदं सव दहेयुर्वनम्॥**' [(अज्ञात)। अर्थात् हे लोवानन्दन! हे चन्दनद्रुम! हे सखे! इस वनमें हम सबोंको न रहना चाहिये; क्योंकि ऊपरसे कठिन और भीतरसे केवल असार हृदयवाले इन दुर्वंशोंसे यह वन आक्रान्त है। ये सब परस्परके विघर्षसे उत्पन्न हुए अग्निके ज्वालासमूहसे संकुल होकर अपने ही कुलको केवल नहीं; किंतु इस वनको जला देंगे।] यहाँ रावण अङ्गदसे भेद डालनेकी बात कर रहा है, रामचन्द्रिकामें स्पष्ट है। अङ्गद समझ गये। इसीसे आगे कहते हैं कि '**सुनु सठ भेद होइ मन ताके। श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाके॥**' २१ (९) देखिये।

नोट—१ '**गयउ न गर्भ०**'। भाव कि कुलघातक होनेसे अच्छा था कि तुम पैदा ही न होते। कुपुत्रसे बिना पुत्रका ही भला। कुलघातकसे कुपूत जनाया, यथा—'**जिमि कपूतके उपजे कुल सद्धर्म नसाहिं। कि० १५।**' भाव कि बापका बदला लेकर सपूत सिद्ध हो, यथा—'**नील सुषेन हनू उनके नल और सबै कपिपुंज तिहारे। आठहु आठ दिशा बलि दै अपनो पद लै पितु जा लगि मारे॥ तोसे सपूतहि जायकै बालि अपूतन की पदवी पगु धारे। अंगद संग लै मेरो सबै दल आजुहीं क्यों न हनै बय वारे॥ जो सुत अपने बापको बैर न लेइ प्रकास। सो तो जीवत हीं मर्‍यो लोग कहहिं तजि त्रास॥**', '**उरसि अंगद लाज कछू गहो। जनक घातक बात वृथा कहौ॥ सहित लछिमन रामहिं संहरौ। सकल वानरराज तुम्हें करौं।**—(रा० चं० प्र० १६। १५, १८)।

---

* गएउ–(का०), गएहु–(भा० दा०)।

† इसका सरस्वतीकृत अर्थ यह है कि—'तेरी माताका गर्भ व्यर्थ न गया अर्थात् गर्भ सफल हुआ। क्योंकि तुझ ऐसे भक्तको पैदा किया। और तुम भक्त हुए ऐसे कि स्वयं दूत बने। तुम्हारा जन्म सफल हुआ। यथा—'पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुबर भगत जासु सुत होई॥ न तरु बाँझ भलि वादि वियानी। रामविमुख सुत ते हित हानी' (अ०)।—पु० रा० कु०।

२—'**निज मुख तापस दूत कहायहु**', यथा हनुमन्नाटके—'**धिग्धिगङ्गद मानेन येन ते निहतः पिता। निर्मानो वीरवृत्तिस्ते तस्य दूतत्वमागतः ॥**' (हनु० ८ । २६)। अर्थात् अरे अङ्गद! तुझको धिक्कार है कि जिसने तेरे पिताको मानसे मारा उसीका तू मानरहित होकर वीरवृत्तिको पाकर भी दूत बना है।

अब कहु कुसल बालि कहँ अहई। बिहँसि बचन तब अंगद कहई ॥ ७ ॥

अर्थ—अब बालिका कुशल कह, वह कहाँ है? तब (यह सुनकर) अङ्गद हँसकर वचन बोला ॥ ७ ॥

पु० रा० कु०—'बिहँसि' का भाव कि देखो तो यह '**खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बल-साली ॥**' ये वचन हनुमान्‌जीसे सुन चुका है; जिससे उसे बालिवधकी खबर मिल चुकी है तो भी हमारे भेदनार्थ (भेद डालनेके विचारसे) यह हमसे अज्ञकी तरह पूछ रहा है। तात्पर्य कि हमसे भी माया करना चाहता है।

गौड़जी—यहाँ रावण व्यंग्यसे बालिकी कुशलादि पूछता है, कुलघालक कहकर वह यह इशारा कर चुका कि मैं तुम्हारे परिवारभरका हाल जानता हूँ। अङ्गद हँसकर इसी वक्रोक्तिका उचित उत्तर देते हैं।

विं० त्रि०—रावण समझते थे कि बापके मारे जानेकी चोट अवश्य इसके हृदयमें होगी। असहाय होनेके कारण पितृहन्ताकी सेवकाई कर रहा है, यदि यह कुछ भी आश्वासन मेरी ओरसे पावेगा, तो निश्चय मेरी ओर मिल जायगा। अतः उसने भेद-नीतिका प्रयोग किया। प्रेमसे बालिका कुशल पूछने लगा, वह हैं कहाँ, जो तेरी यह दशा हो रही है कि राजकुमार होकर तपस्वीका दूत बना फिरता है। रावणने समझा कि ऐसा पूछनेपर अङ्गद रो पड़ेगा, कहेगा कि 'चचा! उन्हें तो रामने मार डाला, मैं क्या करूँ असहाय हूँ, इसलिये उनका दूतत्व करता हूँ' पर अङ्गद, बात समझकर हँस पड़े कि इसे न रामके स्वरूपका ज्ञान है, न मेरे स्वरूपका, मुझे सामान्य सांसारिक पुरुष समझकर भेद-नीतिका प्रयोग करता है।

दिन दस गए बालि पहिं जाई। बूझेहु कुसल सखा उर लाई ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—'दस दिन' अल्पकालका वाचक है।

अर्थ—कुछ दिन बीतनेपर बालिके पास जाकर अपने सखाको हृदयसे लगाकर उससे कुशल पूछ लेना। भाव यह कि थोड़े ही दिनोंमें तुम भी रामबाणसे मारे जाकर वहीं भेजे जाओगे जहाँ बालि गया है ॥ ८ ॥

नोट—१ 'बालि पहिं जाई'—'**राम बालि निज धाम पठावा**' और '**तुम्हहू दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्म निरामयं ॥ १०३ छन्द।**' २—इस कटूक्तिमें यह भी ध्वनित है, कि तुम्हारी बातचीतका ढंग जब ऐसा है, मेल करनेका नहीं है, तो शीघ्र ही मारे जाओगे, तुम्हारी भी वही दशा होगी—(गौड़जी)।

पु० रा० कु०—बालिकी मृत्युका सब हाल रावण जानता है। यदि कहें कि रामचन्द्रजीने उसे मार डाला तो यह और भी ठट्ठा मारकर हँसेगा कि जिसने बापको मारा उसीके तुम दूत बने, ऐसे निर्लज्ज हो, और छिपावें तो कहेगा कि झूठ कहते हो; इसलिये युक्तिसे उत्तर देते हैं कि वह तो तुम्हारा सखा है तुम स्वयं जाकर कुशल पूछ लेना।

बं० पा०—बालि और रावण दोनों पर-स्त्रीहरणकर्त्ता हैं, इस तरह तुल्यपापी हैं। और दोनों रामविरोधी हैं। इस प्रकार तुल्य-सखा हैं। दोनोंकी एक गति हुई।—[दोनोंमें अग्निकी साक्षी देकर मित्रता ब्रह्माने करा दी थी, इससे सखा कहा।—२१ (२) देखिये]।

राम बिरोध कुसल जसि होई। सो सब तोहि सुनाइहि सोई ॥ ९ ॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीसे वैर करनेसे जैसी कुशल होती है वह सब तुझे वही सुनावेगा ॥ ९ ॥

नोट—रामविरोध करनेसे वह मारा गया,—'**नारि सिखावन करसि न काना**'। तुम वैर कर रहे हो, किसीकी नहीं सुनते, तुम भी मारे जाओगे—'**राम बिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज ईस ॥ सुं० ५६।**' तो सौं कहौं दसकंधर रे रघुनाथ बिरोध न कीजिय बौरे। बालि बली खरदूषन और अनेक गिरे जे जे भीतिमें दौरे ॥ ऐसिय हाल भई तोहि धौं न तु लै मिलु सीय चहै सुख जौ रे। राम के रोष न राखि सकैं तुलसी बिधि श्रीपति संकर सौ रे ॥ क० लं०

१२ ॥' आशय कि रामविरोधीकी कुशल उसकी मृत्यु है. अन्यथा राम विरोधीकी कुशल कहाँ? कुशल चाहना शठता और अत्यन्त अज्ञता है, यथा—'**राम बिरोध बिजय चह सठ हठबस अति अग्य । ८३ ।**'

☞ यहाँ तक बालिके कुशलका उत्तर हुआ। मिलान कीजिये—'**अस्ति स्वस्ति समन्युतो रघुवरे रुष्टेऽत्र कः स्वस्तिमान् को भूयादनरण्यकस्य मरणातीतो चिताम्बुप्रदः** ॥ हनु० ८ । १० ।' अर्थात् रावणके यह कहनेपर कि 'मैं वालिको जानता हूँ, वह कुशलपूर्वक तो है?' अङ्गदने उत्तर दिया कि जो अनरण्यके पश्चात् उचित जलके देनेवाले हैं (भाव कि रावणके रुधिरसे तर्पण करके अनरण्यके वचनको सत्य करेंगे) उन रघुनाथजीके रुष्ट होनेपर कौन कुशलसहित हो सकता है? (किसीकी कुशल नहीं)।

सुनु सठ भेद होइ मन ताके । श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाके ॥ १० ॥

अर्थ—अरे शठ! सुन, भेद उसके मनमें हो सकता है जिसके हृदयमें श्रीरघुवीर नहीं हैं ॥ १० ॥

नोट—१ '**भेद होइ मन ताके ।**' इति । (क) यहाँ अङ्गदने स्पष्ट जना दिया कि मैं तुम्हारे वचन समझता हूँ, पर तुम्हारी भेद-नीति यहाँ न चलेगी। २१ (५-६) देखिये। 'भेद'—प्राचीन राजनीतिके अनुसार शत्रुको वशमें करनेके चार उपायोंमेंसे तीसरा उपाय है जिसके अनुसार शत्रुपक्षके लोगोंको बहकाकर अपनी ओर मिला लिया जाता है अथवा उनमें परस्पर द्वेष उत्पन्न कर दिया जाता है। (ग) इससे यह भी जनाया कि रामजी किसीके शत्रु नहीं हैं। उन्होंने वालिको मारा सो उचित था, क्योंकि वे धर्मसंस्थापन करनेवाले हैं, दुरात्माओंको शिक्षा देते हैं। यथा—'**युक्तं कृतं तु रामेण येन मे निहतः पिता । त्रैलोक्यशास्तिकृत्याय वर्तते स दुरात्मनाम् ।**' (हनु० ८ । २७) * २ '**हृदय नहिं जाके**' का भाव कि—(क) हम मुखसे अपनेको उनका दूत ही नहीं कहते किंतु उन्हें हृदयमें बसाये हुए हैं। 'श्रीरघुवीर' से उनके वीर वनवासी धनुर्धर ऐश्वर्य-स्वरूपका बसना कहा। पुनः (ख) जबतक 'श्रीरघुवीर' का वास नहीं होता तभीतक वहाँ भेद आदि अनेक दुष्ट रहते हैं, यथा—'**तब लगि हृदय बसत खल नाना । लोभ मोह मत्सर मद माना ॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा । धरें चाप सायक कटि भाथा ॥**...' । ५ । ४७ । १-२ । अतः रघुवीरका हृदय वास कहा।

पां०—भाव कि हम रघुवीरके दूत हैं, कायरकी बात क्यों मानने लगे।—[यहाँ वाच्यार्थ और व्यङ्गार्थ बराबर होनेसे 'तुल्यप्रधानगुणीभूत व्यङ्ग' है—(वीर)]।

पु० रा० कु०—'**उपाध्याये नटे धूर्ते कुटिन्यां च बहुश्रुतौ । माया तत्र न कर्तव्या माया तैरेव निर्मिता ॥**' इनमेंसे अङ्गद बहुश्रुत हैं। जो बहुश्रुत होता है वही चतुर होता है। इसीसे प्रभुने उनसे कहा था कि—'**परम चतुर मैं जानत अहहूँ**'।

गौड़जी—हे शठ (धूर्त! तू धूर्ततासे श्रीरघुवीरके और मेरे बीच जो भेद डालना चाहता है,) सुन, भेद उसीके मनमें (पैदा) हो सकता है जिसके हृदयमें [कुछ और हो और ऊपरसे कुछ और, जो अपना मतलब गाँठने भरके लिये तो किसीका साथ देता हो, पर हृदयमें उसके प्रति मैत्रीका सच्चा भाव न हो, परंतु मैं भीतर-बाहर दोनों तरहसे रघुकुलश्रेष्ठ वीर जो प्रणतपाल हैं, अपनी बातके धनी हैं, जो मुझे अपनानेकी प्रतिज्ञा मेरे बापसे कर चुके हैं, उनका दास हूँ। तेरी भेदनीति तब चलती जब मेरे कमजोर हृदयमें कुछ और होता। तूने भ्रमवश ऐसा समझा है कि मेरे हृदयमें कुछ और है] श्रीरघुवीर नहीं हैं।

दोहा—हम कुलघालक सत्य तुम्ह कुलपालक दससीस ।
अंधौ बधिर† न अस कहहिं नयन कान तव बीस ॥ २१ ॥

* 'इनको विलगु न मानिये कहि केशव पल आधु । पानी, पावक, पवन, प्रभु ज्यों असाधु त्यों साधु' ॥ १७ ॥ 'शत्रु, सम, मित्र हम चित्त पहिचानहीं । दूतविधि नूत कबहूँ न उर आनहीं ॥ आप मुख देखि अभिलाष अभिलाषहू । राखि भुज सीस तव और कहँ राखहू ॥ १९ ॥' (रा० चं० प्र० १६)।

† 'बहिर न अस कहइ' (का०)।

अर्थ—अरे दशशीश ! हम कुलके नाश करनेवाले हैं और तुम सत्य ही कुलके पालन-पोषण करनेवाले हो। अंधे और बहिरे भी ऐसा नहीं कहते और तेरे तो बीस नेत्र और बीस कान हैं ॥ २१ ॥

नोट—१ **'हम कुल घालक'**—काकुद्वारा इसमें विपरीत अर्थ है कि हम कुलघालक नहीं हैं वरन् कुलरक्षक हैं क्योंकि रामभक्त हैं, यथा—**'धरम परायन सोइ कुलत्राता। रामचरन जाकर मन राता ॥** ७। १२७।' और तुम सत्य ही कुलपालक नहीं हो, वरन् कुलघालक हो, क्योंकि रामविमुख हो, यथा—**'रामबिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कुल कोउ रोवनिहारा ॥** ६। १०३।' २—सत्यमें व्यङ्ग है कि तू मिथ्यावादी है।

पु० रा० कु०—**'अंधौ बधिर०'** इति। अंधा आँखसे देख नहीं सकता; पर सुन तो सकता है और बहिरा सुन नहीं सकता पर देखता तो है, इससे वे यथार्थ बात जान लेते हैं और तेरे तो बीस नेत्र और बीस कान हैं तब तू कैसे बहिरे और अंधेकी तरह उलटी बात कहता है। स्वयं कुलघालक है और कहता है हमको। **'बीसहु लोचन अंध धिग तव जन्म कुजाति जड़।** ३२।' देखिये।

बं० पा०—जो व्यवहार आँखसे नहीं देखा उसे अंधा न कहेगा और जिसने कभी गुरुमुखसे शास्त्रपुराण नहीं सुने वह बहिरा भी उस बातको न कहेगा। इससे ज्ञात हुआ कि तू अंधेसे भी महा अंधा और बहिरेसे भी महा बहिरा है; तभी तो ऐसा कहता है।

वि० त्रि०—अङ्गदजी कहते हैं कि यह तो तुमने विचित्र बात कही। मुझे कुलघालक बनाकर आप कुलपालक बन गये। पर तुम्हारी कुलपालकता तो अंधे-बहिरे भी जानते हैं। बहिरेने आँखसे देखा होगा, और अन्धेने कानसे सुना होगा, क्योंकि संसार जानता है कि तुमने मुनिवंशज होकर मुनियोंका संहार कर दिया, उनको कच्चा खा गये, यथा—**'निसिचर निकर सकल मुनि खाये'**। अतः अंधे-बहिरे भी तुम्हें कुलपालक नहीं कहेंगे। तुम्हें तो परमेश्वरने बीस आँख और बीस कान दिये हैं, तुम्हारे शासनमें तुम्हारे सेवक राक्षस लोग मुनियोंको खाये जाते हैं, क्या यह बात तुम्हें नहीं मालूम, तब किस मुखसे कुलपालक बनते हो। मैंने तो रामदूत होकर कुलको उज्ज्वल किया, जैसा कि आगे कहेंगे।

नं० प०—जो अंधा होगा उसने कानोंसे श्रीरामजीका ऐश्वर्य पुराणोंमें सुना होगा कि **'अति बल मधु कैटभ जेहि मारा।···सोइ अवतरेउ०'** ॥ वे यही कहेंगे कि उन्हीं भगवान्‌से रावणने विरोध किया है, अब कुलका नाश करायेगा। और जो बहिरा है वह नेत्रसे देख रहा है कि जिन श्रीरामजीने ताड़काका वध किया है शिवधनुष तोड़ा, खरदूषणादिका वध किया, बालिको एक बाणसे मारा और समुद्रपर सेतु बाँधा, उन्हींसे रावणने विरोध किया है अतः अब कुलका नाश करायेगा। जब अंधा-बहिरा ऐसा कहेगा तो तुम्हारे तो बीस कान और बीस नेत्र हैं, तुम क्यों ऐसा कहते हो? भाव कि तुम दोनोंसे गये-गुजरे हो।

स्मरण रहे कि 'अंध' शब्द अंधेके लिये है और बधिर शब्द बहिरेके लिये; क्योंकि यदि अंधा और बहिरा दोनों क्रियाएँ एक व्यक्तिमें होती हैं तो वह अंधा ही कहलाता है, बहिरा नहीं। यदि कहिये कि रावण तो एक ही है उसके लिये दोकी समता क्यों दी गयी, तो उत्तर यह है कि रावणकी एक-एक इन्द्रियके लिये एक-एक मिसाल (उदाहरण) है। नेत्रके लिये अन्धेकी और कानके लिये बहिरेकी उपमा दी गयी। अर्थात् अंधेकी क्रिया और बहिरेकी क्रिया, दोनों क्रियाएँ रावणमें आरोपण कर रहे हैं। भाव कि जो अंधा भी न कहेगा वह तुम बीस नेत्रोंके होते हुए कह रहे हो, अतः अन्धेसे बदतर हो। और, जो बहिरा न कहे वह तुम बीस कानके होते हुए कह रहे हो, अतः बहिरेसे भी गये-बीते हो।

सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई ॥ १ ॥
तासु दूत होइ हम कुल बोरा। अइसिहु मति उर बिहरु न तोरा ॥ २ ॥

शब्दार्थ—बिहरना=फटना, दरकना, यथा—'बल बिलोकि बिहरति नहिं छाती'।

अर्थ—शिव, ब्रह्मा, देवता और मुनियोंका समुदाय जिसके चरणोंकी सेवा चाहते हैं ॥ १ ॥ उसके दूत होकर हमने कुलको डुबा दिया! अरे! ऐसी बुद्धि होनेपर भी तेरी छाती फट नहीं जाती ॥ २ ॥

नोट—१ शिव समान दूसरा भक्त नहीं, इसीसे इन्हें आदिमें रक्खा। ब्रह्मादिक, सुर और मुनि सभी सेवा चाहते हैं, यथा—'जानि रामसेवा सरस समुझि करब अनुमान। पुरुखा ते सेवक भये हर ते भे हनुमान॥ (दो० १४३)। 'बार बार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरंग। पदसरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥ ७। १४।'—(शिवजी)। 'नृपनायक दे वरदानमिदं। चरनांबुज प्रेम सदा सुभदं॥ ११०।' (ब्रह्माजी), 'अब करि कृपा''''आयसु देहु कृपाल' (इन्द्र), 'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।' 'मधुकर खग मृग तनु धरि देवा। करहिं सिद्ध मुनि प्रभुकी सेवा'—(अ); (देखिये साक्षात् रूपसे प्राप्ति न देखी तब पशु-पक्षी इत्यादि होकर सेवा की।); 'प्रसीद मे नमामि ते पदाब्ज भक्ति देहि मे'—(अत्रिजी); 'यह बर माँगउँ कृपानिकेता।''' चरन सरोरुह प्रीति अभंगा'—(अगस्त्यजी), 'चरन सरोरुह नाथ जनि कबहुँ तजइ मति मोरि' 'अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू'—(भरद्वाजजी)।

२ 'तासु दूत होइ हम कुल बोरा' अर्थात् जो सेवा ब्रह्मादिको चाहनेपर भी नहीं मिलती वह हमको अनायास प्राप्त हुई तब हम कैसे वंशके नाशक हुए? यहाँ काकुद्वारा वक्रोक्ति है। पुनः भाव कि यदि उनकी सेवासे कुल डूबता तो शिवादि कभी उसकी लालसा न करते।

३—'ऐसिहु मति उर बिहरु न'। अर्थात् फट जाना चाहिये था, यथा—'जब तैं कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ॥ २। १६२।'

सुनि कठोर बानी कपि केरी। कहत दसानन नयन तरेरी॥ ३॥
खल तव कठिन बचन सब सहऊँ। नीति धर्म मैं जानत अहऊँ॥ ४॥

शब्दार्थ—तरेरना—आँखोंको इस प्रकार करना जिससे क्रोध वा अप्रसन्नता प्रकट हो। दृष्टि कुपित करना। दृष्टिसे असंतोष प्रकट करना। यथा—'सुनि लछिमन बिहँसे बहुरि नयन तरेरे राम'। घुड़कना।

अर्थ—कपिकी कठोर वाणी सुन दशानन आँखें तरेरकर बोला—॥ ३॥ अरे दुष्ट! मैं तेरे सब कठोर वचन सहता हूँ (क्योंकि) नीति और धर्म (वा धर्मनीति) जानता हूँ॥ ४॥

नोट—१ 'तव कठिन बचन सब सहऊँ' से जनाया कि सब वाणी कठोर है। 'ऐसिहु मति उर बिहरु न तोरा' बहुत कठोर थे, इन्हें न सह सका तब बोला। २—'दशानन' पदसे जनाया कि बीसों नेत्र घुरेरे। ३—'नीति धरम मैं जानत अहऊँ' से अपनेको नीतिज्ञ और धर्मशील जनाया। भाव कि कटुवादी वधयोग्य है, यथा 'कटुबादी बालक बध जोगू'; तो भी मैं तेरा वध नहीं करता क्योंकि नीतिमें कहा है कि दूत यथार्थवादी होता है, जो उसके स्वामीने कहा है वही कहता है। इसीसे वह अवध्य है। सं० २४ (७) देखिये। हनुमन्नाटकमें भी कहा है "रे रे शाखामृग! त्वामहं धर्मशीलतया कटुप्रलापिनमपि न हन्मि। उक्तं च यथोक्तवादी दूतः स्यान्न स बध्यो महाभुजा॥ हनु० ८। २१॥" अर्थात् धर्मशीलताके कारण मैं तुझ कटुभाषीको नहीं मारता। कहा भी है, दूत यथार्थवक्ता है अतः राजाको उचित है।

कह कपि धर्मसीलता तोरी। हमहुँ सुनी कृत परत्रिय चोरी॥ ५॥
देखी नयन दूत रखवारी। बूड़ि न मरहु धर्मब्रतधारी॥ ६॥

अर्थ—कपिने उत्तर दिया कि तेरी धर्म-निपुणता हमने भी सुनी है कि परस्त्रीकी चोरी की॥ ५॥ दूतकी रक्षा (में तेरी धर्मशीलता) तो आँखों देखी गयी। अरे धर्मव्रतधारी! तू डूब नहीं मरता?॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'कृत परत्रिय चोरी', यह वक्रोक्ति है। 'हमहूँ सुनी' का भाव कि सबने सुनी और मैंने भी सुनी, यह धर्मशीलता है कि अधर्मशीलता? २—'दूतरखवारी आँखों देखी' तात्पर्य यह कि तू मेरे मारनेको समर्थ नहीं है इसीसे हमसे कहता है कि हम 'नीति धर्म' जानते हैं। इसीसे तुमको नहीं मारते"; अन्यथा तू तो चोरवत् श्रीसीताजीको हरकर लाया था तब धर्मशीलता क्यों न रक्खी थी?

देखी नयन दूत रखवारी

१ भाव कि जैसी साधुकी धर्मशीलता स्त्रीचोरीमें तुमने दिखायी, वैसी ही दूतरक्षामें देखनेमें आती है। धन्य

है तेरी यह धर्मशीलता ! सामर्थ्य है नहीं इससे नीतिज्ञ और धर्मज्ञ बनता है। यथा—'**परदारापहरणेन श्रुता या दशानन। दृष्टा दूतपरित्राणे साधोस्ते धर्मशीलता ॥** हनु० ८। २२।' अर्थात् जो साधुकी धर्मशीलता परस्त्रीके अपहरणमें सुनी थी वही धर्मशीलता दूतकी रक्षामें देखी। धन्य है तेरी धर्मशीलता !

यहाँ यह शंका उठाकर कि दूत-रखवारी तो आँखों देखी नहीं तब ऐसा कैसे कहा ?' महानुभावोंने उसका समाधान यों किया है—

२ मा० म०—अङ्गदने यहाँ रामचन्द्रजीकी सभामें सुना था कि जब हनुमान्‌जीको मेघनाद नागपाशमें बाँधकर ले गया था उस समय कुबेरका दूत आया था उसे रावणकी आज्ञासे निशिचर काटकर खा गये। उसी प्रकार हनुमान्‌जीको भी मारना चाहा था पर विभीषणने आकर रोक दिया था। वही बात इस समय अङ्गदने कही।

३ श्यामसुंदरदासजी और वीरकविजीने लिखा है कि रावण-अङ्गदकी वार्ता हो रही थी जब कुबेरका दूत आया। जिसे सबने मार खाया। अतः 'देखी नयन' कहा। पर वाल्मी० उ० १३। ८-४० से सिद्ध होता है यह कथा बहुत पुरानी है। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि जब रावण देवता, गन्धर्व, यक्ष और ऋषियोंका संहार करने लगा और नन्दन आदि विचित्र उद्यानोंको उजाड़ने लगा तब कुबेरने भाईपनेके भावसे रावणको कुलोचित उपदेश दूतद्वारा भेजा था कि बस अब बहुत हो चुका, अब श्रेष्ठ चरित्रका संग्रह करना तुमको उचित है··· तुम्हारे नाशके लिये ऋषि आदि बड़ा भारी उपाय कर रहे हैं। इत्यादि। यह सुनकर रावण बोला कि हम कुबेर और अन्य लोकपालोंका विनाश करेंगे और यह कहकर दूतको खड्गसे मार डाला और छः राक्षसोंको आज्ञा दी कि शरीरको खा लें। यथा—'**एवमुक्त्वा तु लङ्केशो दूतं खड्गेन जघ्निवान् ॥ ४० ॥**'

४ हनुमान्‌जीके साथ जो नीति बरती वह उनसे सुनी। अब आकर लङ्काको जली देखकर हनुमान्‌जीने जो कहा था उसको आँखोंसे सत्य ही देखा। इस विचारसे '**देखी नयन**' कहा। '**हमहुँ सुनी**' वैसे ही यहाँ '**हमहुँ देखी**' अर्थात् औरोंने देखी, हमने भी देखी।

५—बं० पा०—धर्मके उत्तरमें '**परतिय चोरी**' और धर्मनीतिके उत्तरमें '**दूत रखवारी**' देखी। '**देखी**' अर्थात् (देखी) सुनी जाती है।

६ शीला—'**देखेउ नयन दूत**' यह दूत है यह तूने आँखों देखा। तो भी '**रख बारी**' उसकी पूँछमें आग लगा दी।

७ पां०—अर्थ यह है—'हे दूतरक्षाके व्रत धारण करनेवाले ! तू डूबकर मर क्यों न गया जो मुझे फिर तू मुँह दिखाता है (पर यहाँ 'रखवारे' नहीं हैं)।

८ वीर कवि—उत्तररामचरितके अनुसार दूत (हनुमान्‌जीने तेरी) रखवारी आँखों देखी है, उन्हें मारनेके लिये तूने विविध योद्धा भेजे, पूँछमें आग लगा दी, इत्यादि। नीतिधर्मका पालन तूने अच्छी तरहसे किया। (नं० प० जीका भी यही मत है)।

९ सि० ति० कार '**देखी नयनन दूत रखवारी**' पाठ रखकर ऐसा अर्थ करते हैं—'और दूतकी रक्षामें नीति न देखी।' कि आज तो तुम नीतिज्ञ बनते हो पर कुबेरके दूतके समय नीति नहीं देखी थी।

मेरी समझमें तो 'नयन' पाठ ही ठीक है। नयन पाठमें वह व्यङ्ग और वक्रोक्ति जो ऊपर थी वही चली आ रही है। देखी=देखी गयी; लोगोंने देखी हैं। ऐसा अर्थ ले सकते हैं।

नोट—'धर्मव्रतधारी' में भी वक्रोक्ति है। अर्थात् तू अधर्मव्रतधारी है। '**बूड़ि न मरहु**' अर्थात् तू निर्लज्ज है, नहीं तो मेरा उत्तर सुनकर लज्जासे तुझे डूब मरना चाहिये था। आत्मघात ही तेरे लिये उचित था। यथा—'**सतां माने म्लाने मरणमथवा दूरि शरणम्**' इति नाटके। अर्थात् सज्जनोंके मानके म्लानमें या तो मरण ही अच्छा होता है या दूर चला जाना।—(पु० रा० कु०)।

कान नाक बिनु भगिनि निहारी। छमा कीन्हि तुम्ह धरम बिचारी ॥ ७ ॥
धर्मसीलता तव जग जागी। पावा दरस हमहु बड़ भागी ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—धर्मशीलता=धर्माचरणकी वृत्ति, धर्मात्मापन। जागना =प्रसिद्ध होना, चमक उठना।

अर्थ—बहिनको नाक-कान-रहित देखकर तुमने धर्म ही विचारकर तो क्षमा किया! ॥ ७ ॥ तेरी धर्मशीलता जगत्‌भरमें जगमगा रही है, हम भी बड़े भाग्यवान् हैं कि तुम्हारा दर्शन पाया ॥ ८ ॥

टिप्पणी—'छमा कीन्ह' का भाव कि जहाँ क्षमाकी जगह नहीं वहाँ ऐसी क्षमा क्या जानकर की और जहाँ क्षमा चाहिये वहाँ क्षमा न की। इस कथनसे उसकी अज्ञता दिखायी।* २—'पावा दरस हमहु बड़भागी।' भाव कि तेरे दर्शनसे मैं भी पापी हो गया—'तत्संसर्गी च पञ्चमः इति मनुः'।—यह सब व्याज-निन्दा है।

गौड़जी—भाव यह कि जहाँ तुम्हारा स्वार्थ सधता है वहाँ तुम अधर्मको धर्म मान लेनेमें लज्जाको तिलाञ्जलि दे देते हो। शूर्पणखाके अपमानका बदला लेनेमें अपनेको असमर्थ देखकर जो तुमने जाहिरी क्षमा कर दिया क्या वह भी अपना धर्म समझ लिया था? शायद तुमने अपनी तसल्ली (संतोष) यह समझकर की कि शूर्पणखाने उचित ही दण्ड पाया।

मा० म०—१ भाव कि तूने कहा था कि मैं धर्म सब जानता हूँ तभी तो तूने बहिनको रामचन्द्रजीसे रति करनेके लिये भेजा था, पर उन्होंने नाक-कान कटवाकर उसे निकाल दिया, तूने आँखों देखा। क्या यही बड़े लोगोंका धर्म है? वा, इसीको तू श्रेष्ठ समझता है? इसी कारण तूने धर्म विचारकर शूर्पणखाको क्षमा किया क्योंकि तुम्हारे जानमें उसने बड़ा धर्म किया। जैसे अपनी लम्पटताको धर्म समझते हो वैसे ही उसका धर्म पर-पति करना है, यह देख तुम खुश हुए। २—शूर्पणखाकी ओटसे अङ्गदने सब राक्षसियोंको कुलटा सूचित किया।

प० प० प्र०—भाव यह है कि **'क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम्'** यतियोंके लिये शत्रु-मित्र सभीको क्षमा करना भूषण है, यह जानकर ही तू पुरुषार्थहीन होनेसे यती बन गया और यहाँ सिंहासनासीन होनेपर उस यति-धर्मका ही तू पालन करता रहा, इसीसे तूने क्षमा की। अन्यथा कोई भी शूर, वीर, स्वाभिमानी राजा ऐसी परिस्थितिमें क्षमा नहीं करता। तूने भूपधर्मका तो त्याग कर ही दिया। यह व्यङ्ग है।

☞ 'कान नाक बिनु भगिनि निहारी' में कैसा गूढ़ उपहास है!

दोहा—जनि जल्पसि जड़ जंतु कपि सठ बिलोकु मम बाहु। लोकपाल बल बिपुल ससि ग्रसन हेतु सब राहु ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—जल्पना=व्यर्थ बकवाद करना, बहुत बढ़-बढ़कर बातें करना, डींग मारना—**'कटु जल्पसि जड़ कपि बल जाके। बल प्रताप बुधि तेज न ताके'** ॥ जंतु=छोटा जीव, कीड़ा। यथा **'गूलरि फल समान तव लंका। बसहु मध्य तुम्ह जंतु असंका ॥ ३३ । ३ ।'** =प्राणी, यथा **'प्राणी तु चेतनो जन्यो जन्तुजन्युशरीरिणः—इत्यमरः'**।

अर्थ—अरे जड़, कीड़े! वानर! व्यर्थ बकबक मत कर। अरे शठ! मेरी भुजाएँ देख। ये सब लोकपालोंके भारी बलरूपी बहुतसे चन्द्रमाओंको ग्रसनेके लिये राहुरूप हैं ॥ २२ ॥

पु० रा० कु०—१ जड़, जन्तु और वानर (पशु) कहनेका भाव कि तू क्या जाने, तू अज्ञानी है। अतः बकबक मत कर। [वा, 'जड़ जंतु कपि' अर्थात् गँवार काठके बंदर! (रा० प्र०)] 'बिलोकु' का भाव कि इनपर चिह्न बने हैं इससे मेरे कथनको देखकर प्रमाण मान ले। विष्णुचक्र भी व्यर्थ हुआ, चक्रके चिह्न भुजाओंपर अङ्कित हैं, देखकर जान ले कि चक्रादि भी मेरी भुजाओंसे लगकर कुंठित होकर गिर पड़े। यथा वाल्मीकीये—**'ऐरावतविषाणाग्रैरापीडनकृतव्रणौ।**

---

* रामो नाम स एव येन भगिनीनासावसापङ्किलः खड्गस्ते खरदूषणत्रिशिरसां धौतः शिरः शोणितैः। तद्वालान्तिनितान्तवद्ध-वपुषः सम्मूर्च्छितस्य ध्रुवं घ्राणं दर्पमिव स्वसुर्विलुठितं रामः कथं विस्मृतः ॥ हनु० ८ । ३० ।' अर्थात् वह राम हैं कि जिन्होंने तेरे बहिनकी नाककी चर्बीके पंकसे युक्त अपने खड्गको खरदूषणत्रिशिराके शिरोंके रुधिरसे धोया था। निश्चय ही उनकी रमणी सीताके समीप देहको स्थित करनेवाली आँखें मूँदे हुए अहंकारके तुल्य तेरी भगिनी शूर्पणखाकी नासिकाको जिसने गिरा दिया था उन रामचन्द्रको तू कैसे भूलता है? विशेष 'सूपनखा कै गति तुम्ह देखी। तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी ॥ ३५ । १३ ।' में देखिये।

वज्रोल्लिखितपीनांसौ विष्णुचक्रपरिक्षितौ ॥ ५ ।१० । १६ ।' लोकपाल कई हैं, इसीसे कई चन्द्रमा कहे, चन्द्रमा बहुतसे हैं अतः उनके ग्रसनेके लिये राहु भी बीस । यहाँ परम्परित रूपक है ।

दोहा—पुनि नभ सर मम कर निकर कमलन्हि पर करि बास ।
सोभत भएउ मराल इव संभु सहित कैलास ॥२२॥

अर्थ—फिर (अर्थात् मेरा भुज-पराक्रम और सुन कि) आकाशरूपी तालाबमें मेरे भुजसमूहरूपी कमलोंपर कैलास-सहित शिवजी बास करते हुए हंसके समान शोभित हुए थे ॥ २२ ॥

पु० रा० कु०—हंस और कैलास दोनों शुभ्र वर्ण हैं इससे इन दोनोंका रूपक बाँधा गया । हंस कमलपत्रसमूहपर सोहता है, यथा—'**सुरसर सुभग बनज बनचारी । डाबर जोग कि हंसकुमारी ॥ २ । ६० । ५ ।**'

इससे कमलमें हंसका रहना सूचित हुआ । '**शम्भु सहित कैलाश**' कहकर जनाया कि कैलाश शिवजीका सर्वकालिक स्थान है ।

वीरकवि—१ कमलके फूल राजहंसका भार नहीं सह सकते पर मेरे करकमलोंपर कैलाशके सहित शिवजी हंसकी तरह ठहरे थे, इस अधिकतासे यहाँ 'अधिक अभेद रूपक अलंकार' है । इस रूपकमें काव्यार्थापत्ति अलंकारकी ध्वनि है कि जिन भुजाओंने कैलाशसहित शिवजीको उठा लिया उनके आगे तेरा मालिक चीज ही क्या है ?

२—कोई-कोई '**मरालोऽलिशावकः**' के आधारपर मराल शब्दका अर्थ '**भ्रमरका बच्चा**' करते हैं । वह इस अभि-प्रायसे कि हंसका भार, कमलपुष्प नहीं सँभाल सकता । तर्क ठीक है । परन्तु यहाँ रावण जान-बूझकर अधिकता सूचित करता है, इसके विपरीत अर्थ भ्रमरके बच्चेका खींचतानकर करनेसे अलंकारिक शोभा बिगड़ जाती है ।

प० प० प्र०—अङ्गदने अपने वचनोंसे रावणको पुरुषार्थहीन और कायर सिद्ध किया । कहीं उसके सभासद सचिवादि भी वैसा ही न मान बैठें, इस विचारसे रावण इस दोहेमें तथा आगे अपना पुरुषार्थ कहता है ।

तुम्हरे कटक माँझ सुनु अंगद । मो सन भिरिहि कवन जोधा बद ॥ १ ॥
तव प्रभु नारि-बिरह बलहीना । अनुज तासु दुख दुखी मलीना ॥ २ ॥
तुम्ह सुग्रीव कूलद्रुम दोऊ । अनुज हमार भीरु अति सोऊ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—बद=(१) कह । (२) बदकर, बाजी लगाकर । कूल=तट, किनारा ।

अर्थ—अरे अङ्गद ! सुन ! तुम्हारी सेनामें कौन योद्धा है जो मुझसे बदकर लड़ेगा ? बता । (अर्थात् मुझसे लड़ सके ऐसा कोई नहीं है) ॥ १ ॥ तेरा स्वामी स्त्री-विरहसे बलहीन हो गया है और उसका भाई उसके दुःखसे दुखी और मलिन (उदास, वैवर्ण) रहता है ॥ २ ॥ तुम और सुग्रीव दोनों तटके वृक्ष हो । रहा, हमारा छोटा भाई विभीषण; वह भी अत्यन्त डरपोक है ॥ ३ ॥*

प० प० प्र०—'**तव प्रभु**' का भाव कि जिसे तू जगत्‌का प्रभु कहता है, वह जगत्‌का प्रभु नहीं है, न समर्थ ही

* पु० रा० कु०—सरस्वती कृत अर्थ—(१) नारिविरहका जो बल है उससे हीन है अर्थात् कामके वश नहीं है, जितेन्द्रिय है, यथा—'नाहिन राम राजके भूखे । धरम धुरीन विषयरस रूखे, 'अनन्या हि मया सीता भास्करस्य प्रभा यथा', 'प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई ।' उसका भाई दुःखसे दुखी और मली (=पापी) न (नहीं है) । पापका फल दुःख है, पापी नहीं है, अतः दुःखी नहीं है । जैसे वृक्ष मार्गके लोगोंको सुखदायक होते हैं वैसे ही तुम दोनों सब वानरोंके सुखदाता हो, रामदर्शन कराके रामसेवक साधुरूप हुए । वा, कूल हो और वृक्ष हो । तट अर्थात् संसारसागरकी तीरभूमि हो, यथा—'मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं । संसारसिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं ॥१०५॥' द्रुमसदृश उपकारक हो, यथा—'संत बिटप सरिता गिरि धरनी । पर हित हेतु सबन्ह कै करनी ॥'

है। वह तो केवल तेरा प्रभु अर्थात् स्वामी है। यहाँके 'प्रभु' शब्दको आगे 'पति हित करै धर्म निपुनाई॥' 'अंगद स्वामि भक्त नव जाती' इत्यादिसे स्पष्ट किया है।

पु० रा० कु०—'दुख दुखी मलीना' से श्रीलक्ष्मणजीका श्रीरामजीमें अत्यन्त स्नेह दिखाया। मलीन है अर्थात् उसके हृदयसे आनन्द जाता रहा, स्वयं चित्तमें खेद रहता है। मनमें उदासी आनेसे आनन्द और उत्साह जाता रहता है, यथा—'मिटा मोद मन भए मलीने। बिधि निधि दीन्ह लेत जनु छीने॥ २। ११८। ७।'

नोट—२३ (१-६) का भाव हनुमन्नाटकके इन श्लोकोंसे स्पष्ट हो जाता है—'रामः स्त्रीविरहेण हारितवपुस्तच्चिन्तया लक्ष्मणः सुग्रीवोऽङ्गदशल्यभेदकतया निर्मूलकूलद्रुमः। गण्यः कस्य विभीषणः स च रिपोः कारुण्यदैन्यातिथिर्लंका-तंकविटंकपावकपटुर्वध्यो ममैकः कपिः॥ हनु० ८। ९।' अर्थात् राम तो स्त्रीके विरहसे ही कृशतन हो गये और लक्ष्मण उनकी चिन्तासे दुर्बल हैं। सुग्रीव शल्य (वृद्ध होनेसे) और अङ्गद (पिताके मारे जानेसे) भेदकी शंकासे उत्साहरहित होनेसे मूलरहित नदीतटके वृक्षवत् हैं। विभीषण किस गिनतीमें है? वह तो शत्रुकी दया और दीनताका ही अतिथि है। लंकाको भय देनेवाला पावकरूप चतुर एक ही वानर (हनुमान्) मेरा वध्य है।

श्लोकके 'रामः स्त्रीविरहेण हारितवपुः','हारितवपुस्तच्चिन्तया लक्ष्मणः' और 'सुग्रीवोऽङ्गदः कूलद्रुमः' ही क्रमशः मानसके 'तव प्रभु नारि बिरह बलहीना', 'अनुज तासु दुख दुखी मलीना' और 'तुम्ह सुग्रीव कूलद्रुम दोऊ' हैं। श्लोकके 'शल्यभेदकतया' से कूलद्रुम होनेका कारण बताया है कि सुग्रीव वृद्ध है और तुम दोनोंको सदा परस्पर भेदकी शंका रहती ही है। अतः तुम दोनोंमें युद्धका उत्साह कहाँ। श्लोकका 'गण्यः कस्य विभीषणः' मानसका 'अनुज हमार भीरु' है। स च रिपोः कारुण्यदैन्यातिथिः' यह मानसके 'भीरु अति' की व्याख्या ही समझिये। श्लोकका चतुर्थचरण मानसके 'है कपि एक महाबलसीला। आवा प्रथम नगर जेहि जारा॥' इन चरणोंसे मिलता है।

'कूलद्रुम दोऊ'

'कूलद्रुम' का भाव कि जैसे तटके वृक्ष नदीकी तीव्र धारासे मूलसहित उखड़कर गिर पड़ते हैं वैसे ही तुम दोनों निस्सन्देह नष्ट होगे यथा 'नदीतीरेषु ये वृक्षा या सुनारी निरंकुशा। मन्त्रहीनो भवेद्राजा विनाशं यान्ति ते ध्रुवम्॥' ☞ नदीतटके सम्बन्धसे तटवृक्षका मूलसे गिरना ही मानसमें सर्वत्र मिलता है, यथा—

'बिषम बिषाद तोरावति धारा।...धीरज तट तरुबर कर भंगा॥ अ० २७६। १-२।',

'मानहु रोषतरंगिनि बाढ़ी।...ढाहत भूपरूप तरु मूला॥ अ० ३४। १—४।'

इसी भावकी पुष्टता पदरोपणसे होती है। अङ्गद पद रोपकर जनाते हैं कि तूने हमें कूलद्रुम कहा है, तू हमारा पैर ही हटा ले तो जानें कि तू हमारा नाश कर सकेगा। यहाँ नदी क्या है? उत्तर—(क) संग्राम वा रोष नदी है। लड़ाई हुई नहीं कि तुम मारे गये, जब मैं कुपित हूँगा तब मेरी रोषसरिताकी तीक्ष्ण धारासे तुम दोनों गिरकर बह जाओगे।—'मानहु रोष तरंगिनि बाढ़ी।' (ख) पाँडेजी 'विरोध' को नदी कहते हैं।

मा० म०, पं०—भाव यह कि (i) तुम दोनों हमारे समीपके बसनेवाले हो, पूर्वका प्रेम विचारकर हमसे न लड़ोगे, एवं यह विचारकर न लड़ोगे कि कौन जन्मभरके लिये वैर मोल ले। वा, (ii) तटके वृक्ष निर्बल होते हैं। तुम दोनों आपसके वैरसे ही निर्बल हो रहे हो, क्या लड़ोगे? वा, (iii) कूलद्रुम=सेनाका पृष्ठनायक—(विश्वमेदिनी कोष) भाव कि तुम दोनों सदा सेनाके पीछे रहोगे। सुग्रीव सोचेगा कि बड़े यत्नसे राज्य और स्त्री मुझे मिली है, मैं क्यों जाकर मरूँ और तुम सोचोगे कि मेरा बाप मर गया अब मैं क्यों मरकर वंश नष्ट करूँ (करु०)। (iv) तुम दोनों एक दूसरेके शत्रु हो, आप ही एक दूसरेको ईर्ष्यावश मरवा डालनेका यत्न करोगे। इससे तटवृक्षकी नाईं शीघ्र नष्ट होगे।—(वं० पा०)। 'भीरु अति'—ऐसा कि वानरोंका आना सुनकर ही भाग निकला—९ (७) देखिये।

प० प० प्र०—यहाँ कूल और द्रुमका परस्पर सम्बन्ध ध्यानमें लानेसे रावणके वचनोंका भाव स्पष्ट हो जायगा। अङ्गदको कूल और सुग्रीवको कूलद्रुम कहा है। कूल और कूलद्रुम दोनों परस्पर मित्र और हितकर्तासे देखनेमें आते हैं। पर कूलद्रुम कूलको गिरानेका प्रयत्न करता रहता है और कूल स्वयं गिरकर तटके वृक्षको भी गिराता है। इस तरह कूल

और द्रुम कहकर सूचित किया कि सुग्रीवमें और तुममें प्रेम नहीं है। तुम दोनों परस्पर विनाशक हो। जब तुम्हारेमें ही ऐसा भेद है तब तुम अपने स्वामीके शत्रुसे लड़नेको कब समर्थ हो सकते हो? इन शब्दोंसे रावणने भेदका बीज बोनेका प्रयत्न किया। मा० म० और बं० पा० के भाव भी युक्तियुक्त हैं।

नं० प०—नदीके करारके वृक्ष कमजोर होते हैं, वैसे ही तुम अपने पिताके मारे जानेसे और सुग्रीव अपने भाईके मारे जानेसे कमजोर हो।

जामवंत मंत्री अति बूढ़ा। सो कि होइ अब समरारूढ़ा॥ ४॥
सिल्पि-कर्म जानहिं नल नीला। है कपि एक महाबलसीला॥ ५॥
आवा प्रथम नगरु जेहिं जारा। सुनत बचन कह * बालि-कुमारा॥ ६॥

शब्दार्थ—शिल्प=हाथसे कोई चीज बनाकर तैयार करनेका काम, दस्तकारी। आरूढ़=चढ़ा हुआ, दृढ़। यथा—'खर आरूढ़ नगन दस सीसा।'

अर्थ—जाम्बवंत मन्त्री बहुत बूढ़ा है। वह अब रणमें क्या ठहर सकता है? (अर्थात् नहीं)॥ ४॥† नलनील शिल्पकर्म जानते हैं (अर्थात् युद्धकलासे अनभिज्ञ हैं। शिल्पकार युद्ध-कर्म क्या जानें? कहीं ईंट-पत्थर जोड़नेवाला योद्धा होता है?) हाँ, सेनामें एक वानर महाबलवान् है॥ ५॥ जो प्रथम आया था और जिसने लंका जलायी थी। ये वचन सुनते ही बालिकुमार बोले—॥ ६॥

नोट—'**सो कि होइ अब समरारूढ़ा**' का भाव कि 'अति' वृद्ध होनेसे वह मरे हुएके समान है—'अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा।''जीवत सव सम' ३०५। २-४।' देखिये। २—रावणने 'महाबलशील' कहकर प्रथम हनुमान्‌जीकी प्रत्यक्ष प्रशंसा की क्योंकि उसका वल उनके सामने कुछ न चला था। फिर उसने उनका परिचय दिया कि प्रथम-प्रथम यहाँ आया था और जिसने लंका जलायी थी। नाम न लिया क्योंकि पूर्व हनुमान्‌जी या शुकने भी न बताया था। लंका जलानेमें प्रशंसा और निन्दा दोनों बातें निकलती हैं—प्रशंसा कि रावणके रहते वह नगर जला गया। निन्दा कि यह योद्धाका काम नहीं है, यह तो आततायीका काम है। एवं उसको यहाँ मेरे पुत्रने बाँधा और खूब उसपर मार पड़ी थी, यथा—'**लंक लाइ गयो जो बानर कौन नाम बखानिये। मेघनाद जो बाँधियो वहि मार्यो बहुधा तबै**'—(रा० चं०)

टिप्पणी—रावणने सबकी लघुता कही पर हनुमान्‌जीकी प्रशंसा की। इसीसे ये उसके भयदर्शनार्थ हनुमान्‌जीको लघु कहकर उसका अभिमान तोड़नेके लिये बोले। वा, अङ्गद समझ गये कि बस अब यह कहना ही चाहता है कि बस ऐसे-ऐसे ही तो हैं और फिर कुछ दुःख देनेवाली बात कहेगा, इसलिये यही बात पकड़कर बोले।

बं० पा०—रावणने सबकी निन्दा की पर शिवजीको अपना इष्ट मान शत्रुवर्गमें भी उसने हनुमान्‌जीकी स्तुति की।

☞ विभीषण, नल, नील आदि जिनकी-जिनकी लघुता कही है, उन सबके द्वारा रावणकी दुर्दशा आगे युद्धमें दिखायी गयी है। इन सबने अपने बलका परिचय रावणको युद्धमें एक-एक करके दिया है।

सत्य बचन कहु निसिचरनाहा। साँचेहु ‡ कीस कीन्ह पुरदाहा॥ ७॥
रावन नगरु अल्प कपि दहई। × सुनि अस बचन सत्य को कहई॥ ८॥

अर्थ—हे राक्षसराज! सच-सच कह, क्या सत्य ही वानरने पुर जला दिया?॥ ७॥ रावणका नगर एक तुच्छ वानर जलावे, यह वचन सुनकर भला कौन इसे सच कहेगा? अर्थात् कोई विश्वास न करेगा॥ ८॥

---

* 'सुनि हँसि बोलेउ' का० और रा० गु० द्वि० का पाठ है। पंजाबीजी कहते हैं कि 'हँसि' बोलनेका भाव यह है कि यह हनुमान्‌जीसे बहुत डरा हुआ है। अथवा, उसके वचनोंके निरादरार्थ हँसे जो उसने कहा था कि कौन योद्धा है जो लड़ेगा। अथवा, यह समझकर हँसे कि अच्छा मौका है इसने इनकी प्रशंसा की है, अब युक्तिसे इनकी लघुता कहकर सबकी प्रशंसा कर सकूँगा।

† सरस्वती कृत अर्थ—'अति बूढ़ा मन्त्री' अर्थात् ज्ञानवृद्ध है।

‡ साचेहु—भा० दा०। × को अस झूठ सुनै को कहई'—का०।

नोट—१ (क) 'सत्य कहु, साँचेहु कीन्ह, सत्य को कहई' के भाव कि दिग्विजयी रावणके देखते ऐसा होना विश्वसनीय नहीं है। यथा—'कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका। सुं० ३३। ५।' (ख) 'निशिचर नाहा' का भाव कि एक तो राक्षस स्वयं महा बलवान्, दूसरे वानर उनके भक्ष्य हैं उसपर भी तू सबका राजा त्रैलोक्यविजयी है, तेरे नगरपर इन्द्रादि दृष्टि नहीं डाल सकते तब तेरे रहते कैसे नगर जला डाला गया? इससे जनाया कि तुझमें तो एक छोटे-से वानरका बल भी नहीं है।

२ (क) 'रावन-नगर' का भाव कि जो त्रैलोक्यको रुलानेवाला है उसके सामने भला किसीकी ऐसी सामर्थ्य कब हो सकती है कि वह उसीको रुला देवे। (ख) 'अल्प कपि' अर्थात् एक तो वानर जला सकता, यह असम्भव है, उसपर भी एक सबसे छोटा बन्दर ऐसा करे यह तो महान् आश्चर्यकी बात है। आगे इसीकी व्याख्या है।

☞ मिलान कीजिए—'सोऽपि त्वं कपिमिहावगच्छसि पुरा योऽदाहि लाङ्गूलतो बद्धो मत्तनयेन हन्त स कथं मिथ्यावदन्नः धुरा। किं लंकापुरदीपनं तव सुतस्तेनाहतोऽक्षो युधीत्युक्तः कोपभयत्रपाभरवशस्तूष्णीमभूद्रावणः॥ हनु० ८। ५।' अर्थात् क्या तू वही है? (अङ्गद) तुम किसको समझ रहे हो? (रावण) जिसने लांगूलसे लङ्का जला दी थी, जिसको हमारे पुत्रने बाँधा था। (अङ्गद) खेदकी बात है। क्या उसने लङ्कापुरीको जला दिया? क्या उसने तुम्हारे पुत्र अक्षयकुमारको मारा;—ऐसे कहे जानेपर रावण कोप, भय और लज्जाके वश हो चुप हो गया।

अङ्गद जान-बूझकर झूठ क्यों बोले?

(क) दूतका काम है कि जिसमें शत्रुको पीड़ा पहुँचे, उसका मानमर्दन हो वही कहे, यह न सोचे कि हम सत्य कहते हैं या झूठ। वा, (ख) हास्यमें कहा। जैसे उसने सबकी लघुता कहकर अपनेको बड़ा बली जनाया वैसे ही इन्होंने हनुमान्‌जीकी लघुता कहकर सारी सेनाको उससे अधिक बलवान् जनाया। यही सभा-चातुरी है और हास्य है, यह आगे स्पष्ट हो जाता है।

पु० रा० कु०—अङ्गदने हनुमान्‌जीसे सब वृत्तान्त सुना है, यथा—'चले हरषि रघुनायक पासा। पूछत कहत नवल इतिहासा॥' फिर असत्य कैसे बोले? उत्तर—(i) धर्मशास्त्रकी आज्ञा है कि "गोब्राह्मणाय हिंसायां वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे। स्त्रीषु नर्मविवादेषु नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्' अर्थात् गोब्राह्मणकी हिंसा बचानेमें, अपनी वृत्तिके लिये, प्राण सङ्कटमें पड़े हुए समयमें, स्त्रियोंसे हँसी-दिल्लगीमें, या झगड़ेमें झूठ निन्दनीय नहीं है। (ii) दूसरे, अङ्गद रामसेवक हैं उन्होंने निजवृत्तिके अर्थ प्रभुकी प्रभुताके सूचक वचन कहे, इसलिये असत्यका दोष नहीं।

वीर—रावणने जैसी व्यंगोक्तिसे निन्दा की उसीके अनुकूल गूढ़ोत्तर बालिकुमारने दिया। यदि झूठ कहनेका अभिप्राय होता तो आगे चलकर 'सत्य पवनसुत मोहि सुनाई' इत्यादि काहेको कहते। जानी हुई बातपर अनजानकी तरह आश्चर्य प्रकाश करते हुए उसे मिथ्या सिद्ध कर अङ्गदने अपने पूज्यवरोंको आक्षेपसे बचानेमें 'शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्' की नीतिका अनुसरण किया।

प० प० प्र०—रावणके मन्त्री शुकने भी हनुमान्‌जीको सबसे छोटा कहा है। यथा—'जेहि पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा। सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा॥ ५। ५४। ७।' अतः 'अल्पकपि' कहनेमें दोष नहीं। शत्रुका उपहास करके उसकी दुर्बलता उसके सचिवादिको जनाकर उनको गलित धैर्य, हतवीर्य बनाने और अपने स्वामीकी प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये व्याजोक्तिमें ऐसा कहना दोष नहीं है किन्तु परम चतुरता है। अङ्गद-रावण-संवाद व्याजोक्ति-वक्रोक्तिका खजाना है। रावण और अङ्गदमें मानो वक्रोक्तिविषयक स्पर्धा ही लग रही है। अन्तमें वक्रोक्तिसे निर्वाह न हो सका तब शौर्य, बल, पराक्रमका प्रयोग ही अङ्गदको करना पड़ा। वाग्युद्धमें प्रायः दोनों बराबर रहे फिर भी एक स्थानमें अङ्गदकी जीत हुई।

नं० प०—शंकाका समाधान यह है—'अङ्गदका बयान सत्यके ऊपर है कि रावणकी लङ्काको बंदरने जला डाला, इसे कौन सत्य कहेगा? कोई नहीं। 'कोई' में अङ्गदजी आप भी शामिल होते हैं। और, जिसका नगर जलाया जब उसने स्वयं जलाना बयान किया तब सत्य जानना कहा है कि अब सत्य जाना। अर्थात् अङ्गद लङ्का-दहन सुननेको इनकार नहीं करते हैं किन्तु सुनकर सत्य माननेको इनकार किया है।

वि० त्रि०—'नदी नाव पटु प्रश्न अनेका। केवट कुसल उतर सविवेका॥' उत्तर समझानेके पहिले प्रश्नको समझना चाहिये। रावण कहते हैं कि "तुम्हरे कटक माँझ सुनु अंगद। मोसन भिड़इ कवन जोधा बद॥ तव प्रभु नारि बिरह बलहीना। अनुज तासु दुख दुखी मलीना॥ इत्यादि। तो क्या ये सब बातें सत्य हैं? केवल बैठकबाजीकी बातें हैं। इनका उत्तर क्या सभ्य भाषामें देना सम्भव है? अतः मिथ्याध्वसित अलङ्कारका आश्रयण करके अङ्गदजी उत्तर देते हैं। जिसे रावण 'है कपि एक महा बलसीला' कहते हैं, उसीको अङ्गदजी 'अल्प कपि' बतलाते हैं, जिससे रावणके सब तर्क ही उलटे पड़ गये, और भी जितनी बातें कही हैं, उसीकी पुष्टिके लिये कही हैं। वस्तुतः हनुमान्‌जीको कपि कहनेपर अङ्गदजी क्रुद्ध हैं, और जो कुछ उनकी छोटाई कही, वह रावणकी उक्तिके खण्डनमें कही, नहीं तो आगे चलकर कहेंगे 'कस रे सठ हनुमान कपि गयउ जो तव सुत मारि।

जो अति सुभट सराहेहु रावन। सो सुग्रीव केर लघु धावन॥ ९॥
चलै बहुत सो बीर न होई। पठवा खबरि लेन हम सोई॥१०॥

शब्दार्थ—धावन=बहुत जल्दी या दौड़कर जानेवाला, दूत, हरकारा।—'एहि बिधि सोचत भरत मन धावन पहुँचे आइ'।

अर्थ—हे रावण! जिसकी तुमने अत्यन्त उत्तम योद्धा कहकर सराहना की है वह तो सुग्रीवका एक छोटा दूत है॥ ९॥ जो बहुत चले वह वीर नहीं होता। हमने तो उसे खबर लेने भेजा था॥ १०॥

पु० रा० कु०—१ 'लघु धावन' का भाव कि सेनामें बहुत बड़े-बड़े थे, इसने तो सौ योजन ही लाँघा और तो सहस्रों योजन समुद्र लाँघ सकते हैं। [पुनः भाव कि बड़े धावन वे हैं जिन्होंने अवधिके भीतर ही सातों समुद्र खोज डाले और लौटकर खबर दी। बड़ा धावन भी हो तो भी वह वीर थोड़े ही कहलायगा, हरकारा ही कहा जायगा। बं० पा०] २—'चलै बहुत'। इनका वेग पवन और गरुड़से भी अधिक है, यथा—'वेग जीत्यो मारुत प्रताप मार्तंड कोटि०' (क० सुं०)। इसीसे शीघ्रगामी समझकर इन्हें भेजा था।

पु० रा० कु०—'हम पठवा'। भाव कि सुग्रीवने नहीं भेजा, वे तो लघुको कदापि न भेजते। उसे तो हमने भेजा था। 'पठवा खबर लेन' का भाव कि उसकी वीरोंमें गणना नहीं है, इसीसे हमने उसे केवल खबर लेने भेजा था। (मा० मुक्तावली)।

नोट—'चलै बहुत सो बीर न होई' इति। भाव कि तुमने, जान पड़ता है कि उसे सौ योजन समुद्र लाँघनेसे वीर समझ लिया है, वह तो धावन है, चलनेवाला है, वीर नहीं है। मिलान कीजिये—'यो युष्माकमदीदहत्पुरमिदं योऽदीदलत्काननं योऽक्षं वीरममीमरद्गिरिदरीर्योऽबीभरद्राक्षसैः सोऽस्माकं कटके कदाचिदपि नो धीरेषु संभाव्यते दूतत्वेन इतस्ततः प्रतिदिनं सम्प्रेष्यते साम्प्रतम्॥ हनु० ८। ७॥

अर्थात् जिसने तुम्हारे पुरको भस्म किया, जिसने तुम्हारे अशोकवनको विध्वंस किया, जिसने अक्षको मारा, जिसने पर्वतकंदराओंको राक्षसोंसे भर दिया—वह हमारी सेनामें कभी वीरोंमें तो नहीं समझा जाता, वह तो केवल दौत्य कर्ममें ही इधर-उधर भेजा जाया करता है। पुनश्च; 'यो लंकां समदीदहत्तव सुतं रक्षांसि चापीपिषद् यः कौशल्यम-वीवदज्जनकजामब्धिं तथातीतरत्। यश्चारामममूमुटत्स हनुमानस्मत्प्रवीरोद्यमे दूराक्रामणदौत्य एव न पुनर्योद्धुं समादिश्यते॥ हनु० ८। ८॥

अर्थात् जिसने लङ्का जला दी, अक्षको और राक्षसोंको मारा, जानकीजीसे कुशलसमाचार कहा और समुद्र पारकर वनको उजाड़ा, वह हनुमान् हमारी वीरताके उद्यममें केवल दौत्यकर्मका ही करनेवाला है। युद्धके लिये उसको कभी आज्ञा नहीं दी जाती।

दोहा—सत्य नगरु कपि जारेउ* बिनु प्रभु आयसु पाइ।
फिरि न गएउ सुग्रीव† पहिं तेहि भय रहा लुकाइ॥

* अब जानेउ पुर दहेउ कपि। † गयउ न फिरि निजनाथ।

दोहा—सत्य कहहि* दसकंठ सब मोहि न सुनि कछु कोह।
कोउ न हमारे कटक अस तो सन लरत जो सोह॥

अर्थ—सत्य ही वानरने बिना प्रभुकी आज्ञा पाये नगर जला डाला? इसी डरसे वह लौटकर सुग्रीवके पास न गया, कहीं छिप रहा। हे दशग्रीव! तुम सब सत्य कहते हो, मुझे सुनकर कुछ भी क्रोध नहीं है। सत्य ही हमारी सेनामें कोई भी ऐसा नहीं है जो तुझसे लड़नेमें शोभा पावे। (भाव कि तुझसे लड़नेमें सब अपनी हीनता समझते हैं, तुच्छ निशाचरसे क्या लड़ें, कोई जोड़का होता तो लड़ते। यह बात आगे कहते हैं।)

नोट—१ (क) 'बिनु प्रभु आयसु' अर्थात् उसे इतनी ही आज्ञा थी कि '**बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु॥ कि० २३। ११।**' यह उक्ति मानसकविकी है। हनु० ८ में रावणके पूछनेपर अङ्गदजीने छिपनेका कारण यह कहा है कि सबने, यह सुनकर कि राक्षसपुत्रने उसे बाँध लिया था, उसका तिरस्कार किया इस लज्जासे न जाने वह कहाँ गया। यथा '**बद्धो राक्षससूनुनेति कपिभिः संताडितस्तर्जितः सव्रीडार्तिपराभवो वनमृगः कुत्रेति न ज्ञायते॥ ६॥**'

(ख) वं० पा०—उत्तम दूतका कर्म, धर्म और कर्तव्य है कि आज्ञासे अधिक जो हो सके सब करे। अङ्गदका उत्तर व्यंगपूर्ण है। '**फिरि न गयउ**' में ध्वनि यह है कि कोरा लौटकर न गया, काम करके गया।

नं० प०—अङ्गदजीके सब वचन सत्य हैं। छिपने और '**निज नाथ पहिं**' न जानेका प्रमाण—'**नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी। सहसहु मुख सो जाइ नहिं बरनी॥ पवन तनय के चरित सुहाए। जामवंत रघुपतिहि सुनाए॥**' श्रीहनुमान्‌जीको स्वयं श्रीरामजीके पास जाकर श्रीजानजीका कुशल सुनाना चाहिये था क्योंकि उन्हींको मुद्रिका दी गयी थी और वे ही श्रीसीताजीको देखकर आये थे। पर वे जामवंतजीकी आड़में खड़े हैं और जाम्बवंतजीने कहा है। इस भावको लेकर लुकाना कहा है। इसी तरह 'तेहि भय' का प्रमाण लीजिये—जब जाम्बवंतजीने हनुमान्‌जीका चरित सुनाया तब श्रीरामजीने हर्षित हो उनको पुनः हृदयसे लगाया और श्रीजानकीजीका कुशल पूछने लगे। कुशल-समाचार सुनकर तब फिर पूछा—'**कहु कपि रावन पालित लंका॥ केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका॥**' '**तब प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना।**' श्रीरामजीने स्वयं आदरपूर्वक लङ्कादहन पूछा इससे जाना कि प्रभु प्रसन्न हैं। 'प्रसन्न जाना' शब्दसे सूचित होता है कि इसके पूर्व प्रभु अप्रसन्न न हों ऐसा सन्देह उनको था, क्योंकि बिना आज्ञाके लङ्का जलायी थी। अतः भयभीत थे। वह भय जाता रहा।

प० प० प्र०—सुं० दो० २९ की चौपाइयोंके पढ़नेसे यह ज्ञात होता है कि हनुमान्‌जी सुग्रीवजीके पास प्रथम नहीं गये; जब जामवंतादिने कहा कि '**नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना**' तब '**सुग्रीव बहुरि तेहि मिलेऊ**'॥ भाव कि लङ्कादहनादिकी बातें हनुमान्‌जीने स्वयं सुग्रीवजीसे नहीं कहीं। इस तरह अङ्गदका वचन असत्य नहीं है। (उनकी युक्ति बड़ी सुन्दर है। क्योंकि हनुमान्‌जी सुग्रीवके पास जानेमें सबसे पीछे हैं। '**फिरि न गयउ सुग्रीव पहिं**' के अनुसार सुग्रीवके पास भयसे न जाना कहा गया है।)

नोट—२ '**मोहि न सुनि कछु कोह**'। भाव कि तेरे वचन ललकारके हैं अतः क्रोध होना संभव था पर यह समझकर मैंने क्रोध न किया कि तुझपर क्रोध करनेसे यश न होगा। ☞ यह रावणके '**मो सन भिरिहि कवन जोधा बद**' का उत्तर है। इसमें स्तुतिके व्याजसे निन्दा है।

दोहा—प्रीति बिरोध समान सन करिअ नीति असि आहि।
जौं मृगपति बध मेडुकन्हि भल कि कहै कोउ ताहि॥

* कहेसि—(का०)

दोहा—जद्यपि लघुता राम कहुँ तोहि बधे बड़ दोष।
तदपि कठिन दसकंठ सुनु छत्रजाति कर रोष॥

अर्थ—प्रीति और विरोध बराबरवालेसे करे, यह नीति है। यदि सिंह मेंढकोंको मारे तो क्या उसे कोई भला कहेगा ? * यद्यपि तेरे वधमें श्रीरामचन्द्रजीकी लघुता और बड़ा दोष है तो भी, हे दशग्रीव ! क्षत्रिय जातिका क्रोध कठिन होता है।

बं० पा०—'**ययोरात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्य्याकृतिर्भवः। तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित्॥**' इति भागवते। अर्थात् जिनका धन, कुलीनता (जन्म), ऐश्वर्य, आकृति, भव (उत्पत्ति) अपने समान हो, उनमें विवाह, मित्रता आदि करनी चाहिये; अपनेसे उत्तम या मध्यममें कहीं ही उपयुक्त होती है।

नोट—यहाँ अपने दलके सब योधाओंको सिंह और रावणको मेंढक कहा। सिंहकी शोभा मत्तगजगणके विदीर्ण करनेमें है वैसे ही हमारी शोभा बड़े-बड़े शूरवीरोंसे भिड़नेमें है। पुनः, जैसे मेंढकवधसे सिंहकी शोभा नहीं वैसे ही चोरीसे परस्त्री-हरण करनेवालेके वधसे हमारी शोभा नहीं। यदि वह कहे कि लड़ेंगे नहीं तो आये क्यों और सीताजी उनको कैसे मिलेंगी ? तो उसपर कहते हैं कि 'जद्यपि लघुता०।' अर्थात् तेरे वधसे उनकी शोभा नहीं वरन् लघुता होगी, पर यदि तू समझानेसे नहीं ही मानेगा और नीचता करता ही जायगा जिससे उन्हें क्रोध उत्पन्न हो तो समझ ले कि वे क्षत्रिय हैं, क्रोध आनेपर फिर कुछ विचार, यश-अपयशका न रह जायगा और वे तुझे मार ही डालेंगे। अपयश होगा, कोई भला न कहेगा, यही 'बड़ा दोष' है। किसी-किसीका मत है कि ब्राह्मणवध होगा, यह दोष है, पर प्रसङ्ग सिंह और मेंढकका चला आता है। उसीसे यहाँ तात्पर्य है। ब्राह्मण भी यदि आततायी हो तो उसके वधमें दोष नहीं है। भगवान् श्रीकृष्णजीके वचन अर्जुनके प्रति प्रसिद्ध ही हैं कि 'ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हणः'।—(आ० २८ सीताहरणरहस्य देखिये)। यहाँ 'कारण-निबन्धना-अप्रस्तुत-प्रशंसा' अलंकार है।

टिप्पणी—१ तात्पर्य यह है कि क्रोध होनेसे लोग अनुचित भी कर बैठते हैं, क्रोधमें विचार नहीं रह जाता, यथा—'**लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोध पाप कर मूल। जेहि बस जन अनुचित करहिं चरहिं बिस्व प्रतिकूल॥ १। २७७।**'
२—क्षत्रिय जातिका रोष सबसे अधिक होता है, क्रोधरूपी तलवारसहित क्षत्रिय महाप्रबल होते हैं। उनकी क्रोधरूपी तलवार बड़ी तीक्ष्ण होती है—**क्रोधो ह्यसिर्महातीक्ष्णः**' इति वाल्मीकिः।—(वाल्मी० यु० २। २० में इसीलिये सुग्रीवने रामजीसे क्रोधका अवलम्ब लेनेको कहा है क्योंकि उससे सब डरते हैं—'**सर्वे चण्डस्य बिभ्यति**'।

दोहा—बक्र उक्ति धनु बचन सर हृदय दहेउ रिपु कीस।
प्रतिउत्तर सडसिन्ह मनहु काढ़त भट दससीस॥

शब्दार्थ—वक्र उक्ति=वक्रोक्ति। यह एक प्रकारका अलंकार है जिसमें काकु या श्लेषसे वाक्यका औरका और अर्थ किया जाता है यथा '**वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यामपरार्थप्रकल्पनम्। नानार्थसंश्रयः श्लेषः। काकुस्त्रियां विकारो यः शोक-भीत्यादिभिर्ध्वनेः॥**' इत्यमरः। अर्थात् श्लेष और काकुद्वारा दूसरे अर्थकी कल्पना करनेको वक्रोक्ति कहते हैं। अनेक प्रकारके अर्थोंका आश्रयण श्लेष कहलाता है। सँड़सी (सं० संदंश)=पतले छड़ोंका एक प्रकारका सँड़सा होता है जिसके दोनों छड़ोंका अगला भाग अर्द्धवृत्ताकार मुड़ा हुआ होता है। इससे पकड़कर प्रायः चूल्हेपरसे गरम बटुली आदि गोल मुँह-वाले बर्तन उतारते हैं। जँबूरी।

अर्थ—वक्रोक्तिरूपी धनुषसे वचनरूपी बाण मारकर वानर अङ्गदने शत्रुका हृदय जला दिया। योद्धा रावण उन बाणोंको मानो प्रत्युत्तर रूपी सँड़सियोंसे निकाल रहा है।

* 'अपिजलधरपोतो लेढि किं स्वल्पकुल्यामपि मशककुटुम्बं केशरी किं विनष्टि॥' अर्थात् बादलका छोटा बच्चा क्या छोटी-छोटी नदियोंको चाटता है ? क्या सिंह मशकोंका नाश करता है ? (र० ब०)

टिप्पणी—१ वक्रोक्तिको धनुष कहा क्योंकि दोनोंमें टेढ़ेपनकी समता है। 'हृदय दहेउ रिपु' से अङ्गदकी उक्तिकी उत्तमता सूचित की। धनुर्धरके धनुषबाणकी यही बड़ाई है कि वह शत्रुके हृदयको वेध डाले। यथा—'किं कवेस्तस्य काव्येन किं काण्डेन धनुष्मतः। परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति तत्क्षणात्॥' अर्थात्—कविकी उस कवितासे क्या और धनुर्धारीके उस धनुषसे क्या (अर्थात् वे व्यर्थ हैं) जिसने अन्य हृदयमें लगकर उसको उसी समय चूर्ण-विचूर्ण न कर दिया।

३—'प्रत्युत्तर' इति। 'जनि जल्पसि जड़ जंतु कपि०' इत्यादि प्रत्युत्तर सँड़सी हैं जिससे वह चुभे हुए बाणोंको निकालता है। अतएव भट है क्योंकि किंचित् भी क्षोभको नहीं प्राप्त होता।

पं०—१ बाण सीधे हैं वैसे ही वचन देखनेमें सीधे हैं पर वे वक्रोक्तिके साथ लगे हुए हैं। २—प्रति उत्तररूपी सँड़सीसे निकालता है। भाव कि प्रबल यथार्थ उत्तर तो आता नहीं इससे केवल हँसी आदि रूपी उत्तरसे हृदयकी जलन निकालता है। (रा० प्र०)।

नोट—'दशकंठ, दशशीश' शब्दोंका भाव कि तू इस अभिमानमें न रह कि दश सिर कहाँतक कोई काटेगा, क्योंकि प्रभु प्रतिज्ञा कर चुके हैं।

दोहा—हँसि बोलेउ दसमौलि तब कपि कर बड़ गुन एक।
जो प्रतिपालै तासु हित करै उपाय अनेक॥ २३॥

अर्थ—तब रावण हँसकर बोला कि कपिका एक बड़ा गुण यह है कि जो उसका पालन-पोषण करता है उसका वह अनेक उपायोंसे हित करता है॥ २३॥

टिप्पणी—१-हँसकर बोलनेका भाव कि अङ्गदके वचनको कुछ न माना, उनका निरादर किया। २—'कपिकर गुन एक।०' यह सँडसी है। ३—['दशमौलिका भाव कि दशोमुखोंसे हँसा।] २४ (१) देखिये।

धन्य कीस जो निज प्रभु काजा। जहँ तहँ नाचै परिहरि लाजा॥ १॥
नाचि कूदि करि लोग रिझाई। पति हित करै धर्म निपुनाई॥ २॥

अर्थ—अरे वानर! तू धन्य है कि अपने स्वामीके कार्यके लिये लज्जा छोड़कर जहाँ-तहाँ नाचता है॥ १॥ नाच-कूदकर लोगोंको रिझाकर स्वामीका हित करता है, यह उसके धर्मकी निपुणता है॥ २॥

रा० चं० शुक्लजी—रावण और अङ्गदके संवादमें दोनोंकी 'व्याज निन्दा' बहुत ही अच्छी है। रावणके इस वचनसे कुछ बेपरवाई झलकती है। बन्दरोंका आदमीके हाथमें पकड़कर नाचना-कूदना एक नित्यप्रति देखी जानेवाली बात है।—['धन्य'; 'धर्म निपुनाई' में व्यंग यह है कि तुझे धिक्कार है, तू निर्लज्ज है। यहाँ 'व्याज निन्दा' और 'लक्षणामूलक व्यंग' हैं।

टिप्पणी—'तासु हित करै उपाय अनेक',...'निज प्रभु काजा। जहँ तहँ नाचै॥' भाव कि अपने स्वामीके हितार्थ लङ्कापुरवासियोंको नाचकूदकर रिझा रहा है, सेवक-धर्म निबाहनेके लिये ऐसा कर रहा है। नट बन्दरको नचाता है, वैसे ही इसका स्वामी इसे नचाता है। अच्छी जगह नाच नाचने आया है क्योंकि यहाँ मैं गुणग्राहक हूँ।

अंगद स्वामिभक्त तव जाती। प्रभु गुन कस न कहसि एहि भाँती॥ ३॥
मैं गुनगाहक परम सुजाना। तव कटु रटनि करौं नहिं काना॥ ४॥

शब्दार्थ—गुणग्राहक=गुणोंकी खोज करनेवाला, गुणियोंका आदर करनेवाला, कदरदान। 'रटनि'—बारंबार एक ही बातको उच्चारण करना, वचन, बोल।

अर्थ—हे अङ्गद! तेरी जाति स्वामिभक्त है, (तब) तू अपने स्वामीका गुण इस प्रकार कैसे न कहे (अर्थात् स्वामिभक्तको स्वामीकी बड़ाई करना योग्य ही है)॥ ३॥ मैं गुणग्राहक और परम सुजान हूँ; इसीसे तेरी कड़ुवी रटन (रटी हुई बातों) पर ध्यान नहीं देता। (यह समझकर कि यह तो स्वामिभक्त है ऐसा कहेगा ही, स्वभाव छूट नहीं सकता, अतः बकने दो)॥ ४॥

नोट—१ 'स्वामिभक्त तवजाती' इससे सब वानरसेनाको भी निर्लज्ज करार दिया, जो बातें ऊपर अङ्गदको कहीं, वही उनकी जाति भरके लिये सूचित की, तथा—'धन्य कीस जो निज प्रभु काजा।'''।' इत्यादि। पुनः, भाव कि तुम्हारी जातिका यह स्वभाव है, तब तुम भी तो उसीमें हो, तुममें भी यह गुण हुआ ही चाहे।

२ 'परम सुजान' का भाव कि—(क) राजा सभी सुजान होते हैं, वे सबका गुण अपनी सुजानतासे जानकर सबका सम्मान करते हैं, यथा—'साधु सुजान सुसील नृपाला॥'''सुनि सनमानहिं सबहि सुबानी। भनिति भगति नति गति पहिचानी॥ १। २८। ८, ९॥ और मैं तो दिग्विजयी राजा हूँ इससे परम सुजान हूँ। तब मैं तेरे गुणोंका सम्मान क्योंकर न करूँ? पुनः, परम सुजान हूँ। अतः गुण जान लेता हूँ और गुणग्राहक हूँ अतः सम्मान करता हूँ। कटु वचनपर ध्यान नहीं देना यही यहाँ आदर है।

३ 'करउँ नहिं काना' से जनाया कि ये वचन अनर्गल हैं, सुनने या ध्यान देने योग्य नहीं हैं। यह भी गुण सुजानका है कि व्यर्थ बातोंपर ध्यान न दे। यथा—'सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना। बालक बचन करिय नहिं काना॥ १। २७९। २।'

वीर—यहाँ आत्मप्रशंसासे अङ्गदको मूर्ख बकवादी ठहरानेका भाव व्यञ्जित होना 'वाच्यविशेष व्यङ्ग' है।

कह कपि तव गुन गाहकताई। सत्य पवनसुत मोहि सुनाई॥ ५॥

अर्थ—अङ्गद बोले कि तेरी गुणग्राहकता सत्य है, पवनसुतने सत्य ही मुझे सुनायी है॥ ५॥

नोट—१ 'सत्य पवनसुत मोहि सुनाई' से सिद्ध हुआ कि पूर्व जो हनुमान्‌जीका छिप रहना आदि कहा था, वह केवल रावणका गर्व चूर्ण करने और जैसेको तैसा उत्तर देनेके ही निमित्त था।

२ जब लघुता कही तब लघु शब्द 'कीस' 'अल्प कपि' आदि पद दिये, यथा—'साँचेहु कीस कीन्ह पुरदाहा', 'रावन नगर अलप कपि दहई' 'सत्य नगर कपि जारेउ०'। और जब प्रशंसा करनेको हुए तब बड़ा और पराक्रम-सूचक 'पवनसुत' पद दिया।

३ जब कपिकी लघुता कही तब 'नगर' बड़ा पद और 'कपि' छोटा पद दिया— 'रावन नगर अलप कपि दहई' 'सत्य नगर कपि जारेउ'। जब आश्चर्य प्रकट किया तब एवं जब पराक्रमरूपी गुण दिखाया तब 'पुर' छोटा पद दिया और 'कीस' तथा 'पवनसुत' बड़े पद दिये। यथा—'साँचेहु कीन्ह कीस पुर दाहा', 'बन बिधंसि सुत बधि पुर जारा। तदपि न तेहि (पवन सुतकर) कछु कृत अपकारा।'

बन बिधंसि सुत बधि पुर जारा। तदपि न तेहिं कछु कृत अपकारा॥ ६॥
सोइ बिचारि तव प्रकृति सुहाई। दसकंधर मैं कीन्हि ढिठाई॥ ७॥

शब्दार्थ—अपकार=बुराई, अहित, हानि, अनादर।

अर्थ—अशोक वनको नष्ट-भ्रष्ट कर, पुत्रको मारकर, उसने नगरको जलाया तो भी (तुम्हारी समझमें) उसके द्वारा (तुम्हारा) कोई अपकार नहीं किया गया॥ ६॥ वही तेरा सुन्दर स्वभाव विचारकर, रे दशकन्धर! मैंने ढिठायी की॥ ७॥

नोट—१ 'बन बिधंसि''' इति। अब बतलाते हैं कि हनुमान्‌जीने क्या 'गुणग्राहकता' सुनायी थी, क्या गुण तुमने हनुमान्‌जीमें देखे और क्या आदर उनका किया। २—अशोकवन-विध्वंस, अक्षवध और लंकादहन तीन गुण देखे, इसीसे कुछ दण्ड न दिया। यह गुणोंका आदर तुम्हारी ओरसे तब हुआ जब तुमने गुणको ग्रहण किया अर्थात् स्वयं भोग लिया। वन उजाड़ना कपिस्वभाव है इसीसे वन उजाड़नेपर न बोले। व्यङ्ग यह कि तुमने अकेलेके मारनेके लिये अनेक राक्षस योद्धा भेजे। फिर, अक्षको मारनेपर न बोले क्योंकि वानरस्वभावसे जो कपिने किया उसपर ये उससे जा लड़े, इन्हींका अपराध था; यथा—'जिन्ह मोहिं मारा ते मैं मारा। तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारा॥' व्यङ्ग यह है कि तू इतना नीच है कि तब भी तूने दूतको बँधवाया और उसको मारनेकी आज्ञा दी, यथा—'बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना।' नीति-धर्म विरुद्ध करने लगा, तब विभीषणने अनीतिसे बचाया। तब भी पूँछमें

आग लगाकर जलाना चाहा। फिर उसने नगर जलाया। तब भी तुमने दण्ड न दे उसका आदर किया कि वानरका स्वभाव ही तो है कि 'नाचि कूदि करि लोग रिझाई।…', वा, अग्निका स्वभाव है जलाना—२८ (१-२) देखिये। इसमें व्यङ्ग यह है कि तुमने बसभर सब उपाय किये पर एक न चली। इसी तरह तुम मनमें समझते हो कि इसका कुछ कर तो सकते ही नहीं इसीसे कोरी बातें गढ़ते जाओ। रा० चं० प्र० १६। ८ से मिलान कीजिये, यथा—'श्रीरघुनाथ को बानर केशव आयो हो एक न काहू हयो जू। सागर को मद झारि चिकारि त्रिकूट की देह बिदारि गयो जू॥ सीय निहारि सँहारि कै राक्षस शोक अशोक बनी हि दयो जू। अक्षकुमारहि मारि कै लंकहि जारि कै नीकेहि जात भयो जू॥'

'सोइ बिचारि तव प्रकृति सुहाई।…' इति। (क) तुमने जब पवनसुतके इतना करनेपर भी बुरा न माना और भलाई समझी तो ऐसे अच्छे स्वभावको देखकर मुझे भी आशा हुई कि मेरी ढिठाईको भी तुम उसी भली निगाहसे देखोगे और बुरा न मानोगे। यही समझ मैंने भी तुम्हारे एक लड़केको मारा और तुमको कटु वचन कहे। (ख) 'सुहाई' कहकर 'असुहाई' अर्थात् नीच और मलिन सूचित किया। व्यञ्जना यह है कि तुम ऐसे कायर और असमर्थ हो कि न हनुमान्‌जीका कुछ कर सके और न मेरा कुछ कर सकोगे। इसीलिये मैंने भी उसी तरह निःशंक व्यवहार किया है।

देखेउँ आइ जो कछु कपि भाषा। तुम्हरे लाज न रोष न माषा॥ ८॥
जौं असि मति पितु खाएहु कीसा। कहि अस बचन हँसा दससीसा॥ ९॥

अर्थ—जो कुछ हनुमान्‌जीने कहा था वह आकर मैंने प्रत्यक्ष देखा कि तुममें न लज्जा है, न रोष है और न माष है॥ ८॥ (रावण बोला—) 'अरे वानर! ऐसी बुद्धि है तभी तो तूने अपने बापको खा लिया (मरवा डाला)', ऐसे वचन कहकर दशशीश (दसों मुखोंसे) हँसा॥ ९॥

नोट—१ (क) 'देखेउँ आइ' का भाव कि सुनकर विश्वास न होता था कि त्रैलोक्यविजयी प्रतापी रावणमें लज्जा, रोष और माष न होंगे, स्वयं देखनेपर प्रतीति हुई कि उनने सत्य कहा था। (ख) 'तुम्हरे लाज न…' इति।' भाव कि लज्जा होती तो तुम डूब मरते, यथा—'सुनी हमहु परतिय कृत चोरी॥ देखी नयन दूत रखवारी। बूड़ि न मरहु धर्मब्रतधारी॥' भाव कि ये सब लज्जित करनेवाले कर्म हैं पर तुम्हें लज्जा नहीं। रोष होता तो बहिनकी नाक-कान काटनेवालेको क्षमा करके घरमें चुपके न बैठ रहते। २२ (५-७) देखिये। 'माष' होता तो मेरे गर्वहारी कटु वचन न सह सकते, पर तुम सुनते हो और बोलते नहीं।

☞ माष 'दम्भ, दोष छिपानेकी प्रवृत्ति, रोष, अधीरता, असहनशीलता।' यहाँ 'असहनशीलता' अर्थ लिया गया है। बलका गर्व होनेसे दूसरेके प्रतिकूल वचन न सह सकनेका भाव 'माष' है। यथा—'अब जनि कोउ माषै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥ १। २५२। ३।', 'माषे लषन कुटिल भैं भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें॥ १। २५२। ८।'' 'देखि रसाल बिटप बर साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदन मन माषा॥ १। ८७। १।' 'भट मानी अतिसय मन माषे। परिकर बाँधि उठे अकुलाई। १। २५०। ५-६।' माष अन्तःकरणका विकार है और रोष बाहरका; यथा—'मुनि तन भएउ क्रोध कर चीन्हा', 'रिस बस कछुक अरुन होइ आवा', 'रदपट फरकत नयन रिसौंहें'—ये बाहरके चिह्न क्रोधके हैं। 'माष'—दोहा २४ में भी देखिये।

गौड़जी—माष' क्रिया 'मक्ष' और 'अमर्ष' दोनोंसे बनी हुई मानी जा सकती हैं। 'मक्ष' का अर्थ है—दम्भ, दोष छिपानेकी चालाकीसे कोशिश। 'मर्ष' सहनशीलताको कहते हैं। 'अमर्ष' का अर्थ हुआ 'अधीरता', 'असहनशीलता' और इसीलिये 'रोष' और 'क्रोध' भी जो असहनशीलता और अधीरतासे होता 'माषे लखन''इत्यादि' प्रसङ्गमें न सह सकनेका भाव 'माषे' से निकलता है। यहाँ भी रावणके 'माष' नहीं है, अर्थात् रावण 'सह लेता' है। चालाकीसे दोष छिपानेकी कोशिश भी करता है, अतः 'मक्ष' से बनी हुई 'माष' क्रिया भी मानी जा सकती है। 'रोष' लक्ष्यार्थ है और इस प्रसङ्गमें इस अर्थके लिये जानेसे पुनरुक्ति होगी।

नोट—२ 'असि मति' यह कि जो अपकार न माने और सह ले उसके साथ अपकार करनेमें जो तुम हर्ज नहीं समझते, तुम्हारी ऐसी बुद्धि है, तभी तो तुमने अपने बापको ही मरवा डाला; क्योंकि तुम अपने बापके दुश्मनोंसे मिले रहते थे, तब भी बाली अपकार नहीं मानता था। इसी उसके सहनेवाले स्वभावके कारण तुम बढ़ते ही गये और अन्तमें उसे मरवा ही डाला। तुम्हारी लायकी इस दरजे तक पहुँची। तुममें लज्जा और रोष होता तो क्रोध करके सुग्रीव और रामसे बापका बदला लेते, माताको सुग्रीवकी पत्नी बनी देख लज्जासे डूब मरते और तापसके दूत न बनते।

३ 'हँसा'। इस प्रत्युत्तरसे भी उसे संतोष न हुआ। इसीलिये कमीकी पूर्त्तिके लिये निरादर सूचित करते हँसा।

पितहि खाइ खातेउँ पुनि तोही। अबहीं समुझि परा कछु मोही॥ १०॥
बालि बिमल जस भाजन जानी। हतौं न तोहि अधम अभिमानी॥ ११॥
कहु * रावन रावन जग केते। मैं निज श्रवन सुने सुनु तेते † ॥ १२॥

अर्थ—(अङ्गद बोले कि चाहिये तो यह था कि) पिताको खाकर फिर तुझको खाता, पर अभी-अभी कुछ बात मेरे विचारमें आयी (जिससे न खाया)॥ १०॥ अरे अधम और अभिमानी! बालीके निर्मल यशका पात्र जानकर मैं तुझे नहीं मारता, छोड़ देता हूँ॥ ११॥ अरे रावण! बता तो (सही) कि जगत्‌में कितने रावण हैं? मैंने जितने अपने कानों सुने हैं उनको सुन॥ १२॥

नोट—१ 'खातेउँ पुनि तोही' का भाव कि तुम उसके मित्र हो, इससे तुमको भी खानेवाला था। २—'बिमल जस भाजन जानी' का भाव कि जबतक तू जीता रहेगा तबतक सब बालीकी कीर्ति कहेंगे कि अरे यही पर्वताकार, बीस भुजा दस सिरवाला दिग्विजयी रावण बालीकी काँखमें महीनों दबा रहा, यह वही है जिसको बालीका पुत्र पैरोंसे मार-मारकर गेंदकी क्रीड़ा करता था, इत्यादि। यदि तू मर जायगा तो बालीकी कीर्तिका स्मरण कौन करायेगा? किसको देखकर लोग बालीके भुजबलका अंदाजा कर सकेंगे? यथा हनुमन्नाटके—'मम जनकदोर्दण्डविजयस्फुरत्कीर्तिस्तम्भः। ८। ३८।', 'हन्यात्किं नाङ्गदस्त्वामतिपुरुषरुषा तातकक्षात्रशिष्टः प्रोद्धृत्योद्धृत्य पादप्रहतबहुशिरःकन्दुकैः क्रीडितोऽस्मि। ८। ४६।' अर्थात् तुझे घोर क्रोधसे मैं अङ्गद क्यों नहीं मारता? कारण कि तू हमारे पिताकी काँखमेंसे बचा हुआ है और मैं भी अपने चरणोंके तलवोंसे तेरे बहुत शिरोंसे गेंदकी क्रीड़ा करता रहा हूँ। ३—यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

वि० त्रि०—'पितहिके खाइ' यह आसुरी प्रकृतिके लोगोंकी बोली है, जो कि किसी प्रियके मरणके सहन करनेवालेपर बोली जाती है। आसुरी प्रकृतिके शिरोमणि रावण यही बोली अङ्गदपर बोले कि जब तुम 'लाज, रोष और माष' का न होना गुण समझते हो, तभी तुम्हें बापके मारे जानेपर लाज, रोष और माष न हुआ और पितृहन्ताकी सेवा स्वीकार की। अङ्गदजी उसीके शब्दोंमें उत्तर देते हैं कि रामविरोधीका वध मुझे इष्ट है, तुम भी रामविरोधी हो, तुम्हारे वधके लिये ही मैं यहाँ आया था, पर एक बात अभी मेरे मनमें आ गयी कि पिताका भौतिक शरीर तो नष्ट हो गया, पर उसका कीर्तिमयी शरीर तेरे जीते रहनेसे बना है। लोग कहते हैं कि रावणको बालीने काँख तले दाब लिया था, पर दया करके छोड़ दिया और राज्य भी नहीं लिया। सो तू उनका कीर्तिस्तम्भ है, उसे मैं अपने हाथसे कैसे तोड़ूँ।

नोट—३ 'रावण जग केते'०। भाव यह कि रावण तो एक ही है और उसीके ये सब चरित हैं जो मैं कहता हूँ; पर तू संकुचित होगा, बतायेगा नहीं। पुनः, जितने हैं वह सब मैं गिनाता हूँ। इनमेंसे कम-से-कम एक तो स्वीकार करेगा, इतनेसे ही शूरता प्रकट हो जायगी। इस बहाने रावणकी जहाँ-जहाँ हार हुई वह सब अङ्गदने सभामें कह डाला।

बलिहि जितन एक गयउ पताला। राखेउ ‡ बाँधि सिसुन्ह हयसाला॥१३॥
खेलहिं बालक मारहिं जाई। दया लागि बलि दीन्ह छोड़ाई॥१४॥

* सुनु † जेते—(का०) ‡ राषा—पाठान्तर।

अर्थ—एक तो बलिको जीतनेके लिये पातालमें गया था तब लड़कोंने उसे घुड़शालमें बाँध रक्खा था॥ १३॥ बालक खेलते थे और जा-जाकर (लातें) मारते थे। बलिको दया लगी तब उन्होंने उसे छुड़ा दिया॥ १४॥

'बलिहि जितन एक गएउ'

दिग्विजय करता हुआ रावण वहाँ इससे गया कि उसने सुन रक्खा था कि उनकी ड्योढ़ीपर एक दरवान बड़ा बली है; जिसके कारण कोई बलिको जीत नहीं सकता। अतः यदि बलिको जीत लूँगा तो सबपर जीत मानी जायगी। पर यहाँ भगवान्‌ने अपना बल बालकोंको देकर उसके पीछे लगा दिया। उन्होंने पकड़कर घुड़शालमें उसे बाँध दिया। अङ्गदके वचनोंमें आशय यह है कि बच्चोंसे न जीत सका तब बलिके जीतनेकी बात ही क्या कही जाय?—(पता नहीं कि यह कथा कहाँकी है)। वाल्मी० उ० ३४ में कथा यों है कि—राजा बलिने इसे पकड़कर गोदमें बिठा लिया—'स गृहीत्वा च तद्रक्ष उत्सङ्गे स्थाप्य चाब्रवीत्॥ २८॥'—और कहा कि हम तुम्हारी कौन वासना पूर्ण करें, यहाँ आनेका प्रयोजन कहो। वह बोला कि विष्णुने तुमको बाँधा था, हम तुमको छुड़ानेको समर्थ हैं। बलिने मुसुकाकर उत्तर दिया कि द्वारपर जो साँवले पुरुष विराजमान हैं इन्होंने समस्त बलवान् दानवेन्द्रोंको वश कर लिया, इनको कौन वशमें कर सकता है? इत्यादि......कहते हुए वह रावणसे बोले कि तुम्हारे सामने जो अग्निके समान चक्र पड़े हुए हैं उन्हें उठाकर हमारे पास लाओ तब फिर मैं तुमसे अव्यय मुक्तिके कारणकी व्याख्या करूँगा। रावण न उठा सका। लज्जाके मारे फिर उठानेका यत्न किया जिससे वह पृथ्वीपर गिर पड़ा, रुधिर निकल पड़ा और वह मूर्च्छित हो गया। मूर्छा जगनेपर उसे बलिने पास बुलाकर कहा कि जिस कुण्डलके उठानेकी चेष्टा तुमने की वह हमारे पूर्वज हिरण्यकशिपुके कानका आभूषण है जो यहाँ गिरा था। दूसरा कुण्डल पर्वतपर गिरा है। उनकी मृत्यु किसी अस्त्र-शस्त्रसे न थी; पर प्रह्लादसे झगड़ा ठाननेसे नृसिंह भगवान्‌ने उनका विनाश नखोंसे कर डाला।—पर अङ्गदके वाक्यमें यह कथा नहीं है।

(ख)—आ० रा० १। १३। १०८—११५ में की कथा यहाँ कुछ-कुछ मिलती है। वह इस प्रकार है—'राजा बलि स्त्रीके साथ पाँसा खेल रहे थे। रावण वहाँ जा खड़ा हुआ। कुछ देर बाद पाँसा दूर जा गिरा, तब राजा बलिने कहा कि जा पाँसा उठा ला। रावण न उठा सका और रोने लगा। तब एक दासीने उसे मार भगाया और पाँसा लाकर राजाको दे दिया। रावणको नौकरोंने रख लिया, वह घुड़शालका लीद आदि उठाया करता और उसे जूठन खानेको मिलता...इत्यादि।

पर वहाँ छूटनेकी कथा यह है कि द्वारपालसे यह बहुत रोया-गाया, उसने लात मारी जिससे यह समुद्रमें आ गिरा।

नोट—'दया लागि बलि दीन्ह छुड़ाई' का भाव कि उसका छूटना उनकी दयापर निर्भर रहा, पुत्र-पौत्र, सेना आदिका साहस न पड़ा कि युद्ध करके छुड़ा लाते। इस प्रकार रावण और उसके परिवार सेना आदि सबको बल-पुरुषार्थहीन जनाया।

एक बहोरि सहसभुज देखा। धाइ धरा जिमि जंतु बिसेषा॥ १५॥
कौतुक लागि भवन लै आवा। सो पुलस्ति मुनि जाइ छोड़ावा॥ १६॥

अर्थ—फिर एक रावणको सहस्रबाहुने देखा तो जैसे कोई विचित्र जन्तुको देखकर पकड़े उसी तरह उन्होंने उसको दौड़कर पकड़ लिया॥ १५॥ कौतुकके लिये उसे घर ले गया। पुलस्त्य मुनिने जाकर उसे छुड़ाया*॥ १६॥

नोट—१ 'जिमि जंतु बिसेषा' इति। (क) भाव कि जैसे वर्षादि कालमें अनेक प्रकारके विचित्र जीव देखनेमें आते हैं, लड़के कौतुकके लिये उन्हें पकड़ रखते हैं, वैसे ही दस सिरवाला कीड़ा जानकर इसे पकड़ लिया। 'जन्तु' कहकर उसको असमर्थ और तुच्छ जनाया। (ख) ☞ रावणने अङ्गदको जन्तु कहा था—'जनि जल्पसि जड़ जंतु कपि। २२।' उसका बदला यहाँ उसको मिला।

* "शप्तोऽप्यगणयन् वाक्यं ययौ हैहयपत्तनम्। तेन बद्धो दशग्रीवः पुलस्त्येन विमोचितः॥ अ० रा० ७। २। ५७।" अर्थात् नन्दीश्वरके शापको कुछ न गिनता हुआ वह हैहयपति सहस्रार्जुनके यहाँ गया। उसने रावणको बाँध लिया तब पुलस्त्यजीने जाकर उसे छुड़ाया।

२ (क) 'भवन लै आवा' से जनाया कि घरसे दूर कहीं पकड़ा था। घरमें लड़कोंके लिये मानो खिलौना खेलनेको लाया; क्योंकि दशसिरका यह विचित्र ही जीव सबने तभी देखा होगा। (ख) 'सो पुलस्ति मुनि जाइ छुड़ावा'। भाव कि याचक बनकर उसे छुड़ाया, यथा—'दोर्दण्डाहितपौत्रभिक्षुरभवद्यस्मिन् पुलस्त्यो मुनिः'—(हनु० ८। ५७) अर्थात्—सहस्रार्जुनके बाहुबलसे बाँधे हुए अपने नाती रावणको छुड़ानेके लिये पुलस्त्य मुनि भिक्षुक हुए थे। वाल्मीकीयमें महर्षि पुलस्त्यजीने कहा है कि **'सोऽयं मृधे त्वया बद्धः पौत्रो मे रणदुर्जयः। पुत्रकस्य यशः पीतं नाम विश्रावितं त्वया॥ ७। ३३। १६। मद्वाक्याद्याच्यमानोऽद्य मुञ्च वत्स दशाननम्। पुलस्त्याज्ञां प्रगृह्योचे न किञ्चन वचोऽर्जुनः॥ १७॥'** तुमने मेरे अजेय पौत्रको जीतकर बंदी बना लिया। मेरे पौत्रका यश नष्टकर दिया और अपना नाम प्रसिद्ध किया है। अब मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुम मेरे पौत्र दशग्रीवको छोड़ दो। महर्षिके वचन सुनकर अर्जुनने बिना कुछ कहे राक्षसराजको छोड़ दिया।

वाल्मी० उ० ३१-३३ में सहस्रार्जुनवाली कथा यों है कि—कार्तवीर्य अर्जुन महिष्मतीका राजा था। एक दिन वह स्त्रियोंसहित नर्मदामें जलविहार कर रहा था। उसी समय रावण उस स्थानके निकट पहुँचा और स्नानकर शिवपूजन करने लगा, तटपर पुष्पोंका ढेर लगा था। इधर अर्जुनने नदीका प्रवाह अपनी भुजाओंसे रोका जिससे जल किनारेपर उफलता हुआ उलटा बहने लगा और रावणके सब पुष्प बह गये। जलको उलटा बहते देख रावणने शुक-सारनको कारणका पता लगाने भेजा। पता लगनेपर समझ गया कि यह सहस्रार्जुन ही है और वह उससे युद्ध करने चला। मन्त्रियोंसे समाचार पाकर कि रावण सेनाका नाश कर रहा है सहस्रबाहु जलसे निकल, गदा लिये राक्षसोंपर दौड़े। प्रहस्त गिरा और साथके राक्षस भगे; तब रावणसे युद्ध होने लगा। अन्तमें उसने रावणको ऐसी गदा मारी कि वह घायल हो चार हाथोंपर बैठ गया; इसी बीचमें उसे अर्जुनने पकड़कर बाँध लिया और नगरमें ले आया। आ० रा० १। १३। ९४-९५ में उल्लेख है कि सहस्रबाहुने गला बाँधकर उसे लाकर अपनी कन्याको दे दिया कि खेले जैसे काष्ठके हाथी खेले जाते हैं। इसी भावसे उसे 'जन्तु विशेष' कविने कहा है। अन्तमें पुलस्त्यजीने इसे जाकर छुड़ाया और मित्रता करा दी।

मानसी वन्दन पाठकजी लिखते हैं कि सहस्रबाहुने जलकी बाढ़ देख इसे जलमें ही पकड़ा इसीसे जलजन्तु जाना। पर कौतुक यह होता था कि सभामें खड़ा करके इसके ऊपर ३० दीपक रखकर जलाता था। पर यह कथा कहाँकी है इसका कोई प्रमाण नहीं दिया है।

दो०—एक कहत मोहि सकुच अति रहा बालि की काँख।
इन्ह* महुँ रावन तैं कवन सत्य बदहि तजि माष॥ २४॥

अर्थ—एकके बतानेमें मुझे अत्यन्त संकोच होता है; क्योंकि वह बालीकी काँखमें दबा रहा। इनमेंसे तू कौन रावण है? माष छोड़कर सत्य-सत्य कह। भाव कि ये सब घटनाएँ तुम्हींपर तो नहीं बीतीं?॥ २४॥

नोट—१ **'मोहि सकुच अति'**। 'सकुच' का कारण यह कि अपने मुँह अपनी बड़ाई करनेसे मनुष्य तुच्छताको प्राप्त होता है।—**'अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी॥ नहिं संतोषु त पुनि कछु कहहू। १। २७४। ६-७।'** (परशुरामकी तुच्छता दिखानेके लिये ये वचन लक्ष्मणीने कहे हैं। **लाजवंत तव सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ॥ २९। ६।'** भी देखिये। अपने घरकी बात है अतः यह अपनी ही बड़ाई हुई)। बालिसे रावणके पराजयकी कथा २१ (३) में आ चुकी है।

२—यहाँ 'माष' शब्द मक्षसे निकला है और उसका अर्थ है 'दम्भ' वा चालाकीसे अपना दोष छिपाना'। दम्भ छोड़कर सच-सच कहो।' (गौड़जी)। पूर्व कहा था कि **'तुम्हरे लाज न रोष न माषा'** और यहाँ कहते हैं कि **'बदहि तजि माष'**। जब 'माष' है ही नहीं तब छोड़ना कैसा? अतएव यह निश्चय हुआ कि यहाँ 'माष' का अर्थ असहनशीलता नहीं है।

* तिन्ह, माष—(का०)। माँष—(भा० दा०)।

२४ (१२)—२४ से मिलते हुए श्लोक ये हैं—'रे रे रावण रावणाः कति वहूनेतान्वयं शुश्रुम. प्रागेकं किल कार्तवीर्यनृपतेर्दोर्दण्डपिण्डीकृतम् । एकं नर्तनदापिताञ्चकवलं दैत्येन्द्रदासीगणैरन्यं वक्तुमपि त्रपामह इति त्वं तेषु कोऽन्योऽथवा ॥ (हनु० ८ । ३२ ।' अर्थात् रे रे रावण ! रावण कितने हैं ? वहुतोंमेंसे मैंने कुछ सुने हैं—एकको सहस्रबाहुने अपने भुजदण्डोंसे बाँध लिया था, एकको दैत्येन्द्र राजा बलिकी दासियोंने नचाकर खानेको अन्न दिया था और एकको कहते हमें लज्जा लगती है । सो तू इनमेंसे कौन है ?

वि० त्रि०—अङ्गदजी कहते हैं कि एक रावणका हाल कहनेमें मुझे वहुत संकोच मालूम होता है, पर वह रावण सङ्कोचसे डूब नहीं मरा । वह सङ्कोचकी बात यह है कि उसे बालीने काँख तले दाब लिया, और उसका किया कुछ न हुआ । आजतक संसारमें कहीं सुना नहीं गया कि कोई वीर अपने प्रतिद्वन्द्वीकी काँखमें दाबा गया हो । एक वीरमानीकी इतनी बड़ी अप्रतिष्ठाके कहनेमें दूसरे वीरको लज्जा आती है, पर सुनते हैं कि उसे लज्जा न आयी । इस प्रकार तीन रावणोंकी गाथा मैंने सुनी है, उसमेंसे तुम कौन हो ? यह बात माफ छोड़कर बतला दो । इसमें तुम्हारा लाभ है, यदि तुम्हीं बालीकी काँखमें रहे हो तो फिर मुझसे तुम्हें भय नहीं है, मैं नहीं मारूँगा ।

सुनु सठ सोइ रावन बलसीला । हर गिरि जान जासु भुजलीला ॥ १ ॥
जान उमापति जासु सुराई । पूजेउँ जेहि सिर सुमन चढ़ाई ॥ २ ॥
सिर-सरोज निज करन्हि उतारी । पूजेउँ अमित बार * त्रिपुरारी ॥ ३ ॥

अर्थ—(रावण बोला) अरे शठ ! सुन, मैं वही बलसे परिपूर्ण रावण हूँ जिसकी भुजाओंका चरित एवं क्रीड़ा शिवजी और कैलाश जानते हैं ॥ १ ॥ जिसकी शूरता उमापति जानते हैं कि जिनकी पूजा मैंने अपने शिररूपी पुष्प चढ़ा-चढ़ाकर की ॥ २ ॥ शिर-कमलोंको अपने हाथों उतारकर अगणित बार मैंने त्रिपुरदैत्यके शत्रु शिवजीकी पूजा की है ॥ ३ ॥

नोट—१ **'हर गिरि'** से हर और गिरि दोनों जनाये । इसीसे यहाँ 'जान' के साथ 'भुजलीला' पद दिया । लीला है; इसीसे शिवजी इससे प्रसन्न हुए । आगे **'हरगिरि मथन निरखु मम बाहू'** कहा है । वहाँ 'हरगिरि' से केवल कैलाशसे तात्पर्य है । यद्यपि 'लीला' और 'मथन' का भाव एक ही है फिर भी दो जगह दो पृथक्-पृथक् शब्द देकर पृथक्-पृथक् भाव कविने दरसाये हैं । 'मथन' में दूसरेको क्लेश पहुँचानेका भाव है और 'लीला' में प्रसन्नता पहुँचानेका । यहाँ शिवजीकी प्रसन्नता और वहाँ कैलाशका पीड़ित होना दिखाया है । हनुमन्नाटकके उद्धरणोंसे इनके (जान, लीला और मथनके) भाव स्पष्ट हो जाते हैं—**"नासीदेतदनागतं श्रुतिपथं स्वर्लोकधूमध्वजः पौलस्त्यः करकन्दुकीकृतहरक्रीडाचलो रावणः ॥ ८ । ४१ ॥'**, **"हेलोत्क्षिप्तमहीध्रकम्पजनितत्रासांगनालिङ्गनप्राप्तानन्द हरप्रसाद मुदितश्छिन्त्यः समेऽन्यो रिपुः ॥ ८ । ३५ ॥"**, **"यद्दोर्मण्डलगाढपीडनवशान्निस्पन्दरक्तच्छटाः शङ्कामङ्कुरयन्ति शङ्करगिरेरद्यापि धातुद्रवाः ॥ ८ । ४२ ॥"**,

अर्थात् रामने सुना होगा कि स्वर्गलोक-धूमध्वजाके समान पुलस्त्यकुल उत्पन्न रावण शिवजीके क्रीड़ास्थल कैलाशपर्वतको अपने हाथोंकी क्रीड़ाका गेंद बनानेवाला है । ४१ । जब मैंने खेलसे ही कैलाशको उठाया तब पर्वतके काँपनेसे पार्वतीजी शिवजीको लिपट गयीं । शिवजी बड़े प्रसन्न हुए । तब यह शत्रु (राम) क्या हैं ? कोई मेरे जोड़का दूसरा शत्रु बता । ३५ । जिसके भुजदण्डमण्डलकी गाढ़ पीड़ावश निकलते हुए रक्तके प्रवाहवाले कैलाशके धातुस्थल आज भी शङ्काको प्राप्त होते हैं । (वही मैं रावण हूँ ।)

२—**'जान उमापति जासु सुराई ।०'** इति । (क) 'उमापति' का भाव कि मैंने शक्तिसहित शिवजीकी पूजा की । 'जान उमापति' अर्थात् मेरी 'सुराई' के वे साक्षी हैं, उन्होंने प्रसन्न होकर वर दिये । (ख) कैलास उठानेको कौतुक मानता है अतः वहाँ 'लीला' कहा । अपने हाथों अपना सिर काट-काटकर चढ़ानेके सम्बन्धसे अपनेको शूर समझता है, यथा—**'सूर कवन रावन सरिस स्वकर काटि जेहि सीस । हुने अनल'**…। २९ ।' अतः

* अमित वार पूजेउँ—(का०)

यहाँ 'जान सुराई' कहा। सिरको फूल कहकर जनाया कि सिर काटनेमें उत्साह बना रहा, खेद या कष्ट नहीं हुआ; जैसे पूजनके लिये पुष्प उतारे जाते हैं।

☞ मिलान कीजिये—'आस्कन्धादपि कण्ठकाण्डविपिने द्राक् चन्द्रहासासिना छेत्तुं प्रक्रमिते मयैव झटिति त्रुट्यच्छिरः संततौ। अस्मेरं गलिताश्रुगद्गदवचो भग्नभ्रुवा यद्यभूद्वक्त्रेष्वेवमपि स्वयं स भगवांस्तन्मे प्रमाणं शिवः॥' हनु० ८। ५२॥', 'येऽहं पूर्विकया प्रहारसमभजन्मां छिन्धि मां छिन्धि मां। छिन्धीत्युक्तिपराः पुरारिपुरतो लंकापतेर्मौलयः॥ ५३॥' 'मूले पञ्च ततश्चतुष्टयमिति स्त्रक्सन्निवेशैः शिरःपुष्पैरन्यतमावलोकनमितैरुच्छ्रोणि तैरञ्चति। हस्तस्पर्शवशेन मूर्ध्नि दशमं मूर्धानमालोकयञ्छम्भोरद्भुतसाहसैकरसिकः कैर्न स्तुतो रावणः॥ ८। ५४॥' अर्थात् शीघ्र ही चन्द्रहास खड्गद्वारा कंधोंसे कण्ठरूप वनके काटनेको उद्यत होनेपर शीघ्रतासे शिरोंकी पंक्तियोंके काटनेमें यदि मेरा कोई भी मुख हास्यशून्य हुआ हो अथवा मेरे आँसू गिरे हों वा मेरी वाणी गद्गद हुई हो तो भगवान् भवानीपति आप ही मेरे प्रमाण (साक्षी) हैं। ५२। शिरोंपर प्रहार करनेके समय मेरे दसों शिर 'मैं पहले, मैं पहले। मुझे पहले काटो, मुझे पहले काटो' यह कहते-कहते त्रिपुरारिके आगे भूमिपर गिरे थे। ५३। मूलमें पाँच और फिर चार इस प्रकार मालामें स्थितिवाले उछलते हुए और शिरोंको देखनेके लिये नम्रीभूत शिररूप पुष्पोंसे पूजन करते समय मस्तकमें हाथ स्पर्शद्वारा दसवें मस्तकको देखता हुआ शिवजीके साहसका एक मात्र रसिक रावण किसके द्वारा स्तुत्य नहीं हुआ?

'सुराई' शब्दमें उपर्युक्त श्लोकोंके सब भाव आ जाते हैं कि—इन्हें काटनेके समय मेरा एक भी मुख हास्यशून्य न हुआ, न आँसू गिरे, न वाणी गद्गद हुई। सिरोंपर प्रहार करनेके समय वे सब उत्साहपूर्वक कहते थे कि मुझे ही पहले काटो। मैं ऐसा धीर वीर हूँ कि सिर काटता था और फिर भी सावधानतापूर्वक पूजा भी करता रहा, किञ्चित् व्यथा न प्राप्त हुई।

३ (क) 'सिर सुमन चढ़ाई' इति। हनु० ८। ५४ में भी सिरको पुष्प कहा है—'शिरःपुष्पैः' (ख) 'सुमनमें यह भी भाव है कि 'सुन्दर मनसे' अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक चढ़ाया। (शीला)। इससे यह न ज्ञात हुआ कि किसने सिर काटे। अतः फिर 'निज करन्ह उतारी' कहा। देवताओंको कमल विशेष प्रिय होता है इसीसे सिरको कमल कहा। (ग) नैष्ठिक महात्मा तुलसी, वेलपत्र आदि अपने ही हाथ उतारते हैं। अतः 'निज करन्हि उतारी' कहा। भक्त लोग पुष्प आदिके वृक्षसे तोड़नेको 'उतारना' कहते हैं उसी सम्बन्धसे यहाँ भी 'उतारी' कहा।

४ (क) 'पूजेउँ अमित बार त्रिपुरारी'। भाव कि मैंने निष्काम पूजन किया, कोई वर नहीं माँगा। पुनः, यह भी जनाया कि जैसे-जैसे मैं चढ़ाता था तैसे-तैसे मेरे शिर नवीन उत्पन्न होते थे। अतः 'अमित बार' पूजा करना कहा। पुनः, 'अमित बार' काटकर चढ़ाया इससे नित्य नया उत्साह जनाया। देवपूजनमें उत्साह न हो तो वह सफल नहीं होता।—'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई'।

☞ मिलान कीजिये—'ते भूमौ पतिताः पुनर्नवभवानालोक्य मूर्ध्नोऽपरान् याचिष्यन्त इमे हि नो वयमिति प्रीत्याट्टहासं व्यधुः॥ ५३॥'—(हनु० ८), अर्थात् पृथ्वीपर गिरनेपर फिर नवीन उत्पन्न हुए और मस्तकोंको देखकर, ये ही वर माँगेंगे, हम नहीं, ऐसी प्रीतिसे अट्टहास करने लगे, अर्थात् हमें कुछ वर माँगनेकी इच्छा नहीं है।

भुजबिक्रम जानहिं दिगपाला। सठ अजहूँ जिन्ह के उर साला॥ ४॥

शब्दार्थ—बिक्रम=बल, शौर्य या शक्तिकी अधिकता, पराक्रम। साल=कसक, पीड़ा, घाव, बेदना।—'साल तुम्हार कौसिलहि माई'।

अर्थ—और, अरे शठ! दिक्पाल मेरी भुजाओंका पराक्रम जानते हैं कि जिनके हृदयमें अब भी करक हो रही है॥४॥

☞ यहाँतक रावणने चारके सम्बन्धमें अपनी शूरता कही। हरगिरि, उमापति, दिग्पाल और दिग्गज। हरगिरिके सम्बन्धमें 'भुजलीला', उमापतिके सम्बन्धमें 'सुराई', दिक्पालोंके सम्बन्धमें 'भुजविक्रम' और दिग्गजोंके सम्बन्धमें 'उर कठिनाई' इन पृथक्-पृथक्-पदोंका प्रयोग रावणने किया है। 'भुजलीला' कैलाशके सम्बन्धमें कहा क्योंकि गेंदकी तरह उसे

अनायास उठा लिया था, यथा—'जेहि कौतुक सिवसैलु उठावा । १ । २९२ ।', तथा 'निज भुजबल अति अतुल कहौं क्यों कंदुक ज्यों कैलास उठायो । गी० लं० ३ ।' कौतुक और लीला एक ही बात है । प्राण और देह सबको प्रिय है, कोई अपना सिर काटकर नहीं देता, इसीसे सिर चढ़ानेको शूरता कहा । दिग्पालोंको भुजबलसे हराया, यथा—'भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला । लं० ७ । ३ ।' अतः वहाँ 'भुजविक्रम' प्रख्यात हुआ । और, दिग्गजके दाँतोंसे छाती टकराई इससे छातीकी कठोरता दिखायी । यथा—'जिन्ह के दसन्ह कराल न फूटे । उर लागत मूलक इव टूटे' ॥

नोट—'अजहूँ जिन्ह के उर साला' । यथा—'इहाँ देवतन्ह अस्तुति कीन्ही । दारुन बिपति हमहिं एहि दीन्ही ॥ अब जनि राम खेलावहु एही । ८५ । ५-६ ।' और भी इसी तरह देवताओंका समय-समयपर अपना दुखड़ा रोना इस 'शाल'का प्रमाण है ।

जानहिं दिग्गज उर कठिनाई । जब जब भिरेउँ* जाइ बरिआई ॥ ५ ॥
जिन्ह के दसन कराल न फूटे । उर लागत मूलक इव टूटे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—दिग्गज—'ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदो जनः । पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥' इत्यमरः ॥ 'फूटना'=धसना,—यह गुजराती बोली है ।

अर्थ—पुनः, दिशाओंके हाथी मेरे हृदयकी कठोरताको जानते हैं । (क्योंकि) जब-जब मैं उनसे जबरदस्ती जा भिड़ा, तब-तब उनके विकराल (निकले हुए बड़े-बड़े भयङ्कर) दाँत मेरी छातीमें न धँसे वरन् लगते ही मूलीकी तरह टूट गये । अर्थात् वक्षःस्थलको कुछ श्रम न हुआ, वे लगते ही टूट गये, यथा—'सकउँ मेरु मूलक इव तोरी' ॥ ५-६ ॥

नोट—१ 'बरिआई' का भाव कि—(क) वे अपनेसे नहीं सम्मुख होते । (ख) वे भागते थे, मैं भिड़ता था (वं० पा०) ।

२—'कराल न फूटे' के अनेक प्रकारसे अर्थ टीकाकारोंने किये हैं—(१) जिनके दाँतोंसे कराल पर्वत भी फूट जाते हैं—(करु०) । (२)—जिनके दाँत कराल वज्रसे भी न फूटे । (३)—जिनके कराल दाँतोंसे छाती न फूटी और जो० । (वै०) । इत्यादि । पर यहाँ फूटनेके ये कोई अर्थ ठीक नहीं बैठते । पं० रामकुमारजीने इसका अर्थ 'धसना' लिखा है और महन्त मथुरादासजी (गुजरात) से मालूम हुआ कि गुजरातमें फूटना धसनेके अर्थमें बोला जाता है । यही अर्थ यहाँ बैठता है ।

मिलान कीजिये—'सर्वैर्यस्य समं समेत्य कठिनां वक्षःस्थलीं संयुगे निर्भग्नं मुखमेव दन्तमुसलैरैरावतस्योन्नतैः ॥ हनु० ८ । ३५ ॥' अर्थात् जिस समय रणभूमिमें ऐरावत हाथीके दाँत मूसलके समान मेरे कठिन वक्षःस्थलमें लगे तो वे अग्रभागसे टूट गये, मुझे कुछ पीड़ा न हुई ।

जासु चलत डोलति इमि धरनी । चढ़त मत्त गज जिमि लघु तरनी ॥ ७ ॥
सोइ रावन जग बिदित प्रतापी । सुनेहि न स्त्रवन अलीक प्रलापी ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—अलीक=बे सिर पैरका, झूठा, मर्यादारहित । प्रलाप=निरर्थक वाक्य, अनापशनाप, पागलकीसी बड़बड़, जैसे ज्वरादिके वेगमें रोगी कभी-कभी बकते हैं । तरनी=नाव ।

अर्थ—जिसके चलते समय पृथ्वी इस प्रकार हिलती है जैसे मतवाले हाथीके चढ़ते समय छोटी नाव ॥ ७ ॥ मैं वही जगत्प्रसिद्ध प्रतापी रावण हूँ । अरे अलीकप्रलापी ! क्या तूने कभी मुझे कानोंसे नहीं सुना ? ॥ ८ ॥

नोट—१ 'चलत डोलति धरनी' इति । ऐसा अन्यत्र भी कहा है, यथा—'चलत दसानन डोलति अवनी । गर्जत गर्भ स्त्रवहिं सुररवनी ॥ १ । १८२ । ५ ।', 'तव बल नाथ डोल नित धरनी । १०३ । ५ ।', पृथ्वीमात्र इसके भयसे काँपती थी, सभी डरते थे । दूसरी प्रकार ग्रन्थकारने इसे यों समझाया है कि रावणके पापका भार वह नहीं सह

* 'भिरौं'—(का०) ।

सकती, यथा—'गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही॥ १। १८४। ५।' यह भाव उसके हिलनेका है जिसे रावण अपने बलका प्रताप बताता है, न कि पापका।

२—'प्रतापी' इस शब्दमें यह भी ध्वनि है कि मैं राघवका प्रतापी नामक सखा हूँ जो आकर रावण हुआ और किसीसे हारा नहीं। यथा सदाशिवसंहितायाम्—'प्रतापी राघवसखा आत्रा वै सह रावणः। राघवेण तदा साक्षात् साकेतादवतीर्यते॥' (पु० रा० कु०, बं० पा०, करु०)।

३—'प्रलापी' कहकर सभासदोंको जनाया कि इसने जो कुछ कहा वह सब झूठ है।

४—वं० पा०, करु०—यहाँ आन्तरिक आशय इस प्रकरणमें कविके शब्दोंका यह है कि तूने जो तीन रावण गिनाये वे अन्य कल्पोंके तूने सुने होंगे, मैं उनमेंसे नहीं हूँ। (अङ्गदने कहा है कि 'मैं निज श्रवन सुना सुनु तेते', वे देखना नहीं कहते। इस प्रकार यह भी भाव आ जाता है। देखना कहा होता तो ऐसा उत्तर न दे सकता।)

दो०—तेहि रावन कहँ लघु कहसि नर कर करसि बखान।
रे कपि बर्बर खर्ब खल अब जाना तव ग्यान* ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—बखान=बड़ाई या प्रशंसाका वर्णन। बर्बर=जंगली, असभ्य, अशिष्ट। यथा—'परम बर्बर खर्ब गर्ब पर्बत चढ्यो अज्ञ सर्वज्ञ जनमनि जनावौं'—(विनय०)। खर्ब=जिसका अङ्ग भग्न या अपूर्ण हो। छोटा, तुच्छ। —'महामत्त गजराज कहँ बस कर अंकुस खर्ब। १। २५६।' 'खर्वो ह्रस्वश्च वामनः इत्यमरः'॥

अर्थ—उस रावणको तू लघु कहता है और मनुष्यकी प्रशंसा करता है। अरे जंगली तुच्छ वानर! अरे दुष्ट! अब मैंने तेरा ज्ञान जान लिया (तेरे बुद्धिकी थाह पा ली)॥ २५॥

बं० पा०, पु० रा० कु०—अब तेरा ज्ञान जान लिया कि तू कपि है, बर्बर है, खर्ब है और खल है। कपिसे पशु, वाणीसे बर्बर, आकृति छोटी इसलिये खर्ब, और स्वभावसे खल। इस प्रकार जाति, वचन, तन और स्वभाव सभीसे अङ्गदको दूषित ठहराया।

☞ २५ (१)-२५ के रावण-उत्तरका मिलान निम्न उद्धरणोंसे करें—

१—(गी० लं० ३)—'तैं मेरो मरम, कछू नहि पायो।
रे कपि कुटिल ढीठ पावँर ! पसु ! मोहिं दास ज्यों डाटन आयो।
निज भुजबल अति अतुल कहौं क्यों कंदुक ज्यों कैलास उठायो॥
सुर नर असुर नाग खग किन्नर सकल करत मेरो मन भायो।
निसिचर रुचिर अहार मनुज तन ताको जस खल मोहि सुनायो॥'

२—'इन्द्रं माल्यकरं सहस्रकिरणं द्वारि प्रतीहारकं चन्द्रं छत्रधरं समीरवरुणौ संमार्जयन्तौ गृहान्। पाचक्ये परिनिष्ठितं हुतवहं किं मद्गृहे नेक्षसे रक्षोभक्ष्यमनुष्यमात्रवपुषं तं राघवं स्तौषि किम्॥ हनु० ८।२३॥'

अर्थात् इन्द्र माली है, सूर्य ड्योढ़ीवान है, चन्द्रमा छत्र लिये रहता है, पवन और वरुण झाड़ूबरदार हैं, अग्नि रसोइया है—क्या तुझे नहीं देख पड़ता? राक्षसोंके भोजन मनुष्य राघवकी तू क्या स्तुति करता है? १९ (७) में भी रावणके प्रलापके उदाहरण आये हैं।

सुनि अंगद सकोप कह बानी। बोलु सँभारि अधम अभिमानी॥ १॥

अर्थ—रावणके ये वचन सुनकर अङ्गद क्रोधपूर्वक वचन बोले—अरे नीच! अधर्मी! अभिमानी! (वा, अधम अभिमानी) सँभालकर बोल।

नोट—१ रावणने प्रभुको 'नर' कहा और वह भी बड़े निरादरपूर्वक—'नर कर करसि बखान'। इसीसे अङ्गद सकोप बोले। 'हरिहर निंदा सुनहिं जे काना। होइ पाप गोघात समाना॥' ३० (१-३) देखिये।

* 'तव जान' (का०)।

अङ्गद समर्थ हैं अतः इन्होंने क्रुद्ध होकर कहा कि 'बोलु सँभारि' अर्थात् सँभालकर न बोलेगा तो जीभ काट ली जायगी। ☞ रावणने कहा था कि 'रे कपिपोतु न बोलु सँभारी' वैसे ही अङ्गदने कहा 'बोलु सँभारि अधम अभिमानी'।

२ श्रीरामजीको केवल 'नर' माननेसे अधम अभिमानी कहा, यथा—'कहहिं सुनहिं अस अधम नर० ।' ☞ 'सुनु सठ सोइ रावन बल सीला।' उपक्रम है और 'सुनि अङ्गद' उपसंहार।'

प० प० प्र०—अधम=देह। अतः अधम अभिमानी=प्रकृति अभिमानी=देहाभिमानी। विशेष '**मारा चहसि अधम अभिमानी। ४। ९। १०।**' में देखिये।

वि० त्रि०—'सुनि अङ्गद······' इति। जो भगवान् रामचन्द्रके स्वभावके जानकार हैं, उनसे सरकारको नर कहकर अपमान करना सहा नहीं जाता। ऐसी शङ्का करनेमें भरद्वाजजी डरे (यथा—'कहत सो मोहि लागत भय लाजा। १। ४५। ८।') पार्वतीजी डरीं (यथा—'अज्ञ जानि रिसि जनि उर धरहू। जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू॥') इतनेपर भी शिवजीने कह ही डाला कि 'कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच। पाखण्डी हरिपद बिमुख जानहिं झूठ न साँच॥' ईश्वरसे अभिमान करनेवाला अधम अभिमानी है (यथा—'मम भुजबल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥')। सरकारको अपमानपूर्वक नर कहते हुए सुनकर अङ्गदजी क्रुद्ध हो गये, और कहा कि तू अधम अभिमानी है, ईश्वरका अपमान करता है। इसके सुननेमें पाप है। 'काटिय तासु जीभ जो बसाई।' अतः सावधान करते हैं कि 'सँभालकर बोल' नहीं तो जो दूतको नहीं करना चाहिये, ऐसी क्रिया मुझसे हो पड़ेगी। आगे इसी भावको स्पष्ट करेंगे (यथा—'अस रिसि होत दसहु मुख तोरौं।'

सहसबाहुभुज गहन अपारा। दहन अनल सम जासु कुठारा॥ २॥

अर्थ—जिसका फरसा सहस्रबाहुकी सहस्र भुजाओंरूपी अपार वनको जलानेके लिये अग्नि-समान था॥ २॥

नोट—१—एक हजार भुजाएँ होनेसे अपार वनकी उपमा दी। 'अपार' का भाव कि उस वनमें पड़कर फिर किसीने उसका पार न पाया एवं जो वनमें गया वह खो ही गया, फिर न निकल सका। तात्पर्य कि सहस्रार्जुनके समीप जो भी गया वह जीतकर न लौट सका, मारा ही गया। यह रूपक है।

२—भुजाओंको वन कहा। उसके सम्बन्धसे परशुरामजीके परशुको अग्निकी उपमा दी। अग्निसे काष्ठ बिना परिश्रम जल जाता है वैसे ही परशुरामजीने बिना परिश्रम ऐसे बलवान् सहस्रबाहुकी सारी भुजाएँ काट डालीं और उसको मार डाला।' यह भाव 'अनल सम' का हुआ। यहाँ पूर्णोपमा है।

नोट—☞ हनु० ८। ५७ में सहस्रबाहुकी भुजाओंको वन कहा है पर वहाँ परशेसे वनका काटना कहा है—'तद्दोर्द्वोर्वनमच्छिनत्परशुना यो राजबीजान्तकः।' और यहाँ कविने परशेको अनल कहा। पाठक स्वयं देख सकते हैं कि किसमें विशेषता है। अग्निसे फिर उत्पत्तिकी सम्भावना नहीं। दोहा २६ (४) भी देखिये।

जासु परसु सागर खर धारा। बूड़े नृप अगनित बहु बारा॥ ३॥

अर्थ—और जिसके फरसारूपी समुद्रकी तीक्ष्ण धारामें अगणित राजा अनेक बार डूबे॥ ३॥

नोट—१—यहाँ परशु सागर है और परशुकी तीक्ष्ण धार सागरकी तीक्ष्ण धारा है तथा नृप अगणित जहाज (वा वणिक्-समाज) हुए। 'बहु बारा' अर्थात् २१ बार। यहाँ परम्परित रूपक है। कोई-कोई महानुभाव परशु और सागरखर-धाराका रूपक मानते हैं। पर उसमें रूपकका यथार्थ चमत्कार नहीं देख पड़ता।

२—फरसेकी 'तीक्ष्ण धारा' का भाव निम्न श्लोक एवं क० लं० २५ में मन्दोदरीके वचनोंमें देखिये—

जाके रोष दुसह त्रिदोष दाह दूरि कीन्हें पैयत न छत्री खोज खोजत खलक में।
माहिषमतीको नाथ साहसी सहसबाहु समर-समर्थ नाथ! हेरिये हलक में।
सहित समाज महाराज सो जहाजराज बूड़ि गयो जाके बल बारिधि छलक में।
टूटत पिनाकके मनाक बाम राम से, ते, नाक बिनु भये भृगुनायक पलक में॥ २५॥'

'येन त्रिःसप्तकृत्वो नृपबहलवसामांसमस्तिष्कपङ्कप्राग्भारेऽकारि भूरिच्युतरुधिरसरिद्वारिपूरेऽभिषेकः।
यस्य स्त्रीबालवृद्धावधिनिधनविधौ निर्दयो विश्रुतोऽसौ राजन्योच्चांसकूटक्रथनपटुरटद्धोरधारः कुठारः॥'
(हनु० १ । ३३)। अर्थात् जिसने २१ बार राजाओंकी, बहुत-सी मज्जामांस मस्तिष्करूप पंकयुक्त अत्यन्त गिरते हुए रुधिरकी नदीके जल-प्रवाहमें अभिषेक किया और जिसका निर्दयपन स्त्री-बालक-वृद्ध-पर्यन्तके मारनेकी विधिमें प्रसिद्ध है ऐसा यह मेरा फरसा राजाओंके ऊँचे-ऊँचे कंधेरूप पर्वतोंको विदीर्ण करनेमें चतुर शब्दायमान भयानक धारावाला है।

तासु गर्ब जेहि देखत भागा। सो नर क्यों दससीस अभागा॥ ४॥

अर्थ—जिसे देखते ही उन परशुरामका गर्व भाग गया, क्यों रे हतभाग्य दशशीश! क्या वह नर है? वह मनुष्य कैसे हो सकता है?॥ ४॥

नोट—चौ० २, ३, ४ के भावके श्लोक हनुमन्नाटकमें ये हैं—

१ दोर्दण्डाहितपौत्रभिक्षुरभवद्यस्मिन् पुलस्त्यो मुनिस्तद्बाहूवोर्वनमच्छिनत्परशुना यो राजबीजान्तकः।
शौर्यं शौर्यरसाम्बुधेर्भृगुपतेर्ग्रासोऽपि नासीज्जलं तत्तेजो बडवानलस्य किमसौ लंकापतिः पल्वलम्॥
८। ५७।' अर्थात्—जिस राजा सहस्रार्जुनके बाहुओंसे बद्ध अपने पौत्र रावणको छुड़ानेके लिये पुलस्त्यमुनि भिक्षुक बने, उसीके भुजा-वनको राजबीजनाशक परशुरामने परशुसे काट डाला। ऐसे वीररस-सागर परशुरामजीमें जिस बड़वानलके ग्रसनेसे (बलरूपी) जल नहीं रह गया उसके लिये फिर यह लङ्कापति तो गड़हिया या कीचड़के समान क्या है?

२—'यः कीर्तवीर्यस्य भुजासहस्रं चिच्छेद वीरो युधिजामदग्न्यः। स सायके रामकराधिरूढे ब्राह्मण्यदैन्यप्रणयी बभूव॥ १। ५१।' अर्थात्—जिस परशुरामने कीर्तवीर्यकी सहस्र भुजाओंको रणमें काटा था वे ही रामचन्द्रजीके हाथमें बाण होनेसे ब्राह्मणपनेकी दीनतासे नम्र हो गये।

३—'त्वद्दोर्दण्डप्रचण्डप्रतिहननविधिप्रौढबाह्वोः सहस्रच्छेदक्रीडाप्रवीणस्थिरपरशुमहागर्वनिर्वापकस्य॥' (८। ४०।) अर्थात् तेरे प्रचण्ड भुजदण्डोंकी ताड़नविधिमें सगर्व सहस्रार्जुनके सहस्र भुजाओंके काटनेकी क्रीड़ामें चतुर और स्थिर परशुरामके गर्वके नाश करनेवाले (राघवका मैं दूत हूँ)।

नोट—२ (क) 'जेहि देखत भागा' का भाव कि युद्ध भी नहीं करना पड़ा, बात-की-बातमें ही हार मान ली। यथा—'**सुनि सरोष भृगुनायक आए। बहुत भाँति तिन्ह आँखि दिखाए॥ देखि रामबल निज धनु दीन्हा। करि बहु बिनय गवन बन कीन्हा॥ १। २९३। २॥**' (जनकदूतवाक्य)। निज धनु देना, विनय करना, यही हार है। (ख) 'भागा' का भाव कि तबसे फिर आजतक उनको गर्व न हुआ। नहीं तो वे क्षत्रियोंका विनाश करनेमें फिर भी न चूकते। सब क्षत्रियोंसे पृथ्वीको निःक्षत्र करना रूपी गर्व था।

(ग) तीन अर्धालियोंमें परशुरामजीका चरित कहा पर उनका नाम न लिया। केवल उनके चरित और फरसेके कार्योंसे ही उनका परिचय कराया गया। उनके चरित ऐसे प्रसिद्ध हैं कि उनका नाम भी बतानेकी आवश्यकता नहीं। ऐसे चरित दूसरेके नहीं हैं, यह सूचित करनेके लिये नाम न कहा। यहाँ प्रथम पर्यायोक्ति अलंकार है।

३—यहाँ '**नर कर करसि बखान**' का उत्तर हुआ। एकसे दूसरे, दूसरेसे तीसरे और तीसरेसे चौथेका बल अधिक दिखाकर रावणको श्रीरामजीसे अत्यन्त कम बलवाला सिद्ध किया। भाव यह कि तुम सहस्रबाहुसे हारे, सहस्रबाहु परशुराम-जीसे और परशुराम श्रीरामजीसे हारे, अब तुम उनके सामने क्या हो? चौथे दर्जेमें हो। दोहा ६। ७। ८ देखिये।

बं० पा०—'दससीस अभागा'। भाव कि एक सिरवाले भाग्यवान् होते हैं और तेरे तो दस सिर हैं, पर सभी भाग्य-रहित हैं। भगवत्तत्त्वरहित होनेसे 'अभागा' कहा।

नोट—☞ वक्ताओंने रामविमुखको ''अभागा'' कहा है, यथा—'**सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥** अ० ३३। ३॥', '**अस प्रभु सुनि न भजहि भ्रम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी॥**' विनयपत्रिकामें भी कहा है '**ते नर नरक रूप जीवत जग भव भञ्जन पद बिमुख अभागी।** १४०।'

राम मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी कामु नदी पुनि गंगा॥ ५॥
पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा। अन्न दान अरु रस पीयूषा॥ ६॥

शब्दार्थ—बंगा (सं० बङ्क)=मूर्ख, उद्दण्ड, टेढ़ा। शठ बंगा=लुच्चा—(पां०)। कस=क्यों—'सो कासी सेइय कस न'—(कि०)। क्योंकर, कैसे। यथा—'कस रे सठ हनुमान कपि०' 'कस न सुमनमय मारग कीन्हा। अ० १२१।' 'कस कीन्ह बर बौराह बिधि जेहि तुम्हहिं सुंदरता दई। १। ९६।' 'तौ कस मरन न माँगे दीन्हा'।

अर्थ—क्यों रे उद्दण्ड मूर्ख! श्रीरामचन्द्रजी मनुष्य कैसे? क्या कामदेव (जो पञ्चपुष्प-बाणों और पुष्प धनुषसे ही सारे संसारको वशीभूत कर लेता है वह कोई साधारण) धनुर्धारी है? और क्या गङ्गा (त्रिपथगामिनी, शिवशीशपर रहनेवाली और जगत्‌को पावन करनेवाली साधारण) नदी हैं?॥ ५॥ क्या कामधेनु (अर्थ-धर्मादिकी देनेवाली साधारण) पशु हो सकती है? (मनोवांछित देनेवाला) कल्पवृक्ष क्या (साधारण) रूख (वृक्ष) है? क्या अन्नदान (जो अभ्यन्तर दान है और प्राणका देनेवाला है वह बाह्य सुख देनेवाला साधारण) दान है? और (मृतकको जिला देनेवाला) अमृत क्या (साधारण) रस है?॥ ६॥

☞ अन्नदानका माहात्म्य सब दानोंसे अधिक है। पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अ० ३५ में इसके माहात्म्यका विस्तृत उल्लेख है। विदर्भ नगरके राजा श्वेतने अनेक दान किये थे पर अन्नदान न किया था। स्वर्ग प्राप्त होनेपर भी उन्हें अपना मांस भक्षण करना पड़ता था''अगस्त्यजीने उनका उद्धार किया सु० र० भ० दानप्रशंसामें भी कहा है कि **'तुरगशतसहस्रं गो गजानां च लक्षं कनकरजतपात्रं मेदिनीं सागरान्ताम्। विमलकुलवधूनां कोटिकन्याश्च दद्यान्नहि नहि सममेतैरन्नदानं प्रधानम्॥'** अर्थात् एक लक्ष घोड़े, लक्ष गौ और हाथी, स्वर्ण और चाँदीके पात्र, सागरान्ततक पृथ्वी, कुलीन स्त्रियों और करोड़ों कन्याओंका दान भी अन्नदानके समान प्रधान नहीं है।

☞ २६ (५)—२६ के अङ्गदवाक्योंसे मिलता हुआ श्लोक यह है—**'रे रे रावण हीन दीन कुमते रामोऽपि किं मानुषः किं गङ्गाऽपि नदी गजः सुरगजोऽप्युच्चैःश्रवाः किं हयः। किं रम्भाऽप्यबला कृतं किमु युगं कामोऽपि धन्वी न किं त्रैलोक्यप्रकटप्रतापविभवः किं रे हनूमान् कपिः॥** हनु० ८। २४।' अर्थात्—रे रे हीन दीन दुर्बुद्धि रावण! क्या राम मनुष्य हैं? क्या गङ्गाजी भी नदी हैं? क्या ऐरावत (साधारण) गज है? क्या उच्चैःश्रवा साधारण घोड़ा है? क्या रम्भा अप्सरा भी स्त्री है? क्या कृतयुग साधारण युग है? क्या कामदेव धनुर्धारी है? जिनका प्रताप वैभव त्रिलोकमें प्रकट है, वे हनुमान् क्या सामान्य कपि हैं?

☞ इस श्लोकमें सुरधेनु, कल्पवृक्ष, अन्न, पीयूष, गरुड़, शेष, चिन्तामणि और वैकुण्ठ नहीं हैं। इनके स्थानपर ऐरावत, उच्चैःश्रवा, रम्भा और कृतयुग हैं। राम नर नहीं हैं इसकी पुष्टिके लिये मानसकविने यहाँ १२ उदाहरण दिये हैं और श्लोकमें ७ दिये गये हैं।

बैनतेय खग अहि सहसानन। चिंतामनि पुनि उपल दसानन॥ ७॥

शब्दार्थ—बैनतेय=विनता (कश्यपजीकी स्त्री दक्षप्रजापतिकी कन्या) के पुत्र गरुड़। सहसानन=सहस्रमुखवाले=शेषजी। चिंतामणि=एक रत्न जो मनमें चाही हुई पदार्थका देनेवाला है—**'रामचरित चिन्तामनि चारू'**। उपल=पत्थर।

अर्थ—गरुड़ (जो भगवान्‌के वाहन, कामरूप और भगवान्‌के सखा हैं जिनके पक्षोंसे सामवेदकी ध्वनि होती है, वे साधारण) पक्षी हैं? (एक ही शिरपर सारे ब्रह्माण्डको धारण करनेवाले) सहस्रमुखवाले शेषजी (साधारण) सर्प हैं? और, अरे दशमुख! सुन, क्या (मनोरथका देनेवाला) चिन्तामणि (साधारण) पत्थर है?॥ ७॥

☞ आगेकी चौ० ८ के 'सुन' को दीपदेहली मानकर अर्थ किया गया है। 'दसानन सुनु' का भाव कि बीसों कानोंसे ध्यान देकर सुन, कान इधर-उधर न कर।

वीरकवि—यहाँ प्रसिद्ध वस्तुओंका निषेध प्रकट करना अर्थात् राम मनुष्य नहीं हैं, गङ्गा नदी नहीं है इत्यादि 'प्रतिषेध' अलङ्कार है।

सुनु मतिमंद लोक बैकुंठा। लाभ कि रघुपति भगति अकुंठा॥ ८॥

शब्दार्थ—अकुण्ठ–उत्तम, चोखी, तीव्र, कुण्ठित न होनेवाली। यथा 'गयउ गरुड़ जहँ बसै भुसुंडी। मति अकुंठ हरिभगति अखंडी'॥

अर्थ—अरे मन्दबुद्धि! सुन। क्या वैकुण्ठ (जहाँसे पुनरागमन नहीं होता साधारण) लोक है? क्या श्रीरघुनाथजीकी अविचल भक्ति (साधारण) लाभ है?॥ ८॥

नोट—१ (क) 'मतिमंद' का भाव कि ऐसी समझवाला मन्दबुद्धि है, क्योंकि मोह-भ्रममें पड़ा है, समझानेपर भी समझता नहीं, कुछका कुछ समझता है और रघुनाथजीको नर कहता है, यथा—'अति बिचित्र रघुपतिचरित जानहिं परम सुजान। जे मतिमंद बिमोहबस हृदय धरहिं कछु आन॥ १। ४९।'

२ यहाँ 'सुनु' और इसके पहिले 'दसानन' सम्बोधन देकर जनाया कि रावण इधर-उधरकी बातोंमें टालना चाहता था अथवा ध्यान नहीं देता था इसीसे कहा कि 'सुनु'॥ (ख) 'लाभ कि···' यथा 'लाभ कि किछु हरि भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति बेद पुराना॥ ७। ११२। ८।'

दो०—सेनसहित तव मान मथि बन उजारि पुर जारि।
कस रे सठ हनुमान कपि गएउ जो तव सुत मारि॥ २६॥

अर्थ—क्यों रे शठ! क्या जो सेनासहित तेरा मान-मर्दन कर वनको उजाड़, नगरको जला और तेरे लड़केको मारकर (सुखपूर्वक यहाँसे) लौट गया वह हनुमान् (साधारण) वानर है?॥ २६॥

नोट—१ भाव कि तुझे घमण्ड है कि लोकपालादि आज भी तुझसे शङ्कित रहते हैं तब भी हनुमान्‌जीके सामने तेरा किया कुछ भी न हो सका। तेरा वह बलका गर्व तब कहाँ था? यथा—'जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा। कहाँ रहा बल गर्ब तुम्हारा॥ ३५। ६।' इससे तुझे समझ लेना था कि ये साधारण वानर नहीं हैं, कुछ और ही हैं कि जिनका बल लोकपालादिसे कहीं अधिक त्रिलोकमें प्रसिद्ध है, रुद्रावतार हैं।—यह व्यञ्जनामूलक गूढ़ व्यङ्ग है।

२—अपना व्यर्थका हठ नहीं छोड़ता अतः शठ कहा।

☞'बोलु सँभारि अधम अभिमानी' २६ (१) से यहाँतक 'नर कर करसि बखान' का उत्तर है। यहाँतक काकुद्वारा विपरीत एवं विशेष अर्थका बोध कराया। यह वक्रोक्ति है। भाव यह है कि जो कार्य कामदेव, गङ्गाजी, कामधेनु आदिके हैं वे प्राकृत धनुर्धरों, नदियों और पशुओं आदिसे नहीं हो सकते!

सुनु रावन परिहरि चतुराई। भजसि न कृपासिंधु रघुराई॥ १॥
जौं खल भएसि राम कर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही॥ २॥

शब्दार्थ—चतुराई=धूर्तता, चालाकी, वाग्विलास।

अर्थ—अरे रावण! धूर्तता छोड़कर सुन। चतुराई छोड़कर दयासागर रघुपतिका भजन क्यों नहीं करता?॥ १॥ अरे दुष्ट! यदि तू श्रीरामजीका द्रोही हुआ तो ब्रह्मा और रुद्र भी तुझे नहीं रख सकते॥ २॥

नोट—१ 'सुनु' का भाव कि फिर रावणका ध्यान इधर-उधर चला गया था, या वह कुछ कहनेको हुआ था; अतः डाँटकर उसे रोक दिया और उसका ध्यान अपनी ओर खींचा।

२—'परिहरि चतुराई भजसि न०'। चतुराई रहते प्रभु कृपा नहीं करते, अतः इसका त्याग करनेको कहकर तब भजन करना कहा। यथा—'मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥ १। २००। ६।' कपटकी चतुराई यथार्थ चतुराई नहीं है, रामभजन यथार्थ चतुरता है, यथा—'रामहिं भजहिं ते चतुरनर। अ० ६।' रावण कपट—चतुराई करता है

वि० त्रि०—चतुराई अर्थात् बुद्धिका चमत्कार बहुत अच्छी वस्तु है, यदि उसका सदुपयोग किया जाय। दुष्प्रयोगसे जितनी ही अच्छी वस्तु होगी, वह उतनी ही बुरी हो जायगी। चतुराईका सदुपयोग सुतीक्ष्ण मुनिने किया,

सरकार हँस पड़े (यथा—'देखि कृपानिधि मुनि चतुराई। लिये संग बिहँसे दोउ भाई' ॥) भुशुण्डिजीकी चतुराईपर प्रसन्न हो गये, कहने लगे। 'सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न माँगसि अस बरदाना' पर बालिकी चतुराई पर बिगड़ गये, 'मूढ़, अधम, अभिमानी' आदि शब्द कहने लगे। जब उसने चतुराई छोड़ी (यथा—'सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि') तभी प्रसन्न हुए। अर्थात् रामकी सम्मुखताके लिये जितनी चतुराई की जाय, वह सब ठीक है, पर जिस चतुराईसे प्राणी रामविमुख होता है, जिस चतुराईके कारण वह भजन नहीं कर सकता, वह सर्वथा हेय है। यहाँ दोनों प्रकारकी चतुराइयोंका दिग्दर्शन कराया गया है। हरि-विमुख करनेवाली चतुराई रावणमें और सम्मुख करनेवाली चतुराई अङ्गदजीमें है। अङ्गदजी रावणको हरिभजनसे दूर रखनेवाली चतुराईको त्यागकर कृपासिन्धु रघुराईके भजनका उपदेश देते हैं, क्योंकि कृपाकी प्रयोगभूमि सिधाई है, चतुराई नहीं।

नोट—३ "कृपासिंधु रघुराई" का भाव कि वे दयासागर हैं, सब अपराध भूल जाते हैं, यथा—'निज गुन अरि कृत अनहितो दास दोष सुरति चित रहति न, दिये दान की। वि० ४२।' और दया करते हैं। अतः उनका भजन कर। 'रघुराई' का भाव कि उनसे मिलनेमें तेरी लघुता नहीं है—दोहा ७ (१) देखो।

पु० रा० कु०—'ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही।' भाव कि सब श्रीरामजीके ही बलसे बलवान् हैं, यथा—'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा ॥ ५। २१। ५॥' और श्रीरामजीके ही अधीन हैं, यथा—'देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक ते एका ॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा। १। ५४।' पुनः, भाव कि जबतक तू चराचरका द्रोही रहा तबतक उन्होंने तेरी रक्षा की और अब तो तू उन्हींसे द्रोह करता है इसलिये अब रक्षा न करेंगे। 'संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥' सुं० २३ (८) एवं लं० २१ (९) देखिये।

नोट—४ "रुद्र" का भाव कि जो कराल रूपसे प्रलयमें संहार करते हैं वे भी रक्षा नहीं कर सकते। रुद्रोंकी पूजा सिर चढ़ाकर की। इन्हींके वरके अभिमानसे रावण फूला है। इसीसे यहाँ इन दोका नाम दिया है। यहाँ लक्षणामूलक व्यङ्ग है कि जिनके बलपर तू इतराता है वे तेरी रक्षाके लिये अशक्य हैं। यथा—'ब्रह्मास्वयंभूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा स्थातुं न शक्तो युधि राघवस्य॥ वाल्मी० सुं० ५१॥'

मूढ़ बृथा * जनि मारसि गाला। रामबयरु अस † होइहि हाला॥ ३॥
तव सिर निकर कपिन्ह के आगें। परिहहिं धरनि रामसर लागें॥ ४॥
ते तव सिर कंदुक सम ‡ नाना। खेलिहहिं भालु कीस चौगाना॥ ५॥

शब्दार्थ—गाल मारना=डींग मारना, व्यर्थ बकवाद करना। कंदुक=गेंद। चौगान=एक खेल जिसमें लकड़ीके बल्लेसे गेंद मारते हैं।=खेलनेका मैदान।

अर्थ—अरे मूढ़! व्यर्थ गाल न मार। श्रीरामजीसे वैर करनेसे तेरा यह हाल होगा कि—॥ ३॥ तेरे सिरसमूह रामबाणके लगनेसे वानरोंके आगे पृथ्वीपर गिरेंगे॥ ४॥ रीछ-वानर तेरे गेंदके समान उन अनेक सिरोंसे चौगान खेल खेलेंगे॥ ५॥

नोट—१ गर्व होनेसे डींग मारी जाती है, यथा—'कहाँ रहा बल गर्ब तुम्हारा॥ अब पति मृषा गाल जनि मारहु। ३५। ६, ७।' अभिमान होने और किसीकी न सुननेसे 'मूढ़' कहा, यथा—'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥'

२—(क) 'तव सिर निकर····' इति। वानर-भालु अगणित हैं और सिर दस हैं। 'निकर' पद देकर जनाया कि तुझे अभिमान है कि तेरे सिर कटनेपर वे पुनः उत्पन्न होते हैं [२५ (३) देखिये] वे सब तेरे सिर कटेंगे जबतक नवीन पैदा होते जायँगे। इस प्रकार वे सब वानर खेल सकेंगे। सिर गोलाई लिये हुए है और गेंद भी गोल होता है, यह समता है। चौगान खेलमें बल्ले होते हैं यहाँ लात ही बल्ले हैं। गेंद पास आनेपर मारा जाता है, सिर कटकर पैरके पास

* मुधा। मृषा-पाठान्तर। † होइहि अस।—(का०)। ‡ इव—(का०)।

गिरेंगे तब वानर पैरसे उसे मारेंगे। मिलान कीजिये—'रे रे राक्षसवंशघात समरे नाराचचक्राहतं रामोत्तुङ्गपतङ्गचापयुगले तेजोभिराडम्बरे। मन्ये शैर्षमिदं त्वदीयमखिलं भूमण्डले पातितम्॥...' (हनु० ८। २०) अर्थात् अरे निशाचरवंश-घातक! रघुनाथजीके बड़े भारी धनुषबाणके तेजसे व्याप्त हुए संग्राममें, जानता हूँ कि बाणसमूहोंसे ताड़ित तेरे सम्पूर्ण सिर पृथ्वीमण्डलमें गिरकर लुढ़केंगे।—इस श्लोकके अन्तिम चरण 'गृध्रैरालुठितं शिवाकवलितं काकैः क्षतं यास्यति' (अर्थात् गृध्र लेकर उड़ेंगे, सियारिनियाँ भक्षण करेंगी और कौओंद्वारा क्षतविक्षत होंगे) के स्थानपर मानसके अङ्गद-वाक्यमें 'खेलिहहिं भालु कीस चौगाना' है।

जबहिं समर कोपिहि रघुनायक। छुटिहहिं अति कराल बहु सायक॥ ६॥
तब कि चलिहि अस गाल तुम्हारा। अस बिचारि भजु रामु उदारा॥ ७॥

अर्थ—जब श्रीरघुनाथजी समरमें कोप करेंगे और अत्यन्त तीक्ष्ण बहुत-से बाण छूटेंगे तब क्या इस प्रकार तुम्हारा गाल चलेगा? (अर्थात् तब तुम यह सब शेखी भूल जाओगे)। ऐसा विचारकर उदार श्रीरामजीको भजो॥ ६-७॥

पु० रा० कु०—'तब कि चलिहि'। भाव कि तब तुमको सावकाश भी न मिलेगा।

नोट—१ 'अस बिचारि' का भाव कि जब आगे तुम्हारी शेखी जाती ही रहेगी तब भला इसीमें है कि अभी उनसे मिल लो जिसमें तुम्हारा बाहुबलका गर्व भी बना रह जाय। 'अस बिचारि' में वह सब आ गया जो 'जौं खल भएसि०' से यहाँतक कहा गया।

२—'उदार' इस भावसे कि वे राज्य अचल कर देंगे, कृपा करेंगे, तेरा मान रक्खेंगे और अपराध क्षमा करेंगे। यथा—'त्यज व्यलीक भजु कारुनीक प्रभु दै जानकिहि सुनहि समुझायो। याते तव हित होहि कुसल कुल अचल राज चलिहै न चलायो॥ गी० लं० २॥', मिलत कृपा तुम्हपर प्रभु करिहीं। उर अपराध न एकउ धरिहीं॥ ५। ५७। ६॥', 'ऐसो को उदार जग माहीं। बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं १॥ जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ज्ञानी। सो गति दई गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी॥ २॥ जो संपति दससीस अर्पि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं। सोइ संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं॥ ३॥ तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो। तौ भजु राम काम सब पूरन करिहिं कृपानिधि तेरो॥ ४॥'—(वि० १६२)।—विशेष। 'आयसु दीन्ह न राम उदारा। ३३। ४।' में देखिये।

३—प्रथम 'नर कर करसि बखान' का उत्तर दिया, फिर भजन करनेका उपदेश यहाँतक दिया। 'सुनु रावन परिहरि चतुराई। भजसि न कृपासिंधु रघुराई॥ २७। १॥' उपक्रम है और 'अस बिचारि भजु राम उदारा' उपसंहार। उपक्रममें 'कृपासिंधु रघुराई' और अन्तमें 'रामु उदारा' देकर जनाया कि भजन करते ही समुद्रवत् कृपा करेंगे। यह न समझो कि विभीषणका तिलक कर चुके हैं तब हमारा राज्य कैसे रक्खेंगे?

सुनत बचन रावन परजरा। जरत महानल जनु घृत परा॥ ८॥

शब्दार्थ—परजरना=बहुत जल उठना, बहुत कुढ़ना, क्रुद्ध होना।

अर्थ—वचन सुनते ही रावण बहुत ही जल उठा। मानो जलती हुई प्रचण्ड अग्निमें घी पड़ गया॥ ८॥

नोट—१ जल तो पहले ही रहा था, यथा—'बक्र उक्ति धनु बचन सर हृदय दहेउ दससीस। २३।', अब इन वचनोंसे एकदम अधिक जल उठा। जैसे खूब जलती हुई अग्निमें घी पड़नेसे वह और भी प्रचण्ड हो जाती है। इससे जनाया कि उसका सारा मुखमण्डल और उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। होंठ फड़कने लगे। यथा—'जज्वाल क्रोधताम्राक्षः सर्पिरिद्धिरिवाग्निमत्'। २—यहाँ अङ्गदका उत्तर घृतकी आहुति है, हृदय यज्ञकुण्ड है, हृदयका कोप महानल है, यथा—'लखन उतरु आहुति सरिस भृगुबर कोप कृसानु। बढ़त देखि०। १। २७६।' यहाँ उक्तविषयाव-स्तूत्प्रेक्षा है। यथा—'सुनि अंगद सकोप कह बानी। २६। १।' उपक्रम और 'सुनत बचन' उपसंहार है।

प० प० प्र०—यहाँ 'जरेउ', 'परेउ' अथवा 'मनहु घृत परा' इत्यादि लिखकर १६ मात्राकी पूर्ति कवि कर सकते

थे, पर ऐसा न करके १५ । १५ मात्राके चरण ही रक्खे । इस प्रकार गति विच्छेदद्वारा कवि बताता है रावणके मुखपर भयानक भावके चिह्न प्रकट देखकर सभासदोंके हृदयको एकाएक धक्का लग गया ।

नोट—चौपाई १५ । १५ मात्राकी भी होती है यह सुन्दरकाण्डमें तथा इस काण्डमें २ (४) भी लिखा गया है । अतएव प्रेमी पाठक जो छन्दोंके भेद जानते हों वे उन भेदोंके अनुसार पृथक्-पृथक् भेदके छन्दोंके प्रयोगका भाव सोचें ।

दो०—कुंभकरन अस बंधु मम सुत प्रसिद्ध सक्रारि ।
मोर पराक्रम नहिं सुनेहि जितेउँ चराचर झारि ॥ २७ ॥

अर्थ—कुम्भकर्ण ऐसा तो मेरा भाई है । इन्द्रको जीतनेवाला विख्यात इन्द्रजित मेरा पुत्र है । और, क्या तूने मेरा पराक्रम नहीं सुना कि मैंने सारा चराचर जगत् जीत लिया ? ॥ २७ ॥

नोट—१ 'कुंभकरन अस बंधु' का भाव कि उसका पराक्रम त्रैलोक्यमें विख्यात है कि उसका कोई प्रतिभट है ही नहीं, उसका जागना सुनते ही त्रिलोकी काँप जाता है । वह शत्रुकुलसमूहके संहारकी मूर्ति है, उसे देखकर ही सब भाग जाते हैं; इससे उसके बलके कथनकी आवश्यकता नहीं । यथा—'अतिबल कुंभकरन अस भ्राता । जेहि कहुँ नहि प्रतिभट जग जाता ॥ ···जागत होइ तिहू पुर त्रासा । १ । १८० ।' ☞ रावणको तीनके बलका अभिमान है, अतः तीनोंका वर्णन किया । मिलान कीजिये—'भ्राता कुंभकरन रिपुघातक सुत सुरपतिहि बंदि करि ल्यायो । निज भुजबल अति अतुल कहौं क्यों कंदुक ज्यों कैलास उठायो ॥ गी० ६ । ३ ।'

☞ मिलान कीजिये—'भ्राता मे कुम्भकर्णः सकलरिपुकुलव्रातसंहारमूर्तिः । पुत्रो मे मेघनादः प्रहसितवदनो येन बद्धः सुरेन्द्रः ॥ खड्गो मे चन्द्रहासो रणमुखचपलो राक्षसा मे सहायाः । सोऽहं वै देवशत्रुस्त्रिभुवनविजयी रावणोनाम राजा ॥ हनु० । ८ । ३३ ।' अर्थात् समस्त रिपुकुलसमूहके संहारकी मूर्ति कुम्भकर्ण तो मेरा भाई है, प्रसन्नमुख मेघनाद जिसने देवराजको बाँधा वह मेरा पुत्र है, समरमें चपल चन्द्रहास मेरा खड्ग है और समरमें चपल राक्षस मेरे सहायक हैं ऐसा मैं देवताओंका शत्रु त्रिलोकविजयी 'रावण' नामका राजा हूँ ।

सठ साखामृग जोरि सहाई । बाँधा सिंधु इहै मनुसाई* ॥ १ ॥
नाघहिं खग अनेक बारीसा । सूर न होहिं ते सुनु सठ कीसा ॥ २ ॥

अर्थ—रे शठ ! वानरोंकी सहायता जुटाकर समुद्र (में सेतु) बाँधा, यही शूरता है (न) ? ॥ १ ॥ अनेक पक्षी समुद्रोंको लाँघ जाते हैं । पर, रे शठ कीश ! वे समुद्र लाँघनेसे शूर नहीं हो सकते ॥ २ ॥

नोट—'जोरि सहाई' का भाव कि पराक्रम होता तो समुद्र सोख लेते । असमर्थ हैं, इसीसे वानरोंकी सेनाकी सहायता ली, उनसे पुल बँधवाया तब पार आ सके । इसमें रामकी शूरता क्या ?

☞ मिलान कीजिये—'बद्धः सेतुर्यदि जलनिधौ वानरैस्तावता किं नो वल्मीकाः क्षितिधरनिभाः किं क्रियन्ते पिपीलैः ॥ दग्धा लङ्का यदपि कपिना स स्वभावः किलाग्नेः शौर्याश्चर्यं निज भुजजये किं कृतं रामनाम्ना ॥ हनु० ८ । २० ।' अर्थात् जो वानरोंने समुद्रमें सेतु बाँधा तो उससे क्या ? क्या छोटी-छोटी चींटियाँ पर्वत-सदृश बाँबियाँ नहीं बना लेतीं ? यदि वानरने लङ्कादहन किया तो क्या ? यह तो अग्निका स्वभाव ही है । अपनी भुजाओंकी जयमें रामने क्या शूरताका आश्चर्य किया ?—

रा० प्र०—'शाखामृग' का भाव कि जो ताली बजते ही भागनेवाले हैं वे सिंहादिके आहार करनेवालोंके सामने कैसे ठहर सकते हैं ? दूसरे, वानर बुद्धिहीन होते हैं । 'बँध्यो कीर मर्कट की नाईं' कहावत प्रसिद्ध है । बेर आदिके खानेवालोंमें बुद्धि कहाँ ?

पं०—'सूर न होहिं ते०' का भाव कि पक्षी समुद्र लाँघते हैं तब भी शूर नहीं कहे जाते और तुम सब तो उनसे

* प्रभुताई ।

भी गये-गुजरे हो कि क्षुद्र समुद्रको सेतुके आश्रित हो उतरे। जो अङ्गद कहें कि हम खगवत् नहीं लाँघे, हम तो उसको बाँधकर उतरे यह शूरता है, उसपर आगे समुद्रका रूपक देकर अपना बल कहता है।

वीर—श्रीरामचन्द्रजीका पुल बाँधना उपमेय वाक्य है, और पक्षियोंका समुद्र लाँघना उपमान वाक्य है। उपमान-द्वारा उपमेयका गर्व परिहार करना 'द्वितीय प्रतीप' अलङ्कार है।

मम भुजसागर बलजल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा॥ ३॥
बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस सूर जो पाइहि पारा॥ ४॥

अर्थ—मेरा भुजारूपी सागर बलरूपी जलसे पूर्ण है, जिसमें बहुतसे शूरवीर देवता और मनुष्य डूब गये॥ ३॥ कौन ऐसा शूरवीर है जो मेरे इन अगाध और अपार बीस समुद्रोंका पार पायेगा?॥ ४॥

नोट—१ अङ्गदने परशुरामजीके फरसेको समुद्रका रूपक दिया था, इसीसे रावणने अपनी भुजाओंको सागर कहा। परशुरामजीसे अपनेमें अधिक बल दिखाता है, यथा—

परशुराम	रावण
१ परशुरामका फरसा सागर है	यहाँ भुजा ही सागर है, अस्त्र-शस्त्रकी तो अभी बात ही नहीं। भुजबल इतना है कि हथियारका काम ही न पड़े।
२ वहाँ अगणित नृप बूड़े। (वे शूर न थे)	यहाँ बहुत शूरवीर देवता और मनुष्य बूड़े।
३ वहाँ मनुष्यमात्र डूबे	यहाँ देवता तक डूब गये।
४ वहाँ एक फरसा सागर	यहाँ २० भुजारूपी २० सागर

२—पुनः, पहले समुद्रमें वानरोंकी सहायतासे पुल बाँधकर पार उतरना कहकर हीनता कही। अब भुजका सागरसे रूपक देकर दूसरी प्रकार अपना बल अधिक दिखाता है। इस तरह कि—

वह समुद्र लघु था इससे वह बँध गया	यह अगाध और अपार समुद्र है।
वह थोड़ी महिमावाला एक समुद्र था	यहाँ बड़ी महिमावाले अनेक समुद्र हैं।
वह पर्वतोंसे पट गया, गहरा न था	यहाँ बड़े-बड़े पर्वतोंका पता भी न चलेगा

रा० प्र०—एक-एक भुजा एक-एक समुद्र है, एक ही समुद्रमें अगणित शूरवीर सुर-नर डूब गये (शेषका आजतक काम ही न पड़ा), एकहीको कोई पार न पा सका तब बीस समुद्रोंको कौन पार कर सकता है जो इसी प्रकार बलसे परिपूर्ण हैं। और तुम सबको एक क्षुद्र सिन्धुके लाँघनेपर इतनी शेखी?

☞ मिलान कीजिये—'कहा भयो बानर सहाय मिलि करि उपाय जो सिंधु बँधायो। जो तरिहै भुज बीस घोर निधि ऐसो को त्रिभुवन जन जायो॥ गी० लं० ३।', 'परिमितमहिमानं क्षुद्रमेनं समुद्रं क्षितिधरघटनाभिः कोऽयमुत्तीर्य गर्वः। अकलितमहिमानः सन्ति दुष्प्रापपारा दशवदनभुजास्ते विंशतिः सिन्धुनाथाः॥ हनु० ८। ३१।' अर्थात् थोड़ी महिमावाले क्षुद्र समुद्रको पर्वतोंद्वारा पार किया, यह क्या गर्व है? दशवदनके बीस भुजारूपी समुद्र अमित महिमावाले और दुःखसे पार पाने योग्य हैं।

वीर—भुजाओंको समुद्रका रूपण और बलको जलका रूपण देकर अगाध अपार शब्दोंसे अधिकत्व प्रकट करना 'अधिक अभेद रूपक अलङ्कार' है। इन वाक्योंसे बँधे हुए समुद्रकी लघुता व्यञ्जित करना 'गुणीभूत व्यङ्ग' है।

दिगपालन्ह मैं नीरु भरावा। भूप सुजसु खल मोहि सुनावा॥ ५॥

अर्थ—रे दुष्ट! मैंने लोकपालोंसे जल भरवाया, और तू एक राजाका सुयश सुनाता है! (मुझसे बढ़कर तेज और प्रताप जिसमें हो उसका यश सुनाता तो ठीक था)॥ ५॥

नोट—दिग्पालोंसे जल भरवाया। ये देवता हैं, इनका बल मनुष्योंसे बहुत अधिक है। देवता मेरी नीच टहल करते हैं, इतनेसे ही मनुष्य मेरे यहाँ किस गिनतीमें होंगे समझ ले। वे तो खा लिये जाते हैं, यथा—'खाहिं निसाचर दिवस निसि'। विशेष दोहा २५, देखिये।

वीरकवि—दिग्पालोंमें अयोग्यता प्रकट करके अपने पराक्रमका अतिशय बखान करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलङ्कार' है और इसमें काव्यार्थापत्ति अलङ्कारकी ध्वनि भी है।

जौं * पै समर सुभट तव नाथा। पुनि पुनि कहसि जासु गुनगाथा॥ ६॥
तौ † बसीठ पठवत केहि काजा। रिपु सन प्रीति करत नहिं लाजा॥ ७॥

शब्दार्थ—बसीठ=सँदेशा ले जानेवाला, दूत।

अर्थ—यदि तेरा स्वामी जिसका तू बारम्बार यश कहता है समरमें सुभट है तो दूत किस कार्यके लिये भेजता है? शत्रुसे प्रीति (सन्धि) करते लज्जा नहीं लगती॥ ६-७॥

नोट—१ 'पुनि पुनि कहसि०', यथा—'राम बिरोध कुसल जसि होई।', 'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥' 'जद्यपि लघुता राम कहँ तोहि बधे बड़ दोष' इत्यादि बार-बार कहना है।

२—'समर-सुभट', 'बसीठ पठवत केहि काजा'। (क) भाव कि 'सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु। बिद्यमान रन पाइ रिपु कायर कथहिं प्रतापु॥ १। २७४॥' समर-शूर होते तो मुखसे प्रताप न कहला भेजते, वीरता दिखाते। पुनः, व्यंग यह भी है कि मैं समर-सुभट हूँ; इसीसे मैंने न कभी दूत भेजा न संधिकी बात की। (ख)—'बसीठ पठवत' अर्थात् बार-बार भेजते हैं क्योंकि सुभट नहीं हैं, मुझसे डरते हैं; नहीं तो एक दूतके लौटनेपर समाचार सुन फिर दूसरा दूत न भेजते। उनका बारम्बार दूत भेजना ही प्रमाण है कि मेरा बल अधिक है। उनमें बल नहीं है। यथा—'रामश्चेद्रिपुहा प्रियापहरणे संधिं विधत्ते कथम्। हनु० ८। ३७।' अर्थात् यदि राम शत्रुहन्ता हैं तो स्त्रीके हर जानेपर संधि क्यों करते हैं?

३—'रिपु सन प्रीति करत नहिं लाजा', यथा—'रन चढ़ि करिअ कपट चतुराई। रिपु पर कृपा परम कदराई॥ अ० १९॥' ☞ यह 'राम बयरु होइहि अस हाला।' 'तव कि चलिहि अस गाल तुम्हारा' और 'भजसि न कृपासिंधु रघुराई' का उत्तर है। (ख) 'नहिं लाजा' अर्थात् लोग क्या कहेंगे यह संकोच किञ्चित् नहीं है। पुनः, (ग) 'प्रीति बिरोध समान सन करिय०' इन अङ्गदके वचनोंका लक्ष्य लेकर भाव यह है कि जब तू उनको मुझसे अधिक कहता है तब प्रीति करनेको कैसे कहता है? प्रीति तो बराबरवालोंसे की जाती है।

वि० त्रि०—'तौ बसीठ ...... लाजा' इति। जो बात प्रभुने खरदूषणको कहला भेजी थी, प्रायेण वैसी ही बात आज रावण अङ्गदसे कहते हैं। उन्होंने कहा था 'रिपु पर कृपा परम कदराई। ३। १९। १३।' रावण कहते हैं 'रिपु सन प्रीति करत नहिं लाजा।' बात एक ही हुई। ऐसा न होना चाहिये। खरदूषण और रावणके साथ व्यवहार-भेदका कारण होना चाहिये।

यहाँ बात यह है कि दूतके भेजनेसे ही रावण यह अर्थ लगाता है कि यदि मैं सीता लौटा दूँ, तो रामजी प्रीति करनेके लिये प्रस्तुत हैं, और इसीलिये दूत भेजा है, यह तो कादरके लक्षण हैं; वीरके नहीं हैं (ऐसी ही प्रीति चाहनेवाले अर्जुनको भगवान्‌ने कहा 'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्। अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन॥' गीता २। २।' अर्थात् हे अर्जुन! लड़ाईके मैदानमें, तुझमें ऐसा दोष कहाँसे उत्पन्न हो गया?)

परंतु यहाँ ऐसी बात नहीं है, प्रभु अपनी शरणागतिके द्वारको सबके लिये निरर्गल रखना चाहते हैं, अतः यह प्रभुकी उदारता है कि ऐसे शत्रुको भी शरणमें आनेका अवसर देते हैं। तदनुसार अङ्गदजी कहते हैं 'दसन गहहु तृन कंठ कुठारी। परिजन सहित संग निज नारी॥' इसी भाँति खर-दूषणको भी अवसर दिया। 'जौं न होइ बल घर फिरि जाहू। समर बिमुख मैं हतौं न काहू॥'

हर गिरि मथन निरखु मम बाहू। पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू॥ ८॥

अर्थ—रे मूर्ख बंदर! कैलाशको मन्थन करनेवाली मेरी भुजाएँ देख, फिर अपने प्रभुकी सराहना करना। भाव कि इनको देख लेगा तब उनकी सराहना न करेगा॥ ८॥

* जौं—(भा० दा०), जौ—(का०)। † तौ—(का०)। तब—(भा० दा०)।

नोट—१ **'मथन'** शब्द यहाँ भावगर्भित है। दोहा २५ (१-३) देखिये। २—**'निरखु'**। इससे जनाया कि पूर्व जब कहा था कि **'बिलोकु मम बाहू। २२।'** तब अङ्गदने बाहुकी ओर न देखा था, इससे अब पुनः कहा कि प्रथम देख ले तब कुछ कह। देख ले कि वे इनके योग्य हैं कि नहीं।

वीरकवि—'मथन' शब्दमें 'रूढ़िलक्षणा' है। कैलाश पर्वत दही, दूध या पानी नहीं है जो मथा जा सकेगा, मुख्य अर्थका बोध होनेपर भी वचन व्यावहारिक है। मुख्यार्थ उठानेका है। भुजा दिखाकर अपनी महान् शूरता व्यञ्जित करनेका भाव 'अगूढ़ व्यङ्ग' है।

दो०—सूर कवन रावन सरिस स्वकर काटि जेहिं सीस।
हुने अनल अति हरष बहु बार साखि गौरीस॥ २८॥

अर्थ—रावणके समान कौन शूर है जिसने अत्यन्त हर्षपूर्वक बहुत बार अपने हाथों अपने सिर काटकर अग्निमें हवन कर दिये। गौरीपति इसके साक्षी हैं॥ २८॥

नोट—१ इस दोहेके भाव २५ (१-३) में ही आ गये हैं। २—**'हुने अनल महुँ बार बहु हरषित साखि गिरीस'** पाठ रा०-प्र० में काशीकी प्राचीन प्रतिका दिया हुआ है। गौड़जीका मत है कि काशीका पाठ इसलिये अधिक अच्छा जँचता है कि इसमें 'हरषित' पद दीपदेहरी-न्यायसे 'हुने' और 'साखि' (हैं), दोनों क्रियाओंका विशेषण बन जाता है।

'स्वकर' का भाव कि अपने हाथ अपना सिर काटकर हवन करनेवाला कोई नहीं सुना गया। दूसरेसे भी अपना सिर कोई न कटवायेगा फिर भला अपने हाथ कौन काटेगा। सबको अपने प्राण प्रिय हैं।

जरत बिलोकेउँ जबहिं कपाला। बिधि के लिखे अंक निज भाला॥ १॥
नर के कर आपन बध बाँची। हसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची॥ २॥
सोउ मन समुझि त्रास नहिं मोरे। लिखा बिरंचि जरठ मति भोरे॥ ३॥
आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे॥ ४॥

शब्दार्थ—जरठ=बुड्ढा, वृद्ध। यथा—'जाना जरठ जटायू एहा। अ० । २९।'

अर्थ—जब मैंने मस्तकोंके जलते समय विधिके लिखे हुए अक्षर ललाटोंपर देखे तब मनुष्यके हाथों अपना वध पढ़ विधिकी वाणी असत्य जानकर हँसा॥ १-२॥ वह भी समझकर मेरे मनमें डर नहीं है, बुढ़ापेमें बुद्धि भुलक्कड़ हो जानेसे बुड्ढे ब्रह्माने ऐसा लिख दिया होगा॥ ३॥ अरे शठ! तू लज्जा और प्रतिष्ठा छोड़कर मेरे आगे बारम्बार दूसरे वीरका बल (क्या) कहता है!॥ ४॥

नोट—१ (क) विधिकी लिपि 'अङ्क' कही जाती है। आगे **'बिधि गिरा असाँची'** कहकर 'गिरा' से 'अङ्क' का बोध कराया। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि कोई अस्थिमें जो जोड़ हैं उनको 'अङ्क' मानते हैं, कोई सामुद्रिक आदि रीतिको और कोई (आसुरी सभ्यतावाले) फ्रेनालोजी (Phrenology) विद्याद्वारा सिरके ४० भागोंके उच्च निम्न, तिर्यग् या सम होनेमें समस्त फल कहते हैं—परंतु **'सो जानइ जेहि देहु जनाई'**। (ख)—**'हसेउँ जानि असाँची'**। हँसने और झूठ जाननेका कारण यह कि मनुष्य जिसके वश और मृत्यु जिसकी दासी है उसकी मृत्यु हो और वह भी मनुष्यके हाथ! ब्रह्माकी इस बुद्धिपर हँसी आयी।

वि० त्रि०—यह तामसी प्रकृतिका ज्वलन्त उदाहरण है कि ब्रह्मदेवके लेखको तो झूठ माना, और उनकी वाणीको अमोघ मानकर उनसे वरदान माँगता है **'हम काहूके मरैं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे॥'** दूसरी बात यह कि जो ब्रह्मदेवने लिखा था, उसीको वरदान माँगकर पुष्ट करता है। अपने बलका इतना अभिमान है कि उसके सामने ब्रह्माके वचनको भी तुच्छ समझता है। देखें तो कि मनुष्य मुझे कैसे मार लेता है।

वीर—ब्रह्माके लिखे अङ्क झूठे हो नहीं सकते, इस सच्ची बातको जानते हुए भी झूठ अनुमान करना

'काकुक्षिप्त गुणीभूतव्यंग' है। रावणके कथनमें गूढ़ ध्वनि यह है कि मैं जानता हूँ पर ज़िद न छोड़ूँगा। तू बराबर व्यर्थ ही क्यों समझाता है, जब इस सम्बन्धमें ब्रह्माकी बातें नहीं मानता तब दूसरे किसीका समझाना बेमतलब है।

मिलान कीजिये—मृत्युः पादान्तभृत्यस्तपति दिनकरो मन्दमन्दं ममाग्रेऽप्यष्टौ ते लोकपाला मम भयचकिताः पादरेणुं ववन्दुः॥ दृष्ट्वा तं चन्द्रहासं स्रवति सुरवधूपन्नगीनां च गर्भो निर्लज्जौ तापसौ तौ कथमिह भवतो वानरान्मेलयित्वा॥ हनु० ८। १९॥' अर्थात् मृत्यु चरणसेवक है, सूर्य मेरे सामने मन्द होकर तपते हैं, अष्टलोकपाल डरके मारे मेरे पदरजकी वन्दना करते हैं, मेरे चन्द्रहास खड्गको देखकर देवाङ्गना और नागकन्याओंके गर्भ गिर जाते हैं, तो फिर वे निर्लज्ज तपस्वी वानरोंसहित मेरे सामने कैसे समर्थ हो सकते हैं ?

नोट—२ **'सोउ मन समुझि त्रास नहिं'** से जनाया कि अङ्क पढ़नेपर भी मैं वैसा ही निर्भय, सावधान और प्रसन्न बैठा आहुति देता हुआ शिवजीको विशेष रीतिसे प्रसन्न करता रहा। मैं ऐसा वीर हूँ, मेरा सामना कौन कर सकता है ? मिलान कीजिये—

'स्वैपूत्कृत्यहुतेषु मूर्धसु जवादग्नेः स्फटित्वा बहिर्व्याकीर्णेष्वलिकेषु दैवलिखितं दृष्ट्वापि रामार्पणम्॥ चित्तेनास्खलितेन यस्तदधिकं ब्रह्माणमप्रीणयत्। तस्मै कः प्रथमाय मानिषु महावीराय वैरायते॥ हनु० ८। ४२॥' अर्थात् बड़े वेगसे अपने शिरोंको काटकर होम करनेपर अग्निसे फूटकर बाहर फैले हुए सम्पूर्ण मस्तकोंमें दैवके लिखे हुए 'रामार्पण' (रामसे इसकी मृत्यु होगी) देखकर भी जो पहलेसे और भी सावधान चित्त करके प्रथमसे भी अधिक शिवजीको प्रसन्न करता रहा, उस महावीर मानियोंमें श्रेष्ठ मुझ रावणसे कौन वैर कर सकता है। नाटकमें 'रामार्पणम्' है, उसकी जगह मानसमें **'नर के कर आपन बध'** है। नरका नाम यहाँ नहीं खोला है।

३—**"लाज पति त्यागे"**। भाव कि जिसकी बात कोई एक बार न सुने उसे चाहिये कि फिर न कहे। न सुननेपर फिर कहनेसे कहनेवालेकी प्रतिष्ठा नहीं रह जाती। जैसे रावणके **'रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ है कोऊ॥'** ये वचन सुनकर माल्यवन्त अपने मानमर्यादाके विचारसे फिर न बोले, चल दिये। विभीषण फिर भी बोले। फल यह हुआ कि उसने खल, शठ आदि अनेक दुर्वचन कहे और लात भी मारी।

वं० पा०—'लाज पति' अर्थात् लोककी लज्जा और कुलकी मर्यादा।

शङ्का—यहाँ रावण कहता है कि **'नर के कर आपन बध बाँची'**। पूर्व बालकाण्डमें सतीमोह प्रसंगमें भी **'रावन मरन मनुज कर जाँचा'** कहा है। पर रावणने तो वरदान यह माँगा है कि **'हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे॥ १। १७७।'** इस भेदका समन्वय कैसे किया जायगा ? समाधान—(१) 'हम' बहुवचनके प्रयोगसे ज्ञात होता है कि रावण अपनेसे सम्बन्धित सारे परिवार राक्षसवर्गके लिये वरदान माँग रहा है। हम=सपरिवार हम लोग। वानर और मनुष्य इन दो जातियोंके अतिरिक्त अन्य किसीके हाथ कोई न मरे। तात्पर्य कि कोई नरके हाथ मरे, कोई वानरके हाथ। (वे० भू०)। (२) मेरी समझमें रावणने नर और वानर दोको विवर्जित किया है। विधाताने दोमेंसे 'नर' को चुन लिया कि इनके हाथ रावणकी मृत्यु होगी, इसमें कोई प्रश्न उठनेकी जगह ही नहीं है। 'हम' वाला भाव भी उत्तम है पर शङ्का होती है कि क्या देवासुर-संग्राम जो अनेक बार रावणदल और सुरदलमें हुआ क्या उसमें जो राक्षस मरे वे नर या वानरके हाथ मरे थे ?

कह अंगद सलज्ज जग माहीं। रावन तोहि समान कोउ नाहीं॥ ५॥
लाजवंत तव सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ॥ ६॥
सिर अरु सैल कथा चित रही। तातें बार बीस तैं कही॥ ७॥

अर्थ—अङ्गदने कहा—हे रावण! तेरे समान सलज्ज (लज्जावान) संसारमें कोई नहीं है॥ ५॥ तेरा सहज स्वभाव ही लाजवन्त है, तू तो अपने मुख अपना गुण कभी कहता ही नहीं॥ ६॥ सिर (काटने) और पर्वत (कैलाश उठाने) की कथा चित्तमें रह गयी इससे बीसों बार तूने कही॥ ७॥

नोट—१ **'निज मुख निज गुन कहसि न काऊ'**। भाव कि अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करनेमें लज्जा लगती है

इसीसे कहनेमें संकोच होता है। यथा—'**निज गुणगरिमा सुखाकरः स्यात् स्वयमनुवर्णयतां सतां न तावत्। निजकरकमलेन कामिनीनां कुचकलशाकलनेन को विनोदः ॥ ५ ॥**' (सु० र० भ० आत्मश्लाघानिन्दाप्रकरणे) अर्थात् अपने ही मुखसे कहते हुए सज्जनोंको अपने गुणोंकी गुरुता सुखकारी नहीं होती; जैसे अपने ही करकमलोंसे अपने कुचरूपी कलशोंको मलनेसे कामिनीको क्या विनोद प्राप्त हो सकता है ? तू ऐसा लज्जावान् है कि कभी कहता ही नहीं। इसमें व्यंग यह है कि तू निर्लज्ज है क्योंकि अपनी प्रशंसा अपने मुखसे बारंबार करनेपर भी लज्जित नहीं होता। इसी भावसे श्रीलक्ष्मणजीने परशुरामजीसे कहा था कि '**अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी ॥ नहिं संतोष त पुनि कछु कहहू। १। २७४।**' यहाँ कण्ठध्वनिसे काकुद्वारा विपरीत अर्थ होना 'वक्रोक्ति अलंकार' है। कोई-कोई आचार्य इसे 'लक्षणामूलक अगूढ़ व्यंग' कहते हैं।

२— '**सिर अरु सैल कथा चित रही।**'''' का भाव कि—(क) जीवनभरमें तूने यही दो पुरुषार्थ किये। इससे ये मस्तिष्कमें जमे हुए हैं। (ख) बहुत सुना चुका अब बस कर। (ग) इनको छोड़ और कोई कथा याद हो, या और कोई पुरुषार्थ किया हो तो कह।

मिलान कीजिये—'**आस्तां मस्तकहोमविक्रमकथा पौलस्त्य विस्तारिणी देहं किं न निपातयन्ति दहने वैधव्यभीताः स्त्रियः। कैलासोधरणेन भारवहनप्रौढिस्त्वयाऽऽविष्कृता तूर्णं वर्णय किं च किंचिदपरं यत्पौरुषस्यास्पदम् ॥** हनु० ८। ५६।' अर्थात् अरे रावण ! अपने मस्तकोंके होमके विस्तारकी कथा रख दे। क्या वैधव्यके भयसे भीत हुई स्त्रियाँ अपने शरीरको अग्निमें नहीं डाल देतीं ? कैलासको उखाड़कर उस भारको धारण करनेकी प्रसिद्धि तूने प्रकट की और भी जो कुछ तेरे पुरुषार्थकी वार्ता हो उसको भी तू शीघ्र ही कह डाल।

वं० पा०—'**बार बीस**'। अर्थात् बीसों बिस्वा यही कथाएँ तेरे पास हैं, अन्य नहीं। अथवा, दोपर शून्य होनेसे बीस होता है सो तेरे पास 'सिर' और 'सैल' दो कथाएँ हैं; आगे सब शून्य हैं।

रा० प्र०—'बार बीस' अर्थात् दसों मुखोंसे बार-बार दो कथाएँ।

३—☞ यह '**पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे**' का उत्तर है। दोहा २४ देखिये।

सो भुज बल राखेहु उर घाली। जीतेहु सहसबाहु बलि बाली ॥ ८ ॥

अर्थ—वह अपना भुजबल हृदयमें डाल रक्खा है जिससे तुमने सहस्रबाहु, बलि और बालीको जीता था ॥ ८ ॥

नोट—१ अङ्गदजीका पूरा कथन यहाँतक व्यङ्गसे भरा हुआ है। उसको निर्लज्ज कहना है पर सलज्ज कहा, उसने अनेक बार अपनी प्रशंसा की, इसपर वे कहते हैं कि तुम तो कभी अपनी प्रशंसा करते ही नहीं, यही लाजवंतका स्वभाव है। रही सिर और शैलकी कथा, यह तो साधारण बात थी, स्मरण आ गयी कह दी; पर अपने पुरुषार्थकी कथाएँ नहीं कहते। इसमें व्यंग है कि और पुरुषार्थ किया ही नहीं। हारनेकी बातको 'जीतेहु' कहा। सहस्रबाहु आदिके जीतनेकी कथा छिपा रक्खी क्योंकि उसमें बड़ा पुरुषार्थ है, अपने मुखसे कैसे कहें ? इसमें व्यंग यह है कि तुम निर्लज्ज हो, इससे हारनेवाली बात नहीं कहते, केवल प्रशंसावाली कहते हो।

२—टीकाकारोंने प्रायः यों अर्थ किया है कि जब सहस्रबाहु आदिको जीतने गये तब क्या सिर और शैलवाला बल छिपा रक्खा था, इसीसे वहाँ दुर्दशा हुई; यदि वह बल वहाँ प्रकट करता तो वे न जाने क्या करते। (वं० पा०)।

वीरकविजी '**जीतेहु**'''**बाली**' का अर्थ करते हैं कि 'तभी तो सहस्रबाहु, बलि और बालीने तुम्हें जीत लिया !' इन वाक्योंमें वाच्यार्थ, व्यंगार्थ बराबर होनेसे 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग' है। अर्थात् जब भुजाओंमें अप्रमेय बल था तब सहस्रार्जुन, बलि और बालीने कैसे जीत लिया ? (वीर)।

पु० रा० कु०—अपमान आदि कुछ बातें गुप्त रखनेकी हैं, यथा—'**सिद्धिं मन्त्रौषधं धर्मं गृहच्छिद्रं च मैथुनम्। कुभुक्तं कुत्सितं कर्म मतिमान् न प्रकाशयेत्॥**' (चाणक्ये) '**आयुर्वित्तं गृहेच्छिद्रं मन्त्रं मैथुनभेषजम्। दानमानापमानानि नवैते गोपकारकाः॥**'

भाव कि तू इनमेंसे किस नीतिसे उसे छिपाता है ?

शङ्का—पूर्व कहा है कि '**ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसवर्ती नर नारी ॥ १। १८२। १२।**' तो क्या सहस्रबाहु, बलि और बाली ब्रह्मसृष्टिके बाहर थे अथवा तनधारी नहीं थे ?

समाधान—राजनीतिकी अज्ञता इस शङ्कासे प्रकट होती है। 'साम दान अरु दंड बिभेद' चार राजनीतियाँ हैं। रावणने बलि और वालीसे मित्रताकर उनको वशमें कर लिया था। और सहस्रबाहु श्रीपरशुरामजीके हाथों जब मारा जा चुका था उसके बादकी बात है कि 'ब्रह्मसृष्टि जहँ''''। (वे० भू०)। सहस्रार्जुनसे भी मित्रता हो गयी थी।

सुनु मति मंद देहि अब पूरा। काटे सीस कि होइअ सूरा॥ ९॥
इंद्रजालि कहुँ कहिअ न बीरा। काटइ निज कर सकल सरीरा॥ १०॥

शब्दार्थ—'पूर देना'—'पूरा=उत्तर। जैसे समस्यापूर्त्ति। प्रश्न आधा है, उत्तर होनेपर पूरा होता है इसीसे पूर्वार्ध और उत्तरार्ध पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा आदि नाम हुए।' (रा० प्र०)। यथा—'दुइ सुत मारेउ दहेउ पुर अजहु पूर पिय देहु। ३६।' इंद्रजाली=इन्द्रजाल करनेवाला। इंद्रजाल—यह तन्त्रका एक अङ्ग है। जादूगरी, मायाकर्म।

अर्थ—अरे मन्दबुद्धि! अब उत्तर दे। शिर काटनेसे क्या कोई शूर हो जाता है?॥ ९॥ इन्द्रजालीको कोई वीर नहीं कहता, (यद्यपि) वह तो अपने हाथसे अपना सारा शरीर काट डालता है। (भाव कि तूने तो अपने शिर ही काटे इसीपर इतना गर्व कि अपनेको शूर मान बैठा है। और दूसरोंसे अपनी गणना शूरोंमें कराना चाहता है)॥ १०॥*

नोट—रावणने जो कहा था कि 'नाँघहिं खग अनेक बारीसा। सूर न होहिं ते सुनु जड़ कीसा'॥ तथा 'सूर कवन रावन सरिस स्वकर काटि जेहि सीस। २७।' उसीका यह उत्तर है। पूर्व जो कहा कि सिर काटनेसे कोई सूर नहीं हो जाता, उसीका यहाँ विशेष उदाहरणसे समर्थन करते हैं—यह 'अर्थान्तरन्यास अलङ्कार' है।

दो०—जरहिं पतंग बिमोह† बस भार बहहिं खरबृंद।
ते नहिं सूर कहावहिं‡ समुझि देखु मतिमंद॥ २९॥

शब्दार्थ—बहना=लादकर ले चलना। मोह=भ्रम, अज्ञान, प्रेम।

अर्थ—अरे मंदबुद्धि! (मनमें) समझ देख कि मोहवश पतंगे (अग्निमें) जल मरते हैं और गधोंके झुण्ड बोझा लादकर ले चलते हैं; पर वे शूरवीर नहीं कहे जाते॥ २९॥§

नोट—'समुझि देखु मतिमंद'। (क) 'मतिमंद' 'मंद बुद्धि' का भाव कि ऐसे न सुझायी देगा, बहुत विचारनेपर समझे सूझेगा कि मैंने जो कहा वह यथार्थ है। मंदबुद्धि है इसीसे अपनेको तू शूर मानने लगा, नहीं तो शूर न मानता। (ख) रावणके 'सुनु जड़ कीसा' और 'निरखु' के उत्तरमें 'समुझि देखु मतिमंद' कहा गया।

पां०, वं० पा०—यहाँ दो दृष्टान्त दो देशमें कहे। सिर काटकर अग्निमें होम करनेके उत्तरमें पतंगका और कैलास उठानेमें गर्दभका दृष्टान्त है।

रावण	अङ्गदका प्रत्युत्तर
१ नाघहिं खग अनेक बारीसा। सूर न होहिं ते सुनु जड़ कीसा॥ सूर कवन रावनसरिस स्वकर काटि०।	इंदजालि कहुँ कहिय न बीरा। काटइ निज कर सकल सरीरा। काटे सीस कि होइअ सूरा।
२ हरगिरिमथन निरखु मम बाहू।	भार बहहिं खरबृंद, समुझि देखु।
३ हुने अनल महँ बार बहु।	जरहिं पतंग बिमोह बस।

* 'हतेषूत्तमांगेषु शौर्यं न भाति वचस्त्वं निशामय मदीयं दशास्य। समग्रेषु गात्रेषु भिन्नेषु वीरो निजेनापि हस्तेन वै इन्द्रजाली।' (र० व०)। अर्थात्—अरे रावण! तू मेरे वचन सुन, अङ्गोंके काटनेसे शूरता नहीं होती; इन्द्रजाली अपने हाथों सारा शरीर टुकड़े-टुकड़े कर डालनेपर भी वीर नहीं कहा जाता।

† बिमोह—(का०), मोह—(भा० दा०, छ०) ‡ सराहिये—(का०)।

§ अज्ञानभूताः शलभा दहन्ति वहन्ति भारं सुतरां च गर्दभाः।
ते सन्ति शूरा न च दुर्मते वै न भारवाही भवतीति शूरः॥ (र० व०)

४ पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू । — अब जनि बतबढ़ाव खल करही। सो भुज बल राखेहु उर घाली।
५ जौं पै समर-सुभट तव नाथा । — दसमुख मैं न बसीठी आयेउ। अस बिचारि रघुबीर पठायेउ॥
तौ बसीठ पठवत केहि काजा । — नहिं गजारि जस बधे सृगाला ।
६ रिपु सन प्रीति करत नहिं लाजा । — 'मन महुँ समुझि बचन प्रभु केरे'से 'लेइ जातेउँ सीतहिं बरजोरा'तक
७ मम भुजसागर बल जल पूरा । — जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनेहि परनारी॥
८ पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे । — 'कह अंगद सलज्ज जगमाहीं'''सिर अरु सैल कथा चित रही। तातें बार बीस तैं कही॥'

अब जनि बतबढ़ाव खल करही । सुनु मम बचन मान परिहरही ॥ १ ॥
दसमुख मैं न बसीठी आएउ । अस बिचारि रघुबीर पठाएउ ॥ २ ॥
बार बार अस* कहइ कृपाला । नहिं गजारि जसु बधें सृकाला ॥ ३ ॥
मन महुँ समुझि बचन प्रभु केरे । सहेउँ कठोर बचन सठ तेरे ॥ ४ ॥
नाहि त करि मुखभंजन तोरा । लै जातेउँ सीतहि बरजोरा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—बतबढ़ाव—बात बढ़ना और बात बढ़ाना मुहावरे हैं। बातका विवादरूपमें हो जाना, कहा-सुनी करना। व्यर्थ बात बढ़ाना, विवाद वा झगड़ा-बखेड़ा। सृकाल (शृगाल)=गीदड़। बसीठी=दौत्यकर्मके लिये।

अर्थ—रे खल! अब विवाद न बढ़ा। मेरा वचन सुन और मान छोड़ दे (कि मेरा कुम्भकर्ण ऐसा भाई है, इन्द्रजित पुत्र है और मैंने तो चराचरमात्रको जीता है तब मेरा कोई क्या कर सकता है? यदि राम सुभट होते तो संधिकी बात क्यों करते?) ॥ १ ॥ रे दशमुख! मैं दौत्यकर्मके लिये नहीं आया। श्रीरघुवीरने यह विचारकर मुझे भेजा है† ॥ २ ॥ वे दयालु बराबर ऐसा कहते हैं कि गीदड़को मारनेमें सिंहको यश नहीं होता ॥ ३ ॥ अरे शठ! प्रभुके वचन मनमें समझकर मैंने तेरे कठोर वचन सहे ॥४॥ नहीं तो तेरे मुँह तोड़कर श्रीसीताजीको जबरदस्ती ले जाता ॥५॥

नोट—१ (क) 'मान परिहरही'। मान छोड़नेको कहा, क्योंकि मान रहते शिक्षा सुनी नहीं जाती, यथा—**'बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन ॥ ५। २२।'** (ख) बतबढ़ाव न कर अर्थात् बहुत टंटा बढ़ानेका प्रयोजन नहीं; क्योंकि मैं अकेला तुझसे निर्बल नहीं हूँ । (ग) **'मैं न बसीठी आएउ'**। भाव कि दूत छोटेके यहाँ नहीं भेजा जाता, इसलिये मैं दूत होकर संधिके लिये नहीं आया हूँ—(पं०)। वि० त्रि० जी लिखते हैं कि रावणके यह कहनेपर कि **'तौ बसीठ पठवत केहि काजा। रिपु सन प्रीति करत नहिं लाजा॥'** अङ्गदजी सीधे इनकार करते हैं कि मैं रामका दूत तो हूँ, पर दूतत्वके लिये नहीं आया हूँ, यथा—**'मम जनकहि तोहि रही मिताई। तव हित कारन आयउँ भाई॥'** तुमसे मैंने कहीं नहीं कहा कि रामजीसे प्रीति कर लो। तुम्हारे हितके लिये तुम्हें शरणमें जानेकी सलाह दी, और गुरुतर अपराधी होनेके कारण शरणागतिकी पूरी विधि बतलायी। प्रभु तो तेरे वधमें अपना यश नहीं मानते। **'अनुहुंकुरुते घनध्वनिं, न तु गोमायुरुतानि केसरी'** बादलके गरजनेपर सिंह दहाड़ता है, सियारोंके हुआँ-हुआँ करनेपर ध्यान भी नहीं देता। (घ)—**'रघुबीर पठाएउ'** और **'कृपाल'** का भाव कि वे पराक्रम-वीर हैं, उनको सन्धिकी जरूरत नहीं, पर वे दयावीर भी हैं, कृपालु हैं, तुझपर तरस आता है, अतः तेरे हितोपदेशके लिये मुझे भेजा। २—**'नहिं गजारि जस बधे सृकाला'** इति। भाव कि राम सिंह हैं, तू गीदड़ है, तुझमें और उनमें इतना अन्तर है जितना गीदड़ और सिंहमें। गीदड़को सिंह मारे तो उसे सब थू-थू करेंगे, इसी प्रकार तुझे श्रीरामजी मारें तो उससे उनकी नामवरी नहीं होनी है, यश होना होता तो इतना विलम्ब न करते।

☞ मिलान कीजिये—**'यदन्तरं वायसवैनतेययोर्यदन्तरं सिंहशृगालयोर्वने।**
खद्योतमार्तण्डलयोर्यदन्तरं तदन्तरं ते रघुनन्दनस्य च ॥'—(नाटके),

* इमि—(का०)। †—वीर—प्रथम बसीठी होनेसे इनकार कर फिर अन्य प्रकार उसी बातका स्थापन करना 'निषेधाक्षेप अलङ्कार' है।

'न दूये नः पूर्वं नृपतिमनरण्यं यदवधीर्जयो वा मृत्युर्वा युधि भुजभृतां कः परिभवः ।
जितं मन्ये कारागृहविनिहतं हैहयपतेः पुलस्त्यो यद्भिक्षामकृतकृपणं तद्व्यथयति ॥ हनु० १४ । २५ ॥'

राम-रावण-युद्ध-समय रावणके कटु वचनोंके उत्तरमें श्रीरामजीके ये वचन हैं कि पूर्व जो तूने राजा अनरण्यको मारा उसका मुझे दुःख नहीं, क्योंकि युद्धमें बलशालीकी जय या मृत्यु ही होती है। पराजय क्या है? परन्तु हैहयराजके कारागृहमें जीते ही बँधे हुए तुझको मानकर मुझे दुःख होता है, कि जिस तुझको पुलस्त्यने दीन होकर सहस्रार्जुनसे भिक्षामें माँगकर छुड़ाया, उसे क्या मारूँ। भाव कि भिक्षामें माँगे हुएको मारनेमें मुझे लज्जा लगती है।—[यहाँ 'सारूप्यनिबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा' अथवा 'अन्योक्ति' अलंकार है— (वीर)।]

३ 'मन महँ समुझि' में ध्वनि यह है कि मैं अकेला ही तेरा वध कर सकता हूँ पर तुझे गीदड़ समझ नहीं मारता। इससे अपनेको सिंह सूचित किया।

जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनेहि परनारी ॥ ६ ॥
तैं निसिचरपति गर्ब बहूता। मैं रघुपति-सेवक कर दूता ॥ ७ ॥
जौं न राम अपमानहि डरऊँ। तोहि देखत अस कौतुक करऊँ ॥ ८ ॥

अर्थ—हे सुरारि! हे अधम! मैंने तेरा बल जान लिया। तू सूनेमें पर-स्त्री चुरा लाया (बल होता तो श्रीलक्ष्मणजीसे ही लड़कर न लाता?) ॥ ६ ॥ तू राक्षसराज है, तुझे बहुत गर्व है और मैं रघुनाथजीके दासका दूत हूँ ॥ ७ ॥ जो मुझे श्रीरामजीके अपमानका डर न होता तो तेरे देखते-देखते ऐसा तमाशा करता ॥ ८ ॥

नोट—'तैं निसिचर पति गर्व बहूता।' इति। भाव कि कहाँ तो तू दिग्विजयी राजा और कहाँ मैं दासका दास, कहाँ तू बलका अभिमानी और कहाँ मैं तुच्छ बलवाला जिसको बलका अभिमान हो नहीं सकता। इस तरह रामदलमें अपनेको तुच्छ कहकर जनाया कि ऐसा एक तुच्छ सेवक भी तेरा वध करनेमें अपनी हीनता समझता है। इस प्रकार 'नहिं गजारि जस बधे सृकाला' जो कहा उसीको पुष्ट कर रहे हैं। निशिचरपतिका भाव कि तू सेनासहित है और मैं अकेला हूँ।

पं०, पु० रा० कु०—'जौं न राम अपमानहि डरऊँ।...' इति। श्रीरामजी अपने बाणोंसे तेरा वध करना चाहते हैं। यदि मैं श्रीसीताजीको ले जाऊँ तो उनकी प्रतिज्ञा मिथ्या होती है, यही अपमान है। यथा 'तव सोनित की प्यास तृषित राम सायक निकर। तजउँ तोहि तेहि त्रास कटु जलपक निसिचर अधम ॥ ३२ ॥'

नोट—२ 'तोहि देखत' अर्थात् तेरी तरह सूनेमें चोरीसे नहीं, वरन् तेरे सन्मुख तुझे ललकारकर। लक्ष्मणजीके रहते भी तुझे सीताजीको ले आनेका साहस न हुआ और मैं तेरे और सब सभाके सामने ऐसा करता।

३ 'कौतुक करऊँ'। भाव कि (क) मेरे लिये यह खेल ही होगा, मुझे इसमें कुछ परिश्रम न होगा और न विशेष कुछ यत्न ही करना पड़ेगा। यथा, 'नाथ जानि अस आयसु होऊ। कौतुक करउँ बिलोकिअ सोऊ ॥ १ । २५३ । ७ ॥' देखिये। (ख) तुम कौतुक देखनेवाले गुणग्राहक हो, यथा—'मैं गुनगाहक परम सुजाना। २४ । ४ ।' अतः मैं तुमको यह कौतुक दिखाता।

☞ मिलान कीजिये—एकोऽहं पवनात्मजो दशमुख त्वं चापि कोटीश्वरस्त्वां जित्वा समरे प्रभोः प्रणयिनीं सीतां च नेतुं क्षमः। किन्तूत्थाय भुजं पुरा भगवता रामेण सुग्रीवतो हत्वा दक्षिणपाणिना वसुमतीं त्वां हन्तुमुक्तं वचः ॥ हनु० ६ । ३० ।'

श्रीहनुमान्‌जीने रावणसे कहा—हे दशमुख! मैं पवनका पुत्र अकेला हूँ और तू करोड़ोंका स्वामी है, मैं तुझे संग्राममें जीतकर प्रभु श्रीरामचन्द्रकी पतिव्रता सीताको ले जानेको समर्थ हूँ। पर भगवान् रामचन्द्रने प्रथम भुजा उठाकर सुग्रीवके सामने दक्षिण हाथसे पृथ्वीको ताड़ित कर तेरे मारनेकी प्रतिज्ञा की है।

'कोसलराज के काज हौं आज त्रिकूट उपारि लै बारिधि बोरौं। महाभुजदंड द्वै अंडकटाह चपेट की चोट चटाक दै फोरौं ॥ आयसु भंग ते जौं न डरौं सब मींजि सभासद सोनित खोरौं। बालि को बालक जौ तुलसी दसहू मुख के रनमें रद तोरौं। क० लं० १४ ।', 'तू रजनीचरनाथ महा रघुनाथके सेवकको जन हौं हौं। बलवान है स्वान गली अपनीं तोहि

लाज न गाल बजावत सौं हौं ॥ बीस भुजा दससीस हरौं न डरौं प्रभु आयसु भंग तें जौं हौं। खेत में केहरि ज्यौं गजराज दलौं दल बालिको बालक जौं हौं। क० लं० १३।'; 'लङ्क लाय दियो बली हनुमंत संतन गाइयो। सिंधु बाँधत सोधि कै नल छीर छींट बहाइयो ॥ ताहि तोहि समेत अन्ध उखारि हौं उलटा करौं। आजु राज कहाँ विभीषण बैठिहैं तेहि ते हरौं ॥' (रा० चं० प्र० १६ । ३३)।

उपर्युक्त उद्धरण सब इन्हीं चौपाइयोंकी व्याख्या समझिये। ये सब भाव इन चौपाइयोंमें हैं।

यहाँ अङ्गदके कथनमें 'आत्मतुष्टि-प्रमाण अलंकार' है।

दोहा—तोहि पटकि महि सेन हति चौपट करि तव गाउँ।
तव जुवतिन्ह* समेत सठ जनकसुतहि लै जाउँ ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—चौपट=नष्टभ्रष्ट, विध्वंस, यथा—'जो दिनप्रति अहार कर सोई। बिस्व बेगि सब चौपट होई' (बा०)।

अर्थ—रे शठ! तुझको पृथ्वीपर पटककर, सेनाको मारकर और तेरे गाँवको चौपट कर तेरी स्त्रियोंसमेत श्रीजनकसुताको लेकर चला जाऊँ ॥ ३० ॥

नोट—१ 'गाउँ' पद लङ्काकी तुच्छता दिखानेके लिये एवं तिरस्कारहेतु दिया। २—'तव जुवतिन्ह समेत०'। भाव कि (क) तेरी सब रानियाँ उनकी दासी होकर साथ चलतीं, (ख) तू एकको चुराकर लाया मैं तेरी सब रानियोंको तुझे जीतकर जबरदस्ती ले जाता।—[(ग) पं०—मन्दोदरी भक्त है, तेरे योग्य नहीं है। उसे सीताजीकी सेवाके लिये सङ्ग ले जाऊँ। (ङ) मा० म०—रामानुरागिनी और अपनी माता जानकर ले जाता। अथवा, अब विभीषण लङ्काका राजा है, मन्दोदरी लङ्कापतिकी स्त्री होती है अतः विभीषणको उसका पति बनानेके लिये ले जाता।]

जौं अस करौं तदपि न बड़ाई। मुएहि बधे नहिं कछु मनुसाई ॥ १ ॥

अर्थ—जो ऐसा करूँ तो भी कुछ बड़ाई (की बात) नहीं है। मरे हुएको मारनेमें कुछ पुरुषत्व नहीं (कहा जा सकता) ॥ १ ॥

पु० रा० कु०—रावण कह सकता था कि ऐसा पुरुषार्थ तुममें है तो जानकीजीको ले क्यों नहीं जाते, तुम्हारी करतूतसे तुम्हारे प्रभुकी अधिक बड़ाई होगी? यथा—'जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आए पुर कवन भलाई ॥' इसीको लक्ष्य करके अङ्गद कहते हैं कि जो ऐसा करूँ तो भी बड़ाई नहीं है। कारण कि 'मुएहि बधे०'। अर्थात् अपनेको शूर माननेवाला यदि डरपोकका वध करे तो न प्रशंसास्पद है न स्वर्गप्रद है।

कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा ॥ २ ॥
सदा रोगबस संतत क्रोधी। बिष्नु बिमुख श्रुति संत बिरोधी ॥ ३ ॥
तनुपोषक निंदक अघखानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी ॥ ४ ॥
अस बिचारि खल बधउँ न तोही। अब जनि रिस उपजावसि मोही ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कौल=वाममार्गी—'अन्तःशैवाः बहिः शाक्ताः सभायां वैष्णवा मताः। नानावेषधराः कौला विचरन्ति महीतले ॥' 'मन्त्रं मांसं तथा मन्त्र मैथुनं मत्स्यमेव च। मकाराः पञ्च विख्याताः कौलानां सिद्धिदायकाः ॥', 'तजि श्रुतिपंथ बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जग छलहीं ॥' (पु० रा० कु०)। कौलाचार्यकृत कौलार्णव ग्रन्थके अनुसार चलनेवाला जिसमें मद-मैथुनादिसे मुक्ति मानते हैं—(पु० रा० कु०)। कृपण-सूम, कंजूस।=फलासक्ति आदिसे कर्म करनेवाले। 'फलसङ्गादिना कर्म कुर्वाणाः कृपणाः संसारिणो भवेयुः।' (श्रीरामानुजभाष्य), 'कृपणाः फलहेतवः। गीता २। ४९।' पुनः, कृपण=जो अक्षर ब्रह्मको बिना जाने ही इस लोकसे मरकर जाता है। यथा—'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः ॥ बृहदारण्यक अ० ३ ब्रा० ८। १०।' =दीन।

* मन्दोदरी—(का०)।

अर्थ—वाममार्गी, कामी, कंजूस, (सूम), अत्यन्त मूढ़, अत्यन्त दरिद्र, कलङ्की, अत्यन्त वृद्ध ॥ २ ॥ सदा रोगी रहनेवाला, निरन्तर क्रोधयुक्त रहनेवाला, विष्णुविमुख, श्रुति और संतका विरोध करनेवाला ॥ ३ ॥ अपना ही शरीर (वा, शरीरको ही आत्मा जानकर) पोषण करनेवाला, निन्दा करनेवाला, पापकी खानि—ये चौदह प्राणी जीते ही शव (मृतक) के समान हैं। वा, ये सब पापकी खानि हैं और जीते ही मुर्दातुल्य हैं ॥ ४ ॥* अरे खल! ऐसा विचारकर मैं तेरा वध नहीं करता। बस अब मुझमें क्रोध न पैदा करवा ॥ ५ ॥

पं० पा०—व्यासजीने दरिद्र, व्यथित (रोगवश), मूर्ख, परदेशमें वास करनेवाले और 'सदा सेवक' वा नृपसेवक—इन पाँचोंको मृतकसमान कहा है, यथा—'**जीवितोऽपि मृताः पञ्च व्यासेन परिकीर्तिताः। दरिद्रोव्यथितो मूर्खो प्रवासी नृपसेवकः ॥ इतिनीतिः।**', '**नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते। न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः ॥ भागवते।**' अर्थात् जिसका कर्म धर्मके लिये नहीं होता, न वैराग्यके लिये और न भगवान् या भगवद्भक्तोंकी सेवाके लिये, वह जीते ही मरा हुआ है।

वि० त्रि०—'**कौल काम बस कृपिन बिमूढ़ा**' इति। श्रीगोस्वामीजीने किसी सम्प्रदायके विरोधमें कभी कुछ नहीं कहा। एक वाम मार्गसे उनकी पटरी नहीं बैठी, यथा—'**तजि श्रुति पंथ बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जग छलहीं।**' क्योंकि द्विजातिके लिये वाम-पथ महानिषिद्ध है। तन्त्रोंमें भी यही सिद्धान्त पाया जाता है। श्रुतिसिद्धान्त तन्त्र कहता है—**विप्रो दक्षिणमार्गेण महामायां प्रपूजयेत्।** ब्राह्मण दक्षिण मार्गसे महामायाकी पूजा करे। मेरुतन्त्र कहता है '**सर्वाचार-परिभ्रष्टः कुलाचारं समाश्रयेत्। कुलाचारपरिभ्रष्टो रौरवं नरकं व्रजेत्**' ॥ सब आचारोंसे जो भ्रष्ट हो जाय, वह कुलाचारका समाश्रयण करे, कुलाचारसे भी परिभ्रष्ट होनेपर तो रौरव नरक ही होता है। भाव निर्णयतन्त्रमें कहा है कि '**ब्राह्मणो वीरा-भावञ्च मनसापि न चिन्तयेत्।** ब्राह्मण तो वीरभावको मनसे भी न चिन्तन करे। भैरवीतन्त्र कहता है '**ब्राह्मणा-स्ताम्रपात्रेतु गव्यं मद्यं प्रकल्पयेत्**' ब्राह्मण ताम्रपात्रमें दूध रखकर मद्यकी कल्पना करे। इत्यादि।

टिप्पणी—१ (क) कौलमार्गीको शवसमान कहा; क्योंकि मद्यमांसादिका सेवन नरकदायक है। यथा—'**द्यूतं च मद्यं पिशितं च वेश्यापर्द्धि चौर्यं परदारसेवा। एतानि सप्त व्यसनानि लोके घोरातिघोरं नरकं नयन्ति ॥**' (ख) कामीको शव कहा, क्योंकि कामके समान दूसरा रोग नहीं, यथा—'**नास्ति कामसमो व्याधिः**' इति सूक्तावली। दूसरे, कामी सदैव कलंकी रहता है और कलंकसे मृत्यु ही अच्छी है, यथा—'**अकलंकता कि कामी लहहीं**', '**संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणाद-तिरिच्यते**' (गीता २)। (ग) कृपण=लोभी। यह भी शवसमान है, क्योंकि '**गुनसागर नागर नर जोई। अल्पलोभ भल कहइ न कोई**' ॥ (खं०)। † पुनः, कृपण=जो न स्वयं खाय और न दूसरेको खाने दे। (घ) विमूढ़=अनात्मदर्शी, ज्ञानदृष्टिरहित, ‡ परधन परअपवादरत गृहासक्त, यथा—'**परधन पर अपवाद रत गृहासक्त दुखरूप। ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप ॥**' [मनुष्यादिके शरीरमें आत्माभिमान रखनेवालोंका नाम विमूढ़ है—'**विमूढाः मनुष्यत्वादि-पिण्डात्माभिमानिनः।**' (श्रीरामानुजभाष्य) वा, विमूढ़ वह है जिसको कोई उत्तम पुरुष उपदेश दे, पर वह न सुने। (पं०)] (ङ) अति दरिद्र=अति तृष्णायुक्त, यथा—'**स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला**'। (तृष्णावाला कभी तृप्त नहीं होता, एक न एक सांसारिक चिन्तामें लगा हुआ ही मर जाता है। वह जीते ही मरा हुआ है—'**चिता चिन्तासमाप्रोक्ता विन्दुमात्रं विशेषतः। सजीवं दहते चिन्ता निर्जीवं दहते चिता ॥**') (च) 'अजसी' मरेसे भी बुरा—'**मरन कोटि सम दारुन दाहू**'। '**अयशोऽकीर्तिसंयुक्तो जीवन्नपि मृतो हि सः**'। [(छ) 'अति बूढ़ा' मृतकवत् है; क्योंकि सब अङ्ग शिथिल हो जानेसे पुत्र परिवार सभी अनादर करते हैं और वह भी मृत्यु चाहने लगता है, यथा विनये—'**देखत ही आई बिरुधाई।**

---

* वीर—यहाँ जीवित प्राणियोंको भिन्न-भिन्न अवगुणोंके योगसे मृतक स्थापन करना 'सारोपालक्षणा' है। मृतक उपमानका गुण जीवित प्राणी उपमेयमें स्थापन करना 'द्वितीयनिदर्शना' है।

† 'यशोयशस्विनां शुद्धं श्लाघ्योऽयं गुणिनां गुणाः। लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो (?) रूपमिवेप्सितः ॥' ‡ 'उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्। विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥'(गीता १५। १०)। अर्थात् (शरीरका) त्याग करनेवाले या उसमें रहनेवाले या गुणोंका आश्रय ले भोग भोगनेवाले (इस अंशरूपी ईश्वरको) नहीं देखते, दिव्यदृष्टिवाले देखते हैं। (महात्मा गांधी)।

जो तैं सपनेहु नाहि बुलाई ॥ ताके गुन कछु कहे न जाहीं । सो अब प्रगट देखु तन माहीं ॥ सो प्रगट तनु जर्जर जरावस ब्याधि सूल सतावई । सिर कंप इन्द्रियसक्ति प्रतिहत बचन काहु न भावई ॥ गृहपालहू तें अति निरादर खान पान न पावई । ऐसिहु दसा न बिराग तहँ तृष्णा तरंग बढ़ावई ॥ १३५ ॥' वृद्धावस्थाको यमदूती कहा है—'कृतान्तस्य दूती जरा कर्णमूले समागत्य वक्तीति लोकाः श्रृणुध्वम् । परस्त्रीपरद्रव्यवान्छां त्यजध्वं भजध्वं रमानाथपादारविन्दम्' ॥ इति नीतिशतके ।]
(ज) 'सदारोगवश' मृतकवत् है, यथा—'म्रियन्ते रुजाजितः । सम्यक् चिकित्समानोऽपि विकारो योऽभिवर्द्धते । असाध्यः स तु विज्ञेयस्तेन युक्तं मृतं वदेत् ॥' इति वाग्भट्टः । (झ) 'संतत क्रोधी' । क्रोधको प्राणहारक शत्रु कहा है, यथा—'क्रोधः प्राणहरः शत्रुः क्रोधोऽमित्रमुखो रिपुः' अर्थात् क्रोध प्राणघातक शत्रु है, अमित्रताका आरम्भ करनेवाला वैरी है । क्रोध समस्त अनर्थों और पापोंका मूल है, धर्मका नाशक और भवमें डालनेवाला है । यथा 'लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोध पाप कर मूल ।···। १ । २७७ ।'; 'क्रोधमूलमनर्थानां क्रोधः संसारबन्धनम् । धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्क्रोधं विवर्जयेत् ॥ इति सूक्तावली । (ञ) विष्णुविमुख, श्रुतिसंतविरोधी और तनपोषक तीनों नरकगामी हैं*इसीसे मृतकवत् हैं । यथा—'आद्यं पुरुषमीशानं सर्वलोकमहेश्वरम् । न चिन्तयन्ति ये विष्णुं ते वै निरयगामिनः ॥'; 'वेदनिन्दापरो यस्तु द्विजनिन्दापरस्तथा । साधुनिन्दापरश्चापि सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥' इति भारते; 'पश्यतां बन्धुबालानामेकाकी मिष्टमत्ति यः । स याति नरकं लौल्यात्केवलोदरपूरकः ॥' इति पाद्मे; 'त्रिषु कालेषु नोदत्तं ब्राह्मणेषु सुरेषु वै । यैः स्वयं भुज्यते मिष्टं पापं तैस्तु महत्कृतम् ॥'—(पु० रा० कु०), 'कल्प-कल्प भरि एक एक नरका । परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका ॥' (ट) निन्दककी गति यह कि दूसरे जन्ममें चमगादड़ होता है,—'सब कै निंदा जे नर करहीं । ते चमगादुर होइ अवतरहीं ॥ ७ । १२१ । २७ ।' इसीसे शवसम कहा । (ठ) 'अघखानि' से मनकर्मवचनजनित सब पातक उपपातक सूचित किये ।* यथा—'जे पातक उपपातक अहहीं । करम बचन मन भव कवि कहहीं ॥ अ० १६७ ।' १४ प्राणियोंको मृतक सम कहनेका भाव कि ये धर्महीन हैं, इसलिये इनका जीवन व्यर्थ है । प्रमाणं प्रस्तावरत्नाकरे—'मूर्खोऽशान्तस्तपस्वी क्षितिपतिरलसो मत्सरोऽधर्मशीलो दुःस्थो मानी गृहस्थः प्रभुरतिकृपणः शास्त्रविद्धर्महीनः । प्रज्ञाहीनो नरेन्द्रः शुचिरपि सततं यः परान्नोपभोजी वृद्धो रोगी दरिद्रो बहुयुवतिपतिर्धिग् विडम्बप्रकाराः ॥'

मूर्ख, अशान्त, तपस्वी, आलसी, ईर्षालु और अधर्मी जमींदार, दुरवस्थाप्राप्त मानी गृहस्थ, अतिकृपण स्वामी, धर्महीन शास्त्रवेत्ता, दुर्बुद्धि राजा, शुद्ध साफ होते हुए भी सदा पराया अन्न भोजन करनेवाला, बूढ़ा, रोगी, दरिद्र, बहुयुवतियोंका एक पति—यह सब धिक्कारयोग्य विधि-विडम्बनाके प्रकारोंमेंसे हैं ।

'अब जनि रिस उपजावसि मोही' का भाव वही है जो 'जद्यपि लघुता···'दोहा २३ का है ।

पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी—'रावण कौन थे' यह प्रायः सभी जानते हैं । 'परंतु रावण क्या थे' यह प्रश्न टेढ़ा है । एक ओर तो रावण वेदोंके भाष्यकार थे । अब भी उनके भाष्यके खण्ड जहाँ-तहाँ पाये जाते हैं । ज्योतिषके पारदर्शी थे । भृगुसंहिताकी भाँति रावणसंहिता भी फलादेशका बड़ा उत्तम ग्रन्थ है । धनुर्वेदके भी प्रकाण्ड विद्वान् थे । कर्मठ थे, तपस्वी थे, उपासक थे, क्या नहीं थे ? दूसरी ओर देखिये तो वे बहुत बड़े अत्याचारी, धर्मद्रोही, द्विजद्रोही, देवद्रोही और शास्त्रद्रोही मायावी थे । उनके दोषोंकी तालिका उनके गुणोंकी अपेक्षा बहुत बड़ी थी । ऐसे चमत्कृत गुणों और ऐसे भयानक दोषोंका योग एक व्यक्तिमें कहीं देखा नहीं जाता । अतः यह प्रश्न स्वाभाविक उठता है कि 'रावण क्या थे ?'

इसका उत्तर हमें अङ्गद-रावण-संवादमें ही मिला । अङ्गदजी कहते हैं 'कौल काम बस चौदह प्रानी ।' यहाँ दीपकालङ्कार है । प्रसंग प्राप्त शब्द 'कौल' है । अङ्गदजी रावणको 'कौल' कहते हैं । बात बड़े ठिकानेकी है । वस्तुतः रावणको कौल मान लेनेसे सब सामञ्जस्य बैठ जाता है ।

प्रबोधचन्द्रोदयकारने कौलधर्मकी विशेषताओंका दिग्दर्शन कराते हुए कहा है कि 'मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतिर्जुह्वतां वह्नौ ब्रह्मकपालकल्पितसुरापानेन नः पारणा । सद्यः कृत्तकठोरकण्ठविगलत्कीलालधारोज्ज्वलैरर्च्यो नः पुरुषोपहारबलिभिर्देवो महाभैरवः ॥' मस्तिष्क, आँत-चर्बीसे भरे हुए ब्राह्मणके मांसकी आहुतियाँ अग्निमें देना, ब्राह्मणकी

* 'कायेन कुरुते पापं मनसा सम्प्रधार्य तत् । अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्मपातकम् ॥ (वाल्मी०) ॥

खोपड़ीमें भरे हुए मद्यसे पारण करना और तुरंतके कटे हुए सिरसे निकली हुई रुधिरकी धारासे, पुरुषोपहार बलिसे कौल लोग महाभैरव शिवजीका पूजन करते हैं।

अङ्गदजीने रावणके वाक्यसे ही जान लिया कि बड़ा भारी कौल है। क्योंकि रावण उपर्युक्त **'मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतीर्जुह्वतां वह्नौ'** इस प्रक्रियाको **'सूर कवन रावन सरिस स्वकर काटि जेहिं सीस। हुत्यौ अनल महँ बार बहु हर्षित साखि गिरीस।'** अपने इस कथनसे व्यक्त कर रहा है और **'सिर सरोज निज करन्ह उतारी। पूजेउ अमित बार त्रिपुरारी॥'** कहकर उपर्युक्त **'सद्यः कृत्तमहाभैरवः'** को ही कह रहा है। यह दूसरी बात है कि रावणकी राजसिक श्रद्धा बड़ी ही प्रबल थी। उसने किसी दूसरे ब्राह्मणको बलिके लिये न खोजकर अपने ही सिरोंकी आहुति देकर, अपने ही सिरोंका उपहार शिवजीको दिया। रावणकी पारणाके विषयमें तो स्वयं शूर्पणखाने कहा है कि **'करसि पान सोवसि दिन राती।'**

कौलधर्मकी विशेषता ऊपर कही गयी, अब उनकी मुक्तिकी विशेषता सुनिये—**'दृष्टं क्वापि सुखं विना न विषयैरानन्दबोधोज्झिता जीवस्य स्थितिरेव मुक्तिरुपलावस्थाकथं प्रार्थ्यते। पार्वत्याः प्रतिरूपया दयितया सानन्दमालिङ्गितो मुक्तः क्रीडति चन्द्रचूडवपुरित्यूचे मृडानीपतिः॥'**—बिना विषयके सुख तो कहीं देखा नहीं गया, फिर सुखोपलब्धिरहित जीवकी स्थितिको मुक्ति मानना पत्थरकी अवस्थाको चाहना है। भगवान् भवानीपतिने कहा है कि पार्वती-सी सुन्दरी प्रियाको आलिङ्गित किये हुए क्रीड़ा करना और आप शिव बने रहना ही मुक्ति है।

पार्वतीप्रतिरूपा दयिताकी खोजमें ही उसने देव, यक्ष, गन्धर्व, सुर, किन्नर राजकुमारियोंको अपने भुजबलसे जीतकर वरण किया था। उसकी प्रवृत्ति देखकर ही शूर्पणखा कहती है—**'तिन्ह के संग नारि एक स्यामा॥ रूपरासि बिधि नारि सँवारी। रति सत कोटि तासु बलिहारी॥'**

ऐसी राजसिक श्रद्धाके फलरूपमें उसे अलौकिक सिद्धियाँ भी प्राप्त थीं। यथा—**'कर जोरें सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥'** इत्यादि।

अतः कहा जा सकता है कि रावण निस्संदेह कौल थे, लङ्कामें कौलमतका साम्राज्य था। राम-रावण-युद्ध वस्तुतः दक्षिण और वाम पथकी लड़ाई थी।

नोट—**'जीवत सव सम चौदह प्रानी'**। भाव कि इनमेंसे एक भी दोष जिसमें हो वह जीते ही मृतकवत् है और तुझमें तो ये सभी दोष हैं—१ कौल, यथा—**'करसि पान सोवसि दिनराती'**—(शूर्पणखा-वाक्य)। पुनः, **'आवा निकट जती के बेषा'**। २—'कामवश' है इसीसे सीताहरण किया। ३—कृपण। सीताजीको देना नहीं चाहता, यह लोभ है। लोभसे अपकीर्ति होती है और अपकीर्ति मरणतुल्य है। पुनः, ब्रह्म रामको बिना जाने मरेगा अतः कृपण (दीन) है ही। [जिसकी वस्तु उसीको न देना कृपणता है। (पं०)। कृपणता यह है कि जीवोंको दया-दान नहीं करता। (शीला)] ४—'बिमूढ़' है, यह नहीं मानता कि श्रीरामजी मनुष्य नहीं वरन् परात्पर ब्रह्म हैं। रावण काम-क्रोध लोभ-मदमें रत है, मोहवश है इसीसे वह प्रभुको नहीं जानता। अतः उसे विमूढ़ कहा। यथा—**'काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुख रूप। ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप।** ७। ७३।' पुनः, भगवान्‌के अपार कारुण्यादि गुणोंके कारण मनुष्यत्व धारणरूप परम भावको न जानकर केवल मनुष्यत्व धारण मात्रसे साधारण मनुष्य जानकर श्रीरामजीका अपमान करनेसे मूढ़ कहा। यथा—**'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥** गीता ९। ११।' मन्दोदरीने भी कहा है—**'पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु। अग जग नाथ अतुल बल जानहु॥ कारुनीक दिनकर कुल केतू। दूत पठायउ तव हित हेतू॥ अंगद हनुमत अनुचर जाके।**··· **तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू॥** लं० ३५ (८)—३६ (५)। अतः विमूढ़ कहा। ५—'अति दरिद्र' ऐसा कि ऋषियोंसे भी रक्तरूपी कर लिया—(शीला)। ६—'अजसी'। अपकीर्ति प्रत्यक्ष है। ७—अति बूढ़ा—बहुत बुढ़ापेमें मतिमें भ्रम हो जाता है। रावणकी बुद्धिमें भ्रम है—(पं०)। यथा—**'मंदोदरि मन महुँ अस ठयऊ। पियहि काल बस मति भ्रम भयऊ॥** १६। ८', **'निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥** ३६। ९।', **'देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी। भ्रम तजि भजहु भगत भय हारी॥** सुं० २२।' रावणराजकी यह ७२ वीं चौकड़ी (चतुर्युगी) है, अतः अत्यन्त वृद्ध है। ८—'रोगवश'। कामक्रोधादि मानसरोगोंसे युक्त है।

रावण मोहका स्वरूप ही है—'मोह दसमौलि०'। और मोह समस्त व्याधियोंकी जड़ है, यथा—'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। ७। १२१। २९। ९।' ९—'संतत क्रोधी' प्रकट ही है। जो हितकी कहता है उसीको दुर्वचन कहता है। १०—विष्णुविमुखता शरीरपर चक्रके चिह्नोंसे प्रकट ही है। ११—श्रुति संत विरोधी, यथा—'तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना। १। १८३।' इत्यादि। १२—तनपोषक, यथा—'सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास। १०।' 'भवन चलेउ निरखत भुज बीसा। १०। ६।' १३—निन्दक, यथा—'जब तेहि कीन्हि राम कै निंदा'। १४—अघखानि, यथा—'आजन्म ते पर द्रोह रत पापौघमय तव तनु अयं। १०३।' (मन्दोदरीवाक्य)।

मा० म०—कामी और कौल एक हैं, श्रुति और संतविरोधी एक हैं; पर अघखानि सब हैं। श्रुति-विरोधी और संत-विरोधी ये दो मिलकर सब १४ हुए। अघखानि सबका विशेषण है।

सुनि सकोप कह निसिचरनाथा। अधर दसन दसि मीजत हाथा॥ ६॥
रे कपि * अधम मरन अब चहसी। छोटे बदन बात बड़ि कहसी॥ ७॥
कटु जल्पसि जड़ कपि बल जाकें। † बल प्रताप बुधि तेज न ताकें॥ ८॥

शब्दार्थ—जल्पना=व्यर्थ बकवाद करना, डींग मारना। दसना=काटना। दशन=दाँत।

अर्थ—(अङ्गदके वचन) सुनकर राक्षसराज क्रुद्ध होकर दाँतोंसे होठोंको काटकर हाथ मलता हुआ बोला॥ ६॥ अरे नीच वानर! अब तू मरना ही चाहता है?॥ ७॥ अरे जड़ वानर! तू जिसके बलपर कडुवे वचन बक रहा है, उसमें बल, प्रताप, बुद्धि और तेज (कुछ भी) नहीं हैं ‡॥ ८॥

नोट—सकोप कहकर फिर दूसरे चरणमें कोपका स्वरूप और प्रभाव दिखाया। हाथ मलना, दाँतोंसे होंठ काटना क्रोधसूचक है, यथा—'परम क्रोध मीजहिं सब हाथा। आयसु पै न देहिं रघुनाथा॥ (सुं०)' 'कटकटाहिं कोटिन्ह भट गर्जहिं। दसन ओठ काटहिं अति तर्जहिं॥ ४०। ६।' [कारण कि दूत अवध्य है। उसको मारना अनीति है और इसकी 'दुरुक्ति' सही नहीं जाती।—(पं०)] §

वीरकवि—यहाँ अङ्गदका कठोर संभाषण उद्दीपन विभाव है। रावणका ओंठ चबाना, हाथ मलना, आँखें तरेरना अनुभाव हैं। अमर्ष, आवेग, उग्रतादि संचारी भावोंद्वारा क्रोध स्थायीभाव पुष्ट होकर 'रौद्ररस' संज्ञाको प्राप्त हुआ है।

दोहा—अगुन अमान×जानि तेहि दीन्ह पिता बनबास।
सो दुख अरु जुबती बिरह पुनि निसिदिन मम त्रास॥ ३०॥

---

* कपिपोत—(का०), † 'बुधि बल तेजप्रताप न ताके'—(का०)।

‡ पु० रा० कु०—सरस्वतीकृत अर्थ—रे वानर! मुझ अधमका तू मरण चाहता है। तू छोटे मुख अर्थात् वानरमुखसे बड़ी बात (रामयश) कहता है। (पंजाबीजीने अगली चौपाई और दोहेका भी स्तुतिपक्षमें अर्थ किया है पर 'शत्रु' 'संत' शब्दोंका अध्याहार ऊपरसे किया है जिससे वे अर्थ बिल्कुल खींचतानके हो जाते हैं।)

वं० पा०—रावणने तो निन्दा की पर सरस्वती निन्दा न करेगी। अतः वास्तवार्थ सरस्वतीकृत यह है कि रे कपि! जिसके बलसे तू कड़वे वचन कहता है उसे मैं जानता हूँ कि वह जड़ है अर्थात् संसारवृक्षका मूल है, यथा—'अव्यक्त मूलमनादि तरु०' (वेद-स्तुति)। जिनके ताकने (कृपावलोकन) से भक्तोंमें तेजादिकी प्राप्ति होती है तब उनकी स्वयं क्या कही जाय।

§ वं० पा०—इसमें एक अंतरंग भाव भी है। वह यह कि अधर लोभका स्थान है, उसको काटता है, मानो दंड देता है कि यदि जानकीविषयक लोभ न होता तो यह सब दुर्दशा क्यों होती? और हाथका मलना पुरुषार्थरहित होना है। इन्द्र हाथके देवता हैं, हाथको मलता क्या है मानो इन्द्रको सहायक जानकर दण्ड देता है।

× विचारि—(का०)।

शब्दार्थ—अगुण=गुणरहित, मूर्ख, निर्गुण। अमान=अप्रतिष्ठित, आत्माभिमानरहित, मानरहित।—'अगुन अमान मातु पितु हीना। उदासीन सब संसय छीना॥ १। ६७। ८॥' देखिये॥

अर्थ—निर्गुण (गुणहीन), मानरहित (प्रतिष्ठाहीन) जानकर उसे पिताने वनवास दिया। एक तो उसको वह दुःख, उसपर स्त्री (के वियोग) का विरह और फिर रातदिन मेरा डर बना रहता है॥ ३० X॥

पु० रा० कु०—भक्ति वा स्तुतिपक्षमें रावणके इस वाणीका अर्थ यह है कि—वे मायिकगुणोंसे रहित हैं, अमान अर्थात् देशकाल वस्तु-प्रमाणरहित हैं—(वा० मानरहितसे ज्ञानमय जनाया, यथा—'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं'। पुनः साधुस्वभाव जनाया, यथा—'सबहिं मानप्रद आपु अमानी'।)। 'सो दुख' से जनाया कि भक्तके वशीभूत रहते हैं यथा—'भगति अवसहीं बस करी'। उनकी आज्ञा माननी पड़ती है। 'युवती विरह' अर्थात् परमभक्तके बिछोहसे दुःख होता है। 'मम त्रास' अर्थात् मुझे सद्गति देनेकी चिन्ता है, विराट्का रोग छुड़ाना है।

वं० पा०—अर्थात् तेरे स्वामीमें त्रिदोष हैं। एक तो घर छूटनेका दुःख, दूसरे स्त्रीका वियोगविरह और तीसरे 'मेरा त्रास'। यह तो प्रत्यक्ष निन्दा रावणने की। इसमें सरस्वतीकृत अर्थ यह है—'पिता दीन्ह बनबास' अर्थात् पर-पितामह ब्रह्माने प्रार्थनाकर अवतार लिवाकर विश्वभार उतारनेके लिये वनवास दिया—यह मैं जानता हूँ।'

नोट—'अगुन अमान…' इति। भाव यह कि राजाको आत्माभिमानी और गुणवान् होना चाहिये। इन दोनोंमेंसे एक भी गुण नहीं हैं इसीसे राज्यके उत्तराधिकारी होनेपर भी राज्यसे निकाल दिये गये। यदि बल और आत्म-गौरव होता तो लड़कर राज्य ले लेते कि हम तो उत्तराधिकारी हैं; दूसरे हमें सब मन्त्रियोंके सामने राज्य देनेकी बात हो चुकी तब अब नहीं कैसे करते हो। वनमें आनेपर दो दुःख और बढ़ गये, जिससे वे पूरे असमर्थ एवं जीते भी मृतकवत् हैं, तब हमसे क्या लड़ेंगे? यही आशय वाल्मी० यु० ३६ में रावणके वाक्यका है। यथा (रावणवाक्य माल्यवन्तं प्रति)—'मानुषं कृपणं राममेकं शाखामृगाश्रयम्। समर्थं मन्यसे केन त्यक्तं पित्रा वनाश्रयम्॥ ४॥ रक्षसामीश्वरं मां च देवानां च भयंकरम्। हीनं मां मन्यसे केन अहीनं सर्वविक्रमैः॥ ५॥' अर्थात् मनुष्य होनेके कारण राम दुर्बल हैं, एकमात्र वानर उनके सहायक हैं। यदि समर्थ होते तो बापदादोंका राज छोड़ वनमें क्यों आते और हमने तो देवताओंको भी जीता, तब हमें असमर्थ कैसे कहते हो? ☞ स्तुतिपक्षके भाव बा० ६७ (८) में देखिये।

☞ धनुषयज्ञके समय सखीने श्रीसुनयनाजीके संदेह-निवारणार्थ पाँच दृष्टान्तोंद्वारा श्रीरामजीका ऐश्वर्य दिखाया है। श्रीरामजीको प्रताप, तेज, बुद्धि, गुण और बलसे युक्त दिखाया है। रावण श्रीरामजीका उन पाँचोंसे रहित होना यहाँ कह रहा है। 'बल प्रताप बुधि तेज न ताकें' कहकर प्रताप, तेज, बुद्धि और बलसे रहित जनाया और 'अगुन अमान' से गुणरहित जनाया। भाव कि इन पाँचोंसे रहित पुरुष असमर्थ होता है। अतः तेरा स्वामी असमर्थ है।

दोहा—जिन्ह के बल कर गर्ब तोहि अइसे मनुज अनेक।
खाहिं निसाचर दिवस निसि मूढ़ समुझु तजि टेक॥*३०X॥

शब्दार्थ—टेक=हठ, अड़।—'सो गोसाँइ बिधि गति जेहिं छेंकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी॥ अ० २५५॥'

अर्थ—जिनके बलका तुझे गर्व है ऐसे अनेकों मनुष्योंको रातदिन राक्षस खाया करते हैं। अरे मूढ़! जिद छोड़कर समझ॥ * ३० X॥

वीरकवि—यहाँ रावणने पूज्य पुरुष श्रीरामचन्द्रजीकी अनुचित हँसी की है यह हास्यरसाभास है।

स्तुतिपक्षमें अर्थ—'खाहिं निसाचर०' अर्थात् दिनरात निशिचरोंका नाश करते हैं, यथा—'छीजहिं निसिचर दिन अरु राती'। (पु० रा० कु०)। 'मूढ़ समुझु तजि टेक' अर्थात् मुझे मूढ़ समझ कर संधिकी हठको छोड़ (पं०)

☞ प्राचीन प्रतिलिपियोंमें यहाँ (एकतीसवें) दोहेपर ३० का अंक वा शून्य मिलता है। और लङ्काकाण्डमें १२१ दोहे होनेपर भी संख्या १२० ही दी हुई मिलती है। प्रायः किसी टीकाकारने इस भेदपर ध्यान नहीं दिया है, इसीसे टीकाओंमें इसको लेखककी भूल समझकर टीकाकारोंने उसका अपनी बुद्धिके अनुसार शोधन कर दोहा-संख्याके स्थानपर ३१ छपाया है। मेरी दृष्टि इस ओर

श्रीराघोवल्लभाशरणजी (श्रीरामगंगाशरण, घोसलाघाट, काशी)ने आकर्षित की। यहाँ अंक न देनेमें मानस कविका गूढ़ आशय विचार इसको उनकी परमभक्तिका प्रमाण समझ बड़ी प्रसन्नता हुई। अपने इष्टदेव श्रीरामचन्द्रजीकी निन्दा इस दोहेमें जान इसकी उन्होंने ग्रन्थमें संख्या नहीं की। चौपाइयोंकी संख्या करनेवाले यदि इस बातपर ध्यान न देंगे तो मानसकी चौपाइयोंकी संख्या ठीक-ठीक करनेकी सम्भावना है। श्रावणकुञ्जकी बालकाण्डकी पोथीमें धनुर्भंगवाले दोहेपर एक दोहाको दो दोहा मान लिया गया। २६० के बाद २६१ चाहिये सो न होकर २६२ है और फिर इसीके अनुसार ३६१ दोहेपर बालकाण्ड समाप्त हुआ। वह लेखप्रमाद भी कहा जा सकता है अथवा हर्ष आनन्दोत्सवमें दोहेमें अङ्ककी वृद्धि।

वक्ताओंने जो आगे कहा है कि **'हरिहर निंदा सुनइ जो काना। होइ पाप गोघात समाना॥'** उसका उपाय उन्हींने यह बताया है कि **'काटिये तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूँदि नत चलिय पराई॥ १। ६४॥'** उपदेश देनेवाला स्वयं उसपर न चले तो उपदेश ही व्यर्थ है, इसीसे वक्ताओंने उस प्रसंगको ग्रन्थसंख्यासे निकालकर मानो निन्दककी जिह्वा ही निकाल ली।

पु० रा० कु० जीका मत है कि ग्रन्थकारने इस दोहेको गिनतीमें नहीं लिया, क्योंकि आधे दोहेमें मृतकका वर्णन है और आधेमें रामनिन्दा है।

जब तेहिं कीन्हि राम कै निंदा। क्रोधवंत अति भयउ कपिंदा॥ १॥
हरि हर निंदा सुनै जो काना। होइ पाप गो घात समाना॥ २॥

अर्थ—जब उसने श्रीरामजीकी निन्दा की तब कपिश्रेष्ठ अङ्गद अत्यन्त क्रोधित हुए॥ १॥ (क्योंकि) जो हरि वा हरकी निन्दा कानसे सुनता है उसे गोवधके समान पाप होता है॥ २॥

नोट—१ (क) **'जब तेहि कीन्हि राम कै निंदा'** इति। सुंदरकाण्ड १० (८-९) में बताया जा चुका है कि निन्दा और गालीमें क्या भेद है। किसीके परोक्षमें उसके ऊपर **'मिथ्यादोषारोपण'** का नाम निन्दा है। रावणने श्रीरामजीके परोक्षमें उनपर मिथ्या दोषारोपण किया कि **'बल प्रताप बुद्धि तेज न ताकें'**। इत्यादि। अतः इसे 'निन्दा' कहा।

वाल्मी० २। १२ में श्रीदशरथजी महाराजने कैकयीजीसे कहा है—**'बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम्। परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते॥ २७॥'** अर्थात् हजारों स्त्रियाँ हैं और अनेक नौकर हैं, पर रामचन्द्रके सम्बन्धमें कोई भी परिवाद या अपवाद नहीं सुना गया है।—टीकाकारने 'परिवाद' का अर्थ 'सकारण निन्दा' और 'अपवाद' का 'निष्कारण निन्दा' किया है। मानसके 'निन्दा' शब्दमें **'अपवाद'** निष्कारण अर्थात् झूठी निन्दाका भाव है। (ख) **'क्रोधवंत अति भयउ'** का भाव कि क्रोध तो पहले ही हुआ था, अब उसकी मात्रा अत्यन्त अधिक हो गयी। 'कपिंदा' 'कपीन्द्रका अपभ्रंश है। 'कपीन्द्र' अर्थात् जो वानरोंमें इन्द्रके समान ऐश्वर्यवान है—**इदि परमैश्वर्ये**। युवराज हो ही चुका है। यहाँ अपने बलका कुछ ऐश्वर्य दिखावेंगे अतएव 'इन्द्र' कहा। (बं० पा०)।

२ **'हरिहरनिंदा'** से दोनों दिशिकी निन्दा कही। (क) जब श्रीरामजीको नर कहा—**'नरकर करसि बखान॥ २५॥'** तब क्रोध हुआ, यथा—**'सुनि अंगद सकोप कह बानी'** और जब नर कहा और निन्दा भी की तब 'अति क्रोध हुआ। (ख) **'होइ पाप गो घात…'** इति। यहाँ कहा कि सुननेसे गोहत्याका पाप होता है। इसका प्रायश्चित्त बालकाण्डमें कहा है, यथा—**'संत संभु श्रीपति अपबादा। सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा॥ काटिय तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूँदि न त चलिय पराई॥** बा० ६३॥' अर्थात् यदि सामर्थ्य न हो तो सुनते ही चल दे, सुननेको खड़ा न रहे और यदि सामर्थ्य हो तो जीभ निकाल ले या काट ले। दोनोंमेंसे कोई भी काम करनेसे पातक न लगेगा। यथा—**'कर्णौ पिधाय निरियाद्यदकल्प ईशे धर्मावितर्यसृणिभिर्नृभिरस्यमाने। छिन्द्यात् प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चेज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत् स धर्मः॥** भा० ४। ४। १७॥' अर्थात् धर्मकी मर्यादाको न माननेवाले पुरुष धर्मरक्षक ईश्वरकी यदि निन्दा करते हों तो यदि सामर्थ्य हो तो उसकी अमङ्गलमयी जिह्वाको काट ले, या अपने प्राणोंको त्याग दे, नहीं तो कान मूँदकर वहाँसे चल दे। पुनश्च यथा **'निन्दाम्भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा। ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः॥** भा० १०। ७४। ४०॥' अर्थात् भगवान् या भगवद्भक्तकी निन्दा सुनकर जो पुरुष उस स्थानसे दूर नहीं

होता वह पुण्यसे भ्रष्ट हो नरकको जाता है तथा 'निन्दां कुर्वन्ति ये विष्णोर्हरस्यतत्परस्य च । तेषां मुखं न द्रष्टव्यं संगतिस्तु कुतस्तराम् ॥' (सत्योपाख्याने) अर्थात् जो विष्णु या शिवजीकी या जिनका उनमें अनुराग है उनकी निन्दा करते हैं उनका मुख न देखना चाहिये, सङ्गति करनेकी बात ही कहाँ। (पु० रा० कु०)। २—यहाँ दो असमवाक्योंकी समता 'प्रथम निदर्शना' है।

कटकटान कपि कुंजर भारी। दुहुँ भुज दंड तमकि महि मारी॥ ३॥
डोलत धरनि सभासद खसे। चले भाजि भय मारुति ग्रसे॥ ४॥

शब्दार्थ—तमकि=क्रोध वा तावमें आकर। खसना (खसकना)=अपने स्थानसे हटना, गिरना। यथा 'खसी माल मूरति मुसुकानी'। ग्रसना=बुरी तरह पकड़ना जिसमें छूट न जाय। कुंजर=श्रेष्ठ, यथा—'सिंहर्षभगजव्याघ्राः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः' इत्यमरः।

अर्थ—कपिश्रेष्ठ बहुत जोरसे कटकटाया (दाँत पीसे जिससे कटकट शब्द हुआ) और क्रोधमें आकर अपने दोनों भुजदण्ड पृथ्वीपर दे मारे (पटके)॥ ३॥ पृथ्वीके हिलते ही सभासद् गिरे और भयरूपी पवनसे ग्रस्त हो भाग चले॥४॥

वं० पा०—कटकटाना वानरोंके क्रोधका स्वभाव है। ऊपर कह आये कि हरिहरनिन्दा सुने तो जिह्वा काट ले या कान बंद करके चल दे—यही उपाय है; पर अङ्गद दूत बनकर आये हैं, भाग तो सकते नहीं; इससे इन्होंने दण्ड देनेका निश्चय किया—(क्योंकि ये समर्थ हैं, कपीन्द्र हैं)। अङ्गद बड़े नीतिज्ञ हैं। उन्होंने विचारा कि यदि हम सिरसे मुकुट उतारें तो युद्ध अवश्य होगा इसलिये कुछ कर्म ऐसा करना चाहिये जिससे हमारा मनोरथ (मुकुट-हरण) सिद्ध हो। संग्रामका सावकाश भी नहीं है। अतः हाथ पटककर पृथ्वीको हिला दिया जिससे मुकुट गिर पड़े, और रावण बेइज्जत (प्रतिष्ठारहित) हो गया। यही दण्ड दिया। पुनः पृथ्वीका ताड़न इससे किया कि ऐसे निन्दकको अपने ऊपर क्यों रखे हैं, फट क्यों न गयी कि यह उसमें समा जाता। खलके सङ्गसे तू भी दण्डके योग्य है। समस्त उपद्रवका कारण तू ही है, न ब्रह्माके पास जाती न यह बखेड़ा उठता। मुकुट उतारना निन्दकका मानो सिर काटना है।

मा० म०—पृथ्वीपर हाथ यह सोचकर पटका कि रावणपर ही हाथ चलाऊँगा तो वही मेरा बल जानेगा, सब सभासद् न जान सकेंगे।

गौड़जी—सरकारकी निन्दा सुनकर अङ्गद क्रोधसे बेअख्तियार (आपेसे बाहर) हो गये और उनके हाथों रावण अवध्य था इस कारण कुछ कर न सकते थे। दाँत कटकटाकर हाथ दे मारना लाचारी प्रकट करना है। इसके आगे जो कुछ हुआ वह तात्कालिक परिणाम था, अङ्गदजीके सोच-विचार कर ऐसी क्रिया करनेका फल न था।

वि० त्रि०—श्रीरामजीपर आक्षेप करते हुए देखकर अङ्गदजीने रावणको यह कहकर सावधान किया कि 'अब जनि बत-बढ़ाव खल करही।'''अब जनि रिसि उपजावसि मोही॥' परंतु रावणने अङ्गदजीको और चिढ़ानेके लिये सीधे-सीधे प्रभुकी निन्दा आरम्भ कर दी। दूत होनेके कारण अङ्गदजी रावणपर आघात नहीं कर सकते थे, और वीर होनेके कारण कान बंद करके भाग भी नहीं सकते थे, अतः अत्यन्त क्रोध आनेपर जैसे लोग पृथ्वीपर हाथ पटकते हैं, उसी भाँति उन्होंने दोनों हाथ पृथ्वीपर पटके। एकदम स्वाभाविकी क्रिया है, पर रामकृपासे अङ्गदजीमें बल इतना है कि उस आघातको पृथ्वी न सह सकी, डोल गयी, और ऐसी डोली कि रावण भी लड़खड़ा गये। इस भाँति अङ्गदजीने दिखला दिया कि (महोर्दण्डकठोरताडनविधौ को वा त्रिकूटाचलः को मेरुः क्व च रावणस्य गणना कोटिस्तु कीटायते) मेरे भुजदण्डके आघातको तू सह नहीं सकेगा, प्रभुके बलकी निन्दा क्या करता है?

नोट—हनुमन्नाटकमें भी भुजदण्डसे पृथ्वीका ताड़न कहा है, यथा—'तत्क्षणाविष्कृतक्रोधः कम्पमानः पाणितलेन भूतलं ताडयित्वा दोःस्तम्भास्फालकेलिं नाटयति॥ ८। २०।' (अर्थात् उस समय किये हुए क्रोधसे कम्पित होते हुए श्रीअङ्गदजी अपने करतलसे पृथ्वीका ताड़न करके भुजदण्डोंके ताड़नके खेलका नाट्य करते हैं।

इसके आगेकी कथा उसमें नहीं है। वाल्मी० ४० में सुवेलपर्वतपरसे सुग्रीवका सहसा छलाँग मारकर रावण जहाँ खड़ा था, वहीं पहुँचना और उसके मुकुटोंको सिरसे उतार फेंकनेकी चर्चा है। यथा—'लोकनाथस्य रामस्य सखा

दासोऽस्मि राक्षस। न मया मोक्ष्यसेऽद्य त्वं पार्थिवेन्द्रस्य तेजसा ॥ १० ॥ इत्युक्त्वा सहसोत्पत्य पुप्लुवे तस्य चोपरि। आकृष्य मुकुटं चित्रं पातयामास तद्भुवि ॥ ११ ॥'

फिर दोनोंमें घोर युद्ध हुआ है। पर मुकुटोंका श्रीरामचन्द्रजीके समीप चलाना वहाँ भी नहीं है। मनुशतरूपा-वाले रामावतार और प्रतापीवाले रावणावतारकी कथा जहाँ होगी वहाँ यह कथा मिलेगी। कल्प-कल्पकी कथाओंमें कहीं-कहीं कुछ-कुछ भेद होता रहता है।

रा० चं० १६। ३३ में अङ्गदका चलते समय मुकुट उतारने और उड़कर रामजीके पास भाग आनेकी कथा है। यथा—'अंगद रावणको मुकुट लै करि उड़ो सुजान। मनो चल्यो यमलोक को दससिर को प्रस्थान ॥ अंगद लै वा मुकुट को परे राम के पाई।'

*** गिरत सँभारि उठा दसकंधर। भूतल परे मुकुट अति सुंदर ॥ ५ ॥**
कछु तेहिं लै† निज सिरन्हि सँवारे। कछु अंगद प्रभु पास पबारे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—पबारना=फेंकना, चलाना।

अर्थ—दशकंधर रावण गिरते-गिरते सँभलकर उठा। उसके अत्यन्त सुन्दर मुकुट पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५ ॥ कुछ तो उसने लेकर अपने सिरोंपर सजाये और कुछ अङ्गदने (उठाकर) प्रभुके पास चलते कर दिये ॥ ६ ॥

नोट—१ 'कछु अंगद प्रभु पास पबारे'। कछु=चार, यथा—'कुलिस चारि आवत अति धाए' ॥ चौ० ८ ॥' रावणने २० हाथ होते हुए भी केवल छः ही उठा पाये और अङ्गदने दोही हाथोंसे ४ मुकुट उठा लिये। यह भी अङ्गद-की जीत हुई। पुनः, यहाँ 'कछु तेहि लै' लिखते हैं। लेनेसे यह अर्थ भी निकलता है कि सभासदों वा सेवकोंने उठाकर उसे दिये और उसने उन्हें लेकर सिरोंपर भूषित किया। इस तरह सभासदोंपर भी अङ्गदकी जीत हुई। इतनोंने छः ही पाये और अकेले अङ्गदने चार उठा लिये। रावण और सभासदोंने तो पहले अपनेको सँभाला तब मुकुट उठाये, इसलिये ६ ही हाथ लगे। इसके पूर्व ही अङ्गदने चार उठा लिये। सभासद् भगे थे, पर फिर रुक गये। अथवा, इससे रावण और सभासदोंकी घबड़ाहट दिखायी। मा० म० का मत है कि रावणने शीघ्रतासे मुकुट उठाये जिसमें इस भेदको कोई दूसरा न जाने, पर छः ही उठा पाया।

२—मुकुट उठाकर श्रीरामजीके पास इससे फेंके कि—(क) प्रभु मेरे इस कार्यपर प्रसन्न होंगे। हनुमान्‌जीने लङ्का जलायी और अङ्गदने रावणके मुकुट उतार लिये यह समझकर सुग्रीवादि भी प्रसन्न होंगे। फेंकनेमें रावणका अपमान अधिक होगा। और अपने पास रखनेमें अवश्य रार बढ़ेगा, युद्ध करना पड़ेगा (पं०)। समीप रहनेपर रावण इन्हें भी उठाकर सिरपर रख लेगा। अथवा, विभीषणके लिये इन्हें श्रीरामजीके पास भेज दिये। अथवा वानर-भालुओंके विनोदार्थ और अपना जय सूचित करनेके लिये भेजे। (मा० म०)

बाबा हरिदासजी प्रश्न उठाकर कि 'विभीषणके एक सिर है तब चार मुकुट क्यों भेजे?' उसका स्वयं उत्तर देते हैं कि रावण जिन वस्तुओंसे हीन है, विभीषण उनके सहित है। रावण धर्महीन, प्रभुपद-विमुख और कालविवश है—(३७)। विभीषण धर्मात्मा, रामभक्त और काल जीतनेवाले योगियोंमें शिरोमणि हैं; क्योंकि इन्हें प्रभुने वर दिया कि 'करहु कल्प भर राज तुम्ह०' पुनः, रावण भूभार है और विभीषण उस भारके उतारनेमें सहायक हैं; यथा—'राम बिभीषण तन सब हेरा।' ये चारों बातें मानो चार सिर हैं।

आवत मुकुट देखि कपि भागे। दिन ही लूक परन बिधि लागे ॥ ७ ॥
की रावन करि कोप चलाए। कुलिस चारि आवत अति धाए ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—लूक=टूटा हुआ तारा, उल्का। यथा—'सुमिरि राम तकि तरकि पयोनिधि लंक लूक सो आयो।' कुलिस=वज्र गाज, बिजली।—'बिपुल बिहँग बन परयो निसि मानहु कुलिस कठोर'—(अ०)।

---

* गिरत दसानन उठेउ सँभारी। भूतल परे मुकुट षट चारी ॥ कछु बहुकर निज करन्हि सँवारे—(का०)। † बहुकर (मा० म०)।

अर्थ—मुकुटोंको आते देख बंदर भागे। (वे सोचते हैं कि) हा विधाता! क्या दिनमें ही तारे टूटकर गिरने (उल्कापात होने) लगे॥ ७॥ या कि रावणने क्रोध करके चार वज्र चलाये हैं जो बहुत वेगसे दौड़े हुए आ रहे हैं॥८॥

नोट—१ (क) लूक और कुलिश कहकर जनाया कि वे बहुत चमक रहे थे, जैसे तारा और वज्र चमकते हैं और यह भी कि वे बहुत वेगसे चले आ रहे थे जैसे बिजलीका वेग है। तारा भी टूटनेपर बड़े वेगसे चलता देख पड़ता है। (ख) प्रथम सोचे कि उल्कापात होगा, फिर यह समझकर कि दिनमें 'उल्कापात कहाँ' यह अनुमान किया कि रावणने वज्र चलाया होगा। इसी प्रकार सोचते जाते थे कि प्रभुने भयभीत देख उन्हें शान्त किया।

वीर—मुकुटोंको लूक समझना 'भ्रान्ति' है और यह निश्चय नहीं कि लूक है या कुलिश यह 'संदेहालंकार' है।

कह प्रभु हँसि जनि हृदय डेराहू। लूक न असनि केतु नहि राहू॥ ९॥
ए किरीट दसकंधर केरे। आवत बालि तनय के प्रेरे॥१०॥

शब्दार्थ—प्रेरे=प्रचालित, चलाये वा फेंके हुए, प्रेरित, भेजे हुए। असनि (अशनि)=वज्र, कुलिश, यथा—'कुलिस चारि आवत अति धाए'।

अर्थ—प्रभु श्रीरामचन्द्रजी हँसकर बोले कि मनमें डरो मत। ये न लूक हैं न केतु हैं न राहु॥ ९॥ ये दशग्रीव रावणके मुकुट हैं जो बालिपुत्र अङ्गदके भेजे हुए आ रहे हैं॥ १०॥

नोट—१ 'कह प्रभु हँसि' यहाँ हँसना वानरभालुओंके निर्भयार्थ, वानरोंके भागनेपर विनोदार्थ और अङ्गदकी वीरतापर प्रसन्नता-सूचनार्थ है। पंजाबीजीका मत है कि अङ्गदका प्रभाव और मुकुटोंकी सुन्दरता देखकर अथवा रावणकी हीनतापर हँसे।

२—वानरोंने तो 'लूक और कुलिश' दो ही का नाम लिया, प्रभुने चार कैसे कहे? यह प्रश्न करके वं० पा० जी उत्तर देते हैं कि चार मुकुट हैं इसीसे प्रभुने चार नाम कहे। बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि प्रभुने कहा है कि 'हृदय' में न डरो। हृदय मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारका नाम है। प्रत्येकमें दो-दोका वास है—मनमें उपकार और अपकार, बुद्धिमें विद्या और अविद्या, चित्तमें सुख और दुःख तथा अहंकारमें पुरुषत्व और अपुरुषत्वका। लूक मनका बाधक है, दाह उत्पन्न करनेवाला है, बुद्धिका बाधक वज्र, चित्तका केतु और अहंकारका राहु है। इनसे न डरो जिसमें सावधान रहकर हमारे उपकारमें लगो, भागकर पुरुषत्व न खोओ।'''इत्यादि।

मेरी समझमें तो वानरोंके हृदयमें इन चारोंका भ्रम एक-एक करके होता गया। वे दो कह पाये थे कि प्रभुने उनको निर्भय करना चाहा। इतनी ही देरमें उनके हृदयमें केतु और राहुका अनुमान भी उठा था। प्रभुने उनके हृदयका वह भ्रम भी अपनी सर्वज्ञतासे दूर किया। यहाँ 'भ्रान्त्यापह्नुति' अलंकार है।

दोहा—तरकि पवनसुत कर गहेउ*आनि धरे प्रभु पास।
कौतुक देखहिं भालु कपि दिनकर सरिस प्रकास॥ ३१॥

अर्थ—पवनपुत्र श्रीहनुमान्‌जीने उछलकर उन्हें हाथसे पकड़ लिये और प्रभुके पास लाकर रख दिये। उनकी चमक सूर्यके प्रकाशके समान थी। रीछ और वानर तमाशा देखने लगे॥ ३१॥

मा० म०, पं०—श्रीहनुमान्‌जीने कूदकर पकड़ लिया कि—१ बलपूर्वक अङ्गदने फेंका है कहीं ये आगे (समुद्रपार) न चले जायँ। २—किसीको चोट न लग जाय। ३—भूमिमें गिरकर मुकुटोंका कोई अवयव टूट न जाय। ४—ये हमारे मित्रने प्रभुके पास भेंट भेजी है, मेरा कर्त्तव्य है कि मैं अपने हाथोंसे ले जाकर इस भेंटको प्रभुके समीप रख दूँ।

दोहा—उहाँ सकोप दसानन सब सन कहत रिसाइ।
धरहु कपिहि धरि मारहु सुनि अंगद मुसुकाइ॥ ३१॥

* 'कूदि गहे कर पवनसुत'—(का०)। कूदि पवनसुत कर गहे—(मा० म०)

अर्थ—वहाँ (रावणकी सभामें) रावण कुपित हो सबसे क्रोधित होकर कहने लगा कि वानरको पकड़ लो और पकड़कर मार डालो। यह सुनकर अङ्गद मुस्कुराने लगे ॥ ३१ ॥

☞ रा० प० में इस दोहेके स्थानपर यह पाठ है—

उहाँ कहत दसकंध रिसाई। धरि मारहु कपि भजि जनि जाई ॥ १ ॥

एक ही समयमें दोनों चरित्र हुए। अङ्गदके मुकुटोंके फेंकनेपर वे रामदलमें आये और पवनसुतने लेकर प्रभुके पास रख दिये, सब वानर देख रहे हैं—यह चरित इधर हुआ। ठीक उसी समय उधर लङ्कामें रावण सँभलकर उठ बैठा और ये वचन कहे। वक्ता एक हैं; इसलिये बीचमें सुवेलपर्वतका समाचार कहकर अब फिर पूर्व प्रसंग मिला रहे हैं। इस समय कविकी स्थिति सुवेलपर है जहाँकी कथा वे कह रहे थे; वहाँसे लङ्का दूर है अतः 'उहाँ' पद दिया। २—हँसे रावणकी निर्लज्जता और धृष्टतापर कि इतनेपर भी वह मुझे निर्बल ही समझता है; मेरे हाथके थपेड़ेको साधारण बात समझता है।

एहि * बिधि बेगि सुभट सब धावहु। खाहु भालु कपि जहँ † जहँ पावहु ॥१॥
‡ मर्कट हीन करहु महि जाई। जिअत धरहु तापस द्वौ भाई ॥२॥

अर्थ—इसी प्रकार सब योधाओ! शीघ्र धावा करो (दौड़कर जाओ) और जहाँ कहीं रीछ-बंदरोंको पाओ खा लो ॥१॥ जाकर पृथ्वीको वानर-रहित कर दो और तपस्वी दोनों भाइयोंको जीता ही पकड़ लो§ अर्थात् वे भागने न पावें, पकड़कर उनको मार न डालना वरन् लेकर कारागृहमें रखना ॥ २ ॥

वि० त्रि०—'एहि बिधि'—रावण सँभालकर उठे, छः मुकुट सिरपर सँवारे, और क्रोधसे भरे कह रहे हैं, 'पकड़ो बंदरको और मार डालो'; पर देखते हैं कि सब-के-सब तो भागे जा रहे हैं, और उनकी आज्ञापर अङ्गदजी मुसकुरा रहे हैं कि ये किसको हुकुम देते हैं, जिन्हें हुकुम देना है, वे तो स्वयम् भागे जा रहे हैं। रावण बैठकबाजीमें बड़े सिद्धहस्त हैं, तुरंत बात सँभालते हुए कहते हैं कि 'हाँ हाँ, बस इसी तरहसे तुम लोग दौड़ते चले जाओ और जहाँ पाओ बंदरोंको खा जाओ, और दोनों भाई तपस्वियोंको जीते ही पकड़ लाओ (मानो वे सब भाग नहीं रहे हैं, वानरी सेनापर धावा करने जा रहे हैं)।

नोट—१ वानरोंको मार डालनेको कहा, क्योंकि दो वानर आये, दोनोंने अपमान किया। दोनों तपस्वी भाइयोंको बाँध रखनेको कहा क्योंकि ये दोनों अनुपम हैं, नरभूषण हैं, यथा—'बध लायक नहिं पुरुष अनूपा'—आ० १८ (३–५) देखिये। पुनः, भाव कि बाँधकर कष्ट देकर प्राण लेंगे, इसलिये मारना नहीं।

पुनि सकोप बोलेउ जुबराजा। गाल बजावत तोहिं न लाजा ॥ ३ ॥
मरु गर काटि निलज कुलघाती। बल बिलोकि बिहरति×नहिं छाती ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—गाल बजाना=डींग मारना, अनर्गल बकना। गर=गला, गर्दन। बिहरना=फटना—'तासु दूत होइ हम कुल बोरा। ऐसिहु मति उर बिहरु न तोरा' ॥

अर्थ—युवराज अङ्गद फिर कोप करके बोले—अरे! तुझे गाल बजाते लज्जा नहीं आती ॥३॥ अरे निर्लज्ज (बेशरम)! अरे कुलको नाश करनेवाले! (अपने हाथों अपना) गला काटकर मर जा। मेरा बल देखकर भी तेरी छाती नहीं फटती ॥४॥

---

* एहि बिधि। † जहँ-तहँ। ‡ महि अकीस करि फेरि दोहाई। (का०)। 'बधि'—भा० दा०।

§ पु० रा० कु०—सरस्वतीकृत अर्थ—'एहि बिधि' अर्थात् अति शीघ्र दौड़ जाओ; क्योंकि देह नश्वर है, यथा—"यावत्स्वस्थमिदं देहं यावन्मृत्युश्च दूरतः। तावदात्महितं कुर्यात् प्राणान्ते किं करिष्यति ॥' 'खाहु' अर्थात् नाना भोग करो। महि जाई (महिसे उत्पन्न धरणिसुता सीताजी) और तपस्वी दोनों भाइयोंको अपने जीतेजी पकड़ो अर्थात् उनकी शरण जाओ। इन सबके स्मरणसे पातक नाश होते हैं, यथा—'श्रीरामं च हनूमन्तं सुग्रीवं च विभीषणम्। अङ्गदं जाम्ववन्तं च स्मृत्वा पापैः प्रमुच्यते ॥' इति रुद्रयामले।

× बिहरी—(का०) = फटी।

नोट—१ ''बल बिचारि'' इति। भाव कि चार मुकुट तेरे हाथों छीन लिये, तेरी कुछ न चली, मेरे एक थपेड़ेसे पृथ्वी ऐसी कँप गयी कि सुभटोंसहित तू भी गिर पड़ा और तेरे मुकुट भी, इस बलको देखकर भी लज्जा न हुई कि हाय करके मर जाता कि एक वानरने यह दुर्गति कर डाली। 'कुलघाती' सम्बोधनका भाव कि तेरे कारण तेरे कुलभरका नाश होनेको है। यथा—'होहि कि रामसरानल खल कुल सहित पतंग।—(सुं० ५६), एवं 'बातन्ह मनहिं रिझाइ सठ जनि घालसि कुल खीस'। अर्थात् निर्लज्जतासे मनको बातोंसे रिझा रहा है पर इन बातोंसे पूरा न पड़ेगा, यदि तू लज्जित होकर आत्मघात न कर लेगा तो सारे कुलसहित तेरा नाश होगा। पु० रा० कु०—'खरदूषणादिवध' से कुलघाती कहा।

रे त्रियचोर कुमारगगामी। खल मलरासि मंदमति कामी॥ ५॥
सन्यपात जल्पसि दुर्बादा। भयेसि कालबस खल* मनुजादा॥ ६॥

शब्दार्थ—'सन्निपात'—त्रिदोष—वात, पित्त, कफ तीनोंका एक साथ बिगड़ना। सरसाम।

अर्थ—अरे स्त्री-चोर! अरे कुमार्गपर चलनेवाले! अरे मूर्ख एवं दुष्ट, पापकी राशि, मन्दबुद्धि और कामी! तू सन्निपातमें दुर्वचन बक रहा है? अरे दुष्ट राक्षस! तू कालके वश हो गया है॥ ५-६॥

नोट—पर-स्त्रीको चुरा लाया इसीसे कुमारगगामी कहा, यथा—'सो दससीस स्वानकी नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥ इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा॥ आ० २८॥' मलरासि, यथा—'पापौघमय तव तनु अयं' इति मन्दोदरीवाक्य। 'मनुजाद' कहा क्योंकि उसने पूर्व कहा है कि 'ऐसे मनुज अनेक खाहिं निसाचर दिवस निसि' राक्षस मनुष्योंको खाते हैं, यथा—'खल मनुजाद द्विजामिषभोगी। पावहिं गति जो जाचत जोगी॥४४।४॥' समझानेपर भी नहीं समझता, अपने हाथों अपना कुलनाशक होता है; अतः खल और मन्दमति कहा, यथा—'सुनु खल मैं तोहि बहुत बुझायो। एतो मान तोहिं जो मोहबस जानतहू बिष खायो॥ गी० लं० ४॥' हरिनिन्दासे भी मन्दमति कहा, यथा—'पिता मंदमति निंदत तेही'। इत्यादि।

पं० वि० पा०—'सन्निपात०'। भाव कि जैसे सन्निपात होनेपर मनुष्यका मरणकाल निकट जान पड़ता है और वह मर जाता है वैसे ही तेरी मृत्यु आ गयी, अब तू न बचेगा। (मिलान कीजिये—'बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहि बोलहिं बचन सँभारे॥ १। ११५।'

पु० रा० कु०—'सन्यपात जल्पसि०' इससे दशवीं अर्थात् 'प्रलापक सन्निपात' दशा सूचित की यथा—'सन्निपातस्त्रयोदश'। और 'भएसि कालबस' से असाध्य जनाया, यथा—'रक्तष्ठीवी भुग्ननेत्रः शीतगात्रः प्रलापकः। अभिन्यासोऽन्तकश्चैव षडसाध्याः प्रकीर्तिताः' इति माधवनिदाने।

प० प० प्र०—कफ, वात और पित्त—इन तीनों दोषोंके कुपित होनेपर जो रोग होता है उसे सन्निपात या त्रिदोषजनित कहते हैं। पर यहाँ 'जल्पसि' शब्दसे सन्निपात ज्वर ही विवक्षित है। रावणमें 'काम बात कफ लोभ अपारा' और 'क्रोध पित्त नित छाती जारा' हैं। और 'प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई।' अतः उसको सन्निपात होना कहा। 'चोर' शब्दसे लोभी एवं लोभ, 'कामी' से काम और 'सकोपा' से क्रोध प्रतीत होता ही है। अतः अङ्गदजीका वचन यथार्थ ही है। सन्निपातज कोई भी रोग हो वह दुःसाध्य या असाध्य होता है और रोगी तथा उसके परिवारको भी बहुत दुःखदायक होता है। यथा—'उपजै सन्निपात दुखदाई।'

या को फल पावहिगो आगे। बानर भालु चपेटन्हि लागे॥ ७॥
राम मनुज बोलत असि बानी। गिरहिं न तव रसना अभिमानी॥ ८॥
गिरिहहिं रसना संसय नाहीं। सिरन्हि समेत समरमहि माहीं॥ ९॥

अर्थ—इसका फल आगे (भविष्यमें) पाओगे जब वानर-भालुओंके चपेटे (तमाचे; या पैरकी ठोकरें) लगेंगे॥ ७॥ राम मनुष्य हैं ऐसे वचन बोलते ही, अरे अभिमानी! तेरी जिह्वाएँ गिर नहीं पड़तीं॥ ८॥ तेरी जिह्वाएँ सिरोंसमेत रणभूमिमें गिरेंगी इसमें संदेह नहीं है॥ ९॥

* निसि—(का०) खल—(भा० दा०)।

पं०—'गिरहिं न तव रसना।' यह सुनकर सम्भव है कि रावण कहे कि वे ईश्वर होते, मनुष्य न होते, तो गिर पड़तीं, न गिरीं अतः निश्चय ही हमारा सिद्धान्त सत्य निकला; इसीपर अङ्गद प्रथम ही कहते हैं कि वे अकेले न गिरेंगी, सिरोंसहित गिरेंगी, इसीसे विलम्ब हुआ। अभी गिरनेसे कम कष्ट होता, देरमें पापका फल मिले तो जानो कि अधिक कष्ट होनेको है।

मिलान कीजिये—'नो चेद्वानरवाहिनीपतिमहाचञ्चचपेटोत्तरैस्तत्तन्मुष्टिभिरङ्ग संगरगतस्तत्तत्फलं लप्स्यसे॥ हनु० ८। ४९।' अर्थात् नहीं तो वानरसेनापतियोंके महापुष्ट चपेटोंसे जो तुझपर संग्राममें पड़ेंगे तू इसका फल भोगेगा। पुनः यथा—'पावहुगे निज कर्म जनित फल भले ठौर हठि बैर बढ़ायो। बानर भालु चपेट लपेटनि मारत तब ह्वै है पछितायो॥ गी० ६। ४।'

सोरठा—सो नर क्यों दसकंध बालि बध्यो जेहिं एक सर।
बीसहु लोचन अंध धिग तव जन्म कुजाति जड़॥ ३२॥

अर्थ—क्यों रे दशकंधर! क्या वह मनुष्य है जिसने एक ही बाणसे बालीको मार डाला? * अरे कुजाति! अरे जड़! तू बीसों आँखोंका अंधा है, तेरे जन्मको धिक्कार है॥ ३२॥

नोट—१'बालि बध्यो जेहिं एक सर' से जनाया कि किसी मनुष्यके एक ही बाणसे उसकी मृत्यु असम्भव थी इसीसे सबने यही कहा है, यथा—'जगत बिदित अति बीर बालि बल जानत हौ किधौं अब बिसरायो। बिनु प्रयास सोउ हत्यो एक सर सरनागत पर प्रेम दिखायो॥ गी० लं० ४।' 'एकहि बान बालि मारेउ जेहि जो बल उदधि अगाध' (मन्दोदरीवाक्य गी० लं० १), 'बालि एक सर मार्‍यो तेहिं जानहु दसकंध'। ३५।'

२ 'बीसहु लोचन अंध' अर्थात् एक भी आँख जिसके होती वह समझ जाता कि बालीको एक बाणसे मारनेवाला मनुष्य नहीं हो सकता। तेरी सभी हियेकी आँखें फूटी हैं, इसीसे रामरूप नहीं देख पड़ता। यथा—'अग्य अकोबिद अंध अभागी।'''मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥ १। ११५।' ऐसा ही समयादर्शरामायणमें मन्दोदरीने कहा है, यथा—'साऽयं सेतुविधिं विधाय जलधौ प्राप्तस्त्रिकूटाचलं पश्यन् विंशतिलोचनैरपि भवानन्धः कथं वल्लभ॥ ६७॥

३ 'कुजाति'। यह पुलस्त्यका नाती है, उत्तमकुलका है, तब 'कुजाति' कैसे? कुजाती=जिसका बुरी तरहपर जन्म हुआ हो। रावणकी माता पुष्पोत्कटा संध्या-समय विश्रवा ऋषिके पास कामान्ध होकर गयी थी और उसी समय रतिके लिये उसने हठ किया। यद्यपि ऋषिने उसे बहुत समझाया कि यह प्रदोषकाल है, इसके लिये अत्यन्त अयोग्य समय है; पर उसने न माना। इसीसे राक्षस उत्पन्न हुआ। मातृपक्ष और निशिचरोंके आचरणके सम्बन्धमें 'कुजाति' कहा।

सोरठा—तव सोनित की प्यास तृषित रामसायक निकर।
तजौं तोहि तेहि त्रास कटुजल्पक निसिचर अधम॥ ३२॥

शब्दार्थ—सोनित (शोणित)=रक्त, रुधिर, खून। तृषित=प्यासे।

अर्थ—रे कटुजल्पक! रे अधम निशिचर! तेरे खूनकी प्याससे श्रीरामचन्द्रजीके बाण-समूह प्यासे हैं, इसी डरसे तुझ पापी और कड़वे वचन बकनेवाले निशिचरको मैं छोड़ देता हूँ, (कि उनकी प्यास न बुझेगी तो स्वामी अप्रसन्न होंगे)॥ ३२॥

वं० पा, पं०—'तजौं तोहि तेहि त्रास'। भाव कि रामबाण तेरे रक्तके प्यासे हैं; तेरा रुधिर यदि मेरे अपराधसे उन्हें न मिला तो कहीं वे मेरा ही रुधिर न पी लें, यह डर है। यदि वह कहे कि तुझमें बल नहीं है, तू इस युक्तिसे बचना चाहता है, तो उसपर आगे कहते हैं कि मैं 'तव दसन०'।—(यहाँ भी काव्यलिंग अलंकार है)।

* राम नर नहीं हैं इसका समर्थन इस तरह करना 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है। आँखोंका धर्म देखना है, उसके रहते अंधापन होना अर्थात् कारणसे विपरीत कार्य होना 'चतुर्थ विभावना' अलंकार है।—(वीर)।

पु० रा० कु०—भाव कि बालिसे तो एक सुग्रीव ही पीड़ित थे और तुझसे तो त्रिलोकी पीड़ित है। अतः बालीके रक्तसे एक बाण तृप्त हुआ और तेरे रक्तके प्यासे बहुत-से बाण हैं।

☞ मिलान कीजिये—'**बाणोऽयं मम ताटकात्मशिरसि स्नातः स्वसुर्नासिकाप्राणायामपरः खरत्रिशिरसां हुत्वा दशास्याहुतिम्। मारीचं च बलिं विधाय तदनु त्वाचम्य वारान्निधिं भोक्तुं रावणमामिषं मृगयते भो दीयतां मैथिली॥** हनु० १४। २९॥' (ये वचन रामरावणयुद्धके समय रामजीने रावणसे कहे हैं) अर्थात् यह मेरा बाण ताटकाके रुधिरमें स्नान करके तदनन्तर तेरी बहिनके नासिकाके प्राणायामको करके, खर-दूषणत्रिशिराकी आहुति देकर मारीचको बलि बनाकर फिर समुद्रको आचमन करके तेरे आमिषको भक्षण करनेके लिये ढूँढ़ रहा है। इसलिये तू अब भी जानकी दे दे।

वि० त्रि०—तूने बहुत मनुष्योंका रक्तपान किया है, अब रामजीके बाण तेरे रक्तके प्यासे हो रहे हैं, अतः तू कालवश हो गया है, यथा—'**भयेसि काल बस सठ मनुजादा**'। अब वे तेरा रक्त पिये बिना नहीं मानेंगे। इसी कारण तेरी बुद्धि ऐसी विकृत हो गयी है। मैं उन बाणोंसे डरता हूँ। तुझे मारकर मैं उनके कोपका भाजन नहीं होना चाहता। प्यासे-की प्यास बुझानेमें जो बाधक हो उसपर प्यासेका क्रुद्ध होना स्वभावसिद्ध है। नहीं तो मैं तुझे निश्चय मारता। श्रीगोस्वामी-जी आगे चलकर रामजीके बाणोंका प्यासा होना स्पष्ट दिखलाते हैं, यथा—'**रावन सिर सरोज बन चारी। चलि रघुनाथ सिलीमुख धारी**'॥ जिस भाँति मकरन्दके प्यासे भौंरे प्रातःकाल कमल खिलते ही रस-पानके लिये झुंड-के-झुंड चलते हैं, उसी भाँति रावणके शिररूपी कमलवनकी ओर रामचन्द्रके बाण अपनी रक्त-पिपासा शान्त करने चले। शिलीमुख शब्दका अर्थ बाण भी है, और भौंरा भी।

गौड़जी—यहाँ पुनरुक्ति—दूषण नहीं है। अन्वय होगा 'तव सोनितकी प्यास (त) ते रामसायक निकर तृषित हैं।' हाँ, यदि प्यास शब्दपर जोर न देना होता तो केवल इतनेसे ही काम चल जाता कि 'रामसायक तव सोनित (के) तृषित हैं। 'निकर' और 'प्यास' दोनों ही व्यर्थ ठहरते। परंतु यहाँ 'प्यास' त्रैलोक्यके सभी सताये हुओंको है और एक-एककी तृप्तिके लिये श्रीरामजीके अनेक सायक ही समर्थ हैं। नहीं तो तेरे विजेता बालिके लिये एक शर काफी था तब तेरे लिये दूसरेकी क्या आवश्यकता पड़ती। 'प्यास' पर जोर न होता तो 'आस' से काम चल जाता। 'निकर' की जगह 'निसित' (तेज) विशेषण हो जाता। कविको शब्दोंका दारिद्र्य न था। 'निसित' से 'तृषित' का अनुप्रास भी बहुत सुन्दर होता। परंतु भाव-गाम्भीर्य कहाँसे आता? आगे चलकर 'त्रास' अत्यन्त प्रयोजनीय है। 'तेहि त्रास' से तात्पर्य यह है कि मैं अगर तुझे मार डालूँ तो अकेले मेरी प्यास बुझेगी, परन्तु सुरासुरकी प्यास बुझानेकी उद्देश्यपूर्ति जो रघुनाथजीके शरोंमें है न हो सकेगी तो स्वामीका 'काज' न होगा और 'तासु हित',—रावणकी सद्गति—न होगी, तो सरकार नाराज होंगे, आज्ञाका उल्लङ्घन होगा, सेवा बिगड़ जायगी (आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा), यह बड़ा 'त्रास' है। नहीं तो मुझसे कटुवादी अधम निशाचरका वध किये बिना न रहता। [यहाँ, एक भी शब्द निष्प्रयोजन नहीं है।]

मैं तव दसन तोरिबे लायक। आयसु मोहि न दीन्ह रघुनायक॥ १॥
असि रिस होति दसौ मुख तोरौं। लंका गहि समुद्र महँ बोरौं॥ २॥
गूलरि फल समान तव* लंका। बसहु मध्य तुम्ह जंतु असंका॥ ३॥
मैं बानर फल खात न बारा। आयसु दीन्ह न राम उदारा॥ ४॥

अर्थ—मैं तेरे दाँत तोड़ने योग्य हूँ पर श्रीरघुनाथजीने मुझे आज्ञा नहीं दी॥ १॥ ऐसा क्रोध आता है कि तेरे दसों मुखोंको तोड़ डालूँ और लंका (नगरी) को पकड़कर समुद्रमें डुबा दूँ॥ २॥ तेरी लंका गूलरके फलके समान है। तुम सब जन्तु (छोटे-छोटे भुनगे कीड़े) हो जो उसके भीतर निर्भय बस रहे हो॥ ३॥ मैं बंदर हूँ, फल खाते देर नहीं (लगनेकी), पर उदार रामचन्द्रजीने आज्ञा नहीं दी है॥ ४॥

नोट—१ (क) '**मैं तव दसन तोरिबे लायक०**' इति। आज्ञा नहीं है, यथा—'**हौं ही दसन तोरिबे लायक**

* यह लंका—(का०)।

काह कहौं जौं न आयसु पायो । गी० लं० ४ ।' आज्ञापर न चलना सेवक-स्वामी-भावके प्रतिकूल है । सेवकका आज्ञा-पालन ही कर्तव्य है, यथा—'अग्या सम न सुसाहिब सेवा । २ । ३०१ ।', 'आएहु तात बचन मम पेली । ३ । ३० ।' (ख) 'अस रिस होति०' अर्थात् क्रोध तो ऐसा ही है कि दसों मुख तोड़ दूँ…इत्यादि । इसी बातका समर्थन आगे युक्तिसे करते हैं कि 'गूलरि०' (ग) 'गूलरि फल समान०' अर्थात् बंदर फलभक्षी होते ही हैं, वे स्वाभाविक ही फल खाते हैं, वैसे ही निशिचरोंका मारना हमारा सहज स्वभाव है । 'न बारा' का भाव कि जैसे गूलरके जीव अपने बचानेको असमर्थ हैं वैसे ही तुम असमर्थ हो । इतनी शीघ्र लंकाभरका नाश करूँ कि तुम कुछ कर ही न सको, तुम समझ भी न सको कि कोई मारने आया था ।

पु० रा० कु०—१ प्रभुकी आज्ञा है कि 'काज हमार तासु हित होई । रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥' तुझे मारनेकी आज्ञा नहीं है, दूसरे रामबाणका भय है कि मुझहीको न वध कर डालें; नहीं तो 'असि रिस होति०' । २—समुद्रमें डुबाना कहकर फिर युक्तिसे लंकाको गूलर-फल कहा । भाव कि चाहूँ तो समुद्रमें डुबा दूँ, नहीं तो खा ही लूँ ।

बं० पा०—१ 'असंका' अर्थात् तुम यह समझते रहे कि यहाँ कोई पहुँचेगा ही नहीं तब मारेगा कौन ?—[यथा—'जिन्ह के जीवन कर रखवारा ? भएउ मृदुल चितु सिंधु बिचारा ॥ ५ । ५२ । ७ ।' दोहा ५ (१०) देखिये] । 'मैं बानर'—भाव कि गूलर-फल उत्तम मनुष्योंके लिये अग्राह्य है पर मैं तो बानर पशु हूँ, मुझे तो निषेध नहीं, मेरा तो भक्ष्य ही है, फल खाते देर नहीं लगती । २—'उदार' । उदारता यह है कि स्वयं वध करनेसे उनका यश विस्तृत होगा, जिससे जगत्‌का उपकार होगा ।—'जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु ॥ बा० १२१ ॥' 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं । कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं ॥' 'चरित करत नर अनुहरत संसृत सागर सेतु । अ० ८७ ।'—दोहा ३८ देखिये ।

प० प० प्र०—१ 'असि रिस…' इति । श्रीहनुमान्‌जीके 'सहित सहाय रावनहि मारी । आनौं इहाँ त्रिकूट उपारी ॥ ४ । ३० । ९ ।' इन वचनोंसे मिलान करनेसे सिद्ध होता है कि दोनों ही समान बल-बुद्धिनिधान हैं । दोनों रामाज्ञा भंग करनेमें डरते हैं, अन्य किसीका डर उनको नहीं है ।

२ 'गूलरि फल समान…' इन वचनोंको अगस्त्यजीके 'ऊमरि तरु बिसाल तव माया । फल ब्रह्मांड अनेक निकाया ॥ जीव चराचर जंतु समाना । भीतर बसहिं न जानहिं आना ॥ ते फल भच्छक कठिन कराला । तव भय डरत सदा सोउ काला ॥' इन वचनोंसे मिलान करनेसे स्पष्ट हो जायगा कि अङ्गद मिथ्यावादी नहीं है । फिर शिवजीके 'उमा न कछु कपि कै अधिकाई । प्रभु प्रताप जो कालहि खाई ॥' इन वचनोंको ध्यानमें रखनेसे स्पष्ट देख पड़ेगा कि 'मैं बानर फल खात न बारा' यह अङ्गदवाक्य केवल व्यर्थकी गर्वोक्ति नहीं है ।

☞ श्रीरघुनाथजीके नाम, रूप, लीला और धाम सभीको कविने उदार विशेषण देकर जनाया है कि सब एकसे फलप्रद हैं—

नाम—'एहि महँ रघुपति नाम उदारा । अति पावन पुरान श्रुति सारा ॥ १ । १० । १ ।'

रूप—'सुनहु उदार सहज रघुनायक । ३ । ४२ । १ ।' 'अस बिचारि भजु राम उदारा । २७ । ७ ।'

'तुम्ह उदार उर अंतरजामी । उ० ८४ ।' 'बिहँसे राम उदार । ३७ ।'

चरित—'कृपासिंधु मैं आउब देखन चरित उदार । ११४ ।' 'सोइ सच्चिदानंदघन कर नर चरित उदार । उ० २५ ।'

धाम—'मम धामदा पुरी सुखरासी । ७ । ४ । ७ ।', 'सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी । १ । ३५ ।', 'नृप गृह कलस सो इंदु उदारा । १ । १९५ ।'

जुगुति सुनत रावन मुसुकाई । मूढ़ सिखिहि कहँ बहुत झुठाई ॥ ५ ॥
बालि न कबहुँ गाल अस मारा । मिलि तपसिन्ह तैं भएसि लबारा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—लबार (सं० लपन=बकना)=गप्पी, झूठ बकनेवाला ।

अर्थ—अङ्गदकी युक्ति सुनकर रावण मुसुकुराया। (और बोला) अरे मूर्ख! बहुत झूठ कहाँ सीखा॥ ५॥ वालीने तो कभी ऐसा गाल नहीं मारा। (पर) तू तपस्वियोंसे मिलकर गप्पी हो गया॥ ६॥

नोट—१ (क) 'मुसुकाई'। 'युक्ति सुनकर हँसा। अथवा विचार किया कि इससे बातोंसे जीतना कठिन है अतएव हँसकर उससे स्नेह जताता है और अपनी ओर मिलाना चाहता है। (पं०)। (ख) 'मूढ़ सिखिहि कहँ' इति। भाव कि झूठ कवितामें होती है और वाली कवि न था। 'गूलर फल०' से 'खात न बारा' तक, यह कविताई है। २ 'बालि न कबहुँ गाल अस मारा' यह अङ्गदके पिताकी प्रशंसा की, कि वह गम्भीर था; तू उसका पुत्र है तू भी वैसा ही था पर तू इन झूठे दम्भी तपस्वियोंके सङ्गमें पड़ गया। इससे सङ्गतिका प्रभाव तुझपर भी पड़ा ही चाहे। तत्त्व यह कि उनका सङ्ग छोड़ दे और पिताकी प्रकृति धारण कर। (पं०)। (भाव कि वह मेरा मित्र था, तू भी मेरा मित्र बन)। यहाँ लक्षणामूलक गुणीभूत व्यङ्ग है।

प० प० प्र०—'मिलि तपसिन्ह तैं भएसि लबारा' मानसके इस वचनसे ऐसा अनुमान होता है कि कविके समयमें तपस्वियोंके विषयमें पण्डितों, सत्ताधीशों, धनी और बलवान् लोगोंकी क्या भावना थी, यह दरसाया गया है।

साँचेहु मैं लबार भुजबीहा। जौं न उपारिउँ तव दस जीहा॥ ७॥
समुझि* रामप्रताप कपि कोपा। सभा माँझ पन करि पद रोपा॥ ८॥

शब्दार्थ—लबार=झूठा। जीह=जीभ। 'रोपना'=जमाना, अड़ाना, दृढ़ताके साथ रखना। 'बीहा'=बीस। यह मारवाड़ी बोली है। (रा० प्र०)।

अर्थ—अरे बीस भुजावाले! मैं सत्य ही 'लबार' हूँ, यदि तेरी दसों जीभें मैं न उखाड़ डालूँ॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रजीका प्रताप समझकर अङ्गदने कोप करके सभाके बीचमें प्रतिज्ञापूर्वक पैर जमा दिया॥ ८॥

वं० पा०—१ 'बीहा', 'जीहा'—प्राकृत भाषा है। 'जौं न उपारिउँ…' इति। क० ६। १४ में भी कुछ ऐसा ही कहा है। यथा—'**बालि को बालक जौं तुलसी दसहू मुख के रन में रद तोरौं।**'

२—'समुझि रामप्रताप' इति। पूर्व निःशङ्क होनेके तीन हेतु कहे थे—पिता-सम्बन्ध, अपना बल और रामप्रताप।—यथा—'**प्रभु प्रताप उर सहज असंका। रनबाँकुरा बालिसुत बंका॥ १८। १॥**' इनमेंसे दो, पिता-सम्बन्ध और अपना बल, तो हो ही चुके। रहा रामप्रताप, सो अब उसका समय जानकर उसका स्मरण किया और उसका बल दिखाते हैं। यथा—'**प्रतापाद्रामचन्द्रस्य पदं चालयितुं क्षमाः। न मे राक्षससंघाश्च रावणाद्या मनागपि॥**'

वै०—रामभक्तोंकी यह रीति है कि अपने कर्तव्यका भरोसा नहीं रखते; क्योंकि जीव अल्पज्ञ है, उसमें इतनी शक्ति कहाँ कि वह सर्वोपरि हो जाय। हरिकृपासे अनेकों सर्वोपरि हो गये। देखिये, श्रीशबरीजीके पदस्पर्शसे गौतमी पावन हुई, वाल्मीकि श्वपचके भोजनसे युधिष्ठिरजीका यज्ञ पूर्ण हुआ और अम्बरीषकी प्रार्थनासे दुर्वासाजीकी रक्षा हुई। इत्यादि प्रताप विचारकर अङ्गदने कोप करके पद आरोपण किया। [अङ्गद प्रभुका प्रताप स्वयं देख चुके हैं कि दुन्दुभि-अस्थिको अँगूठेसे कितने योजनपर फेंक दिया, सप्ततात्ल एक बाणसे उखाड़ डाले, बालिको एक बाणसे मार डाला, हनुमान्‌जीको मुद्रिका देकर सब विघ्नोंसे उनकी रक्षा की इत्यादि। '**तव प्रताप बड़वानलहि जारि सकै खलु तूल**' यह सुन चुके हैं। यही प्रताप समझकर कोप किया]।

रा० प०—'समुझि राम प्रताप'। रघुवीरका बल विचारकर पद रोपा। पदके देवता विष्णु हैं, अंगुष्ठ शेषनाग, चारों अँगुलियाँ दिग्गज, पदपृष्ठ कूर्म्म, एँड़ी वराह—जहाँ इतने देवता हैं उस पदको कौन टाल सकता है? ऐसा विचारकर पाँव रोपा। कवितावलीमें इसका विस्तृत वर्णन है।

पं०—रावणने तो प्रिय वचन कहे, पर अङ्गदने कठोर कहे, यह क्यों? उत्तर यह है कि उसने इन वचनोंमें भी श्रीरघुनाथजीकी निन्दा की है। '**बालि न कबहुँ गाल अस मारा**' कहकर अङ्गदकी निन्दा की कि तू अपने बापको

* राम प्रताप समुझि—(का०), राम प्रताप सुमिरि=वै०।

नहीं पड़ा है। बालिका स्वभाव तुझमें नहीं तो किसी दूसरेका होगा। दूसरा और कोई है ही नहीं जिसका सङ्ग तुझे हुआ हो सिवाय तपस्वियोंके। तपस्वी लबार हैं। तू भी लबार हो गया। यह रामजीकी निन्दा है। पुनः अङ्गदने जाना कि अब यह शिथिल हो गया है अतएव भागेको और भगाना चाहिये।

नोट—हाथ और पैर ये दोनों इनके विशेष आयुध हैं, यथा—'लागे मर्दइ भुज बल भारी। काहुहि लात चपेटन्हि केहू। भजहु न रामहिं सो फल लेहू॥ ४३। ८॥' भुजबल दिखा चुके, यथा—'दुहु भुजदंड तमकि महि मारी। डोलत धरनि सभासद खसे। चले भाजि भय मारुत ग्रसे॥ गिरत सँभारि उठा दसकंधर।' अब चरणका बल दिखाते हैं। इससे शरीरबलका अपार होना निश्चित होगा।

पं०—दाँव लगानेमें लेना या देना दो बातें होती हैं। यहाँ पदारोपण कर अङ्गदने जनाया कि—(१) यदि तू हमारा चरण न हटा सका तो हमारे चरण लङ्कामें गड़ गये अर्थात् लङ्का हमारी हुई। वा (२) योद्धाओंका बड़ा बल भुजाओंमें होता है और पद कनिष्ठ अङ्ग है। यदि हमारा चरण ही न उठा सका तो और बलकी समता (बराबरी, मुकाबला) क्या करेगा? वा, (३) अङ्गदने सोचा कि भुजा पकड़ने लगेगा तब इसको नीचा (अपमानित) करनेका कोई मिष न बन पड़ेगा और पद छूने लगेगा तो अपमानित कर सकूँगा। अतः पदारोपण किया।

शीला—पदारोपणमें भाव यह है कि मनुष्य हो तो बातोंसे माने। लातोंका मनुष्य बातसे नहीं मानता—('लातोंके देवता बातोंसे नहीं मानते' यह लोकोक्ति है। अर्थात् लात खाकर नम्र होनेवाला लात खानेपर ही मानता है)—यही तेरा हाल है, मैं अनेक प्रकार, लोक और वेदमतसे समझाकर हार गया पर तू नहीं समझता। अतएव तुझे लात-हीसे उपदेश देना उचित है। इसीसे 'पद रोपा'।

जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं* रामु सीता मैं हारी॥ ९॥

अर्थ—अरे शठ! जो तू मेरा चरण हटा सके तो रामचन्द्रजी लौट जायँगे, मैं सीताजीको हारता हूँ॥ ९॥

फिरहिं रामु सीता मैं हारी

श्रीरामचन्द्रजीने अङ्गदको अपना प्रतिनिधि दूत बनाकर भेजा है और दूतपर उनका पूर्ण विश्वास है, यथा—'बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ'। वे जानते हैं कि यह जो कुछ कहेगा वह यथार्थ ही होगा। उसको पूर्ण अधिकार दे दिया है, यथा—'काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥'

वक्ता इस प्रतिज्ञाके पूर्व ही बता देते हैं कि 'रामप्रताप समुझि कपि कोपा'। अङ्गद अभी-अभी प्रताप आँखों देख चुके हैं कि 'श्रीरघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान' और कवितावली छन्द १६ में भी यही कहा कि 'रोप्यो पाउँ पैजकै बिचारि रघुबीर बल लागे भट०।' अतएव उनको पूर्ण विश्वास है कि रावण भी चरण हटा नहीं सकता। इसकी पुष्टता शिवजी उपसंहारमें स्वयं कर रहे हैं कि जिस प्रभुका यह प्रताप है कि वज्रको तृण और तृणको वज्र बना देता है उसके दूतकी प्रतिज्ञा क्योंकर टल सकती है? इसी भावकी पुष्टता दोहावलीसे होती है, यथा—'तेहि समाज कियो कठिन पन जेहि तौलेउ कैलास। तुलसी प्रभु महिमा कहउँ की सेवक बिस्वास॥ १६७॥' अर्थात् यह बड़ी कठिन प्रतिज्ञा थी। इस प्रतिज्ञाका कारण प्रभुका प्रताप एवं अङ्गदका प्रभुप्रतापमें दृढ़ विश्वास ही है, अन्य कुछ नहीं।

श्रीकरुणासिन्धुजी, पंजाबीजी, पाँड़ेजी, बंदन पाठकजी इत्यादि प्राचीन तिलककारोंने भी यही अर्थ प्रधान माना है। फिर भी दूसरा अर्थ यह कर दिया है कि 'रामचन्द्र और सीता' दोनों फिर जायँगे (अर्थात् तुझे मारकर लौट जायँगे) पर मैं तुझसे अपनेको हार जाऊँगा (अर्थात् मैं तेरे सम्मुख संग्राममें न आऊँगा)। अर्थ तो अवश्य बन जाता है, पर यह तो सोचिये कि इसमें 'रामप्रताप' की क्या बात है जिसे सोचकर वे अपनेको हारते हैं। और इसके (एक अङ्गदके) मिल जानेसे रावणको क्या विशेष लाभ होगा जब कि हनुमान्, सुग्रीवादि अगणित बलशील वानर वहाँ मौजूद (उपस्थित) हैं? तथा जो रामचन्द्रजी बालीको एक बाणसे मार सके उनके लिये अङ्गदका सेनासे निकल जाना क्या विशेष हानिकारक होगा?—लक्ष्मणजी ही समस्त निशाचरोंके लिये बहुत हैं, यथा—'जग महँ सखा निसाचर

* फिरहि—(का०, मा० म०)। फिरहि—(भा० दा०)।

जेते। लछिमन हनहिं निमिषमहँ तेते', रामचन्द्रजीकी तो बात ही क्या ?—इतनेहीपर रावण क्यों पैर हटाने उठेगा ? सीताजीके हारने और रामजीके कोरे लौटनेमें ही रावणका लाभ होगा। सीताजीकी, बिना युद्ध किये, प्राप्ति इतनेमें ही हुई जाती है। दूसरे, राज्य भी बना रहेगा क्योंकि रामजी सूखे ही लौट जायँगे। विभीषणके लिये युद्ध न करेंगे। अतएव रावण अवश्य चरण उठानेको आवेगा, तब उसे लज्जित करनेका अच्छा मौका मिलेगा! 'पैर न हटे' इसीमें तो रामप्रताप और इनका विश्वास देख पड़ेगा कि कैसी कठिन प्रतिज्ञा दूतने प्रभुके बलपर कर डाली और प्रभुने उसकी प्रतिज्ञा रख ली। जितनी ही कठिन प्रतिज्ञा और विश्वास होगा वैसा ही अधिक प्रचण्ड प्रताप देख पड़ेगा, उसकी परीक्षा होगी।

जो लोग यह शंकाएँ करते हैं कि—अङ्गदको ऐसा अधिकार कैसे सम्भव है ? पैर हट जाता तो क्या होता ? इत्यादि। उनके विषयमें यही कहना होगा कि वे दौत्यकर्म और दूतके अधिकारको नहीं जानते। दूतको पूर्ण अधिकार अपने स्वामीकी ओरसे रहता है। वह जो कुछ कहे उसका स्वामी उसका पाबंद होगा। यदि ऐसा न हो तो दौत्यकर्म ही उठ जाय और उसकी किसी भी बातका विश्वास न रह जाय।

अब व्याकरणकी रीतिसे भी विचार करें तो भी यह अर्थ कसौटीपर नहीं उतरता और अन्य भी अर्थ जो खींच-खाँचकर लोग करते हैं वे भी इस कसौटीपर कसे जानेपर खरे नहीं उतरते।

यदि यह अर्थ ठीक समझा जाय तो हारना क्रियाके लिये न कोई कर्म रह जायगा और न कोई कर्मकी आवश्यकता ही रह जायगी। ऐसी दशामें अङ्गदके मुखसे अकर्मक क्रिया 'हारना'का भूतकालिकरूप 'हारा' निकलेगा, 'हारी' नहीं। और यदि मानसकारका इष्टार्थ यही होता तो चौपाई यों होती—'फिरहिं रामसीता, मैं हारा'। परंतु ऐसा पाठ कहीं नहीं है। और रामसीताके लौट जानेवाला अर्थ जो खींचातानी करके लगाते हैं उनकी 'असमर्थ' जबरदस्ती स्पष्ट हो जाती है।

श्रीपाँड़ेजी और बंदनपाठकजीके विचार इस विषयमें यथार्थ हैं। पाँड़ेजी कहते हैं कि यह चरण पाँसा है। इसमें रावणका सर्वस्व लगा और रघुनाथजीकी ओरसे श्रीजानकीजीकी बाजी लगायी गयी। इस समय अङ्गद श्रीरघुनाथजीके स्थानमें अर्थात् उनके प्रतिनिधि हैं। पाठकजी भी लिखते हैं कि 'जिसके निमित्त सारा कजिया (झगड़ा) है उसीको बाजीमें लगाया; इसी लाभार्थ रावण-सभाके सभी वीर उठे। नहीं तो अङ्गदके पास कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसके लिये रावण और उसके सभासद उठें। यही कारण है कि जानकीजीका दाँव लगाया गया। अङ्गदका दृढ़ विश्वास रामप्रतापमें है। श्रीरामजी सब अधिकार दे चुके हैं—'बालि-तनय बुधि०' से 'रिपुसन करेहु०' तक अधिकारहीका वर्णन है। उसपर भी बाली इसे रघुनाथजीकी गोदमें दे चुके, उनका पुत्र बना चुके, यथा—'गयउ तुम्हारेहिं कोछे घाली'—(उ०), दूसरे यह मित्रका पुत्र भी है (क्योंकि तारा अब सुग्रीवकी पत्नी है)—तब इसके अधिकारमें संदेह कैसा ?

पंजाबीजी लिखते हैं कि जो यह शङ्का करते हैं कि 'अच्छा उसे अधिकार सही और उसका रामप्रतापमें दृढ़ विश्वास भी ठीक तथा पद नहीं भी टलेगा यह भी माना, तो भी माताका, स्वामीकी पत्नीका, दाँव लगाना तो अत्यन्त 'अयोग्य ही तो है ?' तो इस प्रकार समाधान उनका हो सकता है कि इस अयोग्यताका अङ्गदके अक्षरोंमें निर्वाह भी हो रहा है। उनके शब्द विचारपूर्ण हैं। वे दूसरा अर्थ ले सकते हैं।

इसके विषयमें पाठकजी कहते हैं कि 'बाजी भी लगी है। सो माया सीताकी, सीताके प्रतिबिम्बकी। प्रतिबिम्बको कौन और कैसे ले सकता है ?' पर यह सब वाग्विलास है और ऐसी व्याख्या करनेसे एक तो रामप्रताप और अङ्गदके दृढ़ विश्वासको बहुत बड़ा धक्का पहुँचता है। दूसरे, अङ्गदादि समस्त वानर भालु तथा लक्ष्मणजी भी यह नहीं जानते कि ये असली सीता नहीं हैं, प्रतिबिम्ब मात्र हैं, तब यह भाव कैसे निकल सकता है ? इस भावका मूलोच्छेद 'लछिमनहू यह मरम न जाना' से हो जाता है। *

* शीला—"सीताजी और रामजी तेरे मृत्यु वा काल हैं, यथा—"कालराति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥" इनका लंकामें आना मानो तेरा काल आ गया। अर्थात् तेरी मृत्यु टल नहीं सकती। हाँ! यदि तू मेरा चरण टसका दे तो मैं तुझसे यह बात हारता हूँ, मैं तेरी मृत्युरूपा सीताजी और कालरूप रामजीको यहाँसे लौटा दूँगा; क्योंकि तू मेरे पिताका मित्र है

नं० प०—रावण चरण हटा देता तो फिर क्या होता ? इस शङ्काका समाधान यह है कि—अङ्गदजीने निश्चयमें पद रोपा था न कि संदेहमें। अर्थात् यह निश्चय करके पद रोपा था कि रावण हमारा पैर नहीं हटा सकता। क्यों नहीं हटा सकता ? श्रीरामप्रतापसे। वह रामप्रताप कैसा है ? **'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूत पन कहु किमि टरई॥'** और सीताजीका हार जाना तो पदके टलनेपर है, जब पैर टसकेगा ही नहीं तब हारना कैसे होगा। अतः हारना केवल वचनमात्र है।

अङ्गदको अपने पदके न टलनेमें निश्चय किस भाँति है ? जैसे कोई भी मनुष्य निश्चय जानता है कि दो वर्षका बालक मेरा पैर नहीं हटा सकता। अतः वह जैसे उससे कहे कि यदि मेरा पैर हटा दो तो मैं तुम्हें चन्द्रमा ला दूँगा, तो न तो उस बालकसे पैर हटेगा और न उस मनुष्यको चन्द्रमा लाना पड़ेगा। ठीक उसी प्रकार अङ्गदका निश्चय था कि रावण मेरा पैर नहीं हटा सकता। न पैर हटेगा न सीताजी हारीमें आयेंगी।

गौड़जी—अङ्गदजीने रावणके वचनोंके एवं सभी आत्मप्रशंसाओंके उत्तर दिये। बलिसे हारा था, परंतु बलि वामनसे हारे थे। सहस्रबाहुसे हारा था, सो उसके मारनेवाले परशुरामजी भगवान्‌से हारे थे। बालिसे हारा था, सो बालि एक बाणसे स्वर्ग सिधारा था। उसने अपनी तारीफ की कि मैंने कैलासको उखाड़कर अपने हाथोंपर ले लिया था। पिनाकको छुआ भी नहीं, नहीं तो वहीं आटे-दालका भाव मालूम हो जाता। यह अभिमान उसे बना हुआ था। अङ्गदने सब बातोंके उत्तर दिये। यही बाकी था। अङ्गदको यह व्यवहारतः दिखाना था कि त्रैलोक्यमें कोई विभूति बिना भगवान्‌के तेजस् वा अंशके नहीं होती, तेरा बल भी उन्हींका है। उनके बलसे तू कैलास उठा सका। उनके विमुख तू मेरे पाँव भी हिला नहीं सकता। यहाँ **"रामप्रताप सुमिरि"** कपि कोपा। उसीका प्रताप स्मरण किया जिसने सुग्रीवको बालिसे भिड़नेको **"पुनि पठवा बल देइ बिसाला"**। स्मरण करनेका अर्थ है बलके उसी असीम और अनन्त खजानेसे रावणसे कोटिगुणा बल मँगवा लेना। जब रावण उसके जमे हुए कदमको हटा न सका तो उसकी डींगका जवाब मिल गया। आगे वह जैसा श्रीहत हुआ मानसकारने वर्णन किया ही है। अङ्गदको सर्वाधिकार प्राप्त था। वह सीताके हरनेकी बात कह सकते थे। वस्तुतः मायाकी सीताके हरणमें या हारे जानेमें कोई हानिकी बात न थी, बड़ी हानि तो यह थी कि इस प्रतिज्ञासे प्रभुका वचन जो विभीषणको दिया गया था कट जाता। श्रीरघुनाथजी इस हानिको कभी भूल नहीं सकते थे। लक्ष्मणजीके मरने, सीताके हरे जानेका उतना दुःख न होता जितना विभीषणके लंकेश न होनेसे। अङ्गदजीने सरकारकी उस बड़ी प्रतिज्ञाकी बाजी लगायी थी यद्यपि वह उसकी गम्भीरताको न जानते थे। वह तो मायाकी सीतासे बेखबर थे। वह तो उसीकी महत्ता समझते थे। और वास्तविक बात तो यह थी कि अङ्गदके वाग्यन्त्रसे भगवान्‌की बलीयसी माया बोल रही थी। वही सब कुछ करा रही थी। अङ्गद तो निमित्तमात्र था।

☞ सर्ग ४१ में वाल्मीकिजी लिखते हैं कि भगवान्‌ने अङ्गदद्वारा संदेश भेजा था कि **'भ्रष्टश्रीकं गतैश्वर्यं मुमूर्षोनष्टचेतनम्'** अर्थात् अब तुम्हारी श्री नष्ट हो गयी, तुम्हारा प्रताप घट गया और तुम्हारा वैभव जाता रहा, अब तुम मरनेवाले हो इससे तुम्हारा ज्ञान भी जाता रहा। वही बात यहाँ मानसकार अङ्गदकी इस प्रतिज्ञासे प्रत्यक्ष दिखला रहे हैं।

प० प० प्र०—**'रोप्यो पाउ पैंज कै बिचारि रघुबीर बलु'** (क०) से मिलान कीजिये। युधिष्ठिरजीने अपनी भार्या द्रौपदीका दाँव लगाया, इसमें तो कुछ आश्चर्य नहीं। पर अङ्गदके समान एक रामसेवक, रामदूतने जगदम्बा सीताजीका दाँव लगाया, यह एक बड़ा आश्चर्य है। इससे यह बताया है कि रामदासोंके हृदयमें श्रीरामकृपाप्रतापबलपर कितनी अचल श्रद्धा और निष्ठा रहती है।

इससे तेरे हितकी कहता हूँ कि सीताजी तेरे यहाँ बँधुवा नहीं हैं, वे आदिशक्ति हैं, जब चाहेंगी क्षणभरमें अन्तर्द्धान हो गुप्त हो जायँगी। तू यह न समझ कि तूने उन्हें हरण कर रक्खा है।

मा० म० कार मयूखमें कहते हैं कि "ऐसी शठ हठ वस कवन प्रभु यह कही न रंच। सो कपि को फोरे चहे कपि यह मिस खल वंच॥ १५७॥" अर्थात् वह "शठ है जो ऐसा कहता है कि अङ्गदने जानकीके हार जानेका प्रण किया, श्रीरामचन्द्रने ऐसा किञ्चित् भी नहीं कहा था। रावणने अङ्गदको फोड़फाड़ अपनी ओर करना चाहा तब अङ्गदने इस बहाने उसको वंचित किया।' [उनके किसीको 'शठ' कह देनेसे, उनका कहा हुआ अर्थ ही प्रमाण है, ऐसा कौन मान लेगा ? पाठक स्वयं विचार लेंगे।]

सुनहु सुभट सब कह दससीसा। पद गहि धरनि पछारहु कीसा॥१०॥
इंद्रजीत आदिक बलवाना। हरषि उठे जहँ तहँ भट नाना॥११॥
झपटहिं करि बल बिपुल उपाई। पद न टरै बैठहिं सिरु नाई॥१२॥

शब्दार्थ—पछारना (पछाड़ना)=पटक देना, गिरा देना। झपटना=जोरसे किसीपर लपकना, आक्रमण करना।

अर्थ—रावण (अपने योद्धाओंसे) बोला—'सब सुभटो! सुनो, पैर पकड़कर वानरको पृथ्वीपर पछाड़ दो॥ १०॥ इन्द्रजीत आदि अनेक बली योद्धा जहाँ-तहाँ (जो जहाँ बैठे हैं वहीं) से प्रसन्न होकर उठे॥ ११॥ बहुत बल और बहुत उपाय करके झपटते हैं पर पैर नहीं टलता तब सिर नीचा करके बैठ जाते हैं॥ १२॥

पं०—'हरषि उठे'। हर्षका कारण यह कि अङ्गदके बलको तुच्छ समझा एवं यह कि जिन सीताके निमित्त इतना झगड़ा-टंटा हुआ, नगर जला, निशिचर मारे गये, सेना युद्ध करने आयी, वे अब सहज ही प्राप्त हुई जाती हैं। तीसरे यह कि बातोंमें तो यह हारता न था अब इस प्रणसे बातसे भी हारेगा, बल इसका कितना है। चौथे यह कि अबतक वह स्वामीको बुरा-भला कहता रहा पर बिना आज्ञा हम कुछ न कर सकते थे, अब आज्ञा हो गयी है। अतः हम अब इसको भूमिपर धर पछाड़ते हैं, सब बदला चुकाये लेते हैं।

नोट—१ 'इन्द्रजीत आदिक' से जनाया कि कोई बड़ा-से-बड़ा योधा न बचा। जिस इन्द्रजित्ने इन्द्रको बाँधा एवं हनुमान्जीको भी जो बाँध लाया था, वह भी अङ्गदके सामने यहाँ हार गया तब औरकी क्या कही जाय?—इस तरह लंका भरके सुभटोंकी परीक्षा अङ्गदको सहज ही हो गयी। २ 'झपटहिं करि बल बिपुल उपाई००'। बल लगाते हैं, बलसे काम नहीं चलता तब अनेक तरहके मल्लयुद्धके दाँव-पेंचोंसे काम लेते हैं, जब कोई उपाय काम नहीं देता तब लज्जित होकर बैठ जाते हैं। सिर नीचा करके बैठना यह लज्जाकी भी एक मुद्रा है। न अङ्गदकी ओर देखते हैं न रावणकी ओर, कि वे कहीं धिक्कारें न। मुँह दिखाने योग्य अपनेको नहीं समझते। यथा 'नमित सीस सोचहिं सलज सब श्रीहत भए सरीर। गी० १। ८७।' (धनुषयज्ञमें राजाओंकी जो दशा हुई थी)।

पुनि उठि झपटहिं सुर आराती। टरै न कीस चरन एहि भाँती॥१३॥
पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी। मोह बिटप नहि सकहि उपारी॥१४॥

शब्दार्थ—आराति=शत्रु, यथा—'सावधान होइ धाए जानि सबल आराति। लागे बरषन राम पर अस्त्र सस्त्र बहु भाँति'॥ कुयोगी=अष्टाङ्गयोगके विरुद्ध साधन करनेवाला, अर्थात् असंयमी वा विषयी। उपारना (सं० उत्पाटन)=उखाड़ना।

अर्थ—वे देव-शत्रु (राक्षस) फिर उठकर झपटते हैं। (परंतु) हे सर्पोंके शत्रु गरुड़जी! वानरका चरण उनके टाले इस प्रकार नहीं टलता जैसे कुयोगी पुरुष मोहरूपी वृक्षको नहीं उखाड़ सकता॥ १३-१४॥

नोट—१ 'सुरआराती' का भाव कि जिन्होंने देवताओंको भी जीत लिया था और जो सदा उनको दुःख देनेमें ही तत्पर रहते हैं वे आज बारंबार चरण हटानेका यत्न करते हैं पर एक नहीं चलती। 'पुनि उठि' क्योंकि प्रथम बार उठे थे और हारकर बैठ गये थे, यथा—'हरषि उठे०', 'बैठहिं सिर नाई'। २—'पुरुष कुजोगी०'। यहाँ कुयोगी पुरुष निशिचर हैं, मोह-विटप अङ्गदका चरण है, मोहविटपका उखाड़ना चरणका टसकाना है। यहाँ उदाहरण अलंकार है। ३ मिलान कीजिये—'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप उठइ न चलहिं लजाइ। मनहुँ पाइ भट बाहुबलु अधिक अधिक गरुआइ॥ १। २५०।'''डगै न संभु सरासन कैसें। कामी बचन सती मन जैसें॥ सब नृप भए जोग उपहासी। जैसे बिनु बिराग संन्यासी॥ १। २५१। २-३।', 'कबिहि अगम जिमि ब्रह्म सुख अह मम मलिन जनेषु। २। २२५।'

खर्रा—जो कुयोगी है, योगमें निपुण नहीं है, वह मोहको नहीं हटा सकता। देहमें अहंबुद्धि होना मोहकी बड़ी जड़ है। वे उसको पकड़े हैं। इसीसे नहीं उखाड़ सकते।

प० प० प्र०—'पुरुष कुजोगी' इति। योगसे ज्ञान होता है। अतः जिस साधनसे जीव शिवैक्य ज्ञानकी प्राप्ति

होती है वह मुख्य योग है। इसका साधन करनेवाला योगी कहलाता है। अरण्यकाण्ड मा० पी० पृष्ठ १३८ देखिये। 'कुयोगी' शब्दकी चर्चा भा० १०। ८७। ३९। वेदस्तुतिके इस श्लोकमें सुचारुरूपसे की गयी है—'यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा (वासनाः) दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः। असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगवन्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद्भवतः॥ ३९।' भाव कि जो अन्तरङ्गमें विषयलोलुप हैं पर बाह्यतः राजयोगी वा ज्ञानयोगी बने हुए हैं, उनको न तो आत्मस्वरूपकी उपलब्धि होती है और न मृत्युभयसे छुटकारा मिलता है। दम्भसे स्वधर्म कर्मपथका त्याग करनेसे वे नरकगामी ही होते हैं। सारांश यह कि जो वैराग्यहीन, दम्भी, कर्मपथत्यागी हैं उनको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

पूर्व संदर्भसे भाव यह है कि जो सुर-आराती है वह योगी हो नहीं सकता। मोहका नाश होनेपर ही ज्ञान होता है और ज्ञानसे मोक्ष। 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ। गीता।' देवताओंका पूजन करनेवालोंके ज्ञानमार्गमें भी सुर विघ्न डालते हैं, तब भला अपने शत्रुओंके ज्ञानमार्गमें वे विघ्न क्यों न उपस्थित करेंगे। इसमें आश्चर्य ही क्या?।— 'इंद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सोहाई। विषय भोग पर प्रीति सदाई॥ ७। ११८।''

दो०—कोटिन्ह मेघनाद सम सुभट उठे हरषाइ।
झपटहिं टरै न कपि चरन पुनि बैठहिं सिरु नाइ॥
भूमि न छाँड़त कपि चरन देखत रिपु मद भाग।
कोटि बिघ्न ते संत कर मन जिमि नीति न त्याग॥ ३३॥

अर्थ—मेघनादके समान करोड़ों उत्तम योद्धा प्रसन्न होकर उठे और झपट रहे हैं पर कपिका पैर टलता नहीं, तब फिर सिर नीचा करके बैठ जाते हैं। वानरका चरण पृथ्वी नहीं छोड़ता। यह देख शत्रुका गर्व दूर हो गया। जैसे करोड़ों विघ्न होनेपर भी संतका मन नीतिको नहीं छोड़ता॥ ३३॥*

☞ 'कोटिन्ह मेघनाद०', यह दोहा काशीराजकी प्रतिमें नहीं है। इस दोहेका भाव प्रायः ऊपर चौपाईमें आ गया है। भेद यह है कि वहाँ 'मेघनाद आदिक' कहा था और यहाँ 'कोटिन्ह मेघनाद सम'। इससे यह भाव भी निकलता है कि अब बहुत-से मिलकर उठाते हैं तो भी पद टससे मस नहीं होता। इसी प्रकार धनुष उठानेमें पहले राजा एक-एक करके लगे थे। जब उनसे न उठ सका, तब दश हजार (बहुत-से) या अपने-अपने सदस्योंसहित सब राजा एक साथ लगे। यह प्रसंग धनुषयज्ञ-प्रसंगसे मिलता है। दोनों जगह दो-दो दृष्टान्त दिये गये हैं—एक निवृत्तिमार्गका, दूसरा प्रवृत्तिका। क्योंकि यहाँ भी सीताजी बाजीमें हैं और वहाँ भी।

नोट—'भूमि न छाँड़त०', इसके दो प्रकार अर्थ किये गये हैं। दूसरा अर्थ यह है कि 'पृथ्वी पैरको नहीं छोड़ती', यह समझकर कि कहीं मेरी सुता भूमिजा श्रीसीताजी हर न जायँ (पु० रा० कु०)। पर यहाँ 'छाँड़त' पुँल्लिग है, 'छाँडति' नहीं है। अतः मानसकारका निश्चित अर्थ कपिचरणको ही 'छाँड़त' का कर्ता बनाता है। परंतु आधुनिक कवि छाँड़तको उभयलिंगोंमें प्रयोग करनेमें नहीं हिचकते। इस दृष्टिसे 'भूमि' शब्द भी कर्ता माना जा सकता है।

ऊपर दिये हुए अर्थके अनुसार अङ्गद, संत, चरण, मन, भूमि, नीति और निशिचर विघ्न हुए। विघ्न, संत और मन पुँल्लिग हैं, नीति स्त्रीलिंग है। वैसे ही दार्ष्टान्तमें सुभट, अङ्गद और चरण पुँल्लिग तथा भूमि स्त्रीलिंग है। 'भूमि न छाँड़त०' पर क० लं० १५, १६ देखने योग्य है। वहाँ कवि लिखते हैं कि ऐसा जान पड़ता है मानो ब्रह्माने पृथ्वीके साथ ही पैरको रचा है। यथा—''अति कोप सों रोप्यो है पाँव सभा, सब लंक ससंकित सोर मचा।

* 'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्। अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥' इति भर्तृहरिशतके। अर्थात् नीति-निपुण लोग चाहे निन्दा करें चाहे प्रशंसा, लक्ष्मी रहें या जावें, मरण आज हो या युगान्तमें, पर धीर पुरुषोंका पैर न्यायपथसे कभी नहीं डिगता।

तमके घननाद से बीर प्रचारि कै, हारि निसाचर सैन पचा ॥ न टरै पग मेरुहु ते गरु भो सो मनो महि संग बिरंचि रचा। तुलसी सब सूर सराहत हैं, जगमें बलसालि है बालि बचा ॥ क० १५।' "रोप्यो पाँउ पैज कै बिचारि रघुबीर बल, लागे भट सिमिटि न नेकु टसकतु है। तज्यो धीर धरनी धरनीधर धसकत, धराधर धीर भार सहि न सकतु है ॥ महाबली बालि को दबत दलकति भूमि तुलसी उछरि सिंधु मेरु मसकतु है। कमठ कठिन पीठि घट्टा परयौ मंदरको आयो सोई काम पै करेजो कसकतु है ॥ १६ ॥"

पु० रा० कु०—यहाँ कविने दो दृष्टान्त दिये हैं। एक तो कुयोगी पुरुषके मोहको न हटा सकनेका और दूसरा संतमनका विघ्नोंके उपस्थित होनेपर भी नीति न त्याग करनेका। दो दृष्टान्त देकर ग्रन्थकारने दोनों ओरका बल कथन किया है।

रा० प्र०— माया-मोहादि ही अनन्त विघ्न हैं। नीति अर्थात् जिस धर्मपर वे आरूढ़ हैं।

गौड़जी—यहाँ 'कोटिन्ह' शब्द निश्चित संख्यावाची नहीं है। इससे तात्पर्य है केवल 'बहुत बड़ी संख्या' वा 'गणनातीत'।

कपि बल देखि सकल हिय हारे। उठा आपु कपि के* परचारे ॥ १ ॥
गहत चरन कह बालिकुमारा। मम पद गहे न तोर उबारा ॥ २ ॥
गहसि न रामचरन सठ जाई। सुनत फिरा मन अति सकुचाई ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—उबारा=बचाव, छुटकारा, यथा—'तुम हटकहु जौं चहहु उबारा। १। २७४।' परचारना (सं० प्रचारण)=ललकारना।

अर्थ—कपिका बल देखकर सब हृदयसे हार गये। (तब) वानरके ललकारनेपर वह स्वयं उठा ॥ १ ॥ चरण पकड़ते समय बालिपुत्र अङ्गद बोले—'मेरा चरण पकड़नेसे तेरा बचाव न होगा ॥ २ ॥ अरे शठ! तू श्रीरामजीके चरण जाकर क्यों नहीं पकड़ता?' यह सुनकर वह अत्यन्त सकुचाकर लौट पड़ा ॥ ३ ॥

नोट—१ अङ्गदने प्रथम इसीको ललकारा था, यथा—'जौं मम चरन सकसि सठ टारी।' पर उसने अङ्गदके बलका निरादर करनेके लिये सुभटोंको आज्ञा दी थी। जब उसके सब विख्यात योद्धा हार गये तब फिर अङ्गदने उसको ललकारा कि अब जाता हूँ; तुझमें कुछ साहस और बल हो तो उठ, यह ललकार वह न सह सका और पैर उठानेके लिये पास आया। क्योंकि उनका आशय तो यही रहा है कि इस प्रकार बल और प्रताप सबको विदित हो जायगा और उसके उठनेपर उसको युक्तिसे लज्जित कर चुप करूँगा† तब फिर हितोपदेश करनेसे चाहे मान जाय। वा, इसने मेरा अपमान किया, मैं इसका अपमान इस प्रकार करूँगा। (खर्रा)।

२ 'गहत चरन' से जनाया कि पकड़ने लगा वैसे ही अङ्गदने ये वचन कहे, पर पैर हटाया नहीं।

३ यहाँ लोगोंने शंका की है कि 'स्वयं रावणको ललकारा फिर पैर क्यों न उठाने दिया? अङ्गदके इस कर्त्तव्यसे उनकी निर्बलता सिद्ध होती है और रामप्रतापमें हीनता आती है?—(पं०)।' और इसका समाधान यों किया है कि—

पु० रा० कु०, रा० प०, वं० पा०—अङ्गदको पूर्ण विश्वास है कि चरण उससे न उठेगा; क्योंकि उठ जानेसे सीताजीकी बाजी वह जीत लेगा। दूसरे, मेरी हीनता होगी जो कदापि प्रभु न होने देंगे। और, उसके न उठा सकनेपर आगे राम-रावण-युद्धकी शोभा जाती रहेगी और रघुनाथजीकी कीर्ति यथार्थ न विस्तृत होगी, वरन् उनका अपकर्ष प्रकट होगा, सब यही कहेंगे कि रावणमें बल ही क्या था? वह तो एक वानरसे ही हार गया था। श्रीरामचन्द्रजीने उसे मारा तो क्या बड़ी बहादुरी की? इससे रामयशमें बट्टा लगेगा, उनकी लघुता होती है। अतएव युक्तिसे उसे लज्जित किया जिसमें वह स्वयं ही लौट जाय, पैर न छुए और ऐसा हुआ भी।

* जुवराज प्रचारे—(का०, पं०)। अर्थ—'युवराजको ललकारकर'।

† व्याजोक्ति अलंकार है।

पं०, मा० म०—(क) अङ्गदने उसे वालीका मित्र समझ पिताके समान जाना, एवं यह विचार किया कि वह उच्च कुलका ब्राह्मण है तथा रघुनाथजीका साकेतका 'प्रतापी' सखा है, इसे चरण छुलाना उचित नहीं। (ख) 'सज्जन हठ-अहङ्कारसे रहित होते हैं। अङ्गदने सोचा कि सेनाका बल तो देख ही लिया अब अकेला यह रह गया। मुझे भी अब अहङ्कार करना योग्य नहीं। अब हठ करनेसे मेरा अहङ्कार सूचित होगा।' (मा० म०)। पुनः, (ग)—अङ्गदने सोचा कि मेरा चरण न उठा सकनेपर कदाचित् इसने कहा कि मैंने हार मान ली, अब सीता लो और मेरा अपराध क्षमा कराओ, अभयदान दिलाओ। तब यदि मैंने इसका कहा न माना तो मिथ्यावादी कहलाऊँगा और यदि इसको श्रीरामजी-की शरणमें ले जाऊँगा तो श्रीरामजी तो इसके वधकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं और विभीषणको लंकेश बना चुके; उनकी प्रतिज्ञा भङ्ग होती है। अतएव युक्तिसे उसको निवारण किया।

पं०—**'मम पद गहे न तोर उबारा।'** यह युक्ति है। भाव यह कि सेना सब मेरे मुकाबिलेमें निर्बल सिद्ध हुई, यह जानकर तू मेरे चरणोंपर पड़ने आया है, मेरे चरणको छूकर चाहता है कि मैं श्रीरामजीके कोपसे तेरी रक्षा करूँ, सो यह तेरी भूल है। मैं तेरी रक्षा कब कर सकता हूँ?

शीला—**'गहसि न राम चरन सठ जाई।'** भाव यह कि तेरे बचनेका एकमात्र उपाय यही है कि दीनतापूर्वक प्रभु-की शरण होकर कह कि मैं हार गया, शरण हूँ, तब मैं तेरी सिफारिश कर सकूँगा और तुझ हारे हुएको छुड़ा दूँगा यह कहकर कि इसने हमारा पैर नहीं छुआ। पर यदि तू हमारा पैर छूता है और उसे उठा न सकेगा तब हमें कोई अधिकार तुझे छोड़ देनेका न रहेगा; क्योंकि तेरे हारनेपर तुझसहित लङ्का मेरे स्वामीकी हो जायगी। यदि तेरा पक्ष मैं लूँगा तो सब कहेंगे कि अङ्गद श्रीरामजीसे वैरभाव रखता है और तब मेरे ही प्राण न बच सकेंगे।

नं० प०—अङ्गदजीने न तो पैर हटाया और न रावणको चरण उठानेसे रोका ही। वे पैर रोपे ही रहे और रावणको केवल बातसे लज्जित कर दिया—**'मम पद गहे न तोर उबारा'**, श्रीरामजीका चरण पकड़नेसे ही तेरा उबार होगा। अङ्गदके इतने ही वाक्यसे रावण लज्जित होकर लौट गया। यदि रावण लज्जा छोड़कर चरण उठाता तो उससे चरण न उठता; कारण कि अङ्गदजीके हृदयमें श्रीरामजीका प्रताप है कि श्रीरामजी तृणको कुलिश और कुलिशको तृण कर सकते हैं।

वि० त्रि०—'गहत चरन ''''उबारा' इति। रावणने अङ्गदजीका चरण स्पर्शमात्र कर पाया, पकड़ नहीं पाया था, तबतक अङ्गदजी बोल उठे कि मेरे चरण पकड़नेपर भी तेरा उबार नहीं होगा। जो तू समझता है कि अङ्गदका चरण मैं हटा दूँगा और रामजी फिर जायँगे, सो होना नहीं है। तू सबको यह दिखाना चाहता है कि मुझे रामका डर नहीं है, सो तेरा दम्भ है। रामजीसे भीतर-ही-भीतर इतना डरता है कि मुझ दूतके इस कहनेपर कि 'फिरैं राम सीता मैं हारी' इतना बड़ा सम्राट् होकर राजसिंहासन छोड़कर मेरा चरण पकड़ने आया है। यदि तुझे प्रभुका डर न होता तो तू कहता कि 'राम फिरें चाहे न फिरें, मैं सीता नहीं देता। तुझ दूतका मैं पैर पकड़ने जाऊँगा?' यह हो नहीं सकता। अपना प्राण बचानेके लिये तू मेरा पैर पकड़ने आया। मुझे इतना ही सबको दिखलाना था। जब तुझे रामजीसे इतना भय है, तो तू उनका चरण जाकर क्यों नहीं पकड़ता।

यहाँ अङ्गदजीको रत्तीभर भय नहीं है, क्योंकि उन्होंने अपना पैर खींचा नहीं, पाँव रोपे हुए ही बात करते थे। रावणको पूरा अव-सर था कि अङ्गदकी बात न सुनकर उनका पैर उठा लेता, पर उसका साहस टूटा हुआ था, उसने देख लिया था कि मेघनादके ऐसे अनेक योधा हार गये हैं, पैर हिलता तक नहीं, वह तो अङ्गदजीके ललकारनेपर उठा था। अङ्गदजीकी बात सुनकर उसे अपनी चूकपर बड़ी लज्जा हुई कि वह क्यों पैर हटानेके लिये उठा। वह लौटकर सिंहासनपर सिर झुकाकर बैठा, फिर उसके पश्चात् उसके मुखसे एक शब्द न निकला, अङ्गदने रावणका मुख बंद कर दिया। इस बतकहीमें उनकी पूरी विजय हुई।

अङ्गदजी तो सिरेके वीर थे। केनोपनिषद्में कथा आयी है कि यक्षरूप ब्रह्मने एक तृण रख दिया; उसे न अग्नि जला सके न वायु हिला सके। 'तस्मै तृणं निदधावेतद्दहस्वेति तदुप प्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादग्धुं स तत''॥ केन० ३।२३।१०॥' सर्वत्र ब्रह्मका विजय है। उनके दूतका पैर कैसे हिल सकता है। अङ्गदको भय होनेका कोई कारण नहीं है। यदि उन्हें कुछ

भी भय होता तो क्या वे इतना बड़ा प्रण करते, यथा—'तेहि समाज कियो कठिन पन जिन तौल्यो साहिब महिमा कहौं कै सेवक बिस्वास ॥'

भएउ तेज हत श्री सब गई। मध्य दिवस जिमि ससि सोहई ॥ ४ ॥
सिंहासन बैठेउ सिर नाई। मानहु संपति सकल गँवाई ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—श्री=प्रभा, कान्ति, शोभा।

अर्थ—उसका तेज नष्ट हो गया, सब शोभा जाती रही, जैसे मध्याह्न समय (दोपहरमें) वा दिनं शोभा होती है ॥ ४ ॥ सिर नीचा करके सिंहासनपर (जाकर) बैठ गया। (ऐसा देख पड़ता है) सम्पत्ति खो बैठा है ॥ ५ ॥

नोट—१ भएउ तेजहत श्री सब गई।' इति। (क) कार्य सिद्ध न होनेसे लौटना पड़ा, इससे सब हो गयी, तेज न रहा अर्थात् मुख-श्री नष्ट हो गयी। 'सोहई' विपर्यय अर्थमें है, यथा—'उदय केतु सम हि (ब॰ पा॰)। (ख) यहाँ रावणको शोभा-तेजहीन कहकर, इसकी विशेष बातसे समता दिखाना कि जैसे दि चन्द्र अशोभित होता है, उदाहरण अलंकार है। 'सोहई' शब्द अपने वाच्यार्थको छोड़कर 'अशोभन' व्यं यह 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि' है। (वीर)। ☞ मिलान कीजिये—'श्री हत भए हारि हिय राजा निज जाइ समाजा ॥ १। २५१। ५ ॥', 'श्री हत भए भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छबि छूटे ॥ १। २

धनुषयज्ञमें राजाओंको दीपक कहा और यहाँ रावणको चन्द्रमा। कारण कि मनुष्य राजा थे और राव राजा महान् प्रतापी है। श्रीरामजीके सम्बन्धसे इसको 'ससि' अन्यत्र भी कहा है, यथा—'चले जहाँ रावन स

२ 'सिंहासन बैठेउ सिर नाई।०' इति। (क) जैसे सब सभासद हारकर लज्जित हो सिर नीचा अपने आसनपर जा बैठे थे वैसा ही हाल इसका हुआ। (ख) 'मानहु संपति सकल गँवाई'। 'गँव कि अपनी बेवकूफीसे खो बैठा है। 'सकल संपत्ति' अर्थात् दिग्विजयकी कीर्ति, वीरता, बल, प्रताप, तेज, श्री जन्मभरमें तपस्या और वरद्वारा प्राप्त की थी। भाव यह कि वह बहुत चिन्ताग्रस्त है, पछता रहा है कि मैंने की, न उठकर जाता तो अच्छा था। मिलान कीजिये—'फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई। २। ९९। हाथ सिर धुनि पछिताई। मनहुँ कृपिन धनरासि गँवाई ॥ बिरद बाँधि बरबीरु कहाई। चलेउ समर जनु सु अ॰ १४४। ७-८।'

पु॰ रा॰ कु॰—यहाँ अङ्गद दोपहरके सूर्य हैं और रावण चन्द्रमा है।

धनुषयज्ञ और अङ्गदपदरोपण प्रसङ्गोंका मिलान—

	धनुषयज्ञ	अङ्गदचरण
१	पन बिदेह कर कहहिं हम भुजा उठाइ बिसाल	समुझि रामप्रताप कपि कोपा। सभा माँझ पन करि
२	राज समाज आज जोइ तोरा	जौं मम चरन सकसि सठ टारी
३	त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहिं बिचार बरै हठि तेही ॥	फिरहिं राम सीता मैं हारी
४	सुनि पन सकल भूप अभिलाषे	सुनहु सुभट सब कह दससीसा। पद गहि धरनि पछा
५	परिकर बाँधि उठे अकुलाई। चले इष्ट देवन्ह सिरु नाई ॥	इंद्रजीत आदिक बलवाना। हरषि उठे जहँ तहँ

☞ यहाँ अकुलाना आदि है और वहाँ हर्ष; क्योंकि राजा सुन चुके हैं कि रावणादि भी नहीं उठ ये सब वानरकी प्रतिज्ञाको तुच्छ समझते हैं।

६	तमकि ताकि तकि सिवधनु धरहीं	झपटहिं करि बल बिपुल उपाई
७	उठइ न कोटि भाँति बल करहीं	पद न टरइ बैठहिं सिरु नाई
८	तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप	पुनि उठि झपटहिं सुर आराती
९	उठइ न चलहिं लजाइ	पुनि बैठहिं सिर नाइ
१०	भूप सहसदस एकहि बारा	कोटिन्ह मेघनाद सम सुभट उठे हरषाइ

धनुषयज्ञ	अङ्गदचरण
११ डगो उठावन टरइ न टारा	झपटहिं टरइ न कपि चरन
१२ हारे सकल भूप करि दापा	रिपु बल देखि सकल हिय हारे
१३ मनहुँ पाइ भट बाहुबल' 'गरुआइ	भूमि न छाँड़त कपि चरन
१४ डगइ न संभु सरासन कैसे	टरइ न कीस चरन एहि भाँती
१५ कामी बचन सती मन जैसे	पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी।
(दोनों जगह प्रवृत्तिमार्गका दृष्टान्त)	मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी
१६ सब नृप भए जोग उपहासी	देखत रिपुमद भाग
१७ जैसे बिनु बिराग संन्यासी (दोनों निवृत्तिमार्गके दृष्टान्त)	कोटि बिघ्न ते संत कर मन जिमि नीति न त्याग
१८ भट मानी अतिसय मन माषे	उठा आपु कपि के परचारे
१९ कीरति बिजय बीरता भारी। चले चाप कर सरबस हारी॥	मानहु संपति सकल गँवाई
२० श्रीहत भए हारि हिय राजा	भएउ तेजहत श्री सब गई
२१ बैठे निज निज जाइ समाजा	सिंहासन बैठेउ सिरु नाई
रावणकी दोनों जगह हार हुई, और धनुषयज्ञमें 'रावन बान छुआ नहिं चापा'	'यहाँ सुनत फिरा मन अति सकुचाई।'

जगदातमा प्रानपति रामा। तासु बिमुख किमि लह बिश्रामा॥ ६॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी जगत्‌मात्रकी आत्मा हैं और प्राणोंके स्वामी हैं। उनसे विमुख (प्रतिकूल) होनेवाला कैसे विश्राम (सुख, शान्ति, चैन) पा सकता है?॥ ६॥

नोट—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। प्रभु जगदात्मा हैं, इनसे द्रोह करना जीवमात्रसे द्रोह करना है। ऐसेकी सम्पत्ति, श्री आदि कैसे रह सकती है? यथा—'ताहि कि संपति सगुन सुभ सपनेहु मन बिश्राम। भूतद्रोहरत मोहबस राम बिमुख रतकाम॥ ७॥' उसकी दुर्दशा उचित ही है।

पं०—ज्ञानदृष्टिसे सर्व जगत् प्रभुका ही आत्मा है, यह सब वे आप ही हैं। भक्तदृष्टिसे वे सबके प्राणनाथ हैं। अङ्गदका पैर ऐसे प्रतापी विख्यात वीरसे क्यों न उठा? इस शङ्काके उत्पन्न होनेके पूर्व ही शंकरजी उसका निवारण स्वयं ही किये देते हैं।

पु० रा० कु०—सारी सम्पत्ति मानो गँवा बैठा है। उसका तेज गया, श्री-शोभा गयी और सम्पत्ति गयी, यह कहकर अब इसीको और पुष्ट करते हैं कि इनको तो जाना ही चाहिये था, इनसे रहित होनेमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि यह तो उनका द्रोही है जो जगदात्मा हैं अर्थात् सर्वत्र सबमें व्यापक हैं, संसारके सभी भोग-पदार्थोंमें प्राप्त हैं, सबके प्राणोंके स्वामी हैं, यथा—'प्रान प्रानके जीवके जिव सुखके सुख राम', और राम हैं अर्थात् सब जगत्‌में रमण कर रहे हैं।

नोट—यहाँ विमुखकी गति और विमुखताका फल दिखाया। और आगे सन्मुखताका फल कहते हैं। विमुखको विश्राम नहीं मिलता—

कैकेयी १ राम बिमुख थल नरक न लहहीं। अवनि जमहि जाचति कैकेई।
बिधि न मीच महि बीचु न देई।' 'कुटिल रानि पछतानि अघाई॥

जयंत २ धरि निज रूप गएउ पितु पाहीं। राम बिमुख राखा तेहि नाहीं॥
सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥ अ० २। ८॥'

भुशुण्डि ३ प्रथम मोह मोहि बहुत बिगोवा। राम बिमुख सुख कबहुँ न सोवा॥

रावण ४ 'करत बिचार भएउ भिनुसारा॥४८॥' 'सभा गएउ उठि होत बिहाना॥ ३७। १॥'
'एहि बिधि जलपत भयेउ बिहाना। ७०।' सेतुबंध समयसे बिश्राम न मिला।

मा० म०—शिवजी कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी जगत्‌के आत्मा हैं और मेरे प्राणपति हैं तथा मेरे मन-मानसके हंस हैं। अतः उनसे विमुख होनेसे मेरी भी यही इच्छा थी कि खल रावणका अभिमान नष्ट हो।

उमा राम की भृकुटि बिलासा। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा॥ ७॥
तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूतपन कहु किमि टरई॥ ८॥

अर्थ—हे उमा! श्रीरामचन्द्रजीके भ्रूविलास (भौंके फिरने वा इशारे मात्र) से संसार उत्पन्न होता है और फिर नाशको (भी) प्राप्त होता है॥ ७॥ जो तिनकेको वज्र और वज्रको तिनका कर देता है, कहो तो (भला) उसके दूतका प्रण कैसे टल सकता है?॥ ८॥

नोट—१ 'उमा' सम्बोधन देकर ये वाक्य शिवजीके जनाये। **'होइ बिस्व'** से उत्पत्ति और **'पावइ नासा'** से संहार वा लय। दोनों भ्रू-विलाससे होते हैं, यथा—**'भृकुटि-बिलास सृष्टि लय होई'**।

२ **'तृन ते कुलिस०'** वानरोंको रावण निसिचरोंका आहार कहता है। अतएव अङ्गद जो तृणवत् थे वे वज्रवत् हो गये। वज्रपात होनेसे पर्वत टूट जाते हैं, यहाँ रावण सिंहासनसे गिरते बचा, सभासद सब गिर पड़े और सब निशिचर हार गये। किसीसे पैर न टसका। रावण और राक्षस वज्रवत् थे, सो तृणवत् हो गये कि वानरके हाथके थपेड़ेसे सब ऐसे गिर पड़े जैसे वायुके झोंकेसे तिनका। यथा—**'चले भागि भय मारुत ग्रसे'**। देखिये, सुग्रीव जो बालीके मारे चिन्तातुर रहता था, उसका घूँसा न सह सकता था उसका शरीर वज्रवत् कर दिया, यथा—**'तन भा कुलिस गई सब पीरा'**—(कि०)। इसी प्रकार विभीषण-रावणसे सम्मुख लड़ा जो कभी सिर भी न उठाता था, यथा—**'सो अब भिरत काल ज्यों श्रीरघुबीर प्रभाउ॥९३॥' 'रघुबीर बल दर्पित बिभीषन घालि नहिं ताकहुँ गनै'**। वैसे ही यहाँ अङ्गद रामबलके भरोसे हैं। ऐसा ही राम-रावण-युद्धके समय वानरोंने कहा है—**'जय राम जो तृन ते कुलिस कर कुलिस ते कर तृन सही॥ छं० ८०॥'**

नोट—४ दूतका प्रण नहीं टल सकता, इसका समर्थन इस युक्तिसे करना कि यह उनका दूत है जिनका सामर्थ्य यह है कि भ्रू-विलाससे ही उद्भव और संहार कर सकते हैं और तृणको वज्र और वज्रको तृण करते हैं तब आश्चर्य क्या—यह काव्यलिंग अलंकार है। ऐसे ही सुं० २६ (७) में कहा है, यथा—**'ताकर दूत अनल जेहि सिरिजा। जरा न सो तेहि कारन गिरिजा॥'**

पु० रा० कु०—श्रीरामजीकी भृकुटिके चलनेसे माया उत्पन्न होती है और उत्पत्ति, पालन एवं संहार करती है। भाव यह कि पैर न उठनेमें कपिका कुछ बल न समझो, इसमें अङ्गदका कुछ पुरुषार्थ नहीं है, यह एकमात्र रामकी महिमा है; क्योंकि वे तृणसे कुलिश और कुलिशसे तृण बना देनेवाले हैं, ये दोनों सत्त्व श्रीरामजीके ही हैं।—(रा० प्र०—**'भृकुटि-बिलास'**। भाव कि जो माया अनेक ब्रह्माण्डोंको रचती है वह भी प्रभुकी भौंह तकती रहती है, जैसा रुख देखती है वैसा ही करती है।)

पुनि कपि कही नीति बिधि नाना। मान न ताहि कालु निअराना॥ ९॥
रिपु मद मथि प्रभु सुजस सुनायो। यह कहि चल्यो बालि नृप जायो॥ १०॥

शब्दार्थ—जाया=उत्पन्न वा पैदा हुआ।=पुत्र।

अर्थ—फिर कपि (अङ्गद) ने अनेक प्रकारकी नीति कही; पर उसका काल निकट आ गया, इससे उसने उसे न माना॥ ९॥ शत्रुके गर्वको मथकर (चूरकर, नष्टकर) प्रभुका सुयश सुनाया और राजा बालीका पुत्र यह कहकर चल दिया॥ १०॥

नोट—१ **'पुनि कपि कही…'** इति। (क) 'पुनि' अर्थात् रावणका मान मथनेके पश्चात्। अथवा, पूर्व भी श्रीरामजीको परमात्मा बताते हुए तथा उसके वाक्योंका प्रत्युत्तर देते हुए कुछ-कुछ नीति भी कही थी। यथा—**'प्रीति बिरोध समान सन करिअ नीति असि आहि॥…'॥ २३॥** इत्यादि। अब फिर कही यह समझकर कि इसका मान मर्दित हो गया है, हनुमान्‌जीका पुरुषार्थ पूर्व देख ही चुका है, अब दूसरे दूतका बल भी देख लिया और लज्जित है, सम्भव है कि अब समझानेसे मान जाय। (ख) **'नीति बिधि नाना'** पदसे जो नीति हनुमान्‌जी, मन्दोदरी और विभीषणादिने

कही थी उन सबको यहाँ सूचित किया, यथा—'जदपि कही कपि अति हित बानी। भगति बिबेक बिरति नय सानी॥ सुं० २४। १॥' 'रहसि जोरि कर पतिपद लागी। बोली बचन नीतिरस पागी॥ सुं० ३६। ५॥', 'बुध पुरान श्रुति संमत बानी। कही बिभीषन नीति बखानी॥ सुं० ४१। १॥', 'बिधि नाना' से जनाया कि पूर्व कुछ ही कही थी, अबकी बहुत कही।

२ 'मान न ताहि काल निअराना' इति। श्रीरामजी रावणके कालरूप हैं, सो वे कालरूप राम अयोध्याजीसे चलकर रावणको मारनेके लिये लङ्कामें आ गये, सुबेल पर्वतपर बैठे हैं। [मिलान कीजिये 'सीता देइ मिलहु न त आवा काल तुम्हार। सुं० ५२॥', कालरूप खल बन दहन गुनागार घनबोध॥ ४७॥', 'कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता॥ ७। ४१॥'] 'मान न' अर्थात् इसीसे वह नहीं मानता, यथा— 'सुनु सुत भयउ काल बस रावन। सो कि मान अब परम सिखावन॥ ६३। ७॥' क्योंकि बुद्धिके प्रेरक श्रीरामजी ही हैं॥ (वं० पा०)। पुनः 'काल निकट आ गया' का भाव कि अब इसका मरणकाल आ गया, शीघ्र ही इसे रामचन्द्रजी मारेंगे' यथा—'तेहि अपने मन अस अनुमाना। बध्यो चहत एहि कृपानिधाना॥ ४८। ४॥' २—'बालिनृप जायो'।—पृष्ठ ११८, ११९, १२२ में इसके भाव देखिये। पुनः भाव कि वह राजकुमार है, इससे जो कुछ वह कह रहा है उसके करनेके लिये वह स्वाभाविक ही निपुण है।

३ 'रिपु मद मथि' यह मथना वैसा ही है जैसे गजगणके बीचमें सिंह पहुँचकर उनका मद-मन्थन करे। इस प्रकरणके प्रारम्भमें अङ्गदको सभामें पहुँचते समय पञ्चानन कहा है यथा—'जथा मत्तगज जूथ महँ पंचानन चलि जाइ॥ १९॥' ये शब्द सभामें पहुँचते समय कविके हैं और 'रिपुमद मथि०' ये अन्तिम शब्द हैं। यह सभाका उपक्रम और उपसंहार है। अतएव यहाँ गजगणका मद मन्थन हुआ। यही बात मंदोदरी कहेगी-'सभा माँझ जेहि तव बल मथा। करि बरूथ महुँ मृगपति जथा॥ ३६। ३॥' श्रीरघुनाथजीने जब बालिपुत्रको बुलाकर दूत बनकर जानेको कहा और वह यह कहकर हर्षित हुए कि आपने मुझे आदर दिया। उस समय 'युवराज' पदका प्रयोग कविने किया था, यथा—'अस बिचारि जुवराज तनु पुलकित हरषित हियउ॥ १७॥' यह कहकर तब अङ्गद चले। वैसे ही यहाँ उपसंहारमें वचन कहकर चलते समय 'बालिनृप जायो' पदका प्रयोग किया गया।

'रिपु मद मथि' के भाव और लोगोंने ये कहे हैं—(क) जैसे मथानीसे दही मथकर मक्खन निकाला जाता है, वैसे ही इसका मद निकाल दिया। (खर्रा)। (ख) रावण समुद्र है, उसे अङ्गदने अपने बलरूपी मन्दराचलसे मथा। (मा० म०, रा० प्र०)।

४ "प्रभु सुजस सुनायो"। हनुमान्‌जीने विभीषणजीसे श्रीरामसुयश कहा था, जिसका परिचय विभीषणजीके इन शब्दोंमें है—'श्रवन सुजस सुनि आयउँ प्रभु भंजन भवभीर। सुं० ४५।' प्रभुकी सेवकपर अत्यन्त प्रीति और कृपा रहती है, चाहे सेवक कितना ही नीच और अधम क्यों न हो। यह सुयश हनुमान्‌जीने कहा था और भी प्रभुके शरणपालकता आदि गुण कहे थे। वैसे ही यहाँ अङ्गदने रावणसे कहा। पुनः श्रीरामजीका पराक्रम कि उनके बाणसे त्रिदेव भी रक्षा नहीं कर सकते। यथा—'सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी। बिमुख राम त्राता नहिं कोपी॥ संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥ ५। २३। ७-८॥' तथा उनके अद्भुत कार्य (जैसे कि शिव-धनुषका तोड़ना, विराध, कबन्ध खर-दूषण-त्रिशिरा और बालिका वध, समुद्रबन्धन आदि) भी 'सुयश' हैं। देखिये, अङ्गदके 'सहसबाहुभुज गहन अपारा। दहन अनल सम जासु कुठारा॥···तासु गर्ब जेहि देखत भागा। २६। २-४।' तथा 'जौं खल भएसि राम कर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही' से लेकर 'तब कि चलिहि अस गाल तुम्हारा। २४। २-७।' तक जो अङ्गदने कहा है उसे सुनकर रावणने कहा है कि 'भूप सुजस खल मोहि सुनावा'। अतः इस तरहके वचन 'सुयश' हैं।

हनु० ना० अङ्क ८ में के अङ्गदके अन्तिम वचनका भाव भी इस पदमें आ गया।

"रे रे राक्षसराज मुञ्च सहसा देवीमिमां मैथिलीं मिथ्या किं निजपौरुषस्य घटनाप्रागल्भ्यमारभ्यते।
एनां पश्यसि किं न किन्नरगणैरुद्गीतदोर्विक्रमां सेनां वानरभर्तुरुद्भटभुजस्तम्भाग्र्यभीमां पुरः। ५८।"

अर्थात् अरे राक्षसराज! इन मैथिली देवीको तू शीघ्र छोड़ दे और क्या वृथा तू अपने पुरुषार्थकी महिमाको प्रारम्भ करता है, किन्नरगणोंसे गाये हुए भुजाओंके पराक्रमवाली, वानरराज सुग्रीवके योधाओंकी भुजाओंके ताड़नसे भयानक इस

वानरी सेनाको क्या तू अपने आगे नहीं देखता है ? "इति लंकाभटमुत्कटवाक्यैरधिक्षिप्य लंकामातङ्कयन्नङ्गदो निष्क्रान्तः।' अर्थात् इस प्रकार लङ्काके भटोंको भयानक वाक्योंसे ललकारकर, लङ्कापुरीको भय देते हुए अङ्गदजी निकल गये।

५ 'बालि नृप जायो' इति। इसके भाव पूर्व 'दूत पठाइय बालिकुमारा। १७।४।', 'बालि तनय बुधि बल गुन धामा। १७।६।' और 'अस बिचारि जुबराज तन'''। १७।' में आ चुके हैं। मयङ्ककारका मत है कि 'बालि नृप जायो।' से जनाया कि अङ्गद दूतत्वसे रहित हैं।

हतौं न खेत खेलाइ खेलाई। तोहि अबहिं का करौं बड़ाई॥ ११॥

शब्दार्थ—खेत=रणभूमि, यथा—'हतिहौं खेत खेलाइ खेलाई। तोहि अबहिं का करौं बड़ाई—(जायसी) 'कहेउ सगुनिअन्ह खेत सुहाए। अ० १९२।' 'खेलाइ खेलाई' मुहावरा है।=दौड़ा-दौड़ाकर, धीरे-धीरे, साँसतिसे।

अर्थ—खेल खिला-खिलाकर संग्रामभूमिमें जबतक तुझे मैं न मारूँ तबतक अभी क्या बड़ाई करूँ॥ ११॥

नोट—१ वीर करनी करके दिखाते हैं, बिना कर्म किये अपनी बड़ाई करना अनुचित है, यथा—'सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु। १। २७४।' करनी न करके प्रशंसा ही करना नीच पुरुषोंका काम है यथा—'देवि ! बिनु करतूति कहिबो जानिहैं लघु लोइ। गी० ५। ५।' (हनुमद्वाक्य श्रीजानकी प्रति) और, करनी करना मुँहसे कुछ न कहना उत्तम पुरुषोंका काम है, यथा—'एक कहहिं, कहहिं करहिं अपर एक करहिं कहत न बागहीं। ७। ८९।' इस प्रकार रावणको नीच और अपनेको उत्तम जनाया। पुनः भाव कि तू नीतिपर नहीं चलता इसीसे अपना प्रताप कथन करता है। तेरी कुछ बहादुरी देखनेमें नहीं आयी और मैं नीतिका पालन करता हूँ। करनी करना पर मुँहसे न कहना यह नीति है, यथा—'जलपसि जनि देखाउ मनुसाई। जनि जल्पना करि सुजस नासहि नीति सुनहि करहि छमा'''। छन्द ८९।'

पं०—भाव कि मैं तुझे अभी नहीं मारता क्योंकि रघुनाथजी तुझे रणमें वानरोंके साथ खेला-खेलाकर मारेंगे; तुझे दिखलायँगे कि वानर-भालु कैसा खेल खेलते हैं।

नोट—२ रावणने जो कहा था कि 'मूढ़ सिखिहि कहँ बहुत झुठाई। बालि न कबहुँ गाल अस मारा। मिलि तपसिन्ह तैं भएसि लबारा। ३३। ५-६।' इसके उत्तरमें यह कहते हुए कि 'साँचेहुँ मैं लबार भुजबीहा। जौं न उपारिउँ तव दस जीहा।' श्रीअङ्गदजीने अपने कथनको यहाँतक चरितार्थ किया। 'समुझि राम प्रताप कपि कोपा॥ ३३। ८।' से यहाँतक उनके वचनोंका चरितार्थ है। इस तरह कर्त्तव्य करके उन्होंने रावणको दिखाया कि जैसे बालि 'लबार' न था, वैसे ही मैं भी 'लबार' नहीं हूँ। लबार तू है कि इतना बड़बड़ाया और कर्तव्य कुछ न बन पड़ा। मेरा पैर भी न हटा सका।

प्रथमहि तासु तनय कपि मारा। सो सुनि रावन भएउ दुखारा॥ १२॥
जातुधान अंगद पन देखी। भय ब्याकुल सब भए बिसेषी॥ १३॥

अर्थ—कपिने प्रथम ही (सभामें आनेके पूर्व ही) उसके पुत्रको मार डाला था, वह समाचार सुनकर रावण दुखी हुआ॥ १२॥ अङ्गदकी प्रतिज्ञा देखकर सब निशिचर डरके मारे बहुत ही व्याकुल हो गये॥ १३॥

नोट—'सो सुनि०' से जनाया कि अबतक किसीने पुत्रवधकी उसको खबर न दी थी। किसीने न कहा था। यथा—'एक एक सन मरमु न कहहीं। समुझि तासु बध चुप करि रहहीं॥'''अति सभीत सब करहिं बिचारा।१८।७।९।' जब अङ्गद चले गये तब कहा, क्योंकि रावण यदि कहे भी कि तुमने रक्षा न की तो कह सकेंगे कि जिससे आपका बल न चला उससे भला हम क्या कर सकते थे ! 'रावण' अर्थात् जो जगत्‌को रुलानेवाला है, उसको ही स्वयं दुःख हुआ, वह रो दिया॥ २॥

☞ अक्षवधपर क्रोध हुआ था और यहाँ दुःखी होना कहा। इससे जनाया कि यह पुत्र अधिक बली और प्रिय था। पुनः प्रथम बार युद्ध हो रहा था इसलिये दुःख करनेका अवसर न था और यहाँ वह बात नहीं है। पुनः उस समय अपनेको वानरसे बदला लेनेको समर्थ समझता था, इससे उसको बाँध लानेको कहा था, पर अङ्गदसे तो कुछ वस न चला।

३ (क) 'अङ्गद पन देखी' इति। 'जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं राम सीता मैं हारी॥ ३३। ९।' कहकर पदको रोपना 'पन' है, यथा—'तासु दूत पन कहु किमि टरई। ३४। ८।' (ख) 'भय व्याकुल सब भए बिसेषी'। भाव कि अङ्गदने जब प्रहस्तको मारा तभी अत्यन्त भयभीत हो गये थे, यथा—'अब धौं काह करिहि करतारा। अति सभीत सब करहिं बिचारा॥ १८। ९॥' अब चरणका रोपना एवं चलते समय यह कहकर जाना कि 'हतौं न खेत खेलाइ खेलाई।...' यह प्रतिज्ञा सुनकर डर और भी बढ़ गया। अतएव वे व्याकुल हो गये। पुनः, विशेष व्याकुल हुए यह समझकर कि जिनके दूतोंका यह हाल है, यह बल है, स्वयं उनके बलका क्या ठिकाना, उनके आनेपर निशिचरकुलका भला नहीं। यथा—'जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आए पुर कवन भलाई॥'

पं०—'विशेष व्याकुल' का भाव कि प्रथम हनुमान्‌जीका पराक्रम देख उसे आजतक भूले न थे, अब इसका बल देख व्याकुलता बढ़ गयी। अथवा, यह जानकर कि वानरोंके हाथसे जीवित बचना दुर्लभ है वे व्याकुल हुए और रावणके भयसे शत्रुकी शरणमें जा नहीं सकते यह सोचकर विशेष व्याकुल हुए। दोनों तरहसे मरण निश्चय जाना।

दोहा—रिपु बल धरषि हरषि कपि बालितनय बलपुंज।
पुलक सरीर नयन जल* गहे रामपद कंज॥ ३४॥

शब्दार्थ—धरषना (सं० धर्षण)—दबाना, मर्दन करना। यथा—'डगे दिसिकुंजर कमठ कोल कलमले डोले धराधर धारि धराधर धरषा'।

अर्थ—बलराशि बालिपुत्र कपि श्रीअङ्गदजीने शत्रुके बलको धर्षितकर हर्षित हो श्रीरामचन्द्रजीके (पास आकर उनके) चरण-कमल पकड़ लिये। उनका शरीर पुलकित है और नेत्रोंमें जल भरा है॥ ३४॥

नोट—१ (क) 'रिपुबल धरषि' इति। 'रिपु मद मथि' जो ऊपर कहा था, उसीको यहाँ दोहराया है। वही भाव यहाँ है। (ख) 'हरषि' से जनाया कि रिपुमद मथन करनेमें उनको किंचित् भी श्रम न हुआ, वे दैत्यकार्यको सफल करके लौटे और कृतकृत्य हैं कि 'नाथ मोहि आदर दियो'। रिपुबलधर्षणके सम्बन्धसे 'बालितनय' पितासम्बन्धी नाम दिया। उपक्रममें भी यही नाम दिया था। यथा—'रन बाँकुरा बालि सुत बंका। १८। २।' सभामें पहुँचनेपर भी यही नाम दिया है, यथा—'बालितनय अति बल बाँकुरा। १९। ७।' अतः उपसंहार भी इसी नामसे किया। (ग) 'पुलक सरीर नयन जल' से प्रेमकी अधिकता दिखायी। यथा—'अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा.... जुग नयनन्हि जलधार बही। १। २११।' यह उपसंहार है। (घ) 'गहे रामपदकंज' से प्रकरणका उपसंहार जनाया। 'प्रभु अज्ञा धरि सीस चरन बंदि अंगद उठेउ॥...अस बिचारि जुबराज तनु पुलकित हरषित हियेउ। १७।' उपक्रम है। रामपदारविन्दकी वन्दना करके चले थे और अब लौटकर चरणोंपर सिर रखकर हाथसे उन्हें पकड़ लिया। पुनः, भक्तजन प्रायः जब किसी कार्यको चलते हैं तब चरणोंमें प्रणाम करते हैं और कार्य करके लौटनेपर भी प्रायः ऐसा ही करते हैं, यथा—'आयसु माँगि चरन सिरु नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई॥ कि० २३। ८।' और लौटनेपर 'परे सकल कपि चरनन्हि जाई। सुं० २९। ८।' इत्यादि।

पं०—रामपदकमल पकड़नेका भाव कि मैंने चरण रोपा था, मेरा चरण कोई न हटा सका, यह सब इन चरणोंकी कृपासे हुआ; इन्हींने हमारी लज्जा रक्खी, आपने ही रक्षा की। पुनः, भाव कि अब इन चरणोंको कभी न छोडूँगा।

☞ मिलान कीजिये 'व्यथयन्राक्षसान् सर्वान्हर्षयंश्चापि वानरान्। स वानराणां मध्ये तु रामपार्श्वमुपागतः॥ ९१।' अर्थात् समस्त राक्षसोंको व्यथित और सब वानरोंको हर्षित करते हुए वह (अङ्गद) वानरोंके मध्यमें श्रीरामजीके पास आ गये। (वाल्मी० सर्ग ४१)।

श्रीहनुमान्‌जी और अङ्गदजीके दौत्य प्रसंगोंका मिलान—

* सजल सुलोचन पुलकतन—(का०)

श्रीहनुमान्‌जी	श्रीअङ्गदजी

१ दोनों बड़भागी हैं—'बड़भागी अंगद हनुमाना'।

श्रीहनुमान्‌जी	श्रीअङ्गदजी
२ जानि काज प्रभु निकट बुलावा	अंगद सन कह कृपानिधाना
३ पवनतनय बल पवन समाना।०	बालितनय बुधि बल गुन धामा
४ बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु।	लंका जाहु तात मम कामा॥ काज हमार तासु हित होई।
कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु॥	रिपु सन करेहु बतकही सोई॥
५ पाछे पवनतनय सिर नावा	चरन बंदि अंगद उठेउ
६ हनुमत जनम सफल करि माना	स्वयंसिद्ध सब काम नाथ मोहि आदर दियेउ

☞ हनुमान्‌जी परमभक्त हैं; छोटे-से-छोटे प्रभुके काममें अपना जन्म सफल, अपनेको कृतार्थ मानते हैं और अङ्गदजीमें युवराजत्वकी भी गन्ध है अतः वे 'आदर दियेउ' ही मानते हैं।

७ चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना	बंदि चरन उर धरि प्रभुताई
८ अस कहि नाइ सबन्ह कहुँ माथा	अंगद चले सबहि सिरु नाई
९ पुनि पठयेउ तेहि अच्छ कुमारा	पुर पैठत रावन कर बेटा
१० आवत देखि बिटप गहि तर्जा	खेलत रहा सो होइ गइ भेंटा
११ ताहि निपाति महाधुनि गरजा	गहि पद पटकेउ भूमि भँवाई
१२ चला संग लै सुभट अपारा	निसिचर निकर देखि भट भारी

☞ दोनोंके साथ निशिचर भट थे पर हनुमान्‌जीसे उन्होंने युद्ध किया इससे वे मारे गये और यहाँ उस बारके डरे हैं इससे ये लड़े नहीं—'जहँ तहँ चले न सके पुकारी'।

१३ आएउ कपि केहरी असंका	जथा मत्त गजजूथ महँ पञ्चानन चलि जाइ
१४ देखि प्रताप न कपि मन संका	गएउ सभा मन नेकु न मुरा
१५ कह लंकेस कवन तैं कीसा	कह दसकंठ कवन तैं बंदर
१६ 'तुम्हसे सठन सिखावनदाता।...' तासु दूत मैं	मैं रघुबीर दूत दसकंधर
१७ जाके बल लवलेस ते जितेउ चराचर झारि	नृप अभिमान मोहबस किंबा
१८ हरि आनेहु प्रिय नारि	हरि आनेहु सीता जगदंबा

☞ 'जगदम्बा' में 'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया' से 'धरे जो बिबिध देह सुर त्राता' तकका भाव सन्निविष्ट है।

१९ जानउ मैं तुम्हारि प्रभुताई। सहसबाहु सन परी लराई॥	एक बहोरि सहसभुज देखा
२० समर बालि सन करि जसु पावा	एक कहत मोहि सकुच अति रहा बालि की काँख
२१ सुनि कपि बचन बिहँसि बहरावा	अंगद बचन सुनत सकुचाना

☞ अङ्गदके 'तासों कबहुँ भई ही भेंटा' सुनकर सकुचा क्योंकि यह उसके घरकी बात थी।

२२ सुनहु मान तजि मोर सिखावन	सुनु रावन परिहरि चतुराई

(मान इसलिये कि हनुमान्‌जी अपराधीकी हैसियतसे गये थे। चतुराई इसलिये कि बसीठीकी बातचीत है)।

२३ भ्रम तजि भजहु भगत भयहारी	भजसि न कृपासिंधु रघुराई
२४ प्रनतपाल रघुनायक०	प्रनतपाल रघुबंसमनि
२५ गये सरन प्रभु राखिहहिं०	आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करहिंगे०
२६ संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥	जौं खल भयेसि राम कर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राख न तोही॥
२७ बिनती करउँ जोरि कर रावन	अब सुभ कहा सुनहु तुम्ह मोरा
२८ मोरे कहे जानकी दीजै	सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा

☞ अङ्गद उसीके पास भेजे हुए दूत हैं, हनुमान्‌जीने अपनेको बरबस अपने मनसे उसके पास पहुँचाया, स्वामीके

श्रीहनुमान्‌जी	श्रीअङ्गदजी

आदेशसे नहीं। शिवजी (रुद्रावतार) स्वयं भक्तका उपकार करना चाहते हैं अङ्गदजी जानते हैं कि हम अधिकारी हैं अतः वे विनती नहीं करते।

	श्रीहनुमान्‌जी	श्रीअङ्गदजी
२९	सहित सहाय रावनहि मारी	तोहि पटकि महि सेन हति चौपट करि०
३०	आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी	तव जुबतिन्ह समेत सठ जनकसुतहि लै जाउँ ॥
३१	बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना	धरहु कपिहि धरि मारहु सुनि अंगद मुसुकाइ

☞ हनुमान्‌जी कुछ न बोले क्योंकि ये तो आगे उपद्रवका बहाना वा अवसर ही खोज रहे थे। अङ्गदने हँसकर मुँहतोड़ जवाब दिया कि 'गाल बजावत तोहि न लाजा'।

	श्रीहनुमान्‌जी	श्रीअङ्गदजी
३२	उलटि पलटि लंका सब जारी	रिपुबल धरषि हरषि कपि
३३	तात मात हा करिय पुकारा	रावण ही रो दिया—'भवन गएउ बिलखाइ'
३४	निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं	समाचार पुनि सब कहे
	कल्पसम बीति।० कितिक बात प्रभु जातुधान की।···	गढ़ के बालि कुमार

☞ श्रीहनुमान्‌जी सीताजीका समाचार लेने भेजे गये थे अतः उन्होंने उन्हें 'मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा।०' क्योंकि वे जासूस थे। और, अङ्गद रावणके पास भेजे गये थे, एलची थे, इसके आगे युद्ध होना है अतः इन्होंने गढ़का समाचार लिया। शत्रुके बलकी परीक्षा दोनोंने ली। एकने भूखके बहाने और दूसरेने पद रोपकर।

	श्रीहनुमान्‌जी	श्रीअङ्गदजी
३५	कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका	रावन जातुधान कुल टीका।० तासु मुकुट तुम्ह चारि चलाए। कहहु तात कवनी बिधि पाए॥
३६	बोला बचन बिगत अभिमाना	सुनु सर्बग्य प्रनत सुखकारी
३७	सो सब प्रताप रघुराई	सोइ गुन सागर ईस राम कृपा जापर करहु
३८	नाथ न कछू मोरि प्रभुताई	स्वयं सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदर दियेउ
३९	कर गहि परम निकट बैठावा	अति आदर समीप बैठारी
४०	सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत	अस बिचारि जुवराज तन पुलकित हरषित हियेउ
४१	कह मारुतसुत सुनहु प्रभु०। पवन-तनय के बचन सुनि बिहँसे राम सुजान	धर्महीन प्रभुपद बिमुख काल बिबस०। परम चतुरता श्रवन सुनि बिहँसे राम उदार
४२	सीताजीके सन्मुख होनेके समयसे अन्ततक १७ दोहोंमें कथा १२ से २९ तक	रावण सन्मुख होनेसे अन्ततक १७ दोहों में कथा १८ से ३४ तक

४३ प्रभुके पाससे चलते समयसे अन्ततक ५-५ बार प्रभुका स्मरण दोनोंने किया है।

श्रीहनुमान्‌जी		श्रीअङ्गदजी
चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा···	१	बंदि चरन उर धरि प्रभुताई
चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना	२	प्रभु प्रताप उर सहज असंका
बार बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवन तनय०	३	गएउ सभा दरबार तब सुमिरि रामपदकंज
लंका चलेउ सुमिरि नरहरी	४	रामप्रताप सुमिरि मन बैठ सभा०
पैठा नगर सुमिरि भगवाना	५	समुझि रामप्रताप कपि कोपा

४४ उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते जारि गएउ कपि लंका। जातुधान अंगद पन देखी। भय ब्याकुल सब भये बिसेषी॥

४५ कार्य करके लौटनेपर दोनोंको दो-दो बार तात वा सुत सम्बोधन किया है—

श्रीहनुमान्‌जी		श्रीअङ्गदजी
कहहु तात केहि भाँति जानकी	१	तात सत्य कहु पूछउँ तोही
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं	२	कहहु तात कवनी बिधि पाए

अङ्गद-दौत्य-प्रसङ्ग समाप्त हुआ

मन्दोदरीका चतुर्थ उपदेश

दो०—साँझ जानि दसकंधर* भवन गएउ बिलखाइ।
मंदोदरी निसाचरहिं† बहुरि कहा समुझाइ॥ ३४॥

अर्थ—संध्या समय जानकर दशकंधर रावण बिलखकर महलमें गया। मन्दोदरीने फिर निशाचर रावणको समझाकर कहा॥ ३४॥

नोट—१ 'साँझ समय'। इसी समय दरबार सदा बरखास्त (विसर्जन) होता है। प्रायः इसी समय दरबारसे उठकर वह जाया करता है। 'संध्या समय जानि दससीसा। भवन चलेउ...। १०। ६।' देखिये।

प० प० प्र०—'संध्या समय' का अर्थ संध्या करनेका समय भी हो सकता है अतः 'संध्या जानि' नहीं कहा। 'साँझ जानि' में भाव यह है कि रावणने अबतकके विविध अनुभवोंसे निश्चित जान लिया कि अब मेरे आयुष्यके अस्तका समय आ गया।

नोट—२ 'भवन गएउ बिलखाइ'। संध्या समय घर जानेपर आज नाच-रंगका देखना नहीं कहा गया। इससे जनाया कि नाचरंग-तमाशा उस दिनसे बंद हो गया जिस दिन कि अदृश्य श्रीरामबाणने उसके किरीट, कुण्डल और मन्दोदरीके कर्णफूल काट गिराये थे। सब सभा डरी हुई है—'रावन सभा ससंक सब देखि महारस भंग। १३।' पुनः, आज उसका मानमर्दन बीच सभामें हुआ है, इससे वह बहुत उदास है, नाच-रंग भी नहीं भावेगा। पुनः, 'बिलखाइ' से जनाया कि सभामें मानमर्दन होनेसे रावण रो दिया, उसे बड़ा ही दुःख हुआ है।

मा० म०—बिलखना इससे भी कि घरमें भी सुख न मिलेगा, वहाँ स्त्री पीछे पड़ेगी। वह अपने वचन-विशिखसे हृदय विदीर्ण करेगी, अङ्गदसे भी अधिक लज्जित करेगी। (पं०)। वा, प्रहस्त-वधसे एवं अपनी सारी सभाको निर्बल जानकर बिलख गया। अथवा, इससे बिलखा कि वानरका बालक हम सबका बल लखकर और अपना बल-पौरुष सबको जनाकर चला गया, अब उससे कौन युद्ध कर सकेगा? 'निशाचरहि' पद देकर कविने प्रथम ही जना दिया कि वह शिक्षा न मानेगा। दूसरे यह भी जनाया कि अब उसके सिखावनमें बड़े कठोर शब्दोंका वह प्रयोग करेगी जो पतिव्रताके लिये अयोग्य है। 'बहुरि' अर्थात् पूर्व समझा चुकी है अब फिर भी समझाती है। 'समुझाइ' से जनाया कि विस्तृत उपदेश दिया है।

प० प० प्र०—मन्दोदरीका यह अन्तिम उपदेश यद्यपि 'कंत' शब्दसे प्रारम्भ होता है तथापि आगे इसमें शृङ्गार-रसका नाम-निशान भी नहीं मिलता। प्रथमोपदेशके टिप्पण देखिये। इसमें 'तोहि, तव' आदि एकवचनका उपयोग भी हुआ है। इस उपदेशमें मन्दोदरी 'कार्येषु मन्त्री' की भूमिकापर आरूढ़ होकर अन्तिम उपाय समझकर 'भय, आशा' छोड़कर निस्पृह कर्त्तव्यनिष्ठ मन्त्रीके समान फटकारती है। षड्गुणयुक्त पतिव्रता स्त्रीका यह कर्तव्य ही है। 'कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी भोज्येषु माता शयनेषु रम्भा। धर्मानुकूला क्षमया धरित्री भार्या तु षाड्गुण्यवती सु दुर्लभा।' (सुभाषित)।

कंत समुझि मन तजहु कुमतिही। सोह न समर तुम्हहि रघुपतिही॥ १॥
रामानुज लघु रेख खचाई। सोउ नहि नाँघेहु असि मनुसाई॥ २॥

अर्थ—हे कान्त! मनमें समझकर कुमतिको छोड़ दो। तुमसे और रघुपतिसे युद्ध नहीं शोभा देता अर्थात् तुम उनका सामना करनेको समर्थ (वा योग्य) नहीं हो, यह युद्ध सर्वथा अयोग्य है॥ १॥ श्रीरामचन्द्रजीके छोटे भाई लक्ष्मणजीने छोटीसी लकीर खींची थी, उसे भी तुम न लाँघ सके। यही तो तुम्हारी बहादुरी (पुरुषत्व) है (न)?॥ २॥

* साँझ जानि दसमौलि तब—(मा० म०, का०)।

† रावनहि—(भा० दा०, रा० गु० द्वि०, छ०)। पर इसमें एक मात्रा कम है। 'निसाचरहि'—(पं०, ना० प्र०, मा० म०, का०)।

नोट—१ 'कंत'—१४ (८) देखिये। 'तजहु कुमतिही' के भाव कि तुम्हारे हृदयमें दुर्बुद्धिने वास किया है, यथा—'तव उर कुमति बसी बिपरीता'। तुम हितको अहित समझते हो और अनहितको हित, यथा 'हित अनहित मानहु रिपु प्रीता'। कुमति न छोड़नेसे विपत्ति आयेगी, यथा—'जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना।' क्या कुमति है सो आगे कहती है—'सोह न समर तुम्हहि रघुपतिही'। श्रीरघुपतिसे समर करनेकी इच्छा ही 'कुमति' है। पुनः, कुमति यह कि 'काल राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी'। तुम सीताको लौटाना नहीं चाहते यह तुम्हारी दुर्बुद्धि है।

प० प० प्र०—'सोह न समर'''।—इसका कारण मन्दोदरीने ही अपने द्वितीय उपदेशमें इस प्रकार कहा है—'तुम्हहि रघुपतिहि अन्तर कैसा। खलु खद्योत दिनकरहि जैसा॥' इस वचनकी पुष्टिके लिये ही आगे 'रामानुज लघु रेख खचाई' से 'मुधा मान ममता मद बहहू' तक विविध उदाहरण देकर समझाती है।

नोट—२ 'रामानुज लघु रेख खचाई।''' इति। (क) प्रथम कहा कि रघुपतिसे समर करनेमें तुम्हारी शोभा नहीं है। अब इस बातको प्रमाणोंसे पुष्ट करती है। (ख) यहाँ लक्ष्मणजीका पञ्चवटीमें रेखा खींचना वर्णन करके यह बात अरण्यकाण्डमें होना जना दी है। कविकी शैली है कि वे जो बात आगे भी कहीं कहनी है उसे दोनों जगह नहीं लिखते। एक ही स्थानपर लिखकर दूसरे स्थलपर भी उसका होना जना देते हैं। जैसे सुवेल पर्वतपर 'रुचिर मृगछाला' का उल्लेखकर अरण्यमें कनकमृगका चर्म लाना जना दिया। अरण्यकाण्डमें 'सून बीच दसकंधर देखा' के 'सून' शब्दमें कविने रेखाका लक्ष्यमात्र दिया था और यहाँ स्पष्ट लिखा है।

☞ कथा इस प्रकार है कि 'मरम बचन जब सीता बोला। हरि प्रेरित लछिमन मन डोला', तब लक्ष्मणजीने अपने धनुषसे पर्णशालाके चारों ओर एक लकीर खींच दी कि यदि इसके भीतर कोई निशिचर आवेगा तो भस्म हो जायगा। रावण यदि उसके भीतर जाता तो भस्म हो जाता। यती रावणने रेखा देख बँधी भिक्षा लेना स्वीकार न किया, तब श्रीसीताजी भिक्षा देनेको बाहर निकलीं, रेखासे बाहर चरण रखते ही रावणने उनका हरण किया। रेखाके भीतर जानेका साहस रावण न कर सका था, इसी बातको लेकर मन्दोदरी रावणके बल-गर्वको चूर्ण कर रही है।

'रामानुज' पद प्रायः लक्ष्मणजीके लिये रूढ़ है। पर यहाँ 'रामानुज' में यह भी भाव है कि 'रामके छोटे भाई' की खींची हुई रेखा तुमसे लाँघी न गयी जब कि वे सम्मुख भी न थे, तब भला उनके बड़े भाईसे तुम क्या खाके, किस बलसे, लड़नेका साहस कर रहे हो? उनसे जीतना असम्भव है। यथा रामचन्द्रिकायाम्—'क्यों रण जीतहुगे उनसे जिनकी लघु रेख न नाँघी गई'। और भी देखिये—

'रे रे रावण शम्भुशैलमथनप्रख्यातवीर्यः कथं रामं योद्धुमिहेच्छसीदमखिलं चेत्तन्न युक्तं तथा। रामस्तिष्ठतु लक्ष्मणेन धनुषा रेखा कृतालङ्घिता तच्चारेण च लङ्घितो जलनिधिर्दग्धा हतोऽक्षः पुरी॥ हनु० ८। ३६।' अर्थात् अरे रे रावण! जो कैलाशमन्थनसे प्रसिद्ध कीर्तिवाला हो रहा है! तू रामचन्द्रजीसे युद्ध करनेकी इच्छा करता है सो यह सर्वथा अयोग्य है। राम तो अलग रहे, तू तो लक्ष्मणजीके धनुषकी रेखाको भी न लाँघ सका; और रामदूतने तो समुद्र लाँघकर अक्षकुमारको मारा और लङ्काको भस्म कर दिया। (विरूपाक्षने भी ऐसा ही कहा है—) 'सीतारक्षणदक्ष-लक्ष्मणधनुर्लेखापि नोल्लङ्घिता हेलोल्लङ्घितवारिधिः कपिकुलैः सार्धं स रामो महान्॥ हनु० ९। ९।' अर्थात् तुमसे सीतारक्षणमें चतुर लक्ष्मणकी धनुष-रेखा न लाँघी गयी तब क्रीडासे वानरयूथोंके साथ सहज ही समुद्र उल्लङ्घन करनेवाले राम तो बड़े ही हैं।

'असि मनुसाई' अर्थात् बस यही तुम्हारा पुरुषत्व है न? तुम्हारी वीरताकी परीक्षा हो चुकी।—यहाँ 'अर्थान्तर-न्यास अलङ्कार' है। क्योंकि वह यहाँ पूर्वकथित वाक्यका समर्थन विशेष सिद्धान्तसे कर रही है।

☞ मन्दोदरीको यह बात कैसे मालूम हुई? यह बात उसके मुँहसे कहलाकर कवि बताते हैं कि रावणका उसपर इतना अधिक प्रेम था कि वह उससे सब कह देता था। यतीवेष धारण करना, लक्ष्मणका रेखा खींचना इत्यादि सभी कह दिया था।

प्र० स्वामीजीका मत है कि यह घटना अरण्यकाण्डमें "मरम बचन जब सीता बोला।" के अनन्तर ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है। कारण कि कल्पभेदसे लीलाचरितमें कुछ-कुछ भेद होते ही हैं। मन्दोदरीके द्वितीय उपदेशसे

स्पष्ट हो जाता है कि मन्दोदरी 'विष्णुभगवान् अवतारीके अवतार संदर्भ दे रही है, न कि परब्रह्म अवतारीके रामावतारके।' 'अतिबल मधु कैटभ जेहि मारे।'''। ६। ६। ७।' देखिये।

पिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा। जाके दूत केर यह* कामा॥ ३॥
कौतुक सिंधु नाघि तव लंका। आएउ कपि केहरी† असंका॥ ४॥
रखवारे हति बिपिन उजारा। देखत तोहि अक्ष तेहि मारा॥ ५॥
जारि सकल‡ पुर कीन्हेसि छारा। कहाँ रहा बल गर्ब तुम्हारा॥ ६॥

अर्थ—प्राणपति! तुम उसे संग्राममें जीतोगे जिसके दूतके ये काम हैं?॥३॥ खेलसे ही समुद्र लाँघकर तुम्हारी लङ्कामें एक कपिसिंह निर्भय आया॥ ४॥ रखवालोंको मारकर उसने अशोकवन उजाड़ डाला और तुम्हारे देखते उसने अक्षयकुमारको मार डाला॥ ५॥ सम्पूर्ण नगर जलाकर राख कर दिया तब तुम्हारा बलका घमंड कहाँ था? अर्थात् तब उसे पकड़कर क्यों न मार डाला?॥ ६॥

नोट—१—'**ताहि जितब संग्रामा। जाके दूत०**' इति॥ श्रीलक्ष्मणजीकी रेखाका प्रमाण देकर दूसरा प्रमाण श्रीहनुमान्‌जीका देती है। कारण कि सीताहरणके बाद दूसरा अवसर रावणको अपना पुरुषार्थ श्रीरामजीके मुकाबिलेमें दिखानेका यह आया था; अतः उसी क्रमसे कहा। दूसरे, ये दो प्रमाण साथ-साथ देकर जनाया कि तुम उनके सूनेमें भी एक लघु रेखा तक न लाँघ सके और उनका एक दूत लंकिनी, सिंहिका और कालके रहते भी समुद्र लाँघ आया। एकसे रावणको अबल और दूसरेसे श्रीरामजीको सबल दिखाया। [वं० पा०—'लघु रेख०', यह तो उनके भाईका कार्य और प्रताप सुनाया, अब उनके दूतका कार्य सुनो।] (ख) '**जितब संग्रमा**' का भाव कि तब तो संग्रामकी बात ही न थी, दूत अकेला था, बलवान् होते तो उसे मारकर नगर बचा न लेते? तब तो घरकी बात थी और अब सम्मुख सेना भरसे समर होगा तब जय कैसे सम्भव है? '**नाथ न पूर आव एहि भाँती॥ बारिधि नाघि एक कपि आवा। तासु चरित मन महुँ सब गावा॥'''जारत नगर कस न धरि खाहू॥**' का भाव इसमें है। ९ (१-२) देखिये। (ग) 'यह कामा'। आगे क्रमसे दूतके चरित कहती है। भाव कि समुद्रलंघनादि सभी उसके कर्म अद्भुत और अघटित घटनाएँ हैं, सब कर्म उसके उत्तरोत्तर बढ़े-चढ़े हुए हैं। इसके कर्मोंसे उसके स्वामीके बलका अंदाजा कर लो। दूतमें यह सामर्थ्य है तब उनका सामर्थ्य न जाने क्या होगा?

२ (क) 'कौतुक सिंधु नाँघि'। भाव कि एक तो सौ योजन पाटका समुद्र लाँघना ही असम्भव था, दूसरे उसमें तुम्हारी ओरसे सिंहिकाका पहरा था जिससे पक्षीतक इस पार न आ सकता था। पर उसके लिये सिंहिकावध और सिंधुलङ्घन दोनों खेलसे ही जान पड़े। (ख) 'तव लङ्का' का भाव कि तुम्हें बड़ा गर्व था कि यह देवताओंके लिये भी दुर्धर्ष है, इत्यादि। यथा—'**सुंदर सहज अगम अनुमानी। कीन्हि तहाँ रावन रजधानी॥ १। १७९।**' यहाँ काल और लङ्किनीका पहरा है। यदि कोई आ भी जाय तो ये प्रथम ही उसका प्राण हर लेंगे। पर वे भी उसका कुछ न कर सके। (ग) 'आएउ'। भाव कि तुम्हारी जिस पुरीमें इन्द्रका भी गमगुजर न था उसीमें वह ऐसा चला आया जैसे कोई अपने घरमें आवे, जावे, बातचीत करे। इसी भाँति वह श्रीसीताजीसे जाकर मिला, बातचीत की, फल खाये, इत्यादि। यथा—

'यत्संदेशहरेण मारुतसुतेनातारि वाराम्निधिः क्षिप्रं गोष्पदवन्निजालयमिव प्रावेशि लंकापुरी।
सीताऽदर्शि समभ्यभाषि च वनं चाभञ्जि रक्षःपतेः सैन्यं भूर्यवधि व्यदाहि च पुरी रामः कथं वक्ष्यते॥
हनु० ८। १५।'

(अङ्गदजीने रावणसे कहा है कि जिनके दूत गौके खुरकी तरह शीघ्रतासे समुद्रको तर गये, अपने घरकी तरह लंकामें प्रवेश कर गये, सीताजीके दर्शनकर उनसे बातचीत कर तुम्हारी सेनाको मार, लङ्काको जलाया, तब उन श्रीरामजीका तो कहना ही क्या?)

ये सब कार्य पुरुषार्थ और निःशङ्कता सूचित करते हैं; अतः कपिको '**केहरी अशंका**' विशेषण दिया। पुनः,

---

* अस—(का०)। यह—(भा० दा०) † केसरी (का)। ‡ मगरु सब (का०)।

'अशङ्का' इससे भी कहा कि दरबारमें आकर तुम्हारा प्रताप देखकर भी वह न डरा, यथा—'देखि प्रताप न कपि मन संका।' केहरी और अशंकके भाव 'सिंह ठवनि। १८।' और दोहा १९ 'जथा मत्त गज जूथ महँ पंचानन···' देखिये।

३ (क) 'रखवारे हति बिपिन उजारा' का भाव कि यह वन तुमको प्राणप्रिय था। इसकी रक्षाके लिये एक-दो नहीं वरन् बहुत भट वहाँ रक्खे थे और उन्होंने रक्षा की, अतः 'रखवारे' पद दिया। पर सब मारे गये। पुनः, 'रखवारे' का भाव कि इतने रक्षकोंके रहते वह जानकीजीके पास कैसे गया, यह तो समझो। (ख) 'देखत तोहि' दीपदेहरी है। भाव कि वनविध्वंस, अक्षवधादि सब उसने तुमको ललकारकर किये, मर्द होते तो सबको बचा न लेते? यथा—'उतरि सिंधु जारो प्रचारि पुर जाको दूत बिसेष'—(गी० लं० १)। 'रहे तहाँ बहु भट रखवारे। कछु मारे कछु जाइ पुकारे॥ ५। १८। २। नाथ एक आवा कपि भारी।'···'कछु पुनि जाइ पुकारे प्रभु मर्कट बल भूरि॥ ५। १८।' तक, इत्यादि ललकार है। पुनः भाव कि उसने सब तुम्हारे सामने किया और तुमने सीताहरण उनका एक अनिष्ट किया सो भी चोरीसे। (ग) 'अक्ष जेहि मारा' का भाव कि पुत्र अपनी आत्मा है, यदि तुममें बल था तो उसको मारे जाते तुम कैसे देख सके?

३ (क) 'जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा'। यह काम सबसे बड़ा और अद्भुत किया—सुं० ३३ (५-६) देखिये। 'देखत तोहि' इसके साथ भी है। भाव कि तुमने तो उसकी पूँछ जलानी चाही सो तेल, घी, कपड़े लगानेपर भी न जला सके और उसने उसी अग्निसे सोनेकी लंका जला दी। (ख) 'कहाँ रहा बलगर्ब तुम्हारा'। यही आशय अङ्गदजीके 'सो भुजबल राखेहु उर घाली। २९ (८) का है। अर्थात् उस समय किसी कारणसे वह बल तुमने छिपा रक्खा था कि कहीं इसे मालूम न हो जाय? पुनः भाव कि नगर जलनेके साथ तुम्हारा गर्व भी जल गया।

☞ मन्दोदरीके इन वचनोंमें भाव यह है कि दूतके इन कामोंसे उसके स्वामीका प्रताप और अजित होना स्थापित होता है। अब भी तुम्हें लज्जा नहीं आती? मिलान कीजिये—

'उदधि अपार उतरत नहिं लागी बार केसरी कुमार सो अदंड कैसो डाँड़िगो। बाटिका उजारि अच्छ रच्छकनि मारि भट भारी भारी रावरे के चाउर से काँड़िगो॥······कहे की न लाज अजहूँ न आए बाज सहित समाज गढ़ राँड़ कैसो भाँड़िगो। क० ६। २४।', 'सिंधु तर्‍यो उनको बनरा तुम पै धनुरेख गई न तरी। बाँदर बाँधत सो न बँध्यो उन बारिधि बाँधि कै बाट करी॥ श्रीरघुनाथप्रताप की बात तुम्हैं दसकंठ न जान परी। तेलहु तूलहु पूँछि जरी न जरी जरी लंक जराय जरी॥ रा० चं० १६। १२।'

इन उद्धरणोंके सब भाव इन वचनोंमें आ गये।

वीरकवि—'पिय तुम्ह···कामा' में अर्थापत्ति प्रमाण अलंकार है। 'रखवारे···गर्व तुम्हारा' दूतकी बड़ाईसे स्वामीकी बड़ाई प्रकट होना 'व्याजस्तुति अलंकार' है। राक्षसोंके रहते वाटिका उजाड़ना, रावणके निरीक्षणमें पुत्रका मारा जाना, लंकानगर भस्मीभूत होना 'तृतीयविभावना अलंकार' है।

अब पति मृषा गाल जनि मारहु। मोर कहा कछु हृदय बिचारहु॥ ७॥
पति रघुपतिहि नृपति जनि* मानहु। अगजगनाथ अतुल बल जानहु॥ ८॥

अर्थ—हे स्वामिन्! अब झूठ ही गाल मत मारो (डींग मत हाँको), कुछ मेरा कहना हृदयमें विचार करो॥७॥ हे पति! रघुपतिको नर-राज मत मानो (किन्तु) चराचरका स्वामी और असीम बलवाला जानो†॥ ८॥

नोट—१ (क) 'मृषा गाल जनि मारहु'। भाव कि बल दिखानेका अवसर मिला तब कुछ कर ही न सके, इसीसे डींग मारना व्यर्थ है। बलगर्व रह नहीं गया। अतः 'मृषा' पद दिया। (ख) 'कछु हृदय बिचारहु'। भाव कि थोड़ा-सा भी विचार करोगे तो मेरे वचनको ठीक समझकर मान लोगे कि श्रीरामचन्द्रजी मनुष्य नहीं हैं, इसीसे वानरों और स्वयं उनके द्वारा अद्भुत कार्य हो रहे हैं। शिवजीके उपदेशसे मिलान कीजिये जो उन्होंने देवताओंके मिषसे ब्रह्माजीको

* मति (का०)।

† वीरकवि—रामचन्द्रका सत्य राजत्वगुण निषेध करके उसका धर्म अगजगनाथमें स्थापन करना 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार' है।

श्रीसियरघुवीरविवाहके समय दिया है—'सिव समुझाए देव सब जनि आचरज भुलाहु। हृदय बिचारहु धीर धरि सिय रघुवीर बिआहु। बा० ३१४।' यही भाव कवितावलीके 'कानन उजारि अच्छ मारि धारि भूरि कीन्ही, नगर प्रजार्‍यो सो बिलोक्यो बल कीस को। तुम्हें विद्यमान जातुधान मंडली में कपि कोपि रोप्यो पाउँ सो प्रभाउ तुलसीस को॥ कंत सुनु मंत कुल अंत किए अंत हानि, हातो कीजै हीय ते भरोसो भुज बीस को॥...क० लं० २२।' इस पदमें है।

२ (क) 'नृपति जनि मानहु।' वह नृपति मानता है, यथा—'भूप सुजस खल मोहि सुनावा।', 'नर कर करसि बखान। २५।,' 'जिन्ह के बल कर गर्व तोहि अइसे मनुज अनेक। ३०×।' अतः कहा कि नृपति न समझो। 'मानहु' का भाव कि तुम मानते हो पर ऐसा है नहीं। १४ (८), 'सो भनु मनुज खाब हम भाई। ९। ६।' देखो। 'अगजगनाथ अतुल बल जानहु'। अर्थात् वे मनुष्योंके ही राजा नहीं हैं वरन् चराचरमात्रके स्वामी हैं। चराचरनाथ हैं अतः उनका बल चर-अचर सबसे अधिक हुआ। इसीसे 'अतुल बल' कहा। 'अतुल बल' कैसे जाना ? इसका प्रमाण आगे देती है।

बान प्रताप जान मारीचा। तासु कहा नहिं मानेहि नीचा॥ ९॥
जनकसभा अगनित भूपाला*। रहे तुम्हौ बल अतुल† बिसाला॥ १०॥
भंजि धनुष जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥ ११॥

अर्थ—मारीच उनके बाणके प्रतापको जानता था। अरे नीच! तुमने उसे नीच मानकर उसका कहा न माना॥९॥ श्रीजनकजीकी सभामें असंख्यों राजा थे, अतुलित भारी बलवाले तुम भी (तो) वहाँ थे॥ १०॥ धनुष तोड़कर उन्होंने श्रीजानकीजीको ब्याहा तब तुमने उन्हें संग्राममें क्यों न जीत लिया॥ ११॥

नोट—१ 'बान प्रताप जान मारीचा'। अतुलित बलमें उनके बाणका प्रताप प्रथम कहा; क्योंकि संग्राममें बाणसे युद्ध होगा यह निश्चय जानती है। खरदूषणादिका वध, बालीका वध, विराधवध एवं मारीचवध बाणद्वारा हुआ यह सुन ही चुकी है और अङ्गदसे भी सुना है कि रामबाण तेरे (रावणके) लहूके प्यासे हैं, यथा—'तव सोनित की प्यास तृषित रामसायक निकर। ३२।', 'जबहि समर कोपिहिं रघुनायक। छुटिहहिं अति कराल बहु सायक॥ तब कि चलिहि अस गाल तुम्हारा। २७। ६-७।' इत्यादि। मंदोदरीके हृदयमें बाणका प्रताप ऐसा डट गया है कि प्रथम ही उपदेशसे उसने बाणका प्रताप कहना प्रारम्भ कर दिया, यथा—'रामबान अहिगन सरिस निकर निसाचर भेक। जब लगि ग्रसत न तबहि लगि जतन करहु तजि टेक। सुं० ३६।' और यहाँ अन्तिम उपदेशमें फिर बाण प्रताप दिखाती है। यहाँ चरितक्रम भंग हुआ है। पुनः, क्रमभंग इस विचारसे नहीं भी है कि यह कथा विश्वामित्रयज्ञरक्षाके समयकी है और धनुष-भंग उसके पीछे हुआ। अतः वही क्रम यहाँ भी रक्खा। मारीचने क्या बाणका प्रताप जाना था? यह उसने स्वयं कहा है। यथा—'मुनि मख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥ सत जोजन आयेउँ छन माहीं। तिन्ह सन बयरु किये भल नाहीं॥ भइ मम कीट भृङ्ग की नाईं। जहँ तहँ मैं देखौं दोउ भाई॥ आ० २५।'

२—'तासु कहा नहिं मानेहि नीचा' इति। (क) कहा=बचन, उपदेश। उसने भी कहा था कि ये चराचरपति हैं और अति शूरवीर हैं, इनसे वैर न कीजिये। यथा—'ते नररूप चराचर ईसा॥...तासों तात बयरु नहिं कीजे। मारे मरिय जिआए जीजे॥', 'जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहिं बिरोधि न आइहि पूरा॥' इत्यादि। (ख) 'नीच' रावणका विशेषण है। क० लं० १८ में भी उसे मन्दोदरीने नीच कहा है, यथा—'रे नीच! मारीच बिचलाइ हति ताड़का, भंजि सिवचाप सुख सबहिं दीन्ह्यो'। दोहावली और गी० लं० १ में मारीचके लिये नीच विशेषण आया है। यथा—'सुकृत न सुकृती परिहरै कपट न कपटी नीच। मरत सिखावन सो दियो गीधराजमारीच॥ दो० ३४१।', 'कौतुकही मारीच नीच मिस प्रकट्यो बिसिष प्रताप' (गी०)। अरण्यकाण्ड मानसमें भी 'लीन्ह नीच मारीचहि संगा' है पर इसमें 'नीच' दोनों पक्षका अर्थ दे सकता है। इस प्रकार शंका करनेवाले नीचको मारीचका विशेषण समझ ले सकते हैं। (ग) 'नहिं मानेहि नीचा' इसका अर्थ लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया है। यथा—

* महिपाला। † विपुल (गौड़जी, का०)।

(१) बं० पा०—उसके कहनेपर भी आपने (इसमें) छोटाई (नीचता) न मानी, अभिमानपर स्थित रहे। (२) वीरकवि—पर उसका कहना आपने नीचतासे नहीं माना। (३) पु० रा० कु० और पं० ने 'हे नीच' भी अर्थ दिया है। (४) ऐसी नीच बुद्धि है। (५) और किसीने यह अर्थ किया है कि 'उसका कहा नीच अर्थात् तुच्छ न मानो किंतु उत्तमोत्तम समझो'। (६) रा० प्र०—'उसका हित बचन नीच करि न माना'। (७) दीपदेहरीन्यायसे अन्वय इस प्रकार होगा '**तासु कहा नहि मानेहि, मानेहि नीचा**' अर्थात् '**नीचा मानेहि, तासु कहा नहिं मानेहि**', उसे नीच मानकर तुमने उसका कहा नहीं ही माना। शंकानिवारणार्थ ऐसा अर्थ किया जा सकता है। श्री नं० प० जीने इस अर्थको ग्रहण किया है।

☞ मैं अपने मतके समर्थनमें प्र० स्वामीजी तथा श्रीत्रिपाठीजीका मत यहाँ देता हूँ।

वि०त्रि०—'**बान प्रताप······नीचा**' इति। स्त्रीका मान-मर्याद, लोक-परलोक सब पतिपर अवलम्बित है। सभाके बीचमें अङ्गदद्वारा रावणकी इतनी दुर्दशा, मन्दोदरीको किसी भाँति सह्य नहीं है। अङ्गदके लौटनेका अर्थ यही है कि लङ्कापर धावा होनेमें अब विलम्ब नहीं है। मन्दोदरी देखती है कि सब भाँतिसे मेरा सर्वनाश उपस्थित है। स्त्रीको पतिपुत्रसे प्यारा संसारमें कोई नहीं है। सो यह लोक भी गया और रामविमुख होनेसे परलोक भी गया। यह सब घटना रावणकी नीचतासे हो रही है। स्वार्थ-साधनके लिये प्रणाम करना (यथा—'**नाइ माथ स्वारथरत नीचा।**') और हितोपदेश देनेपर उसीको गाली देना, और जो अनुचित वह नहीं करना चाहता, वही उससे बलपूर्वक करवाना, वीर कहलाकर परायी स्त्रीको चुराकर लाना नीचताकी पराकाष्ठा है। नीच भी नीचता कुछ स्वार्थ पुरःसर ही करता है। यहाँ तो वंशोच्छेद और अपनी मौत छोड़कर कोई लाभ दिखायी नहीं पड़ता, अतः इस अन्तिम समझानेमें वह कुछ उठा रखना नहीं चाहती। स्पष्ट कहती है कि तुम नीच हो, मारीचके साथ तुमने अत्यन्त नीचता की, जो कार्य एक महाकायर भी न करता, सो तुमने किया, अब तुम्हें स्वात्माभिमानके लिये स्थान कहाँ है?

प० प० प्र० 'पतिव्रता होकर पतिको 'नीच' कैसे कहेगी?' इस शंकासे कुछ लोग 'नीच' को 'मारीच' का विशेषण मानते हैं। पर 'पुरुषार्थहीन, निर्लज्ज, दसकंध, तोहि, '**मृषा गाल जनि मारहु, खद्योत,**' इत्यादि कहनेसे जिसका पातिव्रत्य भंग नहीं हुआ, उसके लिये 'नीच' कहनेमें क्या दोष है? पुरुषार्थहीनता और मृषा गाल मारना, निर्लज्जता आदि 'नीच' के ही लक्षण हैं। अरण्यकाण्डमें उसे नीच कहा ही है—'**स्वारथरतनीचा**' '**नवनि नीच कै अति दुखदाई**'। कवितावलीमें मंदोदरीने '**रे नीच**' (१८), '**मंदमति कंत**' (२१), '**भागेते खिरिरि खेह खाहिगो**' (२३) '**कहे की न लाज**' इत्यादि कहा ही है।

(घ) इस प्रमाणसे अगजगनाथ और अतुल बलका समर्थन हुआ।

नोट—३ (क) '**जनक सभा**' अर्थात् सीयस्वयंवर या धनुषयज्ञमें जो राजा जनकके यहाँ हुआ जिसमें द्वीप-द्वीपके अनेक राजा एकत्रित हुए थे। (ख) '**अगनित भूपाला**' यथा—'**दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पनु ठाना॥ १। २५१।**' '**सीय स्वयंबर भूप अनेका। समिटे सुभट एक ते एका॥ १। २९२।**' (ग) '**रहे तुम्हौ०**', यथा—'**रावन बान छुआ नहिं चापा। १। २५६।**', '**रावनु बानु महाभट भारे। देखि सरासन गवहिं सिधारे॥ १। २५०।**', '**जेहि कौतुक सिवसैलु उठावा। सोउ तेहि सभा पराभव पावा॥ १। २९२।**' (घ) '**बल अतुल बिसाला**' ये व्यंगके वचन हैं। क्योंकि रावणने इन्द्रादिको '**बिपुल बल**' कहा है, यथा—'**लोकपाल बल बिपुल ससि ग्रसन हेतु सब राहु॥ २२॥**', जिससे अपना बल उनसे भी अधिक हुआ ही। भाव कि ऐसा भारी बल था तो वहाँ धनुष क्यों नहीं उठा सके, धनुष तोड़कर जानकीको वहीं व्याह लेते, चोरी क्यों करते? वा, वहीं संग्राम करके उन्हें हराकर जानकीको छीन लेते। आशय यह है कि तब तो वे कुमार थे। उस समय जब न जीत सके तब अब प्रौढ़ होनेपर क्या जीतोगे?

☞ इस उदाहरणमें श्रीरामजीका भुजबल रावणसे अधिक दिखाया। यह 'अतुल बल' का प्रमाण है। इससे यह भी जनाया कि '*बल प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई॥* **सोइ सूरता कि अब कहुँ पाई। अस बुधि तौ बिधि मुँह मसि लाई**'—(बा० २६५)। पुनः, भाव कि जिसने शंकरका धनुष तोड़ा वह तुम्हारा लङ्का राज्य तोड़नेको भी समर्थ है, यथा—'**तोरयो सरासन संकरको जेहि सोऽब कहा तव लङ्का न तोरिहि**'—(रा० चं० प्र० १६। ७)—यहाँ

प्रत्यक्षप्रमाण अलंकार' है ।—रा० चं० प्र० १५ । ६ से मिलान कीजिये—'रामकी वाम जो आनी चोराय सो लङ्कमें मीचुकी वेलि वई जू। क्यों रन जीतहुगे तिन्हसों जिनकी धनुरेख न लाँघी गई जू। बीस बिसे बलवंत हुते जु हुती द्दग केशव रूप रई जू । तोरि सरासन संकर को पिय सीय स्वयंबर क्यों न लई जू ॥'

सुरपति-सुत जानै बल थोरा । राखा जियत आँखि गहि फोरा ॥ १२ ॥
सूपनखा कै गति तुम्ह देखी । तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी ॥ १३ ॥

अर्थ—इन्द्रपुत्र जयन्तने उनका कुछ बल जाना है (वा उनको थोड़े बलवाला समझा)। उन्होंने उसे पकड़कर (एक) आँख फोड़कर जीवित रक्खा ॥ १२ ॥ शूर्पणखाकी दशा भी तुमने देखी तब भी तुम्हारे हृदयमें अधिक लज्जा न आयी ॥ १३ ॥

नोट—१ (क) मारीचको बाण मारा था यद्यपि उसमें फल नहीं लगाया था । अब कुशास्त्रका प्रताप दिखाती है, इसमें न तो बाण ही है न गाँसी, केवल अभिमन्त्रित सींक ही है । वह बलकी परीक्षा लेने आया था, यथा—'सठ चाहत रघुपति बल देखा' । इसीसे किंचित् बल दिखा दिया कि एक सींक-बाणसे त्रैलोक्यमें कोई रक्षा न कर सका, तब बाणका बल तो न जाने क्या होगा ? 'सुरपति सुत'—आ० १ (५) देखिये । (ख) 'राखा जिअत आँखि गहि फोरा', यथा—'कीन्ह मोहबस द्रोह जद्यपि तेहि कर बध उचित । प्रभु छाँड़ेउ कर छोह० ', एक नयन करि तजा भवानी' । (आ० दोहा २) भाव कि इन्द्रका पुत्र था जो कि श्रीरामजीके पिता दशरथजीके मित्र हैं—'ससुर सुरेस सखा रघुराऊ' 'आगे होइ जेहि सुरपति लेई । अर्धसिंहासन आसन देई ॥' ऐसा घनिष्ठ संबन्ध होनेपर भी उनके पुत्रको शरण होनेपर भी भक्तापराध करनेके कारण इतना दण्ड दिया ही; तब द्रोह करनेवालेके प्राण कब रखेंगे ? पद्मपुराण उत्तरखण्ड अध्याय ४२ श्लोक २०२—२११ में लिखा है कि, उस कौएको प्राणसंशयमें प्राप्त और शरणमें आया देख श्रीजानकीजीको दया लगी और उन्होंने श्रीरामजीसे प्रार्थना की कि इसकी रक्षा कीजिये, तब रामजीने उसे छोड़ा । पुनः, भाव यह कि सीताजीके किंचित् अपराधपर यह फल मिला तब सीताहरण करनेवाला बिना वधके कब बच सकता है ? जयन्तकी कथा तो कोई न जानता था, इसीसे सीताजीने हनुमान्‌जीको यह कथा विश्वास दिलानेके लिये बतायी थी । तब मन्दोदरीने कैसे जाना ? क्या अपराध किया था, यह कोई न जानता था पर उसपर सींकका बाण प्रभुने चलाया और उससे सुर-असुर कोई रक्षा न कर सके यह सबको मालूम है । ☞ जयन्तकी कथासे बाण-प्रताप दिखाया, यथा—'तात सक्रसुत कथा सुनायेहु । बान प्रताप प्रभुहिं समुझायेहु ॥ सुं० २७॥' जयन्तके बाद शूर्पणखाको कहा, इसको भी मारा नहीं, नाक-कान काटकर छोड़ दिया था।

२ (क) 'सूपनखा कै गति तुम्ह देखी' इति । भाव कि—(क) यह तो तुमने अपनी आँखों देखा है, यथा—'तोहि जिअत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ' । (पु० रा० कु०) । (ख) वह स्त्री थी तो भी अपराधिनी जान उसको भी दण्ड दिया, वध न किया—(पं०) । (ग) उसकी कैसी दीन दशा हो गयी यह देख तुम्हें ज्ञान न उत्पन्न हुआ । यथा—'दृष्ट्वा दैन्यं भगिन्याः श्रुतखरनिधनं मातुलस्यापि नाशं तालानां भेदनं यत्कपिवरदहनं बद्धसुग्रीवसख्यम् कर्माण्युद्यानभङ्गे जलनिधितरणं यो न जातस्तदानीं सोऽयं नष्टे कुलेऽस्मिन्कथमिव गमितो जायते ते विवेकः ॥ हनु० १४ । ५ ॥' अर्थात् अपनी भगिनी शूर्पणखाकी दीनताको देखकर, खरकी मृत्युको सुनकर, अपने मामा मारीचके विनाशको देखकर, तालवृक्षोंके वेधनको सुनकर, हनुमान्‌कृत लङ्कादहन देखकर, सुग्रीवमित्रता सुनकर, अशोकवाटिका-भंगके कर्मोंको देखकर और समुद्रबन्धन सुनकर भी तुम्हें जो विवेक न उत्पन्न हुआ (वह अब कहाँसे आ गया) । पुनः यथा—समयादर्शे ।

'आदौ येन हता किशोरवयसि श्रीराक्षसी ताटका मुक्ता ते वरजाहिया तव परं विघ्राणकर्णाकृता ।
कस्तस्याप्यनयं विधाय सुचिरं जीवेत रे राक्षसाः नूनं दाशरथेः शरैः क्षतशिरः श्रेणिः क्षितिं यास्यति॥७६॥'

पुनः, (घ) भाव कि स्त्री है इसे क्या मारें उसको नकटी-बूची कर दिया और वह कुछ न कर सकी । तब कोई भी उनके साथ अनीति कर कब चिरंजीव रह सकता है ?

३ 'तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी' इति । भाव कि—(क) लज्जा होती तो सम्मुख जाकर शत्रुसे लड़कर उसको

दण्ड देते, यदि तुममें बल था। यथा—'नाक कान बिनु भगिनि निहारी। छमा कीन्हि तुम्ह धरम बिचारी॥ २२।' (अङ्गदवाक्य)। पुनः, (ख) श्रीरामजीका बल तुम्हें मालूम हो गया, उनका सामना करनेका साहस तुम न कर सके, तब भी निर्लज्जकी तरह गाल बजाते लज्जा नहीं आती! यथा—'गाल बजावत तोहि न लाजा। मरु गर काटि निलज कुलघाती। बल बिलोकि नहिं बिहरति छाती॥ ३१।' तुझे तो लज्जासे मर जाना था।

वीरकवि—यहाँ शूर्पणखाकी दशा सामान्य रीतिसे कहकर प्रस्तुतमें यह जनाया कि रामचन्द्रजीके समान बलवान्से तुम्हें वैर न करना चाहिये। यह 'सामान्य निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार' है। गी० लं० १ में इस उपदेशसे मिलता हुआ उपदेश है—६ (८) देखिये।

दोहा—बधि बिराध खरदूषनहि लीला हत्यो कबंध।
बालि एक सर मार्‌यो तेहि जानहु दसकंध॥ ३५॥

अर्थ—(लीलासे) विराध, खरदूषणका वधकर खेलसे ही कबंधको मारा, और बालिको एक ही बाणसे मारा—हे दशकन्ध! उसे जानते हो? वा उसे जान लो, वा तुम उसको तो जानते ही हो॥ * ३५॥

टिप्पणी—१ यहाँ विराध और खरदूषणके लिये 'बधि', 'कबन्ध' के लिये 'हत्यौ' और बालिके लिये 'मार्‌यौ', इस तरह भिन्न-भिन्न शब्दोंका प्रयोग किया है। मन्दोदरीने भय उत्पन्न करनेके लिये ये सब वचन कहे पर वह स्वयं भययुक्त है इसीसे 'बधि, हत्यो, मार्‌यौ' पद दिये।

नोट—१ 'लीला' दीपदेहरी न्यायसे दोनों ओर लगेगा। विराधवध लीलापूर्वक हुआ। यथा—'मिला असुर बिराध मग जाता। आवतही रघुबीर निपाता॥ आ० ७।' खरदूषणादिवध लीलासे हुआ, यथा—'सुर मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक कर्‌यो।' 'करि उपाय रिपु मारे छन महँ कृपानिधान॥ आ० २०।' कबन्धका वध यथा—'आवत पंथ कबंध निपाता। ३। ३३। ६॥' भाव कि ऐसे-ऐसे बलवानोंको खेल-सरीखा वध कर डाला, तब तुम्हारा बल कुछ इनसे अधिक तो है नहीं।—'खरदूषन मोहि सम बलवंता। ३। २३। २।' 'बालि एक सर मार्‌यो' 'बालि बध्यो जेहि एक सर। ३२।' देखिए। ☞ इन नामोंको देकर जनाती है कि ये सब अतुलित बली थे, इन्हें मनुष्य नहीं मार सकता, यथा—'खरदूषन त्रिसिरा बधेउ मनुज कि अस बरिबंड' (मारीचवाक्य) 'खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली' और 'सो नर क्यों०'। विराधका वध किसी अस्त्र-शस्त्रसे न हो सकता था, उसे भी मारा। खरदूषणादिको वरदान था कि आपसमें ही लड़कर मर सकते थे, अन्य सबसे अमर थे। वे भी तीन ही दण्डमें मारे गये। कबन्धकी योजन-योजन-भरकी लम्बी भुजाएँ थीं जिससे दूरसे ही वह सबको पकड़कर खा जाता था, और इन्द्रके वज्रघातको भी उसने सह लिया था। जो ऐसा बलशाली था वह भी मारा गया। बालिने तो स्वयं तुमहीको काँखमें दाब रक्खा था, उसको भी उन्होंने मार डाला, और एक ही बाणसे, तब तुम्हारी पराजय भी हो ही गयी।

२ 'तेहि जानहु'—अर्थात् न जानते हो तो इन प्रमाणोंसे जान लो कि वे मनुष्य नहीं हैं। पुनः, भाव कि बालिने तो परायेका अपराध किया था, कुछ रघुनाथजीका नहीं, तब भी उसे मारा, और तुमने तो स्वयं उनका ही अपराध किया है तब कैसे बचोगे? यथा—'बालि बली न बचो पर खोरिहिं क्यों बचिहौ तुम आपनि खोरिहि'—(रा० चं० प्र० १५।७)।

☞ इन उदाहरणोंद्वारा श्रीरामजीका युद्धबल और बाणप्रताप दिखाया।

'रे नीच! मारीच बिचलाइ हति ताड़का भंजि सिवचाप सुख सबहि दीन्ह्यो।
सहसदसचारि खल सहित खरदूषनहिं पठै जमधाम तैं तऊ न चीन्ह्यो॥
मैं जु कहौं कंत सुनु मंत भगवंत सों बिमुख ह्वै बालि फल कौन लीन्ह्यो।
बीस भुज सीस दस खीस गए तबहिं जब ईसके ईस सों बैर कीन्ह्यो॥ लं० १८॥'

* त्वं वेत्सि स्वमेव नाथ सकलं बाह्वोर्बलं बालिनः श्रीरामस्य नियुक्तमार्गणहतः प्राणैर्विमुक्तः क्षणात्। तस्यैवास्य महात्मनः प्रियतमां हृत्वा कुबुद्ध्या गतोर्नूनं ते विधिना कुलक्षयकृते कृत्येयमुत्पादिता॥ ६९॥' इति समयादर्शे।

'दूषन बिराध खर त्रिसिर कबंध बधे, तालऊ बिसाल बेधे कौतुक है कालिको।
एकही बिसिख बस भयो बीर बाँकुरो जो तोहूँ है बिदित बल महाबली बालिको ॥ लं० ११ ॥
'बालि दलि, काल्हि जलजान पाषान किय, कंत ! भगवंत तैं तऊ न चीन्हें ॥ १९ ॥
'बालिहूँ गर्ब जिय माँहिं ऐसो कियो मारि दहपट कियो जमकी घानी।
कहति मन्दोदरी, सुनहि रावन ! मतो, बेगि लै देहि बैदेहि रानी ॥ क० लं० २० ॥

जेहि जलनाथु बँधाएउ हेला। उतरे * प्रभु दल सहित सुबेला ॥ १ ॥
कारुनीक दिनकर कुलकेतू। दूत पठाएउ तव हित हेतू ॥ २ ॥
सभा माँझ जेहि तव बल मथा। करि बरूथ महुँ मृगपति जथा ॥ ३ ॥

अर्थ—जिनने खेलसे ही समुद्रको बँधा लिया और जो प्रभु सेनासहित सुवेलपर उतरे ॥ १ ॥ उन सूर्यकुलकी ध्वजा और करुणामय (दयालु) श्रीरामचन्द्रजीने तेरे कल्याणके लिये दूत भेजा ॥ २ ॥ जिस (दूत) ने बीच सभामें तुम्हारे बलको (इस तरह) मथ डाला जैसे हाथियोंके झुंडमें सिंह हो। अर्थात् जैसे हाथियोंके झुंडको सिंह मथ डालता है ॥ ३ ॥

नोट—१ समुद्र-बन्धन अद्भुत कार्य है, रावण भी सुनकर सहम गया था। इसीसे सबने इसे कहा है ॥ ५ ॥ (१०), ६। २। देखिए। 'उतरे प्रभु दल सहित सुबेला' इति। यही बात प्रहस्तने भी कही है, यथा—'जेहिं बारीस बँधाएउ हेला। उतरेउ सेन समेत सुबेला। ६। ९।' एक तो साधारण बात भी इसे ले सकते हैं कि सुबेलपर आकर टिके। पर इसमें भी कुछ आश्चर्यजनक या रावणकी हानिकी बात अवश्य है, नहीं तो इसके कहनेकी आवश्यकता न थी। पूर्व बताया जा चुका है कि राजनैतिक विचारसे शत्रुका सुवेल पर्वतको अपने अधिकारमें कर लेना लङ्काके लिये बड़ा हानिकारक था। अतः इस कार्यसे भी श्रीरामजीकी जय सम्भावित होती है। दूसरे, सुन्दरकाण्डमें लिखा जा चुका है कि हनुमान्‌जी एक विशाल पर्वत देखकर उसपर भय छोड़कर चढ़ गये थे। 'तापर धाइ चढ़ेउ भय त्यागे।''' प्रभु प्रताप जो कालहि खाई ॥ ५। ३। ८–९ ॥ देखिए। यह सुवेल ही वह पर्वत था, अनुमान यही कहता है। मा० म० और महादेवदत्तजीके मतानुसार इसपर रावणकी ओरसे कालका पहरा रहता था। कालको कैद कर लेनेपर उसने रावणसे प्रार्थना की थी कि आप मुझे कोई स्थान रहनेका दें, जिसपर रहकर मैं आपके नगरकी रक्षा शत्रुओंसे करता रहूँ। तब रावणने यही स्थान बताया कि इसपर रहो जो समुद्र पार करके इधर आवे उसको खा लो। दूसरी कथा यह है कि इसी पर्वतपर ब्रह्माका एक सिर जब शिवजीने काट लिया तब ब्रह्माने शाप दिया था कि जो इस पर्वतपर चरण रक्खेगा उसका सिर फट जायगा और काल-व्याल उसे ग्रास कर लेगा। ब्रह्मशाप और रावण-प्रेरित काल व्यालरूपसे इसपर वास करते थे।

इसका प्रमाण सम्पादकको अभी कहीं मिला नहीं है। यदि यह ठीक है तो इसके अनुसार यह भाव ध्वनित होता है कि जिस पर्वतपर कालका पहरा था उसीपर उन्होंने डेरा डाला और कालने उनका भक्षण न किया, यह आश्चर्य है और इससे निश्चय है कि वे कालके भी भक्षक हैं। हनुमान्‌जीसे सब पूर्व सुन भी चुके हैं कि 'जाके डर अति काल डेराई। सो सुर असुर चराचर खाई। ५। २२।' वह अब सबको स्मरण हो रहा है। इस कथाकी सत्यता शिवोक्त वचनोंसे अनुमानित होती है जो उन्होंने सुं० ३ (८-९) में कहे हैं—'सैल बिसाल देखि इक आगे। तापर धाइ चढ़ेउ भय त्यागे ॥ उमा न कछु कपि की अधिकाई। प्रभु प्रताप जो कालहि खाई ॥'

☞ इस प्रकार 'समुद्र-बन्धन और सुवेल-निवास भी रामप्रताप दिखानेके लिये कहे गये।—'श्रीरघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान' और 'प्रभु प्रताप जो कालहि खाई' ॥

२ 'कारुनीक दिनकर कुलकेतू।' इति। (क) 'कारुणीक' का भाव कि यह न समझो कि वे तुमसे डरते हैं, इससे दूत भेजते हैं, यथा—'जौं पै समर सुभट तव नाथा। तौ बसीठ पठवत केहि काजा ॥ रिपु सन प्रीति करत नहिं लाजा ॥

* उतरेउ—(का०)।

२८ । ६-७ ॥' वरन् वे करुणामय हैं, तुमपर करुणा-दया करके तुम्हारे हितके लिये उन्होंने दूत भेजा कि अब भी समझ जाय, तुमसे युद्धमें उन्हें क्या यश मिल सकता है ! इन वचनोंमें अङ्गदके वचनोंकी छाया है । यथा—'तव हित कारन आएउँ भाई', और '**दसमुख मैं न बसीठी आएउ। अस बिचारि रघुबीर पठाएउ। बार बार अस कहइ कृपाला। नहिं गजारि जस बधे सृकाला ॥ ३० । २-३ ॥**'

पां०—दिनकर कुलकेतुका भाव कि जैसे सूर्यका प्रकाश सबपर बराबर रहता है वैसे ही उनकी करुणा सबपर समान है।

नोट—'**सभाँ माँझ जेहि तव बल मथा।**' इति। यह उनके दूसरे दूतका बल दिखाया। भाव कि प्रथम हनुमान्‌जीने सभामें बलका उपमर्दन नहीं किया वरन् सभाके बाहर अन्य निशाचरोंके वध और लङ्कादहनद्वारा बलगर्व चूर्ण किया था और इसने तो बीच सभामें तुम्हें भी ललकारा और तुम कुछ कर न सके, इस प्रकार इन शब्दोंसे 'अङ्गद' को सूचित किया। (विशेष भाव ऊपर आ चुके हैं।) मिलान कीजिये—'**दूसरो दूत पन रोपि कोप्यो सभा खर्ब कियो सर्बको गर्ब थाको ॥ क० ६ । २० ॥**' '**तुम्हें बिद्यमान जातुधान मंडली में कपि कोपि रोप्यो पाँउ सो प्रभाव तुलसीस को ॥ क० । २२ ॥**' '**बालि-बलसालि-को सो काल्हि दाप दलि कोपि रोप्यो पाँउ चपरि चमू को चाउ चाहिगो ॥ सोई रघुनाथ कपि साथ पाथनाथ बाँधि आए नाथ। भागे ते खिरिरि खेह खाहिगो। तुलसी गरब तजि मिलिबेको साज सजि देहि सीय न तौ पिय पाइमाल जाहिगो। क० लं० २३ ॥**'—ये सब इस चौपाईकी व्याख्या समझिये। भाव यह कि गर्व छोड़कर श्रीजानकीजीको देकर शरणमें जानेसे ही तुम्हारे प्राण बच सकते हैं, अन्यथा नहीं।

वि० त्रि०—'**सभा माँझ**···**जथा**' इति। ऊपर जो कहा है कि '**दूत पठाएउ तव हित हेतू**' उसीको पुष्ट करती हुई कहती है कि आज जिस भाँति राजसभामें शत्रुके दूत द्वारा तुम्हारी दुर्दशा हुई है, वैसी कहीं सुनी नहीं गयी। उसने दिखला दिया कि जब अपनी सभामें एक दूतद्वारा जो दुर्दशा हुई, उसे तुम रोक न सके, तो समराङ्गणमें किस पुरुषार्थकी आशा लगाये बैठे हो। इस भाँति रघुनाथजीने अपने दूतद्वारा तुम्हारी दुर्दशा कराकर तुम्हारा हित किया कि अब भी समझ जाओ कि युद्ध करनेमें तुम्हारा किसी भाँति कुशल नहीं है, पर तुम्हारी बुद्धि ऐसी मारी गयी है कि '**रिपुसन प्रीति करत नहिं लाजा**' कह रहे थे।

प० प० प्र०—इस अर्धालीके दोनों चरणोंमें एक-एक मात्रा कम है जिससे पढ़नेमें गति-लय-भंग होता है। इससे जनाया कि मंदोदरीकी वाणी भी रुद्ध हो गयी। भगवान्‌की कारुणिकता और रावणका अहंकार विचार कर वह भयग्रस्त हो गयी, उसके मनमें विषाद छा गया। अतः आगे वह कड़े वचन छोड़कर विनय करती है कि '**तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू ॥**' '**अहइ कंत**' में '**अहइ**' शब्दसे आगे अपना बिषाद ही प्रकट कर रही है। धीरे-धीरे वचनकी कटुता, कठोरता, भयानकता कम होती चली है। '**सोई**' '**नाथ**' इत्यादि सम्बोधनोंसे तथा '**पिय**' शब्दका बार-बार प्रयोग यही बताता है। कंत शब्दसे उपक्रम किया और 'पिय' 'नाथ' शब्दोंसे उपसंहार भी शृङ्गाररसयुक्त शब्दोंमें ही किया गया। बीचमें वीर, करुणा, अद्भुत और भयानक रसोंका आश्रय लेकर उपदेश किया और अन्तमें इन सभी रसोंकी परिणति मानसकी विशेषतानुसार '**कृपासिंधु रघुनाथभजि नाथ बिमल जस लेहु**' से भक्ति-रसमें ही हुई।

अंगद हनुमत अनुचर जाके। रन बाँकुरे बीर अति बाँके ॥ ४ ॥
तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—बहहू=बहना जैसे नदीके प्रवाहमें। दूसरे, 'वहन करना' = बोझ सिरपर लादना, यथा—'भार बहहिं खरबृंद। २९।'

अर्थ—रणमें बाँके और अत्यन्त विकट वीर श्रीअङ्गद और हनुमान्‌जी जिनके सेवक हैं, उनको, हे पिय! तुम बारम्बार मनुष्य कहते और झूठे ही मान, ममता और मदमें बह रहे हो एवं उनका बोझा ढो रहे हो ॥ ४-५ ॥

नोट—१ '**अंगद हनुमत अनुचर जाके।०**' इति। (क) अङ्गदका नाम प्रथम दिया क्योंकि यह तो अभी-अभी ही आया था। दूसरे, इसने मध्य सभामें इसका मान मर्दन किया है जिससे वह लङ्कादहन भी इसके आगे भूल गया होगा। अङ्गदके कर्मने रावणको रुला दिया यह बात '**गयउ भवन बिलखाइ**' से स्पष्ट होती है। लङ्कादहनसे भी ऐसा शोक न हुआ था। पुनः, अङ्गद युवराज हैं इससे भी प्रथम कहा।

पं०—प्रथम कहा कि उनसे मिलनेमें मानकी हानि नहीं है क्योंकि वे दिनकरकुलकेतु हैं और अब कहती है कि यदि तुमको बलका गर्व है तो तुम उनके दूतोंका ही बल देख चुके हो कि वे कैसे बाँके वीर हैं तब उनका बल कैसा होगा?

वै०—'रन बाँकुरे' अर्थात् रणमें जहाँ शूरोंसे प्रचारकर युद्ध करना पड़े वहाँ अत्यन्त बाँके वीर हैं।

नोट—२ 'तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू' इति। (क) प्रथम 'कौतुक सिंधु नाँघि तव लंका।''''कहाँ रहा बल गर्ब तुम्हारा। ३५। ४-६।' में हनुमान्‌जीका बल कहा, फिर अङ्गदका बल कहा। 'इस कथनसे क्या सार निकलता है, ये वचन क्यों कहे? यही यहाँ कहती हैं। भाव यह कि जिसके दूत ऐसे हों, सेवक ऐसे हों, वह मनुष्य कब हो सकता है? बली, रण-बाँकुरा वीर एक निर्बल स्वामीकी सेवा कभी नहीं करेगा। उनके सेवकोंका बल तुम सबसे अधिक है, तुम्हारा बल इन्द्रादि देवताओंसे अधिक है और मनुष्य तो कोई देवतासदृश भी बली नहीं हो सकते। अतएव यह सिद्ध है कि वे देव दनुज सबके स्वामी हैं, 'अग जगनाथ' हैं तभी तो अङ्गद हनुमान्‌ने उनकी सेवकाई ग्रहण की। ऐसा ही कुम्भकर्णने कहा है—'हैं दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमानसे पायक। ६२। ३।' (ख) 'पुनि पुनि'—अङ्गद-रावण-संवादमें सुन चुकी है, हृदयमें वही बसा हुआ है, यथा—'नर कर करसि बखान', 'भूप सुजस खल मोहि सुनावा', 'नरके कर आपन बध बाँची।०', 'जिन्हके बलकर गर्ब तोहि ऐसे मनुज अनेक। ३०४।' (ग) 'नर कहहू' अर्थात् वे नर नहीं हैं, तुम नर मानते हो। वे अगजगनाथ हैं, जैसा मैं कहती हूँ। वाल्मी० ९४ में निशाचरियोंने भी इसी आशयको यों कहा है—'रुद्रो वा यदि वा विष्णुर्महेन्द्रो वा शतक्रतुः। हन्ति नो रामरूपेण यदि वा स्वयमन्तकः॥ २४॥'

३—'मुधा मान ममता मद बहहू' इति। (क) मान, ममता और मद नदियाँ हैं वा भार हैं। इनमें न बहे जाओ वा इनका बोझा न ढोओ। (ख) मनुष्य बार-बार कहना, यही मान-ममता-मदमें बहना है—(पं०) ☞ रावणको ये तीनों हैं, यथा—'अति अभिमान त्रास सब भूली ३७। २।', 'चलेउ सभा ममता अधिकाई। सुं० ३७।' और 'सहज असंक सुलंकपति सभा गएउ मद अंध। १६।' इसीसे इसे इनके त्यागका उपदेश लोगोंने किया है, यथा—'सुनहु मान तजि मोर सिखावन' (हनुमान्‌जी); 'परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस'—(विभीषणजी); 'महामोह ममता मद त्यागू' (कालनेमि) और 'होहु मान तजि अनुज इव प्रभु पद पंकज भृंग'—(लक्ष्मणजी)

'मान' यह कि हम त्रैलोक्यविजयी हैं, देव दानव दैत्य राक्षस सब हमारी नीच टहल करें, काल हमारे वशमें है, इत्यादि, सो हम मनुष्यसे डरकर मेल करें? 'ममता' यह कि मेरे ही बाहुबलके अधीन सुरासुर हैं, यह सब जब मेरे पक्षके हैं तब मेरी पराजय क्यों होगी? 'मद' प्राप्त वस्तुका नशा। मान और मदमें भेद यह है कि अपने आदर-बड़ाईकी चाह मान है। दूसरेको अपने समान न समझना, तिरस्कार करना मद है।

☞ मान मद ममता छोड़ना कठिन है, ऐश्वर्य पाकर मानमद बिरले ही किसीको नहीं होता। यथा—'श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि। मृगलोचनिके नयन सर को अस लागि न जाहि॥ ७। ७०।'' 'कोउ न मान मद तजेउ निबेही' 'ममता केहि कर जसु न नसावा' ये राम कृपासे ही छूट सकते हैं अन्यथा नहीं, यथा—'छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि ७। ७१॥'

अहह कंत कृत राम बिरोधा। काल बिबस मन उपज न बोधा॥ ६॥

अर्थ—हा कान्त! शोककी बात है कि तुमने श्रीरामचन्द्रजीसे वैर किया, कालके पूरे वशमें होनेसे तुम्हारे मनमें ज्ञान उत्पन्न नहीं होता॥ ६॥

नोट—१ "अहह कंत" इति। इससे सूचित किया कि वह बराबर रावणके मुखको देखती जाती रही थी कि मेरे कथनका इसपर कुछ प्रभाव पड़ता है या नहीं। उसके मुखकी चेष्टासे वह समझ गयी कि सारा उपदेश व्यर्थ ही गया, उसको किंचित् नहीं लगा। अतः उसे बड़ा कष्ट हुआ और उसके मुँहसे कष्टसूचक 'अहह' शब्द निकल पड़ा॥ २॥ 'कंत!' का भाव कि हमारे सौभाग्य-सुखके आप बढ़ानेवाले होकर भी राम-विरोध करते हैं, ये दोनों बातें असंगत हैं। क्योंकि रामविमुखको सुख कहाँ? यथा—'अन्धकारु बरु रबिहि नसावइ। राम बिमुख न जीव सुख पावइ॥ हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥। ७। १२२। १८ १९।' राम-विरोधसे मरण निश्चय है, यथा—

'राम बिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज ईस ५ । ५६ ।' अतएव 'काल बिबस' कहा। और कालके वश है: अतः मनमें बोध नहीं उत्पन्न होता, बुद्धि जाती रही, यथा—'मरनकाल बिधि मति हरि लीन्ही । अ० १६२ । ३ ।'

३ "अहह कंत कृत राम बिरोधा" का भाव कि खेद है कि तुम विरोधसे अपना बुरा होगा या भला यह नहीं समझते। यथा—'अहह तात दारुनि हठ ठानी । समुझत नहिं कछु लाभु न हानी ॥ १ । २५८ । २ ।' बहुत योद्धाओंके मारे जानेपर घर-घर विलाप करती हुई निशिचरियोंने भी कहा है कि रावण जनकात्मजा सीताको नहीं पा सकता, व्यर्थ ही अक्षय और बलवान् रामचन्द्रजीसे बैर बाँधा है। यथा—'न च सीतां दशग्रीवः प्राप्नोति जनकात्मजाम् । बद्धं बलवता वैरमक्षय्यं राघवेण च ॥ वाल्मी० ९५ । १२ ॥'

पु० रा० कु०—रामसे विरोध करते हो, यह बड़े खेदकी बात है। कालके वश कैसे जानती हो, उसपर आगे कहती है कि 'कालदंड०'।

काल दंड गहि काहु न मारा । हरै धर्म बल बुद्धि बिचारा ॥ ७ ॥
निकट काल जेहि आवत* साँई । तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाँई ॥ ८ ॥

अर्थ—काल किसीको दण्ड लेकर नहीं मारता (वरन्) धर्म बल, बुद्धि और विचारको हर लेता है ॥ ७ ॥ हे स्वामिन्! काल जिसके निकट आता है उसे तुम्हारे ही समान भ्रम हो जाता है। अर्थात् हितको अनहित, ईश्वरको मनुष्य, इत्यादि उलटी समझ हो जाती है ॥ ८ ॥

नोट—१ 'काल दंड गहि काहु न मारा' अर्थात् वह स्वयं मूर्तिमान् होकर किसीका सिर नहीं काटता, उसका पराक्रम इतनेमें ही जाना जाता है कि उसके वश होनेपर प्राणी अर्थका अनर्थ करता है अर्थात् उसे सब विपरीत ही देख पड़ता है, यथा—सुभाषितरत्नभाण्डागारे सामान्यनीतिप्रकरणम्—'न कालः खड्गमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित् । कालस्य बलमेतावद्विपरीतार्थदर्शनम् ॥ ३३४ ।' पुनः यथा—'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः'। इसमें ध्वनि यह है कि कालको तुमने वश कर लिया होता तो तुम्हारे बल-बुद्धि आदिका हरण न हो सकता। लङ्का-दहनके समय तुम्हारा बल, बुद्धि, विचार कुछ न काम आया—यह कालका पराक्रम है।

२—'हरै धर्म बल बुद्धि बिचारा' अर्थात् चारोंका हरण होता है तब मृत्यु होती है। रावणमें चारोंका हरण हुआ। यथा क्रमसे—(१) 'कह कपि धरमसीलता तोरी । हमहु सुनी कृत परत्रिय चोरी ॥ देखी नयन दूत रखवारी । बूड़ि न मरहु धर्मब्रत धारी ॥ कान नाक बिनु भगिनि निहारी । छमा कीन्ह तुम्ह धरमु बिचारी ॥ २२ । ५-७ ।', (२) जानेउँ तव बल अधम सुरारी । सूने हरि आनेहि परनारी ॥ ३० । ६ ॥', 'इमि कुपंथ पग देत खगेसा । रह न तेज तन बुधि बल लेसा ॥ आ० २८ । १० ॥', (३) तव उर कुमति बसी बिपरीता । ५ । ४० । ७ ।'। (४) सदसद्का विवेक विचार है। यह विचार भी न रह गया। यथा—'हित अनहित मानहु रिपु प्रीता ।५ । ४० । ७ ।' श्रीरामजीके स्वरूपको नहीं समझता, अतः विचार-रहित कहा।

३ 'निकट काल जेहि आवत साईं । तेहि०' इति। यहाँ मन्दोदरीकी वाक्यपटुता देखिए। वह यह नहीं कहती कि तुम्हारा काल आ गया वरन् यों कहती है कि जिनका काल निकट आता है उनको ऐसा ही भ्रम होता है जैसे आपको हो गया है। यथा—'मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही । अ० १६२ ।' यहाँ 'अनुमान प्रमाण अलंकार' है।

पु० रा० कु०—'साईं' का भाव कि हमारे तो आप स्वामी ही हैं; पर जिसका काल आता है उसको ऐसा ही मोह होता है।

पं०—भाव कि जैसे वह अस्तव्यस्त बातें करता है और दूसरोंको बावला समझता है अपनेको नहीं, वैसे ही तुम अपना भ्रम नहीं समझते। परन्तु देखनेवाले तो लख ही लेते हैं। वैसे ही मैंने लख लिया। आगे बताती है कि कैसे जान लिया कि भ्रम है। ☞ यहाँ मन्दोदरीने कालके धर्म बताये कि वह क्या करता है। भक्तको काल नहीं व्यापता, इसका भाव भी इससे स्पष्ट हो गया। अर्थात् उसकी बुद्धि, धर्म आदिका हरण नहीं होता। यथा—'कबहूँ काल न व्यापिहि

* आवै (का०, मा० म०)।

तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही ॥ ७। ८८। १।' तथा 'काल धर्म नहि ब्यापहिं ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही ॥ ७। १०४। ८॥'

दो०—दुइ सुत मारे दहेउ पुर अजहुँ पूर पिय देहु।
कृपासिंधु रघुनाथ* भजि नाथ बिमल जसु लेहु ॥ ३६ ॥

अर्थ—दो पुत्र मारे गये, नगर जल गया। हे प्राणप्रिय! अब भी (इस कमीकी) पूर्ति कर सकते हो। हे नाथ! दयासागर रघुनाथजीका भजन करके निर्मल यश लीजिये ॥ ३६ ॥

नोट—१ 'दुइ सुत मारे'। भाव कि तुम कहते हो कि काल हमारे वशमें है, तो फिर एक छोड़ दो-दो पुत्र कैसे मार डाले गये। 'दहेउ पुर' अर्थात् काल वशमें था तो नगर जलानेवालेको उसने क्यों न खा लिया। इससे स्पष्ट है कि काल तुम्हारे वशमें नहीं है, तुम उसके वशमें हो।

२—'अजहुँ पूर पिय देहु' इति। इसके लोगोंने कई प्रकारसे अर्थ किये हैं, यथा—अब भी उत्तर दो। अर्थात् इसका समाधान तुम्हारे पास क्या है कि पुरुषार्थ होते हुए भी तुमने उनकी रक्षा न की? (२) अब भी उत्तर देते हो। अर्थात् इतनेपर भी बराबर डींग ही मारते जाते हो (३) अब भी पूरा पड़ सकता है। अर्थात् अब भी कुछ गया-गुजरा नहीं है, दो लड़के ही मरे हैं। लड़के फिर भी हो सकते हैं, नगर भी पुनः सुधर सकता है। यह कहकर उसका उपाय बताती है कि 'कृपासिंधु०'। ☞ 'पूर' शब्दका प्रयोग ग्रन्थमें कई बार हुआ है, यथा—'**तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा**। आ० २५। ८।' '**नाथ न पूर आव एहि भाँती**। ९। १।' (प्रहस्तवाक्य), '**सुनु मतिमंद देहि अब पूरा। काटे सीस कि होइअ सूरा** ॥ २९। ९॥' (अङ्गदवाक्य), '**पिय पूरो आयेउ अब काहि कहु करि रघुबीर बिरोध**'—(गी० लं० १)। इस तरह 'पूर देना'=पूर्ति कर देना।

३ 'कृपासिंधु' का भाव कि वे अवतक बराबर कृपा करते आये और अब भी तुमपर कृपा करेंगे। दो दूत भेजे, छत्रादि काटकर एवं सेतु बाँधकर अपनेको जना भी दिया, घर बैठे दर्शन देने आये, इत्यादि, नहीं तो मुकुटके साथ सिर भी काट डालते। यथा समयादर्शे—'**मुक्ता शीर्ष परम्परा प्रभुतया छिन्नातपत्राणि ते। रामेणाद्य पुलस्त्यवंशदहने कारुण्यमाविष्कृतम्** ॥ ६८ ॥' मन्दोदरीको कृपाका पूर्ण विश्वास है, हनुमान्‌जीके वचन उसके हृदयमें गड़ गये हैं, इसीसे उसने कृपावाचक शब्द बारम्बार कहे हैं—'**नाथ दीनदयालु रघुराई**। ७। १।' '**सोइ रघुबीर प्रनत अनुरागी** ॥ ७। ५।' '**आएउ करन तोहि पर दाया**। ७। ७।' '**कारुनीक दिनकर कुलकेतू। दूत पठाएहु तव हित हेतू** ॥ ३६। २।' '**कृपासिंधु रघुनाथ भजि**…॥। ३६।' और रावणवधपर भी ऐसा ही कहा है—'**अहह नाथ रघुनाथ सम कृपासिंधु नहिं आन। जोगिबृंद दुर्लभ गति तोहि दीन्हि भगवान** ॥ १०३।'

४ 'बिमल जस लेहु'। '**सुजस होइ तिहुँ पुर अति पावन** ॥ और '**उभय प्रकार सुजसु जग तोरा**। १०। १।' में इसके भाव आ चुके हैं। ऋषि-कुलमें रावण कलङ्करूप हो रहा है, भगवत्-सम्मुख होनेसे ऋषिकुलका निर्मल यश बना रह जायगा।—गी० लं० १ में मन्दोदरी कहती है—'**मुनि पुलस्ति के जस महँ कत कलंक हठि होहि। और प्रकार उबार नहीं कहुँ मैं देख्यौं जग टोहि** ॥ ८ ॥' भजनसे सब बड़ाई करते हैं। यथा—'**धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भयउ तात निसिचरकुल भूषन ॥ बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा सुखसागर** ॥ ६३। ८। ९।' यहाँ '**चौथी निदर्शना**' है।

☞ यहाँ प्रश्न होता है कि पतिव्रताने अपने पतिको कठोर वचन कैसे कहे? उत्तर यह है कि—मन्दोदरीने प्रथम तीन उपदेशोंमें पतिका अपमान नहीं किया, जैसा कुछ पतिव्रताको चाहिये, वैसा ही किया। यद्यपि उसका एक पुत्र प्रथम ही मारा गया, तथापि वह पतिपर रोष नहीं प्रकट करती। सब रावणकी निन्दा करते हैं और वह जानती है तो भी वह पतिसे प्रेमपूर्वक बड़ी ही नम्रताके साथ प्रार्थना करती है। उसके सौभाग्यका चिह्न गिर जाता है, सब जानते हैं कि यह

* रघुपतिहि (का०, मा० म०)।

बड़ा अपशकुन है। फिर भी वह विनती ही करती है। प्रत्येक बार नये ढंगसे उपदेश करती है और आशा करती है कि अबकी बार अवश्य बोध होगा; वह शत्रुता छोड़ देगा। बस फिर तो अहिवात अचल है। तीन बार समझानेपर भी न समझनेपर पतिके प्राण बचानेके विचारसे, उसके परम हितके लिये अब उसने यही उपाय निश्चय किया कि अब डाँट-फटकार और मान-मर्दनसे ही काम लूँ। इससे वह युद्धके विचारसे बाज आयेगा, सीताको दे देगा और शरण होकर विमलयश प्राप्त करेगा। पतिके हितार्थ यह सब किया गया। यह उसका अन्तिम प्रयत्न है। इससे सफलता न होनेपर वह निश्चय कर लेती है कि अब वह काल-विवश है; और फिर उसने कभी इस विषयकी चर्चा न चलायी।

मुं० राजबहादुरजी लमगोड़ा—पाठकोंको यह तो मालूम ही होगा कि इस अवनति कालमें भी आर्य स्त्रियाँ सेवा, कृतज्ञता और सहिष्णुतामें पत्नीकी हैसियतसे अपने पत्नीत्वके स्वत्वपर विवाद करते हुए अपने स्वार्थसे लगाव रखनेवाली प्रार्थना कभी अपनी जिह्वापर नहीं आने देतीं। परंतु मन्दोदरीकी यह अन्तिम चेष्टा है। पतिको पापसे बचानेका कठिन प्रश्न उपस्थित है। पतिका गर्व भी कुछ सहायता नहीं करता। (रावणके मुखपर दृष्टि पड़ते ही एवं हनुमान्-रावण तथा अङ्गद-रावण संवादसे) मन्दोदरीके मस्तिष्कमें यह भाव दौड़ गया कि वासनाके दास रावणकी प्रतिष्ठा और अहङ्कारका भाव भी चला गया, और अब उसको अपनी राजसी मर्यादाकी भी परवाह नहीं रही। रानी तड़प जाती है; और अत्यन्त बुद्धिमत्ताके साथ, जिसमें कुछ निराशाकी झलक भी है, अपनी बातोंका ढंग बदलती है और अपने पतिको इस पापसे वञ्चित रखनेके लिये जी तोड़कर अन्तिम चेष्टा करती है। वह विवश होकर अन्तिम उपायका अवलम्बन करती है और पत्नीत्वके स्वत्वका स्मरण दिलाते हुए जोरके साथ (वे वचन) कहती है।

☞ प्रथम तीन उपदेशोंपर जो-जो उत्तर रावणने दिये उनका प्रत्युत्तर पतिव्रता मन्दोदरीने न दिया। यह अन्तिम प्रयत्न पतिको कालसे बचानेके लिये है। अतः इस बार तीनों उत्तरोंका प्रत्युत्तर दिया है।

उत्तर	मन्दोदरीका प्रत्युत्तर
१ जो आवइ मरकट कटकाई जिअहिं बिचारे निसिचर खाई। ५। ३७।'	'दुइ सुत मारे दहेउ पुर अजहु पूर पिय देहु' 'रखवारे हति बिपिन उजारा॥' 'अब पति मृषा गाल जनि मारहु॥' 'सूपनखा कै गति तुम्ह देखी। तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी॥' —(वह तो सीताको खाने गयी थी, क्यों न खा लिया?)
२ कंपहिं लोकप जाकी त्रासा। ५। ३७।'	आएउ कपि केहरी असंका। देखत तोहि अच्छ तेहि मारा॥', 'सभा माँझ जेहि तव बल मथा॥'

तुम कहते हो कि देवता काँपते हैं और यहाँ तो प्रत्यक्ष दो वानर 'अशंक' आकर तुम्हारा बल मथ गये। दूतोंके ही सामने तुम ऐसे सिद्ध हुए जैसे सिंहके सामने हाथी हो। इनको क्यों न कँपाया।

३ 'जग जोधा को मोहि समाना। ६। ८। २।'	'रामानुज लघु रेख खँचाई। सोउ नहिं नाँघेउ असि मनुसाई॥'; 'बधि बिराध खरदूषनहि लीला हत्यो कबंध। बालि एक सर मार्‍यो तेहि जानहु दसकंध॥' 'मुधा मान ममता मद बहहू।'
४ भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला	"पिय तुम ताहि जितब संग्रामा। जाके दूत केर यह कामा॥" "जनकसभा अगनित महिपाला। रहे तुम्हउ बल बिपुल बिसाला। भंजि धनुष जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥"
५ अहो मोह महिमा बलवाना	हमको मोह नहीं है, तुमको है—'निकट काल जेहि आवत साँई। तेहि भ्रम होइ तुम्हारेहि नाई॥'

६ "सभय सुभाउ नारि कर साँचा। मंगलहुँ भय मन अति काँचा॥", "सुनु तैं प्रिया वृथा भय माना।", और "देव दनुज नर सब बस मोरे। कवन हेतु उपजा भय तोरे॥" इनका उत्तर तो यह सारा उपदेश ही है।

मन्दोदरी	अङ्गद आदि
१ कंत तजहु कुमतिही	'मंदमति'

२ रामानुज लघु रेख खँचाई । सो नहिं नाँघेउ असि मनुसाई ॥	जानेउँ तव बल अधम सुरारी । सूने हरि आनेहि परनारी ॥
३ सोइ न समर तुम्हहि रघुपतिही	नहिं गजारि जस बधे सृगाला
४ रखवारे हति बिपिन उजारा । देखत तोहि अच्छ जेहि मारा । जारि नगर सब कीन्हेसि छारा ।	'बन बिधंसि सुत बधि पुर जारा ।' सेन सहित तव मान मथि बन उजारि पुर जारि ।'
५ कहाँ रहा बल गर्ब तुम्हारा	'सो भुजबल राखेहु उर घाली' 'तदपि न तेहि कछु कृत अपकारा'
६ अब पति मृषा गाल जनि मारहु	मूढ़ मृषा जनि मारसि गाला
७ मोर कहा कछु हृदय बिचारहु	अस बिचारि० ॥ अब सुभ कहा सुनहु तुम्ह मोरा
८ बालि एक सर मार्‍यो	सो नर क्यों दसकंध बालि बध्यो जेहि एक सर
९ तेहि जानहु दसकंध	एक कहत मोहि सकुच अति रहा बालिकी काँख
१० पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु	राम मनुज कस रे सठ बंगा
११ सूपनखा कै गति तुम्ह देखी । तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी	कान नाक बिनु भगिनि निहारी । छमा कीन्हि तुम्ह धर्म बिचारी ॥ तुम्हरे लाज न रोष०
१२ मुधा मान ममता मद बहहू	सुनि मम बचन मान परिहरहू
१३ तेहि कहँ पुनि पुनि नर कहहु	सो नर क्यों दसकंध अभागा
१४ कारुनीक दिनकर कुल केतू	बार बार अस कहइ कृपाला ।०
१५ दूत पठाएहु तव हित हेतू	तव हित कारन आएउँ भाई
१६ 'सुरपतिसुत जानइ बल थोरा०' 'बान प्रताप जान मारीचा ।'	प्रभु सुजस सुनाएउ
१७ अंगद हनुमत अनुचर जाके	मैं रघुबीर दूत दसकंधर
१८ अहह कंत कृत राम बिरोधा । काल बिबस मन उपज न बोधा ॥	जौं खल भएसि राम कर द्रोही । भएसि काल बस खल मनुजादा
१९ सभा माँझ जेहि तव बल मथा	बल बिलोकि बिहरति नहिं छाती
२० कालदण्ड गहि काहु न मारा । हरै धर्म बल बुद्धि बिचारा	'रे तियचोर' (में धर्म, बलविचार आ गये) मंदमति'
२१ अजहुँ पूर पिय देहु	रे मतिमंत देहि अब पूरा
२२ कृपासिंधु रघुनाथ भजि नाथ०	परिहरि चतुराई । भजसि न कृपासिंधु रघुराई
२३ भंजि धनुष जानकी बिआही । तब संग्राम जितेहु किन ताही ॥	'हर को ंड कठिन जेहि भंजा । तोहि समेत नृपदल मद गंजा ।' (हनुमान्‌जी)
२४ निकट काल जेहि आवै साईं । तेहि भ्रम होइ०	उलटा होइ कहा हनुमाना । मतिभ्रम तोहि प्रगट मैं जाना॥
२५ बधि बिराध खरदूषनहि०	खरदूषन त्रिसिरा अरु बाली । बधे० ॥ (हनुमान्‌जी)
२६ जेहि जलनाथ बँधाएउ हेला	जेहि बारीस बँधाएउ हेला (प्रहस्त)
२७ उतरेउ प्रभु दलसहित सुबेला	उतरेउ सेन समेत सुबेला ,,
२८ कालबिबस मन उपज न बोधा	काल बिबस कहँ भेषज जैसे ,,
२९ कंत समुझि मन तजहु कुमतिहि	तव उर कुमति बसी बिपरीता । (बिभीषण)

मंदोदरीके उपदेश और उनके प्रभाव

१ लंकादहन होनेपर	रहसि जोरि कर पतिपद लागी	मंदोदरी अधिक अकुलानी	बोली बचन नीतिरस पागी	कंत करष हरिसन परिहरहू	दूत करनी कहकर समझाया	'बिहँसा जगत बिदित भएउ कंत अभिमानी ।' अंतमें हृदय से लगाकर तब गया	पर विधि बिपरीता

२ समुद्रबंधन होनेपर	नाइ सिर अंचल रोपा गहिपद कंपित गात	सोहागका भय; अतः उसके लिये प्रार्थना	बोली परम मनोहर बानी	सुनहु बचन पिय परिहरि क्रोधा॥	सगुन अवतार और राम-रावण में अंतर कहकर समझाया	'तब रावण मयसुता उठाई'। छातीसे न लगाया। निज प्रभुता कही।	मंदोदरि अस मन अनुमाना। काल बिवस उपजा अभिमाना॥
३ छत्र,मुकुट, ताटंक गिरनेपर	सजल नयन कह जुग कर जोरी	मंदोदरी सोच उर बसेऊ।	शोच है, सुहाग न जाय बस इस पर ध्यान है	सुनहु प्रान-पतिबिनती मोरी॥ कंत राम विरोध०	विश्वरूप, और 'हठ परिहरहू' कहा	हँसकर स्त्रियोंके अवगुण कहे। हृदयसे न लगाया। हँसी में बात उड़ा दी।	मंदोदरि मन महँ अस ठयऊ। पियहि काल बस अति भ्रम भयऊ॥
४ अंगद दौत्य के पश्चात्	तीन बार समझानेसे न समझा अतः खिन्न गयी। 'तब मंदोदरी निसाचरहि बहुरि कहा समुझाइ॥'		नारिबचन सुनि बिसिष समाना।	कंत समुझि मन तजहु कुमतिही॥ मृषा गाल जनि मारहु।	रावण की जहाँ जहाँ हार हुई वह सब कही।	अबकी रावण बोला तक नहीं। 'नारि बचन सुनि बिसिष समाना। सभा गयउ उठि० ॥'	अहह कंत कृत राम बिरोधा॥ काल बिबस मन उपज न बोधा॥

शत्रुका उत्कर्ष उत्तरोत्तर कहा है। प्रथम 'हरि' कहा, दूसरी बार '**भजहु रघुनाथहि**', तीसरी बार '**प्रीति करहु रघुबीरपद**' और अन्तमें '**कृपासिंधु रघुनाथ भजि**' पद दिये। उत्तरोत्तर अधिक अक्षर हैं।

मंदोदरीकृत उपदेश

(आवृत्तियाँ)

१—प्रथम बार नीति कही; तब कहा कि '**मोर कहा अति हित हिय धरहू**'। दूसरी बार अवतार कहा तब कहा कि '**सुनहु बचन पिय परिहरि क्रोधा**'। जब विराट्‌रूप कहा तब कहा कि '**सुनहु प्रानपति बिनती मोरी**' और जब डाँट-फटकार की तब डाँटसे ही आरम्भ किया— '**कंत समुझि मन तजहु कुमति ही**'। इति प्रथमावृत्तिः।

२—पहलेमें '**नीतिरस पागे बचन**', दूसरेमें '**परम मनोहर बाणी**' (सगुण अवतार); तीसरेमें '**नारिबचन**' (विराट्‌रूप वर्णन) और चौथेमें '**नारि 'बचन बिसिष समाना**' विशेषण कविने मंदोदरीके वचनोंको दिये हैं। इति द्वितीयावृत्तिः।

३—जब नीतिके वचन कहे तब '**पति पद लागी बोली बचन**'। अवतार कहा तब '**कर गहि पतिहि भवन निज आनी**'। और '**बोली०**'। जब विराट्‌का वर्णन किया तब कवि 'पति' आदि पद नहीं देते और चौथी बार कवि रावणके लिये 'पति' के बदले '**मंदोदरी निसाचरहि बहुरि कहा समुझाइ**' पद देते हैं; क्योंकि किसी प्रकार समझाये नहीं समझता। इति तृतीयावृत्तिः।

४—प्रथम बार हनुमान्‌जीके लौट जानेपर उपदेश हुआ; अतः उसमें हनुमान्‌जीके उपदेशकी छाया है। दूसरा उपदेश विभीषण और शुकसारणके बाद सेतुबंधनहोनेपर हुआ। अतः उसमें अवतारका प्रतिपादन है और उनकी छाया है। चौथी बार बालिपुत्रद्वारा रावणमानमर्दन होनेपर उपदेश हुआ। अतः उसमें रावण-अङ्गद-संवादकी छाया है। तीसरा उपदेश छत्रताटंकादि हतनके बाद हुआ जब सब सभा रावण और मंदोदरी भयभीत हो गये थे अतः उसमें भयानक विराट्‌-रूपका दर्शन कराया गया। इति चतुर्थावृत्तिः।

५—सेतुबंधके समयसे उत्तरोत्तर मंदोदरीके वर्तावमें भी अन्तर पड़ता गया। प्रथम बार '**रहसि जोरि कर पति पद लागी। बोली बचन नीतिरस पागी॥ ५। ३६॥**' दूसरी बार '**कर गहि पतिहि भवन निज आनी। बोली परम मनोहर बानी॥**'''। ६। ६। ३,४॥' सिर नवाकर अञ्चल पसारकर अन्तमें फिर चरण भी पकड़े। नेत्रोंमें जल भर आया। तीसरी बार केवल हाथ जोड़े और नेत्र सजल हुए। चौथी बार सीधे-सीधे वचन कहने लगी। इति पञ्चमावृत्तिः।

६—प्रथम बार जब प्रभु किष्किन्धामें ही थे तब '**पठवहु कंत जो चहहु भलाई**' कहा। जब सुवेलपर आये तब कहा कि '**रामहिं सौंपि जानकी**' अर्थात् तुम स्वयं सौंप दो। इसपर भी न माना तब सीताके देनेकी चर्चा छोड़ केवल रामविरोध छोड़ भजन करनेको कहा और अन्तिम बार '**रघुबीरपद**' भजनेको ही कहा। इति षष्ठावृत्तिः।

७—मंदोदरीका शोच उत्तरोत्तर अधिक दिखाया है। लङ्कादहनसे अधिक सेतुबन्धनपर, सेतुबन्धनसे अधिक छत्र-मुकुट-ताटंकके गिरनेपर और उससे अधिक अङ्गदपण देखकर। इसीसे पहली बार हाथ जोड़ प्रणाम करके विनती की, दूसरी बार अञ्चल भी रोपा और अन्तमें रोयी, तीसरी बार प्रथम ही रोकर तब विनती की। इति सप्तमावृत्तिः।

८—प्रथम बार नीति कही, दूसरी बार भजन करनेको कहा जिससे सुहाग अचल हो, तीसरी बार सुहाग बना रह जाय यह प्रार्थना की और अन्तमें अपना स्वार्थ न कहकर **'विमल यश'** के प्राप्त करनेकी प्रार्थना की। इति अष्टमावृत्तिः।

९—प्रथम बार रावणने यह कहकर समझाया कि स्त्री-स्वभाव है—डरना, तेरे डरनेसे हँसी होगी। दूसरी बार अपनी प्रभुता कहकर समझाया कि डरकी बात नहीं। तीसरी बार उसीकी बातसे उसको समझाया कि जो अङ्ग तूने कहे वे सब मेरे वशमें हैं ही तब तो तुम्हारे ही वचनोंसे हमारा अजित होना सिद्ध है फिर डर क्यों? चौथी बार उत्तर क्या देता वह तो बीती और देखी हुई बातें थीं। इति नवमावृत्तिः।

१०—उपदेश न माननेपर मंदोदरीपर उत्तरोत्तर अधिक बुरा प्रभाव पड़ा। पहली बार न माननेपर केवल चिन्ता हुई—**'मंदोदरी हृदय कर चिंता। भएउ कंतपर बिधि बिपरीता'**॥ दूसरी बार न माना तब **'मंदोदरी हृदय अस जाना। काल बिबस उपजा अभिमाना'**॥ तीसरी बार मनमें निश्चय कर लिया कि कालवश है—**'मंदोदरी मन महुँ अस ठयऊ। पियहि कालबस मतिभ्रम भएऊ'**॥ और चौथी बार उससे कह दिया कि कालवश हो। इति दशमावृत्तिः।

११—जैसे-जैसे मंदोदरीने प्रत्येक बार रामविरोध छोड़नेको कहा तैसे-तैसे रावणने उसका उत्तरोत्तर मान कम किया। प्रथम बार हँसकर हृदयसे लगाया।—**'अस कहि बिहँसि ताहि उर लाई। चलेउ सभा०'**॥ दूसरी बार **'तब रावन मयसुता उठाई'**, हृदयसे न लगाया। तीसरी बार स्त्रियोंके अवगुण कहे और चौथी बार बोलातक नहीं वरन् **'नारि बचन सुनि बिसिख समाना। सभा गएउ उठि०'**॥ इति एकादशावृत्तिः।

नारि बचन सुनि बिसिष समाना। सभा गएउ उठि होत बिहाना॥ १॥
बैठ जाइ सिंघासन फूली। अति अभिमान त्रास सब भूली॥ २॥

अर्थ—स्त्रीके बाण-सरीखे वचन सुनकर वह सबेरा होते ही उठकर सभामें चला गया॥ १॥ सारा डर भुलाकर अत्यन्त अभिमानसे फूलकर सिंहासनपर जा बैठा॥ २॥

नोट—१ और बार रावण मंदोदरीको समझाता था, उत्तर देता था; पर अबकी बार कुछ उत्तर न दिया। कारण कि पूर्व तीन उपदेशोंमें केवल भय-दर्शन और रघुनाथजीके स्वरूपका वर्णन ही अधिक रहा है; रावणका मानमर्दन उनमें न था। और इस अन्तिम उपदेशमें मंदोदरीने इसके बलगर्वको चूर्ण करनेके लिये उसकी कलई खोली, सच्ची-सच्ची सब घटनाएँ कहीं, जहाँ-जहाँ उसका मानमर्दन हुआ था और जिसे दोनों जानते थे—इसका उत्तर वह क्या दे सकता था?

२ **'मंदोदरी निसाचरहि बहुरि कहा समुझाइ॥ ३४॥'** उपक्रम और **'नारि बचन सुनि'** उपसंहार है। **'साँझ जानि···भवन गयउ॥ ३४॥'** ३४॥' उपक्रम और **'सभा गएउ उठि'** उपसंहार है।

३—**'त्रास सब भूली'** से सूचित किया कि अङ्गदद्वारा मानमर्दन होनेपर भय उत्पन्न हो गया था और स्त्रीके जले-कटे वचनोंसे त्रास और भी बढ़ गया था। वह सब त्रास अब जाता रहा। त्रास भूलनेका कारण **'अति अभिमान'** है। 'अति अभिमान' होनेपर शत्रुका भय हृदयमें नहीं घुसने पाता, यथा—'अस कहि चला महा अभिमानी। तृन समान सुग्रीवहि जानी॥ ४। ८। १।'

मंदोदरी कृत चतुर्थ उपदेश समाप्त हुआ

इहाँ राम अंगदहि बोलावा। आइ चरन पंकज सिरु नावा॥ ३॥
अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि कृपाल खरारी॥ ४॥

अर्थ—इधर श्रीरामचन्द्रजीने अङ्गदको बुलवाया। उसने आकर चरण कमलोंमें सिर नवाया॥ ३॥ बड़े ही आदर-से पास बिठाकर कृपालु खरारि हँसकर बोले॥ ४॥

नोट—१ 'इहाँ' से जनाया कि अब प्रसंग बदल रहे हैं। (क) अङ्गदका रावणका मानमर्दनकर लौटना कहकर, मंदोदरीका रावणको उपदेश कहने लगे थे, अब पुनः वहींसे प्रसंग उठाते हैं। अङ्गद श्रीरामचन्द्रजीके पास गये थे, उस समय संध्या हो गयी थी, उस समय कोई बातचीत न हुई, वरन् अङ्गद अपने नियुक्त स्थानपर भेज दिये गये थे, यह बात **'राम अङ्गदहि बोलावा'** से अनुमानित की जाती है। जब सबेरा हुआ तब अङ्गदको प्रभुने बुलवा भेजा। श्री वि० त्रिपाठी-जी लिखते हैं कि **'अति अभिमान त्रास सब भूली'** तक वहाँ (लङ्का) का वृत्तान्त था। अब 'इहाँ' (सुवेल शैल) का वृत्तान्त कहते हैं। जब अङ्गदजीने लौटकर रामजीके चरणोंको प्रणाम किया। तब सरकारने कुछ न पूछा। रात बीतनेपर सबेरे अङ्गदजी बोलाये गये, और उनसे गढ़का वृत्तान्त पूछा गया। कारण यह है कि रावणके साथ संवाद होनेमें ही संध्या हो गयी थी। यथा—**'साँझ जानि दसकंधर भवन गयउ बिलखाइ।'** और नीतिशास्त्रका उपदेश है कि **'दिवा निरीक्ष्य वक्तव्यं रात्रौ नैव नैव च।'** दिनको देखकर बात कहना चाहिये, और रातको तो कभी बात न करना चाहिये। नीति-प्रतिपालक सरकारने इसीलिये रातको अङ्गदजीसे कुछ न पूछा। (ख) 'बोलावा' से जनाया कि समीप न थे उनका डेरा या सेनाकी रक्षाके लिये नियुक्ति अन्यत्र थी। (ग) **'सिरु नावा'** यह सेवकके योग्य ही है।

२ **'अति आदर समीप बैठारी'**। पास बिठाना स्वयं ही **'अति आदर'** है, यथा—**'जानि प्रिया आदरु अति कीन्हा। बाम भाग आसन हर दीन्हा ॥ १ । १०७ ॥'** 'पुनः, 'अति आदर' से जनाया कि हाथ पकड़कर हृदयसे लगाकर अपने दाहिने या बायें बराबर ही बिठा लिया। यथा—**'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा ॥ ५।३३।'** हनुमान्‌जीके सम्बन्धमें हृदय लगाना और हाथ पकड़ना कहा था, वही यहाँ 'अति आदर' पदसे सूचित किया है। पुनः, भाव कि बड़े प्रेमसे स्वागत पूछते और कृतज्ञता जनाते हुए पास बैठाया, यथा—**'अति आदर खगपति कर कीन्हा। स्वागत पूछि सुआसन दीन्हा ॥ ७ । ६३ ॥' 'परम प्रीति समीप बैठारे। भगत सुखद मृदु बचन उचारे ॥ तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुखपर केहि बिधि करउँ बड़ाई ॥ ७ । १६ ॥'**

३ **'बोले बिहँसि कृपालु खरारी'** इति। (क)—हँसी अनुग्रह है—**'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा।'** पुनः, हँसकर बोलना आपका स्वभाव ही है। पुनः, यह हँसी अङ्गदको प्रसन्न करने, उनकी सेवाका उचित आदर और उसपर अपनी प्रसन्नता जनानेके लिये है। (ख)—'कृपालु' हैं, इसलिये सम्मान किया। खरारि अर्थात् दुष्टोंके शत्रु हैं। अतः उनके वधकी सलाहपर विचार करेंगे, शत्रुका समाचार अङ्गदसे पूछेंगे।

प० प० प्र०—भगवान्‌ने अङ्गदकृत सब पराक्रम तथा रावणसहित सभाका विमर्दन जान लिया है। (अङ्गदजी द्वारा प्रेरित मुकुटोंके आनेपर प्रभुने कहा ही है—**'ए किरीट दसकंधर केरे। आवत बालितनय के प्रेरे ॥ ३० । १० ॥'** सेवककी अद्‌भुत करनीसे प्रसन्न हुए, अतः बिहँसे। तथापि इस हँसीमें दासकी किंचित् परीक्षा लेनेकी इच्छा भी है। यह देखना है कि इसमें अहंकाररूपी तरुका बीज तो अङ्कुरित नहीं हुआ है।

नोट—रात्रिमें ही क्यों न पूछा ? उत्तर—(i) पं०—(१) दिनभरका थका था और वार्तामें समय बहुत लगता। (२) प्रभुको कुछ चिन्ता न थी कि तुरत ही समाचार सुनते और युद्धका उपाय सोचते **'जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिष महँ तेते ॥,'** ये तो प्रभुके ही वाक्य हैं। (३) रात्रिमें सब यूथ और यूथप अपने-अपने स्थानोंपर स्थित थे;.उन सबके सामने बातें करके उनका उत्साह बढ़ाना है, रात्रिमें स्थानसे उनका बुलाना नीतिके अनुकूल नहीं था। अतएव दिनमें बुलाया (मा० म०)। (४) उस समय श्रीरामचन्द्रजी संध्या-वन्दनादिमें लीन थे और संध्या करनेके समय परामर्श करना भी उचित नहीं। दूसरे अङ्गदको दिनभर विश्राम न मिला था इसलिये विश्राम लेनेकी आज्ञा दी थी (मा० म०)। (५) श्री वि० त्रि० जीका मत नोट १ देखिये।

बालितनय कौतुक * अति मोही। तात सत्य कहु पूछउँ तोही ॥ ५ ॥
रावन जातुधान कुल टीका। भुजबल अतुल जासु जग लीका ॥ ६ ॥
तासु मुकुट तुम्ह चारि चलाए। कहहु तात कवनी बिधि पाए ॥ ७ ॥

* अति कौतुक—का०।

शब्दार्थ—टीका=शिरोमणि, प्रधानताकी छापवाला, श्रेष्ठ। लीक=थाप, प्रसिद्धि, साख।

अर्थ—हे वालिपुत्र! मुझे बड़ा ही कुतूहल है (आश्चर्य है); इसीसे हे तात! मैं पूछता हूँ। तुम सत्य-सत्य कहो (बताओ)—॥ ५॥ जो रावण निशिचरकुलमें शिरोमणि है, जिसके अतुलित भुजबलकी संसारमें प्रसिद्धि है॥ ६॥ उसके चार मुकुट तुमने हमारे पास फेंके। हे तात! कहो तो, तुमने उन्हें किस प्रकार पाये?॥ ७॥

नोट १ 'बालितनय' संबोधनसे जनाया कि बालीका-सा अद्भुत कार्य तुमने किया है। 'तात' शब्द 'प्रिय' अर्थमें है। छः चरणोंमें तीन बार संबोधन है और उसमें दो बार 'तात' शब्द प्रयुक्त किया है। ऐसा करके अङ्गदपर अपना प्रियत्व दिखाया।

☞ २ **'कौतुक अति मोही'**। इस काण्डका प्रारम्भ ही कौतुकसे हुआ। (क) सेतुबंध प्रथम कौतुक है, यथा—**'कौतुक एक भालु कपि करहू'** तथा **'कौतुक ही पाथोधि बँधाएउ॥ ६। ६। २॥'** (ख) दूसरा कौतुक जलचरोंका पानीपर स्थित होकर पुलका काम देना है, यथा—**'अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहिं जाहिं॥ ४॥ अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई॥ ५। १॥'** (ग) तीसरा कौतुक रामबाणका हुआ, यह स्वयं रामजीने किया। यथा—**'छत्र मुकुट ताटंक सब हते एक ही बान। सबके देखत महि परे मरम न कोऊ जान॥ अस कौतुक करि राम सर प्रबिसेउ आइ निषंग। १३।'** और (घ) चौथा कौतुक यह हुआ, यथा—**'बालितनय अति कौतुक मोही'**। अन्य सब 'कौतुक' थे और यह 'अति कौतुक' है। 'अति कौतुक' कहकर अङ्गदके बलकी अत्यन्त प्रशंसा और उनपर अपनी अति प्रसन्नता जनायी।

३ **'तात सत्य कहु'**। सत्य कहनेको कहा, क्योंकि यहाँ सत्य न कहनेका मौका है। सज्जन अपने मुख अपनी प्रशंसा नहीं करते, वे तो **'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। ३। ४६। १।'** तब कहेंगे कैसे? और मुकुट गिराने इत्यादिमें अङ्गदके पुरुषार्थकी ही प्रशंसा है। अतः कहा कि सत्य कहना। फिर भी अङ्गदने अपनी प्रशंसा न की।

४ **'रावन जातुधान कुल टीका।'** इति। भाव कि एक तो उसका नाम ही रावण (सबको रुलानेवाला) है; दूसरे, वह निशिचरकुलशिरोमणि है; इत्यादि। तीसरे, समस्त राक्षसोंका राजा है तब राक्षस-सेना उसकी न्यूनता, उसका अपमान, कैसे देख सकी? यही नहीं, वह अतुलित बल होनेसे सारे जगत्में विख्यात है—(पं०)।

बं० पा०—'कवनी बिधि' अर्थात् बिना संग्राम हुए कैसे मिल गये? इसमें भक्तके बलकी प्रशंसा है, इसीसे पूछते हैं। रघुनाथजीका स्वभाव ही ऐसा है कि वे भक्तके गुण सदा सुनना चाहते हैं। यथा विनये—**'निज करुना करतूति भक्तपर चपत चलत चरचाउ। सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ।** वि० १००।'

सुनु सर्बग्य प्रनत सुखकारी। मुकुट न होहिं भूप गुन चारी॥ ८॥
साम दान अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥ ९॥
नीति धर्म के चरन सुहाए। अस जिय जानि नाथ पहिं आए॥ १०॥

अर्थ—(अङ्गद बोले) हे सर्वज्ञ (सब जाननेवाले)! हे शरणागतोंको सुख देने (सुखी करने) वाले! सुनिये। ये मुकुट नहीं हैं, राजाके चार गुण साम, दान, दंड और भेद हैं। हे नाथ! वेद कहते हैं कि ये चारों गुण राजाके हृदयमें निवास करते हैं॥ ८-९॥ ये नीति-धर्म (शास्त्र) के सुन्दर (चार) चरण * ऐसा जीसे जानकर स्वामीके पास आये हैं॥ १०॥

नोट—१ **'सुनु सर्बग्य प्रनत सुखकारी।'** श्रीरामजीने कहा कि मुकुट कैसे पाये? इसका उत्तर इस एक चरणमें ही उन्होंने ऐसा दिया जिसमें झूठ भी न हो और स्वामीकी आज्ञाका पालन भी हो जाय। 'सर्वज्ञ' अर्थात् आप सब जानते ही हैं कि किस प्रकार मिले, आपसे छिपा नहीं है, तब मैं क्या कहूँ। बताया तो उसे जाय जो न जानता हो। यदि प्रभु कहें कि हम जानते तो पूछते क्यों, तो उसका उत्तर है कि आप 'प्रनत सुखकारी' हैं। अर्थात् शरणागतको सुखी करने, उसकी प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये आप प्रश्न करते हैं।—**'संतत दासन्ह देहु बड़ाई। ताते मोहि पूछेहु रघुराई। ३। १३। १४।'** [रा० प्र०—भाव कि मुझसे कुछ नहीं हुआ। यह सब तो प्रणत-सुखकारीकी लीला रही है। पुनः भक्तोंके सुखके लिये

* मुकुटको असत्य ठहराकर उपमानरूपी असत्य चार गुणको स्थापन करना 'शुद्धापन्हुति अलंकार' है। सर्वज्ञमें लक्षणामूलक गुणीभूत व्यङ्ग है। श्री नं० प० जी अर्थ करते हैं—'आपके चरण नीतिधर्मसे शोभित हैं।'

यह नरनाट्य आप करते हैं, यथा—'करिहौं चरित भगत सुखदाता। जो सुनि सादर नर बड़भागी। भव तरिहहिं ''। १। १५२।'] 'नृप उर बसहिं' का भाव कि जो राजा हो उसीके हृदयमें वास करते हैं। रावण अब राजा नहीं है, तब वे उसके पास कैसे रहते? २—'नाथ पहिं आए' का भाव कि—(क) रावणके यहाँ अनाथ पड़े थे, इनसे वह सदा चिढ़ता था, इनका अनादर करता था। नीति कहनेवालोंसे बिगड़ उठता था। यथा—'मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ग्यानी।'''लागेसि अधम सिखावन मोही। सुं० २४।' अब आपके पास आकर सनाथ हुए। (ख) अब आप चक्रवर्ती राजा हैं वह नहीं, अतः आपको अपना स्वामी जानकर आये। (पु० रा० कु०)। (ग) मा० म०—नीति-धर्म-आचरण विभीषणजीको सोहाता है। यह आप स्वयं जानते हैं, यथा—'मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती। अति नय निपुन न भाव अनीती। सुं० ४६।६।' आपने विभीषणको राजा बनाया है अतएव राजनीतिके चारों अङ्ग अपने नाथके पास आ गये। रावण अब राजा नहीं है उसके पास क्यों रहें?

पं० रा० चं० दूबे—राजनीतिके चार अङ्ग साम, दाम, दण्ड, भेद बताये गये हैं। किसी-न-किसी रूपमें इनका उपयोग शासनकार्यमें अब भी करना पड़ता है। कविने 'धरम-हीन प्रभुपद-बिमुख कालबिबस' में यह दरसा दिया है कि इन चारों (सामादि) का उपयोग भी धर्मके आधारपर ही होना उचित है। धर्मसे विमुख होनेपर यह साधन भी निष्फल हो जाते हैं। इसीके आधारपर सीसोदियोंका यह मन्त्र-चिह्न परम्परासे चला आता है कि—'जो हठि राखै धर्मको तेहि राखै करतार।'

राजाके लिये उत्साहित करना, उत्तेजना देना, आदर-मान करना, अच्छी सेवा करनेपर शाबाशी देना, कृतज्ञता प्रकट करना भी जरूरी है। बालिकुमार श्रीअङ्गदजी दूतत्वकार्यका सम्पादन करके आते हैं—'अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि कृपालु खरारी॥' इसी तरह जब हनुमान्‌जी श्रीसीताजीकी सुध लेकर आते हैं तब जाम्बवंत उनको समक्ष उपस्थित करते हैं—'सुनि कृपालु उठि हृदय लगाए। जानि सुभट रघुपति मन भाए।' आजकल ऐसा करना शायद एक तअल्लुकेदारकी शानके भी खिलाफ समझा जाय। खैर! श्रीमहावीरजीसे सब समाचार सुनकर रामचन्द्रजी कहते हैं—'सुनु कपि तोहि समान उपकारी।'''सुनु कपि तोहि उरिन मैं नाहीं।' इत्यादि कैसा अच्छा कृतज्ञताका भाव है! लङ्का-विजय हो चुकी, श्रीरघुनाथजी अपनी वानरी सेनाको सम्बोधनकर कहते हैं—'तुम्हरे बल मैं रावन मारा।''' उन्होंने इस विजयका सारा यश उन्हींको दे दिया है।

दो०—धर्महीन प्रभुपद बिमुख काल बिबस दससीस।
तेहि परिहरि गुन आए * सुनहु कोसलाधीस॥ ३७ (क)॥

अर्थ—हे कोसलराज! सुनिये। दशशीश रावण धर्महीन, प्रभुके चरणोंसे विमुख (प्रभु-प्रेमरहित) और कालके पूर्ण वश है। (अतएव) ये गुण उसको छोड़कर आपके पास आये हैं॥ ३७ (क)॥

नोट—१ यहाँ तीन दोष रावणमें दिखाये। धर्महीन, यथा—'अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी। परम सभीत धरा अकुलानी। १। १८४। ४।' पुनः यथा—'अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धरम सुनिय नहिं काना।'''। १। १८३।' परद्रोही होना, परदाररत होना इत्यादि अधर्म हैं। धर्मसे वैराग्य होता है, उससे प्रभुपदमें प्रेम होता है, यथा—'धर्म ते बिरति', 'एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा। ३। १६। ७।' वह धर्महीन है, अतः 'प्रभुपद विमुख' है। प्रभुपद-विमुख है अतः कालके वश है—'रामबिमुख त्राता नहिं कोपी'। अतः क्रमसे धर्महीन, प्रभुपदविमुख और काल-विवश कहा। २–यहाँ 'काव्यलिंग अलंकार' है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—'धर्महीन''''''''कोसलाधीस' इति। लङ्कामें जो अङ्गद-रावण-संवाद हुआ उसका सार सूत्ररूपमें अङ्गदजीने (१) धर्महीन (२) प्रभुपद विमुख (३) कालविवश–ये ही तीन विशेषण दशशीशके देकर सब कह दिया। वस्तुतस्तु अङ्गद-संवाद तीन भागोंमें विभक्त है। पहिले अङ्गदजीने बड़ी सहूलियतसे उसका ध्यान धर्मकी

* आए गुन तजि रावनहिं—(क०)।

ओर आकर्षित करनेके लिये 'नृप अभिमान मोह बस किंबा। हरि आनेउ सीता जगदंबा कहा परन्तु 'मूढ़ न जानेसि मोहि सुरारी' कहकर उसने कोरा जवाब दे दिया कि मैं दैवीसम्पद्वालोंका शत्रु हूँ, मेरें यहाँ बल ही सब कुछ न्याय है, तू धर्म लेकर कहाँसे उठा? २४ वें दोहेतक (सत्य वदहि तजि माख) तक बलपर ही कहा-सुनी होती रही। अतः अङ्गदजीने निश्चय कर लिया कि वह धर्महीन है। २५ वें दोहे (नर कर करेसि बखान) से लेकर ३१ वें दोहे (मूढ़ समुझु तजि टेक) तकके संवादमें रावण सरकारकी निन्दा ही करता रहा, अतः अङ्गदजीने निश्चय किया कि वह हरिपद-विमुख है। तत्पश्चात् अन्त (तब कपि कही नीति बिधि नाना। मान न ताहि काल नियराना) तकके रावणके व्यवहारसे अङ्गदजीने निश्चय कर लिया कि इसका काल सन्निकट आ गया। वही निश्चय अपना अङ्गदजीने प्रारम्भमें ही कह दिया।

और 'काल दंड गहि काहु न मारा। हरै धर्म बल बुद्धि बिचारा' अतः गुणोंने रावणका त्याग किया। पर उन्हें आश्रय चाहिये सो 'वृणुते विमृश्यकारिणं गुणलुब्धा स्वयमेव सम्पदः' विचारपूर्वक कार्य करनेवालेके गुणोंपर लुब्ध होकर सम्पदाएँ स्वयं उसके पास चली जाती हैं।

पं०—'कोसलाधीस' सम्बोधनका भाव कि यह लङ्का तो आप विभीषणको दे चुके हैं; 'इन गुणोंका पालन आप कोसलपुरीमें करेंगे'। यदि कोई कहे कि तुमने तो युक्ति बनायी है, सच बात न कही, तो सुनिये मैंने सत्य ही कहा है कि चारों गुणोंने उसका त्याग किया है। इस तरह कि राजाको उचित है कि सबके साथ साम अर्थात् सन्धि रक्खे, पर वह आप ऐसे बलिष्ठसे भी विरोध करता है, अतः प्रथम गुण साम चला गया। अपनेसे अधिक बलीको कुछ देकर मित्र बना लेना उचित है, यह दूसरा गुण है, पर देना तो दूर रहा वह आपकी जानकीजीको भी नहीं दे सकता, अतः दूसरा गुण गया। हनुमान्‌जी और मुझ दासके वहाँ जानेपर उसके बलकी परीक्षा भी हो गयी। [हमने उसे दण्ड दिया और उसमें अब दण्ड देनेकी शक्ति नहीं रह गयी। अतः दण्ड गुणने भी उसे छोड़ दिया।—(मा० म०)] यह तृतीय गुण दण्ड भी गया। और, विभीषण उसका भाई उसे छोड़कर आपसे आ मिला, इससे समझिये कि भेद गुण भी गया। इस प्रकार चारों गुणोंने उसे त्यागकर आपकी शरण ली।—'रावन जबहि बिभीषन त्यागा। भएउ बिभव बिनु तबहिं अभागा॥'—(सुं० ४१)।

शीला—यहाँ सामादि नीतियोंको मुकुट कहा है, इन दोनोंमें समानता भी होनी चाहिये। दोहेमें रावणको धर्महीन, प्रभुपदविमुख, कालविवश और दशशीश कहा है। यहाँ सामगुण धर्मरूपी मुकुट, दाम-गुण प्रभुपद-सम्मुखता, दण्डगुण काल-जित् और विभेद-गुण दशशीश भार-उतारणरूपी मुकुट हैं। विभीषण धर्मज्ञ, प्रभुपदसम्मुख, कालजित् और भारहरण करानेमें उद्यत हैं। अतः वे रावणको छोड़ यहाँ आये।

दो०—परम चतुरता श्रवन सुनि बिहसे रामु उदार।
समाचार पुनि सब कहे गढ़ के बालिकुमार॥ ३७ (ख)॥

अर्थ—उदार रामचन्द्रजी अङ्गदजीकी परम चतुरता (की वाणी) सुनकर हँसे। फिर (तत्पश्चात्) वालिपुत्रने किलेके सब समाचार कहे॥ ३७ (ख)॥

टिप्पणी—१ 'परम चतुर मैं जानत अहऊँ' उपक्रम और 'परम चतुरता श्रवन सुनि' उपसंहार है। अङ्गदके वचनोंमें चतुराईके कर्तृत्वका अभिमान नहीं है।—[हँसना परम चतुरतापर है, वचनकी रचना देख-सुनकर मुसकराये।* अथवा, श्रीरामजी उदार हैं, विभीषणको राज्य देंगे अतः वचन सुन प्रसन्न हुए। (वं० पा०)] विभीषणजीको राज्य, वानरोंको यश और राक्षसोंको मुक्ति देना चाहते हैं, यह उदारता है। यथा—'ताहि देइ गति राम उदारा। सबरी के आश्रम पगु धारा॥ ३। ३४। ५॥', 'अस बिचारि भजु राम उदारा। २७। ७।', 'आयसु दीन्ह न राम उदारा। ३३। ४।' देखिये। प्रभु भक्तोंके साथ विनोद कर रहे हैं, उनको आनन्द दे रहे हैं, अतः 'राम' शब्द दिया। दूसरेकी बातपर प्रसन्न होना यह भी उदारता है।

* रा० प्र०—यहाँ काव्यरीति-कथन परम चतुरता है। 'गढ़' शब्द श्लेषार्थी है। भाव कि पहिले काव्यरीति गढ़कर कही फिर जो लंकादुर्गमें देखा था वह कहा।

नोट—१ (क) समाचारकथनके सम्बन्धसे 'बालिकुमार' नाम दिया । अर्थात् यह राजाका पुत्र है, सम्पूर्ण राज्य-व्यवहारसे परिचित है, बालीके समान ही बुद्धिमान् है । अतएव इसने शत्रुके वह सब समाचार प्राप्त कर लिये जिनका प्राप्त करना आवश्यक था । (बं० पा०, पं०) । (ख) 'सब समाचार' । रावण-दलका पुरुषार्थ किलेका समाचार, तोप, सेना आदिका समाचार, गढ़की रचना, चतुरङ्गिनी सेना, चार बाँके फाटक इत्यादि सब समाचार हैं ।—(पु० रा० कु०) ।

नोट—२ **'समाचार पुनि सब कहे गढ़ के बालिकुमार'** इति । वाल्मीकीय, अध्यात्म और हनुमन्नाटकादि कई ग्रन्थोंमें अङ्गदसे लङ्काके गढ़का समाचार पूछा जाना नहीं पाया जाता । हनुमान्‌जीसे लङ्काका हाल पूछना इन ग्रन्थोंमें मिलता है । रघुनाथजीने उनसे वहाँ पूछा है कि दुर्गम लङ्कामें कितने दुर्ग, कितनी-कितनी सेना द्वारोंपर, कितने गुप्त यन्त्र रक्षाके लिये और कितने घर-इत्यादि हैं । (वाल्मी० यु० ३ । ३) । इसी प्रकार अध्यात्म आदिमें भी है । पर चारों प्रकारके दुर्गोंका वर्णन करनेके बाद अन्तमें हनुमान्‌जीने यह कहा है कि जितने दुर्गम मार्ग थे सबको हमने तोड़ डाला । दुर्गके संक्रमों आदिको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया **'शतघ्न्यः संक्रमाश्चैव नाशिता मे रघूत्तम'** । अब रामचन्द्रजी लङ्कामें पहुँच गये हैं । बालिपुत्रसे जो समाचार पूछ रहे हैं यह वह नहीं है जो हनुमान्‌जीने कहा था । क्योंकि दुर्गकी वे कठिनाइयाँ अब नहीं हैं । यहाँ जो समाचार अङ्गदसे पूछा गया है वह यह समाचार जान पड़ता है जो वाल्मी० यु० ३७ में विभीषणजीने श्रीरामजीसे अङ्गदके भेजे जानेके पूर्व ही बताया है । उन्होंने बताया कि हमारे मन्त्री पक्षीरूपसे शत्रुसेनामें जाकर वहाँका सब समाचार लाये हैं; रावणका किया हुआ सब विधान ये जानकर आये हैं ।—**'भूत्वा शकुनयः सर्वे प्रविष्टाश्च रिपोर्बलम् । विधानं विहितं यच्च तद्‌दृष्ट्वा समुपस्थिताः'** ॥ ८ ॥

यह कहकर फिर बतलाया कि पूर्वद्वारपर प्रहस्त, दक्षिण द्वारपर महावीर महापार्श्व और महोदर, पश्चिमपर इन्द्रजीत अस्त्र-शस्त्रधारी कुशल वीरों सहित और उत्तर नगरद्वारपर स्वयं रावण है । मध्यमें विरूपाक्ष है । बहुत भारी चतुरङ्गिनी सेना सबके साथ है । इत्यादि । यही बात वाल्मी० ३६ (श्लोक १८ से २० तक) में कविने कही है ।

श्रीविभीषणजीसे यह समाचार मिलनेपर—पूर्व द्वारपर प्रहस्तकी जोड़में नील, दक्षिणमें महापार्श्व महोदरकी जोड़में अङ्गद, पश्चिम द्वारपर मेघनादके मुकाबिलेके लिये हनुमान्‌जी रहें और उत्तरमें रावणके लिये लक्ष्मणसहित हम रहेंगे—ऐसा रामजीने निश्चित किया । सुग्रीव, विभीषण और जाम्बवन्त मध्यमें रहकर सेनाकी रक्षा करें । यही निश्चय सर्ग ४१ में भी रहा । वहाँ श्लोक ३८ से ४४ तकमें सेनापतियों और उनके सहायकोंके नाम भी दिये गये हैं । इसके पश्चात् कुछ परिवर्तन भी किया गया है, जैसा सर्ग ४२ श्लोक २१-३१ से स्पष्ट है ।

'गयउ बसीठी बीरबर जेहि बिधि बालिकुमार'—प्रसंग समाप्त हुआ ।

'युद्ध'—प्रकरण

रिपु के समाचार जब पाए । राम सचिव सब निकट बोलाए ॥ १ ॥
लंका बाँके चारि दुआरा । केहि बिधि लागिअ करहु बिचारा ॥ २ ॥

शब्दार्थ—लागना=घेरना, यथा—'लागे कपि पुनि चहूँ दुआरा' ।

अर्थ—जब श्रीरामचन्द्रजीने शत्रुके समाचार पाये तब सब मन्त्रियोंको पास बुलाया ॥ १ ॥ (और उनसे बोले कि) लङ्कामें चार बड़े विकट मजबूत फाटक हैं । किस प्रकार उनको घेरा जाय, इसपर विचार करो ॥ २ ॥

नोट—१ (क) **'राम सचिव सब निकट बोलाए'—'सिंधु बचन सुनि राम सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ । मं० सो० १ ।'** और **'पूछा मत सब सचिव बोलाई । १७ । १ ।'** देखिये । (ख) प्रथम बार पूछा था कि क्या उपाय करें—**'कहहु बेगि का करिय उपाई'** । क्योंकि तब समाचार न मिला था । अब समाचार मिल गया तब पूछा कि किस प्रकार चारों द्वार घेरे जायँ—**'केहि बिधि लागिय करहु बिचारा'** । २—**'लंका बाँके चारि दुआरा ।०'** । भाव कि ये देव, दानव, गन्धर्व आदि सभीके लिये दुर्गम और अत्यन्त दुर्जय दुर्धर्ष हैं—**'सा सुरोरगगन्धर्वैः सर्वैरपि सुदुर्जया'** (वाल्मी० ३७) । अतः विचारो कि किस प्रकार हमारे कार्यकी सिद्धि होगी ।

तब कपीस रिच्छेस बिभीषन। सुमिरि हृदय दिनकरकुलभूषन॥ ३॥
करि बिचार तिन्ह मंत्र दृढ़ावा। चारि अनी कपि कटकु बनावा॥ ४॥
जथाजोग सेनापति कीन्हे। जूथप सकल बोलि तब लीन्हे॥ ५॥

शब्दार्थ—अनी (सं० अणि=अग्रभाग)=दल, सेनाका अग्रभाग। यथा—'**बेष न सो सखि सीय न संगा। आगे चली अनी चतुरंगा**' (अ०)॥

अर्थ—तब श्रीसुग्रीवजी, ऋक्षपति श्रीजाम्बवन्तजी और विभीषणजीने सूर्यकुलभूषण श्रीरघुनाथजीको हृदयमें स्मरण किया॥ ३॥ और, विचार करके उन्होंने मन्त्र निश्चय (पक्का) किया। उन्होंने वानर-सेनाके चार दल बनाये (विभाग किये)॥४॥ यथायोग्य (जो जिस अनीके लायक था) उनके सेनापति बनाये। इसके बाद सब यूथपतियोंको बुला लिया॥५॥

पु० रा० कु०—'**कपीस रिच्छेस बिभीषण**'। सुग्रीव सूर्यके अंश, जाम्बवन्त ब्रह्माके अवतार और विभीषण परम भागवत हैं—ये तीन सबमें विशेष हैं।—(प्रभुने '**करहु बिचारा**' कहा। अतः '**करि बिचार**…')। इस प्रकार श्रीरामजीकी आज्ञाको चरितार्थ किया।

नोट—१ '**सुमिरि हृदय दिनकर०**' इति। स्मरणसे कठिन बात भी समझमें आ जाती है, यथा—'**सुमिरत रामु हृदय अस आवा। १। ५७। १।**' भक्तोंका कार्यारम्भमें प्रभुका स्मरण करना विधि भी है। यथा—'**सुमिरि रामसियचरन तब चले भरत दोउ भाइ॥ २। १८७।**', '**सुमिरि रामपद पंकज पनहीं। भाथीं बाँधि चढ़ाइन्हि धनुहीं॥ अ० १९१ ४॥**', '**आयसु माँगि चरन सिरु नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई॥ कि० २३। ८॥**' पुनः दिनकरकुलभूषणके स्मरणका तीसरा भाव यह है कि रघुवंश-विभूषण सबके हृदयके प्रेरक हैं, यथा—'**उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन। ७। ११३। १।**' अतः स्मरणसे वे यथार्थ मन्त्रकी प्रेरणा हृदयमें कर देंगे।

मयूख—१ '**करि बिचार तिन्ह मंत्र दृढ़ावा**' के अभ्यन्तर यह ध्वनि है कि कोई किसीको युद्धसे न फेरे अर्थात् यह विचार निश्चय हुआ कि कोई युद्धसे न फिरें। २—'**चारि अनी कपि कटक बनावा**' के अन्तर्गत यह भाव है कि कपि-कटकका चार व्यूह रचकर चारों दिशाओंमें युद्ध करनेकी आज्ञा दी। पश्चिम दिशामें चक्राव्यूह, दक्षिणमें नराव्यूह, पूर्वमें संडाव्यूह और उत्तरमें महाप्रबल गरुड़ाव्यूह रचे। (प्रभुने बताया है कि लङ्कामें चार बाँके द्वार हैं जिनपर प्रबल रक्षक योद्धा नियुक्त हैं अतः इन्होंने उनसे मोर्चा लेनेके लिये चार दल बनाये।)

नोट—२ (क) '**जथा जोग**', यथा—**जो जेहि लायक सो तेहि राखा। अ० १८६।**' विशेष दोहा ३७ में देखिये। (ख) '**जूथप सकल बोलि तब लीन्हे**' इति। इस प्रकार जनाया कि सेनाके चार टुकड़े करके चार दिशाओंमें बाँट दिये, चारों दलोंके सेनापति चुनकर उनके अधीन सेना कर दी। तब १८ पद्म वा अधिक यूथप जो साथ हैं उनको बुलाया। इनकी गणना चार अनीमें नहीं की गयी है। इसीसे इनको पृथक् कहा।

प्रभु प्रताप कहि सब समुझाए। सुनि कपि सिंहनाद करि धाए॥ ६॥
हरषित राम चरन सिर नावहिं। गहि गिरि-सिखर बीर सब धावहिं*॥ ७॥

अर्थ—प्रभुका प्रताप कहकर सबको समझाया। उसे सुनकर वानर सिंहके समान गर्जन करके दौड़े॥ ६॥ वे प्रसन्न होकर श्रीरामजीके चरणोंमें सिर नवाते हैं और सब वीर पर्वत-शिखर लेकर धावा करते हैं॥ ७॥

'प्रभु प्रताप०' इति। १—'प्रताप' अर्थात् प्रभु समर्थ हैं, तुम चिन्ता न करना, राक्षसोंको मरा हुआ ही जानो, तुमको यश मिलना है, श्रीरामजी जीते-जिताये हैं। ये वही हैं जिनकी '**भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई**' (पु० रा० कु०, रा० प्र०)। पुनः 'प्रभु प्रताप' यह कि देखो हनुमान्‌जीने इसीके बलसे रावणपालित लङ्का जला डाली और इसी प्रतापके बलसे अङ्गदका पैर कोई न हटा सका, इत्यादि।। इसी प्रतापका स्मरण कर तुम भी लड़ो, कुछ भय नहीं है, जय होगी। विशेष '**रामप्रताप सुमिरि मन माहीं। ६। १। ६।**', दोहा ३, तथा '**सुमिरि कोसलाधीस प्रतापा।**

* यह अर्धाली का० में नहीं है। रा० गु० द्वि० इत्यादि में है।

७५ । १५ ।' (ख) **सिंहनाद करि धाए'** यहाँ कपि सिंह हैं, उनका गर्जन सिंहनाद है, राक्षस मत्त गजेन्द्र हैं, उनके कुम्भोंके विदारणार्थ दौड़े ।

नोट—१ **'हरषित रामचरन सिर नावहिं००'** इति । (क) हर्षित हैं क्योंकि प्रभुका प्रताप सुना है । दूसरे, ये वीर हैं, इन्हें रणोत्साह है । पुनः, कार्यके लिये प्रस्थान करते समय हर्ष कार्य-सिद्धि जनाता है, यह शकुन है—यथा—**'होइहि काज मोहि हरष बिसेषी'**—(सुं०) । पुनः, स्वामीको प्रणाम हर्षपूर्वक करना ही चाहिये । यथा—**'रामहिं सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पाय । तुलसी जिनहिं न पुलक तन ते जग जीवत जाय ॥** दो० ४२ ॥' **'गहि गिरि सिखर०'** क्योंकि यही इनके आयुध हैं ।

गर्जहिं तर्जहिं भालु कपीसा । जय रघुबीर कोसलाधीसा ॥ ८ ॥
जानत परम दुर्ग अति लंका । प्रभु प्रताप कपि चले असंका ॥ ९ ॥

अर्थ—रीछ और वानर गरजते और तड़पते, उछलते-कूदते हैं । कोसलके राजा रघुवीरजीकी जय पुकारते हैं ॥ ८ ॥ वे जानते हैं कि लङ्का अत्यन्त परम दुर्गम है तो भी वे प्रभुके प्रतापसे निर्भय चले ॥ ९ ॥

नोट—१ (क) 'दुर्ग' का अर्थ यहाँ 'दुर्गम, कठिन' है । यथा—**'कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी'** (सुं० ३) । इसी तरह दूसरे दिनके युद्धमें कहा है कि—**'कोपि कपिन्ह दुर्घट गढ़ घेरा ।** ४८ । ९ ।' जो यहाँ 'दुर्गम' है, वही वहाँ 'दुर्घट' । मा० म० कार कहते हैं कि 'दुर्ग छः प्रकारके हैं—'धनु, भू, जल, तरु, मनुज और गिरि'—दुर्ग । गिरिदुर्ग सबसे श्रेष्ठ दुर्गराज है ऐसे दुर्गपर शत्रु बाधा नहीं कर सकता । लङ्का परम दुर्ग है अर्थात् गिरि-दुर्ग है ।' (ख) **'प्रभु प्रताप कपि चले असंका'** इति । प्रतापके स्मरणसे निर्भयता आ जाती है । हनुमान्‌जी वाटिका उजाड़ने चले तब यह कहकर चले थे कि **'प्रभु प्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल** (सुं० १६) । इसीसे रावणका प्रताप देख वे न डरे, यथा—**'देखि प्रताप न कपि मन संका । जिमि अहिगन महुँ गरुड़ असंका ॥** ५ । २० । ८ ॥' इसी प्रकार अङ्गद यह प्रताप कहकर चले थे कि **'स्वयं सिद्ध सब काजु नाथ मोहि आदर दिएउ'**, इसीसे वे भी निःशङ्क थे, यथा—**'प्रभु प्रताप उर सहज असंका'** और **'गयेउ सभा मन नेकु न मुरा'** । तथा ये वानर भी प्रताप समझ कर निःशङ्क हैं ।

घटाटोप करि चहुँ दिसि घेरी । मुखहि निसान बजावहिं भेरी ॥ १० ॥

शब्दार्थ—घटाटोप=बादलोंकी घटा जो चारों ओरसे घेरे हो । बादलोंकी भाँति चारों ओरसे घेर लेनेवाला दल । 'निसान'—यह नाम पड़ा क्योंकि इससे 'निःश्वन्' यह शब्द निकलता है ।=नगाड़ा । धौंसा । भेरी=बड़ा ढोल; नगाड़ा, ढक्का ।

अर्थ—चारों ओरसे घिरे हुए मेघोंकी तरह चारों दिशाएँ घेरकर मुँहसे डंके और भेरी बजाते (उन बाजोंका-सा शब्द निकालते) हैं ॥ १० ॥

नोट—१—**'घटाटोप करि'** । अर्थात् चारों तरफसे घेर लिया, आच्छादित कर लिया कि कोई बचकर निकल न सके । पुनः ऐसा घेरा कि पवनका भी वहाँ गुजर न था, यथा—**'सर्वतः संवृता लंका दुष्प्रवेशापि वायुना ।** वाल्मी० ४१ । ५३ ।' रावणदलमें नगाड़े, भेरी, नफीरी इत्यादि जुझाऊ बाजे बज रहे हैं, यथा—**'बाजहिं भेरि नफीरि अपारा ।** ४० । ३ ।' इनके पास बाजे नहीं हैं तो ये मुँहसे ही वैसा शब्द करते हैं । निशान और भेरीका गुण मुखमें स्थापन करना 'द्वितीय निदर्शना' अलंकार है ।

दो०—जयति राम*जय लछिमन जय कपीस सुग्रीव ।
गर्जहिं सिंहनाद† कपि भालु महाबल सींव ॥ ३८ ॥

अर्थ—महाबलकी सीमा (हद) वानर-भालु सिंहके समान शब्दसे, 'रामचन्द्रजीकी जय हो ! लक्ष्मणजीकी जय हो ! और वानरराज सुग्रीवकी जय हो !' ऐसा गर्जन करते हैं ॥ ३८ ॥

* 'जयति रामु भ्रातासहित'—(का०) । † 'गर्जहिं केहरिनाद'—(का०)

नोट—इसी प्रकारकी घोषणा हनुमान्‌जीने अपने प्रथम आगमनके समय की थी। सुं० १८ (६) देखिये। वही वानरयूथ कर रहे हैं। यथा—जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः। राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥ २०॥ इत्येवं घोषयन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवंगमाः। वाल्मी० यु० ४२। २१।'

वं० पा० का मत है कि—'तीन जयसे तीनों प्रबल शत्रुओं—रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद का नाश गाया है'। पर, वस्तुतः लड़ाईमें दोनों ओर जय-जयकार होता है। श्रीरामदलमें इस ढंगसे होता है, यह कविने जनाया है। सुग्रीव वानरराज हैं अतः उन अपने स्वामीकी भी जय बोलते हैं और श्रीरामलक्ष्मणजी अपने स्वामीके भी स्वामी हैं और इन्हींके लिये लङ्कामें लड़ने आये हैं, अतः इनकी जय पुकारते हैं। २—यहाँ सबका युद्धमें उत्साह सूचित किया। (पु० रा० कु०)। उत्साह स्थायीभाव है, गर्जन आदि अनुभाव हैं। ☞ मिलान कीजिये—'तुलसी बिलोकि कपिभालु किलकत ललकत लखि ज्यों कँगाल पातरी सुनाज की। रामरुख निरखि हरषे हिय हनुमान मानो खेलवार खोली सीसताज बाज की॥ क० ६। ३०॥'

लंका भएउ कोलाहल भारी। सुना दसानन अति अहँकारी॥ १॥
देखहु बनरन्ह केरि ढिठाई। बिहँसि निसाचर सेन बोलाई॥ २॥

अर्थ—लङ्कामें भारी कोलाहल हुआ, अत्यन्त अहंकारी रावण उसे सुनकर बोला॥ १॥ वानरोंकी ढीठता (धृष्टता) तो देखो! फिर खूब हँसकर राक्षसी सेना बुलायी॥ २॥

नोट—१ 'लङ्का भएउ कोलाहल भारी' इति। (क)—'भारी' से जनाया कि पूर्व एक वानरके आने और राजकुमारके जानेपर कोलहल हुआ था, यथा—'भएउ कोलाहल नगर मँझारी। आवा कपि लंका जेहि जारी॥ १८। ८॥' अब भारी है। पुनः (ख)—वानरोंके भारी गर्जनसे जो शब्द हुआ वह भी लङ्कामें गूँज रहा है। इस प्रकार दो तरहका कोलाहल हुआ। एक तो लङ्का-निवासियोंमें भयसे जो खलबली पड़ी कि पूर्व एक-एक वानर आया था अब तो इतने आये हैं तब कैसे प्राण बचेंगे, वह और दूसरा वानरदलके गर्जनका। यथा—'हाहाकारमकुर्वत राक्षसा भयमागताः। वाल्मी० ४१। ९८। 'तस्मिन्महाभीषणके प्रवृत्ते कोलाहले राक्षसराजयोधाः।' २—'अति अहंकारी' का स्वरूप आगे दिखाते हैं। ३—पु० रा० कु०—'बिहँसि' निरादरसूचक है। हँसा कि नर वानर हमारे भक्ष्य, सो हमसे युद्ध करने आये हैं! अथवा हँसकर रणके लिये अपना उत्साह दिखाया।*

आए कीस काल के प्रेरे। छुधावंत सब निसिचर† मेरे॥ ३॥
अस कहि अट्टहास सठ कीन्हा। गृह बैठे अहार बिधि दीन्हा॥ ४॥

शब्दार्थ—अट्टहास=खिलखिलाकर हँसनेकी क्रिया, कहकहा।

अर्थ—वानर कालके भेजे आये हैं और मेरे सब निशिचर (भी) भूखे हैं॥ ३॥ ऐसा कहकर वह मूर्ख खिल-खिलाकर हँसा कि विधाताने घर बैठे ही भोजन दिया‡॥ ४॥

नोट—१ (क) यह सब 'अति अहंकारी' का स्वरूप है। (ख) 'कालके प्रेरे' इति। जहाँ जिसकी मृत्यु होनेको होती है वहीं काल उसे ले जाता है, यथा—'कठिन काल प्रेरित चलि आई। ५। ५३। ६।'

२ (क) 'अट्टहास' भी शत्रुदलके निरादर और अपने दलकी उत्साह-वृद्धि हेतु है। (ख) ☞ 'शठ'।

* पं०—परमार्थपक्षमें 'बिहँसना' यह है कि मुक्ति निश्चय हुई। † रजनीचर—(का०)

‡ पं०—१ परमार्थपक्षमें अर्थ यों होगा कि—कालरूप भगवान् रामचन्द्रकी प्रेरणासे वानर आये हैं जो मेरे रजनीचरोंके भूखे हैं अर्थात् ये राक्षसोंको मारेंगे। 'गृह बैठे अहार' मिला; अर्थात् लोग मुक्तिके लिये अनेक यत्न करते हैं तब मुक्ति मिलती है और हमें घर बैठे 'अहार' मिला जिसमें कभी हार न हो, जिस सुखसे कभी पतन न हो वह मोक्षरूपी अहार मिला। इस आनन्दके कारण सठ अर्थात् मध्यस्थ, यथार्थ वक्ताने अट्टहास किया—'शठो मध्यस्थपुरुषो धूर्तधत्तूरयोरपि' इति मेदनीकोशे। २—वीर यहाँ रावणके हृदयमें अनुचित उत्कण्ठाका होना भावाभास है और उपर्युक्त कथनमें 'समाधि अलंकार' है।

सब वक्ता रावणके इस अट्टहासपर उसको 'शठ' कहते हैं, क्योंकि (१) बीच सभामें अभी-अभी देख चुका है कि वानर अब हमारे आहार नहीं वरन् काल हैं तब भी विपरीत बुद्धि नहीं छोड़ता। 'जिमि अरुनोपल निकर निहारी। धावहिं सठ खग मांस अहारी॥ ३८। ९॥' देखिये। (२) अभिमानी और मन्दबुद्धि है इसीसे हँसा है। यथा—'श्रवन सुनी सठ ताकर बानी। बिहँसा जगत बिदित अभिमानी॥ सुं० ३७। १॥', 'रे कुभाग्य सठ मंद कुबुद्धे। तैं सुरनर मुनि नाग बिरुद्धे॥ ९३ (५)

शीला—अट्टहास करनेका भाव कि—(१) ठट्ठा मारकर हँसनेसे सब सुन सकेंगे। (२) इस प्रकार अपना लाभ प्रसन्नता और शूरता प्रकट करता है। (३) श्रीरामजीकी लघुता और निरादरके हेतु एवं राक्षसोंके अभयार्थ हँसा।

(४) भक्तिपक्षमें हँसा कि हमें तो युगके युग पहिले भेज दिया और उद्धार करने अब आये। इत्यादि।

सुभट सकल चारिहु दिसि जाहू। धरि धरि भालु कीस सब खाहू॥ ५॥
उमा रावनहि अस अभिमाना। जिमि टिट्टिभ*खग सूत उताना॥ ६॥

अर्थ—सब योद्धाओ! चारों दिशाओंमें जाओ और रीछों और वानरोंको पकड़-पकड़कर खा लो॥ ५॥ (शिवजी कहते हैं) हे उमा! रावणको ऐसा अभिमान है जैसे टिट्टिभ पक्षीको जो पैर ऊपरकी ओर करके सोता है॥ ६॥

वि० त्रि०—रावणने सुना कि चारों फाटकोंपर धावा हो गया। लङ्का चारों ओरसे घिर गयी। अब इसका सम्बन्ध बाहरसे एकदम टूट गया। कोई रसद या कोई सहायता बाहरसे नहीं मिल सकती, और इधर लङ्कामें बड़ा भारी कोलाहल मचा हुआ है, सब लोग त्रस्त हैं। जो लोग कहते थे कि 'कहहु कवन भय करिअ बिचारा। नर कपि भालु अहार हमारा॥' वे लोग फाटक बंद किये, दुर्गके भीतर बैठे हैं। तब रावण उन लोगोंका उत्साह बढ़ाता हुआ सुभटोंको आज्ञा देता है, कहता है कि हमलोगोंका मन्त्र काम कर गया। हम लोग जो चुप बैठे रहे, तो ये बंदर-भालू ढीठ होकर फाटकतक आ गये। अब चुप रहनेका समय गया। अब आनन्दसे चारों फाटकोंपर जा करके उन सबोंको पकड़-पकड़कर खा जाओ। बाहरसे रसदकी क्या आवश्यकता है, ब्रह्मदेवने घर बैठे ही रसदकी व्यवस्था कर दी।

नोट—१ अहङ्कारकी व्याख्या यहाँतक हुई। 'सुना दसानन अति अहंकारी' उपक्रम और 'उमा रावनहि अस अभिमाना' उपसंहार है। २—टिट्टिभ=टिटिहरी। पानीके किनारे रहनेवाली एक छोटी चिड़िया, जिसका सिर लाल, गर्दन सफेद, पर चितकबरे, पीठ खैरे रङ्गकी, दुम मिले-जुले रङ्गोंकी और चोंच काली होती है। इसकी बोली कड़वी होती है और सुननेमें टीं-टींकी ध्वनिके समान जान पड़ती है। इसके सम्बन्धमें ऐसा प्रवाद है कि यह रातको इस भयसे कि कहीं आकाश न टूट पड़े उसे रोकनेके लिये दोनों पैर ऊपर करके चित्त सोती है। (श० सा०)।

३ पु० रा० कु०, पं०—यहाँ राम आकाश हैं, रावण टिट्टिभ है। आकाशको क्या थामेगा? यह अहङ्कारमात्र है। यथा—'अहंकारस्तु सर्वेषां क्षुद्राणां तु विशेषतः। उत्तानं टिट्टिभिः शेते नभःपतनशंकया॥' अर्थात् अहङ्कार तो सबको होता है। टिट्टिभ आकाश गिर न पड़े इस शङ्कासे पैर ऊपर करके सोता है। इसी प्रकार रावण सोचता है कि रघुनाथजीके अनन्त बलरूपी आकाशको अपनी भुजाओं और सेनासे थाम लूँगा।

चले निसाचर आयसु माँगी। गहि कर भिंडिपाल बर साँगी॥ ७॥
तोमर मुद्गर परसु† प्रचंडा। सूल कृपान परिघ‡ गिरिखंडा॥ ८॥

शब्दार्थ—भिन्दिपाल=गोफन, ढेलवास। छोटा डंडा जो फेंककर मारा जाता था। (श० सा०)। नालिकायन्त्र वा बन्दूक अर्थ भी कोशमें मिलता है। (प० प० प्र०)। साँग=शक्ति। तोमर=भालेकी तरहका एक प्रकारका अस्त्र-जिसका व्यवहार प्राचीनकालमें होता था। इसमें लकड़ीके डंडेमें आगेकी ओर लोहेका बड़ा फल लगा रहता था। शर्पला। शापल। परशु=एक अस्त्र जिसमें एक डण्डेके सिरेपर एक अर्धचन्द्राकार लोहेका फल लगा होता है। भलुवा। परिघ=लोहाङ्गी। वह लाठी जिसके सिरेपर लोहा लगा होता है।

* टिटिभ—(भा० दा०)। अन्य पोथियोंमें 'टिट्टिभ' है। † परिघ—(का०, पं०)। ‡ परस—(का०)

अर्थ—आज्ञा माँगकर और हाथोंमें उत्तम भिन्दिपाल, साङ्गी, तोमर, मुद्गर, तीक्ष्ण फरसा, त्रिशूल, दुधारा खड्ग, परिघ और पर्वतके टुकड़े लेकर निशिचर चले ॥ ७-८ ॥

टिप्पणी—रावण आज्ञा तो दे चुका, फिर 'आयसु माँगी' क्यों कहा? फिर कहकर उनके हृदयका भय दर्शित किया है, क्योंकि वे हनुमान्, अङ्गद आदिका बल जानते हैं। [अथवा, आज्ञा तो दे ही चुका है। इन्होंने अब आज्ञा माँगी कि कौन किस स्थानपर कहाँ जाय, यह पूछकर चले। (प० प० प्र०)]

जिमि अरुनोपल निकर निहारी। धावहिं सठ खग मांस अहारी ॥ ९ ॥
चोचभंग दुख तिन्हहि न सूझा। तिमि धाए मनुजाद अबूझा ॥ १० ॥

शब्दार्थ—अरुनोपल=अरुण उपल=लाल पत्थर। अबूझ=अ+बूझ=नासमझ।

अर्थ—जैसे मांस खानेवाले मूर्ख पक्षी लाल पत्थरोंका समूह देखकर उसपर टूटते हैं, चोंचके टूटनेका दुःख उन्हें नहीं सूझता; वैसे ही नासमझ राक्षस दौड़े ॥ ९-१० ॥

नोट—१ अरुणोपल-समूह देखकर झपटते हैं, यह कहकर 'मांस अहारी' कहा। इससे जनाया कि लाल पत्थरोंका ढेर देख वे उसे मांस समझकर उसपर टूट पड़ते हैं। मांस लाल, पत्थर लाल, और यहाँ वानर भी लाल हैं। निशिचर मूर्ख पक्षीके समान हैं, वानरोंको भक्ष्य जान उनसे लड़ने आये। २—'बानर भालु अहार हमारा' के धोखेमें पड़े हैं। हनुमान्जी चौथायी सेना प्रथम ही मार गये हैं, वह दुःख भूल रहे हैं, उन्हें कुछ सूझ नहीं रहा है। अतः शठ कहा (यहाँ तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है।—वीर)। ☞'अबूझा' पद परशुरामजीके सम्बन्धमें भी प्रयुक्त हुआ है, यथा—'मुनिहि हरिअरइ सूझ। अयमय खाँड न ऊखमय अजहुँ न बूझ अबूझ ॥' दोनोंके प्रसङ्गका मिलान करें। परशुरामजी ऋषि हैं, ब्राह्मण हैं, ब्राह्मणोंको मीठा प्रिय होता है, 'ब्राह्मणो मधुरप्रियः।' अतः उनके प्रसङ्गमें 'ऊखका दृष्टान्त दिया और निशाचरोंको मांस प्रिय है अतः यहाँ 'अरुणोपल' का दृष्टान्त दिया।

दो०—नानायुध सर चाप धर जातुधान बलबीर।
कोट कँगूरन्हि चढ़ि गए कोटि कोटि रनधीर ॥ ३९ ॥

अर्थ—धनुष-बाण और अनेक अस्त्र-शस्त्र धारण किये हुए करोड़ों (अगणित) बलवान् और रणमें धीर (स्थिर रहनेवाले) वीर निशाचर किलेके कँगूरोंपर चढ़ गये ॥ ३९ ॥

नोट—ऊपर कँगूरोंपर चढ़नेका आशय यह है कि ऊपरसे वानरोंको मार भगानेमें सुविधा होगी। वानर चोट न कर सकेंगे और ऊपरकी मार न सह सकनेसे गढ़पर चढ़ न पायेंगे।

कोट कँगूरन्हि सोहहिं कैसे। मेरु के सृंगन्हि जनु घन बैसे ॥ १ ॥
बाजहिं ढोल निसान जुझाऊ। सुनि धुनि होइ भटन्हि मन चाऊ ॥ २ ॥
बाजहिं भेरि नफीरि अपारा। सुनि कादर उर जाहिं दरारा ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—नफीर=शहनाई। तुरही। भेरी ३८ (१०) में देखिये।

अर्थ—किलेके कँगूरोंपर वे कैसे शोभित हो रहे हैं मानो सुमेरु पर्वतके शिखरोंपर बादल बैठे हैं ॥ १ ॥ ढोल, डंके (वा, नगाड़े) आदि जुझाऊ (लड़ाईके) बाजे बज रहे हैं जिनका शब्द सुनकर योद्धाओंके मनमें उत्साह होता है ॥ २ ॥ अगणित भेरी और नफीरी बाजे बज रहे हैं (जिनका शब्द) सुनकर डरपोक लोगोंकी छाती फट जाती है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ 'मेरुके शृंगन्हि जनु घन बैसे' इति। यहाँ सोनेकी लङ्का सुमेरु, कोटके कँगूरे सुमेरुके शिखर, और निशिचर काले मेघ हैं। जैसे सुमेरुके शिखर अगणित वैसे ही ये अगणित हैं। २—'भटन्ह मन चाऊ'। उत्साह है कि जीतनेसे ऐश्वर्य-भोग प्राप्त होगा, मरे तो स्वर्ग मिलेगा और पृथ्वीपर कीर्ति स्थिर रहेगी, यथा—'जिते लक्ष्मीर्मृते स्वर्गो कीर्तिश्च धरणीतले। तस्माद्धैर्यं विधातव्या परवाहिना' ॥ यहाँ उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है। ३—जुझाऊ=लड़ाईके।—

'कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू। अ० १९२।', 'कहेउ बजावहु जुद्ध निसाना। ८५। २।' 'भेरि नफीरि बाज सहनाई। मारू राग सुभट सुखदाई॥ ७८। ९॥', 'अस कहि मरुत बेग रथ साजा। बाजे सकल जुझाऊ बाजा॥ ७७। ७॥'

नोट—लड़ाईके बाजे मारू रागसे बजते हैं, ज्यों-ज्यों सुभट सुनते हैं त्यों-त्यों उनका उत्साह बढ़ता है इसीसे कहा कि '**सुनि धुनि होइ भटन्हि मन चाऊ**'। आगे भी कहा है कि '**मारू राग सुभट सुखदाई**'। बाजा वही और शब्द वही पर उसीसे एकका उत्साह और जिगरा बढ़ता है और दूसरेकी भयसे छाती फटती है।

देखिन्ह * जाइ कपिन्ह के ठट्टा। अति बिसाल तनु भालु सुभट्टा॥ ४॥
धावहिं † गनहिं न अवघट घाटा। पर्बत फोरि करहिं गहि बाटा॥ ५॥

शब्दार्थ—अवघट=दुर्घट, अटपट, कठिन, बिकट। ठट्ट=समूह।

अर्थ—अत्यन्त लम्बे-चौड़े ऊँचे शरीरवाले वानर और रीछ योद्धाओंके समूह उन्होंने जाकर देखे॥ ४॥ सब दौड़ रहे हैं, अवघट या घाट कुछ नहीं गिनते, पर्वतोंको (हाथसे) पकड़कर फोड़कर (काटकर) रास्ता बना लेते हैं॥ ५॥

नोट—१ काशिराजकी पोथीमें 'देखि न जाइ' पाठ है।' 'देखि न जाइ' से जनाया कि इनके विशाल शरीर और बलको देख निशिचरोंमें भय उत्पन्न हो गया है। वा, जो देखता है वह सहमकर आँख उधरसे हटा लेता है। सभी रुद्रमूर्ति हैं। २—'**पर्बत फोरि करहिं गहि बाटा**' अर्थात् जिस दिशामें वे चल पड़ते हैं उधर यदि बीच मार्गमें पर्वत भी पड़ता है तो लौटकर दूसरे मार्गसे **नहीं** जाते वरन् उस पर्वतको ही फोड़कर सीधे चले जाते हैं।—(पं०—कितने ही यूथपति सेनाको ऊपर चढ़ानेके लिये पर्वतोंको फोड़कर चढ़नेका मार्ग बनाते हैं।)

कटकटाहिं कोटिन्ह भट गर्जहिं। दसन ओठ काटहिं अति तर्जहिं॥ ६॥
उत रावन इत राम दोहाई। जयति जयति जय परी लराई॥ ७॥
निसिचर सिखर समूह ढहावहिं। कूदि धरहिं कपि फेरि चलावहिं॥ ८॥

अर्थ—करोड़ों योद्धा कटकटाते (दाँतोंसे कटकट शब्द करते) हैं, गरजते हैं, दाँतोंसे ओठ काटते हैं और अत्यन्त तड़पते (उछलते) हैं॥ ६॥ उधर रावणकी और इधर श्रीरामजीकी दुहाई हो रही है। जय हो, जय हो, जय हो (इस प्रकार दोनों दलोंमें अपने-अपने स्वामीका) जयजयकार होते हुए लड़ाई छिड़ गयी। ७। राक्षस पर्वतोंके शिखर समूह-के-समूह गिराते हैं, वानर उछलकर उन्हें पकड़ लेते हैं और लौटाकर ऊपर फेंकते हैं॥ ८॥

नोट—१ 'कटकटाहिं०'। भाव कि निशिचर कँगूरोंपर हैं, मिलते तो हैं नहीं, इसीसे कटकटाते हैं, दाँत पीसते हैं। क्रोधमें भरे हैं कि पा जायँ तो खा ही लें। (पु० रा० कु०)। २—'जयति जयति०'। रामदलमें जयजयकार हो ही रहा था (दोहा ३८ देखिये)। उसे सुनकर अब उधर भी होने लगा। राक्षस अपना-अपना नाम लेकर 'महाराज आपकी जय हो' ऐसा कह रहे हैं, यथा—'**राजा जयति सुग्रीवो इति शब्दो महानभूत्। राजञ्जयजयेत्युक्त्वा स्वस्वनामकथां ततः॥** वाल्मी० ४२। ४४।'

वि० त्रि०—'**उत रावन····लराई**' इति। उधर तो '**जयति राम जय लछिमन जय कपीस सुग्रीव**' इस भाँति जयजयकार पहिलेसे ही हो रहा था, पर, उसका उत्तर लङ्कासे कुछ नहीं मिलता था। इसलिये युद्ध रुका हुआ था। अब रावणकी आज्ञासे रणधीर लोग कोटके कँगूरोंपर आ गये और रावणका जयजयकार किया, उसके उत्तरमें इधरसे फिर रामजीका जयजयकार हुआ। बस लड़ाई आरम्भ हो गयी। संग्राममें दोनों ओरसे जयजयकार होना भी बड़ी आवश्यक वस्तु है। उसी जयकारके साफल्यके लिये ही तो वीर लोग अपने प्राणोंको निछावर करते हैं।

छंद—धरि कुधर खंड प्रचंड मर्कट भालु गढ़ पर डारहीं।
झपटहिं चरन गहि पटकि महि भजि चलत बहुरि पचारहीं॥

* देखि न—(का०), देखिन्ह (भा० दा०)। † धावहि गनहि (भा० दा०)।

अति तरल तरुन प्रताप तरपहिं तमकि गढ़ चढ़ि चढ़ि गए।
कपि भालु चढ़ि मंदिरन्ह जहँ तहँ रामजसु गावत भए॥

शब्दार्थ—कुधर (कु=पृथ्वी× धर=धारण करनेवाला)=पर्वत । प्रचण्ड=कोपयुक्त—(पु० रा० कु०); भयंकर, बलवान्। तरल=चटककर (पु० रा० कु०)। तरुन (तरुण)=पूर्ण, जैसे दोपहरके सूर्य।

अर्थ—प्रचण्ड वानर-भालु पर्वतोंके टुकड़े ले-लेकर किलेपर डालते हैं। निशिचरोंपर झपटकर उनके पैर पकड़कर पृथ्वीपर पटक देते हैं और फिर जब वे भाग चलते हैं तब उनको ललकारते हैं। अत्यन्त फुर्तीले पूर्णप्रतापवाले वानरभालु एवं प्रचण्ड रामप्रतापसे वानरभालु बड़ी फुर्तीसे क्रोध करके तड़ककर किलेपर चढ़-चढ़ गये (चढ़ते ही गये) (और) जहाँ-तहाँ घरोंपर चढ़कर वानरभालु रामयश गाने लगे।

वं० पा० १—रावणने सभासदोंसे कहा था कि **'पद गहि धरनि पछारहु कीसा'** पर समस्त निशिचर-योद्धाओंसे भी यह न बन पड़ा और यहाँ एक-एक वानर निशिचरोंका पैर पकड़-पकड़कर पछाड़ रहा है—यह श्रीरामजीका प्रताप है। २—**'रामजस गावत भए'**। समरमें गानेका हेतु उनका हर्ष और उत्साह है। अथवा श्रीरामजीकी जय बोलते हैं, यही यश-गान है।

प० प० प्र०—जहाँ भगवान्का यश भक्त गाते हैं वहाँ भगवान् स्वयं उपस्थित रहते हैं। यथा—**'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।'** भगवद्यश जहाँ गाया जाय उस समय वह मन्दिर हो जाता है। अतः 'मंदिरन्ह' शब्द यहाँ प्रयुक्त किया गया और उससे दरसाया गया कि वानर भालु रामभक्त हैं और भगवान् उनके समीप खड़े हैं। भावप्रदर्शनकी कला कितनी अद्भुत है यह देखते ही बनता है।

☞ **'राम जसु गावत भए।'** यथा—**'जय ताड़का सुबाहु मथन मारीच मानहर। मुनि मख रच्छन दच्छ, सिला तारन करुनाकर॥ नृप गन बल मद सहित संभु कोदंड बिहंडन। जय कुठारधर दर्प दलन दिनकर कुलमंडन॥… ११२। जय जयंत जयकर अनंत सज्जन जनरंजन। जय बिराधबध बिदुष बिबुध मुनिगन भयभंजन॥ जय निसिचरी बिरूपकरन रघुबंस बिभूषन। सुभट चतुर्दस सहस दलन त्रिसिरा खर दूषन॥ जय दंडक बन पावन करन तुलसिदास संसय समन। जगबिदित जगतमनि जयति जय जय जानकिरमन॥ ११३॥ जय मायामृग मथन गीध सबरी उद्धारन। जय कबंधसूदन बिसाल तरु ताल बिदारन॥ दवन बालि बलसालि थपन सुग्रीव संत हित। कपि कराल भट भालु कटक पालन कृपालचित॥ जय सिय बियोग दुख हेतु कृत सेतुबंध बारिधि दमन। दससीस बिभीषन अभयप्रद जय जय जय जानकिरमन॥ ११४॥ क० उ०।'**

दो०—एकु एक निसिचर गहि पुनि कपि चले पराइ।
ऊपर आप हेठ भट गिरहिं धरनि पर आइ॥ ४०॥

शब्दार्थ—हेठ—(प्राकृत अहट्ठ) नीचे।

अर्थ—फिर एक-एक राक्षसको पकड़कर वानर भाग चले। ऊपर आप और नीचे निशिचर भट इस प्रकार पृथ्वीपर आ गिरते हैं॥ ४०॥

नोट—१ 'एकु एक'। भाव कि एक वानर एक राक्षसको पकड़ ले चला। २—वानरोंकी बुद्धि यहाँ दिखायी। ऐसा उपाय किया कि बिना परिश्रम राक्षसोंका संहार हो। उतने ऊँचेसे पथरीली, कठोर पृथ्वीपर गिरनेसे, और इनके बोझेसे, वे टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। ये ऊपर रहते हैं इससे इनको चोट नहीं लगती। ३—'चले पराइ'। पकड़कर तुरंत कगारेपर भागकर आते हैं; जहाँसे नीचे कूदना है जिसमें दूसरा उनकी सहायता न कर सके। वं० पा० जी कहते हैं कि निशिचर रामयशगान न सह सके अतः मारने दौड़े, तब वानर भगे, पर भागनेमें भी एक-एक निशिचरको पकड़कर भगे और पंजाबीजीका मत है कि यह समझकर कि हम थोड़े हैं, भीतर ठहर नहीं सकते, इससे भागे। राक्षसोंको पकड़ लाना कहकर कपिदलका 'बल' कहा।

☞ वाल्मीकिजीने इतना ही लिखा है कि वानरोंने क्रुद्ध होकर आकाशमें उछलकर प्राकारोंपर स्थित राक्षसोंको पृथिवीपर गिरा दिया, यथा—'राक्षसान्पातयामासुः खमाप्लुत्य स्वबाहुभिः ४२ । ४६ ।' पर मानसकारने गिराकर मारनेका प्रकार भी दिखाया है ।

राम प्रताप प्रबल कपिजूथा। मर्दहि निसिचर सुभट बरूथा॥ १॥
चढ़े दुर्ग पुनि जहँ तहँ बानर। जय रघुबीर प्रताप दिवाकर॥ २॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके प्रतापसे कपिदल प्रबल है। वे राक्षसयोधाओंके दलको मर्दन करते हैं॥ १॥ फिर वानर जहाँ-तहाँ किलेपर चढ़ गये और सूर्यके समान प्रतापवाले रघुवीरकी जय बोलने लगे॥ २॥

नोट—१ 'रामप्रताप'—१ (२, ६) देखिये । यह श्रीरामजीका प्रताप है कि सर्प गरुड़को खा ले। वैसे ही यहाँ वानर निशाचरोंके काल हो रहे हैं। रामतेजके समावेशसे उनमें यह बल आ गया । यथाध्यात्मे—**'रामतेजः समाविश्य वानरा बलिनोऽभवन्। रामशक्तिविहीनानामेवं शक्तिः कुतो भवेत्॥ ५। ८५।'** 'मर्दहिं' से जनाया कि ऐसे मसल डालते हैं जैसे लोग मच्छड़को मसल देते हैं।

२ **'जय रघुबीर प्रताप दिवाकर'** इति। (क) रामप्रतापको सूर्य कहा, यथा—'**जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥ ७। ३१। १।**' सूर्यकी उपमा देकर निशिचरोंको अन्धकार जनाया; यथा **'राम बान रबि उए जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की॥ ५। १६। २।'** (ख) दुर्गपर वानर श्रीरामजीके प्रतापरूपी सूर्यकी जय मनाते हुए चढ़े। प्रतापरूपी सूर्यके उदय होते ही सूक्ष्म किरणरूपी वानर धूपकी तरह चढ़े और बहुत सूक्ष्म और विरल होते हुए तम-समूह यातुधानोंको नेस्तनाबूद कर रहे हैं। इस जयकारेमें यह-भाव ध्वनित है। (गौड़जी)

(ग) ☞ रामनाम, रामचरित, रामरूप, रामबाण और रामप्रताप इन चारोंको सूर्य कहा है, यथा—**'जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिय बिमोह प्रसंगा॥ १। ११६। ४।'** (१)। **'हरन मोहतम दिनकर कर से। १। ३२।'**—(२) । **रामसच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥ १। ११६। ५।'** (३)। **'रामबान रबि उए जानकी। ५। १६।'** (४) **'जय रघुबीर प्रताप दिवाकर'**।

(घ) प्रथम बार चढ़े तब **'जहँ तहँ रामजसु गावत भए'**। अब चढ़े तो भी रामप्रतापकी जय बोलते हैं। प्रथम चढ़े थे तब निशिचरोंको पकड़-पकड़कर नीचे गिरे थे। अब फिर नीचेसे ऊपर चढ़े। अतः **'चढ़े दुर्ग पुनि'** कहा।

चले निसाचर निकर पराई। प्रबल पवन जिमि घन समुदाई॥ ३॥

अर्थ—निशिचरसमूह (वैसे ही) भाग चले जैसे प्रबल वायुसे मेघसमूह (तितर-बितर हो जाते हैं)॥ ३॥

नोट—१ (क) 'पराइ' इति। पूर्व कहा कि वानर लोग **'मर्दहिं निसिचर सुभट बरूथा'**; अब निशाचरोंका भागना कहते हैं। भाव यह कि 'सुभट' जब मारे गये तब सेनापति-हीन होनेसे एवं अन्य सुभट भी प्रचण्ड मार देख, भगे। (ख) प्रबल वानर प्रबल पवन हैं, **'निसिचर निकर'** घनसमुदाय हैं । पूर्व राक्षसोंकी मेघसे उत्प्रेक्षा कर ही आये हैं—**'कोटि कँगूरन्ह सोहहिं कैसे। मेरुके श्रृंगन्हि जनु घन बैसे।'** अब उन मेघोंके उड़ानेके लिये वानरोंको प्रबल पवन कहते हैं। यथा **'कबहुँ प्रबल बह मारुत जहँ तहँ मेघ बिलाहिं। ४। १५।'** इससे यह भी सूचित किया कि जहाँ-तहाँ भाग गये। यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है। 'घन' कहकर राक्षसोंका असंख्य और घना होना सूचित करते हैं। (ग) इस उदाहरणसे जनाया कि राक्षस बड़े वेगसे भगे, क्षणमात्रमें सब भाग गये, कोई रण-भूमिमें नहीं दिखायी देते जैसे प्रचंड पवनके वेगसे सब बादल शीघ्र फट जाते हैं कहीं देख नहीं पड़ते।

हाहाकार भएउ पुर भारी। रोवहिं बालक आतुर नारी॥ ४॥
सब मिलि देहिं रावनहिं गारी। राजु करत एहिं मृत्यु हँकारी॥ ५॥

शब्दार्थ—आतुर=आर्त, व्याकुल, अधीर। मरणोन्मुख (अमरकोशे) । रोगी (वि० त्रि०)। हाहाकार=भयके

कारण बहुत-से मनुष्योंके मुखसे निकला हुआ हा हा शब्द। भय, दुःख या पीड़ा सूचित करनेवाली जन-समूहकी पुकार। कुहराम। आर्त करुण शब्द बहुतोंका एक साथ।

अर्थ—नगरमें भारी हाहाकार मच गया। लड़के और स्त्रियाँ आर्त्त होकर रो रहे हैं॥ ४॥ सब मिलकर रावणको गाली देते हैं कि राज्य करते हुए इसने मृत्यु बुलायी॥ ५॥

नोट—१ 'हाहाकार', यथा—**'तात मातु हा सुनिय पुकारा। ५। २६। ३।'** (सुं०)। हा हमारा पुत्र, हा हमारा भाई, हा हमारा पति रणमें मारा गया, इत्यादि हाहाकार है। यथा—**'मम पुत्रो मम भ्राता मम भर्ता रणे हतः॥२४॥ इत्येव श्रूयते शब्दो राक्षसीनां कुले कुले॥'** (वाल्मी० ९५। २५)। २—**'रोवहिं बालक आतुर नारी'** इति। (क) बालक और स्त्रियोंका रोना कहा, क्योंकि युवावस्थावाले जितने हैं वे तो रणमें हैं। जिनके पति मारे गये उनकी स्त्रियाँ और जिनके पिता मारे गये वे बालक व्याकुल हो रोते हैं। (ख) यदि 'पुरभारी' से पुरभरका घबड़ाहटसे रोना लें तो ठीक नहीं क्योंकि जो युवक हैं वे तो बीर भट हैं, वे नहीं रोते, उन्हें तो युद्धमें उत्साह है। वीर अधीर नहीं होते। यथा—**'सुनि सरोष बोले सुभट वीर अधीर न होहिं'** (अ० १९२)।

वि० त्रि०—लंकाके घिर जानेपर पुरमें भारी कोलाहल हुआ था (यथा—**'लंका भयउ कोलाहल भारी'**), पर जब कोटके कँगूरोंपरसे सेना भागी, तब तो बड़ा हाहाकार हुआ। बीमार, बालक और लड़के रोने लगे कि अब हमारी क्या गति होगी, साथ ही उनके हित पिता, पति लड़ाईपर गये हैं; वे लौटकर घर नहीं आये, अतः बहुत सम्भावना है कि मारे गये, अतः उनके लिये भी रो रहे हैं। 'आतुर' का अर्थ बीमार है।

☞ इसके बाद वाल्मी० रा० में नागपाश-बन्धन प्रसंग है और अ० रा० में मेघनादका ब्रह्मास्त्र चलाकर सेनाको मारना और दोनों भाइयोंपर भी अस्त्र बरसाना तथा रामजीके कुपित होनेपर छिपकर लंकाको चला जाना कहा है; तत्पश्चात् रावणने वीर योद्धाओंको भेजा और यह भय दिया कि जो विमुख होगा वह मेरे हाथ मारा जायगा।

नोट—१ (क) **'सब मिलि देहिं रावनहिं गारी'** इति। नीच स्त्रियोंका स्वभाव है कि दुःख पड़ा और वे गालियाँ देने लगीं। (ख) **'राज करत एहि मृत्यु हँकारी।'** भाव कि मृत्यु तो मारे डरके आती न थी पर इसने स्वयं उसे हठकरके बुलाया कि आकर सबको मार डाले।—**'तुम्ह तौ काल हाँक जनु लावा। बार बार मोहि लागि बोलावा॥ १। २७५।'** —सीताहरण करना कालका बुलाना है। सीताजी अपनेसे नहीं आयीं। यह जबरदस्ती उन्हें पुरके नाशके लिये लाया है। **'तौ मैं जाइ बैर हठि करिहौं'**, यही हाँक देकर कालका बुलाना है। श्रीसीताजी कालरूपा हैं, यथा **'काल राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥ ५। ४०। ८।'**

☞ वाल्मी० ९५ में मेघनाद और फिर अनेक वीरोंका वध होनेपर, स्त्रियोंका आर्त होकर विलाप करना पूरे सर्गमें है। वे अरण्यसे लेकर यहाँतकके चरितोंको स्मरण करती हुई कहती हैं कि प्रत्येक चरित रावणके लिये इस बातका उदाहरण है कि वह सीताको नहीं पा सकता, उसने अकारण ही गाढ़ वैर बाँध लिया है, अवश्य मारा जायगा। फिर आगे और भी कठोर वचन कहे हैं। अन्तमें कवि कहते हैं कि—**'इतीव सर्वा रजनीचरस्त्रियः परस्परं संपरिरभ्य बाहुभिः। विषेदुरार्तातिभयाभिपीडिता विनेदुरुच्चैश्च तदा सुदारुणम्॥ ४३॥'** अर्थात् इस प्रकार सब निशाचरियाँ एक दूसरेको पकड़कर बैठकर बड़े ऊँचे स्वरसे, आर्त्त और भयसे पीड़ित होकर, भयंकर शब्दपूर्वक रोदन करने लगीं। वही अन्तिम 'आर्त (आतुर) शब्द' मानसकारने देकर उस सर्गके सदृश विलाप यहाँ सूचित कर दिया है।

वे रावणकी बहिन शूर्पणखाको गाली देती हैं कि वह कराल बुढ़िया कामातुर होकर क्यों रामजीसे हँसी करने गयी? राक्षसोंके विनाशके ही लिये उसने ऐसा किया। सीताहरणकी वही कारण हुई। विभीषणने सब राक्षसोंके हितकी धर्मार्थयुक्त सलाह दी थी सो भी रावणने न मानी। यदि विभीषणके वचनपर चलता तो यह लंका श्मशान न बनती और न दुःखसे आर्त होती—**'श्मशानभूता दुःखार्ता नेयं लंका भविष्यति (लंकापुरी भवेत्)। ९५। २२।'** हा हमारा पुत्र, हा हमारा भाई, हा हमारा पति रणमें मारा गया—इस प्रकार घर-घरमें राक्षसियोंके शब्द सुन पड़ते हैं। चाहे रुद्र, चाहे विष्णु या महेन्द्र वा शतक्रतु ही चाहे स्वयं काल ही रामरूप धरकर आया हो, पर बड़े-बड़े प्रवर वीर रामद्वारा मारे गये। भयका अन्त नहीं दीखता; हम सब

अनाथकी तरह रो रहे हैं। ऐसा महाघोर भय आ प्राप्त हुआ तो भी उसे नहीं सूझता—'इदं भयं महाघोरं समुत्पन्नं न बुद्ध्यते। २७।' देव, गन्धर्व, पिशाच, राक्षस कोई भी सृष्टिमें रामसे रक्षा नहीं कर सकता। रावणके विनाशसूचक उत्पात देख पड़ते हैं। रावणको ब्रह्माने देवदानवादि सबसे अभय दिया था। रावणने मनुष्यसे अभयका वर तो माँगा ही न था। निस्संदेह वह भय अब आ प्राप्त हुआ है।''''उन महात्मा विभीषणने समयानुकूल ही किया कि जिससे भय देखा उसीके शरणमें जा प्राप्त हुए—'प्राप्तकालं कृतं तेन पौलस्त्येन महात्मना। यत एव भयं दृष्टं तमेव शरणं गतः॥ ४१॥'

निज दल बिचल सुना तेहिं काना। फेरि सुभट लंकेस रिसाना॥ ६॥
जो रनबिमुख फिरा* मैं जाना। सो मैं हतब कराल कृपाना॥ ७॥

शब्दार्थ—रण-विमुख=रणसे मुँह फेरकर या पीठ दिखाकर भागा हुआ। बिचलना=हिम्मत हारना, रणसे पैर हटाना, भागना।

अर्थ—रावणने अपनी सेनाका विचलित होना कानोंसे सुना। सुभटोंको (भागते-से) लौटाकर लंकापति रावण उनपर क्रोधित हुआ॥ ६॥ (और बोला—) जिसे मैंने रणसे विमुख होकर फिरा हुआ जाना (जानूँगा) उसे मैं कठिन कृपाणसे मारूँगा॥ ७॥

नोट—'सुनी तेहि काना'। सेवकोंसे वा राक्षसियोंके करुणापूर्वक रोदनसे जाना—'रावणः करुणं शब्दं शुश्राव परिदेवितम्' (वाल्मी० ९६)।

पं०—"रन बिमुख फिरा०"। 'रण विमुख' और 'फिरा' दोनोंका एक ही अर्थ है। दोनों शब्द देनेका भाव कि सम्मुख लड़कर जीतकर, लौटना, हारकर न लौटना। सामने मर जाना या जीतकर लौटना।

नोट—'कराल कृपाना' यह वही चन्द्रहास है, यथा—'मास दिवस महुँ कहा न माना। तौ मैं मारब काढ़ि कृपाना। ५। १०।' "सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना। सुं० १०।', 'चंद्रहास हरु मम परितापं ५। १०।' 'मैं मारब।' का भाव कि स्वयं अपने हाथसे मारूँगा जिसमें संदेह न रहे कि मारा गया या नहीं।

पु० रा० कु०—भाव कि मैं मारूँगा, मैं कराल हूँ, मुझमें कृपा नहीं है।

☞ मिलान कीजिये—"मन्त्रिणो बान्धवाः शूरा ये च मत्प्रियकाङ्क्षिणः। सर्वे गच्छन्तु युद्धाय त्वरितं मम शासनात्॥ ७७॥ ये न गच्छन्ति युद्धाय भीरवः प्राणविप्लवात्। तान् हनिष्याम्यहं सर्वान् मच्छासनपराङ्मुखान्॥ ७८॥" (अ० रा० ५)। अर्थात् मेरे सेनापति, मन्त्री, बन्धुवर्ग आदि सभी मेरा हित चाहनेवाले वीर तुरन्त जायँ। जो प्राणोंके भयसे युद्ध करने न जायेंगे उन आज्ञा न माननेवालोंको मैं स्वयं मारूँगा।

सर्बसु खाइ भोग करि नाना। समरभूमि भए बल्लभ प्राना॥ ८॥
उग्र बचन सुनि सकल डेराने। चले क्रोध करि सुभट लजाने॥ ९॥

शब्दार्थ—वल्लभ=अत्यन्त प्रिय। भोग=ऐशोआराम, सुख, मज़े।

अर्थ—मेरा सर्वस्व (सब कुछ, हमारी सारी सम्पत्ति) खाकर और तरह-तरहके भोग-विलास करके भी अब रणभूमिमें प्राण प्यारे लग रहे हैं॥ ८॥ टेढ़े, भयंकर और क्रोधभरे वचन सुनकर वे सब सुभट डर गये और लज्जित होकर क्रोध करके (लड़ने) चले॥ ९॥

नोट—१ "सर्बसु खाइ भोग करि नाना।''''" इति। भाव कि—(क) जो जिसका खाय और जिसके धन-सम्पत्तिसे भोग-विलास करे, उसको काम पड़नेपर धोखा न देना चाहिये, वरन् हर्षपूर्वक प्राण भी समर्पण कर देना चाहिये। यही कृतज्ञता है। तुम कृतघ्न हो, इसीसे प्राणोंका लोभ तुमको हुआ। काम पड़नेपर हमें धोखा दे रहे हो, यह अनुचित है, यथा—'भाइहु लावहु धोख जनि आजु काज बड़ मोहि। सुनि सरोष बोले सुभट बीर अधीर न होहिं॥ अ० १९१।'

* सुना मैं काना—गी० प्र०।

(ख) ये वह वचन हैं जिन्हें सुनकर वीर लज्जित हुए; क्योंकि सम्मुख मारसे वीरका भागना अशोभा है। यथा—**'बिरिद बाँधि वर वीर कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई॥** अ० १४४।', **'सन्मुख मरन बीर कै सोभा।'**

२ (क) **"उग्र वचन सुनि"** उपसंहार है, **'फेरि सुभट लंकेस रिसाना'** उपक्रम है। बीचके चार चरणोंमें 'उग्र वचन' हैं। 'उग्र' में कई भाव हैं—क्रोधभरे, टेढ़े और भयावने। ये सब यहाँ हैं। भयंकर क्योंकि अपने हाथसे वध करेगा। (ख) मिलान कीजिये—**"अवलोकि खरतर तीर, मुनि चले निसिचर बीर। भये क्रुद्ध तीनिउ भाइ, जो भागि रन ते जाइ। तेहि बधब हम निज पानि, फिरे मरन मन महुँ ठानि॥"**—(खरदूषणयुद्ध प्रकरण; आ० २०)। वहाँ केवल मरण निश्चय करके लौटना कहा और यहाँ लज्जा और क्रोध भी दिखाया, यह विशेषता इनमें दिखायी। ये निशिचर अधिक वीर हैं; इसीसे लज्जित हुए और उत्साहसे चले। अध्यात्ममें केवल भयका उल्लेख है, यथा—**"तच्छ्रुत्वा भयसंत्रस्ता निर्जग्मू रणकोविदाः।** अ० रा० ५। ७९।' अर्थात् यह सुनकर भयसे डरे हुए रणविज्ञ योद्धा निकले। 'लजाने' पद मानसमें अधिक है। (ग) **'सकल डेराने। फिरे···'**। इसमें यह व्यञ्जित किया कि डरे कि यह तो मारेगा ही। इससे इसके हाथ क्यों मरें, वीरकी तरह सम्मुख लड़कर उत्तम मृत्यु क्यों न मरें। जिससे स्वर्ग प्राप्त हो! अतः फिरे। यहाँ 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग' है। (घ) **'चले निसाचर निकर पराई'** पूर्व कहा था, अतः अब 'फिरे' कहा अर्थात् फिर युद्धके लिये लौटना कहा।

सन्मुख मरन बीर कै सोभा। तब तिन्ह तजा प्रान कर लोभा॥ १०॥

अर्थ—रणमें सम्मुख लड़कर मरना वीरकी शोभा है, तब (यह सोचकर) उन्होंने प्राणोंका लोभ छोड़ा॥ १०॥

नोट—१ प्रथम कहा कि **'सुभट लजाने'**। अब उसका कारण कहते हैं कि **'सन्मुख···'**। अर्थात् हमारा भागना अशोभित है। भागनेमें अशोभा है तो फिर **'होइ कि खेम कुसल रउताई'** यह समझ प्राणतक न्योछावर कर देनेको तैयार हो गये। 'शोभा' यह कि रणमें मरनेसे स्वर्गकी प्राप्ति और पृथ्वीमें कीर्ति होती है और जय हुई तो विजयश्री और राज्यभोग प्राप्त होता है। यथा—**'जिते लक्ष्मीर्मृते स्वर्गं कीर्तिश्च धरणीतले। तस्माद्धैर्यं विधातव्यं हंत व्यापरवाहिनो॥'**; **'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।** गीता २। ३७।'

२ रावणने जो बातें कहीं उन सबका उत्तर कर्तव्यद्वारा सुभटोंने दिया।

रावण		सुभट
जो रन बिमुख फिरा मैं जाना	१	**फिरे क्रोध करि सुभट लजाने**
सो मैं हतब कराल कृपाना	२	**सनमुख मरन बीर कै सोभा**
समरभूमि भए बल्लभ प्राना	३	**तब तिन्ह तजा प्रान कर लोभा**

भाव कि तुम कहते हो कि **'जो रन बिमुख फिरा'**, सो हम रणविमुख न होंगे, अब जय होनेपर ही लौटेंगे, अन्यथा नहीं। तुम कहते हो **'मैं हतब'**, सो हम तुम्हारे हाथ वध कराकर नरकमें न जायँगे, रणमें भले ही शत्रुसे वध हो! इस तरह हम वीरोंकी शोभाको प्राप्त हो स्वर्गको जायँगे। तुम कहते हो कि हमारा खाकर अब प्राणके लाले पड़े सो हम नमकहराम नहीं हैं, हम तुम्हारे लिये प्राणपर खेलने जाते हैं।

दो०—बहु आयुध धर सुभट सब भिरहिं पचारि* पचारि।
ब्याकुल किए भालु कपि परिघ त्रिसूलन्हि मारि॥ ४१॥

अर्थ—बहुत-से आयुध धारण किये हुए वे सब सुभट ललकार-ललकारकर भिड़ने लगे और रीछ-वानरोंको परिघों (लोहांगी, लोहदंड) और त्रिशूलोंसे मारकर उन्होंने व्याकुल कर दिया॥ ४१॥

नोट—१ (क) 'बहु आयुध धर'। वाल्मी० ५१, ५२, ५३ और ५८ में धूम्राक्ष वज्रदंष्ट्र और प्रहस्तका वानरोंसे युद्ध है। उसमें ये आयुध गिनाये हैं— प्रास, मुद्गर, परिघ, भिंदिपाल, पट्टिश, त्रिशूल, तोमर, ऋष्टि, मूशल, चाप, गदा, शक्ति, भाला, पाश, आयस, दंड, भुशुण्डि, चक्र, परश्वध, बाण, खड्ग और परमायुध। वे ही सब यहाँ 'बहु आयुध' से जनाये

* प्रचारि प्रचारि—(का०)।

गये। (ख) 'सुभट सब'। भाव कि ये सब उत्तम योद्धा हैं; इन्हें अपने बलका बड़ा गर्व है और अस्त्र-शस्त्र धारण किये सभी लड़ रहे हैं। 'प्रविश्य वानरं सैन्यं ममन्थुर्बलदर्पिताः। अ० रा० ५। ८१।'

२—'व्याकुल किए' 'मारि' इति। (क) प्रथम आयुधधर कहा, अब आयुधोंसे मारकर व्याकुल करना कहा। भाव कि वे शस्त्रधारी ही नहीं हैं वरन् उनके प्रयोग-प्रहारमें भी कुशल हैं, अस्त्र-शस्त्रके पण्डित हैं तभी तो बलपूर्वक प्रहार करके सेनाको व्याकुल कर सके। यथा—'बलवन्तोऽस्त्रविदुषो नानाप्रहरणा रणे। जघ्नुर्वानरसैन्यानि राक्षसाः क्रोधमूर्छिताः॥ वाल्मी० ५३। २६।' (ख) 'व्याकुल किए'। वाल्मी० ५२ और ५८ में इसका बहुत अच्छा वर्णन है। वे लिखते हैं कि—कोई तो प्राससे मारे गये, कोई वानर रुधिर वमन करने लगे, कोई मुद्गरसे मारे जाकर पृथ्वीपर गिरे, कोई परिघसे, कोई भिंदिपालसे और कोई पट्टिशसे मारे जानेपर प्राणरहित हो गये। कुछ वानर मारे जानेपर रक्तसे भींगे हुए पृथ्वीपर गिरे। कुछ क्रोधित राक्षसोंद्वारा भगा दिये गये और कुछ नष्ट हुए और बहुत-से वानर हृदय विदीर्ण हो जानेसे एक करवटके बल पृथ्वीपर सुला दिये गये। कुछकी त्रिशूलसे विदारित होनेपर आँतें निकल पड़ीं, कोई तलवारसे दो टुकड़े हो तड़पते हुए पृथ्वीपर गिरे—(वाल्मी० ५८। १२—२२ धूम्राक्ष एवं प्रहस्तयुद्ध)। (ग) 'परिघ त्रिसूलन्हि मारि'। भाव कि आयुध तो बहुत लिये थे पर इन दोसे कपिदल अधिक व्याकुल हुए। अथवा 'परिघ त्रिशूल' दोको कहकर अन्य भी आयुधोंको सूचित किया। ये मुख्य हैं इससे इनको कहा।

प० प० प्र०—यहाँ यह सिद्धान्त दिखाया कि अत्यन्त बलवान् वीर भी धैर्यरहित और भयार्त होनेपर पराजित हो जाते हैं। इसीसे 'धर्ममयरथ' में 'सौरज धीरज तेहि रथ चाका' कहा है। वे ही राक्षस जो अधीर होनेसे भागे थे अब धीरज धरनेपर उन्हीं वानरोंको व्याकुल कर भगा रहे हैं जिनसे पूर्व डरकर भागे थे।

भय आतुर कपि भागन लागे। जद्यपि उमा जीतिहहिं आगे॥ १॥
कोउ कह कहँ अंगद हनुमंता। कहँ नल नील दुबिद बलवंता॥ २॥
निज दल बिकल सुना हनुमाना। पच्छिम द्वार रहा बलवाना॥ ३॥

अर्थ—हे उमा! यद्यपि वानर आगे जीतेंगे तो भी (इस समय) वे व्याकुल हो शीघ्रतासे भागने लगे॥ १॥ कोई कहता है कि अङ्गद कहाँ हैं। कोई कहता है कि हनुमान् कहाँ हैं और कोई कहते हैं कि बलवान् नील, नल और द्विविद कहाँ हैं॥ २॥ हनुमान्‌जीने अपने दलको व्याकुल सुना। वह बलवान् (उस समय) पश्चिम फाटकपर था॥ ३॥

नोट—१ पार्वतीजीको शङ्का हुई कि अभी तो आपने कहा था कि 'रामप्रताप प्रबल कपिजूथा' एवं 'गर्जहिं केहरिनाद कपि भालु महाबलसींव॥ ३९।', फिर ऐसे वीर होकर वे कैसे भगे? 'उमा' सम्बोधनसे यह शङ्का ध्वनित होती है। इसीसे शिवजी समाधान करते हैं कि इस समय अस्त्रशस्त्रोंकी बौछारसे वे भयातुर हो गये। इसीसे रणमें न स्थिर रह सके। यह रणकी शोभा है, एक ही ओरकी बराबर जीतमें रणका रस जाता रहता है। यथा—'रन सोभा लगि प्रभुहिं बँधायो। ७२। १३।'

२—अङ्गद, हनुमान्, नल, नील और द्विविदके नाम देकर जनाया कि पश्चिम द्वारवाली सेनाने हनुमान्‌जीकी दुहाई की, क्योंकि ये पश्चिम-द्वारपर थे, यथा—'पच्छिम द्वार रहा बलवाना'। अङ्गद दक्षिण द्वारपर और नल, नील, द्विविद आदि पूर्व द्वारपर थे। ३८ (४) देखिये। अतः दक्षिणद्वारवाली सेनाने अङ्गद † और पूर्वद्वारवालीने नलादिको पुकारा। पुकारपर इन लोगोंने सहायता भी की। हनुमान्‌जीने आकर धूम्राक्षको, अङ्गदने वज्रदंष्ट्रको और नलादिने प्रहस्त और उसके मन्त्रियोंको मारा। ☞ इस प्रकार मानसकार थोड़ेमें चार प्रधान निशिचर-सेनापतियोंका युद्ध कह दिया जो वाल्मी० ५१ से ५८ तक ८ सर्गोंमें वर्णित है।

† 'धूम्राक्षेणार्दितं सैन्यं व्यथितं प्रेक्ष्य मारुतिः। अभ्यवर्तत संक्रुद्धः प्रगृह्य विपुलां शिलाम्।' वाल्मी० ५२। २६।' 'प्रस्ताः सर्वे हरिगणाः शरैः संकृत्तदेहिनः। अंगदं संप्रधावन्ति प्रजापतिमिव प्रजाः। ५४। १५।' अर्थात् हनुमान्‌जीने धूम्राक्षसे अर्दित और पीड़ित सेनाको देखकर क्रोध करके बड़ा पर्वत लेकर उसे मार डाला। सब वानर बाणोंसे छिन्न-भिन्न शरीर हो अङ्गदकी ओर दौड़े जैसे प्रजापतिको देखकर प्रजा दौड़ती है।

३ 'सुना हनुमाना' का भाव कि मेघनादसे युद्धमें लगे थे इससे उनकी दृष्टि इनकी ओर न थी, इसीसे देखा नहीं आर्त्तस्वर सुनकर जाना। पाँड़ेजीका मत है कि यह 'बिचलना' पूर्वद्वारपर हुआ और हनुमान्‌जीने उसे पश्चिम द्वारसे सुना।

मेघनाद तहँ करइ लराई। टूट न द्वार परम कठिनाई॥ ४॥
पवनतनय मन भा अति क्रोधा। गर्जेउ प्रबल काल सम जोधा॥ ५॥

अर्थ—वहाँ (पश्चिम द्वारपर) मेघनाद युद्ध कर रहा था। द्वार नहीं टूटता। महाकठिनताका सामना था॥ ४॥ तब पवनसुतके मनमें अत्यन्त क्रोध उत्पन्न हुआ और वह योद्धा (हनुमान्‌जी) प्रबलकालके समान बड़ी जोरसे गर्जा॥ ५॥

नोट—१ 'मेघनाद तहँ करइ लराई।…' इति। भाव कि—(क) सेनाको व्याकुल सुना पर सहायता कैसे करें। युद्ध हो रहा है, द्वार टूटता नहीं, अर्थात् उसकी हार होती नहीं। यदि बिना जीते चल दें तो वह समझेगा कि हारकर भाग गये। और यदि सेनाकी सहायता नहीं करते तो सेना मारी जाती है। (ख) रा० प्र०—'परम कठिनाई' इससे कि 'सर्व-शस्त्रास्त्रकोविद एवं मायावी मेघनाद द्वारको रोके है।

वि० त्रि०—'निज दल बिकल सुना…कठिनाई।' इति। उत्तर, दक्खिन और पूर्व तीनों ओरके फाटक टूट गये, पर पश्चिम ओरका फाटक, जिधर हनुमान्‌जी थे, नहीं टूट सका था। कारण यह कि उस फाटकपर मेघनाद युद्ध करता था। ऐसी कड़ी मार पड़ रही थी कि वानरी सेना बड़ी कठिनतामें पड़ गयी थी। तबसे तीनों फाटकोंसे भगेड़ मची, सब प्रख्याततनामा वीरोंको पुकारने लगे। हनुमान्‌जीने जब यह सुना तो बुद्धिमतांवरिष्ठने सोचा कि तीनों फाटकोंकी स्थिति तो तभी सँभल सकती है, जब मध्यलङ्कामें उपद्रव मचे, और इस समय मैं पश्चिम फाटक छोड़ नहीं सकता। अब यदि मेघनाद मूर्छित हो, और लाद-फाँदकर लङ्कामें जाय तो पश्चिम फाटककी चिन्ता छोड़कर मैं लङ्काके मध्यभागमें ऐसा उपद्रव मचा सकता हूँ कि फाटकोंकी रक्षासे अत्यधिक आवश्यकता निशाचरी सेनाको मध्य लङ्काकी रक्षाका मालूम पड़े, तब तीनों फाटकों परसे निशाचरी सेनाका बल आप-से-आप कम हो जायगा।

नोट—'पवनतनय मन भा अति क्रोधा……' इति। (क) परम कठिनता देखकर जीतनेका उपाय यह किया कि अत्यन्त क्रोधसे गर्जे और गढ़पर पहुँच, पर्वत लेकर उसपर दौड़े। (ख) 'पवनतनय' कहकर उनकी अत्यन्त शीघ्रता एवं बल आगे दिखाते हैं। प्र० स्वामीजीका मत है कि हनुमान्‌जीके हाथोंसे अब ये राक्षस मरकर पावन अर्थात् मुक्त होंगे यह भाव सूचित करनेके लिये 'पवनतनय' शब्द प्रयुक्त हुआ है। (ग) 'अति क्रोधा' 'परम कठिनाई' के सम्बन्धसे कहा। पुनः, जितना ही वीरको युद्ध समय क्रोध अधिक होता है उतना ही शीघ्र वह विकट काम करता है। (क्रोध तमोगुण है। पर उसमें एक गुण यह है कि वह जिसमें होता है उसमें वह अन्य सब बातोंका विस्मरण कराके उसकी शक्ति सर्वस्वको एक ही विषयपर केन्द्रित करा देता है। अतः युद्धमें क्रोध बहुत कार्य कर सकता है। क्रोध रुद्रका स्वरूप है। वह संहारकार्यमें बहुत शक्ति देता है। प० प० प्र०।') इससे अत्यन्त क्रोध किया। यथा—

१ 'क्रुद्धे कृतांत समान कपि तनु स्रवत सोभित राजहीं। मर्दहिं निसाचर कटक भट बलवंत घन जिमि गाजहीं॥ मारहिं चपेटन्हि डाँटि दातन्ह काटि लातन्ह मींजहीं। चिक्करहिं मरकट भालु छलबल करहिं जेहि खल छीजहीं॥८०॥' इत्यादि।

२ 'तब प्रभु परम क्रोध कहुँ पावा। ९०। ८।' 'भये क्रुद्ध बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे। कोदण्ड धुनि अतिचण्ड सुनि मनुजाद भय मारुत ग्रसे॥…', 'तानेउ चाप श्रवन लगि छाँड़े बिसिख कराल। राम मारगन गन चले लहलहात जनु ब्याल॥ ९०॥'

३ 'दससुख देखि सिरन्ह कै बाढ़ी। बिसरा मरन भई रिस गाढ़ी। गर्जेउ मूढ़ महा अभिमानी। धायेउ दसौ सरासन तानी। समरभूमि दसकंधर कोपेउ। बरषि बान रघुपति रथ तोपेउ।…हाहाकार सुरन्ह जब कीन्हा। ९२। १-५।'

४ 'देखि अजय रिपु डरपे कीसा। परम क्रुद्ध तब भयउ अहीसा।…एहि पापिहि मैं बहुत खेलावा। लछिमन मन अस मंत्र दृढ़ावा। सुमिरि कोसलाधीस प्रतापा। सर संधान कीन्ह करि दापा। छाँड़ा बान माँझ उर लागा। ७५। १३। १६।'

५ 'आवा परम क्रोध कर मारा। गरज घोर रव बारहिं बारा। कोपि मरुतसुत अंगद धाए। हति त्रिसूल उर धरनि गिराए।···। फिरे बीर रिपु मरइ न मारा। तब धावा करि घोर चिकारा॥ ७४ (५-९)।'

६ 'कुंभकरन रनरंग बिरुद्धा। सनमुख चला काल जनु क्रुद्धा। कोटि कोटि कपि धरि धरि खाई। जनु टीड़ी गिरि गुहा समाई। कोटिन्ह गहि सरीर सब मर्दा। कोटिन्ह मीँजि मिलव महि गर्दा। मुरे सुभट सब फिरहिं न फेरे। सूझ न नयन सुनहिं नहिं टेरे॥ ६६। १-६।'

७ 'कटकटान कपि कुंजर भारी। दुहुँ भुजदंड तमकि महि मारी। डोलति धरनि सभासद खसे। चले भागि भय मारुत ग्रसे। गिरत सँभारि उठा दसकंधर। भूतल परे मुकुट अति सुंदर॥ ३०। ३-५।'

तथा यहाँ, ८ 'चले क्रोध करि सुभट लजाने।···व्याकुल किये भालु कपि०॥ ४१।'

पुनः, 'अतिक्रोधा' का भाव कि पूर्व जब मेघनादका सामना हुआ था और दोनों योद्धा भूमिपर थे तब इनने साधारण कोप किया था और वृक्षसे ही मारा था अब वह गढ़पर है और ये नीचे हैं; अब पूर्वका-सा क्रोध काम न देगा,— 'कटकटाइ गर्जा अरु धावा। अति बिसाल तरु एक उपारा। सुं० १८।' इसलिये अब 'भा अति क्रोधा' और 'गर्जेउ प्रबल काल सम'॥ पहले जितना काम किया था उससे अब अधिक करेंगे। (ग) 'गर्जेउ प्रबल काल सम' में पूर्णोपमालङ्कार है।

पं०—सेना भीतर गयी थी वहाँ शत्रुने उसे मारकर व्याकुल किया। और ये बाहर हैं। हम उनकी रक्षा कैसे करें, यह विचार कर क्रोध हुआ। पुनः आज युद्धका प्रथम दिवस है। प्रथम ही दिन हार होनेसे सेनाका उत्साह जाता रहेगा, यह विचारकर हनुमान्‌जीने अतिक्रोध कर मोरचा विजय किया। यहाँसे आद्यन्त इनका विजय कविने प्रथम दिवसमें दिखाया है। अन्तमें कहा है कि 'हनुमान अङ्गद रन गाजे। हाँक सुनत रजनीचर भाजे'—यह विजय है।

कूदि लंक गढ़ ऊपर आवा। गहि गिरि मेघनाद कहुँ धावा॥ ६॥
भंजेउ रथ सारथी निपाता। ताहि हृदय महुँ मारेसि लाता॥ ७॥
दुसरे सूत बिकल तेहि जाना। स्यंदन घालि तुरत गृह आना॥ ८॥

शब्दार्थ—घालना=डालना, रखना।—'सो भुज बल राख्यो उर घाली। जीतेहु सहसबाहु बलि बाली'। सूत=सारथी।

अर्थ—हनुमान्‌जी उछलकर लङ्काके गढ़के ऊपर आ पहुँचे और एक पर्वतको लेकर मेघनादकी ओर दौड़े॥ ६॥ रथ चूर-चूर कर दिया, सारथीको मार डाला और मेघनादके हृदयमें लात मारी॥ ७॥ दूसरा सारथी उसे व्याकुल जानकर रथमें डाल तुरंत घर ले आया॥ ८॥

नोट—१ पूर्व कहा कि 'पवनसुत मन भा अति क्रोधा', अब 'पवनसुत' और 'अति क्रोध' दोनोंका स्वरूप, दोनोंका कार्य और चरितार्थ दिखाया। पवनसुत हैं इसलिये इतनी शीघ्रता की कि एक ही पर्वतसे सब काम एक साथ कर डाले 'अतिक्रोध' था इससे इतना कार्य किया। सुन्दरकाण्डमें साधारण क्रोध था तब मेघनाद क्षणभर मूर्छित रहकर उठ बैठा। अब 'अतिक्रोध' है अतः बहुत देरतक मूर्छा बनी रही।

२—'भंजेउ रथ सारथी निपाता।०' भाव कि वह रथपर था इससे प्रथम उसे विरथ किया। जब वह रथसे निकल बाहर खड़ा हुआ तब हृदयमें लात मारी। यह सब बड़ी शीघ्रतासे किया, उसको वार करनेका अवसर न मिल पाया। प्रथम बार सारथीका मारा जाना नहीं कहा गया था। दूसरे, प्रथम घूँसा मारा गया था और अबकी लात। इसी प्रकार पूर्व वृक्षसे काम लिया था अबकी पर्वतसे। ये तीनों विशेषताएँ इस युद्धमें हुईं। ३—'तुरत गृह आना' भाव कि इसने हनुमान्‌जीको पूर्व बाँधा था, उसके बदलेमें वे कहीं इसे न बाँध लें। रावणसे हनुमान्‌जीने कहा था कि 'तापर बाँधेउ तनय तुम्हारा' अर्थात् अभी इसका बदला लेना है। इसी डरसे तुरंत उठा ले गया।

नोट—☞ यह पश्चिम द्वार टूटा। हनुमान्‌जीकी जय हुई। हनुमान्-मेघनाद-युद्धका उपक्रम 'मेघनाद तहँ करइ लराई' और उपसंहार 'दूसर सूत बिकल तेहि जाना।०' है। पाँच अर्धालियोंमें कहा।

दोहा—अंगद सुना पवनसुत गढ़ पर गएउ अकेल।
रनबाँकुरा बालिसुत तरकि चढ़ेउ कपिखेल ॥ ४२ ॥

अर्थ—अङ्गदजीने सुना कि पवनसुत अकेले ही गढ़पर गये हैं। (तब) वह रणमें बाँका बालिपुत्र वानरक्रीड़ासे कूद-उछलकर गढ़पर चढ़ गया ॥ ४२ ॥

'गढ़पर गएउ अकेल' का भाव कि—(क) पं०—जो सेना पूर्व गढ़पर चढ़ी थी वह भाग आयी थी, विचलित हो गयी थी, इससे हनुमान्‌जी अकेले हैं। (ख) रा० प्र०—प्रथम युद्ध दुर्गके पहिले आवरण अर्थात् शहरपनाहवाले घेरेपर हुआ जान पड़ता है और **'गढ़पर गएउ अकेल'** यह अन्तरआवरणपर जाना कहा। **'सुना'**—निशिचरसेनामें परस्पर चर्चा होनेसे।

नोट—१ (क) पश्चिमद्वार हनुमान्‌जीने तोड़ा, और वानरोंकी सहायता की। अब दक्षिण द्वारका टूटना और अङ्गदका वानरोंकी सहायता करना यहाँ कहते हैं। २ (ख) 'रकबाँकुरा' और 'बालिसुत' विशेषण देकर जनाया कि महापार्श्व और महोदर जिनसे यह मोरचा लड़ रहा था उन्हें मारकर तब यह इधर आया है, अपना मोरचा छोड़कर नहीं आया। (रा० बा० दा०)। पुनः भाव कि जैसे बालि निर्भय और फुर्तीला था कि रावण घातमें ही रहा और उसने रावणको फुर्तीसे उछलकर पकड़ लिया। वैसा ही यह फुर्तीला है; अतः वानर-खेलसरीखे उछलकर तुरंत ऊपर पहुँच गया। पुनः, जैसे **'बाली रिपुबल सहइ न पारा'** वैसे ही यह रणबाँका है, यह शत्रुका कपिसेनाको विकल करना न सह सका। अतः शत्रुबलमर्दनके लिये कूदकर ऊपर चढ़ा। पुनः भाव कि स्वाभाविक निडर है, यथा—**'प्रभु प्रताप उर सहज असंका। रनबाँकुरा बालिसुत बंका ॥ १८ । २ ॥'** जैसे बालि अर्द्धरात्रिमें ही मायावीका पीछा करते गुफामें निडर घुसता चला गया था वैसे ही यह शत्रुके गढ़पर निर्भय गया। (ग) ''कपिखेल'', यथा—**'साखा ते साखा पर जाई'**। एक डालसे दूसरी डालपर जैसे वानर खेलते-कूदते हैं वैसे ही बिना परिश्रम कूदकर चढ़ गये।

जुद्ध बिरुद्ध क्रुद्ध दोउ बंदर। रामप्रताप सुमिरि उर अंतर ॥ १ ॥
रावन भवन चढ़े द्वौ धाई। करहिं कोसलाधीस दोहाई ॥ २ ॥
कलस सहित गहि भवनु ढहावा। देखि निसाचरपति भय पावा ॥ ३ ॥

अर्थ—दोनों वानर युद्धमें विरोध भावसे क्रोधित हो श्रीरामचन्द्रजीका प्रताप अन्तःकरणमें स्मरण करके दोनों दौड़कर रावणके महलपर चढ़ गये और कोसलपति श्रीरामचन्द्रजीकी शपथ करने लगे। १–२। कलश समेत महलको पकड़-कर ढहा (गिरा) दिया। यह देखकर निशिचरराज डर गया ॥ ३ ॥

'रामप्रताप सुमिरि उर अंतर' इति।

प्रतापका स्मरण करनेसे बल, उत्साह और निर्भीकता बढ़ती है, कार्यमें चूक नहीं होती और विजय वा कार्यसिद्धि होती है।—

१ वानरोंने प्रताप स्मरण करके समुद्रमें पुल बाँध दिया,—**'सुनि कपि भालु चले करि हूहा। जय रघुबीर प्रताप समूहा ॥ १ । १० ॥'**, **'श्रीरघुबीर प्रताप तें सिंधु तरे पाषान ॥ ३ ॥'** यह अद्भुत कार्य हुआ जिससे रावण भयभीत हो गया— **'दसमुख बोलि उठा अकुलाना ॥ ५ । १० ॥'**

२ अङ्गदजी दूत बनकर गये तब उन्होंने प्रतापका स्मरण किया। यथा—**'बंदि चरन उर धरि प्रभुताई। अंगद चलेउ सबहि सिरु नाई ॥ प्रभु प्रताप उर सहज असंका ॥ १८ । १ । २ ॥'** फिर **'समुझि राम प्रताप कपि कोपा। सभा माँझ पन करि पद रोपा ॥ ३३ । ८ ॥'** इसका फल क्या हुआ ?—रावण **'भएउ तेज हत श्री सब गई ॥ ३४।४ ।'**

३ युद्धारम्भमें कहा है कि **'प्रभुप्रताप कहि सब समुझाए। सुनि कपि सिंहनाद करि धाए ॥ ३८ । ६ ॥'** फल क्या हुआ कि **'चले निसाचर निकर पराई'** और **'हाहाकार भयउ पुर भारी ॥···४१ । ३ । ४ ॥'**

४ **'सुमिरि कोसलाधीस प्रतापा। सर संधान कीन्ह करि दापा॥ ७५। १५॥'** तब **'छाँड़ा बान माँझ उर लागा।'** और एक ही बाणमें मेघनादका काम हो गया। तथा यहाँ—**'राम प्रताप सुमिरि उर अंतर'**। फल क्या हुआ जो दो दोहोंमें है। सूक्ष्म रीतिसे फल यह दिखाया कि **'देखि निसाचरपति भय पावा'** तब दूसरोंका क्या कहना?

☞ विरुद्ध=विशेष रुद्ध। रुद्ध=जिसकी गति रोक ली गयी हो। विरुद्ध='विशेष अरुझ गये'—(पाँ०)। इत्यादि, अनेक प्रकारसे लोगोंने इस शब्दके अर्थ किये हैं। वास्तविक क्या अर्थ है यह जाननेके लिये मानससे इसके और स्थलोंके प्रयोग यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। यथा—

१—**'कुंभकरन रन रंग बिरुद्धा। सनमुख चला काल जनु क्रुद्धा॥ ६६। १॥'**

२—**'भए क्रुद्ध बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे॥ ९० छन्द॥'**

३—**'रे कुभाग्य सठ मंद कुबुद्धे। तैं सुर नर मुनि नाग बिरुद्धे॥ ९३। ५॥'**

४—**'दोउ भिरे अति बल मल्लयुद्ध बिरुद्ध एकु एकहि हनै॥ ९३ छन्द।'**

तथा यहाँ—'जुद्ध बिरुद्ध क्रुद्ध दोउ बंदर' कहा है। 'विरोधभावको प्राप्त' यह अर्थ सबमें घटित होता है। वाल्मी० ४४। २ में **'अन्योन्यं बद्धवैराणां'** (अर्थात् परस्पर वैरमें बँधे हुए) यह जो पद आया है, ठीक वही भाव 'विरुद्ध' का है। टीकाकारोंने न समझकर मनमाने अर्थ किये हैं। पंजाबीजी और रा० प्र० कारने भी यही अर्थ लिया है। दोनों लिखते हैं कि विरुद्ध युद्ध करते हैं अर्थात् क्रीड़ा-युद्ध नहीं कर रहे हैं क्योंकि अपनी सेनाको विचलित सुन चुके हैं।

नोट—१ **'करहिं कोसलाधीस दोहाई'**। (क) दोहाई=शपथ। भाव कि शपथ कर-करके कहते हैं कि हम ऐसा करेंगे और कर डालते हैं। सत्यसङ्कल्प रामचन्द्रजी हमारे सङ्कल्पको पूरा करेंगे। प्रतिज्ञाकी सत्यताके लिये उनकी शपथ करते हैं, यथा—**'मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहउँ। २। १००।' 'जौं न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु भाथ। १। २५३।'** (ख) दोहाई सहायताके लिये भी की जाती है। पुनः, (ग) अपने स्वामीके प्रतापका डंका बजाना, उनका जय-जयकार करना, नवीन राजाके नामकी घोषणा करना भी 'दोहाई' है, यथा—**'नगर फिरी रघुबीर दोहाई। सुं० ११। ६।' 'जब प्रताप रबि भयउ नृप फिरी दोहाई देस। १। १५३।'** पर इस अर्थमें प्रायः 'दोहाई' के साथ 'फिरना' क्रियाका प्रयोग होता है। दुहाई करते हैं अर्थात् फेरते हैं, रामचन्द्रजीका जय-जयकार करते हैं, कहते हैं कि लङ्काके स्वामी श्रीरामजी हैं, रावण नहीं है, अब इसपर कोसलराजका दखल हो गया है, 'कोसलाधीस' पद भी इस भावका समर्थक है।

२—**'देखि निसाचरपति भय पावा'** इति। पंजाबीजी 'निशाचरपति' का अर्थ भवनपालक रक्षक करते हैं और कहते हैं कि यदि इसका अर्थ 'रावण' करें तो अयुक्त है, क्योंकि युद्धके समय घरमें बैठना और हनुमान्-अङ्गदके सम्मुख होनेपर उनसे युद्ध न होना आश्चर्य है। पं० रा० कु० जीका मत है कि 'पति' की जगह 'अति' शुद्ध पाठ है; अर्थ यह होगा कि 'निशिचर देखकर अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं।'

[परंतु यहाँ रावणका देखना ही अभिप्रेत है। उसका निशाचरोंको ललकारना पूर्व कह भी आये हैं; मोर्चोंकी देख-रेख दूरसे करना बराबर प्रसंगसे पाया जाता है। उसका महलके भीतर बैठना प्रसंगसे नहीं पाया जाता। आगे हनुमान्जी और अङ्गदजीका मुखिया निशिचरोंके मुण्डोंका उसके सामने फेंकना कवि कहते हैं। इससे भी उसका महलके भीतर बैठा होना प्रमाणित नहीं होता।

वि० त्रि०—**'कलस सहित·····पावा'** इति। हनुमान्जीने जैसा सोचा था, वैसा ही किया। मेघनाद मूर्च्छितावस्थामें घर लाये गये। हनुमान्जी मध्य लङ्कामें रावणके महलतक पहुँच गये, तबतक यह समाचार सुनकर उधरसे अङ्गदजी आ गये। दोनोंने रावणके महलपर चढ़कर जयकार लगाया। रावणका महल सबसे ऊँचा था। लङ्काभरमें तहलका मच गया कि यहाँ फाटकपर लोग लड़ रहे हैं, वहाँ राजाके महलपर शत्रुका कब्जा हो गया। तबसे दोनों वीरोंने कलशके साथ सबसे ऊँचे महलका भाग गिरा दिया। देखकर दूसरेकी कौन चलाये स्वयं रावण डर गया कि यह क्या हुआ?

नारि बृंद कर पीटहिं छाती। अब दुइ कपि आए उतपाती॥ ४॥

कपि लीला करि तिन्हहि डेरावहिं। रामचंद्र कर सुजसु सुनावहिं॥ ५॥

शब्दार्थ—उत्पाती=उपद्रवी, नटखट, अशान्ति उत्पन्न करनेवाले। लीला=क्रीड़ा, जैसे मुँह बिराना, घुड़कना, दाँत दिखाना, काटनेको दौड़ना।

अर्थ—स्त्रीवृन्द हाथोंसे छाती पीटती हैं कि अब तो दो उत्पाती वानर एक साथ आये हैं। (क्या उपद्रव न कर डालें! कौन जानता है!)॥ ४॥ वानर-केलि करके (दोनों) कपि उनको भय देते हैं और रामचन्द्रजीका सुन्दर यश सुनाते हैं॥ ५॥

नोट—१ **'नारिबृंद कर पीटहिं छाती'** इति। (क) भय, शोक और पश्चात्तापसे व्याकुलताके कारण छाती पीटती हैं। छाती पीटनेका भाव कि हाय! अब क्या करें? कोई वश नहीं है। शोकके आवेगमें लोग छातीपर हाथ पटकते ही हैं। नारिवृन्दसे यहाँ रावणका रनवास सूचित किया। (ख) **'अब दुइ कपि आए उतपाती'** इति। 'अब' का भाव कि प्रथम हनुमान्‌जी गढ़पर अकेले चढ़कर गये; फिर अङ्गद भी पहुँच गये। इस तरह अब दो हो गये। दोनों उत्पाती हैं। पुनः भाव कि अभीतक ये एक-एक करके आये थे तब कितना उत्पात कर गये थे, अब दोनों साथ हैं न जानें क्या कर डालें। हनुमान्‌जी और अङ्गदजी दोनोंको और दोनोंके किये हुए उत्पातोंको देख-सुन चुकी हैं। एकने लङ्का जलायी, अक्षयादिको मारा, इत्यादि। दूसरेने सभामें रावणके किरीट-मुकुटादि गिराये, रावणपुत्रको मारा और पाँव रोपा जो किसीसे न हटा। हनुमान्‌जीके उत्पातसे तब (प्रथम बार ही) सब हाहाकार करने लगे थे, यथा—**'तात मातु हा सुनिय पुकारा। एहि अवसर को हमहिं उबारा॥ हम जो कहा यह कपि नहिं होई। बानर रूप धरे सुर कोई॥** सुं० ३६। ३-४।' तथा **'निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी। भईं सभीत निसाचर नारी॥** सुं० २५। ९।'

जब अङ्गदजी दूत बनकर गये तब सब यह समझकर कि वही लङ्का जलानेवाला फिर आया है। नगरमें खलबली मच गयी थी। यथा—**'भयउ कोलाहल नगर मँझारी। आवा कपि लंका जेहिं जारी॥ अब धौं काह करिहि करतारा। अति सभीत सब करहिं बिचारा॥** १८। ८-९।' **'जातुधान अंगद पन देखी। भय ब्याकुल सब भये बिसेखी॥** ३४। १३।' फिर युद्धकी प्रथम लड़ाईमें जब निशिचर मारे गये और भगे तब नगरमें भारी हाहाकार हुआ, यथा—**'हाहाकार भयउ पुर भारी। रोवहिं बालक आतुर नारी॥ सब मिलि देहिं रावनहि गारी। राज करत एहि मृत्यु हँकारी॥** ४१। ४-५।' और अब हनुमान् और अङ्गद दोनोंको आया हुआ और उत्पात करते हुए देख रही हैं तब कहते हैं कि—**'देखि निसाचरपति भय पावा॥ नारिबृंद कर पीटहिं छाती। अब दुइ कपि आए उतपाती॥** ४३। ४।'

इस प्रकार उत्तरोत्तर अधिक भय, शोक और व्याकुलता बढ़ती दिखायी। प्रथम बार हनुमान्‌जीके लङ्कादहनरूपी उत्पातपर स्त्रियाँ सभीत हुईं और हाहाकार हुआ। उत्तरोत्तर अधिकता, यथा—

१ (क) लङ्कादहनपर सभीत हुईं। यथा—**'भईं सभीत निसाचर नारी'**। सुं० २५ (८) अङ्गदके आनेपर 'अति सभीत' हुईं; यथा—**'अति सभीत सब करहिं बिचारा'** १८। ८।'

(ख) पति-पुत्रादिके प्रथम युद्धमें मरनेपर भारी व्याकुल हो रोने लगीं। यथा—**'रोवहिं बालक आतुर नारी।'** और दो उत्पाती कपि आये तब छाती पीटी—**'नारिबृंद कर पीटहिं छाती'**। इति प्रथमावृत्तिः।

२ (क) नगरभरमें उत्पात हुआ तब हाहाकार हुआ—**'तात मातु हा सुनिय पुकारा।'**

(ख) जब केवल रावणपुत्र मारा गया, पुरमें कोई उत्पात न हुआ, तब कोलाहल और विचारमात्र हुआ। यथा—**'भएउ कोलाहल नगर मँझारी**। १८। ८।' **'अति सभीत सब करहिं बिचारा।'**

(ग) पति-पुत्र-भाई आदि मारे गये, तब भारी हाहाकार हुआ। यथा—**'हाहाकार भएउ पुर भारी। रोवहिं बालक आतुर नारी॥** ४१। ४।'

(घ) हनुमान्-अङ्गद दोनों उत्पात करने आये तब और अधिक शोक हुआ। यथा—**'नारिबृंद कर पीटहिं छाती।** ४३। ४।' इति द्वितीयावृत्तिः।

३ (क) आग लगनेपर घरमें बचानेवाले थे और अपने प्राणोंके लाले भी पड़े थे, अतः तब बचानेकी बात कही, यथा—'**एहि अवसर को हमहिं उबारा ।**'

(ख) अङ्गदजीने पुरमें उत्पात नहीं किया, इसीसे तब बचानेको न कहा, केवल यह सोचने लगीं कि अब न जाने क्या होगा, यथा—'**अब धौं काह करिहिं करतारा ।**'

(ग) जब बचानेवाले पति-पुत्रादि मरे तब उबारना न कहा, वरन् रोने लगीं, क्योंकि पुकारतीं किसको ? यथा—'**रोवहिं बालक आतुर नारी ।**'

(घ) हनुमान्-अङ्गद दोनोंको देखा तब अतिशय व्याकुल हो छाती पीटने लगीं कि रहा-सहा भी न बचेगा, इनसे वश न चलेगा । इति तृतीयावृत्तिः ।

४ लङ्कादहनपर रावणको गाली न दी थी—'**हम जो कहा यह कपि नहिं होई** । सुं० २६ ।' घरके पुरुषोंके मारे जानेपर गाली दी थी—'**सब मिलि देहिं रावनहिं गारी** ॥ ४१ । ५ ॥' जब देखा कि गाली खानेपर भी नहीं मानता और इस समय वह स्वयं इन दोनोंके कार्यसे भयभीत हो गया है फिर भी हठ नहीं छोड़ता, तब अपनी ही छाती पीटने लगीं । इति चतुर्थावृत्तिः ।

५ (क)—लङ्कादहनके बाद निशाचर भयभीत रहते थे	'**उहाँ निसाचर रहहिं ससंका**', '**गृह गृह प्रति सब करहिं बिचारा । नहिं०**'
(ख)—अङ्गदपदरोपण होनेपर वे विशेष भयभीत हुए और रावण लज्जित हुआ	'**भय ब्याकुल सब भये बिसेखी**', '**सिंहासन बैठेउ सिर नाई**', '**भवन गएउ बिलखाइ**'
(ग)—अङ्गद-हनुमान दोनों आये तब रावणको ही भय हुआ	'**देखि निसाचर पति भय पावा**' —इति पञ्चमावृत्तिः ।

नोट—३ '**कपि लीला करि तिन्हहिं डेरावहिं**' । (क)—वीर स्त्रियों और निर्बलोंपर हाथ नहीं चलाते; इसीसे उनको कपि-केलि करके डरवाते हैं । दूसरे, स्त्रियाँ अवध्य हैं और इस समय स्वयं आर्त्त हैं । बं० पा० जीका मत है कि दोनों निशाचरियोंसे श्रीजानकीजीका बदला लेते हैं । यथा, वहाँ '**पिसाचिनि बृंद । सीतहिं त्रास देखावहिं धरहिं रूप बहु मंद** ॥ ५ । १० ॥' तथा यहाँ ये निशिचरियोंको '**कपि-लीला करि डेरावहिं**' । (ख) '**रामचंद्र कर सुजस सुनावहिं**' । युद्ध-प्रकरणमें इस काण्डके प्रारम्भमें लङ्कामें आते ही प्रभुका सुयश निशिचरोंको सुनाया और उनसे कहलाया गया है । तबसे 'सुयश सुनाने' का उल्लेख बहुत स्थानोंपर हुआ है—(१) '**कहि प्रभु सुजस देहिं तब जाना** ॥ ५ । ८ ॥' (वानर-भालु) । (२) '**रिपु मद मथि प्रभु सुजस सुनायो** ॥ ३४ । १० ॥'—(अङ्गद) । (३) '**कपि भालु चढ़ि मंदिरन्ह जहँ तहँ रामजसु गावत भए** ॥ ४० छन्द ॥' तथा यहाँ (४) '**कपि लीला करि तिन्हहिं डेरावहिं । रामचंद्र कर सुजस सुनावहिं**' ॥

☞ वाल्मीकीय आदिमें बारम्बार श्रीराम-लक्ष्मण-सुग्रीवका जय-जयकार और बल कथन किया गया है कि एक क्या करोड़ों रावणोंको मर्दन करनेको समर्थ हैं, इत्यादि । यह भी 'सुयश' ही है । और वही यहाँ अभिप्रेत जान पड़ता है ।

पुनि कर गहि कंचन के खंभा । कहेन्हि करिअ उतपात अरंभा ॥ ६ ॥
गर्जि परे रिपु कटक मझारी । लागे मर्दइ भुज बल भारी ॥ ७ ॥
काहुहि * लात चपेटन्हि केहू । भजहु न रामहि सो फल लेहू ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—उत्पात=उपद्रव । कष्ट पहुँचानेवाली आकस्मिक घटना ।

अर्थ—फिर सोनेके खम्भेको हाथसे पकड़कर (परस्पर दोनों एक-दूसरेसे) बोले कि उपद्रव शुरू करें ॥ ६ ॥ (यह सम्मति होनेपर) वे शत्रु-सेनाके मध्य गर्जकर कूद पड़े और उसे अपने भारी भुजबलसे मर्दन करने लगे ॥ ७ ॥ किसीको लातसे, किसीको थप्पड़से मारकर कहते हैं कि श्रीरामजीका भजन नहीं करते, उसका फल लो ॥ ८ ॥

* काहूँ लात—(का०) ।

नोट—१ प्रथम भवन गिराना कहा, भवन गिरा तब स्वर्णके खम्भे भी गिरे, अतः उनका हाथमें लेना कहा, गिराना न कहा—'पुनि कर गहि०'।

२—'कटक मँझारी' इति। यह सेना मध्य भागकी है। दोहा ३७ 'समाचार पुनि सब कहे…' के नोटमें बताया जा चुका है कि वाल्मी० के मतानुसार मध्य भागमें चतुरङ्गिणी सेनासहित विरूपाक्ष है। पर पंजाबीजीका मत है कि यहाँ 'कटक मँझारी' से विद्युज्जिह्ववाले कटक वा गुल्मसे तात्पर्य है जो बीचमें था, यहींसे विद्युज्जिह्व चारों ओर सहायताके लिये सेना भेजा करता था। (पं०, रा० बा० दा०)। एक विद्युज्जिह्व तो रावणद्वारा मार डाला गया था। उसी नामका दूसरा भी हो सकता है।

दोहा—एक एक सों* मर्दहिं तोरि चलावहिं मुंड।
रावन आगे परहिं ते जनु फूटहिं दधिकुंड॥ ४३॥

अर्थ—एक (निशिचर) को दूसरेसे रगड़कर मल देते हैं। फिर (मरनेपर) सिरको धड़से मरोड़कर अलग करके फेंकते हैं। वे जाकर रावणके आगे गिरकर ऐसे फूटते हैं मानो दहीके कूँडे फूटे हों॥ ४३॥

पु० रा० कु०—रामभजन न करनेका फल दिखाया कि एक दूसरेसे मर्दन किये जाकर मर रहे हैं। आपसमें ही भिड़कर मरते हैं।

नोट—१ **'रावन आगे परहिं ते जनु फूटहिं दधिकुंड'** इति। (क) रावणके आगे फेंकनेका भाव कि जिन सेनापतियोंका तुझे गर्व है, उनकी यह दुर्गति देख कलेजा ठंढा कर। इन्हींके बलपर वैर किया है? पुनः, भाव कि वह पहचान ले कि सब सुभट मारे गये। इसीसे उसके पास सिर फेंक देते हैं। वा, इस प्रकार उसे ललकारते हैं कि तू भी आ, तेरी भी यही दशा होगी। अथवा इस प्रकार उसको शोक पहुँचानेमें शीघ्रता कर रहे हैं। शत्रुकी छाती जितनी जल्द जले उतना अच्छा। (ख) दहीके कूँडे मट्टीके और पके हुए होते हैं। ऊपरसे गिरनेपर वे टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं और उनसे शब्द होता है तथा उनका दही गिरकर भूमिपर बिथर जाता है। वैसे ही ये सिर गिरकर फूटते हैं और इनका मज्जा मेदा आदि पृथ्वीपर छितरा जाता है। यहाँ 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। उत्प्रेक्षा केवल उनके पृथ्वीपर गिरकर शब्द करते हुए फूटने और बिखरनेमें है।

महा महा मुखिया जे पावहिं। ते पद गहि प्रभु पास चलावहिं॥ १॥
कहइ† बिभीषनु तिन्ह के नामा। देहिं राम्रु तिन्हहू निज धामा॥ २॥

अर्थ—जिन बड़े-बड़े मुखियों (प्रधान सरदारों) को पा जाते हैं उनको पैर पकड़कर प्रभुके पास फेंक देते हैं॥ १॥ विभीषणजी उनका नाम बताते हैं और श्रीरामजी उन्हें भी अपना धाम देते हैं॥ २॥

नोट—१ (क) **'महा महा मुखिया जे पावहिं०'** इति। भाव कि रावणके पास जिनको फेंका वे मुखिया थे और श्रीरामचन्द्रजीके आगे जिन्हें फेंका वे महामुखिया थे अथवा, प्रथम कोटि जिन्हें लातों, चपेटोंसे मर्दन किया वे मुखिया थे, फिर दूसरी कोटि **'एक-एक सों मर्दहिं'**, जिन्हें पकड़कर एक दूसरेसे रगड़कर मारा और जिनके मुंड तोड़ लिये वे महामुखिया थे और तीसरी कोटि, जिनके पैर पकड़कर प्रभुके पास फेंके वे महा-महा-मुखिया हैं। (ख) **'पद गहि चलावहिं'**। पैर हल्के और लम्बे होते हैं इससे इधरसे पकड़कर फेंकनेसे ठीक बनता है, यह साधारण रीति है। भारी किनारा, पकड़नेसे दूरतक नहीं फेंक सकते। (पां०—महामुखियोंका सिर धड़से अलग नहीं करते। सिरसहित फेंकते हैं जिसमें पहचान लिये जायँ)।

पं०—'महामुखिया' में तीन प्रकारसे महानता है। (१) पूर्व जन्मोंके तपादिसे। (२) सुभट एवं यूथपति होनेसे। अथवा, (३) ये बड़े-से-बड़े योद्धा रावणके पुत्रादि सेनापति हैं, इससे।

* सों—पाठान्तर। † कहहिं—(का०)।

वि० त्रि०—'**महा महा** '' '**चलावहिं**' इति। महल गिरानेके बाद दोनों वीर सेनाके मुख्य भागके बीचमें कूद पड़े, जहाँसे चारो फाटकपर कुमक (सहायता) भेजी जाती थी, और सेनाका संहार आरम्भ कर दिया। मुंड तोड़-तोड़कर उपहार-रूपमें रावणके पास फेंकने लगे, जिसमें स्वयं राजाके पार्श्ववर्तीतक आतङ्कित हो जायँ। अपनी सेनाको उत्साहित करनेके लिये महा-महामुखियोंको रामजीके पास फेंकने लगे। भाव यह कि छोटे-छोटे पापियोंको तो हमलोग मुक्ति दे रहे हैं। ये बहुत बड़े पापी हैं, ये हमारे काबूके नहीं, इन्हें सरकार मुक्ति दें।

नोट—४ (क) '**कहहिं बिभीषन तिन्हके नामा**'। इससे जनाया कि प्रभु पूछते हैं और वे बताते हैं। कुछके नाम बा० १८० में कहे हैं, यथा—'**कुमुख अकंपन कुलिसरद धूमकेतु अतिकाय। एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय॥**' ये सब महा-महामुखिया जान पड़ते हैं। इनमेंसे जिस-जिसको पाया, उसे प्रभुके पास फेंक दिया। इनमें अनिप, अकंपन, अतिकाय नहीं थे। इनके नाम आगे आवेंगे—'**अनिप अकंपन अरु अति काया। बिचलत सेन कीन्हि इन्ह माया।** ४५। १०।' वाल्मी०, अ० रा०, हनु०, भारत, पद्मपु० में ऐसा लेख नहीं मिला; पर कई स्थलोंपर राक्षसोंके रणभूमिमें आनेके समय श्रीरामजीका पूछना और विभीषणजीका बताना पाया जाता है। यथा प्रहस्तागमनपर—'**क एष सुमहाकायो बलेन महतावृतः। आगच्छति महावेगः किं रूपबलपौरुषः॥ २॥ आचक्ष्व मे महाबाहो वीर्यवन्तं निशाचरम्। राघवस्य वचः श्रुत्वा प्रत्युवाच विभीषणः॥** वाल्मी० ५८। ३॥' ☞ पर मानसके श्रीरामजी मुक्ति देनेके लिये नाम पूछते हैं। इससे गोस्वामीजीकी भक्ति झलक रही है। (ख) '**देहिं रामु तिन्हहूँ निज धामा**' इति। 'तिन्हहूँ' अर्थात् ऐसे अधम और मनुष्योंके खानेवालोंको भी, यथा—'**खल मनुजाद द्विजामिषभोगी**'। भाव कि ऐसे अधम लोग सद्गतिके अधिकारी नहीं हैं। 'निज धाम'—सायुज्य-सालोक्यादि मुक्ति। रामधाम वैकुण्ठ, साकेत इत्यादि।—'**न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥** गीता १५। ६।' अर्थात् उसको न सूर्य प्रकाशित करता है न चन्द्रमा और न अग्नि। जहाँ पहुँचकर फिर लौटना नहीं होता वह मेरा परम धाम है। आगे ४४ (३—५) देखिये। पंजाबीजीके मतानुसार गति देनेमें भाव यह है कि ये मेरे भक्तोंके हाथसे मरे हैं और इन्हें कृतार्थ करनेके लिये मेरे पास उन्होंने इन्हें फेंका है अतः मुक्ति देना योग्य है और भाव कवि स्वयं आगे देते हैं।

☞ पूर्व कहा था कि '**पुनि कर गहि कंचन के खंभा। कहेन्हि करिय उत्पात अरंभा**'। पर इनके द्वारा उत्पातका वर्णन स्पष्ट नहीं जान पड़ता कि कहाँ किया। वह उत्पात '**लागे मरदइ भुजबल भारी**' में कविने कहा है। '**करिय उत्पात अरंभा**' कहकर फिर तीन अर्धालियों और एक दोहेमें उत्पातका स्वरूप कहा। ये आठ प्रकारके हैं—

१ गर्जे—'**गरजि परे रिपु कटक मँझारी**'
२ भारी भुजबलसे मर्दन किया।
३ किसीको लातसे मारा।
४ किसीको तमाचा-थप्पड़से मारा।
५ निशिचरोंको पकड़कर आपसमें रगड़कर मार डाला।
६ सिर धड़से मरोड़कर अलग किया।
७ मुण्डको रावणके आगे फेंकते हैं।
८ महा-महामुखियोंको सिरसहित प्रभुके पास फेंकते हैं।

खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहिं गति जो जाचत जोगी॥ ३॥
उमा राम मृदु चित करुनाकर। बयरु* भाव मोहि सुमिरत निसिचर॥ ४॥
देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी॥ ५॥

अर्थ—मनुष्योंके खानेवाले और ब्राह्मण-मांस-भोजी खल निशिचर वह उत्तम गति पाते हैं जिसकी योगी याचना करते हैं (माँगते हैं)॥ ३॥ हे उमा! रामचन्द्रजी कोमलचित और करुणाकी खानि हैं। निशिचर मुझे वैरभावसे स्मरण करते हैं, ऐसा जीसे समझकर सर्वोत्तम गति देते हैं। हे भवानी! कहो तो, ऐसा कृपालु कौन है?॥ ४—५॥

नोट—१ '**खल मनुजाद द्विजामिष भोगी**' इति। (क) 'खल' का भाव कि जितने खलोंके अवगुण ग्रन्थमें कहे गये हैं वे सब इनमें हैं। भुशुण्डिजीने इनका लक्षण दो चरणोंमें ही कह दिया है, यथा—'**खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी॥** ७। १२१। १८॥' (ख) '**गति जो जाँचत जोगी**' इति। योगी अर्थात् मान-मोहरहित,

* 'बैर भाव सुमिरत मोहि'—(का०, द्वि०)।

सङ्ग-दोषको जीते हुए, अध्यात्मनिष्ठ, कामनारहित, सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानी लोग, प्रभुके अविनाशी पदको प्राप्त होते हैं। यथा—'**निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।** गीता १५। ५।' (ग) ऊपर यह कहकर कि 'देहिं रामु तिन्हहूँ निज धामा। ४४। २।', '**पावहिं गति जो जाचत जोगी**', फिर आगे शिवजी कहते हैं कि '**देहिं परम गति सो जिय जानी**'। इस प्रकार 'निज धाम', 'गति जो जाचत जोगी' और 'परम गति' तीनों पर्याय हुए। (घ) 'जाचत जोगी'। भाव कि यत्न करके प्राप्त करना योगियोंको भी दुर्लभ है (दूसरोंकी क्या कही जाय), यथा—**जोगिबृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥** ३।३६।८।', '**जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं**', इत्यादि। दुर्लभता देखकर योगीजन प्रभुकी शरण हो उनसे प्रार्थना करके माँगते हैं। यहाँ 'प्रथम विषमालंकार' है।

☞ अरण्यकाण्डमें गृध्रराजके सम्बन्धमें भी कविने '**गति दीन्ही जो जाँचत जोगी**' यह चरण ज्यों-का-त्यों दिया है। यथा—'**गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाँचत जोगी।**' ज्यों-का-त्योंवही चरण लिखनेका भाव कि दोनों जगह गति पानेवाले एक ही तरहके हैं और दोनोंको अहैतुकी कृपासे ही गति दी गयी।—

निशिचर		गृध्रराज
खल मनुजाद द्विजामिषभोगी	१	**गीध अधम खग आमिष भोगी॥**

खल अधम होते हैं। यथा '**ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेता नाहिं।**'

उमा रामु मृदुचित करुनाकर	२	**कोमल चित अति दीनदयाला।**
अस कृपालु को कहहु भवानी	३	**बिनु कारन रघुनाथ कृपाला॥**

मृदु और कोमल पर्याय हैं। चित कोमल है इसलिये दूसरेका दुःख सह नहीं सकते। दोनों दीन हैं अर्थात् अपने स्वभावसे गति पाने योग्य नहीं हैं। अतः करुणा करके उनको इस बहानेसे सद्गति देते हैं कि निशिचर वैरभावसे हमारा स्मरण करते हैं। वस्तुतः यह कारणरहित कृपालुता है! "करुणाकर" और "अस कृपाल को" पदोंसे "अति दीनदयाल" और "कारणरहित कृपाल" दोनों जनाये।

नर मतिमंद ते परम अभागी	४	**सुनहु उमा ते लोग अभागी।**
अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी	५	**हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी।**

६—गति दीन्ही जो जाचत जोगी।

नोट—४ "**बयरु भाव मोहिं सुमिरत**......" इति (क) प्रथम 'करुणाकर' विशेषण दिया। अब उसका स्वरूप कहते हैं। करुणा हुई तो अब उनका दुःख दूर करनेकी चिन्ता हुई, पर वे अधम हैं, अधमकी गति होती नहीं, यह वेदवाक्य है।* यथा—'**रहु अधमाधम अधगति पाई**।७।१०७। **शिवोक्ति**।' अतः उसके लिये यह कारण अपने जीसे निकाला कि वैर-भावसे हमारा स्मरण ये करते रहे हैं—इसीसे "**सो जिय जानी**" पद दिया। और, इस निमित्तसे उनको मुक्ति दी। पुनः, (ख)—"सो जिय जानी"का दूसरा भाव कि वे ही ऐसा जानते हैं, दूसरा कोई इस भावको नहीं जानता। (ग) "**अस कृपालु को कहहु**"। अर्थात् ऐसा करुण-स्वभाव किसी औरका नहीं है कि कृपा करनेका एक बहाना स्वयं निकालकर कृपा करे "कहहु" का भाव कि हमें तो कोई देख या सुन न पड़ा, यदि तुम जानती हो तो बताओ। आशय यह है कि है ही नहीं, तो बताओगी कहाँसे। रामके समान कृपालु राम ही हैं, दूसरा नहीं। इसीसे सुग्रीवादिके प्रकरणोंमें 'अति कृपालु' ही कहा और यहाँ अनुपम कृपालुता कही। इससे हद है। (घ) आदिमें 'उमा' और अन्तमें 'भवानी' सम्बोधन देकर यह

* दूसरोंकी आत्माको दुःख देनेवालोंकी गति, यथा—'नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा॥ ७। ४१। ३॥'

"ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः। पशून्द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान्॥ १४॥ द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम्। मृतके सानुबन्धेऽस्मिन्बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः॥१५॥ (भा० ११। ५)॥' अर्थात् जो इस प्रकार न जाननेवाले असज्जन अपनेको सज्जन मानते हुए खुश होकर पशुओंको मारते हैं, मरनेपर वे पशु उनको खाते हैं। दूसरोंके शरीरोंमें रहनेवाले अपने आत्मा ईशसे द्वेष करनेवाले परिवारादिके सहित इस शरीरमें स्नेहबद्ध होकर अधःपातको प्राप्त होते हैं अर्थात् नरकादिको जाते हैं।

सम्पुट वाक्य शिवजीका जनाया। पुनः, श्रीरामजीका करुण स्वभाव दिखाते समय 'उमा' सम्बोधन दिया और उनसे प्रश्न करनेमें 'भवानी'। भेदका भाव कि 'उमा' तनमें भ्रम हुआ था। उस भ्रमकी निवृत्तिके लिये स्वभावका परिचय देनेमें 'उमा' सम्बोधन दिया। और 'भवानी' नित्य-सम्बन्ध सूचक नाम है। भवानी=भव (शङ्कर) की पत्नी, अर्थात् जबसे 'भव' तबसे 'भवानी'। इस सम्बोधनसे जनाया कि तुम भी तो सर्वज्ञ, नित्या और त्रिकालज्ञा हो, अतः कहीं हो तो कहो।

अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी॥ ६॥

अर्थ—यह सुनकर (कि ऐसा कोमलचित और करुणामय कृपालुस्वभाव दूसरा नहीं है) जो भ्रम छोड़कर ऐसे प्रभुका भजन नहीं करते वे मनुष्य मन्दबुद्धि और परम भाग्यहीन हैं॥ ६॥

नोट—१ (क) 'सुनि'। ग्रन्थों, संतों, इत्यादिसे इन वचनोंको सुनकर। (ख) 'न भजहिं भ्रम त्यागी।' प्रथम 'न भजहिं' कहकर फिर उसका कारण 'भ्रम' कहा, तब भ्रमका त्यागना कहा; क्योंकि भ्रम रहते भजन नहीं होता और भ्रमके छूटनेपर ही भजन होता है, यथा—'**अस निज हृदय बिचारि तजु संसय भजु रामपद। सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबिकर बचन मम॥ १। ११५।**', '**होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥ २। ९३। ५।**'

२ (क) 'न भजहिं' अतः 'मतिमंद' और 'अभागी' हैं। यथा—'**गिरिजा ते नर मंदमति जे न भजहिं श्रीराम। ७०।**' पुनः, भाव कि वे मायाके वशमें पड़े हैं, उनके हृदयपर परदा पड़ा है, इसीसे भ्रममें पड़े हैं, यथा—'**मायाबस मतिमंद अभागी। हृदय जवनिका बहु बिधि लागी॥ ते सठ हठबस संसय करहीं। ७। ७३।**' ☞ मिलान कीजिये—'**जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी। ग्यान रंक नर मंद अभागी॥ ३। ४५। ३।**', '**ते मति मंद जे राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन। लं० । ३।**', '**सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥ ३। ३३। ३।**' औरोंको प्रभुके समान या प्रभुसे अधिक मानना, यही 'भ्रम' है। (रा० प्र०)। यहाँ प्रथम निदर्शना अलंकार है। (ख) ☞ '**परम अभागी**' का भाव कि जो हरिभजन अज्ञतावश नहीं करते, वे 'अभागी' हैं—'**सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥**' जो प्रभुका स्वभाव सुनकर फिर भी भ्रमको नहीं छोड़ते और न भजन करते हैं वे 'परम अभागी' हैं। इसी प्रकार जो श्रीरामानुरागी हैं वे सब बड़भागी हैं और अत्यन्त नीच, अधम पतित होकर भी प्रभुके चरणस्पर्शकी जिनको प्राप्ति हुई (जैसे अहल्या, केवट, शबरी आदि), जिन्होंने श्रीरामजीके लिये शरीर न्योछावर कर दिया एवं जिनके प्रभु ऋणी बने, इत्यादि, वे 'परम बड़भागी' हैं, यथा—'**अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही**'—(अहल्याजी); '**रामकाज कारन तनु त्यागी। हरिपुर गयउ परम बड़ भागी**'—(गृध्रराजजी), '**हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ रामचरन अनुरागी॥ गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बारबार प्रभु निज मुख गाई॥ ५०। ८-९।**'

अंगद अरु हनुमंत प्रबेसा। कीन्ह दुर्ग अस कह अवधेसा॥ ७॥
लंका दोउ कपि सोहहिं कैसे। मथहिं सिंधु दुइ मंदर जैसे॥ ८॥

अर्थ—अवधपति श्रीरामजीने (सुग्रीव, विभीषणादिसे) ऐसा कहा कि अङ्गद और हनुमान् किले (वा कोट) में घुस गये॥ ७॥ दोनों कपि लंकामें कैसे शोभित हो रहे हैं जैसे दो मन्दराचल समुद्रको मथ रहे हों॥ ८॥

नोट—१ '**अस कह अवधेसा**' इति। (क) हनुमान्-अङ्गद जब रावणके महलपर चढ़े थे तब उन्होंने दोहाई की थी। जिसकी दोहाई दी जाती है वह सहायक होता है। दोहाई देनेमें 'कोसलाधीस' पद दिया। वहाँ कोसलाधीशकी दोहाई की गयी और यहाँ अवधेशने जाना (और सहायता की)।

लंकामें	यहाँ सुवेलपर
१ रावन भवन चढ़े दोउ धाई।	अंगद अरु हनुमंत प्रबेसा।
२ करहिं कोसलाधीस दोहाई।	कीन्ह दुर्ग अस कह अवधेसा॥
३ गर्जि परे रिपु कटक मझारी।	लङ्का दोउ कपि सोहहिं कैसे।
४ लागे मरदइ भुजबल भारी॥	मथहिं सिंधु दुइ मंदर जैसे॥

२ 'अस कह' से कवितावलीका यह भाव भी सूचित होता है कि प्रभु यह लक्ष्मणजी आदिसे कह रहे हैं कि देखो वे कैसा पराक्रम कर रहे हैं। कवितावलीके निम्न पदोंसे 'मथहिं सिंधु०' के भाव स्पष्ट हो जाते हैं अतः वे यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

'दुर्गम दुर्ग पहार तें भारे प्रचंड महा भुजदंड बने हैं। लक्खमें पक्खर तिक्खन तेज जे सूर समाजमें गाज गने हैं॥ ते बिरुदैत बली रनबाँकुरे हाँकि हठी हनुमान हने हैं। नाम लै राम दिखावत बंधुको घूमत घायलघाय घने हैं॥क०लं०३९

हाथिन सों हाथी मारे घोरे घोरे सों सँहारे रथनि सों रथ बिदरनि बलवान की।
चंचल चपेट चोट चरन चरन चकोट चाहैं हहरानी फौजैं भहरानी जातुधान की॥
बार बार सेवक-सराहना करत राम, तुलसी सराहै रीति साहेब सुजान की।
लाँबी लूम लसत लपेटि पटकत भट देखौ देखौ, लषन! लरनि हनुमानकी॥ ४०॥
दबकि दबोरे एक बारिधिमें बोरे एक, मगन मही में एक गगन उड़ात हैं।
पकरि पछारे कर चरन उखारे एक, चीरि फारि डारे, एक मींजि मारे लात हैं॥
तुलसी लखत राम रावन बिबुध बिधि, चक्रपानि चंडीपति चंडिका सिहात हैं।
बड़े बड़े बानइत बीर बलवान बड़े जातुधानु जूथप निपाते बातजात हैं॥ क० लं० ४१॥

३ **'मथहिं सिंधु दुइ मंदर जैसे'** इति। (क)—यहाँ दुर्गकी गहराई सिन्धुकी गहराई है, शत्रुकी सेना दुर्ग-सिन्धुका जल है, अङ्गद और हनुमान् दो मन्दराचल हैं, चारों ओर हाथ चलाते घूमते हैं यही मन्दराचलका घूमना है, वहाँ समुद्र-जलका मन्थन, यहाँ सेनाका मन्थन है। सागर मथनेपर रत्न निकले। यहाँ महा-महा-मुखिया-रूपी रत्न निकले जिनको प्रभुने अङ्गीकार कर लिया। वहाँ एक मन्दर था तब चौदह रत्न निकले थे, यहाँ दो हैं इससे अनेक रत्न निकले। वहाँ भगवान्‌के सहारे मन्दराचल था, यहाँ रामप्रतापके बलपर ये दोनों वीर हैं—**'रामप्रताप सुमिरि उर अंतर'**। (ख)—उदाहरण शोभा दिखानेका दिया गया है। जैसे मन्दर समुद्रके बीचमें मथते समय शोभायमान था वैसे ही ये निशिचर-सेनाको मन्थन करते हुए शोभाको प्राप्त हैं। मन्दराचल कनकवर्ण और सिन्धुका जल देखनेमें श्याम वैसे ही ये वानर कनकवर्ण पर्वताकार और निशिचर काले। दोनोंका मन्थन सुर और साधुके हितार्थ हुआ।

दो०—भुजबल रिपुदल दलमलि देखि दिवस कर अंत।
कूदे जुगल बिगत* श्रम आए जहँ भगवंत॥ ४४॥

शब्दार्थ—दलमलना=मसल वा मीड़ डालना, नष्ट करना।

अर्थ—बाहुबलसे शत्रुसेनाको दल्मलकर और दिनका अन्त (समाप्ति) देख दोनों बिना परिश्रम (लील-पूर्वक) कूदे और वहाँ आये जहाँ भगवान् रामजी थे॥ ४४॥

नोट—१—**''गर्जि परे रिपु कटक मँझारी। लागे मरदै भुजबल भारी॥** ४३। ७।' उपक्रम है और **'भुजबल रिपुदल दलमलि०। कूदे जुगल बिगत श्रम०॥'** उपसंहार है। पुनः, **'कूदि लंकगढ़ ऊपर आवा।** ४२। ६।' और **'तरकि चढ़ेउ कपिखेल।** ४२।' उपक्रम और **'कूदे जुगल बिगत श्रम'** उपसंहार है। २ **''कूदे जुगल बिगत श्रम०''** इति। (क) प्रथम पूर्वार्द्धमें दो बातें कहकर तब कूदना कहा। भाव कि शत्रुसेनाका नाश करके तब कूदे, शत्रुसेना रहते नहीं लौटे, नहीं तो समझा जाता कि डरकर भागे। अतः **'भुजबल रिपुदल दलमलि कूदे'** कहा। पुनः, **देखि दिवस कर अंत कूदे''** अर्थात् दिन रहते कूदते तो भी भागे समझे जाते; क्योंकि दिनके रहते एक दलके नाश होनेपर दूसरी सेना आकर सहायक होती, यह सम्भव था; पर अब रात होने आयी, सन्ध्या एवं रातमें लड़ाई बंद रहती है अतः दिनका अन्त देख लौटना कहा। यथा—'दिनके अंत फिरीं दोउ अनी। ७१। १।' **''संध्या भइ फिरीं दोउ बाहनी। लगे सँभारन निज निज अनी॥** ५४। ४।' (ख) 'बिगतश्रम' 'कूदे' का विशेषण है॥ भाव कि सेनाके मर्दन करनेमें परिश्रम हुआ है,

* प्रयास बिनु।—(का०)।

यथा—'**राम कृपा करि जुगल निहारे। भए बिगत श्रम परम सुखारे**॥ ४५। २।' अतएव गढ़के भीतर कूदकर बाहर आनेमें श्रम पड़ना स्वाभाविक ही समझा जायगा, इसीसे वक्ता लोगोंने 'बिगतश्रम' पद दिया अर्थात् थके होनेपर भी इन्हें कूदनेमें परिश्रम किंचित् नहीं हुआ। इसी भावसे सुन्दरकाण्डमें हनुमान्‌जीके विषयमें कहा है कि '**बोला बचन बिगत अभिमाना**।' वहाँ भी अभिमान होनेका कारण उपस्थित था, लंकादहनरूपी बड़ा कार्य करने और सबसे प्रशंसा पानेपर किसको अभिमान न होता, पर इनको न हुआ।

☞ मिलान कीजिये—'**स तु पवनसुतो निहत्य शत्रून्क्षतजवहाः सरितश्च संविकीर्य। रिपुवधजनितश्रमो महात्मा मुदमगमत्कपिभिः सुपूज्यमानः**॥ वाल्मी० ५२। ३८।' '**निहत्य तं वज्रधरः प्रतापवान्स बालिसूनुः कपिसैन्यमध्ये। जगाम हर्षं महितो महाबलः सहस्रनेत्रस्त्रिदशैरिवावृतः**॥ ५४। ३७।'

वह पवनसुत शत्रुओंको मारकर अपने शरीरपरके घावसे निकलते हुए रुधिरको बंदकर, शत्रुवध करनेसे श्रमको प्राप्त वानरोंसे पूजित हनुमान्‌जी आनन्दको प्राप्त हुए॥ ३८॥ वज्रधर प्रतापवान् बालिपुत्र उसको मारकर वानरी सेनासे पूजित वह महाबलवान्, देवताओंसे आवेष्टित इन्द्रके समान हर्षको प्राप्त हुए।

प्रभु पद कमल सीस तिन्ह नाए। देखि सुभट रघुपति मन भाए॥ १॥
राम कृपा करि जुगल निहारे। भए बिगत श्रम परम सुखारे॥ २॥

अर्थ—प्रभुके चरण-कमलोंमें उन्होंने मस्तक नवाया। देखकर कि ये उत्तम योद्धा हैं (वा, सुभटोंको देखकर) वे रघुनाथजीके मनमें अच्छे लगे॥ १॥ श्रीरामचन्द्रजीने कृपादृष्टिसे दोनोंको देखा। वे श्रमरहित और परम सुखी हुए॥ २॥

नोट—१ '**प्रभु पद कमल सीस तिन्ह नाए**' इति। ☞ कोई विशेष कार्य करनेके लिये जब-जब समीपवर्ती योद्धाओंका जाना और जय प्राप्त करके आना कहा है तब-तब प्रभुके पास लौट आनेपर उनका प्रणाम भी कहा गया है। जब केवल युद्धके बीचमें सहायक हुए हैं तब प्रभुके पास उनका लौटना भर कहा गया, प्रणाम नहीं।

१ सीता-शोधके बाद—	'**फटिक सिला बैठे०। परे सकल कपि चरनन्हि जाई।**'
२ अङ्गद दौत्य कर्मके बाद	'**रिपुबल धरषि हरषि कपि बालितनय बल पुंज। पुलक सरीर नयन जल गहे रामपद कंज॥**'
३ रावणको मूर्च्छित करके—	'**रघुबीरबंधु प्रतापपुंज बहोरि प्रभु चरनन्हि नयो**'

☞ मेघनादवधपर लौटे तब कहा कि '**लछिमन कृपासिंधु पहिं आए**', प्रणाम नहीं कहा। पर यहाँके 'बहोरि' पदसे पूर्व, रावणसुतवधपर भी, प्रणाम किया जाना ले सकते हैं। उनके विजयके ये ही दो स्थल मानसमें कहे गये हैं।

१ श्रीसुग्रीवजी कुम्भकर्णके नाक-कान काटकर आये तब केवल जय बोली	'**पुनि आएउ प्रभु पहिं बलवाना। जयति जयति जय कृपानिधाना**॥' ६५ (८)
२ अङ्गदजी रावणसे देवरक्षा करके—	'**बालिसुत प्रभु पहिं गयउ**'—९६ छन्द
३ विभीषन श्रमित लौटे—	'**गयउ बिभीषनु जहँ जनत्राता**'—९४ (३)
४ जाम्बवन्त रावणको मूर्च्छित करके लौटे	'**पद हति भालुपति प्रभु पहिं गयउ**'—९७ छन्द

नोट—२ '**देखि सुभट रघुपति मन भाए**' इति। अबतक जो-जो कार्य श्रीहनुमान्‌जी और अङ्गदजीद्वारा हुए वे सुननेपर मालूम हुए थे। यथा '**पवन तनय के चरित सुहाए। जामवंत रघुपतिहि सुनाए**॥ सुं० ३०।', '**कहु कपि रावनपालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका**॥ सुं० ३३। ५।', '**बालितनय कौतुक अति मोही। तात सत्य कहु पूछउँ तोही**॥ ३७। ५।'...'**समाचार पुनि सब कहे गढ़ के बालिकुमार**॥ ३७।'

यहाँ आज युद्धका प्रथम दिन है और प्रभुने स्वयं उनका निशिचरसेनाको मर्दन करना सुवेलपरसे देखा है, यथा—'**अंगद अरु हनुमंत प्रबेसा। कीन्ह दुर्ग अस कह अवधेसा**॥'...'**मथहिं सिंधु दुइ मंदर जैसे**। ४४। ७८।'

अतः '**देखि सुभट**' पद दिया। आज देखकर इनको उत्तम योद्धा जानकर प्रसन्न हुए। अथवा, हनुमान् अङ्गदका

प्रवेश इससे जाना कि इतनी दूर और ऐसे महामुखियोंको फेंकना दूसरेसे सम्भव न था। उस हालतमें उनके कार्यसे उन्हें सुभट जानते हैं। पूछनेकी जरूरत न पड़ी।

नोट—३ 'भए बिगत श्रम'। शत्रुसेनाके दलनमें जो थकावट हुई, वह अब कृपादृष्टिसे दूर हुई। दोहा ४४ देखिये। यहाँ राम-कृपासे दो कार्य हुए। एक तो श्रमरहित, दूसरे परम सुखी।

गए जानि अंगद हनुमाना। फिरे भालु मर्कट भट नाना॥ ३॥
जातुधान प्रदोष बल पाई। धाए करि दससीस दोहाई॥ ४॥

शब्दार्थ—प्रदोष=सन्ध्याकाल। सूर्यास्त होनेके समयसे रात्रिके आगमनतकका समय **'प्रदोषो रजनीमुख इत्यमरः'**—(वं० पा०)।

अर्थ—श्रीअङ्गद और हनुमान्‌जीकी (गढ़से वा रणभूमिसे बाहर) गये हुए जानकर अनेक रीछ और वानर योद्धा लौट पड़े॥ ३॥ राक्षस प्रदोषकालका बल पाकर दशशीशकी दोहाई देते हुए दौड़े॥ ४॥

नोट—१ **'गए जानि अंगद…'** इति। (क) पहले श्रीहनुमान् और अङ्गदजी इन दो सुभटोंका फिरना कहा, **'देखि सुभट रघुपति मन भाए'**, अब भटोंका। (ख) **'गए जानि'** का भाव कि ये भट इनके ही बलपर इतनी देरतक लड़ते रहे, नहीं तो वे कबके भाग आये होते, यथा—**'भय आतुर कपि भागन लागे।…कोउ कह कहँ अंगद हनुमंता।'** हनुमान् और अङ्गद दोनों सहाय हुए तब ये भी डट गये।

२ **'प्रदोषबल पाई'**। (क) प्रदोषकालमें निशिचरोंका बल वृद्धिको प्राप्त होता है इसीसे प्रदोष-समय पाकर रावणको भी हर्ष हुआ है, यथा—**'हनुमदादि मुरुछित करि बंदर। पाइ प्रदोष हरष दसकंधर॥ ९७। ११।'** पुनः, (ख) 'प्रदोषबल पाकर धाए' का भाव कि वे वानरोंसे हारनेपर प्रदोषकालकी राह देखते रहे थे कि कब हो जो हम इनपर प्रबल पड़ें। यथा—**'निहन्यमाना हरिपुंगवैस्तदा निशाचराः शोणितगन्धमूर्च्छिताः। पुनः सुयुद्धं तरसा समाश्रिता दिवाकरस्यास्तमयाभिकांक्षिणः॥** वाल्मी० ४३। ४८।'

नोट—४ (क) **'धाए करि दससीस दोहाई'**, यह **'रावन भवन चढ़े दोउ धाई। करहिं कोसलाधीस दोहाई॥** ४३। २।' का उत्तर है। [राक्षस वानरोंको परास्त करना चाहते ही थे। अन्धकारके योगसे वह कार्य उन्हें सुगम हो गया—'समाधि अलंकार' है। (वीरकवि)। अँधेरेमें राक्षस बली हो जाते हैं। कालेमें काले मिल जाते हैं और वानरोंको रातमें दिखायी नहीं देता। समरमें तो कुछ बल न चला, इससे अब अधर्मयुद्ध करनेपर उद्यत हुए। (वं० पा०)]

निसिचर अनी देखि कपि फिरे। जहँ तहँ कटकटाइ भट भिरे॥ ५॥
द्वौ दल प्रबल पचारि पचारी। लरत* सुभट नहिं मानहिं हारी॥ ६॥

अर्थ—निशिचर-सेनाको देखकर वानर लौट पड़े। जहाँ-तहाँ दाँत कटकटाकर (क्रोधसे) योद्धा भिड़ गये॥५॥ दोनों दल प्रबल हैं, ललकार-ललकारकर सुभट लड़ते हैं, हार नहीं मानते॥ ६॥

वि० त्रि०—**'निसिचर अनी'…'भिरे'** इति। दिनका अन्त जानकर अङ्गद-हनुमान् लौटे। इनके लौटनेसे वानरी सेनाने समझ लिया कि आजका काम समाप्त हो गया, इसलिये वह भी लौट पड़ी। तबसे पीछेसे रावणके नामका जयकार सुनायी पड़ा। घूमकर देखा तो निशाचरी सेना धावा करती चली आ रही है। तब तो वानरी सेना लौट पड़ी। उसे बड़ा क्रोध हुआ कि हम सब तो लड़ाई बंद समझकर लौट रहे हैं। और ये सब ऐसा रूपक बाँध रहे हैं मानो हम भागे जा रहे हैं, और वीर लोग कटकटाकर भिड़ गये। बंदरोंके क्रोध करनेको कटकटाना कहते हैं।

पं०, पु० रा० कु०—१ **'द्वौ दल प्रबल०'** इति। भाव कि निशिचर तो प्रदोषबल पाकर प्रबल हैं और कपि जय पाये हुए होनेसे प्रबल हैं। इसीसे दोनोंका परस्पर ललकारना कहा। २—**नहिं मानहिं हारी'** पदसे दोनों दलोंकी शूरता, उत्साह (तथा वीररसके आवेशसे परस्पर जयकी इच्छा) दिखायी, यथा कवित्तरामायणे—**'गहि मंदर बंदर भालु**

* लरहिं (का०)।

चले सो मनो उनये घन सावन के। तुलसी उत झुंड प्रचंड झुके झपटैं भट जे सुरदावन के॥ बिरुझे बिरुदैत जे खेत अरे न टरे हठि बैर बढ़ावन के। रन मारि मची उपरी-उपरा भिरे बीर रघुप्पति रावन के॥ ३४॥', 'सर तोमर सेल समूह पवारत मारत बीर निसाचर के। इत तें तरु ताल तमाल चले खर खंड प्रचंड महीधर के। तुलसी करि केहरिनाद भिरे भट खग्ग खगे खपुआ खरके॥ नख दंतन सों भुजदंड बिहंडन रुंड सों मुंड परे झर के॥ ३५॥'' 'अन्योन्यं बद्धवैराणां घोराणां जयमिच्छताम्। संप्रवृत्तं निशायुद्धं तदा वानररक्षसाम्॥ वाल्मी० ४४।२।।'

☞ मिलान कीजिये—'राक्षसोऽसीति हरयो वानरोऽसीति राक्षसाः। अन्योन्यं समरे जघ्नुस्तस्मिंस्तमसि दारुणे॥ ३॥ हतदारय चैहीति कथं विद्रवसीति च। एवं सुतुमुलः शब्दस्तस्मिन्सैन्ये तु शुश्रुवे॥ वाल्मी० ४४।४॥' अर्थात् वानर पूछते हैं क्या तुम राक्षस हो, राक्षस पूछते हैं कि क्या तुम वानर हो? उस भयंकर अन्धकारमें युद्धमें (इस तरह पूछ-पूछकर) परस्पर एक दूसरेको मारने लगे॥ ३॥ उस सेनामें—मारो, काटो, यहाँ आओ, क्यों भागते हो?—इस तरहका द्वन्द्व शब्द सुनायी पड़ता था।

महाबीर निसिचर सब कारे*। नाना बरन बलीमुख भारे॥ ६॥
सबल जुगल दल सम बल जोधा। कौतुक करत लरत करि क्रोधा॥ ७॥
प्राबिट सरद पयोद घनेरे। लरत मनहु मारुत के प्रेरे॥ ८॥

शब्दार्थ—बलीमुख (वलिमुख)=बंदर। यथा—'**चली बलीमुख सेन पराई**।' प्राबिट (प्रावृट्)=वर्षाऋतु, पावस। प्रेरित=चलाये हुए। पयोद=मेघ।

अर्थ—सब निशिचर महावीर और काले हैं। वानर भारी-भारी अनेक रंगके हैं॥ ६॥ दोनों दल बलवान् हैं, योद्धा बराबर बलवाले हैं। क्रोध करके लड़ते और कौतुक करते हैं॥ ८॥ (वानर और निशिचर परस्पर लड़ते हुए ऐसे मालूम होते हैं) मानो वर्षा और शरद्के बहुत-से मेघ पवनसे प्रेरित हो लड़ रहे हैं॥ ९॥

नोट—१ (क) '**बलीमुख भारे**'। वानरोंका भारी शरीर दिखानेमें 'बलीमुख' बड़ा भारी शब्द दिया। 'नाना बरन'—'**नाना बरन सकल दिसि देखिअ कीस बरूथ**। कि० २१।' देखिये। (ख) '**सबल जुगल दल**' से दोनों सेनाओंको बलवान् कहा, यह समष्टि बल कहा गया। पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि प्रत्येक योद्धा उसमें बलवान् है, अतः फिर '**सम बल जोधा**' से व्यष्टि बल कहा।

२ '**प्राबिट सरद पयोद घनेरे।**...' इति। शरद्के मेघ अनेक रंगके होते हैं वैसे ही यहाँ वानर अनेक रंगके हैं। (पं०, पु० रा० कु०)। जैसे वर्षाकालके मेघ काले, वैसे ही यहाँ निशिचर काले। निशिचर भी बहुत, वानर भी बहुत, अतः मेघ भी 'घनेरे' कहे। पवनके झकोरेसे बादल लड़ते हैं वैसे ही यह परस्पर विरोधभावमें बद्ध वीररसमें पगे जयकी इच्छासे लड़ रहे हैं।

शीला—'**प्राबिट सरद०**' की उत्प्रेक्षाका दूसरा भाव यह है कि वर्षाके अन्तका दिन और शरद्के आदिका दिन दोनों एकत्र होते हैं। इस तरह दोनों ऋतुओंका समागम कहकर यहाँ निशाचरोंका अन्त और वानरोंका उदय जनाया। —(यह अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है—वीर)

अनिप अकंपन अरु अति काया। बिचलत सेन कीन्हि इन्ह माया॥ ९॥
भएउ निमिष महँ अति अँधियारा। बृष्टि होइ रुधिरोपल छारा॥ १०॥

अर्थ—अनिप, अकंपन और अतिकाय, इनने अपनी सेनाके पैर उखड़ते देख माया की॥ ९॥ पलभरमें अत्यन्त अँधेरा हो गया, खून, पत्थर और राख वा छरोंकी वृष्टि होने लगी॥ १०॥

नोट—१ '**अति अँधियारा**'। भाव कि प्रदोषकाल होनेसे अँधेरा तो पूर्व ही हो चला था, अब मायासे 'अति अँधियारा' हो गया। अँधेरा किया कि जिससे वानरोंको कुछ सूझे नहीं। रुधिर बरसाया कि अङ्गमें लगनेसे ग्लानि हो, उपलसे अङ्गोंपर चोट पहुँचे और क्षारसे नेत्र बंद हो जायँ। (पं०)।

* 'बीर तमीचर सब अति कारे'—(का०)। रा० प० में उपर्युक्त पाठ है।

२ 'वृष्टि होइ रुधिरोपल छारा' इति । भाव कि अनिप रुधिर बरसाने लगा, अकंपन पत्थर और अतिकाय राख—(पु० रा० कु०)।

दो०—देखि निबिड़ तम दसहु दिसि कपिदल भएउ खभार ।
एकहि एकु न देखई* जहँ तहँ करहिं पुकार ॥ ४५ ॥

अर्थ—दसों दिशाओंमें घोर घना अन्धकार देखकर कपिदलमें खलबली मच गयी। एकको एक (दूसरा) नहीं देख सकते, जहाँ-तहाँ पुकार कर रहे हैं ॥ ४५ ॥

नोट—प्रथम प्रदोषका अन्धकार था, फिर मायाका अन्धकार हुआ तब 'अति अँधियारा' कहा, उसपर भी पत्थर और राखकी वर्षाका अन्धकार हुआ, तब 'निबिड़ तम' कहा।—४४ (६) भी देखिये। 'निबिड़ तम' होनेसे शब्दमात्र सुन पड़ता था, कोई किसीको देख न पड़ता था, आपसमें अपने दलवाले लड़ जाते थे। यथा—'संवृतानि च भूतानि ददृशुर्न रणाजिरे ॥ २० ॥ शब्दश्च सुमहांस्तेषां नर्दतामभिधावताम् ॥ २१ ॥ श्रूयते तुमुले युद्धे न रूपाणि चकाशिरे। हरीनेव सुसंरुष्टा हरयो जघ्नुराहवे ॥२२॥'''राक्षसा राक्षसांश्चापि निजघ्नुस्तिमिरे तदा।' (अकंपन-युद्ध वाल्मी० सर्ग ५५)। अर्थात् धूलके कारण कोई भी देख नहीं पड़ता था। वानरों और राक्षसोंके गर्जन और दौड़नेका बड़ा भारी कोलाहल ही उस तुमुल युद्धमें सुनायी दे रहा था किन्तु किसीका रूप दिखायी नहीं देता था। उस भयंकर अन्धकारमें वानरोंके साथ वानर और राक्षस राक्षसोंके साथ युद्ध करने लगे थे, अपने परायेकी पहिचान न हो पाती थी।

सकल मरमु रघुनायक जाना। लिए बोलि अंगद हनुमाना ॥ १ ॥
समाचार सब कहि समुझाए। सुनत कोपि कपिकुंजर धाए ॥ २ ॥

अर्थ—सब मर्म श्रीरघुनाथजीने जान लिया। तब अङ्गद और हनुमान्‌जीको बुला लिया ॥ १ ॥ सब समाचार कह समझाया। समाचार सुनकर दोनों कपिश्रेष्ठ कोप करके दौड़े (धावा किया) ॥ २ ॥

नोट—१ 'रघुनायक जाना' 'लिए बोलि अंगद''' इति। विभीषणसे मायाका हाल जानकर अङ्गद और हनुमान्‌जीसे मायाका हाल बताया। (म० मु० टी०)। अङ्गद और हनुमान्‌को बुलानेका कारण यह कि इनका वीर्य, पराक्रम अभी-अभी देख चुके हैं, ये विजय पाकर आये हैं। अथवा, यह युद्ध पश्चिम-दक्षिणद्वारपर ही है जिधरका युद्ध इनको सौंपा गया था। अथवा, अकंपन, अतिकाय दोनों रावणके पुत्र हैं, उनकी जोड़में इन दोनोंको भेजा (जो रावणके एक-एक पुत्रका वध कर चुके हैं)। (पं०)।

नोट—२ 'सब कहि समुझाए'। क्या कहकर समझाया? वही जो आगे करनेवाले हैं और जिसका वर्णन कवि करेगा (कि हम माया काटते हैं, तुम जाकर सबको सावधान करो राक्षसोंको मारो); अतः 'समाचार सब' की व्याख्या यहाँ नहीं की।

वि० त्रि०—समझाया कि 'जानि दिवस को अन्त जब आयो इत तुम दोय। लौट चली बानर अनी बिरत युद्ध ते होय ॥ ताहि प्रचार्‌यौ दुर्ग ते उतरि निसाचर सेन। लरति करति माया जबहिं जीति न सक्यौ बलेन ॥ एहि छन कपिदल अति बिकल दस दिसि लखि अँधियार। जाइ सँभारो सेन निज हनुमत बालिकुमार ॥'

पुनि कृपाल हँसि चाप चढ़ावा। पावक सायक सपदि चलावा ॥ ३ ॥
भएउ प्रकास कतहुँ तम नाहीं। ग्यान उदय जिमि संसय जाहीं ॥ ४ ॥

अर्थ—फिर कृपालु श्रीरामजीने हँसकर धनुष चढ़ाया और शीघ्र ही अग्निबाण चलाया ॥ ३ ॥ (जिससे) उजाला हो गया, अँधेरा कहीं न रह गया, जैसे ज्ञानके उत्पन्न होनेसे संदेह जाते रहते हैं ॥ ४ ॥

पु० रा० कु०—'हँसि' निरादर सूचित करता है। अर्थात् इस मायाको तुच्छ समझा। [हँसे कि जय पायी थी

* देखिहि—(का०)।

इसीसे ललकारकर लड़ने गये और इतनी ही मायासे डर गये। (पं०)] पावक-सायक—वह बाण जिसका देवता अग्नि है। आँखके देवता अग्निदेव हैं। आँखसे वानरोंको कुछ देख न पड़ा, इससे आँखके देवता अग्निका बाण चलाया। वानरोंके दुःखनिवारणका उपाय किया; इसलिये 'कृपाल' कहा।

नोट—१ **'भयउ प्रकास'** से जनाया कि पावकास्त्रने तीन काम किये। (१) मायाकृत अन्धकार और मायाको नष्ट किया। (२) रात्रिमें भी प्रकाश कर दिया। (३) निशिचरोंका बल भी घटा दिया, क्योंकि उनका बल अन्धकारसे बढ़ता और प्रकाशसे घटता है—(गौड़जी)।

२ (क) **'ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं'**, यथा—**'होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा।** २। ९३। ५।' यहाँ उदाहरण अलंकार है। ज्ञान आत्म-अनुभव है जो प्रकाशरूप है। संशय अज्ञान मायिक तमरूप है। (वं० पा०)।

भालु बलीमुख पाइ प्रकासा। धाए हरषि बिगत श्रम त्रासा॥ ५॥
हनूमान अंगद रन गाजे। हाँक सुनत रजनीचर भाजे॥ ६॥

शब्दार्थ—हाँक—ललकार, दपट, डाँट, हुंकार, उत्साह दिलानेका शब्द—**"तुलसी उत हाँक दसानन देत अचेत भै बीर को धीर धरै।"**

अर्थ—रीछ और वानर प्रकाश पाकर श्रम और भयरहित हो हर्षपूर्वक दौड़े॥५॥ हनुमान्‌जी और अङ्गदजी रणमें गर्जे। उनकी हाँक सुनते ही निशिचर भागे॥ ६॥

नोट—१ दोहेमें मायाकृत ५ बातें कहीं। (१) निबिड़तम। (२) देखि तम। (३) भयउ खँभार। (४) **एकहिं एक न देखहिं जहँ तहँ।** (५) **करहिं पुकार।** उन सबका पावकास्त्रसे नष्ट होना दिखाया। क्रमसे (१) **भयउ प्रकास कतहुँ तम नाहीं।** (२) **पाइ प्रकासा।** (३) **'हरषि'** (वहाँ हर्ष जाता रहा था, यहाँ हर्षित हुए)। (४) **'धाए'** (जो जहाँ था वहीं रह गया था) एवं **'बिगत श्रम'** हुए। (५) **'बिगत त्रास'** वहाँ डरके मारे पुकार मची थी। 'त्रास' राक्षसी मायाका था)।

२ **'भालु बलीमुख पाइ प्रकासा।…'** इति। (क) ☞ यहाँपर बाणका वेग भी दिखाते हैं कि हनुमान् और अङ्गद समाचार सुनकर 'धाये', उसके बाद प्रभुने बाण चलाया; पर बाणने, उनसे पहिले ही वहाँ पहुँचकर प्रकाश कर दिया, तब ये दोनों वहाँ पहुँचे। इसीसे प्रथम उनका 'धावना', फिर बाणका चलाना, तत्पश्चात् प्रकाश होना और अन्तमें हनुमान्-अङ्गदका रणमें गर्जना क्रमसे कहा। (ख) **"हाँक सुनत रजनीचर भाजे"।** क्योंकि इनके बलकी परीक्षा तीन बार हो चुकी है। प्रत्येक बार बड़े-बड़े सुभट काम आये। और अभी-अभी इनकी मार देख चुके हैं।

भागत भट पटकहिं धरि धरनी। करहिं भालु कपि अद्भुत करनी॥ ७॥
गहि पद डारहिं सागर माहीं। मकर उरग झष धरि धरि खाहीं॥ ८॥

अर्थ—भागते हुए योद्धाओंको पकड़कर वे पृथ्वीपर धर पटकते हैं। रीछ और वानर अद्भुत करनी कर रहे हैं॥७॥ पैर पकड़कर समुद्रमें डाल देते हैं। वहाँ मगर, सर्प और मच्छ उन्हें पकड़-पकड़कर खा लेते हैं॥ ८॥

नोट—१ 'अद्भुत करनी' इति। यथा—**'सुमिरि राम करि अद्भुत करनी'**; कहाँ तो रावण त्रिलोकविजयी राक्षस-राज और कहाँ **'जरठ जटायु'**! दो ही स्थानोंपर 'अद्भुत करनी' पद आया है। वाल्मीकिजी भी वानरों-राक्षसोंके यहाँके परस्पर बराबर जोड़के युद्धमें लिखते हैं कि राक्षसों-वानरोंका अद्भुत उपमावाला भयङ्कर संप्रहार हुआ जिसमें मांस और रक्तका कीचड़ हो गया है। यथा—**"स संप्रहारस्तुमुलो मांसशोणितकर्दमः। रक्षसां वानराणां च संबभूवाद्भुतोपमः॥४२।४७॥"**

देखिये, जिनके विषयमें राक्षसोंने कहा है कि **'बानर भालु अहार हमारा'** वे ही, इनके भक्ष्य, इन अपने भक्षकोंको, पैर पकड़कर समुद्रमें फेंक देते हैं। यही 'अद्भुत करनी' है। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि मांस और रुधिरकी कीचड़ इस युद्धमें हुई; अतः 'अद्भुत करनी' कहा। रा० प्र० का मत है कि **'अद्भुत'** से अभूत और अनुक्तका बोध होता है। **'अद्भुत अदृष्ट वर्तमानमें, अभूत भूतमें और अनुक्त भविष्यमें।'**

वं० पा०—'मकर उरग झष धरि धरि खाहीं' इति। जलचर समुद्र पार करनेमें सहायक हुए थे; अतः उनके सत्कारके लिये समुद्रमें फेकते हैं, यह कृतज्ञता है, वानर उनके उपकारका बदला दे रहे हैं।

दो०—कछु मारे कछु घायल कछु गढ़ चढ़े पराइ।
गर्जहिं भालु बलीमुख रिपुदल बल बिचलाइ॥ ४६॥

अर्थ—कुछ मार डाले गये, कुछ घायल हुए और कुछ भागकर गढ़पर चढ़ गये। शत्रुसेनाको तितर-बितर कर रीछ और वानर गरज रहे हैं॥ ४६॥

नोट—१ यहाँ तीन प्रकारसे शत्रुदलका विचलित करना बताया। कुछको मारकर प्राण ले लिये, कुछको घायल किया और कुछको मार भगाया। यह वानरोंकी जीत हुई। पूर्व जो ४२ (१) में कहा था कि '**जद्यपि उमा जीतिहहिं आगे**' उसे यहाँ चरितार्थ किया (पु० रा० कु०)। २ '**गर्जहिं भालु०**'। यह गर्जन विजय-घोषणा एवं ललकारका है कि हम अभी रणभूमिमें खड़े हैं, मर्द हो तो आओ। सुं० १८ (८) देखिये। कपिदलका आदि-अन्त दोनोंमें गर्जन इस युद्धमें कहा है, आदिमें '**गर्जहि तर्जहिं भालु कपीसा। जय रघुबीर कोसलाधीसा॥ ३८। ८।**' और अन्तमें यहाँ '**गर्जहिं भालु बलीमुख।**' इससे यह भी जनाया कि क्या गर्जन करते हैं—'**जय रघुबीर कोसलाधीसा**' यही गर्जन आदिसे अन्ततक दिखाया।

निसा जानि कपि चारिउ अनी। आए जहाँ कोसलाधनी॥ १॥
राम कृपा करि चितवा सबहीं। भए बिगत श्रम बानर तबहीं॥ २॥

अर्थ—वानरोंकी चारों सेनाएँ रात जानकर वहाँ आयीं जहाँ कोसलपति श्रीरामजी थे॥ १॥ श्रीरामजीने सबको कृपादृष्टिसे (ज्यों ही) देखा त्यों ही वानर थकावटरहित हो गये॥ २॥

नोट—"निसा जानि" का भाव कि रात तो पूर्व ही थी पर पावकसायकसे जो प्रकाश प्रभुने कर दिया था उससे अबतक लड़ते रहे। जब कोई निशिचर रणभूमिमें लड़नेवाला न रह गया तब गर्जन करके और रात्रि जानकर लौटे। जब शत्रुदलका कोई न रह गया तब रात्रिके चिह्नोंसे जाना कि अब रात है। [इसी तरह श्रीनिम्बार्क स्वामीजीने यतीके लिये रात्रिमें दिन कर दिया था, यथा—'**आँगनमें निम्ब तापै आदित दिखायो वाहि भोजन करायो पाछे निशिचिह्न पाए हैं**'—(भक्तिरसबोधिनी टीका)] प्रभुके बाणसे जो प्रकाश हो गया था उससे एवं उत्साहमें कि शत्रु सम्मुख है कैसे हटें रात्रिका आगमन भी **न** जान पड़ा था।

२ वाल्मी० सर्ग ४२ से युद्धका प्रारम्भ हुआ है। वहाँसे लेकर सर्ग ५८ तक जो वानर-राक्षस-युद्ध है (मेघनादके नागपाशवाला प्रसङ्ग छोड़कर) वही मानसमें दोहा ३८ से यहाँतक वर्णित हुआ। अ० रा० ५। ४५-८६ की कथा व्यासरूपसे यहाँतक आ गयी।

☞ नौ दोहोंमें प्रथम युद्ध अब समाप्त हुआ। '**चारि अनी कपि कटक बनावा। हरषित रामचरन सिर नावहिं। गहि गिरिसिखर बीर सब धावहिं॥ ३८। ४। ७॥**' उपक्रम है। '**निसा जानि कपि चारिउ अनी। आए जहाँ कोसलाधनी॥**' उपसंहार है।

☞ '**भए बिगत श्रम बानर तबहीं**' इति। मायानिवृत्त होनेपर कहा था कि '**धाए हरषि बिगत श्रम त्रासा**'। फिर '**अद्भुत करनी**' में श्रम हुआ, इससे अब पुनः '**भए बिगत श्रम**' कहा। पूर्व श्रीहनुमान् और अङ्गदजी '**सुभटकी करनी**' करके आये, तब उनपर कृपादृष्टि की—'**राम कृपा करि जुगल निहारे**'—अब चारों सेनाएँ '**अद्भुत करनी**' करके आयीं, तब इनपर कृपादृष्टि की। दोनोंको श्रम हुआ सो दोनों 'भये बिगतश्रम'।

प० प० प्र०—'**निसा जानि**…' इस अर्धालीके चरणोंमें एक-एक मात्रा न्यून रखकर जनाया है कि निबिड़ अन्धकारमें बलवान् मायावी निशाचरोंके साथ युद्ध करके हम कुशल लौटे, यह केवल कोसलाधीशकी कृपा और प्रतापका ही फल है। कृतज्ञता और हर्षसे कण्ठ रुद्ध हो गये हैं। इस दशामें प्रणाम करना भी भूल गये।

प्रथम युद्ध समाप्त हुआ।

* द्वितीय युद्ध प्रारम्भ *

उहाँ दसानन सचिव हँकारे। सब सन कहेसि सुभट जे मारे॥ ३॥
आधा कटकु कपिन्ह संघारा। कहहु बेगि का करिअ बिचारा॥ ४॥

शब्दार्थ—हँकारे=हरकारा भेजकर बुलाया।

अर्थ—उधर दशाननने मन्त्रियोंको बुलवाया और जो सुभट मारे गये (उनका नाम) सबसे बताया॥ ३॥ वानरोंने आधी सेनाका नाश कर दिया। शीघ्र बताओ कि (इस विषयमें) क्या विचार करते हो॥ ४॥

नोट—१ **'सब सन कहेसि सुभट जे मारे'** इति। (क) यहाँ रावणने मन्त्रियोंसे बताया, यद्यपि मन्त्रियोंसे उसे खबर मिलनी चाहिये थी। कारण कि रण समाप्त हुए देर नहीं हुई और इसे सब सुभटोंका पता चल गया था; क्योंकि हनुमान्‌जी और अङ्गदजीने सुभटोंके सिर इसके सामने फेंक दिये थे, जिसमें वह शीघ्र जान ले कि कौन और कितने सुभट मारे गये। तथा सन्ध्या-समय महा-महा-मुखियाओंकी खबर मिली होगी। तीसरे, इससे युद्धमें इसकी सावधानता दिखायी कि कैसी देखभाल रखता है। (ख) इनमेंसे कुछ नाम कुम्भकर्णसे रावणने कहे हैं, इसीसे यहाँ नाम नहीं दिये गये, यथा—**'तात कपिन्ह सब निसिचर मारे। महा महा जोधा संघारे॥ दुर्मुख सुररिपु मनुज अहारी। भट अतिकाय अकंपन भारी॥ अपर महोदर आदिक बीरा। परे समर महि सब रनधीरा॥ ६१। १०—१२॥'** ४४ (१) भी देखिये।

२—**'आधा कटक'** इति। जो वानरोंसे लड़ने गया था उसमेंसे आधे मार डाले गये—यह भाव इससे लेंगे कि ऊपर कहा है कि **'कछु मारे कछु घायल कछु गढ़ चले पराइ'**। आधेमें घायल और भागे हुए हैं। यहाँ रावणकी कुल सेनाके आधेसे तात्पर्य नहीं है। क्योंकि यदि आधी आज प्रथम युद्धमें ही समाप्त हो गयी तो अभी २७ दिन युद्ध क्या आधी सेनासे होगा?—(बं० पा०)।

वि० त्रि०—**'उहाँ दसानन······जे मारे'** इति। चारों फाटकोंकी लड़ाई समाप्त हुई। यह एक दिनकी लड़ाई नहीं है। वर्षाके दश तारक नक्षत्रोंमेंसे पूरे पुनर्वसुकी वर्षा है। रावणकी सभा बैठी। कितने वीर मारे गये, उनकी नामावली पेश हुई। पता लगा कि अबतक आधी सेनाका सफाया हो चुका है। जो पहिले सभामें तय हो चुका था कि **'कहौ कवन भय करिय बिचारा। नर कपि भालु अहार हमारा'** यह बात तो बिल्कुल कच्ची निकली। भक्ष्य ही भक्षकका संहार कर रहे हैं। अतः रावणने मन्त्रियोंको पुनर्विचार करनेके लिये बुलवाया, और मारे हुए सुभटोंकी नामावली पढ़-सुनायी गयी।

नोट—३—**'कहहु बेगि०'**। भाव कि रात्रिमें ही उपाय करना है, समय नहीं है, अतः **'कहहु बेगि'**। इससे उसकी घबराहट दिखायी।

माल्यवंत अति जरठ निसाचर। रावन मातु पिता मंत्री बर॥ ५॥
बोला बचन नीति अति पावन। सुनहु तात कछु मोर सिखावन॥ ६॥

अर्थ—माल्यवान् (जो) अत्यन्त बुड्ढा राक्षस था और रावणकी माताका पिता अर्थात् नाना तथा श्रेष्ठ मन्त्री था॥ ५॥ वह अत्यन्त पवित्र नीतिके वचन बोला (कि) हे तात! कुछ मेरा सिखावन सुनिये॥ ६॥

नोट—माल्यवान्‌के यहाँ चार विशेषण—(१) अति जरठ, (२) निशिचर, (३) रावण-मातु-पिता, (४) मन्त्रीवर—देकर तब उसका बोलना कहा। इन चारोंसे नीत्युपदेश करनेकी योग्यता उसमें दिखायी। चारोंकी उपयुक्तता, यथा—(१) उपदेश बुड्ढे ही देते हैं, यथा—**'मनहु जरठपन अस उपदेसा। २। २। ७।'** इसीसे सुमन्तजी अत्यन्त बुड्ढे होनेपर भी कई पीढ़ियोंसे मन्त्री बने चले आये। नाभाजीने उनको **'मन्त्रीवर्य सुमन्त्र'** कहा है। जितना देश और काल देखा हुआ मन्त्री होता है उतना ही वह उत्तम होता है। ☞ रावणके यहाँ माल्यवान् अति बूढ़ा, वैसे ही श्रीरामजीके मन्त्री जाम्बवन्त, यथा—**'जामवंत मंत्री अति बूढ़ा।'** (२) निशिचरसे सजातीय और अपने पक्षका जनाया। (३) उसपर भी रावणका नाना है अतः रावणके हितकी ही कहेगा और निर्भय उपदेश देगा, जो गुण श्रेष्ठ मन्त्रीका है। ठकुरसोहाती न कहेगा। (४) **'मन्त्रीवर'** है अतः श्रेष्ठ मन्त्र देगा। इससे बड़ा नीतिज्ञ, नृपहितकारक, बुद्धिमान् और

सयाना जनाया।—'नृपहितकारक सचिव सयाना। नाम धरमरुचि शुक्र समाना॥ १। १५४। १॥' 'माल्यवंत अति सचिव सयाना'। पुनः 'मन्त्रीवर' इससे कहा कि उत्तम मन्त्रीका कर्तव्य है कि अपना अपमान भी हो तो भी उसकी पर्वा न करके राजाका हित करे। वही इसने किया। पूर्व विभीषणके समर्थनपर रावणने इसका अपमान किया था, यथा—'दूरि न करहु इहाँ है कोऊ'। उस समय वह उठकर चला गया था, फिर भी मन्त्र देने अबकी भी आया। अ० रा० ५। २६ से मिलान कीजिये।

ततः समागमद् वृद्धो माल्यवान् राक्षसो महान्	माल्यवंत अतिजरठ निसाचर
बुद्धिमान्नीतिनिपुणो राज्ञो मातुः प्रियः पिता	रावन मातु पिता मंत्रीवर।

☞ १ अ० रा० ५ और वाल्मी० ३५ में माल्यवान्‌का नीति-उपदेश युद्धारम्भके पूर्व और मानसमें प्रथम युद्धके बाद है। हाँ, विभीषणका समर्थन वहाँ भी किया है।

२ 'अति पावन' इति। 'अति पावन' कहकर तीन प्रकारकी नीतियाँ दर्शित कीं। (१) अपावन, (२) पावन और (३) अतिपावन। (४) अपावन वह है जो नीति-शास्त्रके विरुद्ध हो। जिससे समादि चतुष्टय राजनीतिका विचार न किया जाय। जैसे समुद्रपार होनेपर लङ्कामें शत्रुके आ जानेपर प्रथम बार जब रावणने मन्त्रियोंसे पूछा तब उन्होंने कहा था—'कहहु कवन भय करिय बिचारा। नर कपि भालु अहार हमारा॥ ८। ९॥' इसपर प्रहस्तने कहा कि—'नीति बिरोध न करिय प्रभु मंत्रिन्ह मति अति थोरि। ८।' (२) पावन नीति वह है जो राजनीतिके अनुकूल हो, जैसे प्रहस्तके वचन रावण प्रति; इत्यादि।—'प्रथम बसीठ पठउ सुनु नीती। सीता देइ करहु पुनि प्रीती॥ ९। १०॥ नारि पाइ फिरि जाहिं जौं तौ न बढ़ाइय रार। नाहिं त सन्मुख'''॥ ९॥' ये वचन नीतिशास्त्रानुकूल हैं, ठकुरसोहाती या भयसे कहे हुए नहीं हैं। श्रीरामजीने भी रावणसे नीति कही, यथा—'जनि जल्पना करि सुजस नासहि नीति सुनहि करहि छमा। ८९ छन्द।' यह नीति पावन है।—[पं०—नीति-मिश्रित वाक्य वह है जिसमें अनीति त्याग करनेको कहा।] और (३) जिसमें भगवत्परत्व भी वर्णित हो वह 'अतिपावन' है। श्रीराम जगत्पिता हैं, शिव-विरञ्चि उनके सेवक हैं इत्यादि। भगवत्-स्वरूपका प्रतिपादन करनेसे 'अतिपावन' कहा। यथा—'सिख हमारि सुनु परम पुनीता। जगदंबा जानहु जिय सीता॥ जगतपिता रघुपतिहि बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी॥ १। २४६। २-३॥'

३ पु० रा० कु०—सुन्दरकाण्डमें विभीषणकी 'बुध पुरान श्रुति संमत' नीति सुनकर माल्यवान्‌को सुख हुआ था। इसीसे उसको 'अति सयाना सचिव' कहा था। उसने विभीषणकी प्रशंसा की—'तात अनुज तव नीति बिभूषन'। पर यहाँ माल्यवान्‌के 'अति पावन नीति' पर भी किसीने सुख न माना। इससे जनाया कि अब वहाँ कोई 'सयाना' मन्त्री नहीं है।

पं०—'कछु मोर सिखावन' का भाव कि पूर्व तुम्हारे अन्य मन्त्रियोंने तुम्हें बहुत शिक्षा दी है जो मानकर तुमने यह दशा पहुँचायी, हम थोड़ा ही कहते हैं अब इसे मानो। अ० रा० में उसने कहा है कि हमारे वचन सुनो फिर जैसी इच्छा हो करना—'श्रुत्वा कुरु यथेप्सितम्। ५। २६।' मिलान कीजिये—'अब पति मृषा गाल जनि मारहु। मोर कहा कछु हृदय बिचारहु॥ ३५। ७॥'

नोट—'तात सुनहु'। नाना है, अति जरठ है। इस सम्बन्धसे एवं समझाना है जिसमें बात मान ले, इससे 'तात' सम्बोधन किया। सुन्दरकाण्डमें भी इसने 'तात' सम्बोधन किया है—'तात अनुज तव नीति बिभूषन'।

जब ते तुम्ह सीता हरि आनी। असगुन होहिं न जाहिं बखानी॥ ७॥
बेद पुरान जासु जस गायो*। राम बिमुख काहु न सुखु पायो†॥ ८॥

अर्थ—जबसे आप सीताको हर लाये हैं, तबसे (ऐसे, इतने) अपशकुन हो रहे हैं कि वर्णन नहीं किये जा सकते॥ ७॥ वेद-पुराणोंने जिनका यश गाया है उन रामके विमुख (प्रतिकूल, द्रोही) होनेसे किसीने सुख नहीं पाया॥ ८॥

नोट—जबसे श्रीसीताजी लङ्कामें गयी हैं तबसे वहाँ बहुत घोर दुर्निमित्त दिखायी पड़ रहे हैं। यह बात वाल्मीकीय

* गावा। † सुख काहु न पावा।

आदिमें विभीषणजी (वाल्मी० १० । १४) और माल्यवान् (अ० रा० ५ । २७) द्वारा रावणको मालूम हुई और समुद्र पार करके सुवेलपर आते ही यह अपशकुन श्रीरामचन्द्रजीके भी दृष्टिगोचर हुए और उन्होंने लक्ष्मणजीसे यह बात कही। उन अवसरोंपर जिन-जिन दुर्निमित्तोंका उल्लेख उन ग्रन्थोंमें हुआ है वही यहाँ कविने 'न जाहि बखानी' से सूचित किये हैं। वाल्मी० और अ० रा० दोनोंमें माल्यवान्ने अनेक घोर विनाशसूचक उत्पातोंको वर्णन करके अन्तमें यही कहा कि इसी प्रकारके और अनेक उत्पात हो रहे हैं और नित्य नवीन उत्पन्न होते हैं—'एतान्यन्यानि दुष्टानि निमित्तान्युत्पतन्ति च' (वाल्मी० ३५ । ३४)।

☞ १ माल्यवान्ने तीन तरहसे समझाया। प्रथम तो अपशकुन सुनाकर, फिर श्रीरामजीकी ईश्वरता प्रतिपादन करके और तीसरे, रामविमुखताका फल कहकर। प्रथम उपदेश (विभीषणके समर्थन) में अपशकुन न कहे गये थे, अबकी यह विशेषता है।

२ (क) 'जब तें सीता हरि आनी ।०' अर्थात् न आगे न पीछे। भाव कि सीताहरणके पूर्व ये दुर्निमित्त कभी न हुए थे और न यही है कि उनके आनेके बहुत दिन पीछे ये असगुन होने लगे हों जिससे समझा जाय कि असगुनका कारण कुछ और होगा। असगुन उसी समय तुरन्त प्रारम्भ हुए जिस समय यहाँ सीता आयीं। आशय कि इनके साथ अपशकुन आये, इनको यहाँसे फिर लौटा दो तो असगुन भी साथ ही यहाँसे चले जायँ। (ख) 'न जाहिं बखानी'। भाव कि अगणित हैं एवं मृत्युसूचक और भयङ्कर हैं।

३ **'राम बिमुख काहु न सुख पावा', यथा—'राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥ (सुं०)। 'राम बिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनिहारा॥' 'राम बिमुख अस अनुचित नाहीं। १०३। १०-१२।' देखिये। यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलङ्कार' है।**

अपशकुनोंका वर्णन

१ गधे भयङ्कर शब्दसे रेंकते हैं। २ मेघ रुधिर बरसते और घोर शब्दसे गरजते हैं। ३ दिशाविदिशाएँ धूलसे छायी हैं। ४ गृध्र, गीदड़, सर्पादि वाटिकाओंमें घुसकर भयङ्कर शब्द करते हैं। ५ महाकाली हँसते हुए चलती है। ६ स्त्रियाँ स्वप्नमें बातें करती-करती चौंककर घरोंको छोड़कर चल देती हैं। ७ कौवोंके भागकी बलि-सामग्री कुत्ते खा लेते हैं। ८ गायसे गधे और न्योलोंसे चूहे पैदा होते हैं। ९ व्याघ्रके साथ बिलाव, कुत्तोंके साथ सूकर, राक्षसके साथ किन्नर और मनुष्यके साथ राक्षस मैथुन करते हैं। १० नीले रङ्गके लाल चरणवाले कबूतर घरोंमें घुसते हैं। ११ सिर मुँड़ाये काला पुरुष घर-घर संध्या-समय फिरता है। इत्यादि—(वाल्मी० ३५। २५ श्लोकसे ३४)। १२ मन्त्रपूर्वक आहुति पानेपर भी अग्नि अपने तेजसे नहीं बढ़ता। प्रदीप्त करनेके समय उसमेंसे धुआँ निकलता है, चिनगारियाँ उड़ती हैं। १३ होमकी खीरमें चींटियाँ चढ़ी रहती हैं। १४ गायोंका दूध सूख गया, गज मदविहीन हो गये। घोड़े चारा पानेपर भी भूखेसे ही बने रहते हैं और दीनतापूर्वक शब्द करते हैं। १५ गदहे, ऊँट, खच्चर रोएँ खड़े कर-करके रोते हैं। १६ औषधि असर नहीं करती। १७ कौवोंके झुंड महलोंपर उड़ते, बैठते, काँव-काँव करते हैं। १८ श्रृगालियाँ पुरीके पास आकर चिल्लाती हैं—(वाल्मी० यु० १० विभीषणोक्त अपशकुन)। १९ पवन प्रतिकूल भावसे धूलिसंयुक्त चलता है। २० भूकम्प होता है। २१ वृक्ष अचानक टूटकर गिरते हैं। २२ संध्याका रङ्ग लाल चन्दनके समान लाल है। २३ चन्द्रमाकी किरणें लाल और काली हैं। २४ सूर्यमण्डलमें नीले दाग देख पड़ते हैं…। २५ धूलिसे नक्षत्र देख नहीं पड़ते मानो युगान्तका समय आ गया। २६ कौवे, बाज, गृध्र सहसा ऊपरसे गिरते हैं। इत्यादि—(वाल्मी० २३। श्रीरामवाक्यं लक्ष्मणं प्रति)। २७ प्रतिमाएँ रोती हैं। २८ प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ स्थान छोड़ अन्यत्र चली जाती हैं। २९ मूसे बिलारसे युद्ध करते हैं।—(अ० रा० ५। २८-३२)। २९ (हनु० ११। १० में महोदर सुवेलपर वानर-सैन्यके टिकनेपर रावणको दिखाता है कि मध्य दिनमें कैसे उत्पात हो रहे हैं—'**क्वचिन्मीनः क्वचिन्मेषः क्वचिल्लम्बितकृत्तिका। क्वचिन्मृगशिरः सार्द्रं नभो व्याधगृहायते॥**' अर्थात् कहीं तो पूर्वके तथा उत्तरा और रेवतीके सहित मीन दृष्टिगोचर होता है और कहीं अश्विनी तथा भरणीके सङ्ग मेष, कहीं लम्बित कृत्तिका, कहीं आर्द्रासहित रुधिर डालता हुआ मृगशिर, इस प्रकार मानो सारा आकाश व्याधिका घर है।

दो०—हिरन्याक्ष भ्राता सहित मधुकैटभ बलवान।
जेहि मारे सोइ अवतरेउ कृपासिंधु भगवान॥४७॥

अर्थ—बल्वान् मधुकैटभ और भाई हिरण्यकशिपुसहित हिरण्याक्षको जिसने मारा वही दयासागर भगवान् अवतरे हैं ४७

पं०—पहले कहा कि वेदादि रामयश गाते हैं। रावण कह सकता है कि वेद तो परमेश्वरका गुणगान करते हैं और ये राम तो मनुष्य हैं, दशरथके पुत्र हैं, अतः अब कहते हैं कि ये भगवान् ही हैं। ☞ विशेष भाव दोहा ६ (७-८) में आ चुके हैं।

पु० रा० कु०—१ 'कृपासिंधु' विशेषणका भाव कि अवतारका कारण कृपा ही है।—'कृपासिंधु जनहित तनु धरही। १। १२१।' तथा १। १२२ (१) देखिये। 'भगवान्' अर्थात् ये ईश्वर हैं, षडैश्वर्यसम्पन्न हैं। **'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। वैराग्यस्य च मोक्षस्य षण्णां भग इतीरणा॥' 'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति॥'** अर्थात् जिसमें समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और मोक्ष—ये छः बातें पूर्ण-रूपेण नित्य स्थित हों। जो उत्पत्ति, संहार, जीवकी गति-अगति, विद्या-अविद्याका जाननेवाला है, वह भगवान् है। पुनश्च यथा—**'पोषणं भरणाधारं शरण्यं सर्वव्यापकम्। कारुण्यो षड्भिः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्॥'** (करु०, महारामायणे) **'कर्तुं विकर्तुं जगदन्यथा च कर्तुं हि सामर्थ्यविशेषरूपा। शक्तिस्तु यस्यास्ति स सर्वशक्तिभिः प्राणाधिका या बहुकेलिरन्या॥ वै०॥'**

पं०—'कृपासिंधु' का भाव कि पूर्व नृसिंहादि अवतारोंमें शत्रुओंपर दया न की थी पर तुझपर अब भी दया करेंगे।

प० प० प्र०—हिरण्याक्षादिके उल्लेखसे स्पष्ट है कि मन्दोदरीके समान माल्यवान् भी वैकुण्ठाधीश विष्णु अवतारीका ही रामावतार समझते हैं।

दो०—कालरूप खल बन दहन गुनागार घनबोध।
सिव बिरंचि जेहि सेवहिं* तासों कवन बिरोध॥४८॥

अर्थ—जो कालरूप, दुष्टरूपी वनके भस्म करनेवाले, गुणधाम, पूर्ण वा समूह (सम्यक्) ज्ञानवाले हैं और जिनकी शिवजी और ब्रह्माजी सेवा करते हैं, उनसे क्या वैर (करना)?॥ ४८॥

नोट—१ भाव कि जब तुम्हारे ये गुरु और इष्ट ही उनके सेवक हैं तब तुम्हारा उनसे वैर करना अयोग्य ही है; क्योंकि तब ये भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकेंगे, यथा—'हित न तुम्हार संभु अज कीन्हें। ५। ३६। १०।', 'सिव बिरंचि सुर जाके सेवक। ६२। ५।' १४ (८), २२ (१), २७ (२) भी देखिये। पुनः भाव कि जिसके ऐसे-ऐसे सेवक हैं वह मनुष्य नहीं हो सकता, वरन् परब्रह्म ही है, यथा—**'यत्पादपोतमाश्रित्य ज्ञानिनो भवसागरम्। तरन्ति भक्तिपूतान्तास्ततो रामो न मानुषः'**।

पु० रा० कु०—यहाँ चार प्रमाण दिये। कालरूप हैं, यथा—**'काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥ ७। ४१॥'** काल दुःख-सुखका देनेवाला है और ये खलरूपी वनके लिये वनाग्निवत् हैं। वनमें अग्नि अपने आप पैदा होकर वनको जला देती है, वैसे ही खलोंके कर्म उनको जलाते हैं, प्रभुका कोई दोष नहीं, वे तो सम हैं।

नोट—२ (क) 'गुनागार' अर्थात् पतितपावनता, प्रणतपालकता, क्षमा आदि समस्त दिव्य गुण उनमें हैं। तुम शरण जाओगे तो पिछले सब अपराध क्षमा कर देंगे—'उर अपराध न एकउ धरिहहिं'। (ख)—'घनबोध' अर्थात् सम्यक्ज्ञानवाले हैं, सदा एकरस हैं, उनका कोई न मित्र है न शत्रु, तुम यह न समझो कि तुमसे वैर रखते होंगे। पुनः घनबोधसे ईश्वर सूचित किया—'ज्ञान अखंड एक सीतावर'।

रा० प्र०—भाव-भेदसे खलवन-दहनके लिये कालरूप शूर, और ज्ञानियोंके लिये गुणागार, मेघकी तरह बोधामृतकी वर्षा कर सब तापोंके हरनेवाले हैं। पुनः, कालरूप अर्थात् उनसे विरोध करके कोई बचा नहीं।

* जेहि सेवहिं सिव कमलभव तासो कौन विरोध—(का०)।

वीर—'कालरूप खलबनदहन' में परम्परितरूपक है। 'गुणागार घनबोध' में तृतीय तुल्ययोगिताकी ध्वनि है। शिवविरंचि जिनकी सेवा करते हैं उनसे कौन-सा वैर ?—इस वाक्यमें 'वाच्यसिद्धाङ्गगुणीभूत व्यंग' है।

परिहरि बयरु देहु बैदेही। भजहु कृपानिधि परम सनेही ॥ १ ॥

अर्थ—वैर छोड़कर वैदेही (रामजीको) दे दो और दयासागर परमस्नेही (रामचन्द्रजीका) भजन करो ॥ १ ॥

पु० रा० कु०—'वैदेही' का भाव कि ये तुम्हारे हाथ न लगेंगी तुम चाहे जितना उपाय करो, वे प्राण भले ही छोड़ देंगी। [श्रीसीताजी देहसम्बन्धी विषयभोग विलासोंसे पूर्ण उदासीन हैं। अतः तेरे वशमें नहीं होंगी। (प० प० प्र०)]

नोट—'भजहु कृपानिधि परम सनेही' इति। 'कृपानिधि' का भाव कि **'प्रनतपाल रघुनायक करुनासिंधु खरारि। गये सरन प्रभु राखिहैं तव अपराध बिसारि ॥ सुं० २२ ॥'** तुमने तो एक ही जन्ममें पाप किया है और उनकी प्रतिज्ञा है कि **'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्मकोटि अघ नासहिं तबहीं ॥ सुं० ४४ ॥'** 'परम सनेही' हैं, तुम्हारा हित करेंगे—**'राम भजे हित नाथ तुम्हारा। सुं० ४१ ।'** भाव कि वे स्नेह करने योग्य ही हैं, यथा—**'राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।'''छलहिं छाँड़ि सुमिरे छोह किये ही है। वि० १३५ ।'**

ता के बचन बान सम लागे। करिआ * मुँह करि जाइ अभागे ॥ २ ॥
बूढ़ भएसि न त मरतेउँ तोही। अब जनि नयन देखावसि मोही ॥ ३ ॥

अर्थ—उसके वचन बाणके समान लगे। (वह बोला) अरे भाग्यहीन ! काला मुँह करके निकल जा ॥ २ ॥ तू बुड्ढा हुआ नहीं तो तुझे मारता। अब मेरी आँखोंको अपने तईं मत दिखाना (सामने न आना) एवं आँख घुरेरकर न बोलना (आँख न दिखाना) ॥ ३ ॥

☞ मन्दोदरीका उपदेश जो ३५ (१) से ३६ तक है और जिसका अन्तिम उपदेश इसी प्रकारका है—**'कृपासिंधु रघुनाथ भजि नाथ बिमल जस लेहु'**—वह भी उसे बाण-सा लगा था, यथा—**'नारि बचन सुनि बिसिख समाना'**। पर वहाँ मन्दोदरीको उसने कुछ न कहा, स्वयं उठकर चला गया (और वह भी जब सवेरा हुआ तब, तुरंत ही नहीं), यथा—**'सभा गयउ उठि होत बिहाना'**। और, यहाँ माल्यवान्‌को निकल जानेको कह रहा है, मारता भी पर बुड्ढा होनेके कारण छोड़ दिया। इसी प्रकार विभीषणने जब कहा कि **'परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस'** तब यह कहा कि इनको निकाल दो, यथा—**'रिपु उतकर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ है कोऊ ॥'** फिर भी विभीषण भाई था इससे समझाता ही रहा और अन्तमें पुनः यही कहा कि—**'सीता देहु राम कहँ अहित न होइ तुम्हार'**। तब उसने इनसे निकल जानेको कहा और लात मारी थी। वानरसेनाके लङ्कामें आनेपर मन्दोदरीका उपदेश दोहा ६ (३) से दोहा ७ तक माल्यवान्‌के उपदेशसे बहुत मिलता हुआ है तब भी मन्दोदरीपर क्रोध न करके वह उसे उठाकर समझाता रहा। उसीके बाद उसके पुत्र प्रहस्तने अपना मत कहते हुए यह कहा कि **'जेहि बारीस बँधायो हेला'''सो भनु मनुज खाब हम भाई ॥ नारि पाइ फिरि जाहिं जौं तौ न बढ़ाइय रारि'**, जिसे सुनकर रावण क्रुद्ध हुआ और उसे बड़े कठोर वचन कहे। यथा—**'सुत सन कह दसकंठ रिसाई।''' बेनुमूल सुत भयहु घमोई। सुनि पितु गिरा परुष अति घोरा। चला भवन कहि बचन कठोरा ॥ १० । ३-४ ॥'** यह पुत्र है नहीं तो इसे भी मारता या निकाल देता। पर मन्दोदरीने इन सबसे कहीं अधिक कठोर वचन कहे तब भी उसको रावणने कुछ न कहा। इसमें क्या रहस्य है ? इसके कई कारण हो सकते हैं—

१ मन्दोदरीने जब-जब कहा तब एकान्तमें कहा, दूसरेने नहीं सुना जिससे उसके गौरव वा अभिमानको धक्का पहुँचता। रावण महाअभिमानी है। अभिमानी होनेसे वह दूसरेका उत्कर्ष नहीं सह सकता, यथा—**'आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे'** ॥ विभीषण, माल्यवान् आदिने बीच सभामें शत्रुका उत्कर्ष और रावणका दोष (अपकर्ष) कहा जिससे उसका मान भङ्ग होता है इसीसे उनको कठोर वचन कहे।

२—मन्दोदरी उसकी परम प्यारी पटरानी है।

* करिया मुख—(का०)।

३—यदि मन्दोदरीको वह कटु वचन कहता तो सम्भव था कि मेघनादादि पुत्र और पौत्रादि भी रावणके प्रतिकूल हो जाते, वे माताके साथ उसका यह बर्ताव न सह सकते। घरमें ही फूट हो जाती और वह भी ऐसे समय कि जब शत्रु सिरपर खड़ा है। यह भी भय रावणको हो सकता था।

४—इससे कविने पतिव्रताका बल दिखाया है। पूर्व भी कुछ लिखा गया है।

नोट—१ 'बूढ़ भएसि न त मरत्यों तोही।' इति। रावण बुड्ढोंको वीर नहीं समझता इससे उनको तुच्छ समझकर उनपर दया करता है। 'जामवंत मंत्री अति बूढ़ा। सो कि होइ अब समरारूढ़ा॥' इसी कारण युद्धमें उसने जाम्बवन्तपर बाण न चलाये थे। २—'अब जनि नयन दिखावसि'। भाव कि यदि तू अब भी हठ करेगा तो फिर वृद्धावस्थाका विचार भी न करूँगा। यही उसको दण्ड मिला कि अब सामने न आये वा ऐसे वचन न कहे—(मा० मु० ट०)।

पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी कहते हैं कि बूढ़े राक्षस तो लङ्कामें अनेक थे, पर माल्यवान् बड़े बूढ़े थे। रामदलमें जाम्बवान् बड़े बूढ़े थे (यथा—'जामवंत मंत्री अति बूढ़ा') और रावणदलमें माल्यवान् थे (यथा—'बूढ़ भयेसि न त मरतेउँ तोही।') रावणके नाना भी थे और मन्त्री भी थे। इस बार जब मन्त्रियोंकी सभा हुई और प्रश्न उपस्थित हुआ कि 'आधा कटकु कपिन्ह संहारा। कहहु बेगि का करिअ बिचारा॥' तब उसे सुनकर बुड्ढा जल उठा कि जब मैंने विभीषणके विचारका अनुमोदन किया, तब तो इन्होंने आज्ञा दी कि 'रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ है कोऊ॥' आज वही बात सिरपर आयी। बन्दरोंने आधी सेना निपटा दी, फिर भी आँख नहीं खुली, युद्धके लिये विचार करने बैठे। इसके अपराधसे राक्षस-कुलका संहार हुआ चाहता है, अतः उसने कड़ाईके साथ कहा 'सिव बिरंचि जेहि सेवहिं तासों कौन बिरोध। परिहरि बैरु देहु बैदेही। भजहु कृपानिधि परम सनेही॥' रावण बिगड़ उठा कि यह फिर शत्रुका उत्कर्ष कहता है और आँख दिखाता है। 'बूढ़ भयेसि' का अर्थ यह है कि 'नाना हो' इसलिये छोड़े देता हूँ नहीं तो जिस ढङ्गसे तुम बोले हो उसका वध दण्ड है। आँख दिखानेका सीधा अर्थ है क्रोध करके बोलना, आगे चलकर स्पष्ट कहते हैं 'सो उठि गयउ कहत दुर्बादा'। जो गाली दे सकता है, उसके आँख दिखानेमें आश्चर्य क्या है?'

☞'बोला बचन नीति अति पावन' उपक्रम है और 'ताके बचन०' उपसंहार। यहाँ 'पाँचवीं विभावना अलंकार' है।

तेहि अपने मन अस अनुमाना। बध्यो चहत एहि कृपानिधाना॥ ४॥
सो उठि गएउ कहत दुर्बादा। तब सकोप बोलेउ घननादा॥ ५॥

अर्थ—उसने अपने मनमें ऐसा अनुमान (अटकलसे विचार) किया कि इसे कृपानिधान रामचन्द्रजी (अब) मारना ही चाहते हैं॥ ४॥ वह दुर्वचन कहता हुआ, एवं दुर्वचन कहते ही वह उठ गया। तब मेघनाद क्रोधपूर्वक बोला॥ ५॥

नोट—१ 'कृपानिधाना' का भाव कि—(क) कृपा करके इसको वधकर शीघ्र मुक्ति देना चाहते हैं। (पु० रा० कु०)। (ख)—कृपा करके विभीषणको राज्य दे चुके, इसे मुक्ति देना चाहते हैं—(वं० पा०)। विशेष 'कृपासिंधु रघुनाथ भजि…। ३६।' देखिये।

२ 'दुर्बादा'। जैसे प्रहस्तने कहा है, यथा—'चला भवन कहि बचन कठोरा। हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहँ भेषज जैसे॥ १०। ४-५॥' पुनः, जैसे मन्दोदरीने कहा है—'अहह कंत कृत राम बिरोधा। काल बिबस मन उपज न बोधा॥ ३६। ६॥' से 'दुइ सुत मारेउ०' ३६।' तक।

☞अब रावणने कह दिया कि मुँह न दिखाना नहीं तो मार ही डालूँगा। अतः अब आगे इसका सम्मुख आना कविने नहीं कहा है। दुर्वाद कहकर उठ जाना वाल्मी० और अ० रा० में नहीं है। हाँ, प्रथम ही उसने कठोर वचन कहे थे कि 'तुमने धर्मका नाशकर अधर्म ग्रहण किया, इसीसे हम लोगोंके शत्रु प्रबल हो गये। तुम्हारे प्रमादसे बढ़ा हुआ अधर्मरूप सर्प हमलोगोंको ग्रस लेता है और देवताओंके पक्षको बढ़ाता है। कुछ नर वानरसे तुमने अमर होनेका वर नहीं पाया है। इत्यादि, जो वाल्मी० सर्ग ३५ में माल्यवान्‌ने कहा है वह सब दुर्वचन हैं। वीर कविजी लिखते हैं कि रावण-जैसे प्रतापी योद्धा और राजाको माल्यवान्‌की हिम्मत थी कि दुर्वाद कहता? वह बेचारा रावणकी खोटी बातें सुनकर चुपचाप दरबारसे उठकर चला गया।—हमारी समझमें दोनों ही पक्षके समर्थनमें बहुत कुछ कहा जा सकता है।

गौड़जीका मत है कि यहाँ दोनों अर्थ हैं। रावणने दुर्वाद ज्यों ही कहा त्यों ही माल्यवान् उठ गया। यह रावणाधीन मन्त्री था तब भी उसका नाना था, इसलिये दुर्वचन कहता हुआ चला गया।

३ (क) 'तब सकोप बोलेउ घननादा' इति। (क) पिताको क्रोध आ गया है क्योंकि माल्यवान्‌ने उसके प्रतिकूल शत्रुका उत्कर्ष कहा, उस क्रोधको शान्त करनेके लिये वह क्रोधयुक्त वचन बोला। (ख) 'घननादा' का भाव कि मेघनाद गर्जकर (अभिमानपूर्वक) अपना बल कहेगा। सकोप बोलनेके सम्बन्धसे 'घननाद' नाम दिया।

कौतुक प्रात देखिअहु मोरा। करिहौं बहुत कहौं का थोरा॥ ६॥
सुनि सुत बचन भरोसा आवा। प्रीति समेत अंक बैठावा॥ ७॥
करत बिचार भएउ भिनुसारा। लागे कपि पुनि चहूँ दुआरा॥ ८॥

अर्थ—सवेरा होते ही मेरा कौतुक देखना, बहुत कुछ करूँगा, थोड़ा क्या कहूँ करके ही दिखाऊँगा, कहूँगा कुछ भी नहीं॥ ६॥ पुत्रके वचन सुनकर (रावणको) ढाढ़ँस हुआ। उसको प्रीतिसहित गोदमें बिठाया॥ ७॥ विचार करते-करते सवेरा हो गया। वानर फिर चारों द्वारोंपर जा डटे॥ ८॥

नोट—१ 'कौतुक प्रात थोरा' इति। वाल्मी० या अ० रा० में इस स्थानपर मेघनादका बोलना नहीं पाया जाता। हाँ, वाल्मी० १५। १—८ में विभीषणजीके समझानेपर मेघनादने कुछ वचन कहे हैं—वे ही भाव यहाँ 'करिहौं बहुत०' के ले सकते हैं। वे वचन ये हैं—

'त्रिलोकनाथो ननु देवराजः शक्रो मया भूमितले निविष्टः। मायार्पिताश्चापि दिशः प्रपन्नाः सर्वे तदा देवगणाः समग्राः॥ ५॥ ऐरावतो निःस्वनमुन्नदत्स निपातितो भूमितले मया तु। विकृष्य दन्तौ तु मया प्रसह्य वित्रासिता देवगणाः समग्राः॥ ६॥ सोऽहं सुराणामपि दर्पहन्ता दैत्योत्तमानामपि शोकहर्ता। कथं नरेन्द्रात्मजयोर्न सक्तो मनुष्ययोः प्राकृतयोः सुवीर्यः॥ ७॥'

अर्थात् त्रिलोकनाथ इन्द्रको हमने पृथ्वीमें भगा दिया और भी देवता हमारे डरसे इधर-उधर सब दिशाओंमें भाग गये। हमने ऐरावतको पृथ्वीमें गिरा दिया, उसका दाँत उखाड़कर सब देवताओंको भगा दिया। वह देवताओंके अहङ्कार और दैत्योंके शोकको हरनेवाले हम मनुष्य राजाके साधारण पुत्रोंसे लड़नेमें क्योंकर समर्थ नहीं हैं?

२—'सुनि सुत बचन भरोसा आवा' इति। (क) इससे जनाया कि माल्यवान्‌के वचन सुनकर नैराश्यको प्राप्त हुआ था। ऊपर कह आये हैं कि 'ताके बचन बान सम लागे।' बाण लगनेसे घाव होता है। वैसे ही माल्यवान्‌के वचनसे हृदयमें घाव-सा हो गया था, अब इसके वचनसे वह पुर गया। (ख) 'प्रीति समेत बैठावा' इति। गोदमें बैठाना आदर, लाड़-प्यार है। शाबाशी दी। (पु० रा० कु०)

३—(क) 'करत बिचार०' से जनाया कि बहुत देरतक (रात्रिभर) विचार होता रहा। (ख)—'पुनि' का भाव कि पूर्व प्रथम युद्धमें एक बार ऐसेही जा डटे थे, यथा—'घटाटोप करि चहुँदिसि घेरी। ३८। १०।' अब फिर जा डटे।

☞ 'उहाँ दसानन सचिव हँकारे' 'कहहु बेगि का करिय बिचारा। ४७। ३-४।' उपक्रम है और 'करत बिचार०' उपसंहार'।

सेना-सेनाका दूसरा युद्ध

कोपि कपिन्ह दुर्घट गढ़ घेरा। नगरु कोलाहल भएउ घनेरा॥ ९॥
बिबिधायुधधर निसिचर धाए। गढ़ ते पर्बत सिखर ढहाए॥ १०॥

अर्थ—वानरोंने कोप करके दुर्घट (दुर्गम, दुर्धर्ष) किलेको घेरा। नगरमें भारी कोलाहल हुआ॥ ९॥ अनेक प्रकारके हथियार धारण किये हुए निशिचर दौड़े और किलेपरसे पर्वतशिखर गिराये॥ १०॥

नोट—'दुर्घट' क्योंकि देवताओंके लिये भी दुर्धर्ष है।—'त्रिदशैरपि दुर्धर्षा लङ्का नाम महापुरी। हनु० ६। ४२।', 'यत्सीमा नहि लङ्घिता सुरगणैः सा लङ्घिता वानरैः॥ ४६॥'—समयादर्शे मन्दोदरीवाक्ये।

छं०—ढाहे महीधर सिखर कोटिन्ह बिबिध बिधि गोला चले।
घहरात जिमि पबिपात गर्जत जनु प्रलय के बादले॥
मर्कट बिकट भट जुटत कटत न लटत तन जर्जर भए।
गहि सैल तेहि गढ़ पर चलावहिं जहँ सो तहँ निसिचर हए॥

शब्दार्थ—ढाहना=ढकेलकर गिराना। गोला=लोहेका वह गोल पिण्ड जिसमें बहुत-सी छोटी-छोटी गोलियाँ, मेखें आदि, भरकर युद्धमें तोपोंकी सहायतासे शत्रुओंपर फेंकते हैं "परकाऊ अग्नि जंजीरी बंवादि" (बं० पा०)। घहराना=गरजनेका-सा शब्द करना। घोर शब्द करना। लटना=लड़खड़ाना, थककर गिरना। (सं० लड=हिलना) जर्जर=टूटाफूटा वा खंडित। झांझर। चलनी-सरीखे।

अर्थ—अगणित पर्वत-शिखर ढाहते हैं। अनेक प्रकारके अगणित गोले चले। वज्रपातका-सा शब्द उनमें होता है। ऐसे गरज रहे हैं मानो प्रलयकालके मेघ गरज रहे हों। भयङ्कर योधा वानर भिड़ते हैं। उनके शरीर जर्जर होनेपर भी वे लटपटाते नहीं (न गिरें, न हार मानें)। पर्वतको हाथसे पकड़कर उसे गढ़पर फेंकते हैं जो निशिचर जहाँ है वहीं मरकर रह जाता है।

बं० पा०—१ भारी तोपोंका गर्जन ऐसा होता है जैसा वज्रपात होनेसे होता है और जैसे प्रलयके बादलोंका गर्जन होता है। भाव कि ऐसा युद्ध हो रहा है मानो प्रलय होने ही चाहता है।

पं०—१ पर्वत-शिखर गिरनेसे वज्रपातका-सा शब्द होता है और गोलों (तोपों) का शब्द ऐसा है मानो प्रलयके बादल गरजते हैं। यहाँ यथासंख्यालंकारसे उदाहरण और उत्प्रेक्षा कही गयी। (प० प० प्र०)।

वीर कवि—गोले ऐसे घहराते हैं जैसे वज्रपात हो और उनके शब्द ऐसे होते हैं मानो प्रलयकालके मेघ गरजते हों। यहाँ उदाहरण और उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है।

☞ त्रेतायुगमें अनेक प्रकारकी तोपें और बड़े-बड़े यन्त्र थे, यह वाल्मी० में हनुमान्‌जीके वचनोंसे स्पष्ट सिद्ध होता है—'परिखाश्च शतघ्न्यश्च यन्त्राणि विविधानि च। शोभयन्ति पुरीं लङ्कां रावणस्य दुरात्मनः॥ २३॥'

२—'जुटत कटत न लटत तन०' इति। अर्थात् रणसन्मुख तोपके सामने शरीर हटता नहीं, और न कटता ही है यद्यपि घावोंसे बिंध गया है। 'न' और 'तन' दीपदेहरी हैं। 'जहँ सो तहँ' अर्थात् जो निशिचर जिस मोर्चेपर है वहीं मरकर रह जाता है। ['जहँ सो तहँ हए' का भाव कि निशाना चूकता नहीं है। (रा० प्र०)]

प्रथम युद्ध		द्वितीय युद्ध
३८ (९) जानत परम दुर्ग अति लंका		कोपि कपिन्ह दुर्घट गढ़ घेरा। ४८ (९)
३८ (१०) घटाटोप करि चहुँ दिसि घेरी		लागे कपि पुनि चहूँ दुआरा। ४८ (८)
३९ (१) लंका भएउ कोलाहल भारी		नगरु कोलाहल भएउ घनेरा। ४८ (९)
३९ नानायुध सरचापधर जातुधान०		बिबिधायुधधर निसिचर धाए। ४८ (१०)
४० (८) निसिचर सिखर समूह ढहावहिं		गढ़ ते पर्वत-सिखर ढहाए।
४० कूदि धरहिं कपि फेरि चलावहिं		गहि सैल तेइ गढ़पर चलावहिं। ४८ छंद
☞ कपि कोपकर चले, गढ़पर न चढ़े, रामयश न गाया	(विशेष)	बिबिध बिधि गोला चले

☞ यहाँ तक सेना-सेनाका युद्ध कहा, आगे मेघनादका युद्ध है। 'लागे कपि पुनि चहूँ दुआरा। ४८। ८।' उपक्रम है और 'मेघनाद सुनि श्रवन अस गढ़ पुनि छेंका आइ॥ ४८॥ उपसंहार है। सेनाका सेनासे युद्ध जैसा पूर्व हुआ वैसा ही अबकी, यह दिखाकर तब मेघनादका बल दिखाते हैं। सेना कुछ न कर सकी।

दूसरा निशिचर-कीश-युद्ध समाप्त हुआ।

मेघनाद (प्रथम) युद्ध प्रारम्भ

दोहा—मेघनाद सुनि श्रवन अस गढ़ पुनि छेंका आइ।
उतर्‍यो बीरु दुर्ग तें* सन्मुख चल्यो बजाइ॥ ४८॥

शब्दार्थ—छेंकना=घेरना। 'बजाइ'—यह मुहावरा है। डंका बजा-बजाकर, डंकेकी चोटपर, ललकारकर वा खुल्लम-खुल्ला। यथा—'देउँ भरत कहँ राज बजाई'।

अर्थ—कानोंसे यह सुनकर कि (वानरोंने) फिर गढ़को आकर घेर लिया है, वीर मेघनाद किलेपरसे उतरकर डंका बजाकर डंकेकी चोटपर सामने चला॥ ४८॥

पं०—गढ़का घेरा जाना सुनकर दुर्गसे उतरा कि 'कौतुक प्रात देखियहु मोरा।', इस अपनी प्रतिज्ञाको चलकर पूरा करूँ, उसका समय आ गया। २—गढ़से उतरकर सम्मुख चला। भाव कि कोटके निकट जो कपिदल था उसको भगाकर श्रीराम-लक्ष्मणादिके सम्मुख चला और पास आकर बोला। इसीसे 'बीरु' कहा।

वि० त्रि०—अबतक फाटक बंद करके किलेपरसे राक्षस लड़ाई करते थे। इधरसे वानर बराबर धावा करके किले-पर चढ़ जाते थे, और लङ्काभरमें उपद्रव मच जाता था, किलेसे उतरकर मैदानमें आकर युद्ध करनेका साहस राक्षसी सेनाको नहीं हुआ। यह दुर्दशा वीरवर मेघनादको सह्य न थी। वह मैदानमें उतर पड़ा और डंका देकर श्रीरामदलका सामना करनेके लिये आगे बढ़ा। युद्धका रास्ता तबसे बदल गया। जितनी लड़ाइयाँ हुईं मैदानमें हुईं। मेघनादका युद्ध पुष्य नक्षत्रमें हुआ था।

कहँ कोसलाधीस द्वौ† भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता॥ १॥
कहँ नल नील दुबिद सुग्रीवा। अंगद हनूमंत बल सींवा॥ २॥
कहाँ बिभीषन भ्राता-द्रोही। आजु सबहि‡ हठि मारौं ओही॥ ३॥

अर्थ—कोशलाधीश दोनों भाई जो समस्त लोकोंमें धनुर्धर प्रसिद्ध हैं वे कहाँ हैं?॥ १॥ नल, नील, द्विविद, सुग्रीव और बलकी सीमा अङ्गद और हनुमान् कहाँ हैं?॥ २॥ भ्राताका वैरी विभीषण कहाँ है? आज मैं सबको और उसको तो हठ (प्रतिज्ञा) पूर्वक मारूँगा॥ ३॥

नोट—यहाँ नौ नाम गिनाये हैं। इन्हीं नौको यहाँ मेघनादने नाम लेकर ललकारा, औरोंका नाम न लिया। इसका कारण यह है कि प्रथम आठको पूर्व युद्धमें वानरसेनाने मुख्य माना है। श्रीरामलक्ष्मण और सुग्रीवकी जय बोलते थे, यथा—'जयति राम जै लछिमन जय कपीस सुग्रीव। ३८।'; और जब निशाचरोंकी मारसे व्याकुल हुए थे तब त्राहि-त्राहि कर अङ्गद, हनुमान्, नल, नील और द्विविदको पुकारा था—'कोउ कह कहँ अंगद हनुमंता। कहँ नल नील दुबिद बलवंता॥ ४२। २॥' मेघनाद भी उस समय पश्चिम द्वारपर युद्ध कर रहा था, वहींपर हनुमान्‌जी थे। हनुमान्‌जीने यह पुकार सुनी—'निज दल बिकल सुना हनुमाना'। अतः उसने भी वानरोंको ये नाम लेते सुना था। इससे उन्हींको ललकारा, क्योंकि वे ही वानरोंके सहायक हुए थे। और विभीषणको ललकारना तो स्वाभाविक ही है, होना ही चाहिये, वह घरका भेदी है। 'भ्राता द्रोही' होना ही प्रधान कारण है।

२ 'कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता।०' इति। (क) 'कोसलाधीश' का भाव कि सब कोसलपति पराक्रमी और वीर हुए; तुम भी वैसे ही हो। (ख) 'दोउ भ्राता' दोनों भाई 'धन्वी' 'सकल लोक विख्यात' हैं अतः दोनोंको एक साथ कहा। शूर्पणखासे दोनोंको अतुलित बली और प्रतापी सुन चुका है, उसने दोनोंको धन्वी कहा था। यथा—'देखत बालक काल समाना। परम धीर धन्वी गुन नाना॥ अतुलित बल प्रताप दोउ भ्राता। ३। २२। ६—७।' (ग) 'सकल लोक बिख्यात' खरदूषणवधसे कहा। उनके वधसे सुरलोक, पाताल और पृथ्वी तीनोंमें प्रसिद्ध हुए। विराध, कबंध, बाली, ताटका

* पाठान्तर—उतरि दुर्ग तें बीरबर। † दोउ—(का०)। 'द्वौ'। ‡ सबहि।

और सुबाहु भी विख्यात वीर थे। इनका वध अङ्गदादिसे भी सुना है। (घ) यह विशेषण देकर ललकारनेका भाव कि अभीतक तो मैं इन्द्रजित् ही विख्यात था, आज त्रैलोक्य-विजयी विख्यात होऊँगा। (ङ) ☞ दोनों भाई कोसलाधीश नहीं हैं, तब 'कोसलाधीस दोउ' कैसे कहा ? इसका समाधान यह है कि पाठक्रमसे अर्थक्रम बली होता है। अर्थ प्रसंगानुकूल कर लेना होता है। देखिये 'हृदय सराहत सीय लुनाई। गुर समीप गवने दोउ भाई॥ १। २३७। १॥' का साधारण अर्थ यही होगा कि दोनों भाई सीताजीकी सुन्दरता हृदयमें सराहते थे, पर ऐसा है नहीं। केवल श्रीरामजीसे ही प्रथम चरणका सम्बन्ध है। गुरुसमीप दोनों गये, अतः 'दोउ भाई' एक साथ कहा। वैसे ही यहाँ कोशलाधीश रामजी हैं पर आगे 'धन्वी०' दोनों हैं अतः 'दोउ भ्राता' कहा। इस प्रकारके और भी अनेक उदाहरण ग्रन्थमें हैं—'स्यामल गौर किसोर सुहाये॥ देखि रूप लोचन ललचाने। १। २३२। ३-४।'; 'हौं मारिहौं भूप दोउ भाई। ७८। १२।' इत्यादि। पुनः, दूसरी प्रकार यों भी कह सकते हैं कि पहले केवल रामजीको कहनेको हुआ पर तुरत सोचा कि दोनों ही बड़े विख्यात वीर हैं, अतः तुरत 'दोउ भ्राता' कह दिया।

३ 'कहँ नल-नील दुबिद सुग्रीवा।०' इति। (क) यहाँ अङ्गद और हनुमान्‌जीको पीछे कहा; क्योंकि इनके बलकी परीक्षा उसे हो चुकी है—अङ्गदका बल पैर हटानेमें और हनुमान्‌जीका अशोकवनमें एवं यहाँ रणभूमिमें प्रथम युद्धके समय। नलादिका बल सुना है, परीक्षा अभी नहीं हुई है; अतः उन्हें प्रथम ललकारा। पंजाबीजीका मत है कि हनुमान्‌जीके तिरस्कारहेतु उनको अन्तमें कहा। (ख) 'बलसींवा' विशेषण सबका भी हो सकता है एवं केवल हनुमान्‌जी या अङ्गद और हनुमान्‌जीका। शुकसे सबको बलसींव सुना है, यथा—'दुबिद मयंद नील नल अंगदादि बिकटासि। दधिमुख केहरि निसठ सठ जामवंत बलरासि॥ ए कपि सब सुग्रीव समाना।' रावणने हनुमान्‌जीकी प्रशंसा की है—'है कपि एक महाबलसीला' पर उस समयतक उसने अङ्गदका बल न देखा था! (ग) 'कहँ' का भाव कि मर्द हो तो सामने आकर बल दिखाओ, कहाँ छिपे बैठे हो ? आज सबका पराक्रम भुला दूँगा।

४ 'कहाँ बिभीषण भ्राता द्रोही' इति। (क) मेघनाद यज्ञविध्वंसके पश्चात् वाल्मी० ८७। ११-१८ में विभीषणजीको देखकर मेघनादने उनसे कहा है कि—तू यहीं पैदा हुआ, बढ़ा और हमारे पिताका साक्षात् भाई है, पर तुझमें न जातित्व है न सौहार्द। तेरे द्रोह करनेका न तो कोई प्रमाण ही है और न यह धर्म है। सत्पुरुष तेरी निन्दा ही करेंगे कि तू अपने वर्गको छोड़ शत्रुवर्गका जाकर टहलुवा बना।……शत्रु गुणवान् और स्वजन निर्गुण ही क्यों न हो तो भी वह स्वजन ही अच्छा है। शत्रुपक्षसे मिलनेवाला अपने पक्षके नष्ट होनेपर शत्रुओंद्वारा मारा जाता है। स्वजन होकर भी हमारे साथ तुम निर्दयता कर रहे हो।—ये सब भाव 'भ्राताद्रोही' पदसे जना दिये गये हैं। (ख) 'हठि मारउँ ओही'। भाव कि मारूँगा तो सभीको पर इसको तो कदापि जीता न छोड़ूँगा चाहे कोई भी सहायता क्यों न करे। इस ललकारमें 'गर्वसंचारीभाव' है। (ग) पु० रा० कु०—यदि 'सठहि हठ मारौं' पाठ हो तो 'सठ' इससे कि राज्यलोभमें भाईका त्याग ऐसे अवसरपर किया और आते ही तिलक भी करा लिया।

प० प० प्र०—मेघनाद क्रोधावेशमें आकर विभीषणपर 'भ्रातृद्रोही' का आरोप (मिथ्या ही) कर रहा है। क्रोध चारों नेत्रोंसे अंधा होता है। रावणने एक बार भी विभीषणको भ्रातृद्रोही नहीं कहा। रावणके नाना 'मन्त्रीवर' माल्यवान्‌ने उन्हें 'नीतिविभूषण' ही कहा है। मन्दोदरी और प्रहस्तने भी उनको 'भ्रातृद्रोही' नहीं कहा। और कुम्भकर्णने तो, 'धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भएहु तात निसिचरकुल भूषन॥ बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर।' इन शब्दोंसे अपने उस छोटे भाईकी सराहना ही की है।

अस कहि कठिन बान संधाने। अतिसय क्रोध श्रवन लगि ताने॥ ४॥
सर समूह सो छाड़ै लागा। जनु सपच्छ धावहिं बहु नागा॥ ५॥
जहँ तहँ परत देखिअहिं बानर। सनमुख होइ न सके तेहि अवसर॥ ६॥

शब्दार्थ—संधानना=धनुषपर चढ़ाकर लक्ष्य करना, अस्त्रको प्रयोग करनेके लिये ठीक करना। कठिन=तीक्ष्ण। समूह=समुदाय, एक ही तरहकी बहुत-सी चीजोंका ढेर।

अर्थ—ऐसा कहकर उसने कठिन बाणोंका संधान किया और अत्यन्त क्रोधसे धनुषको कानतक खींचा ॥ ४ ॥ वह बाणोंका समूह छोड़ने लगा। (जो चलते ऐसे जान पड़ते थे) मानो बहुत-से पक्षयुत सर्प दौड़े जा रहे हों ॥ ५ ॥ वानर जहाँ-तहाँ गिरते देख पड़ने लगे। उस समय कोई उसके सम्मुख न हो सका ॥ ६ ॥

नोट १—श्रवण तक ताने जिसमें दूरहीसे बेध सके। 'कहँ कोसलाधीस' से यहाँतक रौद्ररस है (रा० प्र०)। २—**'सपक्ष धावहिं बहु नागा'** इति। 'नाग' और उसपर 'पक्षवाले' कहकर—(क) बाणोंको अत्यन्त वेगवान् जनाया। सर्प स्वभावतः वेगसे चलते हैं और जब पक्षयुत हो जाते हैं तब तो उनका कहना ही क्या ? कहते हैं कि पक्षयुत नाग उड़कर मलयागिरि चन्दनवृक्षमें जा लिपटते हैं। इसी प्रकार अत्यन्त वेगसे बाण उड़ते चले जाते हैं, यथा—**'संधानि धनु सर निकर छाँड़ेसि उरग जिमि उड़ि लागहीं'**—यह अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है। (ख) उनका छूटनेपर सर्पोंके आकारका होना सूचित किया। (ग) शीघ्र डसना और प्राण हरण करना जनाया (रा० प्र०)। यहाँ बाण सर्प नहीं हो जाते किन्तु वेगमें, विषैले होनेमें, चमचमानेमें, शीघ्र प्राण हरनेमें वे सर्पके समान हैं। बाणोंका सर्प बनकर लगना ७२ (१०) में ही कहा गया, यहाँ केवल उत्प्रेक्षा है।

३—पां०—**'सन्मुख होइ न सके तेहि अवसर'** अर्थात् लड़नेका अवसर नहीं पाते।

प० प० प्र०—यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है। अतः 'बाण सर्प बन जाते हैं' ऐसा अर्थ नहीं है। श्रीरामजीके बाणोंके सम्बन्धमें ऐसी ही उत्प्रेक्षा की गयी है। यथा—'चले बान सपच्छ जनु उरगा। ९१। १।' दोनों जगह एक-सी उत्प्रेक्षा करके जनाया कि मेघनादके बाण कपिसेनाको वैसे ही भयदायक हैं जैसे श्रीरामजीके बाण निशाचरचमूको।

जहँ तहँ भागि चले कपि रीछा *। बिसरी सबहिं जुद्ध कै ईच्छा ॥ ७ ॥
सो कपि भालु न रन महँ देखा। कीन्हेसि जेहि न प्रान अवसेषा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—अवशेष=बचा हुआ, बाकी, शेष। अन्त।

अर्थ—वानर और ऋक्ष जहाँ-तहाँ (इधर-उधर जिधर मौका मिला) भाग चले। सबको युद्धकी इच्छा भूल गयी ॥ ७ ॥ रणभूमिमें कोई भी ऐसा वानर या रीछ नहीं देख पड़ा जिसको उसने प्राण-अवशेष न कर दिया हो। (अर्थात् उनके प्राणमात्र ही बचे, पुरुषार्थ किंचित् भी न रह गया था। बल, धीरता, वीरता जाती रही, मृतकवत् हो गये) ॥ ८ ॥

बं० पा०—'भागि चले' इति। सब भाग चले इसीसे 'कपि रीछा' पद दिया क्योंकि इनका धात्वर्थ यही है—'कपि' संचलने और 'री' गतौ। [रा० प्र०—इससे जनाया कि सब भयसे व्याकुल हैं। **'जहँ तहँ परत देखिअहिं बानर।०'** (६) और (७) में भयानक-रस है।

दोहा—दस दस सर सब मारेसि परे भूमि कपि बीर।
† सिंहनाद करि गर्जा मेघनाद बलधीर ॥ ४९ ॥

अर्थ—दस-दस बाण सबको मारे। वीर वानर पृथ्वीपर गिरे तब प्रबल बलवान् मेघनाद सिंहके समान शब्द करके गर्जा ॥ ४ ॥

नोट—१ ☞ **'दस दस सर सब मारेसि०'**। एक-एकको दस-दस बाण मारना कहकर संख्यारहित बाणोंका चलाना जनाया। संख्या होती तो अवश्य लिखते, यथा—**'सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा। काल सर्प जनु चले सपच्छा'** ॥ ६७। ३।' इत्यादि। भटोंकी संख्या नहीं, अतः बाणोंकी संख्या न की।

२ पु० रा० कु०—दस ही दस बाण मारनेका अभिप्राय कि एक-एक बाणसे एक-एक इन्द्रिय, इस प्रकार दसों कर्मज्ञानेन्द्रियाँ व्याकुल हो जायँ, उनमें रणका सामर्थ्य न रह जाय।

---

* 'भागे भय व्याकुल कपि रीछा'—(काशी) पर रा० प्र० में उपर्युक्त ही है।

† 'मारेसि दसदस बिसिप सब' और 'सिंहनाद गर्जत भयउ मेघनाद रनधीर' यह पाठ काशीकी प्रतिका कहा जाता है पर रा० प्र० में उपर्युक्त पाठ है।

नोट—२ 'सिंहनाद करि गर्जा' इति यह गर्जन जय, गर्व और ललकारका सूचक है। गर्व हुआ कि मैंने वीरोंको गिरा दिया, कोई सम्मुख नहीं होता, सब घायल और व्याकुल पड़े हैं और ललकार यह कि मर्द हो सो सामने आवे। इसी तरह हनुमान्‌जीका अशोकवनमें गर्जन है। यथा—

जय—'ताहि निपाति महाधुनि गर्जा'।' (अक्षयकुमारको मारकर गर्जे)।

ललकार—'सुनि रावन पठये भट नाना। तिन्हहिं देखि गर्जेउ हनुमाना ॥ ५। १७। ९।'

'कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा ॥ ५। १९। ४।'

जय, बलगर्व—'करि दाप चाप चढ़ाइ दस संधानि सर बहु बर्षई। ९६।

किये सकल भट घायल भयाकुल देखि निज बल हर्षई।' (रावण)।

पं० पा०—सिंहनादका भाव कि रीछ-वानररूपी मत्तगजगणको विदीर्ण कर चुका है। मेघनाद नाम यहाँ सार्थक है क्योंकि मेघके समान बाण-वृष्टि की है और गर्जा भी है।

देखि पवनसुत कटक बेहाला। क्रोधवंत जनु धायेउ काला ॥ १ ॥
महासैल एक तुरत * उपारा। अति रिस मेघनाद पर डारा ॥ २ ॥

शब्दार्थ—बेहाल=व्याकुल।—'जनु बिनु पंख बिहंग बेहालू'—(अ०)

अर्थ—सेनाको विकल देखकर पवनसुत क्रोधमें भरकर (कुपित हो) धाये मानो काल ही दौड़ा हो ॥ १ ॥ तुरंत एक विशाल पर्वत उखाड़ा और बहुत ही क्रोधसे मेघनादपर उसे डाल दिया ॥ २ ॥

पं० पा०—'क्रोधवंत०' से रौद्ररसकी प्रधानता दिखायी। कालकी उत्प्रेक्षाका भाव कि उनके प्राणहरणके लिये दौड़े हैं। रुद्रावतार हैं ही, इससे कालकी उत्प्रेक्षा भी यहाँ उत्कृष्ट हुई है।—उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है।

हनुमान्-मेघनाद-युद्ध यहाँतक तीन बार हुआ। इन तीनोंके मिलान क्रमसे और अर्धालियोंमें नीचे दिये हैं जिनसे सबका दिग्दर्शन सहज ही हो जायगा—

प्रथम युद्ध	दूसरा युद्ध	तीसरा युद्ध
१ कपि देखा	मेघनाद तहँ करइ लराई	अभी हो रहा है—
दारुन भट आवा	टूट न द्वार परम कठिनाई	'कहँ''अंगद हनुमंत०'
२	निज दल बिकल सुना हनुमाना	देखि पवनसुत कटक बेहाला
३ कटकटाइ गर्जा	पवन तनय मन भा अति क्रोधा	क्रोधवंत जनु धायेउ काला
अरु धावा	गर्जेउ प्रबल काल सम जोधा	
४ अति बिसाल	कूदि लंक गढ़ ऊपर आवा	महासैल एक तुरत उपारा
तरु एक उपारा	गहि गिरि मेघनाद कहुँ धावा	अति रिस मेघनाद पर डारा
५ बिरथ कीन्ह०	भंजेउ रथ सारथी निपाता	रथ सारथी तुरग सब तोरे
६ मुठिका मारि०	ताहि हृदय महँ मारेसि लाता	आवत देखि गयउ नभ सोई
७ ताहि एक छन	दुसरे सूत बिकल तेहि जाना	बार बार प्रचार हनुमाना।
मुरछा आई।	स्यंदन घालि तुरत गृह आना	निकट न आव मरम सो जाना।

☞ हनुमान्‌जीका क्रोध, गर्जन और पुरुषार्थ उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया—

१ प्रथम बार (सुन्दरकाण्डमें) मेघनादको देखकर ही दारुण भट जान 'कटकटाए' 'गर्जे' 'धाये'। दूसरी बार उससे मोर्चा लड़ रहे थे, द्वार टूटता न था और अपनी सेनाकी पुकार सुन पड़ी, अतः तब 'अति क्रोध हुआ, 'प्रबल काल सम गर्जे' और धाये। तीसरी बार सारा कटक व्याकुल देखा तब 'क्रोधवंत जनु काला' 'जनु धायेउ काला।' अर्थात् पहलेमें साधारण क्रोधादि, दूसरेमें कालसमान और तीसरेमें वे स्वयं ही मानो काल हो गये। इति प्रथमावृत्तिः।

* 'महामहीधर तमकि उपारा' (का०, ना० प्र०) तमकि उपारा—(रा० प्र०)।

२ प्रथम बार अपनेको रावणतक पहुँचाना था और वनमें युद्ध हो रहा था, अतः **'अति बिसाल तरु'** उखाड़कर मारा। दूसरी बार द्वार न टूटता था तब मारना चाहा, अतः **'गहि गिरि'** पड़ा हुआ पर्वत-शिखर उठाकर, मारा, पर वह मूर्च्छित हुआ, मरा नहीं। अतः तीसरी बार 'महाशैल उखाड़कर' दौड़े। इति द्वितीयावृत्तिः।

३ प्रथम दो युद्धोंमें आदिमें क्रोध दिखाया और तीसरेमें आद्यन्त क्रोध है, यथा—**'क्रोधवंत जनु धाएउ काला'** और **'अतिरिस मेघनाद पर डारा।'** इति तृतीयावृत्तिः।

४ जब वृक्षसे मारा तब वह रथहीन मात्र हुआ—**'बिरथ कीन्ह०'**। जब गिरि चलाया तब रथ और सारथीरहित हुआ—**'भंजेउ रथ सारथी निपाता।'** और जब महाशैल डाला तब रथ, सारथी और घोड़े तीनोंका नाश हुआ—**'रथ सारथी तुरग सब खोई।'** इति चतुर्थावृत्तिः।

५ प्रथम बार वह स्वयं लड़ने आया था, दूसरी बार दोनों एक ही मोर्चेपर नियुक्त किये गये थे, तीसरी बार वह ललकारता हुआ आया था। अतः उत्तरोत्तर इन्होंने अधिक पराक्रम दिखाया। दो बार उसने न ललकारा तब इन्होंने भी न ललकारा। अबकी उसने आते ही ललकारा था, अतः इन्होंने भी उसे ललकारा। उसने एक बार ललकारा, इन्होंने बारंबार ललकारा—**'बारबार प्रचार हनुमाना।'** उसने ललकारा तब ये सामने न थे और इसने सम्मुख ललकारा। वह ललकारपर भागा। इति पञ्चमावृत्तिः।

६ उत्तरोत्तर मेघनादका अधिक अपमान और पराजय हुआ। पहली बार घूँसा खाया, दूसरी बार लात खायी, तीसरी बार भागा। जब 'मुठिका' मारी तब क्षणभर मूर्च्छा हुई—**'मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई। ताहि एक छन मुर्छा आई॥'** जब लात मारी तब देरतक मूर्च्छा रही—**'दुसरे सूल बिकल तेहि जाना०।'** तीसरी बार **'निकट न आव मरम सो जाना।'** इति षष्ठावृत्तिः।

७ पहली बार साधारण क्रोध और गर्जन, दूसरी बार कालसमान गर्जन था, काल-समान 'धावा' न था और तीसरी बार 'कालरूप क्रोध' और 'धावा' दोनों थे। कालवत् गर्जनसे मेघनाद न डरा, अतः दूसरी बार भी सामने आया। तीसरी बार कालरूप हो दौड़े अतः वह सामने न आया। कालको देख सामने कैसे आता? इति सप्तमावृत्तिः।

८ प्रथमसे दूसरेमें अधिक काम था और दूसरेसे तीसरेमें। वैसे ही हनुमान्‌जीने उत्तरोत्तर शीघ्रता की। प्रथम युद्ध आठ अर्धालियों और एक दोहेमें, दूसरा युद्ध छः अर्धालियोंमें और तीसरा साढ़े तीन अर्धालियोंमें समाप्त किया। तीसरेमें 'तुरत' पद भी आया है। इति अष्टमावृत्तिः।

आवत देखि गएउ नभ सोई। रथ सारथी तुरग सब खोई॥ ३॥
बार बार पचार हनुमाना। निकट न आव मरमु सो जाना॥ ४॥

अर्थ—पर्वतको आते देख वह आकाशमें चला गया। रथ, सारथी, घोड़े सब नष्ट हो जाने दिये॥ ३॥ हनुमान्‌जी बारंबार ललकारते हैं। वह मर्म जानता है इससे पास नहीं आता॥ ४॥

नोट—**'गयउ नभ'** का भाव कि पूर्व गढ़परसे उतरकर पृथ्वीपर आया था, यथा—**'उतर्‍यो बीर दुर्ग तें०।** ४८।' और पृथ्वीपर ही सबको बाणोंसे विकल कर दिया था। अब पर्वत आते देख आकाशको चला गया। २—**'रथ सारथी तुरग सब खोई'** से जनाया कि गढ़से उतरकर रथपर सवार होकर रणभूमिमें आया था, अब रथ छोड़ प्राण बचाये। पुनः, यहाँ हनुमान्‌जीकी शीघ्रता और पर्वतकी विशालता भी दिखायी कि सारथी न अपनेको और न रथादिको ही बचा सका। मर्म=स्वरूप, रहस्य, भेद। वह इनके रहस्यको, इनके स्वरूप बलादिको जानता है। पूर्व दो बार हनुमान्‌जीसे पाला पड़ चुका है। तब हनुमान्‌जीने जो दुर्गति की थी वह याद आ गयी है। वही हाल यहाँ होगा। अबकी प्राण ही ले लेगा। प्रथम बार घूँसा खा चुका है, उनके एक घूँसेसे ही मूर्च्छित हो गया था। दूसरी बार भूलसे लात भी खायी। अब यह तीसरी बार सामना है, इससे सँभल गया और प्रथम ही वहाँसे हट गया। प्रथम बार मल्लयुद्ध करके शरीरबल भी देख चुका है।—५० (१-२) देखिये।

वि० त्रि०—हनुमान्‌जीके फेंके हुए पर्वतको अपने रथके ऊपर आते हुए देखकर, उसने समझ लिया कि रथ,

सारथी, घोड़े अब एक नहीं बचते, इस रथपर रहनेसे मैं भी पिस जाऊँगा, अतः रथपरसे आकाशमें उड़ गया, नीचे नहीं कूदा क्योंकि हनुमान्‌जीके लाघव (फुर्ती) को जानता है। चारों फाटकोंकी लड़ाईमें जब हनुमान्‌जी कूदकर गढ़पर चढ़ गये, तो मेघनादपर पर्वत फेंका था। उससे रथ टूट गया, सारथी पिस गया, मेघनाद नीचे कूदे, तब हनुमान्‌जीकी लात बैठ गयी। दूसरे सूतने उसे अपने रथपर लाद लिया, और घर पहुँचा दिया। इस बार भी यही दशा होगी इसलिये पृथ्वीपर न कूदकर आकाशमें उड़ गया।

पं०—अथवा, मर्म यह कि सूक्ष्म वेष किये रुद्र हैं। वा, यह कि मेरी मृत्यु उनसे है जो १२ वर्ष निद्रा, नारि और भोजनका त्याग कर चुका हो सो कदाचित् इन्हींने निद्रा और भोजनका त्याग न किया हो।

प० प० प्र०—मर्म यह कि ये अवध्य हैं; ब्रह्मास्त्र और नागपाशोंका भी प्रभाव इनपर नहीं पड़ सकता, समीप जानेसे अपना ही नाश सम्भव है।

रघुपति निकट गएउ घननादा। नाना भाँति कहेसि* दुर्बादा॥ ५॥

अर्थ—मेघनाद श्रीरघुनाथजीके समीप गया और अनेक तरहके दुर्वचन कहे॥ ५॥

☞ 'घननादा' नाम देकर जनाया कि गर्ज-गर्जकर (क्रोधसहित) दुर्वचन कहेगा और अपना पुरुषार्थ जनायेगा। क्रोधयुक्त भी जनाया, यथा—'तब सकोप बोलेउ घननादा। कौतुक प्रात देखिअहु मोरा॥ ४८। ५-६।' जब-जब इसने 'दुर्वाद' मुँहसे निकाला और कोप दिखाया है तब-तब इसको 'घननाद' नाम कविने दिया है। यथा—'ब्याकुल कटक कीन्ह घननादा। पुनि भा प्रगट कहइ दुर्बादा॥ ७३। ३।' पर इसका अर्थ यह नहीं है कि जहाँ-जहाँ घननाद शब्द है वहाँ दुर्वाद अवश्य है।

'घननादा' में वाल्मी० ८८ में का कथित भाव भी जनाया कि उसने कहा कि जैसे गरजते हुए मेघोंके सामने कोई खड़ा नहीं रह सकता वैसे ही मेरे गर्जन और शरवृष्टिके सामने कोई नहीं खड़े रह सकते हो। वाल्मीकीयमें ऐसे प्रसंगोंका विस्तार है जो युद्धकाण्डके सर्ग ८८ में उदाहृत है। गोस्वामीजीने जान-बूझकर दुर्वचनवाले प्रसंगोंका विस्तार नहीं किया है, क्योंकि भक्तोंके लिये यह अप्रिय है, रावणके वचनोंमें दुर्वादके उदाहरणसे उसके प्रकारको स्पष्ट कर दिया है। यथा—'**आजु बयरु सब लेउँ निबाही। जौं रन भूप भाजि नहिं जाही॥ आजु करउँ खलु काल हवाले। परेहु कठिन रावनके पाले॥ सुनि दुर्बचन०। ८९। ७-९।**'

पं०—प्रथम उसने ललकारा था पर उत्तम विशेषण दिये थे, दुर्वचन न कहे थे। अब दुर्वचन कहनेका भाव कि निशिचरने स्वभावसे नीति त्याग दी। अथवा, हनुमान्‌जीसे खिसियाया हुआ है। उनसे न चली तब इनपर खीझने लगा और दुर्वचन कहे। मानो खिसियानेका बदला इनसे लेना चाहता है।

अस्त्र सस्त्र आयुध सब डारे। कौतुक ही प्रभु काटि निवारे॥ ६॥
देखि प्रताप मूढ़ खिसिआना। करै लाग माया बिधि नाना॥ ७॥
जिमि कोउ करै गरुड़ सैं खेला। डरपावै गहि स्वल्प सपेला॥ ८॥

अर्थ—अस्त्र और शस्त्र सभी प्रकारके सब हथियार चलाये। प्रभुने उन्हें खेलमें (सहज) ही काटकर निवारण किये (रोके, पास तक न आने दिये)॥ ६॥ वह मूर्ख प्रताप देखकर लज्जित हुआ और अनेक प्रकारकी माया करने लगा॥ ७॥ जैसे कोई गरुड़से खेल करे और छोटा-सा सर्पका बच्चा (हाथमें) लेकर उसे डरवावे॥ ८॥

नोट—१ (क) 'देखि प्रताप'—यह कि हमारे सब आयुधोंको सहज ही काट डाला। अस्त्र-शस्त्र—'**अस्त्र-सस्त्र कछु नयन न देखा। १४। १।**' देखिये। (ख) 'मूढ़' का भाव कि मन्दबुद्धि न होता तो इनका प्रताप देख शरणमें आता पर अभी उसे अपनी मायाका गर्व है इससे नहीं समझता, उनके बलकी थाह लेना चाहता है। यथा—'**मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। ४। ९। ९।**' 'मूढ़ मंदमति कारन कागा। ३। १। ७।' **ताहि दिखावइ निसिचर निज माया मति खोट। ५०।**'

* करेसि—गी० प्र०।

२ (क) 'जिमि कोउ करै०' इति। यहाँ उदाहरण अलंकार है। रघुनाथजी और गरुड़, मेघनादकी माया और छोटा सपेला उपमेय उपमान हैं। सर्प पकड़कर दिखाना खेल करना है। 'स्वल्प सपेला' का भाव कि मेघनादकी माया 'स्वल्प सपेला' ब्रह्मादिकी माया सपेला, और प्रभुकी माया बड़ी नागिन है। जब बड़ी नागिन ही गरुड़से डरे तो अत्यन्त छोटे सर्पकी बात ही क्या? 'जो माया सब जगहि नचावा' वह ही जब प्रभुके भ्रू-विलासपर नाचती है। तब इसकी माया क्या चीज है? यही भाव आगेके दोहेमें स्पष्ट करते हैं। पुनः, भाव कि विधिहरि-हरकी माया भी रामजी (तो दूर रहे उन) के भक्तके हृदयपर भी प्रभाव डालनेको समर्थ नहीं हो सकती, यथा—'बिधि हरि हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरत मति सकइ निहारी॥ अ० २९५।' तब भला निशिचर माया स्वयं उनका क्या कर सकेगी?

दोहा—जासु प्रबल माया * बस सिव बिरंचि बड़ छोट।
ताहि देखावै निसिचर निज माया मति खोट॥ ५०॥

शब्दार्थ—खोट=दूषित, क्षुद्र, बुरी। बड़ छोट-छोटे बड़े मुहावरा है। =जो सबसे बड़े हैं उनसे लेकर सबसे छोटे तक अर्थात् सभी। जैसे—'तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता।'

अर्थ—जिसकी अत्यन्त बलवान् मायाके वश शिव-ब्रह्मा (से लेकर) सभी बड़े-छोटे जीव हैं, उसीको क्षुद्रबुद्धि निशाचर अपनी माया दिखाता है (मायासे डरवाना चाहता है)॥ ५०॥

नोट—१ 'जासु प्रबल माया बस०'। यथा—'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा'—(बा० मं० श्लो०), 'सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया प्रबल। १। १४०।'

२—भाव यह कि मेघनादने यह माया शिवजी और ब्रह्माजीसे पायी और इनको जो कुछ मिला वह प्रभुसे। जब वर देनेवालोंकी सामर्थ्य नहीं कि वे प्रभुकी मायाकी ओर देख भी सकें—'सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥ ७। ७१। ८।' तब यह समझना कि मैं अपनी मायासे इन्हें मोहित कर लूँगा, मूर्खता है; इसीसे 'मति खोट' कहा।

३ प्र० स्वामीजीका मत है कि यहाँ भी विष्णुका अन्तर्भाव न करके विष्णु-अवतारी रामावतार सूचित किया है। यथा—'सिव बिरंचि जेहि सेवहिं···। ४७।'

नभ चढ़ि बरष बिपुल अंगारा। महि ते प्रगट होहिं † जलधारा॥ १॥
नाना भाँति पिसाच पिसाची। मारु काटु धुनि बोलहिं नाची॥ २॥
बिष्टा ‡ पूय रुधिर कच हाड़ा। बरषइ कबहुँ उपल बहु छाड़ा॥ ३॥
बरषि धूरि कीन्हेसि अँधियारा। सूझ न आपन हाथ पसारा॥ ४॥
कपि अकुलाने माया देखें। सब कर मरन बना एहि लेखें॥ ५॥

शब्दार्थ—विष्टा (विष्ठा)=मैला, मल, पाखाना। पूय=पीप, मवाद। हाड़=हड्डी, अस्थि। छाड़ा (छार, क्षार)= राख। = छोड़ा या गिराया। पसारा=फैलाया। लेखना=ठीक-ठीक अन्दाजा करना; मन-ही-मन ठहराना, सोचना। बनना= संयोग होना।

अर्थ—(मेघनाद) आकाशमें चढ़कर बहुत अङ्गारे बरसाने लगा। पृथ्वीसे जलकी धाराएँ प्रकट होने लगीं। (भाव कि वानर ऊपर जायँ सो आगमें जलें और पृथ्वीपर रहें तो जलकी धारामें डूबें और बह जायँ। ऊपर-नीचे दोनों जगह मरण ही हो)॥ १॥ अनेक प्रकारके पिशाच, पिशाचिनियाँ नाच-नाचकर अनेक प्रकारसे मारो-काटो यह शब्द बोल रही हैं॥ २॥ कभी विष्ठा, पीप, रुधिर (खून), बाल और हड्डियाँ बरसाता है और कभी बहुत पत्थर और राख बरसाता है॥ ३॥ धूल बरसाकर (ऐसा) अँधेरा कर दिया (कि) अपना ही फैलाया हुआ हाथ नहीं सूझ पड़ता (दिखायी

* बिबस—(का०)। † होहि, बोलहि, कबहु। ‡ विष्ठा—(का०)

देता) ॥ ४ ॥ मेघनादकी माया देख वानर व्याकुल हो गये (और यह सोचने लगे कि) सबकी मृत्युका संयोग आ बना। (वा, इस हिसाबसे अर्थात् ऐसा ही रहा तो सबकी मृत्यु बनी बनायी है) ॥ ५ ॥

नोट—१ पूर्व कहा कि 'करै लाग माया बिधि नाना' अब उन नाना विधिकी मायाओंका वर्णन करते हैं। (१) अङ्गारे बरसाना। (२) जलधारा प्रकट करना। (३) नाना जातिके पिशाची-पिशाच उत्पन्न करना जो नाचते इत्यादि हैं। (४) 'विष्ठा, पूय' आदिकी वर्षा। (५) राखकी वर्षा। (६) पत्थरकी वर्षा। (७) धूलिकी वर्षा।

२ (क) 'पिशाच पिशाची'। ये यक्षों और राक्षसोंसे हीन कोटिके कहे गये हैं। इनका स्थान मरुस्थल बताया गया है। वे बहुत अशुचि और गन्दे कहे गये हैं। युद्धक्षेत्रों आदिमें इनके बीभत्स काण्डोंका वर्णन कवियोंने किया है, जैसे खोपड़ीमें रक्त पीना आदि। (श० सा०) यही कारण है कि इनको 'मार काट' में आनन्द मिलता है। इसीसे 'नाची' पद दिया अर्थात् वे 'मारो काटो' ध्वनि करनेमें आनन्द मानते हैं—(पु० रा० कु०, पं० पा०)। (ख)—'मारु काटु धुनि बोलहिं'। डर उत्पन्न करनेके लिये, यथा—'धरु धरु धरु करहिं भयकर गिरा। आ० २० छंद।'

कौतुक देखि राम मुसुकाने। भए सभीत सकल कपि जाने ॥ ६ ॥
एक बान काटी सब माया। जिमि दिनकर हर तिमिर निकाया ॥ ७ ॥

अर्थ—यह कौतुक देखकर श्रीरामजी मुस्कुराये। जाना कि सभी वानर डर गये हैं ॥ ६ ॥ एक बाणसे सब माया काट दी जैसे (एक) सूर्य अन्धकार-समूहको हर लेता है ॥ ७ ॥

नोट—'कौतुक देखि राम मुसुकाने' इति। १—जो मेघनादके लिये बड़ी भारी माया थी वह प्रभुके लिये कौतुक था। मानो वह खेल-तमाशा दिखाता था और ये देखते थे। जैसे खेलसे डर नहीं लगता वैसे ही उसकी मायाने इनको कुछ भय न उत्पन्न हुआ…यह भाव 'कौतुक' से जनाया। २—'मुसुकाने' निरादरसूचक है। हँसे कि—(क) हमें अपनी मायासे डराना चाहता है। (ख) मेघनादकी मायासे कपि डर गये यह देख हँसी आ गयी कि देखो तो इसने अपनी मायासे सबको भयभीत कर दिया। (पं०)। (ग) कौतुक देखकर हँसना कृपासूचक है—'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा ॥ १। १९८। ७।' यह विचारकर हँसे कि देखो तो हमारे देखते ही वानरोंपर संकट पड़ रहा है, हमारे लिये ही ये सब कष्ट सह रहे हैं। (पु० रा० कु०)। आगे 'कृपादृष्टि' कवि स्वयं लिखते हैं—'कृपादृष्टि कपि भालु बिलोके'। वा, (घ) सब देवांश होकर भी झूठी मायाको सत्य समझे। (रा० प्र०)। वा, हँसी आपकी माया है, यथा 'माया हास'…हँसकर प्रभुने मेघनादकी राक्षसी मायाका विनाश करनेको अपनी माया छोड़ी। बाणके साथ जाकर उसने निमित्तमात्रमें राक्षसी मायाका संहार किया। स्मरण रहे कि हँसीमें मायाको प्रेरण और मायाका आकर्षण भी होता है। (प० प० प्र०)।

३ 'जिमि दिनकर हर तिमिर निकाया' इति। (क) माया 'नाना बिधि' की है, इसीसे 'तिमिर निकाया' कहा। एक सूर्य सब प्रकारके अन्धकारको नष्ट कर देता है वैसे ही यहाँ एक ही बाणने सब प्रकारकी माया हर ली। (ख) जैसे तिमिरनिकाय (अन्धकार) भूखण्डमें व्याप्त रहता है, एक स्थानसे सूर्य निकलते हैं और सम्पूर्ण अन्धकार ऐसा नष्ट हो जाता है कि कुछ भी शेष नहीं रह जाता। इसी भाँति सम्पूर्ण रणभूमिमें माया फैली हुई थी। 'बिष्टा पूय रुधिर कच हाड़' से भरी हुई थी, धूलिकी वर्षा हो रही थी, सरकारके एक बाणके उदय होते ही सब माया नष्ट हो गयी, विष्ठा, पूय, रुधिरादि कहीं कुछ भी नहीं। जैसे कोई सिनेमाके प्रकाश विस्तारक यन्त्रको एक बाणसे तोड़ दे, और परदेपरका सम्पूर्ण दृश्य उसी क्षण निःशेष हो जाय। (वि० त्रि०)। (ग) 'दिनकर' का दृष्टान्त देकर यह भी सूचित किया कि भास्कर-बाणने ही तमका नाश किया और बिना परिश्रम ही। (प० प० प्र०)। (घ) मेघनादपर बाण क्यों न चलाया, इसका कारण यह है कि वह रावणका पुत्र है और प्रभुका जोड़ रावण और कुम्भकर्णसे ही उचित है; पुत्रपर हाथ क्या चलावें। इसकी जोड़में लक्ष्मणजीको भेजेंगे।

कृपादृष्टि कपि भालु बिलोके। भए प्रबल रन रहहिं न रोके ॥ ८ ॥

अर्थ—कपि-भालुपर कृपा-दृष्टिसे देखा (जिससे) वे (ऐसे) प्रबल हो गये (कि) रणमें रोकनेसे भी नहीं रुकते।

(अर्थात् उनको मेघनादके मुकाबिलेमें जानेसे रोका भी गया तो भी वे नहीं मानते। ऐसा बल आ गया कि अब उसको तुच्छ समझने लगे।) ॥ ८ ॥

नोट—१ श्रीरामजीने बाणसे माया काट दी, पर वानर लड़नेको न दौड़े। कारण कि प्रथम तो वे उसके बाणोंसे ही ऐसे प्राणावशेष हो गये थे कि उनको युद्धकी इच्छा भूल ही गयी। उसपर भी मायाने और भी व्याकुल कर दिया था, इससे लड़नेका उत्साह भी जाता रहा। नहीं तो वे माया कटते ही तुरन्त फिर लड़नेको दौड़ते जैसे अकंपनादिकी माया कटते ही दौड़े थे, यथा—'भालु बलीमुख पाइ प्रकासा। धाए हरषि बिगत श्रम त्रासा॥ ४६। ३-५।' यहाँ न धावा करनेसे उत्साहहीन समझकर प्रभुने उनपर कृपादृष्टिसे भी देखा। कृपावलोकनसे वे प्रबल हो गये, शिथिलता जाती रही। यथा—'देखी राम सकल कपि सैना। चितइ कृपा करि राजिवनयना॥ राम कृपा बल पाइ कपिंदा। भए पच्छजुत मनहु गिरिंदा॥ सुं० ३५। २-३॥'

२—प्रथम बाण चलाकर माया हरण की, फिर कृपादृष्टिसे उनमें बल और उत्साह भर दिया। पूर्व अनिप और अकंपनकी माया अग्निबाणसे हरी; वैसे ही यहाँ भी अग्निबाणसे माया हरी, वा भास्करबाणसे।

३ 'भए प्रबल रन रहहिं न रोके' इति। इससे यह ध्वनि भी निकलती है कि जब वे न रुके तब मेघनादको प्रबल जानकर श्रीरामजी स्वयं उनकी सहायताको चले। यह देख लक्ष्मणजीने आज्ञा माँगी। वाल्मी० ५९ के शक्ति-प्रसङ्गमें आज्ञा इसी कारण माँगी गयी है। दोहा ५१ में देखिये।

मेघनाद-लक्ष्मण-प्रथम युद्ध
(शक्ति-प्रकरण)

दोहा—आएसु माँगि राम पहिं अंगदादि कपि साथ।
लछिमन चले क्रुद्ध* होइ बान सरासन हाथ॥ ५१॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीसे आज्ञा माँगकर अङ्गदादि वानरोंके साथ श्रीलक्ष्मणजी क्रोधित होकर हाथमें धनुषबाण लिये हुए चले॥ ५१॥

नोट—१ 'आयसु माँगि'। भाव कि श्रीरामजीने उन्हें जानेको नहीं कहा, पर उन्होंने यह उचित न समझा कि हमारे रहते स्वामी स्वयं कष्ट उठावें, दूसरे वे यह न सह सके कि हमारे रहते मेघनाद प्रभुको दुर्वचन कहे और उन्हें अपनी माया दिखावे। अतः उन्होंने स्वयं आज्ञा माँगी। आज्ञा माँगनेपर उन्हें आज्ञा मिली तब गये। आज्ञा न मिलती तो न जाते। धनुष तोड़नेकी आज्ञा माँगी थी—'नाथ जानि अस आयसु होऊ।' वहाँ आज्ञा न मिली—'सयनहिं रघुपति लखन निवारे।' फिर चित्रकूटमें भरतका सेनासहित आगमन सुन आज्ञा माँगी थी—उठि कर जोरि रजायसु माँगा। अ० २३०। १।' पर वहाँ भी न मिली। इससे वे काम न किये।

वाल्मी० ५९ में शक्तिका प्रसङ्ग रावण-लक्ष्मण-युद्धमें है। वहाँका प्रसङ्ग इस दोहेसे मिलता है। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि—'बादमें महात्मा रामजी धनुष लेकर जल्दीसे चले। तब लक्ष्मणजीने हाथ जोड़कर परमार्थयुक्त वचन कहे कि—हे आर्य! इस दुरात्माके वधके लिये मैं अच्छी तरह सुपर्याप्त हूँ। हे विभो! मैं इसको विध्वंस करूँगा, आप ऐसा समझिये। यथा—'काममार्य सुपर्याप्तो वधायास्य दुरात्मनः। विधमिष्याम्यहं चैतमनुजानीहि मां विभो॥ ४६॥' तब सत्यपराक्रम रामजी बोले कि 'जाइये, यत्नपूर्वक रहियेगा।' 'गच्छ यत्नपरश्चापि भव लक्ष्मण संयुगे॥ ४७॥' उसके छिद्रोंको देखते और अपने छिद्रोंको बचाते हुए रहना। नेत्रों और धनुषसे होशियारीसे अपनी रक्षा करना।

मा० म० का मत है कि रामचन्द्रजीने कणमात्र भी दत्तचित्त होकर श्रीलक्ष्मणजीको जानेको नहीं कहा; क्योंकि स्वामीके समीप अपनी रुचि-अनुसार बोलना अनुचित है।

पं०—लक्ष्मणजीने लड़नेकी आज्ञा माँगी कि वह रावणका पुत्र है और मैं आपका पुत्र हूँ। इस तरह मेरा और उसका संग्राम उपयुक्त है।

---

* संकोप तब—(का०)। क्रुद्ध होइ (भा० दा०)।

वं० पा०—'बान सरासन हाथ' से निज पुरुषार्थका बल जनाया।

२ 'अंगदादि कपि साथ'। 'आदि' पद देकर दोहा ७४ में अङ्गदके बाद गिनाये हुए नाम यहाँ भी सूचित किये, यथा—'अंगद नील मयंद नल संग सुभट हनुमंत।' आगे कहना है इससे यहाँ एक ही नाम दिया।'

३ यहाँ चलते समय प्रणाम करना नहीं कहा गया। इसका कारण 'क्रुद्ध होइ' है। क्रोधमें ज्ञान नहीं रह जाता—'करइ क्रोध जिमि धरमहि दूरी। ४। १५। ४।' क्रोधावेशमें प्रणाम करना भूल गये; इसीका फल शक्ति लगना है। दूसरे युद्धमें जाते समय प्रणाम किया है, यथा—'रघुपति चरन नाइ सिर चलेउ तुरंत अनंत॥ ७४॥ वहाँ क्रोध नहीं है। अतएव उस संग्राममें विजय प्राप्त हुई। दोहा ७५ (१५) देखिये।

प्रथम संस्करणमें हमने इतना लिखा था। परन्तु पीछे देखा कि रावणसे युद्ध करनेके लिये जब श्रीलक्ष्मणजी गये तब वे प्रणाम करके गये हैं। यथा 'निज दल बिकल देखि कटि कसि निषंग धनु हाथ। लछिमन चले क्रुद्ध होइ नाइ राम पद माथ॥ ८१॥' यद्यपि 'क्रुद्ध होइ' चले तथापि प्रणाम नहीं भूले। प्रणाम करके गये तो भी उनको शक्ति लगी और वे मूर्च्छित हुए। यथा 'सो ब्रह्मदत्त प्रचंड सक्ति अनंत उर लागी सही। परयो बीर बिकल उठाव दसमुख अतुल बल महिमा रही॥ ८२ छंद॥' अतएव उपर्युक्त भावमें शिथिलता आ जाती है। अतः तीनों प्रसङ्गोंका कुछ विस्तृत मिलान किया जा रहा है—

प्रथम युद्धमें—आयसु माँगि[1] चले[2] क्रुद्ध होइ[3]

दूसरे युद्धमें—रघुबीर[1] दीन्हि अनुसासन। ७४ (११), प्रभु प्रताप उर धरि रनधीरा। बोले[2] घन इव गिरा गँभीरा।…७४ (१२–१५), 'रघुपति चरन नाइ[4] सिर चलेउ…। ७४।' और युद्धमें भी 'सुमिरि कोसलाधीस प्रतापा'।

तीसरे युद्धमें—(वानरोंकी पुकारपर[1]) लछिमन चले[2] क्रुद्ध होइ[3] नाइ[4] रामपद माथ।

तीनोंके मिलानसे स्पष्ट है कि प्रथम और तृतीय युद्धमें स्थिति प्रायः एक-सी है। दोनोंमें निज पुरुषार्थका भरोसा है। प्रथममें 'आयसु' माँगना स्पष्ट है, तीसरेमें स्पष्ट नहीं है पर प्रणाम करनेमें आयसु माँगनेका भाव लिया जा सकता है। 'चले क्रुद्ध होइ' दोनोंमें है, किन्तु तीसरेमें 'नाइ राम पद माथ' यह विशेषता है। इस विशेषताका फल यह हुआ कि इस बार ब्रह्मदत्त शक्तिका प्रभाव कुछ विशेष न पड़ा। प्रभुके इतना कहते ही कि "तुम्ह कृतांत भच्छक सुर त्राता' वे उठ बैठे और 'पुनि कोदंड बान गहि धाए। रिपु सनमुख अति आतुर आए।' और फिर रावणको ऐसा व्याकुल कर दिया कि 'गिर्‌यो धरनि दसकंधर बिकलतर बान-सत बेध्यो हियो। सारथी दूसर घालि रथ तेहि तुरत लंका लै गयो॥ रघुबीर बंधु प्रताप पुंज बहोरि प्रभु चरनन्हि नयो॥ ८३ छंद॥' प्रणाम करनेसे इनके प्रतापकी जय हुई।

दूसरे युद्धमें भी 'क्रुद्ध होइ' का भाव 'बोले घन इव गिरा गँभीरा।…जौं सत संकर करहिं सहाई।७४।१२–१५।' इन शब्दोंसे ग्रहण हो सकता है। परन्तु इस युद्धमें दो विशेषताएँ हैं—एक तो प्रभुका प्रताप उरमें धारण करके क्रोधके वचन बोले हैं, अर्थात् अपने पुरुषार्थका अहंकार नहीं है। दूसरे प्रणाम करके चले। अतः जय हुई।

☞ इन प्रसङ्गोंसे उपदेश मिलता है कि अपने पुरुषार्थका अहङ्कार छोड़कर प्रभुके प्रतापका स्मरण और बल भरोसा करके भगवान्‌को प्रणाम करके जो कठिन कार्य किया जाता है तभी उसमें सफलता प्राप्त होती है।

☞ लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध-प्रकरणके आदिमें ही 'क्रुद्ध होइ' पद दिया क्योंकि आगे इनको शेष कहेंगे और इनके क्रोधका स्वरूप कहकर उसीसे पार्वतीजीका समाधान भी करेंगे। प्रकरणभरमें इस क्रोधका निर्वाह किया गया है।

टिप्पणी—मेघनादको विनयमें 'काम' कहा है—'पाकारिजित काम बिश्रामहारी॥' इस पक्षके अनुसार पूरे प्रसङ्ग (दोहा ४८ से ५० तक) के भावार्थ इस प्रकार होते हैं कि—काम वैष्णवोंको जीतने चला—विभीषण, वानर, भालु सब भागवत हैं। सामान्यको वह कुछ नहीं गिनता, विशेषको ढूँढ़ता है अतः कहा कि 'कहँ नल नील दुबिद०' इत्यादि। यह कह काम अपने बाण चलाने लगा। जिसको काम बाण मारता है उसमें कुछ प्राण रह जाते हैं वह मरता नहीं है; क्योंकि मरण कालाधीन है, पर शम-वैराग्यादि सदाचरण नहीं बचते। वैसे ही यहाँ मेघनादके बाणोंसे प्राणमात्र बचे हैं। दश

इन्द्रियाँ हैं; अतः प्रत्येकको एक-एक बाण मारा। २—काम गर्जा कि जीत लिया तब पवनसुत महावैराग्य क्रोध करके दौड़ा (कामपर क्रोध करे तभी वह जीता जा सकता है) और महीधररूपी वेदपुराणोंका सहारा लेकर उनके वाक्यसे समझाया तब काम, जो पहले ब्रह्माण्डपरसे उतर आया है पुनः वहाँ चढ़ गया। ऊपर चढ़ा कि अच्छा देख लेंगे और वहींसे पुष्पबाण मारता है, निकट नहीं आता; क्योंकि जानता है कि ये महारुद्र हैं। ३—तब प्रभुके पास गया कि तुम्हारा ही बल पाकर ये बचते हैं—'सीम कि चापि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥' यहाँ इनका प्रताप देखकर वह खिसिया गया। ४—तत्पश्चात् काम हृदयाकाशमें जाकर विरहाग्निसे हृदयको जलाने लगता है—'काम कृसानु बढ़ावनिहारी'। महिसे जल-वृष्टि करके काम स्नेहमें डुबा देता है जिससे कुलकी लज्जा बह गयी तब अशौच होनेसे भूतादि संचरने लगे। मांस, कच, हाड़, विष्ठा, पीव, दुर्गन्ध, रुधिर ये सब स्त्रीमें हैं और 'ताके एक परम बल नारी'। भूतादि मारकाट शब्द करते हैं, कामी मीन, पक्षी, पशु आदिको मरवाते-कटवाते हैं। स्त्री लातें मारती है यही पत्थर बरसना है। जब स्त्री नहीं मिलती तो कामी अपना सिर पत्थरसे पीटता है, इत्यादि जब जीव सब पुरुषार्थ करके हार मान लेता है तब प्रभु कृपादृष्टि करके अज्ञान-रूपिणी मायाको हर लेते हैं। एक बाणसे माया काटी अर्थात् एक ब्रह्म जाननेसे माया छूटती है। प्रभुकी कृपा पाकर सब बली हुए पर मेघनाद भ्रष्टाचार बना है। इसे देख रामाज्ञा ले रामानुज चले—ये रामानुजाचार्य शंकराचार्यादि हैं जो भागवतोंको साथ लेकर भागवतमार्ग चलाने क्रोधपूर्वक चले। कंठी-तिलक-मन्त्ररूपी बाण धनुष-तरकस लेकर ये चले।

प० प० प्र०—आध्यात्मिक अर्थ—श्रीरामजी ज्ञानस्वरूप, लक्ष्मणजी वैराग्य और इन्द्रजित काम हैं। जबतक वैराग्य ज्ञानके प्रतापको हृदयमें धारण नहीं करता तबतक काम अपनी शक्तिसे वैराग्यको मूर्छित करेगा ही। मानसमें सर्वत्र रावणको अति अभिमानी, अधम अभिमानी, प्रकृति अभिमानी कहा है। यह ज्ञानाहङ्कार है, इसके उत्पन्न होनेपर भक्ति हो ही नहीं सकती। काम अहंकार रावणका पुत्र है, कुम्भकर्ण मोह है। हनुमान्‌जी विवेक हैं। विवेककी अद्‌भुत करणीसे वैराग्य फिरसे जीवित होता है और मोहका नाश ज्ञानसे होनेपर ज्ञानप्रतापयुक्त प्रखर वैराग्य ही कामका नाश कर सकता है। अहंकारका नाश करनेमें वैराग्य असमर्थ है, पर जबतक कामका नाश वैराग्य न करेगा तबतक ज्ञान भी अहंकारका नाश करनेमें असमर्थ ही ठहरता है। अहंकारका नाश केवल ज्ञान (राम) ठीक कर सकता है। ज्ञानाहंकाररूपी रावणका वध सबके पीछे होगा तब भक्तिरूपी जानकीजीकी प्राप्ति होगी और ज्ञानभक्तिरूपी श्रीरामजानकीजी नर देहरूपी अवधके हृदय-सिंहासनपर विराजमान होकर सब इन्द्रियों और उनके देवता आदि प्रजाको निर्भय और सुखी करेंगे।

छतज नयन उर बाहु बिसाला। हिमगिरिनिभ तनु कछु एक लाला॥ १॥

शब्दार्थ—छतज (क्षतज) = रक्त, लाल। निभ=सदृश, समान। कछु एक = कुछ ही, थोड़ा-सा, यथा—'एहि लागि तुलसीदास इन्ह की कथा कछु एक है कही।—(सुं० ३)।

अर्थ—नेत्र लाल हैं, छाती चौड़ी, भुजाएँ लम्बी हैं। शरीर हिमाचलके समान गौर वर्ण है पर कुछ ललाई लिये है॥१॥

नोट—१ (क) पहले 'लछिमन चले क्रुद्ध होइ' कहा अब उसीका स्वरूप दिखाते हैं। क्रोधके कारण नेत्र रक्तवर्ण हैं। हिमालय-सदृश सुभ्रवर्ण शरीरपर भी लाली उसी क्रोधकी है। यथा 'सीस जटा ससि बदनु सुहावा। रिसि बस कछुक अरुन होइ आवा॥ भृकुटी कुटिल नयन रिसि राते। बा० २६८।' (ख) अथवा उरकी विशालता यहाँ इससे कही कि बड़ी बरछी छातीपर सहना और सँभालना है और बाहु विशाल कहा; क्योंकि सेनासहित इन्द्रजितको मरणप्राय करेंगे। (पं०)। मा० म० कार लिखते हैं कि छातीको विशाल कहकर सूचित किया कि महाबलवान् भुजाओंसे भली-भाँति युद्ध करके तब शक्तिमिष युद्ध करके परिश्रमवश विश्राम करने लगे। (ग) लड़ने जा रहे हैं। नेत्र लाल हैं, उर और बाहु विशाल हैं और धनुषबाण लिये हैं—यह वीररसका स्वरूप है। वीरकी इन्हींसे शोभा है। (घ) प्रथम चरणमें वाचकधर्मलुप्ता और दूसरेमें पूर्णोपमा अलंकार है।

इहाँ दसानन सुभट पठाए। नाना अस्त्र सस्त्र गहि धाए॥ २॥
भूधर नख बिटपायुद्ध धारी। धाए कपि जय राम पुकारी॥ ३॥

अर्थ—यहाँ दशाननने बड़े-बड़े योद्धा भेजे जो अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर दौड़े॥ २॥ पर्वत नख और वृक्षरूप आयुध धारण करनेवाले वानर 'जय राम' (श्रीरामचन्द्रजीकी जय हो) ऐसा पुकारते हुए दौड़े॥ ३॥

नोट—१ 'इहाँ' इति। 'उहाँ दसानन सचिव हँकारी। ४७। ३।' देखिये। २ (क) 'दसानन सुभट पठाए।' इति। जान पड़ता है कि रावणको जब समाचार मिला कि मेघनादने अपनी मायासे वानरोंको विकल कर दिया था पर रामने एक ही बाणसे सारी माया काट दी एवं लक्ष्मणजी प्रधान वानरोंके साथ युद्धको आ रहे हैं तब उसने मेघनादकी सहायताके लिये सुभट भेजे। (ख) 'भूधर'—उधरसे सुभट अस्त्र-शस्त्र लेकर दौड़े। अतः और भी सब वानर पर्वत और वृक्ष लेकर दौड़े।—'रहहिं न रोके' का चरितार्थ भी हो गया। इसीसे उनका भेजा जाना लिखा और वानरोंका भेजा जाना न कहा, 'रहहिं न रोके' ही कहा। 'भूधर नख बिटप' ये ही इनके अस्त्र-शस्त्र हैं। यथा—'गिरि तरु नख आयुध सब बीरा। १। १८८। ४।' अतएव इन्हींका धारण करना कहा। निशिचरोंके आयुध कहे, अतः इनके भी बताये।

भिरे सकल जोरिहि सन जोरी। इत उत जय इच्छा नहिं थोरी॥ ४॥
मुठिकन्ह लातन्ह दातन्ह काटहिं। कपि जयसील मारि पुनि डाटहिं॥ ५॥

अर्थ—सब (वानर और राक्षस अपनी-अपनी) जोड़ी मिलाकर जोड़ी-से-जोड़ी भिड़ गये। इधर (वानरों) और उधर (राक्षसों) (दोनों दलोंमें) जयकी इच्छा थोड़ी न थी (बहुत थी)॥ ४॥ घूँसों-लातोंसे मारते और दाँतोंसे काटते हैं। कपि जयशील हैं, (प्रथम युद्धमें जय पाये हुए हैं एवं रामकृपादृष्टिसे सहज ही प्रबल और जयशाली हो गये हैं) वे मारते और ऊपरसे डाँटते भी हैं॥ ५॥

नोट १—'जोरी सन जोरी' इति। (क) कुश्तीमें बराबर बलके पहलवान् जो चुने जाते हैं वे परस्पर एक दूसरेकी जोड़ी कहलाते हैं। समान बलवाले। वाल्मी० ४३। ५—१६ में जहाँ वानरों और राक्षसोंका प्रथम युद्ध है वहीं जोड़ी-से-जोड़ीका युद्ध लिखा गया है, इस स्थानपर नहीं। पर उसीके अनुकूल यहाँ भी जोड़ी समझ लें।—सम्पाती और प्रजंक, हनुमान् और जम्बुमालि, गज और तपन, नील और निकुम्भ, मयन्द और वज्रमुष्टि, द्विविद और अशनिप्रभ, नल और प्रतपन इत्यादि बड़ोंसे बड़े, छोटोंसे छोटे लड़ रहे हैं। मानसके प्रतिकूल जोड़ियाँ नहीं ली गयीं।

(ख) रा० प्र०—यहाँ भाव यह है कि सेनापतियोंसे सेनापतिका और वीरोंसे वीरोंका युद्ध हो रहा है। यदि एककी एकसे जोड़ी लें तो मल्लयुद्ध भाषित होता है, पर 'नाना अस्त्रसस्त्र गहि धाए' से यह अर्थ विरुद्ध पड़ता है।

२ (क) घूँसों, लातों और दाँतोंसे लड़ाई करते हैं। भाव कि सभी अङ्गोंसे प्रहार कर रहे हैं। (ख) 'मारि पुनि डाटहिं।' भाव कि—अभी न अघाये हो तो और लो। पुनः डाँट यह कि रामको न भजनेका फल लो,—'काहुहि लात चपेटन्हि केहू।'… (ग) रा० प्र०—भागते देख मारकर डाँटते हैं; वा, एकको मारकर दूसरोंको डाँटते हैं।

वि० त्रि०—यह युद्ध बड़ा भयानक हुआ। इसीमें लङ्का बालवृद्धावशेषिता हो गयी। सम्पूर्ण वीर मारे गये। बात यह हुई कि मेघनादकी सहायताके लिये रावणने लङ्काके सभी सुभटोंको भेज दिया। यथा—'इहाँ दसानन सुभट पठाए। नाना अस्त्र सस्त्र गहि धाए'॥ इधरसे भी सभी सुभट रणाङ्गणमें उतर पड़े। वीरोंको अपना जोड़ तजवीज करनेमें देर नहीं लगती। सम्पूर्ण रणाङ्गणमें द्वन्द्वयुद्ध होने लग गया। लक्ष्मणजीका सामना करनेके लिये स्वयं मेघनाद आ गया। बड़ा घोर संग्राम हुआ। 'कपि जयसील मारि पुनि डाटहिं' से सभी राक्षस सुभटोंका मारा जाना दरसाया।

मिलान कीजिये—'रक्षसां वानराणां च द्वन्द्वयुद्धमवर्तत॥ ५॥…वानराश्चापरे घोरा राक्षसैरपरैः सह। द्वन्द्वं समीयुः सहसा युद्ध्वा च बहुभिः सह॥ १५॥ तत्रासीत्सुमहद्युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम्। रक्षसां वानराणां च वीराणां जयमिच्छताम्॥ वाल्मी० ४३। १६।'

मारु मारु धरु धरु धरु मारू। सीस तोरि गहि भुजा उपारू॥ ६॥
असि रव पूरि रही नव खंडा। धावहिं जहँ तहँ रुंड प्रचंडा॥ ७॥

शब्दार्थ—नव खण्ड=पुराणोंके अनुसार सप्तद्वीप हैं और प्रत्येक द्वीपमें खण्ड माने गये हैं। जम्बूद्वीपमें नौ खण्ड हैं; उनमेंसे यह एक भरतखण्ड माना गया है। अन्य द्वीपोंमें सात-सात हैं। रुण्ड=धड़, कबन्ध प्रचण्ड=भयंकर, बहुत अधिक वेगवान्, प्रबल, तेज।

अर्थ—'मारो-मारो, धर पकड़ो, धर पकड़ो, धर पकड़ो, मार डालो, हाथ पकड़कर सिर तोड़कर उखाड़ लो ॥ ६ ॥ ऐसा शोर इस द्वीपके नवों खण्डोंमें पूर्ण भर गया है (व्याप्त हो गया)। रुण्ड बड़े वेगसे जहाँ-तहाँ दौड़ रहे हैं ॥ ७ ॥

नोट—१ **'मारु मारु'**' इति। ५१ (२) देखिये। इससे योद्धाओंका पूर्णोत्साह दिखाते हैं, जीतेजी ऐसा कहते हैं और सिर कटनेपर भी ये शब्द निकल रहे हैं। तथा इससे रणभूमिकी भयंकरता दिखायी। ४५ (५) देखिये। [पु० रा० कु०—यहाँ **'पूरि रही नवखंडा'** में अत्युक्ति अलंकार है। युद्धकी उत्कर्षता दिखानेके लिये ऐसा कहा]।

देखहिं कौतुक नभ सुरबृंदा। कबहुँक बिसमय कबहुँ अनंदा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—विस्मय=आश्चर्ययुक्त भय वा खेद।

अर्थ—आकाशमें देववृन्द कौतुक देख रहे हैं। कभी (निशिचरोंकी जयपर) विस्मित होते हैं, कभी (वानरोंकी जीतपर) आनन्दित होते हैं * ॥ ८ ॥

☞ देवताओंका रण देखना प्रथम-प्रथम यहाँ कहा गया है और किंचित् भेदसे आगे भी बड़े-बड़े युद्धोंके अवसरोंपर जबतक उनकी उपस्थिति पायी जाती है। देखिये—

१ लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध—**'देखहिं कौतुक नभ सुरबृंदा। कबहुँक बिसमय कबहुँ अनंदा ॥ ८ ॥'**

२ राम-कुम्भकर्ण—**'गगन सिद्ध सुर त्रासित हाहा हेति पुकार ॥ ६९ ॥'''सुरदुंदुभी बजावहिं हर्षहिं। अस्तुति करहिं सुमन बहु वर्षहिं ॥'''करि बिनती सुर सकल सिधाए ॥ ७० । ९-१० ।'**

यहाँ प्रत्यक्ष उपस्थिति और उसके वधपर स्तुति करके जाना कहा।

३ नागपाश—**'रनसोभा लगि प्रभुहि बँधायउ। नाग पास देवन्ह दुख पायउ। ७२। १३।'**

मेघनादसे देवता अति सभीत रहते हैं; क्योंकि इसने इन्द्रको बाँध लिया था। इसलिये देवताओंका आगमन और प्रत्यक्ष उपस्थिति नहीं कहते। मनमें दुःख हुआ, हाहा न किया। अबतक मेघनादयुद्ध दो बार हुआ। दोनोंमें मेघनादकी जय देख देवता अब ऐसे सहम गये हैं कि तीसरे युद्धमें वे आये ही नहीं।

४ मेघनादवध—**'तासु मरन सुनि सुर गंधर्बा। चढ़ि बिमान आए नभ सर्बा ॥ बरषि सुमन दुंदुभी बजावहिं। श्रीरघुबीर बिमल जस गावहिं ॥'''अस्तुति करि सुर सिद्ध सिधाए ॥ ७६। २—५ ॥'**

जैसा अधिक भय था वैसा ही कुम्भकर्णवधसे अधिक हर्ष मेघनादवधपर हुआ। वहाँ ३ चरणोंमें और यहाँ ५ चरणोंमें कविने उनका हर्ष प्रकट किया है। अबसे आगे देवताओंका आगमन और प्रत्यक्ष रण दर्शन पाया जाता है।

५ रामरावणके रणभूमिमें आनेपर } **सुर ब्रह्मादि सिद्ध मुनि नाना। देखत रन नभ चढ़े बिमाना ॥ हमहू उमा रहे तेहि संगा। देखत रामचरित रनरंगा ॥**

६ रावणके मूर्छित होनेपर—**'इहाँ देवतन्ह अस्तुति कीन्ही। दारुन बिपति हमहिं एहि दीन्ही' ॥ 'हर्षे देव बिलोकि छबि ॥'**—८५ (५) से ८६ तक।

७ राम-रावण-युद्ध—**देवन्ह प्रभुहि पयादे देखा। उपजा उर † अति छोभ बिसेषा ॥**
अब यहाँसे बराबर युद्धभर देवता लोग उपस्थित रहे हैं

☞ उपर्युक्त मिलानसे नतीजा यह निकलता है कि—१—सेना-सेनाका युद्ध साधारण समझ उसको देखने न आये। २—जब-जब श्रीराम या श्रीलक्ष्मणजी रणभूमिमें होते थे तब यह समझकर कि मेघनादादि इनके सामने हमपर आक्रमण करनेका साहस नहीं कर सकते। वे रण देखने वहाँ आते थे। ३—मेघनाद-युद्धको जब देखा छिपकर देखा।

दोहा—रुधिर गाड़ भरि भरि जम्यो ऊपर धूरि उड़ाइ।
जनु अँगाररासिन्ह पर मृतक धूम रह्यो छाइ ॥ ५२ ॥

* प्रत्यनीक और उल्लास अलंकारकी संसृष्टि है। † जिमि—(का०)।

शब्दार्थ—गाड़=गड्ढा, गड़हा। छाना=फैलना, बिछ जाना, भर जाना, ऊपरसे ढक लेना। मृतक-धूम=राख, भस्म।

अर्थ—गड्ढोंमें रुधिर भर-भरकर जम गया है और उसपर धूल उड़ रही है। मानो (चिताके निर्धूम) अङ्गारोंकी ढेरीपर राख वा मरे हुए मनुष्यके जलनेका धुआँ छा रहा है॥ ५२॥

नोट—पु० रा० कु० जी लिखते हैं कि—यहाँ 'मृतक' पदसे चिताका ग्रहण है। इस उत्प्रेक्षासे रणभूमिकी अत्यन्त भयानकता सूचित की। पंजाबीजीका मत है कि घोड़ोंके खुरों और रथों आदिसे ये गड्ढे बने हैं। रुधिर पड़ा हुआ सघन हो गया और ऐसा चमकता है जैसे अङ्गारोंपर भस्म पड़नेसे कुछ लाली प्रकट रहती है।

☞ करुणासिंधुजी, पंजाबीजी और हिन्दी-शब्द-सागरने मृतकधूमका अर्थ 'राख' दिया है; पर दो-एक टीकाकारोंने 'मृतकके शवके जलते समयका धुआँ' अर्थ किया है। वीरकविजी लिखते हैं कि 'यहाँ जमे हुए खूनके गड्ढोंपर धूलका उड़ना उत्प्रेक्षाका विषय है। इसके अनुरूप बलपूर्वक उपमान कल्पित करना कि मानो मृतककी चिताके अङ्गारोंपर धूम छाया हो, 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

घायल बीर बिराजहिं कैसे। कुसुमित किंसुक के तरु जैसे॥ १॥

शब्दार्थ—कुसुमित=फूला हुआ। किंशुक=पलाश, ढाक, टेसू।

अर्थ—घायल वीर कैसे शोभित हो रहे हैं जैसे फूले हुए ढाकका वृक्ष शोभित हो॥ १॥

नोट—१ यहाँ वीर पलाश वृक्ष हैं। घाव लगनेसे खून शरीरपर ठौर-ठौर निकला हुआ है और पलाशके फूल भी रक्तवर्ण होते हैं। इससे फूले हुए पलाशकी उपमा दी। यहाँ उदाहरण अलंकार है। क० लं० ४८ यथा—**'अंग अंग दलित ललित फूले किंसुक से हने भट लाखन लखन जातुधानके।' 'तयोः कृतव्रणौ देहौ शुशुभाते महात्मनोः॥ ३६॥ सुपुष्पाविव निष्पत्रौ वने (शाल्मलिकिंशुकौ)।** वाल्मी० ८९। ३७।' २ ☞ **'इहाँ दसानन सुभट पठाए'** ५२ (२) से यहाँतक सेनाका सेनासे युद्ध कहा। आगे मेघनाद-लक्ष्मण-युद्ध कहते हैं।

वं० पा०—समर वसन्तपञ्चमीको (?) प्रारम्भ हुआ। अतएव ऋतु-अनुकूल पलाशके फूलोंका उदाहरण दिया।

लछिमन मेघनाद द्वौ जोधा। भिरहिं परसपर करि अति क्रोधा॥ २॥
एकहि एक सकै नहिं जीती। निसिचर छलबल करै अनीती॥ ३॥

शब्दार्थ—छल=कपट, माया, युद्धके नियमके विरुद्ध शत्रुपर शस्त्रप्रहार। भिरना (भिड़ना)=पास आ-आकर लड़ाई करना, सटकर लड़ना।

अर्थ—लक्ष्मण और मेघनाद दोनों योद्धा अत्यन्त क्रोध कर-करके आपसमें भिड़ते हैं॥ २॥ एक दूसरेको जीत नहीं सकते। निशिचर (मेघनाद) छल, बल और अधर्म युद्ध करता है॥ ३॥

नोट—१ (क) **'भिरहिं परस्पर करि अति क्रोधा'** इति। युद्धमें क्रोधकी शोभा है अतः **'भिरहिं करि अति क्रोधा'** कहा। (ख) **'द्वौ जोधा।' 'एकहि एक सकहि नहिं जीती'**। इति। यही भाव वाल्मीकीयके **'विक्रान्तौ बलसंपन्नावुभौ विक्रमशालिनौ। उभावपि सुविक्रान्तौ सर्वशस्त्रास्त्रकोविदौ। उभौ परमदुर्जेयावतुल्यबलतेजसौ।** वाल्मी० ८८। ३४।' इन श्लोकोंमें है।

२—'छलबल'। कभी छिप जाना, कभी प्रकट होना छल है। यथा—**'तकि तकि तीर महीस चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा॥ प्रगटत दुरत जाइ मृग भागा।** १। १५७।', **'बिबिध बेष धरि करइ लराई। कबहुँक प्रगट कबहुँ दुरि जाई॥** ७४। ११। १२।' ☞ युद्धमें बुद्धिसे अपनेको बचाना अनीति नहीं है, पर दूसरा यत्नसे भी देख न सके इस प्रकार छिपकर वहींसे आघात करना अधर्म है, यथा—**'धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं'**॥ मायाके बलसे वह अदृश्य होता था, उसे लक्ष्मणजी देख न सकते थे। वाल्मी० ८८ में लक्ष्मणजीने मेघनादसे कहा है कि तू वीर नहीं है। तू तो चोरका-सा चरित्र करता है कि अन्तर्धान हो जाता है, यथा—**'अन्तर्धानगतेनाजौ यत्त्वयाचरितस्तदा। तस्कराचरितो मार्गो नैष वीरनिषेवितः॥ १५॥'** यही भाव 'अनीति' का है। छल बुद्धिके उपायको भी कहते हैं, यथा—**'सो मति मोरि भरत महिमाही। कहै काह छलि छुअति न छाँही॥** २। २८८।', **'सोहहिं नभ छलबल बहु करहीं।**

कज्जलगिरि सुमेरु जनु लरहीं ॥ बुधिबल निसिचर परइ न पार्यो। तब मारुतसुत प्रभु संभार्यो ॥ ९४। ७–८।' यह अनीति नहीं है।

क्रोधवंत तब भएउ अनंता। भंजेउ रथ सारथी तुरंता॥ ४॥
नाना बिधि प्रहार कर सेषा। राक्षस भएउ प्रान अवसेषा॥ ५॥
रावनसुत निज मन अनुमाना। संकट भएउ हरिहि मम प्राना॥ ६॥

शब्दार्थ—अनन्त=यह एक नाम श्रीलक्ष्मण और शेषजीका है। शेष भी उन्हींका नाम है। यथा—'शेषेऽनन्तो वासुकिस्तु सर्पराजः इत्यमरः।' प्रहार=आघात, चोट, वार। प्रान अवसेषा=प्राणावशेष=जिसके प्राणमात्र रह गये हों=मृत्युतुल्य। अनुमानना=सोचना, अटकलसे जानना।

अर्थ—तब लक्ष्मणजी क्रोधित हुए। उन्होंने तुरन्त उसके सारथी और रथको टुकड़े-टुकड़े कर डाला॥ ४॥ शेषजी उसपर अनेक प्रकारसे वार करने लगे। राक्षस प्राणावशेष हो गया॥ ५॥ रावणपुत्रने मनमें अन्दाज लिया कि सङ्कट पड़ गया, ये मेरे प्राण ले लेंगे॥ ६॥

☞ मेघनादसे यहाँ लक्ष्मणजीने वानरोंका बदला चुकाया है।

मेघनाद-वानरसेना	लक्ष्मण-मेघनाद
१ सो कपि भालु न रन महँ देखा। कीन्हेसि जेहि न प्रान अवसेषा॥ ४९। ८।	राक्षस भयउ प्रान अवसेषा
२ दस दस सर सब मारेसि। ४९।	नाना बिधि प्रहार कर सेषा
३ परे भूमि कपि बीर। ४९।	भंजेउ रथ सारथी तुरंता
४ सब कर मरन बना। ५१। ५।	संकट भयउ हरिहि मम प्राना
५ एहि लेखे। ५१। ५।	रावन सुत निज मन अनुमाना

मा० म०, पं०—'रावणसुत' का भाव कि जैसे रावण सारे जगत्को रुलानेवाला है वैसे ही मेघनाद जो कर्म करनेको है उससे वह सारी सेनासहित रामजीतकको रुलावेगा। और इन्हींको नहीं वरन् भरतसहित माताओंको भी दुःख पहुँचायेगा।—[इस चौपाईमें 'अनुमान-प्रमाण अलंकार' है।]

नोट—१ रावणसुतका भाव कि रावणलक्ष्मणयुद्धमें लक्ष्मणजीने यही दशा रावणकी की, तब रावणने भी शक्ति चलायी थी। यह उसी रावणका पुत्र तथा उसके राज्यका उत्तराधिकारी है, अतः यह भी वैसा ही करेगा। दोनोंका मिलान देखिये—

लक्ष्मण-मेघनाद	लक्ष्मण-रावण
१ लछिमन चले क्रुद्ध होइ	लछिमन चले क्रुद्ध होइ। ८१।
२ बान सरासन हाथ	कटि कसि निषंग धनु हाथ
३ भंजेउ रथ सारथी तुरंता	स्यंदन भंजि सारथी मारा
४ नाना बिधि प्रहार कर सेषा	सत सत सर मारे दसभाला। सत सर पुनि मारा उर माहीं॥
५ राच्छस भएउ प्रान अवसेषा	पर्‍यो अवनितल सुधि कछु नाहीं॥
६ संकट भएउ हरिहि मम प्राना	उठा प्रबल पुनि मुरछा जागी
७ बीरघातिनी छाँड़ेसि साँगी	छाँड़ेसि ब्रह्म दीन्हि जो साँगी
८ तेजपुंज लछिमन उर लागी	सो ब्रह्मदत्त प्रचंड सक्ति अनंत उर लागी सही
९ मुरछा भई	पर्‍यो बीर बिकल
१० मेघनाद सम कोटिसत जोधा रहे उठाइ	उठाव दसमुख अतुल बल महिमा रही। तेहि चह उठावन।
११ जगदाधार सेष	ब्रह्मांडभुवन बिराज जाके एक सिर
१२ किमि उठै चले खिसिआइ	तेहि चह उठावन मूढ़ रावन जान नहिं त्रिभुवनधनी
१३ क्रोधानल जासू। जारै भुवन०।	तुम्ह कृतांत भक्षक।
१४ सेवहिं सुरनर अगजग जाही	सुरत्राता। त्रिभुवनधनी
१५ तब लगि लेइ आएउ हनुमाना	लछिमन कहँ कपि ल्यायो

वीरघातिनी छाड़िसि साँगी। तेजपुंज लछिमन उर लागी॥ ७॥
मुरुछा भई सक्ति के लागे। तब चलि गएउ निकट भय त्यागे॥ ८॥

शब्दार्थ—साँगी=बरछी, शक्ति। तेज=दीप्ति, प्रकाश।

अर्थ—(अनुमानकर) उसने वीरोंका नाश करनेवाली अपनी 'वीरघातिनी' नामक साँगी चलायी जो बड़ी तेजोमय थी। वह लक्ष्मणजीकी छातीमें लगी॥ ७॥ शक्तिके लगनेसे मूर्छा आ गयी। तब वह भय छोड़कर पास चला गया॥ ८॥

वि० त्रि०—'वीरघातिनी······' इति। प्रख्यातपौरुष अस्त्र-शस्त्रोंके नाम होते हैं जैसे रामजीके धनुषका नाम शार्ङ्ग, रावणके खड्गका नाम चन्द्रहास, विष्णुके चक्रका नाम सुदर्शन, इसी भाँति इस शक्तिका नाम वीरघातिनी था। यह दिव्य शक्ति थी, इसीसे इसे तेजपुंज कहा गया है (यथा—'**तेजपुंज लछिमन उर लागी**')। अतः मेघनाद अपने हाथसे जाने देना नहीं चाहता था, पर लक्ष्मणजीके प्रहारोंसे जर्जर होकर जब प्राणावशेष हो गया, तब उसने इस वीरघातिनी साँगीको लक्ष्मणजीपर चला दी।

नोट—१ (क) प्रथम चरणमें कहा कि '**छाड़िसि साँगी**' और चौथेमें कहा कि '**मुरुछा भई सक्ति लागे**'। इस प्रकार शक्ति और साँगीको एक ही जनाया। (ख) 'तेजपुञ्ज'—तेजराशि। भाव यह कि वह शक्ति अपने विपुल तेजसे वज्रके समान दीप्तिमान् थी और उसमेंसे प्रचण्ड अग्निवत् ज्वालाएँ निकलती थीं। यथा—'**इत्येवमुक्त्वा तां शक्तिमष्टघण्टां महास्वनाम्। मयेन मायाविहिताममोघां शत्रुघातिनीम्॥ ३०॥ लक्ष्मणाय समुद्दिश्य ज्वलन्तीमिव तेजसा॥ ३१॥··· जिह्वेवोरगराजस्य दीप्यमाना महाद्युतिः॥** वाल्मी० १००। ३५॥' अर्थात् यह कह रावणने आठ घण्टे बँधी, बड़ा शब्द करती, मयकी मायासे बनी हुई शत्रुओंके प्राण नाश करनेवाली, अमोघ, तेजसे दीप्यमान शक्ति लक्ष्मणजीपर बड़ा क्रोध करके चलायी। जो सर्पराजकी जीभके समान देदीप्यमान थी।

२ मा० म० के मतानुसार मूर्च्छा लगनेका एक कारण यह भी है कि श्रीरामचन्द्रजीने अयोध्याजीसे चलनेके समय लक्ष्मणजीको कहा था कि वनमें जानेसे दुःख सहना पड़ेगा। इसी कारण मूर्छित होकर उन्होंने उस वचनको सत्य किया। और किसीका मत है कि शबरीजीके बेर लक्ष्मणजीने जूठे होनेके कारण नहीं खाये फेंक दिये। उसके कारण यह शक्ति लगी। गोस्वामीजीके मतानुसार तो लक्ष्मणजीने भी शबरीजीके फल खाये हैं। यथा—'**केहि रुचि केहि छुधा सानुज माँगि माँगि प्रभु खात॥ १६॥ प्रभु खात माँगत देत सबरी राम भोगी जाग के। बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल साग के॥ १७॥**' गी० आ० ४

पर मानसकविने इस ग्रन्थमें लक्ष्मणजीका खाना स्पष्ट न लिखकर सब कल्पोंकी कथाओंकी गुंजाइश रखी है।

३ '**तब चलि गएउ निकट भय त्यागे**' इति। 'भय त्यागे' से जनाया कि उसे इसके पूर्व भय था। यथा—'**संकट भएउ हरिहि मम प्राना**'। अब जान लिया कि मूर्छित हैं वा मर गये, क्योंकि शक्ति अमोघ है; इससे निकट जानेमें भय न रह गया। पास आया कि उठाकर लङ्कामें ले जायँ। हमारे पिता सीताको ले आये, हम भाईको ले जायँ। एकका दुःख था, अब दोका हो जायगा, बिना उपाय ही राम भी मर जायँगे। पुनः, पितासे मैंने प्रतिज्ञा की थी। इनको देखकर वे बड़े प्रसन्न होंगे।

दोहा—मेघनाद सम कोटि सत जोधा रहे उठाइ।
जगदाधार* अनंत किमि उठइ चले खिसिआइ॥ ५३॥

अर्थ—मेघनादके समान अगणित योद्धा उठाकर वा उठाते रह गये (थक गये) पर जगत्के आधार अनन्त (शेष) कैसे उठ सकते? (तब सब योद्धा) लज्जित होकर चल दिये॥ ५३॥

नोट—१ (क) '**मेघनाद सम कोटिसत**' कहकर उन योद्धाओंकी उत्कृष्टता तथा श्रीलक्ष्मणजीका महत्त्व दिखाया। (ख) इससे यह भी जनाया कि एक-एकसे न उठा तब कई एक मिलकर भी न उठा सके। यह 'विशेषोक्ति अलङ्कार' है।

* सेष—१७२१, १७६२, छं०, भा० दा०। अनन्त—१७०४, को० रा०।

(ग) क्यों न उठा सके ? इस सम्भवित शङ्काका समाधान वक्ता शिवजी स्वयं कर रहे हैं कि वे 'जगदाधार' हैं, शेष भगवान् ही हैं जो ब्रह्माण्डको एक सिरपर धारण किये हैं। इनको वही उठा सके जो इनसे अधिक हो या जिसपर इनकी कृपा हो। (घ) 'जगदाधार' और 'शेष' दो पद देकर चारों कल्पोंके अवतार जना दिये। यथा—'लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार। गुरु बसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार ॥ १ । १९७ ॥', 'जो सहससीस अहीस महिधरु लषन सचराचर धनी। अ० १२६।' (ङ) अनन्त (अन्+अंत=सीमा)=जिसकी सीमा नहीं, जो देशकाल वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सर्वव्यापी, नित्य और सर्वात्मरूप हैं। भाव यह कि जिसका अन्त नहीं उसको अन्तवाला कैसे उठा सकता है।

शीला—यहाँ पार्वतीजीको शङ्का हुई कि शतकोटि योद्धा कैसे लगे ? उसी हेतुसे 'जगदाधार', 'सेष' वा 'अनन्त' नाम यहाँ लक्ष्मणजीके दिये। जगदाधार हैं, सारे ब्रह्माण्डको सिरपर लिये हैं और शेष हैं, इसीसे इतने भारी हैं। अनन्त हैं, इनका अन्त नहीं, तो एक उँगलीमें भी सारे राक्षस लग जाते तो पता न चलता। (यह भी कौतुक है।)

☞ मेघनाद-द्वारा शक्तिका लक्ष्मणजीको मारा जाना वाल्मीकि, अध्यात्म, हनुमन्नाटक, आनन्द रामायण, पद्मपुराण आदि कई ग्रन्थोंमें नहीं मिलता। कल्पभेदके कारण ऐसा है। उपर्युक्त रामायणोंमें भगवान् विष्णु या श्रीमन्नारायणके रामावतारोंकी कथाएँ हैं। सम्भवतः साकेतावतारवाले कल्पमें मानसके अनुसार होगा, पर वह ग्रन्थ दासको उपलब्ध नहीं है जिसमें ऐसी कथा है। इसीसे समानार्थी श्लोक युद्ध-प्रसङ्गमें नहीं दिये जा सकते।

वाल्मी० सर्ग ५९ और १०० में रावण-लक्ष्मण-युद्ध है। वाल्मी० ५९ में रावणने अपने प्राणोंपर आ बनी देख शक्ति चलायी—(श्लो० १०५) और इनको उठाना चाहा पर न उठा सका। हनुमान्‌जीने घूँसा मारा, जिससे वह अचेत हो गया। तब हनुमान्‌जी उन्हें उठा ले गये। शक्ति रणभूमिको छोड़कर रावणके रथमें चली गयी। लक्ष्मणजी (बिना ओषधि) सावधान हो गये। इस तरह सर्ग ५९ वाली कथा मानसके रावण-लक्ष्मण-युद्ध दोहा ८१-८३ से मेल खाती है। वह शक्ति ब्रह्मदत्त है और मानसकी भी। मानसमें भी वहाँ लक्ष्मणजी बिना दवा अच्छे हो गये। वाल्मी० १०१ अथवा १०२ में रावणका उठाना वा हनुमान्‌जीका ले जाना नहीं है; क्योंकि श्रीरामजी भी रणभूमिमें ही हैं, पर रामजीका अधिक विलाप और सुषेणका दवा बताना एवं हनुमान्‌जीका द्रोणशिखरको लाना इसी युद्धमें है। यहाँ शक्ति विभीषणजीको बचानेपर इनपर चलायी गयी थी।

समयादर्श रामायणमें मेघनादका शक्ति मारना तो नहीं लिखा है पर उसके युद्धके सिलसिलेमें ही रामचन्द्रजीका ओषधि मँगाना कहा गया है, जिससे पूरा अनुमान वहाँ मेघनादद्वारा शक्ति चलाये जानेका होता है। यथा—'संतर्प्याग्निमथोनभश्चरथं संप्राप्य दिव्यं ततो रात्रौ शक्रजिता जितं पुनरथो शुक्लद्वितीया दिने। ओषध्या नयनैस्तृतीयदिवसायात्तिथिः सप्तमी श्रीरामो दिनपञ्चकं च कृतवान् युद्धावहारन्तदा ॥ ८८ ॥

सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारै भुअन चारिदस आसू ॥ १ ॥
सक संग्राम जीति को ताही। सेवहिं सुरनर अग जग जाही ॥ २ ॥

शब्दार्थ—आसू (आशु)=शीघ्र, तुरंत। यथा—'लागहिं सैल बज्र तनु तासू। खंड खंड होइ फूटहिं आसू ॥ ८१ । ३ ॥' अग=स्थावर, अचर, जड़। जग=जङ्गम, चर, चेतन।

अर्थ—हे गिरिजे ! सुनो। जिसकी क्रोधाग्नि चौदहों भुवनोंको शीघ्र जला डालती है ॥ १ ॥ और, देवता, मनुष्य चराचर मात्र जिसकी सेवा करते हैं उसको रणमें कौन जीत सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ २ ॥

☞ प्रलयकालमें शेषरूपसे लक्ष्मणजी हजारों मुखोंसे फुंकारद्वारा कालाग्नि प्रकटकर सृष्टिको भस्म कर देते हैं। यथा—'जुग-षट भानु देखे, प्रलय कृसानु देखे, सेष मुख अनल बिलोके बारबार हैं। क० सुं० २०।'

'भुवन चारि दस' इति। १४ लोक ये हैं—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य, तल, अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल और पाताल। न जीत सकनेका समर्थन इस प्रकार करना 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है। यहाँ वक्रोक्ति और प्रतिषेध भी है—(वीर)।

यह कौतूहल जानै सोई। जा पर कृपा राम कै होई ॥ ३ ॥

संध्या भई फिरी द्वौ बाहिनी। लगे सँभारन निज निज अनी ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—कौतूहल=कुतूहल, कौतुक, रहस्य। बाहिनी (वाहिनी)=सेना। संध्या=शाम। सूर्यास्तके लगभगका समय।

अर्थ—इस खेलवाड़को वही जान सकता है जिसपर श्रीरामचन्द्रजीकी कृपा हो ॥ ३ ॥ सन्ध्या होनेपर दोनों ओरकी सेनाएँ लौटीं। यूथपति अपनी-अपनी सेनाकी देखभाल, गिनती करने लगे (कि कौन बचे, कौन मारे गये, कितनी सेना काम आयी) ॥ ४ ॥

पं०—'यह कौतूहल०'। जैसे कि विभीषणजी, हनुमान्‌जी, भुशुण्डिजी, शिवजी, वाल्मीकिजी और गोस्वामीजी आदि जानते हैं।

नोट—१ कविको कैसे मालूम हुआ? गुरुपदके प्रभावसे, यथा—'**सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक** ॥ १। ८॥' पुनः, रामकृपासे ही ये भी जानते हैं, यथा—'**जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी** ॥', '**तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे**।'

२—इस चरितमें क्या रहस्य है, इस विषयमें ग्रन्थोंमें जहाँ-तहाँ कुछ उल्लेख मिलता है। (क) वाल्मी० ७४ में नागपाशप्रसङ्गमें अङ्गदादिके व्याकुल होनेपर विभीषणजीने समझाया है कि ब्रह्माका सम्मान करने, उनके अस्त्रकी सफलता दिखाने और मर्यादा पालन करनेके लिये श्रीरामलक्ष्मणजीने जान-बूझकर ऐसा किया। अतः इसमें शोक करनेकी क्या बात है? यथा—'**मा भैष्ट नास्त्यत्र विषादकालो यदार्यपुत्रौ ह्यवशौ विषण्णौ। स्वयंभुवो वाक्यमथोद्वहन्तौ यत्सादिताविन्द्रजितास्त्रजालैः ॥ ३ ॥ तस्मै तु दत्तं परमास्त्रमेतत्स्वयंभुवा ब्राह्ममसोघवीर्यम् (वेगम्)। तान्मानयन्तौ युधि राजपुत्रौ निपातितौ कोऽत्र विषादकालः ॥ ४ ॥**'

श्रीहनुमान्‌जीने भी यही सोचकर अपनेको बँधाया था, यथा—'**जौं न ब्रह्मसर मानउँ महिमा मिटइ अपार।** ५। १९।' (ख)—कालनेमि और मकरीको शापसे मुक्त करना है, ऋषिके वचन सत्य करने हैं। (ग) नरनाट्य कर रहे हैं अतएव '**जस काछिय तस चाहिय नाचा**'। नरतनमें शक्तिसे घायल होना, प्रभुका भाईको देखकर स्नेह और प्रलाप, राक्षसोंको मोहित करनेके लिये जरूरी हैं। अमोघशक्तिको मनुष्य क्या देवता भी व्यर्थ नहीं कर सकते। उसके व्यर्थ करनेसे इसका ब्रह्मावतार होना प्रकट हो जायगा। रावणकी मृत्यु नरके हाथ होनेका वरदान है; उस ब्रह्मवाक्यको भी सत्य करना है। पुनः, (घ) शक्ति-प्रसङ्गद्वारा हनुमान्‌जीका अभिमान दूर करना है। भरत और सुमित्राजीकी निःस्वार्थ भक्ति और प्रेम जगत्‌को दिखाना है, लक्ष्मणजीका प्रेम (रामजीमें) अयोध्याकाण्डमें दिखाया गया, यहाँ इस बहाने श्रीरामजीका अतिशय प्रेम जो लक्ष्मणजीपर है वह दिखाना है—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' गीताके इस वाक्यको भी चरितार्थ किया है। जैसे लक्ष्मणजीके प्राण श्रीरामजीका साथ छूटनेपर रह नहीं सकते, वैसे ही लक्ष्मणजीके विना प्रभु रह नहीं सकते। यथा—'**गिरि कानन जैहैं शाखामृग हौं पुनि अनुज सँघाती।** गी० लं०।' पुनः (ङ) पंजाबीजी यह भी लिखते हैं कि इस चरितसे श्रीरामजी दुःखित होकर शीघ्रतासे वरोन्मत्त राक्षसोंका वध करेंगे। इत्यादि यह मत वाल्मीकीयसे मिलता है। यथा—'**राज्यनाशं वने वासं दण्डके परिधावनम्। वैदेह्याश्च परामर्शो रक्षोभिश्च समागमम् ॥ ४९ ॥ प्राप्तं दुःखं महद्घोरं क्लेशश्च निरयोपमम् ॥ ५० ॥**' अर्थात् राज्यका नाश, वनमें वास, दण्डकवनमें इधर-उधर दौड़ना, जानकी-हरण, राक्षसोंका समागम—इन सब बातोंसे हमने नरक-समान बड़ा घोर दुःख पाया है, उन सब दुःखोंको आज हम रावणको रणमें मारकर त्याग करेंगे। (वाल्मी० १०१)

दूसरा युद्ध एवं तदन्तर्गत मेघनाद-लक्ष्मण-प्रथम युद्ध समाप्त हुआ।

ब्यापक ब्रह्म अजित भुवनेस्वर। लछिमन कहाँ बूझ करुनाकर ॥ ५ ॥
तब लगि लै आयउ हनुमाना। अनुज देखि प्रभु अति दुख माना ॥ ६ ॥

अर्थ—व्यापक, ब्रह्म, किसीसे न जीते जाने योग्य, सब लोकोंके स्वामी, करुणाकी खानि श्रीरामचन्द्रजी पूछने लगे

कि लक्ष्मण कहाँ हैं ? ॥ ५ ॥ तबतक (इतनेहीमें) श्रीहनुमान्‌जी उनको ले आये*। छोटे भाईको देखकर प्रभुने अत्यन्त दुःख माना ॥ ६ ॥

नोट—१ 'व्यापक ब्रह्म···' इति। इन चार विशेषणोंको देकर जनाया कि उनके पूछनेसे यह न जानो कि ये जानते नहीं। वे सब जानते हैं; क्योंकि सर्वत्र व्याप्त हैं—'कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं', 'जहँ न होउ तहँ देउ कहि तुम्हहिं दिखावउँ ठाउँ'। ब्रह्म हैं अतः वे सर्वज्ञ हैं, उनका ज्ञान अखण्ड एकरस है, उनसे कुछ छिपा नहीं है। पुनः, आगे भाईको देखकर दुःखित होंगे उससे यह न जानना कि मनुष्य हैं। इनमें दुःख-सुख आदि कहाँ ? यह केवल नरनाट्य है। अजित और भुवनेश्वरसे यह भी जनाया कि वे जानते हैं कि लक्ष्मणजी मरे नहीं हैं और न उन्हें कोई जीत सकता है। इत्यादि।

२—'बूझ करुनाकर'। इससे जनाया कि शक्ति सन्ध्याके लगभग ही लगी थी। बहुत-सी सेना लौट आयी पर लक्ष्मणजी जो इस युद्धमें प्रधान थे वे तबतक न दिखायी पड़े; यद्यपि उनको प्रथम ही वा सबके साथ आना चाहिये था जैसे दूसरी बार मेघनादवध होते ही **'लछिमन कृपासिंधु पहिं आए'**। इसीसे पूछना पड़ा। इतनी देर न आनेसे अनुमान किया कि कुछ कष्ट उनको अवश्य पहुँचा है। रघुनाथजीका स्वभाव करुणामय है। किसीको दुखी देख नहीं सकते, यथा—**'करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइयहि पीर पराई॥ अ० ८५। २॥'** इसीसे 'बूझ करुनाकर' पद दिया। प्रभुको पूछना पड़ा, इससे यह भी जनाया कि किसीने शोक-समाचार सुनाना उचित न समझा था, इससे न कहा। पुनः 'करुनाकर' में यह भाव है कि करुणाभावसे पूछा, अज्ञतासे नहीं। पुनः, पूछनेमें भाव यह कि दासको बड़ाई देना है, यथा—**'संतत दासन्ह देहु बड़ाई। ताते मोहि पूछेहु रघुराई॥'** (आ०)। (पु० रा० कु०)

३ **'तब लगि'** का भाव कि पूछनेपर बतानेकी आवश्यकता न रही; क्योंकि उसी समय हनुमान्‌जी लेकर आ गये।

नोट—**'अति दुख माना'**। इससे प्रभुका नरनाट्य दिखाया, यथा—**'मानुषत्वमुपाश्रित्य लीलयानुशुशोच ह।'** (अ० रा० ६। ३२)। शक्ति लगनेपर सुषेणसे प्रभुने जो वचन वाल्मी० १०१ में कहे हैं—'यदि समरश्लाघी सर्वशुभ-लक्षणयुक्त हमारे ये भाई मृतक हो गये तो हमको प्राणों और सुखसे क्या है ? इनकी दशा देख हमारा वीर्य लज्जित हो जाता है, हाथसे धनुष-बाण गिरे जाते हैं, दृष्टि आँसुओंसे बंद हुई जाती है। दुःस्वप्न देखनेके समान सब अङ्ग काँपते हैं, हमारी चिन्ता बढ़ रही है, यही नहीं वरन् मरनेको जी चाहता है'—इत्यादि दुःखसूचक शब्द कहते-कहते वे विलाप करने लगे।······'इत्यादि'; यथा—**'अयं स समरश्लावी भ्राता मे शुभलक्षणः। यदि पञ्चत्वमापन्नः प्राणैर्मे किं सुखेन वा॥ ५॥ लज्जतीवद्धि मे वीर्यं भ्रश्यतीव कराद्धनुः। सायका व्यवसीदन्ति दृष्टिर्बाष्पवशं गता॥ ६॥ अवसीदन्ति गात्राणि स्वप्नयाने नृणामिव। चिन्ता मे वर्तते तीव्रा मुमूर्षाऽपि च जायते॥ ७॥···परं विषादमापन्नो विललापाकुलेन्द्रियः। १०।'** (वाल्मी० १०२), वे सब 'अति दुख' से कविने जनाया है। वाल्मी०में 'परम विषाद' है, वही यहाँ 'अति दुःख' है।

जामवंत कह बैद सुषेना। लंका रहइ को पठई लेना॥ ७॥
धरि लघु रूप गएउ हनुमंता। आनेउ भवन समेत तुरंता॥ ८॥

अर्थ—जामवन्तजीने कहा कि सुषेण वैद्य लङ्कामें रहता है, उसे ले आनेको कौन भेजा जाय ? ॥ ७ ॥ श्रीहनुमान्‌जी छोटा रूप धरकर वहाँ गये और उनको घरसहित तुरंत ले आये॥ ८॥

नोट—वाल्मी० ७४ में जाम्बवन्तजीने स्वयं ओषधि बतलायी है और हनुमान्‌जीको लाने भेजा है। अ० रा० ५ में यही ओषधि लानेको स्वयं श्रीरामजीने ही हनुमान्‌जीको भेजा था। वाल्मी० १०२ में सुषेणने ओषधि बतायी और हनुमान्‌जी लेने गये। हनुमन्नाटक और मानसके अनुसार सुषेण लङ्कासे लाये गये। हनु० १३। १७ और गीतावलीमें रघुनाथजीका हनुमान्‌जीको लङ्कासे सुषेण वैद्यको लानेके लिये कहना पाया जाता है। यथा—'वैद्यं सुषेणमधुनैव तदानय त्वं

* 'आनयद्राघवाभ्याशं बाहुभ्यां परिगृह्य तम्। वायुसूनोः सुहृत्त्वेन भक्त्या परमया च सः। शत्रूणामप्यकम्प्योऽपि लघुत्वमगमत्कपेः। वाल्मी० ५९। ११७।' अर्थात्—(तेजस्वी हनुमान्‌जी) अपनी दोनों भुजाओंसे उन्हें उठाकर रामजीके पास लाये। शत्रुओंसे कम्पित होनेके अयोग्य लक्ष्मणजी हनुमान्‌जीके सौहार्द तथा उनकी परमभक्तिसे प्रसन्न हो हलके हो गये।

लङ्कापतेरनुचरोऽपि यतो भिषक् सः। नैवान्यथा वदति रामगिरा हनूमान्पर्यङ्कसुसमचिरेण तमानिनाय॥' अर्थात् हे वीर! तुम इस समय सुषेण वैद्यको ले आओ; वह वैद्य रावणका अनुचर है तथापि अन्यथा नहीं करेगा। श्रीरामजीकी यह वाणी सुन पलँगपर सोते हुए उस सुषेणको हनुमान्‌जी शीघ्र ले आये। **'सुनि हनुमंत बचन रघुबीर। सत्य समीरसुवन सब लायक कह्यो राम रनधीर॥ चाहिय बैद ईस आयसु धरि सीस कीस बल ऐन। आन्यो सदन सहित सोवतही जौं लौं पलक परै न॥'**

मानससे उसका समन्वय यों हो सकता है कि जाम्बवन्तने नाम और स्थान बतलाया, उसपर श्रीरघुनाथजीने हनुमान्‌जीको आज्ञा दी कि तुम जाकर ले आओ। आज्ञा पाकर हनुमान्‌जी गये।—इस प्रकार मानस और हनुमन्नाटककी कथा मिल जाती है। विशेष ६१ (४) में देखिये।

पंजाबीजीका मत है कि जाम्बवन्तके वचन सुनकर वे स्वयं ही चल दिये। क्योंकि उनको पश्चात्ताप है कि हमारे रहते लक्ष्मणजीको शक्ति लगी। इससे वे लज्जित हैं।

वि० त्रि०—**''जामवंत कह ''** इति। यहाँ विभीषणका बोलना प्राप्त था। लङ्काके राजवैद्य 'सुषेण' जिनकी ख्याति जाम्बवान्‌जीतक पहुँची थी, उनका परिचय विभीषणजीको न हो, यह तो हो नहीं सकता। फिर विभीषणजीके मौन रहनेका कारण होना चाहिये। कारण यही जान पड़ता है कि विभीषणजीके आनेपर, वे राजा सुग्रीवद्वारा संशयकी दृष्टिसे देखे गये थे, (यथा—**'जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया'**) यद्यपि प्रभुने वह बात नहीं मानी, फिर भी बात तो ऐसी हुई थी। यहाँ लक्ष्मणजीके जीवन-मरणका प्रश्न है, और विभीषणजी जानते हैं कि सुषेणकी ख्यातिसे यहाँपर भी लोग अपरिचित नहीं हैं, अतः विभीषणजी सुषेणके लिये कहनेमें अग्रगण्य नहीं हुए। जाम्बवान्‌जी सब समझते थे। इसलिये विभीषणजीके कहनेकी प्रतीक्षा न करके उन्होंने स्वयं कहा कि 'सुषेणको बुलाना चाहिये।'

नोट—२ **'धरि लघु रूप'** इति। (क) छोटा रूप धरकर गये जिससे कोई देख न पावे। अपने रूपसे जाते तो कार्यमें विघ्न और विलम्ब हो जाना सम्भव था। 'लघुरूप' वैसा ही समझ लें जैसा सीता-शोध-समय—**'मसक समान रूप कपि धरी। लंका चले सुमिरि नरहरी'**, था। पंजाबीजीका मत है कि एक वैद्यहीको लाना था इसलिये बड़े रूपकी आवश्यकता न थी। (ख) यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'लौटते समय जब घरसहित लाये तब तो राक्षस विघ्न कर सकते थे, घर तो छोटा नहीं किया गया?' इसका उत्तर यह है कि लौटतेमें इनको विघ्नका भय न था; क्योंकि वेगमें इनको पवन और गरुड़ भी न पा सकते थे तब दूसरा इन्हें कब पा सकता था और लङ्कामें जाते समय विघ्न उपस्थित होनेपर युद्ध होने लगता, इनका सुषेणके यहाँतक पहुँचना ही असम्भव हो सकता था। पुनः, प्र० स्वामीजी भी ठीक ही लिखते हैं कि जब कालकेतुके समान एक निशाचर राजमहलके बंद द्वारोंमेंसे राजाको अंदर ले जाकर रानीके पास शय्यापर सुला दे सकता है तब अष्टसिद्धियाँ जिनकी सेविकाएँ हैं वे श्रीहनुमान्‌जी क्या घरको भी छोटा नहीं कर सकते? अष्टसिद्धि-प्राप्त पुरुष सब कुछ कर सकता है।

३—**'आनेउ भवन समेत०'**। घर समेत लानेके कारण ये हो सकते हैं कि—(क) वह सो रहा था। सोतेसे जगानेपर चलता या न चलता। अथवा न जाने कब जागता। (ख) यहाँ आनेपर सम्भव था कि कहता कि दवा घरपर है तो फिर जाना पड़ता और सम्भवतः दूसरी बार घरतक पहुँचना भी कठिन हो जाता।

वीरकवि—जाना और वैद्यको तुरंत ले आना—यह 'अक्रमातिशयोक्ति अलंकार' है। छोटा रूप धारण करने तथा घरसहित ले आनेका हेतु बिना कहे कठिन-सा मालूम होता है, पर जान लेनेसे सरल। अतः 'अस्फुट गुणीभूत व्यंग' है।

दोहा—रामपदारबिंद * सिरु नाएउ आइ सुषेन।
कहा नाम गिरि औषधी जाहु पवनसुत लेन॥५४॥

अर्थ—सुषेणने आकर श्रीरामजीके चरणकमलोंको माथा नवाया। पर्वत और ओषधिका नाम बताया। (और तब रामचन्द्रजीने अथवा उसीने कहा कि) हे पवनसुत! ओषधि लेने जाओ॥५४॥

* 'रघुपति चरन सरोज' (काशी)।

नोट—'जाहु पवनसुत लेन'। सीधा अर्थ यही है कि सुषेणने हनुमान्‌जीसे स्वयं कहा। यह अर्थ वाल्मी० १०१ के अनुसार है। वाल्मी०, अ० रा० और हनु० ना० में मतभेद होनेसे दोनों तरह अर्थ किया गया है।

१—'सुप्तोत्थितं रघुपतिर्भिषजां वरिष्ठं पप्रच्छ तं सकरुणं तरुणोपचारम्। स व्याजहार हिमरश्मिरुचा रजन्यां जीवत्यसौ द्रुहिणशैलविशल्यवल्ल्या ॥'

अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीने निद्रासे जागे हुए वैद्यराज सुषेणसे करुणासहित तरुण लक्ष्मणजीके उपचारको पूछा। तब वह बोला कि शीतरश्मि चन्द्रमाकी कान्तिसे प्रकाशित ही रात्रिमें द्रुहिण पर्वतकी संजीवनी बूटीसे ये जीवित हो जायँगे अर्थात् आज रात्रिमें ही बूटी आ जाय। हनु० १३। १८॥

२—'रामः (सभयम्)। आर्तः संकुचितमुखकमलः समरसंकटे भगवतो रुद्रावतारस्य मारुतेः साशंकमुखकमलविकाशं पश्यति।'''लक्षाणां षष्टिरास्ते द्रुहिणगिरिरितो योजनानां हनूमांस्तैलाग्नेः सर्षपस्य स्फुटनरवपरस्तत्र गत्वाऽत्र चैमि॥ हनु० १३। २०॥

अर्थात् रामचन्द्रजो दुःखी होकर मलिन-मुखकमल होकर रणसङ्कटमें शङ्कासे भगवान् रुद्रावतार हनुमान्‌जीके मुखकमलकी निर्मलताको देखने लगे।'''हनुमान्‌जीने कहा कि स्वामिन्! मुझे आज्ञा दीजिये! यहाँसे वह पर्वत ६० लाख योजनपर है, सो मैं हनुमान् अग्निपर धरे हुए तेलकी ज्वालामें डाले हुए सरसोंके फूटनेका शब्द जितनी देरमें हो उतनी ही देरमें वहाँ जाकर फिर यहाँ आ जाऊँगा।

३—'ततः प्राह हनूमन्तं वत्स जीवय लक्ष्मणम्॥' अ० रा० ६। २२ (श्रीरामोवाच)॥'''तथेतिराघवेणोक्तो जगामाशु महाकपिः॥ ३३॥' अर्थात् श्रीरामजीने हनुमान्‌जीसे कहा कि हे प्रिय! लक्ष्मणजीको जिलाओ। राघवके ऐसा कहनेपर महाकपि तुरंत चले।

४—वाल्मी० १०२ में लिखा है कि श्रीरामजीको शोकातुर देख सुषेणने उनको समझाकर फिर हनुमान्‌जीको ओषधि लानेको कहा। सुषेणका लाया जाना नहीं कहा गया। यथा—'एवमुक्त्वा महाप्राज्ञ सुषेणो राघवं वचः॥ २८॥ समीपस्थमुवाचेदं हनूमन्तं महाकपिम्। सौम्य शीघ्रमितो गत्वा पर्वतं हि महोदयम्॥ २९॥' अर्थात् राघवसे ऐसा कहकर महाप्राज्ञ सुषेण समीप उपस्थित महाकपि हनुमान्‌जीसे बोले कि हे सौम्य! तुम शीघ्र पर्वतपर जाकर (ओषधि लाओ)।

नोट—२ 'कहा नाम गिरि ओषधी' इति। (क) 'गिरि'। वाल्मी० १०१ में सुषेण हनुमान्‌जीसे कहते हैं कि 'पूर्वं तु कथितो योऽसौ वीर जाम्बवता तव' अर्थात् पूर्व जिस पर्वतको जाम्बवान्‌ने तुमको बताया था'। जाम्बवान्‌ने हनुमान्‌जीसे वाल्मी० यु० ७४। २९-३० में कहा कि—'समुद्रके ऊपर-ऊपर दूरतक चले जाओ और पर्वतश्रेष्ठ हिमवान्‌पर पहुँचो। उसके आगे तुम्हें स्वर्णका ऋषभ पर्वत देख पड़ेगा, फिर वहाँसे कैलास पर्वत देखोगे। इन दोनों पर्वतोंके बीचमें सर्वौषधियुक्त प्रकाशित औषध पर्वत देखोगे।' और हनु० ना० में पर्वतका नाम द्रुहिणगिरि बताया गया है जिसको हनुमान्‌जी ६० लक्ष योजनपर बताते हैं। अ० रा० ५ में श्रीरामचन्द्रजीने हनुमान्‌जीको बताया है कि यह क्षीरसागरमें है। यथा—'उवाच मारुतिं शीघ्रं गत्वा क्षीरमहोदधिम्॥ ७१॥ तत्र द्रोणगिरिर्नाम दिव्यौषधिसमुद्भवः॥ ७२॥' यह क्षीरसागर सप्त बड़े सागरोंमेंसे एक है। (ख) ओषधिके नाम विशल्यकरणी (घाव भरनेवाली), सावर्ण्यकरणी (पूर्ववत् शरीर कर देनेवाली), सञ्जीवकरणी (जीवित करनेवाली) और संधानी (टूटे अङ्गोंको जोड़ देनेवाली) हैं। द्रोणपर्वतके दक्षिण शिखरपर ये मिलती हैं। यथा—'दक्षिणे शिखरे जातां महौषधिमिहानय॥ ३०॥ विशल्यकरणीं नाम्ना सावर्ण्यकरणीं तथा। संजीवकरणीं वीर संधानीं च महौषधीम्॥ ३१॥ वाल्मी० १०१॥'

३—'पवनसुत' सम्बोधनका भाव कि—(क) अति शीघ्रताका काम है पवनवेगसे जाकर रात्रिमें ही ले आओ। (ख) तुम पवनके समान बल, विवेक और विज्ञानके निधान हो, तुम्हीं यह कार्य कर सकते हो। (ग) जैसे पवनकी गति कोई रोक नहीं सकता वैसे ही तुम्हारी गति कोई रोक न सकेगा। 'ज्येष्ठः केसरिणः पुत्रो वातात्मज इति श्रुतः।'''॥ कामरूपी हरिश्रेष्ठो बलरूपसमन्वितः। अनिवार्यगतिश्चैव यथा सततगः प्रभुः॥' (वाल्मी० २८। १०-११) (सारण-वाक्य रावण प्रति)। कालनेमिने भी कहा है—'तासु पंथ को रोकनिहारा'। (घ) पवन सबके जीवन हैं, तुम भी ओषधि लाकर लक्ष्मणजीके जीवन बनो। (ङ) तुम्हारी पवनदेव इस कार्यमें सहायता भी करेंगे—(हनु० १३। २३ के

मतानुसार द्रोणाचल उखाड़नेमें और गीतावलीमें भरतबाणसे गिरनेपर पवनदेवने सहायता की है। कि० ३० (४–६) के भाव इस पदमें जना दिये हैं अतः विशेष भाव वहाँ देखिये।

रामचरनसरसिज उर राखी। चला प्रभंजनसुत बल भाखी॥ १॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंको हृदयमें रखकर और अपना बल बखानकर हनुमान्‌जी चले॥ १॥

नोट—'बल भाषी' इति। रामचन्द्रजीकी व्याकुलता देख उनका शोक हरने, उनको ढाढस देनेके लिये कार्य-तत्परताकी मूर्ति पवनसुतमें यह वीरोत्साह हुआ। हनु० ना० और गीतावलीमें उनकी अत्युक्ति इस प्रसङ्गमें कैसी वीररसपूर्ण है तथा कि० काण्डमें समुद्रतटपर जैसे गर्जकर उन्होंने अपना बल कहा था उससे भी अधिक उत्साह यहाँ दिखाया है, देखिये—

हनूमान् सविस्मयो रामम् हनुमति कृतप्रतिज्ञे देवमदैवं यमोऽप्ययमः। पुनर्देव पश्य—
पातालतः किमु सुधारसमानयामि निष्पीड्य चन्द्रममृतं किमुताहरामि।
उद्दण्डचण्डकिरणं ननु वारयामि कीनाशपाशमनिशं किमु चूर्णयामि॥ १३। १६॥

आश्चर्यपूर्वक हनुमान्‌जी श्रीरामजीसे बोले कि हनुमान्‌के प्रतिज्ञा करनेपर दैव-अदैव और यम-अयम हो जाता है। क्या मैं पातालसे अमृतरसको ले आऊँ? अथवा, चन्द्रमाको निचोड़कर अमृत ले आऊँ? या प्रचण्ड किरणमाली सूर्यको वारण कर दूँ? वा, निरन्तर पाशधारी यमराजको ही चूर-चूर कर डालूँ। इत्यादि। पुनश्च—

'जौं हौं तव अनुसासन पावौं। तौ चंद्रमहि निचोरि चैल ज्यों आनि सुधा सिर नावौं॥ १॥
कै पाताल दलौं ब्यालावलि अमृतकुंड कहि ल्यावौं। भेदि भुवन करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं॥ २॥
बिबुधबैद बरबस धरि आनौं तौ प्रभु अनुग कहावौं। पटकौं मीचु नीच मूषक ज्यों सब कौं पाप बहावौं॥ ३॥
तुम्हरिहि कृपा प्रताप तिहारेहि नेकु बिलंब न लावौं। दीजै सोइ आयसु तुलसी प्रभु जौं तुम्हरे मन भावौं॥ ४॥

इसी भावोद्वेगमें पवनसुत तुरंत चल पड़े, प्रणाम करनेतककी सुधि न रही। भगवान्‌की हँसी यदि माया है तो रुलाई महामाया है। वह शेष भगवान् तथा मारुतितकको भुलावेमें डाल देती है। उसीके फेरमें पड़कर राहमें अनेक विघ्नोंका सामना करना पड़ा है।

नोट—ओषधि लानेकी आज्ञा देनेमें 'पवनसुत' और बल कहकर चलनेमें उससे भी बड़ा 'प्रभंजनसुत' पद दिया। प्रभंजनका भी अर्थ पवन है। अतएव इसमें 'पवनसुत' के भाव तो हैं ही पर कुछ विशेष भी हैं। प्रभंजन=विशेष भंजन (चूर्ण) करनेवाला। इस शब्दको देकर कविने जनाया है कि जो बल यहाँ बखान किया है वह ऐसा ही है। उपर्युक्त उद्धरणोंके 'चूर्णयामि', 'दलौं', 'पटकौं', 'बरबस धरि आनौं' इत्यादि शब्द 'प्रभंजन' पदको सार्थक कर रहे हैं।

वं० पा० १—यहाँ दो बातें प्रतिकूल हुईं। एक तो प्रणाम न किया, दूसरे स्वामीके आगे बल बखान किया। अतएव क्लेश होगा। २—'चरन सरसिज उर राखी' का भाव कि श्रमका ताप न हो; इन चरणोंने त्रिलोकीको नाप लिया था, अतएव इनकी कृपासे षट् समुद्र पार होना क्या बड़ी बात है?

नोट—मेरी समझमें श्रीरामचरणकमल हृदयमें धारण किया है अतः कार्यमें सफलता अवश्य होगी। **'राम चरन पंकज उर धरहू। ६। १। ८।'** देखिये। पर बल बखानकर चले हैं इससे विघ्न उपस्थित होंगे। जैसा बल बखान किया वैसी शीघ्रतासे कार्य न होगा। सेवकमें दैन्यभाव चाहिये चाहे वह कितना ही पराक्रमी क्यों न हो। इस बल-बखानके साथ ही प्रणामका न किया जाना भी बड़ा भारी अपराध माना गया, नहीं तो हृदयमें स्मरण करना भी प्रणामहीके तुल्य था।

उहाँ दूत एकु मरमु जनावा। रावनु कालनेमि गृह आवा॥ २॥

अर्थ—उधर एक दूत (गुप्तचर) ने रावणसे यह भेद बता दिया। रावण कालनेमिके घर आया॥ २॥

वि० त्रि०—लक्ष्मणजीकी स्थिति जाननेके लिये, तथा चिकित्साकी व्यवस्था जाननेके लिये रावणने दूत छोड़े थे। भवनसहित सुषेणका लाना एक ऐसी घटना थी, जो कि दूतोंसे छिप न सकी। किसी एकको सुषेणकी कही हुई बातोंके सुननेका भी अवसर हाथ लग गया, उसने तुरंत समाचार रावणको दिया। रावणने समझा कि लङ्का भरमें ऐसा मायावी

कालनेमि ही है, जो हनुमान्‌का रास्ता रोक सकता है, और वह अन्तर्मुख हो रहा है, ऐसे काममें हाथ न बँटावेगा, अतः रावण स्वयं कालनेमिके घर गये। इसी भाँति मारीचके पास भी स्वयं गये थे। स्वार्थसाधनमें रावण अभिमानको स्थान नहीं देते (यथा—'**नाइ माथ स्वारथ रत नीचा**।')

नोट—☞ १ कालनेमिके पास आनेमें 'रावण', उससे मर्म कहनेमें 'दसमुख' और उसकी बातपर क्रोधित होनेपर 'दसकण्ठ' शब्दोंका प्रयोग इस प्रसङ्गमें कविने किया है। यह भेद भी भावसे खाली नहीं है। २—कालनेमिको रुलावेगा, यथा—'**पुनि पुनि कालनेमि सिर धुनेऊ**', रुलाना क्या, उसके तो प्राण ही ले लिये। अतः यहाँ 'रावण' नाम कहा।

नोट—२ (क) '**कालनेमि गृह आवा**' इति। इससे जनाया कि मुनिवेष धारण करनेमें यह बड़ा निपुण था जैसे मारीच मायामृग बननेमें था। रावणकी यह प्रजा है। रावणको पूर्ण विश्वास है कि यह कार्य यही कर सकेगा, दूसरा नहीं, अतएव इसके पास उसी समय अकेला आया—'**जगाम रात्रावेकाकी कालनेमिगृहं क्षणात्**। ६। ३६॥' (ख)—कालनेमिका प्रसंग अ० रा० ६-७ और आ० रा०। १। ११ में भी है।

दसमुख कहा मरमु तेहिं सुना। पुनि पुनि कालनेमि सिरु धुना॥ ३॥

शब्दार्थ—'सिर धुनना'=शोक या पछतावेसे सिर पीटना, पछताना, शोक करना।

अर्थ—दशाननने उससे सब मर्म कहा और उसने सुना। कालनेमिने बारंबार अपना सिर पीटा॥ ३॥

नोट १—'दशमुख' पदसे जनाया कि अभिमानपूर्वक सब हाल कहा मानो दसों मुखोंसे कहा है। यथा—'**दसमुख सकल कथा तेहि आगे। कही सहित अभिमान अभागे**'—(मारीचसे)। पुनः, भाव कि वह इतना व्याकुल था कि वही एक बात उसने दशों मुखोंसे कही, यथा—'**दसमुख बोलि उठा अकुलाना**' [समुद्रपर सेतुका बाँधना सुनकर। (पं०)] २—'मरसु' इति। एक तो हनुमान्‌जीका लक्ष्मणजीके लिये ओषधि लाने जानेका सब वृत्तान्त कहा, दूसरे, यह बताया कि मायासे मुनिवेष धारण कर कपिको मोहित कर सकते हो फिर जिस प्रकार निशाकाल व्यतीत हो वह करना। यथा अध्यात्मे—

"**मायया मुनिवेषेण मोहयस्व महाकपिम्। कालात्ययो यथा भूयात्तथा कुरुवैहि मन्दिरे॥ ६। ४१॥**"

३—'सिरु धुना' इति। भाव कि कहाँसे यह अभागा हमारे प्राण लेनेको आ गया। काल सिरपर आ गया यह समझ सिर पीटकर पश्चात्ताप करता है कि मायामें कुशल होना आज हमारे लिये प्राणघातक ही हो रहा है। सिंहिकाकी माया हनुमान्‌जीसे न चली तब हमारी क्या चलेगी। अवश्य मरण होगा, यह समझकर उसे अत्यन्त दुःख हुआ, इसीसे सिर पीटने लगा। यथा—'**अति बिषाद पुनि पुनि सिर धुनेऊ**। ६१। ५।' अ० रा० में कालनेमिने रावणसे कहा है कि मेरे प्राण न बचेंगे जैसे मारीचके न बचे थे। यथा—"**प्रियं ते करवाण्येव न प्राणान्धारयाम्यहम्। मारीचस्य यथारण्ये पुराभून्मृगरूपिणः॥ तथैव मे न संदेहो भविष्यति दशानन**॥ अ० रा० ६। ४३-४४॥"

प० प० प्र०—इसके दोनों चरणोंमें एक-एक मात्रा कम है। रावण-मारीच-प्रसंगके '**सस्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी। बैद बंदि कबि भानसगुनी**॥' इस अर्धालीमें भी एक-एक मात्रा कम है। भाव भी दोनोंमें एक-सा है। भाव कि मर्म सुनते ही उसे उसका मरण निश्चय हो गया—'**उभय भाँति देखा निज मरना**'। इससे किंकर्त्तव्यमूढ़ होकर स्तम्भित हो गया, कलेजा धड़कने लगा और विषादवश कुछ देर बोल न सका।

देखत तुम्हहि नगर जेहि जारा। तासु पंथ को रोकन* पारा॥ ४॥

अर्थ—(और बोला कि) तुम्हारे देखते जिसने नगर जला डाला, उसका मार्ग कौन रोक सकता है? (कोई नहीं। भाव कि ऐसे विषम बलीसे वैर ठानना व्यर्थ है)॥ ४॥

दोहा ३५ (५) और दोहा ५४ देखिये।

भजि रघुपति करु हित आपना। छाँड़हु नाथ मृषा† जलपना॥ ५॥

* रोकनहारा—(का०)। पारा—(भा० दा०)। यहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार है। † वृथा जलपना—(पां०, ना० प्र०)। 'मृषा जलपना'—(का० भा० दा०)।

नीलकंज तनु सुंदर स्यामा। हृदय राखु लोचनाभिरामा ॥ ६ ॥

अर्थ—रघुनाथजीका भजन करके अपना कल्याण करो। हे नाथ! झूठा व्यर्थका बकवाद छोड़िये ॥ ५ ॥ नेत्रोंको आनन्द देनेवाले सुन्दर-श्याम नीलकमल-शरीर (मूर्ति) को हृदयमें रखिये ॥ ६ ॥

नोट—"भजि रघुपति करु हित आपना" इति। (क) ऐसा ही अ० रा० में कहा है, यथा—"**भजस्व रामं परिपूर्णमेकं विहाय वैरं निजभक्तियुक्तः। हृदा सदा भावितभावरूपमनामरूपं पुरुषं पुराणम्** ॥ ६। ६३।" अर्थात् वैर छोड़कर भक्तियुक्त होकर नाम-रूप-रहित पुराणपुरुष, परिपूर्ण, अद्वितीय, सदा हृदयमें भावपूर्वक ध्यान करने योग्य रामचन्द्रजीको भजो। (ख)—'हित' अर्थात् लोक-परलोक दोनोंका कल्याण। यहाँ प्राण बचेंगे, अविचल राज्य रहेगा और अन्तमें मुक्ति होगी। अ० रा० में 'हित' के बदले केवल मुक्ति है, यथा—"**भक्त्या परमया युक्तो मुच्यते नात्र संशयः** ॥ ६। ६१ ॥" (ग) 'रघुपति'। '**तुम्हहि रघुपतिहि अंतर कैसा** ॥ ६। ६। ६।' और '**जाइ भजिअ रघुनाथ**। ६। ६।' में देखिये। भाव कि जीवको उनका भजन करना योग्य ही है। आगे भजनकी विधि बताता है—'नीलकंज०'।—(वं० पा०)। ☞ कालनेमिका ज्ञान-भक्ति-उपदेश अ० रा० में ६। ४७–६३ में है।

प० प० प्र०—मात्राकी न्यूनता करके बताया कि रावणका अहंकार और उसका दुष्परिणाम विचारमें आनेसे कालनेमिकी छाती दया, विषाद, भय आदि विकारोंसे व्यथित हो गयी।

अहंकार ममता मद* त्यागू। महा मोह निसि सूतत जागू ॥ ७ ॥
काल ब्याल कर भक्षक जोई। सपनेहु समर कि जीतिअ सोई ॥ ८ ॥

अर्थ—अहंकार, ममत्व और मदको छोड़ो। महामोहरूपी रात्रिमें सोतेसे जागो ॥ ७ ॥ जो कालसर्पका खानेवाला है, उसे स्वप्नमें भी संग्राममें कौन जीत सकता है? (भाव कि जागतेकी कौन कहे स्वप्नमें भी तुम उसे लड़कर नहीं जीत सकते, वे भक्तिसे ही वशमें होते हैं) ॥ ८ ॥

नोट—१ '**अहंकार ममता मद त्यागू**' के भाव। (क)—इन्हींके कारण तुम भूले हुए हो और समझते हो कि हमसे कौन लड़ सकता है, राम मनुष्य हैं, हनुमानादिक वानर हैं, इनसे क्या डरना इत्यादि। (ख) इनके त्याग करनेपर तुम उन्हें ईश्वर जानोगे। दोहा ३६ (५) '**मुधा मान ममता मद बहहू**' देखिये। (ग)—पूर्व कहा कि रघुपतिका भजन करो। ये भजनके बाधक हैं अतः अत्र इनके छोड़नेको कहा—'**परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस**। सुं० ३९।' और '**भजहु नाथ ममता सब त्यागी**। ७। ५' देखिये।

२ '**महामोह निसि सूतत जागू**' इति। ईश्वरमें भ्रम होना महामोह है, यथा—'**महामोह उपजा उर तोरे। मिटिहि न बेगि कहे खग मोरे** ॥ उ० ५८।' पुनः, धरनि धाम धन परिवारादिमें लिप्त रहना मोहरात्रिमें सोना है और सबसे वैराग्य हो प्रभुके भजनमें लगना जागना है। आशय यह कि रामको परब्रह्म परमात्मा जानकर उनका भजन करो, उनको जानकी दे दो; इत्यादि।—इसकी विस्तृत टीका श्रीलक्ष्मणगीता अ० ९१–९३ में हो चुकी है। श्रीलक्ष्मणजीका—'**मोहनिसा सब सोवनि हारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा ॥ जानिय तबहि जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा ॥ होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा** ॥ अ० ९३। २–५।', यह सारा उपदेश इस एक चरणमें आ गया।

३ 'काल ब्याल कर भक्षक जोई।...' इति। कालको सर्प कहा; क्योंकि यह शीघ्र ही सबको खा लेता है, किसीकी रूरियायत नहीं करता—'**जो सुर असुर चराचर खाई**' उस कालके भी ये काल हैं। मनुष्य नहीं हैं। तब इनको कौन जीत सकता है? '**उतरे प्रभु दल सहित सुबेला**। ३६। १।', तथा '**कालमत्तेभसिंहं**। मं० श्लोक १।' देखिये।

दो०—सुनि दसकंठ रिसान अति तेहिं मन कीन्ह बिचार।
रामदूत कर मरौं बरु यह खल रत मलभार ॥ ५५ ॥

* यह का० का पाठ है। 'मैं तैं मोर मूढ़ता'—(भा० दा०)।

शब्दार्थ—बरु (बर=श्रेष्ठ, भला)=भलेही, कुछ हर्ज नहीं।

अर्थ—'दशग्रीव रावण सुनकर बहुत ही क्रोधित हुआ (तब) उसने मनमें विचार किया कि यह दुष्ट तो पाप-समूहमें आसक्त है (मरना ही है तो इसके हाथसे न मरकर) भले ही रामदूतके हाथों मरूँ॥ ५५॥

नोट—१ (क) 'दसकंठ' का भाव कि दसों मुखोंसे क्रोध प्रकट किया, वा इसके दसों सिर काटे जानेको हैं—'**सुनु दसकंठ कहौं पन रोपी।**'''॥ ५। २३। ७।' देखिये। (ख) '**रिसान अति**' का भाव कि क्रोधसे जल उठा, दसों मुख और सब नेत्र क्रोधसे लाल हो गये—**सुनत बचन रावन परजरा। जरत महानल जनु घृत परा**॥ २७। ८।' देखिये। बहुत गालियाँ दीं कि तू हमें गुरु बनकर ज्ञान सिखाता है, जान पड़ता है कि तू शत्रुसे मिला हुआ है। (अ० रा० ७। १-३), यथा—'**सुनत जरा दीन्हेसि बहु गारी**। ३। २६। १।' देखो। (ग) '**रामदूत कर मरौं बरु०**' इति। 'बरु' पदसे जनाया कि रावणने उससे कहा कि तू मेरा कहा नहीं करता तो मैं तुझे अभी अपने हाथसे मारता हूँ—'**निहन्मि त्वां दुरात्मानं मच्छासनपराङ्मुखम्** (अ० रा० ७)।' तब उसने मनमें सोचा कि पापीके हाथों मरनेसे यही भला है कि रामदूतके हाथ मरूँ। इसी प्रकार मारीचने सोचा था—'**उभय भाँति देखा निज मरना।**''' '**रामादपि च मर्तव्यं मर्तव्यं रावणादपि। उभयोर्यदि मर्तव्यं वरं रामो न रावणः**॥' (हनु० ३। २४), आ० २६ (५-६)। (घ) रामदूतका दर्शन मात्र अति पुण्यप्रद और पापनाशक है, यथा—'**तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता**॥ ५। ४। ८।', '**कपि तव दरस भइउँ निष्पापा**। ५७। १।'

अस कहि चला रचिसि मग माया। सर मंदिर बर बाग बनाया॥ १॥
मारुतसुत देखा सुभ आश्रम। मुनिहि बूझि जल पिअउँ जाइ श्रम॥ २॥

अर्थ—ऐसा कहकर चला। मार्गमें माया रची। सरपर सुन्दर, मन्दिर और बाग बनाये॥ १॥ पवनसुत हनुमान्‌जीने सुन्दर पवित्र आश्रम देखा। तो मनमें विचार किया कि मुनिसे पूछकर जल पी लूँ जिससे थकावट दूर हो॥ २॥

'रचिसि मग माया। सर मंदिर०'

पंजाबीजी और बाबा हरीदासजी कहते हैं कि मार्गमें सर प्राचीन था जिसमें शापित मकरी शापके समयसे रहती आयी है। उसीपर उसने सुन्दर मन्दिर और बाग बनाया। गौड़जी लिखते हैं कि "उसने मार्गमें माया रची अर्थात् आप मुनि बनकर बैठ गया। किसी उपयुक्त स्थानपर जहाँ बाग, तालाब और मन्दिर था वहीं अपना आसन जमाया। सर मन्दिर पहलेसे मौजूद देखा। उसे केवल '**बर बाग बनाना**' सुन्दर बाग सजाना था। उसने सजाया। तालाब झूठा न था और न उसकी मकरी।" और, करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि 'सर भी मायाका है। अप्सराको राक्षसी होनेका शाप था। वह भी बड़ी मायाविनी थी। कालनेमिकी सम्मति वा रावणाज्ञासे वह सरमें मकरी बनकर आयी'। करुणासिन्धुजीके मतकी पुष्टिमें देखिये—'**हत्वा मायामहर्षीन्रजनिचरवरं कन्धकालीमुदग्रां। ग्राहीरूपां प्रमथ्य प्रबलमथ बलं राक्षसान्मर्दयित्वा**॥ हनु० १३। ३२॥'

इसमें मकरीरूपधारिणी कन्धकाली राक्षसीका मन्थन करना कहा है। और, अ० रा० एवं आ० रा० पंजाबीजी आदिके मतके पोषक हैं। यथा—'**त्वत्प्रसादादहं शापाद्विमुक्तास्मि कपीश्वर। शप्ताहं मुनिना पूर्वमप्सरा कारणान्तरैः। आश्रमे यस्तु ते दृष्टः कालनेमिर्महासुरः। मुनिवेषधरो नासौ मुनिर्विप्रविहिंसकः**॥'

अ० रा० ७ के इस श्लोकमें उसने अपना पूर्व अप्सरा होना और अब शापसे मुक्त होना कहा है। अपना राक्षसी होकर मायासे मकरी बनना नहीं कहा। कालनेमिका रावणाज्ञासे मुनि बनना कहा है। और, आ० रा० १। १०। ५६ में उसके ये वचन हैं—'**त्वत्तो मे निष्कृतिस्तेन कीर्तिता**।' अर्थात् ऋषिने मुझे शाप दिया जैसा तुमने मुझे देखा और मकरी-शरीर छूटनेका कारण आपसे मुझे बताया। फिर अन्तमें उसने यह भी कहा कि यह कालनेमि है, रावणने इसे भेजा है, आप इसे मार डालें—'**रावणप्रेषितो मार्गे स्थितस्तं जहि वेगतः**।'; अपनेको रावणकी भेजी हुई नहीं बताया। इन उद्धरणोंसे शापसे मकरी होना सिद्ध होता है और यह भी अनुमान होता है कि कालनेमि जानता था कि यह पकड़ा करती है अतः यहाँ आश्रम रचा। मानसकविके शब्दोंकी स्थिति ऐसी है कि सबके मतोंका पोषण हो जाय; पर मानसका क्या मत है यह मानससे ही स्पष्ट हो जाता है। मकरी मायाकी न थी, यही मानसका मत है। क्योंकि मरनेपर

मायाका शरीर छूटकर राक्षस-शरीर प्रकट होनेपर ही दिव्य शरीर होना मारीच और कालनेमि दोनोंके प्रसंगोंमें पाया जाता है; पर मकरीके मरनेपर यह बात नहीं कही गयी। यदि वह मायाकी मकरी होती तो प्रथम उसका राक्षसी शरीर अवश्य प्रकट होता तब दिव्य देह बनता।

'मकरी-ताल' नामक सर श्रीअयोध्याजीसे दक्षिण लगभग १०-११ कोसपर मौजूद बताया जाता है और अब वहाँ मकरी-हनुमान्‌जीका मन्दिर भी है। यह भी सरके माया-रचित न होनेको प्रमाणित करता है। अ० रा० और आ० रा० में हिमाचलके पास तपोवन, आश्रम और ऋषि-शिष्योंका मायासे कल्पित किये जानेका स्पष्ट उल्लेख है, यथा—'**स गत्वा हिमवत्पार्श्वे तपोवनमकल्पयत्॥ तत्र शिष्यैः परिवृतो मुनिवेषधरः स्थितः॥ आ० रा० १। ११। ४८।**' सरका नहीं। आश्रम बनाया, इसीसे आश्रम देखना सर्वत्र कहा गया है।

नोट—१ (क) '**अस कहि चला**'। पूर्व कहा कि '**मन कीन्ह बिचार**' और यहाँ लिखते हैं कि '**अस कहि**', यद्यपि किसी बातका कहना यहाँ पाया नहीं जाता। मारीच-प्रसंगमें 'कहि' पद नहीं है। वहाँ कवि लिखते हैं कि '**अस जिय जानि दसानन संगा। चला०**'॥ तब यहाँ 'कहि' कैसे लिखा? इस शब्दको यहाँ देकर कवि सूचित करते हैं कि विचार करनेके बाद उसने रावणसे कहा कि आप क्रोध न करें, मैं जाकर आपका कहा करता हूँ। यथा अ० रा० ७। ३—'**कालनेमिरुवाचेदं रावणं देव किं क्रुधा। न रोचते मे वचनं यदि गत्वा करोमि तत्॥**'

इसका अध्याहार ऊपरसे कर लेना होगा। यहाँ उसकी अत्यन्त शीघ्रता दिखानेके लिये वे वचन खोले न गये, 'कहि' से ही जना दिये गये। कविने मायावी कालनेमिकी मायामें निपुणता और उसकी शीघ्रता किस खूबीसे यहाँ दिखायी है। रावणसे बात कहना, चलना और माया रचना, यह सब एक साथ एक चरणमें देकर जनाया कि मानो ये तीनों कार्य एक साथ हुए। रावणसे कहते हुए कि मैं जाता हूँ वह मार्गमें हनुमान्‌जीके पहले ही पहुँच भी गया और माया भी रच ली।

२ '**शुभ आश्रम**' से जनाया कि वह देखनेमें पवित्र, रमणीय, मनभावन इत्यादि था, वन कुसुमित था, मधुकर पक्षी मृग कोलाहल करते थे, इत्यादि, जैसे मुनियोंके आश्रम होते हैं। (अ० रा० ७। ९। ११ में ये सब बातें आश्रममें दिखायी गयी हैं।) मिलान कीजिये—'**बिस्वामित्र महामुनि ज्ञानी। बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी॥ बा० २०६।**', '**राम दीख मुनिबास सुहावन। सुंदर गिरि कानन जल पावन॥**'''**सुचि सुंदर आश्रम निरखि हरषे राजिवनयन॥ अ० १२४॥**'

३—'**मुनिहि बूझि०**' इति। इससे जनाया कि इन्होंने तालाब अभी देखा नहीं, रात्रिका समय है। कपटी मुनिसे आगे पूछेंगे तब वह विद्यार्थीको साथ करेगा। यथा—'**उदकं कुत्र विद्यते**' '**दर्शय मे जलम्**', '**वटो दर्शय विस्तीर्णं वायुसूनोर्जलाशयम्। अ० रा० ७। १८, १९।**'

४—'**जाइ श्रम**'। (क) यह प्रभुकी माया है। कालनेमि और मकरीका शापोद्धार करना है। इससे हनुमान्‌जीको श्रम भी हुआ और प्यास भी लग आयी। नहीं तो किष्किन्धाकाण्डमें दिखाया है कि सब वानर प्याससे व्याकुल हुए; पर इनको न प्यास थी न थकावट। प्यास न लगती तो रामकार्यको छोड़कर आश्रममें क्यों आते—'**रामकाज कीन्हे बिना मोहि कहाँ बिश्राम।**'

(ख) गौड़जी—"सीताजीकी खोजसे यह काम कम जरूरी नहीं था। इसमें समय कम था, दूरी अधिक। इतनेपर भी श्रीहनुमान्‌जीको श्रम हो गया, प्यास तेज लगी। प्रणाम न करना और बल भावना उनके-से मूर्त्तिमान् विनयसे हो पड़ना भी विचारणीय है। प्रणाम न करके क्रोध भरकर चलनेसे श्रीलखनलालके शक्ति लगी। यहाँ हनुमान्-जैसे भक्तकी राह खोटी हुई; उन्हें "**रामकाज कीन्हें बिना,**' विश्राम करना पड़ा।"

वि० त्रि०—हनुमान्‌जी चल चुके। उसके बाद रावणको समाचार मिला। तब वह कालनेमिके यहाँ गया। उससे बातचीत हुई, तब कालनेमि चला। प्रश्न यह उठता है कि कहाँ हनुमान्‌जीकी यह प्रतिज्ञा कि '**तैलाग्नेः सर्षपस्य स्फुटनरवपरस्तत्र गत्वात्र चैमि**' खौलते हुए तेलमें सर्षप (सरसों) डालनेपर उसके फूटनेमें जो शब्द होता है, उतनी देरमें मैं जाकर लौट आ सकता हूँ। और कहाँ कालनेमिने उनसे पहिले पहुँचकर सर-मन्दिर बरबाग भी सजा लिया। मानना पड़ेगा कि उसने मायाबलसे हनुमान्‌जीके वेगको रोका। उसकी मायाके प्रतिकूलगमनमें हनुमान्‌जीको परिश्रम करना पड़ा, प्यास लग गयी,

थकावट मालूम होने लगी (यथा—'मुनिहि बूझि जल पियउँ जाइ अस'), एवम् वह हनुमान्‌जीसे पहिले पहुँचकर मायासे सर, मन्दिर तथा बाग सँवारकर स्वयम् मुनि बनकर बैठा। यह उसकी मायाकी करतूत थी कि हनुमान्‌जीको उसी रास्तेसे जाना पड़ा।

राक्षस कपट बेष तहँ सोहा। मायापति दूतहि चह मोहा॥ ३॥
जाइ पवनसुत नाएउ माथा। लाग सो कहै राम गुन गाथा॥ ४॥

शब्दार्थ—मोहना=धोखा देना, भ्रममें डालना।—'अस प्रचंड रघुपति की माया। जेहि न मोह अस को जग जाया' लुभाना। ठगना।

अर्थ—कालनेमि राक्षस वहाँ बनावटी मुनिवेषसे विराजमान था। वह (अपनी मायासे) मायाके स्वामी श्रीरघुनाथ-जीके दूतको मोहित करना चाहता था॥ ३॥ पवनसुतने जाकर मस्तक नवाया। वह श्रीरामजीके गुणोंकी कथा कहने लगा॥ ४॥

नोट १—'मायापति दूतहि चह मोहा' इति। (क) इस प्रकरणमें 'मायापति दूत' पद देकर जनाते हैं कि देवगुरुके—अ० २१८ (३) के 'मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया॥' इन वचनोंका यहाँ चरितार्थ होगा। (ख) 'चह' का भाव कि वह चाहता है पर मोहित कर न सकेगा क्योंकि 'सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू' ॥ 'मायापति' मायासे रक्षा करेंगे।

२—(क) 'जाइ पवनसुत नाएउ माथा', यह 'लखि सुबेष जग बंचक जेऊ। बेष प्रताप पूजिअहिं तेऊ॥ १। ७। ५।' का चरितार्थ है। वेषसे मुनि समझकर उसको प्रणाम किया। सन्तका वेष-बाना पूज्य है। यथा—'निपट अमोल यह संतन को वेष है'। (भक्तिरसबोधिनी कवित १५८)। (ख) 'लाग सो कहै रामगुन गाथा' इति। 'मुनिरूप' दृढ़ करने और कपिके मोहनेके लिये रामगुणगान किया (पु० रा० कु०)। हनुमान्‌जी रामचरितके रसिक हैं, यथा—'सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ'। 'जयति रामायनश्रवन संजात रोमांचलोचन सजल सिथिलबानी। वि० २९।' यहाँ सबेरे तक इसी बहाने रोके जा सकेंगे—दूसरे उसे डर था कि कहीं प्रणाम करके तुरंत चल न दें—'राम काज कीन्हें बिना मोहि कहाँ बिश्राम' इससे प्रणाम करते ही वह बिना उनके कुछ पूछे गुणगान करने लगा। यह कल्पित प्रश्नका 'गूढ़ोत्तर अलङ्कार' है। ☞ अ० रा० और आ० रा० में रामगुणगान नहीं है, वरन् प्रथम ही पानी पीने जानेका उल्लेख है।

होत महारन रावन रामहिं। जितिहहिं रामु न संसय या महिं॥ ५॥
इहाँ भए मैं देखौं भाई। ग्यान दृष्टि बल मोहि अधिकाई॥ ६॥

शब्दार्थ—या=इस। महिं=में। भए=से ही।

अर्थ—रावण और श्रीरामचन्द्रजीसे घोर युद्ध हो रहा है। श्रीरामचन्द्रजी जीतेंगे इसमें संदेह नहीं है॥ ५॥ भाई! मैं यहाँहीसे देख रहा हूँ, मुझे ज्ञानदृष्टिका अधिक बल है॥ ६॥

नोट—१ 'होत महारन रावन रामहिं' इति। क्या रामगुणगान किया वह यहाँ बताया कि युद्धारम्भसे अबतककी कथा कही। (ख) 'जितिहहिं रामु न संसय०' इति। भाव कि तुम निश्चिन्त होकर सुखपूर्वक सो रहो; मुझे त्रिकालका ज्ञान है, मैं जानता हूँ कि श्रीरामजी जीतेंगे, किंचित् संदेह न करो। (पु० रा० कु०)। आशय यह कि हनुमान्‌जी विश्वासमें आकर सो रहें तो कार्यमें विलम्ब होनेसे सफलता न होगी। कथामें प्यास भूल गये थे पर जब उसने अपनी प्रशंसा की, तब उधरसे चित्त हटा क्योंकि संत तो 'निजगुन सुनत सदा सकुचाहीं। ३। ४६। १।' और वह तो अपना गुण कथन कर रहा है। पुनः, रामचरित कहता रहा तबतक सुना, पर जब 'मैं' 'मोहि' कहा, तब चित्त हट गया।

अ० रा० में जल माँगनेपर उसने कहा है 'कमण्डलुगतं तोयं मम त्वं पातुमर्हसि॥ १५॥ भुङ्क्ष्व चैनानि पक्वानि फलानि तदनन्तरम्। निवसस्व सुखेनात्र निद्रामेहि त्वरास्तु मा। १६। भूतं भव्यं भविष्यं च जानामि तपसा स्वयम्।…' (अर्थात् तुम मेरे कमण्डलुका जल पी सकते हो। यहाँ फल मौजूद हैं, इन्हें खाओ और फिर सुखपूर्वक

यहाँ विश्राम लेकर कुछ सो लो, ऐसी जल्दी न करो। मैं अपने तपोबलसे भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालोंकी बात जानता हूँ।)—मानसके 'जितिहहिं रामु न संसय या महिं' में ये सब भाव आ जाते हैं, परंतु मानसका कालनेमि अ० रा० के कालनेमिसे अधिक चतुर है। इसने ऐसी बातें न कहीं क्योंकि इनको तो 'रामकाज कीन्हे बिना' विश्राम कहाँ! इसने रामचरित सुनाना प्रारम्भ किया।

पं०—'न संसय' से जान पड़ता है कि जब उसने कहा कि तुम रामदूत हो, औषध लेने जा रहे हो, तब हनुमान्‌जीकी चेष्टासे उसे जान पड़ा कि इन्हें संदेह हो रहा है कि मुझसे प्रथम तो कोई यहाँ आ नहीं सकता था, तब इन्हें कैसे मालूम हुआ। अतएव उसने संदेहनिवारणार्थ स्वयं ही कहा कि संदेह न करो। (युक्तिसे इस बातका समर्थन 'काव्यलिंग अलङ्कार' है)।

माँगा जल तेहिं दीन्ह कमंडल। कह कपि नहिं अघाउँ थोरे जल॥ ७॥
सर मज्जन करि आतुर आवहु। दिक्षा देउँ ग्यान जेहि पावहु॥ ८॥

शब्दार्थ—अघाना=तृप्त होना। आतुर=शीघ्र, जल्द, यथा—'रुचिर बिमान चलेउ अति आतुर॥ ११७॥' दीक्षा=मन्त्रोपदेश।

अर्थ—हनुमान्‌जीने उससे जल माँगा। उसने कमण्डलु दे दिया। हनुमान्‌जीने कहा कि मैं थोड़े जलसे तृप्त न होऊँगा॥ ७॥ तब वह बोला कि तालाबमें स्नान करके शीघ्र आ जाओ, मैं तुम्हें दीक्षा दूँ जिससे तुमको ज्ञान हो जाय॥८॥

नोट—१ 'सर मज्जन करि आतुर आवहु' इति। (क) जब श्रीहनुमान्‌जीने कमण्डलु देखकर कहा कि इतने जलसे मेरी प्यास शान्त न होगी, मुझे कोई जलाशय बताइये जिससे प्यास बुझे, तब उसने शिष्योंको साथ किया कि इनको तालाब दिखा दो। यथा '**तच्छ्रुत्वा हनुमानाह कमण्डलुजलेन मे। न शाम्यत्यधिका तृष्णा ततो दर्शय मे जलम्॥ १८॥ तथेत्याज्ञापयामास वटुं मायाविकल्पितम्। वटो दर्शय विस्तीर्णं वायुसूनोर्जलाशयम्॥ १९॥ निमील्य चाक्षिणी तोयं पीत्वागच्छ समान्तिकम्। उपदेक्ष्यामि ते मन्त्रं येन द्रक्ष्यसि चौषधीः॥ २०।** अ० रा० ७।' (ख) 'स्नान करके शीघ्र लौट आओ' का भाव कि कहीं जल पीकर उधरहीसे चल न दें। (पं०)।* (ग) लौटकर चले आवें इसके लिये ज्ञान-प्राप्तिकी दीक्षाका लोभ दिखाया।

२—'ग्यान जेहिं पावहु' इति। कौन ज्ञान? अ० रा० में ओषधिका ज्ञान देनेको कहा। यहाँ केवल 'ज्ञान' शब्द देकर दोनों प्रकारका ज्ञान सूचित किया है—एक तो भूत-भविष्य-वर्तमान आदिका ज्ञान, क्योंकि इसने स्वयं कहा है कि '**ग्यानदृष्टि बल मोहि अधिकाई**' वही ज्ञान पानेका लालच दिया। जब वह यह कहता है कि विश्राम करो, तुम्हें ओषधि लानेकी जरूरत ही नहीं, कृपादृष्टिसे लक्ष्मणजी जी उठेंगे तब ओषधिके ज्ञानकी जरूरत नहीं। दूसरे, यदि लेने जाना ही है तो वहाँ भ्रम न हो इसलिये ओषधिका ज्ञान भी बतानेको कहता है, जिससे वे अवश्य लौटें। दोनों भाव दरसानेके लिये ही कविने अ० रा० के '**येन द्रक्ष्यसि ओषधीः**' इस पदका ग्रहण नहीं किया। आ० रा० में कपटी मुनिका यह कथन है कि तुम गिरिको देख लोगे और—'**जानामि ज्ञानदृष्ट्याहं लक्ष्मणश्चोत्थितस्त्विति॥ ५१॥ गृहाण मन्त्रान् मत्तस्त्वं यैश्च पश्यसि तं गिरिम्। गोपितं त्वद्य गन्धर्वैर्यं तं त्वं नेतुमिच्छसि॥ ५२॥ प्लवंगानां जीवनार्थं लङ्कायां वेगतः कपे। मत्तस्त्वं लब्धविद्यः सन् ददस्व गुरुदक्षिणाम्॥ ५३॥**'

अर्थात् ज्ञानदृष्टिसे मैं जानता हूँ कि लक्ष्मणजी उठ बैठे हैं। मुझसे तुम वे मन्त्र लो जिनके द्वारा तुम उस पहाड़को देख सको। जिस बूटीको गन्धर्वोंने छिपा रखा है, तुम जिसे लाना चाहते हो। जिससे हे कपि! तुम वानरोंको जिलानेके लिये उसे जल्द लङ्का ले जाओ। मुझसे तुम विद्या लो और मुझे गुरुदक्षिणा दो।'—(कालनेमिके इसी अन्तिम वाक्यका उत्तर मानसकारके '**गुरु दछिना लेहू। पीछे हमहिं मन्त्र तुम्ह देहू॥**' में स्पष्ट किया गया है।)

दो०—सर पैठत कपि पद गहा मकरीं तब अकुलान।
मारी सो धरि दिव्य तनु चली गगन चढ़ि जान॥ ५६॥

* मा० मु० टी०—भाव कि स्नान करके दीक्षा ले लो तब जल पीना।

अर्थ—तालाबमें घुसते ही एक मकरी (मगरनी) ने अकुलाकर (बड़ी शीघ्रतासे) कपिका पैर पकड़ लिया। उन्होंने उसे मार डाला। (तब) वह दिव्य देह धरकर विमानमें चढ़कर आकाशको चल दी॥ ५६॥

नोट—'तब अकुलान'। अर्थात् 'अकुलानी' इससे कि न जाने कबसे इस शरीरमें पड़ी हूँ वा खानेके लिये (अकुलाकर) शीघ्र दौड़ी। यथा—'**अग्रसत्तं महावेगान्मारुतिं घोररूपिणी।** अ० रा० ७। २२।' इस तरह 'अकुलान' में 'महावेगात्' का भाव भी है। हनुमान्‌जीका कभी किसी विघ्नसे घबड़ा जाना कहीं सुननेमें नहीं आता, इसलिये 'अकुलान' केवल मकरीके लिये आया है। 'मारी' अर्थात् मुँह पकड़कर फाड़ डाला। यथा—'**मकरी ज्यों पकरि कै बदन बिदारिये**' इति बाहुके। '**तथेति मारुतिर्गत्वा कासारमपिबज्जलम्। पिधाय्यनेत्रे तावत्तमग्रसन्मकरी तदा॥ ५४॥ सोऽपि तां दारयामास धृत्वास्ये सा ममार ह। ततोऽन्तरिक्षे सा प्राह दिव्यरूपा तु मारुतिम्।** ५५। आ० रा० १। ११' अर्थात् हनुमान्‌जी वहाँ जाकर आँख बंदकर जल पीने लगे, त्यों ही मकरीने एक पैर निगला। हनुमान्‌जीने मुँह पकड़कर चीर डाला तब वह आकाशमें दिव्यरूप होकर बोली। [पाँव पकड़ना कारण, मार डालना कार्य साथ ही हुए। अतः यहाँ 'अक्रमातिशयोक्ति' है]

२—'**दिव्य तन**' अर्थात् पूर्वका अप्सरारूप पाया। इसका नाम धान्यमाली था। यथा '**धान्यमालीति विख्याताऽप्सराः पूर्वभवान्तरे। आश्रमे यं त्वया दृष्टः कालनेमिर्महासुरः॥** आ० रा० १। ११। ५७।' दिव्य (देवताओंका-सा) रूप हो वह ब्रह्मलोकको गयी। '**गच्छाम्यहं ब्रह्मलोकं त्वत्स्पर्शाद्धतकल्मषा।**' (अ० रा० ७। १८)।

कपि तव दरस भइउँ निःपापा। मिटा तात मुनिबर कर सापा॥ १॥
मुनि न होइ यह निसिचर घोरा। मानहु सत्य बचन कपि * मोरा॥ २॥

अर्थ—हे कपि! आपके दर्शनसे मैं पापरहित हो गयी। हे तात! मुनिश्रेष्ठका शाप मिट गया॥ १॥ हे कपि! यह मुनि नहीं है, घोर निशाचर है, आप मेरा वचन सत्य मानें॥ २॥

नोट—१ (क) '**तव दरस भइउँ निःपापा०**'; यथा—'**संतदरस जिमि पातक टरई।**' इससे जनाया कि मुनिने प्रसन्न हो बताया था कि रामदूत त्रेतायुगमें द्रोण पर्वतपर जायँगे। तब तुझे दर्शन होंगे। उससे तेरा पाप छूटेगा। जब वे तुझे मार डालेंगे तब तेरा शापित शरीर छूटकर तुझे दिव्यरूप प्राप्त होगा। दिव्य रूप अपना पा गयी अतः शापका मिटना कहा। ☞ किस मुनिने शाप दिया यह नहीं बताया। नाम न देना भी अभिप्रायगर्भित है। किस लिये शाप दिया, यह बात आ० रा० १। ११। ५६ में दी है कि मुनिने मुझसे रति माँगा, मैंने न दिया, इसलिये शाप दिया। यथा—'**पुरोऽहं मुनिना स्पृश्या प्रार्थिता न रतिर्मया। दत्ता शप्तास्मि त्वत्तो मे निष्कृतिस्तेन कीर्तिता॥**' 'रति' की याचना मुनिके लिये कलङ्क है, इसीसे उनका नाम न वहाँ दिया न यहाँ।

२ '**मानहु सत्य बचन**' कहा क्योंकि न माननेका कारण उपस्थित था कि वह मकरीसे अप्सरा हो गयी, दूसरे वह स्त्री है, स्त्रियोंकी बातपर लोग विश्वास कम करते हैं। (पं०)

वि० त्रि०—कालनेमिने मुनि बनकर ऐसी माया फैलायी कि '**गोमुखव्याघ्रोंका न्याय**' देखनेवाले हनुमान्‌जी उसकी मायामें आ गये (यथा—**अरुण मुख भ्रूविकट पिंगल नयन रोष कषाय। देखिहैं हनुमान गोमुख नाहरनि के न्याय**) हनुमान्‌जीको साधु जानकर वह मुनि बना। रामगुणगाथाका रसिक जानकर उन्हें देर लगानेके लिये रामगुणगाथा कहने लगा, फिर अपने ज्ञानदृष्टिका महत्त्व बतलाया कि जो लड़ाई लङ्कामें हो रही है, वह मैं यहाँ बैठे देख रहा हूँ। रामजीकी विजय निश्चित है, कोई त्वरा नहीं है। तुम्हें इतने दिन रामजीकी सेवा करते हुआ पर ज्ञानदृष्टि नहीं हुई, जाओ तालाबमें स्नान करके आओ, मैं दीक्षा दूँ, और ऐसी शक्तिपात कर दूँ कि तुम्हें भी ज्ञान हो जाय। हनुमान्‌जी मान गये, और नहाने आये।

मकरी उनके दर्शनसे निष्पाप हुई, मुनिजीका शाप मिटा, अतः कृतज्ञ हृदयसे हनुमान्‌जीको सावधान करती हुई कहती है कि जिसपर आपको इतनी श्रद्धा है वह मुनि नहीं है, घोर निशाचर है। आप उसके वचनको सत्य न मानिये; वह

* प्रभु—(का०), कपि—(भा० दा०)।

तो आपको ठगने आया है, मेरे वचनको सत्य मानिये। मैं आपसे उपकृत हूँ, मैं असत्य नहीं कह सकती। मेरे लिये स्वर्गसे विमान आया है, मिथ्या कहनेसे मेरी गति स्वर्गमें हो नहीं सकती।

अस कहि गई अपछरा जबहीं। निसिचर निकट गएउ कपि तबहीं॥ ३॥
कह कपि मुनि गुरदछिना लेहू। पाछे हमहि मंत्र तुम्ह देहू॥ ४॥

अर्थ—ऐसा कहकर ज्यों ही वह अप्सरा गयी त्यों ही कपि निशिचरके पास गये॥ ३॥ कपि उससे बोले—हे मुनि! पहिले गुरुदक्षिणा ले लीजिये तब हमें आप मन्त्र दीजिये॥ ४॥

नोट—१ 'निसिचर निकट गयेउ०'। अप्सराने कहा था कि 'यह निसिचर घोरा'। 'मानहु सत्य०' अब यहाँ 'निसिचर' पद देकर जनाया कि हनुमान्‌जीने बात सत्य मान ली नहीं तो 'मुनिवर' पद देते।

२ 'गुरदछिना लेहू'—५६ (८) देखिये। रामायणोंमें मुष्टिका मारना कहा है। इसके बाद अ० रा० में युद्ध कहा है। यथा—'इत्युक्त्वा सा ययौ स्वर्गं हनूमानप्यथाश्रमम्॥ ३८॥ युयुधे वायुपुत्रेण नानामायाविधानतः। महामायिकदूतोऽसौ हनुमान्मायिनां रिपुः॥ अ० रा० ७। ३२॥' 'मुष्टिं बध्वा दृढां घोरां गृहाण गुरुदक्षिणाम्। इत्युक्त्वा ताडयामास हृदि तं मुष्टिना तदा॥ आ० रा० १। ११॥' इससे ज्ञात होता है कि प्रथम मुष्टिका उठायी मानो मुट्ठीमें दक्षिणा लिये हैं, वह यही समझा कि सत्य ही दक्षिणा देते हैं। जब घूँसा लगा तब लड़ने लगा। अन्तमें लांगूलमें लपेटकर पटक दिया गया। मन्त्रोपदेश कारण है और गुरुदक्षिणा कार्य है। कारणसे पहिले कार्यका प्रकट होना 'अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार है। (वीर)

पं०—हनुमान्‌जीने उसके आश्रमपर विश्राम किया और उससे रामचरित सुना, यह उपकार मानकर उसे 'मुनि' सम्बोधन किया; क्योंकि संत कृतज्ञ होते हैं और उसको सद्‌गति देनी है इस विचारसे गुरुदक्षिणा अर्थात् मुक्तिरूपिणी बड़ी भारी दक्षिणा देनेको कहा जिसे पाकर फिर इच्छा न रह जाय। जो कहा कि मन्त्र पीछे देना सो अन्तकालमें महामन्त्र रामनाम उसने इनको सुनाया ही है।

सि० ति०—जब हनुमान्‌जीने जल माँगा तब उसने अपने कमण्डलुका जल देना चाहा। जब उन्होंने नहीं लिया तब उसने समझा कि वैष्णव साधु अपने ही कमण्डलुका जल शुद्ध मानते हैं, इससे देह-भेदकी दृष्टिसे इन्होंने नहीं लिया, तब उसने कहा कि तुम्हें अभी ब्रह्मज्ञान नहीं है। वह शुष्क ज्ञानी मुनि बना था, जिसमें साधक वाक्य ज्ञानमात्रसे जीवन्मुक्त होकर अपनेको ब्रह्म मानने लगते हैं और फिर किसीमें देह-भेद नहीं रखते। यथा 'जे ब्रह्ममय देखत रहे।' इस ज्ञानदीक्षामें पश्चात् गुरु-शिष्य भाव नहीं रह जाता। इसलिये गुरुदक्षिणा पहले ही देना योग्य है। इस दृष्टिसे श्रीहनुमान्‌जी उसे पहले ही गुरुदक्षिणा देनेको कहते हैं।

सिर लंगूर लपेटि पछारा। निज तनु प्रगटेसि मरती बारा॥ ५॥
राम राम कहि छाँड़ेसि प्राना। सुनि मन हरषि चलेउ हनुमाना॥ ६॥

शब्दार्थ—लंगूर (सं० लांगूल)=बन्दरकी पूँछ वा दुम। पछारना (पछाड़ना)=पटकना।

अर्थ—उसका सिर पूँछमें लपेटकर उसको पछाड़ दिया। मरते समय उसने अपना (राक्षसी) शरीर प्रकट किया॥ ५॥ राम-राम कहकर प्राण छोड़े, यह सुनकर हनुमान्‌जी मनमें प्रसन्न होकर चल दिये॥ ६॥

नोट—१ क्या गुरुदक्षिणा दी यह प्रथम चरणमें कहा।

पु० रा० कु०—'सिर लंगूर लपेटि पछारा' इस पदसे परस्पर युद्धका होना पाया जाता है। ५७ (४) देखिये।

२ 'निज तन प्रगटेसि मरती बारा' इति। कपटी शरीर छोड़नेसे छल-रहित हो गया। जबतक कपट रहता है, मुक्ति नहीं हो सकती इसीसे कपट-शरीरका त्याग कहा। मारीचने भी 'प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा॥ ३। २७। १६।'

☞ 'राम राम कहि०' इति। सब जानते हैं कि मरते समय राम नाम मुँहसे निकले तो मुक्तिमें संदेह नहीं='जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमौ मुकुत होइ श्रुति गावा॥ आ० ३१॥' इसीसे कविने मुक्ति प्रगट न लिखी। मारीचने

मनमें स्मरण किया था। वहाँ संदेह हो सकता था कि उस कपटीकी मुक्ति हुई या नहीं, इसीसे वहाँ कविने प्रकट लिखा कि प्रभुने उसे मुक्ति दी। उसकी मुक्तिपर देवगण प्रसन्न हुए और यहाँ कालनेमिकी मुक्तिपर हनुमान्‌जी प्रसन्न हुए।

३ 'सुनि मन हरषि चलेउ०' इति। (क) रामनाम उसके मुखसे सुननेपर प्रसन्न हुए। (ख) भाव कि यद्यपि अप्सरासे सुना था कि यह राक्षस है और उसकी बात मानकर इसे मारा भी था तथापि मनमें शंकित थे। जब उसने अपना राक्षसतन प्रकट किया तब प्रसन्न हुए। वह शंका मिट गयी। रामनाम उसके मुखसे निकला जिससे मुक्ति निश्चय हुई। अतः प्रसन्न हुए। वा, पयान समय मङ्गल जानकर हर्ष हुआ। वा, विघ्न निवृत्त होनेसे हर्ष हुआ। (पं०)।

गौड़जी—इस प्रसङ्गमें यह शङ्का की जा सकती है कि भगवान् मारुतिने रामचरित बखाननेवाले मुनिवेषधारीको मारा, यह काम रामचरितके रसिया हनुमान्‌जीसे उचित नहीं जान पड़ता। परंतु इसका समाधान यह है कि कालनेमिने चरितकी ओट लेकर चरितको ही नष्ट-भ्रष्ट करना चाहा। कालनेमिकी मायाके लिये जो सर्वथा छल और असत्य थी राम-चरित अधिष्ठान बनाया गया। मायावी कालनेमि चरितके पर्देमें छिपा था। उसने इतना ही नहीं किया था। बाधा डालने-को हनुमान्‌जीको श्रमित और प्यासा बना दिया। मकरीद्वारा और अपने वाक्छलोंसे भी रोक रखना चाहा। इस मायाका पता जब मकरीसे लगा, तब हनुमान्‌जीके मनपरसे मायाका परदा हट गया। उस छलीको उन्होंने रामविरोधीके नाते मार डाला, रामगुणगायकके नाते नहीं, गुणगायकके नाते नामोच्चारणके पूर्व उसकी गति हो गयी। इसपर तो वह हर्षित हुए। मकरीके पद गहनेमें भी दोनों बातें हुईं। उसने रोकनेके लिये पाँव पकड़े, पर भागवतके चरणोंके पकड़नेका फल उसकी सद्गति हुई।

कालनेमि और मारीचका मिलान

	कालनेमि	मारीच
१	रावन कालनेमि गृह आवा	दसमुख गयउ जहाँ मारीचा
२	दसमुख कहा मरम	दसमुख सकल कथा तेहि आगे। कही०।
३	पुनि पुनि कालनेमि सिर धुना	तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा
४	महामोह-निसि सूतत जागू॥ नीलकंज तनु सुंदर स्यामा। हृदय राखु लोचनाभिरामा॥	ते नररूप चराचर ईसा। जेहि ताड़का सुबाहु हति खंडेउ हर कोदंड। खरदूषन त्रिसिरा बधेउ मनुज कि अस बरिबंड॥
५	काल-ब्याल कर भक्षक जोई। सपनेहु समर कि जीतिय सोई	तासों तात बयरु नहिं कीजै। मारे मरिय जियाये जीजै। तिन्हहिं बिरोधि न आइहि पूरा।
६	भजि रघुपति करु हित आपना	जाहु भवन कुल कुसल बिचारी
७	देखत तुम्हहिं नगरु जेहि जारा	बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा। सत योजन०
८	तासु पंथ को रोकनिहारा	तिन्हहिं बिरोधि न आइहि पूरा
९	सुनि दसकंठ रिसान अति	सुनत जरा दीन्हेसि बहु गारी
१०	तेहि मन कीन्ह बिचार	तब मारीच हृदय अनुमाना
११	रामदूत कर मरौं बरु }	उतरु देत मोहि बधब अभागे।
१२	यह खल रत मलभार }	कस न मरउँ रघुपति सर लागे
१३	अस कहि चला	अस जिय जानि दसानन संगा। चला०
१४	रचिसि मग माया। सर मंदिर०	तब मारीच कपट मृग भएऊ
१५	मारुत सुत देखा सुभ आश्रम।०	सीता परम रुचिर मृग देखा
१६	मायापति दूतहि चह मोहा	प्रभुहि बिलोकि चला मृग भाजी।
१७	'लाग सो कहै रामगुनगाथा' से 'दिक्षा देउँ ज्ञान जेहि पावहु' तक	प्रगटत दुरत करत छल भूरी।… लछिमन कर प्रथमहि लेइ नामा

१८ सिर लंगूर लपेटि पछारा तब तकि राम कठिन सर मारा
१९ निज तन प्रगटेसि मरती बारा प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा।
२० राम राम कहि छाड़ेसि प्राना सुमिरेसि राम समेत सनेहा॥
२१ सुनि मन हरष चलेउ हनुमान बिपुल सुमन सुर बर्षहिं

प० प० प्र०—इस प्रकरणमें प्रयुक्त शब्दकला—प्रथम 'जाहु पवनसुत लेन' से जनाया कि पवित्र कार्य करनेके लिये जाओ। 'चला प्रभंजनसुत' से जनाया कि तूफानी हवाके समान अति वेगसे चले और भंजनका कार्य विशेष करेंगे। 'मारुतसुत देखा·····' के मारुत (=जिसके बिना, एवं जिसके बढ़नेसे मृत्यु होती है= प्राणवायु) शब्दसे सूचित किया कि मार्गमें मारनेका कार्य करेंगे। 'जाइ पवन सुत नायउ माथा' यहाँ पुनः 'पवनसुत' शब्द देकर जनाया कि अब इस शुभ आश्रमको देखकर उनकी प्रभंजन गति और मारना इत्यादि कार्यकी इच्छा न रह गयी। शुभ आश्रममें पावनताका ही कार्य उचित है, पावनताकी उत्पत्ति करेंगे। 'कह कपि नहि अघाउँ थोरे जल'—अब याचना करनेसे महत्त्व घट गया, अथवा उसे मुनि समझकर अपनी सब बड़ाई भूल गये। अतः 'कपि' ही रह गये। आगे दोहे और चार अर्धालियोंमें सब मिलकर पाँच बार 'कपि' शब्द आया है। इससे जनाया कि आगे सब व्यवहार कपिका-सा ही किया है। 'सुनि मन हरषि चलेउ हनुमाना' के हनुमान् शब्दसे जनाया कि कुछ अद्‌भुत बल-बुद्धिका कार्य करेंगे। आगे दोहा ६० तक ११ बार कपि (एक बार कीश) शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। पर इसमें जब 'जय जयति कोसलाधीसा' कहा तब 'कपीसा' देकर जनाया कि सामान्य कपि नहीं है, कोई बड़ा रामभक्त है। जब भरतजीके 'बंदि चरन कर जोरी' चलते हैं तब 'हनुमंत' शब्द देकर जनाया कि 'जैहौं नाथ तुरंत' यह अद्‌भुत कार्य करेंगे। आगे भी अद्‌भुत कार्य करके आनेसे 'आइ गयउ हनुमान', 'हरषि राम भेटेउ हनुमाना' कहा है।

देखा सैल न औषध चीन्हा। सहसा कपि उपारि गिरि लीन्हा॥ ७॥
गहि गिरि निसि नभ धावत भएऊ। अवधपुरी ऊपर कपि गएऊ॥ ८॥

शब्दार्थ—सहसा=एकदमसे, एकाएक।

अर्थ—(जाकर) पर्वत देखा पर ओषधि न पहचान सके। तब हनुमान्‌जीने एकदमसे पर्वत ही उखाड़ लिया॥ ७॥ पर्वत लेकर रातहीमें आकाशमें दौड़ते हुए हनुमान्‌जी अवधपुरीके ऊपर गये॥ ८॥

नोट—१ 'देखा सैल' कहकर जना दिया कि कालनेमिको मारकर तुरंत वे चले और बहुत शीघ्र द्रोणाचलपर पहुँच गये। कवि अपने अक्षरोंसे शीघ्रता दिखा रहे हैं।

२—'न औषध चीन्हा' इति। ओषधि न पहिचाननेका कारण यह था कि हनुमान्‌जीको देखकर वे अदृश्य हो गयीं, यद्यपि प्रथम वे अति दीप्तिमान् देख पड़ी थीं। यथा—'प्रदीप्तसर्वौषधिसंप्रदीप्तं ददर्श सर्वौषधिपर्वतेन्द्रम्॥ वाल्मी० ७४। ५७॥ तं समीक्ष्यानलशशिदीप्तं विसिस्मियेवासवदूतसूनुः। आप्लुत्य तं चौषधि पर्वतेन्द्रं तत्रौषधीनां विचयं चकार॥ ५८॥ महौषध्यस्ततः सर्वास्तस्मिन्पर्वतसत्तमे। विज्ञायार्थिनं मायां तं ततो जग्मुरदर्शनम्॥ ६७॥' पुनश्च'अदृष्ट्वा चौषधीस्तत्र गिरिमुत्पाट्य सत्वरः॥ अ० रा० ७। ३४॥' अर्थात् सब ओषधियोंसे युक्त सर्वौषधिपर्वतश्रेष्ठको देखा। अग्निवत् प्रकाशित देख हनुमान्‌जी विस्मित हो पर्वतपर कूदकर ओषधि ढूँढ़ने लगे। इनको अर्थी समझ सब ओषधियाँ अदृश्य हो गयीं॥ ६०॥ ओषधियाँ न देखनेपर उन्होंने तुरंत पर्वत उखाड़ लिया। न पहिचाना अतः पर्वतशिखर ही उखाड़ लिया कि वैद्य स्वयं पहिचान लेंगे। 'ओषधीर्नावगच्छामि ततोऽहं हरिपुंगव। तदिदं शिखरं कृत्स्नं गिरेस्तस्याहृतं मया॥ ४०॥' (वाल्मी० १०२। ४०॥ हनुमत्वाक्य सुषेणप्रति)। हे वानरश्रेष्ठ! मैं ओषधिको नहीं पहचानता इसलिये ओषधिके सारे शिखरको मैं लाया हूँ। यह मत वाल्मी० एवं अ० रा० का हुआ। गीतावलीका मत यह जान पड़ता है कि सभी ओषधियाँ दिव्य थीं, सभी चमक रही थीं, इससे न पहिचान सके। यथा—'कालनेमि दलि बेगि बिलोक्यौ द्रोनाचल जिय जानि। देखी दिव्यौषधी जहँ तहँ जरी न परी पहिचानि॥ लियो उठाइ कुधर कंदुक ज्यौं बेगि न जाइ बखानि ज्यौं धाए गजराज उधारन सपदि सुदरसनपानि॥'

'देखी दिव्यौषधी' का अर्थ वैजनाथजी और बाबा हरिहरप्रसादजी आदिने यही किया है कि वे सब अत्यन्त प्रकाशित थीं (आसुरी मायासे—रा० प्र०) इसीसे भ्रम हुआ। यदि इसका अर्थ केवल यह लें कि दिव्य संजीवनी आदि औषधियोंको जहाँ-तहाँ ढूँढ़ा, तो वाल्मी० से विरोध मिट जाता है, परंतु हनु० ना० का मत रा० प्र० और वैजनाथजीके अर्थका पोषक है। वहाँ भी यही उल्लेख है कि 'चन्द्रमाके समान प्रकाशमान देवदारुके सदृश किरणोंवाली रत्नरूप बूटियोंको देखकर भ्रमण करके वह वीर भुजाओंसे पर्वतको ही उखाड़ने लगे। यथा—'तत्र द्रोणाद्रिशिखरे हनूमान्। दृष्ट्वा सर्वास्तुहिनकिरणोद्यत्प्रभास्तत्र शैले वल्ली रत्नान्यमरखदिराङ्गारभास्वन्ति वीरः। भ्रान्त्वा दोर्भ्यां गिरिमुदहरन्नुत्पपातैव०'—हनु० १३। २३॥ पंजाबीजी लिखते हैं कि हनुमान्‌जीको देखकर रावणकी आज्ञासे द्रोणगिरिने सारा वन देदीप्यमान कर दिया; सुषेणने जो चिह्न बताया था वह कृत्रिम प्रकाशसे ढक गया। यही मत पं० शिवलाल पाठकका है। पर कोई प्रमाण दोनोंमेंसे किसीने नहीं दिया है। कविने सबके मतोंकी रक्षाके लिये 'न औषध चीन्हा' ही कहा।

'अवधपुरी ऊपर गयऊ'

अवधपुरीमें जानेका हेतु यह जान पड़ता है कि लक्ष्मणजीके मूर्छित होनेपर भगवान्‌ने शोकातुर हो जब यह कहा कि हनुमान्‌के रहते हुए भी तुम (लक्ष्मण) पर यह आपत्ति आयी, यदि हमारे भाई भरत यहाँ होते तो वे अवश्य तुम्हारी रक्षा करते, यथा हनु० १३। ११— 'गोपायतीह भरतस्तु ममानुजः किं यस्त्वामधिज्यधनुरुद्धतशक्तिपातात्'

'भरत-बाहुबल' की प्रशंसा सुनकर हनुमान्‌जीको गर्व हुआ। उनके चित्तमें भरतजीके बलकी परीक्षाका भाव उठा। ५९ (५-६) देखिये। अतएव सर्वज्ञ, सर्वउरवासी प्रभुने उन्हें आज्ञा दी कि कोसलपुरका समाचार लेते आना। यथा—'ध्यात्वात्मानं प्रणम्य प्रभुमवनिसुतावल्लभं तस्य वाक्यं, नीत्वाऽयोध्यां गमिष्यस्यखिलकुशलतामानयिष्यस्यपीति॥ चण्डोड्डीनं चकार द्रुतम्'''॥' १३। २१॥ अर्थात् अपनी आत्माका ध्यान करके भूमिसुतावल्लभ अपने प्रभुको प्रणाम करके उनके इस वाक्यको स्वीकार करके कि 'तुम अयोध्याजी जाकर सबकी कुशल लाओ' बड़े प्रचंड वेगसे उड़े। पुनः 'भरत की कुशल अचल लै आएउ चलिकै' (क०)। वहाँ जानेपर इनका अभिमान दूर हुआ।—प्रभुकी प्रतिज्ञा है कि वे भक्तमें अभिमानका अंकुर बढ़ने नहीं देते—'डर अंकुरेउ गर्व तरु भारी। बेगि सो मैं डारिहउँ उपारी॥' प्र० स्वामीका मत है कि परीक्षाके लिये अवधपुरी जानेकी बात अनुचित है।

दोहा—देखा भरत बिसाल अति निसिचर मन अनुमानि।
बिनु फर सायक मारेउ चाप श्रवन लगि तानि॥ ५७॥

अर्थ—श्रीभरतजीने अत्यन्त विशाल स्वरूप आकाशमें देखा। मनमें यह अनुमान कर कि यह कोई बड़ा विशाल निशिचर है उन्होंने कानपर्यन्त धनुष तानकर बिना फरका एक बाण मारा॥ ५७॥

नोट—१ (क) एक तो हनुमान्‌जी स्वयं विशालस्वरूप धारण किये हैं दूसरे द्रोणगिरि लिये हैं, अतः 'अति विशाल' स्वरूप है। (ख) 'देखा भरत' इति। अर्धरात्रिमें और अवधपुरीमें (नंदिग्राममें नहीं) भरतजीने देखा। यह कहकर जनाया कि भरतजी उस समय बाहर बैठे थे। हनु० १३। २२, २४। से यह प्रसंग और उसका कारण स्पष्ट हो जाता है।

यथा—'''जननी लक्ष्मणस्योपलभ्य।

स्वप्ने व्यालः समूलं कवलयति भुजं वाममुत्तस्थुषीति॥ २१॥
प्रोवाच कोसलसुतापुरतोऽद्भुतं सा स्वप्नं च सा मुनिवसिष्ठपुरोहितस्य।
पार्श्वे नियोज्य सशरं धनुरादधानं शान्तिं चकार भरतं मुनिराज्यहोमैः॥
तत्रायोध्यायां शान्तिमण्डपे कुण्डसमीपस्थौ भरतवसिष्ठौ
हुत्वा श्रीखण्डकाण्डं सतगरकुसुमं पुण्डरीकं मृणालं
कर्पूरोशीरगर्भं प्रचुरघृतयुतं नारिकेलं गुडाढ्यं।
तूर्णं पूर्णाहुतिं स ज्वलदनलनिभं शैलमादाय वीरः
प्राप्तस्तत्राञ्जनेयः स किमिति भरतस्तं शरेणाजघान॥ २४॥'

अर्थात् उसी समय सुमित्राजीने स्वप्न देखा कि मेरी सारी बायीं भुजाको सर्प निगल रहा है। यह स्वप्न देख वे उठ बैठीं। उन्होंने यह अद्भुत स्वप्न कौसल्याजीको सुनाया, कौसल्याजीने पुरोहित वशिष्ठको। वशिष्ठजीने धनुर्बाण धारण कराके भरतजीको बिठाकर घृतके होमके द्वारा शान्ति करायी। तगर और फूलोंसमेत चन्दन, कमल, कमलनाल, कपूर, खस और बहुतसे घीसे भरे हुए नारियलसे पूर्णाहुति दे रहे थे, उस समय बड़े वेगसे जलती हुई अग्निकी तरह दीप्तिमान् पर्वतको लिये वहाँ हनुमान्‌जी मौजूद हो गये। भरतजीको शंका हुई कि, (दुःस्वप्नका मूल यही न हो। कोई निशिचर होगा। वह पर्वत अवधपुरीपर डालने न आया हो) यह क्या है और उन्होंने बाण मारा। २—'बिनु फर सायक मारेउ'। क्योंकि—(क) अभी अनुमानमात्र था। धोखेसे कोई और न मारा जाय। (ख) मारना नहीं है, शिथिल करके गिरा देना है। इसी प्रकार रामचन्द्रजीने मारीचको विश्वामित्रयज्ञके समय बिना फरका बाण मारा था जिसमें विघ्न शान्त हो जाय, उसे बल मालूम हो जाय और उसके प्राण बचे रहें। 'बिनु फर बान राम तेहि मारा।०'। (ग) हनुमान्‌जी परीक्षा लेने आये हैं। अतः बिना फरके बाणका बल (रामजीकी प्रेरणासे) उनको दिखाया गया। (घ) होम समय हिंसा करना शास्त्रवर्जित है। पर कोई यह भी कहते हैं कि सात्त्विक यज्ञ रात्रिमें नहीं होता, अतः बाण मारनेमें दोष नहीं है। उपर्युक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि भरतजीको रक्षाके लिये त्रिकालज्ञ वसिष्ठजीने धनुषबाणसहित अपने समीप बिठाया था, होम पूरा हो चुका था, अन्तिम पूर्णाहुति दी जा रही थी। दोनों प्रकार बाणका चलाना अविहित नहीं है। आगे मूर्च्छित होनेपर उनके पास दौड़कर जाना भी इन भावोंको पुष्ट करता है।

परेउ मुरुछि महि लागत सायक। सुमिरत राम राम रघुनायक॥ १॥
सुनि प्रिय बचन भरतु तब धाए। कपि समीप अति आतुर आए॥ २॥

अर्थ—बाण लगते ही मूर्च्छित होकर हनुमान्‌जी 'राम राम, रघुनायक' का स्मरण करते हुए पृथ्वीपर गिर पड़े॥१॥ तब ये प्रिय वचन सुनकर भरतजी उठ दौड़े और बड़े दुखी होकर बड़ी उतावलीसे कपिके पास आये॥ २॥

नोट—१ (क) 'परेउ मुरुछि०', यह भरतजीका बल और बिना फलके बाणका प्रताप दिखाया जैसे 'बान प्रताप जान मारीचा' से श्रीरामजीके 'बिनु फर सायक' का प्रताप दिखाया है।

मिलान कीजिये—'तदा भरतबाणेन भिन्नो हनुमान्भरतदोर्दण्डमुक्तकाण्डप्रचण्डप्रहारमूर्च्छितो विधिलिखिताक्षरपंक्तिलोपात्प्राणान्परित्यक्तुमिच्छन्। पुंखावशेषभरतेषु ललाटपट्टो हा राम लक्ष्मण कुतोऽहमिति ब्रुवाणः। संमूर्च्छितो भुवि पपात गिरिं दधानो लांगूलशेखररुहेण सकेसरेण॥' हनु० १३। २५॥ अर्थात् उस समय भरतजीके बाणसे घायल होकर हनुमान्‌जी भरतजीके भुजदण्डोंसे युक्त हुए धनुषके प्रचण्ड प्रहारसे मूर्च्छित हो गये और प्रारब्धके लिखे हुए अक्षर-पंक्तिके नाशसे प्राण त्यागनेकी इच्छा करने लगे। पुंखमात्र शेष बचे हुए भरतजीके बाणसे ललाटपट्टमें बँधे हुए हनुमान्‌जी, 'हा राम! हा लक्ष्मण! मैं कहाँ हूँ', यह कहते हुए, केसरसहित लांगूलके अग्रभागमें द्रोणाचलको धारण करते हुए, मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। (ख) 'सुमिरत राम राम रघुनायक' से रघुनाथजीका भक्त जनाया, जिससे भरतजीने उन्हें भाईका स्नेही जाना। 'भरत तब धाए' से होमकी पूर्ति, रामभक्तमें परम प्रेम और भरतजीकी अत्यन्त आर्त्तता एवं आतुरता कही।

'सुनि प्रिय बचन' इति। 'राम राम रघुनायक' ये प्रिय वचन हैं, इन्हें भरतजी स्वयं जपते हैं, यथा—'राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात'—(उ० १)। (ख) 'अति आतुर' अर्थात् वशभर जितनी शीघ्रता उनसे हो सकती थी उतनी जल्दी आये। 'आतुर' के यहाँ शीघ्र और व्याकुल दोनों अर्थ हैं। शोक यह है कि एक रामभक्त मेरे हाथसे निरपराध मारा गया, इसीसे बड़ी उतावलीसे दौड़ आये।

☞ हनुमान्‌जी गिरे तो पर्वत कहाँ गया, इसके विषयमें गीतावलीमें पवनदेवका उसे धारण करना लिखा है, यथा—'कौतुक ही कपि कुधर लियो है। चल्यो नभ नाइ माथ रघुनाथहि सरिस न बेग बियो है॥ देख्यो जात जानि निसिचर बिनु फर सर हयो हियो है। पर्‌यो कहि राम पवन राख्यो गिरि पुर तेहि तेज पियो है॥ लं० १०॥'

अर्थात् बाणने उनका सब तेज पी लिया (हर लिया), वे 'हा राम!' कहते हुए गिर पड़े, तब पवनने पर्वतको

थाम लिया। हनु० ना० में लांगूलके अग्रभागपर पर्वतका रुकना कहा है। दोनोंका एकीकरण इस प्रकार हो सकता है कि लांगूलपर जो पर्वत था उसको पवनदेव अदृश्यरूपसे आकाशमें रोके रहे। कहीं किसीने यह भी लिखा है कि भरतजीके बाणपर वह पर्वत स्थित रहा। भरतजीने यह सोचकर कि पर्वत लेकर अवधपर डालनेके लिये कोई निशिचर आ रहा है, ऐसा बाण चलाया कि हनुमान्‌जीको उसने मूर्च्छित कर दिया और पर्वतको भी आकाशमें ही रोक लिया, गिरने न दिया। बं० पा० जी लिखते हैं कि पवनने अपने चक्रसे उसे घुमाकर थाम रक्खा।

बिकल बिलोकि कीस उर लावा। जागत नहिं बहु भाँति जगावा॥ ३॥
मुख मलीन मन भएउ * दुखारी। कहत बचन भरि† लोचन बारी॥ ४॥

शब्दार्थ—जागना=सावधान वा चैतन्य होना। जगाना=होशमें लाना, फिरसे ठीक स्थितिमें लाना।

अर्थ—वानरको व्याकुल देखकर उन्होंने उसे हृदयसे लगा लिया और बहुत तरह उसे जगा रहे हैं पर वह होशमें नहीं आता॥ ३॥ तब भरतजीका मुख मलिन (उदास) हो गया, वे मनमें बड़े दुखी हुए, आँखोंमें आँसू भरकर वे ये वचन बोले॥ ४॥

नोट—१ 'कीस उर लावा' से रामभक्तमें प्रेम और अपने अपराधका विचार प्रकट किया। २—'बहु भाँति जगावा'। मुखपर जलके छींटे देना, ओषधि सुँघाना, सिरपर हाथ फेरना इत्यादि उपाय जो आयुर्वेद आदिमें बताये हैं। ३—'मुख मलीन मन भएउ दुखारी' यह समझकर कि हमसे बड़ा भारी भगवत्-भागवतापराध हुआ, उनकी व्याकुल दशा और मूर्छारहित न होते हुए देख हृदयमें विषाद हुआ, हृदय दग्ध हो रहा है; इसीसे मुखपर उदासी छा गयी और वे दीन वचन बोले, यथा—'हृदय दाहु अति बदन मलीना। कह कर जोरि बचन अति दीना। अ० ९४।' ४—'मुख मलिन', 'मन दुखारी' और 'कहत बचन भरि लोचन बारी' कहकर उनको तन, मन, वचनसे दुखी दिखाया। ये सब शोकके चिह्न हैं। यथा—'भएउ प्रेमबस हृदय बिषादू॥ तन पुलकित जल लोचन बहई। अ० ९०।'

जेहिं बिधि रामबिमुख मोहि कीन्हा। तेहिं पुनि यह दारुन दुख दीन्हा॥ ५॥
जौं मोरे मन बच अरु काया। प्रीति रामपद कमल अमाया॥ ६॥
तौ कपि होउ बिगत श्रम सूला। जौं मोपर रघुपति अनुकूला॥ ७॥
सुनत बचन उठि बैठ कपीसा। कहि जय जयति कोसलाधीसा॥ ८॥

शब्दार्थ—बिधि=दैव। 'दैवं दिष्टभागधेयं भाग्यं स्त्रीनियतिर्विधिः इत्यमरः।' दारुण=असह्य, छाती फाड़नेवाला, कठिन।

अर्थ—जिस विधाताने मुझे रामविमुख किया उसीने फिर यह कठिन दुःख दिया॥ ५॥ यदि मन, वचन और तनसे मेरा श्रीराम-चरण-कमलमें निष्कपट प्रेम हो॥ ६॥ यदि श्रीरघुनाथजी मुझपर प्रसन्न हों, तो वानर श्रम और पीड़ासे रहित हो जावे॥ ७॥ वचन सुनते ही कपिराज हनुमान्‌जी 'कौशलपतिकी जय हो, जय हो' यह कहते हुए उठ बैठे॥ ८॥

नोट—१ 'दारुण दुख' 'भागवत-वधरूपी बड़ा लाञ्छन लगा। 'रामबिमुख कीन्हा' अर्थात् श्रीरामजीसे वियोग कराया। (पं०)। २—☞ विधिको दूषण दिया क्योंकि सरस्वतीद्वारा मति फेरी गयी थी, यथा—'कीन्हि मातु मिस काल कुचाली।' यही बात श्रीरघुनाथजीसे उन्होंने कही थी। यथा—'बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा॥ अ० २६१।'

३ 'जौं मोरे मन बच अरु काया।···' इति। (क) रा० प्र०—जब सब उपाय करके हार गये और मूर्च्छा न गयी तब अपने निश्चयपर श्रीरामजीकी शरण गये, अमोघ शपथहीको एकमात्र जीवनदानका उपाय निश्चित किया। (ख) 'जौं मोरे' यह शपथकी रीति है, यथा—

* भए—(का०)। † लोचन भरि—(का०)।

श्रीसीताजी—'जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं॥ १०८। ७।'
श्रीलक्ष्मणजी—'जौं तेहि आजु बधे बिनु आवउँ। तौ रघुपति सेवक न कहावउँ॥ ७४। १३।'
,, 'जौं सत संकर करहिं सहाई। तदपि हतौं रघुबीर दोहाई॥ ७४। १४।'
,, 'जौं सहाय कर संकर आई। तौ मारउँ रन राम दोहाई॥ अ० २३०। ८।'
,, 'जौं न करौं प्रभुपद सपथ कर न धरौं धनु भाथ॥ १। २५३।' इत्यादि।
तथा यहाँ—'जौं मोरे मन बच अरु काया' जौं मोपर रघुपति अनुकूला।'

☞ भक्त अपने भजनका गर्व कदापि नहीं करते चाहे वे कैसे ही अद्वितीय भक्त क्यों न हों। गर्व आया कि गिरे। भक्त अपनेको सदा भक्तिहीन ही समझता है। इसीसे तो भगवान् शङ्कर ऐसे भक्त कि 'सेवक स्वामि सखा सियपी के' होकर भी बारंबार भक्तिका वर माँगते ही रहते हैं। अतः 'जौं' संदिग्ध वचनका प्रयोग उचित है।

४ 'तौ कपि होउ बिगत श्रम सूला' दीपदेहरी है। 'जौं मोपर रघुपति अनुकूला' यह दूसरी शपथ है। पूर्व (अयोध्याकाण्डमें) चित्रकूटमें रघुनाथजीकी अनुकूलता और कृपा अपने ऊपर देख चुके हैं, यथा—देखेउँ पाय सुमंगल मूला। जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला॥ कृपा अनुग्रह अंग अघाई। कीन्हि कृपानिधि सब अधिकाई॥ २। ३००। ३, ५।' फिर भी डरते हैं, अतः प्रभुकी अनुकूलताकी शपथ की। अनुकूलतापर विश्वास है। क्योंकि प्रभु तो शत्रुपर भी अनुकूल ही रहते हैं—'जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला' तब मैं तो छोटा भाई ही हूँ, प्रेम न होनेपर भी अनुकूल तो अवश्य ही होंगे।

'सुनत बचन उठि बैठ कपीसा।'

पंजाबीजी लिखते हैं कि इससे जान पड़ता है कि हनुमान्जी बाणसे मूर्च्छित न हुए थे, वे केवल भरतकी भक्तिकी परीक्षा-हेतु मूर्च्छित बन गये थे। जब भरतजीको मन-कर्म-वचनसे भक्त जाना तब उठ बैठे। नहीं तो मूर्च्छा थी तो सुना कैसे?

पं० विजयानन्दत्रिपाठीजी लिखते हैं कि प्रश्न यह उठता है कि जब अनेक प्रकारसे जगानेपर नहीं जगे, तब हनुमान्जीने 'तौ कपि होउ बिगत श्रम सूला। जौं मोपर रघुपति अनुकूला॥' इस वचनको सुना कैसे? बात यह है कि पहिले हृदयमें भाव उठता है, तब पीछेसे वह वैखरी रूपमें व्यक्त होता है। श्रीभरतजीको, बहुत जगानेपर भी, हनुमान्जीके न जागनेका बड़ा दुःख हुआ। तब अन्तिम उपायको काममें लाये, रामपद प्रेमका आश्रयण किया, उसका ऐसा सच्चा प्रभाव, हनुमान्जीके हृदयपर पड़ा कि उनकी मूर्च्छा जाती रही, और वैखरीमें व्यक्त हुए भावको उन्होंने सुन लिया।'

बाबा हरीदासजी कहते हैं कि हनुमान्जी भरतजीकी रामपद-प्रीतिके बलसे जगे। इससे कर्म, उपासना और ज्ञानको रामपद-प्रेमके सामने निरर्थक जनाया। अपने अपराधकी यह ओषधि दी।

हनु० १३। २६ में मूर्च्छा ऐसी दिखायी गयी है कि उनमें पुरुषार्थ न रह गया था, वे शिथिल हो गये थे, पर बोलते, सुनते थे। उसी अवस्थामें उन्होंने शक्ति-प्रसंग सुनाया। तत्पश्चात् वशिष्ठजीने पर्वतसे ही ओषधि लेकर उनकी मूर्छा दूर कर दी।

'सर्वे निशम्य सहलक्ष्मणरामनाम तत्रोपगम्य हनुमत्पदयोर्निपेतुः।
वृत्तं च तस्य वचनादपनीय शल्यं मूर्च्छां जहार स मुनिर्गिरिजौषधीभिः॥'

मानसकी यह कथा हनुमन्नाटकसे भिन्न है। पंजाबीजीका मत ठीक मानें तो उसमें यह आपत्ति आती है कि अपनेसे उठ बैठनेसे भरतजीकी शपथ और उनके बाणका प्रभाव कुछ भी न रह जायगा। मानसके मतानुसार तो रामकृपासे ही मूर्छा छूटी। गीतावली ६। १० से भी इसी भावका समर्थन होता है, यथा—'जाइ भरत भरि अंक भेंटि निज जीवन दान दियो है' भरतजीने प्रार्थना की कि मेरी आयुसे इसको आयु दी जाय। वैसे ही यहाँ भरतजी अपने विशुद्ध रामप्रेम और अपनेपर श्रीरघुनाथजीकी अनुकूलतारूपी दान देकर हनुमान्जीकी मूर्छा दूर कर रहे हैं।

प्र० स्वामीजी भी मुझसे सहमत हैं। वे लिखते हैं कि मूर्छा रामकृपासे ही छूटी, जैसे श्रीसीताजीने जो 'प्रेमपन ठाना' वह 'कृपानिधान राम सब जाना' वैसे ही यहाँ भरतजीने जो प्रेमपन ठाना वह कृपानिधानने सुना। श्रीसीताजीने

मनमें ही प्रेमपन ठाना था अतः वहाँ कृपानिधानका जानना कहा और यहाँ वैखरीसे ही प्रेमपन ठाना, अतः 'सुनत' कहा।

☞ 'कोसलाधीस' पद दिया क्योंकि इस समय वे कोसलपुरीमें हैं।

सोरठा—लीन्ह कपिहि उर लाइ पुलकित तनु लोचन सजल।
प्रीति न हृदय समाइ सुमिरि राम रघुकुलतिलक॥ ५८॥

अर्थ—भरतजीने कपिको हृदयसे लगा लिया। उनका शरीर पुलकित हो गया। नेत्रोंमें जल भर आया। रघुकुल-शिरोमणि श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण कर करके हृदयमें प्रीति नहीं समाती॥ ५८॥

नोट—१ 'लीन्ह कपिहि उर लाइ'। पूर्व कहा था कि 'बिकल बिलोकि कीस उर लावा' बीचमें हटाना कहा नहीं, यहाँ फिर कैसे कहा कि 'लीन्ह उर लाइ'? उत्तर यह है कि भरतजी छातीसे लगाये हुए थे पर मूर्छा हटनेपर हनुमान्‌जी उठकर बैठ गये, यथा—'सुनत बचन उठि बैठ कपीसा।' तब दोनों अलग हो गये। अतएव फिर हृदयसे लगाया। पुनः 'जागत नहिं बहु भाँति जगावा' से हटना सम्भवित हो सकता है। सम्भव है कि मूर्छा हटानेके उपाय करते समय इनको लिटा दिया हो। पं० रा० जी कहते हैं कि प्रथम बार दुःखके मारे हृदयसे लगाया था और अब सुखसे हृदय लगाया। २—'प्रीति न हृदय समाइ' अर्थात् वह प्रेम, अश्रु और पुलकाङ्ग आदि सात्त्विक अनुभावोंद्वारा पूर्णावस्थाको प्राप्त होकर बाहर निकला पड़ता है।—'कह्यौ न परत जेहि भाँति दुहूँ भाइन सनेह सों सो उर लाइ लियो है'—(गी० लं० ११)। उत्तरकाण्डमें जब हनुमान्‌जीने प्रभुके आगमनका संदेश कहा है, उस समय भी भरतजी इसी प्रेमसे मिले हैं, यथा—'मिलत प्रेम नहिं हृदय समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥'

पु० रा० कु०—'सुमिरि राम रघुकुलतिलक' इति। पुलकाङ्ग, अश्रुपात और प्रेम ये सब कपिके उठनेपर श्रीरामजीकी कृपालुताके स्मरणसे हुए। वे श्रीरामजीके कृतज्ञ हो रहे हैं कि उन्होंने हमारा लाञ्छन (कलङ्क) मिटाया। क्यों न हो! वे रघुकुल-शिरोमणि हैं, वे हमें कैसे लाञ्छन लगने देते? जिससे कुलभर कलङ्कित हो जाता।

तात कुसल कहु सुखनिधान की। सहित अनुज अरु मातु जानकी॥ १॥
कपि सब चरित समास बखाने। भए दुखी मन महुँ पछिताने॥ २॥

शब्दार्थ—समास=संक्षेप, थोड़ेमें।

अर्थ—हे तात! छोटे भाई और माता जानकीजीसहित सुखसागर रघुनाथजीका कुशल कहो॥ १॥ (शीघ्रताके कारण) कपिने सब चरित संक्षेपमें कहे (सुनकर) वे दुखी हुए और मनमें पछताने लगे कि—॥ २॥

पु० रा० कु०—१ 'कुसल कहु सुखनिधान की' इति। सुखसागर हैं ही तब उनकी कुशल पूछना कैसा? यह प्रीतिकी रीति है। यथा—'जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। राम पुरी मंगलमय पावनि॥ तदपि प्रीति कै रीति सुहाई। मंगल रचना रची बनाई॥ १। २९६। ५-६।'

२ (क) 'सब चरित' अर्थात् सीताहरणसे शक्तितक। (ख) 'भए दुखी मन महुँ…' इति। यहाँ भरत उपलक्षण मात्र हैं। इससे कौसल्यादि सबका ग्रहण है। यथा गीतावल्याम्। (लं० १३)—

'सुनि रन घायल लषन परे हैं। स्वामिकाज संग्राम सुभट सों लोहे ललकि लरे हैं॥ १॥
सुवन सोक संतोष सुमित्रहि रघुपति भगति बरे हैं। छिन छिन गात सुखात छिनहिं छिन हुलसत होत हरे हैं॥ २॥
कपि सों कहत सुभाय अंब के अंबक अंबु भरे हैं। रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर जद्यपि धनु दुसरे हैं॥ ३॥
तात जाहु कपि सँग रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं। प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधि बस सुढर ढरे हैं॥४॥…'

नोट—'भए दुखी०'। सीताहरण और लक्ष्मण-शक्ति सुनकर दुःख हुआ। इन दोनोंकी कुशल पूछी थी सो यह समाचार मिला। आगे कवि स्वयं पश्चात्ताप लिखते हैं।

सि० ति०—गी० १० से १४ तक में जो कहा है उसके द्वारा यह दिखाया गया है कि जैसे कृष्ण भगवान्‌ने

प्रियभक्त उद्धवजीको गोपियोंके पास प्रेमकी दीक्षा देनेके लिये ज्ञानोपदेशके मिष भेजा है, वैसे ही यहाँ श्रीरामजीने इन्हें प्रेमकी पराकाष्ठा प्राप्त करनेके लिये प्रेरणा करके श्रीअयोध्याजी भेजा है।

अहह दैव मैं कत जग जाएउँ। प्रभु के एकहु काज न आएउँ॥ ३॥
जानि कुअवसरु मन धरि धीरा। पुनि कपि सन बोले बलबीरा॥ ४॥

शब्दार्थ—कत=क्यों। जाएउँ=पैदा किया गया, जन्म हुआ।—'कौसलेस दसरथ के जाए।…' बलबीर=जो बलमें दूसरोंसे बहुत बढ़कर हो। वीर=किसी काममें जो बढ़कर हो।

अर्थ—हा दैव! मैं जगत्‌में क्यों (व्यर्थ) पैदा हुआ जो प्रभुके एक (कोई) भी काम न आया॥ ३॥ फिर कुसमय जानकर मनमें धीरज धरकर, बलवीर श्रीभरतजी पुनः हनुमान्‌जीसे बोले॥ ४॥

नोट—१ 'प्रभु के एकहु काज न आयउँ' इति। (क) प्रभुका भाव कि वे समर्थ हैं, उनको सहायताकी जरूरत नहीं। पर सेवकका काम है सेवा करना, नहीं तो सेवक कैसा?—'सेवक सो जो करै सेवकाई। १। २७१।' 'स्वामि संकट हेतु हौं जड़ जननि जनम्यौ जाय। समउ पाइ कहाइ सेवक घटयौं तौ न सहाय॥ गी० १४।' वे सेवककी सेवाको ग्रहण करते हैं और बहुत मानते हैं—'जानत प्रीति रीति रघुराई।' नहीं तो 'सिंधु कि तोष जल अंजलि दिए'? लोग सिन्धुको जल देते, सूर्यको अर्घ्य देते और दीपक दिखाते हैं—यह सब सेवक-प्रेमका धर्म है। प्रभुके अर्थ काम आनेसे अपना जीवन तो सफल हो जाता, यह सोचकर भक्तशिरोमणि भरतजी पछताते हैं।

२—'जानि कुअवसर मन धरि धीरा' इति। (क) 'कुअवसर' यह कि लक्ष्मणजी रणभूमिमें घायल पड़े हैं, हनुमान्‌जी औषध लाये हैं, इनको तुरंत वहाँ पहुँचना चाहिये जिसमें वे जीवित हो जायँ, इन्हें वहाँ पहुँचा दूँ। यदि मैं शोकमें पड़ गया तो सभी शोक करने लगेंगे, औषध वहाँ न पहुँचनेसे लक्ष्मणजीके प्राण जायँगे; यह समय शोकका नहीं है, कर्तव्य करनेका है। (ख) 'कुअवसर' में धैर्य धारण करनेसे ही कार्य बनता है, यथा—'धीरजु धरिय त पाइय पारू। नाहि त बूड़िहि सब परिवारू॥ १। १५४।' 'तात हृदय धीरज धरहु करहु जो अवसर आजु॥ २। १६९।' यह जानकर सज्जन धैर्य धरते हैं, यथा—'कृपासिंधु प्रभु होहिं दुखारी। धीरजु धरहिं कुसमउ बिचारी॥ २। १४१। ५।' 'धीरजु धरेउ कुअवसर जानी। सहज सुहृद बोली मृदु बानी॥ अ० ७४। १।' अतः हमें भी धैर्य धारण करना चाहिये। (ग) 'मन धरि धीरा' से जनाया कि पहिले अधीर हो गये थे। 'भए दुखी मन महुँ पछिताने।' पुनः 'अहह दैव मैं कत जग जाएउँ।…' इत्यादि विचारोंने बिलकुल अधीर कर दिया; यथा—'कहत सिथिल सनेह भो जनु धीर घायल घाय। भरत गति लखि मातु सब रहिं ज्यों गुड़ीं बिनु बाय॥ गी० लं० १४।' धैर्य किया कि अभी मैं इनको पहुँचाता हूँ, लक्ष्मणजी उठेंगे, संदेह नहीं। विश्वाससे धैर्य होता है। यथा—'सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी। धरि धीरजु प्रतीति उर आनी॥ १। २५९। ३।'

३ 'पुनि कपि सन बोले बलबीरा।' (क) पुनि=धीरज धरकर तब बोले। दूसरे, प्रथम एक बार बोल चुके हैं, यथा—'तात कुसल कहु सुखनिधान की।…' अतः अब 'पुनि' बोलना कहा। (ख)—'बलवीर' पद साभिप्राय दिया गया है क्योंकि आगे बाणपर हनुमान्‌जीको पर्वतसहित सवार कराके लङ्कापुरीमें श्रीरामजीके समीप पहुँचानेको कहेंगे। असाधारण बलवान् ही ऐसा कर सकता है।

☞ देखिये, प्राचीन भारतकी बाणविद्या! कहाँपर लङ्कामें श्रीरामजी हैं और कहाँ श्रीभरतजी! बिना उस स्थानको जाने अथवा देखे ठीक उसी स्थानपर हनुमान्‌जीको पर्वतसहित क्षणभरमें पहुँचा देनेको कहते हैं।

तात गहरु होइहि तोहि जाता। काजु नसाइहि होत प्रभाता॥ ५॥
चढ़ु मम सायक सैल समेता। पठवौं तोहि जहँ कृपानिकेता॥ ६॥

शब्दार्थ—गहरु (गहर) =देर, विलम्ब।

नोट—हे तात! तुमको जानेमें देर होगी। सवेरा होनेसे काम बिगड़ जायगा॥ ५॥ पर्वतसहित मेरे बाणपर चढ़ जाओ मैं तुमको जहाँ दयासागर श्रीरामजी हैं वहीं पहुँचा दूँ॥ ६॥

नोट—१ 'काजु नसाइहि होत प्रभाता' इति। हनुमान्‌जीने 'सब चरित समास' में कहते हुए यह भी कहा था कि सुषेणने कहा है कि प्रभात हो जानेपर फिर ओषधि भी काम न देगी, वे जीवित न हो सकेंगे। यथा—'जियै कुँवर निसि मिलै मूलिका कीन्ही बिनय सुषेन। उठ्यो कपीस सुमिरि सीतापति चल्यो सजीवन लेन॥ गी० लं० ९।' 'समाचार कहि गहरु भो तेहि ताप तयो है। गी० लं० ११।'

२—हनुमन्नाटकके हनुमान्‌जीने भरत-बाहुबलकी जिज्ञासाके निमित्त यह भी कहा है कि—मैं श्रान्त हो गया हूँ, इस पर्वतको ले जानेकी शक्ति नहीं रह गयी, आप इसे तुरंत वहाँ पहुँचा दें। उसपर भरतजीने उन्हें बाणपर चढ़ाया है*। पर यहाँ पूज्य कविके भरतजी यह जानकर कि सबेरे ओषधि काम न देगी, स्वयं ही उनसे कहते हैं कि 'तुमको देर लगेगी। तुम हमारे बाणपर सवार हो जाओ'। इससे भरतजीके भ्रातृस्नेहकी सरसता भी कैसी झलक रही है और हनुमान्‌जीको सर्वज्ञ प्रभुने परीक्षा भी करा दी। यहाँ भरतके वचन सुननेपर अभिमान उत्पन्न हुआ है, परीक्षाकी बात केवल ध्वनिसे निकलेगी, इस तरह हनुमान्‌जीके भक्तिभावकी पूर्ण रक्षा भी हो रही है—ये विशेषताएँ हैं। अभिमान उठकर वहीं दब जाता है, कर्ममें परिणत नहीं होने पाता।

३ 'जहँ कृपानिकेता'। भाव कि हमपर कृपा की, तुम्हें इस मिष भेज अपना समाचार दिया, हमें भागवतापराध लगा। उससे निवृत्ति की, यह सेवा भी इसी बहाने कृपा करके ले रहे हैं।

वि० त्रि०—'चढ़ु मम सायक''निकेता' इति। भरतजी हनुमान्‌जीको शैलसमेत बाणपर चढ़ाकर रामजीके पास भेजनेको तैयार हो गये, पर ऐसे समयमें अपने जानेका कोई उपक्रम नहीं किया। सुमित्राजीने शत्रुघ्नजीको हनुमान्‌जीके साथ जानेकी आज्ञा दी, (यथा—'तात जाहु कपि संग रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं। प्रमुदित पुलक पैत पूरे जनु बिधि बस सुढर ढरे हैं') सो वह भी नहीं होने पाया। इसका कारण यही मालूम होता है कि भरतजीने देखा कि सरकारकी इच्छा नहीं है कि अयोध्यासे कोई सहायता ली जाय। नहीं तो द्रोणाचल लानेके लिये उन्हें आदमी मिला, पर हम लोगोंके पास समाचार भेजनेको कोई न मिला। वे अपने व्रतपर दृढ़ हैं, चौदह वर्षतक राज्यसे उदासीन रहेंगे, उसमें हस्तक्षेप करना उचित नहीं है।

सुनि कपि मन उपजा अभिमाना। मोरे भार चलिहि किमि बाना॥ ७॥
राम प्रभाव बिचारि बहोरी। बंदि चरन कह कपि कर जोरी॥ ८॥

---

* जिज्ञासया भरतबाहुपराक्रमस्य रामस्तुतस्य युधि लक्ष्मणशक्तिभेदे।
श्रान्तोऽहमित्यथ गिरिं नय तं कुमारं वाक्यं जगाद हनुमान्भरतं सरोषः॥ २७॥
श्रुत्वेति तस्य वचनं भरतः शराग्रे साद्रिं कपिं समधिरोप्य गुणे नियोज्य।
मोक्तुं दधे झटिति कुण्डलिनं चकार तुष्टाव तं परमविस्मयमागतः सः॥ २९॥
उत्तीर्य बाणात्कुशलं गृहीत्वा संपूज्य बाहुं भरतस्य वाग्भिः।
मनो दरिद्रस्य यथा दिगन्तं तथा हनूमाञ्छिबिरं जगाम॥ १३। ३०॥

अर्थात् भरत बाहुबलकी परीक्षाके विचारसे उन्होंने कहा कि मैं थक गया, मुझे पर्वत सहित पहुँचाओ…उनके वचन सुनकर भरतजीने प्रत्यञ्चा आरोपण कर पर्वतसहित उनको बाणपर चढ़ाकर प्रत्यञ्चा धनुषमें लगा जब छोड़नेके लिये (धनुषको) थामा तभी झट कानतक खींचा जिससे भगवान् मारुति (सफलतासे) संतुष्ट और (पराक्रम देख) परम विस्मित हुए। बाणसे कुशलपूर्वक उतरकर भरतके बाहुबलकी प्रशंसा और कृतज्ञताद्वारा (मानसिक) पूजा की। हनुमान्‌जी (अवधसे लङ्कामें अपने) शिविरको (ऐसे वेगसे पहुँच गये जैसे दरिद्रका मन (मनोरथ करते हुए दिग्) दिगन्तको पहुँच जाता है।—(गौड़जीकृत अर्थ)।

[पं० व्रजरत्न भट्टाचार्यजीका भाषानुवाद अस्पष्ट है। यदि यह भाव मान लिया जाय कि भरतजीने जब कानतक तान लिया तब हनुमान्‌जी उतर पड़े तो यह स्थिति असंगत होती है। खिंची हुई कमान छोड़नी ही पड़ती है नहीं तो बाण निष्फल जाता है। यहाँ भाव यह है कि बाणसमेत हनुमान्‌जी लङ्का पहुँच गये और कुशलपूर्वक वहीं बाणसे उतरे। बाण अपना काम करके भरतजीके निषंगमें लौट गया। हनुमान्‌जी शिविरकी ओर गये।]

अर्थ—(भरत-वचन) सुनकर हनुमान्‌जीके मनमें अभिमान उत्पन्न हुआ कि मेरे भार (बोझा) से बाण कैसे चलेगा ? ॥ ७ ॥ फिर श्रीरामचन्द्रजीका प्रताप विचारकर वे हाथ जोड़कर और चरणोंकी वन्दना करके बोले ॥ ८ ॥

नोट—१ **'राम प्रताप०'** । आप प्रभाव खूब जानते हैं और मानसमें ही कई बार आपने उसे कहा है, वही प्रभाव यहाँ भी विचारा । यथा—**'प्रभु प्रताप ते गरुड़हिं खाइ परम लघु ब्याल'** । (श्रीसीताजीसे) । **'ताकहँ प्रभु कछु अगम नहिं जापर तुम्ह अनुकूल । तव प्रभाव बड़वानलहिं जारि सकै खलु तूल ॥'** (श्रीरामजीसे) ।

यहाँ प्रभुकी अनुकूलता भरतजीपर देख ही चुके हैं कि मूर्च्छा उनके शपथ करते ही दूर हो गयी । यथा—**'तौ कपि होउ बिगत श्रम सूला । जौं मोपर रघुपति अनुकूला ॥ सुनत बचन उठि बैठ कपीसा ।'** अतएव निश्चय हो गया कि वे अवश्य बाणपर चढ़ाकर मुझे वहाँ पर्वतसमेत पहुँचा देंगे । * [बं० पा०—यह प्रभाव अभी देख चुके हैं कि वज्र-ललाट-पर भी बाण लगते ही मूर्च्छित हो गिर पड़े । बाणने अभिमानका अंक मानो ललाटसे मिटा दिया । ५८ (१-२) देखिये ।

पु० रा० कु०—जब समुद्र लाँघकर लङ्कामें गये तब इन्हें अभिमान न हुआ था । वहाँ **'बोला बचन बिगत अभिमाना'** यह पद कविने दिया है । वहाँ हनुमान्‌जीने कहा था—**'सो सब तव प्रताप रघुराई । नाथ न कछू मोरि प्रभुताई । ५ । ३३ ।'** पर जब संजीवनी लेने चले तब अभिमान हुआ—**'चलेउ प्रभंजनसुत बल भाषी'** । द्रोणपर्वत ले आनेपर आज यहाँ पुनः अभिमान हुआ कि—**'मोरे भार चलिहि किमि बाना'** । उस अभिमानको प्रभुने इस प्रसङ्गमें छुड़ा दिया ।

२ 'बंदि चरन कह''कर जोरी' इति । यह चलनेके समयका प्रणाम है । 'कर जोरी' में यह भी ध्वनि है कि मुझसे बड़ा अपराध हुआ कि मैंने आपकी परीक्षा ली, आप अपराध क्षमा करें ।

दोहा—तव प्रताप उर राखि प्रभु जैहौं नाथ तुरंत ।
अस कहि आयेसु पाइ पद बंदि चलेउ हनुमंत ॥
भरत बाहुबल सील गुन प्रभुपद प्रीति अपार ।
मन महुँ जात सराहत पुनि पुनि पवनकुमार ॥ ५९ ॥

अर्थ—हे नाथ ! हे प्रभो ! आपका प्रताप (एवं आपका प्रताप और प्रभुको) हृदयमें रखकर मैं तुरंत जाऊँगा । ऐसा कह, आज्ञा पा, चरणोंको प्रणाम कर हनुमान्‌जी चल दिये । भरतजीके अपार बाहुबल, शील, गुण और प्रभुपदप्रेमकी बारंबार मनमें सराहना करते हुए पवनकुमार हनुमान्‌जी चले जा रहे हैं ॥ ५९ ॥

नोट—१ 'तव प्रताप उर राखि प्रभु०' इति । आप प्रभु अर्थात् समर्थ हैं । समर्थका प्रताप स्मरण करनेसे ही बड़े-बड़े काम सहज ही सिद्ध हो जाते हैं । इसीसे **'प्रभु प्रताप कपि चले असंका । ३८ । ९ ।'** और लक्ष्मणजी—**'प्रभु प्रताप उर धरि रन धीरा । बोले घन इव गिरा गँभीरा ॥'** विशेष ४३ (१-३), ७४ (१२) देखिये । आपका प्रताप स्मरण करता जाऊँगा, उससे तुरंत पहुँच जाऊँगा ।

२—'अस कहि आयसु पाइ' से जनाया कि वचन सुनकर भरतजीने आज्ञा दी । आज्ञा पानेपर पुनः प्रणाम किया ।

३—हनु० १३ । ३० के **'संपूज्य बाहुं भरतस्य वाग्भिः'** का भाव **'भरतबाहु बल''जात सराहत'** में आ गया ।

बाहुबल, १—'चढ़ मम सायक सैल समेता । पठवउँ तोहि जहँ कृपानिकेता ॥'

२— 'बिनु फर सायक मारेउ''परेउ मुरछि महि लागत सायक ।०'

शील—'बिकल बिलोकि कीस उर लावा । जागत नहिं बहु भाँति जगावा ॥'

'प्रिय बचन सुनि आतुर धाए', तात सम्बोधन—**'तात कुसल कहु'** ।

* गी० लं० ११ में अभिमान होनेपर तीरपर चढ़ना कहा है,—'कुधर सहित चढ़ो बिसिख बेगि पठवौं सुनि हरि हिय गर्व गूढ़ उपयो है ॥ ३ ॥ तीर ते उतरि जस कह्यो चहै गुन गनन जयो है ।' हनु० २७-३० का ऐसा अर्थ भी करते हैं ।

'प्रभुपदप्रीति अपार'—प्रसङ्ग भरमें है उसीकी शपथ करनेपर हनुमान्‌जीकी मूर्छा गयी।
—'प्रीति न हृदय समाइ सुमिरि राम रघुकुलतिलक' इत्यादि।

४ मनमें सराहनेका कारण गी० लं० ११ में यों दिया है—

'तीरतें उतरि जस कह्यो चहै गुनगननि जयो है। धन्य भरत धनि भरत करत भयो मगन मौन रह्यो मन अनुराग रयो है॥ यह जलनिधि खन्यो मथ्यो लंघ्यो बाँध्यो अचयो है। तुलसीदास रघुबीरबंधु महिमाको सिंधु तरि को कबि पार गयो है॥'

अर्थात् तीरसे उतर भरतजीके गुणगण कहना चाहा, पर उनके गुणगणोंने इनको ऐसा जीत लिया कि ये कहनेको समर्थ न हुए। धन्य भरत! कहकर उनके अनुरागसे मन रँगकर आनन्दमें मग्न हो गये और वे मौन रह गये।

☞ इस भरत-हनुमान्-प्रसंगमें एक बात स्मरण रखने योग्य है कि हनुमान्‌जीके अवधपुरीके ऊपर आनेके समयसे जबतक उनका अभिमान दूर नहीं हुआ तबतक बराबर बहुत छोटा पद 'कपि' या कीस ही उनके लिये प्रयुक्त हुआ है। श्रीरामजीका जयजयकार करते समय 'कपीश' पद दिया गया है। पर हनुमान्, पवनकुमार आदि अभिमान, बल वा वेग सूचक नाम नहीं दिये गये हैं। इससे जनाया कि इस प्रसङ्गमें इनके बल-वेगका अभिमान चूर्ण हो जायगा।

प्रभुप्रतापके स्मरणके पश्चात् फिर हनुमंत और पवनकुमार नाम दिये गये। हनुमान् नाम अर्थात् 'मान' संयुक्त-वाला नाम यहाँ भी नहीं दिया गया। चलते समय भरतजीको प्रणाम करनेपर 'हनुमंत' कहा और लङ्कामें पहुँचनेपर हनुमान् शब्द देंगे। 'पवनकुमार'—दोहा ५४ देखो।

५—**'पुनि पुनि सराहत'**, यह भी प्रेम और आनन्दका द्योतक है। भरतजीके गुण ऐसे ही हैं, उनका प्रेम देख सभी मुग्ध हो जाते हैं। श्रीरामचन्द्रजी ही उनकी सराहना बारंबार करते हैं, यथा—'तेहि राति पुनि पुनि करहिं प्रभु सादर सरहना रावरी॥ अ० २०१॥**'लखन राम सीतहिं अति प्रीती। निसि सब तुम्हहि सराहत बीती॥ अ० २०८॥'**

तब भला हनुमान्‌जी गुणोंको देख मुग्ध हो रहे तो आश्चर्य्य क्या?

६—'पवनकुमार' का भाव कि 'बुद्धि, विवेक, विज्ञान-निधान' हैं अतः ये सराहना कर सकते हैं, नहीं तो दूसरोंकी सामर्थ्य कहाँ। यथा— **'और करिहि को भरत बड़ाई। सरसी सीप कि सिंधु समाई'**। एवं इस नामको देकर बड़े वेगसे जाना भी सूचित किया है।

* श्रीरामविलाप *

उहाँ राम लछिमनहि निहारी। बोले बचन मनुज अनुसारी॥ १॥

शब्दार्थ—अनुसारी=सदृश, समान। अनुसरण करते हुए।

अर्थ—उधर लक्ष्मणजीको देखकर श्रीरामजी मनुष्योंके समान वचन बोले॥ १॥

☞ १ इस स्थानपर 'उहाँ' पद देकर जनाया कि कवि इस समय श्रीहनुमान्‌जीके साथ हैं। जहाँका चरित अब लिखते हैं वहाँसे वे बहुत दूर हैं। २—आगे उत्पन्न होनेवाली शङ्काओंकी निवृत्तिके लिये यहाँ प्रसङ्गके आदिमें ही **'मनुज अनुसारी'** पद देकर जनाया है कि 'जस काछिय तस चाहिय नाचा'; अतः शङ्काएँ न करना। दोहा ६० देखिये।

नोट—'निहारी' से जनाया कि आधी रात्रितक सावधान रहे कि पवनसुत शीघ्र ही ओषधि लेकर आते हैं। आधी रात बीतनेपर चिन्ता हुई; भाईकी ओर देखा तो शोकका उद्दीपन हो आया।

२—यहाँ भाईको देखकर दुःखके वचन बोलनेमें 'लछिमन' नाम दिया। भाव कि ये लक्षणधाम हैं, श्रीरामजीके प्रिय हैं, जगदाधार हैं। यथा—'लच्छनधाम रामप्रिय सकल जगत आधार। गुर बसिष्ट तेहि राखा लछिमन नाम उदार।' प्रभु इनके लक्षणोंको याद करके दुखी होंगे।

तुलसीदासजीकी भावुकता

पं० रा० चं० शुक्लजी—शोकका चित्रण भी गोस्वामीजीने अत्यन्त हृदयद्रावक पद्धतिसे किया है। शोकके स्वरू

तुलसीवर्णित रामचरितमें दो हैं—एक तो अयोध्यामें रामवनगमनका प्रसङ्ग और दूसरा लङ्कामें लक्ष्मणको शक्ति लगनेका। रामके वन जानेपर जो दुःख फैला वह शोक ही माना जायगा; वह प्रियका प्रवासजन्य दुःखमात्र नहीं है। अभिषेकके समय वनवास बड़े दुःखकी बात है—'**कैकयिनंदनि मंदमति कठिन कुटिलपन कीन्ह। जेहि रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुख दीन्ह॥**' अतः परिजनों और प्रजाका दुःख रामकी दुःखदशा समझकर भी है, केवल रामका अलग होना देखकर नहीं—'**राम चलत अति भएउ विषादू। सुनि न जाइ पुर आरत नादू॥**'

यह विषाद (जो शोकका संचारी है) और यह आर्त्तनाद शोकसूचक है। प्रियके दुःख या पीड़ापर जो दुःख हो, वह शोक है। प्रियके कुछ दिनोंके लिये वियुक्त होनेमात्रका जो दुःख हो वह विरह है। अतः रामके इस दुःखमय प्रवासपर जो दुःख लोगोंको हुआ वह शोक और वियोग दोनों है।……शोक या करुणाकी व्यंजना इस प्रकारके वाक्योंमें समझिये—

'मृदु मूरति सुकुमारि सुभाऊ। ताति बाउ तन लाग न काऊ॥
ते बन सहहिं बिपति सब भाँती। निदरे कोटि कुलिस एहि छाती॥…इत्यादि॥'

दशरथके मरणपर यह शोक अपनी पूर्ण दशापर पहुँच जाता है। उस समयकी अयोध्याकी दशाके वर्णनमें पाठकोंको करुणाकी ऐसी धारा दिखायी पड़ती है जिसमें पुरवासियोंके साथ वे भी मग्न हो जाते हैं—

'लागति अवध भयावनि भारी। मानहु कालराति अँधियारी॥' से
'सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा। धीरजहू कर धीरज भागा॥' तक।

गोस्वामीजीद्वारा चित्रित राजकुलका यह शोक ऐसा शोक है जिसके भागी केवल पुरवासी ही नहीं, मनुष्यमात्र हो सकते हैं; क्योंकि यह ऐसे आलम्बनके प्रति है जिसके थोड़ेसे दुःखको भी देख मनुष्य कहलानेवाले मात्र न सही तो मनुष्यता रखनेवाले सब करुणार्द्र हो सकते हैं।

दूसरा करुणादृश्य लक्ष्मणको शक्ति लगनेपर रामका विलाप है। इस विलापके भीतर शोककी व्यंजना अत्यन्त स्वाभाविक रीतिसे की गयी है। उसके प्रवाहमें एक क्षणके लिये सारे नियम, व्रत, सारी दृढ़ता बही जाती-सी दिखायी देती है—

'जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥'

भाव दशाका तात्पर्य न समझनेवाले, नीतिके नामपर पाखंड धारण करनेवाले इसे चरित्रग्लानि समझेंगे या कहेंगे। पर ऐसे प्रियबंधुका शोक जिसने एक क्षणके लिये भी विपत्तिमें साथ न छोड़ा, यदि एक क्षणके लिये सब बातोंका विचार छुड़ा देनेवाला न होता तो रामके हृदयकी वह कोमलता कहाँ दिखायी पड़ती जो भक्तोंकी आशाका अवलंब है? यह कोमलता यह सहृदयता सब प्रकारके नियमोंसे परे है। नियमोंसे निराश होकर, 'कर्मवाद' की कठोरतासे घबराकर, परोक्ष 'ज्ञान' और परोक्ष 'शक्ति' मात्रसे पूरा पड़ता न देखकर ही तो मनुष्य परोक्ष 'हृदय' की खोजमें लगा और अन्तमें भक्तिमार्गमें जाकर उस परोक्ष हृदयको उसने पाया। भक्तलोगोंका ईश्वर अविचल नियमोंकी समष्टिमात्र नहीं है, वह क्षमा, दया, उदारतादिका अनन्त समुद्र है। लोकमें जो कुछ क्षमा, दया, उदारता आदि दिखायी देती है, वह उसी समुद्रका एक बिंदु है।—(तुलसीग्रंथावली)।

अर्ध राति गइ कपि नहिं आएउ। राम उठाइ अनुज उर लाएउ॥ २॥
सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥ ३॥

अर्थ—आधी रात बीत गयी, कपि नहीं आया। (यह कहते हुए) श्रीरामचन्द्रजीने छोटे भाई लक्ष्मणको उठाकर छातीसे लगा लिया॥ २॥ (और बोले) हे भाई! तुम्हारा स्वभाव सदा कोमल रहा है, तुम तो मुझे कभी दुखी नहीं देख सकते थे॥ ३॥

नोट—१ (क) 'अर्ध राति गइ०' इति। भाव कि रात्रि रहते ही औषधि न आ गयी तो लक्ष्मणजी न जिलाये जा सकेंगे—५९ (५) देखो। हनुमान्‌जी तो कहकर गये थे कि हम सरसोंके तेलाग्निमें फूटनेमें जितनी देर होती है उतनेमें जाकर लायेंगे, फिर भी इतना विलंब हो गया। कोई विघ्न न उपस्थित हो गया हो—दोहा ५४ देखिये। (ख) 'कपि' का भाव कि कपि चंचल होते हैं, यथा—'**कपि चंचल सबही बिधि हीना**'। इसलिये कहीं रुक न गया हो। 'राम उठाइ…' इति। मारे विरह-शोक और प्रेमके लोग प्रियको उठाकर छातीसे लगा लेते हैं, वही इन्होंने किया।

पु० रा० कु०—'अनुज' इति। भाव कि छोटे भाई हो, छोटेको पीछे मरना चाहिये, बड़ेको पहिले। यथा–'भुक्ते मयि प्रथमममस्सि फलानि वत्स सुप्ते करोषि शयनं मयि जीवति त्वम्। प्राणाञ्जहासि सुरलोकसुखाय किं वा सापत्नभावसदृशं प्रकटीकरोषि॥ हनु० १३। १०॥' अर्थात् हे वत्स! तुम तो मेरे भोजन करनेपर फलोंको खाते थे और मेरे सो जानेपर सोया करते थे; सो अब क्या स्वर्गलोकका सुख भोगनेके लिये मेरे जीवित रहते ही तुम प्राणोंको छोड़ते हो। 'सकहु न दुखित देखि०' इति। भाव कि इसीसे दुःख देख तुम वनमें साथ आये।

माताका यही उपदेश था। यथा—'जेहि न राम बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥' और वैसा ही इन्होंने किया भी, यथा—'आश्रम देखि जानकी हीना। भये बिकल जस प्राकृत दीना।···लछिमन समुझाए०' 'सुमिरि मातु पितु परिजन भाई।···कृपासिंधु प्रभु होहिं दुखारी। लखि सिय लषनु बिकल होइ जाहीं। जिमि पुरुषहिं अनुसर परिछाहीं॥ १४१। ४६।', 'उत्तिष्ठ पश्य किं शेषे दीनं मां पश्य चक्षुषा। शोकार्त्तस्य प्रमत्तस्य पर्वतेषु वनेषु च॥ २१॥ विषण्णस्य महाबाहो समाश्वासयिता मम॥ वाल्मी० १०१॥

अर्थात् उठो! कैसे सो रहे हो! देखो, हम दीन-दुःखी हैं। जब हम पर्वतों और वनोंमें शोकातुर हो प्रमत्तकी तरह घूमते थे और उदास हो जाते थे तब तुम हमें समझाया करते थे। भाव यह कि आज भी हमें उठकर समझाओ।

नोट—२ 'सकहु न दुखित देखि' के साथ 'बंधु' पद देनेका भाव कि दुःखमें बंधु काम आते हैं तुम भी वैसे ही काम आते थे, अब क्यों नहीं दुःखमें सहाय होते, यथा—'होहिं कुठाँय सुबंधु सहाये। ओड़ियहि हाथ असनिहु के घाये। अ० ३०६।' मिलान कीजिये गी० लं० ५, 'राम लषन उर लाइ लए हैं। भरे नीर राजीव नयन सब अङ्ग-अङ्ग परिताप तये हैं। कहत ससोक बिलोकि बंधु मुख बचन प्रीति गुथये हैं। सेवक सखा भक्ति-भायप-गुन चाहत अब अथये हैं॥ २॥ निज कीरति करतूति तात तुम सुकृती सकल जये हैं। मैं तुम्ह बिनु तनु राखि लोक अपने अपलोक लये हैं॥ ३॥ मेरे पनकी लाज इहाँ लौं हठि प्रिय प्रान दये हैं।'

३ दुःखी न देख सकना कहकर उसका कारण कहते हैं कि तुम्हारा स्वभाव अत्यन्त कोमल है। कोमल स्वभाव-वाला दुःख नहीं देख सकता।

मम हित लागि तजेहु पितु माता। सहेहु बिपिन हिम आतप बाता॥ ४॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठहु न सुनि मम बच बिकलाई॥ ५॥

अर्थ—हमारे हितके लिये तुमने पिता और माताका त्याग किया और वनमें शीत (जाड़ा-पाला) घाम और वायु सब सहन किया॥४॥ हे भाई! तुम्हारा वह प्रेम अब कहाँ है? मेरे व्याकुलताके वचन सुनकर उठते क्यों नहीं?* ॥५॥

नोट—१ 'मम हित लागि तजेहु पितु माता' इति। (क) यहाँ 'हित' पद दिया और आगे कहते हैं 'सो अनुराग कहाँ'। इस प्रकार हित और अनुराग पर्याय शब्द हुए। हित=स्नेह, प्रेम, अनुराग। 'हित' का अर्थ 'भलाई' 'कल्याण' भी है। 'मम हित लागि' अर्थात् हमारे प्रेमसे हमारी सेवाके लिये साथ आये; और इसीसे माता-पिताका साथ जोड़ा। यथा—'राम बिलोकि बंधु कर जोरे। देह गेह सब सन तृन तोरे॥ २। ७०। ६।', 'मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिय कि सोई॥ अ० ७२। ८॥' 'जौं पै सीय राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं॥ २। ७४। ४॥' 'सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥ अ० ७५। ६।'

(ख) ध्वनि यह है कि जैसे तुम हमारे लिये माता-पिता-भाई-गृह सबका त्यागकर वनमें आये वैसे ही तुम्हारे लिये मैं स्त्री, राज्य और प्राणोंको त्याग दूँगा। यथा—'यथैवं मां वनं यान्तमनुयातो महाद्युतिः। अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्॥ वाल्मी० ४९। १४॥'

२—'सहेहु बिपिन हिम आतप बाता' इति। यहाँ 'बाता' पद अन्तमें देकर जाड़ा, गर्मी और वर्षा तीनों ऋतुओं-

* 'विलपन्तं च मां भ्रातः किमर्थं नावभाषसे। वाल्मी० १०१। २०। उत्तिष्ठ पश्य किं शेषे०' अर्थात् मुझे विलाप करते तुम क्यों नहीं बोलते? उठो।

की (ठंड, गर्म और वर्षाके झँकोरोंवाली) वायु सूचित कर दी। यहाँ वर्षाका नाम नहीं दिया पर भरतजीके वाक्य भरद्वाज प्रति हैं कि 'बसि तरुतर नित सहत हिम आतप बर्षा बात ॥ अ० २११ ॥' एक बार पूर्व कह आये वैसा ही यहाँ समझ लेना चाहिये। वा, चौमासेमें एक ही स्थानपर रह जाना होता है अतः उसको न कहा।

जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू ॥ ६ ॥

अर्थ—जो मैं जानता कि वनमें भाईका वियोग होगा तो पिताके उन वचनोंको भी न मानता ॥ ६ ॥

पांड़ेजी—'ओहू' का इशारा उन वचनोंकी ओर है जो उन्होंने सुमन्तजीसे कहे थे कि—'रथ चढ़ाइ देखराइ बन फिरेहु गये दिन चारि २। ८१।' भाव यह कि यदि यह जानते कि भाईका बिछोह होगा तो १४ वर्ष तो बहुत होते हैं, वह दूर रहें, हम चार दिनवाली यह आज्ञा भी न मानते।—('ओहू' शब्दसे यह अर्थ ध्वनित हो सकता है)।

पु० रा० कु०—'ओहू' अर्थात् केकयीमाताका भी। भाव कि माता-पिता दोनोंके वचन न मानता।

वं० पा०—ये वचन भक्त सम्बन्धसे कहे जैसे भरतसे कहा था कि 'तासु बचन मेटत अति सोचू। तेहि ते अधिक तुम्हार सकोचू ॥'

शीला—'ओहू' का भाव कि जैसे वनगमन समय बहुत-से वचन पिताने कहे पर मैंने न माने वैसे ही ये वनवासके वचन भी न मानता।

गौड़जी—मर्यादा-पुरुषोत्तमके लिये 'पिता बचन' पूर्ण महत्त्वका कर्त्तव्य है, कदापि उल्लङ्घन नहीं हो सकता है, उसकी कीमत चक्रवर्ती राज्यसे, जवानीकी अवस्थामें गृहस्थीके सुखोपभोगसे, माता-पिता परिवार और भरत-सरीखे आदर्श भाईके वियोगसे कहीं अधिक है। 'ओहू' वह भी मैं न मानता। एक 'ओहू' शब्द कहकर पिता-वचनके आत्यन्तिक महत्त्वका बोध कराया है। परंतु बंधु-वियोगका शोक! उफ्! यह तो इतना कठिन, इतना असह्य है कि मैं इस समय प्रतीत कर रहा हूँ कि वनके एकमात्र सङ्गी बन्धुका बिछोह जानता तो ऐसे महत्त्वपूर्ण पिताके वचन भी न मानता। यहाँ बन्धु-प्रेमकी पराकाष्ठा दिखानेमें शोकावेशकी पूर्णता प्रकट करनेमें पुरुषोत्तमताका पूर्ण आदर्श दिखाया गया। इससे ध्वनि-द्वारा मर्यादाभावकी पुष्टि होती है। शोकमें प्रलापमें मर्यादापुरुषोत्तम कैसा आचरण करता है वही यहाँ विलक्षण रीतिसे कविने प्रकट किया है। *

नं० प०—जैसे 'येहू' दो का बोधक है और संनिकटको सूचित करता है वैसे ही ओहू-शब्द दोका बोधक है और दूरको सूचित करता है। अतएव 'ओहू' से जनाया कि जो पहला है जिसकी दूरमें गिनती है उसे नहीं मानता। जो दूसरा है जिसको नगीचमें गिनती है उसे मानता। यदि कोई कहे कि पिताके वचनको न माननेमें दोष है तो उत्तर यह है कि पिताके वचनके साथ 'ओहू' शब्द लगा है जिसका अर्थ है कि वह वचन न मानते। भाव कि यही वचन मानते। यह दूसरा वचन है 'बन देखाइ सुरसरि अन्हवाई। आनेहु फेरि बेगि दोउ भाई।' यह नीति है कि पिताके अन्तिम वचनको पुत्र माने और श्रीरामजी अन्तिम वचन माननेको कहते हैं तब उनको पिताके पहिले वचन न माननेमें दोष कैसे लग सकता है? कोई कहते हैं कि 'दुःखमें पड़कर श्रीरामजीने असत्य भाषण किया है कि पिताका वचन न मानते।' परंतु ऐसा कहना अयोग्य है, अबोधसूचक है, अनर्थ है। श्रीरामजी स्वप्नमें भी असत्य भाषण करनेवाले नहीं हैं, दुःख पड़नेपर भी वे सत्य ही कहते हैं।

* कुछ टीकाकारों और व्यासोंने स्वयं शङ्काएँ करके अनेक समाधान किये हैं। पाठकोंकी जानकारीके लिये कुछ लिखे जाते हैं।—१—पिताका वचन मानता, पर उसको (सीताके वचनको कि—'राखिय अवध जो अवधि लगि रहत जानियहि प्रान' न मानता। न वह साथ आती न यह कष्ट सहना पड़ता। २—'नहिं ओहू' अर्थात् उस बंधु लक्ष्मणके वचन न मानता कि 'मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिय कि सोई ॥' इत्यादि। ३—पिताके ये वचन मान लेता जो उन्होंने चलते समय कहे थे कि—'सुनहु तात तुम्ह कहँ मुनि कहहीं। राम चराचर नायक अहहीं ॥' से 'राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय कीन्ह छल त्यागी' तक। और उन वचनोंको न मानता। ४—पिताके वचनको मान लेता कि 'रथ चढ़ाइ देखराइ बन फिरहु गए दिन चारि।' 'लषन राम सिय आनेहु फेरी। संसय सकल संकोच निवेरी।' पर पिताके पहले वचनको न मानता जो कैकयीद्वारा कहे गये थे।

नोट—पूज्य कविने आदिमें कह दिया है कि '**बोले वचन मनुज अनुसारी**' और अन्तमें '**नरगति भगत कृपालु देखाई**' कहकर तब प्रभुके इन वचनोंको 'प्रलाप' विशेषण दिया है—'प्रभु प्रलाप सुनि कान बिकल भए बानर निकर'। 'प्रलाप' का अर्थ है—'निरर्थक बात, अनाप-शनाप, '**प्रलापो निरर्थको वचः**।' ज्वर आदिके वेगमें लोग कभी-कभी प्रलाप करते हैं। वियोगियोंकी दस दशाओंमेंसे एक यह भी है।' इति हिन्दी-शब्द-सागरे।

ब्योहार श्रीराजेन्द्रसिंहजीने ठीक ही कहा है कि 'विद्वानोंकी राय है कि देवता मनुष्यका आदर्श नहीं हो सकता। मनुष्योंका अनुकरणीय होनेके लिये देवता और ईश्वरको भी अपना देवत्व एक ओर रखकर मनुष्य सदृश बर्ताव करना पड़ता है। इसीके अनुसार तुलसीदासजीके श्रीरामचन्द्र ईश्वर होते हुए भी मनुष्योचित कार्य करते हैं। उनका देवत्व उनके मनुष्यत्वको दबा नहीं देता। यही चित्रण-चातुरी है। इसके विपरीत अध्यात्मरामायणके रामके चरित्रोंमें इतना अधिक देवत्व भर दिया है कि वह उनके मनुष्यचरित्रको कभी-कभी दबा देता है। उनके ईश्वरत्वको छोड़कर उसमें स्वभावके दूसरे भागोंपर बहुत कम दृष्टि रक्खी गयी है। परंतु तुलसीके राम आदर्श तपस्वी, आदर्श नरपति, आदर्श भ्राता, आदर्श पति आदि सब कुछ हैं।'

यदि राममें अपने छोटे भाईके लिये, कि जो उनके प्रेममें सब नाते तृणवत् तोड़ उनके कष्टोंमें सहायक और साथी हुआ था, वैसा ही अन्योन्य प्रेम न देख पड़ता तो वे हमारे लिये 'आदर्श भ्राता' कैसे हो सकते? उनका यह प्रलाप ही उनका अतिशय प्रेम प्रकट कर रहा है। यदि देवत्वके कारण प्रलापके शब्दोंके खींच-खाँचकर अर्थ कर भी लें तो वह तुलसीदासजीके इस चरित्र-चित्रणके प्रतिकूल ही होगा।

☞ इस विषयमें मित्रवर श्रीगौड़जी एवं वीरकविजीके विचारोंसे भी मैं पूर्ण सहमत हूँ कि 'यहाँ रघुनाथजीने जो कुछ कहा है वह नरत्व और प्रलाप दशामें कहा है। इसलिये पाठकोंको विषयकी सचाईपर ध्यान नहीं देना चाहिये वरन् रघुनाथजीकी नरलीला और काव्यके रसाङ्गपर ध्यान देना चाहिये। फिर किसी प्रकारकी शङ्काकी गुंजाइश ही नहीं रह जाती।' 'यहाँ मानुषीय प्रकृतिके अनुसार रामचन्द्रजीकी व्याकुलता और शोक प्रदर्शित करना कविको अभीष्ट है, इसीसे उन्होंने जान-बूझकर कुछ ऐसी असङ्गत बातें कहलायी हैं जिनका ठीक-ठीक अर्थ करना असम्भव-सा प्रतीत होता है।'

☞ ईश्वरमें प्रलाप नहीं हो सकता। इसीसे 'मनुज' और 'नर' पद दिया है जिसका भाव ही है कि मनुष्य ऐसा प्रलाप करते हैं। रावणकी मृत्यु नरके हाथ है। ब्रह्माके वचन सत्य करनेके लिये यहाँ नरवत् प्रलाप दिखाया है। पिताका वचन भी न मानता, इस कथनसे भ्रातापर पिता-मातासे भी अधिक स्नेह दर्शित किया है। पिताका वचन इस सम्बन्धमें क्यों न मानते इसका कारण अगली चौपाइयोंमें है। (पं०)।

सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥ ७॥
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलै न जगत सहोदर भ्राता॥ ८॥

अर्थ—पुत्र, धन, स्त्री, घर, परिवार (कुटुम्ब) संसारमें बारंबार होते और जाते हैं॥ ७॥ पर, हे तात! जगत्में सहोदर भ्राता (बार-बार) नहीं मिलते, ऐसा जीसे विचारकर होशमें आ जाओ॥ ८॥

नोट—१ 'सहोदर' का अर्थ है—एक पेटसे, एक मातासे उत्पन्न। यथा—'**समानोदर्य सोदर्यसगर्भ्यसहजाः समाः इत्यमरः**'—(पु० रा० कु०)। वाल्मी० १०१ में इन चौपाइयोंका समानार्थक श्लोक है। उसमें भी 'सहोदर' शब्द आया है। यथा—**देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः। तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥ १४॥**'

प्रचलित और लोकमान्य अर्थ यही है जो ऊपर दिया गया। '**मनुज अनुसारी**' और 'प्रलाप' होनेमें शङ्काकी जगह नहीं रह जाती।

२—'**शक्या सीता समा नारी मर्त्यलोके विचिन्वता। न लक्ष्मणसमो भ्राता सचिवः साम्परायिकः॥**' (अर्थात् मर्त्यलोकमें ढूँढ़नेसे सीता-सी स्त्री मिल सकती पर युद्धमें सहायक सलाह देनेवाला लक्ष्मणसमान भाई न मिलेगा।) वाल्मी० ४९। ६ के इस श्लोकका भाव यदि 'सहोदर' में लें तो उसकी व्युत्पत्ति यों कर सकते हैं—'सह उदरं यस्य'

जिसका पेट एक हो अर्थात् जो एक मनके हों, निष्कपट हों। यह भाव पांडेजीने दिया है। पर यह अर्थ लोकमान्य नहीं है।*

रा० बा० दा० जी इस अर्थके प्रमाणमें यह श्लोक देते हैं—**'साहसी गुणसम्पन्नो निद्राविगतकल्मषः। ज्येष्ठानुशासने लग्नः सहोदराभिधीयते॥'**, ये सब लक्षण लक्ष्मणजीमें हैं। अतः सहोदर कहा।

☞ एक बात यह स्मरण रखने योग्य है कि लक्ष्मणजी ही प्रायः सर्वत्र 'रामानुज' कहे गये हैं। अन्य भाइयोंके लिये प्रायः इस शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है। 'रामानुज' से लक्ष्मणजीहीका अर्थ प्रायः समझा जाता है। देखिये चारों भाइयोंके एक ही स्थानपर होनेपर भी विश्वामित्रजीने क्या कहा है—**'अनुज समेत देहु रघुनाथा।'** इससे जनाया कि मुख्य रामानुज यही हैं। 'रामानुज' शब्द इनके लिये रूढ़ है। रामचन्द्रिकामें इनके लिये तो 'सोदर' शब्दका बहुत ही प्रयोग हुआ है।

गौड़जी लिखते हैं कि ऐसा भी कहा जा सकता है कि रघुनाथजीकी माताओंमें अभेदबुद्धि है अर्थात् उनमें अपने परायेपनका विचार नहीं है। इसी भावको लेकर सहोदर शब्दका प्रयोग किया है।

नं० प०—**'मिलै न जगत सहोदर भ्राता'** इति। भाव कि पिताका स्वर्गवास हो गया है और पितासे ही सहोदर भ्राता पैदा होकर मिलता है। अतः जगत्‌में सहोदर भाई अब नहीं मिल सकता। ये वचन श्रीरामजी अपने ही लिये कह रहे हैं कि सुत वित्त आदि यदि ये सब नष्ट हो जायँगे तो संसारमें हमको बारम्बार होंगे परंतु अब हमको सहोदर भ्राता नहीं मिलेगा क्योंकि पिताका स्वर्गवास हो गया है। यह प्रसङ्ग समष्टिके अर्थमें नहीं है।'

'सहोदर भ्राता' पिताके सम्बन्धसे कहा, क्योंकि पिता-माता दोनोंके उदरसे जन्म होता है। रज और वीर्यका स्थान उदर है। पिताके ही सम्बन्धसे सहोदर भाईका मिलना भी असम्भव कहा है, नहीं तो माता तो मौजूद ही है।'

वे० भू०—'सहोदर भ्राता' का प्रश्न उठाकर जमीन आसमानके कुलाबे मिलाये जाते हैं। श्रीरामजी यह नहीं कहते कि 'तुम मेरे सहोदर भ्राता हो' या 'हे सहोदर भ्राता' प्रत्युत वे कहते हैं—**'सो अपलोक सोक सुत तोरा।'** इसमें स्पष्टरूपसे वे 'सुत' सम्बोधन कर रहे हैं। तो क्या श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजीके पुत्र थे। वस्तुतः उस पूरे प्रसङ्गपर विचार करनेसे यही निश्चित होता है कि यह सब विलाप-प्रलाप नर-गति है।

'मर्यादापुरुषोत्तमका वचन है **'मृषा न कहउँ मोर यह बाना'** तब वे असत्य कैसे कहेंगे?' ऐसा तर्क लोग करते हैं पर वे यह नहीं विचारते कि मर्यादापुरुषोत्तमता है क्या चीज? सृष्ट्यारम्भ कालसे जगत्‌के लिये लोक-वेदके अनुसार बँधे नियमका नाम मर्यादा है। उन सामयिक नियमोंके ठीक-ठीक पालन करनेका नाम मर्यादापुरुषोत्तमता है। अनेक नियमोंमें एक यह भी प्रख्यात नियम है कि—**'विषादे विस्मये कोपे हास्ये दैन्यमेव च। गोब्राह्मणरक्षायां वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे। स्त्रीषु नर्मविवाहेषु नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्॥'** (धर्मविवेकमाला)।

विषादकी दशामें मनुष्य मूर्छित तो कम होते हैं, परंतु विक्षिप्त प्रायः हो जाते हैं और उस दशामें जब कि आधा ही होश-हवास (चैतन्यता) रहता है—**'मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात्।'** (वे० द० ३। २। १०) उस शोकाभिभूत मुग्धा (परीक्षिप्ता) अवस्थामें, अर्ध चेतनावस्थामें मुँहसे निकला हुआ मिथ्या दोषावह नहीं माना जाता। अतः वह प्रमाणीभूत नहीं। इसलिये यहाँ विषादजन्य मुग्धावस्थामें, श्रीरामजीने 'सहोदर, सुत, एक कुमार, सौंपेसि, तेहि, उठहु, सुनहु' आदि बोलकर मानुषी मर्यादाका पालन करते हुए मर्यादापुरुषोत्तमताहीको चरितार्थ किया है।

जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिबर कर हीना॥ ९॥

* प्रलाप न माननेवाले यों समाधान करनेकी चेष्टा करते हैं—१—पिताके पक्षसे दोनों भाई सहोदर हैं—(पां०)। २—अर्थ यह है कि विमातृज होकर भी जैसे तुम हमारे भाई हो ऐसे जगत्‌में सहोदर भ्राता भी नहीं होते। (पां०)। ३—सब भाई पायससे ही उत्पन्न हुए, अतः सहोदर हैं। ४—सुमित्राजीने पायसभाग कौसल्याजीके हाथसे पाया, वह मुख्य भाग कौसल्याका ही ठहरा। इस भावसे सहोदर कहा। (वै०)। ५ शेषोपनिषद्‌में उल्लेख है कि प्रथम लक्ष्मणजी ८ मास कौसल्याजीके उदरमें रहे, पीछे प्रभुकी आज्ञासे योगमायाने आकर्षण कर उन्हें सुमित्राजीके उदरमें प्रविष्ट कर दिया। इस प्रकार सहोदर हुए। (वै०, रा० प्र०, पां०)। 'श्रुतिगर्भोऽपि या देवोऽनुससार'—(वं० पा०)। जिस प्रकार कृष्णावतारमें शेषावतार बलरामजी पहिले देवकीजीके उदरमें थे। पीछेसे आकर्षणद्वारा रोहिणीजीके गर्भमें आये—(गौड़जी)।

अस मम जिवन बंधु बिनु तोही। जौं जड़ दैव जिआवै मोही॥१०॥

अर्थ—जैसे पंख बिना पक्षी, मणि बिना सर्प और सूँड़के बिना श्रेष्ठ हाथी अत्यन्त दीनदुःखी होकर रहते हैं॥ ९॥ हे भाई! तुम्हारे बिना मेरा जीवन ऐसा ही होगा यदि कहीं जड़ विधाताने मुझे जीता रखा॥ १०॥

नोट—१ (क) **'पंख बिनु खग अति दीना'** इति। यथा—**'करैं मीजहिं सिर धुनि पछिताहीं। जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं॥ २। ७६। ५॥', लेत सोच भरि छिनु छिनु छाती। जनु जरि पंख परेउ संपाती॥ अ० १४८॥'** (ख) मणि बिनु फणि'—जीवन, यथा—**'प्रान कंठगत भयउ भुआलू। मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू॥ अ० १५३॥', 'मनि लिये फनि जिये ब्याकुल बेहाल रे'**—(विनय)। (ग)—**'करिबर, कर हीना'**। सूँड़हीन होनेसे भोजन बन्द रहेगा, वह मर जायगा।—(पु० रा० कु०)।

२—**'अस मम जिवन०'** अर्थात् यदि जीता रहा तो पक्षरहित पक्षीकी तरह व्याकुल बना रहूँगा, जन्मभर पश्चात्ताप रहेगा और शोकसे छाती जला करेगी; तथा मणिरहित सर्पकी तरह विह्वल हो तड़पा करूँगा और शुण्डरहित हाथीकी तरह भोजन आदि न करके प्राण दे दूँगा।

३—**'जौं जड़ दैव जिआवै०'**। (क) भाव कि मैं जी तो सकता ही नहीं, अवश्य प्राण दे दूँगा—**'गिरि कानन जैहहिं साखामृग हौं पुनि अनुज सँघाती'** (गी०)। पर यदि दैवने न मरने दिया क्योंकि जीवन-मरण उसके हाथ है;—**'हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस बिधि हाथ'**, तो मेरा जीवन ऐसा रहेगा।—**'जौं पै प्रिय बियोग बिधि कीन्हा। तौ कस मरनु न माँगे दीन्हा॥ धिग जीवन०। अ० ८६। ६।'** (ख) पु० रा० कु०—'जड़' क्योंकि अविवेकी है। यथा—**'बिधि गति बड़ि बिपरीत बिचित्रा। जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बालकेलि सम बिधि मति भोरी॥ २८२। १-२॥'** [मयनाजीने भी इसीसे 'विधि' को जड़ कहा था, यथा—**'जेहि बिधि तुम्हहि रूपु अस दीन्हा। तेहि जड़ बर बाउर कस कीन्हा॥ १। ९६॥'** भाव कि उसे कुछ विधि-अविधिका विचार नहीं है। ऐसी दशामें हमको जीवित रखना अयोग्य है]

पं०—शोकसे अत्यन्त व्याकुलताके कारण दैवको जड़ कहा।

☞ यहाँ लक्ष्मणजी पक्ष, मणि और शुण्डके, और श्रीरामजी पक्षी, फणि और हाथीके स्थानपर हैं। पक्ष बिना पक्षीका, मणिके बिना मणि-सर्पका और शुण्ड बिना हाथीका जीवन मरणसे भी अधिक कष्टदायक है। इन उदाहरणोंसे जनाते हैं कि तुम्हारे बिना हम युद्ध कैसे करेंगे? पक्षरहित होनेपर जटायुका वध हुआ, सम्पाती पराक्रमहीन हो गया। वैसे ही मेरा पुरुषार्थ न रह जायगा। हाथीके शरीरमें बलवाला अङ्ग शुण्ड ही है। इसीसे उसका सारा पुरुषार्थ है। वैसे ही तुम मेरे बल थे, तुम्हारे न रहनेसे मैं बलहीन हो जाऊँगा। भुजाओंको सूँड़की उपमा बहुत जगह दी गयी है, यथा—**'काम कलभ कर भुजबल सींवा', 'करिकर सरिस सुभग भुजदंडा'** बा० १४७।' अतएव शुण्डरहित होना कर-हीन होना है। हाथ ही न रहेगा तब पुरुषार्थ कैसा?

मिलान कीजिये—**'मेरो सब पुरुषारथ थाको। बिपति बँटावन बंधु बाहु बिनु करौं भरोसो काको॥ सुनु सुग्रीव साँचेहूँ मो पर फेर्‌यो बदन बिधाता। ऐसे समय समर संकट हौं तज्यो लषन सो भ्राता॥ गिरि कानन जैहैं साखामृग हौं पुनि अनुज सँघाती। ह्वै है कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती॥'** गी० लं० ७

> 'घायल लखनलाल लखि बिलखाने राम, भई आस सिथिल जगन्निवास दिल की।
> भाई को न मोह छोह सीय को न तुलसीस कहैं 'मैं बिभीषन की कछु न सबील की॥'
> लाज बाँहबोलकी नेवाजे की संभारसार साहेब न राम से बलैयाँ लेउँ सील की॥क० ६। ५२॥'

कवितावलीके इस उद्धरणके समस्त भाव इन तीन उदाहरणोंसे सूचित किये गये हैं—कि तुम्हारे बलका भरोसा था, दूसरा कोई सहायक नहीं, विभीषणको राज्य कैसे मिलेगा? मिलान कीजिये—गी० लं० ६—

'मो पै तौ न कछू ह्वै आई। ओर निबाहि भली बिधि भायप चल्यो लषन सो भाई॥ १॥ पुर, पितु मातु सकल सुख परिहरि जेहि बन बिपति बँटाई। ता सँग हौं सुरलोक सोक तजि सक्यो न प्रान पठाई॥ २॥

जानत हौं या उर कठोर ते कुलिस कठिनता पाई। सुमिरि सनेह सुमित्रा-सुत को दरकि दरार न जाई॥ ३॥

नं० ५०—तीन उदाहरणोंसे जनाया कि इस वनमें हमारे हाथ, पैर और नेत्र तुम्हीं हो। तुम्हारे न रहनेसे मैं विना हाथ, पैर और नेत्रका हो जाऊँगा। श्रीलषनलालजी श्रीरामजीके हाथ, पैर और नेत्र इस प्रकार हैं कि—लषणलाल श्रीरामजीके अनन्य सेवक हैं। सेवक तीन इन्द्रियोंसे होता है, हाथ, पैर और नेत्रसे। यथा—'**सेवक कर पद नयन से मुख सों साहिब होई।**' अतः श्रीलक्ष्मणजी हाथ, पैर और नेत्र हैं। हाथीकी उपमा हाथके लिये है, यथा—'**करिबर कर हीना**'। खगकी उपमा पैरके लिये है क्योंकि पक्षी पंखके बलहीसे उड़ता है। मणि-सर्पकी उपमा नेत्रके लिये है।

जैहौं अवध कवन मुँह लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई॥ ११॥
बरु अपजसु सहतेउँ जग माहीं। नारि-हानि बिसेष छति नाहीं॥ १२॥
अब अपलोक सोकु सुत तोरा। सहिहिं निठुर कठोर उर मोरा॥ १३॥

अर्थ—स्त्रीके कारण प्यारे भाईको खोकर मैं क्या मुँह लेकर अवधको जाऊँगा?॥ ११॥ संसारमें मैं भले ही यह अपयश सहता (कि असमर्थ थे, स्त्री गँवा बैठे, पुरुषार्थ होता तो रावणको मारकर ले न आते। इत्यादि) क्योंकि स्त्रीकी हानि (इसके आगे) कुछ विशेष हानि नहीं है॥ १२॥ हे पुत्र! अब मेरा निर्दय कठोर हृदय अपयश और तेरा शोक सहेगा॥ १३॥

नोट—१ 'जैहौं अवध०'। वाल्मी० १०१ का यह समास वर्णन है—

किं नु वक्ष्यामि कौसल्यां मातरं किं नु कैकयीम्॥ १६॥ भरतं किं नु वक्ष्यामि शत्रुघ्नं च महाबलम्।
सह तेन वनं यातो विना तेनागतः कथम्॥ १७॥ इहैव मरणं श्रेयो न तु बन्धुविगर्हणम्।
किं मया दुष्कृतं कर्म कृतमन्यत्र जन्मनि॥ १८॥'—इन श्लोकोंका सब भाव इन चरणोंमें है।

अर्थात् मैं कौसल्या और कैकेयीसे जाकर क्या कहूँगा? महाबल भरत और शत्रुघ्नके पूछनेपर कि लक्ष्मणके साथ वन गये थे उनके बिना कैसे आये, मैं क्या उत्तर दूँगा? भाई-बन्धुसे निन्दित होनेकी अपेक्षा यहीं मर जाना भला है। हा! मैंने अन्य जन्ममें कौन-सा पाप किया था (जो आज भोगना पड़ा)।

२ '**नारि हेतु प्रिय बंधु गँवाई**' का इस प्रकार भी भाव लगा सकते हैं कि 'जब वे सब पूछेंगे तो क्या उत्तर दूँगा कि स्त्रीके लिये मैंने प्यारे भाईको खो दिया!' पुनः, सब यही निन्दा करेंगे कि स्त्रीके लिये प्यारे भाईको खो दिया यद्यपि जानते हैं कि ये तो '**होहिं जग बारहिं बारा**' और भाई कहाँ मिल सकता है।

३☞ यहाँ सुमन्त्रजीका, अवधको लौटते समयका पछतावा मिलान करने योग्य है।—

वचन न आव हृदय पछिताई। अवध काह मैं देखब जाई॥
धाइ पूछिहहिं मोहि जब बिकल नगर नरनारि। उतरु देब मैं सबहि तब हृदय बज्र बैठारि॥ अ० १४५॥
पुछिहहिं दीन दुखित जब माता। कहब काह मैं तिन्हहिं बिधाता॥
पुछिहहिं जबहिं लषन महतारी। कहिहौं कवन सँदेस सुखारी॥···
जोइ पूछिहि तेहि ऊतरु देबा। जाइ अवध अब यह सुख लेबा॥
हृदय न बिदरेउ पंक जिमि बिछुरत प्रीतम नीर। जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि यह जातना सरीर॥ १४६॥

'अब अपलोक सोक सुत तोरा' इति। (क) यहाँ 'सुत' शब्द अत्यन्त वात्सल्य भाव प्रकट कर रहा है। माताने तो कहा ही था कि राम ही तुम्हारे पिता हैं और स्वयं लक्ष्मणजीने यही कहा कि '**मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी**' तथा 'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।०'; पर आज श्रीरघुनाथजीने भी उस भावकी स्वीकारता जना दी।—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**'। (ख) अपलोक, यथा—'**जानत हौं या उर कठोर ते कुलिस कठिनता पाई। सुमिरि सनेह सुमित्रासुतको दरकि दरार न जाई॥ तात मरन तिय हरन गृद्धबध भुज दाहिनी गँवाई। तुलसी मैं सब भाँति आपने कुलहि कालिमा लाई॥ गी० ६॥**'

वाल्मीकीयमें रावणवधके पश्चात् प्रभुने सीताजीसे कहा है कि मैंने जो रावण-वधमें परिश्रम किया वह केवल तुम्हारे लिये नहीं किया किंतु अपना अपवाद मिटाने और अपने वंशकी कीर्ति स्थिर रखनेके लिये भी उसे मारा है। यथा—'रक्षता तु **मया वृत्तमपवादं च सर्वतः । प्रख्यातस्यात्मवंशस्य न्यङ्गं च परिमार्जता** ॥ १६ ॥ वाल्मी० ११५ ॥'

नारि हानि बिसेष छति नाहीं।

पं० रा० चं० दूबे—जो स्त्री विरक्तोंके लिये रामभक्तिकी बाधक है, वही गृहस्थोंको ईश्वर सम्मुख करती है। वही आत्मत्यागकी शिक्षा देती है, वही परोपकारिताका पाठ पढ़ाती है। श्रीरामचन्द्रजीका यह उपदेश—'प्रमदा सब दुखखानि' किसी साधारण मनुष्य या गृहस्थीके लिये होता तो स्वयं श्रीरामजी सीताके लिये इतना विलाप न करते फिरते और न राम-रावणका युद्ध ही होता और न 'प्रमदा सब दुख-खानि' का पता न मिलनेसे आप ऐसे आपेसे बाहर होते कि सुग्रीवके लिये यहाँतक कह बैठते कि—'**जेहि सायक मारा मैं बाली। तेहि सर हतौं मूढ़ कहँ काली** ॥' उस दुःखकी खानिके लिये ऐसा विलाप करनेसे, लाभ ? जबतक उससे बचे रहते तभीतक गनीमत थी। जान-बूझकर कौन अपने गलेमें फाँसी डालता है। पर सच यह है कि ऐसे भावोंसे गृहस्थीका कर्तव्य दिखाया है।

दो दृष्टिकोणसे हम इस विषयपर मनन कर चुके हैं। एक पहलूसे यह प्रश्न और भी देखा जा सकता है। कवि अपना आदर्श दिखाता है। वह यह भी बतानेका प्रयत्न करता है कि मेरे आदर्श और मेरी समकालीन अवस्थामें कितना अन्तर है। यदि वह ऐसा न कर सके तो कवि ही क्या। न वह अपने कालका प्रतिनिधि ही समझा जा सकता है।

गुसाईंजीका प्रादुर्भाव जिस समय हुआ, उस समय मुसलमानी सभ्यताका प्राबल्य अपने उच्च शिखरकी ओर शीघ्रगामी हो रहा था और उसका प्रभाव आर्य सभ्यतापर जितना पड़ना था, पड़ चुका था। हमारे आचार-विचारमें बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था। इस्लामने नारिजातिको विचारमें (In theory) चाहे कैसा ही पद क्यों न दिया हो, पर उसने व्यवहारमें उनको जरखरीद गुलामके दर्जेसे ऊपर नहीं उठने दिया।'''विधर्मियोंद्वारा स्त्रीजातिपर अत्याचार करनेमें, जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, नारिजातिके गौरवका, उनकी पवित्रताका विनाश किया। इधर शिवाजी और राजसिंह, कोई मुसलमानी उनके हाथमें पड़ जानेपर उसको आदरके साथ उसके घर पहुँचानेका प्रयत्न करते हैं। उधर अलाउद्दीन आदि किसी परी जमाल हिन्दुस्थानीके उनके हाथमें पड़ जानेपर उस अबलाको हरमसरामें दाखिल करते हैं। पाठक विचार सकते हैं कि किस जातिकी दृष्टिमें नारि-जातिका उच्चतर स्थान है।

इस्लामके ८०० वर्षके दौर-दौरेमें सिर्फ ३ स्त्रियाँ ही हिन्दमें इस्लामके स्टेजपर दृष्टिगोचर होती हैं। रजिया, चाँदबीबी (जो अपने दोनों सरदारोंके हाथ कतल हुईं क्योंकि पठान सरदार औरतके जर हुकूमत रहना तौहीन समझता है) और नूरजहाँ जिसकी मजारपरका कुतबा बता रहा है कि उसका जीवन कैसा निराशमय हुआ।'''इधर हिन्दू-समाजमें अनेक वीराङ्गनाओंके नाम स्वतः स्मरण हो आते हैं—केरलकी तारा, पद्मा, कलावती, दुर्गावती'''।

अनेक यूरोपियन यात्री इस समय भारतमें आये और उन्होंने यहाँकी दशाका वर्णन किया है। मनुकची नामक एक इटली-निवासीने मुगल सम्राट्की हरमसराका जो वर्णन किया है, उसको पढ़कर शरीर काँप उठता है। वे शाही महल थे, या रण्डीखाने ? जो बहिश्त होने चाहिये थे, वही दोजखका नजारा दिखाते हैं। इन महिलाओंको फरिश्ताखसलत कहा जाय या शैतानसीरत ? अस्तु ! विशेष कहनेकी जरूरत नहीं। सारांश यह है कि इस पतित आदर्शका प्रभाव भारतपर पड़ा और खूब पड़ा। स्त्रीविलासिताकी सामग्री, मनोरञ्जकताका खिलौना और पाँवकी जूती बन गयी। वह एक सुलभ वस्तु हो गयी। तभी तो कविने रघुनाथजीसे भी कहला दिया कि—'**नारि हानि बिसेष छति नाहीं**'। और दूसरी जगह सागरद्वारा यह सूत्र बनवा दिया कि—'**ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी** ॥'

निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—एक=प्रधान, अद्वितीय, मुख्य—'**एकोऽन्ये प्रधाने इत्यमरः**।' '**एके संख्यान्तरे श्रेष्ठे केवले तरयोस्त्रिषु प्रमुखे प्रथमे मुख्ये**'।

अर्थ—हे तात ! तुम अपनी माताके एक ही पुत्र और उसके प्राणाधार हो ॥ १४ ॥*

* नं० प० जीका अर्थ—'हे भाई ! हमारी माता तिसको आप एक कुमार प्रानके अधार हो।'

पु० रा० कु०—'तात' अर्थात् अपनी मातापर अनुकम्पा करो। **'तातो भ्राता पिता तातस्तातो विस्तारकारकः। तातः पुत्रोऽनुकम्प्यश्च सखा तात उदाहृतः ॥'** (अनेकार्थशब्दमाला)।

नोट—सुमित्राजीके दो पुत्र लक्ष्मण और शत्रुघ्न हैं। पर यहाँ प्रभु कहते हैं कि **'निज जननी के एक कुमारा'**। यहाँ 'एक' का अर्थ 'प्रधान' है। माता सुमित्राजी अपनेको इन्हींके जन्मसे पुत्रवती और बड़ी भाग्यवान् मानती हैं—**'भूरि भाग भाजन भयहु मोहि समेत बलि जाउँ। जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छल कीन्ह रामपद ठाउँ ॥** अ० ७४ ॥ **'पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई ॥'** उन्होंने लक्ष्मणजीसे यहाँतक कहा है कि मैं तुम्हें अपना पुत्र तब जानूँगी जब तुम राम-सेवामें सरस निकलोगे। यथा गीतावल्याम्—**'सिय रघुबर सेवा सुचि होइहौ तब जानिहौं सही सुत मेरो'**।

लक्ष्मणजीको मानो वे अपना एकमात्र पुत्र मानती थीं तभी तो 'सौमित्र' और 'सुमित्रानन्दवर्द्धनः' ये दोनों शब्द केवल लक्ष्मणजीके लिये जहाँ-तहाँ सर्वत्र प्रयुक्त हुए हैं। वाल्मीकि, अध्यात्म, हनुमन्नाटक, मानस आदि कई ग्रन्थोंमें जहाँ-जहाँ ये शब्द आये हैं वहाँ उनसे 'लक्ष्मण' का ही अर्थ लिया जाता है। यथा—**'कथं वक्ष्याम्यहं त्वम्बां सुमित्रां पुत्रवत्सलाम्। उपालम्भं न शक्ष्यामि सोढुं दत्तं सुमित्रया ॥** वाल्मी० १०१ । १५-६ ॥', **'परित्यक्ष्याम्यहं प्राणान् वानराणां तु पश्यताम्। यदि पञ्चत्वमापन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥** (वाल्मी० ४८ । ७) ॥'

उपर्युक्त कारणोंसे 'एक कुमारा' कहा गया है। 'एक' शब्दके कई अर्थ हैं। उनमेंसे जो अर्थ यहाँ घटित हो वही लेना चाहिये। यथा—**'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा। साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते'** इति दिनकरी।

यदि 'एक' का अर्थ 'एकलौता' संख्यावाचक 'एक' लें तो इसको भी प्रलाप ही कहेंगे। पर 'एक' का अर्थ 'प्रधान' 'अद्वितीय' मानसमें ही बहुत ठौर आया है इससे यह अर्थ भी यहाँ लिया जा सकता है और उसमें शङ्काकी भी निवृत्ति हो जाती है। प्राचीन सभी टीकाकारोंने इसी अर्थको प्रधानता दी है।

पं० नारायणप्रसादमिश्रजी लिखते हैं कि—यद्यपि पायसांशानुसार सुमित्राजीके दो पुत्र हुए तथापि माता सुमित्राजीका प्रेम लक्ष्मणजीपर विशेष इस कारण था कि वे जैसा लक्ष्मणजीसे अपनेको पुत्रवती मानती थीं वैसा शत्रुघ्नजीसे नहीं। और वनवासके समय उन्होंने इस अपने गूढ़ रहस्यको लक्ष्मणजीसे स्पष्टाक्षरोंमें प्रकट भी बता दिया—**'भूरि भाग भाजन भयहु०'** इत्यादि। लक्ष्मणजी इसीलिये अपनी माताके नामसे विख्यात थे। इसी गूढ़ाभिप्रायको लक्ष्यमें रखकर गोस्वामिपाद प्रथम वन्दनामें लिखते हैं—**'कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर'**।...शत्रुघ्नजीके लिये कहीं भूलकर भी 'सौमित्रि' शब्दका प्रयोग नहीं किया। अतएव माताके उपर्युक्त भावको प्रकट करते हुए श्रीरामचन्द्रजीका लक्ष्मणजीके प्रति **'निज जननी के एक कुमारा'** कहना युक्तियुक्त और सामञ्जस्य ही है। असङ्गत एवं शङ्कास्पद कुछ भी नहीं है।

पं० चन्द्रिकाप्रसाद वाजपेयी, श्रीराममन्दिर, काशी (तु० प० ५ । १५) का मत है कि 'अपनी माताके जो एक ही कुमार, सो हे तात! उसके तुम प्राणके अवलम्ब हो।' यह शब्दार्थ है। उपर्युक्त चौपाईमें 'तासु' शब्दसे श्रीरामचन्द्रपर भावना नहीं घट सकती। कारण कि **'कबिहि अरथ आखर बल साँचा। अनुहर ताल गतिहि नट नाचा ॥'** अतएव श्रीरामसम्बन्धमें यह चौपाई लगाना ठीक न होगा, क्योंकि श्रीरामविलापमें सात प्रकरण हैं उसे देखना चाहिये।

प्रकरण १ **'उहाँ राम लछिमनहि निहारी'** से **'राम उठाइ अनुज उर लावा'** तक कविका वचन है। आगे प्रकरण २ **'सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ'** से **'उठहु न सुनि मम बच बिकलाई'** तक श्रीलक्ष्मणजीके सम्बन्धमें विलाप है। प्रकरण ३ **'जो जनतेउँ बन बंधु बिछोहू'** से **'मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता'** तक पिताके सम्बन्धका प्रलाप है। प्रकरण ४ **'जथा पंख बिनु खग अति दीना'** से **'जो जड़ दैव जिआवै मोही'** तक अपने ऊपर कहा है। प्रकरण ५ **'जैहौं अवध कवन मुँह लाई'** से **'सहिहि कठोर निठुर उर मोरा'** तक अवध नगरपर कथन है। प्रकरण ६ **'निज जननीके एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा ॥'** श्रीभरतजीपर कथन हुआ है। प्रकरण ७ **'सौंपेउ मोहि तोहि गहि पानी'** से **'उठि किन मोहि सिखावहु भाई'** तक।

छठा प्रकरण भरतजीपर है। श्रीलषनलालजीका भी वनगमन सुनकर वे अपनेको कैसा धिक्कारते हैं—'लालन जोग लषन लघु लोने। भे न भाइ अस अहहिं न होने॥ पुरजन प्रिय पितु मातु दुलारे। सिय रघुबीरहिं प्रान पिआरे॥ मृदुमूरति सुकुमार सुभाऊ। तात बाउ तन लाग न काऊ॥ ते बन सहहिं बिपति सब भाँती। निदरे कोटि कुलिस एहि छाती॥' अ० २०० (१-४)। अतएव लक्ष्मणजीपर उनका प्रेम जानकर श्रीरामजी कह रहे हैं कि श्रीभरतजी यदि यह दशा सुनेंगे तो अपने प्राणका अवलम्ब न देखते क्या नहीं करेंगे। लक्ष्मणजी भरतजीको प्राणप्रिय हैं यह और भी प्रसङ्गोंसे प्रमाणित होता है—वे हनुमान्‌जीसे पूछते हैं 'तात कुसल कहु सुखनिधान की। सहित अनुज अरु मातु जानकी॥' (लं० ५९)। फिर उत्तरकाण्डमें देखिये, जबतक हनुमान्‌जीने 'सीता अनुज सहित प्रभु आवत' नहीं कहा तबतक वे सुखी न हुए।

गौड़जी—'कथा प्रबंध बिचित्र बनाई' मानसकारने विचित्र रीतिसे चार कल्पोंकी कथाएँ एकमें गुम्फित की हैं। परात्पर परतम पुरुषोत्तमके अवतारमें कैकेयीके तीन संतानें हुईं, शान्ता, भरत और शत्रुघ्न। पुत्रोंके जन्मकालमें पहले श्रीकौसल्याजीके रामजी हुए; श्रीसुमित्राजीके लक्ष्मणजी और फिर श्रीकैकेयीजीके भरत और शत्रुघ्न। शान्ताके जन्मके प्रसङ्गमें तो मानसकार चुप हैं, रामचरितसे उसका सम्बन्ध अत्यन्त थोड़ा है। परंतु पुत्र-जन्म-प्रकरणमें मानसकारने जान-बूझकर शेष तीनों भाइयोंकी माताओंका निर्देश नहीं किया है। जन्म-प्रकरणमें न करते तो नामकरणके प्रसङ्गमें तो कह सकते थे कि किसके पुत्रका क्या नाम रक्खा गया। परंतु उन्होंने जान-बूझकर कुछ नहीं कहा। क्योंकि कल्पभेदका निदर्शन करना पड़ता और कथन-सौन्दर्य नष्ट हो जाता। अतः कहीं 'रामानुज', कहीं 'सौमित्रि', कहीं 'निज जननी के एक कुमारा' आदि कहकर इस कल्पकी जन्मकथाका निर्देश किया है। अन्य कल्पोंकी कथाएँ तो वाल्मीकि आदिके अनुरूप ही हैं। प्रस्तुत प्रसङ्गमें मेरे निजी मतसे 'एक' का वाच्यार्थ ही लेना यथार्थ है। भाव यह कि श्रीलषनलालजी अपनी माताके एक ही पुत्र हैं। एक शब्दके और कोई अर्थ लेना न केवल जटिलता है, प्रत्युत कथा-प्रसङ्गकी विचित्रता समझनेमें त्रुटिका परिचायक है। इसी तरह आगेका सौंपना भी व्याजसे कहा गया है। चलती बेर पहले कौसल्याजीसे फिर कैकेयीजीसे श्रीरघुनाथजी मिले हैं। श्रीसुमित्राजीके चरण छुये विना कैसे जाते? इस समय, अन्तिम विदामें, सुमित्राजीके सामने तीनों आये। सुमित्राजीने तभी लक्ष्मणजीको सरकारकी सेवाके लिये सौंपा। सुमित्राजीकी रामभक्ति विशिष्ट प्रकारकी है।

और भी अर्थ टीकाकारोंने किये हैं, पाठक स्वयं विचार देखें।—

१ मैं अपनी माताका एक हूँ और तुम उसके (मेरे) प्राणाधार हो।

२ मा० म०—(क) एक=ज्येष्ठ, बड़े। अर्थात् तुम बड़े पुत्र हो यद्यपि एक पुत्र और है परंतु तुम उसके प्राणाधार हो। पुनः, (ख) कौशल्याके हम एक ही पुत्र हैं तिसके प्राणके भी तुम आधार हो। एवं प्रकार दोनोंके प्राणके आधार तुम ही हो और तुम्हारी रक्षाके निमित्त तुमको मुझे सौंप दिया अतः तुम्हारी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है।

३ ☞ 'निज जननी के एक कुमारा' ठीक है, लक्ष्मणजी सुमित्राजीके एकलौते पुत्र हैं; भरत, शत्रुघ्न कैकेयीके पुत्र हैं। यह मत आनन्दरामायणका है।—पर मानस और गीतावलीका मत यह नहीं है, यथा—'लखि रिस भरेउ लषन लघु भाई। बरत अनल घृत आहुति पाई॥ अ० १९३॥', 'तात जाहु कपि सँग रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं। प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधि बस सुढर ढरे हैं॥ गी० १३॥'—ये वचन सुमित्राजीके हैं, वे जेठे पुत्रके घायल होनेपर अपने दूसरे पुत्रको जानेकी आज्ञा देती हैं। पुनः, यथा—'भेंटेउ बहुरि लषन लघु भाई। अ० १६५।', माता कौसल्याके पास जब भरतजी और शत्रुघ्नजी गये तब कविके ये वचन हैं। रामाज्ञा-प्रश्नसे भी इसीकी पुष्टि होती है। यथा—'सुमिरि सुमित्रा नाम जग जे तिय लेहिं सनेम। सुवन लषन रिपुदवन से पावहिं पतिपद प्रेम॥ ७। १८॥' इस विषयपर पूर्व विस्तृत लेख आ चुका है। पाठक वहीं देखें। रामरहस्योपनिषद्‌में भी शत्रुघ्नजीको सुमित्राजीका ही पुत्र कहा है। यथा—'द्विभुजं स्वर्णवर्णाभं रामसेवापरायणम्। लवणासुरहन्तारं सुमित्रातनयं भजे॥ अध्याय २। १०४॥'

सौंपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी। सब बिधि सुखद परम हित जानी॥ १५॥

उतरु काह दैहौं तेहि जाई। उठि किन मोहि सिखावहु भाई॥ १६॥

अर्थ—सब प्रकारसे सुख देनेवाले और परम हितकारी जानकर मुझे उसने तुम्हारा हाथ पकड़कर सौंपा था॥ १५॥ मैं उसे जाकर क्या उत्तर दूँगा! हे भाई! तुम उठकर मुझे सिखाते क्यों नहीं॥ १६॥*

पु० रा० कु०—'**सौंपेसि०**' इति। इससे सूचित हुआ कि जब रामजी वनको चले तब श्रीसुमित्राजीने हाथ पकड़कर लक्ष्मणको उनको सौंप दिया था। यद्यपि यह बात वहाँ नहीं कही तथापि यहाँके इस वाक्यसे योजना कर लेना कर्त्तव्य है। कविकी शैली है कि वे ग्रन्थमें आगे, वा पीछे, वा उसी जगह एक बार प्रसङ्ग कह देते हैं, बार-बार नहीं दुहराते। यथा—१ 'सियनिंदक अघ ओघ नसाये' यह उत्तरकाण्डका प्रसङ्ग बालमें कहा है। २—'रामानुज लघु रेख खचाई' यह अरण्यका प्रसङ्ग लङ्कामें कहा है। ३—बालकाण्डमें रावणका दिग्विजय कहते समय किसीसे हार नहीं कही। वह बात लङ्काकाण्डमें अङ्गद-रावण-संवादमें लिखकर जहाँ-तहाँ हार जना दी।

नोट—१ '**सब बिधि सुखद परम हित जानी**' इति। (क) यहाँ श्रीसुमित्राजीके '**तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥** अ० ७४। २॥' '**तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु रामसिय जासू॥** ७५। ७॥', '**राम प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सब ही के॥** ७४। ६॥' इन वचनोंपर लक्ष्य है।

(ख) भाव कि माताने यह समझकर साथ किया कि हमारे साथ तुमको सब प्रकार सुख रहेगा और तुम्हारी रक्षा भी होगी। मुझे धिक्कार है कि मैंने तुम्हारी रक्षा भी न की, तुम्हें लड़ने भेज दिया—

जैसे वचन लक्ष्मणजीसे सुमित्रा अम्बाजीने कहे, लगभग विश्वामित्रजीको सौंपते समय दशरथजीने भी ऐसे ही वचन कहे थे, यथा—'**तुम मुनि पिता आन नहिं कोऊ**' पर वहाँ दोनों सामने उपस्थित थे और सौंपा भी था, यथा—'**सौंपे भूप रिषिहि सुत०**'। और, यहाँ श्रीसुमित्राजीका रामजीके सामने आना ग्रन्थमें नहीं पाया जाता। इसपर एकका मत है कि भला वह कब बिना देखे रह सकती थीं और दूसरेका मत यह है कि वे कब यह वियोगदृश्य सहन कर सकती थीं कि आकर प्रिय श्रीरामजीको मुनिवेषसे वनको जाते देखतीं? दूसरे, यदि वे आकर फिर हाथ पकड़कर सौंपतीं तो उनके उपदेशके प्रतिकूल होता—'**तात तुम्हारि मातु बैदेही०**'। जब माता वैदेही हैं तब वे आकर इस तरह कैसे सौंपतीं? और किसी-किसीका मत है कि '**सौंपेसि मोहि०**', यह अम्बा कौसल्याजीकी ओर इशारा है कि उन्होंने तुमको मेरे सुपुर्द किया पर इसका भी कोई प्रमाण नहीं मिला। दूसरे, कौसल्याजीके सामने भी दोनों भाइयोंका एक साथ उपस्थित होना मानससे नहीं पाया जाता। हाँ! गीतावलीमें कौसल्याजीने हनुमान्‌जीद्वारा संदेशा भेजा है कि भाईको साथ लेकर आना। यथा—'**भेंट कहि कहिबो कह्यो यों कठिन मानस माय। लाल लोने लखन रहित सुललित लागत नाय॥ १४॥**' अर्थात् तुम्हारी शोभा उनके साथ ही है। पर यह संदेसा तो विलापके पीछे पहुँचेगा। रा० प्र० का मत है कि '**तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही**', यही हाथ पकड़ सौंपना है। प्रत्यक्ष हाथ पकड़ानेसे तात्पर्य नहीं।

एक महानुभाव कहते थे कि पद्मपुराणमें कथा है कि उर्मिलाजीने श्रीजानकीजीसे कहा था कि मैंने प्रण किया था कि जीवनपर्यन्त आपकी सेवा करूँगी पर मेरे प्राणनाथ आपके साथ जाते हैं, मेरे साथ जानेसे उनकी सेवामें त्रुटि पड़ेगी इससे मैं न जाऊँगी पर आप मेरे सौभाग्यकी रक्षा करें। यहाँ उसीकी ओर इशारा है कि उन्होंने सौंपा था, मैं क्या उत्तर दूँगा। इसी प्रकार और भी कुछका मत है कि यहाँ पाणिग्रहणकी चर्चाके साथ इशारा उर्मिलाजी और सीताजीकी ओर करके कहते हैं कि 'उतरु ताहि' अर्थात् जनकजीको या उर्मिलाजीको क्या उत्तर देंगे! इसपर गौड़जीने ठीक ही कहा है कि 'व्याख्या संगत है अवश्य, परन्तु पूर्व पदोंसे सम्बन्ध नहीं है।'

'प्रलाप' से तो यह कठिन शंका भी दूर हो जाती है। यदि इसे प्रलाप न लें तो रा० प्र० का समाधान किसी हदतक उत्तम जान पड़ता है।

* 'कथनम्बां सुमित्रां च पुत्रदर्शनलालसाम्॥ ८॥ विवत्सां वेपमानां च वेपन्तीं कुररीमिव। कथनाश्वासयिष्यामि यदि यास्यामि तं विना॥ ९॥ वाल्मी० ४९।' अर्थात् पुत्रके दर्शनकी लालायित सुमित्रा अम्बासे मैं क्या कहूँगा? अयोध्या जाकर पुत्र-रहित कुररीके समान काँपती हुई माताको मैं कैसे समझाऊँगा'?

पं० नारायणप्रसाद मिश्रजी भी लिखते हैं कि अयोध्याकाण्डमें जो 'तुलसी प्रभुहिं सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।' कहा है, उससे सुमित्राजीका लक्ष्मणजीको हाथ पकड़कर उपदेश, आज्ञा, आशीर्वादादि दानपूर्वक श्रीरामचन्द्र-जीकी सेवाके अर्थ समर्पण करना अथवा सौंपना स्पष्ट सिद्ध है। यहाँ 'प्रभुहिं' शब्द संप्रदान अर्थमें प्रयुक्त हुआ है और उसका अर्थ है 'प्रभुके लिये, प्रभुके निमित्त, प्रभुके अर्थ' आदि। यद्यपि यह प्रसंग श्रीरामचन्द्रजीकी अनुपस्थिति दशाका है तथापि सर्वान्तर्यामी होनेसे अपने हितकी, परोक्षमें हुई बातोंसे भी अपनेको आभारी मानते हुए वे उन्हीं बातोंको कृतज्ञता-पूर्वक नरनाट्य विलापके समय प्रकट करते हैं।—'करत सुरति सय बार हिए की'। कविने 'गहि पानी' का अर्थ छन्दमें उसी तरह गुप्त रखा है और श्रीरामविलापके प्रसंगमें स्पष्ट किया है, जिस प्रकार शृङ्गवेरपुर पहुँचकर गुह निषादराजको श्रीरामचन्द्रजीका हृदयसे लगा लेनेकी बात उस प्रसंगमें न कहकर वही बात भरतजीके प्रसंगमें देवताओंके मुखसे प्रकट कराई—'यहि तौ राम लाइ उर लीन्हा।' समस्त रामचरित-मानस व्यास-समास-रूपसे वर्णित है और इसीलिये कविने स्पष्ट कह दिया है कि 'जे गावहिं यह चरित सँभारे। ते यहि ताल चतुर रखवारे'।

बहु बिधि सोचत सोचबिमोचन। स्रवत सलिल राजिव दल लोचन॥ १७॥
उमा एक अखंड रघुराई। नर गति भगत कृपाल देखाई॥ १८॥

शब्दार्थ—एक=अकेला। अखंड=पूर्ण।

अर्थ—शोचके छुड़ानेवाले श्रीरघुनाथजी बहुत प्रकारसे सोच कर रहे हैं, उनके कमलदल-समान नेत्रोंसे जल (आँसू) गिर रहा है॥ १७॥ हे उमा! रघुराई श्रीरामचन्द्रजी एक (अद्वितीय) हैं, अखण्ड हैं; भक्तोंपर कृपा करनेवाले उन प्रभुने (प्राकृत) मनुष्योंकी दशा दिखायी है॥ १८॥

पु० रा० कु०—'बहु बिधि सोचत००' से प्रभुमें मायिकत्वका आरोप होता है अतः इसके निवारणार्थ आगे कहा कि 'उमा एक०'। ☞ यह कविकी शैली है कि जहाँ प्रभुकी लीलामें अधिक माधुर्य आ जाता है जिससे हृदयमें मोह उत्पन्न होनेका भय होता है, वहाँ तुरंत ही वे ऐश्वर्य प्रकट कर देते हैं। इसी भावसे यहाँ 'सोचत' कहकर 'सोच विमोचन' पद दिया है। भाव कि जो दूसरोंके शोक-मोहादिको छुड़ानेवाला है उसे स्वयं शोक कैसे सम्भव है?

नोट—१ 'एक अखंड'— 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत' (इति श्रुतिः)। एक भगवान्‌में मोह शोककी क्या कथा? लक्ष्मणजी भगवान्‌से भिन्न तो नहीं हैं, साथ ही उनके जीवनका अन्त भी नहीं हो सकता है? लक्ष्मणजी अंश नहीं प्रत्युत वही स्वयं हैं। 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ (ईश० शान्तिपाठ)। पूर्णसे पूर्ण निकाला, निकला भी पूर्ण, बचा भी पूर्ण। इस प्रकार अखण्ड भगवान्‌का न नाश हो सकता है न संयोग और वियोग। अतः 'अखण्ड' और 'एक' परमात्मामें शोक-मोह कहाँ। यहाँ तो मनुजलीला दिखा रहे हैं। भक्तपर किस दरजेकी कृपालुता इस अभिनयमें है। विशेष भाव बाल और अयोध्यामें लिखे जा चुके हैं।

२—'नरगति'। भाव कि मनुष्य इसी प्रकार शोकमें प्रलाप करते हैं।

३—'भगतकृपाल' पदसे जनाया कि यह विलाप उनका भक्तोंपर उनकी असीम कृपा दर्शित करनेके लिये हुआ है। इससे भक्तको विश्वास होगा कि प्रभु उनके दुःखमें कैसे दुःखी हो जाते हैं। यह बात हनु० ना० १३ एवं गीतावलीमें खूब दिखायी है। मूर्च्छा छूटनेपर श्रीरामजीके प्रश्नपर यह लक्ष्मणजीका उत्तर है कि मैं तो इस वेदनाको किंचित् मात्र ही जानता हूँ और भलीभाँति तो राघव ही जानते होंगे। कारण कि वेदना तो राघवको ही है, हम तो केवल घायल ही हैं यथा—

"ईषन्मात्रमहं वेद्मि स्फुटं यो वेत्ति राघवः। वेदना राघवेन्द्रस्य केवलं व्रणिनो वयम्॥ ३८॥"

"हृदय घाउ मेरे पीर रघुबीरै। पाइ सजीवन जागि कहत यों प्रेम पुलकि बिसराय सरीरै॥ १॥"

मोहि कहा बूझत पुनि पुनि जैसे पाठ अरथ चरचा कीरै। सोभा सुख छति लाहु भूप कहँ केवल कांति मोल हीरै॥ २॥ तुलसी सुनि सौमित्रि बचन सब धरि न सकत धीरौ-धीरै। उपमा रामलषनकी प्रीतिकी क्यों दीजै पीरैं नीरै॥ गी० लं० १५॥

वं० पा०—कृपालुने भक्ति दिखायी कि जो मुझे भजते हैं उनको मैं भी भजता हूँ।

वि० त्रि०—'उमा अखंड......देखाई' इति। सरकारकी इस प्रकारकी विकलताके वर्णनसे उमाको फिर संदेहका

उदय न हो, इसलिये शिवजी उनका सम्बोधन करके रामजीके ऐश्वर्य भावका स्मरण दिलाते हैं, और इस प्रकारके भाव-प्रदर्शनका कारण कहते हैं। रघुराई तो अखण्ड हैं अर्थात् पूर्ण हैं, और पूर्णात्मस्वभावका त्यागसे योग नहीं होता, अर्थात् कोई वस्तु उससे पृथक् नहीं होती, क्या मेघनाद, क्या लक्ष्मण, क्या शक्ति कोई उनके स्वरूपसे पृथक् नहीं है, वे एक हैं, देहादि भेदसे शून्य हैं। यहाँ शोकका कारण ही नहीं है। (यथा—**इहाँ शोक कर कारण नाहीं। रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं**) फिर भी जो इतनी विकलता दिखायी पड़ती है, वह नर भावका अभिनय मात्र है। उसे भी कृपालुने जगत्के कल्याणके लिये दिखाया कि भाईके प्रेमके सामने पितृप्रेम या स्त्रीप्रेमका दर्जा भी कम है। (यथा—**जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू। बरु अपजस सहतेउँ जग माहीं। नारि हानि बिसेष छति नाहीं**) बुद्धिके ऊपर भी प्रेमका विजय दिखलाया (यथा—**'प्रभु प्रलाप सुनि कान, बिकल भये वानरनिकर'**) जिस भक्तमें यह भाव है कि **'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतियाहू। धर्मनीति उपदेसिय ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही।'** उसके लिये सरकारके सारे नियम व्रत और सारी दृढ़ताके बही जाती-सी दिखायी पड़नेमें ही शोभा है।

नोट—४ **'बहु बिधि सोचत'**। इसमें वाल्मी० सर्ग १०१, १०२ और वाल्मी० ४९। ५—२३ तथा गीतावली आदि ग्रन्थोंमें, यहाँ लिखे हुएके अतिरिक्त जो अनेक प्रकारके शोकके वचन कहे हैं वे सब आ गये। यथा—ऐसे इष्ट बन्धु, नित्य हमारे सेवक और आज्ञाकारी लक्ष्मण आज हमारे ही अनीति और अनाड़ीपनसे इस दशाको प्राप्त हुए हो, बहुमूल्य शय्यापर सोनेयोग्य आज पृथ्वीपर-लेटे हो, हम सत्त्वहीन हो गये। इसलिये सुग्रीव! तुम सेनासहित लौट जाओ, नहीं तो रावण तुम्हारा निरादर करेगा। अब विजय और स्त्रीकी चाह हमें नहीं है। इत्यादि।

सोरठा—प्रभु प्रलाप सुनि कान बिकल भए बानर निकर।
आइ गएउ हनुमान जिमि करुना महँ बीररस॥ ६०॥

अर्थ—प्रभुका प्रलाप कानोंसे सुनकर वानरसमूह विकल हो गये। उसी समय हनुमान्‌जी ऐसे आ गये जैसे करुणामें वीररस आ गया हो॥ ६०॥

पु० रा० कु०—१ करुणाका स्थायी भाव शोक है सो रामसमेत सभी शोकमें मग्न हैं। उसी समय हनुमान्‌जी आये। उनको देख सबके मनमें उत्साह हुआ जो वीररसका स्थायी भाव है। पर्वतसहित हनुमान्‌जी और वीररस उपमेय-उपमान हैं। २—इससे यह भी जनाया कि यहाँतक करुणरस कहा, आगे वीररस कहेंगे। **'मनहु करुनरस कटकई उतरी अवध बजाइ। अ० ४६।'** देखिये।

नोट—१ सब वानर रोने लगे, शोक सबके हृदयमें समा गया, सबके मुख सूख रहे हैं, यह करुणरसका स्वरूप है। यथा**'मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं सोक न हृदय समाइ। मनहु करुनरस कटकई उतरी अवध बजाइ। अ० ४६'** 'विकल' से यह दशा जनायी। श्रीरामजीका सम्पूर्ण विलाप करुणरससे प्लावित है ही। उसमें वानरोंका विलाप भी मिलनेसे वह पूरा समाज करुणरसका स्वरूप हो गया। यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है। हनुमान्‌जी और वीररस उपमेय-उपमान हैं। वाल्मी० रा० में यही दशा नागपाश होनेपर सबकी दिखायी है, यथा—**'सर्वे ते वानरश्रेष्ठाः ससुग्रीवमहाबलाः। परिवार्य महात्मानौ तस्थुः शोकपरिप्लुताः। यु० ४९।'**

२—हनुमान्‌जी अर्धरात्रिके बाद ही आ पहुँचे। यथा—**'अद्रिं रुद्रावतारः प्रलयसमुदितद्वादशार्कानुकारं द्रोणं दोष्णा दधानः कटकनिकटतामागतोऽप्यर्धरात्रे। हनु० १३। ३१।'** अर्थात् प्रलयकालमें उदित हुए १२ सूर्योंका अनुकरण करनेवाले द्रोणपर्वतको भुजापर धारण किये हुए रुद्रावतार हनुमान्‌जी अर्द्धरात्रिमें कटकके निकट आये।

वं० पा०—इस दोहेभरमें प्रलाप-दशाकी प्रधानता है, इसीसे इस दोहेभरमें कई विपर्यय अर्थ आ पड़े हैं। प्रलापमें इन बातोंका विचार न करना चाहिये। जैसे किसीका अतिप्रिय मरणासन्न हो और वह पुरुष बेखबर (बेसुध) होकर रोवे तब यदि दूसरा कोई कहे कि यह क्या असत्य अशुद्ध विलाप करता है तो कहनेवालेकी ही अपंडिताई (मूर्खता) पायी जाती है। वैसे ही यहाँ कोई ईश्वरता कहे तो वह ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकरणमें कविने उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें

माधुर्यको मुख्य कहा। प्रलापदशा मनुषत्वमें ही घटती है ईश्वरत्वमें नहीं। प्रलाप, यथा भाषाभूषणे—'बिनु समुझे कछु बकि उठै कहिए ताहि प्रलाप। देह घटै मनमें बढ़ै विरह व्याधि संताप ॥'

प० प० प्र०—प्रलापकी बातें यदि सुसंगत हों तो प्रलाप शब्दकी वैयर्थकता ही सिद्ध होगी। प्रलाप=अनर्थकं वचः इत्यमरः। प्रयोजनशून्यस्य उन्मत्तादिवचनस्य (इति अमरव्याख्यासुधायाम्)। यहाँ प्रलाप शब्द देकर कविने यहाँके कुछ वचनोंकी अयथार्थता ही सूचित की है। और पण्डितों, पाठकोंको सचेत कर दिया है कि इन वचनोंकी असंगतिका निरास करनेका प्रयत्न करनेसे कुछ लाभ न होगा।

नं० प० का मत है कि 'बिलाप' पाठ जो कोदोरामजीकी प्रतिमें है वही गोस्वामीजीकी हस्तलिखित चौथी प्रतिका पाठ है जो सं० १९५२ में छपा। वे कहते हैं कि 'प्रलाप' का अर्थ है 'ऊँचे स्वरसे बोलना' जैसा 'एहि बिधि करत प्रलाप कलापा। आए अवध भरे परितापा ॥ २। ८६।' और 'सुनेउ न श्रवन अलीक प्रलापी।' इन उद्धरणोंसे सिद्ध है कि—'प्रलाप' का अर्थ यदि 'ऊँचे स्वरसे रोना' लें तो भी रोनेकी व्याकुलतामें बेसुध चित्त रहना स्वाभाविक है, जिससे उक्त बातोंमें हेर-फेर हो जाना ठीक ही है। अन्यथा करुणाकी पूर्णता ही नहीं समझी जायगी। अत्यन्त करुणा एवं विरहमें प्रलापकथन स्वाभाविक है (सि० ति०)।

वे० भू०—महर्षि जैमिनिने शङ्का-समाधान करनेका एक नियम लिखा है कि—'संदिग्धं तु वाक्यशेषात्' (मीमांसादर्शन) प्रकरणके अन्तिम वाक्यसे सन्देहकी निवृत्ति करनी चाहिये। इसीको दार्शनिकोंने स्पष्ट करनेके लिये नियम बनाया कि—'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये ॥' (अर्थमीमांसा) इस प्रकार उपक्रमोपसंहारादि नियमोंसे विचारनेपर लक्ष्मणमूर्च्छाजन्य रामप्रलाप सम्बन्धी शंकाओंका समाधान हो जाता है। यह तो मानस-प्रेमियोंसे अविदित है ही नहीं कि—'नटकृत कपट चरित रघुराया।', 'जस काछिय तस चाहिय नाचा।', 'कहहु करहु जस प्राकृत राजा।' 'प्रलाप' के उपक्रम (आरम्भ) में कहा गया कि—'उहाँ राम लछिमनहिं निहारी। बोले बचन मनुज अनुसारी।' उपसंहार (अन्त) में कहा गया कि—'उमा अखंड एक रघुराई। नरगति भगत कृपालु देखाई।' अपूर्वता तो स्पष्ट ही है कि प्रभु होकर प्रलाप करना।

फल (प्रलापके परिणाम) में कहा गया है कि—'स्रवत सलिल राजिवदल लोचन।', 'विकल भये बानर निकर।' 'उठहु न सुनि मम बच बिकलाई।', 'उठि किन मोहि सिखावहु भाई।' इत्यादि, मृतकसे सुनने और उठनेको कहना ही प्रभुके लिये अर्थवाद है।

प्रभु यहाँ प्रलाप कर रहे हैं। कारण नरगतिका प्रदर्शन करना है। वियोगजन्य या किसी प्रकारके दुःखमें भी मनुष्य जब विलाप करने लगता है तो शोक-वेग बढ़ते-बढ़ते वही विलाप-रोदन प्रलापके रूपमें परिणत हो जाता है। उस समय तो मुँहसे यथार्थ-अयथार्थ सब तरहकी बातें निकलने लगती हैं। वही दशा यहाँ है।

☞ 'बोले बचन मनुज अनुसारी' उपक्रम और 'नर गति भगत कृपाल देखाई' उपसंहार है।

हरषि राम भेटेउ हनुमाना। अति कृतज्ञ प्रभु परम सुजाना ॥ १ ॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्न होकर हनुमान्‌जीसे गले लगकर मिले क्योंकि प्रभु परम सुजान और अत्यन्त कृतज्ञ हैं ॥ १ ॥

नोट—'अतिकृतज्ञ' का भाव कि कृतज्ञ तो और भी हुए हैं। पर ये सबसे अधिक हैं। इनके समान कृतज्ञ पुरुष दूसरा नहीं है।—'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ'। कोई किंचित् भी उपकार क्या एक प्रणाममात्र करता है तो उसका इतना उपकार मानते हैं कि सिर नीचा कर लेते हैं कि हम इसका बदला दे नहीं सकते, यथा—'सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत कहत सुनत फिर गाउ—(वि०), 'सनमुख होइ न सकत मन मोरा।' पुनः अतिकृतज्ञ, यथा—'ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेये बपु बचन हिये हूँ। त्यों न राम सुकृतज्ञ जो सकुचत सकृत प्रनाम कियेहूँ। वि०।', 'कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति। न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया ॥ वाल्मी० अ० १ ॥

पु० रा० कु०—'अति कृतज्ञ प्रभु०' इति। भाव कि—(क) कृतज्ञ भी हो, पर सामर्थ्य न हो तो किस कामका। अतः कृतज्ञ कहकर 'प्रभु' कहा। वा, (ख) वे तो स्वयं समर्थ हैं। पर भक्त जो कुछ भी उनकी कृपासे करता है उसके

लिये भी वे कृतज्ञ ही होते हैं। (ग) 'परम सुजान' हैं, यथा—'जान सिरोमनि कोसलराऊ। १। २८।', नहीं तो कृतज्ञ न होते। कृतज्ञ हैं अतएव 'भेंटे'। हृदयसे लगाना कृतज्ञता सूचित करता है। यथा—'पवनतनय के चरित सुहाये। जामवंत रघुपतिहि सुनाए। सुनत कृपानिधि मन अति भाए। पुनि हनुमान हरषि हिय लाए। सुं० ३०।' 'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा॥' सुं० ३३॥'

☞ प्रायः जहाँ-तहाँ प्रणाम करनेपर ही 'भेंटना', हृदय लगाना, पाया जाता है, यथा—'परे सकल कपि चरनन्हि जाई'। सुं० २८ (८)''प्रीतिसहित सब भेंटे०' सुं० २९; 'चरन परेउ प्रेमाकुल' सुं० ३२''कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा।' सुं० ३३ (४); 'अस कहि परेउ चरन अकुलाई। कि० ३ (५)' 'तब रघुपति उठाइ उर लावा। कि० ३। ६।'

पर यहाँ लौटनेपर हनुमान्‌जीका प्रणाम नहीं कहा गया। इसका कारण यह है कि प्रभुने उन्हें प्रणाम करनेका अवसर ही न दिया। तुरंत उनको छातीसे लगा लिया—यह कृतज्ञताकी सीमा है।—सीता-शोधके बाद हनुमान्‌जीने लौटनेपर प्रणाम किया है। कारण कि वहाँ उस समय तक यह नहीं बताया गया कि इन्होंने कार्य किया है और यहाँ कार्य प्रत्यक्ष देखा है। ☞ अति कृतज्ञताका स्वरूप हनु० ना० एवं वाल्मी० उ० ४० में खूब दिखाया है, यथा—'एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे। प्रत्यक्षं क्रियमाणस्य शेषस्य ऋणिनो वयम्॥ अङ्गेष्वेव जरां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे। भवान् प्रत्युपकारार्थमापत्सु लभतां पदम्॥ हनु० १३। ३६।

अर्थात् हे वानर! प्रत्यक्ष तुम्हारे किये हुए एक-एक उपकारके अर्थ मैं प्राण-दान कर दूँ और बाकी तुम्हारे उपकार जो मुझपर हैं उनके हम ऋणी ही हैं (भाव कि हम प्रत्युपकार नहीं कर सकते)। आपके उपकार हमारे शरीरमें ही जीर्ण हो जायँ और आपके प्रत्युपकारके लिये आपत्तियोंमें स्थान न पावें (भाव कि तुमपर कभी आपत्ति ही न पड़े कि हम प्रत्युपकार करें)। पुनः मिलान कीजिये—'मारुतिं प्राह वत्साद्य त्वत्प्रसादान्महाकपे। निरामयं प्रपश्यामि लक्ष्मणं भ्रातरं मम। अ० रा० ७। ३९।' अर्थात् हे मारुति! तुम्हारी कृपासे आज मैं अपने भ्राताको नीरोग देख रहा हूँ कृतज्ञता कैसी! देखिये तो, प्रथम भेंटे तब ओषधि सेवन करायी गयी।

वि० त्रि०—अभी न तो ओषधि ली गयी, न कोई उपाय हुआ, न लक्ष्मणजी सचेत हुए, पर हनुमान्‌जीने जो कहा था, उसे कर दिखाया, अतः सुजान प्रभु हर्षित होकर मिले। संसारमें तो यही नियम देखनेमें आता है कि प्रभु लोग किसीके कृतज्ञ नहीं होते। 'राजामित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा।' यदि उनमें कृतज्ञता या गुणग्राहकता देखी जाय तो बड़ी बात है। किसीके प्राण दे देनेपर भी प्रभु लोगोंको यही धारणा होती है कि उसने अपना कर्तव्य पालन किया, यहाँ भाईके बिना स्वास्थ्य लाभ किये ही, उसे बिना गले लगाये ही हनुमान्‌जीसे हर्षित होकर मिलना प्रभुकी अति कृतज्ञता और सुजानताका द्योतक है।

तुरत बैद तब कीन्हि उपाई। उठि बैठे लछिमन हरषाई॥ २॥
हृदय लाइ प्रभु भेंटेउ भ्राता। हरषे सकल भालु कपि ब्राता॥ ३॥

शब्दार्थ—'ब्रात' (व्रात) = समुदाय, दल।

अर्थ—तब (हनुमान्‌जीके आते ही) तुरंत वैद्यने उपाय किया। लक्ष्मणजी प्रसन्न होकर उठ बैठे॥ २॥ प्रभु भाईको हृदयसे लगाकर मिले। सब कपिदल हर्षित हो गया॥ ३॥

नोट—१ 'तुरत बैद तब कीन्हि उपाई' इति। (क) उपायमें मत-भेद है। कोई ऋषि ओषधि पिसवाकर लेपन करना कहते हैं और कोई बूटीका नासमात्र देना लिखते हैं*। अतएव मानस-कविने यह पद देकर सब मतोंकी रक्षा

* आलेपितो हनुमता गिरिजौषधीभिर्मूर्च्छां विहाय सशरं धनुराददानः। रामारविन्दतरणिर्धरणीधरात्मा लंकापतेः कुपितकाल इवोपतस्थौ॥ ३७॥ हनु० १३। ३७।' ततः संक्षोदयित्वातामोषधीं वानरोत्तमः। लक्ष्मणस्य ददौ नस्तः सुषेणः सुमहाद्युतेः॥ ४३॥ सशल्यः स समाघ्राय लक्ष्मणः परवीरहा। विशल्यो विरुजः शीघ्रमुदतिष्ठन्महीतलात्॥ वाल्मी० १०१। ४४॥' अर्थात् हनुमान्‌जीद्वारा पर्वतकी ओषधियोंका लेपन किये जानेसे मूर्च्छाका परित्याग करके धनुषबाण धारण किये हुए, रामजीके मुखकमलके लिये सूर्यवत् शेषावतार

की है। (ख) 'तुरत' क्योंकि प्रभु बहुत व्याकुल हैं। यहाँ 'तीसरा सम' अलंकार है। २—'उठि बैठे लछिमन हरषाई' इति। 'हरषाई' का भाव कि—(क) जैसे कोई सुखकी नींद सोकर प्रसन्न उठता है वैसे उठे मानो कोई कष्ट था ही नहीं। (ख) वे पूर्वके वीररसमें पगे हुए उठे, मानो अभी उससे युद्ध कर ही रहे थे, उसे भागता देख कह रहे हैं कि खड़ा रह, खड़ा रह, कहाँ जाता है ? मैं तेरा अभी वध करता हूँ। यथा—'ततः सुप्तोत्थित इव बुद्ध्वा प्रोवाच लक्ष्मणः॥ ३७॥ **तिष्ठ तिष्ठ क्व गन्तासि हन्मीदानीं दशानन। इति ब्रुवन्तमालोक्य मूर्ध्न्यवघ्राय राघवः॥ ३८॥**' हनु० ना० के 'लंकापतेः **कुपितकाल इवोपतस्थौ।** १३। ३७।' और अ० रा० के दोनों भावोंका समावेश इसमें है।

३ (क) 'हृदय लाइ प्रभु भेटेउ भ्राता', यह परम प्रेमाकुलता जनाता है, यथा—'लिए सनेह बिकल उर लाई। **गै मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई।** अ० ४४।' वाल्मी० १०१। ४६ में लिखा है कि प्रभुने यह कहा कि 'लक्ष्मण! यहाँ आओ' और उनको प्रेमसे लपटा लिया, उनके नेत्र प्रेमाश्रुसे भर गये—'एह्येहीत्यब्रवीद् रामो लक्ष्मणं परवीरहा। सस्वजे **गाढमालिङ्ग्य बाष्पपर्याकुलेक्षणः॥'**

४ '**हरषे सकुल भालु०।**' 'हरषे' का भाव कि—(क) सब प्रसन्न होकर बड़े प्रेमसे साधु-साधु कह उनकी प्रशंसा करने लगे। यथा—'तमुत्थितं तु हरयो भूतलात्प्रेक्ष्य लक्ष्मणम्। साधु साध्विति सुप्रीता लक्ष्मणं प्रत्यपूजयन्॥ वाल्मी० १०१। ४५।' (ख) अब रणसागरके पार हुए इसमें सन्देह नहीं, यथा—'मुदित भालु कपि कटक लह्यो जनु समर **पयोनिधि पार॥** गी० ६। ९॥'

कपि पुनि बैद तहाँ पहुँचावा। जेहि बिधि तबहिं ताहि लै आवा॥ ४॥

अर्थ—हनुमान्‌जीने तब वैद्यको, जिस प्रकार पूर्व उन्हें ले आये थे उसी प्रकार, वहीं पहुँचा दिया॥ ४॥

नोट १ (क) तहाँ पहुँचावा' इति। 'तहाँ' से 'जहाँ' से ले आये थे', इस पदका अध्याहार कर लेना होगा। 'तहाँ' अर्थात् लङ्कामें, यथा—'लंका रह को पठई लेना'। (ख) 'जेहि बिधि' अर्थात् छोटा रूप धरकर, भवन समेत पहुँचाया। पूर्व कहा कि लघुरूप धारण किया, अब यहाँ 'कपि' शब्द देकर जनाया कि छोटे वानररूपसे गये थे। इसीसे यहाँ शब्द भी छोटा दिया। २ ☞ 'जामवंत कह बैद सुषेना।' ''धरि लघुरूप गयउ हनुमंता। ५४। ९-१०।' उपक्रम और **'कपि पुनि बैद०'** उपसंहार है।

'सुषेण'—सुषेणका प्रकरण वाल्मी० १०१ में आता है। परन्तु यह सुषेण भगवान्‌की सेनाका एक वानर है जो वैद्य विद्यामें दक्ष है। यह कहींसे लाया नहीं गया और न पहुँचाया जाता है। सर्गके आरम्भमें श्रीरामचन्द्रजीका लक्ष्मणजीको मूर्छित देखकर सुषेणसे सीधे विषादयुक्त वार्तालाप करना बिल्कुल स्वाभाविक है 'विसृजन्नेव बाणौघान् सुषेणमिदमब्रवीत्॥२॥' जान पड़ता है कि सुषेण वानरसेनाका वैद्य है। प्रभुके विलापपर वह आश्वासन देता है और समझता है कि लक्ष्मणजीके शरीरके लक्षण मृत्युके नहीं हैं, हृदयकी गति मौजूद है और श्वास भी चल रही है, केवल मूर्छा है। इतना कहकर पास ही उपस्थित हनुमान्‌जीसे सुषेण बोले कि आपसे वीर जाम्बवान्‌ने जिस ओषधिकी पूर्वमें चर्चा की थी शीघ्र जाकर पर्वतके दक्षिणसे लाइये। यहाँ न पर्वतका उल्लेख है न उसका पता बताया गया है क्योंकि सर्ग ७४ श्लोक २९–३४ में ये सब बातें विस्तारसे वर्णित हैं। पर्वतशिखरको लाकर हनुमान्‌जी सुषेणको हरिपुङ्गव कहकर सम्बोधन करते हैं और कवि स्वयं सुषेणको वानरश्रेष्ठ कहता है। फिर मेघनादवध होनेपर भी रामचन्द्रजीने समीपस्थित सुषेणसे कहा है कि जो घायल हैं सबको जिला दो। उन्होंने तुरंत परमौषधि सुँघाकर सबको अच्छा कर दिया। यह कथा वाल्मी० ९२ (२०–२३) में है। इन बातोंसे तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि वाल्मीकिके सुषेण वानरी सेनाके वैद्य हैं और श्रीरामचन्द्रजीके पक्षके वानर हैं जो सेनाके साथ बराबर मौजूद रहते हैं। परन्तु हनुमन्नाटक, गीतावली—(आन्यो सदनसहित सोवत ही जौलौं पलक परै न)

लक्ष्मणजी रावणके क्रोधितकालके समान उठ बैठे।—(हनु० १३)। वानरोत्तम महाद्युतिमान् सुषेणने उस ओषधिका चूर्ण बनाकर लक्ष्मणजीकी नासिकामें लगाया (सुँघाया); ओषधि सूँघते ही वे नीरोग हो उठ खड़े हुए।

हनुमन्नाटकमें द्रोणाचल लेने जानेके पूर्व ही सुषेण लङ्कामें पहुँचा दिये गये थे। अतः मानसका मत वाल्मी० के अनुसार जान पड़ता है।

और मानसके सुषेण लङ्कासे सुषुप्त अवस्थामें उठा लाये जाते हैं। ये रावणके वैद्य हैं और काम हो जानेपर फिर पहुँचा दिये जाते हैं। 'नीत्वा लंकां सुषेण०'—(हनु० १३ । २०) । इनपर जाम्बवन्त और रामचन्द्रजीका पूर्ण विश्वास है कि शत्रुके वैद्य होकर भी ये यथार्थ ही कहेंगे। सच्चे वैद्योंका यह शास्त्रप्रसिद्ध लक्षण है कि वे शत्रु हो या मित्र दोनोंको समान दृष्टिसे देखते हैं। सुषेण प्रसिद्ध वैद्यशिरोमणि हुए हैं। सुषेणसंहिता इन्हींकी बनायी कही जाती है।

लक्ष्मण-शक्ति-प्रसंग समाप्त हुआ।

"कुम्भकर्ण-बल-पौरुष-संहार प्रकरण"

यह बृत्तांत दसानन सुनेऊ। अति बिषाद पुनि पुनि सिर धुनेऊ॥ ५॥
ब्याकुल कुंभकरन पहिं आवा। बिबिध जतन कर ताहि जगावा॥ ६॥

शब्दार्थ—वृत्तान्त=बीती हुई बातका विवरण। समाचार, हाल।

अर्थ—यह हाल रावणने सुना। अत्यन्त विषाद (खेद, दुःख) से बारम्बार अपना सिर पीटने लगा॥ ५॥ व्याकुल (दशामें) कुम्भकर्णके पास आया और अनेक उपाय करके उसको जगाया॥ ६॥

नोट—१ (क) 'दसानन सुनेऊ' यथा—पूर्व—'उहाँ दूत एक मरम जनावा' तथा यहाँ गुप्तचरोंद्वारा सुना। 'अति बिषाद पुनि पुनि सिर धुनेऊ' इति। 'अति विषादका' स्वरूप और भाव यथा—'सुनि भये बिकल सकल नर नारी। बेलिबिटप जिमि देखि दवारी॥ जो जहँ सुनइ धुनइ सिरु सोई। बड़ बिषाद नहिं धीरज होई॥ मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं सोक न हृदय समाइ॥ अ० ४६॥'

यह कहकर जनाया कि रावण जीवनसे निराश होने लगा, उसका धैर्य जाता रहा, मुँह सूख गया। कुम्भकर्णने आगे कहा ही है—'काहे तव मुख रहेउ सुखाई' इत्यादि। पुनः (ख) भाव कि पुत्र और आधे कटकके नाशसे विषाद हुआ—'प्रथमहि तासु तनय कपि मारा। सो सुनि रावन भएउ दुखारा॥...'। और, अब शत्रुके जीवित हो जानेसे 'अति विषाद' हुआ। (ग) विषाद होनेका कारण भी है कि हमारे दलके इतने मरे कोई न जीवित हुआ, उधर एक लक्ष्मण मरे सो भी जी उठे और वह भी हमारे ही वैद्यद्वारा! हम जानते तो सुषेण वहाँ जाने ही न पाता। और अब तो वहाँ कोई मरेगा ही नहीं। (घ) जैसा अधिक भरोसा होता है वैसा ही अधिक दुःख। रावणको मेघनादके बलका एवं कालनेमिकी मायाका बड़ा भरोसा था, अतः 'अति विषाद' हुआ।

२ 'व्याकुल...आवा'। अति विषाद होनेसे अबतक धैर्य न हुआ, कुम्भकर्णके पास आनेतक व्याकुलता बनी हुई है। इससे यह भी जनाया कि उसे पूर्ण विश्वास है कि कुम्भकर्ण हमारी व्याकुलताकी एकमात्र ओषधि है, उसके बलपर पूर्ण भरोसा है—'कुंभकरन अस बंधु मम'। पुनः यथा—'भविष्यति न मे शोकः कुम्भकर्णे विबोधिते॥ वाल्मी० ६० । २०॥' वाल्मी० ६० (५-१२) में लिखा है कि रावण बड़ा दुखी होकर राक्षसोंसे कहने लगा कि—हमारा तप व्यर्थ हो गया, हम साधारण मनुष्यसे हार गये। ब्रह्माका वचन सत्य जान पड़ता है कि मनुष्यसे तुमको भय है। जान पड़ता है कि अनरण्यका शाप ही फल फलनेको रामजन्म हुआ है, एवं वेदवतीने जानकीरूपसे हमारे नाशके लिये जन्म लिया है और उमा, नन्दीश्वर, वरुणकी कन्या आदिके शाप ही आ उपस्थित हुए हैं। अब कुम्भकर्णको जगाना उचित है। गीतावलीसे भी 'अति विषाद' का यही भाव समर्थित होता है,—'तुलसीदास सुधि पाइ निसाचर भये मनहुँ बिनु प्रान'।

☞ वाल्मी०, अ० रा०, हनु०, इत्यादि कई ग्रन्थोंमें रावणका कुम्भकर्णके पास स्वयं जाना नहीं देखा जाता। मानसमें स्वयं जाना कहकर रावणकी अत्यन्त व्याकुलता और कुम्भकर्णपर अत्यन्त विश्वास प्रकट किया है।

३ 'बिबिध जतन करि ताहि जगावा' इति। 'जगावा' से जनाया कि सो रहा था 'बिबिध जतन करि' करिका भाव कि—(क) उसकी निद्रा पूरी नहीं हुई थी, वह हालहीमें सोया था। * (ख) देवमाया वा शापके कारण सोतेमें

* वाल्मी० १२ । २७-३४ में उल्लेख है कि जब वानर-सेना समुद्रके उत्तरतटपर थी और विभीषणजी रावणको उपदेश कर रहे थे उस दिन वह जागा हुआ था।

वह मृतकवत् रहता था इसीसे साधारणतया वह जाग न सकता था। उसके लिये विविध यत्न करने पड़े जिनका उल्लेख वाल्मी० ६० में २५ श्लोकोंमें है।

वाल्मी० ६१ में लिखा है कि ब्रह्माने उसे शाप दिया कि तुम आजसे मृतकके समान होकर बराबर सोते रहो। यथा—'**तस्मात्त्वमद्यप्रभृति मृतकल्पः शयिष्यसे ॥ २३ ॥**' रावणकी प्रार्थनापर ब्रह्माने जागने-सोनेका समय नियत कर दिया कि छः महीने सोकर एक दिन जागेगा फिर सो जायगा। मानसमें देवमायासे मोहित हो छः मास नींदका वर माँगना वर्णित है।

प्र० स्वामीजी कहते हैं कि श्रीएकनाथजीकृत मराठी भावार्थ रामायणमें रावणका कुम्भकर्णके पास जाकर जगाना बड़ी रोचकता, हास्यरस तथा विस्तारपूर्वक लिखा है।

जागा निसिचर देखिअ कैसा। मानहु कालु देह धरि बैसा ॥ ७ ॥
कुंभकरन बूझा कहु भाई। काहे तव मुख रहेउ सुखाई ॥ ८ ॥

अर्थ—निशाचर कुम्भकर्ण जागा। वह कैसा दीखता है मानो काल ही निशिचर-शरीर धारण करके बैठा है (अर्थात् बड़ा विकराल भयंकर रूप था) ॥ ७ ॥ कुम्भकर्णने पूछा—हे भाई! तुम्हारा मुख क्यों सूख रहा है? ॥ ८ ॥

नोट—१ 'जागा''मानहु काल' इति। मिलान कीजिये—'**रूपमुत्तिष्ठतस्तस्य कुम्भकर्णस्य तद्बभौ। युगान्ते सर्वभूतानि कालस्येव दिधक्षतः ॥ ६० ॥ तस्य दीप्ताग्निसदृशे विद्युत्सदृशवर्चसी। ददृशाते महानेत्रे दीप्ताविव महाग्रहौ ॥** वाल्मी० ६० । ६१।' अर्थात् उठते हुए कुम्भकर्णका रूप युगान्तमें सब प्राणियोंको भस्म करते हुए कालका-सा दिखायी दिया। अग्निकी दीप्तिके समान प्रकाशित बिजलीके समान तेजस्वी उसके नेत्र ग्रहोंके समान दिखायी देते थे।

नोट—२ '**काहे तव मुख रहेउ सुखाई**'। इति। पूर्व कह आये हैं कि '**ब्याकुल कुंभकरन पहिं आवा**' वह व्याकुलता अभीतक मुँहपर छायी है। इसीसे मुख सूख गये हैं। ३—यहाँ 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है। क्योंकि काल किसीके सामने शरीर धारण करके नहीं बैठता।

कथा कही सब तेहिं अभिमानी। जेहि प्रकार सीता हरि आनी ॥ ९ ॥
तात कपिन्ह सब निसिचर मारे। महा महा जोधा संघारे ॥ १० ॥

अर्थ—अभिमानी रावणने अभिमानपूर्वक उससे सब कथा, जिस तरह सीताजीको हर लाया था, कही (फिर कहा) ॥ ९ ॥ हे तात! वानरोंने सब राक्षस मार डाले, बड़े विकट-विकट योद्धाओंका संहार कर डाला ॥ १० ॥

नोट—१ '**कथा कही सब तेहिं अभिमानी**' इति। (क) 'सब' अर्थात् विस्तारपूर्वक कही। शूर्पणखासे रामलक्ष्मणका परिहास और उसकी नाक कान काटे जानेसे लेकर जिस प्रकार सीताहरण किया वह सब कथा पूरी कही। शेष कथाएँ हनुमान्‌जीका आना, सेतुबंध आदि संक्षेपसे कहीं। (ख) 'अभिमानी' का भाव कि यदि मैं सीताहरण न करता तो मेरा मान कैसे रहता? मैंने अपनी बहिनका बदला लिया। (पं०)। २—'**तात कपिन्ह सब निसिचर मारे।**' इति। (क) रावण कुम्भकर्णको प्यारसे पुत्रवत् सम्बोधित करता है, कारण कि इससे अपना दुष्ट स्वार्थ सधना है। खलोंकी यह रीति ही है—'**नवनि नीच कै अति दुखदाई।**' (प० प० प्र०)। (ख) ये वचन दीनताके हैं। यह '**काहे तव मुख रहेउ सुखाई**' का उत्तर है। इस कथनका भाव यह है कि मुख्य-मुख्य सब निशिचर मारे गये और वानरोंका संहार न हुआ, इससे हम भयभीत हैं, भयसे हमारी यह दशा हो रही है इससे हमारी रक्षा करो, सबको आज ही वध करके हमें सुखी करो। यथा—'**ये राक्षसा मुख्यतमा हतास्ते वानरैर्युधि''॥ १६ ॥ तदेतद्भयमुत्पन्नं त्रायस्वेह महाबल। नाशय त्वमिमानद्य तदर्थं बोधितो भवान् ॥ १७ ॥** (वाल्मी० ६२)। ३—'महा महा जोधा' कहा क्योंकि धूम्राक्ष-हनुमान्-युद्ध पूरे सर्ग ५२ में वर्णित है, मायावी वज्रदंत-अङ्गद-युद्ध ५३, ५४ दो सर्गोंमें है और प्रहस्त वानरोंका युद्ध ५८, ५९ दो सर्गोंमें है।

दुर्मुख सुररिपु मनुज अहारी। भट अतिकाय अकंपन भारी ॥ ११ ॥
अपर महोदर आदिक बीरा। परे समर महि सब रनधीरा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—अपर=और, दूसरे। परे=गिरे, मारे गये।

अर्थ—दुर्मुख, देवशत्रु (देवान्तक), मनुष्यभक्षक (नरान्तक), भारी योद्धा अतिकाय और अकंपन, और भी महोदर आदि रणधीर वीर सभी रणभूमिमें मारे गये॥ ११-१२॥

नोट—१ **'महा महा जोधा संघारे'** जो कहा था उन्हींका अब नाम बताता है। ये सब बड़े वीर थे। वाल्मीकीयमें इनके युद्ध विस्तृततरूपसे वर्णित हैं। अ० रा० में 'देवशत्रु' और 'नरान्तक' नाम जो आये हैं वे ही यहाँ 'सुररिपु' और 'मनुजअहारी' हैं। यथा—(अ० रा० ५) **'अतिकायः प्रहस्तश्च महानादमहोदरौ॥ ७९॥ देवशत्रुर्निकुम्भश्च देवान्तकनरान्तकौ। अपरे बलिनः सर्वे ययुर्युद्धाय वानरैः॥ ८०॥'''रामेण निहताः केचित्सुग्रीवेण तथापरे। हनूमता चाङ्गदेन लक्ष्मणेन महात्मना॥ ८४॥ यूथपैर्वानराणां ते निहताः सर्वराक्षसाः॥ ८५॥'** ये प्रथम युद्धहीमें काम आये। अकम्पन बड़ा मायावी था—**'अनिप अकंपन अरु अतिकाया। बिचलित सेन कीन्हि इन्ह माया'**॥ अकम्पन-हनुमान्-युद्ध वाल्मी० ५५, ५६ में है। महोदर-सुग्रीव-युद्ध वाल्मी० ९८ में है। प्रहस्तके मन्त्री नरान्तकको द्विविदने मारा (वाल्मी० ५८)।

२ (क) पूर्व कहा कि वानरोंने सेनाओं—योद्धाओंको मारा। फिर कुछ नाम गिनाये। अन्तमें कहा कि **'परे समर महि सब रनधीरा'** इससे जो श्रीरामलक्ष्मणद्वारा मरे उनकी गणना हो गयी। (ख) **'समरमहि परे'** का भाव कि वे रणधीर थे, पैर पीछे हटानेवाले न थे, इसीसे इन्होंने उनसे सम्मुख युद्ध किया; पर सब मारे गये। इन सबोंके नाम गिनानेमें, अपना दुखड़ा रोनेमें रावणका आन्तरिक अभिप्राय कुम्भकर्णको युद्धके लिये उत्तेजित करनेका था—इस तरह यहाँ 'गूढ़ोत्तर अलंकार' है।

पं०—**'परे समर महि'** में यह भी भाव है कि इतने राक्षस मरे कि उठाना असम्भव था, वे जहाँ-के-तहाँ पड़े ही रह गये।

दो०—सुनि दसकंधर बचन तब कुंभकरन बिलखान।
जगदंबा हरि आनि अब सठ चाहत कल्यान॥ ६१॥

अर्थ—तब रावणके वचन सुनकर कुम्भकर्ण बहुत दुखी हुआ कि 'शठ! जगज्जननी श्रीसीताजीको हर लाकर अब कल्याणकी इच्छा करता है! (भाव कि अब कल्याण नहीं है।)॥ ६१॥

पं०—बिलखनेका कारण—१ महोदरादिकका वध। २ राक्षसकुलका नाश देखकर भी बोध न हुआ। ३ जिनकी अनुकूलतासे कल्याण होता—(**सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्**)—उन्हींके प्रतिकूल है अतएव कुलमात्रका नाश अनिवार्य है। (इसीसे शठ कहा)।

(नारदजीने जो ज्ञान दिया था उसको स्मरण करके भी बिलखना सम्भव है यह समझकर कि होनहार प्रबल है। यथा—**'सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।'** ☞ मन्दोदरी, विभीषणादि सबने रामका जगत्पति होना कहा और इसने 'सीताजी' का जगज्जननी होना भी बता दिया।)

प० प० प्र०—'जगदंबा''' ये वचन कुम्भकर्णने बिलखनेमें मनमें ही कहा है यह 'चाहत' शब्दसे स्पष्ट है, अन्यथा 'चाहसि' पद आवश्यक होता। पूर्व डाँटा था, अतः 'सठ' शब्दका प्रयोग किया ऐसा कहना भ्रमजनित कल्पना मात्र है।

भल न कीन्ह तैं निसिचरनाहा। अब मोहि आइ जगाएहि काहा॥ १॥
अजहूँ तात त्यागि अभिमाना। भजहु राम होइहि कल्याना॥ २॥

अर्थ—हे निशिचरराज! तुमने अच्छा न किया। अब आकर मुझे क्यों जगाया है?॥ १॥ हे तात! अब भी अभिमान छोड़कर श्रीरामजीका भजन करो तो भी कल्याण होगा॥ २॥

नोट—१ अब क्यों जगाया? इसका भाव कि सीताहरणके पूर्व जगाता और सलाह पूछता तो मैं रोक देता, कुलका नाश बच जाता। ये तुम्हारे सब कर्म अयोग्य हुए हैं। यथा—**'यदा तु रामस्य सलक्ष्मणस्य प्रसह्य सीता खलु सा इहाहृता।**

सकृत्समीक्ष्यैव सुनिश्चितं तदा भजेत चित्तं यमुनेव यामुनम् ॥ २८ ॥ सर्वमेतन्महाराज कृतमप्रतिमं तव । विधीयेत सहास्माभिरादावेवास्य कर्मणः ॥ २९ ॥ वाल्मी० १२ ॥' अर्थात् जब राम-लक्ष्मणकी सीता तुम हरकर लाये थे, तभी हम सबसे पूछकर इसका विचार करते, जैसे यमुना पहलेसे ही अपने हृदका सेवन करती हैं। हे महाराज ! ये सब कर्म तुम्हारे अयोग्य हुए हैं, यदि इनके करनेके पूर्व ही तुमने हमसे पूछा होता तो हम रोक देते।

२—'अजहूँ तात त्यागि अभिमाना।···' इति। (क) उपदेश नम्र वचनसे लगता है इससे भजनका उपदेश करनेमें 'तात' सम्बोधन दिया और पूर्व उसकी मूर्खतापर विलखकर 'सठ' 'तैं' आदि शब्दोंका प्रयोग किया था। (ख) अभिमान है, यथा—'कथा कही सब तेहिं अभिमानी।' अतः उसका त्याग कहा। ५५ (७) देखिये। पुनः भाव कि अहं बुद्धि और बलके गर्वसे तुमने परिणाम न विचारा, नहीं तो विभीषणके सिखावनका निरादर न करते। यथा—**प्रथमं वै महाराज कृत्यमेतदचिन्तितम्। केवलं वीर्यदर्पेण नानुबन्धो विचारितः।** वाल्मी० ६३। ४···**यदुक्तमिह ते पूर्वं प्रियया मेऽनुजेन च। तदेव नो हितं वाक्यं यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २१ ॥**' (ग) 'भजहु राम होइहि कल्याना'। यथा—'**राम भजे हित नाथ तुम्हारा**। ५। ४१। ८।' (घ) 'अजहूँ' अर्थात् अब भी कुछ बिगड़ा नहीं, इतनी हानि हुई सो हुई, आगे तो न हो। इतनी शत्रुता बढ़ जानेपर भी भजन करनेसे कल्याण ही होगा। वे प्रसन्न हो जावेंगे। यथा—'**त्यज वैरं भजस्वाद्य मायामानुषविग्रहम्। भजतो भक्तिभावेन प्रसीदति रघूत्तमः** ॥ अ० रा० ७। ६६ ॥'

हैं दससीस मनुज रघुनायक। जा के हनूमान से पायक ॥ ३ ॥
अहह बंधु तैं कीन्हि खोटाई। प्रथमहि मोहि न सुनाएहि आई ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—पायक=(सं० पादातिक, पायिक) धावन, दूत, हरकारा—सेवक, अनुचर। खोटाई=खोटा (बुरा, नीच) काम, कपट, छल, बुराई।

अर्थ—हे दशशीश ! जिनके हनुमान्-सरीखे दूत और सेवक हैं, क्या वे रघुनायक मनुष्य हैं ? ॥ ३ ॥ अहह (खेद है, कष्ट है) ! हे भाई ! तूने बुरा किया कि पहले ही आकर मुझसे यह बात न सुनायी ॥ ४ ॥

नोट—१ श्रीरामचन्द्रजीका मनुष्य होना काकुसे नहीं करना 'काकुक्षिप्त गुणीभूत व्यंग' है कि वे ईश्वर हैं। (वीर)। '**हैं दससीस**···' इति। यथा—'**लङ्घनं च समुद्रस्य दर्शनं च हनूमतः। वधं च रक्षसां युद्धे कः कुर्यान्मानुषो भुवि** ॥ वाल्मी० ३४। २२ ॥' अर्थात् समुद्रको लाँघकर आये हुए हनुमान्का दर्शन तुम कर चुके हो, तथा जिस प्रकार उन्होंने राक्षसोंका वध किया है वह भी तुमने देखा है। क्या मनुष्य ऐसा कर्म कर सकेगा ?

पं०—यहाँ हनुमान्जीका ही नाम लिया; क्योंकि रावण और मेघनाद भी उनका लोहा मान गये। जो दुष्कर्म इन्होंने किये वे आज लङ्कामें घर-घर सब गाते हैं। अन्तिम दुर्गम रामकार्य द्रोणपर्वत ही उखाड़ लाना तो अभी अभी हुआ है जिससे रावण अत्यन्त विषादयुक्त है।—(क्या खोटाई की और क्या लाभ होता, यह आगे स्वयं कहता है।)

कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहि देवक। सिव बिरंचि सुर जाके सेवक ॥ ५ ॥
नारद मुनि मोहि ग्यान जो कहा। कहतेउँ तोहि समय निरवहा* ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—देवक=देवका। यह मिथिला भाषा है (रा० प्र०)। निरवहना=अच्छी तरह बह जाना, निकल या बीत जाना।

अर्थ—हे प्रभो ! तुमने उस देवतासे विरोध किया जिसके शिव, ब्रह्मादि देवता सेवक हैं ॥ ५ ॥ नारदमुनिने जो मुझसे ज्ञान कहा था वह मैं तुमसे कहता (पर) अब समय जाता रहा ॥ ६ ॥

नोट—१ '**कीन्हेहु प्रभु बिरोध०**' इति। अर्थात् ब्रह्मा और शिवजीके स्वामीसे वैर करके सुखकी चाह करना मूर्खता है; जिसके दुर्भाग्यका उदय होगा वही उनसे वैर करेगा। यथा—'**जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी** ॥ उ० १०५ ॥' अतः उनसे विरोध न करना चाहिये था, यथा—'**सिव बिरंचि जेहि सेवहिं तासों कवन बिरोध**। ४७।

* निर्वहा—(भा० दा०)। निरवहा—(का०)।

वि० त्रि०—कुम्भकर्ण कहता है कि जन्मसे तुम्हारा स्वभाव परद्रोह करनेका है, (यथा—'**आजन्म ते पर द्रोह रत पापौघमय तव तनु अयम्**') किन्नर, देव, मनुज, खग, नाग, सबके पीछे तुम पड़े रहते हो, सबसे तुमने विरोध किया। विरोध करते-करते तुम्हारा मन इतना बढ़ गया कि शिव, विरंचि जिसके सेवक हैं उनसे विरोध कर लिया। 'शिव-विरंचि' कहनेका भाव यह कि इन्हींका तुम्हें भरोसा है, इन्हींके प्रसादसे तुम्हारी सर्वत्र विजय है और इतनी विभूति है। 'इसने स्वामीसे विरोध किया है', यह जानकर क्या शिव-विरंचि तुमसे प्रसन्न होंगे ? वे सेवाधर्मका आश्रयण करके किसी-न-किसी रूपसे स्वामीकी सेवा करेंगे, तुम्हारे संहारके कारण होंगे। तुम प्रभु होकर ऐसा काम कर बैठे कि अब निशिचरकुलकी रक्षा हो नहीं सकती।

नोट—२ '**नारद मुनि मोहि ज्ञान जो कहा**' इति। अ० रा० ७। ५९–६५ में उसने रावणसे कहा है कि एक बार मैं विशाला नामक नगरमें रातमें ठहरा हुआ था। उस समय दिव्यदर्शन साक्षात् नारद मुनि दिखायी दिये। मैंने पूछा कि हे महाभाग ! आप कहाँसे आ रहे हैं, कहिये। नारदजी, जो देवताओंकी सलाहवाली सभामें उपस्थित थे और वहींसे आ रहे थे, बोले कि उस देव-समाजमें जो वृत्तान्त उत्पन्न हुआ वह मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो। तुम दोनोंसे पीड़ित होकर देवता विष्णुके पास गये और उनसे प्रार्थना की कि आप रावणका वध, मनुष्यरूप धारण करके कीजिये। देवताओंकी विनती स्वीकार कर वे राम-नामसे रघुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं और तुम सब राक्षसोंका वध करेंगे। यह कहकर नारद चले गये। अतएव हे रावण ! तुम रामको परब्रह्म सनातन जानो।' यथा—'**एकदाहं वने सानौ विशालायां स्थितो निशि। दृष्टो मया मुनिः साक्षान्नारदो दिव्यदर्शनः॥ तमब्रुवं महाभाग कुतो गन्तासि मे वद। इत्युक्तो नारदः प्राह देवानां मन्त्रणे स्थितः॥ तत्रोत्पन्नमुदन्तं ते वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः। युवाभ्यां पीडिता देवाः सर्वे विष्णुमुपागताः॥**'''**जातो रघुकुले देवो राम इत्यभिविश्रुतः। स हनिष्यति वः सर्वानित्युक्त्वा प्रययौ मुनिः। अतो जानीहि रामं त्वं परं ब्रह्म सनातनम्॥ अ० रा० ७।५९–६५॥**' रा० प० एवं बं० पा० लिखते हैं कि नारदजीने यह बताया था कि जब छः मासकी नींद पूरी होनेके पहले ही तुम जगाये जाओगे, तब समझ लेना कि तुम्हारा सबका नाश होगा।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'नारदजीने एकान्तमें रावणसे भी सब मर्म कहा है पर यह बात कुम्भकर्णको विदित नहीं है। नारदजीकी सलाहके अनुसार ही प्रभुके हाथ मरकर वैकुण्ठनिवास-प्राप्तिके लिये, जान-बूझकर ही रावणने सीताहरणरूपी अमोघ उपाय किया है। ३। २३ (७) '**चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ।**''' देखिये। भावार्थ-रामायण तथा अ० रा० में रावणने मन्दोदरीसे एकान्तमें यह सब कहा है।'

श्रीरामचरितमानसके रावण और अ० रा० के रावणमें फिर भी बहुत अन्तर है।

३—'**समय निरबहा**'। (क) बं० पा०—भाव कि यह बात सीताहरणके पूर्व ही कहनेकी थी, अब उसके कहनेका कुछ फल नहीं, क्योंकि छः मासके पहिले ही मुझे तुमने जगा दिया; देवर्षिका वाक्य असत्य नहीं हो सकता। (ख) रा० प०—पहिले कहा होता तो आज न मैं जगाया जाता, न नाश होता। अब कहनेसे तो नाश न रुकेगा।

प० प० प्र०—ज्ञानोपदेश करनेका अब समय नहीं है क्योंकि तुम व्याकुलचित्त हो और अभिमानसे भरे हुए हो। ऐसी दशामें ज्ञान कहनेसे कुछ लाभ न होगा; यथा—'**ममता रत सन ज्ञान कहानी। ५। ५८। ३।**', '**क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बए फल जथा॥ ५। ५८। ४॥**'

अब भरि अंक भेंटु मोहि भाई। लोचन सुफल करौं मैं जाई॥ ७॥
स्यामगात सरसीरुह लोचन। देखौं जाइ तापत्रयमोचन॥ ८॥

शब्दार्थ—अङ्क=अँकवार। अङ्क भरना=हृदयसे वा गलेसे लगाना, दोनों हाथोंसे घेरकर प्यारसे दबाना।

अर्थ—हे भाई ! अब गले लगकर मुझसे मिल ले, (अब तुम्हारी-हमारी भेंट फिर नहीं होनेकी, यह अन्तिम मिलाप है। अब मैं जीता नहीं लौटूँगा) मैं जाकर नेत्र सफल करूँ॥ ७॥ (दैहिक, दैविक, भौतिक) तीनों तापोंके नाश करनेवाले, श्यामल शरीर और कमल-नयन श्रीरामजीका जाकर दर्शन करूँ॥ ८॥

नोट—१—'**अब भरि अंक भेंटु०**' इति। (क) 'अब' का भाव कि जो हुआ सो हुआ, अब मैं युद्ध करने जाता

हूँ जहाँपर मुझे यह सब लाभ प्राप्त होंगे। 'अब' पदमें ध्वनिसे वाल्मी० ६३। २३–२५ और अ० रा० ८। १-२ का भाव भी निकलता है कि उपदेश सुनकर रावण क्रोधित हो बोला कि हमने क्या ज्ञान सिखानेके लिये तुझे जगाया है जो नीतिमार्गसे चलायमान होनेपर भी सहायता करे वही 'बन्धु' है? हमारी आज्ञा मान नहीं तो जाकर सो रह। तब कुम्भकर्ण बोला कि मैं जाकर अभी सबको मारता हूँ। और भाईसे मिलकर तथा परिक्रमा एवं प्रणाम करके चल दिया। यथा—**'भ्रातरं सम्परिष्वज्य कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्। प्रणम्य शिरसा तस्मै प्रतस्थे स महाबलः॥ ३२॥** वाल्मी० ६५॥' (प्र० सं०)। पुनः, भाव कि यद्यपि श्रीरघुनाथजीसे विरोध करनेमें ऐहिक लाभ न तुम्हारा है न मेरा, यह मैं नारद-वचनसे ठीक-ठीक जानता हूँ तथापि तुम्हारे समाधानके और अपने परम हितके लिये लघु बन्धु-धर्म समझकर मैं श्रीरामजीसे युद्ध करने जाऊँगा। अतः मुझसे गले लगकर मिल ले। (प० प० प्र०)। (ख) 'भाई' का भाव कि नीतिसे चलायमान होनेपर भी मैं 'भायप' निबाहूँगा। यथा—'स बन्धुर्योऽपनीतेषु साहाय्यायोपकल्पते। वाल्मी० ६३। २७।' अर्थात् भाई वही है जो अनीतिकारी बन्धुकी भी सहायता करे।

२—**'लोचन सुफल करौं'**—भाव कि रामजीके दर्शनसे नेत्र सुफल होते हैं, यथा—

सुतीक्ष्णजी—**'होइहहिं आजु सुफल मम लोचन। देखि बदन पंकज भवमोचन॥**

भुशुण्डिजी—**'निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सफल करउँ उरगारी॥**

मारीच—**'आजु देखिहउँ परम सनेही। निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहउँ॥ ३। २६॥'**

इस समय कुम्भकर्णके मनमें दर्शन करनेकी लालसा आते ही प्रभुके रूपका ध्यान और गुणोंका स्मरण हो आया। वह भाईपना निबाहनेके लिये तो चला पर उसने श्रीरामजीमें अपना प्रेम प्रकट कर दिया। मारीचने अपने हृदयका प्रेम रावणपर प्रकट नहीं किया था। यथा—**'चला राम पद प्रेम अभंगा। मन अति हरष जनाव न तेही॥ ३। २६॥'** कुम्भकर्णने अपने हृदयका भाव प्रकट कर दिया। इसीसे उस ज्ञानको नष्ट करनेके लिये रावणने तुरंत उसे मदिरा पिलायी।

३—**'स्यामगात सरसीरुह लोचन०'** इति। श्याम शरीर और कमलसमान नेत्र दोनों ही त्रयतापके नाशक हैं, यथा—**'भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। स्यामलगात प्रनत भयमोचन॥** सुं० ४५। ४॥' और मं० श्लो० १ 'बन्दे कन्दावदातं' देखिये।

दोहा—रामरूप गुन सुमिरत मगन भएउ छन एक। रावन माँगेउ कोटि घट मद अरु महिष अनेक॥ ६२॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके रूप और गुणोंको स्मरण करते हुए वह मग्न हो गया। रावणने करोड़ों घड़े मदिरा और अगणित भैंसे मँगाये॥ ६२॥

नोट—१ रावणने सोचा कि इसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है, कहीं ऐसा न हो कि यह युद्ध करने न जाय अथवा कहीं शत्रुसे न जा मिले, अतः उसका ज्ञान नष्ट करनेके लिये यह उपाय रचा।* मांस-मदिरा ज्ञानका नाशक होगा, यह समझकर इन्हें रावणने मँगाया।

२—'अनेक'। वाल्मीकिमें इसका बड़ा भारी वर्णन है वह सब 'अनेक' से जना दिया है।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'यह भाव संदर्भ-विरोधी है। मांस-मदिरा आकण्ठ सेवन करनेपर भी उसका ज्ञान नष्ट नहीं हुआ यह कुम्भकर्ण-विभीषण-संवादमें स्पष्ट प्रतीत होता है। जो उसने विभीषणसे कहा है वे बातें उन्मत्त दशामें कहना असम्भव है।' पर मेरी समझमें तो रावणने इसी भावसे मदिरा मँगायी, उसका पूर्ण प्रभाव पड़ा या न पड़ा यह दूसरी बात है। जिन लोगोंका शराबियोंका सङ्ग हुआ है वे जानते हैं कि अच्छे शराबीको उसका नशा कुछ देरमें आता

* १ पंजाबीजी अर्थ करते हैं कि फिर रावणका कार्य करनेके लिये उसने स्वयं रावणसे मदिरा और महिष माँगे। २—वीरकवि—कुम्भकर्णके शुद्ध विचारको पलटनेके लिये रावणका युक्तिसे ठगनेका काम करना जिसमें वह मदोन्मत्त होकर उसके वशमें आ जाय 'युक्ति अलंकार' है।

है। वैसे ही कुम्भकर्णको नशा तब होने लगा जब वह विभीषणसे बात कर चुका इसीसे तो उसने अन्तमें कहा कि **'जाहु न निज पर सूझ मोहि भयउँ काल बस बीर। ६३।'**

वि० त्रि०—**'स्यामगात सरसीरुह लोचन'** से रूपका स्मरण कहा, **'ताप त्रय मोचन'** से गुणका स्मरण कहा। यद्यपि **'अब भरि अंक भेंटु मोहि भाई'** कहकर कुम्भकर्णने युद्ध करना स्वीकार कर लिया, और नारदजीके वचनका स्मरण करके अपनी मृत्यु भी निश्चित मान ली, और रावणसे अन्तिम भेंटके लिये भी कह रहा है फिर भी उसे अन्तर प्रेम है, अतः क्षणभरके लिये मग्न हो गया। रावण जानते हैं कि इनका ज्ञान-ध्यान तभीतक है, जबतक महिष और मदिरा इनके सामने नहीं आती। बोतलसे कुम्भकर्णका क्या होनेवाला था अतः कोटिघट मदिराके लिये आज्ञा हुई। मद्यपानके बीच-बीचमें चिखना (गजक) की आवश्यकता होती है अतः अनेक महिष मँगाये गये।

महिष खाइ करि मदिरा पाना। गर्जा बज्राघात समाना॥ १॥
कुंभकरन दुर्मद रनरंगा। चला दुर्ग तजि सेन न संगा॥ २॥

शब्दार्थ—दुर्मद=उन्मत्त, नशेमें चूर, गर्वसे भरा हुआ। रनरंगा=लड़ाईका उत्साह रखनेवाला, रणमें प्रीतियुक्त, रणधीर।

अर्थ—भैंसे खा और मदिरा पीकर वह वज्रपात (गाज गिरनेके शब्द) के समान गर्जा॥ १॥ उन्मत्त, लड़ाईके उत्साहसे रणोत्सुक कुम्भकर्ण किला छोड़कर चला, सेना भी साथ न ली॥ २॥

नोट—१ 'रनरंगा' और 'सेन न संगा' पदोंसे वीर-रौद्र-रसपूर्ण और अपने बलसे बलवान् जनाया। इतना निर्भय योद्धा है कि सङ्ग लेनेवालोंको कायर समझता है। * विभीषणने श्रीरामजीसे कहा है कि और लोग वरसे बलवान् हैं, यह सहज ही बलवान् है। यथा—**'प्रकृत्या ह्येष तेजस्वी कुम्भकर्णो महाबलः। अन्येषां राक्षसेन्द्राणां वरदानकृतं बलम्॥ १२॥'** इसने यमराज और इन्द्रको कई बार हराया, ऐरावतका दाँत उखाड़ लिया, जब यह शूल लेकर खड़ा होता है तब काल ही जान पड़ता है, इत्यादि। वाल्मी० ६१ (९–१२) के सब भाव इन दोनों शब्दोंमें कविने कह दिये।

हनुमन्नाटकमें लिखा है कि कुम्भकर्णके उपदेश देनेपर जब रावण कुपित होकर बोला कि तुम्हारी भुजाओंके विस्तारसे क्या लाभ है। मेरी आज्ञा जब तुम्हारे प्रति शिथिल हो गयी तब तुम अपने शयनागारमें जाकर सो रहो; तब कुम्भकर्णने आश्वासन देते हुए कहा है—तुम शत्रुके शोकरूप शल्य (घाव) को त्याग दो। जिस समय क्रोध करके कुम्भकर्ण रणमें चलेगा उस समय काल क्या है, विधाता क्या है, शत्रुकुलका भय क्या है, यम क्या है और यमके गण भी क्या हैं तथा राम और कपीन्द्र क्या हैं?—**'कः कालः को विधाता किमरिकुलभयं को यमः के च याम्याः को रामः के कपीन्द्राश्चलति मयि रणे रोषिते कुम्भकर्णे॥** हनु० ११। २२॥' यह सब भी 'दुर्मद रनरंगा' में आ गया।

१—'चला' से जनाया कि पैदल चल दिया। यथा—**'स लङ्घयित्वा प्राकारं पद्भ्यां पर्वतसन्निभः।** वाल्मी० ६५।५३।'

मा० म०—कुम्भकर्णका सारा ज्ञान महिष और मदिराने समूल नाश कर दिया। जो मादक वस्तुओंका सेवन करते हुए श्रीरामचन्द्रजीमें प्रीति चाहे उसकी बड़ी भूल है।

देखि बिभीषन आगे आएउ। परेउ चरन निज नाम सुनाएउ॥ ३॥
अनुज उठाइ हृदय तेहिं लायो। रघुपति भगति† जानि मन भायो॥ ४॥

---

* 'विक्लवानां ह्यबुद्धीनां राज्ञां पण्डितमानिनाम्। रोचते तद्वचो नित्यं कथ्यमानं महोदर॥ वाल्मी० ६५। ५॥ युद्धे कापुरुषैर्नित्यं भवद्भिः प्रियवादिभिः। राजानमनुगच्छद्भिः सर्वंकृत्यं विनाशितम्॥ ६॥' अर्थात् हे महोदर! कायर और पण्डितमानी राजाओंको तुम्हारे वचन अच्छे लगेंगे, तुम्हारे समान कायर और प्रियवादी पुरुष जिस राजाके पास रहते हैं उनके सब कार्य नष्ट कर देते हैं। इत्यादि कह वह अकेला चल दिया और सेना सङ्ग न ली, यथा—'कुम्भकर्णो महातेजा रावणं वाक्यमब्रवीत्। गमिष्याम्यहमेकाकी तिष्ठत्विह बलं महत्॥ २१॥ अध्यात्म०'

† भगत—(का०), भक्त—(भा० दा०)

अर्थ—उसे देखकर विभीषणजी (मिलनेको) आगे आये और चरणोंपर पड़कर (दण्डवत् प्रणाम करके) अपना नाम बताया ॥ ३ ॥ छोटे भाईको उठाकर उसने हृदयसे लगा लिया, श्रीरघुनाथजीका भक्त जानकर वह मनको प्रिय लगा* ॥ ४ ॥

नोट—१ लङ्कासे श्रीरामजीकी शरणमें आते समय विभीषणजी अपनी माता और बड़े भाई कुबेरसे मिलकर तब यहाँ आये थे। कुम्भकर्ण भी बड़े भाई हैं और रामविमुख नहीं हैं; अतएव उससे मिलकर आशीर्वाद लेने आये। इसी तरह, पाण्डवोंने द्रोणाचार्य, भीष्मपितामहको युद्धके प्रारम्भमें प्रणाम किया है। यद्यपि वे स्वामिभक्तिके कारण शत्रुपक्षमें थे। जब विभीषणजी लङ्कासे चले थे तब वह सो रहा था; इससे भेंट न हुई थी। दूसरा कारण यह भी कहा जा सकता है कि विभीषणने सोचा कि सम्भवतः रावणने इससे मेरी निन्दा अवश्य की होगी कि विपत्ति आनेपर मुझे छोड़कर राज्यलोभसे वह शत्रुसे जा मिला और जाकर अपना तिलक भी करा लिया। यथा—'**मिलो विभीषणो न मोहि तोहि नेकहु डरयो**' (रा० चं० १८। ५), इत्यादि। अतः अपनेको निरपराध सिद्ध करने और वास्तविक वृत्तान्त बताकर उसका सन्देह मिटानेके लिये सुअवसर जान मिलने गये। श्रीमान् गौड़जी एक कारण और भी लिखते हैं। उन्हींके शब्दोंमें सुनिये—'अब कुम्भकर्णका मरणसमय है। लङ्कामें तो वह सभी भाई-बन्धु कुटुम्बियोंसे मिलकर चला है। एक बेचारा छोटा भाई विभीषण ही रह जाता है। इसलिये ग्रन्थकार गोसाईंजीने किसी-न-किसी मिससे सब भ्राताओंका मिलन वर्णन कर दिया है क्योंकि अब आगे मिलन होना असम्भव है।'—(विभीषणकुम्भकर्णका मिलन आ० रा०, अ० रा० इत्यादिमें भी है, केवल गोसाईंजीकी उक्ति नहीं है।) 'यदि विभीषणका मिलन कुम्भकर्णसे न होता तो रावणके कथनानुसार विभीषणपर पूरा-पूरा सन्देह रहता, जो मरनेके समय साथ ही मनमें चला जाता! अतः कुम्भकर्णका मोक्ष न होता। इससे दोनोंका मिलन कराके सन्देह मिटाकर कुम्भकर्णको मोक्षका अधिकारी बनाया।

'यद्यपि रामभक्त होने तथा भाईद्वारा घोर अपमानित होनेके कारण विभीषण रामकी शरणमें आया सही, पर आखिर था तो संसारी ही पुरुष! वैरविरोध होनेपर भी रावणकी मृत्युपर उसे महान् दुःख हुआ। बस, जब उसने सुना कि कुम्भकर्ण रघुनाथजीसे लड़ने आ रहा है तो यह समझकर कि यह अब यहाँसे जीवित तो जा नहीं सकता, भ्रातृस्नेहकी रस्सीमें बँधकर भाईसे जाकर मिलना विभीषण-जैसे कोमल हृदयवालेके लिये स्वाभाविक ही था। इसीलिये वह कुम्भकर्णसे जाकर मिला और सारा वृत्त कहकर अपनेको निर्दोष सिद्ध कर भाईके स्नेहरूपी प्रसादको पा श्रीरघुनाथजीके पास लौटा।

२—'**परेउ चरन निज नाम सुनाएउ**' इति। (क) '**परेउ**' से साष्टाङ्ग प्रणाम सूचित किया। बड़ोंको प्रणाम करते समय नाम बताना यह प्राचीन परिपाटी है, यथा—'**पितु समेत कहि कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा**'—[बा० २६९ (२) देखिये] (ख)—'**नाम सुनाएउ**' से जनाया कि इस समय वह मदमाता नशेमें चूर है, उसे कुछ सूझ नहीं पड़ता कि आगे-पीछे कौन है, यथा—'**जाहु न निज पर सूझ मोहि०**', इसीसे नाम कहकर सुनाया। विभीषणको वह जानता ही है अतः पिताका नाम बतानेकी आवश्यकता नहीं थी।—'**प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि ते दंड प्रनामू ॥ अ० २४२ ॥**' परिचितको नाम बतानेकी जरूरत नहीं, यथा—'**मिलन चलेउ हिय हरष अपारा। करि दंडवत भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागे**' (गुह अ० ८८), '**जनक बहोरि आइ सिरु नावा। १। २६९।**' (ग)—'**परेउ चरन**' से विभीषणका प्रेम भाईमें और '**अनुज उठाइ०**' से उसका प्रेम विभीषणपर, इस तरह परस्पर अन्योन्य प्रेम दिखाया।

(घ)—'**रघुपति भगत जानि मन भायउ**', यथा—'**धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भयउ तात निसिचर-कुलभूषन ॥ बंधुबंस तैं कीन्ह उजागर। भजेउ राम सोभा सुखसागर ॥**'

---

* मिलान कीजिये 'कुम्भकर्णं तदा दृष्ट्वा गदापाणिर्विभीषणः। ननाम चरणं तस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य बुद्धिमान् ॥ अ० रा० ६। ८। ९ ॥ विभीषणोऽहं भ्रातुर्मे दयां कुरु महामते। १०।...तच्छ्रुत्वा कुम्भकर्णोऽपि ज्ञात्वा भ्रातरमागतम्। समालिङ्ग्य च वत्स त्वं जीव रामपदाश्रयात् ॥ १३ ॥ कुलं संरक्षणार्थाय राक्षसानां हिताय च।' अर्थात् वहाँ कुम्भकर्णको देखकर विभीषणने प्रणाम किया और कहा कि मैं विभीषण हूँ, हे महामते! हे भ्राता! मुझपर दया कीजिये। यह सुनकर कुम्भकर्णने भी भाईको आया हुआ जानकर हृदयसे लगाकर आशीर्वाद दिया कि वत्स! रामचरणके आश्रित तुम कुलकी रक्षा और राक्षसोंके कल्याणके लिये चिरजीवी हो।

तात लात रावन मोहि मारा । कहत परम हित मंत्र विचारा ॥ ५ ॥
तेहि गलानि रघुपति पहिं आएउँ । देखि दीन प्रभु के मन भाएउँ ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—विचारा=विचार किया हुआ, विचारपूर्वक, (मन्त्रका) विचार ।

अर्थ—हे तात ! अत्यन्त हितकारी विचारपूर्वक सलाह कहनेपर रावणने मुझे लात मारी ॥ ५ ॥ उसी ग्लानिसे मैं श्रीरघुनाथजीके पास आया । दीन देखकर प्रभुका मन मुझपर प्रसन्न हुआ ॥ ६ ॥

नोट—१ 'परमहित मंत्र विचारा' इति । श्रीसीताजीको दे दो, श्रीसीताजी जगज्जननी और श्रीरामजी परात्पर ब्रह्म हैं । उनका भजन करो । ये 'परमहित' वचन हैं । यथा—'**सो भनु मनुज खाव हम भाई । बचन परम हित सुनत कठोरे ।**''**सीता देइ करहु पुनि प्रीती । ९ । ६-१० ।**' विभीषणने रावणसे कहा भी है कि '**राम भजे हित नाथ तुम्हारा**', '**सीता देहु राम कहँ**', इत्यादि । अतः ये वचन 'परम हित' हैं, क्योंकि लोक-परलोक दोनोंके बनानेवाले हैं । अ० रा० १ । ११ । १५०, अ० रा० ८ । १०-१२ में भी ऐसा ही है ।

२—'**तेहि गलानि रघुपति पहिं आएउँ**' इति । सुं० ४२ (४) देखिये । वाल्मी० १६ में विभीषणने रावणसे यही बात कही है, कि तुम बड़े हो, मान्य हो, पिताके समान हो, पर तुम धर्ममें स्थित नहीं हो, इससे हम यह तुम्हारा कठोर वचन नहीं सह सकते । काल-विवश मनुष्य सुन्दर नीति और हित वचन नहीं सुनते । यही भाव 'ग्लानि' का है । लात मारना, धिक्कारना, यह अपमान न सह सके । यथा—'**ज्येष्ठो मान्यः पितृसमो न च धर्मपथे स्थितः । इदं हि परुषं वाक्यं न क्षमाम्यग्रजस्य ते ॥ १९ ॥**' गीतावलीमें भी स्पष्ट 'गलानि' शब्द आया है । रावणके पाससे जब विभीषणजी माताके पास गये और लात मारनेकी बात कहकर कहा कि इसीसे मैंने रावणको छोड़ दिया अब श्रीरामजीके पास जाता हूँ तब उसने बहुत समझाया है, यथा—'**समाधान करति बिभीषन को बार बार कहा भयो तात लात मारे बड़ो भाई है । साहिब पितु समान जातुधान को तिलक ताके अपमान तेरी बड़ीए बड़ाई है ॥ गरत गलानि जानि सनमानि सिख देति, रोष किये दोष सहे समझे भलाई है ॥ गी० ५ । २६ ॥**' माताके इतना समझानेपर भी वह ग्लानि न गयी । इससे स्पष्ट है कि रावणके लात चलानेसे उनके चित्तको बहुत धक्का लगा, अभीतक उसको नहीं भूले ।

३ (क) 'देखि दीन प्रभुके मन भायउँ'; यथा—'**दीन वचन सुनि प्रभु मन भावा । भुज बिसाल गहि हृदय लगावा ॥ सुं० ४६ ॥**' '**नाथ दसानन कर मैं भ्राता**' से '**त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर । सुं० ४५ ।**' तक सब दीनता है । (ख) गृह, परिवार, कोश आदिसे रहित होकर आये, अतः 'दीन' कहा ।

४ 'भाएउ' पद कुम्भकर्ण और श्रीरामजी दोनोंके सम्बन्धमें लिखे हैं । यहाँ '**देखि दीन प्रभु के मन भाएउ**' कहा और इसके पूर्व कहा है कि '**रघुपति भगत जानि मन भाएउ**' । इससे दरसाया कि प्रभुको जो 'भाता' है, जिसे वे अङ्गीकार कर लेते हैं वह दूसरोंको भी 'भाने' लगता है । यथा—'**राम सुहाते तोहि जौं तू सबहि सुहातो । वि० १५१ ।**' पुनः, यहाँ यह भी बताया कि प्रभुको 'भाने' के लिये क्या उपाय है, वे किस बातसे रीझते हैं; वह बात 'दीनता' है । यथा—'**एहि देवान दिन दीन कनिगरे रीति सदा चलि आई । वि० १६५ ।**' पुनः, 'भाएउ' पद दोनों जगह देकर जनाया कि भक्त जैसा भगवान्‌को अच्छा लगता है, वैसा ही अन्य भक्तोंको भी अच्छा लगता है ।

सुनु सुत भएउ कालबस रावन । सो कि मान अब परम सिखावन ॥ ७ ॥
धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन । भएउ तात निसिचरकुलभूषन ॥ ८ ॥
बंधु बंस तैं * कीन्ह उजागर । भजेहु राम सोभासुखसागर ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—परम=उत्कृष्ट, उत्तम, जो सबसे बढ़कर हो ।

अर्थ—पुत्र ! सुन । रावण कालवश हो गया है, इससे अब वह उत्तम शिक्षा कब (वा, क्या) मान सकता है ॥७॥

* तुम्ह—(का०) ।

विभीषण ! तू धन्य है ! धन्य है !! धन्य है !!! हे तात ! तुम निशिचरकुलमें भूषण हुए हो * ॥ ८ ॥ तुमने भाईके (वा, हे भाई ! तुमने) वंशको उजागर (प्रकाशित) कर दिया (जो तुमने) शोभा और सुखके सागर श्रीरामजीका भजन किया ॥ ९ ॥

नोट—१ (क) 'सुनु सुत०' । छोटा भाई पुत्र-समान होता है और बड़ा पिताके समान, यथा—'तुम्ह पितु सरिस भले मोहि मारा । ५ । ४१ ।' 'सुत' शब्दसे अपना वात्सल्य विभीषणपर दिखाया । अ० रा० में भी 'वत्स' सम्बोधन दिया है जो वात्सल्य-भावका पोषक है—'वत्स त्वं जीव रामपदाश्रयात् । ८ । १३ ।' (ख) 'भएउ काल बस रावन ।०' इति । प्रहस्त, मन्दोदरी और विभीषण आदिने भी यही कहा है—(१) मन्दोदरी—'काल बिबस पति कहा न माना' (२) प्रहस्त—'हित मत तोहि न लागत कैसे । काल बिबस कहँ भेषज जैसे ॥ (३) विभीषण—'सभा कालबस तोरि । ५ । ४१ ।' (४) मारीच—'निवार्यमाणस्तु मया हितैषिणा न मृष्यसे वाक्यमिदं निशाचर । परेतकल्पा हि गतायुषो नरा हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरितम् ॥' वाल्मी० ३ । ४१ । २० अर्थात् तुम्हारा हितैषी मैं तुम्हें रोक रहा हूँ पर तुम मेरी बात नहीं सुनते जैसे जिसकी आयु पूरी हो गयी है ऐसा मृत्युवश मनुष्य मित्रोंका उपदेश नहीं सुनता । २ 'धन्य धन्य तैं धन्य' इति । (क) यहाँ श्लाघाकी वीप्सा है । तीन बार धन्य कहकर 'परम धन्य' जनाया । यथा—'भूरि भाग भाजन भएहु मोहि समेत बलि जाउँ । जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छल कीन्ह रामपद ठाउँ ॥ २ । ७४ ॥' (ख) रा० प०—भाव कि तीनों काल और तीनों लोकोंमें धन्य हो । (ग) रा० प्र०—यह तीसरा भाई है अतः तीन बार धन्य कहा । (घ) मा० म०—तुम्हारे माता, पिता और तुम तीनों धन्य हो । वा, मन-कर्म-वचनसे तुम धन्यवाद योग्य हो । २—वीर राक्षसके मुखसे रामभजनका उपदेश और राक्षसकुलमें रामभक्त उत्पन्न होना दोनों बातें कारणसे विपरीत होनेसे यहाँ 'चतुर्थ विभावना' अलंकार है ।

(ख) ☞ पूर्व जो कह आये हैं कि अपनेको निर्दोष सिद्ध करने और वास्तविक वृत्तान्त सुनानेके लिये कुम्भकर्णसे विभीषण मिले, यह बात यहाँ प्रमाणित होती है; क्योंकि सब हाल सुननेपर ही कुम्भकर्णने इनकी प्रशंसा की । यदि उसके हृदयमें संदेह रहा होगा तो वह सब वृत्तान्त सुननेपर दूर हो गया । इस तरह वह ग्लानि जो विभीषणजीके हृदयमें थी अब दूर हो गयी । वाल्मीकीयके रावणने विभीषणजीको 'कुलपांसन' कहा था, कुम्भकर्णने 'कुलभूषण' कहकर रावणके वचनको रद्द कर दिया । दूसरे नारदके उपदेशसे भी सम्भवतः उसे मालूम था कि यह परम भागवत हैं, इस कारणसे ही उनकी प्रशंसा की हो यह भी सम्भव है ।

४ 'बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर' इति । 'उजागर' का भाव कि—(क) तुम न होते तो इस कुलका कोई नाम न

☞ * 'निसिचर कुल भूषन' पाठ का०, भा० दा०, रा० गु० द्वि० इत्यादि सबकी पोथियोंमें मिलता है; पर मा० म० में 'दिनकरकुलभूषन' पाठ है और इसीको वे शुद्ध पाठ कहते हैं । वे कहते हैं कि कुम्भकर्ण इनको धन्य कहता है और 'दिनकरकुलभूषन' पदसे धन्य होनेका कारण बताता है कि 'तुम सूर्यकुलभूषण रामचन्द्रके तात अर्थात् सखा हुए जैसा उत्तरकाण्डमें कहा है—'ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे ।०' वे लिखते हैं कि निशिचरकुलभूषण उसे कहेंगे जो निशिचर-कर्म, परस्त्री, मद, मांसादिक सेवन करे; यथा कवियोंमें श्रेष्ठ होनेसे पण्डित कुल-भूषण कहते हैं तथा निशाचरकर्ममें उत्कृष्ट होनेसे निशिचरकुल-भूषण कहते हैं । पर विभीषणमें ये दोष नहीं हैं । निशिचरकुलभूषण अर्थ करना हास्यप्रद है ।' पर 'निशिचरकुलभूषण' और आगे 'बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर' यह दोनों 'निसिचर' ही पाठके समर्थक हैं, नहीं तो निशिचर-वंशको उजागर करनेवाला भी नहीं कह सकते जबतक रावणका-सा दुष्ट न हो ।

प्र० स्वामीका मत है कि 'निसिचर कुल भूपन' को एक सामासिक पद लेना उचित न होगा, कारण कि विभीषणादि स्वयं निशिचर हैं पर उनका कुल तो पुलस्तिकुल है, विप्रकुल ही नहीं ब्रह्मकुल है । अर्थ यह है कि हे तात ! यद्यपि तुम निशिचर हो तथापि कुलभूषण हुए हो । भाव कि रावणादि हम सब पुलस्त्यकुलदूषण ही हुए पर एक तुम ही 'उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती' के अनुकूल कुलभूषण हुए । 'दिनकर कुल भूषण' पाठ इतना समुचित नहीं है । कारण कि इसमें विभीषणकी यह विशेषता नहीं रह जाती कि वह निशाचर होते हुए भी 'पुलस्तिकुलभूषण' भी हुआ । 'दिनकर' पाठ लें तो 'दिनकर' को 'कुलभूषण' से पृथक् लेना चाहिये । अर्थ यह होगा कि 'तुम कुलभूषण दिनकर' हुए जिसका अर्थ ही है कि 'तैं बंस उजागर कीन्ह' ।

लेता। तुम इस कुलमें परम भागवत पैदा हुए, इससे इस कुलकी रक्षा और कल्याण होगा, त्रिलोकीमें यह धन्य माना जायगा, यथा—'कुलसंरक्षणार्थाय राक्षसानां हिताय च। महाभागवतोऽसि त्वं पुत्र मे नारदाच्छ्रुतम्॥ अ० रा० ८। १४।' (अर्थात् नारदसे मैंने पूर्व सुना है कि राक्षसकुलके कल्याण और रक्षाके लिये तुम महाभागवत उत्पन्न हुए हो), 'सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुबीर परायन जेहि नर उपज बिनीत॥ ७। १२७॥',

५ 'भजेहु राम सोभा सुखसागर' इति। (क) यथा—'छबि समुद्र हरि रूप बिलोकी। १। १४८। ५।', 'सोभासींव सुभग दोउ बीरा। १। २३३। १।', 'सोभाधाम राम अस नामा। ३। २२। ८।', 'तदपि अधिक सुखसागर रामा। १। १९८।' (ख) 'सोभासागर' से रूप कहा, 'सुखसागर' से गुण कहा। (वं० पा०)। (ग) मा० म०—भाव कि विभीषणने जो कहा था कि 'प्रभु के मन भाएउँ', उसपर कुम्भकर्ण कहता है कि राजा तो तुम्हें बना दिया फिर भी तुम भजन करते रहना, नहीं तो भजन न करनेसे सुखका साज भाग जायगा।

दोहा—बचन कर्म मन कपट तजि भजेहु राम रनधीर।
जाहु न निज पर सूझ मोहि भएउँ कालबस बीर॥ ६३॥

शब्दार्थ—बीर=भाई। यथा—'बीते अवधि जाउँ जौं जियत न पावउँ बीर'।

अर्थ—मन, कर्म और वचनसे कपट छोड़कर रणधीर रामचन्द्रजीका भजन करना। हे भाई! मैं कालके वश हो गया हूँ। मुझे अपना-पराया नहीं सूझता, (इसलिये अब) तुम जाओ॥ ६३॥

नोट—१ (क) भजन कपट छोड़कर करना चाहिये। प्रभुको कपट नहीं भाता। यथा—'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥ सुं० ४४॥' पुनः, (ख) भाव कि सुख तभी स्थिर रहेगा जब मन-वचन-कर्मसे भजन होगा, अन्यथा नहीं, यथा—'करम बचन मन छाड़ि छल जब लगि जन न तुम्हार। तब लगि सुख सपनेहु नहीं किये कोटि उपचार॥ अ० १०७।' पुनः, (ग)—कृपाके लिये भी इसका होना आवश्यक है, यथा—'मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।' पुनः, (घ) इससे प्रभुका बराबर हृदयमें निवास रहेगा, यथा—'बचन करम मन मोरि गति भजन करहिं निःकाम। तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥ आ० १६।' (ङ) कपट=छल। स्वार्थ ही छल है, यथा—'स्वारथ छल फल चारि बिहाई। २। ३०१। ३।' वा, [निशाचर स्वभावसे ही छली होते हैं इसीसे छल छोड़नेको कहा। (शीला)। मन, कर्म, वचनसे भजनका भाव कि रणमें अनेक दशाएँ होती हैं, तुम किसी दशामें भी अपना चित्त डोलने न देना। (पं०)]

नोट—२ 'मन, वचन, कर्म' से भजनेको कहकर उसका उपाय भी बताते हैं कि 'राम रनधीर' (रणसे चलायमान न होनेवाले) अर्थात् धनुर्धर रामका भजन करना। पृष्ठ १४० देखो। पुनः 'रणधीर' का भाव कि वे अवश्य निशिचर रावणको मारेंगे, तुम उनके आश्रित रहकर रावणसे डरना नहीं, यह शङ्का कदापि न करना कि रावण जीता तो मैं कहाँ जाऊँगा। (शीला)।

वि० त्रि०—'बचन कर्म मन············बीर' इति। विभीषणजीने कहा कि 'तात लात मोहि रावन मारा। कहत परमहित मंत्र बिचारा। तेहि गलानि रघुपति पहँ आयेउँ।' अर्थात् मैं अपनी खुशीसे रामजीके पास नहीं आया। मेरे साथ बड़ा भारी अन्याय हुआ। यही विचार सभामें मुझे परमहित कहते हुएको रावणने लात मारा। इतना बड़ा अपमान असह्य था, इसलिये रामजीके पास आया। कुम्भकर्णने देखा कि ग्लानिके कारण जब यह रामजीके पास आया है, तो ग्लानिके कारणके हट जानेपर यह पलट भी सकता है। अतः शिक्षा देता है कि कपट छोड़कर मनसा-वाचा-कर्मणा भजन करना, डरना मत; रणधीर रामकी जय निश्चित है; मैं स्वयम् कालके वश हो रहा हूँ, मुझे अपना-पराया नहीं सूझ रहा है, तुम चले जाओ, कहीं ऐसा न हो कि तुम मेरे ही हाथसे मारे जाओ।

नोट—३ 'जाहु न निज पर सूझ मोहि०'। (क) मदिरा आदि मादक वस्तुओंके पानका यह फल हुआ। (ख) कालवश मनुष्यको भी अपना-पराया कुछ विचार नहीं रह जाता, यथा—'निकट काल जेहि आवत साईं।

तेहि श्रम होइ तुम्हारिहि नाईं', 'कालदंड गहि काहु न मारा । हरै धर्म बल बुद्धि विचारा ॥ ३६ । ७ ।' (ग) 'जानु न निज पर सूझ मोहिं', ये वचन आ० रा० एवं अ० रा० में भी हैं, और इसका कारण अ० रा० ८ । ५१ में मद्यपान और आ० रा० में युद्ध बताया है । यथा—'गच्छ तात ममेदानीं दृश्यते न च किंचन । मदीयो वा परो वापि मदमत्त-विलोचनः ॥ अ० रा० ८ । १५ ।' अर्थात् तुम जाओ, अब मेरे नेत्र मदसे मतवाले हो गये हैं, मुझे अपना-पराया कुछ भी नहीं देख पड़ता । पुनः, यथा—'सम्यक्कृतं त्वया वत्स मदग्रे मा स्थिरो भव । युद्धे स्वीयः परो वात्र ज्ञायते न मयाद्य हि ॥ १५२ ॥ आ० रा० १ । ११ ।' अर्थात् हे वत्स ! तुमने अच्छा किया पर अब खड़े न रहो । क्योंकि मुझे युद्धमें अपना-पराया या और कुछ नहीं सुझायी पड़ता है ।

प्र० स्वामीजी कहते हैं कि 'अपना-पराया न सूझना मदिरापानका फल नहीं है । 'मदमत्तविलोचनः' में 'मद' का अर्थ मदिरा करनेकी आवश्यकता नहीं है । रणमदमत्त अर्थ लेना ठीक है क्योंकि मदिरासे उन्मत्त मनुष्य न तो सुसंगत बोल ही सकता है, न सुसंगत क्रिया ही कर सकता है ।'

यहाँ कुम्भकर्णका स्वाभाविक कथन कि मैं कालवश हुआ हूँ 'स्वभावोक्ति' है ।

बंधु बचन सुनि चला * बिभीषन । आएउ जहँ त्रैलोक बिभूषन ॥ १ ॥
नाथ भूधराकार सरीरा । कुंभकरन आवत रनधीरा ॥ २ ॥

अर्थ—भाईके वचन सुनकर विभीषण चल दिये और जहाँ त्रैलोक्यके विभूषण (आभूषण, गहना, मणि) श्रीरामचन्द्रजी थे वहाँ आये । (और बोले—) ॥ १ ॥ हे नाथ ! हे रणधीर ! पर्वताकार देहवाला रणधीर कुम्भकर्ण आ रहा है ॥ २ ॥

नोट—१ (क) 'बंधु' पद दिया क्योंकि उसने भाईका-सा व्यवहार किया और हितकी बात कही यद्यपि शत्रुपक्षका है । (ख) 'त्रैलोक विभूषन' का भाव कि त्रैलोक्य-दूषण रावणका नाश करके त्रिलोकको सुख देंगे । (पं०, पाँ०) । विभीषण केवल कुलभूषण हैं और श्रीरामजी त्रैलोक्यविभूषण हैं । वे जानते हैं कि मेरी कुलभूषणता त्रैलोक्यविभूषणकी कृपापर ही निर्भर है । (प० प० प्र०)

२ 'नाथ भूधराकार सरीरा ।...' (क) वाल्मी० ६१ में श्रीरामजीके पूछनेपर कि यह पर्वताकार अद्भुत प्राणी कौन है ? विभीषणने बताया कि यह रणधीर कुम्भकर्ण है । अतएव यहाँ भी रामजीका प्रश्न समझ लें । यथा—'तं दृष्ट्वा राक्षसश्रेष्ठं पर्वताकारदर्शनम् ॥ २ ॥...स पृष्टो राजपुत्रेण रामेणाक्लिष्टकर्मणा । विभीषणो महाप्राज्ञः काकुत्स्थमिदम-ब्रवीत् ॥ ८ ॥' अथवा, मानसके विभीषणके स्वयं बिना पूछे ही कह देनेसे उनकी श्रीरामजीमें विशेष भक्ति सूचित होती है । दूसरे मानसके शब्दोंसे स्पष्ट है कि कुम्भकर्ण अभी सामने आया नहीं है, इन्होंने प्रथम सूचना दी है कि वह आ रहा है । आगेके 'एतना कपिन्ह सुना जब काना' से भी यही बात सिद्ध होती है । श्रीरामजीका प्रश्न यहाँ न कहकर कविने विभीषणजीको अपने कर्तव्य और सेवामें पूरा सावधान दिखाया । इनको मन्त्र-भाग सौंपा गया है; अतः इन्होंने तुरंत बिना पूछे उसका समाचार कह सुनाया । बं० पा० जी कहते हैं कि कुम्भकर्णने कहा था कि कपट छोड़ भजन करना । वह उपदेश विभीषणने ग्रहण किया । इसीसे तुरंत आकर कहा । (ख) 'रणधीर' का भाव कि इससे सँभलकर युद्ध किया जाय, यह अन्य योद्धाओंके समान नहीं है । (ग)—कुम्भकर्णने प्रभुको रणधीर कहा है, यह बात विभीषणजीके हृदयमें जम गयी है इसीसे इन्होंने यहाँ 'रणधीर' सम्बोधन किया । और कुम्भकर्ण भी रणधीर है । 'रणधीर' पदसे वाल्मी० ६१ के १६ श्लोकोंमें जो वीरता विभीषणने कही है उस सबका ग्रहण हो गया ।

प० प० प्र०—सुग्रीवने 'बालि महाबल अति रन धीरा' कहकर उसके वधमें संदेह किया था । सप्तताल-वेधनके पश्चात् उन्हें 'देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती । बालि बधब इन्ह भइ परतीती ॥' विभीषणजीने रावणको रथी देखकर संदेह किया कि 'केहि बिधि जितब बीर बलवाना' । वैसे ही यहाँ भी 'अधिक प्रीति भा मन संदेहा' कि 'केहि बिधि जितब बंधु रनधीरा' नहीं तो कुम्भकर्णके मुखसे ही 'राम रनधीर' सुननेपर भी कुम्भकर्णको 'भूधराकार सरीरा रनधीरा' कहनेकी आवश्यकता न थी ।

* फिरा—(का०)

एतना कपिन्ह सुना जब काना। किलकिलाइ धाए बलवाना॥ ३॥
लिए उठाइ * बिटप अरु भूधर। कटकटाइ डारहिं ता ऊपर॥ ४॥

अर्थ—जैसे ही वानरोंने इतना सुना वे बलवान् किलकिलाकर दौड़े॥ ३॥ वृक्ष और पर्वत उठा लिये और क्रोधसे दाँत कटकटाकर उसके ऊपर डालने लगे॥ ४॥

नोट—१ (क) 'किलकिला' शब्द हर्ष और उत्साहसूचक है। यथा—'नाँघि सिंधु एहि पारहिं आवा। सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा॥ हरषे सब बिलोकि हनुमाना। सुं० २८।' पुनः 'किलकिलाने' का भाव कि रावणपर सब क्रोधित थे, चाहते थे कि मिल जाय तो मार ही डालें, यथा—(शुकवाक्य) 'परम क्रोध मीजहिं सब हाथा। आयसु पै न देहिं रघुनाथा॥' वह नहीं आया। उसका भाई आया। उसे देख उसे मर्दन करनेके लिये हर्षित हुए। हर्ष इससे कि पूर्व संग्राममें जय पाये हुए हैं, इससे उत्साह बढ़ा हुआ है। वा, यह रावणका भाई है और महाबली है, बलीको देखकर बलीका उत्साह अधिक हो जाता ही है। वा, इसकी जीतसे बड़ाई होगी इससे हर्ष हुआ। (पं०)। (ख) 'कटकटाना' क्रोधसूचक है, यथा—'कटकटान कपिकुंजर भारी। दुहु भुजदंड तमकि महि मारी॥ ३१। ३।'

२—'बिटप अरु भूधर' अर्थात् जिसने जो पाया। कोई पर्वत लिये है कोई वृक्ष। पुनः 'लिये उठाइ' का भाव यह कि पूर्व संग्राममें बहुतसे उखाड़े गये थे, वे पड़े हुए हैं, उन्हींको उठा लिया।

कोटि कोटि गिरि सिखर प्रहारा। करहिं भालु कपि एक एक† बारा॥ ५॥
मुरयौ न मनु तनु टरयौ न टारयौ। जिमि गज अर्कफलनि को‡ मारयौ॥ ६॥

अर्थ—रीछ और बंदर एक-एक समयमें कोटि-कोटि (अगणित) पर्वत-शिखरोंको चलाकर मारते हैं॥ ५॥ पर उसका न तो मन ही मुड़ा (फिरा) और न तन ही टाले टला। जैसे मदारके फलोंसे मारे जानेपर हाथी (टससे मस न करे, हटाये न हटे)॥ ६॥

नोट—१ 'कुंभकरन आवत रनधीरा' कहकर अब यहाँ रणमें धीरताका स्वरूप दिखाते हैं कि वह कम्पित न हुआ। यथा—'प्रांशुभिर्गिरिशृंगैश्च शिलाभिश्च महाबलाः। पादपैः पुष्पिताग्रैश्च हन्यमानो न कम्पते॥ १०॥ तस्य गात्रेषु पतिता भिद्यन्ते बहवः शिलाः। पादपाः पुष्पिताग्राश्च भग्नाः पेतुर्महीतले॥ ११॥' (वाल्मी० ६६)। अर्थात् किसीने ऊँचे पर्वतशिखरोंसे, किसीने शिलाओंसे, किसीने फूले हुए वृक्षोंसे मारा; पर वह कम्पित न हुआ। वरन् उसके गात्रोंसे लगकर बहुत-सी शिलाएँ फूट गयीं और वृक्ष टूटकर गिर पड़े।

२ (क) 'मुरयो न मन' का भाव कि वह बड़ा ही बाँका वीर है, यथा—'गयउ सभा मन नेकु न मुरा। बालितनय अति बल बाँकुरा॥ १९। ७।' (ख) यहाँ मन और तन दिखाया, वचन नहीं। कारण कि सच्चे वीर अपना बल कहते नहीं, करके दिखाते हैं, 'कायर कथहिं प्रतापु' 'करहिं कहत न बागहीं। ८९।' (ग) 'जिमि गज अर्कफलनिको मारयौ'। भाव कि मदारका फल अत्यन्त हलका होता है वह हाथीको क्या मालूम हो; वैसे ही पर्वत-शिखरादिकी मार उसके लिये ऐसी थी मानो उसपर गिरे ही नहीं।

तब मारुतसुत मुठिका हन्यौ। परयौ धरनि ब्याकुल सिर धुन्यौ§॥ ७॥
पुनि उठि तेहि मारेउ हनुमंता। घुर्मित भूतल परेउ तुरंता॥ ८॥

---

* उपारि (का०)। 'उठाइ' पाठसे 'उपारि' पाठ अधिक सुन्दर है। यद्यपि दोनों पाठोंमें ओज है तथापि 'उपारि' में अधिक है। पा और प का अनुप्रास भी सधता है। सुन्दरकाण्ड हनुमान्-मेघनाद-युद्धमें जहाँ कटकटाना और दौड़ना कहा है वहाँ 'उपारा' कहा है। अतः यहाँ भी 'उपारि' ठीक है (प० प० प्र०)।

† एकहि—(का०), एक एक (भा० दा०)। रा० प० में 'एकहि' पाठ है पर अर्थमें 'एक एक बार करहिं प्रहार' लिखा है।

‡ के मारयौ (का०)।

§ हन्यो, धुन्यो, परयो—(का०)। हनेऊ, धुनेऊ—गौड़जी।

अर्थ—तब हनुमान्‌जीने घूँसा मारा। वह व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा और सिर पीटने लगा॥ ७॥ * फिर उठकर उसने हनुमान्‌जीको मारा जिससे वे तुरंत चक्कर खाकर पृथ्वीपर गिर पड़े॥ ८॥

प० प० प्र०—'मारुतसुत' शब्दसे जनाया कि इतनी जोरसे मुष्टि-प्रहार किया कि उसकी मृत्यु हो जानी चाहिये थी, पर ऐसा हुआ नहीं। इससे हनुमान्‌जीको भी विषाद हुआ कि 'धिग धिग मम पौरुष धिग मोही।'

नोट—१ (क) 'तब' अर्थात् जब वानरसेनाकी मारका किञ्चित् भी प्रभाव उसपर न पड़ा। (ख) 'व्याकुल सिर धुन्यौ।' भाव कि घूँसेसे व्याकुल होनेपर वह अपने बल-पराक्रमको धिक्कारने लगा। (ग) 'घुर्मित भूतल परेउ' इति। यहाँ कुम्भकर्ण और हनुमान्‌जीको प्रथम तो परस्पर बराबरका बलवान् दिखाया, जैसे 'परयौ धरनि व्याकुल' वैसे ही 'घुर्मित भूतल परेऊ।' 'घुर्मित परयौ' कहकर जनाया कि ये मूर्च्छित हो गये। यह मूर्च्छा सुग्रीवको दबा ले जानेके पश्चात् छूटेगी। इसीसे यहाँ 'घुर्मित परेउ' कहकर छोड़ दिया, उठना न कहा। आगे कहा है कि 'मुर्छा गइ मारुतसुत जागा। सुग्रीवहि तब खोजन लागा॥' इससे कुम्भकर्णका विशेष बलवान् होना सूचित किया है। क्योंकि ये मूर्च्छित हुए और देरतक मूर्च्छित पड़े रहे और वह मूर्छित नहीं हुआ किंतु तुरंत उठकर उसने इनके घूँसा मारा।

पुनि नल नीलहि अवनि पछारेसि। जहँ तहँ पटकि पटकि भट डारेसि॥ ९॥
चली बलीमुख सेन पराई। अति भय त्रसित न कोउ समुहाई॥ १०॥

शब्दार्थ—समुहाना=सामने वा सन्मुख आना। पराना=भागना।

अर्थ—फिर उसने नल-नीलको पृथ्वीपर पछाड़ा और योद्धाओंको जहाँ-तहाँ पटक-पटककर डाल दिया (गिरा दिया)॥ ९॥ वानरसेना भाग चली। वानर अत्यन्त भयभीत हो गये, कोई सामने नहीं आता॥ १०॥

नोट—१ (क) 'पुनि नल…' इति। यथा—'मुष्टिना शरभं हत्वा जानुना नीलमाहवे। आजघान गवाक्षं तु तलेनेन्द्ररिपुस्तदा॥ २८॥ तेषु वानरमुख्येषु पातितेषु महात्मसु।' (वाल्मी० ६७। ३०) अर्थात् कुम्भकर्णने मुष्टिसे शरभको मारा, जाँघसे नीलको और लातसे गवाक्षको मारा। सब मुख्य वानरोंको कुम्भकर्णने पृथ्वीपर गिरा दिया। (ख) 'न कोउ समुहाई' भाव कि समझानेसे भी सामने नहीं जाते। (वाल्मी० ६६)†। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि—बचे हुए वानर एक दूसरेको लाँघते और दौड़ते हुए भाग चले, फिरकर कोई भी न देखते थे, कोई समुद्रमें गिरे, कोई आकाशमें स्थित हुए, जिस मार्गसे समुद्र उतरे थे उसी मार्गसे भाग खड़े हुए। भयसे मुँहका रंग उड़ गया। कोई ऊँचे स्थलों और गढ़ोंकी ओर भागे। कोई रीछ वृक्षोंपर चढ़ गये, कोई डरसे पृथ्वीपर गिरे, कोई मृतकवत् सो रहे। यह देख अङ्गदने सबको लौटने और फिर युद्ध करनेको कहा।…पर वे फिरते नहीं, कहते जाते हैं कि हम प्राण बचानेके लिये भागे जाते हैं, खड़े होनेका समय नहीं है, यथा—'न स्थानकालो गच्छामो दयितं जीवितं हि नः॥ २९॥ यही सब भाव 'न कोउ समुहाई' और 'अतिभयत्रसित' का है। (वाल्मी० ६६ श्लोक १४-१८)।

२ (क)—हनुमान्‌जी, नल, नील आदि मूर्च्छित हो गये। इससे सेना भागी। अङ्गदादि सामने हुए, वे भी मूर्च्छित हुए। सेनाको लौटानेवाले कोई नहीं हैं; इसीसे यहाँ लौटानेकी बात न कही। आगे जब केवल यूथपति मूर्छित हुए

* इस अर्धालीमें एक-एक मात्रा कम करके जनाया कि हनुमान्‌जीकी शक्ति देखकर वह आश्चर्यचकित हो गया। सुर-मुनि-सिद्धादिको हर्ष हुआ, उनकी वाणी कुण्ठित हो गयी। कुम्भकर्ण भी कुछ बोल न सका अतः 'सिर धुन्यो' (प० प० प्र०)।

† लङ्घयन्तः प्रधावन्तो वानरा नावलोकयन्। केचित्समुद्रे पतिताः केचिद् गगनमाश्रिताः॥
वध्यमानास्तु ते वीरा राक्षसेन च लीलया। सागरं येन ते तीर्णाः पथा तेनैव दुद्रुवुः॥
ते स्थलानि तदा निम्नं विवर्णवदना भयात्। ऋक्षा वृक्षान्समारूढाः केचित्पर्वतमाश्रिताः॥
निपेतुः केचिदपरे केचिन्नैवावतस्थिरे। केचिद्भूमौ निपतिताः केचित्सुप्ता मृता इव॥
तान्समीक्ष्याङ्गदो भग्नान्वानरानिदमब्रवीत्। अवतिष्ठत युध्यामो निवर्तध्वं प्लवंगमाः॥
केचिच्छरण्यं शरणं स्म रामं व्रजन्ति केचिद्व्यथिताः पतन्ति।
केचिद्दिशश्च व्यथिताः पतन्ति केचिद्भयार्ता भुवि शेरते स्म॥ वाल्मी० ६० । ९७।

तव लौटाना कहा है—'मुरे सुभट सब फिरहिं न फेरे। सूझ न नयन सुनहिं नहि टेरे॥ ६६। ६।' अथवा, (ख)—यहाँ सेना ही भागी,—'चली बलीमुख सेन पराई।०'। आगे यूथपति ही भागने लगे, यूथकी बात ही क्या?

दोहा—अंगदादि कपि मुरुछित* करि समेत सुग्रीव।
काँख दाबि कपिराज कहुँ चला अमित बलसीव॥ ६४॥

अर्थ—सुग्रीवसहित अङ्गदादि वानरोंको मूर्च्छित करके अतुल बलकी सीमा (अत्यन्त बलवीर) कुम्भकर्ण वानरराज सुग्रीवको बगलमें दबाकर ले चला† ॥ ६४॥

नोट—१ अङ्गदादि—दोहा ५१ देखिये। ☞ वाल्मी० ६७ में सुग्रीवको दाबकर ले चलते समय हनुमान्‌जीका सोच करना लिखा है। उन्होंने सोचा कि यदि मैं सुग्रीवको छुड़ानेका यत्न करूँ और उनको छुड़ा दूँ तो इससे सुग्रीवकी अपकीर्ति होगी जिससे सुग्रीवको बुरा लगेगा, वे मनमें रुष्ट हो जायँगे। मूर्छा विगत होनेपर वे स्वयं अपनेको छुड़ा लेंगे, अतः चिन्ता क्या करनी। यह विचारकर उन्होंने उनके चैतन्य होनेकी प्रतीक्षा करनेका निश्चय किया। इससे वहाँ शङ्का होती थी कि हनुमान्‌जीके रहते कैसे वह सुग्रीवको ले गया? पर मानस-कथामें हनुमान्‌जी प्रथम ही मूर्छित हो गये इससे यह शङ्का ही नहीं उठती। २—सुग्रीवको ही बगलमें दाबकर ले जानेका अभिप्राय यह था कि बालिने मेरे भाईको काँखमें दावा था, मैं रावणका भाई, बालिके भाईको दाब ले चला। इस तरह बदला चुकनेसे रावण प्रसन्न होगा। दूसरे, राजाकी हारसे सेनाकी हार होती है। वानर सब रामका साथ छोड़ देंगे। तीसरे, सुग्रीवका मरण सुनकर राम जीवित न रहेंगे, उनके मरनेसे लक्ष्मण भी मर जायँगे और सारी सेना भी मर जायगी। रावणका कोई शत्रु ही न रह जायगा।—'अस्मिन्हते सर्वमिदं हतं स्यात्सराघवं सैन्यमितीन्द्रशत्रुः। वाल्मी० ६७। ७१।' वाल्मीकिजीने लिखा है कि सुग्रीव जब एकाएकी सुवेलपरसे छलाँग मारकर, रावणके ऊपर जा पहुँचे थे और वहाँ मल्ल-युद्ध होनेपर जब वे लौटे तब रामजीने कहा भी है कि हमने निश्चय कर लिया था कि यदि तुम्हें कुछ हो गया तो हम भी प्राण दे देंगे। हमें सीता, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न एवं अपना शरीर तब किस कामका है। (वाल्मी० ४१। ४—६)।

अङ्गद, हनुमान् और सुग्रीव सबको मूर्च्छित कर दिया, इसलिये 'अमित बलसीव' कहा। अपने पुरुषार्थसे और कोई यह न कर सका था।

प० प० प्र०—कुम्भकर्णके हाथोंसे हनुमानाङ्गद, सुग्रीवादिकी ऐसी दुर्दशा क्यों हुई? इसका कारण केवल यह है कि इस समय कोई भी 'प्रभु प्रताप उर राखि' और 'रामचरन सिर नाइ' नहीं चला, अपने ही बल-पौरुषसे उसको जीतने चले थे।

उमा करत रघुपति नरलीला। खेल गरुड़ जिमि अहिगन मीला॥ १॥
भृकुटि भंग जो‡ कालहि खाई। ताहि कि सोहै ऐसि लराई॥ २॥

शब्दार्थ—भंग=टेढ़ी या झुकी होनेका भाव। विलास।

अर्थ—हे उमा! श्रीरघुनाथजी (उसी प्रकार) नरलीला कर रहे हैं जैसे गरुड़ सर्पोंके समूहमें मिलकर खेले॥ १॥ जो भौंहको तिरछीमात्र करके कालको खा जाता है, क्या उसे ऐसी लड़ाई शोभा देती है? (नहीं)॥ २॥

पं०—श्रीरामजीके रहते श्रीहनुमान्‌जी आदिका मूर्च्छित होना और सुग्रीवको दबाकर लङ्का ले जाना कैसे बने? इसीका यहाँ समाधान करते हैं।

वं० पा०—'उमा करत रघुपति नरलीला'। भाव कि जैसा अरण्यकाण्डमें कहा था कि 'मैं कछु करब ललित नर लीला' वैसा ही यहाँ करते हैं। यह कहकर फिर कहते हैं कि वह नरलीला किस प्रकार करते हैं, जैसे कि गरुड़ सर्पोंमें

* घाय बस—(का०) † 'सुग्रीवं बाहुमूले प्लवगबलपतिं कण्ठदेशे भुजेन क्षिप्त्वा निष्पीड्य गाढं रजनिचरपुरीं संदधानो जगाम। हनु० ११। २५।' ‡ 'कालहि जो'—(का०)।

मिलकर खेल करे। 'ऐसि लराई' यह कि अकेले एक निशिचरने आकर सारी सेनाको व्याकुल कर दिया, सुग्रीवको अनाथकी तरह काँखमें दाबकर ले गया।

नोट—१ 'खेल गरुड़ जिमि अहिगन मीला' इति। यहाँ उदाहरण अलंकार है। सर्प गरुड़के भक्ष्य हैं, जब चाहें तभी गरुड़ उनको खा लें वैसे ही समस्त निशिचर श्रीरामजीके लिये मरे ही हुए हैं जब चाहें भ्रूभंगमात्रसे उनको मार डालें। जैसे गरुड़ सर्पोंके साथ खेलमें सर्पकी फुफकारसे डरे तो यह न समझा जायगा कि गरुड़ सर्पसे डरते हैं या गरुड़ हार गये। वैसे ही श्रीरामजी निशिचरोंसे मिलकर उनके साथ मनुष्यवत् लीला करनेमें मूर्च्छित होते हैं, उनकी सेना मारी जाती है, वे विलाप करते हैं—ये सब नरनाट्यमें जरूरी ही हैं, नहीं तो फिर खेल कहाँ; पर इससे यह न समझना चाहिये कि सत्य ही निशिचरसे वे हार गये। नृसिंहजी और हिरण्यकशिपुके प्रसंगमें इससे मिलता हुआ भाव है उससे मिलान कीजिये—भा० ७। ८। यथा—

'तं विक्रमन्तं सगदं गदाधरो महोरगं तार्क्ष्यसुतो यथाग्रहीत्। स तस्य हस्तोत्कलितस्तदासुरो विक्रीडतो यद्वदहिर्गरुत्मतः॥२६॥ असाध्वमन्यन्त हृतौकसोऽमरा घनच्छदा भारत सर्वधिष्ण्यपाः। तं मन्यमानो निजवीर्यशङ्कितं युद्धस्तमुक्तो नृहरिं महासुरः॥२७॥ तं श्येनवेगं शतचन्द्रवर्त्मभिश्चरन्तमच्छिद्रमुपर्यधो हरिः। कृत्वाट्टहासं खरमुत्स्वनोल्वणं निमीलिताक्षं जगृहे महाजवः॥२८॥'

अर्थात् गरुड़ जैसे महासर्पको पकड़ लें वैसे ही भगवान् गदाधरने महावेगसे, गदासे प्रहार करते हुए उस दानवको पकड़ लिया। हे भारत! दानव हिरण्यकशिपु किसी प्रकार, उसके साथ क्रीड़ा कर रहे हरिके हाथसे निकलकर गरुड़के हाथसे छूटे हुए सर्पकी भाँति फिर विक्रम करने लगा। तब अपने-अपने स्थानोंसे भ्रष्ट देवता और लोकपालगण, जो बादलोंकी ओटमें छिपे हुए वह चरित्र देख रहे थे और दैत्यके वधकी प्रतीक्षा कर रहे थे, उन्होंने भगवान्के हाथमें आकर दैत्यके छूट जानेको अच्छा न माना। भगवान्के हाथसे छूटे हुए दैत्यने समझा कि हरिने मेरे पराक्रमसे शङ्कित होकर मुझे छोड़ दिया। ऐसा समझकर युद्धक्षेत्रमें क्षणभर विश्राम करके ढाल-तलवार ले उसने फिर आक्रमण किया।

२—'भृकुटिभंग जो कालहि खाई' इति। भाव कि ऐश्वर्यपर केवल दृष्टि रक्खें तो यह अशोभित जान पड़ेगा पर माधुर्यमें यह अशोभित नहीं है। कभी किसीकी जीत कभी किसीकी जीत, यही युद्धकी शोभा है। यही बात आगे भी कही है, यथा—'**नट इव कपट चरित कर नाना।**···**रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायो। नागपास देवन्ह भय पायो।** ७२। १२—१३।' दूसरे, इस खेलमें गूढ़ अभिप्राय है जो आगे कहते हैं—

जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं॥ ३॥

अर्थ—जगत्‌को पवित्र करनेवाली कीर्ति फैलावेंगे, जिसे मनुष्य गा-गाकर भवसागर पार होंगे॥ ३॥

नोट—भाव, कि नरनाट्य करनेका अभिप्राय यह है कि इस चरितको गाकर सहज ही विना योग-जप-यज्ञादिके भक्त संसारबन्धनसे मुक्त हो जायँ। यथा—'**जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजन्म कर हेतु।** १। १२१।', '**सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं॥**' देखिये। ज्ञानादिकी कठिनता देख भवसागर तरनेका यह सुगम उपाय रच रहे हैं। इससे नीच-ऊँच, छोटे-बड़े इत्यादि सभीका उपकार होगा। रोचक इतिहासकी तरह इसे गा-गाकर ही भवपार हो जायेंगे।

मुरुछा गइ मारुतसुत जागा। सुग्रीवहि तब खोजन लागा॥ ४॥
सुग्रीवहुँ* कै मुरुछा बीती। निबुकि† गयउ तेहि मृतक प्रतीती॥ ५॥

शब्दार्थ—निबुकना=छुटकारा पाना, बन्धनसे निकलना, छूटना। यथा—'**निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी। भईं सभीत निसाचर नारी॥**'

अर्थ—मूर्च्छा जाती रही तब पवनसुत सावधान हुए और सुग्रीवको ढूँढ़ने लगे॥ ४॥ (उधर) सुग्रीवकी भी मूर्च्छा गयी। वे बन्धनसे छूट गये, (अर्थात् नीचे गिर गये तो) उसने इन्हें मृतक जाना॥ ५॥

* कपि राजहु। † निबुकि गए—(का०)।

पु० रा० कु०—'सुग्रीवहि तब खोजन लागा' इति। खोजनेका भाव कि श्रीहनुमान्‌जीने सूर्यसे व्याकरण विद्या पढ़ी तब गुरुदक्षिणा यह दी कि संकटमें तुम्हारे पुत्र सुग्रीवकी हम रक्षा करेंगे। प्रमाणं मुरारिनाटके—

'पुरैव किलायमाञ्जनेयो भगवतः सहस्रकिरणाद्व्याकरणविद्यामधीयानस्तदा।
जन्मतो वानरयोनेः सुग्रीवस्य सहायकमभिप्रायज्ञो गुरुदक्षिणीचकार॥'

अर्थात् पूर्व समयमें हनुमान्‌जी अञ्जनीकुमार भगवान् सहस्रकिरण सूर्यदेवसे व्याकरण विद्या पढ़ने गये। जन्मसे ही वानरयोनि सुग्रीवकी सहायता करनेका अभिप्राय जाननेवाले हनुमान्‌जीने अपनेको गुरुदक्षिणामें समर्पण किया। विशेष दोहा ६, ४ देखिये।

नोट—'मुरुछा बीती'। जब कुम्भकर्ण लङ्काको चला तब उसपर फूलों और अक्षत-चन्दनसहित जलकी मन्द-मन्द वर्षा शहरपनाहपरसे राक्षसोंने की। इससे तथा मार्गकी शीतलतासे उनकी मूर्च्छा दूर हुई, यथा—'विमानचर्यागृहगोपुरस्थैः पुष्पाग्र्यवर्षैरभिपूज्यमानः॥ ८२॥ लाजगन्धोदवर्षैस्तु सेव्यमानः शनैः शनैः। राजवीथ्यास्तु शीतत्वात् संज्ञां प्राप महाबलः॥ वाल्मी० ६७। ८३।'

नोट—'निबुकि गयउ तेहि मृतक प्रतीती' इति। (क) भारी होकर नीचे खिसक पड़े तब उसने जाना कि सुग्रीव मर गया अतएव काँख ढीली कर दी! ढील पाते ही ये कंधेपर चढ़ गये और शीघ्रतासे नाक-कान-काट गर्जकर आकाशमें चले गये—यह वीर-धर्म किया; अतः आगे इनको 'बलवान्' विशेषण दिया है। (वं० पा०) बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि कुम्भकर्णने जाना कि इतनी देरतक इसकी मूर्च्छा न हटी तो यह निश्चय ही मर गया है। मेरी समझमें तो ऐसा जान पड़ता है कि वे शरीरको सिकोड़कर खिसककर जब गिरे तो मृतकवत् बनकर पड़े रहे इससे कुम्भकर्णने जाना कि काँखमें दबे-दबे वह मर गया। अतः उसे उठाया नहीं। वा (ख) इनको मृतक समझता था इससे ढीले दाबे था, अतः ये खिसककर कंधेपर पहुँच गये और नाक-कान काट लिये—(बै०, पु० रा० कु०, करु०)। वा, (ग) सुग्रीव उसको अपने मरनेकी प्रतीति देकर खिसक आये। (पां०)।

वि० त्रि०—जब हनुमान्‌जी मूर्छित हो गये, नल-नीलादि सुभट मूर्छित हो गये, वानरी सेना भाग चली, चोट खाकर अङ्गद और सुग्रीव भी मूर्छित हो गये, तब कुम्भकर्ण अपनी जीत मानकर, रावणके लिये उपहाररूपमें सुग्रीवको काँखमें दाबकर चला। उसने समझा कि सुग्रीव मर गये। इसलिये मुर्देकी भाँति उठाकर चला, यदि वह समझता कि केवल मूर्छित है तो मजबूतीसे पकड़े रहता। उधर सुगन्धित वायुके झोंकेसे जब सुग्रीवकी मूर्च्छा जाती रही, तो वे उसकी काँखसे निकल गये, और अपने अपमानका बदला उसकी नाक काट कर दिया।

काटेसि दसन नासिका काना। गर्जि अकास चलेउ तेहि जाना॥ ६॥
गहेउ चरन गहि* भूमि पछारा। अति लाघव उठि पुनि तेहि मारा॥ ७॥

शब्दार्थ—लाघव=फुर्ती, तेजी, शीघ्रतासे। यथा—'अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा'—(बा०)।=सहजहीमें। यथा—'लछिमन अति लाघव सों नाक कान बिनु कीन्ह'।

अर्थ—दाँतसे नाक-कान काट लिये और गरजकर आकाशको चले, तब कुम्भकर्णने जाना और उनका पैर पकड़कर पृथ्वीपर उनको दे पछाड़ा। फिर सुग्रीवने बड़ी फुर्तीसे उठकर उसे मारा॥ ६-७॥

नोट—'काटेसि दसन नासिका…' इति। मिलान कीजिये।—'सानन्दं कुम्भकर्णस्तदनु कपिभटस्तस्य तूर्णं सकर्णं घ्राणं जग्ध्वा जगाम स्वशिबिरमुदरं कूर्परेणाभिहत्य॥ हनु० ११। २५॥' तत्पश्चात् वानरयोद्धा सुग्रीव कानोंसहित उसकी नाक काटकर उसे कोहनीसे मारकर शीघ्र ही अपने डेरेमें गये।

नोट—'गर्जि चलेउ', यह उसपर जय सूचित की। गर्जन सुनी तब उसने जाना कि सुग्रीव जीवित है और हाथसे निकल गये। तब उछलकर उनके चरण पकड़कर पृथ्वीपर पछाड़ा 'अति लाघव' अर्थात् गेंद-सरीखा। जैसे कोई गेंदको पृथ्वीपर पटके और वह उछलकर ऊपर जाय, वैसे ही अति शीघ्र ये उठकर उछले। यथा—'स कुम्भकर्णो हृतकर्णनासो

* 'तेहि धरनि पछारा'—(का०)।

विदारितस्तेन रदैर्नखैश्च । रोषाभिभूतः क्षतजार्द्रगात्रः सुग्रीवमाविध्य पिपेष भूमौ ॥ वाल्मी० ६७ । ८७ । स भूतले भीमबलाभिपिष्टः सुरारिभिस्तैरभिहन्यमानः । जगाम खं कन्दुकवज्जवेन पुनश्च रामेण समाजगाम ॥ ८८ ॥

पुनि आएउ प्रभु पहिं बलवाना । जयति जयति जय कृपानिधाना *॥ ८ ॥

अर्थ—फिर बलवान् सुग्रीव प्रभुके पास आये और दयासागर प्रभुकी जय हो, जय हो (इस प्रकार जय-जयकार करने लगे) ॥ ८ ॥

वं० पा०, रा० प्र०—कुम्भकर्ण ऐसे शत्रुसे बचकर और उसके नाक-कान काटकर आये, अतः 'बलवान' कहा । 'कृपानिधान' का भाव कि यह जय आपकी कृपासे ही हुई है, आपकी ही कृपासे मैं छूटा, नहीं तो शत्रुके हाथ तो पड़ ही चुका था ।

रा० प्र०—तीन बार जयकारका भाव कि त्रिलोकमें, त्रिकालमें आपकी जय है तथा तीनों शत्रुओंपर जय होगी ।—(रा० प्र०) ।

पं०—जयजयकारका भाव कि हम भी छूट आये, हनुमानादि भी सावधान हैं और शत्रुकी नाक-कान काट लिये गये । वा 'तीन' बार कहकर बारम्बार जयजयकार सूचित की ।

नाक कान काटे जिय जानी । फिरा क्रोध करि भइ मन ग्लानी ॥ ९ ॥
सहज भीम पुनि बिनु श्रुति नासा । देखत कपिदल उपजी त्रासा ॥१०॥

शब्दार्थ—भीम=भयङ्कर, घोर, भयानक यथा—'घोरं भीमं भयानकं इत्यमरः'

अर्थ—(हमारे) नाक-कान कट (वा, काट लिये) गये; इस बातको जीसे समझकर मनमें ग्लानि हुई (कि ऐसे जीवन और पुरुषार्थको धिक्कार है) और वह क्रोधमें भरकर (रास्तेसे) लौट पड़ा ॥ ९ ॥ एक तो वह स्वभावसे ही भयङ्कर था फिर उसपर भी अब नकटा-बूचा होनेसे वानरसेनामें उसे देखते ही भय उत्पन्न हो गया ॥ १० ॥

नोट—१ 'नाक कान काटे जिय जानी' इति । इससे जनाया कि (क) कुम्भकर्ण ऐसा समरधीर और बलवीर है कि शरीरके अङ्ग कटनेतककी सुधि नहीं हुई । (ख) ऐसा मदमत्त है कि नशेमें अबतक उसे न मालूम हुआ, अब जान पड़ा । (ग) सुग्रीवने अत्यन्त फुर्ती की थी ।

२ 'फिरा क्रोध करि' इति । पहले विजय पाकर जा रहा था, अब पराजय कैसी कुछ हुई कि नाक-कान काट लिये गये । नाक कटनेसे मनुष्य प्रतिष्ठाहीन हो जाता है । प्रतिष्ठा गयी, सब हँसेंगे कि बड़ी डींग मारकर गया था, नाक-कान भी कटा आया, इससे अब सबको मारकर ही जाऊँगा या मर ही जाऊँगा । लङ्कामें जाकर क्या मुँह दिखाऊँगा, यह समझकर लौट पड़ा ।

पुनः ग्लानि कि जिसकी जीतेजी यह गति की जाय, उसके बल-पुरुषार्थको धिक्कार है । यथा—'खरदूषन पहिं गइ बिलपाता । धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता ॥ ३ । १८ । २ ॥', 'तोहि जियत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ । ३ । २१ ।'

३ 'सहज भीम०' इति । भाव कि वह ऐसे ही भयङ्कर था उसपर भी अब नाक-कानरहित होनेसे अति विकराल हो गया । यथा—'नाक कान बिनु भइ बिकरारा । जनु स्रव सैल गेरु कै धारा ॥ ३ । १८ । १ ॥' यहाँ दूसरा समुच्चय अलंकार है । हनु० ११ । २६ से मिलान कीजिये । यथा—'निःश्वस्योत्सृज्य बाष्पं नयनकमलयोश्चात्मनो वारि दत्वा कृत्वा लङ्कोपगूढं सकरुणमपुनर्भावि नीत्वा त्रिशूलम् । क्रोधान्धः कालमूर्तिः प्रलयहुतवहाङ्गारनेत्रो विकर्णच्छिन्नघ्राणोऽवतीर्णः पुनरपि समरप्राङ्गणे कुम्भकर्णः ॥ हनु० ११ । २६ ॥'

अर्थात् श्वास लेता, अश्रुपात करता हुआ; करुणासहित फिर न होनेवाले लङ्काके आलिङ्गनको करके त्रिशूल लेकर क्रोधान्ध, कालमूर्तिसदृश, प्रलयाग्निके अङ्गारके तुल्य नेत्रोंवाला, नकटा-बूचा कुम्भकर्ण फिर भी समरभूमिमें आया ।

* 'जय जय कारुनीक भगवाना'—(का०) ।

४ 'देखत उपजी त्रासा' भाव कि पूर्व तो जब नल-नीलादिको उसने पछाड़ा और बहुत-से वानरोंको मार डाला था तब डरकर भगे थे और अब तो उसको देखते ही भयभीत हो गये।

दोहा—जय जय जय रघुबंसमनि धाए कपि दै हूह।
एकहि बार[1] तासु पर छाड़ेन्हि[2] गिरि तरु जूह॥ ६५॥

शब्दार्थ—हूह=वानरोंका हर्षसूचक शब्द। हुँकार, किलकिला, युद्धनाद। जूह=यूथ=झुंड।

अर्थ—'जय जय जय रघुबंशमणि' ऐसा हर्षसूचक नाद करके वानर दौड़े और सबने उसपर पर्वत और वृक्षोंके समूह एक साथ ही छोड़े॥ ६५॥

नोट—'रघुबंसमनि' इति। दिव्य शोभा तथा वज्राङ्ग जनानेके लिये 'मणि' कहा। (बं० पा०)। 'एकहि बार'। भाव कि बहुत डरे हुए हैं अतः सबने मिलकर एक साथ ही उसपर गिरि-वृक्षादि चलाये। (रा० प्र०)

कुंभकरन रनरंग बिरुद्धा। सनमुख चला काल जनु क्रुद्धा॥ १॥
कोटि कोटि कपि धरि धरि खाई। जनु टिड्डी गिरि गुहा समाई॥ २॥

अर्थ—कुम्भकर्ण वीररसमें रँगा हुआ विरोध भावसे सन्मुख चला मानो काल क्रोधित होकर आ रहा है॥ १॥ करोड़ों-करोड़ों वानरोंको पकड़-पकड़कर खाने लगा मानो टीड़ियाँ पर्वतकी गुहामें समा रही हैं॥ २॥

नोट—१ (क) 'काल जनु क्रुद्धा' इति। जैसे प्रलयके समय काल प्रजाओंका संहार करता है, वैसे ही वह वानरोंको खाने लगा है। यथा—'**यथैव मृत्युर्हरते युगान्ते स भक्षयामास हरींश्च मुख्यान्**' (वाल्मी० ६७। ९४)। इस आशयको प्रकट करनेके लिये 'काल जनु क्रुद्धा' की उत्प्रेक्षा की। (ख) कालका पाँवसे चलना असिद्ध है क्योंकि वह दृश्यमान नहीं है और कुम्भकर्ण राक्षस है, काल नहीं है। अतः यहाँ 'असिद्ध विषयाहेतूत्प्रेक्षा' अलंकार है। (वीर)।

२ (क) 'कोटि कोटि कपि···' इति। मिलान कीजिये—'**नीलाञ्जनचय प्रख्यः ससंध्य इव तोयदः। युद्धायाभिमुखो भीमो मनश्चक्रे निशाचरः॥ ९१॥···शतानि सप्त चाष्टौ च विंशस्त्रिंशत्तथैव च। संपरिष्वज्य बाहुभ्यां खादन्विपरिधावति॥**' वाल्मी० ६७। ९८॥' अर्थात् नीलाञ्जनसमूह तथा संध्या-समयके बादलोंके समान भयङ्कर रूप निशाचरने फिर भी युद्धकी इच्छा की और सात, आठ, बीस, तीस सैकड़ोंको हाथसे पकड़-पकड़कर खाता हुआ आगे दौड़ता है। 'कोटि कोटि' का इस प्रकार यहाँ 'अगणित' अर्थ है। (ख) 'जनु टिड्डी···' इति। टीड़ी गिरिगुहामें प्रवेश करती ही हैं और वहाँ छिप जानेसे बचती हैं। अतः इसकी उत्प्रेक्षासे सूचित किया कि ये वानर भी मुखमें जानेसे मरेंगे नहीं, बच जायँगे, जैसा आगे स्पष्ट है।

कोटिन्ह गहि सरीर सन मर्दा। कोटिन्ह मीजि मिलव महि गर्दा॥ ३॥
मुख नासा श्रवनन्हि की बाटा। निसरि पराहिं भालु कपि ठाटा॥ ४॥

अर्थ—करोड़ोंको पकड़कर देहसे मसल डाला। करोड़ोंको हाथसे मलकर पृथ्वीकी धूलिमें मिला दिया॥ ३॥ रीछों और वानरोंके ठट्ट-के-ठट्ट उसके मुँह, नाक और कानोंकी राह निकलकर भाग रहे हैं॥ ४॥

नोट—१ श्रीहनुमान्‌जीने अशोकवनमें जैसे '**कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलएसि धरि धूरि**।' वैसे ही यहाँ कुम्भकर्णने किया। यह दूसरा मिलान कुम्भकर्ण-हनुमान्‌जीका है। मानो हनुमान्‌जीके कृत्यका बदला लिया।

२ 'मुख नासा श्रवनन्हि की बाटा।···' इति। यथा—'**प्रक्षिप्ताः कुम्भकर्णेन वक्त्रे पातालसन्निभे। नासापुटाभ्यां निर्जग्मुः कर्णाभ्यां चैव वानराः॥** वाल्मी० ६७। ३५॥' इससे कुम्भकर्णके स्थूल शरीरकी अत्यन्त विशालता सूचित की। इससे जान पड़ता है कि वह मुँहमें डालता जाता था, चबाता न था, एकदम पेट भर जानेपर चबाने और पचानेको सोचा होगा।

---

१. जो तासु—का०, को० रा०। २. डारेन्हि—को० रा०। छाड़ेन्हि—का०, १७२१, १७६२।

रन मद मत्त निसाचर दर्पा। बिस्व ग्रसिहि जनु एहि बिधि अर्पा॥ ५॥
मुरे सुभट सब* फिरहिं न फेरे। सूझ न नयन सुनहिं नहिं टेरे॥ ६॥
कुंभकरन कपि फौज बिडारी। सुनि धाई रजनीचर धारी॥ ७॥
देखी राम बिकल कटकाई। रिपु अनीक नाना बिधि आई॥ ८॥

शब्दार्थ—दर्पा=दर्पित, गर्वित हुआ। अर्पना=अर्पण वा भेंट करना। टेरना=बुलाना, जोरसे पुकारना, हाँक लगाना। बिडारना=भयभीत करके भगा देना वा तितर-बितर कर देना। धारी=लूट-मार करनेवाली सेना (पु० रा० कु०)।

अर्थ—रणमदमाता कुम्भकर्ण दर्पित हुआ मानो विधाताने संसार इसके अर्पण कर दिया है, उसे यह ग्रास करेगा॥ ५॥ सब बड़े योद्धाओंने (युद्धसे) मुँह मोड़ लिया। वे लौटानेसे भी नहीं लौटते। नेत्रोंसे सुझायी नहीं पड़ता और पुकारनेसे सुनते नहीं॥ ६॥ कुम्भकर्णने कपिदलको तितर-बितर कर दिया, यह सुनकर निशिचर-सेना दौड़ी॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रजीने देखा कि सेना व्याकुल है और नाना प्रकारकी शत्रु-सेना आ गयी है॥ ८॥

शीला—आज कुम्भकर्ण कालरूप है—'**काल जनु क्रुद्धा**'। विधाताकी आज्ञासे काल सदा विश्वको खाया ही करता है।—'**काल बिलोकत ईस रुख०**' (दो० ५०४)। आज मानो विधाताने सारा विश्व इसीको अर्पण कर दिया कि खा ले। (पं० पां०)। अथवा, 'अर्पा=सङ्कल्प किया। इस प्रकारका सङ्कल्प किया है कि आज विश्वभरको भक्षण कर लूँगा, कोई बचने न पायेगा! नहीं तो विश्वका नाश प्रलयमें ही होता है।—(दूसरा अर्थ आधुनिक कई टीकाकारोंने 'ग्रहण' किया है पर 'अर्पण' के इस अर्थका उदाहरण हमें नहीं मिला)।

पां०, रा० प०, रा० प्र०—अर्पा=सङ्कल्प किया। भाव कि जैसे अर्पण करके नैवेद्य लगाते हैं, यथा श्रीरामार्पणमस्तु, वैसे ही इसने अर्पण किया है, भोग लगाकर अब भोजन करेगा। 'दर्पा' अर्थात् अभिमानमें आया। भाव कि रणरूपी मदसे मतवाला होकर आया है, इसीसे अहङ्कार है कि मैंने इतनेको मारा कि कोई सामने नहीं आ सकता।

वीरकवि—ब्रह्माने कुम्भकर्णके भक्षणके लिये विश्व अर्पण नहीं किया है। झुंड-के-झुंड वीरोंको साथ ही खाते देख इस अहेतुको हेतु ठहराकर उत्प्रेक्षा करना 'सिद्ध विषयाहेतूत्प्रेक्षा' है।

नोट—१ '**मुरे सुभट**···' इति। पूर्व सेना भगी, अब 'सुभट' यूथपति भी भागे। पहले यूथप मूर्छित थे, सेनाको कौन लौटाता? इस समय नल-नीलादि भगे, तब अङ्गदने लौटाया है। यथा—'तांस्तु विप्रद्रुतान्दृष्ट्वा राजपुत्रोऽङ्गदोऽब्रवीत्। **नलं नीलं गवाक्षं च कुमुदं च महाबलम्॥** (वाल्मी० ६६। ४)।' कानों एवं नेत्रोंमें मज्जा-मांस भर जानेसे न सुनायी देता है न सूझता है।

पु० रा० कु०—कुम्भकर्णको अहङ्कार कहा है—'तद्भ्रात अहङ्कार' है। इससे भागना ही चाहिये। इसकी ओर न देखना चाहिये।

नोट—२ वाल्मी० ६६ में अङ्गदका नील, नल, गवाक्ष, कुमुद आदिके भागनेपर बहुत प्रकारसे समझाना ११ श्लोकोंमें लिखा है। जैसे भगवान्‌ने अर्जुनको समझाया वैसे ही यहाँ अङ्गदने समझाया था। पहले सुग्रीवका भय दिया कि तुम कहीं जाओगे तो राजासे बच न सकोगे। दूसरे, यह समझाया कि वीर होकर पीठ देनेमें स्त्रियाँ हँसेंगी जिससे जीतेजी भी तुम मृतकसे भी बुरी दशामें रहोगे। यदि आयुर्बल क्षीण हो चुका है तो सन्मुख मरनेमें ब्रह्मलोक प्राप्त होगा। जय होगी तो लोकमें कीर्ति और मरे तो वीरोंके लोकोंका भोग करेंगे। फिर समझाया कि श्रीरामजीके सामने होते ही यह जीवित नहीं रह सकता। (श्लोक १८-२८)। पर वे फिर भी न लौटे; तब फिर समझाया और लौटाया।—'फिरहिं न फेरे' में अङ्गदका यह समझाना कविने गुप्त रीतिसे कह दिया है।

वि० त्रि०—'**कुंभकरन**···**धारी**' इति। कुम्भकर्णने वानरी सेनाको तितर-बितर कर दिया, यह सुनकर निशाचरी सेना दौड़ी कि यही अवसर शत्रुकी सेनाके संहारके लिये उपयुक्त है। छितरी-बितरी हुई सेना सङ्घटित सेनासे जिस

* रन (का०)।

प्रकारसे सामना नहीं कर सकती। इस समय आक्रमण करनेसे सारी वानरी सेनाका विध्वंस करना सुन्दर है, जो भागेंगे उनका पीछा करके ऐसा तितिर-बितिर कर देना चाहिये कि फिर इकट्ठा होना दुष्कर व्यापार हो जाय।

☞ यह सेना खरदूषणकी सेनाके समान भयङ्कर और मायावी है यह जाननेके लिये वहाँ और यहाँ 'धारि, विपुल नाराच, विकट पिशाच' आदि एक-से शब्द आये हैं। मिलान दोहा ६७ में देखिये, वहाँपर भी 'धारि' शब्दका आदिमें प्रयोग हुआ है वैसे ही यहाँ भी। इनके भाव मिलानसे स्पष्ट हो जायँगे और आ० २० के छन्दमें देख लें।

दोहा—*सुनु सुग्रीव बिभीषन अनुज सँभारेहु सेन।
मैं देखौं खलबल दलहि बोले राजिवनयन॥ ६६॥

शब्दार्थ—देखना=उपाय या प्रतिकार करना, करना हो सो करना।

अर्थ—राजिवनयन श्रीरामजी बोले—हे सुग्रीव, विभीषण और लक्ष्मण! सुनो। तुम सेनाको सँभालना; मैं इस दुष्टके बल और दलको तो देखूँ (अर्थात् बल और दल दोनोंके नाशका यत्न करूँ)॥ ६६॥

नोट—१ पु० रा० कु०—'देखी राम बिकल कटकाई' और यहाँ 'मैं देखौं' के सम्बन्धसे 'राजिवनयन' कहा। 'राजिवनयन' पद प्रायः वहीं-वहीं प्रयुक्त हुआ है जहाँ-जहाँ प्रभुका जनके दुःखहरण करनेका प्रसङ्ग है। **'राजिवनयन धरें धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥ १। १८। १०॥'** **'राजीव बिलोचन भव भय मोचन'** '। १। २११ छन्द।' देखिये। [कुम्भकर्णने रावणसे कहा था कि मैं जाकर कमलनयनको देखूँ, यथा—**'स्यामगात सरसीरुह लोचन। देखउँ जाइ ताप त्रयमोचन॥'** अतएव उसके भावके अनुकूल कविने यहाँ 'राजिवनयन' पद दिया। पुनः, 'त्रयताप' मिटाकर मुक्ति देंगे यह शीतलता दिखानेके लिये 'राजिवनयन' कहा।(बं० पा०)]

☞ २—यहाँ **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** इस भगवद्वाक्यको चरितार्थ किया है। कुम्भकर्णने कहा कि 'देखउँ जाइ' अतः प्रभु भी कहते हैं कि **'मैं देखउँ खल'**। वह 'त्रयताप' छुड़ाने चला था और प्रभु उसके तापको छुड़ायेंगे, यथा—**'राजीव बिलोचन भवभयमोचन'**।

पं०—सुग्रीव, विभीषण और लक्ष्मणजीको ही कहनेका भाव यह है कि ये कुम्भकर्ण और मेघनादसे युद्ध करके घायल और थके हैं इससे अब ये विश्राम करें, मैं संग्राम करूँ। वा, सेनाकी रक्षा भी जरूरी है और कुम्भकर्णवध अपने ही हाथ है, इससे उन्हें सेना सँभालनेको कहा।

बं० पा०—दोनों विशेष सावधान रहें, इससे लक्ष्मणको पीछे कहा।

मा० म०—वानरोंपर कृपा करुणा है। अतः लक्ष्मण और सुग्रीवसे कहा कि अब इनका सँभार करो। भाव कि वानर श्रमित हो गये हैं अब मारे न जायँ, विश्राम करें। अतः युद्धसे वानरोंको निवृत्त किया।

पं०—युद्धमें तो क्रोध भरे अरुण नयन होने चाहिये, यहाँ राजिव-नयन क्यों कहा? उत्तर—सुग्रीवादिपर कृपादृष्टि की, और कुम्भकर्णको दया करके मोक्ष देना है। कृपादृष्टि है, इसीसे 'देखौं खलदल' कहा 'मारौं खलदल' न कहा। रोष होता तो 'मारौं खल०' कहते।

कर सारंग साजि कटि भाथा। अरि दल दलन† चले रघुनाथा॥ १॥
प्रथम कीन्ह प्रभु धनुष टँकोरा। रिपुदल बधिर भयउ सुनि सोरा॥ २॥

शब्दार्थ—टंकोर (टंकार)=धनुषकी प्रतंचिका (डोरी) को खींचकर जो शब्द किया जाता है।

अर्थ—हाथमें शार्ङ्गधनुष और कमरमें तरकश सजकर श्रीरघुनाथजी शत्रु और उसकी सेनाको नष्ट करने चले॥ १॥ प्रभुने पहले धनुषका टंकोर शब्द किया (प्रत्यञ्चा चढ़ाकर खींचा) जिसके शोरसे शत्रुदल बहिरा हो गया॥ २॥

---

* सुनु सौमित्रि कपीस तुम्ह सकल सँभारेहु सैन—का०, मा० म०।

१. बिसिख। † मृगपति ठवनि चले रघुनाथा—को० रा०, का०। मृगपति ठवनिका भाव कि सहज स्वाभाविक चले, कुछ आतुरता नहीं है। वा, अपनी सेना बचाने और शत्रु सेनाका नाश करनेके लिये परम वेगसे चले। दोहा १८ देखिये।

नोट—१ 'शार्ङ्ग' धनुष—यह श्रीरघुनाथजीका मुख्य आयुध है, इसीसे श्रीरामजीके लिये 'शार्ङ्गपाणि' रूढ़ि है। शार्ङ्गपाणि कहनेसे उन्हींका बोध होता है, जबतक दूसरेका नाम बताया न जाय। यथा—'विप्र साधु सुर धेनु धरनिहित **हरि अवतार लयो। सुमिरत श्रीसारंगपानि छन में सब सोच गयो** ॥ गी० १। ४५॥'

बाबू श्यामसुन्दरदासजी लिखते हैं कि 'शार्ङ्ग नामका धनुष विष्णुहीके हाथमें रहता है। रामावतारके समय जो शार्ङ्ग बतलाया है, वह विश्वकर्माका बनाया हुआ साढ़े तीन हाथ लम्बा था। मनुष्योंके लिये शार्ङ्ग धनुष छः बीताका होता है और उसको घुड़सवार तथा हाथीके सवार लेते हैं। रथी और पदाती बाँसका धनुष लेते हैं। मानुषीय शार्ङ्ग भैंसके सींग आदिसे बनता है और वह 'शार्ङ्गिकं त्रिणतं प्रोक्तं' तीन जगहसे टेढ़ा होता है। पूर्व सतयुगमें ब्रह्मादि देव-गणोंके युद्ध करनेपर २५ पेरवेका एरंड वृक्ष उत्पन्न हुआ, उसके ९ पेरवेका विष्णुका धनुष शार्ङ्ग, ७ का शिवजीका पिनाक, ५ का कोदंड जो रामचन्द्रजीका धनुष है, ३ का गाण्डीव जो अर्जुनका था और १ पेरवेकी श्रीकृष्णचन्द्रजीकी वंशी बनी थी। (वृद्ध० सा०)

वं० पा०—१ (क) **'सजि कटि भाथा'** अर्थात् कमरमें तरकशको खूब मजबूत बाँधकर। (ख) **'अरिदल दलन चले रघुनाथा'**—यहाँ शूरताके सम्बन्धसे वंश-सम्बन्धी 'रघुनाथा' नाम दिया। कुम्भकर्णने सबकी अनाथोंकी-सी दशा कर दी, ये जाकर सबको सनाथ करेंगे। प्रभुने जो सुग्रीवादिसे कहा था कि **'मैं देखौं खल बल दलहि'** उसीके सम्बन्धसे यहाँ **'अरि दल दलन'** चले कहा। 'अरिदल' में अरि और उसका दल दोनोंका भाव है।

'प्रथम कीन्ह धनुष टँकोरा'। प्रतिपक्षी वीरोंको सावधान करनेके लिये टंकार किया, यथा—**'रामस्य धनुषः शब्दं श्रोष्यसि त्वं महास्वनम्। शतक्रतुविसृष्टस्य निर्घोषमशनेरिव ॥'** वाल्मी० सुं० सीता रावणं प्रति २१। २४। अर्थात् तुम इन्द्रके चलाये वज्र-गर्जनके समान श्रीरामजीके धनुषका भयङ्कर शब्द सुनोगे।

नोट—'प्रथम' अर्थात् युद्धारम्भके पहले। **'रिपुदल बधिर भयो'**''' इति। इससे जनाया कि धनुषका टंकार बहुत कठोर और भयङ्कर था। यथा—**'प्रभु कीन्ह धनुष टकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा। भए बधिर ब्याकुल जातुधान न ज्ञान तेहि अवसर रहा ॥ ३। १९ ॥'**—यही भाव यहाँ है।

सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा *। कालसर्प जनु चले सपच्छा ॥ ३ ॥
जहँ तहँ चले बिपुल नाराचा †। लगे कटन भट बिकट पिसाचा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—नाराच=वह तीर जो सारा लोहेका हो। शरमें चार पंख लगे होते हैं और नाराचमें पाँच। इसका चलाना बहुत कठिन है।=नल्लसर जो यवन भाषामें खुदङ्ग कहलाता है और नावकसे छोटा होता है—(रा० प्र०)।

अर्थ—सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्रजीने एक लक्ष बाण छोड़े। वे ऐसे चले मानो कालरूपी पक्षयुक्त सर्प चले हों ॥ ३ ॥‡ जहाँ-तहाँ बहुत-से नाराच-बाण चले। विकट योद्धा निशिचर कटने लगे ॥ ४ ॥

शीला—**'सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा।'''** इति। ☞ (क) श्रीरामजी सत्यसंध हैं। उन्होंने जो कहा है कि मैं कुम्भकर्णको 'दलसहित देखूँ' उसे पूरा करेंगे, इसीसे लक्ष बाण चलाये। (ख) यहाँ शङ्का होती है कि एक लक्ष बाण धनुषमें कैसे अमाये। प्रमाणं—**'तूणेनैकशरं करेण दशधा संधानकाले शतम्। चापेऽभूत्सहस्र लक्षंगमने कोटिं च कोटिं वधे। अन्ते अर्बनिखर्बबाणनिकरैस्सीतापतेः शोभितम्। एतद्बाणपराक्रमस्य महिमा सत्पात्रदाने यथा ॥'**

अर्थात् जिस तरह सत्पात्रमें एक दान अनेक होकर फलता है, उसी तरह श्रीरामजीका बाण तरकशमें एक रहता है; हाथमें आते ही दस हो जाता है, संधानके समय सौ हो जाता है, और धनुषपर रखते ही हजार हो जाता है तथा चलते समय एक लक्ष हो जाता है, शत्रुवध करनेके समय कोटि-कोटि हो जाता है और अन्त समय वह अर्ब-खर्ब बाणोंका समूह हो जाता है। यह उनके बाणकी महिमा है।

---

* लक्षा, सपक्षा—भा० दा०। † अति तव चले निसित नाराचा—का०। अर्थात् तब बड़े वेगसे चोखे नाराच चले। ‡ सर्प पक्षधर नहीं होते न उड़ ही सकते हैं, 'अनुक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा' है—(वीर)।

श्रीरामजीने धनुषपर बाण चढ़ाया, इसका उल्लेख न करके गोस्वामीजीने वह संख्या लिख दी जो उसमेंसे छूटे। [इसीसे 'छाँड़े' पद दिया, सन्धाने या चलाये न दिया]। छोड़े जानेपर लक्ष हो जाते हैं।

प० प० प्र०—'छाँड़े सर लच्छा' में भाव यह है कि कोई यह नहीं देख पाता कि श्रीरामजी तरकशसे बाण कब लेते हैं, कब उस धनुषपर लगाते और कब खींचते हैं। यथा—'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े॥

'काल सर्प जनु चले सपच्छा' इति। मेघनादके बाणोंके वर्णनसे मिलान कीजिये। यथा—'अतिसय कठिन बान संधाने। अतिसय क्रोध श्रवन लगि ताने॥ सर समूह सो छाँड़ै लागा। जनु सपच्छ धावहिं बहु नागा॥' (उसका सन्धानना, कानतक खींचना और छोड़ना सब देख पड़ा। पर राघवको बाण छोड़तेमात्र देखा)। मेघनादके बाण पक्षयुक्त सर्पके समान चले और श्रीरामजीके बाण सपक्ष कालसर्पके समान चले। इस तरह इनके बाणोंको अत्यन्त कराल और प्राणहारक जनाया।

नोट—'पिशाच' इति। (क) निशाचरोंको पिशाच कहकर जनाया कि ये ऐसे विकट हैं कि इनकी ओर देखा नहीं जाता, देखनेसे भय लगता है। (पु० रा० कु०)। अथवा, 'पिशाच प्रेत राक्षसोंको एक पर्यायसे कहा' (वं० पा०)। अथवा, वीर टुकड़े-टुकड़े होकर गिरते हैं फिर उठते हैं अतः इन राक्षसोंको पिशाच कहा। यथा—'**महि परत उठि भट भिरत मरत न करत माया अति घनी। सुर डरत चौदह सहस प्रेत**······॥ ३। २०॥'

वि० त्रि०—'**पिशितं आचमनीति पिशाचयः**'। मांस खाते हैं, इसलिये पिशाच कहलाते हैं। ये सब कुम्भकर्णद्वारा बिडारे हुए सैनिक बन्दरोंको मार-मारकर खाना चाहते थे, इसीलिये इन्हें पिशाच कहा। ये जहाँ-जहाँ थे वहाँ-वहाँ सरकारके नाराच चले। इसलिये कहते हैं कि 'जहँ तहँ चले।' ये नाराच अप्रतिक्रिय थे। अतः निरुपाय होकर जो दूसरोंको मारने-काटने आये थे, वे कटने लगे।

कटहिं चरन उर सिर भुजदंडा। बहुतक बीर होहिं सत खंडा॥ ५॥
घुर्मि घुर्मि घायल महि परहीं। उठि संभारि सुभट पुनि लरहीं॥ ६॥
लागत बान जलद* जिमि गाजहिं। बहुतक देखि कठिन सर भाजहिं॥ ७॥
रुंड प्रचंड मुंड बिनु धावहिं। धरु धरु मारु मारु धुनि गावहिं॥ ८॥

अर्थ—किसीके पैर, किसीकी छाती, किसीका सिर, किसीके भुजदण्ड कटते हैं और बहुत-से वीरोंके सौ-सौ टुकड़े हो रहे हैं॥ ५॥ चक्कर खा-खाकर घायल पृथ्वीपर गिरते हैं। जो सुभट (उत्तम योद्धा) हैं वे सँभलकर उठके फिर लड़ते हैं॥ ६॥ बाण लगते ही वे मेघकी तरह गरजते हैं। बहुत-से कठिन बाण देखकर भागते हैं॥ ७॥ बिना सिरके प्रबल भयङ्कर और बड़े वेगवान् धड़ दौड़ते हैं और 'धरो पकड़ो, धरो पकड़ो, मारो मारो' शब्द कर रहे हैं। (बड़ी ध्वनिसे ये शब्द अलाप रहे हैं)॥ ८॥

नोट—१ '**धरु धरु मारु मारु धुनि गावहिं**', भय उत्पन्न करनेके लिये। (क) 'धुनि गावहिं' का भाव कि ऐसा शब्द वे नाच-गाकर करते हैं, उनको इसमें सुख हो रहा है। (ख)—उठकर सँभलकर लड़ते हैं, यह वीरताकी प्रधानता है, इसलिये सुभट कहा।

२ वं० पा०—'**जलद जिमि गाजहिं**', यहाँ गम्भीरता धर्म लेकर जलदका-सा गरजना कहा। प्रथम बड़े जोरसे गर्जे, फिर मरते समय मन्द-मन्द गर्जे। मुण्डका बोलना और रुंडका दौड़ना 'द्वितीय विभावना' अलंकार है।

दोहा—छन महुँ प्रभु के सायकन्हि काटे बिकट पिसाच।
पुनि रघुबीर निषंग† महुँ प्रबिसे सब नाराच॥ ६७॥

कुंभकरन मन दीख बिचारी। हति छन माँझ‡ निसाचर धारी॥ १॥
§भा अति क्रुद्ध महाबल बीरा। कियो मृगनायक नाद गँभीरा॥ २॥

* बनद—का०। † पुनि रघुपतिके त्रोन महुँ। ‡ हती निमिष महुँ निसिचर। § भयउ क्रुद्ध दारुन बलबीरा।—का०, को० रा०।

अर्थ—प्रभुके बाणोंने क्षणमात्रमें विकट पिशाचोंको काट डाला फिर सब बाण आकर रघुवीर श्रीरामजीके तरकशमें प्रवेश कर गये ॥ ६७ ॥ कुम्भकर्णने मनमें विचार देखा कि (मेरे रहते) क्षणमात्रमें निशाचर-सेना मार डाली गयी ॥ १ ॥ वह महाबलवीर बड़ा क्रोधित हुआ और उसने गम्भीर सिंहनाद किया ॥ २ ॥

नोट—**'भा अति क्रुद्ध०'** । क्रोधकी तीन आवृत्तियाँ यहाँतक दिखायीं । (१) प्रथम बार क्रोध न था । (२) दूसरी बार नाक-कान कटनेपर क्रोध हुआ, यथा—**'नाक कान काटे जिय जानी । फिरा क्रोध करि भइ मन ग्लानी ॥ ६५ । ९ ॥'** तब कविने **'काल जनु क्रुद्धा'** की उत्प्रेक्षा की । (३) जब रामजीने विकट पिशाची सेनाका नाश कर दिया तब 'भा अति क्रुद्ध' । इस तरह उत्तरोत्तर क्रोधकी वृद्धि दिखायी । ७० (७-८) देखिये ।

पं०—'मृगनायकनाद' करनेका भाव कि जैसे अनेक मृगोंसे सिंह भय नहीं करता वैसे ही वानरोंको देख इसे भय नहीं है, वानरोंको देखकर गर्जा ।—[मत्तगजराजोंके समूहको देखकर जैसा उत्साह सिंहको होता है वैसा ही वानरसेनाको देख उनके मर्दन करनेका उत्साह इस समय इसमें भरा हुआ है ।]

पु० रा० कु०—कुम्भकर्णको अहङ्कार कहा है । अहङ्कारी सुने सबकी; करे मनकी । सब सहायक मारे गये यह देख क्रोध हुआ । उसने अहङ्कार भरा सिंहवत् गर्जन किया । अहङ्कारमें भरकर लोग बड़े-बड़ोंको निर्मूल करते हैं पर जो अहङ्कारके भी नियन्ता प्रभुकी शरण जाते हैं उन्हें प्रभु बचा लेते हैं ।

कुम्भकर्ण-युद्धका खरदूषण-युद्धसे मिलान

कुम्भकर्ण युद्धमें	खरदूषण युद्धमें
सुनु सुग्रीव बिभीषन अनुज सँभारेहु सेन	**१ लेइ जानकिहि जाहु गिरिकंदर**
रिपु अनीक नाना बिधि आई	**२ आवा निसिचर कटक भयङ्कर**
सुनि धाई रजनीचर धारी	**३ थकित भई रजनीचर धारी**
(१) प्रथम (२) कीन्ह (३) प्रभु (४) धनुष (५) टँकोरा (६) सुनि सोरा	**४ (३) प्रभु (२) कीन्ह (४) धनुष (५) टंकोर (१) प्रथम (६) कठोर घोर भयावहा**
रिपु दल बधिर भयउ	**५ जातुधान भये बधिर ब्याकुल**
पुनि धनु तानि कोपि रघुनायक	**६ तानि सरासन श्रवन लगि ।० कोपेउ समर०**
छाँड़े अति कराल बहु सायक	**७ तब चले बान कराल । फुंकरत जनु बहु ब्याल**
सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा	**८ तब चले बान कराल**
काल सर्प जनु चले सपच्छा	**९ फुंकरत जनु बहु ब्याल**
जहँ तहँ चले बिपुल नाराचा	**१० छाँड़े बिपुल नाराच**
लगे कटन भट बिकट पिसाच	**११ लगे कटन बिकट पिसाच**

☞ बाणोंकी दो आवृत्तियाँ हुई । साधारणको सर्पवत् बाणोंसे और विकट पिशाचोंको नाराचसे मारा । दोनों जगह भट और विकट पिशाच हैं ।

कटहिं चरन उर सिर भुजदंडा	**१२ उर सीस भुज कर चरन । जहँ तहँ लगे महि परन**
बहुतक बीर होहिं सत खंडा	**१३ भट कटत तन सत खंड**
घुर्मि घुर्मि घायल महि परहीं	**१४ जहँ तहँ महि परहिं**
उठि संभारि सुभट पुनि लरहीं	**१५ उठि लरहिं । पुनि उठत करि पाखंड**
लागत बान जलद जिमि गाजहिं	**१६ चिक्करत लागत बान । धर परत कुधर समान**
बहुतक देखि कठिन सर भाजहिं	**१७ अवलोकि खरतर तीर । फिर चले निसिचर०**

☞ खरदूषणादिने सेनाको डाँटकर फेरा; पर कुम्भकर्णको सेनाकी परवा नहीं; अतः उसने न फेरा ।

रुंड प्रचंड मुंड बिनु धावहिं	**१८ नभ उड़त बहु भुज मुंड । बिनु मौलि०**
धरु धरु मारु धुनि गावहिं	**१९ धरु धरु धरु करहिं भयकर गिरा**

कोपि महीधर लेइ उपारी। डारै जहँ मर्कट भट भारी॥ ३॥
आवत देखि सैल प्रभु भारे। सरन्हि काटि रज सम करि डारे॥ ४॥
पुनि धनु तानि कोपि रघुनायक। छाँड़े अति कराल बहु सायक॥ ५॥
तनु महुँ प्रबिसि निसरि सर जाहीं। जिमि दामिनि घन माँझ समाहीं॥ ६॥

अर्थ—क्रोधित हो पर्वत उखाड़ लेता है और जहाँ भारी वानर योद्धा होते हैं वहीं डाल देता है॥ ३॥ भारी पर्वतोंको देख प्रभुने बाणोंसे उन्हें काटकर धूलिके समान कर डाले॥ ४॥ फिर धनुषको तानकर श्रीरघुनाथजीने क्रोधित हो बहुतसे अत्यन्त कराल (तीक्ष्ण, कठिन) बाण छोड़े॥ ५॥ बाण उसके शरीरमें घुसकर निकल जाते हैं जैसे बिजलियाँ मेघमें समा जाती हैं॥ ६॥

वि० त्रि०—'कोपि महीधर .... भट भारी' इति। जब कुम्भकर्णने देखा कि सारी निशाचरी सेना क्षणभरमें मारी गयी, और बड़ी कठिनतासे तितर-बितर की हुई वानरीसेना फिर जुट चली। सुग्रीवादि भारी सुभट लोग जहाँ-तहाँ खड़े होकर छितराये हुए सैनिकोंको एकत्र कर रहे हैं, तो उसे बड़ा क्रोध हुआ, और बड़े-बड़े पर्वत उखाड़-उखाड़कर उन भारी भटोंके ऊपर फेंकने लगा।

नोट—१—'भट भारी'। भाव कि सामान्य वीरोंसे नहीं बोलता, बड़ोंसे ही भिड़ता है। 'भारे' जिसमें दूरतक फैली हुई सेनाका नाश हो। 'सरन्हि मारि'—ये वज्रास्त्र हैं—(वं० पा०)। २—पुनि, कहा क्योंकि एक बार पूर्व इसी तरह छोड़ चुके हैं।—'सरन्हि काटि रज सम करि डारे'। ३—'अतिकराल' अर्थात् जैसे सर्प फुफुकारते हों,—**'तब चले बान कराल। फुंकरत जनु बहु ब्याल।० अवलोकि खरतर तीर। ३। २०।'** ४—**'दामिनि वन माँझ समाहीं'**। यहाँ श्रीरामजीके सुनहले फोंकवाले बाण बिजली हैं, कुम्भकर्णका काला शरीर काला मेघ है। यहाँ ताबड़तोड़ बाणोंका शरीरमें समाना उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

☞ मिलान कीजिये—**'नीलाञ्जनचयप्रख्यैः शरैः काञ्चनभूषणैः। आपीड्यमानः शुशुभे मेघैः सूर्य इवांशुमान्॥** वाल्मी० ६७। १०४॥' अर्थात् नील और अञ्जनके समूहके सदृश राक्षस सुवर्णविभूषित बाणोंसे मारा जानेपर मेघोंसे युक्त किरणोंसहित सूर्यके समान शोभित हुआ।

सोनित स्रवत सोह तन कारे। जनु कज्जलगिरि मेरु पनारे॥ ७॥
बिकल बिलोकि भालु कपि धाए। बिहँसा जबहिं निकट * कपि आए॥ ८॥

शब्दार्थ—पनारा=परनाला, वह मार्ग जिससे घरमेंका पानी बहकर बाहर निकलता है।

अर्थ—काले शरीरसे रुधिर बहता हुआ ऐसा शोभा देता है मानो काजलके पर्वतमें गेरूके परनाले बह रहे हों॥ ७॥ उसे व्याकुल देखकर रीछ-वानर दौड़े। ज्यों ही वानर पास आये वह खिलखिलाकर हँसा॥ ८॥

नोट—१ (क)—'कज्जलगिरि' की उपमा अत्यन्त काले और पर्वताकार होनेसे दी। गेरू और शोणित दोनों लाल। खून बह रहा है, इसलिये 'पनाले' की उपमा दी। साधारण पर्वत बहुत काले नहीं होते इससे काजलका पर्वत कहा। पुनः कज्जलगिरिका भाव कि यह बहुत शीघ्र नष्ट हो जायगा। मिलान कीजिये—**'स बाणैरतिविद्धाङ्गः क्षतजेन समुक्षितः। रुधिरं परिसुस्राव गिरिः प्रस्रवणं यथा॥** वाल्मी० ६७।१२१।' जिस तरह पर्वतसे झरने झरते हैं उसी तरह उन बाणोंसे विद्ध घावयुक्त होकर उसके अङ्गोंसे रक्त बहने लगा। (ख)—काजलके पहाड़पर गेरूके पनालेकी कल्पना होनेसे 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' हुआ।

२ (क) 'बिहँसा'। यह निरादरसूचक है। भाव कि पूर्व अत्यन्त भयभीत होकर भागे थे, यथा—**'चली बलीमुख सेन पराई। अति भय त्रसित न कोउ समुहाई॥** ६४। १०।' अपनी वह दुर्दशा भूल गये, अब हमारे निकट फिर आये; समझते हो कि अब मैं पुरुषार्थहीन हो गया, तुम्हें मार या खा नहीं सकता?

* भट-(का०)। चलि-(को० रा०)।

☞ यथा कुम्भकर्णद्वारा कपिदलको व्याकुल सुनकर 'धाई रजनीचर धारी' तथा रिपुदलका नाश और कुम्भकर्णको व्याकुल देख 'भालु कपि धाए।' वे सुनकर आये थे, क्योंकि साथ न थे। वे इतने डरे थे कि सुनकर लौटनेवाले न थे, देखा तब लौटे।

दोहा—महानाद करि गर्जा * कोटि कोटि गहि कीस।
महि पटकइ गजराज इव सपथ करै दससीस॥ ६८॥

अर्थ—(और) बड़ा घोर शब्द करके गर्जा, और करोड़ों-करोड़ों वानरोंको पकड़-पकड़कर पृथ्वीपर गजराजकी तरह पटकने और रावणकी दोहाई देने लगा॥ ६८॥

☞ 'गजराज इव' इति। इससे जनाया कि यहाँ महानाद भी गजराजके नादके समान है। देखिये; पहले 'वज्राघात समान' नाद करना कहा, दूसरी बार 'मृगनायक नाद' कहा और यहाँ 'गजराज इव' कहा। इस प्रकार दिखाया कि उसका बल घटता जाता है। सिंहसे अब गजराज हो गया, 'मर्दन करनेवाले' से अब 'मर्दन किया जानेवाला' हो गया।—विशेष ७० (७-८) में देखिये। दससीसकी शपथ करनेसे स्वामिभक्ति दिखायी। शपथ कि अब मुझसे न बचेंगे। [यहाँ पूर्णोपमा है पर उदाहरणका भाव झलकता है।—(वीर)।]

वि० त्रि०—अब कुम्भकर्ण बंदरोंको खाता नहीं, देख लिया कि मुखमें डालते ही ये नाक-कानके रास्तेसे निकल भागते हैं, मरते नहीं। अतः उनके मारनेका यह रास्ता ठीक नहीं, उन्हें उठाकर पृथ्वीपर पटकना चाहिये, जिसमें ये मर जायँ। गजराज जिसे पटकता है, उसे घुमाकर पटकता है, अतः उसके पटकनेसे कोई बच नहीं सकता। इसी भाँति कुम्भकर्ण भी बंदरोंको घुमा-घुमाकर पटकने लगा और रावणकी शपथ करता था कि तुम लोगोंमेंसे किसीको जीता न छोड़ूँगा।

भागे भालु बलीमुख जूथा। बृक बिलोकि जिमि मेष बरूथा॥ १॥
चले भागि कपि भालु भवानी। बिकल पुकारत आरत बानी॥ २॥

शब्दार्थ—बृक=भेड़िया, हुँडार। मेष=भेड़।

अर्थ—भालु और वानरोंके यूथ ऐसे भगे जैसे भेड़ोंका झुंड भेड़ियोंको देखकर भागता है॥ १॥ हे पार्वती! (तब) रीछ-वानर व्याकुल होकर आर्त वाणीसे पुकारते हुए भाग चले† ॥ २॥

☞ मिलान कीजिये—'तं दृष्ट्वा जीविताशं गिरिवरकुहरं त्रस्तचित्ताः कपीन्द्राः केचित्पादान्तवातप्रचलितपवनान्दोलिताः खे चरन्ति। केचिद्दोर्दण्डचण्डभ्रमणनिपतिताः शोणितान्युद्गिरन्ति प्राणान्केचित्प्रवीराः कथमपि दधति स्फीतफूत्कारभिन्नाः॥ हनु० ११। २७॥' अर्थात् उसको देखकर भयभीत वानर जीनेकी आशा देनेवाले गुहाओंमें प्रवेश करते हैं। कोई उसके चरण रखनेके पवनसे कम्पायमान होकर आकाशमें फिरते हैं, कोई वानर प्रचण्ड भुजदण्डके आघातसे गिरते हुए रुधिर उगलते हैं और लम्बी-लम्बी श्वासोंसे विदीर्ण होते हुए कोई-कोई वानर बड़ी कठिनतासे प्राणोंको धारण करनेमें समर्थ होते हैं।

नोट १—वानर-भालुके यूथ-के-यूथ एक साथ भागे, इसीसे 'मेष बरूथ' की उपमा दी। २—'बिकल पुकारत आरत बानी'। आर्तवाणी आगे स्वयं कवि दे रहे हैं।

यह निसिचर दुकाल सम अहई। कपिकुलदेस परन अब चहई॥ ३॥
कृपा बारिधर राम खरारी। पाहि पाहि प्रनतारतिहारी॥ ४॥

* गर्जत धाएउ बेग अति—का०। को० रा०।

† १—यहाँ वानर भालुओंका मिथ्याभय भावाभास है, कुम्भकर्णके कोपरूपी अङ्गसे उत्पन्न हुआ है। यह [illegible] अलंकार है और उदाहरणकी संसृष्टि है।

अर्थ—(वे आर्तस्वरसे कह रहे हैं कि) यह निशिचर अकालके समान है जो वानरकुलरूपी देशमें अब पड़ना चाहता है ॥ ३ ॥ हे कृपारूपी मेघ ! हे खर एवं खलोंके शत्रु श्रीरामचन्द्रजी ! हे शरणागतके दुःखके हरनेवाले ! हमारी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ॥ ४ ॥

नोट—१ दुकाल=दुर्भिक्ष, अकाल, यथा—**'परेउ दुकाल बिपति बस तब मैं गयउँ बिदेस । उ० १०४ ।'** **'कलि बारहिं बार दुकाल परै । बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै ॥ उ० १०१ ।'** कुम्भकर्णको अकाल कहा । अकाल किसी देशपर पड़ता है अतः 'कपिकुल' देश कहा । अकालसे बहुत मरते हैं, इस निशिचरद्वारा वानरवंश ही मरेगा ।

मिलान कीजिये **'ते भक्ष्यमाणा हरयो रामं जग्मुस्तदा गतिम् । कुम्भकर्णो भृशं क्रुद्धः कपीन्खादन्प्रधावति ॥** वाल्मी० ६७ । ९७ ।' अर्थात् कुम्भकर्णसे खाये जानेके भयसे वे वानर उस समय श्रीरामचन्द्रजीकी शरण जा पुकारे कि कुम्भकर्ण अत्यन्त क्रोधित होकर सब वानरोंको खाये डालता है ।

शीला—दुकाल=दो काल । भाव कि एक काल पड़नेसे सब प्राणी नहीं मरते और दो काल पड़नेसे कोई नहीं बचता; सो यह एक लड़ाई तो कर चुका अब फिर आया है इससे अब कोई वानर न बचेगा ।—[पर 'दुकाल'—पद 'दुष्काल, दुर्भिक्ष, अकाल' अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है, यथा—**'कलि नाम कामतरु राम को । दलन हार दारिद दुकाल दुख दोष घोर घन घाम को ॥'**—(विनये), **'कलि बारहिं बार दुकाल परै । बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै ॥** उ० १०१ ।' इसी तरह मा० म० ने दुकालके भाव ये लिखे हैं—कुम्भकर्ण दूसरा काल है । वा, मेघनाद और कुम्भकर्ण दोनों दुकालसम हैं । वा, कुम्भकर्ण और काल दोनों सम हैं ।]

'कृपाबारिधर राम खरारी ।''' इति । (क) जलधर जल बरसाकर अन्न उपजाते हैं जिससे अकाल दूर होनेसे लोगोंका जीवन होता है, यथा—**'होइ जलद जग जीवन दाता । १ । ७ । १२ ।'** भाव कि हम अकालसे मर रहे हैं । आप कृपाजल बरसकर हमें जिलाइये । पुनः, भाव कि आप कृपाजलधर हैं, सदा कृपा करते आये हैं, अब भी कीजिये । यथा—(१) **'कपि अकुलाने माया देखें । सब कर मरन बना एहि लेखें ॥ ५१ । ५ ॥'**

'''कृपादृष्टि कपि भालु बिलोके । भये प्रबल रन रहहिं न रोके ॥ ८ ॥' तक ।

(२) **'देखि निबिड़ तम दसहु दिसि कपिदल भयउ खभार । एकहि एक न देखहिं जहँ-तहँ करहिं पुकार ॥ ४५ ॥'''**

पुनि कृपालु हँसि चाप चढ़ावा । पावक सायक सपदि चलावा ॥'''

भालु बलीमुख पाइ प्रकासा । धाये हरषि बिगत श्रम त्रासा ॥'

(३) **'बालि त्रास ब्याकुल दिन राती । तनु बहु ब्रन चिंता जर छाती ॥**

सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ । अति कृपालु रघुबीर सुभाऊ ॥४।१२॥

(४) **'मैं जो कहा रघुबीर कृपाला । बंधु न होइ मोर यह काला ॥ कि० ८।४ ॥**

'''कर परसा सुग्रीव सरीरा । तनु भा कुलिस गई सब पीरा ॥६॥'

(ख)—'खरारी' का भाव कि (क) जो अजर-अमर होनेका वर पाये हुए थे और जो बड़े मायावी थे उनको आपने कौतुक-सरीखा मारा, तब यह निशाचर क्या है ? (ख) रा० प्र०—यह राक्षस खर (तीक्ष्ण) आँचसे हमें जलाये डालता है ।

मा० म०—'कृपा बारिधर०' का भाव कि वानरसेना मानो तृणसमूह है और कुम्भकर्णका कोप अग्नि है । इस अग्निसे वानरोंको जलते देख श्रीरामचन्द्रजीने करुणाजल वर्षाकर शीतल कर दिया मानो कपियोंका नया जन्म हुआ ।

नोट—३ **'पाहि पाहि प्रनतारतिहारी'** । आप शरणागतके दुःखको हरते हैं । सुग्रीव और विभीषण शरणमें आये तो उनके दुःख दूरकर आपने उन्हें राजा बना दिया । बालिको मारा, रावणके मारनेकी प्रतिज्ञा विभीषणका तिलक करनेसे मानो पूरी ही हो चुकी । हम शरण हैं, हमारे दुःख दूर कीजिये । 'पाहि पाहि' में दुःखकी वीप्सा है ।

वीरकवि—यहाँ उपमा और रूपककी संसृष्टि है । वीरका करुणरस अङ्ग होनेसे 'रसवत अलंकार' है । साभिप्राय विशेषणोंसे परिकराङ्कुरकी ध्वनि है ।

सकरुन बचन सुनत भगवाना । चले सुधारि सरासन बाना ॥ ५ ॥

राम सेन निज पाछे घाली। चले सकोप महाबलसाली॥ ६॥

अर्थ—करुणाभरे वचनोंको सुनते ही धनुष (एवं धनुषपर) बाण सुधारकर भगवान् चले॥ ५॥ महाबलवान् श्रीरामचन्द्रजीने सेनाको अपने पीछे किया और क्रोधसहित चले (आगे बढ़े)॥* ६॥

नोट—१ 'सकरुन बचन' '' इति। ऊपर 'बिकल पुकारत आरत बानी' कहा और यहाँ 'सकरुन बचन।' अतः 'आर्त्तवाणी'='सकरुन बचन।' दोनों पदोंके बीचमें 'आर्त्तवचन' हैं।

२ वं० पा०—(क) 'भगवान्' का भाव कि यह दुकाल ऐश्वर्यबाणसे ही मिटेगा। वानर-सेना जबतक प्रबल रही तबतक आगे रही; जब वह आर्त्त हो करुणवचन बोली, तब उसको पीछेकर श्रीरामजी स्वयं आगे हुए; प्रणतकी रक्षा करनेवाले ढाल बने। (ख)-'महाबलशाली' का यहाँ भाव यह है कि महाबलकुम्भकर्णके शालक हैं—'खलशालक बालक'।

नोट २—(क) वानरोंने कृपावारिधर और प्रणतहारी कहकर रक्षा चाही, अतः उन्होंने कृपा की, दुःख हरा। 'सेन निज पाछे घाली' यह कृपा और प्रणतपालकता है। यथा—'आवत देखि सक्ति खरधारा। प्रनतारति हर बिरद सँभारा॥ (आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा॥) तुरत बिभीषन पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सो सेला। ९३। १—२।' (ख) 'चले' दो बार आया है। एक स्थानसे चलनेका बोधक है, दूसरा सेनाके आगे बढ़नेका। यहाँ यमक अलंकार है।

☞ जब प्रभुका स्मरण करके चले (यथा 'जय जय जय रघुबंसमनि धाए कपि दै हूह॥ ६५॥), तब प्रभुने रक्षा की, रिपुपर कोप न किया। इस बार जब 'आर्त्त' हो पुकारे तब 'चले सकोप महाबल साली।'

☞ जब-जब आर्त्त पुकार होती है या अपने सामने आश्रितपर आघात देखते हैं तब प्रभु कोपको प्राप्त हो तुरंत कृपा करते हैं, यथा—

१ 'सभय देव करुनानिधि जानेउ।'' तब प्रभु कोपि तीब्रसर लीन्हा। धर ते भिन्न तासु सिर कीन्हा। ७०। १—४।'

२ 'तब सत बान सारथी मारेसि। पर्‍यो भूमि जय राम पुकारेसि॥ राम कृपा करि सूत उठावा।
तब प्रभु परम क्रोध कहुँ पावा॥ ९० (७—८)। भए क्रुद्ध जुद्ध-बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे।'

३ 'तब रावन दस सूल चलावा। बाजि चारि महि मारि गिरावा।'
तुरग उठाइ कोपि रघुनायक। खैंचि सरासन छाँड़े सायक। ९१। ५—६।'

४ 'हाहाकार सुरन्ह जब कीन्हा। तब प्रभु कोपि कारमुक लीन्हा। ९२। ५।'

५ 'अब जनि राम खेलावहु एही। अतिसय दुखित होति बैदेही॥''''''
रघुपति कोपि बान झरि लाई'—(देवताओं और सीताजीकी विपत्ति सुनकर)

६ तथा यहाँ, 'सकरुन बचन सुनत भगवाना। चले सकोप महाबल साली।'

इससे कृपा, करुणा, शरणपालकता, आर्तदुःखहर्ता आदि गुण दिखाये।

☞ 'राम सेन निज पाछे घाली।'' इति। इस प्रसंगमें यह दिखाया है कि जबतक मनुष्यको अपने पुरुषार्थका बल-भरोसा रहता है तबतक प्रभु उसकी रक्षा नहीं करते, जब उनके भरोसेपर रहता है तब वे स्वयं सहायक होते हैं।

युद्धमें प्रथम कुम्भकर्णको आते सुना तब वानर अपने बलपर दौड़े—'एतना सुना कपिन्ह जब काना। किलकिलाइ धाये बलवाना। ६४। ३।' तब 'अंगदादि कपि मुरुछित करि समेत सुग्रीव। काँख दाबि कपिराज कहुँ चला अमित बल सींव॥ ६४॥' फिर भी प्रभु रक्षाको न आये।

कुम्भकर्णके लौटनेपर वानर दूसरी बार प्रभुका स्मरण करके उनका जयजयकार करते चले—जय जय जय

---

* 'स चापमादाय भुजङ्गकल्पं दृढज्यमुग्रं तपनीयचित्रम्।
हरीन्समाश्वास्य समुत्पपात रामो निबद्धोत्तमतूणबाणः। वाल्मी० ६७। १३५।'
अर्थात् उत्तम तूण और बाण धारण करके रामचन्द्रजी सर्पसदृश, बड़ी मजबूत प्रत्यञ्चावाले, उग्र, भयंकर, सोनेसे और चित्रित धनुषको लेकर वानरोंको आश्वासन करते हुए उठ खड़े हुए।

रघुबंसमनि धाये कपि दै हूह ॥ ६५ ।' तब प्रभुने स्वयं देखकर रक्षा की । यथा—'कुंभकरन कपि फौज बिडारी । सुनि धाई रजनीचरधारी ॥ देखी राम बिकल कटकाई । रिपु अनीक नाना बिधि आई ॥ सुनु सुग्रीव बिभीषन अनुज सँभारेहु सैन । मैं देखौं खल बल दलहि बोले राजिवनयन ॥ ६६ ॥'

तीसरी बार कुम्भकर्णके व्याकुल होनेपर वानरयूथ अपने बलपर धाये—'बिकल बिलोकि भालु कपि धाए' तब उसने सबको पटका—'महि पटकइ गजराज इव ॥ ६८ ॥' पर प्रभु देखते रहे, रक्षा न की । जब अपने पुरुषार्थका भरोसा छोड़ वे प्रभुकी शरण गये—'पाहि पाहि प्रनतारतिहारी', तब प्रभुने तुरंत रक्षा की, सेनाको पीछे कर लिया, स्वयं आगे हुए—'राम सेन निज पाछे घाली । चले सकोप । ६९ । ६ ।'

खैंचि धनुष सर* सत संधाने । छूटे तीर सरीर समाने ॥ ७ ॥
लागत सर धावा रिस भरा । कुधर डगमगत डोलति धरा ॥ ८ ॥
लीन्ह एक तेहि सैल उपाटी । रघुकुलतिलक भुजा सोइ काटी ॥ ९ ॥
धावा बाम बाहु गिरि धारी । प्रभु सोउ भुजा काटि महि पारी ॥ १० ॥

शब्दार्थ—उपाटना (उत्पाटन)=उखाड़ना । पारना=डालना, गिराना । कुधर=पृथ्वीको धारण करनेवाले, पर्वत ।

अर्थ—धनुष खींचकर उसपर सौ बाण संधान किये । तीर छूटकर उसके शरीरमें समा गये ॥ ७ ॥ बाणोंके लगते ही वह क्रोध भरा दौड़ा । (उसके दौड़नेसे) पर्वत डगमगाने और पृथ्वी हिलने लगी ॥ ८ ॥ उसने एक पर्वत उखाड़ लिया । रघुकुलशिरोमणि श्रीरामजीने वह भुजा काट डाली ॥ ९ ॥ (तब वह) बायें हाथमें पर्वत लेकर दौड़ा । प्रभुने वह भुजा भी काटकर पृथ्वीपर गिरा दी ॥ १० ॥

नोट—१ वाल्मी० ६७ । १५५ में वायव्यास्त्रसे और अ० रा० ८ । २२ में ऐन्द्रबाणसे काटना लिखा है, अतः गोस्वामीजीने कोई नाम न दिया ।

वं० पा०—जिस अङ्गसे अपराध किया उसीको दंड दिया अतः रघुकुलतिलक कहा ।

प० प० प्र०—'लागत सर धावा...' इति । दोनों चरणोंमें एक-एक मात्रा कम रखनेमें भाव यह है कि जो कपिसेना श्रीरामजीके पीछे थी वह कुम्भकर्णके रौद्ररूपको देखकर घबड़ा गयी, उसका मन चिन्ताने व्यथित किया । यह प्रथमार्धसे सूचित है । द्वितीयार्धसे आश्चर्यके अनुभाव सभी देखनेवालोंमें उत्पन्न हुए यह बताया है । ☞ छन्दभेदोंके जाननेवाले छन्दभेदके लक्षणोंद्वारा समाधान करनेका प्रयास करें तो सम्भवतः विशेष उत्तम और सुसंगत भाव निकलेंगे । मा० सं० ।)

काटे भुजा सोह खल कैसा । पक्षहीन मंदर गिरि जैसा ॥ ११ ॥
उग्र बिलोकनि प्रभुहि बिलोका । ग्रसन चहत मानहु त्रैलोका ॥ १२ ॥

अर्थ—भुजाओंके काटे जानेपर वह दुष्ट कैसा शोभित है जैसे पक्षहीन होनेपर मंदर पर्वत शोभित हो ॥ ११ ॥ उसने कड़ी रौद्र दृष्टिसे प्रभुको देखा मानो वह त्रैलोक्यको ग्रसना चाहता है ॥ १२ ॥

नोट—१ जब पर्वतोंके पक्ष थे तब वे उड़ा करते थे, जिससे सृष्टिमें विघ्न और उत्पातका भय रहता था । इन्द्रने पक्ष काट डाले तबसे वे अचल हो गये, हानि पहुँचानेकी सामर्थ्य न रही । अतः वे अब शोभित हैं । वैसे ही हाथ कटनेसे इसका पुरुषार्थ न चलेगा । वह सेना (कपिदल) को हानि न पहुँचा सकेगा । मंदर पक्षहीन होनेसे अब भी शोभित है उसके सम्बन्धसे इसका भी सोहना कहा । नहीं तो भुजा कटनेपर शोभा कैसी ? यहाँ उदाहरण अलंकार है ।

प० प० प्र०—किष्किन्धासे प्रयाणके समय सब वानर भी 'भए पक्षजुत मनहुँ गिरिंदा ।' जबतक वानर कुम्भकर्णके सामने नहीं आये थे तबतक वे मानो पक्षयुत गिरीन्द्र थे और कुम्भकर्ण हाथ कट जानेपर पक्षहीन मन्दराचलके समान है । यह कहकर जनाया कि कुम्भकर्ण भुजहीन होनेपर भी वानर-भालु-सेनासे अधिक बलवान् था । पक्षहीन मंदर अचल होता है, पर कुम्भकर्ण इस दशामें भी दौड़ता है यह विशेषता है ।

* सत सर—(का०) ।

पु० रा० कु०—'उग्र बिलोकनि०' अर्थात् क्रोध दृष्टिसे अथवा रुद्र दृष्टिसे—'उग्रः कपर्दी श्रीकण्ठः स्मरहरः'। यथा—'जब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भएउ जरि छारा॥ १। ८७। ६।' इसीसे 'ग्रसन चहत मानहु त्रैलोका' यह उत्प्रेक्षा दी। पुनः, उग्र=महातीक्ष्ण, सुरासुरभयदायक।—(रुद्र-दृष्टिसे देखनेका भाव कि दृष्टिमात्रसे समस्त त्रिलोकीका संहार कर डालना चाहता है)। आदिमें जब कुम्भकर्ण लङ्कासे चला तब भक्तिभावसे प्रभुके दर्शनाभिलाषसे चला। वैरभावकी भक्ति है, अतः यहाँ 'उग्र बिलोकनि' से उसके अभिलाषाकी पूर्ति दिखायी।

नोट—२ भगवान् त्रिलोकीनाथ हैं। इनको ग्रसना चाहा, इससे त्रैलोक्यको ग्रसना कहा। जब वानरोंको खाता था तब 'विश्व' का ग्रसना कहा। भाव यह कि विश्वके सभी प्राणियोंको वह अलग-अलग बीन-बीनकर खा रहा था, यहाँ तीनों लोकोंको एकदम लील जायगा। यहाँ 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा' है क्योंकि त्रैलोकका ग्रास करना यहाँ असिद्ध आधार है।

दोहा—*करि चिक्कार घोर अति धावा बदनु पसारि।
गगन सिद्ध सुर त्रासित हा हा हेति पुकारि॥ ६९॥

अर्थ—अत्यन्त घोर चिक्कार करके (वह) मुँह फैलाकर दौड़ा। आकाशमें सिद्ध और देवता डरकर 'हा हा हा' यह पुकार करने लगे॥ ६९॥

☞ मिलान कीजिये—'निकृत्तबाहुर्विनिकृत्तपादो विदार्य वक्त्रं वडवामुखाभम्। दुद्राव रामं सहसाभिगर्जन् राहुर्यथा चन्द्रमिवान्तरिक्षे॥ वाल्मी० ६७। १६३॥—दोनों हाथ-पैर कटे हुए वड़वानलकी तरह मुखको बाये हुए बहुत आतुरतासे वह श्रीरामजीपर दौड़ा जैसे चन्द्रमाको राहु ग्रसने दौड़े।

नोट—१ ऊपर कुम्भकर्णको 'गजराज' कहा है। गजका गर्जन 'चिक्कार' कहलाता है, यथा 'चिक्करहिं दिग्गज डोल महि०। सुं० ३५।' अतः यहाँ 'करि चिक्कार' पद दिया। २ ☞ 'हा हा हेति'=हा हा हा इति। अर्थात् सब बड़े कष्टसे हा हा हा करने लगे। इस प्रकारकी सन्धि बहुत आयी है।

यह पाठ का०, रा० गु० द्वि०, छक्कनलालजी, भा० दा० में है। आधुनिक किसी-किसी टीकाकारने जहाँ-तहाँ इसको सुधारकर 'होति' कर लिया है और भी स्थानोंमें जहाँ-तहाँ सन्धि तोड़कर पाठ रखा है। जैसे—'जामवंत मंत्री अति बूढ़ा। सो कि होइ अब समरारूढ़ा। २३ (४)।', 'धरि केस नारि निकारि बाहेर तेति दीन पुकारहीं॥ ८४ छंद॥', 'अरुन नयन बारिद तनु स्यामा। अखिल लोक लोचनाभिरामा। ८५ (९)।' 'भुजदंड पीन मनोहरायत उर धरासुरपद लस्यो॥ ८५ छंद।', 'सगुनोपासक मोक्ष न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं। १११। ७।' और 'कुंभजादि मुनिनायक नाना। गए रामु सब के अस्थाना। ११९ (२)।'

सभय देव करुनानिधि जान्यौ। श्रवन प्रजंत सरासनु तान्यौ॥ १॥
बिसिख निकर निसिचर मुख भरेऊ। तदपि महाबल भूमि न परेऊ॥ २॥

अर्थ—दयासागर रघुनाथजीने देवताओंको भयभीत जानकर (अतः) धनुषको कानपर्यन्त (तक) ताना॥ १॥ बाणसमूहसे निशिचरका मुख भर दिया। तब भी वह महाबलवान् पृथ्वीपर न गिरा॥ २॥

नोट—१ यहाँ उसका महाबल दिखाया। भगवान्के बाण मारनेपर भी वह न गिरा ऐसा बलवान् है। कारण विद्यमान होते हुए भी कार्यका न होना 'विशेषोक्ति अलंकार' है।

सरन्हि भरा मुख सन्मुख धावा। कालत्रोन सजीव जनु आवा॥ ३॥
तब प्रभु कोपि तीव्र सर लीन्हा। धर तें भिन्न तासु सिर कीन्हा॥ ४॥

अर्थ—बाणोंसे मुख भरा हुआ वह प्रभुके आगे इस प्रकार दौड़ा मानो जीवसहित कालरूपी तरकश ही आ रहा है॥ ३॥ तब प्रभुने कोप करके तीव्र बाण लिया और उसका सिर धड़से अलग कर दिया॥ ४॥

* 'करि चिक्कार अति घोर तर'—का०।

☞ मिलान कीजिये—'अपूरयत्तस्य मुखं शिताग्रै रामः शरैर्हेमपिनद्धपुङ्खैः। सम्पूर्णवक्त्रो न शशाक वक्तुं चुकूज कृच्छ्रेण मुमूर्च्छ चापि॥ वाल्मी० ६७। १६४।' अर्थात् श्रीरामजीने स्वर्णसे बँधे हुए पंखवाले तीक्ष्ण बाणोंसे उसके मुँहको भर दिया। वह बोल न सकता था और मूर्च्छित हो गया।—(मानसका कुम्भकर्ण मूर्च्छित नहीं हुआ, वरं काल-समान दौड़ा। यह विशेषता है)।

नोट—'कालत्रोन सजीव' इति। प्रभुके बाण कालरूप हैं ही, यथा—'सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा। कालसर्प जनु चले सपच्छा॥ ६७। ३।' इसका मुख बाण-समूहसे भरा हुआ है अतः उसे तरकश कहा, जिसमें काल-बाण भरे हैं। तरकश दौड़ता नहीं, यह दौड़ा आता है, अतः 'सजीव' अर्थात् प्राणयुक्त कहा।—यह 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है क्योंकि त्रोणका सजीव होना असिद्ध है।

सो सिर परेउ दसानन आगे। बिकल भएउ जिमि फनि मनि त्यागे॥ ५॥
धरनि धसै धर धाव प्रचंडा। तब प्रभु काटि कीन्ह दुइ खंडा॥ ६॥

अर्थ—वह सिर रावणके आगे गिरा। उसको देख रावण ऐसा व्याकुल हुआ जैसा सर्प मणिके छूट जानेसे * (होता है)॥ ५॥ धड़ बड़े वेगसे दौड़ा जिससे पृथ्वी धसी जाती थी, † तब प्रभुने काटकर उसके दो टुकड़े कर दिये॥ ६॥

नोट—कुम्भकर्णका सिर दशाननके सामने पहुँचाया गया और मेघनादका शरीर हनुमान्‌जी लङ्काद्वारपर ही रख आये। उसे भी क्यों न रावणके पास पहुँचा दिया? यह भी साभिप्राय है। कुम्भकर्ण रावणका भाई है। श्रीलक्ष्मणजी रामानुज हैं। लक्ष्मण-शक्तिका बदला यहाँ चुकाया गया। भाव यह कि जैसे हमारे भाईको मूर्च्छित कर तुमने हमें रुलाया, वैसे ही अपने छोटे भाईको मृतक देख अब तुम भी रो लो। भाईका बदला भाईसे चुक गया, अतः मेघनादका शव समीप पहुँचानेकी आवश्यकता न रही।

प० प० प्र०—दशाननके आगे गिरानेमें भाव यह है कि—(क) जैसे इतना बड़ा सिर सहज ही उड़ाया गया वैसे ही तेरे दशों शिर उड़ाये जायँगे। 'अजहूँ चेत अचेत'। (ख) तुझको 'कुंभकरन अस बंधु मम सुत प्रसिद्ध सक्रारि' (दोहा २७) यह अहंकार था। देख ले कि वह तेरा भाई चल बसा और तेरा पुत्र इन्द्रजित् न तो लक्ष्मणको मार ही सका और न उसे रणभूमिसे (इतना बली होते हुए भी) उठा सका। और इधर देख, कि एक निर्जीव बाणने इतना बड़ा मुंड रणभूमिसे तेरे सामने लाकर रख दिया। इन्द्रजित्‌के बलपर हठ करनेसे तेरा विनाश ही होगा। अतः अब भी सीताजीको देकर जीवित रह सकता है, 'यथेच्छसि तथा कुरु।'

पु० रा० कु०—'धरनि धसै' से पैरका बल दिखाया।

‡ परे भूमि जिमि नभ ते भूधर। हेठ दाबि कपि भालु निसाचर॥ ७॥
तासु तेज प्रभु बदन समाना। सुर मुनि सबहिं× अचंभौ+ माना॥ ८॥

अर्थ—अपने नीचे वानर, रीछों और निशाचरोंको दबाते हुए दोनों टुकड़े पृथ्वीपर ऐसे गिरे जैसे आकाशसे पर्वत गिरे॥ ७॥ उसका तेज प्रभुके मुखमें समा गया। (यह देख) सुर मुनि सभीने आश्चर्य माना॥ ८॥

पु० रा० कु०—तेज मुखमें समाया, यह सायुज्य मुक्ति हुई। यही आश्चर्य हुआ।

पं०—शिशुपालका सिर कटते ही उसका तेज तत्क्षण ही प्रभुके मुखमें समा गया था÷ और कुम्भकर्णमें यह बात न

* 'उदाहरण'। † 'धरनि धसै धर धाव' में 'वृत्त्यनुप्रास' अलंकार है।

‡ यह चौपाई १७०४ वाली प्रतिमें नहीं है। पं० रा० गु० द्वि० में है। × सबै (का०)। + अचंभव (भा० दा०)।

÷ 'तावदुत्थाय भगवान्स्वान् निवार्य स्वयं रुषा। शिरः क्षुरान्तचक्रेण जहारापततो रिपोः॥ ४३॥ (शब्दः कोलाहलोऽप्यासीच्छिशुपाले हते महान्। तस्यानुयायिनो भूपा दुद्रुवुर्जीवितैषिणः॥ ४४॥) चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत्। पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खाच्च्युता॥ ४५॥ जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरब्धया धिया। ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम्॥ ४६॥' (भा० १०। ७४। ४३—४६) अर्थात् तबतक भगवान्‌ने उठकर क्रोधसे रिपु शिशुपालके सिरको तीक्ष्ण चक्रसे काट दिया। सब प्राणियोंके देखते-देखते उसके शरीरसे निकला हुआ तेज भगवान् वासुदेवमें प्रवेश कर गया। जैसे आकाशसे गिरा उल्का पृथ्वीमें प्रवेश कर जाता है। तीन जन्मके वैरवाली बुद्धिसे ध्यान करता हुआ वह तन्मय हो गया था। भावना ही भवका कारण है।

हुई, जब इसके धड़के दो टुकड़े हो गये तब तेज प्रभुके मुखमें समाया। यह भेद क्यों? उत्तर—शिशुपालका सिर कटते ही उसकी चैतन्यता जाती रही। चेतनता न रहनेसे उसका कबंध दौड़ता न था। वह सिर कटते ही मर गया। पर कुम्भकर्णका सिर कटनेपर उसका कबंध रणभूमिमें दौड़ता था जिससे स्पष्ट है कि वह अभी मरा नहीं था; जब कबंधके दो टुकड़े हुए तब वह निर्जीव हुआ अतएव तभी प्राण निकले।

गौड़जी—मानसकारने उसके तेजका प्रभुके मुखमें समा जाना, और प्रभुके मुखके समान होना, दोनों भाव शब्दोंसे प्रकट किये हैं। मुक्तिके प्रकारका निर्देश नहीं किया, क्योंकि कल्पभेदसे सभी कुम्भकर्णों और रावणोंको एक-सी मुक्ति नहीं मिलती। इसके सिवा—'**मुक्त न भये हते भगवाना। तीन जन्म द्विज बचन प्रमाना॥ १। १२३।**' मुक्त होनेवाले अर्थका बाधक है। यहाँ तो स्पष्ट है कि उसका तेज प्रभुके लीला-विग्रहमें समाया। लीलाकी आवश्यकतापर फिर लौट सकता है।

मा० म०—यह अर्थ कि सायुज्य मुक्ति प्राप्त हुई ठीक नहीं घटित होता; क्योंकि कुम्भकर्ण नित्यधामका सखा है। अतएव अर्थ है कि उसका तेज श्रीरामचन्द्रजीके मुखके समान प्रकाशमान हुआ और श्रीरामचन्द्रने उसको परतम रूप प्रदान कर अपना साकेतधाम दिया।

बं० पा०—तेज (=जीवात्मा) शरीरसे निकलकर श्रीरामजीके मुखमें समा गया। आगे धाम देना लिखेंगे क्योंकि यह प्रतापी सखा है, इसकी 'लय' मुक्ति नहीं हो सकती। मुखमें समाया तो दुग्ध-जलवत् नहीं वरन् तिल-तण्डुलवत्। वह अर्चिरादि मार्ग होकर नहीं गया किन्तु भगवत्स्वरूपद्वारा धामको गया और वहाँ जाकर निकलकर पृथक हो गया।

नं० प०—कुम्भकर्णका तेज उसको श्रीरामजीसे मिला था, वह तेज फिर श्रीरामजीमें चला गया। यथा—'**तेजस्तेजस्विनामहम्**' इति गीतायाम्।

वि० त्रि०—'**तासु तेज······अचंभौ माना**' इति। '**सुर मुनि सबहि अचंभौ माना**' से स्पष्ट है कि जिस कुम्भकर्णका तेज प्रभुके मुखमें समा गया उसकी सायुज्य मुक्ति हुई, नहीं तो धाम न जाने कितने राक्षसोंको मिला, यथा—'**कहहिं बिभीषन तिन्ह के नामा। देहिं राम तिन्ह कहँ निज धामा॥**' कुम्भकर्णके धाम मिलनेसे सुर-मुनि आदिको आश्चर्य होनेकी कोई बात न थी। न जाने कितने रावण हुए; उनमेंसे कोई नित्यधामका सखा रहा होगा। पर उसकी चरचा मानसमें नहीं है। जिन चार कल्पोंकी कथा रामचरितमानसमें है, उनमेंके रावण कुम्भकर्णोंमेंसे सबकी समान गति नहीं हुई। किसीकी सायुज्य मुक्ति हुई (यथा—'**होइहौ मुकुत न पुनि संसारा**')। किसीको मुक्ति नहीं हुई (यथा—'**मुक्त न भये हते भगवाना**')। यहाँ भी दो प्रकारकी मुक्ति कुम्भकर्ण और रावण दोनोंकी कही गयी है। कुम्भकर्णके विषयमें लिखते हैं—(१) '**तासु तेज प्रभु बदन समाना**' और फिर लिखते हैं (२) '**निसिचर अधम मलायतन ताहि दीन्ह निज धाम।**' इसी भाँति रावणके विषयमें लिखते हैं। (१) '**तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि संभु चतुरानन॥**' (२) फिर लिखते हैं '**तिन्हहु दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्मनिरामयम्**'। इससे स्पष्ट है कि चारों कल्पोंकी रामकथाओंमें साम्य है, जहाँ भेद पड़ता है, वहाँ श्रीगोस्वामीजी दिखला देते हैं। चारों कल्पोंके रावणोंकी गतिमें भेद पड़ा। किसीकी 'सायुज्य मुक्ति हुई; उसका तेज प्रभुके मुखमें समा गया (तिल तण्डुलका उदाहरण ठीक नहीं, न तिल तण्डुलमें समा सकता है और न तण्डुल तिलमें समा सकता है) और जिसका नहीं समाया उसे धाम मिला। यहाँ 'समाना' का अर्थ प्रभुके 'मुखके समान' करना तो अपनी बुद्धिकी अलौकिकताका परिचय देना है। अतः सायुज्य मुक्ति अर्थ करना ही ठीक है।

वे० भू०—यहाँ तो कुम्भकर्णका और आगे रावणका तेज प्रभुके मुखमें प्रवेश कर गया, वह क्या था? वह जीवात्मा ही था या अन्य कुछ? क्योंकि अणुरूप जीव दृष्टिगोचर नहीं हो सकता और यह तेज दिखायी पड़ा।

उत्तर—स्वयं साक्षात् भगवान्‌ने ही अपने परमभक्त एवं सखा श्रीअर्जुनजीको समझाते हुए जब किंचिन्मात्र अपनी दिव्यविभूतिका दिग्दर्शनमात्र वर्णन किया तो उसके अन्तमें कह दिया कि '**एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥** गीता १०। ४०।' ऐसा कहनेके बाद तत्त्व बतलाया कि—'**यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥** गीता १०। ४१।' अर्थात् लोकमें जो कोई भी प्राणी प्रतापी, ऐश्वर्यशाली, लक्ष्मी-कान्तिमान्, पराक्रमी अथवा किसी प्रकारकी भी विशेषता-सम्पन्न होता है उस प्राणीमें वह प्रताप, ऐश्वर्य, लक्ष्मी, कान्ति और पराक्रम

आदि सारी ही विशेषताएँ मेरे अंशसे उत्पन्न समझो अर्थात् वे सारी विशेषताएँ मेरी कलाएँ हैं। यहाँ भगवान्के 'विद्धि' कहनेको यही तात्पर्य ज्ञात होता है कि जबतक मैं चाहूँगा तभीतक जीवविशेषमें ये सारी शक्तियाँ रहकर पुनः मेरी वस्तुएँ मेरे पास चली आयेंगी। और मोक्ष हो जानेपर तो इन (एकपाद्विभूतिस्थ) भोग्य वस्तुओंकी जीवको कोई आवश्यकता ही न रह जायगी—वहाँ तो सभी दिव्यैश्वर्य स्वाभाविक हो जाते हैं। अतः वे वस्तुएँ (तेज, प्रताप, बल आदि) पुनः प्रभुमें ही अन्तर्हित हो जाती हैं।

रावण और कुम्भकर्णके भौतिक स्थूलदेहमें रहनेवाला जो कई प्रकारका विशेष-विशेष तेज था वह सब (बल, पराक्रम, कान्ति, ऐश्वर्यादि) प्रभुके अंशसे था। यथा—'**जाके बल लवलेस तें जितेउ चराचर झारि।**' इसीसे वह प्रभुके मुखमें समा गया जिसे प्रत्यक्ष रूपसे देवता एवं मुनियोंने (जो वहाँ उपस्थित थे) देखा कि जो तेज जहाँसे प्रादुर्भूत हुआ था वह वहीं अन्तर्हित—लीन हो गया और रावण, कुम्भकर्ण नामसे अभिहित जीवात्मा दिव्यभगवल्लोकको प्राप्त हुए। ऐसा वहींपर देवताओं एवं मन्दोदरीके कथनसे स्पष्ट है। यथा—'**अधम सिरोमनि तव पद पावा। यह हमरे मन बिसमय आवा॥**' इत्यादि।

सि० ति०—तेजस् अग्निका नाम है। यहाँ अग्निलपटके समान उसके तेज-प्रताप आदिसे तात्पर्य है। यह श्रीरामजीके तेजके अंशसे था। यथा—'**यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥** गीता १०। ४१॥' अतः उसका तेज अपने परम कारण श्रीरामजीके मुखमें प्रवेश कर गया, अग्निका परम कारण श्रीरामजीका मुख है। यथा—'**मुखादग्निरजायत**' (पुरुषसूक्त)।

जीवात्मा तेजसे भिन्न वस्तु है, वह अणु है। अतः वह किसीकी भी दृष्टिका विषय नहीं हो सकता। बालाग्रके सौ भाग करे, फिर इस एक-एकके भी करे, वैसा सूक्ष्म जीवका स्वरूप है। यथा—'**एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः** मु० ३। ९।', '**बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥** श्वे० ५। ९ ४॥' इसका अनुभव ज्ञानदृष्टिसे होता है। यथा—'**आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥** गीता २। २९॥' और यहाँ तो '**सुर मुनि सबहिं अचंभव माना।**' कहा गया है। ऐसा ही रावण तथा शिशुपाल और परशुरामके प्रसङ्गोंमें भी कहा गया है।...'**ज्याघोषमकरोद् वीरो वीरस्यैवाग्रतस्तदा। ततः परशुरामस्य देहान्निष्क्रम्य वैष्णवम्। पश्यतां सर्वदेवानां तेजो राममुखेऽविशत्॥** नृ० पु०॥' अर्थात् सब देवताओंके देखते हुए परशुरामका वैष्णव तेज उनकी देहसे निकलकर श्रीरामजीके मुखमें समा गया। तीनोंमें लोगोंका देखना कहा गया है। ('**हरषे देखि संभु चतुरानन**', '**पश्यतां सर्वभूतानाम्**', '**पश्यतां सर्वदेवानाम्**')। तब यह तेज जीवात्मा नहीं हो सकता। पुनः यह भी परशुरामप्रसङ्गसे स्पष्ट है कि जब उनका तेज श्रीरामजीके मुखमें चला गया तब भी परशुरामजी जीते-जागते रहे। तब तो उक्त तेजको जीवसे भिन्न ही मानना होगा।

'तब सुर-मुनिको आश्चर्य क्यों हुआ?' इसका उत्तर यह है कि औरोंका तेज प्राकृत तेजमें ही मिलता है पर इसका तेज परम कारणरूप रामजीके मुखमें मिला, अतः जीवात्मा भी अपने परम कारणके धामको निस्सन्देह प्राप्त हुआ। यथा—'**ताहि दीन्ह निज धाम**'। श्रीरामबाणसे शुद्ध होकर उसका जीवात्मा अर्चिरादि मार्गसे परम गति साकेत धामको गया।

'मुक्त जीवोंकी परमधाम-यात्रा अर्चिरादि मार्गसे होती है। वह आँखसे नहीं देखी जाती, शास्त्रद्वारा जानी जाती है। इसे भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजीने निर्णय करके लिखा है। यथा—'**ततश्चायं क्रमः सम्पन्नः नाडीरश्मिप्रवेशानन्तरमर्चिषमर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षादुत्तरायणमासांस्तेभ्यः संवत्सरं संवत्सराद्वायुं वायोरादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो वैद्युतं वैद्युताद्वारुणं वारुणादैन्द्रमैन्द्राद्धातृलोकं धातृलोकाद्विरजां (प्राप्य) तत्र स्नात्वा श्रीसाकेतलोकद्वारमिति (प्राप्नोतीति)॥**' (ब्रह्मसूत्र आनन्दभाष्य ४। ३। ३); अर्थात् इससे यह क्रम सिद्ध हुआ कि नाडीरश्मिके प्रवेशके अनन्तर (१) अर्चिष=अग्निलोकमें जीव जाता है, वहाँसे (२) दिनमें, वहाँसे (३) शुक्लपक्षमें, वहाँसे (४) उत्तरायण मासोंमें, वहाँसे (५) संवत्सरमें, वहाँसे (६) वायुमें, वहाँसे (७) आदित्यमें, वहाँसे (८) चन्द्रमामें, वहाँसे (९) वैद्युतमें, वहाँसे (१०) वरुणमें, वहाँसे (११) इन्द्रलोकमें, वहाँसे (१२) ब्रह्माजीके लोकमें पहुँचकर उसके

पश्चात् विरजानदीमें (स्नान करके सूक्ष्म शरीर छोड़ दिव्य देह प्राप्त कर दिव्यालंकारोंसे अलंकृत हो) श्रीसाकेत लोकको प्राप्त होता है।'

'अर्चिरादि शब्द अर्चिरादि अभिमानी देवताओंके अर्थको कहते हैं। यथा—'अर्चिरादिशब्दानाञ्चार्चिराद्यभिमानि-देवतापरत्वमिति प्रागेवाभिहितम्' (ब्रह्मसूत्र आनन्दभाष्य ४। ३। ४)।'

विद्युत्‌लोकसे आये हुए देवके साथ ही ज्ञानी ब्रह्मलोकपर्यन्त जाता है। यथा—'वैद्युतेन विद्युल्लोकादागतेनामानवे-नैवातिवाहिकेन विद्युत उपरिष्टाद्‌ब्रह्मविदामाब्रह्मप्राप्तेर्गमनम्।' (ब्रह्मसूत्र आनन्दभाष्य ४। ३। ५)। अर्थात् अर्चि आदि अपने लोकपर्यन्त ही रहते हैं। विद्युत् लोकका देवता ब्रह्मप्राप्तितक जीवके साथ जाता है। उसके आगेके वरुण और इन्द्र भी अपनी-अपनी सीमासे लौट आते हैं। अपने लोकसे प्राप्त होकर ब्रह्माजी वैद्युतके साथ अन्ततक जाते हैं।'

'यहाँ तेजमात्रका मुखमें प्रवेश करना स्पष्ट कहा गया है, जीवात्माकी मुक्ति उपर्युक्त शास्त्रप्रमाण एवं अनुमानसे जानी गयी, स्पष्ट नहीं कही गयी, क्योंकि चार कल्पोंकी कथा एक साथ चल रही है। उनमें जय-विजयके कल्पवाले कुम्भकर्णकी मुक्ति अभी नहीं हुई, अगले जन्ममें होगी।'

नोट—दोहा ७० **'दीन्ह निज धाम'** भी देखिये।

नोट—१ इस (कुम्भकर्णयुद्ध) प्रकरणमें लक्ष्मणजीका एक बार भी कुम्भकर्णसे युद्ध नहीं दिखाया गया। रावण और मेघनाद दोनोंके युद्धमें लक्ष्मणजी भी शामिल रहे और मेघनाद-युद्धमें तो वे ही अग्रसर वा प्रधान थे। वाल्मीकीयमें वानरोंके शरण पुकारनेपर लक्ष्मणजी ही प्रथम कुम्भकर्णसे लड़ने आये और उसके कवचादि तोड़ डाले तब उसने लक्ष्मणजीसे कहा—यथा वाल्मी० ६७ (१०९–११३)।

प्रगृहीतायुधस्येह मृत्योरिव महामृधे। तिष्ठन्नप्यग्रतः पूज्यः किमु युद्धप्रदायकः॥
ऐरावतं समारूढो वृतः सर्वामरैः प्रभुः। नैव शक्रोऽपि समरे स्थितपूर्वः कदाचन॥
अद्य त्वयाहं सौमित्रे बालेनापि पराक्रमैः। तोषितो गन्तुमिच्छामि त्वामनुज्ञाप्य राघवम्॥
यत्तु वीर्यं बलोत्साहैस्तोषितोऽहं रणे त्वया। रामसेवैकमिच्छामि हन्तुमस्मिन् हते हतम्॥
रामे मयात्र निहते येऽन्ये स्थास्यन्ति संयुगे। तानहं योधयिष्यामि स्वबलेन प्रमाथिना॥

अर्थात् बड़े भयङ्कर युद्धमें आयुध लिये साक्षात् मृत्युके सदृश मेरे सामने स्थित होनेपर तुम पूज्य हो, बड़ाईके योग्य हो, युद्धकी आवश्यकता नहीं। देखो, ऐरावतपर सवार सब देवताओंसहित इन्द्र भी समरमें कभी भी हमारे सामने नहीं स्थित हो सके। बालक होनेपर भी तुम्हारे पराक्रमसे हम सन्तुष्ट हो गये। तुम्हारी आज्ञासे रामके पास मैं जानेकी इच्छा करता हूँ। कारण कि हम तुम्हारे बलसे सन्तुष्ट हो गये। हम केवल रामको ही मारना चाहते हैं जिनके मारे जानेपर सभी मरे हुए-से हैं। हमसे रामजीके मारे जानेपर जितने वानर यहाँ रह जायँगे उनको हम अपने बलसे मन्थन करेंगे।

इसका उत्तर लक्ष्मणजीने हँसकर दिया—यथा—(६। ६७। ११४–११६) 'इत्युक्तवाक्यं तद्रक्षः प्रोवाच स्तुति-संहितम्। मृधे घोरतरं वाक्यं सौमित्रिः प्रहसन्निव। यस्त्वं शक्रादिभिर्देवैरसह्यः प्राप्य पौरुषम्॥ तत्सत्यं नान्यथा वीर दृष्टस्तेऽद्य पराक्रमः। एष दाशरथी रामस्तिष्ठत्यद्रिरिवाचलः॥' अर्थात् हे वीर! इन्द्रादि देवताओंसे भी असह्य पराक्रम प्राप्त करना तुम्हारा सत्य है, झूठा नहीं, वह पराक्रम तुम्हारा हमने आज देखा। देखो, पर्वतकी तरह ये दाशरथी रामजी स्थित हैं।

यह सुनकर वह रामजीके पास गया। युद्ध इसीसे न हुआ। हनु० और अ० रा० में भी युद्ध नहीं है।

कुम्भकर्ण-युद्धकी कुछ आवृत्तियाँ

☞ पहले क्रोधरहित, फिर 'काल जनु क्रुद्धा' तत्पश्चात् 'अतिक्रुद्ध'। प्रथम क्रोधरहितदशामें शरीरके बलसे काम लिया। घूँसा और हाथ-पैरसे ही सबको मारकर अचेत किया। मुखियोंको ही पछाड़ा; छोटोंसे न बोला—'अंगदादि कपि मूर्छित करि समेत सुग्रीव।...॥ ६४॥' दूसरी बात नाक-कान कटनेकी ग्लानिसे 'काल जनु क्रुद्धा', छोटे-बड़े सबको पकड़कर खाया। काल छोटे-बड़ेका विचार नहीं करता। कालका क्रोध प्रलयमें होता है तब सबका नाश करता है।

यहाँ 'कोटि कोटि कपि धरि धरि खाई'। अबकी हाथ-पैरके अतिरिक्त मुखसे भी काम लिया। तीसरी बार 'अति क्रुद्ध' हुआ तब पहिले सिंहनाद करके पर्वत उखाड़कर चलाये—**'कोपि महीधर लेइ उपारी। डारइ जहँ मर्कट भट भारी॥ ६८। ३॥'** 'फिर महानाद करके गर्जा और करोड़ों-करोड़ों वानरोंको पटकने और रावणकी दुहाई देने लगा। ६८ (१-२) देखो। इति प्रथमावृत्तिः।

२—जबतक सेनासे युद्ध करता रहा तबतक क्रोधका स्वरूप यह था—**'बिस्व ग्रसिहि जनु एहि बिधि अर्पा'**, **'कोपि महीधर लेइ उपारी। डारइ जहँ मर्कट भट भारी'**, **'कोटि कोटि गहि कीस। महि पटकै गजराज इव सपथ करै दससीस'॥** उसका धावना नहीं कहा गया। जब श्रीरामजीसे युद्ध हुआ और बहुत बाण लगे तब रिसका स्वरूप यह था कि धरती हिलने लगी—**'लागत सर धावा रिस भरा। कुधर डगमगत डोलति धरा'** वह अब धावता भी है। **'धावा बामबाहु गिरि धारी।'**, **'उग्र बिलोकनि प्रभुहि बिलोका। ग्रसन चहत मानहु त्रैलोका॥'** **'करि चिक्कार घोर अति धावा बदन पसारि। गगन सिद्ध सुर त्रासित हा हा हेति पुकारि॥'** सुर-सिद्धतक अब डर गये। इससे ज्ञात हुआ कि वह सेनाको कुछ समझता ही न था और सत्य ही ऐसा कर दिखाया। यह पुरुषार्थ रावणमें भी न था। इति द्वितीयावृत्तिः।

३—(क) वानरी सेनाकी दशा। पहले युद्धमें जब क्रोध न था तब—**'चली बलीमुख सेन पराई। अति भय त्रसित न कोउ समुहाई॥ ६४। १०॥'** दूसरे युद्धमें क्रोध होनेपर कोई फेरनेपर भी न फिरे—**'मुरे सुभट सब फिरहिं न फेरे। सूझ न नयन सुनहिं नहिं टेरे॥ ६६। ६॥'** पुनः, (ख) पहलेमें यूथपति मूर्छित हुए, दूसरेमें उन्हें भी खाने लगा। अतः पहलेमें केवल सेना भगी, दूसरेमें यूथपति भी भगे। अति क्रोध होनेपर रीछ-वानर यूथ-के-यूथ भागते हैं और आर्त्त होकर पुकार करते हैं।—**'चले भागि कपि भालु भवानी। बिकल पुकारत आरत बानी॥'** इति तृतीयावृत्तिः।

४—(क) पहिलेमें सेना भगी। दूसरेमें सेनापति। तीसरेमें जान पड़ता है कि सेनापति और सेना दोनों भगे; इसीसे पहले दो बार दो-दो चरणमें भागना कहा और अबकी चारमें। (ख) पहिले जो जहाँ पाता है भागता है—**'न कोउ समुहाई'**। दूसरेमें 'सब सुभट' एक साथ फिरे। तीसरेमें रीछ-वानरका कम-से-कम एक-एक यूथ एक-एक साथ भगे और कुछ इधर-उधर भी। यूथप और सेना दोनों भगे।

५—गर्जन। (क)—प्रथम लङ्कासे चला तब 'वज्रपात' के समान गर्जा—**'महिष खाइ करि मदिरा पाना। गर्जा बज्राघात समाना॥ ६३। १॥'** वज्राघातसे लोग सहम जाते हैं, मूर्च्छित हो जाते हैं, व्याकुल हो आँख-कान बंद कर लेते हैं—**'गाजेउ कपि गाज ज्यों बिराज्यो ज्वालजालयुत भाजे धीर बीर अकुलाइ उठ्यो रावनो'**, **'गाजेउ कपिराज रघुराजकी सपथ करि मूँदे कान जातुधान मानो गाजे गाजके'**। (ख)—दूसरी बार ग्लानिके कारण गर्जा नहीं, पर जब सेना सब मारी गयी तब अति क्रुद्ध होनेसे सिंहनाद किया। सिंहनादसे केवल भय होता है। (ग)—पर्वत चलानेपर जब वाणसे उसे चूर-चूर देखा और अनेक बाणोंसे रामजीने उसे घायल किया और वानर निकट गये तब **'महानाद करि गर्जा'**। विशेष दोहा ६८, ६९ (५-६), ६८ (७-८) देखिये।

सुर * दुंदुभी बजावहिं हरषहिं। अस्तुति करहिं सुमन† बहु बरषहिं॥ ९॥
करि बिनती सुर सकल सिधाए। तेही समय देवरिषि आए॥१०॥

अर्थ—देवता नगाड़े बजाते और प्रसन्न होते हैं। स्तुति करते और बहुत फूल बरसाते हैं॥ ९॥ विनती करके सब देवता चले गये। उसी समय देवर्षि नारद आये॥ १०॥

☞ मिलान कीजिये—**'ततो देवाः सऋषयो गन्धर्वाः पन्नगाः खगाः। २९। सिद्धा यक्षा गुह्यकाश्च अप्सरोभिश्च राघवम्। ईडिरे कुसुमासारैर्वर्षन्तश्चाभिनन्दिताः॥ अ० रा० ८। ३०॥'** इन श्लोकोंके 'अभिनन्दिताः', 'ईडिरे', 'कुसुमासारैर्वर्षन्ति' ही मानसके 'हरषहिं', 'अस्तुति करहिं' 'सुमन बहु बरषहिं' हैं। देवता, ऋषि, गन्धर्व, पन्नग, खग, सिद्ध, यक्ष, गुह्यक और अप्सराएँ ये सब मानसके 'सुर' शब्दसे जना दिये गये। 'दुन्दुभी बजावहिं' मानसमें अधिक है।

* नभ। † जय जय करि प्रसून बहु—(का०)।

नोट—१ प्रभुकी जय, शत्रुनाश और निजपद-लाभपर एवं सेवा जनानेके लिये हर्ष, पुष्पवर्षादि किये।—(रा० प्र०)। २—'देवरिषि आए'। क्योंकि ये कुम्भकर्णके ज्ञानोपदेष्टा हैं—(वं० पा०)। यथा—'आजगाम तदा रामं द्रष्टुं देवमुनीश्वरः। अ० रा० ८। ३१।'

गगनोपरि हरिगुन गन गाए। रुचिर बीररस प्रभु मन भाए॥ ११॥
बेगि हतहु खल कहि मुनि गए। रामु समर महि सोभत भए॥ १२॥

अर्थ—उन्होंने आकाशमें ऊपर (खड़े हुए) भगवान् श्रीरामजीके मनको भानेवाले सुन्दर वीररसके गुणसमूहका गान किया जो प्रभुके (मनको) भाया॥ ११॥ मुनि यह कहकर चले गये कि दुष्टको शीघ्र मारिये। श्रीरामचन्द्रजी रणभूमिमें शोभित हो रहे हैं॥ १२॥

नोट—१ (क) **'गगनोपरि···'** इति। अ० रा० ८ में नारदजीका उतरकर आना कहा है।—**'नारदो गगनाच्चूर्णं स्वभासा भासयन् दिशः। ३१।'** और वाल्मी० ६७। ७३ में आकाशमें रहना कहा है–**'नभोगताः'** (ख) नारदजी आकाशमें ही क्यों स्थित रहे? क्योंकि पृथ्वीपर अस्थि, रुधिर और मृतक शरीर पड़े थे। (पं०)। अथवा, नारद सुरमण्डलमें थे अतः वहाँसे गुण गाया, नीचे न आये। वा, रामचन्द्रजीका यश उच्च है अतः ऊँचेसे ही गाया। अथवा, महाबली शत्रुपर विजय होनेसे देवता निर्भय हो गये अतः ऊपरसे ही गान किया। (मा० म०, पं०)। अथवा, ऊपरसे ही गुण गाये जिसमें सब सुनें।

पु० रा० कु०—**'गगनोपरि···'** इति। ये गुणगण रुचिर हैं, वीर-रसके हैं, विजयसम्बन्धी हैं और प्रभु मन भाये हैं। खलसे यहाँ मेघनादको जनाया—[१ यहाँ पूज्य कविने 'खल' पद देकर रावण और मेघनाद दोनोंको सूचित कर दिया। २ 'हरिगुणगण'। दुःखहरण करनेके सम्बन्धसे 'हरि' पद दिया। इस पदसे जनाया कि यही चरित गाया कि इसके वधसे बड़ा भारी भार उतर गया, इत्यादि।—**'भक्तानां सर्वक्लेशापहारी इति हरिः।'**—प्रभु अर्थात् जो सब कुछ करनेको अत्यन्त समर्थ हैं, यथा—**'सर्वासु क्रियासु सामर्थ्यातिशयात् प्रभुः'।**]

बं० पा०—क्या गुणगान किया? इसीका उत्तर दूसरे चरणमें देते हैं कि 'रुचिर वीररस'। सुन्दर वीररसके चरित गाये। अतएव प्रभु रामजी, जो रुचिरवीररसमें पगे हुए हैं, सुनकर प्रसन्न हुए कि इन्होंने सामयिक गान सुनाया। अथवा, दूसरी प्रकार अर्थ यह होगा कि 'रुचिर वीररसमें भरे हुए प्रभु श्रीरामजी' नारदके मनमें भाये। (नारदजी प्रसन्न हुए—पां०।) कि प्रभुने यह श्रम भक्तोंके लिये किया। यह भगवत्-भागवतकी अन्योन्य प्रीति है।

नोट—२ अ० रा० में नारदजीने १५ श्लोकोंमें श्रीरामजीके स्वरूप आदिका ही प्रायः वर्णन किया है (श्लोक ३४ से ४८ तक)। उसके बाद कहा है कि आपने देवहितके लिये यह बड़ा भारी काम किया। कुम्भकर्णके वधसे आज पृथ्वीका बहुत कुछ भार उतर गया। **'कुम्भकर्णवधेनाद्य भूभारोऽयं गतः प्रभो। ४९।'**

३ **'बेगि हतहु'**। अ० रा० ८। ५० में मुनिने कहा है कि कल मेघनाद और परसों रावणवध होगा। पर ऐसा हुआ नहीं। देवर्षिकी वाणीका असत्य होना गोस्वामीजीको न भाया, इससे मर्यादा जाती है। इसलिये 'बेगि' शब्द दिया। (ख) 'कहि गए'—कहकर ऊपर-ही-ऊपर ब्रह्मलोकको चले गये। **'ययौ देवैः पूज्यमानो ब्रह्मलोकमकल्मषम्।** अ० रा० ८। ५२।' दोहा ७० भी देखिये। (ग) 'सोभत भए'। यह विजयश्री है। शोभा है (वं० पा०)।

प० प० प्र०—१ **'बेगि हतहु···'** में मात्रा कम करके जनाया कि—(क) भगवान्के वीररसप्रधान मूर्तिका वर्णन करते-करते तथा भगवान्को अपने शापके कारण ही इतना परिश्रम सहना पड़ा इस अनुतापसे मुनि भावावश हो गये, अधिक बोलना असम्भव हो गया। इस तरह प्रथमार्धमें हर्ष, विषाद, अनुतापादिके अनुभावोंको सूचित किया। तथापि मेघनाद और रावणके वध बिना देवादिका दुःख न मिटेगा। यह भी सूचित किया। (ख) द्वितीयार्धमें कोमल, मधुर सर्वाङ्गसुन्दर नीलवर्ण तनपर वीररसके परमाश्चर्यकारक अति मनोहर नयन परम अवर्णनीय हैं यह सूचित किया। यह **'कहि न सक छबि···'** से आगे स्पष्ट किया है।

२ 'श्रीराम' इति। भाव कि श्री अर्थात् ऐश्वर्य, लक्ष्मी, ऐहिक सुख और आनन्द परमानन्दके भी देनेवाले हैं।

छंद—संग्रामभूमि बिराज रघुपति अतुलबल कोसलधनी।
श्रमबिंद मुख राजीवलोचन अरुन * तन सोनित कनी॥
भुज जुगल फेरत सर सरासन भालु कपि चहुँ दिसि बने।
कह दास तुलसी कहि न सक छबि सेष जेहि आनन घने॥

शब्दार्थ—श्रम=पसीना, स्वेद। शोणित=रुधिर, रक्त, खून। कनी (कण)=बहुत छोटा टुकड़ा, जैसे बालूकी रेतके कण। शोणितकण=खूनके छींटे। फेरना=घुमाना, मण्डलाकार गति देना।

अर्थ—अतुलित बलवाले कोशलराज रघुकुलके स्वामी रणभूमिमें विराजमान हैं। मुखपर पसीनेकी बूँदें, नेत्र लाल कमलके समान लाल, शरीरपर रक्तके छींटे हैं, दोनों हाथोंसे धनुष-बाण फेर रहे हैं और (उनके) चारों ओर वानर सुशोभित हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभुकी छविको शेष भी वर्णन नहीं कर सकते जिनके बहुतेरे मुख हैं।

रा० प्र०—ये रुधिर-बिन्दु वे हैं जो कुम्भकर्णादिके शरीरसे बाण लगनेपर उड़े।

नोट—१—'**भुज जुगल फेरत सर सरासन०**' इति। यथा—'**अवनि कुरङ्ग विहग द्रुम डारन रूप निहारत पलक न प्रेरत। मगन न डरत निरखि कर कमलन्ह सुभग सरासन फेरत॥**'—(**गी०**), '**करकमलन्हि धनु सायक फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥** अ० २३९। ८॥' तथा यहाँ आनन्दमें मग्न यह क्रीड़ा कर रहे हैं। वं० पा० जी लिखते हैं कि यह वीरोंकी विजयसूचक मुद्रा है।†

दोहा—निसिचर अधम मलाकर‡ ताहि दीन्ह निज धाम।
गिरिजा ते नर मंदमति जे न भजहिं श्रीराम॥७०॥

अर्थ—हे गिरिजे! निशिचर कुम्भकर्ण नीच, अधर्मी और पापकी खानि था। उसे श्रीरामजीने 'निज धाम' दिया। वे मनुष्य मन्दबुद्धि हैं जो श्रीरामजीका भजन नहीं करते॥७०॥

नोट—'**ताहि दीन्ह**' का भाव कि जो ऐसा पापात्मा था जब उसको धाम दिया तब जो उनका भजन करेंगे उनको क्यों न निज धाम देंगे; यह सोचकर उनका भजन करना चाहिये।

गौड़जी—'निज धाम' से यहाँ अपने लीलाविग्रहमें स्थान देना सूचित होता है। 'निजधाम' प्रभुके लीला-विग्रहके लिये मानसकारने सर्वत्र प्रयुक्त किया है और जन्म-प्रसङ्गमें '**सुर समूह बिनती करि पहुँचे निज निज धाम**' में उसी लीलाविग्रहका संकेत है। लीलाविग्रहमें स्थान पानेमें सभी मुक्तियोंका समावेश है। कोई झगड़ा नहीं है।

नोट—पूर्व कहा कि '**तासु तेज प्रभु बदन समाना**' और यहाँ कहते हैं कि '**ताहि दीन्ह निज धाम।**' इससे कुछ महानुभावोंने 'तेज समाना' का यह अर्थ किया है कि उसका तेज प्रभुके मुखके समान था।' तेजका समाना प्रमाण-सिद्ध है, शिशुपाल इसका प्रमाण है। भक्तकी किसी प्रकार मुक्ति होना—'निज धाम' पाना है। निजधाम, हरिधाम, रामधाम ('**राम धाम पथ पाइहि सोई**', '**बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं**'—(उ० १३०), '**परम पद**' '**जहँ संत सब जाहिं**', '**जहँ तें नहिं फिरे**' इत्यादि जितने शब्द इस ग्रन्थमें आये हैं वे पर्याय हैं। हाँ, कहीं-कहीं शब्दोंके बदल देनेसे भावोंमें कुछ विलक्षणता भी जनायी गयी है। इस प्रकार अनेक मतोंका समावेश भी एक ही श्लेषार्थी शब्द देकर कविने कर दिया है।

इस ग्रन्थमें चार कल्पोंकी कथा मिश्रित वर्णन की गयी है। मुख्य कथा मनुशतरूपा भानुप्रताप रावणवाले कल्पकी ही है। 'रामावतार' के चरित इसमें हैं, चाहे वे राम विष्णु भगवान्, श्रीमन्नारायण, साकेतविहारी राम—किसीके अवतार

* रुचिर तन—(का०)।

† पं०—यहाँ 'फेरत' पद सुधारनेके अर्थमें है। उनमें जो रक्त आदि लगा है उसे पोंछते हैं।

‡ मलायतन—(का०)।

हों। मुख्य कथा साकेताधीशकी है पर जहाँ जिस और अवतारकी कथा विशेष है वह भी प्रसङ्ग आनेपर दे दी गयी है। जिस कल्पमें भानुप्रताप और अरिमर्दन रावण-कुम्भकर्ण हुए उसमें 'तासु तेज समान प्रभु आनन' दोनों मुक्त हो गये, फिर उनका जन्म नहीं हुआ। 'जय-विजय' को तीन जन्मका शाप है इससे उनकी मुक्ति इस जन्ममें हो नहीं सकती इससे उस अवतारकी कथा यहाँ नहीं जान पड़ती। रुद्रगणोंको भी एक ही जन्मका शाप था इससे उस अवतारकी कथा भी यहाँ कवि 'निज धाम' से जना रहे हैं। इसीसे दो बार दो तरहके 'मुक्ति'-वाचक पद दिये। 'निजधाम' विष्णुलोक, श्रीमन्नारायणका लोक और राम-धाम (साकेताधीश रामका लोक) तीनोंमें घटित होता है।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि यहाँ 'निजधाम' शिवलोक है। रुद्रगण-प्रसङ्गमें यह अर्थ संघटित है। 'गिरिजा' सम्बोधन और नारदमुनिका इसी समय आगमन इस भावको पुष्ट करते हैं। इसी समय आनेका अभिप्राय यह है कि इन्होंने रुद्रगणोंको आशीर्वाद दिया था कि **'होइहौ मुकुत न पुनि संसारा'** उनमेंसे एक मुक्त हुआ अब दूसरेकी शीघ्र मुक्तिकी प्रार्थना करते हैं। इससे नारदकी दयालुता सूचित की।

पुनः, प्रथम **'तासु तेज समान'** और दूसरी बार **'दीन्ह निज धाम'** कहनेसे यह भी भाव निकलता है कि इस तरह दोनों मतोंको कविने कह दिया। एक बार एक मुक्ति कही दूसरी बार दूसरी। इस प्रकार जिस कल्पमें कैवल्य मुक्ति होना है उसके लिये 'तेज समान' कहा और जिसमें वे पार्षद रावण हैं जो फिर उसी रूपसे सेवामें रहेंगे उनके लिये 'निज धाम' कहा। वं० पा० जी दोनोंका समानाधिकरण इस प्रकार करते हैं, कि ये पार्षद प्रभुके द्वारा धामको पहुँचेंगे, वहाँ पृथक् हो जायँगे। ७० (७-८) देखिये। वे धामका अर्थ लोक और स्वरूप दोनों लिखते हैं। (गौड़जी—धामका एक अर्थ 'तेज' भी है। लोकका भी अर्थ 'तेज' है और 'स्वरूप' तो है ही। तेज अपने आकरमें मिल भी जाता है और काम पड़नेपर अलग भी हो जाता है। धाममें कल्पभेदके अनुसार सभी तरहके अर्थोंकी गुंजाइश है।)

नोट—२ **'जे न भजहिं श्रीराम०'**। श्रीराम अर्थात् समर-विजय-श्रीयुक्त। (वं० पा०)। 'मन्दमति' इति। **'अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी॥ ४४। ६॥'** देखिये। इससे यह भी जनाया कि जो भजन करते हैं वे सुमतिमान् हैं, चतुर हैं। यथा—**'रामहिं भजहिं ते चतुर नर'**, **'रामहिं भजहिं प्रबीन'**। जे, ते, द्वारा असम वाक्योंकी समता 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है।

दिन के अंत फिरी द्वौ * अनी। समर भई सुभटन्ह श्रम घनी॥ १॥
राम कृपा कपिदल बल बाढ़ा। जिमि तृन पाइ लाग अति डाढ़ा॥ २॥

शब्दार्थ—डाढ़ा=अग्नि। घनी=बहुत; गहरा।

अर्थ—दिनका अन्त होनेपर दोनों ओरकी सेनाएँ फिरीं। (आजकी) लड़ाईमें सुभटोंको गहरा (बहुत बड़ा) परिश्रम और थकावट हुई॥ १॥ श्रीरामजीकी कृपासे कपिदलका बल ऐसा बढ़ा जैसे तिनकाका सहारा पाकर अग्नि खूब लगती है अर्थात् ज्वालायुक्त हो बढ़ती है॥ २॥

नोट—१—**'दिन के अंत'**। इससे जान पड़ता है कि कुम्भकर्णमरण दिन अन्त होनेके पहले ही हुआ। वानर-सेना निशाचरोंको मारती भगाती रही, इसीसे दोनों सेनाओंका लौटना अब कहते हैं। या अपनी-अपनी सेना सँभालनेमें देर लगी। पूर्व मेघनाद-लक्ष्मण-युद्धके अन्तमें कहा है कि **'संध्या भई फिरी दोउ बाहिनी'** अर्थात् वहाँ युद्ध दिनके अन्ततक हुआ था। यदि कुम्भकर्णवधपर सब निशिचर भाग गये होते तो कपिदलका ही फिरना कहते। यथा—**'गरजहिं भालु बलीमुख रिपुदल बल बिचलाइ॥ ४६॥ निसा जानि कपि चारिउ अनी। आए जहाँ कोसलाधनी॥'** **'भुजबल रिपुदल दलमलि देखि दिवस कर अंत। कूदे जुगल बिगतश्रम आए जहँ भगवंत॥ ४४॥'** **'गए जानि अंगद हनुमाना। फिरे भालु मरकट भट नाना॥'**

कुम्भकर्ण सेना साथ न लाया था—**'चला दुर्ग तजि सेन न संगा'**। पर रावणने सेना उसके साथ-साथ ही पीछे भेजी, यह बात वाल्मीकीयसे स्पष्ट हो जाती है। वह सेना पीछे ही रही, जब वानर-भालु-सेना तितर-बितर हो गयी तब

* दोउ—(का०); द्वौ—(भा० दा०)।

वह आगे आयी; यह '**कुंभकरन कपि फौज बिडारी। सुनि धाई रजनीचर धारी॥ ६६। ७॥**' से प्रकट है। इसमेंके जो मरनेसे बचे थे उनका लौटना अब कहते हैं।

रा० प्र० का मत है 'द्वौ अनी' से ऋक्ष और वानर इन दोनों सेनाओंको ले सकते हैं अथवा निशाचर और वानरी ये दोनों सेनाएँ लौटीं।

गौड़जी—यहाँ श्रमका प्रयोग मानसकारने स्त्रीलिङ्गमें किया है। संस्कृतमें श्रम पुँल्लिङ्ग है। सूरदास आदि अन्य कवियोंने भी 'श्रम' को पुँल्लिङ्ग माना है। '**कहै बृथा श्रमि श्रमि स्रम पाये।**' (सूर)। मानसकारने भी अन्य सभी स्थानोंमें पुँल्लिङ्ग ही माना है, जैसे, '**देखि बिभीषन प्रभु स्रम पायेउ। गहि कर गदा क्रुद्ध होइ धायेउ॥**' ऐसा जान पड़ता है कि 'प्रश्न' की तरह 'श्रम' शब्दका प्रयोग भी मानसकारके मतसे उभय लिङ्गोंमें हो सकता था। [त्रिपाठीजी लिखते हैं कि संस्कृत शब्दोंका प्राकृतादि भाषामें प्रयोग करते समय 'लिङ्ग-विपर्यय' करना दोष नहीं है। मानस-व्याकरण पृष्ठ ८८ देखो। (प० प० प्र०)]

नोट—२ 'श्रम घनी' क्योंकि कुम्भकर्ण ऐसे वीरसे कई बार सामना पड़ा था। '**सुभटन्ह घनी श्रम भई**' में यह भी संकेत है कि कुम्भकर्णसे सुभट ही लड़ते रहे, भट पास नहीं जाते थे। (प० प० प्र०)। अथवा पहले भट भी आये थे पीछे सुभट ही लड़े। सुभट ऐसे हारे कि भाग चले। यथा—'**मुरे सुभट सब फिरहिं न फेरे।**···६६। ६।' '**जिमि तृन पाइ०**', भाव कि जैसे वायु पाकर अनायास तृणको अग्नि भस्म कर देती है।

नोट ३—'**रामकृपा कपिदल बल बाढ़ा**' इति। (क) श्रीरामकृपासे सब श्रम दूर हो गया और बल बढ़ा। पुनः (ख) भाव कि यद्यपि कुम्भकर्णके साथ युद्धमें श्रमित हो गये थे तो भी समरका उत्साह उनका बना हुआ है, यह रामकृपाका बल है। (वं० पा०)।

४—'**तृन पाइ लाग अति डाढ़ा**'। यहाँ श्रीरामजीका किञ्चित् कृपाकटाक्ष तृण है, कपिबल मन्दाग्नि है। वह रामकृपाबलरूपी तृण पाकर बढ़ा। अग्नि तृण पाकर बढ़ती ही है।—यहाँ उदाहरण और प्रथम उल्लास अलंकार हैं। किसी टीकाकारका मत है कि 'निशिचरनाशरूपी तृण पाकर कपि-उत्साह बढ़ा' और करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि 'रामचन्द्रजीकी कृपासे कुम्भकर्णके वधसे कपिदलमें बहुत बल बढ़ा जैसे तृणके समूहमें दावा लगनेसे फिर नवीन अङ्कुर उठते हैं। कुम्भकर्णकी मारसे कपिसेना जल रही थी अब उसके मरणसे वानर, ऋक्ष प्रफुल्लित हो गये।

आवृत्तियाँ

प्रथम युद्ध—'**प्रभु प्रताप कहि सब समुझाए। सुनि कपि सिंह नाद करि धाए॥ ३८। ६॥**' से प्रारम्भ होकर '**निसा जानि कपि चारिउ अनी। आये जहाँ कोसलाधनी॥ ४७। १॥**' पर समाप्त हुआ। '**चारि अनी कपि कटक बनावा**' उपक्रम है। दिनका युद्ध '**फिरे भालु मर्कट भट नाना। ४४। ३।**' पर समाप्त हुआ और रात्रिका ४७ (१) पर। इस युद्धमें प्रभुप्रताप समझकर और हर्षित होकर श्रीरामचरणारविन्दमें प्रणाम करके वानर चले।—'**प्रभु प्रताप कहि सब समुझाये**', '**हर्षित रामचरन सिर नावहिं।**० ३८। ७।' अतएव इस युद्धमें बराबर वानर जयशील रहे।

दूसरा युद्ध—'**कोपि कपिन्ह दुरघट गढ़ घेरा। ४८। ९।**' से प्रारम्भ होकर '**संध्या भइ फिरी दोउ बाहिनी। लगे सँभारन निज निज अनी॥ ५४। ४॥**' पर समाप्त हुआ। इसमें कपि प्रभुको प्रणाम करके न चले, प्रथम दिन जय पा चुके हैं, उत्साह बढ़ा हुआ है, अतः कोपकर अपने बलपर चले। फल हुआ कि '**सो कपि भालु न रन महँ देखा। कीन्हेसि जेहि न प्रान अवसेषा॥**' मेघनादकी सबपर जय हुई—'**दस दस सर सब मारेसि परे भूमि कपि बीर। सिंहनाद करि गरजा मेघनाद बलधीर॥ ४९॥**' हनुमान्‌जीने उसका रथ और सारथी नाश किया क्योंकि इनके हृदयमें सदा प्रभु रहते हैं—'**जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चापधर**'। लक्ष्मणजी बिना प्रणाम किये कोपकर चले अतः फिर मेघनादकी जय हुई।

तीसरा युद्ध—'**नाथ भूधराकार सरीरा। कुंभकरन आवत रनधीरा॥ ६४। २॥**' '**एतना कपिन्ह सुना जब काना। किलकिलाइ धाये बलवाना॥ ३॥**' से प्रारम्भ हुआ और '**दिन के अंत फिरीं दोउ अनी।**···। **७१। १।**' पर समाप्त हुआ। प्रणाम न करनेसे सेना हारी। विशेष दोहा ७४ में देखिये। अन्तमें श्रीरामजीने उसे मारा।

छीजहिं निसिचर दिनु अरु राती। निज मुख कहे * सुकृत जेहि भाँती ॥ ३ ॥
बहु बिलाप दसकंधर करई। बंधु सीस पुनि पुनि उर धरई ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—छीजना=क्षीण होना, घटना, नाश होना—'मारेहु तेहि बल बुद्धि उपाई। जेहि छीजइ निसिचर सुनु भाई ॥ ७४ (९) ॥'

अर्थ—निशिचर दिन-रात इस तरह घटते जाते हैं जिस प्रकार अपने मुखसे अपना पुण्य कहनेसे घटता है ॥ ३ ॥ रावण बहुत विलाप कर रहा है, बारम्बार भाईका सिर छातीपर रखता है ॥ ४ ॥

रा० प्र०, पं०—'छीजहिं निसिचर''''राती' इति। रातमें कम होना इस भाँति है कि जो घायल होकर घर जाते हैं वे रातमें मर जाते हैं।

नोट—१ निशिचरके बढ़नेके उदाहरणमें कहा है कि वे ऐसे बढ़ते थे जैसे प्रत्येक लाभपर लोभ बढ़ता है, यथा—**'नित नूतन सब बाढ़त जाई। जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई ॥ १। १८०। २ ॥'** नाशमें 'निज मुख कहे सुकृत **जेहि भाँती** ।' कहा। लाभसे लोभ बढ़ता है; इसलिये बढ़नेमें वह दृष्टान्त दिया। और, सुकृत कथनसे घटते हैं, यथा—**'यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात्। आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥'** इति मनुस्मृतौ। अर्थात् झूठसे यज्ञ और विस्मयसे तपस्या नष्ट होती है, विप्रनिन्दासे आयुर्बल और अपने-आप कीर्तन करनेसे दान नष्ट होता है। अतः घटनेमें यह दृष्टान्त दिया। लाभ होनेमें देर लगती है पर सुकृत क्षीण होनेमें देर नहीं लगती; जैसे राजा ययातिका अनेक जन्मोंके सुकृतोंसे कमाया हुआ स्वर्गराज्य सुकृत-कथनसे तत्क्षण नष्ट हो गया और वे पृथ्वीपर आ गिरे। यह भाव दिखानेके लिये दो प्रकारके दृष्टान्त दिये गये।

२—**'बहु बिलाप'**। वाल्मी० ६८। ९-२४ अर्थात् १६ श्लोकोंमें जो कहा है वह सब इसमें आ गया। पूर्व लिखा जा चुका है कि भाईके शक्तिद्वारा मूर्छित किये जानेका बदला रावण-भ्रातृ कुम्भकर्णका वध करके चुकाया गया। अतएव दोनोंका विलाप भी समान ही हुआ है। वाल्मी० में दिये हुए विलापका मिलान प्रभुके (मानसमें दिये हुए) विलापसे पाठक कर लें। ☞ श्रीराम और रावणके विलापका मिलान—

रावण	श्रीराम
बहु बिलाप दसकंधर करई	**बहु बिधि सोचत सोचबिमोचन**
बंधु सीस पुनि पुनि उर धरई	**राम उठाइ अनुज उर लायेउ**
१६ श्लोकोंमें विलाप	१६ चौपाइयोंमें विलाप
मेघनादने शान्त किया	हनुमान्‌जीने शान्त किया

पर प्रभुके शोकालापको 'प्रलाप' कहा है, विलाप-शब्दका प्रयोग उस प्रकरणभरमें नहीं है। इस भेदसे जनाया कि रावणका कुम्भकर्णपर इतना निर्व्याज प्रेम नहीं है जितना *श्रीरामजीका लक्ष्मणजीपर* है। (प० प० प्र०)।

३—'पुनि पुनि' से जनाया कि छातीसे लगाकर शोकसे मूर्छित हो जाता है, या छाती हाथोंसे पीटने लगता है तब सिर गिर जाता है, अतः जब फिर सावधान होता है तब फिर सिरको उठाकर छातीसे लगाकर विलाप करने लगता है। इसीसे 'पुनि पुनि' पद दिया।

वाल्मी० रा० में विलाप इस प्रकार है—राक्षसश्रेष्ठ रावण बड़ी कठिनतासे होशमें आकर, कुम्भकर्णवधसे दुःखी व्याकुल होकर विलाप करने लगा—हा वीर ! शत्रुओंके दर्पनाशक ! हा कुम्भकर्ण ! हा महाबल ! दैवाधीन होकर तुम हमको छोड़कर यमराजके यहाँ चले गये। हमारे दुःखको बिना मिटाये और शत्रुसेनाको अकेले ही संत्रासित कर हमको छोड़ कहाँ चले गये। हा ! हम अब नष्ट हो गये। क्योंकि हमारा दाहिना हाथ गिर गया जिसके आश्रय हम देव-दानव किसीको न डरते थे। इस तरह देवदानव-गर्वनाशक वीर ! कालाग्निसदृश ! आज तुम रणमें राघवसे मारे गये। जिस आपको वज्र भी कभी किंचित् पीड़ा न कर सका वह आज तुम बाणसे पीड़ित

* धर्म—(का०)।

हो सो रहे हो। देवगणसहित ऋषि गगनस्थ हैं। देखकर हँसते और तुम्हारी निन्दा करते हैं। अवश्य ही आज प्रसन्न होकर लक्ष-सिद्ध वानर लङ्काके कोटपर चढ़कर द्वारको घेर लेंगे। हमें राज्यसे क्या? सीतासे भी अब क्या प्रयोजन! जीकर भी हम क्या करेंगे, यदि हम तुम्हारे मारनेवाले राघवको नहीं मारते। हमारा मरना ही भला है? जीना व्यर्थ है। आज ही हम वहाँ जायँगे जहाँ हमारा छोटा भाई है। भाईको छोड़ क्षणमात्र भी हम जीना नहीं चाहते। पहलेके अपकारी हमको देख सब देवता हँसेंगे। हा कुम्भकर्ण! अब हम इन्द्रको कैसे जीतेंगे। हा! वह हमें महात्मा विभीषण-का शुभवचन अब प्राप्त हुआ जो अज्ञानवश हमने उस समय नहीं ग्रहण किया। विभीषणका वचन कुम्भकर्ण और प्रहस्तका विनाश हमको अत्यन्त लज्जित करता है। उस कर्मका शोकप्रद फल हमको प्राप्त हुआ जो हमने धर्मात्मा विभीषणको निकाल दिया। कुम्भकर्णके मरनेसे रावणकी आत्मा आकुल और अति दुःखी हो गयी। जिससे वह अत्यन्त विलाप करके गिर पड़ा।

रोवहिं नारि हृदय हति पानी। तासु तेज बल बिपुल बखानी॥ ५॥

अर्थ—स्त्रियाँ उसके विपुल बल और तेजकी बहुत सराहना कर-करके हाथोंसे छाती पीटकर रोती हैं॥ ५॥

नोट—१ बड़े लोगोंके मरनेपर तेज-प्रतापादि कहकर रोनेकी रीति है। यथा **'रोवत करहिं प्रताप बखाना॥ तव बल नाथ डोल नित धरनी॥१०३।४-५॥' 'सोक बिकल सब रोवहिं रानी। रूप सील बल तेज बखानी॥ अ० १५६।'**

२—छाती पीटना भी स्वभाव है। यथा—**'मंदोदरी रुदन कर भारी। उर ताड़त बहु भाँति पुकारी॥ ७६।७।'** (मेघनादवधपर); **'उर ताड़ना करहिं बिधि नाना॥ १०३।४॥'** (रावणवधपर)। भाव कि वियोग होते ही छाती क्यों न फट गयी, बड़ी कठोर है।

कुम्भकर्ण-बल-पौरुष-संहार प्रकरण समाप्त हुआ।

मेघनाद-बल-पौरुष-संहार

(नागपाश)

मेघनाद तेहि अवसर आएउ*। कहि बहु कथा पिता समुझाएउ॥ ६॥
देखहु कालि मोरि मनुसाई। अबहिं बहुत का करौं बड़ाई॥ ७॥
इष्टदेव सैं बल रथ पाएउँ। सो बलु तात न तोहि देखाएउँ॥ ८॥

अर्थ—उसी समय मेघनाद आया और बहुत (धीरज बँधानेवाली) कथाएँ कहकर पिताको समझाया॥ ६॥ कल मेरा पराक्रम, पुरुषार्थ देखना, अभी बहुत बड़ाई क्या करूँ॥७॥ हे तात! जो बल और रथ मैंने इष्टदेवसे पाया था वह बल आपको नहीं दिखाया (भाव कि उसका अवसर अभीतक नहीं आया था, अब आया है अतः दिखाऊँगा)॥ ८॥

नोट—१ 'मेघनाद तेहि अवसर आएउ⋯' इति। (क) कुम्भकर्णका वध, उसके सिरका बाणद्वारा रावणके आगे गिरना और उसे देखकर रावणका मणिरहित सर्पकी तरह व्याकुल होना तथा विलाप करनेका संवाद सुनकर मेघनाद आया। वास्तवमें इस समय अब रावणको कौन समझानेको समर्थ हो सकता था? **'जेहिं कहुँ नहिं प्रतिभट जग जाता'** ऐसा भाई कुम्भकर्ण ही जब मारा गया, तब अब जीतकी कौन आशा? जब वैसा ही कोई वीर उससे भी अधिक बलवान् शक्तिमान् हो तभी वह समझानेसे धैर्य धारण कर सकता। मेघनाद अपनेको सबसे अधिक वीर समझता है, अतः वह पिताका शोकाकुल होना सुनकर समझाने आया। (ख) **'कहि बहु कथा'** इति। भाव कि समझाया कि मुझ महाबली मेघनादके जीते-जी आपके दुःखका कारण ही कहाँ है? मैं अभी सब ठीक किये देता हूँ। मैं समस्त शत्रुओंको मार डालूँगा। यथा 'मयि जीवति राजेन्द्र मेघनादे महाबले॥ अ० रा० ८। ५५॥ दुःखस्यावसरः कुत्र देवान्तक महामते। त्यजेतु ते दुःखमखिलं स्वस्थो भव महीपते॥ ५६॥ सर्वं समीकरिष्यामि हनिष्यामि च वै

* आवा, समुझावा।

रिपून् ॥' इतना कहनेसे उसका शोक निवृत्त न हुआ। अतः यह कहकर फिर अपने यज्ञोंद्वारा ब्रह्माको संतुष्ट कर उनसे अनेक वरोंका प्राप्त करने इत्यादिकी बहुत-सी कथाएँ कहीं, तब रावणका शोक दूर हुआ।

२ (क) 'बहुत का करउँ बड़ाई'। भाव कि एकको भी जीता न छोड़ूँगा। (ख) 'इष्टदेव' ब्रह्माजी हैं, उन्हींसे उसने बल और रथ पाया था। पंजाबीजीके मतानुसार महाकाली इष्टदेवी हैं जिनका देवालय निकुम्भिलामें है। रा० प्र० शिवको इष्टदेव कहते हैं। वं० पा० अग्नि या देवीको इष्टदेव लिखते हैं।

'इष्टदेव सों बल रथ पाएउँ।

वाल्मी० उ० २५ (७–१०) में लिखा है कि जिस समय रावण दिग्विजय कर रहा था उस समय शुक्राचार्यने मेघनादसे अग्निष्टोम, अश्वमेध, बहुसुवर्णक, राजसूय, गोमेध, वैष्णवयज्ञ और माहेश्वरयज्ञ ये सात यज्ञ कराये, जिनसे आकाशगामी अविनाशी कामगामी दिव्यरथ और तामसी माया इसने प्राप्त की कि जिस मायासे अंधकार हो जाता है। यह माया संग्राममें छोड़नेसे सुरासुर कोई इसकी गतिको नहीं जान सकेगा। इसके अतिरिक्त उसने अक्षय तर्कश, अजीत धनुष और शत्रुनाशक बलवान् अस्त्र भी पाये थे। जब रावणको इन्द्रने घेर लिया और सब राक्षसोंमें हाहाकार मच गया, उस समय मेघनादने इस मायाको प्रकट किया और देवसैन्यमें प्रवेश करके इन्द्रके पीछे जाकर अदृश्य होकर मायासे ढके हुए इन्द्रको बाणोंसे व्याकुल करके बाँध लिया। इस जीतसे ब्रह्माने इसको 'इन्द्रजित्' नाम दिया। और रावणसे कहा कि इन्द्रको छोड़ दो, इसके बदलेमें वर माँग लो। मेघनादने अमरत्व माँगा, पर ब्रह्माजी बोले कि हमारी सृष्टिमें कोई अमर नहीं है। तब उसने यह माँगा कि विजयके लिये युद्ध करनेकी इच्छासे जब हम विधिपूर्वक अग्निमें होम करें तब हमारे लिये अग्निसे रथ निकले जिसमें घोड़े जुते हों और जबतक हम उस रथपर रहें तबतक अमर रहें। यदि वह संग्रामका यज्ञ बिना समाप्त किये हम युद्ध करें तब उसी समय हमारा नाश हो। (वाल्मी० उ० ३०)।

ब्रह्माका मेघनादको यह वरदान है कि तुम्हारे निकुम्भिलापर्वतमें तुम्हारे देवालयमें बने हुए महाकालीके क्षेत्रमें उपस्थित होकर अभिचार करनेसे तुमको मायामय रथादि प्राप्त होंगे जिनसे तुम्हें शत्रुपर जय होगी। अभिचार वाल्मी० ७३ (१७—२६) में इस प्रकार वर्णित है—

यज्ञकुण्डके चारों ओर सेना, शर्पतकी जगह शस्त्र बिछाया, लाल वस्त्र धारण कर लोहेका स्रुवा और बहेड़ेकी समिधि (ईंधन) एकत्र कर यज्ञ प्रारम्भ किया—मारण-प्रयोगमें ये ही वस्तुएँ काममें लायी जाती हैं। ···पतभालोंके ऊपर अग्नि स्थापित कर सम्पूर्ण काले रंगके छागको जीता ही उस अग्निमें आहुति देने लगा जिससे अग्नि विधूम हो प्रज्वलित हो उठी। उस समय अग्निमें सब विजयसूचक चिह्न दिखायी दिये। अग्निने स्वयं उठकर आहुति ग्रहण की; तत्पश्चात् मेघनादने अपने अस्त्र, धनुष, कवच, रथ आदि मन्त्रसे अभिमन्त्रित किये।

निकुम्भिलापर एक बटवृक्ष भी है उसके मूलमें यह कुण्ड है। इस वृक्षके पास आनेपर मेघनाद अदृश्य होता था। * यथा—'ब्रह्मोपदेशात्सनिकुम्भिलाद्रेर्न्यग्रोधमूलावदमाजगाम॥ हनु० १२। १४।'

एहि बिधि जलपत भयउ बिहाना। चहुँ दुआर लागे कपि नाना॥ ९॥*
इत कपि भालु काल सम बीरा। उत रजनीचर अति रनधीरा॥ १०॥
लरहिं सुभट निज निज जय हेतू। बरनि न जाइ समर खगकेतू॥ ११॥

अर्थ—इस प्रकार बड़बड़ाते सबेरा हो गया! लङ्काके चारों फाटकोंपर बहुतसे वानर जा लगे॥ ९॥ इधर कालके समान वीर वानर भालु और उधर अति रणधीर निशिचर हैं॥ १०॥ योद्धा अपनी-अपनी जयके लिये लड़ते हैं। हे गरुड़! उनका समर वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ११॥

नोट—१ 'एहि बिधि जलपत०' इति। (क) मेघनादकी बातोंको कवि 'जल्पना' कहकर जनाते हैं कि ये डींगें व्यर्थकी हैं, उससे कुछ होनेका नहीं। जो कहता है वह पूरा नहीं कर सकेगा। यही शब्द रावणकी डींगपर श्रीरामजी

---

* 'इष्ट्वोपहारं भूतानां बलवान् रावणात्मजः। उपहृत्य ततः पश्चात्संग्राममभिवर्तते। ४। अदृश्यः सर्वभूतानां ततो भवति राक्षसः। निहन्ति समरे शत्रून्बध्नाति च शरोत्तमैः। ५।—(वाल्मी० ८७)।

प्रयुक्त करेंगे ।—'जनि जल्पना करि०' । (ख) 'चहुँ दुआर लागे०' पूर्व कहा था कि 'रामकृपा कपिदल बल बाढ़ा', उसीको यहाँ चरितार्थ किया कि वे प्रथम ही जाकर फाटकको घेर लेते हैं । जो कुम्भकर्णके ग्रास हो रहे थे, वे ही अब रामकृपासे काल-समान हो गये ।

२ 'इत कपि···' इति । (क) निशाचरोंको 'अति रणधीर' और वानर-भालुको 'काल-सम' कहकर जनाया कि वे बड़ी लड़ाई करेंगे, रणसे भागनेवाले नहीं हैं, बड़ा पराक्रम दिखायेंगे; पर कालके सामने उनका पुरुषार्थ काम न देगा । पुनः (ख) 'कालसम' का भाव कि जो आता है उसीको खा लेते हैं और 'रणधीर' का भाव कि इतने भारी वीर जूझ चुके तो भी ये संग्रामको नहीं छोड़ते ।—यहाँ पूर्णोपमा है । (वं० पा०) । (ग) 'निज निज जय हेतू'—भिरे सकल जोरिहि सन जोरी । इत उत जय इच्छा नहिं थोरी ।··· । ५२ । ४–५ ।' देखिये ।

३ 'खग केतू' इति । कुम्भकर्ण-युद्धमें शिव-पार्वती-संवाद है, उसमें जहाँ-तहाँ पार्वतीजीको ही सम्बोधन किया गया है । पर यहाँ युद्धके प्रारम्भमें ही 'खगकेतू' सम्बोधन दिया है । भुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं कि वही तुम्हारे मोहका प्रसंग आ रहा है, अब सावधान होकर सुनना, फिर न भूल जाना । (पं०) । इसी तरह अरण्यकाण्ड वनचरितके प्रारम्भमें 'उमा' सम्बोधन है—'उमा रामगुन गूढ़' ।

दोहा—मेघनाद मायामय * रथ चढ़ि गएउ अकास ।
गर्जेउ अट्टहास करि † भइ कपि कटकहि त्रास ॥ ७१ ॥

अर्थ—मेघनाद मायामय रथपर चढ़कर आकाशमें गया और ठट्ठा मारकर गर्जा । (जिससे) कपिदलको भय हुआ ॥ ७१ ॥

नोट—१ (क) 'मायामय रथ चढ़ि' से जनाया कि ब्रह्माके वरदानानुसार निकुम्भिला क्षेत्रमें जाकर अग्निमें विधिपूर्वक होम करके यह रथ और अस्त्र-शस्त्र पाकर वह रथमें चढ़कर आया । (ख) 'गएउ अकास' । रथ भूमिपर भी चलता तो भी वह अदृश्य रहता पर वह आकाशमें गया क्योंकि वहाँसे एक ही ठौर स्थित होकर सारी सेनापर बाणवृष्टि कर सकेगा । (ग) 'गर्जेउ अट्टहास करि०' । अट्टहास करके गर्जनेसे शत्रु-बलका तिरस्कार और अपनी विजयपर विश्वास सूचित किया । जैसा कि आगे उसके दुर्वादसे सिद्ध है—७२ (३) देखिये । (घ) 'भइ कपि कटकहि त्रास' इति । अट्टहास और गर्जन सुनकर ही सेना भयभीत हो गयी; कारण कि पूर्व इसकी माया एवं इसके भीषण पराक्रमका परिचय सबको मिल चुका है, उससे अत्यन्त व्याकुल हो चुके हैं, यथा—'कपि अकुलाने माया देखे । सब कर मरन बना यहि लेखे ॥ ५१।५ ॥' और अबकी तो वह प्रथमसे ही अदृश्य है और ठट्ठा मारकर गरज रहा है, न जाने क्या कर डाले ! [वीर—'स्मृति संचारीभावका अङ्ग होकर भय स्थायीभावका वर्णन 'प्रेयालंकार' है ।]

सक्ति सूल तरवारि कृपाना । अस्त्र सस्त्र कुलिसायुध नाना ॥ १ ॥
डारै परसु परिघ पाषाना । लागेउ बृष्टि करै बहु नाना ॥ २ ॥

अर्थ—शक्ति, त्रिशूल, तलवार, कृपाण (दुधारा खड्ग, कटार); अस्त्र-शस्त्र आदि अनेक वज्रके समान हथियार, फरसे, परिघ और पत्थर डालता है । फिर बहुतसे बाणोंकी झड़ी लगा दी । १–२ ।'

वं० पा०—यह मेघनाद है और आकाशमें स्थित है, अतएव 'लागेउ बृष्टि करै' कहा । मेघ आकाशसे ही वृष्टि करते हैं ।

☞ मिलान कीजिये 'स्वसैन्यमुत्सृज्य समेत्य तूर्णं महाहवे वानरवाहिनीषु । अदृश्यमानः शरजालमुग्रं ववर्ष नीलाम्बुधरो यथाम्बु ॥ ५१ ॥' अर्थात् अपनी सेनाको छोड़कर अन्तर्धान होकर वानरसेनामें जहाँ घोर युद्ध हो रहा था वहाँ शीघ्र आकर उग्र बाणोंका समूह बरसाने लगा जैसे काले मेघ उग्रवर्षा करते हैं । (वाल्मी० सर्ग ७३) ।

* मायारचित । † गर्जेउ प्रलय पयोद जिमि—(का०) । मेघनाद नाम है अतः प्रलयके मेघ-समान गर्जना कहा; यथा हनु० १२ । ४—'मायारथं समधिरुह्य नभस्थलस्थो गम्भीरकालजलदध्वनिरुज्जगर्ज' ।

दस दिसि रहे बान नभ छाई *। मानहु मघा मेघ झरि लाई ॥ ३ ॥
धरु धरु मारु सुनिअ धुनि काना †। जो मारै तेहि कोउ न जाना ॥ ४ ॥

अर्थ—आकाशमें दसों दिशाओंमें बाण छा रहे हैं, मानो मघानक्षत्रके बादलोंने वर्षाकी झड़ी लगा दी हो ॥ ३ ॥ 'धरो धरो मारो' ये शब्द कानोंसे सुनायी देते हैं पर जो मार रहा है उसे किसीने न जान पाया ॥ ४ ॥

नोट—१ (क) 'दस दिसि'—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, अग्निकोण (पूर्व और दक्षिणके बीचका कोण), नैर्ऋत्यकोण (दक्षिण-पश्चिमके बीचमें), वायव्यकोण (पश्चिम-उत्तरके बीचका), ईशानकोण (उत्तर-पूर्वका बीच), ऊर्ध्व (सिरके ऊपरकी दिशा) और अधः (पैरके नीचेकी दिशा) । (ख) 'मघा झरि लाई' इति । मघाकी झड़ीकी उत्प्रेक्षा करके जनाया कि वह लगातार बाण बरसा रहा है, बाणवृष्टि क्षणभर भी बंद नहीं होती; दूसरे जैसे झड़ी बहुत बूँदोंकी होती है वैसे ही यह बहुत-बहुत बाण एक साथ सब दिशाओंमें बरसा रहा है । पुनः, जैसे मघाकी वृष्टि लाभदायक होती है, वैसे ही इसकी बाणवृष्टिसे निशिचरोंको सुख होगा । यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है ।—अश्विनी आदि २७ नक्षत्रोंमेंसे मघा दसवाँ नक्षत्र है, जिसमें पाँच तारे हैं । यह चूहेकी जातिका माना जाता है और इसके अधिपति पितृगण कहे गये हैं । जिस समय सूर्य इस नक्षत्रमें रहता है, उस समय खूब वर्षा होती है और उस वर्षाका जल बहुत अच्छा माना जाता है ।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—पहिले कहा जा चुका है कि **'वर्षा घोर निसाचर रारी । सुरकुल सालि सुमंगल कारी'** । सो वर्षाके दस नक्षत्र हैं । आर्द्रा,[1] पुनर्वसु,[2] पुष्य,[3] श्लेषा,[4] मघा,[5] पूर्वाफाल्गुनी,[6] उत्तराफाल्गुनी,[7] हस्त,[8] चित्रा[9] और स्वाती[10] । यहाँपर **'मानहु मघा मेघ झरि लाई'** लिखकर बतला दिया कि यह मेघनादकी लड़ाई मघा नक्षत्रकी वर्षा है । इसीसे पता चल जाता है कि लङ्कामें दस लड़ाइयाँ हुई । पहिली लड़ाई हनुमान्‌जीकी लङ्कादाहके समय हुई, वह आर्द्राकी वर्षा थी, चारों फाटकोंकी लड़ाई पुनर्वसुकी वर्षा थी, मेघनाद-लक्ष्मण-युद्ध पुष्यकी वर्षा थी, कुम्भकर्ण-युद्ध श्लेषाकी वर्षा थी, यह दूसरा युद्ध मेघनादका मघाकी वर्षा है । मेघनादवध पूर्वाफाल्गुनीकी वर्षा, रावणका प्रथम युद्ध उत्तराफाल्गुनी-की वर्षा, दूसरा युद्ध हस्तकी वर्षा, स्वातीमें रावणवध । इस भाँति दस लड़ाइयोंका वर्णन लङ्कामें है, वे ही दस नक्षत्रोंकी वर्षा **'घोर निशाचर रारि'** है । (वि० त्रि०) ।

मा० म०—भाव कि जैसे मघाकी वर्षा पृथ्वीको संतुष्ट कर देती है, वैसे ही मेघनादने बाण-वर्षासे रावणको संतुष्ट कर दिया । पुनः जैसे मघा वर्षाका सींव है और पृथ्वीको जलमग्न कर देता है जिसका स्वाद पृथ्वी ही जानती है; वैसे ही मेघनादने पराकाष्ठाका युद्ध किया जिसके स्वादको वानर-भालु ही जानते हैं ।

☞ मेघनादने अपने प्रथम युद्धमें भी अन्तर्धान होकर माया रची थी । उसमें आकाशसे अङ्गार बरसाया, पृथ्वीसे जलधारा निकाल बहायी, विष्ठा, रुधिर, पीब, कच, हाड़, उपल, राख और धूल बरसायी, पिशाच-पिशाचिनियाँ उत्पन्न कीं जो 'मारु काटु' ध्वनि करती थीं और अन्धकार ऐसा छा दिया था कि अपना हाथ भी फैलानेपर न सूझता था । अबकी बार उसने वह माया न रची, दूसरी प्रकारकी माया रची । इसका कारण है कि उसने देख लिया कि वह माया न चली, वह माया एक बाणसे ही श्रीरामजीने काट दी थी । मायाके कटते ही वह सबको दिखायी देने लगा था । इसीसे अबकी बार वह माया न की, अबकी मायामय रथमें होनेसे वरके बलसे वह अदृश्य है; वर झूठा हो नहीं सकता; इससे अपने छिपनेके लिये अन्धकारादिक उपायकी आवश्यकता नहीं । अस्त्र-शस्त्र बहुतसे चला रहा है, ये सब वरके प्रतापसे अमोघ हैं अतः इनको चलाकर सारी सेनासहित राम-लक्ष्मणजीको एक साथ ही मार डालनेका विचार कर रहा है ।

☞ मिलान कीजिये **'ते केवलं संददृशुः शिताग्रान्बाणान्रणे वानरवाहिनीषु । मायाविगूढं च सुरेन्द्रशत्रुं न चात्र तं राक्षसमप्यपश्यन् ॥ ५३ ॥ ततः स रक्षोऽधिपतिर्महात्मा सर्वा दिशो बाणगणैः शिताग्रैः । प्रच्छादयामास रविप्रकाशैर्विदारयामास च वानरेन्द्रान् ॥ वाल्मी० ७३ । ५४ ॥' 'अन्तरिक्षं निरीक्षन्तो दिशः सर्वाश्च वानराः । न चैनं माययाच्छन्नं ददृशे रावणिं रणे ॥'** अर्थात् सब वानर आकाश और सब दिशाओंमें उसे निरखते रहे पर मायासे छिपे हुए मेघनादको रणमें न देख पाये । केवल उसके तीक्ष्ण बाण सर्वत्र देख पड़े ।

---

* रहे दसहु दिसि सायक छाई । † सुनहिं कपि काना—(का०, मा० म०) ।

गहि गिरि तरु अकास कपि धावहिं। देखहिं तेहि न दुखित फिरि आवहिं ॥ ५ ॥
अवघट घाट बाट गिरि कंदर। मायाबल कीन्हेसि सर पंजर ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—अवघट=अटपट, दुर्घट। पंजर=पिंजड़ा। घाट=जहाँसे मार्ग पार किया जाता है, नदीके घाट।

अर्थ—पर्वत और वृक्ष ले-लेकर वानर आकाशमें दौड़कर जाते हैं पर उसे नहीं देख पाते तब दुखी होकर लौट आते हैं ॥ ५ ॥ मेघनादने मायाके बलसे अटपट रास्तों, घाटों, पर्वत-कन्दराओंको बाणोंसे पिंजड़े बना दिये ॥ ६ ॥

नोट—१ 'गहि गिरि०।' श्रीरघुनाथजीकी आज्ञासे वानरोंने उसे आकाशमें ढूँढ़ा पर न पाया। प्रमाण यथा— **'स तस्य गतिमन्विच्छन् राजपुत्रः प्रतापवान्। दिदेशातिबलो रामो दश वानरयूथपान् ॥ १ ॥ ते सम्प्रहृष्टा हरयो भीमानुद्यम्य पादपान्। आकाशं विविशुः सर्वे मार्गमाणा दिशो दश ॥ ४ ॥ ...अन्धकारे न ददृशुर्मेघैः सूर्यमिवावृतम् ॥** वाल्मी० ४५। ६।'—प्रतापवान् राजपुत्र श्रीरामजीने मेघनादकी गतिको खोजनेके लिये दस वानर-यूथपोंको आज्ञा दी। वे सब बहुत प्रसन्नतासे बड़े-बड़े वृक्षोंको उखाड़कर आकाशमें दसों दिशाओंको खोजते हुए पैठे। अस्त्रविज्ञ (में चतुर) वे अंधकारमें उसको न देख सके जैसे मेघसे ढके हुए सूर्य नहीं देख पड़ते। २—उद्योग करनेपर भी सफल न होना 'विशेषोक्ति अलंकार' है। निराधार आकाशमें उड़ना 'प्रथम विशेष अलंकार' है।

३ 'अवघट...' इति। दुर्गम और सुगम सभी स्थान बाणोंके पिंजड़ोंसे रोक दिये जिसमें मार्गमें भागनेका रास्ता ही न मिले, कन्दराओंमें घुसने ही न पावें, जाकर छिपना तो दूर ही रहा। 'मायाबल' यह कि क्षणमात्रमें यह काम हो गया और उसको कोई रोक न सका। (पं०)। पूर्व जो कपि **'धावहिं गनहिं न अवघट घाटा। पर्बत फोरि करहिं गहि बाटा ॥ ४० । ५।'** वे ही अब कहीं भी जानेमें असमर्थ हो गये।

जाहिं कहाँ ब्याकुल* भए बंदर। सुरपति बंदि परे† जनु मंदर ॥ ७ ॥

अर्थ—अब कहाँ जायँ (कहीं भी रास्ता नहीं है, यह समझकर) वानर विकल हो गये, मानो पर्वत इन्द्रकी कैदमें पड़े हों ॥ ७ ॥

नोट—'सुरपति बंदि०' इति। (क) जब इन्द्र पर्वतोंके पङ्ख काटने लगा तब उसने भी सर पंजर बनाकर सभी पर्वतोंकी गति रोक दी थी। यहाँ मन्दर पर्वतका उपलक्षक है। (पं०)। वा, जैसे मन्दराचल इन्द्रकी कैदमें होकर वज्रसे मारे जानेपर व्याकुल हुआ, वैसे ही वानर राह न पाकर बाणोंकी मारसे व्याकुल हो गये (करु०)। (ख) दूसरा अर्थ यह है कि 'मानो मन्दराचलमें इन्द्र बंदीखानेमें पड़े हैं।' भारतमें यह कथा प्रसिद्ध है। इसी प्रकार इनकी गति रुक गयी (रा० प्र०, बं० पा०)।

नोट—जैसे पर्वत कैदमें पड़कर घबड़ाये थे कि अब तो हमारे पक्ष वह अवश्य काट डालेगा, हम न तो उड़कर कहीं जा सकते हैं और न यहीं कैदमें अपनेको बचा सकते हैं; वैसे ही वानर—गति रुक जानेसे घबड़ाये कि अब यह बाणोंसे अवश्य मार डालेगा, हम कोई उपाय बचनेका कर नहीं सकते।—यहाँ उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है। सर-पञ्जरमें रूपक है।

मारुतसुत अंगद नल नीला। कीन्हेसि बिकल सकल बलसीला ॥ ८ ॥
पुनि लछिमन सुग्रीव बिभीषन। सरन्हि मारि कीन्हेसि जर्जर तन ॥ ९ ॥
पुनि रघुपति सैं जूझै‡ लागा। सर छाँड़ै होइ लागहिं नागा ॥ १० ॥

शब्दार्थ—जर्जर=झाँझर, चलनी-सरीखा, छिद्रयुक्त। जूझना=लड़ना।

अर्थ—उसने पवनसुत, अङ्गद, नल, नील आदि सभी पूर्ण बलवानोंको व्याकुल कर दिया ॥ ८ ॥ फिर लक्ष्मणजी, सुग्रीव और विभीषणको बाणोंसे मारकर उनके शरीरको छेदकर चलनी बना दिया ॥ ९ ॥ फिर रघुनाथजीसे लड़ने लगा। जो बाण छोड़ता है वह सर्प होकर लगते हैं ॥ १० ॥

---

* भए व्याकुल। † परे—(का०)। परेउ—भा० दा०। ‡ सन—का०, मा० म०।

☞ मिलान कीजिये—'सुग्रीवमारुतिनलाङ्गदनीलमुख्या वाष्पान्धकारजलदान्तरितं प्रचण्डम्।
तं रावणिं जलदमण्डलमास्थितं नो पश्यन्ति तान् प्रहरति स्म स घोरबाणैः॥ ३॥
....
बाणैरपातयदहो फणिपाशबद्धैस्तौ मेरुमन्दरगिरी पविनेव शक्रः॥ ४॥'

अर्थात् सुग्रीव, हनुमान्, नल, अङ्गद, नील आदि जो मुख्य-मुख्य वानर हैं वे बादलोंके जलकणके अंधकारके कारण जलदमण्डलमें स्थित भयंकर उस मेघनादको नहीं देख पाते और वह उनको भयंकर बाणोंसे मारता है। आश्चर्य है कि नागपाशमें बँधे हुए बाणोंसे उसने उन दोनों (श्रीराम-लक्ष्मण) को इस तरह बाँध लिया जैसे इन्द्रने वज्रसे सुमेरु और मन्दराचलको। हनु० १२। ३, ४।

२—'रामं च लक्ष्मणं चैव घोरैर्नागमयैः शरैः॥ ३४॥ बिभेद समरे क्रुद्धः सर्वगात्रेषु राघवौ। बबन्ध शरबन्धेन भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ वाल्मी० ४४। ३६।' अर्थात् नागमयी बाणोंसे राम-लक्ष्मण दोनोंका सारा शरीर क्रोधित होकर रणमें बेध डाला और दोनोंको बाण-बन्धनसे बाँध दिया।

प० प० प्र०—'मारुतसुत' शब्द सहेतुक है। जिसके बढ़नेसे या जिसके अभावमें मृत्यु होती है उसे 'मारुत' कहते हैं। ऐसे मारुतके सुत होते हुए भी उनकी यहाँ कुछ न चली यह जनाया। इसीसे इनको प्रथम कहा तब अङ्गदादिको।

नोट—'सकल बलसीला' इति। भाव कि जिन्हें बलशील नहीं समझता था उनको छोड़ दिया। यथा—'मूढ़ जानि सठ छाँड़ेउँ तोही। लागेसि अधम पचारइ मोही॥ ७३। ५।' पुनः भाव कि ये सब बलवान् हैं; पर क्या करें पराक्रम दिखानेका मौका ही नहीं मिला।

इस युद्धकी कुछ आवृत्तियाँ

☞ यहाँतक चार कोटियाँ योद्धाओंको दिखायीं। १—'जाहिं कहाँ ब्याकुल भए बंदर। ७२। ७।' ये साधारण भट। 'मारुतसुत अंगद नल नीला। कीन्हेसि बिकल सकल बलसीला।' ये सुभट वा विशेष भट। ३—'पुनि लछिमन०' ये विशेषतर भट वा महाभट। सुग्रीव और विभीषण राजा हैं, इससे इन्हें लक्ष्मणजीके साथ गिनाया। नहीं तो ये भी दूसरी कोटिमें आ जाते हैं। ४—'पुनि रघुपति सैं जूझै लागा' ये विशेषतम व दारुण भट हैं। ☞ जैसे हनुमान्‌जीने अशोकवन विध्वंस करते समय—भट, सुभट, महाभट और दारुणभट (मेघनाद) को मर्दन किया था। वैसे ही यहाँ मेघनादने किया। सुं० १८ देखिये। इति प्रथमावृत्तिः।

२—भटोंकी दसों दिशाओंमें गति रोकी, यथा—'जाहिं कहाँ ब्याकुल भए बंदर'। सुभटोंको विकल किया, यथा—'कीन्हेसि बिकल सकल बलसीला।' महाभटोंका शरीर जर्जर कर डाला, यथा—'सरन्हि मारि कीन्हेसि जर्जर तन' और दारुण भटको नागपाशसे बाँधा, यथा—'ब्यालपास बस भएउ खरारी'।—उत्तरोत्तर जैसे-जैसे भट विशेष वैसे-वैसे पीड़ा विशेष। इति द्वितीयावृत्तिः।

३—भटोंको मारा नहीं, सुभटोंको अस्त्र-शस्त्र नाना आयुधसे व्याकुल किया, इनसे विशेषको बाणोंसे छेदा और विशेषतमको नागबाणोंसे बेधा और बाँधा। इति तृतीयावृत्तिः।

वाल्मी० ४६ (१७–२०) में लिखा है कि मेघनादने सब यूथपोंको मारा। वही यहाँ 'सकल बलसीला' हैं। वहाँ हनुमान्‌जीपर दस, अङ्गदजीपर बहुतसे और मयंद, नील, द्विविदपर तीन-तीन बाण चलाना कहा है। वाल्मी० के मेघनादने जाम्बवान्‌को भी मारा है—'जाम्बवन्तं महेष्वासो विध्वा बाणेन वक्षसि॥ १९॥'

पु० रा० कु०—मेघनादका विनयमें कामसे रूपक दिया है—'पाकारिजित काम विश्रामहारी'। यहाँ मेघनाद आकाशमें गया। सब भयभीत हुए। हृदयाकाशमें काम जाकर डरवाता है, मेघनाद यहाँ आकाशमें छिपा बहुत बाण चलाता है—'लागेउ बृष्टि करै बहु बाना।' कामके पंचबाण ही 'बहुबान' हैं। हृदयमें रहकर वह माया रचता ही है, यथा—'उर बसि प्रपंच रचै पंचबान'। कामका बाण सर्वत्र दसो दिशाओंमें चलता है; चाहे जहाँ कोई जाकर रहे; जैसे ऋषि वनमें रहते थे, वहाँ भी उसने अपने बाण छोड़े, वैसे ही यहाँ मेघनादके बाण सब दिशाओंमें व्याप्त हैं। काम दसे-

बड़े वैराग्यवानोंको व्याकुल कर देता है—'**सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी। तेपि काम बस भए बियोगी।** १। ८५। ८।' वैसे ही यहाँ परम वैराग्यवान् हनुमान्‌जीको मेघनादने व्याकुल कर दिया—(दोहा ५१ की टिप्पणी भी देखिये)।

ब्यालपास बस भए* खरारी। स्वबस अनंत एक अबिकारी॥ ११॥

अर्थ—स्वतन्त्र, आदि-अन्त-रहित, अद्वितीय एवं अखण्ड, समस्त विकार-रहित (निरञ्जन, निरामय), खरारी (खरके नाशक एवं खल मात्रके शत्रु) श्रीरघुनाथजी नागपाशके वश हुए॥ ११॥

नोट—१ गरुड़जीको नागपाश-लीलासे ही मोह हुआ था। इसलिये 'व्यालपाशवश' होना कहनेके साथ ही उनके संदेहकी निवृत्ति हेतु स्वतन्त्रता सूचित करनेवाले कई एक विशेषण देकर प्रभुका नरनाट्य पुष्ट कर रहे हैं। प्रारम्भमें ही बताया गया है कि यह प्रसंग गरुड़-भुशुण्डि-संवाद है। गरुड़का संदेह यह था कि—'**भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ नाग-पास सोइ राम॥** उ० ५८॥'

नोट—२ (क) 'खरारी' से जनाया कि श्रीरामजी मायापति हैं। उन्होंने अपनी मायाके कौतुकसे खरादिको मारा था। वे बड़े मायावी हैं, परंतु माधुर्यमें रणशोभार्थ बन्धन स्वीकार किया है। उनके सामने इसकी माया क्या है, वे तो नरनाट्य कर रहे हैं। 'स्वबस' हैं अर्थात् किसीके वश नहीं हैं, जीव स्वबस नहीं है, परवश है। यथा—'**परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावै मनहि करहु तुम्ह सोई॥ भलेहि मंद मंदेहि भल करहू। बिसमय हरष न हिय कछु धरहू॥**… **कर्म सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा।** १। १३७।', '**निज तंत्र नित रघुकुल मनी।** १। ५१।', '**परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता।** ७। ७८। ७।' जो परवश है, मायावश है वह स्ववश मायापतिको कैसे बाँध सकता है। पुनः, 'स्ववश' कहकर जनाया कि जैसे जीव माया, कर्म, काल, गुण और स्वभावके वश परतन्त्र है, वैसे ये परतन्त्र नहीं हैं। ये तो केवल भक्तिसे वश होते हैं, अन्य कोई इन्हें वशमें नहीं कर सकता। यथा—'**निर्बान दायक क्रोध जाकर भगति बस अबसहि करी।**' (ख) 'अनंत' इति। 'अन् अंत' हैं अर्थात् उनकी सीमा नहीं है, उनका अन्त नहीं, वे देश, काल और वस्तु तीनोंसे अपरिच्छिन्न हैं, सर्वव्यापी, नित्य और सर्वात्मरूप हैं। यथा—'**आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा।** १। ११८।' '**व्यापित्वात् नित्यत्वात् सर्वात्मत्वात्, देशतः कालतः वस्तुतः अपरिच्छिन्नत्वात्, अनन्तः।**' जो ऐसा अनन्त है उसे कौन बाँध सकता है। (ग) 'एक'—भाव कि इनकी महिमाके तुल्य दूसरा नहीं है, ये अकेले ही चेतनाचेतनमें विचरते हैं, इनके समान या इनसे अधिक कोई नहीं। यथा—'**न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।**श्वे० ६। ८।' '**जेहि समान अतिसय नहिं कोई।** ३। ६।', '**एकैव सर्वत्र वर्तते तस्मादुच्यते एकः।**', '**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।** श्वे० ६। ११। ३।' 'एक' से यह भी जनाया कि शरणपालत्व, भक्तवात्सल्य, सर्वज्ञत्व, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु सामर्थ्य, अकारण दयालुत्व आदि समस्त दिव्य गुणोंमें इनके समान कोई नहीं है। पुनः 'एक' यथा—'**एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति**'। सारा ब्रह्माण्ड इन्हींका रूप है, उनके सिवा दूसरा है ही नहीं, सबमें वे ही हैं, उन्हींकी सत्ता है। तब उन्हें बाँधेगा कौन? यहाँ विरोधाभास अलंकार है। (घ) अविकारी अर्थात् जन्म-मरण आदि विकारोंसे रहित हैं। तब इनका बन्धन कैसे संभवित है। विकार, यथा—'**अस्ति जायते, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति**'। अविकारी यथा—'**सकल बिकार रहित गत भेदा**', '**चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी।**' सच्चिदानन्द देहका बन्धन कैसे सम्भव है।

इन पाँचों विशेषणोंसे बन्धन नहीं संभवित होता।

मा० म०—'अविकारी' शब्दके अन्तर्गत यह भाव है कि व्यालपाश लगनेपर रुधिर लेशमात्र भी नहीं गिरा; क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी सच्चिदानन्दकंद हैं और यही अनेक प्रकारका चरित्र करना ही लीला है परंतु वास्तवमें वे सबसे भिन्न हैं। यथार्थतः कोई बन्धन नहीं है।

पं०—अपनी इच्छासे व्यालपाशसे बँधे, यही निश्चय हुआ। निज इच्छासे बँधनेका भाव कि मेघनादने बड़ा तप करके नागपाश प्राप्त किया, अतएव हमें देवताका वचन रखना और इसका प्रयत्न सफल कराना योग्य है, बंधनसे हमारी

* भएउ—(का०), भए—(भा० दा०, मा० म०)।

कुछ हानि तो है नहीं; यह विचार कर बँधे। पुनः, मेघनादको अपनी शक्ति और ज्ञानका अभिमान है; उसे चूर्ण करनेके लिये बँधे। अथवा, रावण और मेघनाद हमारी पूर्ण अवज्ञा करें तो इनका तप-फल नष्ट हो जाय, यह विचार कर बँधे।—(नोट—मानसकार इसका उत्तर आगे दे रहे हैं।)

नट इव कपट चरित कर* नाना। सदा स्वतंत्र एक † भगवाना॥ १२॥
रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायो। नागपास ‡ देवन्ह भय पायो॥ १३॥

अर्थ—भगवान् रामचन्द्रजी सदा स्वतन्त्र, एक और षडैश्वर्ययुक्त हैं। वे नटकी तरह अनेक प्रकारके (बनावटी) चरित करते हैं॥ १२॥ रणकी शोभाके लिये प्रभुहीने अपनेको नागपाशसे बँधाया; (जिससे) देवताओंको भय प्राप्त हुआ॥ १३॥

पं०—शत्रुको मारना शूरकी शोभा है, स्वयं मरना शोभा नहीं है। इसलिये यहाँ प्रभुकी शोभा नहीं कही, रणभूमिकी शोभा कही। दूसरे, रणमें सुभटोंका भागना निन्दित है, मारना और मरना ही शोभा है।

नोट—दृढ़ता हेतु वही विशेषण दोहराये हैं।

पु० रा० कु०—१—'रन सोभा लगि०' इति। नागपाशमें अपनेको बँधाया, रणकी शोभा यही है। निशिचरों और मूढ़ोंको मोहित करनेके लिये ये चरित किये कि वे समझें कि राम भी बाँध लिये गये।

नोट—रणमें जबतक दोनों ओर हार-जीत न हो तबतक न रणकी और न योद्धाओंकी वीरताकी शोभा है। अतएव बँधे कि जिसमें उनका उत्साह बढ़े।—(वीर—अनुज्ञा अलंकार है)। ☞ 'नट इव चरित०' का भाव **'जथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥ उ० ७२॥ अस रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥'** अर्थात् जैसे नट अनेक रूप धरकर अनेक स्वाँग दिखाता है, जो रूप धरता है उसीका-सा स्वाँग करता है; वैसे ही श्रीरामजीने नरशरीर सुर-नर-मुनि आदिके हितार्थ धारण किया है, अतः मनुष्योंके-से स्वाँग भी करते हैं, जैसा वेष बनाया वैसा ही नाच नाचा—'जस काछिय तस चाहिय नाचा। नट अपने सारे शरीरके अङ्गोंको काट डालता है; वस्तुतः न उसका शरीर कटा, न वह मरा; पर देखनेवालोंको वैसा प्रतीत होता है,—यह नटके स्वाँगका कौशल है। जिन्हें नटने मर्म बताया है वे भ्रममें नहीं पड़ते। वैसे ही जो रामभक्त हैं, जिनपर प्रभुकी कृपा है वे इस चरितसे मोहमें नहीं पड़ते। यथा—'इन्द्रजालि कहँ कहिय न सूरा। काटइ निज कर **सकल सरीरा॥', 'सो नर इन्द्रजाल नहिं भूला। जापर होइ सो नट अनुकूला॥'**, 'नटकृत विकट कपट खगराया। **नट सेवकहि न ब्यापइ माया॥ उ० १०४॥'** इस तरह 'कपट' और 'माया' पर्याय भी हैं।

बं० पा०—१ यह कपट-चरित है अर्थात् प्रभु ऐश्वर्य छिपाये हुए हैं। क्योंकि रावणका वध नरके हाथ है। **'नट इव'** अर्थात् जैसे उसका चरित कपटयुक्त है वैसे ही इनका बँधना कपट चरितमें है।

रा० प्र०—'देवन्हि भय पावा' यह कपट-चरितकी निपुणता दिखायी कि दिव्य कोटिवाले देवताओंपर भी प्रभुकी मायाका प्रभाव पड़ा। यह स्वाँगका ओर-छोर निर्वाह हुआ। 'दूसरा उल्लास अलंकार' है।

दोहा—गिरिजा जासु§ नाम जपि मुनि काटहिं भवपास।
सो कि बंध तर आवै × ब्यापक बिस्वनिवास॥ ७२॥

अर्थ—हे गिरिजे! जिसका नाम जपकर मुनि जन्ममरणरूपी भव-बन्धनको काट डालते हैं, क्या वह व्यापक, विश्वनिवास भगवान् बन्धनमें आ सकते हैं? (कदापि नहीं)॥ ७२॥

नोट—१ (क) 'गिरिजा' इति। पार्वतीजीको भगवान्‌के स्वरूपमें संदेह हुआ था। और यहाँ भुशुण्डिजीने

---

* कृत—पाठान्तर। † राम—(पं०, मा० म०)। ‡ 'देखि दसा', बँधावा, पावा—(का०)।
§ 'खगपति जाकर'। × 'सो प्रभु आव कि बन्धतर'—(का०)।

गरुड़जीसे भगवान्‌का यथार्थ स्वरूप वर्णन किया है। अतएव शिवजी भी पार्वतीजीको सावधान करते हैं। पुनः आगे गरुड़का आगमन आदि कहना है इससे यहाँसे संवाद बदलते हैं। पुनः ऊपर दिखा आये कि यह भुशुण्डि-गरुड़-संवाद है। अब यहाँ 'गिरिजा' सम्बोधन दिया क्योंकि वह संवाद शिवजी पार्वतीजीसे कह रहे हैं। (ख) 'जासु नाम जपि०' इति। यहाँ 'जप' से सादर स्मरण जनाया, यथा—'**सादर सुमिरन जे नर करहीं। भवबारिधि गोपद इव तरहीं॥ राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी॥** बा० ११९।' (ग) '**सो कि बन्ध तर आवइ**' इति। '**यह कौतूहल जानै सोई।**···५४। ३।' में नोट देखिये। यही बात श्रीलक्ष्मणजीके वाल्मी० ८० के वचनोंसे सिद्ध होती है। उन्होंने ब्रह्मास्त्र चलाकर गुप्त मेघनादका एवं सारे राक्षसकुलका नाश करनेकी आज्ञा माँगी, तब श्रीरामजीने यही कहा कि एकके कारण पृथ्वीके सम्पूर्ण राक्षसोंको मारना उचित नहीं। जो युद्ध नहीं करते, छिपे हुए हैं या हाथ जोड़े हुए हैं, शरणमें प्राप्त हैं या भागे हुए हैं या मत्त हैं उनको न मारना चाहिये। हम उसके वधका यत्न करेंगे। इत्यादि। '**नैकस्य हेतो रक्षांसि पृथिव्यां हन्तुमर्हसि॥ ३८॥ अयुध्यमानं प्रच्छन्नं प्राञ्जलिं शरणागतम्। पलायमानं मत्तं वा न हन्तुं त्वमिहार्हसि॥ ३९॥ तस्यैव तु वधे यत्नं करिष्यामि महाभुज।**···वाल्मी० ८०।'

पु० रा० कु०—यहाँ स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूप कहे।—[व्यापकसे सूक्ष्मरूप और विश्वनिवाससे स्थूल विराटरूप। यथा—'**मनुजबास सचराचर रूप राम भगवान॥ १५॥**' '**बिस्वरूप रघुबंसमनि०।**' '**जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिस्राम॥ १। १९१।**' '**बिस्वबास प्रगटे भगवाना**']।

रा० प्र०—व्यापक अर्थात् अखिल ब्रह्माण्डमें निवास है और विश्वनिवास अर्थात् समस्त विश्व उनमें ही बसा है, व्यष्टि और समष्टि भावसे दोनों कहे। भाव कि एक होकर भी सबमें व्यापक हैं अतः जगत्‌रूप हैं और जगत्‌रूप अनेक हैं इस प्रकार सर्वत्र व्यापक हैं।

चरित राम के सगुन भवानी। तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी॥ १॥
अस बिचारि ते तग्य बिरागी। रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी॥ २॥

शब्दार्थ—तर्कना=सोच-विचार या अनुमान करना, विवेचना करना। [illegible]—जब किसी वस्तुके सम्बन्धमें वास्तविक तत्त्व ज्ञात नहीं होता तब इस तत्त्वके ज्ञानार्थ (किसी निगमनके पक्षमें) कुछ हेतुपूर्ण युक्ति दी जाती है। जिसमें विरुद्ध निगमनकी अनुपपत्ति भी दिखायी जाती हैं। ऐसी युक्तिको 'तर्क' कहते हैं। तर्कमें शङ्काका भी होना आवश्यक है। तज्ञ=तत्त्वज्ञ, तत्त्वके जाननेवाले, ज्ञानी। रामरूपके ज्ञाता।

अर्थ—हे भवानी! श्रीरामजीके सगुण रूपके चरितोंपर बुद्धि, बल और वाणी वा, बुद्धि और वाणीके बलसे तर्क नहीं किया जा सकता॥ १॥ ऐसा विचारकर जो तत्त्वज्ञानी और वैरागी (विरक्त) हैं वे सब तर्क छोड़कर श्रीरामजीको भजते हैं॥ २॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—'**चरित राम**·····**नाना**' इति। सगुण रूपके चरित्र नाना प्रकारके होते हैं, कुछ तो सुगम होते हैं कुछ अगम होते हैं। यथा—'**निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ। सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥**' जिसमें तर्क चले वही सुगम है, जिसमें न चले वही अगम है। जीव परतन्त्र है। ईश्वर स्वतन्त्र है। अतः जीव जिन नियमोंसे बँधा है, वे नियम ईश्वरको नहीं बाँध सकते। जहाँ ईश्वरकी स्वातन्त्र्य शक्ति काम करती है। वहाँ किसीका तर्क काम नहीं करता। शिवजी कह आये हैं कि '**राम अतर्क बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहु सयानी॥ तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना। तस मैं सुमुखि सुनावौं तोही। समुझि परै जस कारन मोही॥**' इसी भाँति जो कारण शिवजीके समझमें आया (**रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायो**) उसे कहकर भी अतर्क कहकर उपसंहार करते हैं?

नोट—१ '**तर्कि न जाहिं**' यथा—'**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।** तैत्ति० २। ४।' '**राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी॥** १। १२१। ३।' **मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥** १। ३४१। ७।'

पं०—भाव कि ऐसा करना था, ऐसा न करना था, यह कहनेकी शक्ति किसीकी नहीं क्योंकि उनकी अगाधताको कोई लख नहीं सकता।

सि० ति०—मनुष्यकी बुद्धि और वाणी सब प्राकृत एवं परिमित हैं। इनमें अपरिमित ब्रह्मके अगाध चरित आदि कैसे आ सकते हैं? व्यासजीने इसपर सूत्र भी लिखा है। यथा 'तर्काप्रतिष्ठानादपि। ब्र० सू० २। १। ११।' अर्थात् उसके विषयमें तर्ककी प्रतिष्ठा नहीं है, वह मनुष्योंके तर्कसे बाहर है। '**अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' 'इत्येवं श्रौतार्थनिर्णये शुष्कतर्काणां पौराणिकनिषेधोऽपि दृश्यते**। ब्रह्म० सू० आनन्दभाष्य २। १। ११।' अर्थात् अपनी परिमित बुद्धिसे अचिन्त्य वस्तुमें तर्कयोजना नहीं करनी चाहिये। तथा—'**नैषा तर्केण मतिरापनेया**। कठ० १। २। ९।' अर्थात् बुद्धिके तर्कसे उस तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। वह ब्रह्मतत्त्व तो शुद्ध चित्त सात्त्विक उपासकके समक्ष स्वयं आविर्भूत होता है; यथा—'**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः**। कठ० १। २। २२।'

यदि कहा जाय कि 'तर्कके बिना जिज्ञासा ही कैसे की जायगी?' कहा भी है—'**वादे वादे जायते तत्त्वबोधः**।' तो उसका उत्तर यह है कि यह तर्क और ही है कि श्रद्धालु शिष्य गुरुके समक्ष तर्क उपस्थित करे और गुरुजी उसकी शङ्काका निवारणकर और भी प्रबल तर्कसे उसे सिद्धान्त समझावें। गुरुवर्गमें श्रौतपरम्परा द्वारा, आया हुआ ज्ञान परमात्माका ही है। अतएव उनके ज्ञानसे उन्हें प्राप्त करना युक्त ही है, यथा—'**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्**। मु० १। २। १२।' सात्त्विक भावसे जिज्ञासुरूपमें तर्कद्वारा तत्त्व जानना चाहिये। यथा—'**प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता**॥ मनु० १२। १०५।' इसमें 'अनुमान' भी स्पष्ट कहा गया है जो तर्कका ही पर्यायवाचक है।

नोट—१ तत्त्वज्ञ और विरागी तर्क त्यागकर भजन करते हैं; क्योंकि संशय उत्पन्न हो जानेसे ज्ञान और वैराग्य नष्ट हो जाते हैं। यथा—'**अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं**॥ ११९। ६॥' दूसरा कारण स्वयं यहीं कविने दिया है। २—'**तर्क सब त्यागी', यथा—'भजिय राम सब तर्क बिहाई**।' पुनः, भाव कि तर्क न करे वरन् विश्वासपूर्वक उनके चरितोंको उचित और उनसे अपना कल्याण समझ उनकी भक्ति करे, इसीसे विश्राम मिलेगा। जैसे यहाँ शिवजीने पार्वतीजीकी शङ्कानिवृत्त्यर्थ यह कहा है, वैसे ही भुशुण्डिजीने गरुड़जीसे कहा है, यथा—'**बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम। रामकृपा बिनु सपनेहु जीव न लह बिश्राम॥ अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल। भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद**॥ उ० ९०॥'

प० प० प्र०—तज्ञ=ज्ञानी। तर्क=कुतर्क जो संशयसे उत्पन्न होते हैं। मिलान कीजिये—'**अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहिं प्रबीन**। ७। ११२।', '**यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पायहु ज्ञान भगति नहि तजहीं**। ३। ४३। १०।', '**संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता**॥', '**दुस्तर्कात्सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसंधीयताम्**।' (साधनपञ्चक), केवल ज्ञानी और विरागीके अन्तःकरणमें भी सगुण लीला-चरित देखने-सुननेपर संशय-संदेह उत्पन्न हो सकता है तथा ज्ञानविरागविहीन भजन करनेवालेमें भी। '**उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रति**॥ आ० मं० सो०।' में देखिये।

ब्याकुल कटकु कीन्ह घननादा। पुनि भा प्रगट कहै दुर्बादा॥ ३॥
जामवंत कह खल रहु ठाढ़ा। सुनि करि ताहि क्रोध अति बाढ़ा॥ ४॥

अर्थ—मेघनादने सेनाको व्याकुल कर दिया, फिर प्रकट होकर दुर्वचन कहने लगा॥ ३॥ (तब) जाम्बवंत बोले—अरे दुष्ट! खड़ा तो रह! यह सुनकर उसको बहुत क्रोध बढ़ा॥ ४॥

नोट—१ (क) 'घननादा' पदसे जनाया कि दुर्वचन बड़े गर्वसे कहेगा जैसे '**घन घमंड नभ गर्जत घोरा**।' '**रघुपति निकट गयउ घननादा**॥ ५०। ५॥' देखिये। (ख) 'भा प्रगट' भाव कि मायामय रथपर जबसे वह आया था तबसे अबतक अंतर्धान था, छिपा हुआ था। अब प्रकट हुआ। जान लिया कि अब भय नहीं; सब विकल हैं। (ग) 'कहै दुर्बादा' इति। वाल्मीकीयमें लिखा है कि '**रावणिर्भ्रातरौ वाक्यमन्तर्धानगतोऽब्रवीत्**॥ १०॥ युद्ध्यमानमनालक्ष्यं

शक्रोऽपि त्रिदशेश्वरः। द्रष्टुमासादितुं वापि न शक्तः किं पुनर्युवाम्॥ ११॥ प्रापिताविषुजालेन राघवौ कङ्कपत्रिणा। एष रोषपरीतात्मा नयामि यमसादनम्॥ १२॥'—(वाल्मी० ४५)। अर्थात् अन्तर्धानगत मेघनाद श्रीलक्ष्मणजीसे बोला कि इन्द्र भी मुझे दृष्टिमें लानेको समर्थ नहीं हैं फिर तुम छोकरोंकी क्या ताब है कि मुझे ढूँढ़ लें। बाणोंके जालसे मैंने दोनोंको बाँध दिया है। ये कितने ही रोष भरे क्यों न हों अब हम तुमको यमपुरी भेज देते हैं। विशेष दोहा ५० (५) देखिये।

२ 'जामवंत कह खल रहु ठाढ़ा' से जनाया कि इनको बलशील न समझकर घायल न किया था। 'कीन्हेसि विकल सकल बलसीला'। आगे मेघनाद स्वयं कहता है—'बूढ़ जानि सठ छाड़ेउँ तोही'। रावणने अङ्गदसे जाम्बवंतका तिरस्कार किया है—'जामवंत मंत्री अति बूढ़ा। सो कि होइ अब समरारूढ़ा', वही तिरस्कार मेघनादने जनाया। (ख) 'हरिहर निंदा सुनइ जो काना। होइ पाप गोघात समाना॥ ३१। २॥' अतः जाम्बवान्ने उसको ललकारा क्योंकि ये मूर्छित न थे। (ग) पंजाबीजीका मत है कि जाम्बवंत ब्रह्माके अवतार हैं। इसीसे ब्रह्मदत्त नागपाशका प्रभाव उनपर न पड़ा। पर यह भाव प्रसङ्गानुकूल नहीं है क्योंकि मेघनाद स्वयं कहता है कि 'बूढ़ जानि०'।

बूढ़ जानि सठ* छाड़ेउँ तोही। लागेसि अधम† पचारै मोही॥ ५॥
अस कहि तरल त्रिसूल चलायो‡। जामवंत कर गहि सो धायो॥ ६॥

शब्दार्थ—तरल=कान्तिवान्, प्रदीप्त, बिजलीकी तरह देदीप्यमान।

अर्थ—(मेघनाद बोला)—अरे मूर्ख! मैंने बुड्ढा जानकर तुझे छोड़ दिया था (सो) हे नीच! तू मुझको ही ललकारने लगा॥ ५॥ ऐसा कहकर उसने प्रदीप्त त्रिशूल चलाया। जाम्बवंतजी उसीको हाथसे पकड़कर दौड़े॥ ६॥

नोट—१ 'शठ' और 'अधम' कहा क्योंकि उपकारका कृतज्ञ न हुआ। मूर्ख और नीच कृतज्ञ नहीं होते। २—'जामवंत कर गहि सोइ धायो',—जाम्बवंतने यह अपना बल दिखाया कि आते हुए हथियारको पकड़ लिया और उसीसे उसको मूर्छित कर दिया।

मारिसि मेघनाद कै छाती। परा भूमि× घुर्मित सुरघाती॥ ७॥
पुनि रिसान गहि चरन फिरायो×। महि पछारि निज बल देखरायो॥ ८॥

अर्थ—मेघनादकी छातीमें वह त्रिशूल मारा। वह देवताओंका घातक मेघनाद चक्कर खाकर पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ ७॥ फिर जाम्बवंतने क्रोधमें आकर उसका पैर पकड़कर उसे घुमाया और पृथ्वीपर पटककर अपना बल दिखा दिया॥ ८॥

नोट १ (क) 'बूढ़ जानि सठ छाड़ेउँ तोही', इस तिरस्कारका यह उत्तर हुआ। भगवान्को दुर्वचन कहे थे, इसीसे जाम्बवन्तने यह फल चखाया। दूसरे, मेघनादने इनका भी अपमान किया और दुर्वचन कहे थे। अतः मूर्छा होनेपर भी न छोड़ा। (ख) 'हरिहरनिंदा' की, अतः उसको दंड दिया। २—'पुनि रिसान'। पुनि=फिर, तत्पश्चात्। पुनः, पुनि=दुबारा। एक बार दुर्वचन सुन क्रोध हुआ था, यथा—'जामवंत कह खल रहु ठाढ़ा'। ये वचन क्रोधके हैं, यथा—'क्रोधके परुष बचन बल'। प्रथम क्रोध हुआ तब कठोर वचन 'खल' कहा, अब क्रोध हुआ तो चरण पकड़ घुमाकर पृथ्वीपर पटक दिया। पटकनेसे न मरा तब लङ्कामें फेंक दिया।

बर प्रसाद सो मरै न मारा। तब गहि पद लंका पर डारा॥ ९॥
इहाँ देवरिषि गरुड़ पठायो। राम समीप सपदि सो आयो॥ १०॥

अर्थ—वरके प्रभावसे वह मारनेसे नहीं मरा तब पैर पकड़कर लङ्कापर फेंक दिया॥९॥ इधर देवर्षि नारदने गरुड़जीको भेजा। वह शीघ्र रामजीके पास आये॥१०॥

---

* जड़। † पतित। ‡ तीव्र त्रिसूल चलावा। जामवंत सो कर गहि धावा—(क०)।
× धरिनि। × फिरावा, देखरावा (का०)।

नोट—१ 'वर प्रसाद'—आ० रा० १ । ११ । १७५ और अ० रा० ८ में विभीषणने रामचन्द्रजीसे कहा है कि इसकी मृत्यु उसके हाथ है जिसने १२ वर्ष निद्रा और भोजन छोड़ा हो । यह ब्रह्माका वरदान है । यथा—'यस्तु द्वादश-वर्षाणि निद्राहारविवर्जितः ॥ ६४ ॥ तेनैव मृत्युर्निर्दिष्टो ब्रह्मणास्य दुरात्मनः । ६५ । (अ० रा० ८)। वाल्मीकीयमें वरका उल्लेख नहीं है । गीतावलीके अनुसार तो लक्ष्मणजीका भी शबरीजीके यहाँ फल खाना पाया जाता है । वाल्मी० ८५ में विभीषणजीका वचन श्रीरामजीसे यह है कि ब्रह्माने उसे वर दिया है कि यदि तुम्हारा शत्रु यज्ञस्थानमें तुम्हारे यज्ञकी समाप्तिके पहले ही पहुँचकर तुम्हें मारना चाहे तभी तो तुम्हारी मृत्यु होगी, अन्यथा नहीं, यथा वाल्मी० ८५ । १४-१५—'निकुम्भिलामसंप्राप्तमकृताग्निं च यो रिपुः । त्वामाततायिनं हन्यादिन्द्रशत्रो स ते वधः । वरो दत्तो महाबाहो सर्वलोकेश्वरेण वै । इत्येवं विहितो राजन्वधस्तस्यैष धीमतः ॥'

इसके अनुसार गीतावलीका मत भी ठीक है। कल्पभेद और मतभेदके कारण मानसमें 'वर' को स्पष्ट नहीं किया । 'वर' शब्द देकर कविने सब मतोंकी रक्षा की है ।

प्र० स्वामीजीका मत अ० रा० के पक्षमें है। वे लिखते हैं कि मानसके लक्ष्मणजी शृङ्गवेरपुरसे ही निद्राहीन रहे हैं । वाल्मी० आश्रममें उन्होंने कंदादि खाये, तत्पश्चात् कहीं उनके फलादि भोजनका उल्लेख नहीं है । क्षुधा-पिपासा न लगनेकी विद्या, बला, अतिबला वे विश्वामित्रजीसे सिद्धाश्रममें प्राप्त ही कर चुके हैं।

२—'इहाँ देवरिषि०' इति । नागपाश-बन्धनका प्रसङ्ग लिखते हुए बीचमें मेघनादका लङ्कामें जाम्बवान्‌द्वारा फेंका जाना कहने लगे थे, अब फिर पूर्व प्रसङ्गको उठाते हैं—'ब्यालपास बस भएउ खरारी' और 'इहाँ देवरिषि गरुड़ पठायो' ।

देवर्षि नारदजीने कुम्भकर्ण-वधपर गुणगान किया है और प्रार्थना की है कि दुष्टोंको शीघ्र मारिये । रणभूमिपर वे इस समय भी थे, यथा—'देखि दसा देवन्ह भय पायो ॥ ७२ । १३ ॥' नागपाश-चरित देख उन्होंने जाकर गरुड़को भेजा । गरुड़जीको पहिले ही क्यों न भेजा ? कारण कि यदि गरुड़जी मेघनादके सामने आते और नागपाश काटना चाहते तो मेघनाद उनसे ही युद्ध करने लगता । तब नागपाशसे छुटकारा कैसे कर सकते ? अतएव जब जाम्बवंतने मेघनादको मूर्छित करके लङ्कापर फेंक दिया तब इनका आगमन कहा गया ।

दोहा—खगपति सब धरि खाए मायानागबरूथ ।
माया बिगत भए सब हरषे बानरजूथ ॥ *
गहि गिरि पादप उपल नख धाए कीस रिसाइ ।
चले तमीचर बिकलतर गढ़ पर चढ़े पराइ ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ—नख=नाखून; खण्ड, टुकड़े ।

अर्थ—पक्षिराज गरुड़ने सब माया सर्प-समूहको पकड़कर खा लिया । सब मायारहित हो गये । सब वानरयूथ प्रसन्न हुए । पर्वत, वृक्ष, पत्थरके टुकड़े ले-लेकर वानरोंने क्रोधित होकर धावा किया । निशिचर बहुत विकल होकर भाग चले और गढ़पर चढ़ गये ॥ ७३ ॥

नोट—मिलान कीजिये—'तमागतमभिप्रेक्ष्य नागास्ते विप्रदुद्रुवुः । यैस्तु तौ पुरुषौ बद्धौ शरभूतैर्महाबलैः ॥ वाल्मी० ५० । ३७ ॥ नीरुजौ राघवौ दृष्ट्वा ततो वानरयूथपाः । सिंहनादं तदा नेदुर्लाङ्गूलं दुधुवुश्च ते ॥ ६१ ॥' अर्थात् जो सर्प महाबलवान् बाणरूपसे राम-लक्ष्मणजीको बाँधे हुए थे वे सब आये हुए उन गरुड़जीको देखकर इधर-उधर भाग गये । दोनों राघवोंको नीरोग देखकर वानरयूथप सिंहनाद करने लगे और आनन्दमें लाङ्गूल हिलाने लगे ।—वाल्मीकीयमें गरुड़को देखकर नागोंका भाग जाना कहा है और मानसमें गरुड़जी नागोंको खा डालते हैं । इससे

* 'पन्नगारि खाए सकल छनमहुँ ब्याल बरूथ । भए बिगत माया तुरित हरषे बानरजूथ ॥' (का०, मा० म०, पं०) ।

जनाया कि ये मायानाग गरुड़से डरे नहीं, अतः उन्हें पकड़-पकड़ खाना पड़ा। 'हरषे' से श्लोक ६१ का भाव सूचित किया है अर्थात् सब सिंहनाद करने और आनन्दमें लाङ्गूल फिराने लगे।

मा० म०—'माया बिगत भए' का भाव यह है कि अपनी मायासे रहित हुए जिस बन्धनके मिष दोनों दलों-को उन्होंने मोहित कर दिया था!

वीर—यहाँ राक्षसोंके हृदयमें जो उत्साह स्थायीभाव बढ़ रहा था कि इतनेहीमें वानरोंकी मारसे पूर्वोत्पन्नभाव लय होकर भय स्थायीभाव प्रबल हो गया यह 'भावशान्ति' है।

मेघनाद कै मुरुछा जागी। पितहि बिलोकि लाज अति लागी॥ १॥
तुरत गएउ गिरि बर कंदरा। करौं अजय * मख अस मन धरा॥ २॥

अर्थ—मेघनादकी मूर्छा बीती (वह सचेत हुआ)। पिताको देखकर उसे अत्यन्त लज्जा लगी॥ १॥ वह तुरत पर्वतकी बड़ी श्रेष्ठ गुफामें गया और मनमें निश्चय किया कि अजय-यज्ञ करूँ॥ २॥

नोट—१ (क) 'मेघनाद कै मुरुछा जागी' इति। 'मारेसि मेघनाद कै छाती। परा धरनि घुर्मित सुरघाती'॥ उपक्रम है, और यहाँ उपसंहार। इस प्रकार 'घुर्मित' का अर्थ मूर्छित हुआ। 'घुर्मित भूतल परयो तुरंता॥ ६४। ८॥'... मुरुछा गइ मारुतसुत जागा॥ ६५। ४॥' देखिये। (ख) 'लाज अति लागी' इति। क्योंकि कहाँ तो बापसे कहा था कि—'देखहु कालि मोरि मनुसाई। अबहिं बहुत का करउँ बड़ाई॥ इष्टदेव सैं बल रथ पायउँ। सो बल तात न तोहि देखायउँ॥ ७१। ७-८॥' और बल क्या देख पड़ा कि 'परा भूमि घुर्मित सुरघाती।...महि पछारि निज बल देखरावा॥ ७३। ६-७॥' एक बुड्ढेने पैर पकड़ सूखी लकड़ीकी तरह घुमाकर फेंक दिया। यह अति लज्जा-की बात हुई। पुनः, प्रथम बार जब युद्धको गया था तब बापसे कहा था कि 'कौतुक प्रात देखियहु मोरा। करिहउँ बहुत कहउँ का थोरा॥ ४८। ६॥' और अबकी कहा था कि 'देखहु कालि मोरि मनुसाई॥' पहली डींग दो चरणोंमें थी अबकी ५ चरणोंमें। अतएव पहले लज्जा हुई थी कि लक्ष्मणजीको उठा न ले जा सका जिसमें वे जीवित न हो सकते। और, अब अति लज्जा हुई। पुनः पहले कौतुक दिखानेको कहा था और अबकी पुरुषार्थ; अतः 'अति लजित।

२ (क) 'तुरत गएउ' जिसमें शत्रुको खबर न हो और मैं यज्ञ पूरा करके अजय हो जाऊँ। दूसरे, 'तुरत' इसीसे कि अभी दिनका अन्त नहीं हुआ है, वानर-सेना अभी रणभूमिपर ही है, फिरी नहीं है। फिरी होती तो फिरना अवश्य कहते जैसे पूर्व सर्वत्र कहते आये हैं। (ख) 'गिरिबर कंदरा'। निकुम्भिला क्षेत्र कन्दरामें है, वहीं देवीका स्थान और यज्ञशाला है। अतः गिरि-कंदरामें जाना कहा। आ० रा० १। ११। १८०—४ में उल्लेख है कि यहाँ एक योगिनी वट है, उस वटके नीचे योगिनी गुहा है। विशेष आगे ७५। (१-२) में देखिये, यह वही कंदरा है। आ० रा० में लक्ष्मणजीके साथ जाकर हनुमान्‌जीका योगिनी वट और गुहाका नष्ट करना तथा गुहाकी शिला हटाकर यज्ञशालामें जाना लिखा है। वाल्मी० सर्ग ८२ में निकुम्भिलामें जाकर हवन करना लिखा है। यथा—'निकुम्भिलामधिष्ठाय पावकं जुहवेन्द्रजित्।' दोनोंका समानाधिकरण आ० रा० से हो जाता है कि 'गुहा' के भीतर निकुम्भिलाक्षेत्र है। हनु० १२। १८ में लिखा है कि निकुम्भिलापर्वतमें वटवृक्षकी जड़के नीचे गर्तमें अर्धचन्द्राकारकुण्डमें इन्द्रजित्‌ने जाकर हवन किया, यथा—'तत्रनिकुम्भिलाद्रौ न्यग्रोधमूलेऽवटे रावणिः (सत्वरम्)। कुण्डे बिभीतकसमिद्भिरथार्धचन्द्रे शक्रेभकुम्भदलनः पलमाजुहाव॥' इस उद्धरणसे भी उपर्युक्त बात सिद्ध होती है। (ग) 'अस मन धरा' अर्थात् किसीको प्रकट नहीं किया, मनमें ही बात रक्खी।

प० प० प्र०—विषादयुक्त होकर पूरा बदला लेनेकी इच्छासे मत्सरयुक्त होकर गया। यह दुष्ट अजय मख करनेको गया है; सिद्ध होनेसे मरेगा नहीं यह कवि जानते हैं अतः उनके हृदयमें धक्का लगा, अर्धालीमें दो मात्राएँ कम देकर यह सूचित किया है।

---

* 'अजग मख'।—(का०)। अजग अर्थात् जिससे संसार न रह जाय, सबका संहार हो।

***इहाँ बिभीषन मंत्र बिचारा। सुनहु नाथ बल अतुल उदारा ॥ ३ ॥**
मेघनाद मख करै अपावन। खल मायावी देव सतावन ॥ ४ ॥

अर्थ—यहाँ (रामदलमें) विभीषणजीने यह सलाह विचारकर कही—हे उदार (श्रेष्ठ; बड़े) अतुल बली स्वामी ! सुनिये ॥ ३ ॥ दुष्ट, मायावी, देवताओंको सतानेवाला पापी मेघनाद अपावन यज्ञ कर रहा है ॥ ४ ॥

☞ विभीषणके मन्त्री (अनल, पनस, सम्पाति और प्रमति जो इनके साथ आये थे) और उनकी स्त्री सरमा आदि बराबर गुप्तचरका काम कर रहे हैं। दोहा ३७ पृष्ठ २२४ भी देखिये।

नोट—१ '**बल अतुल उदारा**'। भाव कि यद्यपि आप बड़े अतुलित बली हैं, वह चाहे जितना यज्ञादिक करे आपको जीत नहीं सकता, तो भी यह समाचार शत्रुका है; इससे सुनाता हूँ आप सुनें, आपको निर्बल जानकर नहीं सुनाता।

२—'अपावन' यज्ञ क्योंकि भैंसा, रुधिर आदिकी बलि उसमें दी जाती है। दूसरे, वह यज्ञ सबको सतानेके लिये है। पुनः मेघनाद मायावी है, दुष्ट इत्यादि है, अतः वह भी अपावन है। (ख) 'खल, मायावी, देवसतावन' विशेषण दिये जिसमें शीघ्र ही इसका वध करें। क्रमसे विशेषण उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। यहाँ 'सार अलंकार' है। दुष्ट है; अतः माया करता है। मायावी है; अतः मायासे देवताओंको पीड़ा देता है—माया-बलसे ही इन्द्रपर जय पायी। पुनः वह खल इत्यादि है। आप दुष्टोंका दलन और देवताओंकी रक्षा करते हैं अतः इसे मारकर उनकी रक्षा कीजिये। पुनः, 'मायावी' यहाँ देकर '**मायासीता वध प्रसंग**' जो हनुमान्‌जी उस समय श्रीरामजीसे कह रहे थे वह भी इशारेसे जना दिया। विभीषणजीने श्रीरामजीसे कहा कि मेघनादने सबको धोखा देनेके लिये अवश्य यह माया रची होगी, जिसमें वह निश्चिन्त होकर यज्ञ कर सके। (वाल्मी० ८४) वाल्मी० ८६ में भी लगभग यही विशेषण आये हैं। यथा—'जहि वीर दुरात्मानं मायापरम-**धार्मिकम्। रावणिं क्रूरकर्माणं सर्वलोकभयावहम्** ॥ ५ ॥ (विभीषणोक्ति लक्ष्मणं प्रति)।

शीला—'देवसतावन'। तात्पर्य कि यज्ञ सत्कर्म है ऐसा समझकर श्रीरामजी रुक न जायँ कि यज्ञ तो देवभाग है इसे कैसे भंग करें। मायावी अर्थात् चुराकर (मायासे) अधर्मयुद्ध करता है अतः उसके यज्ञमें विघ्न करनेमें अधर्म नहीं होगा।

जौं प्रभु सिद्ध होइ सो पाइहि। नाथ बेगि पुनि† जीति न जाइहि ॥ ५ ॥
सुनि रघुपति अतिसय सुख माना। बोले अंगदादि कपि नाना ॥ ६ ॥
लछिमन संग जाहु सब भाई। करहु बिधंस जग्य कर जाई ॥ ७ ॥

अर्थ—हे प्रभो ! यदि यज्ञ सिद्ध होने पावेगा तो, हे नाथ ! फिर वह शीघ्र जीता न जा सकेगा ॥ ५ ॥ श्रीरघुनाथजीने सुनकर अत्यन्त सुख माना (भाव कि हमारे साथ तुमने बड़ा उपकार किया) और अङ्गद आदि अनेक वानरोंको बुलाया और कहा ॥ ६ ॥ हे भाइयो ! सब भाई लक्ष्मणजीके साथ जाओ और जाकर यज्ञको विध्वंस (नष्ट-भ्रष्ट) करो ‡ ॥ ७ ॥

नोट—'जौं प्रभु०' इति। 'जौं' का भाव कि सिद्ध होनेमें संदेह है क्योंकि आप 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, उसका यज्ञ अवश्य विध्वंस करेंगे। 'प्रभु' का दूसरा भाव कि आप तो समर्थ हैं; आपसे ऐसा कहना ढिठाई ही है कि वह जीता न जा सकेगा।

* 'सो सुधि पाइ बिभीषन कहई। सुनु प्रभु समाचार अस अहई ॥ (का०)। † रिपु (का०)।

‡ राघवस्तु रिपोर्ज्ञात्वा मायावीर्यं दुरात्मनः। लक्ष्मणं कीर्तिसम्पन्नमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥ वानरेन्द्रस्य बलं तेन सर्वेण संवृतः। हनूमत्प्रमुखैश्चैव यूथपैः सह लक्ष्मण ॥ २१ ॥ जाम्बवेनर्क्षपतिना सह सैन्येन संवृतः। जहि तं राक्षससुतं मायाबल-समन्वितम् ॥ २२ ॥ अयं त्वां सचिवैः सार्धं महात्मा रजनीचरः। अभिज्ञस्तस्य मायानां पृष्ठतोऽनुगमिष्यति ॥ २३ ॥'—(वाल्मी० ८५)।

अर्थात् दुरात्मा शत्रुका मायाबल समझकर रामजी कीर्ति-सम्पन्न लक्ष्मणजीसे ये वचन बोले—बड़े-बड़े पराक्रमी वानरोंको जिनमें हनुमान् मुख्य हैं उनके साथ और ऋक्षराज जाम्बवन्तके सेनासहित तुम जाकर मायावी मेघनादको मारो। और ये महात्मा राक्षसेन्द्र विभीषणजी भी मन्त्रियोंसहित उसकी मायाको समझनेवाले भी आपके पीछे-पीछे जाते हैं।

२ 'बेगि पुनि जीति न जाइहि' इति । पूर्व 'प्रभु' और 'बल अतुल उदारा' कहा, अतः यह नहीं कहते कि वह अजय हो जायगा किंतु कहा कि देर लगेगी क्योंकि आप मर्यादापुरुषोत्तम हैं, वरदानको मिथ्या न करेंगे और यह कार्य शीघ्रताका है क्योंकि वह दुष्ट और देवसतावन है। वाल्मीकीयमें उन्होंने कहा है—'चैत्यं निकुम्भिलामद्य प्राप्य होमं करिष्यति। हुतवानुपयातो हि देवैरपि सवासवैः ॥ १४ ॥ दुराधर्षो भवत्येष संग्रामे रावणात्मजः।' 'यद्युत्तिष्ठेत्कृतं कर्म हतान्सर्वांश्च विद्धि नः॥ १३ ॥' (वाल्मी० ८५)। अर्थात् निकुम्भिला स्थानमें पहुँचकर आज वह होम कर रहा है। यदि यज्ञ सिद्ध हो गया तो इन्द्रसमेत समग्र देवताओंसे भी युद्धमें दुराधर्ष हो जायगा। निर्विघ्न यज्ञ समाप्त करके उठनेपर वह निश्चय ही हम सबोंको मार डालेगा।

३ 'सुनि रघुपति अतिसय सुख माना' प्रसन्न हुए क्योंकि (गुणग्राही) हैं, (२) विभीषणजीने सत्य-सत्य कहा है, वह हृदयसे प्रेम रखता है ऊपरसे ही नहीं, यह समझकर। वा, (३) बड़े मौकेसे समाचार मिला, अभी उपाय हो सकता है। वा, (४) यज्ञके विध्वंसमें मेघनादके नाशका योग है। वा, (५) कृतज्ञ हैं। हमारे साथ बड़ा उपकार किया यह समझकर सुखी हुए। (पं० मा० म०)।

४ 'बोले अंगदादि···' इति। (क) अङ्गदादि—दोहा ७४ में जो नाम गिनाये हैं वे 'आदि' से जना दिये। (ख) ☞ यहाँ 'अङ्गदादि' कहकर अङ्गदको प्रधान रक्खा, हनुमान्‌जीको आदिमें न रक्खा, यद्यपि इनका बल प्रख्यात है कि इनके समान योद्धा नहीं। अन्यत्र जहाँ-तहाँ हनुमान्‌जीको आदिमें रक्खा है, यथा—'हनुमदादि सब बानर बीरा। धरे मनोहर मनुज सरीरा ॥ ७। ८। २ ॥' भेदका कारण यह है कि अङ्गद बालिपुत्र है, इन्द्रका पौत्र है। इन्द्रको मेघनादने बाँधा था, कुम्भकर्णने कई बार इन्द्रको घायल किया था इसका बदला बालि रावणसे न ले सका था। इसका उसको पश्चात्ताप था। यथा—'अथ रघुपतिबाणः प्राप्तवीरप्रमाणः प्रलयदहनरोचिः कोटिविद्युन्मरीचिः। अकृत हृदयभेदं वालिनः सोऽप्यरोदीदनिहतपितृशत्रुः किं सशल्यो हतोऽस्मि ॥ हनु० ५। ५७ ॥'

(अर्थात्) श्रीरामजीका बाण, जिसे वीरका प्रमाण मिल चुका है और जो प्रलयाग्निकी कान्ति एवं करोड़ों बिजलियोंकी चमकके सदृश है, उसने बालिके हृदयको भेदा। वह रोने लगा कि अपने पिता इन्द्रके शत्रु रावणको बिना मारे ही मैं मारा गया।—अङ्गदको पिताकी अभिलाषाकी पूर्त्तिमें उत्साह होगा, अतः उनको प्रथम कहा। दूसरे, अङ्गद युवराज हैं और मेघनाद भी युवराज। इससे अङ्गदको यहाँ प्रथम कहा। तीसरे, एक बार हनुमान्‌जीको आदिमें और दूसरी जगह अङ्गदको आदिमें देकर अङ्गद और हनुमान् दोनोंको बराबर सम्मान कविने दिया है।

४ (क) 'लछिमन संग' से लक्ष्मणजीको प्रधान रक्खा और सबको गौण। (ख) 'सब भाई' इति। यद्यपि सुग्रीवादि सभी वानर और विभीषण अपनेको सेवक ही जीसे मानते और वचनसे कहते हैं पर प्रभु उनको सेवक कभी नहीं मानते। वे तो इन्हें सदा 'सखा', 'भ्राता' और 'भाई' आदि ही सम्बोधन देते हैं और जीसे ऐसा मानते हैं। यथा—'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे ॥ ७। ८। ७ ॥' 'आप माने स्वामी कै सखा सुभाइ पाइ पति ते सनेह सावधान रहत डरत ॥ बिनय० २५१ ॥' तथा यहाँ 'जाहु संग सब भाई'। भाईको भेजते हैं; अतः सबको भाईके समान मानते हैं। अहा! कौन स्वामी सेवकोंको यह पदवी देते हैं? भाई ही सङ्कटमें काम आते हैं।

तुम्ह लछिमन मारेहु रन ओही। देखि सभय सुर दुख अति मोही ॥ ८ ॥
मारेहु तेहि बल बुद्धि उपाई। जेहि छीजै निसिचर सुनु भाई ॥ ९ ॥

अर्थ—लक्ष्मण! तुम संग्राममें उसे मारना। देवताओंको भयभीत देख मुझे बड़ा दुःख है ॥ ८ ॥ हे भाई! सुनो! बल, बुद्धि और उपायसे उसे मारना जिससे निशिचरका नाश हो ॥ ९ ॥

नोट—१ (क) अङ्गदादि साथियोंको यज्ञ-विध्वंसकी आज्ञा दी और लक्ष्मणजीको उसके वधकी। (ख) विभीषणजीने 'मायावी देवसतावन' कहा, अतः प्रभुने 'देखि सभय सुर०' कहा। उन्होंने 'मायावी' कहा, उसकी जोड़में यहाँ 'मारेहु तेहि बल बुद्धि उपाई' कहा। (ग) 'बल बुद्धि' पृष्ठ ४८ देखो। २—'मारेहु रन ओही'। 'रण' का भाव कि यज्ञ करते समय मारना क्षत्रियधर्मके विरुद्ध है; अतः यज्ञ विध्वंस होनेपर लड़ाईमें

मारना। यही बात सात्यकिसे कृतवर्माने कही थी कि तू कैसे वीर हुआ कि यज्ञमें दीक्षित भूरिश्रवा राजाको मारा। पुनः यथा—'न हन्ति दीक्षितस्यैव साधवः' (वाल्मी०)।

२ **'मारेहु तेहि बल बुद्धि'''** इति। **'देखि सभय सुर दुख अति मोही'** इस कथनसे और **'लछिमन मारेहु ओही'** से मेघनादवध अपने अधीन सूचित किया। इससे ईश्वरता प्रकट होती है। अतः ऐश्वर्य छिपानेके लिये फिर कहा कि **'मारेहु तेहि बल बुद्धि उपाई'** अर्थात् मनुष्य-रीतिसे मारना; क्योंकि अभी रावणवध करना है। उसकी मृत्यु मनुष्यसे ही है। ऐश्वर्य प्रकट होनेसे फिर मारनेमें वरदान झूठा हो जायगा। इसीसे कहा कि 'जेहि छीजै निसिचर०' अर्थात् रावणका नाश हो। (शीला)

☞ अ० रा० के मेघनादकी मृत्यु १२ वर्ष निद्रा और भोजन त्यागे हुए मनुष्यके हाथ थी और उसमें विभीषणजीका श्रीरामजीसे यह भी कथन है कि लक्ष्मणजीने भोजन और निद्राका त्याग किया है यथा—'लक्ष्मणस्तु अयोध्याया **निर्गम्यायात् त्वया सह। तदादि निद्राहारादीन्न जानाति रघूत्तम॥ ८। ६४॥'** आप उनको हमारे साथ भेजें। अतः उसके अनुसार यहाँ इतनी कथाका अध्याहार ऊपरसे कर लें।

वाल्मी० और अ० रा० दोनोंमें विभीषणजीकी श्रीरामचन्द्रजीसे लक्ष्मणजीको साथ भेजनेकी प्रार्थना है; अतः उनकी रुचिके अनुकूल वहाँ श्रीरामजीने उनको सबके साथ भेजा। मानसमें यह कथा नहीं है, यहाँ तो केवल यज्ञका समाचार पाकर लक्ष्मणजीको उसके लिये समर्थ समझकर वधकी आज्ञा देकर भेजा है। पर, वह कथा भी ऊपरसे लगा ली जा सकती है।

लक्ष्मणजीको क्यों भेजा? मेघनादने श्रीलक्ष्मणजीको शक्ति मारी थी, इससे इन्हींके हाथों उसका वध उचित जानकर लक्ष्मणजीको भेजा। इस चरितसे यह प्रकट करेंगे कि पूर्व शक्तिका प्रसङ्ग प्रभुकी लीलामात्र थी। पुनः मेघनाद रावणका पुत्र है और लक्ष्मणजी भी श्रीरामजीके पुत्र समान हैं। यथा—'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। **कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥ २। ७२। ४।'** श्रीसुमित्राजीने भी कहा है—'तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब **भाँति सनेही॥ २। ७४। २।'** और श्रीरामजीने भी सुत सम्बोधन किया है, यथा—'अब अपलोकु सोकु सुत तोरा। **सहिहि निठुर कठोर उर मोरा॥ ६०। १३।'** अतः इन दोनोंका जोड़ योग्य है। पूर्व ५१ (७) में लिखा जा चुका है कि श्रीरामजीने मेघनादपर बाण इसीसे वहाँ न चलाया कि रावणके पुत्रपर क्या हाथ चलावें! पुनः, प्रभुको सब विदित है इसीसे लक्ष्मणजीको भेजा जैसे हनुमान्‌जीको मुद्रिका दी थी। विधिने इन्हींके हाथ उसकी मृत्यु लिखी है।

जामवंत सुग्रीव बिभीषन। सेन समेत रहेहु तीनिउ जन॥१०॥
जब रघुबीर दीन्हि अनुसासन। कटि निषंग कसि साजि सरासन॥११॥

अर्थ—श्रीजाम्बवन्तजी, सुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी! आप तीनों प्राणी सेनासमेत (साथ) रहियेगा॥१०॥ जब रघुवीर श्रीरामचन्द्रजीने आज्ञा दी तब कमरमें तरकस कसकर और धनुष सजकर (अर्थात् धनुषपर रोदा चढ़ाकर॥ ११॥

नोट—१ (क) पहले प्रधान वानरोंको साथ जानेको कहा। अङ्गद युवराज हैं। उसे कहकर तब राजाओंको कहा। जाम्बवन्त ऋक्षराज हैं, सुग्रीव वानरराज और विभीषण राक्षसराज हैं। पुनः, (ख) जाम्बवन्त वृद्ध मन्त्री हैं इससे उनका मान्य सुग्रीव और विभीषणके समान दिखाया और उनको इनके साथ कहा। सुग्रीवको विभीषणसे पहले कहा क्योंकि वे प्रथम शरणमें आये थे, दूसरे सुग्रीव वानराधिपति हैं। उन्होंने श्रीसीताजीको ला देनेकी प्रतिज्ञा की है। विभीषण लंकाका सब हाल जानते हैं, वे यज्ञशाला आदि बतायेंगे। यथा 'अभिज्ञस्तस्य देहस्य जानाति विवराणि सः॥ अ० रा० ९। ६॥' दोहा ७४ (४–७) देखिये।

२—**'सेन समेत रहेहु०'** इति भाव कि सेनासे अलग होनेपर तुमपर ही प्रथम चोट करेगा; क्योंकि जाम्बवन्तसे अभी-अभी वह हारकर लज्जित हो चुका है। विभीषणको भ्राताद्रोही कहकर यह भी कह चुका ही है कि 'आजु सबहि हति **मारउँ ओही'** और सुग्रीव वानरराज हैं; इनके मारे जानेसे सारी सेना भाग जायगी'' इत्यादि।—दोहा ६४ देखिये। दूसरे अभी-अभी ये उसके चाचाके नाक-कान भी काट चुके हैं उसका बदला लेगा। यहाँ सबको सावधान किया कि यह साधारण

वीर नहीं है। सुग्रीवादि लड़ाईमें, इस स्थलको छोड़ कहीं एक साथ नहीं भेजे गये। इस आज्ञासे जनाया कि मेघनादसे युद्ध सब युद्धोंसे कठिन युद्ध है।

बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि सुग्रीव विभीषण जाम्बवन्त तीनोंको सेनासहित साथ रहनेको कहा, जिसमें शत्रु चोट न करे। लक्ष्मणजी प्रधान हैं। प्रधानपर शत्रुका विशेष लक्ष्य रहता है; इसीसे कहा कि तीनों सेनासहित इनके साथ ही रहना अलग न होना।

मेरी समझमें भाईको एक बार शक्ति लग चुकी है। उसमें बड़ा दुःख प्रभुको हुआ कि हमारे रहते लक्ष्मणजीकी यह दशा हुई। इसीसे अब उनकी रक्षाके लिये वात्सल्यभावसे इन सबको साथ रहनेकी आज्ञा दी। यहाँ— **'जोगवहिं प्रभु सिय लषनहिं कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे॥** अ० १४२॥ का चरितार्थ है।

३—**'जब रघुबीर दीन्हि अनुसासन।०'** इति। प्रभुकी आज्ञा अटल है। उनके वचन असत्य नहीं हो सकते। यथा—**'प्रभु अग्या अपेल श्रुति गाई। करौं सो बेगि जो तुम्हहिं सुहाई॥** सुं० ५९॥' जिसको-जिसको प्रभुने आज्ञा दी उसने-उसने काम पूरा किया। यथा—(क) **'पाछे पवन तनय सिरु नावा। जानि काज प्रभु निकट बोलावा॥ बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु॥'** वह कार्य सिद्ध हुआ। (ख) वालि-पुत्रको आज्ञा दी—**'लंका जाहु तात मम काजा'**। उन्होंने भी जैसा कुछ कार्य किया वह भी प्रसिद्ध ही है। तथा (ग) यहाँ लक्ष्मणजी आज्ञा पानेसे समझ गये कि अब कार्य सिद्ध है—**'स्वयं सिद्ध सब काज'** इसीसे अबकी शपथ करके चले।

प्रभु प्रताप उर धरि रनधीरा। बोले घन इव गिरा गँभीरा॥ १२॥
जौं तेहि आजु बधे बिनु आवउँ। तौ रघुपति-सेवक न कहावउँ॥ १३॥
जौं सत संकर करहिं सहाई। तदपि हतौं रघुबीर दोहाई॥ १४॥

अर्थ—रणधीर लक्ष्मणजी प्रभुका प्रताप हृदयमें रखकर मेघके समान गम्भीर वाणी बोले*—॥ १२॥ 'यदि आज उसे बिना मारे आऊँ तो श्रीरघुनाथजीका सेवक न कहाऊँ॥ १३॥ जो सैकड़ों शङ्कर भी उसकी सहायता करें, तो भी उसे मार डालूँगा, रघुवीरकी शपथ करता हूँ'॥ १४॥

नोट—१ (क) **'प्रभु प्रताप उर धरि'** इति। प्रथम बार जब मेघनादसे युद्ध करने गये थे तब प्रतापको उरमें न धारण किया था; इसीसे शक्ति लगी। अबकी प्रभुके प्रतापके भरोसे गये, अतः विजय हुई। (ख) 'रणधीरा' का भाव कि वीर हैं, मेघनादको अपने पुरुषार्थसे मार सकते हैं। प्रथम बार भी मेघनादका प्राणावशेष कर दिया था पर ब्रह्मदत्त शक्तिकी मर्यादा रक्खी थी। तथापि भक्त हैं, उसके वधमें रामप्रतापको ही मुख्य मानकर जा रहे हैं।

पं० पा०—'घन इव'। यहाँ सामना भी 'मेघनाद' से है, उसकी जोड़में यहाँ 'घन इव' कहा। गम्भीरता गुणके विचारसे 'घन इव' कहा।

वाणीकी गम्भीरता कई प्रकारकी होती है। जैसे कि गूढ़ आशयसे भरी, गहरी, जोरसे बोली हुई, इत्यादि। यथा **'बोले गिरा गँभीर। १। २७३।' 'घनघोरसे बोलत थोर थोर हैं॥** गी० १। ७१। यहाँ मेघके समान गम्भीर शब्द हैं।

रा० प्र०—**'सत संकर०'** क्योंकि इन्हींके वरदानसे वह दर्पित हो रहा है; अथवा शङ्करजी रणके देवता हैं इससे उनका नाम लिया।

वीर—यहाँ लक्ष्मणजीका बन्धुविषयक रतिभाव वीररसके अङ्गसे वर्णित होना 'प्रेयालंकार' है।

* वाल्मी० ८५ में उनके वचन ये हैं—'रामपादावुपस्पृश्य हृष्टः सौमित्रिरब्रवीत्॥ २५॥ अद्य मत्कार्मुकोन्मुक्ता शरा निर्भिद्य रावणिम्। लङ्कामभिपतिष्यन्ति हंसाः पुष्करिणीमिव॥२६॥ अद्यैव तस्य रौद्रस्य शरीरं मामकाः शराः। विधमिष्यन्ति भित्त्वा तं महाचाप-गुणच्युताः॥ २७॥ अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम कर लक्ष्मणजी बोले कि आज हमारे बाण मेघनादको भेदकर लङ्कामें ऐसे गिरेंगे जैसे हंस पुष्करिणीमें गिरते हैं। आज हमारे बाण उस रौद्रकर्मीके शरीरमें प्रवेश करेंगे।

नोट—२ लक्ष्मणजी परम रामानन्य हैं, वे श्रीरामचन्द्रजीके सिवा किसीको नहीं जानते-मानते। यथा—'मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। २। ७२। ६।' इसीसे भरतजी तक (एवं पिता दशरथजी) को राम विरोधी समझकर मारनेको तैयार हो गये थे। उस समय भी ऐसी ही शपथ की थी। यथा—'आजु रामसेवक जस लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ ॥…जौं सहाय कर संकरु आई। तौ मारौं रन राम दोहाई॥ २। २३०।'

परशुरामजीको ऋषि और ब्राह्मण जानकर भी, राम-अपमान करनेके कारण, इन्होंने उनकी पर्वा न की और उनसे भी कहा था—'अब आनिय ब्यवहरिया बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली॥ १। २७६।

ये ऐसे अनन्य हैं कि इन्होंने शपथ भी जब की तब श्रीरघुनाथजीकी ही की; दूसरे की नहीं। यथा—'जौं न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु भाथ। १। २५३।' 'तौ मारौं रन राम दोहाई' और 'तदपि हतउँ रघुबीर दोहाई।' शङ्करजी संहार करनेवाले हैं इससे इन्हींका नाम लिया अर्थात् यदि संहार करनेवाले शङ्करजी, एक दो क्या सैकड़ों ऐसे आ जायँ तो भी वे हमें कुछ हानि न पहुँचा सकेंगे। पुनः 'शङ्कर' हैं अर्थात् कल्याण करनेवाले हैं यदि ऐसे सैकड़ों भी शङ्कर आकर उसका कल्याण करना चाहें, हमारे हाथ वध होनेसे बचाना चाहें तो भी वह बचाये न बचेगा।

जनकजीके वचनपर माष होनेपर प्रभुकी शपथ करके कहा था कि 'कर न धरौं धनु भाथ' क्योंकि वहाँ वीरतापर आक्षेप किया गया था—'अब जनि कोउ माषइ भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥' भाव कि न कर सकूँ तो वीरताका चिह्न ही न धारण करूँगा। और यहाँ आज्ञारूपी सेवा मिली है इसीसे शपथ की कि वध न करूँ तो सेवक न कहाऊँ। (रा० बा० दा०)।

☞ इनके वचनोंके सम्बन्धमें पूर्व 'बोले गिरा प्रमान। १। २५२।' और 'सपथ प्रमान। २। २३०।' ऐसा कहा था और यहाँ 'घन इव गिरा गँभीर' कहा। 'जौं' का भाव कि श्रीशङ्करजी आपके परम भक्त हैं, पुनः माधुर्यमें 'सेवक स्वामि सखा सिय पी के' हैं; तब वे कदापि उसकी सहायता न करेंगे, सहायतामें संदेह है। रामद्रोहीकी रक्षा कोई कब करेगा ? दोहा १४ (८) देखो। 'सेवक न कहावउँ' बड़ी भारी शपथ है। भाव कि मुझे यह अभिमान है कि 'मैं सेवक रघुपति पति मेरे' पर आजतक कोई सेवा न मिली। आज प्रभुने आज्ञा दी। आज्ञा पालन करे वही सेवक है—'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा' और 'सेवक सोइ जो करइ सेवकाई।' मेघनाद-वधकी आज्ञा है, वध करूँ तभी सेवक कहलाना सत्य हो सकता है।

अयोध्याकाण्डमें एक ही 'शङ्कर' कहा था यहाँ 'सौ शङ्कर' कहे। भाव कि पूर्व आज्ञा माँगी थी पर मिली न थी। (दोहा ५१ देखो)। इससे सपथ भी कड़ी न थी। अबकी प्रभुने स्वयं आज्ञा दी है; सेवा मिल गयी है, आज्ञासे निश्चय है कि कार्य सिद्ध होगा; अतः कड़ी शपथ की है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—'जौ सत संकर……दोहाई' इति। लक्ष्मणजी सरकारको दुखित नहीं देख सकते। यथा—'सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। ६०। ३।' चित्रकूटमें भरतजीके आनेका समाचार सुनकर जब रामजीको अत्यन्त सोच हुआ तब लक्ष्मणजीने यह जानकर कि भरतजी युद्ध करनेके लिये ससैन्य आ रहे हैं, इसलिये सरकार दुःखी हैं, आपेके बाहर हो गये, कहने लगे 'जौ सहाय कर संकर आई। तौ मारौं रन राम दोहाई॥' इसी भाँति यहाँ भी सरकारके मुखसे सुनकर कि 'देखि सभय सुर दुख अति मोही।' ठीक वैसी ही बात बोल रहे हैं। तात्पर्य इतना ही है कि सरकार चिन्ता छोड़ दें, मैं उसे अवश्य मारूँगा, कोई उसे अब बचा नहीं सकता। शङ्कर भगवान्‌के अनादरमें तात्पर्य नहीं है।

दोहा—रघुपति चरन नाइ सिरु * चलेउ तुरंत अनंत।
अंगद नील मयंद नल संग सुभट † हनुमंत॥ ७४॥

* बंदि रामपदकमल जुग। † रिषभ—(का०)।

अर्थ—श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें माथा नवाकर लक्ष्मणजी तुरंत चले। साथमें श्रीअंगद, नील, मयंद, नल और हनुमान्‌जी (आदि) उत्तम योद्धा थे ॥ ७४ ॥

'चरन नाइ सिर०'

श्रीरामजीको प्रणाम करना कल्पतरुके समान मनोरथ सिद्ध करनेवाला है। पिछली बार प्रणाम न किया था तब शक्ति लगी थी। प्रायः जहाँ-जहाँ प्रणाम करके कार्यके लिये प्रस्थान किया गया है वहाँ-वहाँ अवश्य सफलता हुई है। लङ्काकाण्डमें ही देखिये—१—युद्धके प्रारम्भमें वानर प्रणाम करके चले तब बराबर जय ही हुई। यथा—**'हरषित रामचरन सिर नावहिं। गहि गिरि सिखर बीर सब धावहिं ॥३८।७॥'** तब **'चले निसाचर निकर पराई। प्रबल पवन जिमि घन समुदाई ॥ ४१ । ३ ॥' 'भंजेहु रथ सारथी निपाता। ताहि हृदय महुँ मारेसि लाता ॥ दुसरे सूत बिकल तेहि जाना। स्यंदन घालि तुरत गृह आना ॥ ४२ । ७-८ ॥' भुजबल रिपुदल दलमलि देखि दिवस कर अंत। कूदे जुगल बिगत श्रम आये जहँ भगवंत ॥ ४४ ॥' और कछु मारे कछु घायल कछु गढ़ चले पराइ। गर्जहिं भालु बलीमुख रिपुदल बल बिचलाइ ४६ ॥** यहाँ प्रथम युद्ध समाप्त हुआ। वानर जीते।

२ (क)—दूसरे दिन युद्धमें प्रणाम नहीं है, यथा—**'कोपि कपिन्ह दुर्घट गढ़ घेरा ४८।८॥'** तब **'सो कपि भालु न रन महँ देखा। कीन्हेसि जेहि न प्रान अवसेषा ॥ दस दस सर सब मारेसि परे भूमि कपि बीर ॥ ४९ ॥'** (ख) लक्ष्मणजीने प्रणाम न किया तब फल हुआ शक्तिसे मूर्छा।

३—तीसरे युद्धमें तीन बार लड़ने गये पर प्रणाम करके न गये, यथा—**'एतना कपिन्ह सुना जब काना। किलकिलाइ धाये बलवाना ॥ ६३ । ३ ।** तब **'अंगदादि कपि मुरछित करि समेत सुग्रीव। काँख दाबि कपिराज कहँ चला अमित बल सींव ॥ ६४ ॥'** (ख) **'जय जय जय रघुबंसमनि धाये कपि दै हूह ॥ ६५ ॥'** तब **'कुंभकरन कपि फौज बिदारी', 'देखी राम बिकल कटकाई ॥ ६६ । ७-८ ॥'** (ग) **'बिकल बिलोकि भालु कपि धाये।'** तब **'चले भागि कपि भालु भवानी ॥ ६९ । २ ॥'**

४—चौथे युद्धमें प्रणाम नहीं है—**'चहुँ दुआर लागे कपि नाना ॥ ७१ । ९ ॥'** तब **' 'व्याकुल कटक कीन्ह घननादा ॥ ७३ । ३ ॥'**

☞ प्रणामके साथ प्रायः प्रभुप्रतापका स्मरण और भरोसा भी जयके लिये आवश्यक है यह पूर्व दिखाया गया है। दोहा ५१ देखिये।

जाइ कपिन्ह सो * देखा बैसा। आहुति देत रुधिर अरु भैंसा ॥ १ ॥
कीन्ह कपिन्ह † सब जग्य बिधंसा। जब न उठइ तब करहिं प्रसंसा ॥ २ ॥

अर्थ—वानरोंने जाकर उसे देखा कि बैठा हुआ रुधिर और भैंसेकी आहुति (अग्निमें) दे रहा है ॥ १ ॥ वानरोंने सब यज्ञ विध्वंस कर दिया। (फिर भी) जब वह न उठा तब उसकी सराहना करने लगे ॥ २ ॥

नोट १—'जाइ कपिन्ह सो देखा०' इति। प्रथम आज्ञा वानरोंको यज्ञ-विध्वंस करनेकी थी, अतः लक्ष्मणजीको बाहर खड़ा करके उन्होंने यज्ञशालामें जाकर यज्ञ-विध्वंस किया।

आ० रा० में लिखा है कि **'गरुडास्त्रेण सर्पांश्च पर्वतास्त्रेण द्विरदान्। अनलं शान्तमकरोत्पर्जन्यास्त्रेण लक्ष्मणः ॥१८१॥ प्राशयामास हनुमाननिलं क्षणमात्रतः। जलं संशोषयामास वायव्यास्त्रेण लक्ष्मणः ॥ १८२ ॥ परिघेष्वपि नष्टेषु तत्राऽदृष्ट्वा रिपोः स्थलम्। ययावुत्पाटितुं क्रोधाद्धनुमान्योगिनीवटम् ॥१८३॥ तदा तं दर्शयामास वटस्था योगिनी गुहाम्। गुहापिधानपाषाणं हनूमान् पादघट्टनैः ॥१८४॥ चूर्णीकृत्य गुहासंस्थं मेघनादं व्यतर्जयत्। तदा स मेघनादोऽपि त्यक्त्वा होमं त्वरान्वितः॥१८५ क्रोधाविष्टो रथे स्थित्वा ययौ लक्ष्मणसम्मुखम्।** आ० रा० १ । ११ ।' (अर्थात्) मेघनादने अपनी यज्ञशालाको गुप्त रक्खा था। उसने वटवृक्ष तक पहुँचनेके मार्गको भी सर्प, हाथी, अग्नि, वायु और जल इन पाँचके फाटकोंसे ढक रखा था। इसका भेद विभीषणने बताया। इसपर लक्ष्मणजीने गरुडास्त्रसे साँपोंको, पर्वतास्त्रसे हाथियोंको, पर्जन्यास्त्रसे अग्निको शान्त किया, हनुमान्‌जीने क्षणमें हवाको पी लिया और लक्ष्मणजीने वायव्यास्त्रसे जल सोख लिया। इन फाटकोंके टूट

* देषा सो। † तब कीसन्ह कृत।

जानेपर शत्रुकी जगह देख पड़ी। क्रोधसे आतुर हो हनुमान्‌जी तुरंत योगिनी वटको उपाड़ने चले तो उसी समय वहाँ वटमें ही योगिनी गुहा देख पड़ी। लात मारकर उसके पत्थरके ढकनेको चूर्ण करके उसके भीतर (जाकर) उन्होंने मेघनादको ललकारा। तब मेघनाद भी होम छोड़कर तुरंत क्रोधमें भरा रथपर बैठ लक्ष्मणजीके सामने आया।

अ० रा० में भी लिखा है कि बड़ी भारी सेना रक्षामें थी जिससे मेघनाद दिखायी न देता था। विभीषणजीने लक्ष्मणजीसे उसका नाश करनेको कहा। यथा—'यदेतद्राक्षसानीकं मेघश्यामं विलोक्यते। अस्यानीकस्य महतो भेदने यत्नवान् भव॥ ९। १४।' अतः श्रीलक्ष्मणजी बाहर खड़े हुए रक्षकोंका नाश करते रहे यह आगेके 'लै त्रिसूल धावा कपि भागे। आए जहँ रामानुज आगे॥' से स्पष्ट है। वाल्मी० ८६ में और अ० रा० ९ में भी मेघनादका सेनाको विकल देख बिना यज्ञ किये उठ आकर युद्ध करना लिखा है। यथा—'स्वमनीकं विषण्णं तु श्रुत्वा शत्रुभिरर्दितम्। उदतिष्ठत दुर्धर्षः तत्कर्मण्यननुष्ठिते। १४॥'

२—यज्ञ कैसे विध्वंस किया यह वैसा ही समझिये जैसा रावण-यज्ञ-विध्वंसमें हुआ। दोहा ८४ छंद देखिये। हनुमन्नाटकका मत है कि अग्निसे रथ निकलने लगा था उसी समय यज्ञ विध्वंस किया गया। 'शत्रुंजये रथवरेऽर्धसमुद्गतेऽग्नेर्यज्ञं बभञ्ज तरसा हनुमानुपेत्य। १२। १८।' इतनेमें हनुमान्‌जीने शीघ्र प्राप्त होकर उस शत्रुदमनकारी रथश्रेष्ठ शत्रुञ्जय नामक रथको अग्निसे आधा ऊपर आते ही यज्ञको विध्वंस कर डाला।

३—'करहिं प्रसंसा' अर्थात् कि तू तो बड़ा वीर है, इन्द्रको तूने जीता। अरे वीर होकर हमसे डरता है, हमारी ललकारपर भी बैठा है।—यहाँ प्रशंसामें भी निन्दा प्रकट होती है—'व्याजनिन्दालंकार' है।

तदपि न उठै धरेन्हि कच जाई। लातन्हि हति हति चले पराई॥ ३॥
लै त्रिसूल धावा कपि भागे। आए जहँ रामानुज आगे॥ ४॥
आवा परम क्रोध कर मारा। गर्ज घोर रव बारहिं बारा॥ ५॥
कोपि मरुतसुत अंगद धाए। हति त्रिसूल उर धरनि गिराए॥ ६॥

अर्थ—प्रशंसा करनेपर भी न उठा तब उन्होंने जाकर उसके बाल पकड़े और लातोंसे मार-मारकर भाग चले॥ ३॥ वह त्रिशूल लेकर दौड़ा। वानर भगकर वहाँ आये जहाँ आगे लक्ष्मणजी खड़े थे॥ ४॥ वह अत्यन्त क्रोधका मारा हुआ आया। भयंकर कठोर शब्दसे बारंबार गरजने लगा॥ ५॥ अङ्गद और हनुमान्‌जी कोप करके दौड़े। उसने छातीमें त्रिशूल मारकर (दोनोंको) पृथ्वीपर गिरा दिया॥ ६॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—'लै त्रिसूल······आगे' इति। लक्ष्मणजीको विभीषणने उस वट वृक्षके नीचे खड़ा कर दिया था, जहाँ जाकर मेघनाद अन्तर्धान होता था और केवल बंदर लोग वहाँ गये जहाँ वह यज्ञ कर रहा था। बंदरोंने यज्ञ विध्वंस तो कर दिया, पर मेघनादने अपना आसन नहीं छोड़ा। आसन न छोड़नेसे यज्ञकी त्रुटिका सम्मार्जन हो सकता था। अतः बंदर लोग उसके आसन छुड़ानेके उपायमें लगे (यथा—'लातन्ह हति हति चले पराई')। अन्तमें उसे आसन छोड़ना पड़ा। 'लै त्रिसूल धावा' तब सब भागकर लक्ष्मणजीके यहाँ आ गये जिसमें वह पीछा करता हुआ लक्ष्मणजीके सामने आ जाय। लक्ष्मणजीको वह स्थान छोड़ना न पड़े, फलतः मेघनादको वहाँसे अन्तर्धान होनेका अवसर न मिले, और लक्ष्मणजीका सामना हो जाय।

नोट—'गरज घोर रव···' अर्थात् प्रलयकारक काले मेघोंके समान ध्वनिसे गरजता था, यथा—'गंभीर-काल जलदध्वनिरुज्जगर्ज' (हनु०)।

प्रभु कहँ छाड़िसि सूल प्रचंडा। सर हति कृत अनंत जुग खंडा॥ ७॥
उठि बहोरि मारुति जुवराजा। हतहिं कोपि तेहि घाउ न बाजा॥ ८॥

शब्दार्थ—बाजना=लगना, आघात पहुँचना।

अर्थ—उसने प्रभु (लक्ष्मणजी) पर प्रचण्ड त्रिशूल छोड़ा (चलाया) । अनन्त भगवान् लक्ष्मणजीने बाण मारकर उसके दो टुकड़े कर दिये ॥ ७ ॥ श्रीहनुमान्‌जी और श्रीअङ्गदजी फिर उठकर क्रोध करके उसे मारने लगे, पर (उसे) घाव न लगा ॥ ८ ॥

नोट—'**हतहिं कोपि तेहि घाउ न बाजा**' इति । रावण तो घूँसेसे गिर-गिर पड़ा और मेघनादको कुछ असर न हुआ । वं० पा० जी कहते हैं कि लक्ष्मणजीके शूरत्वकी उत्कृष्टता दिखानेके लिये इन वीरोंकी न्यूनता गाई गयी' । यहाँ विशेषोक्ति अलंकार है । गौड़जीका भी यही मत है । वे अपनी भूमिकामें कहते हैं कि इसका सामान्यरूपसे समाधान तो इस प्रकार है कि 'यदि एक ही ओरकी विजय वर्णन की जावे तो रणकी वास्तविक शोभा नहीं होती । वीररस फीका-सा पड़ जाता है । निर्बल और सबलका संग्राम नीरस होता है । इसीलिये रावण पक्षका भी उत्कर्ष दिखाया है ।

मुख्य भाव गोसाईंजीका यह है कि लक्ष्मणजीने मेघनाद-वधकी प्रतिज्ञा की है, इसलिये अङ्गद, हनुमान्-जैसे योद्धाओंके मुकाबिलेमें मेघनादका उत्कर्ष दिखाकर फिर लक्ष्मण द्वारा उसका वध कराके लक्ष्मणजीका उत्कर्ष बढ़ाकर दिखाया जाय । इसलिये पहले मेघनादका उत्कर्ष दिखाया, फिर उसका वध लक्ष्मणजीद्वारा कराके वास्तवमें लक्ष्मणजीका उत्कर्ष बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया । श्रीरघुनाथजीके भाईके मुकाबिलेमें महान् योद्धा ही आना चाहिये । देखिये, आगे जाकर राम-रावण-युद्ध प्रसङ्गमें लिखा है कि '**लछिमन कपीस समेत । भए सकल बीर अचेत ॥**' यहाँ लक्ष्मणजीको भी विकल बताया, क्योंकि रावणपर रघुनाथजीकी विजय होती है । इसी भाँति यहाँ मेघनादका भी प्रसङ्ग है ।' (प्र० सं०) ।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी भी बहुत ठीक ही लिखते हैं कि 'जिस हनुमान्‌जीके एक घूँससे मेघनाद मूर्च्छित होता था (यथा—'**मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई । ताहि एक छन मुरुछा आई**) उसीको अङ्गद और हनुमान् दोनों वीर क्रोध करके मार रहे हैं, पर उसे चोट नहीं चढ़ती, । कारण यह कि यद्यपि यज्ञ पूरा नहीं हुआ था, फिर भी जितना सम्पन्न हुआ था, उतनेसे ही उसमें इतनी बल-वृद्धि हो गयी थी कि इन लोगोंके प्रहारसे वह घायल नहीं हुआ ।' इनके मतकी पुष्टि हनुमन्नाटकके पूर्वोक्त उद्धरणसे होती है । विजय रथ अग्निसे आधा ऊपर आ चुका था जब यज्ञ विध्वंस हुआ था । यज्ञ प्रायः पूर्तिको पहुँच गया था । इतने परिश्रका फल उसे मिला ही चाहे ।

फिरे बीर रिपु मरै न मारा । तब धावा करि घोर चिकारा ॥ ९ ॥
आवत देखि क्रुद्ध जनु काला । लछिमन छाँड़े बिसिख कराला ॥ १० ॥
देखिसि आवत पबि सम बाना । तुरत भएउ खल अंतरधाना ॥ ११ ॥
बिबिध बेष धरि करै लराई । कबहुँक प्रगट कबहुँ दुरि जाई ॥ १२ ॥

अर्थ—जब वीर योद्धा मुड़ चले कि शत्रु मारे नहीं मरता, तब वह बड़ी जोरसे चिग्घाड़कर दौड़ा ॥ ९ ॥ मानो क्रोधित काल हो, ऐसा आते देख श्रीलक्ष्मणजीने (काल समान क्रुद्ध होकर) कठिन बाण छोड़े ॥ १० ॥ वज्र समान बाण आता देख वह दुष्ट तुरंत अन्तर्धान हो गया ॥ ११ ॥ अनेक वेष बना-बनाकर (अनेक प्रकारके रूप धारण कर-करके) लड़ाई करने लगा, कभी प्रकट होता और कभी छिप जाता ॥ १२ ॥

नोट—'**फिरे बीर** ''''**कराला**' इति । मिलान कीजिये—'हरीनभ्याहनत्क्रुद्धः परं लाघवमास्थितः । ते वध्यमाना हरयो नाराचैर्भीमविक्रमैः ॥१६॥ सौमित्रिं शरणं प्राप्ताः प्रजापतिमिव प्रजाः । ततः समरकोपेन ज्वलितो रघुनन्दनः ॥वाल्मी० ९१॥ अर्थात् बड़ी शीघ्रतासे धनुषपर बाण चढ़ाकर क्रोधकर वह वानरोंको विध्वंस करने लगा । बाणोंकी मारसे व्याकुल हो वानर लक्ष्मणजीकी शरण गये जैसे प्रजा प्रजापतिकी शरण जाय । तब रघुनन्दन लक्ष्मणजीको कोप हुआ । यहाँ अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है ।

नोट—लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध वाल्मी० ८६ से ९१ तक है ।

देखि अजय रिपु डरपे कीसा । परम क्रुद्ध तब भएउ अहीसा ॥ १३ ॥
*** लछिमन मन अस मंत्र दृढ़ावा । एहि पापिहि मैं बहुत खेलावा ॥ १४ ॥**

* 'एहि पापी मैं बहुत खेलावा । अब बध उचित कपिन्ह भय पावा ।—(का०) ।

अर्थ—अजय (न जीते जाने योग्य) शत्रु देखकर वानर डरे तब अहीश (शेष) परम क्रोधित हुए ॥ १३ ॥ लक्ष्मणजीने मनमें ऐसा विचार निश्चय किया कि इस पापीको मैंने बहुत खिलाया (बढ़ने दिया) ॥ १४ ॥

पं०—'अहीसा' का भाव कि जैसे सर्प क्रोध करता है वैसे कोप किया। 'बहुत खेलावा' का भाव कि ये ईश्वर हैं इनकी दृष्टिमें सब व्यवहार खेल है और इस खेल एवं खेलनेवालोंमें शक्ति भी इनकी ही है।

रा० प्र०—क्रोधकी अधिकता दिखानेके लिये 'अहीश' कहा। अहीश अर्थात् वासुकी आदिके नियन्ता ईश। 'खेलावा' अर्थात् जैसे मछलीको वंसीसे शिकार करनेवाले खिलाते हैं। यथा—'जनु वंसी खेलत चित दए ॥ ८७। ५।'

नोट—'अहीसा' शब्द देकर यहाँ उस कल्पका अवतार भी कह दिया जिसमें शेषजी लक्ष्मण होते हैं। इससे जनाया कि उन्होंने अपने अवतारी स्वरूपका स्मरण किया—'जो सहससीस अहीसु महिधरु लखन सचराचर धनी ॥ २। १२६ ॥', 'ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रजकनी।''' त्रिभुवन धनी ॥ ८२ ॥ छं० ॥' अतः उन्होंने कालके समान क्रोध किया।—'परम क्रुद्ध तब भएउ अहीसा'। स्वरूपका स्मरण करते ही क्रोध आया तब इस विचारका स्फुरित होना उचित ही है कि 'एहि पापिहि मैं बहुत खेलावा'। सचराचरधनी त्रिभुवनपतिका एक क्षुद्र राक्षसको इतनी देर तक अपने साथ लड़ने देना खेल करना ही है।

सुमिरि कोसलाधीस प्रतापा। सर संधान कीन्ह करि दापा॥ १५॥
छाँड़ा * बान माँझ उर लागा। मरती बार कपट सब त्यागा॥ १६॥

अर्थ—कोशलपति श्रीरामजीका प्रताप स्मरण कर दर्पित होकर उन्होंने बाणका संधान किया अर्थात् धनुषमें लगाकर लक्ष्य ठीक किया ॥ १५ ॥ और बाण छोड़ा जो उसकी छातीमें लगा। मरते समय उसने सब कपट छोड़ दिया ॥ १६ ॥

नोट—१ **'सुमिरि कोसलाधीस प्रतापा।०,** इति। श्रीरामप्रतापका बल हृदयमें आते ही मनुष्यमें बल, उत्साह और कार्यसिद्धिमें अधिक दृढ़ विश्वास हो जाते हैं। प्रतापका बल पाकर भक्तोंमें सात्त्विक अभिमान बढ़ जाता है। तब भक्त बड़े दुर्गम कार्योंको भी खेल समझकर प्रतिज्ञा करके कर डालनेमें समर्थ हो जाता है। 'सुमिरि प्रताप' और 'करि दापा' में यही भाव दर्शित किया है ॥ ४३ (१–३) देखिये ॥ वाल्मी० ९१ ॥ ६८-६९ और अ० रा० ९ में लक्ष्मणजीने बाण संधानकर ये वचन कहे हैं कि 'यदि दाशरथि राम धर्मात्मा, सत्यसंध और पौरुषमें अप्रतिद्वन्द्व हैं तो हे बाण! तू रावणपुत्र मेघनादका नाश कर'। यथा—**'धर्मात्मा सत्यसंधश्च रामो दाशरथिर्यदि। पौरुषे चाप्रतिद्वन्द्वस्तदैनं जहि रावणिम् ॥ ६९ ॥'** (अ० रा० में **'पौरुषे च'** के बदले **'त्रिलोक्याम्'** है, शेष सब यही है। यही प्रतापका स्मरण और दर्पके वचन हैं। यह बाण रामनामांकित था, यथा—'लक्ष्मणोऽपि शरं दिव्यं रामनामाङ्कितं शुभम् ॥ आ० रा० १। ११। १९३ ॥'

२—प्रभु प्रतापके बलपर ही भक्त प्रतिज्ञा करते और शत्रुको कुछ न समझ उसपर क्रोध करते हैं, यथा—
(क) 'तोरौं छत्रकदंड जिमि तव प्रताप बल नाथ। जो न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु भाथ ॥ १। २५३॥'
(ख) 'समुझि रामप्रताप कपि कोपा। सभा माँझ पन करि पद रोपा ॥ ३३। ८ ॥'
(ग) 'जुद्ध बिरुद्ध क्रुद्ध दोउ बंदर। राम प्रताप सुमिरि उर अंतर ॥ ४१। १ ॥'
(घ) 'जानत परम दुर्ग अति लंका। प्रभु प्रताप कपि चले असंका ॥ ३८। ९ ॥' इत्यादि। वैसे ही यहाँ 'सुमिरि कोसलाधीस प्रतापा। सर संधान कीन्ह करि दापा ॥'

३—(क) **'कपट सब त्यागा'** कपट रहते प्रभु अपनाते नहीं, अतः कपटका छोड़ना कहा। इसी प्रकार मारीच और कालनेमि (जिन्होंने तो स्पष्ट ही कपट छल किया था) के मरण-समय कपटका त्याग कहा है—५७ (५-६) देखिये। (ख) पं०—कपटका स्थान हृदय है, बाणने जाकर हृदयको ही वेधा अतः कपट छूट गया। वा, मेघनाद जानता था कि ये ईश्वर हैं, पर पिताकी आज्ञा एवं राक्षस स्वभावसे शत्रुभाव रखा था। (ग) 'सब' कहा। मन, वचन, कर्म तीनोंके कपटका त्याग कर दिया। रावणकी तरह इसने शरीर न बढ़ाया।

* छाड़ेव—(का०)।

दो०—रामानुज कहँ रामु कहँ अस कहि छाँड़ेसि प्रान ।
धन्य धन्य तव जननी * कह अंगद हनुमान ॥७५॥

अर्थ—रामानुज कहाँ हैं ? राम कहाँ हैं ? ऐसा कहते हुए उसने प्राण छोड़े । अङ्गद और हनुमान्‌जी बोले कि तेरी माता धन्य है ! धन्य है ! ॥ ७५ ॥

नोट १—'**रामानुज कहँ रामु कहँ**' ये वचन रणोत्साहमें डूबे हुए हृदयके हैं । तात्पर्य कि वे कहाँ हैं, मैं उनको मारूँ । ऐसा ही रावणने कहा है—'**कहाँ राम रन हतौं प्रचारी**' ☞ पर प्रभु इसको भी हृदयका स्नेह समझते हैं, और इसीसे अन्त समय किसी तरह भी नामका स्मरण होनेसे मुक्ति देते हैं । यथा '**जाकर नाम मरत मुख आवा । अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा** ॥ ३ । ३१ । ६ ॥', '**रामराम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्वान** ॥ ३ । २० ।'

२—माताको धन्य कहा क्योंकि—(क) उसने ऐसा पुत्र जना जो श्रीराम-लक्ष्मणका स्मरण करते हुए मरा ।—(वं० पा०) । (ख)—वीर भावसे शरीर छोड़ा । बड़े-बड़ोंकी वीर माताओंकी अभिलाषा यही रहती है कि प्राण-पयानके समय हमारे पुत्रमें कायरता न आवे ।† (रा० प्र०, पु० रा० कु०) । (ग) माताको धन्य कहा क्योंकि वह भक्त है । उसके प्रभावसे इसके मुखसे अंत समय भगवन्नाम निकला । वह भगवत्-परायण हुआ । अतः उसको धन्य कहा । (पं०) । (घ) पिताके वीर्य-दोषसे उसने इतना अपराध किया और वीर्य-प्रभावसे ही वह रणमें स्थिर रहा, अन्तमें माताके रजका पुण्य उदय हुआ जिसके प्रभावसे शरणापन्न हो भवसे छूटा ॥ (मा० म०) ।

३—अङ्गद और हनुमान्‌ने ही धन्य कहा, क्योंकि ये दोनों स्वयं बड़े वीर हैं, वीरोंकी-सी मृत्यु देख इनने सराहना की । इन दोनोंसे मेघनादका बारंबार सामना हुआ है, इससे ये दोनों उसकी वीरताको जानते हैं, अन्य वानर वैसा नहीं जानते ।

वि० त्रि०—जब बन्दरोंने लङ्काको घेर लिया तो राक्षसोंने फाटक बन्द करके किलेके भीतरसे लड़ाई आरम्भ की । मेघनाद ही पहिला वीर था जो फाटक खोलकर बाहर निकला (यथा—'**निकरि दुर्ग ते वीरवर सनमुख चला बजाइ**') और ललकारता चला '**कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता । धन्वी सकल लोक बिख्याता** ॥' और उसी भाँति ललकारता हुआ ही प्राण-त्याग करता है '**रामानुज कहँ राम कहँ**' । उसकी वीरताको इस भाँति निबहता देखकर, वीरशिरोमणि अङ्गद-हनुमान् फड़क उठे, कहने लगे कि तेरी वीर जननीको धन्य है ।

नोट ३—मारीचने वध-समय पहिले श्रीलक्ष्मणजीका फिर श्रीरामजीका नाम लिया था, पर वहाँ ऐसा करनेका भाव स्पष्ट था कि जिसमें लक्ष्मणजीका नाम सुनकर श्रीजानकीजी उनको वहाँसे भेज दें । फिर मुक्तिके लिये रामस्मरण मनमें किया था । पर यहाँ लक्ष्मणजीसे ही दोनों बार युद्ध हुआ है, इन्हींके हाथोंसे उसका वध हुआ और ये ही सामने उपस्थित हैं, अतः इनका नाम प्रथम मुँहसे निकलना स्वाभाविक ही है । करु० और वै० का मत है कि "लक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य माने गये हैं । आचार्य बिना मुक्ति नहीं होती—'**गुर बिनु भवनिधि तरै न कोई** ।' अतः पहिले उनका नाम लेकर उनकी शरणमें प्राप्त हुआ, फिर राम नाम लेकर मुक्त हुआ । और पं० का मत है कि 'मेघनादने प्रथम बार इनको शक्ति मारी थी, उस अवज्ञाके क्षमार्थ उनका नाम प्रथम लिया । पर यदि यह शङ्का हो कि रामजीकी भी अवज्ञा नागपाशबन्धनद्वारा की थी तो इसका समाधान यह कर लें कि 'रामानुज' शब्दमें 'राम' शब्द आदिमें है ही इस तरह उनका नाम प्रथम भी है ।

४—श० सुं०—यहाँ मूलमें 'कहँ' पाठ लिखा है । कई पुस्तकोंमें 'कह' लिखा है अर्थात् लक्ष्मणको स्मरण कर फिर रामचन्द्रको स्मरणकर उसने प्राण छोड़े; परन्तु ऐसा करनेमें 'अस कहि' शब्द व्यर्थ होता है इसलिये 'कहँ' वाला पाठ और अर्थ ठीक है ।

---

* 'धन्य सक्रजित मातु तव'—(का०) ।

† 'यत्र यत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः । अक्षयं लभते लोकं यदि क्लीबं न भाषते ॥'

बिनु प्रयास हनुमान उठायो *। लंका द्वार राखि पुनि आयो †॥ १ ॥
तासु मरन सुनि सुर गंधर्बा। चढ़ि बिमान आए नभ सर्बा॥ २ ॥

अर्थ—बिना परिश्रम हनुमान्‌जीने उसे उठाया और लङ्काके दरवाजेपर उसे रखकर फिर लौट आये॥ १॥ उसका मरण सुनकर देवता और गन्धर्व सभी विमानोंमें चढ़कर आकाशमें आये॥ २॥

नोट—१ **'बिनु प्रयास हनुमान उठायो ।०'** इति। भाव कि (क) इसका शरीर बड़ा था तब भी हनुमान्‌जीको श्रम न हुआ। (पं०) वा, (ख)—तू तो लक्ष्मणजीको उठाकर लङ्का ले जाना चाहता था और हम तुझे तेरे बापके पास ही पहुँचाये देते हैं कि तुझे देखकर छाती ठंढी कर ले और तेरे जिलानेका उपाय कर सके तो करे। वा; (ग)—तू तो लक्ष्मणजीको ही न उठा सका था और मैं तुझको विना परिश्रम उठा रहा हूँ। वा; (घ) मेघनादने स्वयं लक्ष्मणजीको उठाना चाहा और साथ ही अनेक और योद्धाओंने उठाना चाहा पर न उठा सके और यहाँ अकेले एक लक्ष्मणजीके सेवक हनुमान्‌जीने उठा लिया। (वं० पा०)।

२—लङ्का-द्वारपर रख आये जिसमें रावणको शीघ्र ही इसके वधकी खबर मिल जाय और उसे शोक प्राप्त हो। वा, भाव कि ले देख जिसके बलका तुझे गर्व था उसकी क्या गति हुई। अब भी समझ जा। वं० पा० जी लिखते हैं कि—'लङ्काद्वारपर रख आनेका भाव यह है कि—इसकी दाहादि क्रिया रावण कर ले। दूसरे, यह कि मूर्छित लक्ष्मणजी लङ्कामें न आये, उनको कोई न ला सका था, उनके बदले मृतक मेघनादको मैं लाया हूँ; इसे ले।—यह शत्रुके कर्मका उत्तर दिया। गौड़जी अपनी भूमिकामें लिखते हैं कि 'इस कर्मसे रामदलके अभयत्व और वीरत्वका दिग्दर्शन कराया गया है और लङ्काके रावणदलकी हीनता दिखायी है। मेघनादको कुम्भकर्णकी तरह लङ्कामें फेंकनेकी आवश्यकता अब इससे न थी कि फेंकनेकी बात एक बार जाम्बवंत द्वारा दिखायी जा चुकी है।

पं०—भाव कि जैसे लक्ष्मणजीके मूर्च्छित होनेसे हमारे कटकमें शोक हुआ था वैसा ही दुःख आज लङ्कामें घर-घर हो। वा, कहीं मरण सुनकर लज्जाके मारे शरीर लेने (वा, युद्ध करने) न आवे तो कम-से-कम उसका शरीर देख तो ले कि क्या दुर्दशा हुई। वा, मृतकको नगरमें न ले जाना चाहिये इससे द्वारपर रख आये।

नोट—३ हनुमान्‌जी उठाकर ले गये। एक तो दुष्कर कर्म करनेमें ये सबसे अग्रगण्य हैं। जो काम देखिये उसे सबसे शीघ्र करनेमें दूसरा इनके समान नहीं। दूसरे, मेघनादका शरीर उठाकर लङ्काद्वारपर ले जाना सहज नहीं था कि सभी कर लेते। अतः ये ले गये। तीसरे, हनुमान्‌जीको यह बाँधकर रावणके समीप ले गया था, उसका बदला यहाँ इन्होंने दिया।—'तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारा'। चौथे, मेघनाद द्वारा हनुमान्‌जीकी अभिलाषा पूरी हुई थी कि वे रावण तक पहुँच सके; अतः इन्होंने मेघनादका शव वहाँ पहुँचाया कि इसका अपमान यहाँ रणभूमिमें न हो, इसका मृतक कर्म भी यथोचित किया जा सके।

पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी—सरकारने कुम्भकर्णवधके बाद उसके शिरको रावणके पास पहुँचा दिया। वही उसका प्रधान दाही (शोक करनेवाला) था। भाव यह कि 'मरणान्तानि वैराणि' इस पुरुषसे मेरा वैर समाप्त हो गया; यह उसका उत्तमाङ्ग है, अब आगेकी कार्यवाही जैसा उचित समझो करो'। यहाँ मेघनादवध होनेपर सरकारकी परिपाटीका अनुसरण करना ही ठीक समझा गया। मेघनाद हृदयमें बाण लगनेसे मरा। मरेपर शस्त्र चलाना उचित नहीं; अतः उसके पूरे शवका भेज देना उचित समझा गया। शव इतना भारी था कि दूसरा कोई उसे उतनी दूर नहीं ले जा सकता था। अतः हनुमान्‌जी उसे उठाकर लङ्काद्वारपर रख आये, और वहीं तक ऐसे समयमें उनका जाना उचित भी था।

नोट—४ 'सुर सर्बा' इति। इससे जनाया कि मेघनादके डरसे 'सब' देवता कभी न आये थे; आज आये। ५—'सुनि' से सूचित किया कि युद्धके समय ये अदृश्यरूपसे भी मौजूद न थे, देवलोकमें ही थे। जब सुना कि वह मारा गया तब आये।

बरषि सुमन दुंदुभी बजावहिं। श्रीरघुनाथ बिमल जसु गावहिं॥ ३॥

* हनुमंत उठावा। † तेहि आवा—(का०, मा० म०)।

जय अनंत जय जगदाधारा। तुम्ह प्रभु सब देवन्हि निस्तारा॥ ४॥

शब्दार्थ—निस्तारा=छुटकारा, उद्धार किया, बचाया।

अर्थ—फूल बरसाकर नगाड़े बजाते हैं और श्रीरघुनाथजीका निर्मल यश गाते हैं॥ ३॥ हे अनंत! आपकी जय। हे जगत्‌के आधार! आपकी जय! हे प्रभो! आपने सब देवताओंका उद्धार किया॥ ४॥

नोट—'बरषि सुमन···' इति। मिलान कीजिये—'ततः प्रमुदिता देवाः कीर्तयन्तो रघूत्तमम्। ववर्षुः पुष्पवर्षाणि स्तुवन्तश्च मुहुर्मुहुः।' (अ० रा० ९। ४८)। पुनश्च 'जगाम निहते तस्मिन्राक्षसे पापकर्मणि॥ वाल्मी० ९१। ८५। आकाशे चापि देवानां शुश्रुवे दुन्दुभिस्वनः। नृत्यद्भिरप्सरोभिश्च गन्धर्वैश्च महात्मभिः॥ ८६॥ ववर्षुः पुष्पवर्षाणि···।' जैसे अ० रा० में 'रघूत्तमम्' है वैसे ही मानसमें 'श्रीरघुनाथ' है।

पु० रा० कु०—'श्रीरघुनाथ बिमल जसु गावहिं' इति। विजय तो श्रीलक्ष्मणजीने की और यश श्रीरघुनाथजीका, यह कैसा? उत्तर—(क) श्रीलक्ष्मणजी सेवक हैं, इससे स्वामीकी प्रधानता है। वा, (ख)—श्रीरामजीका ही प्रताप वधमें मुख्य कारण है, यथा—'सुमिरि कोसलाधीस प्रतापा। सर संधान कीन्ह करि दापा'॥ यह होते ही मेघनादवध हुआ। वा, (ग) 'रघुनाथ'—पदसे लक्ष्मणका ग्रहण कर लें।—[राम, लक्ष्मण दोनों ही रघुवीर हैं, यथा—'मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ०' (मं० श्लो० कि०)। अनन्त और जगदाधार दोनों विशेषण पूर्व ही शक्ति-प्रसङ्गमें इनके ही लिये आ चुके हैं। 'प्रभु' पद भी इनके लिये कविने अन्यत्र भी प्रयुक्त किया है, यथा—'प्रभु कहँ छाड़ेसि सूल प्रचंडा। ७५। ७।', 'तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई। अ०। ७५।']

गौड़जी—रघुपतिविमलयशकी पताकाको फहरानेवाला दण्ड श्रीलषनलालजीका यश है, जैसे दण्ड और पताका अभिन्न हैं, बल्कि दण्ड आधार है और पताका आधेय। उसी तरह रघुनाथविमलयशका आधार लक्ष्मणजीका यश है, इसी लिये यहाँ लक्ष्मणजीके यशोगान द्वारा ही रघुनाथ-विमल-यशोगान अभिप्रेत है। 'रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयेउ जस जाका'॥

नोट—१ 'जय अनंत०'। अनन्त हैं अतएव आपकी महिमा कोई क्या कह सके? जगत् आपके आश्रय टिका हुआ है अतः आपने इसका वध करके जगत्‌की रक्षा की।—विशेष दोहा ५३ देखो। 'सब देवन्ह निस्तारा।' भाव कि मेघनाद-वध सबसे कठिन था, रावण-वध इतना कठिन नहीं है। इसका वध होनेसे मानो रावण मरा ही हुआ है। अब सब देवता निर्भय होकर सुखकी नींद सोवेंगे। यथा—'ऊचुश्च सहितास्तुष्टा देवगन्धर्वदानवाः। विज्वराः शान्तकलुषा ब्राह्मणा विचरन्त्विति॥ वाल्मी० ९१। ८९।' अर्थात् सब देवता दानव गन्धर्वादि मिलकर कहते हैं कि अब ब्राह्मण विज्वर हुए, उनके हृदयके दुःख बीते, निश्चिन्त जहाँ चाहें अब विचरें। ऐसा ही रावणने भी कहा है, यथा—'अद्य देवगणाः सर्वे लोकपाला महर्षयः। हतमिन्द्रजितं दृष्ट्वा सुखं स्वप्स्यन्ति निर्भयाः॥ वाल्मी० ९३। १०।'

अस्तुति करि सुर सिद्ध सिधाए। लछिमन कृपासिंधु पहिं आए॥ ५॥

अर्थ—स्तुति करके देवता और सिद्ध (सब) चले गये तब लक्ष्मणजी दयासागर श्रीरामजीके पास आये॥ ५॥

☞ अ० रा० और वाल्मीकीयका मत है कि यह युद्ध तीन दिन तीन रात्रि बराबर होता रहा। यथा—'अहोरात्रैस्त्रिभिर्वीरः कथंचिद्विनिपातितः। निरमित्रः कृतोऽस्म्यद्य निर्यास्यति हि रावणः॥ वाल्मी० ९२। १६।' अर्थात् श्रीरामजी बोले कि तीन दिन-रात युद्ध करके उसे मारकर हमको शत्रुरहित कर दिया। पर मानसके मतसे एक ही दिनमें यह युद्ध समाप्त हुआ। लक्ष्मणजीकी प्रतिज्ञा है कि 'आज ही' उसे मारूँगा—'जौं तेहि आजु बधे बिनु आवौं।···'।

नोट—'कृपासिंधु' इति। इस विशेषणसे जनाया कि—(१) आपकी असीम कृपासे मेघनाद मारा गया। यथा—'आजगाम ततः शीघ्रं यत्र सुग्रीवराघवौ। वाल्मी० ९२। ३।', 'त्वत्प्रसादाद्रघुश्रेष्ठ हतो रावणिराहवे ५४। साधु लक्ष्मण तुष्टोऽस्मि कर्म ते दुष्करं कृतम्। मेघनादस्य निधने जितं सर्वमरिन्दम॥ अ० रा० ५६। सर्ग ९।' (२) रघुनाथजी

उनपर बहुत प्रसन्न हुए; उनको हृदयसे लगाया; उनका आश्वासन किया; गोदमें बिठाया; इत्यादि जो वाल्मी० ९२ श्लोक ३ से २० तक वर्णित है वह सब इस पदसे जना दिया।

पु० रा० कु०—यहाँ पूर्व अवरोधको मिटाते हैं। पूर्वके वचन ये हैं—'जो तेहि आजु बधे बिनु आवौं। तौ रघुपति सेवक न कहावउँ॥'

गौड़जी—देवों सिद्धोंने श्रीलक्ष्मणजीकी स्तुति की, क्योंकि उनके निकट दोनों 'रघुबरों' में कोई भेद नहीं है। परन्तु लक्ष्मणजी तो अपनेको कृपासिन्धुका कृपापात्र सेवक ही मानते हैं और वह स्तुतियाँ स्वामीकी ही समझकर चुपचाप उन कृपासिन्धुके चरणोंमें पहुँच जाते हैं, जिनकी कृपासे शपथ पूरी हुई।

सुत बध सुना दसानन जबहीं। मुरुछित भएउ परेउ महि तबहीं॥ ६॥
मंदोदरी रुदन कर भारी। उर ताड़न बहु भाँति पुकारी॥ ७॥
नगर लोग सब ब्याकुल सोचा। सकल कहहिं दसकंधर पोचा॥ ८॥

अर्थ—ज्यों ही दशमुखने पुत्रवध सुना त्यों ही मूर्छित होकर वह पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ ६॥ मन्दोदरी बड़ा विलाप करने लगी। बहुत तरहसे (उसके नाम) पुकार-पुकार(शोकसे चिल्लाकर) छाती पीटती है॥ ७॥ सब पुरवासी शोकसे व्याकुल हैं, सभी कहते हैं कि दशकंधर नीच है॥ ८॥

नोट—१ **'सुतबध सुना'**... इति। मन्त्रियोंने जाकर बताया। यथा 'ततः पौलस्त्यसचिवाः श्रुत्वा चेन्द्रजितो वधम्। आचचक्षुरभिज्ञाय दशग्रीवाय सत्वराः॥ वाल्मी० ९२। १।' २—अक्षकुमारादि पुत्र रावणको इतने प्रिय न थे जैसा मेघनाद। इसीसे उनके वधपर विषादमात्र हुआ—**'सुतबध सुरति कीन्हि पुनि उपजा हृदय बिषाद। सुं० २०।'**, **'सो सुनि रावन भएउ दुखारा। ३४। १२।'** और, यह माता-पिता दोनोंका अत्यन्त प्यारा था, इससे इसके वधपर रावण तो मूर्च्छित ही हो गया और मन्दोदरीने भी बड़ा विलाप किया। ३—**'उर ताड़न बहु भाँति पुकारी'**।—**'रोवहिं नारि हृदय हति पानी।**...। ७१। ५।' देखिये। ४—**'नगर लोग सब ब्याकुल सोचा।**...' इति। नगरवासियोंका सोच इस प्रकार वाल्मी० ९५ में वर्णित है कि इसने किसीका कहा न माना। चोरीसे सीताहरण किया, कुम्भकर्णादि मारे गये; प्रिय पुत्र मारा गया, तब भी यह अंधा है, इसे बोध नहीं होता। इस दुर्बुद्धि, नीच, दुर्विनीतको अन्यायसे ही यह शोक प्राप्त हुआ है। विशेष **'सब मिलि देहिं रावनहि गारी।**...४१। ५।' पृष्ठ २४३, २४४ देखिये। वहाँ विस्तारसे लिखा जा चुका है।

दो०—तब दसकंठ बिबिध बिधि* समुझाई सब नारि।
नस्वर रूप जगत† सब देखहु हृदय बिचारि॥ ७६॥

अर्थ—तब रावणने अनेक प्रकारसे सब स्त्रियोंको समझाया और कहा कि तुम मनमें विचार देखो तो यह सारा जगत् ही नाशवान् है॥ ७६॥

नोट—१—'तब' अर्थात् जब स्त्रियोंका विलाप सुननेपर मूर्च्छा दूर हुई तब। २—'बिबिध बिधि'। रावणने ज्ञानोपदेश दिया—**'तिन्हहिं ज्ञान उपदेसा रावन'**। जैसा ज्ञानोपदेश ताराको दिया गया वैसा ही यहाँ समझिये—कि० ११ (३-६) देखिये। अर्जुनजीको भगवान्‌ने जो उपदेश गीता अध्याय २ में किया है वह भी यहाँ उपयुक्त है—

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।' गीता २। २७।
'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २०॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

* तब लंकेस अनेक बिधि। † प्रपंच सब—(का०, मा० म०)

जिसका जन्म हुआ वह अवश्य मृत्यु पावेगा और जो मरा उसका जन्म निश्चित है। इसमें किसीका वश नहीं चलता। अतः शोच करना अयोग्य है। यदि इसे नित्य मानो तो—यह न तो कभी जन्मता है न मरता है, यह तो अजन्मा, नित्य, सनातन है, शरीरके मरनेपर भी इसका नाश नहीं होता। जैसे मनुष्य पुराने कपड़ोंको छोड़कर नये पहनता है वैसे ही जीर्ण शरीरको छोड़कर नया शरीर धारण करता है। इस तरह भी शोक अयोग्य है। पुनः यथा—'**जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभ प्रिय मिलन बियोगा॥ काल कर्म बस होहिं गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं॥** अ० १५०।'

शीला—'दशकंठ' का भाव कि इसका ज्ञान पक्षी (तोता-मैना) का-सा है जो पढ़ता है उसका बोध स्वयं उसको नहीं होता है। 'दश' पक्षीको भी कहते हैं। पक्षीकण्ठरूपी ज्ञान इसे है। मुँहसे कहता है, पर समझता नहीं।

तिन्हहि ग्यान उपदेसा रावन। आपुन मंद कथा सुभ पावन* ॥ १ ॥
पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे ॥ २ ॥

अर्थ—रावणने उनको ज्ञान उपदेश किया। वह स्वयं तो नीच है पर कथाएँ कल्याणकारी और पवित्र हैं (जो उसने कहकर समझाया) ॥ १ ॥ (सच है) दूसरोंको उपदेश देनेमें तो बहुत लोग निपुण होते हैं पर ऐसे लोग बहुत नहीं हैं जो (स्वयं) उसपर चलते हों ॥ २ ॥

नोट—१ दूसरोंको ज्ञानोपदेश कि जगत् नाशवान् है, मधुकैटभ, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, खर-दूषणादि ही सब कालके वश हो गये तब औरोंकी क्या कथा! एक-न-एक दिन सबका नाश अनिवार्य है। पर वह स्वयं अभिमानवश अपनेको अमर माने बैठा है, यथा—'**नर के कर आपन बध बाँची। हँसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची।**··· **लिखा बिरंचि जरठ मति भोरें।** २९। २-३।' अतएव 'मंद' कहा। दोहा ८ (३-४) देखिये।

२ '**पर उपदेस**···' इति। यथा—'**परोपदेशकुशला दृश्यन्ते बहवो जनाः। स्वभावमतिवर्तन्तः सहस्रेष्वपि दुर्लभाः ॥ ४ ॥ परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्। धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्सुमहात्मनः ॥ २६ ॥**' (इति सु० र० भा० सज्जनस्वभाव एवं प्रशंसा-वर्णन-प्रकरण।) अर्थात् दूसरोंको उपदेश करनेमें बहुतेरे कुशल दीखते हैं, पर इस स्वभावसे ऊँचे बर्ताव करनेवाले सहस्रोंमें भी दुर्लभ हैं। दूसरोंको सिखानेमें पण्डिताई करना सभी मनुष्योंको सहज है पर अपने धर्ममें दृढ़तासे लगे रहना किसी-किसी ही महात्मामें पाया जाता है।

वीर—नीच बुद्धिके मुखमें ज्ञानोपदेशकी बातें! कारणके विरुद्ध कार्यका प्रकट होना 'पञ्चम विभावना अलंकार' है।

मेघनाद-बल-पौरुष-संहार-प्रकरण समाप्त हुआ।

'निसिचर निकर मरन बिधि नाना। रघुपति-रावन-समर' प्रकरण

निसा सिरानि भएउ भिनुसारा। लगे भालु कपि चारिहु द्वारा ॥ ३ ॥
सुभट बोलाइ दसानन बोला। रन सन्मुख जाकर मन डोला ॥ ४ ॥
सो अबहीं बरु जाउ पराई। संजुग बिमुख भए न भलाई ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—सिराना=चुकना, बीतना; यथा—'**सब सुख सुकृत सिरान हमारा।** २। ७०।'

अर्थ—रात बीती; सबेरा हुआ, रीछ-वानर चारों द्वारोंपर जा डटे ॥ ३ ॥ सुभटोंको बुलाकर दशमुख बोला—जिसका मन संग्राम-भूमिमें जाकर सामना करनेपर डाँवाडोल हो (हिचकिचाये) वह अभी भले ही भाग जाय, नहीं तो रणसे विमुख होने (मुँह फेरने) पर भला न होगा ॥ ४-५ ॥

नोट—१ (क) '**निसा सिरानि**' से जनाया कि विलाप और उपदेशमें सबेरा हो गया। (ख) '**लगे भालु कपि चारिहु द्वारा**' से जनाया कि रामदलका नियम है कि सबेरा हुआ नहीं कि लङ्कागढ़को घेरा। यथा—(१) '**घटाटोप करि चहुँ दिसि घेरी।** ३८। १०।' (२) '**करत बिचार भएउ भिनुसारा। लागे कपि पुनि चहूँ दुआरा॥** ४८। ८॥'

* भावन (ना० प्र०) अर्थात् अपने लिये उसे बुरी बातें अच्छी लगती थीं।

(३) 'एहि बिधि जलपत भएउ बिहाना । चहुँ दुआर लागे कपि नाना ॥ ७१ । ९ ।' (४) 'प्रात होत प्रभु सुभट पठाए । हनुमदादि अंगद सब धाए ॥ ८४ । ४ ॥' तथा यहाँ भी । पर श्रीलक्ष्मणजीको शक्ति लगनेके बाद और कुम्भकर्णयुद्ध प्रारम्भ होनेके पूर्व वानरोंका गढ़का सवेरे घेरना नहीं कहा गया । वहाँपर कुम्भकर्णका आगमन सुननेपर वानरोंका समरभूमिमें जाना कहा है, यथा—'एतना कपिन्ह सुना जब काना । किलकिलाइ धाए बलवाना ॥' इसके कारण ये हैं कि—(क) शक्ति लगनेपर सेना भयभीत हो गयी थी । वा, (ख)—कुम्भकर्णको जगानेमें समय लगा अतः लड़ाई कई दिन बंद रही । वा, (ग) कवि जब सवेरा होना कहते हैं तब वानरोंका गढ़को घेरना भी कहते हैं । वहाँ सबेरा होना न कहा, अतः वानरोंका द्वारपर जा लगना भी न कहा ।

३—'सो अबहीं बरु जाहु पराई' । भाव कि अभी निकल जानेसे मैं वध न करूँगा पर रणमें जाकर वहाँसे बिना जीते फिरे तो मैं वध करूँगा; क्योंकि इसमें मेरी हँसी होगी, कि ऐसे कादर वीरोंके बलपर इसे इतना गर्व रहा है । 'जो रन बिमुख फिरा मैं जाना ।…। ४१ । ७ ।' देखिये ।

बं० पा०—'संजुग बिमुख भए न भलाई' भलाई न होगी, अर्थात् लोक-परलोक दोनों बिगड़ेंगे । बड़े-बड़े वीर लड़ाईमें मारे गये हैं, इससे योद्धा कादर न हो गये हों; यह समझकर उनको उत्साहित करनेके लिये रावणने ये वचन कहे हैं ।

वि० त्रि०—'सो अबहीं…भलाई' इति । चारों फाटकोंकी लड़ाईमें जब निशिचर भागे तब रावण बहुत बिगड़े । 'जो रन बिमुख फिरा मैं जाना । सो मैं हतब कराल कृपाना ॥ सरबसु खाइ भोग करि नाना । समर भूमि भए बल्लभ प्राना'; पर यहाँ छूट दे रहे हैं कि जिसका जी युद्धसे हिचकता हो वह इसी समय यहाँसे भाग जाय; समरभूमिसे भागनेमें भलाई नहीं है, क्योंकि संग्रामभूमिमें एक साथीको भागते देखकर दूसरोंका साहस छूट जाता है, सारी सेनामें भगदड़ मच जाती है । अब इसपर यदि कोई कहे कि इस भाँति छूट देनेसे तो बहुत-से सैनिक लड़ाईमें नहीं जायँगे, क्योंकि प्राण किसे प्यारा नहीं है । विशेषतः ऐसे समयमें जब कि देख रहे हैं कि बड़े-बड़े वीर युद्धमें गये और सब खेत रहे, तब युद्ध कैसे होगा । इसके उत्तररूपमें रावण कहता है कि 'निज भुज बल मैं बयरु बढ़ावा । देहौं उतरु जो रिपु चढ़ि आवा ॥'

निज भुज बल मैं बयरु बढ़ावा । देहौं उतरु जो रिपु चढ़ि आवा ॥ ६ ॥
अस कहि मरुतबेग रथ साजा । बाजे सकल जुझाऊ बाजा ॥ ७ ॥
चले बीर सब अतुलित बली । जनु कज्जल कै आँधी चली ॥ ८ ॥

अर्थ—मैंने अपनी भुजाओंके बलपर वैर बढ़ाया है । जो शत्रु चढ़ आया है, उसे मैं (अकेला) उत्तर दूँगा ॥ ६ ॥ ऐसा कहकर पवनसमान तेज चलनेवाला रथ सजाया । समस्त लड़ाईवाले बाजे बजने लगे ॥ ७ ॥ अतुल बलवान् सब वीर योद्धा ऐसे चले मानो काजलकी आँधी चली ॥ ८ ॥

बं० पा०—'देहौं उतरु०' इति । भाव कि यह न समझो कि मैं भाई और पुत्रके मरणसे दुखी हूँ; क्योंकि यह तो शूरवीरोंका काम ही है । [वि० त्रि० जीके भाव पूर्व चौपाईमें देखिये]

नोट—१ वाल्मी० ९३ । २६–३० में जो उसने कहा है कि 'मैंने हजारों वर्ष तप करके ब्रह्माजीको सन्तुष्टकर उनकी कृपासे धनुष, बाण और कवच प्राप्त किया है, उनको लेकर रथस्थ हो जब मैं युद्धमें खड़ा होऊँगा तब मेरे सामने इन्द्र भी नहीं आ सकेंगे । देवता, दैत्य सभीसे वरद्वारा मैं निर्भय हूँ ।', यह सब 'निज भुजबल' में कविने कह दिया है ।

२—'बाजे जुझाऊ बाजा'—'बाजहिं ढोल निसान जुझाऊ ।…। ४० । २-३ ।' देखिये ।

३—'जनु कज्जल कै आँधी चली' । अत्यन्त काले हैं, अतः कज्जल कहा । 'आँधी चली' कहकर जनाया कि वे बड़े वेगसे चले आ रहे हैं, काले रंगके सिवा कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता । पुनः कज्जलकी उत्प्रेक्षा करके जनाया कि शीघ्र सब नष्ट हो जायँगे । यहाँ अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है । [सेनाको देखनेवाले देवादिके हृदयमें बड़ा धक्का लगा, वे त्रस्त हो गये । यह मुख्य भाव है । यह भाव तथा आश्चर्य सूचित करनेके विचारसे एक-एक मात्रा कम रखी गयी । (प० प० प्र०)] ।

असगुन अमित होहिं तेहि काला । गनै न भुजबल गर्ब बिसाला ॥ ९ ॥

अर्थ—उस समय अगणित अपशकुन होने लगे पर उसे अपनी भुजाओंके बलका बड़ा भारी अभिमान होनेसे वह उन्हें कुछ नहीं गिनता ॥ ९ ॥

नोट—१ (क) कुछ अपशकुनोंका वर्णन कवि आगे स्वयं करते हैं । वाल्मी० ९६ में इस स्थानके बहुत-से दुर्निमित्तोंका वर्णन है । प्रायः इन सबोंका उल्लेख 'असगुन होहिं न जाहिं बखानी । ४७ । ७' में हो चुका है और आगे 'चलत होहिं अति असुभ भयंकर । ८५ । १ ।' में है । (ख) 'गनै न०' । भाव कि काल निकट है और गर्व अधिक है, इसीसे विचार जाता रहा, यथा—'काल दंड गहि काहु न मारा । हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा ॥' एवं 'काल बस्य उपजा अभिमाना' । ऐसा ही वाल्मी० ९६ में कहा है । यथा—'एतानचिन्तयन्घोरानुत्पातान्समवस्थितान् । निर्ययौ रावणो मोहाद्वधार्थं कालचोदितः ॥ ४८ ॥' अर्थात् उन उत्पातोंकी ओर दृष्टि न कर अज्ञानवश रावण कालकी प्रेरणासे अपनी मृत्युके लिये चला ।

छंद—अति गर्ब गनइ न सगुन असगुन स्रवहिं आयुध हाथ तें ।
भट गिरत रथ ते बाजि गज चिक्करत भाजहिं साथ तें ॥
गोमाय गीध कराल खर रव स्वान बोलहिं अति घने ।
जनु काल दूत उलूक बोलहिं बचन परम भयावने ॥

शब्दार्थ—गोमाय=गीदड़, शृगाल, सिआर ।—'लेत केहरि को बयरु जनु भेक हति गोमाय (विनय०) । करार=कराल ।=कौआ, यथा—'असगुन होहिं नगर पैठारा । रटहिं कुभाँति कुखेत करारा'—(अ० भरतागमनपर) ।

अर्थ—अत्यन्त गर्वके कारण वह शकुन-अपशकुनका विचार नहीं करता । हथियार हाथसे गिरते हैं, योद्धा रथसे गिर पड़ते हैं, घोड़े, हाथी चिग्घाड़ मारकर साथसे भागते हैं । बहुतसे कराल गीदड़, गृध्र, कौवे और गदहे कठोर शब्द करते हैं तथा बहुतसे कुत्ते बोल रहे हैं; उल्लू परम भयावने शब्दसे बोल रहे हैं मानों कालके दूत ही हों । *

नोट—१ (क) 'गनइ न सगुन असगुन' इति । लोगोंने यह शङ्का की है कि 'असगुन' न गिनना तो ठीक है, शकुन न गिननेका क्या भाव ? इसका समाधान यह है कि 'सगुन असगुन' यह बोली है, जैसे 'गुणदोष', यथा—'बाल दोष गुन गनहिं न साधू । १ । २७५ ।', 'कहि गुन दोष प्रबोधी रानी'—(अ०), 'कहहु नाथ गुन दोष सब एहि के हृदय बिचारि । १ । १३० ।' मुख्य आशय तो यही है पर दूसरी प्रकार यों भी अर्थ ले सकते हैं कि उसको गर्व है कि न तो मेरी जयमें शकुन ही कारण हो सकते हैं और न अपशकुनोंसे मेरा अकल्याण हो सकता है । मेरी जय मेरे भुज-बलके अधीन है और पराजय तो हो ही नहीं सकता । गौड़जीका मत है कि 'जब भूत-कालमें रावणने 'दिग्विजय किया तब शकुन भी होते रहे, परन्तु अपने बल-पराक्रम तथा ऐश्वर्यके आगे उसने उन शकुनोंपर कभी विचार तथा विश्वास न किया । यहाँ भूतकालके शकुन समझना चाहिये और वर्तमान समयमें अशकुन हुए ही हैं । पहलेकी भाँति इसने इन अपशकुनोंपर भी विचार नहीं किया और न ध्यान दिया । छंदका भाव स्पष्ट है कि रावणको इतना गर्व है कि वह इस बातपर ध्यान ही नहीं देता (न गनै) कि शकुन हो रहे हैं या अपशकुन हो रहे हैं । उस समय कोई शकुन नहीं हो रहा था, इस बातसे कोई विरोध नहीं पड़ता । वंदन पाठकजी कहते हैं कि भाव यह है कि रावण 'वर्तमान असगुनको नहीं गनता और न भविष्यत् सगुन को' यह समझकर कि 'ये मेरा क्या कर सकते हैं ।'

मेरी समझमें शब्दोंका ज्यों-का-त्यों अर्थ लेकर लोगोंकी इस व्यर्थ शङ्काका समाधान कि 'शकुन तो कोई हुए नहीं तब शकुनका न विचार करना कैसे कहा ?' एक यह भी हो सकता है कि उस समय शकुन भी हुए थे और अपशकुन भी । रावणदलको अपशकुन हो रहे थे और रामदलमें शकुन हो रहे थे; यह वाल्मी० १०७ से सिद्ध है । [१०१ छंद देखिये] रावण न अपने अपशकुनोंकी पर्वा करता था और न इसपर ही ध्यान देता था कि शत्रुको शकुन हो रहे हैं ।

* 'ततो निष्पततो युद्धे दशग्रीवस्य रक्षसः । स्खलुश्च तुरङ्गमाः'—(वाल्मी० ९६ । ४६, ४४) । 'विनेदुरशिवा गृध्रा वायसैरभिमिश्रिताः' (वाल्मी० ९६ । ४८) ।

गोमाय गीधादिको एक साथ एक ही पंक्तिमें देकर जनाया कि ये सब एक साथ मिलकर अमंगल शब्द कर रहे हैं। ये सब अपशकुन मृत्युके सूचक हैं।

करु०—'जनु कालदूत उलूक बोलहिं'। भाव यह कि उनका बोलना ऐसा है मानो रावणको सेनासहित कालके समीप बुला रहे हैं।

३—'जनु काल दूत०'। सिद्ध विषयाहेतूत्प्रेक्षा है। 'गोमायु गृद्ध करार०' इनका रोना मृत्युसूचक अपशकुन है। कविने यहाँ अपशकुन गिनाये हैं, वे और किसी भावसे नहीं लिखे गये। पर पं० पा० जी इसमें यह भाव लिखते हैं कि 'कोई कुलमें रोनेवाला अब न रह जायगा अतएव मानो उसके लिये गृद्धादि ही रो रहे हैं। और स्वभावसे मानो सजातीय हैं। सजातीयत्वका प्रमाण, यथा—'सो दससीस श्वान की नाईं। इत उत चितै चला भड़िहाईं' (आ०)।'

दो०—ताहि कि संपति सगुन सुभ सपनेहु मन बिश्राम।
भूतद्रोहरत मोहबस रामबिमुख रति काम॥ ७७॥

अर्थ—क्या उसको धन-संपत्ति, शकुन, कल्याण और मनका विश्राम स्वप्नमें भी हो सकता है जो मोहवश जीवमात्रसे द्रोह करनेमें तत्पर है, रामविमुख है और कामासक्त है? (कदापि नहीं)॥ ७७॥

नोट—१ सबका द्रोही, मोहवश, रामविमुख और कामी—ये चारों कमी सुखी नहीं रह सकते। संपत्ति, शकुन और मंगल भी जाते रहते हैं। क्रमसे यथा—(१) 'चौदह भुवन एक पति होई। भूत द्रोह तिष्ठै नहिं कोई॥ ५। ३८। ७।', 'परद्रोही कि होहिं निःसंका। ७। ११२।' (२)—'करहिं मोह बस द्रोह परावा॥ ७। ४०।', (३) 'रामबिमुख सुख काहु न पावा', 'राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाईं' तथा 'राम बिमुख त्राता नहिं कोपी'॥(४)—'सुभ गति पाव कि परतियगामी। ७। ११२।', 'जो आपन चाहइ कल्याना। सुजसु सुमति सुभगति सुख नाना। सो पर नारि लिलार गोसाईं। तजउ चौथ के चंद की नाईं॥ ५। ३८।', 'कामी भव कर पंथ।', 'काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।'

२—कामी हरिविमुख होते हैं क्योंकि काम भजनका बाधक है, यथा—'जब लगि भजत न राम कहुँ सोकधाम तजि काम। ५। ४६।' हरिविमुख लोग मोहके वश होते हैं, यथा—'कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मो० पिसाच। पाषंडी हरिपद बिमुख॥ १। ११४।, मोहसे द्रोह होता है, यथा—'करहिं मोह बस द्रोह परावा। संत ·· हरिकथा न भावा॥ ७। ४०।' अतएव क्रमसे एकके बाद दूसरेको कहा। काम सबका मूल है।

पु० रा० कु०—यथासंख्यसे भूतद्रोहके संपत्ति नहीं, मोहवशको शुभ शकुन नहीं, रामविमुखको शुभ (कल्याण) नहीं और कामरतको विश्राम नहीं होता।

नोट—३ जिसमें इनमेंसे एक भी दोष होता है उसको सम्पत्ति आदि प्राप्त नहीं हो सकतीं और इसमें तो ये स अवगुण हैं। यथा—'बिस्व द्रोहरत यह खल कामी। १०९। ४।' मोहवश ऐसा कि उसका रूपक ही महामोहसे बाँध गया, यथा—'महामोह रावण बिभीषण ज्यों ही हयो', 'मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार०'। 'रामबिमुख अस हा तुम्हारा। १०३। १०।' (मन्दोदरी-वाक्य)। कामी तो स्पष्ट ही है। अतएव इसे 'स्वप्नमें भी' सम्पत्ति आदिकी प्राप्ति असंभव कही

चलेउ निसाचर कटकु अपारा। चतुरंगिनी अनी बहु धारा॥ १॥
बिबिध भाँति बाहन रथ जाना। बिपुल बरन पताक ध्वज नाना॥ २॥

शब्दार्थ—धारा=सेना, पंक्ति। श्रेणी। चतुरंगिनी=हाथी, घोड़े, रथ, पैदल जिसमें ये चारों हों—'हस्त्य ·· पादातं सेनाङ्गं स्याच्चतुष्टयम्' इत्यमरः।'

अर्थ—अपार निशिचर-सेना चली। चतुरंगिनी सेनाकी बहुत श्रेणियाँ थीं॥ १॥ अनेक प्रकारकी सवारियाँ, · और विमान थे। अनेक रंगोंके पताके और बहुत-सी ध्वजाएँ थीं॥ २॥

पां०—१ 'अपारा' । भाव कि किसीने इसका पार न पाया । यथा—'चला कटक को बरनइ पारा । गर्जहिं बानर भालु अपारा ॥ सु० ३५ ।' उसका वर्णन या गिनती नहीं हो सकती । २—'बहु धारा' इसलिये कहा कि वह कई धारा होकर चली ।—['धारा' में भाव यह भी है कि जैसे नदीका प्रवाह चले इस प्रकार उमड़ती हुई चली ।—मा० सं०] पुनः 'बहु धारा' से जनाया कि सेना अनेक गुल्मपतियोंसे युक्त होकर चली । (रा० प्र०)

नोट—मिलान कीजिये—'इत्येतद्वाक्यमादाय राक्षसेन्द्रस्य राक्षसाः । निर्ययुस्ते रथैः शीघ्रैर्नानानीकैश्च संयुताः ॥ ६ ॥ वाल्मी० ९४ ।', 'रथानां नियुतं साग्रं नागानां नियुतत्रयम् ॥ वाल्मी० ९६ । २७ ॥ अश्वानां षष्टिकोट्यस्तु खरोष्ट्राणां तथैव च । पदातयस्त्वसंख्याता जग्मुस्ते राजशासनात् ॥ २८ ॥' अर्थात् रावणके इन वचनोंको सुनकर वे नाना प्रकारकी सेनाओंसहित शीघ्र चलनेवाले रथोंपर चढ़-चढ़ चले ! १० लाख रथ, ३० लाख हाथी, ६० करोड़ घोड़े, असंख्य गधे, ऊँट और पयादे राजाज्ञासे चले ।—इससे 'कटक अपारा' और 'चतुरंगिनी अनी' का भाव स्पष्ट हो जाता है ।

नोट—२ 'विपुल बरन पताक०' अनेक रंगके पताके और ध्वजाएँ हैं जिससे पहिचाने जा सकें कि कौन सेना किस सेनापतिके साथकी है । प्रत्येक अनीकका अपना-अपना चिह्न है । अनी बहुत हैं, अतः पताके और ध्वजाएँ भी बहुत कही गयीं ।

चले मत्तगज जूथ घनेरे । प्राबिट जलद मरुत जनु प्रेरे ॥ ३ ॥
बरन बरन बिरदैत निकाया । समर सूर जानहिं बहु माया ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—बिरदैत=बड़ी कीर्तिवाला, बड़ा नाम, ख्याति, वा यश प्राप्त किये हुए वीर, बानाबंद—वीर बाना धारण करनेवाले ।

अर्थ—मतवाले हाथियोंके अनेकों झुंड-के-झुंड चले, मानो वर्षाऋतुके बादल पवनसे प्रेरित (होकर) चल रहे हों ॥ ३ ॥ रंगबिरंगके बानेबंदोंके समूहके समूह हैं । सब समरमें शूर हैं और बहुत माया जानते हैं ॥ ४ ॥

नोट—१ 'घनेरे' और 'प्राबिट जलद' अर्थात् वर्षाके मेघोंकी उपमा देकर जनाया कि इनकी बड़ी घनी फौज है । श्रावण-भादोंके बादल काले होते हैं और निशाचर तथा हाथी भी काले हैं अतः वर्षाके मेघोंकी उपमा दी । बड़े वेगसे चल रहे हैं, अतः पवनके झकोरेसे उड़ते हुए बादलोंकी समता दी । [यहाँ मरुतरूप रावणकी प्रेरणासे ये चले आ रहे हैं । यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है । (रा० प्र०) । रावण मरुतवेग रथपर सवार हुआ । यथा 'अस कहि मरुत बेग रथ साजा' । इस रथके वेगके समान ही इन हाथियोंका वेग था, यह 'मरुत जनु प्रेरे' से जनाया । (प० प० प्र०)]

२ 'बरन बरन बिरदैत' अर्थात् रंग-बिरंगकी वर्दियाँ पहने हुए हैं जिनमें पूर्वकृत विजयोंमें पाये हुए तमगे (पदक) लगे हुए हैं ।

३ 'समर सूर' । अर्थात् ये रणमें जूझ जानेवाले हैं, पीछे हटने वा पीठ देनेवाले नहीं हैं । इन्हें समर रुचता है, अनेक समरोंमें इनकी वीरताकी परीक्षा हो गयी है—'सूर सकल रन रूचइ रारी । २ । १९१ ।' ये करनी कर दिखानेवाले हैं—'समर सूर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु । १ । २७४ ।'

४ 'जानहिं बहु माया' से जनाया कि सब अनिप अकंपन आदिसे भी अधिक मायावी हैं । एवं खरदूषणके साथियोंके समान हैं कि मरते हैं फिर भी उठकर लड़ते हैं ।

अति बिचित्र बाहिनी बिराजी । बीर बसंत सेनु जनु साजी ॥ ५ ॥
चलत कटकु दिगसिंधुर डगहीं । छुभित पयोधि कुधर डगमगहीं ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—बाहिनी—सेनाका एक भेद जिसमें ८१ हाथी, ८१ रथ, २४३ घोड़े और ४०५ पैदल होते थे । सेना । सिंधुर=हाथी । यथा—'गावत चलीं सिंधुरगामिनि'—(बा०) । डगना (डिगना)=खिसकना, टलना, जगह छोड़ना, विचलना; डगमगाना=इधर-उधर हिलना-डोलना, स्थिर न रहना ।

अर्थ—अत्यन्त विचित्र सेना शोभित हो रही है मानो वीर वसन्तने सेना सजायी हो ॥ ५ ॥ सेनाके चलनेसे दिशाओंके हाथी डिगने लगे; समुद्र खलबला उठा; पर्वत डगमगाने लगे ॥ ६ ॥

बीर बसंत सेन जनु साजी

पां०—जैसे वसंतमें अनेक रंगके फूल फूलनेवाले वृक्ष फूल रहे हैं ऐसे ही वीरोंका बाना अनेक भाँतिका है।

पु० रा० कु०—यहाँ वसन्तकी उत्प्रेक्षा क्यों की गयी? उत्तर—मेघनादको आत्म-रामायणमें कामका रूपक दिया है, यथा—'**मोह दसमौलि पाकारिजित काम बिश्रामहारी।**' इति विनये। वसंत कामदेवका सहायक है। काम मारा गया, अतएव उसका मित्र वसंत लड़ने आया—इस भावसे वसंतका रूपक दिया गया।

नोट—वीर वसंतकी सेनाका पूर्ण रूपक रघुनाथजीने स्वयं आ० ३८ (३–११) में कहा है। यथा—'**बिबिध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना॥**' से '**लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका॥**' तक वसन्तकी उत्प्रेक्षा करके जनाया कि यह सेना ऐसी है कि बड़े-बड़े वीरोंका धैर्य इसके सम्मुख जाता रहता है।—'**रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका। ३। ३८। ११।**' यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालंकार' हुआ।

वं० पा०—सेनाकी उत्प्रेक्षा की कि मानो वसन्त जो बड़ा वीर है उसीने सेना सजी है। वसन्त ऋतुराज है और यह भी राजसेना है।

करु०—'**बीर बसंत सेन जनु साजी**' अर्थात् मानो वसन्त वीररसरूप राजा होकर शनैश्चरकी सेना सहाय लेकर सेना साजकर चला है।

उठी रेनु रबि गएउ छपाई। मरुत* थकित बसुधा अकुलाई॥ ७॥
पनव निसान घोर रव बाजहिं। प्रलय समय† के घन जनु गाजहिं॥ ८॥

शब्दार्थ—पणव=छोटा नगाड़ा या ढोल। निशान=डंका, भारी नगाड़े।

अर्थ—ऐसी धूल उठी कि सूर्य छिप गये, पवन रुक गया, पृथ्वी व्याकुल होने लगी॥ ७॥ पणव और निशान भयंकर ध्वनिसे बज रहे हैं मानो प्रलयकालके बादल गरज रहे हैं॥ ८॥

रा० प्र०—यहाँ सेनासे पाँचों तत्त्वोंका क्षुब्ध होना दिखाया है—'**दिगसिंधुर डगहीं**' से पृथ्वीतत्त्व, '**छुभित पयोधि**' से जलतत्त्व, '**उठी रेनु रबि गएउ छपाई**' से तेज (क्योंकि रवि तेजका स्वरूप है। इससे पावक तत्त्व हुआ), '**मरुत थकित**' से पवनतत्त्व और '**घोर रव बाजहिं**' से आकाशतत्त्व (क्योंकि शब्द आकाशका गुण है) क्षुभित हुआ। इस वर्णनद्वारा अखिल ब्रह्माण्डमें खड़बड़ (खलबली) जनाया।

नोट—यहाँ सेनाकी घनिष्ठता दिखायी। चरणोंकी रगड़से धूल उड़कर छा गयी। पवनको चलनेका मार्ग नहीं मिलता, अतः वह स्थगित हो गया। भारसे पृथ्वी अकुला उठी। एक परद्रोहीका ही भार बहुत है और यहाँ तो इतनेका भार है।—'**जस मोहि गरुअ एक परद्रोही**'।

महाप्रलय वा प्रलय-समयके '**घन जनु गाजहिं**'। यथा—'**जनु प्रलयके बादले।**' राम-रावण-युद्ध भी एक प्रलयके ही समान है।

☞ यहाँ प्रलय वा महाप्रलयकी उत्प्रेक्षा अन्तमें की गयी है, इसीसे यहाँ पंचतत्त्वोंका क्रम भी प्रलयके अनुसार—क्षिति, जल, पावक, समीर और आकाश—रक्खा गया है, वैसा नहीं है, जैसा किष्किन्धाकाण्डमें '**छिति जल पावक गगन समीरा**' में क्रम है। वहाँ शरीरकी रचना कही गयी थी और यहाँ नाश। ब्राह्म वा प्राकृतिक प्रलयमें पहले जल पृथ्वीके गन्ध गुणको विलीन करता है जिससे पृथ्वी नहीं रह जाती, जल रह जाता है। फिर जलका गुण जो रस है उसे अग्नि विलीन कर लेती है जिससे जल नहीं रह जाता, अग्नि रह जाता है। फिर वायु तेजको भी विलीन कर लेती है और वायु ही रह जाती है। फिर वायुका गुण जो स्पर्श है उसे आकाश विलीन कर लेता है और केवल आकाश ही रह जाता है जिसका गुण शब्द है। फिर यह शब्द भी मनस्तत्त्वमें, मनस्तत्त्व बुद्धितत्त्वमें, बुद्धितत्त्व अहंकारतत्त्वमें और अहंकार महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्व प्रकृतिमें लीन हो जाता है। ब्रह्माका दिन बीतने और रात्रि आनेपर यह प्रलय होता है।

भेरि नफीरि बाज सहनाई। मारू राग सुभट सुखदाई॥ ९॥

* पवन। † महाँ प्रलय (का०)।

केहरिनाद बीर सब करहीं। निज निज बल पौरुष उच्चरहीं॥१०॥

शब्दार्थ—शहनाई—बाँसुरी या अलगोजेके आकारका, पर उससे कुछ बड़ा, मुँहसे फूँककर बजाया जानेवाला एक प्रकारका बाजा जो प्रायः रोशनचौकीके साथ बजाया जाता है। 'मारू'—यह राग युद्धके समय बजाया और गाया जाता है। इसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं। यह श्रीरागका पुत्र माना जाता है।

अर्थ—भेरी, नफ़ीरी (तुरही) और शहनाई सुभटोंको सुख देनेवाले मारू रागसे बज रहे हैं॥ ९॥ सब वीर सिंहनाद करते हैं और अपना-अपना बल-पुरुषार्थ कह रहे हैं॥ १०॥

पु० रा० कु०—भेरि=लघु दुन्दुभी। भेरी नफीरी और शहनाई इन तीनोंसे मारू राग बजता है।

नोट—१ 'मारू राग सुभट सुखदाई' इति। अर्थात् इस रागके बजनेसे भटोंका उत्साह बढ़ता है; अतः 'सुख होता है', यथा—'बाजहिं ढोल निसान जुझाऊ। सुनि धुनि होइ भटन्हि मन चाऊ। ४०। २।'

२—'निज निज बल पौरुष उच्चरहीं' इति। ऐसा करनेसे एक-दूसरेका उत्साह बढ़ता है, यथा—'एकहि एक बढ़ावइ करषा। अ० १९१।' पौरुष उच्चारण करते हैं अर्थात् एक दूसरेसे कहता है कि हम ऐसा करेंगे, तुमसे बढ़कर पराक्रम दिखायँगे, अकेले ही सारी शत्रुसेनाको पृथ्वीपर सुला देंगे। इत्यादि (रा० प्र०)।

कहै दसानन सुनहु सुभट्टा। मर्दहु भालु कपिन्ह के ठट्टा॥ ११॥
हौं मारिहौं भूप द्वौ भाई। अस कहि सन्मुख फौज रेंगाई॥ १२॥

शब्दार्थ—ठट्ट=समूह, झुंड,समुदाय, यथा—'देखि न जाइ कपिन्ह के ठट्टा। अति बिसाल तनु भालु सुभट्टा॥' हौं=मैं।

अर्थ—रावण बोला—हे उत्तम योद्धाओ! सुनो। तुम वानरसमुदायका नाश करो॥ ११॥ और, मैं दोनों राजकुमार भाइयोंको मारूँगा। ऐसा कहकर सेना आगे चलायी॥ १२॥

नोट—'हौं मारिहौं भूप दोउ भाई' इति। सेनाको आज्ञा दी कि सेनाको मारें और आप राजा हैं अतः आप राजाको मारनेको कहता है।

नोट—'रेंगाई'। 'रेंगना' प्रायः छोटे-छोटे कीड़ोंके चलनेके लिये प्रयुक्त होता है। रेंगना धीरे-धीरे होता है। इस पदको देकर जनाया कि फौज बहुत भारी है। इस प्रकार सघन चल रही है जैसे कीड़ोंके झुंड चलें, पृथ्वी न दिखायी दे। पुनः भाव कि ये सब ऐसे सहज ही मारे जायँगे जैसे पैरके नीचे पड़कर कीड़ोंके समूहका नाश हो जाता है। पुनः, प्रयागसे आगे चित्रकूटतक 'रेंगना' क्रियाका 'चलने' के अर्थमें प्रयोग होता है। उधरकी यह देश-बोली है।

वि० त्रि०—सेनाके तैयार हो जानेपर स्थानके पहिले ही रावण कार्य-विभागकी घोषणा किये देते हैं कि (सकल लोक विख्यात धन्वी) जो दोनों भाई हैं, उनका भय तुम लोग न करो, उन दोनोंका मैं वध करूँगा। वे ही दोनों अस्त्र-शस्त्रके ज्ञाता हैं, शेष तो बंदर-भालू हैं, उनसे अस्त्र-शस्त्रका क्या सम्बन्ध? वे तो पत्थर पेड़द्वारा लड़ते हैं, तुम लोग शस्त्रधारी हो, अस्त्र-शस्त्रसे उन सबोंको छिन्न-भिन्न कर दो। इस भाँति युद्ध करनेसे जय निश्चित है। ऐसा कहकर सेनाको आगे बढ़ाया। यहाँ 'रेंगाई' से भाव यह है कि सेनाके नियमके अनुसार चलाया। वे सब बंदर-भालुओंकी भाँति बेकायदे नहीं दौड़े। यथा—'धाए बिसाल कराल मर्कट' इत्यादि।

नोट—मिलान कीजिये—'अब्रवीच्च स तान्सर्वान् बलमुख्यान्महाबलः॥ १॥ अथवाहं शरैस्तीक्ष्णैर्भिन्नगात्रं महाहवे। भवद्भिः श्वो निहन्तास्मि रामं लोकस्य पश्यतः॥ ५॥ वाल्मी० ९४।' अर्थात् महाबली रावण अपने सब सेनापतियोंसे बोला—यदि आज तुम लोग उन (राम-लक्ष्मण) को न मार सकोगे तो तुमलोगोंके बाणोंसे भिन्न अङ्ग उनको प्रातःकाल सब लोगोंके देखते मैं तो मार ही डालूँगा। वाल्मीकिका रावण-सेनापतियोंको श्रीरामलक्ष्मणके मुकाबिलेके लिये पर्याप्त समझता है; इससे पहले उन्हींसे कहता है कि जाकर उनसे युद्ध करें, ऐसा अनुमान होता है।

यह सुधि सकल कपिन्ह जब पाई। धाए करि रघुबीर दोहाई॥ १३॥

अर्थ—जब सब वानरोंने वह सब खबर पायी (कि रावणकी आज्ञासे सेना इस प्रकार आ रही है) तब वे रघुवीरकी शपथ करके दौड़े॥ १३॥

रा० प्र०—'सुधि पाई' इति। पणव निशानादि द्वारा सुध पाई।

गौड़जी—'रघुबीर दोहाई' करके दौड़नेका परिणाम उनकी विजय है।

छं०—धाए बिसाल कराल मर्कट भालु काल समान ते।
मानहुँ सपक्ष उड़ाहिं भूधर बृंद नाना बान ते॥
नख दसन सैल महाद्रुमायुध सबल संक न मानहीं।
जय राम रावन-मत्तगज मृगराज सुजस बखानहीं॥

शब्दार्थ—बान=रंग, वर्ण, यथा—'कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहे॥२। २०५॥'

अर्थ—वे विशाल और कालके समान भयङ्कर वानर-भालु ऐसे दौड़े मानो अनेक रंग-विरंगके पक्षयुत पर्वतवृन्द उड़ रहे हैं। बड़े-बड़े नाखून, दाँत, पर्वत और वृक्ष उनके हथियार हैं। वे बलवान् हैं। किसी बलवान् योद्धासे डर नहीं मानते। रावणरूपी मतवाले हाथीके लिये सिंहरूप रामचन्द्रजीका जयजयकार करके सुन्दर यश बखान करते हैं।

नोट—वानर-भालु बहुत रंगके हैं। लाल, काले, पीले, भूरे इत्यादि। **'नाना बरन सकल दिसि देखिय कीस बरूथ। कि० २३।'** तथा **'नाना बरन भालु कपि धारी। बिकटानन बिसाल भय कारी॥ सुं० ५४। ६॥'** देखिये। नाना वर्णके होनेसे नाना वर्णके पर्वत कहे। विशाल होनेसे 'भूधर' और बहुत होनेसे 'बृंद' कहा। [पुनः **'भूधरबृन्द नाना बान ते'** का भाव कि बृन्द-के-बृन्द इस प्रकार उड़े (शीघ्रतासे धावा करने चले) जा रहे हैं मानो बाण ही हैं। गतिमें बाणके समान जनाया। यथा—**'जिमि अमोघ रघुपति के बाना। तेही भाँति चला हनुमाना॥'** (वं० पा०)] पर्वत अब उड़ते नहीं और ये उड़ते हुए-से जा रहे हैं इससे सपक्ष पर्वतकी उपमा दी। किष्किन्धासे पयानके समय भी श्रीरामकृपासे इनका पक्षयुत पर्वतसदृश होना कहा है। यथा—**'राम कृपा बल पाइ कपिन्दा। भए पच्छजुत मनहु गिरिंदा॥ ५। ३५॥'** ये काल समान, वैसे ही उड़ते हुए विशाल पर्वत भी काल-सदृश भयावने लगते हैं।

वीरकवि—दूसरे चरणमें 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा', तीसरेमें 'तृतीय विभावना' और चौथेमें 'परंपरित रूपक' हैं।

दोहा—दुहुँ दिसि जयजयकार करि निज निज जोरी जानि।
भिरे बीर इत रामहि* उत रावनहि बखानि॥७८॥

शब्दार्थ—जोरी=जोड़ी; अपनी जोड़का, समान बलका प्रतिभट। इत=इधर। उत=उधर।

अर्थ—दोनों ओरके वीर जयजयकार करके अपनी-अपनी जोड़ी जानकर, इधरवाले श्रीरामका और उधरवाले रावणका बखान करते हुए परस्पर भिड़ गये॥७८॥

नोट—१ **'निज निज जोरी जानि'** इति। प्राचीन समयमें यही रीति बरती जाती थी। वह यहाँ 'निज निज जोरी जानि' और पूर्व भी वानर-निशाचरयुद्धमें **'इहाँ दसानन सुभट पठाए। नाना अस्त्र सस्त्र गहि धाए॥ भूधर नख बिटपायुध धारी। धाए कपि जय राम पुकारी॥ भिरे सकल जोरिहि सन जोरी। इत उत जय इच्छा नहिं थोरी॥ ५२। २–४॥'** ऐसा कहकर जनाया है। 'इत' से कवि अपनेको रामदलके साथ जनाते हैं। १० (१), १७ (१), ३७ (३) में जो 'इहाँ' पर लिखा गया है वही भाव 'इत' में भी है। 'बखानि'। अर्थात् अपने स्वामीका बल, प्रताप, पौरुष वर्णन करते हैं। जयजयकार करते हैं। मिलान कीजिये—**'वानराणामपि चमूर्युद्धायैवाभ्यवर्तत। अन्योन्यमाह्वयानानां क्रुद्धानां जयमिच्छताम्॥ वाल्मी० ९६। ४९॥'** अर्थात् राक्षसों और वानरोंकी सेना युद्ध करनेके लिये तैयार हो गयी और अपनी-अपनी जयकी इच्छा किये हुए परस्पर एक-दूसरेको पुकारते हुए वानरों और राक्षसोंको बड़ा क्रोध हुआ।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—चारों फाटकोंकी लड़ाईमें दुर्गरक्षक सेना मारी गयी। मेघनादवधमें मेघनादके अधीन सेना मारी गयी। कुम्भकर्ण यद्यपि सेनाके साथ रणभूमिमें नहीं आया, पर (कुंभकरण रिपु फौज बिडारी।

* रामहित—१७२१, १७६२, छः। रामहि—भा० दा०। रघुपतिहि—का०।

सुनि धाई रजनीचरधारी) पीछेसे उसकी सेना भी आयी, जो रघुनाथजीके हाथसे मारी गयी । अभी तक रावणकी सेना अछूती रही । शाही फौज है । इसमें बड़े-बड़े वीर हैं । अतः वानरी सेनामेंसे अपनी जोड़ी देख करके भिड़ गये । ऐसी ही लड़ाई लक्ष्मण-मेघनाद-युद्धके समय हुई थी । यथा—'भिरे सकल जोरी सन जोरी । इत उत जय इच्छा नहिं थोरी ॥' ठीक वही बात यहाँ कह रहे हैं । ऐसे ही अवसरपर विभीषण अधीर हो उठे कि यहाँ तो जोड़ छुट रही है । रावणके जोड़में सरकारको जाना है । यही 'धर्मरथ' के उपदेशका कारण हुआ ।

पाठान्तर—'इत रामहित'—भा० दा० में 'रामहि' पाठ था, पर चिह्न देकर 'त' बढ़ाया गया है । 'रावनहि' की जोड़में इधर 'रामहि' हो यह भी सम्भव है । प्र० सं० में 'रामहि' पाठ रक्खा गया था । गी० प्रे० ने भी यही पाठ रखा है । 'रामहित' में भाव यह कहा जाता है कि वानर-भालु स्वार्थानुसंधानरहित होकर एकमात्र श्रीरामजीके ही लिये लड़ रहे हैं । यथा 'राघवप्रियकामार्थं लङ्कामारुरुहुस्तदा । वाल्मी० ४२ । १३ ।' परंतु राक्षसोंमें यह बात नहीं है, वे रावणके भयसे ही लड़ रहे थे, क्योंकि उसने प्रारम्भमें ही घोषणा कर दी थी कि 'जो रन बिमुख फिरा मैं जाना । सो मैं हतब कराल कृपाना ॥ सर्बसु खाइ भोग करि नाना । समर भूमि भए बल्लभ प्राना ॥ उग्र बचन सुनि सकल डेराने ४१ । ७-९ ।' इसीसे 'उत रावनहि बखानि' कहा । राक्षस अपने स्वामीके भूतकालिक बल, पौरुष और प्रताप आदिका बखान करते हैं जिससे वानरगण भयभीत हो जायँ । पर वानर वीर श्रीरामजीके बल, प्रताप आदिका बखान नहीं करते, कारण कि 'सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु' । श्रीरामजीका बल पुरुषार्थ आदि तो आँखोंसे देखते चले ही आ रहे हैं । ये (वानर) अपने श्रीरामदलका नारा मात्र लगा रहे हैं । श्रीरामदलका नारा है—'जयति राम जय लछिमन जय कपीस सुग्रीव', 'जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः । राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः । वाल्मी० ५ । ४२ । ३३, ६ । ४२ । २० ।' (वे० भू०) ।

श्रीरामगीता-धर्मरथ

रावन रथी बिरथ रघुबीरा । देखि बिभीषनु भएउ अधीरा ॥ १ ॥
अधिक प्रीति मन भा संदेहा । बंदि चरन कह सहित सनेहा ॥ २ ॥

अर्थ—रावणको रथपर सवार और रघुवीरको बिना रथके देखकर विभीषणका धैर्य जाता रहा (वे घबड़ा गये) ॥ १ ॥ बहुत प्रेम होनेके कारण मनमें संदेह हो गया और वह चरणोंको प्रणाम करके स्नेहपूर्वक बोले ॥ २ ॥

वे० भू०—१ (क) 'रावन रथी' इति । भाव कि एक तो वह रावण है जगत्को रुलानेवाला है—'रावणो लोकरावणः', 'रावयति सर्वान् लोकान् इति रावणः'—उसपर भी अस्त्र-शस्त्र, ध्वजा-पताका आदिसे सुसज्जित रथपर बैठा है । (ख) 'रथी' इति । महाभारतमें रथी कई प्रकारके कहे गये हैं—अर्द्धरथी, रथी, महारथी और अतिरथी । जो अकेला पाँच सौ वीरोंसे लड़ सके वह अर्द्धरथी, जो एक सहस्रसे लड़ सके वह रथी, जो दस सहस्र धनुर्धारियोंसे लड़ सके वह महारथी और जो असंख्य धनुर्धारियोंसे अकेला लड़ सके वह 'अतिरथी' कहलाता है । यथा 'एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः । अमितान्योधयेद्यस्तु सम्प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः । रथस्त्वेकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथः स्मृतः ।' यहाँपर इस लाक्षणिक 'रथी' से तात्पर्य नहीं है । यहाँ, रथी-सुसज्जित रथपर सवार । यह अर्थ आगेके 'बिरथ रघुबीरा' से स्पष्ट हो जाता है । (ग) 'बिरथ रघुबीरा इति' । बिना रथके हैं अर्थात् पैदल हैं, शरीरपर कवच भी नहीं है, तथापि वे 'रघुवीर हैं' अतः युद्ध तो अवश्य ही करेंगे । क्योंकि उनका तो नियम ही है कि 'जो रन हमहि पचारै कोऊ । लरहिं सुखेन काल किन होऊ ॥ १ । २८४ । २ ॥

नोट—माधुर्य लीलाकी अद्भुतता, गहनता और प्रबलता ऐसी ही है कि वह ऐश्वर्यको दबा देती है । विभीषणजी प्रभुका ऐश्वर्य भलीभाँति जानते थे । उन्होंने रावणसे स्वयं कहा था कि—'तात राम नहिं नरभूपाला । भुवनेश्वर कालहु कर काला ॥ ब्रह्म अनामय अज भगवंता । ब्यापक अजित अनादि अनंता ॥' समुद्र तरनेका उपाय प्रभु पूछते हैं तब भी वे कहते हैं कि 'कोटि सिंधु सोषक तव सायक ॥ जद्यपि तदपि नीति असि गाई । ५ । ५० ।', फिर वे समुद्रबन्धन,

एक ही बाणसे रावणके मुकुटादिका हरण करना, महाबल कुम्भकर्णका लीलापूर्वक वध आदि आँखों देख भी चुके हैं। वे ही विभीषण आज प्रभुके माधुर्यमें ऐश्वर्य भूल गये।

देखिये, ब्रह्मर्षि विश्वामित्रजी यह जानते थे कि **'प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा।** १। २०६।' 'निसिचर बध **मैं होब सनाथा।** १। २०७।' उन्होंने श्रीचक्रवर्तीजीसे कहा भी कि **'डरपत हौं साँचे सनेह बस सुतप्रभाव बिनु जाने।** गी० १। ४८।' सो वे ही महामुनि इनको **'पैठत सरनि सिलनि चढ़ि चितवत खग मृग बन रुचिराई। सादर सभय सप्रेम पुलकि मुनि पुनि पुनि लेत बुलाई॥** गी० १। ५०।' यह माधुर्यका प्रभाव है। इसी तरह श्रीकौसल्याजी श्रीरामजीका अद्भुत ऐश्वर्य-स्वरूप देख चुकी हैं, उनको अलौकिक ज्ञान प्राप्त है फिर भी उनकी माधुरी मूर्ति देखकर उनको संदेह हो जाता है, वे कह उठती हैं **'केहि बिधि तात ताड़का मारी।···मारे सहित सहाय किमि खल मारीच सुबाहु।** १। ३५६।' इत्यादि। यह माधुर्यका प्रभाव है। अत्यन्त स्नेहवश स्नेहीको प्रियके सम्बन्धमें सदा शङ्का हो जाती है। श्रीकिशोरीजीकी भी यही दशा उस समय हो गयी थी जब श्रीराघवजी धनुष तोड़नेके लिये रंगभूमिमें चल पड़े थे। श्रीसरकारके अङ्गोंकी कोमलता और धनुषकी कठोरता वे वहाँ जैसे प्रत्यक्ष देख रही थीं वैसे ही कोमलता और कठोरता विभीषणजी श्रीरामचन्द्र और रावणमें लोचन-गोचर कर रहे हैं। प्रीतिके आधिक्यवश ये भी अधीर हो गये।

यहाँ महानुभावोंने यह प्रश्न उठाकर कि 'विभीषणजी जानते तो प्रथमसे ही हैं कि सेनामें रथ, घोड़े, हाथी इत्यादि कोई वाहन नहीं हैं, रघुनाथजीको पैदल ही युद्ध करना पड़ेगा और मेघनाद एवं कुम्भकर्णसे पैदल ही युद्ध किया भी है, 'तब पूर्व ही यह प्रश्न क्यों नहीं किया गया?', इसके अनेक प्रकारसे समाधान किये हैं।

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'जानते तो पहलेसे ही थे कि सेनामें एक टट्टुआ भी नहीं है। सरकारको पैदल ही युद्ध करना पड़ेगा, पर घर बैठे जानना दूसरी बात है और समराङ्गणमें देखनेसे दूसरे ही भाव उत्पन्न होते हैं, अतएव विभीषण अधीर हो उठे। खटकती तो यह बात बंदरोंको भी थी, यथा—**'रथारूढ़ रघुनाथहिं देखी। धाए कपि बल पाइ बिसेषी'।** पर वे अधीर नहीं हुए, क्योंकि उन लोगोंमें पैदल ही युद्ध करनेकी प्रथा है, (वे श्रीरामजीको पैदल ही सर्वत्र विजयी होते देख भी चुके हैं); परंतु विभीषण लंकेश ठहरे, रथीकी गरिमाको जानते हैं और पदातिकी असुविधाका भी उन्हें सम्यक् बोध है, अतएव वे अधीर हो गये। इस प्रकार विभीषणका आर्त्त अधिकारी होना भी सिद्ध है।—**'गूढ़ौ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं'।**

विभीषणजीको विजयमें संदेह कभी नहीं था। इन्होंने चलते समय पुकारकर कहा था कि **'राम सत्य संकल्प प्रभु सभा कालबस तोरि।'** परंतु उस समय सरकारको देखा नहीं था, देखनेपर प्रीति बढ़ी और समरके सङ्कटमें देखकर वह प्रीति अधिक बढ़ गयी, एवं अधिक प्रीति बढ़नेपर चित्त आशङ्कित हो उठता है, अतएव **'उर भा संदेहा'।**

मा० म०—(१) विभीषण अधीर हुए और सुग्रीवका धैर्य बना रहा। कारण कि विभीषण अभी राजा नहीं हुए और सुग्रीव राजा हो चुके हैं। पुनः, (२) विभीषण रथविद्या जानते हैं और सुग्रीव पदचारी हैं, इस बातको नहीं जानते। रथारूढ़ शत्रुसे रथारूढ़ होकर युद्ध करनेहीसे शत्रुका नाश होता है। (३) रावण विभीषणका महाशत्रु है और सुग्रीवका लघुशत्रु है; क्योंकि सुग्रीव उसे रामचन्द्रजीके शत्रु होनेसे शत्रु समझते हैं अतः वे विभीषणके ऐसा अधीर नहीं हुए। विभीषण श्रीरामचन्द्रजीको सुकुमार माधुर्यमय जानते हैं अतः अधीर हुए। और सुग्रीव उनके ऐश्वर्यको जानते हैं, (उनके हृदयमें श्रीरामजीके अमित बलका आतङ्क समाया हुआ है। यथा—**'देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती।** ४। ७। १३।'), उन्हें विश्वास है कि वे रावणको अवश्य जीतेंगे अतः अधीर न हुए। पुनः, (४) सुग्रीवके अन्तःकरणमें भक्ति है, ऊपर सखा-भाव है अतः अधीर न हुए। विभीषणके अन्तःकरणमें तथा ऊपर दोनों प्रकार भक्ति है अतः अधीर हुए।

रा० प्र०—अधिक प्रीतिसे संदेह हुआ क्योंकि **'बैर अंध प्रेमहि न प्रबोधू'।**

प० प० प्र०—**'अतिस्नेहः पापशंकी'** यह अति स्नेहका स्वभाव ही है कि स्नेहीके कुशलमें सदा शङ्का हो जाय।

वं० पा०—यहाँ सब जोड़ीसे जोड़ी भिड़े हैं, पर यहाँ विषमता देख रहे हैं कि एक अस्त्र-शस्त्र-ध्वजा-पताका

सारथी आदिसे सुसज्जित रथपर सवार है और दूसरा पैदल है, कवचादिसे भी रक्षित नहीं है। इस प्रकार जोड़ी समान न देख वे सह न सके; उनसे रहा न गया।

वीरकवि—इष्टहानिके सोचसे प्रीतिवश मनमें संदेह होना शङ्का-सञ्चारी-भाव है।

वै०—'बंदि चरन' इति। बिना पूछे कुछ कहना प्रौढ़ता (धृष्टता) है अतः प्रभुपदकी वन्दना करके आज्ञा पाकर बोले।

वि० त्रि०—'बंदि चरन कह सहित सनेहा' इति। जिज्ञासाके पूर्व प्रणाम शास्त्रसम्मत है, अतः प्रणाम करके बोले। जीतनेकी कोई विधि नहीं दिखायी देती, कदाचित् वीरताके आवेशमें (प्रभु) विधिका ध्यान न करते हों, अतएव ऐसे विषम समयमें प्रश्न कर ही बैठे।

श्रीमान् गौड़जी लिखते हैं कि—'विभीषण रघुनाथजीको चाहे जो समझता रहा हो, परन्तु वह श्रीरामजीका समर-मन्त्री था।

१ सुनु कपीस लंकापति बीरा। केहि बिधि तरिय जलधि गंभीरा॥
कह लंकेस सुनहु रघुनायक। कोटि सिंधु सोषक तव सायक॥
जद्यपि तदपि नीति असि गाई। बिनय करिय सागर पहँ जाई॥
२ रिपु के समाचार जब पाए। राम सचिव सब निकट बोलाए॥
लंका बाँके चारि दुआरा। केहि बिधि लागिय करहु बिचारा॥
तब कपीस लंकेस बिभीषन। सुमिरि हृदय दिनकरकुलभूषन॥
करि विचार तिन्ह मंत्र दृढ़ावा।········ ॥ इत्यादि

इन अंशोंसे स्पष्ट है कि जहाँ-जहाँ मन्त्रणाकी आवश्यकता हुई है, वहाँ विभीषणने पूरा-पूरा योग दिया है। विभीषण कोरे भक्त ही न थे, बल्कि बड़े चतुर राजनीतिज्ञ भी थे। (माल्यवान्‌ने रावणसे कहा ही है कि 'तात अनुज तव नीति बिभूषन। सो उर धरहु जो कहत बिभीषन॥ ५। ४०। २॥' श्रीरामजी भी कहते हैं 'मैं जानउँ तुम्हार सब रीती। अति नय निपुन···॥ ५। ४६॥')। अतः समरमें बराबरीके विचारसे विभीषणको रथकी आवश्यकता प्रतीत हुई। विभीषणके इस विचारसे देवता भी सहमत थे। यथा—

देवन्ह प्रभुहि पयादे देखा। उर उपजा अति छोभ बिसेषा॥
सुरपति निज रथ तुरत पठावा। हरष सहित मातलि लेइ आवा॥

और रघुनाथजीने भी रथका विरोध नहीं किया, वरन् 'तेजपुंज रथ दिब्य अनूपा। हरषि चढ़े कोसलपुर भूपा॥' अब देखिये वानरोंकी दशा—'रथारूढ़ रघुनाथहिं देखी। धाए कपि बल पाइ बिसेषी॥' इत्यादि। इन पदोंसे स्पष्ट है कि विभीषणने जो अपने नैतिक विचार प्रकट किये थे, वे बिल्कुल यथार्थ और उचित तथा न्यायसङ्गत थे।

श्रीरामचन्द्रजीकी सेना और विशेषतः स्वयं भगवान्‌के पास रथ न होनेसे जीतमें जो संदेह हुआ उसे भगवान्‌ने उपदेशद्वारा निवारण किया। तात्पर्य यह कि 'जेहि जय होइ सो स्यंदन आना'। जिस रथसे वास्तविक जय होती है, वह और ही है। वह आध्यात्मिक है, आधिभौतिक नहीं। जयका अवलम्ब आज भी सेना और सामग्रीपर नहीं है, वरन् विजेताकी बुद्धि, चरित्र और आत्मबल तथा साहसपर है।

विश्वामित्रका शस्त्रबल वशिष्ठजीके आत्मबलसे परास्त हो गया था। 'धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।' रामरावणयुद्धमें भी श्रीरामचन्द्रजीकी धर्मबुद्धि, विवेक और आत्मबलने रावणकी पापबुद्धि, अविवेक और कमजोरीपर विजय पायी। पिछले यूरोपीययुद्धमें भी जर्मनीकी हार उसके शत्रुओंके बलसे नहीं, बल्कि उसकी अपनी कमजोरीसे ही हुई। उसके शत्रुओंमें आत्मबल प्रबल होता तो आजतक निर्णयमें देर न लगती। जर्मनीकी हार जरूर हुई, पर शत्रुओंकी जीत भी नहीं हुई।

प्रस्तुत प्रसङ्गमें श्रीरघुनाथजीने वास्तविक हार-जीतके सम्बन्धमें 'गीता' का उपदेश विभीषणको करके उनका मोह दूर किया। 'सुनि प्रभु बचन बिभीषन हरषि गहे पदकंज। एहि मिस मोहि उपदेसेहु रामकृपा सुख-पुंज॥' इन

वचनोंसे स्पष्ट है कि विभीषणके वचन राजनैतिक विचारसे थे न कि भक्तिपक्षसे। परन्तु भगवद्वचन नित्य और सत्य हैं।'

नाथ न रथ नहिं तनु पद त्राना*। केहि बिधि जितब बीर बलवाना॥ ३॥
सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहि जय होइ सो स्यंदनु आना॥ ४॥

अर्थ—हे नाथ! न तो रथ है, न तनकी रक्षा करनेवाला (कवच) ही है और न पदरक्षक (जूती) ही है, (तब) बलवान् वीर रावणको किस प्रकार जीतियेगा?॥ ३॥ दयासागर (श्रीरामजी) बोले,—हे सखे! सुनो, जिस रथसे जय होती है वह रथ दूसरा ही है॥ ४॥

नोट—'नाथ' का भाव कि मैं तो लङ्कासे अनाथ होकर आया था, आप ही मेरे नाथ हुए, नहीं तो रावणके भयसे मुझे कौन रख सकता। यथा—'**जरत बिभीषन राखेउ दीन्हेउ राज अखंड**'—(सुं०), '**राखि बिभीषन को सकै अस काल गहा को**। वि० १५२।', '**रावन रिपुहि राखि रघुबर बिनु को त्रिभुवन पति पाइहै**। गी० ५। ३४।', '**भाईको न मोह छोह सीय को न तुलसीस कहैं मैं बिभीषनकी कछु न सबील की**। क० लं० ५२।', '**ह्वैहै कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती**। गी० लं० ७।'

वे० भू०—श्रीरामजी परब्रह्म परमात्मा हैं और ब्रह्मके साथ जीवका तीन ही सम्बन्ध वेदमन्त्रोंमें प्रतिपादित है—पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक और सखा। '**अमृतस्य ते पुत्राः**' तो बहुत प्रसिद्ध श्रुति है। ब्रह्मसूक्तकी श्रुति भी प्रसिद्ध है—'**ब्रह्मदाशा ब्रह्म दासाब्रह्म मे कितवः। अरंदासोनमीदुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः**। ऋग् ७। ८६। ७।', '**द्वासुपर्णा सयुजा सखाया**। ऋग् १। १६४। २०, अथर्व० ९। ९। २०), '**मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे**। ऋ० १। १०१। ५।', '**मरिष्यते त्वावतः सखा**। ऋ० १। ९१। ८।' इत्यादि। जीवात्मा अणु ईश्वराधीन एवं सीमित ज्ञानगुणक होनेसे सदैव ही अपनेको दास और परमात्माको स्वामी (नाथ) ही मानता है और यही उचित भी है—'**आत्मदास्यं हरेः स्वाम्यं स्वभावं च सदा स्मर**।' (हारीत)। सखाभावमें भी जीव अपनेको ईश्वराधीन वृत्तिका ही मानता है और तथ्य भी यही है कि '**सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि**।' इसीसे विभीषणजी सखा होते हुए भी 'नाथ' कह रहे हैं। गोस्वामीजीने विनयमें भी कहा है—'**जीव भवदंघ्रिसेवक बिभीषन**।'

वे० भू०—रथी वीरके जीतनेका मुख्य साधन रथ है, इसीसे 'न रथ' को प्रथम कहा। 'रथ' कहनेसे अस्त्र-शस्त्र और कवच आदि समस्त युद्धकी सामग्रीसे सुसज्जित समर-साहित्ययुद्धरथ सूचित किया। यदि कहें कि बिना रथके भी तो युद्धमें विजय प्राप्त की जा सकती है तो उसपर कहते हैं कि पैदल युद्ध करनेमें 'तनत्राण' तथा 'पदत्राण' तो अवश्य ही चाहिये, रथीके पास पदत्राण न भी हो तो भी काम चल सकता है। अतः रथको कहकर तब '**नहिं तनु पदु त्राना**' को कहा।

वि० त्रि०—(१) पैदलको इनमेंसे कोई सुभीता नहीं। और यहाँ तो पदत्राण भी नहीं जो पदातिके लिये भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि युद्धके समय '**दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्**' तो हो नहीं सकता। दृष्टि उस समय पृथ्वीकी ओर न होकर केवल अपने शत्रुपर रहती है, जिससे पैरोंकी रक्षा काँटे कङ्कड़ आदिसे नहीं हो सकती। (२) '**केहि बिधि जितब**' का भाव कि यदि कहिये कि पदाति रहकर ही हम सदा राक्षसोंको जय करते आये हैं, सो ठीक है, परन्तु रावण उन सबोंकी श्रेणीमें नहीं है (प्र० सं०)।

शीला—'**केहि बिधि जितब**'। कि युद्धमें जयके लिये रथ, कवच और पदत्राण जरूरी हैं। पहले तो सारथी ही रथकी रक्षा करता है, रथी उसके सहारे रथमें बैठे शत्रुपर निशाना करते हैं और उसकी ओटसे अपनेको बचाये रहते हैं। इतनेपर भी यदि आघात पहुँचे तो कवचसे शरीरकी रक्षा शत्रुके अस्त्रशस्त्रोंसे होती है। पैदल चलनेपर पदत्राणसे काँटाकङ्कड़ रुधिर आदिसे रक्षा होती है। ये कोई नहीं हैं तब शरीरकी रक्षा कैसे होगी? शत्रु ऊपर है और आप नीचे। जीतनेकी इतनी जो विधियाँ हैं वे कोई भी यहाँ नहीं हैं तब किस विधिसे विजय होगी?

नोट—'**कह कृपानिधाना**' इति। कृपानिधान विशेषणका भाव कि—(१) यहाँ प्रभु कृपा करके विभीषणजीको धर्मोपदेश देंगे जिससे सदाके लिये इनका मोह दूर हो जाय। '**एहि मिस मोहि उपदेसेहु राम कृपा सुख पुंज**॥ ७९॥'

* पद्द त्राना।—(का०)।

यह उपदेश 'श्रीरामगीता' और किसीके मतानुसार 'विभीषण-गीता' के नामसे प्रसिद्ध है। (२) इनके उपदेशद्वारा जगत्‌का कल्याण भी होगा (३) सखाको उपदेश देकर अपना-सा बनाना चाहते हैं क्योंकि कृपानिधान हैं।

बाबा जानकीदासजी—१ श्रीरामजीके तीन मुख्य सखा हैं। एक निषादराज, दूसरे सुग्रीव, तीसरे विभीषण, क्रमसे प्रमाण यथा—

(१) 'कृपा करिय पुर धारिय पाऊँ'। 'कहेउ सत्य सब सखा सुजाना'

(२) 'सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥' 'सखा बचन सुनि हरषे कृपासिंधु बलसींव।'

(३) 'श्रवन सुजस सुनि आयउँ प्रभु भंजन भवभीर।
त्राहि त्राहि आरतिहरन सरन सुखद रघुबीर॥' 'खलमंडली बसहु दिनराती।
सखा धर्म निबहै केहि भाँती॥'

२—जैसे विभीषण अधीर हुए वैसे ही वे दोनों भी अधीर हुए थे। निषादराज अधीर हुए, यथा—'**सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेमबस हृदय बिषादू॥ २। ९०। ५॥**', '**भयउ बिषाद निषादहि भारी। राम सीय महि सयन निहारी॥ २। ९२॥**', सुग्रीव अधीर हुए थे, इसका लक्ष्य इन वचनोंसे होता है—'**सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी।**'' से '**भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥ कि० १८॥**' तक तथा यहाँ विभीषणजी अधीर हुए—'**रावन रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा॥**'

३—(क) जब निषादराज अधीर हुए तब लक्ष्मणजीने उन्हें समझाया था, यथा—'**बोले लषन मधुर मृदु बानी। ग्यान बिराग भगति रस सानी॥ अ० ९२। ३॥**' से—'**सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सियरघुबीरचरन रत होहू॥**' ९४ (१) तक।

(ख) सुग्रीवको हनुमान्‌जीने समझाया था इसका लक्ष्य—
''**इहाँ पवनसुत हृदय बिचारा। रामकाज सुग्रीव बिसारा॥**'' से
'**सुनि सुग्रीव परम भय माना। बिषय मोर हरि लीन्हेउ ग्याना॥** कि० १९। ३॥' तक

तथा, यहाँ विभीषणजीको प्रभुने उपदेश दिया जो यहाँ प्रारम्भ हुआ।

नोट—निषादराज और विभीषणजी दोनों ही प्रभुके माधुर्यमें भूलकर उनपर अत्यन्त स्नेह होनेसे अधीर हुए। जैसे निषादराजको '**भयउ प्रेमबस हृदय बिषादू**' '**रामसीय महिसयन निहारी**'' वैसे ही विभीषणको '**अधिक प्रीति मन भा संदेहा**', ''**रावन रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा**'॥ प्रभुको पृथ्वीपर सोते देख निषादको दुःख हुआ और वह विह्वल हो गया। तथा विभीषणजी रावणको रथपर और प्रभुको नंगे पैर पृथ्वीपर देख दुखी हुए। निषादराजको भाई लक्ष्मणजीने समझाया था, क्योंकि उस समय उन्होंने लक्ष्मणजीसे अपना दुःख प्रकट किया है, और यहाँ विभीषणजीने अपना दुःख श्रीरामजीसे प्रकट किया है; अतः श्रीरामजीने समझाया। उस प्रकरणका लक्ष्मण-गीता नाम पड़ा और इसका राम-गीता। इस प्रकार इन दोनोंमें बहुत साम्य है। सुग्रीवका अधीर होना एक तो लक्ष्य-मात्र ही है, दूसरे उसमें प्रभुका स्नेह और माधुर्य कारण नहीं है, इसलिये उनसे समता इस प्रकरणमें नहीं हो सकती।

वे० भू०—सुग्रीवजीके हृदयमें श्रीरामजीका बल प्रत्यक्ष सुपरीक्षित रूपसे देख लेनेके बाद ही श्रीरामजीमें निष्ठा हुई; इसीसे वह निष्ठा सदैव ऐश्वर्यभावात्मक बनी रही और सुग्रीवको मोह नहीं हुआ, श्रीरामजीके परोक्षमें वे उनको भूल जाते थे और प्रत्यक्षमें ऐश्वर्यज्ञान रहता था। परन्तु निषादराज और विभीषणजीकी भक्तिमें माधुर्य प्रधान था और ऐश्वर्य गौण। श्रीरामजीके परोक्षमें उनको पूर्ण ऐश्वर्यज्ञान रहता था परन्तु प्रत्यक्षमें श्रीरामजीके समक्ष उनका ऐश्वर्यज्ञान तिरोहित हो जाता था और वे माधुर्यमें मग्न हो जाते थे। अत्यन्त माधुर्यके कारण भक्त 'सखा' को मानसिक क्लेश न हो, इसलिये उपदेश देना आरम्भ किया। इसीसे 'कृपानिधान' विशेषण दिया।

वं० पा०—इस मानसरामायणमें कई गीताएँ हैं। अयोध्यामें लक्ष्मणगीता, अरण्यमें रामगीता जो श्रीरामजीने लक्ष्मणजीको उपदेश दिया और तीसरी यहाँ भगवद्‌गीता। यथा अर्जुनके मोहसे उनको रणभूमिमें श्रीकृष्णजीने उपदेश किया तथा यहाँ रणभूमिमें विभीषणजीको श्रीरघुनाथजीने धर्ममय-रथका उपदेश किया जिसमें रथीरूपी जीवका महा अजय संसाररूपी रिपुपर विजय दिखावेंगे।

वीरकवि—यहाँ श्रीरामचन्द्रजीका गूढ़ अभिप्राय विभीषणको उपदेश देनेका है; संदेहयुक्त प्रश्न करनेपर कथन **'गूढ़ोत्तर अलंकार'** है।

वि० त्रि०—**'सुनहु सखा'**। भाव कि तुम मेरे भक्त और सखा हो अतएव इस रहस्यके जाननेके अधिकारी हो—**'भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्'** ॥ गीता ४। ३ ॥ (सखा-भक्तसे दुराव नहीं किया जाता। यथा—**'सुनहु सखा कपिपति लंकापति तुम्ह सन कौन दुराउ** ॥ गी० ५। ४५ ॥') (२) **'सो स्यंदन आना'** का भाव कि रावणके पास जो तुम देखते हो इस भौतिक रथसे जय नहीं होती। जय देनेवाला तो आध्यात्मिक रथ है और वह भीतर है। वह आध्यात्मिक रथ धर्ममय है, यथा—**'सखा धर्ममय अस रथ जाके'**। [**'यतो धर्मस्ततो जयः'** (प० प० प्र०)] धर्म ही जयदायक रथ है।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥ ५॥

शब्दार्थ—सौरज (शौर्य)=शूरता, पराक्रम। चाक (चक्र)=पहिया। शील=चरित्रकी दृढ़ता, सद्वृत्ति। यथा—**'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' (विश्वकोशे)**। **'निष्ठा च शीलं चारित्रं चरित्रं चरितं तथा'** इति रत्नकोषाच्च।=सुस्वभाव (प० प० प्र०)। **'शुचौ तु चरिते शीलः' इत्यमरे**। अर्थात् शील=शुचि चरित। पवित्राचरण (पु० रा० कु०), सौम्य स्वभाव।

अर्थ—शौर्य और धैर्य उस रथके पहिये हैं। (भाव कि जैसे चक्रके बिना रथ नहीं चलता वैसे ही शौर्य और धैर्यके बिना धर्मरथ नहीं चल सकता।) सत्य और शील इसके मजबूत ध्वजा और पताका हैं॥ ५॥

नोट—यहाँ धर्मरथको सावयवरूपकालङ्कारमें कहते हैं। (वै०)।

श्रीजानकीदासजी—यहाँ **'सौरज धीरज'** और **'चाका'** में दृढ़ता या अचलताकी समता है। शूर-धीर रणमें पीछे हटा तो शूर नहीं—**'कुल-कलङ्क तेहि०'**, **'सुनि सरोष बोले सुभट बीर अधीर न होहि** ॥ २। १९१ ॥' रावण शूर धीर था—**'चला न अचल रहा रथ रोपी। रन दुर्मद रावन अतिकोपी** ॥' धर्मरथके चाक पीछे नहीं हटते। भाव कि हम जिस रथपर सवार हैं वह पीछे तिलभर किसीके हटाये नहीं हट सकता। अर्जुन और कर्णादिके रथकी तरह यह रथ पीछे नहीं हटेगा।

पु० रा० कु०—१ **"शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्** ॥' (गीता। १८। ४३)। अर्थात् क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं—शूरता, तेज, धैर्य, कुशलता, रणसे विमुख न होना, दान और ईश्वर-भावना। पुनश्च **'रिपौ शौर्यं धैर्यं विपदि विनयः सम्पदि सताम्। इदं वर्त्म भ्रातर्भरत निरतो यास्यसि पदम्** ॥' (नाटके) अर्थात् 'शत्रुमें शूरता, विपत्तिमें धैर्य और सम्पत्ति होनेपर नम्रता होनी चाहिये। हे भ्राता भरत! यह सज्जनोंका मार्ग है, इसमें निरत होनेसे उत्तम पद पाओगे।' अन्यथा दोष है, यथा—**'छत्री तनु धरि समर सकाना। कुल कलंक तेहि पावँर आना** ॥'

नोट—युद्धमें निर्भयताके साथ प्रवेश करनेके सामर्थ्यका नाम 'शौर्य' है। आरम्भ किये हुए कर्ममें विघ्न उपस्थित होनेपर भी उसे पूर्ण करनेके सामर्थ्यका नाम 'धैर्य' है—**'शौर्यं युद्धे निर्भयप्रवेशसामर्थ्यम्। धृतिः आरब्धे कर्मणि विघ्नोपनिपाते अपि तत्समापनसामर्थ्यम्** ॥' (श्रीरामानुजभाष्य) परमार्थ पक्षमें स्वभावका विजय अर्थात् स्वभाव अधर्मकी ओर न जाने पावे सदा परमार्थमें लगा रहे, इसीको शौर्य कहते हैं। यथा—**'स्वभावो विजयः शौर्यं**। भा० ११। १९। ३७।' (श्रीउद्धवजीसे भगवान्‌ने यह व्याख्या की है)। (वं० पा०)।

महाभारतमें बताया है कि 'सुख या दुःख प्राप्त होनेपर मनमें विकार न होना धैर्य है। सदा सत्य बोलने, सदा क्षमा करने तथा हर्ष, भय और क्रोधका परित्याग करनेसे धैर्यकी प्राप्ति होती है।'

वै०—**'सर्वस्माद् भीतिराहित्यं युद्धोत्साहश्च कीर्त्यते। शूरैः शौर्यमिदं प्रोक्तं राज्ञां स्वर्ग्यं यशस्करम्** ॥' (भगवद्गुणदर्पण)। अर्थात् कोई कैसा ही बली क्यों न हो, उससे उत्साहपूर्वक युद्ध करना शौर्य है। धर्मके प्रसङ्गमें काम, क्रोध, लोभ, मदादि शत्रु हैं इनसे युद्ध करनेमें आलस्य, अश्रद्धा, कृपणता आदिका भय त्यागकर कर्म, ज्ञान, भक्ति

आदिके साधन निःशंक श्रद्धा-उत्साहसहित करना शौर्य है। 'धीरज'—काम-क्रोधके महाप्रचण्डवेगजनित उद्वेगके वशीभूत न होकर मनका निष्काम सत्त्वगुणसहित सदा विचारपूर्वक कार्य करना 'धीरज' है। यथा—'वेगेनावध्यमानस्त्वमर्मिते कामक्रोधयोः। गदितं धीमतां धैर्यं बले भूयसि तेजसि॥' ये दोनों पहिये हैं। श्रद्धा धुरा है। शान्ति-सतोगुण करी हैं। सद्‍व्यापार अनेक पटरियाँ हैं। थिरता आसन है। पूजा-पाठ-जप-हवन खम्भे हैं। संध्या-तर्पणादि छतुरी हैं।

प० प० प्र०—शौर्य और धैर्य दोनों आवश्यक हैं, केवल एक हो तो जय न होगी। यहाँ 'धीरज' से सात्त्विक धृतिका ही ग्रहण लक्षित है—'धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ गीता १८। ३३।' (अर्थात् जिस अव्यभिचारिणी अचल धृतिके द्वारा मनुष्य योगके उद्देश्यसे प्रवृत्त मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है वह धृति सात्त्विकी है)। आपत्कालमें धीरज और धर्मकी परीक्षा होती है—'धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपतकाल परखिअहिं चारी॥' न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

वि० त्रि०—युद्धके रथमें दो पहिये होते थे, चार नहीं। धर्ममय रथके आधार और मतिदाता शौर्य और धैर्य हैं। जो धर्मात्मा तो हैं पर उनमें शौर्य और धैर्यकी त्रुटि है, तो उनका धर्म पंगु है, वह उनके निस्तार करनेमें सर्वथा असमर्थ है। तुम्हारे दोनों भाइयोंमेंसे टूटा-फूटा अदृढ़पंगुरथ तो तुम्हारे पास है और पहिए तथा एक घोड़ा रावणके पास है, इसलिये तुम दोनोंके एक साथ रहनेसे वह अजेय रहा, यथा—'रावन जबहिं बिभीषन त्यागा। भएउ बिभव बिनु तबहिं अभागा॥' (प्र० सं०)।

वे० भू०—प्राचीन कालमें सवारीके काममें आनेवाले रथोंके दो ही पहिये होते थे, चाहे वे युद्धके हों चाहे विवाहके। ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८५ में वैवाहिक रथका (आलंकारिक आध्यात्मिक) वर्णन है और मण्डल ६ सूक्त ७५ में सांग्रामिक रथका वर्णन है तथा स्फुटरूपसे और कई जगह रथका वर्णन है। पर सर्वत्र दो ही चक्रोंका वर्णन है। हाँ, सूर्यके रथमें एक ही चक्र और सात घोड़ोंका होना वेदमें वर्णित है; पर वहाँ सातों घोड़ोंके एक ही नाम हैं।—'सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा। ऋ० १। १६४२।' परंतु जब-जब सूर्यके रथको संवत्सरका रूपक दिया गया है तब-तब उसमें सात पहियोंका निर्देश किया गया है—'सप्तचक्रं वहन्त्यश्वः। ऋ० १। १४—२।' प्राकृत कवियोंने भी सूर्यके रथमें एक ही चक्र और सात घोड़े कहे हैं—'रथस्यैकं चक्रं भुजगनमिता सप्त तुरगाः…।' (भोजप्रबन्ध)। परंतु वह निराधारपर चलनेवाला रथ है तथा उसे अन्य रथोंमें प्रतिवाद-स्वरूप जानना चाहिये। सवारीके रथोंमें दो ही पहिये होते थे। शकट (माल ढोनेवाले ठेलों) आदिमें दो, चार आठ आदि पहिये होते थे।—'मञ्जूपामष्टचक्रान्तां समूहुस्ते कथंचन।' (वाल्मी० १। ६७। ४)।

प० प० प्र०—'तेहि रथ चाका' इति। रथका नाम प्रारम्भमें न देनेसे पाठकोंकी जिज्ञासा-वृत्ति अन्ततक जाग्रत् रहती है। प्रत्येक रथी, महारथी, अतिरथी वीरके रथका कुछ-न-कुछ विशेष नाम रहता था और उसकी ध्वजापर भी उसका कुछ विशेष चिह्न (चित्र) रहता था।

वे० भू०—शौर्य और धैर्यका प्रभाव अर्थात् तज्जनित कार्य दिखायी पड़ता है; परंतु शौर्य और धैर्यका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। हाँ, शौर्य और धैर्य धारणकर्ताका यह गुण सुना जाता है। इसीसे वेदमें अध्यात्म (धर्म) रथका वर्णन करते हुए श्रुतिभगवतीने श्रोत्रको रथका चक्र कहा है—'श्रोत्रं ते चक्रे आस्ताम्…' (ऋग् १०। ८५। ११)।

वै०—'प्रधानं धर्मबीजं यद्धितं पूतं प्रियं नृणाम्। गम्भीरं मधुरं वाक्यं सत्यं तच्चोत्तमं विदुः। लब्धोऽर्थार्थी छली धूर्तः समर्थो ग्रामकप्रियः। मूर्खो यः सोऽनृतं वक्ति तद्दोषविरही न तु॥' (भगवद्‍गुणदर्पण)। अर्थात् प्रधान धर्मबीज, हितकारी, पवित्र, गम्भीर, मधुर सदा एकरस बोलना ही सत्य वचन है। यह लोभी, धूर्त्त, मूर्ख, खल और छली आदिको असम्भव है। जो इन अवगुणोंसे रहित है वही सत्य कह सकता है। यथा—'राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाव छुअत छल नाहीं।'

शील, यथा—'हीनैर्दीनमलीनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि। महतोऽच्छिद्रसंश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः॥' अर्थात् दीन, हीन, मलिन, पापी, दरिद्र कैसा भी अपराधी कोई सामने आवे तो भी उसपर कृपा करके उसका हित करना उसके छिद्रको न देखना 'शील' है। विशेष बालकाण्ड दोहा २९ 'तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान' में देखिये।

सत्यके विषयमें जो प्रतिज्ञा प्रसिद्ध रहती है वही चिह्नसहित ध्वजा है। शील सहज स्वभाव है अतः यह सादा पताका है। इनमें जो दृढ़ता है वही दण्ड है जिससे ये दूरसे देख पड़ते हैं।

नोट—महाभारतमें बताया है कि धर्म, सत्य, सदाचार-बल और लक्ष्मी ये सब 'शील' के ही आधारपर रहते हैं। शील-प्राप्तिके उपाय ये हैं—'मन, वचन, कर्मसे किसीसे भी द्रोह न करे। सबपर दया करे। शक्ति अनुसार दान दे'—यही शीलका स्वरूप है। जिस तरह जिस कामके करनेसे मानव-समाजमें प्रशंसा हो वह काम उसी तरह करना चाहिये।

वे० भू०—'ध्वजापताका' इति। **'हरिभक्तिविलास'** में **'हयशीर्ष पञ्चरात्र'** का प्रमाण देकर लिखा है कि पाँच हाथतकके लम्बे दण्डमें पताका लगावे। यथा—**पञ्चहस्तप्रमाणं तु ध्वजं कुर्याद्विचक्षणः। द्विपञ्चहस्तदण्डेषु पताकास्तु निवेशयेत्॥** (ह० भ० वि० १७। १५), रथकी ध्वजा-पताकामें अपना-अपना एक विशेष चिह्न रहता है। भगवान् नारायणका रथ गरुड़ध्वजी है। महाराज दशरथजीके ध्वजमें कोविदार (कचनार) वृक्षका चिह्न था—'**ध्वजबद्धपताकोच्चकोविदारे स्थितस्स्वयम्। आ० रा० सार० ४। ३४।**' श्रीरामजीके रथध्वजमें हनुमान्‌जीका चिह्न रहता था। श्रीभरतजीको दशरथजीका रथ दिया गया था अतः उसमें कोविदारध्वज था। शेषशायी नारायणावतार होनेसे श्रीलक्ष्मणजीका रथ गरुड़ध्वज ही था। श्रीशत्रुघ्नजीका रथ बाणध्वजसे सुशोभित रहता था। (आ० रा० यात्राकाण्ड)।

पु० रा० कु०—'सत्य' को दृढ़ ध्वजा कहनेका भाव कि—(क) सत्य सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है, इससे बड़ा दूसरा धर्म नहीं। यह सब धर्मोंका मूल है, यथा—'**धर्म न दूसर सत्य समाना। २।९५। ५।**' (रा० कु० जा०दा०) '**सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए॥ २। २८। ६।**' '**नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्। स्थितिर्हि नित्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत्॥**' (भारते शान्तिपर्वणि), '**सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्। दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च। वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरोऽभवेत्॥** वाल्मी० अ० १०९।' (अर्थात् सत्य सबका मूल है, सत्यसे बढ़कर कोई उत्तम पद नहीं। दान, इष्ट, हवन, तपस्वी, तप और वेद ये सब 'सत्यमूलक' हैं। सत्यसे इनकी प्रतिष्ठा है। अतएव सत्यनिष्ठ होना चाहिये), '**धर्ममूलमिदं राम विदितं च सतामपि॥ वाल्मी० २। १८। २४।**' पुनः, (ख)—ध्वजासे रथ लक्षित होता है और पताकासे समस्त विजय; वैसे ही सत्यसे धर्म लक्षित होता है, यथा—'**जयति जय पताका काप्यसौ मोक्षलक्ष्मीः**' (**इति वाल्मी० गङ्गाष्टकवचनात्**) अर्थात् मोक्षकी लक्ष्मी और जयकी पताकास्वरूप गङ्गाजीकी जय हो! शील नेत्रोंका (मुलाहिजा सब [सत्य बोलना धर्मका एक चरण है। यह ध्वजा है, दूरसे दिखायी देती है। शील जीवोंका), यह पताका है जो समीपसे दिखायी देती है। (वं० पा०)। पताका भूषण रूप होती है और '**शीलं परं भूषणम्**' यह समता है। (प० प० प्र०)] '**विद्याभी रसिकं रसेन सकलं शीलेन कुर्याद्वशम्**'। अर्थात् रससे रसिकोंको और शीलसे सभीको वश किया जाता है। ('दृढ़' विशेषण देकर जनाया कि भौतिक रथकी ध्वजा-पताका गिर जाया करती हैं पर धर्म-रथकी सत्य-शीलरूपी ध्वजा-पताका दृढ़ होती हैं, यह कभी गिरती नहीं। '**प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥ २। २८। ४।**')

श्रीजानकीदासजी—१ समता यह है कि जैसे रथकी ध्वजा-पताका कटकर गिरनेसे वीरका पराजय सूचित होता है—'**रथ बिभंजि हति केतु पताका।००**'—वैसे ही सत्य-शीलहीन पुरुष भवरूपी शत्रुसे पराजित समझा जाता है। ध्वजा-पताका सबसे ऊँचे रहते हैं और सत्य-शील सबमें श्रेष्ठ हैं। दोनोंकी ऊर्ध्वगति है। (सत्यका स्थान मुख है, वाणीहीसे वह जाना जाता है, यथा—'सत्यं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्', 'काहे न बोलेहु बचन सँभारे।··· सत्यसंध तुम्ह रघुकुल माहीं। देन कहेहु अब जनि बर देहू॥ तजहु सत्य···॥ २। ३०।' इसी तरह शीलका स्थान नेत्र है, नेत्रोंसे वह जाना जाता है। यथा—'**गुर नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी॥ सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची॥ २। १३।**', '**सुखमा सुख सील अयन नयन॥** गी० ७। ४।' मुख और नेत्र शरीरके उच्च भागमें हैं वैसे ही ध्वजा और पताका रथके शिरोभागमें रहते हैं)।

वि० त्रि०—'सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।' ध्वजा-पताका पहलेसे ही दिखायी देने लगती हैं और रथीके आगमन तथा सुरक्षित रहनेकी सूचक हैं। जहाँ सत्यशीलरूपी ध्वजा-पताका गिरी, वहीं रथीको भी सङ्कटापन्न समझना पड़ेगा। इसीलिये शत्रुका प्रहार ध्वजापताकापर अवश्य होता है। अतएव ध्वजापताकारूपी सत्य और शील दृढ़ होना चाहिये। (प्र० सं०)।

वे० भू०—१ महाभारतमें 'सत्य' के तेरह उपभेद बताये गये हैं—'सत्यं त्रयोदशविधं सर्वलोकेषु भारत।' सबका समावेश इतनेमें ही है कि 'जो बात जैसी हो, जैसे देखे, सुने वैसे ही माने और कहे', यही सत्य है। सत्यका माहात्म्य श्रुति बतलाती है कि 'सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानम्॥ मुण्ड० ३। १। ६॥'

श्रीजानकीदासजी—यहाँ ग्रन्थकारने प्रथम 'चाक' को वर्णन करके इसमें रथका आदि मूल दिखाया। फिर ध्वजा-पताका कहकर उसका शिरोभाग दिखाया। रथमें किंकिणी, घण्टी और धुरी आदि होती हैं। उनका उल्लेख न करके भी केवल ऊपर और नीचेके भागोंको दिखाकर उनका बीचमें होना जना दिया। विस्तारभयसे उनको नहीं लिखा।

वे० भू० ऋग्वेदके दसवें मण्डलके पचीसवें सूक्तमें रथके छत्र, अक्ष (धुरा), चमक (रज्जु), छतके खम्भे (अग्रदण्ड) आदि अनेक उपाङ्गोंका वर्णन है। यथा 'द्यौरासीदुत्तच्छदि'''॥ १०॥', 'व्यानो अक्ष आहत ॥ १२॥', 'कुरीरंछन्द ओपशम्'''॥ ८॥', 'स्तोमा आसन परिधयः॥ ८॥' इत्यादि। श्रीरामजीने यहाँ उन उपाङ्गोंका वर्णन विस्तारपूर्वक नहीं किया। पर, रथमें सबसे नीचे रहनेवाले अवयव चक्र और सबसे ऊपर रहनेवाले अवयव ध्वजा-पताकाका वर्णन करके शब्दशास्त्रके 'आदिरन्त्येन सहेता।' (पाणिनीयअष्टाध्यायी ॥ १। १। ७१), इस नियमानुसार मध्यके सभी उपाङ्गोंका समावेश कर दिया।

वं० पा०—प्रायः इसी भाँतिकी शिक्षा महाभारत-युद्धके समय युधिष्ठिरजीको विदुरजीने दी थी। भेद केवल इतना है कि गोस्वामीजीने रथके रूपकसे कहा है और भारतमें नदीके ऊपर (रूपकसे कहा है, यथा—'आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः। तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा॥'

अर्थात् जिस आत्म-नदीका संयम पवित्र तीर्थ है, सत्य जल है, शील तट है, और दया तरङ्ग है, हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर! उसी नदीमें स्नान करो, अन्तरात्मा जलसे नहीं शुद्ध होती है।

वे० भू०—युद्धमें शत्रु अपने प्रतिद्वन्द्वीके ध्वजा-पताकाको नष्ट कर देना चाहता है जिसमें उसके दलके लोग अपने सेनानीको पराजित जानकर हतोत्साह होकर भागने लगें। इसी तरह माया कटकके सेनानी सर्वप्रथम जीवके सत्त्व और शीलको नष्ट करते हैं, इनके नष्ट होनेपर धर्मके अन्यान्य अङ्गोपाङ्ग नष्टप्राय ही माने जाते हैं। अतः संसार जिगीषु पुरुषमें सत्य और शील दोनों अत्यन्त दृढ़ होने चाहिये।

बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥ ६॥

शब्दार्थ—समता=शत्रु, मित्र, मान-अपमान आदिको एक समान मानना। यथा—'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। (गीता)=राग-द्वेष तथा काम-क्रोधको मिटाकर, अपनेमें, अपने प्रिय मित्र तथा शत्रुमें समान भाव रखना। (महाभारत)।

अर्थ—बल, विवेक, दम और परहित—ये धर्मरथके चारों घोड़े हैं जो क्षमा, कृपा और समतारूपी डोरीसे रथमें जोड़े गये हैं॥ ६॥

नोट—'बल' इति। श्रीनंदन पाठकजी लिखते हैं कि 'बल' से यहाँ देह-बलका प्रयोजन नहीं है। उत्तरकाण्डमें वैराग्यको बल कहा है, यथा—'जब उर बल बिराग अधिकाई॥ ७। १२२।' पर वैराग्यको आगे ढालसे रूपक दिया है। इसलिये यहाँ बलसे प्राणायाम-बल अभिप्रेत है। यथा—प्राणायामः परं बलं॥ भा० ११। १९। ३९॥'

वैजनाथजी कहते हैं कि कैसा ही कोई दुर्घट कार्य क्यों न हो उसके करनेमें परिश्रम न होना बलका लक्षण है। यथा—'क्रियायामस्य गुर्व्यान्तु खेदाभावो बलं गुणः।' यहाँ धर्मप्रसङ्ग है अतः यहाँ सुकृत तपोबल अभिप्रेत है।'

वे० भू० जी लिखते हैं कि 'बल' शब्द मानसमें कई अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। जैसे, (१) वैराग्य अर्थमें

यथा 'जब उर-बल बिराग अधिकाई'; (२) शारीरिक बल, यथा 'राम बाहुबल सिंधु अपारू', 'सागर रघुबर बाहु बलु ॥ १ । २६१ । १ ॥' 'निज भुज बल मैं बयरु बढ़ावा ॥ ७७ । ६ ॥'; (३) बुद्धिबल, यथा 'बुधि बल निसिचर परै न पार्यौ' । (४) तपाधिक्य, यथा 'तप बल बिप्र सदा बरिआरा' । (५) सैन्यबल, यथा 'तुम्हरे बल मैं रावण मार्यो' । और (६) आत्मबल, यथा 'गर्जा अति अन्तर्बल थाका ।' यहाँ शारीरिक बल (शौरज) को चाका कह चुके और आगे वैराग्यको ढाल तथा बुद्धिको प्रचण्ड शक्ति कहा है। दम, विवेक और ईशभजन भी आगे कहे हैं जो तप ही हैं (यस्य ज्ञानमयं तपः) । सैन्यबल तो रावणसे प्रबल ही है और अब तो श्रीरामदल उस रावणदलसे अधिक ही है । अतएव यहाँ बलसे ये पाँच बल अभिप्रेत नहीं हैं । यहाँ छठे 'आत्मबल' से ही तात्पर्य है । प्राणायाम-बल ही आत्मबल है ।

श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि धर्ममें आत्मबल न होनेसे वह नहीं चलता, मनुष्य उसे किंचित् विघ्न आदिसे अधूरा ही छोड़ बैठता है । आत्मबल बुद्धि आदिसे परे जीवात्माको अन्तर्यामीसे प्राप्त कर्तव्यशक्तिको कहते हैं ।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि महाभारत उद्योगपर्वमें बल पाँच प्रकारका कहा गया है—'बलं पञ्चविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे । यत्तद्बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते ॥ ५२ ॥ अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते । धनलाभस्तृतीयं तु बलमाहुर्जिगीषया ॥ ५३ ॥ यत्त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम् । अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम् ॥ ५४ ॥ येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत । यद्बलानामपिबलं तत्प्रज्ञाबलमुच्यते ॥५५॥' (अध्य० ३७) ।

अर्थात् पुरुषोंमें पाँच प्रकारका बल होता है, सो सुनो । बाहुबल साधारण (छोटा) बल है । सत्-मन्त्रीका बल दूसरा बल कहलाता है । ऐश्वर्यका बल तीसरा है ऐसा विद्वान् कहते हैं । जो पितामहके समयसे सहज ही चला आता है वह अभिजात (लौकिक) बल है, यह चौथा है । हे भारत ! जिससे ये सब बल प्राप्त होते हैं और जो बलका भी बल है वह बुद्धिका बल है ।

प्र० स्वामीका मत है कि यहाँ बलसे उपर्युक्त पाँचों बलोंका ग्रहण करना चाहिये । 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा' 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' (शरीर ही दुर्बल हो तो शौर्य-धैर्य आदि अकिंचित्कर होंगे), 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ।' आधिभौतिक बल, आधिदैविक बल और आध्यात्मिक बलका समन्वय चाहिये । 'धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम् । बल=तेजः, यथा—'तेज निधान लषन पुनि तैसे' 'बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा ।'

वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि 'महाभारतोक्त अमात्यबल, धन-बल, पितृ-पैतामह बल (कुलबल) और जाति (वर्ण) बलका प्रयोजन संसार (माया) विजयमें रहता ही नहीं, और श्रीराम-रावण-युद्धमें भी उन बलोंका कोई मूल्य नहीं; तथा प्रज्ञाबल तो 'बुद्धि शक्ति प्रचंडा' ही है । वाल्मीकीयमें ब्रह्मबलको क्षात्रबलसे श्रेष्ठतम बतलाया गया है। यथा—'क्व च ते क्षत्रियबलं क्व च ब्रह्मबलं महत् । पश्य ब्रह्मबलं दिव्यं मम क्षत्रियपांसन । १ । ५६ । ४ । धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम् । २४ ।' 'क्षत्रियबल' से भारतोक्त पाँचों बलोंका ग्रहण है और 'ब्रह्मबलसे तपबलका ही महत्त्व कहा गया है, यथा—'तप बल बिप्र सदा बरियारा ।'

अतः इस 'धर्मरथ' के अश्वोंमें प्रथम बल नामक अश्व आत्मबल ही है । यह आत्मबल आभ्यन्तरिक पञ्चकोशोंमें प्राणमय कोशका आप्यायक होता है ।

२ 'विवेक' इति । सत्-असत्का ज्ञान विवेक है । जो वस्तु कालान्तरमें भी कभी परिणाम आदिके कारण होनेवाली किसी अन्य संज्ञाको नहीं प्राप्त होती वही सद्वस्तु है, वह वस्तु ज्ञानस्वरूप आत्मा है । यथा—'यत्तु कालान्तरेणापि नान्यां संज्ञामुपैति वै । परिणामादिसम्भूतां तद्वस्तु नृप तच्च किम् ॥ वि० पु० २ । १३ । १०० ।' अविनाशी स्वभावका नाम सत्ता है—'अविनाशि तु तद्विद्धि । गीता २ । १७ ।' विनाशी, अर्थात् एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें बदल जानेवाले स्वभावका ही नाम 'असत्ता' है, जो नाशवान् है एवं जो नाशवान् वस्तुसे उत्पादित है वह भी नाशवान् है अतः ये दोनों असत् हैं । यथा—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । गीता । २ । १६ ।' क्या सत् है और क्या असत्;

यह विचारकर सत्को ग्रहण करना विवेकद्वारा ही होता है। विवेक केवल वाग्ज्ञान न हो, नहीं तो वह व्यर्थ ही होगा। यथा—'**वाक ज्ञान अत्यन्त निपुन भवपार न पावै कोई।**'

वे० भू० जी लिखते हैं कि महाभारत शान्तिपर्वके मोक्षधर्मखण्डमें विवेकवानोंके लिये बहुत कुछ विस्तारसे वर्णित है।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि यहाँ 'विवेक' से कार्याकार्य विवेक (**'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'**) आत्मानात्मविवेक (विवेकसे श्रद्धा और विश्वास लब्ध होता है), सदसद्विवेक, सारासारविवेक और हिताहित आदि सभी विवेकोंका ग्रहण है।

३ 'दम'=बाह्यवृत्तिका निग्रह। यथा—'**निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते**' (अपरोक्षानुभूति)। (वं० पा०)। '**इन्द्रियनिग्रहं दमः**' इन्द्रियोंको कठोरतापूर्वक दबा देना, पञ्चविषयोंसे बलात् हटाकर उन्हें भगवान्‌में लगा देनेका नाम दम है। निश्चय कर ले कि '**श्रवनन्हि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गइहौं। रोकिहौं नयन बिलोकत औरहि सीस ईस ही नइहौं॥ वि०।**' (वे० भू०)। महाभारत शान्तिपर्वमें कहा है कि दम (इन्द्रियदमन) के समान संसारमें दूसरा धर्म सुननेमें नहीं आता। यथा—'**दमेन सदृशो धर्म्मो नान्यो लोकेषु विश्रुतः।** शान्तिपर्व मोक्षधर्म अ० १६० देखिये। (पु० रा० कु०)

☞ दूसरेकी वस्तुकी इच्छा न करना, सदा गम्भीरता और धीरता रखना तथा निर्भय और मानसरोगोंसे रहित रहना 'दम' के लक्षण हैं।

४ 'परहित'—निःस्वार्थ दूसरेके साथ भलाई करना परहित है। यह बड़ा भारी धर्म माना गया है। यथा—'**परहित सरिस धर्म नहिं भाई। ७। ४१**' '**पर उपकार बचन मन काया**'।

वि० त्रि० १—रथका बहिरंग वर्णन करनेके बाद अब उपयोगी सामग्रीका वर्णन करते हैं। २—बलसे प्राणमय कोशकी पुष्टि होती है, दमसे अन्नमयकी, परहितसे मनोमयकी और विवेकसे विज्ञानमयकी पुष्टि होती है। ये चारों कोश जबतक स्वस्थ न होंगे, तबतक धर्ममयरथकी गति हो नहीं सकती। बलवान् दमसम्पन्न परहितैकव्रत और विवेकी पुरुष ही धर्ममय रथके भारको वहन कर सकता है। जो निर्बल, विषयी, द्रोही, अविवेकी है वह शूर, धीर, धर्मध्वज होकर ही क्या कर लेगा? इससे धर्ममय रथ नहीं खींचा जा सकता।

वे० भू०—रथका रूपक वेदके मन्त्र उपनिषदादि सभी भागोंमें है, महाभारत एवं पुराणोंमें भी है। वेदके संहिताभागमें एक जगह **शुक्रावनड्वाहास्ताम्** (ऋ० १०। ८५। ११) में घोड़ा न कहकर बैल कहा गया है (वैवाहिक रथ होनेसे) चार नहीं अपितु '**शुक्रौअनड्वाहौ**' दो ही कहा गया है। 'शुक्रौ' से अनेक विद्वान् प्राणापानको लेते हैं, परंतु कोषकारोंने 'शुक्र' को इन्द्रियन्तेज आदिका पर्याय बतलाया है—'**शुक्रं तेजो रेतसी च बीजं वीर्येन्द्रियाणि च॥**' (अमर) अतः यहाँ शुक्रोंसे बाह्याभ्यान्तर भेदसे दो प्रकारकी इन्द्रियोंको ग्रहण करना चाहिये। विवेक और आत्मिक बल अन्तःकरणमें स्थित बैल (या अश्व) है और दम (ज्ञानेन्द्रियजन्य) तथा परहित (कर्मेन्द्रियजन्य होनेसे) बाह्येन्द्रिय स्थित अश्व है—

इस तरह कारणद्वय भेद होनेसे ऋग्वेदमें 'शुक्रौ' द्विवचनसे कहा। ऋग्वेद मंडल १० में वैवाहिक रथमें दो बैलोंका जोतना कहा है, परंतु उसी ऋग्वेदके छठे मंडलके पचहत्तरवें सूक्तमें जहाँ संग्राम साहित्यका वर्णन है वहाँ सांग्रामिक घोड़ोंका वर्णन है—'**तीव्रन घोषानम् कृण्वते वृषपाणयोऽश्वाः रथेभिः सहवाजयन्तः अवक्रामन्त प्रपदैरमित्रान् क्षिणन्ति शत्रूं रनपव्यन्तः॥** ऋ० ६। ७५। ७।' अर्थात् जोर-जोरसे हिनहिनाते हुए साँड़के समान सुपुष्ट पाणी-रानोंवाले घोड़े सर्वाङ्गसम्पन्न रथके सहित रथीको ले जाते हुए टापोंसे धर्मद्वेषी शत्रुओंको अतिक्रमण करते अर्थात् कुचलते हुए तथा अपने बलका विशेष व्यय न करते हुए (अर्थात् अनायास ही) नाश कर देते हैं।

कृष्ण यजुर्वेदीय कठोपनिषद् (१। ३। ३-९) एवं महाभारत (उद्योगपर्व ३४। ५९-६०) में अध्यात्म (धर्म) रथका वर्णन करते हुए इन्द्रियोंको ही अश्व बतलाया गया है।

नोट—५ 'क्षमा'—सर्वथा शक्तिसामर्थ्य होते हुए अपराधीको दण्ड न देना क्षमा है। पुनः '**क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वं**'

(इति भारते) के अनुसार द्वन्द्वका सहना क्षमा है। (खर्रा)। कृपा=निःस्वार्थ दया। करुणा भी इसीके अन्तर्गत है। समता=शत्रु-मित्र, मान-अपमान आदि सबको समान भावसे देखना, समदृष्टि। 'सरल स्वभाव सबहिं सन प्रीती।'

☞ क्षमा, कृपा और समताको रस्सी कहनेके भाव यह कि—रज्जु स्त्रीलिङ्ग है; बाँधना उसका धर्म है और स्त्री बन्धन होती ही है। धर्मको भी स्वर्णका बन्धन लिखा है—यह समता है।

[स्त्रीरूपी रस्सी पुरुषोंके लिये बन्धन, वैसे ही क्षमा-कृपा-समतारूपी रज्जु बल-विवेकादिके बन्धन हैं। ये चारों पुँल्लिङ्ग हैं।]

नोट—६ रज्जुसे अश्व अपने वशमें रहते हैं। वैसे ही क्षमा-कृपा आदिसे बल-विवेकादि अपने वशमें रहते हैं। रज्जु तीन लरकी बनती है, इसीसे क्षमा, कृपा और समता तीन कहे गये (खर्रा)।

७ तीन रस्सियोंसे चार घोड़े कैसे बँधे ? उत्तर—रथमें दो घोड़े आगे और दो उनके पीछे हैं। आगेके दो घोड़े दो रस्सियोंसे बँधे हैं और उनके पीछेके दो घोड़े एक रस्सीमें बँधे हैं। आगेके घोड़े दहिने बायें फेरे जाते हैं और पीछेवाले उनके अधीन चलते हैं, उनको मुरकाना वा फेरना नहीं पड़ता। (श्रीजानकीदासजी)।

८ बं० पा० जी लिखते हैं कि रस्सी तीन लरकी होती है, दो दोनों ओर और एक मध्यमें। क्षमा, दया और समता ये तीनों बल, विवेक, दम और परहित चारोंके साथ हैं। आगेके घोड़े दो रासके सहारे मुड़ते हैं, अतः उनके लिये दो रासोंकी आवश्यकता होती है, पीछेके घोड़े एक ही रासमें जोड़े जाते हैं क्योंकि ये आगेवालोंके सहारे चलते हैं।

नोट—९ 'कौन घोड़े आगेके हैं और कौन पीछेके ? कौन घोड़ा किस रस्सीसे बँधा है ?', इसमें मतभेद है।

श्रीजानकीदासजीका मत है कि 'बल और परहित घोड़े आगेके हैं। क्षमारज्जुसे बल बँधा है और कृपासे परहित। बल क्षमाके अधीन है और परहित दयाके अधीन है। विवेक और दम पीछेवाले घोड़े हैं। ये समता रज्जुसे बँधे हैं। समता न हो तो ज्ञान और इन्द्रियदमन असम्भव हो जायँ। (पं० रामकुमारजीके मतानुसार विवेक और बल दोनों क्षमासे बँधे हैं। यही मत बं० पा० का है।)

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीका मत है कि बल और विवेक आगेके घोड़े हैं, क्षमा रज्जुसे जुड़े हैं। निर्बल या अविवेकी पुरुष क्षमा नहीं कर सकता। जहाँ क्षमा है वहाँ बल और विवेक अवश्य हैं। इसी प्रकार जहाँ कृपा नहीं है वहाँ इन्द्रियदमन या परहितका अभाव है। विना इन्द्रियदमनके मनुष्य दयावीर नहीं हो सकता।

क्षमाने बल-विवेकको जोड़ा और कृपाने दम-परहितको। अब यदि क्षमा और कृपा जोड़ दी जावें तो चारों घोड़े जुत जाते हैं; अतः क्षमा और कृपाको जोड़नेवाली रज्जु समता है। जहाँ क्षमा या कृपाका अभाव हो वहाँ समता नहीं रहती। जहाँ क्षमा और कृपा दोनों हैं वहाँ समता भी अवश्य है। प० प० प्र० जी पं० वि० त्रि० जीसे सहमत हैं।

ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥ ७॥

शब्दार्थ—सुजान=चतुर। जो मनकी जान ले और रथीके मनके अनुकूल रथ हाँके। (शीला)। जो सारथ्यकर्ममें तथा रथीकी रक्षामें प्रवीण पण्डित हो (बं० पा०)।

बिरति=वैराग्य। इन्द्रियोंके अर्थोंमें अर्थात् आत्माके अतिरिक्त समस्त विषयोंमें दोषप्रदर्शनका नाम वैराग्य है। यथा—'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्। गीता १३। ८। असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु॥' मनमें विषयभोगोंकी कामना न होने देना वैराग्य है। सिद्धियों एवं तीनों गुणोंका त्याग परम वैराग्य है। 'कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी॥ ३। १५। ८।' वैराग्यके दो भेद पर और अवर हैं। परका नाम वशीकार है और यतमान, व्यतिरेक और एकेन्द्रिय अवर हैं। चर्म=ढाल, फलक, फल। शिंशुमार, ऊदबिलाव, मगर, सूंस आदि कठोर चर्मवाले जलजन्तु, गैंडा, धेनुक (नीलगाय), हाथी और गायके चाम, खुर, नख, शृंग, दाँत और हड्डीको एकमें मिलाकर एक स्थाली विशेषके आकारका बनाकर उसके भीतर हाथमें पकड़नेके लिये बनता है और ऊपरसे ताम्र, पीतल या सुवर्ण आदिका दृढ़ पत्तल आवरणरूपमें कुछ पुष्टि और सौन्दर्यके लिये लगाया जाता है। (कौटिल्य अर्थशास्त्र २। १८। १७। वे० भू०)।

संतोष=किसी भी मायिक पदार्थकी इच्छा न होना, जो कुछ प्राप्त हो उसीमें प्रसन्न रहना संतोषका लक्षण है। यथा—'जथालाभ संतोष सदाई', 'जथा लाभ संतोष। ३। ३६। ४।', 'गजधन रथधन बाजिधन चिंतामणि धन आन। जब आयो संतोष धन सब धन धूरि समान॥' (वं० पा०)। प्रारब्ध अथवा नीति-धर्मकी रीतिसे व्यापार करके जो लाभ हो उसीमें निर्वाह करना और किसीकी चाह न करना 'संतोष है। (वै०)। 'कृपाण'—अमरकोषमें कृपाणके नौ पर्याय दिये गये हैं—(तूर्ष्यां) खड्गेषु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः। कौक्षेयको मण्डला ग्राहः करवालः कृपाणवत्।' नीतिप्रकाशिकाके पाँचवें अध्यायमें इसे 'अधिधेनु' नाम देकर इसका स्वरूप इस तरह वर्णन किया गया है—एक हाथ लम्बा; हाथको बचानेवाली दण्डीसे रहित मूठवाली, श्यामवर्ण तीन धार वाली, दो अंगुल चौड़ी, समीपस्थ शत्रुपर श्यामवर्ण तीन धारवाली; दो अंगुल चौड़ी, समीपस्थ शत्रुपर प्रहार करने योग्य और मेखलाकी तरह पेटीके साथ कमरमें बाँधी जाती है। इसे खड्गपुत्रिका भी कहते हैं। इसे मुट्ठीसे पकड़कर लपलपाकर और ताल भाँजकर तीन तरहसे धारण किया जाता है। अग्निपुराणमें कृपाणकी हरण, छेदन, घात, भेदन, रक्षण, यातन और स्फोटन-सात गतियाँ बतायी गयी हैं—'हरणं छेदनं घातो भेदनं रक्षणं तथा। कृपाणकर्मनिर्दिष्टं यातनं स्फोटनं तथा॥ २५२। १७।' कौटिल्य अर्थशास्त्रके अध्यक्ष प्रचार नामक दूसरे अधिकरणके आयुधगणाध्यक्ष नामक १८ वें अध्यायमें कृपाणकी मूठ खड्ग चौड़ा या महिष (भैंसे) की सींगकी हो किंवा हाथी दाँतकी हो अथवा दृढ़ काष्ठ या बाँसकी जड़की होती है—'खड्गा महिषवारणविषाणदारुवेणु मूलानित्सरवः।'

अर्थ—ईश्वरका भजन चतुर सारथी है। वैराग्य ढाल है और सन्तोष तलवार है॥ ७॥

पु० रा० कु०—१ रथ सारथीके अधीन है तथा धर्मरथ शंभुभजनाधीन है, क्योंकि शिवजी धर्मके मूल हैं, यथा—'मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः०'—कि० मं० श्लो०)। ईश=शंभु—'शंभुरीशः पशुपतिः इत्यमरः', 'मुनिप्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरे टारी॥'

सारथी सुजान हो तो शत्रुपर विजय होती है तथा शंभुभजनसे रावणपर विजय हुई, यथा—पाद्मे शिवगीतायाम् तृतीयेऽध्याय अगस्त्यवाक्यं श्रीरामं प्रति—'दुर्गं यस्यास्ति लंकाख्यं दुर्जयं देवदानवैः। देवैरजेयं शक्राद्यैर्ब्रह्मणा हरिणापि वा। स ते वध्यः कथं वास्ति शङ्करानुग्रहं विना॥' अर्थात् देवदानवसे भी दुर्जय जिसकी लङ्काका कोट है और जो रावण स्वयं इन्द्र, ब्रह्मा और विष्णुसे भी अजेय है उसे आप विना शङ्करकी कृपाके कैसे मार सकते हैं?

प० प० प्र०—ईश=शङ्कर। शङ्कर ही गुरुका रूप है—'गुरुं शंकररूपिणम्' भजन=आश्रय, शरण लेना; यथा—'यमाश्रित्य'। 'यमाश्रित्याऽश्रमेणैव परं पारंगता बुधाः'—(सर्ववेदान्तसिद्धान्त सारसंग्रह), 'सबुइ लाभ जग जीव कहँ भए ईस अनुकूल', 'संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि॥' इसका फल होगा—'वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते'।

वै० भू०—जो ईश्वरका भजन करता है, समय पड़नेपर स्वयं ईश्वर उसकी सहायता करता है। वह सुजान है, उससे कहना नहीं पड़ता; वह स्वयं ही जानकर रक्षा करता है। यथा 'जनहिं मोर बल'''' 'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥ ३। ४३। ५।'

यहाँ 'ईस' शब्दसे किसी देव विशेषका ग्रहण नहीं है, प्रत्युत ईश्वर, परमात्मा; ब्रह्म आदि पदसे वाच्यके लिये ही है।

इस धर्मरथके रूपकमें 'शौरज' 'धीरज' से लेकर 'बिप्र गुरु पूजा' तक जितना कुछ कर्तव्यरूपसे कहा गया है वह सब एकमात्र रथी वीर (माया जिगीषु जीव) हीमें होना आवश्यक है। इन सबोंमें ईशभजनको सारथी कहकर स्पष्ट कर दिया कि जीवको सदा भगवद्भजन ही करना चाहिये। समस्त सेना, सेनानी, शस्त्रास्त्र तथा रथके नष्ट हो जानेपर भी यदि सारथी सुजान है तो रथीकी वह सर्वथा रक्षा करता है। यथा 'निसि जानि स्यंदन घालि तेहि तब सूत जतन करत भयो।' इसी तरह शौर्यादि समस्त साधनोंके खण्डित हो जानेपर भी यदि साधकका भगवद्भजनरूपी सारथी ठीक है, सुजान है (अर्थात् भजन अक्षुण्ण चल रहा है), तो वह साधक संसारमें पतित नहीं होता वरन् संसार-रिपुको जीतकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यथा 'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति॥ ४॥ यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥ ५॥ यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति॥ ६॥' (नारदभक्ति सूत्र)।'

'भजन' इति। भजन-क्रिया दो प्रकारकी है—अनिष्ठिता और निष्ठिता। अनिष्ठिताके छः भेद हैं—'क्रमेणोत्साहमयी, घनतरला, व्यूढविकल्पा, विषयसंगरा, नियमाक्षमा, रङ्गतरंगिणीति षड्विधा भवन्तीति स्वाधारं विलक्षयति।' (श्रीविश्वनाथचक्रवर्तीकृत 'माधुर्य कादम्बिनी'। २। ५)। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—आरम्भमें साधकको नवीन उत्साह रहता है अतः उसे 'उत्साहमयी' कहते हैं। उत्साह कभी शिथिल पड़ जानेसे अथवा भजनानन्दमें विभोर होनेसे कभी-कभी नियमका पालन नहीं हो पाता, उस अवस्थाको 'घनतरला' कहते हैं। कभी मनमें संकल्प-विकल्प होने लगते हैं कि परिवारसहित भजन करें अथवा पुण्यक्षेत्रमें रहकर भजन करें, इत्यादि विकल्पकी दशाका नाम व्यूढविकल्पा है। कभी विषयोपभोगमें प्रवृत्ति हो जाती है पर उससे ग्लानि होती रहती है, इसे विषयसंगरा कहते हैं। कभी-कभी नियमबद्ध हो जाते हैं यद्यपि नियमको पूरा नहीं कर पाते। इस अवस्थाका नाम 'नियमाक्षमा' है। सारे विघ्नोंपर विजय पाकर भक्तिरङ्गमें रँगकर निरन्तर भजनमें मग्न रहनेकी चरमावस्थाका 'रङ्गतरंगिणी' नाम है।—यही अवस्था 'निष्ठिता' है। इस अवस्थाकी प्राप्ति ही भजनकी सुजानता है।

वे० भू०—वेदोंमें सारथीका वर्णन करते हुए कहा है कि 'रथकलातत्त्वज्ञ सारथी रथपर बैठा हुआ जहाँ-जहाँ चाहता है उस स्थानपर प्रथम अपने मनको ले जाता है। मनमें इच्छा करनेके बाद अपने बाहुओंके पराक्रम-को प्रकट करते हुए बड़े कौशलसे रासके इशारेसे घोड़ोंको ले जाता है।' **'रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथि। अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥** तै० सं० ४। ६। ६; २, नि० ९। १६ ऋ० ६। १५। ६।' शु० य० २९। ४३।'

नोट—१ सारथी रथको स्वामीके अनुकूल चलाता है, उसे लक्ष्यपर पहुँचाता और सब कालमें उसकी रक्षा करता है; वैसे ही ईश-भजन जापककी रक्षा करता है और उसके धर्मको निर्विघ्न निबाह देता है। (जा० दा०)। ईश्वर-प्रणिधानसे सभी अन्तरायोंका नाश होता है। यथा—**'सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। रामसुकृपा बिलोकहिं जेही॥** १। ३९। ५॥' यही ईशभजनरूपी सारथी बल, विवेक, दम और परहित घोड़ोंको यथार्थ मार्गसे चलाता है, नहीं तो घोड़े रथीसहित रथको और अपनेको विपत्तिमें डाल दें (वि० त्रि०)। धर्मका निबाहना यही रथको स्वामीके अनुकूल चलाना है। (जा० दा०)

पं० रामचन्द्रसिरोठिया, सीतानगर (दमोह)—**'ईस भजन सारथी सुजाना'** इति। 'ईश महादेव हैं, उनका भजन है रामनाम। इस रामनामका जप रथका सुजान सारथी है। यहाँ परमेश्वरका भजन सारथी है और जीव रथी है। इसमें शङ्का होती है कि जीव तो बालके अग्रभागसे भी छोटा है वह रथी कैसे होगा? परंतु 'जिस प्रकारका रथ कहा गया है उसके सिद्ध हो जानेपर जीवविग्रहमग्न किशोरमूर्ति है, इसीसे रथी कहा गया है इसी बातको दृष्टान्तद्वारा समझाते हैं। जैसे हरित कोमल घासमें दूध अति सूक्ष्मरूपसे व्याप्त है। इस दूधको हजार यत्नसे निकालना चाहें तो नहीं निकल सकता तो क्या यह माना जायगा कि घासमें दूध नहीं है? घाससे उसका दूध निकालनेका असली यत्न गौ है। गौके द्वारा घासका वह सूक्ष्म दूध स्थूल हो जाता है। इस दूधको यदि हम घासमें मिलाना चाहें तो नहीं मिला सकते। अच्छा अब इस दूधमें सूक्ष्म घृत है जो दूधके मथन करनेसे स्थूलताको प्राप्त होता है। तब दूध छाँछ हो जाता है। फिर घृत छाँछमें नहीं मिल सकता। इसी प्रकार माया दो प्रकारकी है—विद्या और अविद्या। अविद्याके स्थानपर घास और विद्याके स्थानपर दूध समझो। गुरुवाक्य और वेदवाक्यमें विश्वास ही सात्त्विकी श्रद्धा है। यही श्रद्धा गौ है। वेदवेत्ता गुरुके वाक्यमें विश्वास आया कि श्रद्धा-रूपी गौकी उत्पत्ति हो गयी। इस श्रद्धारूपी गौमें अविद्या पच जाती है। विद्या दूधरूप स्थूलताको प्राप्त होती है। अविद्या कहलाती है कर्मकाण्ड इत्यादिक। और विद्या ज्ञानकाण्ड समझो। ज्ञान होनेसे कर्मकाण्डका त्याग हो जाता है और दूधरूप ज्ञानकाण्डकी प्राप्ति हो जाती है। फिर दूधरूपज्ञान अविद्यारूपी कर्मकाण्डमें नहीं मिल सकता, ज्ञानसम्पादित जीव कहलाता है ज्ञानी, इस दूधरूप जीवमें सूक्ष्म आत्मारूप घृत है। इस ज्ञानरूप दूधका मथन करनेसे शुद्ध आत्मारूप स्थूल घृत निकल आता है। याने ईश्वरके शरणागत हो भजन करनेसे स्थूल घृतरूप आत्मा निकल आती है। इस स्थूल आत्माका स्वरूप देखिये—दश अँगुली हैं, दो भुजा हैं, दो पैर हैं, दश अँगुली

पैरोंकी हैं; जंघा है; सिर है; मुख है, सुन्दर नित्य किशोरमूर्त्ति है । सबल है । जो आयुध रथके रूपकमें कह आये—परम संतोष कृपाण, दान खड्ग (फरसा), सुबुद्धि प्रचण्डशक्ति, आत्मज्ञान धनुष, शुद्ध वासनाहीन मन तूण; संयम-नियम बाण, विप्रपदपूजा कवच—इनसे संयुक्त है । उस रथपर आरूढ़ रथी है । सामवेदमें प्रमाण भी है—'दश हस्ताङ्गुलयोर्दश पादा द्वौ बाहू द्वावूरू आत्मैक यश्च विशोकः, श्रुतिः इति ।'

अब हमको मालूम हो गया कि हमारी आत्मा जो हमारे इस स्थूलशरीरमें सूक्ष्मरूपसे व्याप्त है और जिसका भाव हमें हृदयकमलमें सूक्ष्मरूपसे होता है वह अविद्यामें मिलनेके कारण इतनी सूक्ष्म हो गयी है, कि उसे हम या तो खाली प्रकाशकी एक चिनगारी-सी समझते हैं या ऐसी ही कोई छोटी चीज मानते हैं जिसके शरीर वगैरह कुछ नहीं हैं । हमने अब यह भी मालूम किया कि ईश्वरके भजन करनेसे हमारी असल आत्माका शरीर जो कि ऊपर कथन किया है जिसके सौन्दर्यके सामने सम्पूर्ण सौन्दर्योंकी कुछ भी गिनती नहीं है, जो जन्ममरण दुःखालय और अन्य यातनाओंसे रहित है, प्राप्त हो जाता है । ज्ञानादिक इसके पानेके साधन हैं और भगवद्भक्ति आत्मा-शरीरकी जननी है ।'

पु० रा० कु०—रथ, घोड़े, रज्जु, घोड़ोंको वशमें रखनेवाला सारथी, ये सब हुए । फिर भी अपनी रक्षाके लिये ढाल और शत्रुपर प्रहार करनेके लिये आयुधके बिना विजय कहाँ ? अतः अब इनको कहते हैं । ढालसे देहकी रक्षा होती है तथा वैराग्यसे, कामादि विकारकृत विघ्नोंसे, धर्मकी रक्षा होती है । अतः 'वैराग्य' को ढाल कहा । यथा—'न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः । यत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तवासिनः ॥' अर्थात् देवराज एवं चक्रवर्ती राजाको भी वह सुख नहीं है जो एकान्तवासी संसारके विषयोंसे विरक्त मुनियोंको है ।

वे० भू०—कितनी ही ढालें ऐसी होती थीं कि उनपर पड़कर शत्रुके शस्त्रतक टूट जाते थे—उचट तो प्रायः सभी शस्त्र जाते थे । ऐसे ही प्रबल तीव्रतम वैराग्यके सामने मायाके प्रायः सभी अस्त्र-शस्त्र उचट जाते हैं ।

नोट—२ 'बिरति चर्म···' इति । मोह-माया जीवके शत्रु हैं । काम, क्रोध और लोभ ये तीन उनके प्रबल सेनापति हैं । ये तीनों शत्रु जीवको सदा पीड़ित करते रहते हैं । यथा—'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि । ३ । ४३ ।' 'ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड । सेनापति कामादि···॥ ७ । ७१ ।', 'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ । मुनि बिग्यानधाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ ॥ ३ । ३८ ॥' 'कामके' अस्त्र-शस्त्र स्त्री नयनकटाक्ष आदि हैं । क्रोधके अस्त्र-शस्त्र कठोर वचन आदि हैं और लोभका बल दम्भ और इच्छा है । यथा—'लोभके इच्छा दंभ बल कामके केवल नारि । क्रोधके परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि ॥ ३ । ३८ ॥' कामादि शत्रुओंके इन नारि नयन सर, परुष वचन और इच्छा दम्भरूपी हथियारोंकी चोटसे बचनेके लिये वैराग्य ढाल है । वैराग्य ही इनसे रक्षा करता है । (जा० दा०) श्रीसुग्रीवजीने कहा है कि 'सुख संपति परिवार बड़ाई । सब परिहरि करिहौं सेवकाई ॥ ये सब राम भगति के बाधक । कहहिं संत तव पद अवराधक ॥ ४ । ७ । १६, १७ ॥' सुख-सम्पत्ति आदिसे वैराग्य होनेसे ही कामादिसे जीव बचता है । इन (कामादि) शत्रुओंके मरनेपर जिस विजयकी प्राप्ति होती है वह है 'हरिभक्ति' । यथा—'बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि । जय पाइय सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि ॥ ७ । १२० ॥' इस जयकी प्राप्तिके बाधक 'सुख संपति परिवार बड़ाई' हैं । इनमेंसे सबका क्षेत्र विषय-सुख है । इस सुखका छोड़ना ही वैराग्य है । (वि० त्रि० । प्र० सं०) ।

३ 'संतोष कृपाना' इति । निकट आये हुए शत्रुपर कृपाणसे चोट की जाती है । यहाँ संतोष कृपाण है । जितनी सुखकी सामग्री अत्यन्त निकट है, प्राप्त हो चुकी है, उतनेसे बस कर लेना संतोष है । 'आठँव जथा-लाभ संतोषा' । (वि० त्रि० । प्र० सं०) ।

संतोषको कृपाण कहा । कृपाण द्विधारा खड्गको कहते हैं । वह दहिने, बायें, और सामने तीनों ओर चलती और मारती है । लोभ, काम और क्रोध ये तीन शत्रु दहिने, बायें और सामनेके हैं । कामका बल स्त्री है और स्त्री अर्धाङ्गिनी कही गयी है, यह पुरुषके वामाङ्गमें रहती है अतः यह बायीं ओरका शत्रु है । क्रोधका बल परुष वचन है, वचन सम्मुख कहा जाता है । यथा 'तब लंकेस क्रोध उर छावा । गर्जत तर्जत सनमुख धावा ॥ जीतेहु जे भट

संजुग माहीं। सुनु तापस मैं तिन्ह सम नाहीं ॥ ८९ । २, ३ ।', 'जौं कोउ कोप भरे मुख बैना। सनमुख हनै गिरा सर पैना ॥ वै० सं० ४९ ।' अतः यह सामनेका शत्रु है। लोभका बल दम्भ है। लोभका व्यवहार दाहिने हाथसे होता है। अतः यह शत्रु दहिनी ओरसे आनेवाला हुआ। संतोषरूपी कृपाणसे ये तीनों मारे जाते हैं।—**'जिमि लोभहि सोषइ संतोषा।** ४। १६। ३।', **'बिनु संतोष न काम नसाहीं।** ७। ९०।', **'नहिं संतोष त पुनि कछु कहहू। जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू ॥** १। २७४।' तीन ओरसे बैरी आता है और एक ओर तो यह खड़ा ही है अतः चौथी दिशा न कही। (जा० दा०, शीला)।

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा ॥ ८ ॥

अर्थ—दान फरसा है, बुद्धि प्रचण्ड शक्ति है, श्रेष्ठ विज्ञान कठिन कोदण्ड (धनुष) है ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—'दान' = अपनी वस्तु दूसरेको देना। अन्नदान सर्वश्रेष्ठ माना गया है। दानमें देशकाल-पात्रापात्रका विचार भी बताया गया है। गीता १७ में सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकारके दानोंका वर्णन है। महाभारतमें विस्तारसे वर्णन करते हुए बताया है कि भूखेको भोजन और प्यासेको पानी देनेके अतिरिक्त अन्य सभी दानोंमें पात्रापात्रका विचार कर लेना चाहिये। कलिमें येनकेन प्रकारेण दान कल्याणप्रद कहा गया है। 'परशु'—औशनस धनुर्वेदके लक्षणप्रकरणमें शुक्राचार्यने परशुके सम्बन्धमें बताया है कि—(१) परशु अस्त्र भी है और शस्त्र भी। सपाणि (हाथमें लिये हुए वार करनेवाला) और पाणिमुक्त (हाथसे फेंककर वार करनेवाला)। (२) ५० पलवाला उत्तम, ४० वाला मध्यम और ३० पल तोलवाला कनिष्ठ है। (३) ४½ अंगुल चौड़े मूलवाला उत्तम, ३½ अंगुलका मध्यम और २½ वाला कनिष्ठ। इसी तरह १२, १० और ८ अंगुलके परशु उत्तम, मध्यम और निकृष्ट होते हैं। (४) १५ अंगुल लम्बा फलवाला उत्तम, १३½ का मध्यम और १२ का अधम है। (५) परशुका दण्ड (बेंट) सल्लकी, धवा, अशोक, अर्जुन, शीशम आदि उत्तम यज्ञीय एवं पुष्ट वृक्षोंका हो। जैसे कृपाणके देवता काल, ढालकी देवता दुर्गा, इसी तरह परशुके देवता गणेश और शक्तिके ब्रह्म हैं। शक्ति—कौटिल्य अर्थशास्त्रमें चाणक्यने शक्तिसे शक्ति, प्रास, कुन्त, हाटक, भिण्डिपाल, शूल, तोमर, बाराह कर्ण, कर्णय, कर्पण, त्रासिकादीनि चहल मुखानि ॥२१८। ८॥' एक दर्जन आयुधोंका ग्रहण करना बतलाया है। शस्त्र-साहित्यके विभिन्न ग्रन्थोंमें इसका बहुत बड़ा वर्णन है। शक्तिका प्रधान आकार नीति प्रकाशिकाके पाँचवें अध्यायमें यह वर्णित है कि शक्ति नामक आयुधका सारा शरीर लोहमय, शिरोभाग तीक्ष्ण एवं षट् फलक (छः धारवाला) होता है। यह अस्त्र और शस्त्र दोनों हैं। यह आयुध पाँच हाथ लम्बा, गोल फल और भयङ्कर होता है। इसकी उड्डीन, अवडीन, निडीन भूमि डीनक, तिर्यग्लीनक और निरवात—ये छः गतियाँ हैं। आकार-भेदसे इसीके दर्जनों विभिन्न नाम हैं। जैसे—सम्पूर्ण लौहमय करवीर (कनैर) के पत्तेके आकारका दण्ड एवं षट्-पलकको शक्ति कहते हैं, पाँच हाथ लम्बे काष्ठ-दण्डमें चौबीस अंगुल लम्बे दो धारके फलवालेको 'प्रास', सात हाथ लम्बे दण्डवालेको कुन्त (पासांगि), छ हाथ दण्ड एवं फलमें तीन काँटेवालेको 'हाटक', मोटे फलवालेको 'भिण्डिपाल', बाणतुल्य मुखवाले एवं सात हाथ लम्बे दण्डवालेको 'शूल' (भाला या नेजा), कुछ छोटेको कर्पण, वाराहके कान-सदृश लम्बे फलवालेको 'वाराहकर्ण', बीस, बाईस या चौबीस अंगुलके काँटेदार मूठवालेको कर्णय, चन्द्राकार गोल एवं आराके समान दाँत बने हुए फलवालेको 'तोमर' और प्रासके समान सम्पूर्ण लोहमय दण्ड एवं तीक्ष्ण धारवालेको त्रासिका कहा जाता है।

नोट—१ **'दान परसु' इति।** श्रुतिकी आज्ञा है कि अपने ऐश्वर्यके अनुसार श्रद्धा, अश्रद्धा, लज्जा अथवा डरसे, जानकर वा अनजानमें चाहे जैसे दे, पर दान अवश्य देना चाहिये। यथा **'श्रद्धया देयम् अश्रद्धया देयम् श्रिया देयम् ह्रिया देयम् भिया देयम् संविदा देयम् यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्।'** (कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक प्रपाठक ७ अनुवादक १३ मन्त्र ३)। धनकी उत्तम गति दान ही है। यथा **'दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य। यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥'** (वै० भू०)। यहाँ धर्मरथका प्रकरण है। अतएव यहाँ 'दान' से सात्त्विक दानका ग्रहण हुआ। जो दान फलाभिसन्धिसे रहित होता है और **'देना कर्तव्य है'** इस बुद्धिसे श्रेष्ठ देश, काल और पात्रादिमें तथा जिसने कभी उपकार न किया हो ऐसे मनुष्यको दिया जाता है, वह दान सात्त्विक बतलाया गया है। यथा 'दातव्यमिति **यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥** गीता

१० । २० ।' (पु० रा० कु०) । मानसमें बताया गया है कि कलियुगमें सात्त्विक, राजस, तामस किसी भी प्रकारका दान क्यों न हो वह कल्याणप्रद होता है । यथा 'प्रगट चारि पद धरम के कलि महुँ एक प्रधान । येन केन बिधि दीन्हे दान करइ कल्यान ॥ ७ । १०३ ।' पद्मपुराण सृष्टिखण्ड तथा स्कन्दपुराण ना० उ० २२९ । ९१ में भी यही कहा है—'तपः कृते प्रशंसन्ति त्रेतायां ज्ञानमेव च । द्वापरे तीर्थयात्रां च दानमेव कलौ युगे ।' इसका मुख्य कारण यह है कि इस युगमें देश-कालपात्रादिका मिलना बहुत कठिन है । (ख) दानको परशु कहा । क्योंकि दानसे समस्त दुःख कट जाते हैं । यहाँतक कि शत्रु भी मित्र बन जाते हैं । यथा 'दानेन भूतानि वशी भवन्ति दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् । परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानैर्दानं हि सर्वं व्यसनं निहन्ति ॥' 'दाने दुर्गतिक्षयः ।' (वे० भू०) । दानसे धर्मका मार्ग साफ रहता है । जैसा दे वैसा पावे । यथा 'बवा सो लुनिय लहिय जो दीन्हा ।' दानसे पाप कटता है, परशुसे वृक्ष और पर्वत कटते हैं । रथका मार्ग वृक्ष और पर्वतसे बंद हो जाता है । पाप वन और पर्वत हैं । यथा 'पाप पहार प्रगट भइ सोई', 'तौ क्यों कटत सुकृत नख तें मो पै बिपुल बृंद अघ-बनके । वि० ९६ ।' यह दान और परशुमें साम्य है । (जा० दा०) । (ग) तलवार तो अत्यन्त निकटके शत्रुपर चोट करती है । परंतु जहाँ तलवार नहीं पहुँच सकती वहाँ परशु पहुँच जाता है और जो तलवारका काटा नहीं कटता, उसे परशु काट डालता है । सुखसाधनकी ओर खिंचावको तो संतोष कृपाणने काटा, परंतु प्राप्त सुखसाधनकी ममताको दूर करनेमें संतोष असमर्थ है, उसे दान-परशुसे दूर कर सकते हैं । (वि० त्रि०)

नोट—२ 'बुद्धि सक्ति' इति । (क) धर्मप्रसंगानुकूल बुद्धिसे यहाँ सात्त्विक बुद्धिका ग्रहण होगा । जो बुद्धि प्रवृत्ति (लौकिक धर्मके साधनरूप धर्म) और निवृत्ति (मोक्षके साधनरूप धर्म) को ठीक-ठीक समझती है तथा जो कर्तव्य-अकर्तव्यको (अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनों धर्मोंमेंसे किसी एकमें स्थित हुए सब वर्णवालोंका देश, काल और अवस्था-विशेषकी अपेक्षासे, 'यह कर्तव्य है' और 'यह अकर्तव्य है । इस बातको) समझती है, एवं भय और अभयको (अर्थात् शास्त्रविरुद्ध आचरण भयका स्थान है और शास्त्रानुकूल आचरण अभयका स्थान है, इस बातको) और बन्ध-मोक्षको (अर्थात् संसारके यथार्थ स्वरूपको और उससे छुटनेके यथार्थ उपायको भी) जो ठीक-ठीक जानती है वह सात्त्विकी है । यथा 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये । बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ गीता १८ । ३० ।' (पं० रा० कु०, श्रीरामानुजभाष्य) । वंदनपाठकजी लिखते हैं कि अष्टाङ्गयुक्त बुद्धि यहाँ अभिप्रेत है, अष्टाङ्ग; यथा 'शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा । ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥' बैजनाथजी कहते हैं कि 'जपोयज्ञस्तपस्त्याग आचारोऽध्ययनं तथा । बुद्धेश्चैव षडङ्गानि ज्ञातव्यानि मुमुक्षुभिः ॥' यह षडङ्गयुक्त जो बुद्धि है वही यहाँ प्रचण्डशक्ति है । (ख) बुद्धि ब्रह्मरूपा है, यथा 'अहंकार सिव बुद्धि अज '' । १५ ।' ब्रह्मा उसका देवता है । इसी तरह शक्तिके देवता भी ब्रह्मा हैं । यह दोनोंमें साम्य है । शक्तिके देवता ब्रह्मा होनेसे ही वह अमोघ है । इसीसे 'ब्रह्मदत्त प्रचंड सक्ति अनंत उर लागी सही । ८२ ।' अर्थात् उसने लक्ष्मणजीको भी न छोड़ा तब दूसरेकी क्या चली ? वह व्यर्थ न हुई । इसीसे सात्त्विक बुद्धिको शक्ति कहा । पूर्व लिखा जा चुका है कि बुद्धिबल विशेष बल है—'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ।' (हितोपदेश, पञ्चतन्त्र) । (पं० रा० कु०) । (ग) शक्तिकी अनी जितनी पैनी हो उतनी ही वह अच्छी मानी जाती है, वैसे ही बुद्धि भी तीव्र होनी चाहिये । यथा—'कुल गुरु तिय के मधुर बचन सुनि जनक जुवति मति पैनी । तुलसी सिथिल देह सुधि बुधि करि सहज सनेह बिषैनी ॥ गी० १ । ७९ ।' पैनी होनेमें ही शक्तिकी समता है । (जिसे उत्तर काण्डमें 'परम सयानी' कहा है वही यहाँ अभिप्रेत है, क्योंकि वही मायाके कलबलपर विजय पा सकती है । यथा—होइ बुद्धि जो परम सयानी । तिन्ह तन चितव न अनहित जानी ॥ ७ । ११८' बल्कि 'परम सयानी' से भी उत्कृष्ट हो जो इन्द्रियोंके देवताओंके विघ्नसे भी अकुण्ठित ही बनी रही) । (जा० दा०) ।

वि० त्रि०—शक्ति अस्त्र-शस्त्र दोनों है अर्थात् यह हाथसे भी मारी जाती है और फेंककर भी चलायी जाती है । बुद्धि बरछी है । इससे सुखके साधन तो तुच्छ हो ही जाते हैं, दुःखपर भी इसकी गहरी चोट बैठती है । यथा—'एहि ते बिपरीत क्रिया करिये । दुख सो सुख मानि सुखी चरिये ॥'

नोट—३ 'बर बिग्यान' से विशुद्ध विज्ञान अभिप्रेत है जैसा हनुमान्जी, वाल्मीकिजी, शुकदेवजी आदिका है, यथा—'वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ'—(बा० मं० श्लो०) । (सोऽहमस्मिवाला) विज्ञान काम-क्रोधादिके अधीन

हो जाता है। यथा—'**तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महँ छोभ॥** आ० ३८।', '**सोउ मुनि ज्ञाननिधान मृगनयनी बिधुमुख निरखि। बिकल होइ हरिजान नारि बिष्नु माया प्रगट।** उ० ११५।' वर विज्ञान वह है जिसमें विज्ञान प्राप्त होनेपर भी भक्तिका आश्रय लिया जाता है, यथा—'**यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥** आ० ४३। १०।' '**अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहि भगति सकल सुखखानी॥** उ० ११६। ८।'

भक्ति होनेसे ही श्रीशुकदेव, नारद और सनकादिजी विज्ञानविशारद कहे गये हैं। यथा—'**सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनि बर बिज्ञान बिसारद॥**' शुकदेवजी बड़े भारी विज्ञानी होकर भी कैसे रामोपासक हुए यह उनकी राम-वन्दनासे ही विदित है। विशुद्ध विज्ञान वा वरविज्ञान वही है जब निर्मल ज्ञान होनेपर श्रीरामभक्ति हृदयमें छायी रहे, यथा—'**बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥** ७। १२२। ११।' वर (अखंड) विज्ञानी वही है जो श्रीरामपदानुरक्त हो। यथा—'**सोइ गुनगृह बिज्ञान अखंडित।**...**जाके पद सरोज रति होई॥** ७। ४९।' (श्रीवसिष्ठवाक्य)।

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि प्रभुकी शरण होनेपर भक्तसे यदि असावधानता भी हो जाती है तो वे उसको सँभाल लेते हैं। यथा भा० स्कंध ११ अध्याय ५—'**देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥ ४१॥ स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः। विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद्धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः॥** ४२।' अर्थात् जो सब प्रकारसे सर्वशरण्य भगवान्के शरण, सब प्रकारका तर्क छोड़कर हो जाता है वह देव, ऋषि, आप्त पुरुष, पितृगणका न किंकर ही रह जाता है और न ऋणी ही। परमेश्वर अपने अनन्य भक्तोंके उन सब पापोंको जो उनसे किसी प्रकारसे हो जाते हैं उनके हृदयमें बैठकर नष्ट कर देते हैं।

यही बात भगवान् रामजीने मानसमें नारदजीसे कही है, यथा—'**मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥** जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥' 'भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी।' (३। ४३)। जब प्रभु ही रक्षक हैं तब कौन शत्रु सम्मुख होगा। अतः 'वर विज्ञान' को कठिन कोदंड' कहा। कोदंड भी भगवान्का ही मुख्य आयुध है।

पु० रा० कु०—श्रेष्ठ विज्ञान वह है जो अनुभवजन्य हो, यथा अध्यात्मरामायणे—'**येन ज्ञानेन संवेत्ति तज्ज्ञानं निश्चितं च मे। विज्ञानं च तदेवैतत्साक्षादनुभवेद्यथा॥** ३। ४। ३९।' अर्थात् जिस ज्ञानसे सम्यक् यथार्थ ज्ञान होता है, हमारे निश्चयमें वही ज्ञान है। अनुभवमें जिस ज्ञानका साक्षात्कार होता है वह विज्ञान है। भाव यह है कि जैसे शत्रुके विजयनिमित्त श्रेष्ठ धनुष आवश्यक है वैसे ही संसारके विजय-निमित्त वर विज्ञान आवश्यक है। यथा—'**विज्ञानरहितं ज्ञानं नहि बन्धविमोक्षकम्। नहि दीपस्य वार्ताभिस्तमो नश्यति तत्क्षणात्॥ इति मोक्षधर्मे।**' अर्थात् अनुभवरहित जो ज्ञान है वह बन्धनको छुड़ानेवाला नहीं है। जैसे दीपककी बातोंसे अंधकार नष्ट नहीं होता। शास्त्रोपदेशजन्य वाक्ज्ञानमात्रसे भवबन्धन नहीं छूटता। यथा—'**वाक्य ज्ञान अत्यंत निपुन भव पार न पावै कोई। निसि गृह मध्य दीपकी बातनि तम निवृत्त नहिं होई॥**' (वि०)।

जा० दा०—सारासारका ज्ञान होनेपर उस ज्ञानमें लीन होना विज्ञान है। जिस विज्ञानमें भक्ति भी हो वह 'वर विज्ञान' है।—'**सोइ गुनज्ञ बिज्ञान अखंडित।**'...'**जाके पदसरोज रति होई।**' कठिन कोदंड वह है जो कभी न टूटे। वैसे ही 'वर विज्ञान' वह है जिसमें श्रीरामचरणसे कभी जुदाई न हो—यह समता है।

वि० त्रि०—कोदंड बहुत दूरतक मार करता है। विज्ञानसे कोई शिल्पकला न समझ ले इसलिये 'वर विज्ञान' कहा। विज्ञान ब्रह्मात्मैक्यज्ञानको कहते हैं, यथा—'**दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी।**' इस धनुषमें भारी भार वहन करनेकी शक्ति है।

वे० भू०—'तैलधारावदनवच्छिन्नप्रवाहि भक्तिका नाम 'वर विज्ञान' है। समस्त साधनोंमें विज्ञान सर्वश्रेष्ठ है वैसे ही सांग्रामिक समस्त उपकरणोंमें धनुष सर्वश्रेष्ठ है। इसीलिये विज्ञानको कठिन (सुपुष्ट) कोदंड कहा है।

श्रुतिने तो धनुषको महाशस्त्र कहा है और भगवदोपासनाको निशित बाण बताया है। यथा—'धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरंह्युपासानिशितं सन्धयति। आयस्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरसाम्यं विद्धि। मण्डव्यो० २। २। ३।' और इसी कारण समस्त सांग्रामिक शास्त्रका नाम 'धनुर्वेद' प्रख्यात है।

'कठिन कोदंडा'—कृपाण अधिक-से-अधिक दो हाथ लम्बी होती है, इसलिये उससे अधिक-से-अधिक तीन हाथ तककी दूरवाले शत्रुको मार सकते हैं। यही बात परशुमें है पर परशुको फेंककर भी उससे सौ हाथ तककी दूरीवाले शत्रुको मारा जा सकता है। शक्तिका दंड अधिक-से-अधिक सात हाथतक लम्बा होता है उससे समीपके सात या नौ हाथ तककी दूरीवाले शत्रुओंको और सम्मुख दृश्य शत्रुपर फेंककर तो दो सौ या हजार हाथ तककी दूरका शत्रु मारा जा सकता है परन्तु धनुषपर तो बाण संधान करके, लक्ष्य, शब्दवेधसे किंवा मन्त्रित करके दृश्यादृश्यरूपमें शत्रु चाहे जितनी दूरपर हो मारा जा सकता है। बाणके समान दूर जानेवाला कोई भी शस्त्रास्त्र नहीं है। इसीसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठायुधोंका वर्णन किया गया। धनुष कठिन अर्थात् अत्यन्त पुष्ट होना चाहिये। कठिन (अत्यन्त पुष्ट) धनुषसे संग्राम जीता जा सकता है ऐसा वेदका निर्देश है। यथा—'धन्वनागाधन्वना आजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदाजयेम धनुः शत्रोरप कामं कृण्मेति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥ (ऋ० ६। ७५। २ शु० य० २९। २९ तै० सं० ४। ६। ६। १। नि० ९। १७)

(धन्वना) धनुषसे (तीव्राः) हम सबसे बड़े होकर (समदः) कामादिके ठाने हुए संग्रामको (जयेम) जीतेंगे। (धन्वनागाः) धनुषसे पृथ्वीको किंवा इन्द्रियोंको (जयेम) जीतेंगे। (धन्वना आजिं जयेम) धनुषसे संग्राम किंवा अर्चिरादि मार्गको जीत लेंगे (धनुः शत्रोः कामम्) धनुष शत्रुका एवं कामका (अपकृणोति) नाश करता है अतः (धन्वना सर्वाः प्रदिशः जयेम) धनुषसे सारी दिशाओंको जीत लूँगा। इस मन्त्रका विस्तृत अर्थ 'वेदोंमें रामकथा' नामक पुस्तकमें दिया है।

शीला—निर्गुणकी उपासना कठिन कोदंड नहीं है। वह टूट जाता है क्योंकि उसमें जीव और ब्रह्मकी एकताका भाव रहता है। सेवक-सेव्य-भाव कठिन कोदंड है जो कामादिक वैरियोंसे कट नहीं सकता।

वै० भू०—कठिन कोदंड कहकर जनाया कि धनुष और प्रत्यंचा दोनों सुपुष्ट हों कि किसी तरह शत्रुके काटे न कटे। इसी तरह वरविज्ञान तो धनुष और भक्ति उसकी प्रत्यंचा है। धनुष और प्रत्यंचा बिना एक दूसरेके व्यर्थ हैं; वैसे ही विज्ञान और प्रेमाभक्तिका परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है—'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥'

श्रीरामजीका प्रधानायुध धनुर्बाण है और श्रीरामावतारके प्रधान शत्रु रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद हैं जिन्हें श्रीरामलक्ष्मणजीने धनुर्बाणसे ही मारा। इसी तरह जीवके प्रबल शत्रु मोहरूपी रावण, अहंकाररूपी कुम्भकर्ण और कामरूपी मेघनाद हैं—'मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार पाकारिजित काम बिश्रामहारी।' (वि०)। इनको जीव तभी जीत सकता है जब प्रेमभक्तियुक्त विज्ञान परिपुष्ट हो। (श्रीरामजीका धनुष 'कठिन कोदंड' है। यथा 'बिहसि कठिन कोदंड चढ़ावा।३।१८।'

प० प० प्र०—वर विज्ञान=ज्ञानयुक्त भक्ति। श्रीरामजी यहाँ माधुर्य भावमें हैं। इसलिये वे स्पष्टरूपसे भक्तिका उल्लेख नहीं करते। उनका स्वभाव है कि जहाँ भक्तिका वर्णन करनेका अवसर आ जाता है वहाँ वे माधुर्य भावको सँभाल नहीं सकते। 'जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। ३। १६। २।' देखिये। 'कठिन कोदण्ड' यथा—'कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जटजूट बाँधत सोह क्यों। ३। १८ छंद।'

अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥ ९॥

अर्थ—निर्मल अचल मन तरकसके समान है। शम, यम और नियम अनेक बाण हैं॥ ९॥

पु० रा० कु०—१'अमल अचल मन'''। अर्थात् विषयरसरूखा, विषयोंसे विरक्त और चञ्चलतारहित निज वशवर्त्ती। यथा—'काई विषय मुकुर मन लागी। १। ११५। १।' और 'निर्मल मन अहीर निज दासा॥ ७॥ ११७। १२।' पुनः यथा—'विषयेष्वेव संरागो मनसो मल उच्यते। तेष्वेवहतसङ्गस्य नैर्मल्यं समुदाहृतम्॥ (स्कन्दपुराणे)' अर्थात् विषयोंमें अनुराग ही मनका मल है विषयोंमें जिनका चित्त नहीं लगा है उनको निर्मल मन कहते हैं। समल मनवालेको शत्रुपर विजय पानेकी योग्यता नहीं, उसमें यम-नियमकी सम्भावना कहाँ?

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
(गीता २। ६४-६५)

नोट—[विषयरूपी मल मनको मलिन किये रहता है। यथा 'बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे॥ ७। १२२। ४॥' मलिन हृदयको सुख-शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। यथा 'हृदय मलिन बासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे।' इसके निर्मल होनेका एकमात्र उपाय श्रीरामचरणानुराग है। यथा—'रामचरन अनुराग नीर बिनु अति मल नास न पावै॥ वि० ८२॥', 'प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभि अंतर मल कबहुँ न जाई॥ ७।४९।६॥'

जैसे चञ्चलको रस्सीसे बाँध देनेसे वह अचल हो जाता है वैसे ही समस्त विषयोंसे मनको हटाकर उसे प्रभुपदमें लगा देनेसे वह बँध जायगा। अचल हो जायगा। परमात्माको ही अपना निरतिशय प्रयोजन समझकर उनमें लग जानेसे मन उसीमें नियंत्रित वा निश्चल हो जाता है और समस्त भोगोंमें निःस्पृह हो जाता है। निश्चलकी उपमा गीतामें वायुरहित स्थानमें रक्खे हुए दीपककी दी गयी है जो हिलता-डोलता नहीं और प्रकाशयुक्त रहता है। यथा 'यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते। निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ गीता ६। १८॥ यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।… ।' निर्मल होनेपर मन अचल होता है अतः 'अमल' कहकर अचल कहा।

वे० भू०—वेदोंमें भी आज्ञा है 'यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम्। तत् त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे। ऋ० १०। ५८। १२॥' अर्थात् जो तुम्हारा मन भूतकी बातोंको सोचते और भविष्यका चिन्तन करते हुए बहुत दूर चला गया है (अर्थात् एक-न-एक विचारमें घूमा ही करता है), उस चञ्चल मनको यहाँ एक स्थानपर लौटाकर केन्द्रित करो, यदि तुम अक्षय सुखको चाहते हो।

नोट—(क) 'शम, यम, नियम' इति। अन्तःकरण तथा अन्तर् इन्द्रियोंको वशमें करना 'शम' है। यम=चित्तको धर्मकार्यमें स्थिर रखनेवाले कर्मोंका साधन। नियम=शौच-संतोष आदि क्रियाओंका पालन करना और उनको ईश्वरार्पण करना। याज्ञवल्क्यस्मृतिमें यम और नियम दस-दस प्रकारके कहे गये हैं। श्रीमद्भागवतमें बारह कहे हैं। मनुने पाँच कहे हैं। विशेष 'सम जम नियमफूल फल ज्ञाना॥ १। ३८। १४॥' में देखिये। यहाँ 'शिलीमुख नाना' के संबन्धसे भा० ११। १९। ३३—३५॥ वाले बारह यम और नियम लेना चाहिये। क्योंकि इसीमें सबसे अधिक संख्या है।

(ख) 'शिलीमुख नाना' इति। बाण नाना आकार-प्रकारके होते हैं। शिलापर घिसकर इनके मुख चोखे—पैने किये जाते हैं, इसीसे वे 'शिलीमुख' कहलाते हैं। बाण मन्त्रान्वित भी होते हैं। (विस्तृत वर्णन वाल्मी० १। सर्ग० २७, २८ में देखिये। आकार-प्रकारादिके संबन्धमें कौटिल्य २। १८। १२ देखिये। (वे० भू०)

पु० रा० कु०—शम, यम और नियमका आधार निर्मल मन है जैसे बाणका आधार तूण है। पुनः भाव कि जैसे बिना बाणके धनुष और बिना धनुषके बाण निरर्थक हैं वैसे ही शमादिक बिना विज्ञान और विज्ञान बिना शमादि निरर्थक हैं।

जा० दा०—त्रोणमें अनेक बाण, मनमें अनेक मनोरथ और मनोरथोंके कारण अनेक तन, यथा—'मन महँ जथा लीन नाना तन प्रगटत अवसर पाये'—(विनय), 'ज्यों मन माहिं मनोरथ गोई'। त्रोणमें बाण अनेक प्रकारके, मनमें तन और मनोरथ नाना प्रकारके—यह समता है।

नोट—शम, यम और नियमको 'शिलीमुख नाना' कहा, क्योंकि शमादिके बहुतसे अङ्ग हैं। जैसे बाणके सामने शत्रु आते डरते हैं वैसे ही संयम नियममें जो दृढ़ हैं उनके पास पापरूपी शत्रु आते डरते हैं। संयम, यथा—'संजम यह न विषय की आसा'। नेम, यथा—'करि प्रेम निरंतर नेम लिये। पद पंकज सेवत सुद्ध हिये॥' शस्त्रधारीसे विरोधमें कल्याण नहीं, यथा—'नवहिं बिरोधे नहिं कल्याना। सस्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी'॥ तब बाणकी समता कौन करेगा? वैसे ही संयम-नियमादिके सामने विषय नहीं ठहर सकते, यथा—'देखि लोग सकुचाहिं जमी से'।—यह समता है।

वि० त्रि०—यहाँपर संयमके नियमोंको बाण कहा है। संयमसे पृथक् नियमका ग्रहण करनेसे पुनरुक्ति होगी। एक तरकशमें ३० तीर होते हैं। संयमके नियम भी ३० हैं। ये संयम जब 'वर विज्ञान' पर आरूढ़ हों तब अशेष शत्रुओंका नाश कर सकते हैं।

वि० त्रि०—'सम यम नियम' नाना प्रकारके बाण हैं। बाण लक्ष्य वेध करता है, भीतर प्रवेश करता है। एक तरकशमें तीस बाण रहते हैं जैसा कि पहेलीमें कहा गया है। यथा 'तीस तीस मिलि बिलमें बसैं। पंख नहीं भरु उड़के डसैं॥' धारणा, ध्यान, समाधि तीनोंको इकट्ठा करके 'संयम' कहते हैं। समाधि जय करनेसे प्रज्ञालोक होता है। इस प्रज्ञालोकको योगी जिस विषयपर डालता है, उसीका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेता है। यथा 'तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सबु जाना॥' यहाँ समाधिके नियमोंको बाण कहा—और उनकी तीस संख्या कही। पातञ्जलियोग विभूतिपादमें भी ठीक तीस संख्यक विभूतियाँ हैं, जो संयमसे प्राप्त होती हैं, और प्रत्येककी प्राप्तिके लिये पृथक् नियम हैं। एवं संयम नियम भी तीस ही हैं।

(१) सर्वार्थताके क्षय और एकाग्रताके उदयसे चित्तका समाधि-परिणाम होता है, इसी भाँति भूत और इन्द्रियोंमें धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम होता है, इन तीनों परिणामोंमें संयम करनेसे भूत-भविष्यका ज्ञान होता है, यथा—'तुम्ह त्रिकाल दरसी मुनि नाथा।' (२) शब्द, अर्थ और प्रत्ययोंके परस्पर अध्याससे जो मेल है, उसके विभागपर संयम करनेसे सब प्राणियोंकी बोलीका ज्ञान होता है, यथा—'अस कहि गरुड़ गीध जब गयऊ। तिन्ह के मन अति बिसमय भयऊ॥' (३) संस्कारोंके साक्षात्कार करनेसे पूर्व जन्मका ज्ञान होता है, यथा—'बालमीकि नारद घटजोनी। निज निज मुखनि कही निज होनी॥' (४) चित्तवृत्तिके संयमसे दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है, यथा—'नाथ भरत कछु पूछन चहहीं। प्रश्न करत मन सकुचत अहहीं॥' (५) कायरूपके संयमसे, उसके ग्राह्य शक्तिके रुकनेपर चक्षुके प्रकाशका संप्रयोग न होनेसे योगी अन्तर्धान होता है, यथा—'अंतरधान भए अस भाखी।' (६) कर्म दो प्रकारका होता है, एक शीघ्र फल देनेवाला, दूसरा देरसे फल देनेवाला, उनपर संयम करनेसे अरिष्टोंद्वारा मरनेका ज्ञान होता है, यथा—'निकट कालु जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारेहि नाईं॥' (७) मैत्री-करुणा-मुदितामें संयम करनेसे योगीको मित्रता आदि बल होता है, यथा—'पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता।' (८) बलोंमें संयम करनेसे हाथीका बल होता है, यथा—'अमित नाग बल बिपुल बिसाला।' बलका नाप हस्ति-बलसे है, जैसे आजकल अश्वबलसे नाप होता है। (९) संयमद्वारा ज्योतिष्मती (असत्तामात्राकी) प्रवृत्तिको जीतकर, उसके प्रकाश डालनेसे सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्टका ज्ञान होता है, यथा—'तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सबु जाना॥' (१०) सूर्यमें संयम करनेसे भुवनका ज्ञान होता है, यथा—'बिस्व बदर जिमि तुम्हरे हाथा।' (११) चन्द्रमामें संयम करनेसे ताराव्यूहका ज्ञान होता है, यथा—'अगनित उडगन रबि रजनीसा।' (१२) ध्रुवमें संयम करनेसे उनकी गतिका ज्ञान होता है, यथा—'ग्रह भेषज जल पवन पट, पाइ कुजोग सुजोग। होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग, लखहिं सुलच्छन लोग॥' (१३) नाभिचक्रमें संयम करनेसे शरीर-रचनाका ज्ञान होता है, यथा—'नर तन सम नहिं कवनिउ देही।' शरीरकी रचना ही ऐसी है। (१४) कण्ठकूपमें संयम करनेसे भूख-प्यासकी निवृत्ति होती है, यथा—'संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार।' (१५) कूर्म-नाड़ीमें संयम करनेसे स्थिरता होती है, यथा—'भूमि न छाड़त कपि चरन।' (१६) मूर्द्धज्योतिके संयम करनेसे सिद्धोंका दर्शन होता है, यथा—'नारदादि सनकादि मुनीसा।' (१७) प्रतिभासे सब ज्ञान होता है, यथा—'गुरु बिबेक सागर जग जाना। जिन्हहिं बिस्व कर बदर समाना॥' (१८) हृदयमें संयमसे चित्तका ज्ञान होता है, यथा—'मोहि अतिसय प्रतीत मन केरी।' (१९) बुद्धि और आत्मा अत्यन्त भिन्न हैं, इनके भेद रहित बोधसे भोग सिद्ध होता है, पर यह भोग बुद्धिके लिये है, अपने लिये न जानकर, अपनेको बुद्धिसे पृथक् जानकर, संयम करनेसे आत्मज्ञान होता है। यथा—'मैं तें मेट्यो मोह तम ऊगो आतम भानु।' (२०) बंधकारण शिथिल होनेसे और प्रचार संवेदनसे चित्तका पर-शरीरमें प्रवेश होता है, यथा—'तीय अधर बुधि रानि।' (२१) उदानके जीतनेसे जल, कीच, काँटा आदिसे असङ्ग और इच्छा-मरण होता है, यथा—'तजौं न तनु निज इच्छा मरना।' (२२) समानके जयसे तेज होता है, यथा—'कनक बरन तन तेज बिराजा॥' (२३) श्रोत्र और आकाश दोनोंके सम्बन्धमें संयम करनेसे दिव्य श्रोत्र होता है, यथा—'सुनत गिरा बिधि गगन बखानी।' (२४) शरीर और आकाशके सम्बन्धमें संयमसे और लघु तूल आदिमें संयम होनेसे आकाश-गमन होता है, यथा—'गगनोपरि हरि गुन गन गाये।' (२५) अकल्पिता महाविदेहा जो बाहरकी वृत्ति है, उससे प्रकाशके आवरणका क्षय होता है, यथा—'प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई।' (२६) स्थूल स्वरूप सूक्ष्म अन्वय, अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे भूतजय होता है, इससे अणिमादिकोंकी उत्पत्ति और काय-सम्पत्ति होती है, यथा—'सुनतहिं

भएउ पर्बताकारा । कनक बरन तन तेज बिराजा ॥' (२७) ग्रहण स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे इन्द्रियोंका जय होता है । इन्द्रियजयसे मनोजवित्व और विकरण भाव होता है, तथा योगी प्रधानको जीतता है, यथा—'**मनोजवं मारुततुल्यवेगं जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।**' (२८) सत्त्व (बुद्धि) और पुरुषसे भिन्न होनेका जिसे ज्ञान है केवल उसीको सब भावोंका अधिष्ठाता होना और सबका ज्ञाता होना सिद्ध होता है । उसमें भी वैराग्य होनेसे दोष-बीजोंके नाश होनेपर कैवल्य-मोक्ष होता है । यथा—'**जो निर्विघ्न पंथ निर्बहई । सो कैवल्य परमपद लहई ॥**' (२९) क्षण और उनके क्रमोंमें संयम करनेसे विवेकज ज्ञान होता है—'**होइ बिबेक मोह भ्रम भागा ।**' (३०) सत्त्व और पुरुष दोनोंकी शुद्धि सम होनेसे मुक्ति होती है । यथा—'**अति दुर्लभ कैवल्य परमपद ।**'—इस भाँति विषय भेदसे 'सयम-नियम' भेद भी तीस प्रकारके हैं । सुगम मार्गसे भगवत्प्राप्ति भक्तियोगसे होती है । (मानस प्रसंग) ।

प० प० प्र०—वि० त्रि० की टिप्पणीसे जान पड़ता है कि उनका पाठ 'संयम नियम' है । यह पाठ विश्वेश्वर प्रेस काशीकी १९३६ सन्‌की छपी पुस्तकका भी है । इस पाठसे पुनरुक्ति दोष नहीं रहेगा । कारण कि 'यम' में 'सत्य' का अन्तर्भाव होता है जिसका उल्लेख पहले ही आ चुका है । 'नियम' स्वतन्त्र शब्द लेनेसे पुनरुक्ति होगी, कारण कि शौच, संतोष, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान और तप ये पाँच नियम हैं, इनमेंसे शौचका शीलसे, ईश्वरप्रणिधानका ईशभजनसे, संतोष और तपका बलसे उल्लेख आ चुका है । अतः 'संयम-नियम' जिनका वर्णन पातञ्जलयोगविभूतिपादमें मिलता है उनसे यहाँ तात्पर्य है ।

कवच अभेद बिप्र गुर पूजा । एहि सम बिजय उपाय न दूजा ॥ १० ॥

शब्दार्थ—अभेद (अभेद्य)=जिसका छेदन न हो सके, जिसके भीतर अस्त्र-शस्त्र न घुस सकें ।

कवच=लोहेके कड़ियोंके जालका बना हुआ पहनावा जिसे योद्धा लड़ाईके समय पहनते थे । जिरह बखतर । ☞ कवचसे शरीरके मर्मस्थान ढक जाते हैं । विष्णुगुप्त वात्स्यायन चाणक्यने अपने कौटिल्य अर्थशास्त्रमें मर्मस्थानोंका निर्देश करते हुए उनपरके कवचों एवं कवचीय प्रत्ययोंका निर्देश किया है जो इस प्रकार है—'**लोह, जाल, जालिका, पट्ट, कवच, सूत्र, कंकट, शिशुम्भर, खंगि, धेनुक, हस्ति, गोचर्म, खुर, संघातचर्माणि ॥ २ । १८ । १७ ॥ शिरस्त्राण, कण्ठत्राण, कूर्पास, कंचुक, वारवाण पट्टनागोदारिका । पेटीचर्म, हस्तिकर्ण, तालमूल, धर्मनिन्द्रा, कपाट, किटिगं, बलात कान्ताश्च आवरणानि ॥ १८ ।,** (वे० भू०) ।

अर्थ—ब्राह्मण और गुरुकी पूजा अभेद्य कवच है । इसके समान विजयका दूसरा उपाय नहीं है ॥१०॥

पु० रा० कु०—शरीरका रक्षक कवच-सरीखा दूसरा नहीं है, वैसे ही '**पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा । मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा ॥ ७ । ४५ । ७ ॥**' विप्रपदपूजनरूपी कवच कोई नहीं काट सकता अर्थात् विप्र-सेवकके ऊपर सुर, नर, मुनि सब अनुकूल रहा करते हैं—'**मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव । मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताके सब देव ॥ आ० ३३ ॥' 'सानुकूल तेहि पर मुनि देवा । जो तजि कपट करइ द्विज सेवा ॥ ७ । ४५ । ८ ॥**'

विप्रपदपूजाके समान दूसरा उपाय शत्रुपराजयका नहीं है । भगवान् विष्णुने विप्रचरण भृगुलता अपने उरमें धारण कर समस्त दैत्योंको जीत लिया, वही यहाँ दिखाते हैं ।

वे० भू०—विप्रपूजाका माहात्म्य बताते हुए वेदका कहना है कि '**जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्नाडिका दन्तास्य शानिदिग्धाः, तेभिब्रह्मा विध्यत्ति दे पीयून हृद्बलैर्धनुभिर्देव_जूतैः ॥** अथर्व० ५ । १८८ ॥' अर्थात् ब्राह्मणकी जिह्वा प्रत्यञ्चा होती है, वाणी बाणादाम बनती है, तपसे प्रकाशित दाँत बाणके पंख बनते हैं । देवताओंसे प्राप्त ब्राह्मण अपने अनुयायियोंके क्रोध, लोभ, कामादि शत्रुओंको आत्मबलरूपी धनुषसे मारता है । इत्यादि ।

खर्रा—विप्र और गुरुपूजा दो कवच कहे—एक लोहमय एक वस्त्रमय । [नंगे शरीरपर कवच नहीं पहना जाता । उसके नीचे एक कोमल सुपुष्ट वस्त्र पहना जाता है । वह भी कवचका अंश हुआ । वही धर्मरथीके लिये विप्रपूजा है । विप्रपूजा कवचका स्तर (नीचेका अंश) है, गुरुपूजा ऊपरका अंश है । (वे० भू०)]

बाबा जानकीदासजी—विप्रपूजा कवच है, गुरुपूजा कवचकी अभेद्यता है । जबतक जीव गुरुमुख नहीं होता तबतक

भगवत्-भागवत-धर्म वा भक्तिसे अन्तर रहता है। वह कर्मकाण्ड आदिमें लगा रहता है। जब गुरुमुख हुआ तब भगवत्-भागवत-धर्ममें आरूढ़ हुआ। यही कवचकी अभेद्यता है। [भाव कि विप्र वेद-धर्म-शिक्षक हैं। इससे केवल विप्रपदपूजा भेद्य-कवच है। और गुरु भगवद्धर्मका शिक्षक है। इससे गुरुपदपूजा होनेसे वह कवच अभेद्य हो जाता है।—(शीला)]

वि० त्रि०—ब्राह्मण और गुरुकी पूजामें छिद्र न हो तो पूजकपर शत्रुका शस्त्र कुछ भी काम नहीं कर सकता। क्योंकि ब्राह्मणोंका बल तप है, यथा—'तपबल बिप्र सदा बरिआरा।' तपस्वी ब्राह्मणके प्रसादसे सदा रक्षा होती है और 'राखै गुरु जौं कोप बिधाता'॥ फिर शत्रु क्या कर सकता है? इसीलिये गोस्वामीजी कहते हैं कि **'इहि सम बिजय उपाय न दूजा'**। अर्थात् विजयके उपाय दुर्ग, सेना और भौतिक रथादि बहुत हैं, परन्तु इसके बराबर कोई नहीं है। क्योंकि उनके होते हुए भी पराजय बराबर देखी जाती है।

सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥ ११॥

अर्थ—हे सखे! ऐसा धर्ममय रथ जिसके हो, उसके लिये जीतनेको कहीं भी शत्रु नहीं है।

पु० रा० कु०—धर्ममय अर्थात् जिसमें धर्मकी प्रचुरता वा बाहुल्यता है। 'अस', यथा—**'बिप्र चरन पंकज अति प्रेमा।'**

नोट—१ 'धर्ममय अस रथ' से जनाया कि इस रथके जितने अंग ऊपर कहे हैं वे सब भी धर्म ही हैं। 'जाकें' अर्थात् जिसके पास हो वह ही शत्रु-रहित हो सकता है। आशयसे जनाया कि ये सब अङ्ग हममें स्थित हैं; इससे रावणको पराजित ही समझो। प्रभुमें इन सबका समावेश नीचे दिखाया जायगा। २—'जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें'। भाव कि कोई शत्रु रह ही नहीं जाता जिसे जीतनेका प्रयत्न करना पड़े। शत्रु देखनेमात्रको है, नहीं तो वह मारा हुआ है ही।

३—वीर योद्धाओंके रथमें ये सब अङ्ग होते हैं जो यहाँ कहे गये—(१) दो पहिये। (२) ध्वजा, पताका। (३) घोड़े। (४) घोड़े रथमें रस्सीसे जुते हुए। (५) सुजान सारथी। (६) ढाल। (७) तलवार। (८) फरसा। (९) शक्ति। (१०) कोदण्ड। (११) तरकश। (१२) बाण। (१३) कवच।

क्रमसे धर्ममयरथके अङ्ग ये हैं—(१) शौर्य, धैर्य। (२) सत्य, शील। (३) बल, विवेक, दम, परहित। (४) क्षमा, कृपा, समता। (५) ईश-भजन। (६) वैराग्य। (७) संतोष। (८) दान। (९) बुद्धि। (१०) वर विज्ञान। (११) निर्मल अचल मन। (१२) शम, यम, नियम। (१३) विप्र-पूजा और गुरुपूजा।

४ ☞ श्रीरामजीमें ये सब अङ्ग हैं—'जेहि जय होइ सो स्यंदन आना।'

अंग		उदाहरण
शौर्य	१	'जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहि बिरोधि न जाइहि पूरा॥ ३। २५। ८॥'
धैर्य		'जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई॥ २। ८२। १॥'
सत्य	२	'सत्यसंध प्रभु बध करि एही। आनहु चर्म कहति बैदेही॥ ३। २७। ५॥', 'सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाज॥ २। २६४॥', 'राम सत्य संकल्प प्रभु सभा कालबस तोरि॥ ५। ४१॥'
शील		'सीलसिंधु सुनि गुर आगवनू।००० चले सबेग राम तेहि काला॥ २। २४३। १-२॥', 'राम सत्यब्रत धरमरत सब कर सील सनेह॥ अ० २९२॥', 'तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान॥ १। २९॥'
बल	३	'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जान नहिं पाई॥ ३। २। १२॥', 'निसिचरहीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह॥ ३। ९॥', 'जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥ ३। ३१॥' यह आत्मबल है।
विवेक		'प्रभु करुनामय परम बिबेकी। २। ९७।', 'गुन ज्ञान निधान अमान अजं।', 'गतक्रोध सदा प्रभु बोधमयं।' (६। ११० छंद)
दम		'राम पुनीत बिषय रस रूखे। २। १७९। ७।', 'सब कोउ कहइ राम सुठि साधू। २। ३२। ६।'
परहित		'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार। १। १९२।'
क्षमा	४	'छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता'—(परशुरामवाक्य)

कृपा 'प्रभु छाँड़ेउ करि छोह को कृपालु रघुबीर सम । ३ । २ ।', 'कृपासिंधु मतिधीर अखिल बिस्व कारन करन । १ । २०८ ।', 'माँगत पंथ कृपा मन माहीं । सुं० ।'

समता 'कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ । ४ । ७ ।', 'सब पर प्रीति प्रतीति जिय जानिय आपु समान । २ । २२७ । ', 'सब पर मोरि बराबरि दाया', 'बैरभाव मोहि सुमिरत निसिचर', 'जद्यपि सम नहिं राग न रोषू । गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥ २ । २१९ ॥'

ईशभजन ५ 'पूजि पारथिव नायउ माथा । २ । १०३ ।', 'लिंग थापि बिधिवत करि पूजा । ६ । २ । ६ ।'
'रघुबर संध्या करन सिधाए ।'

बिरति ६ 'राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाउ की नाईं' (क) । 'नवगयंद रघुबीर मनु राजु अलान समान । छूट जानि बन गवनु सुनि उर अनंद अधिकान ॥ २ । ५१ ॥', 'पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर । बिसमउ हरष न हृदय कछु पहिरे बलकल चीर ॥अ० १६५॥', 'लोभ न रामहिं राज कर...' ।

संतोष ७ 'पूरन काम राम परितोषे' 'तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे, 'तुम्ह परिपूरन धाम०।' 'नाहिं न राम राज के भूखे'।

दान ८ 'बिबिध दान महिदेवन्ह पाए', 'कपिन्ह सहित बिप्रन्ह कहँ दान बिबिध बिधि दीन्ह ।', 'जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे', 'मागहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि' ।

बुद्धि ९ 'खरदूषन बिराध बध पंडित', 'राम तेज बल बुधि बिपुलाई । सेष सहस सत सकहिं न गाई॥ ५ । ५६ । १ ॥'

वर विज्ञान १० 'विज्ञानधामावुभौ ।' (कि० मं० श्लोक १)

अमल मन ११ 'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी । जेहि सपनेहु परनारि न हेरी ॥ १ । २३१ । ६ ॥'

अचल मन 'हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा । सिंधु कोटि सत सम गंभीरा ॥ ७ । ९२ । ३ ॥'

शम, यम, नियम } १२ इनके उदाहरणमें सरकारके दिनचर्यासम्बन्धी सभी अंश अवतरणीय हैं, यहाँ पूरे उद्धरणसे विषय बहुत बढ़ जायगा ।

'तापस बेष बिसेष उदासी', 'पहिरे बलकल चीर', 'योगीन्द्रं (इसी काण्डके मंगलाचरणमें विशेषण दिया है। शम, यम, नियम सब योगमें आ जाते हैं), 'राम लषन सिय बिनु पगु पनहीं । करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं ॥', 'अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात । बसि तरुतर नित सहत हिम आतप बरषा बात ॥ अ० २११ ॥'

विप्रपूजा १३ 'बंदि बिप्र गुरु चरन प्रभु चले करि सबहि अचेत' ।

गुरुपूजा 'गुर आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायउ माथा ॥...सोरह भाँति पूजि सनमानी ।२।९।२-३।'

वे० भू०—विभीषणजीको उपदेश देनेके समयके पूर्व क्षणतक ही श्रीरामजीकी माधुर्यलीलामें धर्मरथके बाईसों अंगोंका होना सिद्ध होना चाहिये तभी उपदेशकी गंभीरता है, उत्तरकालमें नहीं । उत्तरकालीन प्रमाण उद्धृत करनेसे तो यही सिद्ध होगा कि अभीतक श्रीरामजीमें उन-उन गुणोंकी कमी है ।

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजीने इन अङ्गोंके उदाहरण ये दिये हैं—

१ शौर्य्य—'एक बार कैसिउ सुधि पावउँ । कालहु जीति निमिष महँ आनउँ' ॥ २ धैर्य—'जौं रन हमहिं प्रचारै कोई । लरैं सुखेन काल किन होई' ॥ ३ सत्य—'सखा बचन मम मृषा न होई' । ४ शील—'तुलसी कहूँ न रामसे साहिब सीलनिधान' । ५ विवेक—'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ । कोउ न राम सम जान जथारथ ॥' ६ दम—'सब कोउ कहइ राम सुठि साधू' । 'राम सुजान बिषयरस रूखे' । ७ परहित—'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार' । ८ क्षमा—'निज अपराध रिसाहिं न काऊ' । ९ कृपा—'निसिचर निकर सकल मुनि खाए । सुनि रघुनाथ नयन जल छाए ॥ निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह । सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥' १० समता—'सब मम प्रिय सब मम उपजाए' । ११ ईशभजन—'पूजि पारथिव नायउ माथा' । १२ विरति—'नवगयंद रघुबीर मन राज अलान समान । छूट जानि बनगमन सुनि उर आनँद अधिकान' ॥ १३ संतोष—'सकृत प्रनाम किये अपनाये' । १४ दान—'जो संपति सिव रावनहिं दीन्ह दिये दस माथ । सो संपदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्ह रघुनाथ' ॥ १५ बुद्धि—'राम तेज बल बुधि बिपुलाई । सेष सहस सत सकहिं न गाई ॥ खरदूषन बिराध बध पंडित' । १६ वर विज्ञान—'जथा अनेक रूप धरि

नृत्य करै नट कोइ । सोइ सोइ भाव दिखावइ आपुन होइ न सोइ ॥' १७ संयम नियम—'योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधि-मजितं', 'अमित रूप प्रगटे तेहि काला । जथाजोग मिलि सबहि कृपाला' ॥ १८ विप्रगुरुपूजा—'अस कहि रथ रघुनाथ चलावा । विप्र-चरन-पंकज सिर नावा ॥' 'गुरुपद पदुम पलोटत प्रीते ।' १९ धर्ममयरथ—'चारिउ चरन धरम जग माहीं । पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं ॥'

प० प० प्र०—१ 'धर्ममय' इति । मिलान कीजिये 'अयमय खाँड न ऊखमय । १ । २७५ ।' 'अयमय और ऊखमय' में उपादान कारणका बोध ही 'मय' प्रत्ययसे होता है । वैसे ही 'धर्ममय'='धर्मका ही बनाया हुआ' ।

२ श्रीरामजीमें और लखनलालजीमें भी इस रथके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग मानसमें ही वर्णित हैं । परशुरामकृत स्तुतिमें ही इनमेंसे बहुतसे अङ्गोंका वर्णन मिलता है, तथा 'कुन्देन्दीवर सुन्दरौ···' (कि० मं० श्लोक १) में भी तीनोंका मिलान—

धर्ममय रथ	परशुराम-स्तुति	किष्किन्धा मंगलाचरण श्लोक १
सत्य, शील	विनय शील सागर केतू	
शौर्य, धैर्य	परशुराम प्रसंग भरमें हैं ।	वरधन्विनौ
बल, विवेक, दम परहित	दनुजकुलदहन, भानु, सुरधेनु-हितकारी ।	अतिबलौ, हितौ
क्षमा, कृपा, समता	छमामंदिर, करुणासागर, सब सुखद	रघुवरौ,
ईसभजन, विरति	महेस मन मानस हंसा, कृशानू	सद्धर्मवर्मौ,
विप्र, गुर पूजा	सुर-विप्रहितकारी	गोविप्रवृन्दप्रियौ
वरविज्ञान	भानु	विज्ञानधामौ उभौ ।
दान	सेवक सुखद	भक्तिप्रदौ,
शेष सब गुण	गुणसागर	
मद मोह कोह भ्रम हारी	सक्ति, कृपाण, बुद्धि, संतोष,	

रावण प्रायः इन सब अंगोंसे रहित है ।—(१) संन्यासी और चोर बननेसे शौर्य-धैर्यरहित । (२) अरण्यकाण्डमें जो उसने प्रतिज्ञा की थी कि 'जौं भगवंत लीन्ह अवतारा ।···तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ ॥' इत्यादि, उसे पूरा न कर सका इससे सत्यरहित । (३) श्रीसीताजीकी चोरीसे शीलराहित्य । (४) 'कहाँ रहा बलगर्व तुम्हारा' से बलरहित (५) 'हित अनहित मानहु रिपु प्रीता' से विवेकराहित्य । (६) वृद्ध मंत्री माल्यवान्, तथा प्रहस्त आदिको कटु वचन कहनेसे दमराहित्य । (७) विश्वद्रोहरत खल होनेसे परहितविघातक । (८) विभीषण, माल्यवान्, मारीच, कालनेमि, प्रहस्त, शुक आदिको मारा या मारनेको उद्यत होने इत्यादिसे क्षमाहीन । (९) 'हिंसक, देवपरितापी' होनेसे कृपारहित । (१०) मंदोदरी और श्रीसीताजी दोनोंने उसे खद्योत और श्रीरामजीको दिनकर कहा । उसने मंदोदरीको कुछ न कहा पर सीताजीको मारनेको उद्यत हुआ । कान्तासम्मितवाक्यमें क्रोधाभाव डगा । इससे समतारहित । (११) 'करसि पान सोवसि दिन राती, से विरतिरहित । (१२) सीताहरण तथा उनको वशमें करनेके प्रयत्नसे संतोषका अभाव । (१३) सुर, विप्र, संत आदि सभीका विरोधी होनेसे दानरहित । (१४) 'तव उर कुमति बसी बिपरीता' से बुद्धिहीन । (१५) 'निकट काल जेहि आवत साईं । तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं ॥ से विज्ञानका अभाव । (१६) आकाशगमन, अमित रामरूप हनुमान् रूप आदि प्रकट करना 'संयम नियम'-राहित्य । (१७) "जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं । नगर गाँउ पुर आगि लगावहिं ॥' से विप्रगुरुपूजाका अभाव । और (१८) 'धर्म सुनिअ नहिं काना' से धर्ममयरथहीन सूचित किया ।

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हुआ कि रावणके पास अधर्ममयरथ है, इसीसे उसके भाई, नाना, पुत्र, मन्त्री आदि सभी शत्रु हैं । जिसके अन्तरङ्गमें शत्रु, उसको बाहर भी शत्रु होंगे ही । देव, विप्र आदि सभी शत्रु हैं ।

नोट—कठोपनिषद् अ० १ वल्ली ३ में यमराजजीने नचिकेताजीसे भी एक रथका रूपक कहा है जो इस प्रकार है—'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥' अर्थात् तू आत्माको रथी जान, शरीरको रथ समझ,

बुद्धिको सारथि जान और मनको लगाम समझ। ३। विवेकी पुरुष इन्द्रियोंको घोड़े बतलाते हैं तथा उनके घोड़े रूपसे कल्पित किये जानेपर विषयोंको उनके मार्ग बतलाते हैं और शरीर; इन्द्रिय एवं मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं।

इसके अनन्तर श्रुति ५ में अविवेकीकी विवशता, श्रुति ६ में विवेकीकी स्वाधीनता और श्रुति ७ में अविवेकीकी संसारप्राप्ति कहकर श्रुति ८, ९ में विवेकीकी परमपद-प्राप्ति कही है।

महाभारतमें भी ऐसे रूपक आये हैं। पर मानसके रूपकसे मिलते नहीं हैं। इससे यहाँ उन रूपकोंका उल्लेख नहीं किया गया।

नोट—'सुनहु सखा कह कृपानिधाना' उपक्रम और 'सखा धर्ममय०' उपसंहार है।

दोहा—महा अजय संसार रिपु जीति सकै सो बीर।
जाके अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मति धीर॥७९क॥

अर्थ—जिस वीरके पास ऐसा दृढ़ रथ हो वह महादुर्जय संसार-शत्रुको (भी) जीत सकता है। (तब रावणादिका जीतना कौन बड़ी बात है ?)॥ ७९॥

वि० त्रि०—१ संसार-शत्रु महा अजय है। क्योंकि यहाँ यह बात नहीं है कि देश अलग हो और सेना अलग हो। यहाँ तो देश-का-देश सेना है, यथा—'ब्यापि रह्यो संसार महँ माया कटक प्रचंड। सेनापति कामादिभट दंभ कपट पाखंड॥ ७। ७१॥' इनमेंसे एक-एक महा अजय है। रावणने इन्द्रादिको जीता, पर कामादिसे वह स्वयं हारा हुआ है। २—'महा अजय संसार रिपु०' का भाव कि रावण तो केवल अजेय है, इसको जीतना कौन-सी बात है, यथा—'तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ। जीतेउँ अजय निसाचरराऊ॥ १११। ३॥', 'देखि अजय रिपु डरपे कीसा।' ३—'रथ होइ दृढ' का भाव कि ऐसा रथ होनेपर भी यदि दृढ़ न हुआ, ढीला-ढाला रह गया, तो भी वह संग्राम-योग्य न होगा। ४—'सुनहु सखा मतिधीर'। मतिधीर सखा कहनेका भाव कि यह उपदेश हमारे सखाकी श्रेणीके लोगोंके लिये है, जो मतिधीर हैं। दूसरा इसको सुनकर भी धारण नहीं कर सकता।

जा० दा०—१ इस प्रसङ्गमें 'दृढ़' का संपुट है। 'सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका' उपक्रम है और यहाँ 'जाके अस रथ होइ दृढ़०' उसका उपसंहार है। २—उपक्रममें विभीषणको 'अधीर' कहा था; यथा—'देखि बिभीषन भयउ अधीरा।' यहाँ धर्मरथका उपदेश सुनकर वह अधीरता मिट गयी, इसीसे अब उनको 'मतिधीर' कहा।

☞ इससे जनाया कि जो त्रैलोक्यको भी जीत ले और मोहादिको वा अपनेको न जीत सके, वह वीर नहीं है। दोहेका पूर्वार्ध 'वीर' की व्याख्या है।

[उत्तरार्धसे यह भी जनाया कि जिसके पास धर्ममय दृढ़ रथ नहीं है उन्हें संसार-रिपु जीत लेगा। (प० प० प्र०)]

वे० भू०—रावण स्वयं अजेय था किंतु उसके सैनिक अजेय नहीं थे। संसार मायाके सभी सैनिक भी अजेय हैं। इसलिये वह (संसाररिपु) स्वयं महा अजय है। संसार-रिपुके महा अजय सैनिकोंमेंसे कुछके नाम मानसमें ये हैं— '(नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतमबादी॥) मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥ तृष्ना केहि न कीन्ह बौराहा। केहि के हृदय क्रोध नहिं दाहा॥ ज्ञानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार। केहि कै लोभ बिडंबना कीन्ह न यहि संसार॥ श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि, ममता बधिर न काहि। मृगलोचनिके नैन सर को अस लाग न जाहि॥ गुन कृत सन्यपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही॥ जौबन ज्वर केहि नहिं बलकावा। काहि न सोकसमीर डोलावा॥ मत्सर काहि कलंक न लावा। ममता केहि कर जस न नसावा॥ चिंता साँपिनि काहि न खाया। को जग जाहि न ब्यापी माया॥ कीट मनोरथ दारु सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा॥ सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि के मति इन्ह कृत न मलीनी॥ ब्यापि रहेउ संसार महँ माया कटक प्रचंड। सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड॥''

संसाररिपुके ये रेखांकित सभी सैनिक सब अजेय थे और सबने रावणको वश कर रखा था। रावण

के पास इस धर्मरथके कुछ अङ्ग थे जैसे—(१) शौर्य—शूर कवन रावण सरिस, सुत प्रसिद्ध शक्रारि। (२) धैर्य—'चला न अचल रहा रथ रोपी।' (३) बल—तव बल नाथ डोल नित धरनी। (४) ईशभजन—कहनेको तो रावण शिवभक्त था परंतु था, नहीं अपितु—'वेद पढ़ैं विधि, शंभु सभीत पुजावन रावन सों नित आवैं। (क०)।

अन्य कोई भी धर्मरथका अङ्ग रावणके पास नहीं था वरन् रावणमें तो अन्य सभी धर्माङ्गोंके विपरीत पापाङ्ग थे। और विभीषणके पास धर्मरथके अङ्गोंमें अधिकांश हैं। कुछ रावणके पास भी हैं इसीसे जब दोनों (रावण-विभीषण) साथ थे तब वह कामचलाऊमात्र पूर्ण था। परंतु दोनोंके अलग होते ही रथ छिन्न-भिन्न हो गया—अधिकांश विभीषणके पास चला गया। इसीसे—'रावन जबहिं बिभीषन त्यागा। भयउ बिभव बिनु तबहिं अभागा॥'

वे० भू०—'जीत सकै सो बीर' इति। मिलान कीजिये—'अभीदमेकमेकोऽस्मि निष्षाऽभीद्वाकिमुत्रयः किरन्ति। पलेन पर्षान्प्रतिहन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः॥ ऋ० १० । ४८ । ७, नि० ३ । १० ।' अर्थात् यद्यपि मैं सब तरफसे सर्वथा अकेला हूँ तो भी ये एक (मोह), दो (माया मोह) अथवा तीन (काम, क्रोध,लोभ) अथवा सब वस्तुओंसे माया-संसारके सैनिक एक साथ मिलकर मेरा क्या कर लेंगे? मैं तो अब इस माया कटकको इस तरह मार डालूँगा जैसे खलिहान राहामें अन्नकी डण्ठलको कुचल डालते हैं। जो (माया और उसका परिवार) चेतनारहित हैं वे शत्रुगण क्या मेरी निन्दा कर सकते हैं? कदापि नहीं। विनयमें भी कहा है 'पर बस जानि हँस्यो इन इंद्रिन्ह निज बस ह्वै न हँसैहौं।'

वीरकवि—यहाँतक साङ्गरूपकका वर्णन हुआ। प्रस्तुत वृत्तान्त तो रावणसे जीतनेके लिये रथका वर्णन है, उसे न कहकर उसका प्रतिविम्बमात्र कहना 'ललित अलंकार' है। विजयरथके बहाने रावणके जीतनेकी बात न कहकर संसार-शत्रुके जीतनेकी बात कहना 'कैतवाह्नुति' अलंकारकी ध्वनि है। जो संसार-शत्रुको जीत सकता है उसे रावणका जीतना क्या है? वह तो जीता-जिताया ही है—यह व्यङ्ग्यार्थसे 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है।

दोहा—सुनि प्रभु बचन बिभीषन* हरषि गहे पदकंज।
एहि मिस मोहि उपदेसेहु † राम कृपा सुख पुंज॥७९ख॥

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर विभीषणजीने हर्षित होकर उनके चरणकमलोंको पकड़ लिया और बोले—हे कृपा और सुखके समूह श्रीरामजी! आपने इस बहाने मुझे (सनातनधर्मका) उपदेश किया॥ ७९॥

☞ १—त्रेतायुगमें रणभूमिमें भगवान्ने सखा विभीषणको धर्मोपदेश दिया और द्वापरमें सखा अर्जुनको भी रणक्षेत्रमें ही गीताका उपदेश दिया। २—उपदेश सुनकर हर्षित होकर प्रणाम करना कृतज्ञता सूचित करता है। उत्तम लोगोंकी यह रीति है। मिलान कीजिये—

श्रीलक्ष्मणजी—'भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥ ३ । १७ । १।'
श्रीजानकीजी—'सुनि जानकी परम सुख पावा। सादर तासु चरन सिरु नावा॥ ३ । ६ । १।'
श्रीनारदमुनि—'सुनि रघुपति के बचन सुहाए। मुनि तन पुलक नयन भरि आए॥ ३ । ४५ । १।'
'सिरु नाइ बारहिं बार चरनन्हि ब्रह्मपुर नारद गए। ३ । ४६ ।'
तारा—'उपजा ग्यान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर माँगी॥ ४ । ११ । ६ ।'
पुरवासी—'सुनत सुधा सम बचन राम के गहे सबन्हि पद कृपा धाम के॥'' । ७ । ४७ । १ ।'
भरतादि भाई—'श्रीमुख बचन सुनत सब भाई। हरषे प्रेम न हृदय समाई॥ करहिं बिनय अति बारहिं बारा। हनूमान हिय हरष अपारा॥ ७ । ४२ । १-२ ।'
गरुड़जी—'मैं कृत्यकृत्य भयउँ तव बानी।''मो कहँ नाथ बिबिध सुख दए॥ मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहि बारा॥''जानेहु सदा मोहि निज किंकर। पुनि पुनि उमा कहइ बिहंगबर॥

* सुनत बिभीषन प्रभु बचन। † उपदेस दिअ—(का०)।

तासु चरन सिरु नाइ करि प्रेम सहित मतिधीर ॥ गएउ गरुड़० ७ । १२५ ।'

पु० रा० कु०—१ (क) **'सत्यं दमस्तपः शौचं संतोषो ह्रीः क्षमार्जवम्। ज्ञानं शमो दया दानमेष धर्मः सनातनः ॥** (भारते) । अर्थात् सत्य, दम, तप, शौच, संतोष, लज्जा, क्षमा, कोमलता, ज्ञान, शम (शान्ति), दया और दान, ये (सब जो रूपकमें कहे गये हैं) सनातन धर्म हैं। (ख) **'बंदि चरन'** उपक्रम और **'गहे पदकंज'** उपसंहार है।

वि० त्रि०—१ (क) **सुनि प्रभु बचन बिभीषन०'** इति। **'देखि बिभीषन भएउ अधीरा।'** उन्हीं विभीषणको संदेह प्रभुके वचन सुनते ही नष्ट हो गया। ☞ संग्रामके समय जब कि जीवन-मरणका प्रश्न उपस्थित होता है, मानुषी प्रकृति कृत्रिम आडम्बरको छोड़ अपने यथार्थ रूपमें आ जाती है और वही उपदेशका यथार्थ समय है। (ख) 'प्रभु वचन' का भाव कि वे **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुंसमर्थः'** हैं। अतः संग्राम-जयके साधन तथा सिद्धिका निश्चय उनको ही हो सकता है। ये संग्राममें जीत-हारको समान माननेका उपदेश नहीं देते, परंतु ऐसी विधिका उपदेश देते हैं जिससे पराजय हो ही नहीं सकता।

२ **'गहे पद कंज'**—यह सफलताका सूचक है। यथा—**रिपुदल धरषि हरषि हिय बालितनय बलपुंज। पुलक सरीर नयन जल गहे रामपद कंज ॥ ३४ ।'** ['गहे पद' का भाव कि अब इन्हें न छोड़ूँगा, मेरे भवसागर पार होनेका 'अवलम्ब' आपका चरण ही है और कोई साधन मुझसे कब सध सकता है। (बं० पा०)]।

३ **'एहि मिस०।'**—रावणके विजयकी विधि बतलानेके मिषसे मुझे उपदेश दिया। संसार-सागरसे तरनेका यथार्थ उपाय बतलाया, सो भी दूसरे व्याजसे, क्योंकि सरकार 'कृपा सुखपुंज' हैं, बिना कहे ही दुःख दूर करते हैं। व्याजसे उपदेशका दूसरा भाव यह है कि पहले विभीषण कह चुके हैं कि **'उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही ॥'** फिर भी इन्हें रावणके विजयकी चिन्ता है, अपने परलोककी नहीं।

*** सिंहावलोकन वा दिग्दर्शन ***

१—प्राकृत शत्रुके लिये प्राकृत रथ	अजय संसार-शत्रुके लिये धर्म-रथ
२—रथमें पहिये दो	यहाँ शौर्य और धैर्य
(क) पहियोंसे रथ चलता है (रा० कु०)	शूरता धीरतासे धर्म रहता है,—**'कोटि बिघ्न ते संत''' जिमि नीति न त्याग।'**
(ख) पहियोंके पीछे हटनेसे वीरतामें न्यूनता आती है। (जा० दा०)	शौर्य धैर्य छूटनेसे धर्मरथारूढ़ पुरुषकी न्यूनता।
३ (क) ध्वजा-पताकासे जय और उनके गिरनेसे पराजय सूचित होती है।	सत्य-शीलहीन होनेसे संसार-रिपुसे पराजय।
(ख) ध्वजासे रथ लक्षित होता है और पताकासे जय। (रा० कु०)	सत्यसे धर्म लक्षित होता है, यह सर्व-धर्म-श्रेष्ठ है—**'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए।'**
(ग) ध्वजा-पताका सबसे ऊँचे रहते हैं। —(जा० दा०)।	सत्य और शील सब गुणोंमें श्रेष्ठ और शिरोमणि हैं और दोनों मुख और नेत्रोंद्वारा प्रकट होते हैं।
४—रथमें कम-से-कम चार घोड़े जुड़े रहते हैं।	बल, विवेक, दम और परहित धर्ममय रथमें जुड़े हैं, यही उसे खींचते हैं।
५—बागडोरसे वह घोड़े काबूमें रखे जाते हैं।	क्षमा, दया और समता तीनों रस्सियोंसे ये जुड़े हैं। भाव कि क्षमा, दया और समताद्वारा, बल, विवेक, दम और परहितपर काबू रहता है।
६—प्राकृत रथको चतुर सारथी चलाता है	धर्म-रथको ईशका भजन चलाता है।
७—रथीके पास ढाल-कृपाण, परशु, प्रचंड शक्ति, कठिन कोदण्ड, तरकश, नाना प्रकारके बाण और अभेद्य कवच होते हैं।	यहाँ वैराग्य, सन्तोष, दान, बुद्धि, श्रेष्ठ विज्ञान, निर्मल और दृढ़ मन, शम, यम, नियम और विप्र गुरुपूजा हैं।

[illegible]— अध्यात्म तथा वाल्मीकि रामायणोंमें यह वर्णन नहीं है। इस वर्णनमें महाभारतके गीतोपदेशके प्रसङ्गकी छटा है। वहाँ अर्जुनको मोह हुआ था। इसलिये श्रीकृष्णजीने उन्हें सखा-भावसे उपदेश किया। यहाँ सखा विभीषणको मोह हुआ; उन्हें श्रीरामजीने भी सखाभावसे धर्मोपदेश किया।—'एहि बिधि मोहि उपदेसेहु।' इस वाक्यसे गुसाईंजीने विभीषणकी ओरसे श्रीरामजीका गुरूपदेश निर्दिष्ट किया। श्रीरामजीके धर्मोपदेशमें गीताके तेरहवें अध्यायके 'अमानित्वमदम्भित्वं' इत्यादिकी जैसी छटा दिखायी देती है वैसी ही भा० स्कं० ७ अ० ११ के नारदोक्त राज्य-धर्मकी भी छटा दिखायी देती है।

चाहे कुछ भी हो; परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस रूपकमेंका धर्म प्रवृत्ति-लक्षण-धर्म न होनेके कारण सर्व-सामान्य धर्म नहीं कहा जा सकता। इसे निवृत्ति-लक्षणधर्म समझना चाहिये और ऐसा जान पड़ता है कि वह विभीषणको उपदेश करनेके लिये ही कहा गया है। यदि वह वर्णाश्रम धर्म रहता तो हम उसे (प्रवृत्ति) धर्म कहते। गीताके 'एतज्ज्ञानमितिप्रोक्तं' कथनानुसार हम भी उसे वैसा ही, यानी निवृत्ति-धर्म कहते हैं।—(मानस-हंस)।

वे० भू०—अनेक लोग महाभारतकी गीता और मानसकी इस गीता (धर्मरथ) की समानता देते हुए दोनोंका सर्वांशिक मिलान भी करते हैं। परन्तु मेरी समझसे दोनोंकी तुलना नहीं हो सकती। यह ठीक है कि भारतीय गीता सात सौ श्लोकोंकी होनेसे उसमें अनेक प्रकारके कर्म, ज्ञान, उपासना, भक्ति, प्रपत्ति, शरणागति आदि जालको बड़ी सुन्दरतासे बुना गया है। और यह भी ठीक है कि रामायण और भारत दोनोंमें मध्य समरभूमिमें ही अपने-अपने सखा भक्तोंको स्वयं भगवान्‌ने ही श्रीमुखसे परम ज्ञानका उपदेश दिया है, इसी तरह दोनों उपदेशके सिद्धान्तोंमें भी रूपकके अतिरिक्त कोई विशेष अन्तर नहीं है। परन्तु जो अन्तर है वह सबसे महान् है और विचार करनेपर खटकने लगता है कि लङ्का-युद्धमें विभीषणको केवल रथ लेकर ही मोह हुआ था। इससे रथ-वर्णनके ही बहानेसे अध्यात्म ज्ञानका उपदेश हुआ परन्तु भारतीय युद्धोंमें अर्जुनने मुख्य सन्देह यही किया था कि युद्धमें जनसंहार एवं कुलक्षय होना ही है। कुलक्षय होनेपर सनातन कुल धर्म नष्ट हो जायगा। सबसे बड़ा दोष यह होगा कि वीर युवकोंके संहार हो जानेसे कुलयुवतियाँ दूषित हो जायँगी। जिससे वर्णसंकर सन्तान पैदा होने लगेंगी। यथा—'कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।' से 'नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥' तक (गीता १। ४०—४४)।

अर्जुनकी इस मुख्य शङ्काका समाधान भगवान्‌ने कहीं नहीं किया, वरन्—'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे॥ २। ११॥' इन शब्दोंसे फटकारते हुए बहुत ज्ञानोपदेश दिया तथा अर्जुनकी अन्य बहुत-सी शंकाओंका समाधान भी किया परन्तु इस मुख्य शंकाका कोई समाधान नहीं किया। उलटे उसे डाँट दिया कि यदि तुम सीधे युद्ध नहीं करोगे तो मेरी प्रकृति (शक्ति) तुम्हें बलात् युद्धमें लगा देगी। 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' और विराट् रूप दिखाकर अपनी प्रकृतिके बलकी धाक भी अर्जुनके हृदयमें बैठा दी। हो सकता है कि बहुत लम्बे-चौड़े ज्ञान गाथाके सुनते-सुनते अर्जुनको अपनी शंका ही भूल गयी हो अथवा अर्जुनने डरसे कबूल कर लिया हो कि—'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत॥ १८। ७३॥' और जो आपकी प्रकृति बलात् ही करा लेगी तो फिर आप जबरदस्ती क्यों करेंगे मैं ही 'करिष्ये वचनं तव'।

परन्तु यहाँ तनपदत्राण और रथ लेकर विभीषणकी शङ्का थी अतः श्रीरामजीने केवल रथके सम्बन्धमें ही कहा। रथके ही वर्णनमें अंगत्राणका भी स्पष्ट वर्णन कर दिया परन्तु इधर-उधरकी बहुत सी बातें कहकर विभीषणका प्रश्न गोल नहीं कर दिया और डाँट भी नहीं बतायी।

यही रामायणी धर्मरथ और भारतीय भगवद्गीताका स्थूल अन्तर है।

नोट—भगवान्‌का उपदेश नित्य और सत्य होता है। आज भी इसी धर्मरथपर आरूढ़ हो वर्तमान जगत्‌के पुरुषोत्तम महात्मा गांधी संसारकी सबसे बड़ी शक्तिसे, जिसे वह रावणराज्य कहते हैं, महासमर कर रहे हैं और पार्थिव हथियारोंका सर्वथा त्याग कर रखा है। (प्र० सं०)। जय भी प्राप्त हो ही गयी।

श्रीरामगीता—धर्मरथ-प्रकरण समाप्त हुआ।

दोहा—उत पचार दसकंधर * इत अंगद हनुमान।
लरत निसाचर भालु कपि करि निज निज प्रभु आन ॥७९॥

शब्दार्थ—पचार (प्रचार)=ललकारता। आन=शपथ, दुहाई।

अर्थ—उधरसे रावण ललकारता था और इधरसे अङ्गद और हनुमान्‌जी ललकारते थे। निशिचर और रीछ-बंदर अपने-अपने स्वामीकी दोहाई कर करके लड़ रहे हैं ॥७९॥

प० प० प्र०—१ (क) '**भिरे बीर इत राम हित उत रावनहि बखानि ॥ ७८ ॥**' पर युद्धका प्रसङ्ग छोड़ा था वह '**उत पचार दसकंधर...**' से फिरसे उठाया। (ख) दोहा ७८ में 'इत उत' है और यहाँ 'उत इत'। यह सहेतुक है। भाव यह है कि श्रीरामजीका प्रतापादि सुनकर वानर वीर रावण-वाहिनीपर टूट पड़े, तब उधर निशाचरोंको रावण प्रेरणा देने लगा। यह देखकर इधर अङ्गद और हनुमान् वानरसेनाका उत्साह बढ़ाने लगे। (ग) 'निशाचर' शब्दको प्राधान्य देकर जनाया कि वे विशेष जोशमें आकर लड़ रहे हैं।

नोट—☞ यहाँ अङ्गद-हनुमान् और रावणकी बराबरी दिखायी। मिलान कीजिये— '**उत रावन इत राम दोहाई। जयति जयति जय परी लराई ॥ ४० । ७ ॥**' '**रजनीचर मत्तगयंद घटा बिघटै मृगराज के साज लरै। झपटै भट कोटि मही पटकै गरजै रघुबीर की सौंह करे ॥ तुलसी उत हाँक दसानन देत अचेत भे बीर को धीर धरै। बिरुझो रन मारुत को बिरुदैत जो कालहु काल सो बूझि परै ॥ क० ३६ ॥**'

बं० पा०—रावणकी जोड़में अङ्गद-हनुमान्‌को कहा श्रीरामचन्द्रजीको नहीं। इसका कारण यह है कि श्रीरामजी अभी वहाँसे दूर थे।

सुर ब्रह्मादि सिद्ध मुनि नाना। देखत रन नभ चढ़े बिमाना ॥ १ ॥
हमहूँ उमा रहे तेहि संगा। देखत रामचरित रनरंगा ॥ २ ॥

अर्थ—ब्रह्मादि सब देवता और अनेक सिद्ध और मुनि विमानोंपर चढ़े हुए आकाशसे युद्ध देख रहे हैं ॥ १ ॥ (शिवजी कहते हैं) हे उमा! हम भी उन सबोंके साथ थे और श्रीरामचन्द्रजीके वीररसके चरित देखते थे ॥ २ ॥

पं०—१ '**सुर ब्रह्मादि**' मेघनाद-युद्धतक रणभूमिमें रण देखने पहले कभी न आये थे, अब राम-रावण-युद्धमें प्रथम से इनका आगमन कवि बता रहे हैं। पूर्व न आनेका कारण कि—(क) ऐसा युद्ध पहले कभी न हुआ था जैसा अब होनेको है। राम-रावण-युद्ध अप्रतिम हुआ है, इसकी उपमा यही है दूसरा नहीं। यथा '**गन्धर्वाप्सरसां सङ्घा दृष्ट्वा युद्धमनूपमम्। गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमम् ॥ २३ ॥ रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव। एवं ब्रुवन्तो ददृशुस्तद्युद्धं रामरावणम् ॥ २४ ॥**' (वाल्मी० ११० च० सं०)। वा, (ख) जबतक मेघनाद जीवित था तबतक देवताओंको बड़ा भय था कि हमको देखकर रावण कहीं हमें पीड़ित करनेके लिये उसे न भेज दे। अब वह अकेला हो गया। इससे डर कम है क्योंकि अब अकेला वह कहाँ-कहाँ दौड़ेगा। वा (ग) अब रावणका मरण-काल समझकर आये।'

२ '**हमहू उमा रहे तेहि संगा।**' (क) 'उमा सम्बोधनसे शिवपार्वती-संवाद जनाकर सूचित किया कि भगवान् शङ्कर उन्हें जनाते हैं कि तुम सती-रूपमें उस समय कैलासमें थीं, हम तुम्हारा त्याग कर चुके थे, इससे हम अकेले आये थे, तुम साथ न थीं। (ख) अन्य कल्पोंकी कथामें इसका भाव यह लेंगे कि शिवजी उन्हें सावधान करते हैं कि हम और तुम दोनों ही वहाँ थे, तुम्हें याद होगा।

एक शङ्का यहाँ लोग यह करते हैं कि शिवजीने तो वनवासके समय दण्डकवनमें प्रभुके दर्शन किये थे। उसके बाद तो ८७ हजार वर्षकी समाधि लगी थी तब राम-रावण-युद्धमें एवं युद्धके अन्तमें कैसे आये? इसका समाधान पूर्व किया जा चुका है। यहाँ भी संक्षेपसे लिखा जाता है।

* दसकंठ भट—(का०)।

शिवजी ईश्वरकोटिमें हैं। वे एक ही समयमें जितने रूप चाहें धारण कर सकते हैं। लीलाविभूतिमें शामिल होकर वे समाधिस्थ हुए और ऐश्वर्यरूपसे वे सर्वत्र उसी समय कार्य कर रहे हैं। ऐसा न हो तो वे तो संहारके देवता हैं, संहारका काम ही बंद हो जाय। इसी प्रकार श्रीहनुमान्‌जी एक रूपसे सदा श्रीरामजीकी सेवामें रहते हैं और दूसरे रूपोंसे जहाँ-जहाँ रामचरित होता है वहाँ भी रहते हैं।

दूसरा समाधान इस प्रकार लोग करते हैं कि मानसमें कई कल्पोंकी कथा है, जिस कल्पमें समाधि लगी थी उस कल्पमें युद्धके समय न थे, अन्य कल्पोंमें थे। स्मरण रहे कि ऋषि, सिद्ध, देवगण आदिमें एक ही समयमें अनेक रूप धारण करनेकी शक्ति है। (ग) 'रहे तेहि संगा' से शङ्करजी गौड़ हुए और सब देवता प्रधान हुए। यह शिष्ट पुरुषोंकी रीति है। मिलान कीजिये—'तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ।'

नोट—सुर ब्रह्मादिके विषयमें कहा कि **'देखत रन नभ चढ़े बिमाना'** और अपने लिये कहते हैं कि—**देखत रामचरित रनरंगा।'** इस भेदमें आशय यह है कि वे सब रण देखते थे और हम प्रभुके समररसके चरित देखते थे कि प्रभु रणमें क्रोधादिका कैसा-कैसा अभिनय (नरनाट्य) करते हैं।

भगवान् शङ्कर प्रभुके चरित ही देखते हैं; ऊपरी बातोंपर उनका ध्यान नहीं आकर्षित होने पाता। आप बाल, विवाह, रण और राज्यादि सभी लीलाओंके ज्ञाता हैं, लीलारसिक हैं, सब चरित आपने देखे हैं, यथा—(१) **'देखि जनकपुर सुर अनुरागे। निज निज लोक सबहि लघु लागे॥ चितवहिं चकित बिचित्र बिताना। रचना सकल अलौकिक नाना॥···बिधिहि भयउ आचरजु बिसेषी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी॥'** यह तो ब्रह्मादिक देवताओंका हाल था और उसी समय—**'रामरूप नखसिख सुभग बारहिं बार निहारि। पुलक गात लोचन सजल उमा समेत पुरारि॥ १। ३१५।'** (२) **'संभु समय तेहि रामहि देखा। उपजा हिय अति हरष बिसेषा॥ भरि लोचन छबि सिंधु निहारी। कुसमय जानि न कीन्ह चिन्हारी॥ १। ५०।'** (३) **'कागभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुज रूप जानइ नहिं कोऊ॥ परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले॥ १। १९६।'** (४) **'वह सोभा समाज सुख कहत न बनइ खगेस। बरनइ सादर सेष श्रुति सो रस जान महेस॥ ७। १२।'** (५) **'पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता'** (वनमें देखकर)। इत्यादि।

इन प्रसङ्गोंसे स्पष्ट है कि शिवजी प्रभुके जन्म, बाल, विवाह, रण और राज्याभिषेक सभी अवसरोंपर प्रभुके रूप और चरित ही देखा करते थे। वे अन्य देवताओंकी तरह प्रभुको छोड़ इधर-उधर अपनी दृष्टि और ध्यान नहीं ले जाते और नाम तो सदा ही स्मरण करते रहते हैं।

रा० प्र०—शिवजी रणके देवता हैं अतः देखते हैं कि कैसा रणरङ्ग होगा। रामेश्वर-प्रतिष्ठा-समय रा० प० में इसका इशारा कर चुके हैं।

प० प० प्र०—कविके हृदयमें भी यहाँ (दोहा ७८) से वीररस व्याप्त है। यहाँसे लेकर रावणवधतक प्रत्येक दोहेपर छंद आया है। केवल धर्मरथवर्णनमें छंद नहीं है, क्योंकि वहाँ शान्तरस प्रधान है। मानसनिर्माताके तीनों उपास्य (श्रीराम, श्रीहनुमान् और श्रीशङ्कर) रणभूमिमें उपस्थित हैं; इससे भी उत्साह बढ़ा। उसका रूपान्तर भयानक, रौद्र, अद्भुत और वीभत्सादि रसोंमें यथासम्भव होता है और अन्तमें दोहा १०३ से आगे शान्त और भक्तिरसमें परिणत होता है। रसका विशेष परितोष करनेके लिये ही छन्दोंका प्रयोग हुआ है।

सुभट समररस दुहुँ दिसि माते। कपि जयसील रामबल ताते॥ ३॥
एक एक सन भिरहिं पचारहिं। एकन्ह एक मर्दि महि पारहिं॥ ४॥

शब्दार्थ—समररस=वीररस। यथा—**'एतना कहत नीतिरस भूला। रनरस बिटप पुलक मिस फूला···॥'** उठि कर जोरि रजायसु माँगा। मनहुँ बीररस सोवत जागा॥ २। २२९ (५)–२३० (१)।' माते=मतवाले थे।

अर्थ—दोनों ओरके योद्धा वीररसमें मतवाले थे। वानरोंको श्रीरामजीका बल है इससे वे जयशील हैं॥ ३॥ एक-एकसे भिड़ते और ललकारते हैं और एक-एक (दूसरे) को मर्दन करके पृथ्वीपर डाल देते हैं॥ ४॥

नोट—१ (क) ऊपर दोहा ७८ में 'राम-रावण-दलका युद्धारम्भ कहकर 'धर्मरथ'-प्रसङ्ग कहने लगे थे। दोहा ७९ से फिर पूर्व प्रसङ्गको उठाया। पूर्व कहा था कि '**भिरे बीर इत रामहित उत रावनहि बखानि**' और यहाँ कहा कि '**लरत निसाचर भालु कपि करि निज निज प्रभु आन।**' प्रसङ्गको इस तरह मिलाकर देवतादिका रण देखना कहकर अब युद्धका वर्णन करते हैं। (ख) दोहा ७८ में कहा था कि '**दुहुँ दिसि जयजयकार करि निज निज जोरी जानि। भिरे**' और यहाँ कहते हैं कि '**एक एक सन भिरहिं पचारहिं**' इस प्रकार '**एक एक सन**' से जोड़ियोंका परस्पर युद्ध जनाया। मेघनाद-लक्ष्मण-प्रथम-युद्धमें भी जोड़ी-जोड़ीका युद्ध कहा था, यथा—'**भिरे सकल जोरिहि सन जोरी। इत उत जय इच्छा नहिं थोरी॥ ५२। ४।**' (ग) '**भिरहिं पचारहिं**' के भाव दोहा ४५ (६) '**दोउ दल प्रबल पचारि पचारी। लरत सुभट नहिं मानहिं हारी॥**' और '**कपि जयसील मारि पुनि डाटहिं।**' ५२। ५।' में देखिये। भाव कि परस्पर एक दूसरेसे लड़ते हैं, एक दूसरेको मारते हैं, पर हार कोई नहीं मानते। छूटनेपर एक दूसरेको ललकारकर फिर भिड़ते हैं; इस तरह परस्पर बराबरका युद्ध जनाया। पुनः 'पचारहिं' का दूसरा भाव कि कोई भागता है तो उसे ललकारते हैं, यथा प्रथम युद्धमें '**झपटहिं चरन गहि पटकि महि भजि चलत बहुरि पचारहीं। ४० छंद।**' रा० प्र० का मत है कि पहले एक-एकसे भिड़ते हैं और उसको मार भगाते हैं तब दूसरेको ललकारते हैं। (घ) '**एकन्ह एक मर्दि०।**' अर्थात् अपने शरीरसे रगड़ डालते हैं, यथा—'**कोटिन्ह गहि सरीर सन मर्दा।**' ६६। ३।' '**गहि गहि कपि मर्दइ निज अङ्गा**'—(सुं० १९)। वा दोनों हाथोंसे मसल देते हैं, यथा—'**लागे मरदइ भुजबल भारी। ४३। ७।**'

मारहिं काटहिं धरहिं पछारहिं। सीस तोरि सीसन्ह सन मारहिं॥ ५॥
उदर बिदारहिं भुजा उपारहिं*। गहि पद अवनि पटकि भट डारहिं†॥६॥

अर्थ—मारते, काटते, पकड़ते, पछाड़ते हैं और सिर तोड़कर (=धड़से अलग करके) उन्हीं शिरोंसे (औरोंको) मारते हैं॥ ५॥ पेट फाड़ डालते हैं, भुजाएँ उखाड़ते हैं और योद्धाओंको पैर पकड़कर पृथ्वीपर पटककर डाल देते हैं॥६॥

नोट—१ (क) ऊपर जो ७८ छंदमें कहा था कि '**नख दसन सयल महाद्रुमायुध सबल संक न मानहीं**' उसीका यहाँ चरितार्थ है। पर्वत, वृक्ष और घूँसोंसे '**मारहिं**' दशनोंसे '**काटहिं**' भुजाओंसे '**धरहिं पछारहिं**' **सीस तोरि मारहिं, भुजा उपारहिं**' और नखोंसे '**उदर बिदारहिं।**' (ख) '**सीस तोरि।**' यह अङ्गद और हनुमान्‌जीसे सीखा है, उनको प्रथम युद्धमें सिर धड़से अलग करते देखा है, यथा—'**एक एक सों मर्दहिं तोरि चलावहिं मुंड। ४३।**' पूर्व देखा है वही अब स्वयं करते हैं। (ग) '**पटकि भट डारहिं**' के दो अर्थ हो सकते हैं। (१)—योद्धाओंको पटक देते थे। (२)—योद्धाओंको पृथ्वीपर पटककर समुद्रमें डाल देते हैं, यथा—'**गहि पद डारहि सागर माहीं। मकर उरग झष धरि धरि खाहीं॥ ४६। ८।**'

निसिचर भट महि गाड़हिं भालू। ऊपर ढारि‡ देहिं बहु बालू॥ ७॥
बीर बलीमुख जुद्ध बिरुद्धे। देखिअत बिपुल काल जनु क्रुद्धे॥ ८॥

शब्दार्थ—ढारना=ऊपरसे गिराना, छोड़ना वा डालना। विरुद्ध=(१) विपरीत (२) घिरे हुए (३) विरोध भावको प्राप्त।

अर्थ—निशाचर योद्धाओंको भालू पृथ्वीमें गाड़ देते हैं और ऊपरसे बहुत-सी बालू डाल देते हैं॥७॥ युद्धमें विरोध भावको प्राप्त [वा घिरे हुए—(गौड़जी)] वीर वानर ऐसे देख पड़ते हैं मानो बहुतसे मूर्तिमान् क्रोधित काल ही हों॥८॥

पं०—'**महि गाड़हिं**' अर्थात् निशिचरोंको जीता ही गाड़ देते हैं।

वि० त्रि०—जो-जो अन्याय राक्षसोंने किया था, सबका बदला हनुमान्‌जीने चुकाया। जैसे—'**जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाँवपुर आग लगावहिं**'॥ इसके बदलेमें हनुमान्‌जीने लङ्का जलायी (यथा—'**उलटि पलटि लंका कपि जारी**')। '**चलत दसानन डोलत अवनी। गरजत गर्भ स्रवहिं सुर रवनी**' ॥ इसके बदलेमें उसी भाँति हनुमान्‌जीके गर्जनेपर

* उपाटहिं † डाटहिं—(का०)। ‡ डारि।

निशाचरियोंका गर्भ गिरा (यथा—'चलत महा धुनि गरजेसि भारी। गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचर नारी॥' पर 'निशिचर निकर सकल मुनि खाए' का बदला हनुमान्‌जी नहीं चुका सके। इसे भालू चुका रहे हैं। उन्हें पृथ्वीमें गाड़कर ऊपर बालूके ढेरका निशान बना देते हैं; जिसमें दूसरे दिन कलेवाके लिये उन्हें ढूँढ़ना न पड़े।

गौड़जी—(१) विरुद्ध युद्धसे अभिप्राय विपरीत युद्ध है अर्थात् दुर्बलोंका सबलोंपर प्रबल होना। बलीमुख वानर हैं जो राक्षसोंके भोजन हैं; परन्तु इस समय विपरीत युद्ध है, बलीमुख (वानर) वीर हैं और एक-एक कालकी तरह क्रुद्ध हैं। मिलान कीजिये 'जुद्ध विरुद्ध क्रुद्ध दोउ बंदर'। दोनों वानर हैं तो राक्षसोंके भक्ष्य, परन्तु विपरीत अवस्था है, रामप्रताप स्मरण करके प्रबल हो गये हैं। 'विरुद्ध' का दूसरा अर्थ है 'घिरे हुए'। तात्पर्य यह कि राक्षसोंसे घिरे होनेपर वानर क्रुद्ध हैं, एक-एक वीर कालके समान क्रुद्ध हैं, एक-एक वानर घेरनेवाले अनेक राक्षसोंका मुकाबला कर रहा है। दोहा ४३ (१) देखिये।

छंद—क्रुद्धे कृतांत समान कपि-तनु स्रवत सोनित राजहीं।
मर्दहिं निसाचर कटकु भट बलवंत घन जिमि गाजहीं॥
मारहिं चपेटन्हि डाँटि दाँतन्ह काटि लातन्ह मीजहीं।
चिक्करहिं मर्कट भालु छल बल करहिं जेहि खल छीजहीं॥ १॥

शब्दार्थ—कृतान्त=यम—'कृतान्तो यमुनाभ्राता शमनो यमराड् यमः' इत्यमरः।

अर्थ—कालके समान क्रोधको प्राप्त और खून बहते हुए शरीरोंसे वानर शोभित हो रहे हैं। वे बली योद्धा, बलवान् निशाचर सेनाके योद्धाओंको मर्दन करते और मेघके समान गजरते हैं। चपेटोंसे मारते हैं, फिर डाँटकर दाँतोंसे काटकर लातोंसे मसल देते हैं। वानर-भालु चिंघाड़ते और छलबल करते हैं जिससे दुष्टोंका नाश हो॥ १॥

नोट—१ 'राजहीं' का भाव कि रणमें इनसे शोभा होती है, अन्य अवसरोंपर रक्तका बहना शोभित नहीं होता, वरन् वीभत्स देख पड़ता है। 'राजहीं' से जनाया कि ऐसे दिखते हैं मानो टेसू फूला हो यथा—'घायल बीर बिराजहिं कैसे। कुसुमित किंसुक के तरु जैसे॥ ५३। १॥'

२—'मर्दहिं निसाचर''''घन जिमि गाजहीं।' इससे जनाया कि पहले मर्दन करते हैं तब जय होनेपर गरजते हैं। यह गर्जन जय और ललकारका है, यथा—'गरजहिं भालु बलीमुख रिपुदल बल बिचलाइ॥ ४६॥' विशेष 'सिंहनाद करि गर्जा मेघनाद बलबीर॥ ४९॥' में देखिये

३—'चिक्करहिं' पदसे जनाया कि गजराजकी तरह चिंघाड़ते वा गर्जते हैं। यह भी आनन्द सूचित करता है।

'छलबल करहिं०'

मेघनादने छलबल किया। तब तो कहा था कि 'निसिचर छलबल करइ अनीती'॥ ५३। ३॥' अब वानर छलबल करते हैं पर इसे कवि अनीति नहीं कह रहे हैं, यह क्यों? उत्तर—यहाँ छलसे कपटका तात्पर्य नहीं है, वरन् बुद्धिबल अभिप्रेत है। यथा—'सो मति मोरि भरत महिमाही। कहै काह छलि छुअति न छाँही॥ २। २८८। ५॥' और बलसे शारीरिक बल अभिप्रेत है॥ दोहा ५३ (३) देखिये।

२ गौड़जी—'निसिचर छलबल करइ अनीती' में यह भाव है कि निशाचर छल और बल दोनोंसे वा छलके बलसे अनीति करता है। यहाँ छलद्वारा बल अथवा छल और बल दोनों इसलिये करते हैं कि जिसमें खलोंका क्षय हो। खलक्षय अनीति नहीं है।

३ रा० प्र०—यहाँ छलसे वह छल अभिप्रेत है जो वीरोंमें विहित है। यथा—'बहु छल बल सुग्रीव करि हिय हारा भय मानि॥ ४। ८॥' भाव यह कि उनके अस्त्र-शस्त्रादिकी चोटको युक्तिसे बचा जाते हैं, उनके वार खाली कर देते हैं और प्रशंसा करके उनको भुलवेमें डालकर उन्हें मार देते हैं।

छंद—धरि गाल फारहिं उर बिदारहिं गल अँतावरि मेलहीं।
प्रहलादपति जनु बिबिध तनु धरि समर अंगन खेलहीं॥
धरु मारु काटु पछारु घोर गिरा गगन महि भरि रही।
जय राम जो तृन ते कुलिस कर कुलिस ते कर तृन सही॥ २॥

शब्दार्थ—अँतावरि (अन्त्रावली)=आँतोंका समूह, अँतड़ी। मेलना=डालना, यथा—'**सिय जयमाल राम उर मेली ॥ १ । २६४ । ८ ॥' 'पदसरोज मेले दोउ भाई ॥ १ । २६९ ॥'** बिदारना (विदारण)=चीरना, फाड़ना।

अर्थ—पकड़कर गाल फाड़ते हैं, कलेजा चीरते और आँतें (निकालकर) अपने गलेमें डाल लेते हैं। (वे ऐसे देख पड़ते हैं) मानो प्रह्लादजीके स्वामी नृसिंहजी अनेक देह धारणकर रणाङ्गणमें खेल रहे हैं। 'पकड़ो, मारो, काटो, पछाड़ो' यह भयंकर शब्द आकाश और पृथ्वीपर भर रहा है। श्रीरामचन्द्रजीकी जय हो कि जो सत्य ही तिनकेको वज्र और वज्रको तिनका कर देते हैं ॥ २ ॥

बं० पा०—'**धरि गाल फारहिं**···' इति। गाल और उरके फाड़नेका भाव कि इन मुखोंसे तुमने गऊ और ब्राह्मणोंको भक्षण किया और इन पेटोंको भरा है।

पु० रा० कु०—'**प्रहलादपति जनु०**' इति। यहाँ नृसिंहावतारकी उपमा देकर भालुवानरोंकी शूरता नृसिंहजीसे अधिक दिखायी। इस उत्प्रेक्षासे वानरोंकी प्रबलता कही।

नोट—१ (क) यहाँ नृसिंहजीकी उपमा इससे दी कि नृसिंहजीने भी नखोंसे ही हिरण्यकशिपुका हृदय फाड़ा था और उसकी अँतड़ियाँ निकालकर पहन ली थीं, वे भी क्रोधके कारण दुष्प्रेक्ष्य थे। यथा '**द्वार्यूरु आपात्य ददार लीलया नखैर्यथाहिं गरुडो महाविषम् ॥२९॥ संरम्भदुष्प्रेक्ष्यकरालोचनो व्यात्ताननान्तं विलिहन्स्वजिह्वया। असृग्लवाक्तारुणकेसराननो यथान्त्रमाली द्विपहत्यया हरिः ॥ ३० ॥**' अर्थात् द्वारपर उसको गिराकर नखोंसे खेलसदृश उसको चीर डाला जैसे गरुड़जी महाविषैले सर्पको सहज ही चीर डालते हैं। युद्धमें दुष्प्रेक्ष्य हैं, कराल नेत्रवाले, मुँह फैलाये, हुए, जिह्वासे भौंहोंको चाटते हैं। जैसे हाथीको मारकर सिंह शोभित हो वैसे ही दैत्यराजकी आँतोंकी माला गलेमें पहिने नृसिंहजीकी शोभा हुई, (भा० ७ । ८)। और, यहाँ वानर भी '**क्रुद्धे कृतांत सम**' हैं। नखोंसे हृदयको विदीर्ण करके अन्त्रावलीको मालाकी तरह गलेमें डाले हैं। (ख) प्रत्येक राक्षसके साथ एक-एक वानर ऐसा कर रहा है। अपार सेना है, अतएव अनेक नृसिंहका रणभूमिमें खेलना कहा। एक-एक वानर एक-एक नृसिंह है। नृसिंह एक ही हुए थे और यहाँ वानर अगणित हैं; अतः नृसिंहजीका अगणित तन धरना कहा। 'खेलहीं' पदका भाव कि वानर सहजहीमें निशिचरोंकी यह दशा कर रहे हैं जैसे नृसिंहजीने हिरण्यकशिपुकी की थी।

३—'**जय राम जो तृन ते कुलिस**···' इति। रावण वानरों और मनुष्योंको तृणवत् तुच्छ समझता था, इसीसे उसने इन दोको छोड़ और सबसे अमरत्वका वर माँगा था। यथा—'**नहिं चिन्ता ममान्येषु प्राणिष्वमरपूजित। तृणभूता हि ते मन्ये प्राणिनो मानुषादयः ॥** वाल्मी० ७ । १० । २० ॥' अर्थात् हे देवपूजित ब्रह्माजी! हमको अन्य प्राणियोंकी कोई चिन्ता नहीं। मनुष्यादिको तो हम तृणवत् समझते हैं।* निशिचर वानर-भालुको तो आहार ही जानते थे—'**वानर भालु अहार हमारा', 'आये कीस काल के प्रेरे। छुधावंत सब निसिचर मेरे ॥**' इत्यादि। आज वे ही तृणवत् वानर-भालु वज्रवत् होकर राक्षसोंका नाश कर रहे हैं और वे राक्षस जो बड़े-बड़े देवताओंको कुछ न समझते थे वे आज वज्रसे मानो तृणवत् हो गये।—यह सब क्यों? प्रभुके प्रतापसे। अतएव वानर-भालु यह कहकर श्रीरामचन्द्रजीका जय-जयकार कर रहे हैं। पुनः '**जय राम०**' ये शब्द वक्ताओंके भी हो सकते हैं। वानरोंकी अद्भुत करनी देखकर वे इन विशेषणोंसे प्रभुका जयजयकार करने लगे जैसे कि शिवजीने अङ्गद-चरण न टलनेपर कहा था। '**तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूतपन कहु किमि टरई ॥ ३४ । ८ ॥**' देखिये।

दोहा—निज दल बिचलत देखेसि † बीस भुजा दस चाप।
रथ चढ़ि चलेउ दसानन ‡ फिरहु फिरहु करि दाप ॥ ८० ॥

* वीर—अनेक नृसिंहकी कल्पना अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है। वज्रका तृण और तृणका वज्र होना 'असम्भव' अलंकार है। वज्रवत् राक्षस तृणवत् हो गये और तृणवत् वानर वज्र बन गये, यह 'वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यंग' है।

† निज दल बिचल बिलोकि तेहिं ‡ चलेउ दसानन कोपि तब। (का०)।

शब्दार्थ—विचलत=तितर-बितर होते। दाप=क्रोध, यथा—'सर संधान कीन्ह करि दापा'। अहङ्कारके लिये किसीके प्रति कोप।

अर्थ—अपनी सेनाको विचलित होते हुए देखकर दशानन बीस भुजाओंमें दस धनुष लिये रथपर चढ़कर चला और गर्वित एवं क्रोधित होकर बोला कि लौटो-लौटो॥ ८०॥

नोट—१ 'दसानन' पदका भाव कि क्रोधावेशमें दशों मुखोंसे सबको ललकारा। २—रावणकी ललकार दोनोंको है। एक तो अपनी सेनाको ललकारा कि 'लौटा, भागो मत', क्योंकि वह मेघनाद-वधपर सबको सचेत कर चुका है कि रण-भूमिसे विमुख होनेमें भलाई नहीं और दूसरे, वानरोंको ललकारा—यह बात 'करि दाप' से सूचित होती है।

करु०—रावणने क्रोधित हो सबको डाँटा कि तुम बड़े कायर हो, लौटो और खड़े होकर हमारा संग्राम देखो।

वि० त्रि०—जिस भाँति रणमदमत्त होकर कुम्भकर्णने दर्प किया था, (यथा—**रनमदमत्त निसाचर दर्पा**) उसी भाँति आज रावण दर्प कर रहा है। उसने पहले ही कहा था कि '**निज भुजबल मैं बैर बढ़ावा। देहौं उतर जो रिपु चढ़ि आवा॥**' सेनाके भरोसे नहीं वैर बढ़ाया, आवाज देता है कि लौटो, देखो मैं अकेला सबका संहार करता हूँ।'

भएउ * परम क्रुद्ध दसकंधर। सन्मुख चले हूह दै बंदर॥ १॥
गहि कर पादप उपल पहारा। डारेन्हि तापर एकहि बारा॥ २॥

अर्थ—दशकन्धर परम क्रोधित हुआ। वानर (हर्ष आनन्दसूचक) हूहू शब्द करके उसके सम्मुख लड़नेको चले॥ १॥ वृक्ष, पत्थर, पर्वत ले-लेकर उसपर एक साथ ही एकदम डाले॥ २॥

लागहिं सैल बज्र तन तासू। खंड खंड होइ फूटहिं आसू॥ ३॥
चला न अचल रहा† रथ रोपी। रन दुर्मद रावन अति कोपी॥ ४॥

शब्दार्थ—रण दुर्मद=वीररसमें चूर, मत्त रण करनेवाला। (रा० प्र०)।

अर्थ—उसके वज्रसमान शरीरमें पर्वत लगते थे और शीघ्र फूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाते थे॥ ३॥ रणमें दुर्धर्ष अत्यन्त क्रोधी रावण रथ रोककर (जमाकर) अचल खड़ा रहा, हटा नहीं॥ ४॥

पां०—एक तो मद्य पान किये, दूसरे रणका मद, अतएव दुर्मद कहा।

इत उत झपटि दपटि कपि जोधा। मर्दइ‡ लाग भएउ अति क्रोधा॥ ५॥
चले पराइ भालु कपि नाना। त्राहि त्राहि अंगद हनुमाना॥ ६॥

शब्दार्थ—दपटना=डाँटना, घुड़कना।

अर्थ—इधर-उधर झपट दपटकर वह वानर योद्धाओंको मर्दन करने लगा। उसे अत्यन्त क्रोध हुआ॥ ५॥ अनेक वानर-भालु भाग चले। 'हे अङ्गदजी! हे हनुमान्‌जी! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये'॥ ६॥

वीरकवि—जब रावणको निश्चय हो गया कि बन्दरोंकी मारसे मेरा कुछ बिगड़ नहीं सकता तब क्रुद्ध होकर वह रथसे कूद पड़ा और 'इत उत झपटि०'।

नोट—'त्राहि त्राहि अंगद०' इति। रणमें मुख्य सहायक ये ही हैं। सङ्कट पड़नेपर कई बार इन्हींने सहायता की है। अतः इन्हींको पुकारा। प्रथम युद्धमें कईको पुकारा था पर सहायता इन्हींने आकर की थी। यथा—'**कोउ कह कहँ अंगद हनुमंता। कहँ नल नील दुबिद बलवंता॥** ४२। २॥' तब '**निजदल बिकल सुना हनुमाना**'... '**गर्जेउ प्रबल काल सम जोधा॥ कूदि लंकगढ़ ऊपर आवा॥** ४२। ३—६॥' और यह सुनकर कि हनुमान्‌जी अकेले गये हैं '**रनबाँकुरा बालिसुत तरकि चढ़ेउ कपि खेल**। ४२।' फिर उसी दिन जब अनिप और अकम्पनकी मायासे व्याकुल हो वानर '**जहँ तहँ करहिं पुकार**। ४५।' तब '**हनूमान अंगद रन गाजे। हाँक सुनत रजनीचर भाजे॥** ४६। ६॥'

* भएउ—(का०)। † महारथ—(का०)। ‡ मर्दै—(भा० दा०)।

पुनः इस युद्धमें रावणकी ललकार और प्रेरणाके उत्तरमें इधर ये ही दोनों ललकार रहे थे यथा—'उत पचार दसकंधर इत अंगद हनुमान। ७९।' अतः प्रथम इन्हींको पुकारा।

पाहि पाहि रघुबीर गोसाँई। यह खल खाइ काल की नाँई॥ ७॥
तेहि देखे कपि सकल पराने। दसहु चाप सायक संधाने॥ ८॥

अर्थ—हे रघुवीर! हे गोसाईं! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। यह दुष्ट कालके समान हमको खाये लेता है॥ ७॥ उसने देखा कि सभी वानर उसे देख भाग चले तब दसों धनुषोंपर उसने बाणोंका सन्धान किया॥ ८॥

नोट—१ प्रथम अङ्गद और हनुमान्‌जीको पुकारा। उनकी सहायता शीघ्र न मिलती देख रघुनाथजीकी शरण गये। अथवा, बहुत व्याकुल होनेसे उनको और इनको पुकारा। कुम्भकर्ण युद्धसे मिलान कीजिये। उस युद्धमें श्रीरामजीको ही आर्त्त होकर पुकारा था।

कुम्भकर्ण (दोहा ६९)		रावण
चले भागि कपिभालु भवानी। बिकल पुकारत आरत बानी॥	१	चले पराइ भालुकपि नाना।
यह निसिचर दुकाल सम अहई। कपिकुल-देस परन अब चहई॥	२	यह खल खाइ काल की नाँई
कृपाबारिधर राम खरारी। पाहि पाहि प्रनतारति हारी॥	३	'पाहि पाहि रघुबीर गोसाईं।', 'त्राहि त्राहि अंगद हनुमाना।'

२—'रघुबीर गोसाईं' का भाव कि आप पराक्रम वीर एवं इन्द्रियोंके स्वामी हैं। हमारी सब इन्द्रियाँ इसने दस-दस बाण चलाकर व्याकुल कर दी हैं। अतः शीघ्र रक्षा कीजिये। पुनः, गौ और पृथ्वीके आप स्वामी हैं, हम आपकी प्रजा हैं, आप स्वामी हैं। हम सेवक, हमारी रक्षा कीजिये। ३—'कालकी नाईं' कहकर दुर्निवार जनाया।

छंद—संधानि धनु सर निकर छाड़ेसि उरग जिमि उड़ि लागहीं।
रहे पूरि सर धरनी गगन दिसि बिदिसि कहँ कपि भागहीं॥
भयो अति कोलाहल बिकल कपि*दल भालु बोलहिं आतुरे।
रघुबीर करुनासिंधु आरतबंधु जनरक्षक हरे॥

अर्थ—धनुषपर बाण सन्धान (साध वा लगा) कर उसने बाणसमूह छोड़े जो साँपकी तरह उड़कर जा लगते थे। बाण पृथ्वी और आकाशमें, दिशा और विदिशाओंमें भरपूर छा रहे, वानर अब कहाँ भागकर जायँ? अत्यन्त खलबली मच गयी, कपि-भालु सेना व्याकुल हो (ये) आर्त्त वचन बोल रही है—'हे रघुवीर! हे करुणासागर! हे आर्त्त (दीन, दुखिया) जनोंके बन्धु (दुःख बटानेवाले भाई)! हे अपने भक्तोंकी रक्षा करनेवाले! हे दुःखोंके हरनेवाले।'

नोट—मेघनादने जो काम अन्तरिक्षमें होकर किया वह रावणने प्रत्यक्षमें किया। कपिदलने कुम्भकर्णसे पीड़ित होकर ऐसे ही आर्त्तवचन कहे थे! मिलान देखिये।—

मेघनाद (अन्तरिक्ष होकर)	रावण (प्रत्यक्ष)
दस दिसि रहे बान नभ छाई॥ अवघट घाट बाट गिरिकंदर। मायाबल कीन्हेसि सरपंजर॥	१ रहे पूरि सर धरनी गगन दिसि बिदिसि
जाहिं कहाँ भए व्याकुल बंदर	२ कहँ कपि भागहीं
कुम्भकर्णसे	**रावणसे**
कृपाबारिधर राम खरारी। पाहि पाहि प्रनतारतिहारी॥	१ रघुबीर करुनासिंधु आरतबंधु जनरक्षक हरे।

☞ १—कुम्भकर्णसे पीड़ित होनेपर चार विशेषण देकर रक्षा चाही, और रावणसे रक्षाके लिये पाँच विशेषण

* दल कपि—(का०)

दिये। इससे जनाया कि रावणने इन्हें कुम्भकर्णसे भी अधिक पीड़ित किया। जो-जो काम मेघनाद और कुम्भकर्ण दोनोंने पृथक्-पृथक् किये वे दोनों रावणमें एकत्र दिखाये हैं। मेघनादने सरपंजर बना दिये थे कि वानर भाग न सकें, वही रावणने किया। कुम्भकर्ण 'महानाद करि गर्जा कोटि कोटि गहि कीस। महि पटकइ गजराज इव', रावणने यह तो किया ही—'इत उत झपटि दपटि कपि जोधा। मर्दइ लाग भयउ अति क्रोधा'—और, साथ ही बाणोंको छोड़ा। अतएव अब अधिक आर्त्त हैं। २—विशेषणोंमें भेद भी साभिप्राय है। (क)—कुम्भकर्ण जिनको पाता था पटकता था, सब मरते न थे, इससे वहाँ 'दुकाल' की उपमा दी थी। दुर्भिक्षमें सब एक साथ नहीं मर सकते। और यहाँ 'काल'की उपमा दी। कालसे कोई कहीं नहीं बच सकता, चाहे जहाँ जाय काल वहीं पकड़कर मारता है, वैसे ही रावणसे किसी ओर बचत नहीं देख पड़ी। (ख)—दुकाल वर्षासे मिटता है। इसलिये वहाँ 'कृपावारिधर' कहा। यहाँ 'काल' से रक्षा चाहते हैं। इसलिये 'रघुबीर' कहा, क्योंकि रघुवंशीमात्र कालसे नहीं डरते, यथा—'कहौं सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी', 'लरहिं सुखेन काल किन होऊ' (बा० २८४। ४, २); और आप तो 'रघुवीर' हैं, आपसे तो काल भी डरता है, यही नहीं वरन् आप कालको भी मार सकते हैं, यथा—'भुवनेश्वर कालहु कर काला। ५। ३९। १।', 'उमा काल मरु जाकी इच्छा। सो प्रभु जन कर प्रीति परीछा॥ १०१। ३।' (ग) 'आर्त्तबंधु'—आप आर्त्तके बन्धु हैं, बन्धु कुठाँवमें सहायक होते हैं, यथा—'होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। २। ३०६। ८।' हम आर्त्त हैं और इस समय कुठाँवमें हैं, बुरे फँस गये हैं। (घ)—'जनरक्षक' का भाव कि आपका प्रण है अपने जनकी रक्षा करना, यथा—"जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई॥ ५। ४४। ८।' इसीसे तो बालिसे कहा था कि 'मम भुजबल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥ ४। ९। १०।' और हम आपके जन हैं। (ङ) 'हरे' का भाव कि 'हरति क्लेशमिति हरिः'। आप क्लेशके हरण करनेवाले हैं और हम क्लेशमें पड़े हैं।

☞ कुम्भकर्ण-प्रसङ्गमें 'कृपावारिधर' कहा और यहाँ 'करुणासिन्धु'। कृपा और करुणामें भेद है। करुणामें दूसरेका दुःख देखकर स्वयं पीड़ित होने और दुःख शीघ्र हरण करनेके लिये उत्सुक होनेका भी भाव है। यथा—'करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराईं॥ (अ० ८५)। वारिधरसे देरमें रक्षा होती है। अतः 'करुणासिन्धु' सम्बोधन करके जनाया कि शीघ्र हमारी पीर हरिये। "प्रणतारतिहारी" और 'आर्त्तबन्धु' 'जनरक्षक' एक-से हैं फिर भी 'बन्धु' शब्द अधिक गौरवका है।—विशेष ६९ (४–५) ३६३-३६५ पृष्ठमें देखिये।

दो०—*निज दल बिकल देखि कटि कसि निषंग धनु हाथ। लछिमन चले क्रुद्ध होइ नाइ राम पद माथ॥ ८१॥

अर्थ—अपनी सेनाको व्याकुल देख, कमरमें तरकश कसकर हाथमें धनुष लेकर श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें माथा नवाकर लक्ष्मणजी क्रोधित होकर चले॥ ८१॥

नोट—१ यहाँ लक्ष्मणजीका आज्ञा माँगना नहीं लिखा गया यद्यपि पूर्व बराबर आज्ञा माँगकर या पाकर काम करना पाया जाता है। यथा—'आयसु माँगि राम पहिं अंगदादि कपि साथ। लछिमन चले क्रुद्ध होइ बान सरासन हाथ॥ ५१।', 'जब रघुबीर दीन्हि अनुसासन। कटि निषंग कसि साजि सरासन॥'' 'रघुपति चरन नाइ सिर चले तुरंत अनंत। ७४।' इसके दो कारण हो सकते हैं—एक तो यह कि पूर्व सर्वत्र आज्ञा मिलनेपर कार्य करना दिखाकर जना दिया कि यहाँ भी आज्ञा लेकर चले। दूसरे, वाल्मीकिमें भी दो बार शक्तिका प्रसङ्ग है। एक बार सर्ग ५९ में, दूसरी बार सर्ग ९९-१०० में। वहाँ एक बार (सर्ग ५९ में) लक्ष्मणजीका आज्ञा माँगकर जाना लिखा है और दूसरी बार रामलक्ष्मण दोनोंका युद्धमें साथ जाना दिखाया है यथा—'लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा विष्णुना वासवं यथा' (वाल्मी० ९९। १२)। इसीसे वहाँ आज्ञा लेना नहीं कहा है, केवल क्रोधपूर्वक क्रुद्ध हो आगे आकर युद्ध करना लिखा है, यथा—'एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धो राघवस्यानुजो बली। लक्ष्मणः सायकान्सप्त जग्राह परवीरहा॥ १००। १३।' इसीसे पूज्य

* 'बिचल देखि अनीक निज कटि निषंग धनु हाथ। लछिमन चले सरोष तब नाइ रामपद माथ॥'—(का०)

मानसकविने भी एक ठौर आज्ञा माँगकर चलना लिखा और दूसरी जगह न लिखा। इस तरह दोनों स्थलोंमें कविने शब्दोंके भेदमात्रसे वाल्मीकिका मत भी लक्षित कर दिया है। पुनः—

२—लक्ष्मणजी अपने द्वारा यह दिखा रहे हैं कि छोटे भाईको एवं सेवकको सङ्कटमें सदैव आगे रहना चाहिये—सेनाने आर्त्त होकर पुकारा 'रघुबीर' को, पर आर्त्तिहरणके लिये बढ़े ये। मिलान कीजिये—'**अवलोकि निज दल बिकल भट तिसिरादि खरदूषन फिरे**। ३। २० छंद।' वहाँ त्रिशिरा छोटा भाई था अतः उसको पहले कहा। इसी तरह मेघनादकी मायासे वानरोंके सभीत और व्याकुल होनेपर भी आप ही आयसु माँगकर मेघनादसे युद्ध करने गये थे। दोहा ५१ देखिये।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि जब बंदर चिल्लाये '**रघुबीर करुणासिंधु आरतबंधु जनरक्षक हरे**', लक्ष्मणजीने देखा कि सरकार उठा ही चाहते हैं, अतः स्वयं आप उठ पड़े। जहाँ कहीं युद्धमें जाना हो तब आज्ञा लेकर जानेकी रीति है, जब शत्रु सिरपर आ गया, तब आज्ञा माँगनेकी कौन-सी बात है? ऐसे अवसरपर आज्ञा माँगना भी कचाई है, अतः लक्ष्मणजी चल पड़े।

पूर्व दोहा ५१ में क्रुद्ध होकर चलना कहकर फिर उनका क्रोधित स्वरूप कविने कहा था, यथा—'**छतज नयन उर बाहु बिसाला। हिमगिरि निभ तनु कछुएक लाला॥**' अतः यहाँ फिरसे न कहा, 'क्रुद्ध होइ' पदसे ही स्वरूप यहाँ भी सूचित कर दिया। वहाँपर कटिमें निषंगका कसना न कहा और यहाँ बाणका हाथमें लेना न कहा। एक-एक बात दोनों स्थानोंमें कहकर दोनों प्रसंगोंमें दोनों बातोंका ग्रहण जनाया।

पु० रा० कु०—'**नाइ रामपद माथ**', यह चलते समयका मंगलाचरण हुआ। ☞ आज्ञा, प्रणाम और प्रभु-प्रतापके स्मरणके सम्बन्धमें पूर्व दोहा ५१ और ७४ में लिखा जा चुका है।

रे खल का मारसि कपि भालू। मोहि बिलोकु तोर मैं कालू॥ १॥
खोजत रहेउँ तोहि सुत घाती। आजु निपाति जुड़ावौं छाती॥ २॥

शब्दार्थ—छाती जुड़ाना वा ठंढी करना—यह मुहावरा है।=हृदय शीतल करना; चित्त शान्त वा प्रसन्न करना; इच्छा या हौसला पूरा करना, यथा—'**लेहिं परस्पर अति प्रिय पाती। हृदय लगाइ जुड़ावहिं छाती॥**' (बा०)

अर्थ—(लक्ष्मणजी सम्मुख पहुँचकर उससे बोले) अरे दुष्ट! तू वानर-भालुको क्या मारता है, मुझे देख, मैं तेरा काल हूँ॥ १॥ (रावण बोला) अरे (मेरे) पुत्र (इन्द्रजीतके) घातक! मैं तो तुझे ढूँढ़ता ही था, आज तुझे मारकर छाती ठंढी करूँगा॥ २॥

पु० रा० कु०—पूर्व '**क्रुद्ध होइ चले**' कहा, अब उसका स्वरूप दिखाते हैं कि परुष वचन कहे—'**रे खल का मारसि०**'। कठोर वचन क्रोधका स्वरूप है, यथा—'**क्रोध के परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि॥ ३। ३८।**'

नोट—१ (क) क्रोध बढ़ानेके लिये 'खल' सम्बोधन किया। दूसरे, जो दिव्यास्त्र नहीं जानते उनपर भी अस्त्र चलाता है इससे 'खल' कहा। (ख) 'तोर मैं कालू'। भाव कि तू वानरोंका कालरूप है, यथा—'**यह खल खाइ काल की नाईं**' और मैं तेरा काल हूँ। (पं० पा०)। रावणको पहिले ही पत्रमें लिख चुके हैं कि '**सीता देइ मिलहु न त आवा काल तुम्हार**'। अतः उसी बातको पुष्ट करते हुए कहते हैं 'मुझे देख, मैं तेरा काल हूँ, वानर भालु नहीं हैं। वे तो निशाचर सैनिकोंके काल हैं, और उन्हें उन सबोंने भगा भी दिया। तुम तो भीतरसे हौसला करके चले थे कि '**हौं मारिहौं भूप द्वौ भाई**' सो बन्दर-भालुको क्या मारने लगे। (वि० त्रि०)।

नोट—'सुतघाती' और 'जुड़ावौं छाती' पदोंसे स्पष्ट है कि रावणको मेघनादवधसे परम दुःख हुआ जैसा किसीके वधसे न हुआ था। इसके वधसे अबतक उसकी छाती जल रही है। दूसरे, 'सुतघाती' विशेषण इससे दिया कि इनके द्वारा ही मेघनादवध हुआ था। श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा और और योद्धाओंका वध हुआ, अतः उनका सामना होनेपर उन सबका नाम लिया है—८९ (४-५) देखिये। पर छाती जलना यहीं सुतघातकके सम्बन्धमें कहा गया है, अन्यके वधपर नहीं, इससे मेघनादवधसे अधिक शोक होना प्रत्यक्ष ही है।

☞ मिलान कीजिये—'**अवेहि मामद्य निशाचरेन्द्र न वानरांस्त्वं प्रतियोद्धुमर्हसि॥ ९२॥**'....'**दिष्ट्यासि**

ने रावण दृष्टिमार्गं प्राप्तोऽन्तगामी विपरीतबुद्धिः। अस्मिन्क्षणे यास्यसि मृत्युलोकं संसाद्यमानो मम बाणजालैः ॥ ९४ ॥ वाल्मी० ९४। अर्थात् हे निशाचरेन्द्र ! मैं आ गया हूँ, वानरोंसे तुझे युद्ध करना नहीं शोभा देता। (रावण बोला) हे रावण ! आज तुम मुझे देख पड़े हो। हे यमलोकको जानेवाले ! हे विपरीतबुद्धि ! हमारे बाणोंसे पीड़ित होकर तुम इसी समय मर्त्यलोकको प्राप्त होगे।

अस कहि छाड़ेसि बान प्रचंडा। लछिमन किये सकल सत खंडा ॥ ३ ॥
कोटिन्ह आयुध रावन डारे। तिल प्रवान करि काटि निवारे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—प्रवान=प्रमाण, परिमाणमें तुल्य। निवारन=निवारण करना, हटाना, दूर करना।

अर्थ—ऐसा कहकर उसने तीक्ष्ण बाण छोड़े। श्रीलक्ष्मणजीने सबके सौ-सौ टुकड़े कर दिये ॥ ३ ॥ फिर रावणने करोड़ों अस्त्रशस्त्र चलाये, लक्ष्मणजीने उन्हें तिल बराबर काटकर हटा दिये ॥ ४ ॥

नोट—वाल्मी० ५९ में लक्ष्मण-रावण-युद्ध विस्तृत रूपसे वर्णित है।

पुनि निज बानन्ह कीन्ह प्रहारा। स्यंदन भंजि सारथी मारा ॥ ५ ॥
सत सत सर मारे दस भाला। गिरि सृंगन्ह जनु प्रबिसहिं ब्याला ॥ ६ ॥

अर्थ—फिर (श्रीलक्ष्मणजीने) अपने बाणोंका प्रहार (चोट) किया, रथ तोड़कर सारथीको मारा ॥ ५ ॥ उसके दसों माथोंमें दश-दश बाण मारे। वे ऐसे दीखते हैं मानो पर्वतशिखरोंमें सर्प प्रवेश कर रहे हैं ॥ ६ ॥

नोट—१—'शत' 'सहस्र' 'लक्ष' आदि पद 'अपरिमित वा अगणित' वाचक हैं। २—'**गिरि श्रृंगन्ह जनु०**'। रावण काले पर्वतके सदृश है, रावणके धड़पर शिर पर्वतपरके शिखर हैं और लक्ष्मणजीके बाण सर्प हैं। सर्प पर्वतशिखरोंमें घुसते हैं वैसे ही बाण इसके सिरोंमें घुसते हैं। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है।

पुनि सत सर* मारा उर माहीं। परेउ धरनि† तल सुधि कछु नाहीं ॥ ७ ॥
उठा प्रबल पुनि मुरुछा जागी। छाँड़िसि ब्रह्म दीन्ह जो साँगी ॥ ८ ॥

अर्थ—फिर सौ-सौ बाण उसकी छातीमें मारे तब वह पृथ्वीपर गिर पड़ा, उसे कुछ होश न रहा ॥ ७ ॥ मूर्च्छा जागनेपर वह प्रबल रावण फिर उठा और ब्रह्माकी दी हुई शक्ति उसने चलायी ॥ ८ ॥

पं०—'सत सर मारा उर माहीं।…' इति। पहले सिरोंमें मारे तब मूर्च्छित न हुआ। अब हृदयमें मारा। हृदय उसका अमृतमय है (क्योंकि नाभिमें अमृत है जैसा आगे विभीषणजीने कहा है, यथा '**नाभिकुंड पियूष बस जाकें। नाथ जिअत रावन बल ताकें ॥ १०१। ५।**'); इसलिये वहाँ सर लगनेसे मूर्च्छित हो गया।

पु० रा० कु०—रावण नरकको पाटने लगा तब ब्रह्माने जाकर मना किया। उसी समय रावणको उन्होंने यह शक्ति दी थी।

नोट—१ 'परेउ धरनितल सुधि कछु नाहीं', यह लक्ष्मणजीका हस्तलाघव और उनके बाणोंका प्रभाव दिखाया। 'उठा प्रबल पुनि' यह रावणका बल दिखाया। रावणको गहरी मूर्च्छा आयी थी, वह बड़ी कठिनतासे पुनः सावधान हुआ। यथा—'स सायकार्तो विचचाल राजा कृच्छ्राच्च संज्ञां पुनराससाद। वाल्मी० ५९। १०४।'

२ 'छाँड़िसि ब्रह्म दीन्ह जो साँगी' इति। इससे सूचित हुआ कि उसके प्राणोंपर बन आयी, अभी तो चोटसे मूर्च्छित ही हुआ है, आगे प्राण बचनेकी आशा नहीं है। बल देख विस्मित हो गया, यथा वाल्मीकीये—'**विसिस्मिये लक्ष्मण-लाघवेन**' (५९। १००)। अतः यह अंतिम उपाय इसी समय करना पड़ा। यथा—'**रावनसुत निज मन अनुमाना। संकट भयउ हरिहि मम प्राना ॥ बीरघातिनी छाँड़िसि साँगी। ५३। ६-७।**' अनुमान होता है कि ब्रह्माने शक्ति देते समय कह दिया था कि जब प्राणोंपर आ बने तभी इसका प्रयोग करना।

अ० रा० सर्ग ६ में रावणने जो शक्ति विभीषणपर चलायी, उसीसे लक्ष्मणजी (विभीषणको बचाकर) घायल हो मूर्च्छित हुए और हनुमान्‌जी उनको ले आये। कालनेमिका वध और द्रोणगिरिका लाना एवं सुषेणका नास देना भी उसमें

* सत सर पुनि। † अवनि—(का०)।

वर्णित है। अ० रा० में शक्ति 'मयदत्त' है। अ० रा० की कथा मानसके मेघनाद-लक्ष्मण-युद्ध-प्रसंगसे मिलती है, रावण-लक्ष्मण-युद्धसे नहीं।—विशेष दोहा ५३ में देखिये। वाल्मी० १०० वाली शक्ति भी मयदानववाली शक्ति है और वाल्मी० ५९ वाली ब्रह्मदत्त है। इस शक्तिका वर्णन वाल्मी० ५९ में इस प्रकार है—**'जग्राह शक्तिं स्वयमुग्रशक्तिः स्वयम्भुदत्तां युधि देवशत्रुः॥ १०७॥ स तां सधूमानलसन्निकाशां वित्रासनीं संयतिवानराणाम्। चिक्षेप शक्तिं तरसा ज्वलन्तीं सौमित्रये राक्षसराष्ट्रनाथः॥ १०८॥'** अर्थात् उस देवशत्रु रावणने ब्रह्माजीकी दी हुई भयंकर शक्ति उठायी। वह ब्रह्मदत्त शक्ति सधूम अग्निके समान जल रही थी और युद्धमें वानरोंको भयभीत करनेवाली थी। राक्षसराजने वह जलती हुई शक्ति लक्ष्मणजीपर चलायी।

छंद—सो ब्रह्मदत्त प्रचंड सक्ति अनंत उर लागी सही।
परयो बीर बिकल उठाव दसमुख अतुल बल महिमा रही॥
ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रजकनी।
तेहि चह उठावन मूढ़ रावन जान नहिं त्रिभुवन धनी॥

शब्दार्थ—महिमा=भारीपन। गुरुता। गौरव, महत्त्व।

अर्थ—वह ब्रह्माकी दी हुई अमोघशक्ति श्रीलक्ष्मणजीकी छातीमें निश्चय ही जा लगी।* वीर लक्ष्मणजी व्याकुल होकर गिर पड़े। अतुलबल महिमावाले दशमुखने व्याकुल हो उठाया पर उनके अपरिमित बलकी महिमा (भारीपन) बनी रही (उसको न तो ब्रह्मदत्त शक्ति ही हटा सकी और न रावण ही। वह भारीपन ज्यों-का-त्यों बना रहा, इसीसे वे रावणके उठाये न उठ सके। यदि वह उठा लेता तो महिमा न रह जाती, यह निश्चय हो जाता कि साङ्गीसे वह महिमा भी क्षीण हो गयी।) जिनके एक ही सिरपर सब ब्रह्माण्डोंके लोक (वा, इस ब्रह्माण्डके समस्त भुवन) रजकणकी तरह विराजते हैं उसे (एक पर्वतके उठानेवाले) मूर्ख रावणने उठाना चाहा, वह यह जानता नहीं कि ये तीनों भुवनोंके स्वामी हैं।

नोट—१ 'दसमुख' से जनाया कि उसके बीस भुजाएँ हैं यह समझकर तावमें आकर घबड़ाकर वह बीसों भुजाओंसे उठाने लगा। तब भी न उठा सका।

२—☞ (क)—रावण क्यों न उठा सका, इसका कारण वाल्मीकिजी यह लिखते हैं कि 'विष्णु भी जिसको ठीक-ठीक नहीं जानते ऐसे ऐश्वर्यमान् श्रीरामचन्द्रका स्मरण वे करते रहे'। अथवा, विष्णुकी भी समझमें न आ सकनेवाले अपने ऐश्वर्यका, अपनी शक्तिका, अपने आत्मस्वरूपका उन्होंने स्मरण किया; इसीसे दानवदर्पदलन लक्ष्मणजीको देवशत्रु रावण उठाकर ले जानेको समर्थ न हुआ। यथा—**'शक्त्या ब्राह्मया तु सौमित्रिस्ताडितोऽपि स्तनान्तरे। विष्णोरमीमांस्य भागमात्मानं प्रत्यनुस्मरत्॥ ११०॥ ततो दानवदर्पघ्नं सौमित्रिं देवकण्टकः। तं पीडयित्वा बाहुभ्यां न प्रभुर्लङ्घनेऽभवत्॥ १११॥'**

अ० रा० सर्ग ६ में लिखा है कि ये शक्तियाँ मायाकृत हैं, लक्ष्मणजी साक्षात् हरिके तन शेषांश हैं, समस्त जगत्‌के सार विराजमान परमेश्वर लोकाश्रय विष्णु हैं। तब लघु राक्षस कैसे उठा सके? यथा—**'मायाशक्त्याभवेत्किं वा शेषांशस्य हरेस्तनोः॥ ९॥ सर्वस्य जगतः सारं विराजं परमेश्वरम्॥ ११॥ कथं लोकाश्रयं विष्णुं तोलयल्लघुराक्षसः॥ १२॥'**

(ख)—रावणने लक्ष्मणजीको उठा ले जाना चाहा जिसमें अबकी बार इनको वैद्य जिला न सके। मेघनादसे अपनेमें अधिक बल समझता था, अतएव उठाया; पर लक्ष्मणजीकी महिमा जैसे मेघनादके मुकाबिलेमें बनी रही थी वैसे ही अब भी बनी रही, उल्टे उसकी महिमा जाती रही। (ग) करुणासिन्धुजी और बैजनाथजी **'अतुल बल महिमा रही'** को रावणका विशेषण मानते हैं अर्थात् जिसके बलकी महिमाको कोई तोल न सका था उस रावणने उठाना चाहा। पर मेरी समझमें यह दोनों ओर लगता है। (घ) यहाँ लक्ष्मणजीके दोनों स्वरूप कहे गये हैं—'त्रिभुवनधनी' और 'शेष'। इस प्रकार कवि सब अवतारोंमें इस कथाका होना सूचित कर रहे हैं। प्र० स्वामीजी 'त्रिभुवनधनी' को रावणका विशेषण मानकर अर्थ करते हैं कि 'रावण स्वर्ग, मर्त्य और पाताल इन लोकोंका धनी होकर भी (ऐसे अनन्त शिरवाले शेषावतार) लक्ष्मणजीकी महिमा नहीं जानता'। **'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसबर्ती नर नारी'** तथा वाल्मी० उ०।

* अर्थान्तर—वह शक्ति लगी। (उसकी अमोघता रखनेके लिये) उन्होंने उसे सह लिया। (रा० प्र०)

१६ । ३८, ३९ ॥' के अनुसार वह 'त्रिभुवनधनी' है ही। उनका मत है कि ऐसा अर्थ करनेसे 'दूरान्वय दोष' भी मिट जाता है। [ये ही विशेषण अ० १२६ में वाल्मीकिजीने इनको दिये हैं। यथा—'जो सहससीसु अहीसु महिधरु लपन सचराचर धनी ।' 'सचराचर धनी' वहाँ कहा है वही यहाँ 'त्रिभुवन धनी' है। (मा० सं०)] (ङ) रावणको कैलाश उठानेका अभिमान है । अतः यहाँ 'ब्रह्मांडभुवन' पद दिया और मेघनादके प्रसङ्गमें केवल 'जगदाधार' पद दिया था।

३ (क) 'ब्रह्मदत्त प्रचंड शक्ति' और 'लागी सही' कहकर वाल्मी० ५९ । १०६, १०७ की शक्ति सूचित की। ८२ (७-८) और दोहा ५३ देखिये । 'लागी सही' से वह भाव भी जना दिया कि लक्ष्मणजीने उसे बाणोंसे मारा तथापि वह उनके विशाल वक्षःस्थलमें प्रवेश कर गयी। यथा—'तामापतन्तीं भरतानुजोऽस्त्रैर्जघान बाणैश्च हुताग्निकल्पैः। तथापि सा तस्य विवेश शक्तिर्भुजान्तरं दाशरथेर्विशालम् ॥ १०७ ॥'' (ख) 'मूढ़ रावन' इति। 'मूढ़' क्योंकि एक पर्वतका उठानेवाला असंख्य ब्रह्माण्डोंके स्वामी और जगदाधारको उठानेकी इच्छा करे, यह मूर्खता ही तो है। पुनः 'मूढ़' पदसे जनाया कि लज्जित हो गया; क्योंकि उठा न सका, यथा—'देखि प्रताप मूढ़ खिसियाना', 'जगदाधार सेष किमि उठै चले खिसियाइ । ५३ ।' 'रावन' नाम भी यहाँ साभिप्राय है क्योंकि कैलाश उठानेपर शिवजीने अँगूठेसे पर्वतको दबाया तो वह रोने लगा था। और इसने जगत्‌मात्रको रुला डाला था, सो भी हार गया। यथा—'देवता मानुषा यक्षा ये चान्ये जगतीतले। एवं त्वामभिधास्यन्ति रावणं लोकरावणम् ॥ वाल्मी० उ० १६ । ३९ ॥ यस्माल्लोकत्रयं चैतद्रावितं भयमागतम्। तस्मात्त्वं रावणो नाम नाम्ना राजन्भविष्यसि ॥ ३८ ॥',

दो०—देखि पवनसुत धाएउ* बोलत बचन कठोर।
आवत कपिहि हन्यो तेहिं† मुष्टि प्रहार प्रघोर ॥ ८२ ॥

अर्थ—(उठाते) देख पवनसुत श्रीहनुमान्‌जी कठोर वचन बोलते हुए दौड़े। कपिके आते ही उसने उनपर बड़ा भयंकर (कठोर एवं वज्रवत्) घूँसेका प्रहार किया ॥ ८२ ॥

नोट—१ 'देखि पवनसुत' इति। पवनसुत शब्द देकर श्रीहनुमान्‌जीका अत्यन्त शीघ्रतासे आना और बलपूर्वक एवं बड़ी फुर्तीसे रावणको डाँटना जनाया।

२ (क) 'बोलत बचन कठोर' इति। हनुमान्‌जी दूर थे। वहाँसे इसके पास पहुँचना था। इसलिये जोरसे कठोर वचन बोले जिसमें उसका ध्यान लक्ष्मणजीकी ओरसे हटकर इनकी ओर हो जाय और वह उनको उठाने न पाये कि ये पहुँच जायँ।

(ख) हनुमान्‌जी संत होकर कठोर वचन कैसे बोले ? उत्तर यह है कि 'विमुखसे कठोर वचन बोलना दोष नहीं है। दूसरे, लक्ष्मणजीको मूर्छित देख इनको परम क्रोध हुआ। अतः क्रोधमें कठोर वचन कहे। (कठोर वचन, पदसे ही क्रोधका होना निश्चित होता है—'क्रोधके परुष बचन बल')। (पं०)

☞ प्रायः जब-जब कठोर वचन कहे गये तब-तब क्रोधमें ही—

१ ''लछिमन चले क्रुद्ध होइ नाइ रामपद माथ ॥ ८१ ॥ ''रे खल का मारसि०''

२ ''सकल कपिन्ह भा क्रोध बिसेषा ॥ रन ते निलज भाजि गृह आवा ।
इहाँ आइ बक-ध्यान लगावा ॥ अस कहि अंगद मारेउ लाता ॥ ८४ । ६-८ ।''

३ ''तब लंकेस क्रोध उर छावा। गर्जत तर्जत सनमुख आवा ॥
जीतेहु जे भट संजुग माहीं। सुनु तापस मैं तिन्ह सम नाहीं ॥···८९ । २-३ ।''

४ ''पुनि पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा। तब मुनि बोले बचन सकोपा ॥···
सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला ॥ उ० ११२ ।,'

* देखत धाए पवनसुत। † आवत तेहि उर महँ हतेउ—(का०)

५ "सुनत बचन उपजा अति क्रोधा। मायाबस न रहा मन बोधा॥ पर संपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरे इरिषा कपट बिसेषी॥ डहकि डहकि परचेहु सब काहू। अति असंक मन सदा उछाहू॥ १। १३६। ६-१३७। ३'

६ 'धावा क्रोधवंत खग कैसे। छूटइ पबि पर्बत कहुँ जैसे॥
रे रे दुष्ट ठाढ़ किन होही। निर्भय चलेसि न जानेहि मोही॥ आ० २९। १०, ११।'

७ 'जाहु भवन कुल कुसल बिचारी। सुनत जरा दीन्हिसि बहु गारी॥ आ० २६। १।'

८ 'सुनत दसानन उठा रिसाई। खल तोहि निकट मृत्यु अब आई॥ सुं० ४१। २।'
जियसि सदा सठ मोर जियावा। रिपु कर पच्छ मूढ़ तोहि भावा॥...इत्यादि।'
क्रोधके अतिरिक्त करुणा वा दुःख-वश भी कठोर वचन कहे गये हैं।

नोट—३ मेघनादने जब उठाना चाहा तब हनुमान्‌जीका उसे ललकारना नहीं कहा गया और यहाँ रावणको ललकारना कहते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि मेघनादादिसे जब लक्ष्मणजी न उठ सके तब वे सब स्वयं चल दिये थे, हनुमान्‌जीके मर्मको मेघनाद भली प्रकार जानता है। यथा—'निकट न आव मरम सो जाना।' अतएव हनुमान्‌जीके निकट आनेके पूर्व ही वे चल दिये। यथा—'जगदाधार अनंत किमि उठइ चले खिसिआइ। ५३।' और यहाँ रावण उठाता था तब श्रीहनुमान्‌जी तुरंत पहुँच गये थे। दूसरा कारण यह जान पड़ता है कि मेघनादसे जब लक्ष्मणजीका द्वन्द्व-युद्ध होने लगा तब कहीं दूरीपर हनुमान्‌जी मेघनादकी सेनासे या किसी सेनापतिसे युद्ध कर रहे थे, यथा—'भिरे सकल जोरिहि सन जोरी' इससे हनुमान्‌जीने मेघनादको उठाते नहीं देखा। तीसरे हनुमन्नाटकके लक्ष्मण-रावण-युद्ध-प्रसङ्गकी कथाका भाव यदि लक्ष्मण-मेघनाद युद्धमें लें, तो यह कारण कह सकते हैं कि हनुमान्‌जी उस स्थलसे इसलिये दूर हटा दिये गये थे कि लक्ष्मणजीको शक्ति लगे।

☞ मानसमें प्रथम रावणका मुष्टिप्रहार है, अ० रा० और वाल्मी० में प्रथम हनुमान्‌जीने घूँसा मारा है। वाल्मी० ५९ में लिखा है कि रावणके रथपर पहुँचकर दाहिनी भुजाको उठाकर और उसको धमकाकर बुद्धिमान् हनुमान्‌जी बोले—'देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष और राक्षसोंसे तूने अवध्यता पायी है, पर वानरोंसे तुझे भय है। यह हमारा उठा हुआ दाहिना हाथ, पञ्चशाखा (अँगुलियों) युक्त तेरे देहमें चिरकालसे स्थित प्राणोंको निकाल देगा—ये ही वचन 'कठोर' विशेषणसे यहाँ सूचित किये गये हैं, यथा—'रथं तस्य समासाद्य बाहुमुद्यम्य दक्षिणम्। त्रासयन् रावणं धीमान् हनूमान् वाक्यमब्रवीत्॥ ५३॥ देवदानवगन्धर्वैर्यक्षैश्च सह राक्षसैः। अवध्यत्वं त्वया प्राप्तं वानरेभ्यस्तु ते भयम्॥ ५४॥ एष मे दक्षिणो बाहुः पञ्चशाखः समुद्यतः। विधमिष्यति ते देहे भूतात्मानं चिरोर्षितम्॥ ५५॥

मानस और वाल्मी० रा० में भेद यहाँ केवल यही है कि यहाँ लक्ष्मणजीको उठाते समय हनुमान्‌जीके रावणसे ये वचन हैं और वाल्मी० में लक्ष्मण-रावण-युद्धके पूर्व ही। पुनः दूसरा भेद यह है कि लक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर रावणका हनुमान्‌जीको घूँसा मारना वाल्मी० रा० में नहीं है। केवल हनुमान्‌जीका उसको घूँसा मारना कहा गया है। और लक्ष्मण-रावण-युद्धके पूर्व ही रावणने हनुमान्‌जीको और हनुमान्‌जीने रावणको थप्पड़ मारा है।

जानु टेकि कपि भूमि न गिरा। उठा सँभारि बहुत रिस भरा॥ १॥
मुठिका एक ताहि कपि मारा। परेउ सैल जनु बज्र प्रहारा॥ २॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी घुटना टेककर रह गये, पृथ्वीपर न गिरे। सँभालकर उठे और बहुत रिसमें भर गये॥ १॥ कपिने उसको एक घूँसा मारा। वह ऐसा गिर पड़ा मानो वज्रकी चोटसे पर्वत गिरा हो॥ २॥

प० प० प्र०—१ (क) हनुमान्‌जीने कुम्भकर्णपर प्रथम ही मुष्टिप्रहार किया था पर वह मूर्च्छित न हुआ। यथा—'तब मारुतसुत मुठिका हन्यो। पर्‍यो धरनि ब्याकुल सिर धुन्यो॥ ६४। ७।' उस अर्धालीमें भी १५, १५ मात्राएँ हैं। यहाँ रावणने प्रथम प्रहार किया तो हनुमान्‌जीको मूर्छा न हुई—'जानु टेकि कपि भूमि न गिरा...।' यहाँ इस अर्धालीमें भी एक-एक मात्रा कम है। कुम्भकर्णके घूँसेसे हनुमान्‌जीकी जो दशा हुई वही दशा हनुमान्‌जीके घूँसेसे यहाँ रावणकी हुई। यथा—'घुर्मित भूतल पर्‍यो तुरंता...। मुरुछा गइ मारुतसुत जागा॥' तथा—'परेउ सैल

जनु बज्र प्रहारा। मुरुछा गै बहोरि सो जागा॥' इससे प्रकट हुआ कि कुम्भकर्णका शारीरिक बल रावणसे बहुत अधिक था। [यह भी हो सकता है कि पहले घूँसा खानेसे क्रोध अधिक बढ़ जानेसे प्रहार पूरे बलसे किया जाता है, इसीसे वहाँ कुम्भकर्णके घूँसेसे हनुमान्‌जी और यहाँ हनुमान्‌जीके घूँसेसे रावण मूर्छित हुए। (मा० सं०)] (ख) अर्धालीमें मात्राकी कमी करके जनाया कि 'जानु टेकि कपि···' यह देखते ही कपि सेना भयभीत हो गयी थी पर उसके उठते ही सब आनन्दित हुए। उनको आश्चर्य हुआ और रावण लज्जित हुआ।

नोट—१ 'बहुत रिस भरा।' भाव कि लक्ष्मणजीको उठाते देख क्रोध हुआ था तब कठोर वचन कहे थे। अब उसके घूँसेकी चोट खानेपर क्रोध बहुत बढ़ गया तब उसे जोरसे घूँसा मारा। लङ्किनीको भी 'मुठिका' मारी थी, यथा—'**मुठिका एक महाकपि हनी**' तब वह रुधिर उगलती हुई पृथ्वीपर गिरी थी, वैसे ही रावणके मुख, कान और नेत्रोंसे खून गिरा। यथा—'**तेन मुष्टिप्रहारेण रावणो राक्षसेश्वरः। जानुभ्यामगमद् भूमौ चचाल च पपात च॥ आस्यैश्च नेत्रैः श्रवणैः पपात रुधिरं बहु। विघूर्णमानो निश्चेष्टो रथोपस्थ उपाविशत्॥ विसंज्ञो मूर्च्छितश्चासीन्निजस्थानं समालभत्। विसंज्ञं रावणं दृष्ट्वा समरे भीमविक्रमम्॥**' अर्थात्—उस मुष्टिप्रहारसे रावण काँपकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। मुख, कान और नेत्रोंसे रक्त बहुत गिरा और वह चक्कर खाकर रथके समीप आ गिरा। मूर्च्छित हो जानेसे रथमें अपने स्थानपर नहीं जा सका। वाल्मी० ५९ (११३—११५)।

२ '**परेउ सैल जनु बज्रप्रहारा।**' इति। इससे जनाया कि हनुमान्‌जीने क्रोधयुक्त होकर वज्रसदृश घूँसेसे उसपर प्रहार किया था, यथा—'**आजघानोरसि क्रुद्धो वज्रकल्पेन मुष्टिना। ११२**' (वाल्मी० ५९) इसी भावको दरसानेके लिये वज्रप्रहारकी उत्प्रेक्षा की। पुनः रावणके '**हन्यो मुष्टि प्रहार प्रघोर**' के उत्तरमें इन्होंने भी वज्रवत् प्रहार किया। उसके प्रहारसे ये न गिरे और इनके प्रहारसे वह चक्कर खाकर संज्ञारहित होकर गिर पड़ा। यह जतानेके लिये 'परेउ' पद दिया। यथा—'**जो दससीस महीधर ईस को बीस भुजा खुलि खेलन हारो। लोकप दिग्गज दानव देव सबै सहमैं सुनि साहस भारो॥ बीर बड़ो बिरुदैत बली अजहूँ जग जागत जासु पँवारो। सो हनुमान हनी मुठिका गिरि गो गिरिराज ज्यों गाजको मारो॥** क० ३८।'

मुरुछा * गै बहोरि सो जागा। कपि बल बिपुल सराहन लागा॥ ३॥
धिग धिग मम पौरुष धिग मोही। जौं तैं जियत रहेसि† सुरद्रोही॥ ४॥

अर्थ—मूर्च्छा जानेपर वह फिर सचेत हुआ। और कपिके बलकी बड़ी प्रशंसा करने लगा॥ ३॥ (हनुमान्‌जीने उत्तर दिया कि) मेरे पुरुषार्थको बारंबार धिक्कार है और मुझे भी धिक्कार है जो तू सुरद्रोही! जीता रह गया॥ ४॥

नोट—१ 'बहोरि' का भाव कि एक बार पहले भी (लक्ष्मणजीके बाणोंद्वारा) मूर्च्छित होनेपर सचेत हुआ था—'**परेउ अवनितल सुधि कछु नाहीं। उठा प्रबल पुनि मुर्छा जागी॥**'

२—वाल्मी० ५९ में रावण-लक्ष्मण-युद्धके पूर्व ही रावण-हनुमान्‌का यह परस्पर वाक्य है और शक्ति लगनेके पश्चात् केवल उतना ही है जो पूर्व ८२ (१-२) में दिया गया। यथा—'**अथाश्वास्य महातेजा रावणो वाक्यमब्रवीत्। साधु वानरवीर्येण श्लाघनीयोऽसि मे रिपुः॥ रावणेनैवमुक्तस्तु मारुतिर्वाक्यमब्रवीत्। धिगस्तु मम वीर्यस्य यस्त्वं जीवसि रावण॥ सकृत्तु प्रहरेदानीं दुर्बुद्धे किं विकत्थसे। ततस्त्वा मामको मुष्टिर्नयिष्यति यमक्षयम्॥**' अर्थात् (होशमें आकर) महातेजस्वी रावण बोला—हे वानर! शाबाश! अपने पराक्रमसे, हमारे शत्रु वीर तुम प्रशंसनीय हो। रावणके ऐसा कहनेपर हनुमान्‌जी बोले—हे रावण! हमारे पराक्रमको धिक्कार है जो तू हमारे मारनेपर भी जीवित ही है। बड़ी शीघ्रतासे तू मुझे मार; अरे दुर्बुद्धि! तू मुझे मार, क्या बकबक करता है। बादमें मेरी मुष्टिका तुझे यमराजके यहाँ पहुँचायेगी। (श्लोक ६३५)।

३ 'कपिबल···' इति। 'कपि' शब्दका भाव कि यद्यपि तू कपि है तथापि तुझमें अन्य कपियोंसे अधिक बल है। फिर भी तुझमें मुझे मार डालनेका सामर्थ्य नहीं है, मैं वानरके हाथ मर नहीं सकता। यथा '**रावन मरन मनुज कर जाँचा**', '**नर के कर आपन बध बाँची**'। (प० प० प्र०)।

* गै मुरुछा। † उठसि—(का०)।

पं०—'कपि बल बिपुल सराहन लागा' शत्रुकी प्रशंसा कैसी ? समाधान—(१) उत्तम लोगोंकी रीति है कि किसीमें गुण देखें तो सराहना करें ।—'मैं गुनगाहक'''' । वा, (२) उसने विचारा कि प्रशंसा सुनकर आनन्दमें मग्न हो सौमित्रिके उठानेमें मुझे न रोकेगा ।

वीर—चोटसे दुखी होकर शत्रु बड़ाई करता है, वह अनुचित और अयथार्थ होनेसे रसाभास है । क्योंकि वह प्रत्यक्षमें कपिकी प्रशंसाके बहाने अपने पुरुषार्थकी बड़ाई करता है ।

गौड़जी—'कपि'''सराहन लागा ।' यह सराहना काकोक्ति है जिससे अपना बड़प्पन, गुणग्राहकता और शत्रुकी तुच्छता अभिप्रेत है ।

अस कहि लछिमन कहुँ कपि* ल्यायो । देखि दसानन बिसमय पायो ॥ ५ ॥
कह रघुबीर समुझु जिय भ्राता । तुम्ह कृतांत भच्छक सुरत्राता ॥ ६ ॥

अर्थ—ऐसा कहकर कपि (श्रीहनुमान्‌जी) लक्ष्मणजीको श्रीरघुनाथजीके पास ले आये । दशानन देखकर आश्चर्य और भयको प्राप्त हुआ ॥ ५ ॥ रघुवीर (श्रीरामजी) (भाईको देखकर) बोले—हे भाई ! जीसे विचारो तो, तुम तो कालके भक्षक और देवताओंके रक्षक हो ॥ ६ ॥

नोट—१ 'कपि ल्यायो''' इति । रावणसे न उठे, हनुमान्‌जीसे कैसे उठ गये ? श्रीहनुमान्‌जीकी परमभक्ति और सौहार्दके कारण उनके लिये वे हल्के हो गये । यथा—'शत्रूणामप्यकम्प्योऽपि लघुत्वमगमत्कपेः ॥वाल्मी० ५९ । ११७॥', 'हनूमतः सुहृत्त्वेन भक्त्या च परमेश्वरः । लघुत्वमगमद्देवो गुरूणां गुरुरप्यजः ॥ अ० रा० ६ । ६ ।१६॥' अर्थात् वे अजन्मा और प्रकाशस्वरूप परमेश्वर श्रीलक्ष्मणजी भारीसे भारी होनेपर भी हनुमान्‌जीके लिये उनके सौहार्द और भक्तिभावके कारण अत्यन्त हल्के हो गये ।

२ 'कह रघुबीर समुझु''' इति (क) 'समुझु जिय' का भाव कि अपने स्वरूपका स्मरण करो । उसे स्मरण करते ही मूर्च्छा-विगत हो जाओगे । मूर्छालीलाका अन्त हो जायगा ।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी कहते हैं कि 'यह ब्रह्मदेवकी दी हुई कराल शक्ति थी, यह चिकित्साके वशकी वस्तु नहीं थी । स्वरूप-ज्ञानसे ही यह दूर की जा सकती थी । इसलिये सरकारने स्वरूप-ज्ञान करा दिया, यथा 'तुम्ह कृतांत भक्षक सुरत्राता' । लक्ष्मणजीने अपने स्वरूपको भूलकर, अपनेको काल कहा । वहाँ तक ब्रह्मदेवकी शक्तिकी पहुँच थी । सरकारने स्मरण करा दिया कि तुम काल नहीं हो, कालके काल हो । बस स्वरूप-स्मरण होते ही ब्रह्मदेवके अधिकारके बाहर हो गये, अतः वह शक्ति आकाशमें चली गयी ।

(ख) 'तुम्ह कृतांत भक्षक' इति । भाव कि तुम कालके भक्षक हो तब तुम कालके वश कैसे हो सकते हो ? यथा 'काल ब्याल कर भच्छक जोई । सपनेहु समर कि जीतिय सोई ॥ ५५ । ८ ॥' 'कृतांत भक्षक' कहकर जनाया कि तुम कालका भी अन्त करनेवाले, प्रलय करनेवाले और स्वयं अनन्त हो, तुम्हारा अन्त असम्भव है । (गौड़जी) । (ग) श्रीरामचन्द्रजी 'भुवनेश्वर कालहु कर काला' हैं । श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजीके अंश हैं; यथा 'अंसन्ह सहित देह धरि ताता । करिहौं चरित भगत सुखदाता ॥ १।२५२॥' अतः वे भी कृतांत-भक्षक हुए । इस तरह भाव यह है कि तुम हमारे अंश हो । यही बात वाल्मी० और अ० रा० में कही है । भेद यह अवश्य है कि वाल्मीकीय आदिमें श्रीलक्ष्मणजीका स्वयं ही श्रीरामचन्द्रजीका अथवा अपने ऐश्वर्य और आत्मस्वरूपका स्मरण बराबर करते रहना कहा है और मानसमें श्रीरघुनाथजीने उनको अपने स्वरूपका स्मरण कराया है । दोहा ८२ छन्द देखिये । (घ) 'सुरत्राता' का भाव कि तुम्हारा अवतार देवताओंकी रक्षाके लिये हुआ है; यथा 'सेष सहससीस जग कारन । जो अवतरेउ भूमि भय टारन ॥ १ । १७।७॥' 'जो सहस सीस अहीस महिधरु लषन सचराचर धनी । सुरकाज धरि नरराजतनु चले दलन खल निसिचर अनी ॥ अ० १२६ ॥', इसीसे मूर्च्छा-लीलाका तुमने अभिनय किया है, नहीं तो तुम तो जन्ममरणादि विकारोंसे रहित हो । मूर्छित पड़े रहोगे तो देवताओंकी रक्षा कैसे होगी ? (ङ) बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि 'कृतांतभक्षक' कहकर विचारा कि 'कृतांक भच्छक' सुनकर कहीं त्रैलोक्यका नाश न कर

* कपि लछिमन कहुँ (का०) ।

दें अतः फिर 'सुरत्राता' भी कहा अर्थात् केवल राक्षसोंका नाश उठकर करो जिसमें देवताओंकी रक्षा हो और किसीका नाश न कर देना।' श्रीगौड़जीने इस भावको स्पष्ट कर दिया है। भाव यह कि इसका आशय यह भी नहीं है कि कालका तुम नाश करो, क्योंकि 'काल' भी सुर है, जो रावणसे हैरान है, और तुम सभी देवताओंके त्राता (रक्षक) हो, कालकी भी रक्षा तुम्हें करनी है, तुम्हारे अन्तसे कालका भी अन्त हुआ जाता है, परन्तु प्रलय वा महाप्रलय इस समय कुछ भी नहीं है, अतः इस मूर्च्छालीलाका अन्त करो। लीलाके लिये समय नहीं है। ब्रह्मदत्त शक्तिकी मर्यादाकी रक्षा हो चुकी।

सुनत बचन उठि बैठ कृपाला। गई गगन सो सक्ति कराला॥ ७॥
पुनि कोदंड बान गहि धाए*। रिपु सन्मुख अति आतुर आए॥ ८॥

अर्थ—(प्रभुके ये) वचन सुनते ही कृपालु श्रीलक्ष्मणजी उठ बैठे। वह कराल शक्ति आकाशको चली गयी॥७॥ वे फिर कोदण्ड धनुष और बाण लेकर दौड़े और अतिशीघ्र शत्रुके सामने आ पहुँचे॥ ८॥

गौड़जी—रावणको जितने आयुध मिल चुके हैं, किसी न किसी मिषसे सबको समाप्त करना भी प्रभुका अभीष्ट है।

नोट—१ पूर्व जो शक्ति लगी थी उसका आकाशमें जाना न कहा और यहाँ इस शक्तिके संबन्धमें कहा कि **'गई गगन सो।'** कारण कि—(क) इस शक्तिमें एक ही प्रहारकी शक्ति ब्रह्माने दे रक्खी थी, वह प्रहार करके चली गयी। (पं०)। (ख) ☞ पहली बार नरनाट्य दिखाया, अबकी ऐश्वर्य। पूर्व ओषधिपर्वत आया था। उसका लौटाया जाना मानसमें नहीं है। अतः अब ऐश्वर्य दिखानेसे वह तो यही समझेगा कि उसी ओषधिसे जिला लिये गये। इसीसे अब नरनाट्यकी आवश्यकता न रह गयी।

(ग) गौड़जी—गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें दो प्रकारसे रामचरित दिखाया है। एक तो नरत्वमें और दूसरे ईश्वरत्वमें। इसमें प्रथम प्रकरण अर्थात् पहली बारकी शक्तिका लगना तो नरत्वमें नर-लीला करके दिखाया है जिसका समाधान उसी प्रकरणमें गोस्वामीजीने कर भी दिया है। यथा—**'उमा एक अखंड रघुराई। नरगति भगत कृपाल देखाई॥'** रही दूसरी शक्ति लगनेकी बात, सो उसमें रघुनाथजीने अपने ईश्वरत्वको दिखाया। ऐसा भी कहा जा सकता है कि भगवान् शरणागत-पालक हैं, प्रथम शक्ति प्रकरणमें लक्ष्मणजीमें कुछ भक्ति-भावमें कमी रही। उनको अपने बल और ऐश्वर्यका अहंकार आ गया जिसकी ध्वनि उनकी इस कार्यशैलीसे निकलती है।—**'आयसु माँगि राम पहँ अंगदादि कपि साथ। लछिमन चले क्रुद्ध होइ बान सरासन हाथ॥'**

कहाँ तो स्वामीके पाससे जाना और प्रणाम भी न करना, क्या यह प्रत्यक्ष अहंकार नहीं है? अपने धनुषबाण और पराक्रमके अहंकारने लक्ष्मणजीको पीड़ा पहुँचायी और सफलता हाथ न लगी। परन्तु दूसरी शक्तिके प्रकरणमें जो सेवकका भाव स्वामीके प्रति होना चाहिये उनका श्रद्धाभक्तिसमेत लक्ष्मणजीने भलीभाँति पालन किया—**'लछिमन चले सरोष तब नाइ रामपद माथ।'**

यहाँ बात ही दूसरी है। यहाँ रामचरणोंमें सिर नवाकर स्वामीके बलपर लड़नेके लिये चले। फल तत्काल ही उत्तम मिला। दुःख भी नाश हुआ और शक्तिके प्रभावके हरते ही पुनः रावणसे जा युद्धकर उसे व्याकुल और मूर्च्छित कर दिया और पुनः भगवान्‌के चरणोंमें आ सिर नवाया। यहाँ तो भक्तिपक्ष प्रबल था फिर क्योंकर भक्त लक्ष्मणजी-का अमङ्गल हो सकता था?—(भूमिकासे उद्धृत)।

पु० रा० कु०—ऐश्वर्यान्तर्गत माधुर्य भूषण है। यथा—**'माधुर्यभूषणं नित्यमैश्वर्यान्तर्गतं ध्रुवम्'** इति वशिष्ठवचनम्।

नोट—२ प्रभुने कहा कि तुम कृतान्तभक्षक हो, सुरत्राता हो, यह वचन सुन वे उठ बैठे। इससे ज्ञात हुआ कि प्रभुके वचन सुन वे अपना स्वरूप स्मरणकर उठ बैठे जैसा कि वाल्मी० ५९ में कहा है, यथा—**'आश्वस्तश्च विशल्यश्च लक्ष्मणः शत्रुसूदनः। विष्णोर्भागममीमांस्यमात्मानं प्रत्यनुस्मरन्॥ ५९। १२०॥'** अर्थात् शत्रुसूदन लक्ष्मणजीने अपनेको वैष्णवतेजके एक ऐश्वर्यरूपसे स्मरण किया वा, अपना आत्मस्वरूप विष्णुअंश स्मरण करते हुए घावरहित और स्वस्थ हो गये। ८२ छंद देखिये।

---

* 'धरि सर चाप चलत प्रभु भए। रिपु० समीप…'—(का०)।

इस बार इस तरह शीघ्र क्यों स्वस्थ कर लिया और पहिले इतना बखेड़ा क्यों किया गया था, इसका उत्तर पूर्व और यहाँ भी ऊपर लिखा गया। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि पूर्व शक्ति लगनेपर संध्या हो गयी थी, रात्रिभर ओषधिके लिये यत्न करनेका अवसर था और इस बार अभी सन्ध्या नहीं हुई है, शक्ति दिनमें लगी थी और शत्रु रावण रणभूमिमें अभी मौजूद है; हनुमान्‌जीके मुष्टिप्रहारसे मूर्च्छित पड़ा है। मूर्च्छा जानेपर उठेगा तो इनके वहाँ न होनेसे अपनी जय समझेगा। अतएव, रावणके रणभूमिपर मूर्च्छा विगत होते तक इनको वहाँ तुरंत पहुँचना आवश्यक था। इससे यहाँ ऐश्वर्यसे काम लिया।

छंद—**आतुर बहोरि बिभंजि स्यंदन सूत हति ब्याकुल कियो।**
गिरचौ धरनि दसकंधर बिकलतर बान सत बेध्यो हियो॥
सारथी दूसर घालि रथ तेहि तुरत लंका लै गयो।
रघुबीर-बंधु-प्रतापपुंज बहोरि प्रभु चरनन्हि नयो॥

अर्थ—बड़ी शीघ्रतासे फिर रावणके (इस) रथको (भी) चूरचूरकर, सारथीको मारकर, उसे व्याकुल कर दिया। सौ बाणोंसे दशकंधर रावणका हृदय बेध दिया जिससे वह अधिक अतिशय व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। दूसरा सारथी उसे दूसरे रथमें डालकर तुरंत लङ्कामें ले गया। रघुवीर श्रीरामजीके प्रतापपुंज भाईने फिर आकर प्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया।

नोट—१ (क) 'आतुर' का भाव कि रावण अभी रणभूमिमें ही था कि ये फिर आ पहुँचे। **'बहोरि बिभंजि'** कहा क्योंकि प्रथम एक बार ऐसा कर चुके हैं। यथा **'पुनि निज बानन्ह कीन्ह प्रहारा। स्यंदन भंजि सारथी मारा॥८२। ५॥'** (ग) प्रथम्म रथ टूटनेपर दूसरेका आना नहीं कहा गया। और यहाँ फिर दूसरे रथका तोड़ना कहा। इससे जनाया कि जितनी देरमें हनुमान्‌जी लक्ष्मणजीको उठा लेकर गये और ये फिर आये, इतनेमें ही वह दूसरे रथपर सवार हो आया। वा, रथ वहीं इतनी देरमें आ गया था जैसे इस समय आ गया जिसमें सारथी उसे उठा ले गया। (घ) 'दसकंधर' पदसे जनाया कि दशों सिरोंके बल चित्त गिरा। रावण प्रतापी था, यथा—**'देखि प्रताप न कपि मन संका॥ ५। २०॥'**, **'सोइ रावन जग बिदित प्रतापी॥ २५। ८॥'**, लक्ष्मणजीने उसे हराया इसलिये इन्हें 'प्रतापपुंज' कहा। (ङ) **'सारथी दूसर घालि'''** इति। दूसरा सारथी इससे रावणको उठा ले गया कि कहीं लक्ष्मणजी बदला चुकानेके लिये इसे न उठा ले जायँ। (च) **'बहोरि प्रभुचरनन्हि नयो'**। जब चले थे तब प्रणाम करके चले थे—**'लछिमन चले क्रुद्ध होइ नाइ रामपद माथ'**, अब लौटे तब पुनः "चरनन्हि नयो'। वहाँ उपक्रम था यहाँ लक्ष्मण-रावण-युद्धका विजयमें 'उपसंहार' है।

दोहा—उहाँ दसानन जाग करि करै लाग कछु जग्य।
रामबिरोध बिजय चह* सठ हठ बस अति अग्य॥ ८३॥

शब्दार्थ—अज्ञ=नासमझ—**'कीन्ह कपट मैं संभु सन नारि सहज जड़ अज्ञ'** (बा०)।

अर्थ—वहाँ (लङ्कामें) दशानन सावधान होनेपर कुछ यज्ञ करने लगा। (वक्ता कहते हैं कि) वह अत्यन्त मूर्ख है, अज्ञानी और हठी है, वह हठवश श्रीरामजीसे विरोध करके भी जय चाहता है॥ ८३॥

नोट—१ (क) 'दसानन जाग करि' से पाया गया कि यह मूर्छा थोड़ी ही देर रही। रावण बिना किसी उपचारके शीघ्र चैतन्य हो गया। आगे श्रीजाम्बवान्‌जीकी लात खानेपर मूर्छा विशेष हुई, जिसके लिये सारथी आदिको यत्न करना पड़ा। (ख) 'कछु जग्य' इति। 'कछु' से जनाया कि यह यज्ञ बहुत गुप्त है, किसीको यह नहीं मालूम कि कौन-सा यज्ञ है। इससे 'कछु' पद दिया॥ अ० रा० १०। ५—१२॥ में यज्ञकी कथा इस प्रकार है कि रावण शुक्राचार्यके पास जा प्रणामकर हाथ जोड़कर बोला—'हे भगवन्! राघवने लङ्काको राक्षसयूथपोंसहित नष्ट कर दिया। पुत्र-बान्धव-सहित

* 'जय चाहत रघुपति विमुख'—(का), 'राम बिरोधी कुसल चह'—(छ०)

बड़े-बड़े दैत्योंको मार डाला। आप ऐसे सद्गुरुके रहते हमको यह दुःख कैसे प्राप्त हो गया?' इस तरहसे कही बात सुनकर दैत्यगुरु बोले—'हे दशानन! एकान्तमें तुम यत्नपूर्वक यज्ञ करो। यदि यज्ञ-होम विघ्नरहित हो जाय तो होमके अग्निसे बड़ा भारी रथ, घोड़े, धनुष, तूणीर और बाण निकलेंगे। उन सबके होनेसे तुम अजेय हो जाओगे। इसलिये हम जो मन्त्र देते हैं इसे ग्रहण करो और शीघ्र जाकर होम करो।' ऐसा कहनेपर रावणने शीघ्र जाकर पाताल-सदृश एक गुहा महलमें बनाकर, लङ्काके सब द्वार यत्नपूर्वक बन्द करा और आवश्यक होमद्रव्य एकत्रितकर एकान्त गुहामें प्रवेशकर मौन धारणकर यज्ञ करने लगा। पंजाबीजीके मतानुसार 'कछु जग्य' का भाव यह है कि वह थोड़े कालमें सिद्ध होनेवाला यज्ञ है, बड़ा यज्ञ नहीं है क्योंकि उसका समय नहीं है। वा, यह यज्ञ बीचमें ही विध्वंस हो जायगा, अतः इसे 'कछु' कहा। (ग) रावणने विचारा कि अब शत्रुसे बलद्वारा पार न पा सकूँगा, बिना दैवी शक्तिके जीतना असम्भव है। अतः दैवीशक्ति प्राप्तिके लिये यज्ञ करनेकी ठानी जिससे विजय हो। (वं० पा०)।

नोट—२ 'हठ बश' यथा—'**तौ मैं जाइ बैर हठि करिहउँ। कंत रामबिरोध परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ मन धरहू॥ १४। ८॥**'—विशेष १४ (८) में देखिये। भाव यह है कि विभीषण मन्दोदरी और माल्यवान् आदिने रामविरोधसे निवारण किया पर उसने हठवश न माना। इसीसे 'अति अज्ञ' कहा। रामविरोध करके जय चाहता है इस लिये 'शठ' कहा। रामविरोधीकी कुशल कहाँ? १४ (८) पृष्ठ १०३ देखिये। अथवा, 'देवविरोधी' होनेसे शठादि विशेषण दिये, यथा—'**रे कुभाग्य सठ मंद कुबुद्धे। तैं सुर नर मुनि नाग बिरुद्धे॥ ९२। ५॥**'

२—'अतिअज्ञ' क्योंकि रामसे विमुख है और उन्हींके अङ्गभूत देवताकी पूजासे सुखी होना चाहता है।

इहाँ बिभीषन सब सुधि पाई। सपदि जाइ रघुपतिहि सुनाई॥ १॥
नाथ करै रावन एक जागा। सिद्ध भए नहिं मरिहि अभागा॥ २॥

अर्थ—इधर विभीषणजीने सब खबर पायी और शीघ्र जाकर श्रीरघुनाथजीको सुनायी॥ १॥ हे नाथ! रावण एक यज्ञ कर रहा है। उसके सिद्ध होनेपर वह अभागा न मरेगा॥ २॥

नोट—१ '**सब सुधि पाई**' इति। रावण पाताल-समान गहरे स्थानमें महलके भीतर यज्ञ कर रहा था, इससे बाहरके लोगोंको इसका पता मिलना दुर्लभ था। विभीषणजीने धुआँ देखकर जाना, तब रामचन्द्रजीको भी दिखाकर यज्ञकी सूचना दी। यथा—'**उत्थितं धूम्रमालोक्य महान्तं रावणानुजः। रामाय दर्शयामास होमधूमं भयाकुलः॥ १३॥ पश्य राम दशग्रीवो होमं कर्तुं समारभत्। यदि होमः समाप्तः स्यात्तदाजेयो भविष्यति॥ १४॥**—अ० रा० १०॥' अर्थात् बड़ा ऊँचा उठा हुआ धुआँ देखकर विभीषण भयातुर हो श्रीरामचन्द्रजीको यह धुआँ दिखाने लगे। देखिये वह यज्ञ शुरू करता है। यदि होम समाप्त हुआ तो वह अजेय हो जायगा।

२ '...**करै एक जागा। सिद्ध भए नहिं मरिहि०**' इति। (क) दैत्यगुरु शुक्राचार्यजीने कहा था कि इस यज्ञके सिद्ध होनेसे तुम अजेय हो जाओगे—'**त्वमजेयो भविष्यसि**' (अ० रा० १०। ९)। अतः कहा कि वह न मरेगा। 'अजय' हो जायगा, तब आपकी जय उसपर न होगी। जय तभी हो जब वह मारा जाय अतः कहा कि न मरेगा। (ख)—यह समाचार चाहे गुप्तचरसे मिला हो कि दैत्यगुरुने ऐसा कहा है पर अ० रा० में इसका संकेत नहीं है। अथवा, चाहे अनुमानसे विभीषणने समझा कि इस सेनासे और प्रभुसे अमर होनेके लिये ही यह यज्ञ होगा। इसके अतिरिक्त यज्ञ और किसलिये हो सकता था? (ग) ☞ मेघनादके विषयमें कहा था कि '**नाथ बेगि सो जीति न जाई**' और यहाँ रावणके विषयमें कहा कि '**नहिं मरिहि अभागा**'—यह क्यों? मेघनादसे रावणमें अधिकता दिखानेके विचारसे ऐसा कहा। (घ) 'अभागा' इति। रामविमुख होनेसे अभागा कहा। यथा '**ते नर नरकरूप जीवत जग भवभंजन पद बिमुख अभागी॥ वि० १४०॥**' पुनः श्रीरामजीको नर समझता है, इसीसे उनसे अजेय होनेके लिये यज्ञ करता है अतः अभागा कहा। यथा—'**सो नर क्यों दससीस अभागा॥ २६। ४॥**' पुनः, उनके हाथसे मरनेसे भी मोक्ष होगा, यह न सोचकर उनसे अजेय होनेकी मूर्खता कर रहा है अतः अभागा कहा।

पठवहु नाथ * बेगि भट बंदर। करहिं बिधंस आव दसकंधर॥ ३॥
प्रात † होत प्रभु सुभट पठाए। हनुमदादि अंगद सब धाए॥ ४॥

अर्थ—हे नाथ! शीघ्र योद्धा बंदरोंको भेजिये जो जाकर यज्ञको विध्वंस करें जिससे दशकंधर आवे॥ ३॥ सबेरा होते ही प्रभुने वीर योद्धाओंको भेजा। हनुमान्, अङ्गद आदि (प्रधान) सब सुभट दौड़ चले॥ ४॥

नोट—१ यहाँ रावण-वध-प्रसङ्गमें हनुमान्‌जी आदिमें हैं, शेष सब उनके पीछे हैं और मेघनाद-प्रसङ्गमें अङ्गद आदिमें थे, यथा—'**आयसु माँगि राम पहिं अंगदादि कपि साथ**॥५१॥ '**सुनि रघुपति अतिसय सुख माना। बोले अंगदादि कपि नाना**॥ ७४। ६॥' '**अंगद नील मयंद नल संग सुभट हनुमंत**॥७४॥', '**धन्य-धन्य तव जननी कह अंगद हनुमान**॥७५॥' अङ्गदको आदिमें देनेका भाव ७४ (६) में दिया गया है। हनुमान्‌जीको यहाँ आदिमें देनेका भाव यह भी है कि रावणसे इनका मुकाबिला अभी-अभी हो चुका है। इनका बल देख वह विस्मित हो चुका है। यथा—'**देखि दसानन बिसमय पायेउ**॥ ८३(५)॥'

२ '**हनुमदादि अंगद**'। (क) इन दोके नाम दिये, शेषके न दिये। क्योंकि रावणके मुकाबलेमें ये दोनों परीक्षामें उत्तीर्ण हो चुके हैं; इस ग्रन्थमें अभीतक रावणका सामना इन्हींने किया है। पुनः हनुमान् और अङ्गदका नाम इसलिये दिया कि अ० रा० १० में भी यही दो नाम इस प्रसङ्गमें आये हैं। यथा '**अतो विघ्नाय होमस्य प्रेषयाशु हरीश्वरान्। तथेति रामः सुग्रीवसम्मतेनाङ्गदं कपिम्**॥ अ० रा० १०।१५॥ '**हनुमत्प्रमुखान् वीरान् आदिदेश महाबलान्**।' अर्थात् इसलिये होमके विघ्नके लिये बड़े-बड़े वानरोंको शीघ्र भेजिये। 'बहुत अच्छा' कहकर सुग्रीवकी रायसे श्रीरघुनाथजीने अङ्गद और हनुमान् आदि बड़े-बड़े महाबलवान् वानरोंको आज्ञा दी।

पुनः, (ख) हनुमान्‌जीको आदिमें और अङ्गदको अन्तमें देकर जनाया कि जो प्रधान वानर मेघनाद-यज्ञ-विध्वंसके लिये भेजे गये थे जिनमेंसे अङ्गद आदिमें और हनुमान्‌जी अन्तमें कहे गये थे; वे ही सब यहाँ भी गये। यथा—'**अंगद नील मयंद नल संग सुभट हनुमंत**॥ ७४॥' पुनः, (ग)—अ० रा० १०। १७ में लिखा है कि १० करोड़ महाबली वानर गये। अतः 'आदि' पदसे वह संख्या जना दी है।

पं०—'देव' अर्थात् आप दिव्य हैं, सबके प्रकाशक हैं, सब जानते हैं, मैं तो सेवककी तरह विनय करता हूँ। २—'**प्रात होत**' का भाव कि—समाचार सुनाते रात बीत गयी इतनेमें सबेरा हो गया। अथवा यज्ञ दिनभर होना है इससे रातमें न उपाय किया। वा, रातमें निशाचरोंका बल अधिक होता है और इन्हें घरके भीतर भेजना है।

☞ लक्ष्मण-मेघनाद-युद्धमें भेजनेमें अङ्गदको आदिमें कहा, पर कार्य करनेमें हनुमान्‌जी अगुआ हैं, यथा—'**तब लगि लेइ आएउ हनुमाना**॥ ५४। ८॥', '**कोपि मरुतसुत अंगद धाये। हति त्रिसूल उर धरनि गिराये**॥ ७५। ६॥, '**उठि बहोरि मारुति जुवराजा। हतहिं कोपि तेहि घाउ न बाजा**॥ ७५। ८॥', '**बिनु प्रयास हनुमंत उठायो**। ७६। १।' प्रकरणमें चार बार अङ्गदका नाम प्रथम आया है—वैसे ही कार्य करनेमें हनुमान्‌जीका नाम चार बार आया है, यह उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार अङ्गद और हनुमान्‌जीको कविने बराबर सम्मान दिया है।

इसी प्रकार राम-रावण-युद्ध-प्रकरणमें पाँच स्थलोंपर अङ्गदकी प्रधानता देख पड़ती है और पाँच स्थलोंपर हनुमान्‌जीकी। इस प्रकार इस प्रकरणमें भी दोनोंको कविने समान आदर दिया है।

श्रीअङ्गदजीकी प्रधानता यथा—१ '**उत प्रचार दसकंधर इत अंगद हनुमान**॥ ७९॥' २ '**चले पराइ भालु कपि नाना। त्राहि त्राहि अंगद हनुमाना**॥ ८१। ६॥' ३ '**अस कहि अंगद मारयो लाता। चितव न सठ स्वारथ मन राता**॥ ८४। ८॥' ४ '**देखि बिकल सुर अंगद धाएउ। कूदि चरन गहि भूमि गिरायउ**॥ ९६। ८॥' ५ '**बालितनय मारुति नल नीला**॥ ९७। ३॥'

श्रीहनुमान्‌जीकी प्रधानता यथा—१ '**देखि पवनसुत धायउ बोलत बचन कठोर**॥ ८२॥', २ '**प्रात होत प्रभु**

* देव—(का०), नाथ (भा० दा०)। † प्रभात (भा० दा०), प्रात—(का०)।

सुभट पठाये। हनुमदादि अंगद सब धाये ॥ ८४ । ४ ॥', ३ 'देखा श्रमित बिभीषन भारी । धायउ हनूमान गिरि धारी ॥ ९४ । १ ॥ 'रथ तुरंग सारथी निपाता । हृदय माँझ तेहि मारेसि लाता ॥ २ ॥', ४ 'हनुमंत अंगद नील नल अतिबल लरत रन बाँकुरे ॥ ९५ छंद ॥', ५ 'हनुमदादि मुरछित करि बंदर । पाइ प्रदोष हरष दसकंधर ॥९७ । ११॥'

मेघनाद-यज्ञविध्वंसमें यज्ञविध्वंस करनेमें किसीका नाम विशेष नहीं दिया गया यथा—'कीन्ह कपिन्ह सब जग्य बिधंसा।' पर यहाँ रावण-यज्ञविध्वंसमें, यद्यपि भेजे जानेमें हनुमान्‌जीको प्रधान किया है तथापि अङ्गदको प्रधान रखा है। उन्होंने मंदोदरीको घसीटा, इत्यादि। विभीषणकी सहायता हनुमान्‌जीने की तो देवताओंकी व्याकुलता अङ्गदने हरी, लक्ष्मणजीको उठाते देख हनुमान्‌जीने रावणको घूँसा मारा तो यज्ञसे न उठनेपर अङ्गदने रावणको लात मारी। इस प्रकार ग्रन्थकारने इन दोनोंकी वीरता बराबर समान दिखायी है। क्योंकि दोनोंको ही सुबेल पर्वतपर प्रभु चरण सौंप चुके हैं।

कौतुक कूदि चढ़े कपि लंका। पैठे रावन भवन असंका ॥ ५ ॥
जग्य करत जबहीं * सो देखा। सकल कपिन्ह भा क्रोध बिसेषा ॥ ६ ॥

अर्थ—वानर कौतुक ही कूदकर लङ्कापर चढ़ गये और निर्भय रावणके महलमें घुस गये ॥ ५ ॥ ज्यों ही उसे यज्ञ करते हुए देखा त्यों ही समस्त वानरोंको बहुत क्रोध हो आया ॥ ६ ॥

नोट—१ (क) 'कूदि चढ़े' का भाव कि फाटक बंद थे और कोई रास्ता भीतर जानेका न था। अ० रा० से भी यही बात सिद्ध होती है। यथा—'प्राकारं लङ्घयित्वा ते गत्वा रावणमन्दिरम् ॥ १६ ॥ दशकोट्यः प्लवंगानां गत्वा मन्दिररक्षकान्। चूर्णयामासुरश्वांश्च गजांश्च न्यहनरक्षणात् ॥ १७ ॥ गुहापिधानपाषाणमंगदः पादघट्टनैः। चूर्णयित्वा महासत्त्वः प्रविवेश महागुहाम् ॥१९॥ दृष्ट्वा दशाननं तत्र मीलिताक्षं दृढासनम्। ततोऽङ्गदाज्ञया सर्वे वानरा विविशुर्द्रुतम् ॥अ० रा० १० । २० ॥ अर्थात् उन्होंने चहारदीवारीको फाँदकर रावणके मंदिरमें प्रवेश किया। १० करोड़ वानरोंने जाकर क्षणमात्रमें रक्षकों, घोड़ों, हाथियों आदिको चूर्ण कर डाला। कंदराके द्वारवाले पाषाणको महाबलवान् अङ्गद, पैरोंसे चूर्ण करके गुहामें घुस गये और वहाँ रावणको दृढ़ासन लगाये नेत्र मूँदे बैठे देखकर सब बानर उनकी आज्ञासे गुहामें घुस पड़े। (अ० रा० १०) (ख) 'असङ्का' क्योंकि अब तो कोई सुभट ऐसा है नहीं जो रोक सके।

पं०—'भा क्रोध बिसेषा'।—शत्रुको अपने अनिष्टमें परायण देखकर देवकार्यमें बाधक जानकर क्रोध हुआ।—(अपने स्वार्थकी हानि देख क्रोध होना स्वाभाविक ही है)।

रन ते निलज भाजि गृह आवा। इहाँ आइ बक ध्यान लगावा ॥ ७ ॥
अस कहि अंगद मारेउ† लाता। चितव न सठ स्वारथ मन राता ॥ ८ ॥

अर्थ—अरे निर्लज्ज! तू रणभूमिसे घर भाग आया और यहाँ आकर बगलेका-सा ध्यान लगाया है ॥ ७ ॥ ऐसा कहकर अङ्गदने लात मारी; पर उसने (इनकी ओर) न देखा, क्योंकि उस शठका मन स्वार्थमें अनुरक्त (लगा हुआ) था ॥ ८ ॥

नोट—१ (क) 'निलज'—रणमें बड़े दावेसे गया था। यथा 'निज भुजबल मैं बयरु बढ़ावा। देहउँ उतरु जो रिपु चढ़ि आवा। ७७ । ६।', 'हौं मारिहउँ भूप द्वौ भाई। ७८ । १२।', खोजत रहेउँ तोहि सुतघाती। आज निपाति जुड़ावउँ छाती ॥ ८२ । २।' रणसे भाग आना लज्जाकी बात है। तभी तो मेघनाद मूर्च्छित होकर लंकामें गिरनेपर पिताको देखकर लज्जित हुआ था। यथा—'पितहि बिलोकि लाज अति लागी। ७४ । १।' सुमन्त्रजी श्रीरामजीको लौटा लाने गये और छूछे आये, तब भी कहा है—'बिरिद बाँधि बर बीरु कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई ॥ ··· सचिव सोच तेहि भाँति ॥ २ । १४४।' वस्तुतः वह भागकर नहीं आया था, सारथी उसे उठा लाया था। पर मूर्छा विगत होनेपर तो उसे तुरत लौट आना था। अथवा सारथीको डाँटना था कि रणभूमिसे क्यों ले आया जैसे दूसरी बार उसने किया है। यथा

* जबहीं जग्य करत सो देखा—(का०)। † मारा—(भा० दा०) मारेउ (का०)।

'सठ रन भूमि छड़ाइसि मोही। धिग धिग अधम मंदमति तोही॥ ९९। ८।' इससे स्पष्ट है कि रावणके लिये यह लज्जाकी बात थी। अतः निर्लज्ज कहा। अथवा, उसे यज्ञसे उठाना था इससे **'भाजि गृह आवा'** कहा।

२ (क) 'बकध्यान'—ऐसी चेष्टा, मुद्रा या ढंग जो देखनेमें तो बहुत साधु और उत्तम जान पड़े पर जिसका वास्तविक उद्देश्य बहुत ही दुष्ट वा अनुचित हो। जैसे बगला आँख बन्दकर जलाशयपर बैठता है मानो ध्यान लगाये है; भोला-भाला साधु है, पर मछली सामने आयी नहीं कि हड़प लिया। रावण अपना बुरा उद्देश्य सिद्ध करनेके लिये एकाग्रचित्त हो बैठा है मानो क्षमाशील साधु है; इसीसे 'बकध्यान' पद दिया। (ख) 'बकध्यान' कहकर यहाँ **'स्वारथ मन राता'** उसका धर्म कहा। बकध्यानसे जनाया कि आँख मूँदे हुए है। अतः आगे **'चितव न'** कहा।

२—**'स्वारथ मन राता'**—स्वारथ यह है कि यदि क्रोध करूँ या यज्ञसे उठ पड़ूँ तो यज्ञ निष्फल हो जायगा, इससे क्षमा करके लात भी सह रहा है। (पं०)। जयकी इच्छा एवं शत्रुसे अजय होनेकी अभिलाषा ही स्वार्थ है, यथा—**'करउँ अजय मख मन अस धरा'** (मेघनाद)। मनमें अजय-यज्ञकी धारणा करना ही स्वार्थ है। यथा अध्यात्मरामायणे—**'घ्नन्ति दन्तैश्च काष्ठैश्च वानरास्तमितस्ततः। न जहौ रावणो ध्यानं हतोऽपि विजिगीषया॥ १०। २३।'** अर्थात् वानर उसे दाँतोंसे काटते हैं, लकड़ीसे मारते हैं; इसपर भी जयका इच्छुक रावण ध्यानको नहीं छोड़ता।

३ (क)—पूर्व **'भा क्रोध बिसेषी'** कहा, यहाँ उसका स्वरूप **'परुष वचन'** कहा। **'रन ते निलज भाजि गृह आवा'''** यह कठोर वचन है। (ख) यहाँ मन, वचन और कर्म तीनोंसे क्रोध दिखाया।—**'क्रोध बिसेषी'** (मन), **'रन ते निलज''। अस कहि'**—वचन, और, **'मारेउ लाता'** कर्म है।

☞ इस-प्रसङ्गमें प्रधान तो श्रीहनुमान्‌जी हैं पर कार्य अङ्गदजीने किया।

छं०—**नहिं चितव जब करि कोप कपि* गहि दसन्ह लातन्ह मारहीं।**
धरि केस नारि निकारि बाहेर तेति दीन पुकारहीं॥
तब उठेउ क्रुद्ध कृतांत सम गहि चरन बानर डारई।
एहि बीच कपिन्ह बिधंस कृत मख देखि मन महुँ हारई॥

अर्थ—जब उसने आँखें न खोलीं तब वानर कोप करके उसे दाँतोंसे काटने और लातोंसे मारने लगे। उसकी स्त्रियोंके बाल पकड़कर उनको बाहर निकाल लाये, वे अत्यन्त दीन होकर पुकारने लगीं। तब वह क्रोधित कालके समान उठा और वानरोंके पैर पकड़कर फेंकने, गिराने, पटकने व यज्ञमें डालने लगा। इसी बीचमें वानरोंने यज्ञ विध्वंस कर डाला, यह देख वह मनमें हारने लगा।

नोट—१ (क) **'करि कोप'** इति। पूर्व तो कोप कह आये अब यहाँ फिर कैसे कहा कि कोप किया? उत्तर—फिर कोप करना लिखकर जनाया कि जब लात मारी तब प्रथम क्रोध कुछ शान्त हो गया था। इसीसे यहाँ फिर **'करि कोप'** कहा। वा, पूर्व क्रोध स्वयं अपनेसे मनमें हो आया था और अब ये अपनी तरफसे कोप करते हैं; इसीसे पूर्व **'भा क्रोध'** और अब **'करि कोप'** कहा। इस प्रकार पूर्ववाले क्रोधकी मात्रा बढ़ाते हैं। (ख) **'गहि दसन्ह''''** इति। मिलान कीजिये—**"तत्र कोलाहलं चक्रुस्ताडयन्तश्च सेवकान्। संभारांश्चिक्षिपुस्तत्र होमकुण्डे समन्ततः॥ २१॥ स्रुवमाच्छिद्य रावणस्य बलाद्रुषा। तेनैव संजघानाशु हनुमान्प्लवङ्गाग्रणी॥ २२॥ घ्नंति दन्तैश्च काष्ठैश्च वानरास्तमितस्ततः।"** (अ० रा० १०)। अर्थात् उस गुहामें वानर उन सबको मारते-पीटते बड़ा कोलाहल करने लगे। जो सामग्री थी वह सब होमकुण्डमें छोड़ दी। रावणके हाथसे स्रुवाको जबरदस्ती छीनकर वानरोंमें अग्रगण्य हनुमान्‌जी उसीसे उसको मारने लगे।

२ 'पुकारहीं' और 'ते' बहुवचन पद देकर जनाया कि सभी स्त्रियोंको निकाल लाये। ☞ यहाँ मंदोदरीको कौन लाया, यह न कहा। अ० रा० १०। २४ में अङ्गदका घसीट लाना वर्णित है। यथा **'प्रविश्यान्तःपुरे वेश्मन्यङ्गदो वेगवत्तरः। समानयत्केशबन्धे धृत्वा मन्दोदरीं शुभाम्॥'** और विनयमें हनुमान्‌जीका उसे घसीट लाना कहा है, यथा—

* कपि कोपि तब—(का०)

'जयति मंदोदरी केसकर्षन विद्यमान दसकंठ भट मुकुट मानी' (वि० २९)। मतभेदके कारण यहाँ मंदोदरीका पृथक् नाम देकर नहीं कहा। केवल 'नारि' पद दे दिया, इसमें वह भी आ गयी। रामचंद्रिकामें भी अङ्गद इस प्रसंगमें मुख्य हैं। पद बड़ा मनोरम और पढ़ने योग्य है; पर यह नहीं मालूम कि किस आधारपर केशवदासजीने यह चरित-चित्रण किया है। वह पद यह है—'भजी देखि कै शंकि लंकेशबाला। दुरी दौरि मंदोदरी चित्रशाला॥ १॥ तहाँ दौरि गो बालिको पूत फूल्यो। सबै चित्र की पुत्रिका देखि भूल्यो॥ २॥ गहै दौरि जाको तजै ताकि ताको। तजै जा दिशाको भजै बाम वाको॥ ३॥ भले कै निहारी सबै चित्र-सारी। लहै सुंदरी क्यों दरीको विहारी॥ ४॥'

वि० त्रि०—मेघनाद तो बंदरोंके लात मारनेको न सहकर उठ पड़ा, और त्रिशूल लेकर दौड़ा। परंतु रावणने तो अङ्गदके लात मारनेपर आँख उठाकर भी नहीं देखा (यथा—'अस कहि अंगद मारेहु लाता। चितव न सठ स्वारथ मन राता')। बंदर लोग दाँतसे काटते हैं, लात मारते हैं, पर वह स्वार्थको आगे किये हुए सब सहता जाता है। तब हनुमान्‌जीने यह युक्ति की कि मन्दोदरीका केश पकड़कर खींच लाये। रावणके रहते मन्दोदरीका केश पकड़कर खींचनेका साहस त्रैलोक्यमें दूसरा कौन कर सकता था? यथा—'जयति मन्दोदरी केसकर्षण विद्यमान दसकंठ भट मुकुट मानी'। तब रावण नहीं सह सका; क्रोध करके उठा, पर हनुमान्‌जीपर चोट करनेका फिर भी साहस नहीं हुआ। कवि कहते हैं कि 'गहि चरन बानर डारई।'

नोट—३ (क) यहाँ रावणके साथ उसको यज्ञसे उठाकर बाहर लानेमें तीन प्रकारके उपाय एकके बाद एक किये गये। प्रथम तो अङ्गदने कठोर वचन कहे और साथ ही उसके एक लात मारी। फिर क्रोधपूर्वक उसे पकड़-पकड़ सभीने लातें मारीं और दाँतोंसे काटा। इसपर भी न उठा तब मन्दोदरी आदि स्त्रियोंकी चोटियाँ पकड़े, घसीटते बाहर उसके सामने निकाल लाये, इस विचारसे कि अपने सामने अपनी स्त्रियोंकी दुर्गति देखकर कैसा भी निर्लज्ज हो वह भी न सह सकेगा।

प्रथम उपायसे दूसरा अधिक था (पहले अङ्गदने लात मारी, दूसरेमें सब लात मारते और सब काटते हैं) और दूसरेसे तीसरा अधिक—यह अन्तिम उपाय था; इससे सफल हुए। यह सार अलंकार है। (ख)—वीर स्त्रियोंपर हाथ नहीं चलाते। पर ये बहुत क्रोधमें भरे हुए हैं—'सकल कपिन्ह भा क्रोध बिसेषी'। क्रोधमें उचितानुचितका विचार नहीं रहता। 'तदपि कठिन दसकंठ सुनु छत्रजाति कर रोष। २३।' पृष्ठ १५१ देखिये। यहाँ 'शत्रुपक्षीय प्रत्यनीक अलंकार' है। दूसरा कारण हाथ चलानेका यह है कि रावणने श्रीसीताजीको जबरदस्ती हरण किया था, दुर्वचन कहे थे, अशोकवनमें उनके वचन सुन मारने दौड़ा था, इत्यादि, सब अपमानोंके बदलेमें वानरोंने उसकी स्त्रियोंकी दुर्गति की। रावणने श्रीरामजीकी अनुपस्थितिमें उनका अपमान किया और इन्होंने रावणके सामने उसकी रानियोंको बेइज्जत किया।

पं० पा०—रावणने स्वतः ऐसा किया था और यहाँ दासोंने ऐसा किया, क्योंकि श्रीरामजी परस्त्रीका स्पर्श नहीं करते।

शीला—रावणने लोकमें चार प्रकारके दण्ड किये—अग्निदण्ड, चौरदण्ड, राजदण्ड और धर्मदण्ड। इन चारोंका बदला श्रीरामचन्द्रजीने उसको उसी प्रकारसे दिया—

(१) अग्निदण्ड। 'जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाँव पुर आग लगावहिं', यह रावणके दूतोंने किया। इसका बदला अपने दूत हनुमान्‌जीद्वारा उन्होंने लिया कि लङ्का ही जला दी।

(२) चौरदण्ड। 'रावणने (चोरीसे) सीताहरण किया' यथा—'सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥' श्रीरामजीने अपने हाथोंसे उसको चौरदण्ड दिया, यथा—'छत्र मुकुट ताटंक सब हते एक ही बान। सबके देखत महि परे मरम न काहू जान'॥ रावणपर क्रमालंकारसे यह दण्ड किया है—प्रथम छत्रभङ्गसे मानो राज्य छीना, मुकुटसे मानो सिर काटे, ताटङ्क गिरे मानो तरकी (?) उतार ली।'

(३) राजदण्ड। रावणने अयोग्य राजदण्ड किया कि ऋषियोंसे रुधिररूपी कर लिया। श्रीरामजीने अङ्गदको अकेले अस्त्ररहित भेजकर इसका बदला लिया कि सब उसकी 'लात' से हार गये, कोई चरणको न हटा सका।

(४) धर्मदण्ड। कुबेरके पुत्र नलकूबरकी वधूसे शिवपूजन समय (?) रावणने बलात्कार किया। इसका दण्ड रावणको यज्ञ करते समय यहाँ दिया गया कि वानरोंने उसकी मन्दोदरी आदि समस्त रानियोंको उसके सामने बाल पकड़कर घसीटकर नग्न कर दिया।

नोट—४ 'तेंति दीन पुकारहीं' इति । दीन होकर पुकारती हैं जिसमें रावणको एवं इनको करुणा आवे ।— 'क्रोशन्ती करुणं दीना जगाद दशकन्धरम्' । (ख) यह भी जनाया कि उन्हें नंगी कर दिया इसीसे वे अति दीन हैं । (ग) दीन वचन यह कि तेरे आगे ही हमारी यह दशा और तुझे वीर होकर भी लज्जा नहीं, यथा—'तोहि जिअत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ, (शूर्पणखा-वाक्य) । तुझे मर मिटना था, तूने श्रीरामजीकी स्त्रीका अपमान किया उसीका यह फल हमको मिल रहा है, करे तू और फल भोगें हम ? इत्यादि । यथा—'भूमिजा दुःख संजात रोषांतकृत जातना जंतुकृत जातुधानी' (वि० २९)

☞ मिलान कीजिये—'रावणस्यैव पुरतो विलपन्तीमनाथवत् । विददाराङ्गदस्तस्याः कन्चुकं रत्नभूषितम् ॥ २५ ॥ देवगन्धर्वकन्याश्च नीता हृष्टैः प्लवङ्गमैः । मन्दोदरी रुरोदाथ रावणस्याग्रतो भृशम् ॥ २८ ॥ क्रोशन्ती करुणं दीना जगाद दशकन्धरम् । निर्लज्जोऽसि परैरेवं केशपाशे विकृष्यसे ॥ २९ ॥ भार्या तवैव पुरतः किं जुहोषि न लज्जसे । हन्यते पश्यतो यस्य भार्या पापैश्च शत्रुभिः ॥ ३० ॥ मर्तव्यं तेन तत्रैव जीवितान्मरणं वरम् । हा मेघनाद ते माता क्लिश्यते बत वानरैः ॥ ३१ ॥ त्वयि जीवति मे दुःखमीदृशं च कथं भवेत् । भार्या लज्जा च संत्यक्ता भर्त्रा मे जीविताशया ॥ ३२ ॥ श्रुत्वा तद्देवितं राजा मन्दोदर्या दशाननः । उत्तस्थौ खड्गमादाय त्यज देवीमिति ब्रुवन् ॥ ३३ ॥' (अध्यात्मरामायणे दशमसर्गे) । अर्थात् रावणके देखते-देखते उसके आगे रोती हुई मन्दोदरीका रत्नभूषित कंचुक फाड़ डाला । देवगन्धर्वकी कन्याओंको वानर प्रसन्नतापूर्वक पकड़कर रावणके आगे लाये । मन्दोदरी उसके आगे अत्यन्त रोने लगी । करुणापूर्वक अत्यन्त दीन चिल्लाती हुई मन्दोदरी रावणसे बोली—'तू निर्लज्ज है कि अपनी स्त्रियोंको झोंटा पकड़े घसीटी जाती देखकर भी होममें लगा है, लज्जा नहीं लगती । पापी शत्रुओंद्वारा जिसकी स्त्री उसके देखते मारी जाय उसको वहीं मर जाना चाहिये । उसके जीनेसे मरना अच्छा । हा मेघनाद ! बड़ा खेद है, तेरी माता वानरोंसे क्लेशित हो रही है । तुम्हारे रहते हमारी यह दशा क्यों हो ! जीनेकी आशासे हमारे पतिने लज्जा और स्त्री सबको त्याग दिया । उस मन्दोदरीका रोदन सुनकर राजा रावण तलवार लेकर 'देवीको छोड़' ऐसा कहता हुआ उठा ।'—(नोट—यह प्रसङ्ग अ० रा० में मेघनादवधके पूर्वका है । इसीसे वहाँ मेघनादका नाम लेकर कह रही है । मानसमें इसको लेकर विलाप इस प्रकार होता होगा कि 'हा मेघनाद ! तू जीता होता तो हमारी यह दुर्गति कदापि न होती । तेरा पिता तो निर्लज्ज है, देख रहा है और कुछ बोलता भी नहीं । तू यह कब सह सकता !')

दोहा—जज्ञ बिधंसि कुसल कपि* आये रघुपति पास ।
चलेउ निसाचर क्रुद्ध होइ त्यागि जिवन कै आस ॥ ८४ ॥

अर्थ—यज्ञविध्वंसमें कुशल (निपुण) कपि यज्ञ विध्वंस करके कुशलपूर्वक श्रीरघुनाथजीके पास आये । निशाचर रावण जीनेकी आशा छोड़कर कुपित होकर चला ॥ ८४ ॥

नोट—'कुशल', 'कपि' और 'आए' दोनोंके साथ लगता है । कुशलपूर्वक आना इससे हुआ कि यज्ञविध्वंसका कार्य करके तुरंत लौट पड़े । नहीं तो उसके क्रोधावेशमें कुशल कहाँ ? पुनः, 'कुशल' इससे कहा कि पूर्व मेघनाद-यज्ञ भी विध्वंस कर आये थे । अतः इस कार्यमें कुशल हैं ।

पां०—'त्यागि जीवन कै आस' । भाव कि अभीतक तनसे हारा था, मनसे नहीं । जब यज्ञविध्वंस देखा तब मनसे भी हार गया; क्योंकि यज्ञके नाशसे उसका नाश होगा—यह देवताने कहा था । [शुक्राचार्यके वचनोंमें यह बात नहीं है । जीनेकी आशा न रहनेका कारण एक तो यही है कि श्रीलक्ष्मणजीने दो बार उसे मरणप्राय कर दिया था, इन्हींके हाथसे बचना कठिन है और श्रीरामजी युद्धमें आये तब तो न जाने क्या हो ! इनसे अजेय होनेके लिये यज्ञ किया सो पूरा न हुआ, अतः अब जय कठिन समझकर जीनेसे निराश हो गया ।]

नोट—'त्यागि जिवन कै आस' कहकर प्रथम ही जना दिया कि अब यह अपना अद्भुत-पूर्ण पराक्रम दिखायेगा । जब प्राणी प्राणसे हाथ धो बैठता है तब वह अपनी शक्तिसे बाहर कहीं अधिक पुरुषार्थ करता है, जी-जानपर खेलता है ।

* मष विधंसि कपि कुसल सब—(का०) ।

इसी तरह प्रथम दिनके दूसरे युद्धमें जब निशिचरोंको रावणने डाँटा और उन्होंने 'तजा प्रान कर लोभा' तब वानर-सेनाको उन्होंने आकर व्याकुल कर दिया था।

☞ शल्यपर्व दुर्योधन-भीम-युद्धके समय भगवान्‌ने शुक्राचार्यकी नीति अर्जुनसे बताते हुए कहा है कि 'युद्धमें मरनेसे बचा हुआ शत्रु यदि प्राण बचानेके लिये भाग जाय और फिर युद्धके लिये लौटे, तो उससे डरते रहना चाहिये, क्योंकि वे एक निश्चयपर पहुँचे हुए होते हैं। उस समय वे मृत्युसे नहीं डरते। जो जीवनकी आशा छोड़कर साहसपूर्वक युद्धमें कूद पड़े, उसके सामने इन्द्र भी नहीं ठहर सकते।'

चलत होहिं अति असुभ भयंकर। बैठहिं गीध उड़ाइ सिरन्ह पर॥ १॥
भएउ कालबस काहु न माना। कहेसि बजावहु जुद्ध निसाना॥ २॥

अर्थ—चलते समय उसको अत्यन्त भयङ्कर अमङ्गल होने लगे। गृध्र उसके सिरोंपर उड़कर बैठते हैं॥ १॥ वह कालके वश हो गया है, किसीकी एवं किसी अपशकुनको नहीं मानता। उसने युद्धके डंके बजानेकी आज्ञा दी॥ २॥

नोट—१ 'अति असुभ०' का भाव कि पूर्व जब रावण रणभूमिमें आया था तब भी अपशकुन हुए थे, पर वे भयावने मात्र थे, यथा—'असगुन अमित होहिं तेहि काला'''जनु कालदूत उलूक बोलहिं बचन परम भयावने॥ ७७॥' और अब 'अति भयंकर' हैं। 'अति भयंकर' अर्थात् अब प्राणघातसूचक अमंगल हो रहे हैं, यथा—'ततो निष्पततो युद्धे दशग्रीवस्य रक्षसः। रणे निधनशंसीनि रूपाण्येतानि जज्ञिरे॥ ४६॥'''एतानचिन्तयन् घोरानुत्पातान् समवस्थितान्। निर्ययौ रावणो मोहाद्वधार्थं कालचोदितः॥ ४८॥' (वाल्मी० ९५)। अर्थात् जब रावण युद्धके लिये चला तब उसे मरणसूचक ये चिह्न दिखायी दिये। पर वह मोहवश कालप्रेरित अपने वधके लिये चला।—अपशकुनोंका वर्णन विशेष 'असगुन होहिं न जाहिं बखानी। ४७। ७।' में देखिये।

२ (क)—"बैठहिं गीध उड़ाइ सिरन्ह पर"। यह अति भयङ्करता दिखाते हैं कि पूर्व 'गोमायु गीध कराल खर रव''' अर्थात् गृध्र भयावने शब्द करते थे, अब वे निःशंक उड़-उड़कर इसके सिरोंपर आ बैठते हैं। अर्थात् वे उसे मानो अभीसे मरा हुआ समझकर खाने आते हैं। यह मृत्युसूचक अशुभ है। 'उड़ाइ' का भाव कि बारंबार उड़ते हैं फिर आ बैठते हैं, क्योंकि वह अभी जीवित है। वाल्मी० ९५ में गृध्रोंका ध्वजाके अग्रभागपर आ बैठना कहा है, यथा—"ध्वजाग्रे न्यपतद्‌गृध्रो विनेदुश्चाशिवाः शिवाः॥ ४४॥"(ख)—'भयउ कालबस' यह भी अति भयंकरताका स्वरूप है। पूर्व 'जनु कालदूत उलूक बोलहिं' से कालदूतोंका आगमन उत्प्रेक्षामात्रसे जनाया था और अब स्वयं कालने आकर अपने वश कर लिया। पुनः, पहले काल इसके वशमें था—'भुज बल जितेहु काल जम साईं। १०३। ८।' और अब अपशकुन जनाते हैं कि वह कालके वश स्वयं हो गया। (ग) 'कालबस काहु न माना'—ऐसा ही प्रहस्तादिने भी कहा है। यथा—'हित मत तोहि न लागत कैसे। कालबिबस कहँ भेषज जैसे। १०। ५।' 'मंदोदरि मन महुँ अस ठयऊ। पियहि काल बस मति भ्रम भयऊ। १६। ८।' 'मंदोदरी हृदय अस जाना। काल बस्य उपजा अभिमाना। ८। ६।' 'काल बिबस पति कहा न माना। अगजगनाथ मनुज करि जाना। १०३। १३।' क्या बात न मानी? यह पूर्व ग्रन्थकार दोहा ३६ (६), १४ (८), ९ (५-६) इत्यादिमें कह आये हैं। श्रीरामजी मनुष्य नहीं हैं, चराचरनाथ हैं, इनसे वैर करनेसे कुशल नहीं, मृत्युसूचक अपशकुन हो रहे हैं, युद्धमें इस समय जानेसे कल्याण नहीं है। इत्यादि बातें हैं जो उसने न मानीं। पूर्व ७ (९) में असगुन हुए तब भुजबलके विशाल गर्वके कारण उनको कुछ न गिनना कहा था। यथा 'असगुन अमित होहिं तेहि काला। गनै न भुजबल गर्ब बिसाला॥' अब भुजबलका गर्व चूर्ण हो गया तब कालवश 'काहु न माना' कहा। ७७ (९) के अनुसार यहाँ 'काहु न माना' का अर्थ 'गनै न' (अर्थात् काहु सगुन को न माना) भी ले सकते हैं। (घ)—'जुद्ध निसाना'—युद्धके बाजे, मारू राग बजनेवाले बाजे; यथा।—'पनव निसान घोर रव बाजहिं। प्रलय समय के घन जनु गाजहिं॥ ८॥ भेरि नफीरि बाज सहनाई। मारू राग सुभट सुखदाई॥ ७८ (९)।' जो प्रथम युद्धमें बजे थे वही यहाँ भी जानिये।

चली तमीचर अनी अपारा। बहु गज रथ पदाति असवारा॥ ३॥

प्रभु सन्मुख धाए खल कैसे । सलभ समूह अनल कहँ जैसे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—पदाति=वह जो पैदल चलता हो, पैदल सिपाही ।

अर्थ—निशाचरोंकी अपार सेना चली । उसमें बहुत-से गज, रथ, पैदल और सवार हैं ॥ ३ ॥ वे दुष्ट प्रभुके सामने ऐसे दौड़े जैसे पतंगोंका समूह अग्निकी ओर (जलनेको) चले ॥ ४ ॥

नोट—१ **'बहु गज रथ पदाति असवारा'** इति । गज, रथ, पैदल और सवार (सवारमें घोड़े भी आ गये) से चतुरंगिणी सेना जनायी ।

पूर्व कहा—**'चलेउ निसाचर कटक अपारा । चतुरंगिनी अनी बहु धारा ॥ ७८ । १ ।'**

अब कहा—**'चली तमीचर अनी अपारा । बहु गज रथ पदाति असवारा'** ॥

इससे जनाया कि पूर्व-युद्धमें जैसी सेना साथ थी वैसी ही अब भी है । पूर्व कई श्रेणियाँ थीं—**'बहु धारा'** । अबकी बार 'धारा' पद नहीं है । क्योंकि अब सेना कम रह गयी है । बची हुई सेना लेकर चला ।

मिलान कीजिये—**'स विचार्य सभामध्ये राक्षसः सह मन्त्रिभिः । निर्ययौ येऽवशिष्टास्तैः राक्षसैः सह राघवम् । शलभः शलभैर्युक्तः प्रज्वलन्तमिवानलम् ।'** (अ० रा०) । अर्थात् रावण मन्त्रियोंसहित सभामें विचारकर, बचे हुए राक्षसोंसहित रामजीके सम्मुख चला । जैसे जलती हुई अग्निमें पतंगसमूह जा गिरते हैं ।

२—यहाँ 'उदाहरण' अलंकार है ।

२—**'सलभ समूह अनल कहँ जैसे'** इति । (क) पतंगे स्वयं आगके पास जा उसमें गिरकर मर जाते हैं, वैसे ही ये सब श्रीरघुनाथजीके रोषानल वा शरानलमें पड़कर जलेंगे । पतंगे रागसे अग्निके समीप जाते हैं और ये द्वेषसे प्रभुके सम्मुख आ रहे हैं । वा, यह कहें कि दोनों मोहवश प्राण गँवाते हैं, यथा—**'जरहिं पतंग बिमोहबस'** (अङ्गदवचन), और रावण तो मोहका स्वरूप ही है,—**'मोह दसमौलि'**—(विनय), **'महामोह ममता मद त्यागू ।'**—(कालनेमि) । (ख)—☞ यहाँ भक्तराज श्रीजटायु और श्रीलक्ष्मणजीके वचनोंका चरितार्थ है—

श्रीलक्ष्मणोक्ति—**'होहि कि राम सरानल खल कुल सहित पतंग । ५ । ५६ ।'**

श्रीजटायु-वाक्य—**'रामरोषपावक अति घोरा । होइहि सकल सलभ कुल तोरा । ३ । २९ । १७ ।'**

(ग)—यहाँ 'अनल' की उपमा दी, दीपककी नहीं, क्योंकि निशिचर अपार हैं । पतंगोंका समूह है, इनसे दीपक बुझ जायगा, अग्नि बुझेगी नहीं वरन् प्रचंड हो जायगी ।

रा० प्र०—जैसे पतंगे अपने साथियोंको अग्निमें भस्म होते देखकर भी उसमें जा गिरते हैं, वैसे ही ये सब दुष्ट देख रहे हैं कि प्रभुके शरानलमें सब राक्षस भस्म होते जाते हैं तब भी मोहवश उनसे युद्ध करने जाते हैं ।

इहाँ देवतन्ह अस्तुति* कीन्ही । दारुन बिपति हमहिं एहि दीन्ही ॥ ५ ॥
अब जनि राम खेलावहु एही । अतिसय दुखित होति बैदेही ॥ ६ ॥

अर्थ—इधर देवताओंने स्तुति की कि—'हे राम ! इसने हम सबोंको असह्य क्लेश दिया है, अब आप इसे खेलाइये नहीं, वैदेही अतिशय दुःखी हो रही है ॥ ५-६ ॥'

नोट—१ **'इहाँ'** से जनाया कि जब रावण उधर सेना तैयार करके चलनेको हुआ, उसी समय इधर देवताओंने आकर यह प्रार्थना की । ग्रन्थकार एक हैं इससे एक स्थानका हाल लिखकर तब दूसरी ओरका समाचार लिखते हैं । (ख) **'दारुन बिपति हमहिं···'** इति । पहले देवताओंने अपनी विपत्ति कही क्योंकि ये स्वार्थरत हैं, यथा—**'आए देव सदा स्वारथी'** । फिर सोचे कि हमारी विपत्तिपर शीघ्र दया न करेंगे, भक्तका संकट शीघ्र छुड़ाते हैं, उसे नहीं सह सकते, अतः फिर यह कहा कि **'अतिसय दुखित होति बैदेही'** । यथा—**'सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा । नरहरि किये प्रगट प्रहलादा ॥ अ० २६५ । ५ ।'** श्रीसीताजीको दुःखित सुनकर करुणायुक्त हो जायँगे, यह देव जानते हैं, हनुमान्‌जीसे

* बिनती—(का०)

समाचार सुननेपर ऐसा हो चुका है, यथा—'सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आए जल राजिवनयना। ५। ३२। १।' दुःख सुनकर तुरंत चलनेकी तैयारी कर दी थी, यथा—'अब बिलंबु केहि कारन कीजै। तुरत कपिन्ह कहँ आयसु दीजै'॥ (ख)—'वैदेही' पदसे जनाया कि इतना कष्ट है कि शरीर रहना कठिन है। (प्र० सं०)। अथवा, यह कि वैदेही होनेसे दुःख-सुखको समान माननेवाली होती हुई भी वे अतिशय दुःख होनेसे अब उसे सह नहीं सकतीं। (प० प० प्र०)। (ग) श्रीसीताजीका दुःख कहकर अपने दुःख दूर करनेकी प्रार्थनामें 'पर्यायोक्ति अलंकार' की ध्वनि है। 'राम' का भाव कि आप सबमें रमण कर रहे हैं; अतएव आप सबकी जानते हैं। पुनः यहाँ 'खेलावहु' के सम्बन्धसे (रमु क्रीडायाम्के भावसे) 'राम' पद दिया। भाव यह कि अब क्रीड़ा, कौतुक, खेल छोड़िये।

पं० वि० त्रिपाठीजी—भारी वीर शत्रुको तुरंत नहीं मार देते, उसे अपने पुरुषार्थ दिखानेका पूरा अवसर देते हैं। इससे उसके मारनेमें देर लगती है। लक्ष्मणजीने मेघनादको अपना पुरुषार्थ दिखानेका पूरा-पूरा अवसर दिया। बंदरोंने समझा कि यह अजय है, लक्ष्मणजीका मारा न मरेगा, अतः डर गये, तब लक्ष्मणजीने उसे मारा। यथा—'देखि अजय रिपु डरपे कीसा। परम क्रुद्ध तब भयउ अहीसा॥ लछिमन मन अस मंत्र दृढ़ावा। एहि पापिहि मैं बहुत खेलावा॥' यही हाल देवताओंका हुआ, ये भी डरे हुए हैं। यद्यपि जानते हैं कि रावणको भी सरकार खेला रहे हैं। पहिली लड़ाईमें स्वयं नहीं उठे। यद्यपि रावणकी सेना भाग गयी, फिर भी उनका संहार तो नहीं हुआ। अब भी अपार सेना लिये रावण चला आ रहा है, और सैनिक भी उत्साहके साथ दौड़े चले आ रहे हैं। (यथा—'प्रभु सनमुख धाए खल कैसे। सलभ समूह अनल कहँ जैसे') अतः उसके लिये विनती करते हैं कि हमलोग तो समझ रहे हैं कि आप रावणको खेलाते हैं, पर वैदेही तो ऐसा नहीं समझ सकतीं, वे अत्यन्त दुखी हो रही हैं (सारांश यह कि बिना सरकारके उठे निशिचरोंका संहार नहीं होगा, अतः दूसरे शब्दोंमें यही प्रार्थना है कि अब सरकार उठें)।

देव बचन सुनि प्रभु मुसुकाना। उठि रघुबीर सुधारे बाना॥ ७॥
जटाजूट दृढ़ बाँधे माथे। सोहहिं सुमन बीच बिच गाँथे॥ ८॥

अर्थ—देवताओंके वचन सुनकर प्रभु मुसकराये। फिर श्रीरघुनाथजीने उठकर बाण सुधारे॥ ७॥ मस्तकपर जटाओंके जूड़ेको दृढ़ करके (कसकर) बाँधा (जिसमें संग्राममें खुल न जायँ), बीच-बीचमें गुँथे हुए फूल शोभित हो रहे हैं॥ ८॥

नोट—१ 'देव बचन सुनि प्रभु मुसुकाना' इति। 'मुसुकाना'—(क) उनकी चतुरतापर कि अपना भय न कहकर हमारे चित्तमें क्षोभ उत्पन्न करनेके लिये वैदेहीका अतिशय दुखी होना कहते हैं। (ख)—इससे उनपर अपना अनुग्रह सूचित किया, यथा—'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥ १। १९८। ७॥' भाव कि हम आपकी प्रार्थना अङ्गीकार करते हैं, शीघ्र आपका दुःख दूर करेंगे। वा, (ग)—इससे हँसे कि देखिये तो सुरवृन्द अब जानकीजीपर बड़ी मया करते हैं, और पहिले सरस्वतीको प्रेरित कर इनको नंगे पैर वनमें भेजवाया था तब दया न थी।—(पं०, पु० रा० कु०)। वा, (घ) हँसे यह कि मैं तो सेनासहित क्लेश सह रहा हूँ और देवता इन क्लेशोंको खेल खेलना समझते हैं। पुनः, पहिले तो जानकीजीको वनवास दिलानेकी युक्ति की थी और अब कह रहे हैं कि जानकीजी दुखित हो रही हैं। अथवा, अपनी लीलाकी विचित्रताको विचार कर हँसे। (मा० म०)

प० प० प्र०—(१) देवता ऐश्वर्यभावसे स्तुति कर रहे हैं। अतः ऐश्वर्यभाव दबाकर उनमें माधुर्यभाव जाग्रत् करनेके लिये अपनी दैवी मायाको हँसकर प्रेरित किया। यथा—'उपजा जब ग्याना प्रभु मुसुकाना। १। १९२।', 'मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी। १। २१६।' पुनः, हास्यमें देवोंकी स्वार्थपरायणतापर दृष्टि है कि ये ही सब क्लेशोंके मूल हैं, यहाँ दयाका स्वाँग दम्भ करते हैं। पुनः हँसकर रावण-सेनाके साथ युद्ध करनेको अपनी विद्यामायाको प्रेरित किया। प्रबल शत्रुका संहार करनेकी तैयारीके समय हास्यद्वारा अपनी माया-शक्तिको इस तरह प्रेरित किया करते हैं। यथा—'देखि राम रिपुदल चलि आवा। बिहँसि कठिन कोदंड चढ़ावा॥ ३। १८। १३॥', 'दूतन्ह कहा राम सन जाई। सुनत राम बोले मुसुकाई॥ ३। १९। ८॥', 'निज सेन चकित बिलोकि हँसि सर चाप सजि कोसलधनी। ६। ८८।'

'प्रभु मुसकान समुझि अभिमाना। चाप चढ़ाइ बान संधाना॥ ६। १३। ८॥', 'सुर बानर देखे बिकल हँस्यो कोसलाधीस। ९५ छन्द।' इत्यादि।

नोट—२ मुसुकानेके साथ 'प्रभु' सामर्थ्यवाचक पद दिया और वीर बाना सजनेके सम्बन्धसे 'रघुबीर' कहा।

प० प० प्र०—यहाँ 'रघुबीर' से पञ्चवीरतायुक्त जनाया। देवोंपर कृपा करेंगे (यह कृपावीरता), शत्रुओंको मुक्ति देनेमें दानवीरता, रावणादिके वधमें युद्धवीरता, धर्मयुद्ध करनेमें धर्मवीरता और प्रभु हैं, सब कुछ जानते हैं, अभी रावणके क्षयका समय आया नहीं है, इससे कुछ देर खेलेंगे, जैसे गरुड़ सर्पसे खेलता है, इससे 'विद्यावीरता' सूचित हुई।

नोट—३ जटाजूटका बाँधना यहाँ रावण-युद्धमें कहा और पूर्व खरदूषण-युद्धमें भी कहा था, यथा—**'सिर जटाजूट बाँधत सोह क्यों'**। अन्यत्र यह छबि नहीं कही गयी। ऐसा करके रावण और खरदूषणकी समता दिखायी—**'खरदूषन मोहि सम बलवंता। ३। २३। २।'** दोनोंका मिलान देखिये—

रावणयुद्ध-प्रसङ्ग	खरदूषणयुद्ध-प्रसङ्ग	रावणयुद्ध-प्रसङ्ग	खरदूषणयुद्ध-प्रसङ्ग
प्रभु मुसुकाने	**१ बिहँसि**	**कर कोदंड कठिन सारंगा**	**७ कठिन कोदंड चढ़ावा**
रघुबीर सुधारे बान	**२ बिसिख सुधारि कै**	**भुजदंड पीन मनोहर**	**८ बिसाल भुज गहि चाप**
जटाजूट दृढ़ बाँधे माथे	**३ सिर जटजूट बाँधत सोह**	**हरषे देव बिलोकि छबि**	**९ हम भरि जनम सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥**
अरुन नयन	**४ चितवत मनहु मृगराज प्रभु०**		
कटितट परिकर कसेउ निषंगा	**५ कटि कसि निषंग**	१० दोनों जगह छबि-वर्णनमें एक-एक छन्द भी है।	
तन बारिद स्यामा	**६ मरकत सैल**	यहाँ ३॥। अर्धालियाँ	११ यहाँ ४॥ अर्धालियाँ

पं०—यहाँ जटाओंमें पुष्पोंका गुँथा होना इससे कहा कि रणसमय शूरवीर रंजित वस्त्र और कलँगी धारण करते हैं, इत्यादि। रघुनाथजी वनवासमें हैं अतः उन्होंने जटाओंमें पुष्प ही धारण किये।

अरुन नयन बारिद तनु स्यामा। अखिल लोक लोचनाभिरामा॥ ९॥
कटि तट परिकर कस्यौ निषंगा। कर कोदंड कठिन सारंगा॥१०॥

शब्दार्थ—परिकर=कटिवस्त्र, कटिबंधन। शार्ङ्ग—६६ (१) देखिये।

अर्थ—लाल नेत्र और श्याममेघवत् साँवला शरीर समस्त लोकोंके (अर्थात् लोकवासियोंके) नेत्रोंको आनन्द देनेवाला है॥ ९॥ कटिदेश (कमरमें) कटिबन्धनसे तरकश कसा हुआ है। हाथमें कठिन शार्ङ्गधनुष है॥ १०॥

रा० प्र०—'अरुननयन' स्वाभाविक हैं। अथवा इस समय देवस्तुति सुनकर उनके दुःखहरणके विचारसे नेत्र अरुण हो गये हैं जो रोषभावके सूचक हैं।

नोट—'अखिल लोक लोचनाभिरामा'। अखिल लोकके नेत्रोंको सुखदायक कहा। यह सत्य ही है। शूर्पणखा खरदूषणादि भी इनको देखकर मोहित हो गये थे तब औरोंकी कहनी ही क्या? मिलान कीजिये—**'करहु सुफल सब के नयन सुंदर बदन देखाइ। १। २१८। मुनिपदकमल बंदि दोउ भ्राता। चले लोकलोचन सुखदाता॥'**

छंद—सारंग कर सुंदर निषंग सिलीमुखाकर कटि कस्यौ।
भुजदंड पीन मनोहरायत उर धरासुर पद लस्यौ॥
कह दास तुलसी जबहिं प्रभु सर चाप कर फेरन लगे।
ब्रह्मांड दिग्गज कमठ अहि महि सिंधु भूधर डगमगे॥

शब्दार्थ—धरासुर=महिदेव=ब्राह्मण; भृगुजी।

अर्थ—सुन्दर हाथमें सुन्दर शार्ङ्गधनुष है, कमरमें बाणोंकी खानिवाला (अर्थात् अक्षय, जिसमेंसे बाण बराबर जितने चाहें उतने निकलते जायँ, कभी वह खाली न हो सके) तरकश कसा हुआ है। भुजदण्ड पुष्ट और सुन्दर हैं, चौड़ी

(विस्तीर्ण) छातीपर भृगुजीका चरण शोभित है। तुलसीदासजी कहते हैं कि ज्यों ही प्रभु हाथोंमें धनुषबाण फिराने लगे त्यों ही ब्रह्माण्ड, दिशाओंके हाथी, कच्छप, शेष, पृथ्वी, समुद्र और पर्वत सभी डगमगाने लगे।

नोट—१ इन सबका डगमगाना भयके कारण है कि न जाने क्या होनेवाला है, यथा—'**लषन सकोप बचन जब बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले॥ सकल लोक सब भूप डेराने**'। २—देवताओंको धैर्य देनेके लिये धनुषबाण फेरनेका चरित किया गया कि जब इतनेमें ब्रह्माण्डादिक काँप उठे, तब हमारे कोपकर बाण चलानेपर रावण कहाँ रह सकता है?

शीला—यहाँ वीररसके ध्यानमें 'भृगुलता' का वर्णन करनेका भाव यह है कि यह चिह्न ब्रह्मण्यधर्मसे रामजीकी जय सूचित करता है—[आगे राम-रावण द्वन्द्वयुद्धके समय रथपर चढ़ते समय 'विप्रचरण' को माथा नवाकर युद्ध प्रारम्भ करेंगे। अतः यहाँ यह ध्यान भी उपयुक्त और साभिप्राय है]।

प० प० प्र०—इस छन्दमें शृङ्गार, वीर और भयानक तथा अद्भुतरसोंका वर्णन है। अरण्यकाण्ड दोहा १८ के छन्दमें (खरदूषणयुद्ध समय) केवल वीररसका ही वर्णन है। यह छन्द मानो राम-रावण युद्धका मङ्गलाचरण ही है।

दो०—सोभा देखि हरषि सुर बरषहिं सुमन अपार।
***जय जय जय करुनानिधि छबि बल गुन आगार॥ ८५॥**

अर्थ—शोभा देखकर देवता प्रसन्न होकर फूलोंकी अपार वर्षा करने लगे और 'छवि, बल और गुणोंके धाम करुणासागरकी जय हो! जय हो!' इस प्रकार जयजयकार करते हैं॥ ८५॥

नोट—पुष्पोंकी वर्षासे हर्ष, मंगल और सेवा प्रकट करते हैं। 'करुणानिधि' आदि विशेषण देकर जयजयकार करते हैं। देवताओंकी विनय सुनकर उनके दुःखहरणके लिये उठकर बाणादि सुधारना करुणा सूचित करता है, अतः 'करुणानिधि' कहकर जयजयकार किया। 'छविके आगार' कहकर जयकार किया क्योंकि इस समयकी छटा '**अरुन नयन बारिद तनु स्यामा**' '**अखिल लोक लोचन अभिरामा**' है, रावण-वधसे सारे ब्रह्माण्ड सुखी होंगे। 'बल आगार' कहा क्योंकि शर-चाप फेरनेमात्रसे ब्रह्माण्ड आदि कँप उठे। 'गुण' से यहाँ रणमें विजय प्राप्त करनेवाले सब गुण एवं सब दिव्य गुणोंसे तात्पर्य है। इन गुणोंसे पूर्ण सम्पन्न देखकर 'गुण-आगार' कहा।

एही बीच निसाचर अनी। कसमसात आई अति घनी॥ १॥
देखि चले सन्मुख कपि भट्टा। प्रलय काल के जनु घन घट्टा॥ २॥

शब्दार्थ—कसमसाना=एक ही स्थानपर बहुत-से व्यक्तियोंका एक दूसरेसे रगड़ खाते हुए हिलना-डोलना। कुलबुलाना।

अर्थ—इसी बीचमें बहुत घनी राक्षस-सेना कसमसाती हुई आयी॥ १॥ उसे देखकर वानर योद्धा (इस प्रकार उनके) सम्मुख चले मानो प्रलयकालके बादलोंका उमड़ता हुआ घना समूह हो॥ २॥

नोट—१ (क) ऊपर जो दोहा ८५ (३) में कहा था कि '**चली तमीचर अनी अपारा।**…' उसका अर्थ यहाँ खोला कि ऐसी अपार थी कि कंधेसे कंधा रगड़ती चलती थी। (ख) पूर्व जो प्रसंग '**प्रभु सनमुख धाये खल कैसे।**… ८५। ४।' पर छोड़ा था वह यहाँ फिर उठाया। बीचमें देवताओंकी विनती और उसे सुनकर श्रीरघुवीरजीका युद्धके लिये उठना तथा उनकी छवि आदि कहने लगे थे। अब '**एही बीच**…' कहकर उस प्रसंगसे मिलाया। (ग) इस प्रसंगमें रावणको कालवस कहा, यथा—'**भयउ कालवस काहु न माना**' और उसकी सेनाको पतंग कहा, यथा—'**सलभ समूह अनल कहँ जैसे**' तथा वानरसेनाको प्रलयकालके उमड़ते हुए बादल कहा, '**प्रलयकाल के जनु घन घट्टा**'।

वं० पा०—प्रलयकालके बादलोंकी उत्प्रेक्षाका भाव यह है कि जैसे प्रलय करनेके लिये प्रलयके बादलसमूह वर्षा

* पाठान्तर—"हरषे देव बिलोकि छबि बरषहिं सुमन अपार।
जय जय प्रभु गुन ग्यान बल धाम हरन महिभार॥—(का०)

करते हैं वैसे ही ये वानर भालु गिरि-तरुकी वर्षा कर राक्षसोंका प्रलय करनेके लिये चले।—मानसमुखबंदमें निशाचरोंसे युद्धको घोरवर्षा कहा ही है, यथा—'बर्षा घोर निसाचर रारी। १। ४२। ५।' आगे वर्षाका साङ्गरूपक कवि स्वयं देते हैं।

प० प० प्र० स्वामीका मत है कि 'प्रलय कालके घन घट्टा' निशाचर अनी है। वे लिखते हैं कि प्रलयकालके घन बहुत काले होते हैं और उनमें ही बिजली चमकती है। अतः 'प्रलय कालके घन घट्टा' को राक्षस-सेना-समूहके साथ ही लेना सयुक्तिक है। दोहा ४५ (९) में 'प्राबिट सरद पयोद घनेरे। लरत मनहु मारुत के प्रेरे।' कहा है। वहाँ 'प्रावृट पयोद' काले निशाचरोंके लिये और 'शरद पयोद' नाना वर्णके भालु कपिवीरोंके लिये कहा ही है। गर्जन भी मेघोंमें ही होता है। अतः 'प्रलय कालके जनु घन घट्टा' से 'गर्जहिं मनहुँ बलाहक घोरा' तक राक्षस-सेनाका वर्णन है। और 'कपि लंगूल बिपुल नभ छाए। मनहुँ इन्द्रधनु उए सुहाए' में कपि-सेनाका विविध वर्णोंका होना 'इन्द्रधनु' से सूचित किया। इन्द्रधनु तब दिखायी देता है जब कि एक दिशामें सूर्यप्रकाश छा रहा हो और विरुद्ध दिशामें वृष्टि होती है। अतः वर्षाका वर्णन भी करना चाहिये। अभी श्रीरामजीने बाणोंकी वृष्टि नहीं की है। अतः बाण-बुंद-वृष्टि विरुद्ध बाजूकी ही समझनी चाहिये। यहाँ एक तरफ रघुवीररूपी सूर्य प्रकाशमान हैं, सामने राक्षस-सेनारूपी घनमण्डलसे वृष्टि हो रही है और नाना वर्ण कपि लांगूलरूपी इन्द्रधनु इन मेघोंमें देख पड़ते हैं। इससे सूचित किया कि राक्षस वीरोंसे कपि वीर भिड़ गये हैं। अन्यथा इन्द्रधनुका दर्शन सम्भव नहीं। यह साङ्गरूपक दोहा ८६ (७) में पूर्ण हुआ।

परन्तु अन्य सभी टीकाकारोंका मत वही है जो ऊपर दिया गया। यहाँ वानर-सेनाका राक्षसोंकी ओर चलना उत्प्रेक्षाका विषय है। प्रलयकालके बादल नाश करनेके लिये उमड़ते चलते ही हैं वैसे ही ये चले। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

प० प० प्र०—१ यहाँसे कविके हृदयमें भी वीररसका बड़ा संचार हो रहा है जिसका परिणाम यह है कि स्वाभाविक ही भाषामें ओज बढ़ गया। 'भट' का भट्ट, 'घटा' का घट्टा, 'चमकहि' का 'चमंकहि' और 'दमक' का दमंक रूपमें प्रयोग होने लगा।

२ 'एही बीच···' के दोनों चरणोंमें एक-एक मात्राकी कमीका भाव जाननेके लिये दोहा ८४, ८५ का संदर्भ ध्यानमें लाना चाहिये। इन शलभोंको अग्निकी ओर दौड़े जाते देख श्रीशिवादि देवोंको उनपर तरस आ गया कि ये बड़े मूर्ख हैं, व्यर्थ जल मरेंगे। 'मरन मन महुँ ठानि' चले हैं अतः घनघोर भयंकर बीभत्स युद्ध होगा, इत्यादि भाव मात्राकी न्यूनताद्वारा सूचित किये।

बहु कृपान तरवारि चमंकहिं। जनु दह दिसि दामिनी दमंकहिं॥ ३॥
गज रथ तुरग चिकार कठोरा। गर्जहिं* मनहुँ बलाहक घोरा॥ ४॥

शब्दार्थ—बलाहक=मेघ, यथा—'अभ्रं मेघो वारिवाहस्तनयित्नुर्बलाहकः' इत्यमरः। दमंकना (दमकना)=चमचमाना, चमकना। चिकार=चिंघाड़; चीत्कार, भारी शब्द। दह=दश।

अर्थ—बहुत-से कृपाण (द्विधारा खड्ग) और तलवारें चमक रही हैं मानो दशों दिशाओंमें बिजलियाँ चमचमा रही हों॥ ३॥ हाथी, रथ और घोड़ोंका कठोर चीत्कार ऐसा जान पड़ता था मानो भयंकर मेघ घोर गर्जन कर रहे हैं॥ ४॥

पां०—दशों दिशाओंमें चमकना कहकर जनाया कि आठों दिशाओं-विदिशाओंमें राक्षसी सेना है। तलवारें ऊपर उठती हैं तब आकाशमें चमक हुई। [अथवा, जो आकाशमें उछलकर चलाते हैं उनकी आकाशमें चमकती हैं। (वै०)] जब हाथसे गिरकर पृथ्वीपर आती हैं तब यहाँ भी चमकती हैं; इस तरह दसों दिशाएँ हुईं। सीधी तलवार टेढ़ी हो-होकर चमकती है, इसीसे बिजलीके समान देख पड़ती है।

नोट—ऊपर प्रलयके बादलोंकी उत्प्रेक्षा की। अब वर्षाऋतु और युद्धका साङ्गरूपक देते हैं। मेघ, मेघोंका गर्जन, बिजली, इन्द्रधनुष, जलवृष्टि एवं वज्रपात आदि वर्षाके अङ्ग हैं, वे सब यहाँ कवि दिखाते हैं।

कपि लंगूर बिपुल नभ छाए। मनहु इंद्रधनु उए सुहाए॥ ५॥

---

* गर्जत (का०)। 'गर्जहिं'—(रा० गु० द्वि०, भा० दा०)।

उठै धूरि मानहु जल धारा। बानबुंद भइ बृष्टि अपारा॥ ६॥

अर्थ—वानरोंकी बहुत-सी पूँछें आकाशमें छायी हुई हैं मानो सुन्दर इन्द्रधनुष उदय हुआ है॥ ५॥ धूलि ऐसी उठ रही है मानो जलकी धारा हो। बाणरूपी बूँदोंकी अपार वृष्टि हुई॥ ६॥

नोट—इन्द्रधनुषमें सात रङ्ग होते हैं—हरा, नारंगी, लाल, पीत, नीला, भूरा और बनफ़शई। वैसे ही यहाँ वानर भी अनेक रंगके हैं। दूसरी समता यह है कि वानर पूँछ धनुषाकार उठाये हुए हैं। तीसरे यह भी जनाया कि वे सब धनुषाकार आकाशमें छाये हैं।

पं०—धूलके कण जो निरन्तर पड़ते हैं वे इतने सघन हैं कि कोमल जलकी धारा बरसती मालूम होती है और बाणोंकी वृष्टि उग्र वृष्टि है जो छेदनेवाली है।

दुहुँ दिसि पर्बत करहिं प्रहारा। बज्रपात जनु बारहिं बारा॥ ७॥
रघुपति कोपि बान झरि लाई। घायल भै निसिचर समुदाई॥ ८॥

अर्थ—दोनों ओरसे पर्वतोंका प्रहार किया जा रहा है, मानो बारम्बार वज्रपात हो रहा है॥ ७॥ श्रीरघुनाथजीने कोपकर बाणोंकी झड़ी लगा दी, निशिचरोंका समुदाय (समूह, सेना) घायल हो गया॥ ८॥

वं० पा०—वर्षाकी झड़ी लगती है तब पथिक ठहर जाते हैं, वैसे ही यहाँ निशाचररूपी पथिक घायल होकर झड़ीके मारे रणभूमिपर पड़े हैं। बाणोंकी झड़ी वर्षाकी झड़ी है। (पां०)।

☞ **'दुहुँ दिसि पर्वत करहिं प्रहारा'**, यह सेनाका सेनासे युद्ध कहा गया। **'रघुपति कोपि बान झरि लाई'**, यह श्रीरामजीका निशिचर-सेनापर कोप कहा। वाल्मी० ९३ में भी पहिले राक्षसों और वानरोंका युद्ध है जिसमें अन्तमें राक्षस-सेना प्रबल पड़ी और वानर श्रीरामजीकी शरण गये। श्रीरघुनाथजीने बाणवृष्टि की, वे उस समय अलातचक्रके समान देख पड़ते थे। **'कोपि बान झरि लाई'** से वाल्मी० ९३ की कथा यहाँ सूचित कर दी है। यथा—**'ततो रामो महातेजा धनुरादाय वीर्यवान्। प्रविश्य राक्षसं सैन्यं शरवर्षं ववर्ष च॥ छिन्नं भिन्नं शरैर्दग्धं प्रभग्नं शस्त्रपीडितम्। बलं रामेण ददृशुर्न रामं शीघ्रकारिणम्॥'** अर्थात् तेजस्वी वीर श्रीरामजी धनुष लेकर राक्षससेनापर बाणवृष्टि करने लगे। श्रीरामजीका बल ऐसा सब निशाचरोंने देखा कि बाणोंद्वारा निशाचर-सेना छिन्न-भिन्न कर दी गयी, जल गयी, टुकड़े टुकड़े हो गयी। शस्त्रसे पीड़ित ऐसी सब सेना देख पड़ती थी पर श्रीरामजीको कोई न देख सकता था कि जो कार्यमें बड़े शीघ्रकारी हैं। (वाल्मी० ९३। १७, २१)।

वि० त्रि०—**'रघुपति कोपि''समुदाई'** इति। पहिले जो कहा है कि **'वर्षा घोर निसाचर रारी'**, सो यहाँ वर्षाका बड़ा सुन्दर रूपक खींचा गया है। इतनी बड़ी लड़ाई कोई दूसरी लङ्कामें नहीं हुई। मेघनाद और लक्ष्मणजीकी लड़ाई बड़ी गहरी हुई, उसमें रक्तसे गड्ढे भर गये। यथा—**'भरेउ गाड़ भरि भरि रुधिर'** पर रुधिरकी नदी तो इसी लड़ाईमें बही। रुधिर थोड़ा समय पानेसे जम जाता है। उसकी नदी तो तभी सम्भव है जब बहुत अधिक मात्रामें रुधिर बहता ही चला आवे, और यह सारी सेनाके बिना एक साथ घायल हुए सम्भव नहीं। अतः कहते हैं कि रामजीने ऐसी बाणोंकी झड़ी बाँध दी कि सारी-की-सारी सेना घायल हो गयी। अतः आगे चलकर रुधिरकी नदीका बहना कहा जायगा। जब वर्षामें पानीका झर लगता है तभी नदी बह चलती है।

प० प० प्र०—**'रघुपति कोपि'** कहकर जनाया कि रघुवंशियोंका **'आर्तत्राणाय नः शस्त्रम्'** यह आर्तरक्षक विरद स्मरण करके श्रीरामजी क्रुद्ध हो गये।

लागत बान बीर चिक्करहीं। घुर्मि घुर्मि जहँ तहँ महि परहीं॥ ९॥
स्रवहिं सैल जनु निर्झर भारी*। सोनित सरि कादर भयकारी॥ १०॥

अर्थ—बाणोंके लगनेसे वीर चिग्घाड़ते हैं, चक्कर खा-खाकर मूर्च्छित होकर जहाँ-तहाँ पृथ्वीपर गिरते हैं॥ ९॥

* बारी—(का०)। 'भारी'—(रा० गु० द्वि०, भा० दा०)।

(वे ऐसे देख पड़ते हैं) मानो पर्वतके भारी झरनोंसे पानी गिर रहा हो। रुधिरकी नदी (बहने लगी जो) कादरोंको भयभीत करनेवाली है ॥ १० ॥

नोट—१—राक्षस पर्वत हैं, बाणकृत घाव झरने हैं, रुधिरकी धारा निकलना झरनेसे पानीका गिरना है, वीरोंका बाण लगनेपर चीखना झरनेका शब्द है। खून बहकर पृथ्वीमें बह चला वही रुधिर नदी है।

बं० पा०—'घुर्मि घुर्मि०' यह मानो वर्षामें वृक्ष टूट-टूटकर गिरते हैं।

छंद—कादर भयंकर रुधिर सरिता चली* परम अपावनी।
दोउ कूल दल रथ रेत चक्र अबर्त बहति भयावनी॥
जलजंतु गज पदचर तुरग खर बिबिध बाहन को गने।
सर सक्ति तोमर सर्प चाप तरंग चर्म कमठ घने॥

शब्दार्थ—चक्र=पहिये†। रेत=बालू। अवर्त (आवर्त)=भँवर, घुमाव, भँवरके चक्कर। तोमर=सबरी, सर्वेला।

अर्थ—डरपोकोंके लिये भय उपजानेवाली परम अपवित्र रक्तकी नदी बह चली। दोनों दल इस नदीके दोनों किनारे हैं, रथ रेत है, पहिये भँवर हैं। यह नदी बहुत भयावनी बह रही है। गज, पैदल, घोड़े और गदहे (खच्चर) आदि जो अनेक सवारियाँ हैं, जिनको कौन गिना सकता है, वे ही अनेक जलके जीव हैं। बाण, शक्ति और तोमर सर्प हैं, धनुष तरङ्गें हैं, ढाल कछुओंका समूह है।

नोट—१ **'सरिता चली परम अपावनी'**। बाणोंकी वृष्टिसे राक्षसोंके शरीररूपी पर्वतोंके घावोंरूपी झरनोंसे रुधिर-सरिताका बहना ऊपर कहा गया। वर्षाकी नदी स्पर्श योग्य नहीं होती वरन् अपावन समझी जाती है वैसे ही यह अपावन है। (**'बान बुंद भइ बृष्टि अपारा'**, एवं **'बान झरि लाई'**, जो पूर्व कहा है उसके सम्बन्धसे इसे वर्षाकी नदी कहा है।) (पं०) बं० पा० जी लिखते हैं कि बाढ़में तीन दिन नदियाँ अपावनी रहती हैं। और यह तो रुधिरकी नदी है अतः इसे परम अपावनी कहा। आगे नदीका रूपक देते हैं।

पु० रा० कु०—१ (क) नदी समुद्रको जाती है, यथा—**'रामसरूप सिंधु समुहानी'**, **'उमगि नदी अंबुधि कहँ आई'**, **'चली बिपति बारिधि अनुकूला'** और **'सरिता जल जलनिधि महँ जाई। होइ अचल'**। यह रुधिरसरिता **'परम अपावनी'** है, अर्थात् यम-पुर-समुद्र-गामिनी है यथा—**'शोणितौघमहातोयां यमसागरगामिनीम्।** वाल्मी० ५८। २९।'

नोट—२ (क) **'दोउ कूल दल'**—दोनों ओरकी सेना दोनों किनारे हैं। नदीकी काट एक तरफ होती है वैसे ही निशाचरदलरूपी तट कट रहा है, उस दलके रथ आदि भी कट रहे हैं। (ख) **'रथ रेत'** इति। रथ जो बाणोंसे टूटकर गिरे उनके छत्र और टुकड़ोंके ढेर बालूके समान देख पड़ते हैं। (ग) **'चक्र अबर्त'** अर्थात् रथोंके पहिये जो रुधिरधारमें पड़े बह रहे हैं वे भँवर-से जान पड़ते हैं। दोनों मण्डलाकार होते हैं और दोनों ही बारम्बार चक्कर लेते हैं, यह समता है। नदी जिसमें भँवर बहुत हों वह भयावनी होती ही है और फिर यह तो रुधिरसरिता है, इसके भयावनपनका कहना क्या ? इसीसे अवर्त कहकर भयावनी कहा। (घ) **'जल जंतु'**···'—नदीमें मगर आदि जलचर होते हैं। इस युद्धमें जो हाथी, पैदल, घोड़े आदि मरकर रुधिरप्रवाहमें गिरकर बह रहे हैं वे ही जलचरोंके समान हैं। (ङ) **'बिबिध बाहन को गने'** इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि वायुवेगवान् रथोंकी १० हजार सेना, शीघ्रगामी हाथियोंकी १८ हजार सेना, १४ हजार घोड़े और घुड़सवार और पूरे दो लाख पैदल राक्षसोंकी सेनाको एक रामचन्द्रजीने दिनके आठवें भागमें अग्निके समान बाणोंसे मारा।—(वाल्मी० ९३। ३—३२)। (च) **'सर सक्ति तोमर सर्प'**—बाण, शक्ति और तोमर ये लंबे होते हैं। ☞ ये आयुध नदीमें बड़ी जोरसे बहे जा रहे हैं अतः इन्हें सर्प कहा। बाणोंको सर्पकी उपमा दी ही जाती है। यथा—**'रघुनायक सायक चले लहलहात जनु ब्याल।'** बं० पा० जी लिखते हैं कि सर्पकी उपमा देकर जनाया कि कभी

* बढ़ी (का०)। † 'चक्रं कोके पुमान् क्लीवं व्रजे सैन्यरथाङ्गयोः। राष्ट्रे दम्भान्तरे कुम्भकारोपकरणास्त्रयोः जलावर्तेऽपि इति हेमैः॥' अर्थात् चक्र और कोक अर्थमें पुँल्लिङ्ग है। व्रज, सैन्य और रथाङ्ग अर्थमें नपुंसक लिङ्ग है, राष्ट्र, दंभान्तर, कुम्हारका उपकरणास्त्र और जलावर्त—इन अर्थोंमें भी नपुंसक लिङ्ग है।

डूबते और कभी उतराते चले जाते हैं'। सर्प चमकीले भी होते हैं वैसे ही ये बाण, शक्ति आदि चमकीले हैं। (छ) 'चाप तरंग'—दोनोंकी विषमता वा, टेढ़ेपनकी समता लेकर यह रूपक दिया। (पु० रा० कु०)। सहस्रों धनुष जल-तरंगके समान रुधिरधाराके पृष्ठभागपर तैरते हुए बहे जाते हैं। (प० प० प्र०)। (ज) चर्म (ढाल) और कमठमें आकारकी समता है। (पु० रा० कु०)। ये कछुओंके समान ऊपर और भीतर बहती हैं (प० प० प्र०)। 'घने' अर्थात् बहुत हैं एवं सघन हैं।

प० प० प्र०—१ (क) इस छंदके अन्तिम चरणमें 'चर्म कमठ घने' में ('क' पर) छन्दोभंग निर्माण किया है। 'क' के पश्चात् दीर्घ अक्षरकी आवश्यकता थी, जैसे 'पावनी' 'यावनी' 'को गने' में है। छन्दोभंग करके 'कादर भयंकर'—भाव चरितार्थ करके बताया है। कायरोंके हृदय धड़कने लगे, भयसे वाणी रुक गयी इत्यादि भयके अनुमान ध्वनित किये। (ख) 'सोनित सरि कादर भयकारी' उपक्रम है। 'कादर भयंकर रुधिर सरिता' अभ्यास है। बीचमें अपूर्वता और उपपत्ति है। छन्दोभंगसे इसका फल और 'कादर देखि डरहिं' में उपसंहार है। (ग) इससे जनाया कि राक्षससेनामें बहुतेरे सैनिक कायर हैं। 'सुभटन्ह के मन चेन' अन्तमें लिखकर जनाया कि ये थोड़े हैं। 'सुभट' शब्दसे भी ध्वनित हुआ कि 'भट' भी कायर हो जाते हैं।

२ इस छन्द और दोहेमें भयानक और बीभत्स रसोंका परिपोष हुआ है, बीभत्स प्रधान है। आगे बीभत्सकी तीव्रता बढ़ती है और दोहा ८७ के छन्दमें बीभत्सरसकी ओजके साथ पूर्णता होती है।

३ इस प्रसंगमें गोस्वामीजीका अन्तःकरण श्रीरामजीके वीर्यप्रतापवर्णनमें ऐसा तदाकार हो गया है कि बीभत्सका भी आदर्शवर्णन उनकी कोमल लेखनी महान् ओजके साथ लिख सकी! 'भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला…' इस रणनदीवर्णनके श्लोकमें वह ओज और बीभत्सता नहीं है जो इस प्रसंगमें और विशेषतः 'बोल्लहिं जो जय जय…' इस छंदमें है।

दो०—बीर परहिं जनु तीर तरु मज्जा बहु बह फेन।
कादर देखि* डरहिं तहँ सुभटन्ह के मन चेन॥ ८६॥

शब्दार्थ—मज्जा=नलीकी हड्डीके भीतरका गूदा जो बहुत कोमल और चिकना होता है। यथा—'अस्थि यत्स्वाग्निना पक्वं तस्य सारो द्रवो घनः। यः स्वेदवत्पृथग्भूतः सा मज्जेत्यभिधीयते॥' इति भावप्रकाशे पूर्वखण्डे शारीरकप्रकरणे। अर्थात् हड्डी जो भीतरकी अग्निसे परिपक्व है उसका सार द्रवघन कहलाता है। जो पसीनेकी तरह पृथक् दिखायी देता है उसे मज्जा कहते हैं। =चर्बी, हड्डीका सार।

अर्थ—वीर पृथ्वीपर इस तरह गिर रहे हैं मानो तीर (किनारे) के वृक्ष ढह रहे हैं। बहुत-सी मज्जा जो बह रही है वही मानो फेन बहता है। वहाँ कादर पुरुष (इसे) देखकर डरते हैं और उत्तम योद्धाओंके मनमें चैन (सुख) होता है॥ ८६॥

नोट—१ 'मज्जा बहु बह फेन' इति। द्रव धर्म लेकर दोनोंकी समता कही—(पु० रा० कु०)। २—'सुभटन्ह के मन चेन' इति। सुभटोंके मनमें आनन्द होता है, यह समझकर कि मरनेपर स्वर्ग और जीतनेपर स्वतन्त्र स्वराज्य और ऐश्वर्य तथा सुयश प्राप्त होगा। उत्तरार्द्ध दोहेका भाव यह है कि यह रणभूमिमयी नदी बड़ी दुस्तर है, योद्धा राक्षस और प्रधान-प्रधान वानर सुभट ही इस दुस्तर नदीको पार कर सकेंगे, साधारण तो डरकर भाग जायँगे। क० लं० ४९ से मिलान कीजिये—

'लोथिन सों लोहू के प्रबाह चले जहाँ तहाँ मानहु गिरिन गेरु झरना झरत हैं।
सोनित सरित घोर कुंजर करारे भारे कूल तें समूल बाजि बिटप परत हैं॥
सुभट सरीर नीरचारी भारी भारी तहाँ सूरनि उछाह कूर कादर डरत हैं।
फेकरि फेकरि फेरु फारि फारि पेट खात काक कंक बकुल कोलाहल करत हैं॥'

* देखत डरहि—(का०)। आधुनिक पाठ—'डराहिं तेहि'।

बं० पा०—कादर देख डरते हैं और सुभट सुख पाते हैं, जैसे जो तैर नहीं सकते वे नदीको देख डरते हैं और जो तैरनेवाले पैराक हैं उनको सुख होता है।

नोट—३ वाल्मी० ५८ मेंके प्रहस्तके युद्धमें नदीका रूपक मिलान करने योग्य है। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि वानरों और राक्षसोंकी लोथोंसे पूर्ण समरभूमि मानो पर्वतोंसे पूर्ण हो गयी। वह युद्धस्थल रुधिरकी धारासे संच्छन्न होनेसे ऐसा देख पड़ने लगा जैसे वैशाखमासमें पुष्पित पलाशोंसे पृथ्वी शोभित हो। मरे हुए वीर ही जिसके किनारे हैं, टूटे हुए आयुध ही वृक्ष हैं, रुधिर जल है, यह नदी यमसागरको गयी है॥ २९॥ यकृत और प्लीहा कीच है, आँतें सिवार हैं, देह-खंड मछलियाँ हैं, अंगोंके टुकड़े घास हैं। गृध्र ही हंस और कंक सारस हैं। चर्बी फेन है। आवर्त्त शब्द नदीका शब्द है॥ ३१॥ ऐसी युद्धभूमिमयी नदीके पार कायर नहीं जा सकते। हंसोंसे सेवित शरदृतुकी श्रेष्ठ नदीके समान ऐसी दुस्तर नदी राक्षस और मुख्य-मुख्य वानर तैर गये जैसे कमलोंकी रजयुक्त नलिनीको गजयूथप पार कर जाते हैं। (श्लो० २७–३३)।

वाल्मी० ९३ में राम-रावण-युद्धमें भी रुधिरनदीका रूपक दो श्लोकोंमें है और भा० १०। ५०। २४–२८ में श्रीकृष्ण-जरासंध-युद्धमें भी रुधिर-नदीका रूपक आया है पर ये कोई मानसमें दिये हुए रूपकसे मिलते नहीं हैं। रूपक जिसे देखने हों वह उन ग्रन्थोंमें देख लें। यहाँ मिलता हुआ अंश मिलानमें दिया जा रहा है। वाल्मी० और भा० में मानसका-सा साङ्गोपाङ्ग रूपक नहीं है।

	छंद और दोहा ८६	वाल्मी० ५८	भा० १०। ५०
१	कोपि बान झरि लाई	दोहा ८६ (९–१०) देखिये	
२	स्रवहि सयल जनु निर्झर भारी	'शरीरादपि सुस्राव गिरेः प्रस्रवणं यथा। ५७।'	संछिद्यमानद्विपदेभवाजिनामङ्गप्रसूताः शतशोऽसृगापगाः ॥ २६ ॥
३	'सोनित सरि कादर भयकारी' 'कादर देखि डरहिं तहँ सुभटन्ह के मन चेन'	'तां कापुरुषदुस्तारां युद्धभूमिमयीं नदीम् ॥ ३२ ॥ राक्षसाः कपिमुख्याश्च तेरुस्तां दुस्तरां नदीम् ॥ ३३ ॥'	प्रवर्तिता भीरुभयावहा मृधे मनस्विनां हर्षकरीः परस्परम् ॥ २८ ॥
४	रुधिर सरिता चली परम अपावनी	'शोणितौघमहातोयां यमसागरगामिनीम् ॥ २९ ॥'	
५	दोउ कूल दल (रथ रेत)	'हतवीरौघवप्रां तु ॥ २९ ॥'	(अच्छूरिकावर्तभयानका महामणिप्रवेकाभरणाश्मशर्कराः)
६	चक्र अवर्त्त वहति०	(आवर्त्तस्वननिःस्वनाम्)	
७	जलजंतु गज पदचर तुरग खर विविध बाहन को गने		(भुजाऽहयः पूरुषशीर्षकच्छपा हतद्विपद्वीप) हयग्रहाकुलाः ॥ २६ ॥'
८	सर शक्ति तोमर सर्प	(शर मत्स्या वाल्मी० ९३)	(भुजाऽहयः)
९	चाप तरंग (चर्मकमठ)		धनुस्तरङ्गायुध
१०	बीर परहिं जनु तीरतरु	(भग्नायुधमहाद्रुमाम्)	(आयुधगुल्मसङ्कुलाः २७)
११	मज्जा बहु बह फेन	'यकृत्प्लीहमहापङ्कां विनिकीर्णान्त्रशैबलाम्। भिन्नकायशिरोमीनामङ्गावयवशाद्वलाम्। ३०। मेदः फेनसमाकीर्णाम्। ३१।'	
१२	काक कंक लेइ भुजा उड़ाहीं। खैंचत गीध आँत तट भये।	'गृध्रहंसगणाकीर्णां कंकसारससेविताम्। ३१।'	

मज्जहिं भूत पिसाच बेताला। प्रमथ महा झोटिंग कराला॥ १॥
काक कंक लै भुजा उड़ाहीं। एक ते छीनि एक लै खाहीं॥ २॥

शब्दार्थ—झोटिंग=झोंटेवाला, जिसके सिरपर बहुत बड़े-बड़े और खड़े बाल हों। (श० सा०)। = जोटिंग, शिवजीके गणोंकी एक जाति।

अर्थ—भूत, पिशाच, वेताल, महाकराल बड़े-बड़े झोंटोंवाले प्रमथ जोटिंग आदि शिवगण इस नदीमें स्नान करते हैं॥ १॥ कौए और चील भुजाएँ लेकर उड़ते हैं। एकसे छीनकर एक (दूसरा) खा लेता है॥ २॥

नोट—भूत, पिशाच, वेताल और प्रमथ ये सब प्रेतोंके भेद हैं। उनकी भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं, यथा—मार्कण्डेयपुराणे हरिहरब्रह्मविरचिते—'ग्रहभूतपिशाचाश्च यक्षगन्धर्वराक्षसाः। ब्रह्मराक्षसवेतालाः कूष्माण्डा भैरवादयः॥' 'नाना भाँति पिसाच पिसाची। ५१। २।' देखो। भूत-पिशाचोंसे वेताल अधिक जबरदस्त होते हैं, ये राक्षसोंके मुकाबिलेके होते हैं।

गौड़जी—प्रमथों, जोटिंगों आदिका विस्तारसे वर्णन शिवपारिषदोंकी उत्पत्तिके प्रकरणमें कालिकापुराणके २९ वें अध्यायमें मिलता है। भूत, पिशाच, वेताल, प्रमथ, जोटिंग सभी रणमें भाग लेनेवाले नीच प्रकारके शिवगण हैं। प्रमथोंकी अनेक ऊँची जातियाँ भी हैं जो योगी हैं और शंकर-समान हैं।—[प्रमुख प्रमथादि सब रुद्रगण हैं। प्रमथ सब पार्षद हैं, ब्राह्मी आदि माताएँ हैं। यथा—'रुद्रगण—नंदी भृङ्गी च सेनानी मुखाः सर्वे शिवाज्ञया' इति पाद्मे। 'प्रमथाः स्युः पारिषदा ब्राह्मीत्याद्यास्तु मातरः' इत्यमरः॥ 'महाकालश्च नंदी च तथा शंकरपार्श्वगौ। वीरभद्रो महातेजा शंकुकर्णो महाबलः॥ १॥ घण्टाकर्णश्च दुर्धर्षो मणिभद्रो वृकोदरः। कुण्डोदरश्च विकटस्था (?) कुम्भोदरावली॥ २॥ मन्दोदरः कर्णधारः केतुर्भृंगी रिरिस्तथा। भूतनाथास्तथान्ये च महाकाया महौजसः॥ ३॥ अपादा बहुपादाश्च बहुकर्णैककर्णकाः। एकनेत्राश्चतुर्नेत्रा दीर्घाः केचन वामनाः॥ ४॥' (स्कन्दपुराण ब्रह्मोत्तरखण्ड)। (पु० रा० कु०)]

नोट—ये सब कराल हैं और प्रमथ महाकराल हैं। वा, सभी महाकराल हैं। भूतगणकी करालता शिवबारातके वर्णनमें देखिये। यथा—'नाना बाहन नाना बेषा। बिहँसे सिव समाज निज देखा॥ कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू॥ बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना। रिष्टपुष्ट कोउ अति तन खीना॥ तन खीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन गति धरे। भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तन भरे॥ खर स्वान सुअर सृगाल मुख गन बेष अगनित को गनै। बहु जिनिस प्रेत पिसाच जोगि जमात बरनत नहिं बनै॥ नाचहिं गावहिं गीत परम तरंगी भूत सब। देखत अति बिपरीत बोलहिं बचन बिचित्र बिधि॥ ९३॥', 'सिव समाज जब देखन लागे। बिडरि चले बाहन सब भागे॥ कहहिं बचन भयकंपित गाता। जम कर धारि कि धौं बरियाता॥ १। ९५। ४—७।' पुनश्च यथा—'हरिता धूसरा धूम्राः कर्बुराः पीतलोहिताः। चित्रवर्णा विचित्राङ्गाश्चित्रलीला बलोत्कटाः॥ १॥ केचिद्व्याघ्रमुखाः केचिच्छूकरास्या मृगाननाः। केचिच्चानेकवदनाः सारमेयमुखाः परे॥ २॥ एकवक्त्रा द्विवक्त्राश्च बहुवक्त्राश्च निर्मुखाः। एकहस्ता द्विहस्ताश्च पंचहस्तास्त्वहस्तकाः॥ इति स्कन्दपुराणे'

एक कहहिं ऐसिउ सौंघाई। सठहु तुम्हार दरिद्र न जाई॥ ३॥
कहरत भट घायल तट गिरे। जहँ तहँ मनहुँ अर्द्धजल परे॥ ४॥

शब्दार्थ—सौंघाई=अधिकता, बहुतायत—यह शब्द संघसे बना है—(रा० प्र०) = समर्घता=साधारण भावकी दशा। सस्ती। 'सौंघाई' शब्द समर्घताका प्राकृतरूप है।—(गौड़जी)। कहरना=कराहना, पीड़ासे आह-आह करना। अर्द्धजल=श्मशानमें शवको स्नान कराके आधा जलमें और आधा बाहर डाल देनेकी क्रिया।

अर्थ—(एकसे दूसरेके छीन लेनेपर) एक कहते हैं—अरे मूर्खो! ऐसी भी अधिकता वा सस्तीमें तुम्हारा दारिद्र्य नहीं जाता (कंगाल ही बने हो)॥ ३॥ तटपर गिरे हुए घायल योद्धा कराह रहे हैं, मानो जहाँ-तहाँ अर्द्धजलमें पड़े हैं॥ ४॥

पं०, वीर—प्राणकण्ठगत होनेपर जब मनुष्यके जीनेकी आशा नहीं रहती तब उसे लोग नदीमें आधा शरीर जल

और आधा थलमें करके लिटा देते हैं। वीर घायल कराहते हैं, यहाँ वही उत्प्रेक्षाका विषय है। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

खैंचहिं गीध * आँत तट भए। जनु बंसी खेलत † चित दए॥ ५॥
बहु भट बहहिं चढ़े खग जाहीं। जनु नावरि खेलहिं सरि माहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—नावरि=नाव (नौका) की एक क्रीड़ा जिसमें उसे बीचमें ले जाकर चक्कर देते हैं। बंसी =मछली फँसानेका औजार।

अर्थ—गृध्र आँतें खींचते हैं मानो (मछलीका शिकार करनेवाले) नदीतटपरसे मन लगाये हुए बंसी खेल रहे हों॥ ५॥ बहुतसे भट बह रहे हैं और पक्षी उनपर चढ़े चले जा रहे हैं मानो नदीमें नावरि खेल रहे हैं॥ ६॥

नोट—१ (क) 'बंसी'—इसमें एक पतली लम्बी छड़ीके एक सिरेपर डोरी बँधी होती है और दूसरे सिरेपर अंकुशके आकारकी लोहेकी एक कँटिया बँधी रहती है। इसी कँटियामें चारा लपेटकर डोरीको जलमें फेंकते हैं और छड़ीको शिकारी पकड़े रहता है। जब मछली वह चारा खाने लगती है तब वह कँटिया उसके गलेमें फँस जाती है और वह खींचकर निकाली जाती है। (श० सा०)। (ख)—गृध्र बहते हुए रुधिरके तटपर बैठे हुए निशिचरोंकी लम्बी-लम्बी आँतें खींच रहे हैं। लम्बी नलीका एक सिरा पकड़े हैं, यह बंसीकी डोर या छड़ी हुई। दूसरी ओर काँटेमें मछली फँसती है, आँतका लोथड़ा मछली है। नदीकी धारामें आँतें आगे बढ़ती हैं तब ये उन्हें अपनी ओर खींचते हैं। इस तरह बारम्बार करना ही बंसीका ढील देना, खींचना वा बंसी खेलना है। (ग)—'चित दए' कि मछली निकल न जाय। वैसे ही गीध आँतोंको जाने नहीं देते।

'जनु नावरि खेलहिं०'। शवपर पक्षी बैठे हैं, नोचते खाते हैं एवं बहावसे, शव चक्कर खाते हैं; यही नावरि खेलना है।

जोगिनि भरि भरि खप्पर संचहिं। भूत पिसाच बधू नभ नंचहिं॥ ७॥
भट कपाल करताल बजावहिं। चामुंडा नाना बिधि गावहिं॥ ८॥

शब्दार्थ—खप्पर (खर्प्पर) = खपड़ा, खोपड़ी। काली देवीका वह पात्र जिसमें वे रुधिर पान करती हैं। संचना (सं० संचयन) = एकत्र, संचय वा संग्रह करना। नंचहिं = नाचती हैं।

अर्थ—योगिनियाँ अपने-अपने खप्पड़ोंमें रुधिर जमा कर रही हैं। भूत-पिशाचोंकी स्त्रियाँ आकाशमें नाच रही हैं॥ ७॥ चामुण्डाएँ योद्धाओंकी खोपड़ियोंका करताल बजाती हैं और नाना प्रकारसे गाती हैं॥ ८॥

नोट—१ 'करताल' लकड़ी या काँसेका एक बाजा है जिसका एक-एक जोड़ा हाथमें लेकर बजाते हैं। यहाँ उस करतालकी जगह एक-एक खोपड़ी एक-एक हाथमें लेकर उसे बजाती हैं, ताल देती हैं। २—योगिनियोंके कौतुकका वर्णन क० लं० ५० में देखने योग्य है—

'ओझरी की झोरी काँधे आँतनि की सेल्ही बाँधे मुंड के कमंडलु खप्पर किये कोरि कै।
जोगिनी झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी-सी तीर तीर बैठीं सी समर सरि खोरि कै॥
सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ से प्रेत एक पिअत बहोरि घोरि घोरि कै।
तुलसी बैताल भूत साथ लिए भूतनाथ हेरि हेरि हँसत हैं हाथ हाथ जोरि कै॥'

टिप्पणी—१ (क) काली, भयंकर मुखवाली, तलवार और पाश धारण किये हुए, विचित्र खट्वाङ्ग धारण किये, नरमाला-विभूषणवाली, हाथीके चर्मको पहने, सूखा मांस लिये (वा, मांस सूख गया है जिसका ऐसी) अत्यन्त भयंकर बहुत विस्तृत मुखवाली, भीषण जिह्वा लपलपाती हुई, लाल नेत्रवाली, घोर शब्दसे दिशाओंको गुँजानेवाली—यह योगिनियोंका स्वरूप है। (ख) 'कराला' इति। योगिनीकी करालता, यथा—**'काली करालवदना विनिष्क्रान्तासिपासिनी।**

* आँत गीधि—(का०), † षेलहिं—(का०)।

विचित्रखट्वाङ्गधरा नरमालाविभूषणा ॥ १ ॥ द्वीपिचर्मपरीधाना शुष्कमांसातिभैरवा । अतिविस्तारवदना जिह्वाललन-भीषणा ॥ २ ॥ निमग्ना रक्तनयना नादापूरितदिङ्मुखा ।' (ग) 'योगिनी कराला'- अर्थात् ब्राह्मी आदिक मातृकागण। 'ब्राह्मी माहेश्वरी चैन्द्री वाराही वैष्णवी तथा । कौमारी चर्ममुण्डा च कालसंकर्षणीति च ॥ १ ॥ तेषां मातृगणो जातो ननर्तासृङ्मदोद्धतः ।'—(मार्कण्डेयपुराणे) । 'कोटरा रेवती ज्येष्ठा पूतना मातृकादयः'—(भागवते) । ये सब मातृकाओंका समूह होकर मज्जा-मेदादि पानकर उद्धत हो नाचने लगीं । (घ) 'चामुण्डा नाना विधि' इति । चण्ड-मुण्डको पकड़ लानेसे 'चामुण्डा' नाम पड़ा । 'यस्माच्चण्डं च मुण्डं च गृहीत्वा त्वमुपागता । चामुण्डेति ततो लोके ख्याता देवि भविष्यति ॥' इति चण्डिकां प्रति कालीवचनात् ॥

गौड़जी—योगिनी, चामुण्डा आदि रणाङ्गनाएँ भगवती महामायाकी सेनामें छप्पन करोड़की संख्यामें उसी तरह रहती हैं जैसे भगवान् शङ्करकी सेनामें उनके गण । यह वह 'चामुण्डा' नहीं हैं जिनका उल्लेख सप्तशतीमें चण्ड और मुण्डको पकड़ लानेपर नामकरणके सम्बन्धमें है। मुख्य चामुण्डाके नेतृत्वमें यह करोड़ों चामुण्डाएँ होती हैं। बहुवचनसे सैनिकाएँ ही अभीष्ट हैं।

वं० पा०—योगिनियाँ अर्थात् काली देवीकी सहचरियाँ खप्पड़ोंमें रुधिर संचय करती हैं कि रातको या जब फिर भूख-प्यास लगेगी तब पियेंगी । २—भूतपिशाचवधू अर्थात् चुड़ैलें मारे हर्षके नाचती हैं ।

जंबुक निकर कटक्कट कट्टहिं । खाँहिं हुआहिं अघाहिं दपट्टहिं ॥ ९ ॥
कोटिन्ह रुंड मुंड बिनु डोल्लहिं । सीस परे महि जय जय बोल्लहिं ॥१०॥

शब्दार्थ—जंबुक=गीदड़ । 'शृगालवञ्चकक्रोष्टुफेरुफेरवजम्बुकः' इत्यमरः । कटक्कट=ऊपर और नीचेके दाँतोंकी रगड़से जो शब्द होता है । दाँतोंके बजनेका शब्द । 'कट्टहिं'=काटते हैं । हुआना=हुआँ-हुआँ करना ।

अर्थ—गीदड़ोंके समूह कटक्कट शब्द करते हुए (शवको) काटते, खाते, हुँआते, अघाते और परस्पर एक दूसरेको डाँटते हैं ॥ ९ ॥ करोड़ों धड़ बिना सिरके फिर रहे हैं । सिर पृथ्वीपर पड़े जय-जय बोल रहे हैं ॥ १० ॥

गौड़जी—यहाँ बीभत्सरस एवं अमृतध्वनि है । युद्ध-वर्णनमें यह दोनों परम सुसङ्गत हैं ।

मा० म०—'खाँहिं हुआहिं अघाहिं दपट्टहिं' का भाव कि जब उनका उदर मुर्दोंके खानेसे कण्ठतक भर जाय और अधिक न खाया जाय तब वे हुआँयँ और फिर उतना ही खा जायँ ।

रा० प्र०—'हुआना' गीदड़ोंकी स्वाभाविक हर्षसूचक बोली है । गीदड़ अघाकर खाकर हुआते हैं और जो पहिले पेटभर खा चुकते हैं वे दूसरोंको खाते देख डाँटते हैं—(यह सहज स्वभाव है) ।

नोट—शूरवीरोंके सिर कटनेपर भी धड़ मार-काट करते हैं और सिरोंसे रणोत्साहके शब्द निकलते हैं । कारण कि उनका उत्साह भरा होनेसे प्राण शरीरमें कुछ देरतक बने रहते हैं । क्षत्रिय वीरोंमें अकबरके समयमें भी इसके उदाहरण देखे गये हैं । पं० वि० त्रि० जी लिखते हैं कि यह सरकारके बनैतीकी सफाई है कि जय-जय बोलनेवाले राक्षसोंको जो बाण लगे उन्होंने ऐसे लाघव (सफाई) से सिर काटे कि धड़ चला जा रहा है और सिर पृथ्वीपर गिरकर जय-जय बोल रहा है । श्रीगोस्वामीजीने रामजीकी युद्ध-विधि दिखलाते कहा है कि 'कूदत कबंध के कदंब बंब सो करत धावत दिखावत हैं लाघव राघव बान के ।' लक्ष्मणजीके बाणसे राक्षसोंके चिथड़े उड़ जाते थे, यथा—'अंग अंग दलित ललित फूले किंसुक से हने भट लाखन लखन जातुधान के ।' और हनुमान्‌जी तो उन्हें खण्ड-खण्ड कर डालते थे, यथा—'मारि कै पछारे कै उपारे भुज दंड चंड खंड खंड डारे ते बिदारे हनुमान के ।' अतः मुण्डके बिना जो रुंड चल रहे हैं, और सिर जिनका पृथ्वीपर पड़ा जय-जय बोल रहा है, वे सरकारके बाणसे मारे गये हैं ।

छंद—बोल्लहिं जो जय जय मुंड रुंड प्रचंड सिर बिनु धावहीं ।
खप्परिन्ह खग्ग अलुज्झि जुज्झहिं सुभट* भटन्ह ढहावहीं ॥

* सुभट सुरपुर पावहीं ।

बानर निसाचर निकर मर्दहिं राम-बल दर्पित भए * ।
संग्राम अंगन सुभट सोवहिं रामसर निकरन्हि हए ॥

शब्दार्थ—अरुझना=उलझना, फँसना ।

अर्थ—मुण्ड 'जय जय' बोलते हैं, बिना सिरके धड़ बड़े वेगसे दौड़ते हैं, पक्षी खोपड़ियोंमें उलझ-उलझकर आपसमें जूझते हैं, (भाव कि सभी स्वयं ही सब खानेकी चाह करते हैं, दूसरेको नहीं खाने दिया चाहते, इस प्रकार परस्पर लड़े मरते हैं ।) सुभट भटोंको गिरा देते हैं । वानर श्रीरामजीके बलसे दर्पित (गर्वित एवं क्रोधित) होकर राक्षस-समूहका मर्दन कर रहे हैं । श्रीरामजीके बाण-समूहसे मारे जाकर समूह श्रेष्ठ योद्धा रणाङ्गणमें सो रहे हैं ।

मा० म०—'खप्परिन्ह खग्ग अलुज्झि जुज्झहिं०' इति । अर्थात् जो खोपड़ियाँ रणभूमिमें पड़ी हैं उनमें पक्षी धसकर सिरका मांस खाते हैं और उसी खोपड़ीमें उलझकर मर जाते हैं, उड़ नहीं सकते ।

वीर—इस प्रकरणमें घृणा स्थायीभाव है । मुर्दोंका ढेर और भूत-प्रेतादिके दर्शन आलम्बन-विभाव हैं । गीधोंका आँत खींचना, सियारोंका मांस खाना, पिशाचिनियोंका रक्त पान करना आदि उद्दीपन-विभाव हैं । इस भीषण घटनाको देख धैर्यहत होना, रोमाञ्च हो आना अनुभाव है । आवेग, मोह, अपस्मारादि सञ्चारी भावोंसे परिपूर्ण 'बीभत्स' रस हुआ ।

दो०—रावन हृदय बिचारा † भा निसिचर संघार ।
मैं अकेल कपि भालु बहु माया करउँ अपार ॥ ८७ ॥

अर्थ—रावणने हृदयमें विचारा कि राक्षसोंका नाश हो गया, मैं अकेला हूँ और वानर-रीछ बहुत हैं (अकेला इतनेसे कैसे लड़ सकता हूँ इससे) अपार माया रचूँ ॥ ८७ ॥

प० प० प्र०—१ दोहेके प्रथम चरणमें १२ ही मात्राएँ हैं और अन्ताक्षर दीर्घ होनेसे उच्चारणमें भी १३ मात्राएँ नहीं होतीं । यह वृत्तदोष नहीं है वरं नाट्यकाव्यगुण ही है । इससे जनाया कि रावण निराश होकर घबड़ा गया है । सुं० दोहा २६ 'जनकसुता के आगे'''' के टिप्पण देखिये, यद्यपि वहाँ दूसरा ही रस है ।

२—कुम्भकर्ण-रघुवीर-युद्धमें 'कुंभकरन मन दीख बिचारी । हति छन माँझ निसाचर धारी ॥' पर उसने हृदयमें ऐसा विचार और निश्चय नहीं किया कि 'मैं अकेल कपि भालु बहु माया करौं अपार' । इससे प्रतीत होता है कि कुम्भकर्ण रावणसे अधिक बलवान् और धीर-वीर था । वह मरणको नहीं डरा, भुजहीन होनेपर भी रणाङ्गणमें ही रहा, गुप्त नहीं हुआ । रावणके वचनोंसे स्पष्ट है कि वह मनमें हार गया है और तनकी रक्षाका अन्तिम यत्न करेगा, पर अन्तमें मरेगा ही ।

देवन्ह प्रभुहि पयादे देखा । उपजा उर अति छोभ बिसेषा ॥ १ ॥
सुरपति निज रथ तुरत पठावा । हरष सहित मातलि लै आवा ॥ २ ॥

अर्थ—प्रभुको पैदल देख देवताओंके हृदयमें अत्यन्त भारी क्षोभ (दुःख) उत्पन्न हुआ ॥ १ ॥ इन्द्रने तुरंत अपना रथ भेजा । मातलि हर्षपूर्वक उसे ले आया ॥ २ ॥

नोट—१ 'अति छोभ बिसेषा' । भाव कि इतना भारी दुःख हुआ कि वे अपनी वाणीको रोक न सके, उनसे देखा न गया तब आपसमें कहने लगे कि यह युद्ध समान-युद्ध नहीं है कि एक रथपर सवार हो और दूसरा पैदल हो । यथा—'भूमौ स्थितस्य रामस्य रथस्थस्य च रक्षसः । न समं युद्धमित्याहुर्देवगन्धर्वकिन्नराः ॥'—(वाल्मी० १०२ । ५) । वस्तुतः यह इन्द्रको सुनानेके लिये कहा गया था जिसमें वह अपना रथ भेज दे और ऐसा ही हुआ भी । इनके वचनोंको सुननेपर उन्होंने रथ ले जानेकी आज्ञा मातलिको दी ।—(वाल्मी० १०२ । ५–८) ‡

---

* निसिचरबरूथ बिमर्दि गर्जहिं भालुकपि दर्पित भए (का०) † हृदय बिचारेउ दसवदन—(का०) ।

‡ 'ततो देववरः श्रीमाञ्श्रुत्वा तेषां वचोऽमृतम् । आहूय मातलिं शक्रो वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ६ ॥ रथेन मम भूमिष्ठं शीघ्रं याहि रघूत्तमम् । आहूय भूतलं यातः कुरु देवहितं महत् ॥ ७ ॥ इत्युक्तो देवराजेन मातलिर्देवसारथिः ।' (ये श्लोक प्र० सं० में

☞ वाल्मी० में यह प्रसङ्ग दोहा ९० (१—७) में दिये हुए युद्धके बाद है।

वि० त्रि०—जब निशाचरोंका संहार हो गया, तब देवताओंकी बुद्धि ठिकाने हुई तब यह बात मनमें आयी कि अब तो राम-रावण-युद्ध ही शेष है, पर रावण रथपर है, सरकार पैदल हैं और इसी लड़ाईमें वारा-न्यारा है; अतः इसमें सरकार-का पैदल रहना अत्यन्त कचायी हम लोगोंकी है। इन्द्रके मनमें भी यही भाव उठा, अतः उन्होंने तुरंत मातलिको रथ ले जानेकी आज्ञा दी।

नोट—२ पंजाबीजीने यहाँ यह शंका करके 'इन्द्रने रथ प्रथम युद्धमें क्यों न भेजा?', उसका उत्तर यह लिखा है कि—(१) प्रभुको पैदल देख जब देवताओंने इन्द्रको लज्जित किया तब उसने भेजा। वा, (२)—मेघनादसे प्रायः लक्ष्मणजीका ही युद्ध है, श्रीरामजीका युद्ध मेघनादसे नाममात्रका है। रहा कुम्भकर्ण सो उसका रथारूढ़ होकर आना कहा नहीं गया। और यहाँ अबतक राक्षस-सेनासे ही युद्ध होता रहा है। अतएव अबतक रथ न होनेकी ओर उनका ध्यान आकर्षित न हुआ था इसीसे रथ न भेजा गया। अब राम और रावण दोनों प्रथम बार सम्मुख हो रहे हैं, द्वन्द्व-युद्ध है, अतएव इस समय ध्यान स्वाभाविक रथस्थ और विरथपर गया। वा, (३) जबतक इन्द्रजीत मरा न था तबतक इन्द्र शंकितहृदय था (कि ऐसा न हो कि रथ भेजा हुआ देखकर वह फिर हमपर आ पड़े)। अब भय जाता रहा तब भेजा। वा, (४) जब प्रभुकी प्रेरणा हुई तब भेजा। वा, [(५) श्रीरामजीकी बराबर जीत देखकर भेजा। (मा० म०)]

गौड़जी—विभीषणका स्वार्थ, ममत्व और भक्ति तीनों अत्यन्त प्रबल थे, इसीलिये उन्हें सबसे पहले इसका खयाल हुआ था। देवोंकी दृष्टि इतनी पैनी नहीं है और आसुरी माया उनपर ऐसी प्रबल है कि वह श्रीरघुनाथजीके स्वरूपको न देखकर अपने स्वार्थको ही मूर्तिमान् देखते हैं। इसलिये रथका प्रश्न उन्हें बहुत देरमें सूझता है और सहस्राक्ष इन्द्र अपनी हजारों आँखें फाड़-फाड़ देखता था परंतु युद्धकी यह विषमता उसे देवताओंके सुझाये ही सूझी। देवताओंके मनमें क्षोभका उत्पन्न होना आसुरी मायापर ईश्वरी मायाकी प्रबलताकी प्रतिक्रिया है। अभीतक कौतुक-ही-कौतुक था, अब बलसाम्यपूर्वक तुमुल युद्धका दृश्य दिखाना है, इसीलिये रथ भी मँगवाया गया। मर्जी थी, इसीलिये सादर प्रणामकर रथपर सवार हुए, नहीं तो खरदूषणवधपर रथ कहाँ था?

प० प० प्र०—'सुरपति' शब्दका प्रयोग सहेतुक है। इन्द्रको जब यह भय लगा कि '(नाथ) न रथ नहि तन पदत्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना॥' रथ न होनेसे उन्हें रघुनाथजीका विजय असंभव-सा जान पड़ा, तब विचार हुआ कि सुरोंकी रक्षा कैसे होगी। अतः सुरपति नाम चरितार्थ करनेके लिये रथका भेजना आवश्यक समझा। रथका भेजना स्वार्थमूलक ही है।

पं०—'हरष सहित मातलि लइ आवा' स्वामीके कार्यमें हर्ष और उत्साह होने ही चाहिये। पुनः हर्ष इससे कि जिनको मुनि ध्यानमें भी नहीं पाते उनका मैं पाससे दर्शन और उनकी सेवा करूँगा। पुनः हर्ष इससे कि इस रथपर इन्द्रके साथ मैंने इन्द्र-रावण-युद्ध कई बार देखा पर सदा हार ही हुई और आज इसपर श्रीरामजीको सवार कराके रावणका पराजय और वध देखनेको मिलेगा।—(हर्ष और उत्साह वीररसके स्थायीभाव हैं)।

तेजपुंज रथ दिब्य अनूपा। हरषि चढ़े कोसलपुरभूपा॥ ३॥
चंचल तुरग मनोरथ चारी। अजर अमर मन सम गतिकारी॥ ४॥

अर्थ—उस दिव्य अनुपम, तेजराशि रथपर कोसलपुरके राजा श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्नतापूर्वक चढ़े॥ ३॥ उसमें सुन्दर मनहरण चार चंचल, अजर, अमर और मनकी गतिके समान शीघ्रगामी घोड़े जुते थे॥ ४॥

नोट—१ 'तेजपुंज रथ दिब्य अनूपा' इति। वाल्मी० १०३ में रथका वर्णन इस प्रकार है कि—वह रथ सोनेके कामसे चित्रित था। सैकड़ों किंकिणियोंसे भूषित था। उसके कूबर वैदूर्यमणिके थे। स्वर्णाभूषणों एवं सफेद श्वेत प्रकीर्णकों (चमरों)

संभवतः श्रीसीताराम प्रेससे प्रकाशित वाल्मीकीयसे दिये ये। पर पं० द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदीके संस्करणमें ये श्लोक नहीं हैं। उसमें देवराजके रथका वर्णन करके इस प्रकार कहा है—रुक्मवेणुध्वजः श्रीमान्देवराजरथो वरः। ८। देवराजेन सन्दिष्टो रथमारुह्य मातलिः अभ्यवर्तत काकुत्स्थमवतीर्य त्रिविष्टपात्। ९। सर्ग १०३।' अर्थात् इन्द्रके श्रेष्ठ रथको श्रीरामजीके लिये ले जानेकी जब इन्द्रने स्वयं मातलिको आज्ञा दी तब वह उसपर सवार हो स्वर्गसे उतरकर श्रीरामजीके समीप आया।)

से युक्त और स्वर्णजालसे विभूषित उत्तम हरे घोड़े सूर्यसदृश प्रकाशमान थे। रुक्मवेणुकी ध्वजावाला वह श्रीमान् देवराजका श्रेष्ठ रथ है। यथा—'ततः काञ्चनचित्राङ्गः किंकिणीशतभूषितः ॥ ६ ॥ तरुणादित्यसंकाशो वैदूर्यमयकूबरः। सदश्वैः काञ्चनापीडैर्युक्तः श्वेतप्रकीर्णकैः ॥ ७ ॥ हरिभिः सूर्यसंकाशैर्हेमजालविभूषितैः । रुक्मवेणुध्वजः श्रीमान्देवराजरथो वरः ॥ ८ ॥ यह सब 'तेजपुंज दिव्य अनूप' से कविने यहाँ सूचित कर दिया।

नोट—२ ऊपर यह कहकर कि 'हरष सहित मातलि लै आवा' यहाँ यह कहते हैं कि 'हरषि चढ़े'''। इससे कविने उसे लाने और उसपर सवार होनेमें शीघ्रता दिखायी। वाल्मी० १०३ में जो मातलिने श्रीरामजीसे हाथ जोड़कर कहा है—'सहस्राक्षेण काकुत्स्थ रथोऽयं विजयाय ते। दत्तस्तव महासत्त्व श्रीमञ्शत्रुनिबर्हण ॥ ११ ॥ आरुह्येमं रथं वीर राक्षसं जहि रावणम्। मया सारथिना राजन्महेन्द्र इव दानवान् ॥ १२ ॥' हे काकुत्स्थ ! हे महापराक्रमी महाराज ! हे शत्रुदमनकारिन् ! देवराज इन्द्रने आपकी विजयप्राप्तिके लिये यह रथ भेजा है। जैसे मुझ सारथीको लेकर इन्द्र दानवोंका नाश करते हैं वैसे ही आप भी इस रथपर सवार होकर रावणका विनाश कीजिये।—वह सब यहाँ 'लै आवा' और सामने मूकावस्थासे खड़ा होनेसे जना दिया। वह हर्षपूर्वक लाया है, मुँहसे प्रेमानन्दके मारे वचन नहीं निकले। इसीसे श्रीरामजी भी 'हरषि चढ़े'।

३ 'हरषि चढ़े कोसलपुर भूपा' इति। 'हर्ष' का भाव कि—(क) (१) रथ, घोड़े, सारथी आदि सभी इस युद्धके योग्य पाये। वा, (२) रावण रथपर था, हम भी अब रथपर होंगे, द्वन्द्वयुद्ध समान होगा। वा, (३) युद्धारम्भ होनेको है इससे हर्ष शकुनसूचक है। वा, (४) विभीषणके मनकी भी हो गयी। (पं०)। वा, (ख) रथविद्यामें निपुण हैं, अतः उसपर चढ़कर प्रसन्न हुए। वा, रथपर चढ़कर वानरोंकी मर्यादा बढ़ायी। वा, देवताओंका प्रेम और मातलिकी चतुरता देख हर्षित हुए (मा० म०)।

'हरषि' से परिक्रमा और प्रणाम करके चढ़ना भी जना दिया है। यथा—'सम्परिक्रम्य रथं तमभिवाद्य च' (वाल्मी० १०३ । १४)। पुनः 'हरषि चढ़े' और 'दिव्य' का एक भाव यह भी है कि मातलिके रथ लानेपर प्रभुने शङ्का की कि कहीं यह रावणकी माया न हो। तब विभीषणने कहा कि यह रावणकी माया नहीं है, आप इसपर सवार हों। यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने बहुत हर्षित हो कहा कि ऐसा ही करेंगे और रथपर सवार हुए। यह कथा महाभारतमें है और वहाँ भी 'प्रहृष्टः' पद आया है। अतएव वह भाव भी 'हर्षित' पदमें आ गया। यथा—'इत्युक्तो राघवस्तथ्यं वचोऽशङ्कत मातलेः ॥ १५ ॥ मायैषा राक्षसस्येति तमुवाच विभीषणः। नेयं माया नरव्याघ्र रावणस्य दुरात्मनः ॥ १७ ॥ तदातिष्ठ रथं शीघ्रमिममैन्द्रं महाद्युते। ततः प्रहृष्टः काकुत्स्थस्तथेत्युक्त्वा विभीषणम् ॥ १७ ॥ रथेनाभिपपाताथ दशग्रीवं रुषान्वितः ॥' (अ० २९० वनपर्वणि)।

'कोसलपुरभूपा' का भाव कि यह रथ सुरराजका है, राजेन्द्रके योग्य है। और प्रभु चक्रवर्ती राजा हैं। क्योंकि कोसलपुरके राजा हैं। इसलिये उसपर इनका सवार होना योग्य ही है। पुनः इन्द्र कोसलपुरभूपका सखा है, अपने सिंहासनपर सदा दशरथजीको अपने बराबर बिठाता था—'अर्ध सिंहासन आसन देई' अतः इस रथपर कोसलपुरभूपका सवार होना योग्य ही है। पुनः इन्द्रकी सहायता कोसलेश सदा करते थे, यथा—'सुरपति बसइ बाहु बल जाके।' इस समय भी उन्हींके लिये प्रभु लड़ रहे हैं, उन्हींकी सहायता करनेके लिये चले हैं। अतः 'चढ़े कोसलपुर भूपा' कहा। दूसरा इसपर नहीं चढ़ सकता था।

वं० पा०—लंकेशकी जोड़में एवं इन्द्ररथपर चढ़ने और रणपाण्डित्य जनाने तथा पृथ्वीकी रक्षाके विचारसे 'कोसलपुरभूप' कहा।

पं०—ऐश्वर्यरूपसे तो गरुड़हीपर सवार होना था पर इस समय स्वाँग भूपरूपका है, अतः रथपर चढ़े।

नोट—४ उत्तम घोड़ेमें चार गुण होते हैं—वय, रूप, बल और गति। यथा—'आपने बय बल रूप गुन गति सकल भुवन बिमोहई। बा० छं० दोहा ३१६।' यहाँ वह चारों गुण दिखाये हैं। (क) 'चञ्चल' से अवस्था। चञ्चल=चुलबुल, एक ठौर जो स्थित न रह सके। यह गुण अवस्था जानेपर नहीं रह सकता। पुनः चञ्चलसे गति भी उत्तम जनायी, यथा—'सुभग सकल सुठि चंचल करनी। अय इव जरत भरत पग धरनी ॥ ११। २९८।' 'जात नचावत

चपल तुरंगा।' चञ्चलता गुण है। (ख) 'मनोहर' से उत्तम रूप, 'अजर' से वय और बल, 'अमर' से बल और 'मन सम गतिकारी' से उत्तम गति जनायी। '*मन सम गतिकारी*' में दो भाव हैं। एक यह कि जैसी सवारके मनमें इच्छा हो वैसा ही चलते हैं, दूसरे मनके समान वेगसे चलनेवाले। मनके समान अपनी गति कर लेनेवाले; यह शब्दार्थ है।

रथारूढ़ रघुनाथहि देखी। धाए कपि बलु पाइ बिसेषी॥ ५॥
सही न जाइ कपिन्ह कै मारी। तब रावन माया बिस्तारी॥ ६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीको रथपर चढ़े देख वानर विशेष बल पाकर दौड़े॥ ५॥ वानरोंकी मार सही न गयी तब रावणने माया फैलायी॥ ६॥

नोट—१ पूर्व प्रसङ्ग '*मैं अकेल कपि भालु बहु माया करउँ अपार।*' ८७।' पर छोड़ा था। बीचमें देवताओंका दुखी होना और इन्द्रका रथ भेजना इत्यादि कहा। अब फिर जहाँ छोड़ा था वहींसे प्रसङ्ग उठाया—'*रावन माया बिस्तारी।*' वहाँके '*मैं अकेल कपि भालु बहु*' का भाव '*सही न जाइ कपिन्ह कै मारी*' से स्पष्ट किया।

रा० प्र०—'बल पाइ बिसेषी' का भाव कि अभीतक मेघनाद और रावणके मुकाबिलेमें पैदल ही लड़ते हुए जीतते आये और अब तो बराबरका युद्ध होगा तब क्या कहना है, अवश्य जय पायँगे।

सो माया रघुबीरहिं बाँची। लछिमन कपिन्ह सो मानी* साँची॥ ७॥
देखी कपिन्ह निसाचर अनी। अनुज सहित बहु कोसलधनी†॥ ८॥

शब्दार्थ—बाँचना=बचाना, छोड़ देना। वचन ठीक समझना, पढ़ना। 'बाँची' का अव्ययार्थ 'सिवाय' एवं 'छोड़कर' है।

अर्थ—उस मायाको श्रीरघुनाथजीने ही ठीक-ठीक समझा। श्रीलक्ष्मणजी और वानरोंने उसे सच्चा मान लिया॥ ७॥ वानरोंने राजसी सेना और भाई लक्ष्मणसहित बहुतसे कोसलपति राम देखे॥ ८॥

नोट—रावणकी मायाकी चर्चा महाभारत वनपर्व अध्याय २९०। ५-११ में इस प्रकार है कि फिर शत्रुद्वारा अपनी सेना मारी जाती हुई देखकर वह मायावी रावण माया रचने लगा। उसकी देहसे सैकड़ों, सहस्रों राक्षस बाण-शक्ति आदि लिये हुए दिखायी दिये। उन सबोंको श्रीरामजीने दिव्यास्त्रसे मारा। फिर भी रावणने और माया रची कि राम और लक्ष्मणके बहुतसे रूप बनाकर उनपर दौड़ा। बादमें राक्षस श्रीराम-लक्ष्मणपर धनुष-बाण लिये झपटे। उसकी मायाको देखकर लक्ष्मणजी श्रीरामजीसे बड़े गम्भीर वाणीसे बोले कि हम लोगोंके सदृश स्वरूप धारण किये हुए इन पापी राक्षसोंको मारिये तब रामचन्द्रजीने उन सब अपने सदृश स्वरूपधारियोंको मारा। यथा—'**ततः ससैन्यमालोक्य वध्यमानमरातिभिः। मायावी चासृजन्मायां रावणो राक्षसाधिपः॥ ५॥ तस्य देहविनिष्क्रान्ताः शतशोऽथ सहस्रशः। राक्षसाः प्रत्यदृश्यन्त शरशक्त्यृष्टिपाणयः॥ ६॥ तान् रामो जघ्निवान् सर्वान् दिव्येनास्त्रेण राक्षसान्। अथ भूयोऽपि मायां स व्यदधाद्राक्षसाधिपः॥ ७॥ कृत्वा रामस्य रूपाणि लक्ष्मणस्य च भारत। अभिदुद्राव रामं च लक्ष्मणं च दशाननः॥ ८॥ ततस्ते राममर्च्छन्तो लक्ष्मणं च क्षपाचराः। अभिपेतुस्तदा रामं प्रगृहीतशरासनाः॥ ९॥ तां दृष्ट्वा राक्षसेन्द्रस्य मायामिक्ष्वाकुनन्दनः। उवाच रामं सौमित्रिरसंभ्रान्तो बृहद्वचः॥ १०॥ जहीमान् राक्षसान्पापानात्मनः प्रतिरूपकान्। जघान रामस्तांश्चान्यानात्मनः प्रतिरूपकान्॥ ११॥**'

पं० वि० त्रिपाठीजी—जिस लेखको जो बाँच नहीं सकता, उसे उसका भेद मालूम नहीं हो सकता। वह माया किसीकी समझमें नहीं आयी, जैसे अपरिचित अक्षरोंमें लिखी हुई चीठी किसीकी समझमें नहीं आती। मायाका बाँचना उसकी करामातको समझ लेना है कि अमुक उपाय किया गया है, जिससे यह झूठा दृश्य दिखायी पड़ रहा है। आजकलका सिनेमा उसी मायाका एक भद्दा रूप है। जब कुहक विद्या (साइन्स) की और अधिक उन्नति होगी तब सिनेमाका दृश्य रणाङ्गणके खुले मैदानमें दिखाया जा सकेगा। यह साइन्स (पाश्चात्त्य विज्ञान) बड़े कामकी चीज होनेपर भी

* सब काहू मानी करि। † बहु अंगद लछिमन कपि धनी—(का०)।

संसारको ही दृढ़ करनेवाली है, अतः इसका परमार्थपथके पथिकोंमें कोई आदर नहीं है, क्योंकि यह भी एक प्रकारका शिल्प है, यथा'तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये। आयासायापरे कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्॥' कर्म वही है जिससे बन्ध न हो, विद्या वही है, जिससे मुक्ति हो। दूसरे कर्म तो परिश्रमके लिये हैं, और दूसरी विद्या शिल्पकी निपुणतामात्र है। जैसे सिनेमाके भेदके जाननेवालेके लिये वह दृश्य अत्यन्त झूठा है, और सिनेमामेंका किला और फौजका संहार हँसी-खेल है, उसी भाँति रावणके दिखाये हुए दृश्यको नष्ट कर देना श्रीरामजीके लिये हँसी-खेल था; क्योंकि उन्होंने उसका मर्म जान पाया था।

प० प० प्र०—'देखी कपिन्ह'' में मात्राओंकी कमी करके श्रीलक्ष्मणजी और सेनाभरका चकित होना, किंकर्तव्यविमूढ़ होकर स्तम्भित हो जाना इत्यादि सूचित कर दिया।

छं०—बहु राम लछिमन देखि मर्कट भालु मन अति अपडरे।*
जनु चित्र लिखित समेत लछिमन जहँ सो तहँ चितवहिं खरे॥
निज सेन चकित बिलोकि हँसि सर चाप सजि कोसलधनी।
माया हरी हरि निमिष महुँ हरषी सकल मर्कट अनी॥

अर्थ—बहुतसे राम-लक्ष्मण देखकर वानर और रीछ मनमें अत्यन्त ही (झूठे डरसे) डरे। लक्ष्मणसहित जो जहाँ हैं वह वहीं खड़े रहकर इस तरह देखने लगे मानो लिखे हुए चित्र ही हैं (कि एकरस टकटकी लगाये देख रहे हैं, हिलते-डोलते-तक नहीं)। अपनी सेनाको चकित (आश्चर्ययुक्त) देख दुःखके हरनेवाले भगवान् कोशलपति श्रीरामजीने हँसकर धनुष-पर बाण सजकर निमेषमात्रमें माया हर ली। सब वानर-सेना हर्षित हो गयी।

नोट—१ **'अति अपडरे'**। (क)—अपडर झूठे डरसे डरनेको कहते हैं, यथा—**'अपडर डरेउँ न सोच समूले। रबिहि न दोसु देव दिसि भूले॥ २। २६७। ३॥'**, **'समुझि सहम मोहि अपडर अपने। सो सुधि राम कीन्ह नहिं सपने॥१। २९। १॥'** भाव कि यह झूठी माया है इससे डरना न चाहिये था। (ख) वानर अत्यन्त भयभीत हुए कि हमारी ओर तो एक ही राम और एक ही लक्ष्मण हैं और उधर असंख्य, तब कैसे क्या होगा! हम सबका मरण निश्चय है। वा, इससे डरे कि सब हमारे स्वामी हैं इनसे कैसे लड़ेंगे। (पं०)। श्रीसीतारूप परीक्षार्थ धर लेनेपर शिवजीने सोचा था कि सतीमें प्रेम करनेसे **'मिटइ भगतिपथ होइ अनीती'** तब यहाँ तो सभी रामभक्त हैं। वे रामरूपपर कैसे प्रहार कर सकेंगे। अतः सब भयत्रस्त किंकर्तव्यविमूढ़, चित्रलिखित-से हो गये। (प० प० प्र०)

२ **'हँसि सर चाप सजि कोसलधनी।'** (क) हँसना रावणके निरादरार्थ एवं इस कौतुकपर है कि इसकी मायासे लक्ष्मणतक चकित हो गये हैं। पुनः हँसकर सेनापर कृपा सूचित की। पुनः भाव कि सामान्य राक्षसी मायाके नाशके लिये अपनी वैष्णवी माया हासको काममें लाये। हँसी आपकी माया है, उसे बाणके साथ भेजा। (ख) हँसनेमें 'कोसलधनी' और मायाहरणमें 'हरि' पद दिये। राजा कौतुक देखते ही हैं, अतः हँसे। पुनः कोसलपति हैं, वे शत्रुको क्या समझें—**'कालहु डरहिं न रन रघुबंसी'**। अतः निरादरार्थ हँसनेमें यह पद दिया। (ग) दुःख हरा क्योंकि हरि हैं। हरिका अर्थ ही है, दुःख हरनेवाला। साभिप्राय होनेसे 'परिकरांकुर अलंकार' है। (प्र० सं०)। पुनः 'धनी' कहनेमें भाव यह है कि सेवकोंके निकट होनेपर भी यदि धनीद्वारा उनका कुशल न होगा तो अनुचित होगा। यहाँ कृपाल या समानार्थक शब्दका प्रयोग न करनेमें भाव यह है कि अपने भक्तों, आश्रितोंका भय निवारण करना अपना कर्तव्य समझकर बाणको चढ़ाकर मायाका निवारण किया। (प० प० प्र०)।

प० प० प्र०—रावणने मायासे अमित राम-लक्ष्मण उत्पन्न किये, पर किसीने कपि-सेनापर प्रहार न किया। इससे सूचित किया कि मायारूपी राम-लक्ष्मणमें भी वानर-सेनापर प्रहार करनेकी इच्छा ही न हुई। यह 'रामरूप' ग्रहण करने-का परिणाम है।

नोट—३ हनु० १० में लिखा है कि अपने मन्दिरमें कुछ समय व्यतीत करके उसने विचार किया कि यहाँ प्रपंचकी

---

* बहुबालीसुत लछिमन कपीस बिलोकि मर्कट अपडरे।

रचना करके निस्संदेह जानकीको भोगूँगा। ऐसा विचारकर वह राक्षसेश्वर मायासे रामरूप हो गया और उस रूपसे अशोक-वाटिकामें प्रवेश किया और श्रीजानकीजीके समीप गया। श्रीजानकीजी उठकर खड़ी हो जाती हैं। पर रामरूप धारण करने-पर उसके हृदयसे संपूर्ण पापकी मूल चेष्टाएँ जाती रहती हैं। यथा 'निजमन्दिरं कियन्तं कियन्तं समयं नीत्वा (स्वगत) इदानीं महान्तं प्रपञ्चमुत्पाद्य नूनं जानकीमनुभविष्यामीत्यवधार्य', ''' 'रामः स्वयमभवदथो मायया''' ॥ १८ ॥ एवंविधो भूत्वा पुनरशोकवनिकां प्रविश्य रावणः। लङ्कासटोऽथ रघुनन्दनवेषधारी पापो जगाम पुरतो जनकात्मजायाः॥'''१९॥', 'क्लीबो विशीर्णमणिदण्डयुतः स्मरार्तपापात्ततः शिवशिवान्तरधीयत द्राक् ॥२१॥' (रावण विशीर्ण मणिदण्डसे युक्त होता हुआ नपुंसक होकर 'शिव! शिव' कहता हुआ कामके दुःखरूप पापसे उसी समय अन्तर्धान हो गया)।, 'अथ निजकेलि-मन्दिरस्थो रावणः स्वगतम्। कृतकृत्येऽपि रामत्वे वर्तमाने मयि स्थिते ॥ निरुध्यन्त्येव ताः सर्वाः पापमूलाः प्रवृत्तयः ॥ २३ ॥' (ये विचार स्वयं रावणके हैं)। और कवि भी कहते हैं कि 'नाम्नापि यस्य कुत इच्छति तस्य रूपादन्याङ्गनापहरणे न मनः कदाचित् ॥ १९ ॥' अर्थात् जिन श्रीरामचन्द्रजीके नाममात्रसे ही मन परस्त्रीके हरणकी इच्छा नहीं करता है, तब उनके साक्षात् रूपसे परस्त्रीके हरणमें मन कैसे इच्छा करेगा।—यह श्रीरामरूपका महत्त्व है। पवित्रात्मा संतोंका स्मरण एवं ध्यान करनेका यह महत्त्व है कि कामादि खलोंसे रक्षा होती रहती है, फिर अनघ, अकाम, सर्वदिव्य-गुणसम्पन्न सर्वहेयगुणरहित श्रीरामजीका स्मरण और ध्यान कलियुगके पापोंसे हमारे अन्तःकरणकी रक्षा क्यों न करेगा, उनका स्मरण हमें अवश्य पवित्रात्मा बना देगा, यह विश्वास करके हम लोगोंको भगवान् रामका स्मरण और ध्यान करना चाहिये। ☞ यह उपदेश हमें इस प्रसङ्गसे मिलता है।

टिप्पणी—१ 'हरषी सकल मर्कट अनी' इति। यहाँ हर्ष तो कहा पर साथ ही वानरोंका उत्साहपूर्वक लड़नेको जाना यहाँ नहीं कहा, यद्यपि जब-जब मायाका हरण करना ग्रन्थकारने लिखा है तब-तब कपि-भालुका युद्धहेतु धावना भी कहते आये हैं। इससे जनाया कि हर्ष हुआ पर रावणके सम्मुख युद्धकी इच्छा नहीं रह गयी। यथा—'दशाननः क्रोधविवृत्तनेत्रो यतो यतोऽभ्येति रथेन संख्ये। ततस्ततस्तस्य शरप्रवेगं सोढुं न शेकुर्हरियूथपास्ते ॥ वाल्मी० ९५। ५३।' अर्थात् रावण क्रोधसे नेत्र फैलाकर रथपर चढ़कर जिस-जिस रास्तेसे रणभूमिपर दौड़ता है वहाँ-वहाँ उसके बाणवेगको बड़े-बड़े यूथपति वानर भी न सह सके।

(प्र० स्वामीजी कहते हैं कि भगवान्‌के हास्यका ही यह परिणाम है। वे सेनाको विश्राम देना और स्वयं रावणसे द्वन्द्वयुद्ध करना चाहते हैं। अतएव वानरोंकी इच्छा ही न हुई।)

२ ☞ रावणको ब्रह्माका वरदान था कि जब जिस रूपके धारण करनेकी इच्छा मनमें होगी तब उसी समय तुम्हारा वह रूप हो जायगा। यथा—'छन्दतस्तव रूपं च मनसा यद्यथेप्सितम्। एवं पितामहोक्तं च दशग्रीवस्य रक्षसः ॥ वाल्मी० उ० १०। २५।' अर्थात् ब्रह्माजीने रावणसे कहा कि हे राक्षस! स्वेच्छासे तुम जब जैसा-जैसा रूप बनानेकी इच्छा करोगे तब वैसा-वैसा रूप हमारे वरदानसे हो जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं।

दोहा—बहुरि राम सब तन चितइ बोले बचन गँभीर।
द्वंद* जुद्ध देखहु सकल श्रमित भए अति बीर ॥८८॥

अर्थ—फिर श्रीरामचन्द्रजी, सबकी ओर देखकर, गम्भीर वचन बोले—तुम सब वीर बहुत ही थक गये हो, इससे अब हमारा और रावणका द्वन्द्व-युद्ध देखो।' ॥ ८८ ॥

नोट—१ 'बहुरि राम सब तन चितइ बोले'। (क) 'बहुरि' अर्थात् मायाहरणके पश्चात् जब सेना प्रसन्न हुई तब राम हैं, सबके हृदयकी जानते हैं, दूसरे सब (अपार सेना) को एक ही जगहसे देख लिया इससे 'राम' पद दिया। यथा—'राम कृपा करि चितवा सबहीं। भए बिगत श्रम बानर तबहीं ॥ ४७। २।' (ख) इसमें ध्वनिसे यह इशारा है कि भगवान्‌ने कृपाकोरसे देखकर सबके श्रमको दूर कर दिया। (ग)—सबके मुखकी चेष्टासे जान गये कि उत्साह

*द्वंद—(का०)। द्वंद्व—(भा० दा०)।

जाता रहा है, सब डर गये हैं। अतः बोले। (घ) 'बचन गँभीर' का भाव कि यह न कहा कि तुम डर गये हो, तुम्हारा उत्साह जाता रहा है; किंतु यह कहा कि तुम सब बहुत थक गये हो। पुनः गम्भीर वचन अर्थात् जो दूरतक और सबको स्पष्ट सुन पड़े। यथा—'**बोले घन इव गिरा गँभीरा**' ॥ ७४। १२।' (लक्ष्मणजी)।

अस कहि रथ रघुनाथ चलावा। बिप्र चरन पंकज सिरु नावा ॥ १ ॥
तब लंकेस क्रोध उर छावा। गर्जत तर्जत सन्मुख धावा* ॥ २ ॥

अर्थ—ऐसा कहकर श्रीरघुनाथजीने रथ चलाया। विप्रचरणकमलमें मस्तक नवाया ॥ १ ॥ (जब रथ आगे बढ़ा) तब रावणके हृदयमें क्रोध छा गया और वह गरजता-दपटता हुआ सामने आया ॥ २ ॥

पु० रा० कु०—विप्रचरणमें प्रणामसे मङ्गलाचरण किया। यथा—'**बंदि बिप्र गुर चरन प्रभु चले करि सबहि अचेत। अ० ७९।**'

नोट—१ यह मानसिक प्रणाम है क्योंकि यहाँ विप्र नहीं हैं। पुनः, यह भी भाव है कि 'भृगुलता' चिह्न जो हृदयपर प्रत्यक्ष है उसको प्रणाम किया। इसीसे यहाँ ध्यानमें विप्रचरन भी कहा था—'**उर धरासुर पद लस्यो। ८४ छन्द।**' देखिये। मा० म० में 'विप्रचरन' से अगस्त्यजीको, वा, रावणमें जो विप्र-अंश है उसको नमस्कार करनेका भाव कहा है। पंजाबीजीका मत है कि विप्रचरणमें प्रणाम करके जनाते हैं कि यद्यपि रावण ब्राह्मण है पर तुम्हारे ही लिये राक्षस जानकर हम उसे मारने जाते हैं, अतः क्षमा कीजियेगा। और बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि विप्रचरणोंको प्रणाम करके मर्यादापुरुषोत्तम प्राणिमात्रको धर्मकी शिक्षा दे रहे हैं कि ये चरण कार्य सिद्ध करनेवाले हैं।

२ '**तब लंकेस क्रोध उर छावा**'। क्रोधका कारण कि—(क) इन्द्रके रथपर ये सवार होकर आये, आज इन्द्रको यह साहस हुआ कि उसने अपना रथ सहायताके लिये भेजा। (ख) मुझ लोकविजयीके सम्मुख कोई वीर अकेला बढ़कर आगे आनेका साहस नहीं कर सकता और ये निःशङ्क आगे बढ़े आते हैं। (ग) श्रीरघुनाथजीको देख भाई, पुत्र और सेनाका मरण स्मरण हो आया। (घ) खिसियाया हुआ है; क्योंकि इन्होंने निमेषमात्रमें उसकी माया नष्ट कर दी। खिसियायेको क्रोध बहुत होता ही है।

जीतेहु जे भट संजुग माहीं। सुनु तापस मैं तिन्ह सम नाहीं ॥ ३ ॥
रावन नाम जगत जसु जाना। लोकप जाकें बंदीखाना ॥ ४ ॥

अर्थ—अरे तपस्वी! सुन, जिन योद्धाओंको तुमने युद्धमें जीता है, मैं उनका-सा नहीं हूँ ॥ ३ ॥ मेरा रावण नाम है, संसारभर जिसके यशको जानता है, जिसके कैदखानेमें लोकपाल पड़े हुए हैं ॥ ४ ॥

नोट—१ (क) '**गर्जत तर्जत सन्मुख धावा**' पूर्व कहा, अब 'गर्जत तर्जत' का स्वरूप दिखाया। (ख) '**सुनु तापस**' इति। यह देवराज इन्द्रके रथपर चढ़नेपर कटाक्षके अभिप्रायसे कहा गया है (वं० पा०)। भाव कि इसपर चढ़नेसे तुम राजा नहीं हो गये, 'तपसी' ही हो, श्रीरामजीको 'तापस' तो पूर्व भी कहता रहा है। यथा—'**जिअत धरहु तापस दोउ भाई। ३२। २।**', '**मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। ५। ४१।**', '**कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी। ५। ५३।**' इत्यादि। वैसे ही निरादरपूर्वक यहाँ भी 'तापस' कहा। (ग) '**मैं तिन्ह सम नाहीं**' का भाव कि वे मेरे सामने तुच्छ हैं, उनमें हमारा-सा पराक्रम और यश कहाँ? आगे उनसे अपनेमें विशेषता दिखाता है।

२ '**रावण नाम**'। भाव कि जगत् मात्रको रुलानेवाला हूँ। इसीसे शिवजीने यह नाम रक्खा।—जगत्को रुलानेसे, कैलास उठानेसे, शिवजीके नामकरण करनेसे एवं लोकपालोंको कैद करनेसे सारा जगत् जानता है। '**जसु जाना**' का भाव कि लोकपालोंको कैद करनेका यश और किसीको नहीं प्राप्त हुआ। पुनः, भाव कि हमें जगत् जानता है, औरोंको किसी-किसीने जाना; क्योंकि दिग्विजयी कोई न हुआ, न किसीने संसारभरको रुलाया, हमारे समर-यशको जगत् जानता है कि हम जगत्को रुलानेवाले हैं।

---

* आवा (का०)।

खर दूषन बिराध * तुम्ह मारा। बधेहु ब्याध इव बालि बिचारा॥ ५॥
निसिचर निकर † सुभट संघारेहु। कुंभकरन घननादहि मारेहु॥ ६॥
आज‡ बयरु सब लेउँ निबाही। जौं रन भूप भाजि नहिं जाही॥ ७॥
आज करौं खलु काल हवाले। परेहु कठिन रावन के पाले॥ ८॥

शब्दार्थ—निबाहना=चुकाना, निबटाना। 'पाले पड़ना' मुहावरा है।=वशमें या पकड़में आना।

अर्थ—तुमने खर-दूषण और विराधको मारा। बेचारे बालिको व्याधकी तरह (छिपकर) मारा॥ ५॥ बड़े-बड़े निशिचर योद्धाओंके समूहका तुमने संहार किया और कुम्भकर्ण और मेघनादको मारा॥ ६॥ हे भूप! यदि तू रणसे भाग न गया तो आज सबका वैर चुका लूँगा॥ ७॥ आज निश्चय ही तुम्हें कालके हवाले कर दूँगा (मार डालूँगा), आज कठिन रावणके पाले पड़े हो॥ ८॥

नोट—१ 'खरदूषन' 'इति। (क) अरण्य, किष्किन्धा और यहाँतक लङ्काकाण्डके वीर योद्धाओंको क्रमसे गिनाया। (ख) '**बालि बिचारा**' का भाव कि वह वानर ही तो था। ध्वनि यह है कि तुमने वीर कौन-सा मारा है जिस-पर घमण्डमें भूले हो? इन्हींको जीतनेसे अपनेको वीर समझते हो? यदि बलका गर्व है तो मेरे सामने वीरता दिखाओ। यथा हनुमन्नाटके—'**स्त्रीमात्रं ननु ताटका मुनिसुतो रामः स विप्रः शुचिर्मारीचो मृग एव भीतिभवनं वाली पुनर्वानरः। भो काकुत्स्थ विकत्थसे वद रणे वीरस्त्वया को जितो दोर्गर्वस्तु तथापि ते यदि पुनः कोदण्डमारोपय॥ १४। २१॥**' अर्थात् रावण बोला कि स्त्रीमात्र तो ताड़का, मुनिपुत्र ब्राह्मण परशुराम, जो स्वभावसे ही पवित्र था, मारीच मृग भयका भण्डार, ऐसा ही बंदर बाली, ये ही तुमने जीते हैं। हे काकुत्स्थ! तो भी तुम अपनी श्लाघा करते हो। कहो तो तुमने वीर कौन-सा जीता है? तथापि यदि तुम्हें भुजदण्डोंका गर्व है तो धनुष चढ़ाओ।

'बालि बिचारा' में उपर्युक्त उद्धरणसे भी अधिक भाव यह है कि बालि लाचार था, उसको चारा ही क्या था, तुमने उसे छिपकर मारा था, सामने तो आये ही न थे। इस जीतको जीत नहीं कहेंगे।

२ (क) 'वैर निबाहना'='वैर चुकाना'=बदला लेकर संतुष्ट हो जाना। (ख)—'**जौं रन भूप भाजि नहिं जाही**'। भाव कि भागे हुएपर मैं अस्त्र-शस्त्र नहीं चलाता—'**समर बिमुख मैं हतउँ न काहू। ३। १९। १२।**' (रामोक्ति)।

रा० प्र० का मत है कि छत्रचामरादि राजचिह्नों एवं रथारूढ़ होनेसे 'भूप' कहा।' परंतु 'भूप', 'नृप', 'तापस' ये ही शब्द रावणने श्रीरामजीके लिये प्रयुक्त किये हैं। जब रथारूढ़ न थे तब भी 'भूप' और 'नृप' का प्रयोग रावणने किया है, यथा—'**जेहि बिधि हरि आनौं नृप नारी। ३। २५।**' (मारीच प्रति), '**भूप सुजस खल मोहि सुनावा। २८। ५।**' (अङ्गद प्रति) एवं '**हौं मारिहौं भूप दोउ भाई। ७८। १२।**' (सेनासे)। इत्यादि। अतएव 'भूप' सम्बोधन निरादरार्थ है। भाव कि तुम मनुष्योंके राजा हो, भला राक्षसराजके सामने ठहर सकते हो! स्मरण रखनेकी बात है कि रावणने 'राम' नाम कहीं नहीं लिया है, केवल मरते समय 'राम' नाम उच्चारण किया है।

पु० रा० कु०—'**करौं खलु काल हवाले**' से जनाया कि काल मेरे वश है, मेरी आज्ञामें है; वशवर्ती होनेसे मेरा कहा करेगा।

नोट—३ 'खरदूषन…पाले' इन चौपाइयोंसे मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**खरस्य कुम्भकर्णस्य प्रहस्तेन्द्रजितोस्तथा। करिष्यामि प्रतीकारमद्य शत्रुवधादहम्॥ ११॥ हतो भ्राता च येषां वै येषां च तनयो हतः। वधेनाद्य रिपोस्तेषां करोम्यश्रुप्रमार्जनम्॥ वाल्मी० ९५। १८॥**' अर्थात् (ये वचन रावणने महोदरादिसे कहे हैं।) शत्रुको वध करके आज खर, कुम्भकर्ण, प्रहस्त और मेघनादके मारनेका बदला चुकाऊँगा। जिनके भाई और जिनके पुत्र मारे गये हैं उन सबके आँसू आज शत्रुके मारे जानेसे पुछ जायँगे। (च० सं० ९६ सर्गमें)।

पुनश्च—'**रक्षसामद्य शूराणां निहतानां चमूमुखे। त्वां निहत्य रणश्लाघिन् करोमि तरसा समम्॥ तिष्ठेदानीं निहन्मि त्वामेष शूलेन राघव।**'—(वाल्मी० १०२। ५७-५८)। अर्थात् हे समरश्लाघिन्! आज तुमको मारकर

* कबन्ध। † सुभट निकर। ‡ बयरु आज—(का०)।

समरमें मारे हुए वीर राक्षसोंके सदृश कर दूँगा। हे राघव! खड़े रहो, तुमको त्रिशूलसे मारता हूँ। (चतुर्वेदीके संस्करणमें यह १०४। १९, २० में है)।

२ शाल्वने भगवान् श्रीकृष्णसे और जरासन्धने बलरामजीसे भी ऐसा ही कहा है। यथा—'तं त्वाद्य निशितैर्बाणैरपराजितमानिनम्। नयाम्यपुनरावृत्तिं यदि तिष्ठेर्ममाग्रतः॥ भा० १०। ७७। १८॥', 'तव राम यदि श्रद्धा युध्यस्व धैर्यमुद्वह। हित्वा०। भा० १०। ५०। १९॥', अर्थात् तुम्हें अपने अपराजित होनेका अभिमान है, यदि थोड़ी देर हमारे सम्मुख ठहरनेका साहस करोगे तो तुमको मैं अभी उस लोकको पहुँचा दूँगा जहाँसे कोई लौटता नहीं॥ १८॥ युद्धकी श्रद्धा है तो धैर्यसहित युद्ध करो॥ १९॥

पु० रा० कु०—सरस्वतीकृत अर्थ यह है कि 'सब वैर—सुर-मुनि-अपराध, सीताहरणापराध—यदि पूर्ववत् रावण रणसे भाग न जाय तो आज इसी दिन, राम! इस खलको कालके हवाले करो; क्योंकि रावणके पाले (को बचानेसे) सबको कठिन पड़ रहा है।" यही देवताओंने पूर्व विनती भी की है कि 'दारुन बिपति हमहि एहिं दीन्ही॥…'अब जनि नाथ खेलावहु एही। अतिसय बिकल होति बैदेही॥'

'कठिन रावण'। तात्पर्य कि अन्य रामावतारोंमें तुमने जो रावण मारे उनके समान मुझे न जानो। मैं कठिन रावण विष्णु आदिको जीतनेवाला हूँ।—'वज्रोल्लिखितपीनांसौ विष्णुचक्रपरिक्षितौ' (वाल्मी० सुं०)।

सुनि दुर्बचन कालबस जाना। बिहँसि बचन कह कृपानिधाना॥ ९॥
सत्य सत्य सब तव प्रभुताई। जल्पसि जनि देखाउ मनुसाई॥१०॥

अर्थ—दुर्वचन सुनकर उसे कालवश जान दयासागरने हँसकर ये वचन कहे॥ ९॥ तुम्हारी सब प्रभुता सच्च है, सच्च है। व्यर्थ बको मत, अपना पुरुषत्व दिखाओ॥ १०॥

टिप्पणी—१ 'सुनि दुर्बचन'। 'आज करौं खलु काल हवाले' इत्यादि दुर्वचन हैं। (ख) 'बिहँसि' इति। अनादरार्थ हँसे और निःशङ्क तो हैं ही, यथा—'छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुलकलंकु तेहि पावँर आना॥ बाल० १। २८४। ३।' [अपने सखाके वीररसमय वचन सुनकर हँसे; किन्तु जीवका अभिमान समझकर हँसे। (करु०)] (ग) दुर्वचन सुनकर क्रोध आना चाहिये पर सज्जन लोग खलके दुर्वचन सह लेते हैं, उसपर क्रोध नहीं करते; यथा—'बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे॥' प्रत्युत उसपर तरस खाकर कि इसका तो स्वभाव ही यह है, प्रत्युत्तरमें दुर्वचन न कहकर उसे क्षमा ही करते हैं। वैसे ही यह समझकर कि वह कालवश है, श्रीरामजीने हँसकर उसे क्षमा किया। उसपर दया की। कृपानिधान हैं, अतः क्रोध कैसे आवे?

नोट—१ (क) 'सत्य सत्य…' इति। भाव कि तुम्हारा लोकपालोंको जीतना सत्य है, पर हम लोकपाल नहीं हैं, योद्धा हैं— 'कालहु डरहिं न रन रघुबंसी', 'लरहिं सुखेन काल किन होई', जो तेरा बल है उसे दिखा। (पं०) अथवा सत्य-सत्य जो तेरी प्रभुता हो उसे दिखा। (पां०)। यहाँ 'सत्य सत्य' शब्द अर्धाङ्गीकारके अर्थमें है; क्योंकि साथ ही आगे 'जल्पसि जनि…' भी कहते हैं।

(ख) 'जल्पसि जनि देखाउ मनुसाई' इति। भाव कि तुम्हारी वीरता हम जानते हैं, यही है न कि शून्यमें पर-स्त्रीका हरण किया, इत्यादि। इसीपर वीर बनते हो। वाल्मीकिजीने जो श्रीरामजीका उत्तर ८ श्लोकोंमें लिखा है वह 'जल्पसि जनि' इतनेमें ही संक्षेपसे मानसकारने कह दिया। वाल्मी० १०३ में परुष वचन कहे हैं।

मिलान कीजिये—(१) ततः क्रोधसमाविष्टो रामो दशरथात्मजः। उवाच रावणं वीरः प्रहस्य परुषं वचः॥ १०॥ मम भार्या जनस्थानादज्ञानाद्राक्षसाधम। हृता ते विवशा यस्मात्तस्मात्त्वं नासि वीर्यवान्॥ ११॥ मया विरहितां दीनां वर्तमानां महावने। वैदेहीं प्रसभं हृत्वा शूरोऽहमिति मन्यसे॥ १२॥ स्त्रीषु शूर विनाथासु परदाराभिमर्शनम्। कृत्वा कापुरुषं कर्म शूरोऽहमिति मन्यसे॥ १३॥ भिन्नमर्याद निर्लज्ज चारित्रेष्वनवस्थित। दर्पान्मृत्युमुपादाय शूरोऽहमिति मन्यसे॥ १४॥ शूरेण धनदभ्रात्रा बलैः समुदितेन च। श्लाघनीयं महत्कर्म यशस्यं च कृतं त्वया॥ १५॥ उत्सेकेनाभिपन्नस्य गर्हितस्याहितस्य च। कर्मणः प्राप्नुहीदानीं तस्याद्य सुमहत्फलम्॥ १६॥ शूरोऽहमिति चात्मानमवगच्छसि

दुर्मते। नैव लज्जास्ति ते सीतां चौरवद्व्यपकर्षतः ॥ १७ ॥ यदि मत्सन्निधौ सीता धर्षिता स्यात्त्वया बलात्। भ्रातरं तु खरं पश्येस्तदा मत्सायकैर्हतः ॥ १८ ॥' अर्थात् वीर रामचन्द्रजी क्रोधपूर्वक हँसकर रावणसे कठोर वचन बोले कि 'हे राक्षसाधम ! हमारी अनुपस्थितिमें तू हमारे पराक्रमकी अवज्ञा कर जनस्थानसे हमारी विवश भार्याको हर लाया है, इससे तू वीर्यवान् नहीं है। परोक्षमें एकान्तमें बैठी हुई दुःखित सीताको वनमेंसे चुराकर तू अपनेको शूर समझता है ? हे अनाथ स्त्रियोंके सामने शूर रावण ! तू परस्त्रीहरण करनेवाला कापुरुषोंका कार्य करके अपनेको शूर मानता है? तुम कुबेरके भाई हो, तुमने हर्षित हो वनमें अवश्य ही यह बड़ा प्रशंसनीय और बड़े यशका कार्य किया है। अस्तु, अहंकारसे किये हुए निन्दित और अहित कर्म करनेका बड़ा भारी फल ग्रहण करो। अरे दुष्टमति ! तू चोरके समान सीताको लेकर भागा है, तुझे लज्जा नहीं आती ? यदि हमारे सामने सीताको धर्षित करता तो हमारे बाणसे तू अपने भाई खरको देखता।'

(२) रावणपुत्र अतिकायसे वाल्मी० ७१। ५८, ५९ में इसी प्रकारके वचन लक्ष्मणजीके हैं—'कर्मणा सूचयात्मानं न विकत्थितुमर्हसि। पौरुषेण तु यो युक्तः स तु शूर इति स्मृतः। ५९।' 'न वाक्यमात्रेण भवान् प्रधानो न कत्थनात्सत्पुरुषा भवन्ति। मयि स्थिते धन्विनि बाणपाणौ निदर्शयस्वात्मबलं दुरात्मन्। ५८।' अर्थात् बातोंसे कोई प्रधान नहीं होता, सज्जन अपनी प्रशंसा आप नहीं करते। धनुष-बाण लेकर मैं उपस्थित हूँ, तू कर्मसे अपना पराक्रम दिखा ५८। शेखी न बघार, पुरुषार्थी ही शूर कहा जाता है। ५९।

(३) वाल्मी० ५९ में इस प्रकारके वचन लक्ष्मणजीके रावणसे हैं—'तमाह सौमित्रिरविस्मयानो गर्जन्तमुद्वृत्तशिताग्रदंष्ट्रम्। राजन्न गर्जन्ति महाप्रभावा विकत्थसे पापकृतां वरिष्ठ ॥ ९५ ॥ जानामि वीर्यं तं राक्षसेन्द्रं बलं प्रतापं च पराक्रमं च। अवस्थितोऽहं शरचापपाणिरागच्छ किं मोघविकत्थनेन ॥ ९६ ॥' अर्थात् विस्मयरहित लक्ष्मणजी गरजते हुए उजले दाँतवाले रावणसे बोले कि हे रावण ! महाप्रभाववाले लोग गर्जते नहीं, पर तुम अत्यन्त पापी होनेके कारण बकते हो। हे राक्षसेश्वर ! हम तुम्हारा बल, वीर्य, प्रताप तथा पराक्रम सब जानते हैं, इसीलिये धनुषबाण लिये हाथमें आये हैं, व्यर्थ बकनेमें क्या है ?

—उपर्युक्त सब भाव 'सत्य सत्य···मनुसाई' में आ जाते हैं। (प्र० सं०)

☞ (ग) 'जल्पसि जनि देखाउ मनुसाई' यह 'जौं रन भूप भाजि नहिं जाई' का उत्तर है। भाव कि पुरुषार्थ दिखाओ, चोट करो। मेरा वीरवृत्त है, मैं पहले चोट नहीं करता। मुखसे कालके हवाले करनेको कहते हो, पर किया तो कुछ होता नहीं। इत्यादि। रणाङ्गणमें शत्रुके सम्मुख खड़े होनेपर व्यर्थ बकवादका कोई मूल्य नहीं होता, उनको पुरुषार्थ करके दिखाना चाहिये, कायर लोग ही बकबक करते हैं। यथा—'सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु। बिद्यमान रन पाइ रिपु कायर कथहिं प्रतापु ॥ १। २७४।', 'विक्रान्ता बलवन्तो वा ये भवन्ति नरर्षभाः। कथयन्ति न ते किंचित्तेजसा चाति गर्विताः ॥ वाल्मी०।' इस प्रकार 'जल्पसि' से उसे कायर कह भी डाला।

छंद—जनि जल्पना करि सुजसु नासहि नीति सुनहि करहि छमा।
संसार महुँ पूरुष त्रिबिध पाटल रसाल पनस समा ॥
एक सुमन प्रद एक सुमन फल एक फलइ केवल लागहीं।
एक कहहिं कहहिं करहिं अपर एक करहिं कहत न बागहीं ॥

शब्दार्थ—पाटल=पाँडर, पाढरका वृक्ष। इसके पत्ते बेलके समान होते हैं। यह दो प्रकारका होता है। एक सफेद फूलका, दूसरा लाल फूलका। रा० प० में पाटलका अर्थ गुलाब किया है। 'गुलाब' अर्थ गौड़जी भी ठीक कहते हैं। बागना=चलना, फिरना, बोलना।

अर्थ—व्यर्थ बकवाद करके अपना सुयश न नाश कर। क्षमा करना, नीति (सुनाता हूँ) सुन। संसारमें पुरुष तीन प्रकारके हैं—पाटल, आम और कटहलके समान। एक (पाटल) फूल देते हैं, एक फूल और फल दोनों देते हैं और एक (तीसरे) में केवल फल ही लगते हैं। इसी तरह एक कहते हैं (करते नहीं), एक कहते हैं और करते भी हैं और एक करते हैं कहते नहीं फिरते, वा करते हैं परन्तु जबानसे नहीं कहते।

नोट—१ 'जल्पना करि सुजस नासहि', यथा—'छीजहिं निसिचर दिन अरु राती। निज मुख सुकृत कहे जेहि भाँती'। पुनः यथा—'परैः प्रोक्ता गुणा यस्य निर्गुणोऽपि गुणी भवेत्। इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः॥ १॥ (सु० र० भा० आत्मश्लाघानिन्दाप्रसंगे)। अर्थात् जिसके गुणोंको दूसरे वर्णन करते हैं वह गुणहीन होनेपर भी गुणवान् ही हो जाता है और अपना गुण अपने मुखसे कथन करनेसे इन्द्र भी लघुत्वको ही प्राप्त होता है। 'एक कहत मोहि सकुच अति'''॥ २४॥', 'लाजवंत तव सहज सुभाऊ। निज गुन निज मुख कहसि न काऊ॥ २९। ६।' तथा 'तोहि अबहिं का करौं बड़ाई। ३४। ११।' देखिये।

२—'करहि छमा' इति। इसका एक भाव तो यह है कि बहुत कहा अब 'सब्र कर, ठहर जा' और दूसरा यह कि मेरे इस नीतिके उपदेशको क्षमा कर क्योंकि तू नीतिज्ञ है परन्तु इस समय तू इस नीतिको भूल रहा है कि 'सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु।०' इत्यादि।

३—'एक कहहिं०'। भाव कि निकृष्ट कहते भर हैं, मध्यम कहते हैं, और कर भी दिखाते हैं और उत्तम लोग बात मनमें ही रखते हैं जो करना है उसे कर दिखाते हैं। यथा 'वृथा त्वं कत्थसे मन्द न पश्यस्यन्तिकेऽन्तकम्। पौरुषं दर्शयन्ति स्म शूरा न बहुभाषिणः॥ भा० १०। ७७। १९॥' अर्थात् श्रीकृष्णजी शाल्वसे कहते हैं कि तू वृथा क्या डींग मारता है, अपने निकट उपस्थित मृत्युको नहीं देखता। वीर पुरुष अपना पराक्रम दिखाते हैं; तेरी तरह व्यर्थ बड़-बड़ नहीं करते।—(जरासंधसे भी श्रीकृष्णजीके ऐसे ही वचन हैं)। विशेष 'जल्पसि जनि' (८९। १०) में देखिये।

प० प० प्र०—यहाँ तीन प्रकारके पुरुष कहे गये। एक प्रकारके शेष रह गये 'जो कहते भी नहीं और करते भी नहीं'। यह वर्ग समाजको न तो सुख ही दे सकता है और न दुःख ही, अतएव निरुपयोगी जानकर न कहा।

पं०—उपदेशका सार यह है कि तेरा अन्तकाल है, अब तो उत्तम पुरुषोंकी रीति ग्रहण कर।

दोहा—रामबचन सुनि बिहँसा मोहि सिखावत ग्यान।
बयरु करत नहिं तब डरे अब लागे प्रिय प्रान॥ ८९॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके वचन सुनकर वह खूब हँसा (और बोला) मुझे ज्ञान सिखाते हो, पहले वैर करते न डरे, अब प्राण प्रिय लग रहे हैं॥ ८९॥

नोट—१ श्रीरामजी हँसे, उसके उत्तरमें रावण भी हँसा। यथा वहाँ 'कहेउ बिहँसि' तथा यहाँ 'सुनि बिहँसा'। हँसना निरादरार्थ है।

पु० रा० कु०—१ श्रीरामजीने कहा कि नीति सुन, बकबक करके सुयश न मिटा, उसीका उत्तर है कि 'मोहिं सिखावत०'। भाव कि क्षत्रिय होकर मुझे ज्ञान सिखाते हो, नहीं जानते कि मैं पंडित हूँ, मैंने वेदोंपर भाष्य किया है। मुझे सिखाते हो कि क्षमा करो जिसमें मैं तुम्हें छोड़ दूँ। २—"बयरु करत तब नहिं डर्‌यो" अर्थात् जब शूर्पणखाके नाक-कान काटकर खरदूषणसे वैर किया था। ३—सरस्वतीकृत अर्थ—'मैंने वैर किया तब न डरा, तो क्या अब प्राण प्यारे लगेंगे?'

गौड़जी—श्रीरघुनाथजीके मुखसे निकले हुए 'करहि छमा' वाक्यको स्वार्थपक्षमें मरोड़कर रावण कहता है कि रण-भूमिमें अब क्या क्षमा माँगते हो, डरके जाओगे कहाँ? ऐसा ही था तो वैर ही क्यों किया? रावणका यह उत्तर असंगत वक्रोक्ति है।

कहि दुर्बचन क्रुद्ध दसकंधर। कुलिस समान लाग छाँड़ै सर॥ १॥
नानाकार सिलीमुख धाए। दिसि अरु बिदिसि गगन महि छाए॥ २॥

अर्थ—दुर्वचन कहकर क्रोधित रावण वज्रसमान बाण छोड़ने लगा॥ १॥ अनेक प्रकारके बाण दौड़े और आकाशमें और पृथ्वीमें अर्थात् दोनोंमें दसों दिशाओंमें छा गये॥ २॥

नोट—१ "कहि दुर्बचन क्रुद्ध दसकंधर" इति।—'दुर्वचन' से जनाया कि 'बयरु करत तब नहिं डरे अब लागे प्रिय प्रान' यह तो कहा ही था पर इसके अतिरिक्त कुछ और भी दुर्वचन कहे, नहीं तो 'अस कहि' वाचक पद देते।

प्रमाण यथा—(१) 'कपि तव दरस भयउँ निःष्पापा। मिटा तात मुनिबर कर सापा॥ मुनि न होइ यह निसिचर घोरा। मानहु सत्य बचन प्रभु मोरा॥ अस कहि। ५७। १-३।', (२) 'जामवंत कह खल रहु ठाढ़ा। सुनि करि ताहि क्रोध अति बाढ़ा॥ बूढ़ जानि सठ छाँड़ेउँ तोही। लागेसि अधम पचारै मोही॥ अस कहि। ७३। ४-६।', (३) 'सुभट बोलाइ दसानन बोला। रन सनमुख जा कर मन डोला॥ सो अबहीं बरु जाउ पराई। संजुग बिमुख भए न भलाई॥ निज भुजबल मैं बयरु बढ़ावा। देहउँ उतरु जो रिपु चढ़ि आवा॥ अस कहि। ७७। ४-७।', (४) 'कहइ दसानन सुनहु सुभट्टा। मर्दहु भालु कपिन्ह के ठट्टा॥ हौं मारिहउँ भूप दोउ भाई। अस कहि सन्मुख फौज रेंगाई॥ ७८। ११-१२।' (५) 'धिग धिग मम पौरुष धिग मोही। जौं तैं जिअत रहेसि सुरद्रोही॥ अस कहि। ८३। ४-५।', (६) रन ते निलज भाजि गृह आवा। इहाँ आइ बक ध्यान लगावा॥ अस कहि। ८४। ७-८।', (७) 'खोजत रहेउँ तोहि सुत घाती। आजु निपाति जुड़ावउँ छाती॥ अस कहि। ८२। २-३।', (८) 'परबस सखिन्ह लखी जब सीता। भये गहरु सब कहहिं सभीता॥ पुनि आउब एहि बिरियाँ काली। अस कहि मन बिहँसी एक आली॥ बा० २३४। ५-६।' (९) 'सुनत दसानन उठा रिसाई। खल तोहि निकट मृत्यु अब आई॥ ''सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती॥ अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। ५। ४१। २-६।' इत्यादि। अन्य काण्डोंमें भी बहुत प्रमाण हैं। और यहाँ—'कहि दुर्बचन' ही है, 'अस' नहीं है। अतएव और भी अनेक दुर्वचन जो अन्य रामायणोंमें हैं वे सब इस अद्भुत युक्तिसे कविने जना दिये और स्वयं अपनी लेखनीसे लिखा भी नहीं।

वि० त्रि०—'कहि दुर्बचन' इति। ''आज करहुँ खलु काल हवाले' यही दुर्वचन है। 'खलु' का अर्थ 'निश्चय करके' होता है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु यहाँ सम्बोधन है, रावण सरकारको 'खल' कहता है, प्राकृतके नियमसे अकारान्त शब्दके प्रथमा और द्वितीयाके एक वचनमें विकल्प करके अन्त्य अकारका उकार हो जाता है। यह ग्रन्थकारकी पंडिताई है कि यहाँ सीधे खल शब्दका प्रयोग न करके 'खलु' कहा, पर भाव यही है, क्योंकि ठीक उसके पहिले कहा है 'खरदूषन बिराध तुम्ह मारा। हतेउ ब्याध इव बालि बिचारा।' इत्यादि। वह इनके वधकी गणना खलतामें कर रहा है। सरकारका उत्तर सुनकर कि 'देखाउ मनुसाई' वह मनुसाई दिखाने लगा अर्थात् वज्र-ऐसे बाण छोड़ने लगा।

नोट—२ 'दुर्बचन' पद देकर तब उसका कारण 'क्रुद्ध' दिया। फिर क्रोधका कारण 'दसकंधर' पदसे जनाया (जो गर्वसूचक है कि औरोंके एक दो चार छः ही सर होंगे और मेरे तो दस हैं)। पुनः, 'दसकंधर' का भाव कि दसशिरके जितनी भुजाएँ हैं सबसे बाण छोड़े, जैसे पूर्व छोड़े थे— 'निज दल बिचलत देखेसि बीस भुजा दसचाप। रथ चढ़ि चलेउ दसानन फिरहु फिरहु करि दाप'' ॥ ८०॥

३—'नानाकार सिलीमुख धाए' इति। 'नानाकार' से वह सब प्रकार सूचित किये जो वाल्मी० ९९। ४२-४८ में लिखे हैं। वाल्मी० ९९ में लिखा है कि रावणने क्रोधसे मूर्च्छित हो महाघोर आसुरास्त्र चलाया जिसके अन्तर्गत अगणित बाण सिंह, व्याघ्र, कंक, कोक, गृध्र, बाज, शृगाल और वृकके समान मुँह बाये अति भयंकर थे। गदहों, शूकरों, कुत्तों तथा विषधर सर्पोंके मुखोंके आकारके, एवं सर्पके समान फुफकार करते हुए, तथा अग्निमुख, सूर्यमुख, बाण अनेक ग्रह और नक्षत्रोंके रंगवाले बाण, विद्युत्के समान जीभवाले बाण, इत्यादि अनेक प्रकारके बाण रावणने चलाये।

पावकसर* छाँड़ेउ रघुबीरा। छन महुँ जरे निसाचर तीरा॥ ३॥
छाँड़िसि तीब्र सक्ति खिसिआई। बान संग प्रभु फेरि चलाई†॥ ४॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीने अग्निबाण छोड़े। निशाचर रावणके तीर क्षणभरमें भस्म हो गये॥ ३॥ तब लज्जित होकर उसने तीक्ष्ण शक्ति छोड़ी। श्रीरामचन्द्रजीने उसे बाणके साथ (अर्थात् अपना बाण चलाकर) लौटाकर चलाया (अर्थात् बाणसे उसका मुख रावणकी ओर फेर दिया जिससे वह उधरहीको लौट गयी)॥ ४॥

नोट—'तीब्र शक्ति' से मयदानवका बनाया हुआ अस्त्र जनाया जिसका वाल्मी० १०१ (श्लोक २-४) में यों वर्णन है कि—यह अत्यन्त भयङ्कर और अति प्रकाशमान् था। इससे शूल, मुद्गर, पाश, गदा, मूसल और दीप्यमान्

* अनलबान। † पठाई—(का०)।

वज्रवत् पुष्ट और भी बहुत-से बिजलीके समान प्रकाशित अस्त्र बड़े वेगसे निकले।—ये सब बातें मानसकविने 'तीव्र' विशेषणसे सूचित कर दीं। इसे प्रभुने परमास्त्र गान्धर्वास्त्रसे काटा। यथा—'**मयेन विहितं रौद्रमन्यदस्त्रं महाद्युतिः। उत्स्रष्टुं रावणो घोरं राघवाय प्रचक्रमे॥ २॥ ततः शूलानि निश्चेरुर्गदाश्च मुसलानि च। कार्मुकाद्दीप्यमानानि वज्रसाराणि सर्वशः।** वाल्मी० १०१। ३। **मुद्गराः कूटपाशाश्च दीप्ताश्चाशनयस्तथा। निष्पेतुर्विविधास्तीक्ष्णा वाता इव युगक्षये॥ ४॥ तदस्त्रं राघवः श्रीमानुत्तमास्त्रविदांवरः। जघान परमास्त्रेण गान्धर्वेण महाद्युतिः॥ ५॥**' (चतुर्वेदी संस्करण)।

वं० पा०—रावणने अपने बाणोंसे दिशाएँ छा दी थीं। अग्न्यास्त्रसे सब दिशाएँ शुद्ध हो गयीं। 'खिसिआई' क्योंकि पराक्रम निष्फल हुआ।

कोटिन्ह चक्र त्रिसूल पबारइ। बिनु प्रयास प्रभु काटि निवारइ॥ ५॥
निफल होहिं रावन सर कैसे। खल के सकल मनोरथ जैसे॥ ६॥

अर्थ—करोड़ों चक्र और त्रिशूल चलाता है, रघुनाथजी बिना परिश्रम (सहज ही) उनको काट गिराते हैं॥ ५॥ रावणके बाण कैसे निष्फल हो जाते हैं, जैसे दुष्टके सब मनोरथ॥ ६॥

नोट—'**कोटिन्ह चक्र**''**निवारइ**' इति। वाल्मीकिजी भी लिखते हैं—'**ततश्चक्राणि निष्पेतुर्भास्वराणि महान्ति च। कार्मुकाद्भीमवेगस्य दशग्रीवस्य धीमतः॥ ७॥ तानि चिच्छेद बाणौघैश्चक्राणि स तु राघवः। आयुधानि च चित्राणि रावणस्य चमूमुखे॥ ९॥**' अर्थात् उस समय धीमान् रावणके धनुषसे प्रज्वलित बड़े-बड़े भारी अगणित चक्र निकलने लगे। युद्धक्षेत्रमें रावणके जो विचित्र (आयुध) और चक्र आये वे सब राघवने काट डाले। (वाल्मी० १। च० सं०)।

खर्रा—'**खल के सकल मनोरथ जैसे**' इति। खलके मनोरथ तब सिद्ध हों जब सब धर्मों और सबके मनोरथोंमें बाधा हो। वैसे ही रावणके बाण तब फलीभूत हों जब रामको बाधा हो।

तब सत बान सारथी मारेसि। परेउ भूमि जय राम पुकारेसि॥ ७॥
राम कृपा करि सूत उठावा। तब प्रभु परम क्रोध कहुँ पावा॥ ८॥

शब्दार्थ—सूत=सारथी। पौराणिक सूतमें आठ गुण होने चाहिये—(१) सेवा करनेको सदा तैयार रहना। (२-४) कही हुई बातको ध्यानसे सुनना, उसे ठीक-ठीक समझना और स्मरण रखना। (५) किस कार्यका क्या परिणाम होगा इसपर तर्क करना कि इस प्रकार कार्य न हुआ तब क्या करना चाहिये—इस तरह वितर्क करना। (६-८) शिल्प और व्यवहारकी जानकारी रखना और तत्त्वका बोध होना।

अर्थ—तब उसने सारथीको सौ बाण मारे। वह श्रीरामजीकी जय पुकारता हुआ पृथ्वीपर गिरा॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रजीने कृपा करके सारथीको उठाया। उस समय प्रभु परम क्रोधको प्राप्त हुए॥ ८॥

नोट—मातलिके मारे जानेपर परम क्रोध हुआ—'**जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥**' इस क्रोधका स्वरूप आगे छन्दमें तथा वाल्मी० १०२ श्लोक ३८-४२में इस प्रकार है। श्रीरामचन्द्रजीने क्रोध करके भौंहें कुछ टेढ़ी कर नेत्र लाल कर लिये मानो राक्षसको जला ही डालेंगे। उनका महाक्रोध देख प्राणी डर उठे, पृथ्वी काँप उठी। सिंहशार्दूलसहित पर्वत चलायमान हो गये, समुद्र क्षुब्ध हो उठा। बादल चारों ओर घूम-घूमकर गर्जने और उत्पात-सूचक शब्द करने लगे। श्रीरामजीका क्रोध और दारुण उत्पात देख सब प्राणी डर गये और रावण भी डर गया।

छंद—भये क्रुद्ध जुद्ध बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे।
कोदंड धुनि अतिचंड सुनि मनुजाद भय* मारुत ग्रसे॥
मंदोदरी उर कंप कंपति कमठ भू भूधर त्रसे।
चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि महि देखि कौतुक सुर हँसे॥

* भय—पं० रामकुमारजी (खर्रा), विश्वेश्वर प्रेस काशीका पाठ। सब—भा० दा०। 'सब' का समावेश 'मनुजाद' में ही हो जाता है। 'भय' शब्दसे भय-मारुतका रूपक भी बन जाता है।

शब्दार्थ—कम्पति=(कं=जल+पति) जलधि, समुद्र। कसमसाना=एक दूसरेसे रगड़ खाते हुए हिलना-डोलना; खलबलाना; कुलबुलाना।—'एही बीच निसाचर अनी। कसमसात आई अतिघनी॥'

अर्थ—श्रीरघुनाथजी युद्धमें विरोधभावसे क्रोधित हुए तब तरकशमें बाण कसमसाने लगे। धनुषका अत्यन्त प्रचण्ड शब्द (टंकार) सुनकर सब मनुष्योंके खानेवाले (राक्षस) वायुग्रस्त हो गये। मन्दोदरीका हृदय काँप उठा। समुद्र, कच्छप, पृथ्वी और पर्वत भयभीत हो गये। दिग्गज दाँतोंसे पृथ्वीको पकड़कर चिग्घाड़ने लगे। यह कौतुक देखकर देवता हर्षित हुए।

नोट—१ 'भये क्रुद्ध जुद्ध बिरुद्ध'। भाव कि अभीतक लीला वा विनोद-भावसे युद्ध करते रहे थे। अब विरोधभावसे युद्ध करनेको उद्यत हुए क्योंकि **'सेवक बैर बैर अधिकाई'**। **'सायक कसमसे'**—भाव कि प्रत्येक बाण चाहता है कि मैं ही प्रथम तरकशसे निकलकर रावणका वध करूँ। प्रभुके बाण भी दिव्य हैं जैसे उनके वस्त्र और आभूषण दिव्य हैं। प्रभुका क्रोध देख बाणोंमें यह उत्साह हो रहा है।

२ **'भय मारुत ग्रसे'**। अर्थात् भयरूपी पवनसे ग्रसित हो काँप उठे। अथवा, भाव कि निसिचर, भयग्रसित हुए और पवन भी ग्रसित हुआ, अर्थात् उसका चलना रुक गया। (खर्रा)। अथवा, रोगादिसे अधिक व्यथा होनेसे अचेत प्राणी जैसी क्रिया करते हैं वैसी क्रिया करने लगे। भाव कि कोई भागते हैं, कोई आपसमें ही जूझे मरते हैं। (रा० प्र०)।

३ (क) **'मंदोदरी उर कम्प'**—अहिवात जानेके भयसे, यथा—**'अस कहि नयन नीर भरि गहि पद कंपित गात। नाथ भजहु रघुनाथहि अचल होइ अहिवात॥** लं० ७।', **'प्रीति करहु रघुबीर पद मम अहिवात न जाइ।१५।'** (ख) **'कम्पति कमठ भू भूधर त्रसे'**। भाव कि समुद्र खलभला उठा, महि हिलने लगी, कमठ कुलबुला उठे। यथा—**'भरे भुवन घोर कठोर रव रबिबाजि तजि मारगु चले। चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले॥ १। २६१॥'**, **'चौंके बिरंचि सङ्करसहित कोल कमठ अहि कलमल्यो।'** (ग) **'दसन गहि महि'** जिसमें पृथ्वी गिर न पड़े, यथा—**'दिसिकुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥ १। २६०। १॥**

४ (क) **'सुर हँसे'**। हँसे (=हर्षित हुए) कि अब रावण मरा। पुनः, कौतुक देखकर कि ध्वनिमात्रसे लोकभर काँप उठा। दिग्गजका दाँतोंसे पृथ्वीको पकड़ना इत्यादि कौतुक है। इन सबसे निश्चय किया कि अब हमारे दुःख दूर होंगे, यथा—**'चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे। मन हरष दिनकर सोम सुर मुनि नाग किन्नर दुख टरे॥** सुं० ३५॥' पुनः, देवताओंके मुखपर अबतक हँसी न थी। विपत्तिमें हँसी कहाँ? पैदल देख दुःख हुआ था उसके बाद हँसना प्रथम-प्रथम यहीं है। (ख) देवता हँसे और कोई न हँसे, क्योंकि इन्हें दिव्य दृष्टिसे सब देख पड़ता था और लोग यह तमाशा देख न सकते थे।

दो०—तानेउ चाप * श्रवन लगि छाँड़े बिसिष कराल।
राम मारगन गन चले लहलहात जनु ब्याल॥९०॥

शब्दार्थ—मार्गण=बाण।—**'कलंबमारगणशराः इत्यमरः'**, **'मार्गणस्तु शरेऽर्थिनी' इति हेमैः**। लहलहाना=लपलपाना।

अर्थ—(श्रीरघुनाथजीने) धनुषको कानपर्यन्त खींचकर कराल बाण छोड़े। श्रीरामचन्द्रजीके बाणसमूह ऐसे चले मानो सर्प लहलहाते जा रहे हैं॥ ९०॥

वि० त्रि०—रावणने पहिले वज्रसे बाण मारे, फिर शक्ति चलायी, फिर चक्र त्रिशूल चलाये। पर सब वार उसके व्यर्थ गये; तब घोड़े तथा सारथीपर प्रहार किया। यहाँतक सरकार उसके प्रहारको ही सहते गये। मातलिपर आघात होनेपर क्रुद्ध हुए, तब बाण सन्धान कर अपनी ओरसे प्रहार आरम्भ किया।

नोट—मार्गण मृग धातुसे है; अर्थात् ये शत्रुको ढूँढ़नेवाले बाण हैं, ढूँढ़कर उसे मारते हैं जहाँ भी हो। (रा०

* तानि सरासन—(का०)।

प्र०)। 'लहलहाते हुए' से प्रसन्न, चमचमाते हुए और अत्यन्त वेगवान् होना जनाया, यह आगे कवि स्वयं कहते हैं, यथा—'चले बान सपच्छ जनु उरगा'।

चले बान सपच्छ जनु उरगा। प्रथमहि हत्यो * सारथी तुरगा॥ १॥
रथ बिभंजि हति केतु पताका। गर्जा अति अंतर बल थाका॥ २॥

शब्दार्थ—केतु पताका—'**पताका वैजयंती स्यात् केतनं ध्वजमस्त्रियामित्यमरः।**' पताका जयप्रद पत्रांकिता होती। (पु० रा० कु०)

अर्थ—बाण ऐसे चले मानो पक्षयुत सर्प हों। उन्होंने जाकर पहले सारथी और घोड़ोंको मार डाला॥ १॥ फिर रथको चूर्णकर ध्वजा और पताकाको काटकर गिरा दिया। (तब) रावण बड़ी जोरसे और अत्यन्त गर्जा, भीतरसे उसका बल थक गया था॥ २॥

नोट—गौड़जी '**प्रथमहि हत्यो''पताका**' का अन्वय इस प्रकार करते हैं—'**प्रथमहिं रथ बिभंजि केतु पताका हति सारथी तुरगा हत्यो।**'

नोट—१ '**सपच्छ जनु उरगा**'। आकृति और धर्म (फुफकारना, अतिवेगसे उड़ते जाना और डसकर प्राण हर लेना) से 'उरग' की उत्प्रेक्षा की 'उरग' और 'बाण' दोनोंमें पर होते हैं। (ब० पा०)। ऊपर '**लहलहात जनु ब्याल**' कहा था। सर्प और व्यालमें अन्तर है। व्याल जातिका नाम है जिसमें हाथी तक गिने जाते हैं। सर्प उरगोंका एक छोटा-सा प्रकार है जिनके पंख नहीं होते हैं। पुराने उरगोंके पंख होते हैं। व्याल और उरग पर्याय हैं। (गौड़जी)।

२ (क) '**हति केतु पताका**' इति। रावणकी पताकापर मनुष्यके सिरका चिह्न था, यथा—'**ध्वजं मनुष्यशीर्षं तु तस्य चिच्छेद नैकधा। वाल्मी० १०१। १४।**' (अर्थात् श्रीलक्ष्मणजीने रावणकी मनुष्य-शिरचिह्नित ध्वजाके अनेक टुकड़े कर डाले। (ख) '**गर्जा अति**''' इति। अपनेको रथहीन देख मनमें खिन्न हुआ कि मैंने तो इनके सारथीमात्रको मारा था, उसे भी उन्होंने जिला लिया और इन्होंने तो मेरे रथ, घोड़े सभी नष्ट कर डाले, कुछ उपाय काम नहीं देता। तब धृष्टतासे गर्जा जैसे अर्धजल भरा घड़ा बोलता है। (पं०)। (ग) '**अन्तर बल थाका**' से जनाया कि रघुनाथजीके पराक्रमको देख हृदयसे हार गया, जीसे समझ लिया कि इनसे जीतना कठिन है। यज्ञनाश और उसपर ध्वजाका गिरना दो परम अमंगल हुए।

तुरत आन रथ चढ़ि खिसिआना। अस्त्र सस्त्र छाड़ेसि बिधि नाना॥ ३॥
बिफल होहिं सब उद्यम ताके। जिमि परद्रोह निरत मनसा के॥ ४॥

शब्दार्थ—उद्यम=उद्योग, उपाय, प्रयत्न। बिफल=निष्फल, व्यर्थ।

अर्थ—खिसियाकर (लज्जित होकर) तुरंत दूसरे रथपर चढ़कर उसने अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र छोड़े॥ ३॥ उसके सब प्रयत्न निष्फल हो रहे हैं जैसे परद्रोहमें तत्पर मनवालेके उद्योग निष्फल होते हैं॥ ४॥

नोट—१ खिसियानेपर क्रोध और बदला लेनेकी इच्छा होती ही है।

मेघनाद—'**देखि प्रताप मूढ़ खिसिआना। करै लाग माया बिधि नाना॥ ५०। ७।**'

शूर्पणखा—'**तब खिसिआनि राम पहिं गई। रूप भयंकर प्रगटत भई॥ ३। १७। १९।**'

रावण—'**परुष बचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसिआन॥ सुं० ९।**'

सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना॥ ५। १०। १।'

रावण—'**सुनि कपि बचन बहुत खिसिआना। बेगि न हरहु मूढ़कर प्राना॥ सुं० २४। ५।**'

२ पूर्व कहा था कि '**निफल होहिं रावन सर कैसे। खलके सकल मनोरथ जैसे॥ ९०। ६।**', और यहाँ कहते हैं कि '**बिफल होहिं सब उद्यम ताके। जिमि परद्रोह निरत मनसा के**'॥ दोनोंमें प्रायः एक ही भाव है। खल परद्रोहमें तत्पर रहते ही हैं, यथा—'**खल बिनु स्वारथ पर अपकारी॥ ७। १२१। १८।**' मनसाका अर्थ मन और मनोरथ दोनों है।

* हते—(का०)।

पुनः: वहाँ मनोरथ है और यहाँ उद्यम। मनोरथके पूर्ण करनेके लिये जो कार्य किये जाते हैं वे उद्योग कहलाते हैं। इस तरह कारण और कार्य दोनों निष्फल दिखाये।

तब रावन दस सूल चलाए * । बाजि चारि महि मारि गिराए † ॥ ५ ॥
तुरग उठाइ कोपि रघुनायक। खैंचि सरासन छाँड़े ‡ सायक ॥ ६ ॥

अर्थ—तब रावणने दस त्रिशूल चलाये (और उनसे श्रीरामजीके रथके) चारों घोड़ोंको मारकर पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ५ ॥ घोड़ोंको उठाकर श्रीरघुनाथजीने कुपित हो धनुष तानकर बाण छोड़े ॥ ६ ॥

नोट—१ 'तब रावन दस सूल चलाए।…' इति। प्रथम रावणने श्रीरामचन्द्रजीके सारथीको मारा था। यथा—'तब सत बान सारथी मारेसि। परेउ भूमि०। ९०। ७।' उसके बदलेमें श्रीरामजीने उसके घोड़ों और सारथीको मारा, रथ चूर-चूर कर दिया और केतु-पताका काट गिराये। यथा—'प्रथमहिं हतेउ सारथी तुरगा ॥ रथ बिभंजि हति केतु पताका। ९१। १-२।' इसके बदलेमें 'तब रावन दस सूल चलाए। बाजि चारि महि मारि गिराए ॥' बं० पा० जी लिखते हैं कि दस शूलसे चार घोड़े मारे इस क्रमसे कि आगेके घोड़ोंको तीन-तीन शूल मारे और पीछेवालोंको दो-दो।

२ (क) 'तुरग उठाइ' इति। रावणके रथ टूटते, सारथी और घोड़े मरते और ध्वजापताका कटती हैं पर श्रीरामजीके रथ, ध्वजा, पताका सब दिव्य और सारथी तथा घोड़े अमर हैं, इसीसे इनके रथ, पताकादिको हानि नहीं पहुँची, सारथी घोड़े घायल हुए, गिर पड़े पर मरे नहीं वरन् श्रीरामजीके हस्तकमलके स्पर्शसे वे तुरंत जैसे-के-तैसे पुष्ट हो गये। (ख) पहले सारथीको मारा था तब रामजीको कोप हुआ, अब घोड़े मारे गये तब पुनः क्रोध हुआ। दोहा ६९ (५) पृष्ठ २६२ देखिये।

रावन सिर सरोज बन चारी। चलि रघुबीर सिलीमुख धारी ॥ ७ ॥
दस दस बान भाल दस मारे। निसरि गये चले रुधिर पनारे ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—शिलीमुख=भ्रमर, भौंरा—'कुंचित अलक सिलीमुख मानो लै मकरंदनि दोन'—(सूर)। =बाण। 'भृङ्गः शिलीमुखः ख्यातो नाराचोऽपि शिलीमुखः।' (पं०)। धारी=पंक्ति, समूह, सेना।

अर्थ—रावणके मस्तकरूपी कमलवनमें विचरण करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके बाणसमूहरूपी भ्रमरसमूह चले ॥ ७ ॥ श्रीरामचन्द्रजीने उसके दशों ललाटोंमें दस-दस बाण मारे जो आरपार होकर निकल गये और शिरोंसे खूनके परनाले बह चले ॥८॥

नोट— १ 'चलि रघुबीर सिलीमुख धारी' इति। रावणके सिर दस हैं अतः उसे कमल-वन कहा। बाण बहुत-से चले, अतः उन्हें भ्रमरोंकी धारि (सेना, समूह) कहा। वनमें भ्रमर बहुत-से हुआ ही चाहें। कमलमें भ्रमर आसक्त रहता है अतएव 'बनचारी' कहा। भाव कि जैसे भ्रमरावली कमलवनमें घुसती है वैसे ही बाणसमूह रावणके शिरोंमें प्रवेश करते हैं। भौंरे मकरंद पान करते हैं, बाण रुधिररूपी मकरंद पान करते हैं। भौंरे काले होते हैं, वैसे ही ये बाण काले हैं।

गौड़जी—शिरोंपर बाणोंने घाव कर रखा है। वे घाव लाल कमल-समान दीखते हैं। अतः सरोजवन कहा। भ्रमर और बाण दोनोंमें पर होते हैं यह समता है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—'रावन सिर सरोज बन…' इति। जब कमलवन फूलता है, तो रातभरके प्यासे भौंरे मकरन्द पान करने चलते हैं। एकके बाद दूसरे, उसके बाद तीसरेके चलनेसे उनकी पंक्ति-सी हो जाती है, भौंरे चले ही आते हैं; यहाँ रावणके सिर ही सरोजवन हैं उसके रक्तरूपी मकरन्दको पान करनेके लिये रघुबीरके प्यासे बाणोंका समूह चला। यहाँ बाणके लिये शिलीमुखशब्दके प्रयोगका कारण है। शिलीमुख श्लिष्ट पद है। इसका अर्थ बाण भी है और भौंरा भी है। रावणके पक्षमें बाण अर्थ होगा और कमलवनके पक्षमें भौंरा अर्थ होगा। श्रीरामजीके बाणोंको रक्तकी प्यास है, यह बात अङ्गदजी पहिले कह आये हैं। यथा—'तव सोनित की प्यास तृषित राम सायक निकर। तजौं तोहि तेहि त्रास कटु जल्पक निसिचर अधम ॥' उसीका साफल्य कवि यहाँ दिखला रहे हैं।

नोट—२ (क) 'दस-दस बान भाल दस मारे' इति। रावणने बीस भुजाओंसे १० शूल चलाये, यथा—'तब

* चलावा, बिरावा—(भा० दा०), † चलाए, गिराये (का०)। ‡ छाँड़ेउ—(का०)।

रावन दस सूल चलाए' । उसके उत्तरमें श्रीरामजीने दशों मस्तकोंमें दश-दश बाण मारकर रावणके बीस भुजाओंका पराक्रम दो भुजाओंसे ही तुच्छ कर दिखाया। पुनः, भाव कि रावणने २० भुजाओंसे दश शूल चलाकर दरसाया था कि तुम दो हाथवाले मेरे सामने क्या कर सकोगे। श्रीरामजीने उत्तरमें दिखाया कि हम दो भुजाओंसे तुझसे अधिक कार्य कर सकते हैं। तुम यहाँ २० भुजाओंसे १० शूल चला सकते हो वहाँ मैं दो ही हाथोंसे १०० बाण चला सकता हूँ। यथा हनुमन्नाटके—**'यद्रावणो बहुभिरेव भुजैः करोति तद्राघवः प्रतिकरोति भुजद्वयेन। कर्मद्वयं यदपि तुल्यफलं तथापि रक्षःपतेर्दशगुणं नरवीरतुल्यम्॥** १४। ३७।' अर्थात् रावण जो कर्म बहुत-सी भुजाओंसे करता है उस कर्मका बदला श्रीरामचन्द्रजी दो ही भुजाओंसे चुकाते हैं। यद्यपि दोनोंके कर्मका फल तुल्य ही है तथापि श्रीरामचन्द्रजीके कर्मका फल निशाचरनाथ रावणसे दशगुणा विशेष है।

(ख) **'चले रुधिर पनारे'** से जनाया कि रुधिर बहुत और वेगसे बहने लगा जैसे वर्षाकालमें घरके परनाले वर्षाजल पाकर बहते हैं।

स्रवत रुधिर धाएउ बलवाना। प्रभु पुनि कृत धनु सर संधाना॥ ९॥
तीस तीर रघुबीर पबारे। भुजन्हि समेत सीस महि पारे॥१०॥

अर्थ—रुधिरके बहते हुए बलवान् रावण दौड़ा। प्रभुने फिर धनुषपर बाणका संधान किया॥ ९॥ रघुवीरने तीस तीर चलाये और भुजाओंसहित उसके शिरोंको पृथ्वीपर गिरा दिया॥ १०॥

नोट—१ (क) रुधिरप्रवाह चलनेपर भी धावा कर रहा है अतः 'बलवाना' कहा क्योंकि यह बलीहीका काम है। (ख) **'पुनि'** क्योंकि अभी शिरश्छेदनके लिये १०० तीर छोड़ चुके थे अब फिर छोड़ते हैं। प्रथम बार शिर घायल हुए, गिरे नहीं थे पर अबकी गिरेंगे। (ग) दस शिरों और २० भुजाओंको पृथक्-पृथक् छेदना है अतः ३० तीर चलाये।

काटत ही पुनि भए नवीने। राम बहोरि भुजा सिर छीने*॥ ११॥
प्रभु बहु बार बाहु सिर हए। कटत झटित पुनि नूतन भए†॥ १२॥

शब्दार्थ—झटित=झटपट, तत्काल, चटपट। हयना=काटना।

अर्थ—सिर और भुजाएँ काटते ही फिर नये हो गये तब श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें फिर काट गिराया॥ ११॥ प्रभुने बहुत बार भुजाएँ और सिर काटे पर वे कटते ही तुरंत फिर नये हो गये॥ १२॥

टिप्पणी—**'पुनि भए नवीने'**। ब्रह्मा और शिवजीके वरदानसे पुनः नवीन उत्पन्न होते थे, यथा—**'मैं ब्रह्मा मिलि तेहिं बर दीन्हा', 'सादर सिव कहुँ सीस चढ़ाये। एक एक के कोटिन्ह पाये।** १३। ६।', **'विच्छिन्ना बाहवोऽप्यस्य विच्छिन्नानि शिरांसि च। उत्पत्स्यन्ति पुनः शीघ्रमित्याह भगवानजः॥** अ० रा० ११। ५२।' अर्थात् (विभीषणने कहा कि) भगवान् ब्रह्माने यह वर दिया है कि जो बाहु और सिर कटेंगे वे शीघ्र पुनः जम आवेंगे।

प० प० प्र०—**'प्रभु बहु बार...'**में मात्रा कम करके जनाया कि यह देखकर कि श्रीरामजीको कितना क्लेश हो रहा है श्रीशिवादि देवों, कपिसेना और कविके भावुक हृदयको व्यथा पहुँची; कपिसेना और इन्द्रादिको चिन्ता और भय हुआ तथा राम-रावणके शौर्य-धैर्य आदिको देखकर सबको परमाश्चर्य आदि हुए।

पुनि पुनि प्रभु काटत भुज सीसा। अति कौतुकी कोसलाधीसा॥ १३॥
रहे छाइ नभ सिर अरु बाहू। मानहु अमित केतु अरु राहू॥ १४॥

अर्थ—प्रभु बारंबार उसकी भुजाओं और शिरोंको काट रहे हैं (क्योंकि) कोसलपति श्रीरामजी बड़े भारी कौतुकी हैं॥ १३॥ आकाशमें सिर और भुजा छा गये। (ऐसे देख पड़ते हैं) मानो अगणित केतु और राहु हैं॥ १४॥

नोट—१ **'अति कौतुकी कोसलाधीसा'**। खेल खिलाते, खेलते और देखते हैं। अतः कौतुकी होनेके सम्बन्धसे 'कोसलाधीश' पद दिया। श्रीरामजी अत्यन्त कौतुकी हैं ही। यथा—**'कुशिकसुतसपर्यादृष्टदिव्यास्त्रमन्त्रो भृगुपतिसहयोद्धा**

---

* यह पाठ का० का है। भा० दा० की प्रतिमें उत्तरार्द्ध प्रथम है। † यह पाठ भा० दा० का है। का० की प्रतिमें उत्तरार्द्ध प्रथम है।

वीरभोगीनबाहुः । दिनकरकुलकेतुः कौतुकोत्तानचक्षुर्बहुमतरिपुकर्मा कौतुकी रामदेवः ॥' अर्थात् कौशिकजीकी पूजासे दिव्यास्त्र तथा मन्त्रोंके पानेवाले, महाराज परशुरामजीसे युद्ध करनेवाले, वीरोंका भोग करनेके योग्य भुजाओंवाले, सूर्यवंशके ध्वज-स्वरूप, कौतुकसे ऊपरको नेत्र उठानेवाले, भली प्रकार शत्रुओंको विदित है कर्म जिनका ऐसे कौतुकी देव रामचन्द्रजी युद्ध करने चले।—(हनु० १४ । ३६)

२ 'रहे छाइ…' इति। थोड़ेसे दानका भी बहुत फल मिलता है। उसने दस सिर दिये थे अतएव अमित गुणा सिर देकर उसके दानका फल चुकाते हैं जिसमें उसका पुण्य क्षीण हो जाय तब मारें।

छं०—जनु राहु केतु अनेक नभपथ स्रवत सोनित धावहीं।
रघुबीर तीर प्रचंड लागहिं भूमि गिरन न पावहीं॥
एक एक सर सिर निकर छेदे नभ उड़त इमि सोहहीं।
जनु कोपि दिनकर कर निकर जहँ तहँ बिधुंतुद पोहहीं॥

शब्दार्थ—विधुंतुद=विधुको दुःख देनेवाला=राहु। **'तमस्तुराहुस्स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुद इत्यमरः'**।

अर्थ—(ऐसा मालूम होता है) मानो अनेक राहु और केतु रुधिर बहाते हुए आकाशमार्गमें दौड़ रहे हों। रघुवीरके तीक्ष्ण बाण उनमें लगते हैं इससे वे पृथ्वीपर गिरने नहीं पाते। एक-एक बाणसे समूह सिर छिदे हुए आकाशमें उड़ते इस प्रकार शोभित हो रहे हैं मानो सूर्य कुपित होकर अपनी किरणसमूहसे जहाँ-तहाँ राहुओंको गूँथ वा पिरो रहा है।

नोट—१ (क) यहाँ राहु और सिर, केतु और बाहु, सूर्य और रघुनाथजी, किरण और बाण परस्पर उपमान-उपमेय हैं। एक-एक बाणमें कई-कई सिर छेदना, पिरोना है। (ख) जब भगवान्‌ने राहुका सिर चक्रसे काट डाला था तब अमृत पान कर चुकनेके कारण वह मरा नहीं वरन् दो हो गया। राहुका मस्तक राहु और कबन्ध केतु नामसे प्रसिद्ध हुए। रावणकी लम्बी-लम्बी भुजाएँ केतु-सी जान पड़ती हैं, और सिर राहु-से। वर्ण और आकारमें समता है। स्वर्णयुत चमकीले बाण सूर्यकिरणवत् हैं। (ग) ☞ इस प्रसङ्गमें काटनेमें भुजाओंको प्रथम कहा तब सिरोंको, यथा—**'भुजन्ह समेत सीस महि पारे'**, **'राम बहोरि भुजा सिर छीने'**, **'प्रभु बहु बार बाहु सिर हये'**, **'पुनि पुनि प्रभु काटत भुज सीसा'**। पर कटकर आकाशमें छानेपर 'सिर' को प्रथम कहा है और 'भुजा' को पीछे। यथा—**'रहे छाइ नभ सिर अरु बाहू'**, **'जनु राहु केतु अनेक०'**। इस भेदका भाव यह जान पड़ता है कि—रणमें यह रीति प्रायः देखनेमें आती और जान पड़ती है कि जहाँ सिर और भुजा दोनों काटे जाते हैं वहाँ प्रायः भुजाएँ ही प्रथम काटी गयी हैं। महाभारतमें भी यही रीति देख पड़ती है। कुम्भकर्ण और वृत्रासुर इत्यादिकी भी भुजाएँ ही प्रथम काटी गयी हैं। आकाशमें सिर प्रधान हैं अतः वहाँ उन्हें प्रथम कहा। सिर शरीरका प्रधान अङ्ग भी है।

बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि—(१) जो शूर्पणखाने रावणसे कहा था कि—**'देखत बालक काल समाना। परम धीर धन्वी गुन नाना॥'** उसको यहाँ प्रभु चरितार्थ कर रहे हैं। धन्वी ऐसे कि बाणोंका अन्त नहीं, असंख्य बाणोंसे सिर छेदे हुए आकाशमें ही लटके हैं, नीचे नहीं गिरने पाते। धीर ऐसे कि सिरोंकी वृद्धि देख घबड़ाते नहीं, सबको काटते और ऊपर उड़ाते जाते हैं। पुनः,

(२)—यहाँ कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों दिखाये हैं। (क) रावणने अपने हाथोंसे पापहिंसा कर-करके मुखसे भोग किया है अतः प्रथम भुजाएँ काटीं तब सिर। पुनः, उसने इन हाथोंसे शिवपूजनकर इन्हींसे शीश काट-काटकर शिवजीपर चढ़ाये वा इनकी आहुति दी थी, इससे प्रथम भुजाएँ उत्पन्न होती हैं तब सिर। यथा—**'प्रभु बहु बार भुजा सिर छीने। काटत ही पुनि भए नबीने॥'** (भुजा कटते ही उत्पन्न हुई, सिर कटे तब सिर उत्पन्न हुए—क्रमसे)।—यह कर्म और उसका फल हुआ। पुनः, (ख)—शिवजी ऐसे उदार दानी हैं कि जो एक फलफूल चढ़ाता है उसे वे करोड़ों फल देते हैं। रावणने दश शिर चढ़ाये तो अब करोड़ों सिर उसे मिले। आकाशमें वे सिर क्या हैं मानो शिवजीकी उदारताकी पताकाएँ फहरा रही हैं।—लोककल्याणहेतु प्रभु अपने इस कौतुकसे यह शिक्षा दे रहे हैं। पुनः, इस चरितसे यह भी दिखाते हैं कि शिवदत्त सम्पदाका कोई नाश नहीं कर सकता, यदि भगवत्-भागवतापराध न हो। रावणने

भागवतापराध किया कि विभीषणको लात मारकर निकाल दिया, यथा—'तौलौं न दाप दलेउ दसकन्धर जौलौं बिभीषण लात न मार्‍यो'—(क०) ।—यह उपासना है। पुनः, (ग)—जिसके सिरसे भगवान्‌को प्रणाम, मुखसे भगवत्नाम-गुणगान, हाथोंसे सेवा इत्यादि न हों वह ज्ञानी, पण्डित, शूरवीर, लोकरति इत्यादि ही क्यों न हो तो भी उसके सिर, भुजा आदि छेदनयोग्य हैं और छेदन होनेपर भी उनका कहीं ठिकाना नहीं,—यह ज्ञान देश दिखाया।

नोट—२ पहले भुजा और शिर दोनोंका काटना और छेदकर आकाशमें रोकना कहा। फिर केवल सिरोंका ही वेधना कहते हैं, यथा—'जिमि जिमि प्रभु हर तासु सिर तिमि तिमि होहिं अपार', 'दसमुख देखि सिरन्ह कै बाढ़ी'। इससे जान पड़ता है कि बाहुसे सिर काटकर शिवार्पण करनेका फल दे चुके, अब युद्ध करनेके लिये रहने दिये। वा, सिर कम हैं और बाहु बहुत हैं अतएव दोनोंको बराबर करनेके लिये ऐसा किया।

☞ यहाँ अङ्गदके 'तव सोनित की प्यास तृषित रामसायक निकर' इस वाक्यका साफल्य है।

३ पहिले आकाशमें सिर और बाहुके रुधिर बहते हुए उड़नेकी उत्प्रेक्षा की—'जनु राहु केतु०'। फिर केवल एक-एक बाणमें अनेक सिर छिदे हुएकी उत्प्रेक्षा की—'जनु कोपि दिनकर कर निकर०'। मालाएँ पोही जाती हैं और मुण्डोंकी मालाएँ श्मशानके देवता भूतप्रेत पहनते ही हैं; इससे केवल सिरोंका पोहना कहा, भुजाओंका नहीं। दूसरे, राहु और सूर्यका वैर भी है मानो सूर्य बदला चुकाता है इसीसे राहु और सूर्य किरणसे उत्प्रेक्षा कही।

दोहा—जिमि जिमि प्रभु हर तासु सिर तिमि तिमि होहिं अपार।
सेवत बिषय बिबर्ध जिमि नित नित नूतन मार॥ ९१॥

शब्दार्थ—विवर्द्धन=वृद्धि, बढ़ती। मार=कामदेव। कामनाएँ।

अर्थ—जैसे-जैसे प्रभु उसके सिरोंको काटते हैं तैसे-तैसे वे (इस तरह) अपार बढ़ते जाते हैं जैसे विषयका सेवन करनेसे काम दिनोंदिन नित्य नवीन बढ़ता जाता है॥ ९१॥

नोट—१ यहाँ मार और शिर, विषय और बाण, विषयसेवन और शिरोंका बाणोंसे कटना उपमेय उपमान हैं। कामीकी जगह रावण है। २—यहाँ काम-सेवनका दृष्टान्त इससे दिया कि आगे मृत्युका भूलना कहेंगे, कामी पुरुष अपनेको अमर समझता है।

३ **'सेवत बिषय'**···, यथा—**'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥'** (इति विष्णुपुराणे चतुर्थेऽशे दशमेऽध्याये ययातिवचनम्)। अर्थात् काम विषयोंके भोगसे शान्त नहीं होता किन्तु हवि पानेसे जैसे अग्नि बढ़ती है वैसे ही यह अधिक बढ़ता है। (पु० रा० कु०)।

वि० त्रि०—शिर हरण करनेपर समाप्ति हो जाती है, फिर वह पुरुष जीता नहीं, पर रावणमें यह विशेषता दिखायी पड़ी कि **'कटत झटिति पुनि नूतन भए'**। सिरविहीन वह होने नहीं पाता था, दूसरे सिर निकल पड़ते थे, मानो सिरोंकी बाढ़ आ गयी, यह उसका विधिविपरीत चरित था—(यथा—**'रघुपति सर सिर कटे न मरई। बिधि बिपरीत चरित सब करई॥'**)

काम (विषय-वासना) से मनुष्य पीड़ित होता है, उस पीड़ाकी शान्तिके लिये वह विषयोपभोग करता है। उपभोगका सुख आपातमात्र होता है (यथा—**आपातमात्रमधरा विषयोपभोगाः**), फिर कामना उठती है, उसका नाश नहीं होता। यथा—**'बुझै न काम अगिन तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घीते'**। अतः उपभोग प्रदानसे कामना कभी मिट नहीं सकती, बढ़ती ही जायगी अतः उसकी उपमा रावणके सिरसे दी।

दसमुख देखि सिरन्ह कै बाढ़ी। बिसरा मरन भई रिस गाढ़ी॥ १॥
गर्जेउ मूढ़ महा अभिमानी। धाएउ दसौ सरासन तानी॥ २॥

अर्थ—सिरोंकी वृद्धि देखकर दशमुखको अपना मरण भूल गया (उल्टे) भारी गहरा क्रोध हुआ॥ १॥ वह महा अभिमानी मूर्ख गर्जा और दसों धनुषोंको तानकर दौड़ा॥ २॥

नोट—१—'बिसरा मरन भई रिस गाढ़ी' इति। (क)—भाव कि उसने यह तो समझा नहीं कि हमारे पुण्य क्षीण हो रहे हैं, उल्टे यह समझा कि मैं अब मर तो सकता ही नहीं, कितने ही सिर कटें तो क्या, ये तो बराबर होते ही जायँगे। यह मेरे प्रतापका बल है। ऐसा समझकर अब उसका गर्व बहुत बढ़ा और गर्वके कारण वह गर्जा। गर्वके कारण समझता नहीं कि मैं मरूँगा। पुनः, (ख) 'बिसरा मरन' से जनाया कि पूर्व मरणका स्मरण हृदयमें बसा हुआ था, यथा—चलेउ निसाचर क्रुद्ध होइ त्याग जिवन कै आस। ८४।'

पु० रा० कु०—पूर्व जब युद्धमें आया तब मरण ठानकर आया था, अब मरण भूल गया, जीवनकी आशा हो गयी। इसी तरह कामी अपनी मृत्यु नहीं समझते।

नोट—२ पूर्व 'परम क्रुद्ध' और दर्पित हुआ था तब बीसों हाथोंमें दस धनुष लेकर चला था, यथा—'निज दल बिचलत देखेसि बीस भुजा दस चाप। रथ चढ़ि चलेउ दसानन फिरहु फिरहु करि दाप॥ भएउ परम क्रुद्ध दसकन्धर।' दोहा ८० अब 'गाढ़ रिस' और 'महा अभिमान' फिर हुआ, अतएव अब फिर वैसे ही दौड़ा।

समरभूमि दसकंधर कोप्यो *। बरषि बान रघुपति रथ तोप्यो॥ ३॥
दंड एक रथ देखि न परेऊ †। जनु निहार महुँ दिनकर दुरेऊ॥ ४॥

अर्थ—रणभूमिमें दशकंधरने कोप किया और बाण बरसाकर रघुनाथजीका रथ तोप (ढक) दिया॥ ३॥ एक दण्ड भर रथ (ऐसा) दिखायी न पड़ा मानों कुहरेमें सूर्य छिप गये हैं॥ ४॥

नोट—'दंड एक' के सम्बन्धसे कुहरेकी उपमा दी। क्योंकि कुहरा सूर्योदयपर देरतक नहीं रहता, थोड़ी ही देर सूर्य उसके कारण अदृश्य रहते हैं। कुहरेसे सूर्यके तेज, गति आदिपर कोई बाधा नहीं पहुँचती, वैसे ही रामरथपर रावणके बाणोंसे कोई बाधा न पहुँचेगी, यह भी जनाया।

हाहाकार सुरन्ह जब कीन्हा। तब प्रभु कोपि कारमुक लीन्हा॥ ५॥
सर निवारि रिपु के सिर काटे। ते दिसि बिदिसि गगन महि पाटे॥ ६॥

अर्थ—जब देवताओंने हाहाकार किया तब प्रभुने कोप करके कार्मुक धनुष लिया॥ ५॥ बाणोंको हटाकर शत्रुके सिर काटे। उन्होंने आकाश और पृथ्वीको सब दिशाओंमें पाट दिया। सब जगह सघन छा गये॥ ६॥

नोट—'दिसि बिदिसि गगन महि पाटे' अर्थात् इतने सिर कटे कि पृथ्वी देख नहीं पड़ती, आकाश देख नहीं पड़ता एवं और भी दिशाओंमें सिर सघन छाये हुए हैं। रावणने प्रथम-प्रथम आक्रमणमें बाणोंसे दिशि-विदिशि-गगन-महिको छा दिया था और यहाँ रामचन्द्रजीने अपने बाणों और उसके सिरोंसे उन्हीं सबको पाट दिया है। उसके बाणोंको रामजीने भस्मकर दिशाओंको साफ कर दिया था पर इस (रावण) में यह सामर्थ्य नहीं थी।

पं० पा०—दिशादिको पाटनेका भाव कि दशों दिक्पालोंको रावणके सिरका बलि करके बाणरूपी स्रुवाद्वारा आहुति देते हैं। यथा—'वितरसि दिक्षु रणे दिक्पति कमनीयम्। दशमुखमौलिबलिं रमणीयं॥ केशवधृतरामशरीर जय जय देव हरे॥' (गीतगोविन्द) अर्थात् आप रणमें रावणके सिररूपी कमनीय बलिको सब दिशाओंमें वितरण करते हैं।

काटे सिर नभ मारग धावहिं। जय जय धुनि करि भय उपजावहिं॥ ७॥
कहँ लछिमन सुग्रीव ‡ कपीसा। कहँ रघुबीर कोसलाधीसा॥ ८॥

अर्थ—कटे हुए सिर आकाशमार्गमें दौड़ते और 'जय जय' की ध्वनि कर-करके भय उत्पन्न करते हैं॥ ७॥ लक्ष्मण कहाँ हैं? वानरराज सुग्रीव कहाँ हैं? कोसलपति रघुवीर कहाँ हैं?॥ ८॥

पं०—जब जय जय-ध्वनिसे वानर डरते हैं तब मुण्ड 'कहँ लछिमन०' इत्यादि भी बोल-बोलकर और डरवाते हैं।

☞ आ० रा० १। ११ में लिखा है कि सिर कटनेपर प्रसन्न होकर हँसते थे कि हम रामके हाथसे काटे गये। यथा—'ततो रामः शरैस्तीक्ष्णैर्दशाननशिरांसि च॥ २७३॥ चिच्छेद तानि गगने गत्वा तोषयुतानि हि। रामहस्ता-

* कोपेउ, तोपेउ। † परा, दुरा—(का०)। ‡ हनुमान्—(का०)।

न्मृतिर्जि ताऽस्माकं चेति विचिन्त्य च ॥ वन्दनं कर्तुकामानि गगनाच्च रणाजिरे। सस्मितानि पतन्ति स्म राघवस्य पदोपरि॥' अर्थात् रामचन्द्रजीके तीक्ष्ण बाणोंके द्वारा रावणके जो सिर छेदे गये थे वे प्रसन्न होकर आकाशमें चले गये और वहाँ यह सोचकर कि हमको श्रीरामचन्द्रजीके हाथोंसे मारे जानेका गौरव प्राप्त है प्रसन्न हो मुस्कुराते हुए वन्दना करनेके लिये श्रीरामके चरणोंपर आकर गिरते थे।

२ (क) **'रघुबीर'** से **'धन्वी सकल लोक बिख्याता'** सूचित किया। (ख)—**'रघुबीर कोसलाधीश'** कहकर रामको ही सूचित किया (ग)—**'कहँ लछिमन' 'कोसलाधीसा'** का भाव कि जो-जो प्रधान हैं हम उनको ढूँढ़ते हैं, पावें तो मार डालें। यथा—**'कहाँ राम रन हतउँ प्रचारी'**।

☞ ३ मेघनादने अङ्गद, हनुमान्, द्विविद, नल, नील और विभीषणका नाम लिया था, यथा—**'कहँ नल नील दुबिद सुग्रीवा। अंगद हनूमंत बलसीवाँ॥ कहाँ बिभीषन भ्राता द्रोही'**। पर रावणके सिर इनका नाम नहीं लेते। इसका कारण यह है कि वह राजा है, राजाओंसे युद्ध करता है, औरोंके साथ युद्ध करनेमें अपनी हीनता समझता है। विभीषणको लात मारकर निकाल दिया अतः उनको वह समझता ही क्या है। लक्ष्मणजीसे युद्धमें अभी-अभी पराजय पायी है—**'गिरेउ धरनि दसकंधर बिकल तर बान सत बेध्यो हियो। सारथी दूसर घालि रथ तेहि तुरत लंका लइ गयो॥** ८३ छंद।' अतः लक्ष्मणजीका नाम लेते हैं। सुग्रीवके ही कारण सारी वानर-सेना रामचन्द्रजीके साथ है, वे वानरराज हैं; अतः उनका नाम लेते हैं। अन्य कारण दोहा ६४ **'काँख दाबि कपिराज कहँ'** एवं ४९ (१-३) में दिये जा चुके हैं। ४—जो मेघनादने स्वयं कहा था वह यहाँ रावणके कटे सिर कह रहे हैं। इससे रावणकी अधिक वीरता सूचित होती है।

☞ यह वर्णन वाल्मी० में नहीं है।

छं०—कहँ रामु कहि सिर निकर धाए देखि मर्कट भजि चले।
संधानि धनु रघुबंसमनि हँसि सरन्हि सिर बेधे भले॥
सिर-मालिका कर कालिका गहि* बृंद बृंदन्हि बहु मिलीं।
करि रुधिर सरि मज्जनु मनहु संग्राम बट पूजन चलीं॥

अर्थ—'राम कहाँ हैं' यह कहते हुए शिरोंके झुंड दौड़े। वानर उन्हें देख भाग चले तब रघुकुलमणि श्रीरामचन्द्रजीने हँसकर बाणोंसे सिरोंको भली प्रकार वेध दिया। कालिकाओंके बहुतसे झुंड-के-झुंड हाथोंमें मुण्डमालाएँ लिये मिलकर चलती हुई ऐसी मालूम होती हैं मानो रुधिरनदीमें स्नान करके संग्रामरूपी वटवृक्षकी पूजा करने जा रही हैं।

मा० म०—**'कहँ राम कहि०'** इति। बिना शरीरके शिरकी बोली सुनकर कपिदल भागा। अथवा, जीता है मरा नहीं है, वा, यह कि मरनेपर भी सँग लगा है—यह जानकर भागा।

नोट—ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्याको स्त्रियाँ वटकी पूजा करती हैं। उसीसे यहाँ उत्प्रेक्षा करते हैं। वटमें अनेक वटारोह जड़वाली शाखाएँ निकलती हैं। तात्पर्य यह है कि कालिकाओंको रक्तपानसे प्रेम होनेके कारण वे संग्रामको जारी रखना चाहती हैं, अक्षय बनाना चाहती हैं। वटसावित्री स्त्रीमात्रकी अत्यन्त प्रसिद्ध और विशेष पूजा है। प्रसिद्धिकी दृष्टिसे ही इस विशेष पूजाकी उत्प्रेक्षा की गयी है।

पं० पा०—जिस वटका नाम **'सावित्री वट'** है, उसे अपने पतिके चिरंजीवी होनेके लिये पूजन किया जाता है।

गौड़जी—यहाँ कालिकासे वह कालीजी अभिप्रेत नहीं हैं जो पार्वतीजीके शरीरसे चण्ड-मुण्ड और रक्तबीजके विनाशके लिये पैदा हुई थीं। ये कालिकारूपधारिणी योगिनियाँ हैं जो मातृकाओंकी सेनामें करोड़ोंकी संख्यामें रहा करती हैं और जिह्वा फैलाकर नहीं बल्कि खप्परोंमें रक्त रोपकर पान करती हैं।

दोहा—पुनि दसकंठ क्रुद्ध होइ† छाँड़ी सक्ति प्रचंड।
चली बिभीषन सन्मुख‡ मनहुँ काल कर दंड॥ ९२॥

* गहि कालिका कर—(का०)। † पुनि रावन अति कोप करि। ‡ सनमुख चली विभीषन—(का०)।

अर्थ—फिर दशग्रीवने क्रोधित होकर विभीषणपर प्रचण्ड शक्ति चलायी। वह विभीषणके सामने ऐसे चली मानो यमराजका दण्ड हो॥ ९२॥

नोट—१ (क) काल=यम। दंड यमराजका आयुध है, यथा—'**कालो दण्डधरः श्राद्धदेवो वैवस्वतोऽन्तकः**', '**काल दंड गहि काहु न मारा। ३६। ७।**' (ख) रावणकी जब रामचन्द्रजीसे कुछ न चली और विभीषण सामने देख पड़े तब यह समझकर कि इसीके शत्रुसे मिल जानेके कारण, हमारी यह दुर्गति हुई एवं यह कि हमारे जीते जी ही इसने तिलक करा लिया है क्रोधका आना और अमोघशक्तिका उसपर छोड़ना स्वाभाविक ही है। विभीषणको देख भ्राता, पुत्र और सेनाका नाश स्मरण हो आया जिससे अवश्य ही असह्य दुःख उसे हुआ होगा।

नोट—२ विभीषणजीपर शक्ति चलानेका प्रसंग वाल्मी० ९०। ४२ (मेघनाद-लक्ष्मण-अन्तिम युद्धमें मेघनादद्वारा), वाल्मी० १००। १९, २४ (रावण-लक्ष्मण-युद्धमें) और अ० रा० ११ में (राम-रावण-युद्धमें) वर्णित है। मेघनादकी चलायी हुई शक्तिको लक्ष्मणजीने काट डाला। लक्ष्मण-रावण-युद्धमें रावणने विभीषणपर शक्ति चलायी, उसे लक्ष्मणजीने काट डाला। तब उसने दूसरी शक्ति चलायी जिससे विभीषणके प्राणोंका संशय था। उससे भी विभीषणको बचाया। तब रावणने लक्ष्मणजीपर शक्ति चलायी जिससे वे मूर्च्छित हुए और सुषेणद्वारा अच्छे हुए। गीतावलीमें भी ऐसा ही उल्लेख है। अ० रा० ६ में भी यह प्रसंग है कि 'विभीषणको देखकर रावणने महाशक्ति चलायी। प्राणोंका संशय देख लक्ष्मणजीने विचार किया कि इनको राघवने अभय प्रदान किया है इन्हें बचाना हमारा कर्तव्य है। यह सोचकर आप विभीषणके आगे आ खड़े हुए। और उस शक्तिके लगनेसे मूर्च्छित हो गये। अ० रा० ११ में नाभिसर सोखनेके बाद रावणने विभीषणपर महाभयंकर शक्ति चलायी है। वहाँ रामचन्द्रजीने उस शक्तिको बाणोंसे काट डाला है। इसमें शक्तिका सहना एवं भक्तवत्सलताका विचार करनेका उल्लेख नहीं है।—'**ततो घोरां महाशक्तिमादाय दशकन्धरः॥ ५६॥ विभीषणवधार्थाय चिक्षेप क्रोधविह्वलः। चिच्छेद राघवो बाणैस्तां शितैर्हेमभूषितैः॥ ५७॥**' अर्थात् क्रोधसे मूर्च्छित रावणने विभीषणवधके लिये भयंकर महाशक्ति चलायी। रघुनाथजीने काञ्चनभूषित पैने बाणोंसे उसे काट डाला।

साहित्यज्ञ दृष्टिसे यह प्रसंग इन सब प्रसंगोंमेंसे लेकर चुना हुआ कहेंगे। और हमारे प्राचीन इतिहासों-शास्त्रोंके अनुसार कल्पभेदसे ये चरित कहे गये हैं। मनुदशरथ और भानुप्रताप रावणवाले कल्पकी कथा ऐसी ही होगी। क्योंकि जय-विजय इत्यादि रावणावतारोंकी कथाएँ तो वाल्मी०, आ० रा०, अ० रा० आदिमें दी ही हैं।

आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा*॥ १॥
तुरत बिभीषनु पाछे मेला। सन्मुख राम सहेउ सो सेला॥ २॥

अर्थ—अत्यन्त भयानक शक्तिको आते देख, 'हमारा प्रण है शरणागतके दुःखका नाश करना'॥ १॥ (यह विचारकर) तुरंत विभीषणको अपने पीछे करके रामचन्द्रजीने सामने आकर वह शक्ति आप सह ली॥ २॥

नोट—१ 'प्रनतारतिभंजन पन मोरा'। यथा—'**जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई**'। विभीषण प्रणत हैं ही और प्रभुका '**भंजन भव भीर**' और 'आरतिहरन' गुण सुनकर आये ही थे, यथा—'**श्रवन सुनि आएउँ प्रभु भंजन भवभीर। त्राहि त्राहि आरतिहरन सरन सुखद रघुबीर॥**' अतः, प्रभुने उनके भव वा आर्तिका हरण किया और उनके प्राणोंकी रक्षा अपने प्राणोंसे भी अधिक की।

२ 'पाछे मेला' से जनाया कि हाथसे पीछे कर किया। पूर्व कहा 'आवत देखि सक्ति…' और फिर '**सहेउ सो सेला**'; इस तरह 'सेला' का अर्थ 'शक्ति' जनाया। पुनः, पीछे हटा देनेसे सूचित हुआ कि वह शक्ति विभीषणके लिये प्राणघातिनी थी। अ० रा० ११। ५७ (उपर्युक्त)।

वि० त्रि०—मालूम होता है कि मातलिके घायल होनेके बादसे सारथीका काम विभीषण करते हैं, नहीं तो सरकार रथपर सवार हैं, रावणका रथ सामने है, दोनों ओरसे अस्त्र-शस्त्र चल रहे हैं, बीचमें विभीषण कहाँसे चले आये कि रावणने

* पाठान्तर—'आवत देखि सक्ति खर धारा। प्रनतारतिहर बिरद सँभारा॥' अर्थ—तीक्ष्ण धारवाली शक्ति आते देख, शरणागतके दुःखके हरनेवाले प्रभुने अपना 'प्रणतारतिहर' पन स्मरण किया।

उनपर शक्ति छोड़ी, और रामजीने विभीषणको ढकेलकर उस शक्तिको अपनी छातीपर लिया। इस स्थलपर सारथीके स्थानपर विभीषणको विना माने अर्थ बैठता नहीं।

लागि सक्ति मुरुछा कछु भई। प्रभु कृत खेल सुरन्ह बिकलई॥ ३॥
देखि बिभीषन प्रभु श्रम पायो। गहि कर गदा क्रुद्ध होइ धायो॥ ४॥

अर्थ—शक्तिके लगनेसे कुछ मूर्च्छा हुई। प्रभुका तो खेल हुआ और देवताओंको व्याकुलता हुई॥ ३॥ प्रभुको श्रम (क्लेश, कष्ट, तकलीफ) हुआ देख विभीषणजी हाथमें गदा ले क्रुद्ध होकर दौड़े॥ ४॥

पं०—'प्रभुकृत खेल'। भाव कि नरनाट्यमें तदनुसार स्वाँग करना ही पड़ता है—'**जस काछिय तस चाहिय नाचा।**' खेलका हेतु भक्तकी रक्षा और विधि-वचनका निर्वाह है। अथवा, विभीषण-रावण-युद्ध देखनेके लिये यह कौतुक किया गया। रावणको दिखा देना चाहते हैं कि जो रावण सम्मुख कभी दृष्टि भी न कर सकता था वह आज, हमारे आश्रित होनेसे कैसा बलवान् है। यवका घुन नहीं है और न 'भीरु' है।

नोट—पूर्व स्वामीकी 'सेवकहितता' दिखायी—'**तुरत बिभीषन पाछे मेला।**…' और यहाँ सेवककी 'सेवकाई' दिखायी—'**गहि कर गदा**…'।

☞ विभीषणको शरणमें लेकर प्रभुने अबतक उनको संग्राममें लड़नेके लिये कभी नहीं भेजा। वे इनकी प्राणकी तरह रक्षा करते रहे। इस समय प्रभुको श्रमित देख विभीषण स्वयं दौड़कर रावणसे लड़ने चले। यही एक प्रथम और अन्तिम युद्ध विभीषणका है। प्रभुने उनको केवल मन्त्री ही बनाकर अपने पास ही लड़ाई भरमें रक्खा।

☞ इस चरितसे प्रभु उपदेश दे रहे हैं कि जो कोई भी प्राणी हमारी शरणमें संसारसे भयभीत होकर आवेगा उसकी हम प्राणोंसे रक्षा करेंगे। उसे केवल एक बार सत्य ही शरणमें आनेकी जरूरत है फिर समस्त विकारोंसे उसकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य है, उसको इनकी चिन्ता न रहेगी। हम उसके शत्रुओंको मारकर उसे राज्य देंगे।

प० प० प्र०—'**लागि सक्ति**…' इति। मूर्च्छित देख वानरसेनाभरको अनिर्वचनीय दुःख और चिन्ता हुई। शिवादि मर्मज्ञ देवों और कविके हृदय भगवान्‌का शरणागत-परित्राण-विरद देखकर सत्वभावापन्न हो गये। प्रेम हृदयसे उमड़ पड़ा। अन्य देवताओंको भी दुःख और चिन्ता हुई; पर वे मनमें विचारने लगे कि विभीषण मर जाता तो क्या हानि थी, क्योंकि वे सब स्वार्थी ही तो हैं, उन्हें तो '**पर अकाज प्रिय आपन काजू।**'—ये सब भाव इस अर्धालीमें मात्राकी कमीद्वारा जनाया है।

रे कुभाग्य सठ मंद कुबुद्धे। तैं सुर नर मुनि नाग बिरुद्धे॥ ५॥
सादर सिव कहुँ सीस चढ़ाए। एक एक के कोटिन्ह पाए॥ ६॥

अर्थ—अरे अभागी! शठ! नीच! अरे दुर्बुद्धि! तू सुर, नर, मुनि, नागदेव सभीका विरोधी है॥ ५॥ तूने आदरसहित श्रीशिवजीको सिर चढ़ाये (इससे) एक-एक सिरके बदलेमें करोड़ों सिर पाये॥ ६॥

नोट १— 'कुभाग्य, शठ, मन्द, कुबुद्धि' ये विशेषण सहेतुक हैं। रामविमुख होनेसे अभागी और शठ कहा, यथा—'**रामबिमुख सठ चहसि संपदा**', '**सो नर क्यों दससीस अभागा।** २६। ४।' पृष्ठ १६४ देखिये। सबसे विरोध करनेसे 'मंद' कहा। हित-अनहित न समझनेसे दुर्बुद्धि कहा—'**तव उर कुमति बसी बिपरीता। हित अनहित मानहु रिपु प्रीता**', '**हित अनहित पसु पच्छिउ जाना**'। औरोंने भी इसे अभागा कहा है। यथा—'**उतरु देत मोहि बधब अभागे**' (मारीच)। क्योंकि इसने कहा था कि राम मनुष्य नहीं हो सकते पर रावणने गाली दीं।…'), '**सो नर क्यों दससीस अभागा**'—(अङ्गदने कहा, क्योंकि वह श्रीरामजीको नर कहता है), '**दसमुख सकल कथा तेहि आगे। कहेसि सहित अभिमान अभागे**'—(कवि वा वक्ता अभिमानके कारण उसे अभागा कहते हैं)।

पं०—सुर-नरादि सबका विरोधी होनेसे 'कुबुद्धि', कुबुद्धि होनेसे मंद, मंद होनेसे शठ और शठ होनेसे अभागी है।

तेहि कारन खल अब लगि बाँच्यो* । अब तव काल सीसु पर नाँच्यो ॥ ७ ॥
राम बिमुख सठ चहसि † संपदा । अस कहि हनेसि माँझ उर गदा ॥ ८ ॥

अर्थ—इसी कारण, अरे खल ! अबतक तू बचता रहा, अब तेरा काल तेरे सिरपर नाच रहा है ॥ ७ ॥ अरे मूर्ख ! तू श्रीरामजीसे विमुख होकर सम्पत्ति चाहता है । ऐसा कहकर उसने रावणकी छातीमें गदा मारी ॥ ८ ॥

पं०—'अब तव काल सीस पर नाच्यो' । यह कैसे जाना ? उत्तर—(१) अब तूने रामको कष्ट पहुँचाया है अतः अब तेरे सब सुकृत क्षीण हो गये । (२) जो अमोघ शस्त्र तेरे पास थे अब वह भी हो चुके । वा, (३) प्रभुके हृदयमें तूने शक्ति मारकर मानो अपना मृत्युस्थान बता दिया अब वे तेरे प्राण हरण कर लेंगे ।

करु०—भाव कि वरदान और तपस्याका फल पूरा मिल चुका ।

नोट—१ 'रामबिमुख सठ चहसि संपदा' । भाव कि रामविमुखको सम्पत्ति नहीं मिल सकती—'**रामबिमुख संपति प्रभुताई । जाइ रही पाई बिनु पाई**' । तब (और देवताओंकी सेवासे) इसकी आशा करना मूर्खता ही है—'**हित न तुम्हार संभु अज कीन्हें** । अतएव शठ कहा ।

२—'हनेसि माँझ उर गदा' हृदयमें मारा क्योंकि वे जानते हैं कि हृदयपर घाव लगनेसे रावण व्याकुल हो जाता है । और हुआ भी यही ।

छं०—**उर माँझ गदा प्रहार घोर कठोर लागत महि पर्‌यो ।**
दसबदन सोनित स्रवत पुनि संभारि धायो रिस भर्‌यो ॥
द्वौ भिरे अति बल मल्ल जुद्ध बिरुद्ध एकु एकहि हने ।
रघुबीर बल दर्पित बिभीषनु घालि नहिं ता कहुँ गने ॥

शब्दार्थ—मल्लयुद्ध=द्वन्द्वयुद्ध, कुश्तीकी लड़ाई । घाल=घलुआ, सौदेकी उतनी वस्तु जितनी ग्राहकको तौल वा गिनतीके ऊपर दी जाती है । 'घाल न गिनना'=पसंगा बराबर भी न समझना,—'**वीर-करि केसरी-कुठारपानि मानी हारि तेरी कहा चली बिड तोसो गनै घालि को ।**' (क० लं० ११) ।

अर्थ—घोर कठोर गदाकी कठिन चोट छातीमें लगते ही वह पृथ्वीपर गिर पड़ा । उसके दसों मुखोंसे खून बहने लगा । फिर सँभालकर क्रोधमें भरा हुआ वह दौड़ा । दोनों अत्यन्त बलवान् पहलवान भिड़ गये और मल्लयुद्धमें विरोधभावसे भिड़कर एक दूसरेको मारने लगे । रघुवीरके बलसे गर्वित विभीषण उसको कुछ भी नहीं समझता ।

पं०—'मल्लजुद्ध विरुद्ध' का भाव कि मल्लयुद्ध मित्रभावसे भी होता है पर उसमें प्राणोंपर आघात नहीं किया जाता, इसीसे कहा कि ये शत्रुभावसे एक दूसरेके प्राण लेनेके विचारसे मल्लयुद्ध कर रहे हैं ।

वं० पा०—यहाँ विभीषणने ही रावणसे युद्ध किया, इसका कारण यह है कि इन्हींके लिये प्रभुको यह श्रम हुआ है ।

नोट—☞ रावणने, लक्ष्मण, अङ्गद, सुग्रीव, विभीषण, जाम्बवन्त, नल और नील इतनेका नाम लेकर इनका अपमान किया था, यथा—**तुम्हरे कटक माँझ सुनु अंगद । मो सन भिरिहि कवन जोधा बद ॥ २२ । १ तव प्रभु नारि बिरह बलहीना । अनुज तासु दुख दुखी मलीना ॥ २ ॥**' से '**सिल्प कर्म जानहिं नल नीला**' तक । इन सबोंने अपना बल युद्धमें इसको दिखाकर इस अपमानका बदला लिया है । यथा—

१ लक्ष्मणजी—'आतुर बहोरि बिभंजि स्यंदन सूत हति ब्याकुल कियो ।
गिर्‌यो धरनि दसकन्धर बिकलतर बान सत बेध्यो हियो ॥
सारथी दूसर घालि रथ तेहि तुरत लंका लेइ गयो ॥ ८३ छंद ।''

२ अङ्गदने एक तो सभाहीमें उसका मानमर्दन किया था और फिर दुबारा—

* बाचा, नाचा † चह—(का०)

'देखि बिकल सुर अंगद धाएउ । कूदि चरन गहि भूमि गिरायउ ।
गहि भूमि पार्‍यो लात मार्‍यो बालिसुत प्रभु पहिं गयउ । ९६ छन्द ।'

३ सुग्रीवका युद्ध प्रकट यहाँ नहीं लिखा गया । कारण यह जान पड़ता है कि इनके अपमानका बदला रावणके भाई कुम्भकर्णके युद्धमें कवि दिखा चुके हैं । यथा—'काटेसि दसन नासिका काना । गरजि अकास चलेउ० ॥'

४ विभीषण—'उर माँझ गदाप्रहार घोर कठोर लागत महि पर्‍यो ।
दस बदन सोनित स्रवत पुनि संभारि धाएउ रिस भर्‍यो ॥ ९३ छन्द ।'

५ जाम्बवंत—'मुरछित देखि सकल कपि बीरा । जामवंत धाएउ रनधीरा ॥...
देखि भालुपति निज दल घाता । कोपि माँझ उर मारेसि लाता ॥
उर लात घात प्रचंड लागत बिकल रथ तें महि परा...।
मुरछित बिलोकि बहोरि पद हति भालुपति प्रभु पहिं गयो ॥ ९७ ॥''

६-७ नल नील—'तब नल नील सिरन्ह चढ़ि गएऊ । नखन्ह लिलार बिदारत भएऊ ॥
रुधिर देखि बिषाद उर भारी । तिन्हहिं धरन कहँ भुजा पसारी ॥
गहे न जाहिं करन्ह पर फिरहीं । जनु जुग मधुप कमलबन चरहीं ॥
कोपि कूदि दोउ धरेसि बहोरी । महि पटकत भजे भुजा मरोरी ॥ ९७ । ६-९ ॥'

दो०—उमा बिभीषनु रावनहिं सन्मुख चितव कि काउ ।
सो अब भिरत काल ज्यों * श्रीरघुबीर प्रभाउ ॥ ९३ ॥

अर्थ—हे उमा ! क्या विभीषण कभी भी रावणके सामने आँख कर सकता था ? (कदापि नहीं) । वही विभीषण अब कालके समान रावणसे भिड़ रहा है; यह श्रीरघुवीरका प्रताप है ॥ ९३ ॥

नोट—१ 'सनमुख चितव कि काउ'—अर्थात् सदा डरता था, यथा—'नाइ सीस करि बिनय बहूता । नीति बिरोध न मारिय दूता ॥ सुं० २४ ।', 'अवसर जानि बिभीषन आवा । भ्राता चरन सीस तेहि नावा ॥ सुं० ३८ । २ ।', 'पुनि सिरु नाइ बैठ निज आसन । बोला बचन पाइ अनुसासन ॥', 'तात चरन गहि मागउँ राखहु मोर दुलार । सुं० ४० ।'

विभीषणजीने कठोर वचन सुनने और लात खानेपर भी आँख सामने न की । यथा—'अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा । अनुज गहे पद बारहिबारा ॥ तुम्ह पितु सरिस भलेहिं मोहि मारा । राम भजे हित नाथ तुम्हारा ॥ ५ । ४१ ।', 'बंधु हमार भीरु अति सोऊ'—(रावणवाक्य अङ्गदप्रति) ।'

२ 'काल ज्यों' अर्थात् विरोधभावसे प्राण लेनेके लिये, कालके समान दुर्धर्ष होकर, सम्मुख आकर ।

३ 'श्रीरघुबीर प्रभाउ' इति । प्रभाव यह है कि प्रभु तृणको भी वज्र बना देते हैं । यथा—'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई' ।

देखा श्रमित बिभीषनु भारी । धाएउ हनूमान गिरि धारी ॥ १ ॥
रथ तुरंग सारथी निपाता । हृदय माँझ तेहि मारेसि लाता ॥ २ ॥

अर्थ—विभीषणजीको बहुत श्रमित (थका हुआ) देखकर हनुमान्‌जी पर्वत लिये हुए दौड़े ॥ १ ॥ (और उससे) रथ, घोड़े और सारथीका नाश कर दिया और उस (रावण) के हृदयमें लात मारी ॥ २ ॥

नोट—'गिरिधारी' कहकर व्यञ्जनाद्वारा प्रकट किया कि पर्वतसे रथ, घोड़े और सारथीको मारा । रावण पहाड़की चोटसे बच गया । उसी समय हनुमान्‌जीने उसे लात मारी । विभीषणजीने हृदयमें गदा मारी थी और हनुमान्‌जीने भी हृदयमें ही मारा ।

* 'भिरत सो काल समान अब'—(का०)

ठाढ़ रहा अति कंपित गाता। गएउ बिभीषन जहँ जन त्राता॥ ३॥
पुनि रावन कपि हनेउ पचारी। चलेउ गगन कपि पूँछ पसारी॥ ४॥

अर्थ—वह खड़ा रहा पर उसका शरीर अत्यन्त काँपने लगा। तब विभीषण वहाँ गये जहाँ जनरक्षक प्रभु थे॥ ३॥ फिर रावणने ललकारकर हनुमान्‌जीको मारा। वे पूँछ फैलाकर आकाशमें चले गये अर्थात् उसके आघातसे इनको कुछ न हुआ॥ ४॥

नोट—१ 'गयउ बिभीषन जहँ जनत्राता'। (क)—'जनत्राता' विशेषण देनेका भाव कि विभीषणजीकी रक्षाके लिये ही उन्होंने शक्ति अपने ऊपर लेकर इनको बचा लिया था। (ख)—'गहि कर गदा क्रुद्ध होइ धायउ' उपक्रम है और 'गयउ बिभीषन जहँ जनत्राता' उपसंहार है। (ग) श्रीहनुमान्‌जीके पहुँचनेसे इनको सावकाश मिला तब ये प्रभुके पास गये। २—प्रभुको श्रमित देख विभीषण धाये, विभीषणजीको श्रमित देख हनुमान्‌जी धाये, हनुमान्‌जीका सङ्कट देख वानर-भालु चलेंगे और उन सबोंको पीड़ित देख फिर श्रीरघुवीर सबकी रक्षा करेंगे। इस प्रकार 'जनत्राता' पदका पूरा चरितार्थ यहाँ है। यथा—

१ विभीषण—'देखि बिभीषन प्रभु श्रम पायउ। गहि कर गदा क्रुद्ध होइ धायउ॥ ९३। ४॥'
२ हनुमान्‌जी—'देखा श्रमित बिभीषन भारी। धाएउ हनूमान गिरि धारी॥ ९४। १॥'
३ वानर-भालु—'हनुमंत संकट देखि मर्कट भालु क्रोधातुर चले। ९४ छन्द।'
४ श्रीरामजी—'रनमत्त रावन सकल सुभट प्रचंड भुजबल दलमले॥ तब रघुबीर पचारे धाए कीस प्रचंड।९४।

पु० रा० कु०—'पूँछ पसारी'। इससे हनुमान्‌जीने अपनी प्रबलता दिखायी। यथा—'गहेसि पूँछ कपि सहित उड़ाना'।

पं० वि० त्रिपाठीजी—हनुमान्‌जीने देखा कि सरकार मूर्छित हैं, विभीषण भी युद्धमें श्रमित हो गया। रथी सारथी दोनों संकटापन्न हैं। ऐसे अवसरपर रावणका सन्निकट रहना ठीक नहीं। अतः रावणकी चोट खाकर हनुमान्‌जी आकाशमें चले, और पूँछको फैला दिया जिसमें 'कहाँ जाता है' कहकर रावण भी पूँछ पकड़े आकाशमें चला आवे। बुद्धिमतांवरिष्ठकी नीति सफल हुई। रावण 'गहिसि पूँछ कपि सहित उड़ाना। पुनि फिरि भिरेउ प्रबल हनुमाना॥' नहीं तो शत्रुसे चोट खाकर आकाशमें चला आना तो भागना हो जायगा। अतः महावीरके प्रति ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता।

गहिसि पूँछ कपि सहित उड़ाना। पुनि फिरि भिरेउ प्रबल हनुमाना॥ ५॥
लरत अकास जुगल सम जोधा। एकहि एक हनत करि क्रोधा॥ ६॥

अर्थ—रावणने पूँछ पकड़ ली, कपि उसके समेत उड़े। फिर महाबलवान् हनुमान्‌जी उससे फिरकर भिड़े॥ ५॥ दोनों समान योद्धा आकाशमें लड़ते हुए एक-दूसरेको क्रोध कर-करके मारने लगे॥ ६॥

नोट—१ 'गहिसि पूँछ कपि सहित उड़ाना' यह पूँछकी पुष्टता और हनुमान्‌जीका बल दिखाया। पुनः ऊपर उड़नेमें अभिप्राय यह था कि ऊपरसे प्रहार करें। 'पुनि' और 'फिरि' में पुनरुक्तिवदाभास है।

पं०—रावण पूँछ पकड़े खींचता है। और हनुमान्‌जी ऊपर उड़े जा रहे हैं यह देख लोग ऐसा न समझें कि हनुमान्‌जी उससे भागते हैं, यह विचार कर 'पुनि फिरि भिरेउ' कहा।

'जुगल सम जोधा' इति। यथा—

रावण	हनुमान्
१ परेउ सबल जनु बज्र प्रहारा। ८३। २।	जानु टेकि कपि भूमि न गिरा। ८३। १।
२ मुरछा गइ बहोरि सो जागा। कपिबल बिपुल सराहन लागा॥ ८३। ३॥	उठा सँभारि बहुत रिसभरा। ८३। १।
३ हृदय माँझ तेहि मारेसि लाता। ९४। २।	पुनि रावन कपि हतेउ पचारी। ९४। ४।
४ ठाढ़ रहा अति कंपित गाता। ९४। ३।	चलेउ गगन कपि पूँछ पसारी। ९४। ५।
५ हनत एक एकहि करि क्रोधा। ९४ (६)	
६ 'महि परत पुनि उठि लरत देवन्ह जुगल कहँ जय जय भनेउ। ९४ छन्द।'	

दोनोंमें इस स्थानपर आकार, बल और बुद्धिमें समानता कही है। दोनों पर्वताकार—'कज्जलगिरि', 'सुमेरु'। दोनों 'महि परत पुनि उठि लरत' और दोनों एक-दूसरेसे पार नहीं पाते—'निसिचर बुधि बल परै न पारा'। वह भी पार नहीं पाता, नहीं तो घायल करके चल देता।

☞ हनुमान्-मेघनाद और हनुमान्-रावण-युद्धका मिलान—

हनुमान्-मेघनाद	हनुमान्-रावण
देखि पवनसुत कटकु बिहाला	१ देखा अमित बिभीषन भारी
गहि गिरि मेघनाद कहुँ धावा। महा सैल एक तुरत उपारा॥	२ धाएउ हनूमान गिरिधारी
भंजेउ रथ सारथी निपाता। रथ सारथी तुरत सब खोई॥	३ रथ तुरंग सारथी निपाता
ताहि हृदय महँ मारेसि लाता।	४ हृदय माँझ तेहि मारेसि लाता
आवत देखि गएउ नभ सोई॥	५ ठाढ़ रहा अति कंपित गाता
बार बार प्रचार हनुमाना। निकट न आव मरम सो जाना॥	६ पुनि रावन तेहि हतेउ प्रचारी।··· हनत एक एकहि करि क्रोधा।

☞ मेघनाद एक बारकी लात खाकर इतना डर गया कि तीसरी बार ललकारनेपर भी सामने नहीं आता और रावण स्वयं ललकार-ललकारकर उनसे लड़ रहा है। इससे रावणमें मेघनादसे विशेषता दिखायी।

सोहहिं नभ छल बल बहु करहीं। कज्जल गिरि सुमेरु जनु लरहीं॥ ७॥
बुधि बल निसिचर परै न पार्‌यो*। तब मारुतसुत प्रभु संभार्‌यो*॥ ८॥

शब्दार्थ—पार पड़ना=सफलता प्राप्त करना, जीतना। पारना=गिराना। यथा—'गहि भूमि पार्‌यो लात मार्‌यो०'।

अर्थ—दोनों बहुत छल-बल करते हुए आकाशमें (ऐसे) शोभित हो रहे हैं मानो कज्जलका पर्वत और सुमेरु लड़ रहे हैं॥ ७॥ जब बुद्धि और बलसे निशिचरसे पार न पाया (वा, निशिचर गिराये न गिरा) तब पवनसुतने प्रभुको याद किया॥ ८॥

नोट—१ रावणको पर्वताकार और काला होनेसे कज्जलगिरि कहा। पूर्व भी रावणको कज्जलगिरिकी उपमा दी गयी है। यथा—'अंगद दीख दसानन बैसा। सहित प्रान कज्जलगिरि जैसा॥ १९। ४॥' श्रीहनुमान्‌जी 'सुवर्णशैलाभिदेहं' हैं अतः सुमेरु पर्वतकी उत्प्रेक्षा की गयी।

२—पहले 'छल बल बहु करही' कहा, फिर 'बुधि बल परै न पारा' कहा। इस प्रकार 'छल' से 'बुद्धि बल' और 'बल' से 'शरीरबल' का अर्थ सूचित किया। विशेष 'निसिचर छलबल करइ अनीती। ५३। ३।', तथा 'चिक्करहिं मर्कट भालु छलबल करहिं जेहि खल छीजहीं। ८० छन्द।' (पृष्ठ ४४८) देखिये।

३—'बुधि बल निसिचर परै न पार्‌यो।···' इति। यहाँ रावणको हनुमान्‌जीसे अधिक बलवान् दिखाया। एवं हनुमान्‌जी आदि वानर-योद्धाओंके बलपर रावणको पराजय करनेका निषेध और जाम्बवन्तके 'तब निज भुजबल राजिवनयना। कौतुक लागि संग सब सेना॥' इन वचनोंको चरितार्थ किया है। अन्यत्र भी यह बात गोस्वामीजीने कही है कि वानरोंमें जो बल रावणके सामना करनेका है वह सब प्रभुका प्रताप है, (यथा—'रामप्रताप प्रबल कपि जूथा। ४१। १।', 'कपि जयसील राम बल ताते। ८०। ३।'), नहीं तो सुग्रीवके साथ रहकर भी हनुमान्‌जी बालिसे उनकी रक्षा क्यों न कर सके? यथा 'तुलसी राम सुदीठि तें निबल होत बलवान। बैर बालि सुग्रीव के कहा कियो हनुमान। दो० ११०।'

छं०—**संभारि श्रीरघुबीर धीर पचारि कपि रावनु हन्यौ।**
महि परत पुनि उठि लरत देवन्ह जुगल कहुँ जयजय भन्यौ॥
हनुमंत संकट देखि मर्कट भालु क्रोधातुर चले।
रन मत्त रावन सकल सुभट प्रचंड भुजबल दलमले॥

* पारा, संभारा—(का०)।

शब्दार्थ—दलमलना=मसल वा मीड़ डालना । 'भुजबल रिपुदल दलमलि'''॥ ४४ ॥'

अर्थ—जयश्रीको प्राप्त, धीर, रघुकुलवीर श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करके हनुमान्‌जीने ललकारकर रावणको मारा । पृथ्वीमें गिरते और फिर उठकर लड़ते हैं, यह देख देवताओंने दोनोंकी जय पुकारी अर्थात् जयजयकार किया । हनुमान्‌जीका कलेश देखकर रीछ और वानर क्रोध भरे हुए शीघ्र चले । रणमदमाते रावणने सब उत्तम योद्धाओंको अपने प्रचण्ड भुजबलसे मसल डाला ।

नोट—१ 'जुगल कहुँ जय जय भन्यौ' । (१)--इससे जनाया कि दोनों ही एक दूसरेकी मारसे पृथ्वीपर गिरते और फिर उठकर लड़ते हैं, नहीं तो दोनोंकी जय कैसे बोलते ? (२) रावण तो शत्रु है, उसकी जय क्यों बोलते हैं ? देवता सत्यवादी हैं, वे झूठ नहीं बोल सकते; यथार्थ ही कहेंगे । पुनः, दोनोंकी वीरतापर प्रसन्न हो-होकर जय बोल रहे हैं । देखिये, शत्रु होनेपर भी भगवान् कृष्णजी कर्णकी वीरताकी प्रशंसा करते रहते थे । २—**'सकल सुभट प्रचंड भुजबल दलमले'** । हनुमान्‌जीका हटना नहीं कहा । इससे जनाया कि वह इनसे भी लड़ता था, इनसे असावधान न था और साथ-ही-साथ और सबसे भी लड़ता था ।

वं० पा०—दोकी जय बोली अतएव दो बार 'जय' कहा ।

दो०—तब रघुबीर पचारे* धाए कीस प्रचंड ।
कपिदल प्रबल देखि† तेहिं कीन्ह प्रगट पाषंड ॥ ९४ ॥

अर्थ—तब श्रीरघुवीरके ललकारनेपर बड़े बलवान् वानर बड़े वेगसे दौड़े । प्रबल वानरदलको देखकर उसने माया प्रकट की ॥ ९४ ॥

शब्दार्थ—पाषंड=माया । यहाँ **'कीन्ह प्रगट पाषंड'** कहा और आगे कहते हैं कि **'प्रभु छन महँ माया सब काटी ।** ९६ । १ ।', इस तरह दोनों पर्याय हुए ।

नोट—१ 'तब रघुबीर पचारे' अर्थात् हनुमान्‌जीका संकट सुभट निवारण न कर सके वरन् स्वयं मर्दित हुए, यह देख प्रचंड योद्धाओंको भेजा । 'पचारे' पूर्व रावण और आगे 'कीस प्रचंड' दोनोंमें लगता है । (ख) 'धाये' इति । जो सुभट हनुमान्‌जीकी सहायताके लिये चले वे अङ्गद अथवा नल, नीलादि यूथप न थे । इसीसे उनके विषयमें **'चले'** पद दिया था । और सर्वत्र 'धाये' पद आया है—(विभीषणजी धाये, यथा—**'गहि करि गदा क्रुद्ध होइ धायो'** । हनुमान्‌जी धाये यथा—'धायेउ हनूमान गिरिधारी' । अब प्रचण्ड कीश धाये; यथा—'धाए कीस प्रचंड' । और पूर्व **'हनुमंत संकट देखि मर्कट भालु क्रोधातुर चले'** ।) 'चले' से जाना गया कि रावणके सम्मुख लड़नेका साहस न पड़ता था । अतः उन्हें उतना उत्साह न था । और ये प्रचण्ड कीश उत्साहपूर्वक उससे लड़ने जा रहे हैं ।

२ 'कपिदल प्रबल देखि तेहि **प्रगट कीन्ह पाषंड ।'** भाव कि अभीतक एक हनुमान्‌जीको ही मैं बल और बुद्धिसे न जीत सका था और अब तो अङ्गदादि और भी महाबली वीर आ गये, सबसे कैसे लड़ूँगा । मैं अकेला और ये सब मेरे समान बलवान् हैं, यह विचारकर माया रची । यथा—**'मैं अकेल कपि भालु बहु माया करउँ अपार ॥ ८८ ॥'**

अंतर्धान भएउ छन एका । पुनि प्रगटे खल रूप अनेका ॥ १ ॥
रघुपति कटक भालु कपि जेते । जहँ तहँ प्रगट दसानन तेते ॥ २ ॥

अर्थ—क्षणभरके लिये वह अवश्य अदृश्य हो गया । फिर उस दुष्टने अनेक रूप प्रकट किये ॥ १ ॥ श्रीरघुनाथजीकी सेनामें जहाँ जितने रीछ-बंदर थे वहाँ उतने ही रावण प्रकट हो गये (अर्थात् एक-एक योद्धाके लिये एक-एक) ॥ २ ॥

नोट—१ **'अंतर्धान भएउ छन एका'** इति । अन्तर्धान होनेका भाव कि जिसमें कोई यह न जान सके कि असली रावण कौन है । वा, अन्तर्धान हुए विना यह माया न रच सकता था, अतः अन्तर्धान हुआ ।

२—रावणको ब्रह्माका वरदान था कि जब जो और जितने रूप चाहे उतने रूप हो सकता था, यथा वाल्मीकीये

* राम पचारे बीर तब । † बिलोकि—(का०) ।

उत्तरकाण्डे दशम सर्गे 'वितरामीह ते सौम्य वरं चान्यं दुरासदम् ॥ २४ ॥ छन्दतस्तव रूपं च मनसा यद्यथेप्सितम् । एवं पितामहोक्तं च दशग्रीवस्य रक्षसः ॥ २५ ॥' अर्थात् पितामह ब्रह्माजीने दशग्रीवसे कहा कि हम तुमको और भी एक वर यह देते हैं कि तुम ईप्सित रूप धारण कर सकोगे।

देखे कपिन्ह अमित दससीसा। जहँ तहँ भजे भालु अरु कीसा*॥ ३ ॥
भागे बानर† धरहिं न धीरा। त्राहि त्राहि लछिमन रघुबीरा ॥ ४ ॥

अर्थ—वानरोंने असंख्य रावण देखे। सब रीछ और वानर जहाँ तहाँ भगे ॥ ३ ॥ वानर धीरज नहीं धरते। 'लक्ष्मणजी! रक्षा कीजिये! रघुवीरजी! रक्षा कीजिये!' ऐसा पुकारते भागे जा रहे हैं ॥ ४ ॥

नोट—१ पहले 'वानर-समूह' का एक साथ देखना कहा—'देखे कपिन्ह…'। इससे बहुवचन पद दिया। फिर प्रत्येक वानर और रीछका, जो जहाँ पाता है तहाँ अलग-अलग सबका, भागना कहा। अतः 'भजे भालु अरु कीसा' कहा। फिर दूसरी बार 'भागे वानर' बहुवचन पद दिया। वानर दीपदेहरी न्यायसे 'भागे' और 'धरहिं' दोनोंके साथ है; यहाँ सभीका अधीर होना, सभीका 'त्राहि त्राहि…' पुकारते भागना सूचित किया। इसीसे बहुवचन पद दिया और पुनः 'भागे' कहा। २—वानर अमित हैं। इसीसे रावणने अमित रूप धारण किये। जिसमें एक-एक वानरके लिये कम-से-कम एक-एक तो हो जाय। ३—'त्राहि त्राहि लछिमन रघुबीरा' इति। श्रीराम-लक्ष्मणकी शरण गये; क्योंकि पूर्व अभी-अभी हनुमान्‌जीको भी संकटमें देख चुके हैं इससे समझते हैं कि और कोई रक्षा नहीं कर सकता।

दहँ दिसि धावहिं कोटिन्ह रावन‡। गर्जहिं घोर कठोर भयावन ॥ ५ ॥
डरे सकल सुर चले पराई। जय कै आस तजहु अब भाई ॥ ६ ॥

अर्थ—दसों दिशाओंमें करोड़ों रावण दौड़ते हैं और घोर, कठोर, भयंकर गर्जन करते हैं ॥ ५ ॥ सब देवता डरकर (परस्पर यह कहते) भाग चले—'अरे भाई! अब जयकी आशा छोड़ो' ॥ ६ ॥

रा० प्र०—१ दस दिशिमें नीचेकी दिशा भी आ गयी। पातालकी ओर, रथादिके नीचे या विवर सिंधुसे रावणोंका प्रकट हो दौड़ना जनाया। २—सुरोंका डरना कहकर जनाया कि जब ये ही डर गये तब औरोंकी कथा क्या कहनी।

सब सुर जिते एक दसकंधर। अब बहु भए तकहु गिरि कंदर ॥ ७ ॥
रहे बिरंचि संभु मुनि ग्यानी। जिन्ह जिन्ह प्रभु महिमा कछु जानी ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—तकना=शरण वा आश्रय लेना, यथा—'देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा।'

अर्थ—एक दशकंधरने तो सभी देवताओंको जीत लिया था और अब तो बहुत हो गये हैं, इससे अब तो पर्वत-कन्दराओंकी शरण लेना चाहिये ॥ ७ ॥ ब्रह्मा, शिव और ज्ञानी मुनि जिन-जिनने प्रभुकी महिमा कुछ थोड़ी-बहुत भी जानी है वे ही वहाँ रह गये ॥ ८ ॥

नोट—१ 'तकहु गिरि कंदर।' भाव कि जब एक ही रावण था तब भी कोई और उपाय बचनेका न था, यही एक उपाय था। यथा—'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा ॥ दिगपालन्ह के लोक सुहाए। सूने सकल दसानन पाए ॥ १। १८२।' इससे वही उपाय अब भी करनेको कहते हैं।

२—'जिन्ह प्रभु महिमा कछु जानी।' (क) 'प्रभु' पदसे जनाया कि वे सामर्थ जानते हैं। जैसा जयन्त और खरादिके प्रसङ्गमें देखा है। (ख) ब्रह्माजी, शिवजी, अगस्त्यादि महर्षि महिमा जानते हैं, पर ये भी कुछ ही जानते हैं, पूर्ण नहीं। यथा—'बिधि हरि हरु दिसिपति दिनराऊ। जे जानहिं रघुबीर प्रभाऊ ॥ १। ३२१। ६।' 'तुम्हरेइ भजन प्रभाव अघारी। जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी ॥ ३। १३। ५।' (श्रीअगस्त्यजी); 'महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा ॥…'तुम्हहिं आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता ॥ तिमि रघुपति

* भागे भालु बिकट भट कीसा। † चले बलीमुख—(का०)। ‡ दस दिसि कोटिन्ह धावहिं रावन।—(का०)।

महिमा अगाहा । तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा ॥ ९१ ।' पुनः 'जिन्ह-जिन्ह' का भाव कि सब नहीं जानते थे, कुछ ही जानते थे । (घ) महिमा, यथा—'प्रभु सक त्रिभुवन मारि जिआई । ११३ । ४ ।'

३ (क)—पहले कहा कि 'डरे सकल सुर चले पराई' इससे समझा जाता कि ब्रह्मा, शिव आदि देवता भी भाग गये; क्योंकि ये सब साथ आये थे । यथा—'सुर ब्रह्मादि सिद्ध मुनि नाना । देखत रन नभ चढ़े बिमाना ॥ हमहूँ उमा रहे तेहिं संगा । देखत रामचरित रनरंगा ॥ ८० । १-२ ।' इसलिये समुदायको कहकर फिर इनको पृथक् कर दिया । पुनः (ख)—सिद्ध मुनि भी आये थे । 'सुर चले पराई' से जाना जाता कि मुनि नहीं भागे । अतः उसे यहाँ स्पष्ट किया कि वे भी भागे, केवल वे ज्ञानी मुनि रह गये जो महिमा जानते थे । पुनः (ग) भागे लगभग सभी देवता, रहे कोई दो-चार ही, इससे प्रथम 'सकल सुर०' कहकर तब जो रह गये उनको कहा । भागनेवाले इतने थे कि उनको गिना न सकते थे, जो रहे वे इतने थोड़े थे कि उन्हें गिन सकते हैं (घ) पुनः 'बिरंचि शिव' के साथ 'मुनि ज्ञानी' का भाव कि ऐसे-ऐसे जो ज्ञानी थे जैसे शिव और ब्रह्मा, जिनके सत्सङ्गको शिवादि भी जाया करते थे ।

छन्द—जाना प्रताप ते रहे निर्भय कपिन्ह रिपु माने फुरे ।
चले बिचलि मर्कट भालु सकल कृपाल पाहि भयातुरे ॥
हनुमंत अंगद नील नल अतिबल लरत रन बाँकुरे ।
मर्दहिं दसानन कोटि कोटिन्ह कपट भू भट अंकुरे ॥

अर्थ—जो प्रभुका प्रताप जानते थे वे निडर (वहीं बने) रहे । वानरोंने शत्रु (माया-रावण-रूपों) को सच्चा ही मान लिया । समस्त वानर-भालु विचलित हो चल दिये और भयसे विकल सभी पुकारते हैं कि 'हे कृपालु ! रक्षा कीजिये । अत्यन्त बली रणबाँकुरे हनुमान्जी, अङ्गदजी, नील और नल कपटरूपी भूमिसे अंकुरके समान उपजे हुए करोड़ों-करोड़ों भट रावणोंसे लड़ते और उनको मर्दन करते हैं । फिर भी और भी माया-रावण निकलते ही आते थे ।

नोट—१ प्रथम कह आये हैं कि 'भागे भालु बिकट भट कीसा' इससे संदेह होता है कि सभी भागे । उसके निवारणार्थ कहते हैं कि सब नहीं भागे, हनुमानादि जो प्रभुका प्रताप जानते हैं वे ही रणभूमिमें स्थिर रहे और सब भाग चले । इसीसे यहाँ फिर वानरोंको कहा ।

२—'कपट भू भट अंकुरे' इति । मायाके रावणोंको अंकुरकी उपमा देनेका भाव कि—(क) बीज भूमिमें पड़नेपर अंकुर शीघ्र निकल आता है, वैसे ही रावणकी मायासे इतने रावण उत्पन्न होते देर न लगी । (ख) अँखुए बहुत कोमल होते हैं, बड़ी जल्दी और बिना परिश्रम वे उखाड़ फेंके जा सकते हैं, जराहीमें वे नष्ट हो सकते हैं; वैसे ही माया-रावण देखनेमात्रके थे, इनमें कुछ अधिक बल न था, इनके मर्दनमें कुछ परिश्रम उनको न हुआ ।

वि० त्रि०—एक रावण तो किसीका मारा मरता ही नहीं, सो हनुमान्, अङ्गद, नील, नल करोड़ों रावणोंका मर्दन कैसे करते थे ? भाव यह कि वे सब सिनिमाके रावण थे, देखने मात्रके लिये थे, वहाँ कुछ था नहीं, अतः ये लोग अपने समझमें उनका मर्दन करते थे; पर वे मायासे उत्पन्न थे, अतः मर्दन करते-ही-करते दूसरेका अंकुर निकल पड़ता था । अर्थात् वहींसे दूसरे रावण पैदा हो जाते थे ।

दोहा—सुर बानर देखे बिकल हँस्यो कोसलाधीस ।
सजि सारंग* एक सर हते सकल दससीस ॥ ९५ ॥

अर्थ—वानर और देवताओंको विकल देख कोसलपति श्रीरामचन्द्रजी हँसे और शार्ङ्गधनुषपर एक बाण सजकर समस्त मायाके रावणोंको मारकर नष्ट कर डाला ॥ ९५ ॥

नोट—'हँस्यो कोसलाधीस' इति !—पृष्ठ ४८७ देखिये । पुनः यह विचारकर हँसे कि (क) ये देवता लोग मेरे

* बिसिखासन—(का०) ।

दुःखको हरण करनेके लिये कपि हुए, किंतु इस समय ये दोनों तन (देवतन और वानरतन) से व्याकुल हैं; क्योंकि सब दुष्ट रावणके फंदेमें पड़े हैं, मेरी सहायता क्या करेंगे ? (मा० म०) । (ख) देवता दिव्य और स्वाभाविक सर्वज्ञ होकर भी मायाको सत्य मानते हैं । (रा० प्र०) । अथवा हँसकर अपनी योगमायाको राक्षसी मायाका विनाश करनेको भेजा । हास्य आपकी माया है ही । (प० प० प्र०) ।

गौड़जी—देवता दो प्रकारके माने जाते हैं, ईश्वरकोटि और जीवकोटि । ईश्वरकोटिमें पञ्चदेव हैं जिनकी उपासना की जाती है । इन्होंने सर्वज्ञता और त्रिकालज्ञताकी शक्तियोंका स्वेच्छासे त्याग किया है । क्योंकि इनके त्रिकालज्ञ और सर्वज्ञ होनेसे सृष्टिकी स्वाभाविक गतिमें भयंकर बाधा उत्पन्न होती है । शेष देवयोनिके सभी प्राणी मनुष्यादि योनियोंके सभी प्राणियोंसे साधारणतया अधिक ज्ञान रखनेवाले होते हैं । उन्होंने सर्वज्ञता और त्रिकालज्ञताका त्याग नहीं किया है वरन् मायावश होकर वे अल्पज्ञ हैं । त्रिकालज्ञता और सर्वज्ञता अपेक्षाकृत अधिक मात्रामें ऋषियोंमें तपोबलसे; योगियोंमें योगबलसे और भक्तोंमें भगवत्कृपासे पायी जाती है । यह देवताओंकी अपेक्षा अधिक हो सकती है। परंतु ईश्वरकोटिकी इच्छित सर्वज्ञता और त्रिकालज्ञतासे बढ़कर नहीं हो सकती । ईश्वरकोटिके देवता भी जब स्थूल शरीर धारण करते हैं तब स्वेच्छासे उस शरीरके अनुकूल अल्पज्ञता भी धारण कर लेते हैं; वे बरबस अपने स्वरूपको भूल जाते हैं और मायाका बन्धन अपने चारों ओर जकड़ लेते हैं । परंतु सूक्ष्म शरीरमें स्थूलकी अपेक्षा स्वभावसे ही उनकी सभी शक्तियाँ बढ़ी होती हैं । अवतारोंमें साधारणतया इसी प्रकार मर्यादाकी रक्षा होती रहती है । प्रस्तुत प्रसङ्गमें सुरोंका घबराना स्वाभाविक है क्योंकि वे स्वभावसे अल्पज्ञ हैं, सर्वज्ञ नहीं ।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—'हते सकल दससीस' इति । माया बाणसे कट गयी, अर्थात् सरकारने वह यन्त्र ही तोड़ दिया, जहाँसे रोशनी निकलकर रणाङ्गणभरमें रावण-ही-रावण दिखलाती थी । सिनेमामें जो माया हमलोग देखते हैं उससे बड़ी माया रावणकी थी । वह चाहा हुआ दृश्य दिनदहाड़े खुले मैदान बिना किसी पर्देके रणाङ्गणमें दिखला देता था ।

प्रभु छन महँ माया सब काटी । जिमि रबि उए जाहिं तम फाटी ॥ १ ॥
रावनु एक देखि सुर हरषे । फिरे सुमन बहु प्रभु पर बरषे ॥ २ ॥

शब्दार्थ—फटना=किसी पदार्थका बीचसे कटकर छिन्न-भिन्न हो जाना । नष्ट होना ।

अर्थ—प्रभुने क्षणभरमें सब माया काट डाली जैसे सूर्योदयसे अन्धकार नष्ट हो जाता है ॥ १ ॥ रावण एक (रह गया यह) देखकर देवता प्रसन्न हुए और लौटकर प्रभुपर बहुत फूल बरसाये ॥ २ ॥

नोट १—'जिमि रबि उए जाहिं तम फाटी' । (क) भाव कि बहुत शीघ्र और बिना परिश्रम मायाका नाश बाणसे कर दिया । सूर्यको परिश्रम नहीं करना पड़ता, उनके उदयमात्रसे ब्रह्माण्डका अन्धकार दूर हो जाता है, यथा—'उदय तासु त्रिभुवन तम भागा । १ । २५६ ।' पुनः सूर्य एक, वैसे ही बाण एक । (ख) यहाँ रामबाण रवि, बाणका चलना रवि-उदय, मायाके अमित रावण तमबरूथ और मायाका कटना तमका फटना है । यथा—'रामबान रबि उएँ जानकी । तम बरूथ कहँ जातुधान की ॥ ५ । १६ । २ ।'

२ (क) 'सुर हरषे फिरे' इति । जबतक रावण एक ही था तबतक देवता रण देखते रहे । जब बहुत हुए तब भगे थे । अब फिर एक रह गया तब फिरे । (ख) 'सुमन बहु बरसे' से कृतज्ञता, आनन्द और सेवा सूचित की ।

३—यहाँ देवताओंका हर्ष और लौटना पहले कहा तब वानरोंका; कारण कि देवता आकाशमें होनेसे सब देख सकते थे कि माया कट गयी । अतः इन्होंने मायाका नाश प्रथम देखा । वानर पृथ्वीपर इधर-उधर भगे थे, इससे वे न देख सकते थे । रघुनाथजीके लौटानेपर इन्होंने देखा कि मायानिवृत्ति हुई तब ये लौटे ।

भुज उठाइ रघुपति कपि फेरे । फिरे एक एकन्ह तब टेरे ॥ ३ ॥
प्रभु बल पाइ भालु कपि धाए । तरल तमकि संजुग महि आए ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—तरल=चञ्चलतापूर्वक, शीघ्रतासे । तमकि=तड़पकर, क्रोधकर ।

अर्थ—भुजा उठाकर श्रीरघुनाथजीने वानरोंको लौटाया। तब वे एक दूसरेको पुकार-पुकारकर लौटे ॥ ३ ॥ प्रभुका दल पाकर भालु और वानर दौड़े और शीघ्र क्रोध करके रणभूमिमें आये ॥ ४ ॥

नोट—१ (क) 'भुज उठाइ' इति। दूरसे लोगोंको बुलानेको आश्वासन करनेमें एवं अभय देनेमें, भुजा उठाकर संकेत करनेकी रीति है। पुनः 'भुजा उठाना' प्रतिज्ञा भी सूचित करता है, यथा—'**भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी। राम बिमुख त्राता नहिं कोपी**' 'चल न ब्रह्मकुल सन बरिआई। सत्य कहउँ दोउ भुजा उठाई॥ '**निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।**' भाव कि कोई भय नहीं, हम सत्य कहते हैं, तुम लौट आओ, डरो मत, हम तुम्हारी रक्षा करेंगे। (ख) भुजा उठाकर सबको पुकारनेसे गम्भीरतामें दोष आता है। इसीसे हाथ उठाकर पुकारना नहीं कहा। भुजा उठाना आदि संकेत सेनामें किये जाते हैं, उसीसे सेनाको समझाया कि धैर्य धारण करो। (पं०) (ग) भुजा उठानेका भाव कि मैं अपने भुजबलसे रावणको मारूँगा। अथवा, अपनी भुजाका बल उनको दिया। इत्यादि। (मा० म०)।

२ प्रभुने पुकारा नहीं तो वे फिरे कैसे? इसका समाधान दूसरे चरणमें है—'**फिरे एक एकन्ह तब टेरे।**' अर्थात् जो निकट थे उन्होंने आँखों देखा कि माया निवृत्त हो गयी, प्रभुको भुजा उठाये लौटनेका संकेत भी करते देखा, तब उन्होंने पीछेवालोंको पुकारा और उन्होंने अपने पीछेवालोंको इत्यादि। इस तरह सबको सूचना पहुँच गयी।

अस्तुति करत देवतन्हि देखे*। भएउँ एक मैं इन्ह के लेखे॥ ५॥
सठहु सदा तुम्ह मोर मरायल। अस कहि कोपि गगन पर धायल॥ ६॥

शब्दार्थ—मरायल=पिटा हुआ, लतमरुआ। धायल=धावा। ☞'धायल' भोजपुरी बोली है। गुसाईंजीने इस बोलीका प्रयोग बहुत कम किया है। मानसमें केवल यहीं है और विनयमें '**हमहिं दिहल जड़ कुटिल करमचंद मंद मोल बिनु डोला रे**' में है।

अर्थ—देवताओंको स्तुति करते देख (मनमें क्रोधित हुआ कि) इनकी समझमें मैं एक हो गया (भाव कि इनके लिये तो मैं अकेला ही बहुत हूँ तब भी मुझे अकेले देख ये प्रसन्न हो रहे हैं। यह सोच वह उनसे बोला) ॥ ५ ॥ अरे मूर्खो! तुम सदा ही मुझसे पिटते आये। ऐसा कह कोप करके वह आकाशकी ओर दौड़ा ॥ ६ ॥

नोट—१ '**अस्तुति करत देवतन्हि देखे।**' (क)—इनसे जनाया कि फूल बरसानेके साथ देवताओंने स्तुति भी की थी। स्तुति, यथा—'जय जय जय **करुनानिधि छबि बल गुन आगार। ८५।**' '**जय जय प्रभु गुन ग्यान बल धाम हरन महिभार। ८५।**' (पाठान्तर), '**बरषि सुमन दुंदुभी बजावहिं। श्रीरघुनाथ बिमल जसु गावहिं॥ जय अनंत जय जगदाधारा। तुम्ह प्रभु सब देवन्ह निस्तारा॥ अस्तुति करि सुर सिद्ध सिधाए॥ ७६। ३-४।**'

(ख) यहाँ प्रथम स्तुति है जो रावणके सामने देवताओंने की। इसीसे उसे क्रोध हुआ। स्तुति सुनी तब देखा कि देवता स्तुति कर रहे हैं। इसीसे स्तुति करना प्रथम कहा।

२—रणभूमिको छोड़ उनपर जा दौड़नेका भाव कि इन्हीं सबने हमारे मारनेका उपाय रचा, सब उपद्रवके कारण ये ही हैं। मैं तो मरूँगा ही पर इनको इनके सहायकोंके सामने मारकर मैं अपना हौसला तो पूर्ण कर लूँ। पुनः भाव कि वानरदलसे पहले ही संकोचको प्राप्त हुआ था तब माया रची थी, वह भी न चली और अब वानरकटक फिर आ पहुँचा, यह देख देवताओंको मारनेके मिष उनसे अलग हुआ।

हाहाकार करत सुर भागे। खलहु जाहु कहँ मोरे आगे॥ ७॥
देखि बिकल सुर अङ्गद धायो†। कूदि चरन गहि भूमि गिरायो॥ ८॥

अर्थ—हाहाकार करते हुए देव भगे। (वह बोला) अरे दुष्टो! तुम मेरे सम्मुखसे कहाँ जा सकोगे॥ ७॥ देवताओंको व्याकुल देख अङ्गद दौड़े और उछलकर उसका पैर पकड़कर उसे पृथ्वीपर गिरा दिया॥ ८॥

नोट—१ इन्द्र देवराज है। उसे देवताओंकी रक्षा करनी चाहिये। अङ्गद इन्द्रका पौत्र है अतः ये रक्षाके लिये

* करत प्रसंसा सुर तेहि देखे—(का०)। † बिकल देखि सुर अंगद धावा, गिरावा—(का०)।

दौड़े। दूसरे, अङ्गदने रावणसे चलते समय जो कहा था कि 'हतउँ न खेत खेलाइ खेलाई। तोहि अबहिं का करउँ बड़ाई॥' उस प्रतिज्ञाकी पूर्तिका अवसर अबतक न मिला था, यह मिला इसपर वे न चूके, सबसे पहले स्वयं कूद गये।

छन्द—**गहि भूमि पारचो लात मारचो बालिसुत प्रभु पहिं गयो।**
संभारि उठि दसकंठ घोर कठोर रव गर्जत भयो॥
करि दाप चाप चढ़ाइ दस संधानि सर बहु बरषई।
किए सकल भट घायल भयाकुल देखि निज बल हरषई॥

अर्थ—पकड़कर पृथ्वीपर गिराकर लात मारकर अङ्गद प्रभुके पास गये। रावण सँभलकर उठ बड़े भयंकर-कठोर शब्दसे गर्जने लगा। क्रोध करके दस धनुष चढ़ा उनपर बाण संधानकर बहुत बाण बरसाने लगा। सब योद्धाओंको घायल और डरसे व्याकुल कर दिया और अपना बल देखकर प्रसन्न हुआ।

नोट—'**प्रभु पहिं गयउ**' यह अङ्गदजीकी जय हुई। सुरकार्यरूपी सेवा हुई यह आपकी कृपासे यह भी जनाया। 'दसकंठ' शब्द देकर जनाया कि दसों कण्ठोंसे गर्जन किया।

दोहा—**तब रघुपति रावन के सीस भुजा सर चाप।**
काटे बहुत बढ़े पुनि जिमि तीरथ कर पाप॥ ९६॥

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजीने रावणके सिर, बाहु, बाण और धनुष काटे। वे (सिर और बाहु) फिर बहुत बढ़े जैसे तीर्थमें किये हुए पाप बढ़ते हैं॥ ९६॥

नोट—'पुनि' का भाव कि पूर्व भी प्रभुके काटनेपर बढ़े थे अब फिर बढ़े। २—अन्य स्थानोंमें किये हुए पाप तीर्थ-सेवनसे नष्ट हो जाते हैं, पर तीर्थमें आकर किये हुए पाप वज्रलेपके समान अमिट हो जाते हैं। यथा—'**अन्यक्षेत्रे कृतं पापं तीर्थक्षेत्रे विनश्यति। तीर्थक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥**' पाप करनेवालोंकी, तीर्थमें पाप करनेसे, पापमें अधिक प्रवृत्ति बढ़ती है। इन पापोंका विनाश तीर्थसेवनसे नहीं हो सकता। उनका फल अवश्य भोगना पड़ता है।

गौड़जी—गोस्वामीजीने यत्र-तत्र दृष्टान्तोंमें नीतिकी बड़ी महत्त्वकी उक्तियाँ कही हैं। यहाँ भी रावणके सिर कटनेपर बहुतसे सिर बढ़नेकी समता तीर्थके पापसे करते हैं। तीर्थमें किया हुआ पाप बढ़ता ही जाता है। प्रायश्चित्तसे वह मिट नहीं सकता। वाराहपुराणमें मथुरामाहात्म्यके प्रसङ्गमें कहा भी है—'**अन्यत्र हि कृतं पापं तीर्थमासाद्य गच्छति। तीर्थे तु यत्कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥**'

अपने पूर्वकृत पापोंके नाशके लिये ही तीर्थ जानकर मनुष्य तीर्थमें रहता है। परंतु तीर्थमें रहते हुए भी अनेक मूर्ख ऐसे हैं जो समझते हैं कि यहाँ तो जो चाहें करें अन्तमें मुक्त होंगे ही। '**काशीमरणान्मुक्तिः,**' इत्यादि, प्रमाणोंके आधार-पर वह अपनेको यमयातनासे निडर मानकर मनमानी करते हैं। ऐसे लोग तीर्थको धोखा देते हैं, अपनी आत्माको छलते हैं, और तीर्थको पापका साधन बनाते हैं। इन धूर्तोंके लिये काशी आदि तीर्थोंका वास मुक्ति देनेवाला नहीं है। ऐसे लोगोंके सिवा जो जीविकादि सांसारिक सम्बन्धोंसे तीर्थमें आ बसते हैं, किसी तीर्थके विचारसे नहीं वे वस्तुतः सुकर्मसे प्रेरित होकर आते हैं, '**कवनेहुँ जनम अवध बस जोई। रामपरायन फुरि सो होई॥**' और तीर्थके प्रभावसे उनका सुधार हो जाता है। इनमें वे धूर्त्त भी आ जाते हैं जिन्हें यह लाभ तो अवश्य होता है कि अपने वज्रलेप पापोंका फल भोगकर अन्तमें उनका सुधार हो जाता है।* काशीमें मरनेसे मुक्ति तभी और इसीलिये होती है कि भगवान् शंकर तत्त्व-ज्ञानका उपदेश और राममन्त्र देते हैं, परंतु यह सौभाग्य उन्हें ही मिलता है जिनके घोर अपकर्म इस प्राप्तिमें बाधक नहीं होते। तीर्थमें

* इस तरह वज्रलेपका भाव यह भी कहा जाता है कि बहुत कालमें जाकर मिट पाता है। जैसे रावणके शिर बढ़ते जाते थे। उनको काटकर समाप्त करनेमें भगवान्‌को समय लगा; वैसे ही तीर्थको उसके वज्रलेप पापोंके काटनेमें बहुत समय लगेगा तब वे शुद्ध होकर मुक्ति प्राप्त कर सकेंगे।

आकर जो बसे उसे अपने जीवनका सुधार अवश्य ही करना कर्त्तव्य है, क्योंकि तीर्थ करना पापोंका प्रायश्चित्त है और प्रायश्चित्तका यही तात्पर्य है कि—'अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात् कृत्वा कर्म विगर्हितम्। तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् ॥' फिर वही पाप-कर्म न करे। अतः अन्यत्र किया हुआ पाप जब तीर्थमें कटता है तब तीर्थमें किया पाप कहाँ कटेगा? तीर्थकी शक्तिके भरोसे पापमें प्रवृत्त प्राणी साथ ही तीर्थके अपराधका महापाप भी बढ़ाता जाता है। यही तीर्थापराध बढ़ना पापका बढ़ना है। इस प्रसङ्गमें तीर्थके पापके बढ़नेका तात्पर्य यही है। शब्दकल्पद्रुममें पुराणोंके आधारपर २६४ तीर्थ गिनाये हैं और संक्षेपमें माहात्म्य भी दिये हैं। सभी पापनाशक और पुण्यवर्द्धक हैं। पुराणोंमें पापकी भयानकता और पुण्यकी रोचकता दिखानेको, पापसे निवृत्ति और पुण्यमें प्रवृत्ति उपजानेको अनेक कथाएँ दी हैं, जिनसे मूर्खोंको प्रायः उलटी सूझती है और वे तीर्थमें पाप करनेका लैसंस-सा समझने लगते हैं। गोस्वामीजीने इस छोटेसे वाक्यसे तीर्थसेवियों और तीर्थनिवासियोंको खरी चेतावनी दी है। मेरी रायमें '**तीरथ कर पाप**' ही पाठ समीचीन है। *

नं० प०—जहाँसे शीश और भुजा काटे गये थे वहींसे फिर उत्पन्न हो गये, जैसे तीर्थका किया हुआ पाप हजार गुणा तक बढ़ता है। अर्थात् तीर्थके किये हुए पापको पुण्यकर्मसे नष्ट करने लगिये तो वह पुण्य-कर्मसे नष्ट होता जायगा पर वह फिर जितना पहले था उतना ही होता जायगा, हजारगुणा पुण्यकर्म करनेके बाद बिलकुल नष्ट हो जायगा। उसी तरह शिवजीको सिर चढ़ानेके बदलेमें रावणके सिर कटनेपर भी बढ़ते जाते हैं, जब बदला चुकता हो जायगा, तब न बढ़ेंगे।

तीर्थका किया हुआ पाप कहनेका भाव कि अन्यत्र किया हुआ पाप एक बार पुण्यकर्म करनेसे नष्ट हो जाता है, पर तीर्थका पाप बहुत बार पुण्य कर्म करनेपर ही नष्ट होता है। अतः श्रीरघुनाथजीका बाण पुण्यकर्मके समान है और रावणके शीश और भुजातीर्थके किये हुए पापके समान हैं। (☞ नं० प० का पाठ है '**काटे भए बहोरि तेइ**···' और भा०दा० जी का पाठ है '**काटे बहुत बढ़े पुनि**'। पूर्वके दोहा ९१ में भी कटनेपर रावणके सिरोंका अपार होना कहा गया है और उसकी उपमा '**सेवत विषय विबर्ध जिमि नित नित नूतन मार**' यह दी गयी है। दोनोंका मिलान कीजिये)।

नोट—२ का०, पं० और मा० म० का पाठ यह है—'**तब रघुपति लंकेस के सीस भुजा सर चाप। काटे भए बहोरि जिमि कर्ममूढ़के पाप ॥**' इसका भाव मयंककी टीकामें यह लिखा है कि—'जो धर्मके स्थानपर पाप करता है और अपने शारीरिक सुखके लिये पापका संचय करता है उसको कर्ममूढ़ कहते हैं। वा, जो अघरूपी कर्मको करता है और उसी क्षण दुःखमें पड़ता है उसीको कर्ममूढ़ कहते हैं। पंजाबीजी अर्थ करते हैं कि जैसे 'मूढ़ लोगोंके कर्मोंके पाप शीघ्र उत्पन्न होते हैं।' श्री पं० रामवल्लभाशरणजी 'कर्ममूढ़' का भावार्थ यह कहते हैं कि जो कर्मके ज्ञानमें मूढ़ है, भजन धर्म नहीं जानता। जो वेदादिकी फलश्रुतिसे मोहित हो सकाम कर्म करता है, यह नहीं जानता कि इनसे और भी गाढ़ बन्धनमें पड़ता है वह 'कर्ममूढ़' है। †

सिर भुज बाढ़ि देखि रिपु केरी। भालु कपिन्ह रिस भई घनेरी ॥ १ ॥
मरत न मूढ़ कटेहु भुज सीसा। धाए कोपि भालु भट कीसा ॥ २ ॥

अर्थ—शत्रुके सिर और भुजाओंकी बढ़ती देखकर रीछ और वानरोंको रिस हुई ॥१॥ अरे! यह मूर्ख सिर और भुजाओंके कटनेपर भी नहीं मरता। (ऐसा कहते हुए) भालु और वानर योद्धा कोप करके दौड़े ॥२॥

पु० रा० कु०—'**वानरभालुको रिस**' होनेका तात्पर्य कि उनको युद्ध करनेका उत्साह हुआ। शत्रुकी प्रबलता देख भय न हुआ।

बालितनय मारुति नल नीला। बानरराज दुबिद ‡ बलसीला ॥ ३ ॥

* प्रसिद्ध महात्मावर्य्य श्री पं० जानकीशरणजी श्रीअवधवासके सम्बन्धमें यह कहा करते थे कि यदि इस धाममें वास करनेकी नियतसे यहाँ आवे और वास करनेके लिये पेट भरनेके लिये कोई ऐसा कर्म करना पड़े जो उसके लिये निन्दित कहा गया है पर जिससे दूसरेकी हानि न हो तो वह भी करके धामवास करनेवाला अन्य प्राणियोंसे अच्छा ही है; भक्तका भाव ही उसके लिये मुख्य है।

† रा० प्र०—कार लिखते हैं कि 'कर्ममूढ़ वे हैं जो वेदादि रीति निषिद्धचर्यासे करनेवाले हैं, जिनकी निंदा वेदादिमें जो संभूतोंको मानते हैं वे बन्धतममें पड़ते हैं और कर्मकी नौका दृढ़ नहीं है।' ‡ दुबिद कपीर पनस (का०)।

बिटप महीधर करहिं प्रहारा। सोइ गिरि तरु गहि कपिन्ह सो मारा॥४॥

अर्थ—बालिपुत्र, मारुतनन्दन हनुमान्‌जी, नल, नील, वानरराज सुग्रीव और द्विविद ये सब महाबलवान् वृक्ष और पर्वतोंका प्रहार करते हैं। रावणने उन्हीं पर्वतों और वृक्षोंको पकड़कर वानरोंको मारा॥ ३-४॥

नोट—यहाँ भी बालिपुत्रको ही प्रथम रक्खा—९६ (८) देखिये। प्रतिज्ञासमय भी 'बालि' का सम्बन्ध कविने दिया है, यथा—'यह कहि चलेउ बालिनृप जायो'। विशेष दोहा ७४ (६), ८४ (४) में देखिये।

एक नखन्हि रिपु बपुष बिदारी। भागि चलहिं एक लातन्ह मारी॥ ५॥
तब नल नील सिरन्हि चढ़ि गएऊ। नखन्हि लिलार बिदारत भएऊ॥ ६॥

अर्थ—कोई तो शत्रुके शरीरको नखोंसे फाड़कर भाग चलते, और कोई लातोंसे मारकर भाग जाते हैं॥ ५॥ तब नल और नील सिरोंपर चढ़ गये और नखोंसे उसके ललाटको चीरने-फाड़ने लगे॥ ६॥

पं०—ललाट फाड़ते हैं कि इसके फटनेसे वह शीघ्र मरेगा।

पां०—नल-नीलने सुन रखा था कि रावणके ललाटमें रावणकी मृत्यु मनुष्य और वानरोंसे लिखी है। (ये देवताके अंशसे हैं। देवतासे सुना होगा कि रावणने नर-वानरको छोड़ अन्य सबसे अजेयत्व और अमरत्व माँग लिया है। अङ्गदसे रावणने स्वयं कहा है कि 'जरत बिलोकेउँ जबहिं कपाला। बिधि के लिखे अंक निज भाला॥ नर के कर आपन बध बाँची। २९। १-२।' इतनी बात तो सम्भवतः अङ्गदसे भी सुनी हो) उसीके निश्चय करनेके लिये ये सिरपर चढ़े और माथेकी खाल नोचकर देखना चाहते हैं।

मा० म०—भालको विदीर्ण करके उसकी आयुका अंक देखते हैं। वा, देखते हैं कि कितने दिन जियेगा। वा, अशङ्क होकर उसके भालके शुभका अङ्क देखते हैं। वा, उसके कुकर्मका अंक मिटाते हैं।'

रा० प्र०—नल-नीलके विषयमें रावणने कहा था कि 'सिल्पि कर्म जानहिं नल नीला। २३। ५।' अर्थात् वे थवई हैं, वे युद्ध क्या जानें? उसीका उत्तर यहाँ ये दोनों दे रहे हैं, अपना बल-पराक्रम उसको दिखा रहे हैं।

रुधिर देखि बिषाद उर भारी*। तिन्हहि धरन कहँ भुजा पसारी॥ ७॥
गहे न जाहिं करन्हि पर फिरहीं। जनु जुग मधुप कमलबन चरहीं॥ ८॥

अर्थ—खून देख उसके हृदयमें बहुत विषाद हुआ। तब उनको पकड़नेके लिये उसने हाथ फैलाये। वे हाथोंके ऊपर-ऊपर फिरते हैं, पकड़े नहीं मिलते। मानो दो भौंरे कमलवनमें विचर रहे हैं॥ ८॥

नोट—'बिषाद उर भारी' लज्जा और इनका कुछ कर न पानेसे दुःख और क्रोध हुआ। पुनः विषादका कारण यह भी है कि रावणको सम्भ्रान्त देख वानर हर्षनाद करने लगे थे, यथा वाल्मी० ५९। ८१-८२।—'नीललाघवसम्भ्रान्तं दृष्ट्वा रावणमाहवे॥ ८१॥ वानराणां च नादेन संरब्धो रावणस्तदा' अर्थात् नीलके लाघव (फुर्ती) को देखकर और फिर वानरोंके हर्षनादसे भी रावण घबड़ा गया।

पं०—यहाँ रावणका महान् बल दिखाया कि उसे युद्धमें यह भी न मालूम हुआ कि उसके सिरपर कोई चढ़कर मस्तक विदीर्ण कर रहा है, रुधिर देखा तब जाना।

नोट—'गहे न जाहिं०' से नल-नीलका लाघव (फुर्तीलापन) दिखाया। इस लाघवको देख रावण भी विस्मित और सम्भ्रान्त हो गया। यथा—'पावकात्मजमालोक्य ध्वजाग्रे समवस्थितम्। जज्वाल रावणः क्रोधात्ततो नीलो ननाद च॥ वाल्मी० ५९। ७८॥ ध्वजाग्रे धनुषश्चाग्रे किरीटाग्रे च तं हरिम्॥ ७९॥ रावणोऽपि महातेजाः कपिलाघवविस्मितः॥ ८०॥ सम्भ्रमाविष्टहृदयो न किंचित्प्रत्यपद्यत॥ ८२॥' अर्थात् अग्निपुत्रको अपनी ध्वजाके अग्रभागपर स्थित देख रावण क्रोधसे जल उठा और नीलने भी बड़ा नाद किया। कभी ध्वजाके अग्रभागपर, कभी धनुषपर, कभी

* पाठान्तर—'रुधिर बिलोकि सकोप सुरारी'।

मुकुटोंके आगे उसको देखकर महातेजस्वी रावण उनके लाघवसे ऐसा विस्मित एवं सम्भ्रान्त हो गया कि कुछ विचार न कर सका।

कोपि कूदि द्वौ धरेसि बहोरी। महि पटकत भजे भुजा मरोरी॥ ९॥
पुनि सकोप दस धनु कर लीन्हे। सरन्हि मारि घायल कपि कीन्हे॥ १०॥

शब्दार्थ—मरोरना=ऐंठना, एक ओरसे घुमाकर दूसरी ओर फेरना।

अर्थ—फिर उसने कूदकर दोनोंको पकड़ लिया; पर ज्यों ही वह उन्हें पृथ्वीपर पटकनेको हुआ त्यों ही वे उसकी भुजाओंको मरोड़कर भागे॥ ९॥ फिर उसने कोप करके दस धनुष हाथमें लिये और वानरोंको बाणोंसे मारकर घायल कर डाला॥ १०॥

नोट—१ यह नलनीलकी जय हुई। रावणने पटका तब भी उन्होंने उसकी भुजाओंको मरोड़ डाला। २—'दस धनु कर लीन्हें'। यह तीसरी बार बीसों भुजाओंसे रावणने बाणोंका प्रहार किया है।

हनुमदादि मुरुछित करि बंदर। पाइ प्रदोष हरष दसकंधर॥ ११॥
मुरुछित देखि सकल कपि बीरा। जामवंत धाएउ रनधीरा॥ १२॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी आदि सब वानरोंको मूर्च्छित करके संध्याका समय प्राप्त होनेसे रावण हर्षित हुआ॥ ११॥ समस्त वीर वानरोंको मूर्च्छित देख रणधीर जाम्बवंत दौड़े॥ १२॥

नोट—☞ 'अङ्गदादि' और 'हनुमदादि' से उन्हींके समान अति बलवान् योद्धा ही अभिप्रेत हैं—'···अंगदादि कपि साथ। ५१।' तथा 'हनुमदादि अंगद सब धाए'। ८४। ४।' देखिये इनमें सुग्रीव, लक्ष्मण और जाम्बवन्त नहीं हैं, जब इनको कहना होता है तब इनके नाम देते हैं।—

१ 'मारुतसुत अंगद नल नीला। कीन्हेसि बिकल सकल बलसीला॥ ७२। ८॥' पुनि लछिमन सुग्रीव बिभीषन। सरन्हि मारि कीन्हेसि जर्जर तन॥ ७२। ९॥, 'जामवंत कह खल रहु ठाढ़ा। सुनि करि ताहि क्रोध अति बाढ़ा॥ ७३। ४॥'

२ 'सुनि रघुपति अतिसय सुख माना। बोले अंगदादि कपि नाना॥ ७४। ६॥' 'लछिमन संग जाहु सब भाई। करहु बिधंस जग्य कर जाई॥ ७॥'···'जामवंत सुग्रीव बिभीषन॥ सेन समेत रहेहु तीनिउ जन॥ १०॥'

३ 'अंगदादि कपि मुरुछित करि समेत सुग्रीव॥ ६४॥'

तथा यहाँ—'हनुमदादि मुरुछित करि बंदर।···'जामवंत धाएहु बलसीला॥'

सुग्रीव; विभीषण और जाम्बवान् ये तीनों राजा हैं और मन्त्री भी; इससे ये सब रघुनाथजीके प्रायः साथ ही रहते हैं।

☞ जहाँ 'कपिदल', 'कपिवीर', 'सुभट' 'वानर सकल', आदि पद आते हैं वहाँ केवल सेनासे तात्पर्य रहता है; अङ्गद हनुमदादिसे नहीं, जबतक कि इनके नाम स्पष्ट न दिये गये हों। यथा—

१ 'सो कपि भालु न रन महँ देखा। कीन्हेसि जेहि न प्रान अवसेषा॥ ४९। ८॥ दस दस सर सब मारेसि परे भूमि कपि बीर।···४९। देखि पवनसुत कटक बिहाला। क्रोधवंत जनु धाएउ काला॥ ५०। १॥'

२ 'देखि निबिड़ तम दसहु दिसि कपिदल भयउ खँभार। एकहि एक न देखई जहँ तहँ करहिं पुकार॥ ४५॥ सकल मरमु रघुनायक जाना। लिये बोलि अंगद हनुमाना। समाचार सब कहि समुझाए। सुनत कोपि कपिकुंजर धाए॥ ४६। १-२॥'

३ 'ब्याकुल किये भालु कपि परिघ त्रिसूलन्हि मारि। ४१।···'कोउ कह कहँ अंगद हनुमंता। कहँ नल नील द्विबिद बलवंता॥ ४२। ३॥'

४ 'रनमत्त रावन सकल सुभट प्रचंड भुजबल दलमले। तब रघुबीर पचारे धाये कीस प्रचंड॥ ९४॥

५ चले बिचलि मर्कट भालु सकल कृपाल पाहि भयातुरे। हनुमंत अंगद नील नल अति बल लरत तन बाँकुरे॥ ९५ छन्द॥'

नोट—१ (क) जो किंचित् हर्ष युद्धके प्रारम्भमें था—'राम बचन सुनि बिहँसा ॥ ८९ ॥'—वह बीचमें न रह गया था। जब अन्तमें 'किये सकल भट घायल भयाकुल' तब उसका हर्ष लिखा गया, यथा—'देखि निजबल हरषई ॥ ९६ छन्द ॥' प्रथम अपना बल देख हर्ष हुआ फिर प्रदोषकाल पाकर हर्ष हुआ कि अब तो स्वाभाविक ही और भी अधिक बल बढ़ेगा। विशेष 'जातु धान प्रदोष बल पाई ॥ ४५। ४ ॥' में देखिए।

☞ पुनः (ख)—नलनीलके कारण विषाद हुआ था अब सबको मूर्च्छित करनेपर पुनः हर्ष हुआ। पुनः (ग) सन्ध्यासमय हो जानेसे आजकी लड़ाई समाप्त हुई, रात विश्राम करनेको मिलेगी। यथा—'संध्या भई फिरी द्वौ बाहनी ॥ ५४। ४ ॥', 'दिन के अंत फिरीं द्वौ अनी। समर भई सुभटन्ह श्रम घनी ॥ ७१। १ ॥' इससे यह विचारकर हर्ष हुआ कि एक बार फिर अपना जोर और लगा लूँ। दोहा ४५ (४) पृष्ठ २६० भी देखिये।

संग भालु भूधर तरु धारी। मारन लगे पचारि पचारी ॥ १३ ॥
भएउ क्रुद्ध रावनु बलवाना। गहि पद महि पटकै भट नाना ॥ १४ ॥
देखि भालुपति निज दल घाता। कोपि माँझ उर मारेसि लाता ॥ १५ ॥

अर्थ—जाम्बवंतके साथके पर्वत और वृक्ष धारण किये हुए रीछ उसे ललकारकर मारने लगे ॥ १३ ॥ बलवान् रावण क्रोधित हुआ और पैर पकड़कर अनेक योद्धाओंको पटकने लगा ॥ १४ ॥ ऋक्षराजने अपनी सेनाको घायल देख कोप करके उसकी छातीमें लात मारी ॥ १५ ॥

नोट—यहाँ 'घाता' पद दिया और आगे कहा है कि 'मुरुछा बिगत भालु कपि सब आए प्रभु पास। ९७।' इससे 'घात' का यहाँ संहार या नाश अर्थ नहीं है, वरन् 'घायल' और 'अचेत' अर्थ है।

यहाँ केवल रीछोंकी सेनाका युद्ध कहा।

छं०—उर लात घात प्रचंड लागत बिकल रथ ते महि परा।
गहे भालु बीसहु कर मनहुँ कमलन्हि बसे निसि मधुकरा ॥
मुरुछित बिलोकि बहोरि पद हति भालुपति प्रभु पहिं गयो।
निसि जानि स्यंदन घालि तेहि तब सूत जतनु करत भयो ॥

अर्थ—छातीमें लातकी बड़ी गहरी चोट लगते ही वह व्याकुल होकर रथसे पृथ्वीपर गिर पड़ा। बीसों हाथोंमें रीछोंको पकड़े हुए वह ऐसा मालूम होता था मानो रात्रिमें भौंरे कमलोंमें बस रहे हैं। मूर्च्छित देखकर फिर लात मारकर जाम्बवान् प्रभुके पास गये। रात्रि जानकर सारथी उसे रथमें डालकर होशमें लानेका उपाय करने लगा।

नोट—१ 'मनहुँ कमलन्हि बसे निसि मधुकरा' इति। भ्रमर रात्रिमें कमलके भीतर बंद हो जाते हैं, कमल रातमें सम्पुटित हो जाता है। यहाँ रावणके हाथ कमल हैं, मुट्ठीका बँधना कमलका संकुचित होना है, काले रीछ काले भ्रमर हैं, मुट्ठीके भीतर रीछ मानो सम्पुटित कमलके भीतर भौंरे हैं। रात्रिका समय है ही।

२—'मुरुछित बिलोकि बहोरि पद हति' इति। मूर्च्छित होनेपर मारना यह युद्धनीतिके विरुद्ध है। जाम्बवन्तने यह अनीति क्यों की? यह शङ्का पंजाबीजीने करके उसका समाधान यों किया है कि 'अपने कटकको अत्यन्त व्याकुल देख क्रोधावेशमें उन्होंने ऐसा किया। अथवा, विचारा कि थोड़ी मूर्च्छा है फिर उठकर न हमारे पीछे पड़े और रात्रि हो रही है इसका बल भी बढ़ जायगा। अतएव उसको अधिक मूर्च्छित करनेके लिये लात मारी।' बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि मूर्च्छा होनेपर भी यह निश्चय करनेके लिये मारा कि सत्य ही मूर्च्छित है या माया कर रहा है। इसका समाधान यह भी हो सकता है कि वह व्याकुल होकर रथसे गिर पड़ा है; पर अभी होश है इसीसे रीछोंको मुट्ठीमें दवाये है, छोड़ता नहीं है, उनको छुड़ानेके लिये फिर लात मारी और वे छूट गये, यह बात दोहेसे ध्वनित होती है।

मा० म० और बं० पा० कहते हैं कि रावण अनीति करता था अतः इनने भी अनीति की। अधर्मीके साथ अधर्म करना अधर्म नहीं है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'शत्रुका सिर कट गया, लड़ाई समाप्त हो गयी। उसपर भी यदि वह जीता है; तब तो अब युद्धकी बात न रह गयी, अब तो उसे मारना है, चाहे जैसे वह मरे। तभी तो 'बालितनय मारुति नल नीला। बानर-राज दुबिद बलसीला॥ बिटप महीधर करहिं प्रहारा।' उस एकके मारनेके लिये इतने सुभट सिमिट गये। उसी भावसे प्रेरित होकर यहाँ जाम्बवन्तजी मूर्च्छित होनेपर भी लातसे मारते हैं, पर 'बर प्रसाद सो मरै न मारा।'

मा० म०—सारथी लङ्कामें इस भयसे ले गया कि यहाँ यत्न हो नहीं सकता, और वानर आकर घेर न लें। अथवा, यदि यह मर गया तो वानर इसके मृतक शरीरको बहुत दुःख देंगे।

नोट—३ वाल्मीकीयमें उठा ले जानेका कारण विस्तारपूर्वक सारथीने रावणसे कहा है। वही सब कारण यहाँ समझना चाहिये। सारथीको श्रीरामजीकी उदारताका पर्याप्त प्रमाण मेघनाद, कुम्भकर्णादिके संग्राममें मिल चुका है कि वे मूर्च्छितको अपने यहाँ नहीं ले जाते यद्यपि मेघनाद, कुम्भकर्ण और रावण तीनोंने इसके विपरीत किया है। मेघनाद और रावणने लक्ष्मणजीको उठा ले जाना चाहा था, पर वे उठ ही न सके और कुम्भकर्ण तो सुग्रीवको मूर्च्छित देख उठाकर ले ही गया था। इधरसे तो मेघनाद और कुम्भकर्ण रावणके निकट ही पहुँचा दिये गये।

☞ वाल्मी० में जाम्बवान्‌द्वारा मूर्च्छित किये जानेकी चर्चा नहीं है वहाँ रामबाणोंसे अत्यन्त मूर्च्छित होनेपर सारथी ले गया है।

दो०—मुरुछा बिगत * भालु कपि सब आए प्रभु पास।
निसिचर सकल † रावनहि घेरि रहे अति त्रास॥९७॥

अर्थ—मूर्च्छारहित होनेपर सब रीछ और बन्दर प्रभुके पास आये। (उधर) सब निशाचर अत्यन्त भयसे रावणको घेरे खड़े हैं॥९७॥

नोट—'घेरि रहे अति त्रास' इति। 'अति त्रास' इससे कि सारथीने बहुत उपाय होशमें लानेके लिये किये; पर मूर्च्छा बहुत गहरी है, चेतनता नहीं आती है, कहीं यह मर न जाय। पंजाबीजीका मत है कि मूर्च्छा देख शोकातुर हैं, इससे पास बैठे उपाय करते हैं और 'अति त्रास' यह है कि कहीं उसे अत्यन्त मूर्च्छित सुन उठा ले जानेके लिये श्रीरामचन्द्रजी वानरोंको न भेज दें जैसे यज्ञ-विध्वंसके लिये भेजे थे। रा० प्र० कार कहते हैं कि 'अति त्रास' यह है कि वानर कहीं छापा न मारें। पर मेरी समझमें तो राक्षस छल-कपटका व्यवहार करते हैं इससे उनको दूसरोंसे भी वैसा ही भय हो सकता है। नहीं तो राक्षस बराबर देखते आ रहे हैं कि वानरोंने कभी अबतक रात्रिमें चढ़ायी नहीं की और न कभी किसी निशिचर योद्धाके मरनेपर या मूर्च्छित होनेपर उसको वे उठा ले गये। वे वीर हैं, ऐसे कार्य करनेमें अपनी लघुता समझते हैं।

तेही निसि सीता पहिं जाई। त्रिजटा कहि सब कथा सुनाई॥१॥
सिर भुज बाढ़ि सुनत रिपु केरी। सीता उर भइ त्रास घनेरी॥२॥

अर्थ—इसी रात त्रिजटाजीने श्रीसीताजीके पास जाकर सब हाल कह सुनाया॥१॥ शत्रुके सिरों और भुजाओंकी बढ़ती सुनकर श्रीसीताजीके मनमें बड़ी चिन्ता और डर हुआ॥२॥

नोट—'तेही निसि' अर्थात् जिस रातमें मूर्च्छित रावणको सारथी लङ्कामें ले जाकर सावधान करनेका उपाय कर रहा था, उसी रातको।

पं०—'तेही' से यह भी सिद्ध होता है कि जिस रातको हनुमान्‌जी अशोकवनमें आये थे उसी रातको उसका यहाँ आना हुआ था, बीचमें रातमें न आती थी, रातमें पहरा अधिक रहता था। पर आज राजाकी मूर्च्छा सुन सब व्याकुल और असावधान हैं, इससे आज इस समय वृत्तान्त सुनानेका अवसर मिला।

मुख मलीन उपजी मन चिंता। त्रिजटा सन बोली तब सीता॥३॥
होइहि कहा कहसि किन माता। केहि बिधि मरिहि बिस्वदुखदाता॥४॥

* मैं मुरुछा तब। † सकल निसाचर—(का०)।

अर्थ—मुख उदास हो गया, मनमें चिन्ता पैदा हो गयी। तब श्रीसीताजी त्रिजटासे बोलीं—॥ ३ ॥ हे माता! क्यों नहीं बताती हो कि क्या होगा? संसारभरको दुःख देनेवाला रावण किस प्रकार मरेगा? ॥ ४ ॥

नोट—१ अनिष्टकी प्राप्तिसे उदास हुईं और इष्टकी प्राप्ति न देख चिन्ता हुई कि न जाने क्या होना है? कैसे शत्रु मरेगा? यही आगे वे स्वयं कहती हैं। मिलान कीजिये—'**सोच हृदय बिधि का होनिहारा। सब सुख सुकृत सिरान हमारा॥ २। ७०॥**' २—'बिस्वदुखदाता' का भाव कि एक-दोको ही दुःख देनेसे सब पुण्य क्षीण हो जाते हैं और वंशभरका नाश हो जाता है, यथा—'**बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हे।**' और यह तो सुर, नर, मुनि, गौ, विप्रादि सबको ही दुःख देता रहा है तब इसकी मृत्यु नहीं होती तो और किस प्रकार होगी?

रघुपति सर सिर कटेहु न मरई। बिधि बिपरीत चरित सब करई॥ ५॥
मोर अभाग जिआवत ओही। जेहि हौं हरिपदकमल बिछोही॥ ६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीके बाणोंसे सिर कटनेपर भी नहीं मरता। (जान पड़ता है कि) विधाता हमपर प्रतिकूल है, वही यह सब विपरीत (वा, विधि सब उलटे ही) चरित करता है॥ ५॥ मेरा दुर्भाग्य ही उसको जिला रहा है, जिसके कारण मैं हरिपदकमलसे बिछुड़ी हुई हूँ॥ ६॥

नोट—१ '**रघुपति सर सिर कटेहु न मरई**' का भाव कि रघुपतिके बाण अमोघ हैं, यथा—'**जिमि अमोघ रघुपति के बाना। ५। १। ८।**' पर वे भी निष्फल हो रहे हैं।—विशेष '**मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा। १०१। २।**' में देखिये। २—'**केहि बिधि मरिहि बिस्वदुखदाता**', जब इस प्रश्नपर भी त्रिजटाने उत्तर न दिया तब वे आश्चर्य और चिन्ता प्रकट करके स्वयं इस अनिष्टका समाधान करती हैं कि—'रघुनाथजीका बाण तो अमोघ है उससे भी नहीं मरता। सिर कटनेपर तो सभी मरते हैं पर यह सिर कटनेपर, और वह भी रघुपतिके बाणसे नहीं मरता, यह आश्चर्यकी बात है। यह अनहोनी बात फिर क्यों हो रही है? क्या कारण है?' तब स्वयं समाधान करती हैं कि विधाता प्रतिकूल हैं, इसीसे ऐसा हो रहा है, यथा—'बिधि बिपरीत भलाई नाहीं'। फिर सोचती हैं कि विधाताका क्या दोष, वह तो कर्मके फलका देनेवाला है, यथा—'कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥ २। २८२। ४॥' अतः यह हमारे ही कर्मोंका फल देनेवाला है। हमारा दुर्भाग्य उदय हुआ है, इसीसे हमारा हरिपदकमलसे बिछोह हुआ और इसीसे रावण मरने नहीं पाता।

३—'जेहि हौं०' का भाव कि यदि रावण मर जाय तो मेरा वियोग छूट जायगा, इसीसे मेरा दुर्भाग्य उसे मरने नहीं देता। 'हरिपदकमल' का भाव कि ये पदकमल दुःखके हरनेवाले हैं; उनसे अलग होनेसे दुःख कैसे दूर हो सकता है? बिछोह होनेसे अपनेको अभिमानी मानती हैं।

जेहि कृत कपट कनकमृग झूठा। अजहुँ सो दैव मोहि पर रूठा॥ ७॥
जेहि बिधि मोहि दुख दुसह सहाए। लछिमन कहुँ कटु बचन कहाए॥ ८॥

अर्थ—जिसने मायाका सोनेका हरिण झूठा बनाया था वही दैव (भाग्य) अब भी मुझपर रुष्ट है॥ ७॥ जिस विधाताने मुझे असह्य (न सहे जाने योग्य) दुःख सहाये और लक्ष्मणजीको कड़ुवे वचन कहलाये॥ ८॥

वं० पा०—१ 'कनक मृग झूठा' क्योंकि वह मृग न था, वह तो राक्षस निकला। २—'दुख दुसह सहाए'—यह कि घरसे निकालकर वनवास दिया और फिर यहाँ भी आकर प्राणपतिका वियोग कराया।

नोट—'**कटु बचन**'। ये वे ही वचन हैं जो मारीचके पुकारनेपर लक्ष्मणजीको भेजनेके लिये उन्होंने कहे थे। आ० २८ (५)। उन्हीं वचनोंके कारण लक्ष्मणजी वहाँसे गये और मेरा अपहरण हुआ। इसका शोक अबतक उनके हृदयमें बना है। यथा—'कहत हित अपमान मैं कियो होत हिय सोई सालु। रोष छमि सुधि करत कबहुँ ललित लछिमन लालु॥ गी० ५। ३॥' ☞ माया सीताके मुखसे मायावाले चरितका ही निकलना कैसा सुन्दर है!

रघुपति बिरह सबिष सर भारी। तकि तकि मार बार बहु मारी॥ ९॥

ऐसेहु दुख जो राखु मम प्राना । सोइ बिधि ताहि जिआव न आना ॥१०॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीके विरहरूपी भारी विषैले (विषमें बुझाये हुए, विषयुक्त) बाण ताक-ताककर कामदेवने मुझे बहुत बार मार मारी ॥ ९ ॥ ऐसे भी दुःखमें जो विधाता हमारे प्राण रख रहा है (शरीरसे निकलने नहीं देता) वही उसको जिला रहा है और कोई नहीं ॥ १० ॥

मा० म०—यहाँ 'मार' शब्दका अर्थ कामना है। भाव यह कि रामचन्द्रजीके वियोगसे दर्शनकी कामना जो बार-बार होती है वही विषैले बाण हैं। वह कामना मनको विह्वल कर मारती है।

नोट—१ 'तकि तकि मार बार बहु मारी'। 'बार बहु' यह कि जब-जब रावणने सताया, जब-जब रणमें प्रभुको कष्ट सुना, इत्यादि। २—'ऐसेहु दुख जो राखु०'। भाव कि ऐसे दुःखमें प्राण निकल जाने चाहिये।

बहु बिधि कर बिलाप जानकी। करि करि सुरति कृपानिधान की ॥११॥
कह त्रिजटा सुनु राजकुमारी। उर सर लागत* मरै सुरारी ॥१२॥
प्रभु† ताते उर हतै न तेही। एहि के हृदय बसति बैदेही ॥१३॥

अर्थ—दयासागर श्रीरघुनाथजीका बारम्बार स्मरण करके श्रीजानकीजी बहुत प्रकारका विलाप कर रही हैं ॥ ११ ॥ त्रिजटा बोली—हे राजकुमारी ! सुनिये। देवशत्रु रावण हृदयमें बाण लगते ही मरेगा ॥ १२ ॥ प्रभु उसके हृदयमें बाण इससे नहीं मारते कि इसके हृदयमें वैदेही बस रही हैं ॥ १३ ॥

प० प० प्र०—'बहु बिधि कर बिलाप जानकी' में १५ मात्राएँ हैं। 'करति' लिखनेसे मात्राएँ पूर्ण हो जातीं पर ऐसा न करके 'कर' पाठ रखनेमें भाव यह दरसाया है कि 'श्रीजानकीजीका विलाप वर्णन करनेमें कविकी मति कुण्ठित हो जाती है। विलाप सुनकर त्रिजटादि भी व्याकुल हो गयीं'। उत्तरार्धमें मात्राएँ पूर्ण रखकर जनाया कि बराबर कृपानिधानका स्मरण करनेसे अधीरता न रह गयी। ☞ इससे यह भी जनाया कि भगवान्‌का स्मरण बारम्बार करनेसे विलापका कारण ही नष्ट हो जाता है।

नोट—१ 'करि करि सुरति कृपानिधान की'। (क) 'सुरति' अर्थात् मिलनि, बोलनि, हँसनि, प्रीति इत्यादि समझकर (वं० पा०)। यथा—**'रामबिलोकनि बोलनि चलनी। सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी ॥ उ० १९। ४॥'** (अङ्गदकी दशा)। (ख) 'कृपानिधान' का भाव कि वे सबपर कृपालु हैं, हमपर भी दया करें (पं०)। यथा—**'आरज सुवन के तो दया दुवनहुँ पर मोहिं सोच मोतें सब बिधि नसानि। आपनी भलाई भलो कियो नाथ सब ही को, मेरे ही दिन सब बिसरी बानि ॥ गी० ५। ७॥'** कृपाओंका स्मरण करती हैं जैसे कि जयन्त, शूर्पणखा आदिसे कृपा करके रक्षा की थी। इत्यादि। (ग) 'राजकुमारी' का भाव कि राजा धीर होते हैं, तुम राजकुमारी हो, तुम अधीर क्यों होती हो, तुम भी धीरज धरो।

नोट—१ श्रीसीताजीने दो प्रश्न किये—**'होइहि कहा'** और **'केहि बिधि मरिहि'**। त्रिजटाने संक्षेपसे दोनोंका उत्तर एक ही चरणमें देकर पहले सावधान किया। श्रीसीताजी बहुत दुखी थीं, इससे प्रथम रावणका मरण कहा जिसमें यह सुनकर कुछ धीरज हो जाय। साथ ही यह भी कह दिया कि हृदयमें बाण लगनेपर मरेगा—यह **'केहि बिधि'** का उत्तर है और वह 'होइहि कहा' का। २ **'प्रभु'** का भाव कि वे समर्थ हैं जब चाहें तभी उसे मार सकते हैं, पर ऐसा नहीं करते, इसमें कुछ कारण है, वह यह है। **'उर सर लागत मरै'**, इसपर यह शङ्का हुई कि तो फिर वहाँ शर कैसे और कब मारेंगे, इसके निवारणार्थ वह कहती है कि 'प्रभु ताते०' इत्यादि।

पं० वि० त्रिपाठीजी—'प्रभु ताते उर···बैदेही' इति। ध्यान देनेकी बात है कि वैदेही रावणपर अति ही रुष्ट हैं, उसकी मृत्यु चाह रही हैं; परंतु वह वैदेहीके ध्यानमें अति दृढ़ है। अतः मारना चाहते हुए भी सरकार उसके हृदयमें बाण नहीं मारते। इससे अधिक उपासनाका महत्त्व क्या दिखलाया जा सकता है। उपास्य इतना रुष्ट है कि उपासकका

* लागे † ताते प्रभु—(का०)।

मरण चाहता है, पर उपासक उपास्यके ध्यानको हृदयसे पकड़े हुए है। अतः उपास्य लाचार है, कुछ कर नहीं सकता। ईश्वर भी उसके मारनेके लिये उसके ध्यान भङ्ग करनेका उपाय करते हैं। ध्यान अक्षुण्ण रहनेपर उनकी भी एक नहीं चलती। भक्तिवश्य भगवान्‌की जय !!!

छं०—एहि के हृदय बस जानकी जानकी उर मम बास है।
मम उदर भुअन अनेक लागत बान सब कर नास है॥
सुनि बचन हरष बिषाद मन अति देखि पुनि त्रिजटा कहा।
अब मरिहि रिपु एहि बिधि सुनहि सुंदरि तजहि संसय महा॥

अर्थ—इसके हृदयमें जानकीजीका निवास है, जानकीजीके हृदयमें मेरा निवास है और मेरे उदरमें अनेक भुवन हैं। (अतः रावणके हृदयमें) बाण लगते ही सब (भुवनोंका) नाश हो जायगा। ये वचन सुनकर श्रीसीताजीके मनमें अत्यन्त हर्ष और खेद हुआ देखकर त्रिजटा फिर बोली कि हे सुन्दरी! सुनिये और महासंदेह छोड़िये, शत्रु अब इस प्रकार मरेगा—

नोट—१ रावणके हृदयमें जानकीजी, जानकीजीके हृदयमें रामजी और रामजीके हृदयमें अगणित लोक। इस तरह रावणके हृदयमें (सीताजीके होनेसे) वे समस्त लोक हुए, यह 'एकावली अलंकार' है।

२—'सुनि बचन हरष बिषाद मन अति'। 'जानकी उर मम बास है' यह सुन 'अति हर्ष' हुआ। ऐसे ही हनुमान्‌जीसे 'तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥ सो मन रहत सदा तोहि पाहीं। जानु प्रीतिरस एतनेहि माहीं॥', यह प्रभुका संदेश सुनते ही 'मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही' यह दशा हो गयी थी। और, विषाद इससे कि जब बाण हृदयमें मारेंगे नहीं तब वह मरेगा कैसे? अति हर्ष और अति विषाद साथ-ही-साथ होनेसे यहाँ 'तन सुधि' का विस्मरण नहीं हुआ।

३ 'पुनि त्रिजटा कहा' से जनाया कि 'सब कर नास है' इतना कहकर वह चुप हो गयी थी। अब 'अति विषाद' देख फिर बोली। 'संसय महा'-संशय रावणवध न होनेका, क्योंकि 'अति विषाद' इसीसे हुआ था।

☞ इस भावका समानार्थक श्लोक यह है—

'यो रामो न जघान वक्षसि रणे तं रावणं सायकैः स श्रेयो विदधातु वस्त्रिभुवनव्यापारचिन्तापरः॥ हृद्यस्य प्रतिवासरं वसति सा तस्यास्त्वहं राघवो मय्यास्ते भुवनावली विलसिता द्वीपैः समं सप्तभिः॥ हनु० १४। २६॥ अर्थात् जो रामचन्द्रजी उस रावणके हृदयमें बाण इससे नहीं मारते, कि इसके हृदयमें प्रतिदिन वह जानकीजी निवास करती हैं और उनके हृदयमें मैं वास करता हूँ एवं मेरे हृदयमें सप्तद्वीपोंसहित ब्रह्माण्डसमूह विलास करते हैं,—वे त्रैलोक्य-व्यापारकी चिन्तामें तत्पर रघुनाथजी तुम्हारा कल्याण करें।

दोहा—काटत सिर होइहि बिकल छुटि जाइहि तव ध्यान।
तब रावनहि हृदय महुँ मरिहहिं रामु सुजान॥९८॥

अर्थ—सिरोंके काटनेसे वह व्याकुल हो जायगा, (हृदयसे) तुम्हारा ध्यान छूट जायगा, तब सुजान श्रीरामजी रावणके हृदयमें बाण मारेंगे॥ ९८॥

नोट—'सुजान', यथा—'जान सिरोमनि कोसलराऊ'। वे जानते हैं कि किस अवसरमें क्या करना चाहिये। शीघ्रता करनेसे कार्य बिगड़ जायगा। स्वार्थ भी उनके समान कोई नहीं जानता। पुनः, 'सुजान' से जनाया कि उन्हें बतानेकी जरूरत नहीं है कि हृदयमें बाण मारें। वे स्वयं सर्वज्ञ हैं, केवल देख रहे हैं कि कब ध्यान छूटे।

अस कहि बहुत भाँति समुझाई। पुनि त्रिजटा निज भवन सिधाई॥ १॥
राम सुभाउ सुमिरि बैदेही। उपजी बिरह बिथा अति तेही॥ २॥

अर्थ—ऐसा कहकर बहुत तरह समझाकर फिर त्रिजटा अपने घर चली गयी ॥ १ ॥ श्रीरामचन्द्रजीका स्वभाव याद कर वैदेहीजीको विरहकी अत्यन्त पीड़ा उत्पन्न हुई ॥ २ ॥

शीला—त्रिजटाके प्रथम वचनसे यह तो निश्चय हो गया कि रावणका मरण इससे नहीं होता कि उसका ध्यान नहीं छूटता। और ध्यान छूटनेका फिर उससे उपाय भी निश्चय हुआ। पर यह समझकर दुःख हो रहा है कि श्रीरामजीको तो बाण चलाने और सिर काटने भरका ही अख्तियार है, ध्यान छूटे वा न छूटे, या न जाने कबतक न छूटे। इस संदेहके निवारणार्थ 'बहुत भाँति' समझाया।

नोट—१ 'बहुत भाँति'—यह कि—(१) रघुनाथजी परब्रह्म परमात्मा हैं; वे क्षणभरमें उसे मार डालें, पर वे ब्रह्मा और शिवजीके वचनोंको सत्य करनेके लिये नर-नाट्य कर रहे हैं जिससे वह यही जाने कि ये ईश्वर नहीं हैं, मनुष्य ही हैं। (२) रावणका मृत्यु-समय अभी नहीं आया है, उस समयतक टाल रहे हैं और साथ-साथ निज-जनकी परीक्षा ले रहे हैं कि देखें किस-किसका हमपर पूर्ण विश्वास है कि ये अवश्य रावणवध करेंगे। (३) शिवजीको सिर चढ़ाये हैं, उसका फल वरदानानुसार उसे भुगता रहे हैं और शिवजीकी उदारता सबको दिखा रहे हैं। (४) १४ वर्षका वनवास है। उसे प्रभु समरमें बिता रहे हैं, जब दिन पूरे होंगे तब तुरंत उसे मारकर, विभीषणको राज्य देकर, तुमको साथ लेकर भरतविरहसे व्याकुल वे पुष्पकपर सवार हो अवध पहुँचेंगे। (५) प्रभुके चरित विधि-हरि-हरको भी अगम हैं। मैं जो कुछ कह रही हूँ वह तुम्हारी कृपासे। (६) श्रीरामजी 'प्रणत कुटुम्बपाल हैं, अतएव विभीषणके भाईको तब मारेंगे जब विभीषणसे कहला लेंगे। जब नर-नाट्यसे प्रभु अपनेमें श्रम दिखावेंगे तब विभीषण कहेंगे और फिर प्रभु उसे तुरंत मारेंगे। इत्यादि।

इस प्रकार रावण-वध प्रभुके ही अधीन जब दिखाया तब उन्हें संतोष हुआ और पूर्व जो वचन कहे थे उनसे मृत्यु रावणाधीन समझ पड़ती थी इससे विषाद बना रहा था।

मा० म०—बहुत भाँति समझाया कि थोड़े धैर्यसे बड़ा काम निकलता है। इसलिये तुम धीरज धरो, जिस हेतु रघुनाथजी वनमें आये हैं, उसे वे अवश्य पूरा करेंगे। अब कल ही वह मारा जायगा।

नोट—'राम सुभाव', 'अति कोमल रघुबीर सुभाऊ। ५। ५७। ५।'

(२) 'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥ जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥ इत्यादि। ५। ४८॥'

(३) 'मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥ मो पर कृपा सनेह बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥ २। २६०। ५-६॥'

(४) 'देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥ अ० २६७। ८॥'

(५) 'सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥ जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥ अ० २१८। ५-६॥'

(६) 'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥ उ० १२४। ४॥'

मा० म०—स्वभाव यह कि मेरे बिना वे मुझसे भी अधिक दुखी होंगे। यथा—'तव दुख दुखी सुकृपानिकेता। ५। १४। ९।', 'जन के दुख रघुनाथ दुखी अति सहज प्रकृति करुनानिधान की। तुव वियोग संभव दारुन दुख···। गी० ५। ११।' (ये दोनों वचन हनुमान्‌जीके हैं जो उन्होंने श्रीजानकीजीसे कहे हैं); इसीसे अधिक व्यथा हुई और उत्कण्ठा लगी है कि कब उनसे फिर मिलकर उनको सुखी करूँगी।

पं०—प्रभुका कृपालु स्वभाव समझकर डरती हैं कि रावणपर कहीं दया न करें। वा, प्रभुका अपने ऊपर प्रेम है, वह स्वभाव स्मरण करती हैं।

निसिहि ससिहि निंदति बहु भाँती। जुग सम भई सिराति* न राती॥ ३॥
करति बिलाप मनहि मन भारी। राम बिरह जानकी दुखारी॥ ४॥

* सिराति—(का० ना० प्र०), 'न राति सिराती'—(गौड़जी)।

अर्थ—रात्रि और चन्द्रमाकी बहुत तरहसे निन्दा कर रही हैं कि (यह) रात युगके समान बड़ी हो गयी, चुकती नहीं ॥ ३ ॥ श्रीजानकीजी रामविरहसे दुःखी होकर मन-ही-मन भारी विलाप करती हैं ॥ ४ ॥

नोट—१ 'निसिहि ससिहि निंदति बहु भाँती' इति । निशि और चन्द्रमा दोनोंकी निन्दा करती हैं । रात्रिकी निन्दा कि काटे नहीं कटती । चन्द्रमाको देखकर विरहिनियोंको अधिक दुःख होता है, यथा—'घटै बढ़ै बिरहिनि दुखदाई । १ । २३८ । १ ।', 'बिष संजुत कर निकर पसारी । जारत बिरहवंत नर नारी ॥ १२ । १० ॥' 'बहु भाँती', यथा—'कोक सोक प्रद पंकज द्रोही । अवगुन बहुत चंद्रमा तोही ॥ १ । २३८ । २ ॥'

२ 'करति बिलाप मनहि मन भारी ।' इति । मनमें विलाप करती हैं; क्योंकि कोई ऐसा अधिकारी है नहीं जिससे दुखड़ा रोवें, जो दुःख कम हो जाय । यथा—'कहेहू ते कछु दुख घटि होई । काहि कहौं यह जान न कोई ॥ ५ । १५ । ५ ॥' त्रिजटा एक अधिकारिणी थी सो भी चली गयी—(प०) ।

जब अति भएउ बिरह उर दाहू । फरकेउ बाम नयन अरु बाहू ॥ ५ ॥
सगुन बिचारि धरी मन धीरा । अब मिलिहहिं कृपाल रघुबीरा ॥ ६ ॥

अर्थ—जब अत्यन्त विरहसे हृदयमें अत्यन्त जलन हुई तब बाएँ नेत्र और बाहु फड़के ॥ ५ ॥ शकुन समझकर मनमें धैर्य धारण किया कि दयालु रघुवीर अब अवश्य मिलेंगे ॥ ६ ॥

रा० प्र०—१ 'अति' से पराकाष्ठाका विरह जनाया, इससे बढ़कर हो नहीं सकता; अतएव अब इसका नाश होकर सुख होगा । २—पूर्व श्रीजानकीजीने रावणकी ओर नेत्र न किये थे वरन् तृणका ओट कर लिया था, अतः नयन फड़के और जो यह प्रतिज्ञा की थी कि 'सो भुज कंठ, कि तव असि घोरा ।···' सो उसी कारण बाहु भी फड़के ।

नोट—वाम अङ्ग फड़कना शकुन है, यथा—'प्रभु पयान जाना बैदेही । फरकि बाम अँग जनु कहि देही ॥ ५ । ३५ । ६ ॥' यह शकुन प्रियका शीघ्र मिलाप जनाता है । यथा—'रामसीय तन सगुन जनाये । फरकहिं मंगल अंग सुहाये ॥ पुलकि सप्रेम परस्पर कहहीं । भरत आगमन सूचक अहहीं ॥···भये बहुत दिन अति अवसेरी । सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी ॥ २ । ७ । ४–६ ॥', इति 'सगुन बिचारि' धैर्य धारण किया कि प्रभु अब अवश्य मिलेंगे ।

वं० पा०—'अब मिलिहहिं कृपाल रघुबीरा' । कृपालु हैं एवं वीर हैं, यह जानकर विश्वास हुआ कि अब रावणको शीघ्र मारकर मिलेंगे । अतः कृपालु और रघुवीर कहा ।

इहाँ अर्द्ध निसि रावनु जागा । निज सारथि सन खीझन लागा ॥ ७ ॥

अर्थ—इधर रावण आधी रातको जागा (होशमें आया) और अपने सारथीपर रुष्ट होने लगा ॥ ७ ॥

नोट—१ (क) 'इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा । ११ । १ ।' देखिये । (ख) 'अर्द्ध निसि···' इति । अर्द्धनिशिमें जागना कहकर जनाया कि रावणको जाम्बवन्तकी लातसे गहरी चोट पहुँची थी । इसीसे सन्ध्यासे लेकर आधी राततक मूर्छा बनी रही । २—'खीझन लागा' । भाव कि वह क्रोधयुक्त लाल नेत्र करके बोला, यथा—'क्रोधसंरक्तनयनो रावणः सूतमब्रवीत्' (वाल्मी० १०४ । १) । पुनः, 'लागा' पदसे सूचित किया कि देरतक क्रोधयुक्त वचन कहे । वाल्मी० १०४ में ८ श्लोकोंमें इसका खीझना वर्णन किया गया है । पुनः, खीझनेका कारण कि मेघनाद-कुम्भकर्णादि रणसे विमुख होकर न फिरे थे और मैं रणविमुख हुआ, जिनके आगे मैंने अभिमानके वचन कहे थे उनको मुँह कैसे दिखाऊँगा ।

सठ रनभूमि छड़ाइसि मोही । धिग धिग अधम मंदमति तोही ॥ ८ ॥
तेहि पद गहि बहु बिधि समुझावा । भोरु भए रथ चढ़ि पुनि धावा ॥ ९ ॥

अर्थ—अरे शठ ! तूने मुझे रणभूमिसे अलग कर दिया । अरे अधर्मी और नीच ! तुझे धिक्कार है । अरे मन्दबुद्धि ! तुझे धिक्कार है ॥ ८ ॥ सारथीने पैर पकड़कर बहुत प्रकारसे समझाया* । सबेरा होनेपर उसने पुनः रथपर चढ़कर धावा किया ॥ ९ ॥

---

* भा० १० । ७६ । २८–३३ में ऐसा ही प्रद्युम्नजीने अपने सारथीसे कहा है—'लब्धसंज्ञो मुहूर्त्तेन कार्ष्णिः सारथिमब्रवीत् । अहो असाध्विदं सूत यद्रणान्मेऽपसर्पणम् ॥ २८ ॥ धर्मं विजानतायुष्मन्कृतमेतन्मया विभो । सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेद्रथिनं सारथिं रथी ॥ ३२ ॥

नोट—१ 'सठ रनभूमि छड़ायेसि मोही' इति। भाव कि—(१) रणभूमिमें पीठ देने, वहाँसे भाग जानेसे वीरकी अपकीर्ति होती है जो मरणसे भी अधिक दुःखद है। तूने इस कार्यसे लोकमें चिरकालसे प्राप्त मेरे यश, वीर विक्रमको नष्ट कर दिया और शत्रुके सामने मुझे कायर निश्चित किया। यथा—'त्वयाद्य हि ममानार्य चिरकालमुपार्जितम्। यशोवीर्यं च तेजश्च प्रत्ययश्च विनाशितः॥ शत्रोः प्रख्यातवीर्यस्य रञ्जनीयस्य विक्रमैः पश्यतो युद्धलुब्धोऽहं कृतः कापुरुषस्त्वया।' अर्थात् हे अनार्य! बहुत दिनोंसे इकट्ठा किया हुआ हमारा यश, वीर्य, तेज तथा विश्वास सब तूने नाश कर दिया। क्योंकि विक्रमसे प्रसन्न करने योग्य अति विख्यात वीर, शत्रुके सामनेसे युद्धकी सदा अभिलाषा किये हुए हमको तूने बाहर लाकर कायर बना दिया। (वाल्मी० १०४। ५-६)। वीरका, पीठ न देकर, रणमें सम्मुख मरना ही उसकी शोभा है। यथा—'बिरिद बाँधि बर बीरु कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई॥ अ० १४३। ८॥', 'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'

(२) इन शब्दोंसे रावणका सच्चा वीर होना दिखाया है। वीरके अयोग्य काम किया, अतः 'शठ, अधम और मन्दमति' कहा। अधर्मी, क्योंकि वीरधर्मके विरुद्ध कार्य किया। मन्दमति, क्योंकि यह न समझा कि सम्मुख मरनेसे वीरकी शोभा और सद्गतिकी प्राप्ति होती है और रणविमुख होनेसे अपकीर्ति जो जीते-जी मरण-तुल्य है। यथा गीतायाम्—'अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्। संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ २। ३४॥ भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः। येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ ३५॥ इत्यादि।'

(३) तूने हमें वीर्य, सामर्थ्य और पौरुषरहित, कायर, क्षुद्र, सत्त्व एवं तेजहीन, राक्षसी मायासे हीन अस्त्र-शस्त्रसे अनभिज्ञ पुरुषके समान समझा, इसीसे हमारा रथ रणभूमिसे हटा लाया। यथा—'हीनवीर्यमिवाशक्तं पौरुषेण विवर्जितम्। भीरुं लघुमिवासत्त्वं विहीनमिव तेजसा॥ २॥ विमुक्तमिव मायाभिरस्त्रैरिव बहिष्कृतम्'''त्वया शत्रोः समक्षं मे रथोऽयमपवाहितः॥ ४॥ (वाल्मी० १०४)।'

नोट—२ 'धिग-धिग अधम मंदमति तोही' में 'धिगधिग' और 'अधम' पदसे वाल्मी० १०४ (७) का भाव जना दिया है कि जान पड़ता है कि तूने शत्रुसे कुछ पुरस्कार (रिश्वत) पाया है इसीसे मेरे वचन सुनकर अब भी तू मुझे शत्रुके सम्मुख नहीं ले चलता। यथा—'यस्त्वं रथमिमं मोहान्न चोद्वहसि दुर्मते। सत्योऽयं प्रतितर्कों मे परेण त्वमुपस्कृतः।'

३ 'पद गहि बहु बिधि समुझावा'। (क) चरण पकड़ना दीनतापूर्वक विनय करनेकी एक मुद्रा है; यथा—'गहि पद बिनय कीन्हि बैठारी'—(दशरथजी अ० ३४)। (ख)—वाल्मी० रा० और अन्य ग्रन्थोंमें जिस-जिस विधिसे समझाया है वह सब 'बहु बिधि' पदसे जनाया। भेदके कारण एवं ग्रन्थविस्तारके भयसे उसे न लिखा। वाल्मी० १०४ में सारथीने नीतियुक्त ये वचन कहे—न तो मैं डरा हुआ हूँ, न मूढ़ हूँ, न शत्रुसे कुछ घूस पायी है, न मतवाला हूँ, न आपकी सत्क्रियाओंको भूला हूँ; वरन् आपके यशकी रक्षाके लिये प्रेमसे यह हित किया है। रथ लौटानेका कारण सुनिये—'हमने यह जानकर कि बड़ा भारी रणकर्म करनेके कारण आपको बड़ा श्रम हुआ है इससे यह समय वीर्य दिखानेका नहीं है। दूसरे, घोड़े भी श्रमित हो गये थे। तीसरे, जो-जो कारण दिखायी देते हैं उन सबसे सर्वथा अमङ्गल ही दिखायी देता है। चौथे, सारथीका कर्तव्य है कि रथीका देश, काल, लक्षण वा चेष्टा, दीनता, हर्ष, खेदादि सबपर ध्यान रक्खे; तथा पृथ्वीकी समता-विषमता युद्धके समय और शत्रुके छिद्रको भी देखता रहे। शत्रुके समीप कब रथ ले जाना चाहिये, कब दूर रखना चाहिये, कबतक शत्रुके सामने रखना चाहिये और कबतक शत्रुके पीछे खड़े रहना चाहिये—ये सब बातें सारथीको जानना चाहिये। इन सबका विचारकर आपके स्नेहके कारण मैंने रथ हटाया कि आप सुस्ता लें और

एतद्विदित्वा तु भवान्मयापोवाहितो रणात्। उपसृष्टः परेणेति मूर्च्छितो गदया हतः।' अर्थात् मुहूर्त भरमें सचेत हो प्रद्युम्नजीने अपने रथको रणभूमिमें न देख सारथीसे कहा—अरे सारथी! तू मुझे रणभूमिसे हटाकर यहाँ ले आया, यह अच्छा न किया। मैं मूर्च्छित अवस्थामें तेरे द्वारा यहाँ लाया गया, धिक्कार है ''' सारथीने कहा कि हे आयुष्मन् विभो! सारथीका धर्म है कि वह विपत्तिमें रथीकी रक्षा करे, इसी धर्मानुसार मैंने ऐसा किया। शत्रु (शाल्व) के गदाप्रहारसे पीड़ित होकर आप अचेत हो गये थे, इसीसे युद्धभूमिसे मैं आपको हटा लाया।

घोड़े भी। अब आप जो आज्ञा दें वह मैं करके आपके ऋणसे उद्धार हो जाऊँ। सारथीके वचन सुन रावण प्रसन्न हुआ'— (वाल्मी० १०४। ११-२४)।

वि० त्रि०—अपराध क्षमापनके लिये सारथीने रावणके पैर पकड़ लिये। शान्त होनेपर अनेक प्रकारसे समझाया, यथा—'**मूर्छित प्रभुहिं बिलोकि सो अन्यायी रिक्षेश। कीन्हेसि कठिन प्रहार पुनि करन हेतु निःशेष॥ ये अनीति रत भालु कपि चपल बिगत मर्याद। समर धर्म लंघन करत इनहि न हर्ष बिषाद॥ याते प्रभुहि चढ़ाइ रथ लै आयों मैं लंक। करहिं उचित उपचार सब जामें होइ निशंक॥ रक्षा मूर्छित वीरकी मुख्य सारथी धर्म। लै आयों प्रभु को इहाँ जानि बूझि सब मर्म॥**'

नोट—४ '**भोरु भए रथ चढ़ि पुनि आवा**'। '**पुनि आवा**' से जनाया कि—(क) उसने स्वयं सारथीसे कहा कि चल हमें वहाँ शीघ्र पहुँचा दे जिसमें मेरा भागना न समझा जाय, वानर न आने पायें, मैं वहाँ प्रथम पहुँच जाऊँ। वाल्मी० रा० में कई बार सारथीसे रावणकी यह आज्ञा पायी जाती है, अतः '**चढ़ि आवा**' से वही भाव कविने जना दिया है। यथा—'**रथं शीघ्रमिमं सूत राघवाभिमुखं नय**। वाल्मी० १०४। २५।' '**ततो द्रुतं रावणवाक्यचोदितः प्रचोदयामास हयान्स सारथिः। सराक्षसेन्द्रस्य ततो महारथः क्षणेन रामस्य रणाग्रतोऽभवत्॥ २७॥**' (ख) वह सच्चा वीर है, रणका उत्साह उसे है; इसीसे पुनः आया।—'**युद्धलुब्धोऽब्रवीदिदम्**' (वाल्मी० १०४। २४) अर्थात् युद्धलोभी रावण बोला।

सुनि आगवनु* दसानन केरा। कपिदल खरभर भएउ घनेरा॥ १०॥
जहँ तहँ भूधर बिटप उपारी। धाए कटकटाइ भट भारी॥ ११॥

अर्थ—रावणका आगमन सुनकर कपिदलमें बड़ी खलबली मची॥ १०॥ भारी योद्धा क्रोधसे (दाँत) कटकटाकर पर्वत और वृक्ष उखाड़-उखाड़कर जहाँ-तहाँसे दौड़े॥ ११॥

नोट—'**खरभर भएउ घनेरा**'। (क) यहाँ जो खलबली हुई वह भयके कारण नहीं हुई किंतु यह रणोत्साहसे रणमें पहुँचनेकी उत्सुकताकी खलबली है। सभी आगे पहुँचना चाहते हैं। वा, (ख) सेनामें भयसे खलबली हुई तब भारी-भारी भट दौड़े। इसीसे पहले 'कपिदल' कहा और फिर '**धाए भट भारी**' कहा।

२ (क) '**धाए कटकटाइ**' से इनका उत्साह दिखाया। वीर भारी वीरको पाकर उत्साहित होते हैं। कटकटाना वानर-क्रोधका लक्षण है। यथा—'**कटकटाइ गरजा अरु धावा**। सुं० १९।' विशेष पृष्ठ १८६ देखिये।

छं०—धाए जो मर्कट बिकट भालु कराल कर भूधर धरा।
अति कोपि करहिं प्रहार मारत भजि चले रजनीचरा॥
बिचलाइ दल बलवंत कीसन्ह घेरि पुनि रावन लियो।
चहुँ दिसि चपेटन्हि मारि नखन्हि बिदारि तन ब्याकुल कियो॥

अर्थ—विकट और कराल भालु बंदर जो हाथोंमें पर्वत लिये दौड़े वे अत्यन्त क्रोध करके चोट करते हैं। उनके मारते ही राक्षस भाग चले। बलवान् वानरोंने सेनाको विचलितकर फिर रावणको घेर लिया। चारों ओरसे चपेटे (थप्पड़, तमाचे एवं हाथ-पैरके घिस्से) मार और नखोंसे देहको नोंच-खोंच फाड़कर उसे वानरोंने व्याकुल कर दिया।

नोट—१ (क) विकट और कराल 'मर्कट-भालु' के विशेषण हैं। यथा—'**नाना बरन भालु कपि धारी। बिकटानन बिसाल भयकारी॥ अमित नाम भट कठिन कराला**। सुं० ५४।' (ख) '**अति कोपि करहिं प्रहार**...' अर्थात् प्रहार बड़े क्रोधसे करते हैं जिसमें वे मार सह न सकें और ऐसा ही हुआ भी। सब राक्षससेना भाग गयी, रावण ही रह गया; अतः उसीको घेरा (रा० प्र०)। (ग) '**चहुँ दिसि चपेटन्हि मारि**...' इति। यहाँ अङ्गदके '**याको फल पावहिगो आगे। बानर भालु चपेटन्हि लागे**॥ ३२। ७।', इन वचनोंका चरितार्थ है। यहाँ वानर और भालु दोनों ही हैं।

* आगमन—(का०)।

दो०—देखि महा मर्कट प्रबल रावन कीन्ह बिचार।
अंतरहित होइ निमिष महुँ कृत माया बिस्तार ॥९९॥

अर्थ—वानरोंको महाप्रबल देख रावणने विचार किया और अन्तर्धान होकर पलभरमें मायाका विस्तार किया (फैलायी) ॥ ९९ ॥

नोट—'कीन्ह विचार'। पूर्व एक बार विचार लिख आये हैं, यथा—

"रावन हृदय विचारा भा निसिचर संघार।…॥ ८७ ॥…तब रावन माया बिस्तारी।"

"अंतरधान भएउ छन एका। पुनि प्रगटे खल रूप अनेका ॥ ९५ । १ ।"

इसीसे दूसरी बार ९५ (१) में विचार करना न कहा, केवल अनेक रूप प्रकट करना कहा, वैसे ही अब यहाँ भी न लिखा। अथवा, विचारके साथ ही अन्तर्धान हुआ, इससे विचार न लिखा। अब विचार करता है कि दो बार दो प्रकारकी माया की, वह इन्होंने काट डाली, अब क्या करूँ ? कौन माया रचूँ ?

☞ अबतक रावणने तीन बार माया रची। उनका सारांश—

१—प्रथम बार रावण अकेला था और कपि-भालु बहुत थे। दूसरी बार रावण अकेला था और कपिदल प्रबल वा प्रचंड था। तीसरी बार रावण अकेला था और मर्कट महाप्रबल थे।

२ (क)—जब कपि-भालु बहुत थे तब साधारण माया रची थी, जिसमें निशाचर सेना और बहुत-से रामलक्ष्मण थे, यथा—'देखी कपिन्ह निसाचर अनी। अनुजसहित बहु कोसलधनी ॥ ८८ । ८ ।' (ख) जब कपिदल प्रबल था तब जितने वानर-भालु थे और जहाँ थे वहीं उसने उतने रावण प्रकट किये और, (ग) जब कपि महाप्रबल थे तब उसने भूत-प्रेत, वेताल, योगिनियाँ, जलती हुई अग्नि और जलती रेत इत्यादि प्रचण्ड जन्तु आदि उत्पन्न किये।

३ (क) प्रथम बार मायाके रामलक्ष्मण थे अतः माया भयावनी न थी। तब लक्ष्मणादि सभी माया देख चित्रलिखित सरीखे खड़े देखते रह गये। पर केवल चकित थे, न भगे न चिल्लाये। यथा—'जनु चित्रलिखित समेत लछिमन जहँ सो तहँ चितवहिं खरे', 'निज सेन चकित बिलोकि…। (८८ छंद)।' दूसरी बार अमित रावण, प्रत्येक वानरके साथ कम-से-कम एक थे। इससे वानर व्याकुल हो भगे और 'त्राहि त्राहि' करने लगे यथा—'चले बिचलि मर्कट भालु सकल कृपाल पाहि भयातुरे ॥ ९५ ॥' यह भागना कपिदलका है। हनुमदादि अतिबली वानर नहीं भगे थे, यथा—'हनुमंत अंगद नील अतिबल लरत रनबाँकुरे' (९५ छंद)। और, (ग) तीसरी बारकी मायासे वानर व्याकुल हुए और भागे भी पर भागनेकी राह कहीं न पाकर थकित हो गये। लक्ष्मण, सुग्रीवसमेत सभी वानर अचेत हो गये, कोई वीर न बचा।

४ प्रथम मायामें किसीने न पुकार की, दूसरीमें कपिदलने पुकार की, हनुमदादिने नहीं वरन् ये सहायता करने लगे और तीसरीमें हनुमदादि सुभट भी त्राहि त्राहि करने लगे।

५ प्रथममें 'भालु मर्कट अपडरे', दूसरीमें 'भागे भालु बिकल भट कीसा' और तीसरीमें 'हा राम हा रघुनाथ कहि सुभट मीजहिं हाथ'। भाव कि पहले साधारण वानर-भालुका अपडर कहा, दूसरीमें भट (योद्धा) वानर-भालुका डर कहा और तीसरीमें उत्तम-उत्तम योद्धाओंका।

६ पहली माया एक चौपाई (दो चरण) में कही—'देखी कपिन्ह निसाचर अनी। अनुज सहित बहु कोसलधनी', और दूसरी पाँच चरणोंमें। पहलीसे दूसरीमें और उससे तीसरीमें अधिक विस्तार है। और तीसरी बार तोमर छंदके सात चरण और आधे दोहेमें माया कहकर दुबारा फिर तोमरछन्दके आठ चरण और हरिगीतिकाके दो चरणोंमें वह माया कही।

७ प्रथममें वानरोंका डर आदि हरिगीतिकाके चार चरणोंमें कहे। दूसरीमें वानरोंका भय चौपाईके पाँच चरणों और हरिगीतिकाके दो चरणोंमें लिखा, तीसरी बार तोमरके १२ चरणोंमें लिखा।

८ प्रथम बार विचार करते ही माया प्रकट कर दी, यथा—'तब रावन माया बिस्तारी। देखी कपिन्ह निसाचर अनी।०'। दूसरीमें अन्तर्धान होना पड़ा और क्षणभर लगा तब माया रची, यथा—'कपिदल प्रबल देखि तेहि कीन्ह प्रगट पाखंड ॥ अंतरधान भएउ छन एका। पुनि प्रगटे खल रूप अनेका ॥' तीसरी बार अन्तर्हित होकर निमेष भरमें

माया रची गयी। कुछ लोगोंके मतानुसार क्षण निमेषका चतुर्थांश है। इस प्रकार एकसे दूसरेमें और दूसरेसे तीसरेमें अधिक समय लगा।

९ (क) पहली माया काटनेका प्रसङ्ग हरिगीतिकाके चार चरणोंमें है। यथा—**'निज सेन चकित बिलोकि हँसि सर चाप सजि कोसल धनी। माया हरी हरि निमिष महँ हरषी सकल मर्कट अनी॥'** दूसरी बारका एक दोहा और चौपाईके एक चरणमें है। यथा—**'सुर बानर देखे बिकल हँसे कोसलाधीस। सजि सारंग एक सर हते सकल दससीस॥ ९५। प्रभु छनमहँ माया सब काटी। जिमि रबि उएँ जाहिं तम फाटी॥'** और तीसरी बार—**'रघुबीर एकहि तीर कोपि निमेष महँ माया हरी।'**

(ख) प्रथम बार सब चकित थे, कोई व्याकुल वा भगे न थे, तब एक निमेषमें। दूसरी बार सुर और वानर दोनों विकल हो भगे थे, तब क्षणभरमें। और तीसरी बार सब अचेत हैं और सुरोंको हर्षविषाद दोनों हैं, वे भगे नहीं हैं, अतः फिर निमेषमें हरना कहा।

(ग) प्रथम दो बार हँसे और जब फिर उसने माया रची तब क्रोध हुआ। हँसे तबतक माया भी रही क्योंकि आपका हास्य स्वयं माया है। अब क्रोध किया, अतएव आगे अब मायाका पता नहीं रह गया।

१० प्रथम बार मायाहरणमें 'हरि' और हँसकर धनुष सजनेमें 'कोसलधनी' पद दिया—**'माया हरी हरि निमिष महँ'** दूसरी बार सुर और वानर दोनोंको विकल देखा तब हँसने और माया काटनेमें एक ही पद 'कोसलाधीस' दिया। और तीसरी बार हँसे नहीं कोपकर बाण चलाकर माया काटी। तब रघुबीर पद दिया। 'रघुबीर' हैं अतएव अब उसकी माया ढर गयी, अब माया आगे नहीं आयेगी।

११ प्रथम बार **'हरषी सकल मर्कट अनी'** पर लड़नेका उत्साह माया कटनेपर न रह गया। दूसरी बार सुर वानर दोनों हर्षित हुए और प्रभुका बल पाकर फिरे और **'प्रभुबल पाइ भालु कपि धाए। तरल तमकि संजुग महि आए॥'** पर लड़े नहीं। तीसरी बार **'माया बिगत कपिभालु हरषे बिटप गिरि गहि सब फिरे'**। भाव कि दूसरी बार कुछ उत्साह हुआ और अबकी तो उत्साहसे उसे मारने दौड़े।

छंद—**जब कीन्ह तेहि पाषंड भए प्रगट जंतु प्रचंड।**
बेताल भूत पिसाच कर धरें धनु नाराच॥ १॥
जोगिनि गहे करबाल एक हाथ मनुज कपाल।
करि सद्य सोनित पान नाचहिं करहिं बहु गान॥ २॥

शब्दार्थ—करवाल (सं०) = तलवार। सद्य = ताजा, तुरंतका।

अर्थ—जब उसने माया रची, तब हाथोंमें धनुषबाण लिये हुए बेताल, भूत और पिशाच भयङ्कर जीव प्रकट हो गये। योगिनियाँ एक हाथमें तलवार और एकमें मनुष्योंकी खोपड़ियाँ लिये तत्काल ही ताजा खून पीकर नाचती और बहुत तरहके गीत गाती हैं॥ २॥

पं०—**'करि सद्य सोनित पान०'**। भाव कि हाथमें खोपड़ियोंके खप्पड़ लिये हैं, तलवारसे सिर काटकाट तत्काल रुधिर पीती हैं। वा, खोपड़ियोंसे रक्त बह रहा है वही पीती हैं।

मा० म०—**'गहे करबाल'** के यहाँ दो अर्थ हैं। १—हाथमें सिरके बाल पकड़े हैं और उसी हाथमें तलवार लिये हैं। २—अपनी गोदमें बालक भी लिये हैं—ऐसे भयङ्कर रूपको देखकर काल भी डरता है।'

छंद—**धरु मारु बोलहिं घोर रहि पूरि धुनि चहुँ ओर।**
मुख बाइ धावहिं खान तब लगे कीस परान॥ ३॥
जहँ जाहिं मर्कट भागि तहँ बरत देखहिं आगि।
भए बिकल बानर भालु पुनि लाग बरषै बालु॥ ४॥

अर्थ—धरो-पकड़ो, मारो इत्यादि भयावने शब्द बोलती हैं, यह ध्वनि चारों ओर भर रही है। मुँह फैलाकर खानेको दौड़ती हैं। तब वानर भागने लगे ॥ ३ ॥ जहाँ ही वानर भागकर जाते हैं वहीं आग जलती देखते हैं। वानरभालु व्याकुल हो गये। फिर वह रेत बरसाने लगा ॥ ४ ॥

नोट—१ 'धरु मारु बोलहिं घोर', यथा—'**मारु मारु धरु धरु धरु मारू । सीस तोरि गहि भुजा उपारू ॥** ५२। ६।' देखिये। भय उत्पन्न करनेके लिये ये शब्द करते हैं, यह बात 'घोर' पदसे जना दी है। २—'**पुनि लाग बरषै बालु**' जिसमें अन्धकार हो जाय, किसीको देख न पड़े। यथा—'**बरषि धूरि कीन्हेसि अँधियारा । सूझ न आपन हाथ पसारा** ॥ ५१। ४।' रा० प्र०—कार बालूसे तप्त रेतका भाव कहते हैं। ३—'**तब लगे कीस परान**'। 'तब' का भाव कि पिशाचादिको देखकर न डरे, उनके शब्दमें न डरे, योगिनियाँ कराल हैं यह भी देख न डरे। कारण कि पूर्व इस मायाको देख चुके और जानते हैं कि यह सब झूठा है। जब वे खाने दौड़ीं तब इस मायाको सत्य समझकर डरकर भागे। जब वे भगे तब जिधर जायँ उधर आग दिखायी पड़ी तब व्याकुल हुए कि अब '**सबकर मरन बना एहि लेखे**'।

छंद—**जहँ तहँ थकित करि कीस गर्जेउ बहुरि दससीस ।**
लछिमन कपीस समेत भए सकल बीर अचेत ॥ ५ ॥
हा राम हा रघुनाथ कहि सुभट मीजहिं हाथ ।
एहि बिधि सकल बल तोरि तेहिं कीन्ह कपट बहोरि ॥ ६ ॥

अर्थ—वानरोंको जहाँके तहाँ (जो जहाँ हैं उनको वहीं) थकित करके फिर दशशीश गर्जा। लक्ष्मण और सुग्रीव-सहित सब वीर वानर अचेत हो गये ॥ ५ ॥ हा राम! हा रघुनाथ! (भाव कि हम बड़े कष्टमें हैं) कहकर सुभट अपने हाथ मलते हैं। इस प्रकार सारी सेनाका बल तोड़कर उसने फिर और माया रची ॥ ६ ॥

रा० प्र०—१ 'गर्जेउ' जयसूचक है कि वानर अब कहीं न तो ठहर ही सकते हैं और न भागनेकी जगह पाते हैं। २ '**लछिमन कपीस समेत**' का भाव कि सामान्य विशेषकी कथा ही क्या?

प० प० प्र०—'अचेत' का अर्थ यहाँ मूर्छित नहीं है किंतु 'किं कर्तव्य विमूढ' है। क्या करना चाहिये, इससे कैसे बचें इत्यादि कुछ भी निर्णय न करनेमें समर्थ नहीं हैं। भाव कि सब आर्त्त हैं। '**रहत न आरत के चित चेतू**। २। २६९। ४।' रावणकी मायाके सामने इन सबकी अतुलित वीरता निष्क्रिय हो जानेसे इनको यहाँ 'वीर' मात्र कहा, बलवीर अथवा महावीर आदि न कहा।

पां०—'हा राम' का भाव कि आप सबमें रमे हैं, हमारी विपत्ति देखिये। 'रघुनाथ' का भाव कि आप विपत्ति-निवारणमें कुशल हैं, हमारी विपत्ति हटाइये। आपके नाथ होते हुए भी हम अनाथसे हो रहे हैं।

रा० प्र० का मत है कि 'हा राम हा रघुनाथ' का भाव यह है कि कुछ पराक्रम नहीं चल सकता। अपनी दशासे रघुनाथजीको न देखकर 'हा राम! हा रघुनाथ!' करके हाथ मलते हैं। भाव कि अपनी-सी दशा रामजीकी भी मानते हैं।'

नोट—१ 'मीजहिं हाथ' अर्थात् कुछ वश नहीं चलता, कुछ हो नहीं सकता, जीते जिताये हारे जाते हैं। (पं०)। 'हाथ मींजना या मलना' मुहावरा है। शोक, पश्चात्ताप, निराशा, क्रोध और कष्टमें हाथ मलते हैं। यथा—'**कर मीजहिं सिर धुनि पछिताहीं**। २। ७६। ५।' (शोक निराशासे), '**अबला बालक वृद्ध जन कर मींजहिं पछिताहिं**। २। १२१।' (पश्चात्ताप, बेबशीसे), '**मीजि हाथ सिर धुनि पछिताई**। २। १४४।' (पश्चात्तापादिसे)। २ '**एहि बिधि सकल बल तोरि**'। भाव कि इस मायासे तो सेनाभरका बल क्षीण कर दिया, सब मनमें हार गये। अब रहे राम, सो उनका बल भी तोड़ूँ; इसलिये फिर दूसरी प्रकारकी माया रची।

प० प० प्र—'हा राम हा रघुनाथ' इति। यहाँ उपदेश है कि अहङ्कारजनित मायाकी शक्तिसे कोई भी जीव, कितना ही बड़ा धीर वीर क्यों न हो, अपनी सामर्थ्यसे बच नहीं सकता। ऐसी दशामें जिसके अन्तःकरणसे '**त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुनाथ**' ऐसी पुकार निकलेगी वही बच सकेगा, अन्य सब मायाके चक्करमें ही भ्रमते और घबड़ाते रहेंगे।

छंद—प्रगटेसि बिपुल हनुमान धाए गहे पाषान।
तिन्ह रामु घेरे जाइ चहुँ दिसि बरूथ बनाइ॥ ७॥
मारहु धरहु जनि जाइ कटकटहिं पूँछ उठाइ।
दस दिसि लँगूर बिराज तेहि मध्य कोसलराज॥ ८॥

शब्दार्थ—बरूथ=सेना, दल, टोली।

अर्थ—उसने बहुत-से हनुमान् प्रकट किये जो पत्थर लिये दौड़े। चारों ओर दल बनाकर उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको जा घेरा॥ ७॥ पूँछ उठाकर कटकटाकर कहते हैं कि मारो, पकड़ बाँधो, जाने न पाये। दशों दिशाओंमें लंगूर और उनके बीचमें कोशलराज श्रीरामजी विराजमान हैं॥ ८॥

नोट—'तेहि कीन्ह कपट बहोरि'। वह माया यह है। अभीतक जितनी माया रची उससे श्रीरामजी मोहित न हुए, शेष सब मोहित हो गये। अतः अब यह दूसरी माया उनको मोहित करनेके विचारसे रची।

करु०—एक ही हनुमान्ने लङ्का भस्म कर दी, एक ही अङ्गदने रावणका सभामें कैसा अपमान किया। ऐसे अगणित हनुमान् रावणने अपनी मायासे रच लिये—यह रावणका प्रताप है। तो रावणने प्रथम ही यह प्रताप क्यों न दिखाया था? इसका समाधान यह है कि रावण तो इनको कुछ न समझता था पर उसने सोचा कि यदि ये (हनुमान् और अङ्गद) मेरा प्रताप जान लेंगे तो फिर लङ्काको न आवेंगे और न जाननेसे जाकर रघुनाथजीसे अपनी प्रभुता और मेरी लघुता कहेंगे तब रघुनाथजी संग्रामके लिये शीघ्र आवेंगे। उस समय मैं अपना प्रताप सबको दिखाऊँगा।

प० प० प्र०—लङ्कादहनादिके समय विविध माया-कृतिसे हनुमानङ्गदादिको भयभीत न करनेमें अनेक कारण हो सकते हैं। जैसे—(१) अपने दासोंकी कीर्त्ति बढ़ानेकी भगवान्की इच्छा। (२) सभी राक्षसोंके विनाशकी (श्रीरामजीकी) प्रतिज्ञा। (३) सभी राक्षसोंको रणाङ्गणमें खरदूषणादिके समान विरोध-वैर करते हुए स्वयं प्रभुके हाथसे मरवाकर और स्वयं उनके हाथों मरकर भवसागर पार कराके अपनी **'प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ'** इस प्रतिज्ञाको पूरी करना। (४) रावणका महत्त्व बढ़ानेके लिये इसी समय भगवान्की इच्छासे उसमें ऐसी इच्छाका होना। (५) श्रीलक्ष्मणजी, श्रीहनुमान्जी आदि महावीरोंको अपने बल-पराक्रमादिका कभी अभिमान न होने पाये इस कृपामूलक भगवदिच्छाने ही यह कराया। **'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥'**, **'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन'**। (६) जैसे पूर्व **'रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायउ'** वैसे ही अब रण शोभाके लिये रावणको ऐसी प्रेरणा की गयी। इत्यादि।

गौड़जी—मायारचित रूपोंमें सभी गुण-कर्म नकली होते हैं, असली नहीं। इसीलिये असली पराक्रम भी नहीं होता। मायाकी खूबी यही है कि देखकर असलीका भ्रम हो जाय, डर समा जाय। जब यह पता चल जाता है कि यह मायाके रूप हैं असली नहीं, तब तो साधारण कपि भी **'मर्दहिं कोटिक रावण'**। रावण तो भगवान्की मायासे स्वयं मोहित होकर उन्हें मनुष्य समझता है इसीलिये यहाँ **'प्रगटे बिपुल हनुमान'** उसे पहलेका अनुभव है कि मायामृगसे यह छले जा चुके हैं फिर मायाके हनूमानसे क्यों न छले जायँगे। फिर भी विपुल हनुमान् प्रकट करके अपनी मूर्खता पूर्णतया दिखा देता है।

छंद—तेहि मध्य कोसलराज सुंदर स्याम तन सोभा लही।
जनु इंद्रधनुष अनेक की बर बारि तुंग तमाल ही॥
प्रभु देखि हरष बिषाद उर सुर बदत जय जय जय करी।
रघुबीर एकहि तीर कोपि निमेष महुँ माया हरी॥ १॥

शब्दार्थ—तुंग=ऊँचा। बारी=बाग, खेत, वृक्ष आदिके चारों तरफ रक्षाके लिये बनाया हुआ घेरा।

अर्थ—उनके मध्यमें कोसलराजका सुन्दर श्यामशरीर कैसी शोभाको प्राप्त हुआ मानो अनेक इन्द्रधनुषोंकी श्रेष्ठ ऊँची बाड़के बीचमें ऊँचा तमाल वृक्ष हो। प्रभुको देखकर देवताओंके हृदयमें हर्ष और विषाद दोनों उत्पन्न हुए और वे जय-जयकार करके जय बोलते हैं। रघुवीरने कोपकर एक ही बाणसे पलभरमें माया हर ली॥ १॥

नोट—१ 'प्रभु देखि हरष विषाद उर' इति। 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं। उनका सामर्थ्य समझ और अद्भुत छटा देख हर्ष हुआ अतएव जय-जयकार करने लगे। और, रावणने यह माया रच रक्खी है उसमें प्रभुको अवरुद्ध देख विषाद हुआ।—दोनों भाव एक साथ उदय होनेसे 'प्रथम समुच्चय अलंकार' हुआ। अबकी कोई देवता न भागे, अतः 'प्रभु देखि' पद दिया। भाव कि उनको देख सामर्थ्य भी स्मरण हो आया। पूर्व भी जो देवता न भागे थे उनके सम्बन्धमें भी कहा था कि '**रहे बिरंचि संभु मुनि ग्यानी। जिन्ह जिन्ह प्रभु महिमा कछु जानी॥** ९५। ८॥'

२—'**बदत जय जय जय करी**' अर्थात् जोर-जोर पुकारकर जय-जयकार करते हैं। अब रावणका डर नहीं रह गया, अब ये 'प्रभु' को सत्य ही प्रभु जान गये हैं। पिछली बार रावणसे भागनेपर इनकी रक्षा की गयी इसलिये अब निःशङ्क हो गये।

रा० प्र०—हर्ष और विषाद कि रावणने ऐसी माया की। वा, पहिले परम विषाद हुआ फिर प्रभुको देख हर्ष हुआ। पहिले विषाद किया फिर हर्ष इसीसे 'विषाद' शब्दके बाद जय जय करी' पद दिया। 'बदत' दीपदेहरी-न्यायसे दोनोंमें लगेगा। शब्दोंद्वारा विषाद प्रकट किया फिर 'जय' उच्चारण किया।

प० प० प्र०—'रघुवीर' शब्दसे यहाँ विद्या, कृपा और पराक्रम तीन वीरताएँ सूचित कीं। विद्यावीर हैं अतः जान लिया कि यह राक्षसी माया है। कृपावीर हैं अतः 'हा राम रघुनाथ' सुन सबको आर्त जान कृपा की। पराक्रमवीर हैं अतः एक ही बाणसे पलमात्रमें माया हर ली।

नोट—☞ पूर्व जब-जब माया रची गयी। तब-तब हँसकर प्रभुने उसे काटा।

१—'**पुनि कृपाल हँसि चाप चढ़ावा। पावकसायक सपदि चलावा॥**
भएउ प्रकास कतहुँ तम नाहीं। ग्यान उदय जिमि संसय जाहीं॥ ४६। ३-४।'

२—'**कौतुक देखि राम मुसुकाने। भए सभीत सकल कपि जाने॥**
एक बान काटी सब माया। जिमि दिनकर हर तिमिर निकाया॥ ५१। ७-८।'

३—'**निज सेन चकित बिलोकि हँसि सर चाप सजि कोसलधनी।**
माया हरी हरि निमिष महुँ हरषी सकल मर्कट अनी॥ ८८ छन्द।'

४—'**सुर बानर देखे बिकल हँस्यो कोसलाधीस। सजि सारंग एक सर हते सकल दससीस॥** ९५॥
प्रभु छन महुँ माया सब काटी। जिमि रबि उएँ जाहिं तम फाटी॥'

पर यहाँ 'हँसी' की जगह 'कोप' किया है। भेदका भाव यह है कि जबतक क्रीड़ा करना था तबतक हँसते रहे और राक्षस माया करते रहे। परम कौतुकी हैं ही, कौतुक देखते रहे—'**कौतुक देखि राम मुसुकाने**'। अबकी लक्ष्मण और सुग्रीवतक अचेत हो गये; इसलिये अब क्रीड़ा समाप्त करना चाहा तब कोप किया। कोप होनेपर फिर माया न हुई। लक्ष्मणजीने मेघनाद-युद्धमें ऐसा ही विचारकर क्रोध किया था। यथा—'**बिबिध बेष धरि करइ लराई। कबहुँक प्रगट कबहुँ दुरि जाई॥ देखि अजय रिपु डरपे कीसा। परम क्रुद्ध तब भयउ अहीसा॥ लछिमन मन अस मंत्र दृढ़ावा। एहि पापिहि मैं बहुत खेलावा॥ सुमिरि कोसलाधीस प्रतापा। सर संधान कीन्हि करि दापा॥** ७५। १२—१५।' पुनः, प्रभुका हास्य माया है। अबतक मायाका खेल देखना और सबको दिखाना था अतः हँसते रहे। आप भी मायामें सम्मिलित रहे। पुनः, रावणकी मायाका पूरा बल देख लिया और सबको दिखा दिया तब कोप किया। 'रघुबीर' पद देकर जनाया कि ये पराक्रम वीर हैं, इनके लिये यह माया क्या है? अब अपना पराक्रम दिखाते हैं जिससे फिर वह माया न कर सकेगा।

गौड़जी—कोपका कारण यह है कि मायाके अनेक हनुमानोंका, परम भागवतोंका विनाश, रावण स्वयं प्रभुके हाथों ही करा रहा है। ऐसी क्रीड़ा प्रभुको इष्ट नहीं है। अतः क्रोध किया कि ऐसी क्रीड़ाका तुरंत अन्त हो जाय।

प० प० प्र०—'कोपि' इति। भाव कि जैसे महामुनि कपिलदेवजीने अपने कोपके हुङ्कारसे ही सगरपुत्रोंको भस्म कर दिया वैसे ही श्रीरामजीने अपने तीरके साथ अपना कोप ही छोड़ा। इससे यह भी जनाया कि अब रावणको निर्वाण देनेका समय समीप आ गया। मारीचने कहा है '**निर्बान दायक क्रोध जाकर**'।

वीरकवि—रामचन्द्रजीके चारों ओर असंख्यों हनुमान पूँछ उठाये हुए विद्यमान हैं, यही उत्प्रेक्षाका विषय है।

पूँछ और इन्द्रधनुष, रामतन और तमालवृक्ष उपमेय उपमान हैं। यह विलक्षण कल्पना है जो न कहीं सुनी न देखी गयी। अतः यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षालंकार' है।

छं०—माया बिगत कपि भालु हरषे बिटप गिरि गहि सब फिरे।
सर निकर छाँड़े राम रावन बाहु सिर पुनि महि गिरे॥
श्रीराम रावन समर चरित अनेक कल्प जो गावहीं।
सत सेष सारद निगम कबि तेउ तदपि पार न पावहीं॥ २॥

अर्थ—मायारहित होनेपर वानर और भालु प्रसन्न हुए और वृक्ष और पर्वत ले-लेकर सब लौट पड़े। श्रीरामचन्द्रजीने बाणसमूह छोड़े और रावणके बाहु और सिर फिर कटकटकर पृथ्वीपर गिरे। श्रीराम-रावणके युद्ध-चरित्र यदि सैकड़ों शेष, शारद, वेद और कवि अनेक कल्पोंतक गाते रहें तो भी ये वक्ता भी उसका पार नहीं पा सकते॥ २॥

नोट—१ अबकी बार वानरोंका उत्साह भी बढ़ा इससे वे पर्वतादि लिये हुए फिरे। पिछली बार फिरे थे पर पर्वतादि न लाये थे और प्रथम बार तो उत्साहहीन ही हो गये थे। 'फिरे' का भाव कि पूर्व रावणके भयसे भागे थे, यथा—'**तब लगे कीस परान**', अब फिरे। २—(क) शेष, शारद, वेद और कवि ये चारों गायक हैं और रामचरित गाते रहते हैं, यथा—'**सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान॥** १। १२।' इससे इनका गाना कहा। शेष दो हजार जिह्वासे और शारदा सबकी जिह्वासे गाती है और वेद तो प्रभुकी स्वयं वाणी है। पुनः, भाव कि—(ख) एक-एक पार नहीं पाते यह तो प्रसिद्ध ही है, कदाचित् बहुत-से कहें तो कह सकें, उसपर वक्ता कहते हैं कि अगणित भी एकत्र होकर कहें तब भी न चुके। तात्पर्य कि अपार है। पुनः, (ग) न कह सकनेका कारण यह कि राम-रावण-युद्धकी कोई उपमा ब्रह्माण्डमें नहीं मिलती, राम-रावण-युद्धमें अनन्वयालंकार है। यथा—'**गन्धर्वाप्सरसां सङ्घा दृष्ट्वा युद्धमनूपमम्। गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः॥२३॥ रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव॥ एवं ब्रुवन्तो ददृशुस्तद्युद्धं रामरावणम्।** ११०। २४।' (वा० सं०)।

पं० वि० त्रिपाठीजी—जिस भाँति राम-रावण-समर-चरित्र ब्रह्माण्डमें हुआ, उसी भाँति राम-रावण-समर प्रत्येक पिण्डमें हो रहा है। विनय-पत्रिकाके 'वपुष ब्रह्माण्ड सुप्रवृत्ति लंकादुर्ग' शीर्षक भजनमें इसका सविस्तर निरूपण किया है। पिण्डमें मोह रावण है, ज्ञान राम हैं, जानकीजी भक्ति हैं, हनुमान्‌जी वैराग्य हैं', प्रवृत्ति लङ्का दुर्ग है; कुम्भकर्ण अहंकार है, विभीषण जीव हैं, कैवल्यके साधन वानरी सेना हैं, सो अनन्तकालसे प्रत्येक पिण्डमें राम-रावण-युद्ध होता चला आया है, और होता चला जायगा। कभी रामकी जीत होती है कभी रावणकी जीत है। ब्रह्मद्वारा मोहका शिर कटता है, परन्तु फिर निकल आता है, उसका मरना दुष्कर व्यापार है। लाखों, करोड़ों साधकोंमेंसे किसी एकका मोह मारा जाता है तो उसे स्वराज्यकी प्राप्ति होती है, अतः यह समर-चरितके सम्यक् ज्ञानमें सचमुच शत शेष, शारद, निगम कवि सभी असमर्थ हैं। वह बात तो केवल अध्यात्मदृष्टिसे कही गयी, अब यदि इसीमें आधिभौतिक दृष्टि और आधिदैविक दृष्टिसे जो राम-रावण-समर-चरित हुआ उसे भी जोड़ दिया जाय तो पारावार कहाँ मिलेगा?

दो०—ताके गुनगन कछु कहे* जड़मति तुलसीदास।
†निज पौरुष अनुसार जिमि मसक उड़ाहिं अकास॥ १००॥

अर्थ—मुझ मंदबुद्धि तुलसीदासने उनके कुछ गुणगण कहे जैसे अपने पुरुषार्थके अनुसार मच्छड़ भी आकाशमें उड़ते हैं॥ १००॥

नोट—१ '**श्रीराम रावन समर चरित**' शब्द छन्दमें देकर और दोहेमें '**ताके गुनगन कछु कहे**' कहकर यहाँ अपने 'श्रीरामरावणसमरचरित' की इति लगायी। आगे अब रावणका कोई पुरुषार्थ नहीं दिखाया गया है।

नोट—२ '**गुनगन कछु कहे**···'। भाव कि ऐसे-ऐसे बुद्धिमान् वक्ता नहीं कह सकते तब मेरा कहना तो मूर्खता

* कहे तासु गुनगन कछु। † 'जिमि निज बल अनुरूप ते माछी उड़इ अकास।' 'निज पौरुष···'—भा० दा०।

ही है। क्योंकि मेरी बुद्धि तो अति नीच है, यथा—'मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी। १।८।७।' 'मन मति रंक मनोरथ राऊ', 'लघुमति मोरि चरित अवगाहा। १।८।५-६।' फिर कहा क्यों? न कहते। उसपर कहते हैं कि सभी कहते हैं यद्यपि पार नहीं पा सकते वैसे ही मैं भी बुद्धिभर कहता हूँ, कुछ पार पानेके लिये नहीं कहता। मिलान कीजिये दो० १३ (९) से दोहा १३ तक। 'जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥' इत्यादिमें भाव आ चुके हैं।

३ 'निज पौरुष अनुसार जिमि मसक उड़ाहिं अकास'। यथा—'तुम्हहिं आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता॥ तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥ ७।९१।५-६।', 'निज निज मति मुनि हरिगुन गावहिं। निगम सेष सिव पार न पावहिं॥ ७।९१।४।'

यहाँ गोस्वामीजी अपनेको मच्छड़ और शेष शारदादिको गरुड़ जनाते हैं। पार तो दोनों ही नहीं पाते। अपने-अपने पुरुषार्थ भर आकाशमें उड़ते हैं। वैसे ही पार तो शेष शारदादि भी नहीं पाते पर अपनी शक्तिभर कहते हैं तथा मैंने भी शक्तिभर कहा।

४ ☞ का०, मा० म०, पं० में पाठ यह है—'निज पौरुष अनुसार जिमि मसक उड़ाहिं अकास'। रा० गु० द्वि० और भा० दा० आदिका पाठ 'जिमि निज बल अनुरूप ते माछी उड़ै अकास' है। काशीवाला पाठ अधिक उत्तम जान पड़ता है। क्योंकि 'मसक' 'माछी'से छोटा होता है और मच्छड़का दृष्टान्त कविने उत्तरकाण्डमें दिया भी है।

वं० पा०—'माछी' से मधुमक्खी समझो! मधुमक्खी पुष्पोंका रस लेकर तब मधुका छत्ता लगाती है वैसे ही गोस्वामीजीने नाना पुराणादि अनेक ग्रन्थ-पुष्पोंका रस लेकर यह मानस-ग्रन्थ मधुछत्ता लगाया है, अतएव ये मधुकर मक्खी हैं।—[पर यहाँ कवितामें सबसे छोटा जन्तु ही मानना प्रशस्त है—(मा० सं०)]।

'रावण-वध'-प्रकरण

दो०—काटे सिर भुज बार बहु मरत न भट लंकेस।
प्रभु क्रीड़त सुर सिद्ध*मुनि ब्याकुल देखि कलेस॥१००॥

अर्थ—शिर और भुजाओंके बारम्बार कटनेपर भी लङ्कापति योद्धा रावण मरता नहीं। प्रभु तो क्रीड़ा (खेल) कर रहे हैं और सुर, सिद्ध, मुनि प्रभुको क्लेशमान देखकर व्याकुल होते हैं॥ १००॥

नोट—'प्रभु क्रीड़त''''; यथा—'प्रभु कृत खेल सुरन्ह बिकलई। ९३। ३।' यहाँ 'प्रथम उल्लास अलंकार' है।

काटत बढ़हिं सीस समुदाई। जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई॥ १॥
मरै न रिपु श्रम भयउ बिसेषा। राम बिभीषन तन तब देखा॥ २॥

अर्थ—काटते ही शिरोंका समुदाय (समूह) बढ़ता ही जाता है। जैसे प्रत्येक लाभपर लोभ बढ़ता है॥ १॥ शत्रु नहीं मरता, परिश्रम बहुत हुआ। तब श्रीरामचन्द्रजीने विभीषणकी ओर देखा॥ २॥

नोट—१ 'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'। जैसे कोई किसी एक बातकी कामना करे और वह पूरी हो जाय तो फिर वह और कामनाएँ करने लगता है, वे पूरी हुईं तो और बड़ी वस्तुकी कामना होती है। इस प्रकार लोभ बढ़ता जाता है। उसका अन्त नहीं हो पाता। यथा—'कामस्यान्तं च क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात्। जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः॥'—(भा० ७। १०)

अर्थात्—कामका अन्त भूख-प्याससे और क्रोधका किसीके प्रहारसे या कठोर वचन कहनेसे हो सकता है पर दशों दिशाएँ जीतनेपर भी उसके समस्त भोगोंके पानेपर भी लोभका अन्त नहीं।

श्रम भयउ बिसेषा

पं०—(क) विशेष इससे कि फाल्गुन शुक्ल द्वादशीसे चैत्र कृ० १४ तक अर्थात् १८ दिनरात बराबर युद्ध हुआ

* मुनि सिद्ध सुर—(का०)

है। (ख)—विभीषणकी ओर देखनेका भाव कि हमने इसे 'लंकेश' पद दिया था और रावण लंकेश मरता नहीं, तब क्या होगा? अथवा, देखकर सूचित किया कि तुम उपाय कुछ जानते हो तो कहो।

शीला—अन्तर्यामी होकर भी पूछते हैं। इसमें भाव यह है कि श्रीरामजी प्रणतकुटुम्बपाल हैं। अतएव वे विभीषणसे कहलाकर, कि 'इसे मारिये' तब रावणको मारेंगे।—(इसी तरह बालीको तभी मारा था जब सुग्रीवसे कहला लिया था कि 'बंधु न होइ मोर यह काला')।

रा० प्र०—रणक्रीड़ामें स्थूलदृष्टिमें श्रम हुआ।

नोट—'श्रम भएउ बिसेषा'। वाल्मी० १०७ में कई बार घोर रोमहर्षण युद्ध होना लिखा है। दोनोंके चलाये हुए बाण न तो उत्साहरहित होते थे और न निष्फल ही। अपना-अपना कार्य अवश्य करते थे। अनेक प्रकारसे युद्ध हुआ। सूर्य प्रभारहित हो गये, पवनका चलना बंद हो गया, देवता बड़ी चिन्ताको प्राप्त हुए। तब रामचन्द्रजीने तीक्ष्ण बाणसे रावणका सिर काटा, सिर काटते ही पुनः ज्यों-का-त्यों वहाँ दूसरा सिर जम आता था, इस तरह सैकड़ों बार काटा और बराबर सिर नये जुड़ते जाते थे, न उसके सिरोंका अन्त होता था और न बाणोंका। यथा—'**एवमेव शतं छिन्नं शिरसां तुल्यवर्चसाम्॥ ५७॥ न चैव रावणस्यान्तो दृश्यते जीवितक्षये।**—(वाल्मी० १०७), तब रामचन्द्रजीको चिन्ता हुई और वे विचार करने लगे कि जिन बाणोंसे हमने मारीच और खर-दूषणको मारा, क्रौंचवनमें कबंधको मारा, दण्डकारण्यमें विराधको मारा, सप्तताल वृक्ष गिराये और बालीको मारा तथा समुद्रको क्षुब्ध कर दिया, वे सब सफल बाण विद्यमान हैं। फिर किस कारणसे वे रावणपर मन्दतेज हो रहे हैं। यथा—'**मारीचो निहतो यैस्तु खरो यस्तु सदूषणः॥ ५९॥ क्रौंचावटे विराधस्तु कबन्धो दण्डकावने। यैः साला गिरयो भग्ना वाली च क्षुभितोऽम्बुधिः॥६०॥ त इमे सायकाः सर्वे युद्धप्रात्ययिका मम। किं नु तत्कारणं येन रावणे मन्दतेजसः॥ ६१॥ इति चिन्तापरश्चासीदप्रमत्तश्च संयुगे। ववर्ष शरवर्षाणि राघवो रावणोरसि॥ ६२॥**' यह सोचकर पुनः सावधान हो बाणोंकी वर्षा करने लगे। फिर रोमहर्षण युद्ध हुआ। कभी पृथ्वीपर, कभी अन्तरिक्षमें और कभी पर्वतपर युद्ध होता। इस तरह सात दिन-रात निरन्तर युद्ध हुआ, क्षणमात्र बंद न हुआ।—'**तत्प्रवृत्तं महद्युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम्। अन्तरिक्षे च भूमौ च पुनश्च गिरिमूर्द्धनि॥ ६४॥ देवदानवयक्षाणां पिशाचोरगरक्षसाम्। पश्यतां तन्महद्युद्धं सर्वरात्रमवर्तत॥ ६५॥ नैव रात्रिं न दिवसं न मुहूर्त्तं न च क्षणम्। रामरावणयोर्युद्धं विराममुपगच्छति॥ ६६॥** (वाल्मी० १०७)।

ऐसा घोर युद्ध हुआ। अतः कहा कि 'श्रम भएउ बिसेषा'। सर्ग १०७ हीमें कई बार 'रोमहर्षण' युद्ध पद आया है। यथा—'**एवं तु तौ सुसंक्रुद्धौ चक्रतुर्युद्धमुत्तमम्। मुहूर्तमभवद्युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम्॥ २८॥**', '**तत्प्रयुक्तं पुनर्युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम्॥ ४४॥**', '**राम रावणयोर्युद्धं सुघोरं रोमहर्षणम्॥ ५०॥**' और '**तत्प्रवृत्तं महद्युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम्॥ ६४॥**' वाल्मीकीयका यह पूरा प्रसङ्ग '**श्रम भएउ बिसेषा**' से सूचित किया है।

इसके बाद वाल्मी० १०९ में मातलिने यह देख रामचन्द्रजीको ब्रह्मास्त्रका स्मरण कराया है कि उसका प्रयोग कीजिये और अध्यात्म एवं आनन्द रामायणोंमें विभीषणकी ओर प्रभुका रुख करना लिखा है। यथा—'**यैर्यैर्बाणैर्हता दैत्या महासत्त्वपराक्रमाः। एते ते निष्फलं याता रावणस्य निपातने॥ ५०॥ इति चिन्ताकुले रामे समीपस्थो विभीषणः। उवाच राघवं वाक्यं ब्रह्मदत्तवरो ह्यसौ॥** अ० रा०। १०। ५१।' अर्थात् जिन-जिन बाणोंने महाबलवान् पराक्रमी दैत्योंका वध किया वे रावणवधमें निष्फल हो रहे हैं, इस प्रकार चिन्तित देख समीपस्थ विभीषण बोले कि ब्रह्माजीने इसे वरदान दिया है।

इन शब्दोंसे यह भाव ध्वनित होता है कि रघुनाथजीने उनकी ओर दृष्टि की तब उन्होंने यह कहा था।

उमा कालु मरु जाकी ईछा। सो प्रभु जन कर * प्रीति परीछा॥ ३॥
सुनु सर्बज्ञ चराचरनायक। प्रनतपाल सुर मुनि सुखदायक॥ ४॥

अर्थ—हे उमा! जिनकी इच्छामात्रसे काल मर जाय वही प्रभु अपने जनकी प्रीतिकी परीक्षा ले रहे हैं॥ ३॥ विभीषणजी बोले—हे सर्वज्ञ! हे चराचरके स्वामी! हे शरणागतके पालन करनेवाले! हे देवता और मुनियोंके सुख देनेवाले! सुनिये॥ ४॥

* कर जन—(का०)।

नोट—१ 'कर प्रीति परीछा' इति। (क)—इसका प्रेम हमपर दृढ़ है या नहीं। इसका प्रेम हममें है या भाईमें, प्रेम दृढ़ होगा तो माधुर्यमें न भूलेगा, न दृढ़ होगा तो घबड़ा जायगा। भाईपर प्रेम होगा तो नाभिकुण्डमें अमृतका होना न बतावेगा, हममें प्रेम होगा तो तुरंत बता देगा। मा० मयंककार लिखते हैं कि विभीषणकी ओर देखा कि—'मैं तुम्हारे ही लिये यह परिश्रम कर रहा हूँ अतएव तुम उसकी मृत्युका उपाय बताओ। अथवा, रावणकी प्रचण्डताका कारण पूछा। अथवा, जनाया कि इस परिश्रमकी लाज तुम्हारे हाथ है। इत्यादि।'

वि० त्रि०—'उमा कालु मरु'''''परीछा'। विभीषणजी सरकारके सचिव हैं। यथा—'कह लंकेस मंत्र लगि काना।' रावण भी कहता है कि 'सचिव सभीत विभीषन जाके। बिजय बिभूति कहाँ जग ताके॥' समयपर विना पूछे भी मन्त्र देते हैं, यथा—'इहाँ बिभीषनु मंत्र बिचारा। सुनहु नाथ बल अतुल उदारा॥' सो विभीषण देख रहे हैं कि कितनी बार सिर काटा गया, रावण मरता नहीं है। सुर, सिद्ध, मुनि प्रभुका क्लेश देखकर व्याकुल हो गये। यथा—'सुर सिद्ध मुनि व्याकुल देखि कलेस।' पर विभीषण जानते हुए, कि सिर काटनेसे यह नहीं मरेगा, कुछ बोलते नहीं, तो क्या इसके आत्मसमर्पणमें कुछ कमी है, भाईका कुछ प्रेम हृदयमें छिपा तो नहीं है; अतः उसकी परीक्षाके लिये श्रमनाट्य करते हुए उसकी ओर देखा। विभीषणने तुरंत उपाय बता दिया। रावण मारा गया। परंतु सरकारकी शङ्कामें तथ्य था। विभीषणके हृदयमें रावणके प्रति प्रेम इतना छिपा था कि वह स्वयं नहीं जानता था (यथा—'बन्धु दसा देखत दुख कीन्हा') मेघनाद-कुम्भकर्णकी दशा देखकर दुःख नहीं किया, फिर भी विभीषण प्रीति-परीक्षामें उत्तीर्ण हो गये। पूर्णाङ्क १०० में ९० पानेवाला छात्र उत्तम श्रेणीमें उत्तीर्ण माना जाता है।

नोट—२ (क) 'सर्वज्ञ' का भाव कि आप इसका मरणकाल और इसके हृदयमें अमृतका होना सब कुछ जानते हैं तो भी मुझसे पूछते हैं। तीनों कालका ज्ञान आपको है, (ख)—'चराचर नायक'। भाव कि चर-अचर (जड़-चेतन) सभीके आप नियन्ता हैं, सबकी व्यवस्था आपके ही हाथमें है, आप सब लोकोंके स्वामी हैं, यथा—'ते तुम्ह सकल लोकपति साईं। पूछेहु मोहि मनुज की नाईं॥', 'सुनहु राम तुम्ह कहँ मुनि कहहीं। राम चराचर नायक अहहीं॥'

(ग) 'प्रणतपाल'। गौ, सुर, विप्र, सिद्ध, मुनि आदि सब आपकी शरण जा चुके हैं, यथा—'मन बच क्रम बानी छाँड़ि सयानी सरन सकल सुर जूथा।', 'मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पद कंजा।' (१। १८६)। इत्यादि। और आप सबको अभय दे चुके हैं, यथा—'जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा०', 'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह। ३। ९।'; अतएव अब इसे मारिये। (घ) आप 'सुर मुनि सुख दायक' हैं। सुरमुनिको दुष्टके वधसे ही सुख होगा। यथा—'जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सब के भय बीते॥ आ० २१। १॥', 'पंचवटी बसि श्रीरघुनायक। करत चरित सुरमुनि सुखदायक॥'; अतएव उसे मारिये। (पं०)। इस समय सुरमुनि सब दुःखित हैं, यथा—'प्रभु क्रीड़त मुनि सिद्ध सुर व्याकुल देखि कलेस। १००।' अतः अब उसे मारकर उनका क्लेश दूरकर सबको सुखी कीजिये।

नाभि कुंड पियूष * बस याके। नाथ जिअत रावन बल ताके॥ ५॥
सुनत बिभीषन बचन कृपाला। हरषि गहे कर बान कराला॥ ६॥

अर्थ—इसके नाभिकुण्डमें अमृतका निवास है। हे नाथ! रावण इसके ही बलपर जीता है॥ ५॥ विभीषणके वचन सुनकर कृपालु रघुनाथजीने प्रसन्न हो हाथमें कठिन भीषण बाण लिया॥ ६॥

☞ समानार्थी श्लोक—'नाभिदेशेऽमृतं तस्य कुण्डलाकारसंस्थितम्॥ ५३॥ तच्छोषयानलास्त्रेण तस्य मृत्युस्ततो भवेत्। विभीषणवचः श्रुत्वा रामः शीघ्रपराक्रमः॥ ५४॥ पावकास्त्रेण संयोज्य नाभिं विव्याध रक्षसः॥ अ० रा० ११॥' अर्थात् इसके नाभिमें कुण्डलाकार अमृत स्थित है, उसे प्रथम पावकास्त्रसे सोख लीजिये तब उसकी मृत्यु होगी। विभीषणके वचन सुन प्रभुने वैसा ही किया।

टिप्पणी—१ 'एहिके हृदय बस जानकी' यह त्रिजटाकी वाणी है जो हनुमन्नाटकसे मिलती है। यह बात

* नामी कुण्ड सुधा—(का०)। नाभि कुण्ड पियूष—छ०, भा० दा०।

श्रीसीताजीके बोध्यार्थ कही गयी। और, **'नाभिकुंड पियूष बस याके'** यह विभीषणवाक्य है जो अध्यात्मसे मिलता है। यह रामचन्द्रजीके प्रश्नका सहेतुक उत्तर विभीषणजीने दिया है। अतएव दोनों वाक्योंमें विरोध नहीं है। वा, कल्पभेदसे दोनों ही ठीक हो सकते हैं। जैसे नाटकमें परशुराम धनुषयज्ञमें आकर मिले और वाल्मी० रा० में विवाहके पीछे मार्गमें जनकपुरसे १२ कोसपर मिले।

मा० मु० टी०—अपने मनसे मारनेसे ऐश्वर्य प्रकट होगा, अतः विभीषणकी ओर देखा। श्रीजानकीजीका ध्यान छूटनेपर रामजीने विभीषणसे पूछा, इस तरह दोनों हेतुओंका यथार्थ निर्वाह हो गया।

मा० म०—'हरषि' और 'कृपाला' से सूचित किया कि विभीषण रावणके मरणका हाल भली प्रकार जानता है। अतः उसके बताये उपायके सहारे मैं रावणको मार सबको सुखी करूँगा।

नोट—जिज्ञासा होती है कि अमृत रावणके नाभिमें कहाँसे हुआ और यदि रावणके शरीरमें अमृत था तो वह मरा क्यों? क्या अमृतका गुण जाता रहा? अमृतके प्रभावसे वानर जीवित हो गये, राहु अमर हो गया। मर्यादापुरुषोत्तमके समक्ष अमृतका गुण नष्ट होता समझमें नहीं आता? इस सम्बन्धमें वन्दनपाठकजी लिखते हैं कि अमृतके वाससे जनाया कि सञ्जीवनी-मुद्रा करता है। योगमें अमृत-प्रादुर्भाव एक मुद्रा है जिससे ब्रह्मरन्ध्रसे अमृत स्रवता है और नाड़ीद्वारा नाभिकुण्डमें आता है। किञ्चित्-किञ्चित् भरते-भरते बहुतकालमें नाभिकुण्ड भर पाता है। वै० भूषणजीने इसीको विस्तारसे यों लिखा है—

श्रीपातञ्जलि-ऋषि-प्रणीत योगदर्शन विभूतिपादके—**'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥ कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा-निवृत्तिः ॥ ३० ॥ कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥ मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥ प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥** इन सूत्रोंपर भाष्य करते हुए कुछ विद्वानोंने प्रसंगवशात् यह भी बतलाया है कि योगकी सञ्जीवनी-मुद्राके द्वारा ब्रह्मरन्ध्रमें जिह्वासे अमृतस्राव होता है और वह अमृत **'कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥'** इस सूत्रके वर्णित कुण्डलित सर्पकी तरह स्थित कूर्म (सुषुम्णा) नाड़ीसे प्रवाहित होकर नाभिकुण्डमें जाता है और जाकर शरीरको परिपुष्ट बनाया करता है। यदि युक्तिसे उस अमृतका अधिक सर्जन करके संग्रह किया जाय तो सैकड़ों वर्षोंमें नाभिकुण्डमें विशेषरूपसे संस्थित होकर मृत्युसे रक्षा किया करता है। वैद्यक शास्त्रके अनुसार—**'अयःपलं गुग्गुलरत्नयोज्यः पलत्रयं व्योषपलानि पञ्च। पलानि चाष्टौ त्रिफलारजश्च कर्षं लिहन् यात्यमरत्वमेव ॥** (भाव प्रकाश) (पाँच गुंजाका एक माशा, सोलह माशाका एक कर्ष और चार कर्षका एक पल) एक पल शुद्ध लौह चूर्ण, तीन पल गुग्गुल, पाँच पल व्योष (समभाग शुंठि-मरीच-पिप्पली) और आठ पल त्रिफला चूर्ण। सब ओषधियोंको एकमें मिलाकर उसमेंसे नित्य एक कर्ष सेवन करे तो सौ वर्षमें देवत्वकी प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् जिह्वासे अमृतस्राव होने लगता है, जिसे योगकी सञ्जीवनी-मुद्राद्वारा कुण्डलित सर्पवत्—स्थित कूर्मनाड़ीके रास्ते नाभिकुण्डमें संगृहीत किया जा सकता है।

रावण महाविद्वान् परम तेजस्वी योगी तो था ही उपर्युक्त प्रकारसे औषध और योगके द्वारा अपनी नाभिमें अमृत संचित कर रखा था। स्मरण रहे कि उपर्युक्त क्रियाद्वारा संचित अमृत ही सुखाया जा सकता है। समुद्रमन्थनसे प्राप्त अमृत नहीं, क्योंकि वह नाभि या शरीरके किसी एक देशमें संचित नहीं होता अपितु पान करते मात्र ही सारे शरीरमें प्रविष्ट होकर अमर बना देता है।

पं०—'कृपाल' का भाव कि विभीषणपर (रावणवध करके राज्य देनेकी), सुरमुनि आदिपर एवं रावणपर (उसको शापमुक्त करनेकी) कृपा करेंगे।

नोट—वाल्मी० में अगस्त्यजीके दिये हुए ब्रह्मास्त्रसे रावणवध हुआ। इस अस्त्रके वेगमें पवन, फलके अग्रभागमें अग्नि और सूर्य, सर्वाङ्गमें ब्रह्मा और भारीपनमें मेरु और मन्दराचलके अधिष्ठाता देवता वास करते थे—(वाल्मी० १०८। १—१३)। यह चमकते हुए सुवर्णके सुन्दर पंखोंसे भूषित तथा सब प्राणियोंके तेजसे इसका निर्माण हुआ था। इसकी करालताके विषयमें वाल्मीकिजी लिखते हैं कि वह काले नागके विषके समान चमकता था और मनुष्य, हाथी-घोड़ोंके समूहोंको तथा द्वारों, परिघों, पर्वतोंको भेदन करनेवाला था। नाना

प्रकारके रुधिरोंसे युक्त तथा चर्बीके लगनेसे अति दारुण, वज्रसारसे भी पुष्ट, महानादयुक्त नाना प्रकारके संग्रामोंके लिये दारुण, देखनेवालोंको भयप्रद, विषधर श्वास छोड़ते हुए सर्पके समान भयङ्कर, युद्धमें नित्य ही कंक, गृद्ध्र, शृगालादिको भोजन देनेवाला, यमराजके समान सबको भय पहुँचानेवाला और गरुड़के चित्र-विचित्र पंखोंसे युक्त था। रामचन्द्रजीने वेदविधिसे उसे मन्त्रित करके धनुषपर चढ़ाया और रावणके मर्मस्थल हृदयको वेधनेके लिये छोड़ा।

प० प० प्र०—'नाभिकुंड पियूष''' इति। आध्यात्मिक अर्थ—'नाभि'=परा वाणी और वृत्तियोंका उद्गम स्थान। दशशीश=दशेन्द्रियोंकी वृत्तियाँ। बीस भुज=दश प्राण और दश इन्द्रियोंके कर्म। जबतक वृत्तियोंके उद्गमका कारण नष्ट न होगा, तबतक वृत्तिरूपी शिर बढ़ते ही रहेंगे, नित्य नवीन उत्पन्न होते रहेंगे। (विषयाकार) वृत्तिका कारण वासना है। वासनाका मूल द्वैत-भाव है और द्वैत-भावका मूल अज्ञान है। जबतक अज्ञान गुप्तरूपमें भी रहता है तबतक वृत्तिको काटनेसे भी अहंकाररूपी रावण न मरेगा। अज्ञानका पूर्ण नाश ज्ञान-विज्ञानसे ही होगा। ज्ञान अग्नि है—**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते**' (गीता)। '**तच्छोषयाऽनलास्त्रेण तस्य मृत्युस्ततो भवेत्**।' ऐसा विभीषणजीने अ० रा०में कहा भी है। '**ज्ञान अनल जिमि कसे कनकसे**।' मानसमें भी कहा ही है।

वाल्मी० के अनुसार ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया है। यह भी आध्यात्मिक दृष्ट्या ठीक ही है। ब्रह्म=ब्रह्माकार वृत्ति= सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। यही अस्त्र है। यह अस्त्र भी पावकमय ही होता है।

योगदृष्टिसे सारांशरूपमें अर्थ इस प्रकार है—'**नाभिदेशेऽमृतं तस्य कुण्डलाकारसंस्थितम्**। अ० रा०।' यह कुण्डलाकारस्थित अमृत कुण्डलिनीशक्ति है जो कुण्डलाकार नाड़ीमें स्थित है। पर वह सुप्त (गुप्त-सी) है। जब प्राणापानके संयोग-जनित अग्निसे यह जाग उठेगी और अपना निवासस्थान छोड़कर बाहर निकलेगी तब वह विषयाकार वृत्तियोंको खा जायगी और सहस्रारचक्रमें ब्रह्मरन्ध्रमें मन-प्राणोंसहित जीवको ले जायगी और उन्मनी प्राप्त कराके जीवशिवैक्य स्थापितकर अहंकारका विनाश कर देगी। विशेष विस्तारके लिये योगशिखोपनिषद् तथा श्रीमदाचार्यकृत 'सौन्दर्य लहरी' के प्रथम ४१ श्लोक देखिये।

असुभ होन लागे तब नाना। रोवहिं खर सृकाल बहु* स्वाना॥ ७॥
बोलहिं खग जग आरति हेतू। प्रगट भए नभ जहँ तहँ केतू॥ ८॥

शब्दार्थ—सृकाल (शृगाल)= गीदड़। केतु = पुच्छल तारा। इस ताराके साथ एक प्रकाशकी पूँछ दिखायी देती है। ये अनेक माने जाते हैं।

अर्थ—तब अनेक अपशकुन होने लगे। बहुत-से गदहे, गीदड़ और कुत्ते बहुत जोर-जोर रोते हैं॥७॥ जगत्के दुःखके हेतु पक्षी बोल रहे हैं। जहाँ-तहाँ केतु आकाशमें प्रकट हो गये हैं॥८॥

नोट—१ 'रोवहिं खर''' इति। खर, शृगाल और श्वानको एक-साथ कहने और एक ही क्रिया देनेका भाव कि ये सब एक साथ मिलकर रो रहे हैं। यथा—'**विनेदुरशिवा गृध्रावायसैरभिमिश्रिताः**'—(वाल्मी० ९५। ४७)। इनका एक साथ रोना परम भयावन है मानो कालदूत उल्लू बोलते हैं। पंजाबीजी लिखते हैं कि शृगालका दिनमें, गदहोंका रात्रिमें और कुत्तोंका दिन-रात दोनोंमें रोना भयदायक है। कौओंका रातमें और उलूकादिका दिनमें बोलना दुःखदायक है।

२ 'बोलहिं खग०' इति। (क) यथा—'**रटहिं कुभाँति कुखेत करारा**', '**द्विजाश्च नेदुर्घोराश्च**' '**गोमायु गीध कराल खररव स्वान बोलहिं अति घने। जनु कालदूत उलूक बोलहिं बचन परम भयावने**। ७७ छंद।' पुनश्च '**कुर्वन्त्यः कलहं घोरं सारिकास्तद्रथं प्रति। निपेतुः शतशस्तत्र दारुणं दारुणारुताः॥** वाल्मी० १०६। ३१॥' अर्थात् जोरसे लड़ती हुई सैकड़ों मैनाओंके झुंड दारुण शब्द करते हुए रावणके रथपर गिरते हैं। पुनः भाव कि गीदड़, कुत्ते और गर्दभ पृथ्वीपर रोते हैं और गृद्ध्र नभपर रावणके रथपर उड़ते हुए शब्द करते हैं, इस तरह पृथ्वी और आकाश दोनोंमें अमङ्गल शब्द हो रहा है। (ख) 'जग आरति हेतू' से जनाया कि पक्षी अमङ्गल शब्द कर रहे हैं। यथा—'**गृध्रैरनुगताश्चास्य वमन्तो ज्वलनं मुखैः। प्रणेदुर्मुखमीक्षन्त्यः संरब्धमशिवं शिवाः॥** वाल्मी० १०६। २७॥' अर्थात् पीछे-पीछे गृध्र और आगे-आगे शृगाल रावणका

* बहु सकाल खर—(का०)।

मुख देखते हुए ज्वालाएँ उगलते हुए अमङ्गल शब्द कर रहे हैं। करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि 'जग आरति हेतू' का भाव यह है कि वे अपनी बोलीसे जनाते हैं कि जगत्‌के प्राणी रावणसे पीड़ित हैं (इनका दुःख शीघ्र हरण कीजिये)। अथवा 'जग आरति हेतू' 'खग' का विशेषण है अर्थात् जो जगत्‌में दुःखके कारणस्वरूप हैं—(रा० प्र०)।

३ 'प्रगट भए नभ···' इति। केतुका उदय जहाँ होता है वहाँ उत्पात, उपद्रव, घोर घटनाएँ, राजाकी मृत्यु, प्रजाको क्लेश इत्यादि अरिष्ट होते हैं। यथा—**'उदय केतु सम हित सबहीके', 'दुष्ट उदय जग आरति हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥'** (उ० १२१)। 'जग आरति हेतू' दीपदेहरी है। केतुका उदय 'जग आरतिहेतु' है और पक्षियोंका शब्द भी।

दस दिसि दाह होन अति लागा। भएउ परब बिनु रबि उपरागा॥ ९॥
मंदोदरि उर कंपति भारी। प्रतिमा स्रवहिं नयन मग बारी॥१०॥

शब्दार्थ—उपराग=सूर्य वा चन्द्रग्रहण। पर्व (पर्वन) = पुण्यकाल। **'पर्व क्लीबं महे ग्रन्थौ प्रस्तावे लक्षणान्तरे। दर्शप्रतिपदोः संधौ विषुवत्प्रभृतिष्वपि'** (इति मेदिनी), **'पर्व स्यादुत्सवे ग्रन्थौ प्रस्तावे विषुवादिषु। दर्शप्रतिपदोः संधौ स्यात्तिथेः पञ्चकान्तरे।'** (इति धरणिः)। (प. प. प्र.)। यहाँ 'रवि' के सम्बन्धसे अमावस्यासे तात्पर्य है। अमावस्या और प्रतिपदा, एवं पूर्णिमा और प्रतिपद्‌की सन्धिमें ही ग्रहण पर्व होता है।

अर्थ—दशों दिशाओंमें अत्यन्त दाह होने लगा। बिना पर्वके (परिवाकी संधिविना) ही सूर्यग्रहण होने लगे। ९। मन्दोदरीका हृदय बहुत काँप रहा है। प्रतिमाएँ नेत्रमार्गसे जल गिरा रही हैं अर्थात् रो रही हैं। १०।

नोट—१ (क) 'दस दिसि दाह०', यह चिह्न छत्रभंगका सूचक है, यथा—**'हाट बाट नहिं जाइ निहारी। जनु पुर दहँ दिसि लागि दवारी।** २। १५९। १।' सब ओर ऐसा ताप हो रहा है जैसा अग्नि लगी होनेसे होता है। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि गुलदुपहरीके फूलके वा लालचन्दनके समान परम दारुण लाल रंगकी संध्यासे लंका आच्छादित हो गयी जिससे वहाँकी भूमि दिनमें भी जलती हुई-सी दिखायी देने लगी। यथा—**'सन्ध्यया चावृता लंका जपापुष्पनिकाशया। दृश्यते सम्प्रदीप्तेव दिवसेऽपि वसुन्धरा॥** वाल्मी० १०६। २३।', **'रक्त चन्दनसंकाशा सन्ध्या परमदारुणा।** वाल्मी० २३। ६।' वही भाव यहाँ 'दस दिशि दाह' से सूचित किया है। (ख) 'अति लागा' से जनाया कि कई दिनसे दाह होता था पर आज अत्यन्त बढ़ गया है।

पं०—'दशो दिशामें दाह' का भाव कि प्रातः-संध्यामें पूर्व दिशा और सायं-संध्यामें पश्चिम दिशा रक्तवर्ण रहती है।

नोट—२ 'भएउ परब बिनु···' इति। भाव यह कि चैत्र कृ० १४ को रावणका वध हुआ। उसी दिन सूर्यग्रहण हो गया था, यह अघटित घटना हुई। इसीसे उसे उत्पात और अपशकुन कहा।

नोट—३ 'कंपति भारी'—अपशकुन देखकर। अथवा यह स्वयं अपशकुन है। (ख) 'भारी' का भाव कि जब सेना उतरकर आयी थी, तभी मन्दोदरी काँप उठी थी, उसको अपने सोहागकी चिन्ता हुई थी, यथा—**'अस कहि नयन नीर भरि गहि पद कंपित गात। नाथ भजहु रघुबीर पद अचल होइ अहिवात।** दोहा ७।' फिर राम-रावण-युद्धके आरम्भमें मातलिके घायल होनेपर जब प्रभु क्रुद्ध हुए उस समय मन्दोदरीके हृदयमें पुनः कम्प हुआ था, यथा—**'मंदोदरी उर कंप कंपति कमठ भू भूधर त्रसे।९०।'** और अब तो रावणके मृत्यु सूचक सब अपशकुन उपस्थित हैं, मृत्यु होनेको ही है, अतः अब 'उर कंपति भारी'। पुनः, पहले जो उत्पात हुए (समुद्रादिका त्रसित होना) वह ('मनुजाद सब मारुत ग्रसे' को छोड़ अन्य) सब मन्दोदरीने देखे नहीं थे, दिव्यदृष्टि देवता ही उसे जान पाये। इससे मन्दोदरीके हृदयमें तब कम्पमात्र था और अब सब उत्पात उसके दृष्टिगोचर हैं। अतः 'उर कंपति भारी'।

पुनः प्र० स्वामीजी भी ठीक ही लिखते हैं कि 'उत्पातों और अपशकुनोंको देखनेसे मन्दोदरीका हृदय काँपने लगा ऐसा समझनेकी आवश्यकता नहीं है। अत्यन्त दूरस्थित प्रेमी व्यक्तिपर जब कोई महान् संकट आ पड़ता है अथवा उसकी मृत्यु समीप आ जाती या हो जाती है तब सैकड़ों कोसोंपर स्थित दूसरे प्रेमी व्यक्तिके हृदयमें दृष्ट या श्रुत कारणके बिना भी कम्प होता है। यह अनेकोंकी अनुभूति है।

नोट ३—'प्रतिमा स्रवहिं०' यथा—'रुदन्ति देवलिङ्गानि स्विद्यन्ति प्रचलन्ति च'—(अ० रा० ५ । २९ माल्यवंतवाक्य)।

छंद—प्रतिमा रुदहिं* पविपात नभ अति बात बह डोलति मही ।
बरषहिं बलाहक रुधिर कच रज असुभ अति सक को कही ॥
उतपात असित बिलोकि नभ † सुर बिकल बोलहिं जय जए ।
सुर सभय जानि कृपाल रघुपति चाप सर जोरत भए ॥

अर्थ—प्रतिमाएँ रोती हैं, आकाशसे बहुत वज्रपात होते हैं, अत्यन्त प्रचण्ड वायु चलने लगी, पृथ्वी हिलती है, बादल रुधिर, बाल और रज बरस रहे हैं । इत्यादि, अत्यन्त अमङ्गल हो रहे हैं, उनको कौन कह सकता है ? (अर्थात् इसीसे मैं इतनेहीसे बस करता हूँ) । असंख्यों उत्पात देखकर आकाशमें देवता व्याकुल होकर 'जय जय' बोल रहे हैं (भाव कि व्याकुल हैं फिर भी स्वार्थ सधते देख प्रसन्न हो रहे हैं कि अब अवश्य शत्रुवध होनेको है) । देवताओंको भयभीत जानकर कृपालु रघुनाथजी धनुषपर बाण लगाने लगे ।

नोट—१ (क) 'पविपात नभ' प्रथम चरणमें कहकर चौथे चरणमें 'बर्षहिं बलाहक' कहा । दोनोंको पृथक् करनेका भाव कि बिना बादलके वज्रपात होता है । यथा—**निपेतुरिन्द्राशनयः सैन्ये चास्य समन्ततः । दुर्विषह्यस्वना घोरा विना जलधरस्वनम्** । वाल्मी० १०८।२९ ।' अर्थात् रावणकी सेनामें चारों ओर भयंकर और असह्य वज्रपात होने लगे और बिना बादलके ही आकाशसे बादलके गरजनेका शब्द सुन पड़ने लगा । (च० सं०) । (ख) 'अति बात बह' । भाव कि वायुमण्डल बाँधकर प्रचण्ड वेगसे वज्रपात-का-सा शब्द करती हुई प्रतिकूल चल रही है । यथा—'**प्रतिलोम ववौवायुर्निर्घातसमनिःस्वनः**'—(वाल्मी० ५१ । २४ धूम्राक्षयुद्धके समय) अर्थात् वज्रके समान शब्द करता हुआ पवन सम्मुखसे बहने लगा । पुनः, यथा—'वाता **मण्डलिनस्तीव्रा ह्यपसव्यं प्रचक्रमुः**। वाल्मी० । १०६ । २१ ।' अर्थात् मण्डलाकार बवंडरके आकारकी वायु बायीं ओर चक्कर काटकर चलने लगी । यह वायु रावणके प्रतिकूल चल रही है जिससे उसके नेत्रोंमें धूलि भरनेसे उसके नेत्र बंद हो जाते हैं, यथा—'**प्रतिकूलं ववौ वायू रणे पांसून्समुत्किरन् । तस्य राक्षसराजस्य कुर्वन् दृष्टिविलोपनम्** । वाल्मी० १०६ । २८।' (ग) 'डोलति मही' भाव कि जहाँ रावण है वहाँकी भूमि काँपने लगी, यथा—'**रावणश्च यतस्तत्र प्रचचाल वसुन्धरा**'—(वाल्मी० १०६ । २५) । (घ) 'बरषहिं बलाहक रुधिर' इति । रुधिर स्वयं ही भयंकर है, उसपर भी गर्म-गर्म बरस रहा है । यथा—'**शोणितेनाभिवर्षन्ति लङ्कामुष्णेन सर्वदा** ।' (अ० रा० । ५ । २९ माल्यवंतवाक्य) । एवं 'ववर्ष रुधिरं देवो रावणस्य रथोपरि'—(वाल्मी० १०६ । २१) । (घ) 'असुभ अति' । अर्थात् अमित और अत्यन्त अमङ्गल अशुभ हैं, राज्य-नष्ट-समय या मृत्युकालमें ही ऐसे अशुभ होते हैं । यथा—'**उल्कापाते च दिग्दाहे भूकम्पे च केतुदर्शने । त्रयोदशदिने पक्षे क्षत्रभंगो न संशयः** ॥'—(वाराहीसंहिता) । '**समुत्पेतुरथोत्पाता दारुणा रोमहर्षणाः । रावणस्य विनाशाय राघवस्य जयाय च** । वाल्मी० १०६ । १९) । अर्थात् उल्कापात, दिशाओंका दाह भूकम्प और केतुदर्शनसे तेरह दिनसे लेकर पक्षभरमें राज्य नष्ट-भ्रष्ट होता है इसमें संशय नहीं । रावणके नाश और रामजीके जयके लिये भी दारुण उत्पात होने लगे ।

२ (क) 'उत्पात अमित०' इति । भाव कि इतने ही नहीं, सभी ओर और सभी मृत्युसूचक उत्पात हो रहे हैं । वाल्मी० १०६ में १३ श्लोकोंमें उत्पातोंका वर्णन कर फिर भी उन्होंने यही लिखा है कि रावणके विनाशके लिये इस तरहके बहुत-से दारुण उत्पात हुए जिनको देख देखनेवालोंको भय होता था । यथा—'**एवं प्रकारा बहवः समुत्पाता भयावहाः । रावणस्य विनाशाय दारुणाः संप्रजज्ञिरे** । ३२ ।' (ख) 'सुर बिकल बोलहिं जय जए' । सुरमुनि निज पक्षकी रक्षा एवं भलाईके लिये व्याकुल हैं, उनको चैन नहीं पड़ता । यथा—'**स्वारथ बिबस बिकल तुम्ह होहू** । २ । २२० । २ ।' अथवा, व्याकुलसे जनाया कि वाणी गद्गद है, मुँहसे वचन नहीं निकलता । फिर यह सोचकर कि प्रभुने रावण-वध हेतु बाण लिया है और इसीसे ये उत्पात हो रहे हैं, वे जय-जयकार कर रहे हैं ।' (रा० प्र०) । पुनः, जो अमंगल हो रहे हैं वे रावणकी ओर हो रहे हैं और श्रीरामचन्द्रजीके सामने सब कल्याणकारक सौम्य निमित्त दिखायी दे रहे हैं, जो रघुनाथजीकी जय बता रहे थे ।

* स्रवहिं । † सुर मुनि ।—(का०) ।

इन्हें देख श्रीरामजी हर्षित हुए। 'रामस्यापि निमित्तानि सौम्यानि च शिवानि च। बभूवुर्जयशंसीनि प्रादुर्भूतानि सर्वशः ॥३४॥ (वाल्मी० १०६)। निमित्तानि च सौम्यानि राघवस्य जयाय च। दृष्ट्वा परमसंहृष्टो हतं मेने च रावणम् ॥ ३५ ॥' निज जयसूचक इस प्रकारके शुभ शकुनोंको देख श्रीरामजी अत्यन्त हर्षित हुए और रावणको मरा हुआ समझा। अतएव देवादि-का व्याकुल होना इससे है कि यद्यपि लंकामें घोर उत्पात देख पड़ते हैं तथापि रावण मरता नहीं, न जाने मरे या न मरे। और श्रीरामजीकी ओर मङ्गलशकुन होते देख हर्ष होनेसे जय-जयकार करते हैं। पंजाबीजीका मत है कि 'रावणका अद्भुत पराक्रम देख मरण निश्चय नहीं होता, न जानें कौन जीते यह संदेह है, अतः व्याकुल हुए। और 'जय जए' चालाकीके शब्द हैं, इसमें नाम किसीका नहीं है यद्यपि जीसे तो रघुनाथजीकी ही जय चाहते हैं पर अपनी बचत भी रक्खे हैं कि यदि रावणकी जय,हुई तो हम कह देंगे कि तुम्हारी ही तो जय बोलते थे।'

दोहा—खैंचि सरासन श्रवन लगि * छाँड़े सर एकतीस।
रघुनायक सायक चले मानहुँ काल फनीस ॥ १०१ ॥

अर्थ—कानोंतक धनुषको खींचकर श्रीरघुनाथजीने एकतीस बाण छोड़े। उनके बाण ऐसे चले मानो कालसर्प चल रहे हैं। १०१।

☞'खैंचि सरासन श्रवन लगि' इति। ताटका, सुबाहु, मारीच, विराध और कबन्धादिके मारनेमें शरासन तानना नहीं कहा गया। बालिवधमें केवल तानना कहा है; यथा—'मारा बालि राम तब हृदय माँझ सर तानि ॥ ४। ८।' और खरदूषण, कुम्भकर्ण और रावणयुद्धमें श्रवणपर्यन्त धनुषका तानना कहा गया है। क्रमसे प्रमाण यथा—

१ खरदूषण—'तानि सरासन श्रवन लगि पुनि छाँड़े निज तीर। ···॥ ३। १९।
तब चले बान कराल। फुंकरत जनु बहु ब्याल ॥'

२ कुम्भकर्ण—'सभय देव करुनानिधि जानेउ। श्रवन प्रजंत सरासन तानेउ ॥···
तब फिर कोपि तीब्र सर लीन्हा। धर ते भिन्न तासु सिर कीन्हा ॥ ७०। १, ४।'

३ रावण—मातलिके मारे जानेपर कोप करके तब 'तानेउ चाप श्रवन लगि छाँड़े बिसिख कराल ॥ ९०।' और फिर वधके समय यहाँ।

प. प. प्र.—कुम्भकर्ण युद्धमें प्रभुके बाण 'काल सर्प जनु चले सपच्छा ॥ ६७। ३।' और रावणके साथ प्रथम युद्धमें 'चले बान सपच्छ जनु उरगा ॥ ९१। १ ॥ काल कुम्भकर्णके वशमें न था अतः वहाँ 'काल सर्प' कहा। रावणके घोड़े सर्पदंश-से मरने योग्य थे अतः उसके घोड़ों आदिके मारनेके लिये 'सपक्ष उरग समान' बाण चलाये गये। पर काल रावणके वशमें था, फणीश रावणके वशमें न थे, अतः रावणका वध करनेके लिये 'काल फणीश' समान बाणोंका चलाना कहा गया। कितनी सावधानी है!

पूर्ण बल लगाना होता है तब कानतक धनुष खींचा जाता है। ३१ बाण जोड़नेका कारण कवि† स्वयं आगे देते हैं—दस सिरोंके लिये १०, २० भुजाओंके लिये २० और एक हृदयवेधनके लिये।‡

पु० रा० कु०—फणीश अकेले ही समर्थ हैं और यहाँ तो ३१ फणीश हैं तब प्राण कैसे बच सकते हैं। 'काल-फणीश' का भाव कि ये प्राण हरण करने जा रहे हैं, काल प्राण हरता ही है। यहाँ उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

सायक एक नाभि सर सोषा। अपर लगे भुज सिर करि रोषा ॥ १ ॥
लै सिर बाहु चले नाराचा। सिर भुज हीन रुंड महि नाचा ॥ २ ॥

---

* आकरषेउ धनु कान लगि—(क०)।

† रा० प्र०—'कानतक धनुष खींचनेका भाव कि रावण श्रुतिविरोधी है। और रामश्रुतिपालक हैं। अतः रावणवधहेतु श्रुति (कान) पर्यन्त खींचा। ३१ तीरका भाव कि २४ और ३० से परे।'—[पर ये भाव वाग्विलासके हैं।] ‡ पावकास्त्रेण संयोज्य नाभिं विव्याध रक्षसः।' (११। ५५)। 'पावकास्त्रेण तच्छीघ्रं शोषयामास राघवः। ततः शिरांसि बाहूंश्च चिच्छेद रावणस्य सः" ॥२८०॥

अर्थ—एक बाणने नाभि-कुण्डको सोख लिया। अन्य ३० बाण कोप करके उसके सिर और भुजाओंमें जा लगे॥१॥ बाण सिरों और भुजाओंको काटकर ले चले। सिरभुजरहित धड़ पृथ्वीपर नाचने लगा॥ २॥

नोट—१ **'नाभि सर सोषा'** इति। अ० रा० ११। ५५ एवं आ० रा० १। ११ में पावकास्त्र चलाना कहा है। और वाल्मी० ११०। २० एवं हनु० १४। ४२ में ब्रह्मास्त्रसे मारना कहा है। मतभेदके कारण मानसकार केवल 'सायक' पद देते हैं। पर 'सोषा' पदमें पावकास्त्रका भी भाव इसमें समाविष्ट कर दिया है। अग्निबाण जलको सोख लेता है, यथा—**'लछिमन बान सरासन आनू। सोखौं बारिधि बिसिष कृसानू॥** सुं० ५८।' २—**'करि रोषा'**। पूर्व बाणोंको 'काल फनीस' कहा, अब यहाँ उनका स्वभाव वा स्वरूप कहा कि रोषयुक्त जा लगे। (फणीश) शेषजीके रोषयुक्त होनेपर अग्निकी ज्वालाएँ उनके मुखोंसे निकलती हैं ही। यथा—**'सेष सुख अनल बिलोके बार बार हैं।** क० ७। २०।', **'प्रलयपावक महाज्वालमालावमन।** वि० ३८।' वैसे ही बाण रोषपूर्वक अग्निज्वालमालायुक्त होकर प्राण हरनेके लिये चले।

३—**'रुंड महि नाचा'**। (क) नाचना आनन्द जनाता है। पुनः, इस कालमें भी जहाँ-तहाँ देखनेमें आया है कि वीर क्षत्रियोंके सिर कटनेपर उनके रुण्ड नाचते और कुछ देरतक मार-काट करते रहे हैं। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि सामान्य जन्तुमात्रके सिर, अङ्गद (बाजू) आदि काटनेपर जुदा-जुदा नाचते हैं जिसको यमनभाषावेत्ता 'रक्सेजबीही' अर्थात् घायलीनृत्य कहते हैं। अथवा, (ख)—रुण्डका नाचना भी सरके प्रभावसे है, यथा—**'कूदत कबंध के कदंब बंबसी करत धावत दिखावत हैं लाघौ राघौ बान के।** क० ६। ४८।' **'गतासुर्भ्रमिवेगेण राक्षसेन्द्रोऽपतद् भुवि।** अ० रा० ११। ७३।' (ग) पंजाबीजी लिखते हैं कि 'नाचना' आनन्द सूचित करता है। 'धावना' क्रोध सूचित करता है। यहाँ धावना न कह नाचना कहा, क्योंकि रावणको हर्ष हुआ कि मेरा हठ पूर्ण हुआ, यथा—**'तौ मैं जाइ बैर हठि करिहउँ। प्रभु सर मरि भवसागर तरिहउँ'**, आज मैं मुक्त हुआ, मेरा तामसी शरीर सब पापोंसे निवृत्त हो गया। मानस-मयंककार लिखते हैं कि रामचन्द्रद्वारा मृत्यु होनेसे मङ्गल मृत्यु समझकर नाचता है। वा, वीरताकी सीमा सूचित की।

धरनि धसै धर धाव प्रचंडा। तब सर हति प्रभु* कृत दुइ खंडा॥ ३॥
गर्जेउ मरत घोर रव भारी। कहाँ राम रन हतौं पचारी॥ ४॥

अर्थ—धड़के प्रचण्ड वेगसे दौड़नेसे पृथ्वी धसने लगी, तब प्रभुने बाण मारकर (उसके) दो टुकड़े कर दिये॥ ३॥ मरते समय वह बड़े भयावन कठोर शब्दसे गरजकर बोला कि 'राम कहाँ हैं? मैं ललकारकर उनको मारूँ' ॥ ४॥

नोट—पहले धड़का नाचना कहा अब 'धावना' कहते हैं। नाचनेमें पृथ्वी नहीं धसी, प्रचण्ड वेगसे दौड़नेपर धसी। जीवित अवस्थामें साधारण चालसे पृथ्वी हिलती थी, यथा **'चलत दसानन डोलति अवनी।** १। १८२। ५।', **'तव बल नाथ डोल नित धरनी।** १०३। ५।' निर्जीव दशामें धड़के दौड़नेपर धसी।

प० प० प्र०—**'धरनि धसै धर धाव प्रचंडा'** यह चरण ज्यों-का-त्यों कुम्भकर्णके मरणमें भी मिलता है। पुनरुक्ति करनेमें भाव यह है कि वहाँका **'परे भूमि जिमि नभ ते भूधर'** यह वचन रावणके धड़के दो टुकड़ोंके साथ भी ग्रहण करना चाहिये। यह काव्यकला मानसमें अनेक स्थलोंपर प्रयुक्त की गयी है। जिसका कारण है एक तो 'विस्तारसे बचना' पर मुख्यतः द्विरुक्तिसे आवश्यक अर्थको सूचित करना।'

नोट—**'गर्जेउ मरत घोर रव भारी'**। 'गर्जन तो मुखसे होता है और सिर तो पूर्व ही कटकर मन्दोदरीके पास गये, रुण्डका गर्जना कैसे बने?', पंजाबीजी यह शंका उठाकर उसका समाधान करते हैं कि 'प्राणसमूहके एक साथ निकलनेका जो शब्द है वही गर्जन है। और **'कहाँ राम'**' यह वचन उसकी पश्यन्ती, मध्यमा वाणीमें बना हुआ था, शंकरजीने उसका संकल्प लखकर कहा। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'परा-वाणीसे यह शब्द हुआ। कथा कहनेवाले यहाँ शम्भुभगवान् हैं, वे इस वाणीको समझते हैं अतः उन्होंने कहा और उनके कथनका गोसाईंजीने अनुवाद किया, इससे इन्होंने उसका गर्जना लिखा। सामान्य मनुष्य वैखरी-वाणी समझते हैं उनसे जो विशेष हैं, वे पश्यन्ती वाणी समझ लेते हैं। देवताओंकी गति यहाँतक है। परा-वाणी समझनेकी गति भगवान् शम्भु और ब्रह्माजीमें है। इसीसे अवतारहेतु जो वाणी हुई थी वह ये

* प्रभु सर हति—(का०)।

ही समझे थे। अन्य देवता न समझे थे; जब ब्रह्माजीने उन्हें समझाया तब समझे—'निज लोकहि बिरंचि गे देवन्ह यहै सिखाइ।' जैसे नृत्यराजशिरोमणिने नृत्यके अन्तमें डमरू बजाया, तो उसके अव्यक्त शब्दका महावाक्य आदि, ज्ञानी आदि पाणिनि आदि और चतुर्दश सूत्र आदिने, ग्रहण किया एवं कृष्ण भगवान्‌की बाँसुरीने भी।'

नोट—किसीका मत है कि सिरोंका कटना कहकर रुण्डकी बात कहने लगे अब फिर सिरोंका ही गर्जना कहते हैं और कोई कहते हैं कि यहाँ कल्पभेदसे कथामें भेद पड़ा उसीको कविने यहाँ दिखाया है। यहाँ रावणमरण दो प्रकारसे दिखाया। किसीमें रावणका सिर काटा गया—'लै सिर बाहु चले नाराचा' तथा किसी कल्पमें नहीं काटा गया—'गर्जेउ मरत घोर रव भारी।'

☞ मानस-मतानुसार रावण अन्तर्निष्ठ भक्त था। उसका रामप्रति वैरभाव था, वह उसने अन्ततक निबाहा।

डोली भूमि गिरत दसकंधर। छुभित सिंधु सरि दिग्गज भूधर॥ ५॥
धरनि परेउ द्वौ खंड बढ़ाई। चापि भालु मर्कट समुदाई॥ ६॥

अर्थ—दशकंधरके गिरते ही पृथ्वी हिल गयी, नदी और समुद्र खलबला उठे, दिग्गज और पर्वत हिलने लगे॥५॥ वह दोनों टुकड़ोंको बढ़ाकर पृथ्वीपर भालु-वानर-समुदायको दबाकर गिर पड़ा॥ ६॥

बं० पा०—मरते समय दोनों खण्ड बढ़ानेका भाव कि मरणपर भी वैरभाव छोड़ दूसरा भाव न होने दिया, पूर्व भाव दृढ़ रक्खा।

कुम्भकर्ण	रावण
१ **धरनि धसै धर धाव प्रचंडा।**	**धरनि धसै धर धाव प्रचंडा।**
तब प्रभु काटि कीन्ह दुइ खंडा॥	**तब सर हति प्रभु कृत दुइ खंडा॥**
परे भूमि जिमि नभते भूधर।	**धरनि परेउ द्वौ खंड बढ़ाई।**
हेठ दाबि कपि भालु निसाचर॥	**चापि भालु मर्कट समुदाई॥**

☞ कुम्भकर्णका रुण्ड जबतक पूरा रहा तबतक उसमें प्राण रहे, दो खण्ड होते ही पर्वत (जड़) सरीखे गिरे, उनमें शक्ति नहीं रह गयी और रावणके धड़के टुकड़े हुए तब भी उनमें शक्ति रही, इसीसे वहाँ आकाशसे पर्वतके समान गिरना कहा और यहाँ दोनों खण्डोंको बढ़ाके पृथ्वीपर गिरना कहा। यह विशेषता दिखानेके लिये चेतना-सूचक 'परेउ' और 'बढ़ाई' पद यहाँ दिये।

पुनः कुम्भकर्णके शरीरसे कपि, भालु और निशिचर तीनों दबे। इससे जनाया कि रावणकी पीछेसे भेजी हुई सेना भी वहाँ आ गयी थी; और यहाँ भालु-मर्कटका दाबना कहा; क्योंकि प्रायः निशाचरी-सेना सब मारी गयी। रही-सही जो थी वह अन्तिम युद्धमें भाग ही गयी थी। यथा—'अति कोप करहिं प्रहार मारत भजि चले रजनीचरा। ९९।' फिर सेना नहीं आयी। अन्तमें रावण अकेला ही लड़ता रहा था, निशिचर वहाँ रहे ही नहीं इससे उनको दबाना न कहा। **'मैं अकेल कपि भालु बहु माया करउँ अपार'** ऐसा विचारकर उसने 'अंतरहित होइ निमिष महुँ कृत माया बिस्तार। ९९। यह अन्तिम साहस उसने किया।

२ रावणका धड़ नाचा और फिर दौड़ा भी,—'सिर भुज हीन रुंड महि नाचा'; कुम्भकर्णका धड़ नाचा नहीं। भेदका भाव यह है कि कुम्भकर्णको निश्चय था कि ये भगवान् हैं, यह समझकर वह प्रथम ही आनन्दमें मग्न होकर युद्धको चला था, यथा—'राम रूप गुन सुमिरत मगन भएउ छन एक। ६२।' और, रावणको सन्देह था, 'जौं जगदीस लीन्ह०'। इससे मरनेपर सन्देह निवृत्त हुआ और वह नाचने लगा। अथवा, इससे रावणका उत्साह अधिक दिखाया।

☞ रावणमें मेघनाद एवं कुम्भकर्ण दोनोंके पुरुषार्थ, गुण और बलका एकत्र समावेश था। पाठक स्वयं मिलान करके देख लें। कुछ ही अंश जहाँ-तहाँ मैंने दे दिये हैं।

रा० प्र०—१ 'कुछ भी विशेष प्राणियोंके प्राणप्रयाणसमय अबतक उत्पात देखे सुने जाते हैं और रावणमें तो इस मानस-ग्रन्थ और वाल्मीकीय रामायण, इतिहास और पुराणोंमें, अनन्वयालङ्कार सिद्ध ही है। सिंधु आदिका क्षुभित होना

कहकर जनाया कि जो मर्यादा कभी नहीं छोड़ते उन्होंने भी मर्यादा छोड़ दी। २—'परेउ द्वौ खंड बढ़ाई' का भाव कि मरते समय भी पीछे न हटा शरीरको आगे बढ़ाकर भालु-वानरसमूहको दाबकर मारा। बढ़ाई=शरीर बढ़ाकर एवं आगे बढ़ाकर।

मंदोदरि आगे भुज सीसा। धरि सर चले जहाँ जगदीसा॥ ७॥
प्रबिसे सब निषंग महुँ जाई। देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाई॥ ८॥

अर्थ—बाण भुजाओं और सिरोंको मन्दोदरीके आगे रखकर वहाँ चले जहाँ जगदीश श्रीरामजी थे॥ ७॥ और सब जाकर तरकशमें प्रवेश कर गये। देवताओंने देखकर नगाड़े बजाये॥ ८॥

नोट १—'मंदोदरि आगे भुज सीसा।' इति। मन्दोदरीके सामने रखनेका भाव कि अब देवता और मन्दोदरी जान लें कि रावण मर गया। पंजाबीजीका मत है कि 'इससे देवताओंको सन्देह न रह जायगा, वे विश्वास कर सकेंगे कि अवश्य वह मर गया तभी तो मन्दोदरीके पास सिर भेजा गया। दूसरे, रावणके सम्मान हेतु ऐसा किया जिसमें श्वान आदि न खराब करें।'

बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि मन्दोदरीके पास सिर और भुजाओंको बाणद्वारा भेजनेके कारण ये हैं—'जानकीशोक-प्रतीकारार्थ, हनुमान्‌जी और त्रिजटाके वचनोंके सत्कारार्थ, रावणने शिक्षा न मानी उसका फल जो उसने समझा था उसके निश्चयार्थ एवं यह विश्वास दिलानेको कि अब वह मर गया।' पुनः, भाव कि रावणने मायाके झूठे सिर दिखा-दिखाकर श्रीजानकीजीको रुलाया था, हम सच्चे सिर दिखाते हैं। (वं० पा०) यह भाव वाल्मीकीय आदिके रावण-चरितके अनुसार कहा गया है।

२ पूर्व कहा था कि 'लेइ सिर बाहु चले नाराचा' तब यह न बताया था कि कहाँ ले गये, अब बताया कि कहाँ ले गये। इससे तब देवताओंने दुन्दुभी न बजायी कि अभी रावणके सिर फिर न हो जायँ, बाण पूर्वकी तरह अब भी उन्हें नभमें लिये जाते होंगे।

३ 'देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाई'। मन्दोदरीके आगे सिर रखकर फिर तरकशमें प्रविष्ट हुआ देख देवताओंको हर्ष हुआ। भाव कि अब सत्य ही रावण मर गया। पुनः सिर उत्पन्न होनेको होते तो बाण तरकशमें अभी न लौटते। ☞ कार्य करके ही बाण तरकशमें प्रवेश करते हैं, यथा—(१) 'छत्र मुकुट ताटंक तब हते एक ही बान। सबके देखत महि परे मरम न कोऊ जान॥ अस कौतुक करि रामसर प्रबिसेउ आइ निषंग॥ १३॥', (२) 'जहँ तहँ चले बिपुल नाराचा। लगे कटन भट बिकट पिसाचा॥'''पुनि रघुबीर निषंग महुँ प्रबिसे सब नाराच॥ ६७।' कुम्भकर्णसे कपिसेनको विचलित देख निशाचरसेना विविध प्रकारकी आयी थी। उसके नाशके लिये ये बाण एक साथ छोड़े गये थे, वे काम करके लौट आये। तथा यहाँ—(३) 'लेइ सिर बाहु चले नाराचा।'''प्रबिसे सब निषंग महुँ जाई॥'

तीन ही स्थानोंपर बाणोंका प्रवेश करना लिखा है। खर-दूषणयुद्धमें भी नाराचादिका प्रयोग हुआ पर वहाँ नहीं लिखा है। वाल्मी० १११ में भी तरकशमें प्रवेश करना कहा है। यथा—'स शरो रावणं हत्वा रुधिरार्द्रीकृतच्छविः। कृतकर्मा निभृतवत्स्वतूणीं पुनरागमत्॥ २०।' (च० सं०)।

तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि संभु चतुरानन॥ ९॥
जय जय धुनि पूरी ब्रह्मंडा। जय रघुबीर प्रबल भुजदंडा॥ १०॥
बरषहिं सुमन देव मुनि बृंदा। जय कृपाल जय जयति मुकुंदा॥ ११॥

शब्दार्थ—मुकुन्द=मोक्ष देनेवाले भगवान्—'मुक्तिं ददाति मुकुन्दः'।

अर्थ—उसका तेज प्रभुके मुखमें समा गया। * शिवजी और ब्रह्माजी देखकर प्रसन्न हुए॥ ९॥ ब्रह्माण्डमें

* रावस्य च देहोत्थं ज्योतिरादित्यवत्स्फुरत्॥ अ० रा० ११। ७८, आ० रा० २८४ यथा 'प्रविवेश रघुश्रेष्ठं देवानां पश्यतां सताम्। देवा ऊचुरहोभाग्यं रावणस्य महात्मनः॥ ७९॥

जयजयकारकी ध्वनि भर गयी। 'प्रबल भुजदण्डवाले रघुवीरकी जय हो!' ॥ १० ॥ देव-मुनि-वृंद फूल बरसाते हैं और कहते हैं कि 'हे कृपालो! आपकी जय! हे मुकुन्द भगवान्! आपकी जय हो! जय हो!!' ॥ ११ ॥

'तासु तेज समान प्रभु आनन'—तासु तेज प्रभु बदन समाना। ७०। ८।' पृष्ठ ३६७–३७० देखिये।

करु०—'मुखमें तेज प्रवेश कर जानेका भाव यह है कि सारूप्य-मुक्ति पाकर सखारूप होकर परविभूतिको अन्तर्धान करा दिया है। देखिये, कागभुशुण्डिजी श्रीरामजीके मुखमें प्रवेश कर गये थे, फिर निकलकर प्रत्यक्ष हो गये। दूसरा अर्थ यह है कि उसकी आत्माका तेज प्रभुके आननके समान है; सामान्याधिकरण अभेदरूपकालङ्कार है। यह जीव श्रीरामचन्द्रकी मूर्तिका तेज है। नित्य विभूतिमें नित्यजीव मुखमण्डलका तेज है, मुक्त मुमुक्षु वक्षःस्थलके तेज हैं और बद्धजीव कटि जानुनीके तेज हैं। तत्त्वरूप सबका एक है। वा, रावणके बल-प्रतापादि सबका तेज मुखमें समा गया। जैसे परशुरामका तेज समाया था।

मा० म०—अद्वैतमतानुसार वह रामचन्द्रजीमें लीन हो गया और द्वैतमतानुसार यह अर्थ होगा कि उसका तेज श्रीरामचन्द्रजीके बदनके समान हो गया अर्थात् उसने सारूप्य मुक्ति पायी और अन्तमें कविने कहा भी है कि वह धाममें प्राप्त हुआ।

रा० प्र०—जय और विजयको तीन जन्मका शाप था। तब उसकी मुक्ति कैसे होगी? प्रतापी सखा (भानुप्रताप) और जलन्धर जो रावण हुए और वे मुक्त हुए तो **'सीताहरन तात जनि कहेहु पिता सन जाइ। जो मैं राम त कुलसहित कहिहि दसानन आइ॥'** यह वचन असत्य होता है। इसका समाधान सारूप्य माननेसे ठीक बनता है; प्रभुने स्वयं दशरथजीसे कहा ही है **'तात कृपा तव पुन्य प्रभाऊ। जीतेउँ०।'**

प० प० प्र०—यद्यपि अद्वैतमतानुसार इसका अर्थ 'सायुज्य मुक्ति होता है तथापि मानसके पूर्वापर वचनोंके समन्वयसे ही अर्थ लेना उचित है। **'सीताहरन तात जनि कहेउ पिता सन जाइ। जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥ ३। ३१।'** तथा **'तुम्हहू दियो निज धाम'** (मन्दोदरीवाक्य) ये वचन सायुज्य मुक्तिके विरोधी हैं। इन वचनोंसे सिद्ध होता है कि रावणको सालोक्य या सामीप्यमुक्ति प्राप्त हुई। वाल्मी० उ० के रावण-सनकादिक तथा रावण-नारद-संवादसे भी इस अर्थकी पुष्टि होती है। तब **'तेज समान प्रभु आनन'** का अर्थ क्या है?

समाधान—इसका अर्थ श्रीहनुमान्‌जीके **'जाके बल लवलेस ते जितेहु चराचर झारि'** इन वचनोंसे स्पष्ट हो जाता है। **'तेजः प्रभावे दीप्तौ च बले शुक्रेऽपि'** इत्यमरे, तेज=बल, पराक्रम आदि। **'तेजो धाम्नि पराक्रमे'** इति विश्वः। तेज तपसे होता है, यथा—**'बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा'**। रावणको घोर तपश्चर्यासे बल, पराक्रम, प्रभाव और तेज आदि प्राप्त हुए थे, वह भगवान्‌का अंश होनेसे उन्हींमें प्रविष्ट हो गया और रावणको सालोक्य या सामीप्यकी प्राप्ति हुई।

वै०—माधुर्यलीला ज्ञान-देशमें अर्थ इस प्रकार है कि विवेक, विराग, षट्संपत्ति और मुमुक्षुतादि चार साधन हैं। रावणमें ये चारों हैं। **'खरदूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहिं को मारै बिनु भगवंता॥'** यह विवेक है। **'तौ मैं जाइ बैर हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ॥'** यह वैराग्य है। **'होइ भजन नहिं तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥'** यह षट्संपत्ति और 'चला अकेल' यह मुमुक्षुता है। इत्यादि साधन कर संसार-सुखसे निवृत्त हो वीरतारस ज्ञान धारणकर देहरूप माया आवरण त्यागकर रावणका प्रकाशमय शुद्ध आत्मारूप निकलकर श्रीरामके मुखमें समा गया।

कर्मदेशी अर्थ इस प्रकार है—कर्मका मूल धर्म है। धर्मके आठ अङ्ग हैं—**'इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा। अक्षोभ इति मार्गोऽयं धर्मश्चाष्टविधः स्मृतः॥'** रावणमें ये अष्टाङ्ग सुनिये—समरयज्ञ इज्या, बाणविद्याध्ययन, प्रहार-सहन तप, वीरता, सत्य, शूरता, धृति, विमुखवीरको न मारना क्षमा है। अक्षोभ अशंक होकर, रामबाणतीर्थमें प्राणदान किया है। अतः उसका प्रकाशमय शुद्ध जीव प्रभुके धामके आनन-द्वारमें समा गया, धामवास प्राप्त हुआ।

उपासना-देशमें नवधा भक्ति उसने जो की वह यह है—शूर्पणखासे रामचरित सुनना श्रवणभक्ति, **'खरदूषन मोहि सम बलवंता।…'** कीर्तन, 'सुर रंजन भंजन महि भारा।' स्मरणभक्ति, 'जौं जगदीस लीन्ह अवतारा।…हठ करऊँ' अर्चन, **'मन्त्र दृढ़ एहा'**—सख्य, **'प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ'** दास्य और आत्म-निवेदन है। इसे करके देहसंबंध

त्याग प्रभुका संबंधी होकर चला तो उसका तेज प्रभुके मुखके समान देख पड़ा। (इसी तरह ऐश्वर्यमें तीनों देशके अर्थ उन्होंने लिखे हैं। विशेष संगत न समझकर हमने उद्धृत नहीं किया)।

वि० त्रि०—जिस कल्पमें भानुप्रताप रावण हुआ, उस कल्पमें ब्रह्माका रामावतार हुआ था। अतः उस कल्पके रावणको सायुज्य मुक्ति मिली। इसीसे उसके तेजका सरकारके मुखमें समाना कहते हैं। भुशुंडिजी सदेह मुखमें प्रवेश कर गये थे, अतः सदेह निकल आये। जैसे कोई जल बोतलमें बंद करके गंगामें छोड़ दे, तो वह जल फिर निकाला जा सकता है, और यदि बोतलमें बंद नहीं है, तो वह गङ्गाजलमें मिल जायगा, निकाला नहीं जा सकता। शेष तीन कल्प, जिनमें वैकुण्ठनाथ तथा क्षीरशायी भगवान्‌के रामावतार हुए थे, उन कल्पोंके रावणोंको धामकी प्राप्ति हुई। यहाँ कल्पभेदसे जो कथामें भेद पड़ा उसे गोस्वामीजीने दिखाया। इसी भाँति रावण-मरण भी दो प्रकारसे दिखाया गया है। किसीमें रावणका सिर काटा गया (यथा **'लै सिर बाहु चले नाराचा'**) तथा किसी कल्पमें नहीं काटा गया (यथा **'गर्जेउ मरत घोर रव भारी'**)।

'हरषे देखि संभु चतुरानन'

☞ मुक्ति देख प्रसन्न हुए। शिवजी और ब्रह्माजीका ही हर्ष इससे कहा—कि इन्हीं दोनोंने उसको वर दिये थे। पुनः, शिवजी इसके इष्टदेव थे और ब्रह्माजीके पुत्र पुलस्त्यजीका यह नाती था, अतः मुक्ति देख प्रसन्न हुए। पुनः, अन्य देवतादिको जो प्रसन्नता हुई वह गति देखकर नहीं हुई वरन् उसकी मृत्यु देखकर हुई है अतः उन्हें न कहा।

मा० मु० टी०—अपने स्वामीकी कृपाका प्रवाह देखकर हर्षित हुए। वा, हमने जो वर दिया उसे रघुनाथजीने अंगीकार किया, यह अपनी कृपा (क्रिया) की सफलता जान हर्षित हुए।

पां०—इससे यह जनाया कि जिसके वंशज और जिसके शिष्यकी अगति होती है वह दुखित होता है।

नोट—१ 'जय रघुबीर प्रबल भुजदंडा।' इस प्रकार जय बोलते हैं, क्योंकि प्रबल भुजदंडकी वीरतासे ही रावण-वध हुआ। इन्द्रादिको भी विजय करनेवाले महाभट रावणका वध इन्होंने किया, अतः यह विशेषण दिया। २—**'जय कृपाल जय जयति मुकुंदा'**। ये विशेषण साभिप्राय हैं। 'कृपालु' का भाव कि हमपर कृपा करके इसका वध किया। **'मुकुंदा'** का भाव कि कृपा करके इसे मुक्ति दी। मोक्षदाता ही मोक्ष दे सकता है। कृपालु ही कृपा कर सकता है। यहाँ 'परिकरांकुर अलंकार' है।

नोट—यहाँ दो अर्धालियोंमें जयजयकार है। प्रथम रामदलने जयजयकार की फिर देवताओंने जयजयकार किया। अथवा, प्रथम अर्धालीमें दोनोंका जयजयकार करना कहकर फिर पृथक्-पृथक् कहनेमें प्रथम देवताओंका जयकार कहा और तत्पश्चात् श्रीरामदलका।*

छन्द—जय कृपाकंद मुकुंद द्वंद्वहरन सरन-सुखप्रद प्रभो।
खल दल-बिदारन परम-कारन कारुनीक सदा बिभो॥
सुर सुमन बरषहिं हरष संकुल† बाज दुंदुभि गहगही।
संग्राम अंगन राम अंग अनंग बहु सोभा लही॥

* यथा वाल्मी० १०८—'ततो विनेदुः संहृष्टा वानरा जितकाशिनः। वदन्तो राघवजयं रावणस्य च तद्वधम्। २६। अथान्तरिक्षे व्यनदत्सौम्यस्त्रिदशदुंदुभिः।... २७। निपपातांतरिक्षाच्च पुष्पवृष्टिस्तदाभुवि। किरंती राघवरथं दुरवापा मनोरमा॥ २८॥ आविवेश महान्हर्षो देवानां चारणैः सह।... ३०। ततस्तु सुग्रीवविभीषणादयः सुहृद्विशिष्टाः सहलक्ष्मणस्तथा। समेत्य हृष्टा विजयेन राघवं रणेऽभिरामं विधिनाभ्यपूजयन्। ३३।' अर्थात् वानर रावणवध और रामविजय पुकार-पुकार हर्षसे नाद करने लगे। आकाशमें देवताओंके नगाड़े बजने लगे, और वे रामजीके रथपर फूल बरसाने लगे। देवता और चारण सब बड़े हर्षित हुए। सुग्रीव, विभीषण, अंगद तथा अन्य सुहृदों सहित लक्ष्मणजी श्रीरामजीकी जीत देखकर प्रसन्न हो रामजीकी स्तुति करने लगे। (च० रा० सर्ग १११)।

† सुर सिद्ध मुनि गंधर्व हरषे।

शब्दार्थ—संकुल=परिपूर्ण, भरा हुआ, समूह। विभु=समर्थ, व्यापक, सर्वगत।

अर्थ—हे कृपारूपी मेघ! हे मोक्षदाता! हे द्वन्द्व (सुख-दुःख, राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि) के हरनेवाले! हे शरणागतको सुख देनेवाले! हे प्रभो! हे दुष्टदलके नाशक! हे सर्वकारणोंके कारण (अशेष कारण परं)! हे सदा करुणा करनेवाले! हे सदा समर्थ एवं विभो! आपकी जय! देवसमूह आनंदमें भरे हुए फूल बरसाते हैं और धमाधम-धनाधन नगाड़े बज रहे हैं। रणभूमिमें श्रीरामचन्द्रजीके शरीरमें अनेक कामदेवोंकी शोभा प्राप्त है।*

नोट—१ 'परमकारण'—जहाँ तक एक दूसरेके कारण मिलते हैं और फिर जिसका कारण कोई नहीं है वह परम कारण है। बा० मं० श्लोक ७ 'अशेषकारणपरम्' देखिये। २ 'सदा कारुणीक'। अर्थात् करुणा त्याग करनेका समय प्राप्त होनेपर भी आप करुणाका त्याग नहीं करते। यथा—'रहत न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिये की॥' **साहिब होत सरोष सेवकको अपराध सुनि। अपने देखे दोष सपनेहु राम न उर धरेउ॥** दो० ४७।'

पं०—यहाँ 'राम-अङ्ग' की शोभामें 'अनंग' की शोभा कहना सुन्दरता मात्रमें तो बनती है पर इसमें कवीश्वर अवश्य दोष देंगे। इसलिये इसका अर्थ दूसरी प्रकार यों कर सकते हैं कि अनंगके भी अङ्गके ये सहायक हैं अथवा, सगुण रूपमें जिनके सब अङ्ग हैं और निर्गुणरूपमें जिनका कोई अङ्ग नहीं या जो अनंगके भी अङ्ग हैं (अर्थात् जो सबके सहायक हैं और जिनका सहायक दूसरा नहीं) उन्होंने बहुत शोभा पायी।

गौड़जी—खरदूषणसे युद्धके प्रसङ्गपर भगवान्‌की मोहिनी छवि देखी गयी है। रावणवधपर भी वही मोहिनी छवि दिखायी। तात्पर्य यह कि यह रणलीला भी भगवान्‌की मोहिनी मायाका खेल था। अनंग भी धनुषबाणसे **'सकल भुवन अपने बस कीन्हें'**। यह बहु अनंगकी शोभा लही है। अनंग शब्द भी खास खूबी रखता है। काम न कहकर अनंग इसलिये कहा जिससे निराकार और साकार दोनों भावोंकी एकता सूचित हो।

छन्द—सिर जटा मुकुट प्रसून बिच-बिच अति मनोहर राजहीं।
जनु नीलगिरि पर तड़ित पटल समेत उडुगन भ्राजहीं॥
भुजदंड सर कोदंड फेरत रुधिर कन तन अति बने।
जनु रायमुनीं तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने॥

अर्थ—सिरपर जटाओंका मुकुट है, बीच-बीचमें फूल अत्यन्त मनहरण शोभा दे रहे हैं। मानो नीलगिरिपर बिजलीका समूह नक्षत्रोंसहित शोभित हो रहा है। भुजदण्डोंसे धनुष और बाण घुमा रहे हैं, खूनकी बूँदोंके छींटे शरीरपर अत्यन्त सुंदर लगते हैं मानो तमाल वृक्षपर बहुतसी ललमुनियाँ अपने बड़े आनन्दमें बैठी हैं।

नोट—१ **'जनु नीलगिरि पर तड़ित०'** इति। (क) साँवला नीलवर्ण शरीर नीलपर्वत है, जटाके बाल तड़ितसमूह हैं, यथा—**'कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जटजूट बाँधत सोह क्यों। मरकतसैल पर लरत दामिनि कोटि सों जुग भुजग ज्यों॥** आ० १८ छन्द।' श्वेत फूल नक्षत्र हैं।—यहाँ अनुक्तविषयावास्तूत्प्रेक्षा है। (ख) धनुषबाणका फेरना वीररूपमें भूषण है, अतः इसे भी कहा। (ग) **"जनु रायमुनी तमाल पर बैठी०'** नीलतमालवृक्ष रामजीका श्यामशरीर है, रक्तकण रायमुनिया हैं। रक्तबुंद स्थिर हैं इससे ललमुनियोंके सुखपूर्वक बैठनेकी उपमा दी। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है। ३—'रुधिरकण,। रावणके शरीरमें बाण लगनेसे जो रक्तबिंदुके छींटे उड़कर श्रीरामजीके अङ्गपर पड़े ये वही हैं। जैसे पक्षी बाहरसे आकर वृक्षपर बैठते हैं, वैसे ही ये रक्तविंदु बाहरसे उड़कर इनके शरीरपर पड़े हैं। अथवा, (वाल्मीकि० आदिके अनुसार) रावणके बाणोंके लगनेसे शरीरमेंसे जो रुधिर निकला वही बूँदसी दीखती हैं।

---

* मिलान कीजिये— हत्वा युद्धे दशास्यं त्रिभुवनविषमं वामहस्तेन चापं भूमौ विष्टभ्य तिष्ठन्नितरकरधृतंभ्रामयन्बाणमेकम्॥ आरक्तोपांतनेत्रः शरदलितवपुः सूर्यकोटिप्रकाशो वीरश्रीबंधुरांगस्त्रिदशपतिनुतः पातु मां वीर रामः॥' अर्थात् त्रैलोक्यको कठिन दुःख देनेवाले रावणको युद्धमें मारकर बाम हाथसे धनुषको भूमिपर टेके खड़े और दक्षिण हाथमें बाण लिये घुमा रहे हैं। रक्तवर्ण अरुण नेत्र रावणके बाणोंसे चोट खाये हुए शरीरमें करोड़ों सूर्यका प्रकाश है, वीर-श्रीसे शोभित अंगवाले, देवराज इन्द्रादि देवताओंसे स्तुति किये गये वीरशिरोमणि राम हमारी रक्षा करें। (अ० रा० १२। ८८)।

☞ १—साधारणतया तो रुधिरकणका शरीरपर होना घृणा उत्पन्न करता है और अशोभित होता है। पर वीररसमें समरांगणमें शत्रुपर विजयी होनेपर ये ही रक्तके छींटे वीरकी शोभा हो जाते हैं। वह दूषण ऐसे समयमें भूषणरूप हो जाता है। इसी प्रकार अन्य सब रसोंमें भी दूषण भी भूषणरूप हो जाते हैं। २—इस छटासे मिलान कीजिये—

गी० लं० १६—'राजत राम काम सत सुंदर।
रिपु रन जीति अनुजसँग सोभित फेरत चाप बिसिष बनरुह कर॥
स्याम सरीर रुचिर श्रमसीकर सोनितकन बिचबीच मनोहर।
जनु खद्योत निकर हरिहित गन भ्राजत मरकत सैल सिखर पर॥
घायल बीर बिराजत चहुँ दिसि हरषित सकल रीछ अरु बनचर।
कुसुमित किंसुकतरु समूह महँ तरुन तमाल बिसाल बिटप बर॥
राजिवनयन बिलोकि कृपा करि किये अभय मुनि नाग बिबुध नर।
तुलसिदास यह रूप अनूपम हृदयसरोज बसि दुसह बिपतिहर॥
तथा सोनित छींटछटानि जटे तुलसी प्रभु सोहैं महाछबि छूटी।
मानो मरक्कत सैल बिसाल में फैलि चलि बरबीरबहूटी॥ क० लं० ५१।'

नोट—अ० रा० में इस छटाको यों कहा है—'हत्वा युद्धे दशास्यं त्रिभुवनविषमं वामहस्तेन चापं भूमौ विष्टभ्य तिष्ठन्नितरकरधृतं भ्रामयन्बाणमेकम्। आरक्तोपान्तनेत्रः शरदलितवपुः सूर्यकोटिप्रकाशो वीरश्रीबन्धुराङ्गस्त्रिदशपतिनुतः पातु मां वीररामः॥ ११। ८८।' अर्थात् त्रिलोकीके कण्टक रावणको युद्धमें मारकर बायें हाथसे धनुषको पृथ्वीपर टेके खड़े हैं तथा दूसरे हाथसे एक बाण लेकर उसे घुमा रहे हैं, जिनके नेत्रोंके उपान्तभाग कुछ लाल हो रहे हैं, बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुआ शरीर करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशित हो रहा है……'।

दोहा—कृपादृष्टि करि बृष्टि प्रभु अभय किए सुरबृंद।
भालु कीस सब हरषे* जय सुखधाम मुकुंद॥१०२॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने कृपादृष्टिकी वर्षा करके देववृन्दको निर्भय किया। सब वानर और भालु प्रसन्न हुए। (और इस तरह जय-जयकार करने लगे कि) हे सुखधाम! हे मुक्तिदाता! आपकी जय हो। १०२।

पं०—देवता तो रावणवधसे ही अभय हो गये थे फिर भी कृपादृष्टि करके अभय करनेमें भाव यह है कि हम तुम्हारे सदा सहायक हैं वानरभालु इनके अंश हैं। इससे देवताओंकी प्रसन्नतासे ये भी प्रसन्न हुए। अथवा, प्रभुकी शोभा देख प्रसन्न हुए।

वि० त्रि०—'वर्षा घोर निसाचर रारी। सुरकुल सालि सुमंगलकारी' है। सो यह स्वातीकी अन्तिम वर्षा है, इससे सुरकुलरूपी धानका पूरा मङ्गल हो गया। इसीलिये, इस वृष्टिको कृपादृष्टिकी वृष्टि कहते हैं। 'अभय किये सुरबृंद' कहकर यह दिखलाया कि वर्षा समाप्त हो गयी, अब धान अभय हो गये, उन्हें सूखाका भय नहीं रह गया। रावण देवतारूपी धानके लिये सूखा (दुकाल) के समान था। यथा—'यह निसिचर दुकाल सम अहई। कपि कुल देस परन अब चहई॥'

नोट—१ रावणवध होते ही देववृन्दके नगाड़े और जय-जयकारकी ध्वनिमें इनकी ध्वनि न सुन पड़ती थी, अतः इनको पीछे कहा। पुनः, देवता बहुत कालसे पीड़ित थे इससे उनका सुख प्रथम कहा। पुनः, देवता आकाशमें हैं। उन्होंने मंदोदरीके पास सिर गया प्रथम देखा इससे प्रथम उनका हर्ष कहा—'देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाई'। उनका शब्द सुन वानरभालुको रावण-मरणका बोध हुआ तब वे भी जय-जयकारमें सम्मिलित हुए। अतः उनको पीछे कहा?

२—इस प्रसंगमें 'मुकुंद' शब्द तीन बार आया है। 'जय कृपाल जय जयति मुकुंदा', 'जय कृपाकंद मुकुंद'

* हरषे बानर भालु सब—(का०)।

और 'जय सुखधाम मुकुंद'। प्रथम और दूसरी बार देव, मुनि, सिद्धादिके और तीसरी बार वानर-भालुके मुखसे यह शब्द कहा गया। इससे जनाया कि रावणकी मुक्ति देख सबको हर्ष हुआ, इसीसे सभीने यह विशेषण दिया है।

गौड़जी—विशेषणात्मक जितने शब्द आते हैं वह साभिप्राय होते हैं। 'मुकुंद' शब्द रावणवधके बाद बराबर दो अभिप्रायोंसे आया है। एक तो यह कि भगवान्‌ने रावण-जैसे पापीको मुक्ति दी, और दूसरे और अधिक विशेषरूपसे सारे विश्वको रावणके बन्धनसे छुड़ाया। बन्धनसे स्वयं मुक्त हो जानेका सबको स्वाभाविक आनन्द है और यही 'मुकुन्द' के जयकारका सबसे प्रबल हेतु है। सुखके धाम बन्धनसे मुक्त करनेवालेकी जय हो! जय हो !! जय हो !!!

राम-रावण युद्ध और रावण-वध प्रकरण समाप्त हुआ

मन्दोदरी-शोक-प्रकरण

पति सिर देखत मंदोदरी। मुरुछित बिकल धरनि खसि परी॥ १॥
जुबतिबृंद रोवत उठि धाईं। तेहि उठाइ रावन पहिं आईं॥ २॥

अर्थ—पतिका सिर देखते ही मन्दोदरी व्याकुल और मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी॥ १॥ स्त्रीवृन्द रोती हुई उठ दौड़ीं और उसको उठाकर रावणके पास आयीं॥ २॥

नोट १—(क) सिर और भुजाओंको देखकर मन्दोदरी व्याकुल हो मूर्च्छित हो गयी। मूर्च्छामें कहीं प्राण न निकल जायँ यह डरकर अन्य सब स्त्रियाँ उसे रणभूमिमें लायीं जिसमें रावणके शवको देखकर वह रो उठे, उसके हृदयका दुःसह्य शोक अश्रुपातद्वारा कम हो जाय तो प्राण छूटनेका भय न रहेगा। ये सब युवतिवृन्द रानियाँ हैं। यथा—**'देव जच्छ गन्धर्व नर-किन्नर नाग कुमारि। जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदर बर नारि॥ बा० १८२॥'** और इनके साथ इनकी खवासें (दासियाँ) भी होंगी। भागवतमें हजारों राक्षसियोंका साथमें आना कहा है वैसे ही यहाँ कविने कहा, परिचय न दिया, यथा—**'ततो निष्क्रम्य लङ्काया यातुधान्यः सहस्रशः। मन्दोदर्या समं तस्मिन्प्ररुदत्य उपाद्रवन्॥** भा० ९। १०। २४॥' अर्थात् तब हजारों राक्षसियाँ लङ्कासे निकलकर मन्दोदरीके साथ विलाप करती हुई उसके पास आयीं। (ख) **'तेहि उठाइ'** से जनाया कि मूर्च्छित दशामें उठा ले आयीं। उसकी मूर्च्छा अभी नहीं जगी है। अन्य रानियाँ मूर्च्छित नहीं हैं। इससे यह भी दिखाया कि अन्य स्त्रियाँ वैसी पतिव्रता न थीं।

पं०—रणभूमिमें सबके आनेका कारण कि—(क) सिर-भुज देख अत्यन्त शोक हुआ है अब शरीर भी देख लें। वा, (ख) पूर्व इसके कटे सिर पुनः उत्पन्न हो जाते थे कहीं अब भी वैसे ही न हो गये हों, यह देखने आयीं। वा, (ग) विचारा कि जिनके सङ्गसे हम रानियाँ थीं जब वह ही न रहा तब हम भी क्यों न खूब रो पीट लें (प्राण छोड़ दें)। वा, (घ) जब रामदलने हमारे केश पकड़ हमें महलसे निकाल नंगी कर दिया था तब अब पतिके मरनेपर हम रणभूमिमें उसके पास जानेमें क्यों लज्जा करें, यह समझ लज्जा छोड़ यहाँ आयीं।

रा० प्र०—अब मरनेपर भी रुला रहा है। अतः 'रावण' नाम दिया।

प० प० प्र०—**'पति सिर देखत…'** इति। प्रथम चरणमें मात्राकी कमीसे मन्दोदरीका उसी क्षण व्याकुल होना जनाया और दूसरे चरणमें मात्रा न्यून करके जनाया कि देखनेवाले उसके पतिप्रेमको देखकर अवाक् हो गये कि इतना पापी होनेपर भी उनका दानवकन्या होनेपर भी यह पतिप्रेम सराहनीय है।

पति गति देखि ते करहिं पुकारा। छूटे कच नहिं बपु* संभारा॥ ३॥
उर ताड़ना करहिं बिधि नाना। रोवत करहिं प्रताप बखाना॥ ४॥

अर्थ—पतिकी दशा देखकर वे चिल्लाती हैं। बाल खुले हैं, शरीरका सँभाल नहीं है॥ ३॥ वे अनेक प्रकारसे छाती पीटती हैं और रोती हुई उसके प्रतापको बखान करती हैं॥ ४॥

---

* 'छूटे चिकुर न सरीर सँभारा'।—(का०)। चिकुर=चोटी, जूड़ा।

नोट १—'छूटे कच नहिं०'। यह शोककी दशा है, शोकमें लज्जा नहीं रह जाती। यथा—'सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ग्यान न धीरज लाजा॥ २। २७६। ७॥', 'छूटे केस न देह सँभारा। ४। ११। २।' जो चोटी अनेक रत्नोंसे सजाई जाती थी वह आज लथड़ रही है। २—'कहहिं प्रताप बखाना'। क्या प्रताप बखान करती हैं, यह कवि आगे लिखते हैं। पुनः, यथा हनुमन्नाटके—'एकेनैव समुद्धृतो हरगिरिर्द्वाभ्यां त्रिलोकी जिता यस्याष्टादशभिर्भुजैरवसरः शस्त्रस्य नासादितः। सोऽप्येनं द्विभुजं मनुष्यमहह क्रव्यादवीरो रिपुं प्राप्य व्यर्थभुजो रणे विनिहतो दैवाय तस्मै नमः॥ १४। ४५॥' अर्थात्—जिसके एक ही हाथसे शिवजीका कैलाश उठाया गया, दो हाथोंसे त्रैलोक्य जीता गया और जिसके शेष १८ भुजाओंमें शस्त्र ग्रहणका अवसर ही कभी न प्राप्त हुआ था, वही दो भुजावाले मनुष्य शत्रुके प्राप्त होनेपर व्यर्थ-भुजा होकर रणमें मारा गया। कैसे खेदकी बात है! जिस दैवकी प्रेरणासे यह हुआ उसे नमस्कार है।

तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेजहीन पावक ससि तरनी॥ ५॥
सेष कमठ सहि सकहिं न भारा। सो तनु भूमि परेउ भरि छारा॥ ६॥

शब्दार्थ—तरनी=(तरणि) सूर्य।

अर्थ—हे नाथ! तुम्हारे बलसे पृथ्वी नित्य काँपती रहती थी। अग्निदेव, चन्द्रमा और सूर्य तुम्हारे सामने तेजहीन थे॥ ५॥ शेष और कच्छप जिसका भार न सह सकते थे वही तुम्हारा शरीर आज धूलमें भरा हुआ पृथ्वीपर पड़ा हुआ है॥ ६॥

नोट १—'डोल नित धरनी', यह प्रताप है। 'जासु चलत डोलति इमि धरनी। चढ़त मत्त गज जिमि लघु तरनी॥ २५। ७॥ सोइ रावन जग बिदित प्रतापी।' देखिये। २—'तेजहीन पावक ससि तरनी'। अग्नि, चन्द्र और सूर्य ये तीनों तेजोमय हैं। अतः तेज बखान करनेमें इन्हींको कहा। ये लोकपाल हैं और रावणके वशवर्ती थे, सब उससे डरते थे, नित्य हाजिरी देते थे, यथा—'दसमुख सभा दीखि कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई॥ कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥ ५। २०॥' और उसके अनुकूल ही तप्त वा शीतल होते थे। अतः 'तेजहीन' कहा। ७ (२), ८ (३-४) देखिये।

३—'सो तनु भूमि परेउ भरि छारा'। भाव कि तुम तेजस्वी और प्रतापी होते हुए आज इस कंकड़ीली रुधिरयुक्त रजवाली पृथ्वीपर कैसे पड़े हो, तुम्हें तो अमूल्य बिछौनेपर लेटना चाहिये था? यथा—'शयनेषु महार्हेषु शयित्वा राक्षसेश्वर॥ ५७॥ इह कस्मात्प्रसुप्तोऽसि धरण्यां रेणुगुण्ठितः। वाल्मी० १११।'

बरुन कुबेर सुरेस समीरा। रन सन्मुख धर काहु न धीरा॥ ७॥
भुजबल जितेहु काल जम साँई। आजु परेहु अनाथ की नाईं॥ ८॥

अर्थ—वरुण, कुबेर, इन्द्र और पवन ये कोई भी रणमें तुम्हारे सामने धैर्य धारण न कर सकते थे (अर्थात् इनका धीरज छूट जाता था, ये रणमें भाग जाते थे)॥ ७॥ हे स्वामिन्! तुमने अपने बाहुबलसे काल और यमराजको जीता पर आज अनाथकी तरह पड़े हो॥ ८॥

नोट—१ 'अग्नि, शशि और सूर्य' तीन लोकपालोंको तेजके सम्बन्धसे पहले एक साथ कह आये अब शेष पाँचको यहाँ कहते हैं। (ख) 'रन सनमुख धर काहु न धीरा' यथा—'सब सुर जिते एक दसकंधर। ९५। ७।' 'काहु न' पद अन्तमें देकर गन्धर्व, ऋषि, दैत्य और दानवादि सभीको सूचित कर दिया। वाल्मी० ११० श्लोक ११-१६ में यही भाव विस्तारसे यों दिया है—जिसने इन्द्रको और यमको त्रस्त किया, कुबेरको पुष्पक-विमान-रहित कर दिया और गन्धर्व, ऋषि, देवता और महात्माओंको रणमें भय दिया वह युद्धमें मारा हुआ सो रहा है। जिसे दैत्यों, देवताओं और पन्नगोंसे भी भय न था उसको मनुष्यसे यह मरणरूप भय! जो देवताओं, दानवों और राक्षसोंसे अवध्य था वही पैदल मनुष्यसे रणमें मारा गया सो रहा है! जो देवताओं, यक्षों और असुरोंसे भी मारे जानेको शक्य न था वही निर्जीवकी तरह मनुष्यसे मृत्युको प्राप्त हुआ।' 'इन्द्रादि तुम्हारे सम्मुख खड़े न रह सकते थे तब तुमको मनुष्यसे मारे जानेमें लज्जा क्यों नहीं लगती जो उठ खड़े नहीं होते। १११। ३।'

राजा मरुतके यज्ञमें ये सब देवता थे। रावणने वहाँ पहुँचकर ललकारा। सब देवताओंने पक्षियों, पशुओंका रूप धरकर प्राण बचाये, कोई सम्मुख न हुआ। इन्द्र मोर, वरुण हंस और कुबेर गिरगिट बने।

३—'**भुजबल जितेहु काल जम साईं**' इति। (क) काल और यमको सबसे पृथक् कहा। कारण कि कालको कोई नहीं जीत सकता। पुनः, (ख) कालको कुछ योगी लोग योगबलसे जीत भी लेते हैं पर शरीरके बलसे नहीं जीत सकते और तुमने भुजबलसे जीता, यह प्रताप है। विशेष '**बरुन कुबेर पवन जम काला। भुज बल जितेउँ सकल दिगपाला॥ देव दनुज नर सब बस मोरे। ८। ३-४।**' में देखो। पुनः, (ग)—भाव कि तुमने कालको जीत लिया था तब आज कैसे मृत्युको प्राप्त हुए। यथा (वाल्मी० १११। ४८)—'**त्वं मृत्योरपि मृत्युः स्याः कथं मृत्युवशं गतः।**' अर्थात् तुम तो मृत्युके भी मृत्यु थे, तब मृत्युके अधीन कैसे हुए?

४—'**अनाथ की नाईं**'। अर्थात् कोई उठानेवाला भी नहीं है, कोई सम्बन्धी या सहायक भी नहीं है। बिना श्रीरामजीकी आज्ञाके कोई यहाँसे उठा भी नहीं ले जा सकता। यथा हनुमन्नाटके '**कालेन विश्वविजयी दशकन्धरोऽभूद्भर्गाचलोद्धरणचञ्चलकुण्डलाग्रः। संस्कारमग्निदहनाय स एष कालश्चाज्ञां विना रघुपतेः प्लवगैर्निरुद्धः॥ १४। ४७।**'' अर्थात् भर्गाचलके उठानेके समय जिसके कुण्डल चंचल थे वह रावण कालसे ही विश्वविजयी हुआ था। अब वह समय आ प्राप्त हुआ है कि अग्निदाह-संस्कार करनेके निमित्त श्रीरामजीकी आज्ञा पानेतक वानरोंने उसे रोक रक्खा है।

जगत बिदित तुम्हारि प्रभुताई। सुत परिजन बल बरनि न जाई॥ ९॥
राम बिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल* रोवनिहारा॥ १०॥

अर्थ—तुम्हारी प्रभुता तो संसारभरमें प्रसिद्ध है। तुम्हारे पुत्रों और कुटुम्बियोंका बल वर्णन नहीं हो सकता॥ ९॥ श्रीरामचन्द्रजीसे विमुख (प्रतिकूल, द्रोही, वैर) होनेसे तुम्हारी ऐसी दशा हुई कि कुलमें कोई (वा कोई कुल एवं किसी कुलमें कोई) रोनेवाला भी न रह गया† ॥ १०॥

☞ तात्पर्य कि कैसा ही ऐश्वर्य और प्रताप क्यों न प्राप्त हो, सब सांसारिक सुख भी क्यों न प्राप्त हों; त्रैलोक्य-विजयी भी क्यों न हो तब भी यदि प्राणी रामविमुख है तो ये सब व्यर्थ हो जाते हैं।

नोट—'**रहा न कोउ कुल**···' से जनाया कि रावणने लंकाभरके सब निशिचरोंको लड़ाईमें जुझवाकर सबकी मुक्ति करा दी। सब स्त्रियाँ विधवा हो गयीं। इसीसे कोई पुरुष रोनेवाला न रह गया। यथा—'**कृतैषा विधवा लंका वयं च कुलनन्दन**' (भा० ९। १०। २८)। मन्दोदरी कहती है कि तुमने लंकाको और हमको विधवा कर दिया। पुनः यथा वाल्मीकीये—'**त्वया कृतमिदं सर्वमनाथं राक्षसं कुलम्**'—(१११। ७३)। अर्थात् तुमने यह सब राक्षसोंका कुल अनाथ कर दिया। रा० प्र० कार यह भाव लिखते हैं कि रोनेवाला न रह गया सब हँसनेवाले ही रह गये। विभीषण तो कुलमें था तब '**रहा न कोउ कुल**···' कैसे कहा? यह शङ्का उठाकर करुणासिंधुजी आदिने इसके कई तरह समाधान ये किये हैं—

(१)—विभीषणजी वंशमें थे पर रामशरणमें जानेपर वे इस समय द्रोहभावके कारण कुलसे बाहर हैं। वे तो अब राजा होंगे, वे क्यों रोने लगे? मन्दोदरीका ऐसा कहना अस्वाभाविक नहीं है। कुलमें लंकामें कोई न रह गया जो अपना समझकर रोता। वा, (२)—'**रहा न कोउ कुल**' से कुलके उन सब लोगोंसे तात्पर्य है जिन्हें ऊपर गिनाया है—'**सुत परिजन बल बरनि न जाई**'। वा, (३) 'कोउ कुल'=कोई वंश न रह गया, किसी कुलमें कोई न रह गया (तब रोवे कौन?)। वा, (४) रोना तुम्हींतक था। तुम परद्रोहरत थे, सबको रुलाते थे, अब कौन ऐसा है जो 'किसी

---

* कोउ कुल।

† जातिर्ब्रह्मकुलेऽग्रजो धनपतिर्यः कुम्भकर्णोऽनुजः पुत्रः शक्रजयी स्वयं दशशिराः पूर्णा भुजा विंशतिः। दैत्याः कामचरा रथश्च विजयी पारे समुद्रं गृहं सर्वं निष्फलितं तथैव विधिना दैवे बले दुर्बले॥ हनु० १४। ४६।' अर्थात् जिसका ब्राह्मणकुलमें जन्म हुआ, कुबेर जिसके बड़े भाई और कुम्भकर्ण छोटा, इन्द्रजीत जिसका पुत्र, स्वयं दश शिर और पूरी २० भुजावाला, जिसके दैत्य कामरूप, रथ विजय प्राप्त करनेवाला एवं समुद्रपार जिसका घर ऐसे भी रावणको प्रारब्धके दुर्बल होनेसे विधाताने सभी व्यर्थ कर दिया।

कुलको रुलायेगा और क्यों कोई रोवेगा'—(करु०)। (५) बाबा हरीदासकृत एक समाधान यह है कि 'रोवनिहारा' को रावणका सम्बोधन मान लें क्योंकि रावणका अर्थ है रोनेवाला और यह नाम उसके रोनेपर ही शिवजीने रक्खा था। अर्थ यह होगा कि 'हे रोनेवाले! कुलमें कोई न रह गया'। (इनमें प्रथम दो भाव संगत जान पड़ते हैं, अन्य नहीं।) (६) विभीषण प्रभुकी शरणमें आनेसे अब वे प्रभुके गोत्रके हो गये। वैष्णव होते ही गोत्र बदलकर अच्युत गोत्र हो जात है—'स्वामीको गोत गोत होत है गुलामको।' विभीषण सत्य ही अब रावणके कुलके न रह गये। अतः मन्दोदरीका कथ सत्य ही है कि कुलमें कोई रोनेवाला न रह गया।

तव बस बिधि प्रपंच सब नाथा। सभय दिसिप नित नावहिं माथा॥ ११॥
अब तव सिर भुज जंबुक खाहीं। राम बिमुख यह अनुचित नाहीं॥ १२॥
काल बिबस पति कहा न माना। अग जगनाथ मनुज करि जाना॥ १३॥

अर्थ—हे नाथ! तुम्हारे वश तो सब ब्रह्मसृष्टि थी, लोकपाल भयभीत नित्यप्रति प्रणाम करते थे॥ ११॥ अ तुम्हारे सिर और भुजाओंको गीदड़ खाते हैं। (यह कैसे हुआ? फिर स्वयं समाधान करती हैं कि) रामद्रोहीके लिये य अनुचित नहीं है (ऐसी दशा होना योग्य ही है)॥ १२॥ हे पति! कालके पूर्णवश होनेसे तुमने किसीका कहना न मान और चराचरके स्वामीको मनुष्य करके समझा॥ १३॥

नोट—१ (क) 'अब तव सिर''' इति। मिलान कीजिये—'**इह खलु विषमः पुराकृतानां भवति हि जन्तु कर्मणां विपाकः। शिवशिरसि शिरांसि यानि रेजुः शिवशिव तानि लुठन्ति गृध्रपादैः**॥ हनु० १४। ४९।' अर्थात् यह निश्च है कि इस जगत्‌में पूर्वकृत विषम कर्मोंका फल अवश्य मिलता है। हा हा! वही सिर जो शिवजीके मस्तकपर शोभित हुए थे वे ही गृध्रोंके चरणोंके तले लोटते हैं। पुनश्च, '**देहः क्वतोऽन्नं गृध्राणामात्मा नरकहेतवे**' (भा० ९। १०। २८) अर्थात् आपने शरीरको गृध्रोंका भक्ष्य बना दिया और स्वयं नरक कमाया। (ख) '**राम बिमुख**''' इति। यथा— '**हित्वात्यायासरचिता गृहापत्यसुहृच्छ्रियः। तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः**॥ १८। (भा० ११। ५) अर्थात् भगवद्विमुख लोग इच्छा न होनेपर भी बरबस अपने परिश्रमसे प्राप्त किये हुए घर, संतान, सुहृद् और श्री इ सबको यहीं छोड़कर अन्धकार (नरक) को प्राप्त होते हैं।

नोट—२ (क) 'कहा न माना'। भाव कि जितने सुहृद्, हितके चाहनेवाले और भाई थे उनका भी हित, हे और अर्थयुक्त वाक्य न माना और न मेरा ही। इसीका यह फल मिला*। क्या कहा न माना, सो उत्तरार्द्धमें कहती हैं (ख) 'अगजगनाथ मनुज करि जाना' इति। भाव कि मैंने एवं उन सबोंने कहा था कि राम मनुष्य नहीं हैं, चराचरके ईश हैं, इनसे विरोध न करो।

१ मारीच—'**तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा। ते नर रूप चराचर ईसा॥** ' **खरदूषन तिसिरा बधे मनुज** वि अस बरिबंड। ३। २५।'

२ विभीषण—'**तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला**॥ ५। ३९। १।'

३ प्रहस्त—'**जेहि बारीस बँधाएउ हेला। उतरेउ सेन समेत सुबेला॥ सो भनु मनुज खाब हम भाई**।'' ९। ५-६।'

४ मन्दोदरी—'**कंत राम बिरोध परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ मन धरहू॥ बिश्वरूप रघुबंसमनि करहु**''' १४।', '**पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु। अगजगनाथ अतुल बल जानहु**॥ ३५। ८।' '**तेहि** को पिय पुनि पुनि नर कहहू।'''**अहह कंत कृत राम बिरोधा। काल बिबस मन उपज न बोधा**॥ ३६। ५-६। पुनः यथा वाल्मीकीये सर्गे १११—'**यदैव हि जनस्थाने राक्षसैर्बहुभिर्वृतः॥ १६॥ खरस्तु निहतो भ्राता तदा रामो**

* 'सुहृदां हितकामानां न श्रुतं वचनं त्वया। भ्रातॄणां चैव कात्स्न्र्येन हितमुक्तं दशानन॥ ७६॥ हेत्वर्थयुक्तं विधिवच्छ्रेयस्कर मदारुणम्। विभीषणेनाभिहितं न कृतं हेतुमत्त्वया॥ ७७॥ मारीचकुम्भकर्णाभ्यां वाक्यं मम पितुस्तथा। न कृतं वीर्यमत्तेन तस्ये फलमीदृशम्॥ ७८॥' (वाल्मी० १११)।

मानुषः'''॥ १७ ॥ प्रविष्टो हनुमान्वीर्यात्तदैव व्यथिता वयम् । क्रियतामविरोधश्च राघवेणेति यन्मया ॥ १८ ॥ उच्यमानं न गृह्णासि तस्येयं व्युष्टिरागता । ० ॥ १९ ॥' अर्थात् जिस समय बहुत राक्षसोंसमेत तुम्हारा भाई खर मारा गया, तभी यह निश्चय हो गया कि राम मनुष्य नहीं हैं । पुनः जिस समय देवताओंसे भी दुष्प्रवेश्य लङ्कापुरीमें हनुमान्‌ने प्रवेश किया, उसी समय हम सबने दुःखी होकर कहा था कि राघवके साथ विरोध न करो, यह हमारा वचन तुमने न ग्रहण किया उसीका यह सब फल है ।

५ माल्यवंत—'हिरन्याक्ष भ्राता सहित मधुकैटभ बलवान । जेहि मारे सोइ अवतरेउ ॥ ४७ ॥

६ कुम्भकर्ण—'हैं दससीस मनुज रघुनायक । जाके हनूमान से पायक ॥'''६२ । ३ ।'

'मनुज करि जाना' । भाव कि मनुज हैं नहीं पर तुमने मनुष्य ही करके माना ।—दो० ८४ (२) देखिये ।

वीरकवि—पतिके मृतक होनेसे मन्दोदरी आदि रानियोंके हृदयमें शोक स्थायीभाव है । रावणके शरीरका दर्शन आलम्बन विभाव है । वीरतादि गुणोंका स्मरण उद्दीपन विभाव है । रोना, छाती पीटना, धरतीपर गिरना अनुभाव है । वह मोह, विषाद, चिन्तादि संचारी भावोंद्वारा पुष्ट होकर 'करुणरस' हुआ है ।

छं०—**जान्यो मनुज करि दनुज कानन दहन पावक हरि स्वयं ।**
जेहि नमत सिव ब्रह्मादि सुर पिय भजेहु नहिं करुनामयं ॥
आजन्म ते परद्रोहरत पापौघमय तव तनु अयं ।
तुम्हहूँ दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्म निरामयं ॥

अर्थ—दैत्यरूपी वनके जलानेको अग्निस्वरूप स्वयं भगवान् साक्षात् परब्रह्मको तुमने मनुष्य करके जाना । शिव-ब्रह्मादि देवता जिनको नमस्कार करते हैं उन करुणामय भगवान् रामचन्द्रका, हे प्रिय ! तुमने भजन न किया । तुम्हारा यह शरीर जन्मसमयसे (मरणपर्यन्त) उनके विरोध और परद्रोहमें लगा हुआ और समूह-पापमय रहा ऐसे तुमको भी जिन निर्विकार ब्रह्म श्रीरामजीने अपना धाम दिया उनको मैं नमस्कार करती हूँ ।

नोट—१ **'दनुज कानन०'** । ऐसा ही माल्यवन्तने रावणको समझाया । यथा—**'कालरूप खल बनदहन गुनागार घनबोध । सिव बिरंचि जेहि सेवहिं तासों कवन बिरोध । ४८ ।०'** । दनुजंपर वनका आरोप किया, अतः हरिपर पावकका आरोपण किया गया ।

पु० रा० कु०—**'हरि स्वयं'**=साक्षात् परब्रह्म, जैसा आगे कहती हैं—**'राम ब्रह्म निरामयं** । दोहा ४७ देखो । **'निरामय'** का भाव कि तुम पापी हो, तो भी तुमको ग्रहण करनेसे वे मलिन नहीं हो सकते ।

नोट—२ **'जेहि नमत सिवब्रह्मादि०' इति** । (क) शिव संहार करनेवाले और ब्रह्मा सृष्टि—उत्पन्न करनेवाले हैं अर्थात् जिनके हाथ जन्म-मरणका अधिकार है वे भी उनके सेवक हैं । इन दोनोंसे बड़ा कोई और देवता नहीं है, जब ये ही उनकी सेवा करते हैं और तुम इन्हींके बनाये और इन्हींके वरसे इतने बलवान् हुए हो तब तुम्हें भी उनके स्वामीको अपना स्वामी मानकर उनका भजन करना चाहिये था । **'सिव बिरंचि जेहि सेवहिं । ४८ ।', 'सिव बिरंचि सुर जाके सेवक । ६२ । ५ ।'** पृष्ठ १०३, २६९ देखिये । (ख)—**'भजेहु नहिं करुनामयं'** । शिवादि नमस्कार करते हैं यह कहकर उसका कारण कहती हैं कि वे 'करुणामय' हैं, सेवकका दुःख देख तुरंत द्रवीभूत होते हैं, यथा—**'करुनामय रघुनाथ गोसाईं । बेगि पाइअहि पीर पराई । २ । ८५ । २ ।'** यह समझकर उनको भजते हैं । सबका दुःख देखकर उन्होंने अवतार लिया । पुनः, पापौघमय होनेपर भी मुक्ति दी; अतः 'करुनामय' कहा, यथा—**'उमा राम मृदुचित करुनाकर । बैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर । ४४ । ४ ।'**

३—**'आजन्म ते परद्रोहरत०'** इत्यादि कहकर **'तुम्हहू दियो निजधाम'** कथनका भाव कि पापीकी गति नहीं होती; पर तुम्हारे पापोंको छुड़ाकर तुमको मुक्ति दी, यथा—**'रामेण निहतश्चान्ते निर्धूताशेषकल्मषः । रामसायुज्यमेवाप रावणो मुक्तबन्धनः ॥'** (अ० रा० ११ । ८६) अर्थात् अन्तकालमें श्रीरामद्वारा वध होनेसे समस्त पाप विनष्ट हो जानेसे कर्मबन्धनसे छूटकर श्रीरामजीकी सायुज्य मुक्तिको प्राप्त हुआ ।

☞ निजधाम देनेमें 'ब्रह्म निरामय' विशेषण दिया। भाव कि वे ब्रह्म हैं, उनका एकरस अखण्ड ज्ञान है 'ज्ञान अखंड एक सीता बर।' 'जो सबके रह ज्ञान एकरस। ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस' ॥ इसीसे वे निर्विकार हैं उनमें राग-द्वेषादि विकार नहीं हैं। यह कैसे जाना? इससे कि तुमको भी मुक्ति दी, यदि द्वेष होता तो ऐसे महापापीको मुक्ति कदापि न देते।

दो०—अहह नाथ रघुनाथ सम कृपासिंधु नहिं आन *।
जोगिबृंद दुर्लभ गति † तोहि दीन्हि भगवान ॥ १०३ ॥

अर्थ—अहह! (बड़े खेद और शोककी बात है कि ऐसे कृपासिन्धुका अनादर तुमने किया।) हे नाथ! रघुनाथजीके समान दूसरा कोई कृपासिन्धु नहीं है। योगिसमाजको भी जो गति बड़ी कठिनतासे प्राप्त होनेवाली है वह गति तुमको भगवान् रामचन्द्रजीने दी॥ १०३॥

नोट—१ 'कृपासिंधु नहिं आन'। करुणामयका निर्वाह अभीतक करती जाती है। करुणामय हैं इसीसे कृपा करते हैं। करुणा हो और कृपा न हो तो करुणा व्यर्थ है इसीसे 'कृपासिन्धु' कहा। 'नहिं आन', यथा—'प्रभु छाँड़ेउ करि छोह को कृपाल रघुबीर सम' (आ० २); अधमोंको गति कृपासे ही देते हैं। 'परद्रोहरत पापौघमय' को गति दी अतः 'कृपासिन्धु' कहा। यथा—'कोमलचित अति दीनदयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥ गीध अधम खग आमिषभोगी। गति दीन्ही जो जाँचत जोगी॥ ३। ३३। १–२।', 'खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहिं गति जो जाँचत जोगी॥ उमा राम मृदुचित करुनाकर। बैरभाव मोहि सुमिरत निसिचर॥ देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी॥ ४४। ३–५।'

२ 'जोगिबृंद दुर्लभ' इति। (क)—यह स्वयं रघुनाथजीने शबरीसे कहा है, यथा—'जोगिबृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥ ३। ३६। ८।' शबरीको जो गति दी वही रावणको दी है। वह 'हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे' वैसे ही रावणको अपनेमें लीन कर लिया। यह भाव अन्य कल्पों तथा अ० रा० के अनुसार हुआ, जहाँ 'सायुज्य मुक्ति' हुई हो। (ख)—'दुर्लभ' का भाव कि सबको मिलती नहीं और जिन्हें मिलती है वह भी बड़ी कठिनाईसे, यथा—'गति पाई जो मुनिबर पाव न'। पूर्व ४४ (३) 'पावहिं गति जो जाचत जोगी' देखिये। मानमोहरहित, सङ्गदोषजित, अध्यात्मनिष्ठ, निष्काम और द्वन्द्वविमुक्त लोग ही योगी हैं। वे अविनाशी पदको पाते हैं। 'निज धाम', 'परम गति', 'गति जो जाचत जोगी'। मानसके मतानुसार पर्याय हैं। दुर्लभका भाव भी ४४ (३) में आ चुका है।

४—'गति दीन्हि भगवान'। (क)—गति देनेमें भगवान् कहा। क्योंकि भगवान् ही जीवोंको गति या अगति देते हैं। 'कृपासिंधु भगवान' दोहा ४७ देखिये। पुनः, (ख)—करुणा हो, कृपा हो, पर दुःख हरनेका सामर्थ्य न हो तो करुणा आदि भी व्यर्थ हैं; अतः 'भगवान्' पद देकर जनाया कि करुणा होनेपर कृपा करके तुरंत कष्ट हरकर सुख देते हैं।

मंदोदरी बचन सुनि काना। सुर मुनि सिद्ध सबन्हि सुख माना॥ १॥
अज महेस नारद सनकादी। जे मुनिबर परमारथ बादी॥ २॥
भरि लोचन रघुपतिहि निहारी। प्रेम मगन सब भए सुखारी॥ ३॥

अर्थ—मन्दोदरीके वचन कानोंसे सुनकर देवता, मुनि और सिद्ध सभीने सुख माना। १। ब्रह्मा, महेश, नारद, सनकादि ऋषि और भी जो परमार्थके जाननेवाले मुनिश्रेष्ठ हैं, वे सब रघुनाथजीको नेत्रोंभर देखकर प्रेममें डूब गये और बड़े सुखी हुए। २–३।

नोट—'मंदोदरी बचन सुनि काना।' इति। उपक्रममें सबका एक साथ विलाप करना और रोते हुए प्रताप बखानना कहा, यथा—'पतिगति देखि ते करहिं पुकारा। छूटे कच नहिं बपुष सँभारा॥ उर ताड़ना करहिं बिधि नाना।

* 'को आन'। † मुनिदुर्लभ जो परम गति—(का०)।

रोवत करहिं प्रताप बखाना॥' 'ते' और 'करहिं' दोनों बहुवचन हैं। और यहाँ उपसंहार 'मंदोदरी वचन' पर किया है। यह क्यों? पुनः, मन्दोदरीको ऊपर मूर्छित दिखाया, यथा—'मूर्छित बिकल धरनि खसि परी'। मूर्छित होनेसे अन्य रानियोंका उसे उठाकर रावणके पास आना कहा, यथा—'जुबतिबृंद रोवत उठि धाईं। तेहि उठाइ रावन पहिं आईं' बीचमें कहीं मन्दोदरीका मूर्च्छासे जागना नहीं कहा, जैसे अन्यत्र कहा है—

मेघनाद—'**परा भूमि घुर्मित सुरघाती**'…'**मेघनाद कै मुरछा जागी**' ७४ (१)

रावण—१ '**मुरछित बिलोकि बहोरि पद हति भालुपति प्रभु पहिं गएउ। ९७।**'…

'**इहाँ अर्ध निसि रावन जागा॥ ९९। ७।**'

२—'**परेउ धरनितल सुधि कछु नाहीं॥ ८२। ७॥ उठा प्रबल पुनि मुरुछा जागी॥ ८।**'

३—'**परेउ सैल जनु बज्र प्रहारा।…मुरुछा गइ बहोरि सो जागा। ८३। २–३।**'

श्रीहनुमान्‌जी—**घुर्मित भूतल परेउ तुरंता॥'…'मुरुछा गइ मारुतसुत जागा ६५। ३।**'

तब 'मंदोदरी बचन' कैसे कहा? इसका समाधान यह है कि—

१—मूर्च्छाका जाना प्रत्यक्ष नहीं कहा। पर वह अब मूर्छित नहीं है, नहीं तो रावणकी दाह-क्रियापर '**मंदोदरी आदि सब देइ तिलांजलि ताहि। भवन गईं**…। १०४।', ऐसा न लिखते। उसका मूर्च्छाविगत होना '**तेहि उठाइ रावन पहिं आईं**' में जना दिया है। उसे उठाकर रावणके पास 'लाईं' न कहकर 'आईं' कहा। 'उठने' से होशमें आना सूचित किया, यथा—'**परेउ मुरछि महि लागत सायक।**…**सुनत बचन उठि बैठ कपीसा। ५८। १, ८।**' (हनुमान्‌जी), '**ताहि एक छन मुरुछा आई॥ उठि बहोरि कीन्हिसि बहु माया। ५। १९।**' (मेघनाद)।

२—(क) 'मन्दोदरी पटरानी है इससे उसीको अन्तमें कहकर ये वचन सबके जनाये। अथवा, (ख)—आदिमें '**ते करहिं पुकारा**' से '**काल बिबस पति कहा न माना**' तक सबके वचन हैं और '**काल बिबस पति कहा न माना**' सहित आगेके सब वचन मन्दोदरीके ही हैं, औरोंके नहीं। इस तरह '**पति कहा न माना**' से मन्दोदरीने रावणसे स्वयं एकान्तमें जो कहा था वह भी जना दिया है। इसीसे 'पति' संबोधन यहाँ ही दिया अन्यत्र नहीं। इसका प्रमाण वाल्मी० ११० (१) में है। उसीके अनुसार यहाँ कविने प्रथम सब रनवासका विलाप कहा और अन्तमें मन्दोदरीका। वाल्मी० ११० में सब रनवासका विलाप कहा गया है, यथा '**अन्तःपुराद्विनिष्पेतू राक्षस्यः शोककर्शिताः॥ १॥**'…'**विमुक्तकेश्यः शोकार्ता गावो वत्सहता यथा॥ २॥**'…'**आर्यपुत्रेतिवादिन्यो हा नाथेति च सर्वशः॥ ४॥**'…'**एवमार्ताः पतिं दृष्ट्वा रावणं निहतं भुवि। चुक्रुशुर्बहुधा शोकाद् भूयस्ताः पर्यदेवयन्॥११॥**'…'**विलेपुरेवं दीनास्ता राक्षसाधिपयोषितः। २६।** अर्थात्—रावणके शोकसे पीड़ित स्त्रियाँ अन्तःपुरसे निकलीं, उनके केश छूटे हैं, वे शोकार्त्त हैं जैसा वत्सके मरनेपर गऊ होती है। सब रोकर कहती थीं—हा आर्य पुत्र! हा नाथ! रणभूमिमें सोये हुए पतिको देखकर वे सब आर्त होकर जोरसे चिल्लाकर रोने लगीं और उसको चारों ओरसे घेर लिया। इस तरह रावणकी सब स्त्रियाँ दुखी होकर विलाप करने लगीं। (च. सं. में यह सर्ग ११३ में है)। फिर आगे सर्ग १११। १ में वाल्मीकिजी लिखते हैं कि—**तासां विलपमानानां तदा राक्षसयोषिताम्। ज्येष्ठा पत्नी प्रिया दीना भर्तारं समुदैक्षत**' अर्थात् उस समय विलाप करती हुई उन राक्षसकी स्त्रियोंमें ज्येष्ठा परम प्रिया पत्नी मन्दोदरी अति दीन होकर स्वामीको देखने लगी।

आगे सर्ग भरमें मन्दोदरीका ही विलाप है। श्रीरामचन्द्रजी मनुष्य नहीं हैं वरन् परब्रह्म हैं, ये वचन अन्य रानियोंके विलापमें नहीं हैं। केवल मन्दोदरीके विलापमें ये वचन आये हैं—**व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातनः॥ ११॥** इत्यादि। अर्थात् यह स्पष्ट है कि ये महायोगी सनातन परमात्मा ही हैं। इस तरह मन्दोदरीके वचन, जिनमें रामचन्द्रजी-का परत्व और करुणामय एवं कृपालु स्वभावका प्रतिपादन परिपूर्ण है; सुनकर देवतादिको सुख हुआ।

इन वचनोंसे सुख हुआ, यह कैसे जाना? इससे कि आगे इन्होंने (सुरसिद्धने) जो स्तुति की है। उसमें भी इन्हीं बातोंका प्रतिपादन है, यथा—'**दीनबंधु दयाल रघुराया। देव कीन्हि देवन्ह पर दाया॥ १०९। ३।**', '**जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥ ८। यह खल मलिन सदा सुरद्रोही।**…**अधम सिरोमनि तव पद पावा।**'

पं०—वचन सुनकर सुखी होनेका कारण कि—१ उसके वचनोंसे रावणकी मृत्यु निश्चित हुई, यह संदेह नहीं रह गया कि वह अभी मरा नहीं है। २—रावण देवता, मुनि और सिद्धको सताया करता था जिससे उनकी स्त्रियाँ रोती थीं (एवं देव-वधूटियों, ऋषि-पत्नियोंको उससे बहुत दुःख पहुँचता था) आज उसकी स्त्रियोंका रुदन देखकर वे सुखी हुए। वा, ३—मन्दोदरीने जो रामविमुख होनेका फल कहा उससे जगत्‌को उपदेश है, यह समझकर सुख हुआ। वा, ४—मयसुताने रघुनाथजीको सच्चिदानन्दस्वरूप कहा यह सुनकर सुख हुआ कि यह धन्य है कि दुष्टकी संगतिमें भी इसकी ऐसी बुद्धि है। वा, ५—रावणकी परमगति और रामचन्द्रजीकी पतितपावनता सुनकर सुख हुआ।

☞ यही सब भाव मयंककारने दिये हैं। बहुत स्थलोंमें दोनोंके भाव मिलते हैं। पर पंजाबीजीकी टीका पहलेकी छपी है। हो सकता है कि दोनों महानुभावोंके समकालीन होनेसे दोनोंके मस्तिष्कसे एक ही समय एकसे भाव निकले हों। या पंजाबीजीकी हस्तलिखित टीका पाठकजीने देखी हो। पाठकजीके दोहे क्लिष्ट हैं; उन्हें उनके शिष्य-प्रशिष्योंको छोड़ और कोई समझ नहीं सकता। इससे उनके भाव कोई ले नहीं सकता था। मा० म० में जहाँ-तहाँ दूसरोंके भावोंका घोर भयंकर खण्डन देख पड़ता है जिससे यह सिद्ध होता है कि दूसरेके दिये हुए भावोंका उन्हें प्रथमसे ही ज्ञान था। यह कुम्भोंके अवसरपर परस्पर सत्सङ्गसे भी हो सकता है।

नोट—३ **'अज महेस नारद सनकादी।'''** इति। (क) पूर्व सुर मुनि सिद्धका सुख कहा। अब उनसे पृथक् अजमहेशादिका सुख कहते हैं। (ख) पृथक् कहकर जनाया कि साधारण सुर-मुनि आदि मन्दोदरीके विलापमें कान लगाये थे और उससे सुख पा रहे थे, उसी समय ब्रह्मादिक प्रभुकी शोभाको देख-देखकर प्रेम और आनन्दमें मग्न हो रहे थे। 'प्रेममगन' अर्थात् रोमाञ्च हो रहा था, नेत्र सजल थे, यथा—**'रामचंद्र मुखचंद छबि लोचन चारु चकोर। करत पान सादर सकल प्रेम प्रमोद न थोर।** १। ३२१।', **'अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा। लोचन जल बह पुलक सरीरा॥ तन पुलक निर्भर प्रेम पूरन नयन मुखपंकज दिये॥** (अत्रिजी), **'रामरूप नखसिख सुभग बारहिं बार निहारि। पुलकगात लोचन सजल उमा समेत पुरारि।** १। ३१५।' अथवा, (ग) प्रथम समष्टिका सुख कहकर तब व्यष्टिका कहा।

नोट—४ **'भरि लोचन'''** इति। नेत्र भर देखनेका भाव कि—(१) यह शोभा अब थोड़ी ही देरतक देखनेको मिलेगी फिर न मिलेगी, इससे भरपूर देख लें। यथा—**कोउ कह चलत चहत हहिं आजू।'''लेहु नयन भरि रूप निहारी।** १। ३३५।' पुनः, (२) इससे अपने नेत्र और जन्म सफल करते हैं,—**'भरि लोचन छबि लेहु निहारी।'''हम तौ आजु जनमफलु पावा।** १। २४६।' **निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करौं उरगारी।** ७। ७५। ६।', **'होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव मोचन।** ३। १०। ९।'

पं०—भाव कि सर्वजगत्‌को प्रसन्न देखकर प्रभु सुखी हुए और ऐसे सुखदाताका दर्शन ये करते हैं। वा, रणसे हृदयमें उद्वेग न प्राप्त हुआ ऐसे शान्तात्मा जानकर प्रभुको नेत्रभर देखते हैं। वा, अब चलनेकी इच्छा है अतः नेत्रभर देखते हैं।

रुदन करत देखीं सब नारी। गएउ बिभीषनु मन दुख भारी॥ ४॥
बंधु दसा बिलोकि दुख कीन्हा। तब प्रभु अनुजहि आयसु दीन्हा॥ ५॥

अर्थ—सब स्त्रियोंको रोती हुई देख विभीषणजीके मनमें भारी दुःख हुआ॥ ४॥ उन्होंने भाईकी दशा देख दुःख (शोक) किया। तब प्रभुने छोटे भाई लक्ष्मणजीको आज्ञा दी (कि जाकर उसे समझाओ)॥ ६॥

वं० पा०—मन्दोदरीका रुदन कहकर बीचमें देवता, मुनि आदिका सुख (अर्थात् परमार्थ) कहने लगे थे, अब पुनः रुदनका सम्बन्ध मिलाया।

नोट—१ **'गएउ बिभीपन मन दुख भारी'**। (क) यहाँ 'गएउ दुख' कहा, 'भयो दुख' न कहा। इसमें यह भी ध्वनि है कि उसके मनमें रावणकी मृत्युका किञ्चित् दुःख न था, यह दुःख जो इस समय हुआ वह बाहरसे आया अर्थात् मन्दोदरी आदिको दुखी देख इनको दुःख आ प्राप्त हुआ। (ख) 'दुख जाना' मुहावरा है अर्थात् दुखी होना। रा० प्र०—कार लिखते हैं कि 'एक तो स्त्रियोंको रुदन करते देखा; उसकी छाया पड़ी, दूसरे एक ही वंशका होनेसे दुःख हुआ। सोचा कि जो वैर था वह तो रावणतक ही था अब तो ये अनाथ और दीन हैं।

२—प्रथम मनमें, रुदन देख, दुःख हुआ, तब भाईकी दशा देख दुःख हुआ कि ऐसा तेजस्वी, प्रतापी, प्रबल वीर आज पृथ्वीमें पड़ा है, मेरा कहा मान लिया होता तो आज यह दशा क्यों होती। 'दुख कीन्हा' में वचन और कर्म दोनों आ गये, मुँहसे शोकके वचन कहते और तनसे रुदन आदि करते पृथ्वीपर गिरे। इस प्रकार मन, वचन और कर्म तीनोंको दुखी दिखाया।

३—यहाँ यह भी दिखाया कि संसार-सम्बन्ध कैसा प्रबल है, आखिर भाई ही तो है इससे दशा देख शोक आ ही गया। यह माया-मोह **'छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि'**—(उ० ७१)। पुनः, यह भी दिखाया कि भक्त वा सत्पुरुष असमयमें वैरभाव त्याग देते हैं।

४—'महाशोकयुक्त विभीषण दुःखी होकर सोच करने लगे और रावणके आगे गिरकर अत्यन्त रोने लगे। तब रामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीसे उन्हें समझानेको कहा।'—यही अ० रा० में कहा है। यथा—**'मन्दोदरीमुखाः सर्वाः स्त्रियो रावणपालिताः। पतिता रावणस्याग्रे शोचन्त्यः पर्यदेवयन्॥ ५॥ विभीषणः शुशोचार्तः शोकेन महतावृतः। पतितो रावणस्याग्रे बहुधा पर्यदेवयत्॥ ६॥ रामस्तु लक्ष्मणं प्राह बोधयस्व विभीषणम्।** अ० रा० १२।' वाल्मी १०९ में विभीषणका विलाप रावण-वधपर तुरंत है और श्रीरामजीका उन्हें स्वयं समझाना लिखा है। 'भारी' क्योंकि ११ श्लोकोंमें है। अ० रा० में **'शोकेन महताविष्टं'** तथा **'पतितं मृतकोपमम्'** जो कहा है वह यहाँके 'भारी' शब्दमें आ जाता है।

लछिमन तेहि बहु बिधि समुझायेउ*। बहुरि बिभीषनु प्रभु पहिं आयेउ॥ ६॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीने उसे बहुत प्रकारसे समझाया। फिर विभीषण लौटकर प्रभुके पास आये॥ ६॥†

नोट—१ (क) यहाँ प्रभुका श्रीलक्ष्मणजीको आज्ञा देना कहकर तुरत उनका विभीषणको समझाना कहा गया। विभीषणजीके पास जाना आदि न कहा गया। इससे कविने श्रीरामजीके वचनके पालनमें शीघ्रता दिखायी, श्रीरामजीको आज ही अयोध्याके लिये चल देना है, इसीसे सब कामोंमें अत्यन्त शीघ्रता करनी है, यह भी जना दिया। (ख) 'बहु बिधि'। अ० रा० सर्ग १२ में १६ श्लोकोंमें समझाया है। अतः 'बहु बिधि' कहा। दूसरे, अन्य ऋषियोंने भी जो लिखा हो वह भी प्रकार इस पदसे सूचित कर दिया।

लक्ष्मणजीने समझाया कि 'जिसका तुम सोच करते हो, उसके तुम कौन हो? वह तुम्हारा कौन है? तुम इसके पूर्वजन्ममें क्या थे और आगे क्या होगे? भाव कि इससे कभी कोई सम्बन्ध न था और न है। जैसे जलके वेगसे रेणुका आगे-पीछे बहकर चली जाती है। और उन रेणुकाओंका संयोग-वियोग हुआ करता है वैसे ही जीवोंका संयोग-वियोग कालके प्रवाहसे हुआ करता है। जैसे धानोंका ढेर लगाओ तो एकके ऊपर एक थम जाता है पर चिकनाईसे नहीं थमता। ऐसे ही मायाप्रेरित प्राणियोंमें प्राणियोंका संयोग-वियोग होता है। इत्यादि प्रकारका समझाना अध्यात्ममें है, जैसा लक्ष्मणजीका उपदेश निषादराजको मानसमें कथित है। और वाल्मी० १०९ (श्लोक १४ से १९ तक) में श्रीरामजीका विभीषणको इस प्रकारका उपदेश है कि—

'प्रचण्ड विक्रमवाला यह रावण युद्धमें नष्ट नहीं हुआ है वरन् निश्चेष्ट है। अति उन्नत महान् उत्साहवाला यह अशङ्कित पड़ा हुआ है। क्षत्रियोंके धर्मको पालन करते हुए जो क्षात्रधर्मसम्पन्न लोग मरते हैं और अपनी उन्नतिके उदयके लिये जो रणाङ्गणमें लड़कर मरते हैं वे शोचनीय नहीं हैं। जिन्होंने इन्द्रसहित त्रैलोक्यको युद्धमें त्रास दिया, कालके कवल होनेपर वे शोचनीय नहीं हैं। युद्धमें एक ही पक्षकी सदा जय हो ऐसा कभी पूर्व नहीं हुआ है; या तो शत्रुओंद्वारा वह स्वयं मारा जाता है या वह स्वयं शत्रुको मारता है। क्षत्रियोंके लिये पूर्वाचार्योंने पूर्व ही ऐसा निश्चय कर दिया है कि रणमें मारा हुआ क्षत्रिय शोचनीय नहीं है। इसलिये इस सिद्धान्तको देखकर और शोकरहित होकर तत्त्वको समझकर अब आगे जो कर्तव्य है उसे करो।

* 'लछिमन जाइ ताहि समुझाएउ'—(का०)। † यथा अध्यात्मे—'एवमुक्तोऽथ रामेण लक्ष्मणोऽगाद्विभीषणम्। उवाच मृतकोपान्ते पतितं मृतकोपमम्॥' (१२। ९)। अर्थात् श्रीरामजीके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणजी मृतक-रावणके समीप मृतकवत् पड़े हुए विभीषणसे जाकर बोले।

वि० त्रि० जी समझाना इस प्रकार कहते हैं—'उन्नत उमंग जाको रणमें सदा ही रह्यौ, परम निशंक लंकपति सो प्रचंड वीर। भिरत प्रचारि युधि मानत न हारि, आज सोई सरदार सोयो चूमि रणभूमि धीर ॥ वीर गति पायो औ बनायो परलोक ताको शोक नहीं कीजै उर आनि ममता की पीर। सहित उछाह वाह वाह तिहुँ लोक धन्य त्यागत शरीर जे सुधीर रण-गंग तीर ॥'

२—'बहुरि प्रभु पहिं आयो' से जनाया कि मन्दोदरी आदिके विलापसे शोकातुर हो वे रावणके शवके समीप जा पहुँचे थे, अब वहाँसे लौटे। आकर प्रणाम किया, यह बात आगे 'आइ बिभीषन पुनि सिर नायउ। १०५। १।' के 'पुनि' पदसे सूचित होती है।

कृपादृष्टि प्रभु ताहि बिलोका। करहु क्रिया परिहरि सब सोका ॥ ७ ॥
कीन्हि क्रिया प्रभु आयसु मानी। बिधिवत देस काल जिय जानी ॥ ८ ॥

अर्थ—प्रभुने उसको कृपादृष्टिसे देखा (और कहा कि) सब शोक छोड़कर रावणकी क्रिया (दाहकर्म) करो ॥ ७ ॥ प्रभुकी आज्ञा मानकर देश और कालको मनमें विचारकर विधिपूर्वक उन्होंने रावणकी क्रिया की ॥ ८ ॥

नोट—१ कृपादृष्टिसे देखकर मायासे निवृत्त किया। 'कृपादृष्टि' से सूचित किया कि तुम अपनेको भ्रातारहित न समझो, हम तुम्हारे सब प्रकारसे सम्बन्धी हैं। (पं०)। 'सब सोका'—अर्थात् रावणका, उसकी रानियोंका, परिवारका इत्यादि सब शोक हैं। भाव कि ये तुम्हारी रानियाँ बनेंगी जिससे इनका शोक मिट जायगा। रावणको परधामकी प्राप्ति हुई तब उसका शोक कैसा? परिवार तुम्हारे राजा होनेसे सुखी हो जायगा। (पं०)। अतः शोक छोड़ो। २—'प्रभु आयसु मानी।' भाव कि विभीषण उसका दाह-संस्कार करना न चाहते थे, प्रभुने आज्ञा दी, इसलिये किया। वाल्मी० १११ (९१-९६) में विभीषणने कहा है कि धर्मव्रतको त्यागनेवाले, क्रूर, परायेको पीड़ा देनेवाले, मिथ्याभाषी, परदाररतके संस्कार करनेके योग्य हम नहीं हैं। सम्पूर्ण जीवोंके अहितमें रत यह हमारा भाईरूप-शत्रु बड़ा होनेपर भी पूजनीय नहीं है। यह सुनकर श्रीरामजीने उन्हें (श्लो० ९७ से १०३ तक) समझाया है। तब आज्ञा मानकर उन्होंने दाह-संस्कार किया। अ० रा० १२।३१-३४ में भी इसी प्रकार उल्लेख है।—यह सब भाव 'आयसु मानी' के हैं। आयसु माननेमें 'प्रभु' पद दिया। भाव कि ये समर्थ हैं; इनकी आज्ञा उल्लङ्घन नहीं की जा सकती। उसका शीघ्र पालन कर्तव्य है। इसलिये उसको माना। यथा—'प्रभु अग्या अपेल श्रुति गाई। करौं सो बेगि जो तुम्हहि सुहाई ॥ ५। ५९।'

☞ प० प० प्र०—श्रीरामजीने बालीकी और रावणके ऐसे दारापहरण करनेवाले, विश्वदुःखदायी, दुष्ट दुराचारी महान् शत्रुकी भी अन्त्यक्रिया करायी। यह भारतीय राजनीतिकी और भारतीय संस्कृतिकी परम उदारता है। अन्य धर्मीय संस्कृतिके इतिहासोंमें ऐसी उदारता दुर्लभ है। 'मरणान्तानि वैराणि' यह वचन चरितार्थ करके दिखाया है।

वाल्मी० १११ (१०३ से १२१ तक) में विधि यों वर्णित है—'प्रथम उत्तम पालकीमें रेशमी वस्त्रसे मृतकको लपेटकर रखा। रोते हुए राक्षस और ब्राह्मण चले। आगे-आगे नगाड़े बजानेवाले और स्तुति करनेवाले चले। पताका और फूलोंसे आभूषित और चित्रित पालकीको विभीषण और राक्षसोंने उठाया। अध्वर्यु लोग अग्नि प्रज्वलित कर रावणके संग-संग चले। शरणागत पुरुष और रनवास पीछे-पीछे चला। पवित्र स्थानपर रंकु नामक मृगचर्म अभिमन्त्रित करके बिछाया और रावणका पितृमेधयज्ञ करने लगे। दक्षिणपूर्वके कोनेपर वेदी बनाकर उसपर अग्नि स्थापन करके मृतकको रखा और दधि-घृतसे स्रुव भर-भरकर कन्धेपर डाला। पैर, शकट और जंघोंपर उलूखल रखा। सब काष्ठपात्र अरनी आदि जो जिस स्थानपर चाहिये वहाँ रखे।

पं०—'देशकाल'। देश लंका और रणभूमिमें जैसी रीति है। काल त्रेतायुगमें और रणभूमिमें मरनेपर जैसी रीति है। या, प्रभुको बहुत कार्य करना है, समय थोड़ा है उसमें जैसा होना चाहिये वैसा।

नोट—बालीकी क्रिया करनेकी आज्ञा सुग्रीवको दी गयी और उन्होंने की। वहाँ 'आयसु मानी' पद नहीं है। और यहाँ आज्ञा देनेपर 'आज्ञा मानकर' करना कहा। इससे जनाया कि बालीके मृतक-संस्कार करनेमें उन्हें संकोच न हुआ था और इनको रावणके संस्कार करनेमें संकोच हुआ। दोनोंका मिलान देखिये—

सुग्रीव	विभीषण
तब सुग्रीवहि आयसु दीन्हा । मृतक कर्म बिधिवत सब कीन्हा ॥	करहु क्रिया परिहरि सब सोका । कीन्हि क्रिया प्रभु आयसु मानी । बिधिवत देस काल जिय जानी ॥

वहाँ 'बिधिवत कीन्हा'। यहाँ 'देश काल जिय जानी' पद अधिक है। कारण कि सुग्रीवको दशगात्र करनेका समय काफी था; क्योंकि श्रीरघुनाथजीको वर्षाभर वहीं रहना था और यहाँ लंकामें प्रभुको ठहरनेका अवकाश नहीं है, तुरंत अवधको चलना है, अतः वहाँ 'काल' का विचार न कहा और यहाँ कहा। 'देश' यह कि रावण युद्धभूमिमें लड़ते हुए मरा है अतः वह तो मुक्त हो ही गया है, उसके लिये दशगात्रकी आवश्यकता नहीं है तो भी लोकरीति है, उसे कुछ-न-कुछ करना ही चाहिये।

दोहा—मंदोदरी आदि* सब देइ तिलांजलि ताहि।
भवन गईं रघुपति† गुन गन बरनत मन माहिं ॥१०४॥

अर्थ—मन्दोदरी आदि सब स्त्रियाँ उसे तिलाञ्जलि देकर श्रीरघुनाथजीके गुणगण मनमें वर्णन करती हुई घरको गईं। १०४।

नोट—'तिलांजलि'। मृतकके शरीरके जलनेपर स्नान करके हाथकी अँजुलीमें जल भरकर उसमें तिल डालकर मृतकके नामपर छोड़नेकी रीति है। उसे तिलाञ्जलि कहते हैं। विभीषणने विधिवत् अग्नि-संस्कार करके फिर स्नान कर गीले कपड़े पहने। तिल, कुश और जलसे तिलाञ्जलि दी। तत्पश्चात् रानियोंको समझाकर शान्त करके जानेकी आज्ञा दी तब वे गयीं।—(वाल्मी० १११। १२०—१२२)।

पु० रा० कु०—**'गुनगन बरनत मन माहिं'**। यह लोकरीति है कि दाहकर्म करके जब लोग चलते हैं तब भगवान्‌का स्मरण करते हैं। कहा भी है **'जसि सुधि होति मरघटा जसि सुधि सुने पुरान। तस सुधि रहै सर्वदा कस न मिलैं भगवान।'** लोकशिक्षा निमित्त भी कहा।

वं० पा०—गुणगण अर्थात् प्रभुके शरणागतपालकत्व, दुष्टनिग्रह, धर्मरक्षणादि गुण।

नोट—मन्दोदरी-शोक-प्रकरणका उपसंहार **'मंदोदरी आदि सब'**''' पर किया। 'पति सिर देखत मंदोदरी। १०३। १।' उपक्रम है।

मन्दोदरी-शोक-प्रकरण समाप्त हुआ

'विभीषण-राज्याभिषेक-प्रकरण

आइ बिभीषन पुनि सिरु नायो। कृपासिंधु तब अनुज बोलायो ॥ १ ॥
तुम्ह कपीस अंगद नल नीला। जामवंत मारुति नयसीला ॥ २ ॥
सब मिलि जाहु बिभीषन साथा। सारेहु तिलक कहेउ रघुनाथा ॥ ३ ॥

अर्थ—(दाहकर्म करके) फिर विभीषणजीने आकर प्रणाम किया। तब दयासागर श्रीरामजीने भाईको बुलाया। १। श्रीरघुनाथजीने कहा कि तुम, सुग्रीव, अंगद, नल, नील, जाम्बवंत और हनुमान् सब नीतिनिपुण लोग मिलकर विभीषणजीके साथ जाओ और सम्पूर्णरूपसे तिलक करना ॥ २-३ ॥

नोट—१ **'आइ पुनि सिरु नायो'**। (क)—प्रथम आये तब क्रिया करनेको भेजे गये—**'बहुरि बिभीषन प्रभु पहिं आयेउ।'''** 'करहु क्रिया'। क्रिया करके लौटे, इसलिये 'आइ पुनि' कहा। ''पुनि'' 'सिरु नायो' के साथ भी ले सकते हैं। पुनि=तत्पश्चात्=पुनः। 'पुनः' अर्थ लेनेसे भाव होगा कि पूर्व जब आये थे तब भी प्रणाम किया था और अब

* 'मयतनयादिक नारि सब। † रघुबीर—(मा० म०, पं०, का०)।

आये तब फिर प्रणाम किया। (ख) पूर्वक्रिया करनेके लिये जाना न कहा था, यहाँ 'आइ' पदसे पूर्वका जाना भी कह दिया। (ग) सिर नवाया, यह शिष्टाचार किया और यह भी जनाया कि अब क्या आज्ञा होती है।

२—'कृपासिंधु तब अनुज बोलायो' इति। (क) कृपा करके राज्य देंगे, अतः 'कृपासिंधु' कहा। (ख) 'बोलायो' से जनाया कि लक्ष्मणजी दूर थे। सुग्रीवके तिलककी आज्ञाके समय समीप थे इससे वहाँ 'बुलाना' न कहा था। यथा—'राम कहा अनुजहि समुझाई।०'

३ (क) श्रीलक्ष्मणजी भाई हैं, ये तिलक करेंगे, इन्हींने सुग्रीवका तिलक किया था। इससे इनको प्रथम कहा। सुग्रीव राजा और अङ्गद युवराज हैं। इससे उनको कहकर तब उनके मन्त्रियों और सेनापतियोंको कहा। राजा, राजकुमार और मन्त्री नीतिज्ञ होते ही हैं—'राज कि रहइ नीति बिनु जाने'। (ख) 'नयशील' का भाव कि राजाको तिलक कैसे करना चाहिये यह सब तुम लोग (सुग्रीवके तिलकसे) जानते हो।

शीला—रामजीने तिलक पूर्व सिन्धुतटपर ही कर दिया था, अब फिर करनेको कहते हैं। इसमें राजनैतिक प्राकृत दृष्टिसे प्रथम तिलक करनेका भाव यह है कि वे लंकाका भेद कहेंगे, नहीं तो समझेंगे कि रावणवध होनेपर उसके किसी-न-किसी पुत्रको रामचन्द्रजी राज्य दे देंगे। और रामचरितकी यथार्थ दृष्टिसे प्रथम देवताओंके अभयके लिये तिलक किया था कि वे निश्चय जान लें कि सत्यसंकल्प प्रभु अब अवश्य उसे मारेंगे। और अब जो तिलक करेंगे वह इसलिये कि राजधानीमें राज्यसिंहासनपर बैठकर तिलक होना लोकरीति है।—[पूर्व जो तिलक हुआ उसे सब राक्षस क्या जानें ? यदि लोकरीति-अनुसार तिलक न होता तो इनके राजा बनाये जानेमें संदेह होता।]

पिता बचन मैं नगर न आवौं। आपु सरिस कपि अनुज पठावौं॥ ४॥

अर्थ—मैं पिताकी आज्ञाके कारण नगरमें नहीं आऊँगा पर अपने समान वानर और छोटे भाईको भेजता हूँ॥ ४॥

नोट—१ 'पिता बचन मैं नगर न आवउँ' इति। सुग्रीवप्रति 'पुर न जाउँ दस चारि बरीसा' ऐसा कहा और यहाँ 'न आवउँ' कहा। सुग्रीवसे ये वचन राज्याभिषेक होनेके बाद कहे गये थे। और अपने निवासके सम्बन्धमें कहा था कि १४ वर्ष तक मैं किसी पुरमें नहीं जा सकता इससे न जाऊँगा, वरन् 'रहिहउँ निकट सैलपर छाई'। और यहाँ विभीषणजीका राजतिलक करना है, सबको भेज रहे हैं और स्वयं नहीं जाते, यद्यपि सिन्धुतटपर अपने हाथसे तिलक किया था। विभीषणजीके चित्तमें शङ्का होनी सम्भव है कि पूर्व स्वयं तिलक किया अब क्यों स्वयं तिलक नहीं करते। इसलिये यहाँ यह कहनेकी आवश्यकता हुई। इसीसे 'न आवउँ' कहा। भाव कि तुम सबको भेजता हूँ, तुम्हारे साथ मैं नहीं चलता, क्योंकि पिताकी आज्ञा ऐसी ही है। अब १४ वर्ष पूरे हो गये केवल दो दिन शेष हैं। इसीसे यहाँ वर्षोंका नाम न लिया। अब तो एक वर्ष भी नहीं रह गया। (प्र० सं०)। एक बात और विचार करनेकी है। वह यह है कि मानसमें सुग्रीवका वालीकी अन्त्येष्टि क्रिया करके श्रीरामजीके पास आना नहीं कहा गया। जान पड़ता है कि मानसकल्पमें सुग्रीव किष्किन्धामें ही थे तभी श्रीरामजीने श्रीलक्ष्मणजीको सुग्रीवका राज्याभिषेक करनेको भेज दिया। उस समय केवल लक्ष्मणजी प्रभुके साथ थे, अतः अकेले वे ही भेजे गये। सुग्रीव समीप न थे अतः 'पुर न आवउँ' कहनेकी वहाँ आवश्यकता ही न हुई। इस समय श्रीरामजीके साथ सुग्रीवादि बहुत-से सम्माननीय लोग हैं जिन्होंने युद्धमें सहायता की है, अतः उन सबोंको भी तिलकमें सम्मिलित होनेको भेजा। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि विभीषणकी गहरी भक्तिसे श्रीरामजीने जान लिया कि ये नगरमें चलनेकी प्रार्थना अवश्य करेंगे, अतः प्रथम ही कह दिया कि 'पिता बचन मैं नगर न आवउँ।' सुग्रीव ऐसी प्रार्थना ही न करेंगे यह जानते थे। अतः वहाँ न कहा। इस भेदसे कविने यह दरसा दिया कि सुग्रीव अधिक प्रतिष्ठाकांक्षी हैं इससे उनका प्रेम प्रभुमें उतना नहीं है जितना विभीषणजीका।

नोट—२ 'आपु सरिस कपि अनुज पठावउँ' इति। (क) यहाँ प्रभुका शील-स्वभाव दिखाते हैं। सुग्रीवादि अपनेको सेवक ही मानते और कहते हैं पर प्रभु उन्हें बराबरका सखा ही मानते हैं, यथा—'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे।', 'प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किय आपु समान। तुलसी कहूँ न राम से साहिब सील निधान॥ १। २९।' (ख) यहाँ प्रथम 'कपि' तब 'अनुज' कहा। वानरोंको अपने समान दिखानेके लिये 'आपु सरिस' के साथ 'कपि' पद

दिया। भाईको प्रथम कहनेसे 'आपु सरिस' केवल अनुजका ही विशेषण समझा जा सकता था, क्योंकि भाई-भाई समान होते ही हैं। पुनः, (ग) यहाँ 'कपि अनुज' कहकर 'कपि' की श्रेष्ठता या प्रधानता कही और ऊपर **'तुम्ह कपीस अंगद नल नीला।'** में 'तुम्ह' को प्रथम कहकर लक्ष्मणजीकी श्रेष्ठता वा प्रधानता दिखायी। इस प्रकार दोनोंको समान जनाया, किसीको छोटा-बड़ा नहीं। पुनः, (घ) पंजाबीजीका मत है कि 'कपि' को पहले छन्दहेतु कहा।

तुरत चले कपि सुनि प्रभु बचना। कीन्ही जाइ तिलक कै रचना॥ ५॥
सादर सिंघासन बैठारी। तिलक सारि* अस्तुति अनुसारी॥ ६॥

शब्दार्थ—रचना=विधान, कार्य, आयोजना, अनुष्ठान, प्रबन्ध। अनुसारना=(कोई कार्य) करना, यथा— **'ताते कछुक बात अनुसारी'।**

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर वानर तुरंत चले। जाकर तिलकका विधान किया॥ ५॥ सादर सिंहासनपर बिठाकर तिलक करके स्तुति की॥ ६॥

नोट—१ 'तुरत चले कपि०'। (क)—'कपि' को यहाँ प्रथम कहनेका भाव कि प्रथम वहाँ इन्हींका काम है। ये समस्त तीर्थों और समुद्रोंका जल लायँगे, सामग्री एकत्रित करेंगे, इत्यादि। (ख)—'तुरंत' दोनों चरणोंके साथ है—तुरंत गये, तुरंत तिलकका प्रबन्ध किया।

२—(क) 'तिलककी रचना' अयोध्याकाण्डमें कह चुके हैं। यथा—**'हरषि मुनीस कहेउ मृदु बानी। आनहु सकल सुतीरथ पानी॥ औषध मूल फूल फल पाना। कहे नाम गनि मंगल नाना॥ चामर चरम बसन बहु भाँती। रोम पाट पट अगनित जाती॥ मनिगन मंगल बस्तु अनेका। जो जग जोग भूप अभिषेका॥** २। ६। १-४।' इससे यहाँ नहीं दुहराया। (ख)—तिलकका प्रबन्ध, सिंहासनासीन करना, तब तिलक और उसके बाद स्तुति और प्रणाम-ये सब क्रमसे कहे जैसे होते हैं।—यह सब राज्याभिषेकके समयकी रीति कही। (ग) वाल्मी० ११२ में तिलककी रचना इस प्रकार वर्णित है कि लक्ष्मणजीने हर्षपूर्वक स्वर्णघट लेकर श्रेष्ठ और मनके समान वेगवाले वानरोंको समुद्रोंका जल लानेकी आज्ञा दी। मनोवेगवाले वे वानर शीघ्र समुद्रोंका तीर्थ लेकर आ गये। बादमें एक घट लेकर और उसे उत्तम आसनपर रखकर उस घटसे जल लेकर लक्ष्मणजीने विभीषणजीका तिलक किया। श्रीरामजीकी आज्ञासे लङ्काके मध्यमें राक्षसराजका मन्त्र और विधिसे राज्याभिषेक किया। उस समय जितने राक्षस और वानर थे सबने तिलक किया। (श्लोक १२—१६)। (घ)-प्रभुकी आज्ञापालनमें यहाँ कैसी शीघ्रता और उत्साह है, यह बात कविने अपने अक्षरोंसे जना दी है। तीन चरणोंमें तिलकका सामान, तिलक, स्तुति सभी कुछ हो गया। वाल्मी० रा० में रामजीने कहा है कि हम इनको अभिषिक्त देखना चाहते हैं; उसीपर इतनी शीघ्रता और उत्साह है। वाल्मी० रा० का भाव इतनेमें ही सब जना दिया गया। यहाँ 'चपलातिशयोक्ति अलङ्कार' है।

३—सुग्रीवके राज्याभिषेकपर कहा था कि **'लछिमन तुरत बोलाए पुरजन बिप्रसमाज'** (कि० १२)। उसका अध्याहार यहाँ भी कर लेना होगा और यहाँ 'तिलककी रचना', 'सिंहासनपर बिठाना' और 'स्तुति करना' कहा, इसका अध्याहार वहाँ भी कर लें। यह कविकी शैली है। जो बात कई स्थानोंपर कहनी होती है उसे एक स्थानपर ही कहते हैं और वह सर्वत्र समझ ली जाती है। (प्र० सं०) पर वि० त्रि० जीका मत भी ठीक जान पड़ता है। वे लिखते हैं कि 'विभीषणजीको आदरके साथ सिंहासनपर बिठाया, तिलक किया और विभीषणकी स्तुति की। लक्ष्मण, सुग्रीव, अङ्गद नल, नील, जाम्बवान् आदिने हाथ जोड़कर सिर नवाया। सुग्रीवजीके तिलकमें ऐसी बातें नहीं हुईं, कारण यह कि यह सिंहासन रावणका था, जिसका शासन सम्पूर्ण ब्रह्माण्डपर चलता था। यथा—**'ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दससुख बसबर्ती नर नारी'**॥ देवता इसके आगे अवनतमस्तक होते थे। यथा—**'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥'** अतः उस सर्वोच्च गद्दीका सम्मान है कि सब लोग प्रणाम करते हैं। बाली बलवान्

* तिलकु कीन्ह—(का०)।

तो बहुत बड़े थे; पर उनका शासन केवल बन्दर-भालुओंपर चलता था, अतः उस गद्दीका उतना मान नहीं किया गया जितना कि रावणकी गद्दीका हुआ। स्वयं लक्ष्मणजी स्तुति करते हैं, प्रणाम करते हैं।

करु०—विभीषण परम भागवतोंमें मुख्य हैं, रावण और राक्षसोंके बीचमें रहकर भी वैष्णवधर्मका निर्वाह इन्होंने किया, अतएव स्तुति करने योग्य हैं।—[वै०—मागध सूत बन्दीगणने यश गान किया।]

जोरि पानि सब ही सिर नाए। सहित बिभीषन प्रभु पहिं आए॥ ७॥
तब रघुबीर बोलि कपि लीन्हे। कहि प्रिय बचन सुखी सब कीन्हे॥ ८॥

अर्थ—हाथ जोड़कर सभीने प्रणाम किया। (फिर) विभीषणसहित सब प्रभुके पास आये॥ ७॥ तब रघुवीरजीने वानरोंको (अपने निकट) बुला लिया और (अमृतसमान) प्यारे वचन कहकर सबको सुखी किया॥ ८॥

रा० प्र०—'सबही सिर नाए' अर्थात् जो सभामें थे। (विशेष वि० त्रि० जीका टिप्पण, चौ० ६ में देखिये।)

नोट—'सहित बिभीषन प्रभु पहिं आए' इति। सुग्रीव न तो अन्त्येष्टि क्रियाके बाद और न राज्याभिषेकके बाद ही प्रभुके पास आये, वे बहुत वर्षोंसे छूटी हुई स्त्री और राज्यमें आसक्त हो गये, प्रभुके बुला भेजनेपर आये। विभीषणजी दोनों बार स्वयं ही तुरत आये। इससे इनमें विशेष भक्ति दिखायी।

छंद—किए सुखी कहि बानी सुधासम बल तुम्हारे रिपु हयो।
पायो बिभीषन राज तिहुँ पुर जसु तुम्हारो नित नयो॥
मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जे गाइहैं।
संसारसिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं॥

अर्थ—अमृत-समान वाणी कहकर सबको सुखी किया। (वह वचन ये हैं) तुम्हारे बल (सहायता) से शत्रुका नाश हुआ और विभीषणने राज्य पाया—यह तुम्हारा यश तीनों लोकोंमें नित्य नया बना रहेगा। मुझसहित तुम्हारी मङ्गलकीर्तिको जो परम प्रीतिसे गायँगे वे मनुष्य विना परिश्रम ही अपार संसारसागरका पार पा जायँगे।

नोट—अ० रा० में मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**रामोऽपि विभीषणं दृष्ट्वा हनूमन्तं तथाङ्गदम्। लक्ष्मणं कपिराजं च जाम्बवन्तं तथापरान्॥ १॥ परितुष्टेन मनसा सर्वानेवाब्रवीद्वचः। भवतां बाहुवीर्येण निहतो रावणो मया॥ २॥ कीर्तिः स्थास्यति वः पुण्या यावच्चन्द्रदिवाकरौ। कीर्तयिष्यन्ति भवतां कथां त्रैलोक्यपावनीम्॥ ३॥ मयोपेतां कलिहरां यास्यन्ति परमां गतिम्।**'—(अ० रा० १२)। अर्थात् रामजीने विभीषण, हनुमान्, अङ्गद, लक्ष्मण, सुग्रीव, जाम्बवन्त और अन्य सब वानरोंसे प्रसन्न होकर कहा—आपके बाहुबलसे मैंने रावणको मारा। आप लोगोंकी पवित्र कीर्ति जबतक सूर्यचन्द्रमा रहेंगे तबतक रहेगी। त्रैलोक्यको पवित्र करनेवाली कलिमलहारी, कीर्तियुक्त आपकी कथाको जो कहेंगे वे परम गतिको प्राप्त होंगे।

अ० रा० में यह प्रसङ्ग मन्दोदरी-विलापके पहले और वाल्मी० १२२ में सीतामिलाप प्रसङ्गके पीछे है।

२ (क) वाणी 'सुधासम' है अतः उससे सुख हुआ। 'किए सुखी' अर्थात् वाणीसे सब प्रेममें मग्न हो गये, शरीर पुलकायमान हो गया, यथा—'**श्रवन सुधा सम बचन सुनि पुलक प्रफुल्लित गात। बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदय समात॥** बा० १४५॥' (ख) 'जसु तुम्हारो नित नयो' इति। भाव कि कभी घटेगा नहीं, एकरस बना रहेगा; यथा—'**उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥** २। २०९॥' 'नित्य नया' से यह भी जनाया कि सदा बना रहेगा। इसीको अध्यात्ममें 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' कहा है।

३—'मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी।...'। (क)—प्रभुकी कीर्ति मंगलमय है, यथा—'**जासु सकल मंगलमय कीती।** सुं० ३४।', अतः उनकी कीर्तिको भी 'शुभ' कहा। (ख)—बिनु प्रयास भवसागर पार करनेका उपाय प्रभु सबको बता रहे हैं। वह यह है कि—हमारी और वानरोंकी शुभ कीर्तिका गान करें। पर परम प्रेमसे गान

करें । (ग) **'बिनु प्रयास'** का भाव कि और उपायोंमें प्रयास है, गान करनेमें प्रयास नहीं । पुनः, **'बिनु प्रयास'** अर्थात् जप, योग, यज्ञादि किये बिना ही भवपार हो जायँगे । इनमें परिश्रम है । (घ) **'मोहि समेत सुभ कीरति तुम्हारी'** से जनाया कि केवल तीन काण्डों, किष्किन्धा, सुन्दर और लङ्काके ही गानसे यह फल प्राप्त हो जायगा, समग्र रामायणके गानकी आवश्यकता नहीं । क्योंकि इन्हींमें दोनोंके चरित एक साथ हैं । (ङ)—यह प्रभुका सबको आशीर्वाद है । वर्णाश्रमादि किसीका भी भेद नहीं, सब इसके अधिकारी हैं—

यहाँ प्रभुके **'आपु सरिस कपि अनुज'** (जो पूर्व कह आये हैं) उन वचनोंका चरितार्थ है । प्रभुके यशोगानसे भवसागर प्रयास बिना पार होता है—**'रघुबंसभूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं । कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधामं सिधावहीं ॥'**—(उ०), तथा इनके यशोगानसे बिना प्रयास भव पार होंगे ।

वं० पा०—यह श्रीमुखसे रामायणका माहात्म्य प्रभुने कहा । **'मोहि सहित'** कहकर स्वयं गौण बने, वानरोंको प्रधान बनाया, आप अपने भक्तके पिछुआ हुए, भक्तको अगुआ बनाया, यह स्वामीकी कृतज्ञता है । तथा यह **'राम ते अधिक राम कर दासा'** का उदाहरण भी है ।

दोहा—प्रभु के बचन श्रवन सुनि* नहिं अघाहिं कपिपुंज ।
बार बार सिर नावहिं† गहहिं सकल पदकंज ॥ १०५ ॥

अर्थ—प्रभुके वचन कानोंसे सुनकर वानरसमूह अघाते नहीं । सभी बारम्बार माथा नवाते और सभी चरणकमल पकड़ते हैं ॥ १०५ ॥

नोट—१ वचन सुधासम हैं इससे सुनकर तृप्ति नहीं होती, यथा—**'नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर । श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मतिधीर ॥ उ० ५२ ॥'** २ (क)—**'बार बार सिर नावहिं'** और **'गहहिं पदकंज'** दोनों दशाएँ प्रेमनिमग्नता, कृतकृत्यता और प्रत्युपकारकी अपनेमें असमर्थता जनाती हैं, यथा—**'सुनत सुधा सम बचन राम के । गहे सबन्हि पद कृपाधाम के ॥ ७ । ४७ । १ ॥'**, **'मो पहिं होइ न प्रति उपकारा । बंदउँ तव पद बारहिं बारा ॥ ७ । १२५ । ४ ॥'**

पुनः, (ख)—**'गहहि पदकंज'** का भाव कि आपकी वाणी मोहमें डालनेवाली है, हमको इन चरणोंसे विमुख करनेवाली है, इन चरणोंको हमसे न छुड़ाइये । सदा इनके आश्रित शरणमें रहने दीजिये । यथा—**'सुनत बचन प्रेमाकुल बानर । जोरि पानि बोले सब सादर ॥ प्रभु जोइ कहहु तुम्हहिं सब सोहा । हमरे होत बचन सुनि मोहा ॥ दीन जानि कपि किए सनाथा । तुम्ह त्रैलोक ईस रघुनाथा ॥ सुनि प्रभु बचन लाज हम मरहीं । मसक कतहुँ खगपति हित करहीं ॥ ११६ । ५-८ ॥'**

पुनः, (ग)—प्रभुने तीन बातें कहीं—तुम्हारे बलसे शत्रु मारा गया और विभीषणने राज्य पाया । तीनों लोकोंमें तुम्हारा यश नित्य नवीन बना रहेगा । और, तुम्हारी इस कीर्तिको जो गायँगे वे भी भवपार होंगे । वानरवृन्द भी वचन सुनकर—**'भये सुखी'** और **'नहिं अघाहिं'**; **'बार बार सिर नावहिं'** और **'गहहिं पदकंज'** । यश होगा और दूसरे भव तरेंगे, यह सुनकर अघाते नहीं, सुखी हुए और बारम्बार प्रणाम किया । तुम्हारे बलसे शत्रु मारा, यह सुन चरण पकड़ते हैं कि शरण रखिये । यथा—**'चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत । सुं० ३२ ।'** इसी तरहके वचन सुनकर हनुमान्‌जी चरणोंपर गिरे थे ।

विभीषण-राज्याभिषेक-प्रकरण समाप्त हुआ ।

'श्रीसीतारघुपतिमिलन'—प्रकरण

पुनि प्रभु बोलि लिएउ हनुमाना । लंका जाहु कहेउ भगवाना ॥ १ ॥
समाचार जानकिहि सुनावहु‡ । तासु कुसल लै तुम्ह चलि आवहु ॥ २ ॥

* सुनत रामके बचन मृदु । † बारहि बार बिलोकि मुख—(का०) । ‡ सुनाएहु, आएहु—(का०) ।

अर्थ—फिर प्रभुने हनुमान्‌जीको बुलाया। भगवान् रामजीने उनसे कहा कि 'तुम लङ्कामें जाओ ॥ १ ॥ जानकीजीको समाचार सुनाओ और उनकी कुशल लेकर चले आओ ॥ २ ॥

पं०—(क) प्रभु और भगवान् पद देनेका भाव कि ये स्वयं समर्थ हैं, ईश्वर हैं, किसीके आश्रय नहीं हैं, केवल भक्तको बड़ाई देनेके लिये इन्हें भेजते हैं। पुनः, ये एक बार हो आये हैं, वे इन्हें पहचानती हैं इसलिये इन्हें भेजा। (ख) 'कुशल लेकर चले आओ' का भाव कि उनको साथ न लाना। साथ न लानेका भाव कि समाचार सुनकर उनका अत्यन्त हर्षसे देहरहित हो जाना सम्भव है। जब सुनेंगी कि अभी बुलाया नहीं है तब वह हर्ष सामान्य हो जायगा। अथवा इससे न बुलाया कि अभी संयोगका मुहूर्त शुभ न था, समाचार भेजा कि अधीर न हों।

नोट—अभी इससे नहीं बुलाया कि कुशल-समाचार सुननेपर कि वे जीवित हैं। उनको आदर-पूर्वक स्नानादिक करवाकर बुलायेंगे, यथा—'**बोलि लिये जुबराज बिभीषन ॥ मारुतसुत के संग सिधावहु। सादर**···।'

मिलान कीजिये—'**जानक्यै सर्वमाख्याहि रावणस्य वधादिकम्। जानक्याः प्रतिवाक्यं मे शीघ्रमेव निवेदय** ॥ अ० रा० १२। ५२।' अर्थात् रावणका वधादि जानकीजीसे कहो। फिर जो वे कहें वह शीघ्र आकर हमसे कहो।

नोट—सुनानेको 'समाचार' और लानेको 'कुसल' कहा। क्या समाचार सुनानेको कहा यह आगे हनुमान्-सीता-संवादमें कहेंगे, इससे यहाँ न कहा।—'**सब बिधि कुसल कौसलाधीसा। मातु समर जीत्यो दससीसा ॥ अबिचल राज बिभीषन पायो।**' 'समाचार' में सुग्रीव, लक्ष्मण, विभीषण और अपना कुशल एवं रावणवध, विभीषणराज्य सब जनाये। यथा—'**प्रविश्य नगरीं लङ्कां कौशलं ब्रूहि मैथिलीम् ॥ २३ ॥ वैदेह्या मां कुशलिनं सुग्रीवं सह लक्ष्मणम्। आचक्ष्व वदतां श्रेष्ठ रावणं च हतं रणे ॥ २४ ॥ प्रियमेतदिहाख्याहि वैदेह्यास्त्वं हरीश्वर। प्रतिगृह्य तु संदेशमुपावर्तितुमर्हसि ॥ २५ ॥**' (वाल्मी० ११२)। (अर्थात् हे सौम्य! लंकापुरीमें जाकर जानकीजीसे लक्ष्मण, सुग्रीवसहित हमारी कुशल कहो। हे कहनेमें श्रेष्ठ! रावणका युद्धमें मरण भी कहना। हे कपिश्रेष्ठ! यह प्रिय जानकीजीसे कहो और उनका संदेश लेकर लौट आओ)। हनुमान्‌जीने पूछनेपर सबकी कुशल कहा है।

तब हनुमंत नगर महुँ आए। सुनि निसिचरी निसाचर धाए ॥ ३ ॥
बहु प्रकार तिन्ह पूजा* कीन्ही। जनकसुता देखाइ पुनि† दीन्ही ॥ ४ ॥

अर्थ—तब श्रीहनुमान्‌जी नगरमें आये। (उनका आगमन) सुनकर निशाचरियाँ और निशाचर (स्वागतके लिये) दौड़े ॥ ३ ॥ बहुत तरहसे उन्होंने इनकी पूजा की और फिर जानकीजीको दिखा दिया ॥ ४ ॥

नोट—१ यहाँ दिखाते हैं कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा—'**यथा राजा तथा प्रजा**'। दुष्ट रावणके राज्यमें उन्हीं राक्षसियोंका क्या आचरण था और अब विभीषणराज्यमें क्या है?—भक्तकी पूजा कर रहे हैं। 'बहु प्रकार' अर्थात् षोडशोपचार पूजा। यथा—'**इति प्रतिसमादिष्टो हनूमान्मारुतात्मजः। प्रविवेश पुरीं लंकां पूज्यमानो निशाचरैः** ॥ वाल्मी० ११३। १।' अर्थात् इस तरहसे पवनसुत हनुमान् आज्ञापित हो लंकामें निशाचरोंसे पूजित होते हुए प्रविष्ट हुए।

पांडेजी—यहाँ निशिचरीको प्रथम कहा तब निशाचरको। भाव कि—(क) निशिचर सब मारे गये अब निशाचरियाँ ही बची हैं।—(नोट—जैसे-जैसे निशिचर मारे जाते गये तैसे-तैसे यहाँके निशिचर भी रणमें बुलाये गये। निशिचर बहुत मार डाले गये अब कम हैं और निशाचरियाँ बहुत हैं।) अतः उनको प्रथम कहा। वा, (ख) निशिचर हनुमान्‌जीसे भयभीत हैं इससे उन्होंने स्त्रियोंको आगे किया जिसमें वे क्रोध न करें।

नोट—२ '**देखाइ पुनि दीन्ही**'। 'पुनि' का भाव कि प्रथम पूजा की तब उनके साथ जाकर दूरसे दिखा दिया कि वह श्रीजानकीजी बैठी हैं। साथ-साथ समीप न गयीं कि कदाचित् सबके सामने इनसे बोलनेमें संकोच हो। रा० प्र० कार 'पुनि' का अर्थ दुबारा लेते हैं। इसीसे वे कहते हैं कि यहाँ तो प्रथम ही बार दिखाया है अतः 'पुनि' ठीक नहीं।

* पूजा बहु प्रकार तिन्ह। † तिन्ह दीन्ही।—(का०)।

पर 'पुनि' का अर्थ तत्पश्चात् भी है। वही अर्थ 'पुनि' का यहाँ भी होगा। यथा 'सिबिका रुचिर साजि पुनि ल्याए। १०७। ७।' में भी पालकी दुबारा नहीं लायी गयी थी तब भी 'पुनि' ही शब्द दिया गया अर्थात् श्रीसीताजीको आभूषण-वस्त्रादि पहनाकर तब पालकी लाये।

दूरिहि ते प्रनाम कपि कीन्हा। रघुपति दूत जानकी चीन्हा॥ ५॥
कहहु तात प्रभु कृपानिकेता। कुसल अनुज कपि सेन समेता॥ ६॥

अर्थ—कपिने दूरहीसे प्रणाम किया। श्रीजानकीजीने पहचान लिया कि यह रघुपतिदूत हैं॥ ५॥ (तब बोलीं) हे तात! कहो, कृपाके धाम प्रभु भाई और सेनासहित कुशल तो हैं?॥ ६॥

नोट—१ '**दूरिहि ते प्रनाम कीन्हा**' इति। भाव कि जहाँसे राक्षसियोंने उनको दिखाया था और वे देख पड़ती थीं एवं वे इनको देख सकती थीं। जहाँसे दर्शन हों वहींसे प्रणाम करना विधि है, यथा—'**सखा बचन सुनि बिटप निहारी।** ···**करत प्रनाम चले दोउ भाई।** अ० २३८। १-२।', '**देखे भरत लषन प्रभु आगे। पूँछे बचन कहत अनुरागे॥** ···**बेदी पर मुनि साधु समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू॥** २। २३९। ४-६।' ···'**पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥** २। २४०। २।', '**गिरिबर दीख जनकपति जबहीं। करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं॥** २। २७५। २।' '**गुरुहि देखि सानुज अनुरागे। दंड प्रनाम करन प्रभु लागे॥ मुनिबर धाइ लिए उर लाई।** २। २४३। ३-४।' इत्यादि।

२ (क) 'चीन्हा' से पूर्व परिचय जनाया। (ख) 'कृपानिकेता' का भाव कि कृपा की इसीसे तुम्हें हमारे पास भेजा। (ग) '**कुसल अनुज कपि सेन समेता**', ठीक इन सबका कुशल हनुमान्‌जीद्वारा रामजीने कहला ही भेजा था। १०६ (३-४) देखिये।

सब बिधि कुसल कोसलाधीसा। मातु समर जीत्यो दससीसा॥ ७॥
अबिचल राजु बिभीषन पायो*। सुनि कपिबचन हरष उर छायो॥ ८॥

अर्थ—हे मातु! कोशलपति श्रीरामजी सब प्रकार सकुशल हैं। हे मातु! उन्होंने रणमें दस सिरवाले रावणको जीता॥ ७॥ विभीषणजीने अचल राज्य पाया। कपिके वचन सुनकर उनके हृदयमें आनन्द छा गया॥ ८॥

नोट—१ (क) 'सब बिधि' का भाव कि सेना सकुशल है, सब वानर सकुशल हैं, लक्ष्मणजी सकुशल हैं, सुग्रीवादि सबके सहित वे कुशलपूर्वक हैं। यथा—'**देवि रामः ससुग्रीवो विभीषणसहायवान्। कुशली वानराणां च सैन्यैश्च सहलक्ष्मणः॥ ५८॥ रावणं ससुतं हत्वा सबलं सह मन्त्रिभिः। त्वामाह कुशलं रामो राज्ये कृत्वा विभीषणम्॥ ५९॥ श्रुत्वा भर्तुः प्रियं वाक्यं हर्षगद्गदया गिरा।** अ० रा० १२। ६०।' अर्थात् हे देवि! श्रीसुग्रीवसहित विभीषणजी जिनके सहायक हैं वे श्रीरामजी वानरसेनाओं और सुग्रीव तथा लक्ष्मणसहित कुशलपूर्वक हैं। सेना, मन्त्री और पुत्रोंसहित रावणको मारकर विभीषणको राज्य देकर आपसे कुशल कहा है। स्वामीके प्रिय वचन सुनकर श्रीसीताजी हर्षपूर्वक गद्‌गदवाणीसे (बोलीं)। (ख) श्रीजानकीजीने कुशल पूछा था। अतः पहले कुशल कही तब रावण-वधादि कहे। 'अविचल राज' का भाव कि कल्पभरका राज्य दिया है। यथा '**करेहु कलप भरि राज तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहि।** ११५।' पुनः यथा—'**विभीषणाय भगवान् दत्त्वा रक्षोगणेशताम्॥ ३२॥ लङ्कामायुश्च कल्पान्तं ययौ चीर्णव्रतः पुरीम्।—३३॥** भा० ९। १०।' अर्थात् भगवान् रामजी विभीषणको राक्षसोंका राज्य और लंका और कल्पपर्यन्त आयु दे, व्रतको पूर्णकर पुरीको चले। [पुनः 'अविचल राज्य' का भाव कि उनके सब विरोधी, रावण और उसका समस्त परिवार और पक्षपाती मारे गये, कोई न रह गया। (पं०)] (ग) '**हरष उर छायो**' अर्थात् निर्भर प्रेममें मग्न हो गयीं। यह कहकर आगे प्रेमकी दशा दिखाते हैं।

पं० वि० त्रिपाठीजी—सरकारने विभीषणको राजगद्दी देनेके बाद हनुमान्‌जीको समाचार लेकर श्रीसीताजीके

* पावा, छावा—(का०)।

पास भेजा, जिसे सुनकर सीताजीको हर्ष हुआ। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या रावणवधका समाचार तबतक नहीं मिला था? युद्धका समाचार सीताजीको मिलता जाता था, अतः रावणवधका समाचार भी लग गया, इसमें संदेह नहीं। पर दूधका जला मट्ठा फूँककर पीता है। सीताजी सशङ्क थीं, कोई दूसरा उपद्रव बीचमें न खड़ा हो जाय, परंतु जब हनुमान्‌जीसे पता चला कि विभीषणको अविचल राज्य मिला, कोई कण्टक नहीं है, तब हर्ष हृदयमें छा गया। बुद्धिमताम्वरिष्ठने इसीलिये 'अविचल' शब्द प्रयोग किया।

छंद—**अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा।**
का देउँ तोहि त्रैलोक महुँ कपि किमपि नहिं बानी समा॥
सुनु मातु मैं पायो अखिल-जग-राजु आजु न संसयं।
रन जीति रिपुदल बंधुजुत पस्यामि राममनामयं॥

शब्दार्थ—किमपि=कुछ भी, यथा 'तातें गुप्त रहउँ जग माहीं। हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीं'। समा=समान।

अर्थ—श्रीजानकीजीके मनमें अत्यन्त हर्ष है, तन पुलकित है, नेत्रोंमें जल भरा है। वे बारंबार कह रही हैं कि 'हे कपि! त्रैलोक्यमें इस वाणीके समान कुछ भी नहीं है'। तुमको मैं क्या दूँ? (हनुमान्‌जी बोले) हे मातु! सुनिये। मैंने आज सम्पूर्ण जगत्‌का राज्य पा लिया, इसमें संदेह नहीं है जो रणमें शत्रुसेनाको जीतकर भाईसहित निर्विकार श्रीरामचन्द्रजी-को आज सुस्थिर देख रहा हूँ।

पु० रा० कु०—कायिक, वाचिक, मानसिक तीनों प्रकारका हर्ष हुआ इसलिये 'अति हरष' कहा। रामकुशल सुनकर श्रीसीताजीको सात्त्विक भाव उत्पन्न हुआ—**'स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः। वैवर्णमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः' इति भरतः॥'**

नोट—१ (क) मन, तन, वचन तीनोंका हर्ष दिखाया—**'अति हरष मन', 'पुलक तन', 'कह पुनि-पुनि'** (वचन)। (ख)—**'कह पुनि पुनि'**, यह दशा निर्भर प्रेमकी है। **'पुनि पुनि'** का स्वरूप वाल्मीकीयमें खूब स्पष्ट है। वही शब्द, वही भाव बारंबार उन्होंने कहे हैं। यथा—**'किं ते प्रियं करोम्यद्य न पश्यामि जगत्त्रये॥** अ० रा० १२। ६०।' **'न हि पश्यामि सदृशं चिन्तयन्ती प्लवङ्गम। आख्यानकस्य भवतो दातुं प्रत्यभिनन्दनम्'** (वाल्मी० ११३। १६)। **न च पश्यामि सदृशं पृथिव्यां तव किंचन॥ सदृशं यत्प्रियाख्याने तव दत्त्वा भवेत्सुखम्॥ १९॥ हिरण्यं वा सुवर्णं वा रत्नानि विविधानि च। राज्यं वा त्रिषु लोकेषु एतन्नार्हति भाषितुम्॥ २०॥** अर्थात् वानर! इस आपके संदेशके सदृश प्रत्यभि-नन्दन (पारितोषिक) सोचनेपर मैं कुछ भी नहीं देखती। पृथ्वीभरमें कुछ भी इसके सदृश नहीं देखती। हमको इस प्रिय कथाके सदृश आपको देखकर सुखी करनेवाला कोई पदार्थ नहीं देख पड़ता, न हिरण्य न स्वर्ण, न नाना प्रकारके रत्न, न त्रैलोक्यका राज्य ही इस कथाकी योग्यताको पा सकता है।' (च० सं० में यह कुछ पाठ-भेदसे सर्ग ११६ में है)। (ग) यहाँ **'त्रैलोक महुँ किमपि नहिं'** से ऐश्वर्य प्रकट होता है अतः श्रीजानकीजीका ऐश्वर्यसूचक 'रमा' नाम दिया। कुशल-समाचार भेजने, पूछने इत्यादि माधुर्य चरितमें बराबर जनकसम्बन्धी नाम देते आये हैं। 'रमा' पदसे जनाया कि सब लोकोंका अधिष्ठात्व इनके आश्रित है। ये तीनों लोकोंकी अधीश्वरी हैं तभी तो कहती हैं कि तुम्हारा क्या प्रिय मैं करूँ? त्रैलोक्यमें कुछ नहीं दिखायी देता। यथा—**'किं ते प्रियं करोम्यद्य न पश्यामि जगत्त्रये।** अ० रा० १२। ६।

२ **'का देउँ तोहि०'**। भाव कि मैं तुमसे उऋण नहीं हूँ। श्रीभरतजीकी भी यही दशा और ऐसे ही वाक्य हैं। मिलान, यथा—

श्रीसीताजी	श्रीभरतजी
'हरष उर छावा' 'अतिहरष मन'	**१ प्रेम नहिं हृदय समाता**
'लोचन सजल' 'तन पुलक'	**२ नयन स्रवत जल, पुलकित गाता**
'पुनि पुनि कह रमा। का देउँ तोहि'	**३ बारबार पूछी कुसलाता। तो कहँ देउ काह०**
'त्रैलोक महुँ किमपि नहिं बानी समा'	**४ 'एहि संदेस सरिस जगमाहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं'**

☞ श्रीजानकीजी सर्वज्ञा और त्रैलोक्यकी स्वामिनी हैं अतः उन्होंने 'त्रैलोक्य महँ' कहा। भरतजी चक्रवर्ती हैं अतः इनने 'जग महँ' कहा। कुछ देने योग्य नहीं है, अतः भरतजी कहते हैं कि **'नाहिंन तात उरिन मैं तोही'**। वही भाव मिलानसे यहाँ सिद्ध हुआ।

सुन्दरकाण्डमें श्रीरामजीने भी ऐसा ही कहा है, यथा—**'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। ३२। ७।'** इस तरह रघुवंशभरको ऋणी दिखाया।

३ **'मैं पायो अखिल जग राजु०'** इति। ☞ हनुमान्‌जीकी निष्काम भक्ति दिखाते हुए कवि उपदेश देते हैं कि स्वामीकी कुशल और सुखमें ही सेवक अपनेको सब कुछ प्राप्त समझे, किसी भी पदार्थकी चाह कदापि न करे। वाल्मी० ११६ के **'तत्रैतद्वचनं सौम्ये सारवत्स्निग्धमेव च। २३। रत्नौघाद्विविधाच्चापि देवराज्याद्विशिष्यते। अर्थतश्च मया प्राप्ता देवराज्यादयो गुणाः। २४।'** अर्थात् आपके ये सारयुक्त मनोहर स्नेहमय वचन केवल विविध प्रकारके रत्नोंसे ही नहीं किंतु स्वर्गके राज्यसे भी कहीं अधिक चढ़-बढ़कर मूल्यवान् हैं। उनके सुननेसे ही मुझे देवराज्यादि समस्त मूल्य पदार्थ प्राप्त हो चुके।—इन वचनोंका भाव भी **'पायो अखिल जग राज'** में आ जाता है। 'अखिल जग राज्य' देवराज्यादिसे विशेष चढ़-बढ़कर है (च. सं.)। इसके आगे जो कहा है कि **'हतशत्रुं विजयिनं रामं पश्यामि सुस्थितम्। २५।'** (अर्थात् क्योंकि मैं शत्रुहन्ता एवं विजयी श्रीरामचन्द्रजीको अब शान्तचित्त पाता हूँ), वही भाव **'रन जीति''पश्यामि राममनामयं'** का है। अ० रा० में भी यह श्लोक है, 'सुस्थितम्' की जगह 'सुस्थिरम्' पाठ उसमें है। 'अनामय' का भाव कि आज आपके विरहजनित शोक और ताप छूटे, रावणको मारकर सुस्थिर हुए।

वं० पा०—१ **'अखिलराज्य पायो'** के अन्तर्गत यह भाव है कि इनको आगे विरञ्चिपदवीकी प्राप्ति होना है। ☞ २ **'का देउँ तोहि०'**, यह रावणवध और विभीषणराज्याभिषेक-कथाकी पूजा है कि त्रिलोकीमें कोई पदार्थ देने योग्य इस प्रत्युपकारके लिये नहीं मिली, तब सातों काण्डोंकी कथा सुनकर श्रोता क्या पूजा देंगे—यह कैमुतिक-न्यायसे जनाया।

दोहा—सुनु सुत सदगुन सकल तव हृदय बसहु* हनुमंत। सानुकूल कोसलपति रहहु† समेत अनंत॥१०६॥

अर्थ—हे पुत्र! हनुमंत! सुनो, समस्त उत्तम (सात्त्विक) गुण तुम्हारे हृदयमें बसें और लक्ष्मणसहित कोसलाधीश तुमपर प्रसन्न रहें। १०६।

नोट—१ (क) संसारका कोई पदार्थ देने योग्य न समझा और इनको निष्काम पाया तब संदेशके बदलेमें यह आशीर्वाद दिया। इससे जनाया कि त्रैलोक्यभरमें लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीकी सानुकूलताके समान कोई पदार्थ नहीं है। (ख) प्रथम जब हनुमान्‌जी श्रीजानकीजीके पास श्रीरामजीका संदेश लेकर आये थे तब यह आशीर्वाद मिला था कि **'होहु तात बल सील निधाना॥ अजर अमर गुन निधि सुत होहू। करहु बहुत रघुनायक छोहू। सुं० १७। २-३।'** और अबकी—श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामचन्द्रजी दोनोंकी सानुकूलता एवं सद्‌गुणोंकी स्थिरता दी। इससे जनाया कि यह उससे अधिक है।

२ (क) श्रीरघुनाथजीने माँगनेपर भक्ति दी थी, यथा—**'नाथ भगति अति सुखदायिनी। देहु कृपा करि अनपायनी। सुं० ३४। १।'''एवमस्तु तब कहेउ भवानी। २।'** और माताने बिना माँगे दी। यह माताका पुत्रपर विशेष प्रेम दिखाया। श्रीहनुमान्‌जीने कोशलाधीशका कुशल सुनाया—**'सब बिधि कुसल कोसलाधीसा'**। अतः इन्होंने भी 'कोशलपति' की ही सानुकूलता दी। (ख) वाल्मी० एवं अ० रा० में कहा है कि तुममें समस्त गुण हैं। यथा—**'बलं शौर्यं श्रुतं सत्त्वं विक्रमो दाक्ष्यमुत्तमम्। २५। तेजः क्षमा धृतिः स्थैर्यं विनीतत्वं न संशयः। एते चान्ये च बहवो गुणास्त्वय्येव शोभनाः। २६। वाल्मी० ११३।'** (अर्थात् जितने उत्तम गुण हैं वे सब तुममें पूर्वसे ही हैं। विक्रम, बल, शौर्य, शास्त्रज्ञान, उत्तम दक्षता, तेज, क्षमा, धैर्य, स्थिरता, विनय—ये और अन्य भी बहुतसे शोभन

* बसहुँ। † रहहुँ—(का०)।

(सुन्दर) गुण आपमें हैं इसमें संशय नहीं) । और, मानस सुन्दरकाण्डमें आपसे आशीर्वाद मिल चुका है कि तुम गुणनिधान होवो। अतएव 'बसहु' का भाव यह है कि ये सब स्थिर रहें।

मा० मु० टी०—वासनारहित चित्त देखकर उनकी रुचि जान अपनेसे ही उनको यह वर दिया। सकल सद्गुण अर्थात् यावत् साधुगुण जो लोक-वेदमें प्रसिद्ध हैं वे बिना साधन ही हृदयमें बसें। यह आशिष देकर फिर उसका फल कहती हैं कि 'सानुकूल०'। श्रीजानकीजीके समान दात्री नहीं, हनुमान्‌समान अधिकारी नहीं, साधुओंके गुणोंके समान उपादेय गुण नहीं और रामचन्द्रजीकी सानुकूलताके समान फल नहीं—ये चारों व्यञ्जित किये। आगे अब तात्कालिक व्यवहार कहती हैं।

अब सोइ जतनु करहु तुम्ह ताता। देखौं नयन स्याम मृदु गाता॥ १॥
तब हनुमान राम पहिं जाई। जनकसुता कै कुसल सुनाई॥ २॥

अर्थ—हे तात! अब वही उपाय तुम करो जिससे मैं कोमल श्यामल शरीरका नेत्रोंसे दर्शन करूँ॥ १॥ तब श्रीरामजीके पास जाकर हनुमान्‌जीने श्रीजानकीजीकी कुशल सुनायी॥ २॥

नोट—१ (क) 'अब सोइ जतन करहु' का भाव कि जैसे तुमने पूर्व ऐसा यत्न किया कि वे तुरंत लङ्कामें आये वैसे ही अब यत्न करोगे तो वे तुरंत बुला भेजेंगे। भाव कि जाकर दर्शनके लिये हमारी आतुरता उनसे कहना। (ख) 'देखौं नयन' का भाव कि ध्यानमें तो अब भी देखती हूँ, यथा—'**निज पद नयन दिए मन रामचरन महँ लीन**' एवं '**नाम पाहरु दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।**' अब आँखों देखूँ।

२ (क) '**तब हनुमान रामपहिं जाई।**' यहाँ कवि हनुमान्‌जीकी शीघ्रता और माताको दर्शन करानेकी आतुरता एवं उत्सुकता अपने अक्षरोंकी स्थितिसे दिखाते हैं—न सीताजीको प्रणाम न रामजीको। अ० रा० में प्रणाम करना लिखा है। यथा—'**रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रं मामाज्ञापयतु राघवः॥ ६४॥ तथेति तां नमस्कृत्य ययौ द्रष्टुं रघूत्तमम्। जानक्या भाषितं सर्वं रामस्याग्रे न्यवेदयत्॥** अ० रा० १२। ६५।' अर्थात् रामजीको मैं देखूँ ऐसी वे शीघ्र मुझे आज्ञा दें। 'बहुत अच्छा' ऐसा कह उनको प्रणामकर रघुनाथजीको देखने गये और जानकीजीका संदेश कहा। (ख) 'आई' न कहकर 'जाई' कहनेमें भाव यह है कि कपिराज हनुमान्‌जीके साथ वाटिकामें आये और वहीं रह गये, श्रीजानकीजीके साथ ही लौटेंगे। (प० प० प्र०)।

*** सुनि संदेसु भानुकुलभूषन। बोलि लिए जुबराज बिभीषन॥ ३॥**
मारुतसुत के संग सिधावहु। सादर जनकसुतहि लै आवहु॥ ४॥

अर्थ—सूर्यकुलभूषण श्रीरघुनाथजीने संदेश सुनकर युवराज अङ्गद और श्रीविभीषणजीको बुलाया (और कहा) ॥ ३॥ पवनसुतके साथ जाओ और आदरपूर्वक श्रीजानकीजीको ले आओ॥ ४॥

नोट—१ (क) पूर्व कहा कि '**जनकसुता कै कुसल सुनाई**' और यहाँ कहते हैं कि '**सुनि संदेस**'। श्रीरघुनाथजीने कहा था कि '**तासु कुसल लेइ तुम्ह चलि आवहु**' अतः 'कुशल' सुनाना कहा और जानकीजीने जो कहा था कि '**अब सोइ जतन करहु तुम्ह ताता। देखउँ नयन स्याम मृदु गाता॥**' यह उनकी दर्शनके लिये व्याकुलता भी कही। इसीसे यहाँ '**सुनि संदेस**' कहा। पुनः, (ख)—भाव कि कुशल सुनकर न बुलाया, आतुरता सुनकर तुरंत बुलाया। पुनः, मानसमें कुशल लानेको कहा है अतः प्रथम कुशल कही और वाल्मी० रा० में 'संदेश' लानेको कहा है, (यथा '**प्रतिगृह्य च सन्देशमुपावर्तितुमर्हसि।**'); अतः फिर 'सन्देश' सुनाना भी लिखा।

२ 'भानुकुलभूषण' का भाव कि—(क) सूर्यवंशकी मर्यादाके अनुकूल महारानी श्रीसीताजीको लानेके लिये भेजेंगे। विभीषण राजा हैं, अङ्गद युवराज हैं, अतः ये ले आनेको भेजे गये। पुनः, विभीषणको भेजा कि वे सादर स्नान आदि करानेकी आज्ञा निशिचरियोंको दें। अङ्गदमें बालभाव है और ये युवराज भी हैं और विभीषणको लङ्का दे

* सुनि बानी पतंगकुलभूषन—(का०)।

चुके हैं एवं इनकी स्त्री सरमा वहाँ सेवामें हैं। अतः इनको भेजा। (रा० प्र०)। पुनः (ख) सूर्यकुलभूषण हैं, अतः पहले दूत भेजकर हाल लिया तब बुलाने भेजा, यथा—'**कारुनीक दिनकरकुलकेतू। दूत पठायेहु तव हित हेतू॥** ३६। २।' (पं०)।

३ '**मारुतसुतके संग**' से हनुमान्‌जीकी प्रधानता कही। और किसीको वे नहीं पहचानेंगी। इनके साथ जानेसे इन सबको प्रभुके भेजे हुए समझेंगी। पुनः, 'मारुतसुत' को प्रधान रखकर जनाया कि इनके जानेसे कार्य शीघ्र होगा। शीघ्र जाकर लाइये।—'**उपस्थापय मा चिरम्**'। (ख) 'सादर' का भाव आगे स्वयं कवि देते हैं कि स्नान कराके, भूषण-वस्त्र पहनाकर इत्यादि। वाल्मी० ११७ (च० सं०) में जो श्रीरामजीने विभीषणजीसे स्वयं कहा था, कि '**दिव्याङ्गरागां वैदेहीं दिव्याभरणभूषिताम्। इह सीतां शिरःस्नातामुपस्थापय मा चिरम्॥ ७॥**' अच्छी तरह उबटन करा और सिरसे स्नान कराकर तथा दिव्य भूषणोंसे भूषित कर सीताजीको यहाँ ले आओ, वह यहाँ 'सादर' से जना दिया। मानसके विभीषणजी 'सादर' से ही सब समझ गये और इससे अधिक किया।

तुरतहिं सकल गए जहँ सीता। सेवहिं सब निसिचरी बिनीता * ॥ ५ ॥
बेगि बिभीषन तिन्हहिं सिखायो† । तिन्ह बहु बिधि मज्जन करवायो ॥ ६ ॥

अर्थ—तुरंत ही सब वहाँ गये जहाँ सब निशिचरियाँ नम्रतापूर्वक श्रीसीताजीकी सेवा कर रही थीं॥ ५॥ विभीषणजीने शीघ्र ही उनको सिखाया। (शिक्षाके अनुसार) उन्होंने बहुत प्रकारसे उनको स्नान कराया॥ ६॥

नोट—'बहु बिधि'। सिरपरकी जटावत् वेणीको सुलझाकर, उत्तम अङ्गराग फुलेलादि लगाकर सुगन्धित जलसे स्नान कराया। इत्यादि।

वि० त्रि०—असंस्कृत वेषमें स्त्रीका पतिके सामने जाना निषिद्ध है। जगदम्बाको '**कृस तन सीस जटा एक बेनी**' ऐसे दीन वेषमें देखना भी नहीं चाहते। अतः इङ्गित कर दिया कि '**सादर जनक सुतहि लै आवहु**'। जिसके लिये समुद्रपर पुल बँधा, इतना बड़ा संग्राम हुआ, विभीषण राजा बनाये गये वे दीन वेषमें लङ्कासे कैसे जायँगी। अतः विभीषणने निशाचरियोंको आज्ञा दी। वे राजमहलकी दासियाँ मङ्गल-स्नान कराने तथा भूषण साजनेमें बड़ी चतुर हैं, अतः मङ्गल स्नानमें ठंडा जल तथा गरम जलसे स्नान, केश-संस्कार, अङ्गरागादि लेप इत्यादि जितने विधान हैं, उन सबसे काम लिया।

बहु प्रकार भूषन पहिराए। सिबिका रुचिर साजि पुनि ल्याए ॥ ७ ॥
तापर हरषि चढ़ी बैदेही। सुमिरि राम सुखधाम सनेही ॥ ८ ॥

अर्थ—बहुत तरहके गहने पहिनाये। फिर सुन्दर पालकी सजाकर लाये॥ ७॥ उसपर वैदेही श्रीजानकीजी सुखके धाम स्नेही (प्रियतम) श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण कर हर्षपूर्वक चढ़ीं॥ ८॥

नोट—१ (क) 'बहु प्रकार' अर्थात् प्रत्येक अङ्गके जहाँ जैसे चाहिये वैसे आभूषण सजा-सजाकर पहनाये। यथा—'**भूषन सकल सुदेस सुहाये। अंग अंग रचि सखिन्ह बनाए॥** १। २४८।' पुनः, षोडश शृंगार करके। (ख) 'ल्याए' से जनाया कि पालकीमें कहार लगे थे—'**आरोप्य शिबिकां सीतां राक्षसैर्वहनोचितैः**'—वाल्मी०।

२ (क) '**हरषि चढ़ी**'। प्रस्थान-समयका हर्ष मङ्गलसूचक होता है, दूसरे अपने प्रियतमके पास जा रही हैं जिनके दर्शनोंके लिये इतने दिनोंसे तरस रही थीं, अतः हर्ष है। यथा—'**निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहउँ**—(मारीचवचन)। (ख) 'सुखधाम' हैं, अतः हमको सुख देंगे। पुनः भाव कि वे सुखधाम हैं, उनको हमारे बिना कोई कष्ट नहीं हो सकता पर वे स्नेही हैं, अतः भक्तको सुख देते ही हैं। (ग) 'सुमिरि'—यह मंगलाचरण किया।

बेतपानि रक्षक चहुँ पासा। चले सकल मन परम हुलासा ॥ ९ ॥

* सभीता—भा० दा०। † सिखावा, अन्हवावा—(का०)।

देखन भालु कीस सब आए। रक्षक कोपि निवारन धाए॥१०॥

अर्थ—चारों ओर हाथमें छड़ी लिये हुए रक्षक चल रहे हैं, सबके मनमें अत्यन्त उल्लास (आनन्दोत्साह) है॥ ९ ॥ सब रीछ-वानर देखने आये तब रक्षक क्रोध करके उनको रोकने दौड़े॥ १० ॥

नोट—१ (क) प्रभुने जो कहा था कि 'सादर जनकसुतहि लेइ आवहु' उस 'सादर' का अर्थ 'सादर तिन्ह सीतहिं अन्हवायो' से लेकर 'चले सकल मन परम हुलासा' तक सात चरणोंमें दिया है। (ख) परम हुलास महारानीजीकी सेवाका है। रक्षकोंके निवारण करनेका कारण कि वे मन्दोदरी आदि रानियोंकी रक्षाका प्रकार जानते हैं इसलिये उन्होंने वानरोंको रोका। (पं०)। 'देखन सब आए' से सबकी लालसा दिखायी कि जिनके लिये इतना परिश्रम किया वे कैसी हैं।

कह रघुबीर कहा मम मानहु। सीतहि सखा पयादे आनहु॥११॥

देखहुँ* कपि जननी की नाईं। बिहँसि कहा रघुनाथ गोसाईं॥१२॥

अर्थ—श्रीरघुवीरजी बोले—हे सखा! हमारा कहना मानो। श्रीसीताजीको पैदल लाओ॥ ११ ॥ वानर उनको माताकी तरह देखें, गोस्वामी रघुनाथजीने हँसकर ऐसा कहा॥ १२ ॥

नोट—'रघुवीर' शब्द यहाँ दयावीरताके सम्बन्धसे दिया गया। श्रीसीताजी शीघ्र उनके पास पहुँच जायँ इस विचारसे रक्षकोंने वानरोंको हटाया जिससे सब वानर घबड़ा गये। यह देख श्रीरामजीको दया आ गयी; अतः उन्होंने विभीषणको ऐसा करनेसे रोका। यथा—'उत्सार्यमाणांस्तान्दृष्ट्वा समन्ताज्जातसम्भ्रमान्। दाक्षिण्यात्तदमर्षाच्च वारयामास राघवः॥ च० सं० वाल्मी० ११७। २३॥'

पु० रा० कु०—१ 'कहा मम मानहु'। भाव कि यद्यपि यह बात उचित नहीं है तो भी हमारी बात मानो। पयादे लानेमें हेतु यह है कि वानर उनको देख सकें। ['कहा मम मानहु' से यह भी जान पड़ता है कि विभीषणजी उसी प्रकार लानेमें हठ करते थे। वाल्मीकीयमें तो कहा है कि लाल-लाल आँखें कर उन्होंने विभीषणजीको उलहना दिया और कहा—'किमर्थं मामनादृत्य क्लिश्यतेऽयं त्वया जनः। निवर्तयैनमुद्योगं जनोऽयं स्वजनो मम॥ २५॥' तुम मेरे जनोंको क्यों सता रहे हो। अपने लोगोंको मना कर दो कि इनको न सतावें, क्योंकि ये सब तो मेरे स्वजन ही हैं अर्थात् घरके लोगों-जैसे हैं।—पर मानसके राम बड़े ही शीलस्वभावके हैं। वे 'सखा' सम्बोधन करके सखाकी तरह विभीषणको समझा रहे हैं। यहाँ तो 'बिहँसि' कहा है। 'देखहुँ कपि जननी की नाईं'—अ० रा० में भी ऐसा ही कहा है। यथा—'पश्यन्तु वानराः सर्वे मैथिलीं मातरं यथा॥ ७३॥ पादचारेण सायातु जानकी मम सन्निधिम्। १२। ७४।'] २—'बिहँसि' से वानरोंपर अत्यन्त कृपा दिखायी, वा, हँसे कि देखो तो जिन वानरोंके इतने परिश्रमसे उनका रावणके हाथसे छुटकारा हुआ उन्हींको ये रोकते हैं। वा, 'स्मितपूर्वाभिभाषी च।' यह आपका स्वभाव है। वा, सबका मन रखनेके लिये हँसे।

नोट—१ (क) पैदल लानेमें भाव कि सब देखें, देखनेमें हर्ज नहीं, शास्त्रमें निषेध भी नहीं है जैसा वाल्मी० ११४ में श्रीरामजीने कहा है। यथा—'न गृहाणि न वस्त्राणि न प्राकारास्तिरस्क्रिया। नेदृशा राजसत्कारा वृत्तमावरणं स्त्रियः॥ २७॥ व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे। न क्रतौ नो विवाहे वा दर्शने दूष्यते स्त्रियः॥ २८॥ सैषा विपद्गता चैव कृच्छ्रेण च समन्विता। दर्शनेनास्ति दोषोऽस्या मत्समीपे विशेषतः॥ २९॥ विसृज्य शिबिकां तस्मात् पद्भ्यामेवापसर्पतु।' अर्थात् स्त्रियोंके लिये घर, वस्त्र, कोठा, परदा वा राजसत्कार आवरण नहीं हो सकते। उनका शुभ आचरण ही परदा है। दुःखमें, क्लेश, युद्ध, स्वयंवर, यज्ञ एवं विवाहमें दर्शनसे स्त्री दूषित नहीं होती। ये इस समय क्लेशयुक्त विपत्तिमें प्राप्त हैं, इसलिये एवं मेरे समीप होनेसे इनके दर्शनमें दोष नहीं। (वाल्मी० ११४)। (ख) 'देखहु जननी की नाईं' का भाव कि जैसे माताके सामने जानेमें पुत्रको संकोच नहीं होता वैसे ही ये सब पास जाकर दर्शन करें।

सुनि प्रभु बचन भालु कपि हरषे। नभ ते सुरन्ह सुमन बहु बरषे॥१३॥

* देखहिं—(का०)।

सीता प्रथम अनल महुँ राखी। प्रगट कीन्हि चह अंतर साखी ॥१४॥

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर रीछ और वानर प्रसन्न हुए। आकाशसे देवताओंने बहुत फूल बरसाये ॥ १३ ॥ श्रीसीताजीको पहले अग्निमें रखा था, अब अन्तरसाक्षी भगवान् उनको प्रकट करना चाहते हैं ॥ १४ ॥

नोट—१ 'कपि हरषे' क्योंकि प्रभुने उनकी लालसा पूरी की। देवताओंने खूब पुष्प बरसाये, कारण कि रीछ-वानर सब इन्हींके अंश हैं, उनका मान्य देख ये भी प्रसन्न हुए। तिरस्कार उनको अच्छा न लगा था, यह भी जनाया। वं० पा० जी लिखते हैं कि देवताओंने प्रभुकी भक्तवत्सलता देखकर अथवा सवा वर्षमें श्रीराम-जानकीका पुनःसंयोग हुआ अतः मङ्गल-समय जानकर फूल बरसाये।

२ (क) 'सीता प्रथम अनल महुँ राखी', यथा—'तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौ लगि करउँ निसाचर नासा ॥ ३। २४। २ ॥' पं० रामकुमारजी 'प्रथम' को 'सीता' का विशेषण मानते हैं। 'सीता प्रथम' अर्थात् हरणके पूर्ववाली सीता, साक्षात् सीताको अग्निमें रक्खा था। अथवा, साक्षात् असली सीता जो मायाकी नहीं हैं।

३ 'सीता प्रथम' इति। ऐसा ही अ० रा० में कहा है। यथा—'मायासीतां परित्यक्तुं जानकीमनले स्थिताम्। आदातुं मनसा ध्यात्वा रामः प्राह विभीषणम् ॥ अ० रा० १२। ६७ ॥' अर्थात् अग्निमें स्थित जानकीजीको लेनेके लिये और मायासीताको छोड़नेके विचारसे रामजी विभीषणसे बोले।

नोट—'प्रगट कीन्हि चह अंतरसाखी' इति। पं० रामकुमारजी, पंजाबीजी, बाबा हरीदासजी तथा बाबा हरिहर-प्रसादजी लिखते हैं कि 'अन्तरसाखी' श्रीरामजीका विशेषण है। भाव कि श्रीरामजीका अन्तःकरण सब बातोंका साक्षी है, वे उनके पातिव्रत्यको जानते हैं कि यह भी जानते हैं यह कोई और नहीं जानता कि ये असली सीताजी नहीं हैं, उनका प्रतिबिम्बमात्र है, यथा—'लछिमनहूँ यह मरम न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना ॥ ३। २४। ५ ॥' पर बिना मायासीताके अग्निमें प्रवेश कराये वास्तविक सीताजीको जिनको पहले अग्निमें रक्खा था, जिन्हें पाणिग्रहण-समय अग्निकी साक्षी देकर ग्रहण किया था, कैसे प्रकट करें? अतः उन्हीं अग्निकी साक्षीके मिष प्रकट करना चाहते हैं। इसीसे शपथद्वारा अग्निसे प्रकट करायेंगे।

पं०—१ अन्तरसाक्षी अर्थात् भगवान् सबके हृदयके ज्ञाता हैं, सर्वान्तर्यामी हैं, उन्होंने सीताजीको अनलमें इसलिये रक्खा था कि लङ्कामें रहनेसे लोग इनपर संदेह करेंगे, इससे उनके भ्रमनिवृत्त्यर्थ हम श्रीजानकीजीको अग्निसे प्रकट करायेंगे। अन्तर्यामी होकर भी उन्होंने ऐसा किया, इसका भाव यह है कि उनको संदेह नहीं है—(नोट—वाल्मी० और हनुमन्नाटकमें श्रीरामजीने स्वयं यह बात कही है)—केवल सीताजीकी महिमा और मर्यादा प्रकट करनेके लिये ऐसा किया। २—दूसरा अर्थ—उन सीताजीको अग्नि जो साक्षी है उसके भीतरसे प्रकट करना चाहते हैं।

करु०—अर्थात् अग्निको अन्तरसाक्षी करके प्रकट करना चाहते हैं।

नोट—अग्निदेव सबके अन्तःकरणके साक्षी हैं, यथा—'लोकस्य साक्षी' (वाल्मी० ११९। २५ च० सं०) 'तौ कृसानु सब की गति जाना।' उन्होंने प्रकट होकर श्रीसीताजीकी शुद्धताकी साक्षी भी दी है, यथा—वाल्मी० ११८ (५-६) 'अब्रवीच्च तदा रामं साक्षी लोकस्य पावकः। एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते ॥ नैव वाचा न मनसा नैव बुद्ध्या न चक्षुषा। सुवृत्ता वृत्तशौटीर्य न त्वामत्यचरच्छुभा ॥' अर्थात् लोकसाक्षी अग्निदेव बोले—'यह सीता आपकी है, यह निष्पाप है। इस सदाचारिणीने आपपर अत्याचार नहीं किया है। हे धर्मशील! ये मन, वचन, बुद्धि और नेत्रोंसे आपको छोड़ दूसरेकी ओर कभी नहीं फिरीं। ये सब प्रकारसे सदाचारिणी हैं।

अध्यात्ममें अग्निके ये वचन हैं 'गृहाण देवीं रघुनाथ जानकीं पुरा त्वयामय्यवरोपितां वने। १३। २०।' इत्यादि। (अर्थात्) हे रघुनाथ! पहले तपोवनमें मुझे सौंपी हुई देवी जानकीको अब ग्रहण कीजिये।

दो०—तेहि कारन करुनानिधि* कहे कछुक दुर्बाद।
सुनत जातुधानीं सब लागीं करै बिषाद ॥ १०७ ॥

* करुनायतन—(का०)।

अर्थ—इस कारण करुणासिन्धु श्रीरामजीने कुछ दुर्वचन कहे। सब राक्षसियाँ सुनकर विषाद करने लगीं ॥ १०७ ॥

पं०—'करुणानिधि' विशेषण दुर्वादकथनके साथ देनेका भाव कि जैसे वैद्य रोगीके सुखके लिये उसका रुधिर निकालता है वैसे ही प्रभुने श्रीसीताजीकी निष्कलंकता स्थापित करनेके लिये दुर्वाद कहे।*

नोट—वाल्मी० १२१ (च० सं०) में श्रीरामजीने यही बात स्वयं अग्निदेवसे कही है। यथा **'अवश्यं त्रिषु लोकेषु न सीता पापमर्हति। दीर्घकालोषिता हीयं रावणान्तःपुरे शुभा ॥ १३ ॥ बालिशः खलु कामात्मा रामो दशरथात्मजः। इति वक्ष्यन्ति मां सन्तो जानकीमविशोध्य हि ॥ १४ ॥ अनन्यहृदयां भक्तां मच्चित्तपरिवर्तिनीम्। अहमप्यवगच्छामि मिथिलां जनकात्मजाम् ॥ १५ ॥ प्रत्ययार्थं तु लोकानां त्रयाणां सत्यसंश्रयः। उपेक्षे चापि वैदेहीं प्रविशन्तीं हुताशनम् ॥ १६ ॥ ··· अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा ॥ १९ ॥'** (अर्थात् निश्चय ही तीनों लोकोंके बीच जानकीजी पवित्र हैं किन्तु यदि मैं इनकी शुद्धताकी परीक्षा न कर इन्हें शुद्ध सिद्ध न करवाता तो सब यही कहते कि महाराज दशरथके पुत्र श्रीरामचन्द्र बड़े कामी और बालिश हैं। मैं जानता हूँ कि मैथिली मुझमें अनन्य अनुरागवती है। मैंने सत्यका आश्रय लेते हुए इनको अग्निमें प्रवेश करते समय नहीं रोका और इनकी उपेक्षा की, जिससे तीनों लोकोंको इनकी विशुद्ध चरित्रता-का विश्वास हो जाय। सीता तो मुझमें वैसे ही अनन्यरूपसे अनुरागवती है जैसे प्रभा सूर्यसे।

श्रीदशरथजीने भी श्रीसीताजीसे यही कहा है कि श्रीरामजीने तुम्हारा हित सोचकर ही तुम्हें विशुद्ध सिद्ध करनेके लिये यह सब किया था, तुम इसका बुरा न मानना। यथा **'कर्तव्यो न तु वैदेहि मन्युस्त्यागमिमं प्रति। रामेण त्वद्विशुद्ध्यर्थं कृतमेतद्धितैषिणा ॥ १२२ । ३४ ।'**

वि० त्रि०—'करुणानिधि' का इतना कहना कि 'मैं तुम्हें शुद्ध नहीं मान सकता, जबतक कि तुम अग्नि-परीक्षा न दो' यही दुर्वाद है। इसीलिये कहते हैं कि **'प्रभुके बचन सीस धरि सीता'**। वाल्मीकि-महाभारतादिमें इसीका विस्तार है। सीताको अग्निमें प्रवेश करनेके लिये कह रहे हैं पर सुनकर यातुधानी विषाद करने लगीं। जहाँ अग्नि-परीक्षा ली जाती है वहाँ हाथपर पीपलका पत्ता रखकर संकल्पपूर्वक गरम लोहा रक्खा जाता है, अग्निमें प्रवेश नहीं कराया जाता। अग्निमें प्रवेश कराकर परीक्षा लेना तो कहीं नहीं सुना गया, यह नयी बात सीताजीके लिये क्यों हो रही है। यही बात लोग सरकारसे कहना चाहते हैं, पर सरकारका रुख देखकर उनका भी कहनेका साहस नहीं पड़ रहा है; परन्तु प्रभुका वचन है, इसमें ननु नच कुछ भी न करके जगदम्बा सीताजीने उसे प्रमाण माना और लक्ष्मणजीको अग्नि प्रकट करनेके लिये कहा।

पु० रा० कु०—१ अरण्यकाण्डमें लक्ष्मणजीको मायासीताने दुर्वचन कहे थे, उसका उत्तर प्रभुने उनको यहाँ दिया। इस चरितसे प्रभुने निज सेवकके अपराध करनेवालेके सम्बन्धमें अपनी असहनशीलता प्रमाणित कर दिखायी है। २—राक्षसियाँ विषाद करने लगीं; क्योंकि वे मन, वचन और कर्मसे उनकी शुद्धता जानती हैं, दिन-रात वे उनके समीप ही रहकर देखती रही हैं।

साक्षीके बहाने और की और बात कहना 'कैतवापह्नुति' अलंकार है।

नोट—क्या दुर्वाद कहे, यह बात कहीं मानसकविने नहीं खोली है। अतएव 'मानस-पीयूष' तिलकमें भी वे नहीं दिये जाते। जिसे देखना हो वह वाल्मी० ११५ या महाभारत वनपर्वमें देख ले। पाठक इतना जान लें कि वे चरित्रके सम्बन्धके संदेहयुक्त वचन थे। उमा-महेश्वर-संवाद जहाँ है वहाँ प्रायः शंकरजीने ऐसा ही कहा है जैसा मानसमें है। अ० रा० में भी उमा-शंभु-संवाद है। अतः वहाँ भी ऐसा ही कहा है, यथा—**'रामोऽपि दृष्ट्वा तां मायासीतां कार्यार्थनिर्मिताम्। अवाच्यवादान्बहुशः प्राह तां रघुनन्दनः ॥ १२ । ७४-७५ ।'** दोनोंमें माया सीतासे ये वचन कहे गये हैं।

प्रभु के बचन सीस धरि सीता। बोली मन क्रम बचन पुनीता ॥ १ ॥
लछिमन होहु धरम कै नेगी। पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी ॥ २ ॥

---

* 'हे महान्तो जनाः यद्यपि प्रिया पतिव्रता तथापि चिरं परमन्दिरस्था दिव्यमन्तरेण कथं मां स्प्रष्टुमर्हति ।'···'तत्र रामो रतिं लेभे न प्रिया विरहार्दितः। यत्सत्यं मनसि स्वच्छे रम्याणां रमणीयता ॥ हनु० १४ । ५३ ।' अर्थात् हे महत्पुरुषो! यद्यपि सीता पतिव्रता हैं तो भी ये बहुत कालतक परपुरुषके घर रही हैं इससे ये क्योंकर हमें (बिना शपथ किये) स्पर्श कर सकती हैं। श्रीरामजी स्त्री-विरहसे व्याकुल थे तो भी इस कार्यमें संतुष्ट न हुए—यह सत्य है कि मन स्वच्छ होनेसे सुन्दरोंमें सुन्दरता दिखायी देती है।

अर्थ—प्रभुके वचनोंको शिरोधार्य करके मन, कर्म और वचनसे पवित्र श्रीसीताजी बोलीं ॥ १ ॥ हे लक्ष्मण! धर्मके नेगी बनो (भाव कि हमारे धर्मकी रक्षा करके पुण्य लो)। तुम जल्दीसे अग्नि प्रकट करो ॥ २ ॥

पु० रा० कु०—'प्रभुके वचन'। भाव कि ये समर्थ हैं, इनके कर्तव्याकर्तव्यमें दोष नहीं है, यथा—**'समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं'**। अतः इनके वचन शिरोधार्य किये।

नोट—१ 'प्रभु' का भाव कि उनका वचन मानना सेवकका परम धर्म है, यथा—**'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥ मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहि बिचार करिय सुभ जानी॥** १। ७७।' इसीसे यहाँ 'प्रभु' और 'सीस धरि' दोनों पद दिये।—**'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। तेहि सेवक लखि लाज लजाई॥'** (ख) दुर्वाद सुननेपर भी अन्तःकरण तप्त न हुआ अतः 'सीता' पद दिया। (पाँड़ेजी)

२ **'बोली मन क्रम बचन पुनीता'** का भाव कि तन और वचनकी तो बात ही क्या, उनके तो मनका संकल्प भी प्रभुके अतिरिक्त और इधर-उधर कहीं कभी नहीं हुआ, ऐसी वे सीता अपने पातिव्रत्यके बलपर बोलीं। (पं०) पुनः भाव कि इनकी पवित्रता तीनों प्रकारसे दर्शित होगी। यहाँ इन तीनोंका प्रयोजन है। (वं० पा०)।

शीला—'नेगी हो' अर्थात् हिस्सेदार बनो। जो कोई किसीके धर्मकी रक्षा करता है वह उसके धर्ममें साझेदार होता है। अग्निप्रवेशसे हमारे धर्मकी रक्षा होगी अतः तुमको धर्म प्राप्त होगा।

नोट—विवाहादि शुभ अवसरोंपर सम्बन्धियों, आश्रितों तथा नाई-बारी आदि काम करनेवालोंको उनकी प्रसन्नताके लिये नियमानुसार कुछ वस्तु या धन जो दिया जाता है उसे 'नेग' कहते हैं और नेग पानेवाले या नेगके अधिकारीको 'नेगी' कहते हैं। अतएव 'धर्मके नेगी हो' इसका भाव यह है कि इस शुभ कर्ममें (क्योंकि इससे मेरा दृढ़पातिव्रत्य सिद्ध होगा) तुम योग दो। उस योग देनेके नेगमें तुम्हें 'धर्म' रूपी द्रव्य मिलेगा। तुम पुण्यके भागी होगे। अ० रा० में उन्होंने कहा है कि भगवान् रामके विश्वासके लिये और लोकोंको निश्चय करानेके लिये तुम शीघ्र अग्नि प्रज्वलित करो—**'विश्वासार्थं हि रामस्य लोकानां प्रत्ययाय च। १२। ७७।'** यही भाव 'धर्मके नेगी' से भी जना दिया है। 'वेगी' अ० रा० का **'शीघ्रं प्रज्वालय'** है। शीघ्रता करनेको कहा जिसमें स्वामीकी आज्ञाके पालनमें देर न हो।

करु०—'नेगी' का भाव कि तुम सदा हमारी आज्ञा मानते आये हो, अतः अब भी मानो, हमारे धर्मकी रक्षा करो।—[नेगी पुराने ही होते हैं जो सदा कार्यमें योग देते आये हैं। प्रायः नया आदमी नेगी नहीं माना जाता]।

पं० रा० व० श०—लक्ष्मणजीसे क्यों कहा? इससे कि इसी रूपसे उनको दुर्वचन कहे थे, इसीसे अब पूर्वके कटुवचनोंके अपराधका प्रायश्चित्त इन्हींके द्वारा करना चाहती हैं।—(इनके अतिरिक्त दूसरेसे इतना परिचय भी तो नहीं है। लक्ष्मणजीको ही सम्बोधन करनेका एक कारण यह भी हो सकता है कि वे रामवचन सुन अत्यन्त दुःखी हुए थे, यथा—**'उवाच लक्ष्मणं सीता दीनं ध्यानपरायणम्॥ चितां मे कुरु सौमित्रे व्यसनस्यास्य भेषजम्'**—वाल्मी० ११६ (१७-१८)। अर्थात् दीन और ध्यानपरायण लक्ष्मणजीसे बोलीं कि हे सौमित्रि! इस दुःखका औषधरूप चिता हमारे लिये बनाओ। ध्यानपरायण लक्ष्मणकी इस दीनताको दूर करने और उनका शोक मिटानेके लिये उन्हींसे कहा।

नोट—वाल्मी० की सीताजीने रामचन्द्रजीको उत्तर दिया है। पातिव्रत्य धर्मके प्रतिकूल और लोकशिक्षाके लिये हानिकारक जान मानसकविने ऐसा नहीं लिखा—यह तो साहित्यिक दृष्टिसे कहा गया। और हिन्दू सनातन-धर्मके अनुकूल 'कल्पभेद हरिचरित सुहाए।'

सुनि लछिमन सीता कै बानी। बिरह बिबेक धरम निति* सानी॥ ३॥
लोचन सजल जोरि कर दोऊ। प्रभु सन कछु कहि सकत न ओऊ॥ ४॥

अर्थ—श्रीसीताजीकी विरह, विवेक, धर्म और नीतिमें सानी हुई वाणी सुनकर, लक्ष्मणजीके नेत्रोंमें जल भर आया। वे दोनों हाथ जोड़े (खड़े) हैं (पर) वे भी प्रभुसे कुछ कह नहीं सकते† ॥ ३-४ ॥

* नुति। नुति=स्तुति बखानने योग्य—(का०), छ०। नय—को० रा०। नीति-१७२१, १७६२। रतिविश्वेश्वर प्रेस काशी।

† 'एवमुक्तस्तु वैदेह्या लक्ष्मणः परवीरहा। अमर्षवशमापन्नो राघवं समुदैक्षत॥ वाल्मी० ११६। २०॥' अर्थात् शत्रुनाशन लक्ष्मणजी वैदेहीजीके वचन सुनकर असहनशीलताको प्राप्त हो राघवकी ओर ताकने लगे।

गौड़जी—मानसकार 'निति' को हेतुके अर्थमें प्रयुक्त करते हैं। इस प्रसङ्गमें यदि नीति शब्द अभिप्रेत होता तो चौपाईमें लानेके लिये नीतिको सङ्कुचित कर 'निति' कर देनेकी आवश्यकता न थी। 'नय' शब्द मौजूद था। फिर 'धर्म' में नीति वा नयका अन्तर्भाव है अतः नय पुनरुक्तिवत् होता। यहाँ अर्थ है कि वाणी विरह, विवेक और धर्मके हेतुसे सनी थी, भरी थी। विरहका हेतु यह है कि विरहाग्निकी अपेक्षा यह अग्नि बहुत श्रेयस्कर है। विवेकका हेतु यह कि ऐसे दुर्वाद सुनकर अग्निपरीक्षा ही एकमात्र मार्ग है। धर्मका हेतु यह कि प्रभुका गूढ़ आदेश पालनमें तनिक भी देर न हो। (प्र० स्वामीका कहना ठीक है कि 'नीति' का अन्तर्भाव धर्ममें है, इसका विरोध मानसके **'धर्मनीति उपदेसिअ ताही', 'धर्मराजनय ब्रह्मबिचारू'** इत्यादिसे होता है)।

बिरह बिबेक धरम निति सानी इति

यहाँ सीताजीके वचन केवल दो चरणोंमें हैं, **'लछिमन होहु धरम के नेगी। पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी ॥'**, इन्हींको **'बिरह बिबेक धरम निति सानी'** कहते हैं।

पं०—'हे लछिमन !' यह आर्तवाक्य विरहका सूचक है। 'होहु' अर्थात् हमारे कल्याणके लिये उद्यत हो, इसमें विवेक है। 'धर्मके नेगी' बनो यह धर्मका वाक्य है और **'बेगि पावक प्रगट करहु'** यह नीतिका वचन है।

वं० पा०—'बेगि' शब्दसे विरहयुक्त शीघ्र मिलनेकी उत्कण्ठा प्रकट होती है; 'पावक प्रगट' से विवेकसिद्धि है और 'धर्मके नेगी' से धर्मसिद्धि है और लक्ष्मणको ही नेगी बनानेसे नय—नीतिकी सिद्धि है।

नोट—पति अङ्गीकार नहीं करते इससे विरह हुआ। पातिव्रत्यमें सन्देह होनेसे स्त्रीकी अपकीर्ति है जो मरणसे भी अधिक दाहक है।—**'मरन नीक तेहि जीवन चाही'**—यह विचारकर शरीरको अग्निमें जलाना निश्चित करके अग्नि प्रकट करनेको कहा, यथा—**'मिथ्यापवादोपहता नाहं जीवितुमुत्सहे'**।—(वाल्मी० ११६। १८)। यह विवेक है। अग्निसे वैसी ही निकलनेसे धर्मकी रक्षा होगी अतः 'धर्मके नेगी' हो, यह धर्मयुक्त वाक्य हुआ। अग्नि शीघ्र प्रकट करनेमें भाव कि स्वामीकी आज्ञाके पालनमें विलम्ब करनेसे धर्मकी हानि है, वे प्रभु हैं—**'प्रभुके बचन सीस धरि सीता। बोली०।'** और राजा हैं राजाकी आज्ञा तुरंत पालन करना चाहिये यह धर्म और नीति दोनों है। दोहा १०८ (१) देखिये।

'लोचन सजल जोरि करि दोऊ।०' इति।

पं०—सीताजीको देख (उनके वचन सुन) कर लक्ष्मणजीको खेद हुआ अतः नेत्र सजल हो गये। 'हाथ जोड़े हुए' से जनाते हैं कि श्रीसीताजीपर कृपा करनेके लिये प्रभुसे विनती करना चाहते हैं, पर संकोचवश कुछ कह नहीं सकते। वा, दोनों हाथ जोड़कर दो आशय जनाते हैं, वह यह कि आप पिता हैं और वे माता हैं, मैं क्या करूँ ? (मुझे दोनोंकी आज्ञा कर्तव्य है) वा, जनाया कि पूर्व सीताहरणका दोष मेरे ही सिर पड़ा था—**'जनकसुता परिहरेउ अकेली। आयेहु तात बचन मम पेली ॥···मम मन सीता आश्रम नाहीं'** और अब प्राप्ति होनेपर जलानेके लिये भी मैं ही चुना जाता हूँ, जलानेका दोष भी मेरे ही सिर आयेगा। अतः मैं क्या करूँ ? पूर्व भी मैं वचन नहीं मानता था, उनके कोपके भयसे माना था और अब अग्निमें जलानेकी आज्ञा होनेपर भी डर रहा हूँ कि क्या करूँ। विनती करनेका भी साहस नहीं पड़ता जो आज्ञा हो सो करूँ।

पु० रा० कु०—सेवकका धर्म विचारकर श्रीरामजीकी ओर देखते हैं, विना उनका रुख पाये कुछ कर नहीं सकते।

नोट—लक्ष्मणजीको स्वामी श्रीरामजीका इतना संकोच है कि वे उनके सामने जिह्वा हिलाते डरते हैं—(उन अवसरोंको छोड़कर कि जब वे दूसरोंके द्वारा प्रभुका अपमान देखते या समझते हैं)। यथा—**'भूप बचन सुनि इत उत तकहीं। लखन राम डर बोलि न सकहीं ॥'** (बा०) **'कंप पुलक तन नयन सनीरा।···कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। राम बिलोकि बंधु कर जोरे ॥'** (अ० ७०)। इत्यादि।

इससे जनाया कि हाथ जोड़े प्रभुका रुख देख रहे हैं कि **'मो कहँ काह कहब रघुनाथा'**—मुझे क्या आज्ञा देते हैं ? और हुआ भी यही—**'देखि राम रुख'**। ऐसे सेवक और आज्ञाकारी हैं। पर यहाँ शंका होती है कि इन्होंने क्यों न कहा कि यह अनुचित है ? पूर्व सिन्धुतटपर तो प्रभुके वचन सुनकर उन्होंने कहा था कि 'नाथ

दैव कर कवन भरोसा'। इतना ही नहीं वरन् श्रीरामजीको आलसीतक सूचित कर दिया था—'दैव दैव आलसी पुकारा।' इसमें बड़ा गूढ़ रहस्य है। लक्ष्मणजीने ऐसे कठोर वचन कैसे कहे जब कि इस स्थलको छोड़ और कहीं सेवकभावमें त्रुटि नहीं देख पड़ती? इसका कारण है—श्रीसीताजीका हनुमान्‌जीद्वारा उनको सन्देश—'**लछिमन सहित गहेहु प्रभु चरना**'। जिसका भाव यह है कि तुम भी मेरा अपराध क्षमा करके ऐसा करो कि प्रभु मुझे शीघ्र ले जायँ। तटपर बैठकर समुद्रसे कृपा चाहना इसीसे उनको बुरा लगा, माताका सन्देश सुनकर वे विलम्ब न सह सके। यहाँ उनकी मातृभक्ति और उनका वात्सल्य प्रदर्शित किया है। माताके वे ऐसे उपासक थे।

प्र०—स्वामीजी लिखते हैं कि यहाँ सागरनिग्रहप्रसङ्गके समान वचन न कह सकनेमें उनका रामप्रेम ही कारण है। वहाँ जो कुछ कहा था उसका कारण भी यही था कि उस समय लक्ष्मणजीको ऐसा लगा कि श्रीरामजी अपने ही हाथों अपनेको अपमानित कर लेते हैं और ऐश्वर्यभावसे तथा रघुवीर-प्रभावके विचारसे उनका अनुमान सत्य ही था। विशेष सुन्दरकाण्डमें देखिये।

'ओऊ' शब्दसे जनाया कि सुग्रीव, हनुमान्, विभीषण आदि भी श्रीरामजीसे कुछ कहनेका साहस न कर सके थे, पर उनको आशा थी कि लक्ष्मणजी प्रिय बन्धु हैं, ये अवश्य कहेंगे किंतु जब वे भी न कह सके तब वे सब अति उदास हो गये। (नोट—यहाँ सती-मोहमें कहे हुए '**कहि न सकत कछु अति गंभीरा। प्रभु प्रभाउ जानत मति धीरा॥ १। ५३। २।**' चरितार्थ हुआ। इसी कारण कुछ न कहा)।

देखि रामरुख लछिमनु धाए। पावक प्रगटि* काठ बहु लाए॥ ५॥
पावक प्रबल देखि बैदेही। हृदय हरष नहिं भय कछु तेही†॥ ६॥

अर्थ—श्रीरामजीका रुख (उनके मुखकी चेष्टासे) देखकर लक्ष्मणजी दौड़े और आग प्रगट करके बहुत-सी लकड़ी लाये वा बहुत लकड़ी लाकर अग्नि प्रकट की॥ ५॥ अग्निको खूब प्रज्वलित देखकर विदेहकुमारीजी हृदयमें हर्षित हुईं, उनके मनमें किञ्चित् भय न हुआ॥ ६॥

नोट—'देखि रामरुख''''', यथा '**स विज्ञाय मनश्छन्दं रामस्याकारसूचितम्। चितां चकार सौमित्रिर्मते रामस्य वीर्यवान्॥** वाल्मी० ११६। २१॥' अर्थात् पराक्रमी लक्ष्मणजीने प्रभुके आकारसे उनके मनके आशयको जानकर तदनुसार चिता बनायी। तथा च '**राघवस्य मतं ज्ञात्वा लक्ष्मणोऽपि तदैव हि। महाकाष्ठचयं कृत्वा ज्वालयित्वा हुताशनम्॥** अ० रा० १२। ७८।' अर्थात् राघवका मत जानकर बहुत काष्ठसमूह एकत्रकर अग्नि जलायी।

प० प० प्र०—'**देखि राम रुख लछिमन धाए**' के 'धाए' शब्दसे ही कविने लक्ष्मण-स्वभाव-चित्रका मर्म सहजमें ही जना दिया। देखिये, जो लक्ष्मणजी धर्मसङ्कट और शोचमें '**लोचन सजल**' हो गये थे, वे ही श्रीरामजीकी इच्छा केवल उनके मुखादिकी चेष्टासे जानकर दौड़ते ही गये। यहाँ 'बेगी' शब्दकी यथार्थता बतायी। '**पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी**' ये श्रीसीताजीके वचन हैं। श्रीसीताजीकी आज्ञा माननेमें भी वे कितने तत्पर थे!—'**सब ते सेवक धरम कठोरा**', '**हर गिरि ते गुरु सेवक धरमू**'। यहाँ विचार करनेकी बात है कि लक्ष्मणजी कितने जितेन्द्रिय थे। एक निमेषार्धमें ही शोक, चिन्ता आदिका परमोत्साहमें रूपान्तर हो जाता है।

पं०—'पावक प्रबल देखि बैदेही।''''' इति। वैदेहीका भाव कि जिनकी दृष्टिमें देहभाव ही नहीं उनको हर्ष और भय कैसे हो सकते हैं—इस प्रकार 'नहिं' दीपदेहरी है। अथवा, हृदयमें हर्ष है कि (स्वामीकी और लोककी प्रतीतिके लिये इसमें प्रवेश कर) अपने पातिव्रत्यको सत्य करूँगी; इसीसे अग्निका भय नहीं। वा, श्रीरामजीके मिलनेका आनन्द है और भय इससे नहीं कि वास्तविक तन प्रकट होगा।

प० प० प्र०—'हर्ष' का अर्थ उत्साह होनेसे विरोधाभास भी न रहेगा। कार्यारम्भमें उत्साह कार्यसिद्धि सूचित करता है इससे भी भय नहीं हुआ। हर्ष इससे भी हुआ कि लक्ष्मणजी तुरंत सहायक हुए। इससे दैवकी अनुकूलता जानकर हर्ष हुआ। 'बैदेही' होनेपर भी उनको बहुत बार हर्ष-शोक हुआ है। यथा '**अतिसय दुखित होति बैदेही**' इत्यादि।

* प्रगटि कृसानु—(का०)। † कछु भय नहिं तेही।—(का०)।

गौड़जी—मानसकार 'निति' को हेतुके अर्थमें प्रयुक्त करते हैं। इस प्रसङ्गमें यदि नीति शब्द अभिप्रेत होता तो चौपाईमें लानेके लिये नीतिको सङ्कुचित कर 'निति' कर देनेकी आवश्यकता न थी। 'नय' शब्द मौजूद था। फिर 'धर्म' में नीति वा नयका अन्तर्भाव है अतः नय पुनरुक्तिवत् होता। यहाँ अर्थ है कि वाणी विरह, विवेक और धर्मके हेतुसे सनी थी, भरी थी। विरहका हेतु यह है कि विरहाग्निकी अपेक्षा यह अग्नि बहुत श्रेयस्कर है। विवेकका हेतु यह कि ऐसे दुर्वाद सुनकर अग्निपरीक्षा ही एकमात्र मार्ग है। धर्मका हेतु यह कि प्रभुका गूढ़ आदेश पालनमें तनिक भी देर न हो। (प्र० स्वामीका कहना ठीक है कि 'नीति' का अन्तर्भाव धर्ममें है, इसका विरोध मानसके **'धर्मनीति उपदेसिअ ताही', 'धर्मराजनय ब्रह्मबिचारू'** इत्यादिसे होता है)।

बिरह बिबेक धरम निति सानी इति

यहाँ सीताजीके वचन केवल दो चरणोंमें हैं, **'लछिमन होहु धरम कै नेगी। पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी॥'**, इन्हींको **'बिरह बिबेक धरम निति सानी'** कहते हैं।

पं०—'हे लछिमन!' यह आर्तवाक्य विरहका सूचक है। 'होहु' अर्थात् हमारे कल्याणके लिये उद्यत हो, इसमें विवेक है। 'धर्मके नेगी' बनो यह धर्मका वाक्य है और **'बेगि पावक प्रगट करहु'** यह नीतिका वचन है।

वं० पा०—'बेगि' शब्दसे विरहयुक्त शीघ्र मिलनेकी उत्कण्ठा प्रकट होती है; 'पावक प्रगट' से विवेकसिद्धि है और 'धर्मके नेगी' से धर्मसिद्धि है और लक्ष्मणको ही नेगी बनानेसे नय—नीतिकी सिद्धि है।

नोट—पति अङ्गीकार नहीं करते इससे विरह हुआ। पातिव्रत्यमें सन्देह होनेसे स्त्रीकी अपकीर्ति है जो मरणसे भी अधिक दाहक है।—**'मरन नीक तेहि जीवन चाही'**—यह विचारकर शरीरको अग्निमें जलाना निश्चित करके अग्नि प्रकट करनेको कहा, यथा—**'मिथ्यापवादोपहता नाहं जीवितुमुत्सहे'**।—(वाल्मी० ११६। १८)। यह विवेक है। अग्निसे वैसी ही निकलनेसे धर्मकी रक्षा होगी अतः 'धर्मके नेगी' हो, यह धर्मयुक्त वाक्य हुआ। अग्नि शीघ्र प्रकट करनेमें भाव कि स्वामीकी आज्ञाके पालनमें विलम्ब करनेसे धर्मकी हानि है, वे प्रभु हैं—**'प्रभुके बचन सीस धरि सीता। बोली०।'** और राजा हैं राजाकी आज्ञा तुरंत पालन करना चाहिये यह धर्म और नीति दोनों है। दोहा १०८ (१) देखिये।

'लोचन सजल जोरि करि दोऊ।०' इति।

पं०—सीताजीको देख (उनके वचन सुन) कर लक्ष्मणजीको खेद हुआ अतः नेत्र सजल हो गये। 'हाथ जोड़े हुए' से जनाते हैं कि श्रीसीताजीपर कृपा करनेके लिये प्रभुसे विनती करना चाहते हैं, पर संकोचवश कुछ कह नहीं सकते। वा, दोनों हाथ जोड़कर दो आशय जनाते हैं, वह यह कि आप पिता हैं और वे माता हैं, मैं क्या करूँ? (मुझे दोनोंकी आज्ञा कर्तव्य है) वा, जनाया कि पूर्व सीताहरणका दोष मेरे ही सिर पड़ा था—**'जनकसुता परिहरेउ अकेली। आयेहु तात बचन मम पेली॥'''मम मन सीता आश्रम नाहीं'** और अब प्राप्ति होनेपर जलानेके लिये भी मैं ही चुना जाता हूँ, जलानेका दोष भी मेरे ही सिर आयेगा। अतः मैं क्या करूँ? पूर्व भी मैं वचन नहीं मानता था, उनके कोपके भयसे माना था और अब अग्निमें जलानेकी आज्ञा होनेपर भी डर रहा हूँ कि क्या करूँ। विनती करनेका भी साहस नहीं पड़ता जो आज्ञा हो सो करूँ।

पु० रा० कु०—सेवकका धर्म विचारकर श्रीरामजीकी ओर देखते हैं, बिना उनका रुख पाये कुछ कर नहीं सकते।

नोट—लक्ष्मणजीको स्वामी श्रीरामजीका इतना संकोच है कि वे उनके सामने जिह्वा हिलाते डरते हैं—(उन अवसरोंको छोड़कर कि जब वे दूसरोंके द्वारा प्रभुका अपमान देखते या समझते हैं)। यथा—**'भूप बचन सुनि इत उत तकहीं। लखन राम डर बोलि न सकहीं॥'** (बा०) **'कंप पुलक तन नयन सनीरा।'''कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। राम बिलोकि बंधु कर जोरे॥'** (अ० ७०)। इत्यादि।

इससे जनाया कि हाथ जोड़े प्रभुका रुख देख रहे हैं कि **'मो कहँ काह कहब रघुनाथा'**—मुझे क्या आज्ञा देते हैं? और हुआ भी यही—**'देखि राम रुख'**। ऐसे सेवक और आज्ञाकारी हैं। पर यहाँ शंका होती है कि इन्होंने क्यों न कहा कि यह अनुचित है? पूर्व सिन्धुतटपर तो प्रभुके वचन सुनकर उन्होंने कहा था कि **'नाथ**

दैव कर कवन भरोसा' । इतना ही नहीं वरन् श्रीरामजीको आलसीतक सूचित कर दिया था—**'दैव दैव आलसी पुकारा ।'** इसमें बड़ा गूढ़ रहस्य है । लक्ष्मणजीने ऐसे कठोर वचन कैसे कहे जब कि इस स्थलको छोड़ और कहीं सेवकभावमें त्रुटि नहीं देख पड़ती ? इसका कारण है—श्रीसीताजीका हनुमान्‌जीद्वारा उनको सन्देश—**'लछिमन सहित गहेहु प्रभु चरना'** । जिसका भाव यह है कि तुम भी मेरा अपराध क्षमा करके ऐसा करो कि प्रभु मुझे शीघ्र ले जायँ । तटपर बैठकर समुद्रसे कृपा चाहना इसीसे उनको बुरा लगा, माताका सन्देश सुनकर वे विलम्ब न सह सके । यहाँ उनकी मातृभक्ति और उनका वात्सल्य प्रदर्शित किया है । माताके वे ऐसे उपासक थे ।

प्र०—स्वामीजी लिखते हैं कि यहाँ सागरनिग्रहप्रसङ्गके समान वचन न कह सकनेमें उनका रामप्रेम ही कारण है । वहाँ जो कुछ कहा था उसका कारण भी यही था कि उस समय लक्ष्मणजीको ऐसा लगा कि श्रीरामजी अपने ही हाथों अपनेको अपमानित कर लेते हैं और ऐश्वर्यभावसे तथा रघुवीर-प्रभावके विचारसे उनका अनुमान सत्य ही था । विशेष सुन्दरकाण्डमें देखिये ।

'ओऊ' शब्दसे जनाया कि सुग्रीव, हनुमान्, विभीषण आदि भी श्रीरामजीसे कुछ कहनेका साहस न कर सके थे, पर उनको आशा थी कि लक्ष्मणजी प्रिय बन्धु हैं, ये अवश्य कहेंगे किंतु जब वे भी न कह सके तब वे सब अति उदास हो गये । (नोट—यहाँ सती-मोहमें कहे हुए **'कहि न सकत कछु अति गंभीरा । प्रभु प्रभाउ जानत मति धीरा ॥** १ । ५३ । २ ।' चरितार्थ हुआ । इसी कारण कुछ न कहा) ।

देखि रामरुख लछिमनु धाए । पावक प्रगटि* काठ बहु लाए ॥ ५ ॥
पावक प्रबल देखि बैदेही । हृदय हरष नहिं भय कछु तेही† ॥ ६ ॥

अर्थ—श्रीरामजीका रुख (उनके मुखकी चेष्टासे) देखकर लक्ष्मणजी दौड़े और आग प्रगट करके बहुत-सी लकड़ी लाये वा बहुत लकड़ी लाकर अग्नि प्रकट की ॥ ५ ॥ अग्निको खूब प्रज्वलित देखकर विदेहकुमारीजी हृदयमें हर्षित हुईं, उनके मनमें किञ्चित् भय न हुआ ॥ ६ ॥

नोट—'देखि रामरुख''''', यथा **'स विज्ञाय मनश्छन्दं रामस्याकारसूचितम् । चितां चकार सौमित्रिर्मते रामस्य वीर्यवान् ॥** वाल्मी० ११६ । २१ ॥' अर्थात् पराक्रमी लक्ष्मणजीने प्रभुके आकारसे उनके मनके आशयको जानकर तदनुसार चिता बनायी । तथा च **'राघवस्य मतं ज्ञात्वा लक्ष्मणोऽपि तदैव हि । महाकाष्ठचयं कृत्वा ज्वालयित्वा हुताशनम् ॥** अ० रा० १२ । ७८ ।' अर्थात् राघवका मत जानकर बहुत काष्ठसमूह एकत्रकर अग्नि जलायी ।

प० प० प्र०—**'देखि राम रुख लछिमन धाए'** के 'धाए' शब्दसे ही कविने लक्ष्मण-स्वभाव-चित्रका मर्म सहजमें ही जना दिया । देखिये, जो लक्ष्मणजी धर्मसङ्कट और शोचमें **'लोचन सजल'** हो गये थे, वे ही श्रीरामजीकी इच्छा केवल उनके मुखादिकी चेष्टासे जानकर दौड़ते ही गये । यहाँ 'बेगी' शब्दकी यथार्थता बतायी । **'पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी'** ये श्रीसीताजीके वचन हैं । श्रीसीताजीकी आज्ञा माननेमें भी वे कितने तत्पर थे !—**'सब ते सेवक धर्म कठोरा', 'हर गिरि ते गुरु सेवक धरमू'** । यहाँ विचार करनेकी बात है कि लक्ष्मणजी कितने जितेन्द्रिय थे । एक निमेषार्धमें ही शोक, चिन्ता आदिका परमोत्साहमें रूपान्तर हो जाता है ।

पं०—'पावक प्रबल देखि बैदेही ।''' इति । वैदेहीका भाव कि जिनकी दृष्टिमें देहभाव ही नहीं उनको हर्ष और भय कैसे हो सकते हैं—इस प्रकार 'नहिं' दीपदेहरी है । अथवा, हृदयमें हर्ष है कि (स्वामीकी और लोककी प्रतीतिके लिये इसमें प्रवेश कर) अपने पातिव्रत्यको सत्य करूँगी; इसीसे अग्निका भय नहीं । वा, श्रीरामजीके मिलनेका आनन्द है और भय इससे नहीं कि वास्तविक तन प्रकट होगा ।

प० प० प्र०—'हर्ष' का अर्थ उत्साह होनेसे विरोधाभास भी न रहेगा । कार्यारम्भमें उत्साह कार्यसिद्धि सूचित करता है इससे भी भय नहीं हुआ । हर्ष इससे भी हुआ कि लक्ष्मणजी तुरंत सहायक हुए । इससे दैवकी अनुकूलता जानकर हर्ष हुआ । 'बैदेही' होनेपर भी उनको बहुत बार हर्ष-शोक हुआ है । यथा **'अतिसय दुखित होति बैदेही'** इत्यादि ।

* प्रगटि कृसानु—(का०) । † कछु भय नहिं तेही ।— (का०) ।

नोट—'हृदय हरष नहिं भय कछु' से वाल्मी० ११६ । २३, २४ का यह भाव भी जना दिया कि देवताओं, ब्राह्मणों और श्रीरामजीको प्रणाम करके एवं श्रीरामजीकी और अग्निकी प्रदक्षिणा करके अग्निमें प्रवेश किया । यथा—'अधोमुखं ततः कृत्वा प्रदक्षिणम् । उपावर्तत वैदेही दीप्यमानं हुताशनम् ॥ प्रणम्य दैवतेभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यश्च मैथिली । बद्धाञ्जलिपुटा चेदमुवाचाग्निसमीपतः ॥' 'भय कछु नहिं', यथा—'निःशङ्केनान्तरात्मना'—(वाल्मी० ११६ । २७)

जौं मन बच क्रम मम उर माहीं । तजि रघुबीर आन गति नाहीं ॥ ७ ॥
तौ कृसानु सब कै गति जाना । मो कहुँ होउ श्रीखंड समाना ॥ ८ ॥

अर्थ—यदि मन, वचन और कर्मसे मेरे हृदयमें श्रीरघुवीरको छोड़ दूसरेकी गति नहीं है तो, हे अग्निदेव ! आप तो सबकी गति जानते हैं (मेरे हृदयकी जानकर) मेरे लिये चन्दनके समान (शीतल) हो जायँ ॥ ७-८ ॥

नोट—'आन गति नाहीं' अर्थात् दूसरेकी शरण नहीं गयी । न मनसे, न वचनसे, न कर्मसे अन्य किसीमें पतिभाव किया । यथा—'रामादन्यं चेत्सापि नाहं जानामि पावक । यदिदं मेऽस्ति सत्यं हि तर्हि त्वं शीतलो भव ॥ आ० रा० १ । १२ । ७ । इति सा शपथं कृत्वा विवेशानलमुत्तमम् ।' अर्थात् हे अग्निदेव ! यदि मेरा यह वचन सत्य है कि 'मैं चित्तसे भी रामचन्द्रजीको छोड़ दूसरेको नहीं जानती', तो मेरे लिये शीतल हो जाओ । तथा च 'जानकी (सत्वरम् । ज्वलत्पावकमुपगम्य) भो भगवन्पावक ! मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नमार्गे यदि मम पतिभावो राघवादन्यपुंसि तदिह दह ममाङ्गं पावकं पावक त्वं सुललितफलभाजां त्वं हि कर्मैकसाक्षी । हनु० १४ । ५४ ।' अर्थात् जानकीजी शीघ्रतासे प्रज्वलित अग्निके पास जाकर बोलीं—'हे अग्निदेव ! मन, वचन वा तनसे, जागते या स्वप्नावस्थामें भी यदि मेरा पतिभाव रामचन्द्रके अतिरिक्त किसी अन्य पुरुषमें हुआ हो तो आप मेरे शरीरको जला दें; आप सुन्दर फलोंके भोगनेवालोंके कर्मके एकमात्र साक्षी हैं ।

पुनश्च यथा 'यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात् । तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ॥ २४ ॥ यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः । तथा लोकस्य···॥ २५ ॥ कर्मणा मनसा वाचा यथा नातिचराम्यहम् । राघवं सर्वधर्मज्ञं तथा मां पातु पावकः ॥ २६ ॥ वाल्मी० ११९ । च० सं० ।' अर्थात् जिस प्रकार मेरा मन श्रीरामचन्द्रजीकी ओरसे कभी चलायमान नहीं हुआ, मेरा चरित्र शुद्ध होनेपर भी जैसे श्रीरामचन्द्रजी मुझको दुष्ट चरित्रवाली समझते हैं वैसे ही लोकसाक्षी अग्निदेव मेरी सब प्रकारसे रक्षा करें । कर्म, वचन और मनसे यदि मैं सर्वधर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीको छोड़ दूसरेको न जानती होऊँ तो अग्निदेव मेरी रक्षा करें ।

☞ 'प्रभु के बचन सीस धरि सीता ।···आन गति नाहीं ।०' इति । स्त्रियोंका जो रमणीय गुण है वह इनमें दिखाया गया है । जगन्माता जगदेकनाथके परमवाक्यसे व्यथित होकर भी उन्होंने भर्ताके प्रति किसी कठोर शब्दका प्रयोग नहीं किया । वे अपने कर्त्तव्यद्वारा दिखाती हैं कि स्वामीका कार्य स्त्रीके लिये प्राणोंसे भी प्यारा है । यही बात उन्होंने वाल्मी० उ० में कही है जब श्रीलक्ष्मणजी उनको वाल्मीकि-आश्रममें छोड़ने गये थे, यथा—'पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः । प्राणैरपि प्रियं तस्माद्भर्तुः कार्यं विशेषतः ॥' अर्थात् स्त्रीके लिये उसका पति ही देवता है, पति ही बन्धु है और पति ही गुरु है । इसलिये स्वामीका कार्य स्त्रीके लिये प्राणोंसे भी प्यारा है ।

देखिये, इस आपत्तिमें भी पतिके कटुवचन सुननेपर भी वे उनको प्रणाम-स्मरण करना नहीं भूलतीं । जो वचन उन्होंने अग्निके सामने कहे 'जौं मन बच क्रम मम उर माहीं । तजि रघुबीर आन गति नाहीं ॥०' वाल्मीकीयके वचनोंमें यह है कि 'यदि मेरा हृदय रघुकुलनन्दन श्रीरामके चरणोंसे क्षणभरके लिये भी दूर नहीं होता तो अखिल विश्वके साक्षी अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें । यदि रघुनन्दन मुझ निर्दोष चरित्रवालीको भी दूषित समझते हैं तो ये लोकसाक्षी अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें ।' बतलाइये तो 'मन-कर्म-वचनसे रघुनाथजीको छोड़ मेरी गति दूसरी न हुई हो,' 'क्षणभरके लिये भी मन स्वामीसे यदि न हटा हो'—इससे अधिक स्त्रीके लिये शरीर धारण करनेका गुण सम्भवतः और कोई नहीं है । 'गति नाहीं' में भाव कि किसी पर-पुरुषका मनसे भी चिन्तन नहीं करती, मन-कर्म वचनसे श्रीरामका ही अर्चन करती हूँ; इनको छोड़ किसी दूसरेको नहीं जानती, क्षणभर भी उनसे मेरा मन नहीं हटा ।

छं०—**श्रीखंड सम पावक प्रबेस कियो सुमिरि प्रभु मैथिली।**
जय कोसलेस महेस बंदित चरन रति* अति निर्मली॥
प्रतिबिंब अरु लौकिक कलंक प्रचंड पावक महुँ जरे।
प्रभु चरित काहुँ न लखे नभ सुर सिद्ध मुनि देखहिं खरे॥ १॥

अर्थ—प्रभुका स्मरण करके चन्दनके समान शीतल अग्निमें मिथिलेशनन्दिनीजीने प्रवेश किया। कोशलपतिकी जय हो कि जिनके चरणोंकी वन्दना महेशजी अत्यन्त निर्मल अनुरागसे करते हैं। प्रतिबिंब बिंबमें लीन हो गया और लौकिक कलंक प्रचंड अग्निमें जल गये। प्रभुके इस चरितको किसीने न लख पाया (यद्यपि) आकाशमें देवता, सिद्ध और मुनि सब खड़े देख रहे हैं।

नोट—**'कोसलेस महेस बंदित चरन रति अति निर्मली'** के कई प्रकारसे अर्थ महानुभावोंने किये हैं।—(१) कोसलेश श्रीरामचन्द्रजी, जिनके चरण महेशजीसे वन्दित हैं और जिनमें जिसकी अति निर्मल प्रीति है, यथा—**'एकै धरम एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा'**, उसकी—अर्थात् दोनोंकी जय हो।—(पु० रा० कु०)। इस प्रकार यह वाक्य श्रीजानकीजीका नहीं रह जाता। (२)—महेशवन्दित कोशलेशके चरणोंमें जिनकी अति निर्मल प्रीति है, उनकी जय हो—(पु० रा० कु०)।—यह भी वाक्य श्रीसीताजीका नहीं है। (३)—अत्यन्त निर्मल प्रीतिसे जिन कोशलेशके चरणकी महेश वन्दना करते हैं उनकी जय हो, इस तरह प्रभुका स्मरण करके…(पं०)। यह अर्थ इसे सीताजीका वाक्य सिद्ध करता है। (४)—जिनके चरण महेशद्वारा वन्दित हैं और जिनके चरणोंकी प्रीति अत्यन्त निर्मल है।—यह अर्थ पं० रा० कु० के एक खर्रेमें है और आधुनिक कुछ टीकाकारोंने भी यह अर्थ किया है।

(५) 'श्रीसीताजीने स्मरण किया और कहा कि कोसलेन्द्र श्रीरामजीकी जय हो। और जो चरण श्रीशिवजीसे सेवित हैं उन चरणोंमें अति निर्मली श्रीजानकीजीने प्रीति कर अग्निमें प्रवेश किया।' (वं० पा०)। (६) 'श्रीरामजीका स्मरण करके और जिनके चरण श्रीमहादेवजीद्वारा वन्दित हैं तथा जिनमें श्रीसीताजीकी अत्यन्त विशुद्ध प्रीति है उन कोसल-पतिकी जय बोलकर श्रीजानकीजीने…'। (मानसाङ्क) (७) 'जिनके चरणोंकी अत्यन्त निर्मल प्रीति शिवजीद्वारा वन्दित है'। (पां०)। (८) जिनके चरणोंके अत्यन्त निर्मल अनुरागके कारण श्रीमहादेवजी वन्दित हैं। (ऐसा भी अर्थ हो सकता है)। (९) 'महेश-वन्दित कोशलेश-चरणरतिसे जो अति निर्मली हैं उन सीताजीकी जय।' (प० प० प्र०)। इस अर्थके प्रमाणमें स्वामीजी लिखते हैं कि **'प्रान प्रिय प्रेम पुनीता'** यह वचन श्रीसीताजीके लिये ही आ० ३२० (१) में आया है वही यहाँ 'चरनरति अति निर्मली' है। यह वाक्य श्रीलक्ष्मण-सुग्रीव-विभीषणादिका तथा कवि-वक्ताका भी लेना उचित होगा। कारण कि उन सबोंका विश्वास है कि श्रीसीताजी परमपवित्र हैं।

☞ शिवजीने जब-जब वन्दना की है तब-तब उनका निर्मल प्रेम मानसमें बराबर देख पड़ता है और राज्या-भिषेक होनेपर उन्होंने चरणोंमें अनपायिनी भक्तिका वर माँगा है। यथा—**'परम प्रीति कर जोरि जुग नलिन नयन भरि बारि। पुलकित तन गदगद गिरा बिनय करत त्रिपुरारि। ११३।**, **'बैनतेय सुनु संभु तब आए जहँ रघुबीर। बिनय करत गदगद गिरा पूरित पुलक सरीर।** उ० १३', **'बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग।** उ० १४।' इससे यह अर्थ विशेष सङ्गत है कि 'अति निर्मल अनुरागसे जिन चरणोंकी वन्दना शङ्करजी करते हैं उनकी जय हो।'

पं०—'जय' बोलनेका भाव कि नीति-अनुसार सीताजीने विचार किया कि मेरे धर्मके रहनेसे रघुनाथकी भी जय और यश होगा।

पां०—मैथिली नाम इससे दिया कि बड़े क्लेशसे मन्थन करनेपर निकलीं। (**'मिलिहि नाथ मिथिलेसकुमारी।** कि० ५। २।' में देखिये। जिन मैथिलीजीके लिये लंका जलायी गयी, सेना एकत्र की गयी, समुद्र बाँधा गया, घोर युद्ध हुआ, इत्यादि क्लेश उठाया गया वे ही पावकमें समा गयीं।)

पं०—पावक-प्रवेश-प्रसंगमें प्रभुके चरणोंको महेशवन्दित कहनेका भाव कि शिवजीके तीसरे नेत्रमें सदा अग्निका

* चरनरज—(पाँ०)।

वास है जिससे वे सर्वजगत्‌को प्रलयमें जलाकर भी श्रीरामजीके ध्यानके प्रभावसे शीतल बने रहते हैं; इसीसे श्रीसीताजीने इन विशेषणोंसे श्रीचरणका स्मरण किया। उसके प्रभावसे अग्नि शीतल हो गयी।

पु० रा० कु०—यहाँ मन, कर्म और वचन तीनों दिखाये हैं। मनसे स्मरण किया—'सुमिरि प्रभु'; कर्म (तन) से आज्ञा-पालन की—'पावक प्रवेस कियो', और वचनसे 'जय कोसलेस' कहा।

'प्रतिबिंब अरु लौकिक कलंक पावक महँ जरे'

मा० म०, पं०—मूलमें लिखा है कि अग्नि चन्दनसमान शीतल हो गया। शीतल अग्निमें कोई जल नहीं सकता। दूसरे प्रतिबिंबके जलनेसे **'मो कहँ होउ श्रीखंड समाना'** (अर्थात् मुझे न जलाओ), यह प्रतिज्ञा असत्य होती है और मन-कर्म-वचनसे श्रीरामजीकी अनन्यगति होना भी झूठ हो जाती है। इन कारणोंसे माया-सीताका जलना असिद्ध है। केवल कलंकका जलना सिद्ध होता है। अर्थात् अग्नि-प्रवेशसे कलंकका नाश हो गया और प्रतिबिंब बिंबमें लीन हो गया।

पं०—अर्थ तो बनता है पर यहाँ 'जरे' बहुवचन है और कलंक एकवचन है, यह दोष आता है। इस दोषकी निवृत्ति इस प्रकार होती है कि 'कलंक' से दुष्टोंके मनके कल्पित सभी कलंकोंका यहाँ ग्रहण होगा जो प्रसंगानुकूल हों।

वीर—प्रतिबिंब और कलंक अग्निमें जलनेवाली वस्तु नहीं हैं, तो भी उन्हें जलनेको कहा गया, यह रूढ़िलक्षणा है। यहाँ मुख्यार्थका बाध है, लक्षणाशक्तिसे परछाहींका जलना कहा गया है। **'मुख्य अर्थको बाध पै, जगमें बचन प्रसिद्ध। रूढ़िलक्षणा कहत हैं ताको सुमति समृद्ध'।**

नोट—१ इसका समाधान इस प्रकार हो सकता है कि 'जरे' क्रिया अन्तिमपद कलंकके विचारसे दी गयी। पर अर्थ जैसा संगत हो वैसा ही करना होगा। यथा **'मुठिकन्ह लातन्ह दाँतन्ह काटहिं। ५२। ५।'** में 'काटहिं' 'दाँतन्ह' के सम्बन्धसे कहा गया, मुष्टिका और लातसे काटना नहीं कहा जाता। 'मुठिकन्ह लातन्ह' के प्रसंगानुकूल 'मारहिं' क्रियाका अध्याहार यहाँ कर लेना होगा। पुनः, इसी तरह सुन्दरकाण्डके **'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी'** में ताड़न क्रिया ढोलके सम्बन्धसे दी गयी। इस प्रकार 'जरे' क्रियामें कोई आपत्ति नहीं आती और न उसके अन्य अर्थ खींचतानसे निकालनेकी आवश्यकता है। 'जरे' का अर्थ 'जड़े' करनेकी जरूरत भी नहीं जैसा कुछ महानुभावोंने किया भी है। 'पावक' के सम्बन्धसे 'जरे' का अर्थ 'जलना' ही ठीक है न कि जड़ना। २—प्रतिबिंब=माया-सीता, यथा—**'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता। ३। २४। ४।'** वही प्रतिबिंब अपने बिंबमें लीन हो गया। आनन्द-रामायणसे भी प्रतिबिंबका बिंबमें मिलना सिद्ध होता है, यथा—**'सुभूषितां पावकेन स्वाङ्के संस्थापितां शुभाम्। ९। पञ्चवट्यां स्वयं तत्र पुरा न्यस्तां च पावके। आलिङ्ग्य जानकीं रामो निजाङ्के संन्यवेशयत्॥ १०॥ तामसी राजसी चैव सात्त्विकी या त्रिधा पुरा। जाता रावणघातार्थं सा जातैकत्र वै तदा॥ ११॥'** अर्थात् सुन्दर भूषणोंसे भूषित शुभरूपा जानकीजीको अपने अङ्कमें स्थापित करके, जैसे पञ्चवटीमें पहले रामजीने समर्पण किया था वैसे ही अग्निने उनको समर्पण किया। श्रीरामजीने जानकीजीको हृदयसे लगाकर अङ्कमें स्थापित किया। तामसी, राजसी तथा सात्त्विकी तीन प्रकारकी शक्तियाँ जो पहले रावण-के विनाशार्थ प्रकट हुई थीं वे सब श्रीविदेहराजकुमारीमें एकत्र लीन हो गयीं।

गौड़जी—वास्तवमें राम-सीता-वियोग तो हुआ नहीं। रामचन्द्रजीने ललित नरलीला की है—**'मैं कछु करब ललित नर लीला'**। उसे निबाहनेके लिये यह लौकिक व्यवहार दिखाया है। अन्तमें प्रतिबिंबको वास्तविक अंशमें मिलाना है। इसी कारण प्रतिबिंबका लय होना दिखाकर सीताजीका स्वतः पूर्वरूपमें प्रकट होना दिखाया, क्योंकि अग्निप्रवेशके समय, **'श्रीखंड सम पावक भयो।'** रहा लौकिक कलंक उसके लिये कविने ऐसा दिखाया है कि **'प्रचंड पावक महँ जरे।'** देखिये, ज्योंही सीताजी अनलसे निकलीं त्योंही लौकिक कलंकका नाश हुआ और यह कीर्तिकौमुदी चतुर्दिक् फैल गयी कि सीताजी शुद्ध और सच्ची पतिव्रता हैं, क्योंकि अग्नि भी उन्हें न जला सका।

प्रतिबिंबका जलना कहा है सो स्वतः सीताजीके प्रकट होनेके कारण कहा है। प्रतिबिंब तो रूपके देवता अग्निका रचा कृत्रिम था। वास्तविक सीताजीका स्थानापन्न था। जब असली सीताजी आ गयीं तब उसका अग्निमें समा जाना अनिवार्य था। प्रतिबिंब अग्निमें जल गया, गुप्त वा विलीन हो गया, क्योंकि उसकी आवश्यकता न रह गयी।

इस सम्बन्धमें अनेक कथाएँ कही जाती हैं। कहीं वेदवतीको सीताका रूप कहा है, कहीं-कहीं प्रतिबिम्बको पाञ्चालीका रूप कहा है। परंतु मानसकार कविका आन्तरिक अभिप्राय स्पष्ट है।

अयोध्याकाण्डमें जब वनमें भरतादि रघुनाथजीसे मिलनेके लिये आये तब सासुओंकी सेवा करनेके लिये उतने ही रूप सीताजीने धारण किये, जितनी कि सासुएँ थीं।—**'सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई॥'** वह सब रूप भी सीताजीमें ही लय हो गये। ग्रन्थकारने भगवती श्रीसीताजीमें नर-लीलाके साथ-ही-साथ अनेक स्थलोंमें ऐश्वर्य भी दिखाया है। 'जरे' का अर्थ 'जड़े' करके भी लोग समाधान करते हैं, परंतु यह युक्ति ठीक नहीं बैठती।

प० प० प्र०—'प्रतिबिम्ब' शब्द तीन जगह आया है। **'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता।** ३। २४। ४।', यहाँ और **'दोउ बिजयी बिनयी गुन मंदिर। हरि प्रतिबिंब मनहुँ अति सुंदर॥** ३०।' तीनों जगह इसका अर्थ 'प्रतिकृति' है; अन्यथा प्रतिबिम्बको कोई उठा नहीं ले जा सकता और न वह बोलता आदि है। प्रतिबिम्बका जलना अनलमें समाना है। मिलान कीजिये—**'प्रभु पद धरि हिय अनल समानी।** ३। २४। ३।' विशेष ३। २४। ४ में देखिये।

करु०—देवताओंके विषयमें प्रतिबिम्ब सुननेमें नहीं आया तब श्रीजानकीजीके विषयमें प्रतिबिम्ब कैसे सम्भवित हो? इसका समाधान यह है कि लीलाहेतु प्रतिबिम्ब कर लिया। जिस प्रतिबिम्बद्वारा लक्ष्मणजीको दुर्वचन कहे गये वह भस्म हो गया और निज सत्य प्रतिबिम्ब श्रीजानकीजीमें प्राप्त (लीन) हो गया। किंतु प्रतिबिम्बके विषयमें जो लौकिक कलंक था वह भस्म हो गया।

नोट—**'प्रभु चरित काहु न लखे'''** इति। भाव कि सबने यही जाना कि आदिशक्ति सत्य श्रीसीताजीहीने अग्निमें प्रवेश किया। जैसे अरण्यकाण्डमें प्रतिबिम्बको श्रीलक्ष्मणजी असली सीताजी ही जानते थे। वहाँ प्रभुके उस चरित्रको उन्होंने जाना, उसी तरह यहाँ देव-सिद्धादिने प्रभुका यह चरित्र न जान पाया कि असली सीताजी अग्निमें हैं उनको प्रकट करनेके लिये यह चरित्र हुआ। जो सीताजी अग्निमें प्रविष्ट हुईं वे प्रतिबिम्ब थीं।

छं०—***धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जग बिदित जो।**
जिमि क्षीरसागर इंदिरा रामहि समर्पी आनि सो॥
सो राम बाम बिभाग राजति रुचिर अति सोभा भली।
नव नील नीरज निकट मानहुँ कनक पंकज की कली॥ २॥

अर्थ—अग्निरूप धारण करके हाथसे सत्य (मायावाली नहीं) श्रीजानकीजीको, जो श्रुतियोंमें और जगत्‌में प्रसिद्ध हैं, पकड़कर श्रीरामचन्द्रजीके पास लाकर इस तरह समर्पण किया जैसे क्षीरसागरने लक्ष्मीको (विष्णु भगवान्‌को) समर्पण किया था।† वे श्रीरामजीके वाम भागमें सुन्दर विराजमान अत्यन्त भली शोभाको प्राप्त हैं।‡ मानो नवीन खिले हुए नीले कमलके पास सोनेके कमलकी कली शोभित हो रही हो।

नोट—१ यहाँ 'श्री' पदसे सब कल्पोंकी कथा जना दी। 'श्री' श्लेषार्थी है, श्रीजानकीसहस्रनाममें उनका एक नाम 'श्री' भी है। पुनः 'श्री' लक्ष्मीका भी नाम है। विष्णुशक्ति भी लक्ष्मी हैं और श्रीमन्नारायणकी शक्ति भी लक्ष्मी हैं। २—'सत्य' अर्थात् मायानिर्मित या प्रतिबिम्ब नहीं। मनुशतरूपा-दाशरथी-रामावतार प्रसंगमें 'सत्यश्री' वे हैं कि **'जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥'** १। १४८।' और कश्यप-अदिति-दाशरथी-रामावतारमें लक्ष्मीजी 'सत्यश्री' हैं। ३ (क)—**'जिमि क्षीरसागर इंदिरा'** का भाव कि पुत्रिवत् और प्रभुकी नित्य-शक्ति जानकर। (ख) 'समर्पी' का भाव कि यह प्रभुकी ही थाती थी सो उनको सौंप दी—**'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम्'**। ऐसा ही पार्वतीजी और सीताजीके व्याहमें कहा गया है, यथा—

* तब अनल भूसुररूप कर गहि सत्य श्री श्रुति विदित जो। (वं०)। † उदाहरण अलंकार।

‡ स्वाङ्के समावेश्य सदानपायिनीं श्रियं त्रिलोकीजननीं श्रियःपतिः। दृष्ट्वाथ रामं जनकात्मजायुतं श्रिया स्फुरन्तं सुरनायको मुदा॥ अ० रा० १३। २३।

'भवहि समरपी जानि भवानी। १। १०१। २।' 'हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई। तिमि जनक रामहि सिय समरपी…। १। ३२४।' (प्र० सं०)। यहाँ विवाहके समयके दो उदाहरणोंमेंसे केवल एक ('श्री सागर दई') देनेका कारण यह है कि अग्निदेवने माता-पिताके समान श्रीसीताजीका पालन-पोषण नहीं किया, सीताजी उनके यहाँ केवल थाती रूपमें थीं; अतः वे (थाती) लौटा दी गयीं। लक्ष्मीजी क्षीरसागरमें थीं। मन्थनसे निकालनेमें भी 'हरि' ही कारणीभूत थे, जैसे सागरने उनकी वस्तु उनको दी वैसे ही अग्निने प्रभुकी थाती प्रभुको दी। (प० प० प्र०)। स्मरण रहे कि दुर्वासाके कोपसे लक्ष्मीजी समुद्रमें लुप्त हो गयी थीं वैसे ही श्रीरामजीकी इच्छासे श्रीसीताजी अग्निमें समा गयी थीं। वहाँ समुद्रकी वे पुत्री न थीं। यहाँ सीताजी अग्निकी पुत्री न थीं। दोनोंने थाती पायी थी, उसे लौटा दी। दोनोंने उनको पुत्री-समान माना।

पां०—'सोनेके कमलकी कली' इससे कहा कि उनका सर्वाङ्ग आच्छादित है। रघुनाथजीका सर्वाङ्ग प्रत्यक्ष है अतः उनको कमल कहा।

रा० प्र०, पु० रा० कु०—'कनकपंकजकी कली'। श्रीसीताजी लज्जावश संकुचित हैं इसीसे कलीकी उत्प्रेक्षा की गयी।—'लज्जया त्ववलीयन्ती स्वेषु गात्रेषु मैथिली'—वाल्मी० ११४। ३३।—[नोट—सुवर्णवर्ण होनेसे कनक-कमलकी उपमा दी और श्यामवर्ण होनेसे नील कमलकी।]

वै०—प्रभु तो पूर्वहीसे प्रसन्न थे इससे उन्हें खिला हुआ कमल कहा और सीताजी शोकसागरसे अभी निकली हैं इससे उन्हें कली कहा।

दो०—बरषहिं सुमन हरषि सुर* बाजहिं गगन निसान।
गावहिं किंनर सुरबधू† नाचहिं चढ़ीं बिमान॥
जनकसुता‡ समेत प्रभु सोभा अमित अपार।
देखि भालु कपि हरषे§ जय रघुपति सुखसार॥ १०८॥

अर्थ—देवता हर्षित होकर फूल बरसाते हैं। आकाशमें नगाड़े बज रहे हैं। किन्नर गा रहे हैं और विमानोंपर चढ़ी देववधूटियाँ (अप्सराएँ) नाच रही हैं। श्रीजानकीजीसहित प्रभु श्रीरामचन्द्रजीकी अमित और अपार शोभाको देखकर रीछ और वानर हर्षित हुए और सुखके सार श्रीरघुनाथजीकी जय बोलने लगे॥ १०८॥

पु० रा० कु०—अमित और अपारका एक ही अर्थ है। अमित शोभा श्रीसीताजीकी और अपार शोभा श्रीरामजीकी। अथवा, अत्यन्त आदरके लिये दो शब्द दिये।

नोट—१ (क) 'अमित' का अर्थ है—परिमाणरहित, जिसके विषयमें यह न कहा जा सके कि कितनी है, यथा—'राम अमित गुनसागर थाह कि पावै कोइ।' अपार (=जिसका पार न पा सकें) का भाव कि जिस अङ्गपर दृष्टि जाती है उसीमें डूब जाती है, आगे पहुँच भी नहीं सकती, एक सिरेसे दूसरेतक जा नहीं सकती। यथा—'रूप अपार मार मद मोचन', 'जहँ जाइ मन तहँहिं लुभाई'। पुनः (ख) 'अमित अपार'=इतनी अमित है कि उसका वर्णन करके कोई पार नहीं पा सकता, यथा 'सोभा अमित को बरनइ पारा।' यह भाव जनानेके लिये अमित और अपार दोनों विशेषण दिये।

२ 'देखि भालु कपि हरषे०' इति। (क) पं०, रा० प०—वानर-भालु श्रीसीतासंयुक्त प्रभुकी शोभा देखकर एवं यह समझकर प्रसन्न हुए कि जिनके लिये अनेक उद्योग और प्रयत्न किये गये वे प्राप्त हुईं, हमारे परिश्रम सफल हुए। पुनः, (ख) देखि भालु कपि हरषे' से यह भी ध्वनित होता है कि जब प्रभुने श्रीसीताजीको दुर्वचन

* हरषि सुमन बरषहिं बिबुध। † अपछरा। ‡ श्रीजानकी। § देखत हरषे भालु कपि।

कहे और वे अग्निमें प्रविष्ट हुईं तब उनको शोक हुआ था जिनके लिये इतना परिश्रम किया, उनकी प्राप्ति होना न होना बराबर हो गयी, हमारा परिश्रम भी व्यर्थ हुआ। (ग) 'सुखसार'=सुखके प्रधान स्वरूप।

सीता-रघुपति-मिलन-प्रकरण समाप्त हुआ।

'सुरन्ह कीन्हि अस्तुति' प्रकरण

तब रघुपति अनुसासन पाई। मातलि चलेउ चरन सिरु नाई॥ १॥
आए देव सदा स्वारथी। बचन कहहिं जनु परमारथी॥ २॥

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजीकी आज्ञा पाकर मातलि चरणोंमें सिर नवाकर चला॥ १॥ सदाके स्वारथी (मतलबी) देवता आये (पर) वचन ऐसे कह रहे हैं मानो बड़े परमार्थी हैं॥ २॥

नोट—☞ १ यह प्रसङ्ग अ० रा० १२ में विभीषण-राज्याभिषेकके पहले है, और वाल्मी० ११२ में मन्दोदरी-विलाप, रावण-मृतक-संस्कारके बाद और विभीषण-राज्याभिषेकके पहले है।

२ (क) 'आए' शब्दके तथा 'देव' शब्दके अनन्तर किंचित् विश्राम कर-करके इस चरणको पढ़नेसे सुन्दर नाट्य प्रतीत होता है। 'आए', 'देव', 'सदा स्वार्थी', यथा—इस प्रकार 'आए' को अलग उच्चारण करनेसे 'उपहासात्मक' भाव निकलता है। (प० प० प्र०)। (ख) 'सदा स्वार्थी', यथा—**'सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥ ४। १२। २॥'; 'स्वारथ बिबस बिकल तुम्ह होहू। भरत दोसु नहिं राउर मोहू॥ २। २२०। २॥', बिबुध बिनय सुनि देबि सयानी। बोली सुर स्वारथ जड़ जानी॥ २। २९५॥', 'सुर स्वारथी मलीन मन कीन्ह कुमंत्र कुठाटु। अ० २९५।'**

वीर—स्वार्थी मनुष्य अपना मतलब साधनेके लिये मुमुक्षुओंकी तरह बनाकर बातें करते ही हैं, यह उक्त-विषयावस्तूत्प्रेक्षा है।

प० प० प्र०—'आये...' में 'सुरगण' शब्द लिखनेसे मात्रापूर्ति हो जाती और 'स' का अनुप्रास चारुतर हो जाता; पर कविको बताना था कि देव (द्युतिमान प्रकाशमान) होनेपर भी उनको जो स्वर्गसे मृत्युलोकमें लङ्काकी रणभूमिमें आना पड़ा, उसमें उनकी केवल स्वार्थपरायणता ही कारण है। **'ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥'** सरस्वतीके इस वचनको चरितार्थ किया। उपदेश यह है कि स्वार्थी व्यक्तिकी ऐसी दशा होना स्वाभाविक है। (२) स्वर्गस्थ सुर दम्भी हैं यह आश्चर्यकी बात दूसरे चरणसे स्पष्ट सूचित की और जहाँ दम्भ है वह कपट मद-मानादिका निवास होगा ही। (३) 'सदा स्वारथी'—यह इस स्तुतिके आदि, मध्य और अन्तकी अर्धालीमें एक ही प्रकारका वृत्तदोष जान-बूझकर निर्माण करके जनाया कि वे आदि, मध्य और अन्तमें भी स्वार्थी और दम्भी हैं [नोट—'जनु परमारथी' का भाव कि वचन वस्तुतः परमार्थके नहीं हैं और न वे परमार्थी हैं। इन वचनोंमें वाक्‌मात्र परमार्थ है, सुननेमात्रमें वे परमार्थीके वचन हैं, पर उनमें परमार्थ है नहीं। 'दीनबन्धु दयाल' से जनाया कि हम सब दीन थे, आपने हमपर निःस्वार्थ दया की। आप रघुवंशी राजा हैं, आपने उस कुलके अनुसार ही हम सबोंकी रक्षा की। प्र० स्वामी कहते हैं कि प्रभुको भी 'देव' कहकर अपनी और प्रभुकी बराबरी सूचित की, स्वार्थी ही तो हैं।]

दीनबंधु दयाल रघुराया। देव कीन्हि देवन्ह पर दाया॥ ३॥
बिस्वद्रोहरत यह खल कामी। निज अघ गएउ कुमारगगामी॥ ४॥

अर्थ—हे दीनबन्धु, दयालु, रघुराज! हे देव! आपने देवताओंपर कृपा की॥ ३॥ सारे संसारसे द्रोह करनेमें प्रेम रखनेवाला (तत्पर) यह दुष्ट, कामी और कुमार्गपर चलनेवाला अपने पापोंसे नष्ट हुआ॥ ४॥

पं०—**'बिस्वद्रोहरत यह खल कामी।...'** इति। (क) कामी ऐसा कि जहाँ सुन्दर कन्याएँ और स्त्रियाँ सुनता उन्हें जबरदस्ती ले आता था, यथा—**'देव जच्छ गन्धर्ब नर किंनर नाग कुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल बहु सुंदर बर नारि॥ १। १८२॥'** (ख) **'देव कीन्हि देवन्ह पर दाया'** कहकर 'विश्वद्रोहरत' कहनेका भाव यह है कि हम

देवताओंकी ही क्या कही जाय वह तो सारी सृष्टिका द्रोही था। (कैसे जाना कि विश्वद्रोही था उसपर कहते हैं कि वह दुष्ट कामी था, कामवश सबका वैरी बन बैठा)। (ग)—'कामी' कहकर 'कुमारगगामी' कहनेका भाव कि एक यही दोष न था वरन् वह तो सब दोषोंसे पूर्ण था, कहाँतक दोष वर्णन किये जायँ।

पु० रा० कु०—'**यह खल कामी**' कहा, रामविरोधी जानकर नाम न लिया। यथा—'**अब जनि नाथ खेलावहु एही**' '**काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकइ राम कर द्रोही**', '**रामकाज सब करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान। आसिष देइ गई सो०**', इत्यादि। इस प्रकार कथन करनेकी ग्रन्थकारकी परिपाटी है।

वि० त्रि०—'**विश्वद्रोहरत**' से पापकी पराकाष्ठा कहा, खल कहकर '**बिनु कारण अपकारी**' कहा। कामी कहकर उसके द्वारा बाहुबलसे देवकन्याओंका वरण कहा। अब कहते हैं कि वही पाप उसे खा गया। उसकी तबियत इतनी बढ़ी कि जगदम्बाको हरण कर लाया। सरकारने तो बहुत चाहा कि यह न मरे (यथा—'**काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई**') परंतु उसने एक न माना। यथा—'**पुनि कपि कही नीति बिधि नाना। मान न ताहि काल नियराना॥**' अतः वह कुमारगगामी अपने पापसे ही गया।

प० प० प्र०—'**यह खल**' इति। रावणका संस्कार भी हो गया, वह यहाँ है नहीं, तब 'वह' कहना था। 'यह' शब्दसे जनाया कि अभी पूर्णतया रावणका भय उनके हृदयसे गया नहीं है। उनको ऐसा लग रहा है मानो वह सामने ही है। २ हनुमान्‌जीने '**मारहिं मोहिं कुमारग गामी**' ऐसा कहकर अप्रत्यक्ष रीतिसे रावणको 'कुमारगगामी' कहा, वैसे ही ये कह रहे हैं।

तुम्ह समरूप ब्रह्म अबिनासी। सदा एकरस सहज उदासी॥ ५॥
अकल अगुन अज अनघ अनामय। अजित अमोघ सक्ति करुनामय॥ ६॥

अर्थ—आप तो समरूप, ब्रह्म, नाशरहित, सदा एकरस, स्वभावसे ही उदासीन (शत्रुमित्र मध्यस्थभावरहित), कलारहित (परिपूर्ण), निर्गुण (मायिकगुणोंसे रहित एवं अव्यक्त गुणवाले), अजन्मा, निष्पाप, विकाररहित, अजेय, अमोघशक्ति (अर्थात् जिनका पराक्रम वा शक्ति कभी व्यर्थ वा निष्फल नहीं होता) और करुणामय हैं॥ ५-६॥ *

नोट—'**तुम्ह समरूप ब्रह्म अबिनासी।…**' इति। 'समरूप' अर्थात् किसीके शत्रु और किसीके मित्र ऐसा नहीं है, सुर-असुर सभीपर आपकी समदृष्टि है, यथा—'**सब पर मोरि बराबरि दाया**'। पुनः, 'सम' का भाव कि न किसीपर राग न किसीपर रोष, राग-रोषरहित, न किसीका पुण्य लें न किसीका पाप, जो जैसा करता है उसको वैसा फल मिलता है, यथा—'**जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥ करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥ अ० २१९॥**'

यही भाव सूचित करनेके लिये ये विशेषण यहाँ दिये हैं। जो ऊपर कहा है कि '**निज अघ गएउ कुमारगगामी**', उसीको यहाँ पुष्ट कर रहे हैं। [यहाँ 'रूप' प्रत्यय प्रशंसा अर्थमें है। यथा—'**अत्र प्रशंसायां रूपप्रत्ययो ज्ञेयः**' (पु० रा० कु०)। शत्रु-मित्र-भावरहित] समभाव होनेका कारण यह है कि आप परब्रह्म परमात्मा हैं। [भाव कि आप सबसे बृहत् हैं। (पं०, वं० पा०)। ब्रह्म हैं। अतः अविनाशी हैं और अविनाशी हैं अतः सदा एकरस हैं। सदा अर्थात् कालत्रयेऽपि, भूत भविष्य वर्तमान तीनों कालोंमें। यथा—'**अन्ते चादौ च मध्ये च दृश्यते त्वं परंतप। वाल्मी० ११७। ९।**' (चं० सं० में '**अन्ते चादौ च लोकानां दृश्यसे त्वं परंतप**' पाठ है)। '**सदा एक रस**', यथा '**त्रिभुवन तिहूँ काल बिदित बदत बेद चारी। आदि अंत मध्य राम साहिबी तुम्हारी। वि० ७८।**', '**तुम्ह चहुँ जुग रस एक राम। वि० २६६।**' (पु० रा० कु०)। पुनः 'सदा एकरस' कहकर जनाया कि आपमें कभी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, आप विकारशून्य हैं, आप जीव नहीं हैं; क्योंकि जीवमें आनन्दादि एकरस नहीं रहते।

* पहले देवताओंने विशेष बात कही कि आपने देवताओंपर बड़ी कृपा की जो इस दुष्टको मारा। फिर कहते हैं कि यह कुमार्गी अपने ही पापोंसे नष्ट हुआ इस बातका विशेष सिद्धान्तसे समर्थन करना कि आप निर्गुण ब्रह्म, उदासीन, निर्विकार हैं, 'विकस्वर अलंकार' है। (वीर)।

(पं०, रा० प्र०)] 'सहज उदासी' का भाव कि आप तपस्वीवेश धारण किये हैं, यथा—**'तापसबेष बिसेषि उदासी। चौदह बरस राम बनबासी'**। इस वेषके कारण उदासीनभाव हो, ऐसी बात नहीं है वरन् यह आपका सहज स्वभाव है।

२ **'अकल अगुन···' इति**। (क) अकल अर्थात् प्राकृतरूपरहित। (रा० प्र०), कलारहित किंतु परिपूर्णावतार। यथा—**'अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।** वाल्मी० ११७। १४।' (अर्थात् आप अक्षय्य सत्य ब्रह्म हैं, सृष्टिके मध्य और अन्तमें वर्तमान रहनेवाले भी आप ही हैं। (पु० रा० कु०)। वेद बताते हैं कि ब्रह्म पूर्ण है और पूर्णसे पूर्णको निकाल लेनेपर भी वह पूर्ण ही बचता है। यथा **'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।** ईश **'शान्तिपाठ**।' अतः ब्रह्म कहकर फिर 'अकल' विशेषणसे जनाया कि आपका रघुनाथरूप भी पूर्ण ब्रह्म है। (ख) 'अगुन'=त्रिगुणातीत; सत् रज तम जिसको ईश्वर योगमाया, सबका कारण-प्रधान आदि मानते हैं उन सबसे भिन्न। (ग) अज अर्थात् आप जन्म-विकाररहित हैं, आपने केवल रावणवधार्थ मनुष्य-देह धारण की है यथा—**'वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम्।** वाल्मी० ११७। २८)। आपका जन्म जीवोंकी तरह कर्मके वश नहीं होता वरन् अपनी इच्छासे आप अवतार लेते हैं। **'अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी।** १। ५१।' नहीं तो आप तो अजन्मा हैं। आपका कभी किसीसे जन्म नहीं हुआ और न होता है। आप प्रकट होते हैं। अनघसे रावणवधजनित दोषका निराकरण दिखाया। 'अनामय' अर्थात् समस्त उपाधिजनित रोगरहित साक्षात् विज्ञानरूप, यथा—**'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी'** (पु० रा० कु०)। (घ) अजित—**'केनापि न जितः अजितः खड्गधृग्विष्णुः।** वाल्मी० ११७।' अजित हैं अतः अमोघशक्ति हैं। **'अमोघं देव वीर्यं ते'** अर्थात् सफल है वीर्य जिनका। 'करुणामय' का भाव कि हम सबपर करुणा करके अवतार ले आपने रावणवध करके हमको उबारा। यथा—**'रावणेन हृतं स्थानमस्माकं तेजसा सह। त्वयाद्य निहतो दुष्टः पुनः प्राप्तं पदं स्वकम्'** (अ० रा० १३। ८)। अर्थात् रावणने तेजसहित हमारे निवास-स्थान छीन लिये थे, उसके मारे जानेसे हम पुनः अपने पदको प्राप्त हुए। पुनः यथा—**'तुम्ह प्रभु सब देवन्ह निस्तारा', 'दीनबंधु दयाल रघुराया। नाथ कीन्ह देवन्ह पर दाया'**। (ङ) 'करुणामय' शब्द अवतार-हेतुका सूत्र है अतः प्रथम करुणामय कहकर तब अवतार गिनाते हैं—'मीन कमठ०'। (पु० रा० कु०)।

मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥ ७॥
जब जब नाथ सुरन्ह दुखु पायो*। नाना तन धरि तुम्हइँ नसायो॥ ८॥

अर्थ— आपने ही मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन और परशुराम शरीर धारण किये॥ ७॥ हे नाथ! जब-जब देवताओंने दुःख पाया तब-तब अनेक शरीर धारणकर आपहीने दुःखका नाश किया॥ ८॥

बं० पा०—'मीन कमठ०' इति। युग और अवतारोंके क्रमसे यहाँ अवतारोंके नाम दिये। छः अवतार श्रीरामावतारके पूर्व सत्ययुग और त्रेतामें हुए थे इससे छः के नाम दिये।

प० प० प्र०—'जब जब नाथ···' इति। जब यह स्मृति आयी कि इनके सिवा हम लोगोंका दुःख दूर करनेवाला दूसरा कोई नहीं है, यदि ये कृपा न करें तो अनाथवत् ही रहना पड़ता है, तब 'नाथ' सम्बोधन करते हैं।

नोट—१ **'नाना तन धरि तुम्हइँ नसायो'** इति। भाव कि मुख्य अवतार ये हैं पर इतने ही नहीं हुए आपके अगणित अवतार (अंश, कला, आवेश आदि) होते हैं जब जैसी आवश्यकता पड़ती है, यथा—**'अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः। यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥** भा० १। ३। २६।' अर्थात् सत्त्वमूर्ति भगवान्‌के ऐसे-ही अनेक अवतार हैं जिनकी गिनती नहीं हो सकती जैसे अक्षय अथाह सरोवरसे सहस्रों छोटे-छोटे सोते निकलते हैं। पुनः, भाव कि आपकी कृपा हमपर सदासे चली आयी है। २—पूर्व अजन्मा कह आये और अब कहते हैं कि आप मीन-कमठादि शरीर धारण करते हैं, इसमें विरोधाभास है पर वस्तुतः विरोध नहीं है; क्योंकि ईश्वरकी ईश्वरता इससे प्रमाणित होती है कि वह अजन्मा होते हुए भी जब जन्म ग्रहण करनेकी इच्छा करता है तब इच्छानुसार अवतार भी लेता है। ईश्वर और जीवके जन्ममें भेद है। ईश्वरका शरीर चिदानन्दमय होता है, उसका शरीर मायाकृत पञ्चतत्त्वरचित नहीं होता—

* पावा, नसावा—(का०, पं०, मा० म०)।

वह कर्माधीन नहीं है। इसके विपरीत जीव कर्माधीन जन्म लेता है और उसका शरीर अनित्य पञ्चतत्त्वका बना होता है।

प० प० प्र०—'आए देव सदा स्वारथी।...' इस प्रथम अर्धालीके पश्चात् अब 'मीन कमठ...' इस मध्यकी अर्धालीमें पुनः मात्राओंकी न्यूनता करके जनाया कि इन देवताओंके स्वार्थसाधनके लिये ही मीन, कमठ, शूकर ऐसी नीच योनियोंमें अवतार लेकर कष्ट उठाने पड़े। अर्धनर अर्धपशु बनकर खम्भेसे प्रकट होना पड़ा। वटुरूप होकर बलिसे छल करना पड़ा। परशुराम ब्राह्मणरूप हो ब्राह्मण-धर्म-विरोधी कर्म करना पड़ा। प्रत्येक अवतार-कार्यकी पूर्तिपर देवताओंने इसी प्रकार भक्तिकी याचना की है तथापि उनका स्वार्थ सदा जैसाका तैसा ही बना रहता है, यह आश्चर्य है। इनके स्वार्थ-वश हमारे प्रभुको कष्ट उठाने पड़ते हैं यह समझकर कविके हृदयमें विषाद हो रहा है।—यह मात्राकी न्यूनतासे जनाया।

यह खल मलिन सदा सुरद्रोही*। काम लोभ मद रत अति कोही॥ ९॥
अधमसिरोमनि तव पद पावा†। यह हमरे मन बिसमय आवा॥ १०॥

अर्थ—यह दुष्ट, पापी, सदा देवताओंसे शत्रुता रखनेवाला, काम, लोभ और मदमें तत्पर और अत्यन्त क्रोधी था॥ ९॥ ऐसे अधमशिरोमणिको आपका परमपद प्राप्त हुआ, यह हमारे मनको आश्चर्य हुआ॥ १०॥

प० प० प्र०—'यह खल' इति। अब भी 'यह' कहनेसे पाया गया कि देवता अबतक दुःखोंको नहीं भूले, बार-बार रावण और उसके अत्याचारोंकी स्मृति आती है, अतः वे उसके दोषोंको पुन-पुनः उच्चारण करते हैं। यद्यपि ये इन्द्रादि सब देवता 'काम लोभ मद रत कोही' हैं तथापि ये अपने दोषोंको नहीं कहते। प्रत्युत अपनेको आगे 'परम अधिकारी' कहते हैं।

हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ-रत प्रभु-भगति बिसारी॥ ११॥
भव प्रवाह संतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे॥ १२॥

अर्थ—हम सब देवता (परमपदके) पूर्ण अधिकारी होकर भी स्वार्थपरायण हो आपकी भक्तिको भूलकर सदा संसार-के धाराप्रवाहमें पड़े हैं। हे प्रभो! हम शरणमें प्राप्त हुए हैं अब हमारी रक्षा कीजिये॥ ११-१२॥

मा० म०—इस कथनका भाव यह है कि हमारा एक शत्रु रावण था उसे मारकर आपने हम लोगोंको देवलोक दिया; अब हमारा एक शत्रु और है जिसके प्रभावसे हम सब भवसागरमें पड़े हैं, उसका भी आप नाश कर दीजिये तो हम लोगोंको आपका धाम प्राप्त हो।

टिप्पणी—ऊपर 'हमरे मन बिसमय आवा।' कहकर अब विस्मयका कारण बताते हैं कि हम देवता हैं अर्थात् सात्त्विकरूप हैं अतएव परम अधिकारी हैं यथा—'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १४। १८।' अर्थात् सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष ऊपरके लोकोंमें जाते हैं, रजोगुणवाले मध्यमें रहते हैं और सबसे छोटे तमोगुणनिवृत्तिवाले नरकादिकमें जाते हैं। [पुनः परम अधिकारी इससे कि आप सदा हमारा पक्ष लेकर हमारी रक्षा किया करते हैं, आपने हमको ज्ञान दिया, अजर-अमर बनाया। (रा० प्र०)। लोकपालादि पदोंपर हमारा निवास है। (पं०)] हम आपके कृपापात्र होकर भी भवप्रवाहमें पड़े हैं और यह खल तामसी राक्षस आपका द्रोही था सो उसने परमपद पाया—यह विस्मयका कारण है।

☞ अ० रा० में भी ऐसा ही कहा है। यथा—'वयं तु सात्त्विका देवा विष्णोः कारुण्यभाजनाः। भयदुःखा-दिभिर्व्याप्ताः संसारे परिवर्तिनः॥ ८०॥ अयं तु राक्षसः क्रूरो ब्रह्महातीव तामसः। परदाररतो विष्णुद्वेषी तापसहिंसकः॥ ८१॥ पश्यत्सु सर्वभूतेषु राममेव प्रविष्टवान्॥ अ० रा० ११। ८२॥' अर्थात् हम सब देवता सत्त्वगुण-प्रधान हैं और श्रीविष्णु भगवान्‌की करुणाके पात्र हैं फिर भी हम भय और दुःख आदिसे युक्त संसारचक्रमें भ्रम रहे हैं। और, यह क्रूर राक्षस तामसवृत्तिवाला, ब्रह्महत्या करनेवाला, परदाररत, विष्णुद्रोही, तपस्वियोंकी हिंसा करनेवाला है। तो भी यह सबके देखते-देखते श्रीरामचन्द्रजीमें प्रविष्ट हो गया।

* रावन पापमूल सुरद्रोही। † सोउ कृपाल तव धाम सिधावा—(का०)।

उपर्युक्त श्लोकोंका सब भाव 'हम देवता परम अधिकारी' में है।

इस कथनसे श्रीरामचन्द्रजीमें दोषारोपण होता है। उसके निवारणार्थ **'स्वारथरत तव भगति बिसारी'** कहा। भाव कि हम इसी कारण भवप्रवाहमें पड़े हैं और रावण पापिष्ठ होनेपर भी आपकी सदा स्मरणरूपी भक्ति करता रहा इससे उसने परमपद पाया। इसमें हमारा ही दोष है, आपका दोष नहीं। 'तव भगति बिसारी' से जनाया कि रावणने सदा आपका स्मरण किया, यथा—**'पापिष्ठो वा दुरात्मा परधनपरदारेषु सक्तो यदि स्यान् नित्यं स्नेहाद्भयाद्वा रघुकुलतिलकं भावयन्संपरेतः। भूत्वा शुद्धान्तरङ्गो भवशतजनितानेकदोषैर्विमुक्तः सद्यो रामस्य विष्णोः सुरवरविनुतं याति वैकुण्ठमाद्यम्॥** अ० रा० ११। ८७॥' अर्थात् नारदजी देवताओंको समझाते हैं कि महापापी, या दुष्टात्मा परधन एवं परस्त्रीमें रत ऐसा मनुष्य भी यदि नित्य प्रेमसे अथवा भयसे रघुकुलमणि श्रीरामजीके ध्यानमें तत्पर हो तो उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर सैकड़ों जन्मोंके अनेक सञ्चित दोषोंसे छूटकर श्रेष्ठ देवताओंसे वन्दित होकर भगवान्‌के लोकको प्राप्त होता है। श्रीरामजीसे द्वेष होनेके कारण द्वेषभावसे रावण सेवकोंसहित रामचरित्रोंको सुन-सुनकर और अपनी मृत्यु श्रीरामजीसे जानकर भयसे सर्वत्र उन्हींको देखा करता था, यथा—**'भृत्यैः सह सदा रामचरितं द्वेषसंयुतः। श्रुत्वा रामात्स्वनिधनं भयात्सर्वत्र राघवम्॥** अ० रा० ११। ८४॥'

वं० पा०—स्वारथरत अर्थात् व्यवहारमें फँसे, विषय सुखभोगमें पड़े। 'संतत' का भाव कि इससे छूटना सम्भव है यथा—**'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥**

प० प० प्र०—१ देवताओंने जान लिया कि इनका देह चिदानन्दमय है इससे ये अधिकारी तो हैं; यथा—**'चिदानन्दमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥'**; पर ये तो अपनेको 'परम अधिकारी' ही मानते और कह भी रहे हैं। वे अपने ऐश्वर्य, सत्ता और ऊँच निवास आदिके विचारसे ही ऐसा मान बैठे हैं। यही अहङ्कारका स्वरूप है।

२ 'भव प्रवाह''' इति। अन्तमें इस अर्धालीमें भी मात्राकी न्यूनता करके जनाया कि अपनी स्वार्थपरायणता देखकर देव परितप्त हैं, दुःख होता है, पर स्वभावसे बेबस हैं। अतः प्रार्थना करते हैं। रावण दुष्ट होनेपर भी भवपार हो गया और हम इसीमें चक्कर खा रहे हैं, अतः **'धिग् जीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे॥'**

नोट—'अब प्रभो पाहि०'। भाव कि जो हुआ सो हुआ पर अब हम शरणमें प्राप्त हैं, अब भवभयसे हमारी रक्षा कीजिये। क्योंकि आपका विरद है कि आप शरणमें आनेपर अभय देते हैं। यथा—**'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥'** निज प्रतिज्ञा स्मरण करानेके लिये ये वचन कहे।

दोहा—करि बिनती सुर सिद्ध सब रहे जहँ तहँ कर जोरि।
अति सप्रेम तन पुलकि बिधि* अस्तुति करत बहोरि॥ १०९॥

अर्थ—विनती करके देवता और सिद्ध सब जहाँके तहाँ (अर्थात् जो जहाँ थे वहीं) हाथ जोड़े खड़े रह गये। तब अत्यन्त प्रेमसहित पुलकित शरीर हो ब्रह्माजी स्तुति करने लगे॥ १०९॥

नोट—१ 'कर जोरि' से प्रभुमें स्वामिभाव जनाया। हाथ जोड़कर स्तुति की जाती है। विनतीके अन्तमें 'कर जोरि' प्रणामभावसे एवं अतिविनीतभाव प्रदर्शित करनेके लिये है।—**'कृतमस्तकाञ्जलिम्'**। **'प्रणतो भूत्वा रामं सत्यपथे स्थितम्।** अ० रा० १३। ९।' पुनः, भीड़ बहुत है, अतः 'कर जोरि' से ही दण्डवत् प्रणाम जना दिया। **'अब्रुवन् परमात्मानं रामं प्राञ्जलयश्च ते।** अ० रा० १३। ३।'

* १—अतिसय प्रेम सरोजभव—(का०, मा० म०)। २—(क) मयूख (मा० म०)—'मूलमें सरोजभव इससे कहा कि श्रीरामचन्द्रजीके अंश श्रीमन्नारायणके नाभिसरोजसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं। अतएव सरोजभव कहकर माधुर्य सूचित किया। यदि ब्रह्मा कहते तो ऐश्वर्य सूचित होता, माधुर्य फीका पड़ जाता।' ३—पं०—आदित्य ब्रह्माके उत्पन्न किये हुए हैं अतः सूर्यके वंशकी प्रशंसा करनी योग्य न थी। ब्रह्माने जो स्तुति की वह इनको विष्णुरूप समझकर की। भगवान्‌के नाभिकमलसे इनकी उत्पत्ति है अतएव अपने पिता भगवान्‌की स्तुति योग्य है। अतः 'सरोजभव' पद दिया।

२ 'अपि सप्रेम तन पुलकि…' इति। (क) तनकी पुलकावली अतिशय प्रेमके कारण है, यथा—'अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा। १। २११।' (अहल्या), 'तन पुलक निर्भर प्रेमपूरन।' ३। ६। (अत्रिजी)। (ख) 'बहोरि' अर्थात् उन सबके पीछे, तत्पश्चात्। (प्र० सं०)। बालकाण्ड दोहा १८६ में भी ब्रह्मदेवकृत स्तुति है जिसके उपरान्त भगवान्ने आश्वासन दिया था कि 'जनि डरपहु मुनि…निर्भय होहु देव समुदाई। १। १८७। १—७।' यहाँ 'बहोरि' शब्दने यह संदर्भ सूचित किया और जनाया कि उस ब्रह्मवाणीके अनुसार भू-भार हरण करके देवादिको निर्भय कर देनेके कारण कृतज्ञता भावसे ब्रह्माजी स्तुति कर रहे हैं। (प० प० प्र०)।

पं विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि रावणका विजय करके सीताजीकी शृङ्गारित मूर्तिके साथ रामजी विराजमान हैं, वानरी सेना यह अपार शोभा देखकर जय-जयकार कर रही है। उसी समय देवता लोगोंने स्तुति की और जो जहाँ थे वे वहीं हाथ बाँधे खड़े हैं। रावणकी सभामें भयसे हाथ बाँधे खड़े रहते थे, यहाँ कृतज्ञतासे हाथ बाँधे खड़े हैं। 'स्तुति करनेके बाद माँगा कि 'हम आपके शरण हैं, आप हमारी रक्षा कीजिये', पर ब्रह्मदेव इतनेसे सन्तुष्ट नहीं हैं, उन्हें चरणोंमें प्रेम चाहिये (यथा—'नृपनायक दे बरदानमिदं चरनांबुज प्रेम सदा शुभदम्।' अतः फिरसे स्तुति करने लगे। (ग) देवताओं तथा इन्द्रकृत स्तुतियोंमें 'सप्रेम' 'तन पुलकि' आदिका उल्लेख न करके जनाया कि उनमें भक्तिभाव किंचित् नहीं है। ब्रह्मदेवकी स्तुतिमें उपसंहारमें भी 'प्रेम पुलकि' शब्द है जिससे सूचित करते हैं कि ब्रह्माजी अथसे इतितक प्रेम-विभोर रहे। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—'अस्तुति करत बहोरि' इति। श्रीरामचन्द्रजीने श्रीसीताजीके प्रति जो अति नरनाट्यके वचन कहे, उन्हें सुनकर देवताओंको भ्रम हो गया। वे समझे कि श्रीरघुनाथजीको अपने स्वरूपका स्मरण नहीं है। अतएव उसकी स्मृति करानेके लिये उन्होंने स्तुति की यथा—'अब्रुवंस्त्रिदशश्रेष्ठा राघवं प्राञ्जलिं स्थितम्॥ ५॥ कर्त्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः। उपेक्षसे कथं सीतां पतन्तीं हव्यवाहने॥ कथं देवगणश्रेष्ठमात्मानं नावबुध्यसे॥ ६॥ …'उपेक्षसे च वैदेहीं मानुषः प्राकृतो यथा॥ वाल्मी० ११७। ९॥', अर्थात् देवश्रेष्ठ खड़े होकर हाथ जोड़कर श्रीरघुनाथजीसे बोले कि आप समस्त लोकोंके कर्ता और ज्ञानविदोंमें श्रेष्ठ होकर अग्निमें प्रवेश करती हुई सीताकी उपेक्षा कैसे करते हैं? देवताओंसे भी श्रेष्ठ अपने स्वरूपको आप क्यों नहीं समझते? प्राकृत मनुष्यके समान आप सीताकी उपेक्षा करते हैं।—यह बात गोस्वामीजीने यहाँ देवस्तुतिमें 'देव', 'तुम्ह सम रूप ब्रह्म अबिनासी' आदि स्वरूपस्मारक पद देकर अपने शब्दोंसे सूचित कर दी है। देवताओंके वचन सुनकर रघुनाथजीने उन्हें उत्तर दिया कि हम तो अपनेको महाराज दशरथका पुत्र राम मानते हैं; परंतु जो हम हैं और जहाँसे हम आये, वह सब आप कहें। यथा—'आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्। सोऽहं यश्च यतश्चाहं भगवांस्तद् ब्रवीतु मे॥'

यह सुनकर देवता मौन हो गये। अतएव ग्रन्थकार कहते हैं कि 'करि बिनती सुर सिद्ध सब जहँ तहँ रहे कर जोरि' अर्थात् चुप होकर खड़े रहे। इसीलिये 'बिधि बहोरि स्तुति करत।' यथा—'इति ब्रुवाणं काकुत्स्थं ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः। अब्रवीच्छृणु मे वाक्यं सत्यं सत्यपराक्रम॥'

प० प० प्र०—इस स्तुतिकी एक विशेषता पूर्व बतायी गयी कि इसमें रावणका नाम कहीं नहीं आया, 'यह' 'दुष्ट', 'अधमसिरोमनि' आदि शब्दोंसे ही उसका निर्देश किया गया है और नाम न लेनेपर भी उसके दोषोंकी चर्चा बारंबार की गयी है। इन्द्रकृत स्तुतिमें भी दुष्ट, परद्रोहरत आदि शब्दोंसे रावणके दोष वर्णन किये गये हैं। ब्रह्मदेवकृत तथा त्रिपुरारिकी स्तुतियोंमें रावणके दोषोंका वर्णन नहीं है। त्रिपुरारिकृत स्तुतिमें रावणका नाम भी नहीं है। इन्द्र तथा ब्रह्माकृत स्तुतियोंमें रावण, रावणारि और लंकेश पद हैं—इन दोनोंने यहाँ भक्तिकी याचना की है पर कृष्णावतारमें भगवान्से छल भी किया है।

२ सर्वदेवकृत स्तुति विशाखा नक्षत्र है। अबतक पन्द्रह स्तुति-नक्षत्रोंका वर्णन हुआ—अश्विनी आदि छः बालकाण्डमें; पुनर्वसु और पुष्य दो अयोध्यामें; आश्लेषासे हस्ततक पाँच अरण्यमें; चित्रा किष्किन्धामें और स्वाती सुन्दरमें। अब यह सोलहवीं स्तुति है और सोलहवाँ नक्षत्र विशाखा है। दोनोंका साम्य इस प्रकार है—

(क) नाम-साम्य इति। देवताओंमें भी वसु, रुद्र, अग्नि, आदित्य, मरुद्गण, लोकपाल और दिक्पाल आदि

विविध शाखाएँ हैं और नक्षत्रका नाम 'वि-शाखा' है ही। (ख) तारा-साम्य इति। विशाखामें चार तारे हैं, वैसे ही स्तुतिमें रघुराया, देव, नाथ और प्रभु ये चार तारे हैं। (ग) रूप-आकार-साम्य इति। नक्षत्रका आकार तोरण-सा है। जैसे तोरण दूरसे देखनेसे सुन्दर लगता है वैसे ही देवताओंके वचन देखनेमें सुन्दर हैं—'**बचन कहहिं जनु परमारथी**'। तोरण विषम, ऊँचा-नीचा रहता है; वैसे ही इनके वचन सुसम्बद्ध नहीं हैं। (घ) विशाखाके देवता इन्द्र और अग्नि। स्तुतिमें भी दोनों देवता हैं। (ङ) फलश्रुति साम्य इति। '**मंत्र महामनि बिषय ब्याल के**' यह फलश्रुति है। देवता भी '**स्वारथरत**', '**प्रभु भगति बिसारी**, और '**भव प्रबाह संतत परे**' हैं ही, यही 'विषय-व्याल'-ग्रस्त होना है। इसीसे वे भक्तिरूपी महामणि (चिन्तामणि) की और 'रामनाम' रूपी मन्त्रकी याचना करते हैं।

३—विशाखा और अनुराधा नक्षत्र आकाशमें ऐसे देख पड़ते हैं मानो एकसे दूसरा सटा हुआ है। वैसे ही यहाँ दोहेके पूर्वार्धमें देवस्तुति समाप्त की और उत्तरार्धमें ब्रह्मदेवकी स्तुतिका उपक्रम किया है। यह जानबूझकर (हेतुपूर्वक) नहीं किया गया, ऐसा अब कौन कहेगा !!

छं०—जय राम सदा सुखधाम हरे। रघुनायक सायक चाप धरे।
भव-बारन-दारन सिंह प्रभो। गुनसागर नागर नाथ बिभो॥ १॥

अर्थ—सदा सुखके निवासस्थान, (रावणकृत) दुःखोंके हरनेवाले भगवान्, धनुष-बाण-धारी, रघुकुलके स्वामी श्रीरामचन्द्रजी ! आपकी जय ! हे प्रभो ! आप भवरूपी हाथीको विदीर्ण करनेके लिये सिंहरूप हैं। हे नाथ ! हे विभो ! आप गुणोंके समुद्र, परमचतुर और व्यापक एवं समर्थ हैं॥ १॥

नोट—यह तोटक छंद है। इसके चारों चरण १२-१२ अक्षरके होते हैं। प्रत्येक चरणमें चार सगुण अर्थात् तीसरा, छठा, नवाँ और बारहवाँ अक्षर गुरु होता है।

टिप्पणी—'जय राम' इति। (क) '**हे राम सदा सर्वस्मिन् काले त्वं जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्वेत्यर्थः**'। (ख) 'हे हरे'—**रावणकृतकष्टहरणात् हरे इत्युक्तं तथा च स्मृतिः। यथा—'हराम्यघं हि स्मर्तॄणां हविर्भागं क्रतौ यथा। वर्णश्च मे हरिश्यामस्तस्माद्धरिरहं स्मृतः**'॥ इति स्मृतिः। अर्थात् स्मरण करनेवालोंके पापोंको मैं हर लेता हूँ जैसे यज्ञहविके भागको लेता हूँ। मेरा वर्ण हरितश्याम है इसीलिये मैं हरि कहलाता हूँ। (ग) 'सुखधाम' का भाव कि जो आपकी शरण जाता है वह भी सुख भोग करता है। 'रघुनायक' का भाव यह भी है कि आप रघु (अर्थात् जीव) मात्रके स्वामी हैं। (रा० प्र०)।

टिप्पणी—२ (क) '**वारणं प्रतिषेधे स्याद्वारणस्तु मतं गजे।**' इति विश्वप्रकाशः। यहाँ वारणका अर्थ 'मत्त गज' है। 'भव-बारन-दारन' के 'भववारण दारण' और 'वारय तारय' दोनों अर्थ हैं। (ख) 'गुण-सागर' यथा मूलरामायणे—'**स च सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्दवर्द्धनः**', '**बिनय सील करुना गुनसागर**। १। २८५।', '**राम अमित गुनसागर थाह कि पावै कोइ**। ७। ९२।' भाव कि आपके दिव्य गुणोंका कोई पार नहीं पा सकता, कितने हैं कोई कह नहीं सकता। 'नागर' अर्थात् परमचतुर हैं, कब कहाँ कैसा करना चाहिये यह सब आप जानते हैं। यथा '**जयति बचन रचना अति नागर**। १। २८५। ३।', '**गुन सागर नागर बर बीरा**। १। २४१। २।'

प० प० प्र०—'राम' शब्दसे निर्गुण ब्रह्मका और 'हरि' से सगुण अवतारीका बोध कराया और चारों कल्पोंकी कथाका समन्वय किया। उत्तरार्धका भाव यह है कि सर्वव्यापक होनेपर भी आप मेरी विनय तथा अपने अभिवचनके अनुसार चापबाणधर रघुनायक बन गये। 'भव बारन···' में भाव यह है कि सर्वव्यापक सर्वसमर्थ होनेपर भी आपने भवरूपी मत्तगजके विदारणार्थ ही मुख्यतः यह रूप धारण किया है जिसमें आपके गुणसागरमय सुन्दर चरित्र '**गाइ गाइ भव निधि नर तरहीं**।'

छं०—तन काम अनेक अनूप छबी। गुन गावत सिद्ध मुनींद्र कबी॥
जसु पावन रावन-नाग-महा। खगनाथ जथा करि कोप गहा॥ २॥

अर्थ—आपके शरीरमें अनेक कामदेवोंके समान, किन्तु अनुपम शोभा है। सिद्ध, मुनीश्वर और कवि आपके गुण गाते हैं। आपका यश पवित्र और दूसरोंको पवित्र करनेवाला है। रावणरूपी महासर्पको आपने गरुड़की तरह क्रोध करके पकड़ लिया॥ २॥

रा० प्र०—'तन काम अनेक अनूप छवी' इति। अनेक कामदेवोंके समान छबि कहनेमें बड़ी न्यूनता आती है, इनके तो 'अंग अंग पर वारिअहिं कोटि कोटि सत काम। १। २२०।' अतः 'तन काम अनेक छवी' ऐसा कहना मानो बिन्दुसे सागरका बोध कराना है, यथा 'राम काम सत कोटि सुभग तन। ७। ९१। ७।'''निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै। जिमि कोटिसत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै॥ ९२॥' अतः यह कहकर फिर 'अनूप' कहा।

नोट—१ 'जसु पावन'। यथा 'पावन गंग तरंगमाल से। १। ३२। १४।', 'रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं॥ उ० १३०।' इत्यादि। पुनः 'जसु पावन', से यहाँ युद्धचरित्र अभिप्रेत है। यह भी पावन है, यथा 'यह रावनारि चरित्र पावन रामपद रतिप्रद सदा।'''समर बिजय रघुबीरके चरित जे सुनहिं सुजान॥ १२०।' ऐसा पावन है कि एक-एक अक्षर इसका पठन करनेसे सर्वपापनाशक है। २ 'खगनाथ जथा' कहकर जनाया कि दुष्टदलन आपका स्वाभाविक धर्म है। (पु० रा० कु०)।

छं०—जनरंजन भंजन-सोक-भयं। गत क्रोध सदा प्रभु बोधमयं॥
अवतार उदार अपार गुनं। महिभार बिभंजन ज्ञानघनं॥ ३॥

अर्थ—आप भक्तोंको आनन्द देनेवाले, शोक और भयके नाशक हैं। हे प्रभो! आप सदा क्रोधरहित और ज्ञानस्वरूप हैं। आपका अवतार उदार (श्रेष्ठ एवं दानिशिरोमणि) है, अपार-गुणोंवाला है। आप भूभारके उतारनेवाले और ज्ञानके समूह हैं॥ ३॥

पं०—'जनरंजन' कहकर 'भंजन-सोक-भयं' इत्यादि कथनका भाव कि भक्तोंको प्रसन्न करके आप उनके शोक और भयको दूर करते हैं और दासोंसे अवज्ञा (अपराध) होनेपर भी आप क्षमा ही करते हैं; क्योंकि आप 'क्रोधरहित' हैं। [स्तुतिमें 'भंजन सोकभयं' कहकर 'गत क्रोध' कहनेका भाव यह है कि आपने अपने जनों देव मुनि आदिका शोक और भय दूर करनेमें क्रोधका नाट्य किया है। (यथा 'राम सेन निज पाछे घाली। चले सकोप महाबलसाली॥ ६९। ६।', 'तब प्रभु कोपि तीव्र सर लीन्हा। ७०। ४।', 'तब प्रभु परम क्रोध कहँ पावा॥ ९०। ८।', 'रघुबीर एकहि तीर कोपि निमेष महुँ माया हरी। १००।', 'कोपेउ समर श्रीराम। चले बिसिख निसित निकाम॥ ३। २०।' इत्यादि) पर वास्तवमें आप क्रोधरहित हैं क्योंकि आप बोधमय अर्थात्, ज्ञानस्वरूप हैं तथा 'प्रभु' हैं अर्थात् कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुमसमर्थ हैं] महिभार-विभंजनसे विषमता एवं पापका बोध होता है अतः 'ज्ञानघन' कहा। अर्थात् किसीको मारने या किसीको तारनेमें आप पाप-पुण्य कुछ ग्रहण नहीं करते।

रा० प्र०—शोकभय जन्ममरणादिका एवं गत पदार्थका। 'गतक्रोध' का भाव कि शरणागत होनेवालेके पास भी क्रोधादि नहीं जाने पाते। ज्ञानघन=ज्ञानसमूह एवं ज्ञानरूपी जलकी वर्षा करनेके लिये मेघरूप।—[बं० पा०—शोक पदार्थका]

टिप्पणी—१ 'अवतार उदार अपार गुनं' इति। (क)—भाव कि सब अवतारोंसे यह अवतार अधिक उदार अर्थात् श्रेष्ठ है। यथा—'अवताराः सुबहवो विष्णोर्लीलानुकारिणः। तेषां सहस्रसदृशो रामो ज्ञानमयः शिवः॥ ६८॥ —(अध्यात्मे † रावणप्रति कुम्भकर्णवचनम्)। अर्थात् मच्छ-कच्छादि लीला करनेवाले विष्णुके बहुत अवतार हैं। उन सहस्रों अवतारोंके समान अकल ज्ञानमय कल्याणरूप यह राम अवतार है।* श्रीरामजीका नाम रूप, लीला और धाम

* एक महानुभाव यों अर्थ करते हैं कि 'आपकी अनूप छविमें पगकर मस्त होकर सिद्ध मुनीश्वर कवि आपका यश गाते हैं'।

† वै०—यथा श्रुतिः 'सः श्रीरामः सवितारी सर्वेषामीश्वरः। यमेवेशः वृणुते सः पुमानस्तुयमवदैसाद्भूर्भुवः स्वः त्रिगुणमयो बभूव'।

सभी उदार हैं यह बालकाण्डमें दिखाया गया है। यथा 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा। १। १०।', 'आयसु दीन्ह न राम उदारा। ३३। ४।', 'कृपासिंधु मैं आउब देखन चरित उदार। ११४।' यही दिखाते हैं कि अवतार भी उदार (श्रेष्ठ) है। यथा 'हारहु और अवतार आपने राखी बेद बड़ाई। लै चिउरा निधि दई सुदामहि जद्यपि बालमिताई। कपि सबरी सुग्रीव बिभीषन को नहिं कियो अजाची॥ वि० १६३।' यही अवतार है जिसमें एक अवतारकी सब शक्ति छान ली गयी और उसने आपकी स्तुति की है।)

छं०—अज ब्यापकमेकमनादि सदा। करुनाकर राम नमामि मुदा॥
रघुबंसबिभूषन दूषन-हा। कृत भूप बिभीषन दीन रहा॥ ४॥

अर्थ—हे श्रीराम! हे अज (अजन्मा)! व्यापक, एक, अनादि, नित्य और करुणाकर (एवं सबमें रमण करनेवाले और जिनमें सब योगी आदि रमण करते हैं) राम! मैं आपको प्रसन्नतापूर्वक नमस्कार करता हूँ। आप रघुवंशके विशेष आभूषण हैं अर्थात् रघुवंशशिरोमणि हैं और दूषण राक्षसके मारनेवाले एवं दूषणोंके दूर करनेवाले हैं। विभीषण दीन (गरीब) था, उसको आपने राजा बना दिया॥ ४॥

नोट—'रघुबंस-बिभूषन दूषन हा' इति। पं०—रघुके वंशकी एवं रघुवंशियोंको विशेष शोभित करनेवाले और दोषोंके दूर करनेवाले हो।—[प्रभुने वंशमें जो अनुचित बातें थीं उनको दूर कर दिया। सब एक-पत्नीव्रत हो गये। दूसरा दोष कि एक ही पुत्र राज्य पाता था और भाइयोंको कुछ न मिलता था—'बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू'॥ इस दोषको भी आपने हटाया। पुनः, रघुवंशके राजा अनरण्यको रावणने मारा था तब उन्होंने शाप दिया था कि हमारे वंशकी अमुक पीढ़ीमें तेरा वध करनेवाला उत्पन्न होगा, उस शापको सत्य करके आपने कुलकी प्रतिष्ठाकी रक्षा की, उसे विभूषित किया।]

पु० रा० कु०—१ 'हे राम! हे करुणाकर!' इसी प्रकार आदिसे यहाँतक चार तुकोंमें जितने सम्बोधन हैं, उनका अन्वय इसी प्रकार है। २—अनादि=अनादिम्। यहाँ लघु-उच्चारणार्थ दिकारमें अनुस्वार नहीं कहा, यथा—'क्वचित्सबिन्दुः क्वचिदर्द्धबिन्दुरोकारयुक्तोऽपि क्वचिल्लघु स्यात्' इति वृत्तरत्नावली। ३—'रघुवंशविभूषण…' का भाव कि रघुवंशियोंकी यह रीति है कि दीनोंपर करुणा-अनुग्रह करके दुष्टोंका दलन करते हैं और आप तो रघुवंशभूषण हैं तब आप ऐसा क्यों न करते।

छं०—गुन-ग्यान-निधान अमान अजं। नित राम नमामि बिभुं बिरजं॥
भुजदंड प्रचंड प्रताप बलं। खलबृंद निकंद महाकुसलं॥ ५॥

अर्थ—गुण और ज्ञानके निधान (खजाना), अमान (मानरहित एवं परिमाणरहित), अज (जिनका कभी जन्म नहीं हुआ, स्वयं ही प्रकट होनेवाले, विभु और माया एवं विकारोंसे रहित, श्रीराम! मैं आपको नित्य नमस्कार करता हूँ। आपके भुजदण्डोंका बल और प्रताप प्रचण्ड (तीक्ष्ण, तेज, भयंकर) है। दुष्टसमूहके नाश करनेमें आप परम प्रवीण हैं॥५॥

टिप्पणी—१ (कृपा, अनुकम्पा, शील, सत्य आदि दिव्य गुणोंके सागर ऊपरके 'गुनसागर' शब्दसे कह आये। ज्ञानघन एवं बोधमयं भी कह आये। अब यहाँ) 'गुणज्ञाननिधान' से शास्त्रोंमें अव्याहत बुद्धिता दिखायी। पंजाबीजी लिखते हैं कि गुणनिधान कहा, क्योंकि त्रिगुणात्मक अनन्त सृष्टि उत्पन्न की है, यथा—'जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाय न दूजा'—(ब्रह्माकृतस्तुति बा०)। 'ज्ञाननिधान' से जनाया कि इसी सागरसे औरोंको ज्ञान मिला, अनेक तत्त्ववेत्ताओंकी उत्पत्ति हुई तथा आपके ज्ञानकी थाह किसीको नहीं मिली। 'अमान' अर्थात् सृष्टिके कर्ता और गुणज्ञाननिधान होनेपर भी निरभिमान हो (पं०)। पुनः, अमान=जिसकी तौल कोई नहीं कर सकता कि कितना है। वेदशारदाशेषादि-से वक्ता भी थक जाते हैं, पार नहीं पाते। अ० रा० के 'मानातीतो' 'लौकिकमानैरधिगम्यम्' 'अति मानं गतमान' के भाव 'मानरहित' शब्दसे जना दिये। अर्थात् आप देशकालादि परिमाणसे रहित, लौकिक प्रमाणसे जान जानेके योग्य नहीं प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे रहित तथा सर्वथा निर्मान हैं। विरज=रजोगुणरहित एवं विकाररहित। 'भुजदंडप्रचंड' से दिखाया कि आप सदा धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाये रहते हैं। तात्पर्य कि (दोनों राजाओंके मुख्य प्रयोजनके) साधन हैं। यथा—'सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम्।

मार्गणैरभ्यासयुक्तना बुद्धिमौर्वी धनुषि चातता ॥'—(रघुवंश)। अर्थात् सेना और छत्रचामरादि ये दोनों उनके अर्थके साधन हैं। मार्गोंकी अभ्यासयुक्त बुद्धि और धनुषके बीचमें प्रत्यञ्चा यही है।

२—'भुजदंड प्रचंड प्रताप बलं'। बल शरीरका और प्रताप वह कहा जाता है कि जिससे शत्रुका हृदय सुनकर ही काँप जाय, यथा—'कंपहिं लोकप जाकी त्रासा" (पं०)। (वाल्मीकिकी ब्रह्मस्तुतिके 'अमोघं बलवीर्यं ते अमोघस्ते पराक्रमः ॥ ३० ॥' इन शब्दोंका भाव इस चरणमें है। अर्थात् आपका बल-वीर्य और पराक्रम निष्फल जानेवाले नहीं हैं इसीसे आप 'खलवृन्द निकंद महाकुसलं' हैं) 'महाकुशल'=बड़े निपुण। भाव कि जिस भाँति खल मरें उसी भाँति मारते हो। यथा—'खरदूषन बिराध बध पंडित'। किसी अस्त्रशस्त्रसे इनकी मृत्यु न थी, उनको बिना अस्त्र-शस्त्रके ही मारा।

छं०—बिनु कारन दीनदयाल हितं। छबिधाम नमामि रमा सहितं॥
भवतारन कारन काज परं। मन संभव दारुन दोष हरं॥ ६॥

अर्थ—बिना कारण ही दीनोंपर दया करनेवाले और हितकारी, शोभाधाम, श्रीजानकीसहित आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आप भवपार करनेवाले, कारण-कार्य दोनोंसे परे और मनसे उत्पन्न होनेवाले कठिन दोषोंके हरनेवाले हैं॥ ६॥

नोट—१ 'बिनु कारन दीनदयाल हितं'। भाव कि सुर, नर, मुनि सभी **'स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती।'** और आप अकारण ही कृपा करते हैं। **'बैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥ देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी॥ ४४। ४-५॥'** यह अकारण कृपा है। अहल्याको जाकर पूछकर तारा यह कारणरहित कृपा है, यथा—**'अस प्रभु दीनबन्धु हरि कारनरहित दयाल। १। २११।'**

२ 'भवतारन', यथा—**'तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥** गीता १२। ७॥' अर्थात् जो मुझमें चित्तको लगाये रखते हैं उनको मैं मृत्युरूप संसारसागरसे शीघ्र ही भलीभाँति उद्धार करनेवाला होता हूँ।

पु० रा० कु०—'कारण (=माया) और कार्य (जगत्) इन दोनोंसे परे। **'मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया॥'** इससे कारणपरे निश्चित हुए। और, **'एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥'** इससे कार्यसे परे ठहरे। प्रमाणं यथा—**'कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते'** इति स्मृतिः।

करु०—'कारणकार्यपरं' यथा—**'यस्यांशेनैव ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा अपि जाता महाविष्णुर्यस्य दिव्यगुणाश्च स एव कार्यकारणयोः परः परमपुरुषो रामो दाशरथिर्बभूव।'** इति श्रुतिः।

वै०—'कारन काज' इति। कारणकार्य दोनों माया हैं, जिसने आत्मदृष्टि खींचकर ईश्वरांशको त्रिगुणके बन्धनमें डालकर जीवत्व किया सो कारणमाया है और जिसने इन्द्रियविषयोंके वशमें करके जीवको कामादिके वश कर रक्खा है वह कार्य माया है।

छंद—सर चाप मनोहर त्रोन धरं। जलजारुन लोचन भूप बरं॥
सुखमंदिर सुंदर श्रीरमनं। मद मार मुधा* ममता समनं॥ ७॥

अर्थ—सुन्दर धनुष, बाण और तरकश धारण करनेवाले, लाल कमलके समान नेत्रवाले, राजाओंमें श्रेष्ठ, सुखके मन्दिर, सुन्दर श्रीजीके पति, मद, काम और झूठे ममत्वके नाश करनेवाले॥ ७॥

टिप्पणी—१ 'भूपबरं'—राजराज कहकर स्तुति की है अतएव 'श्री' का अर्थ ऐश्वर्य अर्थात् त्रिपादविभूति लिया गया। श्रीरमणं, यथा—**'श्रियः कमलवासिन्या रमणो यं यतो हरिः। तस्माच्छ्रीराम इत्यस्य नाम सिद्धं पुरातनम्॥** (इतिपाद्मे)। अर्थात् ये कमलवासिनी श्रीके रमानेवाले हैं; इससे इनका रामनाम पुरातन सिद्ध है। ['श्री' श्रीजानकीजीका एक नाम है, यह पूर्व बताया जा चुका है। यथा—**'उभय बीच श्री सोहइ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥**

* मदा—(का०)। महाममता=स्त्री-पुत्रादिमें अत्यन्तासक्ति।

३ । ७ । ३ ।।', 'श्री सहित दिनकर बंस भूषन काम बहु छबि सोहई । ७ । १२ ।', 'बसहु हृदय श्री अनुज समेता । ३ । १३ । १० ।' अतः 'श्रीरमणं' का अर्थ श्रीजानकीजीमें रमण करनेवाले श्रीजानकीपति भी ठीक है ।]

छंद—**अनवद्य अखंड न गोचर* गो । सब रूप सदा सब होइ न सो ।।**
इति बेद बदंति न दंत कथा । रबि आतप भिन्न न भिन्न जथा ।। ८ ।।

शब्दार्थ—गो=इन्द्रिय । गोचर=इन्द्रियका विषय ।

अर्थ—आप अनिन्द्य (निन्दा या दोषोंसे रहित) हैं, परिपूर्ण (जिसके टुकड़े या विभाग न हो सके) हैं, इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं । सदा सर्वरूप (यह सारा जगत् आपका ही रूप है, सब आप ही) हैं, पर सब होते हुए भी आप वह सब नहीं हैं—ऐसा वेद कहते हैं, यह दन्तकथा (अर्थात् कपोल-कल्पित झूठी गढ़ी हुई बात) नहीं है । जैसे सूर्य और सूर्यका प्रकाश (घाम) अलग-अलग हैं और अलग नहीं भी हैं ।†

नोट—अनवद्य=अनिंद्य । अर्थात् आपके रूप, गुण, क्रिया, स्वभाव इत्यादिमें किसी प्रकारका दोषदूषण नहीं है । और निर्दोष, शुद्ध हैं । (करु०, वै०) । अखण्ड अर्थात् आकाशवत् । २—'**सबरूप सदा०**' अर्थात् आप सदा सर्वरूप हैं, आप सब हैं और जो सब है वह आप नहीं हैं ।

'सब रूप' इति । वाल्मी० रा० में ब्रह्माजीने जो श्लोक १३ से २५ तक कहा है कि 'तुम्हीं श्रीमन्नारायण हो, तुम्हीं एक शृंगधारी वराह हो । सिद्धरूप धर्म, विष्वक्सेन, चतुर्भुज, शार्ङ्गधन्वा, हृषीकेश, पुरुष, पुरुषोत्तम, अजित, विष्णु, कृष्ण, बृहद्बल, सेनानी, बुद्धि, सत्त्व, क्षमा, दम, उपेन्द्र, मधुसूदन, इन्द्रकर्मा, महेन्द्र, पद्मनाभ, रणान्तक, सहस्र-शृङ्गधारी, वेदोंके आत्मा, शतजिह्वा, त्रिलोकीके आदिकर्ता, स्वयंप्रभु, यज्ञ, वषट्कार, ओङ्कार, उत्कृष्टतप आदि सब तुम्हीं हो । समस्त प्राणियोंमें, ब्राह्मणों, गौओं, दिशाओं, आकाश, पर्वतों, वनोंमें तुम्हीं हो । सहस्रचरण, शतशीर्ष, सहस्रदृक् भी तुम्हीं हो । पृथ्वीके विनाशकालमें तुम्हीं जलमें शेषशायीरूप धारण करते हो । मैं तुम्हारा हृदय और सरस्वती जिह्वा है । देवता शरीरके रोम हैं । निमेषोंका खुलना और झपकना दिन और रात हैं । संसारमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें आप न हों ।' यह कहकर फिर उन्होंने कहा है कि 'जगत्सर्वं शरीरं ते' यह सारा जगत् आपका शरीर है । यह सब 'सब रूप सदा' से यहाँ जना दिया गया है । गोस्वामीजीने मन्दोदरीसे भी कहलाया है—'**बिस्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिस्वास । लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु** ॥ ६ । १४ ॥' श्रुतियाँ भी कहती हैं '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म** । छां० ३ । १४ । १ ।' यह सारा जगत् निश्चय ही ब्रह्म है । इसपर यह शङ्का होती है कि जगत् तो नश्वर है तब आप भी नाशवान् होंगे, इसपर कहते हैं कि 'सब होइ न सो' ।

'**सब होइ न सो**' इति । भाव कि यह सब आपका रूप होते हुए भी यह सब आप नहीं हैं । यह सब ब्रह्म नहीं है । जगत् जड़ है, मायाका कार्य है, आप इसको धारण करनेवाले हैं । यथा—'**त्वं धारयसि भूतानि वसुधां च सपर्वताम्** । २२ । ब्रह्मस्तुति वाल्मी० ।' इसीसे आपका 'सर्वरूप' कहा । यह पृथ्वी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्युलोक, आदित्य दिशाएँ, चन्द्रमा, नक्षत्र, तारागण, आकाश, तम, तेज, समस्त भूत, प्राण, वाणी, नेत्र, श्रोत्र, मन, त्वक्, विज्ञान, तथा वीर्य आदि सब आपके शरीर हैं, आप सबके भीतर रहकर सबका नियमन अन्तर्यामीरूपसे करते हैं, पर ये कोई आपको जानते नहीं हैं, इससे सिद्ध हुआ कि आप ये सब नहीं हैं पर हैं आप इन सबोंमें । ये सब दिखायी, सुनायी देने और ज्ञात होनेवाले तथा मननके विषय हैं पर आप केवल द्रष्टा, श्रोता इत्यादि है । यह जो याज्ञवल्क्यजीने आरुणिके प्रश्नके उत्तरमें बृहदारण्यक, अ० ३ ब्राह्मण ७ में कहा है यह सब यहाँ 'सब होइ न सो' से जना दिया है । इसीसे आगे कहते हैं कि 'इति बेद बदन्ति न दन्त कथा' । आपके निःश्वास तथा वाणी जो वेद हैं वही ऐसा कहते हैं ।

इसी प्रकार श० प० ब्रा० १४ । ६ । ६ । ५ । ३० में कहा है—'**यस्यात्मा शरीरं यं आत्मानमन्तरो** ।'

---

* अगोचर—(भा० दा०) । 'न गोचर गो'—(का०, रा० गु० द्वि०)

† 'यथानेकेषु कुम्भेषु रविरेकोऽपि दृश्यते । तथा सर्वेषु भूतेषु चिन्तनीयोऽस्म्यहं सदा ॥' इति ब्रह्माण्डपुराणे श्रीरामगीतायाम् ।

अर्थात् आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्माका उसमें रहकर नियमन करता है। इस प्रकार समस्त जड़ चेतन परमपुरुष श्रीरामजीके शरीररूपसे नियाम्य बतलाये गये हैं। और उन सबोंकी स्थिति और नियमन परम पुरुष प्रभुके अधीन सिद्ध हो जानेसे आप ही सबके शेषी (स्वामी) सिद्ध होते हैं। यह भाव 'सब होइ न सो' से जनाया। उपनिषदोंका यह सार लेकर ही गीतामें भगवान् '**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ९। ४॥ न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥**' अर्थात् अव्यक्तमूर्त्तिसे यह समूचा जगत् व्याप्त है। सारे भूत मुझमें स्थित हैं और मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। (अभिप्राय यह कि मैं इस जगत्को धारण करने और नियममें रखनेके लिये इसका स्वामी हूँ। इसलिये यह मुझसे व्याप्त है)। तथा वे भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं। मेरे ऐश्वर्य योगको तू देख। मैं भूतोंका धारण करनेवाला हूँ, पर भूतोंमें स्थित नहीं हूँ। मेरा मन भूतभावन है।'—इससे जनाया कि प्रभुका सबको धारण करना घटादि पात्रोंके जल आदि पदार्थोंको धारण करनेके समान है। तब कैसे है? उत्तर देते हैं कि केवल मेरे संकल्पसे ही उनका धारण हो रहा है। यह भगवान्का ऐश्वर्ययोग है कि वे भूतोंको धारण करनेवाले हैं पर उनमें स्थित नहीं। उनका मन भूतभावन नहीं है अर्थात् उनसे प्रभुका कुछ भी उपकार नहीं है।

☞ इस तरह '**सब रूप सदा सब होइ न सो**' से प्रभुका यह अद्भुत ऐश्वर्य योग जनाया।

पं० पा० जी कहते हैं कि स्थूल और सूक्ष्मके विचारसे ये दोनों बातें सत्य हैं। और रा० प्र० कारका मत है कि 'जथा अनेक वेष धरि नृत्य करै नट कोइ। सोइ सोइ भाव दिखावइ आपुन होइ न सोइ।' इसी तरह आप सदा सर्वरूप हैं पर आप वह हो नहीं जाते।

'**रवि आतप भिन्न**...' के भाव लोगोंने ये लिखे हैं—(क) सूर्यसे घाम है, घामसे सूर्य नहीं, वैसे ही यह जगत् आपसे है, जगत्से आप नहीं हैं। (पु० रा० कु०)। सूर्यका प्रकाश सूर्य नहीं है पर साथ ही वह सूर्यसे पृथक् भी नहीं है, वैसे ही आप जगत् हैं नहीं पर यह आपसे पृथक् भी नहीं है। (ख) सूर्यसे धूप भिन्न भासित होती है पर सूर्यसे भिन्न उसकी सत्ता है भी नहीं, वैसे ही जगत् भिन्न देख पड़ता है पर भिन्न है नहीं (पं०)।

छं०—कृतकृत्य बिभो सब बानर ए। निरखंति तवानन सादर ए*॥
धिग जीवन देवसरीर हरे। तव-भक्ति-बिना भव भूलि परे॥ ९॥

अर्थ—हे स्वामिन्! ये सब वानर कृतकृत्य (कृतार्थ, धन्य) हैं जो आदरपूर्वक ये आपका मुख देख रहे हैं (दर्शन कर रहे हैं)। हे हरे (भगवन्)! हमारे जीवन (अमरत्व) और देव (दिव्य) शरीरको धिक्कार है क्योंकि हम आपकी भक्तिके बिना संसारमें भूले पड़े हैं॥ ९॥

टिप्पणी—'कृतकृत्य...' इति। भाव कि इन्होंने वानर-तन पाकर भी समस्त करने योग्य कर्म किये हैं तभी तो समस्त साधनोंका फल आपका दर्शन करके कृतार्थ हो रहे हैं। यथा—'**यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति। निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते॥**'—अर्थात् जो रामजीको नहीं देखता और जिसको रामने नहीं देखा, वह सब लोकोंमें निन्दित है, उसकी आत्मा भी उसकी निन्दा करती है। पुनः, यथा—'**जड़ चेतन जग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥ ते सब भए परमपद जोगू।** अ० २१७।', '**सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥** २। २१०। ४।' भाव कि अब इन्हें कोई सुकर्म करना बाकी नहीं रह गया। यह कृतकृत्यता आगे कहते हैं।

छं०—अब दीनदयाल दया करिये। मति मोरि बिभेद करी हरिये॥
जेहि ते बिपरीत क्रिया करिए। दुख सो सुख मानि सुखी चरिए॥ १०॥

अर्थ—हे दीनदयाल! अब दया कीजिये, मेरी-बुद्धिको हर लीजिये, जिससे उलटे कर्म करता हूँ और दुःखको सुख मानकर आनन्दसे विचरता हूँ॥ १०॥

* पाठान्तर—'जे'।

नोट—१ **'मति मोरि बिभेदकरी'** इति। (क) यहाँ 'मोरि' पद सब देवताओंका उपलक्षक है (पं०)। (ख) 'बिभेदकरी' अर्थात् नानात्व देखनेवाली, भेदबुद्धि, जगत्‌को आपसे पृथक् देखनेवाली—(बं० पा०)। 'बिभेदकरी मति' इति। तुलसीरचनावली और विशेषतः मानस और विनयके अनेकानेक स्थलोंसे स्पष्टरूपसे सिद्ध है कि 'जीव और ब्रह्मका ऐक्य' यह सिद्धान्त गोस्वामीजीका नहीं है। वे जीवको अनेक, नित्य, ब्रह्मसे भिन्न और मायाके वशमें हो जाने-वाला इत्यादि मानते हैं। अतः यहाँ भेद-बुद्धिसे ब्रह्म-जीवका ऐक्य न मानना अभिप्रेत नहीं। प्रत्युत यह अपना है यह पराया, यह मेरा है वह तेरा, मैं तैं, मेरा तेरा, इत्यादिवाली जो बुद्धि है, वही भेदबुद्धि है। यथा **'गई न निज पर बुद्धि रहे न राम लौ लाये'** (वि०)। जीव-जीवमें वैषम्य देखना, सबमें निज प्रभुको ही एक समान रमण करते हुए न देखना, राममय वा सियाराममय न देखना, किसीको शत्रु किसीको मित्र मानना, अपनेसहित सबको भगवद्विभूति न देखना, इत्यादि बुद्धि ही भेदबुद्धि है। यही बात विनयमें कही है। यथा—**तुलसिदास प्रभु हरहु भेदमति ॥ ७ ॥'** (विनय-पीयूष देखिये)।

२—**'बिपरीत क्रिया करिये'**। यह भेद-बुद्धिका कार्य दिखाया कि अपनेको बन्धनमें डालनेवाले कर्म कराती है। वह क्या है सो बताते हैं कि संसार दुःखरूप है, इसमें पड़कर बारंबार जन्म-मरण होता है, इस संसृतिक्लेशको सुखरूप मानकर सुखपूर्वक उसमें विहार कर रहे हैं।—(बं० पा०)।

वै०—भाव कि दुःखमें दुःख और सुखमें सुख यह जो भेद है इससे विपरीत कर दीजिये जिसमें शत्रु-मित्र-भाव छोड़ सबसे स्नेह रक्खे हुए दुःख पड़नेपर भी सुख मानकर सुखी रहूँ।

टिप्पणी—**'जेहि ते बिपरीत क्रिया...'** इति। सत्यको त्यागकर असत्‌को ग्रहण करते हैं। वह विपरीतता कहते हैं कि दुःखको सुख मानकर सुखी विचरते हैं। सृष्टिरचनारूप कर्म दुःखद है, तथापि ब्रह्माने उसीके निमित्त बारंबार बड़ी तपस्या की। यह वृत्तान्त भागवतमें स्पष्ट है।

छं०—खलखंडन मंडन रम्य छमा। पदपंकज सेवित संभु उमा॥
नृपनायक दे बरदानमिदं। चरनांबुज-प्रेम सदा सुभदं॥११॥

अर्थ—आप दुष्टोंके टुकड़े-टुकड़े कर डालनेवाले और पृथ्वीके सुन्दर भूषण हैं, आपके चरणकमल श्रीशिवपार्वतीजीसे सेवित हैं। हे राजाओंके राजा! मुझे यह वरदान दीजिये कि आपके चरणकमलोंमें मेरा सदा मङ्गल कल्याणका देनेवाला प्रेम हो॥ ११॥

रा० प्र०—खलखंडन और पृथ्वीको रमणीक और भूषित करनेवाले हो। भाव कि दुष्टोंके भारसे पृथ्वी अभूषित और रम्यसे प्रतिकूल कुछ और ही रीतिकी हो गयी थी, अब भूभार हरनेसे रमणीय है।

नोट—'नृपनायक' (राजराजेश्वर) सम्बोधन दिया; क्योंकि सुग्रीवको राजा बनाया था और अभी-अभी विभीषणको राजा किया है। आप भी वर माँगनेको हैं, राजा दानी होते ही हैं, अतः नृपनायक कहकर वर माँगा।

पु० रा० कु०—**'मंडन रम्य छमा'** इति। रम्य अर्थात् अत्यन्त मनोहर हैं, पुनः क्षमारूप हैं, यथा—**'क्षमया पृथ्वी समा'**—(मूलरामायणे)।

प० प० प्र०—यह स्तुति सत्रहवीं स्तुति है और सत्रहवाँ नक्षत्र अनुराधा है। अतः यह स्तुति अनुराधा नक्षत्र है। और साम्य इस प्रकार है—(क) 'नामसाम्य' इति। राधा=विशाखा (इत्यमरः)। अनुराधा=विशाखाके पश्चात् आनेवाला। यह स्तुति भी विशाखाके पश्चात् हुई है; अतः अनुराधा नाम सार्थक है। (ख) **'तारा संख्या साम्य'** इति। अनुराधामें चार तारे हैं। स्तुतिमें नाम, रूप, लीला और धामका वर्णन ही चार तारे हैं। (ग) 'आकार साम्य'—नक्षत्रका आकार भक्तबलिके समान है। इस बलिमें चावल, गुलाल, उड़द, पलीता एकके ऊपर एक रक्खे जाते हैं। वैसे ही इस स्तुतिके प्रत्येक छन्दमें रूप, नाम, धामादिका एक साथ वर्णन है। (घ) अनुराधाका देवता मित्र है। मित्र=सूर्य। इस स्तुतिमें **'रबि आतप भिन्न न भिन्न जथा'** से विश्व और श्रीरामजीके स्वरूपका बोध कराया है। (ङ) फलश्रुतिसाम्य—**'मेटत कठिन कुअंक भाल के'** यह फलश्रुति है और यह स्तुति भी भालके कुअंक लिखनेवालेने ही की है। कोई भी जीव (ब्रह्मदेव स्वयं भी) उस कुअंकको मिटा नहीं सकता। पर श्रीरामजीकी कृपासे विधिलिखित अंक भी मिट जाते हैं।

ब्रह्मदेवको भी कहना पड़ा 'धिग् जीवन देवसरीर हरे'। भालके कुअंकोंका फल शोक और भय आदि हैं और श्रीरामजी 'भंजन शोक भयं' हैं यह स्वयं विधिहीने यहाँ कहा है। अतः इस स्तुतिके प्रेमसे पठनसे **'मेटत कठिन कुअंक भाल के'** का फल मिलेगा।

दोहा—विनय कीन्हि चतुरानन* प्रेम पुलक अति गात।
सोभासिंधु विलोकतां† लोचन नहीं अघात॥११०॥

अर्थ—ब्रह्माजीने स्तुति की। उनका शरीर प्रेमसे अत्यन्त रोमाञ्चित हो रहा है, वे छविसमुद्र रघुनाथजीका दर्शन कर रहे हैं, नेत्र दर्शनसे तृप्त नहीं होते॥ ११०॥

नोट—'चतुरानन' पदसे जनाया कि प्रेमके मारे चारों मुखोंसे स्तुति की और आठों नेत्रोंसे दर्शन कर रहे हैं तब भी तृप्त नहीं होते। यथा—**'आठइ नयन जानि पछिताने'**।

तेहि अवसर दसरथ तहँ आए। तनय विलोकि नयन जल छाए॥ १॥
अनुज सहित प्रभु बंदन कीन्हा‡। आसिरबाद पिता तब दीन्हा॥ २॥

अर्थ—उसी समय श्रीदशरथजी वहाँ आये। पुत्रको देख उनके नेत्रोंमें जल भर आया॥ १॥ भाई समेत प्रभुने उनको प्रणाम किया, तब पिता दशरथजीने उनको आशीर्वाद दिया॥ २॥

पं० रा० व० श०—नैमित्य जीवोंका यह हाल है कि शरीर छूटनेपर उन्हें दूसरा शरीर मिलता है जो सूक्ष्म होता है पर दशरथजीका तो नित्य स्वरूप है इसलिये स्वर्गको जानेपर भी वे वैसे ही बने हैं।

नोट—१ (क) **'तेहि अवसर'** अर्थात् ब्रह्माजी जब स्तुति कर चुके तब। **'तहँ'** अर्थात् जहाँ सबने आकर स्तुति की थी वहाँ। (ख) **'तनय विलोकि'** पदसे जनाया कि जीवित समय जो वात्सल्यभाव, जो सुत-विषयक प्रेम प्रभुमें था वह स्वर्गवास होनेपर भी ज्यों-का-त्यों दृढ़ बना है। प्रभुको देखते ही वही भाव पुनः प्रकट हो आया। इस कथनका अभिप्राय यह है कि ऐसा गाढ़ वात्सल्य आपका है कि ब्रह्मादिको ईश्वर-भावसे स्तुति करते देखकर भी आपका भाव किंचित् शिथिल न हुआ। तभी तो वाल्मी० रा० में उन्होंने कहा है कि देवर्षि जिसे बड़ी वस्तु समझते हैं वह स्वर्ग भी मुझे तुम्हारे सहवासके समान सुखदायी नहीं प्रतीत होता। यथा—**'न मे स्वर्गो बहुमतः सम्मानश्च सुरर्षिभिः। त्वया राम विहीनस्य सत्यं प्रतिशृणोमि ते॥** वाल्मी० ११९। १३॥' (ग) **'नयन जल छाए'** से जनाया कि वनवासके वरदानादिका प्रसंग दृष्टिके आगे नाचने लगा, जैसा वाल्मी० ११९। १४ में कहा है। यथा—**'कैकेय्या यानि चोक्तानि वाक्यानि वदतां वर। तव प्रव्राजनार्थानि स्थितानि हृदये मम॥'** अर्थात् हे वचन बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ! तुमको वनवास देनेके लिये कैकेयीने जो-जो बातें मुझसे कही थीं, वे अभीतक मेरे मनमें ज्यों-की-त्यों बनी हुई हैं। उसे स्मरण करते ही प्रेमाश्रुसे नेत्र भर गये। वाल्मी० रामायणमें लिखा है कि दशरथजीने उन्हें गोदमें बिठाकर तब उनसे बातें कीं। **'ततोऽपश्यद्विमानस्थं रामो दशरथं पुरः। ननाम शिरसा पादौ मुदा भक्त्या सहानुजः॥** अ० रा० १३। ३५॥' **'प्राणैः प्रियतरं दृष्ट्वा पुत्रं दशरथस्तदा॥ ११॥ आरोप्याङ्के महाबाहुर्वरासनगतः प्रभुः। बाहुभ्यां संपरिष्वज्य ततो वाक्यं समाददे॥** वाल्मी० ११९। १२॥'

२ (क) **'अनुज सहित'** प्रणाम करना इससे कहा कि पूर्व लक्ष्मणजीने सुमन्त्रजीसे पिताके सम्बन्धमें कटुवचन कहे थे इससे कोई यह न समझ ले कि उन्होंने प्रणाम न किया होगा। पुनः, जनाया कि लक्ष्मणजी भी पितृभक्त हैं। उस समय श्रीरामद्रोही समझकर उन्होंने आवेशमें कटु वचन कह डाले थे। दशरथजीने दोनोंको आशीर्वाद दिया। यथा—**'भ्रातृभिः सहराज्यस्थो दीर्घमायुरवाप्नुहि॥ २३॥ ... धर्मं प्राप्स्यसि धर्मज्ञ यशश्च विपुलं भुवि।** ... २७। (वाल्मी० ११९)।' अर्थात् राज्य पाकर भाइयोंके साथ दीर्घायु हो। (रामजीको आशीर्वाद देकर तब लक्ष्मणजीसे बोले कि) धर्मज्ञ! तुम धर्म और पृथ्वीमें विपुल यश पाओगे। गोदमें बैठानेसे शङ्का हो सकती है कि जीव तो स्वर्गमें अंगुष्ठ-

* विनय कीन्हि विधि भाँति बहु। † बदन विलोकत राम कर—(का०, मा०, म०)। मा० म०—'विधि' कहकर जनाया कि चारों मुखोंसे विधिपूर्वक स्तुति की जिसमें अनेक प्रकारसे ज्ञानादि प्रतिपादित हैं। ‡ सहित अनुज प्रनामु प्रभु कीन्हा (का०)।

बराबर सूक्ष्म शरीरसे रहता है जो उसे पुण्यभोगके लिये मिलता है तब गोदमें बिठाना कैसे सम्भव है ? समाधान यह है कि श्रीदशरथजी नित्य-परिकर हैं, स्वर्ग प्राप्त होनेपर वहाँ उनको दिव्य शरीर प्राप्त हुआ न कि जीवोंका सूक्ष्म शरीर। (ख) **'आसिरबाद पिता तब दीन्हा'** इति। स्वामिभावसे एवं ऐश्वर्य जाननेपर आशीर्वाद अयोग्य था इसीसे **'तनय बिलोकि'** और 'पिता' पद दिये। पिता पुत्रको आशीर्वाद देता ही है।

तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ। जीत्यौं अजय निसाचर राऊ॥ ३॥
सुनि सुत बचन प्रीति अति बाढ़ी। नयन सलिल रोमावलि ठाढ़ी॥ ४॥

अर्थ—(प्रभु बोले कि) हे तात! यह सब आपके पुण्योंका प्रभाव है कि मैंने अजय (जो किसीसे न जीता जाने योग्य था उस) राक्षसराजको जीता॥ ३॥ पुत्रके वचन सुनकर प्रीति अत्यन्त बढ़ गयी, नेत्र सजल हो गये और रोएँ खड़े हो गये॥ ४॥

नोट—१ (क) **'सकल तव पुन्य प्रभाऊ'** कहकर दशरथजीका शोक निवृत्त किया। भाव यह कि जो हमारा वियोग-दुःख सहकर अपने सत्यव्रतका पालन किया उसीकी सहायतासे हमने अजित रावणको मारा (पां०)। (ख) **'तव पुन्य प्रभाऊ।'''** कहनेसे पाया गया कि श्रीदशरथजीने इस सम्बन्धमें कुछ कहा था। क्या कहा था यह वाल्मी० रा० में है। उन्होंने कहा था कि रावणको मारकर तुमने देवताओंको संतुष्ट किया और संसारमें बड़ा भारी यश प्राप्त किया। यथा—'रावणं च रणे हत्वा देवास्ते परितोषिताः॥ २२॥ कृतं कर्म यशः श्लाघ्यं प्राप्तं ते शत्रुसूदन। सर्ग ११९।' अतएव श्रीरघुनाथजी उत्तरमें यहाँ कहते हैं कि यह सब आपके पुण्य-प्रभावसे हुआ।

नोट—१ प्रभुकी ओरसे भी अपने भावका निर्वाह देख, उनके सरल प्रेमभरे वचन सुननेसे प्रेम अब बहुत उमड़ चला। २—**'अति बाढ़ी।'** अर्थात् प्रेम पहले हृदयमें था ही, पुत्रको देख प्रेम-प्रवाह वहाँसे बढ़ा और चलकर नेत्रोंमें प्रकट हुआ, यथा—**'तनय बिलोकि नयन जल छाए'**, 'अब बहुत ही बढ़ आया तब नेत्र सजल तो हैं ही, सब रोएँ भी खड़े हो गये। रोमावलिद्वारा वह प्रेम शरीरसे बाहर निकल आया।

वं० पा०—**'नयन सलिल'**। भाव कि मानो वात्सल्यरसके अङ्कुर (रोमावलीरूपसे) जम आये हैं, उन्हें नयन जलसे सींच रहे हैं। (मिलान कीजिये—**'सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरत ब्याकुल भये। लोचन सरोरुह स्त्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नये॥** अ० १७६।')

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितै पितहि दीन्हेउ दृढ़ ग्याना॥ ५॥
ताते उमा मोच्छ नहिं पायो।* दसरथ भेद भगति मन लायो॥ ६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीने प्रथमका प्रेम अनुमान कर, पिताकी ओर देखकर उनको पक्का अटल ज्ञान दिया॥ ५॥ शिवजी कहते हैं कि हे उमा! दशरथजीने अपना मन भेद-भक्तिमें लगाया इसीसे मोक्ष नहीं पाया॥ ६॥

नोट—१ पं० रामकुमारजीका मत है कि 'प्रथम प्रेम' वह है जो मनुशरीरमें उनका प्रेम था और जो उन्होंने वरदानमें माँगा था, यथा—**'सुत बिषयक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहइ किन कोऊ'॥** पाँड़ेजीका मत है कि प्रथम प्रेम वह है जिससे श्रीरामजीका वियोग होते ही उन्होंने शरीर छोड़ दिया था। श्रीरघुनाथजीने उसीका अनुमान कर प्रेमको घटाकर ज्ञानको दृढ़ कराया अर्थात् अपनेको परमेश्वर जनाया। यही मत प्र० स्वामीजीका भी है। और, पं० शिवलालपाठकजीका मत है कि श्रीरघुनाथजीने श्रीदशरथमहाराजकी तीन वृत्तियोंको देखा अर्थात् नैमिषारण्यमें जब मनुरूपसे उन्होंने वर माँगा था उस समयका उनका प्रेम देखा, फिर अवधभुआल होनेपर जो उनकी वृत्ति थी उसको देखा और स्वर्गसे लङ्कामें आये इस वृत्तिको देखा। नैमिषारण्यमें उन्हें परस्वरूपका ज्ञान था, इससे उन्होंने प्रभुको दण्ड-प्रणाम किया और वर माँगा। पुनः जब वे दशरथ हुए तब वरदानानुसार वह ज्ञान ढक गया और वे माधुर्य प्रेमवश प्रभुको पुत्र मानकर गोद लेने और प्यार करने लगे। श्रीराम-विरहमें शरीरको छोड़कर जब वे

* पावा, लावा—(का०, मा० म०)।

इन्द्रलोकको गये तब भी अयोध्यावाला प्रेम बना रहा, इसीसे वे लङ्कामें आकर मिले और दोनों भाइयोंके प्रणाम करनेपर उसी भावसे इन्होंने आशीर्वाद दिया। तीनों जगहकी वृत्तिको देख प्रभुने ज्ञानोपदेश देकर परस्वरूपका बोध कराया।

टिप्पणी—'चितै पितहि दीन्हेउ दृढ़ ज्ञाना' इति। (क) अपनेमें सुत-स्नेह-निवारणार्थ एवं सच्चिदानन्द-स्वरूप-ज्ञानार्थ दृढ़ ज्ञान दिया। यथा 'इदानीं च विजानामि यथा सौम्य सुरेश्वरैः। वधार्थं रावणस्येह पिहितं पुरुषोत्तमम्। वाल्मी० ११९। १७।' अर्थात् हमने अब आपको जाना। आप देवताओंको भी अज्ञात हैं। रावणके वधके लिये आप छिपे हुए पुरुषोत्तम हैं। (इतना ही नहीं उन्होंने उसी समय लक्ष्मणजीसे कहा है कि 'रामं शुश्रूष भद्रं ते सुमित्रानन्दवर्धन। रामः सर्वस्य लोकस्य शुभेष्वभिरतः सदा ॥ २९ ॥ एते सेन्द्रास्त्रयो लोकाः सिद्धाश्च परमर्षयः। अभिगम्य महात्मानमर्चन्ति पुरुषोत्तमम् ॥ ३० ॥ एतत्तदुक्तमव्यक्तमक्षरं ब्रह्मनिर्मितम्। देवानां हृदयं सौम्य गुह्यं रामः परन्तपः ॥ ३१ ॥ वाल्मी० १२२ च० सं०।' हे सुमित्रानन्दवर्धन! श्रीरामजी समस्त लोकोंका हित करनेमें सदा तत्पर रहते हैं; अतएव इनकी सेवा-शुश्रूषा तुम सदा करते रहना, इससे तुम्हारा कल्याण होगा। देखो, ये इन्द्रसहित तीनों लोक, सिद्ध और महर्षि सभी श्रीरामचन्द्रजीकी वन्दना और पूजा करते हैं, क्योंकि ये पुरुषोत्तम हैं। वेदोंमें जिस अव्यय अक्षय्य ब्रह्मको देवताओंका अन्तर्यामी और गुह्य-तत्त्व बताया गया है, शत्रुविनाशी श्रीराम वही हैं।—इससे स्पष्ट है कि उन्हें श्रीरामके ब्रह्म होनेका दृढ़ ज्ञान हो गया। आगे इस ऐश्वर्य ज्ञानसहित भक्ति करेंगे। (ख) दृढ़ निश्चल ज्ञान दिया जिससे पुनः मोह न हो। तात्पर्य कि महाराजको कभी-कभी ज्ञान हो जाता था पर तुरंत ही फिर मोह हो जाता था। यथा—'मोरे गृह आवा प्रभु सोई' इत्यादि। सच्चिदानन्द-स्वरूप-ज्ञानपूर्वक भक्तिसे मोह नहीं होता, यथा—'मायासंभव भ्रम सब अब न व्यापिहहिं तोहि। जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि। उ० ८५।' ज्ञान होनेपर सुतभाव नहीं रहता। यथा 'मयाप्येतन्न वक्तव्यं रामस्याक्लिष्टकर्मणः। यथा एतान्न जानन्ति परं तत्त्वं महात्मनः। विदितं परमेतत्त्वं पुत्रभावं व्रजिष्यति।' (सत्योपाख्याने वशिष्ठवचनात्)। अर्थात् अक्लिष्टकर्म रामका प्रभाव हमारे कहने योग्य भी नहीं है; क्योंकि ये सब रामजीके पर तत्त्वको नहीं जानते। यदि ये परम-तत्त्वको जान जायँगे तो इन माताओंका पुत्रभाव न रह जायगा। वा, प्रेम अनुमानकर ज्ञान दिया। भाव कि जो भक्तिमान् है वही ज्ञानका अधिकारी होता है यथा—'ब्रह्मज्ञानरत मुनि बिज्ञानी। मोहि परम अधिकारी जानी। लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा। उ०।

नोट—दृढ़ ज्ञान इसलिये दिया कि साधारण ज्ञानसे भी मोह हो जाता है। ज्ञानके अभावमें, पुत्रादिके वियोगमें शोकादि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अतएव दृढ़ ज्ञान दिया जिसमें हमारे वियोगसे ये कहीं फिर दिव्य शरीर भी न त्याग दें (पं० पा०)। प्रेमका किंचित् अवरोध करनेको प्रभुने ज्ञान दिया जिसमें ऐश्वर्यका बोध प्राप्त कर ये कभी भी वियोग न मानें। ज्ञान होनेपर वियोगका विचार ही असम्भव है। ऐसा न करते तो संभव था कि दशरथजी लौटकर जाते ही नहीं, जिससे लीलाकी मर्यादाके निर्वाहमें विघ्न पड़ता (पं० रा० व० श०)। (ख) 'चितै' से जनाया कि दृष्टिपातद्वारा यह कृपा की। मानसमें चार प्रकारसे ज्ञानका देना पाया जाता है। दृष्टिपात, वचन, स्पर्श और संकल्पसे। विशेष कि० ११ (३) 'दीन्ह ज्ञान हरि लीन्ही माया' देखिए।

'दसरथ भेद भगति मन लायो'

पु० रा० कु०—'भेद भगति०'। भेदपूर्वक भक्ति उपासना है। उपासनामें मन लगाया—[उपासनामें उपास्य-उपासक-भेद होता है, उसमें उपासक अपनेको उपास्यसे पृथक् मानता है, बिना इस भेदभावके उपासना हो नहीं सकती। कैवल्यमोक्षमें भिन्नता नहीं रहती।]—इसीलिये मोक्ष नहीं हुआ। यथा—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति इति श्रुतिः'।

पं० पा०—अर्थात् मन लगाकर दृढ़ भेदबुद्धिकी उपासना की और वेदान्तियोंका सिद्धान्त है कि बिना अभेद उपासनाके मुक्ति नहीं होती; तब परम विज्ञ राजा दशरथजीने ऐसी उपासना क्यों न की? पार्वतीजीकी इस शङ्काके निवारणार्थ शिवजी उत्तर देते हैं कि सगुणोपासक (वात्सल्यादि भावोंके उपासक) मोक्ष नहीं लेते। आ० ११ (२१) देखो।

करु०—कोई-कोई ज्ञानको अभेदभक्ति कहते हैं पर यहाँ उससे प्रयोजन नहीं है। भक्ति दो प्रकारकी है—एक अभेद भक्ति, दूसरी भेद-भक्ति। शान्तिरसमें आरूढ़ होना शृङ्गाररसारूढ़ हो बराबर रसभाव भोग्य चाहैं, सख्यरसारूढ़ हो

सारूप्य होकर बराबर रसक्रीड़ा भोग्य चाहना, और दास्यरसारूढ़ हो अलंकारादि होकर सेवा-भाव चाहना—ये चारों अभेद-भक्तिद्वारा परमपद चाहते हैं। और दास्यरस-वात्सल्य-रसारूढ़ होकर परमपद चाहना भेदभक्ति है। इसमें भी दो भेद हैं—एक सकाम दूसरी निष्काम। जो निष्काम हो दर्शन चाहते और रामरजायमें सदा आरूढ़ होते हैं उन्हींमें दशरथजी हैं। सब लीला देखकर प्रभुके साथ ये परमधामको जायँगे।

श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि दशरथजी तो प्रेमभक्तिमें पगे हुए थे, प्रभुने उन्हें दृढ़ ज्ञान दिया। इससे शङ्का होती है कि क्या ज्ञान उससे अधिक उत्कृष्ट है? इसीके समाधानमें शिवजी कहते हैं **'ताते उमा मोक्ष'**' भाव यह है कि श्रीदशरथजी भेद-भक्तिमें लीन थे और श्रीरामचन्द्रजीने दृढ़ ज्ञान देकर मोक्ष देना चाहा, परंतु श्रीदशरथजीने उसे नहीं लिया तब श्रीरामचन्द्रजीने सुखधाम भक्ति प्रदान की, क्योंकि यदि ज्ञानको स्वीकार करते तो मोक्ष पाते जो ज्ञानका फल है। वे तो **'हरषि गए सुरधाम'** जहाँसे प्रभुके साथ परधामको जायँगे। (अ० दी० च०)।

वि० त्रि०—इतना सब हो गया, पर महाराज दशरथको अब भी श्रीरामजीपर पुत्र-बुद्धि है (यथा **'तनय बिलोकि नयन जल छाये'**) अतः अनुजके सहित सरकारने वन्दना की, पिताने आशीर्वाद दिया। सरकारने देखा कि मेरा दिया हुआ वरदान इन्हें अज्ञानमें डाले हुए है, मेरे स्वरूपको ये नहीं जान पा रहे हैं (यथा **'सुत बिषइक तव पद रति होऊ। मोहि बरु मूढ़ कहै किन कोऊ'**) अतः पश्यन्तीद्वारा उन्हें दृढ़ ज्ञान दिया। पुत्र समझकर उपासना करना यहाँ भेद-भक्ति है, अतः उसे ज्ञानद्वारा हटाया। अतः मोक्षकी उपस्थिति हुई, पर सगुण उपासकको मुमुक्षा नहीं होती, वे ज्ञान प्राप्तिपर भी भक्ति ही चाहते हैं, यथा—**पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे। तादृशी यदि भक्तिः स्यात् सा तु मुक्तिः शताधिका।'** परमार्थ तो अद्वैत हो और भजनके लिये द्वैत हो, यदि ऐसी भक्ति हो तो वह सौ मोक्षसे भी अधिक है, यह सिद्धान्त तो अद्वैतवादियोंका भी है। अतः ज्ञान हो जानेपर महाराजदशरथने भक्ति ही स्वीकार की, जैसा कि उनके प्रणाम करनेसे स्पष्ट है। जाते समय सरकारने वन्दना नहीं की, क्योंकि दशरथजी-को अब पुत्र-बुद्धि नहीं है।

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं॥ ७॥
बार बार करि प्रभुहि प्रनामा। दसरथ हरषि गये सुरधामा॥ ८॥

अर्थ—सगुणरूपके उपासक मोक्ष नहीं लेते, उनको श्रीरामजी अपनी खास-भक्ति देते हैं॥ ७॥ प्रभुको बारंबार प्रणामकर प्रसन्न हो दशरथजी देवलोकको गये॥ ८॥

टिप्पणी—१ **'सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं'**। जिसका चित्त भगवान्में अनुराग कर चुका है, उसने स्वर्गको भी तुच्छ समझ लिया है और वह मुक्तिका भी अपमान कर देता है। यथा भगवद्गुणदर्पणे—**'अनुरक्तिकृतं चित्तं यस्य श्रीरामपादयोः। तेन तुच्छीकृतः स्वर्गो मुक्तिरप्यवमानिता', 'राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं। जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥ तथा मोक्षसुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरिभगति बिहाई॥ अस बिचारि हरिभगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लोभाने॥** उ० ११९। ४-७।' [☞ स्मरण रहे कि यहाँ 'मोच्छ' से कैवल्य मुक्ति अभिप्रेत है, जिसमें जीव भगवान्में लीन हो जाता है। यथा—**'ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ॥** ३। ९। २।', उसकी पृथक् सत्ता, स्थिति इस्ती रह नहीं जाती। सगुणोपासक भी मुक्त हो जाता है, उसकी मुक्ति भवबन्धनसे छूटना मात्र है, वह परधामको जाता है, वहाँ भी कैङ्कर्यपरायण ही रहता है।]

प्रश्न—सगुणोपासक मोक्ष क्यों नहीं लेते? उत्तर—(१) अगम जानकर, यथा—**'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥ करत कष्ट बहु पावै कोऊ। भगतिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥ कहहु भगतिपथ कवन प्रयासा। जोग न जप तप व्रत उपवासा॥** उ० ४५ (३)-४६ (१)।'

[पंडितजीने जो उद्धरण दिये हैं उनसे तो यह कारण नहीं सिद्ध होता। उनसे तो स्पष्ट है कि कठिन साधन करके भी जो ज्ञान उत्पन्न हुआ वह भी भक्तिके आगे तुच्छ है, क्योंकि भक्तिहीन ज्ञानी भी प्रभुको प्रिय नहीं है। फिर भक्ति होनेपर भी यदि भक्तकी इच्छा कैवल्य मोक्षकी हो तो वह भी भक्ति करनेसे ही बिना कष्टके प्राप्त हो जाती है पर भक्त तो

उस सौन्दर्यनिवास दिव्यमूर्तिका नित्य दर्शन: संग-सुख ही चाहता है। वह कैवल्य-मोक्षपर लात मारता है। ☞ भक्त किसी प्रकारकी मुक्ति नहीं चाहता और न वह ज्ञानसे मिलनेवाला कैवल्यमोक्ष चाहता है। वह तो यही चाहता है कि मेरा तो सेवक-स्वामिभाव कभी न छूटे, वह भगवान्‌के देनेपर भी मोक्षादिको नहीं लेता, वह तो प्रभुको ही चाहता है। यथा 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥ भा० ३। २९। १३।'; 'न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत्॥ भा० ११। १४। १४।' श्रीहनुमान्‌जीने भी अन्यत्र यही कहा है कि मैं भवबन्धन छुड़ानेवाली उस मुक्तिको कदापि नहीं चाहता जिसमें स्वामि-सेवक-भावका विलोप हो जाता है। अरण्यकाण्डमें 'प्रथमहि भेद भगति बर कयऊ। ९। २।' में लिखा जा चुका है कि प्रभुके दर्शनसे पशु-पक्षियोंको ज्ञान उत्पन्न हो जानेपर वे भक्ति ही माँगते थे तब भला शरभंगजी विशुद्ध ज्ञानको पाकर निर्गुणवादियोंकी मुक्ति कैसे चाहते! और दशरथजीका मन सगुणभक्तिरसमें रँगा हुआ है तब भला वे उस कैवल्य मुक्तिको कैसे स्वीकार करते? यथा 'जिन्हके मन मगन भए हैं रस सगुन तिन्हके लेखे अगुन मुकुति कवनि। गी० ३। ५।' विशेष ३। ९ (१) और ३। ११ (१७-२१) देखिये।]

(२) दूसरा हेतु यह है कि केवल ज्ञानीको माया क्षुभित कर देती है, भक्तको क्षुब्ध नहीं कर सकती। यथा—'जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह मन करई॥ उ० ५९।' 'प्रभुमाया बलवंत भवानी। जेहि न मोह कवन अस ज्ञानी॥', 'रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसै जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥ अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुखखानी॥ ७। ११६। ६-८।'

(३) ब्रह्मसुखसे भक्तिसुख अधिक है इसीसे राजाने भक्ति की। यथा—'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिवसुखद। अवधपुरी नरनारि तेहि सुख महँ संतत मगन॥ सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति।'

वह समस्त सुख श्रीदशरथमहाराजको प्राप्त था। तब उनके लिये मुक्ति तो बहुत सुलभ थी यदि वे उसे चाहते और लेते। श्रीमद्भगवद्वाक्य है कि भगवद्भक्तियोगसे निर्मल-चित्त होनेपर मुक्तसंग भक्तको तत्त्वज्ञान स्वतः हो जाता है, जड़चेतनमय हृदयकी ग्रन्थिका भेदन हो जाता है, संशयोंका छेदन हो जाता है और सब कर्म क्षीण हो जाते हैं। वह अपनी आत्मामें ईश्वरको देख लेता है। इसी हेतु सर्वज्ञ बुद्धिमान् लोग परमानन्दके साथ भगवान्‌में परमभक्ति करते हैं। यथा—'एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः। भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते॥ भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥ अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा। वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादिनीम्॥ भा० १। २। २०। २१। २२।' इससे चक्रवर्तीजीके मोक्षमें संदेह नहीं, वह तो सदैव उनके करतलगत है। परंतु श्रीरामजीका माधुर्य-संयुक्त-वात्सल्यरस छोड़ वे ब्रह्मसुखमें प्रीति नहीं मानते हैं; वे जानते हैं कि इसी वात्सल्यसुखनिमित्त तो पुरारि अशुभ वेष धारण करते हैं।

खर्रा—'बारबार करि प्रभुहि प्रनामा।' प्रभुने ज्ञान दिया तब प्रभु जानकर प्रणाम करते हैं। ऐश्वर्यभावसे प्रणाम किया।

मयूख (मा० म०)—'श्रीदशरथजीका प्रेम नैमिष, श्रीअयोध्याजी और लंका तीनों स्थानोंमें समान बना रहा। वही प्रेम लंकामें विशेषतः उत्कृष्ट हुआ; क्योंकि श्रीरामचन्द्रजीने ज्ञान देकर इच्छा की कि दशरथजीको मुक्ति दें, परंतु उन्होंने ज्ञानका निरादर करके मोक्षकी इच्छातक न की, श्रीरामचन्द्रजीकी भक्तिहीपर आरूढ़ रहे।...जो लोग कहते हैं कि प्रेमसे उत्तम ज्ञानको जानकर श्रीरामचन्द्रजीने श्रीदशरथजीको ज्ञान प्रदान किया वे पामर हैं, यह नहीं बिचारते कि अतुलनीय भक्ति श्रीदशरथजीमें देखकर श्रीरामचन्द्रजीने श्रीदशरथजीको ज्ञान दिया; परंतु उन्होंने ज्ञानको न धारण करके भक्ति ही स्वीकार की। श्रीरामचन्द्रजीने परीक्षार्थ ज्ञान दिया था। यदि वे भक्तिको दूर करके ज्ञान देते तो कदापि वह ज्ञान चलायमान होता। अतएव सिद्ध है कि परीक्षार्थ ज्ञान दिया था। परंतु अन्ततः भक्तिको श्रेष्ठ जान उसीको दृढ़ किया और दशरथजी मोक्ष-पदको स्वीकार न कर स्वर्गको चले गये।

श्रीरामचन्द्रजीने श्रीदशरथजीको आते ही प्रणाम किया और जाते समय श्रीदशरथजीने श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम किया; अतः श्रीदशरथजी नैमिषारण्यका प्रेम पाकर परम आनन्दित होकर चले गये।

नोट—'श्रीरामजीके भक्त उनके धामको जाते और फिर संसारमें नहीं आते; यही उनकी मुक्ति है। तब मोक्ष नहीं लेनेकी बात क्यों कही गयी?' यह शंका उठाकर पं० श्रीकान्तशरणजी उसका उत्तर यह देते हैं—'भक्त लोग भक्तिका कोई फल नहीं चाहते; क्योंकि उसमें भगवान् और उनकी भक्ति साधनमें आ जाते हैं और मुक्ति फलरूपमें हो जाती है। इसलिये भक्त लोग भक्तिहीको फलरूपा मानते हैं; यथा 'फलरूपत्वात्' (नारदभक्तिसूत्र २६)। **'तीर्थाटन साधन' 'सब कर फल हरि भगति भवानी**। उ० १२६।' क्योंकि नित्यधाममें भी ये अपने भावानुसार सेवासहित ही आनन्दोपभोग करते हैं। यथा **'सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सहब्रह्मणा विपश्चिता**। तैत्ति० २। १।' वह मुक्ति ही है, क्योंकि इनका संसारमें आना नहीं होता।' (मेरी समझमें इसका उत्तर यही है कि 'मोक्ष' का अर्थ केवल निर्गुणवादियोंका मोक्ष, कैवल्य मोक्ष ही यहाँ है जैसा ऊपर लिखा जा चुका है।)

दो०—अनुज जानकी सहित प्रभु कुसल कोसलाधीस।
सोभा देखि हरषि मन* अस्तुति कर सुर ईस ॥१११॥

अर्थ—भाई श्रीलक्ष्मण और श्रीजानकीजीसहित सब प्रकार कुशल कोसलपति प्रभु रामचन्द्रजीकी शोभा देख मनमें हर्षित हो देवताओंके राजा इन्द्र स्तुति करने लगे॥ १११॥

नोट—१ मिलान कीजिये—**'दृष्ट्वाथ रामं जनकात्मजायुतं श्रिया स्फुरन्तं सुरनायको मुदा॥ भक्त्या गिरा गद्‌गदया समेत्य कृताञ्जलिः स्तोतुमथोपचक्रे**। अ० रा० १३। २३।' (अर्थात् उस समय जनकनन्दिनी श्रीसीताजीके सहित भगवान् रामको कान्तिसे सुशोभित देख देवराज इन्द्र अति प्रसन्नतापूर्वक हाथ जोड़कर भक्ति-गद्‌गद वाणीसे स्तुति करने लगे)। श्लोकमें 'अनुज' शब्द नहीं है। 'प्रभु कोसलाधीस' की जगह 'रामं' है। 'कुसल' की जोड़का शब्द नहीं है। **'शोभा देखि'** ही **'दृष्ट्वाथ श्रिया स्फुरन्तं'** है। 'जानकीसहित' ही 'जनकात्मजायुतं' है। 'अस्तुति कर' ही **'स्तोतुमथोपचक्रमे'** और **'सुरईस'** ही **'सुरनायक'** है। 'मुदा भक्त्या गिरा गद्‌गदया समेत्य कृताञ्जलिः' का भाव 'हरषि मन' से जना दिया है। २—'कुसल' में दोनों भाव हैं। परम कुशल कोसलाधीश तथा सबोंको सकुशल देखकर। सकुशलसे सूचित करते हैं कि इन्द्रको इस युद्धमें इन सबोंके कुशलमें संदेह हो जाता था। अब कुशल देखकर 'प्रभु' जाना और अपना स्वार्थ सधा अतः प्रसन्न हुए और भक्तिपूर्वक स्तुति करने लगे।

वि० त्रि०—रावणको रथी और रामजीको विरथ देखकर जिस भाँति विभीषण अधीर हुए, उसी भाँति देवताओंके सहित इन्द्र भगवान् भी अधीर हो उठे। भेद इतना ही पड़ा कि भविष्य सोचकर विभीषणजी पहले ही अधीर हुए, और इन्द्र समयके समयपर अधीर हुए। विभीषणके पास कोई साधन नहीं था, इसलिये जीतनेकी विधि पूछने लगे। इन्द्रके पास साधन था, अतः तुरंत रथ भेज दिया। संदेह यही था कि रावणका सामना होनेपर किसीका भी सकुशल रहना बड़ा कठिन है, सो लक्ष्मण सीताके सहित कोसलाधीशको सकुशल देखा उस समय ऐसी शोभा हो रही थी कि दर्शन करके मन प्रसन्न हो गया। मनमें आया कि सरकारने देवताओंका इतना बड़ा काम इतना कष्ट सहकर किया, अब मैं कौन-सी सेवा इनकी करूँ; अतः स्तुति करके सेवाके लिये पूछते हैं कि 'मैं क्या करूँ?'

तोमर छंद—**जय राम सोभाधाम दायक प्रनत बिश्राम।**
धृत त्रोन बर सर चाप भुजदंड प्रबल प्रताप॥ १॥
जय दूषनारि खरारि मर्दन निसाचर धारि।
येह दुष्ट मारेउ नाथ भये देव सकल सनाथ॥ २॥

अर्थ—शोभाधाम, शरणागतको विश्राम देनेवाले, श्रेष्ठ, (अक्षय) तरकश, बाण और धनुष धारण किये हुए जिनके भुजदण्डोंका प्रताप प्रबल है एवं जिनके भुजदण्ड और प्रताप प्रबल हैं, उन आप श्रीरामचन्द्रजीकी जय हो॥ १॥

* छबि बिलोकि मन हरष अति।—(का०);

हे खर और दूषणके शत्रु ! हे निशिचरसेनाके मर्दन करनेवाले ! आपकी जय हो ! हे नाथ ! आपने इस दुष्टको मारा जिससे समस्त देवता सनाथ हुए । (अर्थात् अबतक अनाथकी तरह मारे-मारे फिरते थे, जैसा नाच रावण नचाता था वैसा नाचना पड़ता था । आपकी कृपासे अब घरमें रहनेको मिला) ॥ २ ॥

नोट—१ (क) 'दायक प्रनत बिश्राम' इति । सब देवता रावणके अत्याचारसे प्रभुकी शरण गये थे । यथा—'सरन सकल सुरजूथा', 'सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा' (१ । १८६) । उन्हींमें इन्द्र भी थे । अब रावणके वधसे विश्राम मिला, इस भावसे 'दायक…' कहा । (ख) 'बर सर चाप' 'भुजदंड प्रबल प्रताप' कहकर स्तुति करनेका भाव कि मेरा वज्र और विष्णुचक्र भी रावणका बाल बाँका न कर सके थे और आपने उसे धनुषबाणसे मार डाला । हम सबोंका प्रताप रावणके सामने कुछ कामका सिद्ध न हुआ और आपका बल-प्रताप प्रत्यक्ष देख पड़ा ।

२ (क) 'दूषणारि खरारि' कहनेका भाव कि ये सब अजेय और अमर थे, हम सबको सताया करते थे । पुनः खरवधके समय जो शोभा थी वह इस समय है इससे भी 'खरारि' कहा । (ख) 'यह' दुष्टसे जनाया कि इन्द्र इस समय भी ऐसा समझते हैं मानो वह प्रत्यक्ष सामने है । उसका स्मरण करते उन्हें भय लग रहा है । भय ऐसा समा गया है कि उसके मरनेपर भी उसे मानो सामने देख रहे हैं । (ग) **किये सनाथ—भुजदंड प्रबल प्रताप'** कहकर 'किये सनाथ' कहनेका भाव कि इन्हीं भुजदण्डोंद्वारा आपने हमें सुबस बसाया है । यथा—'**दससुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाए नाक चना हैं । सुबस बसे गावत जिन्ह के जस अमर नाग नर सुमुखि सना हैं ॥ गी० ७ । १३ ॥'; मारे रन रातिचर रावन सकुल दल…आयसु भो लोकनि सिधारे लोकपाल सबै, तुलसी निहाल कै कै दिये सरखतु हैं । क० ६।५८।'**

तोमर छंद—**जय हरन धरनीभार महिमा उदार अपार ।**
जय रावनारि कृपाल किये जातुधान बिहाल ॥ ३ ॥
लंकेस अति बल गर्ब किये बस्य सुर गन्धर्ब ।
मुनि सिद्ध नर खग नाग हठि पंथ सब के लाग ॥ ४ ॥

अर्थ—हे भूमिभारके हरनेवाले ! हे अपार श्रेष्ठ महिमावाले ! आपकी जय हो । हे कृपालु ! हे रावणके शत्रु ! आपकी जय हो । आपने निशिचरोंको बेहाल (व्याकुल) कर दिया ॥ ३ ॥ लङ्कापति रावणको बलका बड़ा भारी घमण्ड था । उसने देवता और गन्धर्व सभीको अपने वश कर रक्खा था । (यही नहीं वरन् किसीको भी न छोड़ा) मुनि, सिद्ध, मनुष्य, पक्षी, नाग आदि सभीके पीछे हठपूर्वक पड़ा था ॥ ४ ॥

नोट—१ '**महिमा उदार अपार**' । भाव कि जिसके रोम-रोममें अनेक ब्रह्माण्ड हैं उसकी महिमा किस वस्तुको लेकर वर्णन की जा सकती है । यथा—'**भुवन अनेक रोम प्रति जासू ।…सो महिमा समुझत प्रभु केरी । यह बरनत हीनता घनेरी ॥ ७ । २२ ॥**' अतः 'उदार और अपार' कहकर जनाया कि वह मन और वाणीसे परे है । 'महिमा' किंचित् भुशुण्डिजीने उ० ९१-९२ में वर्णन की है । यथा—'**महिमा नाम रूप**…। ७ । ९१ । ३ ।' से '**राम अमित गुनसागर**…। ९२ ।' तक । २—'पंथ लगना' मुहावरा है । अर्थात् पीछे पड़ना, बराबर तंग करना । ३—'हठि' का भाव कि सज्जन पुरुषोंके निवारण करनेपर भी न माना । यथा—'**रबि ससि पवन बरुन धनधारी । अगिनिकाल जम सब अधिकारी ॥ किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा । हठि सब ही के पंथहि लागा ॥ १ । १८२ ॥**'

तोमर छंद—**परद्रोहरत अति दुष्ट पायो सो फलु पापिष्ट ।**
अब सुनहु दीनदयाल राजीवनयन बिसाल ॥ ५ ॥
मोहि रहा अति अभिमान नहिं कोउ मोहि समान ।
अब देखि प्रभुपदकंज गत मान प्रद दुखपुंज ॥ ६ ॥

अर्थ—जैसा वह पराये द्रोहमें तत्पर, अत्यन्त (दर्जेका) दुष्ट और महापापी था वैसा ही उस अतिशय पापीने

फल पाया। हे कमलसमान विशाल नेत्रवाले! हे दीनोंपर दया करनेवाले! अब सुनिये॥ ५॥ मुझे अत्यन्त अभिमान था कि मेरे समान कोई नहीं है। अब प्रभुके चरणकमल देख दुःखसमूहका देनेवाला मेरा अभिमान जाता रहा॥ ६॥

पु० रा० कु०—'**पायो सो फल पापिष्ट**'। भाव कि स्वकृत पापका फल नाश है, वह फल उसने पाया, इसमें आपका दोष नहीं। यथा—'**चौदह भुवन एक पति होई। भूतद्रोह तिष्टै नहिं सोई॥ ५। ३८। ७॥**' '**बिस्वद्रोहरत यह खल कामी। निज अघ गएउ कुमारगगामी॥ १०९। ४॥**'

रा० प्र०—'राजीवनयन' का भाव कि आपको एवं आपके राजिवनयनोंको देख हम सब हृष्ट-पुष्ट हुए। रावणको देख-देख हमारा रुधिर सूख जाता था। अर्थात् अब अपने-अपने भाग पाकर संतुष्ट हुए। कमल रक्तवर्द्धक और आह्लादकारक है।

नोट—'**मोहि रहा अति अभिमान**'''—ऐसा ही अ० रा० में कहा है। यथा—'**अहं मानपानाभिमत्तप्रमत्तो न वेदाखिलेशाभिमानाभिमानः। इदानीं भवत्पादपद्मप्रसादात् त्रिलोकाधिपत्याभिमानो विनष्टः॥ १३। २९॥**' अर्थात् हे प्रभो! मैं तो सम्मान और सोमपानके उन्मादसे मतवाला हो रहा था, सर्वेश्वरताके अभिमानवश मैं अपने आगे किसीको कुछ भी न समझता था। अब आपके चरणकमलोंकी कृपासे मेरा त्रिलोकाधिपतित्वका अभिमान चूर हो गया।

पं०—प्रभुपदकंज देख अभिमान जाता रहा, इस कथनका तात्पर्य यह है कि मेरे बल, रूप आदि आपके पदरजकी समताको भी नहीं पा सकते।

तोमर छंद—**कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।**
मोहि भाव कोसलभूप श्रीराम सगुन सरूप॥ ७॥
बैदेहि अनुज समेत मम हृदय करहु निकेत।
मोहि जानिए निज दास दे भक्ति रमानिवास॥ ८॥

अर्थ—कोई निर्गुण ब्रह्मका ध्यान करते हैं जिनको वेद अव्यक्त कहते हैं। पर हे श्रीराम! मुझे आपका सगुण कोसलपति श्रीरामस्वरूप ही भाता है॥ ७॥ श्रीसीतालक्ष्मणसहित मेरे हृदयमें अपना घर बनाइये। हे रमानिवास! मुझे अपना दास समझिये और भक्ति दीजिये॥ ८॥

टिप्पणी—१ अव्यक्त=अलक्ष्य। [केनोपनिषद्में गुरुजी शिष्यको ब्रह्मका स्वरूप समझाते हुए कहते हैं कि प्राकृत इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण वहाँतक पहुँच ही नहीं सकते तब मन और इन्द्रियोंद्वारा कोई कैसे बतलाये कि ब्रह्म 'ऐसा' है। उसको संकेतद्वारा ही समझाया जाता है इस तरह कि '**यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।**'''**यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।**'''**यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूꣳषि पश्यति।**'''**यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदꣳश्रुतम्। यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि॥ १॥** मन्त्र ४-८।' अर्थात् जो वाणीके द्वारा नहीं बतलाया गया है, जो वाणीसे प्रकाशित नहीं है; किंतु जिससे वाणी प्रकाशित होती है, जिसकी शक्तिसे वाणी बोली जाती है। जिसको कोई मनसे नहीं समझ सकता, जो मनसे मनन नहीं किया जाता, किन्तु जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है, जिसकी शक्ति और प्रेरणाको पाकर मन अपने ज्ञेय पदार्थोंको जानता है। जिसको कोई नेत्रसे नहीं देख सकता; बल्कि जिसकी सहायतासे चक्षु अपने विषयोंको देखता है, जिसको कोई श्रोत्रद्वारा नहीं सुनता; किंतु जिससे श्रोत्र इन्द्रिय सुनी जाती है, जो प्राणद्वारा विष नहीं किया जाता, बल्कि जिससे प्राण अपने विषयोंकी ओर जाता है—उसीको तू ब्रह्म जान।

अव्यक्तसे उपर्युक्त अलक्ष्य अप्रकट अन्तर्यामी स्वरूप अभिप्रेत है जिससे समस्त जगत् व्याप्त है। गीतामें जो कहा है '**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। ९। ४।**' उसका 'अव्यक्तमूर्तिना' यही है। यह अव्यक्त स्वरूप निर्गुण वा अगुण कहा गया है, अप्रकट होनेसे वह अगुण है, प्रकट वा व्यक्त होनेपर वही सगुण कहलाता है। बालकाण्ड नामवन्दन-प्रकरणमें इसपर लिखा गया है। अव्यक्त और व्यक्त वे दोनों ही स्वरूप श्रीरामजीके हैं। यथा '**व्यक्तमव्यक्तगतभेद विष्णो** (वि० ५४)।', **व्यक्ताव्यक्तस्वरूपस्त्वं गुणभृन्निर्गुणः परः।** प० पु० उ० २४२। ७४।' निर्गुणरूप महाविभूति-

संयुक्त है; सगुणरूप दयाका विस्तार है। वह वाणी और मनके लिये अगम्य है, यह वाणी और मनको आकर्षित करता है। भक्तोंके लिये वही तत्त्व व्यक्त हो जाता है। बाल० २३ (१), २३ (४-५) तथा ११६ (१-२) देखो।]

२—'मोहि भाव कोसलभूप' इति। मिलान कीजिये—'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥ अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥ ३। १३। १२-१३।', पुनः; 'जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं। ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥ ७। १३।', 'जे जानहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर अंतरजामी॥ जो कोसलपति राजिवनयना। करउ सो राम हृदय मम अयना॥ ३। ११। १९-२०।' जैसे अगस्त्यजी और सुतीक्ष्णजी आदिने अव्यक्त और व्यक्त, निर्गुण और सगुण दोनों रूपोंमें प्रवेश रखते हुए भी सगुणस्वरूपमें ही प्रेम किया वैसे ही इन्द्र भी अब उसी रूपकी भक्ति चाहते हैं।

प० रा० व० श०—'श्रीराम सगुन सरूप'। भाव कि सगुण स्वरूप भी आपके बहुत हैं पर मुझे यही श्रीराम-सगुण-स्वरूप भाता है। २—जबतक संसारपदार्थभोगकी एवं मुक्तिकी इच्छा रहती है तबतक भक्ति नहीं मिलती। श्रीदशरथजीसे यह शिक्षा पाकर इन्द्र भी भक्ति ही माँगते हैं।

रा० प्र०—'रमानिवास'। रमा अर्थात् श्रीजानकीजीके हृदयमें आपका एवं आपके हृदयमें श्रीजानकीजीका निवास है, यथा—'सो मन रहत सदा तोहि पाहीं', 'जानकी उर मम बास है॥ ९९॥' एवं 'नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट'—[रमा नाम श्रीजानकीजी और श्रीलक्ष्मीजी दोनोंका है]

छं०—**दे भक्ति रमानिवास त्रासहरन सरन सुखदायकं।**
सुखधाम राम नमामि काम अनेक छबि रघुनायकं॥
सुरबृंद-रंजन द्वंद-भंजन मनुजतनु अतुलित बलं।
ब्रह्मादि-संकर-सेब्य राम नमामि करुना कोमलं॥

अर्थ—हे रमानिवास! हे शरणागतके (भव) भयके हरने और सुख देनेवाले! मुझे अपनी भक्ति दीजिये। अनेक कामदेवोंकी छविवाले, सुखके स्थान, रघुकुलके स्वामी श्रीरामचन्द्रजी! आपको मैं नमस्कार करता हूँ! हे देवमण्डलियोंको आनन्द देनेवाले, (हर्ष-शोक, जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि) द्वन्द्वोंके नाश करनेवाले, मनुष्यशरीरधारी, असीम बलवान्, ब्रह्मादिशंकरसे सेवा किये जाने योग्य (वा, उनके स्वामी) करुणामय कोमल (स्वभाव) श्रीरामचन्द्रजी! मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

खर्रा—'सुखधाम राम'। योगियोंके लिये सुखधाम सूचित करनेके लिये 'राम' कहा और भक्तोंको प्रत्यक्ष सुखदाता हैं। २—'करुणा कोमल' का भाव कि करुणाके कारण कोमल हो।

दो०—अब करि कृपा बिलोकि मोहि आयसु देहु कृपाल। काह करौं सुनि प्रिय बचन बोले दीनदयाल॥११२॥

अर्थ—हे कृपालु! अब कृपा करके मुझे (कृपादृष्टिसे) देखकर आज्ञा दीजिये कि मैं क्या (सेवा) करूँ? इन्द्रके प्रिय वचन सुनकर दीनदयाल बोले॥ ११२॥

नोट—सेवा कराना भी कृपा है, नहीं तो जो चराचरमात्रका पालन करता है उसको सेवाकी आवश्यकता कहाँ और उसकी सेवा कोई क्या करेगा? ब्रह्मादिक सेवा चाहते हैं पर कहाँ मिले? यथा—'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥ २२। १।' सेवा कृपासे ही मिलती है। इसीसे 'कृपाल' विशेषण दिया। यथा—'प्रभु मुख कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपाल हमहिं कछु कहहीं॥ उ० २५। २।'

पं०—१ इन्द्र तो सम्मुख खड़े ही हैं तब 'बिलोकि मोहि' कैसे कहा? इस कथनमें भाव यह है कि इन्द्र प्रभुकी स्तुति कर रहे हैं और उत्तम पुरुषोंकी रीति है कि वे अपनी स्तुति सुनकर नेत्र नीचे कर लेते हैं—'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।' अतः इन्द्रने प्रार्थना की कि मेरी ओर देखिये। अथवा, इससे जनाया कि हमारे निमित्त आपको बहुत

कष्ट उठाना पड़ा और हमसे कुछ भी सेवा नहीं हुई; इस अवज्ञाको क्षमा कीजिये और मेरी ओर कृपादृष्टिसे देखकर सेवाकी आज्ञा दीजिये। ['अब करि कृपा बिलोकि मोहि'—इन शब्दोंसे अनुमान होता है कि इन्द्रने हाथ जोड़े हुए यह प्रार्थना की जिसमें प्रभु प्रसन्न होकर शीघ्र कृपा करें। यथा—'**रामोऽपि देवराजं तं दृष्ट्वा प्राह कृताञ्जलिम्।** अ० रा० १३। ३७।' अर्थात् तब श्रीरामजीने देवराजको हाथ जोड़े खड़े देखकर कहा] २—'बोले दीनदयाल' का भाव कि इन्द्रकी दीनता देखकर उसपर दया की; क्योंकि दीनदयाल हैं। पुनः, दीन वानरोंपर कृपा करनेके लिये बोले अतः दीनदयाल कहा।

प० प० प्र०—इन्द्रस्तुति ज्येष्ठा नक्षत्र है। विशाखा और अनुराधा नक्षत्र आकाशमें परस्पर संलग्नसे दीखते हैं, अतः एक ही दोहेमें विशाखाका उपसंहार और अनुराधाका उपक्रम किया। अनुराधा और ज्येष्ठा इतने समीप नहीं हैं अतः इन दो स्तुतियोंमें दशरथागमनका वर्णन रख दिया है। अब दोनोंका साम्य देखिये—(क) अनुक्रम—यह स्तुति अठारहवीं है और ज्येष्ठा नक्षत्र भी अठारहवाँ है। (ख) नामसादृश्य—नक्षत्रका नाम ज्येष्ठा और यह स्तुति स्वर्गस्थ देवोंमें श्रेष्ठ इन्द्रकृत है अतः ज्येष्ठा नाम उचित है। (ग) ज्येष्ठामें तीन तारे हैं। स्तुतिमें सगुणकी रुचि, भक्तिकी याचना और कृपादृष्टिकी याचना तीन तारे हैं। (घ) आकार-साम्य—नक्षत्रका आकार कुण्डल-सा है। स्तुतिमें प्रथम २४ मात्राके चरणोंके ८ छंद, पश्चात् २८ मात्राके चार चरण और अन्तमें २३, २३ मात्राके दो चरण (दोहा)। इस प्रकार कुण्डलका आकार ही है। भाषण करते समय कुण्डल डोलते हैं वैसे ही इन्द्र भी हर्षमें डोलते हैं। (ङ) नक्षत्रका देवता इन्द्र है और स्तुति इन्द्रकृत है। (च) फलश्रुतिसाम्य—नक्षत्रकी फलश्रुति है—'**हरन मोह तम दिनकर कर से**'। और '**त्रास हरन सरन सुखदायकम्**', '**द्वंद्वभंजन**', '**गत मानप्रद दुखपुंज**', यह स्तुतिकी फलश्रुति है। मान, त्रास, द्वन्द्व आदि सब मोहरूपी तमसे पैदा होते हैं। श्रीरामचरणसरोजके प्रभावसे इनका नाश हुआ है। श्रीरामजी दिनकरकुलभूषण, भानुकुलभानु हैं। '**महामोह तमपुंज जासु बचन रबिकर निकर।**'

सुनु सुरपति कपि भालु हमारे। परे भूमि निसिचरन्हि जे मारे॥ १॥
मम हित लागि तजे इन्ह प्राना। सकल जिआउ सुरेस सुजाना॥ २॥

अर्थ—हे देवराज! सुनिये, हमारे वानर-भालु, जिन्हें निशाचरोंने मारा है, पृथ्वीपर पड़े हैं॥ १॥ इन्होंने मेरी भलाईके लिये प्राण छोड़ दिये अर्थात् मेरी सेवामें प्राणतक निछावर कर दिये। हे सुजान सुरेश! इन सबको जिला दीजिये॥ २॥

पं०—१'सुरपति' का भाव कि जैसे तुमको सुर-सेना प्रिय है वैसे ही हमको ये प्रिय हैं, जैसे सुर तुम्हारे सजातीय हैं वैसे ही ये वानर-भालु हमारे हैं, इनमें मेरा वैसा ही निजत्व है, मैं इन्हें अपना भाई-बन्धु सखा-परिवार मानता हूँ। २—'हमारे' इति। भाव कि यह उत्तम पुरुषोंकी रीति है कि जिसको अपनायें उसका अन्ततक निर्वाह करें। हमने इनको अपना लिया है, इसीसे इनकी सहायता चाहते हैं। पुनः, 'हमारे', यथा—'**मम हित लागि जन्म इन्ह हारे**'। अर्थात् हमारे लिये इन्होंने प्राणतक अर्पण कर दिया। मृत्युको भी कुछ न समझा, अनेक विपत्तियोंमें पड़े और उन्हें झेला।* अतएव ये हमारे हैं, हमको ये सबसे प्रिय हैं। हमारा कर्तव्य है कि इनको जिलानेका प्रयत्न करें। पुनः, 'हमारे' कहकर जनाया कि इनके समान सुकृती कोई नहीं है। ३—'**परे भूमि**' का भाव कि ये सब यहाँ रणभूमिमें पड़े हैं तुम्हें कहीं दूर नहीं जाना है। इससे यह भी जनाया कि भगवत्कृपासे इनके शरीरोंको कुत्तों, शृगालों आदिने नहीं बिगाड़ा है।

नोट—१'**निसिचरन्ह जे मारे**' में गूढ़ भाव यह है कि इनके जिलानेमें तुम्हारी कृतज्ञता सूचित होगी। निशाचर तुम्हारे वैरी थे। वानर-भालु उनके वैरी थे। अपने वैरीका शत्रु अपना मित्र होता है। अतः ये वानर तुम्हारे मित्र

* 'मत्कृते निहतान्संख्ये वानरान् पतितान्भुवि। जीवयाशु सुधावृष्ट्या सहस्राक्ष ममाज्ञया॥' (अ० रा० १३। ३८)। पुनश्च, २—'मम हेतोः पराक्रान्ता ये गता यमसादनम्। ते सर्वे जीवितं प्राप्य समुत्तिष्ठन्तु वानराः॥ ५॥'

... और तुम्हारे कारण इनके प्राण गये। दूसरे मुझपर भी इनका एहसान है, इन्हींके बलसे मुझे श्रीजानकीजी प्राप्त हुई हैं। २—'सुरेस सुजाना' का भाव कि तुम देवताओंके राजा हो और जानते हो कि ये सब देवांश हैं तथा ... भी जानते हो कि ये तो जियेंगे ही, केवल तुम्हें बड़ाई मिलना है कि इन्द्रने जिला दिया।

पां०—'सुजान' कथनका भाव कि इन्द्रको यह शङ्का हुई कि अमृतकी वर्षासे तो राक्षस भी जी उठेंगे, उसी कारण रघुनाथजीने 'सुजान' विशेषण देकर जना दिया कि तुम जानते हो कि राक्षस मुक्त हो गये हैं। वे पुनर्जीवित न होंगे।

सुनु खगेस प्रभु कै यह बानी। अति अगाध जानहिं मुनि ग्यानी॥ ३॥
प्रभु सक त्रिभुवन मारि जिआई। केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई॥ ४॥
सुधा बरसि कपि भालु जिआए। हरषि उठे सब प्रभु पहिं आए॥ ५॥

अर्थ—हे गरुड़! सुनो, प्रभुके ये वचन अत्यन्त गम्भीर हैं। ज्ञानी मुनि ही इसे जानते हैं॥ ३॥ प्रभु श्रीरामजी त्रिलोकीको मारकर (पुनः) जिला सकते हैं (तब इन थोड़ेसे वानर-भालुओंका जीवित कर देना उनके लिये क्या बड़ी बात है?) उन्होंने यहाँ केवल इन्द्रको बड़ाई दी॥ ४॥ इन्द्रने अमृत बरसाकर वानर-भालु जिलाये। वे सब प्रसन्न होकर उठे और प्रभुके पास आये॥ ५॥

पु० रा० कु०—१ प्रभुके 'सकल जियाउ सुरेस सुजाना' इस वाक्यमें प्राकृतत्व आता है, इसलिये उस दोषके निवारणार्थ कहते हैं कि 'प्रभु कै यह बानी।...अति अगाध' अर्थात् इसमें गूढ़ आशय भरे हैं; इसके जाननेके अधिकारी सब नहीं हैं, 'ज्ञानी मुनि' ही हैं। यथा—'मृता जीवन्ति पीयूषैर्न तु मोक्षगताः क्वचित्॥' 'स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्। विषमप्यमृतायते क्वचित् क्वचिदमृतं विषमीश्वरेच्छया॥'—(रघुवंश)। अर्थात् मरे हुए जीवित हो जाते हैं पर मोक्ष पाये हुए नहीं जीवित होते। राजा अज कह रहे हैं कि यह माला यदि प्राणहारक है तो मैं अपने हृदयपर धारण करता हूँ तो मेरे प्राण क्यों नहीं लेती। कभी-कभी विष भी अमृतकी तरहसे आचरण करता है और कभी अमृत विषकी तरह,—ईश्वरकी इच्छासे ही ऐसा होता है।

प० प० प्र०—वानर-भालुको जिलानेमें भगवान्‌का हेतु यह है कि सुरपति तथा विश्वम्भर जान जायँ कि मरे हुए राक्षस मुक्त हो गये और सुरेन्द्र-पद पाकर भी उसका दुःख-भोग और जन्म-मरण नहीं छूटता। 'बैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर' यह मानकर उनको मुक्ति दी।

वै०—'अति अगाध' का भाव कि इसका गुप्त अर्थ कोई नहीं जान सकता। वानरोंने इसी देहसे हमारे हितका कार्य किया; इससे इसी देहमें इनको प्राण पुनः दिये और निशिचरोंने इस देहसे अकाज किया इससे इस देहमें वे प्राण नहीं पा सकते।

टिप्पणी—२ 'केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई' इति। भाव कि जिलाने और मारनेके हेतु तो प्रभु आप ही हैं। नर-लीलाकी मर्यादासे एवं इन्द्रको बड़ाई देनेके लिये इन्द्रसे सुधावृष्टि करायी—यह एक बहाना मात्र है।—['दीन्हि बड़ाई' पदसे जनाया कि रघुनाथजीने इन्द्रको अभीष्ट वर दे दिया। इन्द्रने माँगा था कि 'मोहि जानिये निज दास'। यह बड़ाई देकर उनको दास स्वीकार किया, यथा—'सेवक सो जो करइ सेवकाई', और 'संतत दासन्ह देहु बड़ाई'। दास माना तभी बड़ाई दी।]

वि० त्रि०—'उमा राम की भृकुटि बिलासा। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा॥' यही ब्रह्मका लक्षण है। 'जन्माद्यस्य यतः' जहाँसे इस जगत्‌की उत्पत्ति-स्थिति-भङ्ग होता है वही ब्रह्म है। उस सर्वशक्तिमान्‌में ही यह शक्ति है। उनकी इच्छासे विष भी अमृत हो जाता है, और अमृत भी विष हो जाता है।

अतः मारना-जिलाना न विष-अमृतके हाथ है न इन्द्रके हाथ है, यह शक्ति तो केवल परमेश्वरमें है। परंतु इन्द्र इतनी स्तुति करके सेवाके लिये आज्ञा माँगते हैं। मैंने इन्हें देवराट् बनाया है, इनको बड़ाई देना चाहिये; इसलिये कहते हैं कि 'मेरे कपि-भालु मारे गये हैं, उन्हें जिला दो। इन्द्रके पास एक ही उपाय है कि उनके पास अमृत है उसीकी वर्षा कर दें, सो कर दिया, यह न सोचा कि इससे तो राक्षस भी जी उठेंगे, पर

सरकार उनको पहिले ही मुक्ति दे चुके थे। बंदरोंको नहीं दिया क्योंकि उन्हें जिलाना था। वे देवताओंके अंश थे, उन्हें अपने अंशीमें मिलना था। अतः निर्गलितार्थ यही निकला कि 'जिये सकल रघुपति की इच्छा'। यश इन्द्रको मिला कि उन्होंने वानरी सेनाको जिलाया।

नोट—'सुधा बरषि' इति। (क) यथा—'तथेत्यमृतवृष्ट्या ताञ्जीवयामास वानरान्। ये ये मृता मृधे पूर्वं ते ते सुप्तोत्थिता इव॥ पूर्ववद्वलिना हृष्टा रामपार्श्वमुपाययुः। अ० रा० १३। ३९।' अर्थात् 'बहुत अच्छा' कह अमृत बरसाकर उन सब वानरोंको जीवित कर दिया। जो-जो वानर युद्धमें मारे गये थे वे सभी सोकर उठे हुएके समान पहलेकी भाँति श्रीरामजीके पास प्रसन्न होकर चले आये।—यह सब 'हरषि उठे''' का भाव है। प्रसन्न-प्रसन्न प्रभुके पास आये जैसे कोई सुखकी नींद पूरी होनेपर प्रसन्न उठता है। इससे जनाया कि उनको यह भी न ज्ञात हुआ कि वे रणमें मारे गये थे।

सुधा बृष्टि भै दुहुँ दल ऊपर। जिए भालु कपि नहिं रजनीचर॥ ६॥
रामाकार भए तिन्ह के मन। मुक्त भए छूटे भव* बंधन॥ ७॥
सुर अंसिक सब कपि अरु रीछा। जिए सकल रघुपति की ईछा॥ ८॥

अर्थ—(वानर और राक्षस) दोनों सेनाओंपर अमृतकी वर्षा हुई, पर रीछ और वानर जिये, निशाचर न जिये॥६॥ (कारण यह कि) उनके मन रामाकार होनेसे वे मोक्ष पा गये, उनका संसार-बंधन—आवागमन छूट गया॥७॥ सब वानर और रीछ देवांश हैं। वे रघुनाथजीकी इच्छासे जीवित हो गये॥ ८॥

पु० रा० कु०—१ रामाकार भए०', यह निशिचरोंकी मुक्तिका हेतु कहा। आगे कपि-भालुके जीनेका हेतु कहते हैं कि 'सुर अंसिक०'। वह हेतु यह है कि—(१) सुर मोक्ष नहीं चाहते वे सगुणोपासक हैं, यथा—'सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भक्ति निज देहीं' हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥''' सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि। कि० २६।' (२)—अंशीके अक्षत (जीवित रहते) अंशिककी गति ही नहीं होती। यह कहकर आगे मुख्य हेतु कहते हैं कि—(३) 'जिए सकल रघुपति की ईछा' जहाँ-जहाँसे वानर-रीछ आये, उनका पुत्र-दारादिसे वियोग हुआ, उस दुःखको दूर करनेके लिये श्रीरामजीकी इच्छा यही है कि समस्त भालु-कपि जियें और घर जाकर अपने-अपने सम्बन्धियोंसे मिलें। (४) श्रीरामजीकी इच्छासे अमृत विष होता है और विष अमृत हो जाता है, यथा—'मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥ मित्र करइ सत रिपु कै करनी। ता कहँ बिबुध नदी बैतरनी॥ सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥ आ० २। ६-८।' 'गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥ गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही॥ सुं० ५। २-३।' 'ईस रजाइ सीस सबही के। उतपति थिति लय बिषहु अमी के'॥

२—'सुर अंसिक' का भाव कि ये देवताओंके रक्षक और राक्षसोंके नाशक हैं। इसीसे उन्हें 'हमारे' कहा।

पं०—१ 'रामाकार भए'। भाव कि ये श्रीरामचन्द्रजीके ही सम्मुख थे और वैरभावसे राम-राम पुकारते थे। ☞ 'रामाकार' अर्थात् भृंगी-कीटवत्। भय और वैर भावसे उन्हें सर्वत्र राम ही दीखते थे, जैसे मारीचको, यथा—'भइ मम कीट भृंग की नाईं। जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाईं॥'—आ० २५ (७) देखिये २—रणमें सम्मुख मरनेवालोंकी गति एक-सी है, चाहे वह राक्षस हो वा वानर। दोनों ही सूर्यमण्डलको भेदकर उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं, यह स्मृतियोंका सम्मत है। संन्यासी जो ब्रह्मरन्ध्रसे प्राणोंको निकालता है उसकी भी यही गति होती है। अतएव यहाँ दोनों दलोंकी गति समान होनी चाहिये। जो कहा कि रामबाणसे मरनेके कारण वे मुक्त हुए, यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि इनमेंसे बहुतसे निशिचर वानरोंके हाथों मरे हैं। यदि कहें कि वे रामनाम उच्चारण करते थे अतः मुक्त हुए सो भी नहीं बनता; क्योंकि इसका कौन साक्षी है कि सबने रामनाम लिया और वानर जो रामसेवक थे एवं रामनामका माहात्म्य जानते थे और बराबर जय-जयकार बोलते थे, सो

* गए ब्रह्मपद तजि सरीर रन।—(का०)।

उन्होंने मरते समय नाम न लिया ? इत्यादि अनेक प्रश्न उठते हैं। इन सबका समाधान एकमात्र 'रघुपति-इच्छा' ही है। अन्य उत्तर सिद्धान्त नहीं है।—'ईस रजाइ सीस सबही के'।

मयूख—'परे भूमि निसिचरन्ह जे मारे' से सूचित किया कि भालु और कपि मूर्च्छित हैं, यदि जीव शरीरमें न होता तो शरीरका मांस और चाम सड़नेसे न बचता; अतः भालु और कपियोंको जिलानेकी आज्ञा दी। पुनः 'सुर अंसिक' का संदर्भ यह है कि ये अमर (देवता) हैं। यह चारों वक्ताओंने कहा है। 'हरषि उठे सब प्रभु पहिं आए', इससे स्पष्ट होता है कि भालु और कपि मूर्च्छित हो सोये थे, मूर्च्छा छूटनेपर उठकर आये।—(पर इस भावसे 'सकल जिए रघुपति की ईछा' का महत्त्व जाता रहता है। दूसरे वाली भी तो सुरअंशिक था, वह भी तो अमर हुआ फिर क्यों मर गया ?)

पां०—राक्षसोंके मन राममय हो जानेसे परमपदकी प्राप्ति हुई जहाँसे अमृतको लौटा लानेकी शक्ति नहीं है। वानर देवांश हैं अतः वे अपने-अपने अंशियोंमें अटक गये थे, उनको अमृत फेर लाया, इन बातोंका यथार्थ निर्वाह करके गोस्वामीजी रघुपति-इच्छाको प्रधान करते हैं जो अमृतको विष और विषको अमृत कर देती है।—(यहाँ प्रथम व्याघात अलंकार है)।

नोट—१ वाल्मी० ३० में शार्दूलने रावणके पूछनेपर वानरवीरोंके नाम आदि बताये हैं और बताया है कि जाम्बवान् रीछराजके पुत्र हैं, नील अग्निपुत्र हैं, गज, गवाक्ष, गवय, शरभ और गन्धमादन यमके पुत्र हैं''इत्यादि। इससे सूचित हुआ कि ये सब देवांशसे हैं। पुनः मानसमें भी कहा है कि—'जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा। हरषे देव बिलंब न कीन्हा। बनचर देह धरी छिति माहीं'—(बा० १८८)।—यही भाव 'सुर-अंशिक' का है। २—वाल्मी० ७४ श्लोक ७१-७२ में लिखा है कि जाम्बवन्तके बतानेपर हनुमान्‌जी ओषधि लाये जिसको सूँघते ही सब वानर रोग-रहित हो गये और मरे हुए जी उठे; पर राक्षस कोई न जिये। उसका कारण वाल्मीकिजी यह लिखते हैं कि जबसे वानर-राक्षस-युद्ध प्रारम्भ हुआ तबसे रावणकी आज्ञासे उत्साह बढ़ानेके लिये जो राक्षस वानरोंसे मारे जाते थे वे तुरंत समुद्रमें फेंक दिये जाते थे। यथा—'यदाप्रभृति लङ्कायां युध्यन्ते हरिराक्षसाः। तदाप्रभृति मानार्थमाज्ञया रावणस्य च॥ ये हन्यन्ते रणे तत्र राक्षसाः कपिकुञ्जरैः। हताहतास्तु क्षिप्यन्ते सर्व एव तु सागरे॥' पर अन्तमें राम-रावण-युद्ध-समय जो मारे गये वे अवश्य पड़े रहे। कम-से-कम मानसका मत यही है। इसीसे यही समाधान 'रघुपति इच्छा' ही किया गया। अमृतका स्वाभाविक गुण है जिलाना। राक्षसोंपर अमृत पड़नेपर भी उनके न जीवित होनेसे स्वभावविपर्ययरूपी दोष आता है; परंतु भगवान्‌की इच्छा न होनेसे अमृतका प्रभाव भी वहाँ बाधित हो गया। सारांश यह बताया गया कि भगवदिच्छाका प्रभाव इतना प्रबल है कि उसके आगे कुछ भी असम्भव नहीं है। रघुपतिकी इच्छासे ही ऐसा हुआ, इसकी पुष्टि आगेके 'रामसरिस को दीन हितकारी। कीन्हे मुकुत निसाचर झारी॥' से भी होता है।

शीला—'अमीमें सम-विषम क्यों हुआ ?' उसका कारण यह है कि रघुनाथजीकी इच्छामें विष और अमृत दोनों ही बसते हैं अतः जैसी प्रभुकी इच्छा थी वैसा ही अमृतने किया। पुनः, निशाचरोंकी देहपर वानर-भालु बालू डाल देते थे, इसीसे अमृतका स्पर्श उनकी देहसे न हुआ।—[यह दूसरा भाव मानस-कविकी उक्तिके अनुकूल नहीं है। क्योंकि आगे रघुनाथजीका वचन है कि 'हनूमान अंगद के मारे। रन महि परे निसाचर भारे'।]

राम सरिस को दीन हितकारी। कीन्हे मुकुत निसाचर झारी॥ ९॥
खल मलधाम कामरत रावन। गति पाई जो मुनिबर पाव न॥१०॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके समान कौन दीनोंका हित करनेवाला है ? सारे राक्षसोंको उन्होंने मुक्त कर दिया॥९॥ दुष्ट पापोंका घर और कामी रावणने वह गति पायी जो मुनिश्रेष्ठ भी नहीं पाते॥ १०॥

दोहा—सुमन बरषि सब सुर चले चढ़ि चढ़ि रुचिर बिमान।
देखि सुअवसरु प्रभु पहिं आएउ संभु सुजान॥
परम प्रीति कर जोरि जुग नलिन नयन भरि बारि।
पुलकित तन गदगद गिरा बिनय करत त्रिपुरारि॥११३॥

अर्थ—फूलोंकी वर्षा करके सब देवता सुन्दर विमानोंपर चढ़-चढ़कर चले। तब अच्छा मौका देखकर सुजान शिवजी प्रभुके पास आये। अत्यन्त प्रेमसे दोनों हाथ जोड़कर कमलसमान नेत्रोंमें जल भरे हुए, पुलकित शरीर और गद्गद वाणीसे त्रिपुरारि विनती करने लगे॥ ११३॥

नोट—१ **'बरसहिं सुमन हरषि सुर** ॥ १०८॥ उपक्रम है और **'सुमन बरषि०'** उपसंहार। २—**'चढ़ि चढ़ि'** से जनाया कि पूर्व विमानोंपर आये थे, फिर विमानोंसे उतरकर पृथ्वीपर प्रभुके सम्मुख जाकर स्तुति की थी। सब देवता, ब्रह्मा, दशरथजी और इन्द्र स्तुति कर करके अब पुनः विमानोंपर चढ़कर चले। तब शिवजी आये। **'आए देव सदा स्वारथी'** उपक्रम है और **'सब सुर चले'** उपसंहार।

नोट—३ **'देखि सुअवसर'** इति। देववृन्दके चले जानेपर अब एकान्त हुआ, यही सुअवसर है। (पं० रा० कु०)। पुनः, देवता चले गये। अब अवधको प्रस्थान होनेके लिये पुष्पक आनेको है। पुष्पक आनेतक प्रभुको सावकाश है। यह जानकर आये क्योंकि सुजान हैं। यथा—**'दासी देखि सुअवसरु आई॥ सावकास सुनि सब सिय सासू। आएउ जनकराज रनिवासू॥** अ० २८१।' (पं०)। पुनः 'सुअवसरु' यह कि स्वार्थपरायण सब देवता अब चले गये, स्वार्थी कोई न रह गया, 'झीनी राहमें' दूसरोंका निर्वाह नहीं। (रा० प्र०)। (स्वार्थ इससे भी विदित है कि वे फिर राज्याभिषेकमें नहीं आये। ग्रन्थकार भी उन्हें स्वार्थी कहते हैं।)

खर्रा—समरमें विजय, सीता-प्राप्ति और विभीषण-राज्य होनेपर सब देवता आये। अब प्रभुके सब दलोंके सब वानर-भालु भी जीवित हो गये, प्रभुकी सेना ज्यों-की-त्यों पूर्ववत् हो गयी, कोई त्रुटि न रह गयी। अब कुछ करना न रह गया अतः अब आये। देवताओंके चले जानेपर आये; क्योंकि देवताओंने जो पक्ष लेकर स्तुति की थी, उसका ये खण्डन करेंगे। देवताओंने ऊपरके (बाह्य) शत्रु माने हैं। उन्होंने कहा था कि **'यह दुष्ट मार्‍यो नाथ। भए देव सकल सनाथ॥'**, और महादेवजी योगिराज हैं, ये आन्तरिक शत्रुओंको मुख्य मानते हैं, उन्हीं षड्रिपुओंसे रक्षाकी प्रार्थना करते हैं। मोह, संशय, भ्रम, काम, क्रोध और मद जो स्तुतिमें आये हैं ये ही शत्रु हैं।

वि० त्रि०—दण्डकारण्यमें जब प्रभुको सतीके साथ शिवजीने देखा तो कुसमय जानकर चिन्हारी न की, क्योंकि **'गुप्तरूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ।'** सरकार गुप्तरूपसे अवतीर्ण हैं, यदि मैं जाऊँगा तो भेद खुल जायगा, फिर रावणवध न हो सकेगा, क्योंकि उसने नरके हाथ मरण माँगा है अतः वह कुसमय था। अब रावणवध हो चुका तो जानेमें कोई रुकावट न रह गयी। अतः कहते हैं **'देखि सुअवसर प्रभु पहिं आए संभु सुजान।'**

पं०—शम्भुको 'सुजान' इसलिये कहा कि शंकरजीको संदेह है कि हमारे चेलेके द्वारा श्रीरघुनाथजीको बहुत क्लेश पहुँचा है; इससे हमपर उनकी नजर मोटी न पड़ गयी हो। इसीसे देवताओंके साथ जानेमें मानापमानका डर है, एकान्तमें इसका भय नहीं। इसलिये देवताओंके जानेपर आये। अथवा, यह सोचे कि ब्रह्मादिक सब दर्शन कर-कर आये, हमारे न जानेसे लोग कहेंगे कि रावणवधसे अप्रसन्न हैं इसीसे नहीं आये।—यह जानकर आये; अतः 'सुजान' कहा। (**नोट**—पर ऐसी शंकाएँ और विचार भक्तशिरोमणि शंकरजीके विषयमें बहुत ही अयोग्यसे जान पड़ते हैं।)

रा० प्र०—रावणवधपर, उसपर जय पानेपर अन्तमें यह स्तुति की अतः 'त्रिपुरारि' नाम दिया।

प० प० प्र०—त्रिपुरारिकृत स्तुति इति। १ सुरगणोंकी स्तुतिमें हर्ष अथवा प्रीतिका नाम भी नहीं है। इन्द्रने 'हर्षित मन' से स्तुति की। चतुराननने **'अति सप्रेम तन पुलकि'** स्तुति की और त्रिपुरारि **''परम प्रीति, नलिन नयन भरि बारि, पुलकित तन गदगदगिरा बिनय करत''**। उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाकर श्रीशिवजीमें प्रीतिकी परम सीमा दिखायी। इन्द्रके रोमाञ्च नहीं हुए, ब्रह्माजीमें रोमाञ्च हुए, पर शिवजीमें रोमाञ्च, अश्रु और गद्गद गिरा ये तीनों अनुभाव हुए। **'मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥'** यही प्रेमी भक्तका लक्षण प्रभुने श्रीमुखसे बताया है। तभी तो कहा है **'सिव सम को रघुपति ब्रत धारी'**, **'को सिव सम रामहि प्रिय भाई'** (१।१०४), 'रामभूपप्रियम्'।

२ इस स्तुतिमें रावणवधादिका उल्लेखतक नहीं है तब इसमें रावणके दोषोंका वर्णन कैसे मिल सकता है।

रामभक्त पराया दोष नहीं वर्णन करते, यह भी यहाँ दिखाया है। दोष ही क्या गुण देखना भी अविवेक है यथा—'सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक। गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक ॥ ७ । ४१ ।' अतः राम-भूपप्रिय शिवजी भला यह अविवेक कब कर सकते हैं।

मामभिरक्षय रघुकुल-नायक। धृत बर चाप रुचिर कर सायक ॥ १ ॥
मोह महा घन पटल प्रभंजन। संसय बिपिन अनल सुररंजन ॥ २ ॥

अर्थ—हे रघुकुलनायक! सुन्दर हाथोंमें श्रेष्ठ धनुष और सुन्दर दीप्तिमान बाण धारण किये हुए आप मेरी रक्षा कीजिये ॥ १ ॥ महामोहरूपी महाघोर घनसमूहके (उड़ानेके लिये आप) प्रचण्ड पवन हैं, संशयरूपी वनके भस्म करनेके लिये आप अग्निरूप हैं और देवताओंको आनन्द देनेवाले हैं ॥ २ ॥

नोट—१ 'रघुकुलनायक' का भाव कि रघुकुलमें सभी शरणागतकी रक्षा करते आये हैं और आप तो उसके 'नायक' अर्थात् सबमें शिरोमणि हैं अतः मेरी रक्षा कीजिये। रक्षा चाहते हैं अतः धनुषबाण धारण करना कहा। 'वर' अर्थात् जिसे शत्रु काट न सके। रक्षा शत्रुसे की जाती है, तुम्हारे कौन शत्रु हैं जिनसे रक्षा करें? उसपर शत्रुओंको गिनाते हैं। मोह, संशय आदि शत्रु हैं। २—मोहको घन-पटल कहा, उसके छिन्न-भिन्न करनेके लिये प्रचण्ड वायु चाहिये जो मेघसमूहको उड़ाकर तितर-बितर कर दे। अतः 'प्रभंजन' नाम दिया जिसका अर्थ ही है 'प्रकर्ष करके भंजन करनेवाला'। इसीसे दूसरा नाम न दिया। ३—मोहको 'घन पटल' कहा क्योंकि मोहदल बड़ा भारी है, यथा—'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि। आ० ४३।' 'जीति मोह महिपाल दल०' और 'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला'। संशयको वन कहा क्योंकि संशयमें पड़नेसे फिर उससे मिलना कठिन है, वह बढ़ता ही जाता है, यथा—'अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा ॥ १ । ५१ ।' यहाँ 'परंपरित रूपक' है।

प० प० प्र०—१ शंकरजीको 'मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ स्वः संभवं शंकरम्' कहा है। वे स्वयं ही दूसरोंके मोह-महाघन पटलके प्रभंजन करनेवाले पवन हैं, तथापि वे यह प्रार्थना कर रहे हैं। इससे जनाया कि वे दीन भाव ग्रहण किये हुए हैं। पार्वतीजीने कहा है कि 'तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना'। ऐसे जगद्गुरु होनेपर उनमें अहंकारका लेश नहीं है।

☞ इससे कवि जनाते हैं कि श्रीशंकरजीको मोहमहाघनपूगपाटन-शक्ति उनकी इस दीनतासे, उनकी राम-भक्तिसे ही मिली। और तब उन्होंने पार्वतीजीका मोह हटा दिया जैसा श्रीपार्वतीजीके वचनसे स्पष्ट है—'धन्य धन्य मैं धन्य पुरारी।''तुम्हरी कृपा कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह ॥ ७ । ५२ ।', 'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी ॥ १ । १२० ।' [देखिये यहाँ त्रिपुरारिने स्तुति इस विशेषणसे की और पार्वतीजीने अपना मोह दूर होनेपर 'पुरारी' ही सम्बोधन दिया है।]

२ 'संसय बिपिन अनल' इति। सुतीक्ष्णजीने श्रीरामजीको 'संशय सर्प ग्रसन उरगादा' कहा है। दोनोंमें भावसाम्य है। संशयसर्पके काटनेसे अनेक कुतर्करूपी लहरें उठती हैं, यथा—'दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता।' और वनमें अनेक प्रकारके कुतर्क उठते हैं जो दुःख तथा भयके देनेवाले होते हैं। शंकरजी संशयवनके विनाशक हैं, यथा—''तुम्ह कृपालु सब संसय हरेऊ। रामसरूप जानि मोहि परेऊ ॥ १ । १२० । २ ।' इस वचनमें भी शिवजीका दीन-भाव बताया।

३ मोह समस्त व्याधियोंका मूल है, इससे सर्वप्रथम उसे कहा। आगे उसके कार्योंको कहते हैं।

अगुन सगुन गुनमंदिर सुंदर। भ्रम तम प्रबल प्रताप दिवाकर ॥ ३ ॥
काम क्रोध मद गज पंचानन। बसहु निरंतर जन मन कानन ॥ ४ ॥

अर्थ—आप निर्गुण हैं, सगुण हैं, सुन्दर (दिव्य) गुणोंके धाम एवं सौन्दर्यनिधान हैं। भ्रमरूपी अन्धकारके लिये आपका प्रबल प्रताप सूर्यवत् है ॥ ३ ॥ काम, क्रोध और मदरूपी हाथियोंके लिये सिंहरूप आप मुझ दासके मनरूपी वनमें निरन्तर वास कीजिये ॥ ४ ॥

पु० रा० कु०—१ 'अगुन सगुन०' इति। गुणातीत एवं निराकार होनेसे निर्गुण कहते हैं और मनुष्यावतार लेनेसे सगुण। ('अगुन सगुन'—विस्तृत व्याख्या बालकाण्डके दोहा २३ (१) (४) तथा ११६ (१-२) देखिये। और पूर्व इन्द्रस्तुति 'अव्यक्त जेहि श्रुति गाव' तोमर छन्द ७ देखिये। इनसे गोस्वामीजीके अगुण सगुण स्वरूपका भाव स्पष्ट हो जाता है)।

['अगुन सगुन गुनमन्दिर'=आप अगुण और सगुणके गुणमन्दिर अर्थात् कारण हैं। अर्थात् इन दोनोंसे परे हैं। (पां०)]

२—'भ्रमतम प्रबल प्रताप दिवाकर', यथा—'राम सच्चिदानन्द दिनेसा। नहिं तहँ मोहनिसा लवलेसा'॥ निजस्वरूपास्फूर्ति माया है वही तम है जिसके नाशके लिये रामजी सूर्य हैं। ३—प्रबलका भाव कि—(क) श्रीरामचन्द्रजी स्वतः प्रकाशित हैं और सूर्य श्रीरामजीसे प्रकाशित है, यथा वाल्मीकीये 'सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यः। गीतामें स्पष्ट है। 'तत्तेजो विद्धि मामकम्'। (ख)—सूर्यके प्रतापको रावणने जीता पर मोहादिको न जीत सका और रामप्रताप मोहादिका नाशक है। रावण रामप्रतापको नहीं जीत सका। पुनः, मोहने रावणको जीत लिया पर रामप्रतापको न जीत सका। अतः प्रतापको 'प्रबल' कहा। पुनः, (ग)—सूर्यका प्रताप दिनमें ही रहता है और रामप्रताप दिनरात बराबर एकरस प्रकाशित रहता है; यहाँ रात होने ही नहीं पाती।

प० प० प्र०—शिवजीके वचन हैं—'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबिकर बचन मम' और कविने भी कहा है—'सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना। मिटि गइ सब कुतरक कै रचना॥ १। ११९। ७॥ भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती॥'—इससे जनाया कि (क) जबतक रामस्वरूप विषयक भ्रम और भ्रमजनित कुतर्क है तबतक 'रघुपति पद प्रीती' की प्राप्ति न होगी। (ख) जबतक भ्रमतमका अस्तित्व है तबतक काम क्रोध मदरूपी गज भी संशयरूपी विपिनमें रहेंगे ही, इसमें तो आश्चर्य नहीं, पर भ्रमके नाश होनेपर भी वे जन-मन-वनमें प्रवेश कर सकते हैं। नारद-मोह-प्रसङ्ग इसका उदाहरण है। ज्ञान प्राप्त होनेपर भी ये शत्रु रहते ही हैं। यथा—'दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आहीं। ३। ४३। ९।' अतः आगे सिंहरूपसे हृदयमें निवास करनेकी प्रार्थना करते हैं। (ग) शिवजी भ्रमतम दिवाकर हैं, पर 'प्रबल प्रताप दिवाकर' नहीं हैं, ऐसा भाव ग्रहण कर 'भ्रम तम प्रबल दिवाकर' विशेषण द्वारा स्तुति करते हैं। यह भी दीनतासूचक है।

नोट—यहाँतक छः शत्रु गिनाये। ये सदा हृदयमें वास करते हैं, यथा—'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना॥ सुं० ४७॥' इनसे बचनेका एकमात्र उपाय यह है कि धनुर्धर राम हृदयमें वास करें। 'जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥' इसीसे आदिमें 'धृत बर चाप रुचिर कर सायक' कहकर स्तुति प्रारम्भ की और यहाँ हृदयमें निवास करनेकी प्रार्थना करते हैं—

२—कामादिपर गजका और मनपर वनका आरोप किया, अतः रामचन्द्रजीपर सिंहका आरोप हुआ। यथा—'काम कोह कलिमल करिगन के। केहरिसावक जन मन बन के'॥ बा० ३२ (६) देखिये।

३—'बसहु निरंतर' का भाव कि जिसमें कामादि विकार कभी वहाँ आने ही न पावें। किञ्चित् भी कालके लिये यदि आप हृदयसे चले जायँगे तो ये तुरंत ही उसमें प्रवेश कर जायँगे।

बिषय मनोरथ पुंज कंज बन। प्रबल तुषार उदार पार मन॥ ५॥
भव बारिधि मंदर परमंदर। बारय तारय संसृति दुस्तर॥ ६॥

अर्थ—विषयवासना समूहरूपी कमलवनके लिये आप प्रबल पालारूप हैं। आप उदार (दानी) हैं और मनसे परे हैं॥ ५॥ भवसागर मन्थनके लिये आप मन्दर हैं, हमारे परम भयको निवारण कीजिये और दुस्तर संसार-सागरसे पार कीजिये॥ ६॥

प० प० प्र०—१ 'विषय मनोरथ···' इति। विषय मनोरथोंका वारापार नहीं, मानस रोगोंमेंसे इनको शूल कहा है। यथा—'बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥' जबतक कामादिका निवास है, जबतक मोह

रहा है, तबतक विषय मनोरथ पुंजरूपी कमलवनकी वृद्धि ही होगी। मिलान कीजिये—'बहु वासना मसक हिम रासिहि। ७। ३०। ९।' श्रीरामजीको प्रबल तुषार कहा, इसी तरह श्रीसीताजीको शीतनिशा सम कहा है। यथा—'तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥ ५। ३६। ९॥' श्रीरामजी विषयमनोरथ कंज वनके लिये तुषार हैं पर संत कंजवनके लिये रवि हैं। इससे सूचित हुआ कि विषय मनोरथोंका जबतक नाश न होगा तबतक कोई संत नहीं हो सकता।

'भव बारिधि···' इति। बालकाण्डमें ब्रह्माजीने भी स्तुतिमें कहा है—'**भवबारिधिमंदर सब बिधि सुंदर गुनमन्दिर सुख पुंजा**'। मन्दराचलके मथनेपर समुद्रसे अमृत निकला। और यहाँ भववारिधि-मन्थनसे रामप्रेमामृतका निकलना लक्षित है तथा श्रीरामनामामृतका भाव कि अपने चरणोंमें प्रगाढ़ प्रेम देकर मेरे परम भयको दूर कीजिये और भव-संसृति जन्ममरणरूपी दुस्तर सागरसे पार कीजिये। [पुनः प्रथम भवबारिधि मंदर सरकारका विशेषण देकर तब '**तारय संसृति दुस्तर**' कहा। भाव कि भवपार करनेको आप समर्थ हैं अतः मैं यह वर माँगता हूँ।]

टिप्पणी—'**भववारिधि मंदर**', यथा—**भवाम्बुनाथ मंदरं**। ३। ४।' देखिये। इस चौपाईमें षट्पदीका सम्मत दर्शित होता है। मिलान कीजिये—**अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्। भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः॥ १॥···दामोदरगुणमन्दिरसुन्दरवदनारविन्द गोविन्द। भवजलधिमथनमन्दर परमं दरमपनय त्वं मे॥ ६॥**'

नोट—'परमंदर=परमं+दर=परम डर, परम भय। 'दर' संस्कृत शब्द है इसका अर्थ है 'डर'। कुछ लोगोंने इसका अर्थ यह किया है कि—'आप मंदरसे भी बढ़कर अप्राकृत मंदर हैं'।

स्याम गात राजीवबिलोचन। दीनबंधु प्रनतारतिमोचन॥ ७॥
अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उर अंतर॥ ८॥
मुनिरंजन महिमंडल मंडन। तुलसिदास प्रभु त्रास बिखंडन॥ ९॥

अर्थ—हे दीनबन्धु! आपका श्यामशरीर और राजीव कमल (दलवत् विशाल) नेत्र शरणागतके दुःखके छुड़ानेवाले हैं॥ ७॥ हे राजा रामचन्द्रजी! आप भाई लक्ष्मण और श्रीजानकीजीसहित मेरे हृदयमें निवास कीजिये॥ ८॥ आप मुनियोंको आनन्द देनेवाले, पृथ्वीमण्डलके भूषण, तुलसीदासके प्रभु और भयके नाशक हैं॥ ९॥

नोट—१ श्यामगात एवं राजीवविलोचन ये दोनों ही आर्तिहरण हैं, यथा—'**भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। स्यामलगात प्रनत भय मोचन**'—सुं० ४५ (४) देखिये। २—**अनुज जानकी सहित निरन्तर**···' इति। यहाँ भी 'निरन्तर' पद दिया क्योंकि हृदयसे आप हटे नहीं कि कामादि रिपु अपना दखल जमा लेते हैं। 'राम-नृप' को बसाना चाहते हैं, उसीसे आगे तिलकके समय राज्यसिंहासनासीन होनेपर पुनः वर माँगने जायँगे।

रा० प्र०—रक्षाकी प्रार्थना आदिसे ही करते आये हैं अतः यहाँ 'नृप' पद दिया। जो मनुष्योंका पालन करे वह नृप है। राजा प्रजाकी रक्षा करते ही हैं। पुनः, नृपसे सनातन द्विभुजरूपका निवास माँगा।

वीर—कहाँ त्रेतायुगमें शिवजीका स्तुति करना और कहाँ लाखों वर्ष पीछे कलियुगमें गुसाईंजीकी उत्पत्ति, फिर शिवजीके मुखसे तुलसीदासके स्वामीका सम्बोधन दिलाना अयुक्त-सा प्रतीत होता है। पर जहाँ कवि लोग भावी अर्थको प्रत्यक्षकी तरह वर्णन करते हैं वह भाविक अलंकार माना जाता है। यहाँ वही अलंकार है इससे सन्देहका कोई कारण नहीं है।

नोट—महान् कविकी शैली है कि भाविक-अलंकारसे अपना सम्बन्ध सरकारके परम भक्तोंद्वारा दृढ़ कराते हैं। अनेक स्थलोंमें मानसमें ही ऐसा प्रयोग हुआ है। यथा—'**जब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पार उतारिहउँ॥ अ० १००॥**' '**सकल तनय चिरजीवहु तुलसिदास के ईस। १। १९६।**' **तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई। अ० ७५।**'

रा० कु०—तुलसीदासके स्वामी और अभय दान देनेवाले ये पद गोसाईंजीने प्रेममें मग्न हो अपने लिये लिखे हैं।

दोहा—नाथ जबहिं कोसलपुरी होइहि तिलक तुम्हार।
कृपासिंधु मैं आउब देखन चरित उदार ॥११४॥

अर्थ—हे नाथ! हे दयासागर! अयोध्यापुरीमें जब आपका तिलक (राज्याभिषेक) होगा, तब मैं आपके उदार चरित देखने आऊँगा ॥ ११४ ॥

नोट—दोहेसे मिलता हुआ श्लोक अ० रा० में यह है—'ततः प्रोवाच भगवान् भवान्या सहितो भवः। रामं कमलपत्राक्षं विमानस्थो नभस्थले ॥ आगमिष्याम्ययोध्यायां द्रष्टुं त्वां राज्यसत्कृतम् ॥ १३ । ३३-३४ ॥' अर्थात् तदनन्तर आकाशमें विमानपर बैठे हुए भवानीसहित भगवान् शङ्करने कमलदललोचन श्रीरामजीसे कहा—'मैं आपको राज्याभिषिक्त होते देखनेके लिये अयोध्यापुरीमें आऊँगा।'

पं०—'उदार' विशेषण दिया क्योंकि उस समय भक्तिका वरदान माँगने जायँगे—यथा—'बार बार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग ॥ उ० १४ ॥'

वि० त्रि०—कोसलपुरीमें जब रामजीका तिलक होता है, उस झाँकीके सच्चे रसिक शिवजी हैं (यथा—'वह सोभा समाज सुख कहत न बनै खगेस। बरनहिं सारद सेष श्रुति सो रस जान महेस ॥' अतः उस झाँकीके दर्शनकी आशा इसी समय ले रखते हैं। उस समय सुखकी वर्षा होती है। यथा—'चढ़ि बिमान आये सब सुर देखन सुखकंद'। सुखकन्दका अर्थ ही 'सुखकी वर्षा करनेवाला है।' इसलिये उस चरितको 'उदार' कहा है। उस चरितके गानसे जगत्का कल्याण होता है, यथा—'सुनु खगपति यह कथा पावनी। त्रिबिधि ताप भव भय दावनी ॥ महाराज कर सुभ अभिषेका। सुनत लहहिं नर बिरति बिबेका ॥ जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना बिधि पावहिं ॥ सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंत काल रघुपति पुर जाहीं ॥ सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई ॥'

प० प० प्र०—इस स्तुतिका वैशिष्ट्य—(१) इसमें किसीके गुण वा दोषोंका वर्णन नहीं है। (२) नौ अर्धालियोंसे इसकी अखण्डता और निर्विकारता सूचित की और दोहोंकी दो पंक्तियाँ मिलाकर रुद्रोंकी एकादश संख्या सूचित की। शिव-विवाहमें ग्यारह छन्द हैं और पार्वतीतपके वर्षोंमें भी ग्यारह संख्या की ही विशेषता है। उत्तरकाण्डमें भी शिवस्तुतिमें दस छन्द और एक दोहा मिलकर ग्यारह ही हैं। (३) शिवजी कैलासनिवासी हैं। कैलास पर्वत है और घनपटल प्रथम गिरिशिखरोंपर ही एकत्र होते हैं, अतः वह उपमा प्रथम दी। (४) पर्वतोंपर विपिन होते हैं और कभी-कभी उनको दावाग्नि जला देती है। अतः दूसरी उपमा 'बिपिन अनल' की दी। (५) पर्वतकी कन्दराओंमें प्रबल अन्धकार रहता है अतः प्रबल तम प्रतापदिवाकर की उपमा दी। पर्वतस्थित वनोंमें हाथी और सिंह भी रहते हैं और उनके दरीं तालाबोंमें कमल होते हैं और हिम-वर्षा भी होती है अतः ये उपमाएँ दी गयीं। (६) मन्दरकी सहायतासे क्षीरसागर मथा गया। अतः उसकी उपमा दी।—इस प्रकार यहाँतक पर्वतसम्बन्धी ही उपमाएँ दी गयी हैं। उपक्रम पर्वतको ध्वनित करके किया और पर्वतसम्बन्धी उपमाओंका उपसंहार छठी अर्धालीमें किया गया।

☞ जिनके अवतार श्रीहनुमान्‌जी हैं वे शिवजी ही स्वयं जब मोहादिके विनाश और श्रीरामप्रेमकी याचना श्रीरामजीसे कर रहे हैं तब विषयी मानव जीवोंका क्या कर्तव्य है इसका विचार करके श्रीरामजीकी शरण लेनी चाहिये—यह उपदेश हमें इससे मिलता है—'रामहिं भजहिं तात सिव धाता। नर पामर कर केतिक बाता ॥'

प० प० प्र०—शिवस्तुति मूलनक्षत्र है। ज्येष्ठा और मूल ये दो नक्षत्र परस्पर संलग्न ही देख पड़ते हैं। वैसे ही 'सुमन बरषि सब सुर चले चढ़ि चढ़ि रुचिर बिमान।' इस पूर्वार्धमें ज्येष्ठा स्तुतिकर्ता सुर चले और उत्तरार्धमें शम्भु-सुजान आये। इस प्रकार मूलनक्षत्रस्तुतिका उपक्रम किया गया। अब स्तुति और मूलनक्षत्रका साम्य देखिये—(१) अनुक्रम—मूल उन्नीसवाँ नक्षत्र है और यह स्तुति भी उन्नीसवीं है। (२) नाम साम्य—नक्षत्रका नाम मूल और शिवजी रामभक्तोंमें मूल (आद्य, अग्रगण्य) हैं। मानसके मूल कवि भी श्रीशिवजी ही हैं—'रचि महेस निज मानस राखा।' 'मूलं धर्मतरोः' भी शिवजी हैं। वे ही स्तुतिकर्ता हैं और इस स्तुतिका प्रतिपाद्य विषय भी समस्त दुःखों और संसृतिके मूल मोह तथा उसके कार्यका विनाश है। (३) तारा साम्य—मूलनक्षत्रमें ११ तारे हैं, जिसमेंसे आठवाँ तारा

नक्षत्र अस्पष्ट है। स्तुतिमें भी प्रभंजन, अनल, मन्दिर, दिवाकर, पञ्चानन, तुषार, मंदर, तारय संसृति दुस्तर' (इससे 'नाविक' लक्षित है जैसे आठवाँ तारा अस्पष्ट है), राजीव, मंडन और सिन्धु (कृपासिन्धु) ग्यारह हैं। तारोंकी संख्या ११ और शिवरूप रुद्र भी ११। (४) रूप-आकार-साम्य—नक्षत्रका रूप सिंहका-सा है। स्तुतिमें 'पंचानन' विद्यमान है और 'कृपासिंधु मैं आउब देखन चरित उदार' यह सिंहका पुच्छ है। (५) देवता साम्य—नक्षत्र देवता निर्ऋति है। निर्ऋतिके पुत्र ही नैर्ऋत (राक्षस) कहे जाते हैं। निर्ऋति अशुभ। मोह और मोहजनित संसृति तथा कामादि सब निर्ऋतिका परिवार ही है। मोहरूपी निर्ऋतिका नाश इसमें लक्षित है। (६) फलश्रुति—'सेवक सालिपाल जलधर से' यह फलश्रुति है। स्तुतिमें 'बसहु निरन्तर जन मन कानन' है। श्रीरामजी जन (सेवक) रूपी शालिके पालक हैं, काम क्रोधादिका विनाश करते और मोह तथा उसके कार्यों संशय आदिसे रक्षा करते हैं। जलधरके समान उदार हैं। यहाँ श्रीशिवजीरूपी सेवक शालि 'मामभिरक्षय' ऐसी प्रार्थना करते ही हैं।

'सुरन्हि कीन्हि अस्तुति'—प्रसंग समाप्त हुआ।

'पुष्पक चढ़ि कपिन्ह समेता०' प्रकरण

करि बिनती जब संभु सिधाए। तब प्रभु निकट बिभीषन आए॥ १॥
नाइ चरन सिरु कह मृदु बानी। बिनय सुनहु प्रभु सारँगपानी॥ २॥
सकुल सदल प्रभु रावन मार्‍यौ। पावन जसु त्रिभुवन बिस्तार्‍यौ॥ ३॥
दीन मलीन हीन मति जाती। मो पर कृपा कीन्हि बहु भाँती॥ ४॥

अर्थ—जब विनती करके शिवजी चले गये तब विभीषणजी प्रभुके पास आये॥ १॥ चरणोंमें सिर नवाकर कोमल वचन बोले। हे शार्ङ्गपाणि (शार्ङ्गधनुषबाण धारण करनेवाले) प्रभु! मेरी विनती सुनिये॥ २॥ हे प्रभु! आपने कुल और सेनासहित रावणका वध किया और तीनों लोकोंमें पवित्र यश फैलाया॥ ३॥ मुझ दीन (गरीब), मलिन (पापी), बुद्धिहीन और जातिहीन (अधम जातिवाला) पर बहुत प्रकारसे कृपा की॥ ४॥

नोट—१ 'जब संभु सिधाए'। अर्थात् जब सबसे प्रभुको सावकाश मिला, बाहरका कोई रह न गया, तब। 'प्रभु निकट' शब्दोंसे जनाया कि राजा होनेपर भी वे सेवक भाव ग्रहण किये हुए हैं। ये कविके वचन हैं। विभीषणजीके वचनमें यह भाव चरितार्थ भी हुआ है। वे प्रभु सम्बोधन करके कहते हैं—'सकुल सदल प्रभु रावन मार्‍यौ', 'विनय सुनहु प्रभु', 'अब जन गृह पुनीत प्रभु कीजै।' तीन बार 'प्रभु' ही कहकर दृढ़ सेवक भाव जनाया और 'जन' भी कहा। सुग्रीव तो राज्य पाकर फिर अपनेसे पास भी न आये थे। 'नाइ चरन सिरु'—यह भी दास्य और विनीत भावको ही पुष्ट करता है।

२ 'सकुल सदल०' इति। भाव कि यही अवतारका हेतु था। जिस लिये अवतार लिया वह कार्य पूर्ण कर चुके। दुष्टोंका संहार और जगत्‌में निर्मल यशका विस्तार करना, ये दोनों अवतारके हेतु हैं। यथा—'असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु। जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजनम कर हेतु॥ १। १२१।' सो ये दोनों कार्य सम्पन्न हो गये।

३ 'मोपर कृपा कीन्हि बहु भाँती'। भाव कि रावणवधसे मुनिविप्रादिका हित हुआ, यशसे भक्तोंका हित होगा, यथा—'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं', और मुझपर तो एक दो भाँतिसे नहीं वरन् बहुत प्रकारसे कृपा की है। पुनः, 'बहु भाँति' यह कि शरणमें लिया, तिलक किया, सखा बनाया, मन्त्री बनाया, शरण लेनेपर रावणसे मेरी रक्षा भी की, मेरे शत्रु भाईको मारकर मुझे राजा बनाया, धर्मोपदेश देते रहे, इत्यादि। निशिचरीके गर्भसे उत्पत्ति होनेसे 'जातिहीन' कहा। यहाँ उत्तरोत्तर अपना अपकर्ष कहा है। यह 'सार' अलंकार है।

अब जन गृह पुनीत प्रभु कीजै। मज्जनु करिय समर श्रम छीजै॥ ५॥
देखि कोस मंदिर संपदा। देहु कृपाल कपिन्ह कहुँ मुदा॥ ६॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब दासका घर पवित्र कीजिये, और स्नान कीजिये जिससे युद्धकी थकावट दूर हो ॥ ५ ॥ फिर हे कृपालु ! खजाना, महल और सम्पत्ति देखिये और प्रसन्नतापूर्वक वानरोंको दीजिये ॥ ६ ॥

नोट—१ (क) 'अब' का भाव कि और कुछ कार्य आपको अब करना शेष नहीं रह गया, दूसरे, बहुत भाँति कृपा कर चुके अब यही एक प्रकारकी कृपा और करनी रह गयी है सो इसे भी कर दीजिये। जन-गृह पुनीत करनेमें भाव कि आपका चरणरज पड़नेसे लंकापुरी जो पापमयी थी पवित्र हो जायगी। 'प्रभु' सम्बोधनका भाव कि मैं सेवक हूँ आपके वहाँ पधारनेसे वह गृह मंगल-भवन हो जायगा। यथा **'सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू॥'** (ख) चौदह वर्षकी अवधि पूरी हुई यह अनुमानकर विभीषणजी नगरमें चलकर घर पवित्र करनेकी प्रार्थना करते हैं। रा० प्र०। (ग) **'मज्जन करिय···'** इति। स्नानसे थकावट दूर होती है, यथा—**'मज्जन पान समेत हय कीन्ह नृपति हरषाइ। १। १५८।', गै श्रम सकल सुखी नृप भयऊ।'**, **'मज्जन कीन्ह परम सुख पावा। आ० ४१। १।'** अतः पहले स्नान करना लिखा तब श्रम दूर होना। श्रम दूर होनेपर सावधान होनेसे कोषादिकी देख-रेख हो सकेगी अतः इसे पीछे कहा। (घ) 'मज्जन करिये' से जनाया कि स्नानका जल, तेल-फुलेल उबटनादि सुगन्धद्रव्य, वस्त्र, भूषण, चन्दन, मालाएँ आदि और शृङ्गारकलामें कुशल स्त्रियाँ विधिपूर्वक स्नान करानेके लिये वहाँ उपस्थित थीं जैसा कि वाल्मी० १२१ में कहा है। यथा **'स्नानानि चाङ्गरागाणि वस्त्राण्याभरणानि च। चन्दनानि च दिव्यानि माल्यानि विविधानि च॥ २ ॥ अलङ्कारविदश्चैमा नार्यः पद्मनिभेक्षणाः। उपस्थितास्त्वां विधिवत्स्नापयिष्यन्ति राघव ॥ ३ ॥ प्रतिगृह्णीष्व तत्सर्वं मदनुग्रहकाम्यया।'** पुनः, 'मज्जन करिय' में दास्यभावानुसार यह भी गुप्त आशय है कि मैं चरणोदक पाकर घर-परिवार-सहित पवित्र और भवपार हो जाऊँगा। यथा **'पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार। पितर पारु करि'**··॥ अ० १०१।'

२ 'देखि कोष०' से जनाया कि यह सब आपका है, चाहे जिसे दें, देनेमें संकोच न करें। दूसरे, वानरोंने इतना परिश्रम किया, इनको लूट भी न मिली, विजयशील सेनाका भाग 'लूट' है, अतः आप इन्हें दें।

पंजाबीजी लिखते हैं कि कोष, मन्दिर' सम्पदा देनेको कहा क्योंकि वानरोंने बड़े पराक्रम किये हैं। मन्दिर देनेमें विभीषणका भाव यह है कि इनका लंकामें निवास कराइये। और प्र० स्वामीका मत है कि विभीषणजी जानते हैं कि श्रीरामजीने रामेश्वर महादेवकी स्थापना और पूजा की है। अतः 'मन्दिर' शब्दसे सूचित करते हैं कि लंकामें शिवमन्दिर है, वहाँ दर्शन करके पूजन कीजिये। इस कथनमें गुप्त आशय यह है कि शिवपूजनके निमित्तसे लंकामें आवेंगे। इसीसे प्रथम स्नान करनेको कहा। मेरी समझमें कोष और सम्पदाके बीचमें 'मन्दिर' शब्द रखने और उनको वानरोंको देनेकी प्रार्थनासे मन्दिरका अर्थ यहाँ भवन ही है। लंकामें विभीषणका हरिमन्दिर भी है और उसका उल्लेख मानसमें है ही। अन्य रामायणोंमें देवीके मन्दिरका भी होना वहाँ पाया जाता है और शिवजी तो स्वयं साक्षात् पुजानेके लिये आते थे। फिर गोस्वामीजी तो लंकाके घर-घरको 'मन्दिर' कह चुके हैं, यथा—**'मंदिर मंदिर प्रति कर सोधा'** इत्यादि।

सब बिधि नाथ मोहि अपनाइअ। पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइअ॥ ७ ॥
सुनत बचन मृदु दीनदयाला। सजल भए द्वौ नयन बिसाला॥ ८ ॥

अर्थ—हे नाथ ! मुझे सब प्रकारसे अपना लीजिये फिर मुझसहित अवधपुरीको जाइये॥ ७॥ (विभीषणजीके) कोमल वचन सुनते ही दीनदयाल रघुनाथजीके दोनों विशाल नेत्रोंमें जल भर आया॥ ८॥

टिप्पणी—१ 'सब बिधि'। भाव कि—(क) हमारी देह तो अपनाई ही है अब सब वस्तु भी अंगीकार कीजिये। पुनः, (ख)—तात्पर्य यह है कि आपने मुझे सब प्रकार अपनाया, केवल एक प्रकार रह गया; वह यह कि मेरे 'गृहको पवित्र करना' बाकी है। उसे भी पवित्र कीजिये। ऐसा करनेसे 'सब बिधि' अपनाना पूरा हो जायगा। ऐसा करनेपर मैं आपकी पूर्ण कृपा अपने ऊपर समझूँगा। (ग)—मित्रताका लक्षण है कि मित्रके घर जाय, मित्रको अपने घर ले जाय; वही बात वे यहाँ कहते हैं कि **'सब बिधि नाथ मोहि अपनाइए। पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइए'**। (यहाँतक जितनी प्रार्थना की गयी वह सब सेवक-स्वामि-भावसे। इसीसे बराबर 'प्रभु' और यहाँ 'नाथ' सम्बोधन प्रयुक्त हुआ है। अतः यह भाव शिथिल-सा जान पड़ता है। हाँ, यह आशय सम्भवतः। पण्डितजीका हो कि मैं तो सदा

सेवक ही हूँ पर आप सखा मानते हैं तो मित्रका लक्षण यह है, इस रीतिसे भी अपनाइये फिर घर पवित्र करनेकी प्रार्थना दास भावमें ही समुचित है। सखा तो ऐसे शब्द नहीं कहेंगे वरंच वे तो 'निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई।'वे 'गृह पुनीत प्रभु कीजे' ऐसा नहीं कहते।)

नोट—१ ☞ मिलान कीजिये 'अर्चितः सर्वकामैस्त्वं ततो राम गमिष्यसि ॥ १३ ॥ प्रीतियुक्तस्य विहितां ससैन्यः ससुहृद्गणः। सत्क्रियां राम मे तावद् गृहाण त्वं मयोद्यताम् ॥ १४ ॥ प्रणयाद् बहुमानाच्च सौहार्देन च राघव। प्रसादयामि प्रेष्योऽहं न खल्वाज्ञापयामि ते। वाल्मी० १२३। १५।' अर्थात् मेरे द्वारा समस्त सैन्य और सुहृदोंसहित आप भूषणादिसे सत्कारित हों और मुझपर प्रसन्न होकर श्रीअयोध्याजी चले जाइयेगा। मैं प्रीतिपूर्वक बहुमानपुरस्सर एवं सौहार्दवश आपका विधिवत् सत्कार करना चाहता हूँ, आप सत्कारके लिये एकत्र की हुई सामग्रीको ग्रहण करें। मेरी तो यह प्रार्थना है क्योंकि मैं आपका दास हूँ, निश्चय ही मैं आपको आज्ञा नहीं दे सकता।

टिप्पणी—२ 'सजल भए द्वौ नयन०' इति। भरतजीका दुःख स्मरण करके और समझकर दुखी हुए; यही बात आगे कहते हैं। उन्होंने सोचा कि भरतजी हमारे निमित्त अति तीव्र तपोव्रत धारण किये हैं उनके बिना हमको स्नानादिक उचित नहीं। दोहा ११५ देखिये। यथा 'स तु ताम्यति धर्मात्मा मम हेतोः सुखोचितः। सुकुमारो महाबाहुर्भरतः सत्यसंश्रयः ॥ ५ ॥ तं विना कैकयीपुत्रं भरतं धर्मचारिणम्। न मे स्नानं बहुमतं वस्त्राण्याभरणानि च ॥ ६ ॥ वाल्मी० १२१।' अर्थात् सुख पानेके योग्य, धर्मात्मा; सुकुमार, महाबाहु, सत्यवक्ता, राजकुमार भरत मेरे लिये कष्ट पा रहा है। उस धर्मात्माको देखे बिना स्नान करना, वस्त्राभरण धारण करना उचित नहीं।

पं०—१ यहाँ नेत्रोंको विशाल विशेषण देनेका भाव क्या है? उत्तर—यहाँ विशालता कथन बड़ी लज्जाके सम्बन्धसे है। विभीषणके दोनों वचन सुन नेत्रोंमें जल भर आनेका कारण यह है कि इधर तो विभीषणकी प्रीति देख उनके वचन कैसे फेरें, और उधर पिताकी आज्ञासे नगरमें जा नहीं सकते। अवधि बिताकर नगरमें जायँ तो उधर भरतजीका अटलप्रेम और उनकी दशा विचारकर यहाँ अवधि बिता नहीं सकते। क्योंकि अवधि व्यतीत होनेपर वे एवं सब परिवार प्राण ही त्याग देगा। इस असमंजससे नेत्र सजल हो आये।

नोट—जो वाल्मीकीयमें श्रीरामजीने उत्तरमें कहा है—'पूजितोऽहं त्वया सौम्य साचिव्येन परन्तप। सर्वात्मना च चेष्टाभिः सौहृदेनोत्तमेन च ॥' हे सौम्य! हे परन्तप! तुम्हारी सहायतासे ही मेरा सत्कार हो चुका। इसके अतिरिक्त तुम्हारे पौरुष और उत्तम सौहार्दयुक्त व्यवहारसे भी तुमने मेरा सब प्रकारसे बड़ा सत्कार किया है। तथा 'अनुजानीहि मां सौम्य पूजितोऽस्मि विभीषण। मन्युर्न खलु कर्तव्यस्त्वरितं त्वानुमानये ॥' मैं तुमसे सत्कृत हो चुका। भरतके मिलनेके लिये आतुर हूँ। अतः मेरे तुरंत जानेसे तुम दुखी न हो। मुझे जानेकी अनुमति दो। इन वचनोंसे मानसके 'सजल भए द्वौ नयन बिसाला।' तथा आगेके 'तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन' ये वचन कहीं अधिक भाव गर्भित हैं, यह पाठक स्वयं देख सकते हैं।

दो०—तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात ॥
तापस बेष गात कृस जपत निरंतर मोहि।
देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरौं तोहि ॥ ११५ [क]

अर्थ—हे भाई! सुनो, तुम्हारा खजाना और घर सब मेरा ही है, मेरा वचन सब सत्य है। एवं मेरा यह सत्य वचन सुनो। भरतजीकी दशा याद करते ही मुझे पल-पल कल्पके समान बीत रहा है। तपस्वी वेष बनाये दुर्बल शरीरसे वे निरन्तर मुझे (बिना क्षणमात्रका बीच पड़े) जप रहे हैं। वह उपाय करो, जिससे मैं उनको शीघ्र देखूँ। हे सखे! मैं तुम्हारी बिनती करता हूँ। (तुम्हारा मुझपर बड़ा एहसान होगा। भाव यह कि अब मुझे यहाँ रोको नहीं वरन् शीघ्र कल ही वहाँ तक पहुँचा देनेवाली सवारीपर मुझे वहाँ पहुँचा दो) ॥ ११५ ॥

नोट—१ 'तोरं कोस गृह मोर सब' यह विभीषणजीके 'देखि कोष मंदिर संपदा। देहु कृपाल कपिन्ह कहँ मुदा' का उत्तर है। यह मित्रधर्म दिखाया, मित्रको मित्रका धन और भवन अपना समझना चाहिये। यथा—'देत लेत मन संक न धरई'—(कि० ६)।

२—विभीषणने अपनेको दास कहा, यथा—'अब जन गृह पुनीत प्रभु कीजे', 'सब बिधि नाथ मोहि अपनाइय'। उसपर प्रभु उनको 'भ्राता' और 'सखा' सम्बोधन करते हैं और कहते हैं कि 'तोर कोस गृह मोर सब' अर्थात् तुम तो मेरे मित्र हो, भाई हो, हममें तुममें भेद कहाँ ? तुम्हारे पास यह सब है तो समझ लो कि हमारे ही पास है।

३—'भरत दसा सुमिरत' कहकर फिर उनकी दशा कुछ वर्णन करते हैं कि हमारे वियोगमें वे भी जटाएँ धारण किये तपस्वी-वेषसे नियमपूर्वक रह रहे हैं, तपसे शरीरको गला डाला है, और मेरा नाम जपा करते हैं, यथा—'पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। जीह नाम जप लोचन नीरू॥ लषन राम सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तप तनु कसहीं॥', 'जटा जूट सिर मुनिपट धारी। महि खनि कुस साथरी सवाँरी॥' असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषि-धरम सप्रेमा॥ भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तृन तूरी॥'

प० पु० पातालखण्डमें शेषजीने वात्स्यायन मुनिसे श्रीभरतजीकी दशा इस प्रकार वर्णन की है कि—वे भाईके वियोगजनित अनेकों दुःखमय चिन्होंको धारण करके धर्मका पालन करते हुए नन्दिग्राममें पृथ्वीमें गड्ढा खोदकर उसीमें रहते थे। ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक मस्तकपर जटा और शरीरमें वल्कल वस्त्र धारण किये रहते थे। उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। वे निरन्तर श्रीरामचन्द्रजीकी चर्चा करते हुए दुःखसे आतुर रहते थे। अन्नके नामपर तो वे जौ भी नहीं ग्रहण करते थे तथा पानी भी बारम्बार नहीं पीते थे। सूर्योदय होनेपर वे सूर्यको प्रणाम करके कहते 'जगत्को नेत्र प्रदान करनेवाले भगवान् सूर्य ! आप मेरे महान् पापको हर लीजिये। मेरे ही कारण जगत्पूज्य श्रीरामचन्द्रजीको वन जाना पड़ा। जो श्रीसीताजी फूलकी शय्यापर पुष्पोंके डण्ठलके स्पर्शसे भी व्याकुल हो उठती थीं और जो कभी सूर्यकी धूपमें घरसे बाहर नहीं निकलीं, वे ही पतिव्रता श्रीजनककिशोरी आज मेरे कारण वनोंमें भटक रही हैं। जिनके ऊपर कभी राजाओंकी भी दृष्टि नहीं पड़ी उन्हीं श्रीसीताजीको आज किरात लोग प्रत्यक्ष देखते हैं। जो यहाँ पकवानोंको भोजनके लिये आग्रह करनेपर नहीं खाना चाहती थीं, वे ही जानकीजी आज जङ्गली फलोंके लिये स्वयं याचना करती होंगी।' जब विद्वान् मन्त्री उनको सान्त्वना देते हुए कुछ कहते तो वे इस प्रकार उत्तर देते थे—'अमात्यगण ! मुझ भाग्यहीनसे आप लोग क्यों बातचीत करते हैं ? मैं संसारके सब लोगोंसे अधम हूँ; क्योंकि मेरे ही कारण मेरे बड़े भाई आज वनमें जाकर कष्ट उठा रहे हैं। मुझ अभागेके लिये अपने पापोंके प्रायश्चित्त करनेका यह अवसर प्राप्त हुआ है, अतः मैं श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंका निरन्तर आदरपूर्वक स्मरण करते हुए अपने दोषोंका मार्जन करूँगा। इस जगत्में माता सुमित्रा ही धन्य हैं जो वीर पुत्र लक्ष्मणकी जननी हैं और जिनके पुत्र लक्ष्मण सदा श्रीरामजीके चरणोंकी सेवामें रहते हैं।' भ्रातृवत्सल भरत नन्दिग्राममें रहकर उच्चस्वरसे इस प्रकार विलाप किया करते थे।

४ 'तापस वेष···'—ऐसा ही अ० रा० में कहा है। यथा 'सुकुमारोऽतिभक्तो मे भरतो मामवेक्षते। जटावल्कलधारी स शब्दब्रह्मसमाहितः॥ १३।४३।' अर्थात् मेरा भाई भरत अति सुकुमार और मेरा भक्त है, वह जटावल्कल धारण किये भगवन्नाममें मेरी बाट देखता होगा। पर मानसके 'निरंतर मोहि' को 'शब्दब्रह्मसमाहितः' से मिलान करके तो देखिये।

दो०—बीते अवधि जाउ जौं * जिअत न पावौं बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति† प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥
करेहु कल्प भरि राज तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं।
पुनि मम धाम पाइहहु‡ जहाँ संत सब जाहिं॥११५॥

* जौ जैहौं बीते अवधि। † प्रीति भरत कै समुझि। ‡ सिधाइहहु—(का०)।

अर्थ—यदि अवधिके बीत जानेपर जाऊँगा तो वीर भाईको जीता न पाऊँगा। भाईकी प्रीति स्मरण कर प्रभुका शरीर बारम्बार पुलकित हो रहा है। तुम एक कल्पभर राज्य करना और मनमें मेरा स्मरण करते रहना। फिर तुम मेरे धामको पाओगे जहाँ सब संत जाते हैं॥ ११५॥

पु० रा० कु०—'बीते अवधि जाउँ जौं०'। तात्पर्य कि श्रीभरतजी शपथ कर चुके हैं, यथा—'पुलक सरीर नीर भरि लोचन कहत प्रेमपन कीन्हें॥ ३॥ तुलसी बीते अवधि प्रथम दिन जो रघुबीर न ऐहौ। तौ प्रभु-चरन-सरोज-सपथ जीवत परिजनहिं न पैहौ॥ ४॥ गी० अ० ७६।' पुनः यथा—'चतुर्दशे हि संपूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम। न पश्यामि यदि त्वां च प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्॥' (वाल्मी० अ०) ['सुमिरत अनुज प्रीति' 'सरीर' इति। चित्रकूटमें भरतजीके आनेके पूर्व भी श्रीरामजीका उनपर ऐसा ही अनुराग था, श्रीभरद्वाजजी इसके साक्षी हैं। उन्होंने कहा है 'सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। पेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं॥ लषन राम सीतहि अति प्रीती। निसि सब तुम्हहिं सराहत बीती॥ जाना मरमु नहात प्रयागा। मगन होहिं तुम्हरे अनुरागा॥ २। २०८।' और प्रभुने स्वयं उनके सम्बन्धमें कहा है कि 'सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना।' और 'कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ। पेम पयोधि मगन रघुराऊ॥ २। २३२।' और चित्रकूट दरबारसे तो उनका प्रेम सभीको प्रकट हो गया। उसपर भी वे अब कठिन नियम व्रत प्रभुके लिये कर रहे हैं यह जानकर प्रभु क्योंकर न 'पुनि पुनि पुलक शरीर' हों]

२ मम धाम=परमधाम अवध, साकेत, पर-वैकुण्ठ। जहाँसे पुनरागमन नहीं होता।

वि० त्रि०—हनुमान्‌जीने जो भगवती जनकनन्दिनीसे कहा था कि 'अविचल राज विभीषन पावा', उसीका विवरण यहाँ हो रहा है कि 'तुम इस कल्प भर लङ्का-राज्य करो'। भाव यह कि यह भय न करो कि यह राज्य कोई तुमसे छीन लेगा (जैसे कि पहलेसे होता आया है) यह राज्य प्रलय तक तुम्हारे अधीन रहेगा, परंतु मुझे मनसे सुमिरते रहना। सम्पत्तिके स्थिर रखनेका यही उपाय हनुमान्‌जीने रावणको बतलाया था। यथा—'रामचरन पंकज उर धरहू। लंका अचल राज तुम्ह करहू॥' यह तो हुई इस लोककी बात, और परलोकके लिये कहते हैं कि तुम्हें मेरे धामकी प्राप्ति होगी। इस भाँति विभीषणका दोनों लोक बन गया।

नोट—१ ☞ सच्चे भगवद्भक्तके मुखसे जो वाक्य निकल जाता है उसे प्रभु पूरा करते हैं। 'अबिचल राज बिभीषन पावा' यह श्रीहनुमान्‌जीने प्रथम ही कहा था उसकी पूर्ति प्रभुने यहाँ करके वचनको प्रमाण किया और योगके साथ क्षेमका उपाय भी बता दिया। श्रीभुशुण्डिजीसे भी ऐसा ही कहा है। यथा—'कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु निरन्तर मोही॥ ७। ८८॥' इससे उपदेश मिलता है कि कोई समय प्रभुके भजन-स्मरणसे खाली न रहे तो कराल कलिकाल व्याप नहीं सकता।

२ (क) 'करेहु कल्प भरि राज' कहनेका भाव कि विभीषणजीके हृदयमें लङ्काराज्यकी वासना लङ्कात्यागके समय हो आयी थी; यद्यपि वह प्रभुके दर्शनसे रह नहीं गयी तथापि प्रभुने उस वासनाकी भी पूर्ति करा दी। 'कल्प भरि' का भाव उस कल्पमें जितने चतुर्युग अभी शेष हैं उतने युगोंतक राज्य करो। पुनः भाव कि कल्पके भीतर जब कोई वरदानी प्रबल राजा मारा जाता है और अन्य कोई असुर ऐसे नहीं रह जाते जो देवताओंका सामना कर सकें, तब देवता ही स्वयं उसपर अपना आधिपत्य जमा लेते हैं यथा—'रहे तहाँ निसिचर भट भारे। ते सब सुरन्ह समर संघारे॥ अब तहँ रहहिं सक्र के प्रेरे। रच्छक कोटि जच्छपति केरे॥ १॥ १७९॥' इसीसे कहा कि 'कल्प भर' राज्य करो अर्थात् कोई देवता तुम्हारा यह राज्य नहीं ले सकता, हम सदा तुम्हारे रक्षक रहेंगे, तुम स्मरणमात्र करते रहना। अ० रा० में भी कहा है 'स्वराज्ये वस लंकायां मम भक्तो विभीषण। न त्वां धर्षयितुं शक्ताः सेन्द्रा अपि दिवौकसः॥ ५२। सर्ग १३॥' अर्थात् तुम मेरी भक्तिमें तत्पर रहकर अपने राज्यपर लङ्कामें रहो। अब इन्द्रके सहित देवगण भी तुम्हारा बाल बाँका नहीं कर सकते। (ख) विभीषणजी इतनी बड़ी अवधि सुनकर घबड़ा न जायँ कि विषयमें पड़कर हम भवमें न पड़ जायँ अतः कहते हैं, स्मरण करते रहना, इतनी अवधि बीतनेपर तुम मेरे धामको आओगे इसमें संदेह नहीं।

सुनत बिभीषन बचन राम के। हरषि गहे पद कृपाधाम के॥ १॥

बानर भालु सकल हरषाने। गहि प्रभुपद गुन बिमल बखाने॥ २॥

अर्थ—श्रीरामजीके वचन सुनते ही विभीषणने प्रसन्न होकर कृपाके धाम श्रीरामचन्द्रजीके चरण पकड़ लिये॥ १॥ सभी वानर और भालु प्रसन्न हुए और प्रभुके चरण पकड़ निर्मल यश वर्णन करने लगे॥ २॥

नोट—१ **'हरषि गहे पद कृपाधाम- के'** इति। (क) हर्षका कारण यह कि 'कल्पपर्यन्त राज्य-भोग और अन्तमें प्रभुके धामकी प्राप्ति' दोनों प्रभुने दिये। पुनः, प्रभुका अभीष्ट जानकर हर्ष हुआ कि दी हुई वस्तुको प्रभु माँगनेमें संकोच करके नहीं माँगते पर इशारेसे जना दिया कि पुष्पकद्वारा तुम हमें अयोध्या शीघ्र पहुँचा सकते हो। उसके लिये प्रभु विनती करते हैं, निहोरा लेते हैं; ऐसे शील-संकोची स्वभावको देखकर प्रसन्न हुए। (ख)— कृतज्ञता सूचित करनेके लिये चरण पकड़े। ☞ इस पदसे यह भी जनाया कि श्रीविभीषणजी निष्काम अनन्य भक्त हैं जो प्रभुकी इच्छामें ही प्रसन्न हैं।

प० प० प्र०—**'हरषि गहे पद कृपाधाम के'** इति। भाव कि 'भगवान्‌ने मेरी सभी इच्छा परिपूर्ण की, इस भावसे प्रभुकी अपार कृपाका चिन्तन करते ही सत्वभावापन्न हो गये। **'प्रभु सनमुख कछु कहन न पारहिं'**, **'सुनि प्रभु बचन मगन मन भए'** ऐसी दशा हो गयी। **'त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर'** आदि कहनेकी इच्छा होती है पर प्रेममें मग्न हो गये। **'मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥'** इस भावनासे ही उन्होंने **'गहे पद कृपा धाम के'**।

नोट—२ **'बानर भालु सकल हरषाने'**। शरणागतवत्सलता, भक्त-शिरोमणि भरतपर प्रेम, विभीषणको अचल राज्य, शील-संकोची-स्वभाव इत्यादि गुणोंको देख हर्षित हुए और इन गुणोंका गान करने लगे। यथा—**'तुलसी कहूँ न राम से साहिब सील निधान'**, **'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥'** इत्यादि। ३ ☞ **'गहि प्रभु पद०'** यह भी रहस्य है। सभीने प्रभुके चरण पकड़े।

बहुरि बिभीषनु भवन सिधायो। मनिगन बसन बिमान भरायो॥ ३॥
लै पुष्पक प्रभु आगे राखा। हँसि करि कृपासिंधु तब भाषा॥ ४॥
चढ़ि बिमान सुनु सखा बिभीषन। गगन जाइ बरषहु पट भूषन॥ ५॥
नभ पर जाइ बिभीषन तबहीं। बरषि दिए मनि अंबर सबहीं॥ ६॥

अर्थ—श्रीविभीषणजी फिर घर गये और मणि-समूह और वस्त्र विमानमें भराये॥ ३॥ (मणि और वस्त्रसे पूर्ण) पुष्पक विमानको लाकर प्रभुके आगे रक्खा तब दयासागर श्रीरामजी हँसकर बोले—हे सखे! विभीषण! सुनो, विमानपर चढ़कर आकाशमें जाकर वस्त्राभूषणोंकी वर्षा कर दो॥ ४-५॥ (आज्ञा सुनते ही तुरंत) उसी समय विभीषणने आकाशमें जाकर सब मणि और वस्त्र बरसा दिये॥ ६॥

पु० रा० कु०—वानरोंने जो रणमें महत् कर्म किये उसके प्रत्युपकारार्थ एवं उनके प्रसन्नतार्थ और विभीषणके सम्मानार्थ विभीषणसे प्रभुने पटभूषण बरसानेको कहा। यथा—**'ते इमे कृतकर्माणः सर्वे एव वनौकसः। धनरत्नप्रदानैश्च कर्मैषां सफलं कुरु॥ ६॥ एवं सम्मानिताश्चैते नन्दमाना यथा त्वया। भविष्यन्ति कृतज्ञेन निर्वृता हरियूथपाः॥ ७॥** वाल्मी० १२२॥' अर्थात् कृतकर्म इन वानरोंके कर्म सफल करनेके लिये रत्नादि प्रदान कर इनके परिश्रमको सफलकर इन्हें प्रसन्न करो। इनका ऐसा सम्मान कीजिये कि आपसे अभिनन्दित हो ये कृतज्ञ और अत्यानन्दित हों।

नोट—१ **'बहुरि बिभीषन भवन०'** इति। 'बहुरि' का भाव कि प्रथम राज्याभिषेकके लिये गये थे पर तिलक होनेपर लौट आये थे; तबसे प्रभुके पास रहे। देवताओंके चले जानेपर प्रभुसे नगरमें चलने इत्यादिकी प्रार्थना की। जब प्रभुने यह प्रार्थना स्वीकार न की तब फिर घर गये और भेंटके लिये उत्तम-उत्तम रत्न-वस्त्रादि विमानमें भराकर ले आये।

२ **'हँसि करि कृपासिन्धु०'** इति। (क) हँसनेका भाव कि यद्यपि हमने इसकी किञ्चित् इच्छा नहीं की तब भी ये प्रेमवश ले ही आये। विभीषणके इस प्रेमको देख हँसकर प्रसन्नता प्रकट की। अथवा, प्रभुको इस समय हास्य-रसकी

करनी हुई। ये वानरोंका हास्यप्रद कौतुक देखना चाहते हैं। यह विनोदपूर्ण हास्य है। (ख) 'कृपासिन्धु' का भाव कि ये वानरोंपर एवं विभीषणपर कृपा कर रहे हैं। दोनोंके हितके लिये वचन कह रहे हैं। वानरोंको मणि-भूषण यथारुचि दिलायेंगे और उनके साथ विनोद करेंगे, यह उनपर कृपा है और विभीषणका हित भी इसमें है, जैसा कि वाल्मी० १२२ के उपर्युक्त श्लोकने स्पष्ट है। आगे फिर यह भी कहा है कि यदि दानमानसे इन्हें प्रसन्न रक्खोगे तो ये सब आपके पास आगे भी आते-जाते रहेंगे—इसीसे हमने तुमसे यह कहा है। यथा—'सर्वे त्वामभिगच्छन्ति ततः सम्बोधयामि ते ॥ ८ ॥' इसी अभिप्रायको सूचित करनेके लिये 'कृपासिन्धु' विशेषण दिया।

पं०—१ 'सखा विभीषण'। 'सखा' सम्बोधनका भाव कि यदि विभीषणजी कहें कि आप ही बाँट दें तो प्रथम ही 'सखा' कहकर जनाया कि तुम सखा हो, अतः तुम्हारा देना मेरा ही देना है। अथवा, उनके सम्मान-हेतु 'सखा' सम्बोधन किया। [नोट—प्रभु इनको अपना सखा मानते ही हैं और इनकी गणना सखाओंमें की गयी है। शरणागत होनेपर ही इनको सखा बना लिया था, यथा—'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ', 'जदपि सखा तोहि इच्छा नाहीं' इत्यादि।]

प्रभुने अपने या विभीषणजीके हाथसे क्यों न बाँटा ? आकाशमें जाकर बरसानेको क्यों कहा ? उत्तर यह है कि—(क) शत्रुपर जय पानेपर लूटमार होती है और वानर स्वभावसे ही लूटमें प्रसन्न होते हैं; पर ये शत्रुके नगरको न लूट सके क्योंकि विभीषणको वह नगर मिल चुका था। विमानपरसे वर्षा होनेसे उनकी यह इच्छा पूर्ण हो जायगी। पुनः, (ख) 'वानर-कटक अपार है, हाथसे एक-एकको देनेमें बहुत समय लगेगा और प्रभुको तुरंत श्रीअवधकी यात्रा करनी है; आकाशसे लुटानेसे तुरंत सबको वस्त्र-भूषण मिल जायँगे' जो जहाँ हैं वहींपर रुचि-अनुकूल वस्त्राभूषण पा जायँगे। पुनः, (ग) हाथसे बाँटनेमें किसीको पहिले, किसीको पीछे मिलनेसे एकका मान होगा तो दूसरेका अपमान; मान-अपमानकी शंका भी ऊपरसे लुटानेमें न रह गयी। पुनः, (घ) हाथसे देनेमें वह कौतुक एवं विनोद न रहेगा जो लुटानेपर देखनेमें आयेगा।

मा० हं०—तुलसीरामायणमें युद्धके बादका सम्पूर्ण भाग वाल्मीकि और अध्यात्मके ही समान परंतु अतीव संक्षिप्त और प्रेमपरिप्लुत हुआ है। पुष्पक-विमानसे विभीषणका आकाशमेंसे वस्त्र और आभूषणकी वृष्टि करना यह एक नवीनता है। इस वृष्टिके सम्बन्धमें एक शंका उपस्थित की जाती है। लंकाका राज्य विभीषणको दे दिया गया था, अतएव श्रीरामजीने वहाँ पाँव भी नहीं रक्खा। सचमुच उनका यह लोक-शिक्षणव्रत बड़ा कड़ा था, परंतु शंका यह है कि उन्होंने विभीषणको दी हुई सम्पत्ति बंदरोंके द्वारा क्यों लथड़वायी ? अर्थात् उनका यह कार्य लोकशिक्षादृष्टिसे ठीक नहीं हुआ। एक तो इससे उद्दण्डता दिखलाई गयी, दूसरे संपत्ति रावणको शंकरार्पित होनेके कारण परम्परा शंकरजीका तिरस्कार भी बतलाया गया। गोसाईंजीकी लोकशिक्षापर इस भागसे थोड़ा दोष ही लगता नजर आता है। यह शंका भावनात्मक और मार्मिक है। इसलिये हम उसका यहाँ विचार करते हैं। राज्यके साथ सम्पत्ति भी विभीषणहीकी हुई और उसपर श्रीरामजीका जेतृत्व (विजय) का हक भी चला गया, यह सब हमें मंजूर है। परन्तु इसके पश्चात्‌का जो शंकाका भाग है केवल उसे हम नहीं मानते। श्रीरामजीको विभीषण अपनी खुशीसे विमान भरकर सम्पत्ति देने लगा। श्रीरामजीने अपना हक दिखलाकर कुछ उससे सम्पत्ति माँगी नहीं थी, इसलिये वे उसको स्वीकार भी कर लेते तो भी कुछ लाञ्छन न था। परन्तु दी हुई वस्तुका स्वीकार करना भी उनके व्रतको असह्य मालूम हुआ। यहाँ श्रीरामजीको सच्ची-सच्ची कठिनाई ज्ञात हुई। वह यह थी कि एक तो विभीषणको अप्रसन्न करना उन्हें अच्छा न लगता था और दूसरे उसकी सम्पत्तिको भी स्वीकार करते न बनता था। इसके अतिरिक्त एक तीसरी भी बात उनके मनको उद्विग्न करने लगी। उन्होंने देखा कि विभीषण तो चिरंजीवी है और यदि उसकी सम्पत्ति भी वैसी ही चिरस्थायी न हो तो उसके सुबह राजा और शामको फकीर होनेमें क्या अर्थ ? इस कारण उनके सम्मुख बड़ा ही कूट प्रश्न आकर उपस्थित हुआ। उन्होंने देखा कि यह सम्पत्ति रावणने अन्याय और अत्याचारसे कमायी है। यद्यपि उसका कुछ भाग शंकरजीसे प्राप्त किया गया है तथापि स्वशिरश्छेद करके ही अर्थात् तमोगुणमूलक क्रियासे ही। इसलिये ऐसी पापमय सम्पत्तिकी स्थिरता असंभव तो है ही, किंतु इसके सिवा ऐसी सम्पत्तिके संसर्गसे विभीषणकी साधक-वृत्तिको हानि पहुँचनेका भय है। ऐसी अशुद्ध सम्पत्ति शुद्ध किये बिना चिरस्थायी नहीं हो सकती। केवल एक इसी विचारसे श्रीरामजीने उसका शुद्धिकरण प्रयोग निश्चित किया। निष्काम रामभक्तोंके

चरणोंपर उस सम्पत्तिको अर्पण करवा देना यही उनका वह प्रयोग था। हमारे मतसे यह वृष्टि **'सा संपत्तिर्विपत्तिः स्यान्महान्तो नादृताः यथा'** इस शास्त्ररहस्यका प्रत्यक्ष प्रयोग ही है।

हमारी दृष्टिसे एक वृष्टिके बहाने श्रीरामजीने इतनी बातें साध लीं। वानरादिकोंके सम्बन्धकी अपनी कृतज्ञता और आदरबुद्धि, उनकी निष्कामभक्तिका कुतूहल तथा विभीषणके साधकत्व और राजवैभवका स्थायी भाव।

जोइ जोइ मन भावै सोइ लेहीं। मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं॥ ७॥
हँसे रामु श्री अनुज समेता। परम कौतुकी कृपानिकेता॥ ८॥

अर्थ—जिसके मनको जो-जो अच्छा लगता है वही-वही वह लेता है। मणिको (खानेका पदार्थ समझ) मुँहमें डालकर वानर उसे उगल देते हैं॥ ७॥ परम खेलाड़ी कृपाधाम श्रीरामचन्द्रजी श्रीसीताजी और भाईसहित (यह कौतुक देख) हँसे॥ ८॥

टिप्पणी—१ **'मनि मुख मेलि···'** इति। भक्ष्यवस्तुके धोखे मुँहमें डालते हैं, यह कपिस्वभाव दिखाया। पुनः, मणि भी ऐसे-ऐसे हैं कि उनसे फलोंका भ्रम हो गया जैसे दुर्योधनको जलमें थलका भ्रम हुआ और थलमें जलका। २—सेनाके वानरोंने ही लूटा। सुग्रीवादि सरदारोंने नहीं लूटा। जो वानरोंसे बुलाये गये उन्हींने लूटा और उन्हींको धोखा हुआ।

पं०—पहले फल समझकर खाते हैं, मुँहमें डालनेपर स्वाद न मिलनेपर उनको कृत्रिम जानकर गिरा देते हैं।

वीर—रत्नादि खानेकी वस्तु नहीं, उन्हें खानेके लिये मुखमें डालना 'द्वितीय असंगति अलंकार' है। मणिको खानेकी वस्तु समझना 'भ्रान्ति' है। दोनोंका संदेहालङ्कार है।

दोहा—मुनि जेहि ध्यान न पावहिं* नेति नेति कह बेद।
कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद॥
उमा जोग जप दान तप नाना मख† ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम॥ ११६॥

अर्थ—जिसे मुनि ध्यानमें नहीं पाते, और जिसे वेद 'नेति-नेति' कहते हैं वही दयासागर वानरोंसे अनेक विनोद (हास-विलास, आमोद-प्रमोद, हँसी-खेल) कर रहे हैं। हे उमा! अनेक प्रकारके योग, जप, तप, यज्ञ, व्रत और नियम करनेपर भी श्रीरामचन्द्रजी वैसी कृपा नहीं करते जैसी शुद्ध प्रेम होनेपर करते हैं॥ ११६॥

☞ 'नेति-नेति' इति। श्रीमद्भागवतमें वेदोंने स्तुति करते हुए कहा है **'द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः। ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतयस्त्वयि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः॥ १०। ८७। ४१।'** जिसका भाव यह है कि 'हे भगवन्! स्वर्गादि लोकोंके पति ब्रह्मा भी आपके प्रतापका अन्त नहीं पाते, इसमें आश्चर्य ही क्या है, जब कि आप स्वयं अपने अन्तको नहीं पाते, परंतु इससे आपकी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता नष्ट नहीं होती, क्योंकि आपका अन्त है ही नहीं तब वह मिले कैसे? आपके स्वरूपमें आकाशकी रजकी कणोंकी नाईं कालचक्रद्वारा उत्तरोत्तर दस-दस गुणे आवरणोंयुक्त ब्रह्माण्डोंके समस्त स्वरूप एक साथ घूमा करते हैं, इस प्रकार होनेसे श्रुतियाँ तात्पर्यवृत्तिसे आपहीका निरूपण करती हैं पर स्पष्टतया कह नहीं सकतीं क्योंकि, सगुणरूपके गुण अनंत हैं और निर्गुण रूपतक वाणीकी पहुँच नहीं है, इसलिये आपका स्पष्टतया सम्पूर्ण प्रतिपादन नहीं हो सकता। अस्तु, वे अनात्म पदार्थोंका निषेध (अन्त) बतलाती हुई अन्तमें आपहीका प्रतिपादन करती हैं, क्योंकि किसी पदार्थकी अन्तिम सीमा बतलाये बिना उसका निषेध नहीं किया जा सकता, इसलिये श्रुतियाँ निषेधकी सीमारूप आपका ही प्रतिपादन

* ध्यान न पावहिं जाहि मुनि। † व्रत मख (का०)।

करती हैं। (पं० गोविन्ददास 'विनीत' की टीका)। सारांश यह कि अनन्तका पार कोई पा ही नहीं सकता, आप भी अपना पार पा नहीं सकते, तब हम आपके स्वरूपका साक्षात् वर्णन कब कर सकती हैं। आपके अतिरिक्त वस्तुओंका निषेध करते-करते अन्तमें अपना भी निषेध कर देती हैं और आपमें ही अपनी सत्ता खोकर सफल हो जाती हैं। (भागवताङ्क)।—यही 'नेति-नेति' कहनेका भाव है। 'नेति-नेति' कहकर श्रुतियाँ बताती हैं कि जिसका निर्देश हम 'नेति-नेति' शब्दोंसे करती हैं वह आत्मा अगृह्य है, वह ग्रहण नहीं किया जाता; वह अशीर्य है उसका नाश नहीं होता; वह असङ्ग है, कहीं आसक्त नहीं होता; वह बँधा नहीं है, इसलिये व्यथित नहीं होता और न उसका क्षय होता है। यथा 'स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु…' (बृहदा० अ० ४ ब्राह्मण ४। २२)

नोट—१ कहाँ तो 'मुनि जेहि ध्यान न पावहिं०' अर्थात् मुनियों और वेदोंको भी दुर्लभ और कहाँ ऐसे मूर्ख वानर सो उनको इतने सुलभ। यह विपरीत कैसा ? इस शङ्काका समाधान शिवजी दूसरे दोहेमें करते हैं। ठीक यही आशय चित्रकूटमें भीलोंके प्रसङ्गमें है, यथा—'बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन। बचन किरातन्हके सुनत जिमि पितु बालक बैन। अ० १३६। रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा।' ☞ उपदेश है कि योगादिमें न भूलकर प्रभुमें अनुराग करो। यह विशेष-कृपा तो जीवमात्रपर है ही—'सब पर मोरि बराबरि दाया'। २—'तसि' से जनाया कि योगादिमें भी कृपा करते हैं, पर ऐसी नहीं जैसी कि प्रेममें करते हैं। जब बहुत योगादि करते हैं तब कहीं कभी ध्यानमें आ जाते हैं, यथा—'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं' (किं० ९)।

खर्रा—प्रेममें अभिमान नहीं रहता। योग, यज्ञ, जप, तप, दानादिमें कर्तृत्वका अभिमान बना रहता है। इसीसे प्रेममें विशेष कृपा है।

पं० रा० व० श०—'निष्केवल प्रेम' वह भोलापनवाला गाढ़ प्रेम है जिसमें साधनकी आवश्यकता ही नहीं है, साधन हो या न हो।

शङ्का—मानसके इस दोहेमें तुकान्त नहीं मिलते। पूर्वार्धका अन्तिम शब्द 'वेद' है और उत्तरार्धके अन्तमें 'विनोद' है। क्या इसमें भी कोई रहस्य है ?

समाधान—वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि मजाकका मजा तब है जब दोनोंकी ज्ञातव्यता हो अर्थात् जिसकी हँसी उड़ाई जाय वह भी समझ जाय कि हमारी अमुक गलतीपर यह हँसी उड़ाई जा रही है और वह मजाक करनेवालोंको भी मालूम हो जाय कि हमारी हँसीका कारण (लक्ष्य) उसे लक्षित हो गया। यदि ऐसा न हुआ तो वह मजाक (विनोद) एकाङ्गी हो जाता है, उभयनिष्ठ नहीं रहता। यहाँका हास्य भी एकाङ्गी ही है। वानरोंकी गलतीपर 'हँसत राम श्रीअनुजसमेता'। श्रीरामजी भाई और स्त्रीके साथ हँस रहे हैं पर वानर विचारे उस तथ्यको समझ न पानेसे अपने उस व्यापारसे विरत नहीं होते, अतः यह विनोद एकाङ्गी है, असम है। इसीसे दोहेका तुकान्त भी असम है। स्मरण रखना चाहिये कि 'मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं।' आदि व्यापारशील कपिगण सुग्रीवादिवत् अप्राकृत कपि नहीं हैं अपितु प्राकृत कपि हैं। अप्राकृत और प्राकृत कपिमें उतना ही भेद था जितना कि एक नागरिक ग्रैजुएट और नितान्त ग्रामीण मूर्ख चरवाहेमें। इसी तरहके और भी तीन स्थानोंपर मानसमें असम या (पं० रामनरेशत्रिपाठीके शब्दोंमें) शिथिल तुकान्तकी पंक्तियाँ हैं और उनके भी तत्तत्स्थानोंपर विशिष्ट भाव हैं। ऐसे ही मानसेतर ग्रन्थोंमें भी भावविशेषके ही कारण गोस्वामीजीने जान-बूझकर असम तुकान्त रखे हैं।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि इस दोहेका पूर्वार्ध अयोध्याकाण्डके दोहा १३६ के पूर्वार्ध 'बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन' से मिलता-जुलता है। वहाँका 'मुनि मन अगम' ही यहाँका 'मुनि जेहि ध्यान न पावहिं' है और 'बेद बचन अगम' यहाँका 'नेति नेति कह बेद' है। वहाँ 'करुना ऐन' है जो यहाँ 'कृपासिंधु' है। वह दोहा किरातोंके और यह दोहा वानरोंके सम्बन्धमें है। ये दोनों ही वनचर हैं। पर किरात-सम्बन्धी दोहेमें तुकान्तमें वैषम्य नहीं है। उसका उत्तरार्ध है—'बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन'।

यहाँ 'बेद' से 'नोद' में एक 'क' कार अधिक रखकर जनाया है कि जितना प्रेम भगवान् किरातोंपर करते थे उससे

अधिक प्रेम इन वानरोंपर कर रहे हैं। मनुष्य होनेसे किरात वानरोंसे जन्मना श्रेष्ठ हैं, फिर भी भगवान्‌ने उनके साथ विनोद नहीं किया, केवल उनके अटपटे वचन प्रेमसे सुने और इनके साथ विनोद कर रहे हैं। यह प्रेमाधिक्य दिखानेके लिये यह विषमता हुई है। यहाँ चतुराननके '**कृतकृत्य बिभो सब बानर ए**', '**धिगजीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे।**' इन वचनोंको भी चरितार्थ किया है।

भालु कपिन्ह पट भूषन पाए। पहिरि पहिरि रघुपति पहिं आए॥ १॥
नाना जिनिस देखि सब कीसा। पुनि पुनि हँसत कोसलाधीसा॥ २॥

अर्थ—रीछ और बन्दरोंने वस्त्र-भूषण पाये और पहन-पहनकर श्रीरघुनाथजीके पास आये॥ १॥ अनेक प्रकारके सब वानरोंको देखकर कोसलराज श्रीरामजी बारंबार हँस रहे हैं॥ २॥

रा० प्र०—'**नाना जिनिस**'। भाव कि एक तो रूप विचित्र है, उसपर भी इस रीतिसे भूषण-वस्त्र पहने हैं (कि हाथका पैरमें, पैरका बाहुमें, इत्यादि उलटा-पलटा पहनाव है)। हास्यरस-उद्दीपक अद्भुत शोभा बनी देख हँसी आ गयी। हँसी रोके नहीं रुकती अतः बारंबार हँसते जाते हैं। कौतुकके सम्बन्धमें 'कोसलाधीस' पद दिया।

पं०—अनेकरूप (जाति) के वानर-भालु हैं और अनेक रंग-बिरंगके वस्त्र पहने हैं, यह उनकी शोभा देखकर हँसे। क्योंकि राजा हैं।

नोट—'**पुनि पुनि हँसत**' से जनाया कि जैसे-जैसे वे प्रभुके पास आते हैं वैसे-वैसे प्रभु एक-से-एक विचित्र हास्योद्दीपक पहिरावा देख विनोदार्थ हँसते हैं।

चितै सबन्हि पर कीन्ही दाया। बोले मृदुल बचन रघुराया॥ ३॥
तुम्हरे बल मैं रावनु मार्‌यौ। तिलक बिभीषन कहँ पुनि सार्‌यौ॥ ४॥
निज निज गृह अब तुम्ह सब जाहू। सुमिरेहु मोहि डरपहु* जनि काहू॥ ५॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीने (कृपादृष्टिसे) सबको देखकर सबपर दया की और कोमल वचन बोले॥ ३॥ तुम्हारे बलसे मैंने रावणको मारा और विभीषणका फिर तिलक किया॥ ४॥ अब तुम सब अपने-अपने घर जाओ, मेरा स्मरण करना और किसीको डरना नहीं॥ ५॥

नोट—१ '**बोले मृदुल बचन**' इति। मृदुल कोमल वाणी तो स्वाभाविक ही है। पर यहाँ वियोगकी बात कहनी है इससे '**बोले मृदुल बचन**' कहा। आगे जो कहते हैं वह सब मृदुल वचन हैं। (ख) '**तुम्हरे बल**' का भाव कि तुमने यज्ञ-विध्वंस किया, सेना मारी, रावणको शिथिल कर दिया, तब हमने मारा।

करु०—'**निज निज गृह जाहू**' में अभ्यन्तर अभिप्राय यह भी है कि तुम लोग जो देवताओंके अंश हो सो अपने-अपने अंशोंमें जा प्राप्त हो और जो हमारे पार्षद हैं वे हमारे साथ जायँगे।

नोट—२ 'डरपहु जनि काहू' इति। हमारे बलका स्मरण करते रहना, इसका फल यह होगा कि तुम्हें किसीसे भय न रहेगा—यह बात जनानेके लिये प्रथम 'सुमिरेहु' कहा तब 'डरपहु जनि काहू' कहा। स्मरणसे हमारा सामर्थ्य तुम्हें सदा याद रहेगा अतएव तुम भूलकर भी किसी दूसरेको अपना स्वामी न समझोगे—यह कहकर इनके द्वारा सारे जगत्‌को उपदेश दे रहे हैं कि जिसको हमारा सच्चा भरोसा है उसको त्रिलोकीमें किसीका भय नहीं है, देवराज इन्द्र भी उसका कुछ नहीं कर सकते, यथा—'न त्वां धर्षयितुं शक्ताः सेन्द्रा अपि दिवौकसः'। (वाल्मी० १२२। १६)। सारांश यह कि किसी दूसरेका आशा-भरोसा कभी न करना, यथा—'**मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा**'।

वि० त्रि०—**निज निज गृह······काहू।**' भाव यह कि जिस कामके लिये तुम सब घरसे बुलाये गये थे वह सम्यक् प्रकारसे पूरा हो गया। अब तुम लोगोंको यहींसे छुट्टी दी जाती है, किष्किन्धा जानेकी आवश्यकता नहीं, जिधरसे सुभीता पड़े अपने घर चले जाओ। 'तुम सब' कहनेका यह भाव है कि तुम लोगोंने लङ्का-विजय किया, पर मरा कोई भी नहीं, जितनी संख्यामें आये थे ठीक उतनी संख्यामें लौटे जा रहे हो। इससे समझ सकते हो कि तुमको किसीसे डरनेकी आवश्यकता नहीं,

* डरेहु—(का०)।

मेरी कृपा सदा तुमपर बनी रहेगी। परंतु सभी मेरा स्मरण करते रहना; यथा—'राम को सुमिरिबो सब बिधि ही को राज रे। राम को बिसारिबो निषेध सिरताज रे'।

सुनत बचन प्रेमाकुल बानर। जोरि पानि बोले सब सादर॥ ६॥
प्रभु जोइ कहहु तुम्हहि सब सोहा। हमरे होत बचन सुनि मोहा॥ ७॥
दीन जानि कपि किए सनाथा। तुम्ह त्रैलोक ईस रघुनाथा॥ ८॥

अर्थ—प्रभुके वचन सुनते ही वानर प्रेमसे विह्वल हो गये। हाथ जोड़कर आदरपूर्वक सब बोले॥ ६॥ प्रभो! आप जो कुछ भी कहें वह सब आपको सोहता है, पर ये वचन सुन हमको मोह होता है॥ ७॥ हे रघुनाथजी! आप (तो) तीनों लोकोंके स्वामी हैं, आपने हम वानरोंको दीन जानकर सनाथ किया (अपनाया और हमारे सब प्रकार नाथ बने। यथा—'सुमिरेहु मोहि डरपेहु जनि काहू')॥ ८॥

नोट—१ प्रभुके माधुर्यके वचन मोहमें डालनेवाले हैं। इसीसे वचन सुनकर वे घबड़ा गये कि कहीं हमारे मनमें ऐसा मोह न उत्पन्न हो जाय कि हमने प्रभुकी सहायता की तब वे रावणका सकुल नाश कर सके। अतः वे अकुलाकर हाथ जोड़कर आदरपूर्वक बोले।

२ 'प्रभु जोइ…' भाव कि आपने जो कहा वह आपके योग्य है। प्रतिष्ठित बड़े लोग ऐसा कहते हैं, ऐसा कहना उनके मुखसे शोभा देता ही है पर '**हमरे होत बचन सुनि मोहा**'। वानरोंके इस कथनका आशय यह है कि हमें भुलावेमें न डालिये। मोह उत्पन्न होनेसे हम आपको खो बैठेंगे, हम कहींके न रह जायँगे। यथा—'**होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥** उ० ६२।' ☞ '**सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं**' प्रभुके मोहमें डालनेवाले ये वचन सुनकर हनुमान्‌जी भी '**चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत।** सुं० ३२।' वही भाव यहाँ वानरोंके वचनोंमें है। अर्थात् इस मोहसे हमारी रक्षा कीजिये।

सुनि प्रभु बचन लाज हम मरहीं। मसक कहूँ* खगपति हित करहीं॥ ९॥
देखि रामरुख बानर रीछा। प्रेम मगन नहिं गृह कै ईछा॥ १०॥

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर हम लज्जासे (शर्मके मारे) मरे जाते हैं, कहीं मच्छड़ पक्षिराजका हित (अर्थात् उनकी सहायता) कर सकते हैं? (कदापि नहीं)॥ ९॥ वानर और ऋक्ष श्रीरामजीका रुख देखकर (कि वे साथ नहीं ले जाना चाहते) प्रेममें डूब गये, उनको घर जानेकी इच्छा नहीं है॥ १०॥

नोट—१ अपनेको मच्छड़ और प्रभुको पक्षिराज गरुड़ कहकर जनाया कि हमारे समान छोटा और कम बलवाला कोई नहीं और आप-समान बड़ा नहीं, यथा—'**तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता**'। '**मसक कहूँ खगपति हित करहीं**', यह प्रभुके '**तुम्हरे बल मैं रावन माऱ्यो** ।०' का उत्तर है। भाव कि हमारा बल तो ऐसा है जैसे मच्छड़का कि एक फूँकमें उड़ जाता है। गरुड़की सहायता भला मच्छड़ क्या करेगा? वैसे ही आपकी सहायता भला हम क्या करेंगे? अतएव वचन सुनकर कि तुम्हारे बलसे हमने रावणको मारा हमें अतिशय लज्जा लग रही है कि हम तो कुछ भी न कर सके; किंतु यदि प्रभु हमारी रक्षा न करते तो हममेंसे एक भी न जीता देख पड़ता। यही नहीं वरन् हमको मरनेपर भी पुनः जिला लिया; इत्यादि। और, फिर भी आप उलटे कहते हैं कि हमने आपकी सहायता की। कहाँ तो हमारी करनी कि रणमें भागे थे और कहाँ यह प्रशंसारूपी कृपा!! यह सरकारी कृपाकी चरम अवस्था है कि उलटे हमारे ऋणी बनते हैं।

वानरोंके वाक्यमें प्रेमका सम्पुट दिया है। '**बचन सुनत प्रेमाकुल बानर**' उपक्रम है और '**प्रेम मगन०**' उपसंहार।

प० प० प्र०—'**तुम्हरे बल मैं रावनु माऱ्यो**' से लेकर '**मसक कहूँ खगपति हित करहीं**' तक छः अर्धालियोंमें भारतीय स्वामि-सेवक-भावका सार ही बताया है। स्वामी अपनी विजय और पराक्रम और कीर्ति आदिका कारण सेवकोंको ही समझते, मानते और कहते हैं, उनको बड़ाई देते हैं। सेवक समझते हैं कि स्वामिप्रताप ही सबका कारण है। और मान-

* कतहुँ—(का०)। कहूँ—(मा० दा०, पं० रा० गु० द्वि०)।

बड़ाईसे लज्जित होते हैं। यही आदर्श स्वामि-सेवक-सम्बन्ध है। आज उसका उल्टा जो देखनेमें आ रहा है वह पाश्चात्य संस्कृतिका परिणाम है।

पं०—कपि बिछोह न सह सके अतः प्रेममें डूब गये।

दो०—प्रभु प्रेरित कपि भालु सब रामरूप उर राखि।
***हरष बिषाद सहित चले बिनय बिबिध बिधि भाषि॥ ११७॥**

अर्थ—प्रभुकी प्रेरणासे सब वानर-भालु हृदयमें (वनवासी धनुर्धर) रामरूप धारण कर अनेक प्रकारसे विनती कर हर्ष-शोकयुक्त चले॥ ११७॥

नोट—१ (क) 'प्रभु प्रेरित' का भाव कि अन्तर-बाहर सबके नियन्ता प्रभु ही हैं, अतः उनकी प्रेरणासे उनकी आज्ञा मानकर चले। (रा० प्र०)। यद्यपि बंदर-भालू सब प्रेममें मग्न हैं, किसीको घर जानेकी इच्छा नहीं है, तथापि अन्तर्यामीकी प्रेरणा बड़ी बलवती है। भगवती श्रुति कहती है **'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥ १॥ श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचꣳ स उ प्राणस्य''॥ २॥'** (केन० १) (अर्थात् मन किसके द्वारा इच्छित और प्रेरित होकर अपने विषयोंमें गिरता है? किससे प्रयुक्त होकर प्रथम प्राण चलता है? प्राणी किसके द्वारा इच्छा की हुई यह वाणी बोलते हैं? कौन देव चक्षु तथा श्रोत्रको प्रेरित करता है? जो श्रोत्रका श्रोत्र, मनका मन और वाणीका वाणी है वही प्राणका प्राण और चक्षुका चक्षु है। उसी प्राणके प्राणकी ही प्रेरणासे मन-इन्द्रियादिक अपने-अपने कार्यमें लग जाती हैं। इसीसे न चाहते हुए भी बंदर-भालू चल पड़े, परंतु रामजीके रूपको हृदयमें रख लिया। (वि० त्रि०)। (ख) 'राम रूप' अर्थात् जो रूप निरन्तर देखते रहे। जबसे साथ हुए।

नोट—२ **'बिनय बिबिध बिधि भाषि'** इति। यथा पूर्व विनय की थी—**'दीन जानि कपि किए सनाथा'** इत्यादि। कृपा बनाये रखनेके लिये अनेक प्रकारसे विनय की। ३ हर्ष घर जानेका कि बहुत दिनोंपर घर-बारका फिर दर्शन होगा एवं इससे कि जय पाकर कृतकार्य होकर घर जा रहे हैं और विषाद ऐसे कृपालु प्रभुके वियोग-विरहका दोनों भावोंका एक साथ उदय 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है।

दो०—कपिपति नील रीछपति अंगद नल हनुमान† ।
सहित बिभीषन अपर जे जूथप कपि बलवान॥
कहि न सकहिं कछु प्रेम बस भरि भरि लोचन बारि।
सन्मुख चितवहिं राम तन नयन निमेष निवारि॥ ११७॥

अर्थ—कपिराज सुग्रीव, नील, ऋक्षपति जाम्बवन्त, अङ्गद, नल, हनुमान् और विभीषणसहित अन्य जो बली यूथपति वानर हैं, वे कुछ कह नहीं सकते, प्रेमवश नेत्रोंमें जल भर-भरकर नेत्रोंका पलक मारना छोड़कर टकटकी लगाये श्रीरामजीकी ओर सम्मुख देख रहे हैं॥ ११७॥

नोट—१ **'नयन निमेष निवारि'** इति। पं०—नेत्रोंके पलक गिरने नहीं देते, पलक मारना छोड़ एकटक देख अपना प्रेम दर्शित करते हुए सङ्ग ले चलनेकी प्रार्थना जना रहे हैं। ☞ वाल्मी० और अ० रा० में सुग्रीव और विभीषणने हाथ जोड़कर साथ ले जानेकी प्रार्थना की है, यथा—**'अयोध्यां गन्तुमिच्छामः सर्वान् नयतु नो भवान्।'** (वाल्मी० १२२। १९)। अर्थात् हम सब लोग आपके साथ अयोध्याजी चलनेकी इच्छा करते हैं। पर मानसके अंदर उनकी दशामें वाणीसे भी अधिक शक्ति है।

* पाठान्तर—'हरष विषाद समेत तब चले विनै बहु भाषि'—(का०, पं०)।

† जामवंत कपिराज नल अंगदादि हनुमान—(का०, पं०)।

अतिसय प्रीति देखि रघुराई। लीन्हे सकल बिमान चढ़ाई॥ १॥
मन महुँ बिप्रचरन सिरु नायो। उत्तर दिसिहिं बिमान चलायो॥ २॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीने उनका अतिशय प्रेम देख सबको विमानपर चढ़ा लिया॥ १॥ विप्रचरणको मन-ही-मन प्रणाम किया और उत्तर दिशाको विमान चलाया॥ २॥

नोट—१ 'लीन्हें सकल०' यथा—'क्षिप्रमारोह सुग्रीव विमानं सह वानरैः। त्वमप्यारोह सामात्यो राक्षसेन्द्र विभीषण॥ २३॥ तेष्वारूढेषु सर्वेषु कौबेरं परमासनम्। राघवेणाभ्यनुज्ञातमुत्पपात विहायसम्॥ २५॥' (वाल्मी० १२२)। अर्थात् हे सुग्रीव! वानरोंसहित आप तथा मन्त्रियोंसहित विभीषणजी विमानपर चढ़ आइये। सबके सवार हो जानेपर कुबेरजीका उत्तम विमान श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा पाकर ऊपर उठा।

२ 'सकल'। अर्थात् 'कपिपति नील रीछपति०' इत्यादिको जिन्हें पीछे कह आये हैं। पुनः, वाल्मीकीयमें सबको साथ लेना लिखा है वह भाव भी 'सकल' पदमें आ जाता है। इस तरह कि पहले वे सब चले पर इनको विमानपर जाते हुए देख वे भी लौट पड़े हों, यह सम्भव हो सकता है। २—विप्रचरन—'विप्रचरन पंकज सिरु नावा।' दोहा ८९ (१) देखिये।

☞ विमान कुबेरका था, उनको न देकर रघुनाथजीको समर्पण करनेका कारण स्पष्ट ही है। प्रभुकी करुणार्द्र भ्रातृस्नेहमें पगी हुई वाणी, 'बीते अवधि जाउँ जौं जिअत न पावौं बीर।', 'देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरौं तोहि॥' को सुनकर विभीषण सखाका परम कर्तव्य था कि वे उनको अयोध्याजी शीघ्र पहुँचा दें और पुष्पक-विमान प्रभुके आगे लाकर उन्होंने अपने कर्तव्यका यथोचित पालन किया। पर रघुनाथजी कब परायी वस्तुको, जो दूसरेकी आत्माको क्लेश पहुँचाकर रावणने प्राप्त की थी, ग्रहण करनेवाले थे। इन्होंने देवकार्य कर परम प्रिय भरतके प्राणोंकी रक्षाके लिये तुरंत पहुँचनेके लिये विमानकी सहायता ली और कार्य पूर्ण होते ही तुरंत उसे कुबेरके पास भेज दिया।

'पुनि पुष्पक चढ़ि कपिन्ह समेता०' प्रकरण समाप्त हुआ।

'जेहि बिधि राम नगर निज आए'—प्रकरण

चलत बिमान कोलाहल होई। जय रघुबीर कहै सब कोई॥ ३॥
सिंघासन अति उच्च मनोहर। श्रीसमेत प्रभु बैठे ता पर॥ ४॥

अर्थ—विमानके चलते समय बड़ा शोर हो रहा है। सब कोई 'रघुवीरकी जय' ऐसा कह रहे हैं॥ ३॥ अत्यन्त ऊँचे और मनको हरनेवाले सिंहासनपर प्रभु श्रीसीताजीसहित बैठे॥ ४॥

रा० प्र०—'कोलाहल' जय शब्दका है। सब जय-जयकार कर रहे हैं, इसीसे शब्द दूरतक आकाशमें गूँज रहा है। पुनः, गरुड़पक्षकी रीतिसे विमानसे सामध्वनि निकल रही है, उससे भी कोलाहल हो रहा है। 'सब कोई' का भाव कि वानरादिके अतिरिक्त देवतादि जो आये थे एवं जो निशिचर लङ्कामें थे उनको भी सूचित कर दिया।

पु० रा० कु०—'सिंहासन अति उच्च'। यह सिंहासन विमानपर है। राजाके लिये जो आसन होता है वही सिंहासन है; यथा—'नृपासनं यत्तद्भद्रासनं सिंहासनं तु तत् इत्यमरः'।

नोट—कहा जाता है कि श्रीलक्ष्मणजी श्रीरघुनाथजीके पीछे खड़े रहे, इसीसे उनका बैठना नहीं कहा गया। उनका आसन खाली रहा।

करु०—विमानमें तीन खण्ड हैं। अन्तर-खण्ड हेमरत्नसे प्रकाशित है, सिंहासन सूर्य इव प्रकाशित है। यह अष्टदल-कमलके आकारका है। इसपर श्रीजानकीजी संयुक्त श्रीरामचन्द्रजी विराजमान हैं। लक्ष्मणजी और हनुमान्‌जी चमर करते हैं। १८ पद्म यूथपति मध्य खण्डमें हैं और शेष सेना बाहरके खण्डमें है।

राजत राम सहित भामिनी। मेरुसृंग जनु घनु दामिनी॥ ५॥

रुचिर बिमान चलेउ अति आतुर। कीन्हीं सुमन बृष्टि हरषे सुर॥ ६॥

अर्थ—पत्नीसहित श्रीरामचन्द्रजी सुशोभित हो रहे हैं, मानो सुमेरु शिखरपर श्याम मेघ बिजलीसहित शोभित हैं॥ ५॥ सुन्दर विमान अत्यन्त शीघ्रतासे चला। देवता प्रसन्न हुए और पुष्पोंकी वर्षा की॥ ६॥

नोट—१—'भामिनी' यहाँ साभिप्राय है। अर्थात् दीप्तिवाली जो श्रीसीताजी हैं। इसीसे 'दामिनी' की उत्प्रेक्षा की गयी। मेरु स्वर्णका और पुष्पक भी सोनेका, यह दोनोंमें समता है। यहाँ पुष्पक सुमेरु है; पुष्पकपर जो सिंहासन है वह सुमेरुका शृङ्ग है। श्यामवर्ण श्रीरामजी घन हैं और दामिनी वर्ण श्रीसीताजी दामिनी हैं। बिजली एक जगह स्थिर होकर नहीं रहती, यथा—'**दामिनि दमक रह न घन माहीं**'; पर यहाँ दोनों ऐसे दीखते हैं मानो बिजली स्थिर होकर मेघके साथ विराजमान है। यह 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है। २—'रुचिर विमान' इति। वाल्मी० यु० १२१ श्लोक २४-३०, वाल्मी० उ० १५ श्लोक ३६-३९ और वाल्मी० उ० २१। २७ में इसका वर्णन इस प्रकार है—इस विमानके सब स्तम्भ सुवर्णके बने थे और वैदूर्यमणिके तोरण (द्वार) लगे हुए थे। मोतियोंकी झालरें लगी थीं एवं मोतियोंके जालसे यह ढका हुआ था। सर्वकालमें फल देनेवाले वृक्ष इसमें लगे थे। यह मनोवेगके समान और कामग कामरूपी विहङ्गमके समान वेगसे आकाशमें चलनेवाला था। इसमें मणिजटित सुवर्णकी सीढ़ियाँ थीं। वेदियाँ तपाये हुए खरे सोने और वैदूर्यमणियोंकी बनी थीं। नाना प्रकारके शालागृह चाँदीके-से दीप्तिमान् बने थे। वह विमान सदा देवताओंके ही चढ़नेके योग्य था और उसमें उनके योग्य सब पदार्थ थे, ऋषि-मुनि आदि सब देखनेवालोंको यह सदा सुखदायी था। इसपरके सब पदार्थ अक्षय थे। इसमें रक्खे हुए सभी पदार्थ आश्चर्ययुक्त थे। नाना प्रकारकी रचनाओंसे युक्त इसे ब्रह्माजीने निर्माण किया और विश्वकर्मासे बनवाया था। सब कामनाओंका देनेवाला, मनोहर और श्रेष्ठ था। सब ऋतुओंमें सुखद था। यह विमान देवताओंके अधिष्ठान और ब्रह्मतेजसे अक्षय था। इस कारण यमदूतोंके तोड़नेपर भी वह ज्यों-का-त्यों फिर नया हो जाता था—(**रावण-यमराज-युद्धमें** यमदूतोंने इसपर अस्त्र-शस्त्र चलाये थे)। चाँदीके समान कान्तिवाले श्वेत ध्वजा-पताकाओंसे अलंकृत, कनककमलविभूषित, कञ्चनकी अटा-अटारियोंसे संयुक्त, किङ्किणीजाल लगे हुए थे। स्थान-स्थानपर मधुर शब्द करनेवाले घण्टे लगे थे। यह सुमेरुशिखरसमान आकारवाला था। नीचेकी गच स्फटिक मणिकी थी। [नोट—यह विमान इच्छानुसार छोटा-बड़ा हो जाता था। कहते हैं कि जबतक इसमें एक भी प्राणी खड़ा रहता था तबतक इसमें एक बैठक बराबर खाली रहती थी।]

प० प० प्र०—'**राजत राम**...' में मात्राओंकी कमीसे जनाया कि युगलछबिके दर्शन करनेवाले सभी प्रेममें मग्न हो गये तथा श्रीसीताजी अत्यन्त प्रसन्न हुईं।

परम सुखद चलि त्रिबिध बयारी। सागर सर सरि निर्मल बारी॥ ७॥
सगुन होहिं सुंदर चहुँ पासा। मन प्रसन्न निर्मल नभ आसा॥ ८॥

शब्दार्थ—पास=ओर, दिशा, यथा—'**नगर सँवारहु चारिहु पासा**—(बा० २८६)।

अर्थ—अत्यन्त सुख देनेवाली तीनों प्रकारकी (शीतल, मन्द, सुगन्धित) वायु चल रही है। समुद्र, तालाब और नदियोंका जल निर्मल हो गया। चारों दिशाओंमें सगुन हो रहे हैं, सबके मन प्रसन्न हैं, आकाश और दिशाएँ निर्मल हैं॥ ७-८॥*

कह रघुबीर देखु रन सीता। लछिमन इहाँ हत्यो इंद्रजीता॥ ९॥
हनूमान अंगद के मारे। रन महि परे निसाचर भारे॥ १०॥
कुंभकरन रावन द्वौ भाई। इहाँ हते सुर मुनि दुखदाई॥ ११॥

अर्थ—रघुबीर श्रीरामजी बोले—हे सीते! रणभूमि देखो। यहाँ लक्ष्मणने इन्द्रके जीतनेवाले मेघनादको मारा॥ ९॥

* ततः प्रजग्मुः प्रशमं मरुद्गणा दिशः प्रसेदुर्विमलं नभोऽभवत्। मही चकम्पे न च मारुतो ववौ स्थिरप्रभश्चाप्यभवद्दिवाकरः॥ वाल्मी० १०८॥ ३२॥

श्रीहनुमान् और अङ्गदजीके मारे हुए (ये) भारी-भारी राक्षस रणभूमिमें पड़े हैं ॥ १० ॥ सुरमुनिको दुःख देनेवाले कुम्भकर्ण और रावण दोनों भाई यहाँ मारे गये ॥ ११ ॥

नोट—१ श्रीलक्ष्मण, हनुमान् और अङ्गदजीके नाम लेकर उनकी प्रशंसा की। अपने मुख अपनी प्रशंसा करना निन्दित है, अतः रावण-कुम्भकर्णका वधमात्र कहा। यह न कहा कि मैंने इनको मारा; क्योंकि अपना नाम लेनेसे आत्मश्लाघा स्पष्ट जान पड़ती।—हनुमन्नाटकमें लिखा है कि प्रभुने कहा कि यहाँ किसीने रावणको मारा (ऐसे अभिमानशून्य हैं)। यथा '…ततो राम आत्मानं पुष्पकविमाने जानकीं चारोप्य समरभूमिं दर्शयति। प्रियजानकि पश्य।…"दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः। केनाप्यत्र मृगाक्षि राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥ ६० ॥ हनु० ॥ १४ ॥' अर्थात् जानकीजीको पुष्पक विमानपर चढ़ाकर उन्हें रणभूमि दिखाते हैं। हे जानकी ! देखो। यहाँ इन्द्रविजयी मेघनाद लक्ष्मणजीके दिव्य बाणोंसे परलोकको प्राप्त हुआ। हे मृगनयनी ! यहाँ किसीने रावणके कण्ठ-वनका छेदन किया था।

अ० रा० के श्रीरामजीने तो स्वयं रावणको मारना कहा है और किसीका नाम नहीं लिया। यथा 'अत्र मे निहतः शेते रावणो राक्षसेश्वरः ॥ कुम्भकर्णेन्द्रजिन्मुख्याः सर्वे चात्र निपातिताः। (१४ । ३४)

२ 'हनूमान अंगद' इति। यह श्रीहनुमान्‌जीको प्रथम कहकर जनाया कि सबसे अधिक संख्यामें इन्होंने निशिचरोंको मारा है।

रा० प्र०—पहले तो कहा कि उत्तर दिशाको विमान चला, तब 'निकुंभिला' आदि स्थानोंमें 'इहाँ हते' कैसे कहा ? समाधान यह है कि वायुमण्डलमें विमान चला, उसका तिरछा चलना स्वभाव है। पक्षीकी तरह ऊपरको उड़ा। गिरनेके भयसे पक्षी 'मंडलिहि' उड़ता है। 'सर्परीति ह्वै कुंडली रहत गगन के माहिं। याहीते खगमंडली चढ़त गगन चित चाहि ॥ यहै बीज टेढे चलन मध्य हृदय अवगाहि। वैशेषिक टीका सहित लिख्यो सूत्र चित चाहि।'—(रा० प्र०)। इस प्रकार पूर्व होकर दक्षिण-पश्चिम होता हुआ फिर उत्तरको चला।

दोहा—इहाँ सेतु बाँध्यो अरु थापेउँ* सिव सुख धाम।
सीता सहित कृपानिधि† संभुहि कीन्ह प्रनाम ॥
जहँ जहँ कृपासिंधु बन कीन्ह बास बिश्राम।
सकल देखाए जानकिहि कहे सबन्हि के नाम ॥ ११८ ॥

अर्थ—यहाँ पुल बाँधा और सुखके स्थान शिवजीकी स्थापना की, (यह कहकर) कृपानिधान श्रीरामजीने सीतासहित रामेश्वर महादेवको प्रणाम किया। जहाँ-जहाँ वनमें करुणासागर श्रीरामचन्द्रजीने वास या विश्राम किया वह सब स्थान श्रीजानकीजीको दिखाये और सबके नाम कहे ॥ ११८ ॥

नोट—१ (क) 'थापेउ सिव' ऐसा ही अ० रा० में कहा है। यथा 'एतत्पवित्रं परमं दर्शनात्पातकापहम्। अत्र रामेश्वरो देवो मया शम्भुः प्रतिष्ठितः। अ० रा० १४ । ६ ।'

(ख)—'सुखधाम' से जनाया कि इनके पूजनसे सुख-सम्पदाकी प्राप्ति होती है, क्योंकि वे स्वयं सुखके रूप हैं, इनके द्रोहीको सुख नहीं मिलता। यथा—'जिमि सुख लहइ न संकर द्रोही। कि० १७ । ५ ।'

रा० प्र०—१ सच्चिदानन्दब्रह्मके तीन रूप—सत् चित् आनन्द क्रमसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। अतएव यहाँ शिवजीको 'सुखधाम' अर्थात् आनन्दरूप विशेषण दिया। आनन्द इन्हींके हिस्सेमें पड़ा। २—कृपायतन (कृपासिन्धु) का भाव कि ऐसे कृपालु कि जिन्होंने विरोध किया उनको भी मुनिदुर्लभ गति दी।—[रामेश्वर-स्थापनसे सब प्राणियोंपर एवं शिवजीपर कृपा की। पुनः, जहाँ-जहाँ वास या विश्राम किया वह केवल कृपाके ही कारण। शबरीजीके यहाँ, पम्पापर, और समुद्रतटपर विश्राम किया। किष्किन्धामें वास किया। इसमें केवल कृपा ही कारण है; नहीं तो शबरीके यहाँ क्यों जाते ? पम्पासरपर नारदको सुख क्यों देते ? किष्किन्धामें चौमासे भर क्यों ठहरते ?]

* 'परम रम्य उत्तम यह धरनी'... 'इहाँ सेतु बाँध्यो' — 'पर देषु सुंदर सेतु जहँ थापेउ'। † कृपायतन—(का०, पं०)।

३—रामेश्वर-स्थापनके समय वानर, विभीषण और सुग्रीव सब थे, श्रीजानकीजी न थीं; इसीसे यहाँ 'सीता सहित' ही पद ग्रन्थकार देते चले जा रहे हैं और इन्हींको सम्बोधन किया है।—(वं० पा०—रामेश्वरजीके निकट न गये; क्योंकि लङ्कामें शिवजीकी विदाई कर चुके हैं।)

तुरत* बिमान तहाँ चलि आवा। दंडक बन जहँ परम सुहावा॥ १॥
कुंभजादि मुनिनायक नाना। गए रामु सबु के अस्थाना॥ २॥

अर्थ—विमान चलकर बड़ी शीघ्रतासे वहाँ आ पहुँचा जहाँ परम सुहावन दण्डकवन है और अगस्त्य आदि अनेक मुनिश्रेष्ठ रहते हैं। श्रीरामचन्द्रजी इन सबके आश्रमोंमें गये॥ १-२॥

नोट—१ यहाँ विमानका अत्यन्त वेग प्रसङ्गसे ही बताते जा रहे हैं। जितनी देरमें एक बात कहते हैं उतनी ही देरमें दूसरा स्थान आ जाता है। मेघनादके वधका स्थान दिखा रहे थे कि इतनेमें ही वह रणभूमि आ गयी जहाँ हनुमान् और अङ्गदके मारे हुए अनेक वीर राक्षस पड़े हुए थे। इसको दिखाते थे कि कुम्भकर्णका और रावणका वध जहाँ-जहाँ हुआ वे स्थान आ गये और उसको दिखा रहे थे कि सेतुबंध रामेश्वरपर पहुँच गये। २—'परम सुहावा'। प्रभुके निवासके पूर्व दण्डकवन महाभयावन था पर उनके निवाससे एवं खरदूषणादिके वधसे सारा वन परमसुहावन हो गया था; अब वहाँ ऋषि भी निर्भय वास करते हैं। यथा—'जब तें राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भए मुनि बीती त्रासा॥ गिरि बन नदी ताल छबि छाए। दिन दिन प्रति अति होहिं सुहाए। आ० १४।' पूर्व दिन-दिन 'अति सुहाये' होते गये थे और अब प्रभुके आगमनपर 'परम सुहाए' हो गये।

सकल रिषिन्ह सन पाइ असीसा। चित्रकूट आएउ जगदीसा॥ ३॥
तहँ करि मुनिन्ह केर संतोषा। चला बिमानु तहाँ ते चोखा॥ ४॥
बहुरि राम जानकिहि देखाई। जमुना कलिमल-हरनि सोहाई॥ ५॥
पुनि देखी सुरसरी पुनीता। राम कहा प्रनाम करु सीता॥ ६॥

अर्थ—समस्त ऋषियोंसे आशीर्वाद पाकर जगत्पति रामचन्द्रजी चित्रकूट आये॥ ३॥ वहाँ मुनियोंको संतुष्ट किया फिर वहाँसे विमान और अधिक वेगसे चला॥ ४॥ फिर श्रीरामजीने जानकीजीको कलिके पापोंको नाश करनेवाली सुन्दर यमुना दिखायी॥ ५॥ फिर पवित्र देवनदी गङ्गाको देखकर रामचन्द्रजीने कहा—हे सीते! प्रणाम करो॥ ६॥

पं०—यमुनाको दिखाकर प्रणाम करना न कहा और गङ्गाको प्रणाम करनेको कहा, यह बात नहीं है। यहाँ '**राम कहा प्रनाम करु सीता**' यह अन्तमें देकर इसे दोनोंके साथ जनाया। अथवा, प्रथम बार वनगमन समय गङ्गाजीसे मान्यता मानी थी। प्रणाम करनेको कहकर उसका स्मरण कराया।

☞ '**एषा सा यमुना रम्या दृश्यते चित्रकानना। ५०। ०० इयं च दृश्यते गङ्गा पुण्या त्रिपथगा नदी** वाल्मी० १२३। ५१।' वाल्मी० रा० के इस श्लोकके 'रम्या' और 'चित्रकानना' का भाव 'सोहाई' पदसे और 'त्रिपथगापुण्या' का भाव 'सुरसरी पुनीता'-पदसे जनाया।

तीरथपति पुनि देखु प्रयागा। निरखत† जन्म कोटि अघ भागा॥ ७॥
देखु परम पावनि पुनि बेनी। हरनि सोक हरिलोक निसेनी॥ ८॥
पुनि देखु अवधपुरी अति पावनि। त्रिबिध ताप भवरोग नसावनि॥ ९॥

अर्थ—फिर तीर्थराज प्रयागको देखो, जिसके दर्शनसे करोड़ों जन्मके पाप भाग जाते हैं॥ ७॥ फिर परम पवित्र त्रिवेणीका दर्शन करो जो शोकोंकी हरनेवाली और हरिलोक (तक पहुँचने) की सीढ़ी है॥ ८॥ पुनः, अत्यन्त पावनी अवधपुरीका दर्शन करो जो तीनों प्रकारके (दैहिक, दैविक, भौतिक) तापों और भवरोगोंकी नाशक है॥ ९॥

* सपदि—(रा० गु० द्वि०, का०)। तुरत—(भा० दा०)। † देखत—(का० पं०)।

नोट—१ 'निरखत' का भाव कि दर्शनमात्रका यह महत्त्व है तब मज्जन-स्पर्शपानादिकी महिमा कैसे कही जा सकती है? (रा० प्र०)। २ 'हरनि सोक हरिलोक निसेनी'। बिना हरि-प्राप्तिके शोक नहीं दूर होता अतः 'हरनि सोक' कहकर 'हरिलोक निसेनी' भी कहा। ३ 'अति पावनि'। क्रमशः पवित्रता कहते आये। अन्तमें इसको 'अतिपावनि' कहा। यमुनाजीको कलिमल हरनि सुहाई', गङ्गाजीको 'पुनीता', प्रयागराजको 'देखत जन्मकोटि अघ भागा', त्रिवेणीको 'परम पावनि' और 'हरनि सोक हरिलोक निसेनी' विशेषण दिये। उत्तरोत्तर एकसे दूसरेको अधिक कहा और अन्तमें अवधपुरीको 'अति पावनि' 'त्रिविध ताप भवरोग नसावनि' कहा।

वि० त्रि०—त्रिवेणीको दिखलानेके पश्चात् और त्रिवेणीतक पहुँचनेके पूर्व ही विमानसे श्रीअयोध्याजी दिखायी पड़ीं, इससे समझा जा सकता है कि विमान कितनी ऊँचाईसे जा रहा था। जब श्रीरामजीने श्रीसीताजीको दिखाया तब श्रीसीता-सहित उन्होंने श्रीअवधको प्रणाम किया। उसके बाद त्रिवेणीमें आकर स्नान किया।

दो०—सीतासहित अवध कहुँ कीन्ह कृपाल प्रनाम।
सजल नयन तन पुलकित पुनि पुनि हरषित राम॥११९॥*

अर्थ—कृपालु श्रीरामचन्द्रजीने श्रीसीतासहित अवधपुरीको प्रणाम किया। उनके नेत्रोंमें जल भर आया, शरीर रोमाञ्चित हो गया, वे बारंबार हर्षित (आनन्दित) हो रहे हैं॥ ११९॥

☞ जब रथपर चढ़कर अवधसे चले थे तब भी अवधको प्रणाम किया था, यथा—'चढ़ि रथ सीयसहित दोउ भाई। चले हृदय अवधहि सिरु नाई'—अ० ८३ (२)। और अब लौटनेपर भी प्रणाम किया। 'चले हृदय अवधहि सिरु नाई' उपक्रम है और यहाँ उपसंहार है। २—पूर्व हृदयमें प्रणाम किया था, प्रकट नहीं और अब प्रत्यक्ष प्रणाम है इसीसे पूर्वका 'हृदय' शब्द यहाँ नहीं दिया गया। पूर्व प्रकट प्रणाम न करनेका भाव वहाँ लिखा जा चुका है। अब कोई शंका नहीं है अतः अब प्रकट प्रणाम किया। लौटती बार भी प्रणाम करनेसे यह निस्संदेह स्पष्ट हो गया कि अवधपुरीका महत्त्व समझकर उसको प्रणाम किया था। क्या महत्त्व है यह ऊपर कह आये हैं। ३—'कृपाल' विशेषणका भाव कि अवधमात्रपर आप कृपा करनेके लिये आ रहे हैं तथा प्रणाम करके इसका महत्त्व सबको बता रहे हैं। ४—'सजलनयन तन पुलकित०'। अवधपुरीको बहुत वर्षोंके पश्चात् देखनेसे प्रेम उमड़ आया। जन्मभूमिको देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ। जिससे नेत्रोंमें जल भर आया और शरीर पुलकित हो रहा है। पुनः, इसे देखकर भरतजी और नगर-निवासियोंका प्रेम एवं उनकी दशा स्मरण हो आई; अतः यह दशा हुई।

☞ दण्डकारण्यमें श्रीरामजीका दर्शन होनेपर जो आनन्द श्रीशिवजीको हुआ, यथा—'संभु समय तेहि रामहिं देखा। उपजा हिय अति हरषु बिसेषा॥…चले जात सिव सती समेता। पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता॥ १। ५०। १-४।' वही दशा श्रीअयोध्यापुरीके दर्शनसे श्रीरामजीकी हो रही है—'तन पुलकित पुनि पुनि हर्षित राम।' प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि श्रीशिवजीने वहाँ पार्वतीजीसे पुलकादिका कारण बताया है कि ये ही श्रीराम मेरे इष्टदेव हैं—'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। १। ५१। ८।' अतः यहाँ वही आनन्दकी दशा लिखकर जनाया कि अपने इष्टदेव भगवान्का दर्शन करके शिवजीको जो आनन्द हुआ वैसे ही अवधके दर्शनसे श्रीरामजीको। शिवजीको दूरसे दर्शनमें जो आनन्द हुआ वही आनन्द श्रीरामजीको भी दूरसे दर्शनमें हुआ।

रा० प्र०—सीतासहित प्रणाम करनेका भाव यह है कि विवाह प्रतिज्ञानुसार सब जगह स्त्रीसहित शुभकार्य करना विधि है।

दो०—पुनि प्रभु आइ त्रिबेनीं† हरषित मज्जनु कीन्ह।
कपिन्ह सहित बिप्रन्ह कहुँ‡ दान बिबिध बिधि दीन्ह॥११९॥

---

* 'तब रघुनायक श्रीसहित अवधहि कीन्ह प्रनाम। सजल बिलोचन पुलकतन पुनि पुनि हरषत राम।'—(का०)

† 'बहुरि त्रिबेनी आय प्रभु' ‡ 'कपिन्ह समेत महीसुरन्ह'—(रा० प्र०, पं०)।

अर्थ—फिर त्रिवेणीपर आकर प्रभुने प्रसन्नतापूर्वक वानरोंसहित स्नान किया और वानरोंसहित ब्राह्मणोंको अनेक प्रकारके दान दिये ॥ ११९ ॥

नोट—१—'हरषित मज्जन कीन्ह'—तीर्थमें उत्साहपूर्वक स्नान करना चाहिये । इसीसे अयोध्यासे जब प्रयाग गये थे तब भी हर्षपूर्वक स्नान कहा है । यथा—'**एहि बिधि आइ बिलोकी बेनी । सुमिरत सकल सुमंगल देनी ॥ मुदित नहाइ**'' । १ । १०६ ।'

२ '**दान बिबिध बिधि दीन्ह**' इति । ☞ श्रीकरुणासिंधुजीका मत है कि विभीषणने जो रत्न वानरोंको दिये थे वे ही रत्न दानमें उन्होंने ब्राह्मणोंको दिया, पर अन्य लोगोंका मत है कि श्रीरघुनाथजीने ही अपने पाससे सबको देकर दान कराया । आ० रा० का प्रमाण रामेश्वर-स्थापना-प्रसंगमें दिया जा चुका है । अथवा, प्रभु संकल्प-सिद्ध हैं; जितना चाहें दानके लिये वस्तु प्रकट कर लें । किसी-किसीका मत है कि संकल्प कर दिया कि अवधमें आकर ले लें । पर यहाँ 'दीन्ह' शब्द इस भावका निषेध करता है ।

जब प्रभु विश्वामित्रजीके साथ जनकपुरको जा रहे थे, उस समय भी गङ्गास्नानके समय प्रभुका ऋषियोंसहित स्नान करना और दानका दिया जाना कहा गया है । यथा—'**तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाए । बिबिध दान महिदेवन्हि पाए ॥** १ । २१२ । ३ ।' वहाँ '**महिदेवन्हि पाए**' शब्द हैं और यहाँ '**बिप्रन्ह कहँ दीन्ह**' कहते हैं । 'पाए' और 'दीन्ह' शब्दोंके भेदका भाव वहाँ लिखा गया है । पाठक वहाँ देख लें ।

प्र० स्वामीका मत है कि श्रीरामजीके साथ श्रीसीताजी हैं । उनके ऋद्धि-सिद्धियोंके स्मरणमात्रसे जितनी सम्पत्ति चाहें प्राप्त हो सकती हैं । (श्रीजनकपुरमें बारातके पहुँचनेपर यह महिमा दिखायी गयी है ।) यथा '**जानी सियँ बरात पुर आई । कछु निज महिमा प्रगटि जनाई ॥ हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाई । भूप पहुनई करन पठाई ॥ सिधि सब सिय आयसु अकनि गईं जहाँ जनवास । लिए संपदा सकल सुख सुरपुर भोग बिलास ॥** १ । ३०६ ।'''**बिभव भेद कछु कोउ न जाना** ।' केवटको देनेके लिये भी श्रीसीताजीने ही '**मनि मुदरी मन मुदित उतारी**' थी । पर इस समय श्रीसीताजीके शरीरपरके आभूषणोंको उतारकर देनेमें विभीषणादिको दुःख होता; अतः उनका दिया जाना भी असंगत होगा ।

नोट—श्रीविभीषणादि सभी जानते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी भुवनेश्वर हैं, ब्रह्म हैं, ब्रह्मा-विष्णु-महेशादिसे सेवित हैं और श्रीसीताजी उनकी परम शक्ति हैं । उन्होंने प्रत्यक्ष देखा भी कि रावणवधपर ब्रह्मादि सब देवताओंने आकर इनकी स्तुति कर करके भक्तिका वर माँगा है । अब इनका ऐश्वर्य गुप्त नहीं रह गया । रावणने नरके हाथ मृत्यु माँगी थी । ब्रह्माके वचनको सत्य करनेके लिये और रावणको सन्देहमें रखनेके लिये उसके वधतक वे नरनाट्य करते हुए ऐश्वर्यको छिपाये रहे, वह कार्य अब पूरा हो गया । अतः ऐसा माननेमें भी कोई आपत्ति नहीं है कि यहाँ उन्होंने सङ्कल्पमात्रसे दानकी सब वस्तुएँ वहीं प्रकट कर दीं और दान पानेवालोंको इस रहस्यका भान भी नहीं हुआ ।

प्रभु हनुमंतहि कहा बुझाई । धरि बटु रूप अवधपुर जाई ॥ १ ॥
भरतहि कुसल हमार सुनाएहु । समाचार लै तुम्ह चलि आएहु ॥ २ ॥

अर्थ—प्रभुने हनुमान्‌जीसे समझाकर कहा कि ब्रह्मचारीका रूप धरकर अवधपुर जाकर श्रीभरतजीसे हमारा कुशल सुनाना और उनका समाचार लेकर चले आना ॥ १-२ ॥

नोट—१ वाल्मी० १२४ । १७ में उल्लेख है कि भरद्वाजजीके आश्रममें पहुँचनेपर उन्होंने प्रभुसे कहा कि आप समाजसहित हमारे दिये हुए अर्घ्यपाद्यादि ग्रहण करें, कल अयोध्याको चले जायँ । इसीसे वहींसे हनुमान्‌जीको उन्होंने अयोध्याजी भेजा । पर मानसमें भरद्वाज-आश्रममें जानेके पूर्व ही श्रीरघुनाथजीने इनको भेजा है ।

नोट—२ पाण्डेजी कहते हैं कि 'बुझाई' का आशय है कि यदि भरतजीका मन राज्यमें लग गया हो तो हम अवध न जावें । वीरकविजी भी लिखते हैं कि यहाँ 'बुझाई' शब्दमें व्यङ्ग है कि जाकर देखना, ऐश्वर्यसम्पन्न बापदादोंका राज्य किसके मनको नहीं बिगाड़ता ? सङ्गवश भरत राज्यार्थी तो नहीं हो गये ? यह भाव वाल्मीकीय आदि अन्य रामायणोंसे भले ही निकलता हो पर मानसकारका यह भाव कभी नहीं जान पड़ता; क्योंकि यहाँ तो भरत 'रामप्रेममूर्त्ति' वर्णन किये गये

... श्रीरामजी उनका प्रेम भलीभाँति जानते हैं और हनुमान्‌जीसे भी द्रोणाचल ले जानेपर अवश्य ही उनकी रहनी भी सुन चुके हैं; लक्ष्मणजीको भी प्रभुने भरतजीके सम्बन्धमें अपना अटल विश्वास सुनाया था—इत्यादिसे श्रीरामजीका उनकी ओरसे सन्देह स्वप्नमें भी मानने योग्य नहीं है । ऐसा होता तो विभीषणसे श्रीभरतजीकी दशा क्यों कहते, वहींसे प्रथम समाचार मँगा लेते । आदिसे अन्ततक कहीं भी श्रीरामजीका श्रीभरतजीपर संदेह देखनेमें नहीं आता । मानसके भरतजी और वाल्मीकिके भरतजीमें बड़ा अन्तर है । यह बात चित्रकूटके दरबारसे निर्विवाद सिद्ध है । शृङ्गवेरपुर जाना, निषादराजको भी समाचार देना, फिर तुरंत ही अवधपुरी अवधि व्यतीत होनेके पूर्व ही पहुँचना और अरण्यकाण्डसे लेकर अबतकका चरित कहना एवं भरद्वाज या निषादराजके यहाँ फिर लौटकर मिलना यह सब वृत्तान्त 'बुझाई' शब्दमें आ गये । भरतजीकी दशा भी जना दी कि शीघ्र न पहुँचनेसे काम बिगड़ जायगा । यह भी 'बुझाई' पदमें आ गया ।—हाँ, यह कविका कौशल है कि उन्होंने 'बुझाई' ऐसा पद देकर अन्य लोगोंके मतोंको भी उसमें स्थान दे दिया है ।

प० पु० पातालखण्डमें शेषजीने जो वात्स्यायन मुनिसे कहा है वह मानसके अनुकूल है । अतः हम उसे यहाँ उद्धृत किये देते हैं—श्रीअवधपुरी (नन्दिग्राम) पर दृष्टि पड़ते ही श्रीरघुनाथजीको धर्मात्माओंमें अग्रगण्य भाई भरतकी बारम्बार सुध आने लगी । तब वे वायुनन्दन हनुमान्‌जीसे बोले—वीर ! तुम मेरे भाईके पास जाओ । उनका शरीर मेरे वियोगसे क्षीण होकर छड़ीके समान दुबला-पतला हो गया है और वे उसे किसी प्रकार हठपूर्वक धारण किये हुए हैं । जो वल्कल पहनते हैं, मस्तकपर जटा धारण करते हैं, जिनकी दृष्टिमें परस्त्री माता और सुवर्ण मिट्टीके ढेलेके समान है, वे मेरे धर्मज्ञ भ्राता दुखी हैं । उनका शरीर मेरे वियोगजनित दुःखरूप अग्निकी ज्वालामें दग्ध हो रहा है । अतः इस समय तुम तुरन्त जाकर मेरे आगमनके सन्देशरूपी जलकी वर्षासे उन्हें शान्त करो । उन्हें यह समाचार सुनाओ कि 'सीता, लक्ष्मण, सुग्रीव आदि कपीश्वरों तथा विभीषणसहित तुम्हारे भाई श्रीराम पुष्पकविमानपर बैठकर सुखपूर्वक आ पहुँचे हैं ।' इससे मेरा आगमन जानकर मेरे छोटे भाई भरत शीघ्र ही प्रसन्न हो जायँगे ।' यह सब 'बुझाई' में आ जाता है ।

नोट—३ 'धरि बटु रूप अवधपुर जाई ।' इति । बटुरूप धारण करके जानेको कहनेका भाव यह है कि—(१) श्रीभरतजी हनुमान्‌जीको पूर्व देख चुके हैं और उनसे लक्ष्मणजीका शक्तिद्वारा मूर्छित होना भी सुन चुके हैं, अब यदि ये अपने रूपसे उनके पास गये तो विरहमें निमग्न दशामें इनको बिना श्रीरामजीके अकेला आया हुआ देख व्याकुलतामें प्राण न छोड़ दें । अतः वेष बदलकर जानेको कहा । (२) हनुमान्‌जी बटुरूप धारण करनेमें बड़े कुशल हैं । यह बात इससे सिद्ध होती है कि सुग्रीवने भी इन्हें बटुरूप धारण कराके श्रीरामजीके पास भेजा था—'**धरि बटु रूप देखु तैं जाई**' । प्रभु इनके उस रूपको देख भी चुके हैं । पुनः, लङ्कामें विभीषणजीसे प्रथम भेंट होनेपर भी इन्होंने यही रूप धारण किया था, यथा—'**विप्ररूप धरि बचन सुनावा**' । अतः यही रूप धारण करनेको कहा । पुनः, (३) परम मङ्गल समाचार देना है, एवं शुभ शकुन भी जनाना है अतः मङ्गल बटु रूप धारण करनेको कहा ।

४ '**कुसल हमारि**' इति । बटुरूपसे जा रहे हैं इससे अपनी कुशलमें सारी रामायण अरण्यसे लेकर यहाँतककी कहनेको कहा । नहीं तो द्रोणाचल लानेपर शक्ति प्रसङ्ग तक तो पूर्व कह ही चुके थे । 'हमारा' बहुवचन शब्दसे अपना, लक्ष्मणजीका और श्रीसीताजी तथा सब सहायकोंका कुशल समाचार कहनेका संकेत कर दिया ।

५ 'समाचार लै' अर्थात् भाइयों, माताओं आदिका कुशल उनकी हमारे दर्शनोंकी लालसा इत्यादि समाचार । इस शब्दसे वाल्मी० में दिये हुए भाव भी निकल सकते हैं ।* पर मानसके अयोध्याकाण्डके विचारोंसे विरोध पड़ेगा ।

* एतच्छ्रुत्वा यमाकारं भजते भरतस्ततः । स च ते वेदितव्यः स्यात्सर्वं यच्चापि मां प्रति । १४। ज्ञेयाः सर्वे च वृत्तान्ता भरतस्येङ्गितानि च । तत्त्वेन मुखवर्णेन दृष्ट्या व्याभाषितेन च । १५ । सर्वकामसमृद्धं हि हस्त्यश्वरथसंकुलम् । पितृपैतामहं राज्यं कस्य नावर्तयेन्मनः । १६ । संगत्या भरतः श्रीमान्राज्येनार्थी स्वयं भवेत् । प्रशास्तु वसुधां सर्वामखिलां रघुनन्दनः । १७ । तस्य बुद्धिं च विज्ञाय व्यवसायं च वानर । यावन्न दूरं याताः स्मः क्षिप्रमागन्तुमर्हसि । १८ ।' (वाल्मी० १२५) । अर्थात् यह सब सुन लेनेपर भरतकी आकृतिसे हर्ष, शोकादि उनके चित्तका जान लेना तथा हमारे विषयकी जो-जो बातें हों वह भी जानते आना । मुखके रंगसे, दृष्टिसे, वचनोंसे सब प्रकार भरतके मनकी बातें जान लेना । क्योंकि हाथी, घोड़े, रथ आदि सब पदार्थयुक्त पितापितामहादिकोंका राज्य पाकर किसका मन नहीं बदल जाता । यदि इतने दिनोंसे राज्य भोगनेवाले श्रीमान् भरतको

६ 'चलि आएहु' अर्थात् तुम वहाँ रह न जाना, लौटकर चले आना, तब हम सब यहाँसे चलेंगे। हनुमान्‌जीको प्रथम ही भेजनेका कारण यह है कि प्रभु बिना पूर्ण १४ वर्ष बीते पुरीमें न जायँगे और उधर भरतजी मार्ग जोह रहे हैं, अवधिकी समाप्ति हुई नहीं कि वे अग्निमें प्रवेश कर जायेंगे, एक क्षणका विलम्ब भी नहीं सह सकते— (आ० रा० १। १२। ६६-७५)। हनुमान्‌जीके प्रथम पहुँचकर समाचार मिल जानेसे अनिष्टकी शङ्का जाती रहेगी।

तुरत पवनसुत गवनत भयऊ। तब प्रभु भरद्वाज पहिं गयऊ॥ ३॥
नाना बिधि मुनि पूजा कीन्ही। अस्तुति करि पुनि आसिष दीन्ही॥ ४॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी तुरंत चल दिये, तब प्रभु भरद्वाजजीके पास गये॥ ३॥ मुनिने अनेक प्रकारसे पूजा की। स्तुति करके फिर आशीर्वाद दिया॥ ४॥

नोट—१ 'तुरत पवनसुत०'। अर्थात् आज्ञा पाते ही चल दिये। शीघ्रता सूचित करनेके लिये 'पवनसुत' पद दिया। अर्थात् पवनवेगसे गये। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा पाकर मनुष्यरूप धारणकर शीघ्र अयोध्यापुरीको चले। वे ऐसे उड़े जैसे सर्पोंको पकड़नेको गरुड़ दौड़ते हैं। यही भाव 'तुरत' पदका है यथा— **'गरुत्मानिव वेगेन जिघृक्षन्नुरगोत्तम'** (वाल्मी० १२५। २०)। प्र० स्वामीका मत है कि ये अवधमें सर्वत्र पवित्रता उत्पन्न कर देंगे। अतः 'पवनसुत' नाम दिया। देखिये, हनुमान्‌जी यहाँसे निकले और वहाँ **'नगर रम्य चहुँ फेर'** **'कौसल्यादि मातु सब मन अनंद अस होइ'** इत्यादि पावन मङ्गल शकुन होने लगे। वहाँ पहुँचनेपर भी पवनसुत नाम दिया है।'

२ **'नाना बिधि'** अर्थात् षोडशोपचार पूजन किया। 'नाना बिधि' पद देकर जो-जो अन्य ऋषियोंने पूजनका प्रकार लिखा है वह सब भी जना दिया। पुनः, 'नाना बिधि' से जनाया कि षोडशोपचारमेंसे प्रत्येक उपचारकी जितनी विधियाँ हैं उन सब विधियोंसे पूजा की—(पं० रा० व० श०)।

३—ऐश्वर्यपक्षमें स्तुति की और माधुर्यपक्षमें आशीर्वाद दिया। पुनः, स्तुतिसे संकोच हुआ तब आशीर्वाद दिया। स्तुति अ० रा० १४ में श्लो० २१ से ३५ तक है।

अ० रा० में मुनिने कहा है कि आप आदि, अन्त और मध्यसे रहित साक्षात् परब्रह्म हैं। आपने पहले जलको उत्पन्न कर उसमें शयन किया। हे विश्वात्मन्! आप समस्त मनुष्योंके अन्तरात्मा हैं, अतः आप नारायण हैं। ब्रह्माजी आपके नाभिकमलसे उत्पन्न हुए। आप समस्त लोकोंसे वन्दित सबके स्वामी हैं।''' आप अधिष्ठानरूपसे अपने भीतर ही अपनी मायाके द्वारा स्वयं अपने आपसे ही सम्पूर्ण जगत्‌को रचते हैं, किन्तु आकाशके समान किसीसे लिप्त नहीं होते। आप अपनी चित् शक्तिसे सबके साक्षी हैं। आप सब प्राणियोंके भीतर-बाहर व्याप्त हैं।''' जो कुछ भी देखने-सुनने या स्मरणमें आता है वह सब आप ही हैं। आपकी शक्तिसे प्रेरित होकर माया सब रचना करती है, इसीलिये इन सबकी रचनाका आरोप आपहीमें किया जाता है। जिस प्रकार चुम्बककी सन्निधिसे लोहा आदि जड़ पदार्थ भी चलायमान हो जाते हैं उसी प्रकार आपकी दृष्टि पड़नेसे जड़ माया सम्पूर्ण जगत्‌की रचना करती है। 'यथाचुम्बकसान्निध्याच्चलन्त्येवायसादयः। जडास्तथा त्वया दृष्टा माया सृजति वै जगत्॥ १४। २९॥'''' जो लोग आपके अवतारोंके चरित गाते और सुनते हैं वे मुक्त हो जाते हैं। ब्रह्माकी प्रार्थनासे आपने अवतार लेकर देवताओंका दुष्कर कार्य किया और सहस्रों वर्ष रहकर लोककल्याणके लिये अनेक पापनाशक कार्य करेंगे।

भरद्वाजजीने रात्रिमें आश्रममें रहनेकी प्रार्थना की। भरद्वाजका आशीर्वाद वाल्मी० १२४ में यह है कि यहाँसे अयोध्या जानेके सारे मार्गके सभी वृक्ष फलनेकी ऋतु न होनेपर भी फलवाले हों, उनके फल अमृत-समान मीठे हों और अधिक परिमाणमें हों। पुष्पहीन वृक्ष पुष्पित हों। सूखे वृक्ष हरे हो जायँ। सब वृक्षोंसे मधु चूने लगे। यथा— **'निष्फलाः फलिनश्चासन्विपुष्पाः पुष्पशालिनः। शुष्काः समग्रपत्रास्ते नगाश्चैव मधुस्रवाः॥ २१॥'** पर यह वर माँगनेपर

राज्य भोगनेकी इच्छा हो तो वे सब पृथ्वीमण्डलका राज्य करें, हम प्रसन्न हैं। उनकी बुद्धि और विचारका हाल जानकर जबतक हम थोड़ी दूर भी न चलें कि तुमको आ जाना चाहिये।

मुनिने दिया है। और अ० रा० १८ में इस प्रकार है—'बहुवर्षसहस्राणि मानुषं देहमाश्रितः ॥ ३४ ॥ कुर्वन्दुष्कर-कर्माणि लोकद्वयहिताय च। पापहारीणि भुवनं यशसा पूरयिष्यसि ॥ ३५ ॥'

मुनिपद बंदि जुगल कर जोरी। चढ़ि बिमान प्रभु चले बहोरी ॥ ५ ॥
इहाँ निषाद सुना प्रभु आये। नाव नाव कहँ* लोग बुलाए ॥ ६ ॥

अर्थ—दोनों हाथ जोड़कर मुनिके चरणोंकी वन्दना करके प्रभु विमानपर चढ़कर फिर चले ॥ ५ ॥ इधर निषाद-राजने सुना कि प्रभु आ गये। नाव कहाँ है, नाव कहाँ है ? इस प्रकार कहते हुए लोगोंको बुलाया ॥ ६ ॥

नोट—१ (क) 'मुनिपद बंदि जुगल कर जोरी'—यह विदा होनेका प्रणाम है। (ख) 'चढ़ि बिमान' कहा क्योंकि त्रिवेणीपर उतरकर स्नान करना इत्यादि कहा है, यथा—'बहुरि त्रिबेनी आइ प्रभु हरषित मज्जन कीन्ह'। (ग) 'चले बहोरी' का भाव कि इतनी देरतक विमान वहाँ रुका रहा अब, जब प्रभु फिर सवार हुए तब फिर आकाशमार्गसे होकर चला जैसे पूर्व लङ्कासे चला था।

२ 'इहाँ निषाद सुना प्रभु आए' इति। यहाँ यह नहीं बताते कि किससे सुना। पूर्व 'प्रभु हनुमंतहि कहा बुझाई' में इसका संकेत आ गया है। हनुमान्‌जीसे प्रभुने कहा था कि मार्गमें हमारे सखा निषादराजको भी समाचार देते जाना और हनुमान्‌जीने जाकर समाचार कहा, यथा—'सखायं श्रृङ्गवेरे मे वृत्तं कथय गूहकम्। तथेति गुहकं गत्वा कपिर्वृत्तं न्यवेदयत् ॥ आ० रा० १। १२ ॥' 'श्रृङ्गवेरपुरं गत्वा ब्रूहि मित्रं गुहं मम। ३९। जानकीलक्ष्मणोपेतमागतं मां विवेदय। अ० रा० सर्ग १४।' (श्रृङ्गवेरपुरमें जाकर मेरे मित्र गुहको श्रीजानकी और लक्ष्मणसहित मेरे आगमनकी सूचना देना), 'श्रृङ्गवेरपुरं प्राप्य गुहं गहनगोचरम्। २। निषादाधिपतिं ब्रूहि कुशलं वचनान्मम। श्रुत्वा तु मां कुशलिनमरोगं विगतज्वरम् ॥ ३ ॥ भविष्यति गुहः प्रीतः स ममात्मसमः सखा ॥' (वाल्मी० १२५), (जाते हुए तुम श्रृङ्गवेरपुरमें पहुँचकर निषादराज वनवासी गुहसे मेरी ओरसे कुशल-संवाद कहना। जब वह कुशल सुनेगा वह जानेगा कि मैं नीरोग हूँ और मेरी चिन्ता दूर हो गयी है तब वह प्रसन्न होगा। वह मेरा मित्र है, हीन जाति होनेपर भी मैं उसे अपने समान ही समझता हूँ)। हनुमान्‌जी वहाँ पहुँचकर गुहसे ये शुभ वचन कहे कि तुम्हारे सत्यपराक्रमी मित्र श्रीरामचन्द्रजीने अपना तथा सीता और लक्ष्मणका कुशल-संवाद तुमसे कहलाया है। भरद्वाज मुनिसे आज्ञा लेकर वे आयेंगे और यहाँ तुमसे भेंट होगी। यथा—'स वाचा शुभया हृष्टो हनूमानिदमब्रवीत्। सखा तु तव काकुत्स्थो रामः सत्यपराक्रमः ॥ २१ ॥ ससीतः सह सौमित्रिः स त्वां कुशलमब्रवीत्।···भरद्वाजाभ्यनुज्ञातं द्रक्ष्यस्यत्रैव राघवम् ॥···२३ ॥'

गोस्वामीजी अपनी लेखनीसे सर्वत्र शीघ्रता दिखाते जा रहे हैं, इसीसे उन्होंने अवधपुर जानेकी बात तो ऊपर कही और वहाँके 'बुझाई' और यहाँके 'इहाँ निषाद सुना' से श्रीहनुमान्‌जीसे श्रृङ्गवेरपुरमें जाकर समाचार कहनेकी बात तथा उनका जाकर कहना दोनों ही बड़ी सुन्दरताके साथ इतनेसे ही जना दिया।

३ 'नाव नाव कहँ लोग बोलाये।' पु० रा० कु०—मारे हर्षके 'नाव लाओ' यह पूरा वाक्य न कह सके। 'नाव नाव' में हर्षकी वीप्सा है। (रा० प्र०—यहाँ त्वराकी वीप्सा है।)

वं० पा०—१ वाल्मीकिजीने आजकी रात्रि भरद्वाजाश्रममें निवास करना लिखा है क्योंकि भरद्वाज मुनि हैं तथा अपने (वाल्मीकिजीके) शिष्य हैं और श्रीरामजी भी मुनिवेषमें हैं। गोसाईंजीने दीनताके सम्बन्धसे यह रात्रि श्रृङ्गवेरपुरमें निषादराजके यहाँ विताना सूचित किया है क्योंकि इनका दैन्य घाट है। [भक्तमालमें लिखा है कि श्रीरामवियोगमें वह १४ वर्षतक आँखोंमें पट्टी बाँधे रहा। इसीसे ग्रन्थकारने इसीके यहाँ रात्रिमें निवास कहा। प्रातः पञ्चमीको प्रहर दिन चढ़े पूर्ण चतुर्दश वर्षपर अवध पहुँचेंगे, एक दण्डका भी बीच नहीं पड़ेगा]

नोट—'नाव नाव'। निषादराज यह समझता था कि जैसे यहाँसे वनको जाते समय पैदल गये थे वैसे ही पैदल लौटे होंगे, अतः 'नाव नाव' पुकारा अर्थात् जल्दी नाव ले चलो, उनको इस पार लाओ। इससे यह भी जनाया कि उसने

* कह—(का०)।

विमानको आते हुए नहीं देखा, और न विमानपर आनेका समाचार सुना है । इस कथनसे भक्तमालकी कथाका भी समानाधिकरण हो जाता है कि आँखें बंद थीं । प्रभुके आनेपर आँखें खुलेंगी ।

सुरसरि नाघि जान तब आयो * । उतरेउ तट प्रभु आयसु पायो ॥ ७ ॥
तब सीता पूजी सुरसरी । बहु प्रकार पुनि चरनन्हि परी ॥ ८ ॥

अर्थ—(इतनेहीमें) विमान गङ्गाको लाँघकर (इस पार) आ गया और प्रभुकी आज्ञा पाकर तटपर उतरा ॥ ७ ॥ तब श्रीसीताजीने गङ्गाजीकी बहुत तरहसे पूजा की और फिर बहुत तरहसे चरणोंपर पड़ीं ॥ ८ ॥

नोट—१ '**उतरेउ तट प्रभु आयसु पायो**', इस पदसे यह भी जना दिया कि यह विमान दिव्य है । इसमें अपने-आप चल-फिर सकनेकी शक्ति है, चेतनकी तरह यह भी सुनता है । उत्तरकाण्डमें भी यही बात दिखायी है । प्रभुकी आज्ञा पाकर वह स्वयं कुबेरके पास गया । यथा—'**उतरि कहेउ प्रभु पुष्पकहि तुम्ह कुबेर पहिं जाहु । प्रेरित राम चलेउ सो हरष बिरह अति ताहु ॥**'

२–'**तब सीता पूजी सुरसरी ।**···' इति । (क) शृङ्गवेरपुरसे प्रयागको चलते समय श्रीजानकीजीने मनौती मानी थी कि पति और देवरसहित मैं सकुशल लौटूँ तो तुम्हारी पूजा करूँगी । यथा—'**सिय सुरसरिहि कहेउ कर जोरी । मातु मनोरथ पुरउबि मोरी ॥ पति देवर सँग कुसल बहोरी । आइ करउँ जेहि पूजा तोरी ॥ २ । १०३ ।**'

उस मनौतीका पूजन लंकासे लौटते समय ही यहाँ उन्होंने किया । वाल्मीकि आदि कई रामायणोंमें इस समय पूजन नहीं है; वरन् इसी मिषसे अन्तमें (सीता-त्याग-समय) सीताजी श्रीअवधसे वाल्मीकि-आश्रममें पहुँचायी गयीं । मानसमें पूजा इसी समय हो गयी है अतः अन्तमें वियोगकी कथा भी नहीं है ।

'तब' अर्थात् विमानके तटपर उतरनेपर । पंजाबीजी लिखते हैं कि 'आयसु पायो' 'सीता' के साथ है क्योंकि पतिव्रता बिना आज्ञा किसी देवकी पूजा नहीं कर सकती । (ख)—पूजनके सम्बन्धसे सुरसरी पद दिया । अर्थात् ये देवनदी हैं, देव रूप ही हैं । (ग)—'बहु प्रकार' इति । मन-वचन-कर्मसे पूजन किया, चरणोंमें पड़ीं, यह वन्दनाकी सीमा है । वाल्मीकीयमें मनौती मानते समय जिस प्रकार पूजन करनेको कहा था वह सब प्रकार यहाँ 'बहु' पदसे जना दिया । (रा० प्र०) ।

रा० प्र०—प्रकाशित सरस्वतीको छोड़ अन्य नदियोंमें पार जानेपर स्नानकी विधि है । अतः सुरसरि पार आनेपर स्नान-पूजा करना कहा ।—[नहीं तो मनौती तो उसी (दक्षिण) तटपर मानी थी उसी तटपर पूजा करतीं तब इधर आतीं ।]

पां०—एक बार पूर्व पूजन कर चुकी थीं अब दूसरी बार पूजन करती हैं अतः 'पुनि' पद दिया । [पुनिका भाव यह भी है कि पूजा करनेपर तब अन्तमें चरणोंमें पड़ीं ।]

पु० रा० कु०—'**पुनि चरनन्हि परी**' इति । श्रीजानकीजीने मूर्तिकी पूजा की । उनके मूर्तिका अनुसंधान है, इसीसे चरणपर पड़ना कहा ।

प० प० प्र०—'**तब सीता पूजी**···' इति । इसमें १५-१५ मात्राओंके चरण हैं । मात्राकी न्यूनताद्वारा जनाया कि पूजा करते समय श्रीसीताजीका हृदय अनेक भावोंसे भर गया, वे मनमें ही विचार कर करके स्तुति कर रही हैं कि हे देवि ! आपके आशिषसे ही मैं पति और देवरसहित कुशल लौटकर आपका दर्शन कर रही हूँ । आपके ही आशीर्वादके कारण श्रीलषनलाल जीवित हो गये और आर्यपुत्रको जय प्राप्त हुई । आपके उपकारोंसे मैं उऋण नहीं हो सकती, अतः '**बँदउँ तव पद बारहिं बारा**' । निरन्तर ऐसी ही कृपादृष्टि बनाये रखियेगा' । मन-ही-मन इस तरह विविध प्रकारसे स्तुति कर कृतज्ञतापूर्वक बार-बार चरणोंमें पड़ रही हैं । इसीसे स्तुति करना नहीं लिखा । कंण्ठ गद्गद है, नेत्र आनन्दाश्रु देवीके चरणोंपर बहा रहे हैं, शरीर रोमाञ्चित हो रहा है, कभी-कभी बीच-बीचमें स्तम्भित हो जाती हैं, अञ्चल पसार-पसारकर प्रणाम करती हैं । इत्यादि दशा अवर्णनीय है, यह जनानेके लिये ही मात्रामें कमी की गयी ।

* जब आवा, पावा—(का०, पं०) ।

दीन्हि असीस हरषि मन गंगा। सुंदरि तव अहिवात अभंगा॥ ९॥
सुनत गुहा धाएउ प्रेमाकुल। आएउ निकट परम सुख संकुल॥ १०॥

अर्थ—गंगाजीने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया कि 'हे सुन्दरी! तुम्हारा सुहाग अखंड (अचल) हो॥ ९॥ (श्रीरामचन्द्रजीका तटपर उतरना) सुनते ही गुह प्रेमातुर होकर दौड़ा और परमानन्दसे परिपूर्ण वह प्रभुके निकट आया॥ १०॥

नोट—१ 'दीन्हि असीस हरषि मन गंगा' इति। (क) गंगाजीका आशीर्वाद देना उसी प्रकार है जैसा पूर्व अयोध्याकाण्डमें कह आये हैं अर्थात् मध्य गंगाजीमेंसे ये शब्द सुनायी दिये। यथा—'सुनि सिय बिनय प्रेम रस सानी। भइ तब बिमल बारि बर बानी॥ अ० १०२। ४।', 'भरत बचन सुनि माँझ त्रिबेनी। भइ मृदु बानि सुमंगल देनी॥ अ० २०५। ६।' (ख) 'हरषि मन' से जनाया कि तुमको आशीर्वाद देनेमें मेरी वाणीकी सफलता है। आप नित्य हैं अतः अचल अहिवातका आशीर्वाद सत्य होगा। दूसरे, सर्वेश्वरी होकर हमको बड़ाई दी है यह समझकर हृदयमें हर्ष है। यथा—'तुम्ह जो हमहिं बड़ि बिनय सुनाई। कृपा कीन्हि मोहि दीन्हि बड़ाई॥ तदपि देबि मैं देबि असीसा। सफल होन हित निज बागीसा॥ २। १०३। ७-८।' तीसरे, आशीर्वाद प्रसन्न मनसे हो तभी सफल होता है अतः 'हरषि दीन्हि' कहा।

पंजाबीजी लिखते हैं कि श्रीरामचन्द्रादिके दर्शनसे हर्ष हुआ है और बिना प्रसन्नताके आशीर्वाद दिया नहीं जाता अतएव 'हरषि' कहा। अथवा, औरोंके आशीर्वादमें अर्थवाद भी होता है पर सीताका सुहाग अभङ्ग कहना यह सत्य ही है यह जानकर प्रसन्न हुई और आसिष दी।

२—'परम सुख संकुल' इति। चौदह वर्षके वियोगके बाद पुनर्मिलन हुआ इसीसे परमानन्दपूर्ण है। पंजाबीजीका मत है कि 'परम सुख संकुल' है क्योंकि सुना कि प्रभु बड़े प्रताप-सहित विमानपर सवार वानरराज और लंकेशादि-सहित आये हैं।

प्रभुहि बिलोकि सहित* बैदेही। परेउ अवनि तन सुधि नहिं तेही॥ ११॥
प्रीति परम बिलोकि रघुराई। हरषि उठाइ लियो उर लाई॥ १२॥

अर्थ—वैदेहीसहित प्रभुको देखकर वह पृथ्वीपर पड़ गया अर्थात् उसने साष्टाङ्ग दण्डवत् की, उसको शरीरकी सुध-बुध न रह गयी॥ ११॥ उसका परम प्रेम देख श्रीरघुनाथजीने प्रसन्न हो उसे हृदयसे लगा लिया॥ १२॥

पां०—निषादराजको सीताहरणकी खबर मिली थी, इसीसे यहाँ 'बिलोकि बैदेही' पद दिया।

नोट—१ 'परेउ अवनि…' इति। (क) प्रेमकी बाहुल्यतासे सुध-बुध न रही। परम प्रीति देखकर पृथ्वीसे उठा लिया क्योंकि रघुराई प्रीतिकी रीतिको जानते हैं, यथा—'जानत प्रीति रीति रघुराई' इति विनये। (रा० प्र०)। 'नाव नाव कहँ', 'धाएउ प्रेमाकुल', 'आएउ निकट परम सुख संकुल', 'परेउ अवनि तन सुधि नहिं तेही' यह सब 'परम प्रीति' है जो प्रत्यक्ष सबने और श्रीरामजीने भी देखा। इसीसे 'बिलोकि' शब्द दिया। (ख) 'रघुराई' शब्दका भाव कि गुह निषादराज हैं अतः उनसे सखा-भावसे ही मिले, राजा राजासे मिलते हैं वैसे ही ये मिले। (प० प० प्र०)।

वं० पा०—'हरषि उठाइ लियो उर लाई'। भाव कि हे प्राणप्यारे! तुम्हारा शरीर भूमिमें लोटने लायक नहीं है, तुम मेरे परम समीपवर्त्ती सखा हो, मेरे हृदयमें बसते हो; पृथ्वीसे उठकर हृदयमें ही निवास करो।

नोट—निषादका परम प्रेम उसके प्रणाममें देखा, अतः आपने अपना परमप्रेम उसके उठानेमें दिखाया। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इस अपने वाक्यको चरितार्थ किया। आगे भाई भरतकी तरह इसको हृदयमें लगाना कविने कहा है, यथा—'सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइयो'। अतः भरतमिलाप-प्रसङ्गके भाव यहाँ भी सूचित कर दिये। इस प्रकार 'हरषि उठाइ लियो' से जनाया कि बरबस एवं बड़े प्रेमसे उठाकर हृदयमें लगाया,

* 'प्रभुहि सहित बिलोकि'—(भा० दा०, छ०)। उपर्युक्त पा० का० का है।

यथा—'बल करि कृपासिंधु उर लाए'। परम समीप बिठाये जानेका सौभाग्य तो हनुमान्‌जीके बाद इन्हींको प्राप्त हुआ है, यह भाग्य सुग्रीव और विभीषणजीको भी मिलते समय नहीं प्राप्त हुआ है। सुं ३३ (४) देखिये।

श्रीभरतजी		श्रीनिषादराजजी
नमत जिन्हहिं सुर मुनि संकर अज	१	बिरंचि संकर सेव्य जे
परे भूमि···	२	परेउ अवनि तन सुधि नहिं तेही
नहिं उठत उठाये	३	हरषि उठाइ लियो उर लाई
बल करि कृपासिंधु उर लाए। अति प्रेम हृदय लगाइ अनुजहिं मिले	४	लियो हृदय लाइ कृपानिधान
बूझत कृपानिधान कुसल	५	बूझी कुसल सो कर बीनती
अब कुसल कोसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो।०	६	अब कुसल पदपंकज बिलोकि

इसी तरह चित्रकूटमें भरत-मिलापसे मिलान करें।

भूतल परे लकुट की नाईं	१	परेउ अवनि तन सुधि नहिं तेही
परम प्रेम पूरन दोउ भाई	२	प्रीति परम बिलोकि रघुराई
बरबस लिए उठाइ उर लाये	३	हरषि उठाइ लियो उर लाई
कृपानिधान	४	लियो हृदय लाइ कृपानिधान

छं०—

लियो हृदय लाइ कृपानिधान सुजान राय रमापती। बैठारि परम समीप बूझी कुसल सो कर बीनती॥
अब कुसल पद-पंकज बिलोकि बिरंचि संकर सेव्य जे। सुखधाम पूरनकाम राम नमामि राम नमामि ते॥
सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइयो। मतिमंद तुलसीदास सो प्रभु मोहबस बिसराइयो॥
यह रावनारि चरित्र पावन रामपद रतिप्रद सदा। कामादि हर बिज्ञान-कर सुर सिद्ध मुनि गावहिं मुदा॥

अर्थ—सुजानोंके सिरताज राजा कृपानिधान रमापति रामचन्द्रजीने निषादको हृदयसे लगा लिया। फिर अत्यन्त निकट बिठाकर कुशल पूछी। वह विनती करने लगा—जो चरणकमल ब्रह्मा और शङ्करजीसे सेवित हैं उनको देखकर अब मैं कुशल हूँ। हे सुखधाम! हे पूर्णकाम रामचन्द्रजी! मैं आपको नमस्कार करता हूँ, नमस्कार करता हूँ अर्थात् बारम्बार मेरा आपको नमस्कार है। सब प्रकार नीच ऐसे उस निषादको भगवान् रामचन्द्रजीने भरतकी तरह (अर्थात् जैसे सगे भाई भरतको हृदयसे लगाया था उसी तरह) हृदयसे लगा रक्खा। तुलसीदासजी (मनको सम्बोधन करते हुए) कहते हैं कि अरे मन्दबुद्धि! ऐसे प्रभुको तूने मोहवश होकर भुला दिया। रावणके शत्रुका यह पावनचरित रामचन्द्रजीके चरणोंमें सदा प्रेमका देनेवाला है, कामादि (विकारों वा शत्रुओं) का नाशक और विज्ञानका उत्पन्न करनेवाला है। देवता, सिद्ध और मुनि इसे प्रसन्नतापूर्वक गाते हैं।

टिप्पणी—(क) कृपानिधान हैं अतः रमापति होकर भी नीच निषादको लगाया। सुजान हैं अतः उसके प्रेमको यथार्थ जानते हैं, यथा—'जानत प्रीति रीति रघुराई' एवं '**नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ**॥'—(पं०)। पुनः, (ख)—उसके प्रेमको जानकर हृदयसे लगाया। अतः '**कृपानिधान**' कहा। पुनः भाव कि साधारण श्रीमान् ऐसा नहीं कर सकते पर इन्होंने ऐसे नीचको हृदयसे लगा लिया क्योंकि ये तो श्रीपति हैं—(पं०)। (ग)—सुजानराय=सुजानशिरोमणि। यथा—'**यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ। जान सिरोमनि कोसलराऊ**॥ १। २८। १०।' [पां०—'सुजान' विशेषण देनेका भाव कि किसीका किया हुआ उपकार नहीं भूलते।]

नोट—(१) '*अब कुसल पद पंकज बिलोकि०*' इति। '*अब*'का भाव कि इसके पूर्व कुशल कहाँ थी, कुशल तो अब आपका दर्शन होनेपर हुई। कुशल तो आपके वनगमनके साथ ही चली गयी थी, अब आपके आनेपर आ गयी। मिलान कीजिये—'**बूझब राउर सादर साईं। कुसल हेतु सो भयउ गुसाईं॥ नाहिं त कोसलनाथ के साथ कुसल गइ नाथ**। अ० २७०।' (२)—'**सुखधाम पूरनकाम०**' इति। भाव कि आप सुखधाम हैं। अतः मुझे सुख दीजिये, पूर्णकाम हैं अतः मेरी कामनाएँ पूर्ण कीजिये।

टिप्पणी—१ 'नमामि राम नमामि ते' इति। 'नमामि' में लङ्काकाण्डकी समाप्तिका प्रसङ्ग समाप्त हुआ। आगे ग्रन्थकार अपने मनको साक्षी करते हैं और इस बहाने सब प्राणियोंको सावधान करते हैं। २—'सब भाँति अधम'; यथा—'लोक बेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥ २। १९४। ३।' अर्थात् जीवहिंसक है, चतुर्वर्णसे बाहर है; अन्त्यज है। ३—'भरत ज्यों' इति। भरतजीकी समता कहकर निषादने स्नेहकी बड़ाई की।

४ (क) 'मतिमंद तुलसीदास' के भाव—(१) तुलसीदासजी कहते हैं कि मतिमंद हैं वे। (२) मुझ तुलसीदासने कि जो मतिमंद है। (३) जो तुलसीदासकी तरह मतिमंद हैं, वे। (४) तुलसीदासजी अपने मनको सम्बोधन करते हैं कि 'रे मतिमंद! तूने'। (ख) परम कृपालु तथा ब्रह्मादिकके भी जो स्वामी हैं उनको मोहवश भुलाया इसीसे 'मतिमंद' कहा। [करु० यहाँ यह ध्वनि है कि जो श्रीरामचन्द्रजीको विसारते हैं वे मोहके वश और मन्दबुद्धि हैं] ५—'यह रावणारि चरित्र'। अर्थात् हाथ उठाकर कहते हैं। यह अङ्गुल्यानिर्देश है। भुजा उठाकर कहते हैं कि यह चरित्र पावन एवं पवित्रकर्ता है। ६—'कामादिहर बिज्ञानकर०' इति। कामादि विकार भक्ति और ज्ञानके मार्गमें विघ्नकारी हैं, अतः जब इनका नाश हो तभी ज्ञान और भक्ति सिद्ध होती हैं। यथा—'भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च'। वा, (ख) सुर सिद्ध मुनि यहाँ तीन नाम दिये और 'कामादिहर, बिज्ञानकर, रामपदरतिप्रद' भी तीन कहे। सुर विषयी होते हैं इनको ज्ञान नहीं भाता अतः इनके लिये 'कामादिहर' कहा, यथा—'इंद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञानसुहाई। बिषयभोग पर प्रीति सदाई॥' सिद्धोंको रामपदरतिप्रद है और मुनियोंको विज्ञानकर है।— 'कामादिहर' इत्यादि गुण जानकर सुर सिद्ध मुनि इसे आनन्दपूर्वक गाते रहते हैं।

रा० प्र०—'रावणारि' का भाव कि जो अजेय था, जिसके बन्दीखानेमें इन्द्रादि पड़े थे और जिसको विष्णु भगवान् भी न जीत सके थे उसको जीतनेवाले हैं।

प० प० प्र०—'कामादि हर बिज्ञान कर…' इति। इस काण्डके उपक्रममें बताया जा चुका है कि बाल मं० श्लोक ५ व ६ मिलकर सुन्दर और लङ्का दोनों काण्डोंके प्रतिनिधि रूप हैं।

यहाँ उपसंहारमें 'रावणारि' और 'कामादिहर' से जनाया कि प्रथम विद्यारूपिणी श्रीसीताजीकी कृपासे अहङ्कार, मोह, काम-क्रोध-लोभादिका विनाश होकर विज्ञानकी प्राप्ति होगी, पश्चात् श्रीरामजीकी कृपासे रामपदरतिकी प्राप्ति होगी। और आगे दोहेमें बताया है कि कलिकालमें नामका आधार लिये बिना यह कुछ भी न होगा। रामपदरतिसे स्वान्तःसुखकी प्राप्ति होती है यह अगले काण्डके उपक्रमोपसंहारादिमें बताया है।

वीर—१ यहाँ निषादराजने कुशलका कारण बहुत ही मनोहर कहा। यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। २—रावणारि-चरित्र पवित्र है, यह एक विशेष वर्णन है। इसकी रामपदप्रीति देनेवाला इस सामान्यसे पुष्टि और फिर कामादिहर विज्ञानकर जिसे देवता सिद्ध मुनि गाते हैं इस विशेषसे पुष्टि 'विकस्वर अलङ्कार' है।

दो०—*समर बिजय रघुबीर के चरित जे सुनहिं सुजान।
बिजय बिबेक बिभूति नित तिन्हहिं देहि भगवान॥१२०॥(रा)

अर्थ—जो चतुर लोग रघुवीरके रण (सम्बन्धी) विजयचरित्र सुनते हैं उन्हें भगवान् रामचन्द्रजी सदा एवं नित्य (अविनाशी) विजय, विवेक और ऐश्वर्य देते हैं॥† १२०॥

टिप्पणी—१ प्रथम अर्द्ध-छन्दमें माहात्म्य कहा फिर यहाँ दोहेमें भी माहात्म्य कहते हैं। दो बार कहनेका भाव कि—(क) प्रथम पारलौकिक फलदायकत्व कहते हैं। अथवा, (ख)—छन्दमें श्रीशिवादि वक्ताओंकी इति लगायी और अब दोहेमें अपने दैन्यघाटकी इतिश्री लगाते हैं।

२ (क) 'समर' से रावण-कुम्भकर्णादि सबके समर जनाये। (रा० प्र०)। (ख) 'बिजय बिबेक

* समर बिजय रघुपति चरित सुनहिं जे सदा सुजान—(का०)।

† यहाँ प्रथम निदर्शना और वृत्त्यनुप्रासकी संसृष्टि है—(वीर)।

विभूति' तीन पदार्थोंका देनेवाला कहकर जनाया कि विषयीको विभूति, साधकको विवेक और सिद्धको संसार रिपुपर विजय देनेवाला है। अर्थात् हरिभक्ति प्राप्त होती है। यथा—'बिरति चर्म असि ज्ञान मद लोभ मोह रिपु मारि। जय पाइय सो हरिभगति देखु खगेसु बिचारि'॥ [पंजाबीजीका मत है कि 'विवेक'…' कथनका भाव यह है कि दुष्टोंका वध सुननेसे उनके पाप नष्ट होंगे और प्रभुके मुखसे कहे हुए तत्त्वके वाक्योंके श्रवणसे ज्ञान (विवेक) होगा तब सब सुख भोगकर वे मुक्तिके भागी होंगे। (ख) 'नित' का भाव कि जीव और कामादिका युद्ध नित्य ही होता रहता है। अतः चरितको नित्य सुनते रहनेसे नित्य विजय प्राप्त होती रहेगी। [पं० रा० व० श०] (ग) 'भगवान्‌का भाव कि श्रीरघुनाथजी भगवान् हैं इसीसे रावणको जीतकर विभूतिको प्राप्त हुए।—यहाँ विवेक मिला। सब (प्रकारके) मोहपर विजय हुई तब जीव नित्य विभूतिको प्राप्त होता है। [दोहेमें मानसकार आशीर्वाद देते हैं कि श्रीरघुनाथजी भगवान् (अर्थात् षडैश्वर्युक्त) हैं, वे क्या नहीं दे सकते ? जिसकी जो इच्छा होती है वह देते हैं। (खर्रा)]

नोट—वाल्मी० १२८ में काण्डके नियमसे सुननेका फल यह दिया है—

कुटुम्बवृद्धिं धनधान्यवृद्धिं स्त्रियश्च मुख्याः सुखमुत्तमं च।
श्रुत्वा शुभं काव्यमिदं महार्थं प्राप्नोति सर्वां भुवि चार्थसिद्धिम्॥ १२१॥
आयुष्यमारोग्यकरं यशस्यं सौभ्रातृकं बुद्धिकरं शुभं च।
श्रोतव्यमेतन्नियमेन सद्भिराख्यानमोजस्करमृद्धिकामैः॥ १२२॥'

अर्थात् इस शुभ काव्यके सुननेसे कुटुम्बवृद्धि, धनधान्यवृद्धि, उत्कृष्ट स्त्री, उत्तम सुख और पृथ्वीपर समस्त अर्थसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। यह काव्य आयु, आरोग्य, यश, भ्रातृप्रेम और शुभ और सुन्दर बुद्धि देता है अतएव समृद्धिके इच्छुकोंको ओज देनेवाले इस काव्यका नित्य श्रवण करना चाहिये।—मानसके 'सुनहिं सुजान', 'विवेक', 'विभूति' क्रमशः वाल्मीकीयके 'श्रोतव्यमेतन्नियमेन सद्भिः', 'बुद्धिकरं' और 'कुटुम्बवृद्धिं धनधान्यवृद्धिं स्त्रियश्च मुख्याः, महार्थ, आयु, आरोग्य, यश हैं। विजयके बदलेमें सुख है।

दो०—यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार।
* श्रीरघुनाथ नाम तजि नाहिं न आन अधार॥१२०॥ (म)

अर्थ—हे मन! विचार करके देख। यह कलिकाल पापोंका निवासस्थान (घर) है। इसमें श्रीरघुनाथजीका नाम छोड़ और कोई आधार (प्राणीके लिये) इससे बचनेका नहीं है॥ १२०॥

नोट—१ 'यह कलिकाल' इति। 'यह' शब्द अंगुल्यानिर्देशात्मक है। इससे कवि अपने समयके वर्तमान कलियुगका निर्देश करते हैं। काण्डके अन्तमें कवि भुजा उठाकर तर्जनी उँगलीद्वारा कालका निर्देश करके अपना सिद्धान्त कहते हैं। (पं० रा० कु०)। (ख) 'मलायतन' अर्थात् पापका घर है, निवासस्थान है, पाप इसी युगमें निवास करते हैं। भाव यह कि अन्य युगोंमें वे सैर-तमाशेके लिये कुछ दिनके लिये और वह भी कहीं-कहीं चले जाते हैं पर उनको घर नहीं बना सकते, न वहाँ विशेष टिक सकें, इसी युगको पापोंने निवासस्थान बनाया है, यहाँ वह सदा और सर्वत्र रहता है। मिलान कीजिये—'कलि केवल मल मूल मलीना। पापपयोनिधि जन मन मीना॥ १। २४। ४॥' इसका सब भाव 'मलायतन' कहकर जना दिया। पुनः, भाव कि जिस प्रकार ऋतुचक्र चलता है। हिमऋतुमें जाड़ा पड़ता है, ग्रीष्ममें गरमी पड़ती है, पावसमें जलकी वर्षा होती है, इसी प्रकार युगचक्र चलता है। सत्ययुगमें सत्त्वगुणकी प्रबलता रहती है, त्रेतामें कुछ रजोगुण भी आ जाता है और द्वापरमें रजोगुण बहुत बढ़ जाता है। इस प्रकार कलियुगमें तमोगुणका बाहुल्य होता है। यथा—'नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे॥ सुद्ध सत्त्व समता बिज्ञाना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना॥ सत्त्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा॥ बहु रज स्वल्प सत्त्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस॥ तामस बहुत रजोगुण थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा॥ ७। १०४॥'

* श्रीरघुनायक नाम तजि नहिं कछु आन अधार—(का०, पं०)।

(ग) 'मन करि देखु विचार' इति। भाव कि यदि तू विचार करेगा तो तेरा समझमें आ जायगा कि जो मैं कह रहा हूँ कि यह कलिकाल मलायतन है और इसमें भवतरणोपाय नाम छोड़ दूसरा नहीं है, यह सत्य है। [इस तरह इस काण्डकी समाप्ति करते हुए मनको कलिकालका त्रास दिखाकर प्रभुकी शरणपरायणताका उपदेश करते हैं—(पं०)] (घ) 'श्रीरघुनाथ नाम तजि' इति। रघुनाथ नामसे प्रायः श्रीरामनाम अभिप्रेत है। रघुनाथ नाम कहकर जनाया कि ये ही ब्रह्म राम हैं दूसरे नहीं। उत्तरकाण्डकी समाप्तिमें भी 'रघुनाथ नाम' शब्द आये हैं। यथा—'मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमः शान्तये'। 'श्री' अर्थात् जो श्रीयुक्त हैं, ऐश्वर्यसम्पन्न हैं। अथवा, श्रीरघुनाथ' में श्रीसीतासहित रघुनाथजीका नाम जनाया। पंजाबीजीका मत है कि 'श्रीरघुनाथ' से श्रीरामचन्द्रजी, श्रीसीताजी, श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी सभीको सूचित किया है। (ङ) 'नाहिन आन अधार' इति। भाव यह कि कलिमें तमोगुणका बाहुल्य होनेसे योग, यज्ञ और ज्ञानादि साधनोंके लिये यह समय प्रतिकूल है। ये सफल नहीं होने पाते। वे सब तो अपने प्राण लेकर भाग गये। यथा—'कलि न बिराग जोग जाग तप त्याग रे। वि० ६७।', 'ग्रसे कलि रोग जोग संजम समाधि रे। वि० ६६।', 'जप तप तीरथ जोग समाधी। कलि मति बिकल न कछु निरुपाधी॥ करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥ वि० १२८॥', 'जोग जाग जप बिराग तप सुतीरथ अटत। बाँधिबे को भवगयंद रेनु की रजु बटत॥ वि० १२९॥', 'एहि कलिकाल सकल साधन तरु है श्रमफलनि फरो सो। तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो रुचै करो सो॥ पाइहि पै जानिबो करम फल भरि भरि बेद परो सो। आगम बिधि जप जोग करत नर सरत न काज खरो सो॥ सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन रोग बियोग धरो सो। काम कोह मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो॥ बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो। तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो। राम नाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो॥ वि० १७३।' 'धर्मं सबै कलिकाल ग्रसे जप जोग बिराग लै जीव पराने। क० ७। १०५।' मानसमें अन्यत्र भी यही कहा है। यथा—'कलिजुग जोग न जग्य न ज्ञाना। एक अधार राम गुन गाना॥…सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥ ७। १०३। ५—७॥', 'चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥ १। २२। ८॥'—मनको इस तरह समझानेका भाव कि तू इसी एक साधनमें लग जा, अन्य साधनोंका सहारा लेनेसे भवपार होना कठिन है।

पा० प०—इस काण्डमें भयानक, रौद्र और हास्य रस प्रधान हैं यह षष्ठ सोपान वेदान्त-शास्त्ररूप है।

मं० पा०—१ प्रथम दोहेमें चरित्रका माहात्म्य कहा कि षडैश्वर्यवान् रामजी विजय, विवेक और विभूति ये तीनों ऐश्वर्य श्रोताको देते हैं। अब दूसरे दोहेमें नाम-माहात्म्य कहते हैं। तात्पर्य यह कि मुख्य यही है, कि चरित कहो और नाम जपो।

२—लङ्काकाण्डका आरम्भ नाम-माहात्म्यसे किया, यथा—'नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं', और नाम-माहात्म्यपर ही समाप्ति की, यथा—'श्रीरघुनाथ नाम तजि०'। 'नाथ नाम तव सेतु' उपक्रम है और 'श्रीरघुनाथ नाम०' उपसंहार। नामपर उपक्रम उपसंहारका हेतु यह कि परमार्थ-साधन अन्य कोई नहीं रह गया।

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने विमलविज्ञानसंपादनो नाम षष्ठः सोपानः।

अर्थ—इस प्रकार कलिके समस्त पापोंका नाश करनेवाला श्रीरामचरितमानसमें निर्मल विज्ञान सम्पादन करनेवाला यह छठा सोपान समाप्त हुआ।

यह संशोधित तथा परिवर्धित द्वितीय संस्करण माघ कृ० अमावस्या सं० २०११ वि० को पूर्ण हुआ।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु